Hindi
Visha
Kosh

V. 21

[illegible]

LIB. G.K.V.

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

R
विषय संख्या 2
पुस्तक संख्या हि. ५८८६ई
आगत पंजिका संख्या

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

ग।ा २२,२२

Stock Verification-2024

९
४०,४२,४२

2223

Stock Verification-2024

R
२
कि ५८१२
भाग २९

14528

R/1, HI58HI V.21
14528

हिन्दी
विश्वकोष

बंगला विश्वकोषके सम्पादक

श्रीनगेन्द्रनाथ वसु प्राच्यविद्यामहार्णव,

सिद्धान्त-वारिधि, शब्दरत्नाकर, तत्त्वचिन्तामणि, एम, आर, ए, एस,

तथा हिन्दीके विद्वानों द्वारा सङ्कलित।

* * *

एकविंश भाग

THE
ENCYCLOPÆDIA INDICA

VOL. XXI.

COMPILED WITH THE HELP OF HINDI EXPERTS

BY

NAGENDRANATH VASU, Prāchyavidyāmahārnava,
Siddhnāta-vāridhi, Sabda-ratnâkara, Tattva-chintāmani, M. R. A.

Compiler of the Bengali Encyclopædia ; the late Editor of Banglya Sâhitya Parishad
and Kâyastha Patrikâ ; author of Castes & Sects of Bengal, Mayurabhanja Archæological Survey Reports and Modern Buddhism ;
Hony. Archæological Secretary, Indian Research Society,
Associate Member of the Asiatic
Society of Bengal &c. &c. &c.

Printed by A. Sen. at the Visvakosha Press.
Published by
Nagendranath Vasu and Visvanath Vasu
9, Visvakosha Lane, Bagbazar Calcutta

1930.

LIBRARY

Expert-Opinion

Mahatma Gandhi & **Pt. Madanmohan Malaviya,** the two famous men of the political world of India, on their respective visit to Visvakosh Bhaban (2. 1. 29 & 3. 1. 29) said :—

"Hindi visvakosha." the greatest Encyclopaedia of our Hindi language, is the chief element of the state language of India & we would heartily help the publication of the same."

Sir Gooroo Dass Banerjee,

Kt, M. A., D. L., Ph. D.,

The-late Justice of the Calcurta High Court and Vice-Chancellor of the Calcutta University writes—

"I am glad to learn that you are publishing a Hindi edition of your great work, the Bengali Encyclopædia "Visvakosha." I had to consult it on several occasions, and I found in it much valuable and rare information. A Hindi edition of this monumental work will make all that useful information available for all India, and will, I am sure, meet with the same enthusiastic encouragement and support that the Bengali Visvakosha has received. (30. 11. 15.)

The Hon'ble Sir Ashutosh Mukerjee,

Sarasvati C. S. I. &c. &c.,

The Justice of the Calcutta High Court, the late Vice-Chancellor of the Calcutta University, writes :—

"I have had occasion many a time to consult the Bengali Encyclopædia Visvakosha prepared by Babu Nagendranath Vasu. I have always entertained the highest opinion about its unique value, due chiefly to its accuracy and completeness. It is a truly monumental work, and I am delighted to learn that a Hindi version of it has been undertaken."

(9. 11. 15 ,

The Hon'ble Justice A. Chandhuri,

M. A. LL. B.

of the Calcutta High Court, writes :—

"Your Encyclopædia Indica I constantly refer to in my work. I have always found it thoroughly accurate and very helpful. It is a wonder to me that the compilation, although made by you alone is so complete. I am writing these few lines in admiration of the great work you have done. I wish the **Hindi** edition every success." (10. 9. 15.)

Sir, George A. Grierson, K. C. I. E, wri from England on the August 6, 1914 :—

"In the first place allow me to congra you on the successful completion of the orig Bengali edition, May I express the hope your Hindi edition will reach an equally su ful conclusion, * *

I am specially pleased to see that you the proper distinction between 'Anunásika and 'Anusvára' This distinction is most important but it is hardly ever observed by Hindi writer and when they do try to distinguish they ar often wrong. So far as I have seen, in the Hind Visvakosha, the distinction is always correctl made."

The Leader. *Allahabad, August, 18, 191*

"It augurs well for the future of Hind literature that works of real value and genuin merit have begun to be undertaken in tha language. The *latest* and we believe the *gre est work* of that kind is the 'Hindi' *Visvako* or the 'Encyclopaedia Indica' edited with t help of Hindi experts by Mr, Nagendra Na Vasu, Prachyavidyamaharnava Siddhar Varidhi, Compiler of the Bengali Encyclop dia and author of several renowned Beng works, * * * The quality and quantity information contained in these pages do t greatest credit to their authors. * * * * An Anglo-Indian contemporary reviewi his work rightly remarked that 'it is an un taking of which any advanced nation might proud, and the ability shown in its execu would do honour to the literature an Country,' ** * It is also to be hoped lover of Hindi will do all they can to help learned editor in his stupendous task.

"......इनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिकाकी टक्करका

यह ज्ञानकोष है। * * *

"हिन्दीका यह महत् ज्ञानाभिधान अपूर्व ग्रन्थ

पाटलिपुत्र, बांकीपुर—पौष कृष्णा १० शनिवार

"...इस विश्वकोषसे सैकड़ों नई नई बातें माल

सकती है अतएव यह सर्वथा संग्रहणीय है।"

सरस्वती—अक्टोबर, १९

14528

CHECKED 1973
LIBRARY

हिन्दी
विश्वकोष

एकविंश भाग

वसुभ (सं० क्ली०) धनिष्ठा त्र। (वृ० सं० १०।१६)

वसुभरित (सं० त्रि०) धना ।

वसुभाग—एक प्राचीन कवि।

वसुभूत (सं० पु०) एक गन्ध नाम।

वसुभूति (सं० पु०) १ एक घ ा नाम। (मनु २।३२ टीकामें कुल्लूक) २ एक ब्राह ाम। (कथासरित्सा० ७३।२०६)

वसुभृद्यान (सं० पु०) १ मध्य एक ऋषि। २ वसिष्ठके एक पुत्रका नाम।

वसुमत् (सं० त्रि०) धनयु वन्।

वसुमती (सं० स्त्री०) व देखो सन्त्यस्याः इति वसु-मतुप्-ङीप्। की। छः वर्णोंका एक वृत्त। इसके प्रत्येक चर ण और सगण होते हैं।

वसुमतीपति (सं० पु०) वसु ः पतिः। पृथिवीपति, राजा।

वसुमत्ता (सं० स्त्री०) वसु यर्थे मतुप्, वसुमतो भावः तल-टाप्। वसुमतका धर्म, धनवत्ता।

वसुमनस् (सं० पु०) पुराणानु षिक मन्त्रद्र ऋषिका नाम।

वसुमय (सं० त्रि०) वसु स्व मयट्। वसु रूप।

वसुमान (सं० पु०) पुराणानु एक पर्वतका ाम जो उत्तर दिशामें है।

वसुमित्र—एक बौद्ध आचार्य। ये महायान शाखाके अन्तर्गत वैभाषिक सम्प्रदायके थे। इनका निवास काश्मीरके पश्चिम अश्मापरान्त देश कहा गया है।

वसुमित्र—शुंगमित्रवंशीय एक अति प्रबल पराक्रान्त राजा कालिदासके मालविकाग्निमित्र नाटकसे जाना जाता है, कि ये सुप्रसिद्ध वैदिकमार्गप्रवर्त्तक तथा अश्वमेधयज्ञकारी अग्निमित्रके पौत्र थे। ये ही यज्ञके अश्वकी रक्षाके लिये नियुक्त किये गये थे। इन्होंने सिन्धुनदके तीर यवनोंको पराजित करके जयश्री प्राप्त की थी। इनकी ही वीरतासे पाटलिपुत्रमें अश्वमेधयज्ञ सुसम्पन्न हुआ था। ईसाके जन्मसे दो सौ वर्ष पहले इस महावीरका अभ्युदय हुआ।

वायुपुराणीय राजगृह-माहात्म्यमें लिखा है, कि प्राचीनकालमें वसु नामक एक राजा थे। वे ब्राह्मणवंशीय थे। उनकी वीरता तथा पौरुष त्रिभुवनमें विख्यात था। राजगृहके वनमें उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था। इस यज्ञमें उन्होंने द्राविड़, महाराष्ट्र, कर्णाट, कोंकन, तैलंग प्रभृति कई एक देशोंसे श्रेष्ठ गुणसम्पन्न, सुशील तथा वेद-वेदांगपारग दाक्षिणात्य ब्राह्मणोंको बुलाया था। उन लोगोंके गोत्रोंके नाम नीचे लिखे जाते हैं—१ वत्स, २ उपमन्यु, ३ कौण्डिन्य, ४ गर्ग, ५ हारित, ६ गौतम,

७ शाण्डिल्य, ८ भरद्वाज, ९ कौशिक, १० काश्यप, १ वसिष्ठ, १२ वात्स्य, १३ सावर्णि, १४ परासर। सभी महात्मागण ऋग्वेदी आश्वलायन-शाखाध्यायी थे। राजाने यज्ञ पूरा होनेके बाद उन लोगोंको राजगृहपुरका राज्य दिया था। इसके अलावे राजाने उन लोगोंके मध्य अत्रिगोत्रवालोंको गिरिव्रजमें एवं उनके मध्य अनेकोंको वैकुण्ठपदके निकट ब्राह्मण-शासन प्रदान किया था। इसके सिवाय उन लोगोंको पृथक् पृथक् दक्षिणा भी मिली थी। उसी दिनसे उक्त विप्रगण इस तीर्थमें पूजित होते आ रहे हैं।

अब प्रश्न उठता है, कि उक्त ब्राह्मणवंशीय वसुराज कौन थे? महाभारत और पुराणमें जरासन्धके पितामह गिरिव्रजप्रतिष्ठाता जिस वसुराजका उल्लेख है, वे जातिके क्षत्रिय थे, ब्राह्मण नहीं। इस प्रकार ब्राह्मण वसुराज जो स्वतन्त्र व्यक्ति थे, इसमें सन्देह नहीं।

पूर्व ही लिख आये हैं, कि ईसा-जन्मके दो सौ वर्ष पहले शुङ्गवंशका अभ्युदय हुआ। विष्णु और भागवत-पुराणके मतसे—मौर्यवंशीय शेष राजा वृहद्रथको मार कर पुष्यमित्रने शुङ्गवंशकी प्रतिष्ठा की। पुष्पमित्र घोर बौद्ध-विद्वेषी थे। दिव्यावदान नामक प्राचीन बौद्धग्रंथसे पता चलता है, कि राजा पुष्यमित्रने अशोकको प्रतिष्ठित चौरासी हजार धर्मराजिकाको ध्वंस करनेकी अनुमति दी था। उनके ही पुत्र कालिदासके 'मालाविकाग्निमित्र' नाटकके नायक अग्निमित्र थे। अग्निमित्र भी अश्वमेध यज्ञ एवं वैदिकक्रियाकाण्डका उद्धार कर विख्यात हुए थे। इन्हीं अग्निमित्रके पौत्र वसुमित्र थे। बोधगयासे उनकी शिलालिपि और नाना स्थानोंसे उनकी मुद्रा आविष्कृत हुई है। यही वसुमित्र राजगृहमाहात्म्य-वर्णित वसुराज हैं। ब्राह्मण-भक्त वसुमित्रने दक्षिणी ब्राह्मणको राजगृह-नगरी दान कर पूर्वभारतमें ब्राह्मण्य-धर्मप्रचार करनेके लिये उन्हें प्रतिष्ठित किया था। वसुमित्रके बाद और भी पाँच शुङ्गवंशी राजाओंने राजत्व किया। पीछे कण्व-गोत्र वासुदेव नामक शुङ्ग-सेनापतिने अपने प्रभुको मार डाला और शुङ्ग-साम्राज्य अपने अधिकारमें कर लिया।

वसुर (सं० पु०) १ वसुल, देव। (त्रि०) २ दुष्ट।

वसुरक्षित (सं० पु०) एक बौद्ध आचार्यका नाम।

वसुरथ—एक कवि।

वसुरात (सं० पु०) पुर णानुसार एक ऋषिका नाम। (मार्क०पु० ११४।१३)

वसुरुच् (सं० पु०) एक प्रकारके देवता।

वसुरुचि (सं० पु०) एक गन्धर्वका नाम। (अथर्व ८।१०।२७)

वसुरूप (सं० पु०) शि।

वसुरेता (सं० पु०) १ नि। २ शिव।

वसुरोचिस् (सं० क्ली०) वसवः रोचन्ते अस्मिन्निति रुच-दीप्तौ (वसौ रुचेः ंज्ञायां। उण् २।११२) इति इसिन्। १ यज्ञ। ( ) २ एक मन्त्रद्रष्टा ऋषिका नाम।

वसुरोधी (सं० पु०) ित्र।

वसुल (सं० पु०) वसु दीप्तिं लाति गृह्णातीति ला-क। देवता।

वसुवणि (सं० पु०) धनपोष, धन बचाना। २ यजमान।

वसुवन (सं० पु०) १ दान, धन देना। (क्ली०) २ बृहत्संहिताके अनुसा न कोणमें स्थित एक देश।

वसुवाह (सं० पु नी। २ एक ऋषिका नाम।

वसुवाहन (सं० ोषयुक्त।

वसुविद् (सं० सूनि निवास स्थानानि विन्दते विद्-क्विप्। १ ानका प्रापक, जिसे रहनेके लिये जगह मि लो २ अग्नि।

वसुवृष्टि (नदान।

वसुशक्ति (स्त्री० क बौद्ध-भिक्षुणीका नाम।

वसुश्रवस् (० १ धनवान्, दौलतमंद। २ ध्यातान्न।

वसुश्री (सं० स्त्री० न्दकी अनुचरी एक मातृकाका नाम। (भारत ६ डया)

वसुश्रुत (सं० त्रि महाधनी, बड़ा दौलतमंद। (पु०) २ अ गोत्री एक ानाका नाम।

वसुश्रे (सं० क्ली पुं वसूना दीप्त्या श्रेष्ठं। रूप्य चाँदी।

वसु ण (सं० पु सुसेन, कर्णराज।

वसुस ार (सं० एक ऋषिका नाम।

वसु ारा (सं०) कुबेरकी पुरी, अलका।

वसुसेन (सं० पु०) कर्णराज।

वसुसेन—एक कवि।

वसुस्थली (सं० स्त्री०) वसूनां धनानां स्थली। कुबेरकी पुरी, अलका।

वसुहंस (सं० पु०) वसुदेवके पुत्र एक यादवका नाम।

वसुहट्ट (सं० पु०) वसूनां दीप्तीनां हट्ट इव। वकवृक्ष, अगस्तका पेड़।

वसुहट्टक (सं० पु०) वसुहट्ट स्वार्थे कन्। वकवृक्ष, अगस्तका पेड़।

वसुहोम (सं० पु०) १ वह होम जो वसुके उद्देशसे दिया जाता है। २ पुराणानुसार अङ्गदेशके एक राजाका नाम।

वसूक (सं० क्ली०) १ साम्भर लवण। २ वकवृक्ष, अगस्तका पेड़।

वसूजू (सं० त्रि०) १ धनाभिलाषी, धनकी इच्छा करनेवाला। (पु०) २ अविगंशीय एक सूक्तद्रष्टा ऋषिका नाम।

वसूत्तम (सं० त्रि०) महाधनवान्, बड़ा दौलतमंद।

वसूमती (सं० स्त्री०) वसुमती, पृथ्वी।

वसूया (सं० स्त्री०) धनेच्छा, धनकी कामना।

वसूयू (सं० त्रि०) धनेच्छु, धनकी कामना करनेवाला।

वसूल (अ० वि०) १ पास पहुंचा हुआ, मिला हुआ, प्राप्त। २ जो चुका लिया गया हो, जो हाथमें आया हो, लब्ध। (पु०) ३ उसूल देखो।

वसूली (अ० स्त्री०) १ चुकता करानेकी क्रिया, दूसरेसे रुपया पैसा या वस्तु लेनेका काम। २ बाकी निकला या चाहता हुआ रुपया लेनेका काम।

वस्क (सं० पु०) वस्क-भावे घञ्। अध्यवसाय।

वस्कथ (सं० पु०) वस्कते इति वस्क गतौ बाहुलकात् अथन्। एकहायण वत्स, बकेना बछड़ा।

वस्कयनी (सं० स्त्री०) वस्कथ एकहायणो वत्सः, तेन नीयते इति नी-क्विप् ङीष्। चिरप्रसूता गाभी, बकेनी गाय। इसके दूधका गुण त्रिदोषनाशक, तर्पण और बलकर माना गया है।

वस्कराटिका (सं० स्त्री०) वृश्चिक।

वस्त (सं० पु०) वस्यते यज्ञार्थं वध्यते इति वस्त कर्मणि घञ्। १ छाग, बकरा। (स्त्री०) २ वस्तु देखो।

वस्तक (सं० क्ली०) कृत्रिम लवण, बनाया हुआ नमक।

वस्तकर्ण (सं० पु०) वस्तस्य छागस्य कर्णाकृतिः पत्रावच्छेदे अस्त्यस्येति वस्तकर्ण अर्श आदित्वादच्। शालवृक्ष, साखूका पेड़।

वस्तगन्धा (सं० स्त्री०) वस्तस्य गन्ध इव गन्धो यस्याः। वह जिसकी गंध बकरे-सी हो।

वस्तमोदा (सं० स्त्री०) वस्तं छागं मोदयतीति मुद-णिच् अच्। अजमोदा।

वस्तव्य (सं० त्रि०) वस-तव्य। वासार्ह, वासके योग्य।

वस्तव्यता (सं० स्त्री०) वस्तव्यस्य भावः तल टाप्। वस्तव्यका भाव या धर्म, वास।

वस्तान्त्री (सं० स्त्री०) वस्तस्येव अन्त्रमस्याः, गौरादित्वात् ङीष्। छागलाक्षिक्षप। पर्याय—वृषगन्धाख्या, मेषान्त्री, वृषपत्रिका, अजान्त्री, वोरकी। गुण—कटु, कासदोषनाशक, गर्भजनक और शुक्रवर्द्धक। (राजनि०)

वस्ति (सं० पु० स्त्री०) वसति मूत्रादिकमत्र, वस (वसेस्ति। उण् ४।१७६) इति ति। १ नाभिका अधोभाग, पेड़ू। २ मूत्राशय, पेशाबकी थैली। ३ वस्तिसदृश यन्त्र, पिचकारी। वैद्यकमें वस्तिविधिका विषय अर्थात् पिचकारी देनेकी प्रणाली इस प्रकार लिखी है—

वस्ति दो प्रकारकी होती है, अनुवासनवस्ति और निरूहवस्ति। इन दोनों प्रकारकी वस्तियोंमें स्नेह द्वारा जो वस्तिप्रयोग किया जाता है, उसे अनुवासनवस्ति तथा क्वाथ, दुग्ध और तैल द्वारा जो वस्ति प्रयोग किया जाता है, उसे निरूहावस्ति कहते हैं। वस्ति द्वारा (मृगादिके मूत्राशय द्वारा) प्रयोग करना होता है, इस कारण इसको वस्ति कहते हैं।

मात्रावस्ति अनुवासनवस्तिका भेदमात्र है। इसकी मात्रा दो वा एक पल है। रूक्ष व्यक्ति, तीक्ष्णाग्निसम्पन्न व्यक्ति तथा जिनके केवल वायुप्रबल है, वे अनुवासनवस्तिके उपयुक्त हैं। कुष्ठरोगी, मेहरोगी, स्थूलकाय और उदररोगीके लिये अनुवासनवस्ति उपकारी नहीं है।

अजीर्णरोगी, उन्मादरोगी, तृष्णारोगी तथा शोथ, मूर्च्छा, अरुचि, भय, श्वास, कास और क्षयरोगाक्रान्त व्यक्तिके पक्षमें अनुवासन और आस्थापन ये दोनों ही प्रकारकी वस्ति प्रशस्त है।

सुवर्णादि धातु, वृक्ष, बांस, नल, दन्त, शृङ्गाग्र वा मणि आदि द्वारा नल प्रस्तुत करना होगा। वस्तिप्रयोगमें एकसे छः वर्षके रोगीके लिये ६ उँगलीका, ७ वर्षसे १२ वर्ष तकके लिये ८ उंगलीका, १२ वर्षसे ऊपर रोगियोंके लिये १२ उंगली लम्बा नल बनाना होगा। उस नलका छेद यथाक्रम मूंग, कलाय और बेरके बीजके बराबर होगा। उसका गोदुमाकार होना आवश्यक है। नलका मूल भाग गोदुमाकार बना कर मुखकी ओर क्रमशः सूक्ष्म करना होगा।

मृग, छाग, शूकर, गो अथवा महिषकी मूत्रकोष वस्ति द्वारा वस्तिकार्य करना होगा। सभी प्रकारकी वस्तिको कषायादि द्वारा रञ्जित कर लेना होगा। उसका मृदु, स्निग्ध अथच दृढ़ होना आवश्यक है। व्रणमें जो वस्तिप्रयोग किया जाता है, उसका नल श्लक्ष्ण और आठ अंगुल, परिणाहमें गृध्र पक्षीकी नलिकाके समान तथा छेद मूंगके बराबर बनाना होगा।

वस्तिके अच्छी तरह प्रयुक्त होनेसे शरीरका उपचय, वर्णकी उत्कर्षता, बल और आरोग्य तथा परमायुकी वृद्धि होती है। शीत और वसन्तकालमें दिनको स्नेहवस्ति तथा ग्रीष्म, वर्षा और शरत्कालमें अनुवासनवस्तिका प्रयोग न करे। क्योंकि एक समय स्नेहभोजन और अनुवासन दोनों प्रकारके स्नेह सेवित होनेसे मत्तता और मूर्च्छा होती है तथा अत्यन्त रुक्षद्रव्य भोजन करके भी अनुवासन करना उचित नहीं, करनेसे बल और वर्णका ह्रास होता है। अतएव सुचिकित्सकको चाहिये, कि स्निग्ध द्रव्य भोजन करा कर अनुवासन वस्तिका प्रयोग न करें।

वस्तिका प्रयोग करनेमें पहले मात्राके ऊपर विशेष लक्ष्य करना होगा। क्योंकि हीनमात्रामें वस्तिका प्रयोग करनेसे कोई फल नहीं होता तथा अधिक मात्रा होनेसे भी आनाह, क्लान्ति और अतीसार रोग उत्पन्न होता है।

अनुवासनवस्तिकी श्रेष्ठ मात्रा ६ पल, मध्यम मात्रा ३ पल और हीनमात्रा २ पल है। जिस स्नेह द्वारा वस्ति-प्रयोग करना होगा, उस स्नेहके साथ सोयाँ और सैन्धवका चूर्णको पूर्ण मात्रा ६ माशा, मध्यम मात्रा ४ माशा तथा हीनमात्रा २ माशा है।

विरेचनके बाद वस्तिप्रयोग करनेमें ७ दिनके बाद तथा शरीरमें बलोपचय होनेसे आहार करा कर सायंकालमें अनुवासनवस्तिका प्रयोग करना होगा। अनुवासनक्रिया करनेमें रोगीके शरीरमें तेल लगा कर कुछ उष्ण जल द्वारा स्नान करना और पीछे भोजनके बाद सौ कदम टहलना होगा। इसके बाद वायु, मूत्र और मलत्याग होनेसे स्नेहवस्तिका प्रयोग हितकर है।

जिस समय स्नेहवस्तिका प्रयोग करना होगा, उस समय रोगीको बाईं करवट सुलावे। पीछे उसकी बाईं जांघ फैला कर और दाहिनी जांघ सिकुड़ा कर गुह्यदेशमें स्नेह मुक्षण करे। अनन्तर चिकित्सक वस्तिके मुंहको सूत्र द्वारा बांध कर बायें हाथसे उसका मुंह पकड़े और दाहिने हाथसे गुह्यदेशमें योजना करके मध्य वेगसे पीड़न करे। तीस मात्रा काल इसी प्रकार पीड़न करना होगा। दूसरे समय कभी भी पीड़न करना उचित नहीं। वस्तिप्रयोगके समय जंभाई करना, खांसना, और हिचकना आदि मना है।

इस प्रकार स्नेह अन्तःप्रविष्ट होनेसे एक सौ वाक्य उच्चारण करनेमें जितना समय लगे, उतना समय रोगीको उत्तानभावमें सोना चाहिये। पहले जो मात्रा और कालका विषय कहा गया है, उसका निषय इस प्रकार स्थिर करना होता है—अपनी जांघ पर उंगली मटका कर हाथ घुमा कर उस जगह लानेमें जितना समय लगता है, उतने समयको एकमात्रा कहते हैं अथवा आँखके एक बार मूंदने और खोलनेमें या गुरुवर्णका उच्चारण करनेमें जितना समय लगता है, उतने समयका नाम मात्रा है।

अच्छी तरह वस्तिप्रयोग होनेसे वस्तिवीर्य्य सारे शरीरमें बहुत जल्द फैल जाय, इसके लिये चिकित्सकको चाहिये, कि वे रोगीकी दोनों जांघ और बाहुको तीन बार आकुञ्चन और तीन बार प्रसारण करें। इसके बाद रोगीके करतल, पदतल और कटिदेश इन सब स्थानोंमें हस्त द्वारा आघात तथा कटिदेश पकड़ कर शय्या पर तीन बार निक्षेप करे। दो पार्ष्णि द्वारा भी पूर्ववत् शय्या पर आघात करना होगा। इस प्रकार निरूहण कार्य्य

LIBRARY

सम्पन्न होनेसे रोगीको सुखशय्या पर शयन करा कर नींद लानेकी कोशिश करनी चाहिये।

अनुवासन क्रियाके बाद यदि बिना उपद्रवके वायु और मलके साथ स्नेह बहुत जल्द निकल आवे, तो उस व्यक्तिकी अनुवासनक्रिया अच्छी तरह हुई है, जानना होगा। इस प्रकार स्नेह निकलनेसे यदि भूख मालूम पड़े, तो सायंकालमें सुसिद्ध अन्न वा लघुद्रव्य खिलाना होगा। दूसरे दिन रोगीको उष्ण जल वा धनिये और सोंठका काढ़ा बना कर पिलाना होगा। इस नियमके अनुसार ६, ७, ८ वा ९ बार स्नेहवस्तिका प्रयोग कर पीछे निरूहवस्तिका प्रयोग करे।

पहले जो वस्तिप्रयोग किया जाता है उसके द्वारा मूत्राशय और वङ्क्षण स्निग्ध होता है। दूसरी बार शिरोगत वायु विनष्ट होती है, तीसरी बार बल और वर्णकी उत्कर्षता, चौथी बार रस, पाँचवीं बार रक्त, छठी बार मांस, सातवीं बार मेद, आठवीं बार अस्थि तथा नवमीं बार वस्तिप्रयोग द्वारा मज्जा स्निग्ध होती है। अठारह दिन यथाविधि वस्तिप्रयोग करनेसे शुक्रगत दोष प्रशमित होता है। प्रति अठारहवें दिनमें जो व्यक्ति नियमपूर्वक वस्तिक्रिया करता है वह हाथीके समान बलवान्, घोड़ेके समान वेगवान् और देवताके समान प्रभावशाली होता है।

रुक्षता और वायुका प्रकोप रहनेसे प्रति दिन स्नेहवस्तिका प्रयोग करे, किन्तु अन्यान्य स्थानोंमें अग्निमान्द्य होनेकी आशङ्कासे तीन दिनके अन्तर पर वस्तिप्रयोग कर्त्तव्य है। रुक्ष व्यक्तियोंको अल्पमात्रामें दीर्घकाल तक स्नेह प्रदान करनेसे जिस प्रकार कोई अनिष्ट नहीं होता, उसी प्रकार स्निग्ध व्यक्तियोंको अल्पमात्रामें निरूहवस्तिका प्रयोग करनेसे भी कोई अपकार न हो कर विशेष उपकार होता है।

वस्तिप्रयोग करनेसे यदि वह अच्छी तरह भीतर घुस कर प्रयोग करते ही बाहर निकल आवे, तो पुनर्वार पूर्वमात्रासे अल्प मात्रामें प्रयोग करे।

वमन विरेचनादि द्वारा यदि शरीरको शोधन न करके अनुवासनवस्ति प्रयोग किया जाय, तो उस स्नेहके मलके साथ संयुक्त हो कर बाहर न निकलनेसे शरीरकी अवसन्नता, उदराध्मान, शूल, श्वास तथा पक्वाशयमें गुरुत्व उपस्थित होता है। ऐसी हालतमें निरूहवस्ति अथवा तीक्ष्ण औषधके साथ तीक्ष्णफलवर्त्तिका प्रयोग करे। वायुका अनुलोमकारक, मलशोधक, अथच स्निग्धकारक विरेचन तथा तीक्ष्ण नस्य भी इस अवस्थामें प्रशस्त है।

स्नेहवस्तिके नहीं निकलनेसे यदि कोई उपद्रव न हो, तो जानना चायिये, कि रुक्षतासे प्रयुक्त हो वह न निकलेगी। अतएव उस समय किसी प्रकार प्रतीकारकी चेष्टा न करनी चाहिये। एक दिन रातकी अपेक्षा करनी होगी, यदि उसमेंसे स्नेह न निकले, तो संशोधक औषध द्वारा दोषको शान्ति करे। किन्तु स्नेह निकालनेके लिये फिरसे स्नेहका प्रयोग न करना होगा, करनेसे विशेष अनिष्ट होता है। गुलञ्च, एरण्ड, पूतिकरञ्ज, अड़ूस कत्तृण, शतमूली, झिण्टी और काकजङ्घा प्रत्येक एक पल, जौ, उड़द, तीसी, बेर और कुलथी, दो दो पल, इन्हें एक साथ मिला कर चार द्रोण जलसे सिद्ध करे। पीछे एक द्रोण (६४ सेर) शेष रहते उतार कर उससे १६ सेर तैलपाक करे। कल्कार्थ जीवनीयगणकी औषध प्रत्येक एक पल करके ग्रहण करे। इस तेलसे यदि अनुवासनवस्तिका प्रयोग किया जाय, तो सभी प्रकारके वातजरोग विनष्ट होते हैं।

अनुपयुक्त नलादि द्रव्य द्वारा वस्तिक्रियाके दोषसे अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं, इस कारण विशेष सावधान हो कर वस्तिक्रिया करे। स्नेहपानसे आहारादिकी जो व्यवस्था है, इसमें भी उसी व्यवस्थाके अनुसार चले।

निरूहवस्ति—निरूहवस्ति कारणभेदसे अनेक प्रकारकी है। यह दोष और धातुओंको यथास्थानमें स्थापन करती है, इस कारण इसका एक नाम आस्थापन है। निरूहवस्तिकी श्रेष्ठमात्रा १। प्रस्थ (ढाई सेर), मध्य मात्रा १ प्रस्थ (दो सेर) और हीनमात्रा डेढ़ सेर है।

जो व्यक्ति अत्यन्त स्निग्ध, उत्क्लिष्ट दोषसम्पन्न, उरःक्षतरोगाक्रान्त, कृश तथा उदराध्मान, वमि, हिक्का, अर्श, कास, श्वास, गुह्य रोग, शोथ, अतीसार, विसूचिका, कुष्ठ, मधुमेह और जलोदरादि रोगाभिभूत व्यक्ति एवं गर्भवती स्त्रीको आस्थापन प्रयोग न करे।

जो व्यक्ति वातव्याधि, उदावर्त, वातरक्त, विषमज्वर, मूर्च्छा, तृष्णा, उदर, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, वृद्धि, असृक्‌दर. मन्दाग्नि, प्रमेह, शूल, अम्लपित्त तथा हृद्रोगाक्रान्त हैं, वे यथाविधान निरूहवस्तिका प्रयोग करें।

वायु, मल और मूत्र परित्यागके बाद स्नेहाभ्यङ्ग और उष्ण जलमें स्नान करा कर क्षुधित अवस्थामें दो पहरको घरके मध्य रख यथायोग्य निरूहणका प्रयोग करे। निरूहवस्ति अच्छी तरह प्रयोजित होनेसे मुहूर्त्त काल तक जब बाहर न निकले, तब तक उत्कट भावमें बैठा रहे यदि मुहूर्त्त कालके अन्तमें भी वहिर्गत न हो, तो शोधक औषध वा क्षार, मूत्र, अम्ल और सैन्धव द्वारा फिरसे निरूहवस्तिका प्रयोग करे।

कफ, पित्त, वायु और मल क्रमान्वय वहिर्गत हो कर शरीर जब हल्का हो जाता है, तब उसे सुनिरूह कहते हैं तथा जिसके वस्तिवेगकी अल्पताके कारण मल निःसारण न हो कर मूत्ररोग जड़ता और अरुचि उत्पन्न होती है, उसको दुर्निरूह कहते हैं। आस्थापन और स्नेहवस्तिका अच्छी तरह प्रयोग होनेसे वस्ति द्वारा प्रक्षिप्त औषध निःसरण, मनस्तुष्टि, देहकी स्निग्धता और व्याधि प्रशमित होती है। इस नियमसे दो बार, तीन बार वा चार बार यथोपयुक्त विवेचना करके पण्डितोंको निरूहवस्तिका प्रयोग करना चाहिये।

निरूहवस्ति वायुरोगमें उष्ण स्नेहके साथ एक बार, पैत्तिक व्याधिमें उष्ण दुग्धके साथ दो बार तथा श्लैष्मिक रोगमें उष्ण, कषाय, कटु और मूत्रादिके साथ तीन बार प्रयोग करे। उक्त प्रकारसे निरूहवस्तिका प्रदान कर पैत्तिक व्याधि सम्पन्नको दुग्ध, श्लैष्मिक व्याधिसम्पन्नको यूष और वायुरोगसम्पन्नको मांसरसके साथ भोजन करा कर पीछे अनुवासनप्रयोग करना होता है।

सुकुमार, वृद्ध तथा बालकोंके लिये मृदुवस्ति हितकारक है। इन्हें तीक्ष्नवस्तिका प्रयोग करनेसे उनके बल और परमायुका ह्रास होता है। पहले उत्क्लेशन वस्ति, मध्यमें दोषहर वस्ति तथा पश्चात् संशमनीय वस्तिका प्रयोग करना उचित है।

उत्क्लेशनवस्ति—एरण्डबीज, यष्टिमधु, पिप्पली, सैन्धव, वच तथा हबुषा फलके कल्क द्वारा जो वस्तिप्रयोग किया जाता है, उसे उत्क्लेशन वस्ति कहते हैं। दोषहर वस्ति—शतमूली, यष्टिमधु, बिल्व तथा इन्द्रजौ इन सब द्रव्योंको कांजी और गोमूत्रके साथ मिला कर जो वस्तिप्रयोग किया जाता है, उसका नाम दोषहर वस्ति है। संशमनीय वस्ति—प्रियंगु, यष्टिमधु, मुस्तक और रसांजन, इन्हें दूधके साथ मिला कर जो वस्ति प्रयोग किया जाता है, उसे संशमनीय वस्ति कहते हैं। लेखनवस्ति—त्रिफलाके क्राथ, गोमूत्र, मधु तथा यवक्षारके साथ उषणादिगणका चूर्ण प्रक्षेप दे कर उससे जो वस्तिप्रयोग किया जाता है, उसको लेखनवस्ति कहते हैं।

बृंहणवस्ति—बृंहण द्रव्यके क्वाथ और जीवनीयगणके कल्कके साथ घृत और मांसरस मिला कर उससे जो वस्तिप्रयोग किया जाता है, उसका नाम बृंहणवस्ति है।

पिच्छिलवस्ति—भूमिकुष्माण्ड, नारंगी, बहुवारक तथा शाल्मली पुष्पके अंकुर इन सब द्रव्योंको दूधके साथ सिद्ध कर मधु और रक्त मिला जो वस्तिप्रयोग किया जाता है, उसे पिच्छिलवस्ति कहते हैं। छाग, मेष और कृष्णसार इनका रक्त ग्रहण करना होता है। इसकी मात्रा बारह पल अर्थात् डेढ़ सेर है।

निरूहवस्तिका स्नेह बनानेका बिधान—पहले २ तोला सैन्धक और ४ पल मधु एक साथ मिला कर पीछे ६ पल स्नेह, २ पल कल्क द्रव्य, ८ पल क्वाथ तथा ४ पल प्रक्षेपका द्रव्य इन्हें एकत्र मथ कर उससे निरूहवस्ति प्रदान करे। उक्त प्रणालीसे प्रस्तुत सामग्रीका परिमाण कुल २४ पल होगा।

वातजन्य रोगमें ४ पल मधु और ६ पल स्नेह, पित्तज रोगमें ४ पल मधु और ३ पल स्नेह तथा कफज रोगमें ६ पल मधु और ४ पल स्नेह द्वारा निरूहवस्तिका प्रयोग करे।

मधु तैलवस्ति—एरण्डक्काथ ८ पल, मधु और तैल दोनों मिला कर ८ पल, शतपुष्पा आध पल तथा सैन्धव आध पल इन सब द्रव्योंको एकत्र कर एक काष्ठखण्ड द्वारा अच्छी तरह घोंट कर जो वस्तिप्रयोग किया जाता है, उसे मधुतैलवस्ति कहते हैं। इस वस्ति द्वारा मेद, गुल्म, क्रमि, प्लीहा, मल और उदावर्त नष्ट होता तथा शरीर

उपचित बल, वर्ण, शुक्र और अग्निकी वृद्धि होती है।

यापनवस्ति—मधु, घृत और दुग्ध प्रत्येक २ पल तथा हबूषा और सैन्धव प्रत्येक २ तोला ले कर अच्छी तरह घोंटे। इससे जो वस्तिप्रयोग किया जाता है, उसे यापनवस्ति कहते हैं।

युक्तरथोवस्ति—एरण्ड मूलका क्वाथ, मधु, तैल सैन्धव, वच तथा पिप्पली इन सब द्रव्योंको एकत्र कर उससे जो वस्तिप्रयोग किया जाता है, उसे युक्तरथोवस्ति कहते हैं।

सिद्धवस्ति—पञ्चमूलका क्वाथ, तैल, पिप्पली, मधु, सैन्धव तथा यष्टिमधु इन सबको एकत्र कर जो वस्तिप्रयोग किया जाता है, उसको सिद्धवस्ति कहते हैं।

निरूहवस्ति प्रयोगके बाद उष्ण जलमें स्नान करे, दिनको न सोवे और अजीर्ण जनक वस्तु न खावे।

उत्तरवस्ति—उत्तरवस्तिनल १२ अंगुल लम्बा होगा तथा उस नलके मध्यदेशमें एक कर्णिका (गोकर्णादिवत्) बनानी होगी। नलका अग्रभाग मालती पुष्पके वृन्तकी तरह तथा छेद ऐसा होना चाहिये, कि उसके मध्य हो कर एक सरसों निकल सके।

पचीस वर्षसे कम उमरवाले व्यक्तिके लिये स्नेहकी मात्रा ४ तोला तथा उससे ऊपरवालेके लिये ८ तोला बतलाई गई है। रोगीको पहले आस्थापन द्वारा शोधन करके स्नान करावे। पीछे तृप्तिके साथ भोजन करा कर आसन पर घुटना टेक बैठावे। इसके बाद स्नेहसिक्त शलाका द्वारा पहले अन्वेषण करके पीछे घृतप्रक्षित नल लिङ्गके मध्य धीरे धीरे प्रवेश करावे। ६ अंगुल प्रविष्ट होनेसे वस्तिपीड़न होगा। पीछे नलको धीरे धीरे बाहर कर लेना होगा। अनन्तर स्नेह प्रत्यागत होनेसे स्नेहवस्तिके विधानानुसार क्रिया करनी होगी।

स्त्रियोंके लिये दश अंगुल लम्बा तथा कनिष्ठांगुलिके समान टोटा बना कर नल प्रस्तुत करे। उसका छेद मूंगके बराबर होगा। इसके अपथ्यपथमें चार अंगुलका तथा मूत्रकृच्छ्रमें उसीकी तरह सूक्ष्म नल प्रस्तुत करके २ अंगुल भर प्रवेश करा कर वस्ति प्रयोग करे। बालकोंके मूत्रकृच्छ्र रोगमें एक अंगुलका नल काममें लावे। चिकित्सक स्त्रियोंकी योनिमें सूक्ष्म नल धीरे धीरे प्रवेश करावे; पर जिससे वह कम्पित न हो, इस पर विशेष ध्यान रहे। नलकी आकृति मालती पुष्पके वृन्तके समान होनी चाहिये। गर्भाशय शोधनके लिये स्नेह दो पल तथा मूत्रकृच्छ्रके लिये एक पलका प्रयोग करे।

स्त्रियोंको उत्तरवस्ति प्रयोग करनेमें पहले उत्तान भावमें सुला कर दोनों घुटने उठा कर वस्ति प्रयोग करे। उस उत्तरवस्तिका यदि वहिर्निःसरण न हो, तो पुनर्वार संशोधक द्रव्यके साथ वस्ति प्रदान करे। अथवा योनिमार्गमें मूत्रनिःसारक अथच स्निग्ध संशोधक द्रव्यसंयुक्त दृढ़ नलवर्त्तिका प्रयोग करे।

वस्तिक्रिया द्वारा किसी स्थानमें दाह उपस्थित होनेसे क्षीरी वृक्षके क्वाथ और शीतल जल द्वारा फिरसे वस्तिका प्रयोग करे। वस्ति प्रयोग द्वारा पुरुषके शुक्रदोष तथा स्त्रियोंके आर्त्तव दोष विनष्ट होते हैं। किन्तु प्रमेह रोगाक्रान्त व्यक्तिको कभी भी उत्तरवस्तिका प्रयोग न करे। (भावप्र० पूर्वख०) निरूह शब्द देखो।

वस्तिक (सं० पु०) पिचकारी।

वस्तिकर्म (सं० पु०) लिङ्गेन्द्रिय, गुदेन्द्रिय आदि मार्गोंमें पिचकारी देनेकी क्रिया।

वस्तिकर्माढ्य (सं० पु०) वस्ति कर्मणा तच्छोधनव्यापारेण आढ्यः, वस्तिशोधने एवास्य प्रचुरकार्यकरत्वात् तथात्वं। अरिष्ट वृक्ष, रीठेका पेड़।

वस्तिकुण्डलिका (सं० स्त्री०) मूत्राघात रोगभेद। इसका लक्षण—जब द्रुतवेगसे पथगमन, परिश्रम, अभिघात और पीड़न द्वारा मूत्राशय अपने स्थानसे ऊपरको उठ कर गर्भकी तरह स्थूल हो जाता है, तब शूल, स्पन्दन और दाहके साथ थोड़ा थोड़ा मूत्र निकलता है। नाभिके अधोदेशमें पीड़न करनेसे धारावाहिकरूपमें मूत्र निकलने लगता है तथा रोगी स्तब्धता और उद्वेष्टन द्वारा पीड़ित होता है। मूत्राघात रोगमें ये सब लक्षण दिखाई देनेसे उसे वस्तिकुण्डलिका कहते हैं। इस रोगमें प्रायः वायुकी ही अधिकता रहती है। यह शस्त्र और विषकी तरह भयङ्कर होता है। इस रोगके उत्पन्न होते ही चिकित्सकको चाहिये, कि बड़ी सावधानीसे चिकित्सा करे। इस रोगमें पित्ताधिक्य होनेसे दाह, शूल और विवर्ण होता है। कफकी अधिकता होनेसे देहकी गुरुता

और शोथ, स्निग्ध, सफेद साथ साथ गाढ़ा मूत्र निकलता है।

वस्तिकुण्डलिका रोगमें यदि वस्तिका मुखरन्ध्र कफ कर्त्तृक आवृत अथवा वस्तिमें पित्त जमा हो जाय, तो उसे असाध्य समझना चाहिये। यदि इस रोगमें वस्तिका मुखरन्ध्र कफ कर्त्तृक आवृत और वस्तिके मध्य वायु कुण्डलीभूत हो कर न रहे, तो रोगको साध्य समझना चाहिये। वस्तिके मध्य वायुके कुण्डलीभूत हो कर रहनेसे रोगीको पिपासा, मोह और श्वास उपस्थित होता है।
(भावप्र० मूत्राघातरोगाधिक)

वस्तिबिल (सं० क्ली०) वस्तिद्वार, मूत्रद्वार।

वस्तिमल (सं० क्ली०) मूत्र।

वस्तिवात (सं० पु०) एक मूत्ररोग। इसमें वायु विगड़ कर वस्ति (पेड़ू)में मूत्रको रोक देता है।

वस्तिशीर्ष (सं० क्ली०) प्रत्यङ्गविशेष, पेड़ूका ऊपरी भाग।

वस्तिशूल (सं० क्ली०) वस्तिवेदना, पेड़ूमें दर्द होना।

वस्तिशोधन (सं० क्ली०) १ मदन फल, मैनफल। २ मदन वृक्ष, मैनफलका पेड़।

वस्तु (सं० स्त्री०) वसतीति वस् (वसेस्तुन्। उण् १।७६) इति तुन्। १ द्रव्य, चीज। २ वह जिसका अस्तित्व हो, वह जिसकी सत्ता हो, वह जो सचमुच हो। जैसे,—डर कोई वस्तु नहीं। ३ पदार्थ। नैयायिकोंके मतसे परिदृश्यमान जगत्में दो प्रकारकी वस्तु होती हैं—भाव और अभाव। लेकिन वेदान्तदर्शनके अनुसार जगत्में वस्तु एक है सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म ही वस्तु हैं। ब्रह्मके सिवाय और वस्तु नहीं है। अज्ञान आदि जड़समूह अवस्तु है। (वेदान्तसार) ४ कार्य। ५ अर्थ। (कुमार० ५।६५ मल्लिनाथ) ६ इतिवृत्त, वृत्तान्त। ७ सत्पात्र। ८ सत्य। ९ नाटकका कथन या आख्यान, कथावस्तु। नाटकीय कथावस्तु दो प्रकारकी कही गई है—अधिकारिक जिसमें नायकका चरित्र हो और प्रासङ्गिक जिसमें नायकके अतिरिक्त और किसीका चरित्र बीचमें आ गया हो। नाटक देखो।

वस्तुक (सं० क्ली०) वस्तु संज्ञायां कन्। वास्तुक शाक, बथुआ नामका साग।

वस्तुकी (सं० क्ली०) वस्तुक गौरादित्वात् ङीष्। वास्तुक शाक, बथुआ नामका साग।

वस्तुज्ञान (सं० पु०) १ किसी वस्तुकी पहचान। २ मूल तथ्यका बोध, सत्यकी जानकारी, तत्त्वज्ञान।

वस्तुतः (सं० अव्य०) यथार्थतः, सचमुच, असलमें।

वस्तुता (सं० स्त्री०) वस्तु भावे तल् टाप्। वस्तुका भाव या धर्म, वस्तुत्व।

वस्तुधर्म (सं० पु०) वस्तुका धर्म, वस्तुत्व।

वस्तुनिर्देश (सं० पु०) मङ्गलाचरणका एक भेद जिसमें कथाका कुछ आभास दे दिया जाता है।

वस्तुपाल (सं० पु०) सुराष्ट्रके एक प्रसिद्ध जैन-कवि।

वस्तुबल (सं० क्ली०) वस्तुका गुण।

वस्तुभाव (सं० पु०) वस्तुका धर्म या रूप।

वस्तुभेद (सं० पु०) वस्तुका प्रकार।

वस्तुवाद (सं० पु०) वह दार्शनिक सिद्धान्त जिसमें जगत् जैसा दृश्य है, उसी रूपमें उसकी सत्ता मानी जाती है। जैसे—न्याय और वैशेषिक। यह सिद्धान्त अद्वैतवादका विरोधी है जिसमें नामरूपात्मक जगत्की सत्ता मानी जाती।

वस्तुविचार (सं० पु०) वस्तुका गुण निर्द्धारण।

वस्तुविवर्त्त (सं० क्ली०) वेदान्तके मतसे याथार्थ्यका विवर्त्त।

वस्तुशक्ति (सं० स्त्री०) वस्तुकी शक्ति।

वस्तुशासन (सं० क्ली०) वस्तुनिर्णय।

वस्तुशून्य (सं० स्त्री०) द्रव्यहीन।

वस्तूत्थापन (सं० क्ली०) भोजवाजीतमें वस्तुका रूपान्तर करना।

वस्तूपमा (सं० स्त्री०) उपमालङ्कारभेद।

वस्त्य (सं० क्ली०) वस-क्तिन् वस्तिर्वासस्तस्यां साधु वस्ति इति यत्। (तत्र साधुः। पा ४।४।९७) गृह, घर, बसनेको जगह।

वस्त्र (सं० क्ली०) वस्यते आच्छाद्यते अनेनेति वस आच्छादने ष्ट्रन् (सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्। उण् ४।१५८) परिधानादिके उपयुक्त कार्पाससूत्रादि प्रस्तुत वस्तु, कपड़ा। पर्याय—आच्छादन, वासस्, चेल, वसन, अंशुक, (अमर) सिचय, प्रोत, लक्तक, कर्पट, शाटक, कशिपु, (जटाधर)

वासन, द्विचय, छाद, वास। (शब्दरत्ना०) धर्मशास्त्रकार भृगुने वस्त्रकी परिधानविधिके सम्बन्धमें कहा है, कि विकक्ष अर्थात् काछ लगाये विना, उत्तरीयहीन, आधा नंगा वा बिलकुल नंगा हो कर कोई श्रौत वा स्मार्त्त कर्म न करना चाहिये।

परिधानके बाहर यदि काछ लगा रहे, तो वह आसुरी प्रथा हो जाती है, इस कारण सम्पूर्ण संवृतकच्छ होना ही उचित है। "परीधानाद्बहिः कक्षा निवन्धा ह्यासुरी भवेत्।" (स्मृति) बौधायनके मतसे बाईं ओर, पृष्ठ और नाभि इन तीन स्थानोंमें तीन कक्ष हैं, इन तीन कक्षोंको ठीक करके जो ब्राह्मण वस्त्र पहनते हैं, वे शुचि होते हैं।

प्रचेताका कहना है, कि जो वस्त्र नाभिदेशमें पहननेसे दोनों घुटने तक लटकता है, उसका नाम अन्तरीय है। यह वस्त्र उत्तम है। यह अच्छिन्न होना आवश्यक है।

स्मृतिशास्त्रमें लिखा है, "दशा नाभौ प्रयोजयेत्। नस्यात् कर्मणि कञ्चुकीति। उत्तरीयधारणं चोपवीतवत्" अर्थात् दशा वा वस्त्रका प्रान्तभाग नाभिदेशमें खोंस दे। कञ्चुकी हो कर अर्थात् किसी प्रकारका अंगरखा पहन कर कोई विहित कर्म न करे, कर्मकालीन उपवीतवत् पवित्र उत्तरीय धारण करे।

पूर्वोक्त भृगुके वर्णनानुसार मालूम होता है, कि सभीको दो दो वस्त्र अर्थात् परिधेय और उत्तरीय धारण करना चाहिये।

वस्त्रधारणके गुण—निर्मल वस्त्र पहननेसे कामोद्दीपन, प्रशंसालाभ, दीर्घायु, अलक्ष्मीनाश तथा आत्मप्रसाद होता है। इससे शरीरकी शोभा बढ़ती और पहननेवाला सभ्यसमाजमें जाने लायक होता है।

स्नानके बाद कपड़े ले शरीरको अच्छी तरह मलना चाहिये। इससे देहकी कान्ति खुलती है तथा देहके अनेक कण्डुदोष जाते रहते हैं। सभी प्रकारका कौषेय वस्त्र अर्थात् पट्टवस्त्र वा तसर-वस्त्र अथवा चित्रवस्त्र और रक्तवस्त्र शीतकालमें पहनना उचित है। क्योंकि इससे वात और श्लेष्मकोप प्रशमित होता है। पवित्र सुशीतकाषाय वस्त्र पित्तहर है, इसलिये उसे ग्रीष्मकालमें पहना उचित है। यह वस्त्र जितना ही हलका होगा उतना ही अच्छा है। शीतातपनिवारणमें शुक्लवस्त्र न तो शुभद है और न उष्ण ही है। ऐसा वस्त्र वर्षामें व्यवहार करना होता है। मनुष्यको मैला कपड़ा कभी न पहनना चाहिये। इससे कण्डू और कृमि उत्पन्न होते हैं तथा वह ग्लानिकर और लक्ष्मीभाग्यहर है।

स्वप्नयोगमें वस्त्रादि दर्शन एकान्त शुभप्रद है। कन्या, शुक्लवस्त्र-परिधायी गौर वर्ण चंचल छोटे छोटे लड़केको, छत्र, दर्पण, विष और आमिष तथा शुक्लवर्णके पुष्प, वस्त्र और अपवित्र आलेपनको स्वप्नमें देखनेसे आयु आरोग्य तथा बहुवित्त लाभ होता है। (वाभट शरीरस्थान ६ अ०)

नववस्त्र शास्त्रानुसार दिन देख कर पहनना होता है। अशास्त्रीय दिनमें पहननेसे अशुभ होता है। ज्योतिस्तत्त्वमें लिखा है, कि अपने जन्मनक्षत्रमें और अनुराधा, विशाखा, हस्ता, चित्रा आदि कुछ विहित नक्षत्रोंमें तथा वृहस्पति, शुक्र और बुध दिनमें वा किसी उत्सवमें नया वस्त्र पहनना चाहिये। (ज्योतिस्तत्त्व)

दिन न देख कर जिस किसी दिनमें नया वस्त्र पहननेसे नाना प्रकारका अमङ्गल होता है, विहित दिनमें नया वस्त्र पहननेसे उसका विपरीत फल अर्थात् मङ्गललाभ अवश्यम्भावी है। कर्मलोचनमें लिखा है, कि रविवारको नया वस्त्र पहननेसे अल्प धन, सोमवारको व्रण तथा मङ्गलवारको नाना क्लेश होता है। फिर विहित दिनमें अर्थात् बुध, वृहस्पति और शुक्रवारमें नव वस्त्र पहननेसे यथाक्रम प्रभूत वस्त्र लाभ, विद्या और वित्त समागम तथा नाना प्रकारका भोगसुख, प्रमोद और शय्यालाभ होता है। इन्हें छोड़ कर शनिवारको नववस्त्र कदापि न पहनना चाहिये, पहननेसे रोग, शोक और कलह हमेशा हुआ करता है।

मलिन वस्त्रको क्षारसे परिष्कार करना उचित है। फिर यह क्षार भी दिन कुदिन देख कर काममें लाना होता है। क्योंकि निषिद्ध दिनमें क्षार मिलानेसे वस्त्र स्वामीके सात कुल दग्ध हो जाते हैं। वस्त्रमें क्षार मिलानेके निषिद्ध दिन ये सब हैं, शनि और मङ्गल, षष्ठी और द्वादशी तथा श्राद्धदिन।

वराहमिहिरको वृहत्संहितामें लिखा है, कि वस्त्रके

सभी कोणोंमें देवताओंका तथा उसके दशान्त और पाशान्तमें नरगणका वास है। अवशिष्ट तीन अंशोंमें निशाचरगण वास करते हैं। नया वा पुराना कपड़ा यदि काली, गोबर वा कीचड़से लिप्त हो अथवा छिन्न, प्रदग्ध वा स्फुटित हो जाय, तो सुपुष्ट, शुभ वा अशुभ फल अल्प, अल्पतर वा अधिक होनेकी सम्भावना है। उत्तर वस्त्र इस प्रकार होनेसे भी उक्त शुभाशुभ फल हुआ करता है। वस्त्रका जो भाग राक्षसाधिकृत है, वह उक्त प्रकारका होनेसे रोग वा मृत्यु होती है। मनुष्य भाग वैसा होनेसे पुत्रलाभ तथा तेजकी वृद्धि एवं देवभाग वैसा होनेसे भोगकी वृद्धि होती है। किन्तु प्रान्त भाग यदि वैसा ही हो, तो अनिष्ट होनेकी ही विशेष सम्भावना है।

वस्त्रके देवाधिकृत छिन्न अंशमें यदि कङ्क, प्लव, उलूक, कपोत, काक, क्रव्याद, गोमायु, खर, उष्ट्र वा सर्प तुल्य आकार दिखाई दे, तो पुरुषको मृत्युके समान भय उपस्थित होता है। वस्त्रके राक्षसाधिकृत छिन्न अंशमें छत्र, ध्वज, स्वस्तिक, वर्द्धमान, श्रीवृक्ष, कुन्द, अम्बुज और तोरण आदिका आकार दिखाई देनेसे थोड़े ही दिनोंमें पुरुषोंके लक्ष्मीलाभ होता है।

मनुष्य जब नववस्त्र पहनते हैं, तब चन्द्र अश्विनी नक्षत्रगत होनेसे प्रभूत वस्त्रलाभ, भरणीगत होनेसे अपहरण-भय, कृत्तिकागत होनेसे अग्निभय तथा रोहिणीगत होनेसे उन्हें अर्थसिद्धि होती है। इसके सिवा मृगशिरामें मूषिकभय, आर्द्रा नक्षत्रमें प्राणहानि, पुनर्वसुमें शुभागमन तथा पुष्या नक्षत्रमें धनलाभ होता है। अश्लेषामें विलोप, मघामें मृत्यु, पूर्व-फल्गुनीमें राजभय तथा उत्तर-फल्गुनीमें धनागम होता है। हस्तामें कर्मसिद्धि, चित्रामें शुभागम, स्वाती नक्षत्रमें शुभभोज्यकी प्राप्ति तथा विशाखामें जनप्रियता होती है। अनुराधामें सुहृत् समागम, ज्येष्ठामें वस्त्रक्षय, मूलामें जलप्लावन तथा पूर्वाषाढ़ामें नाना रोग उत्पन्न होते हैं। उत्तराषाढ़ा नक्षत्रमें मिष्ट अन्न, श्रवणामें नेत्ररोग, धनिष्ठामें धान्यलाभ और शतभिषामें विषकृत महाभय उपस्थित होता है। पूर्वभाद्रपदमें जलभय, उत्तर-भाद्रपदमें पुत्रलाभ और रेवतीमें रत्नलाभकी सम्भावना है।

जो उल्लिखित नक्षत्रमें नववस्त्र पहनते हैं, उन्हें उक्त फलाफल हुआ करता है। किन्तु नक्षत्रोंके गुणवर्जित वा अमङ्गलहर होनेसे भी ब्राह्मणकी आज्ञासे उन सब नक्षत्रोंमें नववस्त्र परिधान इष्टफलप्रद होता है। इसके सिवा राजाओंका दिया हुआ वा विवाह-विधिलब्ध वस्त्र भोग भी सुफलप्रद माना गया है, कहनेका तात्पर्य यह कि विवाहमें, राजसम्मानमें तथा ब्राह्मणोंकी आज्ञासे गुणवर्जित अप्रशस्त नक्षत्रमें भी नववस्त्र पहना जा सकता है। (वृहत्स० ७१ अ०)

वस्त्र दान करनेसे अशेष फल होता है। शुद्धितत्त्वमें लिखा है, कि वस्त्रदानकर्त्ता चन्द्रलोकमें जाते हैं।

जो ब्राह्मणोंको उत्तम वस्त्र दान करते हैं, अन्तमें उनके पथ सुललित-शीतल तथा वस्त्र भी गन्ध परिपूर्ण होते हैं।

अग्निपुराणके यम और शर्मिलोपाख्यानमें इस वस्त्रदानका पुण्यमाहात्म्य लिखा है। विस्तार हो जानेके भयसे यहां पर नहीं लिखा गया।

सर्वदेवदेवीकी पूजामें वस्त्रदान आवश्यक है। किन्तु किस पूजामें कौन वस्त्र विहित वा निषिद्ध है, शास्त्रानुसार वह जान कर यदि देवोद्देशसे दान किया जाय वा उसे पहन कर पूजा की जाय, तो प्रकृत पूजाका फललाभ होता है।

अग्निपुराणके क्रियायोग नामक अध्यायमें लिखा है, कि दुकूल, पट्ट, कौषेय' वाल्कल और कार्पास आदि प्रिय और सुखकर अच्छे अच्छे वस्त्र द्वारा विष्णुकी पूजा करनी होती है।

किन्तु इस विष्णुपूजामें नील, रक्त वा अपवित्र वस्त्र पहनना निषिद्ध है। पूजक यदि नील, रक्त वा अन्यान्य अपवित्र वस्त्र पहन कर विष्णुपूजा करें, तो शास्त्रशासनसे उन्हें अपराधी होना पड़ता है। उस अपराधका विशेष विशेष प्रायश्चित्त कहा गया है। वह प्रायश्चित्त करके पूजक निरपराध वा निष्पाप हो सकते हैं।

वराहपुराणमें भगवान्‌ने स्वयं कहा है, कि जो व्यक्ति नील वस्त्र पहन कर मेरी पूजा करता है, उसे अन्तमें पांच सौ वर्ष तक कृमि हो कर रहना पड़ेगा। किन्तु इस अपराध शोधनका प्रायश्चित्त है। वह प्रायश्चित्त सिर्फ

चान्द्रायणव्रत है। चान्द्रायण करनेसे ही वह व्यक्ति उक्त पाप वा अपराधसे मुक्त हो सकता है।

इस प्रकार रक्त वस्त्र पहन कर भी विष्णुपूजादि करना निषिद्ध है। उक्त वराहपुराणमें दूसरी जगह लिखा है, कि रक्त वस्त्र पहन कर विष्णुपूजा करनेसे रजस्वला स्त्रियोंके जो रक्त मोक्षण होता है उस रक्तसे लिप्ताङ्ग हो कर उक्त पूजकको पन्द्रह वर्ष तक नरकमें वास करना पड़ेगा। इस अपराध-शोधनका प्रायश्चित्त है—सत्तरह दिन एकाहार, तीन दिन वायुभक्षण तथा एक दिन जलाहार।

काला वस्त्र पहन कर भी विष्णुपूजादि नहीं करनी चाहिये। करनेसे पूजकको पहले पांच वर्ष तक घून हो कर जन्म लेना पड़ेगा, पीछे कोई काष्ठभक्षक कीट, उसके बाद चौदह वर्ष तक पारावत योनिका भोग करना होगा। इस जन्ममें उक्त व्यक्तिको सित पारावत हो कर किसी प्रतिष्ठित विष्णुविग्रहके पास ही वास करना पड़ेगा। इस अपराधका प्रायश्चित्त है सात दिन तक यावक भक्षण तथा तीन रात सिर्फ तीन शक्तुपिण्ड भोजन। इस प्रकार प्रायश्चित्त करने हीसे उसके पाप दूर होंगे।

अधौत वस्त्र पहन कर विष्णुपूजादि करना मना है। इसमें भी अपराध है। अपराधीको उन्मत्त हाथी, ऊँट, गदहे, गीदड़, घोड़े, सारङ्ग और मृगयोनिमें जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार सात जन्मके बाद अन्तमें मनुष्य योनि लाभ होनेसे वह विष्णुभक्त और गुणज्ञ होगा। इसीसे उसका अपराध जाता रहेगा। किन्तु इस जन्ममें ही इस प्रकार अपराध-मोचनका प्रायश्चित्त है। भक्तियुक्त हो कर उसका अनुष्ठान करना पड़ेगा। इसका प्रायश्चित्त है तीन दिन यावक भोजन और तीन दिन पिण्याक भोजन। इसके सिवा तीन दिन कणभक्ष हो कर तथा तीन दिन पायस खा कर बिताना होगा। प्रायश्चित्त द्वारा पापक्षय होने हीसे मुक्तिका पथ उन्मुक्त हो जायगा।

दूसरेका वस्त्र पहन कर भी विष्णुकी पूजा आदि नहीं करनी चाहिए। करनेसे अपराधी होना पड़ता है। इतना ही क्यों इस अपराधके फलसे इक्कीस वर्ष तक मृगयोनिका भोग करना होता है। पीछे एक जन्म लंगड़ा रह कर मूर्ख और क्रोधन हो कर समय व्यतीत करना होगा। किन्तु इस अपराधसे मुक्ति पानेका प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त करते जानेमें विष्णुमें अटल भक्ति हो, थोड़ा भोजन करे। माघ मासके शुक्लपक्षीय द्वादशीके दिन क्षान्त, दान्त और जितेन्द्रिय भावसे अनन्यमनसे विष्णुध्यानमें मग्न हो जलाशय पर अवस्थान करे। पीछे जब रात बीत जाय और सूर्य उदय हों, तब पञ्चगव्य खा कर अचिरात् सर्व किल्बिषसे मुक्त होंगे।

दशान्वित वस्त्र पहनने की ही विधि है। दशाहीन वस्त्र अवैध है, वह धर्म-कर्ममें उपयुक्त नहीं होता। वस्त्रविशेष प्रतिग्रह करने पर उसका प्रायश्चित्त करना पड़ता है। हारीत कहते हैं, कि "मणिवासोपवादीनां प्रतिग्रहे सावित्र्यष्टशतं जपेत्।" 'अष्टसहस्रं अष्टोत्तरसहस्रमिति'। (शुद्धितत्त्व)

कालिकापुराणमें लिखा है—कपास, कम्बल, वल्कल और कौषेयज, ये सब वस्त्र देवोद्देशसे समन्त्रक पूजा करके उत्सर्ग करेंगे। किन्तु जो वस्त्र दशाहीन, मलिन, जीर्ण, छिन्न, परकीय, मूषिकदष्ट, सूचीविद्ध, व्यवहृत, केशयुत, अधौत किंवा श्लेष्मा तथा मूत्रादि द्वारा दूषित हो, वैसा वस्त्र देवोद्देशमें किंवा दैव वा पैत्र कर्म उपलक्षमें दान करना उचित नहीं। प्रत्युत ये सब वस्त्र इन सब स्थानोंमें वर्ज्जन करना ही कर्त्तव्य है।

उक्त पुराणमें दूसरी जगह लिखा है—उत्तरीय, उत्तरासंग, निचोल, मोदचेलक और परिधान नामक पञ्चविध वस्त्र विना सिलाई किये हुए व्यवहार वा दान करनेकी विधि है, किन्तु शनसूत्रनिर्मित वस्त्र, नीशार (मसहरी), आतपत्र, चंडातक (स्त्रियोंकी चोलीके कपड़े) एवं दूष्य अर्थात् वस्त्रगृह, ये सब कपड़े सिलाई किये जाने पर भी दूषित नहीं होते।

इसके अतिरिक्त पताका और ध्वजादिमें सिलाई किये हुए कपड़े ही आवश्यक हैं।

भिन्न भिन्न देवताओंकी पूजाके कपड़े भिन्न भिन्न होते हैं। किस देवताको कौन वस्त्र देना होता है, उसके सम्बन्धमें कालिकापुराणमें इस तरह लिखा है—

रक्तवर्ण कौषेय वस्त्र महादेवीको देना प्रशस्त है, इसी तरह पीतवर्ण कौषेय वस्त्र वासुदेवको, लाल कम्बल

शिवको एवं विचित्र चित्रयुक्त वस्त्र सब देवदेवियोंको अर्पण किया जा सकता है। इसके अलावे सूती कपड़ा भी सभी देवताओंको चढ़ाया जा सकता है। जो कपड़ा बिलकुल ही लाल रंगका हो, उसे वसुदेव तथा शिवको अर्पण करना निषिद्ध है। नील और रक्तवर्णमिश्रित वस्त्र सर्वत्र ही निषेध माना गया है। दैव और पैत्रकर्मोंमें विज्ञ व्यक्ति उसे बिलकुल ही व्यवहारमें नहीं लावेंगे। जो विज्ञ हो कर भी प्रमादवश नील और रक्तवर्ण वस्त्र विष्णुकी पूजामें समर्पण करेंगे, उन्हें उस पूजाका कोई भी फल प्राप्त न होगा। विचित्र वस्त्र नील वर्ण होने पर, वह एकमात्र महादेवी-देवीको चढ़ाया जा सकता है। इनके सिवाय दूसरे किसी भी देवताके उद्देशमें अर्पण करना निषिद्ध है। द्विपदके मध्य जिस तरह ब्राह्मण हैं एवं देवताओंके मध्य जिस तरह वासव हैं, उसी तरह भूषणोंके मध्य वस्त्र ही प्रधान है। वस्त्रके द्वारा लज्जा निवारण होती है, वस्त्र पापोंका नाश करनेमें समर्थ होता है, वस्त्र द्वारा सर्वसिद्धि प्राप्त होती है एवं वस्त्र चारों फलोंका देनेवाला है।

आसन, वसन, शय्या, जाया, अपत्य और कमण्डल ये कई एक वस्तुएं अपने ही द्वारा पवित्र रखी जा सकती हैं। ये सब चीजें दूसरेके हाथोंमें पड़नेसे ही अपवित्र हो जाती हैं। कपड़े यदि कुछ धोये गये हों, वा स्त्रियोंके द्वारा साफ किये गये हों, किंवा धोबी द्वारा धोये गये हों और जब वे कपड़े सुखनेके लिये दक्षिण पश्चिमकी ओर पसारे गये हों, तब उन्हें अधौत ही समझना चाहिये अर्थात् इस तरह कपड़े अपवित्र ही रह जाते हैं।

(कर्म्मलोचन)

धोये हुए कपड़े पूरब-उत्तरकी ओर पसारना चाहिये, पश्चिम वा दक्षिणकी ओर पसार कर सुखाये गये कपड़े फिरसे धोये जाने पर पवित्र होते हैं।

प्रचेता कहते हैं, कि विज्ञ व्यक्ति अपने हाथसे ही कपड़े धो कर किसी धर्मकार्यमें व्यवहार करेंगे। धोबीसे धोये गये कपड़े वा बिलकुल ही अधौत वस्त्रसे कभी धर्मक्रिया नहीं करेंगे। किन्तु हाँ, पुत्र, मित्र, कलत्र, अन्यान्य स्वजाति, बन्धुबान्धव वा भृत्य-धौत वस्त्र अपवित्र नहीं होता।

स्नान करनेके बाद मस्तकके जलापनयनके लिये ढीला ढाला साफा बाँधना चाहिये। स्यूत, दग्ध, मूषिकोत्कीर्ण, जीर्ण तथा दूसरेका वस्त्र पहन कर धर्मकार्य नहीं करना चाहिये।

ज्ञानी लोग किंचित् रक्तवर्ण, अत्यन्त रक्तवर्ण, नीलवर्ण, मलपूर्ण वा दशाहीन वस्त्रोंका त्याग करेंगे।

किन्तु आचाररत्नमें लिखा है, कि अभावावस्थामें दशाहीन वस्त्रसे भी धर्मकर्म किया जा सकता है।

दूसरोंके पहने हुए तथा लाल, मलिन वा दशाहीन कपड़ेका व्यवहार निषेध है। केवल श्वेत वस्त्र ही यत्नके साथ धारण करना चाहिये। शक्ति रहते जीर्ण वा मलिन वस्त्र कभी व्यवहार नहीं करना चाहिये।

स्नान करनेके बाद अक्लिन्न वस्त्र धारण करना चाहिये। धौत कपड़ेके अभाव रहने पर शन, क्षौम, आविक, नेपालदेशीय कम्बल किंवा योगपट्ट धारण करेंगे। मोटा मोटी बात यह है, कि इन सब कपड़ोंमेंसे किसी एक कपड़ेको पहन कर द्वितीय वस्त्रधारी होना पड़ेगा। अधौत कपड़ा पहन कर नित्य नैमित्तिक क्रिया करनेसे कोई फल नहीं होता एवं अधौत कपड़ा पहन कर दान करनेसे भी निष्फल होता है।

स्नान करनेके बाद तर्पण बिना किये हुए ही गीले कपड़ेका जल निचोड़ना नहीं चाहिये। जाबालिने कहा है, कि तर्पणके पहले जो व्यक्ति स्नानके गीले कपड़ेका जल निचोड़ता है, उसके पितृगण देवताओंके साथ निराश हो कर चले जाते हैं।

स्नान करनेके उपरान्त भींगे हुए कपड़ेसे जो व्यक्ति मल वा मूत्र त्याग करेगा, वह तीन बार प्राणायाम करके फिरसे स्नान करने पर शुद्ध होगा। गीला कपड़ा सर्व्वदा पहने रहना निषेध है। आर्द्र वस्त्र भी सात बार वाताहत करनेसे शुद्ध हो जाता है।

संक्रान्ति, पूर्णिमा, अमावस्या, द्वादशी एवं श्राद्धके दिनमें वस्त्रनिष्पीड़न वा क्षारयुत वस्त्र धारण करना निषेध है।

वस्त्रक (सं० क्ली०) वस्त्र, कपड़ा।

वस्त्रकुट्टिम (सं० क्ली०) वस्त्रनिर्मितं कुट्टिममिव। १ छत्र,

छाता। वस्त्रस्य कुट्टिमं क्षुद्रगृहं। २ वस्त्रनिर्मित गृह, खेमा।

वस्त्रकुल—शिलालिपि-वर्णित राजभेद।

वस्त्रगृह (सं० क्ली०) वस्त्रनिर्मितं गृहं। वस्त्रनिर्मित शाला, खेमा। पर्याय—पटवास, पटमय, दूष्य, स्थल।

वस्त्रग्रन्थि (सं० पु०) वस्त्रस्य ग्रन्थिः। नीवो, नाड़ा, इज़ारबन्द।

वस्त्रघर्घरी (सं० स्त्री०) वस्त्रनिर्मिता घर्घरीव। वाद्ययन्त्रविशेष, एक प्रकारका बाजा।

वस्त्रच्छन्न (सं० त्रि०) परिधृत वास, वस्त्रावृत।

वस्त्रद (सं० त्रि०) वस्त्रदानकारी, कपड़ा देनेवाला।

वस्त्रदा (सं० स्त्री०) कपड़ा देनेवाली।

वस्त्रदानकथा (सं० क्ली०) वासदान, कपड़ा देना। यह बड़ा पुण्यजनक है। सूर्य और चन्द्रग्रहणमें अन्न और वस्त्र दान करनेसे वैकुण्ठ लाभ होता है।

वस्त्रनिर्णेजिक (सं० पु०) वस्त्रधौतकारी, धोवी।

वस्त्रप (सं० पु०) १ एक जातिका नाम। (भारत ५।५१।१५) २ एक तीर्थ। इसका नाम पुराणोंमें 'वस्त्रापथ क्षेत्र' मिलता है। यह आज कलका गिरनार है जो गुजरातमें है। ३ रेशम, ऊन तथा सब प्रकारके वस्त्रोंको पहचानने और उनके भाव आदिका पता रखनेवाला राजकर्मचारी।

वस्त्रपञ्जुल (सं० पु०) कोलकन्द।

वस्त्रपरिधान (सं० क्ली०) १ वेशसज्जा। २ कपड़ा पहनना।

वस्त्रपुत्रिका (सं० स्त्री०) वस्त्रनिर्मिता पुत्रिका पुत्तलिका। वस्त्रनिर्मित पुत्तलिका, कपड़ेका पुतला।

वस्त्रपूत (सं० त्रि०) वस्त्र द्वारा परिष्कृत, कपड़ेसे छाना हुआ।

वस्त्रपेशी (सं० स्त्री० वस्त्र द्वारा पेशित।

वस्त्रबन्ध (सं० पु०) नीवी।

वस्त्रभवन (सं० पु०) कपड़ेका बना हुआ घर, खेमा।

वस्त्रभूषण (सं० पु०) १ पटवास। २ रक्ताञ्जन। ३ साकुरुण्ड वृक्ष।

वस्त्रभूषणा (सं० स्त्री०) वस्त्रस्य भूषणं रागो यस्याः। मञ्जिष्ठा, मजीठ।

वस्त्रमथि (सं० पु०) तस्कर, चोर।

वस्त्रयुगल (सं० क्ली०) परिच्छदद्वय, जोड़ा कपड़ा।

वस्त्रयुगिन् (सं० त्रि०) युगलवस्त्रधारी, दो कपड़ा पहननेवाला।

वस्त्रयुग्म (सं० क्ली०) वस्त्रस्य युग्मं। वस्त्रद्वय, जोड़ा कपड़ा।

वस्त्रयोनि (सं० स्त्री०) वस्त्रस्य योनिरुत्पत्तिकारणं। वसनोत्पत्तिकारण, सूत आदि जिससे कपड़ा बोना जाता है।

वस्त्ररङ्गा (सं० स्त्री०) कैवर्त्तकी।

वस्त्ररञ्जक (सं० पु०) कुसुम्भ वृक्ष।

वस्त्ररञ्जन (सं० पु०) राजयतीति राज-णिच्-ल्युट्, वस्त्राणां रञ्जनः। कुसुम्भ वृक्ष।

वस्त्ररञ्जिनी (सं० स्त्री०) मञ्जिष्ठा, मजीठ।

वस्त्ररागधृत् (सं० पु०) नील होराकसीस।

वस्त्रवत् (सं० त्रि०) वस्त्र अस्त्यर्थे मतुप् मस्य व। वस्त्रविशिष्ट।

वस्त्रविलास (सं० पु०) वस्त्रेण विलासः। कपड़ा द्वारा विलास, उत्तम वस्त्र पहन कर गर्व करना।

वस्त्रवेश (सं० पु०) वस्त्रगृह, खेमा।

वस्त्रवेश्मन् (सं० क्ली०) वस्त्रस्य वेश्म। कपड़ेका घर, खेमा।

वस्त्रवेष्टित (सं० त्रि०) वस्त्रेण वेष्टित। वस्त्र द्वारा आच्छादित।

वस्त्रागार (सं० पु०) १ वस्त्रगृह, खेमा। २ कपड़ेकी दूकान।

वस्त्राञ्चल (सं० क्ली०) कपड़ेका एक छोर।

वस्त्रान्त (सं० पु०) कपड़ेका चारों कोना।

वस्त्रान्तर (सं० क्ली०) अन्यत् वस्त्रं। अपर वस्त्र, दूसरा कपड़ा।

वस्त्रापथक्षेत्र (सं० क्ली०) एक प्राचीन और पवित्र तीर्थस्थान। महाभारतमें यह स्थान 'वस्त्रप' कह कर उक्त है। इसका वर्त्तमान नाम गिरनार है। यहां भव और भवानीकी मूर्त्ति विराजित हैं। (वृ० नील २४) स्कान्दके नागर और प्रभासखण्डमें इस क्षेत्रका माहात्म्य वर्णित है।

उज्जयन्त देखो।

वस्त्रापहारक (सं० पु०) कपड़ा बुननेवाला।

वस्त्रापहारिन् (सं० पु०) वस्त्रापहारक देखो।

वस्त्रार्द्ध (सं० क्ली०) वस्त्रका अर्द्धांश।

वस्त्रार्द्ध-प्रावृत (सं० त्रि०) अर्द्ध वस्त्राच्छादित।

वस्त्रावकर्त्त (सं० पु०) वस्त्रखण्ड, कपड़ेका टुकड़ा।

वस्त्रिन् (सं० त्रि०) १ वस्त्रयुक्त, जो कपड़ा पहने हुए हो। २ उज्ज्वल।

वस्त्रोत्कर्षण (सं० क्ली०) वस्त्रत्याग, कपड़ा छोड़ना।

वस्न (सं० क्ली०) वस निवासे आच्छादने वा (धापृवस्यज्यतिभ्यो नः। उण् ३।६) इति करणादौ यथायथं न। १ वेतन। २ मूल्य। ३ वसन। ४ द्रव्य, चीज। ५ धन। ६ प्रभृति, आदि। वस्त्रे आच्छादयति शरीरमिति कर्त्तरि न। ७ त्वक्, वल्कल, छाल।

वस्नक (सं० क्ली०) कटीभूषण, करधनी।

वस्नसा (सं० स्त्री०) वस्नं चर्म सीव्यति वस्न-सिव उ, स्त्रियां टाप्। स्नायु।

वस्निक (सं० त्रि०) वस्नेन जीवति (वस्नक्रयविक्रयाट्ठन् पा ४।४।१३) वस्न-ठन्। वस्नद्वारा जीविकानिर्वाहकारी, नौकरी कर अपनी जीविका चलानेवाला।

वस्न्य (सं० त्रि०) वस्नं मूल्यं तदर्हति यत्। मूल्यार्ह, मूल्यके योग्य। "जरतो वस्न्यस्य नाहं विदामि" (ऋक् १०।३४।३) 'वस्न्यस्य वस्नं मूल्यं तदर्हस्य' (सायण)

वस्फ़ (सं० पु०) प्रशंसा, स्तुति। २ गुण, सिफ़त। ३ विशेषता।

वस्मन् (सं० क्ली०) वस्त्र।

वस्य (सं त्रि०) १ धनवान्। २ सौन्दर्यशाली। ३ मूल्यवान्। ४ यशःशाली।

वस्यइष्टि (सं स्त्री०) जीवनप्राप्ति। "पतन्ति वस्यइष्टये" (ऋक् १।२५।४)

वस्योभूय (सं० क्ली०) बहुधन। (अथर्व्व १६।६।४)

वस्र (सं० अव्य०) क्षिप्रभावसे।

वस्ल (अ० पु०) १ दो चीजोंका आपसमें मिलना, मिलन। २ संयोग, मिलाप, विशेषतः प्रेमी और प्रेमिकाका मिलाप।

वस्वनन्त (सं० पु०) उपगुप्तके पुत्र मिथिलाके एक राजाका नाम। (भाग० ६।१३।२५)

वस्वी (सं० स्त्री०) १ अति सुन्दर, बड़ा खूबसूरत। २ प्रशंसाके योग्य।

वस्वौकसारा (सं० स्त्री०) वस्वौकेषु रत्नाकरेषु सारा। १ इन्द्रपुरी। २ इन्द्रनदी। (भारत ३।१८८।१०१) ३ गङ्गा। ४ कुबेरपुरी। (भारत ७।६५।१५) ५ कुबेरनदी। (हेम)

वस्सवाड़—बम्बई प्रेसिडेन्सीके सौराष्ट्र प्रान्तस्थ एक छोटा सामन्त राज्य। अभी यह छोटे छोटे अंशोंमें विभक्त हो गया है। राजस्व बीस हजार रु० है जिसमेंसे ७६६) रु० अंगरेज सरकारको देना पड़ता है। इस सम्पत्तिके मध्य चार गाँव प्रधान हैं। भू-परिमाण ६८ वर्गमील है।

वहंलित (सं० त्रि०) १ ककुदलेहनकारी, कुब्बड़ चाटनेवाला। (पु०) २ वृष, बैल; साँढ।

वह (सं० पु०) वहति युगमनेनेति वह (गोचरसञ्चरेति। पा ३।३।११९) इति अप्रत्ययेन साधु। १ वृषस्कन्ध प्रदेश, बैलका कंधा। वहतीति वह-अच्। २ घोटक, घोड़ा। ३ वायु। ४ पथ, मार्ग। ५ नद। (त्रि०) ६ वाहक, बोझ उठा कर ले जानेवाला।

वह (हिं० सर्व०) १ एक शब्द जिसके द्वारा दूसरे मनुष्यसे बातचीत करते समय किसी तीसरे मनुष्यका संकेत किया जाता है, कर्त्तृकारक प्रथम पुरुष सर्वनाम। जैसे,—तुम जाओ, वह आता है। २ एक निर्देशकारक शब्द जिससे दूरकी या परोक्ष वस्तुओंका संकेत करते हैं। जैसे,—यह और वह दोनों एक ही हैं।

वहत (सं० पु०) वहतीति वह-अतच्। १ वृष, बैल। २ पान्थ, मार्ग।

वहताम्ली (सं० स्त्री०) छागलाक्षी क्षुप। वैद्यकमें यह पौधा कटु तथा कासरोगनाशक और शुक्रवर्द्धक कहा गया है। इसका पर्याय—वृषगन्धा, मेषाम्ली, वृषपत्रिका।

वहति (सं० पु०) वहतीति वह-(वहि-वस्यर्त्तिभ्यश्चित्। उण् ४।६०) इति अति। १ वायु। २ गो, गाभी। ३ सचिव।

वहती (सं० स्त्री०) वहति बाहुलकात् ङीष्। नदी।

वहतु (सं० पु०) वह (क्रोधिवह्योश्चतुः। उण् १।७६) इति चतु। १ पथिक, बटोही। २ वृषभ, बैल। ३ दहेज। ४ विवाह। (त्रि०) ५ वहनकारक, ढोनेवाला।

वहन (सं० क्ली०) उह्यतेऽनेनेति वह-करणे ल्युट् । १ होड़, तरेंदा, वेड़ा । २ खींच कर अथवा सिर या कंधे पर लाद कर एक जगहसे दूसरी जगह ले जाना । ३ ऊपर लेना, उठाना । ४ कंधे या सिर पर लेना । ५ खम्भेके नौ भागोंमेंसे सबसे नीचेका भाग । (त्रि०) ६ वाहक, ढोनेवाला ।

वहनभङ्ग (सं० पु०) १ टूटी हुई नाव । २ वहननिवृत्ति।

वहनीय (सं० त्रि०) वह-अनीयर् । १ उठा या खींच कर ले जाने योग्य । २ ऊपर लेनें योग्य ।

वहन्त (सं० पु०) वहति वातीति वह (तृभूवहिवसीति । उण् ३।१२८) इति झच् । १ वायु । उह्यते इति कर्मणि झच् । २ बालक ।

वहम (अ० पु०) १ विना संकल्पके चित्तका किसी बात पर जाना, मिथ्या धारणा, झूठा खयाल। २ भ्रम । ३ व्यर्थकी शंका, मिथ्या संदेह, फजूल शक ।

वहमी (अ० वि०) १ वृथा संदेह द्वारा उत्पन्न, भ्रम जन्य । २ वहम करनेवाला, जो अर्थ संदेहमें पड़े, किसी बातके सम्बन्धमें जो व्यर्थ भला बुरा सोचे । ३ झूठे खयालमें पड़ा रहनेवाला ।

वहल (सं० पु०) उह्यतेऽनेनेति वहु वाहुलकात् अलच् । १ नौका, नाव । (त्रि०) २ दृढ़, मज़बूत ।

वहलगन्ध (सं० क्ली०) वहलः प्रचुरो गन्धो यस्य । शम्बर चन्दन ।

वहलचक्षुस् (सं० पु०) वहलानि प्रचुराणि चक्षुषीव पुष्पाण्यस्य । मेषश्रृङ्गी, मेढ़ासींगी ।

वहलत्वच् (सं० पु०) वहला दृढ़ात्वचा वल्कलं यस्य । श्वेत लोध्र, सफेद लोध ।

वहला (सं० स्त्री०) वहलानि प्रचुराणि पुष्पाणि सन्त्यस्या इति, अर्श आदित्वादच् । १ शतपुष्पा । २ स्थूलैला, बड़ी इलायची । ३ दीपक रागकी एक रागिनीका नाम ।

वहशत (अ० स्त्री०) १ जंगलीपन, असभ्यता, वर्वरता । २ पागलपन, वावलापन । ३ उजड्डपन । ४ विकलता, घबराहट । ५ डरावनापन । ६ चित्तकी चंचलता, अधीरता । ७ चहल पहल या रौनक न होना, सन्नाटापन, उदासी ।

वहशी (अ० त्रि० १ जंगलमें रहनेवाला, जंगली । २ असभ्य । ३ जो पालतू न हो, जो आदमियोंमें रहना न जानता हो । ४ भड़कनेवाला ।

वहाँ (हि० अव्य०) उस जगह, उस स्थान पर । जैसे—'यहाँ' का प्रयोग पासके स्थानके लिये होता है, वैसे ही इस शब्दका प्रयोग दूरके स्थानके लिये होता है ।

वहा (सं० स्त्री०) वहतीति वह-अच् टाप् । नदी ।

वहावी (अ० पु०) मुसलमानोंका एक सम्प्रदाय जो अब्दुल वहाव नजदीका चलाया हुआ है । अब्दुल वहाव अरवके नज्द नामक स्थानमें पैदा हुआ था । वह मुहम्मद साहवके सर्व्वोच्चपदको अस्वीकार करता था । इस मतके अनुयायी किसी व्यक्ति या स्थानविशेषकी प्रतिष्ठा नहीं करते । अब्दुल वहावने अनेक मसजिदों और पवित्र स्थानोंको तोड़-फोड़ डाला और मुहम्मद साहबकी कब्रको भी खोद कर फेंक देना चाहा था । इस मतके अनुयायी अरव और फारसमें अधिक हैं ।

वहिः (सं० अव्य०) जो अंदर न हो, बाहर । हिन्दीमें इस शब्दका प्रयोग अकेले नहीं होता, समस्तरूपमें होता है । जैसे—वहिर्गत, वहिष्कार, वहिरङ्ग इत्यादि ।

वहिःकुटीचर (सं० पु०) वहिः कुट्यां चरतीति चर-ट । कुलीर, केंकड़ा ।

वहिःशीत (सं० पु०) वाहरका शीतलता ।

वहिःश्री (सं० अव्य०) १ वाह्यतः । २ वहिरभिमुख ।

वहिःसंस्थ (सं० त्रि०) वाहरमें अवस्थित ।

वहिःस्थ (सं० त्रि०) वहिरस्थ, बाहरकी ओर ।

वहित (सं० त्रि०) अवधीयतेऽस्मेति अव-धा-क्त, अवस्याते लोपः । १ अवस्थित । २ ख्यात, प्रसिद्ध । ३ प्राप्त । ४ कृतवहन ।

वहित्र (सं० क्ली०) वहति द्रव्याणीति वह (अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उण् ४।१७२) इति इत्र । नौका, नाव ।

वहित्रक (सं० क्ली०) वहित्र स्वार्थे कन् । जलयान, नाव, जहाज ।

वहित्रभङ्ग (सं० पु०) टूटी हुई नाव ।

वहिन् (सं० त्रि०) वहनशील ।

वहिनी (सं० स्त्री०) नौका, नाव ।

वहिरङ्ग (सं० पु०) १ शरीरका बाहरीभाग, देहका बाहरी हिस्सा । २ दम्पती । ३ आगन्तुक व्यक्ति, कहीं बाहर-

से आया हुआ आदमी। ४ वह जो किसी वस्तुके भीतरी तत्त्वको न जानना चाहता हो। ५ वह मनुष्य जो अपने दल या मंडलीका न हो, वायवी आदमी। ६ पूजामें वह कृत्य जो आदिमें किया जाय। (त्रि०) ७ वहिसम्बन्धी, ऊपर ऊपरका, बाहरका। ८ अनावश्यकीय, फालतू। ९ जो साररूप न हो, जो भीतरीतत्त्व न हो।

वहिरङ्गता (सं० स्त्री०) वहिरङ्गका भाव या धर्म।

वहिरङ्गत्व (सं० क्ली०) वहिरङ्गता देखो।

वहिरन्ते (सं० अव्य०) वहिर्भागमें, नगरके बाहरके प्रान्तमें।

वहिरर्गल (सं० पु०) दरवाजेके बाहरका अरगल।

वहिरर्थ (सं० पु०) वाह्यभाव।

वहिरिन्द्रिय (सं० स्त्री०) १ कर्मेन्द्रिय। २ वाह्यकरण मात्र, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय।

वहिर्गत (सं० त्रि०) १ जो बाहर गया हो, निकला हुआ, बाहरका। २ शरीरके चमड़े पर स्फोटकादिका आविर्भाव या रोगविशेषका उन्मेष।

वहिर्गमन (सं० क्ली०) किसी कामके लिये घरसे बाहर जाना।

वहिर्गामिन् (सं० त्रि०) बाहर जानेवाला।

वहिर्गिरि (सं० पु०) पर्वतके अपर पार्श्वका जनपद।

वहिर्गेहं (सं० अव्य०) घरके बाहर।

वहिर्ग्रामम् (सं० अव्य०) गांवके बाहर।

वहिर्देश (सं० पु०) १ विदेश। २ बाहरका स्थान। ३ अज्ञात स्थान। ४ द्वार, दरवाजा।

वहिर्द्वार (सं० क्ली०) वहिःस्थं द्वारं। तोरण, बाहरी फाटक, सदर फाटक।

वहिर्द्वारप्रकोष्ठक (सं० पु०) वहिर्द्वारस्य प्रकोष्ठकः। घरके द्वारका बाहरी प्रकोष्ठ, पर्याय—प्रघाण, प्रघण, अलिन्द।

वहिर्ध्वजा (सं० स्त्री०) दुर्गा।

वहिर्निःसारण (सं० क्ली०) वहिर्गमन, बाहर जाना।

वहिर्भव (सं० त्रि०) वाह्य प्रकृति।

वहिर्भवन (सं० क्ली०) १ वहिरागमन, बाहर होना। २ बाहरका घर।

वहिर्भाव (सं० त्रि०) वाह्यभाव।

वहिर्भूत (सं० त्रि०) वहिस्-भू-क्त। वहिर्गत

वहिर्मनस (सं० त्रि०) १ वाह्य। २ मनके बाहर।

वहिर्मुख (सं० त्रि०) वहिर्वाह्यविषये मुखं प्रणेता यस्य। विमुख।

वहिर्यात्रा (सं० क्ली०) १ तीर्थगमन या विदेशयात्रा। २ युद्धार्थगमन, लड़ाईके लिये जाना।

वहिर्यान (सं० क्ली०) वहिर्यात्रा देखो।

वहिर्यूति (सं० त्रि०) बाहरमें वद्ध या उस अवस्थामें रक्षित।

वहिर्योग (सं० पु०) १ हठयोग। २ एक ऋषिका नाम।

वहिर्लम्ब (सं० पु०) रेखा-गणितमें वह लम्ब जो किसी क्षेत्रके बाहर बढ़ाए हुए आधार पर गिराया जाता है।

वहिर्लापिका (सं० स्त्री०) कोई ऐसा टेढ़ा वाक्य या प्रश्न जिसका उत्तर बतलानेके लिये श्रोतासे कहा जाय, पहेली। पहेलियाँ दो प्रकारकी होती हैं। जिनके उत्तरका शब्द पहेलीके वाक्यके अन्दर ही रहता है, वे अन्तर्लापिका और जिनके उत्तरका पूरा शब्द पहेलीके अन्दर नहीं होता वे वहिर्लापिका कहलाती हैं।

वहिर्वर्त्तिन् (सं० त्रि०) बाहरमें अवस्थित।

वहिर्वासस् (सं० क्ली०) अङ्गरखा।

वहिर्विकार (सं० पु०) १ वाह्यभावका वैपरीत्य। २ विकृताङ्ग। ३ उपदंश।

वहिर्वृत्ति (सं० स्त्री०) वह जिसकी वाह्य द्रव्य ही आकृष्टि या वाह्य पदार्थ ही कर्म हो।

वहिर्वेदि (सं० स्त्री०) १ वेदिका वहिर्देश। २ यावतीय वेदिका वहिर्भाग।

वहिर्वैदिक (सं० त्रि०) वेदिके वहिर्देशमें निष्पन्न।

वहिर्व्यसन (सं० क्ली०) १ लाम्पट्य,। २ घरके बाहर या गुरुजनके अन्तरालमें कृत कुकर्मादि।

वहिर्व्यसनिन् (सं० त्रि०) १ उच्छृङ्खल युवक। २ लंपट।

वहिश्चर (सं० पु०) वहिश्चरतीति चर-ट। १ कर्कट, केकड़ा। (त्रि०) २ वहिश्चरणशील।

वहिष्क (सं० त्रि०) वाह्य, बाहरका।

वहिष्करण (सं० क्ली०) १ वाह्येन्द्रिय, बाहरकी इन्द्रियां, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच कर्मेन्द्रियाँ। मन या अन्तःकरणको भीतरकी इन्द्रिय कहते हैं। २ विताड़न, दूर करना।

वहिष्कार (सं० पु०) विताड़न, दूर करना।

वहिष्कार्य (सं० त्रि०) १ त्यागोपयोगी, छोड़नेके लायक। २ ताड़नीय।

वहिष्कुटीचर (सं० पु०) कर्कट, केकड़ा।

वहिष्कृत (सं० त्रि०) १ विताड़ित, वाहर किया हुआ। २ परित्यक्त, त्यागा हुआ, अलग किया हुआ। ३ वाह्यरूपसे प्रदर्शित।

वहिष्कृति (सं० स्त्री०) वहिष्कार।

वहिष्क्रिय (सं० त्रि०) पवित्रकृत्यवर्जित, जो शास्त्रकथित धर्म-कर्ममें अथवा यज्ञादि क्रियासम्पादनमें अपने समाजसे निषिद्ध या स्वाधिकारभ्रष्ट हो।

वहिष्क्रिया (सं० स्त्री०) धर्मकर्मका वहिरङ्ग।

वहिष्ठात् (सं० अव्य०) वाहरस्थित, वाहरमें।

वहिष्ठ (सं० त्रि०) वहुभारवाही, अधिक भार उठानेवाला।

वहिष्पट (सं० क्ली०) गात्रवस्त्रभेद, शरीरका एक प्रकारका कपड़ा।

वहिष्प्राकार (सं० पु०) दुर्गका वाहरी प्राचीर।

वहिष्प्राण (सं० पु०) १ जीवन। २ श्वास वायु। ३ प्राण तुल्य प्रिय वस्तु। ४ अर्थ।

वहिस् (सं० अव्य०) वाह्य।

वहीं (हिं० अव्य०) उसी स्थान पर, उसी जगह। जब वहां शब्द पर जोर होता है, तब 'ही' लानेके कारण उस का यह रूप हो जाता है।

वही (हिं० सर्व०) १ उस तृतीय व्यक्तिकी ओर निश्चित रूपसे संकेत करनेवाला सर्वनाम जिसके सम्वन्धमें कुछ कहा जा चुका हो, पूर्वोक्त व्यक्ति। जैसे—यह वही आदमी है जो कल आया था। २ निर्दिष्ट व्यक्ति, अन्य नहीं। जैसे—जो पहले वहाँ पहुंचेगा वही इनाम पावेगा।

वहीयस (सं० त्रि०) अति विपुल।

वहोरु (सं० पु०) १ शिरा, रक्तवाहिनी नाड़ियोंका एक वर्ग। २ स्नायु। ३ मांसपेशी, पुट्ठा।

वहुलारा—बाँकुड़ा जिलाके अन्तर्गत एक प्राचीन स्थान। यह बाँकुड़ा नगरसे १२ मील दूर दारिकेश्वर नदीके दक्षिणी तट पर अवस्थित है। यहांके सिद्धेश्वरका मन्दिर वहुत प्रसिद्ध है। यह मन्दिर नाना प्रकारके शिल्पचातुर्य्यके साथ पत्थरोंका बना है। मन्दिरस्थ शिवलिंग देखनेसे यहां शैवधर्मकी प्रधानता अनुभूत होने पर भी मन्दिरगात्रस्थ उलंग जैनमूर्त्तियोंको निरीक्षण करनेसे मालूम पड़ता है, कि प्राचीनकालमें यहां जैनधर्मका विशेष प्रादुर्भाव था। इस समय उस सम्प्रदायके प्रतिष्ठित मन्दिर तथा मठादिकी दीवारोंका चिह्न न तक विलुप्त हो गया है, सिर्फ यत्नपूर्वक रखी हुई उनकी भग्न प्रतिमूर्त्तियां वर्त्तमान मन्दिरोंकी दीवारोंमें लगाई गई हैं। इनके अलावे मन्दिरगात्रमें दशभुजा तथा गणेशकी मूर्त्तियाँ भी हैं।

इस मन्दिरके सामने एक, चारों कोणों पर चार एवं अन्य तीन दिशाओंमें सात छोटे छोटे मन्दिर सुसज्जित हैं।

वहूदक—संन्यासी सम्प्रदायभेद। सूतसंहितामें कुटीचक, वहूदक, हंस तथा परमहंस नामक चार प्रकारके संन्यासियोंका विवरण दिया गया है। वहूदक सांप्रदायिकगण संन्यास धारण करनेके वाद ही वन्धु पुत्रादिका परित्याग करके भिक्षावृत्ति द्वारा अपनी जीविका चलावेंगे। वे एक गृहस्थके घरका अन्न ग्रहण नहीं कर सकते, उन्हें सात गृहस्थोंके गृहसे भिक्षा लेनी होगी। गोपूंछके केशकी डोरी द्वारा वद्ध त्रिदंड, शिक्य, जलपूर्णपात्र, कौपीन, कमण्डलु, गात्राच्छादन, कन्था, पादुका, छत्र, पवित्रचर्म, सूची, पक्षिणी, रुद्राक्षमाला, योगपट्ट, वहिर्वास, खनित्र तथा कृपाण; वे ग्रहण कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त वे सारे शरीरमें भस्मलेपन एवं त्रिपुण्ड्र, शिखा तथा यज्ञोपवीत धारण करेंगे। वे वेदाध्ययन तथा देवताराधनामें रत हो कर एवं सर्वदा वेतुकी वातोंका परित्याग करके अपने इष्टदेवकी चिंतामें मग्न रहेंगे। सन्ध्याके समय उन्हें गायत्रीका जप करके अपने धर्मोचित क्रियानुष्ठान करना चाहिये।

वहूदक लोग संन्यासियोंके सर्वकालपूज्य देवता महादेवकी ही उपासना किया करते हैं। नित्यस्नान,

शौचाचार तथा अभिध्यान करना उन लोगोंका प्रधान कर्त्तव्य है। वे वाणिज्य, काम, क्रोध, हर्ष, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प प्रभृतिके वशवर्त्ती न होवें, क्योंकि इससे उनके आचरित धर्ममें व्याघात पहुंच सकता है। वे चातुर्मास्यका अनुष्ठान किया करते हैं। इस सम्प्रदायके संन्यासिगण मोक्षाभिलाषी होते हैं। मृत्युके बाद इन संन्यासियोंकी मृतदेहको जलमें भसा देते हैं।

वहेड़ुक (सं० पु०) विभोतक वृक्ष, बहेड़ेका पेड़।

वहेलिया—उत्तर-पश्चिम भारतवासी व्याध जाति। पौराणिक किम्बदन्तीके अनुसार नापितके औरस द्वारा व्यभिचारिणी अहीरिनके गर्भसे इनकी उत्पत्ति हुई है। बङ्गालकी दुसाधजातिके साथ इन लोगोंका खान पान चलता है एवं ये दोनों जातियाँ परस्पर एक मूलवृक्षकी विभिन्न शाखा कह कर अपना परिचय देती हैं, किन्तु वास्तविकमें सामाजिक विवाहादि बन्धनसे आवद्ध नहीं हैं। कोई कोई बहेलिया अपनेको फारसी जातिका दल बतलाते हैं एवं पश्चिमाञ्चलके बहेलिया लोग भीलजातिसे अपनी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।

इस श्रेणीके बहेलिया लोग अपना पक्ष समर्थन करनेके लिये कहते हैं, कि उन लोगोंके आदि पुरुष सुविख्यात बाल्मीक बन्दा जिलेके चित्रकुट पर्वतका परित्याग करके अपने दलबलके साथ इस देशमें आ कर बस गये। उस दिनसे वे लोग उसी अञ्चलमें व्याधवृत्ति अवलम्बन कर वास करते थे। भगवान् कृष्णने मथुराधाममें उन लोगोंको वहेलियाके नामसे अभिहित किया। मिर्जापुरवासी वहेलिया लोग कहते हैं, कि श्रीरामचन्द्र पञ्चवटीमें वास करनेके समय एक स्वर्णमृगको घूमते देख कर भ्रमसे उस रावणानुचर मारीचरूपी मायामृगके पीछे दौड़े। जब मारीचकी छलनासे सीता हरी गई, तब भगवान् श्रीरामचन्द्र क्रोधोन्मत्त हो कर इधर उधर घूमते हुए अपने दोनों हाथोंको बार बार मलने लगे। उससे शीघ्र ही हाथोंके चमड़ेसे मैल बाहर हुआ। उसी मैलसे मनुष्यरूपी एक वीर पुरुष पैदा हुआ; भगवान् रामचन्द्रने उसे अपना सहयोगी शिकारीरूपमें नियुक्त किया। उसीके वंशधर पीछे वहेलियाके नामसे विख्यात हुए।

मिर्जापुर, वराइच, गोरखपुर, प्रतापपढ़ प्रभृति स्थानोंमें इन लोगोंके पाशी, श्रीवास्तव, चन्देल, लगिया, रुक्मिया, क्षत्री, भोंगिया प्रभृति स्वतन्त्र दल हैं। पूर्वाञ्चलके वहेलियोंके मध्य वहेलिया, चिड़ियामार, करौल, पूरबीया, उत्तरीया, हजारी, करैरीया और तुर्कीया एवं मूल वहेलियोंके मध्य कोरिहा, बाजधर, सूर्यवंश, तुर्कीया और मासकार प्रभृति विभिन्न वृत्तियोंके अनुसार विभाग निर्दिष्ट हैं। अयोध्याके वहेलियोंके मध्य रघुवंशी, पाशिया तथा करौला नामक तीन शाखा-विभाग देखे जाते हैं। ये लोग आपसमें पुत्र तथा कन्याओंके आदान प्रदान कर सकते हैं।

सामाजिक दोष वा अपराध विचारके लिये उन लोगोंके मध्य एक पंचायत है, "साक्षी" उपाधिधारी एक व्यक्ति इस सभाके सभापति रहते हैं। 'साक्षी' समाजके प्रधान प्रधान व्यक्तियोंके साथ व्यभिचार वा इस पापके लिये किसी रमणीको बहकाने एवं जातीय वा सामाजिक नियमादि उलंघन करनेके अपराधोंका दण्ड विधान किया करते हैं।

पितृकुल वा मातृकुलका बाद दे कर ये लोग परस्पर विभिन्न शाखाओंके साथ पुत्रकन्याका विवाह करते हैं। जिस वंशमें वे लोग एक बार पुत्रका विवाह करते हैं, उस वंशकी कुटुम्बिता जितने दिनों तक स्मरण रहती है उतने दिनों तक उस वंशमें कन्याका विवाह नहीं करते। कोई व्यक्ति दो बहनोंको एक साथ पत्नीरूपमें ग्रहण नहीं कर सकते, एक पत्नीको मृत्युके बाद सालीके साथ शादी कर सकते है। स्त्रीके वन्ध्या वा रोगप्रभावसे अयोग्य हो जाने पर पंचायतके आदेशमें वह व्यक्ति फिर दूसरी स्त्री ग्रहण कर सकता है। कुंवारी बालिकाके किसी नायकके साथ घृणित प्रेममें आसक्त हो जाने पर उसके पिता माताको अर्थदण्डसे दण्डित होना पड़ता है एवं जातीय लोगोंको भोज खिलाना पड़ता है।

ब्राह्मण तथा नाई आ कर विवाह सम्बन्ध ठीक करते हैं। साधारणतः कन्याकी शादी सात आठ वर्षकी अवस्थामें ही होती है। विवाह सम्बन्ध ठीक हो जाने पर उसे तोड़नेका कोई उपाय नहीं रहता। विधवाएं सगाई मतानुसार फिर विवाह कर सकती हैं, किन्तु वे

किसी मृत पत्नीके स्वामीके साथ ही प्रथमतः विवाह करनेको वाध्य होती हैं।

रमणीके गर्भवती होने पर उस गृहकी कोई वृद्धा वा गृहकर्त्री एक पैसा वा एक मुट्ठी चावल उस गर्भिणी रमणीके मस्तकमें छुआ कर कालूवीरकी पूजाके निमित्त अलग रख देता हैं। सूतिकागारमें चमारिन धाई आ कर प्रसव कराती है एवं नवजात शिशुका नाड़ीच्छेद करके पुष्पादि घरके बाहर गाड़ देती है। गृहस्थ सूतिकागारके सामने विल्वदण्ड इत्यादि रख कर भूतयोनिका प्रकोप निवारण करता है। ये लोग यथारीति अन्यान्य स्थानीय उच्च वर्णों की तरह सूतिकागृहके अवश्यकरणीय कार्य सम्पादन करते हैं। जन्मके छठे दिन षष्ठी पूजा होती है। इस दिन प्रातःकालमें प्रसूतिके स्नान करने पर चमारपत्नी सूतिकागार परित्याग करके चली जाती है। इसके बाद हजामिन आ कर प्रसूतिके आवश्यकीय कार्य करने लगती है। १२ दिनमें वरही पूजा पर्य्यन्त हजामिनको सूतिकागारमें रहना पड़ता है। इस रोज स्नान तथा नखत्यागके बाद प्रसूति और जातबालक शुद्ध हो कर अपने परिवारके साथ आहार विहारमें प्रवृत्त होते हैं। इस दिन जाति कुटुम्बको भोज खिलाया जाता है।

इनलोगोंके विवाहकी प्रथा अधिक अंशमें अन्यान्य निकृष्ट श्रेणियोंकी प्रथासे मिलती जुलती है। विवाहसे वर कन्या सुखी होगी वा नहीं, यह विवाह गृहस्थका मंगलजनक होगा वा नहीं, इत्यादि बातें आचार्यसे पता लगाया जाता है। जब सब लक्षण मंगलपूर्ण दीख पड़ते हैं, तब लड़केके पिताके हाथमें कुछ दे कर विवाहकी बात पक्की की जाती है। वहेलियोंमें दोला प्रथासे विवाह होता है। इसमें विवाहकी बात पक्की होने पर निर्द्धारित दिनसे आठ दिन पहले ही कन्याको वरके घर आना पड़ता है। थोड़ा धूम धाम होता है। विवाहके तीन दिन पहले मण्डप तैयार किया जाता है। मण्डपके ठीक मध्यभागमें लाङ्गलके काष्ठखंड, वंशदण्ड और केलेका थंभ बांध कर उनके नीचे ओखली, मूसल, जाँता, कलसा प्रभृति वस्तुएं सजा कर रखी जाती हैं। इस रोज सन्ध्याके समय 'मटमंगर' होता है। विवाहके पहले दिन 'भतवान' होता है, जिसमें आत्मीय स्वजनको भोज दिया जाता है।

विवाहके दिन वर क्षौर-कर्मके बाद स्नान करके नाना वेशभूषासे सुसज्जित होता है एवं सन्ध्याके समय घोड़े पर सवार हो कर ग्रामके कई स्थानोंमें परिभ्रमण करनेके बाद घर लौट आता है। इसके बाद विवाहकाल उपनीत होने पर वरको घरके अन्दर ले जाते हैं एवं वर और कन्याके एक जगह बैठ जाने पर कन्याके पिता आ कर दोनोंकी 'पांव-पूजा' करते हैं। इसके अनन्तर वे कुश ले कर 'कन्यादान' करते हैं और वर कन्याकी मांगमें 'सेंदुरदान' करता है। इसके पीछे वर और कन्याको चादरोंमें 'गेंठ बन्धन' करके दोनोंको मंडपके मध्य दंडके चारों ओर पाँच बार घुमाते हैं। इस समय उपस्थित रमणियां उन दोनोंकी देह पर भुट्टाका लावा छींटती रहती हैं।

इसके बाद वर और कन्या कोहबरघर जाती हैं। यहां वरकी साली तथा पत्नीसाला नाना प्रकार की हंसी मजाक किया करती हैं। इसके पीछे जाति कुटुम्बोंका भोज होता है।

विवाहके बाद कालूवीर और निमन परिहारकी पूजा होती है। चौथे दिन वर और कन्या हजामिनके साथ किसी निकटवर्त्ती जलाशय पर जाती हैं एवं पवित्र जलपूर्ण "कलस" और "बन्धनवार" जलमें निक्षेप करके स्नान करती हैं। इसके बाद घर लौटनेके समय रास्तेमें ग्रामके निकटवर्त्ती पीपलके नीचे वे दोनों पितृपुरुषोंके उद्देशसे पूजा करती हैं।

मृत्युकाल उपस्थित होने पर वे लोग मुमूर्षुको गृहके बाहर ले आते और उनके मुखमें गंगाजल, स्वर्ण तथा तुलसीके पत्ते रखते हैं। जिस समय ये सब वस्तुएं नहीं मिलतीं, उस समय दही और सक्कर आदि मिष्टान्न देते हैं। मृत व्यक्तिको श्मशानमें ला कर स्नान कराते हैं, इसके बाद उस मृत देहको नवीन कपड़े पहना कर चिता पर रखते हैं। कोई निकटात्मीय व्यक्ति मुखाग्नि देता है। दाहकर्म समाप्त होने पर स्नान करके वे लोग घर लौट आते हैं एवं नीम और अग्निका स्पर्श करते हैं। दूसरे दिन पंडित आ कर हजामके द्वारा वटवृक्षकी डालीमें

एक जलपूर्ण कलस बंधवा देते हैं। इस रोज स्वजातिको भोज खिलाना पड़ता है। उसे 'दूधका भात' वा 'दूधभात' भोजन कहते हैं। १० दिनके बाद अशौचान्त समय स्वजातिमंडली एक पुष्करिणीके तीर पर एकत्र होती है। यहां सब कोई नख केशादि मुंडन कराते हैं एवं स्नानादिसे निवृत्त हो पिण्ड दान करके शुद्ध हो जाते हैं।

कालूवीर और परिहारके अलावे मुसलमानोंके पीर एवं हिन्दुओंकी देवदेवियोंको भी अत्यन्त भक्तिके साथ नियमानुसार पूजा करते हैं। ग्रामके-ब्राह्मण लोग गृहकर्ममें उन लोगोंकी पुरोहिती करते हैं। नागपंचमी, दशमी, कजरी तथा और फगुआ पर्वमें वे लोग बहुत आनन्द प्रकाश करते हैं। विसूचिका रोगके अधिष्ठाता देवता हरदेव लालकी पूजामें अयोध्यावासी बहेलिया लोग बकरा, शूकर प्रभृति पशुओंका बलि प्रदान करते हैं। वे लोग बकरेका मांस तो खाते हैं, किन्तु शूकरका मांस नहीं खाते।

वह्नि (सं० पु०) वहति धरति हव्यं देवार्थमिति वह-नि (वहिश्रिश्रुग्वितिⁱ। उणा ४।५१) १ चित्रक, चीता। २ भल्लातक, भिलावाँ। ३ निम्बुक। (राजनि०) ४ रेफ। (तंत्र) ५ अग्नि। द्वादश वह्निके नाम यथा—जातवेदस्, कल्माष, कुसुम, दहन, शोषण, तर्पण, महाबल, पिटर, पतग, स्वर्ण, अगाध और भ्राज। अन्यत्र उक्त दशविध वह्निके नाम जैसे—जृम्भक, उद्दीपक, विभ्रम, भ्रम, शोभन, आवसथ्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, अन्वाहार्य्य और गार्हपत्य। किसी किसीके मतसे दशविध वह्निके नाम यथा—भ्राजक, रञ्जक, क्लेदक, स्नेहक, धारक, बन्धक, द्रावक, व्यापक, पावक और श्लेष्मक।

उक्त शरीरस्थ दश वह्नि देहिगणके दोष तथा दुष्य स्थानसमूहसे संलीन रहते हैं। दोष अर्थसे वात, पित्त और कफ एवं दुष्य अर्थसे सप्त धातु हैं।

"वह्नयो दोषदुष्येषु संलीना दश देहिनः।
वातपित्तकफा दोषा दुष्याः स्युः सप्त धातवः॥"

(सारदातिलक)

कूर्म्मपुराणमें वह्नि वा अग्निके विषयमें इन सब निषिद्ध कर्मोका उल्लेख है। यथा—अशुचि अवस्थामें अग्नि परिचरण तथा देव वा ऋषिका नाम कीर्त्तन नहीं करना चाहिये। विज्ञपुरुष अग्निलंघन वा अग्निको अधोदिकमें स्थापन, पाँव द्वारा परिचालन एवं मुखकी हवासे प्रज्वालन नहीं करेंगे। अग्निमें अग्नि निक्षेप नहीं करना चाहिये एवं जल ढाल कर अग्नि बुझाना भी निषिद्ध है। विज्ञपुरुष अशुचि अवस्थामें मुखसे फूंक मार कर अग्नि प्रज्वलित करनेकी चेष्टा नहीं करेंगे। हस्तद्वारा अपनी जलाई हुई अग्निका स्पर्श नहीं करना चाहिये एवं बहुत समय तक जलमें वास करना भी निषिद्ध है। सूर्प वा हाथके द्वारा अग्निको धूमित वा अपक्षिप्त नहीं करेंगे।*

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें वह्निकी उत्पत्ति इस तरह लिखी है। शौनकने सूतसे पूछा—महाभाग आपके मुखसे कई एक कथाएं सुन चुका हूं। मेरी बहुत कुछ इच्छा पूरी हो चुकी है। इस समय मेरी इच्छा वह्निकी उत्पत्ति सुननेकी हो रही है, कृपया आप मुझसे वही कथा कहें। सूतने कहा—जिस समय सृष्टिका विस्तार हुआ, उस समय एक दिन ब्रह्मा, अनन्त और महेश्वर ये तीनों देवताओंमें श्रेष्ठ जगत्पति विष्णुके साथ साक्षात् करनेके लिये श्वेतद्वीपमें गये। वहाँ जा कर वे सभामें हरिके सामने बैठे, उस समय हरिके शरीरसे कई एक सुन्दरी कामिनियाँ उत्पन्न हुईं। वे सब नाचती हुई मधुर स्वरसे विष्णुकी लीलागाथा गान करने लगीं। उनके विपुल नितम्ब, कठिन स्तनमण्डल, सस्मित मुखप. देख कर ब्रह्माको कामदेवने सताया। पितामह किसी तरह भी मनःसंयम नहीं कर सके। उनका वीर्य स्खलित हो गया। उन्होंने शर्मसे वस्त्र द्वारा मुख ढक लिया। पीछे

---

* "नाशुद्धोऽग्निं परिचरेत् न देवान् कीर्त्तयेदृषीन्।
न चाग्निं लंघयेद्धीमान् नोपदध्यादधः क्वचित्॥
न चैनं पादतः कुर्य्यात् मुखेन न धमेद्बुधः।
अग्नौ न निक्षिपेदग्निं नाद्भिः प्रशमयेत्तथा॥
न वह्निं मुखनिश्वासैर्ज्वालयेन्नाशुचिर्बुधः।
स्वमग्निं नैव हस्तेन स्पृशेन्नाप्सु चिरं वसेत्॥
नापाक्षिपेन्नोपधमेन्न सूर्पेण च पाणिना।
मुखेनाग्निं समिन्धीत मुखादग्निरजायत॥"

(कौर्म्म उपवि० १५ अ०)

R
१
हि ५८टीहि
१४५२८
भाग २१

जब संगीत समाप्त हुआ तब ब्रह्माने उस वस्त्रके साथ प्रतप्त वीर्यको क्षीरार्णवमें प्रेरण किया। उस क्षीरार्णवसे शीघ्र ही एक पुरुष पैदा हुआ, वह पुरुष ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहा था। वह तेजस्वी बालक ब्रह्माकी गोदमें आ बैठा, ब्रह्मा उस समय सभाके मध्य बहुत ही लज्जित हुए। इस घटनाके कुछ ही क्षणके बाद जलपति वरुण क्रोधोन्मत्त हो कर उस सभामें उपस्थित हुए एवं उस बालकको ब्रह्माकी गोदसे छीन लेनेको उद्यत हुए। वह बालक भयभीत हो कर दोनों हाथोंसे ब्रह्माको पकड़ कर रोने लगा। जगद्विधाता उस समय लज्जाके वशीभूत हो कर कुछ भी बोल न सके। इधर वरुण बालकको पकड़ कर बड़े क्रोधसे खींच रहे थे। अन्तमें उन्होंने (वरुणने) बालकको सभाके मध्य पटक देनेकी चेष्टा की, किन्तु उससे वे आप ही दुर्बलकी तरह गिर गये, एवं ब्रह्माकी कोपदृष्टिसे उन्हें उस समय मृतवत् मूर्छित होना पड़ा। उस समय महादेवने अमृतदृष्टिसे वरुणको बचाया! चैतन्य हो कर वरुणने कहा—यह बालक जलसे पैदा हुआ है। सुतरां यह हमारा पुत्र है। हम अपने पुत्रको ले जा रहे हैं, इसमें ब्रह्मा क्यों बाधा डाल रहे हैं? इस पर ब्रह्माने विष्णु और महादेवको सम्बोधन करके कहा—यह लड़का मेरी शरणमें आ गया है और रो रहा है, सुतरां इस शरणागत भीत बालकका हम कैसे परित्याग करें? जो शरणमें आये हुए पुरुषकी रक्षा नहीं करता, वह मूर्ख जब तक चन्द्रमा और सूर्य आकाशमें स्थित रहते हैं, तब तक नरककी यातना भोगता है। दोनों पक्षकी बातें सुन कर सर्वतत्त्वज्ञ मधुसूदन हँस कर बोले—ब्रह्मा कामिनियोंके रम्य नितम्बबिम्ब देख कर कामातुर हुए थे। उससे उनका वीर्य पतित हुआ था, उस वीर्यको उन्होंने लज्जाके वशीभूत हो कर क्षीरार्णवके निर्मल जलमें फेंक दिया। उसीसे इस बालककी उत्पत्ति हुई है, सुतराँ यह बालक धर्मानुसार ब्रह्माका ही मुख्य पुत्र हुआ। किन्तु शास्त्रानुसार यह बालक वरुणका भी क्षेत्रज गौण पुत्र है। महादेव बोले—विद्या और योनिके सम्बन्धानुसार शिष्य और पुत्र दोनों ही समान हैं, ऐसा ही वेदोंने गाया है। अतः वरुण ही इस लड़केको विद्या तथा मन्त्र दान देवें। बालक वरुणका शिष्य होवे। यह बालक ब्रह्माका पुत्र तो है ही। सिर्फ इतना ही नहीं, भगवान् विष्णु बालकको दाहिका-शक्ति देवें। यह बालक सब वस्तुओंको भस्म करनेमें समर्थ होगा, किन्तु वरुणके प्रभावसे इसकी शक्ति क्षीण पड़ जायेगी।

इसके बाद शिवके आदेशसे विष्णुने वह्निको दाहिका-शक्तिदान किया। वरुणने विद्या, मन्त्र तथा मनोहर रत्नमाला दी एवं बालकको गोदमें उठा कर बार बार उसका मुख चूमने लगे। (ब्रह्मवैवर्त्त पु० १३० अ०)

वह्नि वा अग्निदाह निवारणकल्पमें मत्स्यपुराणमें लिखा है, कि सामुद्रिक सैन्धव, जौ और बिजलीके द्वारा जली मिट्टीसे जो घर लीपा जायगा, वह घर कभी नहीं जलेगा।

> "सामुद्र सैन्धवयवा विद्युदग्धा च मृत्तिका।
> तयानुलिप्तं सद्वेश्म नाग्निनादह्यते नृप॥"

(मत्स्यपु० राजध० १६३ अ०)

अग्निकी विकृति अथा उसकी शान्तिके सम्बन्धमें लिखा है, कि जिस राजाके राज्यमें इंधनके अभावसे अग्नि अच्छी तरह प्रज्ज्वलित न होवे अथवा इंधन सम्पन्न होने पर भी अच्छी तरह न जले, उस राजाका राज्य शत्रुओंके द्वारा पीड़ित होता है। जहां एक मास किंवा अर्द्धमास पर्य्यन्त जलके ऊपर कोई वस्तु जलती रहती है, अथवा जहां प्रासाद, तोरणद्वार, राजगृह वा देवायतन, ये सब अग्निदग्ध होते हैं, वहांके राज्यके विनाश होनेका भय रहता है। इसके अतिरिक्त जो स्थान विद्युदग्नि द्वारा दग्ध होता है, वहां भी राजभय उपस्थित होता है। जहां बिना अग्निके धुआँ पैदा होते देख पड़े, वहां भी अत्यन्त भयकी संभावना समझनी चाहिये एवं अग्निके सिवाय किसी स्थान पर विस्फुलिंग दृष्टिगोचर होना भी अशुभ तथा भयका लक्षण है।

राज्यमें ये सब अग्निविकृति उपस्थित होने पर पुरोहित सुसमाहित भावसे त्रिरात्र उपवास करके क्षीरवृक्षोद्भव समित् सर्षप तथा घृतके साथ ब्राह्मणोंको सुवर्ण, गो, वस्त्र और भूमिदान करेंगे, ऐसा करनेसे अग्निविकृति-जनित पाप प्रशमित हो जाता है।

अग्निसमूहके मध्य मुख्य अग्नि तीन हैं, जैसे—गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय, शेष तीन उपसद् हैं।

"गार्हपत्यो दक्षिणाग्निस्तथैवाहवनीयकः ।
एतेऽग्नयस्त्रयो मुख्याः शेषाश्चोपसदस्त्रयः ॥"
(अग्निपु०)

जब एक ओर वह्नि और दूसरी ओर ब्राह्मण रहे, तब उनके बीच हो कर गमन करना निषेध है ।

"द्वौ विप्रौ वह्निविप्रौ च दम्पत्योर्गुरुशिष्ययोः ।
हलाग्रे च न गन्तव्यं ब्रह्महत्या पदे पदे ॥" (कर्म्मलोचन)

तिथ्यादितत्त्वमें भी लिखा है, यथा—"नाग्नि ब्राह्मणयोवन्तरा व्यपेयात् नाग्न्योर्न ब्राह्मणयोर्न गुरुशिष्ययोरनुज्ञया तु व्यपेयात् ।" इसके द्वारा दो ओर अग्नि रहने पर बीच हो कर गमन करना निषिद्ध है, यह भी जाना जाता है ।

गरुड़पुराणमें अग्निस्तम्भनके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है,—मनुष्यकी चरबी ले कर उसके साथ जोंक पीसे । पीछे उसे हाथमें लगानेसे उत्तमरूप अग्निस्तम्भन होता है । शिमूलका रस गधेके मूत्रमें मिला कर अग्निगृहमें फेंकनेसे अग्निस्तम्भन होता है । वायसीका उदर ले कर मण्डूककी चरबीके साथ गोली बनावे, अन्तमें उसे एक साथ अग्निमें प्रयोग करे । इस प्रकार प्रयोग करनेसे अच्छा अग्निस्तम्भन होता है । मुण्डितक (लौह), वच, मिर्च और नागर (मोथा) चबा कर जल्द जल्द जिह्वा द्वारा अग्नि लेहन की जा सकती है । गोरोचना और भृङ्गराजका चूर्ण घीके साथ निम्नोक्त मन्त्र उच्चारण कर पान करनेसे उससे दिव्य अग्निस्तम्भन होता है । मन्त्र यथा—

'ओं अग्निस्तम्भनं कुरु ।' (गरुड़पु० १८६ अ०)

६ कृष्णके एक पुत्रका नाम जो मित्रविंदासे उत्पन्न हुआ था । (भागवत १०।६१।१६) ७ रामकी सेनाके सेनापति एक बन्दरका नाम । ८ तुर्वसुके पुत्रका नाम । (हरिवंश ३२।११७) ९ कुकुरवंशी एक यादवका नाम ।
(भागवत ९।२४।१९)

वह्निकर (सं० क्ली०) १ विद्युत्, बिजली । २ जठराग्नि । ३ चकमक, पथरी ।

वह्निकरी (सं० स्त्री०) वह्निं देहस्थवह्निं करोतीति कृ-ट, ङीप् । धातोश्वरी, धोका फूल ।

वह्निकाष्ठ (सं० क्ली०) वह्निवत् दाहकं काष्ठं । दाहागुरु ।

वह्निकुण्ड (सं० पु०) अग्निकुण्ड ।

वह्निकुमार (सं० पु०) भुवनपति देवतागणमेंसे एक ।

वह्निकोण (सं० पु०) अग्निकोण, दक्षिण पूर्वकोण ।

वह्निगन्ध (सं० पु०) वह्निना वह्निसंयोगेन दहनेन गन्धो यस्य । यक्षधूम ।

वह्निगर्भ (सं० पु०) वह्नि गर्भे यस्य । वंश, बाँस ।

वह्निगृह (सं० क्ली०) अग्निशाला ।

वह्निचक्रा (सं० स्त्री०) वह्नेरिव चक्रं आवर्त्तवत् चिह्नं यत्र । कलिहारी या कलियारी नामका वृक्ष ।

वह्निचूड़ (सं० क्ली०) अग्निशिख, आगकी लपट ।

वह्निजाया (सं० स्त्री०) स्वाहा । स्वाहा देखो ।

वह्निज्वाला (सं० स्त्री०) वह्नेर्ज्वालेव दाहकत्वात् । धातकीवृक्ष, धवका पेड़ ।

वह्नितम (सं० त्रि०) अधिकतर उज्ज्वल, विशिष्ट दीप्तिशाली ।

वह्निद (सं० त्रि०) वह्निं ददातीति दा-क । अग्निदायक ।

वह्निदग्ध (सं० क्ली०) १ अग्निदग्धरोग । (त्रि०) १ अग्निदग्ध, आगमें जला हुआ ।

वह्निदमनी (सं० स्त्री०) दमयति शमयतीति दम-णिच् ल्यु, ततो ङीप्, वह्नेर्दमनी, अग्निदाहक्लेशप्रशमनकारित्वादस्यास्तथात्वम् । अग्निदमनीक्षुप, शोला ।

वह्निदीपक (सं० पु०) वह्निं दीपयतीति दीप-णिच् ण्वुल् वह्नेर्दीपक इति वा । कुसुम्भवृक्ष ।

वह्निदीपिका (सं० स्त्री०) वह्नेर्जठरानलस्य दीपिका उत्तेजिका । अजमोदा ।

वह्निनाम (सं० पु०) १ चित्रकवृक्ष, चीतेका पेड़ । २ भल्लातक, भिलावां ।

वह्निनाशक (सं० त्रि०) अग्निका प्रकोपनाशक ।

वह्निनिर्मथना (सं० स्त्री०) अग्निमन्थ वृक्ष, आग्गन्त ।

वह्निनी (सं० स्त्री०) वह्निं तद्वत् कान्तिं नयतीति नी-ड, गौरादित्वात् ङीप् । जटामांसी ।

वह्निनेत्र (सं० पु०) अग्निनेत्र, गुस्साके समय लाल आंखें ।

वह्निपुराण (सं० क्ली०) अग्निपुराण । पुराण देखो ।

वह्निपुष्पा (सं० स्त्री०) वह्निरिव दाहकं रक्तवर्णं वा पुष्पमस्याः, ङीप् । धातकीवृक्ष, धवका पेड़ ।

वह्निप्रिया (सं० स्त्री०) स्वाहा।

वह्निवधू (सं० स्त्री०) वह्नेर्वधूः। स्वाहा।

वह्निबीज (सं० स्त्री०) वह्नेर्बीजं। १ स्वर्ण, सोना। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणके श्रीकृष्णजन्मखण्डमें स्वर्णकी उत्पत्तिके विषयमें इस प्रकार लिखा है। स्वर्गकी सभामें एक बार सब देवता बैठे हुए थे और रम्भा नाच रही थी। निविड़ नितम्बिनी रम्भाको देख कर अग्निदेव कामपीड़ित हुए और उनका वीर्य स्खलित हो गया। लज्जावश इसे उन्होंने कपड़ोंसे ढाँक लिया। कुछ दिनों पीछे वह दमकती हुई धातु हो कर वस्त्र छेद कर नीचे गिरा, जिससे स्वर्णकी उत्पत्ति हुई। २ तन्त्रमें 'रं' बीज।

वह्निभूतिक (सं० क्ली०) रौप्य, चांदी।

वह्निभोग्य (सं० क्ली०) वह्नेरग्नेर्भोग्यं भोगार्हं हव्यत्वात्। घृत, घी।

वह्निमत् (सं० त्रि०) वह्निसदृश।

वह्निमथन (सं० पु०) अग्निमन्थवृक्ष, गनियारीका पेड़।

वह्निमथना (सं० स्त्री०) वह्निमथन देखो।

वह्निमन्थ (सं० पु०) वह्नये अग्न्युत्पादनार्थं मथ्यते इति मन्थ-घञ्। अग्निमन्थ वृक्ष, गनियारीका पेड़।

वह्निमय (सं० त्रि०) वह्नि-स्वरूपे मयट्। अग्निमय, अग्निस्वरूप।

वह्निमारक (सं० क्ली०) वह्निं मारयति विनाशयतीति मृ-णिच्-ण्वुल्। जल।

वह्निमित्र (सं० पु०) स्ववह्नि-मित्रं यस्य। वायु, हवा।

वह्निमुख (सं० पु०) देवता। यज्ञकी अग्निमें डाला हुआ भाग देवताओंको पहुंचता है इसीसे वे वह्निमुख कहलाते हैं।

वह्निमुखी (सं० स्त्री०) लाङ्गलिका, विषलांगूलिया।

वह्निरस (सं० पु०) अग्न्युत्ताप, अग्निकी ज्वाला या तेज।

वह्निरुचि (सं० स्त्री०) महाज्योतिष्मती लता।

वह्निरेतस् (सं० पु०) वह्नौ रेतो यस्य, अग्निनिषिक्त वीर्यत्वादेवास्य तथात्वं। शिव।

वह्निरोहिणी (सं० स्त्री०) अग्निरोहिणी।

वह्निलोह (सं० क्ली०) ताम्र, ताँबा।

वह्निलोहक (सं० क्ली०) वह्निदेवताकं लौहकं। कांस्य, काँसा।

वह्निवक्त्रा (सं० स्त्री०) लाङ्गलिया, कलिहारी या कलियारी नामका विष।

वह्निवत् (सं० त्रि०) वह्नि अस्त्यर्थे मतुप् मस्य व। अग्नियुक्त, वह्निविशिष्ट।

वह्निवर्ण (सं० क्ली०) वह्नेरिव रक्तो वर्णो यस्य। १ रक्तोत्पल, लाल कमल। (त्रि०) २ अग्निवर्ण, लाल रंगका।

वह्निवल्लभ (सं० पु०) वह्नेर्वल्लभः प्रियः उद्दीपकत्वात्। सर्ज्जरस।

वह्निबीज (सं० पु०) १ निम्बुकवृक्ष, नीबूका पेड़। (क्ली०) २ स्वर्ण, सोना। ३ निम्बुक फल, नीबू।

वह्निशाला (सं० स्त्री०) अग्निशाला, होमगृह।

वह्निशिख (सं० क्ली०) वह्निरिव शिखा यस्य। कुसुम्भ।

वह्निशिखर (सं० पु०) वह्निरिव शिखरं यस्य। लोचमस्तक।

वह्निशिखा (सं० स्त्री०) वह्निरिव शिखा यस्याः। १ लाङ्गलिया, कलिहारी या कलियारी नामका विष। २ धातकी, धवका पेड़। ३ प्रियङ्गु। ४ गजपिप्पली, गजपीपल।

वह्निशुद्ध (सं० त्रि०) अग्नि द्वारा विशुद्ध किया हुआ।

वह्निश्वरी (सं० स्त्री०) १ स्वाहा। २ लक्ष्मी।

वह्निसंज्ञक (सं० पु०) वह्ने संज्ञा यस्य, ततः कन्। चितकवृक्ष, चीतेका पेड़।

वह्निसंस्कार (सं० पु०) वह्नेः संस्कारः। अग्निसंस्कार।

वह्निसख (सं० पु०) वह्नेर्जठराग्नेः सखा टच् समासान्तः। १ जीरक, जीरा। २ वायु।

वह्निसाक्षिक (सं० अव्य०) अग्निके साक्षात्में जो कार्य निष्पन्न हुआ है।

वह्न्य (सं० क्ली०) वहतीति-वह (अघ्न्यादयश्च। उण् ४।२११) इति यक् प्रत्ययेन साधुः। १ वाहन। वह-

न्त्यनेनेति वह (वह्यं करणं । पा ४।१।१०२) इति यत्। २ शकट, गाड़ी।

वह्न्युत्पात (सं० पु०) अग्निका उत्पात।

वह्य (सं० क्ली०) वह्न्य देखो।

वह्यक (सं० पु०) वाहक, उठा कर ले जानेवाला।

वह्यशीवन् (सं० त्रि०) वाहने शयाना। दोला पर सुलाया या लेटाया हुआ।

वह्येशय (सं० त्रि०) वह्यशीवन् देखो।

वांश (सं० त्रि०) वंशस्यायं वंश-अण्। वंशसम्बन्धी।

वांशभारिक (सं० त्रि०) वंशभारं हरति वहति आवहति वा वंशभार (तद्धरति वहत्यावहति भाराद्वंशादिभ्यः। पा ५।१।५०) ठक्। वंशभारहरणकारी वा वहनकारी।

वांशिक (सं० पु०) वंशोवादनं शिल्पमस्येति वंश ठक्। १ वंशोवादक, वह जो बासुरी बजाता हो। भारभूतान् वंशान् हरति वहति आवहति वा (पा ५।१।५०) ठक् (त्रि०) २ भारभूत वंशहारक या तद्वाहक। ३ वंशकर्त्तक, बाँस काटनेवाला।

वांशी (सं० स्त्री०) वंशलोचना।

वाःकिटि (सं० पु०) वारो जलस्य किटिः शूकरः। शिशुमार, सूँस।

वाःपुष्प (सं० क्ली०) लवङ्ग, लौंग।

वाःसदन (सं० क्ली०) वारो जलस्य सदनम्। जलाधार।

वा (सं० अव्य०) वा क्विप्। १ विकल्प या सन्देहवाचक शब्द, अथवा। २ उपमा। ३ वितर्क। ४ पादपूरण। श्लोकवचनामें कोई अक्षर कम पड़नेसे च, वा, तु, ही शब्द द्वारा उसे पूरण करना होता है। ५ समुच्चय। ६ स्वार्थ। ७ निश्चय। ८ सादृश्य। ९ नानार्थ। १० विश्वास। ११ अतीत।

वाइदा (अ० पु०) वादा देखो।

वाइन (अं० स्त्री०) शराब, मद्य, सुरा।

वाइस चान्सलर (अं० पु०) विश्वविद्यालयका वह ऊंचा अधिकारी जो चान्सलरके सहायतार्थ हो और उसकी अनुपस्थितिमें उसके सारे कामोंको उसीकी भांति कर सकता हो।

वाइसराय (अं० पु०) हिन्दुस्थानका वह सर्वप्रधान शासक अधिकारी जो सम्राट्के प्रतिनिधि-स्वरूप यहां रहता है, बड़ा लाट।

वाक् (सं० क्ली०) १ वाक्य, वाणी। २ सरस्वती। ३ बोलनेकी इन्द्रिय।

वाक (सं० त्रि०) वकस्येदमिति वक (तस्येदम्। पा ४।३।१२०) इत्यण्। १ वकसम्बन्धी, बगलोंका। (क्ली०) (तस्य समूहः। पा ४।२।३७) इति अण्। २ वकसमूह, बगलोंका समूह। (पु०) वकस्यावयवो विकारो वा अञ्। ३ वकका अवयवविशेष। ४ वाक्य। ५ वेदका एक भाग।

वाक़ई (अ० वि०) १ ठीक, यथार्थ, वास्तव। (अव्य०) २ सचमुच, यथार्थमें, वास्तवमें।

वाक़या (अ० पु०) १ कोई बात जो घटित हो, घटना। २ वृत्तान्त, समाचार।

वाक़ा (अ० पु०) १ होनेवाला, घटनेवाला। २ स्थित, खड़ा, प्रतिष्ठित।

वाकारकृत् (सं० पु०) गोत्रप्रवर्त्तक एक ऋषिका नाम। (संस्कारकौ०)

वाकिन (सं० पु०) एक ऋषिका नाम। (पा ४।१।१५८)

वाकिनी (सं० स्त्री०) तन्त्रके अनुसार एक देवीका नाम।

वाक़िफ़ (अ० वि०) १ जानकार, ज्ञाता। २ बातको समझने बूझनेवाला, अनुभवी।

वाक़िफ़कार (अ० वि०) कामको समझने बूझनेवाला, जो अनाड़ी न हो, कार्याभिज्ञ।

वाकुचिका (सं० स्त्री०) बकुची।

वाकुची (सं० स्त्री०) वातीति वा वायुस्तं कुचति सङ्कोचयति पूतिगन्धित्वात्, कुच-क, गौरादित्वात् ङीष्। वृक्षविशेष, वकुची, Psoratea Corylifolia। संस्कृत पर्याय—सोमराजी, सोमवल्ली, सुवल्लिका, सिता, सितावरी, चन्द्रलेखा, चन्द्री, सुप्रभा, कुष्ठहन्त्री, पूतिगन्धा, वल्गुला, चन्द्रराजी, कालमेषी, त्वग्जदोषापहा, काम्बोजी कान्तिदा, अवल्गुजा, चन्द्रप्रभा, सुपर्णिका, शशिलेखा, कृष्णफला, सोमा, पूतिफली, कालमेषिका। वैद्यकके मतसे इसका गुण—कटु, तिक्त, उष्ण, कृमि, कुष्ठ, कफ, त्वग्दोष, विषदोष, कण्डू और खर्ज्जू नाशक। (राजनि०) भावप्रकाशके मतसे गुण—मधुर, तिक्त, कटुपाक, रसायन, विष्टम्भ, रुचिकर, श्लेष्मा और रक्तपित्तनाशक, रूक्ष,

हृद्य, श्वास, कुष्ठ, मेह, ज्वर और कृमिनाशक। इसका फल—पित्तवर्द्धक, कटु, कुष्ठ, कफ और वायुनाशक, केशका हितकर, कृमि, श्वास, कास, शोथ, आम और पाण्डुनिवारक। (भावप्र०)

वाकुल (सं० क्ली०) वकुलस्येदमिति वकुल (तस्येदम्। पा ४।३।१२०) इत्यण्। वकुल फल।

वाकोवाक् (सं० क्ली०) कथोपकथन, बातचीत।

वाकोवाक्य (सं० क्ली०) १ परस्पर कथोपकथन, बातचीत। (Dialogue) २ परस्पर तर्क। ३ तर्कविद्या। छान्दोग्योपनिषद्में नारदने सनत्कुमारोंसे अपनी जिन जिन विद्याओंके ज्ञाता होनेकी बात कही थी, उनमें 'वाकोवाक्य' विद्या भी थी।

वाक्कलह (सं० पु०) वाचा कलहः। वाक्य द्वारा कलह, बातका झगड़ा।

वाक्का (सं० स्त्री०) चरकके अनुसार एक प्रकारका पक्षी।

वाक्कोर (सं० पु०) वाचि, कौतुक-वाक्ये कीर शुकप्रियत्वात्। श्यालक, साला।

वाक्केलि (सं० स्त्री०) वाचा केलिः। वाक्य द्वारा केलि, बातकी क्रीड़ा।

वाक्केली (सं० स्त्री०) वाक्केलि देखो।

वाक्चक्षुस् (सं० क्ली०) वाक्य और चक्षु।

वाक्यचपल (सं० पु०) वाचा चपलः। १ बहुत बातें करनेवाला, बातें करनेमें तेज, मुंहजोर। २ भड़भड़िया।

वाक्छल (सं० क्ली०) वाचा छलम्। न्यायशास्त्रके अनुसार एक छल। यह तीन प्रकारका होता है,—वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल। जब वक्ताके साधारण रूपसे कहे हुए कथनमें दूसरे पक्ष द्वारा अभिप्रेत अर्थसे अन्य अर्थकी कल्पना उसे केवल चक्करमें डालनेके लिये की जाती है, तब वाक्छल कहा जाता है। जैसे वक्ताने कहा,—"यह बालक नव कंबल है" अर्थात् नये कंबल वाला है। इसका प्रतिवादी यदि यह अर्थ लगावे, कि इस बालकके पास संख्यामें नौ कंबल हैं, और कहे—'नौ कंबल कहां हैं, एक ही तो है।' तो यह वाक्छल होगा। छल शब्द देखो।

वाक्छलाश्रित (सं० त्रि०) जो हर बातमें छलकी बात करते हैं।

वाक्त्वच् (सं० क्ली०) वाक्य और त्वक्।

वाक्त्विष् (सं० क्ली०) वाङ्माधुर्य, वाक्यका तेज।

वाक्पटु (सं० त्रि०) वाचा पटु। वाक्कुशल, वाग्मी, बात करनेमें चतुर।

वाक्पटुता (सं० स्त्री०) वाक्पटु-भावे तल् टाप्। वाक्पटुका भाव या धर्म, वाक्पटुत्व।

वाक्पति (सं० पु०) वाचां पतिः। १ बृहस्पति। २ विष्णु। ३ अनवद्य वचन, पटु वाक्य, निर्दोष बात।

वाक्पतिराज (सं० पु०) १ सुप्रसिद्ध कवि हर्षदेवके पुत्र। ये राजा यशोवर्माके आश्रित थे। इन्होंने प्राकृतमें गौड़वहो (गौड़वध) नामक काव्यकी रचना की है। ये भवभूतिके समसामयिक थे। २ मालवका एक परमार राजा जो सीयकका पुत्र था। इस नामका एक और राजा हुआ है।

वाक्पतीय (सं० क्ली०) वाक्पति-विरचित ग्रन्थ। (तैत्ति० ब्रा० २।७।३।१)

वाक्पत्य (सं० क्ली०) वाक्पतित्व। (काठक ३७।२)

वाक्पथ (सं० त्रि०) वाक्यकथनोपयोगी, बात कहनेके उपयुक्त।

वाक्पा (सं० त्रि०) वाक्पटु। (ऐतरेयब्रा० २।२७)

वाक्पारुष्य (सं० क्ली०) वाचा कृतं पारुष्यं। अप्रिय वाक्योच्चारण, वाक्यकी कठोरता। यह सात प्रकारके व्यसनोंके अन्तर्गत एक व्यसन है।

इसके लक्षण—

"देशजातिकुलादीनामाक्रोशन्यङ्गसंयुतम्।
यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥"
(याज्ञवल्क्य)

'देशादीनां आक्रोशन्यङ्गसंयुतं, उच्चैर्भाषणं आक्रोशः न्यङ्गमवद्यं तदुभययुक्तं यत्प्रतिकूलार्थं उद्वेगजननार्थं वाक्यं तद्वाक्पारुष्यं कथ्यते।' (मिताक्षरा)

देश, जाति और कुलशीलादिका उल्लेख करके जो निन्दनीय वाक्य प्रयोग किया जाता है, उसे वाक्पारुष्य कहते हैं। जिसे जो वाक्य प्रयोग करना उचित नहीं, उस वाक्यके प्रयोग करनेसे वाक्पारुष्य होता है। प्रचलित

भाषामें गाली गलौज करनेका नाम ही वाक्पारुष्य है। यह निष्ठुर, अश्लील और तीव्र तीन प्रकारका होता है।

वाक्पारुष्य अपराध दण्डनीय है। जब कोई अनुचित गाली गलौजका प्रयोग करे, तब राजा उसका दण्ड विधान करें। याज्ञवल्क्यने कहा है—सत्य, असत्य वा श्लेष किसी भी भावमें सवर्ण और समगुण व्यक्तिके प्रति यदि न्यूनांग (हस्तादि रहित) वा न्यूनेन्द्रिय (चक्षु-कर्णादि रहित) एवं रोगी कह कर गाली देनेसे राजा उसका साढ़े तेरह पण दंडविधान करें। मां वा बहिनका लक्ष्य करके गाली देनेसे गाली देनेवाला बीस पण दंडका अपराधी होगा। अपनेसे निकृष्ट व्यक्तिके प्रति पूर्वोक्त गाली गलौज करनेसे उक्त दंडके आधेका भागी होगा; परस्त्री तथा अपनेसे उत्कृष्ट व्यक्तिके प्रति भी उक्त प्रकारसे गाली देने पर गाली देनेवाला दूने दंडका अपराधी होगा।

परस्परके वादविवादमें ब्राह्मणादि वर्ण एवं मूर्द्धावसिक्तादि जातियोंकी उच्चता नीचतानुसार दंडकी कल्पना कर लेनी होगी। ब्राह्मणोंके प्रति क्षत्रियके गाली गलौज करनेसे उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट होनेके कारण दो गुने एवं उच्चवर्ण होनेके कारण उसके भी दो गुने, इस प्रकारसे चार गुने दंड अर्थात् पचीसकी जगह सौ पण दंडका विधान करना चाहिये। वैश्यके इस प्रकार गाली-गलौज करनेसे वैश्यकी अपेक्षा उत्कृष्ट होनेके कारण दो गुने एवं उच्चवर्ण होनेके कारण उसके भी दो गुने दंडका अपराधी होगा। शूद्रके इस प्रकार गाली गलौज करनेसे जिह्वाछेदनादि दंडकी विधि है। नीच वर्णोंके प्रति इस प्रकार कुवाक्य प्रयोग करने पर अर्द्धार्द्धहानि क्रमसे दण्डविधान होगा। ब्राह्मण यदि क्षत्रियको गाली देवे, तो उसका आधा दंड, वैश्यके प्रति इस तरह गाली देनेसे चौथाई एवं शूद्रके प्रति इस तरहका आचरण करने पर बारह पण दंडका विधान करना चाहिये।

समर्थ व्यक्ति यदि वाक्य द्वारा समर्थ व्यक्तिकी भुजा, गर्दन, नेत्र प्रभृति छेदन करनेकी धमकी दे कर गाली देवे, तो उसे सौ पण दंड मिलना चाहिये एवं अशक्त व्यक्तिको इस प्रकार कुवाक्य कहने पर वह दश पण दंडका अपराधी होगा। सुरापायी (शराबखोर) इत्यादि पातित्यसूचक गाली देनेसे मध्यम साहस दण्ड, शूद्रयाजी इत्यादि उपपातकसूचक गाली देनेसे प्रथम साहस दंड, वेदत्रयवेत्ता, राजा और देवताको गाली देनेसे उत्तम साहस दंड, जातिसमूहके प्रति गाली देनेसे मध्यम साहस दंड एवं ग्राम और देशका उल्लेख करके गाली देनेसे प्रथम साहस दंडका विधान करना चाहिये।

(याज्ञवल्क्यसं २ अ० वाक् पारुष्यप्र०)

वाक्पुष्प (सं० क्ली०) वाक्यरूप पुष्प, सुभाषित वाक्य, मीठा वचन।

वाक्प्रलाप (सं० पु०) प्रलापवाक्य।

वाक्प्रबन्ध (सं० पु०) अपनी चिन्तोद्भूत रचना।

वाक्प्रवदिषु (सं० पु०) कथनेच्छु, बातचीत करनेकी इच्छा करनेवाला।

वाक्फ़ियत (अ० स्त्री०) परिज्ञान, जानकारी।

वाक्य (सं० क्ली०) उच्यते इति वच-ण्यत (भजोः-कुघिण्यतोः। पा ७।३।५२) इति कुत्वं शब्दसंज्ञात्वात् (वचोऽशब्दसंज्ञायां इति निषेधो न) वह पदसमूह जिससे श्रोताको वक्ताके अभिप्रायका बोध हो। सुप् और तिङन्तको पद कहते हैं, 'सुप् तिङन्तं पदं' जिस पदके अन्तमें सुप् और तिङ् रहता है, शब्दके उत्तर 'सुप्' अर्थात् सु, औ आदि विभक्ति एवं धातुके उत्तर तिप, तस् आदि विभक्ति होती है। यह सुप् और तिङन्त हो कर पदसमुदाय वाक्य कहलावेगा। साहित्य-दर्पणमें इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

'योग्यता, आकांक्षा और आसक्तियुक्त पदसमूहको वाक्य कहते हैं। जिस पदमें योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति नहीं है, वह वाक्यपदवाच्य नहीं होगा। वाक्य और महावाक्यके भेदसे यह दो प्रकारका है।' रामायण, महाभारत और रघुवंश आदि महावाक्य एवं छोटा छोटा पदसमूह वाक्य है। जैसे—'शून्यं वासगृहं' इत्यादि एक वाक्य है, महावाक्य नहीं।

किसीको भी अप्रिय वाक्य नहीं कहना चाहिए। किसी प्राणीकी हिंसा न करे और न कभी झूठ बोले। वैष्णवके मतसे पाषण्ड, कुकर्मकारी, वामाचारी, पञ्चरात्र तथा पाशुपत मतानुवर्त्तीकी वाक्य द्वारा अर्चना करना उचित नहीं।

शुभाशुभ वाक्य—जो वाक्य स्वर्ग वा अपवर्गकी सिद्धिके लिये बोला जाता है और जो वाक्य सुननेसे इहलोक और परलोकका मंगल होता है, उसीको शुभवाक्य कहते हैं। राग, द्वेष, काम, तृष्णा आदिके वशमें हो कर जो वाक्य कहा जाता है, जिस वाक्यके सुनने या कहनेसे निरयका कारण होता है, वही अशुभवाक्य कहलाता है। कभी ऐसा अशुभवाक्य न सुनना चाहिए और न बोलना चाहिए। वाक्य विशुद्ध, सुमिष्ट, मृदु या ललित होनेसे सुन्दर नहीं होता, जो वाक्य सुननेसे अविद्याका नाश होता है, संसारक्लेश दूरीभूत होता है एवं जो सुननेसे पुण्य होता है, वही सुन्दर वाक्य है।

वाक्यकर (सं० पु०) १ एकको बात दूसरेसे कहनेवाला, दूत। (त्रि०) २ वचनभाषी, बातें बनानेवाला।

वाक्यकार (सं० पु०) रचनाकार।

वाक्यगर्भित (सं० क्ली०) वाक्यपूर्ण, वह जो सुन्दर पदादि द्वारा बना हो।

वाक्यग्रह (सं० पु०) अर्थग्रहण।

वाक्यता (सं० स्त्री०) वाक्यका भाव या धर्म।

वाक्यपूरण (सं० क्ली०) वाक्यका समाप्त होना।

वाक्यप्रचोदन (सं० पु०) अनुज्ञावाक्य।

वाक्यप्रचोदनात् (सं० अव्य०) आज्ञानुसार।

वाक्यप्रतोद (सं० पु०) कटूक्ति, परुष या रूढ़ वाक्य।

वाक्यप्रलाप (सं० पु०) १ असम्बन्ध वाक्य, बेलगानकी बात। २ वाग्मिज।

वाक्यप्रसारिन् (सं० त्रि०) १ वाचाल, बोलनेमें तेज। २ वाग्विस्तारकारी, बात बढ़ानेवाला।

वाक्यभेद (सं० पु०) मीमांसाके एक ही वाक्यका एक ही कालमें परस्पर विरुद्ध अर्थ करना।

वाक्यमाला (सं० स्त्री०) वाक्यलहरी, वाक्यसमूह।

वाक्यशेष (सं० पु०) १ कथावसान। २ वाक्यका शेष।

वाक्यसंयम (सं० पु०) वाक्संयम, वाङ्निरोध।

वाक्यसंयोग (सं० पु०) वाक्यका मिलन, वाक्योजना।

वाक्यसङ्कीर्ण (सं० पु०) वाक्याहता।

वाक्यस्वर (सं० पु०) बातकी आवाज, बोलनेका शब्द।

वाक्याध्याहार (सं० पु०) कहनेमें तर्क।

वाक्यार्थ (सं० पु०) कहनेका मर्म।

वाक्यार्थोपमा (सं० स्त्री०) वाक्यार्थका सादृश्य।

वाक्यालङ्कार (सं० पु०) वाक्यकी शोभा, वाक्यच्छटा।

वाक्यैकवाक्यता (सं० स्त्री०) मीमांसाके अनुसार एक वाक्यको दूसरे वाक्यसे मिला कर उसके सुसंगत अर्थका बोध कराना।

वाक (सं० क्ली०) सामभेद।

वाक्र (सं० त्रि०) वक्र व्यञ्। वक्र सम्बन्धी।

वाक्संयम (सं० पु०) वाचः संयमः। वाणीका संयम, अन्यथा बात न कहना, व्यर्थ बातें न करना।

वाक्सङ्ग (सं० पु०) वाक्यग्रह।

वाक्सिद्धि (सं० स्त्री०) वाणीकी सिद्धि अर्थात् इस प्रकारकी सिद्धि या शक्ति कि जो बात मुंहसे निकले वह ठीक घटे।

वाक्स्तम्भ (सं० पु०) वाक्यस्तम्भन, वाक्यरोध कर देना।

वागतीत (सं० पु०) अतीत वाक्य, बीती हुई बात।

वागन्त (सं० पु०) वाक्यका शेष।

वागपहारक (सं० पु०) १ पुस्तक-चोर। २ निषिद्धवाक्य पाठकारी।

वागर (सं० पु०) वाचा इयर्त्ति गच्छतीति ऋ अच्। १ वारक। २ शाण, सान। ३ निर्णय। ४ वृक, भेड़िया। ५ मुमुक्षु। ६ पण्डित। ७ निर्भय, निडर।

वागसि (सं० स्त्री०) तलवारकी तरह तीक्ष्णवाक्य।

वागा (सं० स्त्री०) वल्गा, लगाम।

वागारु (सं० त्रि०) वाचि आशावाक्ये आरु कर्कट इव मर्मच्छेदकत्वात्। आशा दे कर निराश करनेवाला, आसरेमें रख कर पीछे धोखा देने वाला, विश्वासघाती।

वागाशनि (सं० पु०) बुद्धदेव।

वागीश (सं० पु०) वाचामीशः। १ बृहस्पति। २ ब्रह्मा। ३ वाग्मी, कवि। (त्रि०) ४ वक्ता, अच्छा बोलनेवाला।

वागीश— न्यायसिद्धान्ताञ्जनके रचयिता।

वागीशतीर्थ—एक प्रसिद्ध शैव धर्माचार्य। ये कवीन्द्रतीर्थके बाद मठके अधिकारी हुए। इनका पूर्व नाम रङ्गाचार्य या रघुनाथाचार्य था। १३४४ ई०में इनकी मृत्यु हुई। स्मृत्यर्थसागरमें इनकी धर्मव्याख्या कीर्त्तित है।

वागीशत्व (सं० क्ली०) वागीशस्य भावः त्व। वाक्पतिका भाव या धर्म, उत्तम वाक्य।

वागीशभट्ट—दशलकारमञ्जरी और मङ्गलवादके रचयिता।

वागीशा (सं॰ स्त्री॰) वाचामीशा। सरस्वती।

वागीश्वर (सं॰ पु॰) वाचामीश्वर इव। १ मञ्जुघोष बोधिसत्व। २ जैनविशेष। ३ बृहस्पति। ४ ब्रह्मा। (त्रि॰) ५ वाक्पति, अच्छा बोलनेवाला।

वागीश्वर—१ मानमनोहरके प्रणेता। २ मङ्खके समसामयिक एक कवि। ३ एक वैद्यक ग्रन्थके रचयिता।

वागीश्वरकीर्त्ति (सं॰ पु॰) एक आचार्यका नाम।

वागीश्वरभट्ट—काव्यप्रदीपोद्योतके प्रणेता।

वागीश्वरी (सं॰ स्त्री॰) वाचामीश्वरी। सरस्वती।

वागीश्वरीदत्त—पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्याके रचयिता।

वागुजी (सं॰ स्त्री॰) सोमराजी, वाकुची।

वागुञ्जार (सं॰ पु॰) एक प्रकारकी मछली।

वागुण (सं॰ पु॰) १ कर्मरङ्ग, कमरख। २ बैंगन, भांटा।

वागुत्तर (सं॰ क्ली॰) वक्तृता और उत्तर।

वागुरा (सं॰ स्त्री॰) वातीति वा गतिबन्धनयोः (मद्गुरादयश्च। उण् १।४२) इति उरच् प्रत्ययेन गुणागमेन च साधु। मृगोंके फंसानेका जाल।

वागुरि (सं॰ पु॰) एक प्रसिद्ध शिल्पवित्।

वागुरिक (सं॰ पु॰) वागुरया चरतीति वागुरा (चरति। पा ४।४।८) इति ठक्। मृगव्याध, हिरन फंसानेवाला शिकारी।

वागुलि (सं॰ पु॰) पानदान, डिब्बा।

वागुलिक (सं॰ पु॰) राजाओंका वह सेवक जिसका काम उनको पान खिलाना होता है, खवास।

वागुस (सं॰ पु॰) एक प्रकारकी मछली।

वागृषभ (सं॰ पु॰) प्रकृष्ट वक्ता, विज्ञ वाग्मी।

वागोयान (सं॰ पु॰) नदीया जिलास्थ ग्रामभेद।
(क्षितीश॰ ८।१६)

वाग्गुण (सं॰ पु॰) १ वाक्यफल। २ अर्हत्भेद।

वाग्गुद (सं॰ पु॰) वाचा गोदते क्रीड़तीवेति गुद-क्रीड़ायां क। एक प्रकारका पक्षी। मनुस्मृतिमें लिखा है, कि जो गुड़ चुराता है, वह दूसरे जन्ममें वाग्गुद पक्षी होता है।

वाग्गुलि (सं॰ पु॰) वाचा गुड़ति रक्षतीति गुड़ (इगुपधात् कित्। उण् ४।११८) इति इन्, स च कित्। ताम्बूली, राजाओंका वह खवास जो उनको पान खिलाता है।

वाग्गुलिक (सं॰ पु॰) वाग्गुलि स्वार्थे कन्।
वाग्गुलि देखो।

वाग्जाल (सं॰ क्ली॰) वागेव जालमिति रूपककर्मधा॰। बातोंकी लपेट, बातोंका आडम्बर या भरमार।

वाग्डम्बर (सं॰ पु॰) वाक्यच्छटा, बातोंकी लपेट।

वाग्दण्ड (सं॰ पु॰) वागेव दण्डः। भला बुरा कहनेका दण्ड, मौखिक दण्ड, डाँट डपट।

वाग्दत्त (सं॰ त्रि॰) वाचा दत्तः। वाक्य द्वारा दत्त, मुंहसे दिया हुआ।

वाग्दत्ता (सं॰ स्त्री॰) वाचा दत्ता। वह कन्या जिसके विवाहकी बात किसीके साथ ठहराई जा चुकी हो, केवल विवाह संस्कार होनेको बाकी हो। पूर्वकालमें प्रथा थी, कि कन्याका पिता जामाताके पास जा कर कहता था, कि मैं अपनी कन्या तुम्हें दूंगा। आज कल इस प्रकार तो नहीं कहा जाता, पर वरच्छा या फलदानका टीका चढ़ाया जाता है।

वाग्दरिद्र (सं॰ त्रि॰) वाचि दरिद्र इव। मितभाषी, थोड़ा बोलनेवाला।

वाग्दल (सं॰ क्ली॰) वाचां दलमिव। ओष्ठाधर, ओठ।

वाग्दान (सं॰ क्ली॰) वाचां दानं। वाक्यदान, कन्याके पिताका किसीसे जा कर यह कहना कि मैं अपनी कन्या तुम्हें ब्याहूंगा। वाग्दानके पहले कन्याकी मृत्यु हो जानेसे सब वर्णोंको एक दिन अशौच होता है; किन्तु वाग्दानके बाद अगर कन्याकी मृत्यु हो जाय, तो दोनों कुल अर्थात् पितृ और भर्तृकुलमें तीन दिन अशौच होगा। लेकिन आज कल वाग्दान न रहनेसे विवाहके पहले तक कन्याकी मृत्यु होनेसे एक दिन अशौच मानना होता है।

वाग्दुष्ट (सं॰ त्रि॰) वाचा शुद्धेऽपि वस्तुनि अशुद्धरूपत्वाद्दुर्वाक्येन दुष्टः। १ परुषभाषी, कटुभाषी। २ अभिशप्त, जिसे किसीने शाप दिया हो, जिसे किसीने कोसा हो। मनुभाष्यकार मेधातिथिके मतसे परुष और मिथ्यावादीको वाग्दुष्ट कहते हैं।

'वाग्दुष्टः परुषभाषी अभिशप्त इत्यन्ये' (कुल्लूक) 'वाचा दुष्टः परुषानृतभाषी' (मेधातिथि) श्राद्धकर्ममें वाग्दुष्ट ब्राह्मण वर्ज्जनीय माना गया है।

प्रायश्चित्तविवेकमें लिखा है, कि वाग्दुष्ट व्यक्तिको

अन्न नहीं खाना चाहिये। हठात् खा लेनेसे तीन रात उपवास एवं ज्ञान कर अर्थात् बार बार खानेसे बारह पण दान दे कर प्रायश्चित्त करे।

वाग्देवता (सं० स्त्री०) वाचां देवता। वाणी, सरस्वती।

वाग्देवी (सं० स्त्री०) वाचां देवी। सरस्वती, वाणी।

वाग्देवीकुल (सं० क्ली०) विज्ञान, विद्या और वाग्मिता।

वाग्दैवत्यचरु (सं० पु०) वह चरु जो सरस्वतीके उद्देश्यसे पकाया गया हो।

वाग्दोष (सं० पु०) १ बोलनेकी त्रुटि। २ व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ या दोष। ३ निन्दा या गाली।

वाग्द्वार (सं० क्ली०) वागेव द्वारं। वाक्यरूप द्वार।

वाग्भट—१ राजा मालवेन्द्रके मन्त्री। २ निघण्टु नामक वैदिक ग्रन्थके रचयिता। ३ एक पण्डित तथा नेमिकुमारके पुत्र। इन्होंने अलङ्कारतिलक, छन्दोनुशासन और टीका, वाग्भटालङ्कार और शृङ्गारतिलक नामक काव्य रचे। ४ अष्टाङ्गहृदयसंहिता नामक वैद्यक ग्रन्थके रचयिता। इनके पिताका नाम सिंहगुप्त और पितामहका वाग्भट था। ५ पदार्थचन्द्रिका, भावप्रकाश, रसरत्नसमुच्चय और शास्त्रदर्पण आदि ग्रन्थके प्रणेता।

वाग्भट्ट (सं० पु०) वाग्भट देखो।

वाग्भृत् (सं० त्रि०) वाक्यपोषणकारी, वाक्पटु।

वाग्मायन (सं० पु०) वाग्मिनो गोत्रापत्यं (अश्वादिभ्यः फञ्। पा ४।१।११०) इति फञ्। वाग्मीका गोत्रापत्य।

वाग्मिता (सं० स्त्री०) वाग्मिनो भावः। वाग्मीका भाव या धर्म, अच्छी तरह बोलनेकी शक्ति।

वाग्मिन् (सं० त्रि०) प्रशस्ता वागस्त्यस्येति (वाचो ग्मिनिः। पा ५।२।१२४) इति ग्मिनिः। १ वक्ता, वाचाल। २ पटु। (पु०) प्रशस्ता वागस्त्यस्येति ग्मिनि। ३ सुराचार्य, वृहस्पति। ४ एक पुरुवंशी राजा। (भारत १।९४।७)

वाग्मी (सं० त्रि० पु०) वाग्मिन् देखो।

वाग्मूल (सं० त्रि०) जिसके वाक्यका मूल है।

वाग्र (सं० त्रि०) वाचं परिमितं वाक्यं याति गच्छतीति या-क। १ परिमितभाषी। २ निर्वेद। ३ कलय।

वाग्यत (सं० त्रि०) वाचि वाक्ये यतः संयतः। वाक्यसंगत, वाक्यसंयमनकारी।

वाग्यमन (सं० क्ली०) वाचां यमनं। वाणीका संयम, बोलनेमें संयम।

वाग्याम (सं० त्रि०) वाग्यत, वाक्यसंयमकारी।

वाग्वज्र (सं० क्ली०) वागेव वज्रं। १ कठोर वाक्य। २ शाप। (त्रि०) ३ कठोर वाक्य बोलनेवाला।

वाग्वत् (सं० त्रि०) वाक्यसदृश, कथानुयायी।

वाग्वाद (सं० पु०) पाणिनिके अनुसार एक व्यक्तिका नाम। (पा ६।३।१०९)

वाग्वादिनी (सं० स्त्री०) सरस्वती।

वाग्विद् (सं० त्रि०) वाग्मी, सुभाषक।

वाग्विदग्ध (सं० त्रि०) वाचा विदग्धः। १ वाक्चतुर, बातचीत करनेमें चतुर। २ वाक्यबाणसे जर्जरित। ३ पण्डित।

वाग्विदग्धा (सं० स्त्री०) वाक्चतुरा, बातचीत करनेमें चतुरा स्त्री।

वाग्विन् (सं० त्रि०) वाक्ययुक्त।

वाग्विप्रुष (सं० क्ली०) वेद पाठ करनेके समय मुंहसे निकला हुआ थूक।

वाग्विलास (सं० पु०) आनन्दपूर्वक परस्पर सम्भाषण, आनन्दपूर्वक बातचीत करना।

वाग्विसर्ग (सं० पु०) वाक्यत्याग, बात बन्द करना।

वाग्विसर्जन (सं० क्ली०) वाग्विसर्ग, बात बन्द करना।

वाग्वीर्य (सं० त्रि०) ओजस्वी।

वाग्वैदग्ध्य (सं० पु०) १ बात करनेकी चतुरता। २ सुन्दर अलङ्कार और चमत्कारपूर्ण उक्तियोंकी निपुणता। काव्यमें वाग्वैदग्ध्यकी प्रधानता मानते हुए भी काव्यकी आत्मा रस ही कहा गया है। अग्निपुराणमें स्पष्ट लिखा है—'वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।'

वाघत् (सं० पु०) १ पुरोहित। २ ऋत्विज्। (निघण्टु ३।१८) ३ मेधावी। (निघण्टु ३।१५) ४ वाहक, घोड़ा।

वाघेल्ल (सं० क्ली०) राजवंशभेद, वाघेल राजवंश। बघेल देखो।

वाङ्क (सं० पु०) समुद्र।

वाङ्गक (सं० त्रि०) वङ्गराजपुत्र।

वाङ्निधन (सं० पु०) सामभेद।

वाङ्मती (सं० स्त्री०) स्तुतिरूपा वागस्त्यस्या इति वाक्-

मतुप् ङीप्। एक नदी। यह नेपालमें है और आज कल वागमती कहलाती है। वराहपुराणके गोकर्ण-माहात्म्यमें इस नदीको अत्यन्त पवित्र, गङ्गासे भी पवित्र कहा है और इसमें स्नान करने तथा इसके किनारे मरनेसे विष्णुलोककी प्राप्ति बतलाई गई है।

वाङ्मधु (सं० क्ली०) वाकेव मधु। वाक्यरूप मधु, अति सुमिष्ट मधुर वाक्य।

वाङ्मधुर (सं० त्रि०) वाचा मधुरः। वाक्यमें मधुर, बातका मीठापन।

वाङ्मय (सं० त्रि०) वाक् स्वरूपं, वाच्-मयट्। १ वाक्यात्मक, वचन-सम्बन्धी। म, य, र, स, त, ज, भ, न, ग, ल, ये दश अक्षर त्रैलोक्यमें विष्णुकी तरह समस्त वाक्यमें परिव्याप्त हैं। ये गद्य और पद्यके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। गद्य और पद्य शब्द देखो। २ वचन द्वारा किया हुआ। वचनों द्वारा किये हुए पाप चार प्रकारके कहे गये हैं—पारुष्य, अनृत, पैशुन्य और असम्बन्ध प्रलाप। किसी किसीके मतसे यह पाप छः प्रकारके हैं—परुष वचन, अपवाद, पैशुन्य, अनृत, वृथालाप और निष्ठुर वाक्य। ये छः प्रकारके पाप उक्त चार प्रकारके मध्य निविष्ट रहनेसे विरोध परिहार हुए हैं।

दूसरेके देश, जाति, कुल, विद्या, शिल्प, आचार, परिच्छद, शरीर और कर्मादिका उल्लेख करके प्रत्यक्षरूपसे जो दोष-वचन होता है, उसीको परुष कहते हैं। जिस वाक्यके सुननेसे क्रोध, सन्ताप और त्रास होती है, वह भी परुषपद वाच्य है। चक्षुष्मान् व्यक्तिको चक्षहीन एवं ब्राह्मणको चाण्डालादि कहना भी परुष है। परुष वाक्यके परोक्षमें उदाहरणके नाम अपवाद तथा गुरु, नृपति, बन्धु, भ्राता और मित्रादिके समीप अर्थोपघातके लिये जो दोष कहा जाता है, उसको पैशुन्य कहते हैं। अनृत दो प्रकारका है—असत्य और असंवाद। देशराष्ट्र प्रसङ्ग, पदार्थ परिकल्पन एवं नर्महास प्रयुक्त जो वाक्य है, उसे व्यर्थभासन, गुह्याङ्गका उल्लेख, अपवित्र वाक्यप्रयोग, अश्रद्धासे उच्चारित वाक्य तथा स्त्रीपुरुष मिथुनात्मक जो वाक्य है, वह निष्ठुर वाक्य कहलाता है। इस तरहका उच्चारित वाक्य ही वाङ्मय पाप है। ३ जो पठन-पाठनका विषय हो। (क्ली०) ४ गद्य-पद्यात्मक वाक्य आदि जो पठन-पाठनका विषय हों, साहित्य।

वाङ्मयी (सं० स्त्री०) वाङ्मय-ङीप्। सरस्वती।

वाङ्माधुर्य (सं० क्ली०) वचो माधुर्यं। वाक्यकी मधुरता, मीठा बचन।

वाङ्मुख (सं० क्ली०) वाचां मुखमिव। एक प्रकारका गद्य काव्य, उपन्यास।

वाचंयम (सं० पु०) वाचो वाक्यात् यच्छति विरमतीति यम उपरमे (वाचियमो व्रते। पा ३।२।४०) इति खच् (वाचंयमपुरन्दरौ। पा ६।३।६९) इति अमन्तत्वं निपात्यते। १ मुनि। २ मौनव्रती, मौन धारण करनेवाला पुरुष।

वाचंयमत्व (सं० क्ली०) वाचं यमस्य भावः त्व। वाचंयमका भाव या धर्म, वाक्यसंयम।

वाच् (सं० स्त्री०) उच्यतेऽसौ अनयावेति वच्-क्विप् दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च। १ वाक्य, वाणी, वाचा। २ सरस्वती।

वाच (सं० स्त्री०) वाचयति गुणानिति वच-णिच् अच्। मत्स्यविशेष, एक प्रकारकी मछली। इसका गुण स्वादु, स्निग्ध, श्लेष्मवर्द्धक और वातपित्तनाशक माना गया है। (राजव०)

वाच (अ० स्त्री०) जेबमें रखनेकी या कलाई पर बाँधनेकी घड़ी।

वाचक (सं० पु०) व्यक्ति अभिधा वृत्य बोधयत्यर्थान् इति वच-ण्वुल्। १ शब्द। प्रकृति और प्रत्यय द्वारा शब्द-वाचक होता है। मुग्धबोधटीकामें इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है,—प्रत्यक्षरूपसे जो साङ्केतिक अर्थ धारण करता है, उसको वाचक कहते हैं।

वाचयतीति वच-णिच्-ण्वुल्। २ कथक, पुराणादि पढ़नेवाला। इस कार्यमें ब्राह्मणोंको नियुक्त करना चाहिये, ब्राह्मणके अलावा दूसरे वर्णको पाठक नियुक्त करनेसे नरक होता है।

जो वाचकको पूजा करते हैं, देवता उनके प्रति प्रसन्न होते हैं। पुराणादि पाठ करानेवालोंको चाहिए, कि वे पाठकको सर्वदा सन्तुष्ट रखें। पुराणादि पाठकालमें प्रति पर्व समाप्तिके दिन कथकको उपहार आदि देना उचित है।

पाठक जो पाठ करें, वह सुस्पष्ट तथा अद्भुतभावसे हो। पाठ करनेके समय उनका चित्त स्थिर रहना चाहिए

जिससे सब पद स्पष्टरूपसे उच्चारित हो, इसके प्रति उन्हें विशेष लक्ष्य रखना उचित है। ऐसा पढ़ना चाहिए, कि सब कोई उसे समझ सके। जो इस प्रकार पाठ कर सकते हैं, वे व्यास कहलाते हैं। पाठ शुरू करनेके पहले पाठकको उचित है, कि वे पहले देवता और ब्राह्मणकी अर्चना कर लेवें।

वाचकता (सं० स्त्री०) वाचकस्य-भावः तल् टाप्। वाचकत्व, वाचकका भाव या धर्म, पाठ, वाचन।

वाचकत्व (सं० क्ली०) वाचकता देखो।

वाचकधर्मलुप्ता (सं० स्त्री०) वह उपमा जिसमें वाचक शब्द और सामान्य धर्मका लोप हो।

वाचकपद (सं० क्ली०) भावव्यञ्जक वाक्य।

वाचकलुप्ता (सं० स्त्री०) एक प्रकारका उपमालंकार जिसमें उपमावाचके शब्दका लोप होता है।

वाचकाचार्य (सं० पु०) एक जैनाचार्यका नाम।
(सर्वदर्शनसंग्रह ३४।८)

वाचकुटी (सं० स्त्री०) वचक्नु ऋषिकी अपत्यस्त्री, गार्गी।
(शतपथब्रा० १४.६।६६।१)

वाचकोपमानधर्मलुप्ता (सं० स्त्री०) वह उपमा जिसमें वाचक शब्द, उपमान और धर्म तीनों लुप्त हों केवल उपमेय भर हों।

वाचकोपमानलुप्ता (सं० स्त्री०) उपमालंकारका एक भेद। इसमें वाचक और उपमानका लोप होता है।

वाचकोपमेयलुप्ता (सं० स्त्री०) उपमालंकारका एक भेद। इसमें वाचक और उपमेयका लोप होता है।

वाचक्नवी (सं० स्त्री०) गार्गी, वाचकुटी।

वाचन (सं० क्ली०) वच-णिच्-ल्युट्। १ पठन, पढ़ना। २ कहना, बताना। ३ प्रतिपादन।

वाचनक (सं० क्ली०) वाचनेन कायतीति-कै-क। प्रहेलिका, पहेली।

वाचनालय (सं० पु०) वह कमरा या भवन जहां पुस्तकें और समाचारपत्र आदि पढ़नेको मिलते हों, रीडिंग रूम।

वाचनिक (सं० त्रि०) वाक्ययुक्त।

वाचयितृ (सं० त्रि०) वच-णिच्-तृच्। वाचक, बाँचनेवाला।

वाचश्रवस् (सं० पु०) वाक्यदाता।

वाचसांपति (सं० पु०) वाचसां सर्वविद्यारूपवाक्यानां पतिः अभिधानात् षष्ठ्या अलुक्। बृहस्पति।

वाचस्पत (सं० पु०) वाचस्पतिके गोत्रमें उत्पन्न पुरुष।
(शाङ्खा० ब्रा० २६।५)

वाचस्पति (सं० पु०) वाचःपतिः (षष्ठ्याः पतिपुत्रेति। पा ८।३।५३) इति षष्ठी। १ शब्दप्रतिपालक।

२ देवगुरु बृहस्पति। कहते हैं, कि इन्होंने ही चार्वाकदर्शनका मूल बृहस्पतिसूत्र लिखा। ३ एक प्राचीन वैयाकरण और आभिधानिक। हेमचन्द्र, मेदिनीकर तथा हारावलीमें पुरुषोत्तमने इनके कोषका उल्लेख किया है। ४ एक कवि। क्षेमेन्द्रकृत कविकण्ठाभरणमें इनका परिचय है। इनका पूर्व नाम था—शब्दार्णव वाचस्पति। ५ अध्यायपञ्चपादिकाके प्रणेता। ६ वर्द्धमानेन्दुअध्यायपञ्चपादिकाके रचयिता। ७ स्मृतिसंग्रह और स्मृतिसारसंग्रहके सङ्कलयिता। ८ आटङ्कदर्पण नामक माधवनिदानकी टीकाके प्रणेता। ये प्रमोदके पुत्र थे। ६ शाकुनशास्त्रके प्रणेता।

वाचस्पति गोविन्द—मेघदूतटीकाके रचयिता।

वाचस्पति मिश्र—१ मिथिलावासी एक पण्डित। इनके रचे आचार-चिन्तामणि, कृत्यमहार्णव, तीर्थ-चिन्तामणि, नीतिचिन्तामणि, पितृभक्तितरङ्गिणी, प्रायश्चित्तचिन्तामणि, विवादचिन्तामणि, व्यवहारचिन्तामणि, शुद्धिचिन्तामणि, शूद्राचारचिन्तामणि, श्राद्धचिन्तामणि और द्वैतनिर्णय ग्रन्थ मिलते हैं। यह शेषोक्त ग्रन्थ इन्होंने पुरुषोत्तमदेवकी माता और भैरवदेवकी महिषी जयादेवीके आदेशसे रचा था। इनके अलावा इनकी बनाई गयायात्रा, चन्दनधेनुदान, तिथिनिर्णय, शब्दनिर्णय और शुद्धिप्रथा नामक बहुत-सी स्मृतिव्यवस्था पुस्तकें मिलती हैं। २ काव्यप्रकाशटीकाके प्रणेता। चण्डिदासकी टीकामें इनका मत उद्धृत है। ३ एक वैदान्तिक और नैयायिक। ये मार्त्तण्डतिलकस्वामीके शिष्य थे। इन्होंने तत्त्वविन्दु, वेदान्ततत्त्वकौमुदी, सांख्यकौमुदी, वाचस्पत्य नामक वेदान्त, तत्त्वशारदी, योगसूत्रभाष्यव्याख्या और युक्तिदीपिका (सांख्य) नामक

योग, न्यायकणिकाविधिविवेकटीका, न्यायतत्त्वावलोक, न्यायरत्नटीका, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, भामती या शारीरकभाष्य विभाग आदि ग्रन्थ लिखे। सायणाचार्यने सर्वदर्शनसंग्रहमें, वर्द्धमानने न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाशमें तथा शङ्करमिश्रने वैशेषिक सूत्रोपस्कार ग्रन्थमें इनका मत उद्धृत किया है। ८९८ शकमें इनका न्यायसूचीनिवन्ध शेष हुआ। भवदेवभट्ट और हरिवर्मदेव देखो। ४ भास्कराचार्यकृत सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थके एक टीकाकार।

वाचस्पत्य (सं० त्रि०) १ वृहस्पतिका मतसम्बन्धीय वाचस्पतिं देवपुरोहितमनुजातं वाचस्पत्यः। २ पुरोहित-कर्मकर्त्ता। "वृहस्पतिर्हं वै देवानां पुरोहितस्तमन्वन्ये मनुष्यराज्ञां पुरोहिता इति ब्राह्मणे वृहस्पतिं यः सुभृतं विभर्त्तीति मन्त्रस्थवृहस्पतिपदस्य व्याख्यानात्।"

(महाभारत १३ पर्व नीलकण्ठ)

वाचा (सं० स्त्री०) १ वाक्य, वचन, शब्द। २ वाणी।

वाचाट (सं० त्रि०) कुत्सितं वहु भाषते इति वाच् (आलजा टचे वहुभाषिणि। पा ५।२।१२५) इति आटच्। १ वाचाल। २ बक्की, बकवादी।

वाचापत्र (सं० क्ली०) प्रतिज्ञापत्र।

वाचाबद्ध (सं० पु०) प्रतिज्ञाबद्ध, वचन देनेके कारण विवश, वादेमें बँधा हुआ।

वाचाबन्धन (सं० पु०) प्रतिज्ञाबद्ध होना।

वाचारम्भन (सं० क्ली०) १ कथाका आरम्भ। २ वागालम्बन।

वाचाल (सं० त्रि०) वहु कुत्सितं भासते इति वाच् (पा ५।२।१२५) इति आलच्। १ वाक्पटु, बोलनेमें तेज। २ बकवादी, व्यर्थ बकनेवाला।

वाचालता (सं० स्त्री०) वाचालस्य भावः तल्-टाप्। १ बहु-भाषिता, बहुत बोलनेवाला। ३ बातचीतमें निपुणता।

वाचाविरुद्ध (सं० त्रि०) वाङ् नियमनशील।

वाचावृद्ध (सं० त्रि०) १ वाक्यमें बड़ा, जो बातचीतमें पक्का हो। (पु०) २ चौदह मन्वन्तरके अनुसार देवगणभेद। (विष्णुपु०)

वाचस्तेन (सं० त्रि०) मिथ्यावादी, झूठ बोलनेवाला।

(ऋक् १०।८७।१५)

वाचिक (सं० त्रि०) वाच् ठक्। १ वाणी-सम्बन्धी। २ वाणीसे किया हुआ। ३ संकेतसे कहा हुआ। (पु०) ४ अभिनयका एक भेद जिसमें केवल वाक्यविन्यास द्वारा अभिनयका कार्य सम्पन्न होता है।

वाचिकपत्र (सं० क्ली०) वाचिकस्य सन्देशस्य पत्रम्। १ लिपि। २ सम्वाद-पत्र।

वाचिकहारक (सं० पु०) वाचिकस्य सन्देशस्य हारकः। १ लेखन। २ दूत।

वाची (सं० त्रि०) १ वाक्ययुक्त। २ सूचक, प्रकट करनेवाला, बोध करानेवाला। यह शब्द समासमें समस्त पदके अन्तमें आनेसे वाचक और विधायकका अर्थ देता है। जैसे,—पुरुषवाची=पुरुषवाचक।

वाचोयुक्ति (सं० त्रि०) वाचि वाक्ये युक्तिर्यस्य। १ वाग्मी। (स्त्री०) वाचो वचसो युक्तिः (वाग्दिक् पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु। पा ६।३।२१) इतिस्य वार्त्तिकोक्त्या षष्ठ्या अलुक्। २ वाक्यसे युक्ति बताना।

वाचोयुक्तिपटु (सं० त्रि०) वाचो युक्तौ वाक्दर्शितन्याये पटुः। वाग्मी।

वाच्य (सं० त्रि०) उच्यते इति वच् ण्यत्, वचोऽशब्दसंज्ञायां इति न कुत्वं। १ कुत्सित। २ हीन। ३ वचनार्ह, कहने योग्य। ४ अभिधेय, अभिधा द्वारा जिसका बोध हो, शब्दसंकेत द्वारा जिसका बोध हो। जिस शब्द द्वारा बोध होता है, उसे 'वाचक' और जिस वस्तु-या अर्थका बोध होता है, उसे 'वाच्य' कहते हैं। (क्ली०) वच-ण्यत्। ५ अभिधेयार्थ। ६ प्रतिपादन। वाच्यार्थ देखो।

वाच्यता (सं० स्त्री०) वाच्यस्य भावः तल्-टाप्। वाच्यत्व, वाच्यका भाव या धर्म।

वाच्यलिङ्ग (सं० त्रि०) विशेषपदका अनुगत। विशेषण पदमें व्याकरणके नियमानुसार पूर्वपदको वाच्य और लिङ्गका अनुगत होता है।

वाच्यलिङ्गक (सं० त्रि०) वाच्यलिङ्ग संज्ञाविक्षिप्त।

वाच्यलिङ्गत्व (सं० क्ली०) वाच्यलिङ्गका भाव।

वाच्यायन (सं० पु०) वाच्यका गोत्रापत्य।

(तैत्ति०स० ४।३।२।३)

वाच्यार्थ (सं० पु०) मूल शब्दार्थ, वह अभिप्राय जो शब्दोंके नियत अर्थ द्वारा ही प्रकट हो, संकेत रूपसे

स्थिर शब्दोंका नियत अर्थ। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना ये तीन शक्तियाँ शब्दकी मानी जाती हैं। इनमेंसे प्रथमके सिवा और सबका आधार 'अभिधा' है, जो शब्द संकेत-में नियत अर्थका बोध कराती है। जैसे,—'कुत्ता' और 'इमली' कहनेसे पशुविशेष और वृक्ष-विशेषका बोध होता है। इस प्रकारका मूल अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है।

शब्दशक्ति देखो।

वाच्यावाच्य (सं० पु०) भली बुरी या कहने न कहने योग्य बात। जैसे,—उसे वाच्यावाच्यका विचार नहीं है।

वाज (सं० क्ली०) १ घृत, घी। २ यज्ञ। ३ अन्न। ४ वारि, जल। ५ संग्राम। ६ बल। (पु०) ७ शरपक्ष, वाणमेंका पंख जो पीछे लगा रहता है। ८ शब्द, आवाज़। ९ पक्ष, पलक। १० वेग। ११ मुनि।

वाज़ (अ० पु०) १ उपदेश, शिक्षा। २ धार्मिक व्याख्यान। ३ धार्मिक उपदेश, कथा।

वाजकर्मन् (सं० त्रि०) शक्तियुक्त कर्मकारी।

वाजकृत्य (सं० क्ली०) वह कार्य जिसमें बल या शक्तिका आवश्यक हो।

वाजगन्ध्य (सं० त्रि०) शक्तिहीन, निर्बल।

वाजजठर (सं० त्रि०) हरिर्जठर, घृतगर्भ।

वाजजित् (सं० त्रि०) शक्तिजयकारी।

वाजजिति (सं० स्त्री०) शक्ति, क्षमता।

वाजजित्या (सं० स्त्री०) अन्नजयी, शक्तिशालिनी।

वाजद (सं० त्रि०) वाजं अन्नं ददाति दा-क। अन्नदाता। 'मन्दाय वाजदा युवं' (ऋक् १।१३५।५) 'वाजदा वाजस्य अन्नस्य दातारौ' (सायण)

वाजदावन् (सं० त्रि०) अन्नदाता।

वाजदावर्यस् (सं० क्ली०) एक सामका नाम।

वाजद्रविणस् (सं० त्रि०) अन्न और धनयुक्त।

(ऋक् ५।४३।६)

वाजपति (सं० पु०) १ अन्नपति। २ अग्नि।

(ऋक् ४।१५।३)

वाजपत्नी (सं० स्त्री०) १ अन्नरक्षयित्री। २ धेनु।

वाजपस्त्य (सं० त्रि०) अन्नपूर्ण। (ऋक् ६।५८।२१)

वाजपेय (सं० पु० क्ली०) वाजमन्नं घृतं वा पेयम-त्रेति। एक प्रसिद्ध यज्ञ जो सात श्रौत यज्ञोंमें पाँचवां है। कहते हैं, कि जो वाजपेय यज्ञ करते हैं, उन्हें स्वर्ग प्राप्त होता है।

वाजपेयक (सं० त्रि०) वाजपेय सम्बन्धी।

वाजपेयिक (सं० पु०) वाजपेय यज्ञार्थ-पुत्रादि आवश्यकीय द्रव्य।

वाजपेयी (सं० पु०) १ वह पुरुष जिसने वाजपेय यज्ञ किया हो। २ ब्राह्मणोंकी एक उपाधि जो कान्यकुब्जोंमें होती है। ३ अत्यन्त कुलीन पुरुष।

वाजपेशस् (सं० त्रि०) अन्न द्वारा अश्लिष्ट, अन्नयुक्त।

वाजप्य (सं० पु०) एक गोत्रकार ऋषि। इनके गोत्रके लोग वाजप्यायन कहलाते हैं।

वाजप्रमहस् (सं० त्रि०) १ धन द्वारा तेजस्वी, बड़ा दौलतमंद। (पु०) २ इन्द्र।

वाजप्रसवीय (सं० त्रि०) अन्नोत्पादनसम्बन्धी।

(शतपथब्रा० ५।२।२।५)

वाजप्रसव्य (सं० त्रि०) अन्नोत्पादनीय।

वाजबन्धु (सं० पु०) बलपति।

वाजबो (अ० वि०) वाजिबी देखो।

वाजभर्म्मन् (सं० त्रि०) जिससे अन्न या बलका भरण हो।

वाजभर्म्मीय (सं० क्ली०) एक सामका नाम।

वाजभृत् (सं० क्ली०) एक सामका नाम।

वाजभोजिन् (सं० पु०) वाजं भुङ्क्ते इति णिनि। वाजपेय याग।

वाजम्भर (सं० त्रि०) हविर्लक्षणान्नका भर्त्ता।

वाजरत्न (सं० त्रि०) १ उत्तम अन्नयुक्त। २ ऋभु।

(ऋक् ४।३४।२)

वाजरत्नायन (सं० पु०) सोमशुष्मन्‌का अपत्य।

(ऐतरेय ८।२१)

वाजवत (सं० पु०) एक गोत्रकार ऋषि। इनके गोत्रके लोग 'वाजवतायनि' कहलाते हैं।

वाजवत् (सं० त्रि०) १ बलकारी। (ऋक् १।३४।३) २ अन्नयुक्त। (ऋक् १।१२०।९)

वाजश्रव (सं० पु०) पुराणानुसार एक ऋषिका नाम।

वाजश्रवस् (सं० पु०) १ वाजश्रवाके गोत्रमें उत्पन्न पुरुष।

२ एक ऋषि जिनके पुत्रका नाम "नचिकेता" था और जो अपने पिताके क्रुद्ध होने पर यमराजके यहां चला गया था। वहां उसने उनसे ज्ञान प्राप्त किया था।

वाजश्रवा (सं० पु०) १ अग्नि। २ एक गोत्रकार ऋषिका नाम।

वाजश्रुत (सं० त्रि०) वह व्यक्ति जो धन द्वारा विख्यात हो।

वाजस (सं० क्ली०) एक सामका नाम।

वाजसन (सं० पु०) १ शिव। २ विष्णु। ३ वाजसनेय शाखाभुक्त।

वाजसनि (सं० पु०) १ अन्नदाता। २ सूर्य।

वाजसनेय (सं० पु०) १ यजुर्वेदकी एक शाखाका नाम। इसे याज्ञवल्क्यने अपने गुरु वैशम्पायन पर क्रुद्ध हो कर उनकी पढ़ाई हुई विद्या उगलने पर सूर्यके तपसे प्राप्त की थी। मत्स्यपुराणके अनुसार वैशम्पायनके शापसे वाजसनेय शाखा नष्ट हो गई। पर आज कल शुक्ल यजुर्वेदकी जो संहिता मिलती है, वह वाजसनेयसंहिता कहलाती है। २ याज्ञवल्क्य ऋषि।

वाजसनेयक (सं० त्रि०) वाजसनेय शाखाध्यायी।

वाजसनेयसंहिता (सं० स्त्री०) शुक्ल यजुर्वेद। यजुर्वेद देखो।

वाजसनेयिन् (सं० पु०) वाजसनेयेन प्रोक्तं वेदमस्त्यस्येति इनि। यजुर्वेदी।

वाजसाति (सं० स्त्री०) १ संग्राम, युद्धस्थल। (ऋक् १।३४।१२) २ अन्नलाभ। (ऋक् ६।४३।६)

वाजसाम (सं० क्ली०) एक सामका नाम।

वाजसृत् (सं० त्रि०) वाजं संग्रामं सरति सृ-क्विप्। संग्रामसरण, युद्धमें जाना।

वाजस्रजाक्ष (सं० पु०) वेण राजाका नाम। (विष्णुपुराण)

वाजस्रव (सं० पु०) वाजश्रवस् देखो।

वाजिकेश (सं० पु०) जातिविशेष। (मार्क०पु० ५८।३७)

वाजिगन्धा (सं० स्त्री०) वाजिनो घोटकस्य गन्धोऽस्त्यस्यामिति, अच् टाप्। अश्वगन्धा, असगंध।

वाजित (सं० त्रि०) शब्दित, शब्द किया हुआ।

वाजिदन्त (सं० पु०) वाजिनां दन्त-इव पुष्पं यस्य। वासक, अड़ूस।

वाजिदन्तक (सं० पु०) वासक, अड़ूस।

वाजिदैत्य (सं० पु०) एक असुरका नाम। यह केशीका पुत्र था।

वाजिन् (सं० पु०) वाजो वेगोऽस्त्यस्येति वाज-इन्। १ घोटक, घोड़ा। वाजः पक्षोऽस्त्यस्येति। २ वाण। ३ पक्षी। ४ वसाक, अड़ूस। वाजति गच्छतीति वाज-णिनि। (त्रि०) ५ चलनविशिष्ट, चलनेवाला। ६ अन्नविशिष्ट, अन्नयुक्त। वाजः पक्षोऽस्येति। ७ पक्षविशिष्ट।

वाजिन (सं० क्ली०) १ आमिक्षामस्तु, फटे हुए दूधका पानी। वैद्यकमें इसे रुचिकर तथा तृष्णा, दाह, रक्तपित्त और ज्वरका नाशक लिखा है। २ हवि। (पु०) ३ अर्थ।

वाजिनी (सं० स्त्री०) वाजिन्-ङीप्। १ अश्वगन्धा, असगंध। २ घोटकी, घोड़ी। पर्याय—वड़वा, वामी, प्रसूता, आर्त्तवी। इसके दूधका गुण—रुक्ष, अम्ल, लवण, दीपन, लघु, देहस्थौल्यकर, बलकर तथा कान्तिवर्द्धक। दहीका गुण—मधुर, कषाय, कफपीड़ा और मूर्च्छादोषनाशक, रुक्ष, वातवर्द्धक, दीपक और नेत्रदोषनाशक। घीका गुण—कटु, मधुर, कषाय, थोड़ा दीपन, मूर्च्छानाशक, गुरु और वातवर्द्धक।

वाजिनीवत् (सं० त्रि०) अन्न या बलविशिष्ट।

वाजिनीवसु (सं० त्रि०) वाजिनीवत्, अन्न या बलविशिष्ट।

वाजिनेय (सं० पु०) वाजिनीपुत्र, भरद्वाज।

वाजिपृष्ठ (सं० पु०) वाजिनः पृष्ठमिव आकृतिरस्येति। १ अम्लानवृक्ष। २ घोड़ेकी पीठ।

वाजिब (अ० वि०) उचित, ठीक, मुनासिब।

वाजिबी (अ० वि०) उचित, ठीक, मुनासिब।

वाजिबुल्-अदा (अ० वि०) १ वह रकम या धन जिसके देनेका समय आ गया हो, वह रकम जिसका दे देना उचित हो या जिसे देनेका समय पूरा हो गया हो। (पु०) २ ऐसा धन या रकम।

वाजिबुल-अर्ज़ (अ० पु०) वह शर्त जो कानूनी बन्दोवस्तके समय ज़मींदारों और काश्तकारोंके बीच गाँवके रिवाज आदिके सम्बन्धमें लिखी जाती है।

वाजिबुल वसूल (अ० वि०) १ जिसके वसूल करनेका

वक्त आ गया हो। (पु०) २ ऐसा धन या रकम।

वाजिभ (सं० क्ली०) अश्विनी नक्षत्र। (वृहत्स० २३।६)

वाजिभक्ष (सं० पु०) वाजिभिर्भक्ष्यते इति भक्ष-कर्मणि घञ्। चणक, चना।

वाजिभोजन (सं० पु०) वाजिभिर्भोज्यते इति भुज कर्मणि ल्युट्। मुद्ग, मुंग।

वाजिमत् (सं० पु०) पटोल, परवल।

वाजिमेध (सं० पु०) अश्वमेध।

वाजिमेष (सं० पु०) कालभेद।

वाजिराज (सं० पु०) १ विष्णु। २ उच्चैःश्रवा।

वाजिवाहन (सं० क्ली०) छन्दोभेद। इसके प्रत्येक चरणमें २३ अक्षर होते हैं जिनमेंसे ८वां और २३वां अक्षर लघु तथा बाकी गुरु होता है।

वाजिविष्ठा (सं० स्त्री०) १ अश्वत्थ, पीपल। २ घोड़ेकी विष्ठा।

वाजिशत्रु (सं० पु०) अश्वमारवृक्ष, कनेरका पेड़।

वाजिशाला (सं० त्रि०) वाजिनां शाला गृहं। अश्वशाला, अस्तवल।

वाजिशिरा (सं० पु०) १ भगवान्‌के एक अवतारका नाम। २ एक दानवका नाम।

वाजिसनेयक (सं० त्रि०) वाजसनेयक।

वाजी (सं० पु०) वाजिन् देखो।

वाजीकर (सं० त्रि०) १ वाजीकरण रसायन-प्रस्तुतकारी। २ भौतिक क्रिया या व्यायामादि कौशलप्रदर्शनकारी।

वाजीकरण (सं० क्ली०) अवाजी वा जीव क्रियतेऽनेनेति कृ-ल्युट्, अभूततद्भावे च्चि। वह आयुर्वेदिक प्रयोग जिससे मनुष्यमें वीर्य और पुंसत्वकी वृद्धि हो। इसके लक्षण—

> "यद्‌द्रव्यं पुरुषं कुर्यात् वाजिवत् सुरतक्षमम्।
> तद्वाजीकरणमाख्यातं मुनिभिर्भिषजां वरैः॥"
>
> (भावप्र० वाजीकरणाधि०)

जिस द्रव्यका सेवन करनेसे मनुष्य अश्वके समान सुरतक्षम होता है अर्थात् जिस क्रियाके द्वारा घोड़ेके समान रति-शक्ति बढ़ती है, उसे वाजीकरण कहते हैं। स्वभावतः जिसकी रतिशक्ति अल्प तथा अतिरिक्त स्त्री-सहवासादि दुष्क्रियाके द्वारा हीन हो गई है, उसे वाजीकरण-औषध सेवन करना विधेय है। शरीरके मध्य शुक्र धातु ही श्रेष्ठ है तथा यह धातु शरीर-पोषणकी एकमात्र प्रधान है, सुतरां इस धातुकी घटती होनेसे जिससे यह धातु बढ़े, उसका उपाय करना सर्वतोभावसे उचित है। नहीं तो शुक्रका क्षय होनेसे सभी धातुका क्षय हो कर अकालमें शरीर नष्ट हो जानेकी पूरी सम्भावना है। इसलिये भी वाजीकरण औषधादिका सेवन करके क्षीण शुक्रको पूर्ण करना नितान्त प्रयोजन है।

साधारणतः—घी, दूध, मांस आदि पुष्टिकर आहार उपयुक्त परिमाणमें सेवन करनेसे वाजीकरणका प्रयोजन बहुत कुछ सिद्ध होता है। जो सब वस्तु मधुर रस, स्निग्ध, पुष्टिकारक, वलवर्द्धक और तृप्तिजनक हैं, वही साधारणतः वृष्य वा वाजीकरण कहलाती है। प्रियतमा तथा अनुरक्ता सुन्दरी युवती रमणी ही वाजीकरणकी प्रथम उपादान है। भावप्रकाशमें लिखा है, कि क्लैव्य अर्थात् क्लीवता (सुरतशक्तिहानि) होने पर वाजीकरण औषधका सेवन करना होता है, इसलिये वाजीकरणके पहले क्लैव्यके लक्षण, संख्या और निदानकी वात कही जाती है।

मानव जब सुरतक्रियासे आसक्त हो जाता है, तब उसे क्लीव कहते हैं। क्लीवका भाव क्लैव्य है। यह क्लैव्य सात प्रकारका होता है। इसके निदान आदि इस प्रकार हैं—भय, शोक और क्रोधादि द्वारा अथवा अहृद्य सेवन करने किंवा अनभिप्रेता द्वेष्या स्त्रीके साथ सम्भोग करनेसे मनकी प्रीति न हो कर वरं अस्वस्थता पड़ जाती है। इससे लिङ्गकी उत्तेजना-शक्ति जाती रहती है, इसीका नाम मानस-क्लैव्य है।

अतिरिक्त कटु, अम्ल, लवण और उष्ण द्रव्य सेवन करनेसे पित्तकी वृद्धि हो कर शुक्र धातु क्षय हो जाती है। इससे जो शिश्न उत्तेजना-रहित हो जाता है, उसे पित्तज क्लैव्य कहते हैं। जो व्यक्ति वाजीकरण औषध सेवन न करके अतिरिक्त मैथुनासक्त होता है, उसे भी शुक्रक्षय हेतु क्लैव्य उत्पन्न होता है। बलवान् व्यक्ति अत्यन्त कामातुर होने पर अगर मैथुन करके शुक्रवेग धारण करे, तो उसे शुक्र स्तब्ध होनेके कारण क्लैव्य रोग होता है। जन्मसे ही क्लैव्य होने पर वाजीकरण औषध सेवन करनेसे कोई फल नहीं होता। वीर्य-

वाहिनी शिराच्छेद हेतु जो क्लैव्य उपस्थित होता है, वह भी असाध्य है।

साध्य क्लैव्य रोगमें हेतुके विपरीत कार्य करना उचित है, कारण निदान परिवर्जन ही सब तरहकी चिकित्सासे उत्तम है। पीछे उसे वाजीकरण औषध सेवन करना चाहिए।

मानवगण अच्छी तरह काया शोधन कर १६ वर्षके बाद ७० वर्ष तक वाजीकरण औषध प्रयोग करें। अविशुद्ध शरीरमें वाजीकरण औषधका सेवन करना उचित नहीं, उससे शरीरका नाना तरहका अनिष्ट हुआ करता है। विशुद्ध शरीरमें वाजीकरण औषध व्यवहार करनेसे रतिशक्ति बढ़ती है।

विलासी, अर्थशाली और रूपयौवनसम्पन्न मनुष्योंके तथा बहु-स्त्रीवालोंके वाजीकरण औषध सेवन करना कर्त्तव्य है। वृद्ध रमणेच्छु, मैथुनके कारण क्षीण, क्लीव और अल्पशुक्र विशिष्ट व्यक्तियोंके एवं जिसकी इच्छा स्त्रियोंका प्रिय होनेकी है, उसके लिये वाजीकरण औषध हितकर तथा प्रीति और बलवर्द्धक है।

नाना प्रकार सुखकर, आहारीय और पानीय, गीत, रमणीय वाक्य, स्पर्शसुख, तिलकादि धारिणी रूपयौवनसम्पन्ना कामिनी, श्रवणसुखकर गीत, ताम्बूल, मद्य, माल्य, मनोहर गन्ध, चित्रित रूपदर्शन, उद्यान एवं मनका प्रीतिकर द्रव्यसमूह मानवोंका वाजीकरण कहलाता है।

स्वर्णमाक्षिक, पारदभस्म और लौहचूर्ण मधुके साथ एवं हरीतकी, शिलाजतु और विड़ङ्ग घीके साथ इक्कीस दिन तक चाटनेसे अस्सी वर्षका बूढ़ा भी जवानकी तरह स्त्रीप्रसङ्ग कर सकता है। गुलञ्चका रस, शोधा हुआ अभ्र, लोध, इलायची, चीनी और पिप्पलीका चूर्ण इन सबोंको मधुके साथ चाटनेसे एक सौ स्त्रीसे सम्भोग किया जा सकता है। जीवित बछड़ेवाली गायके दूध द्वारा गेहूंका चूर्ण, चीनी, मधु और घीके साथ पायस बना कर खानेसे वृद्ध व्यक्ति भी रति-शक्तिसम्पन्न होता है। थोड़ा अम्लमधुर दधि ८ सेर, चीनी २ सेर, मधु आध पाव, सोंठ ८ माशा, घी आध पाव, मिर्च ४ माशा और लौंग आध छटाक एकत्र करके साफ कपड़ेसे छाने। पीछे उसमें कस्तूरी और चन्दन मिला कर अगुरु द्वारा धूपित करके कपूरके योगसे उसे सुगन्धित कर ले। इस तरह रसाला प्रस्तुत कर सेवन करनेसे उत्तम वाजीकरण होता है। मकरेश्वरने अपने सेवनके लिये यह आविष्कार किया है। यह अतिशय सुखदायक तथा कामाग्नि-सन्दीपक है।

गोखरू बीज, कोकिलाक्ष बीज, अश्वगन्धा, शतमूली, तालमूली, शुकशिम्बीबीज, यष्टिमधु, पिठवन और बला एक साथ चूर्ण कर घीमें भून कर दूधमें सिद्ध करे। पीछे उसे चीनीके साथ मोदक तैयार कर अग्निके बलानुसार खानेसे उत्तम वाजीकरण होता है। सब वाजीकर औषधोंका सार ले कर यह बनाया गया है, इसलिये यह सब वाजीकरणोंसे श्रेष्ठ है। यह औषध बनानेमें चूर्णसे आठ गुना दूध, चूर्णके बराबर घी तथा सबके बराबर चीनी देनी होती है। इस तरह जो मोदक तैयार होता है, उसे रतिवर्द्धक मोदक कहते हैं।

शोधा हुआ अभ्र ४ भाग, शोधा हुआ राँगा २ भाग तथा पारदभस्म १ भाग, इन्हें एकत्र पीस कर समपरिमाण कृष्णधुस्तूरका चूर्ण मिलाना होगा। पीछे उसमें दारचीनी, इलायची, तेजपत्र, नागकेशर, जातिफल, मरिच, पीपल, सोंठ, लौंग और जातीपत्र प्रत्येकका २ भाग अच्छी तरह चूर्ण कर एकत्र मिलावे। इस मिश्रित सभी चूर्णोंके साथ दो गुनी चीनी मिलानी होगी, इसके बाद घृत और मधुके साथ पीस कर मोदक बनावे। यह मोदक अग्निके बलानुसार सेवन करनेसे शीघ्र ही आनन्द बढ़ता और अनेकों कामिनियोंके साथ संभोग करनेकी सामर्थ्य होती है।

बकरेका अण्डकोष या कच्छपका अण्डा पीपल और सैंधवके साथ मिला कर घीमें भून कर खानेसे अत्यन्त वृष्य होता है।

दक्षिणी सुपारीका खण्ड खण्ड करे, पीछे इस खंडको जलमें सिद्ध कर जब मुलायम हो जाय, तो उसे निकाल कर सुखा ले। अच्छी तरह सूख जानेके बाद उसे चूर्ण कर कपड़ेसे छान ले। यह चूर्ण ऽ१। सेर, ८ गुना दूध और आध सेर घीमें पाक करके इसमें ऽ६। सेर चीनी डाल दे। जब एकदम सिद्ध हो जाय, तब

उसे उतार ले। पीछे उसमें निम्नोक्त चूर्ण मिला दे। यह चूर्ण जैसे—इलायची, बीजबन्द, पीपल, जातीफल, खैर, जातीपत्र, आदित्यपत्र, तेजपत्र, दारचीनी सोंठ, खसकी जड़, पथरचूर, मोथा, त्रिफला, वंशलोचन, शतमूली, शूकशिम्बी, द्राक्षा, कोकिलाक्ष बीज, गोक्षुरबीज, वृहती, पिण्डखजूर, क्षीरा, धनियाँ, यष्टिमधु, पानीफल, जीरा, कृष्णजीरा, अजवायन, बीजकोष, जटामांसी, सौंफ; मेथी, भूमिकुष्माण्ड, तालमूली, असगंध, कचूर, नागकेशर, मरिच, पियाल बीज, गजपिप्पली, पद्मबीज, श्वेतचन्दन, रक्तचन्दन, लवंग इन सबोंके प्रत्येकका चूर्ण आध पाव। अनन्तर उसमें पारेका भस्म, राँगा, सीसा, लोहा, अभ्र, कस्तूरी और कपूरका चूर्ण थोड़ी मात्रामें मिला कर यह मोदक तैयार करे। अग्निके बलानुसार मात्रा स्थिर कर सेवन करना उचित है। भुक्तान्न अन्न अच्छी तरह परिपाक होने पर आहारके पहले यह सेवन करना चाहिये। इससे जठराग्नि, बल, वीर्य और कामवृद्धि होती है एवं वार्द्धक्य नष्ट और शरीरकी पुष्टि हो कर अश्वके समान मैथुनक्षम होता है।

इस तरीकेसे रतिवल्लभपूगपाक प्रस्तुत करके सुरा, धुस्तूरबीज, आकन्द, सूर्यावर्त्त, हिङ्गुल बीज और समुद्रफेन प्रत्येक आधा तोला, खस फलका छिलका आधा छटाक एवं सब चूर्णोंका अर्द्धांश भंगका चूर्ण मिला कर जो मोदक बनाया जाता है, उसे कामेश्वरमोदक कहते हैं। यह बहुत अच्छा बाजीकरण है।

सुपक्क आमका रस १॥४ एक मन चौबीस सेर, चीनी ८ सेर, घृत ४ सेर, सोंठका चूर्ण १ सेर, मरिच ऽ॥ आध सेर, पीपल ऽ। एक पाव और जल १६ सेर इन सबोंको एकत्र कर मिट्टीके बरतनमें पाक करे। पाक करनेके समय मथानीसे आलोड़न करना होता है। जब वह गाढ़ा हो जाय, तब उसे नीचे उतार कर उसमें धनियां, जीरा, हरीतकी, चिता, मोथा, दारचीनी, पीपलामूल, नागकेशर, इलायचीका दाना, लवङ्ग और जातीपुष्प प्रत्येकका चूर्ण आध पाव डाल दे। ठण्ढा हो जाने पर उसमें फिर एक सेर मधु मिला दे। भोजन करनेके पहले अग्निके बलानुसार मात्रा स्थिर कर इसका सेवन करना होता है। इससे ग्रहणी आदि अनेक प्रकारके रोग प्रशमित होते तथा बल और वीर्यकी वृद्धि हो कर अश्वके समान मैथुनक्षम होता है। यह अति उत्तम वाजीकरण है। इसका नाम आम्रपाक है। अतिशय इन्द्रियसेवनादि द्वारा शिश्नकी उत्तेजना कम पड़ जाने पर गोक्षुरचूर्ण बकरीके दूधमें पाक करे। पीछे उसमें मधु मिला कर सेवन करनेसे रोग बहुत जल्द आराम होता है।

तिलका तेल ऽ४ सेर, कल्कार्थ रक्तचन्दन, अगुरु, कृष्णागुरु, देवदारु, सरलकाष्ठ, पद्मकाष्ठ, कुश, काश, शर, इक्षुमूल, कर्पूर, मृगनाभि, लताकस्तूरी, कुंकुम, रक्तपुनर्नवा, जातीफल, जातीपत्र, लवङ्ग, बड़ी और छोटी इलायची, काकलाफल, पृक्का, तेजपत्र, नागकेशर, गंगेरन, खसकी जड़, जटामांसी, दारचीनी, घृतकर्पूर, शैलज, नागरमोथा, रेणुका, प्रियंगु, तारपिन, गुग्गुल, लाक्षा, नखी, धूना, धवका फूल, बाला, मञ्जिष्ठा, तगरपादिका तथा मोम इन सबोंके प्रत्येकका आध तोला, चार गुने जलमें यथाविधान पाक करें। यह तेल देहमें लगानेसे अस्सी वर्षका वृद्ध भी शुक्राधिक्यसे युवाकी तरह स्त्रियोंका प्रिय होता है। खास कर वन्ध्या स्त्री अगर यह तेल लगावे, तो उसका वन्ध्यापन दूर हो जाय। इसको चन्दनादितैल कहते हैं।

दशमूल, पीपल, चिता, खैर, बहेड़ा, फटफल, मरिच, सोंठ, सैन्धव, रक्तरोहितक, दन्ती, द्राक्षा, कृष्णजीरा, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, आमलकी, विडङ्ग, काकड़ासींगी, देवदारु, पुनर्नवा, धनियाँ, लवंग, अमलतास, गोखरू, वृद्धदारक, पढ़ार और वीरणकी जड़ प्रत्येक एक पाव और हरीतकी ऽ८ सेर इन सबोंको एकत्र कर दो मन जलमें पाक करे। हरीतकी अच्छी तरह सिद्ध होने पर उसमें मधु दे। पीछे तीन दिन, पांच दिन और दश दिनमें फिर उसमें मधु डालना होगा। इस तरह जब हरीतकी दृढ़ हो जाय, तब घीके बरतनमें उसे मधुपूर्ण कर रखे। इस मधुपक्व हरीतकीके सम्बन्धमें धन्वन्तरिने कहा है, कि यह खानेसे श्वास, काश आदि नाना प्रकारके रोग दूर होते हैं एवं बलवीर्य वर्द्धित हो कर रोगी अत्यधिक सुरतक्षम होता है।

शूकशिम्बी बीज आध सेर और घृत ऽ४ सेर गायके दूधमें पाक करे। पीछे जब वह गाढ़ा हो जाय, तब उसे

उतार ले। तदनन्तर उक्त बीजका छिलका उत्तमरूपसे पीस कर उसको गोली बनावे और उसे घीमें पाक करके दो गुनी चीनीमें छोड़ दे। पीछे उससे निकाल कर मधुमें यह गोली डुबो कर रख दे। यह ढाई तोला सुबह और शाममें खानेसे शुक्रकी तरलता नष्ट करके शिश्नकी उत्तेजना बढ़ाती और घोड़ेकी तरह रतिशक्ति उत्पन्न करती है। इसका नाम बानरी वटिका है।

आकारकरभ, सोंठ, लवंग, कुंकुम, पीपल, जातीफल, जातीपुष्प, रक्तचन्दन प्रत्येकका चूर्ण आध छटाक तथा अहिफेन आध पाव इन सबोंको एकत्र कर मधुके साथ एक माशा भर रातमें सेवन करनेसे शुक्रस्तम्भित हो कर अत्यन्त रतिशक्ति बढ़ती है।

(भावप्र० वाजीकरणाधि०)

वाभटमें लिखा है, कि विषयी वाजीकरणयोगसमूह व्यवहार करें, कारण इस वाजीकरण औषधका सेवन करनेसे तुष्टि, पुष्टि, गुणवान् पुत्र एवं सदा आनन्द बढ़ता है। इससे वाजी अर्थात् अश्वके समान सुरतक्षमता पैदा होती है। इसलिये इस योगका नाम वाजीकरण हुआ है। इससे स्त्रियोंके दर्प चूर्ण होते तथा प्रेमी उनके अतिशय प्रिय हो जाते हैं। यह योग देहका बलवर्द्धक, धर्मकर, यशस्कल्प तथा आयुवर्द्धक होता है। जो निर्बल हो गया है, अथवा रोग शोकादिके द्वारा जिसका शरीर जीर्ण हो गया है, उसे शरीर-क्षयकी रक्षाके लिये वाजीकरणयोग सेवन करना निहायत जरूरी है। वृद्ध व्यक्ति भी वाजीकरणयोग प्रयोग कर शरीरकी सामर्थ्य तथा बहु स्त्रीसे संभोग करनेकी शक्ति लाभ करते हैं।

चिन्ता, जरा, व्याधि, क्लेशजनक कर्म, उपवास तथा अतिरिक्त स्त्रीसङ्गमादि द्वारा देहका शुक्रक्षय होता है। इस कारण देहका बल और शुक्रक्षय निवारणके लिये वाजीकरणयोग सेवन करना विधेय है। जिससे पुरुषको स्त्री-सङ्गम-विषयमें अश्वकी तरह शक्ति और अतिशय शुक्र उत्पन्न होता है, उसे वाजीकरण कहते हैं।

यदि अतिरिक्त स्त्रीसङ्गम किया जाय अथच वाजीकरण औषध सेवन न किया जाय, तो ग्लानि, कम्प, अवसन्नता, कृशता, इन्द्रियदौर्बल्य, ज्वर, शोष, उच्छ्वास, उपदंश, ज्वर, अर्श, धातुकी क्षीणता, वायुप्रकोप, क्लीवता, ध्वजभङ्ग और स्त्रीकी अप्रियता यह सब घटना घटती है। इसलिये इन सबोंका उपक्रम होनेसे वाजीकरणका सेवन करना नितान्त आवश्यक है।

जो सब द्रव्य मधुर, स्निग्ध, आयुष्कर, धातुपोषक, गुरु और चित्तका आह्लादजनक है, उसे वृष्य या वाजीकरणयोग कहते हैं। उड़दको घीमें भून कर दूधमें सिद्ध करके चीनीके साथ खानेसे रतिशक्ति बढ़ती है। शतमूली दो तोला, दूध एक पाव, जल एक सेर, शेष एक पाव यह पीनेसे भी रतिशक्ति वृद्धि होती है। क्षुद्र सिमुलका मूल और तालमूली एकत्र चूर्ण कर घी और दूधके साथ व्यवहार करनेसे वाजीकरण होता है। भूमिकुष्माण्डके मूलका चूर्ण, घी, दूध या यज्ञडुम्बुरके रसके साथ खानेसे वृद्ध व्यक्ति भी युवाकी तरह सामर्थ्यवान् होता है। आमलकीका चूर्ण आमलकीके रसमें सात बार भावना दे कर घी और मधुके साथ सेवन करके पीछे आध पाव गायका दूध पीनेसे वीर्य बढ़ता है।

अत्यन्त उष्ण, कटु, तिक्त, कषाय, अम्ल, क्षार, शाक वा अधिक लवण खानेसे वीर्यकी हानि होती है। सुतरां वाजीकरणयोग सेवन करनेके समय यह सब द्रव्य बहुत सेवन न करे। पीपलका चूर्ण, सैन्धव लवण, घी और दूधमें सिद्ध बकरेका दोनों कोष खानेसे वीर्यकी वृद्धि होती है। बिना भूसीका तिल बकरेके अण्डकोषके साथ सिद्ध कर दूधमें एक बार भावना दे। पीछे उसे खानेसे अधिक परिमाणमें रतिक्षमता उपजती है। भूमिकुष्माण्डका चूर्ण भूमिकुष्माण्डके रसमें भावना दे कर घृत और मधुके साथ भक्षण करनेसे रतिशक्ति बढ़ती है। आमलकीका चूर्ण आमलकीके रसमें भावना दे कर घी और चीनी या मधुके साथ सेवन करने पर अस्सी वर्षका वृद्ध भी युवाके समान रतिशक्ति-सम्पन्न होता है। भूमिकुष्माण्डका मूल और यज्ञडुम्बुर एकत्र पेषण करके घी और दूधके साथ खानेसे वृद्ध भी तरुणत्वको प्राप्त होता है। आमलकीके बीज और छत्राक बीजका चूर्ण मधु, चीनी और धारोष्ण दूधके साथ सेवन करनेसे शुक्र क्षय नहीं होता। शतमूली और करेंजामूलका चूर्ण अथवा सिर्फ करेंजामूलका चूर्ण दूधके साथ खानेसे वीर्यको वृद्धि होती है। यष्टिमधु चूर्ण २ तोला घी और मधुके साथ

सेवन कर दूध पीनेसे अतिशय वीर्य वृद्धि होती है। गोक्षुर बीज, छत्राक, शतमूली, आलकुशी बीज, गोपवल्ली और बीजबंदका मूल इन सबोंका चूर्ण अग्निके बलानुसार उपयुक्त मात्रामें रातको सेवन करनेसे अतिशय रतिक्षमता उपजती है। सद्यमांस वा मछली खास कर पोठिया मछली घीमें भून कर रोज खानेसे स्त्रीसङ्गम करनेसे कमज़ोरी नहीं मालूम पड़ती।

शतमूलीचूर्ण ऽ२ सेर, गोक्षुर बीज ऽ२ सेर, मुथनी ऽ२॥ सेर, गुलञ्च ऽ३≠ छटाक, भेलाचूर्ण ऽ४ सेर, चितामूल चूर्ण ऽ१। सेर, तिल तण्डुल ऽ२ सेर, मिला कर त्रिकटु चूर्ण ऽ१ सेर, चीनी ऽ८॥।० सेर, मधु ऽ४।≠ छटाक, घी ऽ२≠ छटाक, भूमिकुष्माण्डका चूर्ण ऽ२ सेर, एकत्र करके घृतभाण्डमें रखना होगा। इसकी मात्रा २ तोला है। इसका सेवन करनेसे अनेक प्रकारके रोग और जरा दूर हो कर बल और वीर्य तथा इन्द्रियशक्ति बढ़ती है। इसका नाम नरसिंहचूर्ण है।

इनके सिवाय गोधूमाद्यघृत, वृहदश्वगन्धादि घृत, गुड़कुष्माण्डक, वृहच्छतावरीमोदक, रतिवल्लभमोदक, कामाग्निसन्दीपनमोदक, क्षारप्रदीपोक्त खण्डाभ्रक, मन्मथाभ्ररस, मकरध्वजरस, कामिनीमदभञ्जन, हरशशाङ्क, कामधेनु, लक्ष्मणालौह, गन्धामृतरस, स्वर्णसिन्दूर, सुसुन्दरी गुड़िका, पल्लवसारतैल, श्रीगोपालतैल, मृतसञ्जीवनीसुरा, दशमूलारिष्ट और मदनमोदक आदि औषध सेवन करनेसे बल और वीर्यादि वर्द्धित हो कर उत्तम वाजीकरण होता है। इन सब औषधोंकी प्रस्तुत प्रणाली उन उन शब्दों और भैषज्यरत्नावलीके वाजीकरणाधिकारमें देखो। इनके अलावे ध्वजभङ्गाधिकारमें जिन सब योग और औषधादिका वर्णन है, वह सब भी वाजीकरणमें विशेष प्रशस्त है। अश्वगन्धा घृत, अमृतप्राश घृत, श्रीमदनानन्दमोदक, कामिनी दर्पघ्न, स्वल्पचन्द्रोदय और वृहच्चन्द्रोदय, मकरध्वज, सिद्धसूत, कामदीपक, सिद्धशाल्मलीकल्प, पञ्चशर, त्रिकण्टकाद्यमोदक, रसाला, चन्दनादि तैल, पुष्पधन्वा, पूर्णचन्द्र और कामाग्निसन्दीपन आदि औषध भी वाजीकरणमें विशेष फलप्रद है।

जातीरस, नागेश्वर, पीपल, कंकोल, माजूफल, श्यामालता, कट्फल, अनन्तमूल, अगुरु, वच, कचूर, रुमिमस्तकी, जटामांसी, शिमूलमूल, धौ फूल, कटकी, गोक्षुर बीज, मेथी, शतमूली, आलकुशी बीज, छत्राक बीज, पिठवन, धतूरा बीज, पद्म, कुट, उत्पल केशर, यष्टिमधु, चन्दन, जायफल, भूमिकुष्माण्ड, तालमूली, कदली, प्रियंगु, जीवक, ऋषभक, सोंठ, मरिच, त्रिफला, इलायची, गुड़त्वक्, धनियां, तोपचीनी, हिजलबीज, लवङ्ग, आकरकरा, बाला, कर्पूर, कुंकुम, मृगनाभि, अभ्र, सोना, चांदी, सीसा, राँगा, लोहा, हीरा, ताँबा, मुक्ता, रससिन्दूर, हरिताल इन सबोंके प्रत्येकका समभाग तथा इनको चौअन्नी भर भङ्गका चूर्ण और सर्वसमष्टिका अर्द्धेक चीनी, चीनीके बराबर मधु, थोड़ा जल, इन सबोंको एक साथ मन्द अग्निमें लेईके समान पाक करना होगा। पीछे इसमें थोड़ा घी मिलाना होगा। यह औषध उत्तम वाजीकरण होता है। इसका सेवन करनेसे देहकी पुष्टि और बलवीर्यादिकी वृद्धि होती है। म्लेच्छ वा यवनोंने यह मुफर औषध निकाली है, इसलिये इसका नाम मोफरचा है।

यह सब वाजीकरण औषध सेवन करनेके बाद उपयुक्त परिमाणमें दूध और ठण्ढा जल पी कर प्रफुल्लचित्तसे इन्द्रियवेगाक्रान्ता रसज्ञा रमणीके साथ रतिक्रीड़ा करनेसे तनिक भी धातु-वैषम्य उपस्थित नहीं होता। जो नारी सुरूपा, युवती, सुलक्षणसम्पन्ना, वयस्या और सुशिक्षिता होती है, उसे वृष्यतमा कहते हैं।

चरक, सुश्रुत, वाभट, हारीतसंहिता आदि वैद्यक ग्रन्थोंमें वाजीकरणाधिकारमें इस योगका सभी विषय लिखा है। अधिक हो जानेके भयसे यहां पर कुल नहीं लिखा गया। जिन सब ग्रन्थोंसे बलकी वृद्धि होती है, उन सबोंको वृष्य या वाजीकरण कहते हैं।

जिन सब औषधोंसे शुक्रतारल्य विनष्ट होता है, उनका सेवन करने पर भी वाजीकरणक्रिया सम्पन्न होती है।

वाजीकार्य (सं० क्ली०) वाजीक्रिया, वाजीकरण।

वाजीविधान (सं० क्ली०) सुरतशक्तिवृद्धिकी विधि।

वाजेध्या (सं० स्त्री०) यज्ञकी दीप्ति।

वाज्य (सं० पु०) वाजस्य गोत्रापत्यं वाज (गर्गादिभ्यो यञ्। पा ४।१।१०५) इति यञ्। वाजका गोत्रापत्य।

वाज्रेय (सं० त्रि०) वज्र (सख्यादिभ्यो ढञ्। पा ४।२।८०) इति ढञ्। वज्रका अदूरभव, वज्र पतनके स्थान पर वास करनेवाला।

वाञ्छनीय (सं० त्रि०) १ चाहनेवाला। २ जिसकी इच्छा हो।

वाञ्छा (सं० स्त्री०) वाञ्छनमिति वाछि इच्छायां गुरोश्चेत्यः टाप्। आत्मवृत्तिगुणविशेष, चाह। पर्याय—इच्छा, काङ्क्षा, स्पृहा, ईहा, तृट्, लिप्सा, मनोरथ, काम, अभिलास, तर्ष, आकाङ्क्षा, कान्ति, अग्रचय, दोहद, अभिलाष, रुक्, रुचि, मति, दोहल, छन्द। सिद्धान्तमुक्तावलीके अनुसार वाञ्छा नामक आत्मवृत्ति दो प्रकारकी होती है। एक उपायविषयिणी, दूसरी फलविषयिणी। फलका अर्थ है—सुखकी प्राप्ति और दुःखका न होना। 'दुःखं माभूत् सुखं मे भूयात्' हमें दुःख न हो एवं सुख हो, ऐसी फलविषयिणी जो आत्मवृत्ति है, उसे फलविषयिणी वाञ्छा कहते हैं। इस फलेच्छाके प्रति फलज्ञान हो कारण है एवं उपायेच्छाके प्रति इष्टसाधनताज्ञान कारण है, इष्टसाधनताज्ञान न होनेसे वाञ्छा नहीं हो सकती। इष्टसाधनताज्ञान अर्थात् मेरा यह कार्य अच्छा होगा यह ज्ञान न होनेसे कार्यकी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। हर कामके पहले ही इष्टसाधनताज्ञान हुआ करता है।

वाञ्छित (सं० त्रि०) वाञ्छ-क्त। अभिलषित, इच्छित, चाहा हुआ।

वाञ्छिन् (सं० त्रि०) वाञ्छनीय वाञ्छ णिनि। वाञ्छनीय, अभीष्ट।

वाञ्छिनी (सं० स्त्री०) वाञ्छनीया नारी। पर्याय—लज्जिका, फलतूलिका।

वाट (सं० पु०) वट्यते वेष्ट्यते इति वट-घञ्। १ मार्ग, रास्ता। २ वास्तु, इमारत। ३ मण्डप। वटस्येदमिति वट-अण्। (त्रि०) ४ वट-सम्बन्धी। (क्ली०) ५ वरण्ड।

वाटक (सं० पु०) गृह, घर।

वाटधान (सं० पु०) १ एक जनपद। यह काश्मीरके नैऋतकोणमें कहा गया है। नकुलके दिग्विजयमें इसे पश्चिममें और मत्स्यपुराणमें उत्तरदिशामें लिखा है। २ ब्राह्मणी माता और वर्णब्राह्मण या क्रमहीन ब्राह्मणसे उत्पन्न एक संकर जाति। (मनु १०।२१)

वाटमूल (सं० त्रि०) वटमूल-सम्बन्धी।

वाटर (सं० क्ली०) वटरैः कृतं (क्षुद्राभ्रमरवटरपादपादञ्। पा ४।३।११९) इति अण्। वटर कर्त्तृक कृत, चोर वा शठ कर्त्तृक कृत।

वाटर (अं० पु०) पानी।

वाटरप्रूफ (अं० वि०) जिस पर पानीका प्रभाव न पड़े, जो पानीमें न भींग सके।

वाटर वर्क्स (अं० पु०) १ नगरमें पानी पहुंचानेका विभाग, पानी पहुंचानेकी कलका कार्यालय। २ पानी पहुंचानेकी कल, जलकल।

वाटरशूट (अं० स्त्री०) पानीमें कूद कर तैरनेकी क्रीड़ा, जलक्रीड़ा।

वाटश्रृङ्खला (सं० स्त्री०) वाटरोधिका श्रृङ्खला शाकपार्थिवादिवत् मध्यपदलोपः। पथरोधक श्रृङ्खला।

वाटिकपि (सं० पु०) वटाकोरपत्यं पुमान् वटाकु (बाह्वादिभ्यश्च। पा ४।१।९६) इति इञ्। वटाकुका गोत्रापत्य।

वाटिका (सं० स्त्री०) वट्यते वेष्ट्यते प्राचीरादिभिरिति वट वेष्टने संज्ञायामिति ण्वुल् टाप्, अत इत्वं। १ वास्तु, वाटी, इमारत। २ बाग, बगीचा। ३ हिंगुपत्री।

वाटा (सं० स्त्री०) वट्यते वेष्ट्यते इति वट वेष्टने घञ्, गौरादित्वात् ङीष्। १ वट्यालक, बीजबंद। २ वस्तु, इमारत, घर।

भवन-निर्म्माणके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें विशेष विशेष विधान है, उनके प्रति विशेष ध्यान रखते हुए निर्म्माण करना चाहिये। कारण जिस स्थान पर वास करना हो, उस स्थानके शुभाशुभके प्रति ध्यान रखना सर्वतोभावसे विधेय है। पहले वाटीका स्थान निरूपण करके शल्योद्धारप्रणालीके अनुसार उस वाटीका शल्योद्धार करें। शल्योद्धार किये बिना वाटी तैयार नहीं करना चाहिये। दैवज्ञ यथानियम भूमि खोद कर शल्यका अनुसन्धान करें। यदि उस वाटीमें पुरुष परिमिति भूमि खोद कर भी शल्य नहीं पाया जाय, तो उस वाटीमें मिट्टीका घर बनायें। उसके नीचे शल्य रहने पर भी

कोई दोष नहीं, किन्तु जिस मण्डपमें प्रासादका निर्म्माण करना हो, उस स्थानको खोदनेसे जब तक जल न निकल आवे तब तक शल्य देखना होगा। यदि जल बहिर्गत होने पर्य्यन्त शल्य दिखाई न दे, तब वहां प्रासाद तैयार करनेमें कोई दोष नहीं है। दैवज्ञ अच्छी तरह गणना करके देखेंगे, कि शल्य किस स्थान पर है, गणना द्वारा स्थान निरूपण करके खोदना आरम्भ करेंगे।

शल्योद्धार प्रणाली शल्योद्धार शब्दमें देखो।

गृहारम्भ करने पर गृहस्वामीके अंगमें यदि अतिशय खुजलाहट पैदा होवे, तो समझना चाहिये, कि इसमें शल्य है। उस समय फिरसे शल्योद्धारकी चेष्टा करनी चाहिये।

"गृहारम्भेऽति कण्डुतिः स्वाम्यंगे यदि जायते।
शल्यं त्वपनयेत्तत्र प्रासादे भवनेऽपिवा ॥"

(ज्योतिस्तत्त्व)

जहां हाथसे नाप कर घर बनानेकी प्रथा है, वहां केहुनीसे मध्यमांगुलिके अग्रभाग पर्य्यन्त हाथ मान लेना होता है। "वाटी व्यवस्थाहस्तोऽत्रकफोन्युपक्रम मध्यमाङ्गुल्या ग्रपर्य्यन्तः।" (ज्योतिस्तत्त्व)

भवनके समूचे स्थानमें देवताओंका थोड़ा थोड़ा अधिकार है। उसमें अट्ठाइस भाग प्रेतोंका, बीस भाग मनुष्योंका, बारह भाग गन्धर्वोंका एवं चार भाग देवताओंका स्थान निर्द्दिष्ट है। इन सब भागोंको स्थिर करके, प्रेतका जो निर्द्दिष्ट अंश हो, उसमें गृहादि नहीं बनाना चाहिये। मनुष्यका जो बीस भाग निर्द्दिष्ट है, उसमें घर बनाना चाहिये, इस स्थान पर बनाये गये गृहादि मङ्गलदायक होते हैं। मण्डपके कोनेमें, अन्तमें वा बीचमें घर बनाना उचित नहीं, कारण यह है कि भवनजनित प्रस्तुत भूमिखण्डके कोनेमें गृहादि निर्म्माण करनेसे धनहानि, अन्तमें बनानेसे दुश्मनोंका भय एवं बीचमें घर बनानेसे सर्व्वनाश हो जाता है।

इसके पूर्व एवं उत्तरकी भूमि क्रमशः ढालवी होनी चाहिये, इन्हीं दोनों दिशाओंसे हो कर जल निकला करेगा। दक्षिण और पश्चिमकी भूमि निम्न करना उचित नहीं। वाटीके पूर्वकी ओर क्रमशः निम्न भूमि रहनेसे वृद्धि, उत्तरकी ओर होनेसे धन लाभ, एवं पश्चिमकी भूमि ढालवी होनेसे धन हानि और दक्षिणमें नीची भूमि रहनेसे मृत्यु होती है; अतएव दक्षिण और पश्चिमकी भूमि भूल कर भी ढालवी नहीं करनी चाहिये।

मकानके पूर्व वटवृक्ष, दक्षिणमें उदुम्बर, पश्चिममें पीपल और उत्तरमें प्लक्ष वृक्ष रोपना चाहिये। इन चारों दिशाओंमें इन चार तरहके वृक्षोंका रोपना शुभ है। इनके अतिरिक्त इस भूमिमें जम्बीर, पुग, पनस, आम्रक, केतकी, जाती, सरोज, तगरपत्र, मल्लिका, नारियल, कदली और पाटला वृक्ष लगानेसे गृहस्थोंका मङ्गल होता है। इन सब वृक्षोंके रोपनेमें दिशाका नियम नहीं है। ये सुविधानुसार हर एक दिशामें लगाये जा सकते हैं। दाड़िम, अशोक, पुन्नाग, विल्व और केशर वृक्ष शुभजनक हैं, किन्तु इसमें रक्त पुष्पका वृक्ष कदापि लगाना न चाहिये, यह वृक्ष अमंगलकारक है। इसके अलावे क्षीरी अर्थात् जिस वृक्षसे दूध बहता हो, वह वृक्ष, कंटकी वृक्ष और शाल्मलि वृक्ष रोपना उचित नहीं, कारण क्षीरी वृक्ष लगानेसे पशुका भय एवं शाल्मलि वृक्षसे गृहविच्छेद होनेकी सम्भावना रहती है।

भवनमण्डपके किस स्थानमें कौनसा वृक्ष रोपना विहित वा निषिद्ध है, कौन कौन वृक्ष रहनेसे और किस किस वृक्षके निकट शिविर या किला संस्थापन करनेसे कैसा शुभाशुभ होता है तथा किस दिशामें जल रहनेसे मंगल होता है एवं उसके द्वार, गृहादिके प्रमाण और लक्षणादिके सम्बन्धमें ब्रह्मपुराणमें इस तरह उल्लेख किया गया है—

श्रीभगवान् कहते हैं—गृहस्थोंके आश्रममें नारियलका वृक्ष रहनेसे मंगल होता है। यदि यह वृक्ष गृहके ईशानकोणमें या पूर्वकी ओर रहे, तो पुत्र लाभ होता है। तरुराज रसाल (आम्र वृक्ष) सब प्रकारसे मङ्गलाई और मनोहर होता है। यह वृक्ष पूर्व ओर रहनेसे गृहस्थोंको सम्पत्ति लाभ होती है। इसके अतिरिक्त विल्व, पनस, जम्बीर और वदरी वृक्ष वाटीके पीछेकी ओर रहनेसे पुत्रप्रद होते हैं एवं दक्षिणकी ओर रहनेसे ये धन प्रदान करते हैं। जम्बुवृक्ष, दाड़िम्ब, कदली और आम्रातक (आमड़ा) वृक्ष पूर्वकी ओर रहनेसे बंधुप्रद होते हैं एवं दक्षिणमें रहनेसे मित्रकी संख्या बढ़ाते हैं। गुवाक वृक्ष

दक्षिण तथा पश्चिमकी ओर रहनेसे धन, पुत्र और लक्ष्मी प्राप्त होती हैं, ईशानकोणमें होनेसे सुख प्राप्त होता है एवं इसके अलावे ये वृक्ष किसी भी स्थानमें रहनेसे मंगलकारक होते हैं। मकानके सभी स्थानोंमें चम्पक वृक्ष रोपा जा सकता है ; यह वृक्ष गृहस्थोंको मंगल करनेवाला है। इनके अतिरिक्त अलाबु, कुष्माण्ड, मायाम्बु सुकाभुक, खजूर, ककेंटी, वास्तुक, कारबेल, वार्त्ताकु और लताफल ये सब वृक्ष शुभप्रद हैं। भवनमण्डपमें रोपे जानेके लिये ये सभी वृक्ष प्रशस्त हैं।

इनके अलावे कितने ही अशुभ वृक्षोंके नाम भी उल्लेख किये जाते हैं, यथा—किसी प्रकारका जंगली वृक्ष ग्राम तथा मकानमें नहीं रहने देना चाहिये। वटवृक्ष शिविरके पास रोपना उचित नहीं ; इससे चोरोंका भय रहता है। वटवृक्षके दर्शन करनेसे पुण्य होता है ; यह वृक्ष नगरमें लगाना चाहिये। शरवृक्षसे धन और प्रजाका निश्चय क्षय होता है, इस लिये यह वृक्ष शिविरमें लगाना बिल्कुल ही निषेध है ; किन्तु हाँ, नगरमें रहनेसे विशेष क्षति नहीं। मूल बात यह है, कि यह वृक्ष ग्राम वा शहरमें रोपना निषिद्ध नहीं है, वरं ठीक ही है। वाटीके सम्बन्धमें जो बिलकुल ही निषिद्ध है, अभिज्ञ व्यक्ति उसका त्याग करेंगे। खजूरका पेड़ मकानमें रोपना निषिद्ध है, ग्राम वा नगरमें यह वृक्ष लगानेसे हानि नहीं। इन स्थानोंमें यह वृक्ष लगाये जा सकते हैं। चना और धान मंगलप्रद हैं। ग्राम, नगर तथा शिविरमें इक्षुवृक्षका होना बहुत ही मंगलजनक है। अशोक और हरीतकी वृक्ष ग्राम तथा नगरमें रोपनेसे मंगल होता है। मकानमें आवलेका पेड़ लगाना अशुभ है।

मकानके पास कदम्ब वृक्ष नहीं लगाना चाहिये, किन्तु मकानमें यह वृक्ष रोपना शास्त्रमें शुभजनक कहा गया है। इसके अतिरिक्त मूली, सरसों शाक भी नहीं लगाना चाहिये, ऐसा ही प्रवाद है, किन्तु शास्त्रमें इसका विधि निषेध नहीं देखा जाता।

इस प्रणालीसे वृक्षादि लगा कर, पहले नागशुद्धि स्थिर करके तब गृहादि निर्म्माण करना चाहिये। नाग वास्तु प्रमाण गात्र द्वारा वाम पार्श्वमें शयन करता है ; भाद्रपद, आश्विन और कार्त्तिक मासमें पूर्वकी ओर, अग्रहण, पौष और माघ मासमें दक्षिणकी ओर, फाल्गुन, चैत्र और वैशाख मासमें पश्चिमकी ओर एवं ज्येष्ठ, आषाढ़ और श्रावण मासमें उत्तरकी ओर शिर करके शयन करता है। गृहारम्भ कालमें यदि नागका मस्तक खोदा जाय, तो मृत्यु होती है, पृष्ठमें खोदनेसे पुत्र और भार्य्याका नाश होता है एवं जंघा खोदनेसे धन क्षय होता है। किन्तु नागके उदर प्रान्तमें खोदनेसे सभी तरहसे मंगल ही मंगल होता है ; इसलिये लोगोंको गृह-निर्म्माणके समय नागशुद्धिकी ओर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिये।

गृहका मुख पूर्व, पश्चिम, उत्तर वा दक्षिण जिस ओर हो अर्थात् गृहका प्रधान दरवाजा जिस ओर किया जाय उसीके अनुसार पूर्व वा उत्तरादि मुख स्थिर करके नागशुद्धिका निर्णय करना चाहिये।

गृह-निर्म्माण करनेके समय ईशान कोणमें देवताका घर, अग्निकोणमें रसोईघर, नैऋतकोणमें शयनागार एवं वायुकोणमें धनागारका निर्म्माण करना चाहिये।

नागशुद्धि होने पर भी सभी महीनेमें घर नहीं बनाना चाहिये, ज्योतिषोक्त मास, पक्ष, तिथि तथा नक्षत्र आदि निर्णय कर भवन-निर्म्माण करनेमें प्रवृत्त होना चाहिये। वैशाख मासमें गृहारम्भ करनेसे धनरत्न लाभ होता है ; ज्येष्ठ मासमें मृत्यु, आषाढ़में धनरत्न एवं श्रावण मासमें गृहनिर्म्माण करनेसे काञ्चन तथा पुत्रकी प्राप्ति होती है। भाद्रपद मासमें घर बनाना अशुभ है, आश्विनमें गृह निर्म्माण करनेसे पत्नीनाश, कार्त्तिक मासमें धनसम्पत्तिलाभ, अग्रहण मासमें अन्नवृद्धि, पौष मासमें चोरका भय, माघमासमें अग्निभय, फाल्गुन मासमें धन-पुत्रादिका लाभ एवं चैत्रमासमें गृह निर्म्माण करनेसे पीड़ा होती है। इस नियमसे मासका निर्णय करके नागशुद्धि देखनी होती है। शुक्लपक्षमें गृहारम्भ वा गृहप्रवेश करना चाहिये। कृष्ण पक्षमें गृहारम्भ वा गृहप्रवेश करनेसे चोरोंका भय रहता है। भाद्रपद आश्विन तथा कार्त्तिक मासमें उत्तर मुखका, अग्रहण, पौष और माघ मासमें पूर्वमुखका, चैत्र और वैशाखमासमें दक्षिण मुखका, ज्येष्ठ, आषाढ़ तथा श्रावण मासमें पश्चिम मुखका

गृह आरम्भ करना चाहिये। इन सब महीनोंमें इन सब दिशाओंकी नागशुद्धि रहती है। वाटीके प्रधान गृह-विषयमें इस तरह नागशुद्धिका निर्णय करना चाहिये। अप्रधान गृहमें इस तरहकी नागशुद्धि न देखने पर भी काम चल सकता है। इसमें किसी किसीका मत है, कि यदि दिन उत्तम पाया जाय एवं चन्द्र तारादि शुद्ध रहें, तो गृहारम्भमें मासका दोष नहीं लगता।

सोम, बुध, वृहस्पति और शनिवारको विशुद्धकालमें (अर्थात् जिस समय गुरु शुक्रको बाल्यवृद्धास्तजनित कालशुद्धि न रहे) शुक्लपक्षमें युतयामित्रादिवेधरहित दिनको उत्तरफल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तरभाद्रपद, रोहिणी, पुष्या, आर्द्रा, अनुराधा, हस्ता, चित्रा, स्वाति, धनिष्ठा, शतभिषा, मूला, अश्विनी, रेवती, मृगशिरा तथा श्रवणा नक्षत्रमें वज्र, शूल, व्यतीपात, परिघ, गण्ड, अतिगण्ड और विष्कुम्भके अतिरिक्त शुभयोग, शुभतिथि तथा शुभ करणमें गृहकार्य आरम्भ किया जा सकता है। विष्टि, भद्रा, चन्द्रदग्धा, मासदग्धा प्रभृति, जो साधारण कार्यमें निषिद्ध हैं, उन्हें भी देखना होगा। तिथिके सम्बन्धमें एक विशेषता यह है, कि पूर्णिमासे ले कर अष्टमी पर्यन्त पूर्व मुखका, नवमीसे ले कर चतुर्दशी पर्यन्त उत्तर-पूरवका, अमावस्यासे ले कर अष्टमी पर्यन्त पश्चिम मुखका तथा नवमीसे ले कर शुक्ल चतुर्दशी पर्यन्त दक्षिण मुखका गृह आरम्भ नहीं करना चाहिये। यह अत्यन्त निषिद्ध है।

निम्नोक्त काष्ठ द्वारा गृहद्वार तथा कपाट तैयार नहीं करना चाहिये, करनेसे अशुभ होता है। क्षीरिवृक्षोद्भव दारु, (अर्थात् जिस वृक्षसे लासा या गोंद निकलता हो) जिस वृक्ष पर चिड़िया वास करती हो, जो वृक्ष आँधीसे उखड़ कर गिर गया हो वा जिस वृक्षमें आग लग गई हो, ऐसे वृक्षका काष्ठ गृहमें लगाना उचित नहीं। इसके अलावे हाथी द्वारा भग्न, वज्रभग्न, चैत्य तथा देवालयोत्पन्न, श्मशानजात, देवाद्यधिष्ठित काष्ठ भी गृहकार्यमें वर्जनीय हैं। कदम्ब, निम्ब, विभीतकी, प्लक्ष और शाल्मलीवृक्षके काष्ठ भी गृहकर्ममें प्रयोग नहीं करना चाहिये। इन सब वृक्षोंके अतिरिक्त साल या साखूवृक्ष द्वारा गृहादिके कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं।

गृहमण्डपमें जब मिट्टीका घर बनाना हो, तब जिस स्थान पर घर बनाना है, उस स्थानके ईशानकोणसे कारीगरको चारो कोनोंमें चार खूंटे गाड़ने चाहिए। किन्तु जिस स्थान पर ईंटका मकान बनाना हो, वहां अग्निकोणमें स्तम्भ खड़ा करना पड़ता है। इस प्रकार स्तम्भ वा सूत्र दोनों ही स्थानों पर यथाविधान पूजादि करना आवश्यक है।

गृहस्थोंको मकानमें कबूतर, मयूर, शुक और सारिका पक्षी पोसना चाहिये; इन पक्षियोंसे गृहस्थोंका मंगल होता है।

भवनमण्डपमें हाथीकी हड्डी एवं घोड़ेकी हड्डीका रहना मंगलजनक है। किन्तु अन्यान्य जन्तुओंकी हड्डी रहनेसे अमंगल होता है। बन्दर, मनुष्य, गाय, गधे, कुत्ते, बिल्ली, भेंड़ किंवा सूअर इन सब जन्तुओंकी हड्डियां अमंगल-कारक होता है।

शिविर वा वासस्थानके ईशानकोणमें पीछेकी ओर अथवा उत्तरकी ओर जल रहनेसे मंगल होता है, इनके अलावे और किसी ओर जल रहनेसे अशुभ फल होता है। अभिज्ञव्यक्ति गृह वा निकेतन-निर्म्माण करनेके समय उसकी लम्बाई चौड़ाई समान न करें। गृहके चौकोन होनेसे गृहस्थोंके धनका नाश अवश्यम्भावी है। गृहकी लम्बाई अधिक, चौड़ाई उसकी अपेक्षा कम होना ही उचित है। लम्बाई चौड़ाई कमी बेशी करनेके समय मापके परिमाणमें जिससे शून्य न पड़े, इसका ध्यान रखना चाहिये अर्थात् उनके मापके परिमाण दश, बीस तीस न हो। कारण इसमें यदि शून्य पड़ेगा, तो गृहस्थोंके शुभ फलके समय भी शून्य ही आ उपस्थित होगा।

गृह या चहारदीवारीके दरवाजेकी लम्बाई तीन हाथ एवं चौड़ाई कुछ कम , अर्थात् दो होनेसे शुभ होता है। गृहके ठीक मध्यस्थलमें द्वार निर्म्माण करना उचित नहीं। थोड़ा न्यूनाधिक होनेसे ही मंगल होता है।

चौकोन शिविर चन्द्रवेध होनेसे ही मंगलजनक होता है। सूर्यवेध शिविर अमंगलकर है। शिविरके मध्यभागमें तुलसीका पौधा रोपना उचित है, उससे धन, पुत्र और लक्ष्मी प्राप्त होती है, शिविरके

स्वामीको पुण्य होता है एवं हृदयमें हरिभक्तिका संचार होता है। प्रातःकाल तुलसीवृक्षके दर्शनसे स्वर्णदान करनेका फल प्राप्त होता है। शिविर वा वासस्थानके मध्य निम्नोक्त पुष्पादि द्वारा उद्यान तैयार कर लेना कर्त्तव्य है ; यथा—मालती, यूथिका, कुन्द, माधवी, केतकी, नागेश्वर, मल्लिका, काञ्चन, वकुल, और अपराजिता। शुभाशुभ पुष्पोंका उद्यान पूर्व तथा दक्षिण-की ओर लगाना चाहिये। इससे गृहस्थोंका शुभ-समागम अवश्यम्भावी है।

गृहस्थ लोग सोलह हाथ ऊंचा गृह एवं बीस हाथ ऊंचा प्राकार तैयार नहीं करें। इस नियम-के व्यतिक्रमसे अशुभ फल मिलता है। मकानके निकट बढ़ई, तेली वा सोनार प्रभृतिको बसाना ठीक नहीं। दूरदर्शी गृहस्थ यथासाध्य ग्राममें भी इन लोगोंको बसने न देंगे। शिविरके निकट ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ऊंचे शूद्र, गणक, भट्ट, वैद्य किंवा मालीको ही बसाना चाहिये।

शिविर या किलेकी खाई सौ हाथकी होनी चाहिये एवं शिविरके पास ही रहनी चाहिये। उसकी गहराई दश हाथसे कम होना ठीक नहीं। इसके द्वारा सांकेतिक होना जरूरी है। ऐसा सांकेतिक द्वारा बनाना चाहिये जो शत्रुओंके लिये अगम्य, किन्तु मित्रोंके लिये सुगम हो।

शाल्मली, तिन्तिड़ी, हिन्ताल, निम्ब, सिन्धुवार, ऊडूम्बर, धुस्तूर, वट किंवा एरंड, इन सब वृक्षोंके अतिरिक्त और सब वृक्षोंके काष्ठ शिविरमें लगायेंगे। वज्रहत वृक्ष शिविर वा वासस्थानमें रखना उचित नहीं, उससे स्त्री, पुत्र और गृह सभीका नाश हो जाता है।

(ब्रह्मवै० पु० कृष्णजन्मख० १०२ अ०)

नया मकान तैयार होने पर वास्तु याग करके उसमे प्रवेश करना चाहिये। वास्तु यागमें असमर्थ होने पर यथाविधान गृहमें प्रवेश करना युक्तिसंगत है।

वास्तुयागका विषय वास्तुयाग शब्दमें देखो।

कृत्यतत्त्वमें गृहप्रवेश करनेकी विधि इस प्रकार निर्दिष्ट है :—गृहारम्भमें जिस तरह पूजादि करनी पड़ती है, गृहप्रवेशमें भी उसी तरह करनी चाहिये।

शुभ दिनमें जिस दिन गृहमे प्रवेश करना हो, उस दिन गृहस्वामी प्रातःकाल प्रातःक्रिया तथा स्नानादि समापन करके यथाशक्ति ब्राह्मणको काञ्चनादि दान करें। इसके बाद गृहप्राङ्गणमें द्वारके सामने एक जलपूर्ण कुम्भ स्थापन करना चाहिये। इस कुम्भके गालमें दधि लगा कर ऊपर आम्रपल्लव और फल पुष्पादि रखना होता है। गृहस्वामी नये वस्त्र तथा पुष्पमाल्यादिसे भूषित हो कर एवं पत्नीको बाईं ओर ले कर उस कुम्भके मस्तक पर धानसे भरा हुआ सूप रखें। इसके बाद गोपुच्छ स्पर्श करके नये गृहमें प्रवेश करें।

पीछे सामर्थ्य होने पर यथाविधान गृह-प्रवेशोक्त पूजादि स्वयं करें। असमर्थ होने पर पुरोहित द्वारा पूजादि करावें। व्यवहार है, कि इस समय गृहिणी नये गृहमें प्रवेश करके नये पात्रमें दूध उबालती है, यह दूध उबल कर गृहमें गिर जाता है।

गृहप्रवेशमें पूजापद्धति—पुरोहित स्वस्तिवाचन करके संकल्प करें। ॐ अद्येत्यादि नवगृहप्रवेशनिमित्तक वास्तुदोषोपशमन कामः वास्तु-पूजनमहं करिष्ये। इस तरह संकल्प और तत्सूक्त पाठ कर यथाविधि घट-स्थापनादि करके स्वामी पूजा करें। शालग्रामकी भी पूजा की जा सकती है। पहले नवगृह तथा गणेशादिकी प्रणवादि नमोन्त द्वारा पूजा करके निम्नोक्त देवगणकी पूजा करनी चाहिये। 'ॐ गणेशाय नमः' इत्यादि रूपसे पूजा करनी होती है, पीछे इन्द्र, सूर्य, सोम, मङ्गल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर, राहु, केतु, और इन्द्रादि दश दिक्पालोंकी पूजा करनी चाहिये। इसके बाद क्षेत्रपाल समूह, क्रूरग्रहसमूह तथा क्रूर भूत समूहको पूजा करेंगे। ॐ क्षेत्रपालेभ्यो नमः ॐ भूत-क्रूरग्रहेभ्यो नमः ॐ क्रूरभूतेभ्यो नमः इस तरह पूजा करनी पड़ती है। इसके पश्चात् ब्रह्मा वास्तुपुरुष, शिखी, ईश, पर्य्यन्य, जयन्त, सूर्य, सत्य, भृश, आकाश, अग्नि, पूषा, वितथ, ग्रहनक्षत्र, यम, गन्धर्व, मृग, पितृगण, दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, वरुण, शेष, पाप, रोग, अहि, मूख्य, विश्वकर्मा, भल्लाट्, श्री, दिति, पाप सावित्र, विवस्वत इन्द्रात्मज, मित्र, रुद्र, राजयक्ष्मन्, पृथ्वीधर, ब्रह्मण, चरकी, विदारी, पूतना, पापराक्षसी, स्कन्द, अर्य्यमा और पिलपिञ्जकी पूजा करके 'ॐ नमस्ते वहुरूपाय विष्णवे

परमात्मने स्वाहा' मन्त्र द्वारा विष्णुकी पूजा की जाती है। इसके बाद श्रीवासुदेव और पृथ्वीकी करनी होती है।

इस प्रकार पूजा करके स्वगृह्योक्त विधि द्वारा शाल-होम करना पड़ता है। इसके उपरान्त दक्षिणान्त तथा अच्छिद्रावधारणादि करके कार्य शेष करना चाहिये। पीछे ब्राह्मणभोजन तथा समर्थ होने पर आत्मीय स्वजनादिको भोजन करना चाहिये।

वाटीदीर्घ (सं० पु०) वाट्यां वास्तुभूमौ दीर्घः सर्वोच्चत्वात्। इत्कटवृक्ष।

वाट्टक (सं० क्ली०) भृष्ट यव, भुना हुआ जौ।

वाट्टदेव (सं० पु०) एक राजाका नाम।
(राजतर० ७ १३।३)

वाट्य (सं० क्ली०) वाट्यालक, बला, बरियारा।

वाट्यक (सं० क्ली०) भृष्ट यव, भुना हुआ जौ।

वाट्यपुष्प (सं० क्ली०) १ चन्दन। २ कुङ्कुम, केसर।

वाट्यपुष्पिका (सं० स्त्री०) वाट्यपुष्पी, बला।

वाट्यपुष्पी (सं० स्त्री०) वाट्यं वाट्यां साधुवेष्टनीयं वा पुष्पं यस्याः गौरादित्वात् ङीष्। वाट्यालक, बला, बीजबंद।

वाट्यमण्ड (सं० पु०) यवमण्डविशेष, बिना भूसी या छिलकेके दले हुए जौका मांड़। एक भाग दले हुए जौको चौगुने पानीमें पकानेसे वाट्यमंड बनता है। वैद्यकमें यह हलका, रुचिकर, दीपन, हृद्य तथा पित्त, श्लेष्मा, वायु और आनाहनाशक कहा गया है।

वाट्या (सं० स्त्री०) वट्यते वेष्टते इति वट-वेष्टने ण्यत् यद्वा वाट्यां वास्तुप्रदेशे हिता, वाटी-यत् टाप्। वाट्यालक, बीजबंद।

वाट्यायनी (सं० स्त्री०। श्वेत वाट्यालक, सफेद बीजबंद। (चरकसू० ४ अ०)

वाट्याल (सं० पु०) वाटीं अलति भूषयतीति अल्-अण्। वाट्यालक, बीजबंद।

वाट्यालक (सं० पु०) वाट्याल एव स्वार्थे कन्, वाटीं अलति भूषयतीति अल-ण्वुल् वा। १ बरियारा, बीजबंद। पर्याय—शीतपाकी, वाट्या, भद्रादनी, बला, वाटी, विनय, वाट्याली, वाटिका। २ पीतपुष्पबला, पीला बीजबंद।

वाट्यालिका (सं० स्त्री०) लघु वाट्यालक, छोटा बरियारा।

वाट्याली (सं० स्त्री०) वाट्याल गौरादित्वात् ङीष्। वाट्यालक, बीजबंद।

वाड़ (सं० पु०) धातूनामनेकार्थत्वात् वाड़-वेष्टने भावे घञ्। वेष्टन, वेठन।

वाड़भीकार (सं० पुं०) वड़भीकारवंशीय एक वैयाकरण-का नाम। (अथर्वप्रा० ३२।६)

वाड़भीकार्य (सं० पु०) वाड़भीकारवंशोद्भव।
(पा ४।१।१५१)

वाड़व (सं० पु०) वाड़ं यज्ञान्तःस्नानं वाति प्राप्नोति वाड़-वा-क। १ ब्राह्मण। वड़वायां घोटक्यां जातः वड़वा-अण्। २ वड़वानल। पर्याय—और्व्व, संवर्त्तक, अब्ध्यग्नि, वड़वामुख। ३ वड़वासमूह, घोड़ियोंका झुण्ड। (त्रि०) ४ वड़वा-सम्बन्धी।

वाड़वकर्ष (सं० क्ली०) उत्तरमें स्थित एक गांव।
(पा ४।२।१०४)

वाड़वहरण (सं० क्ली०) घोड़ी ले कर भागना।

वाड़वहारक (सं० पु०) वड़वा अपहरणकारी, वह जो घोड़ी चुराता हो।

वाड़वहार्य (सं० क्ली०) वड़वाहृत क्रीतदासका कार्य।

वाड़वाग्नि (सं० पु०) १ समुद्रके अन्दरकी आग। २ समुद्री आग, वह आग जो समुद्रमें दिखाई देती है।

वाड़वाग्निरस (सं० पु०) स्थौल्याधिकारमें रसौषध-विशेष। इसके बनानेका तरीका—विशुद्ध पारा, गंधक, ताँबा और हरताल इनका बराबर बराबर भाग ले कर आकके दूधमें एक दिन मर्द्दन करके गुंजा भरकी गोली बनावे। यह औषध मधुके साथ चाटनेसे स्थौल्यरोग प्रशमित होता है।

वाड़वानल (सं० पु०) वड़वानल, वाड़वाग्नि।

वाड़वेय (सं० त्रि०) वड़वा (नद्यादिभ्यो ढक्। पा ४।२।९७) इति ढक्। वड़वानल, वड़वा-सम्बन्धी।

वाड़व्य (सं० क्ली०) वाड़वानां समूहः (ब्राह्मणमानव-वाड़वाद्यन्। पा ४।२।४२) इति समूहार्थे यन्। वाड़व-समूह, घोड़ियोंका झुंड।

वाड़ेयीपुत्र (सं० पु०) एक वैदिक आचार्यका नाम।
(शतपथब्रा० १४।९।४।३)

वाड्डौत्स (सं० पु०) वडौत्सका पुत्र। (राजतर० ८।१३८)

वाड्वलि (सं० पु०) एक ऋषिका नाम। (पा ६।३।१०९)

वाढ़म् (सं० अव्य०) अलम, बस. बहुत हो चुका।

वाढ़विक्रम (सं० त्रि०) अतिशक्तिसम्पन्न, बड़ा बलवान्।

वाण पु०) वाणः शब्दस्तदस्यास्तीति वाण अच्। १ अस्त्रविशेष। धनुर्वेदमें इसका विवरण लिखा है, कि वाण किस तरहका अच्छा होता है और उससे युद्ध किया जा सकता है, पहले रीत्यनुसार धनुष तैयार कर पीछे वाण तैयार करना चाहिये। सुलक्षणान्वित शरोंके अग्रभागमें जो लोहेका फला होता है, उसे वाण कहते हैं। वाण लोहेका बनता है। शुद्ध, वज्र और कान्त आदि कई तरहके लोहा होते हैं, इनमें बड़ा और शुद्ध लोहेसे ही अस्त्र तैयार किये जाते हैं. किन्तु वाण शुद्ध लोहेका बने तो अच्छा होता है। इस शुद्ध लोहेसे कई तरहका फला तैयार होता है। जिस फलाको तेज़ (धार), तीक्ष्ण और क्षतरहित बनाना हो, तो उसमें वज्र लेप करना चाहिये। फला पक्ष प्रमाण विशिष्ट बना कर पीछे लक्षणाक्रान्त शरमें जोड़ना पड़ता है। यह फला कई तरहके होते हैं। आरामुख, क्षुरप्र, गोपुच्छ, अर्द्धचन्द्र, सूच्यग्रमुख, भाला सदृश, वत्सहन्त, द्विभल्ल, कर्णिक और काकतुण्ड इत्यादि बहुत तरहके नाम और विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारके फला तय्यार किये जाते हैं।

फलाके आकारगत जो वैलक्षण्य विषय निर्दिष्ट हुआ है, वह केवल दिखानेके लिये नहीं. उससे कितने ही काम होते हैं। आरमुख नामक वाणसे मर्मभेद किया जाता है, अर्द्धचन्द्रवाणसे प्रतिस्पर्द्धी योद्धाका शिर काटा जा सकता है और आरमुख तथा सूच्याग्रमुख वाणसे ढालको फाड़ा जा सकता है। कार्म्मुक काटनेके लिये क्षुरप्र वाण, हृदय विद्ध करनेके लिये भल्ल (भाला) और धनुषका गुण और आनेवाले शरोंको काटनेके लिये द्विभल्ल नामक वाण प्रशस्त है। काकतुण्डाकार फलासे तीन अंगुल परिमित लौह विद्ध किया जा सकता है और लौहकण्टकमुखवाणसे तीन अंगुल गहरा घाव किया जा सकता है।

फला प्रस्तुत करनेके समय उत्तम रूपसे पानी देना पड़ता है। काटने मारने आदि बहुतेरे कार्योंके लिये उपयुक्त बहुत तरहके फला तय्यार कर उसमें अस्त्रविद्याके अनुसार पानी देना पड़ता है। पानीसे ही अस्त्रोंके सुन्दर धार और वे मजबूत होते हैं। फलामें पानी देनेका तरीका बड़े शारङ्गधरने इस तरह बताया है—उत्तम औषध लेप कर जिस तरह फल पर पानी देनेका विधान है, उसी विधानके अनुसार पानी चढ़ा कर फला तय्यार किया जाये, तो उससे दुर्भेद्यलौह भी काटा जा सकता है। पीपल, नमक (सेन्धा) और कुड़ ये सब अच्छी तरह गोमूत्रमें मिला कर फला पर लेपना चाहिये। इसे लेप कर फलाको आगमें गर्म कर देना चाहिये। पीछे जब यह लाल हो जाये, तो आगसे निकाल ले और ललाई दूर हो जाने पर फिर उत्तप्त ही अवस्थामें तेलमें डुबा दे। इस प्रणालीसे पानी चढ़ाने पर बहुत अच्छा वाण तय्यार होता है।

दूसरी तरकीब—सरसों और शहद अच्छी तरह पीस कर फला पर लेप कर उसे प्रज्वलित अग्निमें डाल दे। जब आगमें उस पर मोरपंखकी तरहका रंग दिखाई दे, तब आगसे इसे निकाल जलमें डुबा देनेसे यह फला बहुत तीक्ष्णधारयुक्त और मजबूत होता है।

वृहत्संहितामें लिखा है, कि घोड़ी, ऊंटनी तथा हथिनीके दूधसे पानी चढ़ाने पर फलाकी धार तेज़ होती है। सिवा इसके मछलीके पित्त, हरिणीका दूध, कुतियाका दूध और बकरीका दूध द्वारा पानी चढ़ाने पर उस वाणसे हाथीका सूंड भी काटा जा सकता है। कन्दकी गोंद, हुड़श्रृङ्गका अङ्गार, कबूतर और चूहेका बिट इन सबोंको एकमें मिला कर पीसना चाहिये फिर फलामें लेप कर आगमें तपा देना चाहिये। बीच बीचमें इस पर तेल दिया जाय, तो और अच्छा हो। ऐसा करनेसे वाण तेज धारवाला और मजबूत होता है। इस तरह लोहेसे पानी चढ़ा कर वाण तैयार करना चाहिये। यह वाण जिस शरमें चढ़ाया जाता है, उसका वृत्तान्त इस तरह लिखा है—

शर (तृणविशेष) बहुत मोटा या बहुत पतला न होना चाहिये। यह खराब भूमिमें पैदा हुआ न हो, उसमें गिरह या गांठे न हों, पका हुआ गोल और पीले

रंगका होना चाहिये। उपयुक्त समयमें शर तैयार कर उसमें फलक या वाण पिरो देना चाहिये, गांठवाला या लम्बा शर वाणके लिये उपयुक्त नहीं होता। कड़ा, गोल और अच्छी भूमिमें उत्पन्न लकड़ी ही तीर निर्म्माणके लिये उत्तम होती है। जलाधिक्य, तृणाधिक्य और छायाधिक्य भूमिमें जो शर उत्पन्न होता है, वह उतना दृढ़ नहीं होता और घुना हुआ होता है। जहां धूप अधिक होती हो और जहां थोड़ा बहुत बालू भी हो, वहांका उत्पन्न शर बहुत उत्तम होता है। इस तरहका दो पौने दो हाथ लम्बा शर कनिष्ठा उंगलीके समान मोटा होना चाहिये। यह शर कहीं टेढ़ा हो तो उसे सीधा कर देना चाहिये। ऊपर जो परिमाण शरका लिखा गया, उससे कम या अधिक न हो। मुष्टिवद्ध बांया हाथसे दाहने कन्धे तक मुष्टिवद्ध दो हाथ होता है। इतने बड़े तीरको मनुष्य धनुष पर चढ़ा कर कानों तक उसे खींच सकता है। शर अधिक लम्बा होनेसे खींचनेमें असुविधा होती है। इससे उसकी गति ठीक नहीं होती।

वाण किसी लक्ष्य स्थान पर ही छोड़ा जाता है। छोड़ा हुआ वाण यदि लक्ष्यस्थल पर न जा इधर-उधर चला गया, तो वह व्यर्थ हुआ। वाण इधर उधर न जाय इसलिये लोग वाणोंमें पक्षियोंके पांख या पर लगाते थे। पर जोड़नेसे वाण सीधे अपने लक्ष्यस्थानको ही जायेगा, टेढ़ा मेढ़ा नहीं जायेगा।

कौआ, हंस, शश, मत्सरङ्ग, बगुला, गृद्ध और कुररी (टिटहरी) पक्षीका पर इसके लिये उत्तम होता है। प्रत्येक शरमें समानन्तर पर चार पर बांधना चाहिये। ये पर भी अंगुल परिमाण हों, किन्तु विशेषता यह होनी चाहिये धनुष पर चढ़ानेवाले वाणके शरमें १० अंगुल परों और वैणव धनुके वाणमें ६ अंगुल परोंकी योजना करनी होगी। यह योजना तांत या मजबूत सूतेसे होनी चाहिये।

इस तरहके परवाले शरके नोक पर फला चढ़ाया जाता है, नहीं तो वह युद्धोपयोगी नहीं होता। जिस शरका अग्रभाग या नोक मोटा होता है, वह स्त्री जातीय शर कहा जाता है और जिसका पिछला भाग मोटा होता है, उसको पुरुष जातीय और जिसके अग्र और पाश्चात्य दोनों भाग एक समान होते हैं, वह शर नपुंसक जातीका कहा जाता है। नारी जातिका शर बहुत दूर तक जाता है और पुरुष जातिका शर दूरके लक्ष्यको भेद करता है और नपुंसक जातिका शर केवल लक्ष्य भेदके लिये उपयुक्त है।

जो वाण सर्वलौहमय अर्थात् जिसका सब अवयव लोहेका हो, उसे नाराच कहते हैं। शरके वाणमें जैसे चार पर संयुक्त रहता है; वैसे ही इस नाराचवाले वाणमें पांच पर जोड़े जाते हैं। ये शर वाणसे कुछ मोटा और लम्बा होगा। सभी इस नाराच वाणको चला नहीं सकते हैं। सिवा इसके लघुनालिक वाण नलाकार यन्त्रसे छोड़ा जाता है। यह पहाड़ या किसी ऊंचे स्थानसे नीचेकी ओर छोड़नेमें उपयुक्त होता है।

नलीकास्त्र देखो।

२ मन्त्रभेद, वाणमन्त्र। यह मन्त्र जो जानते हैं, वे मनुष्य, पक्षी, पशु, वृक्ष, लता आदिको विविध प्रकारसे दुःख दे सकते हैं। किन्तु वाण मन्त्रका कोई भी शास्त्र दिखाई नहीं देता। यह केवल गुरुपरम्परा ही प्रचलित मालूम होता है। वाणमन्त्र छोड़ा भी जाता है और रोका भी जाता है। पवर्गका बाण शब्द देखो।

वाणकि (सं० पु०) एक ऋषिका नाम। (संस्कारकौमुदी)

वाणखेल—आपसमें मन्त्रात्मक वाण-निक्षेपरूप युद्ध। इसमें एक आदमी मन्त्र प्रयोग करता है और दूसरा उसके विरुद्ध शक्ति-सम्पन्न मन्त्र प्रयोग कर उस मन्त्रका प्रभाव खर्व कर डालता है। जो इस मन्त्रमें अभ्यस्त और प्रयोगपारदर्शी हैं, वे गुणी कहलाते हैं। इस देशमें साधारणतः सँपेरे ही इस वाणमन्त्रका अभ्यास करते हैं। बहुत जगह नीच जातिके हिन्दू और मुसलमान ही यह मन्त्र सीखते हैं।

सँपेरे जिस वाणमन्त्रका प्रयोग करते हैं उनमें वृक्षोंके नष्ट करनेका मन्त्र अलग है। बहुतेरे फलसे लदे वृक्षको देखते ही मन्त्र द्वारा उसे नष्ट कर डालते हैं। हाथमें सरसों और धूल ले कर मन्त्र पढ़ कर जिस अभिप्रेत वस्तु पर फेंकी जाती है, वही वस्तु या वृक्ष सूख कर नष्ट हो जाता है। सँपेरेमें इतनी शक्ति है, कि व

वाण मार कर शवके मुखसे भी खून तक निकाल सकता है।

इस वाणखेलकी तरह मारण, स्तम्भन, वशीकरण, उच्चाटन आदि विषयके भी मन्त्र हैं। भौतिकविद्या देखो।

वाणगङ्गा (सं० स्त्री०) एक नदी। लोमशतीर्थ पार कर यह नदी बह चली है। कहते हैं, कि राक्षस राज रावणने वाणकी नोंकसे हिमालय भेद कर इस नदीको निकाला था।

वाणगोचर (सं० पु०) वाणका निर्दिष्ट गतिस्थान (Range of an arrow ।

वाणचालना (सं० स्त्री०) वाणप्रयोग। धनुष और तीरयोगसे लक्ष्य वस्तु वेधनेका कौशल वा प्रणाली। पाश्चात्य भाषामें इस तीरक्षेप प्रथाको Archery कहते हैं। वैशम्पायनोक्त धनुर्व्वेदमें इसका विषय विस्तार पूर्वक लिखा है। धनुर्व्वेद देखो।

ऐतिहासिक युगकी प्रारम्भावस्थामें, जिस समय इस देशमें आग्नेयास्त्रका (नालिकादि युद्धयन्त्र Canon) विशेष प्रचार नहीं था, यहां तक कि, जिस समय लोग लौह द्वारा फलकादि निर्म्माण करना नहीं सीखा था, उस समय भी लोग वंशखंड ले कर धनुष, शरखंड ले कर इषु एवं चकमकी द्वारा शरकी शलाका तैयार करनेमें अभ्यस्त थे। हम लोग इतिहास पाठसे एवं प्राचीन नगर वा ग्रामादिके ध्वंसावशेषमें आदिम जातिके इस अस्त्रके बहुतसे निदर्शन पाते हैं। इस समय भी कई एक देशके आदिम असभ्य जातिके मध्य यह प्रथा विद्यमान है। पीछे जब उन सब जातियोंके मध्य सभ्यतालोकका विस्तार होने लगा, तबसे वे सभ्य-समाजको अनुकरण कर इस युद्धास्त्रकी उन्नति करके वाणनिर्म्माणके विषयमें एवं उसके चलानेके अपूर्व कौशल प्रदर्शन करनेमें समर्थ हुए थे।

प्राचीन वैदिक युगमें हम लोग वाणप्रयोगके प्रकृष्ट निदर्शन पाते हैं। सुसभ्य आर्यगण वर्व्वर अनार्य जातिके साथ निरन्तर युद्धकार्यमें व्यापृत थे, भारतवासी उसी आर्य जातिकी सन्तान धनुष, इषु प्रभृति अस्त्रयोगसे जिस तरह युद्धकार्य परिचालना करती थी, ऋग्वेदसंहितामें उसके भूरि भूरि प्रमाण पाये जाते हैं(१)। आर्य और असुर (दस्यु वा राक्षस)के संघर्षकी कथा जो उक्त महाग्रन्थमें वर्णन की गई है, उसका ही अविकृत चित्र पौराणिक वर्णनामें भी प्रतिफलित(२) देखा जाता है।

रामायणीय युगमें राम-रावणके युद्धके समय एवं भारतीय युद्धमें कुरु पांडवके मध्य भीषण वाण युद्ध हुआ था; केवल मानव जगत्‌में ही नहीं देवजगत्‌में भी वाणका व्यवहार था। स्वयं पशुपति पाशुपत अस्त्रसे परिशोभित थे( )। देवसेनापति कुमार कार्त्तिकेयने धनुर्वाण धारण करके असुरोंका संहार किया था। पुराणमें अग्नि, वरुण, विष्णु, ब्रह्मा प्रभृति देवताओंके अपने अपने निर्द्दिष्ट प्रिय वाणोंका उल्लेख पाया जाता है(४)। राम-रावणके युद्धमें

---

(१) ऋक् ५।५२, ५५ और सूक्तमें एवं ६।२, २७, ४६, ४७ सूक्तमें ऋष्टि, वाशी, धनु, इषु प्रभृति अस्त्रोंका उल्लेख है।

(२) ऋक् १।११, १२, २१, २४, ३३, १००, १०३, १०४, १२१ प्रभृति सूक्त आलोचना करनेसे इन्द्रादि कर्त्तृक असुरोंके नाशकी जो कथा पाई जाती है, वृत्रसंहार, तारकावध, अन्धक निधन, सुर-नाश, त्रिपुर-दाह, मधुकैटभादि विनाश उसका विकाशमात्र है।

(३) लिंगपुराण और महाभारत। महादेवने अर्जुनकी वीरतासे प्रसन्न हो कर कर्ण और निवात कवचादि निधनके निमित्त उक्त अस्त्र दान किया था।

(४) विभिन्न श्रेणीके वाण अर्थात् उनकी भेदशक्ति विभिन्न रूपकी होती है। वर्त्तमान समयमें अर्द्धचन्द्र, कोणाकार, त्रिफलक वा वड़शीक आकारयुक्त वाण भील, संथालोंके मध्य एवं प्राचीन राजवंशोंके अस्त्रागारमें परिलक्षित होते हैं। पुराणमें जो वरुणवाण द्वारा अग्निवाण काटनेकी कथा है, अधिक संभव वह इस तरहके विभिन्न फलकका गुण ही होगा। उस समयके योद्धृवर्ग स्थिरलक्ष्य तथा सिद्धहस्त थे एवं वे एक वाणका प्रयोग देखते ही उसके विपरीत अर्थात् प्रत्याखान समर्थक अस्त्र प्रयोग करना जानते थे अथवा वे सब वाण मन्त्रसिद्ध थे या योद्धा स्वयं प्रक्षेप कालमें उसे मन्त्रपूतः करके प्रयोग करते थे, ऐसा भी कहा जा सकता है।

इन सब देवाधिष्ठित वाणोंका बहुत प्रयोग किया गया था। रावणका मृत्युवाण इस श्रेणीका अलंकारस्वरूप कहा जा सकता है। दुष्मन्तादि राजगण वाण ले कर शिकार करते थे(१)। सूर्यवंशप्रदीप महात्मा रघुने वाण ले कर फारसवालों पर विजय प्राप्त करनेके अभिप्रायसे गमन किया था। रामायणके अन्दर वसिष्ठ और विश्वामित्रके युद्धमें शक वाह्लिक और यवन जातीय योद्धा भी थे, इसकी कथा है। यह कहना व्यर्थ है कि वे उस समय युद्धमें धनुर्वाण भी व्यवहार करते थे।

महाभारतमें लिखा है, कि द्रोणाचार्यसे पांडवोंने वाण चलानेकी शिक्षा पाई थी। एकलव्य द्रोणाचार्यको मूर्त्ति बना कर स्वीय अध्यवसायसे गुरुको शिक्षा अपहरण करने लगा। वाणविद्यामें पारदर्शिता लाभ करनेके बाद वह गुरु द्रोणको दक्षिणा देनेके लिये तैयार हुआ। गुरुने उसकी अद्भुत शिक्षा-कौशल देख उसके दाहिने हाथकी वृद्धांगुलि माँगी। वीर बालक एकलव्यने गुरुको मुँहमाँगा दक्षिणा दे कर अपने महत्वकी रक्षा की।

महाभारतीय इस विवरणको पढ़नेसे मालूम होता है, कि उस समय राजपरिवार, साधरण जनसमाज या सभी क्षत्रियोंको वाण-शिक्षा प्राप्त करना प्रधान कर्त्तव्य हो गया था। ताड़का-निधन कालमें श्रीरामचन्द्रके वाणसे मारीच राक्षसका लङ्का चला जाना, द्रौपदीके स्वयम्बरमें चक्ररन्ध्र पथसे अर्जुन द्वारा मछलीका नेत्र भेदन, कुरुकुलपितामह महामति भीष्मका शरशय्या निर्म्माण प्रभृति पौराणिक आख्यानोंमें वाण चलानेका चरम दृष्टान्त है।

इसके बाद भी हिन्दू राजे तीर धनुष ले कर युद्ध करते थे। सिकन्दरके भारताक्रमणके समय युद्धक्षेत्रमें सहस्रों तीरन्दाजोंकी अवतारण देखी जाती है। आईन-इ-अकबरीमें लिखा है, कि मुगल-सम्राट् अकबरशाहके अस्त्रागारमें भिन्न भिन्न प्रकारके तीर, तूणीर तथा धनुष थे। इस समय बन्दूक और तोपोंका विशेष प्रचार होनेके कारण वाण द्वारा शत्रुओंके संहार करनेकी आवश्यकता बहुत कम हो गई; किन्तु फिर भी ऐसा नहीं कह सकते, कि उस समय तीरन्दाज बिल्कुल ही नहीं रहे! तब भी रणदुर्म्मद राजपूतवीर, भील एवं भील-प्रभृति दुर्द्धर्ष असभ्य जातियाँ तीरधनुष द्वारा रणक्षेत्रमें शत्रुओंका नाश किया करती थीं।

अंग्रेजी अधिकारमें भी संथाल लोग तीर धनुष द्वारा युद्ध करते थे। उनकी वाण-शिक्षा अद्भुत, लक्ष्य स्थिर और सुनिश्चित एवं संहार अपरिहार्य था। सुदूर बनान्तरालसे आततायीको लक्ष्य करके वे लोग जो वाण छोड़ते थे, उससे शत्रुके मरनेमें कुछ भी संदेह नहीं रहता था। इस समय इस विद्याका पूरा ह्रास हो जाने पर भी "संथालोंका काँड़" जनसाधारणके हृदयमें वाणशिक्षाकी पराकाष्ठा जगा देता है।

सिर्फ भारतवर्षमें ही नहीं, एक समय यूरोपीय पाश्चात्य जगत्में भी इसका यथेष्ट व्यवहार था। प्राचीन ग्रीक जाति तीर-धनुष ले कर युद्ध करती थी। प्राचीन यवन लोग (Jonian) भी हाथमें धनुर्वाण धारण किये रणक्षेत्रमें दिखाई देते थे। वे लोग प्राचीन ग्रीस वा हेलिनिस्वासियोंकी अन्यतम शाखा कहे जाते थे। कार्थेजिनीय योद्धृवृन्द, सुविख्यात रोमकगण, हूण, गथ और भाण्डाल प्रभृति वर्व्वर जातियाँ, यहाँ तक, कि सुशिक्षित अंग्रेज जातिके आदिपुरुष एवं इंगलैण्डके आदि निवासी वृटन लोग भी वाण चलानेमें विशेष पारदर्शी थे। उन देशोंका इतिहास ही इसका साक्षी दे रहा है।

पाश्चात्य जगत्की सुप्राचीन ग्रीक और रोमन जातियोंके अभ्युत्थानके पहले असीरीय (Assyrians) एवं शक (Scythians) जातियोंके मध्य घोड़े जोते जानेवाले रथ पर चढ़ कर युद्ध करनेकी रीति थी। इस समय भी वहांके सुवृहत् प्रासादगात्रस्थ प्रस्तरफलकादिमें वाणपूर्ण तुणीरसंबद्ध रथादिका चित्र अङ्कित देखा जाता है। असीरीय जातिकी वाण-विद्याका पूर्णप्रभाव उनकी कीलरूपा (Cuneiform) वर्णमाला द्वारा उपलब्धि

---

(१) महाकवि कालिदास प्रभृतिके काव्यनाटकादिमें तीर धनुषके व्यवहारका उल्लेख देखा जाता है। उसके द्वारा अनुमान होता है, कि इन सब कवियोंके समयमें राजे महराजे स्वयं तीर धनुष ले कर शिकार खेला करते थे एवं उनके सेना विभागमें यथेष्ट तीरन्दाज सेना थी।

की जाती है। अनुमान होता है, कि उन लोगोंके प्राण थे; इसीलिये उन लोगोंने वाणके अग्रकीलकका अनुकरण करके अपनी अक्षरमाला तैयार की थी।

प्राचीन मिस्रराज्यमें भी तीरधनुषका अभाव नहीं था। कालदीय, वाबिलनीय, पार्थीय, शक, वाह्लिक और प्राचीन फारसी जातिओंके मध्य वाणास्त्रका बहुत प्रचार था। सुतरां अनुमान होता है, कि अति प्राचीनकालमें धनुष और वाण युद्धके प्रधान अस्त्र गिने जाते थे एवं जनसाधारणको उसकी विशेष यत्नसे शिक्षा दी जाती थी।

वाणजित् (सं० पु०) विष्णु।

वाणतूण (सं० पु०) वाणाधार, तूणीर, तरकश।

वाणधा (सं० पु०) तूणीर, तरकश।

वाणनासा (सं० स्त्री०) एक नदीका नाम।

वाणनिकृत (सं० त्रि०) वाणास्त्रसे भिन्न।

वाणपञ्चानन (सं० पु०) एक प्रसिद्ध कवि।

वाणपथ (सं० पु०) वाणगोचर।

वाणपाणि (सं० त्रि०) वाणास्त्र द्वारा सुसज्जित।

वाणपात (सं० पु०) १ वाणनिक्षेप, वाण फेंकना। २ दूरत्वपरिमापक, वह जिससे दूरी निकाली जाय।

वाणपातवर्त्तिन् (सं० त्रि०) अदूर अवस्थित, पासमें रहनेवाला।

वाणपुङ्खा (सं० स्त्री०) वाणका अग्र और पुच्छभाग।

वाणपुर (सं० क्ली०) वाणराजकी राजधानी।

वाणभट्ट (सं० पु०) एक सुप्रसिद्ध कवि।

वाणमय (सं० त्रि०) वाण द्वारा समाच्छन्न।

वाणमुक्ति (सं० स्त्री०) वाणच्युति, किसी वस्तु पर निशाना करना।

वाणमोक्षण (सं० क्ली०) वाणमुक्ति देखो।

वाणयोजन (सं० क्ली०) १ तूणीर, तरकश। २ धनुषकी ज्यामें वाण लगा कर निशाना करना।

वाणप्रस्थ (सं० क्ली०) आश्रमाचारविशेष। वानप्रस्थ देखो।

वाणरसी (सं० स्त्री०) वाराणसीका अपभ्रंश।

वाणराज (सं० पु०) वाणासुर।

वाणरेखा (सं० स्त्री०) वह रेखा या क्षत जो वाणके लगनेसे हो।

वाणलिङ्ग (सं० क्ली०) स्थावर शिवलिङ्गभेद। नर्मदाके किनारे ये सब लिङ्ग पाये जाते हैं। लिङ्ग शब्द देखो।

वाणशाल (सं० क्ली०) वाणागार, आयुधशाला।

वाणवर्षण (सं० क्ली०) वाणवृष्टि, वृष्टिके समान वाण गिरना।

वाणववार (सं० पु०) एक प्रकारका अंगरखा, लौह-वस्तर।

वाणसन्धान (सं० क्ली०) लक्ष्य करके वाणयोजना।

वाणसिद्धि (सं० स्त्री०) वाणके सहारे लक्ष्य भेद करना।

वाणसूता (सं० स्त्री०) उषा।

वाणहन् (सं० पु०) १ वाणारि। २ विष्णु।

वाणावली (सं० स्त्री०) १ वाणोंकी आवली, तीरोंकी कतार २ श्लोकोंका पञ्चक, एक साथ बने हुए पांच श्लोक। ३ तीरोंकी लगातार वर्षा।

वाणि (सं० स्त्री०) वण-णिच् इन् (सर्वधातुभ्य इन्। उण् ४।११७) इति इन्। वयन, बोना। पर्याय-व्यूति, व्युति। २ वाप दण्ड।

वाणिज (सं० पु०) वणिज्-स्वार्थे अण्। १ बणिक, बनिया। २ वाड़वाग्नि।

वाणिजक (सं० पु०) वाणिज देखो।

वाणिजकविध (सं० त्रि०) वाणिजकानां विषयो देशः (भैरिक्याद्येषु कार्यादिभ्यो विधल्भक्तलौ। पा ४।२।५४) इति विधल्। वणिकोंका स्थान, वाणिज्यस्थान।

वाणिजक (सं० पु०) वाणिज देखो।

वाणिज्य (सं० क्ली०) वणिजो भावः कर्म वा वनिज् ष्यञ्। वैश्य-वृत्ति, क्रय-विक्रयका कार्य। पर्याय—सत्यानृत, वाणिज्य, वणिक् पथ। (जटाधर)

ज्योतिषमें लिखा है, कि वाणिज्य या व्यापारका आरम्भ किसी शुभ दिनको करना चाहिये। अशुभ दिनको वाणिज्य आरम्भ करने पर घाटा या नुकसान होता है। भरणी, अश्लेषा, विशाखा, कृत्तिका, पूर्वफल्गुनी और पूर्वाषाढ़ा आदि नक्षत्रोंमें वस्तु बेचना ठीक है; किन्तु खरीदना ठीक नहीं। रेवती, अश्विनी, चित्रा, शतभिषा, श्रवणा और स्वाति आदि नक्षत्रोंमें खरीदना शुभ और बेचना अशुभ है। (ज्योतिःसारस०)

इस तरह खरीदने बेचनेका लक्ष्य रख कर कारोबार करनेसे उत्तरोत्तर उन्नति होती है।

कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यकी वृत्तियां हैं। वैश्य इन्हीं वृत्तियोंसे अपनी जीविकाका निर्वाह करें। किन्तु ब्राह्मण पर जब विपद् उपस्थित हो अर्थात् जब अपनी जीविका-निर्वाह नहीं कर सके, तब वह वाणिज्य-वृत्तिसे ही अपनी जीविका चला सकते है। ब्राह्मणको आपत् कालमें किस वृत्तिका अवलम्बन करना चाहिये, इसके सम्बन्धमें मनुने लिखा है—ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनी धर्मनिष्ठामें व्याघात उपस्थित होने पर निषिद्ध वस्तुओंको त्याग वैश्यकी वाणिज्य वृत्तिसे अपनी जीविका चला सकेंगे।

निषिद्ध वस्तुएं—सब तरहके रस, तिल, प्रस्तर, सिद्धान्न, नमक, पशु और मनुष्यका बेचना बहुत मना है। कुसुमादि द्वारा रंगे लाल रंगके सूतेसे बने सब तरहके वस्त्र, शन और अतसी तन्तुमय वस्त्र, भेड़के रोएं के बने कम्बल आदिका बेचना भी मना है। जल, शस्त्र, विष, मांस, सोमरस, सब तरहके गन्ध द्रव्य, दूध, दही, मोम, घी, तैल, शहत्, गुड़ और कुश ये सब चीजें बेचनी न चाहिये। सब तरहके वन्य पशु, विशेषतः गजादि दंष्ट्र, अखण्डित खुर अश्वादि, सिवा इसके मद्य और लाह, चपड़ा आदि कभी भी न बेचना चाहिये। तिल विषयमें विशेष यही है, कि लाभकी आशासे तिल बेचना उचित नहीं। किन्तु स्वयं पैदा की हुई तिलको बेचनेमें कोई दोष नहीं। (मनु १० अ०)

ब्राह्मण और क्षत्रिय इन सब वस्तुओंको छोड़ वाणिज्य कर सकेंगे। ये दोनों जातियां आपसमें मिल कर एक साथ वाणिज्य कार्य्य आरम्भ करें और उनमें यदि कोई प्रतारणा करे या किसीके ध्यान न देनेसे वाणिज्यमें क्षति हो, तो राजा उसको दण्डका विधान करें।

महर्षि याज्ञवल्क्यने लिखा है—जो सब वणिक् एक साथ मिल कर व्यवसाय करें (जैसे आज कल लिमिटेड कम्पनी प्रतिष्ठित होती है।) उसमें जिसका जैसा भाग होगा, उसीके अनुसार उसको घाटा नफा सहना होगा। इन हिस्सेदारोंमें यदि कोई निषिद्ध कामको करे या वह ऐसा काम करे जिससे व्यवसायमें हानि हो, तो उसे ही उस क्षतिकी पूर्त्ति करनी होगी। यदि कोई विपद्की दुहाई दे, तो वह साधारण लाभांशका दशवां अंश पानेका अधिकारी होगा। राजाकी आज्ञा ले कर व्यवसाय आरम्भ करना होगा। राजा ही बेचनेवाली चीजका मूल्य निर्द्धारित करता है। इसीलिये उसको कररूपमें लाभांशके २० भागका एक भाग दिया जाता है। राजा जिस चीजको बेचनेकी मनाई करे वह और राजोचित चीजें, बेचने पर वह ले लेगा।

यदि वणिक् वाणिज्य करते समय शुल्क वञ्चनाके लिये पण्यद्रव्यके परिमाण विषयमें झूठ बोले, शुल्क ग्रहण स्थानसे टल जाये और विवादास्पद द्रव्य खरीदे बेचे, तो उसे पण्यद्रव्यकी अपेक्षा अठगुना दण्ड होगा। वाणिज्य करते समय किसी हिस्सेदारकी मृत्यु हो जाय, तो उस समवेत वाणिज्यमें उसका जो धन रहेगा, राजा उसके उत्तराधिकारीको दिला देगा। इसमें जो ठगेगा, वह लाभसे वञ्चित कर दिया जायेगा।

राजा पण्यद्रव्यके प्रकृत मूल्य तथा लानेका किराया आदि खर्चका हिसाब कर वस्तुका मूल्य निर्द्धारित कर दे, जिससे खरीदने और बेचनेवाले दोनोंकी क्षति न होने पाये। राजा अच्छी तरह जांच पड़ताल कर चीजोंका मूल्य निर्द्धारित करे। राजाके निर्द्धारित मूल्यसे ही वणिक् नित्य चीजें बेचा करे। वणिक् खरीदनेवालेसे मूल्य ले कर चीज उसे न दे, तो उसके रुपयेका सूद जोड़ कर या उस वस्तुको बेच कर जो लाभ हो, उस लाभके साथ उसे खरीददारको चुकाना होगा। देशी खरीददारके प्रति यह नियम है। यदि वह खरीददार विदेशी हो, तो खरीदी चीज विदेशमें ले जा कर बेची जाने पर वहां जो लाभ होता, उसका हिसाब जोड़ कर विदेशी खरीददारको उसे देना पड़ेगा।

बेचनेवालेके देने पर भी यदि खरीदनेवाला माल नहीं लेता, फिर भी दैवोपद्रव तथा राजोपद्रवसे वह नष्ट हो जाये, तो खरीददारका ही माल नष्ट होता है। बेचनेवाला इस मालका जिम्मेवार नहीं। बेचनेके समय यदि बेचनेवाला बुरी चीजको अच्छी कह कर बेचे, तो बेची हुई चीजके दामसे दूने दामके दण्डका वह अधिकारी

होता है। खरीददार माल खरीदनेके बाद मालका दाम कम हुआ है या अधिक या बेचनेवाला माल बेच चुकने पर मालका दाम अधिक हुआ है या नहीं यह न जान कर मालके खरीद फरोख्तके सम्बन्धमें दुःख प्रकट न कर सकेगा। यदि वे करें, तो उस खरीद-फरोख्त किये हुए मालके दामके छठवां अंशके दण्डाधिकारी होंगे।

जो वणिक् राजनिरूपित मूल्यसे कम और अधिक जान कर और गुट्ट बांध कर लोगोंके कष्टकर मूल्यकी वृद्धि करे, तो राजा उनको उत्तम साहस दण्डका विधान करे और जो देशान्तरसे आये हुए मालको हीन मूल्यमें लेनेके लिये रोक रखे या एक मूल्य ग्रहण कर बहु-मूल्य पर बेचे तो भी उनका उत्तम साहस दण्ड होगा। जो व्यक्ति वजन करनेके समय डण्डीमें कम तौले, तो उसको दो सौ पण दण्ड होगा। औषध, घृत, तैलादि लेह द्रव्य, नमक कुंकुमादि गन्ध, धान, गुड़ आदि चीजोंमें मिलावटी चीज बेचने पर बेचनेवालेको सोलह पण दण्ड होगा।

मालका खरीदना, बेचना तथा एक देशकी उपजी हुई चीज दूसरे देशमें भेजना या दूसरे देशसे मंगाना इसीको व्यवसाय कहते हैं। प्राचीन कालमें इन्हीं नियमों का पालन कर भारतमें कारोबार होता था।

(याज्ञ० स० २ म०)

बहुत पुराने समयमें भारत या एशियाई महादेशके सभी भूखण्डोंमें या यूरोप आदि देशोंमें भी एक बेरोक वाणिज्य-प्रवाह प्रवाहित होता था। केवल स्थलपथमें या समतल मैदानमें ही व्यवसाय नहीं चलता था। भारतीय वणिक् उस उत्ताल तरङ्गपूर्ण समुद्रकी छाती पर और नदीवक्ष पर बड़ी या छोटी नावोंकी सहायतासे जातीय श्रीवृद्धिके मूल—वाणिज्यको फैलाया था। इधर जिस तरह वे दक्षिण समुद्रके पूर्व और पश्चिम भूभागोंमें आते जाते थे, वैसे ही वे वनसङ्कुल भयावह गिरिसंकटोंको पार कर या बड़ी पर्वतश्रेणीको पार कर मध्यएशिया और वहांसे यूरोपके प्रसिद्ध प्रसिद्ध नगरोंमें जाते थे। वे अपनी चीजोंको बेचते तथा आवश्यक विदेशी चीजोंको खरीद कर लाते थे।

हिरोदोतस्, ष्ट्राबो, प्लिनी आदि यूनानी ऐतिहासिकोंकी विवरणोंसे मालूम होता है, कि एकमात्र लालसमुद्रसे भारतीय वणिक् यूरोपमें माल ले जाते थे। द्रयनगर कायम होनेसे पहले गरम मसाला, औषध और अन्यान्य माल पूर्व-भारतसे उक्त पथसे भेजा जाता था। वणिक्गण जहाज लाद भारत महासागरको पार कर धीरे धीरे लालसागरमें पहुंचते थे और क्रमसे आर्सिनो (Suez) बन्दरमें जहाजसे माल उतार लेते थे। वहांसे दल बांध कर वे पैदल चल कर भूमध्यसागरके किनारे पर अवस्थित (Cassow) कासौ नगरमें पहुंचते थे। ये कासौ नगर आर्सिनो बन्दरसे १०५ मीलकी दूरी पर अवस्थित था।

स्ट्राबोने लिखा है, कि वाणिज्यकी सुविधाके लिये सहज और सुगम रास्ता निकालनेमें भारतके वणिक् सम्प्रदायको दो बार रास्ता बदलना पड़ा था। सुप्रसिद्ध फरासीस्थपति M. de Lsseps सन् १८६९ ई०में सब ओर रास्ता फैलानेके लिये स्वेज नहर काट कर प्राच्य और प्रतीच्य वाणिज्यका सुयोग संघटन कर गये हैं, बहु शताब्द पहले मिस्रराज सिसोट्रिसने* उस रास्तेका सूत्रपात कर डाला था। वे लालसागरके तटसे नीलनदकी एक शाखा तक खाल कटवा कर उसी रास्तेसे पण्यद्रव्य ले जानेके लिये बहुतसे जहाज बनवाते थे। किन्तु किसी कारणसे इस कामसे उनका जी हट गया।

इसके बाद प्रायः ईस्वीसन् १०००के पहले इस्राएलपति सलोमनने वाणिज्य विस्तारके लिये लालसागरके किनारेसे एक और पथ खोल कर उसी पथसे जहाज द्वारा पण्यद्रव्य ले जानेकी सुविधा की थी। उनके वाणिज्य जहाज ओफिर (सौवीर) और तार्सिस नगरसे केवल सोना, चाँदी और बेशकिमती पत्थर ले कर इजिओनगेवाकी राजधानीमें जाते थे। इसबाणिज्यसम्पद्से उनकी बहुत कुछ श्रीवृद्धि हुई थी। उनके प्रासादमें चांदीका इतना असवाब था कि जिसकी गिनती तक

---

* Solomon king of Israel, made a navy of Ships in Evgion-geber. which is beside Eloth on the Shove of the Red Sea in the land of Edom (1 Kings X. 26)

नहीं हो सकती थी। उनका पानदान और ढाल सोनेका बना था।

ग्रीक भौगोलिककी वर्णनासे जाना जाता है, कि ओफिर (सौवीर) जनपद भारतका तत्कालप्रसिद्ध कोई एक बन्दर था। तार्सिसगामी जहाज तीन वर्ष पर इजिओनगोबार लौट आते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर भिन्न भिन्न स्थानोंमें वाणिज्यके कारण रास्तेमें ठहरते जाते थे। यह सब जहाज प्रधानतः सोना, चांदी, हाथी-दांत, ape नामक बंदर और मोर आदि लाते थे। तार्सिसके इस दूरत्वको देखनेसे मालूम होता है, कि यह स्थान सम्भवतः मलक्का, सुमात्रा, यव और वर्णिओ द्वीपके पास न था, क्योंकि ऐसा होनेसे अवश्य ही वनमानुस दिखाई पड़ते तथा उस वाणिज्ययात्राके विवरणमें उस घटनाका समावेश कर साधारणकी दृष्टि आकर्षण करते। इसलिये अनुमान होता है कि पूर्व-भारतीय द्वीपपुञ्जके अंशभूत नहीं थे।

इस समयके वणिकोंकी भांति प्राचीन वणिक् लोग भी अरब उपसागरको पार कर मालवाके उपकूलस्थ मुजिरिस बन्दर पहुंचते थे। इस समुद्रयात्रामें उन्हें सिर्फ ४० दिन लगते थे। मेसोपोटेमिया, पारस्य-उपसागरके किनारे रहनेवाली आकास जाति तथा फणिक वणिक् लोग बहुत दिनों तक इस पथसे पूर्व देशी वाणिज्यकार्यका परिचालना करते थे। इन सब वणिकोंके साथ वाणिज्य करनेके लिये भारतीय वणिक उस समय इस पथसे मिस्रराज्य तक जाते थे।

खुश्की राहसे भी ये भारतीय बनिये बहुत दूर पश्चिम तक जाते थे। वे दल बांध कर वाणिज्य द्रव्य ऊंटकी पीठ पर लाद कर एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाते थे। इस वाणिज्य-यात्रामें वे सब कभी कभी स्थानीय सरदारोंको जीत कर वे देश लूट लेते और लूटका माल ले कर आगे बढ़ते थे। इस कारण उन्हें विभिन्न समयमें विभिन्न पथोंका अवलम्बन करना पड़ता था। बाइबिल धर्मग्रन्थके एजिकायेल (Ezekiel) विभागमें तथा लिपभी (Levl. C. h.) को विवरणीमें अफ्रिकाके रेगिस्तानमें, उत्तर-एशियाके तृणमण्डित प्रान्तरमें तथा विभिन्न गिरिसंकटोंको पार कर भारतीय बनियोंकी वाणिज्य यात्राको बात लिखी है* ।

रोमन सम्राट् अगस्टसके राजत्वकालमें औलास गेलियसने प्राच्य वाणिज्यका विषय उल्लेख कर लिखा है कि अरबी वणिक् लोग एक विस्तृत सेनावाहिनीके समान दलबद्ध हो कर युरोपके प्रतीच्य जनपदोंमें जाते थे। उन सबोंकी यह वाणिज्ययात्रा वणिक् दलकी सुविधाके अनुसार तथा पीनेके जलके अनुसार होती थी। एक दल एक नियत समयमें एक स्थानसे दूसरे स्थानको रवाना हो कर राहकी सराय या चट्टियोंमें ठहरता था, ठीक उसी समय दूसरी ओरसे और एक दल वणिक् आ कर एक साथ मिल जाता था। वणिकोंका यह सम्मेलन उन लोगोंकी आत्मरक्षाका एकमात्र उपाय था, ऐसा कहा जा सकता है।

एक समय दो वणिक् दल येमनसे निकले। एक दल हद्रामौतसे ओमान द्वारा परिचालित हो कर पारस्योपसागरके रास्ते पर चला आया और दूसरा दल हेजाज घूम कर लालसागरके किनारे पेट्रा पहुंचा। यहांसे यह दल दो दलोंमें बंट कर एक गाजा नगरको और और दूसरा दूसरे पथसे दमस्कस नगर चला गया। येमनसे पैदल पेट्रा जानेमें करीब ७० दिन लगते थे। यूनानी ऐतिहासिक आथेनाडोरसकी वर्णनामें वणिकोंकी जिन सब सरायोंका उल्लेख देखा जाता है, इस्मायल और इब्राहिमके समय वे सब वाणिज्य समृद्धिसे पूर्ण थीं, ऐसा अनुमान होता है।

वणिक्सम्प्रदायके इस तरह जाने आनेसे मायादित

---

* "Having arrived at Bactria, the merchandise then descends the Icarus as far as the Oxus, and thence are carried down to the Caspian. They then cross that sea to the mouth of the Cyrus (the Kur) where they ascend that river, and on going on shore, are transported by land for five days to the banks of the Phasis (Rion) where they once more embark, and are conveyed down to the Euxine." (Pliny,

(Maadite) जातिका कर्मक्षेत्र विशेष रूपसे परिवर्द्धित हुआ था। क्योंकि उन्होंने बणिक्सम्प्रदायको ऊँट भाड़े दे कर, उन्हें पथ दिखा कर, उनका रक्षक हो कर अथवा उन लोगोंके साथ मिलकर बाणिज्यकी पर्यालोचना करके मोटी रकम पाई थी। कालक्रमसे इस खुश्की बाणिज्यमें बड़ा गड़बड़ी हो गई। राष्ट्रविप्लव या प्राकृतिक परिवर्त्तनसे वह विपर्यय घटा था। इस पथमें जितने समृद्धिशाली नगर वा बाणिज्यकेन्द्र थे, दैवसंयोगसे वे सभी श्रीभ्रष्ट तथा नगर जनहीन हो गये और उसको वाणिज्य समृद्धिका भी ह्रास हो गया। आज भी हौरानके आसपास बलुई प्रान्तरमें मरुसागरके तीरवर्त्ती मरुदेशमें तथा टाइबेरियस झीलके सन्निकटस्थ ऊँचे स्तम्भों, मन्दरादि तथा रङ्गमञ्चोंने प्राचीन गौरवका निदर्शन जगा रखा है।

पेट्रासे दमस्कस जानेके रास्तेमें उत्तर सीमान्तमें पामिरा, फिलाडेल्फिया और देकापोलिशके नगर मिलते हैं। ग्रीक और रोमन जातियोंके अभ्युत्थान कालमें पेट्रामें बाणिज्यकी यथेष्ट उन्नति थी। एथेनोडोरस् लिखते हैं, कि धीरे धीरे वह नष्ट हो कर मरुभूमिमें पर्य्यवसित हो गया। सैकड़ों वर्ष तक इस रूपमें रहने पर भी उसकी कीर्त्तियाँ बिलकुल ही लुप्त नहीं हुई। इस समय भी स्थान स्थान पर उन सब ध्वस्त स्तूपोंके स्तम्भ तथा प्रासादादि विद्यमान हैं, जो भ्रमणकारियोंके हृदयमें प्राचीन बाणिज्यगौरवकी क्षीणस्मृति उद्बोधन करते हैं। यह पेट्रा नगर उत्तर-पश्चिम एशिया तथा यूरोपीय बाणिज्यका केन्द्रस्थान था। दाक्षिणाञ्चलसे समागत बणिक्-सम्प्रदाय यहां आ कर उत्तर देशीय वणिकोंसे अपना पण्यद्रव्य बदल कर लौट जाता था।

शक्तिशाली रोमसाम्राज्यके अवसान होने पर बाणिज्यका ह्रास हो गया एवं उसके साथ साथ क्रमसे लालसागरोपकूल और अरबका बाणिज्य-पथ छोड़ दिया गया। इसके कई शताब्दीके बाद जिस समय जेनोवावासियोंने पुनः बाणिज्यके उपलक्षमें जहाज द्वारा समुद्रमें आना जाना आरम्भ किया, उस समय यह पथ उन लोगोंके गमनागमनकी सुविधाके लिये गृहीत हुआ। एवं भारत और यूरोपमें फिर व्यापार चलने लगा। उस समय पश्चिम-भारतका पण्यद्रव्य जल तथा स्थल पथसे नौका और ऊंटों द्वारा सिन्धुनदसे हो कर हिमालय तथा काबुलकी पार्वत्य अधित्यकाभूमिमें आ कर क्रमसे समरकन्द पहुंचता था। यहां तक, कि मलक्का द्वीपजात द्रव्य भारतसमुद्र, वंगोपसागर, इसके बाद गंगा और यमुना नदीसे होते हुए एवं उत्तर-भारतके अगम्य पथको पार करके समरकन्दमें आता था। समरकन्द उस समय महासमृद्धशाली तथा बाणिज्यका केन्द्र था। यहां भारत, पारस और तुर्कके प्रधान प्रधान बणिक् एकत्र हो कर अपने अपने देशीय पण्य हेर फेर करते थे।

वहांसे ये सब चीजें जहाज द्वारा कास्पीयसागरके दूसरे पारस्थित अष्ट्राखान् बन्दरको भेजी जाती थीं। अष्ट्राखान् बन्दर बलगा नदीके मुहाने पर अवस्थित रहनेके कारण पण्यद्रव्य अन्यत्र ले जानेमें बड़ी सुबिधा होती थी। वहांसे सभी चीजें फिर नदीकी राहसे रैईजान प्रदेशान्तर्गत नोबोगरोद नगरमें लाई जाती थी। यह नगर वर्त्तमान निज्नी नोबोगरोद नगरसे बहुत दक्षिणमें अवस्थित था।

नोबोगरोदसे इन सब चीजोंको कई मील खुश्कीकी राहसे ले जाते थे। इसके बाद डान् नदीके किनारे पहुंच कर उन द्रव्योंको छोटी छोटी नौकाओं पर लाद कर जेनेवा आज़ोफ्सागरके किनारे काफा तथा थ्यूडोसिया बन्दरमें ले जाते थे। काफा बन्दर उस समय जेनेवावासियोंके अधिकारमें था। यहां वे लोग गलीयस् नामक जहाज द्वारा आते थे एवं भारतीय पण्यद्रव्य ले कर अपने देशको लौट जाते थे। पीछे वे उन सब वस्तुओंको यूरोपके नाना स्थानोंमें बिक्री करनेके लिये भेज देते थे।

अर्मेनियन-सम्राट् कामोडीटरके राजत्वकालमें एक और बाणिज्य-पथका आविष्कार हुआ था। उस समय बणिक्गण जर्जियाके मध्य हो कर भी कास्पीय सागरके किनारे आते तथा वहांसे पण्यद्रव्य जलपथ द्वारा कालासागर तीरवर्त्ती त्रिविजन्द बन्दर ले जाते थे। पीछे वहांसे वह सब द्रव्य यूरोपके नाना स्थानोंमें भेजे जाते थे। उसी समय भारतीय बाणिज्यके लिये अर्मेनियोंके साथ

भारतवासियोंका विशेष बन्धुत्व हो गया। एक अर्मेनियन सम्राट् इस समय वाणिज्य-पथ सुगम करनेके लिये काश्पीयसागरसे कालासागरके किनारे तक १२० मील लम्बी एक नहर खुदवाने पर बाध्य हुआ, किन्तु यह काम शेष होते न होते वह एक गुप्तचरके हाथ मारा गया। उससे वह महदुद्देश्य कार्यमें परिणत न हो सका।

इसके बाद विनिसवासी वणिक् वाणिज्य क्षेत्रमें उतरे। वे लोग भारत आनेके लिये सबसे सुगम रास्ता निकाल कर अति शीघ्र यूफ्रेटिस नदी होते हुए भारत आये।

विनिसवासी वणिक् लोग भूमध्यसागर पार हो कर अफ्रिकाके त्रिपलीराज्यमें आ कर पैदल विख्यात आलेपो बन्दर आते थे; पीछे वहांसे वे लोग यूफ्रेटिस तीरवर्त्ती बीरनगर आ कर पण्यद्रव्य बेचते थे। यहां नौकाके सहारे तिग्रिस नदीके किनारेके बगदाद नगरमें ले जाते थे। बगदादमें पुनः नावमें लाद कर यह सब द्रव्य तिग्रिस द्वारा बसरा नगरमें एवं पारस्योपसागरस्थ हर्म्मुज द्वीपमें आते थे। हर्म्मुज (Ormuz) उस समय दक्षिण-एशियाका सर्वप्रधान वाणिज्य-बन्दर था। यहाँ पाश्चात्य-वणिक्गण स्वदेशजात मखमल, सूती कपड़ा और अपरापर द्रव्यके बदले पूर्वदेशजात गरम मसाला, औषध और बहुमूल्य प्रस्तर आदि ले जाया करते थे।*

विनिसवासी वणिकोंको प्राच्यवाणिज्यमें विलक्षण अर्थशाली होते देख यूरोपकी दूसरी जाति भी ईर्षान्वित हो उठी तथा इसी तरह पुर्त्तगीज लोग भारतीय वाणिज्यका अंशभागी होनेके लिये बहुत चेष्टाके बाद १५ वीं सदीके शेषमें उत्तमाशा अन्तरीप घेर कर दक्षिण भारतके कालिकट बन्दरमें आ जुटे। इस पथसे पाश्चात्य वणिकोंको प्रायः चार सदी तक भारतके साथ वाणिज्य करके अन्तमें राजा सलोमन और टायर-पति हिरामके प्रवर्त्तित लालसागर पथका अनुसरण करना पड़ा। इस पथसे स्वेजनहर खोदनेके बाद भारत और यूरोपके वाणिज्यकी धीरे धीरे वृद्धि होने लगी है।

पुर्त्तगीजोंने उत्तमाशा अन्तरीप घूम कर भारतमें आनेके समय अफ्रिकाके पूर्व-उपकूल पर समृद्ध राज्य और नगर देख कर उन सब स्थानोंमें वाणिज्यार्थ उपनिवेश स्थापन किये। उस समयसे बहुत पहलेसे वहां पश्चिम-भारतमें सिन्धुप्रदेशीय और कच्छवासी हिन्दू तथा अरबी और फारसी उपनिवेश स्थापन कर वाणिज्य कार्यकी देखभाल करते थे।

पुर्त्तगीज द्वारा अफ्रिकाके दक्षिण-समुद्र हो कर भारत जानेका पथ खुल जानेसे विनिस और जेनोवावासी वणिकोंके सिर पर वज्राघात हुआ; कारण जलपथसे स्थलपथमें विभिन्न देश हो कर जानेसे बहुत खर्च पड़ता था, इस लिये उससे पण्यद्रव्यका मूल्य भी बहुत अधिक लगता था। धीरे धीरे पुर्त्तगीज लोग पाश्चात्य वाणिज्यके प्रधान परिचालक हो उठे। उस पर वैदेशिकके प्रति विद्वेषवशतः तथा समुद्रपथ पर अपना एकाधिपत्य जमानेकी इच्छाकर पुर्त्तगीज वहांके हिन्दू और अरबी वणिकों पर अत्याचार करने लगे।

आपसके द्वन्द्व और प्रतियोगितासे शत्रुता दिन पर दिन बढ़ती ही गई। पुर्त्तगीज तिजारत छोड़ कर चोरी-डकैती करने लगे। वे लोग समुद्रपथसे दूसरे दूसरे वणिकोंका सर्वस्व लूटने लगे। सभी सशङ्कित हो उठे। अन्तमें प्राण तथा सम्पत्ति जानेके भयसे अरबी और भारतीय वणिक् वैदेशिक वाणिज्य-यात्राको जलाञ्जलि दे अपने अपने स्थान पर लौट आनेको बाध्य हुए। साथ ही साथ भारतीय वाणिज्य-प्रभाव खर्व हो कर पाश्चात्य संस्रव लोप हो गया।

यूरोपीय बनिये इस प्रकार अफ्रिका-उपकूलमें वाणिज्य करनेके लिये आ कर उस देशके अधिवासियोंकी शान्ति और सुख बढ़ानेमें जिस तरह पराङ्मुख हो अपनी अर्थपिपासा शान्ति करनेको अग्रसर हुए थे, उसी तरह वे लोग जगदीश्वरके कोपानलमें पड़ कर अपनी सञ्चित सम्पत्तिसे वञ्चित हुए। उनके प्रतियोगी अङ्गरेज, फ्रान्सीसी, जर्म्मन और डेनमार्क वणिकोंको प्रतिद्वन्द्वितासे उनकी वह उच्छृङ्खल वाणिज्य प्रतिपत्ति क्रमशः नष्ट हो गई और

---

* इंगलैण्डके महाकवि सेक्सपीयरके Merchant of Venice ग्रंथमें आलेपोबन्दरकी समृद्धिकी कथा एवं अन्धकवि मिल्टनके "Paradise lost" ग्रन्थमें हर्मज और भारतके धन-रत्नका उल्लेख है।

उन लोगोंने वाणिज्य-प्रभावके साथ साथ उपनिवेश स्थापन कर जितने छोटे छोटे राज्य अपने दख़लमें किये थे, वे भी नष्ट हो गये ।

तदनन्तर मोटी रकम पानेकी आशासे पण्यद्रव्यका वाणिज्य छोड़ कर जब पुर्त्तगीज लोग मानव विक्रय एवं मनुष्य पकड़नेके लिये दिन रात परिश्रम और अध्यवसायमें निमग्न रहने लगे, तभीसे पुर्त्तगाल राज्य पापपंकमें बुरी तरह फँस गया और उसी पापसे उन लोगोंका वाणिज्य भी विलुप्त हो गया । वास्तवमें पुर्त्तगीजोंके प्राचीन मानचित्रोंमें जो सब स्थान सौधमालापूर्ण नगरोंसे परिशोभित एवं अलंकृत दृष्टिगोचर होते हैं, पापी पुर्त्तगीजोंके घृणित आचरण तथा घृणित गुलाम बेचनेके व्यवसाय (Capture and Sale of Slave) से वे सब स्थान जनहीन मरुभूमिमें परिणत हो गये। परवर्त्ती कालके मानचित्रमें फिर उन सब स्थानोंके नाम सन्निवेशित नहीं हुए । वे सब स्थान इस समय "अज्ञात-आरण्य" प्रदेश कहलाते हैं ।

एशियावासी वणिक्-सम्प्रदायके मध्य-भारतके उत्तर-पश्चिम उपकूलवासी विभिन्न श्रेणीके हिन्दू वाणिज्य प्रभावमें बहुत पूर्वकालसे ही विशेष प्रभावान्वित हैं। उनके लिये कोई नहीं कह सकता, कि किस समयसे वे लोग अफ्रिकाके उपकूलमें वाणिज्य करने आ रहे हैं। उन सबोंमें कोई किसी समय अफ्रिकामें स्त्रीपुत्रके साथ नहीं आये । वे लोग कुछ वर्षों तक कार्यस्थानमें रह कर अपने देशको लौट जाते थे एवं फिर जब कभी आवश्यकता होती थी, तब वे विदेशकी यात्रा करते थे , नहीं तो अपने देशमें ही दूकान करके वाणिज्य कार्य सम्पादन करते थे ।

पुर्त्तगीज लोगोंने जिस समय अफ्रिका एवं भारत और पूर्व भारतीय द्वीपोंके उपकूलभागमें अपना अधिकार जमा लिया था, उस समय उक्त वणिक्सम्प्रदायके कितने ही लोग अफ्रिकासे भगा दिये गये । इस श्रेणीके लोगोंमें भाटिया और बनिया जातिके लोगोंकी संख्या ही अधिक थी। वे लोग इस समय भी सुदूर अफ्रिका भूमिमें अपनी जातीय निष्ठा तथा विशुद्धताकी रक्षा करते हुए जीवन यापन करते हैं। इस समुदायवालेसे वे लोग जातिच्युत वा समाजभ्रष्ट नहीं हुए* ।

इसके अतिरिक्त भारतवासियोंके साथ उत्तर तथा मध्य-एशियाखंडका वाणिज्यकार्यके परिचालनार्थ और भी कई एक पार्वत्य पथोंका परिचय पाया जाता है। अफगानिस्तान, फारस, पश्चिम तुर्किस्तान प्रभृति देशोंमें पण्यद्रव्य ले जानेमें वणिकोंको प्रधानतः सुलेमानी पर्वतमालाके संकट समूह, पेशावरके पार्वत्यपथ, गण्डावाके निकटवर्त्ती मूलासंकट तथा बोलन गिरिपथसे जाना होता है । सिन्धुसे कन्दहार (गान्धार) राजधानीमें प्रवेश करनेके लिये बोलनके अगम्यपथसे प्रायः ४०० मील भूमिको पार करना होता है। डेराइस्मालखाँकी विपरीत दिशामें गुलेरीके संकटपथसे हो कर अफगानिस्तान और पंजाबका वाणिज्य चलता है। पेशावरसे काबुलकी राजधानी प्रत्यागमन करनेके लिये आबखाना और तातारी नामक दो गिरिपथोंको पार करना पड़ता है । सिन्धप्रदेशके शिकारपुर नगरसे पण्यद्रव्य खरीद कर वणिक्गण धीरे धीरे बोलनका गिरिपथ पार कर कन्दहार वा कलात् नगरमें आते हैं। इस शेषोक्त स्थानके वणिकोंके साथ मध्य एशियावासी वणिकोंका व्यापार चलता है। गजनीसे गोमाल पथको पार करके डेराइस्मालखाँमें आना होता है। इस पथसे पोविन्दाजाति पैदल चल कर व्यापार किया करते है । वे दस्युप्रकृतिक और वणिक्-वृत्तिधारी हैं। खैबरकी घाटी पास हो कर काबुल जानेका एक और सुविस्तृत रास्ता है। प्रति वर्ष भारतमें जिस पण्यद्रव्यकी आमदनी-रफ्तनी होती है, उसका मूल्य दो करोड़ रुपयेसे कम नहीं है ।

---

* "The Bhatia and Banya who form a large number of these traders are Hindus and are very strict ones; yet it is remarkable that they may leave India and live in Africa for years without incurring the penalty of loss of caste which is enforced against Hindus leaving India in any other direction." (Cyclo. India)

पञ्जाबसे काश्मोर हो कर यारकन्द कासघर और चोनाधिकृत भूटान राज्यमें देशोय बणिक् विस्तृत वाणिज्य करते हैं। वे लोग अमृतसर और जालन्धरसे पण्यद्रव्य संग्रह करके उत्तर-पश्चिमाभिमुख हिमालय पर्वत लांघ कर तथा काङ्गड़ा और पालमपुर हो कर लेह प्रदेशमें पहुंचते हैं। वहां पण्यद्रव्य लानेमें पहाड़ी बकरा और नील गायके अलावा और कोई यान-वाहन नहीं है। अङ्गरेज सरकार इस पथसे राजकार्यको परिचालनाको सुविधाके लिये खच्चरसे काम लेती है। १८६७ ई०में लेह नगरमें एक अंग्रेज राजकर्मचारी नियुक्त हुआ। उसने वाणिज्यकी उन्नतिके लिये उसी साल पलानपुरमें एक मेला लगाया। यह मेला अबतक लगता है, जिसमें यारकन्दवासो सैकड़ों बणिक् आते हैं। साधारणतः दक्षिण अफगानिस्तानकी बाबो जाति, गुलेरी संकटके पोविन्दा लोग, तुर्किस्तानकी पराछा जाति तथा यारकन्दके करियाकास गण बड़े उत्साहसे वहां वाणिज्य चलाते हैं। उनके मुखसे हर साल नये नये पर्यटनका विवरण, विभिन्न जाति और नगर तथा रास्तेके नाना क्लेशोंको कथा सुनो जाती है।

अफगानिस्तानके प्रधान वाणिज्यकेन्द्र काबुल, कन्दहार और हिराट नगर हैं। इन तीन स्थानोंसे यूरोप, फारस और तुर्किस्तानके साथ भारतका वाणिज्य चलता है। बोखारा और खोटानका रेशम, किर्मान और खोकन्दका पशम प्रधानतः उक्त तीन स्थानोंमें आता है। यूरोपीय बनिये अपने अपने देशोंका वस्त्र तथा भारतीय बनिये नोल और मसाला ले कर वहां आपसमें अदल बदल लेते हैं। मार्घावका समतल प्रान्तर तथा उजबक सामन्त राज्योंको अतिक्रम कर बणिक् दल उत्तरपश्चिमाभिमुख वामियान् शैलमालामें और कुन्दुज जातिके अधिकृत प्रदेशोंमें आ कर यूरोपीय बणिक् दल वदकसानको चुन्नी और कोकचा उपत्यकाका वैदुर्य (Lapi -lazuli) नामक मूल्यवान् प्रस्तरका संग्रह करनेमें लग जाता है। यहांसे वह अक्सास, जाकजार्तेस, आमु दरिया और सैर-दरिया नामक चार नदियोंके निकटवर्त्ती समतल भूःभागमें आता है। बोखारा राजधानीसे वाल्ख और समरकन्दमें वाणिज्य चलता है।

समरकन्दसे बनिये ओरेनवर्गमे और अन्यान्य सीमान्तवर्त्ती नगर हो कर वर्ष वर्ष पर खुश्कीकी राहसे रूस राज्यमें आया करते हैं। कोई कोई दल यहांसे यारकन्द हो कर पश्चिम चीनमें, कोई मसेद होते हुए फारस तथा कोई काबुल और पेशावर पथसे भारत आया करते हैं।

काबुलके पश्चिम बोखारेका पथ—यह पथ वामियान्, शैघान, दोआब, हिर्वाक्, हसराक, सुलतान, कुलम, वाल्ख, किलिफ फार्द और कर्षि हो कर चला गया है। बोखारेका विस्तीर्ण वाणिज्यका भाग लेनेके लिये समरकन्द, खोकन्द और तासकन्दका बणिक्दल हमेशा वहां जाता आता है तथा काबुलसे वह फिर यह सब पण्य ले कर पेशावर, कोहाट, डेराइसमाइल खाँ और वन्नू जिलेमें आता है। खैबर, तातार, आवखाना और गण्डाल गिरिपथ हो कर पश्चिमदेशकी सब दिशाओंसे बणिक् पेशावरमें तथा कोहाटसे थुल और कूरम नदोका उपत्य..ा हो कर दूसरे रास्तेसे पण्यद्रव्य ले जाते हैं। गोमाल पहाड़ोके रास्तेसे डेराइस्माइल खाँ हो कर शिविस्तानमें पहुंचते हैं। इस प्रकार कुलु हो कर लोदकमें अमृतसर हो कर यारकन्दमें तथा पेशावर और हजारा हो कर वजौरमें पण्यद्रव्यका कारवार हुआ करता है।

हिन्दुस्तान तिब्बत नामक भूटान राज्यमें जानेके मुख्य रास्तेसे वहांका वाणिज्य चलता है। वङ्गटू नामक स्थानमें शतद्रु नदी इस पथको पार कर चली गई है। तिब्बतके अन्तर्गत गारतोकनगरमें वर्षमें दो बार बड़े बड़े मेले लगते हैं। इस मेलेमें लदाख, नेपाल, काश्मीर और हिन्दुस्तानके बहुतेरे बनिये पण्यद्रव्यको खरोद-विक्रीके लिये जाते हैं। इनके अलावा गढ़वालराज्यके अन्तर्गत नोलनघाट, माना और नोतिसंकट तथा कुमायूंके अन्तर्गत वयान, धर्म और जोहर गिरिसंकट हो कर थोड़ा बहुत वाणिज्य चलता है।

कुमायूं, पिलिभित, खेरो, भड़ोंच, गोंडा, वस्तो और गोरखपुरसे बणिक् नेपालराज्यमें आ कर पण्यद्रव्य बदला करते हैं। काठमाण्डू राजधानोसे दो पहाड़ी रास्ते हिमालय पार कर ब्रह्मपुत्र (त्सानपू नदो) की उपत्यकाभूमि तक पहुंच गये हैं। इन पथोंसे भी नेपाल

और तिब्बतका बाणिज्य यथेष्टरूपसे चलता है। नेपालके इस बाणिज्यका मूलांश बंगालसे ही सम्पन्न होता है।

अंगरेजाधिकृत भारतके कलकत्ता, मद्रास, बम्बई, कराची, कोलोम्बो, त्रिनकमली, गल, रङ्गून, मौर्लामन्, आकायाव, चटगाँव, कोकनाड़ा, नागपत्तन आदि प्रधान प्रधान नगर बाणिज्यकेन्द्र हैं। इन सब जगहोंसे नदी, रेल या बैलगाड़ी द्वारा पण्यद्रव्य ला कर समुद्र-तीरके बन्दरमें जहाज पर लादा जाता है।

विस्तृत विवरण रेलपथ शब्दमें देखो।

उन्नति और अवनतिका कारण।

ऋग्वेदीय युगमें हम आर्यजातिको बाणिज्यनिरत देखते हैं। उन्होंने कपड़ा बुनना, हथियार बनाना और खेती बारी करनेमें काफी शिक्षा पाई थी तथा वे लोग सब द्रव्यादिकी खरीद-बिक्री जानते भी थे, उक्त ग्रन्थसे इसका परिचय मिलता है। उसी पूर्वतन आर्यजातिके समयसे ही भारतमें बाणिज्यस्रोत प्रवाहित तथा उसी उद्देश्यसे उनका स्थलपथसे विभिन्न देशोंमें जाना और उपनिवेश स्थापन हुआ था, उसे कौन अस्वीकार करेगा?

उपनिवेश और आर्य शब्द देखो।

आर्यजातिके उपनिवेश स्थापनसे जाना जाता है, कि वे लोग समुद्रपथसे भी गमनागमन करते थे। ऋग्वेदके "शतारित्रां नावं" शब्दमें शतपत्रयुक्त समुद्रगामिनी नौकाका उल्लेख देखा जाता है। महाभारतके जतुगृह-पर्वाध्यायमें यन्त्रयुक्त नावोंकी वर्णना मिलती है। नदी-बाहुल्य वङ्गराज्यमें भी उस समय नौ-निर्माणकी परिपाटीका अभाव न था। महावंश ग्रन्थमें वङ्गवासियोंके सिंहलविजयकी कथा है। रघुवंशमें रघु द्वारा नौबल-गर्वित वङ्गभूपतियोंकी पराजयकथा विवृत है। मुसलमानी अमलमें भी उस नौ-निर्माणविद्याकी अवनति नहीं हुई। वङ्गेश्वर प्रतापादित्यका इतिहास पढ़नेसे उसका परिचय मालूम हो जाता है।

ऐसा समझना गलत है, कि ऊपरकी नावें केवल युद्धके लिये ही उपयुक्त थीं। जो नावोंकी सहायतासे नौवाहिनियोंको ले राज्य जीतनेके लिये आगे बढ़ते थे, वे एक समय नावोंमें सवार हो कर व्यवसायके लिये दूर तक जा भी सकते थे। श्रीमन्तकी लङ्काकी यात्रा और चांद, धनपति आदि सौदागरोंकी बाणिज्य-यात्रा उक्त स्मृतिकी द्योतिका है।

जब ढाका, सुवर्णग्राम, सप्तग्राम, चट्टगांव आदि स्थान बङ्गालके व्यावसायिक केन्द्र थे, तब यह बात कौन स्वीकार न करेगा, कि नावों द्वारा ही मालोंकी आमदनी और रफ्तनी होती थी। इतिहासके पढ़नेवालोंसे छिपा नहीं, कि वैदेशिक उसी समय जहाजों पर चढ़ कर यहां आये थे। जहां आज कलकत्तेकी भागीरथीके वक्ष पर सैकड़ों वैदेशिक जहाज दिखाई देते हैं, वहां सन् १८०१ ई०में बहुसंख्यक देशी शिल्पनिर्मित बाणिज्यकी नावें शोभा पाती थीं। उस समयको इस दृश्यको देख कर उस समयके गवरनर जनरल लार्ड वेलेसलीने इंग्लैण्डके अफसरोंको पत्र द्वारा सूचना भेजी थी कि कलकत्तेके बन्दरमें बहुतेरी ऐसी व्यावसायिक सुन्दर नावें मौजूद हैं, जो लण्डन तक जानेमें समर्थ हैं।

सन् १८०७ ई०में कम्पनीके आज्ञानुसार डाक्टर बुकानन उत्तर-भारतके शिल्प-बाणिज्यकी अवस्थाके सम्बन्धमें जांच-पड़तालके लिये पटना, शाहाबाद आदि स्थानोंका परिदर्शन करने गये थे। उन्होंने जो रिपोर्ट तयार की उससे मालूम हुआ, कि पटने जिलेमें उस समय धान रुपयेका पौने दो मन मिलता था। वहां २४०० बीघे जमीनमें कपास तथा १८०० बीघे भूमिमें ऊख बोई गई थी। ३३०४२६ स्त्रियाँ सूत कात कर अपनी जीविका निर्वाह करती थीं। दिनमें क घण्टे काम करने पर भी इससे वर्षमें १०८१००५) रुपया लाभ होता था। अंग्रेज बणिकोंके निग्रहसे सूक्ष्म या बारीक सूत रफ्तनी कम होनेके साथ साथ उनके कारोबारकी अवनति और उनका जीवन कष्टकर होने लगा। उस समय वहांके वस्त्र बुननेवाले जुलाहे या तांती साल भरका खर्च छोड़ कर ७॥ लाख रुपया बचाते थे। फतुहा, गया, नवादा आदि स्थान तसरके व्यवसायके लिये प्रसिद्ध थे। शाहाबाद जिलेमें १५६५०० स्त्रियाँ वर्षमें १२॥ लाख रुपयेका सूत कातती थीं। जिले भरमें ७६५० तांत या कर्घे चलते थे। इन कर्घोंसे सालमें १६०००००) रुपयेका कपड़ा तय्यार होता था। सिवा इसके कागज, गन्धद्रव्य, तेल, नमक और मद्य आदिका भी व्यवसाय यथेष्ठ होता था।

भागलपुर जिलेमें उस समय चावल एक रुपयेको ३७॥ सेर बिकता था। १२०० बीघे जमीनमें कपास बोई जाती थी। तसर बुननेके लिये ३२७५ और सूती कपड़ा बुननेके लिये ७२७९ कर्घे चलते थे। गोरखपुरमें १७५६०० औरतें चरखा चला कर दिन बिताती थीं। वहां ६११४ कर्घे चलते थे। सालमें २०० से ४०० तक नावें बनाई जाती थीं। सिवा इसके वहां नमक और चीनीके कितने ही कारखानें थे। दिनाजपुरमें ३९००० बीघेमें पटुआ, २४००में कपास, २४०००में ऊख, १५००० बीघेमें नील, और १५०० बीघेमें तम्बाकू बोई जाती थी। इस जिलेमें १३ लाखसे अधिक गायें और बैल थे। ऊंचे घरानेकी विधवायें और गृहस्थोंकी औरतें सूता कात कर साल भरके खर्चाको छोड़ कर ९१५०००)का उपार्जन करती थीं। ५०० सौ घर रेशम व्यवसायी वर्षमें १२००००) नफा करते थे। कपड़ा बुननेवाले सालमें १६७४०००) रुपयेका माल तैयार करते थे। मालदहकी मुसलमानिनोंमें दस्तकारीका विशेष प्रचलन था। सूत और कपड़ोंमें नाना तरहकी रंगाई करके भी बहुतेरे व्यक्ति जीविका-निर्वाह करते थे। पुर्णियां जिलेमें स्त्रियां प्रतिवर्ष ३०००००) रुपयेकी कपास खरीद कर जो सूत कातती थीं वह बाजारमें १३०००००) रुपयेको बिकता था। ३५०० कर्घोंमें ५६०००) रुपयेका कपड़ा तैयार होता था। इससे शिल्पी प्रायः डेढ़ लाख रुपया नफा उठाते थे। सिवा इसके १०००० कर्घेमें मोटा कपड़ा बुन कर वे ३२४०००) रुपया नफा करते थे। सतरञ्जी, फीता, आदिके भी व्यवसायकी अवस्था बहुत अच्छी थी*।

हमारा यह उन्नत व्यवसाय किस तरह धीरे धीरे विलुप्त हुआ था, वह निम्नलिखित राजनिग्रहके इतिहासकी आलोचना करनेसे साफ तौर पर मालूम हो जायेगा।

मलवारसे केलिको नामकी छीटकी पहले विलायतमें बहुत रफतनी होती थी। सन् १६७६ ई०में इङ्गलैण्डमें कपड़ा तय्यार करनेका पहला कारखाना खोला गया। सन् १७०० ई०में इस शिल्पकी उन्नत्तिके लिये भारतवर्षीय केलिको छीटको आमदनी बन्द कर दी गई। वहांकी पारलीयामेण्टने एक कानून बना भारतीय छीट पर प्रति वर्गगज पर अन्दाज डेढ़ आना कर लगा दिया। इसके साथ ही सदाके लिये भी आमदनी पर कर बांधा गया था। दो वर्षके बाद विलायती जुलाहोंके कहने सुनने पर वहांकी सरकारने केलिकोंका कर दूना बढ़ा दिया। सन् १७२० ई०में विलायतमें केलिकोंकी आमदनी कतई बन्द कर दी गई और बाजारमें इसका बेचा जाना बन्द कर दिया गया। यह कानून जारी किया गया, कि जो भारतकी केलिको बेचेगा, उस पर दो सौ रुपया जुर्माना होगा और जो इसका व्यवहार करेगा, उस पर पचास रुपया जुर्माना होगा*।

---

* बुड्ढोंके मुखसे सुना जाता है, कि इस देशमें विलायती सूतका प्रचलन करनेके लिये कम्पनीने लोगोंकी सूत कातनेवाली औरतोंके चर्खे तुड़वा दिये थे। स्थानविशेषमें चर्खा पर गुरुतर कर लगा दिया गया था। ग्राममें कम्पनीका आदमी आ रहा है. यह सुन कर औरतें तालावमें चर्खा डुबा रखती थीं। यह प्रवाद यदि सत्य न हो तो न हो, किन्तु गुरुतर कर स्थापित करनेके तो इतिहासमें बहुतेरे प्रमाण मिलते हैं यथा —

"Francis Carnac Brown had been born of English parents in India and like his father had considerable experience of the cotton industry in India. He produced an Indian. charka or spinning wheel before the Select Committee and explained that there was an oppressive Moturfa tax which was levied on every charka, on every house, and upon every implement used by artisans. The tax prevented the introduction of sawgins in India"—India in Victorian Age, P. 135.

उस समयके विलायती जुलाहे कपड़ेका पाढ़ बुनना नहीं जानते थे। वे इस विद्याको भारतीय विशेषतः वङ्गीय जुलाहोंसे सीख गये थे।

* Useful Arts and Manufactures of Great Britain, p, 363.

इसी तरह अन्यान्य मालों पर भी कर लगाया गया था। नीचेकी फिहरिस्त देख कर आपकी आँखें खुल सकती हैं।

घृतकुमारी	(घीकवार) सैकड़े	७०)	से	२८०)
हींग	,,	२३३)	,,	६२२)
एलाच	,,	१५०)	,,	२६६)
काफी	,,	१०५)	,,	३७३)
मिर्च काली	,,	२६६)	,,	४००)
चीनी	,,	६४)	,,	३६३)
चाय	,,	६)	,,	१००)
कम्बल	,,	८४॥≠)		
चटाई	,,	८४॥≠)		
मसलिन	,,	३२॥)		
केलिको	,,	८१)		
कपास	प्रतिमन	१५)		
सूती कपड़ा	सैकड़े	८१)		
लाह	,,	८१)		
रेशम	,,	२॥) ४) सेर		

इसके बाद रेशमी वस्त्रकी आमदनी लण्डनमें कतई बन्द कर दी गई। यदि कोई यह आमदनी करता था, तब अफसर उस मालको बाजारमें आने नहीं देते थे। तुरन्त ही वह माल जहाज पर चढ़ा कर भारत लौटा दिया जाता था।

इधर कम्पनीकी कोठीमें देशी शिल्पी बलपूर्वक पकड़ कर या पेशगी दे कर काम करने पर बाध्य किये जाने लगे। फलतः देशी कारखानोंको नुकसान होने लगा। उस पर देशी माल पर उल्लिखित ऊंचा कर लगानेसे यहांका शिल्पवाणिज्य क्रमशः लुप्त हो गया। इस तरह कौशलसे भारतीय शिल्पका विनाश साधन किया गया और युरोपीय वणिक् राजशक्ति-प्रभावसे इस देशमें विलायती मालकी आमदनी करने लगे। सन् १७६४ ई०में जिस भारतमें १५६ पौण्डसे अधिक विलायती सूती कपड़ेकी आमदनी नहीं हुई थी, सन् १८०६ ई०में उसी भारतमें १ लाख १८ हजार चार सौसे अधिक पौण्डका कपड़ा आया था। उस समयसे क्रमशः भारतवर्षमें विलायती मालकी आमदनीकी अधिकता होने लगी। किन्तु विलायत और अन्यान्य देशोंमें भारतीय मालको रफ्तनी उत्तरोत्तर कम होने लगी। निम्नलिखित फिहरिस्तसे मालूम हो जायेगा, कि देशी शिल्पकी अवनतिका वेग किस तरह प्रबल हो उठा था।

विलायतमें जानेवाले भारतीय मालका हिसाब इस तरह है—

रूई	१८१८ ई०	१२ १२४ गांठ।
,,	१८२८ ,,	४१२५ ,,
कपड़ा	१८०२ ,,	१४८१७ ,,
,,	१८२९ ,,	४३३ ,,
लाह	१८२४ ,,	१७६०७ मन
,,	१८२९ ,,	८२५१ ,,

अन्यान्य मालोंकी कमी होने पर भी नील और रेशमकी रफ्तनी इस समय बढ़ने लगी थी। उसीके साथ-साथ गुरुतर शुल्कके लिये विलायतमें रेशमी वस्त्रकी प्रतिपत्ति बहुत कम होने लगी।

सन् १८१३ ई० तक एकमात्र ईष्टइण्डिया कम्पनी ही भारतमें माल आमदनी और रफ्तनी किया करती थी। इसी सालसे इंग्लैण्डके सभी वणिक् भारतीय व्यवसायको हाथमें करने पर उद्यत हुए और क्रमसे बाजार पर अधिकार कर बैठे। अतएव भारतका बाजार विलायती मालसे भर उठा। सन् १८२९ ई०में कुल प्रायः ६५॥) लाख पाउण्ड या साढ़े छः करोड़ रुपयेका माल भारतमें आया था। भारतीय शिल्पविज्ञानको नष्ट करनेके लिये कम्पनी पूर्वोक्त उपायोंका अवलम्बन कर ही शान्त न हुई, वरं उसने भारतमें देशी शिल्प पर कड़ा कर बैठा दिया था। लार्ड वेण्टिकके जमानेमें विलायती कपड़ा भारतमें सैकड़े २॥) कर दे कर बेचा जाता था; किन्तु इस भारतमें यदि भारतीय अपने पहननेके लिये कपड़े तय्यार करें, तो उन्हें सैकड़े १७॥) रुपये कर देना पड़ता था। चमड़ेकी बनी देशी वस्तुओं पर अफसर १५) फी सदी कर वसूल करते थे। देशी चीनी पर विलायती चीनीकी अपेक्षा ५) अधिक कर देना पड़ता था। इस तरह भारतके २३५ तरहकी विभिन्न वस्तुओं पर अन्तर्वाणिज्यविषयक कर (Inland duties) बैठाया गया था। प्रायः ६० वर्ष तक इस तरह ऊंचे दरसे कर प्रदान करने पर बाध्य किये जानेसे

भारतीय शिल्प और व्यवसाय बहुत थोड़े ही दिनोंमें चौपट हो गया।

इसी तरहके अत्याचारसे धीरे धीरे विदेशमें भारतीय मालकी रफतनी कम होने लगी। अमेरिका, डैनमार्क स्पेन, पुर्त्तगाल, मरीच द्वीप और एशियाखण्डके अन्यान्य प्रदेशोंके साथ भारतीय शिल्प-वाणिज्य-सम्बन्ध प्रायः लुप्तसा हो गया। सन् १८०१ ई०में इस देशसे अमेरिकाको १३६३३ गाँठ कपड़ा भेजा गया था। सन १८२९ ई०में यह रफतनी घट कर बहुत ही कम हो गई अर्थात् २५८ गांठ माल जाने लगा। सन् १८०० ई० तक हर वर्ष डेनमार्कमें न्यूनाधिक १४५० गांठ कपड़ा भेजा जाता था। किन्तु सन् १८२० ई०के बाद इस देशमें १५० गांठ कपड़े से अधिक नहीं गया। सन् १७९९ ई०में भारतने पुर्त्तगालमें ९७१४ गांठ कपड़ा भेजा था। सन् १८२५ ई०के बाद १००० गांठसे अधिक कपड़ा वहां भेजा जा न सका। सन् १८२० ई० तक अरब और फारस सागरके किनारेके प्रदेशोंमें ४ हजारसे ७ हजार तक गांठें भारतसे भेजी जाती थीं। किन्तु सन् १८२५ ई०के बाद इस प्रान्तमें २००० गांठोंसे अधिक कपड़ा भेजा न जा सका। महम्मद रेजा खांके जमानेमें बङ्गीय जुलाहे अपने देशके छः करोड़ आदमियोंको कपड़ा पहना कर प्रतिवर्ष १५ करोड़का कपड़ा विदेशोंको भेजते थे। इस समय वर्षमें वे ३ लाखका भी माल भेज नहीं रहे हैं। ऊपरके विवरणसे सहज ही हृदयङ्गम किया जा सकता है, कि अंग्रेजोंने भारतीय शिल्प बाणिज्यको नष्ट करनेमें कैसी प्रबल चेष्टा की थी।

१८वीं सदीके अन्तमें इंग्लैण्डके अर्थनीतिक अबाध बाणिज्यके प्रसारकी वृद्धिकी चेष्टा करने लगे। जब तक भारतका शिल्प-व्यवसाय नष्ट नहीं हो गया तब तक वे इस चेष्टासे विरत न रहे। सन् १८३६ ई०में भारतके अन्तर्बाणिज्य कर उठा लिया गया। उस समय देशी शिल्प-व्यवसायियोंकी देह रक्तशून्य हो गई थी। अब फिर उनमें सिर ऊंचा करनेकी ताकत न रह गई। इसके बाद रैल निकाल कर नाव तथा अन्य सवारियोंका व्यवसाय भी चौपट किया गया। ग्रामोंमें भी विदेशी मालोंको पहुंच जानेसे देशका दारिद्र्य दिनोंदिन बढ़ने लगा।

विख्यात राजनीतिज्ञ ग्रोचोंने भारतीय बाणिज्यको कमीकी ओर लक्ष्य कर कहा था कि भारतकी उर्वरभूमिमें अधिकतासे शस्य उत्पन्न होने पर और नाना प्रकारके वाणिज्य द्रव्यकी प्राप्तिकी सुविधा होने पर भी यथार्थमें इस समय दरिद्र भारतका दिनोदिन अर्थाभाव बढ़ रहा है। सौदागरोंके अधिक दरिद्र न होने पर भी, उनके बाणिज्य-शक्ति-परिचालनका पूर्णतः अभाव दिखाई देता है। फलतः आज भारतका बाणिज्य इस तरह अवनत हो रहा है। नीचे उनका ही वाक्य उद्धृत कर दिया जाता है—

"India is a country of unbounded material resources, but her people are poor. Its characteristics are great power of production, but almost total absence of accumulated capital. On this account alone the prosperity of the country essentially depends on its being able to secure a large and favourable outlet for its superfluous produce. But her connection with Britain and the financial results of that connection compel her to send to Europe every year about 20 millions' worth of her products without receiving in return any direct commercial equivalent. This excess of exports over imports is, he adds, the return for the foreign capital which is invested in India, including under capital not only money, but all advantages, which have to be paid for, such as intelligence strength, and energy, on which good administration and commercial prosperity depend. From these causes, the trade of India is in an abnormal position, preventing her receiving the full commercial benefit which would spring from her vast material resources"

सन् १९०६ ई०के बङ्गविच्छेदके समयसे भारतमें विशेषकर बङ्गालमें स्वदेशीका जोरों पर आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस आन्दोलनने भारतके पुराने शिल्पोद्धारकी बहुत अधिक चेष्टा की। बङ्गालके इस आन्दोलनसे भारत-

वर्षमें वाणिज्य-संसारमें हलचल मच गई। इस आन्दोलनसे भारतके शिल्पोत्थानका बड़ा सहारा मिला। तबसे दिनों दिन करघे और चरखेका प्रचार बढ़ रहा है। इस समय देशके लोग खद्दरसे प्रेम करते देखे जाते हैं। फलतः खद्दरका प्रचार तथा देशी चीजोंका वाणिज्य बढ़ने लगा है। कितने ही हिन्दुस्तानी पुंजीपति असंख्य धन लगा कर कलकारखाने खोले हुए हैं। इस समय देशी कल कारखानोंमें ताता कम्पनीका कारखाना अधिक माल तैयार कर रहा है। इसमें लोहेके समान तैयार होते हैं। इस तरह भारतीय शिल्प-वाणिज्यकी उन्नति धीरे धीरे अग्रमुखी हो रही है। अभी तक विदेशी राज्य कायम रहनेसे किस तरह भारत शिल्पोन्नति कर सकता है। फिर इसने अभी तक जो कुछ उन्नति की है, वह एक परतन्त्र राष्ट्रके लिये कम नहीं और यह आशा होती है, कि समयका परिवर्त्तन हुआ है। इस नये युगमें नये उत्साहसे लोग देशीकी बनी चीजों पर ममता प्रकट करने तथा उसे अपनाने लगे हैं; किन्तु तब तक देशी चीजोंका प्रसार और उसकी उन्नति आगे नहीं बढ़ सकती जब तक विलायतकी तरह भारतमें भी विलायती वस्त्रोंकी आमदनीको रोकनेकी चेष्टा भारत-सरकारकी ओरसे न हो।

वाणिज्यदूत (सं० पु०) वह मनुष्य जो किसी स्वाधीन राज्य या देशके प्रतिनिधि रूपसे दूसरे देशमें रहता और अपने देशके व्यापारिक स्वार्थोंकी रक्षा करता हो, कान्सल।

वाणिज्या (सं० स्त्री०) वाणिज्य-टाप् अभिधानात् स्त्रीत्वं। वाणिज्य, तिजारत।

वाणिनी (सं० स्त्री०) वण-शब्दे णिनि, ङीप्। १ नर्त्तकी। २ छेक, सूराख। ३ मत्त स्त्री। ४ एक प्रकारका छन्द। इसके प्रत्येक चरणमें १६ अक्षर होते हैं जिनमेंसे १, २, ३, ४, ६, ८, ६, १०, १२, १४, १५ वाँ लघु और बाकी गुरु होते हैं। इसका लक्षण "नजभ जरैर्यदा भवति वाणिनी गयुक्तैः।" (छन्दोमञ्जरी)

वाणी (सं० स्त्री०) वाणि वा ङीष्। १ सरस्वती। २ वचन, मुंहसे निकले हुए सार्थक शब्द। ३ वाक्शक्ति। ४ स्वर। ५ वागीन्द्रिय, जीभ, रसना।

वाणीकवि—वाणीकारिकाके रचयिता।

वाणीकूट लक्ष्मीधर—एक प्राचीन कवि।

वाणीचि (सं० स्त्री०) वाग्रूपा स्तुति, वाक्यरूपास्तुति।
(ऋक् ५।७५।४)

वाणीनाथ—जामविजयकाव्यके प्रणेता।

वाणीवत् (सं० त्रि०) वाक्य सदृश।

वाणीवाद (सं० पु०) तर्क।

वाणीविलास—१ पद्यावलीधृत एक कवि। २ पराशर-टीकाके रचयिता।

वाणेय (सं० पु०) वाणराजसम्बन्धीय अस्त्र या द्रव्य विशेष।

वाणेश्वर (सं० पु०) शिवलिङ्गभेद। बाणेश्वर देखो।

वात (सं० पु०) वातीति वा-क्त। १ पञ्चभूतके अन्तर्गत चतुर्थभूत, वायु, हवा। पर्याय—गन्धवह, वायु, पवमान, महाबल, पवन, स्पर्शन, गन्धवाह, मरुत्, आशुग, श्वसन, मातरिश्वा, नभस्वत्, मारुत, अनिल, समीरण, जगत्प्राण, समीर, सदागति, जीवन, पृषदश्व, तरस्वी, प्रभञ्जन, प्रधावन, अनवस्थान, धूनन, मोटन, खग। गुण—जड़ताकर, लघु, शीतकर, रूक्ष, सूक्ष्म, संज्ञानक, स्तोककर। माधुर्यान्नभक्षण, साभ्रकाल, अपराह्न काल, प्रत्यूषकाल और अन्नजीर्ण काल ये सब समय कुपित हुआ करते हैं।
वायु शब्द देखो।

२ वैद्यकके अनुसार शरीरके अन्दरकी वह वायु जिसके कुपित होनेसे अनेक प्रकारके रोग होते हैं। शरीरमें इसका स्थान पक्वाशय माना गया है। कहते हैं, कि शरीरकी सब धातुओं और मल आदिका परिचालन इसीसे होता है और श्वास, प्रश्वास, चेष्टा, वेग आदि इन्द्रियोंके कार्योंका भी यही मूल है। वातव्याधि देखो।

वातक (सं० पु०) वात एव चञ्चलः इवार्थे कन्, यद्वा वातं करोतीति कृ-अन्येभ्योऽपीति उ। अशनपर्णी।

वातकण्टक (सं० पु०) एक प्रकारका बातरोग। इसमें पाँचकी गाँठोंमें वायुके घुसनेके कारण जोड़ोंमें बड़ी पीड़ा होती है। यह रोग ऊंचे नीचे पैर पड़ने या अधिक परिश्रम करनेसे होता है। इसमें बार बार रक्तमोक्षण करना आवश्यक है। रेड़ीका तेल पीने और सूई द्वारा दग्ध करनेसे भी यह रोग प्रशमित होता है।

वातकफहर (सं० पु०) वह ज्वर जो वातश्लेष्मके प्रकोपसे होता है।

वातकर्म्मन् (सं० क्ली०) वातस्य कर्म। मरुत्क्रिया, पर्द्दन, पादना।

वातकलाकल (सं० पु०) वायुका हिल्लोल।

वातकिन् (सं० त्रि०) वातोऽतिशयितोऽस्त्यस्येति वा। वातातिसाराभ्यां कुकच्। पा ५।२।२९) इति इनि कुकच। वातरोगयुक्त, जिसे वातरोग हुआ हो, जो वातरोगसे पीड़ित हो।

वातकी (सं० स्त्री०) शेफालिकावृक्ष, नील सिंधुवारका पौधा।

वातकुण्डलिका (सं० स्त्री०) वातेन कुण्डलिका। मूत्राघात-रोगभेद, एक प्रकारका मूत्ररोग। इसमें वायु कुण्डलाकार हो कर पेड़ूमें घूमता रहता है, रोगीको पेशाब करनेमें पीड़ा होती है और बूंद बूंद करके पेशाब उतरता है। मूत्रकृच्छ्का रोग यदि मनुष्य कुपथ्य करके रूखा वस्तुएं खाता है, तो यह उपद्रव होता है। मूत्राघात देखो।

वातकुम्भ (सं० पु०) वातस्य कुम्भदेवः। गजकुम्भका अधोभाग।

वातकेतु (सं० पु०) वातस्य केतुरिव। धूल, गर्द।

वातकेलि (सं० स्त्री०) वात-सुखे भावे घञ्, वातेन सुखेन केलिर्यत्र। १ कलालाप, सुन्दर आलाप। २ षिड़्गदन्तक्षत; उपपतिके दांतोंका क्षत।

वातकोपन (सं० त्रि०) वातस्य कोपनः। वातकोपक, वायुवर्द्धक, जिससे वायु कुपित होती है।

वातक्य (सं० पु०) वातकिके गोत्रमें उत्पन्न पुरुष।

(पा ४।१।१५१)

वातक्षोभ (सं० पु०) वातेन क्षुभितः। वायु द्वारा आलोड़ित।

वातखुड़ा सं० पु०) रोगविशेष। पर्याय—वात्या, पिच्छिलस्फोट, वामा, वातशोणित, वातहुड़ा।

वागजांकुश (सं० पु०) वातव्याधि-रोगाधिकारमें एक प्रकारकी रसौषध।

वातगण्ड (सं० पु०) वातेन गण्डः। वातज गलगण्डरोग। इसमें गलेकी नसें काली या लाल और कड़ी हो जाती हैं और बहुत दिनमें पकती हैं।

वातगण्डा (सं० स्त्री०) एक नदीका नाम।

(राजतर० ७।९९५)

वातगामिन् (सं० पु०) वातेन वायु वा सह गच्छतीति गम-णिनि। पक्षी।

वातगुल्म (सं० पु०) १ वातुल, पागल। वातेन जातो गुल्मः। २ एक प्रकारका गुल्मरोग जो वातके प्रकोपसे होता है। वैद्यकके अनुसार अधिक भोजन करने, रूखा अन्न खाने, बलवान्से लड़ने, मलमूत्र रोकने या अधिक विरेचनादि लेने तथा उपवास करनेसे यह रोग होता है।

इसके लक्षण—वातगुल्म कभी छोटा और कभी बड़ा होता है, जो नाभि, वस्ति या पार्श्वादिमें इधरसे उधर रेंगता सा जान पड़ता है। इस रोगमें मल और अपानवायु रुक जाती है जिससे गलदोष और मुखशोष उत्पन्न होता है। जिससे यह रोग होता है, उसका शरीर सांवला वा लाल हो जाता है। कभी कभी बड़ी पीड़ा होती है। यह पीड़ा प्रायः भोजन पचनेके बाद खाली पेट होने पर घट जाती है। यह रुक्षद्रव्य, कषाय, तिक्त और कटुरस युक्त द्रव्यका सेवन करनेसे भी साधारणतः परिवर्द्धित होता है।

इसकी चिकित्सा—वातगुल्ममें दस्त लानेके लिये एरंडका तेल या दूधके साथ हरीतकी पीना अथवा स्निग्ध स्वेद देना होगा। स्वर्जिकाक्षार २ माशे, कुट २ माशे तथा केतकी जटाकी क्षार ४ माशे इन सबोंको रेड़ीके तेलके साथ पीनेसे वातजन्य गुल्म शीघ्र ही प्रशमित होता है। इस रोगीको तित्तिर, मोर, मुर्गा, बगुला और बत्तक चिड़ियोंके मांसका शोरबा तथा घी और साठी चावलका भात खानेके लिये देना होगा।

(भावप्र०) गुल्मरोग देखो।

वातगोपा (सं० त्रि०) वायु द्वारा रक्षित।

वातघ्न (सं० त्रि०) वातं हन्ति हन-टक्। १ वातनाशक, वातरोगमें उपकारक। (पु०) २ वातज्वरमें मधुराम्ल लवण द्रव्य। (सुश्रुत सूत्र० ४३ अ०)

वातघ्नी (सं० स्त्री०) १ शालपर्णी। २ अश्वगन्धा, असगंध। ३ शिगूड़ी क्षुप। (राजनि०)

वातचक्र (सं० क्ली०) १ ज्योतिषका एक योग। वृहत्संहितामें लिखा है, कि आषाढ़ी पूर्णिमाके दिन जब सूर्यदेव अस्त होते हैं, तब आकाशसे पूर्वी वायु पूर्व समुद्रकी तरंगोंको कंपा कर घूमती घूमती चन्द्रसूर्यकी किरणोंके

अभिघात द्वारा वद्ध होती है, उस समय समस्त पृथ्वी हैमन्तिक और वासन्तिक शस्योंसे परिपूर्ण होती है। इस दिन भगवान् सूर्यदेवके डूब जाने पर अगर मलय-पर्वतके शिखर हो कर अग्निकोणकी वायु चलती है, तो अग्निवृष्टि होती है। इस दिन सूर्यास्त समय नैऋत कोणकी वायु चलनेसे अनावृष्टि होती तथा इसी लिये अकाल पड़ता है। इस समय पश्चिम ओरसे हवा बहनेसे पृथ्वी शस्यशालिनी तथा राजाओंमें युद्ध-विग्रह होता है। वायव्य वायु बहनेसे सुवृष्टि और पृथ्वी शस्यशालिनी तथा उत्तर वायु बहनेसे भी ऐसा ही फल हुआ करता है। (बृहत्संहिता २७ अ०)

वातङ्गिनी (सं० पु०) वार्त्ताकू, बैंगन।

वातचटक (सं० पु०) तित्तिर, तीतर पक्षी।

वातचोदित (सं० त्रि०) वायु द्वारा प्रेरित।
(ऋक् १.५८.४)

वातज (सं० त्रि०) वातेन जायते जन-ड। वातकृत, वायु द्वारा उत्पन्न।

वातजव (सं० पु०) वायुका वेग या गति।

वातजा (सं० स्त्री०) वायुसे उत्पन्ना।
(अथर्व १।१२.३)

वातजाम (सं० पु०) एक जाति। (भारत भीष्मपर्व)

वातजित् (सं० त्रि०) वात जायति जि क्विप्, तुगागमः वातघ्न, वातनाशक।

वातजूत (सं० त्रि०) वात्याविताड़ित।

वातजूति (सं० पु०) एक मन्त्रद्रष्टा ऋषिका नाम।

वातज्वर (सं० पु०) वातेन ज्वरः। एक प्रकारका ज्वर। इसके पूर्व रूप और निदानादिका विषय इस प्रकार लिखा है,—वातजनक क्रियाके द्वारा वायु आमाशयमें जा कर जठराग्निको बाहर कर देती है, उस समय इसके साथ मिल कर यह ज्वररोग उत्पादन करता है। इस ज्वरके आनेके पहले खूब जंभाई आती है।

इसके लक्षण—वातज्वरमे विषमवेग उत्पन्न होता है अर्थात् कभी कम या कभी अधिक हो जाता है। वात ज्वरमें गला, होंठ और मुंह सूखते है; नींद नहीं आती; हिचकी आती है, शरीर रूखा हो जाता है, सिर और देहमें पीड़ा होता है, मुंह फीका हो जाता है और रुद्ध हो जाता है। यह ज्वर कभी कम और कभी बढ़ जाता है। सुश्रुतने कितने ही लक्षण निर्देश किये हैं। चरकसंहितामें इसके और भी लक्षण कहे गये हैं जैसे,—वातज्वरमें तरह तरहकी वातवेदना, अनिद्रा, जांघमें दांत गड़नेकी सी वेदना, कान फड़फड़ाना, मुंहमें कषाय रस जान पड़ना, शरीरकी अवसन्नता, दाढ़ी हिलना, सूखी खाँसी, उल्टी, रोमाञ्च होना, दाँत सिड़सिड़ करना, श्रम, भ्रम, मूल और दोनों आंखोंका लाल हो जाना, प्यास लगना, प्रलाप और शरीर रूखापन आदि।

विषमवेग आदि असमभाव जानना होगा। वाग्भटने कहा है, कि इस ज्वरमें रोमाञ्च होता, शरीर कंपता, दांत सिर सिड़ता, हिचकी आती, और धूपकी इच्छा होती है। दोष आमाशयमें घुस कर अग्निमान्द्य करता है, पीछे स्वेदसह और रसवह प्रणाली आच्छादन करके ज्वर लाता है, इसलिये वातज्वर होनेसे उपवास करना नितान्त जरूरी है। वातज्वरमें ७ दिनों तक उपवास करना चाहिये। (भावप्रकाश) ज्वर शब्दमें विशेष विवरण देखो।

वातण्ड (सं० पु०) एक गोत्रकार ऋषिका नाम। इनके गोत्रवाले वातण्ड्य कहलाते हैं। (पा ४।१।११२)

वातण्ड्य (सं० पु०) वातण्ड ऋषिके गोत्रमें उत्पन्न पुरुष। (पा ४।१।१०८)

वातण्ड्यायनी (सं० स्त्री०) वातण्ड ऋषिके गोत्रमें उत्पन्न स्त्री।

वाततूल (सं० क्ली०) वातेन उड्डीयमानं तूलं। महीन तागा जो कभी कभी आकाशमें इधर उधर उड़ता दिखाई पड़ता है। यह एक प्रकारकी बहुत छोटी मकड़ियाका जाल होता है जिसके सहारे वह एक पेड़से दूसरे पेड़ पर जाया करती है। इसीको बुढ़ियाका तागा कहते हैं। इसका पर्याय— वृद्धसूत्रक, इन्द्रतूल, ग्रावाहास, वंशकफ, मरुध्वज। (हारावली)

वातत्राण (सं० क्ली०) वह पदार्थ जो वायु रोक सके।

वातत्विष् (सं० त्रि०) वायु द्वारा दीप्तियुक्त।
(ऋक् ५.५४।३)

वातध्वज (सं० पु०) वातो वायुध्वजो यस्य। मेघ।

वातनाड़ी (सं० स्त्री०) दन्तमूलगत रोग, एक प्रकारका

नासूर जिसमें वायुके प्रकोपसे दाँतकी जड़में नासूर हो जाता है। इसमेंसे रक्त सहित पीब निकला करता है और चुभनेकी-सी पीड़ा होती है।

वातनामन् (सं० पु०) वायु। (शतपथब्रा० १४।२।२।१)

वातनाशन (सं० त्रि०) वातं नाशयतीति नाशि-ल्यु। वातनाशक, वातघ्न, जिससे वात दूर हो।

वातध्वन (सं० त्रि०) वायु द्वारा सन्ताडित।

वातपट (सं० पु०) मरुत् पट, ध्वजा, पताका।

वातपति (सं० पु०) शताजित राजाका पुत्र। (हरिवंश)

वातपत्नी (सं० स्त्री०) दिक्, दिशा। (अथर्व २।१०।४)

वातपर्य्यय (सं० पु०) एक चक्षुरोग। इसमें कभी भौंमें और कभी आंखें घलनेसे बड़ी पीड़ा होती है।

वातपालित (सं० पु०) गोपालित। (उण् १।४ उज्ज्वल)

वातपाण्डु (सं० पु०) वातेन पाण्डुः। वह पाण्डुरोग जो वातके प्रकोपसे होता है।

वातपित्त (सं० क्ली०) वायु और पित्त।

वातपित्तक (सं० त्रि०) वायु और पित्तज विकार।

वातपित्तघ्न (सं० त्रि०) वातपित्तं हन्ति हन-क। वातपित्तनाशक। (सुश्रुत सूत्रस्था० ४१ अ०)

वातपित्तज (सं० त्रि०) वातपित्त जन-ड। वायु और पित्तसे उत्पन्न। वायु और पित्त कुपित हो कर जो सब रोग उत्पन्न होते हैं, वही वातपित्तज हैं।

वातपित्तज शूल (सं० क्ली०) वातपित्तजं शूलं। वह शूल रोग या दस्त जो वातपित्तके होनेसे होता है।

शूलरोग शब्द देखो।

वातपित्तज्वर (सं० पु०) वातपित्तजः ज्वरः। वह ज्वर जो वातपित्तसे होता है, जहां वायु और पित्त कुपित हो कर ज्वर लगता है। इसका पूर्वरूप—वायु और पित्त-वर्द्धक आहार, विहार और सेवन द्वारा वर्द्धित वायु पित्तके साथ आमाशयमें जा कर कोष्ठकी अग्निको बाहर निकाल देती तथा रसको दूषित करके ज्वर उत्पादन किया करती है। वातपित्तज्वर होनेके पहले वातज्वर और पित्तज्वरके सब पूर्वरूप प्रकाशित होते हैं। लक्षण—इस ज्वरमें पिपासा, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, अनिद्रा, शिरःपीड़ा, कण्ठ और मुखशोष, वमि, रोमाञ्च, अरुचि, अन्धकारमें प्रविष्टकी तरह बोध, ग्रन्थिमें वेदना तथा जृम्भण। वातपित्तज्वरके रोगीको पांचवें दिनमें औषध देनी चाहिये। (भावप्रकाश ज्वररोगाधि०) ज्वर शब्द देखो।

वातपुत्र (सं० पु०) १ महाधूर्त्त, विट। २ भीम। ३ हनुमान्।

वातपू (सं० त्रि०) वायु द्वारा पवित्रीकृत।

(अथर्व १८।३।३७)

वातपोथ (सं० पु०) वातं वातरोगं पुथ्यति हिनस्तीति पुथ-अण्। पलाश।

वातप्रकृति (सं० त्रि०) वातप्रधाना प्रकृतिर्यस्य। वायुप्रकृति, जिसकी प्रकृति वायु प्रधान हो। मानवकी सात प्रकारकी प्रकृतियां हैं। जिसकी प्रकृति वायुप्रधान है, उसको वातप्रकृति कहते हैं। इसके लक्षण इस तरह हैं, जो मनुष्य जागरणशील, अल्पकेशविशिष्ट, हस्त और पादस्फुटित, कृश, अत्यन्त वाक्यव्ययी, रूक्ष एवं स्वप्नावस्थामें आकाशगामी होता है, वही वातप्रकृतिक कहलाता है। सर्वव्यापी, आशुकारी बलवान्, अल्पकोपन, स्वातन्त्र्य तथा बहु रोगप्रद यह सब गुण वायुमें सर्वदा विद्यमान हैं, इसलिये वायुमें सभी दोष अपेक्षाकृत प्रबल हैं।

वातप्रकृति मनुष्य प्रायः ही दोषी हुआ करता है। उसके बाल और हाथ पैर फटे हुए होते हैं और वह कुछ पीला होता है। वह ठण्डक पसन्द नहीं करता तथा वह चञ्चल, अल्पमेधावी, सदा सन्दिग्धचित्त, अल्पधनयुक्त, अल्प कफ, स्वल्पायु, वाक्य क्षीण और गद्गद स्वरविशिष्ट होता है। यह अतिशय विलासी, सङ्गीत, हास्य, मृगया तथा पापकर्मरत रहता है। वातप्रकृति मनुष्यको अम्ल और लवणरस तथा उष्ण द्रव्य बड़ा प्रसन्द होता है। वह लम्बा और दुबला पतला होता है। इसके चलनेके समय पैरका मट् मट् शब्द होता है, उसकी किसी विषयमें दृढ़ता नहीं रहती तथा वह अजितेन्द्रिय होता है। वह भृत्यके प्रति सद्व्यवहार करता, स्त्रियोंका प्रिय होता तथा इन्हें बहुत सन्तान होती हैं। उसकी आँखें तेज और कुछ पीली, गोल, टेढ़ी तथा मृतककी आँखों सी होती हैं। वह स्वप्नमें पहाड़ और पेड़ पर चढ़ता या आकाशमें गमन करता है, सोनेके वक्त उसकी आखें थोड़ी खुली रहती हैं।

वातप्रकृति व्यक्ति अयशस्वी, दूसरेके धनके लिये कातर, शीघ्र क्रोधी और चोर होता है। कुत्ता, गीदड़,

ऊँट, गोधनी, मूसी, कौआ तथा पेचक (उल्लू) ये सब वातप्रकृति हैं। (भावप्र०) जो मनुष्य उक्त लक्षणोंसे युक्त होता है, वही वातप्रकृति कहलाता है।

वातप्रकोप (सं० पु०) वायुका आधिक्य, वायुका बढ़ जाना। इसमें अनेक प्रकारके रोग होते हैं।

वातप्रबल (सं० त्रि०) वायुप्रधान, जिसमें वायु अधिक हो।

वातप्रमी (सं० पु० स्त्री०) वातं प्रमिमीते वाताभिमुखं गच्छतीति वातं-प्र-मा माने (वातप्रमीः। उण् ४।२) इति ई प्रत्ययेन साधुः। १ वातमृग, हिरण। २ नकुल, नेवल। ३ अश्व, घोड़ा। (त्रि०) ४ वायुवत् वेगगामी, हवाके समान चलनेवाला। (ऋक् ४।५८।७)

वातप्रशमनी (सं० स्त्री०) वातस्य प्रशमनी। आरुक, आलू-बुखारा।

वातफुल्ल (सं० पु०) वायु द्वारा प्रफुल्ल या स्फीत।

वायुफुल्लान्त्र (सं० क्ली०) वातेन फुल्लं विकशितं यदन्त्रं तत्। १ फुस्फुस। २ वातरोग। ३ उदराध्मान। (भूरिप्र०)

वातबलास (सं० पु०) एक प्रकारका वातज्वर।

वातबहुल (सं० त्रि०) १ धान्यादि। २ जहां हवा खूब चलती हो।

वातभ्रजस् (सं० त्रि०) वातव्रजाः। वायुके समान जल्द जानेवाला। (अथर्व १।१२।१)

वातमज (सं० पु०) वातमभिमुखीकृत्य अजति गच्छतीति वातअज्र (वातशुनीति लशर्द्धेष्वजधेटतुदजहातीनां उपसंख्यानं। पा ३।२।२८) इत्यस्य वार्त्तिकोक्तया यश्, (अरुर्द्विषजन्तस्य मुम्। पा ६।३।६७) इति मुम्। १ वातमृग, जिधरकी हवा हो उधर मुख करके दौड़नेवाला मृग।

वातमण्डली (सं० स्त्री०) वातस्य मण्डली। वात्या, बवंडर।

वातमृग (सं० पु०) वाताभिमुखगामी मृगः। वातप्रमी, जिधरकी हवा हो उधर मुख करके दौड़नेवाला मृग।

वातयन्त्रविमानक (सं० क्ली०) वायु द्वारा चालित यन्त्रविशेष। (Airwheel)

वातरंहस् (सं० त्रि०) वात इव रंहो यस्य। वायुके समान चलनेवाला।

वातर (सं० त्रि०) १ वायुयुक्त, हवादार। (पु०) २ स्फटिका।

वातरक्त (सं० क्ली०) वातदुषितं रक्तं यत्र। रोगविशेष। इस रोगके निदान, लक्षण और चिकित्सादिका विषय वैद्यकशास्त्रमें इस तरह लिखा है,—अतिरिक्त लवण, अम्ल, कटु, क्षार, स्निग्ध, उष्ण, अपक्व वा दुर्ज्जर द्रव्य भोजन; जलचर वा अनूपचर जीवका सूखा या सड़ा मांस भोजन; किसी जीवका मांस अधिक परिमाणमें भोजन; कुलथी, उड़द, मूल, सेम, इक्षुरस, दहीका पानी, मद्य आदि द्रव्य-भोजन, संयोगविरुद्ध द्रव्य-भोजन, खाया हुआ भोजन पाक न होने पर फिर खा लेना, क्रोध, दिनमें सोना और रातमें जागना—इन सब कारणोंसे तथा हाथी, घोड़े या ऊंट आदि पर चढ़ कर बहुत घूमना आदि कारणोंसे रक्त विदग्ध हो कर दूषित हो जाता है। पीछे जब यह रक्त कुपित वायुके साथ मिल जाता है तब वातरक्त रोग पैदा होता है। यह रोग पहले पैरके तलवे या हथेलीसे शुरू हो कर धीरे धीरे समूचे शरीरमें फैल जाता है।

वातरक्तके लक्षण—वातरक्तरोग होनेके पहले अत्यन्त पसीना निकलना या पसीनेका बिलकुल रुक जाना, कहीं कहीं काला दाग और स्पर्शशक्तिका लोप, किसी कारण वश किसी स्थान पर क्षत होनेसे उसमें अत्यन्त वेदना, सन्धिस्थानोंकी शिथिलता, आलस्य, अवसन्नता, कहीं कहीं फुंसियोंका होना तथा जांघ, छाती, कमर, कंधा, हाथ, पैर और सन्धियोंकी सूई गड़ने सी वेदना, कट जानेकी-सी यातना, भारबोध स्पर्शशक्तिकी अल्पता, कण्डु तथा सन्धिस्थानोंमें बारंबार वेदनाकी उत्पत्ति आदि लक्षण पहले दिखाई पड़ते हैं।

वातरक्तके दूसरे दूसरे लक्षण—इस रोगमें वायुका प्रकोप अधिक रहनेसे दोनों पाँवोंमें अत्यन्त शूल, स्पन्दन तथा सूई चुभानेकी-सी वेदना होती है। रुक्ष अथच काले रंगकी सूजन पैदा होती जो सर्वदा घटती बढ़ती रहती है। उंगलियोंकी सन्धियोंकी धमनियां सिकुड़ जाती है। शरीरमें कंपकंपी पैदा होती है, स्पर्शशक्तिका ह्रास हो जाता है। बड़ी वेदना होती है। ठंढक पा कर यह रोग और बढ़ जाता है।

रक्ताधिक्य वातरक्त रोगमें ताम्रवर्ण सूजन पैदा होती

है, उसमें खुजलाहट, क्लेदस्राव, अतिशय दाह और सूचिवेधवत् वेदना होती है तथा स्निग्ध और रुक्षक्रिया द्वारा इस पीड़ाको शान्ति नहीं होती।

पित्तको अधिकताके कारण यह रोग होनेसे दाह, मोह, पसीना निकलना, मूर्च्छा, मत्तता, और तृष्णा होती है। सूजन छूनेसे यातना, सूजन लाल और दाहयुक्त, स्फीत, पाक और उष्माविशिष्ट होती है।

अगर कफकी ज्यादतीके कारण यह रोग पैदा हो, तो शरीर आर्द्र चर्म्म द्वारा आवृत होनेकी तरह मालूम होता है। दोनों पांव गुरु, स्पर्शशक्तिकी अल्पता तथा शीत स्पर्शता, खुजलाहट और थोड़ी थोड़ी वेदना होती रहती है। दो अथवा तीन दोषोंकी अधिकता रहनेसे उनके सब मिले हुए लक्षण देख पड़ते हैं।

दोनों पाँवोंके अलावा और अंगोंमें भी वातरक्तरोग उत्पन्न होता है, किन्तु विशेष कर यह पाँवमें भी हुआ करता है। कभी कभी यह रोग दोनों हाथोंमें भी होता है इस रोगका प्रकोप होते ही प्रतिकार करना जरूरी है। शीघ्र इसका प्रतिविधान अगर नहीं किया जाय, तो यह कुपित छुछुन्दरके विषके समान धीरे धीरे समूचे शरीरमें फैल जाता है।

वातरक्त होनेसे ये सब उपद्रव होते हैं,—अनिद्रा, अरुचि, श्वास, मांसपचन, शिरोवेदना, मोह, मत्तता, व्यथा, तृष्णा, ज्वर, मूर्च्छा, हिचकी, पङ्गुता, विसर्प, मांसपाक, सूचीवेधवत् वेदना, भ्रम, क्लम, अंगुलियोंका टेढ़ापन, स्फोटक, दाह, मर्मग्रह तथा अर्ब्बुदोत्पत्ति।

इस रोगका साध्यासाध्य—वातरक्त रोगी अगर उपरोक्त उपद्रवसे आक्रान्त हो किंवा उपद्रव न रहने पर भी अगर सिर्फ मोह पैदा हो तो यह वातरक्त रोग असाध्य होता है। वातरक्त रोगीके सब उपद्रव न हो कर थोड़ा होनेसे वह याप्य तथा उपद्रवविहीन वातरक्त रोग साध्य है। एकदोषसमुद्भूत तथा एक वर्षसे कम उम्रके छोटे बच्चेको होनेसे साध्य, द्विदोषजनित वातरक्त याप्य एवं त्रिदोषज वातरक्त रोग असाध्य होता है। यदि वातरक्तके रोगीके एड़ीसे ले कर घुटने तकका चमड़ा विदीर्ण हो कर मवाद बहता हो एवं उपद्रवकी पीड़ासे बल और मांसका ह्रास हो जाय तो इस रोगको साध्य ही समझना चाहिये। इसलिये इस रोगकी उचित चिकित्सा करनी चाहिये।

वातरक्तकी चिकित्सा—वातरक्तके रोगीके दोष तथा बलाबलकी विवेचना करके स्नेह प्रयोग एवं अधिक परिमाणसे रक्तमोक्षण करना उचित है। किन्तु जिससे इस रोगीकी वायुवृद्धि न हो, उस पर विशेष ध्यान देना चाहिये। जिस वातरक्त रोगमें जलन अधिक हो तथा क्षत स्थानमें सूई चुभानेकी वेदना-सी मालूम पड़े, तो जोंक द्वारा रक्तमोक्षण कराना चाहिये। थोड़ी वेदना, खुजलाहट और कम्पयुक्त वातरक्तमें तुम्बी लगा कर रक्तमोक्षण करानेकी विधि है। अगर यह रोग एक स्थानसे दूसरे दूसरे स्थानोंमें फैल जाय, तब शिराविद्ध तथा क्षतस्थानको अच्छी तरह हाथसे निचोड़ कर रक्त मोक्षण करना होता है।

इस रोगमें शरीर यदि दुर्बल हो जाय, तो रक्तमोक्षण कराना ठीक नहीं। वाताधिक्य रक्तपित्तमें रक्तमोक्षण निषेध है, कारण इस अवस्थामें रक्तमोक्षण करनेसे वायुकी वृद्धि होती है, जिससे सूजनकी अधिकता, शरीरकी स्तब्धता, कम्प, वायुसे पैदा होनेवाली शिरागत व्याधि, दुर्बलता एवं अन्यान्य वातरोग उत्पन्न हो जाता है। यदि रक्तमोक्षणके समय अच्छी तरह रक्तस्राव न हो कर कुछ शेष रह जाय तो खञ्ज प्रभृति वातरोग उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है, यहां तक, कि इससे मृत्यु भी हो जाती है। अतएव शरीरके उस दूषित रक्त यथोपयुक्त प्रमाणानुसार बहा देना उचित है। इस रोगके रोगीको विरेचन और स्नेह प्रयोग करके स्नेहसंयुक्त वा रुक्ष विरेचक द्रव्य द्वारा बारंबार वस्ति (पिचकारी) प्रयोग करें। वस्तिक्रियाकी तरह इसकी कोई दूसरी उत्कृष्ट चिकित्सा नहीं है। उत्तान अर्थात् चर्म और मांसाश्रित वातरक्त रोगमें प्रलेपन, अभ्यङ्ग, परिषेक और उपनाहादि पुलटिस द्वारा एवं गम्भीर अर्थात् धात्वाश्रित वातरक्त रोगमें विरेचन, स्थापन तथा स्नेह पान द्वारा चिकित्सा होती है।

वाताधिक्य वातरोगमें घृत, तेल, चर्बी और पान द्वारा, मर्दन वा पिचकारीके प्रयोग द्वारा एवं उष्ण प्रलेप द्वारा चिकित्सा करनेकी विधि है। गेहूंका आटा, बकरीका दूध और घृत, इन तीनोंको अच्छी तरह मिला कर वा दूधके साथ तीसी पीस कर अथवा रेड़ीके बीज

बकरीके दूधमें पीस कर प्रलेप करनेसे वातरक्त आराम होता है। अथवा भूसी निकाला हुआ तिल दूधमें पीस कर प्रलेप करनेसे बहुत लाभ पहुंचता है। शतमूली, सोयां, मुलैठी, बीजबन्द, पियालफल, केशर, घृत, भूमिकुष्माण्ड और मिसरी, इन सबोंको एक साथ पीस कर लगानेसे भी यह रोग आराम होता है। रास्ना, गुलंच, मुलैठी, बीजबन्द, गोयवल्ली, जीवक, ऋषभक, दूध और घृत, ये सब द्रव्य एक साथ पीस कर उत्तप्त करके मधुके साथ मिला कर प्रलेप देनेसे रोग शीघ्र अच्छा होता हैं।

पञ्चतिक्तादि घृत पान तथा अत्यन्त विरेचन द्वारा वातरक्त प्रशमित होता है। मृदु द्रव्य द्वारा परिषेक, लङ्घन एवं उष्ण द्रव्यके परिषेकसे कफाधिक्य वातरोगमें बहुत लाभ पहुंचता है। इस रोगमें तैल, गोमूत्र, शराब और शुक्त द्वारा परिषेचन करनेसे उपकार होता है। लाल सरसों पीस कर प्रलेप करनेसे वातरक्तकी वेदना कम होती है। सहिजन और वरुणवृक्षकी छाल छांछमें पीस कर प्रलेप देनेसे भी वेदना कम हो जाती है। असगंध और तिलचूर्ण एवं नीमकी छाल, आकन्द, यवक्षार और तिलचूर्णका प्रलेप देनेसे भी इस रोगमें बड़ा फायदा पहुंचता है।

इनके सिवा लाङ्गली, गुड़िका, बलाघृत, पिण्डतैल, पारुषक घृत, शतावरी घृत, ऋषभ घृत, गुड़ुचि घृत, महागुड़ूची घृत, अमृतादिघृत, शताह्वादि तैल, महापिण्ड तैल, महापद्मक तैल, खुज्जकपद्मक तैल, गुड़ुच्यादि तैल, अमृताह्वय तैल, मृणालाद्य तैल, धुस्तूराद्य तैल, नागबला तैल, जीवकाद्यमिश्रक, बलातैल, शतपाक, पुनर्नवागुग्गुलु, शर्करासम गुग्गुलु, अमृता गुग्गुलु, चन्द्रप्रभा गुड़िका, कैशोरिक गुग्गुलु और योगसारामृत आदि औषध बड़ी फायदेमंद हैं। इन सब औषधोंकी प्रस्तुत प्रणाली उन्हीं शब्दोंमें देखो। भावप्रकाशमें वातरक्त रोगाधिकारमें भी इसका विशेष विवरण लिखा है।

रसेन्द्रसारसंग्रहमें वातरक्त चिकित्साधिकारमें—लाङ्गलादि लौह, वातरक्तान्तक रस, तालभस्म, महातालेश्वर रस और विश्वेश्वर रस नामक औषधोंका विधान है। ये सब औषध इस रोगमें विशेष उपकारी हैं।

इस रोगमें पथ्यापथ्य—दिनमें पुराने चावलका भात, मूंग या चनेकी दाल, कड़वी तरकारी, परवल, गूलर, केला, करैली, कदीमा आदिकी तरकारी, हिलमोचिकाका साग, नीमका पत्ता, श्वेत पुनर्नवा और पलता इस रोगमें फायदेमंद है। रातमें रोटी या पुड़ी तथा पूर्वोक्त सब तरकारियां तथा थोड़ा दूध पीना उचित है। जलपानमें भिगोया चना खानेसे वातरक्तमें बड़ा फायदा पहुंचता है। व्यञ्जन घीमें पका करके खाना उचित है, कच्चा घी अगर पचा सकें तो खा सकते हैं, जिन सब द्रव्योंसे खून साफ होता और वायु दूर होती है, उनका सेवन इस रोगमें नितान्त प्रयोजन है, क्योंकि वे बड़े उपकारी होते हैं। इस रोगमें विष्किर (चोंचसे दाने चुगनेवाले) और प्रतुद (चोंचसे तोड़ कर खानेवाले) पक्षीका मांस मांसरसके लिये दिया जा सकता है। वेताग्र, शतावरी, वास्तुक, उपोदिका और सुवर्चला शाक घीमें भून कर पूर्वोक्त मांसरसके साथ दिया जा सकता है। इसमें जौ गेहूं और साठी चावलका भात भी दे सकते हैं।

निषिद्ध द्रव्य—नया चावल, जिसके खानेसे सहजमें पच सके वैसा द्रव्य, मछली मांस, शराब, मटर, गुड़, दही, अधिक दूध, तिल, उड़द, मूली, साग, अम्ल, कदीमा आलू, प्याज, लहसुन, लालमिर्च और अधिक मीठा ये सब भोजन तथा मलमूत्रादिका वेगरोध, अग्नि या रौद्रका ताप सेवन, व्यायाम, मैथुन, क्रोध और दिवा निद्रा आदि इस रोगमें विशेष अपकारी है। इन सब निषिद्ध कर्मोंके करनेसे रोग बढ़ता है। जिन सब द्रव्योंके खानेसे वायु और रक्त दूषित होता है, वे सब द्रव्य वर्ज्जित हैं।

चरक, सुश्रुत, अत्रिसंहिता, वाग्भटके लिखे आदि वैद्यक ग्रन्थोंमें इस रोगके निदान और चिकित्सा आदिका विवरण विशेषरूपसे वर्णित है। विषयाधिक्यके भयसे यहां कुल नहीं लिखा गया।

वातरक्तघ्न (सं० पु०) वातरक्तं रोगविशेषं हन्ति हन-ढक्। कुक्कुरवृक्ष।

वातरक्तान्तकरस (सं० पु०) वातरक्ताधिकारमें रसौषध विशेष। इसके बनानेकी तरकीब—गंधक, पारा, लोहा, अभ्र, हरताल, मैनसिल, गुग्गुल, शिलाजतु, विडंग,

त्रिफला, त्रिकटु, सोमरस, पुनर्नवा, चिता और देवदार, दारुहरिद्रा, श्वेत अपराजिता इन सबोंका बराबर बराबर भाग ले कर त्रिफला और भृङ्गराज इनको स्व-रसमें या काढेमें तीन तीन बार भावना दे कर चने भरकी गोली बनानी होगी। इसका अनुपान नीमके पत्ते या फूल या छालका रस तथा आध तोला घी है। यह औषध सेवन करनेसे सभी उपद्रवयुक्त वातरोग प्रशमित होता है। (रसेन्द्रसारस० वातरक्तरोगाधि०)

वातरक्तारि (सं० पु०) वातरक्तस्य अरिनशिक। १ पित्तघ्नीलता, गुड़ूच। २ गुलंच। (त्रि०) ३ वातरक्तनाशक।

वातरङ्ग (सं० पु०) वातेन वायुना रङ्गो यस्य निरन्तरचलद्दलत्वादस्य तथात्वं। अश्वत्थवृक्ष, पीपलका पेड़।

वातरज्जु (सं० स्त्री०) वातरूप रज्जु, वायुरूप रस्सी या डोरी।

वातरथ (सं० पु०) वातो वायुरथो यस्य। १ मेघ। (त्रिकाल०) वातो रथो प्रापको यस्य। (त्रि०) २ वायुप्रकाशक।

वातरशन (सं० पु०) एक मुनिका नाम।

(ऋक् १०।१३६।२)

वातरायण (सं० पु०) वातेन वायुजनित रोगेण रायति शब्दायते इति रै शब्दे ल्यु। १ उन्मत्त पुरुष। २ निष्प्रयोजन पुरुष, निकम्मा आदमी। ३ काण्ड। ४ करपात्र, कमण्डलु, लोटा। ५ कुट। ६ पर संक्रम। ७ सरलद्रुम, सीधा पेड़।

वातरूपा (सं० स्त्री०) लोला नामकी चण्डालयोनिमें उत्पन्न एक प्रेतमूर्त्ति।

वातरूष (सं० पु०) वातेन रूष्यते भूष्यते रुष घञ्। १ वातुल, वावला। २ उत्कोच, घूस, रिशवत। ३ शक्रधनु, इन्द्रधनुष।

वातरेचक (सं० पु०) १ विदारणकारो वायु। "पादक्षेपैः सुधारोऽणवातरेचकान्" (हरिवंश) 'वातरेचकान् व्यजनीकृतान् वृक्षादीनीरयन्त। (नीलकण्ठ) २ वायुकारी चर्मकोष विशेष, वायुकारी एक प्रकारकी चमड़ेकी थैली। 'वातरेचको भस्त्रापर नामा चर्मकोषः वातवेटक इति गौड़ाः पठन्ति व्यचक्षते च वातवशात् वेटकः भाषकः वेट परिभाषणे इति धातुः।' (नीलकण्ठ)

वातरेतस् (सं० त्रि०) वातभूयिष्ठं रेतो यस्य। जिसके शुक्रमें वातभाग अधिक परिमाणमें हो। (रस० र)

वातरोग (सं० पु०) वातजनितो रोगः। वायुजनित रोग, वायुरोग। पर्याय—वातव्याधि, चलातङ्क, अनिलामय। (राजनि०)

वातरोगिन् (सं० त्रि०) वातरोगोऽस्त्यस्येति वातरोग इनि। वातरोगयुक्त, जिसे वातरोग हुआ हो, वातकी।

वातरोहिणी (सं० स्त्री०) गलरोगभेद। इसमें जीभ पर चारों ओर कांटेके समान मांस उभर आता है और उसका गला रुद्ध हो जाता है। इसमें रोगीको बड़ा कष्ट होता है। इस रोगमें रक्त चूस कर उसे नमकसे मले तथा किञ्चित् उष्ण स्नेह द्वारा बार बार कुल्ली करे, ऐसा करनेसे यह रोग जल्द आराम हो जाता है।

गलरोग शब्द देखो।

वातर्द्दि (सं० पु०) काठ और लोहेका बना हुआ पात्र।

वातल (सं० पु०) वातं लातीति ला-क। १ चणक, चना। (त्रि०) २ वायुवर्द्धक, वायुकारक।

(सुश्रुत सू० ४६ अ०)

वातलमण्डली (सं० स्त्री०) वात्या, बवंडर।

(भूरिप्रयोग)

वातला (सं० स्त्री०) १ योनिरोगभेद। योनि कर्कश, स्तब्ध तथा शूल और सूचीविद्धवत् वेदनायुक्त होनेसे उसे वातला कहते हैं। इस रोगमें वातवेदना बहुत अधिक होती है। अनियमित आहार और विहार करनेसे वायु दूषित हो कर यह रोग होता है। योनिरोग देखो। २ समङ्गा, वराक्रान्ता। (जयदत्त)

वातवत् (सं० त्रि०) वातो विद्यतेऽस्य मतुप् मस्य व। वायुयुक्त, हवादार।

वातवत् (सं० पु०) वातवत् ऋषिके गोत्रमें उत्पन्न पुरुष।

(पञ्चविंशब्रा० २५।३।६)

वातवर्ष (सं० पु०) वातवृष्टि, वायु और वृष्टि।

वातवस्ति (सं० पु०) मूत्राघात रोगविशेष।

मूत्राघात शब्द देखो।

वातविकार (सं० पु०) वातस्य विकारः। वातरोगका विकार।

वातविकारिन् (सं० त्रि०) वातविकारोऽस्यास्तीति इनि। वातविकारयुक्त।

वातविध्वंसनरस (सं० पु०) वातव्याधिरोगाधिकारमें रसौषधविशेष। इसकी प्रस्तुत प्रणाली—पारा १ भाग, अभ्रसत्व २ भाग, काँसा ३ भाग, माक्षिक ४ भाग, गंधक ५ भाग, हरताल ६ भाग एकत्र रेंड़ी तेलके साथ ७ दिन मर्द्दन करके गोली बनावे तथा तिलकी बुकनीका लेप दे कर बालुकायन्त्रमें बारह प्रहर पाक करे। इसके बाद रत्ती भरकी गोली बनावे। अनुपानके साथ सेवन करनेसे शरीरके सर्वाङ्गकी वेदना, आध्मान, अनाह आदि नाना रोग प्रशमित होते हैं।

(रसेन्द्रसारस० वातव्याधिरोगाधि०)

वातविपर्यय (सं० पु०) सर्वगताक्षिरोग।

वातपर्याय शब्द देखो।

वातविसर्प (सं० पु०) वह विसर्परोग जो वायुके विगड़ जानेसे होता है। इसमें वातज्वरकी तरह वेदना, शोथ, स्फुरण, सूचीवेध, विदारण और रोमहर्ष होता है।

विसतरोग शब्द देखो।

वातवृष्टि (सं० स्त्री०) वातवर्ष, वायु और वृष्टि। वायुकोणसे बादल उठनेसे वायु और वृष्टि दोनों ही होता है।

वातवेग (सं० पु०) वातस्य वेगः। १ वायुका वेग। २ धृतराष्ट्रके एक पुत्रका नाम।

वातवैरी (सं० पु०) वातस्य वैरी। १ वातादवृक्ष, बादामका पेड़। (त्रि०) २ वायुका शत्रु।

वातव्याधि (सं० पु०) वातेनि जनितो व्याधिः। वातजनित व्याधि, वातरोग। वायुकी अधिकतासे यह रोग उत्पन्न होता है, इसलिये इसका नाम वातव्याधि है। इस रोगके विषयमें वैद्यकशास्त्रमें इस प्रकार लिखा है—सर्वप्रथम इस रोगकी नामनिरुक्तिके सम्बन्धमें लिखा है, कि किसी किसीका मत है, कि वातको ही वात व्याधि वा वातजनित व्याधिको वातव्याधि कहते हैं। वातको ही यदि वातव्याधि कहा जाय एवं यदि वातजनित रोगको ही वातव्याधि कहें, तब तो वायुके प्रकोपसे उत्पन्न होनेवाले किसी प्रकारके ज्वर प्रभृतिरोगको भी वातव्याधि कह सकते हैं। इसकी मीमांसा यही हो सकती है, कि विकृत वा क्लेशदायक समानाधिकरण विशिष्ट असाधारण वातजनित रोगोंको ही वातव्याधि कहते हैं। जब वायु कुपित हो कर विकृत हो जाता है, तब यह रोग उत्पन्न होता है।

इस रोगका निदान-कषाय, कटु और तिक्तरसयुक्त द्रव्य भोजन, अपरिमित भोजन, जागरण, बाहुविक्षेप द्वारा जलसम्भारण, अभिघात, परिश्रम, हिमसेवन, अनाहार, मैथुनप्रयुक्त धातुक्षय, मलमूत्रादिका वेगधारण, कामवेग, शोक, चिन्ता, भय, क्षतप्रयुक्त अत्यन्त रक्तमोक्षण, अत्यन्त मांसक्षय, अतिरिक्त वमन, अत्यन्त विरेचन, तथा आमदोषप्रयुक्त स्रोतका अवरोध, इन सब कारणोंसे, वर्षाकालमें दिन वा रात्रिके तृतीय प्रहर शेषभागमें खाये हुए द्रव्य अत्यधिक जीर्ण होनेसे एवं शीतकालमें वायुका प्रकोप होता है। इन सब कारणोंसे कुपित बलवान् वायु शारीरिक शून्यगर्भ स्रोतःसमूहको पूर्ण कर सर्वाङ्गिक अथवा किसी एक अङ्गका आश्रय ले कर नाना प्रकारके वातरोग उत्पादन करती है। वायुविकार अपरिसंख्येय हैं, सुतरां वातव्याधि भी अनेक प्रकारकी है।

इन सब वातव्याधियोंके पृथक् पृथक् नाम है, यथा—शिरोग्रह, अल्पकृशता, अत्यन्त जृम्भा, हनुग्रह, जिह्वास्तम्भ, गद्गदत्व, मिनमिनत्व, मूकत्व, वाचालता, प्रलाप, रसज्ञानाभिज्ञता, बाधिर्य्य, कर्णनाद, स्पर्शाज्ञत्व, अर्द्दित, मन्यास्तम्भ, बाहुशोष, अवबाहुक; विश्वची, ऊर्द्धवात, आध्मान, प्रत्याध्मान, वातष्ठीला, प्रतिष्ठीला, तूणी, प्रतितूणी, अग्निवैषम्य, आटोप, पार्श्वशूल, त्रिकशूल, मुहुर्मूत्रण, मूत्रनिग्रह, मलगाढ़ता, मलकी अप्रवृत्ति, गृध्रसी, कलाय खञ्जता, खञ्जता, पङ्गुता, क्रोष्टुशीर्षक, खल्ली, वातकण्टक, पादहर्ष, पाददाह, आक्षेप, दण्डक, कफपित्तानुबन्ध आक्षेप, दण्डापतानक रोग, अभिघातके लिये आक्षेप, अन्तरायाम और बहिरायाम, धनुस्तम्भक, कुब्जक, अपतत्रक, अपतानक, पक्षाघात, खिलाङ्ग, कम्प, स्तम्भव्यथा, तोद, भेद, स्फुरण, रौक्ष्य, कार्श्य, काष्ठार्य, शैत्य, लोमहर्ष, अङ्गमर्द्द, अङ्गविभ्रंश, शिरासंकोच, अङ्गशोष, भीरुत्व, मोह, चलचित्तता, निद्रानाश, स्वेदनाश, बलहानि, शुक्रक्षय, रजोनाश, गर्भनाश तथा परिभ्रम ये कई प्रकारकी वातव्याधियां निर्द्दिष्ट की गई हैं। यह रोग बहुत कष्टदायक होता है।

इस रोगका साध्यासाध्य—सभी प्रकारकी वात-

व्याधियाँ विशेष कष्टसाध्य होती हैं। रोग उत्पन्न होनेके साथ ही साथ यदि इसकी यथाविधि चिकित्सा न की जाय तो, यह रोग प्रायः असाध्य हो उठता है। पक्षाघात (लकवा) प्रभृति वातव्याधियोंके साथ विसर्प, दाह, अत्यन्तवेदना, मलमूत्रका निरोध, मूर्छा, अरुचि तथा मन्दाग्नि वा शोथ, स्पर्शशक्तिका लोप, अंगभंग, कम्प, उदराध्मान प्रभृति उपद्रव मिल जायें एवं रोगीके बल और मांसका ह्रास हो जाय तो आरोग्यलाभकी आशा प्रायः रहती ही नहीं।

साधारणतः मधुर, लवण और अम्लरसयुक्त द्रव्य सेवन, नस्य और उष्णक्रिया, निद्रा, गुरुद्रव्य भोजन, रौद्रसेवन, वस्तिक्रिया, स्वेद, सन्तर्पण, अग्निकर्म, शरत्काल, अभ्यङ्ग एवं संमर्द्दन प्रभृतिसे कुपित वायु प्रशमित होता है, सुतरां इनसे वातरोगीको बहुत लाभ पहुंचता है।

पक्षाघातके लक्षण—कुपित वायु शरीरका अर्द्धांश ग्रहण करके उसकी शिरा तथा स्नायुसमूहको शोषण एवं सन्धिबन्धनोंको शिथिल करके शरीरके बायें वा दाहिने भागका एक पक्ष अर्थात् बाँहु, पार्श्व, वक्ष तथा जंघादिको नष्ट कर डालती है। इस रोगसे शरीरका आधा भाग किसी प्रकारके कार्य करनेमें असमर्थ हो जाता है एवं कुछ कुछ स्पर्शज्ञानादियुक्त रहता है,—ऐसे रोगको पक्षाघात कहते हैं। यह पक्षाघात रोग पित्तसंसृष्ट वायु कर्त्तृक बोध होता है और शरीर भारी मालूम पड़ता है। केवल वायुकर्त्तृक पक्षाघात होनेसे कृच्छ्रसाध्य तथा दूसरे दोष अर्थात् पित्त और कफका संस्रव रहनेसे साध्य एवं इसमें यदि धातुक्षयका उपद्रव रहे, तो रोग असाध्य हो जाता है। गर्भिणी, सूतिकाग्रस्त, बालक, वृद्ध, क्षीण एवं जिसका रक्त क्षय होता है, इन सबोंको पक्षाघात रोग होनेसे असाध्य हो जाता है, फिर जब पक्षाघात रोगीको वेदना बिलकुल ही मालूम न पड़े, तब भी रोग असाध्य हो उठता है।

इस रोगमें उड़द, केवांछ, एरंडका मूल, बीजबन्द और जटामांसी, सब मिला कर दो तोले, जल आध सेर, शेष आध पाव, हींग एक माशा और सेन्धा नमक एक माशा इन सबोंका काढ़ा बना कर पीनेसे लकवा रोग दूर होता है। इस रोगमें ग्रन्थिकादि तैल और माषादि तैलका मर्दन बड़ा उपकारी है।

सर्वाङ्ग वातके लक्षण—सारे शरीरमें व्यान वायु कुपित हो कर हड्कुट्टन तथा भयङ्कर दर्द पैदा कर देता है। गाठोंमें दर्द और प्रकम्पन पैदा होती हैं। ऐसी वातव्याधिमें वातनाशक तैल सारे शरीरमें मलनेसे शीघ्र उपकारी होता है।

कारणविशेषसे यह कई तरहका होता है। उदान वायु कुपित हो कर पित्तके साथ यदि मिल जाये, तो दाह, मूर्च्छा, भ्रम, और थकावट पैदा होती है। यदि उदानवायु कफसे मिल जाये, तो पसीना रुक जाता। शरीर रोमाञ्चित हो कर शान्ति बोध होता और अग्निमान्द्य रोग उत्पन्न हो जाता है। प्राणवायुके पित्त द्वारा आवृत होने पर कै और जलन, कफ द्वारा आवृत हो, तो दुर्बलता देहकी अवसन्नता, आलस्य और मुंहफिका हो जाता है। समान वायु पित्त द्वारा आवृत होने पर पसीना अधिक आता, दाह, पिपासा और मूर्च्छा और कफ द्वारा आवृत होने पर मलमूत्रकी रुकावट और शरीर रोमाञ्चित होता है। अपानवायु पित्तसंयुक्त होने पर जलन, उष्णता, और मूत्रका रंग लाल हो जाता है; कफसंयुक्त होने पर देहके नीचले हिस्सेमें भारीपन और शीत मालूम होती है। व्यानवायु पित्तसे मिल जाने पर जलन, थकावट, गात्रविक्षेप, और कफसे मिलने पर शरीरकी स्तब्धता, दन्तरोग, शूल और सूजन होती हैं। पित्तसंयुक्त वातमें पित्तनाशक और रससंयुक्त वातमें वातश्लेष्मनाशक चिकित्सा करनी उचित है।

रसादि धातु वातके लक्षण—कुपितवायु रसधातुके (रसधातुका अर्थ यहाँ त्वक् समझना चाहिये) आश्रय करने पर चर्म रूक्ष वा स्फुटित, स्पर्शज्ञानाभाव, कर्कश, काला रंग और लालरंगका हो जाता है। शरीरमें सूईके चूभनेका सा दर्द और सातों त्वकोंमें दर्द हो जाता है।

यदि कुपितवायु खूनसे आ मिले, तो अत्यन्त दर्द, सन्ताप, देहकी विवर्णता, कृशता, अरुचि, और शरीरमें फोड़े उत्पन्न होते हैं और भोजन करने पर शरीरमें स्तब्धता होती है। कुपित वायुके मांसका आश्रय कर लेनेपर देहमें भारीपन, और स्तब्धा, तदांतके काटने

तथा मुक्के मारनेकी तरह दर्द होता है और निश्चल हो जाता है।

कुपित वायु यदि मेदाधातुमें मिल जाये तो मांसगत वायु सा लक्षण होता है। विशेषता यह है, कि शरीरमें फोड़ा होता और थोड़ी वेदना होती है।

कुपित वायु अस्थिका यदि आश्रय ले, तो अस्थि और उंगलियोंके पर्वोंमें बेदना, शूल, मांसक्षय, बलह्रास तथा अनिद्रा होती है और शरीरमें हमेशा दर्द रहता है। कुपित वायु यदि मज्जामें आश्रय करे तो ऊपर जैसे हो लक्षण दिखाई देते हैं और यह किसी तरह आराम नहीं होता।

कुपितवायु वीर्य्यगत होनेसे वीर्य्य जल्द गिरता है या स्तम्भन करता है। स्त्रियोंके आमगर्भपात या गर्भ-शुष्क होता है। शुक्रकी विकृति होती रहती है।

त्वक्गत वायुरोगमें स्नेह मर्दन और स्वेद प्रयोग विशेष उपकारी है। रक्तमें प्रवेश किये वातरोगमें शीतल अनुलेपन, विरेचन, रक्तमोक्षण, मांसाश्रित वातमें विरेचन और निरूहवस्ति प्रदान, अस्थि और मज्जागत वातमें देहके भीतर और बाहर स्नेहका प्रयोग विशेष उपकारक होता है। शुक्रगत वायुके प्रशमनके लिये मनकी प्रसन्नता, सम्पादन और हृदयग्राही अन्न पानीय, बलकारक और शुक्रजनक द्रव्य सेवन करना उचित है।

स्थानविशेषकी वातव्याधिका विषय कहा जाता है। दुषितवायु कोष्ठसमूहमें यदि अवस्थान करे तो मलमूत्र को रोकता है और व्रध्न, हृद्रोग, गुल्म, अर्श (बवासीर) और पार्श्वशूल पैदा करता है। आमाशय, अग्न्याशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताशय, उन्द्रक और फुस्फुस इन्हीं सबोंको कोष्ठ या 'कोठा' कहते हैं। इन्हीं कोठोंमें समाई हुई वायुका ऊपरी निदान बतलाया गया है। इसके प्रत्येकका लक्षण कहते हैं।

आमाश्रय आश्रित वातमें दुषित वायु आमाशयमें समा जाने पर हृदय, पार्श्व उदर और नाभिदेशमें वेदना, तृष्ण, उद्गार-बाहुल्य, विसूचिका (हैजा) खांसी, कण्ठ-शोष और दमा रोग उत्पन्न हो जाते हैं। नाभि और स्तन इन दोनोंके बीचके स्थानको अमाभाशय कहते हैं।

आमाशयगत वायुमें पहले लंघन, पीछे अग्निदीप्ति कारक और पाचक औषध और वमन या तीक्ष्ण विरेचन लेना चाहिये। भोजनके लिये पुरानी मूंगकी दाल, यव और साठी चावलका भात हितकर होगा। गन्ध तृण, हरीतकी, सोंठ और पुष्करमूल सब मिलाकर २ तोले, जल आधसेर, शेष आध पाव; बिल्व, गुड़च, देवदार और सोंठ-ये सब मिलाकर दो तोले, जल आध सेर, शेष आध पाव; अतिविषा, पीपल और विट्लवण—ये सब दो तोले, जल आध सेर, शेष आध पाव—यह तीन प्रकारके काढ़े आमवामें विशेष उपकारी होते हैं। सिवा इनके चिरैता, इन्द्रयव, आकनादि, कुटकी, आतइच और हरीतकी (यौगी) इन सब द्रव्योंमें प्रत्येक आध आध तोला मिला कर—अच्छी तरह चूर्ण कर, इस चूर्णको आध तोला ले कर गर्मपानीसे सेवन करना चाहिये। इसके सेवनसे आमाशयगत वायु विदूरित होती है। यह औषध छः दिन तक खाना चाहिये। ये औषध एक साथ न कूट पीस कर दूसरी रीतिसे भी सेवन की जा सकती हैं। इस प्रत्येक आध तोला औषध को अलग अलग छः दिनों तक सेवन किया जा सकता है। यदि ऐसा करना हो अर्थात् पृथक् पृथक् सेवन करना हो तो पहले दिन वमनकी दवा ले कै कर लेना चाहिये। इसके दूसरे दिनसे दवा लेना आरम्भ करना आवश्यक है। पहले दिन चिरैताका, दूसरे दिन इन्द्रयव, तीसरे दिन आकनादिका चूर्ण क्रमसे सेवन करना उचित है। यह छः दिनों तक सेवन करना पड़ता है, इससे षट्करण योग भी कहते हैं।

पक्वाशयगत वायुके लक्षण—दुषित वायु जब पक्वाशयमें पहुंच जाती है, तो पेटमें 'गड़ गड़' शब्द होने लगता है, दर्द, वायुकी क्षुब्धता, मूत्रकृच्छ्र, मलमूत्रकी स्तब्धता (रुकावट), आनाह, और स्थानमें दर्द होता है। इस वातव्याधिमें अग्निवृद्धिकारक और उदरावर्तनाशक क्रिया करनी होगी। इसमें स्नेहविरेचन भी हितजनक है। उदरगत वातमें क्षार और चूर्णादि अग्निप्रदीपक द्रव्य भी सेवनीय है। कांख या कुक्षिगत बातमें सोंठ, इन्द्रयव और चिरैताका चूर्ण जरा सुमसुमा (कुछ गर्म) जलके साथ सेवन करना चाहिये।

गुह्यगत वातके लक्षण - गुह्यगत बातमें मल और वातकर्मोंका अवरोध, शूल, उदराष्मान, अश्मरी (पथरी) और शर्करा (चीनी) उत्पन्न होती है और जंघा

उरु, त्रिक, पार्श्वा, अंश और पीठमें वेदना उत्पन्न होती है। इस रोगमें उदरावर्त्तकी तरह चिकित्सा करना चाहिये।

हृद्गत वातको उपशमन करनेके लिये मिर्चा (काली)का चूर्ण और गुड़च, सुमसुमा जलके साथ सवेरे सेवन करना चाहिये। इससे हृद्गत वायु विनष्ट होती है। देवदारु और सोंठ समभागसे पीस कर सहने लायक उष्णजलके साथ पान करनेसे हृद्गत वातकी वेदना दूर होती है।

श्रोतादिगत वातके लक्षण—दुषित वायु कर्ण आदि इन्द्रियोंमें या जिस किसी इन्द्रियमें रहती है, उस इन्द्रियके श्रोतावरोध कर उसका कार्य नष्ट कर देती है। सुतरां वह इन्द्रिय विकल होती है। श्रोतादि इन्द्रियोंमें समाई हुई वायुमें वायुनाशक साधारण क्रिया और स्नेहप्रयोग, अभ्यङ्ग, अवगाहन-स्नान, मर्दन और आलेपन-प्रयोग करना चाहिये। सिराओंमें गई हुई वायुके लक्षण—दुषित वायुके सिराओंमें आश्रय करने पर सिराओंमें बेदना, संकोच और वहिरायाम (पृष्ठनत), अन्तरायाम (क्रोडनत) खल्ली और कुब्जरोग हुआ करता है। इस वातमें स्नेहमर्दन, उपनाह (पुलटिस), आलेपन और रक्तमोक्षण विधेय है।

सन्धिगतका लक्षण—जब दुष्ट वायु सन्धियोंमें समा जाती है, तब सन्धियोंका बन्धन ढीला, शूल (दर्द) और शोष हो जाता है। इसमें अग्निकर्म, स्नेह और पोलटिसका प्रयोग हितकर होगा। खीरेकी जड़, पीपल और गुड़ इन सबोंको समभाग ले कर पीसना चाहिये। इसके दो तोले नित्य सेवन करनेसे सन्धिगत वायु आराम हो जाती है।

इन व्याधियोंमें हनुस्तम्भ, अर्द्दित, आक्षेप, पक्षाघात (लकवा) और अपतानक रोग यथा समय बड़े यत्नसे चिकित्सा करनेसे इन रोगोंका कोई रोगी आराम हो जाता है किन्तु बहुत आराम नहीं भी होते। बलवान् व्यक्तियोंमें यह रोग यदि हो और उसमें कोई उपद्रव न हो, तो वह रोग साध्य होता है। विसर्प,दाह, वेदना,मलमूत्रावरोध, मूर्च्छा, अरुचि और अग्निमान्द्य द्वारा पीड़ित और मांसबलक्षीण होने पर लकवाके रोगी या वातरोगीको जीवन खो देना पड़ता है। सूजन, चमड़ेमें स्पर्शज्ञानका अभाव, अङ्गभङ्ग, कम्प, उदराध्मान और अत्यन्त वेदना ये सब उपद्रव होने पर वातरोगीका बचना कठिन है।

वातव्याधिकी सामान्य चिकित्सा—वातव्याधिमें तैल मर्द्दन ही एकमात्र औषध है। माषादि तैल, महामाषादि तैल, मध्यम-नारायण तैल और महानारायण तैल इस रोगकी अति उत्तम औषध है। सिवा इसके रास्नादि काढ़ा, महायोगराजगुग्गुल, लहसून कल्क, रसोनाष्टक, वातरिरस आदि ओषधियां भी उपकारी हैं। रोगीके बलाबल, अग्निदीप्ति आदि देख कर औषध और तैल—इन दोनोंका व्यवहार करना कर्त्तव्य है।

(भावप्र० वातव्याधि)

भैषज्यरत्नावलीमें वातव्याधि रोगाधिकारमें निम्नलिखित तैल और औषध निर्द्दिष्ट हुई हैं :—कल्याणलेह, स्वल्पलहसूनपिण्ड, त्रयोदशाङ्गगुग्गुल, स्वल्पविष्णुतैल, मध्यमविष्णुतैल; वृहद्विष्णुतैल, नारायणतैल, मध्यमनारायणतैल, सिद्धार्थकतैल, हिमसागरतैल; वायुच्छायासुरेन्द्रतैल, महानारायणतैल, महाबलतैल, पुष्पराजप्रसारिणीतैल, महाकुक्कुटमांसतैल, नकुलतैल, माषतैल, स्वल्पमाषतैल, वृहन्माषतैल, महामाषतैल, निरामिषमहामाषतैल, कुब्जप्रसारिणी तैल, सप्तशतिकाप्रसारिणी तैल, एकादशशतिकामहाप्रसारिणी तैल, अष्टादशशतिकाप्रसारिणी तैल, त्रिशतीप्रसारिणी तैल, महाराजप्रसारिणी तैल, चन्दनाम्बुसाधन महासुगन्धितैल, लक्ष्मीविलासतैल, नकुलाद्यघृत, छागलाद्यघृत, वृहच्छागाद्यघृत, चतुर्मुखरस, चिन्तामणि चतुर्मुख, योगेन्द्ररस, रसराजरस, वृहद्वातचिन्तामणि, और बलारिष्ट आदि औषध, तैल और घृत अभिहित हुए हैं। सिवा इसके छोटे छोटे विविध योग और पाचन आदि विषय भी लिखे हुए हैं।

(भैषज्यरत्ना० वात-व्याधि)

रसेन्द्रसारसंग्रहमें इस रोगके लिये निम्नलिखित औषध निर्द्दिष्ट हुई हैं। द्विगुणाख्यरस, वाताङ्कुश, वृहद्वातगजाङ्कुश, महावातगजाङ्कुश, वातनाशकरस, वातारिरस, अनिलारिरस, वातकण्टकरस, लघ्वानन्द रस, चिन्तामणिरस, चतुर्मुखरस, लक्ष्मीविलासरस, श्रीखण्डवटी, पिण्डीरस, कुब्जविनोदरस, शीतारिरस,

वातविध्वंसी रस, पलासादिबटी, दशसारबटी, गगनादिबटी, सर्वाङ्गसुन्दर रस, तारकेश्वर और चिन्तामणिरस। (रसेन्द्रसाररस वात-व्याधि रोगाधि०)

चरक, सुश्रुत और वाग्भट प्रभृति वैद्यक ग्रन्थोंमें इस रोगका निदान और चिकित्सा आदिका विषय विशेषरूपसे लिखा हुआ है। विस्तार भयसे यहां उनका पृथक् रूपसे लिपिवद्ध किया न गया।

पथ्यापथ्य :—वातव्याधिमें स्निग्ध और पुष्टिकर भोजनादि नितान्त उपयोगी हैं। दिनको पुराने चावलका भात, मूंग, मटर और चनेकी दाल, कवई, मुगरी, रेहु आदि मछलियोंका शोरवा, रेहूंका मुण्ड, बकरेका मांस, गुलर, परवल; अरूई आदि तरकारियां; मक्खन, अंगूर, दाड़िम, पका हुआ मीठा आम आदि फल भी खाया जा सकता है। रातको पुड़ी या रोटी, मोहनभोग (हलवा)। सबेरे गायको धारका दूध पीना अच्छा है।

वर्ज्जितकर्म—गुरुपाक, तीक्ष्णवीर्य्य, रूखा, अम्लजनक द्रव्य भोजन, श्रमजनक कार्य-सम्पादन, चिन्ता, भय, शोक, क्रोध, मानसिक उद्वेग, मद्यपान, निरन्तर बैठे रहना, आतपसेवा, इच्छाप्रतिकूल कार्य्यादि, मलमूत्र तृष्णा, निद्रा और भूख आदिका वेग धारण, रात्रिको जागरण और मैथुन अनिष्टकारक है।

उरुस्तम्भ और आमवात भी बातरोगमें माना गया है। इस लिये इन दोनों रोगोंके निदान और चिकित्सादिका विषय भी यहां लिखा जाता है—

उरुस्तम्भ रोगका निदान—,अधिक शीतल, उष्ण, द्रव, कठिन, गुरु, स्निग्ध वा रूखा पदार्थ भोजन, पहलेका किया हुआ भोजन जब तक पचे नहीं, तब तक ही फिर भोजन, परिश्रम, शरीरका परिचालन, दिनको सोना और रात्रिजागरण, आदि कारणोंसे कुपितवायु, श्लेष्मा, और आमरक्तयुक्त पित्तको दुषित कर उसमें अवस्थित होने पर उरुस्तम्भ रोग उत्पन्न करता है।

इसके लक्षण—इस रोगमें उरुस्तम्भ, शीतल, अचेतन भाराक्रान्त, और अत्यन्त वेदनायुक्त होता है और उठना बैठना मुश्किल हो जाता है। इस रोगमें अत्यन्त चिन्ता, अङ्गवेदना, स्तैमित्य—अर्थात् शरीरमें भींगे वस्त्रके स्पर्शका ज्ञान होना, आलस्य, कै, अरुचि, ज्वर, पैरकी अवसन्नता, स्पर्शशक्तिका नाश और कष्टसे सञ्चालन, ये सब लक्षण दिखाई देते हैं।

उरुस्तम्भ होनेके पहले अधिक निद्रा, अत्यन्त चिन्ता, स्तैमित्य ज्वर, रोमाञ्च, अरुचि, कै और जंघा और ऊपरमें दुर्बलता आदि ये हो सब पूर्वरूप दिखाई देते हैं।

इस रोगके अरिष्ट लक्षण—इस रोगमें दाह, सूई चूभनेकी-सी वेदना, कम्प आदि उपद्रव होते हैं। ऐसा होने पर रोगीके जीनेकी आशा नहीं रहती। चिकित्सा—जिन क्रियाओं द्वारा कफकी शान्ति होती है, अथच वायुका प्रकोप अधिक न होने पावे, उरुस्तम्भमें वैसे ही चिकित्साकी जरूरत है। फिर भी रूक्ष क्रिया द्वारा कफको शान्त कर पीछे वायुको शान्त करना चाहिये। पहले स्वेद, लंघन और रुक्ष क्रिया करना कर्त्तव्य है। अधिक रुक्षक्रिया द्वारा वायुके अधिक कुपित हो जानेसे निद्रानाश आदि उपद्रव उठ खड़े होने पर स्नेह स्वेद आदिका व्यवहार करना चाहिये। डहर करञ्जाका फल और सरसों या अश्वगन्धा, आकन्द, नीम या देवदारुका मूल या दन्ती, इन्दुरकानी, रास्ना और सरसों या जैंत, रास्ना, सहिंजनकी छाल; वच, गुडुची और नीम ये कइयोंमें कोई एक योग गोमूत्रके साथ पीस कर उरुस्तम्भमें लेप करना होगा। सरसोंका चूर्ण और नोनी मिट्टी मधु (सहद) के साथ मिला कर या धतुरेके रसमें पीस कर गरम गरम प्रलेप करना चाहिये। काले धतुरेकी जड़ चेंडोफल, लहसून, काली मिर्च, कालाजीरा, जैतका पत्ता, सहिजनकी छाल और सरसों इन सब दवाओंको गोमूत्रके साथ पीस गरम कर प्रलेप करनेसे इस रोगकी शान्ति होती है।

त्रिफला, पीपल, मोथा, कटकी इनका चूर्ण अथवा केवल त्रिफला और कटकी, इन दो चीजोंका चूर्ण आध तोला शहदके साथ सेवन करनेसे उरुस्तम्भ आराम होता है। पीपलामूल, भेला और पीपल,—इसका काढ़ा बना कर इसमें मधुका छींटा दे कर पीनेसे भी यह रोग दूर होता है। भल्लातकादि और पिप्पल्यादि पाचन, गुञ्जाभद्रस, अष्टकट्वरतैल और महासैन्धवादि तैल आदि औषध भी उरुस्तम्भ रोगमें प्रयोग की जा सकती हैं।

आमवातके निदान और लक्षण—एक साथ दूध और मछलीका विरुद्ध भोजन, स्निग्धान्न भोजन, अधिक मैथुन, व्यायाम, तैरना, जलक्रीड़ा, अग्निमान्द्य, और गमनागमनशून्यता आदिसे अपक्क आहार रस, आमाशय और सन्धिस्थल, आदि कफस्थानमें वायु सञ्चित और दुषित हो आमवात उत्पन्न करता है। व्यावहारिक वातमें इस रोगको वायुरोग कहते हैं। अङ्गमर्दन, अरुचि, तृष्णा, आलस्य, देहका भारीपन, ज्वर, अपरिपाक और सूजन ये कई आमवातके साधारण लक्षण हैं। **कुपित आमवातके उपद्रव**—आमवात कुपित होने पर सब रोगोंकी अपेक्षा अधिक कष्टदायक होता है और उस समय हाथ, पैर, शिर, गुल्फ, कटि, जानु, उरु और सन्धिस्थानोंमें अत्यन्त वेदनायुक्त सूजन पैदा होती है। और भी इस समय दुष्ट आम (आंव) जिन जगहोंमें रहता है, उन स्थानोंमें बिच्छूके डंककी तरह वेदना, अग्निमान्द्य, मुख-नाकसे जल गिरना, उत्साहहानि, मुंहका फीकापन, दाह, अधिक मूत्रश्राव, कांखमें दर्द, और कठिनता, दिनको निद्रा, रातको अनिद्रा पिपासा, कै, भ्रम, हृदय वेदना, मलबद्धता, शरीरकी जड़ता, उदरमें शब्द और आनाह आदि उपद्रव होते हैं। वातज आमवातमें शूलवत् वेदना पैत्तिक गात्रदाह और शरीरमें लालिमा और कफजमें भीगे कपड़ेके निचोड़नेकी तरह अनुभव, भारीपन और खुजलाहट ये ही सब लक्षण दिखाई देते हैं। दो या तीन दोषोंके संमिश्रणसे ये सारे लक्षण मिले हुए दिखाई देते हैं।

चिकित्सा—पीड़ाकी प्रथमावस्थामें उत्तम रूपसे चिकित्सा करना आवश्यक है। नहीं तो कष्टसाध्य या असाध्य हुआ करता है। बालूकी पुटली गर्म कर इससे दर्दकी जगह सेंकना चाहिये। कपासका बीज कुलथी तिल, जौ, लाल परंडकी जड़, मसीना, पुनर्नवा, शनबीज—इन सब बीज या इनमें जोही मिल जाये, उसको कूट कर मट्ठेमें भिंगा कर दो पुटली तैयार करनी होगी। एक हाड़ीमें मट्ठे दे कर एक बहुतेरे छिद्रवाले ढकनेसे हाड़ी ढक कर मुंह पर लेप देना होगा। पीछे मट्ठेसे भरी हाड़ी अग्नि पर चढ़ाकर ढकने पर एक एक पुटली गर्म करनी होगी, इस गर्म पुटलीसे सेंकने पर आमवातका दर्द दूर होता है। इस सेंकका नाम शंकरसेक है। छत्रक, सहिंजनेकी छाल, नोनी मिट्टी गोमूत्रमें पीस कर इसका लेप करनेसे आमवातकी पीड़ा शान्त होती है। अथवा सोयाँ, वच, सोंठ, गोखरू वरुणछाल, पीला बीजबन्द, पुनर्नवा, कचूर, गन्धभादुल, जैंतका फल और हींग—इन सब चीजोंको मट्ठेके साथ पीस कर गर्म करके लेप करना। काला जीरा, पीपल, नाटा बीजका गूदा, सोंठ बराबर भाग ले कर अदरकके रसमें पीस गर्म कर प्रलेप देनेसे शीघ्र पीड़ा शान्त होती है। तीन कांटासीज, गोंद, नमक मिला कर दर्दकी जगह लगानेसे दर्द दूर होता है।

चिता, कटकी, आकनादि, इन्द्रयव, आतइच और गुलञ्च अथवा देवदारु, वच, मोथा, सोंठ और हरीतकी इनका समभाग पीस कर गरम जलके साथ हर रोज पीनेसे आमवात नष्ट होता है। कपूर, सोंठ, हरीतकी, वच, देवदार, आतइच और गुलञ्च मिला हुआ २ तोले जल आध सेर, शेष आध पाव यह काढ़ा पीनेसे आमवातका दोष दूर होता है।

पुनर्नवा, वृहती, भेरेण्डा और वनतुलसी या सूचीमुखी, सहिंजन और पारिजातका काढ़ा बना कर सेवन करनेसे आमवात दूर होता है। रेड़ीकी जड़ दूधमें पका कर चाटने या गोमूत्रके साथ गुग्गुल पीनेसे बड़ा उपकार होता है। सोंठ, हरीतकी और गुलञ्च मिला हुआ २ तोले, जल आध सेर, शेष आध पाव—इस काढ़ेमें थोड़ा गुग्गुल डाल कर थोड़ा गरम रहे तब पीनेसे कमर, जांघ, ऊरु और पीठकी वेदना दूर होती है। हिंग १ भाग, चव्य २, विट्लवण ३, सोंठ ४, पीपल ५, मंगरैला ६ तथा पुष्करकी जड़ ७ भाग इन सबोंका चूर्ण गरम जलके साथ पीनेसे आमवात शीघ्र ही निराकृत होता है। इनके अलावे हिङ्ग्वादिचूर्ण, पिप्पलाद्यचूर्ण, पथ्याद्यचूर्ण, रसोनादिकषाय, रास्नापञ्चक, शट्यादि, रास्नासप्तक, पुनर्नवादिचूर्ण, अमृताद्यचूर्ण, अलम्बुषादिचूर्ण, असीतक चूर्ण, शुण्ठीधन्याकघृत, शुण्ठीघृत, काञ्जिकषट्पलघृत, शृङ्गवेराद्यघृत, इन्दुघृत, धान्वन्तरघृत, महाशुण्ठीघृत, अजमोदादि प्रसारणीलेह, खण्डशुण्ठी, रसोनपिण्ड, प्रसारिणीतैल, द्विपञ्चमूलाद्यतैल, सैन्धवादितैल, वृहत्

सैन्धवादि तैल, स्वल्पप्रसारिणीतैल, दशमूलाद्यतैल, मध्यम राम्नादिकाथ, महाराम्नादिकाथ और रास्नादशमूल आदि औषध इस रोगमें बड़ी फायदेमंद हैं।

(भावप्र० आमवातरोगाधि०)

वातव्याधि रोगोक्त कुब्जप्रसारिणी और महामाष आदि तैल भी इसमें विशेष उपकारक है।

भैषज्यरत्नावलीकें इस रोगाधिकारमें निम्नोक्त औषध दी हुई है, जैसे—रास्नादि दशमूल, रास्नासप्तक, रास्नापञ्चक, वैश्वानरचूर्ण, अजमोदादिवटक, आमगजसिंहमोदक रसोनपिण्ड, महारसोनपिण्ड, वातारिगुग्गुलु, योगराजगुग्गुलु, वृहद्योगराजगुग्गुलु, वृहद्सैन्धवाद्यतैल, द्वितीय सैन्धवाद्यतैल, आमवातारिवटिका, आमवातारिरस, आमवातेश्वररस, त्रिफलादिलौह, विड़ङ्गादिलौह, पञ्चाननरसलौह, वातगजेन्द्रसिंह और विजयभैरवतैल आदि और विविध मुष्टियोग अभिहित हैं।

(भैषज्यरत्ना० आमवातरोगाधि०)

पथ्यापथ्य—दिनमें पुराना चावल, कुलथी, उड़द, मूंग, चना और मसूरकी दाल, परवल, डुंबर, मानकच्चू, करेला, सहिंजन, बैगन, अदरक आदि तरकारी, बकरे, कबूतर आदिके मांसका जूष, जितना घी पचा सके उतना घी, अम्ल और मट्ठा आहार करे। रातमें रोटी या पुड़ी और यह सब तरकारी सेवनीय है। स्नान जितना कम करे, उतना ही अच्छा है। नितान्त ही स्नानका आवश्यक होनेसे गरम जलमें स्नान करना होगा। वायुका प्रकोप अधिक होनेसे नदीमें स्नान या सोतेके प्रतिकूल तैरना उपकारी है।

निषिद्ध कर्म—कफजनक द्रव्य, मछली, गुड़, दही, उड़द और बहुत मीठा खाना, मलमूत्रादिका वेगधारण, दिवानिद्रा, रात्रिजागरण और ठंढक विशेष अपकारी है। ज्वर रहने पर अन्न खाना बन्द कर हलका पदार्थ खाना चाहिए।

होमिओपैथिक मतसे चिकित्सा।

यह रोग साधारणतः तीन प्रकारका है—(१) एक्यूट (Acute Rheumatism) या तरुण और कठिन। (२) सब-एक्यूट (Sub-acute) या अप्रबल। (३) क्रानिक (Chronic) या पुराना। पहले या दूसरे प्रकारके रोग सहजमें आराम हो जाते तथा तीसरे प्रकारका रोग कष्टदायक होता है, वह सहजमें नहीं छूटता।

तरुणवात (Acute rheumatism)

तरुण और कठिन या एक्यूट बातरोगमें (Acute Rheumatism) एक वा उससे अधिक ग्रन्थिमें विशेष प्रकारका प्रदाह उत्पन्न होता है। सभी संधियां एक वार या क्रम क्रमसे आक्रान्त होती हैं। इससे प्रबल-ज्वरमें सभी लक्षण मौजूद रहते हैं। इसलिये इसका दूसरा नाम—रूमाटिक फिवर (Rheumatism fever) है।

डा० प्राउट (Dr. Prout) का कहना है, कि पसीने द्वारा चमड़ेसे लाक्टिक् एसिड बाहर होता है। कभी कभी शरीरकी हालतमें यह बहुत अधिक निकलता है। उस समय शरीरमें ठंढी हवाके लगनेसे उक्त एसिड बाहर नहीं निकल सकता तथा उसकी उत्तेजनाके लिये ग्रन्थिका रक्ताम्बुस्रावी विधानसमूह प्रदाहान्वित हुआ करता है। बहुतेरे इस मतको मानते हैं; किन्तु परीक्षा द्वारा लोहूमें उक्त प्रकारका एसिड नहीं पाया जाता, अथच वह पेरिटोनियम कोटरमें इञ्जेक्ट करनेके समय अथवा सेवन करनेके पीछे प्रबल वातरोगके सभी प्रधान उपसर्ग (पेरिकार्डाइटिस और एण्डोकार्डाइटिस आदि पीड़ा) प्रकाश करता है, किन्तु उससे भी सभी संन्धियाँ प्रदाह-युक्त नहीं होती। डा० ह्यूटर (Dr. Hueter) कहते हैं, कि रक्तस्रोतमें एक प्रकारका सूक्ष्म उद्भिज्ज प्रवेश करता है तथा उसकी उत्तेजनाके कारण एण्डोकार्डाइटिस और गांठोंमें जलन होती है। डा० डकवर्थ और चार्कट साहब (Dr. Duckworth and Charcot)-का मत है, कि किसी किसी मनुष्यकी एक साधारण शारीरिक प्रकृति होती है जिससे रूमाटिजम् या गाउट रोग उत्पन्न होता है। डा० हचिनसन (Dr. Hutchinson)का कहना है, कि शीत या ठंढक लगनेसे सब गांठोंसे एक प्रकारका काट्यारेल प्रदाह पैदा होता है।

यह पीड़ा कभी कभी कुलगत अर्थात् पितृपुरुषोंसे मिल जाती है। सचराचर १५से लेकर ३५ वर्ष उम्रवाले व्यक्तियोंको यह पीड़ा होते देखी जाती है। नाना कार्यवशात् पुरुष तथा दरिद्र लोग सर्वदा इस रोगसे

आक्रान्त रहते हैं। कहीं कहीं बालकोंको भी यह पीड़ा हुआ करती है। न अधिक ठंढा न अधिक गरम देशमें या भींगी जगहमें वास करने, शारीरिक अस्वस्थता और मनःकष्ट रहने तथा आगे वाली गाँठमें चोट लगनेसे यह रोग उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है।

पसीना निकलते समय शीत लगने, देर तक भींगा कपड़ा पहन कर रहने और अनियम आहार करनेसे यह रोग धर दबाता है। वीर्य रोकने अथवा बच्चोंको हमेशा स्तन पिलाने, किसी कारणवश त्वक्‌की क्रियाका लोप होने (जैसे स्कार्लेट फिवरमें) और अधिक अङ्ग हिलाने डुलानेसे यह रोग हो सकता है।

शारीरिक परिवर्त्तनमें बड़ी बड़ी गांठोंके फाइब्रोसिरस् और साइनोविएल् विधानमें प्रदाहके चिह्न देखे जाते हैं। साइनोविएल विधान आरक्तिम और स्थूल तथा वहांकी सभी रक्तनालियां स्फीत होते देखी जाती हैं। ग्रन्थिमें लिम्फ, तरल सिरम् और कभी कभी मवाद रहता है तथा उसके बीच कार्टिलेज क्षत हो सकता है। निकटकी सब जगहें सिरम् द्वारा स्फीत होती हैं। हृत्पिण्डाभ्यन्तरमें विशेषतः भालभोंके ऊपर स्तर स्तरमें फाइब्रिन देखा जाता है। पेरिकार्डाइटिस्, एण्डोकार्डाइटिस्, माइओकार्डाइटिस्, मेनिञ्जाइटिस् तथा कभी कभी प्लुरिसि और न्यूमोनियके लक्षण मौजूद रहते हैं। खूनमें बेशी फाइब्रिन् उत्पन्न होता है तथा उसमें स्वभावतः सहस्र अंशका तीसरा अंश फाइब्रिन् रहता है, किन्तु इस पीड़ामें वह द्विगुण रहता है। खून चूस कर काँचके गिलासमें रखनेसे उस पर गायकी चरबी या तेलके समान मलाई पड़ जाती है।

साधारण लक्षण—सचराचर शीत और कम्प द्वारा पीड़ा शुरू हो कर पीछे ज्वर आता है। चमड़ा गरम तथा पसीनेसे भरा रहता है, कभी कभी उस पर फुन्सियाँ होते देखी जाती हैं। पसीनेसे एक प्रकारकी खट्टी गन्ध निकलती है गांठमें वेदना होनेसे रोगीका मुख मलिन और कष्टकर होता है। नाड़ी तेजसे चलती है। प्यास अधिक लगती है, भूख कम हो जाती है, जीभ मैलसे भर जाती है, मल रुद्ध हो जाता है, अस्थिरता तथा कभी कभी प्रलाप आदि लक्षण वर्त्तमान रहते हैं। मूल थोड़ा और लाल होता है, उसके अधःक्षेपमें अधिक इउरेटस पाया जाता है। कभी कभी सामान्य एलबुमेन रहता है। उत्ताप एक सप्ताह तक बढ़ कर पीछे कम हो जाता है, किन्तु प्रातःकालमें स्वल्प विराम देखा जाता है। बहुत जगह तापमान १०० से १०४ तक, कभी कभी ११० से ११२ तक हो सकता है। उत्ताप अधिक होनेसे सभी लक्षण अत्यन्त गुरुतर हो जाते हैं। रोगी बड़ा दुर्बल हो जाता है और अस्थिरता तथा बीच बीचमें कांपता है। क्रमशः अधिक प्रलाप और अन्यान्य विकारोंके सभी लक्षण उपस्थित होते हैं, अन्तमें जोण्डिस, रक्तस्राव, उदरामय या श्वासकृच्छ्र द्वारा मृत्यु हुआ करती है। हृत्पिण्ड आक्रान्त होनेसे रोगीको कार्डियेक् स्थानमें अस्वच्छन्दता और वेदना मालूम होती है।

सचराचर जंघा, केहुनी, गुल्फ और मणिबन्धकी सभी सन्धियाँ आक्रान्त होती हैं; किन्तु दूसरी दूसरी ग्रन्थियां भी पीड़ित होती है। क्रमशः बहुत सन्धियोंमें ही प्रदाह उत्पन्न होता है। कभी कभी एक सन्धिकी जलन दूर होती और दूसरी सन्धिकी जलन बढ़ जाती है। हमेशा दोनों पार्श्वोंकी सभी सम सन्धियाँ एक साथ आक्रान्त होते देखी जाती हैं। पीड़ित सन्धि स्फीत, उत्तप्त, वेदना युक्त तथा ललाई लिये होती हैं। चारों पार्श्वोंके विधान सिरमके द्वारा स्फीत तथा वहांका चमड़ा अंगुलीसे दबानेसे धस जाता है। अङ्ग हिलाने डुलानेसे वेदना होती है। वेदना कनकन तथा समय समय पर यह ऐसी असह्य हो जाती है, कि रोगी चिल्ला कर रोने लगता है। सन्धिके अधिक स्फीत होनेसे कभी कभी वेदना कम हो जाती है।

सर्वदा एण्डोकार्डाइटिस्, पेरिकार्डाइटिस, निमोनिया तथा प्लुरिसि उपस्थित होते हैं। स्त्रीकी अपेक्षा पुरुषमें अधिक पेरिकार्डाइटिस् दृष्टिगोचर होता है। कारण जवान पुरुष हमेशा कष्टकर व्यवसाय अवलम्बन करता है। कहीं कहीं पेरिटोनाइटिस्, मेनिञ्जाइटिस्, कोरिया, टेन्सिलाइटिस्, अफथालमिया, स्क्लेरोटाइटिस् वा आइराइटिस देखे जाते हैं। एरथिमा, आर्टिकेरिया पर्पिउरा आदि चर्मरोगोंमें भी दृष्टिगोचर होता है। प्रति दिन हृत्पिण्डकी परीक्षा करनी उचित है। युवक हमेशा

हृत्पिण्डसे आक्रान्त होता है। इससे अनुमान होता है, कि हृत्पिण्डके वालवेके ऊपरका फाइब्रिन चूर्ण उपच्छत्राकारमें चल कर मस्तिष्कमें आवद्ध होनेसे कोरिया उपस्थित हो सकता है। साधारणतः बालकोंको कोरिया हुआ करता है। बालक और युवकके शरीरमें खास कर सभी सन्धियोंके पास छोटा छोटा अर्बुद पैदा होता है एवं बीच बीचमें वह अदृश्य हो जाता है।

अधिकांश रोगी आराम हो जाता है; किन्तु किसी न किसी आभ्यन्तरिक यन्त्रमें विशेषतः हृत्पिण्डके छेदमें कुछ परिवर्त्तन जरूर रह जाता है। यह रोग फिर हो सकता है। क्रमशः सभी सन्धियाँ मजबूत और विकृत होते देखी जाती हैं तथा कभी कभी इन सब स्थानोंमें शूलवत् वेदना होती है।

गाउट, एरिसिप्ल्यास्, पायिमिया, इनफ्लुएञ्जा, ट्रिचनोसिस, हिलेपसि फिवर और डेङ् गुज्वरके साथ इस रोगका भ्रम होता है। पहले पीड़ाके साथ पृथकता पीछे वर्णनीय होता है। एरिसिप्ल्यास तथा डेङ् गुज्वर की तरह शरीरमें पित्त उछल आता है। ट्रिचिनोसिस् रोगमें अत्यन्त दुर्बलता, उदरामय और विकारके सभी लक्षण जल्द ही उपस्थित हो जाते हैं। रिलापसिं फिवरसे रोगी बार बार आक्रान्त हुआ करता है। पायिमिया पीड़ासे नाना स्थानोंमें फुंसियाँ निकल आती हैं तथा इनफ्लुएञ्जामें सर्दी होती है।

यह रोग ३से ६ सप्ताह तक रोगीको कष्ट देता है।

प्रबल वातरोग प्रायः आरोग्य होता है; किन्तु उत्तापकी अधिकता, प्रलाप, आक्षेप, अचैतन्य, हृत्पिण्ड वा फुस्फुस्की अनेक तरहकी पीड़ा और विकारके दूसरे दूसरे लक्षण मौजूद रहनेसे गुरुतर कहा जाता है। इसकी गतिके मध्य कोरिया उपस्थित होनेसे रोग प्रायः सांघातिक होता है।

रोगीको फलालेन अथवा दूसरा कोई गरम कपड़ा पहननेका परामर्श देना आवश्यक है। पीड़ित अङ्ग तकिये पर स्थिरतासे रखना चाहिये। शरीरमें किसी तरहकी ठण्ढी हवा न लगावें। हृत्पिण्डकी परीक्षा करनेके लिये अंगरखेमें एक छेद रखना उचित है तथा उससे हो कर हर रोज ष्टेथेस्कोप द्वारा आघात सुने। प्यास बुझानेके लिये लेमनेड, बार्लिवाटर अथवा बर्फ दे। उत्ताप दूर करनेके गरजसे उक्त बाथ किंवा टर्किस बाथ उत्ताप एवं अधिक रहनेसे वेट पैकिंग अथवा कोल्ड बाथ व्यवहार करे।

बहुतोंका कहना है, कि स्यालिसिन् स्यालिसिलिक एसिड किंवा स्यालिसिलेट अव सोडा १०से २० ग्रेनकी मात्रामें ३।४ घंटे पर देनेसे बड़ा फायदा पहुंचता है। किन्तु पीड़ाकी सभी अवस्थाओंमें उसका व्यवहार नहीं किया जाता। विकारके सभी लक्षण रहने अथवा हृत्पिण्ड आक्रान्त होनेसे उससे उपकार नहीं; बल्कि अपकार हो सकता है। उत्ताप अधिक रहनेसे तथा व्याधि सामान्य रहनेसे उक्त औषध सब तरहकी वेदना और उत्ताप निवारण करती है सही, पर कहीं कहीं उतना फायदा नहीं पहुंचाती। ब्रिष्टल नगरके रहनेवाले डा० स्पेन्सर (Dr. Spencer)ने १५ ग्रेन स्यालिसिलिक एसिड, २ ड्राम लाइकर एमोनिया साइट्रेटिस तथा १॥ ग्रेन एक्स्ट्राक्ट ओपिआइ जलके साथ मिला कर ३।४ घंटे पर गांठकी जलनमें व्यवहार कर फल लाभ किया हैं। कितने चिकित्सक जलन या दर्द मिटानेके लिये दूसरी दूसरी अवसादक औषध, जैसे—एकोनाइट्, डिजिटेलिस्, एण्टिपाइरिन् और भेरेट्रिया आदि व्यवहार किया करते हैं; किन्तु यह औषध बड़े सावधानीसे प्रयोग करना उचित है। इस रोगमें क्षार औषध बड़ी फायदेमंद होती हैं। उनमेंसे पटाश सम्बन्धी लवण विशेषतः वाइकार्ब्व, साइट्रास, नाइट्रास और आइओडिड् तथा फस्फेट या वेनजयेट आव एमोनिया विशेष फलप्रद हैं। कभी कभी नेबूके रससे भी फायदा पहुंचता है। वेदनामें अफीम और मर्फिया व्यवहार करना चाहिए। अन्यान्य औषधोंमें ट्राइमिथिमाइन् इकथियन, टिं अर्गट् और टिं एकटिया रेसिमोसा विशेष उपकारी है। ज्वर कुछ कम होने पर कुनाइन दे सकते हैं। पहले रक्तमोक्षण और पारदघटित औषध प्रयोग होती थीं, अभी उस आसुरिक चिकित्साका प्रचलन एकदम नहीं देखा जाता। कोई कोई कलचुसाई दिया करते हैं। कलेजेमें वेदना होनेसे उसका व्यवहार करना एकदम मना है। पीड़ा कठिन और विकारयुक्त होनेसे उत्तेजक औषध तथा सुरा दी जा सकती है। यथानियम उपसर्गादिकी चिकित्सा करना आवश्यक है।

कोई कोई चिकित्सक फूली हुई गांठमें जोंक लगानेको सलाह देते हैं; किन्तु उसकी उतनी आवश्यकता नहीं। पीड़ित स्थानमें नाईटर वा पापिहेड फोमेन्टशन करें। वेलेडोना वा ओपिआई लिनिमेण्ट मर्दन अथवा अफीम वा वेलेडोनाकी पोल्टिश देनेसे बहुत लाभ पहुंचता है। कोई कोई पीड़ित गांठको स्यालिसिलेट आव सोडा लोसनसे भिगोते रहनेका परामर्श देते हैं। दूसरे दूसरे ग्रन्थकार उसके ऊपर कोल्डकाम्प्रेस देनेको कहते हैं। पीड़ाके कम हो जाने पर गाँठके ऊपर लाइकर एपिसपाष्टिकस्‌का लेप किंवा एमोनियाकम् प्लष्टर द्वारा देना चाहिये। गांठमें अधिक मवाद पैदा हो जाने पर एस्पिरेटर द्वारा उसे बहा देना उचित है। ज्वर तथा वेदनाके कम हो जाने पर कड्लिवर आयल तथा टिं ष्टिल व्यवहार करे।

अप्रबल वातरोग (sub acute rheumatism)

इस वातरोगमें एक वा दो गाँठें बहुत दिन पर्य्यन्त आक्रान्त रह जाती हैं। कुछ कुछ ज्वरके लक्षण भी वर्त्तमान रहते हैं। ग्रन्थियाँ परिवर्द्धित वा विकृत नहीं होतीं। एक सामान्य कारण पा कर भी वेदना बढ़ जाती है। रोगीका स्वास्थ्य जिस तरह रहना चाहिये, उससे और भी घट जाता है। प्रबल वातरोगकी चिकित्साके समान इसमें औषध आदिकी व्यवस्था करनी चाहिये।

पुराना वातरोग। (Chronic Rheumatism.)

सचराचर बुड्ढोंको ही यह व्याधि होती है। यह कभी कभी तरुण वातरोगके परिणामके फलसे उपस्थित होता है। इसमें सभी गाँठ मोटी कड़ी हो जाती है तथा रोगीको चलने फिरनेमें बड़ा दर्द होता है। रातमें तथा शीत और वर्षाके समय यह वेदना और इसके सभी लक्षण दिखाई पड़ने हैं। कभी कभी वृद्ध व्यक्तियोंकी गाठें विकृत हो जाती हैं, उसे गाँठवात (RheumaticGout) कहते हैं।

इस रोगमें शरीरमें ठण्ढा लगाना उचित नहीं। फलालेन आदि गर्म कपडा पहनना आवश्यक है। गर्म या टर्किस बाथ तथा गंधक, नमक और क्षार आदि मिले जलसे स्नान कराना चाहिए। पीड़ित ग्रन्थि पर कोई उत्तेजक या एनोडाइन औषध (काम्फर ओपिआई, वेलेडोना या एकोनाइट लिनिमेण्ट) मालिश कराना उचित है। आभ्यन्तरिक औषधोंमेंसे पोटाशी आइओडिड, कड्लिभार आयल, फेरि आइओडाइड, गंधक, सार्जा, टिं एक्टिया रेसिमोसा और गोयेकम आदि प्रयोग करने योग्य हैं। समय समय पर गांठ पर व्लिष्टर किंवा टिं आइअडिन्‌का प्रलेप दिया जाता है। एमप्लाष्ट्रम एमोनियाकम् या मार्किवेरियल प्लाष्टर द्वारा गांठ पर पट्टी बांधनी चाहिये। गांठ पर गंधक लगा कर उस पर फलानेल बैंडेज बांधनेसे वेदना कम हो जाती है। कभी कभी अविराम ताड़ित स्रोत देनेसे और शरीरको मालिश करनेसे बड़ा फायदा पहुंचता है। रोगीको बीच बीचमें घुमने फिरनेका परामर्श देना चाहिये। यूरोपीय चिकित्सक लोग ह्यारोगेट, भिचि आदि धातु मिला हुआ जल पीनेकी अनुमति देते हैं।

पैशिक वात (Myalgia or muscular rheumatism)

पेशीके क्रियाधिक्यके बाद अथवा शीतल वायु संस्पृष्ट होनेसे पैशिक वात उत्पन्न होता है। यह रोग प्रायः कृषक और दुर्बल स्त्रियोंको हुआ करता है। रातमें अथवा हठात् यह पीड़ा शुरू हो जाती है। पीड़ित पेशीमें वेदना और आकृष्टता रहती है, छूने अथवा हिलाने डुलानेसे यह बढ़ता है। जवानीमें उत्तापके साथ वेदना भी बढ़ती है। कभी कभी पेशीमें स्पन्दन या आक्षेप उपस्थित होता है। रोगी पीड़ित अङ्गको स्थिरभावसे रखना पसन्द करता है। कहीं कहीं पीड़ित पेशीको धीरे धीरे दबानेसे आराम मालूम पड़ता है। ज्वरके सब लक्षण नहीं रहते; किन्तु अनिद्रा और वेदनासे रोगी थोड़ा सुस्त पड़ जाता है। कलेजे पर आघात नहीं पहुंचता। थोड़े दिनों तक प्रबल अवस्था रहती है। उसके बाद पुराना हो जाता है। अप्रबल अवस्थामें उत्ताप छूनेसे वेदना घट जाती है, सही पर वर्षाकालमें वायु लगनेसे वह फिर बढ़ जाती है। यह पीड़ा बार बार हो सकती है।

कहीं कहीं इसके विविध नाम हैं; शिरकी पेशी रोगाक्रान्त होनेसे केफेलोडिनिया (Cephalodynia); गलेके पेशी रोगाक्रान्त होनेसे टार्टकोलिस (Torticolis)

या राइनेक (Wryneck); पीठकी पेशी रोगाक्रान्त होनेसे डर्सोडिनिया (Dorsodynia); कमर पेशीमें रोगाक्रान्त होनेसे लम्बेगो (Lumbago) तथा पंजरकी पेशी रोगाक्रान्त होनेसे प्लुरोडिनिया (Pleurodynia) कहते हैं। इनमेंसे कितने ही विषयोंकी विस्तार रूपसे आलोचना करनेकी जरूरत है।

कभी कभी बाएं पंजरेके नीचेकी पेशी तथा हण्टर कष्टेल्स्, पेक्टोरालस और सेरेटस् मैगनस आदि मांस पेशी आक्रान्त होती है। निःश्वास प्रश्वासमें तथा खाँसने या हिचकी आनेके समय उसकी वेदना बढ़ जाती है। कभी कभी प्लुरिसके साथ इसका भ्रम हो सकता है। किन्तु प्लुरिसिमें ज्वरके लक्षण और मर्दन (Friction) मौजूद रहते हैं। समय समय पर जोर खाँसी होनेसे यक्ष्मारोगीके समान दोनों पंजरमें पीड़ा होती है।

लम्बेगो—इसमें कमरकी एक बगलमें अथवा दोनों बगलमें हमेशा कन कन् वेदना होती रहती है। रोगीको उठने बैठनेमें बड़ा दर्द होता है। वह वक्र हो कर चलता है। दबानेसे तथा बहुत जगह उत्तापसे वेदना होती है।

राइनेक—इसमें सर्वदा मस्तक-चालक पेशी आक्रान्त होती रहती है। रोगीका कंधा एक ओर टेढ़ा हो जाता है और हिलाने डुलानेसे वेदना होती है। इनके अलावे कभी कभी प्लाण्टर फॉसिया, डायेफ्राम् और चक्षुगोलककी पेशी भी आक्रान्त हो सकती है।

तरुणावस्थामें पीड़ित पेशी स्थिरतासे रखनी चाहिए। प्लुरोडिनियामें आक्रान्त पार्श्व एक टुकड़ा ष्टिकिं प्लाष्टर द्वारा ष्ट्राप करें। लम्बेगो पीड़ामें एम्प्लाष्ट्रम् फेरि द्वारा ष्ट्राप करके उसके ऊपर फलानेलका बैंडेज बाध कर रखना उचित है। दूसरे दूसरे तरीकेसे माष्टर्ड प्लाष्टर, तार्पिनका सेक अथवा पपिहेड् फोमेण्टेषण विधेय है। शुष्क उत्तापसे वेदना बढ़ती है। कभी कभी कोमलतासे मलनेसे उपकार होता है, लम्बेगो पीड़ामें मर्फियाका इंजेकसन करनेसे दर्द कम हो जाता है। कोष्ठ-परिष्कारके लिये आभ्यन्तरिक विरेचक औषध देना उचित है उसके बाद पोटाशी बाइकाब या आइओडिड अथवा सोडि सालिसिलेट सेवन तथा रातको अफीम दे पसीना निकालनेके लिये उष्ण पानी और वाष्पस्नान (Vapour bath) कराया जाता है। कहीं कहीं भीगा या सूखा कापिं और जोंक लगानेसे फायदा होता है।

रोग पुराना हो जाने पर क्लोराइड आव एमोनिया, पोटाशी आइओडाइड, गोयेकम्, मेजिरन, आर्सेनिक, नाना प्रकारके बालसम्, कल्चिकम, टि एक्टिया रेसिमोसी तथा मेजेरियन आदि व्यवहार करनेकी विधि है।

पुराने रोगमें प्रदाहान्वित स्थान पर टिं आइओडिन, ब्लिष्टर, अनेक प्रकारकी मालिश, ताड़ित स्रोत तथा करिगान्स (Corrigan's) लौहपात आदि संलग्न किया जाता है।

गनोरियासे होनेवाला वातरोग (Gonorheal Rheumatism)

प्रमेह रोगाक्रान्त व्यक्तिको एक प्रकारका वातरोग होता है। डा० गैरोड (Dr. Garrod) ने उसे पाइमियरके समान पीड़ा बतलाया है, किन्तु डा० हचिन्सनने (Dr. Hutchinson) उसे प्रकृत वातरोग कहा हैं।

घुटनेमें यह रोग अधिक देखा जाता है; किन्तु दूसरी दूसरी सन्धियां भी पीड़ित होती हैं। प्रदाहजनित लिम्फ और सिरम् निकलता है। पीड़ित सन्धि देखनेमें स्फीत, चमकीली तथा आकृष्ट होती है, कभी कभी उससे मवाद भी निकलता है। यह पीड़ा हमेशा होती रहती है और सन्धिके बीचमें मध्यस्थ लिगेमेण्ट और कार्टिलेज क्षत होनेसे सभी ग्रन्थियाँ विकृत दिखाई पड़ती हैं। कभी कभी अंगसंचालनसे रोगीको उसमें क्राक्लि स्पर्शका अनुभव होता है। समय समय पर अचलसन्धि (Anchylosis) उपस्थित होती है।

साधारण लक्षणोंमें शारीरिक अस्वस्थता, दुर्बलता इत्यादि लक्षण दिखाई देते हैं। इस पीड़ाके भोगकालमें एण्डोकार्डाइटिस्, पेरिकार्डाइटिस तथा प्लुरिसि उपस्थित हो सकते हैं। एण्डीकार्डाइटिस होनेसे प्रायः एण्डोकार्डियममें क्षत होता है।

घुटना आक्रान्त होनेसे उसे माकेण्टयर कृत वाड़के (Mc. Intyres splint) ऊपर रख कर फोमेण्ट करना चाहिये। प्रमेह रहने पर पहले उसे आराम करनेकी औषध प्रयोग करना उचित है और रातमें डोभर्स पावडरका प्रयोग करना चाहिये। यदि रोगी दुर्बल हो तो पहले शराब पीछे पोटाशी आइओडिड तथा वात-

रोगकी अन्यान्य औषध व्यवहार करना चाहिये। रोग पुराना होनेसे पहले गांठ पर किसी प्रकारका लिनिमेण्ट मर्द्दन करना तथा गांठका कुछ संचालन करना आवश्यक है। गांठमें मवाद हो जाने पर एस्पिरेटर नामक यन्त्रसे उसको बाहर निकाल डालना चाहिये।

रूम्यटयड आर्थाइटिस् (Rheumatoid Arthritis)

इसे रूमाटिज्म् और गाउटकी मध्यवर्त्ती पीड़ा कहते हैं। इसमें प्रथमोक्त पीड़ाकी तरह हृत्पिण्ड आक्रान्त नहीं होता अथवा शेषोक्त व्याधिके समान सन्धिकी अस्थि फुली हुई नहीं दिखाई देती। इस रोगमें सन्धियाँ क्रमशः विकृत हो जाती हैं। इस रोगका दूसरा नाम आर्थाइटिस डिफरमेन्स (Arthritis Deformans) है।

२०से ले कर ३० वर्षकी स्त्री तथा दुर्बल और दरिद्र मनुष्य साधारणतः इस पीड़ासे पीड़ित होते हैं।

ठंढा लगने, आघात पहुंचने, मनस्ताप, चिन्ता या मस्तिष्कमें धक्का पहुंचने अथवा अन्यान्य कारणोंसे यह रोग उपस्थित होता है।

पीड़ित सन्धिका साइनोविएल विधान देखनेमें आरक्तिम और स्थूल, अधिकांश कार्टिलेज और लिगेमेण्ट क्षतयुक्त, अस्थिका शेष भाग चमकीला और विवर्द्धित तथा स्थान स्थान पर हाथी दांतके समान सफेद और कठिन होता है। इस पीड़ामें अनेकानेक पेशी विशेषतः डेल्टएड्, स्कन्धकी त्रिकोणपेशी इण्टारोसाई तथा फिवर अस्थिके नीचेकी पेशी अत्यन्त क्षय प्राप्त होते देखी जाती है।

यह पीड़ा कमजोर या पुरानी अवस्थामें उपस्थित हो सकती है। डा० स्पेन्सरने इस पीड़ाके लक्षणोंको चार श्रेणियोंमें विभक्त किया है—(१) हृत्पिण्डका क्रियाक्षिप्य, (२) चर्मके, विशेषतः चक्षुके चतुष्पार्श्वमें कृष्णवर्ण तथा मस्तकके अग्रभागमें पीतवर्णविवर्णताका होना। (३) वासोमोटर नार्भके परिवर्त्तनके कारण चमड़े और हाथकी शीतलता। (४) अंगूठे और कलाईमें वेदना कमजोर होनेसे बहुत-सी ग्रन्थियाँ आक्रान्त तथा देखनेमें लाल, फुली और चमकीली होती हैं। रोगीको इन सब अवस्थाओंमें वेदना और खराबी मालूम होती है तथा ज्वरके सभी लक्षण उपस्थित रहते हैं, किन्तु रूमाटिज्मके समान अत्यन्त घर्म अथवा हृत्पिण्ड आक्रान्त होते देखा नहीं जाता। रोग पुराना हो जाने पर पहले एक ग्रन्थि सूजी हुई, वेदनायुक्त और उत्तप्त होती है। एकसे दो सप्ताहमें प्रदाह कम होता है। किन्तु पुनः थोड़े ही दिनोंमें ये सब लक्षण उपस्थित होते और अन्यान्य सन्धियां आक्रान्त होते देखी जाती हैं। ग्रन्थियाँ क्रमशः वक्र और विकृत हो जाती हैं। हाथकी मांसपेशी क्षय प्राप्त होती है। वे ष्टिं पाल्सीके साथ इस रोगका भ्रम हो सकता है। हाथ-पांवकी सभी उंगलियां ऊंची, मजबूत और विकृत हो जाती हैं। इसलिए रोगी चलने फिरनेमें असमर्थ हो जाता है। कभी कभी जबड़ेकी अस्थि और सार्वाइकेल वार्टिब्राकी सन्धि आक्रान्त होते देखी जाती है।

साधारण लक्षणोंमें पीड़ाके प्रारम्भमें सामान्य शीत, ज्वर, क्षुधामान्द्य, अनिद्रा, अस्थिरता आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। रातमें दर्द बढ़ जाता है। रोग पुराना होने पर पीड़ित व्यक्ति अत्यन्त दुर्बल और जीर्ण शीर्ण हो जाता तथा पेचिसके सभी लक्षण मौजूद रहते हैं।

इस रोगसे गाउट् और रूमाटिजमका भ्रम हो सकता है; इसके परस्परकी पृथक्ता पहले ही लिखी जा चुकी है।

अप्रबल पीड़ा प्रायः आराम हो जाती है; पुरानी होने पर आराम होना कठिन है, किन्तु रोगी बहुत दिनों तक जीता रह कर रोग भोग करता है।

रोगीको हमेशा गर्म वस्त्र पहननेकी सलाह देनी चाहिये। औषधोंमें कुनाइन, कड्लिवर आयल, सिरप फेरी आइओडिड्, पोटाश आइओडिड्, आर्सेनिक, गोयेकम्, टिं एकटिया रेसिमोसा, टिं साइमिसिपफ्यूगो, धातव जल तथा लौहघटित सब औषध उपकारी है। स्फीत और वेदनायुक्त स्थानमें टिं आइओडिड्, कार्वनेट आव सोडा या लिथिया लोसन तथा नाना प्रकारका लिनिमेण्ट दिया जा सकता है। मांसपेशी क्षयप्राप्त होनेसे ष्ट्रिक्निया और तड़ित् स्रोत व्यवहार या नियमित रूपसे मर्द्दन करना चाहिये। भोजनके लिये लघुपाक अथच बल-कारक और तरल द्रव्य देना उचित है। समय समय पर थोड़ी शराब देना और बीच बीचमें अङ्ग सामान्य भावसे संचालित करना उचित है।

छोटी सन्धियोंका वात या गाउट (Gout)

छोटी सन्धियोंमें यह एक प्रकारका विषजनित प्रदाह है। इस पीड़ामें खूनमें यूरिक एसिडका आधिक्य दिखाई देता है तथा पीड़ित ग्रन्थिमें यूरेट आव सोडा संचित होता। इस रोगका दूसरा नाम पोडाग्रा (Podagra) है।

उक्त व्याधिके निदानके विषयमें चिकित्सकोंके भिन्न भिन्न मत हैं। डा० गाड (Dr Garrod)का कहना है, कि इस पीड़ामें लहूमें यूरिक एसिडका भाग ज्यादा रहता है तथा वह नियमितरूपसे दग्ध न हो कर सन्धियोंमें जमा हो जाता है। रासायनिक परीक्षा द्वारा स्थिर हुआ है, कि पीड़ित व्यक्तिके खून, मूत्र, ब्लिष्टरके रस तथा कभी कभी उदरी रोगजनित सिरमूमें उक्त यूरिक एसिड पाया जाता है। फिर दूसरी श्रेणीके चिकित्सक, विशेषतः डा० ओर्ड (Dr, Ord) और डा० बृष्टो (D, Bristowe) कहते हैं, कि विधान-विशेषकी खराबीके कारण वहां पहले यूरेट आव सोडा उत्पन्न होता है तथा वहांसे रक्त संचालित हो कर कर्णके और अन्यान्य कार्टिलेजोंमें संचलित हो जाता है।

यह एक कौलिक पीड़ा है। ३० वर्षसे ज्यादा उम्र वाले व्यक्तिको ही यह पीड़ा होती है। कभी कभी एकको छोड़ दूसरे व्यक्तिको यह पीड़ा धर लेती है। कई जगहमें तो यह देखा जाता है, कि उसका विषात्मक पदार्थ मात्र रक्त द्वारा परिचालित होता है। अर्थात् जिस व्यक्तिको यह पीड़ा होगी उसके पोतेकी अपेक्षा नाती ही अधिक आक्रान्त होते हैं। बहुत अधिक मांस खानेसे और शराब पीनेसे, मैथुन करनेसे आलसी मनुष्यके ठंढे देशमें रहनेसे, या भींगा कपड़ा पहननेसे और थोड़ी उमरमें शादी करनेसे यह रोग धर दबाता है।

कभी कभी अधिक शारीरिक या मानसिक परिश्रम करनेसे शरीरमें विशेषतः पसीना चलनेके वक्त ठण्डी हवा लगनेसे, गांठमें चोट लगनेसे, वेशी खानेसे तथा क्रोध, शोक, अतिशय उल्लास इत्यादिसे यह भी रोग उत्पन्न होता है।

कभी कभी पांवके अंगूठे गांठ विशेषतः मेटटोर्सो फेलेञ्जिएल (Metatarso Phatangeal) प्रदेश आक्रान्त होता है। उस समय वह देखनेमें फूला हुआ और लाल होता है। कहीं कहीं दूसरी दूसरी सन्धियोंमें भी प्रदाहके चिह्न रहते हैं। पहले ग्रन्थिके कार्टिलेजके उपरीविभागमें यूरेट आव सोड़ा सूक्ष्माकारमें संचित होता है; पीछे वहांके लिगेमेंट और साइनोविएल विधानोंमें क्रमशः सञ्चरित और संगृहीत होता है तथा उसी लिए सभी संधियां मजबूत और विकृत देखी जाती हैं। कभी कभी सभी टोफाई चमड़ेको विदीर्ण करके बाहर निकल पड़ते है। समय समय पर कर्ण, नासिका, लेरिंस और आंखकी पपनियों पर ऐसा पदार्थ देखा जाता है। मूत्रपथ संकुचित और प्रदाहयुक्त होता है तथा उसके स्थान स्थान पर टोफाई बाहर होता देखा जाता है।

गाउट् प्रधानतः दो प्रकारका है, जैसे (१) नियमित या रेगूलर (Regular) तथा (२) अनिमित या इररेगुलर (Irregular or non-articulor)

नियमित गाउट पीड़ा अकस्मात् आरम्भ हो जाती है। पीड़ा आरम्भ होते ही पाकाशयमें अग्निकी अधिकता, छातीमें दाह, यकृत्की क्रियामें व्यतिक्रम, हृत्कम्प, शिरमें दर्द, शिरका घूमना, दृष्टिकी वैलक्षण्य, आलस्य, स्वभावका परिवर्त्तन, अनिद्रा, स्वप्नदर्शन, पैरका पेशीमें कम्प, दमेकी तरहका कष्ट, अधिक पसीना आना, थोड़ा मूत्र और मूत्रमें अधिक गन्दगी देखी जाती है। कभी कभी रोगके पहले या रोगके समय, मूत्रमें एल्बुमेन पाया जाता है। फिर किसी किसी स्थलमें ये सब लक्षण नहीं भी दिखाई देते और रोगीके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्यके विषयमें भी कोई विशेष विलक्षणता नहीं दिखाई देती। केवलमात्र एक या दो सन्धियोंमें कुछ अस्वच्छन्दता मालूम होती है।

कभी कभी तो रातके अन्तिम समयमें अर्थात् रात २से ५ बजे तक पैरके अंगूठेमें दर्द उत्पन्न होता और बढ़ने लगता है। किसी किसी स्थानमें यही गांठ वारंवार आक्रान्त होते देखी जाती है। किन्तु कई बार अन्यान्य छोटी सन्धियां भी पीड़ित होती हैं। हाथ पैरका बड़ी सन्धियां कभी कभी आक्रान्त होती हैं। इसकी वेदना जलन, फटने और चुभनेकी तरह होती है और दिनमें कम और रातको बढ़ती है और शीघ्र असह्य हो जाती है। बलवान् व्यक्तियोंमें रोगयन्त्रणा अधिक होती

सिरमें सञ्चित होनेसे सन्धियां फूल जाती, वहांका चमड़ा लाल, उत्तप्त और चमकीला तथा नसें फैल जाती और फूला हुआ स्थानमें अंगुली दबानेसे दब जाता है। जलन कम होनेसे त्वक् स्खलित होता दिखाई देता और वहां खाज पैदा हो जाती है।

शीत और कम्पके साथ पीड़ा आरम्भ होती है। शरीर गर्म और पसीनेसे तरबतर हो जाता है; किन्तु प्रबल वात रोगकी तरह अत्यधिक पसीना नहीं दिखाई देता है। मूत्र थोड़ा, काले रंगका और वह युरेट्स द्वारा परिपूर्ण हो जाता है। स्वभावतः २४ घण्टे में ८ ग्रेन यूरिक ऐसिड मूत्रके साथ बाहर निकलता है। ऐसा मालूम होता है, कि गठिया वातरोगमें यूरिक ऐसिड अधिक गिर रहा है, किन्तु वास्तवमें स्वाभाविककी अपेक्षा अधिक नहीं गिरता। म्यूरेक्सिड (Murexid) परीक्षा द्वारा यह निर्णय किया जाता है। सिवा इसके, मूत्रमें अधिक परिमाणमें गुलाबी रंग या सूर्खीकी तरह गन्दगी होती है। प्रातःकाल ज्वर होता है। अन्यान्य लक्षणोंमें रोगीको अनिद्रा, अस्थिरता, क्षुधामान्द्य, पिपासा, कोष्ठबद्ध और पैरमें कंपकँपी दिखाई देती है। पाकाशय और यकृत्की क्रियामें व्यतिक्रम हो जाता है। अन्तमें पसीना, उदरामय या अस्वच्छ मूत्रत्यागके बाद ज्वर और वेदनाका सम्पूर्णरूपसे रुक जाता है। चार पांच दिन अथवा दो चार सप्ताहमें व्याधिकी शान्ति देखी जाती है। पीड़ा वर्षके अन्तमें फिर पैदा हो जाती है। रोग यदि जड़ पकड़ लेता है, तो वर्षमें दो या तीन बार भी हो सकता है।

इस तरह बारम्बार और पर्य्यायक्रमसे रोग होने पर पीड़ा पुरातन हो जाती और पीड़ित सन्धि दृढ़ विवर्द्धित और विकृत हो जाती है। वहांका चमड़ा बेंगनी और नीली धमनियोंसे घिर जाता है। सब सन्धियोंमें यूरेट आव सोडा सञ्चित हो मिट्टीवत् हो जाता । उसकी चकछोन या टोफाई (Tophai) अस्थिज स्फीति हड्डीका फूलना कहते हैं। अन्तमें चमड़ा फट कर क्षत उत्पन्न हो जाता है और वहांसे पीला पदार्थ बाहर निकलता रहता है। कभी कभी आखें, कान और नाकके कार्टिलेजोंमें टोफाई सञ्चित होता है। सदा कानके पिछले भागमें ही यह दिखाई देता है। वहां पहले एक जलजला फोड़ा उत्पन्न होता है पीछे वह फट जाता और उससे दूधकी तरह एक शुभ्र रस निकलता है। इस प्रकार २।३ फुन्सियां हो जाती हैं और रसके गाढ़ा होने पर मालाकी गुटिका-सी दिखाई देती है। अधिक इस वात रोगसे पीड़ित होने पर शरीर जीर्ण शीर्ण और दुर्बल तथा पाण्डु वर्णका हो जाता है। इसके साथ ही हत्कम्प और पेशियोंके स्पन्दन आदि लक्षण मौजूद रहते हैं। समय समय पर सोनेमें दांत किटकिटाना और सामान्य ज्वर होता है। मूत्रमें एल्बूमेन रहता है; किन्तु उसका आपेक्षिक गुरुत्व अपेक्षाकृत न्यून होता है। पीड़ित व्यक्तिकी देह पीतपर्णिका (आर्टिकेरिया) अरुणिका (एरिथिमा), पामा (एक्जिमा) और विचर्चिका (सोरायेसिस) आदि चर्मरोग होते हैं। किसी किसी रोगीका नाक पर्य्यायक्रमसे निश्य उत्तप्त और लाल होते देखा जाता है।

अनियमित या स्थानान्तरगामी वात।

गठिया वात रोग गांठोंमें दिखाई न दे कर शरीरके अन्यान्य स्थानोंमें आक्रमण करता है, इससे इसको स्थानान्तरगामी वात कहते हैं। यह लुप्त (Suppressed) और आभ्यन्तरिक (Retrocedent) भेदसे दो तरहका है। गांठोंमें वातके लक्षण सामान्य भावसे रह कर अन्यान्य स्थानोंमें प्रकाशित होने पर वह लुप्त हो कर स्थान विरलप (Metastasis) द्वारा अन्यान्य स्थानोंमें सञ्चालित होता है। इसको रिट्रोसीडेण्ट गाउट कहते हैं।

इससे स्नायुमण्डली यदि आक्रान्त हो तो शिरमें दर्द, शिरका घूमना, मृगी और कंपकंपी आदि उपस्थित हो जाती हैं। कभी कभी मेनिञ्जाइटिस् या संन्यास रोग दिखाई देता ही है। अन्यान्य लक्षणोंमें कई तरहके स्नायु शूल, हाथ पैरकी कष्टकर कंपकंपी या अवशता वर्त्तमान रहती है। कभी कभी कटि स्नायु शूल (Sciatica) उपस्थित हो जाता है।

पाकयन्त्र आक्रान्त होने पर पाकाशयके निकट प्रखर आक्षेपिक वेदना, अत्यन्त कै और समय समय पर दुर्बलता और हिमाङ्गका चिह्न दिखाई देता है। कभी-कभी भोजन करनेमें भी कष्ट होता है, कहीं कहीं अन्त्रशूल और

उदरामय दिखाई देता है। समय-समयमें यकृत्की क्रियामें बाधा उपस्थित होती है और उसमें वसा उत्पन्न होता है। गले और जिह्वामें अनेक परिवर्त्तन देखे जाते हैं। विशेषता यह होती है कि जीभके भीतर दर्द हो जाता है।

हत्कम्प और हत्पिण्डके स्थानमें अस्वच्छन्दता और समय समय मूर्छा और शरीर ठण्डा हो जाता है। हत्पिण्डका स्पन्दन कभी तो अति मृदु और ठहर ठहर और कभी तेजीके साथ होता और अनियमित होता है; नाड़ी अत्यन्त दुर्बल और क्षीण रहती है। किसी किसी जगह वक्षःशूल (Angina Pectoris) पीड़ा उपस्थित होती है। तरुण वातरोगमें हत्पिण्डके भीतर जो सब परिवर्त्तन होते हैं उसमें वैसे नहीं होते। किन्तु हृद्वेष्टमें सादा दाग और वाल्वोंमें प्राचीन प्रदाह या अपकृष्टताके चिह्न मौजूद रहते हैं।

दमा, खुश्क खांसी और कभी कभी एम्फिसिमा आदि खांसी रोग भी हो सकते हैं। श्लेष्मामें यूरिक एसिडकी सूक्ष्म कणिकायें दिखाई देती हैं। कभी कभी हिचकी आती है।

मूत्रयन्त्रमें पूर्ववत् नाना विकृति उपस्थित होती हैं। सिवा इसके प्राचीन सिष्टाइटिस् और मूत्रमें पत्थर भी आता है।

चमड़ेमें पुराना एक्जिमा, सोरायेसिस, आर्टिकेरिया, प्रुराइगो और एक्नी आदि चर्मरोग और कभी कभी आइराइटिस या दृष्टिमें बाधा उपस्थित होती है।

रूमाटिज़म् और रूमाटिक आर्थ्राइटिसके साथ इस रोगका भ्रम हो सकता है। विशेष विवेचनाके साथ इसका अलगाव करना आवश्यक है।

गठिया वातरोगकी प्रबल अवस्थामें कभी कभी मृत्यु भी हो जाती है। किन्तु भीतरी यन्त्रोंके आक्रान्त होने पर विपद् आनेकी सम्भावना रहती है। वारंवार या पर्य्यायक्रमसे या कौलिक भावसे होने पर शरीर धीरे धीरे शीर्ण होता है। मूत्रयन्त्रमें पुराना प्रदाह रहने पर पीड़ा कठिन समझना चाहिये।

रोगके वारम्वार आक्रमणकी अवस्थामें रातको एक मृदु विरेचन वटिका (पिल् कलसिन्थके ३ ग्रेन और केलमेल २ ग्रेन) दे कर दूसरे दिन सवेरे विरेचनार्थ सेना और सल्टका प्रयोग करनी चाहिये। इस पीड़ाका विशेष औषध कल्चिकम् है। यह वाइकार्वानेट् या एसिटेड आव पोटास अथवा कार्वानेट आव लिथियाके साथ मिला देना उचित है। ज्वर रहने पर उक्त दवायें लाइकर एमोनिया एसिटेटसके साथ देना उचित है। उत्ताप अधिक रहने पर एण्टोफेव्रिन, एण्टोपाइरिन या फेनासिटिन स्वल्प मात्रामें व्यवहार करना चाहिये। कभी कभी सेलिसिलेट आव सोडासे उपकार होता है; पाइपेरिजाइन तो विशेष उपकारी है। चमड़ेकी क्रिया-वृद्धि करनेके लिये गर्म जल पीया और गर्म जलसे स्नान किया जा सकता है। वेदना-निवारणके लिये अफीम और मर्फियाका प्रयोग करना चाहिये। निद्राके लिये पारल्ड्यालिडहाइड या सालफोनाल् विशेष उपकारी है। पहले लघुपाक आहार देना चाहिये। रोगीके दुर्बल होने पर शोरवा दुग्ध आदि बलकारक द्रव्य और थोड़ी ब्राण्डी (शराब) देना जरूरी है। पोर्ट या वियर मद्य (शराब) देना मना है। आक्रान्त सन्धियोंमें ओपियाई, वेलेडोना या एकोनाइट, लिनिमेण्ट मल कर फलालेन (कपड़ा) द्वारा ढाक कर रखना चाहिये। रक्तमोक्षण करना उचित नहीं; किन्तु कभी कभी ब्लिष्टर संलग्नसे उपकार होता है। प्रदाह कम होने पर भी वाण्डेज बांधना उचित है। क्योंकि उससे गांठोंकी सूजन कम हो जाती है।

विरामकी अवस्था अथवा पुरानी पीड़ामें रोगीको सदा फलालैन पहनने, नियमित आहार और व्यायाम करनेका परामर्श देना चाहिये। कभी कभी इसके द्वारा भी रोग आरोग्य होता है। अधिक मांस, चीनीकी कोई चीज, शराब या फल खाना अच्छा नहीं। मांसमें भेड़ और पक्षीका मांस व्यवहार किया जा सकता है। कुछ लोग शाक-सब्जीके व्यवहार करनेका परामर्श देते है। क्लारेट, मोजल या सेरी थोड़ी मात्रामें दी जा सकती है। अथवा चाय या काफीका सामान्य रूपसे व्यवहार किया जा सकता है। इससे उपकार ही होता है। बहुत जगहोंमें साधारण नमककी जगह सेन्धा नमकके व्यवहारसे फायदा होता है। सादा साफ़ जलका व्यवहार करना चाहिये। सोडावाटर पीना कतई मना कर देना चाहिये। चमड़ेकी क्रियाकी वृद्धि करनेके लिये टर्किस या गर्म जलमें शरीर

पोंछ लेनेकी तरहका स्नान (Hot Bath) कराया जा सकता है। निरन्तर किसी विषयकी चिन्ता या रातका जागना अच्छा नहीं। जहां वायुका परिवर्त्तन नहीं होता ऐसे गर्म प्रदेशमें रहनेसे विशेष फल लाभकी आशा रहती है। विरामके समय कार्बनेट आफ पोटास या लिथियाके साथ वाइनम् अथवा एकड्राक् कलचिकाई दिनमें तीन वार सेवन करनेके लिये दिया जा सकता है। अन्यान्य औषधोंमें कुनाइन हो या इनफयूजन सिनकोना, लौह घटित औषध, आर्सेनिक, गोयकम, पोटाशी आइओडिड या ब्रोमिड, बेञ्जायेट आव एमोनिया, फस्फेट आव सोडा वा एमोनिया, नाइट्रेट आव एमाइल निम्बूका रस और विविध धातव जल व्यवहार्य है।

पीड़ित गांठों पर एनोडाइन लीनोमेण्ट मलना और पुराने दर्दमें पट्टी बांधना उचित है। क्षत होने पर कार्बोनेट आव पोटास या लिथियाके लोसनमें कपड़ेका एक टुकड़ा भींगा कर उस पर धरनेसे फायदा पहुंचता है। पीड़ाके सन्धिस्थलको छोड़ कर किसी अभ्यन्तर यन्त्रमें जाने पर सन्धिस्थलमें उत्तेजक लिनीमेण्ट मलना उचित है। मस्तिक आक्रान्त होने पर इथर, मस्क, कम्फर, इत्यादि व्यवहार किये जाते हैं। कभी कभी गांठमें ड्राप या पट्टी बांधने पर उपकार होता है।

सामान्य वातरोगमें मनसापत्र अग्न्युत्तापमें सेंक कर उसका रस प्रदाहयुक्त गांठ पर मलनेसे उपकार होता है। कभी कभी बेरकी लकड़ी या आकन्द-लकड़ीकी आग जला कर उस स्थान पर सेंकनेसे फायदा होता है। आकका पत्ता या कदमका पत्ता सेंक कर सूजी हुई गांठ पर बांधनेसे गांठकी सूजन कम होती है। ऐसे स्थलमें कोई कोई पीड़ावाली गांठ पर तारपीनका तैल, कपूर, सरसोंका तैल या कोई लिनिमेण्ट मल कर नमक मिले हुए कचूके हरे पत्तेको टुकड़ा टुकड़ा कर बांधनेकी सलाह देते हैं। इससे गांठका सञ्चित विकृत-रक्त परिष्कृत हो जाता है और पीड़ा कुछ कम हो जाती है। गन्धभादुलियाका पत्र जलमें पका कर उसकी भापसे सेंकनेसे इस रोगमें विशेष फल मिलता है।

वातशख (सं० पु०) अग्नि।

वातशीर्ष (सं० क्ली०) वातस्य शीर्षमिव। वस्ति, पेड़।

वातशूल (सं० क्ली०) वह शूलरोग जो वातसे होता है। शूल शब्द देखो।

वातशोणित (सं० क्ली०) वातज शोणितं दुष्टरक्तं यत्र। वातरोग। वातरक्त शब्द देखो।

वातशोणितिन् (सं० त्रि०) वातरक्त रोगी, जिसे वातरक्त रोग हुआ हो।

वातश्लेष्मज्वर (सं० पु०) एक प्रकारका ज्वर। वात और कफवर्द्धक आहार तथा विहार द्वारा वायु और कफ वर्द्धित हो कर आमाशयमें जाती है। पीछे यह दूषित वायु और कफ कोष्ठकी अग्निको बाहर ला कर ज्वर उत्पादन करती है। वातश्लेष्म ज्वर होनेके पहले वातज्वर और कफज्वरके सभी पूर्व लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इस ज्वरमें शरीर भींगा कपड़ा पहननेके समान मालूम, पूर्वभेद अर्थात् ग्रन्थिवेदना, निद्रा, शरीरकी गुरुता, शिरःपीड़ा, प्रतिश्याय, खांसी, अधिक पसीना, सन्ताप तथा ज्वरका मध्यम वेग होता है

विशेष विवरण ज्वर शब्दमें देखो।

वातसख (सं० पु०) वातस्य सखा टच् समासान्त। वायुसखा, अग्नि, हुताशन। (भागवत ६।८।२१)

वातसङ्ग (सं० पु०) वातरोग।

वातसह (सं० त्रि०) वातं वातजनितरोगं सहते सह अच्। १ अत्यन्त वायुयुक्त, वायुरोगग्रस्त। २ वायुवेग सहन करनेवाला।

वातसार (सं० पु०) विल्ववृक्ष, बेलका पेड़। (वैद्यकनि०)

वातसारथि (सं० पु०) वातः सारथिः सहायो यस्य। अग्नि।

वातस्कन्ध (सं० पु०) वातस्य स्कन्ध इव। आकाशका वह भाग जहां वायु चलती रहती है।

वातस्तम्भनिका (सं० स्त्री०) चिञ्च, इमली।

वातस्वन (सं० त्रि०) वात एव स्वनः शब्दो यस्य। अग्नि। (ऋक् ८।६१।६)

वातहत (सं० त्रि०) वातेन हतः। १ वायु द्वारा हत। २ वातुल, वायुके कोपसे जिसकी बुद्धि ठिकाने न हो।

वातहतवर्त्मन् (सं० क्ली०) नेत्रवर्त्मगत रोगभेद। इसके लक्षण—जिस नेत्ररोगमें वेदनाके साथ या वेदना न हो क

वर्त्मसन्धि-विश्लेषप्रयुक्त निमेष उन्मेषरहित होता है तथा अशक्तताके कारण नेत्र बंद नहीं होता उसे वातहतवर्त्म कहते हैं। नेत्ररोग शब्द देखो।

वातहन् (सं० त्रि०) वातं हन्तीति हन् क्विप्। वातघ्न, वातनाशक औषध।

वातहर (सं० पु०) हरतीति हृ-अच्, वातस्य हरः। वातनाशक।

वातहरवर्ग (सं० पु०) वातनाशक द्रव्यसमूह। जैसे—महानिम्ब, कपास, दो प्रकारके एरण्ड, दो प्रकारके वच, दो प्रकारकी निगुंण्डी तथा हींग।

वातहुड़ा (सं० स्त्री०) १ वात्या। २ पिच्छिलस्फोटिका। ३ योषित्, औरत।

वातहोम (सं० पु०) होमकालमें सञ्चालित वायु।

(शतपथब्रा० ६।४२।१)

वाताख्य (सं० क्ली०) वात-आख्या यस्य। वास्तुभेद। पूर्व और दक्षिणकी ओर घर रहनेसे उसको वाताख्य वास्तु कहते हैं। यह वाताख्य वास्तु गृहस्थोंके लिये शुभप्रद नहीं है, क्योंकि इससे कलह और उद्वेग होता है। २ वात आख्यासे युक्त, वातनामविशिष्ट।

वाताट (सं० पु०) वात इव अटति गच्छतीति अट्-अच्। १ सूर्य्याश्व, सूर्यका घोड़ा। २ वातमृग, हिरना।

वाताण्ड (सं० पु०) वातदूषितौ अण्डौ यस्मात्। मुष्करोगविशेष, अंडकोशका एक रोग जिसमें एक अंड चलता रहता है।

वातातपिक (सं० क्ली०) एक प्रकारका रसायनका भेद।

वातातीसार (सं० पु०) वातजन्यः अतीसारः। वायुजन्य अतीसार रोग। अतीसार रोग देखो।

वातात्मक (सं० पु०) वात आत्मा यस्य, कप् समासान्तः। वातप्रकृति।

वातात्मज (सं० पु०) वातस्य आत्मजः। वायुपुत्र, हनूमान्, भीमसेन।

वातात्मान् (सं० त्रि०) वातरूप प्राप्त।

(शुक्लयजुः १६।४६ महीधर)

वाताद (सं० पु०) वाताय वातनिवृत्तये अद्यते इति अद-घञ्। फलवृक्षविशेष, बादामवृक्ष (Prunus amygdalas) यह बादाम कटु, मिष्ट और वनबादामके भेदसे तीन प्रकारका होता है। पर्याय—वातवैरी, नेत्रोपमफल, वाताम्र गुण—उष्ण, सुस्निग्ध, वातघ्न, शुक्रकारक, गुरु। मज्जाका गुण—मधुर, वृष्य, पित्त और वायुनाशक, स्निग्ध, उष्ण, कफकारक तथा रक्तपित्त विकारके लिये विशेष उपकारक है। (भावप्र०) बादाम देखो।

वाताधिप (सं० पु०) वातस्य अधिपः। वायुका अधिपति।

वाताध्वन् (सं० पु०) वाताय वातगमनाय अध्वा। वातायन, झरोखा।

वातानुलोमन (सं० त्रि०) वातस्य अनुलोमनः। वायुका अनुलोम करना, वायु जिससे अनुलोम हो उसका उपाय करना, धातुओंके ठीक रास्तेसे जानेको अनुलोमन कहते हैं।

वातानुलोमिन् (सं० त्रि०) वातानुलोम अस्त्यर्थे इनि, वायुका अनुलोमयुक्त, जिनकी वायुकी अनुलोम गति होती है। (सुश्रुत पु०)

वातापह (सं० त्रि०) वातं अपहन्ति हन-ड। वातघ्न, वातनाशकारक।

वातापि (सं० पु०) एक असुरका नाम। यह असुर ह्लादकी धमनी नामकी पत्नीसे उत्पन्न हुआ था। अगस्त्य ऋषि इसे खा गये थे। (भागवत०) इस असुरने दूसरे कल्पमें विप्रचित्तिके औरस और सिंहिकाके गर्भसे जन्म ग्रहण किया था। (मत्स्य० ६ अ०, अग्निपु० काश्यपीय वंश) महाभारतमें लिखा है, कि आतापि और वातापि दो भाई थे। दोनों मिल कर ऋषियोंको बहुत सताया करते थे। वातापि तो भेड़ बन जाता था और उसका भाई आतापि उसे मार कर ब्राह्मणोंको भोजन कराया करता था। जब ब्राह्मण लोग खा चुकते, तब यह वातापिका नाम ले कर पुकारता था और वह उनका पेट फाड़ कर निकल आता था। इस प्रकार उन दोनोंने बहुतसे ब्राह्मणोंको मार डाला। एक दिन अगस्त्य ऋषि उन दोनोंके घर आये। आतापिने वातापिको मार कर अगस्त्यको खिलाया और फिर नाम ले कर पुकारने लगा। अगस्त्यजीने डकार ले कर कहा, कि वह तो मेरे पेटमें कभीका पच गया; अब उसकी आशा छोड़ दो। इसी प्रकार अगस्त्यने वातापिका संहार किया। (भारत वनप० ९७-९८ अ०)

अगस्त्यका प्रणाममन्त्र—

"वातापिर्भक्षितो येन वातापिश्च निराकृतः।
समुद्रः शोषितो येन समेऽगस्त्यः प्रसीदतु॥"

२ स्थूल शरीर। "वातापे पीव इद्भव' (ऋक् १।१८७।८)

वातापिद्विट् (सं० पु०) वातापिं द्वेष्टीति द्विष् क्विप्। अगस्त्य मुनि।

वातापिन् (सं० पु०) वातापि नामक असुर।

वातापिपुर—प्राचीन चालुक्यराज पुलिकेशीकी राजधानी। आज कल इसे बादामी कहते हैं। बादामी शब्द देखो।

वातापिसूदन (सं० पु०) वातापिं सूदते इति सूद ल्यु। अगस्त्य।

वातापिहन् (सं० पु०) वातापिं हन्ति हन क्विप्। अगस्त्य।

वाताप्य (सं० त्रि०) १ वायुपूर्ण। (पु०) २ उदक, जल। ३ सोम। (ऋक् ९।९३।५ सायण)

वाताभिष्यन्द (सं० पु०) वायुजनित नेत्ररोग, वायुके कारण आंखका आना। इस रोगमें आंखोंमें सूई चुभने-की-सी वेदना होती और उनसे शीतल अश्रुस्राव तथा रोगीके शिरमें शूल और रोमाञ्च होता है।

(भावप्र० नेत्ररोगाधि०) नेत्ररोग देखो।

वाताभ्र (सं० क्ली०) वायुसे सन्ताड़ित मेघमाला।

वाताम (सं० पु०) बादाम।

वातामोदा (सं० स्त्री०) वातेन प्रसूत आमोदो यस्याः। कस्तूरी।

वाताय (सं० क्ली०) पत्र, पेड़का पत्ता।

वातायन (सं० क्ली०) वातस्य अयनं गमनागमनमार्गः। १ गवाक्ष, झरोखा। (पु०) वातस्येव अयनं गतिर्यस्य। २ घोटक, घोड़ा। (त्रिका०) ३ अनिलके गोत्रसे उत्पन्न। ये ऋक् १०।१६८ सूक्तके मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। ४ उलके गोत्रोत्पन्न। ये ऋक् १०।१८६ सूक्तके मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। ५ रामायणके अनुसार एक नगरका नाम।

वातायनीय (सं० पु०) वातायन-प्रवर्त्तित वेदकी एक शाखा।

वातायु (सं० पु०) वातमयते इति अय बाहुलकात् उण्। हरिण, हिरन।

वातारि (सं० पु०) वातस्य वातरोगस्य अरिः। १ एरण्ड वृक्ष, रेंड़। २ शतमूली। ३ पुत्रदात्री नामकी लता। ४ शेफालिका, निर्गुण्डी। ५ यवानी, अजवायन। ६ भार्गी, भारंगी। ७ स्नुही, थूहर। ८ विड़ङ्ग, वायविड़ङ्ग। ९ शूरण, जिमीकन्द, ओल। १० भल्लातक, भिलावां। ११ जतुका, जन्तुका लता। १२ शतावरी, सतावर। १३ श्वेत निर्गुण्डी, सफेद सिंहारू। १४ पीत लोध्र, पीली लोध। १५ शुक्ल रसोन, सफेद लहसुन। १६ तिलक वृक्ष। १७ पृथुशिम्ब-श्योणक, श्वेत एरण्ड, सफेद रेंड़। १८ नीलवृक्ष, नील-का पौधा,

वातारि (सं० पु०) मुष्कवृद्धि और व्रणाधिकारोगमें औषध विशेष। प्रस्तुतप्रणाली—पारा १ भाग, गन्धक २ भाग, त्रिफला ३ भाग, चितामूल ४ भाग, गुग्गुल ५ भाग, इन्हें रेंड़ीके तेलके साथ घोंट कर गोली बनावे। अनुपान—सोंठ और रेंड़के मूलका काढ़ा या अदरकका रस और तिलतैल है। इस औषधका सेवन करा कर रोगीकी पीठ पर रेंड़ीका तेल लगा स्वेद प्रदान करे। पीछे विरेचन होनेसे स्निग्ध और उष्ण द्रव्य भोजन करावे। इससे वृद्धि रोग प्रशमित होता है।

(भैषज्यरत्ना० मुष्कवृद्धि और व्रणाधि०)

वातारिगुग्गुलु (सं० पु०) १ वातव्याधि रोगाधिकारमें औषधविशेष। २ आमवात रोगाधिकारमें औषधविशेष। प्रस्तुतप्रणाली—रेंड़ीका तेल, गन्धक, गुग्गुल और त्रिफला—इन्हें एक साथ पीस उचित मात्रामें एक मास तक लगातार प्रातःकालमें उष्णजलके साथ सेवन करनेसे आमवात, कटिशूल और पङ्गुता आदि नाना प्रकारके रोग शान्त होते हैं।

(भैषज्यरत्ना० आमवातरोगाधि०)

वाताप्य (सं० त्रि०) वात द्वारा पाने योग्य।

(ऋग् भाष्य सायण १।१२१।८)

वातारितण्डुला (सं० स्त्री०) विड़ङ्ग। (राजनि०)

वातासी (सं० स्त्री०) वातस्य आली यत्र। वात्या, वायु।

वाताश (सं० पु०) वातमश्नाति अश घञ्। पवनाश, वायुका पीना।

वाताशिन् (सं० त्रि०) वातमश्नाति अश-णिनि। पवनाशिन्, हवा पी कर रहनेवाला।

वाताश्व (सं० पु०) वात इव शीघ्रगो अश्वः। कुलीन

अश्व। पर्याय—हयोत्तम, जात्य, अजानेय। (त्रिका०)

वाताष्ठीला (सं० स्त्री०) वातेन अष्ठीला। वातव्याधि रोगविशेष। यदि नाभिके नीचे अष्ठीला (गोल पत्थर) सदृश कठिन गांठ उत्पन्न हो तथा वह गांठ कभी सचल और कभी निश्चल भावमें रहे तथा उर्द्धायतनविशिष्ट उन्नत और मलमूत्रका अवरोधकारी हो, तो उसे वाताष्ठीला कहते हैं। इस रोगमें गुल्म और अन्तर्विद्रधिकी तरह चिकित्सा करनी होती है। वातव्याधि देखो।

वातासह (सं० त्रि०) वातं वातजनितरोगं आसहते इति आ-सह-अच्। वातुल, वायुप्रधान।

वातास्र (सं० क्ली०) वातेन अस्रं। वातरक्त, वातरक्त रोग।

वाताहत (सं० त्रि०) वायुताड़ित।

वाति (सं० पु०) वाति गच्छतीति वा (वातेर्नित्। उण् ५।६) इति अति। १ वायु। २ सूर्य। ३ चन्द्रमा। 'वातिरादित्यसोमयोः' (स्मसर)

वातिक (सं० पु०) वातादागतः ण्वात ठञ्। १ वायुज व्याधि, वायुसे उत्पन्न रोग। (क्ली०) वात (वातपित्त श्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानं। पा ५।१।३८) इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या ठञ्। २ वायुका शमन और कोपन द्रव्य। (त्रि०) ३ वातिक रोगाक्रान्त, व्यर्थ बकनेवाला, वाचाल।

वातिकखण्ड (सं० पु०) वातिकषण्ड, वह जिसके अग्निदोषसे अंडकोष नष्ट हो गया हो।

वातिकप्रिय (सं० पु०) अम्लवेतस, अमलवेत।

वातिकरक्तपित्त (सं० क्ली०) वायु जन्य रक्त पित्त।

वातिकषण्ड (सं० पु०) वातिकेन षण्डः। वातिकखण्ड देखो।

वातिग (सं० पु०) वातिं वायुं गच्छतीति गम-ड। १ भण्टा, भण्टा, बैगन (त्रि०) २ धातुवादी। (मेदिनी)

वातिगम (सं० पु०) वातिं वायुं गमयति प्रापयतीति गम-अच्। वार्त्ताकु, बैंगन।

वातिङ्गन (सं० पु०) वार्त्ताकु, बैंगन।

वातीक (सं० पु०) पक्षिविशेष, एक प्रकारका छोटा पक्षी इसके मांसका गुण—लघु, शीतल, मधुर और कषाय। (सुश्रुत सूत्रस्था० ४६ अ०)

वातीकार (सं० पु०) वातकर। (अथर्व ६।८।२०)

वातीकृत (सं० त्रि०) वातयुक्त। (अथर्व ६।१०६।३)

वातीय (सं० क्ली०) वाताय वातनिवृत्तये हितः वात-छ। काञ्जीक, कांजी।

वातुल (सं० पु०) १ वात्या, हवा। (त्रि०) २ वायुप्रधान। ३ उन्मत्त, बावला।

वातुलानक (सं० पु०) एक नगरका नाम। (राजतरङ्गिणी)

वातुलि (सं० स्त्री०) तरु-तूलिका, बादुर।

वातूक (सं० पु०) मत्स्यविशेष, एक प्रकारकी मछली।

वातूल (सं० पु०) वातानां समूहः (वातादूलः। पा ४।२।४२) इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या उल्, यद्वा वाताः सन्त्यस्मिन्निति वात (सिध्मादिभ्यश्च। पा ५।२।९७) इति लच् 'वात दन्तबलेति उङ्' यद्वा वातानां समूहः वातं न सहते इति वा (वातात् समूहे च, वातं न सहते इति च। पा ५।२।१२२) इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या उलच्। १ वात्या, हवा। (त्रि०) २ वायुप्रधान। ३ उन्मत्त, बावला।

वातूलतन्त्र—एक प्रसिद्ध तन्त्रशास्त्र। यह वातूलागम, वातुलशास्त्र, वातुलोत्तर वा आदिवातुलतन्त्र, वातुलशुद्धागम वा वातुलसूत्र नामसे प्रसिद्ध है। हेमाद्रिने इस तन्त्रका वचन उद्धृत किया है।

वातृ (सं० पु०) वातीति वा-तृच्। वायु, हवा।

वातेश्वरतीर्थ (सं० क्ली०) एक तीर्थका नाम।

वातोत्थ (सं० त्रि०) वातज रोग।

वातोदर (सं० क्ली०) वातेन उदरं। वातजनितोदर रोग विशेष। इसमें हाथ, पाँव, नाभि, कांख, पसली, पेट, कमर और पीठमें पीड़ा होती है, सूखी खाँसी आती है, शरीर भारी रहता है, अंगोंमें ऐंठन होती है और मलका अवरोध हो जाता है। पेटमें कभी कभी गुड़गुड़ाहट भी होती है और पेट फूला रहता है। पेट ठोंकनेसे ऐसा शब्द निकलता है, जैसे हवा भरी हुई मशक ठोंकनेसे। (भावप्र० उदररोगाधि०)

वातोदरिन् (सं० त्रि०) वातोदररोगी।

वातोन (सं० त्रि०) वातमुणयति उण्-अण्। वायुहीन।

वातोना (सं० स्त्री०) गोजिह्वाक्षुप, गोभी नामकी घास। (राजनि०)

वातोपधूत (सं० त्रि०) वातकम्पित। (ऋक् १०।६१।७)

वातोर्मी (सं० स्त्री०) ग्यारह अक्षरोंका एक वर्ण। इसमें मगण, भगण, तगण और अन्तमें दो गुरु होते हैं।

वातोल्वन (सं० त्रि०) वातेन उल्वनः। १ वाताधिक, वायुप्रधान। (पु०) २ एक प्रकारका सन्निपातज्वर। इसमें रोगीको श्वास, खाँसी, भ्रम और मूर्च्छा होती है तथा वह प्रलाप करता है। उसकी पसलियोंमें पीड़ा होती है, वह जँभाई अधिक लेता है और उसके मुँहका स्वाद कसैला रहता है। यह वातोल्वन ज्वर बहुत भयानक होता है। विशेष विवरण ज्वर शब्दमें देखो।

वात्य (सं० त्रि०) १ वायु सम्बन्धीय। २ वायुभव। (शुक्लयजुः १६।३६)

वात्या (सं० स्त्री०) वातानां समूहः ; वात (पाशादिभ्यो यः। पा ४।२।४९) इति य स्त्रियां टाप्। वातसमूह।

वात्स (सं० पु०) वत्स-अण्। १ ऋषिभेद, गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि। (क्ली०) २ सामभेद।

वात्सक (सं० क्ली०) वत्सानां समूहः वत्स (गोत्रोक्षोष्ट्रेति। पा ४।२।३९) इति वुञ्। १ वत्स-समूह। (अमर) वत्सकस्येदमिति वत्सक-अण्। २ कूटजसम्बन्धी, इन्द्रयवसम्बन्धी।

वात्सप्र (सं० पु०) वत्सप्री ऋषिका गोत्रापत्य। यह एक प्रसिद्ध वैयाकरण और आचार्य थे। (तैत्ति० प्राति० १०।२३) ऋक् १०।४५ सूक्त और शुक्लयजुः १२।२८ मन्त्रमें उनका उल्लेख है।

वात्सप्रीय (सं० त्रि०) वात्सप्री सम्बन्धीय। (शतपथब्रा० ६।७।४।१५)

वात्सरिक (सं० पु०) ज्योतिषी।

वात्सबन्ध (सं० पु०) वत्स्यबन्धनकाष्ठ, बछड़ा बांधनेका खूंटा।

वात्सल्य (सं० पु०) वत्सल एव स्वार्थे ष्यञ्। १ रसविशेष, वह स्नेह जो पिता या माताके हृदयमें संततिके प्रति होता है। वत्सलस्य भावः वत्सल ष्यञ्। (क्ली०) २ स्नेह, प्रेम।

साहित्यमें जिस तरह नायक-नायिकाके रतिभावके वर्णन द्वारा श्रृङ्गार रस माना जाता है, उसी तरह कुछ लोग माता-पिताके रतिभावके विभाव, अनुभाव और संचारी सहित वर्णनको वात्सल्य रस मानते हैं। परन्तु यह सर्वसम्मत नहीं है। अधिकांश लोग दाम्पत्य रतिके सिवा और प्रकारके रति भावको 'भाव' ही मानते हैं।

वात्सशाल (सं० पु०) वत्स-शालासम्बन्धीय।

वात्सि (सं० पु०) वत्सिके गोत्रापत्य। (ऐतरेयब्रा० ६।२४)

वात्सी (सं० स्त्री०) वात्स्य-शाखासे उत्पन्न स्त्री।

वात्सीपुत्र (सं० पु०) १ आचार्यभेद। (शतपथब्रा० १४।६।४।३१) २ नापित, नाई।

वात्सीपुत्रीय (सं० पु०) वात्सीपुत्रके शाखाध्यायी व्यक्तिमात्र।

वात्सीमाण्डवीपुत्र (सं० पु०) आचार्यभेद। (शतपथब्रा० १४।६।४।३०)

वात्सीय (सं० पु०) वैदिक शाखाभेद।

वात्सोद्धरण (सं० त्रि०) वत्सोद्धरण सम्बन्धीय। (पा ४।३।९३)

वात्स्य (सं० पु०) वत्स्यगोत्रापत्यं वत्स (गर्गादिभ्यो यञ्। पा ४।१।१०५) इति यञ्। १ मुनिविशेष, वत्सका गोत्रापत्य। वात्स्यगोत्रके ५ प्रवर हैं—और्व, च्यवन, भार्गव, जामदग्न्य और आप्नुवत्। कात्यायन-श्रौतसूत्र और अथर्व्वप्रातिशाख्यमें इसका उल्लेख है। २ एक ज्योतिर्विद्। हेमाद्रिने इनका उल्लेख किया है।

वात्स्यगुल्मक (सं० पु०) जातिविशेष।

वात्स्यायन (सं० पु०) वत्स्यगोत्रापत्यं युवा, वत्स ष्यञ्, ततो युनि फक्। १ मुनिविशेष। पर्याय—मल्लनाग, पक्षिलस्वामी। २ कामसूत्रके रचयिता।

न्याय शब्द और कामशास्त्र शब्द देखो।

वात्स्यायनीय (सं० त्रि०) वात्स्यायन कृत कामसूत्र।

वाद (सं० पु०) वद घञ्। १ यथार्थबोधेच्छु वाक्य, वह बात-चीत जो किसी तत्त्वके निर्णयके लिये हो। 'वाद' न्यायके सोलह पदार्थोंमें दशवां पदार्थ माना गया है। जब किसी बातके सम्बन्धमें एक कहता है, कि यह इस प्रकार है और दूसरा कहता है, कि नहीं, इस प्रकार है और दोनों अपने अपने पक्षकी युक्तियोंको सामने रखते हुए कथोपकथनमें प्रवृत्त होते हैं, तब वह कथोपकथन 'वाद' कहलाता है।

तत्त्वनिर्णय वा विजय अर्थात् दूसरेकी पराजयके उद्देशसे

न्यायानुगत वचन परम्पराका नाम कथोपकथन है। यह कथोपकथन तीन प्रकारका है—वाद, जल्प और वितण्डा। जय-पराजयके लिये नहीं, केवल तत्त्वनिर्णयके उद्देशसे जो बात-चीत होती है उसका नाम वाद है। वादमें वादी और प्रतिवादी दोनोंके तत्त्वनिर्णयकी ओर ही लक्ष्य रहते हैं। इसमें दोनों अपने अपने कथनको प्रमाणों द्वारा पुष्ट करते हुए दूसरे प्रमाणोंका खण्डन करते हैं। इसमें सिद्धान्तका किसी तरह अपलाप नहीं किया जाता तथा यह पञ्च-अवयवसे युक्त होता है। फलतः वीतराग अर्थात् अपनी जय वा प्रतिपक्षकी पराजयके विषयमें अभिलाषशून्य व्यक्तिका कथन ही वाद है। तत्त्वनिर्णयके प्रति लक्ष्य न रख कर प्रतिपक्षकी पराजय तथा अपनी जयके उद्देशसे जो बातचीत होती है उसका नाम जल्प है। जल्पमें वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने पक्षका समर्थन और पर-पक्षका खण्डन करते हैं। अपना कोई भी पक्ष निर्देश न करके, केवल दूसरेके पक्ष खण्डनके उद्देशसे जो कथोपकथन होता है उसका नाम वितण्डा है।

जल्प और वितण्डामें प्रतिपक्षकी पराजयके लिये छल, जाति और निग्रहस्थानका उद्भावन किया जा सकता है। परन्तु वादमें वह नहीं हो सकता। केवल तत्त्वनिर्णयके लिये हेत्वाभास तथा और भी दो एक निग्रहस्थानका उद्भावन किया जा सकता है। जो तत्त्वनिर्णय वा विजयके अभिलाषी सर्वजनसिद्ध अनुभवका अपलाप नहीं करते, जो श्रवणादिमें पटु हैं, कथनके उपयुक्त व्यापारमें उक्ति प्रत्युक्ति आदिमें समर्थ अथच कलहकारी नहीं हैं, वे ही कथनके अधिकारी हैं। फिर जो तत्त्वज्ञानेच्छु हैं, उचित बात बोलते हैं, प्रतिभाशाली हैं और युक्तिसिद्ध अर्थ स्वीकार करते हैं, जो प्रतारक नहीं हैं तथा प्रतिपक्षका तिरस्कार नहीं करते, वे ही वादके अधिकारी हैं। वादमें सभाकी अपेक्षा नहीं, जल्प और वितण्डामें सभाकी अपेक्षा है। जिस जनतामें राजा वा कोई भी क्षमताशाली व्यक्ति मध्यस्थ रहते हैं उस जनसमूहका नाम सभा है।

कथन वा शास्त्रीय विचारप्रणाली इस प्रकार है। पहले वादी प्रमाणोपन्यासपूर्वक अपने पक्षका स्थापन कर उसमें सम्भाव्यमान दोषका खण्डन करें। प्रतिवादी अपने अज्ञानादिको दूर करनेके लिये अर्थात् वे वादीकी बातको अच्छी तरह समझ सके हैं, यह दिखलानेके लिये वादीके मतका अनुवाद कर दोष दिखलाते हुए उसका खण्डन तथा प्रमाणोपन्यासपूर्वक अपने मतका स्थापन करें। इसके बाद वादी प्रतिवादीके कथनोंका अनुवाद करके अपने पक्षमें प्रतिवादी द्वारा दिखलाये गये दोषोंको उद्धार कर प्रतिवादीके स्थापित पक्षका खण्डन करें। इस नियमके अनुसार वादी और प्रतिवादीका विचार चलता रहेगा। आखिरमें जो इस नियमका उल्लङ्घन करते हैं अथवा अनवसरमें अर्थात् जिस समय परपक्षमें दोष दिखाना होता है उस समय न दिखला कर, दूसरे समयमें दिखलाते हैं, वे भी निगृहीत अर्थात् पराजित होते हैं।

इस नियमके अनुसार विचार करके जयलाभ करने हीसे वाद होगा ऐसा नहीं, सिद्धान्तित विषय उक्त नियमके अनुसार प्रमाणादि द्वारा सिद्धान्त होनेको ही वाद कहते हैं।

इसका तात्पर्य यदि और भी विशदरूपसे किया जाय, तो यह कहा जा सकता है, कि परस्पर विजिगीषु न हो कर केवल प्रकृत विषयका तत्त्व-निर्णय करनेके लिये वादी और प्रतिवादीका जो विचार हो उसको वाद कहते हैं। प्रमाण और तर्क द्वारा अपने पक्षका समर्थन और परपक्षका खण्डन कर सिद्धान्तके अविरोधी पञ्चावयवयुक्त होनेवाली वादी और प्रतिवादीकी उक्ति और प्रत्युक्तिको वाद कहते हैं। यहां यह शङ्का हो सकती है, कि वादी और प्रतिवादी दोनोंके वाक्य किस प्रकार प्रमाण-तर्कादिविशिष्ट हो सकते हैं? इसका उत्तर यही है, कि शास्त्रने जिन्हें प्रमाण, तर्कादि बतलाया है उन्हींके अनुसार वाक्योपन्यास करना होगा, इच्छानुसार वाक्य प्रयोग करनेसे काम नहीं चलेगा।

यदि मनुष्य भूलसे प्रमाणाभास, तर्काभास, सिद्धान्त और न्यायाभासका प्रयोग करे, तो भी विचारके वादत्वकी हानि न होगी। वादविचारके सभी अधिकारी नहीं हैं। जो प्रकृत तत्त्वनिर्णयेच्छु, यथार्थवादी, वञ्चकादि दोषशून्य, प्रकृत उपयोगी वाक्यकथनमें समर्थ हैं, जो न समझ सकने पर भी सिद्धान्त विषयका अपलाप नहीं करते

तथा युक्तिसिद्ध विषयको स्वीकार करते हैं, वे ही वाद-विचारके अधिकारी हैं। परन्तु मेरी जीत होगी, इस ख्यालसे मनुष्य यदि प्रमाणादि कह कर प्रमाणाभासादिका प्रयोग करे, तो वाद नहीं होगा। तत्त्वनिर्णयके लिये वाद-प्रतिवाद ही वादलक्षणका लक्ष्य है तथा अपने पक्षको दृढ़ करनेके लिये हेतु और उदाहरणका अधिक प्रयोग युक्तियुक्त होनेके कारण वाद-विचारकी जगह अवयवकी अधिकताका आदर हुआ है। उदाहरण वा उपनयरूप अवयवका प्रयोग नहीं करनेसे प्रकृत अर्थ सिद्ध नहीं होता, इसीसे सूत्रमें पञ्चावयव शब्द निर्दिष्ट हुआ है। पञ्च अवयव शब्दके द्वारा पञ्चका न्यून परिहार हुआ है, पञ्चावयवकी अधिकता होनेसे उसमें दोष न हो कर वरन् श्रेष्ठ ही होगा। दूसरा तात्पर्य यह भी है, कि पञ्चावयवयुक्त इस शब्द द्वारा हेत्वाभासका निराश तथा सिद्धान्तविरोधी शब्द द्वारा अपसिद्धान्तको भी निराश किया गया है।

वादक (सं० त्रि०) वादयतीति वद-णिच्-ण्वुल्। १ वाद्यकर, बाजा बजानेवाला। २ वक्ता। ३ तर्क या शास्त्रार्थ करनेवाला, वाद-विवाद करनेवाला।

वादचञ्चु (सं० पु०) शास्त्रार्थ करनेमें पटु, वाद करनेमें दक्ष।

वाददण्ड (सं० पु०) सारङ्गी आदि बाजोंके बजानेकी कमानी।

वादन (सं० क्ली०) वद-णिच् ल्युट्। १ वाद्य, बाजा। २ बाजा बजाना।

वादनक (सं० क्ली०) वादन-स्वार्थे कन्। वाद्य, बाजा।

वादनदण्ड (सं० पु०) बेहला आदिका तन्त्रियन्त्र बजानेकी छड़ी।

वादपट्टि—मन्द्राज प्रदेशके अन्तर्गत सलेम जिलेके उतङ्करई तालुकाका एक बड़ा गाँव। यहां प्राचीनत्वके निदर्शनस्वरूप कुछ शिलालेख विद्यमान हैं।

वादप्रतिवाद (सं० पु०) शास्त्रीय विषयोंमें होनेवाला कथोपकथन, बहस।

वादयुद्ध (सं० पु०) वादे शास्त्रीय विवादे युद्धं। वादविषयमें युद्ध, शास्त्रीय झगड़ा, शास्त्रीय कलह।

वादर (सं० पु०) वदरात् बदराकारकार्पासफलोद्भवम्, वदर-अण्। १ कार्पास निर्मित वस्त्रादि, कपासके सूतका कपड़ा। वदर स्वार्थे अण्। २ कार्पास वृक्ष, कपासका पेड़। ३ वदरी वृक्ष, बेरका पेड़।

वादरङ्ग (सं० पु०) अश्वत्थ वृक्ष, पीपलका पेड़।

वादरत (सं० त्रि०) तर्क वा मीमांसामें नियुक्त।

वादरा (सं० स्त्री० ; वदरवत् फलमस्त्यस्याः वदर-अच्, ततष्टाप्। कार्पासवृक्ष, कपासका पेड़। पर्याय - कार्पासी, सूत्रपुष्पा, वदरी, समुद्रान्ता।

वादरायण (सं० पु०) वदरायणे वदरिकाश्रमे निवसतीति वदरायण-अण्। व्यासदेव, वेदव्यास। व्यासदेव देखो।

वादरायणि (सं० पु०) वादरायणस्यापत्यमिति अपत्यार्थे इञ्। १ व्यासके पुत्र शुकदेव। वादरायण एव स्वार्थे इञ्। २ व्यासदेव।

वादरि (सं० पु०)वादरायणके पिता। इनका मत वेदान्तदर्शनमें प्रायः उद्धृत है।

वादरिक (सं० त्रि०) वदरं चिनोति इत्यर्थे ठञ्। वदर चयनकर्त्ता, बेर बीननेवाला।

वादल (सं० क्ली०) मधुयष्टिका, जेठी मधु, मुलेठी।

वादवती (सं० स्त्री०) एक नदीका नाम।

वादवाद (सं० पु०) तर्क, बहस।

वादवादिन् (सं० पु०) वादं वदति वद-णिनि। एक 'जिन'का नाम। पर्याय—आर्हत।

वादविवाद (सं० पु०) शाब्दिक-झगड़ा, बहस।

वादसाधन (सं० क्ली०) १ अपकार करना। २ तर्क करना।

वादसापर (सं० पु०) स्वर्गदेशका एक नगर। (भ० ब्रह्मखण्ड)

वादा—१ चम्पारणके अन्तर्गत एक ग्राम। (भ० ब्रह्मखण्ड ४२।६५) २ कलकत्तेके दक्षिणमें उपस्थित एक लवणमय जलाशय। बादा देखो।

वादा (अ० पु०) १ नियत समय वा घड़ी। २ प्रतिज्ञा, इकरार।

वादानुवाद (सं० क्ली०) तर्क-वितर्क, शास्त्रार्थ, बहस।

वादान्य (सं० त्रि०) वदान्य एव स्वार्थे अण्। बहुप्रद, उदार।

वादाम (सं० क्ली०) स्वनामख्यात फल, बदाम। बदाम देखो।

वादायन (सं० पु०) वादस्य गोत्रापत्यं (अश्वादिभ्यः फञ्। पा ४।१।११०) इति फञ्। वादके गोत्रापत्य ।

वादाल (सं० पु०) मत्स्यभेद, सहस्रदंष्ट्रा नामक मछली ।

वादि (सं० त्रि०) वादयति व्यक्तमुच्चारयति वद णिच् (वसिवपियर्जाति। उण् ४।१२४) इति इञ्। विद्वान्।

वादिक (सं० त्रि०) तार्किक ।

वादित (सं० त्रि०) निनादित, बजाया हुआ ।

वादितव्य (सं० क्ली०) वद-णिच् तव्य। वाद्य, बाजा।
"गीतेन वादितव्येन नित्यं मामनुयास्यति।"
(भारत १३।६६७ श्लोक)

वादित्र (सं० क्ली०) वाद्यते वद-णिच् (भूवादिगृभ्यो णित्रम्। उण् ४।१७०) इति णित्र। वाद्य, बाजा।

वादित्रवत् (सं० त्रि०) वादित्र अस्त्यर्थे मतुप् मस्य व। वाद्य सदृश, बाजेकी तरह।

वादिन् (सं० त्रि०) वदतीति वद-णिनि। १ वक्ता, बोलनेवाला। २ किसी बातका पहले पहल प्रस्ताव करनेवाला, जिसका प्रतिवादीकी ओरसे खण्डन होता है। ३ फरियादी, मुद्दई। जो राजद्वारमें पहले पहल नालिश करता है, उसे वादी और जिसके विरुद्ध नालिश की जाती है, उसे प्रतिवादी कहते हैं।

वादिभीकराचार्य—आचार्य्यसप्तति और सप्ततिरत्नमालिका-के रचयिता ।

वादिर (सं० क्ली०) वदरी सदृश सूक्ष्म फलवृक्ष, बेरके समान छोटे फलवाले पेड़।

वादिराज् (सं० पु०) वादिषु वक्तृषु राजते इति राज-क्विप्। मञ्जुघोष ।

वादिराज—१ जैनमत-खण्डन और भगवद्गीता-लक्षाभरण-के प्रणेता। २ भेदोज्जीवन, युक्तिमल्लिका और विवरण-व्रण नामक तीनों ग्रन्थके रचयिता। ३ सारावली नामक व्याकरणके प्रणेता।

वादिराजतीर्थ—तीर्थप्रबन्धकाव्य और रुक्मिनीशविजय-काव्यके रचयिता। १३३६ ई०में इनका देहान्त हुआ।

वादिराजपति—श्लोकत्रयस्तोत्रके रचयिता।

वादिराजशिष्य—रामायण-संग्रहटीकाके प्रणेता।

वादिराजस्वामी—१ भूगोलके रचयिता। आनन्दतीर्थकृत महाभारततात्पर्य्यनिर्णयके प्रणेता।

वादिवागीश्वर (सं० पु०) एक प्राचीन कवि। शेषानन्दने इनका श्लोक उद्धृत किया है।

वादिश (सं० त्रि०) साधुवादी।

वादिश्रीवल्लभ—अभिधानचिन्तामणिटीकाके रचयिता।

वादी (सं० पु०) वादिन् देखो।

वादीन्द्र—१ एक प्रसिद्ध दार्शनिक। चिन्नभट्टने इनका उल्लेख किया है। २ कविकर्पटिकाकाव्यके प्रणेता।

वादीन्द्र (सं० पु०) वादिनां इन्द्रः। वादिराज, मञ्जुघोष।

वादीभसिंह—एक जैन पण्डित। इन्होंने गद्यचिन्तामणि नामक ग्रन्थ लिखा है।

वादीश्वर (सं० पु०) वादिनामीश्वरः। वादिराज, मञ्जु-घोष।

वादुलि (सं० पु०) विश्वामित्रके एक पुत्रका नाम।
(भारत १३ पर्व)

वाद्य (सं० क्ली०) वादयन्ति ध्वनयन्तीति वद-णिच्-यत्। १ यन्त्रवादन, बाजा बजाना। २ वादित्र, बाजा। पर्याय—आतोद्य। यह वाद्य चार प्रकारका होता है—तत, आनद्ध, शुषिर और घन।

विना तालके गानकी शोभा नहीं होती, गानकी पूर्णता-के लिये तालकी आवश्यकता है, यह ताल वादित्रसे उत्पन्न हुआ है; इसलिये वाद्य अति श्रेष्ठ है। फिर यह वाद्य तत, शुषिर, आनद्ध और घन भेदसे चार प्रकारका है। वाद्योंके मध्य तन्त्रीगत वाद्यको तत, वंशी प्रभृतिको शुषिर, चर्म्मावनद्धको आनद्ध एवं तालादिको घन कहते हैं।

तत वाद्य यथा—अलावनी, ब्रह्मवीणा, किन्नरी, लघु-किन्नरी, विपञ्ची, वल्लकी, ज्येष्ठा, चित्रा, ज्योषवती, जया, हस्तिका, कुब्जिका, कूर्म्मी, शारङ्गी, परिवादिनी, त्रिशवी, शतचन्द्री, नकुलौष्ठी, ढंसवी, औडुम्बरी, पिनाकी, निबन्ध, शुष्कल, गदा, वारणहस्त, रुद्र, शरमण्डल, कपिलास, मधुस्यन्दी और घोणा प्रभृति तन्त्रीगत वाद्ययन्त्रको तत वाद्य कहते हैं।

शुषिर वाद्य यथा—वंशी, पारी, मधूरी, तित्तिरी, शङ्ख, काहल, तुरही, मुरली, बुक्का, शृङ्गिका, स्वरनाभि, सिंगा, कापालिक, वंशी और चर्म्मवंशी प्रभृति शुषिर वाद्य है।

आनद्धवाद्य यथा—मुरज, पटह, ढक्का, विम्बक, दर्पवाद्य, प्रणव, घन, सरुञ्जा, लावजाह्व, त्रिवल्य, करट, कमट, भेरी, कुड़क्का, हुड़क्का, झनस, मुरली, झल्ली, ढुक्कली, दौण्डिशाली, डमरु, टमुकी, मड्डू, कुण्डली, तङ्गुनामा, रण, अभिघट, दुन्दुभी, रञ्ज, डुडुकी, दर्दुर और उपाङ्ग प्रभृति आनद्ध-वाद्य कहलाते हैं।

कांस्यताल अर्थात् करताल प्रभृतिको घन कहते हैं।

पुराणमें लिखी हुई घटनाका अवलम्बन करके संगीत-दामोदरकार लिखते हैं, कि रुक्मिणी और सत्यभामा प्रभृति श्रीकृष्णकी आठ पटरानियोंके विवाहकालमें ये चारों प्रकारके वाद्य एक साथ बजाये गये थे। इन चारों प्रकारके वाद्यके मध्य देवताओंके तत, गन्धर्वोंके शुषिर, राक्षसोंके आनद्ध एवं किन्नरोंके घनवाद्य थे; किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण पृथ्वी पर अवतार ले कर ये चारों प्रकारके वाद्य इस मर्त्यभुवनमें ले आये, तबसे ये वाद्य पृथ्वीमें प्रचलित हैं।

विष्णुमन्दिरमें ये सब वाद्य बजानेसे विष्णु सन्तुष्ट हो कर अभिमत फल प्रदान करते हैं; इसलिये विष्णुमन्दिरमें प्रातः और सन्ध्याके समय इन सब वाद्योंका बजाना उचित है। शास्त्रमें जो विष्णुशब्द अभिहित है, वह केवल उपलक्षण है। विष्णु शब्दसे सभी देवताओंका बोध होता है; अतः सब देवताओंके मन्दिरमें उसी तरह बाजा बजानेकी विधि है।

शिवमन्दिरमें झल्लक (कांस्य निर्मित करताल); सूर्यमन्दिरमें शङ्ख; दुर्गामन्दिरमें वंशी तथा माधुरी बजाना निषेध है एवं विरंचिके मन्दिरमें ढाक और लक्ष्मीके मन्दिरमें घण्टा नहीं बजाना चाहिये। यदि कोई वाद्यादि करनेमें असमर्थ हों, तो वे घण्टा बजा सकते हैं; कारण घण्टा सब वाद्योंका स्वरूप बतलाया गया है।

वाद्य सङ्गीतका एक प्रधान अङ्ग है। गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनोंके एकत्र समावेशको ही संगीत कहते हैं। कुछ लोग गीत और वाद्य इन दोनोंके संयोगको ही संगीत कह गये हैं। उनके मतानुसार गीत और वाद्य ही प्रधान हैं, नृत्य इन दोनोंका अनुगामी है। कोई कोई तो गान, वाद्य और नृत्य प्रत्येकको ही संगीत कहते हैं। कारण, वाद्याभावसे गान और नृत्य शोभा नहीं पाते।

यह वाद्य फिर तालके अधीन हैं, बे-ताल वाद्यादि लोगोंके सुखदायक न हो कर केवल क्लेशप्रद होते हैं। वह ताल फिर त्रिधात्मक अर्थात् काल (क्षणादि), क्रिया (तालकी घटना), मान (दोनों क्रियाओंके मध्य विश्राम) नामक तीन विभागोंके समाश्रय हैं। ताल शब्दसे व्युत्पत्तिगत अर्थसे इसकी सार्थकता प्रतिपन्न होती है। प्रतिष्ठार्थक वाचक 'तल' धातुके बाद घण् प्रत्यय द्वारा ताल शब्द निष्पन्न होता है। इससे बोध होता है, कि गान, वाद्य और नृत्य ये तीनों जिसके द्वारा प्रतिष्ठित होते हैं, उसे ही ताल कहते हैं। काल, मार्ग (गति-पथ) क्रिया, अंग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति और प्रस्तार ये दशों तालके प्राणस्वरूप हैं। इन दशों प्राणात्मक तालके जाननेवाले व्यक्तिको ही संगीत-प्रवीण कह सकते हैं। बे-ताल गानेवाले व्यक्तिको संगीत विषयमें मृत कहनेसे भी अत्युक्ति नहीं होती। जिस तरह साधारण नौका बिना कर्ण (पतवार) की सहायताके विपथके सिवाय कभी सुपथगामिनी नहीं हो सकती उसी तरह बे ताल गाना आनन्द प्रदान करनेके बदले कर्णकटु ही होता है।

तालके दश प्राणान्तर्गत 'काल' मात्रा नामसे अभिहित होता है। इस मात्राके पाँच भेद हैं, यथा—अणुद्रुत, द्रुत, लघु, गुरु और प्लुत। इनके सांकेतिक नाम—णुद, द, ल, ग और प। इन्हें लिपिबद्ध करनेके समय ◡, ०, ।, ऽ', इस प्रकारसे लिखना होता है। एक सौ पद्मपत्र उपर्युपरिभावसे रख कर सूई द्वारा गाँथनेमें जितना समय लगता है, उसे क्षण कहते हैं। एक क्षणमें अणुद्रुत वा णुद, दो क्षणमें द्रुत वा द, दो द्रुतमें (चार क्षणमें) लघु वा ल, दो लघुमें (आठ क्षणमें) गुरु वा ग एवं तीन लघुमें (बारह क्षणमें) प्लुत वा प होगा। किसी किसी संगीतज्ञ पंडितने पाँच लघु वर्णोंके उच्चारण-समयको एक लघुमात्रा बतलाया है एवं तदनुसार ही अणुद्रुतादि मात्रा काल निर्दिष्ट किया है।

इन सब मात्राओंके विभिन्न प्रकारके विन्याससे बहुसंख्यक तालोंकी उत्पत्ति हुई है। उनमें कतिपय

तालोंके नाम तथा मात्राओंके विन्यास नीचे दिखलाये गये हैं। ताल प्रथमतः 'मार्ग' और 'देशी' भेदसे दो प्रकारका है। ब्रह्मादि देवगण और भरतादि संगीतविद्गण देवदेव महादेवके सामने जो संगीत प्रकाश करते थे, उसे मार्ग एवं भिन्न भिन्न देशके रीत्यनुसार तत्तद्देशवासियोंके चित्त जिसके द्वारा आकृष्ट और अनुरंजित होते हैं, उसे संगीत कहते हैं। इस तरह संगीत दो प्रकारके होनेके कारण ताल भी दो प्रकारके हैं।

संगीतविशेषमें सुनिपुण व्यक्ति ही गायक या नर्त्तकके भ्रमनिराकरणनिमित्त कांस्यनिर्मितघनवाद्य अर्थात् 'करताल' वा 'मंजोरा' आदिके आघात द्वारा ताल बता देंगे। तालमें सम, अतीत और अनागत—ये तीन प्रकारके ग्रह हैं। एक साथ गान और ताल आरम्भ होनेसे उसे समग्रह, गीतारम्भके पहले तालके आरम्भ होनेसे अतीतग्रह एवं गानारम्भके बाद तालके आरम्भ होनेसे अनागतग्रह कहते हैं। क्रियाके समय सामान्य सामान्य विश्रामको लय कहते हैं। लय द्रुत, मध्य और विलम्बित भेदसे तीन प्रकारका है। अति शीघ्रगतिको द्रुत, उसकी दूनी धीमी गतिको मध्य एवं मध्यापेक्षा दूनी धीमी गतिको विलम्बित लय कहते हैं। इन तीनों प्रकारकी लयको फिर समा, स्रोतोवहा और गोपुच्छा, ये तीन प्रकारकी गतियां हैं। आदि, मध्य और अन्तमें एक ही समान रहनेको समा, जलके स्रोतकी तरह कभी द्रुत और कभी मन्दगतिसे गाये जानेको स्रोतावहा एवं द्रुत, मध्य और विलम्बित, इन तीनों ही भावोंमें गाये जानेको गोपुच्छा गति कहते हैं। संस्कृत श्लोकादिमें जिह्वाके विश्राम-स्थानको जिस प्रकार यति कहते हैं, उसी प्रकार तालके लय प्रकृतिनियम भी यति नामसे अभिहित है।

वाद्यमें ताल, यति और लय जिस प्रकार आवश्यक हैं, मात्रानिरूपणमें भी इनकी वैसी ही आवश्यकता है। मात्राकी समताकी रक्षा नहीं होनेसे संगीतका पद भंग हो जाता है उस संगीतकी कोई मर्यादा नहीं। इस कारण शिक्षार्थीको विशेषरूपसे मात्राके ऊपर ध्यान रखना चाहिये। मनुष्यकी नाड़ीकी गतिके परिमाणसे अर्थात् एक आघातके बाद विरामान्तमें फिर आघातके समय तक १ मात्रा धर कर ले जा सकते हैं। इस तरह एक एक आघातको एक मात्रा काल स्थिर कर उसीका दीर्घ प्लुत करके एक, द्वि, त्रि प्रभृति मात्राकाल निर्दिष्ट होता है। घटिकायन्त्रके समविरामान्तर आघात ले कर भी मात्राका निरूपण हो सकता है। हमारे देशके कोई कोई गायक और वादकगण अपनी अपनी इच्छाके अधीन अर्थात् अपने स्वर और हाथोंके वजनके अनुसार काल स्थिर कर लेते हैं।

गायक और वादक एकमात्रा काल मान कर जो समय स्थिर करेंगे, द्विमात्रा काल स्थिर करनेमें उसी निर्दिष्ट एकमात्रा कालका दीर्घ करना होगा। वे त्रि वा चतुर्मात्रामें उसी तरह तिगुणा वा चौगुणा समय धर लेंगे। उसी तरह ८ मात्राओंको एकत्रित करनेसे एक मार्ग होता है। किस तालमें कितनी मात्राएं अर्थात् कितनी मात्राओंमें एक एक ताल होता है, वह तालविशेषके पर्य्यायसे जाना जाता है। तालके समान विभागका नाम लय एवं लघु गुरु निर्द्देशका नाम प्रश्न है। संगीतके छन्दकी तरह तालका भी पद है। इस पद वा गिराके चार भेद हैं, यथा—विषम, सम, अतीत और अनाघात। इनके मध्य फिर विराम, मुहूर्त्त, अणु, द्रुत, लघु प्लुत, अथवा अणु, द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत, विराम और लघुविराम ये सात अङ्ग हैं।

मार्ग और देशी, इन दोनों तालोंके मध्य पहले मार्ग, इसके बाद देशी तालके नाम और मात्राविन्यास प्रदर्शित किये जाते हैं।

मार्गताल।

चच्चत्पुट, चाचपुट, षट् पितापुत्र, सम्पर्केष्टाक और उद्घट, ये पांचों मार्गताल पहले यथाक्रमसे देवदेव महादेवके सद्योजात, वामदेव, ईशान, अघोर और तत्पुरुष, इन पांचोंके मुखसे उत्पन्न हुए। ये पांचों ताल देवलोकमें ही व्यवहृत होते हैं।

मार्गताल।

संख्या	तालके नाम	मात्रा-संख्या	मात्रा-विन्यास
१	चच्चत्पुट	८	ऽऽ।ऽ'
२	चाचपुट	६	ऽ।।ऽ
३	षट् पितापुत्र	१२ वा १४	ऽ'ऽऽऽऽ' वा ऽऽ।।।ऽ'

संख्या	तालके नाम	मात्रासंख्या	मात्रा-विन्यास
४	सम्पर्केष्टाक	९	ई'६६ई
५	उद्घट्ट	६	ई६६
		देशी ताल ।	
६	आदि वा रास	१	१।
७	द्वितीय	३	००॥
८	तितीय	१॥	०।' वा ०००'
९	चतुर्थ	२॥	॥०
१०	पञ्चम	१	००
११	निःशङ्कलील	११	६'ई'६६।
१२	दर्पण	३	००ई
१३	सिंहविक्रम	१६	६६ई।ई'।ईई'
१४	रतिलील	६	॥६६ वा ॥००००००००
१५	सिंहलील	२॥	।०००
१६	कन्दर्प	७ वा ५	००६'६। वा ००६
१७	वीरविक्रम	४	।००६
१८	रंग	४	००००ई
१९	श्रीरङ्ग	८	॥ई।६'
२०	चच्चरी	१५	००'।००'।००'।००' ।००'।००'।००'।००'
२१	प्रत्यङ्ग	८	ई६६॥
२२	यतिलग्न	२	००।
२३	गजलील	४	॥॥'
२४	हंसलील	२	॥'
२५	वर्णभिन्न	४	००।ई
२६	त्रिभिन्न	६ वा ३॥	।ई६' वा ।६०
२७	राजचूड़ामणि	८ वा ५॥	००॥।००ई वा ००।०।६
२८	रङ्गोद्योत वा रङ्गोद्यत	१०	६ई६।६'
२९	रङ्गप्रदोपक	१०	६६।६६'
३०	राजताल	१२	६६'००६।६०
३१	त्यस्र	५	॥००॥
३२	मिश्र	१७	००००'००००'। ००००'६'६००ई६
३३	चतुरस्र	६	ई।००ई
३४	सिंह विक्रीड़ित	२४	॥६'।६६'।ई'ईई'ई

संख्या	तालके नाम	मात्रा-संख्या	मात्रा विन्यास
३५	जय	९वा८ वा ०॥	।६॥००६ वा ।ई। वा ।६॥।०००६'
३६	वनमाली	७	००००॥००ई
३७	हंसनाद	८	।६'००६'
३८	सिंहनाद	८ वा ९	।ई६।६वा।६६।६'
३९	कुडुक्क	३	००॥
४०	तुरङ्गलील	२ वा ई	००'०० वा ००'॥ई'
४१	शरभलील	६ वा २॥	॥०००० वा ।०
४२	सिंहनन्दन	३२	६६।६'।६००६६।
४३	त्रिभङ्गी	६	॥६६ वा १।१'
४४	रङ्गाभरण	९	११॥१'
४५	मञ्चक	८ वा ५ वा १५॥	॥१॥॥'वा१॥०'० वा ॥१'११'११'०'
४६	मुद्रितमञ्च	८	१॥॥'
४७	मञ्च	८	॥॥१॥
४८	कोकिलप्रिय	१	१ १'
४९	निःसारुक	२ वा १	॥' वा ००'
५०	राजविद्याधर	४	।१००
५१	जयमङ्गल	८	॥१॥१ वा १११॥
५२	मल्लिकामोद	४	॥००००
५३	विजयानन्द	८	॥६११
५४	क्रीड़ा वा चण्ड-निःसारुक	१	००'
५५	जयश्री	८	१:१ १ वा ।१॥१
५६	मकरकन्द	४	००॥
५७	कीर्त्ति	१० वा ९	।६'६।६' वा ।६'६६'
५८	श्रीकीर्त्ति	६	६६॥'
५९	प्रति	२ वा ३	।०० वा ॥००
६०	विजय	९ वा ८	६'ई६। वा ६'६६'
६१	विन्दुमाली	६	६००००६
६२	सम	२ वा ३॥	।००' वा ॥'०००
६३	नन्दन	६	॥००६'
६४	मञ्चिका	५॥ वा ९	६०ई' वा ।'ई'६'॥
६५	दीपक	७	०।ई०।ई वा ००॥६६
६६	उद्दीक्षण	४	॥६
६७	ढेङ्किका	३	६।ई वा ।६६

संख्या	तालके नाम	मात्रा-संख्या	मात्राविन्यास
६८	विषम	४ वा २	००००'००००' वा ००००
६९	वर्णमल्लिका	५	॥००।००
७०	अभिनन्दन	५	॥००ऽ
७१	अनंग	८ वा ५॥	।ऽ'॥ऽ वा ।०॥ऽ
७२	नान्दी	८ वा ४॥	।००॥ऽऽ वा ।०।ऽ
७३	मल्ल	५	॥।००'
७४	पूर्णकङ्काल	५	००००ऽ।
७५	खंडकङ्काल	५ वा ३	००ऽऽ वा ००ऽ
७६	समकङ्काल	५	ऽऽ।
७७	असमकङ्काल	५	।ऽऽ
७८	कन्दुक	६	॥॥ऽ
७९	पकताली	॥	०
८०	कुमुद	५	।००।ऽ वा ।००००ऽ
८१	चतुस्ताल	३॥	ऽ०००
८२	डोम्बरी	२	॥'
८३	अभंग	५	ऽऽ' वा ॥।ऽ
८४	रायवंगोल	६	ऽ।ऽ००
८५	वसन्त	९ वा ६	॥।ऽऽऽ वा ऽऽऽ
८६	लघुशेखर	१ वा २	।' वा ॥'
८७	प्रतापशेखर	४	ऽ'००'
८८	झम्प	२	००'।
८९	जगझम्प	३॥	ऽ०००' वा ।ऽ०'
९०	चतुर्म्मुख	७	।ऽ।ऽ'
९१	मदन	३	००ऽ
९२	प्रतिमञ्च	४ वा १०	॥ऽ वा ऽ॥ वा ऽऽऽऽ॥
९३	पार्वतीलोचन	१५	ऽऽऽ।ऽ'ऽऽ०
९४	रति	३	।ऽ
९५	लीश	४॥	०।ऽ'
९६	करणयति	२	००००
९७	ललित	४	००।ऽ
९८	गारुगी	२	००००'
९९	राजनारायण	७	००।ऽ।ऽ
१००	लक्ष्मीश	५	००'।ऽ'
१०१	ललितप्रिय	७	॥ऽ।ऽ
१०२	श्रीनन्दन	७	ऽ॥ऽ'
१०३	जनक	१४ वा १३	॥।ऽऽ॥ऽऽ वा ऽऽऽऽऽऽ
१०४	वर्द्धन	५	००।ऽ
१०५	रागवर्द्धन	४॥	००' ०ऽ'
१०६	षट्ताल	३	००००००
१०७	अन्तरक्रीड़ा	१॥	०००'
१०८	हंस	२	॥'
१०९	उत्सव	४	।ऽ'
११०	विलोकित	६	ऽ००ऽ'
१११	गज	४	॥॥
११२	वर्णयति	३ वा ८	॥०० वा ॥ऽ'ऽ'
११३	सिंह	३	।००००
११४	करण	२	ऽ
११५	सारस	४॥	।०००॥
११६	चण्ड	३॥	०००॥
११७	चन्द्रकला	१६ वा ३	ऽऽऽऽ'ऽ'ऽ'।वा ॥।'
११८	लय	१८॥	ऽ।ऽ'ऽ'ऽ'ऽऽ'०००
११९	क्रन्द	१० वा २॥	ऽ।ऽ००ऽऽ वा ॥०
१२०	अड्डताली वा त्रिपुट	२॥	०॥
१२१	धत्ता	६	॥००।ऽ
१२२	द्वन्द्व	१२	॥ऽऽऽ।ऽ'
१२३	मुकुन्द	५ वा ३॥	।००००ऽ वा ।०॥ वा ।.००००
१२४	कुविन्द	७	।००ऽऽ'
१२५	कलध्वनि	८	॥ऽ।ऽ'
१२६	गौरी	५	॥॥
१२७	सरस्वतीकण्ठाभरण	७	ऽऽ॥००
१२८	भग्न	३॥ वा ५	००००॥।'
१२९	राजमृगाङ्क	३॥	०।ऽ
१३०	राजमार्त्तण्ड	३॥	ऽ।०
१३१	निःशङ्क	११	।ऽऽ'ऽऽ।
१३२	शार्ङ्गदेव	११	००ऽऽ'ऽऽ।
१३३	चित्र	१॥	।०.
१३४	इड़ावान्	३॥	०।००।
१३५	सन्निपात	३	ऽ'
१३६	ब्रह्म	७ वा ८	।०।००।०००। वा ।ऽ॥ऽ'

संख्या	तालके नाम	मात्रासंख्या	मात्रा विन्यास
१३७	कुम्भ	७॥	०००० ‿ ०'।० ‿ ०'॥
१३८	लक्ष्मी	८।	००। ‿ ‿ ०।' ‿
१३९	अर्जुन	७	०।०।०००।०।'
१४०	कुण्डनाचि	१०	०॥'॥'०००००॥'०
१४१	सन्नि	५॥	०००॥००।
१४२	महासान्नि	१०	०००॥०।०।०॥।
१४३	यतिशेखर	७	००॥००।०।०
१४४	कल्याण	॥।०	‿ ‿ ‿
१४५	पञ्चघात	८	६६।'।६'
१४६	चन्द्र	१५	॥६६६६०००।०।००'
१४७	अद्‌ तालो	३	००॥
१४८	गजनमञ्च	४	।६।
१४९	रामा	॥	०
१५०	चन्द्रिका	३	।'६
१५१	प्रसिद्धा	२॥	।०।'
१५२	त्रिपुला	१॥।	‿ ०'।
१५३	यति	३	।००।
१५४	पञ्च	१॥	०।
१५५	अष्टकालो	२	‿ ‿ ०।
१५६	रङ्गलील	४	।६००
१५७	लघुचच्चरो	१५	००। ‿ ००। ‿ ००। ‿ ००। ‿ ।०० ‿ ।०।० ‿ ००। ‿ ००। ‿ ००।
१५८	परिक्रम	७	००६६६
१५९	वर्णलील	४	००।६
१६०	वर्ण	७	६।००।६
१६१	श्रीकान्ति	६	६६॥
१६२	लघु	७	॥६'
१६३	राजझङ्कार	६	६।६००
१६४	सारङ्ग	२	००००'
१६५	नन्दिवर्द्धन	७	६॥६'
१६६	पार्व्वतीनेत्र	१५	॥००॥।६६।६॥
१६७	वङ्गदीपक	६	६।६६'
१६८	शिव	३	।६
१६९	कम्प	३॥	६०००'

संख्या	तालके नाम	मात्रासंख्या	मात्रा-विन्यास
१७०	अवलोकित	४॥	००६'०
१७१	दुर्व्वल	३	००॥
१७२	रूपक	२	॥
१७३	विद्याधर	१॥ वा ५	०।वा ६'६
१७४	वङ्गरूपक	२	‿ ‿ ०।
१७५	वर्णभोरू	५॥	॥।०।
१७६	घटकर्कट	४१॥	६६६।६'६६।।६' ०००६।।६'६'॥६ ००००।'।'।'।'
१७७	कङ्कण	१०	६६'।६'।
१७८	राजकोलाहल	१०॥	०६'।६'।६
१७९	मलय	५	६।६
१८०	कुण्डल	६ वा ६॥	००॥ वा ० ॥।०॥०।
१८१	खण्ड	३॥	००६ ‿ ०
१८२	गार्गी	२	००००'
१८३	भृङ्ग	५	६।६
१८४	वर्द्धमान	५	००।६'
१८५	सन्निपात	२	६
१८६	राजशीर्षक	१०	६६६'६'
१८७	उद्दण्ड	२	००।
१८८	त्रिपुर	२	००।
१८९	नृप	३	।००।
१९०	चन्द्रक्रीड़	२॥	०० ‿ ।
१९१	वर्णमंचिका	३॥	।०।००
१९२	टङ्क	५।	६।६०० ‿
१९३	मोक्षपति	६६	६६६६६६६६६६६६ ६६६६॥॥॥॥॥॥॥॥॥॥॥॥॥॥॥॥००००००० ०००००००००००००००००००००००० ०००००००००००००००००००००००० ०००००००००

विस्तृत विवरण ताल और सङ्गीत शब्दमें देखो।

वाद्यक (सं० क्ली०) वाद्य स्वार्थे कन्। १ वाद्य, बाजा। २ बाजा बजानेवाला।

वाद्यधर (सं० पु०) धरतीति धृ-अच् वाद्यस्य धरः। वाद्ययन्त्रधारक, बाजा पकड़नेवाला।

वाद्यभाण्ड (सं० क्ली०) वाद्यं वादनीयं भाण्डं । वादनीय पात्र, मुरज आदि बाजे ।

वाद्ययन्त्र (सं० क्ली०) यन्त्रविशेष । यह संगीतका एक अंग गिना जाता है। इसे मुख और हाथसे बजाना पड़ता है। अति प्राचीन कालसे ही आर्यसमाजमें वाद्ययन्त्र तथा यन्त्रवादनका व्यवहार चला आता है। आर्यगण वाद्यसंगीतकी उच्चतर स्वरतरंगमें उन्मत्त हो उठते थे ; केवल युद्धमें ही नहीं, वे संसारके सुखमय निकेतनमें बैठ कर वाद्ययन्त्रके सुमधुर शब्द और शब्द-विन्यासमें भी अपनेको आनन्दसागरकी अगम्य जल-राशि में डुबो देते थे । ऋग्वेदसंहिताके ६।४७।२९-३१ मन्त्रमें युद्धदुन्दुभिकी कथा है । "यह वाद्य उच्च स्वरसे विजय-घोषणा करनेवाला एवं सैनिकोंका बलवर्द्धनकारी था। यह दुन्दुभि सब व्यक्तियोंके निकट घोषणा करनेके लिये नित्य उच्च रव किया करती थी।"

इन सब उक्तियों द्वारा ज्ञान पड़ता है, कि आर्यगण दुन्दुभि वाद्यके शब्दसंगीतसे युद्ध करनेके लिये उत्फुल्ल हो उठते थे । उक्त शब्द उन लोगोंको बलप्रदान करता था। इससे अनुमान होता है, कि उस प्राचीन वैदिक-युगके आर्य लोग वाद्यसंगीतकी शक्तिसे किस तरह विमोहित होते थे एवं वे उस समय वाद्यविशेषके ऐक्य तानवादनमें कैसे पारदर्शी थे । वैदिकयुगके बाद ब्राह्मण और उपनिषद्युगमें आर्योंके अन्दर वाद्ययन्त्रका विशेष प्रभाव था। यागयज्ञादिमें शंखघंटाओंकी आवाजोंसे दशों दिशाएं गूंज उठती थीं। रामायणीय और महाभारतीय युगमें हम लोग रणभेरी, दुन्दुभि, दमामा प्रभृति अनेक सुषिर और आनद्धयन्त्रका उल्लेख देख पाते हैं । ये वाद्ययन्त्र उस समय एक साथ बजाये जाते थे, इसमें सन्देह नहीं।

राजा युधिष्ठिर जिस समय इन्द्रप्रस्थके राजसिंहासन पर विराजमान थे, उस समय भारतमें वाद्ययन्त्रका बहुत आदर था—उस समय राजकन्याएं तथा सम्भ्रान्त स्त्रियां गीत, वाद्य और नृत्यकी शिक्षा ग्रहण करती थीं। विराट्राजके राजभवनमें बृहन्नला वेशमें अर्जुनका नृत्य-गीतकी शिक्षा-प्रदान करना ही उसका यथेष्ट प्रमाण है।

पुराणसे जाना जाता है, कि एकमात्र सरस्वतीदेवी ही वीणा बजानेमें समर्थ थीं। महर्षि नारद वीणा बजा बजा कर हरि-नाम लेते तो थे, किन्तु उनका वह वाद्य राग, ताल तथा लयमें पूर्णरूपसे व्यक्त नहीं होता था। इस सम्बन्धमें इस तरहकी एक कहावत है—नारदमुनिके मनमें अभिमान था, कि वे संगीतशास्त्रमें विशेष पारदर्शी थे। उनके उस अभिमानको तोड़नेके लिये एक दिन भगवान् विष्णु नारदको साथ ले कर भ्रमण करनेके छलसे देव-लोकमें जा उपस्थित हुए। नारदने वहां पर कई एक हस्तपदादि भग्न नरनारियोंको देख कर दुःखित चित्तसे उनकी उस करुण दशाका कारण पूछा । इस पर उन लोगोंने जवाब दिया—"हम लोग देवादिदेव सृष्ट राग-रागिणी हैं, नारद नामक एक ऋषिके असमय एवं अशास्त्रमतसे रागरागिनी आलाप करनेके कारण हम लोगोंकी यह शोचनीय दशा हो गई है।" नारदने उस समय भगवान्‌की छलना समझ कर नाना प्रकारसे भगवान्‌की स्तुति करते हुए वहांसे प्रस्थान किया।

इस कहावतमें जो कुछ भी हो, किन्तु वास्तविकमें साधना नहीं होनेसे वाद्यसंगीत ठीक नहीं होता, यह अच्छी तरह समझा जाता है।

हम लोगोंके देशका वीणायन्त्र ही सर्वप्राचीन है। यह यन्त्र सरस्वतीदेवी और नारदमुनिको अत्यन्त प्रिय था। समय पा कर वीणाके आकारमें परिवर्त्तन हुआ और उसीके साथ साथ उसके नाममें भी हेर फेर हुआ। यह स्वरवीणा भी कहलाती है। स्वरवीणा नाना प्रकारकी होती है, उनमेंसे जिसमें एक तार रहता है, उसे एकतंत्री, दो तारवालीको द्वितंत्री, तीन तारवालीको त्रितंत्री कहते हैं। दिल्लीके पठान सम्राट् अलाउद्दीनकी सभाके पारस्य देशीय असाधारण संगीतशास्त्रविद्‌ने इस त्रितंत्री वीणाका नाम सितारा रखा। सप्ततारयुक्त वीणाका नाम परिवादिनी है। तुम्बीके खंड द्वारा जो वीणा बनाई जाती है, उसे कच्छपी कहते हैं, यह इस समय 'कछुया सितार' कहलाती है। इसी तरह सप्ततंत्री युक्त वीणा भी है।

भारतके ऐतिहासिकयुगमें भी वाद्यादिका यथेष्ट परिचय मिलता है। प्राचीन नाटक प्रभृति ग्रन्थोंमें उसका उल्लेख है। केवल भारतमें ही नहीं, मध्य-एशिया खंडके

सुप्राचीन असीरीय, कालदीय प्रभृति राज्यवासी भी महानन्दसे महोत्सवादिमें वाद्य बजाते थे। उस समय भी देवमन्दिरोंमें शङ्ख, घण्टा तथा वंशी प्रभृति वाद्य बजानेकी रीति थी। कुरानमें वाद्य बजानेका उल्लेख नहीं है, ऐसा जान कर मुसलमानोंने सिरीय तथा पारस्यका पुरातन संगीत नष्ट कर डाला था, किन्तु पीछे खलीफा हारून-अल रसीदके उत्साहसे फिर गाने बजानेकी प्रतिष्ठा हुई। उनकी मृत्युके बाद खलीफागण जितने ही विलासप्रिय होते जाते थे, उतनी ही गान और वाद्यकी उन्नति होती जाती थी।

संगीतोत्साही राजाओंमें भारतके मुगलसम्राट् अकबरशाहको सर्वश्रेष्ठ आसन दिया जा सकता है। वे राज्यशासनके समय युद्धविग्रह तथा व्यवस्थाप्रणयनमें निरन्तर लीन रहने पर भी संगीतके अनुशीलनमें यथेष्ट आग्रह प्रकाश करते थे। उनकी सभामें सुविख्यात गायक गोपाल नायक, मियां तानसेन प्रभृति विद्यमान थे। कहते हैं, कि दीपक गानमें गला नष्ट हो जानेके बाद तानसेन सहनाई तैयार करके रागरागिणियोंका आलाप करते थे।

भारतवासियोंकी तरह प्राचीन यूनानियोंकी भी यही धारणा थी, कि देवगण ही संगीतविद्या और वाद्ययन्त्रके सृष्टिकर्त्ता हैं। इसीलिये उन लोगोंने एक एक देवताको उनके प्रिय एक एक वाद्ययन्त्र दे कर सजा रखा है। शिवके हाथमें विषाण, विष्णुके हाथमें शंख, सरस्वतीके हाथमें वीणा तथा कृष्णके हाथमें वंशी एवं अन्यान्य हिन्दू देव-देवियोंके हाथोंमें जिस तरह भिन्न भिन्न वाद्ययन्त्र परिशोभित देखे जाते हैं, उसी तरह यूनानियोंके मिनर्भा, मर्करी प्रभृति देवताओंके हाथोंमें वाद्ययन्त्र विन्यस्त है।

ऐसा कहा है, कि एक समय नीलनदमें बाढ़ आनेसे एक बार ही बहुसंख्यक मछलियां और कछुए किनारेकी भूमिमें आ गये। उनमेंसे एक कछुएका माँस जब धीरे धीरे गल गया, तब भी पृष्ठास्थि पर कुछ नसें शुष्करूपसे विद्यमान थीं। एक दिन वरुण देव (Mercury) नदीके किनारे भ्रमण कर रहे थे, अकस्मात् उसी कछुएकी पीठ पर उनका पाँव पड़ गया। पांवके आघातसे तदभ्यन्तरस्थ शिराओंसे एक सुन्दर स्वर उत्पन्न हुआ। उस समय मर्करी उसे उठा कर बजाने लगे, उसीसे लायर (Lyre) नामक प्रथम वाद्यस्वरकी सृष्टि हुई। उसी लायर यन्त्रका अनुकरण करके परिवर्त्तिकालमें हार्प (Harp) एवं उसके बाद नाना प्रकारके तारयुक्त यन्त्रोंका आविष्कार हुआ। सिंगा बहुत पहलेसे ही प्रचलित था। भैंस वा गोके सींगको खोखला करके बजानेकी रीति इस समय भी प्रायः सभी देशोंमें देखी जाती है। ताँबेका बना हुआ रामसिंगा इस श्रृंगवाद्यसे स्वतन्त्र है।

प्राचीनकालमें भारतकी तरह मिस्रराज्यमें भी सिंगा एवं एक प्रकारके ढाकका पूरा प्रचार था। मिस्रदेशीय लोग इनके अलावे लायर तथा एक प्रकारकी वंशी भी बजाते थे। क्लिओपेट्राके समय भी मिस्रमें गीत वाद्युयका यथेष्ट समादर था; किन्तु जब यह देश रोमनोंके अधिकारमें चला गया, तब राजपुरुषोंकी आज्ञासे गीत वाद्युय बन्द कर दिये गये। एशियाके मध्यवर्त्ती बाबिलन राज्यमें तथा प्राचीन पारस्यमें विलासिताकी बढ़तीके साथ साथ गानवाद्युयकी विशेष उन्नति हुई। यहूदी लोग जिस समय मूसाके अधीन मिस्र राज्यसे भग खड़े हुए, उस समय उन लोगोंमें वाद्युयादिका अभाव नहीं था। किन्तु उनके वाद्युयन्त्रोंकी आवाज़ उतनी अच्छी नहीं होती थी।

उस समय समाजके श्रृंखलाबद्ध न होनेके कारण सर्व्वदा ही युद्धविग्रह उपस्थित हुआ करता था। इस कारण उस समयके गानवाद्युय केवल संग्रामकी प्रवृत्तिको उत्तेजित करनेवाले होते थे। इसीलिये ऋग्वेदके षष्ठ मंडलके ४७वें सूक्तमें दुन्दुभिको बलप्रदान करनेवाला वाद्युय कहा गया है। उस समय योद्धागण जिस तरह भयंकर वेशभूषामें सुसज्जित हो कर भीषण मूर्त्ति धारण करते थे, उनके वाद्युय-यन्त्र भी उसी तरह भयानक शब्द करते थे। इतिहासके पढ़नेसे पता चलता है, कि कार्थेजीय वीर हानिबल जामाके युद्धमें (खृ० पू० २०२ अब्दमें) ८० हाथियोंके साथ रोमनोंको पददलित करनेके लिये अग्रसर हुए, उस समय रोमनोंने इस तरह भयङ्कर भेरीरव किया था, कि सब हाथी भयभीत हो कर

इधर उधर भाग गये। सिकन्दरके समय यूनानी-गीत वाद्योंकी बड़ी उन्नति हुई थी। स्वयं सिकन्दर पार्शिपोलिसके राजसिंहासन पर बैठ कर गानवाद्य सुना करते थे।

पहले ही कहा जा चुका है, कि प्राचीन यूनान और रोमनोंमें बहुत पहलेसे ही वाद्य-वादनकी प्रथा चली आती थी। उसके बाद धीरे धीरे सारे पाश्चात्यजगत्‌में वाद्ययन्त्रोंका आदर होने लगा। उनमें इटलीराज्यमें इस कलाविद्याकी सर्वापेक्षा विशेष उन्नति हुई।

रोमन-कवि टाइटस् लुक्रेटियस् केरस्ने ईसाके जन्मसे ५८ वर्ष पहले "डि रैरम नेटुरा" नामक स्वरचित ग्रन्थमें वाद्ययन्त्रकी उत्पत्तिके विषयमें एक अद्भुततत्त्व प्रकाश किया है। वह पौराणिक कथाओंसे बिल्कुल ही स्वतंत्र है और उसे कविकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति ही कह सकते हैं।

कवियोंके सुकोमल काव्यकल्पनाकी बात छोड़ कर पाश्चात्यदेशके धर्मशास्त्र बाइबिलमें भी वाद्ययन्त्रके इतिहासके सम्बन्धमें दो एक बातें देखी जाती हैं। बाइबिलमें लिखा है, कि बाबा आदमके बादकी सातवीं पीढ़ीमें जुबालने सबसे पहले वाद्ययन्त्र ले कर पृथ्वी पर अवतार लिया। इस समय वीणा और वंशी—इन दोनोंका उल्लेख पाया जाता है। फलतः नलिका और तन्तु, ये ही दोनों वाद्ययन्त्र सर्वप्रथम व्यवहारमें लाये गये। इसके बाद इन्हीं दोनों यन्त्रोंके द्वारा नाना प्रकारके वाद्य यन्त्र बनाये गये और इस समय भी बनाये जा रहे हैं।

हिरोदोतासकी धारणा है, कि पाश्चात्य यहूदियोंने इजिप्टवासियोंसे वाद्ययन्त्र बनानेकी शिक्षा प्राप्त की थी। प्लेटो शिक्षाके बहाने इजिप्ट गये थे। वे स्वयं इजिप्टसे अनेक प्रकारके वाद्ययन्त्रोंके व्यवहार देख आये थे। ब्रुस साहबने इजिप्टके प्राचीन थेबिस शहरके ध्वंसावशेषमें वीणाका चित्र देखा था। यह इसका एक विशिष्ट प्रमाण है, कि प्राचीन इजिप्टवासी वाद्ययन्त्र-निर्म्माण करनेमें अत्यन्त पटु थे। गठनमें, आकारमें तथा साजसज्जामें वह वीणा आधुनिक शिल्पियोंकी वीणासे किसी प्रकार बुरी नहीं कही जा सकती। इजिप्टके भिन्न भिन्न कीर्त्तिस्तम्भोंमें नाना प्रकारके वाद्ययन्त्रोंके चित्र हैं। ये सब निदर्शन इसके उत्कृष्ट प्रमाण हैं, कि प्राचीन समयमें इजिप्टमें वाद्ययन्त्र निर्म्माणकी यथेष्ट उन्नति हुई थी।

ऐतिहासिक एमेनियसने थेथिक उत्सवके विस्तृत विवरणमें एक जगह लिखा है, कि इस उत्सवमें भिन्न भिन्न वाद्ययन्त्र ले कर छः सौ वाद्यकर उपस्थित हुए थे।

हिब्रु इतिहासमें भी प्राचीन वाद्ययन्त्रका उल्लेख है। मूसा जिस समय भगवान्‌के प्रेममें मग्न हो कर गान गाते थे, उस समय भक्त रमणी मिरियम एवं उसकी सहचरी रमणियाँ "टैम्बुरिन" (Tambourine) नामक वाद्ययन्त्र बजा कर नृत्य करती थीं। टैम्बुरिनका विवरण पढ़नेसे मालूम पड़ता है, कि हमारे देशमें प्रचलित खञ्जनी और टैम्बुरिन—दोनों एक ही प्रकारके वाद्ययन्त्र थे। यहूदियोंके प्रत्येक उत्सवमें वाद्य-वादनका व्यवहार था; किन्तु आश्चर्यका विषय यह है, कि पुरोहित लोग ही वंशपरम्परासे वाद्यकरका काम करते थे। सलोमनके मन्दिरकी प्रतिष्ठाके समय दो लाख वाद्यकर तथा गायक इकट्ठे हुए थे। किन्तु अंग्रेज ऐतिहासिक इस संख्याकी आस्था संस्थापन नहीं कर सके। एक हिब्रु लेखकने लिखा है, कि प्राचीन समयमें हिब्रुओंके देवमन्दिरमें ३६ प्रकारके वाद्ययन्त्र रखे जाते थे। राजा डेभिड् सब प्रकारके वाद्ययन्त्र बजाते थे।

ग्रीकोंके वाद्ययन्त्रके इतिहासके सम्बन्धमें कई प्रबन्ध और पुस्तकें पाई जाती हैं। इस सम्बन्धमें बायनचीनीका (Bianchini) ग्रन्थ ही सर्वापेक्षा अधिक प्रामाणिक है। प्राचीन ग्रीक लोग शहनाई और वंशी प्रभृति वाद्ययन्त्र बड़े प्रेमसे बजाया करते थे। ग्रीकदेशमें दोतार, तितार और सितार प्रभृति वाद्ययन्त्रोंका भी यथेष्ट प्रचार था। कितने ही लोग फ्लुट वाद्यमें प्रवीण थे। डेमनने पेरिकस् और सक्रेटिशको फ्लुट बजानेकी शिक्षा दी थी; किन्तु श्रीमती नेमियाकी वंशीके स्वरसे सारा यूनान विमुग्ध हो गया था। अन्तमें डेमेटियम पोलियोक्रोटन उसकी वंशीकी तान सुन कर इस तरह मन्त्रमुग्ध हो पड़े थे, कि उसके नाम पर उन्होंने एक

मन्दिर बनाया था। थियनगरके संगीतज्ञ पण्डित इसमोनियस्के फ्लुटनिर्म्माणमें लगभग ६ हजार रुपये खर्च हुए थे।

रोमन लोगोंने ग्रीकोंसे जिस तरह शिल्प-विज्ञानादिकी शिक्षा प्राप्त की थी, संगीत-सम्बन्धमें भी वे यूनानियोंके वैसे ही ऋणी थे। रोममें जयढाक, सिंगा प्रभृतिका भी पूरा प्रचार था। रोमन संगीतज्ञ भिद्रभियसके ग्रन्थमें जलतरंग बाजेका उल्लेख है। लेखकने उस ग्रन्थमें अरिष्टकम नामक हारमोनियमका भी उल्लेख किया है।

प्रतीच्य देशमें खृष्टीय दशवीं वा ग्यारहवीं शताब्दी पर्य्यन्त वाद्ययन्त्रकी सविशेष उन्नतिका उल्लेख देखा नहीं जाता। वर्त्तमान आरगन (Organ) यूनानियोंके जलतरंग वा हाईड्रोनिकन यन्त्रका विकाशमात्र है। यह आरगन (Organ) खृष्टीय दशवीं शताब्दीमें भी ईसाइयोंके गिर्जाघरमें बजाये जाते थे, किन्तु उस समय उसकी बनावट वर्त्तमान आरगनकी तरह सुन्दर न थी।

ये सब वाद्ययन्त्र धीरे धीरे किस तरह समवेत संगीतके भिन्न भिन्न अङ्गोंके पूरक हुए थे, वह वाद्यसङ्गीतकी आलोचना किये बिना अच्छी तरह समझमें नहीं आ सकता। सङ्गीत देखो।

गान, वाद्य और नृत्य—इन तीनोंको ही सङ्गीत कहते हैं। इनमें वाद्य ही एक प्रधान अङ्ग है। किन्तु वह वाद्य फिर यन्त्रके अधीन है; इस कारण भारतीय सङ्गीत शास्त्रसे ले कर यहां कितने ही विषयोंका उल्लेख किया जाता है। वाद्ययन्त्र प्रधानतः "तत", "अवनद्ध" वा "आनद्ध", "शुषिर" और "घन", इन चार भागोंमें विभक्त हैं। जो सब वाद्ययन्त्र तन्त्र अर्थात् पीतल और लोहेके बने तार अथवा तन्तु (ताँत)के सहयोगसे बजाये जाते हैं, उन्हें "तत" यन्त्र कहते हैं, जैसे—वीणादि। जिन सब वाद्ययन्त्रोंके मुख चर्म्मावनद्ध अर्थात चमड़ेसे आच्छादित रहते हैं, वे 'आनद्ध' यन्त्र कहलाते हैं, जैसे—मृदंगादि। जो यन्त्र बाँस, काठ धातुओंके बने होते हैं एवं जो मुखसे फूंक कर बजाये जाते हैं, उन्हें "शुषिर" यन्त्र कहते हैं, जैसे—वंशी आदि। जो सब यन्त्र कांसे प्रभृति धातुओंसे बनाये जाते हैं एवं जिनसे वाद्यमें ताल दिया जाता है, उनका नाम "घन" यन्त्र है, जैसे—करतालादि। इन चारों प्रकारके वाद्ययन्त्रोंमें 'तत' यन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है और बहुत संख्यामें विभक्त है। इसका स्वर बड़ा ही सुमधुर होता है, किन्तु इसके बजानेमें बहुत परिश्रम करना पड़ता है। पहले "तत" और इसके बाद अवनद्धादि यन्त्रोंके विषय यथाक्रमसे वर्णन किये जाते हैं।

ततयन्त्र।

आलापिनी, ब्रह्मवीणा, किन्नरी, विपञ्ची, वल्लरी, ज्येष्ठा, चित्रा, घोषवती, जया, हस्तिका, कूर्म्मिका, कुब्जा, सारङ्गी, परिवादिनी, त्रिस्वरी, श्वेततंत्री, नकुलोष्ठी, ढंसरी, औडम्बरी, पिनाक, निवंग, पुष्कल, गदा, वारणहस्त, रुद्र-वीणा, स्वरमंडल, कपिनास, मधुस्यन्दी, घना, महतीवीणा, रञ्जनी, शारदी वा सारद, सुरसाब्द वा सुरसो, स्वरश्रृङ्गार, सुरबहार, नादेश्वर वीणा, भरत वीणा, तुम्बुरु वीणा, कात्यायन वीणा, प्रसारणी, इसराज, मायूरी वा तायूश, अलाबू सारङ्गी, मीन सारङ्गी, सारिन्दा, एकतंत्री वा एकतारा, गोपीयन्त्र, आनन्दलहरी और मोचङ्ग इत्यादि यन्त्र "तत" कहलाते हैं। संस्कृत संगीत-ग्रन्थमें कितनेके तो सिर्फ नाम और कितनेके आकार आदिका भी वर्णन है। उन सब यन्त्रोंके आकारादि क्रमशः यहां वर्णन किये जाते हैं।

पिनाक।

पिनाकके आकारादिको देखनेसे मालूम पड़ता है, कि मनुष्यकी प्रथमावस्थामें संगीतकी प्रवृत्ति बलवती होने पर सर्वप्रथम पिनाककी ही सृष्टि हुई, इसके बाद मानव जातिकी सभ्यताकी वृद्धिके अनुसार भिन्न भिन्न आकारके ततयन्त्रोंका आविष्कार हुआ होगा। पिनाक देखनेमें ठीक ज्या-युक्त धनुषके समान होता है। दाहिने हाथकी अंगुली द्वारा इसकी ताँतमें आघात करके यह यन्त्र बजाया जाता है। बांयें हाथके अल्पाधिक दबावके कौशलसे इससे ऊँचा नीचा स्वर निकाला जाता है।

एकतंत्री वा एकतारा।

एक छोटे कद्दूका तृतीयांश काट कर बकरेके चमड़े द्वारा उस कटे हुए मुखको आच्छादित करना होता है एवं उसमें सात आठ अंगुल परिधिवाला तथा डेढ़ हाथ लम्बा एक बांसका डण्डा उस कद्दूके खण्डेसे संयोजित

कर उनके मस्तककी ओर दो तीन अंगुल नीचे एक छेदवाली खूंटी लगाई जाती है। इसके बाद लोहेके तारका एक सिरा उससे एवं दूसरा सिरा उस बांसके डंडेके निचले हिस्सेसे जोड़ना पड़ता है। ततयन्त्रके निचले हिस्सेमें जिस स्थान पर तार जोड़ा जाता है, उसे पन्थी कहते हैं। पहले कहे गये चमड़े पर हाथी-दांत वा उसीके समान और किसी दूसरे दृढ़ पदार्थका बना हुआ एक तन्त्रासन रहता है। उसके ऊपरी भागमें तन्त्र स्थापन एवं अपने कण्ठस्वरके अनुसार बांध कर गायक उसे अपने दाहिने कन्धे पर रखता है। इसके बाद अपने दाहिने हाथकी तर्जनीसे आघात दे कर इस वाद्ययन्त्रको बजाता है। यह यंत्र बहुत प्राचीन है। मालूम पड़ता है, मनुष्यकी सभ्यताके प्रथम सूत्रपातमें ही पिनाकके बाद इस यंत्रकी सृष्टि हुई होगी। इस यंत्रमें सिर्फ एक तन्त्र लगाया जाता है, इसीलिये लोग इसे एकतन्त्री वा एकतारा कहते हैं। प्राचीनकालमें सभी संगीत व्यवसायी इस यन्त्रको व्यवहारमें लाते थे। पीछे सभ्यताके साथ साथ अपेक्षाकृत उत्कृष्ट ततयन्त्रोंकी सृष्टि होनेके कारण आधुनिक सभ्यसमाज उस यन्त्रको व्यवहारमें नहीं लाते। इस समय भिक्षोपजीवी लोग ही इसका व्यवहार करते हैं।

अलापिनी।

अलापिनीमें ६ मूंठ लम्बा एक रक्तचन्दनका डंडा लगा रहता है। उस डंडेके अग्रभागमें एक तुम्बा एवं निम्न भागमें एक वृहदाकार नारियल फलका खोल लगा रहता है। इस यन्त्रमें लोहे आदि किसी धातुका तार नहीं लगाया जाता, सिर्फ पटुए वा कपासके तीन सूते व्यवहारमें लाये जाते हैं। उन तीनों सूतोंको मन्द्र, मध्य और तार स्वरमें आबद्ध कर एवं अपने वक्षस्थलसे लगा करके गायक दाहिने हाथकी अनामिका और मध्यमा अंगुलीके आघातसे तथा बाँये हाथकी अंगुलियोंकी सहायतासे इस यन्त्रको बजाते हैं।

महती वीणा।

प्राचीन संगीतशास्त्रसे जाना जाता है, कि ततयन्त्रमें महती वीणा अति पुरातन तथा सर्वप्रधान है। महर्षि नारद सर्वदा इस वीणाका व्यवहार करते थे; इसलिये कोई कोई इसे नारदी वीणा भी कहते हैं।

संगीतशास्त्रमें जो ब्रह्मवीणाका उल्लेख देखा जाता है, मालूम होता है, उसी ब्रह्मवीणाका नाम समयके परिवर्त्तन होनेसे महती वीणा पड़ गया होगा। इस वीणामें एक बाँसका डंडा लगा रहता है। स्वरकी गम्भीरताके लिये उसे डंडेकी दोनों ओर दो तुम्बे एवं मध्यस्थलमें स्वरस्थान रहता है। उस स्वरस्थानमें उन्नीससे ले कर बीस पर्यन्त कठिन लौह (इस्पात) निर्म्मित सारिकाएं विन्यस्त रहती हैं; ये सब सारिकाएं डंडेके ऊपर मोम द्वारा बैठाई रहती हैं। उन्हीं सारिकाओंमें प्रकृत विकृत ढाई सप्तक स्वरस्थान निर्द्दिष्ट रहता है अर्थात् प्रत्येक सारिकामें षड़जादि प्रकृत-विकृत स्वर निकलता है। इस यन्त्रकी सात खूंटियोंमें धातुओंके बने सात तार जड़े रहते हैं। उनमें तीन तो लोहेके बने होते हैं और चार पीतलके। लौह-निर्मित तारोंको पक्का तार एवं पीतल निर्म्मितको कच्चा तार कहते हैं। लोहेके तीनों तारोंमें एकको नायकी अर्थात् प्रधान तार कहते हैं। इस तारको मन्द्रसप्तकका मध्यम कर यन्त्रके तार बांधनेकी रीति है। दूसरे दो तारोंमें एकको मध्यसप्तकका षड़ज और एक तारसप्तक करके बांधना होता है। पीतलके चारों तारोंमें एकको मन्द्रसप्तकका षड़ज, दूसरेको पञ्चम, तीसरेको मन्द्रसप्तकके निम्न सप्तकका षड़ज और बाकी चौथे तारको उसका ही पञ्चम करके बांधना होता है। इस यन्त्रको बाँये हाथकी तर्ज्जनी और मध्यमांगुलीसे प्रत्येककी सारिकाओंका सञ्चालन करते हुए दाहिने हाथकी तर्ज्जनी और मध्यमांगुली द्वारा बजाना होता है, किन्तु इन दोनों अंगुलियोंमें अंगुलिस्ताना पहन लेना पड़ता है। दाहिने हाथकी कनिष्ठांगुली स्वरयोगके लिये बीच बीचमें व्यवहार की जाती है, एवं बाँयें हाथकी कनिष्ठांगुली भी इसी तरह सुर संयोगके कारण बीच बीचमें व्यवहृत होती है। वीणाका स्वरमाधुर्य्य श्रवणसुखकर होता है। संगीतका यावतीय स्वरकौशल वीणामें प्रकाशित होता है। यह वीणायन्त्र समयके हेर फेरसे तथा देशभेदसे किसी किसी अंशमें विभिन्न आकार धारण करनेके कारण भिन्न भिन्न नामसे विख्यात हो गया है।

कूर्म्मी वा कच्छपी वीणा।

कच्छपीवीणाका खोल कच्छपपृष्ठकी तरह चिपटे कद्दू द्वारा बना रहता है; इसलिये उसे कच्छपी वीणा कहते हैं। इस वीणाकी लम्बाई सर्वत्र ही प्रायः चार फोटकी होती है; किन्तु कोई कोई इसकी लम्बाईमें ज्यादा कमी भी कर दिया करते हैं। आकारमें कुछ बड़ी होनेसे रागका आलाप एवं छोटी होनेसे गत् बजानेमें अधिक सुविधा होती है। कच्छपीकी लम्बाई चार फीट होने पर उसकी पच्चीसे प्रायः सात अंगुल ऊपर तन्त्रासन एवं प्रायः साढ़े तीन फीट ऊपर तन्तु स्थापन करनेकी विधि है। परिमाणमें चार फीटकी कमी वेशी होनेसे उसीके अनुसार तन्त्रासन एवं तन्तु स्थापन करना होता है। मालूम पड़ता है, प्राचीनकालमें कच्छपी वीणामें सिर्फ तीन तार लगाये जाते थे, इसी कारण कच्छपी वीणा सेतार वा सितारके नामसे भी विख्यात है। पारस्य भाषामें 'से' शब्दसे तीन संख्याका बोध होता है, सुतरां सेतार वा सितार शब्दसे तीन तारविशिष्ट यन्त्रका बोध होता है। किन्तु इस समय कच्छपीमें तारकी जगह पांच वा सात तार लगाये जाते है। कच्छपीमें जो पांच तार लगे रहते हैं, उनमें दो तो लौह निर्म्मित पक्के एवं तीन पीतल निर्म्मित कच्चे तार रहते हैं। लौहनिर्म्मित दो तारोंके मध्य एकको मन्द्रसप्तकके मध्यम और दूसरेको उसका ही पञ्चम करके बाँधना होता है। पीतलके बने हुए तीन तारोंके मध्य दो तारोंको मन्द्रसप्तकके षड़ज एवं एकको मन्द्रसप्तकके निम्न सप्तकका षड़ज करके बाँधनेकी रीति है। सात तार विशिष्ट कच्छपीमें चार लोहे और तीन पीतलके तार रहते हैं, उनमें लोहेके दो एवं पीतलके तीन तारोंको पूर्वोक्त नियमसे बाँध कर लौहनिर्म्मित शेष दो तारोंमेंसे एकको मध्यसप्तकका षड़ज एवं दूसरेको उस सप्तकका पञ्चम करके बाँधना होता है। इन दोनों तारोंको 'चिकारी' कहते हैं। कच्छपीके डंडेके ऊपर स्वरस्थानमें सतह लौहादि कठिन धातु निर्म्मित सारिकाएं ताँत द्वारा दृढ़तासे बंधी रहती हैं, उनके द्वारा मन्द्रसप्तकके षड़जसे तार सप्तकके मध्यम पर्य्यन्त ये ढ़ाई सप्तक स्वर सम्पन्न होते हैं। उक्त सतरह सारिकाओंके मध्य एकसे मन्द्रसप्तकका कोमल निषाद, एकसे मध्य सप्तकका तीव्र मध्यम स्वर पाया जाता है, अन्यान्य विकृत स्वरकी आवश्यकता होने पर उन उन सारिकाओंको डंडेके ऊद्र्ध्वाधोभावमें उठा कर तथा झुका कर कोमल और तीव्र कर लेना पड़ता है। कच्छपी वीणा बजानेके समय यन्त्रके पिछले हिस्सेको वादक अपने सामने रख कर तुम्बेकी बगलकी दाहिने हाथके कब्जेसे अच्छी तरह दबा कर एवं डंडेको बाँये हाथ द्वारा हलकेसे पकड़े रहता है। इसके बाद दाहिने हाथकी तर्ज्जनी द्वारा तन्त्रासन एवं सारिकाओंके मध्यस्थ शून्य स्थानमें आघात करने पर बांये हाथकी तर्ज्जनी तथा मध्यमांगुली द्वारा जिस समय जिस स्वरकी आवश्यकता होती है उस समय उस सारिकाके ऊपरका तार दबा कर वैसा स्वर निकाला जाता है। कच्छपी वीणाने भी कालचक्र तथा देशभेदसे नाम और आकार धारण कर लिया है।

त्रिस्वरी वा त्रितन्त्री वीणा।

त्रितन्त्रीके अङ्गप्रत्यङ्गादि प्रायः कच्छपीके समान ही होते हैं, विशेषता इतनी ही है, कि इसका खोल कद्दूका न हो कर काठका बना रहता है। इसमें सिर्फ तीन तार व्यवहृत होते हैं। उन तीनों तारोंमें एक लोहेका पक्का और पीतलके दो कच्चे तार रहते हैं। लोहेके तारको नायकी अर्थात् प्रधान तार कहते हैं, उसे मध्यसप्तकके बीचमें बांधना होता है। पीतलके तारोंके मध्य एकको मन्द्रसप्तकका षड़ज एवं दूसरेको मन्द्रसप्तकके निम्नसप्तकका पञ्चम करके बांधना होता है। त्रितन्त्रीमें भी कच्छपीकी तरह सतह सारिकाएं रहती हैं एवं उनके द्वारा ही ढ़ाई सप्तक स्वर निष्पन्न होते हैं। इसके धारण तथा बजानेकी प्रणाली कच्छपीके समान है।

किन्नरी वीणा।

प्राचीन समयमें किन्नरीका खोल नारियलकी माला से बनाया जाता था, किन्तु इस समय उसके बदले वृहदाकार पक्षियोंके डिम्ब वा चाँदी प्रभृति धातुओंसे तैयार किया जाता है; किन्तु इस स्वरमें किसी तरहका अन्तर नहीं आता। किन्नरीमें सिर्फ पाँच तार व्यवहार किये जाते हैं। पाँचों तारोंमें कच्छपीके जो जो तार जिस जिस स्वरमें आवद्ध करनेकी विधि है, इसके तार भी उन्हीं

धातुओंके बने होते हैं एवं उसी प्रकार स्वरोंमें आवद्ध रहते हैं। इसका आकार अपेक्षाकृत अधिक छोटा होता है, सुतरां इसमें मूर्च्छनाविहीन सामान्य सामान्य रागों की गत् अच्छी तरह बजाई जा सकती है। इसका आकार छोटा होनेके कारण अत्यन्त मृदु एवं श्रवणसुखदायक होता है। इस यन्त्रकी वादन-क्रिया कच्छपीकी तरह ही होती है। इस यन्त्रके नाम और आकार भी समयभेद तथा देशभेदसे नाना प्रकारके हो गये हैं।

विपञ्ची वीणा

विपञ्चीका आकार प्रायः किन्नरीके आकारके समान ही होता है। अन्तर सिर्फ इतना ही है, कि इसका खोल डिम्बादिका न हो कर तितलौकीका बना होता है। इसका अवयव, धारण, स्वर बन्धन तथा वादनक्रिया किन्नरीके समान ही होती हैं।

नादेश्वरवीणा

बेहला और सितार इन दोनोंके मेलसे नादेश्वरकी उत्पत्ति हुई है। मालूम होता है, यह आधुनिक यन्त्र है। इसका खोल बेहलाके खोलकी तरह एवं डंडा, सारिका, तारसंख्या तथा तारबन्धन-प्रणाली सितारकी अनुरूप होती हैं।

रुद्रवीणा

रुद्रवीणाके खोल और डंडा एक अखण्ड काठके बने होते हैं। इसका खोल बकरेके चमड़ेसे मढ़ा रहता है। इस यन्त्रमें भी हस्तिदन्तादि कठिन पदार्थका बना एक तन्त्रासन रहता है। रुद्रवीणामें किसी प्रकारके धातुनिर्म्मित तार व्यवहृत नहीं होते। उनके बदले इसमें ६ ताँत व्यवहार की जाती हैं। उन ताँतोंमें एक मन्द्रसप्तकके षड़्जमें, एक गाँधार, एक पञ्चम, एक मध्यसप्तकके षड़्जमें, एक ऋषभ और एक पञ्चमस्वरमें बाँधी जाती है। रुद्रवीणामें सारिका नहीं रहती। इस यन्त्रको बांयें कन्धे पर रख कर बड़ी मछलीकी चोंइटा बांयें हाथकी तर्ज्जनीमें सूतेसे बांध कर उसीके द्वारा स्वरस्थानमें संघर्षण करते हुए दाहिने हाथके अंगूठे और तर्ज्जनीसे एक त्रिकोणाकार कोई कठिन पदार्थ धारण कर ताँतोंमें आघात करते हैं; इस तरह इनकी वादनक्रिया निष्पन्न होती है। इसकी वादनक्रियामें महती वीणादिसे कुछ अधिक परिश्रम और स्वरज्ञानकी आवश्यकता है, क्योंकि इसमें सारिका विन्यास न रहनेके कारण आनुमानिक स्वरस्थानमें संघर्षण करके षड़्जादि स्वर निकालना पड़ता है। विशेष स्वरबोध न रहने पर इसका बजाना कठिन है; इसीलिये मालूम पड़ता है, इसके बजानेवालोंकी संख्या अधिक देखी नहीं जाती।

रञ्जनी वीणा।

रञ्जनीवीणा महतीवीणाके समान होती है, अन्तर इतना ही है, कि इसका डंडा बाँसका न हो कर काठका बना रहता है और आकारमें महती वीणाकी अपेक्षा यह कुछ छोटी होती है। इसके दोनों पार्श्वमें दो कद्दू रहते हैं। इसके तारोंकी संख्या सात है। सारिकाओंकी संख्या एवं तारबन्धनादि कच्छपीके समान होते हैं।

शारदी वीणा वा शरद।

शारदी वीणाके डंडेसे ले कर खोल तक रुद्रवीणाकी तरह एक लकड़ीके टुकड़ेसे बने होते हैं। इसका डंडा ऊपरकी ओर पतला एवं नीचेकी ओर खोलके पास चौड़ा रहता है। डंडेकी भीतरका ऊपरी भाग इस्पात आदि धातुओंसे मढ़ा रहता है। इसका खोल बकरेके पतले चमड़ेसे आच्छादित रहता है। इसमें सारिकाएं नहीं रहती। छः खूंटियोंमें सिर्फ छः तांत लगी रहती हैं। किसी किसी शारदीवीणामें ताँतके बदले पीतल प्रभृति धातुओंके बने तार भी व्यवहारमें लाये जाते हैं। वादक अपने अपने इच्छानुसार ही इस यन्त्रमें ताँत वा तार लगाते हैं। उन ताँतों वा तारोंके मध्य एक मन्द्रसप्तकके पञ्चम, दो मध्यसप्तकके षड़्ज, दो मध्यसप्तकके मध्यम एवं एक पञ्चमस्वरमें बांधा जाता है; किन्तु विशेष विवेचना करके देखनेसे बोध होता है, कि छः ताँतोंकी जगह चार ही ताँतोंसे इस यन्त्रका कार्य्य चल सकता है, क्योंकि इसमें दो दो ताँत सम स्वरमें लगी रहती हैं। उक्त छः खूंटियोंके अलावे इस यन्त्रकी बगलमें सातसे ले कर ग्यारह पर्य्यन्त अन्यान्य खूंटियां होती हैं। उनमें पीतल आदि धातुओंके बने तार लगे रहते हैं। इन तारोंको 'पार्श्वतन्त्रिका' या 'तरफ' कहते हैं। पार्श्वतन्त्रिकाएं इच्छाधीन स्वरमें आवद्ध रहती हैं। इन तारोंमें आघात करनेकी आवश्यकता नहीं होती, प्रधान ताँतोंमें आघात करनेसे

ही ये पार्श्वतन्त्रिकाएं झंकारित और ध्वनित हो कर स्वरकी गम्भीरता प्रकाश करती हैं। इस यन्त्रकी धारणा और वादनप्रणाली रुद्रवीणाके धारण तथा वादन प्रणालीके समान है, सिर्फ विशेषता यह है, कि रुद्रवीणा बाँयें हाथकी तर्जनीमें मछलीका चोंइटा बाँध कर एवं उसके द्वारा ताँतों वा तारोंमें आघात करके बजाई जाती है और इसके बजानेमें बाँयें हाथकी कनिष्ठादि चार उँगलियां व्यवहृत होती हैं। इसके बजानेमे मछलीका चोंइटा उंगलीमें, बाँधनेकी आवश्यकता नहीं होती। बंगालमें इस यन्त्रका अधिक प्रचार नहीं है। पश्चिम देशीय लोग ही अधिकतर इसका व्यवहार करते हैं। मुसलमान राजाओंके राजत्वकालमें इसका बड़ा आदर था।

स्वरशृंगार।

स्वरश्रृङ्गारका खोल कद्दूका बना होता है। इसमें एक कठिन पदार्थका तन्त्रासन तथा काठका बना एक डंडा रहता है। उस डंडेका ऊपरी भाग लोहेके एक पतले चद्दरेसे मढ़ा रहता है। स्वरकी गम्भीरताके लिए इस यन्त्रके ऊपरी भागमें और एक कद्दू लगा रहता है। इस यन्त्रकी ६ खूंटियोंमें तीन पीतलके और तीन लोहे के तार व्यवहृत होते हैं। उन तीन पीतलके तारोंमें एक मन्द्रसप्तकके षड़जमें, एक गान्धार, एक पंचम एवं लोहेके तीन तारोंमें एक मध्यसप्तकके षड़ज और दो पंचम स्वरमें बांधे जाते हैं। इस यन्त्रमें सारिकाएं नहीं रहतीं। इसकी धारण और वादनक्रिया रुद्रवीणाकी धारण और वादनक्रियाकी अनुरूप होती है। यह यन्त्र और यन्त्रोंकी अपेक्षा आधुनिक जान पड़ता है। मालूम होता है, कि महती कच्छपी और रुद्रवीणाके संयोगसे इस वीणाकी उत्पत्ति हुई है।

सुरबहार।

अगर खूब गौर करके देखा जाय, तो सुरबहार और कच्छपी वीणा वास्तवमें एक ही यन्त्र है। सिर्फ अन्तर इतना है, कि सुरबहारके डंडेमें और एक लकड़ीका टुकड़ा लगा रहता है तथा उसमें कई एक छोटी छोटी खूंटियां लगी रहती हैं एवं उन सब छोटी छोटी खूंटियोंमें पीतलके तार बंधे रहते हैं। इन तारोंको वादक अपनी इच्छाके अनुसार ही बाँध लेता है। इन तारों पर आघात करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती, प्रधान तारपं आघात करनेसे ही वे झनक उठते हैं। इसमें और एक विशेषता यह है, कि कच्छपी वीणामें एक ही तन्त्रासन व्यवहार होता है और इसमें दो। इन दोनों तन्त्रासनोंमें एकका आकार दूसरेकी अपेक्षा कुछ छोटा होता है। यह छोटा तन्त्रासन प्रधान तन्त्रासनसे प्रायः एक बालिश्त ऊपर रहता है, उसके ऊपर उक्त पीतलके अप्रधान तार लगे रहते हैं। सुरबहारका आकार कच्छपीकी अपेक्षा कुछ बड़ा होनेके कारण उसका स्वर ऊंचा और अधिक क्षण स्थायी होता है। सुरबहारकी तारसंख्या, सारिका विन्यास, धारण तथा वादन प्रणाली कच्छपीके समान ही होती है। यह एक आधुनिक यन्त्र हैं। जान पड़ता है, कि एक सौ वर्षसे पहले यह यन्त्र नहीं था।

भरतवीणा।

भरतवीणा बहुत हालका यन्त्र है। यह स्पष्ट है, कि रुद्रवीणा औरकच्छपी वीणाके मेलसे इसकी उत्पत्ति हुई है। क्योंकि इसका खोल तो रुद्रवीणाके समान लकड़ीका बना रहता है; किन्तु डंडा, खूंटियाँ, तारसंख्या, स्वरबन्धन, सारिकाविन्यास तथा धारण और वादन-प्रणाली कच्छपी वीणाकी तरह होती हैं। इसमें विशेषता इतनी ही है, कि इसका एकमात्र नायकी तार लोहेका बना होता है, दूसरे दूसरे अप्रधान तार धातुओंके बने नहीं होते, बल्कि उनकी जगह ताँत ही व्यवहृत होती हैं।

तुम्बुरु वीणा।

इस वीणाका खोल कद्दूका बना होता है। इसमें एक काठका डंडा, चार खूंटियां और मजबूत काठका बना एक तन्त्रासन रहता है। इस वीणामें दो लोहेके और दो पीतलके सिर्फ चार तार व्यवहृत होते हैं। इन चारों तारोंमें लोहेके दो तार मध्यसप्तकके षड़ज, पीतलका एक मन्द्रसप्तकके षड़ज और एक पञ्चम स्वरमें बाँधा जाता है। इस यन्त्रका डंडा दाहिने हाथकी अनामिका और अंगूठेसे पकड़ कर एवं मध्यमांगुलीसे आघात दे कर इसकी वादनक्रिया सम्पन्न होती है। इसमें सारिकाएँ नहीं होतीं एवं जो तार जिस स्वरमें आवद्ध रहता है,

उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा स्वर प्रकाशित नहीं होता। पीतलका वह तार जिसे मन्द्रसप्तकका पञ्चम करके बाँधनेकी रीति है, किसी किसी रागके गानेके समय वह मध्यम स्वरमें भी बांधा जा सकता है। यह यन्त्र गानेके समय केवल गायकके स्वरविश्रामके लिये ही व्यवहृत होता है, इसके अलावे स्वतन्त्ररूपसे कभी बजाया नहीं जाता। किसी किसी देशमें इस यन्त्रमें छःसे ले कर दश पर्य्यन्त तार एवं पचीससे ले कर सैंतालीस पर्य्यन्त सारिकाएँ विन्यस्त रहती हैं। मालूम पड़ता है, उन देशोंमें इसकी वादन प्रणाली तथा व्यवहार स्वतन्त्ररूपमें होता है। कहा जाता है, कि यह यन्त्र पहले पहल तुम्बुरुगंधर्व ने बनाया था, इसीलिये इसका नाम तुम्बुरुवीणा पड़ा है।

कात्यायन वीणा।

कात्यायन वीणाके नाम, उत्पत्ति तथा निर्म्माताके नामके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी बातें कही जाती हैं, किन्तु हम लोगोंके विचारसे कात्यायन ऋषिने ही पहले पहल इसका निर्म्माण किया था, इसमें सन्देह नहीं। वे इस यन्त्रमें एक सौ तार व्यवहार करते थे, उसीके अनुसार यह यन्त्र पहले शततन्त्री नामसे विख्यात था; किन्तु आधुनिक कात्यायन वीणामें सौ तारकी जगह सर्व्वत्र बाईससे ले कर तीस पर्य्यन्त तारोंका ही व्यवहार देखा जाता है। वे सब तार लोहेके बने होते हैं और उनकी लम्बाई प्रायः दो हाथकी होती है। इस यन्त्रको एक हाथ लम्बे और आध हाथ चौड़े एक लकड़ीके संदूकमें खूँटियों द्वारा आबद्ध करनेकी रीति देखी जाती है। जिस यन्त्रमें बाईस तार बँधे रहते हैं, उन बाईस तारोंके ऊपरके प्रथम सात तार मन्द्रसप्तकके षड्जसे ले कर निषाद पर्य्यन्त, द्वितीय सात तार मध्यसप्तकके षड्जसे ले कर निषाद पर्य्यन्त, तृतीय सात तार तारसप्तकके षड्जसे ले कर निषाद पर्य्यन्त एवं बाईसवां तार तारसप्तकके षड्जस्वरमें बांधे जाते हैं। कुछ लोग प्रथम तीन तारोंमें एक मन्द्रसप्तकमें पञ्चम, धैवत, निषाद, चौथेसे ले कर दशवें तकके सात तार मध्यसप्तकके षड्जसे ले कर निषाद पर्य्यन्त; ग्यारहवेंसे सतरहवें तकके तार तारसप्तकके षड्जसे ले कर निषाद पर्य्यन्त एवं अठारहवेंसे ले कर बाईसवें तकके तार तारसप्तकके उच्च सप्तकके षड्जसे ले कर पञ्चम पर्य्यन्त स्वरमें बांधते हैं। इसके बजानेके समय इस यन्त्रको समतल स्थानमें रखते हैं; इसके बाद दोनों हाथोंमें दो त्रिकोणाकृति कोई कठिन पदार्थ धारण करके अत्यन्त सावधानीके साथ इसे बजाते हैं। इसका स्वर बहुत ही मीठा होता है। जिस यन्त्रमें तीस तार रहते हैं, उसके बाईस तार तो पूर्वोक्त नियमसे ही बांधे जाते हैं और बाकी तार गायक आवश्यकतानुसार कोमल एवं तीव्र स्वरमें बांध लेते हैं।

प्रसारणी वीणा।

एक पांच तारवाली कच्छपी वीणाके डण्डेकी बगलमें और एक तीन तारवाला छोटा डण्डा लगा कर प्रसारणी वीणा बनाते हैं। इस यन्त्रके प्रधान डंडेमें सोलह और छोटे डण्डेमें सोलह, इस प्रकार इसमें बत्तीस सारिकाएं विन्यस्त रहती हैं। प्रधान डण्डेमें बँधे पांच तारोंमें दो मन्द्रसप्तकके निम्नसप्तकके षड्जमें, दो मध्यम और एक एक पंचम स्वरमें एवं छोटे डण्डेके तीन तारोंमें एक मन्द्रसप्तकके षड्ज, एक मध्यम और एक पञ्चम स्वरमें आबद्ध रहते हैं। महती वीणादि अन्यान्य यन्त्रोंमें ढाई सप्तक स्वर पाये जाते हैं; किंतु प्रसारिणीमें साढ़े तीन सप्तक स्वर निकलते हैं। इसकी वादन-प्रणाली अन्यान्य यंत्रोंकी वादन प्रणालीके समान नहीं होती। यह यंत्र किसी समतल स्थान या गोदमें रख कर बांसकी एक छड़ीसे आघात करके बजाया जाता है। उस आघातके साथ साथ बांये हाथके अंगूठेसे दबा कर एवं सारिकाओंके ऊपर संघर्षण करके प्रत्येक स्वर निकालना पड़ता है। यह यंत्र आधुनिक है।

स्वरवीणा।

स्वरवीणा यंत्र बहुत प्राचीन है। इसका खोल कद्दूका बना होता है। इसमें एक लकड़ीका डण्डा लगा रहता है। यह यंत्र रुद्रवीणासे बहुत कुछ मिलता जुलता है। विशेषता सिर्फ इतनी ही है, कि रुद्रवीणाका ध्वनिकोष अर्थात् खोल चमड़ेसे मढ़ा रहता है और यह ध्वनिकोष चमड़ेके बदले लकड़ीकी एक पतली तख्तीसे आच्छादित रहता है। इसमें चार तार व्यवहार किये जाते हैं। ये चार एक मन्द्रसप्तकके षड्ज, एक

पञ्चम और दो मध्यसप्तकके षड़जमें बांधे जाते हैं।

सारङ्गी

सारङ्गी अति प्राचीन यन्त्र है; कहते हैं, कि लङ्काके राजा रावणने पहले पहल इसकी सृष्टि की थी। यह यन्त्र बहुत प्राचीन समयसे ही अविकृत नाम और आकारसे भारतवर्षमें चला आ रहा है; किंतु दूसरे दूसरे देशोंमें यह यन्त्र आकारादिमें कुछ अदल बदल कर भिन्न भिन्न नामसे विख्यात हो गया है। इस यन्त्रके खोल और डंडे एक ही लकड़ीके बने होते हैं। इसका खोल चमड़े द्वारा और डंडा पंतले काष्ठफलक द्वारा मढ़े रहते हैं। डंडेके दोनों पार्श्वमें दो दो करके चार खूंटियां रहती हैं। उन खूंटियोंमें चार तांत बंधी रहती हैं। डंडेकी बगलमें कई एक अप्रधान तारकी खूंटियां रहती हैं। पूर्वोक्त चार तांतोंमेंसे एक मन्द्रसप्तकके षड़ज, एक पञ्चम दो मध्यसप्तकके षड़ज करके बांधे जाते हैं। इसमें सारिकाओंका व्यवहार नहीं होता। यह यन्त्र अंगुल्यादिके द्वारा बजाया नहीं जाता; वरन् अश्वपुच्छबद्ध एक धनुहीसे बजाया जाता है। धनुहीके संचालनके साथ साथ तंतुओंमें बांयें हाथकी कनिष्ठादि चार उंगलियोंके अगले भागसे संघर्षण करके स्वर निकाले जाते हैं। इस यंत्रकी मधुर ध्वनि कोमलकण्ठी स्त्रियोंके स्वरके अनुरूप होती है। यदि एक घरमें यह यन्त्र बजाया जाय और पासके दूसरे घरमें कोई सुकण्ठी स्त्री गान करे, तो अति स्वरज्ञ व्यक्ति भी दोनोंके स्वरकी पृथकता जल्दी अनुभव नहीं कर सकते।

इसरार

इसरारका समूचा अंग एक ही काष्ठखण्डका बना होता है। इसका खोल प्रायः सारङ्गीके खोलके समान और डंडा सितारके डंडेके समान रहता है। पांच तार वाले सितारके तार जिस धातुके बने होते हैं एवं जिस स्वरमें बंधे रहते हैं, इसरारके पांचों तार भी उसी धातुके बने होते हैं तथा उसी स्वरमें बंधे रहते हैं। अन्तर सिर्फ इतना ही है, कि इसमें वादकके इच्छानुसार पीतलके कई एक अप्रधान तार लगे रहते हैं। उन अप्रधान तारोंका स्वर बन्धन भी वादकके इच्छाधीन रहता है। वादक इसयन्त्रको सरल भावसे खड़ा करके एवं बांयें हाथसे पकड़ते हैं; इसके बाद दाहिने हाथसे धनुही पकड़ कर संचालन करते हुए इसकी वादन-क्रिया निष्पन्न करते हैं। इसकी सारिकाओंके ऊपर बांयें हाथकी तर्जनी और मध्यमांगुली सञ्चालन करके प्रयोजनानुसार सभी प्रकारके स्वर निकाले जाते हैं। इस यन्त्रका नायकी तार ही प्रधानतः बजाया जाता है और दूसरे दूसरे तार स्वरसंयोजनके लिये व्यवहृत होते हैं। यह यन्त्र भी प्रायः सारङ्गीकी तरह स्त्रियोंके गानके माधूर्य्य-सम्पादनके लिये ही व्यवहृत होता है। कभी कभी यह स्वतंत्रभावसे भी बजाया जाता है। यह भी एक आधुनिक यन्त्र है।

मायूरी।

विशेष विवेचना कर देखनेसे मायूरी कोई स्वतंन्त्र यन्त्र नहीं कहा जा सकता; इसरार यन्त्रमें खोपड़ेके मुख पर एक काठका बना मयूरका मुख लगा देनेसे ही मायूरीयन्त्र बन जाता है। इसके आकारादि तथा वादन-क्रिया, इसरारके समान ही होती है।

अलाबूसारंगी।

अलाबूसारंगी सारंगीका ही एक अंग है। इन दोनोंमें अन्तर यह है, कि सारंगी लकड़ीके एक टुकड़ेसे बनाया जाता है और इसका पिछला भाग काठका न हो कर एक दीर्घाकार कद्दूका बना होता है; इसी कारण इसे अलाबूसारंगी कहते हैं। पश्चाद्वर्त्ती अलाबूके अतिरिक्त अन्यान्य अंग प्रत्यंग काठके बने रहते हैं। इसकी प्रधान ताँत, अप्रधान तार, स्वरबन्धनादि सब कुछ सारंगीके समान ही होते हैं; सिर्फ वादन-प्रणालीमें कुछ अन्तर देख पड़ता है। सारंगीको जिस तरह गोदमें सरलभावसे खड़ा करके बजाना पड़ता है, इसे उस रूपमें खड़ा करके पकड़ना नहीं पड़ता; वरन् इसकी पन्थोकी ओरसे इसे कन्धे पर स्थापन कर एवं बाँयें हाथकी हथेली और अंगूठे द्वारा पकड़ कर अन्यान्य उंगलियोंके अग्रभाग इसकी तंतुओंके ऊपर संचालन करके स्वर निकालना पड़ता है। मूल बात यह है, कि अलाबूसारंगी आधुनिक बेहलीकी रीतिसे बजाई जाती है।

मोनसारंगी।

इसराज और मोनसारंगी एक ही यन्त्र है, अन्तर

सिर्फ इतना ही है, कि इसरारका खोल और डंडा दोनों ही काठके बने होते हैं। इसके पिछले खोलसे ले कर डंडेके अग्रभाग तक एक दीर्घाकार, किन्तु पतले पतले अलाबूका बना रहता है। इसके अलावे और और अंग प्रत्यंग, तार, अप्रधान तार, वादनप्रणाली इत्यादि इसरारके अनुरूप होती हैं। इस यन्त्रके मूलप्रान्तमें एक काठकी बनी मछलीका मुख आबद्ध रहता है; इसीलिये इसे मीनसारंगी कहते हैं।

स्वरसंग।

स्वरसंग यन्त्र अप्रधानताररहित इसरारका नामान्तर मात्र है। स्वरसंगकी बनावट तथा वादनक्रिया बिलकुल इसरारकी तरह होती है। यह यन्त्र बहुत नया है।

सारिन्दा।

सारिन्दाके सभी अवयव एक टुकड़े अखण्ड काठके बने होते हैं। इसके ध्वनिकोषका कुछ अंश चमड़ेसे मढ़ा होता है और उस चमड़े पर एक तन्त्रासन खड़े दलमें बंधा रहता है। इसमें किसी भी धातुका बना हुआ तार वा तांत व्यवहृत नहीं होता। घोड़ेकी पूंछके बने हुए तीन तार लगाये जाते हैं। उन तीन तारोंमेंसे दोको मध्यसप्तक षड्ज और एकको पञ्चम करके बांधना होता है तथा कद्दूकी सारंगीकी तरह कंधे पर रख और बाएं हाथसे पकड़ कर एक घोड़ेकी पूंछके बालसे बंधे हुए धनुहीसे बजाना होता है। बहुतेरे लोग इसका निर्णय नहीं कर सके हैं, सारिन्दा और सारंगी इन दो यन्त्रोंमें कौन किसके अनुकरण पर बना है, किन्तु दोनों यन्त्रोंका आकार देखनेसे यह स्पष्ट मालूम होता है, कि सारिन्दाका अनुकरण कर सारंगी बनी है। क्योंकि मनुष्यकी सभ्यताकी उन्नतिके साथ साथ जिस प्रकार बहुतसे यन्त्र क्रमशः उन्नत होते गये हैं, उसी प्रकार यह भी हुआ है। इस यन्त्रका अभी सभ्यसमाजमें व्यवहार नहीं होता। फकीर आदि भिक्षुक मनुष्यके दरवाजे दरवाजे इसको बजा और गीत गा कर भीख मांगते हैं।

गोपीयन्त्र।

करीब डेढ़ हाथ लम्बा गांठदार एक पतला बांसका डंडा हो। उसकी गांठका ओर छः सात अङ्गुल अविकृत भावमें रख कर ऊपरका आधा भागका फाड़ कर अलग कर दिया जाये, बाकी आधे भागको फिर दो बखारीके आकारमें बना कर उसमें दोनों ओर कटे हुए हाथ भर लम्बे एक कद्दू वा काठका खोल बांध दिया जाये। पीछे उसके ऊपरी भागको चमड़ेसे ढक कर उस चमड़ेके ठीक मध्यभागमें एक लोहेके तारका एक छोर बद्ध और दूसरा छोर वंशदण्डके अविकृत अंशमें गड़ी हुई खूंटीमें योजित करना होता है। यन्त्रदण्डभागको दाहिने हाथकी तर्जनीको छोड़ बाकी चार उंगलीसे पकड़ कर तर्जनीसे बजाना होता है। इससे केवल एक स्वर निकलता है। परंतु बजानेवाले कौशलपूर्वक यंत्रधारक चार उंगलियोंके सङ्कोच और प्रसारणसे उस एकमात्र स्वरको ऊंचा नीचा कर सकते हैं। सभ्य यंत्रोंमें इस यंत्रकी गणना नहीं की जाती। भीख मांगनेवाले इसे बजा कर दरवाजे दरवाजे गान करते और अपनी जीविका चलाते हैं।

आनन्द-लहरी

आनन्द-लहरीको गोपीयन्त्रके खोलकी तरह प्रायः आध हाथ खोलके ऊपर चमड़ेसे मढ़ देना होता है। उस चमड़ेके ठीक मध्य भागमें एक तांत बंधी होती है। तांतके इस प्रान्तको चर्माच्छादित एक छोटे बरतनमें संबद्ध करके यन्त्रके खोलको बाईं बगलसे जोरसे दबाते हैं। छोटे बरतनको बाएं हाथसे पकड़ कर दाहिने हाथसे एक लकड़ीकी सलाईसे उस तन्तुमें आघात करने हीसे आवाज निकलती है। बाएं हाथके खिचावकी कमी बेशी हीसे सुरको नीचा और ऊंचा किया जाता है। यह यन्त्र भी सिर्फ भीखमंगे व्यवहार करते हैं।

मोरङ्ग।

मोरङ्ग यन्त्र त्रिशूलकी तरह नोकदार इस्पातका बना होता है। इसके दोनों बगलें कुछ मोटी होती हैं, मध्य भागमें एक शूलकी नोककी तरह बहुत पतला पत्तर रहता है। यन्त्रको बाएं हाथसे पकड़ कर दहने हाथकी तर्जनीसे बजाते हैं। किन्तु स्वरको दीर्घकाल स्थायी करनेके लिये आघातके साथ साथ बड़े जोरसे मुंहसे श्वास लेना होता है। इसमें केवल एक स्वर रहता है। किन्तु बजानेवाले उस पतले पत्तरकी जड़में थोड़ा मोम लगा

कर स्वरको ऊंचा नीचा कर सकते हैं। यद्यपि इस यन्त्रके स्वरमें उतनी मधुरता नहीं है, तथापि ऐक्यतान वादनके साथ बजाये जानेसे खराव भी नहीं लगता।

अवनद्ध वा आनद्ध-यन्त्र।

पटह वा नागरा, मर्द्दल वा मादल, हुड़ुक, आकरट, अघट, रञ्जा, डमरू, ढक्का, कड़ूली, टुक्करी, त्रिवली, डिण्डिम, दुन्दुभि, भेरी, निःसान, तुम्बकी, टमकी, मण्ड, कम्बूज, पणव, कुण्डली, पादवाद्य, शर्कर, मट्ट, मृदङ्ग वा खोल, तबला, ढोलक, ढोल, काड़ा, जगझम्प, तासा, दमामा, टिकारा, जोड़घाई और खुरदक ये सब यन्त्र अवनद्ध यन्त्रमें गिने जाते हैं। उन सब यन्त्रोंके केवल नाम दिये गये हैं उनके आकारादि सङ्गीत ग्रन्थमें भी नहीं देखे जाते और न इनका व्यवहार ही दिखाई देता है। सभी अवनद्ध यंत्र सभ्य, बाहिर्द्वारिक, ग्राम्य, सामरिक और माङ्गल्य इन पांच श्रेणियोंमें विभक्त होते हैं।

पटह वा नागरा।

पटहका आकार छोटे और बड़ेके भेदसे दो प्रकारका होता है। दोनों प्रकारके पटहके खोल मिट्टीके बने होते हैं। बड़े पटहका मुंह चौड़ा होता, तलदेश क्रमशः सूक्ष्म हो कर कोणाकारमें परिणत हो गया है। इस यंत्रका मुंह मोटे चमड़ेसे मढ़ा होता है। छोटा पटह देखनेमें कुछ गोल होता है। इसके भी आच्छादनादि बड़े पटह जैसे होते हैं, परंतु इसमें पक्षीके पर आदि अनेक वस्तु आवद्ध रहती हैं। यह यंत्र प्रायः काड़ा नामक एक दूसरे यंत्रके साथ बजाया जाता है। बजानेवाले यंत्रको रस्सीसे बांध कर गलेमें लटका लेते और दोनों हाथमें दो छड़ी ले कर उसे बजाते हैं, किंतु बड़ा पटह इस प्रकार बजाया नहीं जाता। उसे जमीन पर रख दो डंडेसे टिकारा नामक यंत्रके साथ बजाते हैं। कभी कभी युद्ध-विजेताओंके सम्मानार्थ गृहप्रवेशके समय हाथीकी पीठ पर बजाते हुए भी देखा जाता है। पटह बहिर्द्वारिक और अति प्राचीन यंत्र है।

मर्द्दल।

आनद्ध यंत्रके मध्य मर्द्दल ही सर्वश्रेष्ठ है। मर्द्दलका खोल खैर, लालचंदन, कटहल आदि लकड़ियोंका बना होता है। इनमें खैरकी लकड़ी ही सबसे अच्छी है। लाल चन्दन लकड़ीके बने हुए मर्द्दलकी ध्वनि भी गम्भीर, रमणीय और उच्च होती है। मर्द्दल अकसर आध हाथ लम्बा और बाईं ओरका मुंह बारह तेरह उंगलीका होता है। दाहिनी ओरका मुंह उससे एक या आध उंगली कम और मध्य भाग मुंहसे कुछ लम्बा होता है। छः महीनेके बकरेके चमड़ेसे दोनों मुंह मढ़े होते और वे चमड़ेकी धज्जीसे परस्पर संयोजित रहते हैं। उन धज्जियोंमें हस्तिदन्त अथवा और किसी कठिन पदार्थके बने हुए आठ गुल्म आवद्ध होते हैं। स्वरको ऊंचा और नीचा करनेके लिये उन गुल्मोंको लोहेके हथौड़ेसे सञ्चालित कर लेते हैं। यन्त्रके दाहिने मुंहके ठीक बीचमें भस्म, गेरु मिट्टी, गेहूंका आँटा या चिउड़ा, इन सब पदार्थोंको जलमें मिला कर लगभग चार अंगुल भर गोल मोटा लेप लगा देते हैं, बाईं ओर लेप नहीं लगाना होता है। इस यन्त्रको गोदमें रख कर बजाया जाता है। मर्द्दलको ही अब मृदङ्ग वा पखावज कहते हैं। संथाल आदि असभ्य जातियां इसी जातिका बाजा बजा कर गीतादि करते हैं, वह मर्द्दल वा मादल कहलाता है। यह यन्त्र सभ्य यन्त्रमें गिना जाता है और दोनों हाथसे इसे बजाते हैं तथा यह ध्रुपदादि उच्चाङ्ग गीतके साथ सङ्गत हुआ करता है।

मुरज।

मुरज मर्द्दलके समान, पर उससे कुछ छोटा होता है। इसका बायां मुंह आठ उंगली और दाहिना मुंह सात उंगली चौड़ा होता है। इसकी लम्बाई एक हाथसे कुछ अधिक होती है। बजानेवाले रस्सीसे इसको गलेमें लटका कर बजाते हैं। इसकी बाईं ओर भी मसालेका लेप रहता है।

मृदङ्ग।

मृदङ्ग यन्त्र बहुत प्राचीन है। पुराणमें लिखा है, कि जब त्रिपुरारि महादेवने देवताओंके अजेय अति दुर्दान्त त्रिपुरासुरको युद्धमें मार कर बड़े आनन्दसे ताण्डवनृत्य आरम्भ किया, उस समय असुरके शरीरसे निकले हुए रुधिरसे समराङ्गणकी भूमि सिक्त हो कर्दममें परिणत हो गई थी, उस कर्दमसे सृष्टिकर्त्ता पद्मयोनि ब्रह्माने मृदङ्गका मेखड़ा, चर्मसे आच्छा-

दनी, शिरासे चर्मसंयोजक रज्जु और अस्थिसे गुल्म बना कर गणनायकको महादेवके नृत्यमें ताल देनेके लिये प्रदान किया था। गणेशने उस मृदङ्गको बजा कर महादेवके नृत्य और देवताओंके हर्षको बढ़ाया था। इस यन्त्रका प्रधान अङ्ग मेखड़ा ही है जो मिट्टीका बना होता है। आधुनिक मेखड़ा ही प्रकृत मृदङ्गपदवाच्य है। विशेषता इतनी ही है, कि ब्रह्मसृष्ट मृदङ्ग गुल्मयोजित था, मेखड़ेमें गुल्म नहीं रहता। इस यन्त्रके दोनों मुंहमें लेप रहता है। इस यन्त्रका केवल कीर्त्तनादिमें व्यवहार होता है।

तबला।

तबला आधुनिक मृदङ्गका अनुकरणमात्र है। यह यन्त्र दो भागोंमें विभक्त है, एक भागका ढाँचा मृदङ्गके जैसा काठका बना होता है, दूसरा मिट्टी वा किसी धातुका। लकड़ीके भागको दहिना या तबला और मिट्टीके भागको बायाँ या डुग्गी कहते हैं। दोनों भाग पर सरेस आदिकी बनी हुई स्याहीकी गोल टिकिया अच्छी तरह जमा कर चिकने पत्थरसे घोंटी जाती है। दाहिनेसे उच्च मधुर और बायेंसे गम्भीर नादस्वर निकलता है। यह चमड़ेके फीतेसे जिसे बद्धी कहते हैं कस कर बांध दिया जाता है। इस बद्धी और कूंड़के बीचमें काठकी गुल्लियां रख दी जाती हैं। इन गुल्लियोंकी सहायतासे तबलेका स्वर आवश्यकतानुसार चढ़ाते या उतारते हैं। डुग्गी या बायां कभी कभी अकेला ही बजाया जाता है, पर तबला कभी भी नहीं।

ढोलक।

ढोलकका मेखड़ा लकड़ीका बना होता है। इसके दोनों मुंह पर पतला चमड़ा चढ़ाया रहता है। चढ़ाते समय चमड़ेको भिगा कर एक बांसकी गोल कमाचीमें इस तरह लपेटते हैं कि वह कमाची चमड़ेसे आवृत हो कर ढोलकके मेखड़े पर आ कर चिपक जाती है। इसी कमाचीमें दोनों ओर डोरी लगा कर कस देते हैं। इस डोरीमें लोहे या पीतलकी छोटी छोटी कड़ियां पहनाई रहती हैं। इन कड़ियोंको चढ़ानेसे ढोलक तन जाता और उतारनेसे उतर आता है। इस ढोलकके दोनों मुंहका व्यास प्रायः एक समान ही रहता है। किन्तु इसका मध्य भाग अपेक्षाकृत कुछ मोटा रहता है। रामायण गान तथा मेहिनी रागरागिनियोंमें भी यह व्यवहृत होता है।

ढक्का।

भारतीय सब यन्त्रोंकी अपेक्षा ढक्केका आकार बड़ा है। इसका भी मेखड़ा लकड़ीका बना होता है। दोनों मुख समव्यासविशिष्ट और चमड़ेसे छाया हुआ रहता है। दोनों ओरके चमड़े सूत या चमड़ेकी चौड़ी डोरीसे कसे रहते हैं। इसका एक ही मुख दोनों हाथसे लकड़ीसे बजाया जाता है। इस यन्त्रकी शोभा बढ़ानेके लिये बजानेवाले इसमें पक्षियोंके पर लगाते हैं। बजानेवाले मोटी रस्सीसे यन्त्रको बांध लेते और गलेमें डाल कर पूर्वोक्त रीतिसे बजाया करते हैं। यह यन्त्र देवोत्सवों या पर्वोपलक्ष्यमें ही अधिक व्यवहृत होता है। बङ्गालमें इसे ढाक कहते हैं। यह बहुत प्राचीन बाजा है। कारण, रामायणी युद्धके समय यही बाजा बजा था। रामायणमें इसका विस्तारित भावसे उल्लेख पाया जाता है। इसकी ध्वनि बहुत कर्कश होती है।

ढोल।

ढोलका आकार ढोलककी तरहका है। फिर भी इसका आकार उससे कुछ बड़ा है। इसके बांये मुंह पर एक मसाला लेपा हुआ रहता है। इसे डोरीमें बांध कर गलेमें झुला कर दाहने हाथसे ताल देते और बायें हाथसे एक मोटी लकड़ीसे बजाते हैं। यह ढोल विवाहादि उत्सवोंमें व्यवहृत किया जाता है। कुछ लोगोंका अनुमान है, कि यह ढोल ही सभ्यतावृद्धिके साथ ढोलकके रूपमें परिणत हुआ है।

काड़ा।

काड़ेका भी मेखड़ा लड़कीका ही होता है। इसके एक ही मुख रहता है। यह भी पिछले भागकी अपेक्षा बहुत चौड़ा रहता है। चमड़ेको डोरीसे बंधा रहता है और चमड़ेसे ही छाया हुआ रहता है। इसे रस्सी बांध कर गलेमें झुला लेते हैं। ये दाहिने हाथसे बेंत द्वारा बजाते और बायें हाथसे ताल ठोकते हैं। किन्तु केवल काड़ा कभी नहीं बजता, छोटे नक्कारे तथा जगझम्पके साथ ही उत्सवोंमें बजता है।

जगझम्प।

इस बाजेका मेखड़ा मिट्टीका बना रहता है। यह अपेक्षाकृत बड़ा और गहरे ढकनेकी तरहका होता है।

इसका छाया हुआ चमड़ा सूतकी डोरी या चमड़ेकी डोरीसे कसा जाता है। सौन्दर्य बढ़ानेके लिये इस बाजेमें पक्षियोंके पर जोड़े जाते हैं। रस्सीमें बांध कर लोग इसे बजाते हैं। दोनों हाथोंमें लकड़ी ले कर उनसे ही बजाया जाता है। इसके साथ छोटे नक्कारेका भी व्यवहार होता है। उत्सवों, विशेषतः मुसलमानी पर्वोंमें इसका अत्यधिक व्यवहार होता है।

तासा।

तासा देखनेमें उपर्युक्त जगझम्पकी तरह है। विशेषता यह है, कि छाजनीका चमड़ा कुछ अपेक्षाकृत मोटा होता है। यह जगझम्पके साथ बजता है। इसके बजानेका कायदा जगझम्पकी तरह ही है। विवाहादि उत्सवोंमें अधिक व्यवहृत होता है।

नौबत।

इसका आकार नक्कारेकी तरह होता है। केवल वजनमें कुछ कम होता और यह पतले चमड़ेसे छाया रहता है। दरवाजे पर नक्कारेकी तरह दोनों हाथोंसे छोटी छोटी लकड़ियोंसे बजाबा जाता है।

दमामा।

नौबतकी तरह ही इसका आकार और नौबतके उपकरणोंसे ही यह तय्यार होता है। विशेषता यह है, कि नौबत बाजेकी अपेक्षा इसका मुख चौड़ा और इसका चमड़ा कुछ मोटा होता है। दमामा भी नौबतके साथ ही बजता है। दमामा पहले युद्धके बाजोंमें शामिल था।

जोड़घाई।

जोड़घाई और कुछ नहीं एक ढोलके ऊपर दूसरा छोटा ढोल जोड़ा रहता है। इससे छोटे ढोलसे उच्च और बड़े ढोलसे निम्न स्वर निकलता है। जब जैसे स्वर निकालनेकी आवश्यकता होती है, तब वैसे ही ढोल पर आघात किया जाता है। यह बाजा पहले प्रायः बङ्गालमें देखा जाता था। अब उसका प्रचार बहुत कम हो गया है। या यों कहिये, कि अब इस बाजेका लोप ही हो गया है।

डमरू।

डमरू बहुत पुराना बाजा है। देवदेव महादेव इसको बजाते थे। किन्तु इस समय तो सपेरे या भालु या बन्दर नचानेवालोंका बाजा बन रहा है। इसके दोनों मुंह चौड़े होते हैं और बीचमें पतला रहता है। यह मूंठमें पकड़ कर बजाया जाता है। इसकी छवाई भी चमड़ेकी होती है और चमड़ेकी डोरीसे इसके दोनों ओरके चमड़े कसे रहते हैं। चमड़ेकी डोरीमें एक शीशेकी गोला बंधी रहती है। डमरूको हिलाने डुलानेसे यह बजता है। यह बाजा बड़ा विमोहक है। इस बाजे पर भी लोगोंका अधिक ध्यान आकर्षित होता था।

खुरदक।

खुरदकके दोनों मेखड़े छोटे नक्कारेके समान होते हैं। ये मेखड़े मिट्टीके बने होते हैं। इनमें सिर्फ एकका मुख कुछ अधिक चौड़ा होता है। इन दोनों मेखड़ेके मुखमें इस प्रकार कौशलसे चमड़े मढ़े जाते हैं, कि एकसे उच्च और दूसरेसे नादस्वर निकलता है। जिससे नादस्वर निकलता है, उसके चमड़े मसालेका रहता है। यह दोनों हाथोंके आघातसे बजाया जाता है। इसे रोशनचौकीके साथ बजाते हैं।

शुषिरयन्त्र।

जो सब यन्त्र छिद्रयुक्त होते हैं, उन्हें शुषिरयन्त्र कहते हैं। यह यन्त्र मुखसे फूंक मार कर बजाया जाता है। वंशी, पार, पाविका, मूरली, मधुकारी, काहला, सिंगा, रणसिंगा, रामसिंगा, शङ्ख, भुड़ही, बुक्का, स्वरनाभि, अलापिक, चर्म्मवंशी, सजलवंशी, रोशनचौकी, शहनाई, कलम, तुरही, भेरी, गोमुखी, तुवड़ी तथा वेणु प्रभृति यन्त्र शुषिरयन्त्रके अन्दर गिने जाते हैं। बड़े दुःखका विषय है, कि इनके अधिकांशके नाम ही पाये गये हैं, आकारादिका कोई चिह्न भी परिलक्षित नहीं होता। शुषिरयन्त्र प्रधानतः वंशी, काहल, सिंगा और शङ्ख, इन चार जातियोंमें विभक्त है।

वंशी।

यह यन्त्र पहले गोलाकार, सरल एवं गांठहीन बांसका ही बनाया जाता था; इसीलिये इसका नाम वंशी पड़ा। मनुष्यकी सभ्यता वृद्धिके साथ साथ खैर, चन्दनादि काष्ठ; सुवर्ण प्रभृति धातु और हाथीके दांतसे भी यह चिज तैयार होने लगा है; किन्तु इसके नाममें कुछ परिवर्त्तन नहीं हुआ है। वंशीके मध्यका छिद्र

कनिष्ठांगुलिकी परिधिकी अपेक्षा अधिक होना ठीक नहीं, यह आठ अंगुलसे ले कर एक हाथ तक लम्बी होती है। इसका शिरोभाग प्रायः बन्द तथा अधोभाग खुला रहता है। द्वापर युगमें श्रीकृष्ण जो वंशी बजाते थे, लोग उसे ही मुरली कहते है। वंशीके ऊपरीभागसे प्रायः तीन अंगुल नीचे जो अपेक्षाकृत एक बड़ा छिद्र रहता है, उसका नाम फुत्काररन्ध्र या फूंकनेका छिद्र है। फुत्काररन्ध्रके प्रायः चार अंगुल नीचे बेरकी गुठलीके बराबर छः स्वरके छिद्र होते हैं। वंशीको दोनों हाथोंके अंगूठे और तर्जनीके मध्यभागसे पकड़ कर दोनों हाथोंकी अनामिका, मध्यमा और तर्जनी, इन छः उंगलियोंके द्वारा इसकी वादन-क्रिया निष्पन्न की जाती है। फुत्काररन्ध्रमें फूंक कर एवं पूर्वोक्त छः स्वरके छिद्रों पर उक्त अंगुलियों का आवश्यकतानुसार संचालन करते हुए वादक अपने इच्छानुसार गाना बजाते हैं। यह यन्त्र श्रीकृष्णका बड़ा प्यारा था, इसलिये कई व्यक्ति तो उन्हें ही इसका निर्म्माता बताते हैं। इस समय यह यन्त्र भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न आकारमें बदल कर अनेक नामसे विख्यात हो गया है। जो कुछ भी हो, किन्तु भारतवर्षमें ही पहले पहल इसकी सृष्टि हुई, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

सरल वंशी।

सरलवंशीके आकारादि प्रायः मुरलीके समान ही होते हैं, विशेषता केवल इतनी ही है, कि मुरलीके फुत्काररन्ध्रमें फूंक फूंक कर स्वर निकाले जाते हैं और इसके फुत्काररन्ध्रमें न फूंक कर वंशीके खुले शिरःप्रान्तको ही मुखसे फूंक कर स्वर निकालते हैं। इसके फुत्काररन्ध्रसे वायु निर्गत होती है; इसलिये इस छिद्रको फुत्काररन्ध्र न कह कर वायुरन्ध्र कहना ही युक्तिसंगत है। मुरली जिस प्रकार वक्रभावसे पकड़ी जाती है, यह उस प्रकार पकड़ी नहीं जाती। इसे सरलभावसे ही पकड़ कर बजाते हैं; इसीलिये यह सरलवंशीके नामसे विख्यात है। इसकी वादन-प्रणाली मुरलीके समान ही होती है।

लयवंशी।

लयवंशी सरलवंशीसे बिलकुल मिलती जुलती है; किन्तु इसमें वायुरन्ध्र नहीं होता। इसकी और सरलवंशीकी वादन प्रणाली एक-सी होती है। यदि कुछ अन्तर है, तो इतना ही, कि इसे मुखके एक पार्श्वमें वक्रभावसे पकड़ कर बजाना होता है।

कलम।

कलमका आकार बहुत कुछ करचीके कलमके आकारसे मिलता जुलता है; इसीलिये वह कलमके नामसे विख्यात है। इसकी लम्बाई अन्यान्य वंशियोंकी अपेक्षा कुछ छोटी होती है, किन्तु स्वरछिद्रादि वंशीके बराबर ही होते हैं। यह यन्त्र सरलवंशीकी रीतिसे ही बजाई जाती है। इन दोनोंकी वादन-प्रणालीमें अन्तर यह है, कि सरलवंशी फूंक कर बजाई जाती है और इसके शिरःप्रान्तको दोनों ओठोंसे पकड़ कर बजाते हैं। इसके मुख भागमें एक छोटा-सा नल रहत है बजानेके पहले उस नलको मुखके थूकसे तर कर लेना पड़ता है।

रोशनचौकी।

रोशनचौकीका आकार देखनेमें धतूरेके फूलके समान होता है। इस यन्त्रका ऊपरी भाग खोखले काठका बना होता है और नीचला भाग पीतल आदि धातुओंका। किसी किसी रोशनचौकीका सारा अंग लकड़ीका ही बना रहता है। इसकी लम्बाई बंगालमें प्रायः एक हाथसे अधिक नहीं होती; किन्तु काशी, लखनऊ आदि प्रान्तोंमें यह बंगालकी रोशनचौकीकी अपेक्षा कहीं बड़ी होती है। इसके मुखमें एक नल लगा रहता है। वादक उस नलको अपने मुखमें ले कर बजाते हैं। इस यन्त्रका आकार जितना लम्बा होगा, आवाज उतनी ही नीची होगी। रोशनचौकी खुरदकके साथ बजाई जाती है।

शहनाई।

शहनाई और रोशनचौकी दोनोंके ही आकारादि सभी विषयोंमें एक-से होते हैं, केवल स्वरकी सामान्य पृथक्ताके कारण भिन्न भिन्न नामसे विख्यात हैं। ये दोनों यन्त्र एक ही रीतिसे बजाये जाते हैं। रोशनचौकीका स्वर शहनाईकी अपेक्षा कुछ ऊंचा होता है। इन दोनों यन्त्रोंमें अन्तर यह है, कि रोशनचौकी खुरदक वा ढोलकके साथ बजाई जाती है और शहनाई ढोलकके साथ।

वेणु ।

वेणुयन्त्र वेणु अर्थात् बाँसका बना होता है ; इसीलिये इसका नाम वेणु पड़ा होगा। इसकी लम्बाई वंशी जातीय सभी प्रकारके यन्त्रोंकी अपेक्षा बड़ी होती है। इस यन्त्रमें एक तरफ छः और दूसरी तरफ एक छिद्र होता है। इसकी वादन-प्रणाली स्वतंत्र है। वादक इस यन्त्रको किंचित् वक्रभावसे पकड़ कर एवं मुखको कुछ टेढ़ा कर, आहिस्ते आहिस्ते फूंक कर बजाते हैं। फुत्कारके तारतम्यानुसार नाना प्रकारके स्वर निकाले जा सकते हैं। यह यन्त्र बहुत आसानीसे बजाया जाता है। प्रवीण वादक इससे बहुत ही मधुर स्वर निकाल सकते हैं।

सिंगा ।

गाय, महिष आदि लम्बे सींगवाले पशुओंके सींगसे यह यन्त्र तैयार किया जाता है। यह वाद्ययन्त्र बहुत प्राचीन है। यहां तक, कि यह शुषिर यन्त्रका आदि यन्त्र कहा जा सकता है। भूतभावन भवानीपति शंकर सर्वदा इस यन्त्रका व्यवहार करते थे। उक्त पशुओंके सिंगके पतले भागमें एक छोटा सा छेद करके, उसीमें मुँह लगा कर इसे बजाते है।

रणसिंगा ।

रणसिंगेका आकार बहुत बड़ा होता है। यह यन्त्र पीतलादि धातुओंसे तैयार किया जाता है एवं मुखसे फूंक कर बजाया जाता है। रणक्षेत्रके मध्य सैनिकोंके कोलाहलमें वाद्ययन्त्र द्वारा जिस समय सैनिकोंको प्रोत्साहित, आह्वान अथवा किसी प्रकारका इशारा करनेकी सम्भावना रहती है, उसी समय यह यन्त्र व्यवहृत होता है। इसकी सांकेतिक ध्वनिके द्वारा सेना अपने सेनापतिका अभिप्राय आसानीसे समझ लेती है। यह यन्त्र रणक्षेत्रमें बजाया जाता है, इसी लिये यह रणसिंगा कहलाता है।

रामसिंगा ।

रामसिंगा भी धातुका बना हुआ एक बहुत बड़ा कुण्डलाकार यन्त्र है। इसका व्यास रणसिंगेकी अपेक्षा बड़ा होनेके कारण इसका स्वर भी उसकी अपेक्षा कहीं गम्भीर होता है। यह यन्त्र रणसिंगेकी वादन-प्रणालीसे ही बजाया जाता है। यह यन्त्र वैष्णवसम्प्रदायके महोत्सवादिमें अधिक व्यवहृत होता है।

तुरही ।

तुरहीका आकार सीधा होता है। यह पीतलकी बनी होती है। यद्यपि इसके द्वारा सैन्यप्रोत्साहादि कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता, तथापि रणक्षेत्रमें ही इसका व्यवहार होता है। कभी कभी यह नौबतखानेमें भी बजाई जाती है। इसका आकार रणसिंगेसे कुछ छोटा होता है। यह यन्त्र रणसिंगेकी वादन-प्रणालीसे बजाया जाता है।

भेरी ।

भेरीका दूसरा नाम दुन्दुभि है। यह देखने में बहुत कुछ दूरवीक्षणयन्त्रके समान होता है। इस यन्त्रके नलके भीतर एक और नल इस कौशलसे घुसाया रहता है, कि बजानेके समय हाथके सञ्चलन द्वारा इससे नाना प्रकारके स्वर निकाले जा सकते हैं। यह यन्त्र प्राचीन समयमें युद्धयन्त्रमें ही गिना जाता था ; किन्तु इस समय नौबतके बजानेके बाद यह यन्त्र बजाया जाता है।

शङ्ख ।

शङ्ख दूसरे यंत्रोंकी तरह मनुष्योंके हाथका बनाया यंत्र नहीं है। यह एक प्राकृतिक यन्त्र है। समुद्रमें शंख नामक एक प्रकारका जानवर होता है। प्रकृति ने उसके आच्छादनीकोषको इस ढाँचेसे तैयार कर रखा है, कि लोग उसके ऊपरी भागमें सिर्फ एक छोटा सा छिद्र करके बाजा बना लेते हैं। शंख बहुत प्राचीन यन्त्र है। यह इस समय केवल मंगल-कार्योंमें ही बजाया जाता है, किंतु प्राचीनकालमें युद्धके समय ही इसका अधिक व्यवहार होता था। इस यंत्रके मुखमें एक अंगुल प्रमाण छेद करना पड़ता है। इस यंत्रके बजानेके लिये उसी छेदमें पूरी ताकतसे फूँकना पड़ता है। यह यंत्र जितनी ताकतसे फूंका जाता है, ध्वनि भी उतनी ही ऊंची होती है। प्राचीन कालमें मनुष्य पूरे बलवान होते थे, इसलिये उस समयके लोगोंके शंखकी आवाज बड़ी गम्भीर होती थी। यहां तक कि उस समयके वीरोंके शंखकी गम्भीर ध्वनिसे लोगोंका कलेजा काँप उठता था।

तित्तिरी ।

आधुनिक तुबड़ी ही पहले तित्तिरीके नामसे विख्यात

थी। इस यन्त्रमें तितलाऊ व्यवहृत होता है; इसलिये इसका नाम तित्तिरी पड़ा होगा, क्योंकि तित्तिरी शब्दमें तितलाऊका किंचित् आभास मालूम पड़ता है। तितलाऊके निचले हिस्सेमें दो नल लगे रहते हैं। उन दोनों नलोंमें ६ स्वर-छिद्र रहते हैं। तितलाऊके ऊपरी भागमें एक छोटा-सा छिद्र रहता है, उसी छिद्रमें फूंक कर यह यन्त्र बजाया जाता है। कितने लोग इसे मुखसे न बजा कर नाकसे बजाते हैं। प्राचीन कालमें ऋषि लोग अलाबूके बदले मृगके चमड़ेसे यह यन्त्र तैयार करते थे। उस समय यह तित्तिरी यन्त्र चर्मवंशीके नामसे विख्यात था। इस यंत्रमें जो दो नल लगे रहते हैं, उनमें एकसे सुर भरा जाता है और दूसरेके द्वारा इच्छानुसार स्वर निकाला जाता है।

घनयन्त्र।

झाँझर, घड़ी, काँसी, घंटा, छोटी घड़ी, नूपुर, मञ्जीरा, करताली, षट्ताली, रामकरताली और सप्तशराव वा जलतरंग इत्यादि यंत्र घनयंत्रमें गिने जाते हैं। ये सब यंत्र लोहे, कांसे, कांच प्रभृति धातुओंसे तैयार किये जाते हैं; किंतु इनके नामसे ज्ञात होता है, कि प्राचीन कालमें ये यंत्र लोहेके बने होते थे; कारण यह है कि लोहेका दूसरा नाम घन है एवं इस धातुसे तैयार होनेके कारण ही यदि इनका नाम घन रखा गया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। जो कुछ भी हो, किंतु इसमें संदेह नहीं, कि घनयंत्र बहुत प्राचीन है, यहां तक, कि धातुओंके आविष्कारके समयसे ही इसका व्यवहार होता आ रहा है। घनयन्त्रके अधिकांश ही स्वतःसिद्ध हैं; केवल मञ्जीरा, करताली, कांसी और षट्ताली अवनद्ध यंत्रके साथ बजाई जाती है।

झांझर।

झांझरका आकार गहरी थालीसे बहुत कुछ मिलता जुलता है। इसका किनारा ऊंचा और समतल होता है। इसके किनारेमें दो छिद्र होते हैं। उन दोनों छिद्रोंसे हो कर एक डोरी बंधी रहती है। वादक उस डोरीको बांए हाथसे पकड़ कर इस यन्त्रको झुलाते हुए दाहिने हाथसे एक पतला डंडे द्वारा आघात करके इसे बजाते हैं। प्राचीन कालमें यह यन्त्र किसी भी धातुसे क्यों न तैयार किया जाता हो; किन्तु इस समय यह प्रायः सर्वत्र ही कांसेका बनाया जाता है। झांझर बहुत प्राचीन यंत्र है। इसका साक्षी इसका झांझर नाम ही दे रहा है। इस यंत्रसे केवल झाँ झाँ शब्द निकलता है, इसीलिये यह यंत्र झाँझरके नामसे विख्यात है। यह यंत्र पहले दूराह्वानादि कार्यमें व्यवहृत होता था; किंतु इस समय यह केवल देवताओंके उत्सवोंमें ही बजाया जाता है। किसी किसी स्थानमें यह कांसर कहलाता है।

घड़ी।

घड़ी कांसेकी बनी होती है। इसका आकार गोल और कुछ मोटा होता है। इसके किनारेमें एक छिद्र रहता है। उस छिद्रमें एक डोरी बंधी रहती है। वादक उस डोरीको बाँए हाथसे पकड़ कर अथवा किसी ऊंचे स्थानमें लटका कर दाहिने हाथसे एक लकड़ीके हथौड़ेसे यंत्र पर आघात करके इसकी वादनक्रिया निष्पन्न करते हैं। यह यंत्र देवताओंकी आरतीके समय तथा दूराह्वान, संवाद ज्ञापन एवं समयके निरूपणार्थ व्यवहृत होता है। समयनिरूपक घड़ीका आकार कुछ बड़ा होता है।

काँसी।

काँसी देखनेमें प्रायः झाँझरके समान ही होता है। इसके किनारेमें भी एक छिद्र रहता है जिसमें एक डोरी बंधी रहती है। वादक उस डोरीको बाँये हाथसे पकड़ और दाहिने हाथसे एक छोटे लकड़ीके डंडे द्वारा यंत्र पर आघात करके बजाते हैं। यह यंत्र ढक्का, ढोल इत्यादि आनद्ध यंत्रोंके साथ बजाया जाता है।

घंटा।

घंटेका आकार कांसेके कटोरेकी तरह गोल होता है। इसके मस्तक पर एक दण्ड रहता है, उस दण्डके मूल भागका कुछ अंश यंत्रसे जुड़ा रहता है तथा उसमें एक छिद्र और उस छिद्रके साथ एक दीर्घाकार सीसकपिण्ड लौहांगुरीयक द्वारा आबद्ध रहता है। दण्डको बांए हाथसे पकड़ कर सञ्चालन करनेसे ही वादनक्रिया निष्पन्न होती है। यह यंत्र देवपूजाके समय ही व्यवहृत होता है।

क्षुद्रघण्टिका या घुंघरू ।

घुंघरू पीतलका बना होता है । इसका आकार छोटा वकुल जैसा, पर खोखला होता है । भीतरमें वहुत छोटी सीसेकी गोली रहती है । कुछ घुंघुरुओंको एक साथ रस्सीमें बांध कर पांवमें पहनना होता है । चलते वा नाच करते समय उससे एक प्रकारकी अस्फुट ध्वनि निकलती है ।

नूपुर ।

नूपुर कांसेका बना होता है । इसकी बनावट कुछ टेढ़ी होती है, देखनेमें यह बहुत कुछ पाजेबके जैसा लगता है । इसके भीतर भी घुँघरूकी तरह छोटी छोटी सीसेकी गोलियां रहती हैं । यह प्रायः ताण्डवनृत्यमें ही व्यवहृत होता है ।

मन्दिरा ।

मन्दिरा या मजीरा कांसेकी बनी हुई छोटी छोटी कटोरियोंकी जोड़ी है । उनके मध्यमें छेद होता है । इन्हीं छेदोंमें डोरा पहना कर उसकी सहायतासे एक कटोरीसे दूसरी पर चोट दे कर सङ्गीतके साथ ताल देते हैं । यह यंत्र मृदङ्ग, तवला और ढोलक आदि आनद्ध बाजोंके साथ ताल देनेके लिये व्यवहृत होता है । इसका दूसरा नाम जोड़ी भी है ।

करताली ।

पद्मपत्र सदृश गोलाकार कांसेका बना हुआ पतला समतल यन्त्र करताली कहलाता है । यह एक तरहकी दो करताली होती हैं । इसका मध्यभाग कुछ उठा होता है । इसके बीचमें छेद रहता है, उस छेदमें रस्सी बंधी होती है । रस्सीको उंगलीमें लपेट कर दोनों करताली दोनों हाथों बजाई जाती हैं । यह यंत्र आनद्धयंत्रके साथ व्यवहृत होता है ।

षट्ताली ।

षटतालीको हिन्दीमें खटताली और बङ्गलामें खरताली कहते हैं । यह कठिन लौह (इस्पात) से बनाई जाती है । इसकी लम्बाई आध विलश्त है, देह बहुत मोटी नहीं, पीठ गोल और पेट समतल, मध्यस्थलसे दोनों ओरका अग्रभाग क्रमशः सूक्ष्म होता है । बजाते समय चार षट्तालियां एक साथ व्यवहृत होती हैं । दोनों हथेली पर दो दो षट्तालियां रख कर उंगलीसे बजाते हैं । इसका बजाना बहुत कठिन है, इस कारण इसके बजानेवाले बहुत कम मिलते हैं । ऐकयतान-वादनके साथ इसका वाद्य सुन्दर मालूम होता है ।

रामकरताली ।

करतालीसे कुछ बड़े यन्त्रको राम-करताली कहते हैं । इसके वादन आदि अन्यान्य विषय करतालीके समान होते हैं ।

सप्तसराव या जलतरङ्ग ।

यह यन्त्र प्रथम सृष्टिकालमें कांस्यादि धातु अथवा एक एक षड्जादि सप्तस्वरविशिष्ट और अनुरणात्मक पदार्थके बने हुए सात सराव वा ढक्कनसे बनाया जाता था, इस कारण इसे सप्तसराव कहते थे । पीछे जब उसके बदले चीनी मिट्टीके सात कटोरेमें आवश्यकतानुसार जल डाल कर सात स्वर मिला लेनेकी प्रथा आविष्कृत हुई, तभीसे यह सप्तसराव नामके बदलेमें जलतरङ्ग कहलाने लगा है । अभी सात कटोरेका व्यवहार न हो कर जिससे ढाई सप्तक स्वर पाये जायं उतने ही कटोरेका व्यवहार देखनेमें आता है । यह यन्त्र बजानेके समय वादक उन कटोरोंको अर्द्धचन्द्राकारमें सजा कर रखते हैं और दोनों हाथोंसे दो छोटे मुद्गर, दण्ड वा लकड़ीके आघात द्वारा उन कटोरोंको बजाते हैं । इसमें इच्छानुसार गतादि बजाये जाते हैं, इस कारण यह यंत्र स्वतःसिद्ध यन्त्रमें गिना गया है । इसका वाद्य सुननेमें बहुत मधुर होता है, किन्तु बिना अभ्यासके बजानेसे वह श्रवणमधुर न हो कर श्रवणकटु होता है ।

इसके सिवा भारतवर्षमें और भी अनेक प्रकारके वाद्ययन्त्रोंका प्रचलन देखा जाता है । इन यन्त्रोंमें कोई प्राचीन दो यंत्रोंके संयोगसे, कोई वैदेशिक यंत्रविशेषके अनुकरण पर और कोई प्राचीन और आधुनिक दो यंत्रोंके संमिश्रणसे उत्पन्न हुआ है ।

शिल्पविज्ञानकी उन्नतिके साथ साथ यूरोपखण्डमें अनेक प्रकारके वाद्ययंत्रोंकी भी उत्पत्ति हुई है तथा उस नये आविष्कारके साथ ही उनका संस्कार और उन्नति होती जा रही है । यहां उन सब यंत्रोंका विशेष परिचय न दे कर केवल कुछ यंत्रोंके नाम और उनके इतिहास दिये जाते हैं—

एकर्डियन—सबसे पहले चीनदेशमें इस यंत्रका व्यवहार होता था। वर्त्तमानकालमें जर्मनी और फ्रांसमें भी यह यंत्र बनाया जाता है। सन् १८२८ ई०में इङ्गलैण्डमें इसका प्रचार हुआ।

इयोलियनहार्प—यह जान्तव तन्तुविशिष्ट एक प्रकारकी वीणा है। अरगन नामक यंत्रनिर्माता सुप्रसिद्ध फादर करचरने इसका आविष्कार किया। यह यंत्र वायुप्रवाहसे ही बजाया जाता है।

बैग-पाइप—यह बहुत पुराना वाद्ययंत्र है। हिब्रू और ग्रीकोंमें इस यंत्रका बहुत प्रचार था। आज भी स्काटलैण्डके हाइलैण्डमें यह प्रचलित है। डेनमार्क नारवेबासी पहले इस यंत्रको स्काटलैण्ड ले गये। इटली, पोलैण्ड और दक्षिण-फ्रांसमें भी इस यंत्रका यथेष्ट व्यवहार देखा जाता है।

बैससुन—काष्ठनिर्मित एक प्रकारका वाद्ययंत्र है। मिष्टर हवाण्डेलने इस यंत्रका इङ्गलैण्डमें प्रचार किया। यह फूंक कर बजाया जाता है।

बिगल—पहले शिकारी लोग इस वाद्ययंत्रका व्यवहार करते थे। अभी सामरिक-वाद्ययंत्रके अन्तर्भुक्त हो कर इस यंत्रकी बड़ी उन्नति हो गई है।

काष्टानेटस—मूर और स्पेनियार्ड इस छोटे यंत्रको बजा कर नाच करते हैं। यह एक तरहका दो-पोठा बाजा है।

कनसार्टिना—१८२९ ई०में प्रोफेसर ह्विटष्टोनने इस यन्त्रका आविष्कार कर अपने नाम पर इसकी रजिष्ट्री की।

क्लेरियन—एक प्रकारका तुरही वाद्यविशेष। तुरहीकी अपेक्षा इसका शब्द बहुत तीव्र होता है।

क्लेरियोनेट—एक प्रकारकी वंशी। १७वीं सदीके शेष भागमें डेनर नामक एक जर्मन सङ्गीतविद्ने इस यन्त्रका आविष्कार किया। सन १७७९ ई०में इङ्गलैण्डमें इसका प्रचार हुआ।

सिम्बल—करताल, यह बहुत प्राचीन यन्त्र है। पण्डित जैनोफनका कहना है, कि साइबेलीदेवीने इस यन्त्रका आविष्कार किया। ऐसा यूरोपवासियोंका विश्वास है, कि तुर्क और चीनमें अच्छा करताल मिलता है। भारतवर्षमें बहुत पहलेसे इस यन्त्रका प्रचार है।

ड्राम—ढाक वा डंका। ग्रीसवासियोंके मतसे बेकसदेवने इसका आविष्कार किया था। इजिप्ट और यूरोपमें इसका यथेष्ट प्रचार है। आज भी युद्धमें डंकेका व्यवहार होता है।

गीटर—तन्तुविशिष्ट वाद्ययन्त्र। स्पेनदेशमें इस वाद्ययन्त्रका उद्भव हुआ और वहीं इसका यथेष्ट प्रचार है। किसी समय यूरोपमें इस यन्त्रका इतना अधिक प्रचार था, कि अन्यान्य वाद्ययन्त्रोंकी बिक्रीमें अत्यन्त बाधा पहुंचती थी। गीटरमें छः तार रहते हैं। सितारकी तरह यह बजाया जाता है।

हार्मनिका—कुछ कांचके ग्लासोंसे इस प्रकारका वाद्ययन्त्र बनाया जाता था। अभी इसका व्यवहार एक तरहसे लोप हो गया है।

हरमोनियम—बहुतोंका ख्याल है, कि यह वाद्ययन्त्र यूरोपमें आविष्कृत हुआ है; किन्तु यथार्थमें ऐसा नहीं है। यूरोपवासियोंके इसका नाम सुननेके बहुत पहले चीन देशमें इसका प्रचार था। पेरिस नगरके डिवेन नामक एक व्यक्तिने ही पहले पहल इसकी उन्नति की।

हार्प—वीणा; बहुत प्राचीन यन्त्र है। इसका इतिहास पहले लिखा जा चुका है। १७६४ ई०को फ्रांसकी राजधानी पेरिस नगरवासी मूंसो सिबेष्टियन एवार्डने इसकी बड़ी उन्नति की।

हार्डिगार्डी—तारविशिष्ट वाद्ययंत्र। जर्मनीमें इस यंत्रका आविष्कार हुआ। दक्षिण यूरोपके अधिवासी इस यंत्रको बजाना बहुत पसन्द करते हैं।

हार्पि-सिकर्ड—बड़े बड़े पियानोफोर्टकी तरह वाद्य यंत्रविशेष। पियानोके पहले इसका बहुत प्रचार था। किंतु पियानो यंत्रके आविष्कारके बादसे इसका प्रचार बंद हो गया है। १६वीं सदीके पहले भी यह यंत्र विद्यमान था। १७वीं सदीमें इङ्गलैण्डमें इसका प्रचार हुआ था।

फ्लाजिओलेट—यह फ्लूट जैसा वाद्ययंत्र है। इसका स्वर बहुत तीव्र होता है। अभी इसका व्यवहार बहुत कम होता है।

फ्रेञ्च हरन्—यह यंत्र भी फूंक कर बजाया जाता है। फ्लूटकी तरह इसमें छेद नहीं होते, इसकी ध्वनि फूंक पर ही निर्भर करती है।

फेटन ड्राम—यह डंके जैसा होता है और तांबेसे बनाया जाता है।

ज्युस हार्प—यह बालकोंके खेलनेका वाद्ययंत्र है।

ल्यूट्—यह गीटर या सितार आदि जैसा वाद्ययंत्र है। सितारकी तरह बजाया जाता है। अति प्राचीन समयमें यह यंत्र प्रचलित था। प्राचीनतम अंगरेज-कवि चसारके ग्रंथमें इस वाद्ययंत्रका उल्लेख है। गीटरके प्रचलनके बाद ल्यूटका व्यवहार घट गया है।

लायर—तारविशिष्ट वाद्ययंत्रोंमेंसे यही वाद्ययंत्र सबसे प्राचीन है। इजिप्टके अधिवासियोंमें प्रवाद है, कि पृथिवी निर्माणके दो हजार वर्ष पीछे मर्करीदेवने इस यंत्रकी सृष्टि की। एरिष्टफेनसके ग्रंथमें इस यंत्रका उल्लेख देखा जाता है। ग्रीसवासियोंने इजिप्टवासियोंसे इस यंत्रका व्यवहार सीखा है। पहले लायर तीन तारोंसे बनाया जाता था। इसके बाद म्युजेजने एक तार और बढ़ा दिया। पीछे आर्कियसने एक तार, लीनकने एक तार और सङ्गीतज्ञ पण्डितोंने एक और तार बढ़ा कर लायरको सप्तस्वरोंमें परिणत किया। पाइथेगेरसने इसमें एक और तार जोड़ दिया था। ग्यारह तारोंका लायर भी देखनेमें आता है। लयुनार्डमें दासिन्सी नामक एक वाद्ययंत्रके निर्माताने घोड़ेके शिरकी हड्डीके सांचेमें एक लायर बनाया था।

ओ-बय—इसका दूसरा नाम हटबय है। यह यंत्र फूंक कर बजाया जाता है। इसकी आवाज मीठी और बहुत स्पष्ट होती है।

अफि-फ्लाइड—सन् १८४० ई०में यह वाद्ययंत्र आविष्कृत हुआ। सर्पेंट नामक यंत्रकी उन्नतिके लिये इस यंत्रकी सृष्टि हुई थी।

अरगान—पाश्चात्य प्रदेशमें जितने प्रकारके वाद्ययन्त्र हैं, अरगान उनमें सबसे बड़ा और प्रधान है। बहुत दिन हुआ, इस वाद्ययन्त्रकी सृष्टि हुई है। इसकी प्राचीन इतिहासका पता नहीं लगता। इस जातिके यन्त्रमें ड्राइडेनके काव्यमें 'भोकल फ्रेम' नामक यन्त्रका उल्लेख मिलता है। उन्होंने लिखा है, कि सेण्ट सेसिना इसके आविष्कारक थे। यूरोपीयनोंके उपासना-मन्दिरमें यह यन्त्र रखा जाता है। यह यन्त्र सबसे पहले गिरजामें कब प्रवर्त्तित हुआ था उसका स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। कुछ लोग कहते हैं, कि सन् ६७० ई०में पोप भिटालियनने गिरिजाघरमें इस यन्त्रका व्यवहार प्रवर्त्तित किया। फिर किसीका कहना है, कि ग्रीकराज कप्रोनियसने ७५५ ई०में एक अरगान फ्रान्सके राजा पेपिनको प्रदान किया। उन्होंने इसे कम्पिन नगरके सेण्ट-कर-लिनो गिरजामें रखा।

चार्लेमनके शासन-कालमें यूरोपके अधिकांश नगरके गिरजाघरमें ही अरगानका व्यवहार प्रचलित हुआ। ११वीं सदीके पहले तक इसकी उतनी उन्नति नहीं हुई थी।

११वीं सदीके शेष भागसे ही अरगानकी चाबीका बनना शुरू हुआ। इस समय मैलडिवर्गके गिरजामें जो अरगान रखा गया था उसमें १६ चाबियां थीं। इसके बादसे चाबीकी संख्या बढ़ने और उसकी उन्नति होने लगी। द्वितीय चार्ल्सके राजत्वकाल तक भी इङ्गलैण्डमें अरगान नहीं बनाया गया था। इस समय पूरिटन ईसाइयोंके प्रादुर्भावसे गिरजाघरमें सङ्गीत-माधुर्य्यादि विलुप्त हुए। किन्तु उसके बाद हीसे इङ्गलैण्डमें फिर अरगानका व्यवहार होने लगा। इस समयसे अङ्गरेज शिल्पियोंने अरगानका बनाना आरम्भ किया। अभी अङ्गरेजोंके बनाये हुए अरगानका बहुत आदर है। यूरोपके निम्नलिखित स्थानोंमें बड़े बड़े अरगान देखनेमें आते हैं। हायरलेनका अरगान १०३ फुट ऊंचा और ५० फुट चौड़ा है। इसमें ८००० पाइप लगे हैं। १७३८ ई०में मूलरने इस अरगानको बनाया था। रटारडममें भी प्रायः उसी तरहका एक अरगान है। सेभेली नगरके यन्त्रमें ५३०० पाइप हैं। इङ्गलैण्डके बरमिंघम टाउनहालमें, क्रिष्टल प्रासादमें, रायल अलबर्टहालमें तथा अलेकजण्ड्रा प्रासादमें आदर्शनीय बड़े बड़े अरगान हैं।

पैण्डियन-पाइप—यह प्राचीन वाद्ययंत्र है। यूरोपीय पैन नामक देवताने इसका आविष्कार किया, इस कारण यह यंत्र उन्होंके नाम पर पुकारा जाता है।

पियानो-फर्टि—'पियानो' शब्दका अर्थ कोमल और 'फर्टि' का अर्थ उच्च है अर्थात् जिस यन्त्रसे कोमल और उच्च दोनों प्रकारके स्वर निकलते हैं उसका नाम पियानो-फर्टि है। १५वीं सदीके पहले भी इस प्रकारका यन्त्र प्रचलित था, इसके बहुतसे प्रमाण भी मिलते हैं। डानलिमर, क्लेवाइकर्ड, वारजिनल आदि यन्त्र इसी जातिके हैं। एलिजावेथके समय वारजिन्यास यन्त्र प्रचलित हुआ। इसके बाद हार्पसिकर्डका नाम भी हयाण्डेल, हेडन, मोजार्ट और स्कारनोटीके ग्रन्थमें मिलता है।

इस प्रकार यह यन्त्र धीरे धीरे परिवर्त्तन हो कर उन्नत आकारमें बनाया जाता था। सन् १७१६ ई०में प्रकृत पियानोफर्टि आविष्कृत हुआ। पेरिस नगरके मारियस नामक एक वाद्ययंत्र-निर्माणकारीने सबसे पहले एक यन्त्र निर्माण किया। यही पियानोकी प्रथम उन्नति है।

इसके बाद फ्लोरेन्सनिवासी क्रिष्टोफली द्वारा इस यंत्रकी बहुत उन्नति हुई थी। इसी समयसे यह यंत्र पियानोफर्टि कहलाने लगा। १७६० ई०में लण्डन शहरके जुम्पी नामक एक व्यक्तिने तथा जर्मनोके सिलवरमैन नामक एक दूसरे व्यक्तिने पियानो-फर्टि बना कर उसका व्यवसाय करना आरम्भ कर दिया। फ्रान्स देशमें सिवाष्टियन एवार्ड इस यंत्रकी बड़ी उन्नति कर गये हैं। यह सन् १८०६ ई०की बात है। उनके भतीजे पियारी एवार्डने १८२१ ई०से लगायत १८२७ ई० तक पियानो यंत्रकी बड़ी उन्नति की है। मि० हैनकाक दण्डायमान पियानोके निर्माता हैं। इसके बाद साउथवेलने इस प्रकारके यंत्रकी उन्नति की। ये ही कैबिनेट पियानोके आविष्कर्त्ता हैं। अभी सारे यूरोपमें, इङ्गलैण्ड और वायेनाकी प्रणालीके अनुसार बनाये गये, दो प्रकारके पियानो प्रचलित देखे जाते हैं। किंतु फ्रान्सके सिवाष्टियनकी निर्माणप्रणाली अभी सबोंको पसन्द आई है। पियानो-फर्टि यूरोपीय समाजमें अभी बहुत प्रचलित है। प्रायः सभी धनियोंके घरमें यह यंत्र देखा जाता है।

सरपेण्ट—नलाकार प्राचीन वाद्ययंत्रविशेष।

टैम्बुरिन—यह खञ्जनीकी तरह एक प्रकारका प्राचीन वाद्ययंत्र है। इसका विवरण पहले लिखा जा चुका है।

वायेलिन—बेहला। किस समय बेहलेकी सृष्टि हुई, उसका पता लगाना कठिन है। कुछ मनुष्य कहते हैं, कि यह आधुनिक वाद्ययंत्र है। फिर किसीका कहना है कि प्राचीन कालमें भी बेहला प्रचलित था। बेहलेकी उन्नति करनेके लिये यूरोपमें यथेष्ट चेष्टा हुई है, किंतु कोई भी कृतकार्य न हो सका। क्रिमोनर अमाती और ष्ट्रेडियो अरियस इन दो वाद्ययंत्रोंके निर्माताने बेहलेकी बनावटकी जैसी उन्नति की है वैसी उन्नति पीछे और किसीने भी नहीं की।

वाओलिन-सेलो—यह भी बेहले जैसा एक यन्त्र है। आकार और तारविन्यासमें बहुत कम अन्तर है।

उक्त भारतीय और यूरोपीय यंत्रोंको छोड़ कर पृथिवीके अन्यान्य देशोंमें और भी अनेक प्रकारके वाद्ययंत्र प्रचलित देखे जाते हैं। भिसड्राम, सलेफन, टैमड्राल, ट्राम्पेट (तुरही) और जिदर आदि और भी अनेक प्रकारके यूरोपीय वाद्ययंत्र हैं। विषय बढ़ जानेके भयसे उन सबका उल्लेख यहां नहीं किया गया।

इस देशमें जलतरङ्गकी तरह एक बाजेका प्रादुर्भाव हुआ है। १ इञ्चकी चौड़ाईमें लम्बे लम्बे कई कांचके टुकड़े सूतमें पिरो कर एक छोटे बक्समें रखे जाते हैं। उन कांचके एक एक टुकड़े पर एक लकड़ीकी नोकसे आघात करनेसे ऊंचा और नीचा स्वर निकलता है। इसका स्वर जलतरङ्ग बाजेकी तरह कोमल और सुमिष्ट है। कभी कभी कांचके बदले स्वरानुमत धातव पात व्यवहृत होता दिखाई देता है।

ऐसे बक्समें विभिन्न स्वरोंका तार गांथ कर कानून नामका एक बाजा तय्यार किया जाता है। इसका 'वादनकौशल' या बजानेकी चतुरता प्रशंसार्ह और इसकी स्वरलहरी हृदयद्रावी है।

भारतीय वाद्ययन्त्रचित्र।

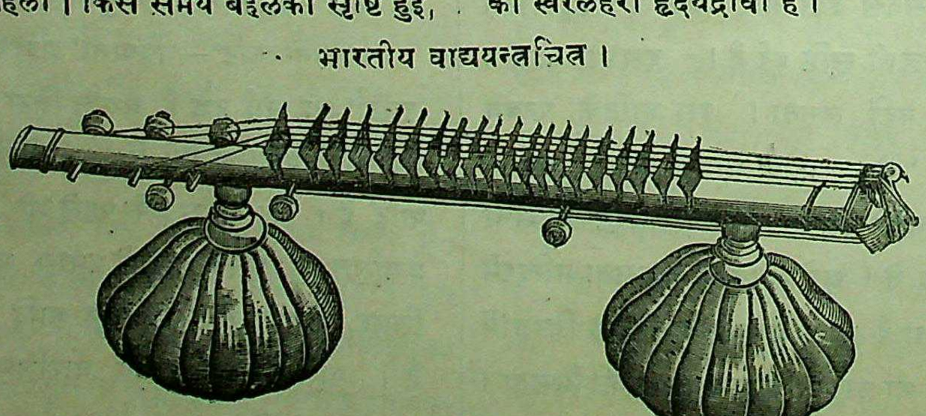

वीणा

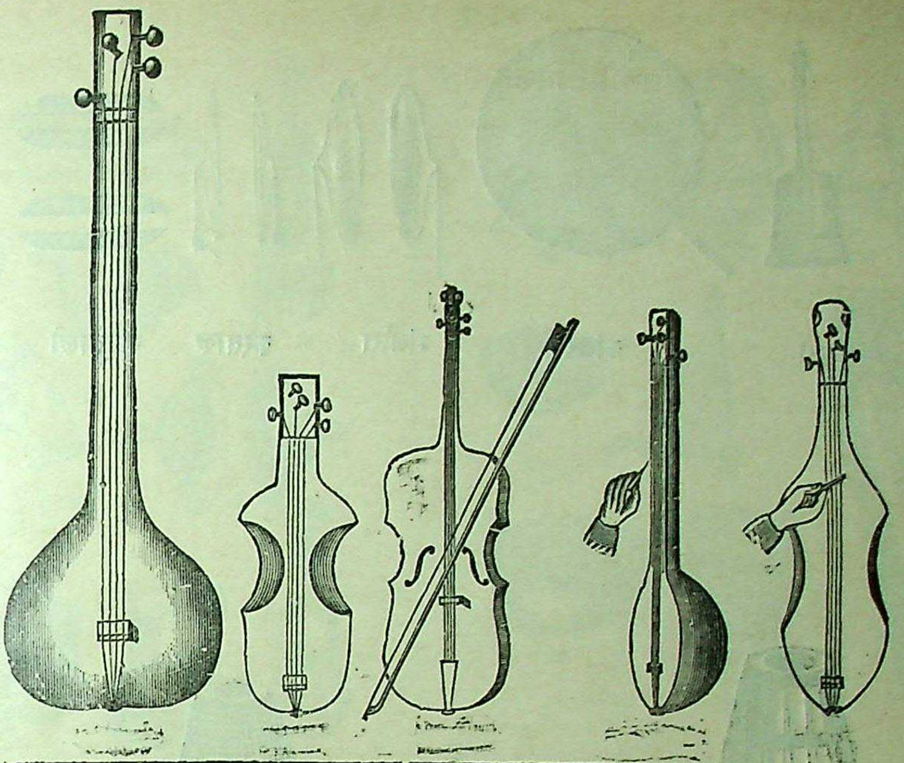

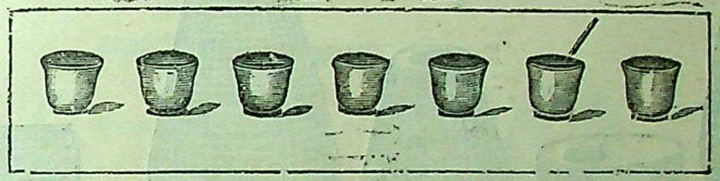
सप्तस्वरा

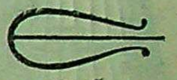
मुचङ्ग

ऊपरके बायें से १ तम्बूरा, २ सारङ्गी, ३ वेहला, ४ सुरसारङ्ग, ५ सरद

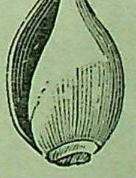
शङ्ख

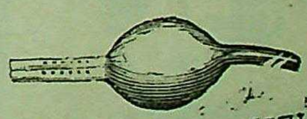
तुबड़ा

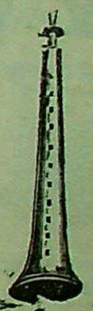
शहनाई

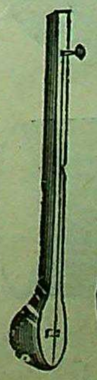
एकतारा

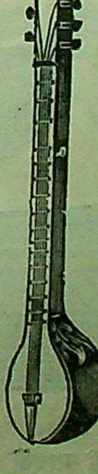
सितार

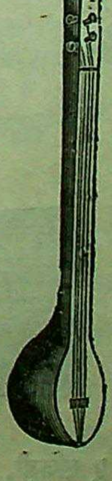
रबाब

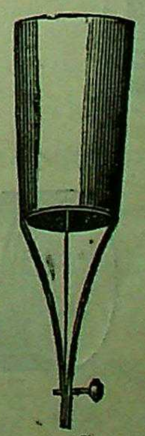
गोपीयंत्र

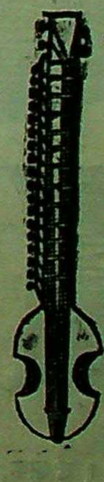
एसराज

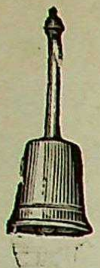
घण्टा

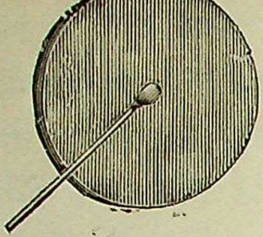
कांसर

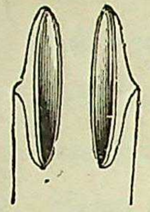
मंजीरा

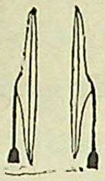
करताल

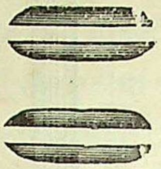
खट्ताली

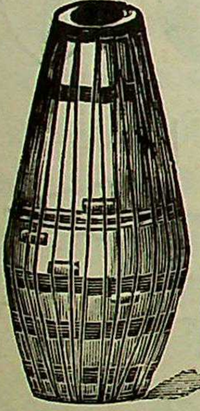
मृदङ्ग

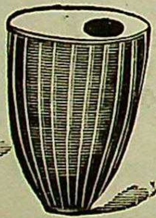
बाया

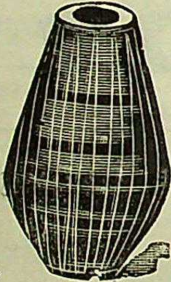
तबला

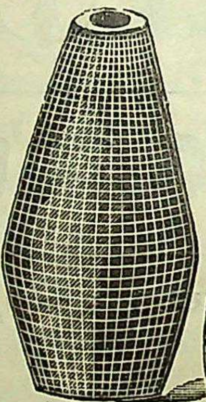
खोल

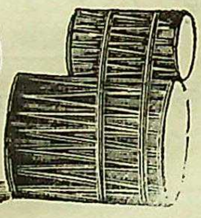
जोडखाई

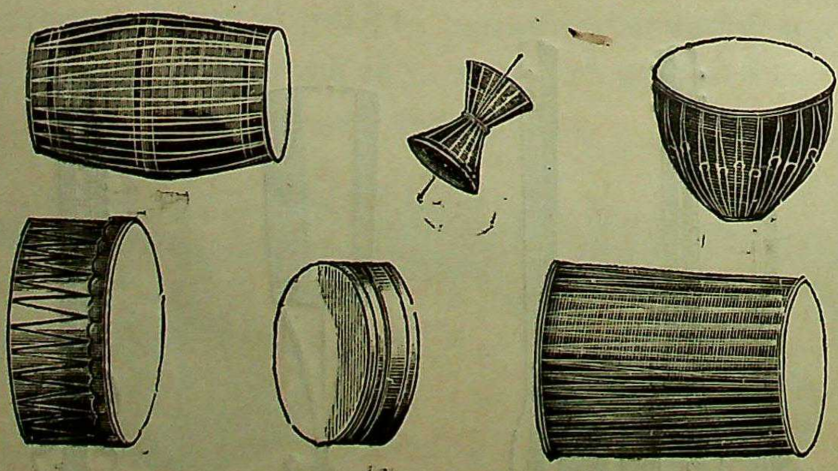
ऊपरसे १ ढोलक, २ डमरू, ३ नक्कारा, ४ जगझम्प, ५ खंजड़ी, ६ मादल।

यूरोपीय वाद्ययन्त्र

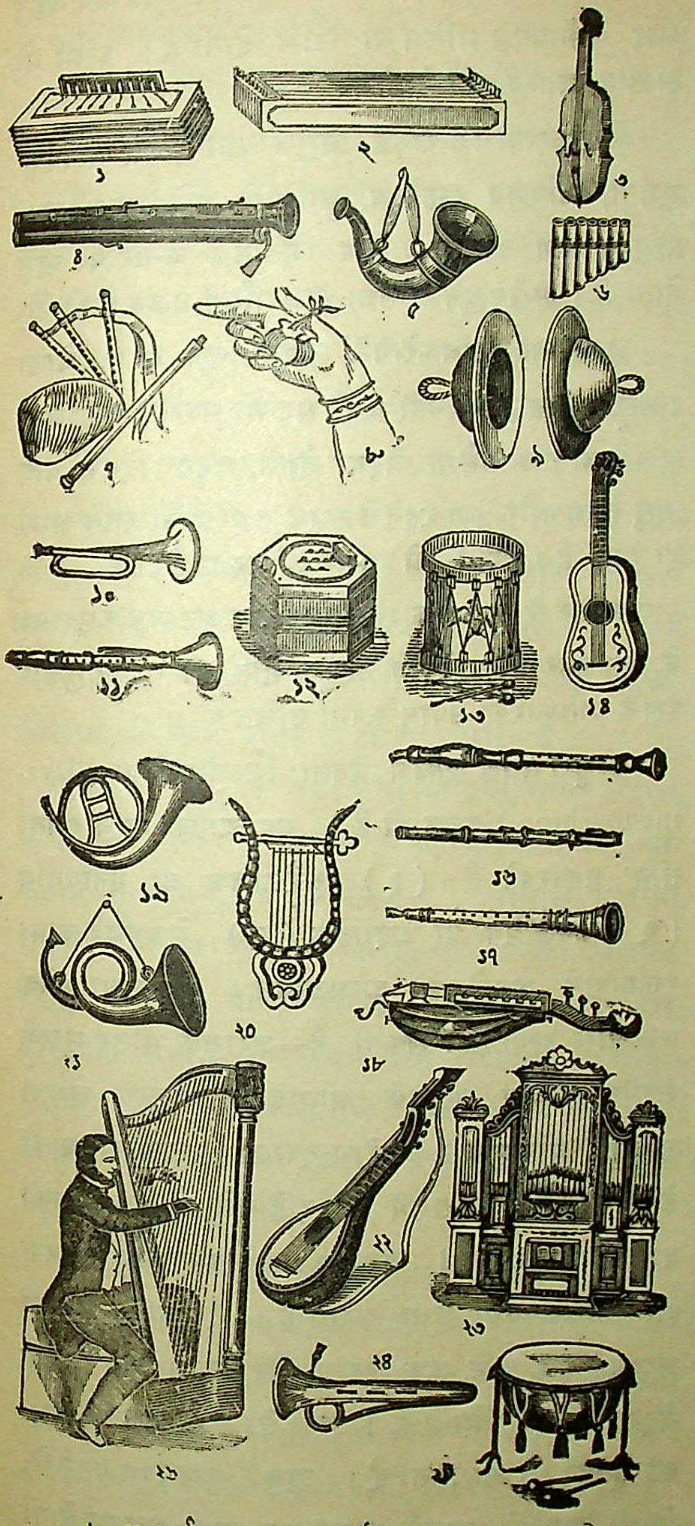

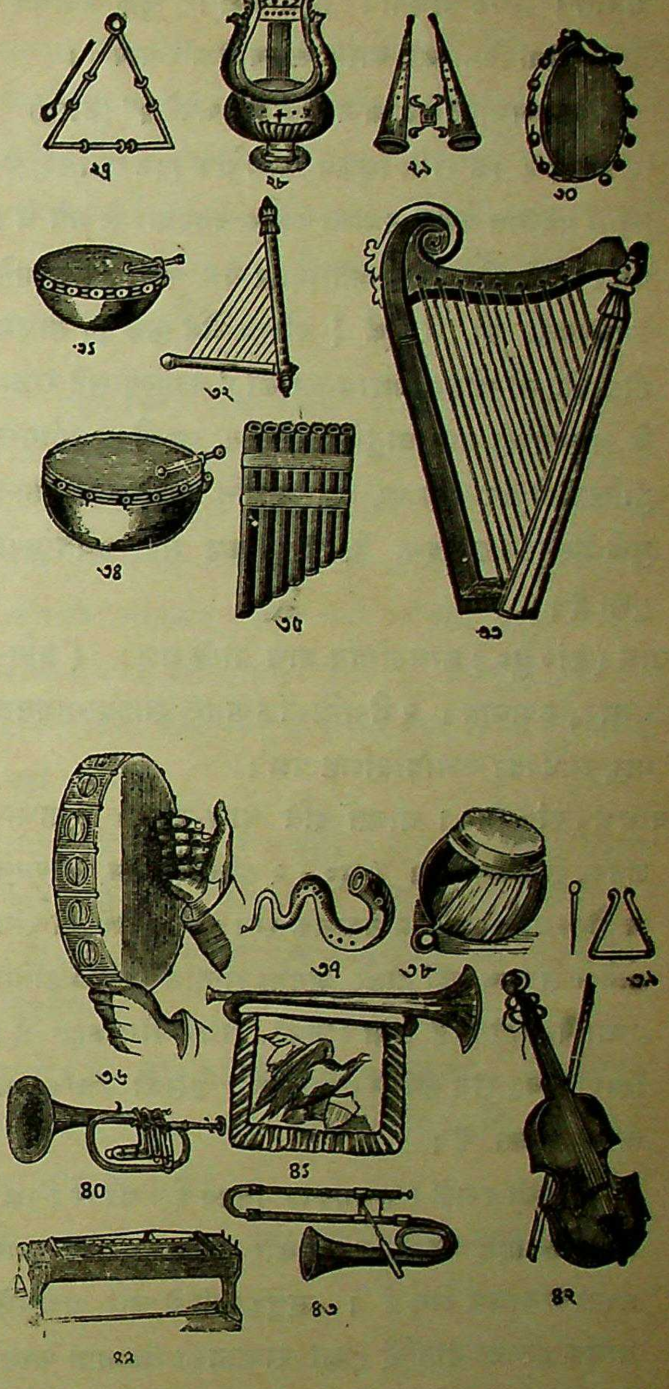

१ एकर्डियान। २ यूलियनहार्प। ३ टेनर, यह डबल भायलका है। ४ बासुन। ५ हाण्ट समेत बिगल। ६ पाण्डियन पाइप। ७ बैगपाइप। ८ काष्टानेटस। ९ एनासियेण्ट सिम्बल। १० क्लारियून। ११ क्लारिओनेट। १२ कनसार्टिना। १३ ड्राम। १४ गिटार। १५ फ्लाजिओलेट। १६ फ्लूट। १७ हटवय और ओवो। १८ हार्डीगार्डी। १९ फ्रेञ्च-हर्न। २० लायर। २१ हाण्टों हर्न। २२ ल्यूट। २३ अर्गान। २४ ओफाक्लीडा। २५ केटलड्राम। २६ हार्प।

२७ दूसरी तरहका ट्रयङ्गल। २८ लायर। २९ हर्न वाद्य विशेष। ३० जगझम्प नामक आकारका वाद्य। ३१ गङ्ग नामक आनद्ध यंत्र। ३२ एक प्रकारका हार्प। ३३ कानूनको तरह यन्त्र। ३४ वृहदाकार गङ्ग। ३५ पैण्डियन बड़ा पाइप। ३६ टैम्बुरिन। ३७ सारपेण्ट। ३८ टेमटेम। ३९ ट्रयङ्गल और रड्। ४० कर्नेट ए-पिष्टन। ४१ ट्राम्पेट। ४२ भाओलिन्। ४३ ट्रम्बन। ४४ सोनोमिटर। यह दूसरी तरहका जिथर है।

वाध—विहति, वाधा । भ्वादि० आत्मने० सक० सेट् । लट् वाधते । लोट वाधतां । लिट् बाधे । लुङ् अवाधिष्ट ।

"त्वयां विश्राम्यतां जाल्म स्कन्धस्ते यदि वाधति ।
न तथा वाधते स्कन्धा यथा वाधति वाधते ॥" (उद्भट)

प्रवाद है, कि राजा विक्रमादित्य एक दिन कालिदासको न पहचान कर पालकीका कहार बना कर ले गये थे । पालकी ढोते ढोते जब कालिदास थक गये, तब राजाने उनसे कहा था, 'रे मूर्ख ! यदि कंधेमें कुछ दर्द मालूम होता हो, तो थोड़ा विश्राम कर लो ।' कालिदासने राजाके आत्मनेपदी वाध धातुके असंस्कृत परस्मैपद प्रयोगसे दुःखित हो कर कहा था, कि 'वाधति' इस शब्द-प्रयोगने मुझे जैसा कष्ट दिया है, वैसा कष्ट मेरे कंधेमें नहीं हुआ है ।

वाध (सं० पु०) वाधनमिति वाध भावे घञ् । १ प्रतिबन्धक, व्याघात । २ नैयायिकोंके मतसे साध्याभाववत् पक्ष, साध्यका अभावविशिष्ट पक्ष ।

वाधक (सं० त्रि०) वाधते इति वाध ण्वुल् । १ वाधाजनक, रोकनेवाला । (पु०) २ स्त्रीरोगविशेष, सन्तान न होना वा उसका प्रतिबन्धक रोग । स्त्रियोंके जो रोग होनेसे सन्तान नहीं होती अर्थात् सन्तान उत्पन्न होनेमें वाधा पैदा होती है उसी रोगको वाधक रोग कहते हैं । स्त्रियोंके यह रोग होनेसे यथाविधान उसकी चिकित्सा करना उचित है ।

वैद्यकमें इसके लक्षणादिका विषय इस प्रकार लिखा है—रक्तमाद्री, षष्ठी, अंकुर और जलकुमार—ये चार प्रकारके वाधक रोग हैं । ऋतुकालमें ये चार प्रकारके वाधक उत्पन्न होते हैं । जो सन्तानकी कामना करते हैं, वे यदि गुरुके उपदेशानुसार इन सब वाधकोंकी पूजा, निःसारण, स्थापन, बलिदान और जपादिका अनुष्ठान करें, तो उनके सन्तान-प्रतिबन्धक विनष्ट होंगे ।

रक्तमाद्रीके दोषमें वाधक रोग होनेसे कमर, पेड़ू, बगल और स्तनमें वेदना होती है तथा ऋतु ठीक समय पर नहीं होता ; कभी एक मासमें, कभी दो मासमें होता है । किन्तु इस ऋतुमें गर्भ नहीं होता ।

षष्ठीवाधक रोगमें ऋतुके समय आंख, हाथ और योनिमें बहुत जलन होती तथा जो रक्तस्राव होता है उसमें राल मिली रहती है ; महीनेके भीतर दो बार ऋतु और योनिप्रदेश मलिन वा लाल होता है । इसमें भी सन्तान उत्पन्न नहीं होती ।

अङ्कुर-वाधक रोगमें ऋतुके समय उद्वेग, देहकी गुरुता, अतिशय रक्तस्राव, नाभिके अधोभागमें शूल, ऋतुका नाश वा तीन चार महीनेके अन्तर पर ऋतु होता है । शरीर दुबला तथा हाथ पाँवमें जलन होती है ।

जलकुमार वाधकरोगमें शरीर सूख जाता, थोड़ा रक्तस्राव होता, गर्भ नहीं रहने पर भी गर्भकी तरह अनुभव होता तथा हमेशा वेदना होती, बहुत दिनके बाद ऋतु होता और कृश रहनेसे स्थूल तथा दोनों स्तन भारी हो जाते हैं । इसमें भी गर्भ नहीं रहता है ।

स्त्रियोंके ये चार प्रकारके वाधकरोग अत्यन्त कष्टदायक हैं, इस कारण इस रोगके उत्पन्न होते ही शास्त्रानुसार इसके प्रतिकारका उपाय करना उचित है ।

डाक्टरी मतसे वाधक वेदना डिस्मेनोरिया (Dysmenorrhœa) कहलाती है । यह व्याधि साधारणतः तीन प्रकारकी है—(१) न्युरैलजिक वा स्नायवीय (२) कनजेष्टिव वा प्रदाहिक, (३) मेकानिकेल वा रक्तस्रोतके अवरोधका बाधाजनित । यह बाधा अनेक कारणोंसे उत्पन्न हो सकती है—जरायुके भीतर मुखके सङ्कोच अथवा जरायुके ग्रीवादेशके सङ्कोच अथवा जरायुके वाह्यमुखके अवरोधनिबन्धन रक्तस्रोतमें बाधा हो सकती है । जरायुमें अर्बुद होनेसे भी रक्तस्रावकी बाधा हो सकती है । जरायुकी स्थानभ्रष्टताके कारण भी वाधक-व्यथा हुआ करती है । इसका साधारण लक्षण—पृष्ठ, कटि, ऊरु, जरायु और डिम्बाधारमें असह्य वेदना उपस्थित होती है । इस वेदनामें किसी किसीको मूर्च्छा भी आ जाती है । ऋतुके कुछ दिन पहलेसे, किसी किसीको ऋतुके समय यह व्यथा आरम्भ होती है । आर्त्तवस्राव बहुत थोड़ा होता, उसमें फेनयुक्त रक्त मिला रहता है । अधिकांश स्थलमें ही बड़े कष्टसे काला जमा हुआ रक्त खण्डाकारमें बाहर निकलता है । विवमिषा, कोष्ठरोध, उदर, ध्मान और शिरःपीड़ा आदि भी इस लक्षणके अन्तर्गत हैं ।

अमेरिकन चिकित्सक इस व्यथाको दूर करनेके लिये निम्नलिखित औषधोंका व्यवहार करते हैं—

एसक्लेपिया ट्युवारोसी ४ ड्राम, प्रुनाई भार्जा ४ ड्राम, गरम जल १ पाइंट।

जब तक पसीना न निकले तब तक प्रत्येक आध घंटे के बाद यह औषध एक ड्रामकी मात्रासे देना चाहिये।

पेटमें, पीठमें और तलवेमें गरम जलका स्वेद देना बहुत जरूरी है। इससे व्यथा दूर होती है। जिन सब औषधोंके नाम ऊपर लिखे गये हैं उनसे सभी प्रकारकी वाधक व्यथा दूर होती है। किन्तु दैहिक स्वास्थ्यकी उन्नतिके लिये दूसरे दूसरे औषधोंका व्यवहार प्रयोजनीय है। इनके सिवा कुनाइन, खनिज-एसिड, फास्फारिक-एसिड, मैनिसिन कलम्बा, हाइपो फास्फाइट आव सोडा और साग्रूक, काडलोवर आयल आदि व्यवहार करनेका विधान है। एलोपैथिक चिकित्सक इस रोगके अवस्थाभेदमें अन्यान्य औषधोंके साथ प्रायः निम्नलिखित औषधोंका व्यवहार किया करते हैं—

एक्टिया, इथर, स्पिरिट, काम-ओपियो, एमन नाइट्रास, एनिमोनिन, एपियन, ब्युटिल क्लोरल, कानाविस और कानाविन टानम, कार्बन टेट्राक्लर, सिमिसिफिउजिन, गासिपिरैभिक्स, पटाश ब्रोमाइड, पालसेटिला, सारपेनटरी, भेलिरियन, एष्टिपाइरिन, सैलिक्स नाइग्रो, हाइड्रासटिस, सेवाई सैनिसिनस् तथा वाइवार्नम प्रुनिफोलियम्। इन सब औषधोंमेंसे प्रत्येक औषध यथायोग्य मात्रामें जलके साथ वा अन्यान्य औषधोंके साथ वाधकवेदनामें व्यवहृत होता है।

होमियोपैथिकके मतसे वेलेडोना, कालकेरिया कार्ब, कामसिला, सिमसिफिगा, कोनायम, नाक्सभमिका, पालसेटिला, सिपिया, सलफर पाडफाइलम, वोरक्स और सेनसिविनम आदि औषध लक्षणके अनुसार आध घंटे या एक घंटेके अन्तर पर व्यवहृत होती हैं।

मस्तिष्कके उपद्रवप्राधान्यमें—बेलेडोना, गण्डमाला धातुमें, प्रसववत् वेदनामें और स्तनके फुले रहने पर—कालकेरिया कार्ब, जमे हुए रक्तस्रावमें तथा बोलनेमें असमर्थ होने पर—कामभिला, हिस्टिरियाकी तरह आक्षेप होते रहने पर—सिमसिफिलगा; स्तनके फुलने और शिर चकराने पर—कोनायम ; उदरव्यथा, पीठ और कमरसे हड्डी खिसकनेकी तरह वेदना होने पर—नाक्सभमिका ; अत्यन्त व्यथामें रोगिणीके स्थिर नहीं रह सकने तथा अत्यन्त असह्य होने पर—पालसेटिला, पेटमें दर्द मालूम होने पर--सिपियाका व्यवहार किया जाता है। जेलसिमिनम द्वारा व्यथा बहुत जल्द नष्ट होती है। होमियोपैथिक चिकित्साग्रन्थका लक्षण देख कर उपयुक्त औषध निर्णय करके औषध देना उचित है। इस पीड़ामें गरम जलको सेंक देने और गरम जल पिलानेसे बहुत उपकार होता है।

बहुत दिनसे इस देशमें वाधकरोगमें उलटकम्बल (Abroma augustum, N. 0, Sterculiacae) नामक वृक्षकी छाल २० ग्रेन, गोलमिर्चका चूर्ण २० ग्रेन प्रति दिन सेवनार्थ व्यवहृत होने लगा है। दो मास इस औषधका व्यवहार करनेसे रोग आरोग्य होता है तथा बाँझ रोग भी इससे जाता रहता है। जरायुमें अर्बुदादि होनेसे बिना अस्त्रोपचारके इसकी ठीक ठीक चिकित्सा नहीं होती।

वाधन (सं० क्ली०) वाध-ल्युट् १ पीड़ा, कष्ट। २ प्रतिबन्धक, वह जो रोकता हो। वाधते इति वधि ल्युट्। (त्रि०) ३ पीड़ादाता, कष्ट देनेवाला। ४ प्रतिबन्धक; रोकनेवाला।

वाधव (सं० क्ली०) वध्व्याः भावः कर्म वा (प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्। पा ५।१।१२९) इति अञ्। वधूका भाव या धर्म।

वाधवक (सं० क्ली०) वधू संज्ञायां वुञ्। वधूसम्बन्धीय।
(पा ४।३।११८)

वाधा (सं० स्त्री०) वाध-टाप्। १ पीड़ा, कष्ट। २ निषेध, मनाही।

वाधात्रत (सं० पु०) वातावतका प्रामादिक पाठ।

वाधुक्य (सं० क्ली०) विवाह।

वाधुल (सं० पु०) गोत्रप्रवर्त्तक ऋषिभेद।
(संस्कारकौमुदी)

वाधू (सं० पु०) १ वहित, नावका डाँड़। २ नौका, नाव।

वाधून (सं० पु०) आचार्यभेद।

वाधूय (सं० त्रि०) वधूवस्त्र। (ऋक् १०,८५।३४)

वाधूल (सं० पु०) ऋषिभेद, एक गोत्रकार ऋषिका नाम।

वाधूलेय (सं० पु०) वाधूलके गोत्रापत्य।

वाधौल (सं० पु०) वाधूलके गोत्रापत्य।

(आश्व० श्रौ० १२।१०।१०)

वाध्रीणस (सं० पु०) वाध्रीनस गैंडा नामक जन्तु।

वाध्र्यश्व (सं० पु०) वध्र्यश्वकुलमें उत्पन्न अग्नि।

(ऋक् १०।६९।५)

वान (सं० क्ली०) वा ल्युट्। १ स्यूति कर्म, सीनेका काम। २ कट, चटाई। गति, चाल। ४ जलसंप्लुत वातोर्मि, पानीमें लगनेवाला वायुका झोंका। ५ सुरङ्ग। ६ सौरभ, सुगंध। ७ गोदुग्धजात नवक्षीर, गायके दूधसे बनाया हुआ नोखुर। (राजनि०) वै शोषणे क्तः, 'ओदितश्चेति नत्वं।' ८ सूखा फल। ९ वाना (त्रि०) १० शुष्क, सूखा। वनस्येदमिति वन-अण। ११ वनसम्बन्धी।

वानकौशाम्बेय (सं० त्रि०) वनकौशाम्बी (नदादिभ्यो ढक्। पा ४।२।९७) इति ढक्। वनकौशाम्बी सम्बन्धी।

वानदण्ड (सं० पु०) वस्त्रवयनयन्त्र, ताँत वह लकड़ी जिसमें बाना लपेट कर बुना जाता है।

वानप्रस्थ (सं० पु०) वनप्रस्थे जातः अण्। १ मधूक वृक्ष, महुएका पेड़। २ पलास वृक्ष। (वैद्यकरत्नमाला)

३ आश्रमभेद—यह मानव जीवनका तीसरा आश्रम है। मानव जीवनके ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास ये ही चार आश्रम हैं। पहले ब्रह्मचर्य्य, पीछे गार्हस्थ्य इसके बाद वानप्रस्थ आश्रम धारण करना चाहिये। जो नियमानुसार ब्रह्मचर्य्य तथा गार्हस्थ्य आश्रमका आश्रय न ले सकें हों, उनको वानप्रस्थ आश्रमका आश्रय न लेना चाहिये।

जो पुत्र उत्पन्न करनेके बाद वनमें जा कठोर फलोंका आहार कर ईश्वरकी आराधना करता है, वही वानप्रस्थ-आश्रमी कहा जाता है।

वानप्रस्थ-आश्रमीके धर्मके सम्बन्धमें गरुड़पुराणके ४९वें अध्यायमें लिखा है—भूशयन, फल-मूलाहार, स्वाध्याय, तपस्या और न्याययुक्त सम्विभाग ये कई वनवासियोंके धर्म हैं। जो वनमें रह कर तपस्या करते हैं, वे देव [illegible] यजन, होम करते हैं और जो नियत ही स्वाध्याय [illegible] वे ही [illegible] तपस्वी हैं। जो तपस्यासे अपने शरीरको अत्यन्त कृश बना कर सदा ध्यानधारणामें तत्पर रहते हैं, वे ही संन्यासी वानप्रस्थाश्रमी नामसे विख्यात हैं।

आश्रम-धर्मके सम्बन्धमें गरुड़पुराणके १०२ और २१५वें अध्यायमें, वामनपुराणके १४वें अध्यायमें और कूर्मपुराणमें थोड़ा बहुत उल्लेख दिखाई देता है। विषय बढ़ जानेके कारण हम यहां इन सबको उद्धृत करनेमें असमर्थ हैं।

इस समय इस तीसरे आश्रम-वानप्रस्थके सम्बन्धमें भगवान् मनुने क्या कहा है, उसे उद्धृत कर देते हैं—स्नातक द्विज विधिके अनुसार गृहस्थधर्मका पालन कर चुकने पर जितेन्द्रिय भावसे तपस्या और स्वाध्याय आदि नियमोंका पालन करते हुए शास्त्रानुसार वानप्रस्थ धर्मका अनुष्ठान करें। जब गृहस्थका चमड़ा ढीला तथा शिथिल हो जाता है, बाल पक जाते हैं, पुत्रके भी पुत्र हो जाते हैं तब उनके लिये अरण्यका ही आश्रय लेना उपयुक्त है। वे चावल, यव आदि सभी ग्राम्य आहार, गो, अश्व, शय्यादि सभी परिच्छद त्याग कर पत्नीकी रक्षाका भार पुत्र पर सपूर्द कर या उसे अपने साथ ले कर हो बन चले जांय। श्रौत अग्नि, गृह्य अग्नि और अग्निका परिच्छद-स्रुक् स्रुवादि उपकरणोंको ले कर वे ग्रामसे वनमें जा कर रहें। वे पीछे नीवार या तिन्नीके चावल तथा अरण्यमें पैदा होनेवाले शाक, मूल, फलसे वहां विधिपूर्वक पञ्च महायज्ञका अनुष्ठान करें। वनवासके समय मृगादि चर्म या तृणवल्कलको पहन कर सायं प्रातः स्नान और सदा जटा रखायें, दाढ़ी, मूंछ, नख, केशादि बढ़ाये रहें। वे अपने भोजनकी सामग्रीसे पञ्चमहायज्ञके अंतर्गत बलि दें, यथासाध्य भिक्षुओंको भीख दे और आश्रममें आये अभ्यागत या अतिथियोंको भी उसी जल फल मूल आदिसे सन्तुष्ट करें।

वानप्रस्थ-आश्रमीको सदा वेदाध्ययनमें तत्पर रहना चाहिये। शीतातप आदिका सहें और परोपकारी, संयतचित्त, सदा दानी, प्रतिग्रहनिरत और सब जीवोंमें दया रखें। गार्हपत्य कुण्डस्थित अग्निके आहवनीय कुण्डमें और दक्षिणाग्नि कुण्डमें अवस्थानका नाम वितान है। इसमें जो होम या अग्निहोत्र होता है, वैतानिक अग्निहोत्र

होम कहलाता है। वानप्रस्थ-आश्रमी यह वैतानिक अग्निहोत्र या होम करें और उस पर्वके अवसर पर दर्शपौर्णमास याग भी करें। नक्षत्रयाग नवशस्येष्टि, चातुर्मास्य, उत्तरायण और दक्षिणायन याग भी विधिपूर्वक समाधान करें। सिवा इनके वे वसन्त और शरत्कालीन मुनिजनसेवित पवित्र शस्यान्न स्वयं चुन कर ले आवें और उससे पुरोडाश और चरु तय्यार करें। इसी पुरोडाश और चरु द्वारा विधिपूर्वक अलग अलग यागक्रिया सम्पादन करें। इस पवित्र वनजात हविसे देवताओंका होम करें और जो हवि बाकी बचे, उसीको वानप्रस्थाश्रमी भोजन करें और उनको यदि नमक खानेकी इच्छा हो, तो वे स्वयं नमक तय्यार कर खा सकते हैं। सिवा इसके जल और स्थलके शाक, पवित्र पादपजात पुष्प, मूल और फल और इन फलोंसे उत्पन्न स्नेह भी भोजन कर सकते हैं।

इस आश्रमवाले व्यक्तिको निम्नलिखित वस्तुओंका भक्षण निषेध है—मधु, मांस, भूमिजात छत्रक (कुकुर-मुत्ता) भूस्तृण (मालवामें पैदा होनेवाला एक तरहका शाक), शिग्रूक (वाहिलक प्रदेशका प्रसिद्ध शाक) और श्लेष्मातक फल। यदि मुनिजनयोग्य अन्न अथवा शाक, मूल या फल या जीर्ण वस्त्र आदि पहलेसे सञ्चित हो, तो इन सब वस्तुओंको वे प्रति आश्विन महीनेमें छोड़ दें। यदि कोई जोती हुई भूमिका अन्न दे, तो वे उसे कदापि भक्षण न करें अथवा क्षुधासे अधिक पीड़ित होने पर भी कभी भी ग्रामीण शाकफलमूलादिका आहार न करें। वानप्रस्थ व्यक्ति अग्निपक्व वन्य अन्न खायें अथवा कालपक्व फलादि भोजन करें या पत्थरसे चूर्ण कर कच्चा ही भोजन करे अथवा अपने दांतोंसे ही ओखल मूसलका काम निकालें अर्थात् कच्चे ही चबा जायें। केवल एक बार भोजन करने लायक फलाहारी चावल आदिका सञ्चय करें या महीनेके लायक या छः महीने या एक वर्ष तक भोजन करने लायक वे एक समय शस्यादि सञ्चय कर सकते हैं। शक्तिके अनुसार अन्न बटोर कर शामको या दिनको भोजन करें अथवा चतुर्थकालिक भोजन अर्थात् एक दिन उपवास कर दूसरे दिन रातको भोजन अथवा अष्टमकालिक अर्थात् तीन दिन उपवास कर चौथे दिन रातको भोजन करें। अथवा वे चान्द्रायण व्रतानुसार शुक्लपक्षमें तिथियोंके संख्यानुपातसे एक एक ग्रास कम और कृष्णपक्षमें एक एक ग्रास बढ़ा कर भोजन कर सकेंगे अथवा पक्षके अन्तमें अमावास्या और पूर्णिमाके दिन सिद्ध यवागू भोजन करें या वानप्रस्थधर्मविधिक प्रतिपालनके अन्तमें केवल पुष्प, मूल और फल द्वारा अथवा स्वयंपतित कालपक्व फल द्वारा जीविका-निर्वाह करें। भूमि पर इधर उधर डोलें अथवा एक जगह एक पैरसे खड़ा रहें या कभी आसन लगा कर बैठें या कभी आसनसे उठ कर इधर उधर घूम फिर कर दिन बितायें। वानप्रस्थाश्रमी प्रात, मध्याह्न और सायंकाल—तीन समय स्नान करें। ग्रीष्मकालमें चारों ओर अग्नि जला कर तथा ऊपरका सूर्यउत्ताप—इन पांच उत्तापोंका सहन करते हुए दिन बितायें। वर्षाकालमें जहां वृष्टिकी धारा पड़ती हो, वहीं खड़े हो कर और जाड़ेमें भीगा वस्त्र पहन कर रहें। इसी तरह तपस्यामें उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहें। त्रैकालिक स्नानके बाद पितृलोक और देवलोकका तर्पण और उग्रतर तपस्या कर देहको सुखायें। वैखानस शास्त्रविधिसे सब श्रौताग्निको आत्मामें आरोप कर अग्निशून्य और गृहशून्य हो कर मौनव्रत धारणके बाद फल मूल भोजन कर समय अतिवाहित करें। वे किसी सुखकर विषयमें चित्त न लगायें और न स्त्रीसम्भोगादि ही कार्य्य करे। भूमिशय्या पर शयन करें, वासस्थानममताशून्य बनें और वृक्षकी छायामें रहें, फल मूल जब न मिले, तब वनवासी गृहस्थ द्विजातियोंसे प्राण रक्षाके लिये भीख मांग कर खायें। इस भिक्षाके अभावमें भी ग्रामसे पत्रपुटमें, मिट्टीके बरतनमें या हाथमें भिक्षा ले वनमें बास कर केवल आठ ग्रास भोजन करें।

ब्राह्मण वानप्रस्थाश्रमी इन सब तथा अन्यान्य नियमोंके प्रतिपालनके बाद आत्मसाधनाके लिये उपनिषदादि विविध श्रुतियोंका अभ्यास करें। ब्रह्मदर्शी ऋषिगण, परिव्राजक ब्राह्मणगण और तो क्या गृहस्थ, आत्मज्ञान तथा तपस्यावृद्धि और शरीरशुद्धिके लिये उपनिषदादि श्रुतिकी ही सेवा किया करते हैं। ऐसा करते

करते यदि किसी अप्रतिविधेय रोगसे आक्रान्त हों, तो उन्हें देह न गिरने तक जलवायु भक्षण कर योगनिष्ठ हो ईशाणकोणके सरल पथसे जाना चाहिये। महर्षियोंके अनुष्ठेय नदीप्रवेश, भृगुप्रपतन, अग्निप्रवेशन या पूर्वकथित उपायोंसे शोकहीन और भयहीन विप्र कलेवरको परित्याग कर ब्रह्मलोकमें पूजित होते हैं। वे मृत्यु न होने पर इसी तरह वानप्रस्थाश्रममें जीवनके तीसरे भागको बिता कर चतुर्थाश्रममें सर्वसङ्ग परित्याग कर संन्यासाश्रमका अनुष्ठान करें। चतुथ आश्रमका विवरण संन्यासाश्रम शब्दमें देखो। (मनु० १।३३)

महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है, कि ब्रह्मचर्य्य और गार्हस्थ्याश्रम बीत जाने पर पुत्र पर पत्नीका भार दे बनमें जा कर वानप्रस्थका अवलम्बन करना चाहिये। यदि उनकी पत्नी उनके साथ ही वन जानेका विशेष आग्रह प्रकाशित करे, तो उनको उसके साथ लेनेमें जरा भी सङ्कोच न करना चाहिये। इस समय वनमें उनको स्थिरब्रह्मचर्य्य अर्थात् अष्टमैथुनशून्य हो कर वनमें रहना होगा। बनमें जाते समय त्रेताग्नि और गृहाग्नि ले जाना आवश्यक है।

इस आश्रममें रह कर विना जोते हुए खेतोंके शस्य (नीवार अर्थात् तिन्नीके चावल आदि)-से अग्निकी तृप्ति करनी चाहिये। यही नहीं इससे ही अपना उदर पालन तथा देव, पितृ, अतिथि, भूत और आश्रममें आये अभ्यागतोंकी तृप्ति भी करनी होगी। वानप्रस्थावलम्बी नख, जटा और दाढ़ी रखाये रहें और सदा आत्मोपासनामें निरत रहें। वे भोजन और यजनादिके लिये एक दिन, एक मास, छः मास अथवा एक वर्ष तककी सामग्री रख सकते हैं। कभी भी इससे अधिक सामग्री वे नहीं रख सकते। यदि एक वर्षसे अधिक सामग्री एकत्र कर ली गई हो, तो उसको आश्विन महीनेमें खर्च कर डालें। इस आश्रममें दर्पशून्य, त्रिकालस्नायी, प्रतिग्रह और याजनादिविमुख, वेदाभ्यासरत, फलमूलादि दानशील और प्रत्येक क्षण सब जीवोंके हितानुष्ठानमें नियुक्त रहें। वे अपने दांतोंसे धानकी भूसीको छुड़ावें, कालपक्काशी (अर्थात् समय पर पकनेवाले फलका भोजन करनेवाला) अग्निपक्काशी, अश्मकुट्टक (अर्थात् चावल आदि अपने छांट या कुटपीस लेनेवाला) हो कर रहें। उनको श्रौत और स्मार्त्त कर्म और भोजनादि कर्म-फल स्नेह आदि द्वारा सम्पन्न करना होगा। वे अन्य स्नेह अर्थात् घृत आदि व्यवहार न कर सकेंगे या प्रजापतिका व्रतानुष्ठान कर दिन बितायेंगे। उनको सामर्थ्यानुसार एक पक्ष या एक मास पर भोजन करना चाहिये अथवा वे दिन भर निराहार रह कर रातको भोजन करें। रातके समय भूमि पर सो रहे। पर्य्यटन, स्थिति, उपवेशन आदि कार्य्य अथवा योगाभ्यासमें ही सारा दिन बितायें। ग्रीष्मकालमें पञ्चाग्निके बीचमें रह कर, वर्षाके समय वर्षाकी धारामें भीजते रह कर और जाड़ेके दिनोंमें भीगे वस्त्रको ओढ़ कर दिन बिताते हुए उन्हें शक्तिके अनुसार तपका अनुष्ठान करना चाहिये।

कोई मनुष्य कांटा चुभाये या अन्य प्रकारसे कष्ट दे, उसके प्रति भी वानप्रस्थको कभी रोष नहीं और जो चन्दन आदि लेपन करे या किसी तरहकी सेवा करे उसके प्रति संतुष्ट होना भी उचित नहीं। दोनोंसे समान व्यवहार करना उचित है। "न च हर्षयो वा न च विस्मयो वा"के अनुसार हर्ष शोक प्रकट न करना चाहिये।

यदि कोई वानप्रस्थी मनुष्य अग्निसेवनमें असमर्थ हो, तो अपनेसे अग्निका उत्ताप हटा दें और वृक्षके नीचे रह कर थोड़े फल-मूल सेवन करें। इसके अभावमें जितनेसे प्राण-रक्षा हो सके, रस-सञ्चय आदि न होने पावे, इसी अनुमानसे पड़ोसी किसी अन्य कुटीके अधिवासी वानप्रस्थाश्रमीसे भीख मांग कर खायें। यदि यह सम्भव न हो सके तो ग्रामसे भिक्षा करके केवल आठ ग्रास मौनावलम्बन करके भोजन करना चाहिये। अनुपशमनीय कोई रोग हो जानेसे वायुभोजी हो कर जब तक शरीर गिर न जाय ईशानकोनको ओर चलते रहना चाहिये।

वानमन्तर (सं० पु०) जैनमतानुसार देवगणभेद।

वानर (सं० पु० स्त्री०) वा विकल्पितो नरः यद्वा वानं वने भवं फलादिकं रातीति रा-क। १ स्वनामख्यात पशु, वा शाखा-तुल्य नर, बन्दर। पर्याय—कपि, प्लवङ्ग, प्लवग, शाखामृग, वलीमुख, मर्कट, कीश, वनौकस्, मर्कप्लव, प्रवङ्ग, प्रवग, प्लवङ्गम, प्रवङ्गम, गोलाङ्गुल, कपित्थास्य, दधिशोण, हरि, तरुमृग, नगाटन, झम्पी, झम्पास, कलिप्रिय, किथी, शालावृक।

इस स्वनामख्यात पशुको अंगरेजी भाषामें Monkey (मंकी) कहते हैं। किन्तु यह शब्द केवल वानर जातिका बोधक नहीं। इसका अर्थ अन्यान्य श्रेणियोंके वानरोंका भी बोधक है। मनुष्योंके अवयवोंसे इनका अवयव मिलता जुलता है। किन्तु अङ्गसौष्ठवमें ये पूर्णतः उस तरहके नहीं हो सके हैं; वरं अपुष्टावयवी हो रहे हैं। इसके पीछेके दोनों पैर मनुष्यवत् पैरके ही काम करते हैं। किन्तु अगले दोनों पैर हाथका कार्य्य पूर्णरूपसे सम्पादन नहीं करते। वरं ये सदा चौपाये जानवरोंकी तरह चारों पैरोंसे चलते फिरते या पेड़ों पर चढ़ते और अपने बच्चोंको लिये फिरते हैं। इन सब बातोंकी परीक्षा कर प्रसिद्ध प्राणितत्त्वविद् डारविन (Darwin) साहबने वानर और मनुष्यको हड्डी और स्वभावगत सामञ्जस्यका निर्णय किया था। वानर (वा + नर) शब्दके व्युत्पत्तिगत अर्थसे वानरके साथ मनुष्यका सौसादृश्य अनुभव किया जाता है। वानर और हनुमान्में आकृतिमें विशेष पार्थक्य नहीं है। केवल वानरका मुंह लाल और हनुमान्का काला होता है। इसके सिवा हनुमान वानरकी अपेक्षा आकारमें बड़े और बलशाली होते हैं। किन्तु इन दोनोंमें प्रकृतिगत कितनी ही विलक्षणतायें हैं। इस प्रभेदके कारण वे परस्पर दो स्वतन्त्र जातिके कहलाते हैं।

पाश्चात्य प्राणितत्त्वविदोंने इस जातिके जन्तुओंका आकृतिगत सौसादृश्य लक्ष्य कर उनको स्तन्यपायी जीवोंको Simiadæ शाखामें गणना की है। इनमें भी फिर लम्बा पूंछ और छोटी पूंछ या पूंछहीन ये तीन भेद हैं। साधारणकी जानकारीके लिये नीचे इनका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है—

वैज्ञानिक संज्ञा	जाति	देश	दल
Troglodytes niger	शिम्पाजि	अफ्रिका	Siminæ
Tr. gorilla	गोरिला	,,	,,
Simia satyrus	ओरङ्ग ओटङ्ग	बोर्नियो	,,
S, moris	,,	सुमात्रा	,,
Simanga Syndactyla	,,	,,	,,
Hylobates	उल्लू हुल्लू	आसाम, कछार	Hybolatinæ
H, lar (Gibbon)	,,	तनासारिम	,,
H. agilis	,,	मलय प्रायद्वीप	,,
Presbytis entellus	हनुमान् लंगूर	वङ्गाल मध्यभारत	Colobinæ
Pr. schistaceus	लङ्गूर	हिमालय	,,
Pr Preannus	मद्रासी लंगूर	मद्रासविभाग और सिंहल	,,
Pr Johnii	लंगूर	त्रिवाङ्कोर, मलवार	,,
Pr. Jubatus	नीलगिरि-लंगूर	अनमलय	,,
Pr. pileatus	लंगूर	सिलहट, कछार	,,
Pr. barbei	,,	त्रिपुरशैल	,,
Pr. obscurus	,,	मार्गुई	,,
Pr, phayrei	,,	आराकान	,,
Pr. albo-cinereus	,,	मलयप्रायःद्वीप	,,
Pr, cephalopterus	,,	सिंहल	,,
Pr. ursinus	,,	,,	,,
Pr Innu- silenus	नीलबन्दर	त्रिवाङ्कोर	pap oninae
I, Rhesus	मर्कट, बन्दर	भारतमें सर्वत्र	,,
I. Peiops	,,	,,	,,
Macacus Assamensis	,,	मसूरीशैल	,,
Innus nemestrinus	,,	तानासरीम	,,
I, leoninus	,,	आराकान	,,
I, arctoides	,,	,,	,,
Macacns radiatus	,,	दक्षिणभारत	,,
M, pileatus	,,	सिंहल	,,
M carbonarius	,,	ब्रह्मदेश	,,
M. cynomolgos	,,	,,	,,

ये वानर विभिन्न देशोंमें विभिन्न नामसे परिचित हैं। अरब—कीर्द, मैमून, सदान; इथिओपिया—Ceph; जर्मन—Kephos, Kepos; हिब्रु—Koph; युक्तप्रदेश—वानर, बन्दर; इटली—Scimia, Bertuccia; लेटिन—Cephus; पारस—केइवो, कुव्र्वा; लङ्का—कको; स्पेन—Mono; तामील—वेल्लमुठो, कोरंगू; तेलगु—कोठी; तुर्क भयमून; वङ्गाल—वानर, बांदर, मर्कट; उड़ीसा—माकड़; महाराष्ट्र—माकड़; पश्चिमघाट—केई; कनाड़ी—मूङ्गा; भूटन—

पियू; लेप्छा—मर्कट, वानुर, सुहूं; अङ्गरेजी—Monkey.

प्रधानतः बानर शब्दसे इस जीवसंघके पूछवाले या बिना पूंछवाले लाल मुंह पशुओंका बोध होता है। क्योंकि इस जातिके काले मुख हनूमान् और प्रकृत सिन्दूर रंग-की अपेक्षा उज्ज्वल और लाल रंगको मुखवाली बानर जाति लेमुर आदि विभिन्न श्रेणियोंमें परिगणित हैं। दक्षिण और पश्चिम अफ्रिकाके निर्जन काननमें लेमूर प्रभृति भीषणदर्शन बानरोंका और भारतमें काले मुंहके हनुमानोंका अभाव नहीं है।

प्राणितत्त्वविदोंने बानर जातिके शरीरतत्त्वकी आलोचना कर स्थिर किया है, कि भौगोलिक अवस्थानके अनुसार उनकी शारीरिक गठन-प्रणाली भी स्वतन्त्र है। पृथ्वीके पूर्वी गोलार्द्धमें अर्थात् अफ्रिका, अरब, भारत, जापान, चीन, लङ्का और भारतीय द्वीपोंमें जो बानर देखे जाते हैं, उनका देहकी हड्डी आदिका पार्थक्य निर्देश कर उन्होंने इन देशोंके बानरोंको Catarrhinae और पश्चिम गोलार्द्ध—अर्थात् उष्ण प्रधान देशमें और दक्षिण अमेरिकाके बानरोंको Platyrrhinae दो बड़े विभागोंमें विभक्त किया है।

पहली शाखाके बानरोंको नाक लम्बी, अग्रमुखी, टेढ़ी, और मोटी होती हैं। इनके दांत प्रायः मनुष्योंकी तरह हैं—अर्थात् ३२ दाँत हैं।

पूर्व पृथ्वीवासी इन वानरोंको फिर तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं। १ Ape जाति, २ प्रकृत लाल मुख और सपुच्छ बानर जाति और ३ बबुन (Baboons) जाति। प्रथमोक्त उपजाति Simianae दलके अन्तर्भुक्त है। अफ्रिकाके शिम्पाजी और गोरिला जाति बोर्नियो और सुमात्राके औरङ्ग (बनमानुस)—ये बिना पूंछके हैं। इनमें हिन्दू चीन राज्यों, मलयप्रदेश, सिलहट, कछार, आसाम, खसिया, तनासरिम और भारतीय द्वीपपुञ्जवासी गीबों (Gibbon) जातीय बानरोंकी गणना-की जा सकती है।

बहु प्राचीन कालसे यह बानर सभ्य-समाजमें परि-चित हैं। हिब्रु, यूनानी, रोमन तथा भारतीय आर्य्य (हिन्दू) विभिन्न श्रेणीके बानरोंका हाल जानते थे। यूनानी और रोमन अफ्रिकाके बानरोंके चरित और इतिहास भलीभाँति जानते थे। हिब्रुमें बानरको 'कोफ' कहते हैं, संस्कृतमें 'कपि' इन दोनों शब्दोंमें यथेष्ट सादृश्य दिखाई देता है। शब्दविद्याकी श्रुति विपर्य्याय करने पर और भी मालूम होता है, कि संस्कृत कपि, इथियोपिय Ceph, हिब्रु koph, यूनानी Kephos या Kepos और पारसी Keibi या Kubbi, लेटिन Cephus शब्द समस्वरोच्चारित और समान अर्थबोधक हैं, अतएव अनुमान होता है, कि बहुत प्राचीनकालमें भारतीय कपि मध्यएशिया हो कर पश्चिम देशोंमें गये थे। सिंहल (लङ्का) के कको, तामोलके कारंगू और तेलगू कोठांके साथ कपि शब्दका कोई सामञ्जस्य न रहने पर भी 'क' अक्षरके स्वरानुसार ये कपिकी क्षीण-स्मृति वहन करनेमें समर्थ हुए हैं। तामोल भाषामें कोरंगुके साथ उत्तर सिलेबिस द्वीपके कुरङ्गारका बहुत मेल दिखाई देता है।

प्राणितत्त्वविद् रासेल आलेसने पूर्व भारतीय द्वीपपुञ्जका परिभ्रमण कर वहांकी भाषामें वानरके ३३ नाम संग्रह किये है। साधारणकी जानकारीके लिये हम कई नाम उद्धृत कर देते हैं। किन्तु इनके साथ हिब्रु, संस्कृत, युनानी, लेटिन आदि भाषाओंमें कहे नामोंका जरा भी सादृश्य नहीं है।

वानरका नाम	स्थानका नाम
अरुक	मोरेल्ला (आम्बयना)
बाबा	सांगुर, सियाउ
बलडाधितम्	उत्तर सिलेबिस
बोहेन	मेनादो
बुदेस	यबद्वीप
दरे	बौटन
केशी	कामारया
तेलुती	सिराम्
केस	अम्बलब
कसो	कजेली
कुरङ्गो	उत्तरसिलेबिस
लेबी	मातबेला
लेक	तेओर गह सिरम्
मेईराम	आलफुरा, आतियागो

बानरों के नाम	स्थानके नाम
मिया	सुलू और वर्नियो द्वीप
तिदोर और बंलेला	गिलोलो
म्यून्नियत्	मलय
मोन्दो	बाजू
नांक	गणी गिलोलो
रोकी	बौटन, सिलेबिस
रुषा	लोरिक और सपरुया
सलायर	दक्षिण सिलेबिस
सिया	लियाङ्ग (अंबयना)
फाकिस	वहई (सिरम)

भारतवासी बानरोंका विशेष आदर करते थे। रामायणके युगमें रामानुचर हनुमान्, नील बानर, बानरराज बालि और सुग्रीव, गय, जाम्बुवान् आदि रामचन्द्रके सेनापतियोंके नाम पढ़नेसे मालूम होता है, कि उस प्राचीन युगमें आर्य्य लोग बानरोंका हाल विशेषरूपसे जानते थे। भगवान् रामचन्द्रको बानरोंने सहायता की थी, इससे हिन्दुओंके हृदयमें इन बानरोंका बड़ा आदर और भक्ति हैं। इस समय भी देशमें चारों ओर हनुमान्जीकी पूजा होती है। हनुमान्जीको प्रस्तर-मूर्त्तियाँ प्रायः सभी जगह मौजूद हैं। वृन्दावन, मथुरा, काशी आदि पवित्र तीर्थक्षेत्रोंमें असंख्य बानर देखे जाते हैं। यह हिन्दुओं द्वारा ही पाले गये हैं। किसीने कभी बानरोंका विनाश करनेकी इच्छा नहीं की और न ऐसा करना चाहिये।

महाभारतके युगमें कुरुक्षेत्रके युद्धक्षेत्रमें सर्वश्रेष्ठ योद्धा धनुर्द्धारी अर्जुनके रथ पर कपिध्वज हो फहराता था। भगवान् कृष्ण इनके सारथी थे। हनुमान् इस रथ रक्षाके लिये ध्वजदेशमें बैठे हुए थे। इसी कारण कपिके प्रति ऐसी भक्ति और श्रद्धा हिन्दुओंने दिखाई देती है। सिवा इसके बौद्धोंके प्रभावसे जीवहिंसाको समाप्ति हो बानरोंकी रक्षाका अन्यतम कारण कहा जा सकता है। बागोंके फलोंका नाश, वस्त्रोंको ले कर भागना और भोजन पाने पर फिर लौटा देना या फाड़ कर फेंक देना, ये सब उत्पात बानरों द्वारा होते हैं। कभी कभी तो ऐसा भी सुना गया है, कि बच्चोंको ये गोदमें ले कर पेड़ों पर चढ़ जाते हैं। केवल भारत ही नहीं, मिस्रमें भी प्राचीन मिस्रवासियों द्वारा बानर पूजित होते थे।

सुनते हैं, कि नवद्वीप (नदिया)के राजा महाराज श्रीकृष्णचन्द्ररायने गुप्तिपाड़ेसे बानर पकड़ कर कृष्णनगरमें महाधूमधामसे अपने पाले हुए बानरका विवाह किया था। इस विवाहमें उन्होंने नवद्वीप, गुप्तीपाड़ा, उला और शान्तिपुरके उस समयके ब्राह्मण-पण्डितोंको आमन्त्रित किया था। इस विवाहोत्सवमें उनका डेढ़ लाख रुपया व्यय हुआ।

इस देशमें कितने ही भिखमंगे बानरोंका खेल दिखा कर भीख मांगा करते हैं। सरकस या व्यायामशालामें भी इनके तमाशे दिखाये जाते हैं। निम्नलिखित तमाशे इनके द्वारा दिखाये जाते हैं—गाड़ी चलाना, कोचवान साईसका काम, नृत्यकार्य्य और व्यायाम-क्रीड़ा आदि। पर्वतका किसी बड़े दरारको पार करनेके लिये ये आपसमें जुट कर पुल तय्यार कर लेते तथा उस पर सभी पार भी हो जाते हैं। उत्तर-पश्चिम भारतके वृन्दावन आदि स्थानोंमें एक एक बन्दर-दलमें एक वीर अर्थात् एक पुरुष बानर और पचास बानरी या स्त्रीबानर रहती हैं। कभी कभी दो भिन्न बानर-दलोंमें परस्पर विरोध भी उपस्थित हो जाता है। उस समय दोनों ओरके अग्रगामी वीर खूब मारा-मारी काटा-काटी करने लगते हैं। क्रमशः दल भरमें यही काण्ड आरम्भ हो जाता है। अन्तमें जो वीर कमजोर होता है, वह हार कर भाग जाता है। किसी दलके वीरके भाग जाने या युद्धमें मारे जाने पर युद्धका हार जीत माना जाता है। जब एक दलका वीर मर जाता या भाग जाता है, तब उस दलकी बानरियां विजेता बानरके अधीन हो जाती हैं। इस तरह विजेताका दल बढ़ जाता है।

समतल प्रान्तसे हिमालयके पूर्व ११००० फीट ऊंचे स्थानों पर भी ये विचरण करते देखे गये हैं। Presbytis Schestaceus जातिके बानर उससे ऊंचे तुषाराच्छन्न स्थान पर एक वृक्षसे दूसरे वृक्ष पर कूदते देखे गये हैं। बानर जब आमके वनमें आमके वृक्षोंकी शाखा-प्रशाखाओं पर कूदते रहते हैं, तब मालूम होता है, कि सावनभादोंका वृष्टिका झड़ी लगी हुई है।

वानरोंके दो तीन सन्तान एक साथ होते हैं। इन सन्तानोंको ये वृक्षकी शाखाओं पर ही पैदा करते हैं। प्रसवके समय जब गर्भका शिशुसन्तान ज़रा भी गर्भसे बाहर निकलता है, तब वह माताके मनके अनुसार दूसरी शाखा या डालको पकड़ लेता है और बानरी धीरे धीरे पीछे हट कर दूसरी शाखा पकड़ लेती है। उस समय शिशु डालमें झुलने लगता है। इसके बाद बानरी आ कर अपने प्यारे बच्चेको गोदमें उठा लेती है और स्तन्यपान कराती है। यदि इस समय कोई मनुष्य उसको भगानेकी चेष्टा करे तो बानरी गोदमें शावकोंको ले कर एक वृक्षसे दूसरे वृक्ष पर या एक छतसे दूसरी छत पर कूद जाती है। यावतीय मीठे फल और पौधोंकी पत्तियां इनकी खाद्य वस्तु हैं। पालित बानर भात, रोटी, दूध आदि भी खाते हैं; पर उतने चावसे नहीं, जितने चावसे फल आदि। पका केला खाना इनको बड़ा ही पसन्द है।

बानरोंकी हत्या करना महापाप है। इससे वानरोंके मारने या मरवानेकी चेष्टा करनेवाले व्यक्ति पापीष्ठ गिने ज़ाते हैं। इस पापका प्रायश्चित्त ब्राह्मणको एक गो दान कर देना है। २ दोहेका एक भेद। इसके प्रत्येक चरणमें १० गुरु और २८ लघु होते हैं।

वानरकेतन (सं० पु०) अर्जुन। (भारत १४ पर्व)

वानरकेतु (सं० पु०) १ अर्जुन। २ वानरराज।

वानरप्रिय (सं० पु०) वानराणां प्रियः। क्षीरिवृक्ष, खिरनीका पेड़।

वानरवीरमाहात्म्य (सं० क्ली०) स्कन्दपुराणके अन्तर्गत पूजामाहात्म्यविशेष।

वानराक्ष (सं० पु०) वानराणामक्षिणीव अक्षिणी यस्य। १ वनछाग, जङ्गली बकरा। २ अशुभाश्वविशेष, एक प्रकारका ऐबी घोड़ा। (जयदत्त)

वानराघात (सं० पु०) लोध्रवृक्ष, लोधका पेड़।

वानरास्य (सं० पु०) जातिविशेष।

वानरी (सं० स्त्री०) वानरस्य स्त्री-ङीप्। मर्कटी, बन्दरकी मादा। २ शूकशिम्बी, केवांच।

वानरीवटिका (सं० स्त्री०) वाजीकरणाधिकारमें वटिकौषधविशेष। प्रस्तुतप्रणाली—आध सेर केवांचके बीजको पहले चार सेर गायके दूधमें पाक करना होगा। पीछे पाक करते करते जब वह गाढ़ा हो जाय तब उसे नीचे उतार कर छिलकेको निकाल कर अच्छी तरह पीसना होगा। इसके बाद छोटी छोटी गोलियां बना कर घीमें पाक करके दूनी चीनीमें डाल देना होगा। जब वे सब गोलियां चीनीसे अच्छी तरह लिप्त हो जायं, तब उन्हें ले कर फिर मधुमें छोड़ देना होगा। यह गोली प्रति दिन ढाई तोला करके सबेरे और शामको सेवन करनेसे शुक्रकी तरलता नष्ट तथा शिश्नकी उत्तेजना अधिक होती है तथा घोड़ेके समान रतिशक्ति पैदा होती है। बाजीकरण औषधमें यह वटी बहुत लाभदायक है। (भावप्र० बाजीकरण रोगाधि०)

वानरेन्द्र (सं० पु०) वानराणां मिन्द्रः। सुग्रीव।

वानरेश्वरतीर्थ (सं० क्ली०) तीर्थविशेष।

वानरीबीज (सं० क्ली०) शूकशिम्बी बीज, केवांचका बीया।

वानल (सं० पु०) कृष्ण बर्वरक, काली वनतुलसी।

वानव (सं० पु०) जातिविशेष। (भारत भीष्मपर्व)

वानवासक (सं० त्रि०) वनवास-वासी जाति विशेष।

वनवासिक (सं० त्रि०) वनवासक तथा कादम्ब देखो।

वनवासिका (सं० स्त्री०) सोलह मात्राओंके छन्दों या चौपाईका एक भेद। इसमें नवीं और बारहवीं मात्राएं लघु पड़ती हैं।

वनवासी (सं० स्त्री०) एक नगरका नाम। कादम्ब देखो।

वानवास्य (सं० पु०) वनवासी राजपुत।

वानसि (सं० पु०) मेघ, बादल।

वानस्पत्य (सं० पु०) वनस्पतौ भवः वनस्पति (दित्यदित्यादित्येति। पा ४।१।८५) इति ण्य। १ पुष्पजातफलवृक्ष, वह वृक्ष जिसमें पहले फूल लग कर पीछे फल लगते हैं। जैसे, आम, जामुन आदि। वनस्पतीनां समूहः दित्यदित्येति ण्य। (क्ली०) २ वनस्पतिका समूह। (काशिका) (त्रि०) ३ वनस्पतिसे उत्पन्न। (शुक्लयजु० १।१४)

वाना (सं० स्त्री०) वर्त्तिका पक्षी, बटेर।

वानायु (सं० पु०) वनायु देशवासी जातिभेद। यह देश भारतवर्षके उत्तर-पश्चिममें अवस्थित है।

वानायुज (सं० पु०) वनायौ देशविशेषे जायते इति जन-ड। वनायुदेशोत्पन्न घोटक, वनायु देशका घोड़ा।

वानिक (सं० त्रि०) वनसम्बन्धीय।

वानीय (सं० पु०) कैवर्त्तमुस्तक, केवटी मोथा।

वानीर (सं० पु०) १ वेतसवृक्ष, बेंत। २ वाञ्जलुवृक्ष, जलबेंत। पर्याय—वृत्तपुष्प, शाखाल, जलवेतस, व्याधिघात, परिव्याध, नादेय, जलसम्भव। गुण—तिक्त, शिशिर, रक्षोघ्न, व्रणशोषण, पित्तास्र और कफदोष नाशक, संग्राही और कषाय। (राजनि०) ३ प्लक्षवृक्ष, पाकड़का पेड़।

वानीरक (सं० क्ली०) वानीर इव प्रतिकृतिः इवार्थे कन्। मुञ्जतृण, मूंज।

वानीरज (सं० क्ली०) १ कुष्ठौषध, कुट। (पु०) २ मुञ्ज, मूंज।

वानेय (सं० क्ली०) वने जले भवं वन-ढञ्। कैवर्त्तमुस्तक, केवटी मोथा।

वान्त (सं० पु०) वम-कर्मणि क्त। वमन की हुई वस्तु, उलटीसे निकली चीज।

वान्ताद (सं० पु०) वान्तमत्तीति अद-अण्। कुक्कुर, कुत्ता।

वान्ताशिन् (सं० पु०) वान्तमश्नाति अश-णिनि। १ वान्ताद, कुत्ता। (त्रि०) २ वमनभोगी, उलटी खानेवाला।

भोजनके लिये ब्राह्मण कभी भी अपने कुल और गोत्रका परिचय न दें। जो भोजनके लिये अपने कुल वा गोत्रकी प्रशंसा करते हैं, पण्डितोंने उन्हें 'वान्ताशी' कहा है।

मनुने लिखा है, कि जो ब्राह्मण अपने धर्मसे भ्रष्ट होते हैं वे वान्ताशी (वमिभोगी) ज्वालामुख प्रेत होते हैं।

वान्ति (सं० स्त्री०) वम-क्तिन्। वमन, कै।

वान्तिका (सं० स्त्री०) कटुकी, कुटकी।

वान्तिकृत् (सं० पु०) वान्ति करोति कृ-क्विप् तुक्च। मदनवृक्ष, मैनफलका पेड़। (त्रि०) २ वमनकारी, उलटी करनेवाला।

वान्तिद (सं० त्रि०) वान्ति ददाति दा-क। वमनकारक, उलटी करनेवाला।

वान्तिदा (सं० स्त्री०) कटुकी, कुटकी।

वान्तिशोधनी (सं० स्त्री०) जीरक, जीरा।

वान्तिहृत् (सं० पु०) वान्ति हरतीति हृ-क्विप्। लोहकण्टक वृक्ष, मैनफलका पेड़।

वान्दन (सं० पु०) वन्दनका गोत्रापत्य।

(आश्व०श्रौ० १२।११।२)

वान्या (सं० स्त्री०) वनानां समूह इति वन-यत्-टाप्। वनसमूह।

वाप (सं० पु०) वप-घञ्। १ वपन, बोना। २ मुण्डन। उप्यतेऽस्मिन्निति वप अधिकरणे घञ्। ३ क्षेत्र, खेत।

(पा ५।२।४६ सूत्र-भट्टोजीदीक्षित)

वापक (सं० त्रि०) वप-णिच् ण्वुल्। वपनकारयिता, बीज बोनेवाला।

वापदण्ड (सं० पु०) वापाय वपनाय दण्डः। वपनार्थ दण्ड, कपड़ा बुननेकी ढरकी। पर्याय—वेमा, वेमन्, वेम, वायदण्ड। (भरत)

वापन (सं० क्ली०) वप-णिच्-ल्युट्। बीज बोना।

वापनि (सं० पु०) गोत्रप्रवर्त्तक ऋषिभेद।

(संस्कारकौमुदी)

वापस (फा० वि०) लौटा हुआ, फिरा हुआ।

वापसी (फा० वि०) १ लौटा हुआ या फेरा हुआ। (स्त्री०) २ लौटनेकी क्रिया या भाव। ३ किसी दी हुई वस्तुको फिर लेने या ली हुई वस्तुको फिर देनेका काम या भाव।

वापातिनार्मेध (सं० क्ली०) सामभेद।

वापि (सं० स्त्री०) उप्यते पद्मादिकमस्यामिति वप (वसि वपि यजि वाजि व्रजीति। उण् ४।१२४) इति इञ्। वापी, छोटा जलाशय।

वापिका (सं० स्त्री०) वापि स्वार्थे कन्-टाप्। वापी, बावली।

वापित (सं० त्रि०) वप-णिच्-क्त। १ बीजाकृत, बोया हुआ। २ मुण्डित, मूड़ा हुआ। (क्ली०) ३ धान्यविशेष, बोआरी धान।

वापी (सं० स्त्री०) वापि कृदिकारादिति ङीष्। जलाशयविशेष। जो जलहीन देशमें जलाशय खुदवाते हैं उन्हें स्वर्गलाभ होता है।

वैद्यकशास्त्रमें लिखा है, कि वापीका जल गुरु, कटु, क्षार (लवणाक्त), पित्तवर्द्धक तथा कफ और वायुनाशक होता है।

वापी खनन करनेसे पहले दिशाको स्थिर करना होता है। अग्नि, वायु और नैऋतकोणमें वापी नहीं खुदवानी चाहिये। अग्निकोणमें खुदवानेसे मनस्ताप, नैऋतमें क्रूरकर्मकारी, वायुकोणमें बल और वित्तनाश आदि विविध अनिष्ट होते हैं। अतएव उन सब दिशाओं-का परित्याग कर अन्य दिशामें वापी खुदवानी चाहिये।

वापी, कूप और तड़ागादि खुदवा कर उसकी यथाविधान प्रतिष्ठा करनी होती है। अप्रतिष्ठित वापीके जलसे देवता और पितरोंके उद्देशसे श्राद्ध तर्पणादि नहीं किये जाते। इसी कारण सबसे पहले उसकी प्रतिष्ठा करनेको कहा है। जो वापी आदि खुदवा कर उसकी प्रतिष्ठा कर देता है उसे इस लोकमें यश और परलोकमें अनन्त स्वर्गलाभ होता है।

वापीक—एक प्राचीन कवि।

वापीह (सं० पु०) वापीं जहातीति हा-त्यागे क, पाने वापीजलवर्ज्जनादस्य तथात्वम्। चातक पक्षी, पपीहा।

वापुभट्ट—उत्सर्जनोपकर्मप्रयोगके प्रणेता। ये महादेवके पुत्र थे।

वापुरघुनाथ—एक महाराष्ट्र सचिव। ये धारराजके मन्त्री थे (१८१० ई०)।

वापुहोलकर—एक महाराष्ट्र सेनापति (१८१० ई०)।

वापुष (सं० त्रि०) वापुष्मान्, शरीरविशिष्ट। "वृक्षः कृणोति वापुषो माध्वी।" (ऋक् ५।७५।४) वापुषः वपुष्मान्। (सायण)

वाप्पा रावल—मेवाड़राज्यके स्थापनकर्त्ता। वलभी राज्यध्वंसके समय राजा कनकसेनके वंशधर इधर उधर मारे मारे फिरते थे। राजा शिलादित्यके वंशधर ग्रहादित्यने इडर प्रदेशमें एक छोटा-सा राज्य बसा लिया था। कालचक्रके प्रभावसे उस समय ग्रहादित्यके वंशमें एक तीन वर्षका बालक वाप्पा ही शेष रह गया। इसके पिता नागादित्यको स्वाधीनताप्रिय भीलोंने मार डाला था। इस प्राचीन वंशका लोप हुआ चाहता था, क्योंकि तीन वर्षके बालक वाप्पाकी रक्षा करनेवाला कोई भी दृष्टिगोचर नहीं होता था।

[illegible] पूर्वपुरुष शिलादित्यकी प्राणरक्षा कमला [illegible] ब्राह्मणीने [illegible] यह बात इतिहासप्रेमी पाठकोंसे छिपी नहीं है। कमलाके ही वंशधर इस राजवंशके पुरोहित थे। उन्होंने राजकुमारको ले कर भांडेर नामक किलेमें आश्रय लिया। यहांके यदुवंशी भीलने उन्हें आश्रय दिया। जब पुरोहित ब्राह्मणोंको वहां रहनेमें भी शङ्का हुई, तब वे वहाँसे बालकको ले कर पराशर नामक स्थानमें गये। यह स्थान त्रिकूटपर्वतके सघन वनमें था। उसी त्रिकूटपर्वतकी तलहटीमें नागेन्द्र नामक एक ग्राम बसा हुआ था। वहां शिवोपासक ब्राह्मण रहते थे। उन्हींके हाथमें वाप्पा सौंपा गया। राजकुमार निर्भय हो कर वनमें विचरने लगा।

वाप्पा रावल तलहटीमें उक्त ब्राह्मणके यहां गौ चराया करता था। उस प्रदेशके राजा एक सोलङ्की क्षत्रिय थे। वहां सावनका झूलन बड़ी धूमधामसे मनाया जाता है। राजकुमारी अपनी सखियोंके साथ उस दिन वनमें पधारीं। परन्तु भूलसे उनके पास रस्सी नहीं आई थी, वे झूला डालती तो कैसे? उसी समय अचानक वाप्पा रावल वहां चला गया। उन लोगोंने उससे रस्सी मांगी। वाप्पा बड़ा ही चञ्चल तथा हँसोड़ था। उसने कहा, मुझसे विवाह करो, तो मैं रस्सी ला दूँ। एक और तमाशा शुरू हुआ। उन कन्याओंके साथ राजकुमारके विवाहकी विधि वर्त्ती जाने लगी। गांठ बांधी गई। क्या उस समय किसीने यह समझा था, कि यह नकली विवाह ही किसी समय असली विवाह होगा।

सोलङ्की राजकुमारी जब ब्याहने योग्य हुई, तब सोलङ्कीराज बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने वर ढूंढनेके लिये देश विदेश मनुष्य भेजे। परन्तु इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिससे सबको चकित होना पड़ा। एक ज्योतिषीने राजकुमारीका जन्मपत्र देख कर कहा, कि इसका विवाह हो गया है। सोलङ्कीराजके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। राजाको पिछली बातें अर्थात् विवाहकी घटनाकी खबर लगी। इसकी खबर कुमार बाप्पाको भी लगी। अतएव राजकुमार डरके मारे बालीय और देव नामक दो भील बालकोंको साथ ले विजनवनमें चले गये।

उन दिनों चित्तौड़में मौर्यकुलके राजा मान राज्य करते थे। बाप्पा उनका भांजा होता था। यह बात

वाप्पाको मालूम थी। अतएव अपने साथियोंको साथ ले कर वाप्पा वहीं पहुंचे। राजाने बड़े आदरसे उनको रखा और अपना सामन्त बनाया। इससे पहलेके सामन्तोंको बड़ी ईर्ष्या हुई। यहां तक कि एक समय जब शत्रुओंने चित्तौड़ पर चढ़ाई की तब उन सामन्तोंने साफ ही कह दिया, कि जिसका आदर करते हो उसीको लड़नेके लिये भेजो। वाप्पाने उस लड़ाईमें जयलाभ किया।

राजा मानसे तिरस्कृत सामन्त इसी चिन्तामें लगे थे, कि कोई अच्छा सरदार मिले, तो उसे चित्तौड़का सिंहासन दे दें और राजा मानको पदच्युत कर दें। अन्तमें सामन्तोंने वाप्पा ही को इस कामके लिये स्थिर किया। वाप्पाने भी इस कार्यमें अपनी सम्मति दे दी। इसीको स्वार्थ कहते हैं। आज वाप्पाने अपने आश्रयदाता मामाके उपकारका कैसा सुन्दर बदला दिया।

पचास वर्षसे अधिक अवस्था होने पर वाप्पा रावल चित्तौड़का राज्य अपने पुत्रोंको दे कर खुरासन चले गये। वहां इन्होंने बहुत-सी मुसलमान स्त्रियोंसे व्याह किया था।

वीरकेशरी महाराज वाप्पा रावलने एक सौ वर्षकी पूरी आयु पाई थी। इन्होंने काश्मीर, ईराक, ईरान, तुरान और काफरिस्तान आदि देशोंको जीता था और उन उन देशोंके राजाओंकी कन्याओंको व्याहा था। इन्हें ३० पुत्र उत्पन्न हुए थे।

वाप्य (सं० क्ली०) वाप्यां भव मिति वाप्ये (दिगादिभ्यो-यत्। पा ४।३।५४) इति यत्। १ कुष्ठौषध, कुट। (अमर) २ शालिधान्यभेद, बोवारी धान। ३ वापीभव जल, बावलीका पानी। इसका गुण—वातश्लेष्मनाशक, क्षार, कटु और पित्तवर्द्धक। वप-ण्यत्। ४ वपनीय। बोने योग्य।

वाप्यक्षीर (सं० क्ली०) सामुद्र लवण। (राजनि०)

वाभट (सं० पु०) १ वैद्यसंहिताके प्रणेता। २ शास्त्रदर्पणनिघण्टुकार, वाग्भट।

वावाजी भोंसले—एक महाराष्ट्र सरदार। ये प्रसिद्ध महाराष्ट्रकेशरी शिवाजीके प्रपितामह थे।

वावासाहब—शिवाजीके वैमात्रेय भ्राता वाङ्कोजीके पौत्र वे तञ्जोरके सिंहासन पर अधिष्ठित थे। उनकी मृत्युके बाद उनकी पत्नी सियानभाईने १७३७ से १७४० ई० तक राज्य किया।

वाम् (सं० पु०) १ गन्ता। २ स्तोता।

वाम (सं० क्ली०) वा (अर्त्ति स्तु सु हु सृ घृक्षीति। उण् १।१३९) इति मन्। १ धन। (पु०) २ कामदेव। ३ हर, महादेव। ४ कुच, स्तन। ५ भद्राके गर्भसे उत्पन्न श्रीकृष्णके एक पुत्रका नाम। (भागवत १०।६१।१७) ६ ऋचीकके एक पुत्रका नाम। ७ चन्द्रमाके रथके एक घोड़ेका नाम। ८ अक्षरोंका एक वर्णवृत्त। इसके प्रत्येक चरणमें सात जगण और एक यगण होता है। इसे मञ्जरी, मकरन्द और माधवी भी कहते हैं। यह एक प्रकारका सवैया ही है। ९ वास्तूक।

(त्रि०) वमति वम्यते वेति वम् उद्गिरणे (ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः। पा ३।१।१४०) इति ण। १० वल्गु, सुन्दर। ११ प्रतिकूल, खिलाफ। १२ वननीय, याजनीय। १३ कुटिल, टेढा। १४ दुष्ट, नीच। १५ जो अच्छा न हो, बुरा। १६ सव्य, दक्षिण या दाहिनेका उलटा, बायाँ। द्विजको बाँयें हाथसे जलपान वा भोजन नहीं करना चाहिये। बांयें हाथसे जलपात्र उठा कर भी जलपान करना उचित नहीं।

"न वाम हस्तेनोद्धृत्य पिवेद्वक्त्रया वा जलम्।
नोत्तरेदनुपस्पृश्य नाप्सु रेतः समुत्सृजेत्॥"

(कूर्मपु० १५ अ०)

ज्योतिषकी प्रश्नगणनामें वाम और दक्षिणभेदसे शुभाशुभ फलाफलका तारतम्य कहा है।

वामक (सं० त्रि०) १ वाम सम्बन्धीय। (क्ली०) २ अङ्गभङ्गीका एक भेद। (विक्रमोर्वशी ५६।२०) ३ बौद्धग्रन्थोंके अनुसार एक चक्रवर्त्ती।

वामकक्ष (सं० पु०) एक गोत्रकार ऋषिका नाम। इनके गोत्रके लोग वामकक्षायण कहे जाते थे।

वामकक्षायण (सं० पु०) वामकक्षके वंशोत्पन्न एक ऋषिका नाम। (शतपथब्रा० ७।१।२।११)

वामकेश्वरतन्त्र—एक तन्त्रका नाम।

वामचूड़ (सं० पु०) जातिभेद। (हरिवंश)

वामजुष्ट (सं० क्ली०) वामकेश्वरतन्त्र।

वामतन्त्र (सं० क्ली०) तन्त्रविशेष ।

वामता (सं० स्त्री०) वामस्थ भावः तल्-टाप् । प्रतिकूलत्व, वामत्व, वामका भाव या धर्म ।

वामतीर्थ (सं० क्ली०) तीर्थभेद । (वृहन्नीलतन्त्र २१)

वामदत्त (सं० पु०) व्यक्तिभेद । (कथासरित्सागर ६८।३४)

वामदत्ता (सं० स्त्री०) नर्त्तकीभेद ।

(कथासरित्सा० ११२।१६७)

वामदृश (सं० स्त्री०) वामा मनोहरा दृक् दृष्टिर्यस्या । सुन्दरी नारी, खूबसूरत औरत ।

वामदेव (सं० पु०) वाम एव देवः । १ शिव, महादेव । (भारत १।१।३४) २ गौतमगोत्रसम्भूत ऋषिभेद; गौतम गोत्रीय एक वैदिक ऋषि । यह ऋग्वेदके चौथे मण्डलके अधिकांश सूक्तोंके मन्त्रद्रष्टा थे । ३ दशरथके एक मंत्रीका नाम ।

वामदेव—एक व्यवहारविद् । हेमाद्रिने परिशेषखण्डमें इनका उल्लेख किया है । २ एक कवि । ३ मुनिमतमणिमाला नामक एक दीधितिके प्रणेता । ४ वर्णमञ्जरी नामक ज्योतिःशास्त्रके रचयिता । ५ हठयोगविवेकके प्रणेता ।

वामदेव उपाध्याय—१ आह्निकसंक्षेप और गूढ़ार्थदीपिकाके रचयिता । लाला ठक्कुर नामक अपने प्रतिपालककी प्रार्थनाके अनुसार इन्होंने आह्निकसंक्षेप लिखा ।

२ श्राद्धचिन्तामणिदीपिका और स्मृतिदीपिकाके रचयिता ।

वामदेवभट्टाचार्य—स्मृतिचन्द्रिकाके प्रणेता ।

वामदेवसंहिता—एक प्रसिद्ध तन्त्रग्रन्थ । श्रीरामने इसकी टीका लिखी है । इस ग्रन्थमें वटुकभैरवपूजापद्धति और गायत्रीकल्पका विशेष वर्णन है ।

वामदेवगुह्य (सं० पु०) शैवमतभेद । (सर्वदर्शनसंहिता)

वामदेवी (सं० स्त्री०) १ सावित्री । २ दुर्गा ।

वामदेव्य (सं० त्रि०) १ वामदेवसम्बन्धीय । (पु०) २ ऋग्वेदके १०।१२७ सूक्तके मन्त्रद्रष्टा अंहोमुचके पितृपुरुष । ३ वृहदुक्थके पूर्वपुरुष । ४ मूर्द्धन्वत्के पितृपुरुषभेद । ५ राजपुत्रभेद । (भारत सभाप०) ६ एक ग्रन्थकर्त्ता । ७ शाल्मलद्वीपस्थ पर्वतभेद । (भाग० ५।२०।१०) ८ कल्पभेद । ९ सामभेद ।

वामध्वज—न्यायकुसुमाञ्जली टीकाके प्रणेता ।

वामन (सं० पु०) वामयति वमति वा मदमिति वम-णिच्-ल्यु । १ दक्षिण दिग्गज । (भागवत ५।२०।३९) २ महाशणपुष्पी । ३ अङ्कोटवृक्ष । (मेदिनी) ४ हरि, विष्णु । ५ शिव, महादेव । ६ एक तरहका घोड़ा । ७ दनुके पुत्रका नाम । ८ एक तरहका सर्प । ९ गरुड़वंशीय पक्षिविशेष । (भारत ५।१०१।१०) १० हिरण्यगर्भका पुत्र । (हरिवंश २५३।६) ११ कौञ्चद्वीपके अन्तर्गत एक पर्वतका नाम । क्रौञ्च द्वीपमें क्रौञ्चपर्वत ही प्रधान है । इस पर्वतका दूसरा नाम वामन पर्वत है । १२ एक तीर्थका नाम । यह तीर्थ सर्व पापनाशक है । इस तीर्थमें स्नान, दान और श्राद्धादि करनेसे सब तरहके पापोंका विनाश होता है । १३ महापुराणोंमें अन्यतम, वामनपुराण । देवीभागवतके मतसे इस पुराणकी श्लोकसंख्या दश हजार है ।

भगवान् विष्णुके अवतार वामनदेवकी लीला इस पुराणमें वर्णित है । पुराण शब्द देखो ।

१४ विष्णुका पञ्चम अवतार । जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब भगवान् धरणी पर अवतार लेते हैं । दैत्यपति वलिने स्वर्ग-राज्यका अधिकार कर देवताओंको निर्वासन दण्ड दिया था । इस बलिको दमन करनेके लिये भगवान् विष्णुने वामनरूप धारण किया था । भागवतमें लिखा है कि राजा परीक्षितने शुकदेवसे पूछा,—'हे ब्राह्मण ! भगवान विष्णु किस कारण वामन रूपमें अवतीर्ण हुए और दीन मनुष्यकी तरह बलिके पास तीन पैर भूमिकी यांचना कर और उसे प्राप्त करके भी उन्होंने किस कारणसे उसको बांधा था ? इन सब बातोंको पूर्णरूपसे समझानेकी कृपा कीजिये । मुझे इन सब बातोंके जाननेके लिये बड़ा कौतुहल हो रहा है । क्योंकि पूर्ण ब्रह्म परमेश्वरका भिक्षा मांगना तथा निर्दोष बलिको बांधना कोई सहज घटना नहीं है ; वरं आश्चर्यजनक है । आप विशेषरूपसे इस प्रश्नका उत्तर दे कर मेरे सन्देहको दूर कीजिये ।' श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित्के इस प्रश्नके उत्तरमें कहा था,—दैत्यराज बलि इन्द्रको जीत कर स्वर्गके इन्द्र हो गये । देवता अनाथको तरह बलि द्वारा विताड़ित हो कर चारों ओर भागने लगे । इन्द्रमाता अदितिको इस बातसे बड़ा

कष्ट हुआ। उन्होंने कातरस्वरमें भगवान् कश्यपसे कहा था,—भगवन्! सपत्नी-पुत्र दैत्योंने हमारी श्री और स्थानको अपहरण कर लिया है। आप हम लोगोंकी रक्षा कीजिये। शत्रुओंने हमें निर्वासित कर दिया है। आप ऐसा उपाय की जये, जिससे मेरे पुत्र फिर अपने स्थानोंको पा जायें। अदितिके इस तरह कहने पर प्रजापति कश्यपने विस्मित हो कर कहा, कि अहो! विष्णु-मायाका कैसा असीम प्रभाव है! यह जगत् स्नेहाबद्ध है। आत्मा-भिन्न भौतिक देह ही कहां है? फिर प्रकृति बिना आत्मा ही कहां है? भद्रे! कौन किसका पति, कौन किसका पुत्र? केवल मोह ही इस बुद्धिका एकमात्र कारण है। तुम आदिदेव भगवान् वासुदेवकी उपासना करो। वही तुम्हारा मङ्गल करेंगे। दोनोंके प्रति वे बड़े दयालु रहते हैं। भगवान्की सेवा अमोघ है। सिवा इसके और किसी तरहसे कुछ फल नहीं हो सकता। इस समय अदितिने पूछा, कि किस प्रकारसे उनकी आराधना करनी होगी? इस पर कश्यपने कहा था, देवि! फाल्गुन महीनेके शुक्लपक्षमें १२ दिनों तक पयोव्रत करो, ऐसा करनेसे भगवान् विष्णु प्रसन्न हो पुत्ररूपमें जन्म ले कर तुम लोगोंके इस दुःखको दूर करेंगे।

अदितिने कश्यपसे इस व्रतका अनुष्ठान करनेका आदेश पा कर वैसा किया। कुछ दिन बीतने पर देवमाता अदितिने भगवान्को गर्भमें धारण किया। इसके बाद भाद्रपद मासके शुक्लपक्षकी द्वादशीको अनादि भगवान् विष्णुने श्रवणा नक्षत्रके प्रथमांश अभिजित मुहूर्त्तमें जन्म लिया। इस दिन चंद्रमा श्रवणानक्षत्रमें वास करते थे। अश्विनी प्रभृति सभी नक्षत्र तथा देवगुरु वृहस्पति शुक्र प्रभृति ग्रहगण भी अनुकूल रह कर शुभावह हुए थे। इस तिथिके दिनके मध्यभागमें भगवान्ने जन्मग्रहण किया था। इसीलिये इस द्वादशीका नाम विजयाद्वादशी है। वामनदेवके भूमिष्ठ होते ही शङ्ख, दुन्दुभि प्रभृतिका तुमुल शब्द होने लगा। अप्सरायें हर्षित हो कर नाचने लगीं। अदिति परमपुरुषको स्वकीय योगमायासे देह धारण कर गर्भमें जन्म ग्रहण करते देख आश्चर्य्यान्वित और सन्तुष्ट हुईं। कश्यप भी आश्चर्य्यान्वित हो कर जय जय शब्द उच्चारण करने लगे। अव्यक्त ज्ञानस्वरूप भगवान्की चेष्टा अद्भुत है। उन्होंने प्रभा, भूषण, अस्त्र द्वारा प्रकाशमान देह धारण की थी। सहसा उसी देहने नटकी तरह वामनकुमारकी मूर्त्ति धारण कर ली। महर्षियोंने इनको वामनरूपमें प्रवर्त्तित देख स्तव करना आरम्भ किया। कश्यपने विधिपूर्वक जातकर्म संस्कार कार्य्य कर उपनयन संस्कारसे संस्कृत किया। इस उपनयनके समय सूर्य्यदेव सावित्री और वृहस्पति ब्रह्मसूत्रपाठमें प्रवृत्त हुए और कश्यपने उनको मेखला पहनाया। वामनरूपी जगत्पतिको पृथ्वीने कृष्णाजिन, सोमने दण्ड, माताने कौपीन, स्वर्गने छत्र, ब्रह्माने कमण्डलु, सप्तर्षियोंने कुश और सरस्वतीने अक्षमाला पहनाई। वामनदेवके उपस्थित होने पर यक्षराजने उनको भिक्षापात्र और स्वयं अम्बिकाने उनको भिक्षा दी। इस समय वामनदेवने सुना; कि दैत्यराज बलिने अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया है। उस समय वामनदेव ब्राह्मणरूपमें भिक्षा मांगनेके लिये उसके पास गये। समूचा बल उनमें मौजूद था। सुतरां उनके चलनेसे प्रत्येक पद पर पृथ्वी कांपने लगी। नर्मदा-तटके उत्तर तट पर भृगुकच्छ नामक क्षेत्रमें बलिके पुरोहित और ब्राह्मणोंने श्रेष्ठ यज्ञ आरम्भ किया था। भगवान् वामनदेव वहां पहुंचे। भगवान्की तेजःप्रभा देख कर सब स्तम्भित हो गये।

माया वामनरूपधारी हरिके कटिदेशमें मूंजकी करधनी, कृष्णाजिनमय उत्तरीय यज्ञोपवीतवत वाम कन्धे पर निवेशित, मस्तक पर जटा और इनकी देह छोटी देख भृगुगण उनके तेजसे अभिभूत हो उठे। उस समय बलिने उठ कर भगवान् वामनदेवका पैर धो कर उनसे विनप्रयुक्त वचनोंमें कहा, "ब्राह्मण! आपके आनेमें कोई कष्ट तो नहीं हुआ? आप आज्ञा दीजिये, आपका मैं क्या उपकार कर सकता हूं? आप ब्रह्मर्षियोंकी मूर्त्तिमती तपस्या हैं। आपके पदार्पणसे हमारा पितृकुल परितृप्त हुआ और कुल भी पवित्र हुआ। आपकी जो इच्छा हो वही मांगिये। अनुमान होता है, कि आप कुछ यांचनेके लिये ही आये हैं। भूमि, स्वर्ण, उत्तमोत्तम वासस्थान, मिष्टान्न, समृद्धशाली ग्राम आदि जो कुछ आवश्यक हो आज्ञा दीजिये, मैं उसका पालन करूं!"

भगवान्‌ने बलिके वाक्य पर सन्तुष्ट हो कर कहा:—

तुमने अपने कुलके अनुसार ही यह शिष्टाचार दिखाया है। तुम्हारे कुलमें किसीने किसी ब्राह्मणको दान देनेका कह पीछे उससे इन्कार नहीं किया है। इसके बाद वामनदेवने कहा, दैत्यराज! मैं और दूसरा कुछ नहीं चाहता। मैं अपने इस पैरसे तीन पैर नाप कर भूमि चाहता हूं। तुम दाता हो और जगत्‌के ईश्वर हो। जितना आवश्यक हो, विद्वान् व्यक्तिको उतना ही मांगना चाहिये।

उस समय वामनके इस तरह कहने पर राजा बलिने कहा,—"आपका वाक्य वृद्धकी तरह है, किन्तु आप बालक मालूम होते हैं, अतएव आपकी बुद्धि मूर्खकी तरह है। क्योंकि स्वार्थके विषयमें आपको ज्ञान नहीं है। मैं त्रैलोक्यका ईश्वर हूं। मैं एक द्वीप मांगने पर दे सकता हूं। किन्तु आप इतने अबोध हैं, कि मुझको संतुष्ट कर तीन पैर भूमि चाहते हैं। मुझको प्रसन्न कर दूसरे पुरुषसे प्रार्थना करनेकी जरूरत नहीं रहती। अतएव उस वस्तुकी आप प्रार्थना करें जिससे आपके गृह-संसारका काम मजेमें चल जाये।"

उस समय भगवान्‌ने कहा,—"राजन्! त्रैलोक्यमें जो कुछ प्रियतम अभीष्ट वस्तु हैं, वे सभी अजितेन्द्रिय पुरुषको तृप्त कर नहीं सकतीं। जो व्यक्ति तीन पैर भूमि पा कर सन्तुष्ट नहीं होते, नववर्षविशिष्ट एक द्वीप लाभसे भी उसकी आशा पूरी नहीं होती। तब वह सातों द्वीपोंकी कामना करने लगता है। कामनाकी अवधि नहीं है। पुराणोंमें मैंने सुना है, कि वेणु, गद आदि राजे सप्तद्वीपके अधीश्वर हो कर एवं यावतीय अर्थ, कामना भोग करके भी विषयभोगकी तृष्णासे रहित नहीं हो सके। सन्तुष्ट व्यक्ति इच्छाप्राप्त वस्तुको भोग कर सुखसे रहता है, किन्तु अजितेन्द्रिय व्यक्ति त्रिलोक प्राप्त होने पर भी सुखी नहीं होता।"

उस समय वामनदेवकी बात सुन कर राजा बलि हंसने लगे और उन्होंने "लीजिये" यह कह कर भूमिदान करनेके लिये जलका पात्र हाथमें ले लिया। किन्तु सर्वज्ञ दैत्यगुरु शुक्राचार्यने विष्णु-उद्देश्यको समझ कर बलिसे कहा—"बलि! यह साक्षात् विष्णु हैं। देवताओंके कार्यसाधनके लिये कश्यपके औरस तथा अदितिके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं। तुम अपनी लाई हुई विपद्‌को देख नहीं रहे हो। इनको दान देना स्वीकार कर तुम लाभ नहीं उठाओगे। दैत्यों पर महाविपद् उपस्थित है। मायावामनरूपी भगवान् विष्णु तुम्हारा स्थान, ऐश्वर्य, धन, तेज, यश विद्या आदि सब अपहरण कर इन्द्रको प्रदान करेंगे। विश्व इनकी देह है, ये तीन पैरोंसे तीनों लोकों पर आक्रमण करेंगे। तुम्हारा सर्वस्व नष्ट हुआ। इन वामनदेवके एक पैरसे पृथ्वी, दूसरे पैरसे स्वर्ग और इस विशालदेहसे गगनमण्डल व्याप्त होगा। तीसरे पैरके लिये तुम क्या दोगे? तुम्हारे पास कुछ नहीं रहेगा। यदि नहीं दोगे, तो तुम अपनी प्रतिज्ञा भ्रष्ट होनेका दोषी बन कर नरक जाओगे। जिस दानसे अर्जनोपाय बिलकुल नहीं रह जाता, वह दान यथार्थ प्रशंसार्ह नहीं है। श्रुतिमें भी लिखा है, कि स्त्रीविलासके समय प्राण संकट उपस्थित होने पर हास्य-परिहासमें विवाहके समय वरके गुण वर्णन करनेमें, जीविकावृत्तिकी रक्षाके लिये और गो-ब्राह्मणकी रक्षाके लिये झूठ बोलनेमें दोष नहीं होता, अतएव इस प्राण संकटके समय झूठ बोल कर भी अपनी देह बचाओ। इससे तुम्हारा अनिष्ट नहीं होगा।"

राजा बलि शुक्राचार्यकी इस बात पर जरा गौर कर कहने लगे, "आपने जो उपदेश दिया, वह सर्वथा सत्य है, जिससे किसी समयमें अर्थ, काम, यश आदिमें व्याघात उपस्थित न हो, गृहस्थोंका यथार्थ धर्म है। किन्तु मैं प्रह्लादका पौत्र हूं। दूंगा कह कर मैंने जिसको बात दी है, अब सामान्य वञ्चकोंकी तरह मैं ब्राह्मणको कैसे न दूंगा। पृथ्वीने कहा है, कि झूठे आदमीके सिवा मैं सब किसीका भार सह सकता हूं। ब्राह्मणके ठगनेमें मुझे जैसा भय हो रहा है, नरक, दरिद्रता, सिंहासनच्युत या मृत्यु होनेसे भी वैसा भय नहीं होगा। अतएव मैंने जब एक बार देना स्वीकार किया है, तो मैं स्वयं अपनी जबानको उलट न सकूंगा।"

शुक्राचार्यने बलिकी बात पर नाराज हो कर यह शाप दिया, कि "तुम मूर्ख हो कर पाण्डित्याभिमानके कारण मेरी आज्ञाकी अवहेला करते हो, इसलिये

तुम निकट भविष्यमें श्रीभ्रष्ट हो जाओगे।" गुरु शुक्राचार्यके शापसे भी बलि विचलित न हुए और अपने सत्यधर्म पर अटल रहे। इसके बाद उन्होंने वामनको भूमिदानका सङ्कल्प पढ़ा। यजमान बलिने वामनदेवके चरणाको धो कर उस जलको शिर पर धारण किया। इस समय स्वर्गके देवता इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर पुष्प-वृष्टि करने लगे।

देखते देखते वामनदेवका शरीर आश्चर्यरूपसे बढ़ गया। गुणत्रय इसी रूपके अन्तर्गत थे। अतएव पृथ्वी, आकाश, दिक्, स्वर्ग, विवर, समुद्र, पशु, पक्षी, नर और देवतागण सभी इसी रूपमें अधिष्ठित थे। बलिने देखा, कि विश्वमूर्त्ति हरिके चरणोंके नीचे रसातल, दोनों चरणोंमें पृथ्वी, जङ्घायुगलमें पर्वतश्रेणी, घुटनेमें पक्षिगण और ऊरुद्वयमें मरुद्गण, वसनमें संध्या, गुह्यमें प्रजापति, नितम्बमें आप और असुरगण, नाभिदेशमें आकाश, कांखमें सातों समुद्र, वक्षस्थल पर सभी तारे, हृदयमें धर्म, स्तनद्वयमें ऋत और सत्य, मनमें चन्द्र और वक्षःस्थलमें कमला विराज रही है, यह देख राजा बलि स्तम्भित हुए।

उस समय भगवान् वामनने एक पैरसे पृथ्वी, शरीरसे आकाश और बाहु द्वारा दिङ्मण्डल पर आक्रमण किया। इसके बाद उन्होंने दूसरा पैर फैलाया, इस पैरमें स्वर्ग ज़रा भर ही हुआ। किंतु तीसरे पैरके लिये अब कुछ न बचा। दूसरे चरणने ही क्रमसे जनलोक, तपोलोक आदि लोकों पर आक्रमण कर सत्यलोक पर प्रभुत्व जमाया। देवताओंने उनका यह भयङ्कर रूप देख कर उनकी स्तुति करनी आरम्भ की।

क्रमसे विष्णुने अपने विस्तारको धीरे धीरे कम कर दिया और फिर अपना पूर्व रूप धारण किया। असुरोंने वामनके इस कृत्यको मायाजाल समझ कर महायुद्ध करनेका आयोजन किया। किंतु राजा बलिने उनको मना कर कहा, कि तुम लोग युद्ध न करो, शान्त हो। समय हम लोगोंके लिये अच्छा नहीं है। कालको अतिक्रम करनेमें कोई समर्थ नहीं हुआ है। बलिकी बात सुन कर दैत्य विष्णुके पार्षदोंके भयसे रसातलमें घुस जाने पर तैयार हुए।

इस समय वामनदेवने बलिसे कहा, कि तुमने मुझको तीन पैर भूमि दान की है, दो पैरमें यह सब कुछ हो गया। अब तीसरे पैरके लिये भूमि कहां है, दो। इस समय मैंने तुम्हारे सब विषयों पर आक्रमण कर लिया; फिर तुम अपने स्वीकृत वाक्यको पूरा न कर सके। अतएव तुमको इस पापसे नरकमें जाना होगा। अतः तुम शुक्राचार्य्यकी आज्ञा ले कर नरकका रास्ता पकड़ो।

भगवान्के इस वाक्य पर बलिने कहा,—मैंने जो कुछ कहा है, उसे झूठ कभी न होने दूंगा। आप अपने तीसरे पैरको मेरे मस्तक पर धर दें। भगवान्ने बलिको इस तरहसे निग्रह कर उसको बांध दिया। बलिकी यह दुर्दशा देख प्रह्लाद आ कर भगवान्की स्तुति करने लगे।

बलिकी पत्नी विन्ध्यावलि पतिको बंधा हुआ देख डर कर कहने लगी—भगवन्! आपने बलिका सर्वस्व हरण कर लिया। अब इनको पाशमुक्त कीजिये, बलि निगृहीत होनेके उपयुक्त नहीं। बलिने अकातरभावसे आपको समूची पृथ्वी दान कर दी है। अपने बाहुबलसे जिन सब लोकोंको जीता था, उन सबको आपके हवाले किया। जो सामान्य पुरुष हैं, वे भी आपको चरण-पूजा कर उत्तमा गति लाभ करते हैं और बलिने तो आपके चरणोंमें अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। इनकी ऐसी दशा न होनी चाहिये। इसलिये आप इनको मुक्त करें।

भगवानने बलि-पत्नीसे कहा—मैं जिस पर दया दिखाता हूं, उसका अर्थ छीनता हूं। क्योंकि अर्थसे ही ममताकी उत्पत्ति होती है। इसी ममताके कारण मानवी और मेरी अवज्ञा होती है। जीवात्मा अपने कर्मके कारण पराधीन हो कर कृमिकीट आदि योनियोंका परिभ्रमण कर अन्तमें मानवयोनि पाती है। उस समय यदि जन्म, कर्म, यौवन, रूप, विद्या, ऐश्वर्य या धन आदिसे गर्वित नहीं होता तो उसके प्रति मेरी दया हुई है, ऐसा समझना होगा। जो मेरे भक्त हैं, वे धन सब वस्तुओं द्वारा विमुग्ध नहीं होते। इस दैत्यश्रेष्ठ कीर्त्तिवर्द्धन बलिने दुर्जया मायाको जीत लिया है और कष्ट पा कर भी वह मुग्ध नहीं हुआ; वित्तहीन हुआ है, स्थानभ्रष्ट हो कर बांधा गया है, शत्रु द्वारा बांधा गया है, ज्ञाति द्वारा परित्यक्त और गुरु द्वारा तिरस्कृत और अभिशप्त

हुआ है; फिर भी बलिने सत्यधर्म नहीं छोड़ा है। अतएव बलि परम भक्त और सत्यवादी है। अतएव जो स्थान देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, मैंने बलिको वही स्थान दिया है। बलि सावर्णि मन्वन्तरका इन्द्र होगा। जितने दिन यह मन्वन्तर नहीं आता, उतने दिनों तक वह विश्व कर्मा द्वारा निर्मित सुतलमें बास करे। मेरी दृष्टि रहनेसे आधिव्याधि, श्रान्ति, तन्द्रा, पराभव और भौतिक उत्पत्ति वहां कुछ भी न होगी। इसके बाद वामनदेवने बलिसे कहा, तुम अपने जातिवालोंके साथ देवतादुर्लभ सुतलमें जाओ। तुम्हारा मङ्गल हो। इस स्थानमें तुमको कोई पराभव नहीं कर सकेगा। मैं स्वयं वहां रह कर तुम्हारी रक्षा करता रहूंगा। बलि इसके बाद सुतलमें गये। वामनदेवने स्वर्ग इन्द्रको प्रदान किया। इस तरह वामनने अदितिकी वासना पूर्ण की थी।

(भागवत ८।१४-२४ अ०)

वामनपुराणके ४८वें अध्यायसे ५३ अध्याय तक भगवान् वामनदेवके अवतार और लीला वर्णित है। स्थानाभावके कारण यहां उद्धृत किया न गया। केवल इसमें एक विशेष बात यह है, कि भगवान् वामनदेवने पहले धुन्धुसे तीन पैर पृथ्वी मांग उसको निगृहीत किया। पीछे बलिके यज्ञमें जा कर उनके सर्वस्वको उन्होंने हरण किया और इन्द्रको प्रदान किया।

वामनमूर्त्तिकी रचनाके सम्बन्धमें हरिभक्तिविलासमें इस तरह लिखा है,—

इस मूर्त्तिकी दोनों भुजाओंका आयतन त्रिगोलक, वक्षःस्थल विस्तीर्ण, हाथ पैर चतुर्थांश, मस्तक वृहत्, ऊरुद्वय और मुखप्रदेश आयामविहीन, कटि मोटी (पश्चाद् भाग) पार्श्व और नाभि भी मोटी होगी। मोहनार्थ वामनदेवकी मूर्त्ति ऐसी ही होनी चाहिये।

बड़े सङ्कटके समय भक्तिके साथ वामनमूर्त्ति तैयार करनी चाहिये। यह मूर्त्ति पीनगात्र, दण्डधारी, अध्ययनोद्यत, दूर्वादलश्याम और कृष्णाजिनधारी होगी।

(त्रि०) वामयतीति वम-णिच् ल्यु। १३ अतिक्षुद्र। पर्य्याय—न्यङ, नीच, खर्व, ह्रस्व, अनुध, अनायत।

(जटाधर)

वामन—एक प्रसिद्ध कवि। यह काश्मीरराज जयापीड़के मन्त्री थे। (राजतरङ्गिणी ४।४९६)

क्षीरस्वामी, अभिनव गुप्त और वर्द्धमानने इनकी बनाई हुई कवितादिका उल्लेख किया है। सायणाचार्यने धातुवृत्तिमें इन्हें वैयाकरण, काव्यरचयिता और सज्जनप्रतिपालक कहा है। अविश्रान्तविद्याधर व्याकरण, काव्यालङ्कारसूत्र और वृत्ति तथा काशिकावृत्ति नामक कुछ ग्रन्थ इन्होंके बनाये हुए हैं।

ठीक ठीक यह कहा जा नहीं सकता, कि सूत्रपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गसूत्रके रचयिता वामन आचार्य और उक्त कवि एक व्यक्ति थे या नहीं। शेषोक्त व्यक्तिने पञ्जिका और जैनेन्द्रका मत उद्धृत किया है।

वामन—कुछ प्राचीन ग्रन्थकार। १ उपाधिन्यायसंग्रहके रचयिता। २ खादिरगृह्यसूत्र-कारिकाके प्रणेता। ३ ताजिकतन्त्र, ताजिक सारोद्धार, वामनजातक और स्त्रीजातक नामक कुछ ज्योतिःशास्त्रोंके रचयिता। ४ वामननिघण्टु वा निघण्टु नामक ग्रन्थके प्रणेता। ५ वामनकारिका नामक व्याकरणके प्रणेता। ६ बलिकथागाथाके रचयिता। हेमाद्रि-परिशेष-खण्डमें इसका उल्लेख मिलता है। ये वत्सगोत्रीय थे। वासुदेव, कामदेव और हेमाद्रि नामक तीन पण्डित इनके योग्य पुत्र थे। ७ एक प्रसिद्ध मीमांसाशास्त्रवेत्ता। चारित्रसिंहने इनके मतकी प्रधानता दिखलाई है।

वामन—१ चट्टलके अन्तर्गत एक ग्राम। (भविष्यब्र०ख० १५।३३) २ त्रिपुराराज्यकी राजधानी अग्रतोलासे १ योजन पश्चिममें अवस्थित एक ग्राम। (देशावली)

३ विशालके अन्तर्गत एक ग्राम।

(भविष्य ब्र०ख० ३९।५३)

वामन आचार्य करञ्ज कविसार्वभौम—१ प्राकृतचन्द्रिका और प्राकृतपिङ्गलटीकाके रचयिता। २ प्रतिहारसूत्रभाष्य आदि ग्रन्थोंके प्रणेता प्रसिद्ध पण्डित वरदराजके पिता।

वामनक (सं० पु०) क्रौञ्चद्वीपका एक पर्वत।

(लिङ्गपु० ५३।१४)

वामनक्षेत्र—भोजके अन्तर्गत एक तीर्थस्थान।

(भवि०ब्र०ख० २१।६)

वामनकाशिका (सं० स्त्री०) वामन रचित काशिकावृत्ति।

वामनजयादित्य (सं० पु०) काशिकावृत्तिके टीकाकार।

वामनत्व (सं० क्ली०) वामनस्य भावः त्व। वामनता, वामनका भाव वा धर्म, अति क्षुद्रता, नीचता।

वामनतत्त्व—एक तत्त्वग्रन्थ।

वामनदत्त—सम्वित्प्रकाशके प्रणेता।

वामनदेव—एक कवि। वामन देखो।

वामनद्वादशी (सं० स्त्री०) वामनदेवताक द्वादशीव्रत विशेष। वामनद्वादशीव्रत देखो।

वामनद्वादशीव्रत (सं० क्ली०) वामनदेवताकं द्वादशीव्रतं। श्रवणाद्वादशीमें कर्त्तव्य वामनदेवका व्रतविशेष। द्वादशीके दिन वामनदेवके उद्देशसे यह व्रत करना होता है, इस कारण इसको वामनद्वादशीव्रत कहते हैं। हरिभक्तिविलासमें इस व्रतका विधान इस प्रकार लिखा है—

श्रवणाद्वादशीके पहले एकादशीके दिन निरम्बु उपवासी रह कर यह व्रत करना होता है। भाद्रमासकी शुक्ला द्वादशीको श्रवणा द्वादशी कहते हैं। अतएव पार्श्वपरिवर्त्तन एकादशीमें उपवासी रह कर यह व्रत करना उचित है। द्वादशीके क्षय होने पर एकादशीकी रातको वा दूसरे दिन द्वादशीको वामनदेवकी पूजा करे। सोना, चांदी, तांबा या बांस—इनमेंसे किसी एकका पात्र बना कर ताम्रकुण्ड स्थापन करे तथा बाईं बगल छतरी, खड़ाऊं, बांसकी अच्छी छड़ी, अक्षसूत्र और कुश रखना होता है। गन्ध, पुष्प, फल, धूप, नाना प्रकारके नैवेद्य, भोक्षभोज्य और गुड़ोदन आदि द्वारा वामनदेवकी पूजा करनी होती है। नृत्य-गीतादि द्वारा रात्रिजागरण करना आवश्यक है। पहले वामनदेवको अर्घ्य दे कर पीछे पूजा करना होती है। इस अर्घ्यमें कुछ विशेषता है, वह यह कि सफेद नारियलके पानीसे अर्घ्य देवे।

इसके बाद दोनों पादमें मत्स्यकी; दोनों जानुमें कूर्मकी, गुह्यमें बराहकी, नाभिमें नृसिंहकी, वक्षःस्थलमें वामनकी, दोनों कक्षमें परशुरामकी, दोनों भुजाओंमें रामकी, मस्तकमें कृष्णकी और सर्वाङ्गमें बुद्ध तथा कल्कीकी अर्चना करनी चाहिये "ओं मत्स्याय नमः पादयोः" इत्यादि क्रमसे पूजा करनी होगी। इसके बाद "ओं सर्वेभ्यो आयुधेभ्यो नमः" कह कर सभी आयुधकी पूजा करनी चाहिये। पीछे विधानानुसार मन्त्र पढ़ कर आचार्य और द्विजगणको दान दे देना आवश्यक है। उन्हें भी उक्त द्रव्य मन्त्र पढ़ कर ग्रहण करना उचित है।

इसके बाद व्रतकारी दधियुक्त घृत परोस कर पहले द्विजातियोंको भोजन करावे, पीछे बन्धुबांधवोंके साथ आप भोजन करे। वामनपुराण और भविष्योत्तरपुराणमें इस व्रतविधिका वर्णन है।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें लिखा है, कि द्वादशीके दिन बहुत सबेरे नदीसङ्गम पर जा कर संकल्प करना होगा। उनको पीछे एक माशा सोनेसे या शक्तिके अनुसार वामनदेवकी मूर्त्ति बनानी चाहिये। उस मूर्त्तिको कुम्भके ऊपर सुवर्णपात्रमें रख कर पीछे स्नान करा उसकी पूजा करे।

अर्घ्य देनेके बाद ब्राह्मणको छत्र, पादुका, गो और कमण्डलु दान करना होता है। रात्रिकालमें नृत्यगीतादि द्वारा रात्रिजागरण करना उचित है। द्वादशीमें ब्राह्मणको भोजन करा कर आप पारण करे। द्वादशीके रहते ही पारण करना उचित है।

जो विधिपूर्वक इस व्रतका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें सभी प्रकारका सुख-सौभाग्य प्राप्त होता है। जो पितामाताके उद्देशसे यह व्रतफल अर्पण करते हैं, वे कुलत्राता हो कर पितृऋणसे उत्तीर्ण होते हैं। इस व्रतके करनेवाले हरिधाममें जा कर ७७ युग बास करते हैं और पीछे इस पृथ्वी पर जन्म ले कर राजा होते हैं।

(हरिभक्तिवि० १५ वि०)

वामनपुराण (सं० क्ली०) अष्टादश पुराणोंमेंसे एक पुराण। पुराण शब्द देखो।

वामनभट्ट—निम्बार्कसम्प्रदायके एक गुरु। ये रामचन्द्र भट्टके शिष्य और कृष्णभट्टके गुरु थे।

वामनभट्ट—बृहद्रत्नाकर और शब्दरत्नाकर-नामक अभिधानके प्रणेता। यह वत्स्यगोत्रीय कोमटि-यज्वाके पुत्र और वरदाग्निचित्तके पौत्र थे।

वामनभट्टबाण—रघुनाथचरित और शृङ्गारभूषण नामक भाणके प्रणेता।

वामनवृत्ति (सं० स्त्री०) वामनरचित काशिकावृत्ति।

वामनव्रत (सं० क्ली०) वामनदेवताकं व्रतम्। वामनद्वादशीव्रत।

वामनसिंहरजमणिदेव—दाक्षिणात्यके एक राजा।

वामनसिंहराज—एक हिन्दूराज। आप दाक्षिणात्यमें राज्य करते थे।

वामनसूक्त (सं० क्ली०) वैदिक स्तोत्रभेद।

वामनस्थली—बम्बईप्रदेशके काठियावाड़ विभागके अन्तर्गत एक प्राचीन जनपद। इसका वर्त्तमान नाम वन्थलि वा वनस्थली है। जूनागढ़से यह ८ मील दूर पड़ता है। यहांके लोग आज भी एक स्थानको वामनराजका प्रासाद बतलाते हैं। उक्त वामनराजकी राजधानी अथवा वामनावतारके पवित्र तीर्थक्षेत्रसे इस स्थानकी प्रसिद्धि स्वीकार की जा सकती है। एक समय यहां राजा ग्राहरिपुकी राजधानी थी। स्कन्दपुराणान्तर्गत प्रभासखण्डमें भी इस प्राचीन देशकी समृद्धिका परिचय मिलता है।

वामन स्वामिन् (सं० पु०) एक प्राचीन कवि।

वामना (सं० स्त्री०) एक अप्सराका नाम।

वामनाचार्य (सं० पु०) आचार्यभेद, एक विख्यात टीकाकार।

वामनानन्द—कोकिलारहस्य और श्यामला-मन्त्रसाधनके प्रणेता।

वामनिका (सं० स्त्री०) १ खर्वाकारा स्त्री, बौनी स्त्री। २ स्कन्दानुचरमातृभेद, स्कन्दको अनुचरी एक मातृकाका नाम।

वामनी (सं० स्त्री०) १ खर्वा स्त्री, बौनी औरत। २ घोटकी, घोड़ी। ३ एक प्रकारका योनिरोग।

वामनीकृत (सं० त्रि०) मर्दन द्वारा सङ्कोचित, जो मल कर छोटा किया गया हो।

वामनीति (सं० पु०) धनका नेता। (ऋक् ६।४७।७)

वामनीय (सं० त्रि०) वक्र, टेढ़ा।

वामनेत्र (सं० क्ली०) वर्णन्यासे वामं नेत्रं स्पृश्यं येन। १ दीर्घ ईकार। २ वामलोचन, बाईं आँख।

वामनेत्रा (सं० स्त्री०) सुन्दरी स्त्री, खूबसूरत औरत।

वामनेन्द्र स्वामी (सं० पु०) आचार्यभेद। ये तत्त्वबोधिनीके प्रणेता ज्ञानेन्द्र सरस्वतीके गुरु थे।

वामनोपपुराण—उपपुराणभेद।

वामभाज् (सं० त्रि०) वामं भजते भज-ण्वि। धनभागी।

वामभृत् (सं० स्त्री०) इष्टकाभेद, यज्ञकुण्ड बनानेकी एक प्रकारकी ईंट। (शतपथब्रा० ७।४।२।३५)

वाममार्ग (सं० पु०) वामः मार्गः। वामाचार, वेदविहित दक्षिण मार्गके प्रतिकूल तान्त्रिक मत जिसमें मद्य, मांस, व्यभिचार आदि निषिद्ध बातोंका विधान रहता है।

वाममाली (सं० पु०) सह्याद्रिवर्णित राजभेद। (सह्या० ३१।३०)

वामरथ (सं० पु०) एक गोत्रकार ऋषिका नाम। इनके गोत्रवाले वामरथ्य कहलाते थे।

वामरथ्य (सं० पु०) वामरथके गोत्रापत्य। (पा ४।१।१५१)

वामलूर (सं० पु०) वामं यथा तथा लुनातीति लु बाहुलकात् रक्। वल्मीक, दीमकका भींटा।

वामलोचन (सं० क्ली०) वामनेत्र, बाईं आँख।

वामलोचना (सं० स्त्री०) वामे चारुणी लोचने यस्याः। स्त्रीभेद, खूबसूरत औरत।

वामशिव (सं० पु०) कथासरित्सागरवर्णित व्यक्तिभेद।

वामवेधशुद्धि (सं० स्त्री०) वामे प्रतिकूले यो वेधस्तद्विषये शुद्धिविशोधनं, वा वामेन विपरीतेन वेधेन शुद्धिः। ज्योतिषोक्त चन्द्रशुद्धिविशेष। इस वामवेध-शुद्धिका विषय ज्योतिषमें इस प्रकार लिखा है—जिसकी जो राशि है उस राशिसे द्वादश, चतुर्थ और नवम गृहस्थित चन्द्रके विरुद्ध होने पर भी यदि शुक्र, शनि, मङ्गल, वृहस्पति और रवियुक्त गृहसे सप्तम गृहमें हों, तो वामवेधशुद्धि होती है। इसमें विरुद्ध चन्द्र भी शुभफलदाता होते हैं। फिर वे विरुद्ध चन्द्र, शुक्र, शनि, कुज, वृहस्पति और रवियुक्तसे दशम, पञ्चम और अष्टम गृहमें वास करते तथा अपनी राशिसे यथाक्रम अष्टम, पञ्चम और द्वितीय गृहगत हो कर भी शुभफलदाता होते हैं।

वामा (सं० स्त्री०) वमति सौन्दर्यं इति वम ज्वलादित्वात् ण, टाप्, यद्वा वमति प्रतिकूलमेवार्थं कथयति वा वामः कामोऽस्त्यस्या इति अर्श आदित्वादच्। १ सामान्या स्त्री, स्त्रीमात्र। २ दुर्गा। ३ दश अक्षरोंके एक वृत्तका नाम। इसके प्रत्येक चरणमें तगण, यगण और भगण तथा अन्तमें एक गुरु होता है।

वामाक्षि (सं० क्ली०) वाममक्षि। १ वामचक्षु, बाईं आँख। २ दीर्घ ईकार।

वामाक्षी (सं० स्त्री०) वामे मनोहरे अक्षिणी यस्याः, षच् समासान्तः ङीष्। १ वामलोचना, सुन्दर स्त्री। २ दीर्घ ईकार।

वामाचार (सं० पु०) वामो विपरीतो वेदविरुद्धो वा आचारः। तन्त्रोक्त आचारविशेष।

पञ्चतत्त्व (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) इस पञ्च मकार और खपुष्प (रजस्वला स्त्रीके रज) द्वारा कुल स्त्रीकी पूजा तथा वामा हो कर पराशक्तिकी पूजा करनी होती है। इससे वामाचार होता है। जो वामाचारी हों, वे इसी विधानसे कार्यादि करें। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणके प्रकृतिखण्डमें लिखा है, कि जो इस आचारके अनुसार चलेंगे, उन्हें नरक होगा।

चारों वेदमें पशुभाव प्रतिष्ठित है अर्थात् वेद-विहित आचार वा वैदिक-आचार ही तान्त्रिक मतसे पश्वाचार है तथा वामादि जो तीन आचार हैं वे दिव्य और वीरभावमें प्रतिष्ठित हैं अर्थात् वामादि जो आचार हैं वे दिव्य और वीराचार हैं। आचारोंमें वेदाचार श्रेष्ठ हैं। वेदाचारसे वैष्णवाचार तथा वैष्णवाचारसे शैवाचार, शैवसे दक्षिणाचार, दक्षिणसे वामाचार, वामसे सिद्धान्ताचार और सिद्धान्तसे कौलाचार श्रेष्ठ है।

वामाचारके मतसे मद्यादि द्वारा देवीकी अर्चना करनी होती है सही, पर यह सबोंके लिये उचित नहीं है। ब्राह्मण वामाचारी हो कर देवीको मद्यमांस न चढ़ावें और न स्वयं सेवन करें।

कुलस्त्रीकी पूजा, मद्य मांसादि पञ्चतत्त्व और खपुष्प का व्यवहार वामाचारके प्रधान लक्षण हैं*। मद्यादि दान और सेवन वामाचारियोंका प्रधान कर्त्तव्य है। इसके बाद वामास्वरूपा हो कर परमाशक्तिकी पूजा करनी होती है, नहीं करनेसे सिद्धिलाभ नहीं होता†।

रातको छिप कर कुलक्रिया और दिनको वैदिकक्रिया करनेका विधान है। वामाचारी कौलगण चित्तरूप पुष्प, प्राणरूप धूप, तेजोरूप दीप, वायुरूप चामर आदि कल्पित उपचार द्वारा आन्तरिक साधना करते हैं। इसका नाम अन्तर्याग है। षटचक्र-वेद इस अन्तर्यागका प्रधान अङ्ग है। षटचक्र देखो।

अन्तर्याग साधनमें प्रवृत्त वीराचारी वा वामाचारी मद्यमांसादि भगवतीकी अर्चना करते हैं। कुलार्णवमें ऐसे साधकको देवीका प्रिय कहा है। यहां तक, कि कुलशास्त्रकारोंने सभीको मद्यमांस द्वारा पूजा करनेकी विधि दी है,—

"शैवे च वैष्णवे शाक्ते सौरे च गतदर्शने।
बौद्धे पाशुपते सांख्ये व्रते कलामुखे तथा॥
सदत्तवामसिद्धान्तवैदिकादिषु पार्वति।
विनालिपिशिताभ्याञ्च पूजनं विफलं भवेत्॥"
(कुलार्णव)

कुलार्णवमें यह भी लिखा है, कि सुरा शक्तिस्वरूप, मांस शिवस्वरूप और उस शिवशक्तिके भक्त स्वयं भैरवस्वरूप हैं*।

इस देशमें वीराचारी साधारणतः चक्र बना कर उपासना करते हैं। चक्रनिर्माणकी प्रणाली इस प्रकार है—साधकगण चक्राकारमें वा श्रेणीक्रमसे अपनी अपनी शक्तिके साथ ललाटमें चन्दनका प्रलेप दे कर युगक्रमसे भैरव-भैरवी भावमें बैठें। वे दलमध्यस्थित किसी स्त्रीको साक्षात् काली समझ कर मद्यमांसके साथ उसकी पूजा करें। कैसी स्त्रीकी इस प्रकार पूजा करनी होती है, तन्त्रमें यों लिखा है:—

"नटी कापालिकी वेश्या रजकी नापिताङ्गना।
ब्राह्मणी शूद्रकन्या च तथा गोपालकन्यका॥
मालाकारस्य कन्या च नवकन्याः प्रकीर्त्तिताः।
विशेषवैदग्धयुता सर्वा एव कुलाङ्गना॥
रूपयौवनसम्पन्ना शीलसौभाग्यशालिनी।
पूजनीया प्रयत्नेन ततः सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम्॥"†
(गुप्तसाधनतन्त्र १म पटल)

---

* "पञ्चतत्त्वं खपुष्पञ्च पूजयेत् कुलयोषितम्।
वामाचारो भवेत्तत्र वामा भूत्वा यजेत् पराम्॥"
(आचारभेदतन्त्र)

† "मद्यं मांसञ्च मत्स्यञ्च मुद्रामैथुनमेव च।
मकारपञ्चकञ्चैव महापातकनाशनम्॥" (श्यामारहस्य)

* तन्त्रकी यह व्याख्या ईसाई-धर्मशास्त्र बाइबिलमें भी है। शाक्त लोग जिस प्रकार शिवको मास और शक्तिको मद्य कहते हैं उसी प्रकार रोमन कैथलिक ईसाई लोगोंने भी यीशु-खृष्टके रक्तको मद्य स्वीकार किया है।

† रेवतीतन्त्रमें चण्डाली, यवनी, बौद्ध, रजकी आदि चौसठ प्रकारकी कुलस्त्रियोंका उल्लेख है। निरुत्तरतन्त्रकारका कहना है, कि वे सब शब्द वर्णबोधक नहीं हैं, उसके विशेष विशेष कार्यानुष्ठानके गुणज्ञापक हैं।

चक्रगत परपुरुष ही उन सब कुलस्त्रियोंके पति हैं, कुलधर्मसे विवाहित-पति पति नहीं हैं*। पूजाकालके सिवा अन्य समयमें परपुरुषको हृदयमें स्थान न देवें। पूजाके समय वेश्याकी तरह सबोंको परितोष करना उचित है।

साक्षात् कालीस्वरूपा ऊपर कही गई कुलनारीकी पूजा करके वामाचारी मद्यादि शोधन कर पीते हैं। प्राणतोषिणीतन्त्रमें लिखा है, कि ललाटमें सिन्दूरचिह्न और हाथमें मदिरासव धारण कर गुरु और देवताका ध्यान करते हुए उसे पान करे, सुरापात्रको हाथसे पकड़ कर तद्गत भावमें मद्यपात्रकी इस प्रकार वन्दना करनी होती है।

"श्रीमद्भैरवशेखरप्रविलसच्चन्द्रामृतप्लावितम्
क्षेत्राधीश्वरयोगिनीसुरगणैः सिद्धैः समाराधितम्।
आनन्दार्णवकं महात्मकमिदं साक्षात् त्रिखण्डामृतम्
वन्दे श्रीप्रमथं कराम्बुजगतं पात्रं विशुद्धिप्रदम्॥"

(श्यामारहस्य)

इस प्रकार विशेष विशेष मन्त्रों द्वारा पांच बार पात्रकी वन्दना करके पांच पात्र मद्य ग्रहण करना चाहिये। जब तक इन्द्रियां चञ्चल न हो जावें, तब तक पान करता रहे। पीछे चक्रादिके कल्याण और उनके विपक्षके विनाशके उपदेशसे शान्तिस्तोत्रका पाठ कर कुलक्रियाका अनुष्ठान करना होता है। इसके बाद आनन्दोल्लास।—कुलार्णवके ५म खण्डमें यह लिखा है। विस्तार हो जानेके भयसे वे सब गुह्यातिगुह्य नहीं लिखे गये। वीराचारी देखो।

वामाचारिन् (सं० स्त्री०) वामाचारः अस्त्यर्थे इनि। वामाचारयुक्त, जिन्होंने वामाचार अवलम्बन किया है।

वामापीड़न (सं० पु०) पीलुवृक्ष, पीलूका पेड़।

वामावर्त्त (सं० त्रि०) वामेन आवर्त्तः। १ वामदिक्से आवर्त्तनयुक्त, जो किसी वस्तुकी बाईं ओरसे आरम्भ की जाय। २ जिसमें बाईं ओरका घुमाव या भंवरी हो। ३ जो बाईं ओरसे चला हो।

वामावर्त्तफला (सं० पु०) ऋद्धि। (वैद्यकनि०)

वामावर्त्ता (सं० स्त्री०) आवर्त्तकी लता।

वामिका (सं० स्त्री०) वामा-स्वार्थे कन् टापि अत इत्वं। चण्डिका।

वामिन् (सं० त्रि०) १ वमनशील, उल्टी करनेवाला। २ उद्गिरणशील, उगलनेवाला। ३ वामाचारी।

वामिनी (सं० स्त्री०) योनिरोगविशेष। इसमें गर्भाशयसे छः सात दिन तक रजका स्राव होता रहता है। इसमें कभी पीड़ा होती है, कभी नहीं होती।

वामियान्—अफगानिस्तानकी सीमा पर अवस्थित एक शैलमाला। चीनपरिव्राजकने यहां इस नामके एक नगर और उस नगरमें अनेक बौद्धमूर्त्तियोंका उल्लेख किया है।

वामिल (सं० त्रि०) वाम-इलच्। १ दाम्भिक, पाखण्डी। २ वाम, बांयाँ।

वामी (सं० स्त्री०) वाम-ङीष्। १ शृगाली, गीदड़ी। २ वड़वा, घोड़ी। ३ रासभी, गदही।

वामीयभाष्य (सं० क्ली०) भाष्यग्रन्थभेद।

वामेतर (सं० त्रि०) वामादितरः। दक्षिण, बाएंका उल्टा।

वामोरु (सं० त्रि०) सुन्दर ऊरुविशिष्ट।

वामोरू (सं० स्त्री०) वामौ सुन्दरौ ऊरू यस्याः (संहितनफलक्षणवामादेश्च। पा १।४।७०) इति ऊङ्। नारीविशेष, सुन्दरी स्त्री।

वाम्नी (सं० स्त्री०) एक वैदिक ऋषिकन्या।

(पञ्चविंशब्रा० १४.६।३८)

वाम्नेय (सं० पु०) वाम्नीके अपत्य।

वाम्य (सं० त्रि०) १ वमनीय, वमनयोग्य। (शार्ङ्गधरसंहिता) २ वामसम्बन्धीय। (साहित्यदर्पण) (पु०) ३ वामदेव-ऋषिके एक घोड़ेका नाम।

वाम्र (सं० पु०) १ वम्रके गोत्रापत्य। ~~२ सामभेद~~

वाम्रड़ि—यशोर जिलेके अन्तर्गत एक प्राचीन ग्राम।

(भवि०ब्र०ख० ११।३८)

वाय (सं० पु०) १ वयन, बुनना। २ साधन।

वायक (सं० पु०) वायतीति वै-ण्वुल्। १ समूह, ढेर। २ तन्तुवाय, जुलाहा।

---

* "आगमोक्तपतिः शम्भुरागमोक्तपतिर्गुरुः।
स पतिः कुलजायाश्च न पतिश्च विवाहितः॥
विवाहितपतित्यागे दूषणं न कुलार्च्चने।
विवाहितं पतिं नैव त्यजेद्वेदोक्तकर्मणि॥"

(निरुत्तरतन्त्र)

वायत (सं० पु०) वयतके पुत्र। राजा पाशद्युम्न इनके वंशधर थे।

वायती—पश्चिम वङ्गवासी निम्नश्रेणीकी एक जाति। इस जातिके लोग अकसर चूनेका व्यवसाय किया करते है। वाइती देखो।

वायदि (सं० पु०) मत्स्यविशेष, एक प्रकारकी मछली। Pseudentropius taakree.

वायदण्ड (सं० पु०) वायस्य दण्डः यद्वा वायतेऽनेनेति वाय, वाय एव दण्डः। वायदण्ड, जुलाहोंकी ढरकी।

वायन (सं० क्ली०) पिष्टकविशेष, वह मिठाई या पकवान जो देवपूजा या विवाहादिके लिये बनाया जाय।

वायनिन् (सं० पु०) एक ऋषिपुत्र। (संस्कारकौमुदी)

वायरज्जु (सं० क्ली०) जुलाहोंके करघेकी वै या कंघी।

वायलपाड़—मन्द्राजप्रदेशके कड़ापा जिलान्तर्गत वायलपाड़ तालुकेका सदर। यहां प्रत्नतत्त्वके निदर्शनस्वरूप रायस्वामीका एक प्राचीन मन्दिर और शिलालेख है।

वायव (सं० त्रि०) वायोरयं वायु-अण्। वायुसम्बन्धीय।

वायवी (सं० स्त्री०) १ उत्तरपश्चिमदिक्, उत्तर-पश्चिमका कोना। २ कार्त्तिकके अनुचर एक मातृभेद।

(भारत ९।४६ ३७)

वायवीय (सं० त्रि०) वायुसम्बन्धीय। जैसे—वायवीय परमाणु।

वायव्य (सं० त्रि०) वायुर्देवतास्येति वायु-(वाय्वतुपित्रुषसो यत्। पा ४।२।३१) इति यत्। १ वायुसम्बन्धी। २ वायुघटित, वायुसे बना हुआ। ३ जिसका देवता वायु हों। (पु०) ४ वह कोण या दिशा जिसका अधिपति वायु है, पश्चिमोत्तर दिशा। ५ चौबीस हजार छः सौ श्लोकात्मक वायुपुराण। यह अठारह पुराणोंमें एक है। पुराण शब्दमें विस्तृत विवरण देखो। ६ एक अस्त्रका नाम।

वायस (सं० पु०) वयते इति वय-गतौ। (वयश्च। उण् ३।१२०) इति असच्, सच कित्। १ अगुरुवृक्ष, अगरका पेड़। २ श्रीवास, सरल-निर्यास। ३ काक, कौवा। अग्निपुराणमें लिखा है, कि अरुणके श्येनी नामकी पत्नीसे जटायु और सम्पाति नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। इसी जटायुसे काककी उत्पत्ति हुई।

काकके एक चक्षु नष्ट होनेका कारण नृसिंहपुराणमें इस प्रकार लिखा है—जब चित्रकूट पर्वत पर राम और सीता दोनों रहते थे, उस समय एक दिन एक कौवेने सीताके स्तनमें चोंच मारी थी। स्तनसे रक्तका बहना देख कर रामचन्द्रने कौवेका बध करनेके लिये ऐषिकास्त्र फेंका। वह कौवा इन्द्रका पुत्र था, इसलिये वह डरके मारे इन्द्रके पास भाग गया। वहां उसने अपना अपराध स्वीकार कर प्राणभिक्षा मांगी। इस पर इन्द्र कोई उपाय न देख देवताओंके साथ रामचन्द्रके पास गये और उस कौवेकी प्राणदान देनेकी प्रार्थना की। रामचन्द्रने कहा, मेरा अस्त्र निष्फल होनेको नहीं, इसलिये वह अपनी एक आंख दे देवे। कौवा राजी हो गया और वह वाण एक आंख नष्ट करके ही स्थिर हुआ। तभीसे कौवोंकी सिर्फ एक आंख है। (नरसिंहपुराण ४३ अ०)

पूरकपिण्डदानके बाद काकके उद्देशसे बलि देनी होती है। काक धर्माधर्मका साक्षी है तथा पिण्डदानादिका विषय यमलोकमें जा कर यमराजसे कहता है। नवान्न श्राद्धके बाद भी काकके उद्देशसे बलि देनेकी प्रथा है। काकचरित्र मालूम होने पर भूत, भविष्य और वर्त्तमान विषय जाने जा सकते हैं।

विशेष विवरण काक शब्दमें देखो।

(त्रि०) २ वायससम्बन्धी।

वायसजङ्घा (सं० स्त्री०) १ काकजङ्घा, चकसेनी। २ गुञ्जामूल, घुंघचीकी जड़।

वायसतन्तु (सं० पु०) १ हनुके दोनों जोड़का नाम। २ काकतुण्डिका, कौआठोंठी। ३ कौवेकी टोंटी।

वायसतीर (सं० क्ली०) एक नगरका नाम।

वायसविद्या (सं० स्त्री०) वायससम्बन्धीय विद्या, काकचरित्र।

वायसादनी (सं० स्त्री०) वायसेन अद्यते इति अद्-कर्मणि-ल्युट्, ङीप्। १ महाज्योतिष्मती लता। २ काकतुण्डी, कौआठोंठी।

वायसान्तक (सं० पु०) पेचक, उल्लू।

वायसाराति (सं० पु०) वायसस्य अरातिः शत्रुः। पेचक, उल्लू।

वायसाह्वा (सं० स्त्री०) वायसस्य आह्वा नाम यस्याः।

१ काकनामा, सफेद लाल घुंघची। २ काकमाची, मकोय।

वायसी (सं० स्त्री०) वायसानामियमिति तत्प्रियत्वात्, वायस-अण्-ङीष्। १ काकोडुम्बरिका, छोटी मकोय जिसमें गुच्छोंमें गोलमिर्चके समान लाल फल लगते हैं। २ महाज्योतिष्मती लता। ३ काकतुण्डी, कौआठोंठी। ४ श्वेत गुञ्जा, सफेद घुंघुची। ५ काकजङ्घा, मांसी। ६ महाकरञ्ज, बड़ा कंजा।

वायसावल्ली (सं० स्त्री०) करञ्जवल्ली; लताकरञ्ज।

वायसीशाक (सं० क्ली०) शाकविशेष, काकमाचीका साग।

वायसेक्षु (सं० पु०) वायसानामिक्षुरिव प्रियत्वात्। काश, कांस नामकी घास।

वायसोलिका (सं० स्त्री०) वायसोली स्वार्थे कन्, टाप्। १ काकोली, मालकंगनी। २ मधूली, जलमें उत्पन्न होनेवाली मुलेठी। ३ महाज्योतिष्मती लता। ४ पत्रशाकविशेष।

वायसोली (सं० स्त्री०) वायसान् ओलण्डयतीति ओलड़ि-उत्क्षेपे 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति ड शकन्ध्वादित्वात् अस्य लोपः। काकोली, मालकंगनी।

वायु (सं० पु०) वातीति वा गतिगन्धनयोः (कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्। उण्० १।१) इति उण् (आतोयुक् चिण्कृतोः। पा ७।३।३३) इति युक् पञ्चभूतके अन्तर्गत भूतविशेष, हवा, पवन। पर्याय—श्वसन, स्पर्शन, मातरिश्वा, सदागति, पृषदश्व, गन्धवह, गन्धवाह, अनिल, आशुग, समीर, मारुत, मरुत्, जगत्प्राण, समीरण, नभस्वान्, वात, पवन, पवमान, प्रभञ्जन। (अमर) अजगत्प्राण, खश्वास, वाह, धूलिध्वज, फणिप्रिय, वाति, नभःप्राण, भोगिकान्त, स्वकम्पन, अक्षति, कम्पलक्ष्मा, शसीनि, आवक, हरि। (शब्दरत्नावली) वास, सुखाश, मृगवाहन, सार, चञ्चल, विहग, प्रकम्पन, नभःस्वर, निश्वासक, स्तनून, पृषतांपतिः। (जटाधर)

वेदान्तके मतानुसार आकाशसे वायुकी उत्पत्ति है। जब भगवान्ने चराचर जगत्की सृष्टि करनेकी इच्छा प्रकट की, तब पहले आत्मासे आकाशकी, आकाशसे वायुकी, वायुसे अग्निकी, अग्निसे जलकी और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई।

"तस्मादेतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते" (श्रुति) वायु पञ्चभूतमें दूसरी है और आकाशसे उत्पन्न हुई है, इसी कारण इसके दो गुण हैं—शब्द और स्पर्श।

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पञ्चवायु हैं। ऊर्द्ध्वगमनशील नासाग्रस्थानमें अवस्थित वायुका नाम प्राण, अधोगमनशील पायु आदि स्थानमें स्थित वायुका नाम अपान, सभी नाड़ियोंमें गमनशील समस्त शरीरस्थायी वायुका नाम व्यान, ऊर्द्ध्वगमनशील कण्ठस्थायी उत्क्रमणशील वायुका नाम उदान, पीत अन्नजलादिके समीकरणकारी वायुका नाम समान है। समीकरणका अर्थ परिपाक अर्थात् रस, रुधिर, शुक्रपुरीषादि करना है। हम लोग जो सब वस्तु खाते हैं, एकमात्र वायु ही उन्हें परिपाक करती है।

सांख्याचार्यगण नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय नामक और भी पांच प्रकारकी वायु स्वीकार करते हैं। उद्गिरणकारी वायुका नाम नाग, चक्षु उन्मीलनकारी वायुका नाम कूर्म, क्षुधाजनक वायुका नाम कृकर, जृम्भनकारी वायुका नाम देवदत्त और पोषणकारी वायुका नाम धनञ्जय है। वैदान्तिक आचार्यों ने प्राणादि पांच वायु स्वीकार की है सही, पर नागादि पांच वायु उक्त प्राणादि पांच वायुमें अवस्थित है, इस कारण पञ्चवायु स्वीकार करने होसे इन सब वायुकी सिद्धि हुई है।

यह प्राणादि पञ्च वायु आकाशादि पञ्चभूतके रजःअंशसे उत्पन्न हुई हैं। प्राणादि पञ्चवायु पञ्चकर्मेन्द्रियके साथ मिल कर प्राणमय कोष कहलाती हैं। गमनागमनादि क्रियास्वभाव होनेके कारण इस पञ्चवायुको रजः-अंशका कार्य कहते हैं। भाषापरिच्छेदमें लिखा है, कि अपाकज और अनुष्ण शीतस्पर्श वायुका धर्म है। यह तिर्य्यग् गमनशील तथा स्पर्शादिलिङ्गक है अर्थात् स्पर्श द्वारा इसे जाना जाता है। शब्द, स्पर्श, धृति और कम्प द्वारा वायुका अनुमान किया जाता है अर्थात् विजातीय स्पर्श, विलक्षण शब्द तृणादिकी धृति और शाखादिके कर्म द्वारा ही वायुका ज्ञान होता है।

जिस वस्तुमें रूप नहीं, स्पर्श है, उसका नाम वायु है। पृथिवी, जल और तेज वस्तुमें रूप है, आकाशादि

वस्तुमें स्पर्श नहीं है, इस कारण वे वायु नहीं हैं। वायु दो प्रकारकी है नित्य और अनित्य। वायवीय परमाणु नित्य और तद्भिन्न वायु अनित्य है। अनित्य वायुके भी फिर तीन भेद हैं, शरीर, इन्द्रिय और विषय वायुलोकस्थ जीवोंका शरीर वायवीय है। व्यजनवायु अङ्ग-सङ्गिजलके शीतल स्पर्शको अभिव्यक्त करती है, त्वगिन्द्रिय भी स्पर्शमात्रकी अभिव्यञ्जक है, अतएव यह वायवीय है। शरीर और इन्द्रियको छोड़ कर बाकी सभी वायुका साधारण नाम विषय है। अन्यद्रव्यमात्र ही पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतोंसे थोड़ा बहुत सम्बन्ध रखता है। तथा यह चार भूतोंके जन्यद्रव्यका आरम्भक वा समवायिकारण है।

शब्दके आश्रय द्रव्यका नामका आकाश है। शब्दमें एक अधिकरण वा आश्रय अवश्य है, वही आकाश कहलाता है। शब्दकी उत्पत्तिके लिये वायुकी अपेक्षा रहने पर भी वायुशब्दका आश्रय नहीं है। क्योंकि, वायुका एक विशेष गुण स्पर्श है। यह स्पर्श यावद् द्रव्यभावी है अर्थात् वायु जब तक रहती है, तब तक उसमें स्पर्शगुण भी रहता है। किन्तु शब्द वैसा नहीं है। वायु रहते हुए भी शब्द नष्ट हो जाता है। वायुके विशेष गुण स्पर्शके साथ ऐसी विलक्षणता रहनेके कारण शब्द वायुका विशेष गुण नहीं है। शब्द यदि वायुका विशेष गुण होता, तो स्पर्शकी तरह वह भी यावद् द्रव्यभावी हो सकता था।

परमाणुरूप वायु नित्य है, यह पहले लिखा जा चुका है। अदृष्टयुक्त आत्माके संयोगसे पहले पवनपरमाणुमें कर्मकी उत्पत्ति होती है। सभी पवनपरमाणुके परस्पर संयोगसे द्व्यणुकादिक्रममें महान्‌वायु उत्पन्न होती है तथा अनवरत कम्पमान हो कर आकाशमें अवस्थित रहती है। तिर्यग्गमन वायुका स्वभाव है। उस समय ऐसे दूसरे किसी भी द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती जिससे वायुका वेग प्रतिहत हो सके। वायुकी सृष्टिके पीछे उसी प्रकार आप्य वा जलीय परमाणुमें कर्मकी उत्पत्ति हो कर द्व्यणुकादिक्रममें महान् सलिलराशि उत्पन्न होती तथा वायुवेगसे कम्पमान हो कर वायुमें अवस्थित रहती है। (न्यायद०) वैशेषिकदर्शनकार कहते हैं—"स्पर्शवान् वायुः"—(४।२।१)

शङ्करमिश्रने वायुके लक्षणमें लिखा है—"स्पर्शेतरविशेष-गुणासमानाधिकरण-विशेषगुण-समानाधिकरण-जातिमत्वं वायुलक्षणम्।"

अर्थात् पदार्थकी जिस जातिमें स्पर्शगुणके सिवा अन्यान्य गुणोंके असमानाधिकरणविशिष्ट विशेष गुणका समानाधिकरणजातिमत्व विद्यमान है, वही वायु है। महर्षि कणादने केवल स्पर्शगुण द्वारा ही वायुका लक्षण सिद्ध किया है। महर्षि कणादने वायुसाधनप्रकरणमें लिखा है—"स्पर्शश्च वायोः"—(१।२।१)

शङ्करमिश्रने वैशैशिकसूत्रोपस्कारमें लिखा है—"चकारात् शब्दधृतिकम्पा समुच्चीयन्ते।"

अर्थात् "स्पर्शश्च" शब्दके अन्तमें जो "च" कार है वह चकार समुच्चयके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। इसमें शब्द, धृति और कम्प इन तीनोंको भी वायुलक्षणके अन्तर्भुक्त समझना होगा। शब्दस्पर्शवत् वेगवत् द्रव्याभिघातनिमित्तक है, शब्दसन्तति वायुका एक लक्षण है। डंडेके आघातसे भेरीसे जो शब्द निकलता है उसका वह शब्दसन्तान वायु ही लक्षण है। आकाशमें तृणतुलादि विधृत अवस्थामें वर्त्तमान रहता है, वह भी वायुके अस्तित्वका परिचायक है; यही धृतिका उदाहरण है। इस प्रकार वायुकी अस्तित्वके सम्बन्धमें कम्प भी एक लक्षण है। वायुके सम्बन्धमें वैशेषिकदर्शनके द्वितीय अध्यायके प्रथम आह्निकमें बहुत गहरी आलोचना की गई है।

सांख्यदर्शनके मतसे शब्दतन्मात्र और स्पर्शतन्मात्रसे वायुकी उत्पत्ति हुई है, इस कारण वायुके दो गुण हैं,—शब्द, और स्पर्श। जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका गुण पाता है तथा उसमें भी एक विशेष गुण रहता है। वायुका विशेष गुण स्पर्श है तथा शब्दतन्मात्रसे हुआ है, इस कारण शब्द और वायुका गुण जानना होगा। सांख्यकारिकाके भाष्यमें गौड़पादने लिखा है—

"शब्दतन्मात्रादाकाशं स्पर्शतन्मात्राद्वायुः रूपतन्मात्रात्तेजः रसतन्मात्रादापः गन्धतन्मात्रात् पृथिवी एवं पञ्चभ्यः परमाणुभ्यः पञ्चमहाभूतान्युत्पद्यन्ते।"

किन्तु वाचस्पतिमिश्र कहते हैं—

"शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः—शब्दस्पर्शगुणः।" इत्यादि।

सांख्यकारिका—

"सामान्यकरणवृत्तिप्राणाद्याः वायवः पञ्च।" २९ सूत्र।

इस सूत्रके भाष्यमें गौड़पादमुनिने पञ्चवायुके क्रिया-सम्बन्धमें संक्षेपतः बहुअर्थप्रकाशक अनेक बातें कही हैं।

पुराणमें लिखा है, कि वायु ४९ हैं। ये सभी अदितिके पुत्र हैं। इन्द्रने इन्हें देवत्व प्रदान किया। यह वायु देहकी वाह्य और अन्तर्भेदसे दश प्रकारकी है। जैसे—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय। इन दश प्रकारकी वायुके कार्य पृथक् पृथक् हैं। जैसे, प्राणवायुका कार्य—वहिर्गमन, अपानका कार्य—अधोगमन, व्यानका कार्य—आकुञ्चन और प्रसारण, समानका कार्य—असित पीतादिका समतानयन, उदानका कर्म—ऊर्द्ध्वानयन। ये पाँच वायु आन्तर है अर्थात् ये शरीरके भीतरमें काम करती हैं। नागादि पाँच वायु वाह्य है अर्थात् शरीरके बाहरी भागमें काम करती है। जिस क्रिया द्वारा उद्गार कार्य सम्पन्न है उस वायुका नाम नाग है। इसी प्रकार उन्मीलनकारी वायुका नाम कूर्म, क्षुधाकर वायुका नाम कृकर, जृम्भणकरका नाम देवदत्त तथा सर्वव्यापी वायुका नाम धनञ्जय है। (भागवत) मरुत शब्दमें पौराणिक विवरण देखो।

भावप्रकाशमें लिखा है—वायु, पित्त और कफ ये तीन दोष हैं। इनके विकृत होनेसे देह नष्ट होता है। अविकृत अवस्थामें रहनेसे शरीर सुस्थ रहता है।

वायुका स्वरूप यथा—वायु अन्यान्य दोष, धातु और मल आदिके प्रेरक हैं अर्थात् इन्हें दूसरी जगह भेजते हैं। फिर यह आशुकारी, रजोगुणात्मक, सूक्ष्म, रुक्ष, शीतगुणयुक्त, लघु और गमनशील भी है। अन्यान्य वैद्यक ग्रन्थोंमें लिखा है, कि अविकृत वायु द्वारा उत्साह, श्वास, प्रश्वास, चेष्टा (कायिक व्यापार), वेग, प्रवृत्ति, धातु और इन्द्रियोंकी पटुता तथा हृदय, इन्द्रिय और चित्तधारण ये सब क्रिया अच्छी तरह सम्पादन होती है। यह रजोगुणात्मक, सूक्ष्म, शीतगुणात्मक, लघु, गतिशील, खर, मृदु, योगवाही और संयोजक द्वारा दो प्रकारकी होती है। यह तेज और सोमके साथ संयुक्त होनेसे शीतजनक होती है तथा देहोत्पादक सामग्रियोंको विभक्त कर भिन्न भिन्न आकारमें यथायोग्य स्थान पर पहुंचती है, इस कारण तीन दोषोंमें वायुको ही प्रधान कहा है। पक्काशय, कटी, सक्थि, स्रोत, अस्थि और स्पर्शेन्द्रिय हैं, उनमेंसे पक्काशय प्रधान स्थान है।

एकमात्र वायु पित्तकी तरह नामभेद, स्थानभेद और क्रियाभेदसे पांच प्रकारकी है। जैसे—उदान, प्राण, समान, अपान और व्यान। स्थान और क्रियाभेदसे एक ही वायु उन सब पृथक् पृथक् नामोंसे पुकारी गई है। कण्ठ, हृदय, अन्नाशय, मलाशय और समस्त शरीर इन पांच स्थानोंमें यथाक्रम उदान, प्राण, समान, अपान और व्यान ये पांच वायु रहती हैं। जो वायु श्वास-प्रश्वासके समय ऊर्द्ध्वगामी होती है और अर्थात् शरीरसे निकलती है, उसे उदानवायु कहते हैं। उदानवायु द्वारा वाक्यकथन और सङ्गीत आदि क्रिया-निर्वाह होती है। इसको विकृति होने ही से देहमें रोग उत्पन्न होता है।

श्वास-प्रश्वासके समय जो वायु देहमें प्रवेश करती है उसका नाम प्राणवायु है। इस वायु द्वारा खाई हुई वस्तु पेटमें घुसती है, यही जीवनरक्षाका प्रधान कारण है। किन्तु इस वायुके दूषित होनेसे प्रायः हिक्का (हिचकी) और श्वास आदि रोग हुआ करते हैं।

जो वायु आमाशय और पक्काशयमें विचरण करती है उसका नाम समानवायु है। यह समानवायु अग्निके साथ संयुक्त हो कर उदरस्थित अन्नको परिपाक करती है तथा अन्नके परिपाक होनेसे जो रस और मलादि उत्पन्न होता है उसे पृथक् करती है। किन्तु यह समान वायु यदि दूषित हो, तो इससे मन्दाग्नि, अतिसार और गुल्म आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

अपानवायु पक्काशयमें रह कर यथासमय वायु, मल, मूत्र, शुक्र और आर्त्तवको नीचे ठेलता है। इस अपानवायुके दूषित होनेसे वस्ति और गुह्यदेश संश्रित नाना प्रकारके कठिन रोग, शुक्रदोष और प्रमेह तथा व्यान और अपानवायुके कुपित होनेसे जो सब रोग हो सकते हैं वे सब रोग उत्पन्न होते हैं।

सर्वदेहचारी व्यानवायु द्वारा रसवहन, घर्म और

रक्तस्राव तथा गमन, उपक्षेपण, उत्क्षेपण, निमेष और उन्मेष ये पांच प्रकारकी चेष्टायें निर्वाहित होती हैं।

शरीरधारियोंकी प्रायः सभी क्रियायें व्यानवायुसे सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् प्रायः सभी क्रिया व्यानवायु द्वारा सम्पन्न होती हैं। इस वायुकी प्रस्यन्दन, उद्वहन, पूरण, विरेचन और धारण ये पांच प्रकारकी क्रियायें हैं। इसके बिगड़नेसे प्रायः सर्वदेहगत रोग उत्पन्न होते हैं। उक्त पांच प्रकारकी वायुके एकत्र कुपित होनेसे शरीर निश्चय ही विनष्ट होता है।

वायुका कार्य—सभी आशयमें आमाशय श्लेष्माका, पित्ताशय पित्तका और पक्वाशय वायुका अवस्थिति-स्थान है। ये तीन दोष शरीरमें सर्वत्र और सर्वदा उपस्थित रहते हैं। इन तीन दोषोंमें वायु शरीरके सभी धातुओं और मलादि पदार्थोंको चालित करती है तथा वायु द्वारा ही उत्साह, श्वास, प्रश्वास, चेष्टा, वेग आदि और इन्द्रियोंके कार्य सम्पादित होते हैं। वायु स्वभावतः रुक्ष, सूक्ष्म, शीतल, लघु, गतिशील, आशुकारी, खर, मृदु और योगवाही है। सन्धिभ्रंश, अङ्गप्रत्यङ्गादिका विक्षेप, मुद्गरादि आघात या शूलकी तरह अथवा सूचीवेधकी तरह, विदारणकी तरह अथवा रज्जु द्वारा बन्धनकी तरह वेदना, स्पर्शाज्ञता, अङ्गकी अवसन्नता, मलमूत्रादिका अनिर्गम और शोषण, अङ्गभङ्ग, शिरादिका सङ्कोच, रोमाञ्च, कम्प, कर्कशता, अस्थिरता, सछिद्रता, रसादिका शोषण, स्पन्दन, स्तम्भ, कषाय-स्वाद तथा श्याव वा अरुण-वर्णता, ये सब वायुके कार्य हैं। शरीरमें वायुके बिगड़नेसे ये सब लक्षण दिखाई देते हैं।

वायुप्रकोप और शान्ति—वायु क्यों बिगड़ती है और किस उपायसे वायुका प्रकोप शान्त होता है, इसका विषय वैद्यक ग्रन्थमें यों लिखा है,—बलवान् जीवके साथ मल्लयुद्ध, अतिरिक्त व्यायाम, अधिक मैथुन, अत्यन्त अध्ययन, ऊंचे स्थानसे गिरना, तेजीसे चलना, पीड़न या आघातप्राप्ति, लांघना, तैरना, रातको जागना, बोझ ढोना, भ्रमण करना, घोड़ेकी सवारी पर बहुत दूर तक जाना; मलमूत्र, अधोवायु, शुक्र, वमि, उद्गार, हिक्का और आंसूका वेग रोकना, कडुआ, तीता, कसैला, रूखा, हलका और ठंढा पदार्थ तथा सूखा साग, सूखा मांस, बोरो, कोदों, उद्दालक, सोंवा और तिन्नी चावल, मूंग, मसूर, अरहर और शिम आदि पदार्थ खाना, उपवास, विषमाशन, अजीर्ण रहते भोजन, वर्षाऋतु, मेघागमकाल, भुक्तान्नका परिपाककाल, अपराह्णकाल तथा वायुप्रवाहका समय ये सभी वायु प्रकोपके कारण हैं।

घृततैलादि स्नेहपान, स्वेदप्रयोग, अल्पवमन, विरेचन, अनुवासन, मधुर, अम्ल, लवण और उष्णद्रव्य भोजन, तैलाभ्यङ्ग वस्त्रादि द्वारा वेष्टन, भयप्रदर्शन, दशमूल क्वाथादिका प्रसेक, पैष्टिक और गौड़िक मद्यपान परिपुष्ट मांसका रसभोजन तथा सुख स्वच्छन्दता आदि कारणोंसे वायुकी शान्ति होती है।

वायुका गुण—अत्यन्त रुक्षताजनक, विवर्णताजनक और स्तब्धताकारक; दाह पित्त, स्वेद, मूर्च्छा और पिपासानाशक है, अप्रवात अर्थात् वायुशून्य स्थान इसका विपरीत गुणयुक्त है। सुखजनकवायु अर्थात् मन्द मन्द शीतल वायु ग्रीष्मकालसे शरत्काल तक सेवनीय है। परमायु और आरोग्यके लिये सर्वदा वायुशून्य स्थानमें रहना चाहिये।

पूर्वदिशाकी वायु—गुरु, उष्ण, स्निग्ध, रक्तदूषक, विदाही और वायुवर्द्धक, श्रान्त और क्षीणकफ व्यक्तिके लिये हितजनक स्वादु अर्थात् भक्ष्यद्रव्योंकी मधुरतावर्द्धक लवणरस, अभिष्यन्दी तथा त्वग्दोष, अर्श, विष, कृमि, सन्निपात, ज्वर, श्वास और आमवातजनक है।

दक्षिण दिशाकी वायु—स्वादिष्ट, रक्तपित्तनाशक, लघु, शीतवीर्य, बलकारक, चक्षुके लिये हितकर, यह वायु शरीरकी वायुको बढ़ानेवाली नहीं है।

पश्चिम दिशाकी वायु—तीक्ष्ण, शोधक, बलकारक, लघु, वायुवर्द्धक तथा मेद, पित्त और कफनाशक है।

उत्तर दिशाकी वायु—शीतल, स्निग्ध, व्याधिपीड़ितोंकी त्रिदोषप्रकोपक, क्लेदक, सुस्थ व्यक्तिके लिये बलकारक, मधुर और मृदुवीर्य है।

अग्निकोणकी वायु—दाहजनक और रुक्ष, नैऋत कोणकी वायु अविदाही, वायुकोणकी वायु तिक्तरस, ईशानकोणकी वायु कटुरस, विश्वगवायु अर्थात् सर्वव्यापी वायु परमायुके लिये अहितकर तथा प्राणियोंके लिये रोगजनक है। इसलिये विश्वग्वायुका सेवन न करना चाहिये, करनेसे स्वास्थ्यकी हानि होती है।

पंखेकी वायु—दाह, स्वेद, मूर्च्छा और श्रान्तिनाशक है; ताड़के पंखेकी वायु त्रिदोषनाशक, बांसके पंखेकी वायु उष्ण और रक्त-पित्तप्रकोपक, चामर, वस्त्र, मयूर और बेंतके पंखेकी वायु त्रिदोषनाशक, स्निग्ध और हृदयग्राही है। जितने प्रकारके पंखे हैं उनमें यही पंखे अच्छे माने गये हैं।

सर्वव्यापी, आशुकारी, बलवान्, अल्पकोपन, स्वातन्त्र तथा बहुरोगप्रद ये सब गुण वायुमें है; इस कारण वायु सभी दोषोंसे प्रबल है। वायुविकृतिका लक्षण—वातप्रकृतिके मनुष्य जागरणशील, अल्पकेशविशिष्ट, हस्त और पद स्फुटित, कृश, द्रुतगामी, अत्यन्त वाक्यप्रव्ययी, रूक्ष तथा स्वप्नावस्थामें आकाशमें घूम रहा है, ऐसा मालूम होता है।

वाग्भटका कहना है, कि वातप्रकृति मनुष्य प्रायः ही दोषात्मक अर्थात् दोषयुक्त होते हैं। उनके केश और हाथ पैर फटे और कुछ कुछ पाण्डुवर्णके हो जाते हैं। वातप्रकृतिके मनुष्य शीतद्वेषी, चञ्चलधृति, चञ्चल स्मरणशक्ति, चञ्चलबुद्धि, चञ्चल दृष्टि, चञ्चल गति और चञ्चल कार्य्यविशिष्ट होते हैं। ऐसे मनुष्य किसी व्यक्तिका भी विश्वास नहीं करते, मन सदा सन्दिग्ध रहता है। ये अनर्थक वाक्य-प्रयोग किया करते हैं। ये थोड़े धनी, अल्प सन्तान, अल्प कफ, अल्पायु और अल्प निद्रा विशिष्ट होते हैं। इनका वाक्य क्षीण और गद्गद स्वरयुक्त और टूटा होता है अर्थात् कण्ठसे निकलते समय वाक्य टूट फूट कर निकलते हैं। ये प्रायः नास्तिक, विलासपर, सङ्गीत, हास्य, मृगया और पापकर्ममें लालसान्वित होते हैं। मधुर, अम्ल और लवण रसविशिष्ट और उष्णद्रव्य भोजन इनको प्रिय है। ये दुबले पतले और लम्बे होते हैं। इसके चलनेमें पैरका मट मट शब्द होता है। किसी विषयमें इनकी दृढ़ता नहीं रहती और ये अजितेन्द्रिय होते हैं। वातप्रकृति व्यक्ति सेवा करने योग्य नहीं, क्योंकि ये नोकरोंके प्रति सत्-व्यवहार नहीं करते। इनकी आंखें खर, जरा पाण्डुरंगकी, गोलाकार, विकृताकारकी तरह दिखाई देती हैं। निद्राके समय इनकी आंखें बन्द रहती हैं और स्वप्नावस्थामें ये पर्वत और वृक्ष पर आरोहण करते तथा आकाशमें विचरण करते हैं।

ये यशोहीन, परश्रीकातर, शीघ्र कोपनस्वभाव, चोर, उनको पिण्डिका ऊपरकी ओर खिंची रहती है। कुत्ता, स्यार, ऊंट, गृधिनी, चुहिया, कौआ और उल्लू भी वातप्रकृतिके होते हैं। (भावप्र०)

चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थमें भी वायुका विशेषरूपसे गुण वर्णन किया गया है। विषय बढ़ जानेके कारण उनका उल्लेख नहीं किया गया।

वायुके सम्बन्धमें दार्शनिक विचार।

निरुक्तिका कहना है—"वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्यादुति कर्मणः।" निरुक्तिभाष्यकार कहते हैं—"सततमसौ वाति गच्छति।" इसके द्वारा मालूम होता है, कि जो सतत गतिशील है, वही वायुके नामसे प्रसिद्ध है।

उपनिषद्में जगत्सृष्टिकी आलोचनामें वायुका विषय आलोचित हुआ है। तैत्तिरीय उपनिषद्के ब्रह्मानन्दवल्लीमें लिखा है—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः समुद्भूतः" (ब्रह्मानन्दवल्ली १।३) अर्थात् उन अनन्त परमात्मासे मूर्त्तिमान पदार्थके अवकाशस्वरूप सर्वनाम रूपका निर्वाहक शब्द गुणपूर्ण आकाशकी उत्पत्ति हुई है।

इसी आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई है। जहां क्रिया है; वहां ही गति है। (Motion) है, क्योंकि क्रियाके शब्द हेतु कम्पन (Vibration) उत्पन्न होता है। कम्पनका प्रतिरूप ही गति है। गतिहेतु स्पर्श है। वह अनन्त अव्यक्त पदार्थ, सक्रिय हो कर भी शब्द और स्पर्श पूर्ण है। इसमें शब्द और स्पर्श दोनों ही है। जहां आकाश (Space) है वहां ही ज्ञानसत्ताक्रियाजनित शब्द और स्पर्श है। इसीसे श्रुतिने कहा है—"आकाशाद्वायुः"

इस बातका ऐसा तात्पर्य्य नहीं, कि वायुकी (Motion) गति पहले न थी। यह बात कही जा नहीं सकती, कि यह किस कारण पदार्थ और आकाश इसका समुत्पादक है। समग्र ही अव्यक्त सत्वमें लीन था। इस अव्यक्तसे ही व्यक्त जगत्का विकाश है। वेदान्तमें इसका प्रमाण है, सांख्यदर्शनमें भी है और तो क्या श्रीमद्भागवतमें अति स्पष्टरूपसे उसका उल्लेख है।

यूरोपीय विज्ञानमें भी यह सिद्धान्त स्थिर हुआ है।

पण्डितप्रवर हर्वर्ट-स्पेन्सरने अपने First Principle नामक ग्रन्थमें लिखा है—

"An entire history of any thing must include its appearence out of the Imperceptible and its disappearence into the Imperceptible."

यह अव्यक्त पदार्थ नियत परिणामो बता कर वेदान्त मतमें माया नामसे अभिहित है। फिर इसका परिणाम-प्रवाह नित्य होनेसे सांख्य मतमें यह सत्नामसे अभिहित हुआ है। अतएव यह कहा जा नहीं सकता, कि वायु अन्य पदार्थ है। जहां क्रियाशालिनी शक्ति है, वहां ही गति है। शक्ति जैसे अनन्त है, गति भी वैसे हो अनन्त है। अनादिकालसे कम्पनका कभी भो विराम नहीं। अव्यक्त प्रकृतिमें जो निहित अवस्थासे सुप्तशक्ति (Potential energy) रूपमें अवस्थित था, क्रियाके उद्रेकमें वही कर्मशक्तिरूपमें (Potential energy) प्रकाशित हुआ।

इस अवस्थामें गति वा कम्पन वा स्पर्शकी उत्पत्ति हुई। अनन्त आकाशमें (Atmosphere) अनन्त रहते हुए इस गतिका अवस्थान और प्रवाह विद्यमान है। पाश्चात्य विज्ञानविद् पण्डितोंका कहना है, कि चन्द्रसूर्य ग्रहनक्षत्रादिके भिन्न भिन्न जगत्में भी इस प्रकारका कोई पदार्थ अवश्य विद्यमान है। प्रति-प्रवाहमें, प्रति कम्पनमें तानका प्रभाव (Rhythum) अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। तान-क्रममें ही मानो इस कम्पनका चिरप्रवाह वर्त्तमान है। इसी लिये श्रुतिने कहा है—

"छन्दांसि वै विश्वरूपाणि।" (शतपथब्रा०)

यह सभी विश्व छन्द है। यही छन्द भूलोक, अन्तरीक्ष लोक तथा स्वर्गलोक है।

"मान्छन्दः प्रमाच्छन्दः। प्रतिमान्छन्दः।"

(शुक्लयजुर्वेदसंहिता)

परिदृश्यमान भूलोक मितच्छन्दः, अन्तरीक्षलोक प्रतिमच्छन्दः तथा द्युलोक, प्रतिमितच्छन्दः है।

"छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्त्तत'—वाक्यपदीय।

अर्थात् यह विश्व पहले छन्द हीसे विवर्त्तित हुआ है।

जो गति ताल तालमें नृत्य करती है, वही छन्दः है। वही छन्द विश्व-विवर्त्तनका कारण है। स्पेन्सरने इसीको Rhythm of motion कहा है। यह वायुका ही परिचायक है। श्रुतिने फिर कहा है—

"वायुना वै गौतमसूत्रेणाऽयञ्च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सम्बन्धानि भवन्ति।"

अर्थात् हे गौतम! यह वायु सूत्रस्वरूप है। मणि जिस प्रकार सूत्रमें ग्रंथित रहतो हैं, उसी प्रकार समस्त भूत वायुसूत्रमें ग्रथित है।

कठश्रुतिने भी यह स्वीकार किया है, कि जैसे—

"यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं यएतद्विदुर मृतास्ते भवन्ति।" (६ वल्ली)

अर्थात् यह समस्त जगत् प्राणस्वरूप ब्रह्मसे निःसृत और कम्पित होता है। वह ब्रह्म उद्यतवज्रकी तरह भयानक है। उसी प्रकार उन्हें जो जानते हैं, वे अमृत होते हैं।

यहां पर 'एजति' शब्दका अर्थ कम्पित है। वेदान्तदर्शनके मतसे वायुविज्ञानका यह कम्पनात्मक (Vibratory) ब्रह्म बहुत भयानक है। जगत्के समस्त पदार्थ कम्पनमें (Vibration) अवस्थित है। कहते हैं, कि इस कम्पनसे कम्पनके आत्मस्वरूप ब्रह्मको उपलब्धि होती है, महर्षि वादरायणने इसका सूत्र किया है—

"कम्पनात्" (वेदान्तदर्शन १।३।३४)

इस वायु वा कंपन वा गति-शक्तिसे ही सभी जीव परिणामको प्राप्त होते हैं। हार्वट स्पेनसारने भी यह बात स्वीकार की है। जैसे—

"Absolute rest and permanance do not exist. Every object, no less than the aggregate of all object undergoes from instant to instant some alteration of state. Gradually or quickly it is receiving motion or losing motion."

यह विश्वविसारी वायु वा कम्पन ही (Vibration) सृष्टि (Evolution) वा वस्तु-लय (Involution)का का कारण है। यह जगत् आविर्भाव और तिरोभावकी नित्य-प्रतिमा है। यह आविर्भाव और तिरोभाव जिस

देवतत्त्वसे संघटित होता है, वही वेदका वायु देवता है। श्रुतिने कहा है—

"वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥"
(कठ ५।१०)

अर्थात् जिस तरह एक ही वायु भुवनमें प्रविष्ट हो कर अनेक वस्तुभेदोंमें उसी प्रकारकी हो गई हैं, उसी तरह एक ही सर्वभूतकी अन्तरात्मा अनेक वस्तुभेदोंमें उसी प्रकारकी हैं तथा सभी पदार्थोंके बाहर भी है। इससे वायुकी विश्वविसारिता प्रमाणित हुई।

इस वायुसे अग्नि उत्पन्न होती है। जैसे श्रुतिने कहा है —

"वायोरग्निः"—तैत्तिरीय उपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली १।३।

वायुसे हो अग्निकी जो उत्पत्ति होती है, वैज्ञानिक युक्तिसे भी इसका समर्थन किया जा सकता है। विना अक्सिजनके दहन-क्रिया असम्भव है। पाश्चात्य विज्ञानके मतसे अक्सिजन वायुका एक प्रधान उपादान है। फिर वायुको यदि गति (Motion) कहा जाय, तो भी इससे हम लोग अग्निकी उत्पत्तिका प्रमाण पाते हैं।

हार्बर्ट स्पेन्सरने लिखा है—

"Conversely, motion that is arrested produces under different circumstances, heat, electricity magnetism and light. * * We have abundant instances in which arises as motion ceases." First Principle, p. 198.

यह वायु सर्वदा अग्निके साथ संयुक्त रहती है। जैसे—

"स त्रेधात्मानं व्याकुरुतादित्यं द्वितीयं वायुं तृतीयम्।'
बृहदारण्यक उपनिषत्।

अर्थात् अग्नि, वायु और आदित्य एक ही पदार्थ त्रिधा हो कर पृथिवी, अन्तरीक्ष और द्युलोकमें अधिष्ठित हैं।

वायु अग्निका तेज है, इसका भी प्रमाण मिलता है। जैसे—

"वायोर्वा अग्नेस्तेज तस्माद्वायुरग्नि मन्वेति।"

अतः प्रमाणित हुआ, कि वायु और तेज ये दोनों शक्ति सर्वदा एक साथ संयुक्त हैं। यह वायु और अग्नि आकाशमें ही प्रतिष्ठित है। छान्दोग्यश्रुतिमें लिखा है—

"सर्वाणिहवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ति आकाशं प्रत्यन्तं यन्त्याकाशोह्येवैभ्यो ज्यायनाकाशः परायणम्।"

आकाश ही से सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है इसे पाश्चात्य वैज्ञानिक भी मानते हैं।

वायुविज्ञान शब्दमें विस्तृत विवरण देखो।

वायुक (सं० पु०) वायु स्वार्थे कन्। वायु, हवा।

वायुकेतु (सं० स्त्री०) वायुः केतुर्ध्वजो वाहनं वा यस्याः। धूलि, धूल।

वायुकेश (सं० त्रि०) वायुवत् चलनरश्मि, जिनकी किरण वायुके समान तेज हो।

वायुकोण (सं० पु०) पश्चिमोत्तर दिशा।

वायुगण्ड (सं० पु०) अजीर्ण।

वायुगुल्म (सं० पु०) वायुना कृत गुल्म इव। १ वातचक्र, बवंडर। २ वायु रोगभेद। वायु के कुपित होनेसे जब गुल्मरोग उत्पन्न होता है, तब उसे वायुगुल्म कहते हैं।

इसका लक्षण—रूक्ष, अन्नपानीय, विषम भोजन अत्यन्त भोजन, बलवान्‌के साथ युद्ध आदि विरुद्ध चेष्टा, मलमूत्रादिका वेगधारण, शोकप्रयुक्त मनःक्षुण्ण, विरेचनादि द्वारा अत्यन्त मलक्षय और उपवास इन सब कारणोंसे वायु कुपित हो कर वायुजन्य गुल्म उत्पादन करती है। यह गुल्म घटता बढ़ता और सारे पेटमें फिरता रहता है। कभी इसमें दर्द होता और कभी नहीं भी होता है। इस गुल्मरोगमें मल और अधोवात संरुद्ध, गलशोष उपस्थित होता है। इस रोगीका शरीर श्याम वा अरुणवर्णका हो जाता है। हृदय, कुक्षि, पार्श्व, अङ्ग और शिरमें वेदना होती है। खाया हुआ पदार्थ जब पच जाता है, तब इस रोगका उपद्रव और भी बढ़ता है। पीछे भोजन करनेसे उसकी शान्ति होती है। यह रोग रूक्षद्रव्य, कषाय, तिक्त और कटुरसयुक्त द्रव्य खानेसे बढ़ता है। (माधवनि० गुल्म-रोगाधि०)

गुल्मरोग शब्द देखो।

वायुगोप (सं० त्रि०) १ वायुरक्षक, वायु जिसकी रक्षक हो।

वायुग्रस्त (सं० त्रि०) वायुना ग्रस्तः। वायु रोगाक्रान्त।

वायुज (सं० त्रि०) वायु-जन-ड। वायुसे उत्पन्न।

वायुज्वाल (सं० पु०) सप्तर्षिमेंसे एक।

वायुत्व (सं० क्ली०) वायोर्भावः त्व। वायु का भाव या धर्म, वायुका गुण। वायु देखो।

वायुदारु (सं० पु०) वायुना दीर्य्यते इति दृ-उण्। मेघ, बादल।

वायुदिश् (सं० स्त्री०) वायुकोण, पश्चिमोत्तर दिशा।

वायुदीप्त (सं० त्रि०) वायुकुपित।

वायुदैव (सं० त्रि०) वायुदेवता-सम्बन्धीय।

वायुदैवत (सं० त्रि०) वायुर्देवता अस्य अण्। वायुदेवताक, जिसका अधिष्ठात्री देवता वायु हो।

वायुदैवत्य (सं० त्रि०) वायु देवता-ष्यञ्। वायुदैवत।

वायुधारण (सं० क्ली०) वायु का वेग रोकना।

वायुनिघ्न (सं० त्रि०) वायुना निघ्नः। वायुग्रस्त।

वायुपथ (सं० पु०) वायूनां पन्था यच् समासान्तः। वायुगमनागमनका पथ, हवा आने जानेका रास्ता।

वायुपुत्र (सं० पु०) १ हनुमान्। २ भीम।

वायुपुर (सं० क्ली०) वायोः पुरं। वायुलोक।

वायुपुराण (सं० क्ली०) अठारह पुराणोंमेंसे एक। पुराण शब्द देखो।

वायुफल (सं० क्ली०) वायुना फलति प्रतिफलतीति फल-अच्। १ इन्द्रधनुष। वायोः फलमिव। २ करका, ओला।

वायुभक्ष (सं० त्रि०) वायुर्भक्षोऽस्य। वायुभक्षक, जो वायु पान करते हों।

वायुभक्ष्य (सं० पु०) वायुर्भक्ष्योऽस्येति। १ सर्प, सांप। (त्रि०) २ वातभक्षक, हवा खानेवाला।

वायुभूति (सं० पु०) एक गणधर। (जैनहरिवंश ३१)

वायुभोजन (सं० पु०) वायुर्भोजनोऽस्य। १ वायुभक्षक, सर्प। (त्रि०) २ वायुभक्षक, वायु भोजनकारी। (भाग० ७।४।२३)

वायुमण्डल (सं० पु०) आकाश जहां वायु प्रवाहित होती है। वायुविज्ञान देखो।

वायुमत् (सं० त्रि०) वायु-अस्त्यर्थे मतुप्। वायुविशिष्ट, वायुयुक्त।

वायुमय (सं० त्रि०) वायु स्वरूपे मयट्। वायुस्वरूप।

वायुमरुल्लिपि (सं० स्त्री०) ललितविस्तरके अनुसार एक लिपिका नाम।

वायुरुजा (सं० स्त्री०) १ वायुजन्य पीड़ा। २ वायुजन्य चक्षुःपीड़ा।

वायुरोषा (सं० स्त्री०) रात्रि, रात।

वायुलोक (सं० पु०) १ वायवीय लोक, वायुसम्बन्धीय लोक। २ आकाश।

वायुवर्त्मन् (सं० क्ली०) वायोर्वर्त्म। आकाश।

वायुवाह (सं० पु०) वायुना उह्यते इति वह-घञ्। धूम, धूआं।

वायुवाहिनी (सं० स्त्री०) वायुं वहतीति वह-णिनि, ङीप्। वायुसञ्चारिणी शिरा, वे शिराएं जिनसे हवा सञ्चारित होती है।

वायुविज्ञान—इस नद-नदी-नगर-अरण्यादि समाकीर्ण भूतधात्री धरिणी परसे चन्द्रसूर्य्य-ग्रह-नक्षत्रादि-खचित अनन्त आकाशमें हम जो एक महाशून्य देखते हैं क्या यह वास्तवमें महाशून्य है? हमारी मोटी आँखें चाहे जो कहें, किन्तु सूक्ष्म विज्ञानदृष्टिसे देखने पर यह मालूम होता है, कि इस जगत्में शून्य नामका कोई पदार्थ नहीं है। प्रकृतिने संसारमें कहीं भी शून्य नहीं छोड़ा है, प्रकृति वास्तवमें शून्यका चिर-शत्रु है। जिसे हम मोटी दृष्टिसे शून्य कहते है, वह भी शून्य नहीं; वायुपूर्ण हैं। एक कांचकी नलिका देखनेमें शून्य दिखाई देती है, किन्तु यह भी शून्य नहीं। क्योंकि जब इसमें जल भर दिया जाता है, तब इससे वायु बाहर निकल जाती है यह हम आँखोंसे देखते हैं। हमारी जहां तक दृष्टि दौड़ सकती है, उससे बहुत दूर तक आकाशमण्डल वायुमण्डलसे भरा हुआ है। यह वायुमण्डल दो भागोंमें विभक्त है। ऊपरमें स्थिर वायु है, उत्तापाधिक्यकी कमीवेशीसे इस अंशका कुछ भी परिवर्त्तन नहीं होता। नीचेमें उत्तापके परिवर्त्तनके साथ साथ वायुमण्डलके बहुतेरे परिवर्त्तन नजर आते हैं। इस वायुमण्डलके परिवर्त्तनशील अंशकी अपेक्षा अपरिवर्त्तनशील अंशका परिमाण बहुत अधिक है।

इस विशाल वायुमण्डलके बाद भी शून्य नामका

कोई पदार्थ नहीं है, विश्वव्यापी ईथर (Ether) अनन्त आकाशमें व्याप्त है । इथर होनेसे ही जगत् सूर्य्य प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है और सूर्य्य किरण भी उत्तप्त हो रही हैं । इस विशाल विश्व-ब्रह्माण्डमें शून्यका पूर्णतः अभाव है। जो हो, वाय विज्ञान ही हमारा आलोच्य विषय हैं। पाश्चात्य-विज्ञानकी विविध शाखायें वायुविज्ञानकी आलोचनासे भरी हुई हैं। ज्योतिर्विज्ञान, रसायनविज्ञान, शब्दविज्ञान (Accoustics), उन्मिति विज्ञान, (Hygronetry), वायु प्रचापादि विज्ञान (Pneumaties), वृष्टि-तूफानका विज्ञान (Meteorology), शरीरविषय-विज्ञान (Physiology), स्वास्थ्य-विज्ञान (Hygiene) और तापविज्ञान (Thermology) आदि बहुतेरे विज्ञानोंमें वायु विज्ञानका तत्त्व बहुत कुछ विवृत हुआ है । हम संक्षेपमें उसके सम्बन्धमें यहां कुछ आलोचना करते हैं ।

ऊंचाई ।

इस वायु मण्डलकी ऊंचाईका अन्दाजा लगानेमें वैज्ञानिकोंने बड़ा परिश्रम किया है। किसी समय इसकी ऊंचाईका अन्दाजा ४५ मीलके लगभग लगाया गया था, किन्तु इसके बाद स्थिर हुआ कि, वाय मण्डलकी ऊंचाईका परिमाण १२० मील है । परन्तु विषुवप्रदेशके उर्द्ध्वभागमें लघु स्थिर वायु इसकी अपेक्षा और भी ऊंचाई पर है । वहां इसका परिमाण दो सौ मीलसे कम न होगा । ज्योतिर्विज्ञानसे वायुमण्डलकी ऊंचाईका निर्णय करनेमें यथेष्ट साहाय्य मिला है ।

भारीपन ।

परीक्षासे वायुके भारीपनका भी अन्दाजा किया गया है। एक कांचकी नलिकासे वायु निकालनेवाले यन्त्र द्वारा वाय निकाल लेने पर वजन करनेसे जो तौल होगा, वायु भरी हुई नलिकाकी तौल उससे भारी हो जायेगी । मछली जैसे जलराशिमें तैरती फिरती है और उसकी ऊपरका गुरुत्व मालूम नहीं होता, उसी तरह मानव समाज भी वायुके बीचमें विचरण कर रहा है, इससे उसका गुरुभार अनुभव करनेमें वह समर्थ नहीं ।

रङ्ग ।

कवियोंने आकाशकी अनन्त नीलिमाके शोभा-माधुर्य्यका वर्णन किया है । आकाशका यह रंग वायुका ही रङ्ग है। दूरके पर्वतों पर जो नीलिमा दिखाई देती है, वह भी वायुका रङ्ग ही है। दक्षिण या उत्तर-पश्चिम या पूर्व चाहे जिधर तुम दूरकी ओर देखो उधर ही घन नीलिमा-माधुर्य्य तुम्हारे नेत्रोंमें प्रतिभात होगा, यह भी वायुका रङ्ग है। यही देख कर कुछ लोग कहते हैं, कि वायुका रङ्ग नीला है। किन्तु इसके सम्बन्धमें कितने ही वैज्ञानिकोंकी कल्पना सुनी जाती है। कुछ लोगोंका मत है, कि वायुका कोई भी रङ्ग नहीं; वरं वह घोर अन्धकार-पूर्ण है। व्योमयानमें जो व्यक्ति सुदूर आकाशमें विचरण करते हैं, वे दूर-देशमें काला रङ्ग देखते हैं। इससे कुछ वैज्ञानिक कल्पना करते हैं, कि वायवीय परमाणुकी विचरणतासे सब रङ्गोंका अभाव दिखाई देता है। इसीलिये लघुतम स्थिर वायुप्रदेशमें सब रङ्गोंके अभावमें काला ही रङ्ग दिखाई देता है। आकाशमें जो नीला रङ्ग दिखाई देता है, वह घनीभूत वायुमें सौरकिरणके नीले रङ्गका प्रतिफलनमात्र है। सौरकिरण जब घनवायुको चीर कर पृथ्वीकी ओर आगे बढ़ती है, तब उसकी नीली ज्योतिः वायके स्तरमें नीला रङ्ग प्रतिफलित करती है। किसीने विश्लेषण-प्रणालीसे (Spectrum analysis) इसके सम्बन्धमें बहुतसे तथ्य प्रकाशित किये हैं। वायुमें जलीय वाष्प मिला रहता है, इस वाष्पको भेद कर सौर किरण वाय मण्डलीमें नाना वर्णवैचित्र्य प्रकट करती है । जलीय वाष्पजनित वर्णवैचित्र्य ही इसका कारण है। समुद्र और आकाशकी नीलिमताके सम्बन्धमें वैज्ञानिकोंने दो रङ्गोंका निर्देश किया है। एक नीला, दूसरा चक्रवाल रेखाके किनारे पीला वर्ण या रङ्ग वायवीय पदार्थकी नीलिमाकिरण प्रतिफलन ही (Reflection) आकाशकी नीलिमाका कारण है । वायुराशिका आलोक-प्रेरणा (Transmission of rays) पीले वर्ण या रङ्गका कारण है। वायुमण्डलीके रङ्गोंकी परीक्षा करनेके लिये सस्योर (Saussure) नामक एक वैज्ञानिक पण्डितने साइनोमिटर (Cyanometer) और डायफनोमिटर (Diaphonometer) नामक दो यन्त्र आवि-

कार किये हैं। इनसे वायुमण्डलोंके रङ्गकी ऊंचाई हो सकती है।

वायुकी इस नीलिमाके सम्बन्धमें वैशेषिक दर्शनविदोंने किसी समय अच्छी तरह गवेषणा की थी। श्रीपाद शङ्करमिश्रने वैशेषिक-उपस्कारमें लिखा है—

"ननु दधिधवलआकाशमिति कथं प्रतीतिरीतिचेन्न मिहिरमहसां विशदरूपाणामुपलम्भात्तथाभिमानात्। कथं तर्हि नीलनभ इति प्रतीतिरिति चेन्न, सुमेरोर्दक्षिण दिशमाक्रम्य स्थितस्येन्द्रनीलमयशिखरस्य प्रभामालाकृतां तथाभिमानात्। यत्तु सुदूरं गच्छच्चक्षुः परावर्त्तमानं स्वचक्षुकणीनिकामाकलयत्तथाभिमानं जनयतीति मतं तदुक्तम्। पिङ्गलसारनयनामपि तथाभिमानात्। इहेदानीं रूपादिकमिति प्रत्ययात् दिक्कालयोरपि रूपादिचतुष्कमिति चेन्न समवायेन पृथिव्यादीनां तल्लक्षणस्योक्तत्वात्। ननु सम्बन्धान्तरेणापि इहेदानीं रूपात्यन्ताभाव इत्यपि प्रतीतेः सर्वधारतै दिक्कालयोः।"

५म, १म आ० द्वितीय अध्याय।

वायुकी नीलिमाके सम्बन्धमें वैशेषिक दर्शनके उपस्कारमें प्रश्न उठनेका कारण यह है, कि वायुराशि दार्शनिक प्रत्यक्षके विषयीभूत नहीं। किन्तु वायुका रूप स्वीकार कर लेने पर अर्थात् "वायुका रङ्ग नीला है" यह बात स्वीकार करने पर यह दार्शनिक प्रत्यक्षका विषय हो जाता है। इसीसे उपस्कार ग्रन्थमें सिद्धान्त किया गया है, कि आकाशमें जो नीलादि रूपके अस्तित्वकी प्रतीति होती है, वह आकाशादिका रङ्ग नहीं; नियोगतः समुच्चयतः या विकल्पतः किसी तरहसे हो नभः प्रभृति द्रव्यके रूप आदि नहीं रह सकते; फिर भी जिस वर्णकी उपलब्धि होती है यह भ्रान्ति प्रतीतिमात्र है। शङ्करमिश्रने इस भ्रान्तिको दूर करनेके लिये बहुतेरी युक्तियोंकी अवतारणा की है। समुद्र और वायुराशिमें हम जो नीलिमा देखते हैं, वह नीलिमा वस्तुगत नहीं। यह उक्त पदार्थद्वयमें सौरकिरणके नीलवर्ण प्रतिफलनसम्भूत वर्णमात्र है। यदि यह वस्तुगत होता, तो गृहाभ्यन्तरस्थ वायुराशिको और घड़ेके समुद्रजलको हम नील वर्णका ही देखते हैं। आकाशकी नीलिमा कविकी कल्पनारूपी आंखोंमें जो घनीभूत सौन्दर्य्यका विषय प्रकल्पित हुआ, दार्शनिक और वैज्ञानिकोंकी सूक्ष्म दृष्टिके तीव्र प्रकाशमें यह सौन्दर्य्यमयी कविवर्णित शोभाच्छटा सम्पूर्णरूपसे विलुप्त हो जाती है।

वायुका रासायनिक तत्त्व।

प्राच्य पण्डितोंने वायुको पञ्चभूतोंके अन्तर्गत एक भूत माना है। पाश्चात्य पण्डित बहुत दिनों तक इसको भूत ही मानते थे। हम आज भी वायुको भूत ही स्वीकार करते हैं। किन्तु यह भी वक्तव्य है, कि हमारे शास्त्रकारोंका बताया भूतपदार्थ और पाश्चात्य पण्डितोंका बताया मूलपदार्थ (Element) एक नहीं। पाश्चात्य देशोंमें बहुत दिनों तक हमारे इस पञ्च महाभूत Element नामसे पुकारा ही जाता था, किन्तु पाश्चात्य रसायन-शास्त्रमें इस समय प्रमाणित हुआ है, कि क्षिति, अप, मरुत् और व्योम—ये मूलपदार्थ या "एलिमेण्ट" नहीं हैं। किन्तु इससे हमारे शास्त्रीय 'भूत' नामधेय संज्ञाके परिवर्त्तनकी आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि पाश्चात्य पण्डित इस समय एलिमेण्टसे जो समझते हैं, हमारा भूत शब्द वैसे पदार्थका वाचक नहीं। इस समयके पाश्चात्य रासायनिक पण्डितोंका कहना है, कि वायु, जल, पृथ्वी मूल पदार्थ नहीं, वरं ये मूल पदार्थोंके संयोगसे तय्यार होते हैं। अग्नि आज भी पदार्थ नहीं है, यह रासायनिक मूल पदार्थका क्रियाफलविशेष है। विश्लेषणी क्रियाकी अति सूक्ष्म प्रणाली द्वारा जो पदार्थ किसी दूसरी जातिके पदार्थसे किसी तरह विश्लिष्ट नहीं किया जा सकता, वही पदार्थ इस समय मूलपदार्थके नामसे परिचित हैं। इस समय मूल पदार्थकी संख्या सत्तरसे भी बढ़ गई है। फिर हालके रसायनविद् पण्डितोंने परमाणुतत्त्वमें एक युगान्तर उपस्थित कर वर्त्तमान रसायनविज्ञानके मूल पदार्थ निर्णय-विभागमें महाविप्लव उपस्थित कर दिया है। वर्त्तमान विज्ञान अब इस सिद्धान्तकी ओर अग्रसर हो रहा है, कि ये सब मूल पदार्थ एक ही मूल पदार्थके अवस्थान्तरमात्र हैं।

जो हो, जब तक वह सिद्धान्त स्थापित नहीं होता तब तक हमें इसी वर्त्तमान रसायन-विज्ञानके सिद्धान्तके अनुसार ही चलना होगा। यूरोपके वैज्ञानिक युगके प्रारम्भसे अब तक वायुके रासायनिक तत्त्वके सम्बन्धमें

आलोचनायें होती आ रही हैं, नीचे उनका हम संक्षेपमें इतिहास देंगे।

वायुके उपादान विश्लेषणका इतिहास।

वायु पहले यूरोपमें भी मूल पदार्थ ही मानी जाती थी। सन् १७३० ई०मे फ्रान्सीसी रासायनिक पण्डित जाँरे (Geanray)ने देखा, कि टीन और सीसा खुली वायुमें जलानेसे उनका भारीपन बढ़ जाता है। यह देख उसके मनमें एक वितर्क उत्पन्न हुआ। उसने स्थिर किया, कि आकाशकी वायुमें ऐसा कोई पदार्थ है, जो उन धातुओंके जलानेके समय उनके साथ मिल जाता है और इस सम्मेलनके फलसे इनका गुरुत्व बढ़ जाता है। उसने यह स्पष्टतः निर्णय नहीं किया, कि वह पदार्थ क्या है?

इसके बाद सन् १६७४ ई०में मेयो नामक एक अङ्गरेज रसायनविद् पण्डित वायुकी रासायनिक परीक्षामें प्रवृत्त हुआ। इसने परीक्षा करके देखा, कि वायुमें दो तरहके वाष्प (Gas) मिले हुए हैं। इन वाष्पोंके गुणागुणके सम्बन्धमें भी उसने परीक्षा की थी। उसका विश्वास हो गया था, कि इन दो वाष्पोंमें एक जीवन-धारणके अनुकूल और दूसरा प्रतिकूल है।

१८वीं सदीके पहले भागमें भी इन दोनों वाष्पोंका नाम आविष्कृत हुआ न था। उस समयके रसायन-शास्त्रमें वायुविश्लेषणके बहुतेरे प्रमाण हैं। डाक्टर प्रिष्टलीने वायुके इस वाष्पका नाम Dephlogisticated air रखा था। डाक्टर शीलेने (Scheele) इस वाष्पको Empyreal air भी कहा है। कन्डरसेट (Con orcet) ने इसको सूक्ष्ममें Vital air कहा था। सन् १७७४ ई०की १ली अगस्तको डाक्टर प्रिष्टलीने सबसे पहले इसका विशेष विवरण प्राप्त किया। सन् १७७६ ई०में आधुनिक रसायनके जन्मदाता सुविख्यात फ्रान्सीसी रसायनविज्ञ पण्डित लाभोयाजीय (Lavoisier) ने इस पदार्थका अक्सिजन (Oxygen) नाम रखा।

डाक्टर प्रिष्टलीने मटिया सिन्दूर जला कर इससे अक्सिजन पदार्थ अलग किया। मटिया सिन्दूरको पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने Plumbum Rubrum या संक्षेपमें Red lead नाम रखा है। किन्तु सन् १७७२ ई०में वैज्ञानिक पण्डित रादरफोर्डने वायुसे नाइट्रोजन अलग किया था। नाइट्रोजन ही पहले Phlogisticated air नामसे प्रसिद्ध था। पण्डित रादरफोर्डने रुद्ध वायुमें फसफरस् नामक मूल पदार्थको जला कर वायुस्थित नाइट्रोजनको अक्सिजनसे पृथक् किया। फस्फरस् जलते समय वायुस्थित अक्सिजनके साथ मिल जाता है। किन्तु नाइट्रोजनके साथ फसफरसके उस सम्मेलनका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः रुद्धवायुमयपात्रमें फस्फरस् जलते समय केवल-मात्र नाइट्रोजन ही अवशिष्ट रह जाता है।

लाभोयाजीयने जिस प्रणालीसे इन दो पदार्थोंका विश्लेषण किया है, उनकी प्रतिक्रिया लिखी जाती है—एक बन्द कांचके बरतनमें कुछ थोड़ा-सा पारा रख कर कई दिनों तक लगातार उसमें गर्मी प्रदान कर उसने देखा, कि पारेका रंग जर्द तथा वह चूर्णाकार (धूल-कण)के रूपमें हो गया है और पात्र-स्थित वायुका वजन एकपञ्चमांश कम है। इन लाल चूर्ण पदार्थोंको वह एक कांचके बरतनमें रख उसमें उत्ताप देनेमें प्रवृत्त हुआ। इसके फलसे उससे एक वाष्पका उद्गम हुआ। वह वाष्प परीक्षा कर देखा गया, कि उसमें दहनक्रिया विशषरूपसे बढ़ गई है। लाभोयायने सबसे पहले इस पदार्थको अक्सिजन नामसे अभिहित किया। अक्सिजन यूनानी भाषाका शब्द है। Oxus का अर्थ अम्ल या एसिड और Gen उत्पन्न करना जो अम्ल उत्पन्न करता है, उसीका नाम अक्सिजन है। लाभोयाजीयका विश्वास था, कि यही पदार्थ अम्ल-उत्पादनका मूल कारण है। किन्तु इस समयकी खोजसे यह धारणा लुप्त हो गई है। अब इसका प्रमाण मिलने लगा, कि ऐसे एसिड बहुत हैं, जिनमें अक्सिजन नहीं है। दूसरी ओर क्षार-पदार्थोंमें (Alkalies) भी अक्सिजन दिखाई दे रहा है।

अब इसकी व्याख्या की जायेगी, कि किस तरह लाभोयजीयने इसका विश्लेषण किया था। पात्रस्थित वायुके अक्सिजनके साथ पारा उत्ताप द्वारा मिल कर लोहितवर्ण चूर्ण पदार्थ (Red oxide of Mercury)

उत्पादन करता है और पात्रमें नाइट्रोजन बाकी रह जाता है। बहुत अधिक उत्तापसे यह लोहितवर्ण पदार्थ विश्लिष्ट हो कर फिर यह पारा और अक्सिजन वाष्प—इन दो पदार्थोंमें परिणत हो जाता है। अक्सिजन अलग करनेका उपाय इस तरह है—

तुम एक कांचके नलमें रेड अक्साइड आव मरकुरी नामक पदार्थको रख कर इसे गर्म करो। थोड़ी देरके बाद एक बत्ती जला कर उसे इस तरह बुझा दो कि उसके मुंह पर अग्निस्फुलिङ्ग मौजूद रहे। इस नोकदार बत्तीकी आग नलमें घुसेड़ते ही वह जल उठेगा। इसका कारण यह है, कि उक्त रेड अक्साइड आव मरकुरी उत्तापके फलसे पारा और अक्सिजन वाष्पमें विश्लिष्ट हो जाता है। अक्सिजन गेसमें जलनेवाली शक्ति बहुत प्रबल है। अतएव इसमें अग्निकणाका संयोग होते ही यह जोरोंसे जल उठता है।

फ्लनिष्टिन या प्राचीन सिद्धान्त।

अब नाइट्रोजनकी बात कही जायेगी। पहले ही कहा गया है, कि सन् १७७२ ई०में एडिनबराके सुविख्यात वैज्ञानिक डाक्टर रादरफोर्डने नाइट्रोजन पदार्थको वायुसे अलग किया। उन्होंने इसका Mephitic air नाम रखा। इसके बाद डाक्टर प्रिष्टलीने इसका Phlogisticated air नाम रखा। वायुसे नाइट्रोजन निकालनेके बहुतेरे उपाय हैं। यहां उन सबोंका उल्लेख करना अप्रासङ्गिक बोध होता है। जो हो, १८वीं सदीके रसायनविज्ञानमें जो सब पदार्थ वायुके उपादान कहे जाते थे, उनकी एक फिहरिस्त नीचे दी जाती है—

१ डिफलजिष्टिकेटेड एयर या अक्सिजन।

२ फ्लजिष्टिकेटेड एयर या नाइट्रोजन।

३ नाइट्रास एयर या नाइट्रिक अक्साइड।

४ डिफलजिष्टिकेटेड नाइट्रास एयर या नाइट्रास अक्साइड।

५ इनफलेमेबल एयर या हाइड्रोजन।

६ फिक्सड एयर कार्बोनिक एसिड।

७ आलकेलाइन एयर या आमोनिया।

वायुके उपादानके विषयमें आधुनिक सिद्धान्त।

इस समय ये नाम छोड़ दिये गये हैं। रसायनविद्याविद् पण्डितोंने अनेक उपायोंसे वायुराशिका उपादान विश्लेषण कर उसका परिमाण स्थिर किया है। आज कलके पण्डितोंने वायुके जिन उपादानों और परिमाणोंका प्रदर्शन किया है, उनकी फिहरिस्त नीचे दी जाती है—

अक्सिजन	२०.६१
नाइट्रोजन	७७.६५
जलीय वाष्प	१.४०
कार्बोनिक ऐनहाइड्राइट	०.०४

सिवा इनके ओजोन् (Ozone) नाइटिक एसिड, आमोनिया, कार्बोरेटेड हाइड्रोजन और प्रधान प्रधान शहरकी वायुमें सालफारेटेड हाइड्रोजन और सलफ्यूरस एसिड दिखाई देते हैं। सिवा इनके तरह तरहके उद्वेय यान्त्रिक पदार्थ (Volatile organic matter), रोगोत्पादक बीज, (Pathogenic Germs) और माइक्रोब (Microbe) वायुमें उड़ते फिरते हैं।

अभिनव मूल पदार्थ।

सिवा इनके विशुद्ध वायुमें इस समय और भी कितने ही मूल पदार्थ आविष्कृत हुए हैं। सुप्रसिद्ध विज्ञानविद् लार्ड राले (Lord Raleigh) और यूनिवरसिटी कालेजके रसायनशास्त्रके अध्यापक विलियम रामसे (Willlam Ramsay)-इन दोनों वैज्ञानिक पण्डितोंने प्रभूत अर्थ व्यय और खूब जांच पड़ताल कर वायुमें पांच अभिनव मूलपदार्थों को देखा है। जैसे—आर्गन (Argon), हेलियाम (Helium), नीयन (Neon), क्रीपट्न (Crypton) और जीनन (Xenon) ये पांच पदार्थ वायवीय हैं।

वायु में हाइड्रोजन।

१८वीं सदीके रासायनिक पण्डित यह जानते थे, कि वायुमें हाइड्रोजन है। किन्तु वे हाइड्रोजन नाम नहीं जानते थे। इस समय कोई यह खुल कर नहीं कहता था, कि वायुमें हाइड्रोजन है। किन्तु सुविख्यात फ्रांसीसी पण्डित गाउटे (Gautier) ने बहुत परीक्षा करके निर्णय किया है, कि हाइड्रोजन नामक मूलपदार्थ विशुद्धावस्थामें सदा वायुमें विद्यमान रहता है। प्रति दस हजार

भागमें दो भाग हाइड्रोजन मिलता है। अध्यापक ड्योरा-ने इस सिद्धान्तका समर्थन किया है।

शुद्ध वायुका गुरुत्व।

उपरोक्त फिहरिस्तको देखनेसे मालूम होता है, कि अक्सिजन और नाइट्रोजन—ये दो मूलपदार्थ ही वायुके प्रधान उपादान हैं, कार्बोनिक एसिड और जलीय वाष्प आदिके परिमाण देशभेद और समयभेदसे परिवर्त्तनशील हैं। आमोनिया, सालफारेटेड, हाइड्रोजन और सालफ्यूरस् एसिड आदिका परिमाण भी देश और काल भेदसे परिवर्त्तित होते रहते हैं। किन्तु अक्सिजन और नाइट्रोजनके परिमाण तथा अनुपातमें कोई व्यतिक्रम नहीं दिखाई देता। विज्ञानविद् पण्डित वायट (Biot) और आरागेयोने (Arageo) विशुद्धवायुके गुरुत्वके सम्बन्धमें जांच पड़ताल कर स्थिर किया है, कि मध्यवर्त्ती उष्णता-में (Temperature) एकसौ क्यूबिक इञ्च शुष्क वायुका वजन ६१ ग्रेनसे कुछ अधिक है। यह जलकी अपेक्षा ८१६ गुना हलका है। वर्षाके जलमें अक्सिजनकी मात्रा अधिक परिमाणमें रहती है।

वायुके समुद्रमें अक्सिजन और नाइट्रोजन मिले हुए रहते हैं। इसको रासायनिक संमिश्रण या Chemical Combination कहते हैं। वायुमें स्थित अक्सिजन और नाइट्रोजनका सम्बन्ध वैसा दृढ़ नहीं है। प्रयोजन होनेसे सहसा एक दूसरेसे अलग हो सकता है। इस तरह सहज और सहसा विश्लेषण प्रक्रिया सम्भावित न होने पर वायु द्वारा कई अत्यावश्यक प्रयोजनोंकी सिद्धि नहीं होती। हम इसकी पीछे आलोचना करेंगे।

अक्सिजन और नाइट्रोजनका विश्लेषण।

वायुमें अक्सिजन और नाइट्रोजन—ये दो प्रधानतम उपादान हैं। इन दिनों उपादानोंके पृथक् करने तथा उनके परिमाण निर्देश करनेके जो उपाय हैं, उनके सम्बन्धमें दो बातें यहां कही जाती हैं। वायुके अक्सिजन और नाइट्रोजनका परिमाण निर्णय करनेमें 'यूडिओमिटर' (Eudiometer) नामक नलिकायन्त्र इसका प्रधान सहायक है या यों कहिये, कि वायुके परिमाण-निर्णय करनेके लिये ही इस यन्त्रकी सृष्टि हुई है। इस यन्त्रमें एक निर्दिष्ट परिमाणसे वायु ले निर्दिष्ट परिमाण हाइड्रोजनके साथ मिला कर तड़ित द्वारा वाष्पोंका संयोगसाधन करना होगा। इस परीक्षामें वायुमण्डलीका अक्सिजन हाइड्रोजनके साथ मिल कर जलीयाकारमें परिणत होता है। जो बाकी रहता है, वही अतिरिक्त हाइड्रोजन और नाइट्रोजन है।

इस परीक्षाका फल निकालनेके लिये निम्नलिखित प्रणालीका अवलम्बन करना चाहिये।

$$फ = \frac{व^{\prime} + व^{\prime\prime} - व}{३}$$

व—का अर्थ वायु जिस परिमाणसे ली गई थी।

व'—का अर्थ जिस परिमाणसे हाइडोजन लिया गया था।

व''–का अर्थ रासायनिक सम्मेलनके बाद जो मिला हुआ वाष्प बच गया था।

फ—का अर्थ फल।

यदि ५० क्यूबिक सेण्टिमिटर वायुके साथ ५० क्यूबिक सेण्टिमिटर हाइड्रोजन मिला कर तड़ित् सञ्चालनके बाद ६८.६ क्,बिक सेण्टिमीटर बाकी रहता है, तो समझना होगा कि ३१.५ क्यूबिक सेण्टिमीटर वाष्पने जलीयाकार धारण कर लिया। किन्तु दो परिमाण हाइड्रोजन और एक परिमाण नाइट्रोजन मिलानेसे जल उत्पन्न होता है।

$$\frac{३१.४}{३} = १०.४६$$

१ परिमाण अक्सिजन १०.४६।

२ परिमाण हाइड्रोजन २०.९२।

५० क्यूबिक सेण्टिमिटर वायुमें यदि १०.४६ अक्सिजन हो, तो एक सौ अंशमें २०.९२ होगा। अतएव वायुमण्डलमें सैकड़े २०.९२ अक्सिजन और ७९.०८ नाइट्रोजन है। ओजोन द्वारा वायुका अक्सिजन सैकड़े २३ और नाइट्रोजनका परिमाण ७७ भाग पाया जाता है।

वायुके अक्सिजन और नाइट्रोजनका परिमाण निर्णयके लिये और भी उपाय हैं, उनमें एक उपाय यह है—

एक छोटे पोर्सिलेन बरतन पर एक टुकड़ा फसफोरस् रख कर एक जलपूर्ण चौड़े पात्र पर रखिये। इसके बाद समान रूपसे छः भागोंमें विभक्त दोनों ओर खुले मुंहकी बोतलके आकारका एक कांचका बरतन उक्त पोर्सलेन पात्रको ढांकते हुए इस तरहसे रखना चाहिये, कि पात्रका एक अंश ही जलमें डूबा रहे। पात्र पर जो एक काग लगा रहेगा, इसके नीचे पीतलकी सांकल इस तरहसे लटकती रहेगी, कि उसके दूसरे छोर पर फसफोरसको छू सके। काग निकाल कर पीतलकी सांकल दीपके प्रकाशोंमें गर्म कर इसके द्वारा फसफसूरके टुकड़ेसे छुआ देना चाहिये और काग मज़बूतीसे बन्द कर देने पर गर्म सांकलके स्पर्शसे फसफोरस् जल उठेगा और कांचका पात्र सदा धूएंसे भर जायेगा जब बरतन ठण्डा होगा तब आप देखेंगे, कि जल ऊपर चढ़ कर बरतनके द्वितीयांश पर अधिकार किये हुए है और अन्तके चार अंश खाली पड़े हैं।

फस्फोरस पात्रस्थित वायुका आध भाग अक्सिजनके साथ मिलनेसे जो सादा धूएंके आकारका एक पदार्थ उत्पन्न होता है, वह फसफोरस् ट्राइअक्साइड (Phosphorus Trioxide p. 20) नामसे अभिहित होता है। यह जलमें गलनेवाला है अतएव थोड़ी ही देरमें बरतनमें रखे जलके साथ मिल फस्फरस् एसिडरूपमें अवस्थान करता है। जो अदृश्य वाष्प है, वह बरतनके चार अंशों पर अधिकार कर लेता है। परीक्षा करने पर वह नाइट्रोजन मालूम हो सकता है।

इसी परीक्षासे यह भी प्रमाणित होता है, कि ४ आयतन (Volume) नाइट्रोजन और एक आयतन अक्सिजन है। देखा जाता है, कि वायुमें जो सब उपादान हैं, उनमें नाइट्रोजन और अक्सिजनका भाग ही सर्वापेक्षा अधिक है, अतएव वायका रूप और धर्मके सम्बन्धमें जानना हो, तो उसके प्रधान प्रधान उपादानोंके रूप और धर्मकी आलोचना करना चाहिये। इसके लिये अक्सिजन, नाइट्रोजन, कार्बोनिक एसिड, जलीय वाष्प और हाइड्रोजन आदि पदार्थोंके सम्बन्धमें किञ्चित् विस्तार रूपसे आलोचना की जाती है।

अक्सिजन।

हमने इससे पहले ही अक्सिजन और नाइट्रोजनके आविष्कारका विवरण प्रकाशित कर दिया है। प्रिष्टली, शिले, लाभोयाजीय आदि पण्डितोंने इस बातकी आलोचन की है, कि किस तरह वायुसे अक्सिजन और नाइट्रोजन पृथक् किया जाता है। रसायनविज्ञानमें मूलपदार्थोंका जो संक्षिप्तचिह्न है, उसमें अक्सिजन अङ्गरेजी O अक्षरसे चिह्नित है, यह एक मूलपदार्थ है, इसका पारमाणविक गुरुत्व—१६ है। वायुके साधारण तापमें (Temperature) और दवावमें अक्सिजन वाष्पावस्थामें अवस्थान करता है।

अक्सिजनका नामकरण।

हमने पहले ही कहा है, कि डाक्टर प्रिष्टलीने इसको डिफलजिष्टिकेटेड एयर (Dephlogesticated air) कहा था। डाक्टर शिलेने (Scheel) एम्पिरियल एयर (Impyreal air) कहा था। सुविख्यात कण्टरसेटके मतसे इसका नाम भिटल एयर या प्राणवायु होना चाहिये। लाभोयाजीय ही इसके इस वर्त्तमान नामके आविष्कर्त्ता हैं। हमारे शार्ङ्गधरके मतसे इसका नाम होना चाहिये विष्णुपदामृत अम्बरपीयूष।

अक्सिजन उत्पादन प्रणाली।

अक्सिजन गेस उत्पादन-प्रणालीके सम्बन्धमें पहले दो-एक प्रणालियोंका दिग्दर्शन कराया गया है। वैज्ञानिक कई प्रणालियोंसे अक्सिजन उत्पन्न करते हैं। (१) मेङ्गोनिजडाइ-अक्साइड नामक पदार्थको उत्तप्त करते करते जब वह लाल हो जाता है तब उससे ट्राइमेङ्गनिज ट्रेटक्साइड और अक्सिजन वाष्प उत्पन्न होते हैं।

(२) साधारण क्लोरेट आव पोटाससे ही अनेक समयमें अक्सिजन गेस उत्पन्न किया जाता है। क्लोरेट अव पोटास गर्म करनेसे यह विकृत हो कर क्लोराइड अव पोटाशियम और अक्सिजन वाष्प उत्पन्न कर देता है।

(३) क्लोरेट अव पोटासके साथ मेङ्गनिज-डाइअक्साइड या सूर्खा बालू अथवा कांचका चूर्ण मिला कर गर्म करनेसे बहुत थोड़े समयमें ही अधिक परिमाणमें अक्सिजन गेस प्राप्त होता है। तय्यार करनेकी प्रणाली इस तरह है—

एक भाग क्लोरेट अव पोटासके साथ इसका एक

चौथाई भाग मेङ्गनिज डाई-अक्साइड मिला कर रिटर्ट नामके एक यन्त्रमें रखना होगा। एक नलाकार वाष्पवाही नलसंयुक्त काग द्वारा इसका मुंह उत्तमरूपसे बन्द करना होगा। इसके बाद इस रिटर्ट यन्त्रको एक आधार-दण्डमें जोड़ कर इसके ठीक नीचे स्पिरीट लैम्प जला देना होगा। गर्मी पाते ही अक्सिजन गैस उत्पन्न होने लगेगा। यह गेस संग्रह करना हो, तो जलपूर्ण गमला या यूमेटिकद्रफ नामक यन्त्रविशेषका व्यवहार करना होता है। परिष्कृत स्वच्छ कांचकी बोतलको गमले या यूमेटिकद्रफ जलसे पूर्ण कर उसके ऊपर अधोमुखी रखनी होगी। अक्सिजन निकलना आरम्भ होने पर वाष्पवाहिका नली बोतलके मुंहके नीचे धरते ही बुद्बुद् करके इसमें वाष्प प्रविष्ट होगा, जब बोतलका समूचा जल बाहर निकल जायेगा, तब कांचके कागसे बोतलका मुख उत्तमतासे बन्द करना होगा। एक तरहका गोंद तैय्यार कर उसे बन्द करना चाहिये। गोंद—दो भाग मोम और एक भाग नारियलका तेल मिला देनेसे तैयार होता है। बोतल व्यवहार करनेसे पहले उस कागको इसी गोंदमें डुबा लेना चाहिये।

(४) उत्तापके साहाय्यसे गंधकाम्ल-विश्लिष्ट करके भी अक्सिजन पाया जा सकता है।

(५) तड़ित्-संयोगसे जल विश्लिष्ट करके भी अक्सिजन उत्पादित होता है।

अक्सिजनका सम्मेलन।

अक्सिजन मुक्तावस्थामें फ्लूरिनके सिवा प्रायः सभी मूलपदार्थोंके साथ मिला रहता है। यह अन्यान्य पदार्थोंके साथ मिल कर तीन तरहके यौगिक पदार्थ उत्पन्न करता है। जैसे—अक्साइड, एसिड और अलकोहल। ऐसे कई पदार्थ हैं, जो अक्साइडमें कम और एसिडमें कुछ अधिक परिणत होते हैं। अङ्गार फस्फोरस, क्रोमियम आदि इसी जातिके पदार्थ हैं।

अक्सिजनका स्वरूप।

अक्सिजन गेस रङ्गहीन, स्वादहीन और गंधहीन है। यह नेत्रोंसे दिखाई भी नहीं पड़ता और यह बहुत स्वच्छ है और हाइड्रोजनकी अपेक्षा १६-गुना भारी है। साधारण वायुमें जैसे स्थितिस्थापकता आदि गुण दिखाई देते हैं, वैसे ही अक्सिजनमें भी स्थितिस्थापकता आदि गुण मौजूद हैं। जीवनकी क्रियाओंके निर्वाहके लिये अक्सिजनकी बड़ी आवश्यकता है। साधारण वायुकी अपेक्षा अक्सिजन अधिकतर दीर्घकाल तक जीवन-रक्षाके लिये उपयोगी है। इसीलिये इसका दूसरा नाम प्राणवायु या Vital air है।

पृथ्वीकी वायुसे अक्सिजन बहुत भारी है। एक-सौ क्यूबिक इञ्च परिमित अक्सिजन वाष्प मध्यम परिमित ताप और दबावसे ३४ ग्रेनकी अपेक्षा भी वजनमें अधिकतर भारी होता है। उस अवस्थामें पृथ्वीकी वायुका वजन ३१ ग्रेनसे जरा अधिक है। अक्सिजन गेस जलमें कुछ द्रवणीय है। इसकी स्वकीय व्यापकता-परिमाणस्थानके बीस गुना अधिक व्यापकता स्थानविशिष्ट जलमें अक्सिजन द्रवित हुआ करता है। इसके ऊपर प्रकाशकी कोई क्रिया नहीं। अन्यान्य वाष्पोंकी तरह उत्तापसे अक्सिजन फैलता है। बिजलीके प्रभावसे भी इसके गुणमें कोई परिवर्त्तन दिखाई नहीं देता। शैत्य तथा प्रचाप (दबाव)-से इसको नम्र या कठिन नहीं बनाया जा सकता। अक्सिजन आज भी मूलपदार्थमें ही परिगणित होता है। किन्तु कुछ लोग इस विषयमें सन्देह करते हैं। आज कलके वैज्ञानिकोंका कहना है, कि जिस सिद्धान्तसे पहले परमाणुको अविभाज्य समझा जाता था, वह सिद्धान्त भ्रमात्मक है। प्रत्येक परमाणुको वैद्युतिक क्षुद्रतम पदार्थ (Electron) समष्टिमात्र है। वर्त्तमान रसायनविज्ञानमें जिन सब मूलपदार्थोंका उल्लेख किया जा चुका है, उनमें हाइड्रोजन सर्वापेक्षा लघुपदार्थ है। हाइड्रोजनके मान पर ही अन्यान्य मूल पदार्थोंका मान निर्णीत हुआ है। इस समय परीक्षासे मालूम हुआ है, कि इस हाइड्रोजनका एक परमाणु उल्लिखित वैद्युतिक पदार्थ (Electron)-के एक हजार परिमित पदार्थकी समष्टि और नेगेटिव या वियोगसंज्ञक वैद्युतिक शक्तिपूर्ण है। यद्यपि ये परमाणु नेत्रोंसे दिखाई नहीं देते, किन्तु इनके अस्तित्वका प्रमाण अकाट्य और अखण्ड है।

अक्सिजनका विस्तार।

जगत्में जितने मूलपदार्थ हैं, उनमें अक्सिजन सर्वत्र

ही सुलभ है । भूभागकी जलराशिमें इसका नौ-का ८ अंश, वायुमें चारका एक अंश, सिलिका, चक और एलिओमिनामें आधा अंश विद्यमान है । सिलिका चक और एलिओमिना—ये तीन ही पदार्थ पृथ्वीके प्रधानतम उपादान हैं । प्राणियोंकी प्राण-रक्षाके लिये अक्सिजनकी नित्य आवश्यकता है । मङ्गलमय भगवान्‌ने इसीके लिये जगत्‌के सब अंशोंमें इस प्रयोजनीय पदार्थका समावेश कर रखा है । अनन्त भूवायुमें नाइट्रोजनके साथ अक्सिजन मिश्रित भावसे पड़ा हुआ है । उद्भिद् जगत्‌के अभ्यन्तर अक्सिजनकी प्रचुरता दिखाई देती है । जगत्प्राण सूर्य अपनी किरणोंका उद्भिद्पत्रके आर्द्र अन्तस्तलको पार कर उससे अक्सिजन खींचता है और धरणीके प्राणिओंके उपकारार्थ अक्सिजन सञ्चय और वितरण कर प्राणियोंका हितसाधन करता है । इससे उद्भिद्राज्यका भी परम उपकार होता है । कार्बोन उद्भिदोंके जीवनोपाय है । भूवायुमें जो कार्बोनिक एसिड सञ्चित होता है, पत्रराशिविनिर्गत अक्सिजन द्वारा वह कार्बोनिक एसिड विश्लिष्ट हो कर उद्भिदोंको कार्बोन द्वारा परिपुष्ट करता है । उद्भिद् प्राणिराज्यमें कार्बोनिक अक्सिजनके इस तरह आदान-प्रदान द्वारा विश्वनियन्ताके विश्वकार्यमें सुश्रृङ्खला, मितव्ययिता और निरतिशय सुन्दर विधान दिखाई देता है ।

पहले ही कहा गया है, कि फ्रान्सीसी पण्डित लाभोयाजीयने इस पदार्थका अक्सिजन नाम रखा है । Oxus एक यूनानी शब्द है । इसका अर्थ अम्ल है—Gennao अर्थात् "मैं उत्पादन करता हूं" इन दो पदोंसे Oxygen शब्दकी उत्पत्ति हुई है । यह अम्लउत्पादक है । इससे लाभोयाजीयने इसका अक्सिजन नाम रखा था । उस समय इसका ऐसा नाम रखनेके कई कारण थे । अङ्गार या गन्धक रुद्ध वायुमें जलानेसे एक तरहके वायवीय पदार्थकी सृष्टि होती है । अङ्गार या गन्धक-दहन-जनित वाय जलमें द्रवीभूत होती है । इस जलका अम्लसार होता है । इसीलिये लाभोयाजीयने उक्त वायवीय पदार्थको अक्सिजन या अम्लजन नाम रखा । किन्तु इसके बाद डेवी (Davy) फ्लोरिनने पदार्थकी परीक्षा आरम्भ कर देखा कि हाइड्रोक्लोरिक एसिड अत्यन्त तीव्र अम्ल पदार्थ है । फिर भी, इसमें कणमात्र भी अक्सिजन नहीं है । फिर दूसरी ओर सोडियम और पोटाशियम आदि पदार्थ अम्लजन या आक्सिजनके साथ मिल कर जिन सब यौगिक पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं, उन सब पदार्थोंमें अम्लस्वाद बिलकुल ही नहीं रहता । उल्टे इसमें तीव्रक्षारका ही स्वाद मिलता है । अतएव अक्सिजन नामकी व्युत्पत्तिगत अर्थ ले कर बिचार करने पर यह जिस पदार्थके वाचकरूपमें व्यवहृत हुआ है, उसके विषयका यथार्थ भाव इस नामसे प्रकट नहीं होता । प्रत्युत यह भ्रान्तिका ही उत्पादक है ।

अक्सिजनमें जलनेकी शक्ति ।

अक्सिजन अग्निका अधिष्ठात्री-देवता है । अक्सिजनके बिना 'जलन-क्रिया' असम्भव हो जाती है । इसीलिये पाश्चात्य विज्ञानमें किसी समय अक्सिजन अग्निवायु (Fire air) नामसे पुकारा जाता था । धधकती लकड़ियां अक्सिजनके स्पर्श करते ही और भी जल उठती हैं । जो सब पदार्थ साधारणतः अदाह्य कहे जाते हैं, उनमें यदि अक्सिजनका स्पर्श हो जाये, तो वह जलने लायक हो जाते हैं । लोहा जब अग्निमें जल कर लाल हो जाता है, तब इसमें अक्सिजन गेस स्पृष्ट होने पर लौह भी जल उठता (लौ निकल आती) है । अक्सिजन गेसमें जब फस्फोरस जलता है, तब उस अग्निका जो प्रकाश होता है, वह असह्य हो जाता ।

अक्सिजनका गेस न रहने पर कुछ भी नहीं जलता । कोयला ही हो या किरासन तेल हो—इनमें कोई भी बिना अक्सिजनके नहीं जल सकता । हाइड्रोजन वाष्प दाह्य, किन्तु दाहक नहीं । तुम हाइड्रोजनसे भरी बोतल नीचे मुख करके रखो और इसमें जलती हुई बत्तीका संयोग करो तो वह तुरन्त ही बुझ जायगी । किन्तु हाइड्रोजन वाष्प बोतलके मुंहमें प्रभाहीन शिखामें जलती रहेगी । हाइड्रोजनसे भरी बोतलमें एक दीपशिखा घुसेड़ने पर दीपशिखा बुझ जाती है । इसका कारण यह है, कि हाइड्रोजन दाहक पदार्थ नहीं । किन्तु कोई अग्निमुख पदार्थ अक्सिजनसे भरी बोतलके मुखमें प्रवेश कराते ही यह अधिकतर प्रबल वेगसे जल उठता है ।

अब प्रश्न यह है, कि अक्सिजन स्वयं दाह्य पदार्थ

है या नहीं ? इसके उत्तरमें केवल यही कहना है, कि अक्सिजन सहज ही दाह्य नहीं है । किन्तु यदि हाइड्रोजन वाष्पपूर्ण किसी कांचके पात्रमें एक नलके द्वारा अक्सिजन वाष्प ढुका कर इसमें अग्निसंयोग कर दिया जाये, तो नलके मुंहमें अक्सिजनका वाष्प जलता रहेगा । अतएव स्थल-विशेषमें अक्सिजन दाह्य पदार्थकी क्रिया और हाइड्रोजन दाहककी क्रिया प्रकट करता है । निम्नलिखित परीक्षाओं द्वारा अक्सिजनकी दाहिका शक्तिका सिद्धान्त किया जा सकता है—

(क) एक टेढे मुखके ताम्र (तांबे)के तारमें छोटी मोमबत्ती धसा कर उसे जला अक्सिजनपूर्ण बोतलमें प्रवेश करानेसे वह बत्ती जलती ही रहेगी ।

(ख) जलती हुई बत्ती बुझा देने पर जब तक उसकी नोक पर अग्नि-स्फुलिङ्ग मौजूद है तभी तक अक्सिजनकी बोतलमें प्रवेश करनेसे बत्ती फिर जल उठेगी ।

(ग) तारमें बांध दीपके प्रकाशमें लोहितोत्तप्त कर कोयलेके एक टुकड़ेको अक्सिजनपूर्ण बोतलमें यदि डुबा दिया जाये, तो वह कोयलेका टुकड़ा उज्ज्वल प्रकाश और स्फुलिङ्ग देता हुआ जलता रहेगा ।

(घ) तुम लम्बे बेंटवाले एक कलुछमें (Deflagrating spoon) गन्धक जला कर अक्सिजनकी बोतलमें डुबा दो । गन्धक बैगंनी रङ्गका आलोक प्रकाशित कर जलता रहेगा ।

(च) पूर्वोक्त पात्रमें छोटा एक टुकड़ा फस्फोरस रख कर अक्सिजनपूर्ण बोतलमें डुबा देनेसे दृष्टिको चका चौंध पैदा करनेवाले प्रकाशके रूपमें वह जलने लगता है और उस बोतलमें श्वेत धुआं सञ्चित हुआ करता है ।

(छ) मेगनेसियम धातुका एक तार दीपशिखामें गर्म कर अक्सिजन पूर्ण बोतलमें छुआ देनेसे विचित्र आलोक प्रकाशित होता है और तार जलने लगता है ।

(ज) घड़ीके स्प्रिङ्गकी एक ओर द्रवीभूत गन्धक लगा देने पर अग्निसंयोग करनेसे वह जलने लगता है, किन्तु घड़ीका स्प्रिङ्ग नहीं जलता । इस समय यह जलता हुआ स्प्रिङ्गमुख अक्सिजनकी बोतलमें डुबानेसे प्रबल तेजोके साथ स्प्रिङ्ग जलने लगता है और उससे लोहितवर्ण गलित लौहचूर्ण चारों ओर फैल कर सुन्दर दृश्य उत्पन्न करता है ।

जीवदेहमें अक्सिजनकी क्रियाके सम्बन्धमें बहुतेरे प्रयोजनीय जानने लायक विषय हैं । फिजियलजी (Physiology) या शरीरतत्त्वमें इसके सम्बन्धमें विस्तार पूर्वक गवेषणाके साथ आलोचना की जायगी । निश्वास-प्रश्वासमें वायुका प्रयोजन और परिवर्त्तन, रक्तसंशोधनमें और दैहिक ताप-उत्पादनमें (Oxydation) और दैहिक शक्तिके उत्पत्तिसाधनमें और देहोपादान आदि गठन और ध्वंसकार्य्यमें अक्सिजनका प्रभुत्व और उसकी प्रक्रियाकी वहां ही विशेष रूपसे आलोचना की जायेगी ।

ओजोन (Ozone)

ओजोन (Ozone) अक्सिजनकी ही एक पृथक् मूर्त्ति है या यों कहिये, कि यह घनीभूत अक्सिजन है । तीन आयतन अक्सिजनके घनीभूत हो दो आयतनोंमें परिणत होने पर इसका धर्म्म अक्सिजनकी तरह नहीं रहता । उस समय इसमें एक तरहकी बू आती है । वज्रपातके समय वायुराशिसे एक तरहकी बू आती है । यह ओजोनकी ही बू है ।

प्रस्तुतप्रणाली ।

सिमेन साहबने ओजोन प्रस्तुत करनेके लिये एक प्रकारका नल तैयार किया है । इस नलमें अक्सिजन प्रविष्ट कर नलको बैटरी और प्रवर्त्तनकुण्डलके साथ जोड़ दिया जाता है । इससे तड़ित्स्फुलिङ्ग उत्पादन करने पर नलके दूसरे मुखसे ओजोन निकलने लगता है । ओजोन है या नहीं—इसकी परीक्षा कर देखनेके लिये पोटाशियमका एक टुकड़ा आइओडाइड श्वेतसारके द्रवणमें भींगा कर नलसे निकले वाष्पके साथ धुआनेसे यह टुकड़ा नीले रङ्गका हो जाता है ।

२ । फस्फोरस वायुमें खुला रखनेसे ओजोन प्रस्तुत होता है ।

तुम एक चौड़े मुखवाली बड़ी बोतलमें थोड़ा जल रखो, उसमें फस्फारसका एक टुकड़ा इस ढंगसे रखो कि इसका अल्पांशमात्र जलमें ऊपरी भागको स्पर्श कर ले । इसके बाद कांचके कागसे बोतलका मुंह बन्द कर दो । बस इसमें ओजोन तय्यार होने लगेगा ।

ओजोनका रूप और धर्म्म ।

ओजोन बिना रङ्गका अदृश्य वायवीय पदार्थ है ।

इसकी बू-के बारे में पहले ही लिखा जा चुका है। तड़ित्-यन्त्र-परिचालनमें भी इसी प्रकारका आघ्राण होता है। यह अक्सिजनसे २५ गुना भारी है। समधिक दबाव और शैत्य द्वारा यह तरल अवस्थामें परिणत हो सकता है। इसके रासायनिक तत्त्वके सम्बन्धमें इसके पहले ही लिखा जा चुका है। कार्बोनिक एसिड गेसमें इसका अस्तित्व नहीं रहता। नगरकी अपेक्षा छोटे छोटे गाँवोंकी वायुमें अधिक ओजोन रहता है। ओजोनसे आकाशका विष शोषण या विनष्ट होता है। कुछ लोगोंका कहना है, कि यह मेलेरिया और हैजेके वीजाणुओंका नाश करता है। इस समय चिकित्सा विज्ञानमें ओजोनका व्यवहार बहुत होने लगा है। कुछ लोगोंका मत है, कि आकाशका रंग नीला इसी ओजोनके कारण ही हुआ है।

नाइट्रोजन (Nitrogen)

वायुका और एक उपादान नाइड्रोजन है। वायुराशिमें नाइड्रोजनका परिमाण सबसे अधिक है। यह पहले ही कहा गया है, कि पांच भाग वायुमें एक भाग अक्सिजन और बाकी चार भाग नाइड्रोजन है। प्राकृत जगत्में नाइड्रोजनका परिमाण अत्यधिक है। प्राणिजगत्के साथ इसका सम्बन्ध अति प्रयोजनीय है। इसीलिये मङ्गलमय विधाताने वायुमण्डलीका ३।। भाग केवल इस मूलपदार्थ द्वारा ही पूर्ण कर रखा है। अण्डलालिक पदार्थके (Albuminoids) मध्यमें नाइड्रोजन ही प्रधानतम उपादान है। जीव और उद्भिद्जगत्में नाइट्रोजन व्यापकरूपसे अवस्थान कर रहा है। खनिज पदार्थोंमें नाइट्रोजन बहुत अधिक नहीं दिखाई देता। इनमें केवल सोरामें यह मूलपदार्थ दिखाई देता है। नाइट्रोजन मिश्रण पदार्थोंमें नाइट्रिक एसिड और आमोनियाका लेशमात्र आभास सब तरहकी भूमिमें दिखाई देता है।

मौलिक नाइड्रोजन गेसमें (N, 2 एक अणुपरिमाण) पाया जाता है वायुसे यह पदार्थ पृथक् किया जा सकता है। अक्सिजन जैसे दहनक्रियाके अनुकूल है, वैसे नाइड्रोजनका धर्म नहीं है, इसलिये सृष्टिकार्य्य सुनियमके साथ सम्पन्न हो रहा है। वायुमें यदि शुद्ध अक्सिजन रहता, तो अति द्रुतगतिसे दहनकार्य्य सम्पन्न होता। ऐसा होनेसे हमारा रसोई बनाने तथा दीप जलाने आदिका कोई कार्य्य सुसम्पन्न नहीं होता। लकड़ी या कोयलेमें आगका संयोग करने पर वह तुरंत जलने लगता है। प्रदीप प्रज्वलन करते ही उसकी वत्ती जल जाती। हम लोग लकड़ी या वस्त्र आदि-दाह्य पदार्थका निरापद व्यवहार नहीं कर सकते थे। फूसके घरमें आग स्पर्श करते ही वह भस्म हो जाता। हम वायुके साथ जो अक्सिजन ग्रहण करते हैं, वह हमारी देहके सूक्ष्म अवयव पर मृदु दाहनका कार्य्य सम्पन्न करता है। इसके फलसे ताप और दैहिक शक्तिका उद्भव होता है। यदि वायुमें नाइड्रोजन न रहता, केवल अक्सिजन ही रहता, तो जीवनी शक्तिकी क्रिया किसी तरह शृङ्खलाके साथ सुसम्पन्न नहीं होती। दाहिका शक्ति विशिष्ट अक्सिजनके साथ अधिक मात्रामें नाइड्रोजन-विमिश्रित रख अक्सिजनकी संहारिणी शक्तिको नियमित किया गया है। प्रकृतिका यह विधान विश्वकर्त्री ज्ञानमयी महाशक्ति मङ्गलमयी लीलाका उज्ज्वलतम निदर्शन है।

नाइट्रोजनका स्वरूप और धर्म।

नाइड्रोजन अदृश्य वायवीय पदार्थ है। इसमें स्वाद, वर्ण या गन्ध नहीं है। रेगनेल्ट (Regnault)ने कहा है, कि वायुकी तुलनामें इसका आपेक्षिक गुरुत्व ०.६७०२ है। अतएव यह वायुकी अपेक्षा लघुतर है। एक मिटर परिमित नाइड्रोजनका गुरुत्व १.२५ ग्राम है। एक भाग जलमें १ ४८ भाग नाइड्रोजन द्रवीभूत हो सकता है। पहले ही कहा गया है, कि १७७२ ई०में रदारफोर्ड साहबने नाइड्रोजनका आविष्कार किया। इसके ठीक पांच वर्ष बाद अर्थात् १७७७ ई०में फ्रान्सीसी डाक्टर लाभोयाजीय डाक्टर रदारफोर्डने सिद्धान्त स्थिर किया था। अबसे पहले कहा गया है, कि किस तरह नाइड्रोजन वायुके अक्सिजनसे अलग किया जा सकता है, किस तरह नाइड्रोजन उत्पन्न होता है।

नाइड्रोजन दाह्य पदार्थ नहीं है। नाइड्रोजनसे दीपशिखा बुझ जाती है। इसका किसी तरहका विषजनक काम नहीं, फिर भी यह जीवन-रक्षाके सम्बन्धमें भी साक्षात् भावसे कोई साहाय्य नहीं करता। रासायनिक

पण्डित नाइट्रोजनको तरल अवस्थामें परिणत करनेमें भी समर्थ हुए हैं। साधारण अवस्थामें ताप या तड़ित आदि द्वारा नाइट्रोजनकी किसी तरहकी विकृति या परिवर्त्तन नहीं होता। किन्तु निर्द्दिष्ट उच्चतर तापसे (Temperature) बोरण मेगनेसियम, भेलाडियम और टिटालियम आदि मूलपदार्थ इसके साथ मिल कर नाइट्रोजन रूपमें परिणत हो जाते हैं। साधारणतः अक्सिजनके साथ भी नाइट्रोजन मिल सकता है। उत्ताप देने पर भी मिलावट नष्ट नहीं होती। किन्तु इसमें धीरे धीरे तड़ित् स्फुलिङ्ग प्रविष्ट करा देने पर इन दो गेसोंसे परमाणु पृथक् होने लगते हैं।

साधारण और रासायनिक विमिश्रण।

वायुराशिमें अक्सिजन और नाइट्रोजन मिले हुए रहते हैं। निम्नलिखित परीक्षासे यह मालूम होता या प्रमाणित होता है।

१—जभी दो वायवीय पदार्थोंमें रासायनिक सम्मेलन होता है, तभी उत्ताप उद्भूत होता है और उत्पन्न पदार्थका आयतन उत्पादक पदार्थसमूहके आयतनसे पृथक् हो जाता है। वायुनिहित अक्सिजन और नाइट्रोजन-इन दोनों गेसोंका जो निर्द्दिष्ट प्रमाण है, इन दो गेसोंका वह परिमाण किसी पात्रमें मिला देने पर यह सब प्रकारकी वायुकी तरह कार्य करता और वैसा ही परिलक्षित भी होता है। किन्तु इस मिलावटके फलसे तापोत्पत्ति या आयतनका परिवर्त्तन दिखाई नहीं देता। इसका यह एक प्रमाण है, कि वायु रासायनिक (Chemically) भावसे मिला हुआ पदार्थ नहीं है।

२—एक पदार्थके साथ दूसरे पदार्थका रासायनिक सम्मेलन होनेसे परमाणु गुरुत्व संख्याके अनुपातके अनुसार ऐसी मिलावट होती रहती है। ऐसे अनुपातोंके सिवा किसी तरह ऐसी मिलावट नहीं होती। किन्तु वायुमें अक्सिजन और नाइट्रोजन जिस परिमाणसे रहता हैं, उससे पारमाणविक गुरुत्व संख्याको किसी तरहका अनुपात दिखाई नहीं देता। अतएव वायुराशिमें अक्सिजन और नाइट्रोजनकी जो मिलावट है, वह रासायनिक सम्मेलन नहीं है।

३—रासायनिक सम्मिलित पदार्थोंके विश्लिष्ट करनेसे उनके उपादानोंमें कोई पृथक्ता नहीं दिखाई देती और न इनके परिमाणके अनुपातमें ही कोई व्याघात उपस्थित होता है। किन्तु वायुमें अक्सिजन और नाइट्रोजनका परिमाण सब समय एक परिमाणसे दिखाई नहीं देता। अवस्थाभेदसे परिमाणमें विभिन्नता देखी जाती है। वायु यदि रासायनिक विमिश्रणका फल होती, तो इस तरहके उपादानके परिमाणमें भी अनुपातका पार्थक्य परिलक्षित नहीं होता। अतएव सिद्धान्त हुआ है, कि वायुमें अक्सिजन और नाइट्रोजनका जो सम्मेलन देखा जाता है, वह रासायनिक सम्मेलन नहीं है।

नाइट्रोजन और आर्गन।

प्रोफेसर रामजे और लार्ड रैलेने वायुराशिकी परीक्षा करके इसमें 'आर्गन' नामका एक अभिनव मूल पदार्थ प्राप्त किया है। वायुमें अक्सिजन मिला कर इसमें स्फुर्ज्जत् तड़ित् प्रविष्ट करा देने पर अक्सिजन और नाइट्रोजन रासायनिक भावसे मिल जाते हैं; लेकिन किसी एक पदार्थकी कमी रह जाती है, वह है आर्गन। इसका आणविक गुरुत्व ४० है। आर्गन और किसी मूलपदार्थसे नहीं मिलता। वायुमें जितना नाइट्रोजन रहता है, उसमें सैकड़े एक भाग आर्गन है। इसके स्वरूप, प्रभाव और प्रतिपत्तिके सम्बन्धमें विशेष कुछ मालूम नहीं हुआ।

नाइट्रोजनकी प्रयोजनीयता।

नाइट्रोजनकी एक प्रयोजनीयता अबसे पहले लिखी जा चुकी है अर्थात् अक्सिजनकी दाहिकाशक्तिको जगत्के प्रयोजनीय कार्य्यमें संयमित रखनेके निमित्त नाइट्रोजनका बहुत प्रयोजन है। यदि नाइट्रोजनके भूमिमें रहे तो जमीनकी उत्पादिका शक्ति प्रवर्द्धित होती है। किन्तु इसकी प्रयोजनीयताके सम्बन्धमें रसायनशास्त्रविद् पण्डित अब भी सविशेष अभिज्ञता प्राप्त नहीं कर सके हैं। उद्भिद्समूह साक्षात्-सम्बन्धमें नाइट्रोजन ग्रहण नहीं कर सकता। दहनक्रिया वा निश्वास-प्रश्वास क्रियाके साक्षात्-सम्बन्धमें इसकी अपनी कोई क्रिया दिखाई नहीं देती। केवल अक्सिजनका क्रिया संयमन ही इसका प्रधान कार्य्य स्थिर हुआ है। अक्सिजनके साथ नाइट्रोजनके

बदले दूसरा किसी मूलपदार्थके वायुराशिमें विमिश्रित रहने पर उसमें विष-क्रियाकी आशङ्का रहती थी। हम जो सब यान्त्रिक नाइट्रोजनमय पदार्थ (Nitrogenous Organic matter) देख रहे हैं; इसमें सन्देह नहीं, कि वायुका नाइट्रोजन ही उन सब पदार्थोंकी पुष्टि करता है। साधारणतः इस जगत्में जो कुछ दग्ध होता है, उस दहनक्रियाके समय नाइट्रिक एसिडकी उत्पत्ति होती है। कहें तो कह सकते हैं, कि वायुराशिमें तड़ित्-शक्तिकी क्रियामें भी नाइट्रिक एसिड उद्भुत होता रहता है। यह नाइट्रिक एसिड आकाशके आमोनियाके साथ विमिश्रित हो जाता है, तब नाइट्रेट आव आमोनिया प्रस्तुत होता है।

जर्म्मन डाक्टर स्कनविलने परीक्षा कर देखा है, कि नाइट्रोजन गेस और जल एकत्र कर नाइट्राइट आव् आमोनियामें परिणत होता है। यह अक्सिजनके संयोगसे बहुत जल्द नाइट्रेट आव आमोनियामें परिणत होता है। यह नाइट्रेट वृष्टिके साथ जमीन पर गिरता है। उसी संयोगमें उद्भिद्के मूलमें नाइट्रेट सञ्चित होता है। उद्भिद्मूल द्वारा नाइट्रेट पदार्थ ग्रहण करता है। पूर्वोक्त प्रणालीसे जो नाइट्रेट उद्भुत होता है, उसको वैज्ञानिक नाइट्रिफिकेशन (Atmospheric nitrification) कहते हैं। इसके द्वारा उद्भिद् जगत्का जो उपकार होता है, वह सहज ही अनुभव होता है।

कार्बोनिक एसिड ।

वायुका एक दूसरा उपादान—कार्बोनिक एसिड है। उद्भिज और जान्तव पदार्थके दग्धावशेष अङ्गार नामसे प्रसिद्ध है। इस अङ्गारको रासायनिक लोग कार्बोन नामसे पुकारते हैं। कार्बोन या अङ्गार एक मूल पदार्थ है। हीरा ग्राफाइट इस अङ्गारका दूसरा रूप है। कोयला जलानेसे अक्सिजनके साथ मिल कर कार्बोनिक एसिड उत्पन्न होता है। भूमिमें असीम अनन्त अङ्गारकी खानि मौजूद हैं। अङ्गारके सम्बन्धमें यहां हमारा और कुछ नहीं कहना है। कार्बोनिक एसिड गेस वायुका एक उपादान है। सुतरां उसीकी आलोचना प्रयोजनीय है।

कार्बोनमन अक्साइड। (Carbonmon oxide)

कार्बन और अक्सिजन मिल कर दो प्रकार यौगिक गेस उत्पन्न करते हैं। कार्बोन-मन अक्साइड और कार्बोनडाइ-अक्साइड। थोड़ी हवा या वायुमें कोयला जला देने पर उसमें समभावसे अक्सिजन मिल कर कार्बोन-मन अक्साइड गेस उत्पन्न होता है। चुल्हेमें पत्थर कोयला जलानेके समय यही गेस उत्पन्न होता है। यह गेस नील-शिखा फैला कर जलता है। इसमें एक भाग अक्सिजन और एक भाग कार्बोन विद्यमान रहता है। इसीलिये इसका साङ्केतिक चिह्न C. O है। यह वाष्प स्वादगन्धहीन है। फिर यह अदृश्य भी है और जलमें गलनेवाला भी नहीं। दग्ध होनेके समय इससे नीली लपट निकलती है। इस समय वायुसे अक्सिजन पा कर कार्बोन-डाइ-अक्साइडमें परिणत होता है। इसकी परीक्षा यह है, कि कार्बोन-मनक्साइड वाष्पपूर्ण बोतलमें एक जलती हुई बत्ती घुसा देने पर बत्ती तुरत ही बुझ जाती है। किन्तु बोतलके मुख पर उक्त वाष्प जलता रहता है।

यह वाष्प अत्यन्त विषमय है। सांससे शरीरमें प्रवेश करने पर शिरमें पीड़ा, स्नायवीय दुर्बलता और संज्ञाहीनता होती है और तो क्या—इससे मृत्यु तक हो जाती है। घरमें कोयला या लकड़ी जला और किवाड़ी बन्द कर सोने पर कार्बोन मनक्साइडके प्रभावसे मृत्यु तक हो सकती है। कई जगहोंसे ऐसी मृत्यु हो जानेके समाचार मिले हैं। इस देशमें सूतिका गृहमें आग रखनेकी प्रथा दिखाई देती है। किन्तु सब किसीको इस बातका ध्यान रखना चाहिये, कि किवाड़ी बन्द कर कोयला या लकड़ीके जलानेसे मृत्यु तक हो सकती है। क्योंकि यह वाष्प कभी कभी विषका भी काम देता है।

कार्बन-डाइ-अक्साइड (Carbon Di-Oxide) ।

जो हो इस समय हम वायुके कार्बोन-एक्साइड (या साधारण बातमें कार्बनिक एसिड) के विषयमें कुछ कहेंगे। इसका दूसरा नाम कार्बोन-आन अक्साइड है। १७७५ ई०में लाभोयाजीयने हीरा जलानेके समय कार्बोनिक एसिडका आविष्कार किया था। इसके पहले सन्

१७५७ ई०में डाक्टर ब्लेकने (लाइमष्टोन) चूनेके पत्थरमें इसका अस्तित्व आविष्कार किया और इसका Fixed air नाम रखा। इसका पारमाणविक गुरुत्व ४४ है। विशाल वायुमें इसका परिमाण बहुत कम हो जाता है—२५०० भाग वायुमें एक भाग कार्बोनिक डाइ अक्साइड साधारणतः देखा जाता है स्थानभेदसे इसके परिमाणका न्यूनाधिक्य भी हुआ करता है।

उत्पत्ति।

शहरकी वायुमें कार्बोनिक एसिड गेसका परिमाण अधिक है। मनुष्य प्रश्वास, पदार्थदहन (Combustion), (Putrefaction) और उत्सेचन (Fermentation) नाना प्रकार कार्यों द्वारा वायुराशिमें अनवरत कार्बोनिक एसिड गेस सम्मिलित हो रहा है।

श्वासक्रिया और कार्बोनिक एसिड गेस।

पीछे यह हम अच्छी तरह समझायेंगे, कि श्वास-क्रियामें किस तरह कार्बोनिक एसिड तैयार किया जाता है। यहां केवल इतना कह रखते हैं, कि मनुष्यकी देहके भीतर भी अङ्गार पदार्थ विद्यमान रहता है। उसी अङ्गार-पदार्थके साथ अक्सिजनका संयोग होनेसे ही एक तरह-की मृदुदहनो क्रियाका (Oxidation) आरम्भ होता है। इसके फलसे कार्बोनिक एसिड गेसकी उत्पत्ति होती है। प्रश्वाससे यह वाष्प निकल कर वायुमें मिल जाता है। निम्नलिखित परीक्षासे यह साफ मालूम होता है, कि निश्वास और प्रश्वास वायुमें कार्बोनिक एसिडके परिमाण किस तरह न्यूनाधिक्य हैं। दो बोतलोंमें साफ चूनेका जल रखिये। रबड और लकड़ीका नल बोतलोंमें इस तरहसे लगा दीजिये कि नलके द्वारा श्वास लेने पर एक बोतलके बीचसे आकाशकी वायु प्रवेश कर सकती हो और नलसे श्वास-त्याग करने पर दूसरी बोतलके बीचसे प्रश्वास वायु निकल सकती हो। इस तरह नलसे कई बार श्वास लेने और छोड़ने पर दिखाई देगा, कि बोतलमें बाहरकी वायु प्रविष्ट हुई है और उसका चूना मिला हुआ जल बहुत कम परिमाणमें घुला हुआ है। किन्तु जिसमें निश्वास-परित्याग किया गया, उसमें स्थित जल दूधकी तरह घुल गया है। कार्बोनिक एसिड गेसके स्पर्शसे चूनेका जल घुलता है। जिस घरमें बहुसंख्यक लोग एकट्ठा रहते हैं, उस घरका द्वार बन्द कर देनेसे उसमें अधिकतर कार्बोनिक एसिड गेस उत्पन्न होता है। साफ चूनेका जल घरमें रख कर उसकी परीक्षा की जा सकती है।

दहनक्रिया।

अङ्गार या तद्घटित पदार्थ वायुमें दग्ध होने पर उसका अङ्गारांश वायुस्थित अक्सिजनके साथ मिल कर कार्बोनिक एसिडमें परिणत होता है। दहनक्रियाके आधिक्यसे कार्बोनिक एसिडके उत्पादनके परिमाणकी वृद्धि होती है।

पचन क्रिया।

जीव जन्तु तथा उद्भिज्ज पदार्थमात्रमें ही न्यूनाधिक परिमाणसे अङ्गार मौजूद है। ताप और आर्द्रता पचन-क्रियाके सहायक हैं। इन सब पदार्थोंके पचनके समय कार्बोनिक एसिड उत्पन्न होता है। कब्रस्थान और जलीय भूमिकी ऊपरी वायुमें कार्बोनिक एसिड वाष्प अधिक परिमाणसे (प्रति दश हजार भागमें सत्तर भागसे नब्बे भाग तक सञ्चित होता है) ड्रेनसे या मोहरीसे जो दुर्गन्ध वाष्प उठता है, उसके प्रति दश हजार भागमें २००से ३०० भाग कार्बोनिक एसिड वाष्प विद्यमान रहता है। समय समय पर यह विषाक्त वायु ड्रेन साफ करनेवालोंकी मृत्युकाकारण बन जाती है। पुराने कुएंमें भी कई कारणोंसे कार्बोनिक एसिड गेसकी अधिकतावश कूपके साफ करनेवालोंकी मृत्यु होते देखी गई हैं।

उत्सेचन (Fermentation! ।

गुड़, यवादि अन्न और अंगूरका रस—पकनेके समय कार्बोनिक एसिड गेस उत्पन्न होता है। शराब तैयार करनेवाले कारखानेमें भी कार्बोनिक एसिड गेसका परिमाण अधिकतासे दिखाई देता है।

धर्म।

कार्बोनिक एसिड अदृश्य वर्ण और गन्धविहीन वाष्प है। यह दाहक नहीं और न दाह्य ही है। यह अपरिचालक है। जलती हुई बत्तीसे इसकी परीक्षा की जा सकती हैं। कार्बोनिक एसिड गेससे परिपूर्ण एक बोतलमें एक जलती हुई बत्तीको घुसेड़ने पर वह बुझ

जायेगी और न वाष्प ही जलेगा। कार्बोनिक एसिड गेस अग्निशिखा बुझानेमें परम सहायक है। इसीलिये यह कहीं कहीं खानकी आग बुझानेके लिये व्यवहृत हुआ है। यह वाष्प वायुकी अपेक्षा भारी है। यद्यपि यह अदृश्य है, तथापि इसको एक पात्रसे दूसरे पात्रमें अनायास हो ढाला जाता है। रसायनविद् निम्नलिखित प्रक्रियासे इसकी परीक्षा करते हैं। पहले तो वह एक काँचके पात्रका वजन स्थिर कर लेते हैं। पीछे वह पलड़े पर रख कर उसमें कार्बोनिक एसिडसे भरी शीशीको ढाल देते हैं। यद्यपि अदृश्य वाष्पको देख न सकेगा, किन्तु यह दिखाई देगा, कि इसके भारी वजनसे पलड़ा नीचा हो गया।

प्रस्तुत-प्रणाली।

सफेद खड़ीके साथ या मार्बलके साथ सलफ्यूरिक या हाइड्रोक्लोरिक एसिडके क्रियानिबन्धन-यन्त्रविशेषसे कार्बोनिक एसिड गेस उत्पन्न होता है। कार्बनेट अव लाइम भी क्लोराइड अव कार्लसियममें परिणत होता है। इसी समय कार्बोनिक एसिड उत्पन्न होता है।

कार्बोनिक एसिडकी अवस्था।

कार्बोनिक एसिड कठिन, तरल और वायवीय पदार्थ है। यह तीन अवस्थाओंमें दिखाई देता है। कारण हीटकी ३० डिग्री तापमें कार्बोनिक एसिड तरल अवस्थामें परिणत होता है। तरल कार्बोनिक एसिड वर्णहीन या रङ्गरहित है, जलमें और चर्वी पदार्थमें अद्रवणीय है। किन्तु यह इथर, अलकोहल, वाइसलफाइड आव कार्बोन, नाप्था और तारपीन तेलमें मिश्रित होता है। लिक्विड कार्बोनिक गेस विकीर्ण होते होते अत्यन्त शीतल हो जाता है। इस अवस्थामें कार्बोनिक एसिड तुषारकी तरह जम जाता है।

वाष्पीय कार्बोनिक एसिड रङ्गविहीन है। कुछ लोग कहते हैं, कि इसमें अम्लगन्ध और अम्लस्वाद है। स्वाभाविक उष्णतासे यह जलमें द्रवीभूत हो जाता है। किन्तु निर्दिष्ट अंशके अधिक किसी प्रकार प्रचापसे ही शोषित नहीं होता। प्रचाप दूर हो जाने पर गेस जलसे निकलते समय बुद्बुद दिखाई देता है। सोडावाटर या लेमनेडवाटरको खोलनेके समय इसी कारण बुद्बुद दिखाई देता है। कार्बोनिक एसिड पीनेसे कोई अपकार नहीं होता; फिर भी किञ्चित् वायुके साथ मिल कर इसके आघात करने पर जीवननाशकी भयङ्कर आशङ्का हो सकती है। कार्बोनिक एसिड गेससे दीपक बुझ जाता है। इसके लिये जलते हुए दीपकसे परीक्षा की जा सकती है, वाष्पमें कार्बोनिक एसिडकी मात्रा अधिक है या नहीं किन्तु इस परीक्षा पर ही निर्भर रहीं रहना चाहिये। जिस वायुमें सुन्दरतापूर्वक जलनक्रिया निर्वाहित होती है, उस वाष्पके आघ्राणसे भी अचेतनता, नाना तरहकी पीड़ा और तो क्या मृत्यु तक होते देखी गई है। यवद्वीपके 'उपास' उपत्यका और नेपलसके निकटवर्त्ती गेटाभिककी उपत्यकामें और रेनिस प्रसियामें झीलके निकट बहुत कार्बोनिक एसिड गेस उत्पन्न होता है।

हमने यहां वायुके तीन उपादानोंके सम्बन्धमें किञ्चित आलोचना की। इसके बाद वायुमें मिली हुई एक वस्तुकी आलोचना करना आवश्यक प्रतीत होता है। वह पदार्थ--जलीय वाष्प है। वायुमें जलीय वाष्प मिला रहता है। इसलिये मेघ, वृष्टि, कुहरे आदिकी उत्पत्ति होती है। किन्तु यहां इस पदार्थकी आलोचना करनेसे पहले मानवदेहमें वायुका अक्सिजन और कार्बोनिक एसिड क्या क्या काम करते हैं, उसकी थोड़ी आलोचना करनी जरूरी है। अतएव अक्सिजन, नाइट्रोजन और कार्बोनिक एसिडके तत्वोंका उल्लेख करनेके बाद ही यहां देहमें वायुके सम्बन्ध विचार-प्रसङ्गका उल्लेख करना चाहिये। अतः पहले इसके सम्बन्धमें आलोचना कर पीछे जलीय वाष्पके (Aqueous Vapour) सम्बन्धमें आलोचना की जायेगी।

मानवदेहमें वायुकी क्रिया।

मनुष्यकी देहके प्रधान उपादानोंमें रक्त-राशिकी बात पहले उल्लेख करनेकी जरूरत है। यह शोणितराशि दो तरहके पथमें जीवके देहराज्यमें विचरण करती है,—धमनी (Artery) पथमें और शिरा (Vein) पथमें। धमनीका रक्त उज्ज्वल लोहित, शिराका रक्तकृष्णाभ लाल है। परीक्षा करके देखा गया है, कि धामनिक और शैरिक रक्तके इस वर्ण पार्थक्यका एकमात्र कारण--

अक्सिजन और कार्बोनिक एसिड गेस है। शिराके रक्तमें अक्सिजन कार्बोनिक एसिडका (द्वयम्लाङ्गारक वाष्प) बहुत अधिक है। कार्बोन—अङ्गार। अङ्गार काले रङ्गका है, अतएव शिराका रक्त भी काला है।

यह बात निश्चय है, कि समूची देहमें यह वायवीय पदार्थ विचरण कर देहका ताप संरक्षण और पुष्टिसाधन कर रहा है। देहका प्रत्येक गठन-उपादान ही अक्सिजन ले रहा है। कार्बोनिकके साथ अक्सिजन मिल कर देहमें दहनक्रिया सम्पादन कर रहा है। इससे कार्बोनिक एसिड और तापकी उत्पत्ति होती है। प्रति दिन ही देहके भीतर ये कार्य हो रहे हैं। दैहिक पदार्थ वायुराशिके अक्सिजनको ग्रहण करनेके लिये दुर्भिक्ष द्वारा पीड़ित क्षुधार्त्तकी तरह या विरहिणी व्रजवालाओंकी तरह हमेशा व्याकुल रहता है। फिर भी, देहप्रकृति कार्बोनिक एसिड तथा देहके क्षयप्राप्त पदार्थोंका वहिष्कार करनेके लिये प्रस्तुत रहती है। देहके क्षुद्रतम अवयव (Tissue) रक्तकी लोहितकणासे अक्सिजन संग्रह करते हैं। बालकी तरह बारीक बारीक धमनियोंके प्राचीरको भेद कर रक्तके हिमोग्लोविनके अक्सिजन दैहिक रसमें (Lymph) और छोटे-छोटे देहोपादान कोषमें प्रविष्ठ होते हैं। ऐसी जगहों पर क्षयप्राप्त यान्त्रिक पदार्थोंमें संस्थित अक्सिजन कार्बोनके साथ मिल कर तापोत्पादन करता है। अक्सिजन कार्बोनके साथ मिल जानेसे ही कार्बोनिक एसिड गेसकी उत्पत्ति होती है। टिशु या दैहिक उपादानविशेषस्थित कार्बोनिक एसिड रस (Lymph)के बीचसे हो कर कैशिकाके प्राचीरको भेद कर उसके रक्तमें पहुंच जाता है। समग्र दैहिक उपादानमें अक्सिजन और कार्बोनिक एसिडका यह जो आदान-प्रदान होता है—यही अभ्यन्तरीण श्वासक्रिया (Internal respiratien या Tissue respiration) नामसे विख्यात है। इसकी प्रक्रियाके संक्षिप्त मर्म इस तरह हैं,—वायुस्थित अक्सिजन फुस्फुसके वायु कोषमें प्रविष्ट होता है और इसके प्राचीरको पार कर शैरिक रक्तके हिमोग्लोविन पदार्थके साथ सामान्याकारमें मिल जाता है। यह मिला हुआ पदार्थ अक्सिहिमोग्लोविन (Oxyhaemoglobin) नामसे प्रसिद्ध है। यह अक्सिहिमोग्लोविन 'टिशु' पदार्थमें प्रविष्ट होने पर इसका अक्सिजन पृथक् हो जाता है। इस अवस्थामें ऐसा समझा जा नहीं सकता, कि अक्सिजन नित्य ही टिशुस्थित कार्बोनिकके साथ मिल कर कार्बोनिक एसिडका उत्पादन करेगा और ऐसा सिद्धान्त भी समीचीन नहीं, कि हाइड्रोजनके साथ मिल कर नित्य ही वह जलमें परिणत होगा। मांसपेशियोंमें कभी कभी अक्सिजन संरक्षित अवस्थामें विद्यमान रहता है। यह सञ्चित अक्सिजन टिशुमें विद्यमान रहनेके कारण विशुद्ध नाइट्रोजन गेसके संस्पर्शमात्रसे पेशियां कुञ्चित हो जाती हैं और इस अवस्थामें भी कार्बोनिक एसिड उत्पन्न होता है। एक मेढ़कको १ विशुद्ध नाइट्रोजन भरी बोतलमें कई घण्टे तक रखनेसे भी उसकी जीवनीक्रियामें जरा भी व्याघात उपस्थित नहीं होता और उस समय भी उसकी पेशियोंसे कार्बोनिक एसिड उत्पन्न होता रहता है।

प्रश्वास-परित्यक्त वायु।

यह सहज ही समझमें आता है, कि प्रश्वास वायुमें कार्बोनिक बहुत अधिक रहता है। हम निश्वासके जो वायुग्रहण करते हैं और प्रश्वासके समय जो वायु छोड़ते हैं—इन दोनों तरहकी वायुके उपादानके विनिर्णायक दो सूचियां दी जाती हैं।

निश्वासकालीन वायुके उपादानोंका परिमाण—

अक्सिजन	२०.८४	(सैकड़ा)
नाइट्रोजन	७९	
कार्बोन डाइ-अक्साइड	०.०४	

जलीय वाष्पका परिमाण यहां नहीं दिया जाता।

प्रश्वासकालीन वायुका उपादानका परिमाण—

अक्सिजन	१६.०३
नाइट्रोजन	७९.०२
कार्बोन डाइ-अक्साइड	३.३ से ५.५

इस सूचीसे स्पष्ट मालूम होता है, कि कार्बोनिक एसिडका परिमाण प्रश्वासवायुमें कितना अधिक है। सम्भवतः वायुमें नाइट्रोजनके परिमाणकी बहुत कम औसतसे वृद्धि हो सकती है। इसके साथ जान्तव पदार्थका

संमिश्रण भी परिलक्षित होता है। सुतरां देखा जा रहा है, कि नाइट्रोजन देहमें प्रवेश करनेके समय भी जिस औसतसे प्रवेश करता है, लौटनेके समय भी उसी औसतसे ही बाहर निकलता है। इसकी विशेष कोई क्षति-वृद्धि नहीं होती। वायुमें इस समय आर्गन, क्रिपटन, हिलियाम और जीनन प्रभृति पांच प्रकारके अभिनव मूलपदार्थ आविष्कृत हुए हैं। ये नाइट्रोजनके अन्तर्भुक्त हैं। अक्सिजन और कार्बोनिक एसिडमें ही परिवर्त्तन प्राधान्य परिलक्षित होता है। प्रश्वास वायुमें अक्सिजन ५ भाग कम होता और कार्बोनिक एसिड ४ भाग बढ़ता है। प्रश्वास वायुमें किञ्चित् एमोनिया, यत्किञ्चित हाइडोजन और बहुत सामान्य कारबारेटेड हाइड्रोजन भी दिखाई देता है। निश्वास, प्रश्वास और कार्बोनिक एसिडके इस पार्थक्य विचारसे समझमें आता है, कि प्रश्वासके साथ जिस औसतसे कार्बोनिक एसिड निकलता है, निश्वास उसकी अपेक्षा अधिकतर अक्सिजन ग्रहण करता रहता है।

फुस्फुस्के भीतरी वायवीय पदार्थका परिमाण।

वैज्ञानिक अनुसन्धित्सुओंने इसके सम्बन्धमें यथेष्ट विचार किया है, कि हम निश्वासके साथ नासिका और मुख वायु द्वारा श्वास-नलीके पथसे जो वायु फुस्फुस्के कोषमें ग्रहण करते हैं, उस वायवीय पदार्थमें किस प्रकार परिवर्त्तन होता है। उनका कहना है, कि वायुका स्वभाव यह है, कि यह जब किसी पात्रविशेषमें आवद्ध होता है, तब उक्त पात्रमें वायुका प्रचाप पड़ता है। पारद-समन्वित यन्त्रविशेषके साहाय्यसे यह प्रचाप नापा जा सकता है। फुस्फुस्के भीतर जब वायु समा जाती है, तब फुस्फुसीय वायुकोषमें स्थित तरल रक्तके साथ उस वायुका अक्सिजन और कार्बोन-डाइ-अक्साइडका संघात उपस्थित होता है।

हमारे प्रश्वासके समय फुस्फुस्से वायुराशि बिलकुल बाहर नहीं निकल जाती। वायुकोषमें यथेष्ट वायु सञ्चित रहती है। इस वायुको पाश्चात्य-विज्ञानमें Residual air नाम रखा गया है। (इसके सम्बन्धमें और भी कई बातें हैं, वे इसके बाद दिखाई देंगी।) प्रश्वासके वायवीय पदार्थोंका जो परिमाण निर्णय किया गया है, उस सिद्धान्तके अनुसार फुस्फुस्के अन्तर्हित वायुका परिमाण और परिवर्त्तन नहीं जाना जा सकता है। फुस्फुस्के अभ्यन्तरमें वायुकोषस्थ वायु फुस्फुसमें लाये शैरिक रक्तके संस्पर्श और संघर्षसे किस रूपमें प्रवर्त्तित होता है, उसके विनिर्णयके लिये आधुनिक वैज्ञानिकोंने एक प्रकार फुस्फुस नल (Lung-catheter)की सृष्टि की है। यह नल अति नमनीय है। यह बहुत आसानीसे वायु नलीमें प्रवेश करा दिया जा सकता है। इसके साथ बहुत पतली रबड़की नली जुटी रहती है। फूंकने पर यह फूल जाती है। यह छोटी वायु नलीमें प्रविष्ट करा कर इस यन्त्रके साहाय्यसे फुस्फुस्के निभृत प्रदेशस्थ वायुकोषकी वायुकी भी इसके द्वारा बाहर ला इसे पृथक् कर परीक्षा की जा सकती है। इसी तरह केथीटर प्रविष्ट करानेमें श्वासक्रियामें कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता। सुविख्यात जर्मन अध्यापक गामजीने एक कुत्तेके फुस्फुस्की वायुका विश्लेषण किया था। उससे मालूम हुआ था, कि इसमें कार्बोनिक डाइ-अक्साइडका परिमाण था—सैकड़े ३.८। किन्तु प्रश्वासकी वायुमें ठीक इसी समय कार्बोन डाइ अक्साइडका परिमाण था—सैकड़े २.८ भागमात्र। अक्सिजनके परिमाणके सम्बन्धमें यह सिद्धान्त हुआ है, कि प्रश्वासकी वायुमें सैकड़े १६ भाग अक्सिजन रहनेसे फुस्फुस्के अभ्यन्तरस्थ अक्सिजनका परिमाण होगा—सैकड़े १० भागमात्र।

पाश्चात्य शरीर-विचय-शास्त्रके आधुनिक पण्डितोंने इस बात पर पूर्ण रूपसे विचार किया है, कि न्यूमेटिकस, (Pnuematics) और हाइड्रोष्टेटिकस (Hydrostatics) विज्ञानके नियमावलम्बसे जीवदेहके शोणितसंस्पर्श और शोणित-संघर्षसे वायवीय अक्सिजन और कार्बोन डाई अक्साइडका परिवर्त्तन होता है। पण्डितप्रवर हक्सलीने अपने फिजीओलजी नामक ग्रन्थमें इसके सम्बन्धमें कुछ आभास दिया है। किन्तु इस समय भी इन सब विषयोंका सुसिद्धान्त नहीं हो सका है।

रक्तमें अक्सिजन।

उन्मुक्त वायुमंडलमें अक्सिजनका जो प्रचाप है, फुस्फुस्के वायुकोषस्थित अक्सिजनका प्रचाप उसकी अपेक्षा कम है। किन्तु शैरिक रक्तमें अक्सिजनका जो प्रचाप

रहता है, वायुकोषके अक्सिजनका प्रचाप उसकी अपेक्षा अधिकतर है। अतएव वायुकोषस्थ अक्सिजन शैरिक रक्तराशिमें प्रवेश करता और रक्त हिमोग्लोबिन या रक्त कणामें मिल जाता है। इस मिले हुए पदार्थका अक्सिहिमोग्लोबिन (Oxyhæmoglobin) नाम पड़ा है। ऐसी अवस्थामें रक्तके दूसरे पदार्थको (Plasma) अधिकतर अक्सिजन ग्रहण करनेकी सुविधा प्राप्त होती है। फिर दूसरे पक्षमें रक्तका प्लजमा पदार्थमें यदि अक्सिजनका प्रचाप अधिक हो, तो और टिशुमें यदि कम हो; तो रक्तके प्लजमा पदार्थसे दैहिक टिशुमें अक्सिजन प्रधावित होता है। अक्सिजनके प्लजमासे दैहिक रस (Lymph) रससे टिशुमें उपस्थित होता है। इस अवस्थामें अक्सिहिमोग्लोबिनसे अक्सिजन विच्युत हो जाता है। इस तरह हिमोग्लोबिन अक्सिजनको खो कर भी मलिन और विष हो जाता है।

रक्तमें कार्बोनिक एसिड ।

देहकी जिस जगह वायवीय पदार्थका प्रचाप अधिकतर है, उसी जगह कार्बोनिक एसिड अधिक मात्रामें उत्पन्न होता है। दैहिक टिशुराशिमें ही कार्बोनिक कम्पाउण्ड अधिक मात्रामें परिलक्षित होता है। यह टिशुसे पहले देहके रसमें (Lymph), वहांसे रक्त, वहांसे फुस्फुस् और वहांसे पृथक् हो वायुकोषमें उपस्थित हो कर प्रश्वासके साथ कार्बोनिक एसिडके रूपसे वाहर निकलता है।

शोणितराशिको शोणितकषाय (Corpuscle) और प्लजमा पदार्थमें विभक्त करने पर शेषोक्त पदार्थमें ही कार्बोनिक एसिडका परिमाण अधिकतर दिखाई देता है। वायु निकालनेवाले किसी यन्त्रमें रक्त रखनेसे दिखाई देता है, कि उससे वायवीय वाष्पराशि बुद्बुदाकारमें वाहर होती है। इसमें किसी तरहका क्षीण प्रभाव एसिड द्रव्य मिलानेसे भी इससे फिर कार्बोनिक एसिड वाहर न हो। किन्तु प्लजमा पदार्थसे अधिकतर कार्बोनिक एसिड बाहर निकलता है। फिर भी इसमें प्रायः सैकड़े ५ भाग कार्बोनिक एसिड रह जाता है। फस्फोरिक एसिडकी तरह तीक्ष्ण एसिड न मिलानेसे प्लजमासे निःशेषित रूपसे कार्बोनिक एसिड निर्मुक्त नहीं होता। लोहित रक्तकणा रक्तके प्लजमा पदार्थमें सम्मिश्रित करनेसे भी फस्फोरिक एसिडकी तरह कार्य करती है। अर्थात् इसके द्वारा भी प्लजमाका कार्बोनिक एसिड अंश वाहर हो सकता है। इसीलिये कुछ लोगोंका कहना है, कि अक्सिहिमोग्लोबिनमें एसिडका धर्म है। एक सौ भाग शैरिकरक्तमें Venous blood) ४० भाग कार्बोनिक एसिड है। पेशाब या मूत्रमें सैकड़े ७ भाग कार्बोनिक एसिड दिखाई देता है।

श्वास-क्रियाका विवरण ।

प्राचीन पाश्चात्यचिकित्सा-विज्ञानविद् पण्डितोंका विश्वास है, कि नाक और मुंहसे वायुनलीकी राहसे वायु फुस्फुसके वायुकोषमें पहुंच जाती और दुषित रक्तको शुद्ध कर देती है। फुस्फुसमें रक्तका अपरिष्कृत पदार्थ अक्सिजनकी सहायतासे दूर हो जाता है। अतः फुस्फुस ही तापोत्पादनकी एकमात्र स्थली (थैली) है। किन्तु इसके बाद वैज्ञानिक गवेषणासे प्रमाणित हुआ है, कि शैरिक रक्त फुस्फुसमें प्रविष्ट होनेसे पहले भी इससे यथेष्ट परिमाणसे कार्बोनिक एसिड मिला रहता है। इससे नये अनुसन्धानका पथ फैल गया। अनुसन्धित्सु वैज्ञानिकोंने देखा, कि रक्तमें भी अक्सिडेशन या मृदुदहनक्रिया सम्भवनीय है। वे यह भी समझ गये हैं, कि देहके अन्यान्य स्थानोंके तापोंसे फुस्फुसका ताप अधिक नहीं। ये सब देख कर उन्होंने सोचा, कि रक्तमें ही मृदु दहनक्रिया सम्पन्न होती है। देर न लगी, कि उनको अपनी भूल सूझ पड़ी। उन्होंने अब स्थिर किया है, कि समग्र देहकी धातु या टीशुमें ही यह मृदुदहनक्रिया (Oxydation) निष्पन्न होती है। इन्होंने परीक्षा कर देखा है, कि रक्तके बिना भी जीवदेहमें यह क्रिया कुछ देर तक चल सकती है। एक मेढककी देहसे रक्त शोषण कर इसकी धमनियोंमें यदि लवणजल भर दिया जाय और उसको विशुद्ध अक्सिजनके वाष्पमें रखा जाय, तो भी उसकी दैहिकपरिभ्रमणक्रिया (Metabolism) कुछ देर तक अव्याहत रह सकती है। उसकी देहमें रक्त न होने पर भी अक्सिजन और कार्बोनिक एसिडके आदान और परित्याग प्रक्रियामें कुछ देर तक कोई भी व्याघात उपस्थित नहीं होता।

इसीलिये आधुनिक शरीरतत्त्वज्ञ पण्डितोंके मतसे केवल फुस्फुससंक्रान्त श्वासक्रिया एकमात्र श्वासक्रिया कह कर अभिहित नहीं होती । देहके भीतर प्रति मुहूर्त्त प्रति उपादान धातुकी प्रतिकणामें जो श्वासक्रिया चल रही है, देह-प्रकृति उस गूढ़ रहस्यको उद्घाटनके लिये पाश्चात्य पण्डित मानवदेहमें वायुक्रियाके सम्बन्धमें बहुत गवेषणा कर रहे हैं । यदि समूची देहमें इसी तरह श्वासक्रियाका उद्देश्य संसाधित न होता, तो दैनिक कार्य किसी तरह सुश्रृङ्खलित रूपसे परिचालित होनेकी सम्भावना न थी । देहमें प्रति मुहूर्त्तमें इतना अधिक कार्बोनिक एसिड संचित होता है और अक्सिजनका इतना अधिक प्रयोजन होता है, कि केवल फुस्फुसीय श्वासक्रिया पर निर्भर करने पर किसी प्रकार भी दैनिक कार्य निरापदरूपसे निर्वाहित नहीं होता । सुतरां ऐसा नहीं, कि श्वासक्रिया कहनेसे केवल श्वासयन्त्रकी मांसपेशीकी क्रियाके प्रभावसे फुस्फुसके सङ्कोचन और प्रसारण-जनित बाहरी वायुका ग्रहण और फुस्फुसीय वायुकी परित्याग-क्रियामात्रको समझना होगा ।

श्वासक्रियाकी संज्ञा आधुनिक विज्ञानमें खूब चौड़े अर्थमें व्यवहृत हो रही है, इससे पहले भी उसकी आलोचना की जा चुकी है । समग्र देहव्यापिनी श्वासक्रिया या टीशु रेसपिरेशन (Tissue Respiration) के सम्बन्धमें यथेष्ट आभास दे कर अब फुस्फुसीय श्वासक्रिया (Pulmonary-Respiration)के सम्बन्धमें आलोचना की जाती है ।

श्वासक्रिया-यन्त्र ।

मुखके भीतरके पृष्ठदेशीय स्थान फेरिन्स (Pharynx) नामसे प्रसिद्ध है । इसके साथ नाक और मुंहका भी संयोग है । सुतरां इन दोनों पथोंसे ही उसमें वायु प्रविष्ट होती रहती है । इसके निम्नभागमें ही ग्लेटिश रहता है । ग्लेटिश जिह्वाके निम्नभागमें अवस्थित है । ग्लेटिश-फेरिन्सका ही निम्नांश है । यहां वायुके जानेका पथ है । उसके सामने एक कपाट रहता है । उसका नाम—ए०, पी० ग्लेटिस है । यह दृढ़ परदा है । उसके नीचे ही लेरिन्स (Larynx) या कण्ठनाली है । इसके नीचेका नाम ट्रेकिया है । ट्रेकिया उपास्थिवत् पदार्थ द्वारा गठित है । अतः वह कठिन है । गलेके ऊपरका कुछ अंश ट्रेकिया नामसे प्रसिद्ध है । इस ट्रेकियाके अधोभागमें ही वायुनाली या ब्रोङ्कस (Bronchus) है । बेङ्कस ट्रेकियाकी एक शाखा है । ट्रेकियाने दो शाखाओंमें विभक्त हो कर फुस्फुसमें प्रवेश किया है । वे हमारे अनेक उपशाखाओंमें भी विभक्त हैं । इस तरह छोटे छोटे उपशाखा Bronchioless नामसे अभिहित हैं । वे सब छोटे छोटे उपशाखायें क्रमशः सूक्ष्म होते होते अवशेषमें इनफन्डीबुलाम (Infundibulum) नामक सूक्ष्मतम वायुप्रवाहिकामें परिणत हुई हैं । इसकी लम्बाई एक इञ्चके तीस भागका केवल एक भाग है । ये सब छोटी छोटी वायुप्रवाहिकायें फुस्फुसमें बहुसंख्यक कोषोंमें विभक्त हुई हैं । ये सब कोष आलवेओली (alveoli) या वायुकोष कहलाते हैं । इन वायुकोषोंके साथ अपरिष्कृत शोणित-कैशिका-समूह घनिष्ठ रूपसे संस्पृष्ट हैं । हृत्पिण्डसे फुस्फुसीय धमनीके साथ जो अपरिष्कृत शैरिक रक्तराशि फुस्फुसके क्षुद्रतम कैशिकामें सञ्चित होती है । कार्बोनिक एसिड आदि संयुक्त उस रक्तराशिके साथ इन सब वायुकोषोंकी वायु सहज ही संस्पृष्ट होती है । ये दोनों ओरसे वायुकोषोंकी वायुके साथ आदान प्रदान कार्य सम्पन्न करते है ।

फुस्फुसमें वायवीय पदार्थका आदान-प्रदान ।

हम इसका उल्लेख कर चुके हैं, कि लोहित या लाल शोणितकणा अक्सिजन प्राप्त करनेके लिये लालायित रहती हैं । रक्तकणिकाकी ओर (Haemog'obin) अक्सिजन आकृष्ट होता है । वायुकोषोंके बीच शैरिकरक्तसे पूर्ण कैशिकास्थित रक्तमें कार्बोनिक एसिडका भाग अधिकतर है ।

दूसरी ओर वायुकोषमें अक्सिजनका भाग अधिकतर है । वायवीय पदार्थके प्रचापके नियमानुसार शैरिकरक्तमें अक्सिजन अधिक मात्रासे प्रविष्ट होता हैं । इस समय शैरिक रक्तके ध्वंसप्राप्त पदार्थनिहित कार्बोनिक एसिडमें परिणत होता है । रक्तके साथ भी कार्बोनिक-एसिड मिला रहता है । यह कार्बोनिक एसिड रक्तवाहिनीसे वायुकोषमें प्रेरित होता है । अक्सिजन हिमोग्लोबिनके साथ सम्मिलित हो कर शोणित राशिका

समुज्ज्वल बना देता है तथा इनके कार्बोनिक एसिडकी मात्राको यथासम्भव ह्रास कर देता है, सूक्ष्मतम यान्त्रिक पदार्थ भी वायुकोषमें प्रेरित होता है। इस तरह रक्त परिष्कृत हो फुस्फुसीय शिराके पथसे हृत्पिण्डके बायें प्रकोष्ठमें उपस्थित होता है। वहांसे धमनीके पथसे सारे शरीरमें संचालित होता है और देहका टीशु या मौलिक धातुसमूह भी अक्सिजनबाहुल्य-रक्तस्रोतसे अपने अपने प्रयोजनानुसार अक्सिजन ग्रहण और कार्बोनिक एसिड परित्याग किया करता है। इस तरह धमनीकी शाखा और उपशाखा, क्षुद्रतर शाखा और क्षुद्रतम शाखा परिभ्रमण कर अन्तमें यह रक्त कैशिकाके संयोगमुखमें क्षुद्रतम, क्षुद्रतर, क्षुद्र, वृहत् और बृहत्तम शिरापथसे भ्रमण करते करते हृत्पिण्डके दक्षिण-कक्षसंयुक्त दो वृहत् शिरामें पतित हो अन्तमें हृत्पिण्डके दाहने कक्षमें प्रवेश करता है। इस अवस्थामें इसमें अक्सिजनका अंश बहुत कम और कार्बोनिक एसिडका भाग बहुत अधिक बढ़ता रहता है। हृत्पिण्डसे फिर प्राणस्वरूप अक्सिजन प्राप्तिके लिये और जीवन-संघातक कार्बोनिक एसिड गेस परित्याग करनेके लिये यह रक्तराशि अति व्याकुलतापूर्वक फुस्फुस के वायुकोषमय सुखकर स्थलमें आ कर वायुके लिये मुंह फैलाती है। तुषारपातसे शीतार्त्त पथिक जैसे सौरकिरण पा कर नवजीवन प्राप्त करता है, ये सब शैरिक रक्त भी अक्सिजन स्पर्शसे वैसे ही समुज्ज्वल और प्रफुल्ल हो जाते हैं। इनका कालापन दूर होता है। कार्बोनिक एसिडके प्रभावसे (इनके विषादमें गिरी हुई) विषण्ण देह अक्सिजन प्राप्त कर विषस्पर्शसे विमुक्त होती है और प्रत्येक रक्तकणा यथार्थमें प्रफुल्ल (Fatter) और समुज्ज्वल हो उठती है।

अक्सिजनकी मित्रता।

हम अबसे पहले कह चुके हैं, कि अक्सिजन रक्तकर्णिकासे (हिमग्लोबिनसे) मिलते ही तुरन्त उससे गले लग कर मित्रता कर लेता है। इससे मिल कर यह दूसरी एक मूर्त्ति धारण करनेकी चेष्टा करता है। मानो इसकी मित्रताकी इतिश्री होगी ही नहीं। इस युगल मिलनमें मानो केवल सम्भोगगीत है; किन्तु मथुराकी विरहव्यथित वियोगिनियोंका विषादसे भरा वह तान नहीं। किन्तु यह धारणा भ्रममूलक है। अक्सिजन मित्रके सङ्गसे सुखी होनेकी अपेक्षा स्वजातिकी बलवृद्धि करके ही अधिकतर सुखी होता है। हिमोग्लोबिनका अक्सिजन जब टीशुमें अक्सिजनका प्रचाप कम देखता है, तभी इस मित्र हिमोग्लोबिनका साथ छोड़ कर दैहिक रसकी (Lymph) आनन्दतरङ्गमें बहता हुआ टीशुमें जा मिलता है। हिमोग्लोबिन तब इस चिरचञ्चल, अनन्त सुहृद् मित्रके वियोगमें म्लान और विषाण्ण हो जाता है और इस मित्रको खो कर धीरे धीरे शिराके अन्धकारगर्भमें डूब जाता है।

त्वक् की श्वासक्रिया।

हम पहले ही कह आये हैं, कि दैहिक टीशु द्वारा भी श्वासक्रिया अच्छी तरह निर्वाहित होती है। फलतः जरा जांच करने पर मालूम होगा, कि हमारी सारी देह ही मानो सञ्चित कार्बोन-परिहार और अक्सिजन-ग्रहण करनेके निमित्त निरन्तर चेष्टा कर रही है। दिन रात हमारे देह-राज्यमें इस आदान-प्रदानका विपुल आयोजन और महान् व्यवसाय चल रहा है, जिसे हम देखते भी नहीं। भीतरी उपादान और फुस्फुसयन्त्र—इन दोनोंकी बात छोड़ देने पर भी दिखाई देता है, कि हमारी देहके बाहरी त्वक्राशि भी इस व्यापारमें सदा व्यस्त है। त्वक् में भी यथेष्ट कैशिका नाड़ी विद्यमान है। वायुकोषमें जिस तरह एपिथिलियम नामकी चहारदीवारी है। त्वक्में उसी जातिकी झिल्ली वर्त्तमान है। किन्तु त्वक् की झिल्ली फुस्फुसकी झिल्लीकी अपेक्षा अधिकतर मोटी है। फुस्फुसकी झिल्ली बहुत पतली है। सुतरां फुस्फुसकी अपेक्षा चर्ममें बहुत जल्द स्पर्श करने पर भी त्वक्की रक्तधारामें वायु देरसे पहुंचती है। इस कारण फुस्फुस द्वारा जितने समयमें ३८ भाग कार्बोनिक एसिड बहिष्कृत होता हैं, त्वक् द्वारा उतने ही समयमें एक भाग केवल कार्बोनिक एसिड बाहर निकलता है। किन्तु जलीय वाष्प निकलनेका चौड़ा पथ त्वक् ही है। फुस्फुससे जिस औसतसे जलीयवाष्प बाहर निकलता है, त्वक्के जलीय वाष्पके निकलनेका औसत उससे दुगना है। साधारणतः त्वक् पथसे प्रायः

एक सेरके अन्दाज जलीय वाष्प निकलता है। देहका आयतन, उत्ताप और वायुकी शीतोष्णताकी न्यूनाधिकताके अनुसार जलीय वाष्पके निकलनेका भी तारतम्य दिखाई देता है।

फुस्फुस्का वायु-शोधन।

प्रतिश्वासमें प्रायः पांच सौ घन सेण्टिमिटर वायु फुस्फुसमें आती है और फुस्फुसके मध्यस्थित दूषित वायुसे मिलती है। इससे कार्बोनिक एसिडका भाग अधिक हो जाता है। प्रश्वासके द्वारा दूषित वायुका सब अंश बाहर नहीं निकल पाता। अतएव प्रत्येक बारके निश्वासमें वायु फुस्फुस मध्यस्थित दुषित वायुके दश भागके एक भागके साथ मिल जाती है। अतएव आठसे दश बार तक श्वासक्रिया करने पर फुस्फुसकी वायु विशोधित है। यहां हमारे योगशास्त्रके प्राणायाम प्रणालीके अनेक सूक्ष्मतत्त्वों पर सूक्ष्म रूपसे विचारनेकी जरूरत है। प्राणायाम प्रणालीमें बहुतेरे सूक्ष्मतत्त्व निहित हैं।

वायुके चापकी कमी और उसका अशुभ फल।

मनुष्य वायुके समुद्रगर्भमें बसता है। हमारी देहके प्रत्येक वर्गइञ्च स्थानके हिसाबसे प्रायः साढ़े सात सेर वायुमण्डलका चाप (दबाव) (Pressure) है। अतः सारी देह पर वायुमण्डलीके चापका परिमाण ३०से ४० हजार पाउण्ड है। एक पाउण्ड आध सेरका होता है। इसका हम लोग जरा भी अनुभव नहीं करते, कि हमारे चारों ओर इतना वायुका चाप है। मछली जैसे जलगर्भमें वास कर जलके भारकी परवाह नहीं करती; कुएंसे जलसे भरा घड़ा खींचनेके समय जैसे जलके भीतरके घड़ेका भार मालूम नहीं होता, किन्तु जलके बाहर जब घड़ा खींच आता है, तब घड़ेमें भरे जलका भार मालूम होता है, वैसे ही हम वायुके समुद्रमें विचरण कर रहे हैं और वायुके भारकी उपलब्धि नहीं कर सकते। वायुमण्डलीका यह चाप हमारी देहके लिये अभ्यासवशतः प्रयोजनीय हो गया है। प्रत्युत इस चापकी कमी होने पर हम लोगोंको असुविधा होती है।

वायुमण्डलका प्रभाव कम होने पर मानवदेहकी कैशिकामें और श्लेष्मिक झिल्लीमें रक्ताधिक्य हो जाता है। इससे घर्माधिक्य, रक्तस्राव और श्लेष्मक्षरण हो सकते हैं।

(२) कैशिकाओंके कार्य-शैथिल्य-निबन्धन हृद्स्पन्दन, घनश्वास और श्वासकृच्छ्र हो सकता है।

(३) वायुका चाप कम होने पर उसमें अक्सिजनकी मात्रा भी कम हो जायेगी। अल्प परिमित अक्सिजन ग्रहण कर देहको यथार्थ कार्बोनिक एसिड बाहर करनेकी पूर्ण सुविधा नहीं मिलती। इससे देहमें कार्बोनिक एसिड विष सञ्चित होती है और इससे बहुतेरे अमङ्गल होते हैं।

(४) अक्सिजनकी कमीसे भेगस स्नायुका मूलदेश उत्तेजित होता है और इससे विवमिषा और वमन उपस्थित होता है।

(५) वायुप्रकोपके ह्रासमें दैहिकयन्त्रसे शोणित-प्रवाह बाहरकी ओर आकृष्ट होता है, मस्तिष्कका रक्त प्रवाह-ह्रास होता है, इसके फलसे मूर्च्छा क्षीण दृष्टि आदि नाना प्रकारके दुर्लक्षण दिखाई देते हैं।

वायुका चापाधिक्य और अशुभ फल।

वायुके चापकी अधिकतासे भी बहुत अशुभफल होता है। उच्च स्थानमें जैसे वायुका चाप कम हो जाता है। भूगर्भमें, समुद्रके नीचे खानमें या गहरे कुएंमें वायुका चापाधिक्य होता है। इन सब स्थानोंमें प्रति वर्गइञ्च परिमाण स्थानमें वायुमण्डलीका ६०।७० पाउण्ड चाप हो सकता है। चापाधिक्यसे त्वक् रक्तशून्य होता है। पसीना बन्द होता, श्वासक्रिया कम हो जाती, निश्वास सहज और प्रश्वास त्याग करनेमें क्लेश होता है। निश्वास और प्रश्वासके विरामका समय सुदीर्घ हो जाता है। फुस्फुसका आयतन बढ़ता, पेशाबकी वृद्धि और हृत्पिण्ड धीरे धीरे कार्य करने लगता है। वायुके चापाधिक्यमय स्नानमें वास करना जिनका अभ्यास है, उनके सहसा ऊपर उठ आने पर उनकी देहके त्वक्में एकाएक रक्त आ उपस्थित होता है। नाक मुंहसे रक्तस्राव हो सकता है। स्नायुमण्डलीके रक्ताल्पतावशतः पक्षाघात (लकवा) रोग भी उपस्थित हो सकता है अक्सिजन हमारे लिये बहुत ही हितकर है। किन्तु परिमाणाधिक्य होने पर इससे भी हमारा जीवन नष्ट हो जाता है। अत्यन्त चाप

प्राप्त घनीभूत अक्सिजनके सैकड़े ३५ भाग रक्तमें शोषण होने पर देहमें धनुष्टङ्कारकी तरह रोग उत्पन्न होता है और उससे मृत्यु भी हो जाती है।

देहमें कार्बोनिक एसिडके बढ़नेके कारण—

(१) पेशी-क्रिया—मांस पेशीके अधिक सञ्चालित होने पर कार्बोनिक एसिडकी वृद्धि होती है।

(२) श्वेतसार जातीय पदार्थ अधिक परिमाणसे भोजन करने पर प्रश्वासकी अधिक मात्रामें वृद्धि होती है।

(३) तीस वर्षकी उम्र तक कार्बोनिक एसिडकी मात्रा बढ़ती है। पचास वर्षकी अवस्थाके बाद क्रमशः इसकी मात्रा कम होने लगती है। स्त्रियोंका आर्त्तव-शोणित कुछ कम अर्थात् पैतालीस वर्षकी अवस्थासे कार्बोनिक एसिडका परिमाण ह्रास होने लगता है। पुरुषकी अपेक्षा स्त्रियोंके प्रश्वासमें कार्बोनिक एसिड स्वभावतः कम रहता है।

(४) ज्वरादि रोगके समय प्रश्वासमें कार्बोनिक एसिडकी मात्रा बढ़ जाती है।

(५) शैत्यमें श्वास-क्रियाकी वृद्धिके साथ-साथ कार्बोनिक एसिड भी अधिक परिमाणसे बाहर निकलता है।

(६) दिनमें प्रचुर परिमाणसे कार्बोनिक एसिड बाहर निकलता है। रातको क्रमशः कम होता है। अन्तमें आधी रातको इसकी मात्रा बिलकुल कम हो जाती है।

(७) वारंवार प्रश्वासके समय प्रत्येक प्रश्वासमें कार्बोनिक एसिडकी मात्रा कम रहने पर भी यह श्वास अधिक मात्रामें निकलता है। इससे ऐसा न समझना होगा, कि टीशु पदार्थमें अधिक परिमाणसे यह श्वास उत्पन्न होता है। वास्तविक बात यह है, कि प्रश्वास जितना घन घन निकलता है, उसके साथ प्रत्येक बार उतना ही कार्बोनिक एसिड निकलता है। सुतरां मूल बात यह है, कि मात्राकी अधिकता होती है।

(८) आहारके आध घण्टे बाद कार्बोनिक एसिडकी मात्रा बढ़ती है। यह वृद्धि केवल आहार-द्रव्यके ग्रहण-जनित होती है।

वायवीय उपादानका स्वाभाविक नियम यह है, कि उन्मुक्त अवस्थामें वे इनके परिमाणके अनुपातका साम्यसंरक्षण करते रहते हैं। मान लीजिये, कि वारोमिटरमें पारदके द्वारा वायुका चाप ७६० मिलिमिटर है। वायुराशिमें अक्सिजनका परिमाण एक पञ्चमांश है। इसके प्रचापका अनुपात भी उक्त ७६० मिलिमिटर परिमाणका एक पञ्चमांश है, अविशिष्टांश प्रचाप नाइट्रोजन जनित है।

फुस्फुसमें वायवीय उपादानके अनुपातका साम्यसंरक्षण।

उन्मुक्त वायुमें कार्बोनिक एसिडका प्रचाप बहुत कम है। किन्तु फुस्फुसमें कार्बोनिक एसिडकी मात्रा अधिक है। प्रागुक्त प्राकृतिक नियमके अनुसार अक्सिजन वायुराशिमें अनुपातिक साम्यसंरक्षणके निमित्त सर्वदाही प्रस्तुत रहता है। जहां अक्सिजनकी मात्रा कम रहती है, दूसरे स्थानोंसे अक्सिजन अपने स्वजातियोंकी अनुपातिक मात्रा संरक्षण करनेके लिये उसी ओर दौड़ता है और बाहरी वायु फुस्फुसके भीतर प्रवेश कर अक्सिजनका स्थानीय अभाव पूर्ण कर देती है। यह है प्रकृतिका एक महामङ्गल विधान।

अक्सिजन और कार्बोन-डाइ-अक्साइडके २४ घण्टेके बाद।

प्राप्तवयस्क व्यक्ति २४ घण्टेमें श्वासक्रियासे दश हजार ग्रेन परिमित अक्सिजन ग्रहण करता है। २४ घण्टेके परित्यक्त कार्बोनिक एसिडमें ३३०० ग्रेन या १८ तोला अङ्गार रहता है। देहसे प्रति २४ घण्टेमें प्रायः पक्का १८ तोला अङ्गार कार्बोनिक एसिडके आकारमें निकल जाता है। इस तरह फुस्फुसके पथमें जलीय वाष्पाकारमें जो जल बाहर निकलता है, उसका परिमाण भी साढ़े चार छटाँक है। वयस, भूवायुका प्रचाप और स्त्री पुरुषादि भेदसे इस परिमाणमें न्यूनाधिक हुआ करता है। अल्पवयस्क व्यक्तिकी देहमें जिस परिमाणसे अक्सिजन गृहीत होता है, उसकी तुलनामें बहुत कम परिमाणसे कार्बोनिक एसिड बाहर निकलता है। बालक बालिकाओंको अपेक्षा अधिक मात्रामें कार्बोन डाइ-अक्साइड परित्याग करते हैं। वहिर्वायुकी उष्णता ह्रासनिबन्धनसे देहका ताप कम होने पर कार्बोन डाइ-अक्साइडकी मात्रा भी कम हो जाती है। बाहरके तापको

वृद्धिसे देहका उत्ताप बढ़ जाने पर इस गेसकी मात्रा भी बढ़ जाती है। फिर दूसरी ओर वाहरकी वायु जरा भी शीतल हो और उसमें यदि दैहिक उत्तापका ह्रास न हो, तो अधिक मात्रामें कार्बोनिक एसिड परित्यक्त होता है। वायुमें सैकड़े .०८ भाग कार्बोनिक एसिड उत्पन्न होने पर यह असुखकर हो जाता है और सैकड़े एक भाग कार्बोनिक एसिडमें वह विषवत् हो उठता है।

श्वासक्रियामें वायवीय पदार्थोंका विनिमय।

जलीय पदार्थके साथ वायवीय पदार्थका समिश्रण होने पर कई छोटी छोटी क्रियायें दिखाई देने लगती हैं। यहां फुस्फुसीय रक्तमें आकाशीय वायुके संस्पर्श और आघातके फलसे वायवीय पदार्थों में परस्पर आदान-प्रदान क्रियामें जो परिवर्त्तन होता है, उसके सम्बन्धमें बहुत थोड़ी आलोचना करते हैं। हमारे रक्तके साथ अक्सिजन और कार्बोनिक-डाइ-अक्साइडका जो सम्बन्ध है, अबसे पहले उसका उल्लेख किया गया है। अर्थात् रक्तके हिमोग्लोबिनमें अक्सिजन आकृष्ट होता है। दूसरी ओर प्लजमा पदार्थके (Na H C 0 3) कार्बोन अक्साइडका बहुत थोड़ा रासायनिक सम्बन्ध है। और यह सम्बन्ध भी बहुत शिथिल है। वायुशून्य पात्रमें रक्त रख कर उसमें जरा उत्ताप देने पर ही वायवीय पदार्थ पृथक् हो जाते हैं। इस समय फुस्फुसके भीतर इनका कुछ परिवर्त्तन साधित होता है या नहीं, इसके सम्बन्धमें जरा आलोचना करके देखा जाये।

फुस्फुसके रक्ताधारमें अपरिष्कृत रक्त भी प्रवाहित होता है। इन सूत्मतम और सूक्ष्मतर रक्ताधारके दोनों पार्श्वोंमें ही वायुकोष (Alveolarair cells) दिखाई देता है। रक्ताधारका रक्त कार्बोनिक एसिडसे पूर्ण है। फिर वायुकोषकी वायुमें अक्सिजनका परिमाण अधिक है। कार्बोनिक एसिड रक्तके साथ मिला हुआ रहता है। प्रचाप और उत्तापके सिवा उससे उक्त श्वासके विश्लिष्ट होनेका दूसरा कोई उपाय नहीं। इस बातकी आलोचना करनेके पहले तरल पदार्थके साथ गेसका जो सम्बन्ध है, उसके बारेमें कुछ उल्लेख करना आवश्यक है। खुली वायुमें विशुद्ध जल रख निर्दिष्ट परिमाणसे ताप देने पर निर्दिष्ट परिमाणसे वायु जलमें मिल जायगी फिर वायुके अर्द्ध आयतन जलमें यदि निर्दिष्ट परिमाणसे वायु सङ्कुचित की जाय, तो भी जल उसी परिमाणसे वायुको ही आत्मसात करेगा। वायुका आयतन चौगुना अधिक होने वह भी इस निर्दिष्ट परिमाणसे अधिक जलमें मिल न सकेगा।

शैरिक रक्तवायुकोषक पार्श्वस्थ कैशिकामें पहुंचनेके समय उसका हिमोग्लोबिनोंमें अक्सिजन नहीं रहता। इससे कार्बोन-डाइ-अक्साइड अधिक मात्रामें विद्यमान रहता है। दूरवर्त्ती यन्त्रोंके गठनोपादान या टीशुसे शैरिक रक्त कार्बोन-डाइ-अक्साइडमें प्रवेश कर जाता है। इधर वायुकोषके प्राचीरके साथ इस अपरिष्कृत रक्ताधारके प्राचीरमें सटे रहनेसे वायुकोषके अक्सिजन ग्रहण करनेमें इनकी यथेष्ट सुविधा होती है। वायुकोषकी वायुमें सैकड़े दश भाग अक्सिजन रहता है। कुत्ते के फुस्फुसकी परीक्षा कर देखा गया है, कि उसमें सैकड़े २.८ भाग कार्बोन डाइ-अक्साइड रहता है। इस समय प्रश्वासवायुमें कार्बोन डाइ-अक्साइडका परिमाण सैकड़े २.८ भाग परिलक्षित होता है। डालटेनने (Dalt n) तरल और वायवीय पदार्थके संघात-सम्बन्धमें जिस नियमका आविष्कार किया है, उसके अनुसार अनुमान किया जा सकता है, कि इस अवस्थामें अक्सिजन रक्तमें प्रविष्ट होगा और उसके प्रचापसे कार्बोन-डाइ-अक्साइड वायुकोषमें आ उपस्थित होगा। हम और भी इस पर सूक्ष्मरूपसे विचार कर रहे हैं। फुस्फुसमें सैकड़े १० भाग अक्सिजन रहेगा, अक्सिजनके प्रचापका परिमाण ७६ मिलिमिटर है। पचीस मिलीमिटर प्रचापमें ही हिमोग्लोबिनसे अक्सिजन पृथक् हो जाता है। उसकी तुलनामें अक्सिजनका चाप यहां अत्यन्त अधिक है। किन्तु शैरिक रक्तका हिमोग्लोबिन स्वभावतः ही अक्सिजनविहीन (Reduced) है। अब स्पष्टतः अनुमान किया जा सकता है, कि इस अवस्थामें वृष्टि तृषित मरुभूमिकी तरह या सान्निपातिक ज्वरसे तृषित रोगोके जल पानेको तरह रक्तके हिमोग्लोबिन अक्सिजनोंको आत्मसात् करनेकी चेष्टा करेगा हो करेगा। किन्तु लघु वायु निश्वासमें गृहित होने पर बात स्वतन्त्र है। उसमें अक्सिजन कम रहता है। फिर, फुस्फुसमें इसकी

मात्रा और भी कम हो जाती है। इस अवस्थामें अक्सिजनका प्रवेशलाभ असम्भव हो जाता है। कार्बोन डाइ-अक्साइडका विनिमय नियमके सम्बन्धमें आज भी कोई अच्छा सिद्धान्त नहीं हुआ है। अबसे पहले फुस्फुसीय कैथीटर द्वारा कुत्तेके फुस्फुससे कार्बोन-डाइ-अक्साइडके परिमाणकी परीक्षाके सम्बन्धमें जो लिखा गया है, उससे मालूम हुआ है, कि कुत्तेके फुस्फुसकी वायुमें सैकड़े ३.८ भाग कार्बोनडाइ-अक्साइड विद्यमान रहता है। फिर इधर हृत्पिण्डके दक्षिण कक्षके अपरिष्कृत रक्तमें भी कार्बोन अक्साइडका परिमाण प्रायः सैकड़े तीन भाग है। जब तक वायुकोषका कार्बोन-डाइ-अक्साइडके परिमाणके साथ फुस्फुसीय रक्ताधारका कार्बोन-डाइ अक्साइडमें पूर्ण समता नहीं होती, तब तक रक्ताधारसे कार्बोन डाइ-अक्साइड वायुकोषमें प्रविष्ट हो सकती है। फलतः इसके सम्बन्धमें आज भी विशुद्ध सिद्धान्त स्थिर नहीं हुआ है। अध्यापक गायजी (Arthur Gumgee M. D. F. R. S.)का अनुमान है, कि वायुकोषका प्राचीर सूक्ष्मादपि सूक्ष्मतम होने पर भी कार्बोन-डाइ-अक्साइड क्षरण करनेमें सम्भवतः उसकी यथेष्ट क्षमता है। वायुकोषके प्राचीरकी इस जीव-शक्तिको (Vital power) स्वीकार न करनेसे केवल डालटेनके उद्भावित प्राकृत नियमके ऊपर निर्भर करने पर फुस्फुसके कार्बोन-डाइ अक्साइडकी विनिमय व्याख्याकी विशेष असुविधा हो सकती है। और तो क्या इसके द्वारा इस सूक्ष्मक्रियाकी आज भी सद्व्याख्या संस्थापन करना असम्भव हो उठता है।

श्वास-क्रियाका प्रकार।

फुस्फुसमें वायुग्रहण करनेकी क्रिया—निश्वास नामसे अभिहित और फुस्फुससे वायु छोड़नेको प्रश्वास कहते हैं। नाक या मुख,—ये दोनों ही वायुग्रहण और छोड़नेके पथ हैं। इनमें एकके रुक जाने पर भी दूसरेसे श्वासकी क्रिया चलती रहती है। शरीर-विचय-शास्त्रविद् पण्डितोंने वैज्ञानिक प्रणालीके अनुसार फुस्फुस सम्बन्धीय वायुका प्रकारभेद किया है। फुस्फुसीय वायुके परिमाणभेदसे ही यह प्रकारभेद निर्णीत हुआ है।

प्राप्तवयस्क लोगोंके फुस्फुसमें चौबीसो घण्टे जो वायु आती जाती है, उसकी समष्टि हेचिम साहबके मतसे ६ लाख ८० हज़ार घनइञ्च है। मारसेटके मतसे ४ लाख घनइञ्च है। अमेरिकाके डाक्टर हेयरके मतसे ६ लाख छियासी हज़ार है। किन्तु श्रमसे इसका परिमाण दुगुना हो सकता है। हेयर साहबका कहना है, कि श्रमजीवियोंके फुस्फुसमें २४ घण्टे में १५६६८३६० घनइञ्च वायु आती जाती है।

निश्वास-प्रश्वास।

निश्वास-प्रश्वास या श्वासक्रिया किस तरह सम्पन्न होती है, वक्षप्राचीर किस तरह विलोड़ित होता है, किस-किस मांसपेशीके प्रभावसे यह कार्य होता है,—इन सबका वृत्तान्त "श्वासक्रिया" शब्दमें विस्तारित रूपसे दिया गया है। यहां जिन क्रियाओंसे वायुका संश्रव है, वही लिखना जायेगा। प्रश्वासकी अपेक्षा निश्वास अल्पकाल स्थायी है। निश्वास और प्रश्वासमें ज़रा-सा विराम है। यह विराम बहुत अल्पक्षण स्थायी है। किसी किसी व्यक्तिमें आज भी यह विराम अनुभूत नहीं होता। मुख बन्द रहने पर साधारण नाकसे ही यह वायु आती जाती है। नाकके दोनों छिद्रोंसे एक साथ ही वायु नहीं बहती। पवन-विजय-स्वरोदयमें इसके सम्बन्धमें विशेष आलोचना दिखाई देती है। योगशास्त्रके किसी-किसी ग्रन्थमें भी इसका उल्लेख है। नासारन्ध्रसे जो प्रश्वास वायु निकलती है, उसका विशेष नियम है। किसी निर्दिष्ट समय तक दाहने और निर्दिष्ट समय तक बायें नाकसे प्रश्वास वायु प्रवाहित होती रहती है। "स्वरोदय" शब्दमें इसके सम्बन्धमें विस्तारपूर्वक आलोचना देखना उचित है। वक्ष-प्राचीरकी वायुके नापनेके लिये एक तरहके एक यन्त्रका आविष्कार हुआ है, इसका नाम थोराकोमिटर (Thoracomete) या ष्टीयोमिटर (Stethometer) वक्षप्राचीर विलोडन (Movement) नापनेके लिये भी एक प्रकारका एक यन्त्र निकला है। इसे ष्टेथोग्राफ (Stethograph) न्यूमोग्राफ (Pneumograph) कहते हैं।

श्वास-वायुकी संख्या।

विश्रामके समय प्रति मिनट १६ से २४ बार श्वास वायु प्रवाहित होती है। हृत्स्पन्दनके साथ इसका एक

आनुपातिक सम्बन्ध है। एक वार श्वासक्रियाके समयमें चार वार हृत्स्पन्दन होता है। श्वासवायुकी गतिकी समता सदा स्थिर नहीं रहती। डाक्टर कोयेटोलेटने (Quetelet) इसका एक नियम दिखलाया है। उनका कहना है—

वर्ष	मिनट	वार
१ वर्षकी उम्रमें	१ मिनटमें	४४
५ " "	"	२६
१५ से २० तक	"	२०
२० से ३० तक	"	१६
३० से ५० तक	"	१८.१

(१) परिश्रमसे श्वासवायुक्रिया घन घन होती है।

(२) तापकी वृद्धि होने पर भी श्वासवायुकी क्रिया घन घन होती है।

(३) बार्ट (Bert) ने प्रमाणित किया है, कि भू-वायुका प्रताप जितना बढ़ेगा, श्वासक्रियाका द्रुतत्व उतना ही कम होगा। किन्तु इससे निश्वासकी गम्भीरता (Depth) बढ़ जायगी।

(४) भूख लगते ही श्वासक्रियाकी कमी हो जाती है। भोजन करते समय और करनेके बाद प्रायः एक घण्टा तक श्वासक्रिया बढ़ती है। इसके बाद यह घटती रहती है। भोजन न करनेसे श्वासक्रियाकी वृद्धि नहीं होती। श्वासवायुकी गति बहुत थोड़े समयके लिये स्वेच्छानुसार नाना प्रकारसे प्रवर्त्तित की जा सकती है।

अम्बरवायुके सिवा वायवीय पदाथके निषेवणका फल।

जिस वायुमें अक्सिजनका अभाव है, वैसी वायुके निषेवणसे श्वासावरोध होता है। कार्बोनिक एसिडकी मात्रा बढ़ने पर यह विषवत् क्रिया करता है। इससे साधारणतः मादकता-उत्पादक विषकी क्रिया प्रकाशित होती है। किन्तु अक्सिजनका अभाव न रहने पर इसके द्वारा श्वासरोध हो सकता है। किन्तु कार्बोनिक अक्साइड भयङ्कर विष है। कोयलेके गेसमें यह विष प्रचुर परिमाणसे दिखाई देता है। जिस घरमें वायु जानेका पथ नहीं रहता, द्वार या कपाटादि बन्द रहते हैं, ऐसे घरोंमें रहनेवालेंको कोयलेके धुंएमें मिल कर यह विष भीषण विपद् उपस्थित करता है। यह विष देहमें घुस कर रक्तके हिमोग्लोबिनमें मिले अक्सिजनोंको चट कर जाता है। सुतरां अक्सिजनके अभावके कारण दैहिकक्रियाके लिये विषम विपत्ति खड़ी हो जाती है। एक ओर कार्बोनिक एसिडकी वृद्धि, दूसरी ओर अक्सिजनकी कमी—ये दोनों दैहिकक्रियामें घोरतर अनर्थ उत्पादन कर जीवनीशक्तिको विताड़ित कर देती हैं।

वायुमें यथेष्ट परिमाणसे नाइट्रोजन वर्त्तमान रहता है। इस नाइट्रोजनका अभाव होने पर यदि हाइड्रोजनसे इस अभावकी पूर्त्तिकी जाये और उसमें यदि अक्सिजन पूरी मात्रामें मौजूद हो, तो उसके द्वारा भी दैहिक कार्य निर्वाहित हो सकता है। सलफरेटेड-हाइड्रोजन अहितकर पदार्थ है। इससे रक्तसंशोधन-क्रियामें व्याघात उपस्थित होता है। नाइट्रास अक्साइड भयङ्कर मादक विष है। अधिक मात्रामें कार्बोन डाइ-अक्साइड सलफ्यूरस और अन्यान्य एसिड वाष्प, श्वास-क्रिया-निर्वाहके लिये एकान्त अनुपयोगी हैं। श्वास-क्रियाके सम्बन्धमें अन्यान्य विषय श्वास-क्रियामें देखो।

स्वास्थ्य और वायु।

स्वास्थ्यके साथ वायुका जैसा घनिष्ट सम्बन्ध है, और किसी वस्तुके साथ वायुका वैसा सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। जीवनरक्षाके लिये वायु कितना आवश्यकीय है, इसका परिचय हम पहले दे चुके हैं। इस वायुके दूषित होने पर इससे जो अनुपकार होता है, उसका अनुभव सहज ही होता है।

वायु दूषित होनेका कारण।

कई कारणोंसे वायु दूषित हो सकती है। वायवीय उपादानोंमें कार्बोन-डाइ-अक्साइड, जलीय वाष्प, आमोनिया, सलफरेटेड, हाइड्रोजन आदिके अधिक मात्रमें मिले रहने पर वायु स्वास्थ्यके लिये एकान्त अनुपयोगी हो जाती है। प्रश्वासमें हम जो वायु छोड़ते हैं उसमें वायुराशि गुरुतर रूपसे कार्बोन-डाइ-अक्साइड द्वारा दूषित हो जाती है। स्वाभाविक वायुराशिमें सैकड़े १०००० भागमें ४ भाग मात्र कार्वोनिक एसिड विद्यमान रहता है। किन्तु प्रश्वासत्यक्त वायुमें कार्बोनिक एसिडका परिमाण १०००० भागमें प्रायः तीन सौ से चार सौ

भाग है। इस तरह प्राणिजगत् नित्य वायुराशिको कार्बोनिक एसिड द्वारा दूषित कर देता है। किन्तु प्रकृतिके सुन्दर विधानसे उद्भिद्-जगत् इस विषवत् वायवीय पदार्थको अपने कार्योंमें व्यवहृत कर वायुराशिके विषके भारसे मुक्त कर देता तथा उसे निर्मल बना देता है। अबसे पहले इसका उल्लेख किया जा चुका है, कि कार्बोनिक एसिडमय वायु निषेवणसे क्या अपकार होता है।

प्रश्वाससे परित्यक्त तरह-तरहके यान्त्रिक पदार्थ (Organic substance) द्वारा वायुराशि दूषित हो जाती है। विशुद्ध कार्बोनिक एसिडकी अपेक्षा प्रश्वास-त्यक्त कार्बोनिक एसिड अधिक अपकारी है। क्योंकि उसमें यान्त्रिक पदार्थ मिला रहता है। कलकत्तेकी काली कोठरीकी घटना यदि सत्य हो, तो कहना होगा कि उन आदमियोंकी मृत्युका एकमात्र कारण बन्द कोठरीमें बहुतेरे आदमियोंके प्रश्वास परित्यक्त कार्बोनिक एसिड-मय वायुका ग्रहण ही है। अष्ट्रेलिज युद्धके अन्तमें जिन ३०० कैदियोंमें २६० कैदियोंकी मृत्यु हो गई थी; वह भी इसी कारण हुई थी। ऐसी कितनी हो ऐतिहासिक घटनाओंका उल्लेख किया जा सकता है। फलतः प्रश्वास परित्यक्त वायु भयङ्कर विषमय पदार्थ है, इस बातका ध्यान सभीको रखना चाहिये। किसी घरमें यह वायु सञ्चित हो, तो वह घर दुर्गन्धमय हो जाता है। यदि उस घरके लोगोंको उस दुर्गन्धका अनुभव न हो, तो न सही, किन्तु बाहरसे आये दूसरे आदमीको उस दुर्गन्धका अनुभव शीघ्र ही हो जाता है। बन्द घरमें बहुतेरे मनुष्योंका एकत्र अवस्थान बड़ा ही अहितकर है। सिवा इसके कार्बोन-अक्साइड, कार्बोन डाइ-सल्फाइड-आमोनियम सल्फाइड, नाइट्रिक और नाइट्रिक एसिड, धुएंका झोल, धूल एपिथेलियामकोष, उद्भिद्सूत्र, उल, रेशमसूत्रय बालूकणा चायकी धूलि, लौहकणा और नाना प्रकारके जीवाणुओं द्वारा वायु दूषित होती है। दहनक्रिया, प्रश्वास, पयः-प्रणालीका वाष्पोद्गम, बाणिज्यके द्रव्यादिकी आवर्जना आदि उक्त सब प्रकारोंसे वायुके दूषित होनेका मुख्य कारण है।

शहरकी वायुके दूषित होनेके कारण।

कलकारखानेका धुआँ और आवर्जना, वाणिज्य पदार्थकी आवर्जना, तम्बाकूका धुआँ, पचन और उत्सेचन-क्रिया (Putrefaction and Fe mentation) बस्तियोंकी विशृङ्खला। आवर्जना और मैलागाड़ी, मिट्टीसे भर दिये गये तालाबके ऊपरी भूमिसे विषवाष्पका निकलना, पैखाना, पयः-प्रणालियां मोरीकी विशृङ्खला, गोशाला (गोसार), ग्वाल-पाड़ा, पशुविक्रयस्थान, बाजार, मेहतरोंका डिपो, गोरस्थान जलीयभूमि, कारखाना, (जैसे सोड़के कारखानेसे हाइड्रोक्लोरिक एसिड, तांबेके कारखानेसे सलफ्यूरिक, और सलफ्यूरस एसिड और आर्सेनिकका धुआँ, ईंटोंके पजावे और सीमेण्टके कारखानोंसे कार्बोन-मनक्साइड वाष्प, शिरीष और अस्थि-अङ्गारके कारखाने और गोसारसे प्रचुर परिमाणसे यान्त्रिक अप्गैनिक (Organic) पदार्थ, रबड़के कारखानेसे कार्बोन-डाइ-सल्फाइड प्रभृति नाना प्रकारकी विषमय वायु निकला करती है।) शामुक संग्रह, मलिनवस्त्रसंग्रह, चमड़ेके कारखाने और व्यवसाय, वस्त्र आदिके रंगनेके घर, गिलटी करनेके कारखाने, राजपथकी धूलि आदि कारणोंसे शहरकी वायु दूषित होती रहती है। इसके बाद रोगजीवाणुओं (pa hogenic germes) से वायुके दूषित होनेका सदा डर बना रहता है। शहरके गेसोंके प्रकाशसे भी वायु दूषित होती रहती है। इन सब कारणोंसे वायु दूषित होती और उसी वायुके निषेवणसे नाना प्रकारके रोग देहमें उत्पन्न हो जानेके कारण शारीरिक स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। और तो क्या इस दूषित वायुसे सद्यप्राणनाशक रोग भी उत्पन्न होते हैं। वायुमें दोदुल्यमान कई तरहके रोगोत्पादक हजारों पदार्थ भरे पड़े हैं। उन सब पदार्थोंको नेत्रोंसे न देखने पर भी हम इनके प्रभावसे नाना तरहके खांसीके रोगोंसे आक्रान्त हुआ करते हैं। प्रत्येक गृहस्थको इस बातका ध्यान रखना चाहिये, जिससे इन सब दूषित पदार्थोंसे वायुराशि दूषित न होने पाये।

जलीय वाष्प।

वायुमें और भी एक पदार्थ दिखाई देता है—उसका नाम है जलीयवाष्प। वायुमें स्थान और कालभेदसे अल्पाधिक परिमाणसे जलीयवाष्प मिला रहता है। यह सूर्यके तापसे जल वाष्परूपमें परिणत होता है। यह वायुराशिमें मिला रहता है।

जलीय वाष्पका प्रमाण ।

डाक्टर डाल्टनका कहना है, कि फारनहीटके २१२ डिग्रीके तापसे प्रति मिनट ४.२४४ ग्रेन जल वाष्पमें परिणत होता है। सूर्य्यके तापसे जो जल वाष्प बन जाता है; अत सहजमें ही उसकी परीक्षा की जा सकती है।

जलीय वाष्पकी उत्पत्ति ।

जलके साथ तापका स्पर्श ही इस वाष्पोत्पत्तिका एकमात्र कारण हैं। अग्निके ताप, सूर्य्यके ताप, दैहिक ताप, भूमिके अभ्यन्तरस्थित ताप आदि द्वारा विविध प्रकारके जलीय पदार्थ उत्तप्त हो कर वाष्परूपमें परिणत होते हैं। प्रश्वासवायुके द्वारा भी वायुमें जलीय वाष्पकी मात्रा बढ़ जाती है। त्वक्से ही दैहिक जलीय पदार्थ वाष्परूपसे बाहर हो कर वायुसे मिल जाता है। लकड़ी, कोयला और कई तरहके दीपकोंके जलानेसे भी जलीय वाष्पकी उत्पत्ति होती है। समुद्र तथा तालाब आदि जलाशयोंसे इस प्रकार जितना जल नित्य वाष्पमें परिणत हो आकाशमें उड़ जाता है, उसकी आलोचना करने पर विस्मित होना पड़ता है वैज्ञानिकोंने अनुमानिक गणनामें सिद्धान्त किया है २,०५, २,००,००,००,००,० (२ नील ५ खर्व २ अर्व) मन जल वाष्प रूपसे पृथ्वी पर गिरता है। सिवा इसके करोडों मन जल शिशिर, तुषार, छिन्न तुषार, शिलावृष्टि, कुहरे आदिमें परिणत होता है। विशाल विपुल आकाशकी वायुराशिमें वाष्प रूपमें इतना अधिक जल रहता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि नित्य पृथ्वीसे एक खर्व मन और प्रति घण्टेमें ४,१६,६६,६६,६६६ मन जल वायुराशिके साथ वाष्पाकारमें मिल जाता है। सूर्य्य-किरण ही इस जलाकर्षणका प्रधानतम हेतु है। वृष्टि, शिशिर, तुषार, शिला, कुहरे आदिका मूल कारण यह जलीय वाष्प है। वाष्प आवृत स्थानापेक्षा अनावृत स्थानमें अधिक परिमाणसे उत्पन्न होता है। जिस जलसे वाष्प उत्पन्न होता है, उसके निकट चारों ओर यदि उष्ण वायु प्रवाहित होती, तो उससे शीघ्र शीघ्र वाष्प उत्पन्न होता है। गभीर पात्रकी अपेक्षा छिछले पात्रमें बहुत जल्द वाष्प उत्पन्न होता है। वायुके साहाय्यसे भी वाष्प उत्पन्न होता है। जल और वायुकी उष्णता बराबर होनेसे जलकी अपेक्षा वायु—१५ तापांशसे अधिक शीतल होनेसे वाष्पोद्गममें यथेष्ट बाधा उत्पन्न होती है। वायु वाष्पमें परिपूर्णरूपसे सिक्त होने पर भी वाष्पोद्गममें व्याघात उपस्थित होता है।

शीतकालमें वायु बहुत शुष्क होती है। इसीलिये शीतकालमें बहुत वाष्प उत्पन्न होता है। ग्रीष्मवायुकी उष्णता ही अधिक परिमाणसे वाष्पोद्गम होनेका कारण है। किन्तु इस समयमें वायुराशि शीत ऋतुमें उत्थित वाष्पराशिके द्वारा परिसिक्त रहती है, अतएव वायुमें अधिक वाष्प मिश्रित हो नहीं सकता। इसीलिये जलाशय आदि शीतकालमें जितने सूखते हैं, ग्रीष्मकालमें उतना नहीं सूखते। इसी तरह शीत-ग्रीष्मजात वाष्प वर्षामें वृष्टिरूपसे गिरता है। हमें आकाशमें इस जलीय वाष्पके विविधरूप दिखाई देते हैं, जैसे—मेघ, वृष्टि, शिशिर, छिन्न तुषार और शिला आदि। जलीय वाष्पकी बात कहने पर इन सब बातोंकी कुछ आलोचना करना आवश्यक है।

कुहरा ।

पहले कुहरेकी बात लिखी जाती है। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने इसके सम्बन्धमें बहुतेरी आलोचनायें की हैं। ऊपरी भागमें जो जलीय वाष्पराशि वायुकी स्वच्छतामें बाधा डालती है, उसीको साधारणतः कुहरा कहते हैं। कुहरे और वृष्टिमें थोड़ा ही पार्थक्य है। आकाशके ऊपरी स्तरमें जो घनीभूत वाष्पराशि भ्रमण करता है, उसीको मेघ कहते हैं। कुहरे भी मेघ है सही, किन्तु यह भूभागके अति निकट ही सञ्चित होता है, कुहरा क्षुद्रतम जलबिन्दुकी (Aqnous Spherules) समष्टि है। यह सब जलबिन्दु इतने छोटे हैं, कि बिना अणुवीक्षणके दिखाई नहीं देते। जिस कारणसे शिशिरकी उत्पत्ति होती है, उसके विपरीत हेतुसे ही कुहरा उत्पन्न होता है। आर्द्र भूभागका तापमानकी (Temperature) तत्संलग्न वायुराशिके उष्णतामानकी अपेक्षा कुछ अधिक होनेसे कुहरेकी उत्पत्ति होती है। आर्द्र और अपेक्षाकृत अधिक उत्तप्त भूभागसे उद्भूत जलीय वाष्प निकटस्थ शीतल वायुके स्पर्शसे घनीभूत होता है और छोटे छोटे जलबिन्दुओंमें परिणत होता है, वही कुहरा है। कुहरेके उद्गमके लिये दो अवस्थायें प्रयोजनीय हैं। ऊपरकी वायुराशिकी

अपेक्षा पृथिवीके पृष्ठदेशका तापाधिक्य अथवा वायुराशि की आर्द्रता इन्हीं दो अवस्थाओंके रहनेसे कुहरेकी उत्पत्ति अवश्यम्भावी है। मुसो पेलटियर (Peltier तड़ित्शक्तिके साथ कुहरेका सम्बन्ध विनिर्णय कर दो प्रकारके कुहरेका नाम लिख गये हैं। जैसे—रेजिनास (Resinous) और भिट्रियस (Vetrious) । इस शेषोक्त नामधेय कुहरेके भी प्रकारभेदका उल्लेख दिखाई देता है विषय बढ़ जानेके कारण यहां सब विषयोंकी आलोचना नहीं की गई। सिवा इसके सूखे कुहरे (Dry fogs)-के सम्बन्धमें भी वैज्ञानिक आलोचना देखी जाती है इसके साथ जलीय वाष्पका कोई सम्बन्ध नहीं। यह एक प्रकारके धुएंके सिवा और कुछ नहीं है।

मेघ।

इसके बाद मेघके सम्बन्धमें कुछ कहनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। सूर्य्यका एक नाम सहस्रांशु भी है। सहस्रांशु सहस्रकर फैला कर नद, नदी, समुद्र और अन्यान्य सभी जलाशयोंका जल शोषण किया करते हैं। यह शोषित जलराशि वाष्परूपसे ऊपर उठती है। जलराशि जितना ऊपर उठती है, उतना ही वह अधिकतर शीतल वायुके साथ सम्पृक्त होती है। १८००० फीट ऊर्द्ध्वास्थित वायुका शैत्य बरफके शैत्यकी तरह अनुभूत होता है। कुछ लोगोंका कहना है, कि इस शीतल वायुके स्पर्शसे जलीय वाष्प घनीभूत हो कर मेघके रूपमें परिणत होता है। किन्तु यह मत सर्व्वसम्मत नहीं। जलीय वाष्प जैसे कुहरेका कारण है, वैसे ही वह मेघका भी कारणस्वरूप है। मेघोंके ऊंचे चढ़नेके कई कारण हैं; यथा—वायुकी शीतोष्ण-मानता, आर्द्रता, ऋतु और समुद्र या पर्वतका सामीप्य। गुरुभारमय मेघ भूपृष्ठसे दो-सौ या तीन-सौ गज ऊंचाई पर विचरण करते हैं। फिर श्वासके समान शुभ्र-अभ्रमाला भूपृष्ठसे चार-पाँच मील ऊपर विचरण करती है।

मेघोत्पत्तिका विवरण।

भूभाग या समुद्रादि जलाशयसे उत्ताप वश जलीय वाष्प ऊपर उठता है। अन्तमें आकाशके किसी स्थलकी वायुराशि इसी जलवाष्पमें पूर्णरूपसे परिषिक्त (Saturated) हो जाती है। इसके बाद भी यदि नीचेसे वाष्पोद्गम होता रहे, तो वायुराशि पूर्णरूपसे आर्द्र होती है। जलीयवाष्प घनीभूत होता और मेघरूपमें परिलक्षित होता है।

मेघका नामकरण।

सुविज्ञ वैज्ञानिक पण्डित मि० होवर्डने (Howard) मेघके प्रकारभेद और नामकी कल्पना की है। उच्चतर गगनपटमें काशशुभ्र परिच्छिन्न जो मेघदाम उड़ता फिरता है, वह सिरस (Cirrus) नामसे अभिहित है। इस तरहका मेघ प्रबल वायु या आंधीका पूर्वलक्षण प्रकाशक है। दूसरे प्रकारका मेघ क्युमूलस (Cumulus) नामसे विदित है। इसको ग्रैष्मिक मेघ भी कह सकते हैं। ये मेघ भी शुभ्र हैं। ये पर्वतकी तरह आकाशमें विचरण करते हैं। दूसरे मेघका नाम ष्ट्रेटस (Stratus) है। इस तरहके मेघ घनीभूत हैं। ये आकाशमें अनुप्रस्थ भावसे स्तर-स्तरमें विचरण करते हैं। उपत्यका, जलाभूमि प्रभृतिसे कुहासा या कुहरा उठ कर इस तरहके मेघोंकी सृष्टि करता है। इन तीन तरहके मेघोंके सिवा पाश्चात्य वैज्ञानिक लोगोंने मेघोंके और भी बहुतेरे नाम बतलाये हैं। जिन मेघोंकी जलधारासे वसुधाका तापित अङ्ग सुशीतल होता है, वह घनकृष्ण स्निग्धमधुर श्यामल वारिद पटल निम्बस नामसे विख्यात है।

मेघविन्दु।

मेघविन्दु या कुहरा शिशिरविन्दुकी तरह घना जलमय नहीं है, वह साबुनके बुद्बुदकी तरह शून्यगर्भ है। वह जब वृष्टिमें परिणत होता है, तब उसकी गर्भशून्यता नष्ट होती है। उस समय वह जलमय हो जाता है। मासभेदसे वायुराशिकी शैत्योष्णता-मानमें जो पार्थक्य होता है, उसके अनुसार मेघविन्दुके आकारमें भी पार्थक्य होता है। अगस्त महीनेमें यूरोपमें इसका आकार बहुत छोटा होता है। उस समय उसका परिमाण—एक इञ्चका '०००६ अंशमात्र है। दिसम्बरमें इसका आकार बड़ा दिखाई देता है। उस समय इसका परिमाण एक इञ्चके —'००१५ अंशमें परिणत होता है।

मेघमें सौदामिनी।

मेघके तड़ित् सम्बन्धमें प्राचीन वैज्ञानिक पण्डितोंमें

लेम (Lame), बेकरेल (Becqueral) और पेलटियर (Peltier) आदि पण्डितोंने गवेषणापूर्ण आलोचना की है। आकाशमें पतङ्ग उड़ा कर पण्डितगण प्राचीन समयमें भी इसके सम्बन्धमें अनेक तथ्य जान सके थे। आंधीवाले मेघके साथ तड़ित्‌की अति घनिष्ठता है। हम विषय बढ़ जानेके भयसे और अप्रासङ्गिकताके कारण यहां उन सब विषयोंकी आलोचना करना सुसङ्गत नहीं समझते।

मेघ और विषुव-प्रदेश ।

विषुव प्रदेशके साथ मेघोंका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। उष्णमण्डलके बीचका प्रदेश सूर्य्यके उत्तापसे अधिकतर उत्तप्त होता है। उत्तप्त भूभाग और जलभागसे अधिक मात्रामें जलीयवाष्प आकाशके उच्चस्तरमें उठ कर घनीभूत होता है। यह यहां बहुत समय तक अपेक्षाकृत स्थिर रहता है, उससे भूभाग सूर्य्यके प्रचण्ड तापसे कुछ देर तक बचा रहता है। अतएव जलाशयादिसे जलीयवाष्पोद्गमका परिमाण कुछ कम हो जाता है। इस तरह विषुव प्रदेश जीवोंके रहने लायक रहता है।

मेघका कार्य ।

केवल धारा बरसा कर पृथ्वीको शीतल कर देना मेघका उद्देश्य नहीं है। मेघ द्वारा सूर्य्यका ताप और नैशवाष्पोद्गमका ह्रास होता है। जीवजगत्‌के लिये यह दो अवस्थायें प्रयोजनीय हैं।

मेघकी फलगणना ।

आकाशमें कब कौन मेघ किस तरहका दिखाई देता है, उसका कैसा फल होता है, हमारे पराशरसंहिता आदि शास्त्रोंमें तथा घाघ और बुड्ढोंके वचनोंसे उसका बहुत विवरण मालूम होता है। पाश्चात्य वैज्ञानिकगण भी इसके सम्बन्धमें कुछ कुछ अनुसन्धान कर चुके हैं। यथा—

सिरस—ऊंचे आकाशमें अत्यन्त ऊपर इस जातिके रजतशुभ्र अभ्रोंको दौड़ते देखने पर जानना होगा, कि शीघ्र ही आकाशमें परिवर्त्तन होगा। ग्रीष्मकालमें यह वृष्टि होनेका पूर्व लक्षण सूचित करता है। शीतकालमें इस जातिका मेघ देखनेसे यह जान लेना चाहिये, कि शीघ्र ही अधिक मात्रामें तुषारपात होगा। इस मेघके साथ प्रायः ही दक्षिण-पश्चिम और बढ़नेवाली वायुके प्रवाहका सम्बन्ध है। इस वायुके संस्पर्शसे सिरस मेघ क्रमशः घनीभूत होता, वायु भी क्रमशः आर्द्र हो जाती है, इसके बाद वृष्टि होती है।

सिरोक्यूम्यूलस—यह मेघ तापोद्भवका परिचायक है।

इस तरहका मेघफल-विचार यूरोपीय वैज्ञानिकोंकी गवेषणाके अन्तर्भुक्त है। किन्तु इसके सम्बन्धमें भारतीय पण्डितोंको गवेषणा ही अधिकतर समीचीन है।

सन् १८९१ ई०में म्यूनिक (Munic) नगरमें इण्टरनेशनल मिटिरोलजिकेल कन्फ्रेन्समें स्थिर हुआ, कि मेघ साधारणतः पांच भागोंमें विभक्त हैं। जैसे—

(क) आकाशके उच्चतर प्रदेशमें विचरण करनेवाले मेघ (Very high in the air)।

(ख) आकाशके उच्चतर प्रदेशमें विचरण करनेवाले मेघ (At a medium hight)।

(ग) भूपृष्ठके निकटवर्त्ती मेघ (Lying low or near earth)।

(घ) वायुके उच्च प्रवाहस्तरस्थ मेघ (In ascending current of air)।

(च) आकार परिवर्त्तनोन्मुख वाष्प (Masses of vapour changing in form)।

मेघ वाष्पके घनीभूत दृश्यमान अवस्थामात्र हैं। दो कारणोंसे वाष्प घनीभूत हो कर मेघके रूपमें परिणत होता है।

(१) वायुका स्तरविशेष शिशिरवत् शीतल हो कर तत्स्थानीय जलीय वाष्पोंको न्यूनाधिक परिमाणसे सान्ध्य जलदाकारमें (Stratus) परिणत कर सकता है।

(२) अथवा आर्द्र वायुराशि शीतल जलीय वाष्पराशियोंमें प्रविष्ट हो कर उनको गिरिनिभ मेघमें (Cumulus) परिणत कर सकती है।

मेघतत्त्वविद् पण्डितोंने मेघोंको प्रायः चार भागोंमें विभक्त किया है। इनका नाम और विवरण पहले ही लिखा जा चुका है। यहां केवल यही वक्तव्य है, कि

१ ष्ट्रेटस मेघ सुदीर्घ और आकाशमें चक्रवालकी तरह (Horizontally) स्तर-स्तरमें अवस्थान करते हैं।

(२) क्यूम्यूलस मेघ पर्वताकार हैं। इनका वाष्प तुषारवत् घनीभूत है।

(३) सिरस (Cirrus) मेघ आकाशके अत्युच्च प्रदेशमें काशकुसुम-काननकी तरह अवस्थान करते हैं। इनका वाष्प सर्वापेक्षा अल्प परिमाणसे घनीभूत है। इनके मिश्रणसे और भी अनेक प्रकार उत्पन्न होनेवाले मेघोंके नाम लिखे गये हैं। जैसे—सिरोक्यूलस, ष्ट्रेटक्यूलस, सिरोष्ट्रेटस इत्यादि।

(४) निम्बस (Nimbus) मेघ वृष्टि धारावर्षी हैं। यह मेघ अन्यान्य मेघोंसे भूपृष्ठसे बहुत निकट विचरण करनेवाला है।

अब तक मेघोंके अवस्थिति-अवस्थानभेदसे जो श्रेणी-विभाग किया गया है, अब उनकी उच्चताके सम्बन्धमें साधारणतः जो सिद्धान्त स्थापित हुआ है, नीचे वह प्रकाशित किया जाता है।

(क) पूर्वोक्त चिह्नित मेघश्रेणी साधारणतः १०००० ऊंचे पर विचरण करती हैं। सिरस, सिरो-ष्ट्रेटस और सिरोक्यूमिलस मेघ इसी श्रेणीके अन्तर्गत हैं।

(ख) चिह्नित श्रेणी मेघ ३०००से ६००० गजकी ऊंचाई पर विचरण करता है। जैसे सिरोक्यूमिलस और सिरोष्ट्रेस।

(ग) चिह्नित मेघमालाकी ऊंचाई १००० से २०००० गज तक है। ष्ट्रेटक्यूलस और निम्बस इसी श्रेणीके अन्तर्गत हैं।

(घ) उच्च वायु स्तरमें विचरणशील मेघोंकी भित्ति प्रायः १४०० गज ऊंची और शिखरकी ऊंचाई ३००० से ५००० गज है। क्यूलस और क्यूम्यूनिम्बस मेघ इसी श्रेणीके हैं।

(च) मेघगठनोन्मुख वाष्प १५०० गजकी ऊंचाई पर विचरण करता है। ष्ट्रेटस इसी श्रेणीका है।

वायुके साथ मेघ वृष्टि आदिका सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। वायुका ताप, वायुका अधःऊद्र्ध्वस्तर विचरणशील वायुकी शीतता औ उष्णताके साथ मेघ वृष्टि आदिका बहुत घनिष्ठता है। अतएव वायविज्ञान-लेखमें इन सब विषयोंकी आलोचना अतीव प्रयोजनीय है। मेघमालाका जो श्रेणी-विभाग किया गया, उसके सम्बन्धमें आज भी कोई विशेष तथ्य निरूपित नहीं हो सका है। इसके सम्बन्धमें आज भी मिटियरलजीविद् (Meteorologist) पण्डितोंने यथेष्ट गवेषणा करनी आरम्भ की है, कि किस नियमसे और किस प्रणालीसे आकाशमण्डलमें मेघमाला गठित होती है। मेघके साथ वायुका और वायुकी गतिके सम्बन्ध-विचारमें एक तरहके वैज्ञानिकोंका चित्त आकृष्ट हुआ है। अभी भी ये किसी पक्के सिद्धान्त पर नहीं पहुंचे हैं। साधारण कृषक या किसान और मल्लाह भी जब मेघ देख तूफान वृष्टिका अन्दाजा लगा लेते हैं, तब यह निश्चय है, कि वैज्ञानिक विशेषरूपसे आलोचना करने पर किसी उत्तम सिद्धान्त पर पहुंचेंगे। नीचे इसके सम्बन्धमें कुछ संक्षिप्त मर्म दिया जाता है—

(१) ष्ट्रेटस मेघको देख कर समझना होगा, कि ऊद्र्ध्वगमनशील वायुका प्रवाह बहुत कम है।

(२) क्यूम्यूलस मेघ ऊद्र्ध्वगमनशील वायुप्रवाहके प्रवाहका परिचायक है। भूपृष्ठका ऊपरी भाग गरम हो कर अपने ऊपरकी वायु ऊद्र्ध्वकी ओर उठती है। उसी वायु के प्रभावसे आकाशका मेघ ऊपर चढ़ता रहता है। मेघस्तर गरम हो कर भी अपने ऊपरकी वायुको ऊद्र्ध्वकी ओर परिचालित कर सकता है। फलतः वाष्पराशि अत्यन्त घनीभूत होनेसे उसमें सौरकर इस तरहसे शोषित होता है, कि सब जलीयकणाको पार कर सूर्यकिरण भूपृष्ठ पर पतित नहीं हो सकती है। यह विकीर्ण न हो ऊपर वायुराशिको उत्तप्त करती हैं। निम्नभाग और भूपृष्ठ स्निग्ध छायामें शीतल होता है। क्यूम्यूलस मेघ देख कर यह भी अनुमान होता है, कि आर्द्र वायुराशि किसी पर्वत या प्रतिबन्धकयोग्य पदार्थकी ओर प्रवाहित हो रही है। चाहे जिस तरह क्यों न हो, वायु जितनी ही ऊद्र्ध्वगामी होगी, ऊंचे स्थानके कम प्रचापमें वायुराशि उतनी ही चारों ओर फैलती जायेगी। वायु जितनी फैलती है, उसीके अनुसार वह शीतल भी हुआ करती है।

थार्मोडाइनामिक्स (Thermo dynamics) वा तापविज्ञानमें इस विषय पर यथेष्ट आलोचना की गई है।

वायुकी यह शैत्य वृद्धि शीतल वायु संमिश्रणजनित नहीं हैं। तापविकीरणवशतः भी नहीं, अथवा ऊर्द्ध्व देशकी स्वभाव शीतलताके कारण भी नहीं है। इस शैत्य-प्राप्तिका हेतु स्वतन्त्र है। सन् १८२६ ई०में वैज्ञानिक पण्डित एसपाइने (Espy) तापविज्ञानका नियम आविष्कार किया है, उससे मालूम होता है, कि तापकार्य्यफलसे विमिश्रित होता रहता है। वायुप्रवाह निर्दिष्ट परिमाणसे ऊपर उठने पर शीतल होता है और उसके फलसे वायुमें मिश्रित जलीयवाष्प घनीभूत होता है। मेघ गठनके समय तापराशिमें प्रच्छन्नभावसे विमिश्रित रहता है। मेघयुक्त वायुके निम्नगामी होने पर इसमें प्रच्छन्न ताप प्रकाशित होता है। इसमें विकीरण द्वारा वायुराशिसे खूब कम मात्रामें ताप कम हो जाता है। वृष्टि होनेके समय यदि वायुका प्रच्छन्न ताप कम न हो, तो उक्त वायुके अधोगामी हो जाने पर भूपृष्ठ पर अत्यन्त उष्ण वायुका प्रवाह अनुभूत होता है। दिनके प्रखर सूर्य्योत्तापमें और शुष्क वायु प्रवाहमें अनेक समय मेघ गठित होते न होते ही वाष्पीभूत हो जाता है। इसी वायुको झंझावायु कहते हैं। किन्तु वायुके आर्द्र होने पर इस वायुराशिमें सूर्य्योत्तापमें जो परिवर्त्तन होता रहता है, वह परिवर्त्तन आंधी-संघटनके अनुकूल हैं।

वायुके जलीय वाष्पका विस्तृत विवरण प्रकाशित करने पर वृष्टि, शिला और शिशिरराशिकी बात विस्तृत रूपसे लिखनी पड़ेगी। किन्तु यहां उसका स्थानाभाव है। इन सब विषयोंको उन उन शब्दोंकी व्याख्यामें देखो।

हाइड्रोमिटियरलजी और हाइग्रोमेटी।

वायुके जलीयवाष्पके सम्बन्धमें जो सविस्तार आलोचना देखना चाहें, उनको चाहिये, कि वे हाइड्रोमिटियरलजी (Hydrometeorology) और हाइग्रोमेट्री (Hygrometry)-के सम्बन्धमें वैज्ञानिक ग्रन्थोंका पाठ करें। हाइड्रोमेटियरलजी विज्ञानमें कुहरा, मेघ, वृष्टि, तुषार, शिशिर, शिला आदिका विस्तृत विवरण लिखा हुआ है। हिन्दीविश्वकोषमें वृष्टि शब्दमें भी इस विज्ञानके सम्बन्धमें आलोचना देखनी चाहिये। हाइग्रोमिटर (Hygrometer) यन्त्र द्वारा वायुराशिके विविध अवस्थागत जलीयवाष्पकी स्थितिस्थापकता आदिका परिमाण कर उसके सम्बन्धमें आलोचना करना ही हाइग्रोमेट्री नामक विज्ञानका उद्देश्य है। इन दोनों विज्ञानोंमें वायुके जलीयवाष्प सम्बन्धीय विविध तथ्य जाने जा सकते हैं। आधुनिक मेटेयरलजी (Meteorology) सम्बन्धीय ग्रन्थोंमें भी इसके सम्बन्धमें बहुतेरे सूक्ष्म तत्त्व लिखे जा रहे हैं। सिवा इसके क्लाइमेटेलजी (Climatalogy) सम्बन्धीय गवेषणामें वायुके जलीय वाष्पका कुछ-कुछ विवरण लिखा गया है। लण्डनके मिटियरजिकेल आफिससे भी इस विषयके बहुतेरे ग्रन्थ निकल रहे हैं। सन् १८८५ ई०में वैज्ञानिक पण्डित फेरेलेने Recent Advances in meteorology नामक जिस ग्रन्थकी रचना की है, उसमें भी इस विषयके अनेक आधुनिक सिद्धान्त जाने जा सकते हैं।

हमने लेखके आरम्भमें कहा है, कि वायुमण्डल नाइट्रोजन, अक्सिजन, जलीयवाष्प, कार्बोनिक एसिड गेस, आमोनिया, आरगन, नियन, हेलियम, क्रिपटन और निरितशय कम मात्रामें हाइड्रोजन और हाइड्रो-कार्बन पदार्थका एक मिश्रण पदार्थ है। इसमें नाना प्रकारके बीजाणु और धूलि आदि भी उड़ती फिरती है। किन्तु वे सब पदाथ वायुके अङ्गीय नहीं। वायुके इन सब उपादान-पदार्थोंमें जलीय वाष्पोंका परिमाण चिरचञ्चल है। देश, काल और उष्णता आदि भेदसे जलीय वाष्पका यथेष्ट तारतम्य हो जाता है। सिवा इसके अन्यान्य उपादानोंमें वैसा तारतम्य नहीं होता। हमने पहले ही कहा है,—कि वायुमें

अक्सिजन	२३.१६ भाग
नाइट्रोजन और आरगन	७६७७ भाग
कार्बोनिक एसिड	४ भाग
जलीय वाष्प	अनिर्दिष्ट

आमोनिया और अन्यान्य वाष्प पदार्थ ०.०१ मात्रामें विद्यमान हैं। हमने अब तक इन सब उपादानोंमें अक्सिजन, नाइट्रोजन, कार्बोनिक एसिड और जलीय वाष्पके सम्बन्धमें आलोचना की है। वायुमें जो आर्गन (Argon) नेयन (Neon), हेलियम (Helium) और क्रिपटन (Krypton) नामके नवाविष्कृत मूल

पदार्थ हैं, उनके सम्बन्धमें कोई बात नहीं कही गई है। फलतः इनके गुणादिके सम्बन्धमें अब भी कोई विशेष तथ्य मालूम नहीं हुआ है। आर्गन और नियन --इन मूल पदार्थोंको सन् १८९५ ई०में वैज्ञानिक पण्डित राले और रामजेने आविष्कृत किया था। सन् १८९८ ई०में पण्डित रामजे और ट्रेमर्सने क्रिपटन नामक नये आविष्कृत मूल पदार्थकी खोज की थी। अभी तक इन पाँच मूलपदार्थोंके सम्बन्धमें कोई भी विशेष तथ्य नहीं मालूम हुआ है। अक्सिजनका घनत्व १६, नाइट्रोजनका १४; हाइड्रोजनका १ और आर्गनके घनत्वका परिमाण १९.९ है। डेवेर (Dever) यद्यपि अन्यान्य वायवीय पदार्थोंसे हेलियमको पृथक् करनेमें समर्थ हुए हैं, किन्तु इनके गुणोंके सम्बन्धमें कुछ भी जान नहीं सके हैं। सुतरां इसके सम्बन्धमें आज भी कोई बात लिखनेके उपयुक्त तथ्य नहीं मालूम हुआ है। हम यहां आमोनियाकी बात लिख कर वायुके उपादान द्रव्यका रूप और धर्म आदिके सम्बन्धमें अपने प्रस्तावनाका उपसंहार करेंगे।

आमोनिया एक उग्र गन्धयुक्त वर्णहीन अदृश्य वाष्प है। विशुद्ध वायुमें आमोनियाका परिमाण बहुत कम है। दश लाख भाग वायुमें एक भागसे अधिक आमोनिया नहीं रहता। नाइट्रोजन और हाइड्रोजन संश्लिष्ट जीवज पदार्थ पच जाने पर उससे आमोनिया वाष्प उत्पन्न हो कर वायुके साथ मिल जाता है। कोयला जलनेके समय भी यह उत्पन्न होता है। मोरी, शव समाधि, और जलाभूमिसे ही यह वाष्प उत्पन्न होता है। उद्भिद्-जगत्में आमोनियाकी आवश्यकता नहीं है। ये अपनी देह-पुष्टिके लिये वायुके आमोनियासे नाइट्रोजन ग्रहण करते हैं। वायुमें सलफाइरेटेड हाइड्रोजन आदि और भी दो एक वाष्पीय पदार्थ अत्यन्त अल्प परिमाणसे कभी कभी विमिश्रित अवस्थामें देखे जाते हैं। इनके विस्तृत विवरण प्रकाशित करनेकी आवश्यकता नहीं। इससे यह विषय छोड़ दिया जाता है।

प्राकृत विज्ञान और वायु।

हमने वायुके सम्बन्धमें रसायन-विज्ञान और शरीर विषय-विज्ञानके विषयमें सविस्तार रूपसे आलोचना की है। प्राकृत विज्ञानमें वायुके सम्बन्धमें कई यथेष्ट आलोच्य विषय हैं। वे सब विषय अतीव जटिल और उच्च गणितज्ञानगम्य हैं। विशेषतः इसकी अनेक बातें साधारण पाठकोंको हृदयङ्गम नहीं हो सकतीं। ऐसे विविध कारणोंसे हम अत्यन्त संक्षेपमें वायु सम्बन्धीय प्राकृत विज्ञानके कई विषयोंकी आलोचना कर इस प्रस्तावका उप संहार करेंगे। जो इसके सम्बन्धमें सविस्तर विवरण जानना चाहें, उनको अंग्रेजी भाषामें लिखित मेटियरलोजी (Meteorology) और न्यूमेटिक्स (Pneumatics) आदि ग्रन्थोंमें कई विशेष तथ्य मिल सकते हैं। यहाँ और कई विषयोंका उल्लेख किया जाता है।

वायुमण्डलकी सीमा।

वायुमण्डलकी सीमा निर्द्धारित नहीं हो सकती। उद्धेय पदार्थविमुक्त आकाशमें कितनी दूर तक फैला हुआ है, इसके सम्बन्धमें प्रबन्ध प्रारम्भमें यद्यपि हमने कुछ जिक्र किया, फिर भी; सूक्ष्म चिन्ताशील वैज्ञानिकोंका सिद्धान्त यह है, कि सूर्य, चन्द्र और बहुदूरवर्त्ती तारा मण्डलमें भी वायवीय पदार्थकी गतिविधि विद्यमान है। फिर हमारे उपभोग्य वायुमण्डलके उपादान और अन्यान्य ग्रहादिके वायुमण्डलके उपादान अवश्य ही स्वतन्त्र और पृथक् हैं। इसका प्रमाण मिलता है, कि हमारे सम्भोग्य वायुमण्डलकी ऊपरी सीमा एकसौ मीलसे भी अधिक दूरी पर है। बहुदूरवर्त्ती नक्षत्रालोक-प्रतिफलन, अरुणोदयालोक तथा प्रदोषालोक और सुदूरवर्त्ती पतितउल्काका आलोक देख कर वैज्ञानिक ज्योतिर्विदोंने स्थिर किया है, कि सैकड़ों मीलोंके ऊपर भी यह वायुमण्डल विद्यमान है। उसके ऊपर भी जो अति सूक्ष्म वायुमण्डल है, प्रोफेसर आर एस उड़वार्डने सन् १९०० ई०के जनवरी महीनेमें "Science" नामक मासिक पत्रमें उसके सम्बन्धमें तनिक वैज्ञानिक आभास दिया है। इसका भारीत्व है। भूपृष्ठमें अनुभूत न होनेका कारण यह है, कि यह सूक्ष्म स्थितिसाम्यमें (dynamical equiliderium) अवस्थित है।

न्यूमेटिक्स (Pneumatics) या वायुगुण-विज्ञानमें वायुके गुण या धर्मका विस्तृत आलोचना हुई है। वायुगुण-विज्ञान ग्रन्थमें बयले, मेरियट और चार्लस आदि वैज्ञानिकोंकी वायवीय वाष्प परीक्षाकी सूक्ष्म कौशलराशि

अतीव पाण्डित्य और गवेषणा या ज्ञानका परिचय प्रदर्शित हुआ है।

वायुमण्डलके शैत्योष्णता मान इत्यादिका विवरण।

वायुमण्डलके शैत्योष्णता-मानके (Temperature) सम्बन्धमें बुचन (Buchon) आदि वैज्ञानिकोंने बहुतेरी गवेषणा कर जगत्के प्रत्येक खण्डका विवरण संग्रह किया है और मानचित्रके साथ प्रकाशित किया है। व्योम यान प्रभृतिके साहाय्यसे इस विषयका निर्णय हुआ है। इसके सम्बन्धमें इस समय यथेष्ट गवेषणा चल रही है। सन् १९०० ई०के जनवरी महीनेमें प्रकाशित होनेवाली (Met Jeit) एक मासिक पत्रिकामें सूक्ष्म गवेषणापूर्ण एक उपादेय प्रबन्ध प्रकाशित हुआ है। जलीय वाष्पप्रचारके सम्बन्धमें भी इस तरहकी स्थानीय फिहरिस्त और मानचित्रके साथ विवरणी प्रकाशित हो रही है। बारोमिटर यन्त्रके साहाय्यसे जगत्के भिन्न भिन्न अंशकी वायुके भारित्वके सम्बन्धमें भी बहुतेरे विवरण संगृहीत हो रहे हैं। इसके द्वारा मेघ, वृष्टि, तूफान और इसके विपरीत आकाशकी निर्मलता आदि विनिर्णयकी यथेष्ट सुविधा है। इस यन्त्रके सम्बन्धमें इसके बाद आलोचना की जायेगी।

वायुका प्रचाप।

वायुका प्रचाप चारों ओर समान भागसे मौजूद है। ऊपरसे भी जैसे वायुराशिका चाप बढ़ रहा है, नीचेकी ओरसे भी इसका चाप वैसे ही ऊपरको उठता है। निम्नमुख (Downward) चाप अवक्षेपक नामसे और ऊर्द्ध्वमुख (Upward) चाप उत्क्षेपक नामसे परिचित है। इस प्रचापका अस्तित्व परीक्षासे प्रमाणित किया जा सकता है। पहले अवक्षेपक चापकी परीक्षा प्रदर्शित हो रही है:—

दोनों मुख खुले एके चौड़ी कांचकी नलिकाके एक मुखको रबड़की चद्दरसे बन्द कर और उसे एक रस्सीसे रबढ़की चद्दरको अच्छी तरह बांध देना चाहिये, जिससे खुलने न पाये। पीछे दूसरे मुंह पर मोम लगा कर वायु निकालनेवाले यन्त्रके छेद पर नलिकाको मजबूतीसे बैठा देना चाहिये। उक्त यन्त्रके सञ्चालन करनेसे नलसे वायु निकलती रहेगी। अतएव बाहरकी वायुराशिका अवक्षेपक चाप रबड़की चद्दर पर पड़नेसे यह नलके भीतर दमित हो जायेगी। इस यन्त्रके अधिक समय तक चालू रहने पर वायुके चापसे रबड़की चद्दर फट जायेगी।

निम्नलिखित परीक्षा द्वारा वायुके उत्क्षेपक चापका विषय जाना जा सकता है। एक कांचका ग्लास जलसे भर कर रखा जाये। एक कागजका छोटा टुकड़ा इसके मुंह पर इस तरह रखा जाये, कि इस कागज और जलके बीच कुछ भी वायु न रह जाये। कागजका टुकड़ा अंगुलियोंसे जरा दबा कर ग्लासको जल्दीसे उलट दिया जाय; किन्तु ऐसा करने पर भी ग्लासका जल कागजको छेद कर गिर न सकेगा। दूसरा कारण, ग्लासके नीचे-वायुराशिका उत्क्षेपक चाप है। कागजकी विस्तृति ४ वर्गइञ्च होने पर ३० सेर परिमित उत्क्षेपक वायुचाप-कागजको ग्लासके मुखमें ठेलता है। क्योंकि, आध सेर जलका भार ३० सेर वायु प्रचापकी तुलना एकान्त अकिञ्चित्कर है। किन्तु किसी प्रकार जल और कागज में वायु प्रविष्ट होने पर यह अवक्षेपक और उत्क्षेपक चाप परस्पर प्रतिहत होगा। सुतरां ग्लासका जल अतिरिक्त भारके कारण कागजके साथ अधःपतित होगा।

वायुप्रचापमें इस नियमावलम्बनसे कई तरहके इन्द्रजालका कौतुक भी दिखाया जाता है। सहस्रछिद्र घड़ेमें जल लानेकी घटना भी सहज ही सम्पन्न होती है। घड़ेके निम्नदेशमें बहुछिद्र रहने पर भी यदि अवक्षेपक वायुका चाप बन्द कर दिया जाये अर्थात् घड़ा जलमें डुबा रहने पर ही यदि उसका मुंह अच्छी तरहसे बन्द कर दिया जाये या पहले हीसे उसके मुखमें एक ढकना गोंदसे बन्द कर दिया जाय और उस ढकनेमें एक छिद्र किया जाय और जलसे ऊपर उठानेके समय अंगुलोके सहारे छिद्र दृढ़ रूपसे बन्द कर दिया जाये, तो उसके नीचेके सहस्र छिद्रसे भी जल नहीं गिरेगा। परीक्षा द्वारा यह प्रमाणित हुआ है, कि चारों ओर ही वायुका चाप समसंस्थित भावसे विद्यमान है। वायु निकालनेके यन्त्र द्वारा एक टीनके कनस्तरमें वायु निकलने पर और उसके भीतर वायु प्रवेश करनेका कोई

उपाय न रहने पर बाहरकी वायुके चापसे कनस्तरका पार्श्व शब्दके साथ भीतरकी ओर धस जायेगा ।

वायुको तरल बनाना (The Lequifaction of gases) ।

वायुको तरल बनानेके लिये बहुत दिनोंसे चेष्टायें हो रही थीं । किन्तु अक्सिजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजनको पाश्चात्य प्राचीन वैज्ञानिक किसी तरह इस अवस्थामें ला न सके । इसीलिये इनको नित्य वाष्प (Permanent-gas) कहा जाता था । सुविख्यात वैज्ञानिक फाराडेने (Faraday) प्रमाणित किया है, कि वायुके २७ परिमित प्रचापसे और ११० डिग्री शैत्योष्णतामानसे भी उक्त ये तीनों वाष्पीय पदार्थ तरल नहीं हुए । वैज्ञानिक पण्डित नेटरर (Natterer) वायुमण्डली ३००० परिमित प्रचापमें भी साफल्य लाभ नहीं कर सके । सन् १८७७ ई०में सुपण्डित केइलोटेट Kailletet और पिकटेटने (Pictet) इस विषयमें पहले पहल सफलता प्राप्त की । पिकटेट्की परीक्षासे अक्सिजनके वाष्पने वायुका आकार धारण किया था । किन्तु पिक्टेटने अक्सिजनको जलवत् तरल बनाया था । इसके बाद रबलेइस्की (Von Wroblewsky) और अलजेवोइस्की (Olzewosky) अक्सिजन, नाइट्रोजन और कार्बोनिक एक्साइडको तरल बनानेमें समर्थ हुए हैं । प्रोफेसर डेवारने (Dewar) इसके सम्बन्धमें परीक्षायें की हैं । तरलीकृत वायु जलवत् तरल हो जाती है । यह जलकी तरह स्वच्छ है और इसको जलकी तरह एक पात्रसे दूसरे पात्रमें ढाला जा सकता है । यह अत्यन्त शीतल, बर्फसे भी ३४४°Cके परिमाणसे भी शीतल है । तरल वायु इतनी शीतल है, कि बरफकी उष्णता भी इसकी सह्य नहीं होती । बरफमें तरल वायु संरक्षित होने पर यह 'फट फट' कर चूरती रहती है । अलकोहल आदि तरल पदार्थ पहले किसी तरह कठिन अवस्थामें परिणत नहीं किये जा सकते थे । किन्तु तरल वायुके संस्पर्शसे ये सब पदार्थ भी अब कठिन हो जाते हैं । इसकी इतनी अधिक शीतलता मनुष्योंके लिये भी असह्य है । जहां तरलवायु संस्पृष्ट होती है, वह स्थान अग्निवत् झुलस जाता है । जीवदेहमें अति शैत्य और उष्णताकी क्रिया प्रायः एक ही तरहकी दिखाई देती हैं । वायुका तरल बनाना इस समयके वैज्ञानिकोंका एक अद्भुत आविष्कार है । पहले तरलतासाधनमें बहुत धन खर्च होता था । इस समय अपेक्षाकृत कम खर्चमें ही वायुकी तरलता साधित हो रही है । आशा है; कि इससे मनुष्यके कितने ही काम होंगे ।

वायुकी धूलि ।

वायुमण्डलके अनेक उच्च प्रदेश तक धूलिराशि परिलक्षित होती है । इस समयके वैज्ञानिकोंने परीक्षा कर स्थिर किया है, कि वायुमें धूलिकणासमूह है । इसीलिये वायुमण्डलमें जलीय वाष्प सञ्चित हो कर मेघकी उत्पत्ति हो सकती है । वायुराशिमें दिखाई देनेवाली धूलिकणा ही जलीय वाष्प बिन्दुकी विश्रामाधार है । यह विश्रामाधार न रहनेसे मेघोत्पत्ति असम्भव हो जाती । वृष्टिके साथ साथ धूलिकणा गगनमण्डलसे गिर पड़ती है, इससे वायुराशि निर्म्मल हो जाती है ।

वायु और शब्दविज्ञान ।

शब्दकी गति वायु द्वारा साधित होती है । वायु शब्दका परिचालक है । वायु न रहनेसे हम कोई शब्द सुन नहीं सकते । सन् १७०५ ई०में वैज्ञानिक पण्डित होक्सबी (Howksbee) वायुके साथ शब्दका यह सम्बन्ध यन्त्रादिके साहाय्यसे परीक्षा कर सुसिद्धान्तमें उपनीत किया । उनके यन्त्रके साथ एक घण्टा घटिका यन्त्रके घण्टेकी तरह लटकता है । इस यन्त्रके साथ एक धातव नल संयुक्त रखना होता है । वह नल कानके साथ इस भावसे जोड़ दिया जाता है, कि कानमें वायु प्रवेश न कर सके । वायु निकालनेवाले यन्त्रसे उस यन्त्रकी वायु निकाल कर उसमें घण्टेका शब्द करने पर शब्द सुनाई नहीं देता । फिर इसमें वायुप्रवेशके अनुपातसे शब्दकी स्फुटताका तारतम्य होता है । परीक्षा कर देखा गया है, कि वायुके प्रचापके न्यूनाधिकवश शब्द-श्रुतिका भी न्यूनाधिक्य होता रहता है । जितना ही ऊपर चढ़ा जाये, वायुका प्रचाप उतना लघु होता जाता है । प्रचापकी लघुताके अनुसार शब्दकी स्फुटताकी भी उसी परिमाणसे कमी होती रहती है । लघुतर वायु चापविशिष्ट स्थलमें अति निकटवर्त्ती तोपकी गर्ज्जन या पटाखेके शब्दकी तरह सुनाई देती है ।

यन्त्रविशेषमें संरुद्ध वायुके कम्पन (Vibration of air) द्वारा अनेक तरहके वाद्ययन्त्रोंका आविष्कार हुआ है। वंशी, शङ्ख, सिंगा, तुरही और अन्यान्य बहुतेरे वाद्ययन्त्रोंकी सृष्टि हुई है। इन सब यन्त्रोंके मध्यस्थित वायु राशि ही शब्दउत्पादनकी कारण है। यन्त्रके बांस, काठ या पीतल आदि केवल शब्द झङ्कार परिवर्त्तनका सहायमात्र है। शब्दविज्ञानमें वायुके इस कृतित्वके सम्बन्धमें बहुत गवेषणा और गणित-प्रक्रियासाध्य सिद्धान्त दिखाई देता है। गेस-हारमोनियम एक तरहका अद्भुत वाद्ययन्त्र है। कोयलेका गेस या हाइड्रोजन गेस, इस वाद्ययन्त्रका वादक है। यन्त्र इस तरहसे बना है, कि उसके ग्लासनलिकामें गेस रख कर वह गेस प्रज्वलित कर देने पर उससे जो वायु प्रवाहित होती है, उससे ही यन्त्रमें अद्भुत गीतिध्वनि उठा करती है। इस तरहके वाद्ययन्त्र अंग्रेजोंमें Singing flames के नामसे विख्यात हैं। केवल यन्त्रधृत वायवीय वाष्प ही इस शब्दका उपादान है।

वायु शब्दकी प्रवल परिचालक है। डाक्टर टिण्डलने भी प्राचीन पण्डित हक्सलीके पदाङ्कका अनुसरण कर इसके सम्बन्धमें बहुतेरी परीक्षायें की हैं। डाक्टर टिण्डलने रायल इन्स्टीटियुशनमें शब्दके सम्बन्धमें जो व्याख्या की थी, उसमें उन्होंने हक्सलीके प्रस्तुत किये हुए यन्त्रकी तरह एक यन्त्रके साहाय्यसे वायुके साथ शब्दका सम्बन्ध बहुत सुन्दररूपसे दिखलाया है। एक वायु निकालनेवाले यन्त्रके ग्लास निर्मित आधार पर एक घण्टा रख वायु निकालनेवाले यन्त्र द्वारा उसको वायु निकाल लेते हैं, इस अवस्थामें इसके बीचके घण्टेको यथेष्ट रूपसे हिलाने पर भी कोई शब्द सुनाई नहीं देता। इसके बाद उन्होंने इसको हाइड्रोजन वाष्पसे भर दिया। हाइड्रोजन वाष्प वायुकी अपेक्षा १४ गुना लघुतर है। इससे बहुत यत्नके बाद श्रोतृवर्ग इसका अति अस्पष्ट शब्द सुन सके। फिर वे उसको वायुशून्य कर घण्टा बजाने लगे, श्रोतागण बहुत निकट कान लगा कर भी कोई शब्द सुन न सके। इसके बाद जब वे अल्प अल्प वायु प्रविष्ट करा कर घण्टा हिलाने लगे, तब वायुके घनत्वकी वृद्धिके अनुपातसे शब्द क्रमशः ही परिस्फुट रूपसे श्रुत होने लगा। इसीलिये ही महर्षि कणाद शब्दके साथ वायुका जो घनिष्ठ सम्बन्ध है; हजारों वर्ष पहले इस सिद्धान्तको सूत्राकारमें संस्थापित कर गये हैं।

वायुका अस्तित्व अनुभव और प्रभाव।

वायु हमारी आंखोंसे दिखाई न देने पर भी हम इसके अस्तित्वको कई तरहसे अनुभव करते हैं। हम वायुके प्रवाहसे समझ सकते है, कि हवा बह रही है। हमारी देहमें जब वायु स्पर्श करती है, तब अनायास ही हम समझ जाते हैं। सरोवरकी मृदुल वीचिमालामें—समुद्रकी उत्ताल तरङ्गमें—कुसुमकाननमें सलज्ज वल्लरीके सुकोमल पत्रके स्निग्ध आह्वानमें और प्रलयङ्कर प्रभञ्जनके भीम-भयङ्कर सृष्टिसंहारक आस्फालनमें—सर्वत्र ही वायुका अस्तित्व परिलक्षित होता है। अन्य जड़ पदार्थोंमें जिस तरह प्रतिरोधिका शक्ति है, वायु लघुतर होने पर भी वैसे ही इसमें भी प्रतिरोधिका शक्ति है; परिचालिका शक्ति भी है। वायु अनन्त शक्तिशाली है और इसका गुण भी अनन्त है। मानवीय विज्ञान अभी इसका लेशमात्र भी जाननेमें समर्थ नहीं हुआ है।

वायुप्रवाह।

पहले ही कहा गया है, कि वायुमें तरल पदार्थके सब तरहका धर्म विद्यमान है। इसीलिये उसकी तरल पदार्थोंमें गणना होती है। जिस नियमसे तरलपदार्थकी गति निष्पन्न होती है, वायु भी कई अंशमें उसी नियमके अधीन है। किन्तु प्रभेद इतना ही है, कि अन्यान्य तरल-पदार्थोंमें अन्तराकर्षण अपेक्षाकृत दृढ़ है, किन्तु वायुमें वह अन्तराकर्षणशक्ति बहुत लघु है। इसी कारणसे वायु अन्यान्य तरल पदार्थोंकी अपेक्षा सहज ही स्फीत होती है; अन्यान्य तरल पदार्थमें दृढ़तावश वैसी स्फीति न होती।

तरल पदार्थका साधारण एक धर्म यह है, कि यह सर्वत्र ही समोच्चता सम्पादन करता है। किसी कारण वश इस समोच्चतामें विघ्न होनेसे वह स्वाभाविक धर्म्मानुसार एक बार आन्दोलित हो कर फिर समोच्चताकी रक्षामें यत्नशील होता है। फिर यह शीतसे संकुचित और तापसे स्फीत या विवर्द्धित होता रहता है। धातव

दृढ़ पदार्थापेक्षा सरल पदार्थमें ही उष्णताजनित वृद्धि अधिक परिमाणसे दिखाई देती है। वायु तरल पदार्थों में अति सूक्ष्म है। इसीलिये ग्रीष्ममें वह स्फीत होती है।

वायु स्वभावतः स्थिर भावसे पृथ्वीपृष्ठ पर सर्वत्र फैली हुई है। यदि किसी कारणसे किसी प्रदेशमें सूर्य्योत्ताप अधिक हो, अथवा दावानल या अन्य किसी कारण-वश वह प्रदेश अधिक उत्तप्त हो, तो शेषोक्त प्रकारसे वह तुरत हो स्फीत हो कर पार्श्ववर्त्ती वायुकी अपेक्षा बहुत हलकी हो जाती है। वायुधर्मके अनुसार वह ऊपर उठने लगती है। फिर प्रथमोक्त नियमके अधीन दूसरे दिक्‌स्थित शीतल और स्थूल वायु लघुवायु द्वारा परित्यक्त स्थानको पूर्ण करती हुई उसी ओरको दौड़ती है। इस तरह उपर्युक्त दो स्थिर वायु निरन्तर सञ्चालित हो कर मन्द वायु, घुर्णितवायु (बवण्डर) और आंधी आदि उत्पादन करती रहती हैं।

वायु प्रति घण्टेमें आध कोस भ्रमण करती है, किन्तु यह गति हम उपलब्धि नहीं कर सकते। जो वायु प्रति घण्टे २ या २॥ कोस भ्रमण करती है, उसका नाम मन्द वायु है। चौकोन एक हाथ परिमित स्थानमें यह वायु जिस वेगसे आहत होती है, उसका भार एक छटाँक वजनके अनुरूप है। प्रति घण्टेमें जो वायु ५।७ कोस अतिक्रम कर सकती है, उसका नाम तेजो वायु है। यह वायु विशेष तेजोवन्त होनेसे घण्टेमें १०।१५ कोस तक जा सकती है। उस समय उसके वेगका परिमाण चौकोन एक हाथका ३।४ सेर होता है। सामान्य आँधी प्रति घण्टे पचीस या तीस कोस तक चली जाती है। इस समय उसके वेगका परिमाण प्रायः १२ सेर तक होता है। तूफान या आँधी सब समय एक समानसे नहीं आती। इस कारण इसके सम्बन्धमें कोई साधारण नियम निरूपित नहीं हो सकता, जो कहा गया, वह सामान्य आँधीके लिये स्थूल अनुमान है।

पृथ्वीके सुमेरु और कुमेरु (North and South Pole) केन्द्र अत्यन्त शीतल हैं। उक्त स्थानद्वयसे जितने निरक्ष वृत्त या विषुवरेखाकी ओर अग्रसर हुआ जाता है, उतने हा ग्रीष्मकी अधिकता उपलब्धि होती है। इस कारण दोनों केन्द्रोंसे निरक्षवृत्ताभिमुख दो वायु प्रधावित होती हैं। फलतः निरक्षवृत्तके सन्निकट उत्तप्त वायु ऊपर उठ कर ऊंचाईकी शीतल वायुसे मिल कर शीतल हो कर फिर केन्द्रसे आई वायुका स्थान पूर्ण करनेके लिये केन्द्रकी ओर दौड़ती है। इस तरह पृथ्वीके सन्निकट केन्द्रसे निरक्षवृत्ताभिमुख दो वायुका प्रवाह और आकाशके ऊर्द्ध्वदेश हो कर इस तरहके दो वायु प्रवाह निरन्तर निरक्षदेशसे केन्द्राभिमुख गमन करता है। इस वायु-प्रवाह-चतुष्टयकी कभी निवृत्ति नहीं होती। इसीसे इसको 'नियतवायु' कहते हैं।

सुमेरु-केन्द्रसे इस नियत वायुका जो प्रवाह परिचालित होता है, उसकी गति उत्तरमुखी है। किन्तु प्रत्यक्ष दृष्टिसे वह विशेष दृष्टिगोचर नहीं होती वरं ऐसा मालूम होता है, कि ईशानकोण या अग्निकोणसे ही यह वायु आई है। क्योंकि पृथ्वीकी स्वाभाविक गति पूर्वकी ओर है और उसका वेग बड़ा प्रबल है। यह प्रायः १ हजार ज्योतिषी कोसस्थानमें व्याप्त हो कर प्रति घण्टेमें परिभ्रमण करती है।

अपर्याप्त आँधी आते रहने पर भी वायु कभी एक सौ या सवा सौ कोससे अधिक स्थानमें परिभ्रमण नहीं कर सकती। इससे सुस्पष्ट रूपसे समझमें आता है, कि उत्तर या दक्षिण ओरसे आंधी उठ कर चलनेसे पृथ्वीके सम्बन्धमें उसकी गति ऋजु नहीं रहेगी और निरक्षवृत्त देशके लोग उस आँधीको ईशान या अग्नि कोणसे आई हुई समझेंगे। पहले कही हुई नियत वायुका वेग आंधीके वेगकी अपेक्षा बहुत हलका है। अतः वह पृथ्वीकी अवस्था और गतिके अनुसार स्वभावतः ही ईशान और अग्निकोणागत होता है। इस वायु द्वारा समुद्रपथसे वाणिज्य-जहाजके आनेमें विशेष सुविधा होती है। इससे मल्लाह इसको णज्य-वायु (Trade winds) कहा करते हैं।

सूर्योत्तापसे जलकी अपेक्षा स्थल भाग ही अधिक उत्तप्त होता है। सुतरां पृथ्वीके जलाकीर्ण भागसे जिस भागमें स्थल अधिक है, उसी स्थानमें अधिक उष्णता अनुभूत होती है। पृथ्वीकी अवस्थाके अनुसार हम जान सकते हैं, कि निरक्षवृत्तकी दक्षिण ओरकी अपेक्षा उत्तर ओर ही स्थलका भाग अधिक है। इसीलिये निरक्ष वृत्तका स्थान अधिक गर्म नहीं मालूम हो कर उसके

सात अंश उत्तर अधिक उष्णता उपलब्धि होती है। इस स्थानके दोनों पार्श्वों में प्रायः ५ अंश परिमाण स्थान वायु द्वारा उत्तप्त हो कर ऊपर जाया करता है और उस स्थानको संपूर्ण करनेके लिये पूर्वोक्त वाणिज्यवायु प्रवाहित होती है। किन्तु पृथ्वीकी गतिकी वक्रतासे उसकी गति भी वक्र हो जाती है। इस स्थानके रहनेवाले लोग यह सहज ही प्रत्यक्ष नहीं कर सकते सही; किन्तु निरक्षवृत्तके उत्तर १०से २५ अंश तक पृथ्वीके उत्तर भागके स्थानमें और निरक्षवृत्तके २ अंशसे २३ अंश मध्यवर्त्ती स्थानोंमें दक्षिण-भागकी वाणिज्य-वायु प्रवाहित होती रहती है।

इन दो वायुमण्डलोंके मध्यवर्त्ती स्थानोंमें नियत ही वायु ऊद्ध्वर्व गमन करती रहती है। पृथ्वीके निकट वह उतने सुस्पष्ट रूपसे अनुभूत नहीं होती। इन सब स्थानोंमें सदा ही निर्वातका ही अनुभव होता है। केवल बीच बीचमें इन स्थानोंमें भयानक आंधी (Cyclone) उठती देखी जाती है। मल्लाह इस स्थानको निर्वात और अस्थिर वायुमण्डल (Belt of Calms) कहते हैं। अटलाण्टिक महासागरके वक्षका यह स्थान Doldrums-के नामसे प्रसिद्ध है।

समूची पृथ्वी यदि जलमय होती, तो इस वाणिज्य-वायुका प्रवाह सर्वत्र समान रूपसे अनुभूत हो सकता था। किन्तु भूभागकी उष्णता और पर्वतादि बाधाप्रयुक्त देशभागमें वह विशेष अनुभूत नहीं होता। केवल महा समुद्र गर्भमें ही वह दिखाई देता है।

भारतमहासागरके उत्तर, पश्चिम और पूर्व भाग भूमि द्वारा वेष्टित है। विशेषतः हिमालय पर्वतश्रेणी महाप्राचीर रूपसे अपने उत्तर बहुत स्थानोंमें व्याप्त हो कर खड़ी रहनेके कारण उत्तरकी वाणिज्यवायु उसे टकरा कर ही रह जाती है, इधर नहीं आ सकती अर्थात् हिमालयको पार नहीं कर सकती। इसी कारणसे भारत-समुद्रमें उक्त वाणिज्य वायुका आज तक प्रचार नहीं हुआ है। इसके बदले इस देशमें और एक तरहकी वायु प्रवाहित होती है। यह प्रथम ६ महीने अग्निकोणसे और पिछले ६ महीने वायु कोणसे प्रवाहित होती है। इसको मानसून (monsoon) वायु कहते हैं। कार्त्तिकसे चैत्र तक आग्नेय वायु (morthwest monsoon) और वैशाखसे आश्विन तक वायव्य वायु (South-east monsoon) प्रवाहित होती है।

समुद्रमें यह वायु अनुभूत होनेसे पहले स्थलभागमें ही इसका प्रचार अधिक रहता है। इसी कारणसे आग्नेय मानसूनका अन्त होनेसे बहुत पहले हम फाल्गुन महीनेमें ही मलयानिल उपभोग किया करते हैं। प्रत्येक मौसमी वायुके प्रारम्भ होनेके समय विपरीत दिशाकी ओरसे आये वायुप्रवाहके संघातसे प्रायः अत्यन्त आंधी, वृष्टि और तूफान आता है। निरक्षवृत्तके दक्षिण १० अंश तक मौसमी वायु शीतकालमें वायुकोणसे और ग्रीष्मकालमें अग्निकोणसे प्रवाहित होती है।

उत्तर वाणिज्य-वायुका जो मण्डल निर्दिष्ट हुआ है, उसके उत्तर वायु सर्वदा नैर्ऋतसे प्रवाहित होती है। इसी कारणसे वहांके सब स्थान "नैर्ऋत वायु-मण्डल" के नामसे विख्यात हैं। दक्षिण-वाणिज्यवायु-मण्डलके दक्षिणमें वायु सर्वदा वायुकोणसे प्रवाहित होती हैं इससे यह वायुमण्डल नामसे परिचित है।

वायुप्रवाहके सम्बन्धमें ऊपर जो कहा गया वह वायुका साधारण नियम समझना चाहिये। एकमात्र यह महासमुद्रमें ही दिखाई देता है। पर्वत, मरुभूमि, वन, उपत्यका और नगरादिकी बाधा या सहायतासे स्थान विशेषमें वायुकी प्रकृतिकी कई विलक्षणतायें दिखाई देती हैं। यहां इसका विशेष विवरण देना अनावश्यक है। अरबकी मरुभूमिमें सिमुम नाम्नी एक प्रकारकी प्राणनाशिका उत्तप्त वायु प्रवाहित होती है। अफ्रिकाकी लम्बी चौड़ी सहारा नाम्नी मरुभूमिमें और अन्यान्य देशकी बालुकामय भूमिमें भी इस तरहकी उत्तप्त वायु उत्पन्न होती है।

समुद्रके किनारे दिनमें समुद्रसे भूमिकी ओर और रात्रिमें भूमिसे समुद्रकी ओर हमेशा वायु बहती रहती है। इसका कुछ विशेष कारण नहीं। सूर्य्योदयसे जलकी अपेक्षा स्थल ही शीघ्र उत्तप्त होता है। इसीलिये भूमिकी वायु उत्तप्त हो ऊपर उठने लगती हैं और समुद्रकी शीतल वायु उस स्थानको पूर्ण करनेके लिये उस ओर दौड़ती है। रातको जलकी अपेक्षा स्थल भाग ही जल्द शीतल होता हैं। अतः

दिनके विपरीत रातको भूभागका वायुप्रवाह समुद्रकी ओर दौड़ता है। इन दोनों वायुप्रवाहोंका नाम 'समुद्र-वायु' और भूमिवायु है। समुद्रतटके सिवा अन्यत्र वायुका यह प्रवाह अनुभूत नहीं होता।

स्थूल पदार्थोपरि आहत लोष्ट्रकी तरह वायु भी प्रत्यावर्त्तनशील है, इसी कारण वायुप्रवाह पर्वत या किसी प्राचीर आदिसे आहत होने पर वहांसे प्रत्यावर्त्तन कर पहले जिस दिशासे प्रवाहित हुआ था, उससे ठीक दूसरी ओरको चला जाता है। विपरीतकी ओर इस तरह दो वायुप्रवाहोंके परस्पर आहत होने पर बवण्डर या घूर्णितवायु उत्पन्न होती है। सिवा इसके कोई एक स्थान हठात् वायुशून्य हो जाने पर उस स्थानकी पूर्त्ति करनेके लिये चारो ओरसे जोरोंसे वायुका आगमन होता है इसलिये भी घूर्णितवायु उत्पन्न होती है। घूर्णितवायुकी उत्पत्ति आकाशमण्डलमें विद्युत् सम्पर्कीय अन्य किसी नैसर्गिक कारणसे भी हो सकती है। घूर्णितवायु अल्पपरिसरविशिष्ट होने पर "धूलिध्वज" या बवण्डरके नामसे विख्यात होता है, यह भूतकी हवाके नामसे भी प्रसिद्ध है। इस वायुकी धूलिराशिमें कभी कभी पत्ते आदि स्तम्भाकारमें परिणत हो जाते हैं। पञ्जाब प्रदेशमें ग्रीष्मकालमें नित्य ही बवण्डर आदि धूल झक्कड़ दिखाई दिया करते हैं। उत्तर-पश्चिमभारतमें कई जगह ग्रीष्मकालमें लू चलती है।

यह घूर्णितवायु घूमते घूमते कभी ऊपर कभी नीचे आया करती है। इसके घूर्णितमण्डलकी परिधिका परिसर अधिक होनेसे प्रायः ही एक स्थानमें अग्रगमन हुआ करता और कभी कभी इसके द्वारा विस्मयजनक घटना भी हो सकती है। एक बार एक छोटे बवण्डरने एक धोबीके पसारे हुए कितने कपड़ोंको कई सहस्र हाथ दूर पर फेंक दिया। लण्डनमें एक बार धोबीने कुछ कपड़ा सुखानेके लिये पसारा था, एक छोटे बवण्डरने भीषण वेगसे इन कपड़ोंको ले जा कर गिरजेके शिखर पर छोड़ दिया।

सामान्यतः इस वायुका वेग अत्यन्त प्रबल नहीं होता है। किन्तु इसकी क्षमता उतना सामान्य नहीं है। क्योंकि हम जानते हैं, कि बड़ी बड़ी अट्टालिकायें भी इनके द्वारा नष्ट हो जाती हैं। वेष्टइण्डिज द्वीपमें यह वायु एक बार ऐसा भयङ्कर हो उठी थी, कि उसके स्मरणमात्रसे शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। कभी कभी नगरों पर होती हुई यह वायु जब प्रवाहित होती थी, तब मकानोंकी ईंटें उजाड़ कर फेंक देती थी। एक सौ हाथसे अधिक चौड़ा और कई कोस लम्बा एक वर्त्म निर्म्माण कर दिया था। सुना जाता है, कि घूर्णितवायु द्वारा कई पोखरे और तलावोंके घाटोंकी ईंटें भी उखड़ जाती हैं। बर्मुण्डाद्वीपस्थ दुर्गकी वप्रभूमिसे कई बार इस वायुके प्रभावसे प्रकाण्ड-प्रकाण्ड तोपें भी उड़ गई थीं।

एक बार कलकत्तेके निकट 'धापा' नामक स्थानसे यह वायु उत्थित हुई थी। यह बेलियाघाटा होती हुई कलकत्तेसे दक्षिण बेनिया-पोखर कोई आठ कोस तक गई थी। चौड़ाईमें प्रायः आध पाव कोस थी। इसमें उसको घर, द्वार, वृक्ष जो कुछ मिले, उसने सबका मूलोच्छेद कर दिया था। इसी वायुसे प्रिन्सेप-साहबके मकानसे २० मनसे भारी लोहेके टुकड़े उड़ गये थे। ईंटके बने स्तम्भ टूट कर दूर पर जा गिरे थे। अधिक दिनकी बात नहीं १९वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें बङ्गालमें ऐसी दो घूर्णित वायु प्रवाहित हुई थीं। पहले मेघना नदीके गर्भसे उठ कर ढाका नगरके प्रसिद्ध नवाबके घरको उठा कर समुद्रगर्भमें डुबा दिया था। पश्चिम बङ्गालमें ईष्टइण्डिया रेलपथके नलहटी स्टेशनके निकट एक गुड्स ट्रेन इस वायुसे उड़ कर रेल लाइनसे बहुत दूर पर जा गिरी थी।

इस वायुका मण्डल यदि सैकड़ों कोसका होता है, तो उसे आँधी कहा करते हैं। आँधी चाहे किसी तरह की क्यों न हो, वह घूर्णित वायु या बवण्डर ही है। आँधी सदा ही बहती रहती है। इसके सामने जो चीज पड़ती है, उसकी गति भी उसीकी तरह हो जाती है। घूर्णनका मण्डल छोटा और बड़ा भी हो सकता है। किन्तु सबकी स्थूलगति प्रायः एक ही तरह है। इसीसे इसको वातावर्त्त कहते हैं। आंधी जिस ओर चाहे जा नहीं सकती। चन्द्र सूर्य्योंकी गति जिस प्रकार स्थिर नियमसे होती है, आँधी भी इसी तरह एक

अखण्डनीय नियमके अधीन है। निरक्षवृत्तके उत्तरकी सभी आंधियां पूर्वसे उत्तर और पश्चिम हो कर घूमती घूमती उत्तरकी ओर अग्रसर होती है और निरक्षवृत्तके दक्षिण जो आँधियां उठती हैं, वह पश्चिमसे उत्तर और पूर्व हो कर घूमती-घूमती दक्षिणकी ओर प्रस्थान करती है। इस तरह कितनी आंधियां आगे चल कर मण्डलाकारमें परिणत हो जाती है; किन्तु अब तक जो आँधियाँ दीख पड़ी है उनमें कोई भी दूसरीह तरहसे आई नहीं देखी गई।

वायुगतिका ज्ञान मल्लाहोंको बड़ा काम देता है। क्योंकि इसके द्वारा वह अनायास ही आंधी तूफानसे भाग जहाज और अपना प्राण बचाते हैं। कितने ही इसी विद्याके बलसे आंधीमें आत्मरक्षा करते हुए बहु दिनसाध्य पथको थोड़े ही दिनमें तय कर लेते हैं। एक बार एक जहाज श्रीपुरीधाम जगन्नाथ-यात्रियोंको ले कर बङ्गोपसागरसे जा रहा था। कप्तानकी असावधानीसे आंधी या तूफानमें पड़ गया। मल्ला जहाजको बचानेके लिये यात्रियोंको समुद्रगर्भमें डाल देने पर बाध्य हुए थे। सन् १९०२ ई०में इसी तरह एक जहाज जापानी यात्रियोंको ले कर कलकत्तेसे रंगूनकी ओर जा रहा था। बङ्गोपसागरको पार करते न करते अचानक उसको तूफानका सामना करना पड़ा। फलतः यह दक्षिण-समुद्रमें ताड़ित हो कर भारतमहासागरके माडागास्कर द्वीपके निकट जा पहुंचा था।

रथचक्रके घूमनेके समय उसकी परिधिका बेग नाभिदेशकी अपेक्षा अधिक द्रुत होनेका अनुमान होता है। किन्तु वायुके घूर्णनके समय ठीक उसका विपरीत फल प्रत्यक्ष किया जाता है। तूफान या आंधीके मण्डलकी परिधि जिस वेगसे घूमती है, उसके मध्यभागमें उसकी अपेक्षा गुरुतर वेग मालूम होता है। इसीलिये आंधीके समय जहां उसका मध्यभाग उपस्थित होता है, वहां भयङ्कर उपद्रव मच जाता है।

वातावर्त्तका व्यास सब जगह एक समान नहीं रहता। वेष्ट इण्डिज् प्रदेशमें ७।८ सौ कभी कभी दश सौ कोस तक व्यापमान हो कर यह आंधी प्रवाहित हुई है। भारतसमुद्रमें ४।५ सौ कोसोंमें व्याप्त हो कर साद आंधी आया करती है। चीनसमुद्रमें इसका यह व्यास सङ्कीर्ण हो कर एक-सौ या डेढ़-सौ कोसका हो जाता है।

वातावर्त्तकी गतिके विषयमें कोई स्थिरता नहीं। प्रति घण्टा ७से ५० ज्योतिषी कोस तक तूफान भ्रमण कर सकता है।

तूफानके भूभाग पर प्रवाहित होनेसे पर्वत, वृक्ष, मकान, चहारदीवारीसे रुक जानेके कारण इसकी गति धीमी पड़ जाती है।

समुद्रमें वैसी कोई बाधा न रहनेसे आंधी बहुत दूर तक भ्रमण किया करती और वहां अपने धर्म तथा लक्षणका प्रचार किया करती है। इसी कारण मल्लाह समुद्रमें तूफानके धर्म-निरूपण करनेमें जैसा अवसर पाते हैं स्थलके लोग वैसी सुविधा नहीं पाते। रेडफिल्ड, रीड़, पिडिंटन और मरे आदि यूरोपीयगण विशेष यत्नसे वातावर्त्तके धर्म-निरूपणमें कृतकार्य हुए थे।

समुद्रके जिस स्थानसे वातावर्त्त प्रवाहित होता है, उस जगहकी जलराशिमें जैसा आंधीका जोर रहता है, उस हिसाबसे कभी कभी २०।२५।५० हाथ तक ऊंची लहर उठती हैं। कभी कभी तो इसके दुगुनी तीगुनी ऊंची तरंगें उठा करती हैं। इन उठी हुई तरंगोंको हम चाहें, तो वातावर्त्तकल्लोल कह सकते हैं। जहाजके लिये यह बहुत हानिकारक है।

इसके चारों ओर जो तरङ्गायित जलका स्रोत उत्पन्न होता है उसको वातावर्त्तस्रोत कहते हैं। जलके इस स्वभावसे परिचित रहना प्रत्येक मल्लाहका काम है।

पृथ्वीके सभी हिस्सोंमें वातावर्त्त हुआ करता है। किन्तु बङ्गोपसागर, मरीच-द्वीपके निकटके भारतसमुद्र, चीनसमुद्र आदिमें इसका जैसा प्रकोप देखा जाता है, वैसा और कहीं दिखाई नहीं देता। इसी कारण उक्त कई स्थानोंको भूगोलके जानकार वातावर्त्त-मण्डल कहते हैं।

वातावर्त्तके समय मुहुर्मुहु मेघगर्जन, विद्युत्-विकाश और प्रचुर वारिवर्षण होता है। इससे मालूम होता है, कि विद्युत्के साथ वातावर्त्तका कुछ न कुछ सम्बन्ध है।

जिस घूर्णितवायुमें धूलिध्वज उत्पन्न होता है, वह समुद्रमें प्रवाहित होने पर ऊपर जलको उठा कर जलस्तम्भ उत्पन्न करता है। समुद्रमें जहां जलस्तम्भ उत्पन्न होता है उसके ऊपरी भागमें मेघ रहता है। पहले प्रबल घूर्णितवायु उपस्थित होकर वहांका जल आलोड़ित करता है और चारों ओरकी तरङ्गे उस स्थानके मध्य भागमें द्रुतवेगसे पहुंचती है। उससे प्रभूत जल और जलीय वाष्प शीघ्र ही राशिकृत होता और वाष्पमय एक शुण्डाकार स्तम्भ उत्पन्न हो कर ऊपरको उठने लगता है। मेघोंसे भी एक शुण्ड निकल कर उसमें मिल गया है, ऐसा ही अनुमान होता है। जहां दोनों शुण्डोंका संयोग होता है, उसका विस्तार दो तीन फीटसे अधिक न होता। सुना जाता है, कि जब शुण्डाकार स्तम्भ दिखाई देता है, तब आवाज होती है।

सब जलस्तम्भ समानरूपसे लम्बे नहीं होते। इनकी लम्बाई लगभग १७५० हाथ तक हुआ करती है। इसका पार्श्वदेश जैसा घना दिखाई देता है, वैसा मध्यभाग नहीं दिखाई देता। इससे मालूम होता है, कि यह शून्य गर्भ अर्थात् पोला है। यह स्तम्भ प्रायः एक ही जगह स्थिर नहीं रहता। वायुकी गतिके अनुसार उसी ओर चला जाता है। यदि उसका ऊपरी भाग और अधोभागका वेग समान न रहे, तो क्रमशः वह विछिन्न हो जाता है। उस समय उसमें जो वाष्पराशि रहती है, वह छिन्न-भिन्न हो कर या तो वायुमें मिल जाती या समुद्रमे वर्षाके रूपमें गिर कर मिल जाती है। इसका यह भी निश्चय नहीं, कि यह कब तक रहता है। कभी कभी तो यह उत्पन्न होते ही विनष्ट हो जाता और कभी एक घण्टा तक भी स्थायी रहता है। जलस्तम्भ देखो।

वायुमण्डलके विविध तथ्यपरिज्ञापक यन्त्र।

वायुमण्डलके शीतोष्णतामाननिर्णय, आर्द्रता पर्य्यवेक्षण, वायवीय गुरुत्व और चाप-निर्णय, वायु प्रवाहका दिशानिर्देश, इसकी गतिविधिका निर्णय, वृष्टि और तुषार सम्पातका परिमाण-निर्णय, मेघका प्रकारभेद, परिमाण और गतिनिर्देश आदि यन्त्रों पर व्यावहारिक मिटिरैयलजी विज्ञानकी उन्नति निर्भर कर करती है। १५५२ ई०के प्रारम्भसे ही यूरोपमें कितने ही मनीषियोंने इस विषयमें मन लगाया। यूरोपीय सहज ही वाणिज्यप्रिय हैं। जलपथसे वाणिज्य करने पर मेघ, वृष्टि, आंधी, तूफान, वायुकी गति आदिका परिज्ञान विशेष प्रयोजनीय है। सन् १५५२ ई०में टस्कानीके ग्रेण्ड ड्यूक द्वितीय फार्डिनण्डने वैज्ञानिक पण्डित लुइगी एण्टोनरीके (Luigi Antinory) तत्त्वावधानमें इटलीमें इसके सम्बन्धमें एक कार्य्यविभाग खोला। इसके बाद १९वीं शताब्दीमें जगत्के सब खण्डोंके तथ्यसंग्रह करनेका विशाल आयोजन हुआ, उस समय इसके सम्बन्धमें और विषयों पर उत्तम गवेषणा हुई थी। रात्रिकालमें सौरपार्थिव तापका विकिरणातिशय्य, दिवाभागमें सौरकिरण-विकिरणाधिक्य, नभोमण्डलकी ज्योतिर्मय दृश्यावली, वायुस्तरकी धूलिकणा और उसका रासायनिक उपादान आदि बहुतेरे विषयों पर गवेषणा करनेके निमित्त नाना प्रकारके यन्त्रोंका आविष्कार आवश्यक हो गया। इसी अभावकी पूर्त्तिके लिये ही वैज्ञानिकगण विशेष परिश्रम और बुद्धिकौशलसे कई वर्त्तमान यन्त्रोंका आविष्कार किया है। यहां अतीव प्रयोजनीय तथा प्रधान प्रधान यन्त्रोंकी नामावली दी जाती है—

(१) थारमोमिटर (Thermometer) वायुके उत्ताप और शैत्यका परिमाण नापनेके लिये ही इस यन्त्रकी सृष्टि हुई है।

(२) बारोमिटर (Barometer)—इस यन्त्रमें वायुका भारित्व निर्णीत होता रहता है। किन्तु इसके द्वारा बहुत बातें मालूम होती हैं। इससे मेघ, वृष्टि और आंधी तूफानके सम्बन्धमें अनेक तथ्य मालूम हो सकते हैं। जिन सब तरल पदार्थोंका गुरुत्व विनिर्णीत हुआ है, उनके किसी पदार्थसे ही यह बारोमिटर तैयार हो सकता है। जल, ग्लिसरिन और पारद अनेक समय बारोमिटरके बनानेमें व्यवहृत होते हैं। किन्तु पारा ही इसके बनानेमें साधारणतः व्यवहृत होता है। सन् १६४३ ई०में गेलिलिओका छात्र टेरीसेलो (Terricelle) ने बारोमिटरका आविष्कार किया। एनिरायेड बारोमिटर (Aneroid Barometer), वाटर बारोमिटर और ग्लेसटिन बारोमिटर नामसे तीन प्रकारके बारोमिटरोंका उल्लेख दिखाई देता है।

(३) एनिमोमिटर (Anemometer)—इस यन्त्रसे वायुकी गति नापी जा सकती है । डाकृर लिण्ड (Dr. Lind) और डाकृर रविन्‌सन (Dr. Robinson) निर्म्मित एनिमोमिटर वर्त्तमान समयमें प्रचलित है ।

(४) हाइग्रोमिटर (Hygrometer)—इस यन्त्रसे वायुकी आर्द्रताका परिमाण स्थिरीकृत होता है। स्कोयाकहोफार (Schwackhofer) या स्वेनसनके (Swenson) प्रस्तुत किये यन्त्र ही इस समय व्यवहृत हो रहे हैं।

(५) रेनगेज (Rain gauge)—इस यन्त्रसे वृष्टिका परिमाण निर्णीत होता है । तुषारपातके परिमाण-निर्णय करनेके लिये भी ऐसा यन्त्र है ।

(६) एयरपम्प (Air-pump)—वायु निस्कासन यन्त्र । इस यन्त्रसे वायुपूर्ण पात्रकी वायु निकाली जाती है ।

(७) इभापोरोमिटर (Evaporometer)—उद्गत वाष्प परिमापक । इस यन्त्रसे उद्गत वाष्पका परिमाण स्थिरीकृत होता है ।

(८) सनसाइन रिकर्डार (Sunshine Recorder)—इस यन्त्रसे सूर्यकिरणका परिमाण निर्णीत होता है । जार्डन साहब इस यन्त्रकी उन्नति कर फोटोग्राफिक सनसाइन रिकार्डर नामके एक यन्त्रका आविष्कार किया ।

(९) नेफोस्कोप (Nephoshcope)—मेघ और अन्यान्य घनीभूत वाष्पकी गतिनिर्णयके लिये इस यन्त्रका व्यवहार किया जाता है। मारभिन (Marvin) साहबका बनाया यन्त्र ही प्रसिद्ध है ।

(१०) डष्ट काउण्टर (Dust counter) वायवीय धूलिसंख्या-निर्णायक यन्त्र । एडेनवर्गके मिष्टर जान एटकिन (John Aitkin) इसके आविष्कारक हैं।

इसके सिवा प्राकृतविज्ञानके परीक्षार्थ और भी अनेक यन्त्र वायुमण्डलके विविध तथ्य जाननेके लिये व्यवहृत होते हैं।

वायुवेग (सं० पु०) वायोर्वेगः। वायुका वेग, वायुकी गति ।

वायुवेगयशस् (सं० स्त्री०) वायुपथकी भगिनी या सहोदरा ।

वायुशर्मा—आचार्यभेद । (जैनहरि० १४६।२।७)

वायुष (सं० पु०) मत्स्यविशेष, कालवस नामकी मछली । गुण—वृंहण, बलकारक, मधुर और धातुवर्द्धक।

वायुसख (सं० पु०) वायोः सखा (राजाहः सखिभ्यष्टच् । पा ५।४।९१) इति टच् । अग्नि, आग । (भरत)

वायुसखि (सं० पु०) वायुः सखा यस्य, इति विग्रहे टच् समासाभावः । (अनङ् सौ । पा ७।१।९३) इति अनङादेशः । अग्नि, आग । (अमर)

वायुसूनु (सं० पु०) वायो सूनुः । १ वायुपुत्र हनूमान् । २ भीम ।

वायुस्कन्ध (सं० पु०) वायुदेश, वायुस्थान । जहां वायु बहती हो ।

वायुहन् (सं० पु०) एक ऋषि जो मङ्कण ऋषिके तृतीय पुत्र थे। इनका जन्मवृत्तान्त इस प्रकार है—मङ्कण ऋषि एक बार सरस्वतीमें स्नान कर रहे थे। वहां उनको सर्वाङ्गसुन्दरी एक नग्न स्त्री स्नान करती हुई दिखाई दी। उसे देख कर उनका वीर्य्य स्खलित हो गया । उस रेतको उन्होंने एक घड़ेमें रखा, रखते ही वह सात भागोंमें विभक्त हो गया और उनसे वायुवेग, वायुबल, वायुहन्, वायुमण्डल, वायुजाल, वायुरेता और वायुचक्र नामक सात महर्षि उत्पन्न हुए ।

वायुहीन (सं० त्रि०) वायुशून्य, शारीरवायुके प्रभावसे रहित ।

वायोधस (सं० त्रि०) वयोधस (इन्द्र) सम्बन्धीय । (कात्या०श्रौ० ४।५।१५)

वायोविद्यिक (सं० पु०) वयो अर्थात् पक्षीविषयक विद्याकी आलोचना करनेवाला ।

वाय्य (सं० पु०) वय्यपुत्र, सत्यश्रवाः । (ऋक् ५।७९।१)

वाय्वभिभूत (सं० त्रि०) वायुना अभिभूतः । वायुग्रस्त, वायु द्वारा अभिभूत, वायुरोगी ।

वाय्वास्पद (सं० क्ली०) वायूनामास्पदं सञ्चरणस्थानं । आकाश ।

वारंट (अं० पु०) अदालतका एक प्रकारका आज्ञापत्र । इसके अनुसार किसी कर्मचारीको वह काम करनेका अधिकार प्राप्त हो जाय, जिसे वह अन्यथा करनेमें असमर्थ हो। यह कई प्रकारका होता है, जैसे—वारंट गिरफ्तारी, वारंट तलाशी, वारंट रिहाई आदि ।

वारंट गिरफ्तारी (अं० पु०) अदालतका एक आज्ञापत्र । इसके अनुसार किसी कर्मचारीको यह अधिकार दिया जाय कि वह किसी पुरुषको पकड़ कर अदालतमें हाजिर करे ।

वारंट तलाशी (अं० पु०) अदालतका एक आज्ञापत्र। इसके अनुसार किसी कर्मचारीको यह अधिकार दिया जाय, कि वह किसी स्थानमें जा कर वहांका अनुसन्धान करे।

वारंट रिहाई (अं० पु०) अदालतका एक आज्ञापत्र। इसके अनुसार किसी सरकारी कर्मचारीको यह इजाज़त और हक़ मिले कि वह किसी आदमीको, जो जेल, हवालत या गिरफ्तारीमें हो मुक्त कर दे; या किसी माल या सम्पत्तिको, जो कुर्क हो या किसीके तत्त्वावधानमें हो, मालिकको लौटा दे।

वार (सं० पु०) वारयति व्रियते वेति वृ णिच्, अच्, वृ-घञ् वा। १ समूह, राशि, ढेर। २ द्वार, दरवाजा। ३ हर, महादेव। ४ कुब्जवृक्ष, लटजीरा। ५ क्षण। ६ सूर्यादि वासर, दिन, दिवस। सूर्यादिके दिनको वार कहते हैं। वार ७ हैं—रवि, सोम, मङ्गल, बुध, वृहस्पति, शुक्र और शनि। सावन दिनकी तरह वारकी गणना होती है। सूर्योदयसे वारका आरम्भ मानना पड़ेगा। अशौचादि निवृत्ति आदि कार्य सूर्योदय होनेसे ही होते हैं। सूर्योदयसे कुछ पहले यदि किसीकी मृत्यु या जन्म हो, तो उसे सावनानुसार पूर्वदिन मानना होगा। सूर्योदयके बाद हीसे वह दिन लेना होता है।

रवि आदि ग्रहोंके भोग्य दिन ही उन सब नामोंसे पुकारे जाते हैं अर्थात् रविग्रहका भोग्य दिन रविवार कहलाता है। इसी प्रकार रवि आदि सात ग्रहोंके भोग्य दिन सात हैं, अतएव वार भी सात हुए हैं। इन सात वारोंमें सोम, शुक्र, बुध और वृहस्पति ये चार वार शुभ और बाकी तीन अशुभ हैं। इसलिये शुभ वारमें शुभ कर्म किया जा सकता है तथा अशुभ वारमें मङ्गलजनक कार्यमात्र ही निषिद्ध है। इन सब वारोंके दिवा और रात्रि भागके मध्य जो एक निर्दिष्ट अशुभ समय है उसे वारवेला और कालवेला कहते हैं। दिवा भागमें जो निर्दिष्ट अशुभ समय है उसे वारवेला और रात्रिकालके अशुभ समयको कालवेला कहते हैं। यह निर्दिष्ट समय इस प्रकार है—रविवारका चतुर्थ और पञ्चम यामार्द्ध (दिवामानके आठ भागमेंसे एक भाग) वारवेला तथा इसी प्रकार सोमवारका द्वितीय और सप्तम यामार्द्ध, मङ्गलवारका षष्ठ और द्वितीय यामार्द्ध, बुधवारका तृतीय और पञ्चम यामार्द्ध, वृहस्पतिवारका सप्तम और अष्टम यामार्द्ध तथा शनिवार प्रथम, षष्ठ और अष्टम यामार्द्ध वारवेला है। वारवेलामें एक भी शुभ कर्म नहीं करना चाहिये। यह सभी कार्योंमें निन्दित है। कालवेला—रविवारके रात्रिकालका षष्ठ यामार्द्ध, सोमवारका चतुर्थ यामार्द्ध, मङ्गलवारका द्वितीय यामार्द्ध, बुधवारका सप्तम यामार्द्ध, वृहस्पतिवारका पञ्चम यामार्द्ध, शुक्रवारका तृतीय यामार्द्ध तथा शनिवारका प्रथम और अष्टम यामार्द्ध निन्दनीय है अर्थात् रात्रिकालमें यह सब समय छोड़ कर शुभ कार्य करना उचित है। इस कालवेलाको कालरात्रि भी कहते हैं। इस वारवेला और कालवेलामें यात्रा करनेसे मृत्यु, विवाह करानेसे वैधव्य और व्रतानुष्ठानसे ब्रह्मवध होता है। अतएव इस समयमें सभी शुभ कर्मोंका परित्याग करना उचित है।

सारसंग्रहके मतसे स्त्रियोंके प्रथम रजोदर्शनके समय वारके अनुसार फल होता है :—

> "आदित्ये विधवा नारी सोमे चैव पतिव्रता।
> वेश्या मङ्गलवारे च बुधे सौभाग्यमेव च॥
> वृहस्पतौ पतिः श्रीमान् शुक्ले पुत्रवती भवेत्।
> शनौ वन्ध्या तु विज्ञेया प्रथमस्त्री रजस्वला॥" (मथुरेश)

रविवारमें विधवा, सोमवारमें पतिव्रता, मङ्गलवारमें वेश्या, बुधवारमें सौभाग्यवती, वृहस्पतिवारमें पति श्रीमान्, शुक्रवारमें पुत्रवती और शनिवारमें वन्ध्या होती है।

कोष्ठीप्रदीपमें प्रति वारका फलाफल लिखा है। रविवारमें जन्म होनेसे जातबालक धर्मार्थी, तीर्थपूत, सहिष्णु, प्रियवादी और अल्प द्रव्यमें धनी होता है। सोमवारमें जन्म होनेसे कामी, स्त्रियोंके प्रियदर्शन, कोमल वाक्यसम्पन्न और भोगी; मङ्गलमें क्रूर, साहसी, क्रोधी, कपिल अथवा श्यामवर्ण, परदारा-गामी और कृषिकर्मानुरक्त; बुधवारमें बुद्धिमान्, परदारपरायण, कमनीय शरीरवाला, शास्त्रार्थमें पारगामी, नृत्यगीत प्रिय और मानी; वृहस्पतिवारमें शास्त्रवेत्ता, सुन्दरवाक्यविशिष्ट, शान्तप्रकृति, अतिशय कामी, बहु पोषणकर, दृढ़ बुद्धिसम्पन्न और दयाल; शुक्रवारमें जन्म होनेसे कुटिल, दीर्घजीवी, नीतिशास्त्रविशारद और स्त्रियोंका चित्तहारी

तथा शनिवारमें जन्म होनेसे वह दीन, कृतघ्न, कलहप्रिय, मुखरोगी और कुवृत्तिकुशल होता है ।

फलितज्योतिषमें मासके हिसाबसे वार जाननेका संकेत दिया गया है। वह वारगणना संकेत, शकाब्द, सन् या खृष्टाब्द आदिसे ही निरूपित हो सकती है। नीचे वार-निर्णयके कुछ उपाय दिये गये हैं।

शकाब्दके अनुसार वारगणना—जिस शकाब्दके जिस मासके जिस दिनका वार जानना हो उस शकाब्दकी अङ्कसंख्यामें उस शकाब्दके अङ्कका चतुर्थांश जोड़ दे। पीछे उसमें निम्नलिखित मासाङ्क और उस मासकी दिनसंख्या तथा अतिरिक्त योग कर जो योगफल होगा उसको ७से भाग दे। भागशेष जो रह जायगा वही वारसंख्या होगी। यदि भाग शेष १ रहे तो रविवार और यदि २ रहे तो सोमवार जानना होगा इत्यादि ।

यदि शकाब्दका चतुर्थांश पूर्णाङ्क न हो कर भग्नाङ्क हो, तो उस भग्नाङ्कके बदलेमें १ मानना होता है, जैसे—१७९९ है, इसका चतुर्थांश ४४९॥। होता है, ऐसा न मान कर उसके बदले ४५० मानना होगा, फिर जिस शकाब्दका भग्नाङ्क न हो, उस शकाब्दके केवल भाद्रका ६ और आश्विनका २ मासाङ्क लेना होगा, नहीं तो पार्श्वलिखित भाद्र और आश्विनका पूर्वनिर्दिष्ट मासाङ्क जोड़ कर गणना करनेसे अङ्कमें नहीं मिलेगा। गणनामें यदि कभी भूल जाये, तो १ वार दे देनेसे अङ्क निश्चय मिल जायेगा ।

मासाङ्क*

वैशाख	ज्यैष्ठ	आषाढ़	श्रावण	भाद्र	आश्विन	कार्तिक	अग्रहायण	पौष	माघ	फाल्गुन	चैत्र
०	३	६	३	०	३	५	०		२	४	५

उदाहरण—१७९९ शकाब्दकी ३१वीं चैतको कौन वार पड़ेगा ? यहां पर शकाब्द संख्या १७९९ और उसका चतुर्थांश ४५० है। अतएव शकाब्द १७९९ + उसका चतुर्थांश ४५० + मासाङ्क ६ + दिनाङ्क ३१ + अतिरिक्त २ = २२८८, इसमें ७का भाग देने पर भागशेष ६ रहता है, सुतरां १७९९ शकको ३१वीं चैतको शुक्रवार पड़ा ।

सन्की हिसाब-गणना—शकाब्दकी तरह सन्में भी सन्का चतुर्थांश मासाङ्क, दिनाङ्क और अतिरिक्त दो जोड़ दे। पीछे पूर्वोक्त क्रियाके अनुसार वार जाना जायेगा ; किन्तु जिस सन्में ४का भाग देने पर १ बाकी रहता है (जैसे १२८१, १२८५ इत्यादि) उस सन्के भाद्रमासमें ६ और आश्विनमें २ मासाङ्क जोड़ना होगा ।

उदाहरण—१२८४ सालकी ३१वीं चैतको कौन वार पड़ेगा ? सन् १२८४ + उसका चतुर्थांश ३२१ + ६ दिनाङ्क ३१ अतिरिक्त = १६४४, इसमें ७का भाग दे देने पर भागशेष ६ रहता , अतएव उत्तर हुआ शुक्रवार ।

जनवरी—०
फरवरी—३
मार्च—३
अप्रिल—६
मई—१
जून—४
जुलाई—६
अगस्त—२
सितम्बर—५
अक्टूबर—०
नवम्बर—३
दिसम्बर—५

अंगरेजी सालकी संख्या भी उसका चतुर्थांश तथा पार्श्वलिखित मासाङ्क, दिनाङ्क और अतिरिक्त ६ अङ्क जोड़नेसे जो भागफल होता है, उसमें सातका भाग दे । भागशेष जो रह जाय उसमें रविवारसे गणना करके जो वार पड़ता है उसी वारके अंगरेजी वर्षके ४से भाग दे, यदि शेष कुछ न बचे, तो उस वर्षका फरवरी मास लिप्-इयर होता है अर्थात् वह मास २८ दिनके बदले २९ दिनका होगा। उक्त लिप्-इयर वर्षमें मार्चसे दिसम्बर तक दश मासमें अतिरिक्त ६ जोड़ना नहीं पड़ेगा ।

उदाहरण—अंगरेजी १८७९ ई०को २७वीं मार्चको कौन वार पड़ेगा ? अब्दाङ्क १८७७ + चतुर्थांश ४७० + मासाङ्क ३ × दिनाङ्क २७ ÷ अतिरिक्त ६ = २३८३, उसमें सातका भाग देने पर शेष ३ रहता है अतएव उस दिन मङ्गलवार पड़ेगा ।

७ आवरण, ढाँकनेवाली वस्तु । ८ दल । ९ काल, दफा अवसर, जैसे—वारंवार । १० नदी या समुद्रका किनारा ।

---

* "खनयनरसनेत्रं शून्यनेत्रेषु शून्यम्
विधुकरयुगषट्कं मासिकं स्याद्-ध्रुवाङ्कम् ।
युगहरणसमासौ वत्सरे सिंह आश्वे
ध्रुवे धृतुकरमिष्टं श्रीहरेर्व्वारबोधे ॥"

११ वाण, तीर। १२ मदिरा-पात्र, मद्यका प्याला। १३ निवारण, रोक। १४ जल, पानी। १५ पित्त। १६ कालाकेश। (ऋक् २।४।४) १७ बारी, दाँव। १८ पूंछ। (त्रि०) १९ वरणीय। (ऋक् १।१२८।३)

वार (सं० क्ली०) वारयति वियते वेति वृ-णिच् क्विप्। १ जल, पानी। २ सुसज्जित भावमें अवस्थान, ठाटबाट दिखाना।

वार—एक प्राचीन कवि।

वारक (सं० त्रि०) वारयति वृ-णिच्-ण्वुल्। १ निवारक, निषेध करनेवाला। (क्ली०) २ कष्टस्थान, वह स्थान जहां पीड़ा हो। ३ वाला, सुगन्धवाला, एक सुगंधित तृण। (पु०) ४ अश्व, घोड़ा। ५ अश्वभेद, एक प्रकारका घोड़ा। ६ अश्वगति, घोड़ेका कदम।

वारकन्यका (सं० स्त्री०) वारनारी, वेश्या, रंडी।

वारकिन् (सं० पु०) वारकोऽस्त्यस्येति इनि। १ प्रत्ति वादी, शत्रु। २ समुद्र। ३ चित्राश्व, लड़ाईका घोड़ा। ४ पर्णजीवी, पत्ते खा कर रहनेवाला तपस्वी।

वारकी (सं० पु०) वारकिन् देखो।

वारकीर (सं० पु०) वारे अवसरे कीलति वध्नाति कौतुकार्यं रज्ज्वा प्रेम्ना वा कीलक, लस्य रत्वम्। १ श्यालक, साला। २ वारग्राही, भारवाही, बोझ ढोनेवाला। ३ द्वारी, द्वारपाल। ४ वाड़व, वाड़वाग्नि। ५ यूका, जूं। ६ वेणिवेधिनी, वेणी बांधनेकी छोटी कंघी। ७ युद्धाश्व, लड़ाईका घोड़ा।

वारगड़ि—चम्पारनके अन्तर्गत एक प्राचीन ग्राम।
(भविष्य-ब्रह्मख० ४२।१२१ १३१)

वारङ्क (सं० पु०) पक्षी, चिड़िया।

वारङ्ग (सं० पु०) वारयतीति वृ-अङ्गच् (सृवृभ्चोर्वृद्धिश्च। उण् १।१२१)इति धातोर्वृद्धिः। १ खड्ग, वा छुरिकादिक मुष्टि, तलवार छुरी आदिकी मूठ। २ अंकुड़ेके आकारका एक औजार। इससे चिकित्सक अस्थिविनष्ट शल्य निकालते थे। (सुश्रुत)

वारट (सं० क्ली०) वृ-अटच्। १ क्षेत्र। २ क्षेत्रसमूह

वारटा (सं० स्त्री०) वारट-टाप्। वरटा, हंसी।

वारण (सं० क्ली०) वृ-णिच्-ल्युट्। १ प्रतिषेध, निवारण। २ बन्धन। ३ निषेध, मनाही। ४ हस्त द्वारा निषेध, हाथसे रोकना। (पु०) वारयति परबलमिति वृ-ल्यु। ५ हस्ती, हाथी। ६ वर्म, कवच, बख्तर। ७ अंकुश। ८ हरिताल। ९ कृष्णशिंशपा, काला सीसम। १० पारिभद्र। ११ श्वेतकूटज वृक्ष, सफेद कोरैयाका फूल। १२ छप्पय छन्दका एक भेद। इसमें ४१ गुरु, ७० लघु, कुल १११ वर्ण वा १५२ मात्राएं होती हैं अथवा ४१ गुरु, ६६ लघु, कुल १०७ वर्ण या १४८ मात्राएं होती हैं।

(त्रि०) वार-रण अच्; वारि जले रणति चरतीति। १३ जलजात, समुद्रोद्भव। १४ प्रतिबन्धक, रोकनेवाला।

वारणकणा (सं० स्त्री०) गजपिप्पली, गजपीपल।

वारणकृच्छ्र (सं० पु०) कृच्छ्रभेद। इसमें एक महीने तक पानीमें जौका सत्तू घोल कर पीना पड़ता है।

वारणकेशर (सं० पु०) नागकेशर।

वारणपिप्पली (सं० स्त्री०) गजपिप्पली, गजपीपल।

वारणप्रतिवारण (सं० स्त्री०) १ कर्मादि द्वारा शीतल, रक्षणोपयोगी, कवचविशिष्ट। (पु०) २ गजरक्षण, हाथीकी रक्षा करना।

वारणवनेश शास्त्री—अमृतसृति नाम्नी प्रक्रियाकौमुदीव्याख्याके प्रणेता।

वारणवल्लभा (सं० स्त्री०) कदली, केला।

वारणबुषा (सं० स्त्री०) वारणान् पुष्णातीति पुष-कः पृषोदरादित्वात् यस्य वः। कदली, केला।

वारणशाला (सं० स्त्री०) हस्तिशाला, फीलखाना।

वारणसाह्वय (सं० क्ली०) गजसाह्वय, हस्तिनापुर।

वारणसी (सं० स्त्री०) वरणा च असी च नदीद्वयं तस्य अदूरे भवा। (अदूरभवश्च। पा ४।२।७०) इत्यण् ङीप्, पृषोदरादित्वात् साधुः। वाराणसी, काशी।

वारणस्थल (सं० क्ली०) रामायणोक्त जनपदभेद।
(रामा० २।७३।८)

वारणा (सं० स्त्री०) वारण-टाप्। कदली, केला।

वारणानन (सं० पु०) गजानन, गणेश।

वारणावत (सं० क्ली०) महाभारतोक्त एक प्राचीन नगर। यह हस्तिनापुरसे ले कर गङ्गाके किनारे तक विस्तृत था। यहीं पर दुर्योधनने पाण्डवोंको जलानेके लिये लाक्षागृह बनवाया था। भीम उस गृहको जला कर माता और

भ्राताओंके साथ छद्मवेशमें गङ्गा पार कर गये। कुछ लोग इसे करनालके आसपास मानते हैं और कुछ लोग इलाहाबाद जिलेके हंड़िया नामक स्थानके पास।

वारणावतक (सं० त्रि०) वारणावतसम्बन्धीय, वारणावतवासी।

वारणाह्वय (सं० पु०) वारणसाह्वय, हस्तिनापुर।

वारणीय (सं० त्रि०) वृ-णिच्-अनीयर्। १ प्रतिषेध योग्य।

वारणेन्द्र (सं० पु०) उत्कृष्ट हस्ती, सुन्दर हाथी।

वारतन्तव (सं० पु०) वरतन्तुके गोत्रापत्य।

वारतन्तवीय (सं० पु०) वरतन्तुरचित। (पा ४।३।१०२)

वारतीय (हिं० स्त्री०) वेश्या, यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता हैं।

वारत्र (सं० क्ली०) वरत्रा-अण्। चर्मबन्धनी।

वारत्रक (सं० त्रि०) वरत्रादेश-भव, वरत्रासम्बन्धीय।

वारद (हिं० पु०) बादल, मेघ।

वारदात (अ० स्त्री०) दुर्घटना, कोई भीषण या शोचनीय काण्ड। २ मार काट-दंगा फसाद। ३ घटना सम्बन्धी समाचार।

वारधान (सं० पु०) पौराणिक जनपदभेद, इसे वाटधान भी कहते हैं।

वारन (हिं० स्त्री०) निछावर, वलि। यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है।

वारना (हिं० क्रि०) १ निछावर करना, उत्सर्ग करना। (पु०) २ उत्सर्ग, निछावर।

वारनारी (सं० स्त्री०) वाराङ्गना, वेश्या।

वारनितम्बिनी (सं० स्त्री०) वारनारी, वेश्या।

वारपार (हिं० पु०) १ नदी आदिका यह किनारा और वह किनारा, आर पार। (अव्य०) २ इस किनारे से उस किनारे तक। ३ एक पार्श्वसे दूसरे पार्श्व तक, एक बगलसे दूसरी बगल तक।

वारपाशि (सं० पु०) पौराणिक जनपदभेद।

वारपाश्य (सं० पु०) वारपाशि देखो।

वारफल (सं० क्ली०) प्रतिवारका शुभाशुभ निर्देश। सोम, शुक्र और वृहस्पतिवार सभी कामोंमें शुभ है, किन्तु शनि, रवि और मङ्गलवारको किसी किसी कामके लिये शुभ बतलाया है। राजाका अभिषेक, राजाकी यात्रा, राजकार्य और राजदर्शन तथा अग्निकार्य आदि रविवारको ही प्रशस्त है। भेदाभिघात, सेनापतियोंका राजाज्ञापालन और पुरवासियोंका दण्ड इत्यादि, पन्द्रह प्रकारके व्यायाम आहार गल्प इत्यादि तथा चोरीका काम मङ्गलवारको ही शुभ है।

स्थापन करना वा कार्य समाप्त करना, पुण्यकर्मादि करना, गृहप्रवेश, हाथीकी सवारी, घोड़ेकी सवारी, ग्रामप्रवेश तथा नगर और पुरप्रवेश शनिवारको ही शुभ कहा गया है।

वारफेर (हिं० स्त्री०) १ निछावर, बलि। २ वह रुपया पैसा जो दूल्हा या दुलहिनके सिर परसे घुमा कर डोमनियोंको दिया जाता है।

वारबाण (सं० पु० क्ली०) वारं वारणीयं वाणं यस्मात्। कञ्चुक, बखतर।

वारबुषा (सं० स्त्री०) वारप्यबुषा देखो।

वारमासीय (सं० पु०) बारह मासके अनुष्ठेय कार्य, बारह मासकी अवस्था।

वारमास्या (सं० स्त्री०) वारमासीय देखो।

वारमुखी (सं० स्त्री०) वाराङ्गना, वेश्या।

वारमुख्या (सं० स्त्री०) वारेषु वेश्यासमूहेषु मुख्या श्रेष्ठा। श्रेष्ठ वाराङ्गना। (भागवत० ६।१३।३८)

वारम्बार (सं० अव्य०) पुनः पुनः, फिर फिर।

वारयितव्य (सं० त्रि०) प्रतिषेधके योग्य, निवारण करने लायक।

वारयिता (सं० पु०) वारयति दुर्नीतेरिति वृ-णिच्-तृच्। पति, स्वामी।

वारयुवती (सं० स्त्री०) वेश्या, रंडी।

वारयोषित् (सं० स्त्री०) वारनारी, वेश्या।

वाररुच (सं० त्रि०) वररुचि-अण्। वररुचिकृत ग्रन्थ।

वारल—एक प्राचीन बड़ा ग्राम। (दिग्विजयप्रकाश)

वारला (सं० स्त्री०) वारं लातीति ला-क। १ वरटा, गंध्रिया कीड़ा। २ राजहंसी। ३ कदली, केला।

वारलीक (सं० पु०) वल्वजा तृण, बनकस।

वारवक्र—एक छोटी नदी। यह हेड़म्ब पर्वतसे निकली है। इसका वर्त्तमान नाम बारबंकी है।

वारवत्था (सं० स्त्री०) महाभारतोक्त एक नदीका नाम।

वारवत् (सं० त्रि०) पुच्छविशिष्ट, जिसके पूँछ हो।
(ऋक् १।२७।१)

वारवन्तीय (सं० क्ली०) सामभेद। (तैत्तिरीयसं० ५।५।८।१)

वारवधू (सं० पु०) वेश्या, रंडी।

वारवाणि (सं० पु०) वारं शब्दसमूहं वणते इति वण-इण्। १ वंशीवादक, वंशी बजानेवाला। २ उत्तम गायक। ३ धर्माध्यक्ष, न्यायाधीश, जज। ४ संवत्सर। (स्त्री०) ५ वेश्या। ६ वेश्याओंमें श्रेष्ठ।

वारवाणी (सं० स्त्री०) प्रधान वेश्या।

वारवारण (सं० पु०) वारबाण देखो।

वारवाल (सं० पु०) काश्मीरका एक अग्रहार।
(राजतर० १।११)

वारवासि (सं० पु०) महाभारतके अनुसार एक जनपदका नाम। (भारत भीष्म ६।४४) पाश्चात्य भौगोलिक प्लिनिने Barousai नामसे इस स्थानका उल्लेख किया है।

वारवास्य—वारवासि देखो।

वारविलासिनी (सं० स्त्री०) वारान् विलासयतीति वि-लस-णिच्-णिनि-ङीप्। वेश्या, रंडी।

वारवेला (सं० स्त्री०) दिनका वह यामार्द्ध जिसमें शुभकार्य निषिद्ध बताया गया है। प्रतिवार दिनको दो वारवेला और रातको एक कालवेला निर्दिष्ट हुई है। दिनके प्रथम यामार्द्धको कुलिकवेला वा वारवेला और द्वितीय यामार्द्धको भी वारवेला कहते हैं।

वार शब्दमें विस्तृत विवरण देखो।

वारव्रत (सं० क्ली०) दैनन्दिन व्रतकर्म।

वारसुन्दरी (सं० स्त्री०) वारविलासिनी, वेश्या।

वारसेवा (सं० स्त्री०) १ वेश्यावृत्ति। २ वेश्यासमूह।

वारस्त्री (सं० स्त्री०) वेश्या, रंडी।

वारांनिधि (सं० पु०) वारां जलानां निधिः, अलुक्स०। समुद्र।

वारा (हिं० पु०) १ खर्चकी बचत, किफायत। २ लाभ, फायदा। ३ इधरका किनारा, वार। (वि०) ४ किफायत, सस्ता। ५ जो निछावर हुआ है, जिसने किसी पर अपनेको उत्सर्ग किया हो।

वाराङ्गना (सं० स्त्री०) वेश्या, रंडी।

वाराटकि (सं० पु०) वराटकके पुं अपत्य।

वाराटकीय (सं० त्रि०) वराटक-गहादिभ्यश्छ इति छ। वराटक-सम्बन्धीय।

वाराणसी (सं० स्त्री०) वरणा च असी च, तयोर्नद्योरदूरे भवा (अदूरभवश्च। पा ४।२।७०) इति अण्-ङीप्-पृषो०। काशीधाम।

"वरणासी च नद्यौ द्वे पुण्ये पापहरे उभे।
तयोरन्तर्गता या तु सैव वाराणसी स्मृता।"

अर्थात् वरणा और असी इन दो पुण्यप्रदा और पापहरा नदियोंके बीच जो स्थान अवस्थित है वही वाराणसी है, मोक्षधाम काशी है। हिन्दू, जैन और बौद्ध इन तीनों सम्प्रदायके निकट काशी तीर्थस्थान समझी जाती है। इनमेंसे हिन्दुओंके निकट यह सर्वप्रधान तीर्थस्थान कह कर प्रसिद्ध है। काशी शब्दमें विस्तृत विवरण देखो।

इस स्थानमें जिस प्रकार अति प्राचीन कालसे ब्राह्मणोंके निकट प्राधान्यलाभ किया है, उसी प्रकार बुद्धदेवके अभ्युदयके समयसे बौद्धोंके समागम पर बौद्धजगत्में भी किया था। वाराणसीके अन्तर्गत प्राचीन ऋषिपत्तन वर्त्तमान सारनाथमें आज भी उस सुप्राचीन बौद्धकीर्तिका निदर्शन देखनेमें आता है। मिट्टीके नीचेसे दो हजारवर्षसे अधिक पुराने स्थापत्यशिल्प तथा सम्राट् अशोक, सम्राट् कनिष्क और कनिष्कके अधीन पूर्वभारतीय क्षत्रपोंकी जो सब शिलालिपियां निकाली गई हैं, उनसे प्राचीन भारतके पूर्वगौरव और प्राचीन इतिहासके अनेक अतीततत्त्व जाने जाते हैं।

वाराणसीपुर—बाङ्गालके चन्द्रद्वीपके अन्तर्गत एक नगर।
(भविष्य ब्रह्मख० १३।३)

वाराणसीश्वर—वीरशैवसिद्धान्तके प्रणेता।

वाराणसीह्रद—पुण्यतीयाह्रदभेद। (योगिनीतन्त्र ६।१।२)

वाराणसेय (सं० त्रि०) वाराणसी-ढक् (नद्यादिभ्यो ढक्। पा ४।२।९७) वाराणसी-जात।

वारान्यारा (हिं० पु०) १ इस पक्ष या उस पक्षमें निर्णय, किसी ओर निश्चय। २ झंझट या झगड़ेका निबटेरा, चले आते हुए मामलेका खातमा।

वारालिका (सं० स्त्री०) दुर्गा।

वारावस्कन्दिन् (सं० पु०) अग्नि।

वारासन (सं० क्लो०) १ वरासन। २ जलाधार।

वाराह (सं० त्रि०) वराहस्येदमिति अण्। १ वराह-सम्बन्धीय। २ वराहमिहिर-मत-सम्बन्धीय। वराह-स्वार्थे अण्। (पु०) ३ वराह, शूकर। ४ महापिण्डीतक वृक्ष। ५ कृष्णमदनवृक्ष, काली मैनोका वृक्ष। इसका गुण—वमनमें प्रशस्त, कटु, तिक्त, रसायन तथा कफ, हृद्रोग, आमाशय और पक्वाशयशोधक। ६ जलवेतस, पानीके किनारे होनेवाला बेंत। ७ देशभेद। (नृसिंहपु० ६५।१६)

वाराहक (सं० त्रि०) वाराह-कन्। १ वराहसम्बन्धी। (पु०) २ प्राणहर कोटभेद, प्राण लेनेवाला एक प्रकारका कोड़ा।

वाराहकन्द (सं० पु०) वाराही कन्द। वाराही देखो।

वाराहक्षेत्र—हिमालयस्थ देवस्थानभेद।

(हिमवत्खं० ३४।१२८)

वाराहतीर्थ—तीर्थविशेष। वाराहतीर्थमाहात्म्यमें इसका विवरण आया है।

वाराहपत्रा (सं० स्त्री०) वाराहीकन्द, असगंध।

वाराहपुट (सं० क्लो०) पुटभेद। अरत्निमात्र कुण्डमें जो पुट दिया जाता है उसे वाराहपुट कहते हैं।

वाराहपुटभावना (सं० स्त्री०) अष्टपलकृत भावना।

वाराहपुराण (सं० क्लो०) अठारह पुराणोंमेंसे एक महापुराण। पुराण देखो।

वाराहाङ्गी (सं० स्त्री०) दन्तीवृक्ष।

वाराही (सं० स्त्री०) वाराह-ङीष्। १ ब्रह्माणी आदि आठ मातृकाओंमेंसे एक। देवीपुराणमें लिखा है, कि वाराही वराहदेवकी शक्ति है। हरिके अपरूप यज्ञवराहरूप धारण करने पर उसकी शक्तिने भी वाराहीरूप धारण किया था। (चण्डी)

दुर्गापूजापद्धतिमें इस वाराही देवीका इस प्रकार ध्यान लिखा है—

वाराहरूपिणीं देवीं दंष्ट्रोद्धृतवसुन्धराम्।
शुभदां सुप्रभां शुभ्रां वाराहीं तां नमाम्यहम् ॥”

(बृहन्नन्दिकेश्वरपु०)

उड्डामरतन्त्रमें वाराहीसहस्रनामस्तोत्र तथा रुद्रयामलमें वाराहीस्तोत्र लिखा है।

२ योगिनीविशेष। पूजाके समय इन सब योगिनीको भृंगार (स्वर्णजल-पात्र)-में स्नान करानेकी व्यवस्था है।

३ एक प्रकारका महाकन्द। इसे हिन्दीमें गेंठी, मराठीमें वाराहीकन्द, तेलगूमें नेलताड़िचेट्ट, ब्राह्मदण्डिचेट्टु और बम्बईमें डुकरकन्द कहते हैं। बहुतोंका कहना है, यह अनूपदेशमें उत्पन्न होता है। इसके कन्दके ऊपर सूअरके बालोंके समान रोएं होते हैं इसका आकार प्रायः गुड़की भेलीके समान होता है। पत्तियां कँटीली, बड़ी बड़ी तथा अनीदार होती हैं। अत्रिके मतसे यह कन्द अर्शोघ्न और वातगुल्मनाशक; राजवल्लभके मतसे श्लेष्मघ्न, पित्तकृत् और बलवर्द्धक तथा राजनिर्घण्टके मतसे तिक्त, कटु, विष, पित्त, कफ, कुष्ठ, मेह और कृमिनाशक; वृष्य, बल्य और रसायन माना गया है।

४ महौषधविशेष। ५ शुक्लभूमिकुष्माण्ड, विलाईकन्द, विदारीकन्द। ६ वृद्धदारक, विधारा नामक क्षुप। ७ प्रियंगु। ८ वराहक्रान्ता। ९ श्यामा पक्षी।

वाराहीकन्द (सं० पु०) वाराही देखो।

वाराहीतन्त्र—एक प्राचीन महातन्त्र। महाशक्ति वाराहीके नामानुसार इस तन्त्रका नाम पड़ा है। इस तन्त्रमें बौद्ध जैनादि तन्त्रोंका भी उल्लेख है।

वाराहीय (सं० क्लो०) वराहमिहिर-रचित बृहत्संहिता सम्बन्धीय।

वारि (सं० क्लो०) वारयति तृषामिति वृ-णिच् इञ् (वसिवपियजिराजिव्रजिसदिहनिवाशिवादिवारिभ्य इञ्। उण् ४।१२४) १ जल, पानी। २ तरल पदार्थ। ३ तारल्य, तरलता। ४ ह्रीवेर। ५ वाला, सुगन्धवाला। (स्त्री०) ६ वाणी, सरस्वती। ७ गजबन्धन, हाथीके बांधनेकी जंजीर आदि। ८ गजबन्धनभूमि, हाथीके बांधनेका स्थान, फीलखाना। ९ वन्दि, कैदी। १० छोटा कलसा या गगरा। (त्रि०) ११ वरणीय। (शुक्लयजु० २१।६१)

वारि—तैरभुक्तके अन्तर्गत एक स्थान। (भविष्य ब्रह्मखण्ड)

वारिकफ (सं० पु०) समुद्रफेन।

वारिकपूर (सं० पु०) इल्लिस-मत्स्य, हिलसा मछली।

वारिकुब्ज (सं० पु०) शृङ्गारक, सिंघाड़ा।

वारिकुब्जक (सं० पु०) शृङ्गारक, सिंघाड़ा।

वारिकृमि (सं० पु०) जलौका, जोंक।

वारिकोल (सं० पु०) कच्छप, कछुआ।

वारिगर्भोदर (सं० त्रि०) मेघ, बादल।

वारिचत्वर (सं० पु०) कुम्भिका, सिंघाड़ा।

वारिचर (सं० पु०) वारिषु चरतीति चर ट। १ मत्स्य, मछली। २ शङ्ख। ३ शङ्खनाभि। ४ जलचर जन्तुमात्र।

वारिचामर (सं० क्ली०) शैवाल, सेवार।

वारिज (सं० त्रि०) वारिणि जायते इति वारि-जन-ड। १ जलजमात्र। (क्ली०) २ द्रोणीलवण। ३ पद्म, कमल। ४ गौरसुवर्ण, खरा सोना। ५ लवङ्ग। ६ मत्स्य, मछली। ७ शङ्ख। ८ शम्बूक, घोंघा। ९ कपर्द्दक, कौड़ी।

वारिजाक्ष—विष्णुका अवतारभेद। यह अवतार रामकृष्णादि दशावतारसे भिन्न है। ब्रह्माण्डपुराणके अन्तर्गत प्रज्ञानकुमुदचन्द्रिकाके उत्तरखण्डमें इनका चरित्र विशदरूपसे वर्णित है—

गौड़ सारस्वत कुलमें श्रीकण्ठके औरससे यमुनादेवीके गर्भमें वारिजाक्ष अवतीर्ण हुए। उनकी पत्नीका नाम ज्वालिनी था। यथासमय उनके अव्य और सौवीर नामक दो पुत्र हुए। उनके जीवनकी अन्यान्य अलौकिक घटनाओंमें तदनुष्ठित "द्वादश वार्षिक सत्र" उल्लेखनीय है। इस यज्ञमें सैकड़ों यति, सिद्ध और संन्यासी पधारे थे। उनमेंसे गौड़ब्राह्मणकुलोद्भव और शिष्यपरम्पराक्रमसे भवानन्द सरस्वती, सच्चिनानन्द सरस्वती, शिवानन्द सरस्वती, रामानन्द सरस्वती और भवानन्द सरस्वती भी आये हुए थे। इनके सिवा द्रविड़ जातिके यति शङ्कराचार्य, भीमाचार्य, शाम्बाचार्य, रामचन्द्राचार्य और केशवाचार्य आदि गौड़ाचार्योंका भी आगमन हुआ था।

वारिजाक्ष तपःलोकमें वास करते हैं। वे दूसरी तरहसे परम वैष्णव शिवरूपमें कल्पित हैं। वैकुण्ठ विहारी विष्णुसे वे भिन्न हैं।

वारिजात (सं० त्रि०) १ वारिज, जलमें उत्पन्न होनेवाला। (पु०) २ शङ्खनाभि। वारिज देखो।

वारिजीवक (सं० त्रि०) १ जलचर, पानीमें रहनेवाला। २ जलसे जो जीवन धारण करता है। (वृहत्संहिता)

वारित (सं० त्रि०) निवारित, जो रोका गया हो।

वारितर (सं० क्ली०) उशीर, खस।

वारितस्कर (सं० पु०) १ मेघ, बादल। (त्रि०) २ वारिशोषणकर्त्ता, जल चूसनेवाला।

वारिति (सं० स्त्री०) जलमें होनेवाली एक प्रकारकी औषध।

वारित्रा (सं० स्त्री०) वारिणस्त्रायते इति त्रै-ड। छत्र, छतरी।

वारिद (सं० त्रि०) वारि ददातीति दा-क (आतोऽनुपसर्गे कः। पा ३।२।३) १ जलदाता, वर्षा देनेवाला। (पु०) २ मेघ, बादल। ३ मुस्तक, मोथा।

वारिद्र (सं० पु०) चातक पक्षी, पपीहा।

वारिधर (सं० पु०) धरतीति धृ-अच् वारिणो धरः। मेघ, बादल। २ भद्रमुस्ता, नागरमोथा। (वैद्यकनि०)

वारिधानी (सं० स्त्री०) जलपात्र। (कथासरित्सा०)

वारिधापयन्त (सं० पु०) ऋषिभेद।

(आश्वलायन गृह्य० १२।१४।५)

वारिधार (सं० पु०) मेघ, बादल।

वारिधारा (सं० स्त्री०) वारिणो धारा। जलधारा।

वारिधि (सं० पु०) वारीणि धीयन्तेऽस्मिन्निति धा (कर्मण्यधिकरणे च। पा ३।३।९३) इति कि। समुद्र।

वारिनाथ (सं० पु०) वारीणां नाथः। १ वरुण। २ समुद्र। ३ मेघ।

वारिनिधि (सं० पु०) वारीणि निधीयन्ते अत्रेति नि-धा-कि। समुद्र।

वारिप (सं० त्रि०) वारि पिवति पा-क। जलपायिमात्र, जल पी कर रहनेवाला।

वारिपथ (सं० पु०) वारीणां पन्थाः। जलपथ।

वारिपथिक (सं० त्रि०) वारिपथेन गच्छतीति वारिपथ (उत्तर पथेनाहृतश्च। पा ५।१।७७) इत्यत्र 'आहृत प्रकरणे वारिजङ्गलकान्तारपूर्वादुपसंख्यान' इति वार्त्तिकसूत्रात् ठञ्। १ जलपथगामी, जो जलपथसे जाता हो। २ वारिपथसे आहृत, जिसे जलपथसे बुलाया गया हो।

(काशिका)

वारिपर्णी (सं० स्त्री०) वारिणि पर्णान्यस्याः; वारिपर्ण (पाककर्णपर्णपुष्पेति पा। ४।१।६४) इति ङीष्। १ कुम्भिका,

जलकुम्भी। २ पानीकी काई।

वारिपालिका (सं० स्त्री०) वारीणि पालयति सूर्यरश्म्यादिभ्यो रक्षतीति पालि ण्वुल्-टाप्, अत इत्वं। खमूलिका, आकाशमूली, सिंघाड़ा।

वारिपूर्णी (सं० स्त्री०) वारिपर्णी, जलकुम्भी।

वारिपृश्नी (सं० स्त्री०) वारिजाता पृश्नी। वारिपर्णी, जलकुंभी।

वारिप्रवाह (सं० पु०) वारिणः प्रवाहः। निर्झर।

वारिप्रसादन (सं० क्ली०) वारिणः प्रसादनं। कतकफल, निर्मली। यह जलमें देनेसे जल निर्मल हो जाता है।

वारिवदर (सं० पु०) वारि परिपूर्णो वदर इव। प्राचीनामलक, जल-आँवला।

वारिवदरा (सं० स्त्री०) वारिवदर देखो।

वारिब्राह्मी (सं० स्त्री०) वारिजाता ब्राह्मी। जलब्राह्मी क्षप।

वारिभक्तवटिका (सं० स्त्री०) अजीर्णाधिकारका औषधविशेष। प्रस्तुत-प्रणाली—पारे और गन्धकसे तैय्यार की हुई कजली, अबरक, गुलञ्चका पाल, बिड़ङ्ग और मिर्च्च प्रत्येक समान भाग ले कर अदरकके रसमें मिलावे। बादमें एक माशेकी गोली बनावे। इसका सेवन करनेसे अजीर्णरोग दूर होता है। (रसरत्ना०)

वारिभव (सं० क्ली०) वारिणे नेत्रजलाय भवति प्रभवतीति भू-अच्। १ स्रोतोऽञ्जन, सुरमा। (त्रि०) २ जलजातमात्र।

वारभूमि—स्वर्गभूमिके अन्तर्गत स्थानभेद।

(भविष्य ब्रह्मख० ५७।१३२)

वारिमसि (सं० पु०) वारि मसिरिव श्यामताजनकं यस्य, सजलमेघस्येव कृष्णवर्णत्वात् तथात्वं। मेघ। (त्रिका०)

वारिमान (सं० क्ली०) पाचनादिमें जलका परिमाण, किस पाचनमें कितना जल देना चाहिये उसका अन्दाजा।

वारिमुच् (सं० पु०) वारिमुञ्चतीति मुच-क्विप्। मेघ, बादल।

वारिमूली (सं० स्त्री०) वारिणि मूलं यस्याः (पाकवर्णपर्णेति। पा ४।१।६४) इति ङीष्। वारिपर्णी, जलकुम्भी।

वारियन्त्र (सं० क्ली०) जलयन्त्र, फौआरा।

वारियाँ (हि० स्त्री०) निछावर, बलि।

वारिरथ (सं० पु०) वारिषु रथ इव गमनसाधनत्वात्। भेलक, बेड़ा।

वारिराशि (सं० पु०) वारीणां राशयो यत्र। १ समुद्र। वारीणां राशिः। २ जलराशि, जलसमूह।

वारिरुह (सं० क्ली०) वारिणि रोहति जायते इति रुह (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा ३।१।१३५) इति क। १ कमल, पद्म। (त्रि०) २ जलजात, जलसे उत्पन्न।

वारिलोमन् (सं० पु०) वारिणि लोमानि यस्य यद्वा वारि लोम्नि यस्य। वरुण।

वारिवदन (सं० क्ली०) वारियुक्तं वदनं यस्मात्, तत्सेवने मुखे जल निःस्रावणत्तथात्वं। प्राचीनामलक, जलकुम्भी।

वारिवन्द—१ आसामके अन्तर्गत एक स्थान। (भविष्य-ब्र०ख० १६।३१) २ कोचविहारके उत्तरमें अवस्थित एक बड़ा परगना।

वारिवन्धक (सं० त्रि०) जिससे जलस्रोत रुक सके, बांध।

वारिवर (सं० क्ली०) करमर्द्दक, करौंदा।

वारिवर्णक (सं० क्ली०) जलका वर्ण, पानीका रंग।

वारिवल्लभा (सं० स्त्री०) विदारी, भुंइकुम्हड़ा।

वारिवह (सं० त्रि०) जलवहनकारी, जल ले जानेवाला।

वारिवल्ली (सं० स्त्री०) कारवल्ली, करैला।

वारिवालक (सं० क्ली०) सुगंधवाला।

वारिवास (सं० पु०) वारि समीपे वासोऽस्य, यद्वा वारि यद्युंषितान्नादिजलं वासयति सुगन्धि करोतीति वास-अण्। शौण्डिक, कलवार।

वारिवाह (सं० पु०) वारि वहतीति वह (कर्मण्यण्। पा ३।२।१) इति अण्। १ मेघ, बादल। २ मुस्तक, मोथा।

वारिवाह सह्याद्रिवर्णित एक राजाका नाम।

(सह्या० ३३।३५)

वारिवाहक (सं० पु०) जलवहनकारी, वह जो जल ले जाता हो।

वारिवाहन (सं० पु०) वाहयतीति वाहि-ल्यु वारीणां वाहनः। मेघ, बादल।

वारिवाहिन् (सं० क्ली०) जलवहनकारी।

वारिविहार (सं० पु०) वारिणि विहारः। जलविहार, जलक्रीड़ा।

वारिश (सं० पु०) वारिणि सागरजले शेते इति शी-ड। विष्णु।

वारिशास्त्र (सं० क्ली०) वारिविषयकं शास्त्रं। शास्त्रभेद। इस शास्त्रसे यह ज्ञान होता है, कि किस स्थानमें कैसी वृष्टि होगी और कब कब होगी। गर्गमुनिने चारों वेद और उनके अङ्गोंसे सार उद्धृत कर यह शास्त्र बनाया है। तिथि, नक्षत्र, मास, दिन, लग्न, मुहूर्त्त और शुभयोग आदि तथा पूर्णपक्ष मासमें बुध और वृहस्पति देखनेसे जहां देवागमन होता है, वायु वहीं जा कर ठहरती है। पीछे उसीसे मेघादिके स्थानके कारण वारिका ज्ञान होता है।

वारिशिरीषिका (सं० स्त्री०) जलशिरिषका पेड़।

वारिशुक्ति (सं० स्त्री०) जलशुक्ति, सीप।

वारिस (अ० पु०) १ दायभागी पुरुष, दायाद। २ वह पुरुष जो किसीकी मृत्युके वाद उसकी सम्पत्ति आदिका स्वामी और उसके ऋण आदिका देनदार हो।

वारिसम्भव (सं० क्ली०) वारिप्रधानदेशेषु सम्भव उत्पत्तिर्यस्य। १ लवङ्ग। २ सौवीराञ्जन, सुरमा। ३ उशीर, खस। ४ यावनालशर, मक्का, जुआर। ५ कृमिशङ्ख। ६ श्रीखण्ड चन्दन। ७ रामशर, एक प्रकारका सरकण्डा। (त्रि०) ८ जलजातमात्र, जो कुछ जलमें हो।

वारिसात्म्य (सं० क्ली०) दुग्ध, दूध।

वारिसार (सं० पु०) भागवतके अनुसार चन्द्रगुप्तके एक पुत्रका नाम।

वारिसेन (सं० पु०) १ राजपुत्रभेद। २ जनभेद। (भारत सभाप०)

वारी (सं० स्त्री०) वार्य्यतेऽनयेति वृ णिच् (वसि वपि यजि राजि व्रजि सदि हनि राशि वादि वारिभ्य इञ्। उणा् ४।१२४) इति इञ् वा ङीष्। १ गजवन्धिनी, हाथीके बांधनेकी जञ्जीर। २ कलसी, छोटा गगरा।

वारीट (सं० पु०) वार्य्यां गजवन्धनभूम्यामिटतीति इट-क। हस्ती, हाथी।

वारीन्द्र (सं० पु०) वारीणामिन्द्रः। समुद्र। (हेम)

वारीफेरी (हिं० स्त्री०) किसी व्यक्तिके ऊपर कुछ द्रव्य या और कोई वस्तु घुमा कर इसलिये छोड़ना या उत्सर्ग करना जिसमें उसकी सब बाधाएं दूर हो जायँ।

वारीश (सं० पु०) वारेन्द्र देखो।

वारु (सं० पु०) वारयति रिपूनिति वृ-णिच् बाहुलकात् उण्। विजयकुञ्जर, विजयहस्ती जिस पर विजयपताका चलती है।

वारुइ—वरई देखो।

वारुज (सं० पु०) गौरसुवर्ण शाक।

वारुठ (सं० पु०) १ अन्तशय्या, मरण खाट। २ अरथी, वह टिकठी जिस पर मुर्देको लेटा कर ले जाते हैं।

वारुड़ (सं० पु०) वरुड़ सम्बन्धीय। (पा ५।४।३६)

वारुड़क (सं० क्ली०) वरुड़ जाति सम्बन्धीय।

वारुड़कि (सं० पु०) वरुड़के गोत्रापत्य।

वारुण (सं० क्ली०) वरुणो देवतास्येति वरुण-अण्। १ जल, पानी। २ शतभिषानक्षत्र। ३ उपपुराणविशेष। (देवीभागवत १।३।१५) ४ भारतवर्षके खण्डविशेष। (विष्णुपुराण २।३।६)

पाश्चात्य भौगोलिकोंने Burraon शब्दसे इस स्थानका उल्लेख किया है। इसका वर्त्तमान नाम वरणारक है। आज भी देव नामक स्थानके निकट इस प्राचीन जनपदका ध्वंसावशेष दिखाई देता है। ५ एक अस्त्रका नाम। ६ वरुण वृक्ष, वरुना नामका पेड़। ७ स्नुहीभेद, एक प्रकारका थूहर। ८ हरिताल, हरताल। ९ लाक्षादि तैल। (त्रि०) १० वरुण सम्बन्धी।

वारुणक—सह्याद्रि वर्णित राजभेद। (सह्या० २७।३८)

वारुणकर्मन् (सं० क्ली०) वारुणं जलसम्बन्धि कर्म। जलाशय खननादि, कूआं, पोखरा, बावली आदि जलाशय बनवानेका काम। यह वारुणकर्म ज्योतिषोक्त उत्तम दिन नक्षत्र आदि देख कर करना होता है।

वारुणतीर्थ (सं० क्ली०) तीर्थभेद, वरुणतीर्थ।

वारुणप्रघासिक (सं० त्रि०) वरुण प्रघास यज्ञ सम्बन्धीय।

वारुणात्मजा (सं० स्त्री०) मद्य, शराब।

वारुणि (सं० पु०) वरुणस्यापत्यं पुमान्, वरुण इञ्। १ अगस्त्य मुनि। २ वसिष्ठ। (भारत १।६६।७) ३ विनताके

एक पुत्रका नाम। (भारत १।६५।४०) ४ भृगु। ५ सह्याद्रि वर्णित एक राजाका नाम। (सह्या० २७।३८) ६ एक जनपदका नाम। ७ दंतैला हाथी। ८ वारुण वृक्ष, वारुनका पेड़।

वारुणी (सं० स्त्री०) वरुणस्येयं (तस्येदं। पा ४।३।१२०।) इत्यण् ङीष्। १ सुरा, शराब। कई प्रकारकी मदिराका नाम वारुणी है। जैसे—पुनर्नवा (गदहपूरना)को पीस कर बनाई हुई, ताड़ या खजूरके रससे बनी हुई, साठी धानके चावल और हड़ पीस कर बनाई हुई।

मनुने लिखा है, कि द्विज यदि अज्ञानपूर्वक वारुणी मदिरा पीवे, तो उसको फिरसे उपनयन-संस्कार द्वारा विशुद्ध हो लेना चाहिये, परन्तु ज्ञानपूर्वक पान करनेसे उसके मरनेके बाद प्रायश्चित्त करना होता है।

(मनु ११।१४७) मद्य शब्द देखो।

२ मदिराकी अधिष्ठात्री देवी। ३ वरुणकी स्त्री, वरुणानी। (भारत० २।९।६) ४ एक नदीका नाम। (रामा० २।७०।१२) ५ पश्चिम दिशा। एक एक दिशाके एक एक अधिपति हैं। पश्चिम दिशाके अधिपति वरुण हैं, इसीसे पश्चिम दिशाका नाम वारुणी हुआ है। ६ उपनिषद् विद्या जिसका उपदेश वरुणने किया था। "आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रात्यभिसंविशन्तीति" "सैषा भार्गवी वारुणी विद्या।"

(तैत्तिरीयोपनि० ३।६)

७ अश्वकी छायाविशेष, घोड़ेकी एक चाल। ८ शतभिषा नक्षत्र। ९ गण्डदूर्वा, गांडर दूब। १० स्वनामख्यात वृक्ष। कोङ्कण देशमें इसे करवीरुणी कहते हैं। ११ हस्तिनी, हथिनी। १२ इन्द्रवारुणी लता, इंदारुनकी बेल। १३ भूम्यामलकी, भुंई आवला। १४ महादन्ती, नागवेल। १५ वृन्दावनके एक कदम्बका रस जो वरुणकी कृपासे बलरामजीके लिये निकला था। १६ कदम्बके पके हुए फलोंसे बनाया हुआ मद्य।

१७ एक पर्व जो उस समय माना जाता है जब चैत महीनेकी कृष्ण-त्रयोदशीको शतभिषा नक्षत्र पड़ता है। वारुणका अर्थ शतभिषा नक्षत्र है। चैत्र मासकी कृष्ण-त्रयोदशीके दिन शतभिषा नक्षत्र होनेसे उस दिनको वारुणी कहते हैं। यदि उस कृष्णा त्रयोदशीमें शतभिषा नक्षत्रका योग न हो, तो भी वह तिथि वारुणी कहलाती हैं। नक्षत्रका योग होनेसे तो वह और भी पुण्यप्रद होती है। इस दिन यदि शनिवार पड़ें, तो उसे महावारुणी और उस शनिवारमें यदि कोई शुभ योग हो, तो उसे महामहावारुणी कहते हैं। यह वारुणी अतिशय पुण्य तिथि है, इस कारण इस तिथिमें स्नान और दान करनेसे अशेष पुण्य होता है। वारुणी और महावारुणीमें विशेषता यह है, कि वारुणी तिथिमें गङ्गास्नान करनेसे सौ सूर्यग्रहण-कालीन गङ्गास्नानका फल, महावारुणीमें गङ्गास्नान करनेसे कोटि सूर्यग्रहण कालीन गङ्गास्नानका फल तथा महामहावारुणीमें स्नान करनेसे त्रिकोटिकुलका उद्धार होता है। वारुणीमें नक्षत्र-योग ही प्रधान है। शास्त्रमें लिखा है, कि उदय गामिनी तिथि ही आदरणीय है, किन्तु यह त्रयोदशी यदि उभय दिन लब्ध हो तथा जिस दिन नक्षत्रका योग पड़ता हो उसी दिन वारुणी होगी। उदय वा अस्तगामिनी होनेके कारण कोई विशेषता न होगी। यहां तक कि, यदि रातको भी वह नक्षत्र पड़ता हो, तो उसी समय वारुणी-स्नान होगा। फल नक्षत्रानुसार वारुणी स्थिर करनी होती है। यदि नक्षत्रका योग न हो, तो तिथिके सम्बन्धमें जो व्यवस्था है, उसीके अनुसार होगी।

वारुणीमें गङ्गास्नान करते समय वारुणी, महावारुणी, महामहावारुणी जिस वार जैसा योग हो उसका उल्लेख कर सङ्कल्प करके स्नान करना होता है। शतभिषा नक्षत्र बिता कर स्त्रियोंको कभी भी स्नान न करना चाहिये, करनेसे वे दुर्भगा होती हैं। शूद्र, वैश्य और क्षत्रियके लिये भी त्रयोदशी, तृतीया और दशमीमें स्नान करना निषिद्ध है, किन्तु यह काम्य स्नानपर है, वारुणीस्नान निषिद्ध नहीं है।

वारुणीमें गङ्गास्नान करनेका सङ्कल्प इस प्रकार है:—'चैत्रे मासि कृष्णेपक्षे त्रयोदश्यां तिथौ 'वारुण्यां' 'महावारुण्यां' 'महामहावारुण्यां' (जिस बार जैसा योग हो) गङ्गायां स्नानमहं करिष्ये' कामना जैसी इच्छा हो, कर सकते हैं, पर सङ्कल्पके विधानानुसार नामगोत्रादिका उल्लेख करना होगा।

वारुणी—तैरभुक्तके अन्तर्गत एक नदीका नाम।

(भविष्यब्र०ख० ४८।२८)

वारुणीवल्लभ (सं० पु०) वारुण्या वल्लभः, वारुणी वल्लभा यस्येति वा। वरुण।

वारुणीश (सं० पु०) वारुणीपति, वरुणा।

वारुणेश्वरतीर्थ (सं० क्ली०) तीर्थभेद।

वारुण्ड (सं० पु० क्ली०) वृ-उण्ड। १ साँपोंका राजा। २ नौसेकपात्र, नावमेंसे पानी निकालनेका बरतन। ३ कर्णमल, कानकी मैल। ४ नेत्रमल, आँखका कीचड़।

वारुण्डी (सं० स्त्री०) वारुण्ड गौरादित्वात् ङीष्। द्वारपिण्डी, देहली, दहलीज।

वारुण्य (सं० त्रि०) वरुण वा वारुणी सम्बन्धीय।

वारूढ़ (सं० पु०) अग्नि, आग।

वारेन्द्र (सं० पु०) गौड़देशान्तर्गत एक प्रसिद्ध जनपद और वहांके अधिवासी।

वरेन्द्र वास अथवा इस स्थानके अधिवासियोंके साथ जो सामाजिक यौनसम्बन्धमें आवद्ध हुए, वे ही वारेन्द्र कहलाये। दिग्विजयप्रकाशमें लिखा है—

पद्मानदीके पूर्वी कछारसे ले कर ब्रह्मपुत्रके पश्चिम तक अनेक नद-नदियोंसे युक्त वारेन्द्र नामक एक देश है। यह देश पचास योजन विस्तृत एवं दर्भकुशादिसे भरा है। यह उपवंगके निकट तथा मलदके दक्षिणमें अवस्थित है। यहां घर्घरा नामक एक छोटी नदी सर्वदा प्रवाहित होती है। यहां ही इन्द्र द्वारा पर्वतोंके पर काटे गये थे। यहां बहुसंख्यक कायस्थोंका बास है। ये कायस्थ लोग ब्राह्मणोंका मन्त्रित्व करते हैं। स्थान स्थान पर द्विजातिराजे राज्य करते हैं। यहांके अधिवासी प्रायः मछली आदि जल-जन्तुओंको खा कर जीते हैं। यहांकी जन-साधारण देवीभक्त अथवा विष्णुभक्त है।

फिर भविष्य-ब्रह्मखण्डमें लिखा है—

पद्मानदीके पूर्वभागमें एक जलमय देश है। वह वारेन्द्रके नामसे विख्यात है। वह देश सर्वदा अनाजसे हराभरा रहता है। इस कलियुगमें वारेन्द्रके प्रायः सभी अधिवासी शिवभक्त तथा मद्य-मांसमें लीन हैं।

१३वीं शताब्दीके प्रथम भागमें प्रसिद्ध मुसलमान ऐतिहासिक मिनहाज लिखते हैं—गंगाके किनारे लक्ष्मणावती राज्यके दो भाग हैं, उनमें पश्चिमांश 'राल' (राढ़) के नामसे एवं पूर्वांश 'वरिन्द' (वारेन्द्र) के नामसे विख्यात हैं। पश्चिमांशमें 'लखनोर' (लक्ष्मणनगर) और पूर्वांशमें 'देवकोट' अवस्थित है।* दिग्विजयप्रकाश, भविष्य ब्रह्मखंड और मिनहाजकी वर्णनासे जाना जाता है, कि वर्त्तमान मालदह, दिनाजपुर, राजसाही, बांकुड़ा और पावना, ये कई एक जिलेका अधिकांश भाग एवं रंगपुर और मैमनसिंहका बहुत कुछ अंश वारेन्द्र कहलाता है।

जो कुछ भी हो, किन्तु उत्तरमें कोचराज्य, दक्षिणमें पद्मा, पश्चिममें महानन्दा और पूर्वमें करतोया, इनके बीचकी भूमि वरेन्द्रभूमि वा वारेन्द्र कहलाती है। यहां प्रवाद है, कि उत्तर-सीमा हिमालयके पाददेश पर्यन्त निर्दिष्ट होने पर भी करतोया नदीकी जो शाखा पश्चिममुखी हो कर वर्त्तमान दिनाजपुर शहरके मध्यभागसे होती हुई महानन्दाके साथ मिल गई थी, उस नदीके दक्षिण तीरस्थ सभी देश वारेन्द्रदेशके अन्तर्गत है। कितने ही तो वारेन्द्रकी पश्चिमी सीमा कोशीनदी बताते हैं। कोशीनदीको पश्चिमी सीमा निर्द्धारित करनेसे मगधका आयतन छोटा हो जाता है। पूर्वोक्त नदियोंके द्वारा उसके दोनों तीरवर्त्ती स्थानके अधिवासियोंकी भाषा तथा आचार व्यवहार और वेश-भूषाकी भी पृथक्ता सूचित होती है। वर्त्तमान पूर्णिया जिलेका कृष्णगंज महकुमा महानन्दा नदीके बीच एक द्वीपमें अवस्थित है। इस महकुमेके अधिवासियोंकी भाषा उनके पूर्वके पड़ोसी दिनाजपुर जिलेके अधिवासियोंकी भाषाके समान ही है। पूर्णिया जिला जिस अंशसे आरम्भ होता है उस अंशके साथ इनकी भाषादिकी पृथक्ता अवलोकन करनेसे पूर्णतया प्रमाणित होता है, कि प्राचीन समयमें वारेन्द्र देशका सीमाघटित गूढ़ रहस्य वर्त्तमान था†। फलतः दिनाजपुर जिलेके पश्चिमी अंशकी भाषा बंगला-हिन्दी मिश्रित है। पूर्णियाकी भाषा विशुद्ध मागधी नहीं है।

---

* Raverty's Tabakat i-Nasiri, P,585-86. मिनहाजने जिन्हें पूर्व और पश्चिम कह कर उल्लेख किया है, उन्हें ही दक्षिण और उत्तर मानना होगा।

† Hunter's Statistical Account of Purnia.

पद्मानदी उत्तरकी ओर क्रमसे खिसक गई हैं। वर्त्तमान नदिया जिलेके कुष्टिया नामक स्थानके प्रान्तभागमें जो गड़ई नामक नदी प्रवाहित होती है, वह भी एक समय पद्मानदीकी धारा थी। वर्त्तमान बागड़ीके उत्तर दिक्‌स्थ अनेक स्थानसे हो कर यहां तक कि पश्चिममें भागीरथी तीरस्थ नवद्वीपसे ले कर पूर्वकी ओर प्रतापादित्यके यशोर नगरमें भी उत्तर भागसे होती हुई सेनवंशीय राजाओंके समय एक विशाल नदी प्रवाहित होती थी, इस प्रदेशकी अवस्था निरीक्षण करनेसे ही अच्छी तरह जाना जाता है। और तो क्या—इस समय भी यहांके कई एक निम्नस्थान 'पद्माकी खाड़ी' के नामसे परिचित हैं।

करतोया नदीकी जो शाखा दिनाजपुर जिलेकी आत्रेयी नदीके साथ मिली थी, वह और मूल करतोया नदी अङ्गरेजी शासनके प्रारम्भ कालमें वर्त्तमान तिस्ता वा त्रिस्रोताके तीव्र वेगशाली होनेके कारण लुप्तप्रायः हो गई है। दिनाजपुर प्रदेशमें पर्वतसे निकल कर कई छोटी छोटी नदियाँ आत्रेयी नदीमें गिरती हैं। कालचक्रसे वे सब नदियाँ रुद्ध एवं महानन्दा नदीके पूर्वाभिमुखी शाखामें विलुप्त प्रायः हो गई हैं। एक समय वारेन्द्र देश आत्रेयी, करतोया तथा महानन्दाकी शाखा प्रशाखाओंमें सुशोभित था। प्राचीन विलुप्त तथा विध्वस्त जनपदोंका भग्नावशेष उन सब नदियोंके तीरवर्त्ती स्थानोंकी याद दिला रहा है। इस समय भी देवीके महास्नान मन्त्रमें अन्यान्य पवित्र नदियोंके साथ आत्रेयी और करतोयाका नाम लिया जाता है। आत्रेयी और करतोया ये दोनों ही नदियाँ पहले समुद्रके साथ मिलती थीं।*

वारेन्द्र देशका नामकरण किस प्रकार हुआ, इसके सम्बन्धमें लोग नाना प्रकारकी बातें कहा करते हैं। कोई कोई अनुमान करते हैं, कि एक समय पौष-नारायणी महायोगमें पाल उपाधिधारी बारह राजे भारतवर्षके विभिन्न प्रदेशोंसे इस प्रदेशमें आये। किन्तु पथकी दुर्गमताके कारण रास्तेमें ही योगका समय व्यतीत हो गया, तब उन राजाओंने भविष्यमें आनेवाले महायोगकी प्रतीक्षा करनेके लिये करतोया नदीके तीरवर्त्ती कई स्थानोंमें वास, राज्यस्थापन एवं राजधानीका निर्म्माण किया। क्योंकि बारह राजाओंने यहां राज्य-स्थापन किया था, इसका नाम वार+इन्द्र=वारेन्द्र पड़ा*। वहांकी स्थानीय किम्वदन्ती इसका ही समर्थन करती है। किन्तु यह सिद्धान्त बिलकुल ही अभ्रान्त नहीं माना जा सकता। वारेन्द्रके कुलाचार्योंका कहना है, कि 'वरिन्दा' (राजशाहीके पश्चिम) नामक स्थानमें प्रद्युम्न नामक व्यक्तिके नामानुसार प्रद्युम्नेश्वर नामधारी हरिहरकी मूर्त्ति स्थापित हुई और वरेन्द्रशूर द्वारा शासित देश 'वारेन्द्र' नामसे पुकारा गया है†।

अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र और गौड़ आदि देश नामकी उत्पत्तिकी जड़में जैसे राजाओंके नाम पर इन देशोंका नामकरण हुआ था; वैसे ही वरेन्द्रशूरके नाम पर वारेन्द्र देशका नामकरण हुआ होगा। जो हो, राढ़ और वरेन्द्र-इन दो नामोंका अत्यधिक प्रचलन बङ्गालमें बौद्ध और हिन्दू राजाओंके अमलमें दिखाई देता है।

सुप्रसिद्ध गौड़ महानगरी वारेन्द्र देशके दक्षिण-पश्चिम ओर अवस्थित है। एक समय गङ्गा और महानन्दाने इस नगरीको घेर रखा था। ऐसा मालूम होता है, कि कालके प्रभावसे गङ्गाकी गति प्रवर्त्तित हो कर महानन्दाका कुछ अंश पस्त होनेके कारण इस महानगरीकी ओर वारेन्द्र देशका हद मानो दूर पर लाया गया है। गौड़-महानगरीके सिवा वर्त्तमान मालदह, दिनाजपुर, राजशाही और बांकुड़ा जिलेमें हिन्दू और बौद्ध राजाओंकी कीर्त्तियोंके भग्नावशेष विद्यमान हैं। मालदह जिलेके शेमाएतापुर

---

* महाभारत, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण आदिमें करतोया माहात्म्य वर्णित हुआ है। करतोया शब्द देखो। देवीकी भृङ्गाक स्नान-मन्त्रमें आत्रेयी और करतोयाका नाम है। "आत्रेयी भारती गङ्गा करतोया सरस्वती" बुकानन साहबके इष्टर्न इण्डिया और हण्टर साहबके रङ्गपुरके विवरण प्रभृतिमें करतोयाकी उस समयकी अवस्था लिखी हुई है।

* Cunningham's Archaelogical Survey of India Vol. xv.

† विष्णुपुराण।

नामक स्थानमें लक्ष्मणसेनकी बनाई एक दीर्घिका या तालाब, दिनाजपुर जिलेके गङ्गारामपुरमें महीपालदीघि नामकी अमानुषिक कीर्त्ति और राजसाही जिलेके थाना मन्दा और सिंडा आदि इलाकेमें कई बड़े बड़े जलाशय और बांकुड़ा जिलेके भीतर थाना क्षेत्रनालके अधीन नान्दइल तालाब और थाना शिवगञ्जके अधीन शशाकी दीघि या तालाब (कहा गया है, कि शशाङ्कके नाम पर यह तालाब है। इसका अपभ्रंश शब्द शशा है) ; नाना स्थानोंमें कितने ही तालाब पोखरे आदि, थाना सेरपुरके अन्तर्गत राजबाड़ी नामक स्थानमें सेन राजाओंकी अन्तिम राजधानीकी खाई आदि और जिला पबनाके थाना रामगञ्ज और प्रगना मयमनसाहीके अन्तर्गत नीमगाछी नामक स्थानमें जयसागर तालाब मौजूद हैं। बांकुड़ा जिलेके तीन कोस उत्तर करतोयातट पर ही महास्थानगढ़ * नामक जो स्थान है, चीनपरिव्राजकके वर्णनानुसार वही पौण्ड्रवर्द्धन नामक प्राचीन नगर है। फलतः वर्त्तमान ऐतिहासिकोंने भी उसका समर्थन किया है। गरुड़स्तम्भ या बदल नामक प्राचीन प्रस्तरस्तम्भ-लिपि इसी खण्डमें ही वर्त्तमान है। उक्त महास्थान और मङ्गलवाड़ीके सिवा योगीका भवन, क्षेत्रनाला, देवी-कोट, देवस्थान, विराट्, नीमगाछी, भवानीपुर, थालता, चैतहाटी, कुशुम्बी, कालीगाँ आदि बहुतेरे जनपद बौद्धों और हिन्दुओंके राजत्वकी विगतस्मृति विघोषण कर रहे हैं।

सेन राजाओंके समयसे ही बङ्गालके ब्राह्मण और कायस्थ और नयी शाखाके लोग वारेन्द्र विशेषणसे परिचित हो रहे हैं। मुसलमानोंके शासनकालमें राजा गणेश स्वाधीन हुए थे, वे भी वारेन्द्र देशवासी थे।

भवानीपुर, थालता, चैतहाटी आदि स्थानोंकी प्राचीन देवसेवा मुसलमानोंके समयमें कुछ समयके लिये लुप्त-सी हो गई थी। भवानीपुरकी महामाताका विषय स्वतन्त्ररूपसे लिखा गया है। सुनते हैं, कि ये सब सेवायें फिर राजा मानसिंहके अमलमें आरम्भ हुईं। इन सेवाओंका भार कई संन्यासियोंके हाथमें अर्पित था, पीछे सातैलकी जमींदारी संगठित होने पर वह भार सातैलके राजाके हाथ चला आया। सातैल शब्द देखो। जब सातैलकी जमीन्दारी नाटोरके राजाके हाथमें आई, तब नाटोरके राजा रामजीवनरायने इन सेवाओंका भार ग्रहण किया। सातैलके राजाके बनाये मन्दिरादि पुराने होने पर नाटोरकी प्रातःस्मरणीया रानी भवानी और राजा रामकृष्णने नये सिरेसे तय्यार कराया था। नाटोरकी सम्पत्ति नीलाम हो जाने पर थालता और चैतहाटी आदिकी सेवा किसी दूसरे आदमीके हाथ गई। ऐसा सुना जाता है, कि उक्त देवताओंकी पूजाका मन्त्र स्वतन्त्र था। दुर्गोत्सव आदि सारे पर्व ही इन देवताओंके सम्मुख मनाये जाते हैं। उक्त थालता नामक स्थान प्रगने भातुरिया तथा कुशुम्बी और बाँकुड़ा और राजसाही जिलेकी सीमा पर अवस्थित है। राजसाही जिलेके सिंड़ा थानेके भीतर और शान्ताहारसे बाँकुड़ा जिलेमें जो रेलपथ गया है, उस पथके तालोड़ ष्टेशनसे ३।४ मील दूर पर अवस्थित है। थालताकी देवसेवा जिस समय आरम्भ हुई, सम्भवतः उस समय नागर नदी थालताके नीचे ही प्रवाहित हो रही थी। नागर और तुलसीगङ्गा आदि करतोयाकी शाखायें हैं। श्री थालतेश्वरी महामाताकी मूर्त्ति एक हाथ लम्बी है। श्री मूर्त्ति सदा-सर्वदा वस्त्रावृता रहती हैं। पुरोहित या पुजारीके सिवा दूसरा कोई वस्त्र उतार और चढ़ा नहीं सकता। थालतेश्वरीके व्यवहार करनेके लिये रौप्य पादुका रहती है। पुरोहित वंशमें शिष्यानुक्रमसे महामाताकी पूजाकी पद्धत्ति और मन्त्र आदि सिखाया जाता है। गत दो बारके भूंडोलके कारण सातैलके राजाके दिये हुए श्रीमन्दिर एककालीन ध्वंसप्राप्त और नाटोर राजाका मन्दिर भी बहुत पुराना और वासयोग्य हो गया

---

* यह स्थान कांकजोल या राजमहलसे ६०० लीया १०० मील पूरब ओर अवस्थित है। चीनपरिव्राजकने पौण्ड्रवर्द्धन-का आयतन ४००० ली या ६६७ मीलका अनुमान किया है। वरेन्द्र देशके आयतनके साथ भी पौण्ड्रवर्द्धन देश समान ही है। महानन्दा, पद्मा, और करतोया नदियोंकी प्राचीन गति पर ध्यान देना चाहिये। वर्त्तमानी पबना कभी भी पौण्ड्रवर्द्धन नहीं हो सकता। Cunningham's ancient Geography of India page 480.

है। महामाताकी पुरीके बाहरी भागोंमें एक ओर कालीदह नामक बहुत बड़ा जलाशय और दूसरी ओर एक बहुत बड़ी खाई है। पुरीके बीचमें महामाताके मन्दिरके पीछेकी ओर केलिकदम्बकी अड़में एक 'साधतवेदी' चबूतरा है। कहा गया है, कि सातैलके राजा रामकृष्ण यहीं साधना करते थे। बहुत पहलेसे ही प्रति दिन मछली मांस आदि विविध भोगोंका नियम था। अबसे २२ वर्ष पहले सेवाइत राय वनमाली राय बहादुरके मछली मांसके भोग और बलिदानकी प्रथा रोक देने पर भी थालतेश्वरीकी पूजा तान्त्रिक मतसे ही सम्पन्न होती है।

उक्त नीमगाछी नामक स्थानके निकट चैतघाटी नामके स्थानमें जो दशभुजा मूर्त्ति प्रायः तीन हाथ लम्बे एक पत्थर पर खुदी हुई है। ऐसी जनश्रुति है, कि यह सुरथ राजा द्वारा स्थापित है। नीमगाछी नामक स्थान विराट्के दक्षिण गोग्रह न होने पर भी वहां जयपाल नामक पराक्रान्त राजाने जयसागर नामक पोखरा खुदवाया और बहुतेरे मन्दिर बनवाये थे। उनके द्वारा उक्त दशभुजा मूर्त्तिकी स्थापना कौन-सी विचित्रता होगी। यहां तान्त्रिक प्रथाके अनुसार मछली माँसके भोगका नियम आज भी वर्त्तमान है।

जिला पबना, थाना चाटमोहरके निकट सातैल बिलके बीच और रुद्ध आत्रेयी नदीके किनारे सातैलकी राजधानीकी कालिका मूर्त्ति ; उक्त जिलेके थाने दुलाईके अधीन शरग्रामके नागवंश द्वारा स्थापित कालिका मूर्त्ति; जिला राजशाहीके थाने बाघमाराके अन्तर्गत रामरामा नामक स्थानमें ताहिरपुरके भौमिक जमींदारों द्वारा स्थापित श्रीमूर्त्ति और दिनाजपुरकी कालिका मूर्त्ति आदि शाक्तप्रभावकालकी बहुतेरी देवमूर्त्तियाँ और देव-स्थान इस प्रदेशमें वर्त्तमान हैं।

रानी भवानीने नाटोरसे भवानीपुर जानेके लिये एक चौड़े राजपथका निर्म्माण कराया। इस राजपथके बीच बीचमें ईंटके बांधका भग्नावशेष, स्थान स्थानकी छत्रशालाके पोखरे आदि और इस रास्तेके निकट किसी स्थानमें 'रानीका हाट' नामका एक स्थान भी वर्त्तमान है। सातैलकी रानी सत्यवती और नाटोरकी रानी भवानी द्वारा निर्मित राजपथ "रानीका जाङ्गाल" नामसे परिचित था। मुसलमान राजत्वकालमें राजशाहीके चारघाट अञ्चलसे जो एक राजपथ मुर्चा-सेरपुरकी ओर और वहांसे रंगपुरसे आसाम प्रदेशमें जानेके लिये बना था,* इस समय यह विलुप्त हो गया है। इन सब राजपथोंके सिवा भीमके जाङ्गाल नामक राजपथका भग्नावशेष स्थान स्थान पर दिखाई देता है। विराट शब्द देखो।

बौद्ध और हिन्दू राजत्वकालमें एक प्रधान राजाके अधीन कई सामन्त राजे रहते थे, नाना स्थानोंकी राजधानियोंके भग्नावशेष देखनेसे उस बातका परिचय मिलता है। पाल उपाधिधारी बारहवें राजाने पौषनारायणीके स्नानके लिये आ कर इस देशमें उपनिवेश स्थापित किया हो या नहीं किया हो अथवा पञ्चपाण्डवोंके आश्रयदाता विराट् इस देशके राजा हों या न हों; वारेन्द्रकी नैसर्गिक अवस्था और वर्त्तमान भग्नावशेषपूर्ण विविध स्थानोंके प्रति दृष्टिपात करनेसे मालूम होता है, कि एक बार कई छोटे छोटे राजाओंकी समष्टीसे वारेन्द्र गठित हुआ था।

इस स्थानसे मिले प्राचीन ताम्रशासन और शिलालिपियोंसे मालूम होता है, कि ईस्वी सनकी छठी शताब्दी तक यह स्थान गुप्तसम्राटोंके अधीन था। उनके अधीन दत्त उपाधिधारी सामन्तराजे राज्य करते थे। पाल राजाओंका प्रभाव नष्ट करके ईस्वीसनकी दशवीं शताब्दीमें यहां कैवर्त्त-प्रभाव फैला। कैवर्त्तोंकी कीर्त्तियां वारेन्द्रके स्थान-स्थानमें पाई जाती हैं।

ऐसा सुना जाता है, कि मुसलमानोंने बंगाल पर अधिकार कर कई जागीरोंकी सृष्टि की। ऐसा प्रवाद है कि ताहिरउल्ला खाँके नामानुसार ताहिरपुर प्रगनेका और लस्कर खाँके नामानुसार लस्करपुर आदि प्रगनोंका नाम हुआ है। यह भी सुना जाता है, कि पठानोंके समय लस्कर खाँकी जागीर पद्माके उत्तरी किनारे पर थी। पीछे पद्मा नदीकी गति बदल कर इस प्रगनेका कुछ अंश पद्माके दक्षिण किनारे हो गया है। इस तरह जागीर-प्रथा प्रचलनके समय वारेन्द्र देशमें जो जमींदार था, वह राजा गणेशके नामसे ही विद्यमान था; ऐसा विशेषरूपसे प्रमाणित होता है। नरोत्तमविलास आदि

---

* Stuart's History of Bengal,

वैष्णवग्रन्थमें भी विभिन्न जमींदारोंके नाम प्राप्त होते हैं। नरोत्तम ठाकुरके पिता खेतरी अञ्चलके प्रतापशाली जमींदार थे। पन्द्रहवीं शताब्दीके मध्य भागमें ब्राह्मण जातिमें ताहिरपुर, सातैल और पुठिया आदि और कायस्थ जातिमें दिनाजपुर और वर्द्धनकोठोके जमींदार क्षमताशाली थे। सातैलकी जमीन्दारीके विलुप्त होनेके साथ नाटोरकी जमीन्दारोंकी सृष्टि हुई। इस प्रदेशमें सूंड़ी जातिके दुबलहाटीकी जमींदारी भी बहुत पुरानी है।

मुसलमानोंके शासनसे पहले ही वारेन्द्र देशसे बहुतेरे लोग पूर्ववङ्गकी ओर भाग गये थे। पहले कभी कभी महामारीसे बहुत लोग मर जाते थे। सन् ११७६की महामारीसे जनसंख्याका ह्रास होने लगा। इसके बाद कितने ही स्थानोंमें मलेरियाका प्रकोप देखा गया।

हिन्दू और बौद्ध-शासनके प्राचीन जनपदोंमें कई स्थानोंका विवरण दिया जा चुका है। अब पहाड़पुर, योगीका भवन, आमाई, घाटनगर, दिवोरदीघी, क्षेतनाला, देवीकोट, देवस्थान और मुसलमान राजत्वकालकी द्वितीय राजधानी हजरत पाण्डुआका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

पहाड़पुर।

आत्रेयी नदीतटके पत्नीतलासे दश कोश पूरब और प्रसिद्ध महास्थानगढ़से प्रायः पन्द्रह कोस पश्चिम, जमालगञ्जको दूसरी ओर और दार्जिलिङ्ग रेल-पथसे दो कोस पश्चिम पहाड़पुर अवस्थित है। बुकानन साहब पहाड़पुरको "ग्वालोंका भींटा" कहते थे।

बाहरकी ओर प्रायः पन्द्रह सौ फीट समचौकोन बड़े एक घेरेके मध्यस्थलमें ८० फुट ऊंचा मिट्टीका एक स्तूप है। इस स्तूपको खुदवाया गया था। इससे बहुत पुराने समय अर्थात् ५वींसे ७वीं शताब्दीके हिन्दुओंके स्थापत्य और भास्कर्यका उज्ज्वल निदर्शन निकला है।

योगीका भवन।

यमुना नदीके किनारे पहाड़पुरसे ४ कोस पश्चिम—उत्तर-पश्चिम कोणमें, मङ्गलबाड़ीके इसी परिमाणसे दक्षिण पश्चिम कोणमें योगीका भवन अवस्थित है। यहां अर्द्धप्रोथित गुहायुक्त एक आश्चर्य मन्दिर है। इसीलिये यह योगीगुहा या योगीकी गुफा नामसे परिचित है। बुकाननने कहा है, कि अट्टालिकाके भग्नावशेषमें जो मन्दिर दिखाई देता है, वह राजा देवपालका वासस्थान है। इस स्थानके लोग भी इसे राजा देवपालकी छत्री कहते हैं। इस मन्दिर पर किसी तरहकी लिपि दिखाई नहीं देती। महास्थानसे यह ४ कोसकी दूरी पर अवस्थित है। प्रवाद यह है, कि गुहासे महास्थानमें जानेके लिये एक सुरङ्ग है, इसमें एक शिवलिङ्ग है। प्रवेश-पथके दाहिनी और बाईं ओर तुलसी और बिल्ववेदी है। सम्मुख भागमें योगीके रहनेका आश्रम है। गुहाके दक्षिण दो छोटे-छोटे मन्दिर हैं। इनमें एक मन्दिरमें शिवलिङ्ग स्थापित हुआ है और दूसरेमें ब्रह्मलिङ्ग। इस शेषोक्त लिङ्गके मूर्त्तिके चार मुख दिखाई देते हैं। किन्तु इसके पांच मुख ही रहना सम्भव है। गुहाके मन्दिरकी बाहरी लम्बाई ३ फीट ७ इञ्च है। एक चतुर्भुज विष्णुमूर्त्ति है। सिवा इसके एक शिशुको गोदमें ले कर एक भग्न स्त्रीमूर्त्ति है। वेष्ट मेकटका कहना है, कि यह मायादेवी बुद्धको गोदमें लिये खड़ी हैं। मायादेवीको इस तरह शायित मूर्त्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। क्षेतनाला या खेतनालमें इस तरहकी एक मूर्त्ति है।

अमाई या अमारी।

योगीभवनसे प्रायः डेढ़ कोस दक्षिण-पश्चिम दूर पर यह स्थान अवस्थित है। पूर्व-पश्चिममें यह एक मीलसे भी अधिक लम्बी है। कई पोखरे और भास्करकार्य दिखाई देते हैं। अमारीके डेढ़ मील उत्तर पश्चिम वृन्दावन नामक स्थानमें कई प्रतिमूर्त्ति और एक सुन्दर "अष्टशक्ति"-मूर्त्ति है। शिवतलामें विष्णु आदिकी मूर्त्तियां विद्यमान हैं। शेषोक्त स्थानमें चैत महीनेमें एक मेला होता है।

घाटनगर।

आत्रेयी तटके पत्नीतलासे १२ मील पश्चिम, दक्षिण-पश्चिममें वह स्थान अवस्थित है। इस स्थानके चारों ओर प्राचीन ईटें दिखाई देती हैं। यहां दो छोटी-छोटी मसजिदें हैं। इस स्थानसे एक मील दक्षिण-पश्चिम स्थानीय जमीन्दारों द्वारा स्थापित ब्रह्मा, विष्णु, और महेश्वरकी भग्न मूर्त्तियां विद्यमान हैं। जमीन्दरोंकी कचहरी भी ऊंचे स्तूप पर पूरानी ईटोंसे बनाई गई है।

दिबोर दीघी।

घाटनगरसे नौ मील दूर पर दिबोरदीघी नामका

वृहत् सरोवर है। यह समचतुष्कोण है। यह प्रायः १२०० फीट होगा। इसमें १२ फीट गहरा जल रहता है। इसके बीचमें पत्थरका एक लम्बा स्तम्भ है। यह जलके ऊपरसे १० फीट लम्बा है। सुनते हैं, कि वैशाखके प्रखर उत्ताप-से जल सूख जाने पर इस स्तम्भ पर खुदी हुई लिपि दिखाई देती है। बुकाननका अनुमान है, कि अवसे एक हजार वर्ष पहले धीवर राजाने इसे खुदवाया था।

यह कहनेको आवश्यकता नहीं, कि रामचरित-वर्णित कैवर्त्तराज दिव्योकके नामानुसार यह 'दिवोर दीग्घी' का नाम हुआ है।

क्षेत्रनाल।

यह साधारणतः 'क्षेतनाल'के नामसे पुकारा जाता है। दिनाजपुरसे बांकुड़ा तक बड़े राजपथमें दिनाजपुरसे ६० मील दक्षिण-पूर्व और बांकुड़ासे २४ मील उत्तर-पश्चिम-में यह स्थान अवस्थित है। यहां बाँकुड़ा जिलेका एक थाना है।

यहां प्राचीन ईंटोंका स्तूप, वृहत् जलाशय और पाषाण-प्रतिमूर्त्ति विद्यमान है। थानेके दक्षिणमें अव-स्थित मिट्टीके स्तूप पर १२ फीट लम्बा और ६ फीट चौड़ा एक मन्दिरका भग्नावशेष दिखाई देता है। यहां एक पुरुषमूर्त्ति पीपलके वृक्षकी जड़में अर्द्धाच्छादित अवस्था-में और १ फुट १० इञ्च ऊंची और ११ इञ्च चौड़ी चतुर्भुजा विष्णुमूर्त्ति है। सिवा इनके वहां प्रायः १ फुट १० फीट लम्बी एक आश्चर्य स्त्रीमूर्त्ति भग्नावस्थामें अपने बायें हाथका तकिया बना कर बाईं बगलमें लेटी हुई है। इसके निकट ही एक सुन्दर बालक लेटा हुआ है। इस मूर्त्तिके शीर्षस्थान पर एक सखी चमर डुला रही है और पैरकी ओर दूसरी दासी चरण सेवा कर रही है। इसके दाहिने हाथमें एक पुष्प और शिर पर गणेशादि देवताओंके छोटे छोटे चित्र हैं। शय्याके नीचे फूल-फलोंसे भरी डाली रखी है। इसके पाददेशमें देवनागरा-क्षरमें खोदित लिपि है।

थानेके उत्तर कुछ दूर पर एक पोखरेके निकट महा-देवजीका एक भग्न मन्दिर है। यहां चार प्रधान मूर्त्तियां हैं। एक तो पहले लिखी स्त्रीमूर्त्ति, इनके साथ नव-ग्रहोंका चित्र भी दिखाई देता है। यह मूर्त्ति २ फीट ६ इञ्च लम्बी और १ फुट ऊंची है। दूसरी हरगौरीकी मूर्त्ति है। चार भुजाके हर गौरीका चुम्बन कर रहे हैं। तीसरी मूर्त्ति ३ फीट ऊंची चतुर्भुज विष्णुमूर्त्ति हैं। चौथी छोटी एक मूर्त्ति बैठाई गई है। वेष्टमाकेटने इसको बौद्ध कहा हैं। सौभाग्यवशतः एक प्रतिमूर्त्तिके निम्नदेशकी भग्न उपपीठमें देवनागरमें बुद्धसूत्रका कुछ अंश लिखा है। जैसे—

"जो धर्महेतुप्रभवाहेतु" इत्यादि।

क्षेतनालके ६-७ मील उत्तर-पूर्व ओर नादियाल दीग्घी नामक एक पोखरा है। इसके बीचमें एक ईंटकी बनी दीवार है।

देवीकोट।

पुनर्भवा नदीके पूर्व-तट पर देवीकोट नामका एक प्राचीन दुर्ग संस्थापित है। यह स्थान पाण्डुआके ३३ मील उत्तर-पूर्व तथा दिनाजपुरके दक्षिण पश्चिम और गौड़के प्राचीन दुर्गके ७० मील उत्तर और उत्तर-पूर्वांशमें अवस्थित है। एक समय यह देवीकोट निःसन्देह बहुत बड़ा एक जनपद था। इस समय भी नदीके किनारे प्रायः तीन मील स्थानमें इसका चिह्न दिखाई देता है। कहते हैं, कि यहां बाण राजाका दुर्ग था। हिजरी सन् ६०८से ६२४ तक ग्यासुदीनने राजत्व किया था। इसके समयमें लक्ष्मणावतीसे देवीकोट तक एक चौड़ा राजपथ बना था।

जिस स्थानमें देवीकोट अवस्थित है, उस प्रदेशका पहले "देवीकोट सहस्रवीर्य" नाम था।

देवीकोटके दुर्गके अंशमें तीन खाइयां हैं और ये दृढ़ मृन्मय प्राचीरसे परिवेष्टित हैं। जिसको लोग दुर्ग कहते हैं, वह निविड़ जङ्गलसे परिपूर्ण है। उसमें मनुष्य-का जाना असम्भव है। गढ़का आयतन प्रायः २००० फीट समचतुष्कोण है। दुर्गके दक्षिण-पश्चिम कोणमें सुलतान शाहकी मसजिद है। इसके निकट ही जीव और अमृत नामके दो कुएं हैं। मालूम होता है, कि यह स्थान और पूर्ववर्णित महास्थान एक ही रूपसे हिन्दू गौरवसे विच्युत हुआ है। यहां जीवकुण्ड और महास्थानमें जीयत्कुण्ड विद्यमान है।

देवीकोटके उत्तर प्रायः १००० फीट समचतु-

कोण मृत्प्राचीरसे घिरा हुआ और उसके उत्तर भी इसी तरहका मृत्प्राचीर है। ये दोनों बड़ी नहरके रूपमें दिखाई देते हैं। उत्तर ओरके घेरेमें उत्तर-पश्चिम कोणमें सावावयारिकी मसजिद है। बुकानन और कनिहामने स्थिर किया है, कि यह मसजिद किसी हिन्दू-मन्दिरके ध्वंसावशेष पर ही बनी थी। इस स्थानमें ही कनिंहाम साहबने कई पत्थर और ईंटों पर खोदित हिन्दू शिल्प देखा था। पुनर्भवा नदीके दूसरे पारमें पीर बहाउद्दीनकी मसजिद है।

गढ़वेष्टित स्थानकी लम्बाई प्रायः एक मील है। इसके दक्षिण ओर दमदमा या छावनी है। इस छावनीसे दो बांधविशिष्ट पथ पूर्वकी तरफ दोहाल-दीघी और काला-दीघी नामक सरोवरके निकट गया है। पूर्वोक्त दीघीके पूर्वपश्चिमकी लम्बाई देख कर इसे कनिंहाम साहब मुसलमानोंका बनाया समझते हैं। किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं; हम शेषोक्त प्रकारके जलाशय हिन्दुओंके बनाये कई जगहोंमें देखते हैं।

कालादीघी नामक सरोवरकी लम्बाई चार हज़ार फीट है और चौड़ाई आठ सौ फीट है। प्रवाद है, कि वाणासुरकी पत्नी काली रानीके नामानुसार इस सरोवरका नाम रखा गया है। ये दोनों जलाशय देवीकोटके किलेसे एक मीलकी दूरी पर अवस्थित हैं।

दोहाल-दीघीके उत्तरी तट पर अताउद्दीनका 'अस्ताना' है। यहां जो मसजिद है, उसकी एक ओर कब्रगाह और दूसरी ओर किबल (नमाज़ पढ़नेका स्थान) है। इसकी भित्तिका मूल पत्थरसे जुड़ा हुआ और इसका शीर्षदेश ईंटोंका बना है। इसके गात्र या दीवारमें चार स्थानोंमें खुदी हुई फारसी लिपि दिखाई देती है। पहली लिपिमें कैकोयासका नाम हिजरी सन् ६६७ सालकी १ली महरम तारीख; दूसरी लिपिमें गियासुद्दीनका नाम और हिजरी ७५६; तीसरी लिपिमें समसुद्दीन मुज़फ्फर शाहका नाम और ८९६ साल लिखा गया है। चौथी लिपि गुम्बजके घुसनेके पथमें है। इसमें अल्लाउद्दीन हुसेनके राजत्वकालका साल ९१८ हिजरी लिखा है।

देवस्थाली।

इसको साधारणतः देवथाला कहते हैं। यह भी एक हिन्दू-निवास है। दिनाजपुरके बड़े राजपथके सन्निकट पाण्डुआसे १५ मील उत्तर यह अवस्थित है। यहां कई छोटे छोटे जलाशय हैं। यहांके हिन्दू मन्दिरके पत्थरों और ईंटोंसे एक मसजिद तय्यार हुई है। इसकी दीवारमें जो लिपि खुदी हुई है, वह अत्यन्त आश्चर्यजनक है। इसमें बारवकशाहका नाम और हिजरी सन् ८६८ साल खुदा है। मसजिदकी प्रदक्षिणामें कितने ही हिन्दूस्तम्भ हैं। यहां भी एक वासुदेवकी मूर्त्ति है। प्रवाद है, कि ऊषा-हरणके समय श्रीकृष्णने सपारिषद यहां कुछ दिनों तक अवस्थान किया था।

हजरत पाण्डुआ।

पाण्डुआ मुसलमानोंकी राजधानी बनी थी। इससे इसके साथ हजरतका विशेषण जोड़ा गया। पाण्डुआके नामकरणके सम्बन्धमें लोगों की ऐसी धारणा है, कि जब पाण्डव अज्ञातवासके लिये निकले थे, तब यहां आ कर एक वर्ष तक उन लोगोंने निवास किया था, इसीसे इस स्थानका नाम पाण्डुआ पड़ा। किन्तु वास्तवमें यह ठीक नहीं।

पाण्डुआके दक्षिण बड़े बड़े कई जलाशय विद्यमान हैं। सिवा इनके हिन्दू-मन्दिरोंके भग्नावशेषके चिह्न आदिना मसजिद, एकलक्खा गुम्बज और नूरकुतब आलम प्रभृति दृष्टिगोचर होते थे।

फिरोज़ तुगलकके आक्रमणसे इलियासशाहने पांडुआसे भाग एकडाला नामक स्थानमें जा कर राजधानी स्थापित की थी। इलियासशाहके पुत्र सिकन्दरशाहने हिजरी ७५८से ७९२ तक राजत्व किया। इस जगह रह कर इसने एक बड़ी भारी मसजिद तय्यार कराई थी। गौड़नगरकी राजधानीके बदलनेके बादसे ही पाण्डुआ क्रमसे श्रीहीन होने लगा।

नूरकुतब आलमकी मसजिद साधारणतः छः हजारी नामसे परिचित है। कुतबसाहबकी सेवाके लिये इतनी भूमि बादशाह द्वारा दी गई थी। ब्लकमैन साहबका कहना है, कि ये प्रसिद्ध आ-ला-उल-हकके पुत्र हैं। यह ८५१ हिजरीमें इस धराधामको छोड़ कर परलोक पधारे। इसकी बगलमें एक अट्टालिका है। कहते हैं, कि यह अट्टालिका महम्मद प्रथम द्वारा बनवाई गई थी। इसके

बनानेकी ८६३ हिजरीको २४ जिलहिज्ज तारीख लिखी है। कनिंहम साहबका कहना है, कि यही नूरकुतब-आलमका असली गुम्बज है।

नूरकुतुबके छहजारीके जरा उत्तर सोना मसजिद है। इसमें लिपि उत्कीर्ण है, इससे मालूम होता है, कि मुकद्दमशाह द्वारा ६६० हिजरीमें यह निर्मित हुई है। इसके बनानेवालेने अपने पूर्वज नूरकुतुबआलमके नामके अनुसार इसका नाम कुतबशाही मसजिद रखा है।

एकलक्खा गुम्बज सोना मसजिदके कुछ उत्तर और दिनाजपुरकी ओर जानेवाले पथमें है। मालूम होता है, कि इसके निर्म्माणकार्य्यमें एक लाख रुपया खर्च हुआ था। इसीसे इसका एकलक्खा नाम पड़ा। इसकी ईंटों पर भी हिन्दू-शिल्पियों द्वारा बनी प्रतिमूर्त्ति स्थान स्थानमें दिखाई देती है।

आदिना मसजिद केवल पाण्डुओंमें ही नहीं, किन्तु वङ्गदेश भरमें एक आश्चर्य्यकी सामग्री है। इसकी लम्बाई प्रायः दो सौ हाथ और चौड़ाई डेढ़ सौ हाथ होगी। इसके पत्थरोंमें हिन्दू भावोंसे खुदा हुआ कारु-कार्य्य दिखाई देता है। ७७० हिजरी ६ रजबको (सन् १३६६ ई०की १४वीं फरवरीको) इलियास शाहके पुत्र सिकन्दर शाहने इसको तय्यार कराया। इसमें जहाँ नमाज पढ़ी जाती है, उसके सामने ही अरबी भाषामें कुरानकी आयतें खुदी हैं।

इसके अलावे सत्ताईस घर 'सिकन्दरकी मसजिद' नामका मकान और कई भग्न अट्टालिकाओंके चिह्न हैं।

पाण्डुआ देखो।

बाँकुड़ा शहरके १२ मील उत्तर 'चम्पाई' नगरका भग्नावशेष दिखाई देता है। इस स्थानका वर्त्तमान नाम वहांकी भाषाके अनुसार 'चाँदमुआ' हुआ है। इस चांद-मुआ ग्रामके निकट सोहराई गोराई नामके दो बिलें हैं। बिलोंकी चौड़ाई कुछ कम होने पर भी सामान्य नहीं। यह देख कर अनुमान होता है, कि पहले वह कोई नदी-गर्भ था। सोराई बिलके बीचमें पद्मादेवीका चिह्न है। प्रवाद है, कि बिलमें आने जानेके लिये एक समय ईंटोंका बना एक पथ था। जो हो बिलके किनारे पर पुरानी ईंटोंके टुकड़े पाये जाते हैं। कहते हैं, कि ये सब कीर्त्तियाँ चाँद सौदागरकी है। बाँकुड़ा अञ्चलके कुछ गंधी अपनेको चाँद सौदागरके और कुछ बासबनिया-के वंशधर बतलाते हैं। वारेन्द्रदेशमें गंध वणिक् एक समय धनी कहलाते थे। जयपुरहाट रेलस्टेशनसे डेढ़ मील पश्चिम बेलाआवला नामक स्थानमें गंध-वणिक् जातीय राजीवलोचन मण्डल मुर्शिदाबादके सेठवंशकी तरह धनी था। १६वीं शताब्दीके प्रथम भागमें राजीवलोचन मण्डलकी मृत्यु हुई। बेलाआवलाके द्वादश-शिव मन्दिर इस व्यक्तिके ऐश्वर्य्यका परिचय प्रदान कर रहे हैं।

२ गौड़वङ्गवासी ब्राह्मण श्रेणीभेद।

वरेन्द्रभूममें आदिवास होनेके कारण वारेन्द्र नाम हुआ। वारेन्द्र और राढ़ीय ब्राह्मण कुल-ग्रन्थको पढ़ कर हमें ज्ञात हुआ है, कि ६५४ शक आदिशूरका अभ्युदयकाल है। इस समय उन्होंने कन्नौजसे साग्निक ब्राह्मण लानेकी चेष्टा की। उनके आमन्त्रणसे शाण्डिल्यगोत्रज क्षितीश, भरद्वाजगोत्रज मेधातिथि, कश्यपगोत्रज वीतराग, वात्स्यगोत्रज सुधानिधि और सावर्णगोत्रज सौभरि-ये पांच धर्म्मात्मा गौड़मण्डलमें आये। वारेन्द्रके कुलज्ञा-का कहना है, कि वे पञ्च महात्मा आदिशूरके यज्ञको पूरा कर स्वदेश लौट गये। बंगालसे लौट जाने पर वहांके लोगोंने उन लोगोंसे प्रायश्चित्त करनेको कहा, किन्तु इन लोगोंने उत्तरमें कहा, कि वेदवेदांगशास्त्रविदोंको प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं। इससे दोनों दलोंमें भयङ्कर संघर्ष उपस्थित हुआ। उस समय वे पाँचों ब्राह्मण अत्यन्त क्रोधित हो कर गौड़देशमें आदि-शूरकी सभामें लौट आये। गौड़ाधिपने इनके मुंहसे सब हाल जान कर बड़े आदरसे गंगाके किनारेके निकट ही धान्ययुक्त भूमिमें इन लोगोंको बसाया।

आदिशूरके यज्ञमें आये पांचों विप्रोंके बहुतेरे पुत्रोंमें क्षितीशके दामोदर, शौरि, विशेश्वर, शङ्कर और भट्टनारायण ये पांच, मेधातिथिके श्रीहर्ष, गौतम, श्रीधर, कृष्ण, शिव, दुर्गा, रवि और शशि ये आठ; वीतरागके सुषेण, दक्ष, भानुमिश्र और कृपानिधि ये चार; सुधानिधिके धरा-धर और छान्दड़ ये दो और सौभरिके रत्नगर्भ, वेदगर्भ, पराशर और महेश्वर चार पुत्रोंके ही नाम कुल ग्रन्थोंमें

दिखाई देते हैं। यह नहीं मालूम होता, कि इन सब पुत्रोंमें कौन बड़ा और कौन छोटा है।

महेशमिश्रके निर्दोष कुलपञ्जिकामें लिखा है, कि क्षितीशके पुत्र दामोदर बरेन्द्र देशमें बसनेके कारण वारेन्द्र, शौरी दाक्षिणात्य, विश्वेश्वर वैदिक, शङ्कर पाश्चात्य और भट्टनारायण राढ़ी कहलाये। कुलीन शब्द देखो।

इधर वारेन्द्र कुलपञ्जिकामें भट्टनाराण, धराधर, सुषेण, गौतम और पराशर ये पांच ही वारेन्द्र या वारेन्द्र ब्राह्मणोंके वीजपुरुष कहे जाते हैं और राढ़ीय कुलपञ्जिकामें भट्टनारायण, दक्ष, वेदगर्भ, श्रीहर्ष और छान्दड़—ये पांच मनुष्य राढ़ीय ब्राह्मणोंके प्रसिद्ध वीजपुरुष हैं। वारेन्द्रकुल-पञ्जिकासे और भी मालूम होता है, कि वारेन्द्र पञ्चवीजपुरुषकी निचली पीढ़ीमें भी कोई वारेन्द्र और कोई राढ़ीय नामसे परिचित हुआ।

सर्वसाधारणका विश्वास है, कि राजा वल्लालसेनके समयमें ही वारेन्द्र ब्राह्मणोंमें १०० गाञी स्थिर हुई। किन्तु हम प्राचीन कुलग्रन्थोंके और पालराजोंके इतिहाससे जान सके हैं, कि वल्लालसेनसे सैकड़ो ग्राम प्राप्त कर वारेन्द्र ब्राह्मणोंमें सौ सौ गाञीकी उत्पत्ति हो गई थी। धर्मपाल पौण्ड्रवर्द्धन पर अधिकार कर लेनेके बाद भट्टनारायणके पुत्र आदिगाञी ओझाको धामसार गांव दान किया। वारेन्द्र कुलग्रन्थोंमें भट्टनारायणके पुत्रने ही पालवंशसे सर्वप्रथम ग्राम प्राप्त किया था, इससे ये आदिगाञी नामसे पुकारे जाते थे। शाण्डिल्य भट्टनारायणके पुत्रकी तरह इस वंशके बहुतेरे मनुष्य पालराजाओंसे ग्राम प्राप्त और उनका मन्त्रित्व कर गये हैं। पालराजाओंकी शिलालिपियों तथा ताम्रलिपियोंसे इसका यथेष्ट प्रमाण मिलता है। पालराजवंश देखो।

शाण्डिल्यगोत्रकी तरह अन्यान्य गोत्र भी बौद्ध पालराजोंसे सम्मान लाभ करनेसे वञ्चित नहीं थे। और तो क्या—सेनवंशके अभ्युदयके कछ समय वाद तक इस श्रेणीके ब्राह्मण पालराजोंसे ग्राम पाते रहे। वारेन्द्र-कवि कश्यपगोत्रीय चतर्भुजके बनाये 'हरिचरित' काव्यमें उनके पूर्वपुरुष स्वर्णरेखके करञ्ज ग्राम पानेकी बात लिखी है।

बौद्ध-प्रभावकालमें यहांके ब्राह्मणोंने बौद्ध-तान्त्रिक धर्मका आश्रय लिया था और उसके फलसे वैदिक संस्कारको तिलाञ्जलि दे दी थी। राजा वल्लालसेनके पित विजयसेनने वारेन्द्र पर अधिकार कर यहां फिर वैदिक मार्ग-प्रवर्त्तनकी चेष्टा की थी।

वास्तविक महाराज विजयसेनने कुरङ्गेष्टि-यज्ञकी समाधा करनेके लिये बहुतेरे वैदिक ब्राह्मणोंको बुला कर गौड़राज्यमें प्रतिष्ठित किया। उन्हीं वैदिक ब्राह्मणोंके यत्नसे यहांके वौद्धतान्त्रिक वारेन्द्र-सन्तानोंने फिर हिन्दू-समाजमें प्रवेश कर पाया था। किन्तु वैदिक-धर्म ग्रहण करने पर भी यहांके ब्राह्मण बौद्धतान्त्रिकताको पूर्णरूपसे छोड़ न सके थे। इनके प्रभावसे राजा बल्लालसेन भी तान्त्रिकधर्मानुरक्त हो गये थे। इस तान्त्रिकता-प्रचारके लिये ही गौड़ाधिप बल्लालने कुलमर्य्यादाकी स्थापना की और नाना देशोंमें तान्त्रिक वारेन्द्र ब्राह्मणोंको भेजा था। वारेन्द्र ब्राह्मणोंकी चेष्टासे बौद्धतान्त्रिक हिन्दूतान्त्रिक समाजमें मिल गये हैं।

पहले ही लिखा गया है, कि राजा बल्लालसेनने १०० गाञी ब्राह्मणोंको स्वीकार कर लिया। वारेन्द्र ब्राह्मणोंके प्राचीन कुलग्रन्थोंमें इस गाञी नाममें मतभेद दिखाई देता है। नीचे उन १०० गाञी नामोंको उद्धृत कर दिया जाता है।

कश्यपगोत्रमें—मैत्र, भादुड़ी, करञ्ज, बालयष्ठिक, मधुग्रामी (मतान्तरसे मोधा), राणीहारी, (मतान्तरसे बलिहारी या राणीहाटी), मौदाली, किरण (किरणी), वीज, कुञ्ज, सनी (मतान्तरसे स्थवी या सरग्रामी), सुत्सु, (मतान्तरसे सहग्रामी) कट या कटि (मतान्तरसे विषोत्कटा), वेलग्रामी (मतान्तरसे गङ्गाग्रामी), घोष (मतान्तरसे चम या बलग्रामी), मध्यग्रामी (मतान्तरसे पारिशस्य), मठग्रामी और भद्रग्रामी—यह १८ गाञी हैं। सिवा इनके फिर किसी किसी कुलग्रन्थोंमें अश्रुकोटि और आथर्वीज गाञीका भी उल्लेख देखा जाता है।

शाण्डिल्य गोत्रमें—रुद्रवागचि, साधुवागचि, लाहिड़ी, चम्पटी, नन्दनवासी, कामेन्द्र, सिहरी, ताड़ोयाला, विशी, मत्स्यासी, सम्प (मतान्तरसे जम्बू) सुवर्णतोटक, पुसला (पुषाण) और वेलुड़ी १४ हैं।

वात्स्य गोत्रमें—सञ्जामिनी, भीमकाली, भट्टशाली, कामकाली, कुड़मुड़ैल (कुड़म्ब), भाड़ियाल, सेतुक (मता-

न्तरसे लक्षक), जामरुखी, सिमली (मतान्तरसे शीतलखी), धोसाली (मतान्तरसे विशाला), तानुरी (मतान्तरसे तालड़ी) वत्सग्रामी, देवली, निद्राली, कुक्‌टी पौण्डवर्द्धनो, बोढ़ग्रामी, श्रुतकटी, अक्षग्रामी, साहरी, कालीग्रामी, कालीहय, पौण्ड्‌ काली कालिन्दी, चतुरावन्दी (मतान्तरसे सानन्दी)—ये २४ हैं।

भरद्वाजगोत्रमें—भादड़, नाड़ली (नाड़ियाल), आतुर्थी, राइ, रत्नावली, उच्छरखी, गोच्छासी (वाचण्डी) छाल, शाकटी (मतान्तरसे काचड़ी), सिम्बीवहाल (सिहाल), साड़ियाल, क्षेत्रगामी, दधियाल (मतान्तरसे करी), पूति, काछटी नन्दीग्रामी, गोग्रामी, निखटी समुद्र, पिपली, श्रृङ्गखुर्ज्जार (या खज्जुरी), बोलेतकरा, गोस्वालखी (गोसालाक्षी)—ये २४ हैं।

सावर्णगोत्रमें—सिंदियाल, पाकडी (पापुड़ी), श्रृङ्गी, नेदड़ी उकुली, घुकड़ी, तलवार, सेतक, नाइग्रामी, (मतान्तरसे कलापेची) मेधुड़ी (मतान्तरसे छेन्दुरी) कपाली, टुहुरी, पञ्चवटी, खण्डवटी, निकड़ी, समुद्र, केतुग्रामी, यवग्रामी, पुष्पक, और पुष्पहाटी—ये २० हैं।

३ वारेन्द्र कायस्थ, वारेन्द्रदेशवासी कायस्थ श्रेणीभेद इस समय जिस स्थानको हम लोग वारेन्द्र समझते हैं। वही स्थान आदि गौड़मण्डलके नामसे प्रसिद्ध था। अतः आदि गौड़ीयकायस्थ कहने पर वरेन्द्रवासी कायस्थ समझना चाहिये।

वारेन्द्र कायस्थोंके पास ढाकुर नामका एक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके पढनेसे मालूम होता है, कि यदुनन्दन नामक एक मनुष्य इसके रचयिता हैं। आदिशूरके समय जो कई कायस्थ आये थे। उन्हींके विषयमें कुवञ्च नगरवासी कुलीन कायस्थ काशीदासने जो कुलग्रन्थकी रचना की, उसीके आधार पर यदुनन्दनने अपने ग्रन्थकी रचना की है। इससे समझमें आता है, कि यदुनन्दनके आदर्शका एक और 'ढाकुर' ग्रन्थ था। उन्होंने इस ढाकुर आदर्शको बहुत बड़ा ग्रन्थ कहा है।

उक्त ढाकुर ग्रन्थमें लिखा है, कि वल्लालसेन डोमकन्या लाने और अनाचरणीय जातियोंके जलाचरणीय करनेके लिये ब्राह्मण और दरबारी बड़े विस्मयान्वित हुए। वल्लालकी कौलीन्यमर्य्यादा अभिनव भावसे सृष्ट होने पर किसीको नया कुलीन बनाया गया और किसीकी कुलीनता छीन ली गई। विशेषतः पुत्रके बदले कुल कन्यागत करनेका आदेश दिया गया। यदुनन्दनने लिखा है, कि वैदिक ब्राह्मणोंने, वारेन्द्र कायस्थोंने और वैद्योंने इस अभिनव कौलीन्यको नहीं ग्रहण किया।

वैद्य और वैदिक देखो।

भृगुनन्दी नामक एक राजमन्त्रीने वल्लालसेनको इन सब असामाजिक कार्य्योंसे विरत होनेके लिये उपदेश दिया। वल्लाल भृगुनन्दीके दृष्टान्त और प्रमाण प्रयोगको बात सुन कर महा क्रोधित हो उठे। शीघ्र ही राजमन्त्री भृगुनन्दी को कैद करनेकी आज्ञा दी। आज्ञा यथाविधि मानी गई। भृगुनन्दी जेल भवनमें लाये गये। वहांसे वह भाग निकले और उन्होंने देवकोटवासी जटाधर और कर्कट नाग नामके दो पराक्रान्त भूम्याधिकारियोंका आश्रय ग्रहण किया। देवकोट वर्त्तमान दिनाजपुर जिलेके अन्तर्गत है। जटाधर और कर्कट नागके साहाय्यसे दास, नन्दी, चाकी, नाग, सिंह, देव और दत्त-इन सातघरोंसे समाज गठित हुआ। नरसुन्दर शर्म्मा नामक एक बहात्तुर कायस्थ भृगुनन्दी परिचर्यामें नियुक्त था। उक्त व्यक्तिको भृगुनन्दी और मुरारि चाकिने 'अर्द्ध कुल' देनेको कहा था; किन्तु जटाधर नागने उनका वहिष्कार कर दिया।

यदुनन्दनके ढाकुर पाठसे प्रतीयमान होता है, कि पठोवन्धनके समय पद्धति आदि पर विचार कर वारेन्द्र-समाज संगठित हुआ। दासवंशके विवरणमें हरिपुर, नागड़ा और गुधि—इन तीन स्थानोंके नामका उल्लेख है।

ढाकुरमें दासवंशके प्राचीन समाजस्थान—चाकोग्राम, साधुखाली, मत्रमैल, मैदान दीघी, विपच्छिल, चौपखी, पावना, मालञ्ची, केंचुआडाँगा, मेहेरपुर, माणिकादि और घर-ग्राम लिखे हुए हैं।

उक्त ढाकुर-वर्णित नन्दीवंशके ये सब समाजस्थान हैं—बल्लार, पोताजिया, अष्टमुनिसा, कालियाई, खामरा, चिथलिया, चण्डीपुर, साधुखाली, दिलपसार, रहिमपुर, मणिदह, महिमापुर, बेथुरिया, करतजा, हामकुड़ा, महेशरौहाली, देवगृह, सिंहडंगा, मेहेरपुर, केंउगाछा, कमार-

गांव और आरपाड़ा। इनमेंसे वल्लार, कलिआई, खामरा, साधुखाली, महिमापुर, बेथुरिया, करतजा, देवगृह, मेहेरपुर, केंउगाछी, कमरगाँव और आरपाड़ा, इन सब स्थानोंमें बहुत दिनोंसे वारेन्द्र कायस्थोंका वास नहीं है। अभी नाना स्थानोंमें उन सब समाज-वासियोंके वंश देखे जाते हैं।

चाकिगणके समाज—सरिषा, वाजुरस, मौरट, शिमला हेलञ्च, अष्टमुनिशा, मेदोवाड़ी, केंचुआडांगा, गोविन्दपुर, सिकन्दरपुर (बहादुरपुर), चण्डीपुर, गाजना, दुर्लभपुर, श्यामनगर, हेमराजपुर, रामदिया, वागुटिया, दिलपसार, रघुनाथपुर। इनके सिवा चाचकिया समाजका चाकि भी इस समाजमें देखा जाता है।

नागवंशके जटाधर और कर्कट नागके पिता शिवनाग देवकोटमें राज्य करते थे।

दोनों नाग जिस समय यशोर जिलेके शोलकूपामें आये थे, उसी समय वारेन्द्र कायस्थसमाज संगठित हुआ। महाराज प्रतापादित्यके पतनके वाद हीसे शोलकूपा विध्वस्तहुआ है। अत्याचारसे पीड़ित हो कितने ब्राह्मण-कायस्थ शोलकूपासे भाग गये।

ढाकुर-वर्णित नागवंशके समाजस्थान—शोलकूपा, सरग्राम, वागदुली, हरिहरा; रामनगर, कांटापुखरिया, पाथराइल, मालञ्ची, सिङ्गा, गाड़ादह, नन्दनगाछी, फतेउल्लापुर, पलासवाड़ी, फिलगञ्ज, घुड़का, सारियाकान्दी, गवड़ा, उद्दिघार, वालियापाड़ा, गङ्गापाड़ा, नरणिया, सिथनिया और आड़ानी।

करातिया व्याससिंहके वंशमें किसी किसीने वारेन्द्र समाजमें प्रवेश किया। सिंहका प्राचीन समाज—करतजा वा करातिया, जेमोकान्दी, परीक्षितदिया, चौंयां और उधुनिया।

देववंशमें कानसोनाके बुधदेव और कुलदेव वारेन्द्र पट्टीमें गिने गये। देवगणके समाज ये सब हैं—कर्णस्वर्ण वा कानसोंना, तारागुनिया, काकदह; चिथलिया, चडिया, ताड़ाश और वर्द्धनकोठी।

दत्तमें वटग्रामी और काउनाड़ी दत्त ही मूल हैं। काउनाड़ी दत्तवंशके समाज—रूपाट और सेखुपुर।

समाज-गठनकालमें भृगुनन्दी आदि सात घर वारेन्द्रके सामाजिक कायस्थरूपमें गिने गये थे। दास, नन्दी और चाकी ये तीनों सिद्ध घर एक-से हैं। कहते हैं, कि दोनों नागको भृगुनन्दीने सिद्धपद देना चाहा था, किन्तु नागोंने नहीं लिया, इस कारण सबोंने सिद्धतुल्य कह कर उनका प्रचार किया। नाग साध्यश्रेणीभुक्त हो कर गौरवान्वित हुए हैं। नागके बाद सिंहघर, इसके बाद देवदत्तघर अर्थात् सिद्ध ३ घर प्रथम भाव, नाग द्वितीय भाव, सिंह तृतीय भाव और देवदत्त चतुर्थ भाव, इस प्रकार सातों घरके भावोंका निर्णय हुआ था।

समाजवद्ध इन सात घरोंको छोड़ कर पीछे और भी कितने घर संगृहीत हुए थे।

वारेन्द्र-देशवासी घोष, गुह, रक्षित; मित्र, सेन, कर घर, चन्द्र; रहा, पाल आदि उपाधिधारी कायस्थ भी अपनेको वारेन्द्र कहते हैं।

इन सत्तरह घर कायस्थोंमें सिंह, घोष; मित्र और कर उत्तरराढ़ीय; नन्दी, रक्षित; गुह, घोष और चन्द्र वङ्गज तथा सेन और देव दक्षिण-राढ़ीयसे आनेका प्रमाण मिलता है। अवशिष्ट रक्षित, घर, राहा, रुद्र, पाल, दाम और शाण्डिल्य दास ये सात घर किस श्रेणीसे वारेन्द्रमें आये, उसका प्रमाण नहीं मिलता।

वारेन्द्र-कायस्थोंका आचार-व्यवहार अति पवित्र है। जिन्होंने उपनयन-संस्कार ग्रहण किया है उनका आचार-व्यवहार ब्राह्मण जैसा है। पुत्रके जन्म लेते ही सूतिकाघरमें तलवार रखना और अन्नप्राशनके समय चरुपाक आदि क्रियायें क्षात्रव्यवहारकी और विवाहमें कुशण्डिका आदि आर्य सदाचारके परिचायक हैं। वङ्गदेशीय कायस्थ जातिकी चार श्रेणियोंके आचार-व्यवहारमें थोड़ा बहुत अन्तर दिखाई देता है सही, पर मूलमें कोई अन्तर नहीं है। स्थानभेद और दीनता ही इस पृथक्ताका कारण है।

वारेन्द्र-कायस्थोंके विवाहमें पर्य्यायकी जरूरत नहीं होती। पहले वङ्गीय ब्राह्मण घटकका काम करते थे। पीछे वारेन्द्र-कायस्थोंने भी घटकका काम करना शुरू किया। यदुनन्दन भी वारेन्द्र-कायस्थ थे। देवीदास खाँ आदिके समयमें एकता हुई पीछे बहुत दिन तक समस्त समाजकी फिर एकता नहीं हुई।

आज कल राजसाही, मालदह, पावना, वांकुड़ा; दिनाजपुर, रङ्गपुर, नदिया, २४ परगना, यशोर और मुर्शिदाबाद जिलेमें प्रायः सभी जगह वारेन्द्र-कायस्थोंका वास है।

वारेन्द्री (सं० स्त्री०) देशविशेष, वारेन्द्रदेश। अभी यह देश राजशाही विभागके अन्तर्गत है।

वार्कखण्डि (सं० पु०) वृकखण्डके पुं अपत्य।

वार्कग्राहिक (सं० पु०) वृकग्राहके गोत्रापत्य।

वार्कजम्भ (सं० पु०) १ वृकजम्भके गोत्रापत्य। २ एक सामका नाम।

वार्कबन्धविक (सं० पु०) वृकबन्धु (रेवात्यादिभ्यष्ठक्। पा ४।१।१६६) इति अपत्यार्थे ठक्। वृकवन्धुका गोत्रज।

वार्कलि (सं० पु०) वृकलाका गोत्रज।

वार्कलेय (सं० पु०) वृकलाका गोत्रज। २ वार्कलाका गोत्रज।

वार्कवञ्चक (सं० पु०) वृकवञ्चिका गोत्रापत्य।

वार्कारुणोपुत्र (सं० पु०) आचार्यभेद।

(शतपथब्रा० १४।९।४।३१)

वार्कार्या (सं० स्त्री०) जलसे होनेवाला ज्योतिष्टोमादि लक्षण कर्म।

वार्क्ष (सं० पु०) वृक्षाणां समूहः इति वृक्ष-तस्य समूहः।” (पा ४।२।३७) इति ऊण्। १ वन। २ वृक्षकी छालका बना हुआ वस्तु। त्रि०) ३ वृक्ष सम्बन्धी या वृक्षका बना हुआ। वृक्षसम्बन्धीय शिवलिङ्गकी पूजा करनेसे वित्तलाभ होता है।

वार्क्षा (सं० स्त्री०) एक मुनिकन्या। ये तपस्वि प्रधान प्रचेता आदि दश भाइयोंको सहधर्मिणी हुईं।

(भारत ९।१९६।१५)

वार्क्षी (सं० स्त्री०) वृक्षस्यापत्यं स्त्री, वृक्ष-अण् ङीष्। वृक्षसे उत्पन्न एक ऋषिपत्नी।

वार्क्षीका दूसरा नाम मारिषा था। यह कण्डु मुनिके औरससे प्रम्लोचा नामकी अप्सराके गर्भमें रह कर पीछे वृक्षसे उत्पन्न हुई थीं। इनका विवरण विष्णुपुराणमें इस प्रकार आया है—

पूर्वकालमें एक समय प्रचेतागण घोर तपस्या कर रहे थे। ऐसी अरक्षित अवस्थामें वृक्षोंने पृथिवीको घेर लिया, जिधर देखिये उधर वृक्ष ही नजर आने लगा। प्रजाकी संख्या धीरे धीरे घटने लगी। इस समय प्रचेतागण क्रुद्ध हो कर जलसे बाहर निकले। क्रोधके मारे उनके मुखसे वायु और अग्नि आविर्भूत हुई। वायुने वृक्षोंको सुखा दिया और अग्निने जला डाला। इस प्रकार वृक्षका क्षय होने लगा।

अधिकांश वृक्ष दग्ध हो गये। थोड़े से बच गये। इसी समय राजा सोमने प्रचेताओंसे जा कहा, ‘आप लोग क्रोध न करें, वृक्षोंके साथ आप लोगोंकी एक सन्धि हो जानी चाहिये।’ सोमके अनुरोधसे प्रचेताओंने वृक्षकन्या मारिषाको भार्यारूपमें ग्रहण कर वृक्षोंके साथ मेल कर लिया। इस वृक्षोत्पन्न कन्याका जन्मवृत्तान्त इस प्रकार है—पुराकालमें कण्डु नामक एक वेदविद् मुनि थे। वे गोमतीके किनारे तपस्या करते थे। उनकी तपस्यामें बाधा डालनेके लिये इन्द्रने प्रम्लोचा नाम्नी एक परम सुन्दरी अप्सराको वहां भेजा।

अप्सराने आ कर मुनिकी तपस्यामें बाधा डाली। मुनिने उसके साथ सौ वर्ष तक विहार किया। मन्दरकन्दरामें रह कर वे दोनों विहार करते थे। सौ वर्षके बाद अप्सराने इन्द्रके निकट जानेकी इच्छा प्रकट की, किन्तु मुनिने जानेकी अनुमति न दी। पीछे सौ वर्ष और उसके साथ विहार किया।

प्रचेताओंके मारिषाको ग्रहण करनेके समय राजा सोमने उनसे कहा था, यह कन्या आप लोगोंकी वंशवर्द्धिनी होगी। मेरे अर्द्ध तेज और आप लोगोंके अर्द्ध तेजसे मारिषाके गर्भमें दक्ष नामक प्रजापति जन्म ग्रहण करेंगे। (विष्णु ०१।१५।१-९)

इस प्रकार कण्डु-ऋषिने सैकड़ों वर्ष तक अप्सराके साथ विहार और विविध विषयोंका भोग किया। अप्सराने इन्द्रालय जानेकी आज्ञा मांगी, किन्तु न मिली। आखिरमें मुनिके शापभयसे अप्सराको उन्हींके पास रहना पड़ा। उन दोनोंका नव-प्रेमरस दिनों दिन बढ़ने लगा।

एक दिन मुनि व्यस्त हो कर कुटोसे बाहर निकले। अप्सराने पूछा—कहां जाते हैं,? मुनि बोले ‘प्रिये! सन्ध्यो-

पासनाके लिये जाता हूं, नहीं जानेसे क्रिया लोप हो जायगी।' अप्सराने हंस कर कहा, 'इतने दिनोंके बाद तुम्हारा धर्म्मक्रिया करनेका समय आया। इतने दिन जो बीत गये, क्यों नहीं सन्ध्योपासना की?' मुनिने उत्तर दिया, 'वाह! तुम तो सबेरे इस नदीके किनारे आई हो और पीछे मेरे आश्रममें घुसी हो। अभी सन्ध्या-काल उपस्थित है। इसमें उपहासकी क्या बात है?'

अप्सरा बोली, 'मैं यहां सबेरे आई हूं सही, पर समय बहुत बीत गया। कितने वर्ष चले गये।' मुनिने बहुत व्याकुल हो कर पूछा, 'तुम्हारे साथ मैंने कितने दिनों तक रमण किया?' अप्सराने कहा, 'नौ सौ सात वर्ष छः मास तीन दिन।'

अप्सराके मुखसे यह सच्ची बात सुन कर मुनिको बहुत आत्मग्लानि हुई। मुनि अपनी आत्माको बार बार धिक्कारते हुए बोले, 'हाय! मेरी तपस्या नष्ट हो चुकी, बुद्धि मारी गई, मैं स्त्रीके साथ नीच दशामें पहुंच गया। इस प्रकार मुनि बहुत समय तक आत्मनिन्दा करने लगे। स्त्रीके प्रेममें फंस कर कर्त्तव्यपथसे भ्रष्ट हो गये, यह सोच कर उन्हें बड़ी चिन्ता हुई और आखिर उस अप्सराको विदा किया। अप्सरा कांप रही थी, मुनिके भी क्रोधका पारावार न था, पर मुनिने उसे शाप नहीं दिया। उन्होंने अपनी अवाध्य इन्द्रियका ही दोष दिया था।

जो हो, अप्सरा चली गई, किन्तु मुनिके भयसे उसके शरीरसे वेशुमार पसीना आने लगा। जब वह शून्य मार्गसे जा रही थी, तब एक ऊंचे वृक्षके तरुणपल्लवमें उसने अपना पसीना पोछ लिया। ऐसा करनेसे मुनिके तेजसे जो उसे गर्भ रह गया था, वह गर्भ लोमकूप हो कर स्वेद-जलाकारमें निकल गया। पीछे अप्सराके स्वेदसे सिक्त हो वहांके सभी वृक्षोंने गर्भ धारण किया। इसी गर्भसे मारिषा नामक नारीरत्नकी उत्पत्ति हुई।

वृक्षोंने यह नारीरत्न दे कर प्रचेताओंका क्रोध शान्त किया था। (विष्णु पु०)

वार्क्ष्य (सं० त्रि०) १ वृक्षसम्बन्धीय (क्ली) । २ वृति, घेरा।

वार्च (सं० पु०) वारि चरतीति ड। हंस।

वार्चलीय (सं० त्रि०) वृर्चल सम्बन्धीय।

वार्ज (सं० पु०) पद्म, कमल।

वार्ड (अं० पु०) १ रक्षा, हिफाजत। २ किसी विशिष्ट कार्यके लिये घेर कर बनाया हुआ स्थान। ३ अस्पताल या जेल आदिके अन्दरके पृथक् पृथक् विभाग। ४ नगरमें उनके महल्ले आदिका समूह जो किसी विशिष्ट कार्यके लिये अलग नियत किया गया हो।

वार्डर (अं० पु०) १ वह जो रक्षा करता हो, रक्षक। २ जेल आदिके अन्दरका पहरेदार।

वार्णक (सं० पु०) लेखक।

वार्णक्य (सं० पु०) वर्णकका गोत्रज।

वार्णव (सं० त्रि०) वर्णु नदी-सम्भव, वर्णु नदीसे उत्पन्न।

वार्णवक (सं० त्रि०) वार्णव स्वार्थे कन्। वर्णु नदी-सम्भव।

वार्णिक (सं० त्रि०) वर्णलेखनं शीलमस्य वर्ण-ठञ्। लेखक।

वार्त्त (सं० त्रि०) वृत्तिरस्त्यस्येति (प्रज्ञाश्रद्धार्च्चा वृत्तिभ्यो णः। पा ५।२।१०१) इति ण। १ निरामय; आरोग्य। २ वृत्तिशाली, कामकाजी। (क्ली०) ३ असार।

वार्त्तक (सं० पु०) १ पक्षिविशेष, बटेर। इसके मांसका गुण—अग्निवर्द्धक, शीतल, ज्वर और त्रिदोषनाशक, रोचक, शुक्र तथा बलवर्द्धक। २ वार्त्ताकी, भंटा।

वार्त्तन (सं० त्रि०) वर्त्तनीभव।

वार्त्तन्तवीय (सं० पु०) १ वरतन्तु-सम्बन्धीय। २ वेदकी एक शाखा।

वार्त्तमानिक (सं० त्रि०) वर्त्तमान सम्बन्धीय।

वार्त्ता (सं० स्त्री०) वृत्तिरस्या अस्तीति (प्रज्ञाश्रद्धार्च्चा-वृत्तिभ्यो णः। पा ५।२।१०१।) इति ण ततष्टाप्। १ भगवती, दुर्गा। देवीभगवती वर्त्तन तथा धारण करती हैं, इस कारण उनका वार्त्ता नाम पड़ा है। २ वृत्ति, जीविका। ३ जनश्रुति, अफवाह। ४ वृत्तान्त, संवाद। ५ विषय, मामला। ६ कथोपकथन, बातचीत। ७ वैश्यवृत्ति जिसके अन्तर्गत कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और कुसीद है। वैश्यको वार्त्ता द्वारा जीविका निर्वाह करनी चाहिये। ८ संसारका आध्यात्मिक संवाद।

वकरूपी धर्मने जब वार्त्ताके सम्बन्धमें प्रश्न किया,

तब धर्मराज युधिष्ठिरने आध्यात्मिक भावसे उसका उत्तर इस प्रकार दिया था,—काल इस ब्रह्माण्डरूप कटाहमें मास और ऋतुरूप दर्वी अर्थात् हत्थेको चला कर दिवा और रात्रिरूप काष्ठ तथा सूर्यरूप अग्नि द्वारा प्राणियोंका जो पाक करते हैं, वही वार्त्ता है।

९ दूसरे द्वारा क्रय विक्रय होना। १० वार्त्ताकी, वैंगन। ११ एक प्रकारका पत्थर। १२ वृहती। १३ वार्त्तक पक्षी, बटेर।

वार्त्ताक (सं॰ पु॰) वर्त्ततेऽनेनेति वृत् (वृतेर्वृद्धिश्च। उण् ३।७६) इति काकु 'बाहुलकात् उकारस्यात्त्वेत्त्वे वार्त्ताकवार्त्ताक्यौ हत्युज्ज्वलदत्तोक्त्या सिद्धं।' १ वार्त्ताकु, बैंगन। २ वार्त्तक पक्षी, बटेर।

वार्त्ताकिन् (सं॰ पु॰) वार्त्ताकु, वैंगन। (अमरटीका भरत)

वार्त्ताकी (सं॰ स्त्री॰) वृहती, छोटी कटाई। २ वार्त्ताकु, भण्टा। ३ कण्टकारी, भटकटैया।

वार्त्ताकु (सं॰ पु॰ स्त्री॰) वर्त्तते इति वृत् (वृतेर्वृद्धिश्च। उण् ३।७६) इति काकु। (Solanum melongene syn, *S*, Izocnlentum)स्वनामख्यात फलवृक्ष। इसे हिन्दीमें वैंगन, भंटा, तैलङ्गमें वहिरि वंगु, उत्कलमें वाइगुण, गुजरातीमें वांगे और तामिलमें कुठिरेकई कहते हैं। संस्कृत पर्याय—हिंगुली, सिंही, भण्टाकी, दुष्प्रधर्षिणी, वार्त्ताकी, वार्त्ता, वातिङ्गण, वार्त्ताक, शाकबिल्व, राजकुष्माण्ड, वार्त्तिक, वातिगम, वृन्ताक, वङ्गण, अङ्गण, कण्टवृन्ताकी, कण्टालु, कण्टपात्रिका, निद्रालु, मांसकफली, वृन्ताकी, महोटिका, चित्रफला, कण्टकिनी, महती, कट्फला, मिश्रवर्णफला, नीलफला, रक्तफला, शाकश्रेष्ठा, वृत्तफला, नृपप्रियफला। गुण—रुचिकर, मधुर, पित्तनाशक, बलपुष्टिकारक, हृद्य, गुरु और वातवर्द्धक।

भावप्रकाशके मतसे इसका गुण—स्वादु, तीक्ष्णोष्ण, कटुपाक, पित्तनाशक, ज्वर, वात और बलासघ्न, दीपन, शुक्रवर्द्धक और लघु। कटैया वैंगन कफ और पित्तनाशक तथा सिद्ध किया हुआ बैंगन पित्तवर्द्धक और गुरु होता है। बैंगनको पका कर उसमें तेल नमक डाल कर खानेसे कफ, मेद, वायु और आम जाता रहता है। यह अत्यन्त लघु और दीपन है।

आत्रेयसंहितामें लिखा है, कि वार्त्ताकु निद्रावर्द्धक, प्रीतिकर, गुरु, वात, कास, कफ और अरुचिकारक हैं।

धर्मशास्त्रके मतसे त्रयोदशीके दिन वैंगन नहीं खाना चाहिये, खानेसे पुत्रवधका पाप होता है। यह अज्ञानतावश खानेवालोंके लिये कहा गया।

"वार्त्ताकौ सुतहानिःस्यात् चिररोगी च माषके ॥"

(तिथितत्त्व)

गोल कद्दू और दूध जैसा सफेद वैगन नहीं खाना चाहिये। सफेद वैंगन मूर्गेके अंडेके समान है, किन्तु यह अर्शरोगमें हितकर माना गया है। पूर्वोक्त वार्त्ताकुसे इसमें गुण थोड़ा है।

आह्निकतत्त्वके मतसे वार्त्ताकुका गुण—सप्तगुणयुक्त, अग्निवर्द्धक, वायुनाशक, शुक्र और शोणितवर्द्धक, हृल्लास, कास और अरुचिनाशक। बतिया वैंगनका गुण—कफ और पित्तनाशक, पक्केका गुण—क्षारक और पित्तवर्द्धक।

वार्त्तापति (सं॰ पु॰) संवाददाता। (भाग ४।१७।११)

वार्त्तायन (सं॰ पु॰) वार्त्तानामयनमनेनेति। १ प्रवृत्तिज्ञ, चर। पर्याय—हेरिक, गूढ़पुरुष, प्रणिधि, यथार्हवर्ण, अवसर्प, मन्त्रवित् चर, स्पर्श, चार। २ दूत, पलची। ३ वार्त्ताशास्त्र। (त्रि॰) ४ वृत्तान्तवाहक, समाचार ले जानेवाला।

वार्त्तारम्भ (सं॰ पु॰) वार्त्तायां आरम्भः। कृषिकार्य और पशुपालनादिका आरम्भ।

वार्त्तालाप (सं॰ पु॰) कथोपकथन, बातचीत।

वार्त्तावह (सं॰ पु॰) वार्त्तां धान्यतण्डुलादेर्वार्त्तां वहतीति वह-अच्। १ वैवधिक, पनसारी। २ आयव्यय-विषयक विधिदर्शक नीतिशास्त्रविशेष, नीतिशास्त्रका वह भाग जो आयव्ययसे संबंध रखता है। (Political Economy) (त्रि॰) समाचार ले जानेवाला।

वार्त्ताशिन् (सं॰ त्रि॰) जो भोजनके लिये अपने गोत्रादिका परिचय देते हैं।

वार्त्ताहर (सं॰पु॰) हरतीति-हृ-ऊच्, वार्त्ताया हरः।

वार्त्ताहारक, संवादवाहक।

वार्त्ताहर्त्तृ (सं॰ पु॰) वार्त्ताहर, दूत।

वार्त्तिक (सं॰ क्ली॰) वृत्तिग्रंन्थसूत्रविवृतः तत्र साधुः वृत्ति (कथादिभ्यष्ठक्। पा ४।४।१०२) इति ठक्। १ किसी ग्रन्थके उक्त, अनुक्त और दुरुक्त अर्थोंको स्पष्ट करनेवाला वाक्य या ग्रन्थ। इसका लक्षण—

जिस ग्रन्थमें उक्त, अनुक्त और दुरुक्त अर्थ स्पष्ट होता है, उसका नाम वार्त्तिक है, अर्थात् मूलमें जो विषय कहा गया है, उसे स्पष्ट करनेसे मूलमें जो नहीं कहा गया है, उसे परिव्यक्त वा व्युत्पादित तथा मूलमें जो दुरुक्त अर्थात् असङ्गत कहा गया है उसका प्रदर्शन तथा ऐसे हो स्थानोंमें सगंत अर्थ निर्देश करना वार्त्तिककारका कर्त्तव्य है।

कात्यायनका वार्त्तिक पाणिनीयसूत्रके ऊपर, उद्योतकरका न्यायवार्त्तिक वात्स्यायनके ऊपर, भट्टकुमारिलका तन्त्रवार्त्तिक जैमिनीयसूत्र तथा शवरस्वामीके भाष्यके ऊपर रचा गया है। फलतः वार्त्तिकग्रन्थ सूत्र और भाष्यके ऊपर ही रचा जाता है।

वृत्ति, भाष्य आदि ग्रन्थ मूलग्रन्थकी सीमा अतिक्रम नहीं कर सकते अर्थात् भाष्यकार आदिको सम्पूर्णरूपसे मूलग्रन्थके मतानुसार ही चलना होता है। किन्तु वार्त्तिककार सम्पूर्ण स्वाधीन हैं। भाष्यकार आदिकी स्वाधीन चिन्ता हो नहीं सकतो। किन्तु वार्त्तिकके लक्षणोंके प्रति ध्यान देने होसे ज्ञात होता है, कि वार्त्तिककारकी स्वाधीन-चिन्ता पूर्णमात्रामें विकाश पाती है। वार्त्तिक ग्रन्थ देखनेसे यह स्पष्ट जाना जाता है, कि वार्त्तिककारने कई जगह सूत्र और भाष्यका मत खण्डन करके अपना मत सम्पूर्ण स्वाधीन भावमें प्रकाश किया है।

वार्त्तिककारने स्वाधीनभावसे अपना जो मत प्रकाश किया है, एक उदाहरण देखने होसे उसका पता चल जायगा, वार्त्तिककारकी स्वाधीनताका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है। मीमांसादर्शनमें पहले स्मृतिशास्त्रका प्रामाण्य संस्थापन किया गया है। पीछे वेदविरुद्ध स्मृति प्रमाण है वा नहीं, इस प्रश्नके उत्तरमें दर्शनकार जैमिनिने कहा है कि 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' अवश्य ही यह प्रश्न जैमिनिका उठाया नहीं है, भाष्यकारने उस प्रश्नको उठा कर उसके उत्तर स्वरूप जैमिनिके सूत्रकी व्याख्या की है। भाष्यकारकी व्याख्याका इस प्रत्यक्ष श्रुतिके साथ विरोध होनेसे स्मृतिवाक्य अनपेक्षणोय है अर्थात् स्मृतिवाक्यकी अपेक्षा न करनी चाहिये। करनेसे उसका अनादर होगा। प्रत्यक्ष श्रुतिके साथ विरोध नहीं रहने पर स्मृतिवाक्य द्वारा श्रुतिका अनुमान करना सगंत है। अपौरुषेय श्रुति स्वतन्त्र प्रमाण है। स्मृति पौरुषेय अर्थात् पुरुषका वाक्य है, अतएव स्मृतिका प्रामाण्य मूल प्रमाण सापेक्ष है। पुरुषका वाक्य स्वतःप्रमाण नहीं है। पुरुषवाक्यका प्रामाण्य दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा करता है। क्योंकि पुरुषने जो जान लिया है, वही दूसरेको बतानेके लिये वे शब्द-प्रयोग वा वाक्यरचना करते हैं। अतएव इससे स्पष्ट ज्ञात होता है, कि जैसे ज्ञानमूलमें शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह ज्ञान यदि यथार्थ अर्थात् ठीक हो, तो तन्मूलक वाक्य भी ठीक अर्थात् प्रामाण्य होगा। वाक्यप्रयोगके मूलीभूत ज्ञान अयथार्थ अर्थात् भ्रमात्मक होनेसे उसके अनुबलमें प्रयुक्त वाक्य भी अप्रामाण्य होगा। स्मृतिकर्त्ता आप्त हैं, उनका माहात्म्य वेदमें कीर्त्तित है। वे लोग मनुष्यको प्रतारित करनेके लिये कोई बात न कहेंगे, यह असम्भव है। इस कारण उन लोगोंकी स्मृतिका मूल भूतवेदवाक्य समझा जाता है। उन लोगोंने वेदवाक्यका अर्थ स्मरण कर वाक्यकी रचना की है, इसीसे उसका नाम स्मृति रखा गया है। स्मृतिवर्णित विषय अधिकांश अलौकिक है अर्थात् धर्मसम्बन्ध, पूर्वानुभव स्मरणका कारण है क्योंकि अनुभूत पदार्थका स्मरण हो नहीं सकता। मुनियोंने जो स्मरण किया है, वह पहले उन्हें अनुभूत हो गया था, इसे अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। वेदके सिवा अन्य उपायसे अलौकिक विषयका अनुभव एक तरहसे असम्भव है। अतएव स्मृति द्वारा श्रुतिका अनुमान होना असगंत है। स्मृतिकारोंने जो स्मरण किया है वह वेदमूलक नहीं है, वेदपर्यालोचना करने होसे इसका पता चल सकता है।

अष्टकाकर्म स्मार्त्त है, किन्तु वेदमें उसका उल्लेख है। जलाशयका खुदवाना और प्रपा अर्थात् पानीय शालाकी प्रतिष्ठा आदि स्मृति-उक्त कर्मोंका आभास भी वेदमें देखा जाता है। भाष्यकारके मत से जलाशयखनन, प्रपाप्रतिष्ठा आदि कर्म दृष्टार्थ हैं। क्योंकि इनसे मनुष्यकी भलाई होती है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिये जलाशयादिका खुदवाना धर्मार्थ नहीं, लोकोपकारार्थ है। लोकोपकारार्थ अवश्य धर्मार्थ होगा। स्मृति-वर्णित बहुतेरे विषयोंकी वेदमूलकता जब स्पष्ट देखी जाती है, तब स्मृतिके जो सब मूलीभूत वेदवाक्य हम लोगोंके दृष्टिगोचर नहीं होते, उनका भी अनुमान करना सर्वथा समीचीन है। अन्नपाक करते समय चावल सिद्ध हुआ है वा नहीं—यह जाननेके लिये बरतनसे दो एक चावल निकाल कर दबाते हैं। हाथसे दबाने पर जब वह सिद्ध हुआ जान पड़ता है, तब लोग अनुमान करते है, कि सभी चावल सिद्ध हो चुके, क्योंकि सभी चावल एक ही समय आँच पर चढ़ाये गये हैं। उनमेंसे एकके सिद्ध होने और दूसरेके सिद्ध न होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता। इस युक्तिका शास्त्रीय नाम स्थालीपुलाकन्याय है। प्रकृत स्थलमें भी बहुत-सी स्मृतियां वेदमूलक हैं, यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, इससे स्थालीपुलाकन्यायके अनुसार सभी स्मृतियोंकी वेदमूलकताका अनुमान किया जा सकता है।

इस बातको दार्शनिकोंने अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है; कि अनेक वेदशाखाएं विलुप्त हुई हैं, जो विलुप्त हो गई हैं, वे पहले अवश्य थीं, अतः वेदवाक्यमूलक जो सब स्मृतियां प्रणीत हुई हैं उनका मूलीभूत वेदवाक्य अब न दिखाई देनेके कारण हम उन सब स्मृतियोंको अप्रामाण्य नहीं कह सकते।

किन्तु जो सब स्मृतियां प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्ध हैं, भाष्यकारके मतानुसार वे अप्रामाण्य होंगी। क्योंकि वेदमूलक होनेके कारण ही स्मृति-प्रामाण्य है। वेदविरुद्ध स्मृति वेदमूलक हो नहीं सकती, वरन् वेदके विपरीत होती है, इसलिये वह अप्रामाण्य है। सच पूछिये, तो स्मृतिके मूलरूपसे श्रुतिका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। कारण, प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्ध अनुमान हो नहीं सकता। वेद-विरुद्ध स्मृतिके कुछ उदाहरण भाष्यकारने दिखलाये हैं उनमेंसे एक उदाहरण नीचे दिया जाता है। ज्योतिष्टोम यागमें सदो नामक मण्डपमें एक उदुम्बर वृक्षकी शाखा गाड़नी होती है। उस शाखाको स्पर्श कर उद्गाथा नामक ऋत्विक् सामगान करें, ऐसी श्रुति है। उदुम्बरकी शाखाको कपड़ेसे पूर्णतः ढक देवें, ऐसी भी एक स्मृति है, यह स्मृति उक्त वेदविरुद्ध है। क्योंकि, शाखाको पूर्णतः कपड़ेसे ढक देने पर उदुम्बरकी शाखा पर उपस्पर्श होगा अर्थात् उदुम्बर शाखासे संयुक्त वस्त्रका स्पर्श हो सकता है सही, पर उदुम्बर शाखाका स्पर्श नहीं हो सकता। उदुम्बरकी शाखाका स्पर्श करने पर समूची शाखाका वेष्टन नहीं हो सकता। अतएव सर्ववेष्टन स्मृति प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्ध है; इसलिये यह अप्रामाण्य है। आपत्ति हो सकती है, कि पूर्वानुभव नहीं रहने पर स्मृति वा स्मरण हो नहीं सकता, सर्ववेष्टन वेदविरुद्ध है, अतः सर्ववेष्टनके विषयमें पूर्वानुभव होनेका कोई भी कारण नहीं। फिर, पूर्वानुभवके बिना स्मरण असंभव है। भाष्यकारने इसके उत्तरमें कहा है, कि किसी ऋत्विक्‌ने लोभवशतः वस्त्र ग्रहण करनेके लिये शाखाको पूर्णतः वस्त्रवेष्टित कर दिया था; स्मृतिकर्त्ताने यह देख भ्रममें पड़ सर्ववेष्टनको वेदमूलक समझ सर्ववेष्टन स्मृतिका प्रणयन किया है।

वार्त्तिक ग्रन्थमें भाष्यग्रन्थ व्याख्यात और समर्थित होने पर भी वार्त्तिककार भाष्यकारके इस सिद्धान्तको असङ्गत समझ कर दूसरे सिद्धान्त पर पहुंचे हैं। उनका कहना है, कि यह अच्छी तरह स्थिर हो चुका है, कि सभी स्मृतियां वेदमूलक हैं। ऐसा कोई भी एक स्मृतिवाक्य प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्ध होने पर भी वह वेदमूलक नहीं; लोभादिमूलक है, यह किस प्रकार सिद्धान्त किया जा सकता है। सभी वेदवाक्य नाना शाखाओंमें प्रकीर्ण हैं। एक पुरुषका सभी वेदशाखाओंका पढ़ना बिलकुल असम्भव है। कोई कई शाखायें और दूसरे अन्यान्य कई शाखायें पढ़ते हैं। यह भी सोचनेकी बात है, कि सभी वेदवाक्य धर्मानुष्ठानके क्रमानुसार नहीं पढ़े जाते। उस प्रकार पढ़े जाने पर धर्मानुष्ठानके अनुरोधसे उनका सुप्रचार हो सकता था। साक्षात् सम्बन्धमें प्रचारित धर्मानुष्ठानके उपयोगी वेदवाक्य धार्मिकोंको अवश्य पढ़ने होते हैं। इसके अतिरिक्त

तथा धर्मानुष्ठानके क्रमानुसार अपरिपठित वेदवाक्योंका विरलप्रचार देख कर भविष्यमें इनके विलुप्त हो जानेकी आशङ्कासे परमकारुणिक स्मृतिकारोंने वेदवाक्यगत आख्यानादि अंशोंको छोड़ वेदवाक्योंका अर्थ सङ्कलन करके स्मृति प्रणयन की है।

उपाध्याय स्वयं कोई वेदवाक्य उच्चारण न करके भी यदि कहें, कि अर्थ वा विषय अमुक शाखामें वा अमुक स्थानमें पढ़ा जाता है, तो आप्त अर्थात् सज्जन और हितोपदेष्टा उपाध्याय पर पूर्ण विश्वास रहनेके कारण शिष्य उसीको ठीक समझ लेते हैं। उसी प्रकार स्मृतिवाक्य द्वारा भी वैसे ही वेदवाक्यका अस्तित्व विवेचित होना युक्तिसङ्गत है। मीमांसकके मतसे वेद नित्य हैं, किसीके भी बनाये नहीं हैं। अध्यापक परम्पराके उच्चारण वा पाठ द्वारा अर्थात् कण्ठ, तालु आदि स्थानोंमें आभ्यन्तरीण वायुके अभिघातसे जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसी ध्वनि द्वारा नित्य वेदकी केवल अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार न्यायके मतसे चक्षुरादिके सम्बन्धविशेष अर्थात् सम्बन्धविशेष द्वारा नित्य गोत्वादि जातिकी और आलोकादि द्वारा घटादिकी अभिव्यक्ति होती है; उसी प्रकार मीमांसकके मतसे कण्ठ, तालु आदि स्थानोंसे उत्पन्न ध्वनिविशेष द्वारा नित्य वेदका अभिव्यक्त होना असङ्गत नहीं हो सकता। अध्यापक वा अध्येताकी ध्वनिविशेष द्वारा जिस प्रकार वेदकी अभिव्यक्ति होती है, स्मृतिकर्त्ताओंके स्मरण द्वारा उसी प्रकार वेदकी अभिव्यक्ति होगी, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं। स्मृतिकर्त्ता भी एक समय शिष्योंको पढ़ाते थे, उस समय भी उनके उच्चारणसे वेदकी अभिव्यक्ति होती थी, सन्देह नहीं। तब फिर उनके स्मरणने क्या अपराध किया है, कि उससे वेदवाक्यकी अभिव्यक्ति न होगी? अतएव ध्वनिविशेष द्वारा अभिव्यक्त वेद और स्मृतिकर्त्ताओंके स्मरण द्वारा अभिव्यक्त वेद दोनों ही समान हैं, इनमें ज़रा भी तारतम्य वा बलाबलभाव नहीं हो सकता।

स्मृत्यर्थश्रुति अर्थात् जिस श्रुतिका अर्थ स्मृत हुआ है, वह श्रुति और पठित श्रुति ये दोनों ही समान बलके हैं। इनमें एक दूसरेको बाधा नहीं दे सकता। स्मृतिशास्त्रमेंसे कोई एक स्मृति यदि आद्योपान्त अवैदिक होती, तो शिष्ट लोग कभी भी उसका व्यवहार नहीं करते। केवल दूसरी दूसरी वैदिक स्मृतियोंका ही व्यवहार होता है। अवैदिक स्मृतिका त्याग होता है। यथार्थमें कोई भी स्मृति अवैदिक नहीं है। सभी स्मृति कठ और मैत्रायणीय आदि शाखापरिवेष्टित श्रुतिमूलक है, ऐसा देखनेमें आता है। इस पर वार्त्तिककार यह भी कहते हैं कि जब सभी स्मृतिशास्त्र वेदमूलक हैं, तब उनमेंसे एक वाक्य जिसका मूलीभूत वेदवाक्य हम लोगोंके दृष्टिगोचर नहीं होता, वह वेदमूलक नहीं है। हमें यह कहनेकी प्रवृत्ति नहीं होती, कि यह अन्यमूलक अर्थात् भ्रान्तिमूलक वा लोभमूलक है। जो नैयायिकम्मन्य प्रत्यक्ष अर्थात् अपना परिज्ञात श्रुतिविरुद्ध होने हीसे किसी स्मृतिवाक्यको अप्रामाण्य कह कर उपेक्षा वा परित्याग करते हैं, कालान्तरमें उनके उपेक्षित स्मृतिवाक्यकी मूलीभूत शाखान्तरपठित श्रुति जब उनके श्रवणगोचर वा ज्ञानगोचर होगी, तब उनकी मुखकान्ति कैसी हो जायेगी? इसमें सन्देह नहीं, कि उस समय वे अवश्य लज्जित हो जायँगे, केवल वही नहीं, जो अपने ज्ञान हीको पर्याप्त समझते हैं अर्थात् उनसे बढ़ कर दूसरा कोई नहीं है, ऐसा जिनका ख्याल है उन्हें पद पदमें लज्जित होना पड़ता है। उनकी बाधाबाध व्यवस्था भी अव्यवस्थित हो जाती है। क्योंकि वे अपना परिज्ञात श्रुतिविरुद्ध कह कर एक समय जिस स्मृतिवाक्यको अप्रामाण्य साबित करते हैं, पहले उन्हें यदि अपने अपरिज्ञात स्मृतिवाक्यको मूलीभूत शाखान्तर पठित श्रुति मालूम हो जाय, तो उसी स्मृतिवाक्यको उन्हें फिरसे प्रामाण्य वा अबाधित मानना पड़ेगा।

वार्त्तिककारने और भी कहा है, कि भाष्यकारने जो उदुम्बरकी शाखाको सर्वावेष्टनस्मृतिको श्रुतिविरुद्ध बताया है, वह युक्तिसंगत नहीं है। शाट्यायनि-ब्राह्मणमें प्रत्यक्ष पठित श्रुति ही उसका मूल है। औदुम्बरीय ऊर्द्ध्वभाग और अधोभागको पृथक् पृथक् वस्तु द्वारा वेष्टन करे, ऐसी प्रत्यक्षश्रुति शाट्यायनि-ब्राह्मणमें मौजूद है। वार्त्तिककार केवल इतना ही कह कर चुप नहीं हुए, इन्होंने श्रुतिको उद्धृत करके दिखला दिया औदुम्बरीवेष्टन स्मृति यदि श्रुतिमूल हुई, तो वह किसी भी मतसे स्पर्शश्रुति द्वारा बाधित नहीं हो सकती। क्योंकि दोनों ही जब श्रुति हैं

अर्थात् समान बलके हैं, तब कौन किसको बाधा दे सकती है ?

दर्शपौर्णमास यागमें जौ द्वारा होम करे, धान द्वारा होम करे, ऐसी दो श्रुति हैं। यहां जौ और धान दोनों ही प्रत्यक्षश्रुतिबोधित हैं। इस कारण जौ और धानका विकल्प सर्वसम्मत है। इच्छानुसार जौ या धान इनमेंसे किसी एक द्वारा होम करने हीसे यागसम्पन्न होगा। इसी प्रकार प्रकृतस्थलमें भी औदुम्बरीवेष्टन और औदुम्बरीस्पर्श करना, इन दोनों विषयको परस्पर विरुद्ध समझने पर भी जौ और धानकी तरह दोनोंका विकल्प है ऐसा सिद्धान्त करना ही भाष्यकारको उचित था। वेष्टन-स्मृतिको बाधित कहना युक्तिसंगत नहीं है। वेदमें यदि विकल्प बिलकुल न रहता, तो स्पर्शश्रुति-विरुद्ध होनेके कारण वेष्टन स्मृति अनादरणीय होने पर भी हो सकता था। किन्तु वेदमें सैकड़ों जगह विकल्प देखनेमें आता है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा, कि विकल्पकी जगह कल्पद्वय परस्पर विरुद्ध है, अतएव अपनी परिज्ञातश्रुतिके साथ विरोध होनेसे वेष्टनस्मृतिको अप्रामाण्य सिद्धान्त करना एकदम असङ्गत हुआ है। वस्तुगत्या किन्तु प्रकृत-स्थलमें विरोध भी नहीं होता। क्योंकि, केवल वेष्टन तो स्पर्शश्रुतिके विरुद्ध नहीं हो सकता। स्पर्शनयोग्य दो तीन उंगली भर स्थान छोड़ कर औदुम्बरीय उत्तर भागका स्पर्श करना ही उचित है। 'सर्वा औदुम्बरी वेष्टयितव्या' सूत्रकार ऐसा नहीं कहते। 'औदुम्बरी परिवेष्टयितव्या' यही सूत्रकारका वाक्य है; यहां परि शब्दका अर्थ सर्वभाग है अर्थात् ऊर्द्ध्वभाग और अधोभाग इन दोनों भागोंका वेष्टन करना ही सूत्रकारके वाक्यका तात्पर्य है। सभी स्थानका वेष्टन करना उसका अर्थ नहीं है। याज्ञिक लोग औदुम्बरीय दोनों भाग वेष्टन करते हैं सही, पर कर्णमूल प्रदेश वेष्टन नहीं करते।

वार्त्तिककारका कहना है, कि सर्ववेष्टन वाक्य लोभमूलक भाष्यकारका कल्पना-सङ्गत नहीं है। क्योंकि समूचीको वेष्टन न करके केवल मूल और अग्रभागको वेष्टन करनेमें कोई क्षति नहीं। फिर, यह भी सोचनेकी बात है, कि औदुम्बरीय साक्षात्स्पर्श किसी तरह सम्भव नहीं होता, क्योंकि पहले कुश द्वारा औदुम्बरीय वेष्टन करनेकी विधि है, पीछे कुशवेष्टित औदुम्बरीयको वस्त्र द्वारा वेष्टन करना होता है। याज्ञिक लोग ऐसा ही किया करते हैं। वस्त्रवेष्टन ही लोभमूलक होनेके कारण अप्रामाण्य हुआ, कुशवेष्टनको लोभमूलक नहीं कह सकते।

भाष्यकारको ऐसा सिद्धान्त करना भी उचित नहीं, कि तड़ाग आदिका उपदेश दृष्टार्थ है, धर्मार्थ नहीं। क्योंकि, वेदमें जिसे कर्त्तव्य बताया है, वही धर्म है, यह जैमिनिकी उक्ति है। इस बातको भाष्यकार भी अस्वीकार नहीं कर सकते। दृष्टार्थ होने हीसे धर्म होगा, इसका कोई भी कारण नहीं। प्रत्युत तण्डुल-निष्पत्तिके लिये यवादिका अवहनन, चूर्णके लिये तण्डुल पेषण आदि हजारों दृष्टार्थ कर्म वेदविहित होनेके कारण धर्मरूपमें माने गये हैं। चार्वाक प्रभृति विरुद्धवादी भी वेदविहित अदृष्टार्थ कर्ममें भी दृष्टार्थताकी कल्पना करते हैं। अतएव चाहे दृष्टार्थ हो चाहे अदृष्टार्थ, वेदमें जिसे कर्त्तव्य कहा हैं, वही धर्म है। वार्त्तिककारने इस प्रकार अनेक हेतु दिखलाते हुए भाष्यकारके मतका खण्डन किया है। उन्होंने भाष्यकारका मत खण्डन करके जैमिनि-सूत्रका दूसरी तरहसे अर्थ लगाया है।

वे कहते हैं, कि जब यह स्थिर हुआ, कि श्रुति और स्मृतिमें विरोध नहीं है, विरोध रहनेसे वह श्रुतिद्वयके विरोधरूपमें ही पर्यवसित होता, दोनों श्रुतिके विरोधकी जगह विकल्प होता है, अर्थात् भिन्न भिन्न श्रुतिप्रतिपादित भिन्न भिन्न कल्पोंमें इच्छानुसार किसी एक कल्पका अनुष्ठान करने हीसे अनुष्ठाता चरितार्थ होते हैं। तब जहां प्रत्यक्ष परिदृष्ट श्रुतिमें तथा स्मृतिमें भिन्न भिन्न रूपोंका कर्त्तव्य कहा गया है, वहां भी कोई एक अनुष्ठेय अवश्य होगा। उस अवस्थामें प्रयोग वा अनुष्ठानके नियमके लिये अनुष्ठाताओंके अत्यन्त हितैषिरूपमें जैमिनिने कहा है, कि श्रौत और स्मार्त्त पदार्थ परस्पर विरुद्ध होनेसे श्रौतपदार्थका अनुष्ठान होगा। श्रौतपदार्थके साथ विरोध न रहने पर स्मार्त्त-पदार्थ श्रौतपदार्थकी तरह अनुष्ठेय है। स्मृतिकार जाबालने कहा है—

"श्रुति स्मृति विरोधेतु श्रुतिरेव गरीयसी।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्त्तं वैदिकवत् सता॥"

श्रुति और स्मृतिका विरोध होनेसे श्रुति हीं गुरुतरा है। अविरोधकी जगह स्मार्त्तपदार्थ वैदिकपदार्थकी तरह अनुष्ठेय है। ऐसी व्यवस्थाका कारण यह है, कि सभी परप्रत्यक्षकी अपेक्षा सुप्रत्यक्ष पर अधिक विश्वास करते हैं। स्मृतिकी मूलीभूत शाखान्तर विप्रकीर्ण श्रुति है, परप्रत्यक्ष होने पर भी अनुष्ठाता अपनी प्रत्यक्षश्रुति पर अधिक निर्भर करनेको बाध्य हैं। जौ और धान दोनों ही प्रत्यक्ष श्रुतिविहित है, अतएव विकल्पित है। कोई अनुष्ठाता यदि उनमेंसे एक अर्थात् केवल जौ या केवल धानसे सर्वदा यागानुष्ठान करें तो उसमें जिस प्रकार दोष नहीं होता उसी प्रकार प्रकृतस्थलमें श्रौत वा स्मार्त्त इन दो-मेंसे किसी एकका अनुष्ठान शास्त्रानुसार होने पर भी केवल श्रौतपदार्थका अनुष्ठान करनेसे कुछ भी दोष नहीं हो सकता। प्रस्तावित जैमिनिसूत्रकी दूसरी तरहसे व्याख्या करके वार्त्तिककारने यह भी स्थिर किया है, कि इस सूत्र द्वारा शब्दादि स्मृतिके धर्ममें प्रामाण्य नहीं है, यही समर्थित हुआ है।

इस प्रकार वार्त्तिककारने कई जगह भाष्यकारका मत खण्डन करके अपना मत समर्थन किया है तथा कहीं कहीं वे सूत्रको भी खण्डन करनेसे बाज नहीं आये हैं। न्यायवार्त्तिककार उद्योतकरमिश्रने भी इसी प्रकार स्वाधीन भावसे अपना मत प्रकाश किया है। वार्त्तिक ग्रन्थमात्र ही इसी प्रकार स्वाधीन मत देते हैं।

(पु०) वृत्तिमधीते वेद वा वृत्ति (क्रतूक्थादिसूत्रान्तात् ठक्। पा ४।२।६०) ठक्। २ वृत्तिअध्ययनकारी, वृत्ति या आचारशास्त्रका अध्ययन करनेवाला। वृत्तौ साधुरिति वृत्ति (कथादिभ्यष्ठक्। पा ४।४।१०२) इति ठक्। ३ सूत्रवृत्तिमें निपुण। ४ प्रवृत्तिज्ञ, चर, दूत। ५ वैश्य जाति। ६ वार्त्तिकपक्षी, बटेर। ७ वार्त्ताकु, बैगन।

वार्त्तिककार (सं० पु०) वार्त्तिकं करोतीति अण्। वार्त्तिकग्रन्थके प्रणेता।

वार्त्तिककृत (सं० पु०) वार्त्तिकं करोतीति कृ क्विप् तुक्च। वार्त्तिककार।

वार्त्तिका (सं० स्त्री०) वार्त्तिक-टाप्। पक्षीविशेष, बटेर पक्षी।

वार्त्तिकाख्य (सं० स्त्री०) सामभेद।

वार्त्तिकेन्द्र (सं० पु०) किमियविद्यावित् (Alchemist)।

वार्त्रघ्न (सं० पु०) वृत्रघ्न इन्द्रस्यापत्यं पुमान् वृत्रहन् अण्। १ अर्जुन। २ जयन्त। (त्रि०) वृत्रघ्न-सम्बन्धीय। (भागवत ६।१२।३४)

वार्त्रतुर (सं० पु०) सामभेद।

वार्त्रहत्य (सं० त्रि०) वृत्रहननके निमित्त।

वार्द (सं० पु०) वार जलं ददातीति दा क। १ मेघ, बादल। (त्रि०) २ जलदाता।

वार्दर (सं० क्ली०) १ कृष्णलावीज, घुंघची। २ काकचिञ्चा। ३ दक्षिणावर्त्त शङ्ख। ४ भारती। ५ कृमिज। ६ जल। ७ आम्रवीज। ८ रेशम। ९ घोड़ेके गले परकी दाहिनी ओरकी भौंरी।

वार्दल (सं० क्ली०) वाग्भिः सलिलैर्दलतीति दल अच् सदा मेघाच्छन्नवृष्टिपातात्तथात्वं। १ दुर्दिन, बदली। (पु०) वार्दल्यतेऽत्रेति दल (पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण। पा ३।३।११८) इति घ। २ मेलानन्दा, दवात।

वार्द्ध (सं० पु०) वृद्धस्य गोत्रापत्यं (अनृष्यानतर्य्ये विदादिभ्योऽञ्। पा ४।१।१०४) इति अञ्। वृद्धका गोत्रापत्य।

वार्द्धक (सं० क्ली०) वृद्धानां समूहः (गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रेति। पा ४।२।३९) इत्यत्र 'वृद्धाच्चेति' काशिकोक्तः वुञ्। १ वृद्धसंघात, वृद्ध समूह। वृद्धस्य भावः कर्म्मवेति मनोज्ञादित्वात् वुञ्। वृद्धका भाव वा कर्म, बुढापा। (त्रि०) ३ वृद्ध, बूढ़ा।

वार्द्धक्य (सं० क्ली०) वार्द्धकमेव वार्द्धक्य चतुर्वर्णादित्वात्, स्वार्थे ष्यञ्। वृद्धावस्था, बुढापा। पर्याय--वार्द्धक वृद्धत्व, स्थाविरत्व। २ वृद्धि, बढ़ती।

वार्द्धक्षत्रि (सं० पु०) वृद्धक्षत्रका गोत्रापत्यं, जयद्रथ।

वार्द्धक्षेमि (सं० पु०) वृद्धक्षेमका गोत्रापत्य।

वार्द्धनी (सं० स्त्री०) जलपात्र।

वार्द्धायन (सं० पु०) वार्द्धस्य गोत्रापत्यं (हरितादिभ्योऽञः। पा ४।१।१००) इति फक्। वार्द्धका गोत्रापत्य, वृद्धका गोत्रज।

वार्द्धि (सं० पु०) वारि जलानि धीयन्तेऽत्रेति धा-कि। समुद्र।

वार्द्धिभव (सं० क्ली०) वार्द्धौ समुद्रे भवतीति भू अच्। द्रोणीलवण।

वार्द्धुषि (सं० पु०) वार्द्धुषिक पृषोदरादित्वात् कलोपः। वार्द्धुषिक, बहुत अधिक ब्याज लेनेवाला, सूदखोर।

वार्द्धुषिक (सं० पु०) वृद्ध्यर्थं द्रव्यं वृद्धिः तां प्रयच्छतीति (प्रयच्छति गर्ह्यं। पा ४।४।३०) इति ढक्। 'वृद्धेर्वृधुषि भावो वक्तव्यः' इति वार्त्तिकोक्तः वृधुषिभावः। वृद्धिजीवी, सूदखोर। पर्याय—कुसीदक, वृद्ध्याजीव, वार्द्धुषि, कुसीद, कुसीदक। (शब्दरत्ना०)

जो समान मूल्यमें धान आदि खरीद कर अधिक मूल्यमें देता है उसे वार्द्धुषिक कहते हैं। वार्द्धुषिक व्यक्तिको हव्य कव्यमें नियुक्त करना उचित नहीं।

ब्याज इच्छानुसार नहीं ले सकते, लेनेसे दण्डनीय होना पड़ता है। शास्त्रमें वृद्धि या ब्याज लेनेका निर्दिष्ट नियम है। याज्ञवल्क्यसंहितामें लिखा है, कि बंधो चोजमें सैकड़े पोछे अस्सी भागमें एक भाग माहवारी सूद और जो चीज बंधक नहो है उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंसे यथाक्रम सैकड़े पोछे सौ भागमें दो भाग, तोन भाग, चार भाग और पांच भाग अर्थात् ब्राह्मणको सौ पण कर्ज देने पर उनसे प्रतिमासमें दो पण, क्षत्रियसे तोन पण इत्यादि क्रमसे सूद लेवे।

जो वाणिज्यके लिये दुर्गम स्थानमें जाते हैं, वे सैकड़े पीछे बीस भाग सूद दें। अथवा सभी वर्णोंको चाहिये, कि वे सभी जातिको ऋणके समय अपनो अपनो निर्दिष्ट वृद्धि दें। बहुत दिनका ऋण रहने पर, फिर बीच बीचमें सूद नहीं लेने पर सूद कहां तक बढ़ सकता है, उसका विषय इस प्रकार लिखा है,—स्त्री, पशु अर्थात् गाय आदि यदि कर्जमें ली जायं तो उनका सूद उतना ही बढ़ेगा जितना बछड़ेका मूल्य होगा, रस अर्थात् घृत तैलादिका सूद मूलधनसे आठ गुना बढ़ेगा। वस्त्र, धान्य और सुवर्णका दूना, तिगुना और चौगुना सूद होगा। वार्द्धुषिक अर्थात् सूदखोरको इसी नियमसे सूद लेना चाहिये। (याज्ञवल्क्य स० २अ०)

मनुने (८ अ०) वृद्धिके विषयमें ऐसा ही लिखा है—उत्तमर्ण या महाजन यदि साधुओंका आचार स्मरण कर बन्धकरहितकी जगह प्रतिमासमें सैकड़े पीछे दो पण सूद ले, तो उसे पापी नहीं होना पड़ता, सूदखोर महाजन इसी प्रकार अपना दायित्व समझ कर वर्णानुसार ब्राह्मण ऋणासे सैकड़े पीछे दो पण, क्षत्रियसे तीन पण, वैश्यसे चार पण और शूद्रसे पांच पण सूद माहवारी के हिसाबसे ले सकता है।

एक मास, दो मास वा तोन मासके करार पर यदि कोई कर्ज ले और साल भर बीत जाये, तो महाजनको उचित नहीं कि उससे करारसे अधिक एक पैसा भी सूद लेवें। अथवा उसे अशास्त्रोय सूद लेना भी युक्तिसंगत नहीं है। चक्रवृद्धि, कालवृद्धि अर्थात् मूलधनसे दूनी अधिक वृद्धि, कारिता (विपदमें पड़ कर ऋणा जो सूद देना कबूल करता है) तथा कारिकावृद्धि अर्थात अतिशय पीड़नादि द्वारा लब्ध वृद्धि, ये चारों प्रकारकी वृद्धि विशेष निन्दित है। यदि प्रतिमास सूद न ले कर असल और सूद एक साथ लेना चाहे, तो वह मूलधनके दूनेसे अधिक नहीं ले सकता। (मनु ८ अ०)

भगवान् मनुने कहा है, कि सूदखोरका अन्न नहीं खाना चाहिये, खानेसे विष्ठा खानेके समान पाप होता है, क्योंकि उसका अन्न विष्ठा सदृश है।

सभी शास्त्रोंमें वृद्धिजोवोंको निन्दित कहा है, विशेषतः ब्राह्मणके लिये यह दोषावह और पातित्यजनक है।

वार्द्धुषिन् (सं० पु०) वृद्धिजोवी, सूदखोर।

वार्द्धुषी (सं० स्त्री०) अधिक ब्याज पर कर्ज देना।

वार्द्धुष्य (सं० क्ली०) वार्द्धुषेर्भाव, वार्द्धुषि ष्यञ्। धान्यवर्द्धन, अन्नको अधिक ब्याज पर देनेका व्यवसाय। यह निन्दित कार्य है।

वार्द्धेय (सं० क्ली०) वार्द्धेः समुद्रस्येदमिति वार्द्धि ढञ्। द्रोणीलवण। (राजनि०)

वार्द्ध्र (सं० क्ली०) वर्द्ध्र इदमिति वर्द्ध्री (चर्मणोऽञ्। पा ६।१।१५) इति अञ्। चर्मरज्जु, चमड़ेको बद्धी।

वार्द्ध्रीणस (सं० पु०) वार्द्ध्रीव नासिकास्येति (अञ् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात्। पा ५।४।११८) इति अच् नसादेशश्च (पूर्वपदात् संज्ञायामगः। पा ८।४।३) इति णत्वं। १ पशु विशेष, गैंड़ा। गण्डार देखो। २ छाग भेद, वह बधिया बकरा जिसका रंग सफेद हो और

जिसके कान इतने लम्बे हों कि पानी पीते समय पानीसे छू जाय। इस प्रकारका बकरा हव्य और कव्यमें प्रशंसनीय है। ३ एक प्रकारका पक्षी। इसका शिर लाल, गला नीला और पैर काले और पंख सादा होता है। प्राचीन कालमें इस पक्षीका बलिदान विष्णुके उद्देशसे होता था। इसके मांससे यदि पितरोंके उद्देशसे श्राद्ध किया जाय, तो वे अत्यन्त तृप्त होते हैं। इसके सिवा वार्द्धीणस नामक एक और भी पक्षी है जिसका पैर, शिर और नेत्र लाल तथा बाकी अङ्ग काला होता है।

"रक्तपादो रक्तशिरा रक्तचक्षुर्विहङ्गमः।
कृष्णावर्णेन च तथा पक्षी वार्द्धीणसो मतः"
(मार्कण्डेयपु०)

वार्द्धीनस (सं० पु०) वार्द्धीव नासिका यस्य, नासायाः नसादेशः। १ गण्डक, गैंड़ा। २ पक्षिविशेष।

वार्भट (सं० पु०) वारि जले भट इव। १ कुम्भीर, घड़ियाल। २ शिशुमार, सूंस नामक जलजन्तु।

वार्मण (सं० क्ली०) वर्मणां समूह वर्मन् (भिक्षादिभ्यो अण्। पा ४।२।३८) इति अण्। वर्मसमूह।

वार्मतेय (सं० त्रि०) वर्मती अभिजनोऽस्य (तूदीशलातुरवर्मतीत्यादि। पा ४।३।९४) इति ढक्। वर्मती जिसका अभिजन या वंश है।

वार्मिकायणि (सं० पु०) वर्मिणो गोत्रापत्यं (वाकिनादीनां कुक् च। पा ४।१।१५८) इति वर्मिण फिञ् कुकागमश्च। वर्मिका गोत्रापत्य।

वार्मिक्य (सं० क्ली०) वर्मिकस्य भावः कर्म वा (पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्। पा ५।१।१२८) इति यक्। वर्मिभाव या कर्म।

वार्मिण (सं० क्ली०) वर्मिणां समूहः वर्मिण अण्। वर्मिसमूह।

वार्मुच (सं० पु०) वाः वारि मुञ्चतीति मुच्-क्विप्। १ मेघ बादल। २ मुस्तक, मोथा।

वार्य्य (सं० त्रि०) वारि-ण्यत्। १ वारि-सम्बन्धी, जल सम्बन्धी। वृङ् सम्भक्तौ (ऋहलोर्ण्यत्। पा ३।१।१२४ इति ण्यत्। २ वरणीय, ऋत्विज्। ३ निवारणीय, जिसका निवारण हो सके। ४ जिसे वारण करना हो, जिसे रोकना हो।

वार्य्यमाण (सं० त्रि०) निवारित, जो रोका गया हो।

वार्य्ययन (सं० क्ली०) जलाशय। (भाग० १२।२।६) ५

वार्य्यामलक (सं० पु०) जल आँवला। ८

वार्य्युद्भव (सं० त्रि०) वारिणि उद्भव उत्पत्तिर्यस्य। १ पद्म, कमल। (त्रि०) २ जलजातमात्र, पानीमें होनेवाला।

वार्य्युत्पजीविन् (सं० त्रि०) जलजीवी।

वार्य्योकस् (सं० त्रि०) वारि ओकः अवस्थानं यस्य। जलौका, जोंक।

वाराशि (सं० पु०) वारां राशिर्यत्र। समुद्र।

वार्वट (सं० पु०) वार्भि वंट्यते वेष्ट्यते इति घञर्थे क। वहित्र, नाव, बेड़ा।

वार्वणा (सं० स्त्री०) नीलीमक्षिका, नीले रंगकी मक्खी।

वार्वर (सं० त्रि०) वर्वर सम्बन्धि।

वार्वरक (सं० त्रि०) वार्वर-स्वार्थे कन्। ववर सम्बन्धी।

वार्श (सं० क्ली०) सामभेद।

वार्शिला (सं० स्त्री०) वार्जाता शिला शाकपार्थिवादित्वात् समासः। करका, ओला।

वार्ष (सं० त्रि०) १ वर्षासम्बन्धीय। २ वर्षसम्बन्धीय।

वार्षक (सं० क्ली०) वर्षस्येदं वर्ष-अण्, स्वार्थे कन्। पुराणानुसार पृथ्वीके दश भागोंमेंसे एक भागका नाम जिसे सुद्युम्नने विभक्त किया था।

वार्षगण (सं० पु०) वैदिक आचार्यभेद।

वार्षगणीपुत्र (सं० पु०) वैदिक आचार्यभेद।

वार्षगण्य (सं० पु०) आचार्यभेद।

वार्षद (सं० त्रि०) वृषद-अण्। आंश, अंशसम्बन्धी। (उण् ५।२१)

वार्षदंश (सं० पु०) गोत्रभेद।

वार्षपर्वणी (सं० स्त्री०) वृषपर्वाकी स्त्री अपत्य।

वार्षभ (सं० त्रि०) वृषभसम्बन्धीय।

वार्षभाणवी (सं० स्त्री०) वृषभाणोरपत्यं स्त्री वृषभाणु-अण्। वृषभाणुकन्या, श्रीराधा। (पाद्मोत्तरख० ६७ अ०)

वार्षल (सं० त्रि०) वृषलस्य भावः कर्म वा वृषल (हायनान्तयुवादिभ्योऽण्। पा ५।१।१३०) इति अण्। वृषलका भाव वा कर्म, शूद्रका भाव या कर्म।

वार्षलि (सं० स्त्री०) वृषल्याः अपत्यं वृषली (वाह्वादिभ्यश्च । पा ४।१।९६) इति इञ् । वृषलीका अपत्य ।

वार्षशतिक (सं० त्रि०) वर्षशतसम्बन्धीय ।

वार्षसहस्रिक (सं० त्रि०) सहस्र वर्षसम्बन्धीय ।

वार्षाकप (सं० त्रि०) वृषाकपि सम्बन्धीय ।

वार्षागिर (सं० पु०) ऋङ्मन्त्र-द्रष्टा वृषागिरके पुत्र ।

वार्षायणि (सं० पु०) वर्षायणके अपत्य ।

वार्षाहर (सं० क्ली०) सामभेद ।

वार्षिक (सं० क्ली०) वर्षासु जातमिति वर्षा (वर्षाभ्यष्ठक् । पा ४।३।१८) इति ठक् । १ त्रायमाणा, बनफशेकी तरह एक प्रकारकी लता । २ धूना, धूप । (त्रि०) वर्षे भवः वर्ष (कालात् ठञ् । पा ४।३।११) इति ठञ् । ३ वर्षसम्बन्धी । ४ जो प्रति वर्ष होता हो, सालाना । ५ वर्षाकालोद्भव, वर्षाकालमें होनेवाला ।

वार्षिकी (सं० स्त्री०) वर्षासु भवा वर्षा ठक् ङीष् । १ त्रायमाणा लता । २ वर्षाभव मल्लिकाभेद, वर्षामें होनेवाला वेलेका फूल (Jasminum sumbac) । इसका गुण—शीतल, हृद्य, सुगन्ध, पित्तनाशक, कफ, वात विस्फोट और कृमिदोषनाशक । (राजनि०) इस फूलके तेलमें भी वहीं सब गुण पाये जाते हैं । ३ कासबीज, मोगरा ।

वार्षिक्य (सं० त्रि०) वार्षिक कृत्य ।

वार्षिला (सं० स्त्री०) वार्जाता शिला (शाकपार्थिवादिनायुपसंख्यानं उत्तरपदलोपश्च । पा २।१।६०) शाकपार्थिवादिवत् समासः ; पृषोदरादित्वात् शस्य षः । करका, ओला ।

वार्षुक (सं० त्रि०) वर्षुक-स्वार्थे ष्ण । वर्षणशील, बरसनेवाला ।

वार्ष्टिहव्य (सं० पु०) वृष्टिहव्यके पुत्र उपस्तुत, ऋङ्मन्त्र-द्रष्टा एक ऋषि ।

वार्ष्ट्य (सं० त्रि०) वृष्टिके योग्य ।

वार्ष्ण (सं० पु०) वृष्णिवंश्य, कृष्ण ।

वार्ष्णि (सं० पु०) वृष्णिवंश ।

वार्ष्णिक (सं० पु०) वृष्णिकस्य गोत्रापत्यं वृष्णिक (शिवादिभ्योऽण् । पा ४।१।११२) इति अण् । वृष्णिकके गोत्रापत्य ।

वार्ष्णिवृद्ध (सं० त्रि०) वृष्णिवृद्धके अपत्यसम्बन्धी ।

वार्ष्णेय (सं० पु०) वृष्णिवंशसम्भूत, श्रीकृष्णचन्द्र ।

वार्ष्ण्य (सं० पु०) कृष्ण ।

वार्ष्मण (सं० त्रि०) वर्ष्मासम्बन्धी ।

वार्ष्मायणि (सं० पु०) वर्ष्मायणके गोत्रापत्य ।

वार्हत (सं० क्ली०) वृहत्याः फलमिति (प्लक्षादिभ्योऽण् पा ४।३।१६४) इति अण्, विधानसामर्थ्यात् तस्य फलेन लुक् । वृहती फल, बड़ी कंटाईका फल ।

वार्हद्रथ (सं० पु०) वृहद्रथस्यापत्यं पुमान् वृहद्रथ-अण् । १ जरासन्ध । वृहद्रथस्येदमिति अण् । (त्रि०) २ जरासन्ध-राजसम्बन्धी ।

वार्हद्रथि (सं० पु०) वृहद्रथस्यापत्यं पुमान वृहद्रथ-इञ् । जरासन्ध ।

वालंटियर (अ० पु०) १ वह मनुष्य जो बिना किसी पुरस्कार या वेतनके किसी कार्य्यमें अपनी इच्छासे योग दे, स्वेच्छासेवक । २ वह सिपाही जो बिना वेतनके अपनी इच्छासे फौजमें सिपाही या अफसरका काम करे, वलमटेर ।

वाल (सं० पु०) १ केश । २ बालक । वाल देखो ।

वालक (सं० पु० क्ली०) वाल-कन् । १ परिधार्य वलय, कङ्कण । २ अंगुरीयक, अंगूठी । ३ गन्धद्रव्यविशेष, बालछड़ । बाल एव स्वार्थे कन् । ४ शिशु, बालक । ५ अज्ञता, मूर्खता । ६ हयवालधि, घोड़ेकी दुम । ७ हस्तिवालधि, हाथीकी दुम । ८ हीवेर, सुगन्धवाला । ९ केश, वाल ।

वालखिल्य (सं० पु०) १ वालखिल्य मुनि । इनकी संख्या ६० हजार है । २ ऋग्वेदके ८म मण्डलके सूक्तभेद ।

वालदैन (अ० पु०) माता पिता, मां बाप ।

वालधि (सं० पु०) वालाः केशाः धीयन्तेऽत्र वाल-धा-कि । केशयुक्त लाङ्गूल, दुम, पूंछ । २ चामर ।

वालधिप्रिय (सं० पु०) चमरी मृग ।

वालपाश्या (सं० स्त्री०) वालपाशे केशसमूहे साधुः तत्र साधुरिति यत् । सीमन्तिकास्थित स्वर्णादि रचित पट्टिका, एक प्रकारकी सोनेकी मांगटीका जिसे स्त्रियां मांग पर पहनती हैं । २ वालपाशस्थित मणि ।

वालबन्ध (सं० पु०) १ केशबन्धन, जूड़ा बांधना । २ बालक आदिका बन्धन ।

वालम्मदेश (सं० पु०) जनपदभेद।

वालव (सं० पु०) वव आदि ग्यारह करणोंमेंसे दूसरा करण। यह करण शुभ करण है। शुभकार्यादि इस करणमे किये जा सकते हैं। इस करणमें यदि किसीका जन्म हो, तो वह बालक कार्यकुशल, स्वजनपालक, उत्तम सेनापति, कुलशीलयुक्त, उदार और बलवान् होता है। (कोष्ठीप्र०)

वालवर्त्ति (सं० स्त्री०) वालनिर्मिता वर्त्ति, बालोंकी बनी हुई बत्ती।

वालवाय (सं० क्ली०) वैदूर्य्यमणि, लहसुनिया।

वालवायज (सं० क्ली०) वैदुर्य्यमणि।

वालव्यजन (सं० क्ली०) वालस्य चमर पुच्छस्य वालेन वा निर्मितं व्यजनं। चामर। पर्याय—रोमपुच्छ, प्रकीर्णक। (हेम)

वालहस्त (सं० पु०) वाला-हस्त इव मक्षिकादीनां निवारकत्वात्। १ वालधि, पूंछ, दूम। (त्रि०) वालानां केशानां हस्तः समूहः। २ केशसमूह।

वालसेविक (Volshevik)—वालसेविज्म नीतिका परिपोषक। Russian Social Democrat party के मतका और पीछे उनके कार्योंका नाम वालसेविज्म रखा गया है। किन्तु इस मतकी उत्पत्ति और उसकी परिपुष्टि केवल रूसमें ही हुई थी, सो नहीं। यह यूरोपीय साम्यवादीकी ही एक शाखा है।

आधुनिक वालसेविक मतवादकी उत्पत्तिका विषय कहनेमें सबसे पहले मार्क (K. Marx) और एङ्गेलसके (F. Engels) १८४७ ई०के Communist manfiestoका उल्लेख करना आवश्यक है। उन लोगोंकी इस घोषणाको चरम साम्यवादियोंने मन्त्रवत् स्वीकार कर लिया है; तथा रूसमें साम्यवादिकगणतन्त्र (a Commununist republic) को प्रतिष्ठित करनेके लिये इस घोषणाने रूस बाल सेविकके निकट पथप्रदर्शकका काम किया है। इसके बाद एक दूसरे रूसविप्लवीका नाम उल्लेखनीय है। जिनके कार्यकलाप और प्रयत्नसे इस मतवादकी नींव और भी मजबूत हो गई था उनका नाम था बाकुनिन (Bakunin)। राजतन्त्र और आईनको वे शत्रुवत् समझते थे। अच्छे बुरेका विचार न करके राजतन्त्र और आईनमें छेड़ छाड़ करना ही उनके जीवनका मूलमन्त्र था। इसी समय फ्रान्स देशमें Syndicalism का प्रचार हुआ। इस प्रकार उपरोक्त तीन प्रकारके मतवादके एकत्र मिलनेसे वालसेविज़मके तीन प्रधान आदर्श (निम्न श्रेणी द्वारा समाज अधिकार, विप्लव खड़ा करनेकी शक्ति तथा छोटे दलसे प्रतिनिधि चुनना) संगठित हुए। इधर रूसकी प्रजा सभी मतोंकी उपेक्षा करके इसी मतको काममें लानेकी तैयारी करने लगी। १९१७ ई०से जब वालसेविकगण रूसमें शक्तिशाली हो रहे थे, तभीसे उनका मत साम्यवाद (Communism) कहलाने लगा है।

मार्कको मतानुयायी निम्न श्रेणीसे प्रतिनिधि चुननेके लिये जारके शासनकालमें ही The Russian social Democrat partyका संगठन हुआ। लण्डनमें १९०३ ई० को इसके दूसरे अधिवेशनमें यह दल फिर दो भागोंमें विभक्त हो गया। पहला दल वालसेविक या मुख्य दल और दूसरा मेन-सेविक या गौणदल नामसे प्रसिद्ध हुआ। वालसेविक दलमें सदस्योंकी संख्या २६ और मेनसेविक दलमें सिर्फ २५ थी। १९१० ई०के बाद ये दोनों दल फिर एक साथ न मिले। १९१२ ई०में लेनिन (Lenin) के नेतृत्वमें वालसेविकोंने प्रेग बैठकमें पुराने दलको न मान कर 'हम लोग ही मालिक हैं' इस प्रकार घोषणा कर दी। इस पर मेनसेविक दलने जब उनके साथ छेड़खानी की, तब इन लोगोंने 'सभी प्रकारके प्रजातन्त्रको दूर कर अभी सोभियट शासन पद्धतिका प्रचार करना होगा' यही स्थिर किया। इस शासन-पद्धतिका अर्थ यह है सारी शक्ति सिर्फ एक गवर्मेण्टके हाथ रहेगी, उस गवर्मेण्टका प्रधान कर्म विप्लव खड़ा करना होगा और उसकी शासन-पद्धतिका देशके अन्यान्य दलोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीदल ही तनमनसे पालन करेगा। मेनसेविक दल एक प्रजातन्त्र-मूल शासनपद्धति चाहता है और कृषकोंके साथ मेल करना अपना कर्त्तव्य समझता है।

१९०५ ई०के विप्लवयुगमें विप्लवी कर्मीसङ्घ (Revolutionary workers' councils) सबसे पहले बड़े बड़े कल कारखानोंमें दिखाई दिये और उन्हें बहुत कुछ सफलता भी मिली। गत महायुद्धके पहलेसे

लेकर युद्धके समय तक वालसेविकोंका विप्लवकारी कार्यकलाप दिनों दिन वढ़ता गया। साम्यवादियोंकी (Communists) पद्धतिके अनुयायी सैनिकों तथा कलकारखानोंमें असन्तोषका बीज बोया गया। इसीके फलसे १९१७ ई०को जार गवर्नमेण्टका पतन हुआ तथा केरेनस्की (Kerensky)के कुछ समय शासन करनेके बाद वालसेविकोंने पूरा अधिकार हासिल किया और एक नया शासनतन्त्र चलाया जिसका नाम रखा गया 'सोवियेट' (Soviet) वा शासनपरिषद द्वारा परिचालित शासनतन्त्र। अन्यान्य विवरण रूस और साइवेरिया शब्दमें देखो।

वाला (सं० स्त्री०) १ स्वनामख्यात औषधविशेष। २ इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राके मेलसे बने हुए उपजाति नामक सोलह प्रकारके वृत्तोंमेंसे एक। इसके पहले तीन चरणोंमें दो तगण, एक जगण और दो गुरु होते हैं तथा चौथे चरणमें और सब ही रहता है, सिर्फ प्रथम वर्ण लघु होता है।

वालाक्षी (सं० स्त्री०) वालाः केशाइव अक्षिसदृशश्च पुष्पं यस्याः। केशपुष्पा वृक्ष, एक पौधा जिसके फूलोंके दल आंखके आकारके लगते हैं। पर्याय—मानसी, दुर्गपुष्पी, केशधारिणी।

वालाग्र (सं० क्ली०) १ केशाग्र। २ एक प्राचीन मान जो आठ रजका माना जाता था।

वालाग्रपोतिका (सं० स्त्री०) लताविशेष।

वालि (सं० पु०) वाले केशे जातः वाल-इञ्। कपि विशेष, किष्किन्धाका वानर राजा जो अङ्गदका पिता और सुग्रीवका वडा भाई था। पर्याय -वाली, वानर राज। विशेष विवरण वालि शब्दमें देखो।

वालिका (सं० स्त्री०) वाला एव वाल स्वार्थे-कन् टाप् अत इत्वं। १ वाला, कन्या। २ वालुका, वालू। ३ स्वर्णभूषण, वाला। ४ एला, इलायची।

वालिकाज्यविध (सं० पु०) वालिकाज्य देश।

(पा ४।२।५४)

वालिकायन (सं० त्रि०) वलिकमें होनेवाला।

वालिखिल्ल (सं० पु०) पुलस्त्यकी कन्यासन्ततिके गर्भसे और क्रतुके औरससे उत्पन्न साठहजार ऋषिविशेष, वालखिल ऋषि। प्रत्येक ऋषि डील डौलमें अंगूठेके बराबर हैं। (कूर्मपु० १२ अ०)

वालिद (अ० पु०) पिता, बाप।

वालिन् (सं० पु०) वाल-एव उत्पत्तिस्थानत्वेन विद्यते यस्य, वाल-इनि। १ इन्द्रके पुत्र वानरराज, अङ्गदका पिता और सुग्रीवका बड़ा भाई। अमोघवीर्य इन्द्रदेवके वीर्य वालदेशमें गिरनेसे इसकी उत्पत्ति हुई, वाली नाम पड़नेका यही कारण है। वालि देखो।

वालाः केशाः सन्त्यस्य वाल-इनि। (त्रि०) २ वालविशिष्ट।

वाली (सं० पु०) वालिन् देखो।

वालु (सं० स्त्री०) वलतेऽनेन वल-प्राणने वल-उण्। एलवालुक नामक गन्धद्रव्य।

वालुक (सं० क्ली०) वालुरेव स्वार्थे-कन्। १ एलवालुक, एक गन्धद्रव्य। (पु०) २ पनियालू।

वालुका (सं० स्त्री०) वालुक-टाप्। १ रेणुविशेष, बालू। पर्याय---सिकता, सिक्ता, शीतल, सूक्ष्मशर्करा, प्रवाही, महासूक्ष्मा, पानीयवर्णिका। गुण – मधुर, शीतल, सन्ताप और भ्रमनाशक। (राजनि०) २ शाखा। ३ हस्तपादादि, हाथ पैर। ४ कर्कटी, ककड़ी। ५ कर्पूर, कपूर। ६ वैद्यकोक्त यन्त्रविशेष, बालुकायन्त्र।

वालुकागड़ (सं० पु०) वालुकयाः गड़तीति तस्मात् क्षरति यः वालुकागड़ पचाद्यच्। मत्स्यविशेष, एक प्रकारकी मछली। पर्याय—सिताङ्ग।

वालुकात्मिका (सं० स्त्री) वालुकाद्वात्मा स्वरूपो यस्याः कन् अत इत्वं। १ शर्करा, चीनी। (त्रि०) बालुका आत्मा यस्य। २ बालुकामय।

वालुकाप्रभा (सं० स्त्री) वालुकानामुष्णरेणुनां प्रभायस्यां। एक नरकका नाम।

वालुकायन्त्र (सं० पु०) औषध सिद्ध करनेका एक प्रकारका यन्त्र।

वालुकी (सं० स्त्री०) १ कर्कटीभेद, एक प्रकारकी ककड़ी। पर्याय— वहुफला, स्निग्धफला, क्षेत्रकर्कटी, क्षेत्ररुहा, कान्तिका, मूत्रला। (राजनि०)

वालुकेश्वरतीर्थ (सं० क्ली०) तीर्थभेद।

वालुङ्की (सं० स्त्री०) कर्कटीभेद, एक प्रकारकी ककड़ी।

वालूक (सं० पु०) वलते प्राणान् हन्ति यः वल वधे ऊक् । विषभेद, एक प्रकारका जहर ।

वालेय (सं० पु०) वलये उपकरणाय साधुः वलि (छदिरुपधिवले ठञ् । पा ५।१।१३) इति ठञ् । १ रासभ, गदहा । २ दैत्यविशेष, वलिके पुत्र । दैत्यराज वलिके वाण आदि सौ पुत्र थे जो वालेय कहलाते थे । (अग्निपुराण) ३ जनमेजय वंशोद्भव सुतमस राजाके पुत्र का नाम । इनके पांच पुत्र थे, वे सभी वालेय नामसे प्रसिद्ध थे । (हरिवंश ३१ अ०)

४ अङ्गावल्लकी, एक प्रकारका करंज । ५ चाणक्य-मूलक । ६ तण्डुल, चावल । ७ वितुन्न वृक्षकी छाल । ८ पुत्र, बेटा । (त्रि०) ९ मृदु, कोमल । १० वालहित । ११ वलियोग्य ।

वाल्क (सं० पु०) वल्कस्य वल्कलस्य विकारः वल्क (तस्य विकारः । पा ४।३।१३४) इति अण् । वल्क सम्बन्धी वस्त्र, क्षौमादि वस्त्र । शास्त्रमें लिखा है कि वाल्क चुराने वाला वगलायोनिमें जन्म लेता है ।

वाल्कल (सं० त्रि०) वल्कलस्येदं अण् । वल्कल निर्मित, छालका बना हुआ ।

वाल्कली (सं० स्त्री०) मदिरा, गौड़ी मद्य ।

वाल्गव्य (सं० पु०) वल्गुगोत्रापत्यार्थे (गर्गादिभ्ये यञ् । पा ४।१।१०५) इति यञ् । वल्गुका गोत्रापत्य ।

वाल्मिकि (सं० पु०) वल्मिके भवः वल्मिक-इञ् । वाल्मीकि मुनि ।

वाल्मिकीय (सं० त्रि०) वाल्मिकि (गहादिभ्यश्च । पा ४।२।१३८) इति छ । वाल्मीकि-सम्बन्धीय ।

वाल्मीक (सं० पु०) वल्मीके भवः वल्मीक-अण् । दीमक-से उत्पन्न मुनिविशेष, वाल्मीकि मुनि ।

वाल्मीकभौम (सं० क्री०) वल्मीकपूर्ण देश ।

वाल्मीकि (सं० पु०) वल्मीके भव वल्मीक इञ्, वा वल्मीकप्रभवो यस्माद् वाल्मीकिरित्यसौ इति ब्रह्मवैवर्त्तोक्तेः । भृगुवंशीय मुनिविशेष ।

ये प्रचेता ऋषिके वंशके अधःस्तन दशवें पुरुष हैं । तमसानदीके तट पर इनका आश्रम था । एक बार ये तमसा नदीके निर्म्मल जलमें स्नान करनेकी इच्छासे अपने शिष्य भरद्वाज मुनिके साथ वहां उपस्थित हुए । शिष्यको स्नानादिक करके उपयुक्त एक सुन्दर घाट बता और उनको वहीं ठहरनेको कह अपने निकटके वनमें घुमने लगे । ऐसे समय उन्होंने देखा, कि एक पापमती निषादने अकारण किसी कामविह्वल क्रौञ्चको मार डाला । व्याध द्वारा आहत हो कर रक्ताक्त कलेवर क्रौञ्च धरातल पर पड़ा छटपट रहा था, ऐसे समय चिरविरह व्यथाका अनुभव कर क्रौञ्च छाती पीट पीट कर रोने लगी । ये सब घटनायें देख महामुनि वाल्मीकिके मनमें दयाका उद्रेक हुआ । क्रौञ्चीके दुःखसे दुःखित हो कर बाल्मीकिने बड़े कठोर वचनोंसे कहा,—"रे नीच निषाद ! तूं कभी भी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकेगा, क्योंकि तुम इस कामविमोहित क्रौञ्चका अकारण वध किया ।" व्याधको इस तरह अभिशाप दे कर यह कातर मनसे शिष्यके पास चले । वहां इन्होंने जा कर शिष्यसे सब बातें कहीं और यह भी कहा; कि शोकसन्तप्त हृदयसे मेरे कण्ठ द्वारा पादवद्ध समाक्षर तन्त्रीलययुक्त जो वाक्य निकला है, वह श्लोकरूपमें गण्य हो, अन्यथा न हो । यह सुन कर शिष्य भरद्वाज भी परम आह्लादित हुए । पीछे गुरु-शिष्य सन्तुष्ट-चित्तसे तमसाके निर्मल जलमें स्नानाह्निक समाप्त कर आश्रमको ओर पधारे । आश्रममें जा कर बाल्मीकि अन्यान्य कथावार्त्तामें व्यस्त थे सही, किन्तु इनके हृदयमें श्लोककी चिन्ता जागरित थी । इसी समय सर्वलोक-पितामह पद्मयोनि ब्रह्मा बाल्मीकिसे भेंट करनेके लिये इनके आश्रममें आ पहुंचे । उनको देख महामुनि बाल्मीकिने शीघ्र ही उठ कर पाद्य-अर्घ्य-आसनसे उनको यथाविधि पूजा की । ब्रह्माने इनके द्वारा समादृत और पूजित हो कर इनके दिये हुए आसन पर बैठ इनको भी आसन पर बैठनेको कहा । दोनों यथोपयुक्त आसन पर बैठ गये । अब इस समय ब्रह्मा आश्रमके प्रत्येक पुरुषकी कुशल पूछने लगे । महामुनि बाल्मीकि उनके प्रश्नोंका उत्तर देते जाते थे ; किन्तु इनके मनमें रह रह कर उस क्रौञ्चकी बात जागरित हो उठती थी । इनके मुंहसे एक बार निकल आया—"रे पापात्मा निषाद ! तूंने अकारण क्रौञ्चको मार कर अपयश लिया ।"

बाल्मीकि ब्रह्माके समीप बैठ कर हृदयमें उन क्रौञ्च-क्रौञ्चीके दुःखका स्मरण कर श्लोककी आवृति कर रहें

थे। ब्रह्माने मुनिको इस तरह शोकपरायण देख हृष्ट चित्तसे हास्यमुखसे मीठे वचनोंमें उनसे कहा, कि तुम्हारे कण्ठसे निकला यह वाक्य मेरे ही संकल्पसे हुआ है। यह तुम निश्चय समझो। अतएव इस विषयमें अबसे तुम अपने मनमें शोक न करो। तुम्हारा यह वाक्य ही जगत्‌में श्लोक कह कर प्रचारित हो। तुम इस श्लोकका ही अवलम्बन कर त्रैलोक्यनाथ भगवान् रामचन्द्रका यावतीय चरित्र-वर्णन कर अक्षय कीर्त्ति स्थापन करो। इस जगत्‌में जब तक सूर्य्य, चन्द्र, नद, नदी, ग्रह, नक्षत्र आदि विद्यमान रहेंगे, तब तक जनसाधारणमें तुम्हारी यह रामगुणगाथा (रामायण) समुत्सुक चित्तसे सुनी जायेगी और पढ़ी जायेगी। स्वर्ग और मर्त्यमें तुम्हारा नाम अमर होगा।

पितामह ब्रह्मा ऐसा इनको उपदेश दे कर वहांसे अन्तर्हित हुए। इसके बाद सशिष्य वाल्मीकि विस्मय-सागरमें निमग्न हुए। इसके बाद तपोधन वाल्मीकिने रामायण-रचनामें मन लगाया। पहले उन्होंने महर्षि नारदके मुंहसे रामचन्द्रकी संक्षिप्त जीवनी सुनी थी; किन्तु इनको रामायणकी रचना करनी थी; इससे विशेषरूपसे भगवान् रामचन्द्रकी जीवनी जाननी पड़ी। थे इसके लिये समुत्सुक हो पूर्वकी ओर मुंह कर आसन पर बैठे और आचमन कर कृताञ्जलिपूर्वक नेत्र मूंद कर ध्यानमग्न हुए। योगबलसे राजा दशरथके वृत्तान्तसे ले कर सीताके पाताल प्रवेश तककी घटनासे यह अवगत हुए।

इसके बाद महर्षिने इस वृत्तान्तको छन्दोबद्ध कर प्राञ्जल भाषा और सुललित पदविन्यासमें लिपिबद्ध किया। यह हिन्दूकी राजनीति, धर्मनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदिके आदर्शस्वरूप है तथा भाषातत्त्वविद् आलङ्कारिक, विज्ञानविद् दार्शनिक, अध्यात्मतत्त्ववेत्ता योगी ऋषि आदिके लिये यह सर्वजनसुलभ चिरप्रसिद्ध रामायण ग्रन्थ है। महर्षिने पहले तो इसे छः काण्ड तक पांच सौ सर्गोंमें और २४ सहस्र श्लोकोंमें पूर्ण किया।

इसके बाद अयोध्यापति रामचन्द्रके अश्वमेधयज्ञ-वृत्तान्त, वाल्मीकिके नामसे दूसरे किसी आदमीने फिरसे सीतादेवीके निर्वासनसे आरम्भ कर उनके पाताल-प्रवेश तक वर्णन किया है। यही सातवां काण्ड या उत्तरकाण्डके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

उक्त सप्तमकाण्ड रामायण ही वाल्मीकिका प्रधान परिचायक है और यह ग्रन्थ-रचना ही इनके कृत-कर्मोंमें प्रधानतम घटना है। पीछेके कुछ लोगोंने कहना आरम्भ किया कि यह रामायण रामचन्द्रके अवतारसे अस्सी सहस्र वर्ष पहलेकी रचना है। किन्तु इसका कुछ प्रमाण नहीं। रामायण देखो।

श्रीरामचन्द्रकी आज्ञासे वृद्ध सुमंत्र सारथिके साथ महामति लक्ष्मणने गङ्गाके इस पार वाल्मीकिके आश्रमके निकट सीतादेवीको निर्वासित कर दिया। उनकी रोदन-ध्वनि सुन कर मुनिबालकोंने महामुनिसे आ कर संवाद दिया। ध्यानसे सब विषयोंको जान मुनि जा कर सीतादेवीको सान्त्वना दे कर उनको अपने साथ आश्रममें ले आये। सीतादेवी मुनिके आश्रममें रहने लगीं। कुछ ही दिनके बाद उन्होंने दो यमज-पुत्र उत्पन्न किये। एकका नाम लव और दूसरेका कुश था। महर्षिने इन दोनों सन्तानोंको यत्नके साथ शिक्षा दी। इन दोनों बच्चोंको महर्षिने इस तरह वीणाके साथ ताल लय सुरके साथ रामायण गान करनेकी शिक्षा दी, कि उनके गान सुन कर रामचन्द्रके अश्वमेधयज्ञमें आये राजा, प्रजा, सैन्य-सामन्त, ऋषि, मुनि, छोटे बड़े सभी व्यक्ति विस्मित हो उठे थे।

किम्बदन्तीके आधार पर किसी किसी भाषारामायणकारने अपने ग्रन्थमें महामुनि वाल्मीकिके "वल्मीके भव" इस व्युत्पत्तिगत नामका वृत्तान्त निम्नलिखितरूपसे प्रकट किया है, किंतु वाल्मीकिके रचित मूल रामायणमें इसका कोई निदर्शन नहीं मिलता। वह इस तरह है—

"आप सर्वज्ञ सर्वव्यापी विभु हैं। आपकी अवस्थिति-की बात मैं क्या कह सकता हूं! आपके नामकी महिमा अपार है। आपके नामके प्रभावसे मैंने ब्रह्मर्षि पद प्राप्त किया है। मैंने ब्राह्मणके घर जन्म लिया था सही; किन्तु दुर्भाग्यवशतः किरातके घर रह कर सदा उनके अनुरूप कार्य्योंमें प्रवृत्त रहता था। एक शूद्राके गर्भसे मेरे कई संतान उत्पन्न हुए। उनके भरण पोषण करनेके लिये अनन्योपाय हो कर मुझे अगत्या धर्मभाव त्याग

कर तस्कर कार्य आरम्भ करना पड़ा। एक दिन अपनी वृत्ति परिचालन करनेके समय कई ऋषियोंसे मेरा साक्षात् हुआ, उन पर मैंने आक्रमण किया। इस पर उन लोगोंने मुझसे पूछा, कि तुम इस वृत्तिका क्यों अवलम्बन लिये हो? इस पर मैंने उत्तर दिया, कि अपने परिवारके पालन-पोषणके लिये। यह सुन कर उन्होंने कहा, कि तुम पहले अपने घर जा कर पूछ आओ, कि वे तुम्हारे इस पापमें भागी होंगे या नहीं। पीछे हम लोगोंके पास जो कुछ है, उसको तुम्हें दे जायेंगे। यदि तुमको विश्वास न हो तो तुम हम लोगोंको इस वृक्षमें बांध कर जाओ। ऋषिवाक्यको सुन कर मैं घर गया और अपने परिवारवालोंसे पूछा, कि मेरे किये पापोंका भागीदार तुम लोग हो सकते हो या नहीं। परिवारके लोगोंने कहा "नहीं"। इससे मैं बहुत डर गया और दौड़ा ऋषियोंके पास आया। मैंने उन लोगोंसे बड़ी अर्ज मिन्नतें कीं, कि आप लोग मुझे इस पापपङ्कसे निकालें। आप लोग ऐसा कोई पथ बतलायें, कि मैं इस पापसे निवृत्त होऊं। उन्होंने बहुत सोच बिचार कर मुझे 'राम' नाम जप करनेका उपदेश दिया। इस पर मैंने कहा, कि ऐसा करनेमें मैं अक्षम हूं। फिर उन्होंने विचार कर एक सूखे वृक्षको दिखला कर कहा, कि देखो इस वृक्षको क्या कहते हैं, तब मैंने कहा, कि इसको 'मरा' कहते हैं। अच्छा तो तुम इसी वृक्षका नाम 'मरा' तब तक जपते रहो, जब तक हम लोग पुनः न आ जायें। मैंने ऐसा ही किया। बहुत दिनों तक ऐसा करते रहने पर यह नाम मेरी जबान पर जम गया। इस तरह सहस्र युग तक यह नाम जपते रहने पर मेरे शरीर पर वल्मीक जम गया। ऐसे समय ऋषियोंने आ मुझको पुकारा। पुकार सुनते ही मैं उठा और उनके समीप पहुंचा। उन्होंने कहा, कि जब तुम्हारा वल्मीकके भीतर फिर जन्म हुआ, तब तुम्हारा नाम वाल्मीकि हुआ, अब तुम ब्रह्मर्षिमें गिने जाओगे।"

वाल्मीकीय (सं० त्रि०) वाल्मीकि गहादित्वात् छ। १ वाल्मीकि-सम्बन्धीय। २ वाल्मीकिकी बनाई हुई।

वाल्मीकेश्वर (सं० क्ली०) तीर्थभेद।

वाल्लभ्य (सं० क्ली०) वल्लभ-ष्यण्। वल्लभता, प्यार करनेका भाव या धर्म।

वाव (सं अव्य०) यथार्थतः, वस्तुतः।

वावदूक (सं० त्रि०) पुनः पुनरतिशयेन वा वदति-वद-यङ्, यङ्-लुगन्त वावद धातु (उलूकादयश्च। उण् ४।४१) इति ऊक्, सर्वस्वेतु (यजजपदशामिति। पा ३।२।१६६) इति बहुलवचनादन्यतोऽपि ऊक। १ अतिशय वचनशील, वाग्मी। पर्याय—वाचोयुक्तिपटु, वाग्मी, वक्ता, वचक्र, सुवचस्, प्रवाच्। (जटाधर) जो शास्त्रज्ञान-सम्पन्न तथा अतिशय युक्तियुक्त बचन बोल सकते हैं, उन्हें वावदूक कहते हैं। २ बहुत बोलनेवाला।

वावदूकत्व (सं० क्ली०) वावदूकस्य भावः त्व। वावदूकका भाव या धर्म, वाग्मिता।

वावदूक्य (सं० पु०) वावदूकस्य गोत्रापत्यं (कुर्वादिभ्यो ण्य। पा ४।१।१५१) इति ण्य। वावदूकका गोत्रापत्य।

वावय (सं० पु०) तुलसीविशेष।

वावरी (सं० स्त्री०) बर्बुरवृक्ष, बबूलका पेड़।

वावहि (सं० त्रि०) अत्यर्थं वहति यङ्, यङ्-लुक्। वावह धातु-इञ्। अत्यन्त वहनकारी, देवताओंकी तृप्तिके लिये बहुत ले जानेवाला। "सप्तपश्यति वावहिः" (ऋक् ६।६।६) 'वावहिः देवानां तृप्तरत्यन्तं वोढा' (सायण)

वावात (सं० त्रि०) अत्यर्थं वाति वा यङ्-लुक्-वावा-धातु क्त। पुनः पुनः अभिगमनकारी।

वावातृ (सं० त्रि) वावा-तृच्। संभजनीय, बननीय। (ऋक् ८।१।८)

वावुट (सं० पु०) वहित्र, नाव, बेड़ा।

वावृत्त (सं० त्रि०) वा-वृत क्त। कृतवरण, जिसका वरण किया गया हो। (अमर)

वावैला (अ० पु०) १ विलाप, रोना पीटना। २ शोरगुल, हल्ला, चिल्लाहट।

वाश (सं० त्रि०) १ निवेदित। २ क्रन्दनशील, बहुत रोनेवाला। (पु०) ३ वासक, अडूसा। वासक देखो। ४ एक सामका नाम।

वाशक (सं० त्रि०) १ निनादकारी, चिल्लानेवाला। २ क्रन्दनशील, रोनेवाला। (पु०) ३ वासक, अडूसा।

वाशन (सं० त्रि०) १ नादकारी, चिल्लानेवाला। २ चहचहानेवाला। ३ भिन भिनानेवाला। (क्ली०) ४ पक्षियोंका बोलना। ५ मक्खियोंका भिनभिनाना।

वाशा (सं० स्त्री०) वाश्यते इति वाश शब्दे (गुरोश्च-हलः । पा ३।३।१०३) इति अ स्त्रियां टाप् । वासक, अड़ूसा ।

वाशि (सं० पु०) वाश्यते इति वाश (वसिवपियजिराजि-व्रजिसदिहनिवाशिवादीति । उण् ४।१२४) इति इञ् । अग्नि, आग ।

वाशिका (सं० स्त्री०) वाशा स्वार्थे कन्-टाप् अत इत्वं । वासक, अड़ूसा ।

वाशित (सं० क्लो०) वाश्-शब्दे भावे-क्त । १ पशु-पक्षी आदिका शब्द । धातूनामनेकार्थत्वात् वाश सुरभी-करणे क्त । २ सुरभीकृत, सुगन्धित किया हुआ ।

(अमरटीका-स्वामी)

वाशिता (सं० स्त्री०) वाश-क्त-टाप् । १ स्त्री । २ करिणी, हथिनी ।

वाशिन् (सं० त्रि०) शब्दयुक्त, वाक युक्त ।

वाशिष्ठ (सं० त्रि०) वशिष्ठस्येदं ष्ण । १ वशिष्ठसम्बन्धी, वशिष्ठका । (क्लो०) २ एक उपपुराणका नाम । ३ एक प्राचीन तीर्थका नाम ।

वाशिष्ठी (सं० स्त्री०) वशिष्ठस्येयमिति अण्-ङीप् । गोमती नदी ।

वाशी (सं० स्त्री०) शस्त्रभेद, काष्ठप्रच्छन्न शस्त्र ।

(ऋक् ८।२९।३)

वाशीमत् (सं०त्रि०) वाशी अस्त्यर्थे मतुप् । वाशायुक्त, वाशअस्त्रविशिष्ट । (ऋक् ५।५७।२)

वाशुरा (सं० स्त्री०) वाश्यतेऽस्यामिति वाश्-शब्दे (मन्दि-वाशिमथिचतिचंक्यङ्किभ्यउरच् । उण् १।३९) इति उरच्-टाप् । रात्रि, रात । (उज्ज्वल)

वाश्र (सं० क्लो०) वाश्यतेऽस्मिन्निति वाश्-(स्थयितञ्चि-वञ्चि शकीति । उण् २।१३) इति रक् । १ मन्दिर । २ चतुष्पथ, चौराहा । ३ दिवस, दिन ।

वाष्प (सं० पु०) वाधते इति वाध-लोड़ने (शष्पशिल्प शष्प-वाष्परूप पर्पतल्पाः । उण् ३।२८) इति प-प्रत्यये धस्य षत्वं निपातनात् । १ लौह, लोहा । २ अश्रु, आंसू । ३ कण्टकारी, भटकटैया । ४ उष्मा, आनन्द, ईर्षा और आर्त्ति इन तीन कारणोंसे अश्रुजनित उष्मा होती है । ५ भाप, भाफ (l'apour) वास्प देखो

वाष्पक (सं० पु०) वाष्प संज्ञायां कन् । मारिष, मरसा नामका साग ।

वाष्पयन्त्र - यन्त्रविशेष । वास्पयन्त्र देखो ।

वाष्पिका (सं० स्त्री०) वाष्प संज्ञायां कन्, टाप् अत इत्वं । हिंगुपत्री । पर्याय—कारवी, पृथ्वी, कवरी, पृथु, त्वक्पत्री, वाष्पीका, कर्वरी । गुण—कटु तीक्ष्ण, उष्ण, कृमि और श्लेष्मानाशक ।

वाष्पी (सं० स्त्री०) वाष्प गौरादित्वात् ङीष्, वाष्पी स्वार्थे कन्-टाप् । हिंगुपत्री, वाष्पिका ।

वाष्पीका (सं० स्त्री०) वाष्पी देखो ।

वाष्पीयपोत — ष्टीमर । वास्पीययन्त्र देखो ।

वास (सं० पु०) वसन्त्यस्मिन्निति वस निवासे (हलश्च । पा ३।३।१२१) इति घञ् । १ गृह, घर । वास्यते इति वास-घञ् । २ वस्त्र, कपड़ा । वस-भावे घञ् । ३ अवस्थान, रहना ।

चाणक्यश्लोकमें लिखा है, कि धनी, वेदविद्-ब्राह्मण, राजा, नदी और वैश्य ये पांच जहां नहीं हों, मनुष्यको वहां वास करना न चाहिये ।

४ वासक, अड़ूसा । ५ सुगन्ध, बू ।

वासक (सं० पु०) वासयतीति वासि-ण्वुल् । १ स्वनाम-प्रसिद्ध पुष्पशाक वृक्ष, अड़ूसा । इसे कलिङ्गमें अड़ूसा, आड़ सोंगे और तैलङ्गमें अड़सर, अघड़ीड़े कहते हैं । संस्कृत पर्याय—वैद्यमाता, सिंही, वासिका, वृष, अटरुष, सिंहास्य, वाजिदन्तक, वाशा, वाशिका, बृश, अटरूष, वाशक, वासा, वास, वाजी, वैद्यसिंही, मातृसिंही, वासका सिंहपर्णी, सिंहिका, भिषङ्माता, वसादनी, सिंहमुखी, कण्ठीरवी, शितकर्णी, वाजिदन्ता, नासा, पञ्चमुखा, सिंह-पत्री, मृगेन्द्राणी । गुण—तिक्त, कटु, कास, रक्त, पित्त, कामला, कफवैकल्य, ज्वर, श्वास और क्षयनाशक । इसके पुष्पका गुण—कटुपाक, तिक्त, कासक्षयनाशक ।

(राजनि०)

धर्मशास्त्रमें लिखा है, कि सरस्वती-पूजामें वासक पुष्प विशेष प्रशस्त है ।

२ गानाङ्गविशेष, गानका एक अंग । शङ्करके मतसे मनोहर, कन्दर्प, चारु और नन्दन नामक इसके चार भेद हैं । कोई विनोद, वरद, नन्द और कुमुदको इसके भेद मानते हैं ।

३ वासर, दिन । ४ शालक रागका एक भेद ।

वासकर्णी (सं० स्त्री०) यज्ञशाला।

वासकसज्जा (सं० स्त्री०) वासके प्रियसमागमवासरे सज्जतीति सज्ज अच-टाप, यद्वा वासकं वासवेश्म सज्जतीति सज्जि अण्-टाप्। नायिकाभेदके अनुसार एक नायिका। जो नायिका नायकसे मिलनेकी तैयारी किये हुए घर आदि सजा कर और आप भी सज कर बैठती है उसे वासकसज्जा कहते हैं।

जो नायिका वेशभूषा करके और घर आदि सज्जा कर नायककी बाट जोहती है उसीका नाम वासकसज्जा है।

इसकी चेष्टा—मनोहरसामग्री सखीपरिहास, दूती प्रश्नसामग्री विधान और मार्गविलोकनादि।

(गीतगोविन्द ६।८)

यह वासकसज्जा मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा और परकीय नायिकाके भेदसे भिन्न प्रकारकी है।

वासकसज्जिका (सं० स्त्री०) वासकसज्जा।

वासका (सं० स्त्री०) वासक-टाप् वासक वृक्ष, अड़ूस।

वासकेट (अं० पु० स्त्री०) एक प्रकारकी छोटी बंडी या कमर तककी कुरती। इससे सिर्फ पीठ, छाती और पेट ढकता है। इसमें आस्तीन नहीं होती, आगे और पीछेके कपड़ोंमें भेद रहता है। इसे कसनेके लिये पीछे बकसुयेदार दो बन्द होते हैं।

वासगृह (सं० क्ली०) वासाय गृहं द्वं गृहमध्यभागे शयनगृहें च गृहान्तर्गृहे इत्येके निर्वातत्वात् गर्भइवागारं गर्भागारं। १ गर्भागार। २ शयनागार, सोनेका कमरा। ३ अन्तःपुरगृह, रनिवास।

वासगेह (सं० क्ली०) वासगृह, मकान।

वासंत (सं० पु०) वास्यते इति वास् शब्दे बाहुलकात् अतच्। गर्दभ, गदहा। (शब्दरत्ना०)

वासताम्बूल (सं० क्ली०) सुगन्धिकृत ताम्बूल, खुशबूदार मसाला आदि डाला हुआ पान।

वासतीवर (सं० त्रि०) वसतीवरी नामक सरसम्बन्धीय।

वासतेय (सं० त्रि०) वसतौ साधुरिति वसति (पथ्यतिथिवसतिस्वपते ढँञ्। पा ४।४।१०४) इति ढञ्। वासयोग्य, रहने लायक।

वासतेयी (सं० स्त्री०) रात्रि, रात।

वासधूपि (सं० पु०) वसधूपका गोत्रापत्य।

वासन (सं० क्ली०) वास्यते इति वासि-ल्युट्। १ धूपन, सुगन्धित करना। २ वारिधान्य, सुगन्धित धान। ३ वस्त्र, कपड़ा। ४ वास। ५ ज्ञान। ६ निक्षेपाधार। (त्रि०) ७ वसनसम्बन्धी, कपड़ेका। वसनेन क्रीतं वसन (शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण्। पा ५।१।२७) इति अण्। ८ वसन द्वारा क्रीत, कपड़ेसे खरीदा हुआ।

वासना (सं० स्त्री०) वासयति कर्मणा योजयति जीवमनांसीति वस-णिच्-युच्, टाप्। १ प्रत्याशा। २ ज्ञान। ३ स्मृतिहेतु, भावना, संस्कार। ४ न्यायके अनुसार देहात्मबुद्धिजन्य मिथ्या संस्कार। ५ दुर्गा। (देवीपु० ४५ अ०) ६ अर्ककी स्त्री। (भागवत ६।६।१३) ७ इच्छा, कामना।

वासनामय (सं० त्रि०) वासना स्वरूपे मयट्। वासनास्वरूप।

वासनाह्वय (सं० पु०) नागवल्लीलता।

वासन्त (सं० पु०) वसन्ते भवः वसन्त (सन्धिवलाद्युतुनक्षत्रेभ्योऽण्। पा ४।३।१६) इति अण्। १ उष्ट्र, ऊंट। २ कोकिल, कोयल। (राजनि०) ३ मलय वायु। ४ मुद्ग, मूंग। ५ कृष्णमुद्ग, काली मूंग। ६ मदनवृक्ष, मैनफल। (त्रि०) ७ अवहित, सावधान। ८ वसन्तोप्त, वसन्त ऋतुमें बोया हुआ।

(सिद्धान्तकौमुदी)

वासन्तक (सं० त्रि०) वसन्तस्येदमिति वसन्त-कन्। १ वसन्त-सम्बन्धी। वसन्ते उप्त (ग्रीष्मवसन्तादन्यतरस्यां पा ४।२।४१६) इति बुञ्। २ वसन्तोप्त, वसन्त ऋतुमें बोया हुआ।

वासन्तिक ((सं० त्रि०) वसन्तमधीते वेद वेति वसन्त (वसन्तादिभ्य ष्ठक्। पा ४।२।५३) इति ठक्। १ विदूषक, भांड़। २ नर्त्तक, नाचनेवाला। (त्रि०) वसन्तस्वेदमिति (वसन्ताच्च। पा ४।२।२०) इति ठञ्। ३ वसन्त सम्बन्धी।

वासन्ती (सं० स्त्री०) वसन्तस्येयमिति वसन्त-अण् ङीष्। १ माधवीलता। २ यूथी, जूही। ३ पाटला, पाडरका वृक्ष। ४ कामोत्सव, मदनोत्सव। पर्याय—चैत्रा-

वली, मधूत्सव, सुपसन्त, कामसह, कर्दनी। (त्रिका०)

५ गणिकारी, गनियारी नामक फूल। पर्याय—प्रहसन्ती, वसन्तजा, माधवी, महाजाति, शीतसहा, मधुबहुला, वसन्तदूती। गुण—शीतल, हृद्य, सुरभि, श्रमहारक, मन्दमदोन्माददायक। (राजनि०) ६ नवमल्लिका, नेवार। (भावप्र०)

६ दुर्गा। वसन्तकालमें दुर्गादेवीकी पूजा की जाती है, इसीसे इनका नाम वासन्ती पड़ा। शरत और वसन्त इन दो ऋतुओंमें भगवती दुर्गादेवीकी पूजाका विधान है। शरत्कालकी पूजा अकालपूजा है, इसी कारण शरत्कालमें देवीका बोधन करके पूजा करनी होती है। शरत्ऋतु देवताओंकी रात्रि है, इस कारण अकाल है, किन्तु वसन्तकालकी पूजा कालबोधित पूजा है, इसीसे वासन्तीपूजामें देवीका बोधन नहीं है।

"मीनराशिस्थिते सूर्ये शुक्लपक्षे नराधिप।
सप्तमीं दशमीं यावत् पूजयेदम्बिकां सदा॥

भविष्योत्तरमें—

चैत्रे मासि सिते पक्षे सप्तम्यादिदिनत्रये।
पूजयेद्विधिवद्दुर्गां दशम्याञ्च विसर्ज्जयेत॥"

सूर्यके मीनराशिमें जानेसे अर्थात् चैत्रमासमें सप्तमीसे दशमी तक दुर्गादेवीकी पूजा करनी होती है। चैत्रकी शुक्ला सप्तमी हीसे पूजाका आरम्भ है। यहां चैत्र शब्दसे चान्द्रचैत्रतिथिका बोध होता है। मीनराशिमें सूर्यके जाने पर ही पूजा होगी, ऐसी नहीं। चान्द्रतिथिके अनुसार मीन और मेष इन दोनों राशिमें सूर्यके जानेसे अर्थात् चैत्र और वैशाख इन दो मासोंके मध्य चान्द्र चैत्र शुक्ला सप्तमीसे पूजा करनी होगी। यह पूजा तिथिकृत्य होनेसे चान्द्रमासानुसार होती है, सौरमासानुसार नहीं होती।

जो यथाविधान प्रतिवर्ष वासन्ती-पूजा करते हैं, उन्हें पुत्रपौत्रादि लाभ होते हैं तथा उनकी सभी कामनायें पूरी होती हैं।

शारदीय दुर्गापूजाके विधानानुसार यह पूजा करनी होती है। पूजामें कोई विशेषता नहीं है, शारदीया पूजा जिस प्रकार चतुरवयवी है अर्थात स्नपन, पूजन, होम और बलिदान इन चार अवयवोंसे विशिष्ट है, वासन्ती पूजाको भी उसी प्रकार जानना होगा। इसमें भी स्नपन, पूजन, होम और बलिदान उसी प्रकारसे होता है, कोई विशेषता नहीं है। यह पूजा नित्य है, इसलिये सबोंको यह पूजा करनी चाहिये। यदि कोई सप्तमीसे पूजा न कर सके, तो अष्टमी तिथिमें पूजा करे। अष्टमीमें असमर्थ होनेसे केवल नवमी तिथिमें पूजाका विधान है। अष्टमीसे आरम्भ करने पर उसे अष्टमी कल्प और नवमीतिथिमें पूजा करनेसे उसे नवमी कल्प कहते हैं। सप्तमी, अष्टमी और नवमी तिथिमें विधान रहनेसे उनमेंसे किसी एक दिनमें पूजा कर सकते हैं, ये सब विधान देखनेसे वासन्ती पूजामें सप्तमी, अष्टमी और नवमी ये तीन कल्प देखनेमें आते हैं।

इस पूजामें शारदीया पूजाकी तरह चण्डीपाठ करना होता है। षष्ठीके दिन सायंकालमें बिल्ववृक्षके मूलको आमंत्रण और प्रतिमाको अधिवास कर रखना होता है। दूसरे दिन सप्तमी तिथिमें आमन्त्रित बिल्वशाखाको काट कर उसकी यथाविधान पूजा करनी होती है। इस पूजामें और सभी विषय शारदीया पूजाकी तरह जानने होंगे।

ब्रह्मवैवर्त्तमें लिखा है, कि पहले परमात्मा श्रीकृष्ण जब गोलोकधाममें रास करते थे, उस समय मधुमासमें प्रसन्न हो कर उन्होंने ही पहले पहल भगवती दुर्गादेवीकी पूजा की थी। पीछे विष्णुने मधुकैटभ युद्धके समय देवीके शरण ली तथा उस समय ब्रह्माने देवी भगवतीकी पूजा की। तभीसे इस पूजाका प्रचार है।

इसके बाद समाधि वैश्य और सुरथ राजाने भगवतीकी पूजा की। इस पूजाके फलसे समाधिवैश्यको निर्वाण और सुरथ राजाको राज्यलाभ हुआ था।

७ एक प्रकारका छन्द। इस छन्दके प्रतिचरणमें १४ अक्षर रहते हैं। ६, ७, ८, ९वां अक्षर लघु और बाकी अक्षर गुरु होते हैं।

वासन्तीपूजा (सं० स्त्री०) वासन्ती तदाख्या पूजा। चैत्रमासकी दुर्गापूजा।

"चैत्रे मासि सिते पक्षे नवम्यादि दिनत्रये।
प्रातः प्रातर्महादेवीं दुर्गां भक्त्या प्रपूजयेत्॥"

(मायातन्त्र ७ पटल)

इस अष्टमी तिथिमें अर्थात् चैत्रमासकी शुक्ला अष्टमी

तिथिमें अन्नपूर्णा पूजाका विधान है। इस वासन्ती अष्टमी तिथिमें भक्तिपूर्वक अन्नपूर्णादेवीकी पूजा करनेसे अन्नकष्ट दूर होता है और अन्तकालमें स्वर्गकी गति होती है।

वासपर्याय (सं० पु०) वासस्य पर्यायः। वासपरिवर्त्तन, दूसरी जगह जा कर रहना।

वासप्रासाद (सं० पु०) वासयोग्य राजभवन, रहने लायक महल।

वासभवन (सं० क्ली०) वासस्य भवनम्। वासगृह, मकान।

वासभूमि (सं० स्त्री०) वासस्य भूमिः। वासस्थान।

वासयष्टि (सं० स्त्री०) पक्षी बैठनेकी कमानी।

वासयोग (सं० पु०) वासाय सुगन्धार्थं युज्यते इति युज घञ्। १ चूर्ण। २ गन्धद्रव्य चूर्ण। इससे वस्त्रादि सुगन्धित किये जाते हैं, इसीसे इसका वासयोग्य नाम पड़ा है।

वासर (सं० पु० क्ली०) वासयतीति वस अच् (अर्त्ति कमि भ्रमि चमि देवि वासिभ्यश्चित्। उण् ३।१३३) इति अर। १ दिवस, दिन। २ नागविशेष। ३ विवाहरात्रिका शयनगृह, वह घर जिसमें विवाह हो जाने पर स्त्री पुरुष सुहाग रातको सोते हैं।

वासरकन्यका (सं० स्त्री०) रात्रि, रात।

वासरकृत (सं० पु०) दिनकृत, सूर्य।

वासरकृत्य (सं० क्ली०) दिनकृत्य।

वासरमणि (सं० पु०) दिनमणि, सूर्य।

वासरसङ्ग (सं० पु०) प्रातःकाल।

वासरा (सं० स्त्री०) वासुरा देखो।

वासराधीश (सं० पु०) सूर्य।

वासरेश (सं० पु०) सूर्य।

वासव (सं० पु०) वसुरेव प्रज्ञाद्यण्। १ इन्द्र। (क्ली०) २ धनिष्ठा नक्षत्र।

वासवज (सं० पु०) वासवाज्जायते जन ड। वासवपुत्र, अर्जुन।

वासवदत्ता (सं० स्त्री०) १ निधिपति वणिक्की कन्या। २ सुबन्धुरचित कथाग्रन्थविशेष। सुबन्धु देखो।

वासवदत्तिक (सं० पु०) वासवदत्ता सम्बन्धीय।

वासवदिश् (सं० स्त्री०) वासवस्य या दिक्। वासवसम्बन्धीय दिक्, पूर्व दिशा। इन्द्र पूर्वदिशाके अधिपति हैं, इसी कारण वासवदिश्से पूर्वदिशाका बोध होता है।

वासवावरज (सं० पु०) वासवस्य अवरजः पश्चाज्जातः। इन्द्रके अवरज, इन्द्रके पश्चाज्जात, विष्णु।

वासवावास (सं० पु०) वासवस्य आवासः। वासवका आवास, इन्द्रका आलय।

वासवि (सं० पु०) वासवस्य अपत्यं पुमान् वासव-इञ्। वासवपुत्र, अर्जुन।

वासवी (सं० स्त्री०) वसोरपत्यं स्त्री वसु-अण्-ङीप्। व्यासकी माता, सत्यवती, मत्स्यगंधा।

वासवेय (सं० पु०) १ वासवीके पुत्र व्यास। २ वासवका अपत्य।

वासवेश्मन् (सं० क्ली०) वासस्य वेश्म। वासगृह, वासघर।

वासवेश्वरतीर्थ (सं० क्ली०) तीर्थभेद।

वासस् (सं० क्ली०) वस्यतेऽनेनेति वस आच्छादने (वसेर्णित्। उण् ४।२१७) इत्यसुन्, स च-णित्। वस्त्र, कपड़ा। शास्त्रमें दूसरेके परिधेय वस्त्र पहननेसे मना किया है।

(मनु ४।६६) वस्त्र शब्द देखो।

वाससज्जा (सं० स्त्री०) वासं गृहं सज्जयतीति सज्ज-णिच्-अण्-टाप्। आठ प्रकारकी नायिकाओंमेंसे एक। खण्डिता, उत्कण्ठिता, लब्धा, प्रोषितभर्तृका, कलहान्तरिता, वाजसज्जा, स्वाधीनभर्तृका और अभिसारिका यही आठ प्रकारकी नायिका है। वासकसज्जा देखो।

वासा (सं० स्त्री०) वासयतीति वस-णिच्-अच्-टाप्। १ वासक, अड़ूसा। २ वासन्ती, माधवी लता।

वासाकुष्माण्डखण्ड (सं० पु०) रक्तपित्तरोगाधिकारोक्त औषधविशेष। प्रस्तुत-प्रणाली—अड़ूसा-मूलकी छाल ६४ पल पाकार्थ जल १६ सेर, ५० पल कुष्माण्डशस्य, इन्हें २ सेर घीमें भुनना होगा। पीछे मधु जैसा उसका रंग होने पर उसमें चीनी, अड़ूसका काढ़ा और कुष्माण्डशस्य ये तीनों द्रव्य डाल कर पाक करे। पाक हो जाने पर मोथा, आमलकी, वंशलोचन, करञ्जी, दारचीनी, तेजपत्र और इलायची प्रत्येक द्रव्य २ तोला, एलवालुक, सोंठ, धनिया, कालीमिर्च प्रत्येक एक पल और पीपल ४पल डाल कर अच्छी तरह मिलावे और तब नीचे उतार ले। इसके

बाद ठंढा हो जाने पर उसमें १ सेर मधु मिला कर छोड़ दे। इसकी मात्रा रोगीके बलानुसार १ तोलासे २ तोला स्थिर करनी होगी। इसके सेवनसे कास, श्वास, क्षय, हिचकी, रक्तपित्त, हलीमक, हृद्रोग, अम्लपित्त और पीनस रोग प्रशमित होते हैं। रक्तपित्ताधिकारकी यह एक उत्कृष्ट औषध है। (भैषज्यरत्ना० रक्तपित्तरोगाधि०)

वासाखण्ड (सं० पु०) रक्तपित्तरोगाधिकारोक्त औषध-विशेष। प्रस्तुत प्रणाली—१०० सेर जलमें १०० पल अड़ूसके मूलकी छाल डाल कर पाक करे। जब काढ़ा २५ सेर रह जाय, तब उसमें १०० पल चीनी डाल कर फिर पाक करे। अनन्तर उपयुक्त समयमें ८ सेर हरीतकी-का चूर्ण डालना होगा। इसके बाद पाक सिद्ध होने पर २ पल पीपलका चूर्ण तथा १ पल दारचीनी छोड़ कर नीचे उतार ले। ठण्डा होने पर १ सेर मधु मिलावे। मात्रा रोगीके बलानुसार स्थिर करनी होगी। इसके सेवनसे रक्तपित्त, काश, श्वास और यक्ष्मा आदि कास रोग नष्ट होते हैं। (भैषज्यरत्ना० रक्तपित्तरोगाधि०)

वासागार (सं० पु०) वासस्य आगारः। वासगृह, वास-स्थानं। पर्याय—भोगगृह, कन्याट, पत्याट, निष्कट। (त्रिका०)

वासाघृत (सं० क्ली०) घृतौषधविशेष। प्रस्तुत-प्रणाली—अड़ूसकी शाखा, पत्र और मूल कुल मिला कर ८ सेर, जल ६४ सेर, शेष १६ सेर, कल्कके लिये अड़ूसका पुष्प ४ सेर, घी ४ सेर, इन्हें घृतपाकके नियमानुसार पाक करना होगा। घृतपाक शेष होने पर जब ठंढा हो जाय, तब उसमें ८ पल मधु मिलाना होगा। इसके सेवनसे रक्तपित्तरोग अति शीघ्र नष्ट होते हैं।

(भैषज्यरत्नाधि० रक्तपित्तरोगाधि०)

वासाचन्दनाद्यतैल (सं० क्ली०) कासाधिकारोक्त तैलौषधविशेष। प्रस्तुतप्रणाली—तिलतैल १६ सेर; काढ़ेके लिये अड़ूसकी छाल १२॥ सेर, जल ६४ सेर, शेष १६ सेर; लाख ८ सेर, जल ६४ सेर, शेष १६ सेर; रक्तचन्दन, गुलञ्च, परङ्गी, दशमूल और कण्टकारी प्रत्येक २॥ सेर, जल ६४ सेर, शेष १६ सेर; दहीका पानी १६ सेर कल्कार्थ रक्तचन्दन, रेणुका, खट्टाशी, असगंध, गन्धभादुली, दारचीनी, इलायची, तेजपत्र, पीपलमूल, मेद, महामेद, त्रिकटु, रास्ना, मुलेठी, शैलज, कचूर, कुट, देवदारु, प्रियंगु, बहेड़ा प्रत्येक १ पल, तैल पाकके नियमानुसार इस तैलका पाक करना होगा। इस तेलकी मालिस करनेसे कास, ज्वर, रक्तपित्तपाण्डु आदि रोग जाते रहते हैं।

(भैषज्यरत्ना० कासरोगाधि०)

वासातक (सं० त्रि०) वसाति जनपद-सम्बन्धीय।

वासात्य (सं० पु०) वसाति जनपद।

वासायनिक (सं० त्रि०) विटागारभव।

(महाभारत नीलकण्ठ)

वासावलेह (सं० पु०) अवलेह औषधविशेष। प्रस्तुत-प्रणाली—अड़ूसकी छाल २ सेर, पाकके लिये जल १६ सेर, शेष ४ सेर; नियमपूर्वक पाक करके काढ़ा तय्यार करे। पीछे छान कर उसमें एक सेर चीनी और एक पाव घी मिलावे और फिरसे पाक करे। लेहवत् हो जाने पर एक पाव पीपलचूर्ण डाल कर अच्छी तरह मिलावे। बादमें नीचे उतार कर ठंढा होने पर १ सेर मधु मिलावे। यह अवलेह राजयक्ष्मा, कास, श्वास और रक्तपित्त आदि रोगनाशक माना गया है।

(भैषज्यरत्ना० कासाधिका०)

यह औषध वासावलेह और वृहद्वासावलेहके भेदसे दो प्रकारकी है।

वासास्त्रवा (सं० स्त्री०) ह्रस्वमूर्वा। (वैद्यकनि०)

वासि (सं० पु०) वस निवासे (वसि वपि यजि राजीति। उण् ४।१२४) इति इञ्। कुठारभेद, वसूला।

वासिका (सं० स्त्री०) वासैव स्वार्थे कन् टाप् अत इत्वं। वासक, अड़ूसा।

वासित (सं० क्ली०) वास्यते स्मेति वास-क्त। १ रुत, पक्षीका शब्द। २ ज्ञानमात्र। (त्रि०) ३ सुरभीकृत, सुगंधित किया हुआ। पर्याय—भावित। ४ ख्यात, मशहूर। ५ वस्त्रवेष्ठित, कपड़ेसे ढका हुआ। ६ आर्द्रीकृत, गीला किया हुआ। ७ पर्य्युषित, बासी। ८ पुरातन, पुराना

वासिता (सं० स्त्री०) वासयतीति वस निवासे णिच्, क्त, टाप्। १ स्त्रीमात्र। २ करिणी, हथिनी। ३ चन्द्रशेखरके मतसे आर्या छन्दका एक भेद। इसमें ६ गुरु और ३६ लघुवर्ण होते हैं।

वासिन् (सं० त्रि०) वासकारी, बसनेवाला ।

वासिनी (सं० त्रि०) वासोऽस्या अस्तीति वास इनि ङीष् । शुष्कझिण्टि, सूखी कठसरैया ।

वासिल (अ० वि०) १ प्राप्त, पहुंचाया हुआ। २ मिला हुआ, जो वसूल हुआ हो ।

वासिलात (अ० पु०) वह धन जो वसूल हुआ हो, वसूल हुए धनका योग ।

वासिष्ठ (सं० त्रि०) वसिष्ठेन कृतमित्यण् । १ वसिष्ठ-सम्बन्धी । (पु०) २ रुधिर, रक्त । ३ वसिष्ठकृत योग-शास्त्रादि, योगवाशिष्ठ ।

वासिष्ठरामायण (सं० क्ली०) योगवाशिष्ठ रामायण ।

वासिष्ठसूत्र (सं० क्ली०) वसिष्ठरचित सूत्रग्रन्थ ।

वासी (सं० स्त्री०) वासयतीति वासि अच् गौरादित्वात् ङीष् । १ तक्षणी, बसूला जिससे बढ़ई लकड़ी छीलते हैं। (त्रि०) २ वासिन् देखो ।

वासीफल (सं० क्ली०) फलविशेष ।

वासु (सं० पु०) सर्वोऽत्र वसति सर्वत्रासौ वसतीति वस-बाहुलकात् उण् । १ नारायण, विष्णु। २ परमात्मा, श्रीनिवास। ३ पुनर्वसु नक्षत्र । (उण् १।१ । उज्ज्वल)

वासुकी (सं० पु०) वसुकस्यापत्यमिति वसुक-इञ् । अहिपति, आठ नागोंमेंसे दूसरा नाग । पर्याय—सर्पराज । मनसा पूजाके दिन अष्टनागकी पूजा करनी होती है ।

वासुकेय (सं० पु०) वसुकस्यापत्यमिति वसुक ढञ् । वासुकि ।

वासुकेयस्वसृ (सं० स्त्री०) वासुकेयस्य वासुकेः स्वसा भगिनी । मनसादेवी ।

वासुदेव (सं० पु०) वसुदेवस्यापत्यमिति वसुदेव (ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च । पा ४।१।११४) इति अण् ; यद्वा सर्वत्रासौ वसत्यात्मरूपेण विश्वम्भरत्वादिति वस बाहुलकादुण्, वासु, वासुश्चासौ देवश्चेति कर्मधारयः । श्रीकृष्ण । पर्याय—वसुदेवभू, सव्य, सुभद्र, वासुभद्र, षड्ङ्गजित्, षड्विन्दु, प्रश्निश्रृंग, प्रश्निभद्र, गदाग्रज, मार्ज, वभ्रु, लोहिताक्ष, परमाण्वङ्गक । (शब्दमाला)

वासुदेवकी नामनिरुक्तिके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है :—

"सर्वत्रासौ समस्तश्च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते ॥"

(विष्णुपुराण १।२ अ०)

सभी पदार्थ जिसमें वास करते हैं तथा सभी जगह जिनका वास है और जिनसे सर्वजगत् उत्पन्न होता है तत्त्वदर्शियोंने उन्हींका नाम वासुदेव रखा है । विष्णु-पुराणमें दूसरी जगह भी वासुदेवका नामनिरुक्ति देखी जाती है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें लिखा है, कि वास अर्थात् जिसके लोमकूपनिकरमें सभी विश्व अवस्थित हैं, वह सर्वनिवास महान् विराट् पुरुष है, उसके देव अर्थात् प्रभु परब्रह्म हैं, इसीसे सभी वेद, पुराण, इतिहास और वार्त्तामें वासुदेव नाम हुआ है ।

"वासः सर्वनिवासस्य विश्वानि यस्य लोमसु ।
तस्य देवः परब्रह्म वासुदेव इतीरितः ॥
वासुदेवेति तन्नाम वेदेषु च चतुर्षु च ।
पुराणेस्वेतिहासेषु यात्रादिषु च दृश्यते ॥"

(ब्रह्मवैवर्त्त पु० श्रीकृष्णजन्मख० ८३ अ०)

भाद्रकृष्णाष्टमी तिथिको भगवान् विष्णुने वसुदेवसे देवकीके गर्भमें जन्मग्रहण किया ।

विशेष विवरण कृष्ण शब्दमें देखो ।

वासुदेव मन्त्र और पूजादिका विषय तन्त्रसारमें इस प्रकार लिखा है—

'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' वासुदेवका यही द्वादशाक्षरमन्त्र है । यह मन्त्र कल्पतरुस्वरूप है । इसी मन्त्रसे वासुदेवकी पूजा करनी होती है । पूजा-प्रणाली इस प्रकार है—पूजाके नियमानुसार प्रातःकृत्यादि पीठन्यास तक कार्य्य समाप्त करके कराङ्गन्यास करना होगा ।

इसके बाद मन्त्रन्यास करना होता है । न्यास करनेके बाद मूर्त्तिपञ्जरन्यास और व्यापकन्यास करके वासुदेवका ध्यान करना होता है । ध्यान इस प्रकार है—

"विष्णुं शारदचन्द्रकोटिसदृशं शङ्खं रथाङ्गं गदा—
मम्भोजं दधतं सिताब्जनिलयं कान्त्या जगन्मोहनम् ।
आवद्धाङ्गहारकुण्डलमहामौलिं स्फुरत् कङ्कणं ॥
श्रीवत्साङ्कमुदार कौस्तुभधरं वन्दे मुनीन्द्रैः स्तुतम् ॥"

इस प्रकार ध्यान करके मनसोपचारसे पूजा करनेके बाद शङ्ख स्थापन करना होता है । पीठपूजा करके फिरसे

ध्यान करे। पीछे आवाहन और नियमपूर्वक षोड़शोपचारसे पूजा करके पञ्च पुष्पाञ्जलि द्वारा आवरण और देवताकी पूजा करनी होगी। जैसे—अग्नि, नैऋत, वायु और ईशान इन चार कोनोंमें, मध्यमें तथा पूर्वादि चारों दिशामें ओं हृदयाय नमः, ओं शिरसे स्वाहा, ओं शिखायै वषट्, ओं कवचाय हुं, ओं नेत्रत्रयाय वौषट, इस पञ्चाङ्गकी पूजा करके शान्त्यादि शक्तिके साथ वासुदेवादि और केशवादिकी पूजा, पीछे इन्द्रादि और वज्रादिकी पूजा करके धूपादि विसर्जन तक सभी कर्म समाप्त करने होते हैं। यह मन्त्र पुरश्चरण करनेमें बारह लाख जप और जपका दशांश होम करना होगा। (तन्त्रसार)

वासुदेव—१ सुप्रसिद्ध शकाधिप। उत्तर-भारत इनके अधिकारमें था। शकराजवंश देखो।

२ वाराणसी अञ्चलके एक राजा। ये काशीखण्ड-टीकाकार रामानन्दके प्रतिपालक थे।

३ एक प्राचीन कवि। शुभाषितावली और युक्तिकर्णामृतमें इनकी कविता उद्धृत हुई है। ये सर्वज्ञ वासुदेव नामसे भी प्रसिद्ध थे। महन्त वासुदेव नामक एक दूसरे कविका नाम मिलता है, वे सर्वज्ञ वासुदेवसे भिन्न थे।

४ एक वैद्यक ग्रन्थकार, वासुदेवानुभवके रचयिता, क्षेमादित्यके पुत्र। रसराजलक्ष्मी नामक वैद्यकग्रन्थमें इनका मत उद्धृत हुआ है।

५ अद्वैतमकरन्द टीकाके रचयिता।

६ कात्यायनश्रौतसूत्रके एक प्राचीन टीकाकार। अनन्त और देवभट्टने इनका मत उद्धृत किया है।

७ कृतिदीपिका नामक ज्योतिग्रन्थके रचयिता।

८ कौशिकसूत्रपद्धति नामक अथर्व्ववेदीय संस्कार-पद्धतिकार।

९ एक प्रसिद्ध ज्योतिर्विद्, जातमुकुट, मेघमाला और वीरपराक्रमके रचयिता।

१० केरलवासी एक प्रसिद्ध कवि। इन्होंने त्रिपुरदहन, भ्रमरदूत, युधिष्ठिरविजय और वासुदेवविजय आदि काव्योंकी रचना की है।

११ धातुकाव्यके रचयिता। आप 'नानेरी' नामसे भी प्रसिद्ध थे।

१२ न्यायरत्नावली नामक न्यायसिद्धान्तमञ्जरीके टीकाकार।

१३ न्यायसारपदपञ्जिकाके रचयिता।

१४ परीक्षापद्धति नामक स्मार्त्तग्रन्थके प्रणेता।

१५ एक वैयाकरण। माधवीय धातुवृत्तिमें इनका मत उद्धृत हुआ है।

१६ श्रीमद्भागवतके १०म स्कन्धकी बुधरञ्जिनी नाम्नी टीकाके रचयिता।

१७ वास्तुप्रदीप नामक वास्तु सम्बन्धीय ग्रन्थके रचयिता।

१८ शाङ्खायनगृह्यसंग्रहके प्रणेता।

१९ श्रुतबोधप्रबोधिनीकी श्रुतबोधटीकाके रचयिता।

२० सारस्वतप्रसाद नामक सारस्वत व्याकरणके टीकाकार।

२१ प्रभाकरभट्टके पुत्र, कर्पूरमञ्जरीप्रकाश और पयोग्रहसमर्थनप्रकार नामक मीमांसाग्रन्थके प्रणेता।

२२ द्विवेदी श्रीपतिके कनिष्ठ पुत्र, आथर्वणप्रमिताक्षराके रचयिता।

वासुदेव अध्वरिन्—एक प्रसिद्ध मीमांसक, वीरेश्वरके शिष्य और महादेव वाजपेयीके पुत्र। इनके बनाये हुए बौधायनीय पशुप्रयोग, पशुबन्धकारिका, प्रयोगरत्न, महाग्निचयनप्रयोग, बौधायनीय महाग्निसर्वस्व, मीमांसा कुतूहल, याज्ञिकसर्वस्व, सावित्रादि काठकचयन, सोमकारिका और वासुदेवदीक्षितकारिका आदि ग्रन्थ मिलते हैं।

वासुदेवक (सं० पु०) वसुदेव अण् ततः स्वार्थे कन्। वासुदेव, श्रीकृष्णचन्द्र।

वासुदेव कविचक्रवर्त्ती—ताराविलासोदय नामक तान्त्रिक ग्रन्थके प्रणेता।

वासुदेवज्ञान—अद्वैतप्रकाश और कैवल्यरत्नके प्रणेता।

वासुदेवदीक्षित—१ पारस्करगृह्यपद्धतिके प्रणेता। २ बालमनोरमा नामक व्याकरणके रचयिता।

वासुदेव अध्वरिन् देखो।

वासुदेव द्विवेदी—सादृश्यतत्त्वदीपके प्रणेता।

वासुदेवप्रिय (सं० पु०) कृष्णप्रिय।

वासुदेवप्रियङ्करी (सं० स्त्री०) वासुदेवस्य प्रियङ्करी। १ शतावरी। (राजनि०) २ श्रीकृष्णकी प्रियकारिणी।

वासुदेवोपनिषद् (सं० स्त्री०) उपनिषद्भेद।

वासुदेवभट्ट गोलिगोप—यज्ञपशुमीमांसाके रचयिता।

वासुदेव यतीन्द्र—वासुदेवमनन और विवेकमकरन्द नामक वैदान्तिक ग्रन्थके रचयिता।

वासुदेववर्गीण (सं० त्रि०) वासुदेवभक्त।

वासुदेवशर्मा—बौधायनीय श्रौतप्रायश्चित्तचन्द्रिका और मयूखकीके रचयिता।

वासुदेवशास्त्री—रामोदन्तकाव्यके प्रणेता।

वासुदेव सार्वभौम—नवद्वीपके एक प्रधान नैयायिक। १५वीं सदीमें ये विद्यमान थे। कहते हैं, कि वासुदेवके पिता महेश्वर विशारद भट्टाचार्य एक स्मार्त्त पण्डित थे। वासुदेवने थोड़े ही दिनोंमें पितासे काव्य, अलङ्कार और स्मृतिशास्त्र सीख लिये थे। किन्तु इतनेसे इनकी तृप्ति न हुई। वे न्यायशास्त्र सीखनेके लिये मिथिला चले गये। उस समय मिथिला ही न्यायशास्त्र-शिक्षाकी प्रधान स्थान समझी जाती थी। वासुदेवकी यही इच्छा थी, कि वे मिथिलामें समस्त न्यायशास्त्रोंको कण्ठस्थ कर नवद्वीपमें न्यायशास्त्रकी अध्यापना करें। उन्होंने गङ्गेशोपाध्यायके चार खण्ड चिन्तामणि ग्रन्थको आद्योपान्त कण्ठस्थ कर लिया। पीछे कुसुमाञ्जलि मुखस्थ करनेके समय उनके उद्देश्यका सबोंको पता चल गया। फलतः वे कुसुमाञ्जलिको कण्ठस्थ न कर सके। उनके गुरु प्रसिद्ध नैयायिक पक्षधर मिश्र थे। गुरुसे इन्होंने 'सार्वभौम'-की उपाधि पाई। इसके बाद नवद्वीप आ कर इन्होंने न्यायका टोल खोला। रघुनाथ शिरोमणि आदि इनके शिष्य थे। सार्वभौम भट्टाचार्य्यने नवद्वीपमें टोल खोला सही, पर नवद्वीपसे न्यायकी उपाधि नहीं मिलती थी। सार्वभौमके शिष्य रघुनाथ शिरोमणिने पक्षधरको परास्त कर नवद्वीपमें प्रधानता स्थापन की। उसीके साथ साथ न्यायके उपाधिदानका सूत्रपात हुआ।

जयानन्दके चैतन्यमङ्गलसे जाना जाता है, कि महाप्रभु चैतन्यदेवके जन्मकालमें नवद्वीप पर मुसलमानोंने घोर अत्याचार किया था। मुसलमानोंके उत्पीड़नसे तंग आ कर वृद्ध विशारद वाराणसी और सार्वभौम भट्टाचार्य परिवार सहित उड़ीसेमें जा कर रहने लगे।

उत्कलमें जा कर सार्वभौम उत्कलपति प्रतापरुद्रके सभापण्डित हुए थे। महाप्रभु पुरीधाम जा कर सार्वभौमसे मिले। यहां उनके साथ सार्वभौमका शास्त्रार्थ हुआ महाप्रभुके प्रभाव हीसे महाप्रसाद पर उन्हें विश्वास हुआ। चैतन्यचरितामृतके सार्वभौमको मतसे चैतन्यदेवने षड़्भुज मूर्त्ति दिखलाई थी। तभीसे सार्वभौम महाप्रभुका अवतार जान कर उनके शिष्य हो गये। वासुदेवने संस्कृत भाषामें चैतन्यदेवका जो स्तव रचा है वह आज भी वैष्णवसमाजमें प्रचलित है। इसके सिवा उन्होंने तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या और "सार्वभौमनिरुक्ति" नामक एक न्यायग्रंथकी भी रचना की थी।

वासुदेव सुप्रसिद्ध आखण्डल वन्द्यके वंशमें उत्पन्न हुए थे। केवल वासुदेव ही नहीं, इस वंशमें कितने पण्डित जन्मग्रहण कर बङ्गाली नामको उज्ज्वल कर गये हैं। प्रसिद्ध धातुदीपिकाकार दुर्गादास विद्यावागीश महाशय सार्वभौम भट्टाचार्यके पुत्र थे।

सार्वभौम-वंशीय गोविन्द न्यायवागीशके वंशके लोग आज भी नदिया जिलेके आड़वन्दी ग्राममें वास करते हैं। गोविन्द न्यायवागीश वासुदेवसे कितनी पीढ़ी नीचे थे, उसका पता आज तक नहीं चला है। गोविन्द न्यायवागीश नवद्वीपमें ही रहते थे। वे नवद्वीपपति राघवके सभापण्डित थे तथा उनसे एक हजार बीघा जमीन ब्रह्मोत्तर पा कर आड़वन्दी ग्राममें आ कर बस गये। इस ब्रह्मोत्तरकी जो सनद मिली थी उसकी तारीख १०६७ साल ११ फाल्गुन है।

वासुदेवसुत—पद्धतिचन्द्रिका नामक ज्योतिर्ग्रन्थके रचयिता।

वासुदेवसेन—एक प्राचीन वङ्गीय कवि। सदुक्तिकर्णामृतमें इनकी कविता उद्धृत हुई है।

वासुदेवानुभव (सं० पु०) वासुदेवमें अनुराग।

वासुदेवाश्रम—और्द्ध्वदैहिकनिर्णयके प्रणेता।

वासुदेवेन्द्र—एक प्रसिद्ध वैदान्तिक ग्रन्थकार। ये रामचन्द्र, ब्रह्मयोगी आदि वैदान्तिकके गुरु थे। इनके बनाये हुए अपरोक्षानुभव, आचारपद्धति (योग), आत्मबोध,

आनन्ददीपिका नामक वेदान्तभूषणटीका, मननप्रकरण; महावाक्यविवरण विवेकमकरन्द आदि ग्रन्थ मिलते हैं।

उक्त वासुदेवेन्द्रके शिष्यने अपना नाम छिपा कर गुरुके अनुवर्त्ती हो तत्त्वबोध और षोड़शवर्ण नामके दो छोटे दार्शनिक ग्रन्थ लिखे थे।

वासुपूज्य (सं० पु०) वासुर्नारायण इव पूज्यः। जिन-विशेष। जैन शब्दमें विस्तृत विवरण देखो।

वासुभद्र (सं० पु०) वासुदेव, श्रीकृष्ण।

वासुमत (सं० त्रि०) वसुमत सम्बन्धीय।

वासुमन्द (सं० क्ली०) सामभेद।

वासुरा (सं० स्त्री०) १ स्त्रीमात्र। २ करिणी, हथिनी। ३ रात्रि, रात। ४ भूमि, जमीन।

वासू (सं० स्त्री०) वास्यते स्वगृहे इति वास वाहुलकात् ऊ। नाटकोंकी परिभाषामें स्त्रियोंके लिये संबोधनका शब्द।

वासोद (सं० त्रि०) वासो ददातीति दा-क। वस्त्रदाता, वस्त्रदान करनेवाला। ऋग्वेदमें लिखा है, कि वस्त्रदान-कारी चन्द्रलोकको जाते हैं।

"हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम"

(ऋक् १०।१०७।२)

वासोभृत् (सं० त्रि०) वासो विभर्त्तीति भृ-क्विप् तुक् च। वस्त्रधारी।

वासोयुग (सं० क्ली०) वस्त्रद्वय, परिधेय वस्त्र और उत्तरीय।

वासौकस् (सं० क्ली०) वासाय ओकः स्थानं, वासगृहः।

वास्त (सं० पु०) छाग, बकरा।

वास्तव (सं० क्ली०) वस्त्वेव वस्तु-अण्। यथार्थ, प्रकृत, सत्य। ब्रह्म ही वस्तु है, ब्रह्मके सिवा सभी जड़ अवस्तु हैं। वस्तुका अंश जीव और वस्तुका कार्य्य जगत् है। ये सब वस्तु वस्तुसे पृथक् नहीं हैं। वास्तव शब्दसे एकमात्र ब्रह्मका ही बोध होता है।

वास्तविक (सं० पु०) वास्तेव वस्तु-ठक्। परमार्थ, सत्य, प्रकृत। २ यथार्थ, ठीक।

वास्तवोषा (सं० स्त्री) रात्रि, रात। यह दो शब्दके मेल-से बना है, वास्तव+ऊषा। वास्तवका अर्थ सङ्केत स्थान और ऊषाका अर्थ कामुकी स्त्री होता है अर्थात् जिस समय नायिका सङ्केतस्थानमें नायकको बाट जोहती है उस समयको वास्तवोषा कहते हैं।

वास्तव्य (सं० त्रि०) वसतीति वस (वसेस्तव्यत् कर्त्तरि-णिच्च। पा ३।१।९६) कर्त्तरि तव्यत्। १ वासकर्त्ता, वसनेवाला। २ वासयोग्य, रहनेलायक। (पु०) ३ वसति, बस्ती, आबादी।

वास्तिक (सं० क्ली०) १ छागसमूह, बकरोंका झुंड। (त्रि०) २ छाग सम्बन्धीय, बकरेका।

वास्तु (सं० क्ली०) १ वास्तूक शाक, बथुआ। (राजनि०) (पु० क्ली०) २ वसन्ति प्राणिनो यत्र, वस निवासे वस (अगारे णिच्च। उण् १।७७) इति तुन् सच णित्। गृहकरणयोग्य भूमि, घर बनाने लायक जगह। पर्याय—वेश्मभू, पोत, बाटी, वाटिका, गृहपोतक। (शब्दरत्ना०) शुभनिवासयोग्य स्थान। (ऋक् १।१५४।६)

वासस्थानको वास्तु कहते हैं। वास करनेसे पहले वास्तुका शुभाशुभ स्थिर करके वास करना होता है। लक्षणादि द्वारा इसका निर्णय करना होता है। कि कौन वस्तु शुभजनक है और कौन नहीं, यदि वास्तु अशुभ हो, तो गृहस्थके पदपदमें अशुभ होता है। इस कारण सबसे पहले वास्तुका लक्षण स्थिर कर लेना आवश्यक है। जो देवता स्थान ग्रहण करते हैं वही देवता उस स्थानके अधिपति होते हैं। पीछे ब्रह्मा उस देवमय देहभूतको वास्तुपुरुषरूपमें कल्पना कर लेते हैं।

बराहमिहिरको बृहत्संहितामें लिखा है—जगत्में जितने वास्तुगृह हैं वे पाँच भागोंमें विभक्त हैं। उनमें-से पहला उत्तम, दूसरा पहलेसे अधम और तीसरा उससे भी अधम है, इत्यादि।

सबसे पहले राजाके महलका परिमाण लिखा जाता है। राजगृह पांच प्रकारका होता है। उनमेंसे जिस-की लम्बाई एक सौ आठ हाथ और चौड़ाई एक सौ पैंतीस हाथ होगी, वही गृह उत्तम है। बाकी चार प्रकारके गृहोंकी लम्बाई और चौड़ाईमें क्रमशः ८ हाथ कम होगा। जैसे—२रा—लम्बाई १२५, चौड़ाई १००; ३रा—ल० ११५, चौ० ९२; ४था—ल० १०५, चौ० ८४; ५वां—ल० ९५, चौ० ७६ हाथ। सेनापतिके घरके भी

वही पांच भेद हैं। उनमेंसे उत्तम गृहकी चौड़ाई ६४ हाथ और लम्बाई ७४ हाथ १६ उंगली। इसी प्रकार दूसरा—चौ० ५८, ल० ६७·८। ३रा—चौ० ५२, ल० ६०-१६। ४था—चौ० ४६, ल० ५३ १६। ५वां चौ० ४०, ल० ४६ हाथ १६ उंगली। मन्त्रियोंके जो पांच प्रकार के घर होंगे उनमेंसे प्रधान घरकी चौ० ६० हाथ होगी। बाकी चारमें चार चार कम अर्थात् यथाक्रम ५६, ५२, ४८, ४४ होगी। लम्बाईका परिमाण चौड़ाईमें उसका आठवां भाग जोड़नेसे स्थिर करना होता है। जैसे—पहले घरकी लम्बाई ६७ हाथ १२ उंगली, २रेकी ६३।० ३रेकी ५८ हाथ १२ उ०, ४थेकी ५४।० और ५वेंकी ४६ हाथ और १२ उंगली होगी। इन सचिवोंके घरकी लम्बाई और चौड़ाईका आधा राजमहिषियोंका घर होगा। युवराजके भी घर पांच प्रकारके होते हैं। उनमेंसे उत्तम घरकी चौड़ाई ८० हाथ और बाकी चारकी चौड़ाई ६ हाथ करके कम होगी। चौड़ाईका तिहाई भाग चौड़ाईमें जोड़ कर उन सब घरोंकी लम्बाईका परिमाण स्थिर करना होगा। सभी उत्तम गृहोंके परिमाणका आधा युवराजके छोटे भाइयोंका होगा। राजा और मन्त्रीके घरोंमें जो अन्तर होगा वही सामन्त और श्रेष्ठ राजपुरुषोंका गृहपरिमाण है। उत्तम क्रमसे चौड़ाई—४८, ४४, ४०, ३६ और ३२ हाथ। फिर उत्तम क्रमसे लंबाई ६७ हाथ १२ उ० ; ५१, ० ; ४५ हाथ १२ उं०। राजा और युवराजके घरमें जो अन्तर होगा, वही कंचुकी, वेश्या और नृत्यगीतादि जाननेवाले व्यक्तियोंका गृह परिमाण जानना चाहिये। उत्तमादि क्रमसे लम्बाई जैसे—२८, ८ ; २६, ८, २४, ८ ; २२, ८ ; और २०, ८ उंगली। उसकी चौड़ाई, जैसे—२८, २६, २४, २२, २० हाथ। सभी अध्यक्ष और अधिकृत व्यक्तियोंका गृहमान, कोषगृह और रतिगृहके परिमाणके समान होगा। फिर युवराज और मन्त्रिगृहमें जो अन्तर होगा वही कर्माध्यक्ष और दूतोंका गृह परिमाण है। इसकी चौड़ाई २०, १८, १६, १४ और १२ हाथ तथा लम्बाई ३६, ४ ; ३५, १६, ३२, ४ ; २८, १६ ; २५ हाथ ४ उंगली होगी। दैवज्ञ पुरोहित और चिकित्सकके उत्तम गृहकी चौड़ाई ४० हाथ निर्दिष्ट है। वैसा गृह भी पांच प्रकारके होते हैं, इस कारण अन्यान्य गृह यथाक्रम ४ हाथ कम होगा। फिर षड्भागयुक्त चौड़ाईका मान ही उनका यथाक्रम दैर्घ्यमान (लम्बाई) होगा। पृथुत्वमान यथा,—४०, ३६, ३२, २८ और २४ हाथ है; दैर्घ्यमान यथा—४६, १६ ; ४२, ० ; ३७ १६ ; ३२ १६ और २८ हाथ है।

वास्तुगृहका जो विस्तार होगा वह यदि उच्छ्राय हो, तो शुभप्रद होता है। किन्तु जिन सब गृहोंमें सिर्फ एक शाखा है, उसकी लम्बाई चौड़ाईसे दूनी होगी।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डालादि हीन जातियोंमें किस जातिका वास्तुगृह पर कैसा अधिकार है और उस गृहके व्यासका परिमाण कितना होगा, इसका भी विषय वराहमिहिरने इस प्रकार लिखा है,—ब्राह्मणादि चारों वर्ण और हीन जातिके लिये उत्तम वास्तु व्यासकी चौड़ाई ३२ हाथ होगी इस बत्तीससे तब तक ४ की संख्या बाद देनी होगी, जब तक १६ न निकल जाये। इस समय ३२ से ४ बाद देनेमें १६के न निकलने तक ५ अङ्क होते हैं ; यथा—३२, २८, २४, २० और १६। यही पांचों अङ्क ब्राह्मण जातिके उत्तमादि वास्तुका पृथुत्व व्यास है तथा इन्हीं पांच प्रकारके वास्तुओंमें उन सब जातियोंका अधिकार है। फिर ब्राह्मण जातिके द्वितीय वास्तुगृहके पृथुत्वमानकी संख्या २८से शेष १६ पर्यन्त ४ अङ्कोंमें क्षत्रिय जातिके लिये वास्तुका परिमाण और अधिकार कहा गया। तृतीय अङ्कसे वैश्यका, चतुर्थसे शूद्रका और पञ्चम अन्त्यज चाण्डालादि हीन जातिका वास्तुमान और उनका अधिकार निर्णीत है। पृथुत्वका अङ्कविन्यास इस प्रकार है—

	उत्तम	मध्योत्तम	मध्यम	अधम	अधमाधम
ब्राह्मण	३२	२८	२४	२०	१६
क्षत्रिय	२८	२४	२०	१६	०
वैश्य	२४	२०	१६	०	०
शूद्र	२०	१६	०	०	०
अन्त्यज	१६	०	०	०	०

इससे समझा गया, कि ब्राह्मण इस प्रकारके पृथुत्व व्यासयुक्त पांच गृहोंके, क्षत्रिय चारके, वैश्य तीनके, शूद्र

दाके और अन्त्यज एक प्रकारके गृहके अधिकारी थे।

पूर्वोक्त पृथुत्व मानमें यथाक्रम उसका दशांश, अष्टांश, षड़ंश और चतुर्थांश जोड़ देनेसे ब्राह्मणादि चारों वर्णके वास्तुभवनका व्यासदैर्घ्य निर्णीत होगा; किन्तु अन्त्यज जातिके व्यासमानका जो पृथुत्व होगा वही दैर्घ्य माना गया है।

	उत्तम	मध्योत्तम	मध्यम	अधम	अधमाधम
ब्राह्मण	३५।४ ४८	१०।१६।१२	२६।१।३६	२२	१७।१४।२४
क्षत्रिय	३१।१२	२७	२२।१२	१८	०
वैश्य	२८	२३।१६	१८।८	०	०
शूद्र	२५	२०	०	०	०
अन्त्यज	१६	०	०	०	०

राजा और सेनापतिके गृहमें जो अन्तर होगा वही कोष गृह और रतिगृहका परिमाण होगा। पृथुत्व—४४, ४२, ४०, ३८, ३६ हाथ ; दैर्घ्य - ६०।८, ५७।१६, ५४।८, ५१।८ और ४८ हाथ ८ उंगली।

कोषगृह वा रतिगृहके साथ सेनापति और चातुर्वर्ण्यके वास्तुमानका अन्तरमान ही राजपुरुषोंके वास्तुगृहका परिमाण होगा; अर्थात् राजपुरुष यदि ब्राह्मण हों तो ब्राह्मण वास्तुके व्यासको सेनापतिके वास्तुमान व्याससे घटा कर जो बचेगा उसीके अनुसार वे अपने पाँच गृह तय्यार करें। राजपुरुषके क्षत्रिय होने पर उस वास्तु मानको सेनापतिके वास्तुमानके द्वितीयाङ्कसे घटावे। वैश्य होने पर तृतीयाङ्कसे तथा शूद्र होने पर चतुर्थांशसे वास्तुमान घटा कर अधिकारानुसार गृहादि निर्माण करे।

पारशव, मूर्द्धावसिक्त और अम्बष्ठ आदि जातियोंके गृह-निर्माण-स्थानमें अपने अपने परिमाणके योगजार्द्धके समान गृह होगा अर्थात् सङ्कर जाति जिन दो जातियोंसे उत्पन्न हुई है उन दो जातियोंके गृहका पृथुत्व और दैर्घ्यमान योग कर उसके अर्द्धकमानसे अपने अपने पाँचों घर बनाने होंगे। सभी जातियोंके लिये अपने अपने परिमाणसे कम वा अधिक वास्तुका परिमाण अशुभप्रद होता है। पश्वालय प्रव्रजिकालय, धान्यागार, अस्त्रागार, अग्निशाला और रविगृहोंका परिमाण इच्छानुसार किया जा सकता है। किन्तु कोई भी गृह सौ हाथसे अधिक नहीं होना चाहिये यही शास्त्रकारोंका अभिप्राय है।

सेनापतिगृह और नृपगृहके व्यासाङ्कको आपसमें जोड़ कर उसमें फिर ७० जोड़ दें। पीछे उनमें यथाक्रम १४ का भाग देनेसे जो भागफल होगा वही शाला अर्थात् घरका भीतरी परिमाण है। फिर उन दो विभक्त अङ्कोंमें १५ का भाग देनेसे अलिन्द अर्थात् शालाभित्तिके वहिर्भागस्थ सोपानयुत अङ्गनविशेषका परिमाण होगा। यह राजाके लिये है। अन्य जातीय व्यक्तियोंके भवनकी शाला और अलिन्दमान निकालनेमें राजा और सेनापतिके गृहके दोनों व्यासोंके योगफलमें अधिकारके अनुसार सजातीय व्यासाङ्क घटा कर उसमें ७० जोड़ दे। पीछे उसके आधे १४ और १५से भाग देने पर यथाक्रम शाला और अलिन्दका परिमाण निकलेगा।

पहले ब्राह्मणादि चारों वर्णोंका गृहव्यास २ हस्तादिरूपमें कहा गया है, उससे यथाक्रम ४ हाथ १७ अंगुल, ४ हाथ ३ अंगुल, ३ हाथ १५ अंगुल, ३ हाथ १३ अंगुल और ३ हाथ ४ अंगुल परिमाण शाला बनाई जायगी। फिर उन सब गृहोंके अलिन्दका परिमाण यथाक्रम ३ हाथ १६ उंगली, ३ हाथ ८ उंगली, २ हाथ १८ उंगली और २ हाथ ३ उँगली परिमित होगा।

पूर्वोक्त शालामानके विभागके बराबर जमीन घरसे बाहर छोड़ देनी होगी। उस भूमिका नाम वीथिका है। वह वीथिका यदि वास्तुभवनके पूर्वभागमें रहे, तो उसे 'सोष्णीष', पश्चिमकी ओर रहनेसे 'साश्रय', उत्तर व दक्षिणकी ओर रहनेसे 'सावष्टम्भ' और यदि वैसी वीथिका वास्तुभवनके चारों ओर रहे तो 'सुस्थित' कहते हैं। ये सब वास्तु शास्त्रकारोंके पूजित हैं अर्थात् इस प्रकारके वास्तु शुभप्रद माने गये हैं।

उत्तम गृहका विस्तार जितना हाथ होगा उसके सोलहवें भागमें ४ हाथ योग करनेसे योगफल ही उस गृहका उच्छ्राय है। अवशिष्ट चारों प्रकारका उच्छ्राय इससे क्रमशः द्वादश भाग करके कम होगा। सभी गृहका सोलहवां भाग ही भित्ति या नींवका परिमाण स्थिर करना होगा। किन्तु यह नियम ईंटके घरके लिये है। लकड़ीके घरका भित्ति परिमाण बनानेवालेकी इच्छा पर निर्भर करता है।

राजा और सेनापतिके गृहका जो व्यास है उसमें ७० जोड़ कर ११से भाग दे। भागफल जो होगा प्रधान द्वारका विस्तार उतना ही जानना होगा। विस्तारको उँगलोसे नाप कर जितनो उँगलो होगो उतने ही उसे खड़ा करना होगा। द्वार-विस्तारका आधा ही द्वारका विष्कम्भ-मान कहा गया है।

ब्राह्मणादि भिन्न जातियोंके गृहव्यासके पञ्चमांशमें अठारह उंगलो जोड़ देनेसे जो होगा वही उनके गृहद्वारका परिमाण है। द्वारपरिमाणका अष्टमांश द्वारका विष्कम्भ और विष्कम्भसे दूने द्वारकी ऊंचाई होनी चाहिए।

उच्छ्राय जितना हाथ ऊंचा होगा, उतनी ही उंगली उसकी चौड़ाई होगी। घरकी दोनों ही शाखाएं इसी प्रकार होंगी तथा शाखाके परिमाणसे डेढ़ गुना उदुम्बरका परिमाण होगा। जिसका जितना हाथ उच्छ्राय होगा, उसको १७से गुना कर ८०से भाग देने पर भागशेष जो होगा वही इनके मूलकी चौड़ाई है। उच्छ्रायसे नौ गुने और अस्सी हाथमें उसके दशांशको घटानेसे जो बचेगा वही स्तम्भके अग्र भागका परिमाण है।

स्तम्भका मध्य भाग होने पर उसे रुचक, अठकोना होने पर वज्र, सोलहकोना होने पर द्विवज्र, बत्तीस कोना होने पर प्रलीनक और वृत्त गुप्त होने पर उसे वृत्त कहते हैं। ये पांचों प्रकारके स्तम्भ शुभफलप्रद होते हैं।

स्तम्भके परिमाणमें ६का भाग देनेसे भागफल जो होगा उसका नाम वहन है। उनमेंसे सर्व निम्नस्थ नवम भागको वहन, अष्ट भागको घट, सप्तम भागको पद्म, षष्ठ भागको उत्तरोष्ठ और पञ्चम भागको भारतुला कहते हैं। ये यथाक्रम एक दूसरे पर खड़े होंगे। चतुर्थ भागका नाम 'तुला', तृतीय भागका नाम उपतुला, द्वितीय भागका अप्रतिषिद्ध तथा प्रथम भागका नाम अलिन्द है। ये सब यथाक्रम चतुर्थांशमें हीन होगा।

जिस वास्तुके चारों ओर इसी प्रकारके जो वहन और द्वार रहता है उसे 'सर्वतोभद्र' नामक वास्तु कहते हैं। यह राजा, राजाश्रित व्यक्ति और देवताओंके लिये कल्याणकर है।

जिस वास्तुके शालाकुड्यके चारों ओर सभी अलिन्द प्रदक्षिण भावमें निम्न भाग तक जाते हैं। उसे नन्द्यावर्त्त नामक वास्तु कहते हैं। इसके पश्चिम और द्वार नहीं रहेगा, किन्तु दूसरी ओर द्वार रहेगा। जिस वास्तुके अलिन्द प्रदक्षिणभावमें द्वारके निम्न भाग तक जाते हैं वह शुभदायक है, इसके सिवा और सभी अशुभ हैं। इस वास्तुका नाम वर्द्धमान है। इसमें दक्षिण ओर द्वार नहीं रहता। जिसके पश्चिम ओर एक और पूर्व ओर दो अलिन्द शेष तक रहते हैं तथा जिसके दो ओरके अलिन्द उत्थित और शेष सीमा विवृत रहती है, उसको 'स्वस्तिक' नामक वास्तु कहते हैं। इसमें पूर्वद्वार शुभावह नहीं है।

जिसके पूर्व और पश्चिमके अलिन्द अस्तगत होते हैं, तथा बाकी दो पूर्व और पश्चिमालिन्द तक जाते हैं उसे 'रुचक' नामक वास्तु कहते हैं। इसमें उत्तर द्वार अप्रशस्त है, किन्तु अन्यान्य सभी द्वार शुभप्रद होते हैं। स्वस्तिक और रुचक मध्यफलद तथा अवशिष्ट वास्तु राजाओंके लिये ही शुभप्रद हैं। जिसके उत्तर ओर शलाका नहीं रहती वह हिरण्याभ, त्रिशालाविशिष्ट होनेसे 'धन्य' और पूर्वकी ओर शाला नहीं रहनेसे वह 'सुक्षेत्र' नामक वास्तु कहलाता है। ये सब वास्तु शुभफलप्रद हैं, जिसके दक्षिणमें शाला नहीं रहती उसे 'चुल्लीत्रिशालक' कहते हैं। यह वास्तु धननाशक है। पश्चिमशालाहीन वास्तुको पक्षघ्न कहते हैं। इससे पुत्रका नाश और बैर होता है। जिसके पश्चिम और दक्षिणमें शाला होती है उसका नाम 'सिद्धार्थ' है। पश्चिम और उत्तरमें शाला रहनेसे उसको 'यमसूर्य', उत्तर और पूर्वमें शाला रहनेसे 'दण्ड' तथा पूर्व और दक्षिणमें शाला रहनेसे उसको 'वात' वास्तु कहते हैं।

पूर्व और पश्चिमकी ओर शालाविशिष्ट वास्तु 'गृहचुल्ली' तथा दक्षिण और उत्तर शालाविशिष्ट वास्तु 'काच' कहलाता है। 'सिद्धार्थ' वास्तुसे अर्थप्राप्ति, 'यमसूर्य'से गृहस्वामीकी मृत्यु, 'दण्ड' वास्तुसे दण्ड और वध, 'वात' वास्तुसे कलहोद्वेग, 'चुल्ली' से वित्तनाश और 'काच' वास्तुसे क्षति विरोध होता है।

अभी वास्तुमण्डलकी बात लिखी जाती है। वास्तु-

मण्डल दो प्रकारके हैं, एकाशीति पद और चतुःषष्टि पद। इनमें एकाशीति पद वास्तुमण्डलके लिये पूर्वायत दश-रेखा और उसके ऊपर उत्तरायत दश रेखा अङ्कित होनेसे एकाशीति कोष्ठा होगी, इस एकाशीति पाद वास्तुमण्डल-में ४५ देवता रहते हैं, शिखा, पर्जन्य, जयन्त, इन्द्र, सूर्य, सत्य, भृश और अन्तरीक्ष ये सब देवता ईशान-कोणसे यथाक्रम निम्नभागमें अवस्थित हैं। अग्नि-कोणमें अनिल हैं। इसके बाद क्रमानुसार निम्नभागमें पूषा, वितथ, बृहत्क्षत, यम, गन्धर्व, भृङ्गराज और मृग अवस्थित हैं। नैऋतकोणसे ले कर यथाक्रम पिता, दौवारिक (सुग्रीव), कुसुमदन्त, वरुण, असुर, शोष और राजयक्ष्मा तथा वायुकोणसे ले कर क्रमशः तत, अनन्त, वासुकि, भल्लाट, सोम, भुजङ्ग, अदिति और दिति ये सब देवता विराजित हैं। मध्यस्थलकी नवकोष्ठामें ब्रह्मा विराजमान हैं। ब्रह्माके पूर्व ओर अर्यमा हैं। इसके बाद सविता, विवस्वान्, इन्द्र, मित्र, राजयक्ष्मा, शोष और आपवत्स नामक देवगण प्रदक्षिण क्रमसे एक एक कोष्ठाके अन्तर पर ब्रह्माके चारों ओर अवस्थित हैं। आप नामक देवता ब्रह्माके ईशान कोणमें, सावित्र अग्नि-कोणमें, जय नैर्ऋतकोणमें तथा रुद्र वायुकोणमें विद्यमान हैं। आप, आपवत्स, पर्जन्य, अग्नि और अदिति ये सब वर्गदेवता हैं। इस पञ्चवर्गमें पांच पांच देवता विराजित हैं। ये सब देवता पञ्चपदिक हैं, अवशिष्ट वाह्य देवता द्विपदिक हैं, किन्तु इनकी संख्या बीस है। फिर अर्यमा आदि चार देवता जो ब्रह्माके चारों ओर विराजित हैं वे त्रिपदिक है। यह वास्तु पुरुष ईशानकी ओर मस्तक रखते हैं। इनके मस्तक पर निम्नमुखमें अनल वर्त्तमान है। इनके मुखमें आप, स्तनमें अर्यमा और वक्षस्थलमें आपवत्स विराजित हैं। पर्जन्य आदि सभी वाह्यदेवता यथाक्रम चक्षु, कर्ण, उरः और अंसस्थलमें अवस्थित हैं। सत्य प्रभृति पञ्च देवता भुजामें तथा हस्तमें सावित्र और सविता वर्त्तमान हैं। वितथ और वृहत्क्षत पार्श्वमें, जठरमें विवस्वान् तथा दोनों उरु, दोनों जानु, दोनों जङ्घा और स्फिक् इन सब स्थानोंमें क्रमानुसार यमादि देवता अधिष्ठित हैं। ये सब देवता दक्षिण पार्श्वमें अवस्थित हैं। वाम पार्श्वमें भी इसी प्रकार है। वास्तु पुरुषके मेढ्रस्थलमें शत् तथा जयन्त हृदयमें ब्रह्मा और चरणमें पिता वर्त्तमान हैं।

अभी चतुःषष्टिपद वास्तुमण्डलका विषय लिखा जाता है। चतुःषष्टिपद वास्तुमण्डल बना कर उसके प्रत्येक कोणमें तिर्यक् भावसे रेखा अङ्कित करनी होती है। इस वायुमण्डलके मध्यस्थ चतुष्पदमें ब्रह्मा हैं। ब्रह्माके कोणस्थ देवगण अर्द्धपद हैं। वहिःकोणमें अष्ट देवता अर्द्धपद हैं उनमें उभयपदस्थ देवता सार्द्ध-पद हैं। उक्त देवताओंसे जो अवशिष्ट हैं वे द्विपद हैं; किन्तु इनकी संख्या बीस है। जहां वंशसम्पात है अर्थात् दोनों रेखाएं मिली हैं, वह स्थान तथा सभी कोष्ठाओंके समतल मध्यस्थान इनके कर्मस्थल हैं। प्राज्ञ व्यक्तियोंको उसे कभी भी पीड़ित नहीं करना चाहिये। वह मर्मस्थान यदि अपवित्र भाण्ड, कील, स्तम्भ वा शल्यादि द्वारा पीड़ित हो, तो गृहस्वामीके उस अङ्गमें पीड़ा अनिवार्य है। अथवा गृहस्वामी दोनों हाथोंसे जो अङ्ग खुजलायेंगे, जहां अग्निकी विकृति रहेगी। वास्तुके उस स्थानमें शल्य है, ऐसा जानना होगा। शल्य यदि दारुमय हो, तो धनका नाश होगा। अस्थिजात शल्य निकलने पर पशुपीड़ा और रोगजन्य भय होता है। लौहमय होनेसे शस्त्रमय तथा कपाल वा केशमय होनेसे गृहपतिकी मृत्यु होती है। अङ्गार रहने-से स्तेयभय तथा भस्म रहनेसे सर्वदा अग्निभय हुआ करता है। मर्मस्थानस्थ शल्य यदि स्वर्ण वा रजतके सिवा कोई दूसरा पदार्थ हो, तो अशुभ है। तुषमय शल्य वास्तु पुरुषका मर्मस्थान है, अथवा चाहे कोई भी स्थानगत क्यों न हो, वह अर्थागमको रोकता है। और तो क्या, यदि हस्तिदन्तमय शल्य भी मर्मस्थानगत हो, तो वह भी दोषका आकर या खान है।

पूर्वोक्त एकाशीति पद वास्तुमण्डलकी जिस कोष्ठमें रोग' देवता पतित हुआ है उससे ले कर वायु पर्यन्त पितासे हुताशन, वितथसे शोष, मुख्यसे भृश, जयन्तसे भृङ्ग और अदितिसे सुग्रीव पर्यन्त सूत्रदान करनेसे जो जो स्थान स्पर्श करेगा, वह अति मर्मस्थान है। वास्तु गृहका परिमाण जितना हाथ है उसको इकासी भाग करनेसे प्रत्येक कोष्ठा जितने हाथकी होगी उसका आठवाँ भाग हो मर्मस्थानका परिमाण होगा।

वास्तु नरके पद और हस्त जितने हस्तपरिमित होंगे, उतने अंगुल परिमित वास्तुका वंश (कड़ी) होगा। वंशध्यासका अष्टांश ही वास्तुका शिराप्रमाण है। गृहस्वामी यदि सुख चाहें, तो गृहके मध्यस्थलमें ब्रह्माको रखें तथा उच्छिष्टादि उपघातसे यत्नपूर्वक उनकी रक्षा करें, नहीं करनेसे गृहस्वामीका अनिष्ट होता है। वास्तु-नरका दक्षिण हस्त हीन होनेसे अर्थक्षय तथा अङ्गनाजनका दोष होता है। इसी प्रकार वाम हस्त हीन होनेसे अर्थ और धान्यकी हानि, मस्तक हीन होनेसे सब गुणोंका नाश तथा चरण वैकल्यसे स्त्रीदोष, सुतनाश और प्रेष्यता हुआ करती है। यदि वास्तुनरका सर्वाङ्ग अविकल रहे, तो मान, अर्थ और नाना प्रकारके सुख होते हैं।

गृह, नगर तथा ग्राम सभी जगह इसी प्रकार देवगण प्रतिष्ठित हैं। उन सब स्थानोंमें यथानुरूप ब्राह्मण प्रभृतिको वास कराना होता है। ब्राह्मणादि चारों वर्णोंका वासगृह यथाक्रम उत्तरादिकी ओर बनाना उचित है। किन्तु घरका दरवाजा इस प्रकार बनाना चाहिये कि घरमें घुसते समय वह दाहिनी ओर पड़े। अर्थात् पृष्ठाभिमुख घरका दरवाजा उत्तराभिमुख होगा। इसी प्रकार दक्षिणाभिमुखका प्राङ्मुख, पश्चिमाभिमुखका दक्षिणाभिमुख और उत्तराभिमुखका पश्चिमाभिमुख गृहद्वार होना उचित है।

कहां द्वार करनेसे कैसा फल होता है अभी उसीका विषय लिखा जाता है। एकाशीति पदमें नौगुने सूतसे अथवा चतुःषष्टि पदमें अठगुने सूतसे विभक्त करने पर जो सब द्वार होंगे उनका फल यथाक्रम निम्नोक्त प्रकारसे हुआ करता है। जैसे—शिखी और पर्जन्यादि देवताके ऊपर द्वार बनानेसे अग्निभय, स्त्रीजन्म, प्रभूतधन, राजवल्लभता, क्रोधपरता, मिथ्या, क्रूरता तथा चोरी होती है। दक्षिणभागमें इसी प्रकार अल्पसुतत्व, प्रैष्य, नीचता, भक्ष्य-पानसुतवृद्धि, भयङ्करता, कृतघ्नता, अलधनता तथा पुत्र और वीर्यका नाश होता है। पश्चिममें सुतपीड़ा, रिपुवृद्धि, धनपुत्रलाभ, सुत-अर्थ-बल सम्पद्, धनसम्पद्, नृपभय, धनक्षय और रोग तथा उत्तरमें वध-बन्ध-रिपुवृद्धि, धनपुत्रलाभ, सर्वगुणसम्पत्ति, पुत्रवैर, स्त्रीदोष और निर्धनता होती है। पथ, वृक्ष, कोण, स्तम्भ और भ्रमादि द्वारा विद्ध होनेसे सभी द्वार अशुभप्रद होते हैं; किन्तु दरवाजेकी लम्बाईसे दूनी जमीन छोड़ कर यदि दरवाजा बनाया जाय, तो कोई दोष नहीं होता। रथ्याविद्ध द्वार नाशका कारण होता है तथा वृक्षविद्ध द्वारसे कुमारदोष लगता है। इसके सिवा पङ्कनिर्मित द्वारसे शोक, जलस्रावी द्वारसे व्यय, कूपविद्ध द्वारसे अपस्मार रोग, देवताविद्ध द्वारसे विनाश, स्तम्भविद्धसे स्त्रीदोष तथा ब्रह्माभिमुख द्वारसे कुलनाश होता है। यदि द्वार स्वयं खुल जाय, तो उन्माद रोग, स्वयं बंद हो जाय, तो कुलनाश, परिमाणसे अधिक होने पर राजभय तथा परिमाणसे कम होने पर दस्युभय और व्यसन होता है। द्वारके ऊपर द्वार होनेसे तथा जो द्वार सङ्कट अर्थात् सङ्कीर्ण है उससे अमङ्गल होता है। जिस द्वारका बिचला भाग चौड़ा होता है वह क्षुद्भयप्रद तथा कुब्जद्वार कुलनाशका कारण होता है। द्वारके अति पीड़ित होनेसे पीड़ा, अन्तर्विनत द्वार अभावका कारण, वाह्यविनत द्वार प्रवासदायक तथा दिग्भ्रान्त द्वारसे दस्युकृत पीड़ा होती है। रूप और ऋद्धि अभिलाषी व्यक्तियोंको मूलद्वारसे सटा कर अन्य द्वार नहीं बनाना चाहिये। घट, फल और पत्र आदि किसी मङ्गलमय द्रव्य द्वारा उसे सङ्कीर्ण करना भी उचित नहीं।

घरसे बाद ईशानादि कोणमें यथाक्रम चरकी, विदारिका, पूतना और राक्षसी रहती है। पुर, भवन वा ग्रामके उन सब कोनोंमें जो वास करते हैं उन्हें दोष नहीं होता। किन्तु उन सब स्थानोंमें यदि श्वपच आदि अन्त्यज जातियोंका वास हो, तो उनकी वृद्धि होती है।

वास्तुकी किस दिशामें कौन वृक्ष रहनेसे कैसा फल होता है अभी वही लिखा जाता है। प्रदक्षिण क्रमसे वास्तुके दक्षिणादि दिशाओंमें यदि पाकड़, वट, गूलर और पीपलके पेड़ हों, तो अशुभ; किन्तु उत्तरादि क्रमसे होने पर शुभ है। वास्तुके समीप कण्टकमय वृक्षसे शत्रुभय, क्षीरीवृक्षसे अर्थनाश तथा फलीवृक्षसे प्रजाका क्षय होता है। अतएव 'इन सब वृक्षोंकी लकड़ियोंको भी घर बनानेके काममें न लाना चाहिये। यदि उन सब वृक्षोंको यदि काटना न चाहें, तो उनके निकट पुन्नाग,

अशोक, अरिष्ट, बकुल, पनस, शमी, और शाल वृक्ष लगा देना चाहिये। जिस पर औषध, वृक्ष वा लता उत्पन्न हो, जो मधुर वा सुगन्ध तथा स्निग्ध, सम और अशुषिर हो वही मिट्टी उत्तम मानी गई है।

वास्तुके सामने मन्त्रीका घर रहनेसे अर्थनाश, धूर्त्तका घर रहनेसे पुत्रहानि, देवकुल रहनेसे उद्वेग तथा चतुष्पथ होनेसे अकीर्त्ति वा अयश होता है। इसी प्रकार घरके सामने चैत्यवृक्ष (जिस वृक्ष पर देवताका वास है) रहनेसे ग्रहभय, वल्मीक और उसीके कारण छोटे छोटे गड्ढे रहनेसे विपद्, गर्त्ता भूमिके पास हीमें रहनेसे पिपासा तथा कूर्माकार स्थान रहनेसे धननाश होता है।

प्रदक्षिण क्रमसे उत्तरादि प्लवभूमि ब्राह्मणादि जातियोंके लिये प्रशस्त है। अर्थात् उत्तरप्लव भूमि ब्राह्मणके लिये, पूर्वनिम्न क्षत्रियके लिये, दक्षिणनिम्न वैश्यके लिये तथा पश्चिमनिम्नभूमि शूद्रके लिये प्रशस्त है। ब्राह्मण सभी स्थानोंमें वास कर सकते हैं, किन्तु दूसरे दूसरे वर्णोंको अपने अपने शुभस्थानमें वास करना उचित है। घरके भीतर हाथ भर लम्बा चौड़ा एक गोल गड्ढा खोद कर उसी मिट्टीसे फिर उसको भर दे, यदि मिट्टी कम हो जाय तो उस पर वास नहीं करना चाहिये, करनेसे अनिष्ट होता है। यदि मिट्टी समान हो तो समफल और यदि अधिक हो, तो उत्तम होता है। अथवा उस गड्ढेको पानीसे भर कर एक सौ कदम चले, पीछे फिर लौट कर यदि देखे, कि वह पानी घटा नहीं है, तो उस भूमिको अत्यन्त प्रशस्त समझना चाहिये। अथवा उस गड्ढेमें एक आढक जल डाल कर सौ कदम आगे बढ़े पीछे लौट कर जलको तौले। यदि वह ६४ पल हो तो स्थान शुभप्रद समझा जाता है। अथवा आम मृत्पात्रमें चार दीप रख कर उन्हें गड्ढेके भीतर चारों कोनमें बाल दे। जिस कोनका बत्ती अधिक जलेगी उस वर्णके लिये वह भूमि प्रशस्त है। अथवा उस गड्ढेमें श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण ये चार पुरुष रख कर दूसरे दिन देखे, कि जिस वर्णका पुष्प म्लान नहीं हुआ है उस जातिके लिये वह भूमि प्रशस्त है। इन सब परीक्षाओंमें-से जिस परीक्षामें जिसका जी भरे उसके लिये वह उत्तम है। सित, रक्त, पीत और कृष्णवर्णकी भूमि यथाक्रम ब्राह्मणादि चारों वर्णके लिये शुभप्रद है। अथवा घृत, रक्त, अन्न और मद्यके समान गन्धवती भूमि यथाक्रम ब्राह्मणादि चतुर्वर्णके लिये मङ्गलकर है। कुश, शर, दूर्वा और काशयुत या मधुर, कषाय, अम्ल और कटुका स्वादवती भूमि यथाक्रम ब्राह्मणादि चारों वर्णके लिये शुभावह है। गृहारम्भके पूर्व सबसे पहले वास्तुभूमिमें हल चला कर धानका बीया बोवे। पीछे वहां पर एक दिन-रात ब्राह्मण और गौ-को बसावे। अनन्तर दैवज्ञ द्वारा निर्दिष्ट प्रशस्त कालमें गृहपति ब्राह्मणोंकी प्रशंसित उस भूमि पर जा विविध भक्ष, दधि, अक्षत, सुगन्धि कुसुम और धूपादि द्वारा देवता, ब्राह्मण और स्थपतिकी पूजा करे।

गृहपति यदि ब्राह्मण हों तो वे अपना मस्तक स्पर्श तथा कर रेखाकी कल्पना करे। क्षत्रिय होनेसे उन्हें वक्षस्थल, वैश्य होनेसे ऊरुद्वय, शूद्र होनेसे अपना पादस्पर्श कर नींव डालनेके समय रेखा की कल्पना करनी होगी। अंगुष्ठ, मध्यमा वा तर्जनी अंगुलि द्वारा रेखा खींचनी होगी। अथवा स्वर्ण, मसि, रजत, मुक्ता, दधि, फल, कुसुम वा अक्षत द्वारा खींची हुई रेखा शुभप्रद होती है। शस्त्र द्वारा रेखा खींचनेसे शस्त्राघात होसे गृहपतिकी मृत्यु, लौह द्वारा खींचनेसे बन्धनभय, भस्म द्वारा अग्निभय, तृण द्वारा चौरभय तथा काष्ठ द्वारा रेखा खींचनेसे राजभय होता है। रेखा यदि वक्र पाद द्वारा लिखित वा विरूप हो, तो शस्त्रभय और क्लेश होता है। चर्म, अङ्गार, अस्थि वा दन्त द्वारा रेखा अङ्कित होनेसे गृहस्वामीका अमङ्गल होता है। अपसव्य क्रमसे यदि रेखा खींची जाय, तो वैर, प्रदक्षिणा क्रमसे (अर्थात् वामभागसे आरम्भ करके क्रमशः दक्षिण-भागमें जो रेखा खींची जाती है, उसे प्रदक्षिण रेखा कहते हैं। अथवा अपनी ओर खींची हुई रेखाका नाम भी प्रदक्षिण है) रेखाकी कल्पना करनेसे सम्पत्ति होती है। इस समय कठोर वचन बोलना, थूक फेंकना अमङ्गलजनक है।

अभी वास्तु मध्यस्थ शल्यादि (हड्डी)का विषय लिखा जाता है। स्थपति उस अर्द्ध निचित वा सम्पूर्ण वास्तुके मध्य प्रवेश कर सभी निमित्त तथा गृहस्वामी किस

स्थानमें रह कर कौन अङ्ग स्पर्श करते हैं उसे देखें, उस समय यदि रविदीप्त रहे, * शकुनि यदि पुरुषकी तरह चीत्कार करे, गृहपति जो अङ्ग स्पर्श करे, उस स्थानमें उसी अङ्गकी अस्थि है, ऐसा जानना होगा। शकुनिके चीत्कार करते समय यदि हाथी, घोड़ा, गाय, अजाविक, शृगाल, बिड़ाल आदि जन्तु शब्द करे तो जानना चाहिये, कि उस स्थानमें शब्द करनेवाले जन्तुकी अस्थि गड़ी है। सूत्रप्रसारित होनेसे यदि गदहेका रेंकना सुनाई दे, तो अस्थिरूप शल्य स्थिर करना चाहिये। अथवा वह सूत्र यदि कुत्ते या शृगालसे लांघा जाय, तो भी अस्थिरूप शल्य स्थिर करना होगा। शान्ता दिशामें शकुन यदि मधुर शब्द करे, तो गृहपतिके अङ्गस्पष्ट अङ्गतुल्य वास्तुके उस अङ्गस्थानमें अर्थरूप शल्य है, ऐसा जानना होगा। इस समय सूत्र यदि छिन्न हो जाय, तो गृहपतिकी मृत्यु होती है। कील यदि अवाङ्मुख हो तो महान् रोग उत्पन्न होता है। गृहपति और स्थपतिकी स्मृति भ्रष्ट हो जानेसे मृत्यु होती है। उस समय यदि कंधे परसे जलका घड़ा जमीन पर गिर पड़े, तो शिरोरोग, जलशून्य हो जाय तो वंशमें उपद्रव, फूट जाय तो कर्मकर्त्ताका बध और यदि वह हाथसे गिर पड़े, तो गृहपतिकी मृत्यु होती है।

वास्तुके दक्षिण पूर्वकोणमें पूजा करके पहले एक शिला वा ईंट रखे। अवशिष्ट शिला प्रदक्षिणक्रमसे रखनी होगी। स्तम्भोंको भी इसी प्रकार खड़ा कर लेना होगा। उन्हें द्वारकी तरह उन्नत कर छत्र और वस्त्रयुक्त धूप और विलेपन देनेके बाद बड़ी सावधानीसे उठाना होगा। आकम्पित, पतित, दुःस्थित वा अवलीन पक्षियों द्वारा यदि स्तम्भ पर फल गिर पड़े तो इन्द्रध्वजके विषयमें जो फल कहा गया है इसमें भी वही फल होगा।

वास्तुभवन यदि पूर्व और उत्तरकी ओर उन्नत हो तो धनक्षय और पुत्रनाश होता है। उसके दुर्गन्धयुक्त होनेसे पुत्रवध, वक्र होनेसे बन्धु-विनाश तथा दिग्भ्रमयुक्त होनेसे वहांकी स्त्रियोंका गर्भनाश होता है।

यदि गृहस्थित सभी पदार्थोंकी वृद्धिकी कामना रहे, तो वास्तुभवनके चारों ओर समानभावमें भूमिको वर्द्धित करे। किसी कारणवश यदि एक ओर वर्द्धित करना हो, तो पूर्व वा उत्तरकी ओर उसे बढ़ाना होगा। किन्तु वास्तविक वास्तुके सिर्फ एक ओर बढ़ाना उचित नहीं, इससे दोष होता है। वास्तु यदि पूर्व ओर बढ़ाया जाय, तो मित्रसे वैर, दक्षिणकी ओर बढ़ानेसे मृत्युका भय, पश्चिममें अर्थनाश तथा अग्नि कोणमें बढ़ानेसे मनस्ताप होता है।

वास्तुगृहके ईशानकोणमें देवमन्दिर, अग्निकोणमें रन्धन-गृह, नैऋतकोणमें भाण्ड और उपस्करादि गृह तथा वायुकोणमें धनागार और धान्यागार निर्माण करना होता है। वास्तुके पूर्वादि सभी दिशाओंमें यदि जल रहे, तो प्रदक्षिण-क्रमसे निम्नलिखित फल होते हैं। जैसे—सुतहानि, अग्निभय, शत्रुभय, स्त्रीकलह, स्त्रीदोष, निर्द्धनता। कभी धन-वृद्धि और कभी सुत-वृद्धि होती है। जिस वृक्ष पर पक्षीके घोंसले हों, जो भग्न, शुष्क और दग्ध हो, जो देवालय और श्मशान पर उत्पन्न हुआ हो, जो क्षीरयुक्त धव हो, तथा विभीतक (बहेड़ा) और अरणि (यज्ञकाष्ठ) इन सब वृक्षोंको छोड़ कर अन्यान्य वृक्ष घर बनानेके लिये काट सकते हैं। रात्रिकालमें वृक्षका बलि-

---

* सूर्योदयके बादसे एक पहर तक ईशानकोण अङ्गारिणी, पूर्व दिशा दीप्ता, अग्निकोण धूमिता तथा अवशिष्ट पांच दिशायें शान्ता; इसके बाद एक पहर तक पूर्व दिशा अङ्गारिणी, आग्नेयी दीप्ता, दक्षिणा धूमिता और अवशिष्ट पांच दिशायें शान्ता, तृतीय प्रहरमें आग्नेयी अङ्गारिणी, दक्षिणा दीप्ता, नैऋती धूमिता तथा अवशिष्ट पांच दिशा धूमिता, चतुर्थप्रहरमें अस्त पर्यन्त दक्षिणादिक् अङ्गारिणी, नैऋती दीप्ता, पश्चिमा धूमिता तथा अवशिष्ट पञ्चदिक् शान्ता, पीछे रात्रिके प्रथम प्रहरमें नैऋती अङ्गारिणी, पश्चिमा दीप्ता, वायवी धूमिता तथा शेष पञ्चदिक् शान्ता, रात्रिके तृतीय प्रहरमें पश्चिमा अङ्गारिणी, वायवी दीप्ता, उत्तरा धूमिता तथा अवशिष्ट पांच दिश शान्ता; रात्रिके तृतीय प्रहरमें वायवी अंगारिणी, उत्तरा दीप्ता, ऐशानी धूमिता तथा शेष दिशा शान्ता, रात्रिके चतुर्थ प्रहरमें सूर्योदयके पूर्व पर्यन्त उत्तरा अंगारिणी, ऐशानी दीप्ता, पूर्वा धूमिता तथा अवशिष्ट पांच दिशायें शान्ता कहलाती हैं।

(वसन्तराजशाकुन)

दान और पूजन करके दूसरे दिन सबेरे प्रदक्षिण करनेके बाद वृक्षच्छेदन करें। छिन्न वृक्ष यदि उत्तर वा पूर्व दिशामें गिरे तो शुभ है। इसका विपरीत होनेसे अशुभ होता है। वृक्ष काटने पर यदि उस काटे हुए स्थानका वर्ण न बदले, तो वह शुभकर है तथा वही वृक्ष घर बनानेके लायक है। काटनेके बाद यदि वृक्षका सार भाग पीला हो जाय, तो वृक्षके ऊपर गोधा है, ऐसा जानना होगा। उसका वर्ण मंजीठकी तरह हो जानेसे भेक, नीला होनेसे सर्प, लाल होनेसे सरट, मूंगकी तरह होनेसे प्रस्तर, कपिल वर्णका होनेसे चूहा तथा खड्गकी तरह आभायुक्त होनेसे उसमें जल है, ऐसा जानना होगा।

वास्तुभवनमें प्रवेश कर धान्य, गो, गुरु, अग्नि और देवताओंके ऊपरी भाग पर नहीं सोना चाहिये, सोनेसे भाग्यलक्ष्मी अप्रसन्न होती हैं। वंश या लकड़ीकी कड़ीके नीचे सोना उचित नहीं। उत्तर-शिरा, पश्चिम शिरा, नग्न वा आर्द्र चरण हो कर कभी भी सोना नहीं चाहिये। गृह प्रवेशके समय गृहको तरह तरहके फूलोंसे सजावे, वन्दनवार लगावे, जलपूर्ण कलस द्वारा शोभित कर रखे, धूप, गन्ध और बलि द्वारा देवताओंके प्रति पूजा करे तथा ब्राह्मणोंके द्वारा मङ्गलध्वनि करावे। (वृहत्स० ५३ अ०)

गरुड़पुराणमें वास्तुका विषय संक्षेपमें इस प्रकार लिखा है—गृहारम्भके पहले वास्तुमण्डलकी पूजा करनी होती है, इससे गृहमें कोई विघ्नवाधा नहीं पहुंचती। वास्तुमण्डल एकाशीति पद होगा। उस मण्डलके ईशानकोणमें वास्तुदेवका मस्तक, नैऋ तमें पादप तथा वायु और अग्निकोणमें हस्तद्वयकी कल्पना करके वास्तुकी पूजा करे। आवासगृह, वासभवन, पुर, ग्राम, वाणिज्य स्थान, उपवन, दुर्ग, देवालय तथा मठके आरम्भकालमें वास्तुयाग और वास्तुपूजा आवश्यक है।

प्रथमतः मण्डलके वहिर्भागमें बत्तीस देवताओंका आवाहन और पूजन करके उसके भीतरी भागमें तेरह देवताओंका आवाहन और पूजन करना होता उक्त बत्तीस देवताओंके नाम ये हैं—ईशान, पर्जन्य, जयन्त, इन्द्र, सूर्य, सत्य, भृगु, आकाश, वायु, पूषा, वितथ, ग्रहक्षेत्र, यम, गन्धर्व, भृगु, राजा, मृग, पितृगण, दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, गणाधिप, असुर, शेष, पाद, रोग, अहिमुख्य, भल्लाट, सोम, सर्प, अदिति और दिति।

इसके बाद मण्डलके मध्य ईशान कोणमें आप, अग्निकोणमें सावित्र, नैऋ तकोणमें जय और वायुकोणमें रुद्र, इन चार देवताओंकी पूजा करनी होगी। मध्यस्थ नव पदके मध्य ब्रह्माकी पूजा शेष करनेके बाद निम्नोक्त मण्डलाकार अष्टदेवताओंकी पूजा करनी होती है। पूर्वादि दिशाओंमें एकादिक्रमसे उन आठ देवताओंका पूजन करना कर्त्तव्य है। अष्टदेवताके नाम—अर्यमा, सविता, विवस्वान्, विबुधाधिप, मित्र, राजयक्ष्मा, पृथ्वीधर और अपवत्स इन सब देवताओंका यथाक्रम प्रणवादि नमस्कार करनेके बाद पूर्व दिशामें, अग्निकोणमें, दक्षिणदिशामें नैऋ तकोणमें, पश्चिम दिशामें, वायुकोणमें, उत्तरदिशामें और ईशान कोणमें पूजा करे।

दुर्गका निर्माण करनेमें भी गृहादिके निर्माणकी तरह एकाशीति पद वास्तुमण्डल करना होगा। इसमें थोड़ी विशेषता है। वायुमण्डलके ईशानकोणसे ले कर नैऋ तकोण तक तथा अग्निकोणसे वायुकोण तक सूत्रपात करके दो रेखायें खींचनी होंगी। इन रेखाओंका नाम वंश है। एकाशीति पद वास्तुमण्डलके वहिर्भागस्थ द्वात्रिंशत् पदके मध्य जिस पञ्चपदमें अदिति, दिति, ईश, पर्जन्य और जयन्त ये पञ्च देवता हैं, दुर्गके एकाशीति पद वास्तुमण्डलमें भी वही पञ्च देवताकी जगह अदिति, हिमवान्, जयन्त, नायिका और कालिका इन पञ्चदेवको विन्यस्त करना होगा। दूसरे सप्तविंशति या सत्ताईस पदोंमें गन्धर्व आदिसे ले कर सर्पराज पर्यन्त जो सत्ताईस देवता हैं उनकी जगह किसी भी देवताका नाम बदलना नहीं होगा। गृह और प्रासादनिर्माणमें इन बत्तीस देवताओंकी पूजा करनी चाहिये।

वास्तुके सम्मुख भागमें देवालय, अग्निकोणमें पाकशाला, पूर्वदिशामें प्रवेशनिर्गमपथ और यागमण्डप, ईशानकोणमें पट्टवस्त्रयुक्त गन्धपुष्पालय, उत्तर दिशामें भाण्डारागार, वायुकोणमें गोशाला, पश्चिमदिशामें वातायनयुक्त जलागार, नैऋ तकोणमें समिध्कुश काष्ठादिका गृह और अस्त्रशाला तथा दक्षिण ओर सुन्दर अतिथिशाला बनावे। उसमें आसन, शय्या, पादुका जल, अग्नि, दीप और योग्य भृत्य रखे। समस्त गृहोंके

अवकाश भागको सजल कदली-वृक्ष और पांच प्रकारके कुसुम द्वारा सुशोभित करना होगा।

वास्तुमण्डलके बहिर्भागमें चारों ओर प्राकार बनावे। उस प्राकारकी ऊंचाई पांच हाथ होगी। इस प्राकारमें चारों ओर वन-उपवन द्वारा सुशोभित करके विष्णुगृहका निर्माण करे।

प्रासाद-निर्माणमें चतुःषष्टि या चौंसठ पद वास्तुमण्डल करके उसमें वास्तुदेवीकी पूजा करनी होगी। उस वास्तुमण्डलके मध्यगत चार पदमें ब्रह्मा और तत्समीपस्थ दो प्रतिपदमें अर्यमादि देवताओंकी पूजा करे। वास्तुमण्डलके ईशानादि चार कोणगत चार पदमें एक एक कर्णरेखा खींच कर उससे अर्द्ध भागमें विभक्त करे और प्रति कोणमें दो दो करके आठ पद बनावे। उन आठ पदोंमें ईशानादि कोणसे आरम्भ कर शिखी आदि देवताओंको स्थापन करना होगा। उन सब देवताओंकी तथा उनके पार्श्वस्थ दो प्रतिपदमें अन्यान्य देवताओंकी पूजा करनी होती हैं।

इस प्रकार चतुःषष्टिपद वास्तुमण्डल बना कर ईशानादि चार कोणोंमें चरकी, विदारी, पूतना और पापराक्षसी इन चार देवताओंकी पूजा करे। पीछे बहिर्भागमें ईशानादि और हेतुकादि देवकी पूजा करनी होगी। हेतुकादिगणके नाम ये ८—हेतुक, त्रिपुरान्तक, अग्नि, वेताल, यम, अग्निजिह्व, कालक, कराल और एकपाद। पूजाके बाद ईशानकोणमें भीमरूप, पातालमें प्रेतनायक और आकाशमें गन्धमाली तथा क्षेत्रपालकी पूजा करे। वास्तुकी चौड़ाई जितनी होगी उससे लम्बाईका गुणा करे। यह गुणनफल ही 'वास्तुराशि' वास्तुक्षेत्रफल होगा। इस वास्तुराशिमें आठका भाग दे। भागशेष जो रह जायगा उसे 'आय' कहते हैं। उस वास्तुराशिको दूसरी बार आठसे गुणा करने पर गुणनफल जो होगा उसमें सत्ताईसका भाग दे। भागका शेष जो बचेगा उसका नाम वास्तुनक्षत्रराशि रखा गया है। अब उस भागशेष वास्तुनक्षत्रराशिमें आठका फिर भाग दे। उसके हृत शेषाङ्कको 'व्यय' कहते हैं। उस वास्तुनक्षत्रराशिको चारसे गुणा कर गुणनफलमें ९ का भाग दे। भागशेष जो बचेगा उसका नाम 'स्थिति' है। इस स्थिति अङ्क द्वारा ही वास्तुमण्डलका अंश स्थिर होगा। यही देवल ऋषिका मत है।

उक्त वास्तुराशिको आठसे गुणा कर गुणनफल जो होगा उसे 'पिण्डाङ्क' कहते हैं। उस पिण्डाङ्कमें चौंसठका भाग देनेसे भागशेष जो बचेगा उससे गृहस्वामीके जीवन तथा पांचका भाग देनेसे भागशेष जो बचेगा उससे गृहस्वामीके मरणका निर्णय होगा। इसी प्रकार क्रमशः आय, व्यय, स्थिति और मरणका निर्णय किया जाता है।

वास्तुके क्रोड़ या गोदमें गृह बनावे, पृष्ठमें नहीं। वास्तुदेवको सर्पाकारमें पतित करना तथा वामपार्श्वमें सुलाना चाहिये। इसको अन्यथा न होवे। गृह और प्रासादके द्वार बनानेके नियम ये हैं—सिंह, कन्या और तुलाराशिमें अर्थात् भाद्र, आश्विन, कार्त्तिक इन तीन मासोंमें पूर्वकी ओर मस्तक, उत्तरकी ओर पृष्ठ, दक्षिणकी ओर क्रोड़ और पश्चिमकी ओर चरण रख कर वास्तुनागको सुलावे। उक्त तीन मासमें दक्षिणकी ओर उत्तरद्वारी गृह बनावे।

अभी वास्तुनागका विषय लिखा जाता है। वृश्चिक धनु और मकर राशिमें अर्थात् अग्रहायण, पौष और माघ इन तीन मासमें वास्तु नागका शिर दक्षिण, पृष्ठ पूर्व, क्रोड़ पश्चिम और पाद उत्तर रहता है। इसीलिये उस समय पश्चिमको ओर पूर्वद्वारी गृह बनानेको कहा है। कुम्भ, मीन तथा मेष राशिमें अर्थात् फाल्गुन, चैत्र और वैशाख इन तीन मासमें वास्तु नागका मस्तक पश्चिममें, दक्षिणमें पृष्ठ, उत्तरमें क्रोड़ और पूर्वमें पाद रहता है। इस समय उत्तरकी ओर दक्षिणद्वारी गृह बनाना उचित है। वृष, मिथुन और कर्कट राशिमें अर्थात् ज्यैष्ठ, आषाढ़ और श्रावण मासमें वास्तु नागका मस्तक उत्तरमें, पृष्ठ पश्चिममें, क्रोड़ पूर्वमें और पद दक्षिणमें रहेगा। इस समय पूर्वकी ओर पश्चिमद्वारी गृह बनावे। गृहका द्वार जितना लम्बा होगा उस आधा द्वारका विस्तार होना चाहिये। इस प्रकार अष्टद्वारविशिष्ट गृह बनाना कर्त्तव्य है। वास्तु नाग जिस मासमें जिस ओर पृष्ठ करके सोता है, उस मासमें उस ओर प्लव अर्थात् ऐसा आङ्गनभूमिका निर्माण करे। जिससे आंगनका जल शीघ्र ही बाहर निकल जाये।

घरका ईशानकोण प्लव होनेसे पुत्रकी हानि होती है। इसी प्रकार दक्षिण प्लव होनेसे वीर्यहीनता, अग्निकोण प्लव होनेसे बन्धन, वायुकोण प्लव होनेसे पुत्र और सुतृप्तिलाभ, उत्तर प्लव होनेसे राजभय तथा पश्चिम प्लव होनेसे पीड़ा, बन्धन इत्यादि फल होता है। गृहके उत्तर ओर द्वार करनेसे राजभय, सन्ताननाश, सन्ततिहीनता, शत्रुवृद्धि, धनहानि, कलङ्क, पुत्रविनाश आदि नाना प्रकारके अशुभ होते हैं।

अभी पूर्वद्वारी गृहका फल लिखा जाता है। गृहके पूर्व ओर द्वार बनानेसे अग्निभय, अनेक कन्यालाभ, धन प्राप्ति, मानवृद्धि, पदोन्नति, राज्यविनाश, रोग आदि फल हुआ करते हैं। गृहद्वार-निर्णय करनेके विषयमें ईशानसे ले कर पूर्व पर्यन्त दिग्भाग पूर्वदिक्, अग्निसे दक्षिण पर्यन्त दक्षिणदिक्, नैर्ऋतसे ले कर पश्चिम पर्यन्त पश्चिमदिक् तथा वायुसे उत्तर पर्यन्त उत्तरदिक् कहलाता है। गृहके चार दिशाको आठ भाग करके द्वार प्रस्तुत करनेका फलाफल माना जा सकता है।

वास्तु भवनके पूर्वमें पीपल, दक्षिणमें पाकड़, पश्चिममें न्यग्रोध, उत्तरमें गूलर और ईशानकोणमें शाल्मली वृक्ष लगाना चाहिये। इस विधिके अनुसार गृह और प्रासाद बनानेसे सर्वविघ्न विनष्ट होता है। (गरुडपु० ४६ अ०)

इसके अलावा मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, देवीपुराण, युक्तिकल्पतरु, वास्तु कुण्डली आदि ग्रन्थोंमें वास्तुके सम्बन्धमें विस्तर आलोचना देखी जाती है। विस्तार और पुनरुक्ति हो जानेके भयसे उनका उल्लेख यहां नहीं किया गया। गृह और प्रासाद शब्द देखो।

फिर अनेक प्राचीन ग्रन्थोंमें वास्तु-निर्माणकी प्रणाली लिपिबद्ध हुई है। उनमें विश्वकर्मारचित विश्वकर्मप्रकाश और विश्वकर्मीय शिल्पशास्त्र मयदानवरचित मयशिल्प और मयमत, काश्यप और भरद्वाजरचित वास्तुतत्त्व, वैखानस और सनत्कुमाररचित वास्तुशास्त्र; मानवसार वा मानसार वस्तु, सारस्वत, अपराजितापृच्छा वा सान रत्नकोष, हयशीर्षपञ्चरात्र, भोजदेव रचित समराङ्गणसूत्रधार, सूत्रधारमण्डन रचित वास्तुसार वा राजवल्लभमण्डन वा सकलाधिकार, महाराज श्यामसाह शङ्कर-रचित वास्तुशिरोमणि आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनके सिवा याग, वास्तुपूजादि सम्बन्धमें भी अनेक संस्कृत ग्रन्थ देखे जाते हैं। यथा—

करुणाशङ्कर और कृपाराम रचित वास्तुचन्द्रिका, नारायणभट्ट रचित वास्तुपुरुषविधि, याज्ञिकदेवकृत वास्तुपूजनपद्धति, शाकलीय वास्तुपूजाविधि, वासुदेवका वास्तुप्रदीप, रामकृष्ण भट्टकृत आश्वलायतगृह्योक्त वास्तुशान्ति, शौनकोक्त वास्तुशान्तिप्रयोग, दिनकरभट्टकी वास्तुशान्ति, स्मार्त्त रघुनन्दनका वास्तुयागतत्त्व, टोडरमल्लका टोडरानन्द वा वास्तुसौख्य।

वास्तु (अ० पु०) १ सम्बन्ध, लगाव। २ मित्रता। ३ स्त्री और पुरुषका अनुचित संबंध।

वास्तुक (सं० क्ली०) वास्त एव वास्तु-स्वार्थे कन्। १ शाकभेद, बथुआ नामका साग। इसे अंगरेजीमें Chenopodium album, महाराष्ट्रमें चकवत और कर्णाटमें चक्रवर्त्त कहते हैं।

भावप्रकाशके मतसे यह वास्तुक शाक छोटे और बड़े पत्तेके भेदसे दो प्रकारका होता है। चक्रदत्तके मतसे इसका रस पकाने पर लघु, प्रभावमें कृमिनाशक तथा मेधा, अग्नि और बलकर है। क्षारयुक्त होनेसे यह कृमिघ्न, मेध्य, रुचिकर तथा अग्नि और बलवृद्धिकर माना गया है। राजनिघण्टुके मतसे इसका गुण मधुर, शीत क्षार, ईषदम्ल, त्रिदोषघ्न, रोचन, ज्वरघ्न, अर्शोघ्न तथा मल मूत्रशुद्धिकारक है। अत्रि संहिताके मतसे इसका गुण—मधुर, हृद्य तथा वात, पित्त और अर्शरोगके लिये हितकर।

२ जीवशाक। ३ पुनर्नवा, गदहपूरना।

वास्तुकशाकट (सं० क्ली०) वास्तुकशाकक्षेत्र। (राजनि०)

वास्तुकाकार (सं० स्त्री०) पट्टशाक, पाट या पटुएका साग

वास्तुकालिङ्ग (सं० पु०) तरम्बुजलता, तरबूज।

वास्तुकी (सं० स्त्री०) चिल्ली शाक।

वास्तुकर्मन् (सं० क्ली०) वास्तुके आरम्भमें करने योग्य अनुष्ठान।

वास्तुप (सं० त्रि०) वास्तु-पा-क। वास्तुपति, वास्तके अधिष्ठात्री देवता।

वास्तुपरीक्षा (सं० स्त्री०) वास्तुकी परीक्षा। वास्तुकी परीक्षा, शुभाशुभका विचार करना, कौन वास्तु शुभ है और कौन अशुभ उसका निर्णय करना। वास्तु देखो।

वास्तुपूजा (सं० स्त्री०) वास्तु-पुरुष वा वास्तुदेवताकी पूजा। नवगृह-प्रवेशमें वास्तुपूजा या वास्तुयोगका विधान है। वास्तुयाग देखो।

श्राद्धादि क्रियाके प्रारम्भमें भी वास्तुपुरुषकी पूजा करनी होती है। परन्तु उस पूजामें उतनी विशेषता नहीं, साधारण नियमसे सम्पन्न होती है। वास्तुपूजाके लिये एक निर्दिष्ट उत्तम दिन माना गया है, वह दिन है—पौषमासकी संक्रान्ति। इस पौषसंक्रान्तिके दिन प्रायः सभी हिन्दुओंके घर यह वास्तुपूजापद्धति प्रचलित देखी जाती है। लेकिन अन्यान्य स्थानोंकी अपेक्षा बङ्गालदेशमें विशेषतः पूर्ववंगअञ्चलमें इस पूजामें थोड़ी विशेषता है।

इस संक्रान्तिके दिन एक ओर पिष्टक-पायसादिका जैसा प्रचुर आयोजन है, दूसरी ओर वैसा ही वास्तुपूजाका समारोह है। प्रायः प्रति ग्राममें वास्तुपूजा करनेका एक एक लिपा हुआ उत्तम स्थान रहता है। उसी स्थानमें प्रायः सभी ग्रामवासी जा कर बड़ी धूमधामसे वास्तुपूजा करते हैं। कोई कोई अपने घरमें अथवा घरके बाहर किसी निर्दिष्ट स्थानमें वास्तुपूजा करते हैं।

यह पूजा अक्सर जियलवृक्षके नीचे हुआ करती है। प्रत्येक निर्दिष्ट स्थानमें एक एक जियलवृक्ष रहता है। कहीं उस वृक्षकी शाखाको ही गाड़ कर पूजा करते हैं। पूजा करनेके पूर्व दिनसे ही वृक्षमूलमें वेदी प्रस्तुत करनी होती है। उस वेदिके ऊपर घटस्थापन करनेके बाद घटके चारों ओर अक्षत चावल छिड़क दिया जाता है। वास्तुवेदीके पास ही मिट्टीका एक कुम्भीर बनाना होता है। उस कुम्भीरका पूजक पुरोहितके दाहिनी ओर रहता है। पूजाके समारोहके अनुसार कुम्भीरका तारतम्य होता है। जहां जहां पूजा धूमधामसे होती है, वहां वहां कुम्भीरका आकार बड़ा बनाया जाता है। शक्तिके अनुसार षोड़शोपचार वा दशोपचारसे पूजा की जाती है। इस पूजामें पहले बकरेका और पीछे कच्छपका बलिदान दिया जाता है। छोटे और बड़े दो प्रकारके कच्छपकी बलि होती है। जहां बकरेकी बलि नहीं होती वहां कमसे कम कच्छप बलि अवश्य होगी। सबसे पीछे उक्त कुम्भीरकी बलि दी जाती है। स्थानभेदसे इस पूजामें बाजे गाजे तथा आमोद-प्रमोद खूब होते हैं।

कहीं कहीं वास्तुपूजा घरमें ही होती है। घरमें एक खूंटी जिसे वास्तुखूंटी कहते हैं। पहले हीसे निर्दिष्ट रहती है। उसीमें प्रति वर्ष वास्तुपूजा होती है। वास्तु खूंटीको सिन्दूर आदिसे सजाते और साधारण नियमसे नैवेद्यादि द्वारा पूजा करते हैं।

वास्तुयाग (सं० पु०) वास्तुप्रवेश-निमित्तकः यागः। वास्तु प्रवेश-निमित्तक यागविशेष। वास्तुयाग करके नवगृहमें प्रवेश करना होता है। यह यज्ञ करके गृहप्रवेश करनेसे वास्तुका दोष प्रशमित होता है, इसी कारण नवगृहमें जानेके समय वास्तुयाग करना उचित है। वास्तुयागका विषय बहुत संक्षेपमें नीचे लिखा जाता है।

वास्तु सम्बन्धीय सभी कार्योंमें वास्तुयाग करना होता है। नवगृहमें जाते समय एकाशीति पद वास्तुयाग तथा नवदेवगृह-प्रतिष्ठाके समय चतुःषष्टिपद वास्तुयाग विधेय है।

अशुभ दिनमें वास्तुयाग नहीं करना चाहिये, जलाशयकी प्रतिष्ठा वा नवगृह-प्रतिष्ठाके समय वास्तुयाग करनेका विधान है। अतएव ज्योतिषोक्त गृहप्रवेश वा गृहारम्भोक्त दिनमें वा जलाशयप्रतिष्ठोक्त दिनमें करना होता है। इसलिये ज्योतिषमें वास्तुयागके दिनादिका पृथक्‌रूपमें उल्लेख नहीं है। दिनादिका विषय गृह और वाटी शब्द देखो।

वास्तुयागविधान—जिस दिन वास्तुयाग करना होगा, उसके पूर्व दिन यथाविधान गृहस्वामी और पुरोहित दोनों ही संयत हो कर रहें। वास्तुयाग करनेमें होता, आचार्य, ब्रह्मा और सदस्य इन चार ब्राह्मणोंकी आवश्यकता है। अतः ये चारों ब्राह्मण संयत हो कर रहेंगे, घरमें जहां वास्तुयाग होगा, वहां एक वेदी बनानी होगी। उस वेदीकी ऊंचाई एक हाथ और लम्बाई तथा चौड़ाई चार हाथ होगी। गोबरसे वेदीको लीप कर उस पर घटस्थापन करना होता है। वास्तुयाग करनेके समय इसके अङ्गीभूत नान्दीमुखश्राद्धका विधान है।

जिस दिन वास्तुयाग होगा, उस दिन सबेरे यजमान

प्रातःकृत्यादि करके पहले स्वस्तिवाचन और संकल्प करें। स्वस्तिवाचन यथा—ओं कर्त्तव्येऽस्मिन् वास्तुयागकर्मणि ओं पुण्याहं भवन्तोऽधिब्रुवन्तु, ओं पुण्याहं ओं पुण्याहं ओं पुण्याहं, यह कह कर तीन बार अक्षत छोड़ना होता है। ओं कर्त्तव्येऽस्मिन् वास्तुयागकर्मणि ओं ऋद्धिर्भवन्तोऽधिब्रुवन्तु ओं ऋद्ध्यतां ओं ऋद्ध्यतां ओं ऋद्ध्यताम्, पीछे ओं कर्त्तव्येऽस्मिन् वास्तुयागकर्मणि ओं स्वस्ति भवन्तोऽधिब्रुवन्तु ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति। इसके बाद 'ओं स्वस्तिनो इन्द्रः' इत्यादि और पीछे 'सूर्यःसोमो यमः कालः' मन्त्रका पाठ करें। जो सामवेदी हैं, वे सोमं राजानं वरुणमग्निमित्यादि मन्त्र पढ़ें। इसके बाद सूर्यार्घ्य और गणपत्यादि पूजा करके संकल्प करना होता है। जिस कोशामें संकल्प किया गया था, वह जल ईशानकोणमें फेंक कर वेदानुसार संकल्पसूक्तका पाठ करना होता है।

देवप्रतिष्ठा और मठप्रतिष्ठा आदि कार्यों में जो वास्तुयाग होता है, उसके संकल्पमें थोड़ीसी पृथक्ता है। तिथ्यादिका उल्लेख कर देवप्रतिष्ठा होने पर "एतद्वास्तूपशमनदेवप्रतिष्ठाकर्माभ्युदयार्थं", मठप्रतिष्ठा होनेसे एतद्वास्तूपशमनमठप्रतिष्ठाकर्माभ्युदयार्थं सगणाधिपत्यादि रूपमें सङ्कल्प करना होता है।

इस प्रकार सङ्कल्प करके जो सब ब्राह्मण यज्ञ करेंगे उनका वरण कर देना होगा। वरणकालमें पहले गुरुका वरण करके पीछे अन्यका वरण करना होगा। गुरु वरणके बाद ब्रह्मवरण, ब्रह्मवरणके बाद होतृवरण, आचार्यवरण और सदस्य वरण करना होगा। इन तीनवरण वाक्योंमें कुछ भी विशेषता नहीं है, केवल होतृवरणकी जगह होतृकर्म करणाय, आचार्यवरणकी जगह 'आचार्यकर्मकरणाय भवन्तुमहं वृणे' इस प्रकार कहना होगा।

कृती इस प्रकार वरण करके पीछे वृद्धिश्राद्ध करे और व्रतिगण यथाविधान यह यज्ञ आरम्भ कर दें। कर्मकर्त्ता यदि पुरुष हो, तो वृद्धिश्राद्ध करना होता है, स्त्री होनेसे वृद्धिश्राद्ध नहीं होगा।

वास्तुयागके लिये जो वेदी बनाई गई है उस वेदी पर ५ घट और १ शान्तिकलस स्थापन करना होता है। घट और कलसको जलसे भर कर उसके ऊपर पञ्चपल्लव तथा अखण्ड फल और शान्तिकलसमें पञ्चरत्न डाल कर उसको कपड़ेसे ढक देना होगा। पीछे होताको पञ्चगव्यके पृथक् पृथक् मन्त्र द्वारा उसे शोधन कर निम्नोक्त मन्त्रसे कुशोदक देना होता है। मन्त्र इस प्रकार है—

"ॐ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पुष्णो हस्ताभ्यां हस्तमाददे।" पीछे पञ्चगव्य और कुशोदकको एकत्र कर गायत्री पढ़नेके बाद वेदी पर सेक करना होता है। इसके बाद षष्टिकधान्य, हैमन्तिकधान्य, मुद्ग, गोधूम, श्वेतसर्षप, तिल और यवमिश्रित जल द्वारा फिरसे वेदीको सेक करना होता है।

वास्तुयागकी वेदी पर पांच वर्णके चूर्ण द्वारा वास्तुमण्डलको प्रस्तुत करना होता है। उसी वास्तुमण्डलमें पूजा करनी होगी। वेदीके पूर्वांशमें मण्डल करनेकी जगह ईशानकोणसे ले कर मण्डलके चारों कोणोंमें चार खैरके खूंटे मन्त्र पढ़ कर गाड़ने होते हैं।

इसके बाद अग्नि सर्प आदिको मासभक्त बलि दे कर उन गड़े हुए चार खैरके खूंटोंके बीच वास्तुमण्डल बनावे। इस मण्डलके चारों कोणमें वस्त्रमालासमन्वित चार कलस और बीचमें ब्रह्मघट स्थापन करे। इस प्रकार घटस्थापन करके पार्श्वके घटमें नवग्रहकी पूजा और पूर्वादिक्रमसे पुनः भूतादिको मासभक्त बलि देनी होगी।

उक्त प्रचारसे बलि दे कर यथाविधान सामान्य अर्घ्य और न्यासादि करने होते हैं। इस समय भूतशुद्धि करना आवश्यक है।

अनन्तर मण्डलमें ईशानादि पैंतालीस देवताओं तथा मण्डल पार्श्वमें स्कन्दादि अष्ट देवताओंका संस्थापन करके यथाशक्ति इनकी पूजा करनी होती है। 'ईश इहागच्छागच्छ इह तिष्ठ तिष्ठ अत्राधिष्ठानं कुरु मम पूजां गृहाण' इस प्रकार आवाहन करके पूजादि करनेका विधान है। एतत् पाद्यं ॐ ईशाय नमः इस प्रकार पाद्यादि उपचार द्वारा पूजा करनी होती है।

ईशादि पैंतालीस देवता ये सब हैं—१ ईश, २ पर्जन्य, ३ जयन्त, ४ शक्र, ५ भास्कर, ६ सत्य, ७ भृश, ८ व्योमन्, ९ अग्नि, १० पूषन्, ११ वितथ, १२ गृहक्षत, १३ यम,

१४ गन्धर्व, १५ भृङ्ग, १६ मृग, १७ पितृगण, १८ दौवारिक, १९ सुग्रीव, २० पुष्पदन्त, २१ वरुण, २२ असुर, २३ शोष, २४ पाप, २५ रोग, २६ नाग, २७ विश्वकर्मन्, २८ भल्लार, २९ यज्ञेश्वर, ३० नागराज, ३१ श्री, ३२ दिति, ३३ आप, ३४ आपवत्स, ३५ अर्य्यमन्, ३६ सावित्र, ३७ सावित्री, ३८ विवस्वत्, ३९ इन्द्र, ४० इन्द्रात्मज, ४१ मित्र, ४२ रुद्र, ४३ राजयक्ष्मन्, ४४ धराधर और ४५ ब्रह्मन्।

स्कन्दादि अष्ट देवता—१ स्कन्द, २ विदारी, ३ अर्य्यमन्, ४ पूतना, ५ जम्भक, ६ पापराक्षसी, ७ पिलिपिञ्ज, ८ चरकी।

इन सब देवताओंकी पूजाके बाद मण्डल मध्यस्थित ब्रह्मघटमें पश्चाल्लिखित वासुदेव, लक्ष्मी और वासुदेवगणकी षोड़शोपचारसे पूजा करनी होती है। इसके बाद धराकी और पीछे वास्तुपुरुषकी पूजा करनी होगी।

अनन्तर ब्रह्मघटमें अक्षतचावल, विशुद्ध जल, स्वर्ण, रौप्य और पूर्वोक्त साठी धानका बीज डाले और उसके मुखमें प्रलम्बित रक्त सूतके साथ वर्द्धनी स्थापन करे। इस कुम्भमें चतुर्मुख देवताका आवाहन कर विशेषरूपसे पूजा करनी होती है।

पीछे पञ्चकुम्भके पूर्वोत्तर ईशानकोणमें दधि अक्षतसे विभूषित शान्तिकलस स्थापन करे। उस कलसके मुखमें आम, पीपल, वट, पाकड़ और यज्ञडुमर ये पांच प्रकारके पल्लव तथा वस्त्र दे कर उसके ऊपर नये ढक्कनमें धान और फल तथा कुम्भमें पञ्चरत्न छोड़ दे।

उस कुम्भमें अश्वस्थान, गजस्थान, वल्मीक, नदीसङ्गम, ह्रद, गोकुल, रथ्य (चत्वर) इन सात स्थानोंकी मिट्टी भी डालनी होती है।

इस प्रकार पूजादि करके होम करना होता है। मण्डलके पश्चिम होताके सम्मुख भागमें हाथ भर लम्बा चौड़ा स्थण्डिल बना कर विरूपाक्ष जपके बाद कुशण्डिका करनी होगी। इस समय चरुपाक करना होता है। पीछे प्रकृत कर्मके आरम्भमें समिध्को अग्निमें डाल कर मधुमिश्रित घृत द्वारा महाव्याहृतिहोम करना उचित है।

इसके बाद सघृत, तिल, यव वा यज्ञडुमरके समिधसे पूर्वोक्त ईशादि धराधर पर्यान्त ४४ पूजित देवताओंमेंसे प्रत्येकको ओं ईशानाय स्वाहा इस क्रमसे आहुति द्वारा होम करे और ओं ब्रह्मणे स्वाहा इस मन्त्रसे एक सौ बार आहुति दे। इसके बाद पूर्वक्रमसे स्कन्दादि अष्टदेवता तथा वासुदेवादि (लक्ष्मीभिन्न) चतुर्मुख पर्यन्त षड्देवतामेंसे प्रत्येकको दश दश आहुति द्वारा होम करे। पीछे घृतमधुम्रक्षित पांच विल्वफल द्वारा मन्त्र पढ़ कर होम करे।

इसके बाद ओं 'अग्नये स्विष्टिकृते स्वाहा' इस मन्त्रसे घृत द्वारा होम कर पीछे महाव्याहृतिहोमपर्यन्त प्रकृत कर्म समाप्त कर उदीच्य कर्म करना होगा। इस उदीच्य कर्मके बाद कदलीपत्र पर पायसको ५३ भाग करके जलके छींटेसे 'एष पायसबलिः ओं ईशाय नमः' इत्यादि क्रमसे चरक पर्यन्त पूजित देवताओंको पायस दे। पीछे आचार्य्य पूर्वकी ओर मुख कर बैठे हुए सपत्नीक यजमानको मन्त्र पढ़ा कर शान्तिफलसञ्चित जल द्वारा अभिषेक करे।

शान्तिके बाद कर्करीके सूत्रयुक्त नाल द्वारा जल डाले और मण्डल वा वास्तुके अग्निकोणमें हाथ भर लम्बे चौड़े स्थानमें चार उंगली मिट्टी खोद गड्ढा बनावे और गोबरसे लिपपोत कर शुद्ध कर दे। पीछे आचार्य्य पूर्वामुखी बैठ चतुर्मुख ब्रह्माकी चिन्ता करे, बादमें वाद्यादिके साथ वास्तुमण्डलसे ब्रह्मघट उठा कर इस स्थान पर लावे।

इसके बाद आचार्य्य घुटना टेक कर कुम्भके समीप बैठे और घटमें जल ले कर वरुणके उद्देशसे अर्घ्य प्रदान करे।

पीछे कर्करीके जल, अन्य जल और ब्रह्मघटके जलसे वह गर्त्त भर कर ओं इस मन्त्रसे शुक्ल पुष्प डाल दे। इस पुष्पके दक्षिणावर्त्त होनेसे शुभ और वामावर्त्त होनेसे अशुभ होता है। इसके बाद एक नई ईंट ले कर मन्त्रसे वहां पर गाड़ दे।

उस गड़हेमें पञ्चरत्न, दध्योदन तथा शालि और षष्टिक धान्य, मूंग, गोधूम, सर्षप, तिल और यव निक्षेप कर शुद्ध मिट्टीसे उसको पुनः भर देना होगा।

इसके बाद आचार्य्य वास्तुमण्डलमें पूजित देवताओंको जल द्वारा मन्त्र पढ़ कर विसर्जन करें।

'ओं क्षमध्व' इस प्रकार विसर्जन करके दक्षिणा देनी होती है। पीछे वृत होता, आचार्य्य आदिको वरणकी दक्षिणा दे कर वह दक्षिणा उन्हें दे देनी होगी। पीछे अच्छिद्रावधारण और वैगुण्यसमाधान करना होगा।

पहले लिखा जा चुका है, कि वास्तुयाग चतुःषष्टिपद और एकाशीतिपदके भेदसे दो प्रकारका है। वह पद्धति कही गई है वह चतुःषष्टिपद वास्तुयागविषयक है। एकाशीतिपद वास्तुयाग प्रायः इसी पद्धतिके अनुरूप है, केवल पूजाकालमें कुछ देवताओंको छोड़ और सभी प्रायः एकसे हैं।

एकाशीतिपद वास्तुयाग-प्रयोग—पूर्वोक्त नियमके अनुसार स्वस्तिवाचन सङ्कल्प आदि करके मण्डल करनेके स्थानमें चार खूंटे गाड़ने और माषभक्त बलि देनेके बाद पञ्चवर्ण चूर्ण द्वारा एकाशीतिपद वायुमण्डल अङ्कित करना होगा। मण्डलके बहिर्भागमें माषभक्त-बलि देनेका विधान है।

इसमें शिखी आदि देवताओंकी पूजा करनी होती है। देवताके नाम ये हैं—शिखी, पर्जन्य, जयन्त, कुलिशायुध, सूर्य्य, सत्य, भृश, आकाश, वायु, पूषण, वितथ, गृहक्षत, यम, गन्धर्व, भृङ्गराज, मृग, पितृगण, दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, वरुण, असुर, शोष, पाप, अहि, मुख्य, भल्लाट, सोम, सर्प, अदिति, दिति, अप, सावित्र, जय, रुद्र, अर्य्यमन्, सवितृ, विवस्वत्, विबुधाधिप, मित्र, राजयक्ष्मन्, पृथ्वीधर, आपवत्स, ब्रह्मन्, चरकी, विदारी, पूतना और पापराक्षसी।

इन सब देवताओंकी पूजामें होम और पायसका प्रयोजन होता है। मण्डल और देवतामें जो कुछ प्रभेद है उसे छोड़ और सभी कर्म पूर्वोक्त प्रणालीके अनुसार करने होंगे। इसी कारण इसके विषयमें और कुछ नहीं लिखा गया। ईशादि चरकी पर्यन्त देवताके बदलेमें शिखी आदि पापराक्षसी पर्यन्त देवताकी पूजा होगी बस, इतना ही प्रभेद है। इसमें वासुदेवादि देवताकी भी पहलेकी तरह पूजा होती है।

वास्तुयागकी वेदी पर पञ्चवर्णके चूर्ण द्वारा जो वास्तुमण्डल अङ्कित करना होता है वह चतुःषष्टिपद वास्तुयागमें एक प्रकारसे और एकाशीतिपद वास्तुयागमें भिन्न प्रकारसे है। इन दोनों मण्डलोंका विषय यथाक्रम नीचे लिखा जाता है।

चतुःषष्टिपदवास्तुमण्डल—पूर्वास्य पुरोहित वेदीके पूर्वांश मध्यस्थलमें मण्डल अङ्कित करें। (सूतमें सफेद खड़ीका दाग दे कर जो घर बनाया जाता है वह घर ठीक होता है) पहले हाथ भर लम्बे चौड़े स्थानके चारों पार्श्वमें हाथ भर लम्बे सूतसे चार दाग दे कर चतुष्कोण मण्डल बनावें। उस सूतका मध्यस्थल निर्णय करके पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिणमें दो सरल रेखाओंके खींचनेसे ८ घर होंगे। पीछे मध्यरेखाके दोनों पार्श्वमें तीन तीन रेखा पूर्व पश्चिमकी ओर खींच कर ठीक उसी तरहकी और भी छः छः सरल रेखायें खींचे। ऐसा करनेसे पार्श्वरेखाके साथ पूर्व-पश्चिममें ९ और उत्तर दक्षिणमें ९ सरलरेखा अङ्कित करने पर ६४ समान घर बनेंगे।

इसके बाद मण्डलके ईशान और नैर्ऋतकोणस्थित दो घरोंके ईशान और नैर्ऋत कोणकी ओर वक्ररेखा तथा वायु और अग्निकोणस्थित घरमें वायु और अग्निकोणकी ओर वक्ररेखा खींचे। ऐसा करनेसे ४ आधेके हिसाबसे ८ घर बनेंगे। ऊर्द्ध्वपद बलिमें वह आधा घर, एकपद बलिमें एक घर और द्विपद बलिमें ऊपर नीचे दो घर तथा चतुष्पद बलिमें ऊपर नीचे दो और उसके पार्श्ववर्त्ती दो ये चार घर समझे जाते हैं।

पूर्वास्यकर्त्ता शुक्ल, कृष्ण, पीत, रक्त और धूम्र इन पांच वर्णके चूर्णको ले कर ईशानकोणसे दक्षिणावर्त्त-क्रमसे पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर तक परिचालन करे। मण्डलके मध्य केवल २८ घर शून्य छोड़ देने होंगे।

किस देवताका कौन घर है, उसका नाम तथा उस घरमें किस वर्णका चूर्ण लगेगा उसका विषय नीचे लिखा जाता है। उसी प्रणालीके अनुसार चूर्ण द्वारा यह मण्डल बनाना होगा।

ईशानकोणस्थित घरके ऊपर अर्द्धांशमें ईश, शुक्ल, अर्द्धपद अर्थात् ईशानस्थान, श्वेतवर्ण अर्द्धगृह (॥०), उसके दक्षिण पार्श्वमें पर्जन्य, पीत, एकपद (२), उसके दक्षिण जय, धूम्र, द्विपद (४) शक्र, पीत, एकपद। (५)

भास्कर, रक्तवर्ण, एकपद (६) सत्य, शुक्ल, द्विपद (८) भृश; शुक्ल, एकपद, (९) अग्निकोणमें व्योम, कृष्ण, अर्द्धपद (॥०), अग्नि, रक्त, अर्द्धपद (॥०), पूषण, रक्त, एकपद। (११) वितथ, कृष्ण, द्विपद (१३) गृहक्षत, श्वेत, एकपद, (१४) यम, कृष्ण, एकपद (१५) गन्धर्व, पीत, द्विपद (१७) भृङ्ग, श्याम, एकपद, नैर्ऋतकोणमें—मृग, पीत, अर्द्धपद (॥०) पितृ, श्वेत, अर्द्धपद (॥०) दौवारिक, शुक्ल, एकपद (२०) सुग्रीव, कृष्ण, द्विपद (२२) पुष्पदन्त पीत, एकपद (२३) वरुण, शुक्ल, एकपद (२४) असुर, कृष्ण, द्विपद (२६), शोष, नानावर्ण, एकपद (२७) वायुकोणमें—पाप, श्याम, अर्द्धपद (॥०) रोग, श्याम, अर्द्धपद (॥०) नाग, रक्त; एकपद (२९) विश्वकर्मा, पीत, द्विपद (३१) भल्लाट पीत; एकपद (३२) यज्ञेश्वर, शुक्ल, एकपद (३३) नागराज, श्वेत, द्विपद (३५) श्री, पीत, एकपद (३६) फिरसे ईशानकोनमें दिति, कृष्ण, अर्द्धपद (॥०)।

इस प्रकार चारों ओरके घरोंमें पांच वर्णके चूर्ण देनेके बाद पूर्व ओरके पर्जन्यके २ संख्यक पीतगृहके निम्नगृहमें आप, शुक्ल, एकपद (३७) चार संख्यक जय, धूम्र, द्विपदके नीचे तृतीय पदमें आपवत्स, पीत, एकपद (३८) उसके दक्षिण ५ तथा ६ संख्यक गृहके नीचे चार घरोंमें अर्यामा, रक्तवर्ण, चतुष्पद (४२) ८म संख्यक सत्य, शुक्ल, द्विपदगृहके नीचे सावित्री, शुक्ल, एकपद (४३) ९म संख्यक भृशपदके नीचे सावित्र, रक्त, एकपद (४४) गृहक्षत, यम १४।१५ संख्यक घरके नीचे विवस्वत्, कृष्ण, चतुष्पद (४८) २० दौवारिक शुक्ल, एकपदके नीचे इन्द्र, पीत, एकपद (४९) सुग्रीव २२ द्विपदके नीचे इन्द्रात्मज पीत, एकपद (५०) पुष्पदन्त वरुण २३, २४ पदके नीचे मित्र, रक्तवर्ण, चतुष्पद (५४) असुर द्विपदके नीचे राजयक्ष्मा, पीत, एकपद (५५) २७ शोष, नानावर्ण, एकपदके नीचे रुद्र, शुक्ल, एकपद (५६) भल्लाट, यज्ञेश्वर ३२, ३३ पदके नीचे धराधर, पीत, चतुष्पद (६०) मध्यस्थलमें ब्रह्मा, रक्त, चतुष्पद (६४)।

मण्डलके बाहर आठों दिशाओंमें पुत्तलिका बनानी होगी। ईशानकोणमें चरकी कृष्णा पुत्तलिकाकार। (१) पूर्वमें स्कन्द पीत। (२) अग्निकोणमें विदारी कृष्णा। (३) दक्षिणमें अर्यमा रक्त। (४) नैर्ऋतमें पुतना कृष्णा। (५) पश्चिममें जम्भक कृष्ण। (६) वायुकोणमें पापराक्षसी कृष्णा। (७) उत्तरमें पिलिपिञ्ज कृष्ण (८)।

उक्त प्रणालीके अनुसार चतुःषष्टिपद वास्तुमण्डल बनानेमें पहले उसे कागज पर लिखे। पीछे उसे देख कर अङ्कित करनेसे बड़ी सुविधा होती है।

एकाशीतिपद वास्तुमण्डल—चतुःषष्टि पद वास्तुमण्डलसे इसकी जो विशेषता है, नीचे उसीका उल्लेख किया जाता है। अतएव यह वास्तुमण्डल अङ्कित करते समय चतुःषष्टिपद वास्तुमण्डलको एक बार देख लेना आवश्यक है।

इस वास्तुमण्डमें पूर्व पश्चिम और उत्तर-दक्षिणमें दश दश सरल रेखा खींचे। प्रति पंक्तिमें नौ के हिसाबसे ९ पंक्तिमें ८१ घर होंगे। इसके बाद पूर्वास्यकर्त्ता पञ्चवर्णके चूर्ण ले कर ईशानकोणसे दक्षिणावर्त्त क्रमसे घर पूरण करे। इसमें अर्द्धपद नहीं है।

ईशानकोण गृहमें शिखी, रक्त, एकपद (१) उसके दक्षिण पर्जन्य, पीत, एकपद (२) जयन्त, शुक्ल, द्विपद (४) कुलिशायुध, पीत, द्विपद (६) सूर्य, रक्त, द्विपद (८) सत्य, श्वेत, द्विपद (१०) भृश, पीत, द्विपद (१२) आकाश, शुक्ल, एकपद (१३) अग्निकोणमें—वायु, धूम्र, एकपद (१४) पूषण, रक्त, एकपद (१५) वितथ, श्याम, द्विपद (१७), गृहक्षत, श्वेत, द्विपद (१९) यम, कृष्ण, द्विपद (२१) गन्धर्व, पीत, द्विपद (२३) भृङ्गराज, श्वेत, द्विपद (२५) मृग, पीत, एकपद (२६) नैर्ऋतकोणमें—सुग्रीव, श्वेत, एकपद (२७) दौवारिक, कृष्ण, एकपद (२८) पितृ, श्वेत, द्विपद (३०) पुष्पदन्त, रक्त, द्विपद (३२) वरुण, श्वेत, द्विपद (३४) असुर, रक्त द्विपद (३६), शोष, कृष्ण, द्विपद (३८) रोग, धूम्र, एकपद (३९) वायुकोणमें—पाप, रक्त, एकपद (४०) अहि, कृष्ण, एकपद (४१) मुख्य, श्वेत, द्विपद (४३) भल्लाट, पीत, द्विपद (४५) सोम, शुक्ल, द्विपद (४७) सर्प, कृष्ण, द्विपद (४९) अदिति, रक्त, द्विपद (५१) और दिति, श्याम, एकपद (५२)।

इस प्रकार पञ्चवर्णके चूर्ण द्वारा चतुर्दिक् वेष्टित

होनेके बाद अवशिष्ट उनतीस घरोंमें पूर्वादिक्रमसे दक्षिणवर्त्तमें अङ्कित करना होता है।

पर्जन्य एकपदके नीचे आप, श्वेत, एकपद (५३) उसके पार्श्वमें जयन्त द्विपदके नीचे आपवत्स, गौर, एकपद (५४) उसके दक्षिण कुलिशायुध सूर्य, सत्यपदत्रयके नीचे अर्यमा, पाण्डुरवर्ण, त्रिपद (५७) भृश द्विपदके नीचे इन्द्रात्मज, पीत, एकपद (५८) आकाश एकपदके नीचे सावित्र, रक्त, एकपद (५६) गृहक्षत, यम, गन्धर्व इन तीन घरोंके नीचे विवस्वत्, रक्त, त्रिपद (६२) भृङ्गराज द्विपदके नीचे विबुधाधिप, पीतवर्ण, एकपद (६३) मृग एकपदके नीचे जय, श्वेत, एकपद (६४) पुष्पदन्त, वरुण, असुर, त्रिपदके नीचे मित्र, शुक्ल, त्रिपद (६७) शोष द्विपदके नीचे राजयक्ष्मा, पीत, एकपद (६८) रोग, एकपदके नीचे रुद्र, शुक्ल, एकपद (६६) भल्लाट, सोम, सर्प त्रिपदके नीचे पृथ्वीधर, श्वेत, त्रिपद (७२) मध्यस्थलके नौ घरोंमें ब्रह्म, रक्तवर्ण, नवपद (८१)।

इस प्रकार ८१ घर पूर्ण करके मण्डलके बाहर चारों कोणमें चार पुत्तलिकाकी तरह अङ्कित करे, ईशानकोणमें चरकी रक्तवर्ण। (१) अग्निकोणमें विदारी कृष्णवर्ण (२) नैऋतकोणमें पूतना श्यामवर्ण (३) वायुकोणमें पापराक्षसी गौरवर्ण (४)।

उक्त प्रकारसे मण्डल बना कर उसमें उल्लिखित देवताओंकी पूजा करनी होती है। वासगृहप्रतिष्ठास्थलमें एकाशीतिपद वास्तुमण्डल बना कर उसमें वास्तुयाग करे।

वास्तुयागतत्त्वमें लिखा है, कि यदि वास्तुयागमें यह मण्डल न बना सकें, तो शालग्राम शिला पर उन सब देवताओंकी पूजादि करे।

यह विधान असमर्थके लिये जानना होगा। उक्त प्रकारसे मण्डल बना कर ही वास्तुयाग करना उचित है। वास्तुयागके शेषमें दानादि द्वारा ब्राह्मणोंको परितोष करे। पुरोहितको सर्वौषधि द्वारा यजमानका शान्तिविधान करना चाहिये। इस प्रकार वास्तुयाग करनेसे वास्तुके सभी दोष जाते रहते हैं। (वास्तुयागतत्त्व)

वास्तुयाग करने पर भी गृहप्रवेशकी जो सब विधियां हैं, उनके अनुसार गृहमें प्रवेश करना होता है। गृह और वाटी शब्द देखो।

वास्तुवस्तुक (सं० क्ली०) वास्तुक शाक, बथुआ नामका साग।

वास्तुविद्या (सं० स्त्री०) वास्तुविषयक विद्या, वह विद्या जिससे वास्तु या इमारतके सम्बन्धकी सारी बातोंका परिज्ञान होता है। शिल्पशास्त्र देखो।

वास्तुविधान (सं० क्ली०) वास्तुनो विधानं। वास्तुविषयक विधान, वास्तु विधि।

वास्तुशान्ति (सं० स्त्री०) वे शान्ति आदि कर्म जो नवीन गृहमें प्रवेश करते समय किये जाते हैं।

वास्तुशास्त्र (सं० क्ली०) वास्तुविषयकं शास्त्रं। वास्तुविषयक शास्त्र, वास्तुविद्या। जिस शास्त्रमें ज्ञान रहनेसे वास्तुविषयक सभी तत्त्व जाने जा सकते हैं उसे वास्तुशास्त्र कहते है। शिल्पशास्त्र देखो।

वास्तुसंग्रह (सं० पु०) वास्तुशास्त्रभेद।

वास्तुह (सं० त्रि०) वास्तुहन्ता, निवित् स्थान हननकारी। (ऐतरेयब्रा० ३।११)

वास्तूक (सं० पु० क्ली०) वसन्ति गुणा अत्रेति वस ऊलूकादयश्चेति साधु। शाकविशेष, बथुआ। पर्याय—वास्तू, वास्तुक, वसुक, वस्तुक, हिलमोचिका, शाकराज, राजशाक, चक्रवर्त्ती। गुण—मधुर, शीतल, क्षार, मादक, त्रिदोषनाशक, रुचिकर; ज्वरनाशक; अर्शरोगमें विशेष उपकारी, मल और मूत्रशुद्धिकारक। (राजनि०)

वास्ते (अ० अव्य०) १ निमित्त, लिये। २ हेतु, सबब।

वास्तेय (सं० त्रि०) १ वस्तिसम्बन्धी। २ वस्तसम्बन्धी। ३ वास्तुसम्बन्धी। वस्तौ भवं (दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्यहेढञ्। पा ४।३।५६) इति ढञ्। ४ वस्तिभव। (छान्दोग्य- ३।१६।२) वस्तिरिव वस्ति (वस्तेर्ढञ्। पा ५।३।१०१) इति ढञ्। ५ वस्तिसदृश।

वास्तोष्पति (सं० पु०) वास्तोर्गृहक्षेत्रस्य पतिरधिष्ठाता वास्तोष्पतिगृहमेधाच्छ च।' इति निपातनात् अलुक् षत्वञ्च, यद्वा वस्त्वन्तरीक्षं तस्य पतिः पाता विभुत्वेन' इति निघण्टुटीकायां देवराजयज्वा ५।४।६) १ इन्द्र। २ देवतामात्र। (भागवत १०।५०।५३) (त्रि०) गृहपालयिता, घरका पालन करनेवाला। (ऋक् ७।५४।२)

वास्तोष्पत्य (सं० त्रि०) वास्तोष्पति सम्बन्धीय, देवता-सम्बन्धीय।

वास्त्र (सं० पु०) वस्त्रेण परिवृतो रथः वस्त्र (परिवृतो रथः। पा ४।२।१०) इति अण्। १ वस्त्रावृत रथ, कपड़ेसे ढका हुआ रथ। (त्रि०) २ वस्त्रसम्बन्धी।

वास्त्व (सं० त्रि०) वास्तुनि भवः वास्तु-अण् (ऋत्वय वास्त्व्यवास्त्वेति। पा ६।४।१७५) इति उकारस्यवत्वेन निपातनात् साधुः। वास्तुभव।

वास्थ (सं० त्रि०) वारि तिष्ठति स्था-ड। जलस्थित, जलमें रहनेवाला।

वास्प (सं० पु०) १ ऊष्मा, गरमी। २ लौह, लोहा। ३ भाप।

रसायन और पदार्थविज्ञानमें वाष्प शब्द कई अर्थोंमें व्यवहृत होता है। अङ्गरेजी विज्ञानमें गेस (Gas), ष्टीम (Steam) और वेपर (Vapour) कहनेसे जिस पदार्थका बोध होता है, हिन्दीका वाष्प भी उस पदार्थका वोध कराता है। हिन्दी भाषामें गेस, वेपर या ष्टीम शब्दके बदले वाष्प शब्दका प्रयोग किया जाता है। वाष्प पदार्थ-निचयकी केवल एक अवस्था है। तरल पदार्था उत्तापके सहयोगसे वाष्परूपमें परिणत होता है। सोना, रूपा, ताँबा, लोहा आदि भी उत्तापसे वाष्पके रूपमें परिणत हो सकता है। इस तरहके अर्थमें वाष्प शब्द अङ्गरेजी भाषामें गेस शब्दका अर्थवाचक है। हम यहां केवल जलीय वाष्पकी बात ही कहेंगे।

"वायुविज्ञान" शब्दमें जलीयवाष्पके सम्बन्धमें बहुतेरी बातें कही गई हैं। "वृष्टि" और "शिशिर" शब्दोंमें भी जलीय वाष्पों पर आलोचना की गई है। आर्द्र वस्त्र धूपमें फैलाने पर यह शीघ्र ही सूख जाता है। यह जिस जलसे परिषिक्त था, वह हमारी आँखोंके सामने देखते देखते गायब हो गया अर्थात् जल वाष्पमें परिणत हो कर वायुमें मिल गया। प्रभातके समय किसी चौड़े मुखवाले बरतनमें थोड़ा जल रखनेसे दूसरे पहर देखा जायेगा, तो मालूम होगा, कि उस जलका परिमाण कम हो गया है। जलकी इस तरहकी परिणति अङ्गरेजीमें "वेपर" (Vapour) कही जाती है। सूर्य्यकिरणमें इस तरह नित्य कितने परिमाणसे जल वाष्पमें परिणत होता है। "वायुविज्ञान" शब्दमें जलीय वाष्प प्रकरणमें उसका विस्तृत विवरण लिपिबद्ध किया गया है। जिस जलीयवाष्पसे असंख्य यन्त्र आदि परिचालित हो रहे हैं, मनुष्यके अति प्रयोजनीय असंख्य कार्य्य रात दिन सम्पादित हो रहे हैं, यहां उसी वाष्प (Steam) की बात कही जायेगी।

अग्निसन्तापसे जल खौल उठता है। इस खौलते हुए जल पर जो जलीयवाष्प उड़ता दिखाई देता है, उसे सभीने देखा है। इसका ही नाम है ष्टीम (Steam)। इस जलीयवाष्पका धर्म ठीक वायवीय पदार्थके (Gas) धर्मके अनुसार ही है। यह जलीयवाष्प स्वच्छ है। आकाशकी अपेक्षाकृत शीतल वायुके स्पर्शसे जब वाष्पराशि किञ्चित् घनीभूत हो जाती है, तब यह दिखाई देती है। इस वाष्पकी असाधारण शक्ति है। इसके द्वारा असंख्य यन्त्र परिचालित होते हैं, रेलगाड़ी, ष्टीमर, पाटकल, सुरखीकल, चटकल, कपड़े बुननेकी कल, आटाकल आदि कितने ही कल-कारखाने चलाये जाते हैं। यह वाष्पीय शक्ति ही इसका प्रधानतम हेतु है। इस जलीयवाष्पका प्रधान धर्म स्थितिस्थापकताविशिष्ट प्रचाप है। यह वाष्प किसी आवद्ध पात्रमें सञ्चित किया जाये तो उसी पात्रके सर्वांशमें ही उसका प्रचाप फैल जाता है। ष्टीम या जलीयवाष्पके इस धर्मसे ही एक प्रबलतर शक्ति उत्पन्न होती है। यह शक्ति यन्त्रविशेषको परिचालित कर जगत्के अनेक कार्य सम्पन्न हो रहे हैं।

सौरकिरणसे ही जल वाष्पके रूपमें परिणत होता है। जिस नियमसे यह कार्य्य सम्पादित होता है, वह स्वाभाविक वाष्पोद्गम या (Spontaneous evaporation) नामसे अभिहित हैं। किन्तु अग्निके संयोगसे (by ebullition) जो वाष्प ऊपर उड़ता है वही प्रतीच्य विज्ञानकी भाषामें साधारणतः ष्टीम (Steam) नामसे विख्यात है। तरलपदार्थ तापके मात्रानुसार स्फुटित होता है। पदार्थोंमें रासायनिक उपादानके पार्थक्यानुसार उनके स्फोटनाङ्कका (boiling point) पार्थक्य होता है। जलके ऊपर प्रचाप, आकर्षणके परिमाण और उनमें अन्यान्य पदार्थोंके विमिश्रण आदिके अनुसार स्फोटनाङ्कका निर्णय होता है।

साधारणतः लवणपरिषिक्त जल १०२ डिग्री तापांशमें, सोरापरिषिक्त जल ११६ डिग्री तापांशमें, कार्वनेट आव पोटाश परिषिक्त जल १३५ डिग्री तापांशमें और चूर्ण विमिश्रित जल १७९ डिग्री तापांशमें खौलता है।

मूसोंने ससिओको परीक्षासे स्थिर किया है, कि माटब्लङ्क पर्वत पर १८५ डिग्री तापांशमें जल उबलता है। यह पर्वत समुद्रवक्षसे तीन मील ऊंचा है। मुंसो विरुको गणनामें देखा गया है, कि पेचिसबोड़ा पर्वत पर भी १८५ डिग्री तापांशमें जल खौलने लगता है। प्रति ५९६ फीटकी ऊंचाईमें १८ डिग्री स्फोटनाङ्कका तारतम्य होता है। धातवपात्रमें २१२ डिग्री तापांशमें और ग्लासपात्रमें २१४ डिग्री तापांशमें स्फुटित होता है। फिर किसी पात्रके अभ्यन्तर भागमें कलई करा देने पर उसमें २२० डिग्री उत्ताप देनेसे भी जल नहीं उबलता। नमक, चीनी और अन्यान्य पदार्थ मिले हुए जलको उबालनेमें अधिक मात्रामें ताप देनेकी आवश्यकता है। मेथेलिक, इथिलिक, प्रप्रिलिक और बुटिलिक भेदसे जो एलकोहल हैं, उनके स्फोटनाङ्क भी भिन्न भिन्न हैं। इसी तरह हाइड्रोकार्वन, वेञ्जोल, टेलिओल आदि भी भिन्न-भिन्न तापांशमें स्फुटित होते हैं। (जलीय वाष्पके सम्बन्धमें अन्यान्य विषय वायुज्ञान, वृष्टि और शिशिर, शब्दोंमें देखना चाहिये।)

वाष्पयन्त्र (Steam Engine)—वाष्पके प्रभावसे चली हुई कल।

वर्त्तमान समयमें अधिकांश पाठकोंने विविध स्थलोंमें ष्टीम-एञ्जिन देखे होंगे। इस समय हम हाटमें, घाटमें, पथमें, मैदानमें, नगरमें, प्रान्तरमें सभी जगह ष्टीम एञ्जिनका बहुत प्रचलन देख रहे हैं। किस समय किस तरह किसके द्वारा सर्वप्रथम इस एञ्जिनका आविष्कार हुआ, इस बातको जाननेके लिये किसको कौतुहल न होगा? इस समय हम जिसे ष्टीम एञ्जिन कहते हैं, वह पहले फायर एञ्जिन नामसे पुकारा जाता था। हिन्दी भाषामें ष्टीम एञ्जिन या फायर एञ्जिन 'वाष्पयन्त्र' नामसे अभिहित होता है। क्योंकि संस्कृत भाषामें वाष्प शब्द ऊष्मा और जलीयवाष्प दोनोंका ही परिचायक है। अग्निसन्तापमें जलराशिसे वाष्पका निकालना और संरुद्ध पात्रके संकीर्ण छिद्रपथसे उसे प्रबल वेगसे बाहर निकालनेकी बात अति प्राचीन कालमें भी मानवमण्डलीको मालूम थी। ईसासे १०० वर्ष पहले प्राचीन यूनान नगरीमें एक प्रकार वाष्पीय यन्त्रकी कार्य्यप्रणालीकी बात प्राचीन यूरोपके वैज्ञानिक इतिहासमें लिखा है। मिस्र और रोमके प्राचीन इतिहासमें भी विविध प्रकारके वाष्पयन्त्रोंका उल्लेख दिखाई देता है। किन्तु वाष्पयन्त्र द्वारा गतिक्रिया निष्पादित हो सकती है और यह उस गतिक्रियाका अति श्रेष्ठसाधन है, इङ्गलैण्डके मार्क्विस आव वार्चेष्टरके समयसे पहले किसीको विदित न था। सन् १६६३ ई०में उन्होंने एक छोटा ग्रन्थ प्रणयन किया, इसका नाम "A century of the Nomes and Scantlings of inventions" है। इस ग्रन्थमें उन्होंने जलीय वाष्पकी गतिक्रिया-निष्पादनी शक्तिके उल्लेख उन्हींके सबसे पहले ऊपर जल उठानेके लिये एक वाष्पयन्त्रका आविष्कार किया। ईस्वीसन्‌की १७वीं शताब्दीके अन्तमें वाष्पीय यन्त्रसाधनकी सविशेष चेष्टा परिलक्षित होती है। इस समय फ्रान्सीसी वैज्ञानिक सुप्रसिद्ध पेपिनने (Papin) वाष्पयन्त्रकी यथेष्ट उन्नति की। ये मारवार्ग नगरके गणितशास्त्रके अध्यापक थे। उस समय फ्रान्सदेशमें इनकी तरहका सुविज्ञ एञ्जोनियर दूसरा कोई न था। ये पिष्टन (Piston) और सिलिण्डर (Cylinder) आदिके सहयोगसे वाष्पयन्त्रको यथेष्ट उन्नति की।

पेपिनके प्रवर्त्तित ष्टीम एञ्जिनमें अनेक त्रुटियां थीं। यह कभी भी कार्य्योपयोगी नहीं हुई। टमास सेभरी नामक एक अङ्गरेजने जो ष्टीम एञ्जिन बनाया था, उससे ही सबसे पहले ष्टीम एञ्जिनका व्यवहार जनसमाजमें प्रवर्त्तित हुआ। सन् १६९८ ई०में उन्होंने इसकी रजिष्ट्री कराई। इन सब कलोंसे जल ऊपर उठानेका कार्य्य लिया जाता था। इसके बाद कितने ही इञ्जीनियर नाना प्रकारके ष्टीम एञ्जिनोंका निर्म्माण किया है। किन्तु वे सब यन्त्र वैसे प्रयोजनीय नहीं समझे गये। सन् १७०५ ई०में डार्टमाउथ निवासी न्यूकामेन नामक एक कर्मकारने एक नई तरहके वाष्पयन्त्रका निर्म्माण किया। इस यन्त्रमें वाष्पराशिको घनीभूत करनेके लिये अभिनव उपाय विहित हुआ

था। डाक्टर हुकने इस सम्बन्धमें न्यूकामनको यथेष्ट उपदेश प्रदान किया। इससे पहले सिलिण्डरके बाहर शीतल जल डाल कर वाष्पराशि घनीभूत करनी होती थी। उसमें कष्टकी सीमा न थी, किन्तु सहसा निर्म्माताके हृदयमें एक बुद्धि आविर्भूत हुई। उन्होंने एक दिन एकाएक सिलिण्डरके बीचमें शीतल जल प्रक्षेपण कर देखा कि उससे सहजमें ही और जल्दीसे वाष्प घनीभूत होता है। इससे वाष्पके शक्तिवर्द्धनकी अनेक सुविधायें हुईं। यह एञ्जिन "एटमस्फेरिक एञ्जिन" (Atmospheric Engine) नामसे अभिहित होता था। वेइटन, स्मीटन और अन्यान्य इञ्जिनियर इस यन्त्रकी बहुत उन्नत की। ईस्वी सनकी १८वीं शताब्दीमें केवल जल ऊपर उठानेके लिये ही यह यन्त्र व्यवहृत होता था।

ष्टीम एञ्जिनकी उन्नति करनेवालोंमें जेम्स वाटका नाम बहुत प्रसिद्ध है। वे ग्लासगो नगरमें गणितसंक्रान्त यन्त्रादिका निर्म्माण किया करते थे। सन् १७६३ ई०में ग्लासगो युनिवरसिटीके एक अध्यापकने उनको एक एटमसफेरिक एञ्जिनका आदर्श मरम्मत करनेके लिये दिया। वाटने इस आदर्श यन्त्रको पा कर इसके द्वारा नाना तरहकी परीक्षा करनी आरम्भ की, उन्होंने देखा पिष्टन (Piston) के प्रत्येक अभिघातके लिये जिस हिसाबसे वाष्प खर्चा होता था, वह सिलिण्डरके वाष्पकी अपेक्षा अनेक गुना अधिक था। वाटने इस विषयकी परीक्षा करनेमें जलके वाष्पमें परिणत होनेके सम्बन्धमें कई घटनाओंका सन्दर्शन किया। उन्होंने अपने गवेषणालब्ध फलमें विस्मित हो डाक्टर ब्लैकसे इस गवेषणाकी बात कही। इस शुभ सम्मेलनके फलसे वाष्पयन्त्रको अभिनव उन्नतिका पथ प्रसारित हो उठा। इसी समयसे सिलिण्डरके साथ कनडेन्सर (Condenser) नामक एक आधार संयोग किया गया। इसी आधारके साहाय्यसे वाष्प घनीभूत होनेका उपाय बहुत सहज हो गया। यह कनडेन्सर एक शीतल जलाधार पर संस्थापित कर वाटने वाष्प घनीभूत करनेका उत्तम बन्दोवस्त किया। जलाधारका जल गर्म होनेसे ही उस जलको फेंक शीतल जल दिया जाता था। इस प्रकारसे कनडेन्सर शीतल जलसे संस्पृष्ट हो वाष्पराशिको सदा घनीभूत करनेमें समर्थ होता था।

वाटने "एटमस्फेरिक ष्टीम एञ्जिनमें" और भी उन्नति की। इसके बाद इस विभागमें कार्टराइट (Cartwright) का नाम सुना गया। इनके द्वारा वाष्पयन्त्रकी यथेष्ट उन्नति हुई है। कार्टराइटने ही पहले धातवपिष्टनका व्यवहार किया था। सन् १७२५ ई०में ल्यूपोपने हाई-प्रेसर एञ्जिनकी (High pressure Engine) सृष्टि की। इसके बाद ष्टीमर, रेल आदि यानोंके परिचालनके लिये गणितविज्ञानके साहाय्यसे प्रचुर तथ्य सङ्कलित कर एक अभिनवयुग प्रवर्त्तित किया गया है। वायलरके वाष्प तैयार करनेकी शक्तिके साथ वाष्पीययानकी गति और तन्निहित भारित्वका विचार करना आवश्यक है। सन् १८३५ ई०में काउण्ट डो-पेम्बरने इसके सम्बन्धमें सिद्धान्त संस्थापन किया। वाष्पयन्त्रके अवयवोंमें निम्नलिखित अवयव ही प्रधान हैं—

१—चुल्ली और जलोत्तापपात्र (Furnace and Boiler)

२—वाष्पपात्र और सञ्चालनदण्ड (Cylinder and piston)

३ घनत्वसाधक और वायुनिर्माणयन्त्र (Condenser and air pump)

४ मेकानिजम् (Mechanism) इनमें प्रत्येकके बहुतेरे अङ्ग और उपाङ्ग हैं। बाहुल्यके डरसे इन सब नामोंका उल्लेख किया न गया।

ये सब वाष्पयन्त्र इस समय कितने ही प्रयोजनीय कार्य्योंमें व्यवहृत हो रहे हैं। रेल, ष्टीमर वाष्पशक्तिसे परिचालित हो रहे हैं। मालूम होता है, कि अदूर भविष्यमें इलेक्ट्रिक रेल यन्त्र भी सभी जगह वाष्पीय रेलयन्त्रका स्थान अधिकार कर लेगा। अभीसे ऐसा प्रतीत होता है।

वाष्पस्वेद (सं० पु०) गुल्मरोगमें निकलनेवाला पसीना।

वाष्पीयपोत --१७३७ ई०में जेनोथान हानने एक छोटी-सी पुस्तिकाकी रचना की। इस पुस्तिकामें उन्होंने ष्टीमर प्रस्तुत करनेकी उपयोगिता विषय पर एक लेख लिखा था। किन्तु वर्षके बाद वर्ष बीत गये। इसके सम्बन्धमें

किसीने हस्तक्षेप नहीं किया। सन् १७८२ ई०में मार्किस डी० जुफ्रय जोनाथान हानके प्रस्तावको कार्य्यरूपमें परिणत करनेमें प्रयासी हुए। इन्होंने एक छोटो ष्टीमबोट तय्यार कर सोननदीमें डाल एक अभिनव नाव चलानेकी चेष्टा की। किन्तु उनकी वह चेष्टा फलवती नहीं हुई। सन् १७८७ ई०में स्काटलेण्डके अन्तःपाती डालस उनटन निवासी मिष्टर मेट्रिक मिलरने एक पुस्तकमें एक घोषणा प्रचारित की, कि वे ष्टीम एञ्जिनमें साहाय्यसे नाव चलायेंगे। इस एञ्जिनके चक्के भी रहेंगे। वाष्पके बलसे चक्का घुमने लगेगा और इसके फलसे नाव चलने लगेगी। विलियम सिमिटन नामक एक तरुणवयस्क इञ्जीनियर द्वारा उन्होंने यह यन्त्र तैयार कराया था। डालसउनटन झीलके निर्मल सलिलमें मिष्टर मिलरने इस तरह नाव चलानेका कौशल दिखाया।

सन् १७८६ ई०में इन्होंने एक बड़े आकारके ष्टीमरमें यह यन्त्र सन्निवेशित किया। इस ष्टीमरने घण्टेमें ७ मील पथ तय किया था। इसके बाद सन् १८०१ ई०में मिष्टर सिमिंटनने एक ष्टीमर तय्यार किया। यह ष्टीमर क्लाइड नहरसे आया जाया करता था। किन्तु क्लाइड नहरका किनारा टूट जानेके भयके कारण अधिकारियोंने रोक दिया।

अमेरिकाके एक इञ्जीनियरने स्काटलेण्डसे ष्टीमर बनानेकी कलाको सीख सन् १८०७ ई०में सबसे पहले हडसन नदीमें ष्टीमर चलानेकी चेष्टा की। सन् १८१२ ई०में इंग्लैण्डमें ष्टीमबोट प्रचारित हुआ। पहले ष्टीमर 'कमेट' नामसे प्रसिद्ध हुआ था। मिष्टर हेनरीवेल इसके निर्माता थे, इसमें जो वाष्पीय यन्त्र था, वह चार घोड़ेका बलवाला था। सन् १८२१ ई०में लण्डनसे लिथे तक ष्टीमर द्वारा आना-जाना जारी किया गया।

सागर पार करनेके लिये इस समय सहस्र सहस्र ष्टीमर तैयार किये जा चुके हैं; किन्तु सबसे पहले अमेरिकासे ही एक ष्टीमर सागर पार कर लिवरपुल आया था। इसका नाम था—'सभाना'। अमेरिकासे लण्डन तक आनेमें इस ष्टीमरको २६ दिन लगे थे। इङ्गलैण्डके सर्वप्रथम समुद्रगामी वाष्पीय जहाजका नाम सिरियस (Sirius) था। सन् १८३८ ई०में सिरियस लण्डनसे १७ दिनमें अमेरिकामें उपस्थित हुआ। इसके बाद द्रुतगामी जहाज तय्यार हुए। इस समय लिवरपुलसे अमेरिकाके न्यूयार्क तक जो ष्टीमर आते जाते हैं, उनमें कई १० दिनमें ही पहुंच जाते हैं। सन् १८८३ ई०में बना "अलस्का" और "अरिसम" नामक ष्टीमर लिवरपुलसे सात दिनोंमें ही न्यूयार्कमें पहुंच गये। अलस्का ष्टीमर इस तरह सुन्दर रीतिसे परिचालित होता था, कि इसके आने जानेके निर्दिष्ट समयमें कभी पांच मिनटका भी फर्क नहीं पड़ता था।

वास्पेय (सं० पु०) नागकेशर। (रत्नमाला)

वास्य (सं० त्रि०) वास-यत्। १ आच्छादनीय, ढकने लायक। २ निवासनीय, रहने लायक।

वास्र (सं० पु०) दिन, रोज। वाश्र देखो।

वाःकिटि (सं० पु०) वारो जलस्य किटीः शूकरः। १ शिशुमार, सूंस नामक जलजन्तु।

वाःसदन (सं० क्ली०) वारो दलस्य सदनं। जलाधार।

वाह (सं० पु०) उह्यतेऽनेनेति वह करने घञ्। १ घोटक, घोड़ा। २ वृष, बैल। ३ महिष, भैंसा। ४ वायु, हवा। ५ वाहु। ६ प्राचीन कालका एक तौल या मान। चार पल (८ तोला=१ पल)का एक कुड़व, ४ कुड़वका एक प्रस्थ, ४ प्रस्थका एक आढक, ८ आढककी एक द्रौणी, २ द्रौणीका एक सूर्प, डेढ़ सूर्पकी एक खारी, दो खारीकी एक गोणी और ४ गोणीका एक वाह होता है।

अमरटीकाकार स्वामीके मतसे ४ आढ़कका एक द्रोण, १६ द्रोणकी एक खारी, २० द्रोणका एक कुम्भ और १० कुम्भका एक वाह माना गया है।

७ प्रवाह। ८ वाहन, सवारी। (त्रि०) ६ वाहक, लाद कर या खींच कर ले चलनेवाला।

वाह (फा० अव्य०) १ प्रशंसासूचक शब्द, धन्यवाद। कभी कभी अत्यन्त हर्ष प्रकट करनेके लिये यह शब्द दो बार भी आता है। जैसे, वाह, वाह, आ गये। २ आश्चर्यसूचक शब्द। ३ घृणाद्योतक शब्द। ४ आनन्दसूचक शब्द।

वाहक (सं० त्रि०) वहतीति वह-ण्वुल्। १ वहनकर्त्ता, बोझ ढोने या खींचनेवाला। (पु०) २ सारथि।

वाहकत्व (सं० क्ली०) वाहकस्य भावः त्व । वाहकका भाव या धर्म ढोनेका काम ।

वाहद्विषत् (सं० पु०) वाहानां घोटकानां द्विषन् शत्रु । महिष, भैंसा ।

वाहन (सं० क्ली०) वहत्यनेनेति वह करणे ल्युट् (वाहनमाहितात् । पा ८।४।८) इत्यत्र वहते ल्युटि वृद्धिरिहैव सूत्रे निपातनात् इति भट्टोजिदीक्षितोक्त्या निपातनात् वृद्धिः । हस्ती, अश्व, रथ और दोलादि यान, हाथी घोड़े रथ और पालकी आदिकी सवारी । २ वाहक, ढोनेवाला ।

वाहनता (सं० स्त्री०) वाहनस्य भावः तल-टाप् । वाहनत्व, वाहनका धर्म या कार्य ।

वाहनप (सं० पु०) वाहन-पा क । वाहनपति ।

वाहनप्रज्ञप्ति (सं० स्त्री०) वाहनको ज्ञानविषयक एक प्रणाली । (ललितवि० १६९ पृ०)

वाहनिक (सं० त्रि०) वाहनेन जीवति (वेतनादिभ्यो जीवति । पा ४।४।१२) वाहन-ठक् । वाहन द्वारा जीविका-निर्वाहकारी, बोझ ढो कर अपना गुजारा चलानेवाला ।

वाहनीय (सं० त्रि०) वह-णिच् अनीयर् । वहन करनेके योग्य ।

वाहरिपु (सं० पु०) वाहानां घोटकानां रिपुः । महिष, भैंसा ।

वाहवाही (फा० स्त्री०) लोगोंकी प्रशंसा, स्तुति ।

वाहश्रेष्ठ (सं० पु०) वाहेषु वाहनेषु श्रेष्ठः । अश्व, घोड़ा ।

वाहस् (सं० क्ली०) स्तोत्र ।

वाहस (सं० पु०) उह्यते इति वह (वहियुभ्यां णित् । उणा ३।११९) इति असच्, स च णित् । १ अजगर । "त्वाष्ट्राः प्रतिश्रुत्कायै वाहसः" (तैत्तिरीयस० ५।५।१४।१) २ वारिनिर्याण । ३ सुनिषण्णक, सुसनी नामका साग ।

वाहा (सं० स्त्री०) वह अजादित्वात् टाप् । वाहु ।

वाहावाहवि (सं० अव्य०) वाहभिर्व्वाहुभिर्युद्धमिदं प्रवृत्तं । वाहुयुद्ध, हाथाबाँही ।

वाहिक (सं० पु०) वाहेन परिमाणविशेषेण क्रीतं वाह (असमासे निष्कादिभ्यः । पा ५।१।२०) इति ठक् । १ ढक्का, बड़ा ढोल । २ गोवाह, गाड़ी, छकड़ा । (त्रि०) ३ भारवाहक, बोझ ढोनेवाला ।

वाहित (सं० त्रि०) वह णिच्-क्त । १ चालित, चलाया हुआ । २ प्रापित, प्राप्त किया हुआ । ३ प्रवाहित, बहा हुआ । ४ प्रतारित, धोखा खाया हुआ । ५ वञ्चित, ठगा हुआ ।

वाहिता (सं० स्त्री०) वाहिनो भावः तल्-टाप् । वहनकारीका भाव या धर्म ।

वाहितृ (सं० त्रि०) वहनकारी, ढोनेवाला ।

वाहित्थ (सं० क्ली०) गजकुम्भका अधोभाग ।

वाहिन (सं० त्रि०) वाह-अस्त्यर्थे इनि । वहनकारी, ढोनेवाला ।

वाहिनी (सं० स्त्री०) वाहा वाहनानि घोटकादीनि सन्त्यस्यामिति वाह-इनि । १ सेना । २ सेनाका एक भेद । इसमें ८१ हाथी, ८१ रथ, २४३ घोड़े और ४०५ पैदल होते थे । ३ नदी । ४ प्रवाहशीला ।

(मार्कण्डेयपु० ३८।२९)

वाहिनीपति (सं० पु०) वाहिन्याः सेनायाः पतिः । सेनापति । वाहिन्याः नद्याः पति । २ समुद्र ।

वाहिनीपति महापात्र भट्टाचार्य—नवद्वीपके प्रसिद्ध नैयायिक वासुदेव सार्वभौमके पुत्र । इन्होंने पक्षधरमिश्र रचित तत्त्वचिन्तामणि आलोककी शब्दालोकद्योत नाम्नी टीका लिखी है । आप उत्कलपतिके प्रधान मन्त्री थे । वासुदेव सार्वभौम देखो ।

वाहिनीश (सं० पु०) वाहिन्याः ईशः । वाहिनीपति ।

वाहियात (अ० वि०) १ व्यर्थ, फजूल । २ बुरा, खराब ।

वाहिष्ठ (सं० त्रि०) वोढ़तम । (ऋक् ५।२५।७)

वाही (अ० वि०) १ सुस्त, ढीला । २ निकम्मा । ३ बुद्धिहीन, मूर्ख । ४ आवारा । ५ बेठिकानेका, बेहूदा ।

वाहीतबाही (अ० वि०) १ बेहूदा, आवारा । २ अंड-बंड, बेसिर पैरका । (स्त्री०) ३ अंड-बंड बातें, गाली गलौज ।

वाहु (सं० पु०) वाधते शत्रूनिति वाध लोड़ने (अर्त्तिदृशि कमीति । उणा १।२८) इति कु हकारादेशश्च । १ हाथके ऊपरका भाग जो कुहनी और कंधेके बीचमें होता है, भुजदण्ड । पर्याय---भुज, प्रवेष्ट, दोष्, वाह, दोष । २ गणितशास्त्रमें त्रिकोणादि क्षेत्रोंके किनारेकी रेखा, भुजा ।

वाहुमूल (सं० क्ली०) वाह्वोर्मूलम् । भुजद्वयका आद्य

भाग, काँख। पर्याय—कक्ष, भुजकोटर, दोर्मूल, खण्डिक, कक्षा।

वाहुल (सं० पु०) १ कार्त्तिक मास। २ व्याकरणका अनुशासनविशेष। पवर्गमें देखो।

वाहुल्य (सं० क्ली०) वहुलस्य भावः ष्यण्। आधिक्य, अधिकता।

वाहुवार (सं० पु०) श्लेष्मान्तक वृक्ष, वहेड़ेका वृक्ष।

वाहुक (सं० पु०) छद्मवेशी नलराजा। नल देखो।

वाह्न (सं० त्रि०) वह्निसम्बन्धीय, अग्निसम्बन्धीय।

वाह्नेय (सं० पु०) आचार्यभेद।

वाह्य (सं० क्ली०) वाह्यते चाल्यते इति वाहि ण्यत्। १ यान, सवारी। वह-ण्यत्। २ वहनीय, उठा या खींच कर ले जाने योग्य। ३ वहिः, वाहर। ४ पृथक्, अलग।

वाह्यक (सं० क्ली०) वाह्य कन्। १ वाह्य। २ वाहक, गाड़ी; छकड़ा।

वाह्यकायनि (सं० पु०) वाह्यकका गोत्रापत्य।

वाह्यकी (सं० स्त्री०) अग्निप्रकृतिकीटभेद। (सुश्रुत कल्पस्था० ८ अ०)

वाह्यत्व (सं० क्ली०) वाह्यस्य भावः त्व। वाह्यका भाव वा धर्म।

वाह्यद्युति (सं० पु०) रसका संस्कारविशेष। (रसचि० ३ अ०)

वाह्यस्क (सं० पु०) वह्यस्कका गोत्रापत्य।

वाह्यस्कायन (सं० पु०) वाह्यस्कका गोत्रापत्य।

वाह्यान्तर (सं० त्रि०) १ भीतर और वाहरका। २ भीतर और वाहर।

वाह्येन्द्रिय (सं० क्ली०) वाह्यमिन्द्रियं। वहिरिन्द्रिय, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ। इन्द्रिय ग्यारह हैं जिनमेंसे ५ वाह्येन्द्रिय, ५ अन्तरेन्द्रिय और मन उभयेन्द्रिय हैं। आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा ये पांच वाह्येन्द्रिय तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ ये पांच अन्तरेन्द्रिय हैं। आँख आदि पाँच इन्द्रियोंका काम वाह्य विषयोंका ग्रहण करना है, इसीसे उनको वाह्येन्द्रिय कहते हैं। (भाषापरि०)

वाह्लिक (सं० पु०) १ देशभेद, वाह्लिक देश। २ कुंकुम, केशर। ३ हिंगु। ४ स्रोताञ्जन; सुरमा।

वाह्लीक (सं० पु०) १ देशभेद। एक देश जो भारतकी उत्तर पश्चिम सीमा पर था। साधारणतः आज कलके 'वलख' के आसपासका प्रदेश ही जिसे प्राचीन पारसी 'वकतर' और यूनानी 'वैक्ट्रिया' कहते थे, वाह्लीक माना गया है, परन्तु पाश्चात्य पुरातत्त्वविद् इसे आज कलके भारतवर्षके वाहर नहीं मानना चाहते।

२ वाह्लीकदेशजात घोटक, वाह्लीक देशका घोड़ा। ३ एक गन्धर्वका नाम। (शब्दरत्ना०) ४ प्रतीपके एक पुत्रका नाम। (भारत १।९५।४५) ५ कुंकुम, केशर। ६ हिंगु, हींग।

वि (सं० अव्य०) १ निग्रह। २ नियोग। ३ पादपूरण। ४ निश्चय। ५ असहन। ६ हेतु। ७ अव्याप्ति। ८ विनियोग। ९ ईषदर्थ। १० परिभव। ११ शुद्ध। १२ अवलम्बन। १३ विज्ञान। १४ विशेष। १५ गति। १६ आलम्भ। १७ पालन। (शब्दरत्ना०) उपसर्गविशेष, प्र, परा आदि उपसर्गोंमेंसे एक उपसर्ग। मुग्धबोधटीकाकार दुर्गादासने इस उपसर्गके निम्नोक्त अर्थ लगाये हैं। विशेष; जैसे—विकराल, विहीन। वैरूप्य, जैसे—विविध। निषेध या वैपरीत्य। जैसे,—विक्रय, विकच्छ।

वि (सं० पु० स्त्री०) वाति गच्छतीति वा (वातेर्डिच्च। उण् ३।१३३) इति इण् सच डित्। १ पक्षी, चिड़िया। (क्ली०) २ अन्न, अनाज। (शत०ब्रा० १४।८।१२।३) (पु०) ३ आकाश। ४ चक्षु, नेत्र।

विंदुर (हि० पु०) किसी पदार्थ पर दूसरे रंगके लगे हुए छोटे छोटे चिह्न, बुंदकी।

विंश (सं० त्रि०) विंशति पूरणे डट्, तेर्लोपः। क्रमसे वीसके स्थान पर पड़नेवाला, वीसवाँ।

विंशक (सं० त्रि०) विंशत्या क्रीतः विंशति (विंशतित्रिंशद्भ्यांड्वुन संज्ञायां। पा ५।१।२४) ड्वुन (तिविंशतेर्डिति। पा ६।४।१२४) इति तिलोपः। विंशतिक्रीत, जो वीसमें खरीदा गया हो।

विंशत (सं० त्रि०) वीस।

विंशति (सं० स्त्री०) द्वे दशपरिमाणस्य पंक्ति विंशतीति निपातनात् सिद्धं। १ वीसकी संख्या। २ इसका सूचक अङ्क जो इस प्रकार लिखा जाता है—२०। (त्रि०) ३ जो गिनतीमें वीस हो।

विंशतिक (सं० त्रि०) संख्याया कन् स्यादार्हीयेऽर्थे, विंशति त्रिंशद्भ्यां कन्, संज्ञायां आभ्यां कन् स्यात्। विंशतियोग्य, बीसकी संख्या।

विंशतितम (सं० त्रि०) विंशतेः पूरणः विंशति (विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्यां। पा ५।२।५६) इति तमड़ागमः। विंश, बीसवां।

विंशतिप (सं० पु०) विंशति-पा-क। विंशतिका अधिपति, बीस गाँवोंका मालिक।

विंशतिशत (सं० क्ली०) विंशत्याः शतं। विंशति शत, बीस सौ।

विंशतिसाहस्र (सं० क्ली०) बीस हजार।

विंशतीश (सं० पु०) विंशत्याः ईशः विंशतिका अधिपति।

विंशतीशिन् (सं० पु०) विंशत्याः ईशी; ईश-णिनि। बीस ग्रामका अधिपति।

विंशत्यधिपति (सं० पु०) विंशत्याः अधिपतिः। विंशतिपति, बीस ग्रामका अधिपति।

विंशद्बाहु (सं० पु०) रावण (रामायण ७।३२।५४)

विंशिन् (सं० पु०) विंशति ग्रामेते अधिकृत। १ विंशति ग्रामपति, बीस गाँवोंका मालिक। २ विंशति, बीसकी संख्या।

विंशोत्तरी दशा (सं० स्त्री०) ज्योतिष्प्रोक्त दशाभेद। इस दशामें ग्रहोंका १२० वर्ष तक भोग होता है। इसीसे इसका नाम विंशोत्तरी दशा हुआ। इस दशासे मानवजीवनका शुभाशुभ फल निर्णय किया जाता है। दशा बहुत तरहकी होने पर भी इस कलिकालमें एक नाक्षत्रिकीके दशानुसार ही फल होता है।

"सत्ये लग्नदशा प्रोक्ता त्रेतायां योगिनी मता।
द्वापरे हरगौरीच कलौ नाक्षत्रिकी दशा॥" (अग्निपुराण)

इस नाक्षत्रिकी दशामें दो दशायें हैं:—अष्टोत्तरी और विंशोत्तरी। भारतमें ये दो दशायें प्रचलित हैं।

पराशरस्मृतिमें पञ्चोत्तरी, द्वादशोत्तरी आदि दशाओंका भी उल्लेख है, किन्तु इनका इस समय व्यवहार दिखाई नहीं देता। साधारणतः यहां पूर्वोक्त दशाओंका ही व्यवहार देखा जाता है। अधिकांश ज्योतिर्विद् ही अष्टोत्तरी मतसे गणना करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो अष्टोत्तरी और विंशोत्तरी दोनों मतोंका व्यवहार करते हैं।

युक्त प्रदेशके विन्ध्य पर्वतके पूर्वमें एकमात्र विंशोत्तरी मतसे फल गणना की जाती है या यों कहिये कि वहां अष्टोत्तरी मतसे गणना की ही नहीं जाती। हां एक दशा और भी वहां प्रचलित है। उसका नाम है—योगिनी दशा। इस दशाका कुछ कुछ व्यवहार वहां देखा जाता है।

बङ्गालमें अष्टोत्तरी मतका ही प्राबल्य है। इन दोनों दशाओंकी फलगणनामें कहीं कहीं फलका तारतम्य दिखाई देता है। ज्योतिषियोंका कहना है, कि इन दशाओंके अनुसार जो फल निर्णीत होगा, वह होगा ही होगा। ऐसी दशामें इसके व्यतिक्रम होनेका कारण क्या? इसके उत्तरमें उनका कहना है, कि अष्टोत्तरी और विंशोत्तरी इन दोनों दशाओंमें जिसको जिस दशाके फलका अधिकार है, उसको उसी फलका भोग करना होगा। दूसरी दशासे उसका फल न होगा। कुछ ज्योतिषी तो गणना कार्यके भ्रमको ही फल व्यतिक्रमका कारण बताते हैं।

अष्टोत्तरी और विंशोत्तरी—इन दो नाक्षत्रिकी दशा होने पर भी नक्षत्रोंका क्रम एक तरहका नहीं है। कृत्तिका नक्षत्रसे आरम्भ कर अभिजित्के साथ २८ नक्षत्रोंके तीन चार इत्यादि क्रमसे राहु प्रभृति ग्रहोंकी अष्टोत्तरी दशा होती है। किन्तु विंशोत्तरी दशा ऐसी नहीं है। यह दशा किसी एक विशेष नियम पर निर्भर कर प्रतिपादित हुई है। भगवान् पराशरने अपनी संहितामें इसका विशेष रूपसे उल्लेख किया है; किन्तु हम संक्षेपमें इसका कुछ परिचय देते हैं।

किसी निर्दिष्ट राशिका त्रिकोण अर्थात् पञ्चम और नवम राशिके साथ आपसमें इनका सम्बन्ध हो, अर्थात् वह एक दूसरेको देखता हो—पराशरने अपनी संहितामें उक्त नियमसे राशियोंका दृष्टि सम्बन्ध निर्देश किया है, त्रिकोणस्थ राशियोंके मतसे त्रिकोणस्थ नक्षत्रोंके भी परस्पर सम्बन्ध हैं। नक्षत्रोंकी संख्या २७में ३का भाग देने पर प्रत्येक भागमें ९ नक्षत्र होते हैं। अतः जिस किसी नक्षत्रसे वामावर्त्त और दक्षिणावर्त्तक्रमसे जो जो नक्षत्र दशवें हों, उन नक्षत्रोंको उस उस नक्षत्रका

त्रिकोणस्थ नक्षत्र जानना होगा। जैसे कृतिका नक्षत्रसे दक्षिणावर्त्त और वामावर्त्त गणनामें उत्तरफल्गुनी और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र दशम या त्रिकोण नक्षत्र होता है।

अतएव अब मालूम हुआ, कि कृत्तिका नक्षत्रके साथ उत्तर-फल्गुनी और उत्तराषाढ़ा, केवल इन दोनों नक्षत्रों होके त्रिकोण वा दृष्टि-सम्बन्ध रहनेसे कृत्तिका नक्षत्रमें जिस ग्रहकी दशा है, इन दो नक्षत्रोंके भी उन्हीं ग्रहोंको दशा होगी। कृत्तिका नक्षत्रमें रविकी दशाका उल्लेख है, अतएव इन दो नक्षत्रोंकी भी रवि दशा ही जाननी होगी। इनके परस्पर परवर्त्ती तीन नक्षत्रोंमें चन्द्रकी दशाका अधिकार है। २७ नक्षत्रोंमें चन्द्र रोहिणी नक्षत्रमें अव स्थित रहने पर वहुत प्रसन्न रहता है। इसीलिये पराशरने रोहिणी नक्षत्रको ही चन्द्रके दशारम्भक निर्देश किया है।

उक्त प्रकारके नियमसे ही प्रत्येक तीन तीन नक्षत्रमें मङ्गलादि ग्रहकी दशा कल्पित हुई है। विंशोत्तरी दशामें अष्टोत्तरी दशाका मत अभिजित् नक्षत्रसे गणना नहीं की जाती है और रविसे केतु तक नवग्रहके प्रत्येक तीन तीन नक्षत्रोंमें दशाधिकार व्यवस्थापित हुआ है। अष्टोत्तरी मतसे केतुकी दशा नहीं है। किन्तु विंशोत्तरी-दशाके अनुसार केतुग्रहकी दशा मानी जाती है। इसलिये ही अष्टोत्तरी दशाके क्रमके साथ इसका बहुत पार्थक्य है।

विंशोत्तरी मतसे रवि आदि ग्रहोंकी दशा-भोगकाल अर्थात् महादशा इस तरह निर्दिष्ट हुई है, रविकी महादशाका भोगकाल ६ वर्ष, चन्द्रका १० वर्ष, मङ्गलका ७ वर्ष, राहुका १८ वर्ष, वृहस्पतिका १६ वर्ष, शनिका १९ वर्ष, बुधका १७ वर्ष, केतुका ७ वर्ष, शुक्रका २० वर्ष कुल १२० वर्षमें दशाके भोगका अन्त होता है। इससे इसका नाम विंशोत्तरी हुआ है। परन्तु इसमें अष्टोत्तरी दशाकी तरह नक्षत्र-संख्याके अनुसार दशाका वर्ष-विभाग कर भोग्य-दशा निकाली नहीं जाती; इसमें प्रत्येक नक्षत्रमें ही पूर्ण दशाका भोग्यवर्ष धर कर गणना करनी होती है। इस समय मालूम हुआ है, कि अष्टोत्तरी और विंशोत्तरी दोनों मतसे ही रविसे मङ्गल तक ये तीन दशाक्रम परस्पर ऐक्य हैं, इसके वादसे ही व्यतिक्रम हुआ है। रवि और बुधके सिवा अन्यान्य ग्रहोंके दशावर्षकी संख्या भी भिन्न प्रकारकी है।

त्रिकालदर्शी पराशर मुनिने कलिके जीवोंको भाग्यचक्रके फलाफलको जाननेके लिये एकमात्र प्रत्यक्षफलप्रद विंशोत्तरी दशाका निर्देश किया है। यद्यपि अष्टोत्तरी और विंशोत्तरी आदि कई नाक्षत्रिकी दशाके निर्णयकी स्वतन्त्र व्यवस्था है तथापि पराशरके मतसे इस कलिकालमें विंशोत्तरी दशा ही फलप्रद है। सुतरां दशाविचारमें फलाफल निर्णय कर देखनेसे विंशोत्तरी मतसे ही देखना आवश्यक है। इस दशाका विचार करनेसे महादशा, अन्तर्दशा और प्रत्यन्तरदशाको निकाल कर उनके सम्बन्धमें विचारपूर्वक फल स्थिर करना होता है।

किस किस नक्षत्रमें किस ग्रहकी दशा होती है, उसका विषय इस तरह निर्दिष्ट हुआ है। पहले ही कहा गया है, कि कृत्तिका नक्षत्रसे इस दशाका आरम्भ होता है। कृत्तिका उत्तरफल्गुनीनक्षत्रमें रविकी दशा होती है, उसका भोग्यकाल ६ वर्ष है, रोहिणी, हस्ता और श्रवणा नक्षत्रमें चन्द्रका भोग्यकाल १० वर्ष; मृगशिरा, चित्रा और धनिष्ठा नक्षत्रमें मङ्गलका भोग्यकाल ७ वर्ष; आर्द्रा, स्वाति और शतभिषा नक्षत्रमें राहुका भोग्यकाल १८ वर्ष; पुनर्वसु, विशाखा या पूर्वभाद्रपद नक्षत्रमें वृहस्पतिका भोग्यकाल १६ वर्ष; पुष्या, अनुराधा या उत्तरभाद्रपद नक्षत्रमें शनिका भोग्यकाल १९ वर्ष; अश्लेषा, ज्येष्ठा या रेवती नक्षत्रमें बुधका भोग्यकाल १७ वर्ष, मघा, मूला या अश्विनी नक्षत्रमें केतुका भोग्यकाल ७ वर्ष है। पूर्वफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा और भरणी नक्षत्रमें केतुका भोग्यकाल २० वर्ष हुआ करता है।

इन महादशाओंका निर्णय कर पीछे अन्तर्दशाका निश्चय करना चाहिये। जातकका जन्म-समय स्थिर कर तत्कालिक नक्षत्रका जितना दण्ड गत हुआ है, उसका ठीक कर इस दशा भोग्यवर्षका भाग कर भुक्त भोग्यकाल निर्णय करना होता है। नक्षत्रमान साधारणतः ६० दण्ड है। एक मनुष्यका कृत्तिका नक्षत्रमें ३० दण्डके समय जन्म हुआ। कृत्तिका-नक्षत्रमें रविकी दशा होती है, उसका भोग्यकाल ६ वर्ष है। यदि समूचा कृत्तिकानक्षत्रमें अर्थात् ६० दण्डमें ६ वर्ष भोग

हो, तो ३० दण्डका कितना भोग होगा? इससे स्पष्ट समझमें आता है, कि नक्षत्रमानके अर्द्ध समय व्यतीत होने पर जन्म हो, तो रविकी दशाका भी अर्द्धकाल (३ वर्ष) भुक्त हुआ है और बाकी अर्द्धकाल भोग्य है। इस तरह भुक्त भोग्य स्थिर कर दशाका निरूपण करना होगा।

निम्नोक्त रूपसे अन्तर्दशा निकालनी चाहिये।

विंशोत्तरी मतकी अन्तर्दशा—

रविकी महादशा ६ वर्ष

नक्षत्र ३, १२, २१।

	वर्ष	मास	दिन
र, र,	०	३	१८
र, च,	०	६	०
र, म,	०	४	६
र, रा,	०	१०	२४
र, बृ,	०	९	१८
र, श,	०	११	१२
र, बु,	०	१०	६
र, के,	०	४	६
र, शु,	१	०	०

सर्वयोग ६ वर्ष।

चन्द्रदशा

१० वर्ष

नक्षत्र ४, १३, २२।

	वर्ष,	मास,	दिन
च, च,	०	१०	०
च, म,	०	७	०
च, रा,	१	६	०
च, बृ,	१	४	०
च, श,	१	७	०
च, बु,	१	५	०
च, के,	०	७	०
च, शु,	१	८	०
च, र,	०	६	०

कुल १० वर्ष।

मङ्गलदशा

७ वर्ष

नक्षत्र ५, १४, २३।

	वर्ष,	मास,	दिन
म, म,	०	४	२७
म, रा,	१	०	१८
म, बृ,	०	११	६
म, श,	१	१	९
म, बु,	०	११	२७
म, के,	०	४	२७
म, शु,	१	२	०
म, र,	०	४	६
म, च,	०	७	०

कुल ७ वर्ष।

राहुकी महादशा

१८ वर्ष

नक्षत्र ६, १५, २४

	वर्ष,	मास,	दिन
रा, रा,	२	८	१२
रा, बृ,	२	४	२४
रा, श,	२	१०	६
रा, बु,	२	६	१८
रा, के,	१	०	१८
रा, शु,	३	०	०
रा, र,	०	१०	२४
रा, च,	१	६	०
रा, म,	१	०	१८

कुल १८ वर्ष।

वृहस्पतिकी महादशा

१६ वर्ष

नक्षत्र ७, १६, २५

	वर्ष,	मास,	दिन
बृ, बृ,	२	१	१८
बृ, श,	६	६	१२
बृ, बु,	२	३	६
बृ, के,	०	११	६
बृ, शु,	२	८	०
बृ, र,	०	१०	१८
बृ, च,	१	४	०
बृ, म,	०	११	६
बृ, रा	२	४	२४

कुल १६ वर्ष।

शनिकी महादशा

१९ वर्ष

नक्षत्र ८, १७, २६

	वर्ष,	मास,	दिन
श, श,	३	०	३
श, बु,	२	८	९
श, के,	१	१	९
श, शु,	३	२	०
श, र,	०	११	१२
श, च,	१	७	०
श, म,	१	१	९
श, रा,	२	१०	६
श, बृ,	२	६	१२

कुल १८ वर्ष;

बुधकी महादशा

१७ वर्ष

नक्षत्र ९, १८, २७

	वर्ष,	मास,	दिन
बु, बु,	२	४	२७
बु, के,	०	११	२७
बु, शु,	२	१०	०
बु, र,	०	१०	६
बु, च,	१	५	०
बु, म,	०	११	२७
बु, रा,	२	६	१८
बु, बृ,	२	३	६
बु, श,	२	८	९

कुल १७ वर्ष।

केतुकी महादशा

७ वर्ष

नक्षत्र १०, १९, १

	वर्ष,	मास,	दिन
के, के,	०	४	२७
के, शु,	१	२	०
के, र,	०	४	६
के, च,	०	७	०
के, म,	०	४	२७
के, रा,	१	०	१८
के, बृ,	०	११	६
के, श,	१	१	९
के, बु,	०	११	२७

कुल ७ वर्ष।

शुक्रकी महादशा

२० वर्ष

नक्षत्र ११, २० २

	वर्ष,	मास,	दिन
शु, शु,	३	४	०
शु, र,	१	०	०
शु, च,	१	८	०
शु, म,	१	२	०
शु, रा,	३	०	३
शु, बु,	२	८	०
शु, श,	३	२	०
शु, बु,	२	१०	०
शु, के,	१	२	०

कुल २० वर्ष

इन कोष्ठोंमें जिस ग्रहकी महादशा देखनी हो देखी जा सकती है। महादशा और अन्तर्द शा ठीक हो जाने पर प्रत्यन्तर दशाका निरूपण करना होता है। महादशा, अन्तर्दशा और प्रत्यन्तर दशा स्थिर कर फल विचार करना होगा।

महादशा और अन्तर्द शा ठीक कर उस पर फल निरूपण करना होता है। इस महादशाका फल विचार करने पर कुण्डली ग्रहोंकी अवस्थितिका ज्ञान रहना आवश्यक है। ग्रहोंके शुभाशुभ स्थानमें अवस्थान और आपसमें दृष्टिसम्बन्ध और आधिपत्यादि दोष आदि देख करके तब फल निरूपण करना चाहिये, नहीं तो फलका वैलक्षण्य दिखाई देता है।

विंशोत्तरी दशाके मतसे रवि आदि ग्रहोंकी महादशा इस तरह कही गई है—रविकी महादशामें चौर्य्य, मनका उद्वेग, चौपाये जानवरोंसे भय, गो और भृत्यनाश, पुत्रदारादिके भरणपोषणमें क्लेश, गुरुजन और पितृ नाश और नेत्र-पीड़ा आदि अशुभ फल होते हैं।

चन्द्रकी महादशामें—मन्त्रसिद्धि; स्त्री-सम्बन्धमें धन-प्राप्ति; नाना तरहके गन्धद्रव्य और भूषणोंकी प्राप्ति, और बहुत धनागम प्रभृति विविध सुख होता है। इस दशामें केवल वातजनित पीड़ा होती है।

मङ्गलकी महादशा—अस्त्र, अग्नि, भू, वाहन, भैषज्य, नृपवञ्चन आदि नाना तरहके असदुपायसे धनागम, सर्वदा पित्तरक्त और ज्वरपीड़ा, नीचाङ्गना सेवन, पुत्र; दारा, बन्धु और गुरुजनके साथ विरोध रहता है।

राहुकी महादशा—सुख, वित्त और स्थाननाश; कलत्र और पुत्रादिका वियोगदुःख, परदेशवास, सबके साथ नियत विवादकी इच्छा प्रभृति अशुभ फल होते हैं।

वृहस्पतिकी महादशा—स्थानकी प्राप्ति; धनागम, यानवाहन लाभ, चित्तशुद्धि, ऐश्वर्य्य प्राप्ति, ज्ञान और पुत्र-दारादि विविध प्रकारसे सुख सौभाग्य होता है।

शनिकी महादशा—अज, गर्द भ, ऊंट, वृद्धाङ्गना, पक्षी और कुधान्य लाभ, पुर, ग्राम और जलाधिपतिसे अर्थ लाभ, नीच कुलका आधिपत्य, नीचसङ्ग, वृद्ध स्त्री-समागम प्रभृति फललाभ होते हैं।

बुधकी महादशा—गुरु, बन्धु और मित्रोंसे धनार्ज्जन, कीर्त्ति, सुख, सत्कर्म, सुवर्ण आदि लाभ, व्यवसायसे उन्नति और वातपीड़ा होती है।

केतुकी महादशा—बुद्धि और विवेकनाश, नाना प्रकारकी व्याधि, पापकार्य्योंकी वृद्धि, सदाक्लेश आदि नाना प्रकारके अशुभ फल होते हैं।

शुक्रकी महादशा—स्त्री पुत्र और धनलाभ, सुख, सुगन्ध, माल्य, वस्त्र, भूषणलाभ, यानादि प्राप्ति, राजतुल्य यशोलाभ इत्यादि विविध प्रकारका सुख होता है।

रवि आदि ग्रहोंकी महादशाका फल इसी तरह निर्दिष्ट हुआ है। किन्तु इसमें विशेषता है। ऐसा न समझना चाहिये, कि रविकी दशा होने ही खराब दशा होगी और चन्द्रकी दशामें सदा मङ्गल ही होगा। फिर रवि साधारणतः खराब फल देनेवाला है और चन्द्र अच्छा। रविकी महादशा आने पर यह देखना चाहिये, कि दुःस्थानगत है या नहीं? और उसका आधिपत्य दोष है या नहीं। यदि दुःस्थानगत और आधिपत्य दोष दुष्ट हो, तो उक्तरूपसे अशुभफल होता है। फिर, रवि यदि शुभ स्थानाधिपति और शुभस्थानमें स्थित हो, तो उक्त प्रकारसे बुरा फल न हो कर शुभ फल होता है। चन्द्र स्वाभाविक शुभफलदाता होने पर भी यदि दुःस्थानगत हो कर आधिपत्य दोषसे दिखाई देता हो, तो उससे शुभफल न हो कर अशुभफल ही हुआ करता है।

इस तरह अन्तर्दशा कालमें जिस ग्रहका जो मित्र हैं, उसके मित्रके साथ मिले रहने पर शुभफलदाता और शत्रुके साथ मिले रहने पर अशुभ फलदाता हुआ करता है। ग्रहोंका विचार कर और जो सब सम्बन्ध कहे गये हैं, उनका विचार कर फल निर्णय करना चाहिये।

ग्रहोंका शुभाशुभ फल उनकी दशामें ही हुआ करती हैं। जो ग्रह राजयोगकारक हैं, उसी ग्रहकी दशामें राजयोगका फल होता है। जो ग्रह मारकेश होता है, उसी ग्रहकी दशामें मृत्यु होती है। सुतरां जो कुछ शुभाशुभ फल है, वे सभी दशाके समय ही भोग हो जाते हैं।

कलिकालमें एकमात्र विंशोत्तरी दशा ही प्रत्यक्ष फलप्रदा है। पराशरने अपनी संहितामें यह विशेष भावसे प्रतिपादन किया है और दशा-विचारप्रणाली-

विषयमें विविध प्रणालियोंके विषय पर उपदेश दिया है। सुतरां विंशोत्तरी-दशा-विचार करने पर एकमात्र पराशरसंहिताका अवलम्बन कर विचार करनेसे उत्तम रूपसे विचार किया जा सकता है। अष्टोत्तरी महादशाकी विचारप्रणाली विंशोत्तरीके समान नहीं, पूर्णरूपसे विभिन्न है। कुछ लोग एक नियमसे दोनों दशाओंका विचार करते हैं। किन्तु इसमें फलका तारतम्य दिखाई देता है। ऐसी दशामें समझना होगा, कि विचारप्रणालीमें भ्रम है।

फिर जो ग्रह दुःस्थानगत हैं अर्थात् षष्ठ, अष्टम और द्वादशस्थ हैं; वे दोनों दशाओंमें अशुभ फलप्रद होते है। विशेष भावसे विवेचना कर दशा-विचार करना चाहिये। नहीं तो प्रति पद पर फलका भ्रम हो सकता है। विंशोत्तरी-दशा-विचार करने पर पराशरसंहिताको अच्छी तरहसे पढ़ लेना चाहिये, उसीके तात्पर्य्यके अनुसार विचार करना उचित हैं। दशा पर विचार करते समय महा दशा; अन्तर्दशा और प्रत्यन्तर्दशा इन तीनोंको सामने रख इनके सम्बन्धमें अवस्थान और आधिपत्य देख कर तब फल निर्णय करना उचित है। पराशरविंशोत्तरी दशा ही एकमात्र फलप्रदा है, किन्तु यह भी कहना ठीक न होगा, कि अष्टोत्तरी दशाका फल ठीक नहीं होता।

पराशरसंहिता देखो।

विःकुन्धिका (सं० स्त्री०) मेढ़कका विकृत शब्द।

विक (सं० क्ली०) सद्यःप्रसूता गोक्षीर, तुरन्तकी व्याई गौका दूध।

विकङ्कट (सं० पु०) गोक्षुर, गोखरू।

विकङ्कटिक (सं० त्रि०) विकङ्कट सम्बन्धीय।

विकङ्कत (सं० पु०) वदरी सदृश सूक्ष्म फलका वृक्ष, एक प्रकारका जंगली पेड़। इसे कंटाई, किंकिणी और बंज भी कहते हैं। संस्कृत-पर्याय—स्वादुकण्टक, स्रुवावृक्ष, ग्रन्थिल, व्याघ्रपात्, श्रुग्वारु, मधूपर्णी, कण्टपाद, वहुफल, गोपघण्टा, स्रुवाद्रुम, मृदुफल, दन्तकाष्ठ, यज्ञीय व्रतपादप, पिण्डार, हिमक, पूत, किङ्किनी, वैकङ्कत, वुतिङ्कर, कण्टकारी, किङ्किरी, स्रुगदारु। (जटाधर)

इस वृक्षके पत्ते छोटे छोटे और डालियोंमें कांटे होते हैं। इसके फल बेरके आकारके तथा पकने पर मीठे होते हैं, लेकिन अधपकी हालतमें खटमीठे होते हैं। यज्ञोंके लिये स्रुवा इसीकी लकड़ीके बनानेका विधान है। इसका फल लघु, दीपन और पाचक तथा कामल और प्लीहाका नाशक माना गया है।

विकङ्कता (सं० स्त्री०) अतिबला।

विकङ्कतीमुखी (सं० त्रि०) कण्टकयुक्त मुखविशिष्ट, जिसके मुंह पर कांटे होते हैं।

विकच (सं० पु०) विगतः कचो यस्य केशशून्यत्वात्, यद्वा विशिष्टः, कचो यस्य प्रभूतकेशत्वात्। १ क्षपणक। २ केतु, ध्वजा। ३ केतुग्रह। इनकी संख्या ३५ है। ये वृहस्पतिके पुत्र माने जाते हैं। इनमें शिखा नहीं होती। वर्ण सफेद होता है और ये प्रायः दक्षिण दिशामें उदय होते हैं। इनके उदयका फल अशुभ माना जाता है। (त्रि०) विकचति विकशतीति विकच-अच्। ४ विकसित, खिला हुआ। विगतः कचो यस्य। ५ केशशून्य, जिसमें बाल न हो।

विकचा (सं० स्त्री०) महाश्रावणिका, गोरखमुण्डी।

विकचालम्बा (सं० स्त्री०) दुर्गा।

विकच्छ (सं० स्त्री०) विगतः कच्छो यस्य। १ कच्छरहित, बिना काछके। विकच्छ हो कर अर्थात् बिना काछ लगाये कोई भी धर्मकार्य्य नहीं करना चाहिये। किन्तु मूत्रत्यागके समय विकच्छ होना ही कर्त्तव्य है, नहीं तो काछके दाहिनी या बांई ओरसे पेशाब करनेसे वह यथाक्रम देवता वा पितृमुखमें पतित होता है।

२ जिसके दोनों ओर तराई या कछार न हो, जिसके किनारे पर दलदल या गीली जमीन न हो।

विकच्छप (सं० त्रि०) कच्छपशून्य।

(कथासरित् ६१।१३५)

विकट (सं० पु०) विकटति पूयरक्तादिक वर्षतीति विकट पचाद्यच्। १ विस्फोटक। (शब्दरत्ना०) २ साकुरुण्डवृक्ष। (राजनि०) ३ सोमलता। (वैद्यकनि०) ४ धृतराष्ट्रके एक पुत्रका नाम। (भारत १।६७।९६) वि-(संप्रोदश्च कटच्। पा ५।२।२९) इति कटच्। (त्रि०) ५ विशाल। ६ विकराल, भयङ्कर। ७ वक्र, टेढ़ा। ८ कठिन, मुश्किल। ९ दुर्गम। १० दुस्साध्य। ११ दन्तुर, दंतुला।

विकटग्राम (सं० पु०) नगरभेद।

विकटत्व (सं० क्ली०) विकटस्य भाव, विकट-त्व। विकटका भाव या धर्म, विकटता।

विकटनितम्बा (सं० स्त्री०) विकट नितम्बो यस्याः। विकट नितम्बयुक्ता स्त्री, विकराल चूतड़वाली औरत।

विकटमूर्त्ति (सं० त्रि०) उत्कट आकृतियुक्त, भयङ्कर आकारवाला।

विकटवदन (सं० पु०) १ दुर्गाके एक अनुचरका नाम। २ भीषण मुख, भयङ्कर मुंह।

विकटवर्म्मन् (सं० पु०) एक राजपुत्र। (दशकुमार)

विकटविषाण (सं० पु०) सम्बरमृग।

विकटशृङ्ग (सं० पु०) सम्बर मृग। (वैद्यकनि०)

विकटा (सं० स्त्री०) विकट-टाप्। बुद्धदेवकी माता मायादेवीका नाम। यह बौद्धदेवी थीं। पर्याय—मरीचि, त्रिमुखा, वज्रकालिका, वज्रवाराही, गौरी, पोत्रिरथा। (त्रिका०)

विकटाक्ष (सं० पु०) एक असुरका नाम। २ घोर दर्शन, विकराल मूर्त्ति।

विकटानन (सं० पु०) १ भीषणवदन, डरावना चेहरा। २ धृतराष्ट्रके पुत्रका नाम।

विकटाभ (सं० पु०) एक असुरका नाम। (हरिवंश)

विकण्टक (सं० पु०) विशिष्टः कण्टको यस्य। १ यवास, जवासा। २ स्वनामख्यातवृक्ष, विकंकट। गुण—कषाय, कटु, उष्ण, रुचिप्रद, दीपन, कफहारक, वस्त्ररङ्ग विधायक। (राजनि०)

विकण्टकपुर (सं० क्ली०) १ एक नगरका नाम। २ वैकुण्ठ।

विकत्थन (सं० क्ली०) विकत्थ्यते इति विकत्थ श्लाघायां भावे ल्युट्। १ मिथ्याश्लाघा, झूठी प्रशंसा। (त्रि०) विकत्थते आत्मानमिति विकत्थ-ल्युट्। २ आत्मश्लाघाकारी, ऊपरी प्रशंसा करनेवाला।

विकत्थना (सं० स्त्री०) विकत्थ णिच्-युच् टाप्। आत्म श्लाघा, अपनी बड़ाई।

विकत्था (सं० स्त्री०) वि-कत्थ अच् टाप्। श्लाघा, आत्मप्रशंसा।

विकत्थिन् (सं० त्रि०) विकत्थितुं शीलमस्य वि-कथ (वौकषलषकत्थस्रम्भः। पा ३।२।१४३) इति घिनुण्। विकत्थाकारी, अपनी प्रशंसा करनेवाला।

विकथा (सं० स्त्री०) १ विशेष कथा। (पा ४।४।१०२) २ कुत्सित कथा। (जैन)

विकद्रु (सं० पु०) यादवभेद। (हरिवंश ३१।२८ श्लो०)

विकनिकहिक (सं० क्ली०) सामभेद। कहीं कहीं 'विकविकहिक' भी लिखा जाता है।

विकपाल (सं० त्रि०) कपालविच्युत। (हरिवंश)

विकम्पन (सं० पु०) १ राक्षसभेद। (भाग० ९।१०।१८) (क्ली०) वि-कम्प-ल्युट्। २ अतिशय कम्प।

विकम्पित (सं० त्रि०) विकम्प-क्त। अतिशय कम्पित, बहुत चञ्चल।

विकम्पिन् (सं० त्रि०) वि-कम्प णिनि। कम्पनयुक्त, विशेषरूपसे कम्पनविशिष्ट।

विकर (सं० पु०) विकीर्य्यते हस्तपदादिकमनेनेति वि क (ॠदोरप्। पा ३।३।५७) इत्यर्थ। १ रोग, व्याधि। २ तलवारके ३२ हाथोंमेंसे एकका नाम।

विकरण (सं० क्ली०) व्याकरणोक्त प्रत्ययकी एक संज्ञा।

विकरणी (सं० स्त्री०) तिन्दुकवृक्ष, तेंदूका पेड़।

विकरार (अ० वि०) व्याकुल, बेचैन।

विकराल (सं० त्रि०) विशेषेण करालः। भयानक, भीषण, डरावना।

विकरालता (सं० स्त्री०) विकरालस्य भाव तल-टाप्। विकरालका भाव या धर्म।

विकरालमुख (सं० पु०) मकरभेद।

विकर्ण (सं० पु०) १ कर्णके एक पुत्रका नाम। २ दुर्योधनके एक भाईका नाम। यह कुरुक्षेत्रकी लड़ाईमें मारा गया था। (भारत १।२१७।४) ३ एक सामका नाम। ४ एक प्रकारका बाण। (त्रि०) विगतौ कर्णौ यस्य। ५ कर्णरहित, जिसके कान न हो।

विकर्णक (सं० पु०) १ ग्रन्थिपर्णभेद, एक प्रकारकी गंठिवन। २ शिवका व्याड़ि नामक गण।

विकर्णरोमन् (सं० पु०) ग्रन्थि-पर्णभेद, गँठिवन।

विकर्णिक (सं० पु०) सारस्वत-देश, काश्मीर देश। (हेम)

विकर्णी (सं० पु०) १ एक प्रकारकी ईंट, जिससे यज्ञकी वेदी बनाई जाती थी। २ एक सामका नाम।

विकर्त्तन (सं० पु०) विशेषेण कर्त्तनं यस्य विश्वकर्म-

यन्लखोदितत्वादस्य तथात्वं । १ सूर्या। २ अर्कवृक्ष, अकबन।

विकर्त्तृ (सं० त्रि०) १ प्रलयकर्त्ता। "तं हि कर्त्ता विकर्त्ता च भूतानामिह सर्व्वशः।" (भारत बनपर्व) २ क्षतिकारक, अनिष्ट करनेवाला। ३ दमन द्वारा विकृतिसम्पादक। ४ निग्रहकारक।

विकर्म्मन् (सं० क्ली०) वि-विरुद्धं कर्म्म। १ विरुद्ध कर्म्म, विरुद्धाचार। (त्रि०) वि-विरुद्धं कर्म्म यस्य। २ विरुद्ध कर्म्मकारी, दुराचारी।

विकर्मकृत् (सं० त्रि०) विकर्म विरुद्धं कर्म्म करोतीति कृ-क्विप् तुक् च। निषिद्ध कर्म्मकारी। मनुमें लिखा है, कि निषिद्ध कर्म्मकारियोंकी गवाही नहीं लेनी चाहिये। ऐसे लोगोंकी गवाही अग्राह्य है।

विकर्म्मस्थ (सं० त्रि०) विकर्म्मणि विरुद्धाचारे तिष्ठतीति स्था क। धर्म्मशास्त्रानुसार वह पुरुष जो वेदविरुद्ध कर्म्म करता हो, वेदके विरुद्ध आचार करनेवाला व्यक्ति।

विकर्ष (सं० पु०) विकृष्यतेऽसौ इति यद्वा विकृष्यन्ते पर-प्राणा अनेनेति वि-कृष-घञ्। १ बाण, तीर। विकृष भावे घञ्। २ विकर्षण, खींचना।

विकर्षण (सं० क्ली०) वि-कृष ल्युट्। १ आकर्षण; खींचना। २ विभाग, हिस्सा।

विकल (सं० त्रि०) विगतः कलोऽव्यक्तध्वनिर्यस्य। १ विह्वल, व्याकुल। २ असम्पूर्ण, खण्डित। ३ ह्रासप्राप्त; घटा हुआ। ४ कलाहीन। ५ अस्वाभाविक, अनैसर्गिक। ६ असमर्थ। ७ रहित। (क्ली०) ८ कलाका षष्टितमांश, कलाका सांठवां भाग, विकला।

विकलता (सं० स्त्री०) विकलस्य भावः तल् टाप्। विकलका भाव या धर्म्म, बेचैनी।

विकलपाणिक (सं० पु०) विकलपाणिर्यस्य कन्। स्वभा-वतः पाणिहीन, जन्मसे ही जिसके हाथ नहीं है।

विकला (सं० स्त्री०) विगतः कलो मधुरालापो यस्याः, ऋतौ तु स्त्रिया मौनित्वविहितत्वात्। १ ऋतुहीना स्त्री, वह स्त्री जिसका रजोदर्शन होना बंद हो गया हो। २ कला-का साठवाँ अंश। ३ बुधग्रहकी गतिका नाम। ४ समय-का एक अत्यन्त छोटा भाग।

विकलाङ्ग (सं० त्रि०) विकलानि अङ्गानि यस्य। न्यूनाङ्ग, जिसका कोई अंग टूटा या खराब हो। जैसे—लूला, लंगड़ा, काना, खंजा आदि।

विकलास (हिं० पु०) एक प्रकारका प्राचीन बाजा। यह चमड़ेसे मढ़ा जाता था।

विकलित (सं० त्रि०) १ व्याकुल, बेचैन। २ दुःखी, पीड़ित।

विकली (सं० स्त्री०) विगता कला यस्याः गौरादित्वात् ङीष्। ऋतुहीना स्त्री, वह स्त्री जिसका रजोदर्शन होना बंद हो गया हो।

विकलेन्द्रिय (सं० स्त्री०) विकलानि इन्द्रियानि यस्य। १ जिसकी इन्द्रियां बशमें न हों। २ जिसकी कोई इन्द्रिय खराब हो अथवा बिलकुल न हो।

विकल्प (सं० पु०) विरुद्ध कल्पनमिति वि-कृप-घञ्। १ भ्रान्ति, भ्रम, धोखा। २ कल्पन। (मेदिनी) ३ विपरीत कल्प, विरुद्ध कल्पना। ४ विविध कल्पना, नाना भांतिसे कल्पना करना। ५ विभिन्न कल्पना विशेष, इच्छानुयायी कल्पनाविशेष।

स्मृतिशास्त्रमें यह विकल्प दो प्रकारका माना गया है, एक व्यवस्थित वा व्यवस्थायुक्त विकल्प और दूसरा ऐच्छिक वा इच्छानुयायी।

स्मृतिशास्त्रके मतसे आकाङ्क्षा पूर्ण होने पर विकल्प होता है। जिसमें दो प्रकारकी विधियां मिलती हों उसे व्यवस्थायुक्त कहते हैं। यथा "दर्शपौर्णमास यागमें यव द्वारा होम करे, व्रीहि द्वारा होम करे" इसमें दो प्रकारकी श्रुतियां देखनेमें आती हैं। यहां यव और व्रीहि इन दोनोंके ही प्रत्यक्ष श्रुतिबोधित होनेके कारण यव और व्रीहिका विकल्प हुआ। इच्छानुसार यव या व्रीहि इनमेंसे किसी एक द्वारा होम करने हीसे याग सम्पन्न होगा। यही इच्छा विकल्प है। इस प्रकार विकल्पको जगह दोनों कल्प परस्पर विरुद्ध मालूम होते हैं, किन्तु स्थिरचित्तसे यदि विचार किया जाये, तो दोनोंमें कोई विरुद्धता नहीं है। क्योंकि किसी एक विधिके अनुसार कार्य करने हीसे कार्यकी सिद्धि होती है। अतएव इसको इच्छाविकल्प कहते हैं। स्मृतिमें लिखा है, कि इच्छाविकल्पमें ८ दोष हैं।

व्रीहि द्वारा याग करे और यव द्वारा याग करे, ये दोनों

विधियां, इनमेंसे किसी एकका पक्ष अवलम्बन करनेसे चार चार दोष होते हैं, अतएव दोनों पक्षमें कुल ८ दोष हुए। यथा—प्रमाणत्वपरित्याग और अप्रामाण्यप्रकल्पन, प्रामाण्योज्जीवन और प्रामाण्यहानि, व्रीहिके लिये चार कुल ८ दोष हुए। कहीं कहीं व्रीहि द्वारा याग करनेसे प्रतीत यवप्रामाण्यका परित्याग होता है और अप्रतीत यवके अप्रामाण्यका परिकल्पन होता है तथा परित्यक्त यव प्रामाण्यका उज्जीवन और स्वीकृत यवके अप्रामाण्यकी हानि होती है। इस प्रकार चार चार करके ८ दोष हुए। जितनी विधियां हैं, जहां उन सब विधियोंका अनुष्ठान करना होता है वहां व्यवस्थित विकल्प हुआ करता है। व्यवस्थित विकल्पकी जगह एकको बाद दे कर एकका अनुष्ठान करनेसे काम नहीं चलेगा, सबोंका अनुष्ठान करना ही पड़ेगा।

एकार्थताके लिये त्रिविध कल्पित होते है इस कारण विकल्प है। इच्छा विकल्पमें ८ दोष हैं, यह आशङ्का कर दो तिथिमें उपवास करे, जहां ऐसी विधि है वहां इच्छा विकल्प नहीं होगा, व्यवस्थितविकल्प होगा।

व्याकरणके मतमें भी एक कार्य एक जगह होगा, दूसरी जगह नहीं होगा, ऐसा जो विधान है उसे विकल्प कहते है।

६ पातञ्जलदर्शनके मतसे चित्तवृत्तिभेद। प्रमाण, विपर्य्याय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच चित्तकी वृत्ति हैं। वस्तु नहीं रहने पर भी शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धन जो वृत्ति होती है, उसका नाम विकल्प है। चैतन्य पुरुषका स्वरूप है, यह एक विकल्पका उदाहरण है। क्योंकि पुरुष चैतन्यस्वरूप हैं, अर्थात् चैतन्य और पुरुष एक ही पदार्थ है। अतएव चैतन्य और पुरुषका धर्मधर्मिभाव वस्तुगत्या नहीं है। अथच चैतन्य पुरुषका स्वरूप इसी प्रकार धर्मधर्मिभावमें व्यवहृत होता है। मिथ्याज्ञानका नाम विपर्य्याय है, शुक्ति या सीपमें रजतबुद्धि-विपर्य्यायका उदाहरण है। विशेष दर्शन होने पर सर्वसाधारणके लिये ही रजतबुद्धिबाधित प्रतीत होती है। बाधितका निश्चय हो जानेसे उसके द्वारा फिर किसी भी रूपका व्यवहार नहीं होता, विकल्पकी जगह सर्वसाधारणकी बाधबुद्धि बिलकुल नहीं होती, विचारनिपुण सुधियोंकी ही बाधबुद्धि होती है। फिर बाधबुद्धि होने पर भी उसका व्यवहार विलुप्त नहीं होता। विपर्य्याय और विकल्पके इस सूक्ष्म भेदके प्रति लक्ष्य रखना कर्त्तव्य है। पातञ्जलमें लिखा है, वास्तुके स्वरूपकी अपेक्षा न करके केवल शब्दजन्य ज्ञानानुसार जो एक प्रकारका बोध होता है उसीको विकल्पवृत्ति कहते हैं। देवदत्तका कम्बल, यहां पर देवदत्तका स्वरूप जो चैतन्य है, उसकी अपेक्षा न करके देवदत्त और कम्बलमें जो भेद होता है वही विकल्पवृत्ति है।

७ अवान्तर कल्प। ८ देवता। ९ अर्थालङ्कारभेद। जहां तुल्यबलविशिष्टका चातुरीयुक्त विरोध होता है वहां विकल्पालङ्कार हुआ करता है। १० नैयायिकोंके मतसे ज्ञानभेद, प्रकारन्तरूप विषयताभेदज्ञान। (न्यायद०) ११ वैचित्र्य। १२ वैद्यकके मतसे समवेत दोषोंकी अंशांश कल्पना अर्थात् व्याधि होनेके पहले शरीरमें दोषोंकी जो ह्रास वृद्धि हुआ करती है, उसकी न्यूनाधिक कल्पनाका नाम विकल्प है। १३ समाधिभेद, सविकल्पक समाधि और निर्विकल्पकसमाधि।

विकल्पक (सं० पु०) विकल्प स्वार्थे कन्।
विकल्प देखो।

विकल्पन (सं० क्ली०) विकल्प ल्युट्। विविध कल्पन।

विकल्पनीय (सं० त्रि०) विकल्प अनीयर्। विकल्पार्ह, विकल्पके योग्य।

विकल्पवत् (सं० त्रि०) विकल्प अस्त्यर्थे मतुप् मस्य व। विकल्पयुक्त, विकल्पविशिष्ट।

विकल्पसम (सं० पु०) न्यायदर्शनमें २४ जातियोंमेंसे एक। इसमें वादीके दिये गये दृष्टान्तमें अन्य धर्मकी योजना करते हुए साध्यमें भी उसी धर्मका आरोप करके वादीकी युक्तिका मिथ्या खण्डन किया जाता है।

विकल्पसम्प्राप्ति (सं० स्त्री०) वातादि दोषोंकी मिश्रित अवस्थामें प्रत्येकके अंशांशकी कल्पना करना।

विकल्पानुपपत्ति (सं० पु०) पक्षान्तरमें अनुपपत्ति।
(सर्वदर्शनसंग्रह १५।१६)

विकल्पासह (सं० त्रि०) विकल्पसे जिसकी उन्नति हो।
(सर्वदर्शन ११।२०)

विकल्पित (सं० त्रि०) वि-कल्प-क्त। १ विविधरूपमें

विकल्पित, जिसकी कल्पना कई तरहसे की गई हो। २ सन्दिग्ध, जिसके सम्बन्धमें निश्चय न हो। ३ विभाषित, चमकता हुआ। ४ अनियमित, जिसका कोई नियम न हो।

विकल्पिन् (सं० त्रि०) विकल्प-इनि। विकल्पयुक्त, विकल्पविशिष्ट।

विकल्प्य (सं० त्रि०) वि-कल्प-यत्। विकल्पनीय, विकल्पके योग्य।

विकल्मष (सं० त्रि०) विगतः कल्मषो यस्य। पापरहित, निष्पाप, जिसमें पाप न हो।

विकल्य (सं० पु०) जातिभेद। (भारत-भीष्मपर्व)

विकवच (सं० त्रि०) कवचरहित, कवचशून्य, बिना बकतरके।

विकविकहिक (सं० क्ली०) सामभेद। कहीं कहीं हिकविकनिक और विकनिकहिक भी देखा जाता है।

विकश्यप (सं० त्रि०) कश्यपरहित। (एतरेयब्रा० ७।२७)

विकश्वर (सं० त्रि०) वि-कश-वरच्। विकाशी, खिलनेवाला। २ विसरणशील। (भरत)

विकषा (सं० स्त्री०) विकषतीति वि-कष गतौ अच्-टाप्। १ मञ्जिष्ठा, मजीठ। (अमरटी० रायमु०) २ मांसरोहिणी। (राजनि०)

विकष्वर (सं० त्रि०) वि-कष-वरच्। विकस्वर। (भरत)

विकस (सं० पु०) विकसतीति वि-कस-अच्। चन्द्रमा।

विकसन (सं० क्ली०) वि-कस-ल्युट्। प्रस्फुटन, फूटना, खिलना।

विकसा (सं० स्त्री०) विकसतीति वि-कस-अच्-टाप्। मञ्जिष्ठा, मजीठ।

विकसित (सं० त्रि०) वि-कस-क्त। प्रस्फुटित, खिला हुआ। पर्याय—उज्जृम्भित, उज्जृम्भ, स्मित, उन्मिषित, विजृम्भित, उद्बुद्ध, उद्भिदुर, भिन्न, उद्भिन्न, हसित, विकस्वर, विकच, आकोष, फुल्ल, संफुल्ल, स्फुट, उदित, दलित, दीर्ण, स्फुटित, उत्फुल, प्रफुल्ल। (राजनि०)

विकस्वर (सं० त्रि०) विकसतीति वि-कस-गतौ (स्थेशभासपिसकसो वरच्। पा ३।२।१७५) इति वरच्। १ विकाशशील, खिलनेवाला। पर्याय—विकासी (पु०) २ एक काव्यालङ्कार। इसमें पहले कोई विशेष बात कह कर उसकी पुष्टि सामान्य बातसे की जाती है।

विकस्वरा (सं० स्त्री०) विकस्वर-टाप्। रक्तपुनर्नवा, लाल गदहपूरना।

विकस्वरूप (सं० पु०) ऋषिभेद।

विकाकुद् (सं० त्रि०) काकुदशून्य, जिसके कूबड़ न हो। (पा ५।४।१४८)

विकाङ्क्ष (सं० त्रि०) विगता कांक्षा यस्य। आकांक्षारहित, इच्छाका अभाव।

विकाङ्क्षा (सं० स्त्री०) १ विसंवाद। २ इच्छाभाव, आकांक्षाहीन।

विकाम (सं० त्रि०) कामनाशून्य, निष्काम।

विकार (सं० पु०) वि-कृ-घञ्। १ प्रकृतिका अन्यथा भाव, किसी वस्तुका रूप, रङ्ग आदि बदल जाना। पर्याय—परिणाम, विकृति, विक्रिया, विकृत्या। प्रकृतिका दूसरी अवस्थामें बदलनेका नाम विकार है। दूध जब दहीमें बदलता है, तब उसको विकार कहते हैं। इसी प्रकार सोनेका कुण्डल, मिट्टीका घड़ा।

सांख्यदर्शनके मतसे यह जगत् प्रकृतिका विकार है। प्रकृति विकृत हो कर जगत्रूपमें परिणत हुई है। परिदृश्यमान जगत्का मूल प्रकृति है। जब जगत्का नाश होगा, तब सिर्फ प्रकृति ही रह जायगी। सत्त्व, रजः और तमोगुणकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है।

विकृति और प्रकृति शब्द देखो।

द्रव्यका रूप ही प्रकृति है, उसके दूसरी अवस्थामें आनेका नाम विकार है।

२ वैद्यकके मतसे रोग।

धातुसाम्यका नाम प्रकृति है, धातुकी विषमता होनेसे उसको विकार कहते हैं। यही विकार रोग कहलाता है। धातुकी विषमता नहीं होनेसे व्याधि नहीं होती। धातुकी साम्य अवस्थामें प्रकृति जिस प्रकार रहती है, धातुकी विषमतामें उस प्रकार नहीं रहती और प्रकारकी हो जाती है। (चरक सूत्रस्था० ९ अ०) ३ मत्स्य, मछली। ४ निरुक्तके चार प्रधान नियमोंमें एक। इसके अनुसार एक वर्णके स्थानमें दूसरा वर्ण हो जाता

है। ५ दोषकी समाप्ति, खराबी । ६ दोष, बुराई। ७ मनकी वृत्ति या प्रकृति । ८ उपद्रव, हानि ।

विकारत्व (सं० क्ली०) विकारस्य भावः त्व । विकारका भाव या धर्म ।

विकारमय (सं० त्रि०) विकारस्वरूपे मयट् । विकारस्वरूप ।

विकारवत् (सं० त्रि०) विकार अस्त्यर्थे मतुप् मस्य व । विकारयुक्त, विकृत ।

विकारिता (सं० स्त्री०) विकारिणो भावः तल-टाप् । विकारित्व, विकारका भाव या धर्म ।

विकारिन् (सं० त्रि०) वि-कृ-णिनि । विकारयुक्त, विकारविशिष्ट ।

विकारी (सं० त्रि०) १ विकारयुक्त, जिसमें विकार हो । २ क्रोधादि मनोविकारोंसे युक्त, दुष्ट वासनावाला । (पु०) ३ साठ संवत्सरोंमेंसे एक संवत्सरका नाम ।

विकार्य (सं० त्रि०) वि-कृ ण्यत् । १ विकृतिप्राप्त द्रव्य । २ व्याकरणोक्त कर्मकारकभेद । व्याकरणके मतसे कर्मकारक तीन प्रकारका होता है, निर्वर्त्त्य, विकार्य और प्राप्य । विकार्य कर्मके फिर दो भेद हैं, प्रकृतका उच्छेदक और प्रकृतिका गुणान्तराधायक । यथा—'काष्ठं भस्म करोति' काष्ठ भस्म करता है, यहां पर प्रकृतका (काष्ठका) उच्छेद होनेके कारण 'प्रकृतिका उच्छेदक' विकार्य कर्म हुआ । 'सुवर्णं कुण्डलं करोति' सोनेका कुण्डल बनाता है, यहां पर प्रकृति (सुवर्ण) रूपान्तरित हो जानेके कारण 'प्रकृतिका गुणान्तकाध्यायक' विकार्य कर्म हुआ ।

विकाल (सं० पु०) विरुद्धः कार्यानर्हः कालः । १ दैवपैत्रादिकर्मका विरुद्ध काल, ऐसा समय जब देवकार्य या पितृकार्य करनेका समय बीत गया हो, सायंकालका समय । इस कालमें दैव और पैतृ कर्म निषिद्ध बताया गया है, इसीसे इसको विकाल कहते हैं । पर्याय—सायं, दिनान्त, सायाह्न, सायम्, उत्सव, विकालक । २ अतिकाल, देर ।

विकालक (सं० पु०) विकाल एव स्वार्थे कन् । विकाल, सायंकाल ।

विकालिका (सं० स्त्री०) विज्ञातः कालो यया, कन् टापि अत इत्वं । ताम्री, जलघड़ी, इससे काल मान का ज्ञान होता है, इसीसे इसको विकालिका कहते हैं ।

विकाश (सं० पु०) वि-काश-दीप्तौ-घञ् । १ प्रकाश । २ प्रसार, फैलाव । ३ आकाश । ४ विषमगति । ५ प्रस्फुटन, खिलाना । ६ एक काव्यालङ्कार, इसमें किसी वास्तुका बिना निजका आधार छोड़े अत्यन्त विकसित होना वर्णन किया जाता है । किसी वस्तुकी वृद्धिके लिये उसके रूप आदिमें उत्तरोत्तर परिवर्त्तन होना । (त्रि०) निर्जन, एकान्त ।

विकाशक (सं० त्रि०) वि काश्यति वि-काश ल्यु । १ प्रकाशक । २ विकाशन ।

विकाशन (सं० क्ली०) वि काश ल्युट् । प्रकाश, प्रस्फुटन, खिलना ।

विकाशिन् (सं० त्रि०) विकाशोऽस्यास्तीति विकाशहीन । विकाशशील, खिलनेवाला ।

विकाषिन् (सं० त्रि०) विकाष अस्यर्थे इनि । विकाशशील, खिलनेवाला ।

विकास (सं० पु०) वि-कस-घञ् । १ विकाश, खिलना । २ प्रसार, फैलाव । ३ एक प्रसिद्ध पाश्चात्य सिद्धान्त । इसके आचार्य डार्विन नामक प्रसिद्ध प्राणिविज्ञानवेत्ता हैं । इस सिद्धान्तमें कहा है, कि आधुनिक समस्त सृष्टि और उसमें पाये जानेवाले जीव जन्तु तथा वृक्ष आदि एक ही मूलतत्त्वसे उत्तरोत्तर निकलते हैं । ४ किसी पदार्थका उत्पन्न हो कर अन्त या आरम्भसे भिन्न भिन्न रूप धारण करते हुए उत्तरोत्तर बढ़ना, क्रमशः उन्नत होना ।

विकास (हिं० स्त्री०) खराब जमीनमें होनेवाली एक प्रकारकी घास । इसकी पत्तियां दूबकी भांति पर कुछ बड़ी होती हैं । चौपाए इसे बड़े चावसे खाते हैं ।

विकासन (सं० क्ली०) वि-कस-ल्युट् । प्रकाशन, मस्फुटन, खिलना ।

विकासना (हिं० क्रि०) १ विकसित होना, खिलना । २ प्रकट होना, जाहिर होना ।

विकासिता (सं० स्त्री०) विकासिनो भावः तल् टाप् । विकासीका भाव या धर्म, विकाशन ।

विकिर (सं० पु०) विकिरति मृत्तिकादीन् भोजनार्थमिति

वि कॄ विक्षेपे 'इगुपधेति' क। १ पक्षी, चिड़िया। २ कूप, कूआं। विकीर्य्यते इति वि-कॄ-घञर्थे क। पूजाकालमें विघ्नोत्सारणार्थ क्षेपणीय तण्डुलादि, वह अक्षत चावल जो पूजाके समय विघ्न आदि दूर करनेके लिये चारों ओर फेंका जाता है। पूजाके समय जिससे भूत आदि विघ्नबाधा उपस्थित न कर सकें, इसलिये मन्त्र पढ़ कर अक्षत चारों ओर फेंकना होता है। इसीको विकिर कहते हैं।

तन्त्रसारमें लिखा है; कि लाज (लावा), चन्दन, सिद्धार्थ, भस्म, दूर्वा, कुश और अक्षत ये सब विकिर कहलाते हैं तथा भूतादि द्वारा होनेवाला विघ्नसमूहके नाशक हैं। (तन्त्रसार)

४ अग्निदग्धादिका पिण्ड। श्राद्धकालमें अग्निदग्धाके उद्देशसे जो पिण्ड दिया जाता है उसको विकिर कहते हैं। पितादिका पिण्ड जिस प्रकार हस्तके पितृतीर्थ द्वारा देना होता है, इस अग्निदग्धका पिण्ड उस प्रकार नहीं देना होता है, इसी कारण इसका विकिर नाम पड़ा है।

जिनके यथाविधान दाहनादि संस्कार नहीं होते तथा जिनके श्राद्धकर्त्ता कोई नहीं हैं उनके उद्देशसे यह विकिरपिण्ड देना होता है।

(क्ली०) ५ जलविशेष। नदी आदि स्थानोंके निकट जो बालुकामयी भूमि रहती है और उस भूमिको खोदनेसे जो जल निकलता है उसे ही विकिर कहते हैं। यह जल शीतल, स्वच्छ, निर्दोष, लघु, तुवर (कसैला), स्वादिष्ट, पित्तनाशक और अल्प कफवर्द्धक माना गया है। ६ क्षरण, गिरना।

विकिरण (सं० क्ली०) वि कॄ-ल्युट्। १ विक्षेपण, इधर उधर फेंकना। २ विहिंसन। ३ विज्ञापन। (पु०) ४ अर्कवृक्ष, मदारका पेड़।

विकिरिद्र (सं० त्रि०) विविध वातादि उपद्रवनाशक, नाना प्रकारके उपद्रव नष्ट करनेवाला।

विकिष्क (सं० पु०) प्राचीनकालका बढ़इयोंका एक प्रकारका गज। यह प्रायः सवा दो हाथ या ४२ इञ्चका होता था।

विकीरण (सं० पु०) अर्कवृक्ष, लाल मदार। (भावप्र०)

विकीर्ण (सं० त्रि०) विकीर्य्यते स्मेति वि-कॄ-क्त। १ विक्षिप्त, चारों ओर फैला या छितराया हुआ। प्रसिद्ध, मशहूर। (क्ली०) ३ ग्रन्थिपर्णभेद, गंठिवन। ४ स्वरके उच्चारणमें होनेवाला एक प्रकारका दोष।

विकीर्णक (सं० क्ली०) विकीर्ण-कन्। १ ग्रन्थिपर्णभेद, गंठिवन। (त्रि०) २ विक्षिप्त, इधर उधर छितराया हुआ।

विकीर्णका (सं० स्त्री०) ग्रन्थिपर्णभेद।

विकीर्णफलक (सं० पु०) रक्तार्कवृक्ष, लालमदारका पेड़।

विकीर्णरोमन् (सं० क्ली०) विकीर्णानि रोमाण्यस्मिन्निति। स्थौनेयक, एक प्रकारका सुगंधित पौधा।

विकीर्णसंज्ञ (सं० क्ली०) विकीर्णमिति संज्ञा यस्य। स्थौनेय, एक प्रकारका सुगंधित पौधा।

विकुक्षि (सं० पु०) इक्ष्वाकुराजके बड़े लड़केका नाम। (त्रि०) २ कुक्षिहीन, जिसका पेट फूला या आगेको निकला हुआ हो, तोंदवाला।

विकुक्षिक (सं० त्रि०) कुक्षिहीन, तोंदवाला।

विकुज (सं० त्रि०) कुज भिन्न। मङ्गलवार भिन्न।

विकुजरवीन्दु (सं० त्रि०) कुज, रवि और इन्दु भिन्न। मङ्गल, रवि और चन्द्र भिन्न वार।

विकुण्ठ (सं० त्रि०) १ कुण्ठारहित, कुज धारवाला, कुन्द या भुथराका उलटा। (पु०) २ वैकुण्ठ। स्त्रियां टाप्। ३ विष्णुकी माता।

विकुण्ठन (सं० पु० क्ली०) १ कुण्ठाराहित्य, तेज धार। दौर्वल्य, कमजोरी।

विकुण्डल (सं० त्रि०) कुण्डलरहित, जिसके कुंडल न हो।

विकुत्सा (सं० स्त्री०) विशेषरूपसे निन्दा।

विकुम्भ (सं० पु०) कनकवृक्ष, धतूरेका पेड़।

विकुम्भाण्ड (सं० पु०) बौद्धशास्त्रोक्त अपदेवताभेद।

विकुर्वण (सं० क्ली०) विस्मयजनक व्यापार।

विकुर्वाण (सं० त्रि०) वि-कुरुते इति वि कृ शानच्। १ हर्षमाण। २ विकृतिप्राप्त।

विकुर्वित (सं० त्रि०) पालि विकुर्वणम्। विस्मयजनक व्यापार, अभावनीय घटना।

विकुस्र (सं० पु०) विकसतीति वि-कस-रक्। (वौ ह्रस्वः। उणा २।१५) उपधाया उत्वञ्च। चन्द्रमा।

विकूज (सं० पु०) १ पेटकी बोली। २ मधुमक्खीका गुन् गुन् शब्द।

विकूजन (सं० क्ली०) विशेषरूपसे कूजन, खूब जोरसे आवाज करना।

विकूणन (सं० क्ली०) पार्श्वदृष्टि। ऐंचातान।

विकूनिका (सं० स्त्री०) वि-कूण-अच् स्वार्थे क, अत इत्वं। नासिका, नाक।

विकूवर (सं० त्रि०) मनोरम, सुन्दर।

विकृत (सं० त्रि०) वि-कृ-क्त। १ वीभत्स, भद्दा या कुरूप हो गया हो। २ रोगयुक्त, बीमार। ३ असंस्कृत, जिसका संस्कार न हुआ हो, बिगड़ा हुआ। ४ अङ्गविहीन। ५ अधूरा, अपूर्ण। ६ विद्रोही, अराजक। ७ अस्वाभाविक, असाधारण। ८ मायावी।

(क्ली०) ९ विकार। बोलनेकी इच्छा रहते हुए भी जो लज्जा, मान और ईर्षादिवशतः न बोला जाय, पर चेष्टा द्वारा व्यक्त हो जाय, पण्डितोंने उसीका नाम विकृत रखा है।

१० प्रभवादि साठ संवत्सरोंमेंसे चौबीसवाँ संवत्सर। भविष्यपुराणमें लिखा है, कि विकृत वर्षकी प्रजा प्रपीड़ित व्याधि और शोकयुक्त होती है तथा अधिक पाप करनेके कारण उनके शिर, अक्षि और वक्षमें पीड़ा होती है।

बोलनेके समय जब लज्जाके कारण मुहसे एक भी शब्द न निकले और मुँह विकृत हो जाय, तब यह अलङ्कार होगा।

११ दूसरे प्रजापतिका नाम। १२ पुराणानुसार परिवर्त्त राक्षसके पुत्रका नाम।

विकृतित्व (सं० क्ली०) विकृतस्य भावः त्व। विकृतका भाव या धर्म; विकार।

विकृतदंष्ट्र (सं० पु०) विद्याधरविशेष। (कथासरित्सा० ७७।६९) (त्रि०) २ विकृतदंष्ट्रायुक्त, जिसके दाँत बड़े बड़े और कुरूप हों।

विकृतदृष्टि (सं० पु०) पार्श्वदृष्टि ऐंचातानी।

विकृतस्वर (सं० पु०) वह स्वर जो अपने नियत स्थानसे हट कर दूसरी श्रुतियों पर जा कर ठहरता है। सङ्गीतशास्त्रमें १२ विकृत स्वर माने गये हैं, यथा—च्युत षड़ज, अच्युत षड़ज, विकृत षड़ज, साधारण गान्धार, अन्तर गान्धार, च्युत मध्यम, अच्युत मध्यम, त्रिश्रुति मध्यम कैशिक पञ्चम, विकृत धैवत, कैशिक निषाद और कादली निषाद।

विकृता (सं० स्त्री०) एक योगिनीका नाम।

विकृति (सं० स्त्री०) वि कृ क्तिन्। १ विकार। २ रोग। ३ डिम्ब, अण्डा। ४ मद्यादि। सांख्योक्त विकृति।

सांख्यदर्शनमें लिखा, कि मूल प्रकृति अविकृत है अर्थात् किसीका विकार नहीं है, यह स्वरूपावस्थामें हीं लगती है। सत्त्व, रज और तमोगुणकी साम्यावस्थाका नाम ही प्रकृति है। महदादि सात हैं अर्थात् महत्, अहङ्कार और पञ्च तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंधतन्मात्र) ये सात प्रकृति विकृति है। जब प्रकृति जगत् रूपमें परिणत होती है, तब पहले प्रकृतिके यही ७ विकार होते हैं। मूल प्रकृतिसे ही ये सात विकार होते हैं, इस कारण इन्हें प्रकृति विकृति कहते हैं। फिर १६ केवल विकृति अर्थात् विकार हैं, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन ये ग्यारह इन्द्रिय और पञ्च महाभूत ये १६ केवल विकार हैं, अहङ्कारसे ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्रसे पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं, ये १६ प्रकृति विकृति अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रसे उत्पन्न होती हैं, इस कारण इन्हें केवल विकृति कहते हैं। पुरुष प्रकृति भी नहीं है और विकृति ही है। यह प्रकृति और विकृतिसे स्वतन्त्र है। सांख्यके मतसे प्रकृतिके दो तरहके परिमाण हुआ करते हैं, स्वरूप परिमाण और विरूप परिणाम। स्वरूप परिणाममें प्रलयावस्था और विरूप परिणाममें जगदवस्था है। थोड़ा गौर कर देखनेसे मालूम होता है, कि सभी जागतिक तत्त्वोंको चार श्रेणीमें विभक्त किया जा सकता है। कोई तत्त्व तो केवल प्रकृति ही है अर्थात् किसीकी भी विकृति नहीं। कोई तत्त्व प्रकृति विकृति हैं अर्थात् उभयात्मक हैं, उसमें प्रकृति धर्म भी है और विकृतिधर्म भी, अतएव वे प्रकृति-विकृति हैं। कोई कोई तत्त्व केवल विकृति है अर्थात् किसी तत्त्वकी प्रकृति नहीं है। फिर कोई तत्त्व अनुभयात्मक है, प्रकृति भी नहीं है और न विकृति ही है। ये चार श्रेणी छोड़ कर और किसी प्रकारका तत्त्व देखनेमें नहीं आता।

प्रकृति शब्दका अर्थ उपादानकारण और विकृतिका

अर्थ कार्य है। इस जगत्‌का जो उपादान कारण है उसका नाम प्रकृति है। इस प्रकृतिस्वरूप उपादान कारणसे जगत्‌रूप जो कार्य हुआ है वही विकृति वा विकार है।

मूल प्रकृति अर्थात् जिससे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, जिसका दूसरा नाम प्रधान है, किसी भी कारणसे उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि मूल प्रकृति कोई कारण जन्म होनेसे उस कारणकी उत्पत्तिके प्रति भी दूसरे कारणकी अपेक्षा करती है, फिर उसकी उत्पत्तिके लिये अन्यकारणकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर कारणका कारण निर्देश करनेमें अनवस्थादोष होता है। अतएव मूल कारण अर्थात् प्रकृति किसी अन्य पदार्थसे उत्पन्न वस्तु नहीं है। यह जो स्वतः सिद्ध है उसे अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। अतएव यह सिद्ध हुआ, कि मूल प्रकृति अविकृति है, वह किसीकी भी विकृति नहीं।

महत्तत्त्व, अहङ्कारतत्त्व और पञ्चतन्मात्र ये सात तत्त्व प्रकृति-विकृति हैं अर्थात् वह प्रकृति भी हैं, विकृति भी हैं। कोई तत्त्वकी प्रकृति और कोई तत्त्वकी विकृति है। महत्तत्त्व मूल-प्रकृतिसे उत्पन्न है, अतएव वह मूल प्रकृतिको विकृति है तथा महत्तत्त्वसे अहङ्कार-तत्त्वकी उत्पत्ति हुई है, इस कारण वह अहङ्कारतत्त्वकी प्रकृति है। उक्त प्रकारसे अहङ्कारतत्त्व महत्तत्त्वकी विकृति है; फिर उससे पञ्चतन्मात्र और ग्यारह इन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई है, इस कारण उसको पञ्चतन्मात्र और ग्यारह इन्द्रियोंकी प्रकृति कहते हैं। पञ्चतन्मात्र भी उसी प्रकार अहङ्कारतत्त्वकी विकृति है तथा उससे उत्पन्न पञ्चमहाभूतकी प्रकृति है। पञ्चमहाभूत और एकादश इन्द्रियां किसी भी दूसरे तत्त्वकी उपादान-कारण वा आरम्भक नहीं होतीं। इस कारण वे केवल प्रकृति हैं, किसीकी भी विकृति नहीं।

पुरुष अनुभयात्मक है अर्थात् किसीकी प्रकृति (कारण) भी नहीं है और न विकृति (कार्य) हो है। पुरुष कूटस्थ है अर्थात् जन्यधर्मका अनाश्रय, अविकारी और असङ्ग है। पुरुष किसीका कारण नहीं हो सकता। पुरुष नित्य है, उसकी उत्पत्ति नहीं है, इसीलिये कार्य भी नहीं हो सकता। अतएव पुरुष अनुभयात्मक है।

“मूलप्रकृति विकृत हो कर जगत्‌रूपमें परिणत हुई है। इसमें वादियोंका मतभेद देखनेमें आता है। परिणामवादी सांख्याचार्योंकी इस उक्तिको विवर्त्तवादी वैदान्तिक आचार्य स्वीकार नहीं करते। वे लोग प्रकृतिकी विकृतिसे यह जगत् सृष्ट हुआ है, इस परिणामवादको स्वीकार न कर कहते हैं, कि वह ब्रह्मका विवर्त्तमात्र है। विवर्त्त और विकारका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

किसी वस्तुकी सत्ताके साथ उसकी जो अन्यथाप्रथा (अन्यरूप ज्ञान) है वही विकार है। फिर किसी वस्तुमें विकृत वा आरोपित द्रव्यमें, (जैसे सर्पमें प्रकृति (रज्जु)-की सत्ताका न रहना जान कर उसका (आरोपित द्रव्य का सर्पका) जो ज्ञान होता है उसका नाम विवर्त्त है। इसका तात्पर्य यह, कि परिणामवादियोंके मतसे कारण ही विकृत वा अवस्थान्तरको प्राप्त हो कार्याकारमें परिणत होता है। अतएव कार्यरूप वस्तु है, कार्यज्ञान निर्वस्तुक नहीं है।

विवर्त्तवादियोंके मतसे कारण अविकृत ही रहता है, अथच उसमें वस्तुगत्या कार्य न रहने पर भी कार्यकी सिर्फ प्रतीति होती है। दुग्धकी दधिभावापत्ति आदि परिणामवादका दृष्टान्त रज्जुमें सर्पप्रतीति आदि विवर्त्तवादका दृष्टान्त है। वैदान्तिकोंका कहना है, कि जिस प्रकार सर्प नहीं रहने पर भी रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार प्रपञ्च वा जगत्‌के नहीं रहने पर भी ब्रह्ममें प्रपञ्चकी प्रतीति होती है। रज्जुमें सर्प प्रतीतिका कारण जिस प्रकार इन्द्रियदोष है, उसी प्रकार ब्रह्ममें प्रपञ्चप्रतीतिका कारण अनादि अविद्यारूप दोष है। रज्जुमें प्रतीयमान सर्प जिस प्रकार रज्जुका विवर्त्त है, ब्रह्ममें प्रतीयमाम प्रपञ्च भी उसी प्रकार ब्रह्मका विवर्त्तमात्र है। यथार्थमें प्रपञ्च नामकी कोई वस्तु ही नहीं है।

इस पर सांख्याचार्यगण कहते हैं, कि रज्जुमें सर्प प्रतीति होनेके बाद यदि खूब ध्यानसे सोचा जायं, तो मालूम पड़ेगा, कि वह सर्प नहीं, रज्जु है। अतएव रज्जुमें सर्पप्रतीति भ्रमात्मक है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु प्रपञ्चके सम्बन्धमें इस प्रकार भ्रमात्मक ज्ञान कभी भी नहीं होता। अतएव प्रपञ्चप्रतीतिको भ्रमात्मक नहीं कह सकते। इस युक्तिके अनुसार सांख्याचार्यगण विवर्त्तवादमें अश्रद्धा दिखलाते हुए परिणामवाद (विकारवाद)के

पक्षपाती हुए हैं। थोड़ा गौर कर सोचनेसे मालूम पड़ेगा, कि परिणामवादमें कारण हैं, कार्यसे भिन्न नहीं है, कारण अवस्थान्तरमात्र है। दुग्ध दधिरूपमें, स्वर्ण कुण्डलरूपमें, मिट्टी घटरूपमें और तन्तु पटरूपमें परिणत होता है। अतएव दधि, कुण्डल, घट और पट यथाक्रम दुग्ध, सुवर्ण मिट्टी और तन्तुसे वस्तुगत्या भिन्न नहीं है।

अतएव ऐसी प्रतीति होती है, कि जगत् प्रकृतिका विकार या कार्य है। विकार वा कार्यरूप जगत् सुखदुःखमोहात्मक है, इसलिये उसका कारण भी सुखदुःखमोहात्मक है, यह सहजमें जाना जाता है। (सांख्यदर्शन) विशेष विवरण प्रकृति, परिणामवाद और वेदान्तदर्शनमें देखो।

विकृतिमत् (सं० त्रि०) विकृति अस्त्यर्थे मतुप्। विकृतिविशिष्ट, जिसमें विकार हो।

विकृतोदर (सं० त्रि०) १ विकृत उदरविशिष्ट, तोंदवाला। (पु०) २ राक्षसभेद। (रामायण ३।२६।३१)

विकृषित (सं० त्रि०) १ विशेषरूपसे कर्षित अच्छी तरह जोता हुआ। २ आकृष्ट; खींचा हुआ।

विकृष्ट (सं० त्रि०) विशेषेण कृष्टः·वि-कृष-क्त। आकृष्ट, खींचा हुआ।

विकृष्टकाल (सं० पु०) विकृष्टः कालः। चिरकाल, सब दिन।

विकेट डोर (अं० पु०) एक प्रकारका छोटा चक्करदार दरवाजा। यह प्रायः कमर तक ऊंचा और ऊपरसे बिलकुल खुला हुआ होता है। यह बागों आदिके बड़े दरवाजोंके पास ही इसलिये लगाया जाता है कि आदमी तो आ जा सकें पर पशु आदि न आ सकें।

विकेश (सं० त्रि०) विगतः केशो यस्य। १ केशवर्जित, केशरहित, गंजा। २ जिसके बाल खुले हों। (पु०) ३ एक प्राचीन ऋषिका नाम। ४ पुच्छल तारा। ५ एक प्रकारका प्रेत।

विकेशी (सं० स्त्री०) विगतः केशो यस्याः ङीष्। १ केशवर्जिता, गंदी औरत। २ मही (पृथ्वी) रूप शिवकी पत्नीका नाम। ३ एक प्रकारकी राक्षसी या पूतना। ४ पटवर्त्ति, कपड़ेकी बत्ती।

विकोक (सं० पु०) वृकासुरका पुत्र। कल्किपुराणमें लिखा है, कि वृकासुरके कोक और विकोक नामक दो पुत्र थे, भगवान्ने कल्कि अवतार ले कर दोनोंका वध किया। (कल्किपुराण २१ अ०)

विकोथ (सं० पु०) १ चक्षुकी पीड़ा। कोथ देखो (त्रि०) पीड़ित।

विकोश (सं० त्रि०) विकोष देखो।

विकोष (सं० त्रि०) विगतः कोषो यस्य। १ कोषरहित, कोष या म्यानसे निकली हुई। २ आच्छादनरहित, जिसके ऊपर किसी प्रकारका आवरण या आच्छादन न हो।

विक्क (सं० पु०) विक् इति कायति शब्दायते कै क। करिशावक, हाथीका बच्चा।

विक्टोरिया— इङ्गलैण्डकी स्वनामधन्य अधीश्वरी और भारतवर्षकी सम्राज्ञी। भारतवर्षमें ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं, जो विक्टोरियाका नाम न जानता हो। इङ्गलैण्डके इतिहासमें ऐसे बहुत कम शासकोंका नाम देखा जाता है, जिनने विक्टोरियाकी तरह प्रसिद्धि लाभ की हो। दया, सहिष्णुता, न्यायपरता, उदारता आदि जिन गुणोंसे मनुष्य सुख्याति प्राप्त कर जगत्में अमर रहते हैं, उन सब गुणोंका विक्टोरियामें अभाव न था। इस कारण प्रायः सारी पृथ्वी पर सभी जातियाँ इन्हें श्रद्धाकी दृष्टिसे देखती थीं। भारतवासियोंको इनसे जो उपकार हुआ है, वह आज तक उनके हृदयपटल पर अङ्कित है। उसके लिये वे आज भी महारानीको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं।

सन् १८१६ ई०को २४ वीं मईको इनका जन्म हुआ। इनके पिता इङ्गलैण्डके राजा ३रे जार्जके पुत्र थे। इनकी माता बहुत बुद्धिमती थीं। जिससे विक्टोरिया भविष्यमें एक होनहार महिला बनें, इस ओर माताका विशेष ध्यान रहता था। उन्हींको शिक्षाके गुणसे आगे चल कर विक्टोरियाने अच्छी सुख्याति अर्जन की थी।

बचपनमें विक्टोरिया लण्डनके केन्सिंटन प्रासादमें पितामाताके साथ सादगी तौर पर रहती थी, अपना समय खेल-कूदमें विताया करती थी। वहां एक दिन जब इन्हें मालूम हुआ कि कुछ दिन बाद वे इङ्गलैण्डकी रानी होगी, तभीसे इन्होंने पढ़ना लिखना आरम्भ कर दिया। अठारह वर्षकी उमरमें ही ये विविध विद्याओंमें पारदर्शिनी हो गई थीं।

सन् १८३७ ई०की २०वीं जूनको विक्टोरियाके चाचा इङ्गलैण्डके राजा—४र्थ विलियमका देहान्त हुआ। उस समय विक्टोरिया केन्सिंटन प्रासादमें निद्रादेवीकी गोदमें सुखसे सो रही थी। बहुत सबेरे कुछ सम्भ्रान्त व्यक्ति वहां पहुंचे और उन्होंने विक्टोरियासे कहा, कि अभी वे समग्र ग्रेट ब्रिटेनकी अधीश्वरी हुईं। रानी विक्टोरियाके जीवनका यह एक स्मरणीय दिन है।

सन् १८४० ई०में अपने चचेरे भाई युवराज अलवर्टके साथ इनका विवाह हुआ। अलवर्टने प्रायः बीस वर्ष तक रानीको शासनकार्य्यमें सहायता की थी। १८६१ ई०में उनकी मृत्यु हुई।

सन् १८५८ ई०को जब भारतवर्षमें सिपाही-विद्रोहका अवसान हुआ, तब भारतका कुल शासनभार ईष्ट इण्डिया कम्पनीके हाथसे विक्टोरियाने अपने हाथमें ले लिया। यह उनके शासनकालकी एक मुख्य घटना है। इस समयसे कम्पनीके शासनका अन्त हुआ और तभीसे गवर्नर जनरल भारतवर्षके राजप्रतिनिधि हुए हैं तथा वह पद वाइसराय एण्ड गवर्नर-जेनरल (Viceroy and Governor-General) नामसे प्रसिद्ध हुआ। सन् १८५८ ई०की १ली नवम्बरको विक्टोरियाने भारतवर्षमें एक घोषणा प्रकट की। वह घोषणा भारतकी मैगनाकार्टा' (Magna charta of India) नामसे प्रसिद्ध हुई। उसका सभी भाषाओंमें अनुवाद हुआ तथा भारतवर्षके प्रत्येक जिलेमें वह जोरदार शब्दोंमें पढ़ी गई। उस घोषणाके अनुसार जिन्होंने उक्त गदरमें भाग लिया था, उन्हें छोड़ बाकी सभीको अपना अपना अधिकार लौटा दिया गया। उस घोषणामें यह भी लिखा था, कि भारतवासियोंकी जाति और धर्म पर किसी प्रकारका आक्षेप न किया जायेगा, प्राचीन रीति-नीतिमें छेड़-छाड़ न होगी तथा सभी जातिके लोगोंको योग्यतानुसार सरकारी नौकरीमें समान अधिकार रहेगा। इसी महान् उदारताके कारण वे भारतवर्ष तथा भारतवासियोंकी चिरस्मरणीय हो गई हैं।

१८७७ ई०की १ली जनवरीको दिल्लीमें एक बड़ा दरबार हुआ था। उस दरबारमें आप 'भारतकी सम्राज्ञी' घोषित हुईं। १८८७ ई०में महारानी विक्टोरियाके शासनकालका पचासवां वर्ष पूरा हुआ। इस उपलक्षमें समस्त ब्रिटिश साम्राज्यमें स्वर्णजुबली मनाई गई। भारतवर्ष भी इस महोत्सवमें शामिल होनेसे वञ्चित न रहा। इसके दश वर्ष बाद १८९७ ई०में महारानीके शासनकालका जब साठवां वर्ष पूर्ण हुआ तब बड़ी धूमधामसे 'हीरक जुबली' मनाई गई। इंगलैण्डके इतिहासमें इतने अधिक समय तक और किसीके राज्य करनेकी बात दिखाई नहीं देती।

महारानीके राजत्वका अन्तिम समय बड़ी ही अशान्तिसे बीता। एक तो पुत्रशोक, उस पर दक्षिण अफ्रिका आदि स्थानोंमें घोर विप्लव, इससे वे बहुत चिन्तित रहा करती थीं।

६४ वर्ष राज्य करनेके बाद १९०१ ई०की २२वीं जनवरीको महारानी विक्टोरिया इस धराधामको छोड़ परलोक सिधारीं। उनकी मृत्यु पर केवल इंगलैण्ड ही नहीं, समस्त ब्रिटिश साम्राज्यने शोक प्रकट किया था। Frogmore Mausoleum में ४थी फरवरीको उनकी लाश दफनाई गई।

महारानी विक्टोरियाके इस सुदीर्घ शासनकालमें ग्रेट ब्रिटेनमें बहुत परिवर्त्तन हुआ था। १८४० ई०के पहले छः पेंससे कममें कहीं भी चीठी नहीं भेजी जाती थी। किंतु उनके शासनकालमें सर रोलैण्डहिलके यत्नसे सिर्फ १ पेंसमें चीठी आने जाने लगी।

विक्टोरियाके राजसिंहासन पर बैठनेके पहले विलायतमें गरीबोंके पढ़नेका कोई खास स्कूल न था, कैदखानेकी संख्या अधिक थी, किन्तु जबसे विक्टोरिया गद्दी पर बैठी, तबसे बहुतसे स्कूल खोले गये और कैदखानोंकी संख्या बहुत घटा दी गई। उनके शासनकालमें ही विलायतमें रेलगाड़ीका प्रचार हुआ। इन्हीं सब कारणोंसे विक्टोरियाका नाम चिरस्मरणीय है।

विक्टोरिया (अं० स्त्री०) १ एक प्रकारकी घोड़ागाड़ी। यह देखनेमें प्रायः फिटिनसे मिलती जुलती, पर उससे कुछ छोटी और हलकी होती है। इसको प्रायः एक ही घोड़ा खींचता है। (पु०) २ एक छोटे ग्रहका नाम जिसका पता हैण्ड नामक एक यूरोपियनने सन् १८५०में लगाया था।

विक्रम (सं० पु०) वि-क्रम-घञ्। १ शौर्य्यातिशय, शौर्य या शक्तिकी अधिकता। पर्याय—अतिशक्तिता शौर्य, वीरत्व, पराक्रम, सामर्थ्य, शक्ति, साहस। विशेषण क्रामतीति वि-क्रम अच्। २ विष्णु। ३ कान्तिमात्र। ४ पादविक्षेप। (रामा० १।१।१०) ५ विक्रमादित्य राजा। विक्रमादित्य देखो। ६ चरण, पैर। ७ शक्ति, ताकत। ८ स्थिति। विक्रमः स्थितिः प्रतिसंक्रमः महाप्रलयः। (स्वामी) ९ प्रभवादि साठ संवत्सरोंमेंसे चौदहवां संवत्सर। इस वर्षमें सभी प्रकारके शस्य उत्पन्न होते हैं और पृथ्वी उपद्रवशून्य होती है। किन्तु लवण, मधु और गन्धद्रव्य मंहगा बिकता है। १० स्वनामख्यात कविविशेष। इन्होंने नेमिदूत नामक एक खण्डकाव्य लिखा है। ११ वत्सप्रपुत्र। (मार्कण्डेयपु० ११७।१) १२ पक्षिकी गति। १३ चलन, ढंग। १४ आक्रमण, चढ़ाई। (त्रि०) १५ श्रेष्ठ, उत्तम।

विक्रम—१ कामरूपमें प्रवाहित एक नदी। (भ०ब्रह्मख० १६।६३) २ आसामके अन्तर्गत एक प्राचीन ग्राम। (१६।४०) ३ पूर्व वङ्गका एक प्राचीन ग्राम। (१५।५३) ४ कुशद्वीपके अन्तर्गत एक पर्वत। (लिङ्गपु० ५३।७)

विक्रमक (सं० पु०) कार्त्तिकेयके एक गणका नाम।

विक्रमकेशरी (सं० पु०) १ पाटलिपुत्रके एक राजा। २ चण्डीमङ्गलवर्णित उज्जयिनीके एक राजा। ३ मृगाङ्कदत्तराजके मन्त्री। (कथासरित्)

विक्रमकेशरीरस (सं० पु०) ज्वराधिकारोक्त औषधविशेष। प्रस्तुत-प्रणाली—जारित ताम्र १ तोला, रौप्य २ तोला, कज्जली २ तोला और काठविष १ तोला, इनमेंसे पहले ताम्र और रौप्यको अच्छी तरह मर्द्दन कर एकत्र मिलावे। पीछे उसमें कज्जली और विष मिला कर नीबूके मूलकी छालके रससे २१ बार भावना दे और बादमें १ रत्तीकी गोली बनावे। इसका सेवन करनेसे सभी प्रकारके ज्वर नष्ट होते हैं।

विक्रमचरित (सं० क्ली०) विक्रमादित्यका चरितविषयक ग्रन्थभेद।

विक्रमचाँद—कुमायूंके एक राजा, हरिचाँदके पुत्र। ये प्रायः १४२३ ई०में विद्यमान थे।

विक्रमचोल—एक महापराक्रमी चोल राजा, राजराजदेवके पुत्र। अनेक ताम्रशासनों और शिलालिपियोंसे तथा 'विक्रमचोड़न उला' नामक तामिल ग्रन्थसे इन चोल-राजका परिचय मिलता है। शेषोक्त ग्रन्थमें लिखा है, कि इन्होंने चेर, पाण्ड्य, मालव, सिंहल और कोङ्कणपतिको परास्त किया था। पल्लवराज तोण्डैमान, शेङ्गिपति काड़वन्, नुड़म्बवाड़ीके अधिपति वल्लभ, अनन्तपाल, वत्सराज, वाणराज, त्रिगर्त्तराज, चेदिपति और कलिङ्गपति इनके महासमान्त गिने जाते थे। इनके प्रधान मन्त्रीका नाम था कण्णन् वा कृष्ण। विक्रमचोलने १११२ से ११२७ ई० तक चोलराज्यका शासन किया। आप शैव थे।

२ एक दूसरे चोल राजा। ये विक्रमरुद्र नामसे भी परिचित थे। इनके पिताका नाम राजपरैण्डु था। आप १०५० शकमें कोनमण्डलका शासन करते थे।

३ पूर्वचालुक्यवंशीय एक राजा।

विक्रमण (सं० क्ली०) वि-क्रम ल्युट्। विक्षेप, कदम रखना।

विक्रमतुङ्ग (सं० पु०) पाटलीपुत्रके एक राजा। (कथासरित्)

विक्रमदेव (सं० पु०) चन्द्रगुप्तका दूसरा नाम।

विक्रमपट्टन (सं० क्ली०) 'विक्रमस्य पट्टनं'। उज्जयिनी नगरी।

विक्रमपति (सं० पु०) विक्रमादित्य।

विक्रमपाण्ड्य—पाण्ड्यवंशीय एक राजा। मदुरामें इनकी राजधानी थी। वीरपाण्ड्यके मारे जाने पर कुलोत्तुङ्ग चोलकी सहायतासे आप मदुराके सिंहासन पर बैठे थे। यह १२वीं सदीके मध्यभागकी घटना है।

विक्रमपुर (सं० क्ली०) विक्रमस्य पुरं। विक्रमपुरी, उज्जयिनी।

विक्रमपुर—बङ्गाल-ढाकाके जिलेका एक बड़ा परगना। ढाकानगरसे १२ मील दक्षिणसे यह परगना शुरू हुआ है। इसके पूर्व इच्छामती और मेघना नदी, इसके पश्चिम बूढ़ीगङ्गा; उत्तर जलालपुर परगना तथा इसके दक्षिणमें कीर्त्तिनाशा नदी प्रवाहित हो रही है। ढाका जिलेमें यह परगना बड़ा ही उपजाऊ और शस्यशाली है। यहां अधिक परिमाणमें धान, ऊख, कपास, पान, सुपारी,

निम्बू, तरह तरहकी शाक सब्जी और बहुत तरहके फल उत्पन्न होते हैं। परगनेके पूर्व अंशमें भिटा या डोह है, इस अंशमें बहुत उद्यान हैं। बीच-बीचमें सरोवर और कम चौड़ी बिलादि दिखाई देती हैं। पश्चिम अंश नीचा है। यहां ६ कोस तक जमीन नलखागढ़के वनसे परिपूर्ण है और सब समय जलसे डूबा रहता है।

ढाका जिलेमें विक्रमपुर परगनेमें ही घन बस्तियां और जनसंख्या अधिक हैं। इस संख्यामें अधिकांश हिन्दू हैं। हिन्दुओंमें ब्राह्मण ही अधिक हैं।

दिग्विजयप्रकाश नामक एक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थमें लिखा है—

ढाकेश्वरीके पूर्व ८ कोस दूरी पर और इच्छामती नदीके किनारे सुवर्णग्राम अवस्थित है। इदिलपुरके उत्तर, ब्रह्मपुत्रके पश्चिम, गङ्गाके दक्षिण और पद्मानदीके पूर्व विक्रमपुर अवस्थित है। विक्रम नामक राजाकी यहां राजधानी होनेसे इस स्थानका नाम विक्रमपुर हुआ। पूर्वकालमें अर्द्धोदय योगके समय राजाने कल्पतरु हो कर इच्छामती नदीके किनारे स्वर्णदान किया था। इस समय उन्होंने ब्राह्मणोंको और दीनदरिद्रोंको बहुत धनरत्न दान दिया था। विक्रमपुरमें बहुतेरे विद्वानोंका वास है। यह स्थान परतालराजके प्रमोदस्थानके नामसे विख्यात है। विक्रमपुर बहुत प्राचीन स्थान है। ऐसा जाना जाता है, कि उज्जयिनीके इतिहासप्रसिद्ध सम्राट् विक्रमादित्यने यहां आ कर अपने नामको चिरजीवी करनेके लिये यह नगर बसाया था। वही आदि विक्रमपुर कहलाता है। विक्रमादित्य नामक और किसी अन्य राजा द्वारा यह नगर बसाया गया होगा; किन्तु उज्जयिनीके राजा विक्रमादित्य द्वारा पूर्व बंगालमें आ कर नगरका बसाना युक्तिसंगत बोध नहीं होता। फिर भी, विक्रमपुर नाम तो अवश्य ही प्राचीन है। पालवंशीय राजाओंके समय यह बहुत अच्छा नगर गिना जाता था। उसके पहलेका कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ, शिलालिपि या ताम्रलिपिमें इसका उल्लेख नहीं। पालोंके अधिकारके समय विक्रमपुर नगरमें सुप्रसिद्ध बौद्ध तान्त्रिक दीपङ्कर श्रीज्ञान अतीशने जन्मग्रहण किया था। कुछ लोग इस प्राचीन स्थानको रामपाल और कुछ लोग साभार कहते हैं। किन्तु प्रथम स्थान विक्रमपुर परगनेमें रहने पर भी वह आदिविक्रमपुर नगर कौन है। इसका कोई ठीक निराकरण नहीं कर सकता। इच्छामती नदीसे तीन मील दूरी पर और फिरङ्गीबाजारके पश्चिम सुप्राचीन रामपालका ध्वंसावशेष मौजूद है। पाल और सेनवंशीय राजाओंके अधिकारके समय समस्त पूर्व-बङ्गाल और उत्तर-बङ्गालके अधिकांश स्थान विक्रमपुरके अन्तर्गत थे। सेनवंशीय महाराज दनौजामाधवके समय विक्रमपुरकी प्राचीन राजधानी चन्द्रद्वीपमें हटाई गई। इस समय भी चन्द्रद्वीपकी दक्षिणी सीमा तक प्रवाहित समुद्र तकका स्थान विक्रमपुरमें आ गया था।

रामपालके बल्लालभवनका विशाल ध्वंसावशेष कोई ३००० वर्गफीट चौड़ी भूमिमें पड़ा हुआ है। पूर्वतन राजप्रासादका कुछ भी अंश नहीं; केवल ऊंचा टीला है और उसकी बगलमें प्रायः २०० फीट विस्तृत ऊंचा मैदान है। इसको पार कर एक रास्ता आया है। इस विध्वस्त बल्लाल-भवनमें किसी मकान आदिका चिह्न न होने पर भी इसके चारों ओर बहुत दूर तक ईंटोंकी ढेर और प्राचीर या चहारदीवारी दीख पड़ती है। यहांसे बहुत ईंटें ले कर निकटके कितने ही लोगोंने मकान बना लिये हैं।

इस ध्वंसावशेषके निकट ही अग्निकुण्ड नामका एक वृहत् कुण्ड है। कहा जाता है, कि पहले वैद्यराज बल्लालके आत्मीय स्वजनोंने और बादको स्वयं उन्होंने यहां ही अपना देह विसर्जन की थी।

इस ध्वंसावशेषमें 'मीठा पोखर' नामक एक सरोवर है। सुना जाता है, कि इसी सरोवरमें राजाबल्लाल और उनके आत्मीय स्वजनोंका देहावशेष रखा गया था।

इसके एक कोस दूर पर बाबा आदम पीरका दरगाह और मसजिद है। कहते हैं, कि वैद्यराज बल्लालके साथ इसे पीरका युद्ध हुआ था। बल्लालकी मृत्युके बाद यह पीर ही पहले पहल मुसलमान काजीके रूपमें बल्लालभवनका शासन करता था। बल्लालभवनका 'मीठापोखर' सरोवर जैसा हिन्दुओंके लिये पवित्र है, वैसे ही वहांके मुसलमानोंके लिये बाबा आदमका दरगाह और मसजिद भी पाक है। रामपाल देखो।

रामपालके सिवा इस परगनेमें केदारपुर नामके स्थानमें द्वादश भौमिकोंके अन्यतम चांदराय और केदाररायका सुवृहत् ध्वंसावशेष गङ्गा और मेघनाके संगमके निकटका मठ देखनेकी चीज़ है।

फिरङ्गीबाजार इच्छामती नदोके किनारे पर वसा हुआ है। नवाब सायस्ता खाँके जमानेमें सन् १६६३ ई०में कई पुर्त्तगाली फिरङ्गी आराकानी राजाको त्याग कर मोगलसेनापति हुसेनबेगका पक्ष ले यहां रहने लगे। इसीसे यह स्थान फिरङ्गी बाजार नामसे प्रसिद्ध है। एक समय यह स्थान कस्बाके रूपमें था, किन्तु इस समय एक सामान्य छोटा गांव सा दिखाई देता है।

फिरङ्गीबाजारके प्रायः तीन मील दक्षिणमें इच्छामतीके किनारे और एक प्राचीन स्थान है। यहां मीरजुमलाने एक चौकोन किला बनवाया था। उस प्राचीन दुर्गके भग्नावशेषमें कितनी ही ईंटें और घाट हैं। पहले मोगलोंके जमानेमें यहांके घाटमें शुल्क या कर वसूल किया जाता था। इस समय कारके महीनेमें यहां एक मेला लगता है। यह १५ दिनों तक ठहरता है। इस मेलेमें पूर्वबङ्गालके बहुतेरे यात्री आते हैं। इसमें पूर्व-वङ्गीय उत्पन्न वस्तुओंका क्रयविक्रय होता है।

विक्रमवाहु (सं० पु०) सिंहलके एक राजा।

विक्रमराज (सं० पु०) राजा विक्रमादित्य।

विक्रमशील (विक्रमशिला)—पालराजाओंके समय मगधकी दूसरो राजधानो। आज कल इसे शिलाव कहते हैं। यह वर्त्तमान विहार प्रदेशके मध्य विहार महकमेसे प्रायः ३ कोस दूर पर राजगृह जानेके रास्ते पर अवस्थित है। बौद्ध पालराजाओंके समय यह स्थान बहुत समृद्धिशालो था। अनेकों मठ और सङ्घाराम शोभा दे रहे थे। पर आज उनका नाम निशान तक भी नहीं है। केवल दो एक प्राचीन बौद्धमूर्त्तियाँ उस क्षीण स्मृतिका परिचय दे रही हैं। यहांका राजा आज भी विहार भरमें प्रसिद्ध है।

धर्मपालके वंशमें विक्रमशील नामक एक वीरपुत्रने जन्म लिया। कुछ लोग कहते हैं, कि उन्हींके नामानुसार विक्रमशील राजधानीका नाम पड़ा होगा। इन्हीं विक्रमशीलके पुत्र युवराज हारवर्षके आश्रममें रह कर प्रसिद्धकवि गौड़ाभिनन्दने रामचरित आदि काव्योंकी रचना की।

विक्रमसाही—ग्वालियरके तोमरवंशीय एक राजा, मानसाहीके पुत्र। आप १६वीं सदीमें विद्यमान थे।

ग्वालियर देखो।

विक्रमसिन्द—सिन्दवंशीय येलदुर्गके एक सामन्त राजा, २य चामुण्डराजके पुत्र। ११०२ शकमें आप कलचुरिपति सङ्गमके अधीन विसुकाड़ प्रदेशका शासन करते थे।

विक्रमसिंह—एक पराक्रान्त कच्छपघातवंशीय राजा, विजयपालके पुत्र। अद्वितीय जैनपण्डित शान्तिषेणके पुत्र विजयकोर्त्ति इनके सभा-पण्डित थे। दुवकुण्डसे ११४५ संवत्में उत्कीर्ण इनकी शिलालिपि पाई गई है।

विक्रमसिंह—वप्परावंशीय मेवाड़के एक प्रसिद्ध राजा। समरसिंहके पूर्वपुरुष। समरसिंह देखो।

विक्रमादित्य (सं० पु०) मोदकविशेष। प्रस्तुत-प्रणाली—पहले २० गुन्दफलको घृतमें पाक कर पीछे उन फलोंको निकाल कर बीस पल खाँड़में डाल दे। इसके बाद तालमूली, तुरंगी, सोंठ प्रत्येक ४ तोला, जातीफल, कक्कोल, लवंग, प्रत्येक २ तोला, मालता, कुलिञ्ज, कबाब, करभत्वक प्रत्येक १ तोला, इन्हें एकत्र कर मोदक बनावे। प्रति दिन यदि १ तोला मोदक और एक घृतपक्व आमलकी सेवन करे, तो धातुक्षीणता, अग्निमान्द्य, सभी प्रकारके नेत्ररोग, कास, श्वास, कामला और बीस प्रकारके प्रमेह अति शीघ्र नष्ट होते हैं।

विक्रमादित्य (सं० पु०) स्वनामप्रसिद्ध नरपति। ये विक्रमार्क नामसे भी विख्यात हैं। इस नामके बहुसंख्यक नृपति विभिन्न समयोंमें उत्पन्न हो कर राज्यशासन कर गये हैं। उनमें संवत्सरप्रवर्त्तक विक्रमादित्यकी ही बात पहले कहेंगे। इन नृपतिके सम्बन्धमें प्रवाद या किम्वदन्तियोंके आधार पर कितने ही लेखकोंने कितनी ही बातें लिखी हैं, पहले हम उन्हींकी आलोचना करते हैं।

कालिदासके ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थमें लिखा है—

"श्रीविक्रमार्क श्रुतिस्मृति विचारविशारद पण्डितोंसे समाकीर्ण एक सौ अस्सीसे अधिक देशोंसे समन्वित भारतवर्षके अन्तर्गत मालव देशके राजा हैं। महावाग्मी वररुचि, अंशुदत्त मणि, शङ्कु, जीगोषापरायण त्रिलोचनहरि

घटकर्पर और अमरसिंह आदि सत्यप्रिय बराहमिहिर, श्रुतसेन, वादरायण, मणित्थ, कुमारसिंह आदि महा महा पण्डित लोग और सिवा इनके धन्वन्तरि, क्षपणक, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास आदि कवि महाराज विक्रमार्क नृपतिकी सभामें विराजमान थे। इन १६ देवज्ञ सत्य पण्डितोंके सिवा महाराज और भी १०८ नरपतियोंसे समावृत हो कर सभामण्डपमें विराजमान होते थे। इन लोगोंके सिवा १६ ज्योतिषी और १६ आयुर्वेदविशारद चिकित्साकर्माभिज्ञ भिषक् प्रवर सर्वदा इनके समीप बैठते थे। भट्ट (भाट) और चड्डिन (चेड़ादार) भी अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त हो सभाके समीप खड़े रहते थे। करोड़ों सिपाही सभाको घेर सभा-मण्डलीकी रक्षा करते थे।

इन दिग्विजयी राजा विक्रमार्कके किसी स्थानमें यात्रा करते समय बहत्तर कोस तक सैन्य खड़ी रहती थीं। इनमें तीन करोड़ पैदल, दश करोड़ सवार (हाथी, घोड़े आदिके सवार), चौतीस हजार तीन सौ हाथी और चार लाख नावें इनके साथ साथ रहती थीं। ये दिग्विजय कर जब लौटे थे, तब लोग इनको अत्युन्नत द्राविड़ वृक्षका एकमात्र परशु, लाटाटवीकी दावाग्नि बलवद्वङ्ग-भुजङ्गराजके गरुड़, गौड़समुद्रके अगस्त्य, गर्जित गुर्ज्जर-राजकरिके हरि (सिंह), धारान्धकारके अर्यमा (सूर्य्य), कम्बोजाम्बुजके चन्द्रमा समझे थे अर्थात् परशु, दवाग्नि, गरुड़, अगस्त्य, सिंह, सूर्य और चन्द्र ये जैसे क्रमसे वृक्ष, वन, भुजङ्ग, समुद्र, हस्ती, अन्धकार और पद्मके ध्वंसके प्रति नियत कारण होते हैं। उन्होंने भी वैसे ही द्राविड़, लाट, वङ्ग, गौड़, गुर्ज्जर, धारानगरी, कम्बोज आदि इन देशोंका ध्वंस-साधन किया।

इससे राजा विक्रमार्कके शौर्य्यवीर्यगुणका ही विकाश होता है। इनमें केवल ये गुण ही नहीं थे, वरं इन्द्रकी तरह अखण्डप्रताप गुणसे, समुद्रकी तरह गाम्भीर्य्य गुणसे, कल्पतरुकी तरह दानके गुणसे, कामदेवकी तरह सौन्दर्य्य गुणसे, देवताओंके शिष्टशान्त गुणसे और दुष्टका दमन, शिष्टताका पालन आदि सभी गुणोंसे गुणवान् थे। उनका प्रधान निदर्शन यह है, कि अत्युच्च, अति दुर्गम, असह्य पर्वतशिखर पर चढ़ कर वहांके अधिपतियोंको जीत लेते थे। इस पर यदि वे अवनत मस्तक हो कर उनकी अधीनता स्वीकार करते थे, तो ये अनायास ही उनको उनका राज्य लौटा देते थे। सिवा इसके मणिमुक्ता, काञ्चन, गो, अश्व, गज आदिका दान उनके नित्यके कार्योंमें परिगणित था।

महापुरी उज्जयिनी इन विक्रमसहिष्णु महाराज विक्रमार्ककी राजधानी थी जो शकेश्वर रूमदेशाधिपतिको तुमुल संग्राममें पछाड़ उसे कैद कर अपनी राजधानीमें ले आये थे, फिर इज्जतके साथ उन्होंने उसको छोड़ भी दिया था; जिन्होंने संग्राममें पञ्चनवप्रमाण शकोंको पराजित कर कलियुगमें पृथ्वीमें शकाब्दका प्रवर्त्तन किया, जिनके राजत्वकालमें अवन्तिकाकी प्रजामण्डली सुख-समृद्धिकी अन्तिम सीमा तक पहुंच चुकी थी, एवं जिनके समयमें नियत वेदविहित कर्मोंका अनुष्ठान होता था, शरणापन्न जीवोंको मोक्षप्रदायिनी महाकाल महेशयोगिनी उन अवनिपति विक्रमार्ककी जय करें। (ज्योतिर्वि०)

ज्योतिविदाभरणमें जिन विक्रमादित्यका कथा वर्णित है, वे ही विक्रमसंवत्सरके प्रवर्त्तक प्रसिद्ध हैं। वेतालपचीसी और सिंहासनबतीसीमें उनके सम्बन्धमें बहुतेरी अलौकिक कथायें लिखी हैं, किंतु सब कथाएं आख्योपन्यास (चहारदरवेश)की तरह चित्ताकर्षक होने पर भी उनके मूलमें ऐतिहासिक सत्यताका अंश नहीं प्रतीत होता। ज्योतिर्विदाभरणमें विक्रमादित्यका जो उज्ज्वल विशेषण दिखाई देता है, उक्त उपाख्यान ग्रन्थोंका सार कहें, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। वेतालपचीसी और सिंहासनबतीसीका भारतवर्षमें इतना प्रचार अधिक है, कि यहांका बच्चा भी विक्रमादित्यके नामसे परिचित है।

वेतालपचीसी और सिंहासनबतीसी* कथाओंका

---

* सिहासनबतीसी या विक्रमचरित किसीके मतसे वररुचि, किसीके मतसे सिद्धसेन दिवाकर, किसीके मतसे कालिदास, किसीके मतसे रामचन्द्र शिव अथवा क्षेमङ्कर मुनि द्वारा विरचित है। इसी तरह मूल वेतालपचीसी पुस्तक भी किसीके मतसे क्षेमेन्द्र, किसीके मतसे जम्भलदत्त, किसीके मतसे वल्लभ, किसीके मतसे शिवदास और किसीके मतसे कथासार-सागरके रचयिता सोमदेव

भारतकी प्रायः सभी देशी भाषाओंमें अनुवाद हो चुका है। किन्तु आलोचना करने पर ये ऐतिहासिक ग्रन्थ कोई सात आठ सौ वर्षसे अधिक पुराने न होंगे। इसी तरह ज्योतिर्विदाभरणकार कालिदासने अपनेको विक्रमार्कके समसामयिक होनेका परिचय देनेकी चेष्टा की है सही; किन्तु मालूम हुआ है, कि यह ग्रन्थ सन् १२वीं सदीकी रचना है। सुतरां इन आधुनिक ग्रन्थों पर निर्भर करके ही विक्रमादित्यका इतिहास लिखना समीचीन नहीं होगा।

ज्योतिर्विदाभरणकारने जो कई उज्ज्वल नक्षत्रोंका परिचय दिया है, उन महात्माओंके सम्बन्धमें मेरा कहना है, कि वे विक्रमादित्यके समसामयिक ही थे और इसमें भी सन्देह है, कि वे लोग परस्पर एक समयके थे या नहीं। बुद्धगयासे बौद्ध अमरदेवकी एक शिलालिपि आविष्कृत हुई थी। उस शिलालिपिके पढ़नेवाले विलकिन्स साहबके मतसे यह १२वीं शताब्दीकी लिपि है इसमें कालिदासके सभासद और नवरत्नका भी उल्लेख है। यह भी हो सकता है, कि सम्भवतः इस तरहकी किसी लिपि और प्रवादसे ही पिछले कालमें विक्रमादित्यकी सभा और उनके नवरत्नकी बात प्रचारित हुई होगी।

मालवमें प्रवाद है, कि राजा विक्रमादित्यने पितासे राज्याधिकार नहीं पाया था। उनके वैमात्रेय भ्राता अर्थात् सौतेले भाई भर्तृहरि ही मालवका शासन करते थे। किसी समय भर्तृहरिके साथ विक्रमादित्यका मनोमालिन्य हुआ, इससे विक्रमादित्य अत्यन्त क्षुण्ण हो मालव छोड़ कर चले गये और हीन दीन भेषमें गुजरात और मालवाके नाना स्थानोंमें परिभ्रमण कर कुछ दिनोंके बाद मालवमें ही लौट आये। इधर भर्तृहरि स्वपत्नीकी दुश्चरित्रतासे विरक्त हो कर राजभोग त्याग कर जङ्गलमें चले गये। उन्होंने बाबा गोरखनाथजीके शिष्य हो कर योगमें मन लगाया ऐसी अवस्थामें विक्रमादित्यको राज्यका भार लेना पड़ा। राजा होनेके बाद विक्रमादित्यने भारतवर्षके कितने ही प्रदेशोंको जीत कर अपना राज्य-विस्तार किया।

उद्धृत ग्रन्थ-निचय और प्रवादसे हमें जिन कवियों तथा पण्डितोंका परिचय मिलता है, वे विभिन्न समयके मालूम होते हैं। वररुचि भर्तृहरि आदि शब्द देखो।

पाश्चात्य पण्डित लोग कालिदासके बनाये रघुवंशमें 'हूण' शब्द देख कर अनुमान करते हैं, कि हूणके अधिकारकालके बादके ये कालिदास हैं। उनके मतसे गुप्तसम्राट् स्कन्दगुप्तके समय खृष्टीय ५वीं शताब्दीमें हूंणोंने भारत पर आक्रमण किया था। इसी तरह विक्रमादित्यके सम्बन्धमें भी वे कहते हैं, कि ज्योतिर्विदाभरणके मतसे या संवत्के प्रारम्भानुसार विक्रमादित्य खृष्टपूर्व प्रथम शताब्दीके मनुष्य कहे जाते हैं सही, किन्तु हम लोग ऐसा स्वीकार करनेमें असमर्थ हैं। क्योंकि प्रथम अब्दके समकालीनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। और तो क्या, जो विक्रमसंवत् प्रचलित है, वह खृष्टीय ६ठी शताब्दी तक इस नामसे प्रचलित नहीं था। इस समयके पूर्व यह अब्द 'मालवगणस्थित्यब्द' कह कर ही प्रथित था। और तो क्या, यह अब्द इस समय १९८७ तक प्रचलित रहने पर भी ७१४ विक्रमसंवतके (६५७ खृष्टाब्द पहले) विक्रमाब्दाङ्कित कोई शिलालिपि, ताम्रशासन या प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिले हैं। चीनपरिव्राजक हयुयान सियाङ्गके भारतभ्रमण-कालमें शिलादित्य मालवका राज्य करते थे। इनके पिताका नाम था—

द्वारा रचित है। मूल बात यह है, कि सिंहासनबत्तीसी और बेतालपचीसी इन दोनों पुस्तकोंके रचयिताके नाम तथा तारीखका ठीक पता नहीं है। किन्तु बेतालपचीसीकी भाषाको देखने या इस बातका कई पुस्तकोंमें उल्लेख रहनेसे यह अनुमान होता है, कि यह रचनाकौशल सोमदेवका ही होगा। क्योंकि उनकी बनाई पुस्तक कथासरित्सागरकी भाषासे इस बेतालपचीसीकी भाषा बहुत कुछ मिलती जुलती है। इससे यह अनुमान युक्तियुक्त नहीं कहा जायेगा। यह सोमदेव भट्ट सन् १२वीं शताब्दीमें काश्मीरमें उत्पन्न हुए थे। ज्योतिर्विदाभरणके रचयिता कालिदासके भी इसी समयके होनेका अनुमान किया जाता है। उन्होंने अपने ग्रन्थका आरम्भ काल कलिशताब्द ३०६८ या २४ विक्रमसंवत् लिखने पर उनके ग्रन्थमें "शकः शराम्भोधियुगो (४४५) नितो हृतो मानं" इत्यादि वचनोंसे ४४५ शक और 'मत्वा' वराहमिहिरादि मतैः' इत्यादि उक्ति द्वारा भी उनका जाल पकड़ा गया है। बराहमिहिर देखो।

हर्षविक्रमादित्य। बहुतेरे मनुष्योंका विश्वास है, कि इन विक्रमादित्यने अपने राज्याभिषेकोत्सबके समय अपने ६सौ वर्ष पहलेके प्रचलित मालवके 'विक्रमाब्द' नामसे चलाया होगा। इन विक्रमादित्यके समयमें मालवमें यावतीय विद्याविद् मनीषियोंके आविर्भावसे उनका राजत्वकाल भारतमें स्वर्णयुग कहा जाता था।*

पाश्चात्य पण्डितोंने कालिदास या विक्रमादित्यके सम्बन्धमें ऊपरमें जैसा मत प्रकाशित किया है, वह समीचीन नहीं समझमें आता। रघुवंशमें हूण शब्दका प्रयोग देख कर उनको ५वीं या ६ठीं शताब्दीका मनुष्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि खृष्टपूर्व १ ली शताब्दीमें प्रचलित ललितविस्तार नामक संस्कृत बौद्धग्रन्थमें 'हूण' शब्दका प्रयोग देखा जाता है। इससे स्वीकार करना होगा, कि ईशाके पूर्व १ शताब्दीमें हूण जाति भारतीयोंसे छिपी न थी। इस समय तक आविष्कृत खृष्टीय ६ठीं शताब्दीके पूर्ववर्त्ती किसी शिलालिपिमें विक्रमार्कका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इससे और पूर्ववर्त्ती लिपिमें मालवके उल्लेख रहनेसे फिर इसके सिवा अन्य कोई मजबूत प्रमाण न मिलनेसे हम इनको खृष्टीय ६ठीं शताब्दीका मनुष्य कहनेमें असमर्थ हैं।

कालिदास देखो।

भारतवर्षमें नाना समयमें बहुतेरे विक्रमादित्य राज्य कर गये हैं और उनमें प्रत्येककी राजसभामें प्रसिद्ध प्रसिद्ध सैकड़ो कवि पण्डित अधिष्ठित हो कर भारतवर्षको उज्ज्वल कर गये हैं। इन सब विक्रमादित्योंका परिचय नीचे देते हैं।

१ विक्रमादित्य।

स्कन्दपुराणके कुमारिकाखण्डमें लिखा है, कि कलियुगके ३००० वर्ष बीत जाने पर यह विक्रमादित्य आविर्भूत हुए थे। इस समय ५०३० वर्ष कलिका बीत गया है। ऐसे स्थलमें अबसे २०३० वर्ष पहले अर्थात्—प्रायः १०० वर्ष ई०के पूर्व पहले विक्रमादित्यका जन्म मानना होगा। खृष्टीय १०म शताब्दीके प्रसिद्ध मुसलमान ऐतिहासिक अलबेरुनीने लिखा है, कि "विक्रमादित्यने शकराजके विरुद्ध युद्धयात्रा की। उनके भयसे शकाधिप पहले तो भाग गये; किन्तु अन्तमें वह मुलतान और लोनीके दुर्गके बीच करूर नामक स्थानमें उनके द्वारा पकड़े और मार डाले गये।"

जिस स्थानमें शकाधिप विक्रमादित्यके द्वारा मार डाले गये, वह देश या जनपद पाणिनिके अष्टाध्यायी और सिकन्दरके समयमें मालव या माली नामसे प्रसिद्ध था। इस स्थानमें विक्रमादित्यके अभ्युदयके बहुत पहलेसे ही शकाधिपत्य चला आता था। खृष्टीय ४थी शताब्दीमें यहांसे शक प्रभाव मिट गया। (शक, मुलतान, शकद्वीपी आदि शब्द देखना चाहिये।)

आदि मालव या मुलतानसे ४थी शताब्दीके पहलेसे ही जब शकाधिकार लुप्त हुआ तब विक्रमादित्य उसके बादके समयके कभी नहीं कहे जायेंगे। उन्होंने शकोंको जीत कर मालवमें जो अब्द जारी किया वही मालवगणाब्द या विक्रमसंवत् नामसे मशहूर हुआ। शकाधिपतिके पराजय और संहार करनेसे ही विक्रमादित्य 'शकारि' उपाधिसे विभूषित हुए थे। सभी संस्कृत प्राचीन कोषोंमें और भारतके सर्वत्र शकारि कहनेसे विक्रमादित्यका ही बोध होता है।

उक्त मालवके अधिवासी माकीदन बीर सिकन्दरके अभ्युदयकालमें प्रबल पराक्रान्त गिने जाते थे। सिकन्दर और उनके अनुवर्त्ती यवन और शक राजाओंके पुनः पुनः आक्रमणसे उक्त स्थानके योद्धा और अधिवासी कुछ हीनबल हो गये थे। प्रवादके अनुसार मालूम होता है, कि राजा विक्रमादित्यने उत्तराधिकारसूत्रमें पितृराज्य लाभ नहीं किया। उन्होंने अपने भाग्यबलसे तथा प्रतिभाके बलसे मालवके अधिवासियोंको एकत्र कर सबोंको हराया था। उन्हींके उत्साहसे मालवके अधिवासी अवन्ती देशमें बस गये। अवन्तिकामें मालव जातिके आ कर बस जाने पर ही अवन्तिकाका नाम मालव हो गया है और पञ्चनद अर्थात् पञ्जाबके अन्तर्गतका आदिमालव जनपद भी मानो विलुप्त हुआ। अवन्तीकी राजधानी उज्जयिनीमें विक्रमादित्यका अभिषेक और मालवजातिकी

---

* Malcolm's History of Malwa, p. 26.

प्रतिष्ठाके समयमें 'विक्रमसंवत्' या 'मालवगणाब्द' या मालवेश संवत् प्रचलित हुआ* ।

प्रबन्धचिन्तामणि, हरिभद्रकी आवश्यकटीका और जैनोंके तपागच्छपट्टावलीसे जाना जाता है, कि वीर निर्वाणके ४६७ वर्ष बाद पादलिप्ताचार्य, सिद्धिसेन-दिवाकर और वीर-निर्वाणके ४७० वर्ष बाद (ईसाके ५७ वर्ष पहले) संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य आविर्भूत हुए थे। उन्होंने उज्जयिनीके शकराजको हटा कर सिंहासनारोहण किया ।

जैनोंकी कालकाचार्य-कथामें लिखा है, कि शकवंश भी जैन-धर्मका उत्साहदाता और अनुरागी था। उनके समयमें ही मालवमें विक्रमादित्यका अभ्युदय हुआ था। उन्होंने शकवंशका ध्वंस किया। उनका राज्याधिकार समृद्धिसे पूर्ण और गौरवजनक हुआ। उन्होंने अपने नामसे संवत् प्रचलन और सारे राज्यके अधिवासियोंको ऋणसे मुक्त किया। कुछ दिनोंके बाद ही फिर शक राजा देख पड़े। उन्होंने विक्रमादित्यके वंशका ध्वंस किया था। नवविक्रमादित्यके १३५ वर्ष बीत जाने पर उसके बदलेमें उस शकराजने शकाब्द-प्रवर्त्तन किया। जैनाचार्य सुन्दरोपाध्याय द्वारा रचित कल्पसूत्र-टीकामें देखा जाता है, कि राजा विक्रमादित्य शत्रुंजय देखनेके लिये गये, यहां सिद्धिसेन दिवाकरने उनको जैनधर्ममें दीक्षित किया। सिद्धिसेन*के उपदेशसे विक्रमादित्यने संवत्सरका प्रवर्त्तन किया। इससे पहले वीर-संवत्सरका व्यवहार ही था।

यह मालूम नहीं होता, कि विक्रमादित्यने कितने दिनों तक राज्य किया। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने बहुत दिनों तक राज्यशासन किया था और इसलिये उनको संवत्सर-प्रवर्त्तन तथा मालवमें कई समाज-संस्कारोंकी सुविधायें प्राप्त हुई थी; किन्तु यह नहीं मालूम होता, कि दीर्घकाल तक शासन करनेके बाद उनके सिंहासन पर उनका कोई वंशधर बैठा था या नहीं, क्योंकि इनके एक वर्षमें ही उज्जयिनीका राजासन पर शकोंका कब्जा हो गया था।

शकराजवंश और शकाब्द देखो।

विक्रमादित्यके वंशलोप और शकाधिकार हो जाने पर मालवाके अधिवासी अपने जातीय संवत्सरको बहुत दिनों तक चला नहीं सके। ईसाकी चौथी शताब्दीके आरम्भ तक शकाधिकार पूर्ण रूपसे विद्यमान था।

२ विक्रमादित्य।

चीनपरिव्राजक ह्यूयान्त सियाङ्ग भारत-भ्रमण-कालमें लिख गया है, कि बुद्ध-निर्वाणके सहस्र वर्षमें श्रावन्ती-राज्यमें विक्रमादित्य नामका एक बड़ा दयालु राजा था। वह नित्य गरीब और असहाय लोगोंको ५ लाख सोनेका सिक्का बांटता था। उसके अत्यधिक दानसे खजाना खाली होनेके भयसे कोषाध्यक्षने एक दिन राजासे कहा, कि राजकोष शून्य हो जाने पर उसमें धन डालनेके लिये जो अतिरिक्त कर लगाया जायेगा, उस करभारसे दरिद्र प्रजा कष्ट पायेगी। दानके लिये आपकी प्रशंसा होगी सही, किन्तु आप अपने मन्त्रियोंकी दृष्टिमें गिर जायेंगे। राजा विक्रमादित्यने कोषाध्यक्षकी बात पर ध्यान नहीं दिया और

---

* मालवसे आविष्कृत विभिन्न समयकी शिलालिपियोंमें 'मालव काल' 'मालवेश संवत्सर' और 'मालवगणस्थित्यब्द' इत्यादि नाम पाये जाते हैं। जैसेः—

(१) मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां ऋतौ सेव्यघनस्वने॥"
(बन्धुवर्म्माकी दशपुरलिपि)

=४९३ मालवाब्द=४३६ ई० । (Fleet's Gupta Kings, page 88.)

(२) "संवत्सरशतैर्यातैः सपञ्चनवत्यागलैः।
सप्ततिर्मालवेशानां मन्दिरं धुर्ज्जटेः कृतम्॥"
कनस्वलिपि। (Indian Antiquary, Vol XIII p. 162)

(३) मालवकालाच्छरदां षट्त्रिंशतसंयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु—(Archaeological Survey of India, Vol, X p. 33,)

* "सिद्धसेनेन विक्रमादित्य नामा राजा प्रतिबोधितः…… श्रीसूरि सान्निध्याद्विक्रमादित्या राजा संवत्सरं प्रवर्त्तयामास पूर्वस्तु श्री वीरसंवत्सरमासीत।" (कल्पसूत्रटीका)

दानका काम वैसे ही जारी रखा। इसके बाद मनोहिंत नामके एक बौद्धाचार्यने अपने हजामको एक लाख स्वर्ण मुद्रा दान की है। इस दानके विषयमें विक्रमादित्यको मालूम हुआ, कि ईर्ष्यावश ही बौद्धाचार्यने ऐसा किया है, इस पर उन्होंने नाना तरहके छलका आश्रय ले कर उसको बहुत तरहसे तङ्ग किया। उससे मनोहिंतके मनमें बड़ी चोट लगी और इसके लिये ही उनकी मृत्यु हुई। इस घटनाके कुछ ही दिन बाद विक्रमादित्यने अपना राज्य खो दिया। इसके बाद जो राजा हुआ, उसकी सभामें मनोहिंतके शिष्य वसुबन्धु विशेषरूपसे सम्मानित हुए थे।

अध्यापक मोक्षमूलरने उक्त विक्रमादित्यको उज्जयिनोपति शिलादित्य प्रतापशीलके पूर्ववर्त्ती विक्रमादित्यका होना स्वीकार किया है। फार्गुसन और मोक्षमूलरके मतसे सन् ५३० ई०में उक्त विक्रमादित्यका राज्यावसान हुआ था*। किन्तु यह मत हम समीचीन नहीं समझते। चीन-बौद्धशास्त्र-मतसे ईसासे ८५० वर्ष पहले बुद्धका निर्वाण हुआ। सुतरां चीनपरिव्राजकके इस मतसे श्रावस्तीराज विक्रमादित्यको ईसाकी दूसरी और तिसरी शताब्दीका मनुष्य कहा जा सकता है। ५वीं शताब्दीमें परिव्राजक फाहियान भारत-परिदर्शनके लिये आया था। इस समय उसने श्रावस्तोका ध्वंसावशेष देखा था। इससे भी प्रमाणित होता है, कि श्रावस्तीकी समृद्धिके समयमें अर्थात् ईस्वीकी ४थी शताब्दीके पूर्व ही विक्रमादित्य वर्त्तमान थे। ऐसे स्थलमें ईस्वीके ६ठीं शताब्दीके उज्जयिनीपति हर्षविक्रमादित्यको श्रावस्तीपति विक्रमादित्यके साथ अभिन्न-कल्पना नहीं की जा सकती। चीनपरिव्राजक हियोनसियांगने ७वीं शताब्दीमें मालवमें आ कर शिलादित्यका विवरण संग्रह किया था†। वह मालवपति और श्रावस्तीको दूसरा समझते थे।

३ विक्रमादित्य।

गुप्तवंशीय प्रथम चन्द्रगुप्तने शकोंको हरा और उत्तर भारतको जीत कर विक्रमादित्यकी उपाधि ग्रहण की। शकारि विक्रमादित्यकी तरह उन्होंने भी सन् ३१९ ई०में एक नया संवत्सर चलाया था। फलतः वही ऐतिहासिकोंकी दृष्टिमें गुप्तकाल या गुप्तसंवत् कहा जाता है। गुप्तवंशके इतिहासमें वह नाम चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। नेपालकी लिच्छवी-राजकुमारी कुमारदेवीके साथ उनका विवाह हुआ था। सम्भवतः नेपालियोंकी सहायतासे वे उत्तर भारतके अधीश्वर हुए थे। मालूम होता है, कि इसी कारणसे उनके चलाये सिक्के पर उनके नामके साथ कुमारी 'कुमारदेवी' तथा "लिच्छवयः" का नाम दिखाई देता है।

गुप्तराजवंश देखो।

उक्त 'कुमारदेवी' के गर्भसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके औरससे समुद्रगुप्त नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन्होंने अपने बाहुबलसे पितृराज्यके बाहर सारे आर्य्यावर्त्त और दाक्षिणात्यके अधिकांश पर अधिकार कर लिया था। उनके ही प्रबल प्रतापसे शक-प्रभाव बहुत कम हो गया था। उनकी शिलालिपिसे मालूम होता है, कि मालवगण भी उनके समयमें प्रबल थे; किन्तु गुप्तसम्राट्की अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य हुए थे। शकाधिकारकालमें मालवके अधिवासी शिर उठानेका सुअवसर पा न सके। इसी कारण उनकी जातीय अङ्काङ्कित कोई शिलालिपि नहीं पाई जाती। गुप्ताधिकारके विस्तारके साथ मालवमें बहुतेरे पराक्रान्त सामन्तराजे दिखाई देते थे, वे गुप्तसम्राट्की अधीनता स्वीकार करने पर भी शौर्य्यवीर्यमें बहुत हीन न थे। उनकी जो शिलालिपियां पाई गई हैं, उनमें उनके जातीय अभ्युदयका निदर्शन 'मालवसंवत्' का प्रयोग किया गया है। अब तक मालवाब्दज्ञापक जितनी शिलालिपियां आविष्कृत हुई हैं, उनमें विजयगढ़की स्तम्भलिपि ही बहुत प्राचीन है।* सम्भवतः इसके कुछ समय पहले ही मालववासियोंके फिर जातीय जीवनका अभ्युदय हुआ था।

४ विक्रमादित्य।

सम्राट् समुद्रगुप्तके औरस और दत्तादेवीके गर्भसे

---

* Max Muller's India what can it teachus. p, 289.

† Beal's Si-Yu-Ki, Vol, ii p, 261.

* Dr, Fleet's Gupta Inscriptions, p. 253.

२रे चन्द्रगुप्तका जन्म हुआ। ये भी पिताकी तरह दिग्विजयी थे। ये बड़े तेजस्वी, विचक्षण अभिनेता, सुशासक और परम धार्म्मिक थे। समुद्रगुप्तने उत्तर और दक्षिण भारत जय किया था; पर उनके मरते ही प्रान्तीय सीमाके कई राजाओंने गुप्तवंशकी अधीनता अस्वीकार कर दी। २य चन्द्रगुप्तने गद्दी पर बैठते ही एक ओर गङ्गापारकी वङ्गभूमिका और दूसरी ओर सिन्धु नदीका सप्तमुख विदीर्ण कर वागियोंका दमन किया था। मालवमें शकाधिकारके लोप होने पर भी उस समय तक सुराष्ट्र वर्त्तमान काठियावाड़में शकक्षत्रपगण बहुत पराक्रान्त थे। गुप्तसम्राट् २रे चन्द्रगुप्तने मालव और गुजरात होते हुए अरब समुद्रकी वीचिमाला विक्षोभित कर शकक्षत्रपोंको मूलसे नष्ट कर दिया। वे शकवंशके उच्छेद कालमें ३८८ से ४०१ ई० तक बहुत वर्ष तक महासमरमें लिप्त थे। इस कालमें उन्होंने जिस तरह असाधारण वीरत्वका परिचय दिया था वीरोंने उससे विमुग्ध हो कर उनको 'विक्रमादित्य' आख्यासे विभूषित किया था। वास्तविक इस चौथे विक्रमादित्यके हाथसे ही शकक्षत्रपकुल एक ही वार नष्ट हुआ था। इसके बाद भारतके इतिहासमें और शकराजाओंका नामोनिशान भी नहों मिलता। इस चौथे विक्रमादित्यके समयमें गुप्तसाम्राज्य इतनी दूरमें फैला था, कि पाटलिपुत्रमें रह कर सारे साम्राज्य पर शासन करना कठिन हो गया था। इस कारण उन्होंने अयोध्यामें अपनी राजधानी हटाई। किन्तु फिर भी, पाटलिपुत्र (पटना)-की महासमृद्धि और जनताकी वृद्धिमें कमी नहीं हुई। इस समय चीन परिवाजक फाहियान गुप्तराजधानीको देख कर उज्ज्वल भाषामें उनका परिचय दे गया है।

५ विक्रमादित्य।

राजतरङ्गिणीके पढ़नेसे मालूम होता है, कि काश्मीरमें प्रवरसेनके अभ्युदयसे पहले उज्जयिनीमें विक्रमादित्य नामसे एक राजा राज करते थे। ये हर्ष विक्रमादित्यके नामसे इतिहासमें प्रसिद्ध है। इन्होंने शक-म्लेच्छोंको पराजय कर सारे भारतवर्ष पर अधिकार कर लिया। ये असाधारण सुकृतमान, ज्ञानी और गुणियोंका आश्रयस्थान थे। इनकी सभामें मातृगुप्त नामक एक दिगन्तविश्रुत कवि अवस्थान करते थे। मातृगुप्तके अन्यान्य साधारणगुणका परिचय पा कर राजा विक्रमादित्यने उसको काश्मीर राज्य प्रदान किया। इन विक्रमादित्यके पुत्र प्रतापशील शिलादित्य हैं। चीनपरिव्राजक ह्यूनसियाङ्ग लिख गया है, कि उनके मालवामें उपस्थित होनेसे ६० वर्ष पहले वहां शिलादित्य प्रबलप्रतापसे राज्य करते थे। पुराविद् फार्गुसन और अध्यापक मोक्षमूलरके मतसे उक्त विक्रमादित्यके नाम पर ही यथार्थमें संवत् प्रवर्त्तित हुआ। उनके यथार्थ अब्दके ६०० वर्ष पहलेसे उनकी अब्दगणना चलने लगी। किंतु हम पाश्चात्य पण्डितोंके इस मतको समीचीन नहीं कह सकते हैं। (१ विक्रमादित्यके सम्बन्धमें आलोचना द्रष्टव्य)

पाश्चात्य पण्डितोंके मतसे ५३०-५४० ई०में हर्ष विक्रमादित्यका राज्यारम्भ है।

६ विक्रमादित्य।

सातवीं सदीके प्रारम्भमें काश्मीरमें भी विक्रमादित्य नामक एक पराक्रान्त नृपति राज करते थे। उनके पिताका नाम रणादित्य था। उन्होंने वक्रिमेश्वर नामक एक शिवलिङ्गकी प्रतिष्ठा की थी। उनके ब्रह्म और गल्लून नामके दो मन्त्री थे। ब्रह्मने अपने नाम पर ब्रह्ममठ और गल्लूनने अपनी पत्नी रत्नावलीके नाम पर एक विहार बनवाया था। विक्रमादित्य ४२ वर्ष राज्य भोग कर अपने कनिष्ठ वालादित्यको राज्य दे गये। काश्मीर देखो।

७ विक्रमादित्य।

वादामीके प्रसिद्ध प्रतीच्य चालुक्यवंशमें विक्रमादित्य नामके एक नृपतिने जन्मग्रहण किया था। वे वीरवर २रे पुलिकेशीके पुत्र और प्रतीच्य चालुक्यवंशके प्रथम विक्रमादित्य कहलाते है। उनके और नाम हैं— सत्याश्रय और रणरसिक। प्रायः सन् ६५५ ई०में इनका अभिषेक हुआ था। पुलिकेशीकी मृत्युके वाद पल्लव, चोल, पाण्डव और केरलने विद्रोह मचा दया था। और तो क्या पल्लवपति परमेश्वरके ताम्रशासनसे मालूम होता है, कि उनके भयसे विक्रमादित्य पहले भागने पर वाध्य हुए थे। किन्तु उन्होंने थोड़े ही दिनोंके बाद शत्रुओं पर शासन स्थापित कर विक्रमादित्य नामका अर्थ सार्थक किया। (चालुक्य शब्द द्रष्टव्य)

८ विक्रमादित्य।

प्रतीच्य चालुक्यराज विजयादित्यके पुत्र और एक विक्रमादित्यका नाम पाया जाता है। ये प्रतीच्य चालुक्य-वंशके २रे विक्रमादित्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। ७३३से ७४७ ई० तक बादामीके सिंहासन पर ये अधिष्ठित थे। उनके ताम्रशासनमें लिखा है, कि उन्होंने राजपद पर अधिष्ठित होते ही अपने पितृवैरी पल्लवपति नन्दीपोत-वर्म्माके विरुद्ध अस्त्र धारण किया। तुदाक नामक स्थानमें दोनों ओरसे युद्ध हुआ। पल्लवपति हार कर भागे। युद्धजयके साथ विक्रमादित्यने मणिमाणिक्य, हाथियों, घोड़ों और रणवाद्ययन्त्रों पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उन्होंने काञ्ची पर आक्रमण किया सही; किन्तु इस प्राचीन तीर्थस्थानको उन्होंने नष्ट नहीं किया। वरं वहांके दीन-दरिद्रों और ब्राह्मणोंको बहुत धन प्रदान किया था और राजसिंहेश्वर और अन्यान्य देवालयोंका जीर्णोद्धारसाधनपूर्वक इसे स्वर्णमण्डित कराया था। इसके बाद चोल, पाण्ड्य, केरल और कलभ्रके साथ वे संग्राममें लिप्त हुए; इसके बाद उन सभोंने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। उन्होंने हैहयवंशी दो राज-कन्याओंका पाणिग्रहण किया था। उनमें ज्येष्ठा लोक महादेवीने (कलादगी जिलाके अन्तर्गत पट्टडकल नामक स्थानमें) लोकेश्वर नामसे शिवमन्दिर और कनिष्ठा त्रैलोक्यमहादेवीने त्रैलोक्येश्वर नामसे दूसरे एक शिवमन्दिरकी प्रतिष्ठा की थी। इन छोटी रानीके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले कीर्त्तिवर्म्मा राजा विक्रमादित्यके उत्तराधिकारी हुए। यह विक्रम शैव थे, फिर भी इन्होंने जैन-देवालयका संस्कार और विजय पण्डित नामक एक जैनाचार्य्यको शासन-दान किया था।

९ विक्रमादित्य।

प्राच्य चालुक्यवंशमें दो विक्रमादित्यके नाम मिलते हैं। इनमें एक 'युवराज' उपाधिसे विभूषित थे। यह युवराज-विक्रमादित्यके पुत्र प्रथम चालुक्य भीम और चालुक्य भीमके पुत्र २रे विक्रमादित्य हैं। युवराज विक्रमादित्यके भतीजे ताड़पके अन्यायपूर्वक बालक विजयादित्यको राज्यच्युत कर चालुक्यराज ग्रहण करने पर शेषोक्त विक्रमादित्यने फिर उसको हरा कर सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उन्होंने ८४७ शकाब्दमें ११ मास मात्र चालुक्यराज भोग किया था। चालुक्य देखो।

१० विक्रमादित्य।

६३० शकाब्दके ताम्रशासनमें प्रतीच्य चालुक्य वंशमें ताम्रशासनदाताका एक विक्रमादित्य नाम आया है। ये राजा सत्याश्रयके भतीजे (उसके भाई दशवर्माके पुत्र) ही उत्तराधिकारी हुए। कुछ लोग इन नृपतिको प्रतीच्य-चालुक्यवंशके पांचवें विक्रमादित्य* कहते हैं।

किन्तु प्रत्नतत्त्वविद् भाण्डारकर इनको पूर्वतन चालुक्य-वंशीय न कह कर दूसरी शाखाके और पिछले प्रतीच्य चालुक्यवंशके १म विक्रमादित्य कहते हैं। उनके मतसे ६३० शक (१०८ ई०) में राजाका अभिषेक हुआ। इनकी ६४६ शकमें खुदी ताम्रलिपिसे मालूम होता है। उन्होंने द्रमिलपतिको पराजित, चेरोंका प्रभाव खर्व और सप्त-कोङ्कणका सर्वस्व अपहरण कर उत्तरकी ओर कोल्हापुरमें खेमा खड़ा किया। ६६२ शाके तक उनके राजत्वका उल्लेख पाया जाता है।

---

* ८ विक्रमादित्यके प्रस्तावमें प्रतीच्य चालुक्यवंशीय २रे विक्रमादित्यका परिचय दिया गया है। इन २रे विक्रमादित्यके भ्रातृवंशमें ३रे और ४थे विक्रमादित्यका नाम मिलता है। जैसे—

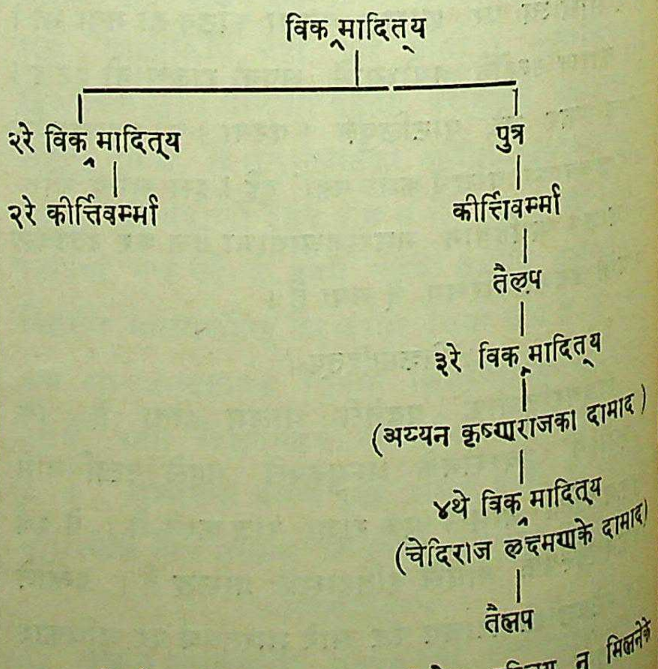

३रे और ४थे विक्रमादित्यका विशेष परिचय न मिलनेके कारण विशेष नहीं लिखा गया।

इन विक्रमादित्यके पितामह तैलपने मालवके राजा मुञ्जका पराजित और निहत किया। उस समय भोजराज बालक थे। भोजचरितमें लिखा है, कि भोजने जवान हो कर राजशासन आरम्भ किया। एक दिन अभिनयमें मुञ्जकी अन्तिम दशाका चित्र देख उसके मनमें प्रतिशोध लेनेकी इच्छा बलवती हुई। फलतः भोजने बहुतेरे सामान्तोंके साहाय्यसे चालुक्यपतिकी भी मुञ्जेकी ही दशा कर दी। डाक्टर भाण्डारकरके मतसे उससे पहले ही तैलपकी मृत्यु हुई थी। सुतरां उक्त प्रथम विक्रमादित्यने भोजके हाथसे मानवलीला संवरण की है*।

११ विक्रमादित्य।

चालुक्यवंशमें और भी एक प्रबल पराक्रान्त राजा हो गये हैं। वे पूर्वोक्त विक्रमादित्यके भ्राता जयसिंहके पौत्र सोमेश्वर आहवमल्लके पुत्र थे। कवि विद्यापति विह्लणरचित विक्रमाङ्कचरितग्रन्थमें इस नृपतिकी जीवनीके सम्बन्धमें इस तरह लिखा है—

उनके पिताका नाम आहवमल्ल था, त्रैलोक्यमल्ल भी इसका दूसरा नाम है। ये बड़े वीर पुरुष थे और इन्होंने बहुत देशों पर अधिकार किया था। किन्तु इतने वैभव गौरवका अधिपति होने पर भी और अपत्याभावमें इनका चित्त विषण्ण था। वे राजपाट परित्याग इसका भार मन्त्रियों पर सौंप पुत्रप्राप्तिके लिये पत्नीके साथ शिवकी आराधनामें प्रवृत्त हुए और दोनोंने कठिन साधना की। एक दिन प्रातःकाल राजा त्रैलोक्यमल्लने प्रभातपूजाके समय यह देववाणी सुनी, कि "तुम्हारे" कठिन तपश्चर्य्यासे शिवजी प्रसन्न हुए हैं। महादेवके वरसे तुम्हें तीन पुत्र होंगे। इनमें मध्यम पुत्र ही शौर्य्यवीर्य्य प्रभावमें और गौरवमें अतुल्य और अद्वितीय होगा। पार्वतीपति शङ्करका आशीर्वाद विफल नहीं हो सकता। यथासमय उनको पहला पुत्र उत्पन्न हुआ। इस लड़केका नाम सोमेश्वर रखा गया, इसका दूसरा नाम था भुवनैकमल्ल। इसके बाद रानीको फिर गर्भ हुआ। इस बार उनको गर्भावस्थामें बड़े आश्चर्य्यजनक स्वप्न दिखाई देने लगे। ग्रन्थकार विद्यापति विह्लणने इस विवरणको विस्तृतरूपसे वर्णन किया है। जो हो, अच्छे शुभक्षण और शुभ-लग्नमें वे पैदा हुए। इस पुत्रका असाधारणरूप लावण्य और देहज्योति देख नृपतिने उसका नाम विक्रमादित्य रखा। इनके और भी बहुतेरे नाम पाये जाते हैं—जैसे विक्रमणक, विक्रमणकदेव, विक्रमलाञ्छन, विक्रमादित्यदेव, विक्रमार्क, त्रिभुवनमल्ल, कलिविक्रम और परमाड़िराय। इसके बाद त्रैलोक्यमलको तृतीय पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम जयसिंह हुआ।

विक्रमादित्यके सौन्दर्य्यको देख कर सबका चित्त आकृष्ट होता था। उनका वह रूपलावण्यमय शैशवदेहमें असाधारण विक्रमके चिह्न दिखाई देते थे। शैशवक्रीड़ामें ही उसके भारी वीरत्वका परिचय पाया जाने लगा। वे राजहंसोंके पीछे पीछे दौड़ते हुए उनको पकड़नेमें प्रवृत्त होते थे।

पिञ्जराबद्ध सिंहशावकके साथ खेल करते थे। बाल्यकालमें ही उन्होंने धनुर्विद्या आदिकी शिक्षा ग्रहण की। सरस्वतीकी कृपासे काव्यादि शास्त्रोंमें भी उनको यथेष्ठ ज्ञान था।

इस तरह उन्होंने धनुर्वेद आदि विविध विद्याशिक्षामें विक्रमादित्यका बाल्यकाल बीता। यौवनमें पदार्पण करते ही उनकी समरकी प्रवृत्ति क्रमशः बलवती हो उठी। नृपति त्रैलोक्यमल्लने पुत्रको युवराजपद पर अभिषिक्त करनेकी इच्छा प्रकट की। किन्तु विद्याविनयसम्पन्न विक्रमादित्यके जेठा भाई सोमेश्वरके रहते उक्त पद पर विक्रमका अधिपति होना नितान्त असङ्गत था। ऐसा ही उन्होंने प्रचार भी किया। उन्होंने स्पष्ट ही कहा, कि इस पद पर मेरा अधिकार नहीं। उसके एकमात्र अधिकारी मेरे जेठे भाई ही हैं। उनके पिताने कहा,—"भूतभावन भवानीपतिके विधानानुसार और जन्मनक्षत्रादिके प्रभावसे यौवराज्यपदका तुम्हारा ही अधिकार स्थिर है। किन्तु विक्रमादित्य इस असङ्गत और असमीचीन प्रस्ताव पर सहमत नहीं हुए। राजाने पहले सोमेश्वरको ही युवराज-पद पर अधिष्ठित किया। किन्तु उनका चित्त विक्रमादित्यके प्रति आसक्त था। यद्यपि विक्रमादित्य युवराज पद पर अभिषिक्त न हुए, तथापि वे राज-कार्य्यो

---

* R. G. Bhandarkar's Early History of the Dekkan, p. 82,

या युवराजके कार्य्योंमें ही अपना समय बिताते थे। आहवमल्लने कल्याणनगरीकी प्रतिष्ठा की।

विक्रम पिताकी आज्ञासे देश जीतनेके काममें प्रवृत्त हुए। उन्होंने युद्धमें वारंवार चोल राजाओंको परास्त किया; सोनेकी लूट मचा दी और मालवपतिको सिहासन पर पुनः बैठाया। और तो क्या, वे दूरके गौड़ और कामरूष तक सेनावाहिनियोंको ले कर आगे बढ़े थे। सिहल या लङ्काका राजा उनके भयसे वनमें भाग गया था। उन्होंने मलयपर्वतके चन्दनवनका ध्वंस कर दिया और केरलके राजाको मार डाला। उन्होंने असीम विक्रम प्रकाश कर गंगाकुण्ड, वेंगी और चक्रकोट आदि प्रदेशों पर अधिकार जमा लिया।

विक्रमादित्य इन राज्योंको जीत कर अपनी राजधानीको लौटे। उन्होंने कृष्णानदीके तट पर आ कर बहुतेरे अशान्तिकर लक्षण देखे। विघ्न-शान्तिके लिये उन्होंने वही करतोया नदीके किनारे ही पूजापाठ द्वारा शान्ति कराई। अभी पूजा समाप्त भी न होने पाई थी, कि राजधानीसे एक आदमीने आ कर खबर दी, कि आपके स्नेहभाजन पिता इस धराधामसे कूच कर गये। पिताकी मृत्युकी बात सुनते ही विक्रमको बड़ा ही कष्ट हुआ। उन्होंने "हा पिता! हा पिता!" कह कर रोदन करना आरम्भ किया। किसीको सान्त्वना पर वे शान्त न हुए। क्या जाने वे अपनी आत्महत्या कर ले इस डरसे चतुर कर्मचारियोंने उनके निकटसे हथियारोंको हटा लिया। किन्तु पीछे उनका शोक प्रशमित होने लगा। इसके बाद ही उन्होंने करतोयाके जलसे पिताकी अन्त्येष्टि क्रिया की। इसके बाद अपने जेठे भाईके शोकहरण करनेके लिये विक्रमादित्य अपनी राजधानी कल्याण नगरीको चले। स्नेहवत्सल सोमेश्वर स्नेहपरवश हो कर छोटे भाईको ले अपने कक्षमें गया। दोनों भ्राताओंने बहुत दिन तक प्रीतिपूर्वक राजकार्य्य चलाया था। विक्रमादित्य यद्यपि शौर्यवीर्य तथा राजकार्य्यमें बुद्धिमान् थे, तथापि अपने जेठे भाईको वे राजाकी तरह मानते थे। किन्तु पीछे सोमेश्वरके हृदयमें एकाएक दुर्मति उत्पन्न हुई। इससे वे अपने अनुज विक्रमके विद्वेषी बन गये। विद्वेषाग्नि चरम सीमा तक पहुंच गई। और तो क्या, उन्होंने विक्रमका प्राण संहार करनेका गुप्त षड़यन्त्र किया। विक्रमादित्यने अपने और छोटे भाई जयसिहके प्राणकी आशङ्कासे कई आदमियों और छोटे भाईके साथ राजधानीको परित्याग किया।

सोमेश्वरकी पापवृत्ति इतने पर भी रहित न हुई। उन्होंने इन पर आक्रमण करनेके लिये सैन्य भेजी। पहले तो विक्रमादित्य भाई द्वारा भेजी उस सैन्यके साथ युद्ध करनेमें प्रवृत्त नहीं हुए। किन्तु युद्धके लिये आई फौज विना युद्ध किये फिर जाने पर राजी न थी। इससे वाध्य हो कर विक्रमादित्यको भाईके विरुद्ध अस्त्र धारण करना पड़ा। समरक्षेत्रमें उतरते ही विक्रमके बलविक्रमके आगे उस फौजका ठहरना कठिन हो गया। क्षणकालमें ही उस फौजको नष्ट कर दिया। जो बचे, जान ले कर भागे। इसके बाद विक्रमके बड़े भाईने कई बार सैन्य भेजी; किन्तु एक बार भी जयलक्ष्मी प्राप्त न हो सकी। इसके बाद उन्होंने युद्धसे चित्त हटा लिया।

इसके बाद फौजोंके साथ विक्रमादित्य तुङ्गभद्रानदीके किनारे आ पहुंचे। यह तुङ्गभद्रा नदी ही चालुक्य राज्यकी दक्षिणी सीमा थी। इसके दूसरे पारसे ही चोलराज्य आरम्भ होता था। इस समय उन्होंने चोलराजाओंके साथ युद्ध करनेके प्रयासी हुए। इसके बाद उन्होंने कुछ समय तक बनवास नगरमें अवस्थान किया। यह स्थान भी चालुक्य राजाओंके अधिकृत था। कदम्ब राजाओंके प्रति इस स्थानका शासनभार अर्पित हुआ।

विक्रमादित्यकी यात्रासे मालवदेशके राजे डर गये। कोंकणके राजा जयकेशीने उपढौकन ले कर विक्रमादित्यसे भेंट की। अलूपके राजा भी वश्यता स्वीकार कर विक्रमादित्य द्वारा बहुत उपकृत हुए। विक्रमादित्यके प्रबलप्रतापसे केरलके राजे मारे गये थे। इससे फिर विक्रमादित्यके आनेकी बात सुन कर केरलकी रानियां डर गईं।

चोलके राजाने विक्रमके प्रबल प्रतापके आगे युद्ध न करनेकी ही इच्छा प्रकट की। उन्होंने पत्र लिख विक्रमादित्यसे सौहृद्य दिखाते हुए प्रार्थना की, कि आप मेरी पुत्रीसे विवाह करके यह सम्बन्ध दृढ़ कर लें। विक्रमादित्य फिर तुङ्गभद्रा तट पर लौट आये। यहां चोलराजने

आ कर उनसे भेंट की। यहां ही चोलराज-कन्याके साथ विक्रमादित्यका विवाह हुआ। थोड़े ही दिनके बाद चोलराजकी मृत्यु हो गई। इनके मरते ही चोलराज्यकी प्रजा विद्रोही हो उठी। विक्रमादित्यने चोलराज्यकी राजधानी काञ्ची नगरीमें पहुंच कर विद्रोहको दबाया, इसके बाद अपने सालेको सिंहासन पर बैठा कर गङ्गाकुण्डको चोलराज्यमें मिला लिया। विक्रम एक महीने तक रह कर तुङ्गभद्राको लौट आये। किन्तु चोलराज्यके विद्रोहियोंने अपने नये शासकको मार डाला। कृष्णा और गोदावरीके बीच पूर्वी किनारेकी भूमि वेंगी देशके नामसे प्रसिद्ध था। वहां एक राजिग नामका राजा था। इसी राजिगने काञ्ची नगरी पर अधिकार जमा लिया।

जो हो, काञ्चीके सिंहासन पर राजिग बैठ गया। यह समाचार पाते ही विक्रमादित्यने इसका तुरन्त बदला चुकानेका दृढ़ सङ्कल्प किया। किन्तु उन्होंने सुना था, कि उनके भाई सोमेश्वरने राजिगको सहायता करनेका वचन दिया। भाईको इस साजिसकी बात सुन कर विक्रमादित्यको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने बड़े भाईको युद्धसे निवृत्त होनेकी सलाह भेजी। सोमेश्वर विक्रमादित्यके विक्रमको जानते थे। उनकी बात मान कर कुछ देरके लिये वे युद्ध करनेसे विरत हो गये और समय तथा सुविधाकी प्रतीक्षा करने लगे। विक्रमादित्यके भाईकी सभी बातें मालूम हुईं; फिर भी, उन्होंने भाईके साथ युद्ध करना उचित न जाना। सोमेश्वरके हृदयमें सद्बुद्धि उत्पन्न न हुई। भ्रातृस्नेहका सञ्चार भी नहीं हुआ। उन्होंने छिप कर विक्रमादित्यके विरुद्ध राजिगको सहायता देना आरम्भ किया। अन्तमें विक्रमने स्वप्नमें देखा, कि संहारभैरव महादेव महारुद्रके वेशमें सोमेश्वरको परास्त कर राज्य ग्रहण कर लेनेके लिये उनको आदेश दे रहे हैं। इस स्वप्नके आदेश पर प्रमत्त हो विक्रम बड़ी वीरताके साथ युद्ध करनेमें प्रवृत्त हुए। इस युद्धमें राजिग हार कर भाग गया और सोमेश्वर कैद कर लिये गये।

युद्धके अन्त हो जाने पर विक्रम तुङ्गभद्रा तट पर लौट आये। विक्रमने सोचा, कि सोमेश्वरको मुक्त कर दिया जाये, किन्तु उसी रातको उन्होंने फिर स्वप्न देखा। स्वप्नमें फिर रुद्रने आदेश दिया कि, तुम सोमेश्वरको कैद रख कर ही राज्य पर अधिकार कर लो।

विक्रमादित्य महादेवकी बातको टाल न सके। उन्होंने राज्यभार ग्रहण किया। इसके बाद उन्होंने अनेक देशों पर अधिकार कर लिया। छोटे भाई जयसिंह पर वनवास नगरका भार दे कर वे अपने कल्याण नगर-लौट आये।

इसके बाद करहाटाधिपतिकी कन्या स्वयंवरा चन्द्रलेखाके साथ विक्रमादित्यका विवाह हुआ। इसी विवाहके उत्सव और भोगविलासमें वसन्त और ग्रीष्मकाल बीत गया। किन्तु जगत्में कुछ भी चिरस्थायी नहीं है। विक्रमके इस सुखसम्भोगको छिन्न भिन्न करनेके लिये उनके भाग्याकाशमें काली घटा घिर आई। उनको खबर मिली, कि उनका वह प्रिय सहोदर भाई, जिसको वह अपने पुत्रसे भी बढ़ कर स्नेह करते थे, जिसको बड़े भाईके मार डालनेके डरसे उन्होंने अपने साथ रख नेत्रकी पुतली बना रखा था, जिसको वनवास नगरका राज्यभार सौंपा था, वही प्रिय सहोदर आज उनके विरुद्ध अस्त्र उठानेके लिये तय्यारी कर रहा है। वह प्रजाको पीड़ित कर अर्थसंग्रह और सहायता प्राप्तिके लिये द्रविड़राजके साथ मित्रता स्थापित कर रहा है। और तो क्या—विक्रमकी फौजमें भेदनीति अर्थात् फूट डालनेकी गरजसे दो चारको अपनी रायमें मिला कर अपना काम बना रहा है। उनको विश्वस्तसूत्रसे यह भी पता लगा, कि जयसिंह कृष्णवेणी नदीकी ओर फौजोंके साथ अग्रसर हो रहा है। इससे विक्रमादित्यका चित्त विचलित हो उठा। उन्होंने सोचा कि क्या उस स्नेहमय छोटे भाईसे मुझे युद्ध करना पड़ेगा? ठीक खबर लानेके लिये उन्होंने व्याकुल हो कर एक गुप्तचर भेजा। गुप्तचरोंने आ कर पूर्वसंवादको और भी दृढ़ किया। उन्होंने इस तरहके दुष्कार्य्योंसे अलग रहनेके लिये पहले भ्राताको बहुत समझा बुझा कर एक पत्र लिखा। किन्तु इसका कुछ भी फल न हुआ।

जयसिंहको विक्रमके ऐसे व्यवहारसे और भी घमण्ड हो गया। जयसिंह शरत्कालमें फौजोंके साथ कृष्णानदीके किनारे आ कर प्रजा पर अत्याचार करने लगा। अन्तमें जयसिंहने विक्रमादित्यको अवमाननासूचक एक पत्र लिखा। इस पर भी विक्रमका रोष जाग-

रित नहीं हुआ। वे नीरवताके साथ भाईके इस अपमानजनक बातोंको सहन करते रहे। इधर जयसिंहकी स्पर्द्धा दिनों दिन बढ़ने लगी। उस समय विक्रमादित्य बाध्य हो कर युद्धक्षेत्रमें आ पहुंचे। तब भी उन्होंने छोटे भाईको युद्धसे विरत होनेका उपदेश दिया, किन्तु वह मदान्ध जयसिंहने किसी तरह उनकी बात नहीं मानी। अब युद्ध अनिवार्य हो उठा। किन्तु प्रबल पराक्रान्त विक्रमादित्यके प्रबल प्रतापके सामने जयसिंह और उसकी फौजोंका ठहरना कठिन हो गया। फौजें भाग खड़ी हुईं। जयसिंह कैद कर लिया गया। विक्रमादित्यने इस अवस्थामें भी उस पर दयाका व्यवहार किया। वे युद्धके अन्त होने पर राजधानीमें लौट आये।

इसके बाद विक्रमादित्यके राज्यमें कोई उपद्रव नहीं हुआ। उनके राज्यमें अकाल या लोकपीड़ा भी न हुई। उन्होंने अपने अनुरूप पुत्र और यथेष्ट धनसम्पत्ति पा कर परम सन्तुष्ट हुए। दरिद्रोंके प्रति उनकी असीम दया थी। उन्होंने धर्मशाला और शिवमन्दिर अपने नामसे प्रतिष्ठा कराई। उनकी असंख्य कीर्त्तियोंमें विष्णु कमलाविलासीका मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। इस मन्दिरके सम्मुख एक विशाल सरोवर बना था। इसके चारों ओर बहुतेरे देवमन्दिर और सुरम्य हर्म्य आदि पूर्ण विक्रमपुर नामक एक विशाल नगरकी प्रतिष्ठा हुई थी।

इस तरह दीर्घकाल तक सुख शान्तिसे बीत जाने पर फिर चोलराजने विद्रोहभावालम्बन किया। विक्रमादित्यको उन्हें दण्ड देनेके लिये काञ्ची नगरीको जाना पड़ा। इस युद्धमें भी अन्य समयकी तरह हार कर सभी भाग गये। इस बार काञ्चीनगरी पर अपना कब्जा जमा कर कुछ दिनों तक वहां रह कर विक्रमादित्य फिर कल्याण लौट आये। इसके बाद शान्तिसे दिन बिताने लगे।

विक्रमकी अन्तिम अवस्थामें पाण्ड्य, गोवा और कोंकणके राजे, यादवपति होयलस विष्णुवर्द्धनकी अधिनायकतामें एकत्र हो कर सभीने चालुक्यराज्य पर आक्रमण किया। विक्रमादित्यने 'आच' नामक एक सेनापतिको उन सबोंके विरुद्ध भेजा। रणसिंह 'आच'ने होयसलको दमन कर गोवा पर अधिकार कर लिया, लक्ष्मणको भागने पर बाध्य किया। पाण्ड्यके पीछे फौज बढ़ाई, मलपोंको हराया और कोंकणराजको कैद किया। सिवा इनके उन्होंने कलिङ्ग, वङ्ग, मरु, गुर्जर, मालव, चेरे और चोलपतिको चालुक्यपतिके अधीन बनाया था। विक्रमादित्य केवल दयावान, वीर्यवान और अतुलऐश्वर्यशाली ही नहीं थे, वरं स्वयं विद्वान् और अतिशय पण्डितानुरागी थे। काश्मीरके सुप्रसिद्ध कवि विद्यापति विह्लण विक्रमादित्यके सभा-पण्डित और राजकवि थे।

विह्लण देखो।

जो मिताक्षरा नामक धर्मशास्त्र आज भी भारतमें प्रधान स्मार्त्त ग्रन्थके नामसे परिचित है, चालुक्यराज इन विक्रमादित्यकी सभामें विज्ञानेश्वर उस मिताक्षरकी रचना कर विख्यात हुए थे। विज्ञानेश्वर देखो।

कल्याणके सिंहासन पर विक्रम ५० वर्ष तक अधिष्ठित थे। उन्होंने अपने अधिकारमें शकाब्दका प्रचलन बन्द कर उसके बदलेमें चालुक्य-विक्रम-वर्ष चलाया था। यह अब्द ११७ शक फाल्गुनी शुक्ला पंचमीको आरम्भ हुआ। चालुक्य-नृपतिकी मृत्युके बाद यह अब्द उठा दिया गया।

विक्रमादित्यकी मृत्युके बाद १०४८ शकमें उनके पुत्र ३रे सोमेश्वरने पितृराज्यको प्राप्त किया।

१२ विक्रमादित्य।

दक्षिणापथके अन्तर्गत गुत्तल नामक सामन्त राज्यमें विक्रमादित्य नामसे तीन राजे राज्य करते थे। उनमें १ले व्यक्ति गुत्तलके ३रे राजा मल्लीदेवके पुत्र ई०सन्‌की १२वीं शताब्दीके मध्यभागमें मौजूद थे। २रे व्यक्ति उक्त जनपदके ६ठे राजा गुत्तके पुत्र थे इनका दूसरा नाम आइवादित्य था। वे ११८२ ई०में विद्यमान थे। इसके बाद ३रे व्यक्ति ८वें नृपति जोयिदेवके पुत्र हैं। गुत्तलके इन ३रे विक्रमादित्यकी ११८५ शक (१२६२ ई०)में उत्कीर्ण शिलालिपि है। इस लिपिसे मालूम होता है, कि वे देवगिरिके यादवराज महादेवके अधीन सामन्त थे।

१३ विक्रमादित्य।

दाक्षिणात्यके वाण राजवंशमें भी एक विक्रमादित्यका जन्म हुआ था। इनका दूसरा नाम विजयबाहु था। इनके पिताका नाम प्रभुमेरुदेव था। ये बड़े प्रजारञ्जक और १२वीं शताब्दीमें मौजूद थे।

१४ विक्रमादित्य ।

मेवाड़के वप्पराव वंशोय एक राणा । राणा संग्राम सिंहके पुत्र विक्रमादित्य नामसे विख्यात थे सही; किन्तु यह नामके गुणके पूर्णतः अयोग्य थे । सन् १५९१ विक्रमो या १५३५ ई०में इन्होंने मेवाड़के सिंहासन पर आरोहण किया । इनकी अदूरदर्शिता और प्रजापीड़नसे सभी इससे नाराज रहते थे । इसका यह गुण-गौरव चारों ओर फैल गया । फलतः गुजरातके सुलतानने मेवाड़ पर चढ़ाई कर दी । चितौर-रक्षा करनेके लिये बहुतोंने जोवन उत्सर्ग किया । किन्तु सामन्तोंकी चेष्टा और हुमायूंके आनेकी खबर पा कर सुलतानकी दाल न गली । वह अपनासा मुंह बना कर लौट गया । इस दारुण वैदेशिक आक्रमणसे जीव बचा । किन्तु उसका उग्र स्वभाव किसी तरह शान्त न हुआ । उसने एक सभाके बीच अपने पिताके जीवनदाता अजमेरके करीमचाँदका अपमान कर दिया । इस पर सामन्तोंने उसको राज्यच्युत कर वनवीर बहादुरको सिंहासनारूढ़ कराया ।

१५ विकमादित्य ।

बङ्गालके अद्वितीय वीर प्रतापादित्यके पिताका नाम विक्रमादित्य है । बङ्गज कुलग्रन्थमें वर्णित है, कि गुहवंशमें रामचन्द्रका जन्म हुआ । यह भाग्य-परोक्षाके लिये वाणिज्यकेन्द्र सप्तग्राममें चले आये । यहां रामचन्द्रके तीन पुत्र हुए—भवानन्द, शिवानन्द और गुणानन्द । कुछ दिनके बाद सौभाग्यक्रमसे रामचन्द्र गौड़ दरबारमें किसी उच्च पद पर अधिष्ठित हुए । उनकी मृत्यु पर भवानन्दने अपने पैतृक पद पर अधिकार किया । भवानन्दके श्रीहरि तथा शिवानन्दके जानकीवल्लभ एक-एक पुत्र हुए । श्रीहरि और जानकीने थोड़े ही समयमें नाना भाषाओं तथा अस्त्र-शस्त्रमें नैपुण्य लाभ किया । लड़कपनसे ही दोनों गौड़ाधिपके पुत्र बयाजिद और दाउदके साथ खेलते थे । वयोवृद्धिके साथ साथ उनकी परस्पर मित्रता सुदृढ़ हुई । उसी मित्रताके कारण जब दाउद गद्दी पर बैठा तब उसने श्रीहरिको 'विक्रमादित्य' और जानकोवल्लभको 'वसन्त राय'का खिताब दे कर अपने प्रधान मन्त्री बना लिये । दोनों भाइयोंके उद्योगसे गौड़राज्यमें सुश्रृङ्खला स्थापित हुई और गौड़-राजकोषकी भी यथेष्ट वृद्धि हुई । उसीके साथ दाऊदकी स्वाधीन होनेकी इच्छा भी बलवती हुई । कुछ ही दिनके बाद उसने दिल्लीके बादशाहकी अधीनता तोड़ स्वाधीन हो जानेकी घोषणा कर दी । बादशाहकी जगह अपने नामका फतुवा पाठ करनेका आदेश दिया । इसको दण्ड देनेके लिये मोगल-वाहिनियां दिल्लीसे चलीं । युद्धका आयोजन देख कर विक्रमादित्यने दाऊदसे कहा, कि इस अशान्तिके समय खजानेको कहीं सुरक्षित स्थानमें धर देना चाहिये । इस परामर्शके अनुसार खजानेमें जो बहुमूल्य धनरत्न सोना चांदी हीरा जवाहर था, सब नावमें लाद कर यशोहर स्थानमें पहुंचा दिया गया । इधर मोगल-पठानोंमें घोरतर कई युद्ध हुए । अन्तमें दाऊद कैद कर लिया गया । सारा गौड़-बङ्ग फिर एक बार दिल्लीके बादशाहके शासनाधीन हुआ । राजा टोडरमलकी ही अधीनतामें शाही फौजें आई थीं । राजा टोडरमलने देखा, कि विक्रमादित्य और जानकीवल्लभ ये दोनों चतुर और कुशली हैं, इससे उन्होंने इन दोनोंको ही ऊंचा पद दिया । उनकी कार्यकुशलता पर मुग्ध हो कर बादशाहसे उनको सनदें दिलवा दीं, इसी सनदके बलसे विक्रमादित्यको यशोहरके पश्चिम गङ्गासे ब्रह्मपुत्रके किनारे तक फैली हुई जमींदारी प्राप्त हुई । प्राचीन यशोहरमें उनके बहुतेरे राजप्रासाद बने । नानाविध पुण्यजनक कार्य करके यह गौड़बङ्गमें विख्यात हुए । विक्रमादित्य राज्यकार्यके उपलक्ष्यमें गौड़में ही रहते थे, किन्तु उनके भाई वसन्तराय या उनके पुत्र प्रतापादित्य यशोहरके राजप्रासादमें रहते थे ।

सन् १५७५ ई०में जो महामारी हुई थी, उसमें गौड़ राजधानी श्रीभ्रष्ट और जनशून्य हो गई । इस पर विक्रमादित्यने गौड़ या अन्यान्य जगहोंसे मनुष्योंको बुला कर यशोहरमें उन्हें बसाया था । प्रतापादित्य शब्द देखो ।

विक्रमादित्यचरित (सं० क्लो०) विक्रमचरित ।

विक्रमार्क (सं० पु०) विक्रमादित्य देखो ।

विक्रमिन् (सं० पु०) विक्रम देखो ।

विक्रमी (सं० पु०) १ विष्णु । २ सिंह, शेर । (त्रि०) ३ अतिशय शक्तिविशिष्ट, विक्रमवाला, पराक्रमी । ४ विक्रमसम्बंधी, विक्रमका । जैसे,—विक्रमी संवत् ।

विक्रमोपाख्यान (सं० क्लो०) विक्रमस्य उपाख्यानं । विक्रमचरित ।

विक्रमोर्वशी (सं० स्त्री०) कालिदासप्रणीत एक नाटक। कालिदास देखो

विक्रय (सं० पु०) विक्रयणमिति वि-क्री अच् (एरच पा ३।३।५६) विक्रयणक्रिया, मूल्य ले कर कोई पदार्थ देना, बेचना। संस्कृत पर्याय—विपण, विपनन, पणन, व्यवहार, पणाया।

मनुष्य समाजमें क्रयविक्रयका काम बहुत दिनोंसे चला आ रहा है। प्राचीन शास्त्रकारगण इस सम्बंधमें अनेक आलोचनाएं कर गये हैं। क्रयविक्रयके विषयमें बहुतसे विधिनिषेध भी शास्त्रमें देखे जाते हैं। मूल्य दे कर अथवा 'मूल्य दूंगा' ऐसा कह कर जो द्रव्य ग्रहण किया जाता है उसे क्रय और मूल्य पा कर अथवा कुछ दिनके करार पर जो द्रव्य दूसरेको दिया जाता है उसे विक्रय कहते हैं।

कात्यायनने कहा है, कि क्रेता या खरीदारने कोई चीज खरीदी, पर उसका मूल्य न दे कर वह दूसरी जगह चला गया, ऐसी अवस्थामें त्रिपक्ष अर्थात् पैंतालीस दिनके बाद ही उसका मूल्य बढ़ेगा और विक्रेता यदि वह वर्द्धित मूल्य लेवे, तो अशास्त्रीय नहीं होगा।

इसीलिये वृहस्पतिने कहा है, कि गृह, क्षेत्र वा अन्य किसी मूल्यवान् वस्तुके क्रयविक्रयके समय लेख्यपत्र प्रस्तुत करे और वह पत्र 'क्रयलेख्य' कहलायगा।

मनु कहते हैं, कि यदि कोई द्रव्य क्रय वा विक्रय करके क्रेता वा विक्रेता दोमें किसीके भी हृदयमें दुःख हो जाये, तो वे दश दिनके भीतर उस द्रव्य वा मूल्यको वापस ले लें। इस व्यवस्थामें क्रेता और विक्रेता दोनोंका ही सम्मत होना पड़ेगा।

याज्ञवल्क्यके मतसे एक दिन, तीन दिन, पांच दिन, दश दिन या आध मास वा एक मास तक बीज, रत्न और स्त्री पुरुष आदि क्रय-पदार्थको परीक्षा चल सकती है। किन्तु इस निर्दिष्ट परीक्षाकालके पहले यदि क्रेय या खरीदी हुई वस्तुमें कोई दोष दिखाई दे, तो विक्रेताको वह वस्तु लौटा देवे तथा क्रेता भी उसका मूल्य वापस पायेगा। कात्यायनका कहना है, कि बिना दोष देखे सुने जो वस्तु खरीदी गई है, किन्तु पीछे उसमें दोष निकाला गया, ऐसी अवस्थामें विक्रेताको वह वस्तु लौटा देनी होगी, किन्तु पूर्वोक्त परीक्षाकाल बिता देनेसे काम नहीं चलेगा। वृहस्पतिके मतसे क्रय वस्तुकी स्वयं परीक्षा करे, दूसरेसे करावे, इस प्रकार परीक्षित और बहुमतसे होनेसे वह वस्तु खरीद कर पीछे विक्रेताको लौटा नहीं सकते। ऐसी दशामें विक्रेता उसे वापस लेनेमें बाध्य नहीं है।

इस क्रय-विक्रयके सम्बन्धमें नारदने कुछ विशेष बात कही है जो इस प्रकार है। कोई वस्तु मूल्य दे कर खरीदी गई, पीछे वह अच्छी वस्तु न रहने अथवा अधिक मूल्य होनेके कारण क्रेताको पसन्द न आई, ऐसी हालतमें खरीदी हुई वस्तु उसी दिन अविकृत अवस्थामें विक्रेताको लौटा देवे। उस दिन न लौटा कर यदि दूसरे दिन लौटावे तो विक्रेता मूल्यका तीसवां भाग रख कर बाकी लौटा देगा। तीसरे दिन वह वस्तु लौटानेसे वह दूसरे दिनके प्राप्य मूल्यांशका दूना पायेगा।

याज्ञवल्क्यने कहा है, कि मूल्य दे कर कोई वस्तु खरीद गई, परन्तु विक्रेतासे मांगने पर भी वह वस्तु न मिली। पीछे राजकीय वा दैवघटनासे वह वस्तु नष्ट या खराब हो गई। इस अवस्थामें वस्तुकी जो कुछ हानि होगी वह विक्रेताको ही पूरी करनी पड़ेगी। इसके लिये क्रेता दोषी नहीं है।

नारदने कहा है, कि विक्रेता अपना सौदा बेच कर यदि पीछे क्रेताको न दे और निर्द्धारित समयके भीतर वह उपहत, दग्ध वा अपहृत हो जाये, तो वह अनिष्ट विक्रेताका ही होगा, क्रेता उसका दायी नहीं है। किन्तु विक्रेताके वह वस्तु देने पर भी यदि क्रेता उसे न ले और चला जाय, तो वह अनिष्ट क्रेताको ही वहन करना पड़ेगा।

अब विक्रयव्यापारमें निषेधविधिकी आलोचना करनी चाहिये। व्यासने कहा है, कि एक ज्ञातिगोत्रका अविभक्त एक स्थावरसम्पत्ति बेचने वा दानादि करनेका अधिकार एक को नहीं है। इसमें सबोंकी सलाह लेनी पड़ेगी। सपि स्थावर ज्ञातिवर्ग विभक्त अथवा अविभक्त भी क्यों न हो, स्थावर सम्पत्तिमें सबोंका समान अधिकार हैं। इस अवस्थामें एक व्यक्ति दानविक्रयादि व्यापारके सम्पूर्ण अनधिकारी हैं।

दायतत्त्वमें लिखा है, कि यदि आपत् काल आ जाये,

तो एक व्यक्तिको भी स्थावरसम्पत्ति बेचनेका अधिकार है।

इस सम्बन्धका विस्तृत विचार आलोचना और मीमांसा दायभाग तथा मिताक्षरामें लिखा जा चुका है। इसलिये बढ़ जानेके भयसे यहां पर उनका उल्लेख नहीं किया गया।

शास्त्रमें वर्णभेदसे द्रव्यविशेषका विक्रय निषिद्ध बताय गया है। मद्यमांस बेचनेसे शूद्र उसी समय पतित समझा जायेगा, यही स्मृतिका मत है। कालिकापुराणमें लिखा है, कि शूद्रको मधु, चर्म, सुरा, लाक्षा और मांसको छोड़ और सभी प्रकारको वस्तु बेचनेका अधिकार है।

मनुने कहा है, कि ब्राह्मण लौह, लाक्षा और लवण ये तीन वस्तु बेचनेसे तुरत पतित होता है। क्षीर अर्थात् दूध बेचनेसे तीन दिनके भीतर ही ब्राह्मणको शूद्रमें गिनती की जायेगी।

यमके बचनमें लिखा है, कि जो गाय बेचता है उसे गायके शरीरमें जितने रोयें हैं उतने ही हजार वर्ष गोष्ठमें कृमि हो कर रहना पड़ता है।

मनुने ग्यारहवें अध्यायमें कहा है, कि आत्मविक्रय तथा तड़ाग, उद्यान, उपवन, स्त्री और अपत्य आदि विक्रय-कार्य उपपातकमें गणनीय है।

विक्रयक (सं० पु०) वि क्री-ण्वुल्। विक्रेता, बेचने वाला।

विक्रयण (सं० क्ली०) वि-क्री ल्युट्। विक्रय, बिक्री।

विक्रयपत्र (सं० क्ली०) विक्रयस्य पत्र। विक्रयका पत्र, वह पत्र जिसमें यह लिखा हो, कि अमुक पदार्थ अमुक व्यक्तिके नाम इतने मूल्य पर बेचा गया।

विक्रयिक (सं० पु०) विक्रयेण जीवतीति विक्रय (वस्त्र-क्रय-विक्रयात् ठन्। पा ४।४।१३) इति ठन्, यद्वा वि-क्री (क्रीय-इकन्। उण् २।४४) इति इकन्। विक्रेता, बेचनेवाला।

विक्रयी (सं० त्रि०) विक्रीणातीति वि क्री-णिनि। विक्रय कर्त्ता, बेचनेवाला। (याज्ञवल्क्यसं० २।१७३)

विक्रस्र (सं० पु०) (वौकसेः। उण् २।१५) कस गतौ वाबुपदे रगुत्वं चोपधायाः, वर्णविन्ने के पुनरुपधायां बहुल वचनात् रेफादेशः। चन्द्रमा। (उज्ज्वल)

विक्रान्त (सं० क्ली०) वि-क्रम क्त। १ वैक्रान्त मणि। (राजनि०) २ त्रिविक्रमावतार विष्णुके द्वितीय पादक्षेप द्वारा अन्तरीक्ष आक्रमण। ३ सिंह, शेर। ४ हिरण्याक्षके एक पुत्रका नाम। (हरिवंश ३।३८) ५ पुराणानुसार कुवलयाश्वके पुत्रका नाम जिसका जन्म मदालसाके गर्भसे हुआ था। (मार्कण्डेयपु० २५।८) ६ व्याकरणमें एक प्रकारकी संधि जिसमें विसर्ग अविकृत ही रहता है। ७ एक प्रजापतिका नाम। ८ चलनेका ढंग। ९ साहस, हिम्मत। १० एक प्रकारका मादक पेय पदार्थ। (त्रि०) ११ विक्रमशाली, तेजस्वी, प्रतापी। १२ जिसकी क्रान्ति नष्ट हो गई हो।

विक्रान्ता (सं० स्त्री) विक्रान्त-टाप्। १ वत्सादनी लता, गुड़ूच, गिलोय। २ अग्निमन्थवृक्ष, अरणी। ३ जयन्ती। ४ मूषिकपर्णिका। ५ वराहक्रान्ता। ६ आदित्यभक्ता, अड़हुल। ७ अपराजिता। ८ रक्त लज्जालुका, लाल लजालू। ९ हंसपदी लता।

विक्रान्ति (सं० स्त्री०) वि-क्रम-क्तिन्। १ अश्वकी एक गति, घोड़ेकी सरपट चाल। पर्याय—पुलायित। २ पादविक्षेप, कदम उठाना। ३ गति, चाल। ४ विक्रम; बल। ५ वीरता, शूरता, बहादुरी।

विक्रायक (सं० पु०) विक्रीणातीति वि-क्री-ण्वुल्। विक्रेता, बेचनेवाला।

विक्रिया (सं० स्त्री०) विकरणमिति वि-कृ (कृञः शच्। पा ३।३।१००) इति श टाप्। १ विकार, प्रकृतिका अन्यथाभाव। विरुद्ध होनेवाली क्रिया। साहित्यदर्पणमें लिखा है, कि नायकनायिकोंके निर्विकार चित्तमें नायिका वा नायकको देख जो प्रथम अनुराग उत्पन्न होता है उसे विक्रिया कहते हैं।

२ किसी क्रियाविरुद्ध होनेवाली क्रिया।

विक्रियोपमा (सं० स्त्री०) उपमालङ्कारभेद। इसका लक्षण—जहां उपमानके विकार द्वारा साम्य अर्थात् तुलना होती है, अर्थात् जहां प्रकृतिके विकृति द्वारा समता होती है या उपमेयका उपमान विकृत होता है वहीं पर विक्रियोपमा होगी।

उदाहरण—हे तन्वङ्गि! तुम्हारा यह वदन चन्द्रबिम्बसे उत्कीर्ण तथा पद्मगर्भसे उद्धृतकी तरह है।

यहां पर उपनामभूत चन्द्रबिम्ब और पद्मगर्भ ये दो प्रकृतियां हैं, इससे उत्कीर्ण और उद्धृत होनेके कारण वदनको विकृति हुई है। इसी प्रकार प्रकृतिकी समता होनेसे विक्रियोपमा अलङ्कार हुआ है। इस तरह प्रकृतिकी विकृति द्वारा जहां समता होगी वहां यह अलङ्कार होगा।

विक्री (हिं० स्त्री०) १ बेचनेकी क्रिया या भाव, विक्रय। २ वह धन जो बेचने पर मिले।

विक्रीड़ (सं० पु०) विविध क्रीड़ा।

विक्रीयासम्प्रदान (सं० क्ली०) विक्रीय न सम्प्रदानं क्षेत्रे यत्र। अष्टादश विवादोंमेंसे एक। इस विवाद वा व्यवहारके सम्बन्धमें वीरमित्रोदयमें इस प्रकार लिखा है—नारद कहते हैं, कि मूल्य ले कर कोई वस्तु खरीदी गई, पर खरीदारको वह न दी गई, इसीका नाम विक्रीयासम्प्रदान है और यही विवादपद कहलाता है।

प्रधानतः पण्यद्रव्य दो प्रकारका है, स्थावर और जङ्गम। इन दो प्रकारके पण्यकी क्रय-विक्रय विधि ६ प्रकारकी है। यथा—गणित, तुलिममेय, क्रियान्वित, रूपसम्पन्न और श्रीयुक्त। पण्य-क्रयविक्रयके व्यापारमें ये छः प्रकारकी विधियां निर्दिष्ट हैं। इनमेंसे जो गिन कर खरीदा जाता, उसका नाम गणित है अर्थात् संख्यायोग्य, यथा क्रमुक फलादि। तराजू पर जो वजन किया जाता है, उसे तुलिम कहते हैं, यथा—हेमचन्दनादि। मेय अर्थात् मांप लेने योग्य, यथा—यवादि। रूपसम्पन्न अर्थात् रूपयुक्त वस्तु, यथा—पण्याङ्गना प्रभृति। श्रीयुक्तका अर्थ दीप्तिमान है,—पद्मरागादि।

विक्रेताने पण्यका मूल्य लिया, क्रेताने यह पण्य मांगा, पर विक्रेताने न दिया। ऐसी हालतमें यदि वह स्थावरपण्य हुआ, तो विक्रेताको उसकी क्षति पूरी करनी होगी अर्थात् विक्रय करनेके बाद उस वस्तुका यदि उपभोग किया जाय, तो उसकी पूर्त्ति कर देनी होगी। फिर यदि वह जङ्गम हुआ, तो क्रियाफलके साथ क्रेताको पण्य देना होगा। क्रियाफलका अर्थ दोहनादि समझना चाहिये।

किन्तु इस व्यवस्थाको तभी काममें लाना चाहिये, जब पण्यकालकी अपेक्षा पण्यदानकालमें यदि पण्य अधिक मूल्य पर बाजारमें बिके। परन्तु क्रयकालकी अपेक्षा उस समय पर वह पण्य कम दाममें बिकता हो, तो वर्त्तमान मूल्यके हिसाबसे पण्य लौटा कर उसके साथ साथ क्रयकालिक वर्द्धित मूल्य क्रेताको देना पड़ेगा। फिर यदि उस समय पण्यमूल्य समानभावमें भी रहे, तो भी खरीददारको कुछ सूद लगा कर देना होगा। यही हुई शास्त्र-व्यवस्था।

याज्ञवल्क्यने कहा है, कि क्रेता या खरीददार देशान्तरसे आ कर यदि माल खरीदे, पर विक्रेतासे माल मांगने पर भी न मिले, तो खरीददारको देशांतर जा कर वह माल बेचनेमें जो लाभ होता, उसी लाभके हिसाबसे विक्रेता क्रेताको माल लौटा देनेके लिये बाध्य है।

धर्मशास्त्रकार विष्णुने ऐसी हालतमें विक्रेताको दण्ड देनेकी व्यवस्था दी है। उनके मतसे राजाको चाहिये, कि वे विक्रेतासे सूद समेत वसूल कर क्रेताको देवें। इसके अलावा उसे एक सौ पण दण्ड भी देवें। विक्रेताके सम्बन्धमें जो व्यवस्था कही गई है उसे अनुतापहीन तृप्तिसम्पन्न विक्रेता विषयमें ही जानना होगा। किन्तु जहां विक्रेता अपना माल बेच कर उसी समय अनुतापवशतः वह माल क्रेताको न दे और जो क्रेता माल खरीदनेके बाद अनुतप्त हो कर उसे न ले, तो ऐसी हालतमें क्रेता विक्रेता दोनोंको ही द्रव्यमूल्यका दशवां भाग नुकसान सहना होगा। किन्तु क्रेता विक्रेताके मध्य ऐसा अनुताप यदि दश दिनके बाद हो, तो फिर मूल्यका दशवां भाग किसीको भी नहीं देना पड़ेगा।

वह पण्य या माल दोहन या वाहनयोग्य हो, तो फिर उक्त व्यवस्था काममें न लाई जायेगी। वैसी हालतमें दश दिनके मध्य अनुताप उपस्थित होनेसे दशवां भाग नुकसान सह कर वह अपना द्रव्य या मूल्य वापस पायेगा। दश दिनके बाद अनुताप करना अनुचित है। क्योंकि उस समय द्रव्य वा मूल्य वापस पानेकी व्यवस्था नहीं है।

विक्रेताके निकटसे माल खरीद कर क्रेता यदि उसे ग्रहण न करे और वह माल नुकसान हो जाय, तो जिसका दोष साबित होगा उसीको वह क्षति देनी

पड़ेगी। जहां क्रेताने माल खरीद कर विक्रेतासे मांगा नहीं और विक्रेताने भी नहीं दिया इधर चोरोंके उपद्रवसे माल नष्ट हो गया, तो क्रेता और विक्रेता दोनों हीको समान हानि होगी। यही देवलभट्टका मत है।

नारदका कहना है, कि द्रव्य खरीदनेके बाद क्रेताको अनुताप हुआ, क्रेताके देने पर भी उसने नहीं लिया। ऐसी हालतमें विक्रेता यदि वह द्रव्य दूसरेके हाथ बेच डाले, तो उसका कोई अपराध न होगा।

जो विक्रेता पहले क्रेताको निर्दोष वस्तु दिखा कर पीछे चालाकीसे उसके हाथ दोषयुक्त वस्तु विक्रय करे और जो विक्रेता एकके हाथ माल बेच कर पीछे उसके अनुताप उपस्थित नहीं होने पर भी दूसरेके हाथ बेच डाले, तो दोनों ही हालतोंमें विक्रेता ही अपराधी है। इस अपराधके दण्डस्वरूप विक्रेता क्रेताको दूना मूल्य देवें, साथ साथ विनय भी दिखावे।

ऊपर जो नारदकृत व्यवस्था कही गई, वृहस्पति, याज्ञवल्क्य आदि धर्मशास्त्रकारगण भी उस व्यवस्थाको समर्थन कर गये हैं।

इसके अलावा वृहस्पतिने कहा है, कि विक्रेता यदि मत्त, उन्मत्त, भीत, अस्वाधीन वा अज्ञ अवस्थामें अधिक मूल्यका द्रव्य कम मूल्यमें दे डाले तो क्रेताको वह लौटा देना उचित है।

क्रेता 'माल खरीदूंगा' ऐसा कह कर चला गया, उसका मूल्य नहीं दिया और न पीछे समय पर खरीदनेके लिये आया तो विक्रेता क्रेताको वह माल दे वा न दे, उसकी खुशी है, उसे कोई दोष न होगा; जहाँ क्रेता पक्की बात करके विक्रेताके हाथ कुछ मूल्य दे चला गया; किन्तु निर्दिष्ट समयके मध्य वह लेने नहीं आया तो विक्रेता उस मालको दूसरेके हाथ बेच सकता है।

विक्रुष्ट (सं० त्रि०) वि क्रुश-क्त। निष्ठुर, निर्दय, निठुर।

विक्रेतृ (स० त्रि०) विक्रीणाति वि क्री-तृच। क्रयविक्रयकर्त्ता, बेचनेवाला। पर्याय—विक्रयिक, विक्रयी, विक्रायक।

विक्रेड़ित (सं० क्ली०) वि-क्रीड़ भावे क्त। १ विविध क्रीड़ा, नाना प्रकारके खेल। (त्रि०) २विविध क्रीड़ायुक्त जिसमें तरह तरहके खेल हों।

विक्रेत (सं० त्रि०) वि-क्री-क्त। कृतविक्रय, जो बेच दिया गया हो।

विक्रेतव्य (सं० त्रि०) वि-क्री-तव्य। विक्रयार्ह, बेचने योग्य।

विक्रेय (सं० त्रि०) विक्रीयते इति विक्री (अचो यत्। पा ३।१।९७) इति यत्। विक्रययोग्य द्रव्य, बिकनेवाला। पर्याय—पाणितव्य, पण्य।

विक्रेता (सं० पु०) विक्रेतृ देखो।

विक्रोश (सं० पु०) वि क्रुश घञ्। विकृत शब्द।

विक्रोशयितृ (सं० त्रि०) वि-क्रुश तृच्। विक्रोशकारक।

विक्रोष्टृ (सं० त्रि०) वि-क्रुश-तृच्। विक्रोशकारी।

विक्लोव (सं० त्रि०) विक्लवते इति वि-क्लु-पचाद्यच्। १ विह्वल, बेचैन। २ विवश। ३ चञ्चल। ४ उद्भ्रान्त। ५ कातर। ६ भीरु, भीत। ७ उपहत। ८ अवधारणासमर्थ। ९कर्त्तव्याकर्त्तव्यनिर्णयमें असमर्थ। १० किंकर्त्तव्यविमूढ़। ११ व्याकुलता। १२ जड़ता। १३ उदासीनता। १४ भ्रान्त।

विक्लवता (सं० स्त्री०) विक्लवस्य भावः तल-टाप्। विक्लवत्व, बेचैनी।

विक्लावित (सं० त्रि०) वि क्लव युक्त, बेचैन।

विक्लित्ति (सं० स्त्री०) वि-क्लिद-क्तिच्। १ अन्नादिका पाक। २ द्रवीभाव। ३ आर्द्रता।

विक्लिन्न (सं० त्रि०) वि क्लिद-क्त। १ जरा द्वारा जीर्ण, जो पुराना हो जानेके कारण सड़ या गल गया हो। २ शीर्ण, पुराना। ३ आर्द्र, गीला। (मेदिनी)

विक्लिन्दु (सं० पु०) विशेष दुःख।

विक्लिष्ट (सं० त्रि०) विशेष रूपसे क्लान्त, बहुत थका हुआ।

विक्लेद (सं० पु०) वि-क्लिद-घञ्। १ आर्द्रता, गीलापन। २ नासारोग, नाककी एक बीमारी।

विक्लेश (सं० पु०) विशेष क्लेश, भारी तकलीफ।

विक्षत (सं० त्रि०) वि-क्षणक्त। १ विशेष रूपसे क्षत, बुरी तरह घायल। २ आघातप्राप्त, जिसे चोट लगी हो। ३ खण्डित, खंड खंड किया हुआ।

विक्षय (सं० पु०) वैद्यकके अनुसार एक प्रकारका रोग, जो अधिक मद्य-पान करनेसे होता है।

विक्षर (सं० पु०) विशेषरूपसे क्षरण।

विक्षाम (सं० क्ली०) विशेष क्षमता।

विक्षार (सं० पु०) विशिष्ट लक्ष्यवेध। (तैत्तिरीयब्रा० १।५।११)

विक्षाव (सं० पु०) विक्षरणमिति वि-क्षु- (वौक्षुश्रवः। पा ३।३।२५) इति घञ्। १ शब्द, आवाज। २ कास, खांसी।

विक्षिणत्क (सं० त्रि०) विविध पापध्वंसकारी अग्नि आदि। (शुक्लयजुः १६।४६)

विक्षित् (सं० त्रि०) निवासी, बसनेवाला।

विक्षिप्त (सं० त्रि०) वि-क्षिप-क्त। १ त्यक्त, जिसका त्याग किया गया हो। २ कम्पित, कंपा हुआ। ३ प्रेरित, भेजा हुआ। ४ फेंका या छितराया हुआ। ५ व्याकुल, घबराया हुआ। ६ जिसका दिमाग ठिकाने न हो, पागल। (क्ली०) ७ चित्तवृत्तिविशेष। पातञ्जलदर्शनमें लिखा है, कि चित्तवृत्तिका निरोध करनेसे योग होता है। वह चित्तवृत्ति पांच प्रकारकी है, क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्धावस्था। यह निरुद्धावस्था ही समाधिके लिये उपयोगी है अर्थात् एकाग्र और निरुद्धावस्थामें ही योग होता है; क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्तावस्थामें समाधि नहीं होती।

रजोगुणका उद्रेक हो कर चित्तकी जो चञ्चलावस्था होती है, उसका नाम क्षिप्तावस्था है। इसमें चित्त क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रह सकता, एक विषयसे दूसरे विषयमें भ्रमण करता रहता है। इस समय चित्त बाह्य विषयमें आसक्त हो कर सुखदुःखादिका भोग करता है। रजोगुण ही चित्तको उन सब विषयोंमें प्रेरण करता है। दैत्यदानवादिके चित्तकी ही क्षिप्तावस्था होती है।

तमोगुणके उद्रेकसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका ज्ञान नहीं रहता तथा चित्त क्रोधादिके वशीभूत हो विरुद्ध कार्यादि करने लगता है। इसका नाम मूढ़ावस्था है। यह अवस्था राक्षस और पिशाचादिके चित्तक्षेत्रमें उदय होती है।

विक्षिप्तावस्था—इस अवस्थामें सत्त्वगुणकी प्रबलताके कारण चित्त दुःखसाधन साधुविगर्हित कर्मों का परित्याग कर सुखसाधनीभूत सज्जनसेवित आत्मोत्कर्षजनक व्रतपूजादि सत्कार्यमें अनुरक्त होता है। यह अवस्था जनसाधारणके चित्तमें उत्पन्न नहीं होती; देवता आदिके चित्तमें उत्पन्न होती है। क्षिप्त और मूढ़ अवस्थासे विक्षिप्त अवस्था श्रेष्ठ है, रजो और तमोगुण ही चित्तमें विक्षेप उपस्थित करता है। अतएव विक्षिप्तावस्थामें सत्त्वगुणके प्रबल होनेसे चित्तका विक्षेप कुछ कम हो जाता है। रजो और तमोगुण सत्त्वगुणसे पराभूत हो अवस्थान करता है।

चित्त रजोगुण द्वारा अभिभूत हो नाना प्रकारकी प्रवृत्तिसे बाह्य हो कर उसीके अनुसार कार्य करता है। भाग्यवशतः यदि किसीके चित्तमें सत्त्वगुणका उदय हो, तो उसे लेशमात्र भी दुःख नहीं रहता। इसी प्रकार विक्षिप्तावस्था भी योगकी उपयोगी नहीं है। योगभाष्यमें लिखा है,—

"विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्नयोगपक्षे वर्त्तते।"

(योगभाष्य १।२)

इसमें सत्त्वगुणकी कुछ प्रबलता रहने पर भी रजस्तमोजन्य चित्त-विक्षेप एकदम तिरोहित नहीं होता, अतएव इस अवस्थामें भी योग नहीं होता है।

इस विषयमें भाष्यकारने कहा है, कि चित्त त्रिगुणात्मक है, रजोगुणके समुद्रेक वा अधिकताके कारण उन सब विषयोंमें परिचालित चित्तकी अत्यन्त अस्थिरावस्था वा तदवस्थ चित्तका नाम क्षिप्त है। तमोगुणकी समुद्रेकजनित निद्रावस्था वा तदवस्थ चित्तको मूढ़ कहते हैं। क्षिप्त और मूढ़ अवस्थामें योगकी किसी प्रकारकी सम्भावना नहीं। क्षिप्त अवस्थासे कुछ विशेषयुक्त चित्तका नाम विक्षिप्त है। विक्षिप्त चित्तकी कदाचित् स्थिरता होनेके कारण उस समय क्षणिक वृत्ति निरोध हो सकती है सही, पर वह वृत्तिनिरोध क्लेशादिका परिपन्थी वा निवारक नहीं होता; अतएव विक्षिप्तावस्थामें योग नहीं होता। पातञ्जल देखो।

विक्षिप्तक (सं० पु०) वह मृत शरीर जो जलाया या गाड़ा न गया हो, बल्कि यों ही कहीं फेंक दिया गया हो।

विक्षिप्तता (सं० स्त्री०) विक्षिप्त या पागल होनेका भाव, पागलपन।

विक्षीर (सं० पु०) रक्तार्क वृक्ष, मदारका पेड़ ।

विक्षीरणी (सं० पु०) दुग्धिका, दुद्धी ।

विक्षुद्र (सं० त्रि०) अतिक्षुद्र, बहुत छोटा ।

विक्षुब्ध (सं० त्रि०) क्षुब्ध, जिसके कानमें क्षोभ उत्पन्न हुआ हो ।

विक्षभा (सं० स्त्री०) एक छायाका मान ।

विक्षेप (सं० पु०) वि-क्षिप-घञ् । १ प्रेरण, इधर उधर फेंकना । २ त्याग, छोड़ना । ३ विक्षेपण, इधर उधर हिलाना । ४ कम्पन, थरथराहट । ५ प्रसारन, फैलाना । ६ सञ्चालन, देखनेकी क्रिया । ७ भय, डर । ८ राजस्व, कर । ९ धनुषकी डोरी खींचना, चिल्ला चढ़ाना । १० मनको इधर उधर भटकाना, इन्द्रियोंको वशमें न रखना । ११ प्राचीनकालका एक प्रकारका अस्त्र । यह फेंक कर चलाया जाता था । १२ सेनाका पड़ाव, छावनी । १३ बाधा, विघ्न । १४ सङ्गीतके मतसे सुरका एक भेद । १५ एक प्रकारका रोग । पातञ्जलदर्शनके मतसे चित्तविक्षेपके कारण ९ हैं । इन ९ कारणों द्वारा चित्त-विक्षिप्त होता है ।

"त्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितानि चित्तविक्षेरतेऽन्तरायाः" ।

(पातञ्जलद० १।२९)

'व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व ये ही नौ चित्तविक्षेप तथा योगके अन्तराय अर्थात् विघ्नस्वरूप हैं । योगाभ्यासकालमें ये सब चित्तविक्षेप उपस्थित होते हैं, इसमें योग नष्ट नहीं होता ।

इन सब कारणोंसे मनकी एकाग्रता नहीं होती, वरन् सर्वदा चित्तविक्षेप हुआ करता है । शरीरगत वातपित्तादि धातुकी विषमता होनेसे ही शरीरमें ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं, इसका नाम व्याधि है । किसी किसी कारणवश चित्त अकर्मण्य हो जाता है, ऐसे चित्तकी अकर्मण्यताको ही स्त्यान कहते हैं । उभयावलम्बन ज्ञानका नाम संशय है । योग-साधन करनेसे फलसिद्धि होगी वा नहीं, ऐसे अनिश्चयज्ञानको संशय कहते हैं । समाधि साधनमें उदासीनताका नाम प्रसाद है अर्थात् सिद्धिके विषयमें दृढ़तर अध्यवसायपूर्वक उदासीनताका परित्याग नहीं करनेसे योग साधन नहीं होता । शरीर और चित्तकी गुरुताको आलस्य कहते हैं अर्थात् जिस कारणसे शरीर और चित्तके गुरु होनेसे योगसाधनमें मन नहीं लगता वही आलस्य शब्दवाच्य है । विषयमें दृढ़ मन संयोगको अविरति और शुक्तिकादिमें रजतत्वादिके ज्ञानको भ्रान्तिदर्शन कहते हैं । शुक्तिका (सीप)में जिस प्रकार रजतकी भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार अपरिणामदर्शियोंके विषयसुखको प्रकृत सुख समझ कर भ्रान्ति होती है, किसी कारणवश समाधिकी उपयुक्त भूमिकी अप्राप्ति का नाम अलब्धभूमिकत्व है । उपयुक्त स्थान नहीं मिलने पर योगका साधन कदापि नहीं होता, जहां तहां योगसाधन करनेसे तरह तरहकी विघ्नबाधायें उपस्थित होती हैं । लब्धस्थानमें मनकी अप्रतिष्ठाका नाम अनवस्थितत्त्व है, स्थानविशेषमें मानसिक असन्तोष हुआ करता है ।

ये सब चित्तक्षेप योगके अन्तरायस्वरूप हैं । इनके रहनेसे योग नहीं होता । पुनः पुनः एकतत्त्वाभ्यास द्वारा ये सब चित्तविक्षेप दूर होते हैं । (पातञ्जलदर्शन)

विक्षेपण (सं० क्ली०) वि-क्षिप ल्युट् । विक्षेप, ऊपर अथवा इधर उधर फेंकनेकी क्रिया । २ हिलाने या झटका देनेकी क्रिया । ३ धनुषकी डोरी खींचनेकी क्रिया । ४ विघ्न, बाधा ।

विक्षेपलिपि (सं० स्त्री०) लिपिभेद, एक प्रकारकी लेखप्रणाली ।

विक्षेपशक्ति (सं० स्त्री०) विक्षेपाय शक्तिः । मायाशक्ति । वेदान्तके मतसे अज्ञानकी आवरण और विक्षेप नामकी दो शक्तियां हैं । वेदान्त शब्द देखो ।

विक्षेप्तृ (सं० त्रि०) वि-क्षिप-तृच् । विक्षेपकारक ।

विक्षोभ (सं० पु०) वि-क्षुभ-घञ् । १ सञ्चालन, हिलाने या झटका देनेकी क्रिया । २ विदारण, फाड़नेकी क्रिया । ३ क्षोभ, दुःख । ४ संघटन, मेल । ५ मनकी चञ्चलता । ६ भय, डर । ७ चित्तोद्भ्रान्ति । ८ उद्रेक, अधिकता । ९ औदास्य, उदासीनता । १० औत्कण्ठ्य, उत्कण्ठा । ११ हाथीकी छातीका एक पार्श्व या भाग ।

विक्षोभण (सं० पु० क्ली०) १ विदारण, फाड़ना । २ विक्षोभ, मनमें बहुत अधिक क्षोभ उत्पन्न होना या करना ।

विक्षोभी (सं० त्रि०) वि-क्षुभ-णिनि। विक्षोभकारक, दुःख उत्पन्न करनेवाला।

विख (सं० त्रि०) विख्य निपातनात् यलोपः। गतनासिक, बिना नाकवाला।

विखण्डिन् (सं० त्रि०) विखण्ड-णिनि। विखण्डकारक, दो टुकड़े करनेवाला।

विखनन (सं० क्ली०) खनन, खोदना।

विखनस् (सं० पु०) ब्रह्मा।

विखहा (सं० पु०) गरुड़।

विखाद (सं० पु०) वि खाद-अच्। विशेषरूपसे खादक वा भक्षक। (ऋक् १०।३८।४)

विखादितक (सं० पु०) वह मृत शरीर जिसे पशुओंने खा डाला हो।

विखानस (सं० पु०) वैखानस मुनिभेद।

वैखानस देखो

विखाना (सं० स्त्री०) जिह्वा, जीभ।

विखायंध (हि० स्त्री०) कड़वी या जहरकी-सी गंध।

विखु (सं० त्रि०) विगता नासिका यस्य, बहुलवचनात् नासिकायाः खुः। गतनासिक, बिना नाकवाला।

विखुर (सं० पु०) १ राक्षस। २ चोर।

विखेद (सं० त्रि०) द्विधाकृत, दो भागोंमें बाँटा हुआ।

(भागवत १।१७।२१)

विख्य (सं० त्रि०) विगता नासिका यस्येति बहुव्रो। (ख्यश्च। पा ५।४।२८) इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या नासिकायाः ख्यः। गतनासिक, जिसकी नाक न हो, नकटा।

विख्यात (सं० त्रि०) वि-ख्या-क्त। प्रसिद्ध, जिसे सब लोग जानते हों।

विख्याति (सं० स्त्री०) वि-ख्या-क्तिच्। प्रसिद्धि, शोहरत।

विख्यापन (सं० क्ली०) वि-ख्या णिच् ल्युट्। व्याख्यान, प्रसिद्ध करना।

विख्र (सं० त्रि०) विगता नासिका यस्य, खः खश्च वक्तव्यौ इति नासिकायाः ख खश्च। १ अनासिक, बिना नाकवाला। २ छिन्ननासिक, नकटा।

विगण (सं० पु०) विपक्ष, शत्रु।

विगणन (सं० क्ली०) विगण-ल्युट्। १ ऋणमुक्ति, कर्ज चुकाना। २ हिसाब लगाना, लेखा करना।

विगत (सं० त्रि०) वि-गम-क्त। १ प्रभारहित, जिसकी चमक आदि जाती रही हो। पर्याय—निष्प्रभ, अरोक, वीत। २ रहित, विहीन। ३ गतसे पहलेका, अन्तिम या बीते हुएसे पहलेका। ४ जो कहीं इधर उधर चला गया हो। ५ जो गत हो गया हो, जो बीत चुका हो। जब यह शब्द यौगिक अवस्थामें किसी संज्ञाके पहले आता है, तब इसका अर्थ होता है—"जिसका नष्ट हो गया हो।" जैसे,—विगत ज्वर = जिसका ज्वर उतर गया हो। विगतनयन = जिसकी आंखें नष्ट हो गई हों।

विगतश्रीक (सं० त्रि०) विगता श्रीर्यस्य इति बहुव्रीहौ कप्रत्ययः। श्रीरहित, श्रीभ्रष्ट।

विगतभय (सं० त्रि०) विगतं भयं यस्य। निर्भीक, बेडर।

विगतरागध्वज (सं० पु०) बौद्धाचार्यभेद।

विगतशोक (सं० त्रि०) विगतः शोको यस्य बहुव्रो०। शोकहीन, जिसको कोई शोक न हो।

विगतस्पृह (सं० त्रि०) स्पृहाहीन, निस्पृह।

(गीता ३ अ०)

विगतसूतिका (सं० स्त्री०) पुनः पुनरार्त्तव दर्शन पर्यन्त प्रसूति। (सुश्रुत शारीर १० अ०)

विगता (सं० त्रि०) १ जो विवाह करनेके योग्य न रह गई हो। २ जो पर पुरुषसे प्रेम करती हो।

विगतार्त्तव (सं० स्त्री०) विगतं आर्त्तवं रजो यस्याः बहुव्रीहि। पचपन वर्षकी वह स्त्री जिसका (मासिकधर्म) रजोदर्शन होना बन्द हो गया हो। पर्याय—निष्फली, निष्फला, निष्फली, निष्फला, विकली, विकला।

(शब्दरत्ना०)

विगताशोक (सं० पु०) बौद्धभेद, वीतशोक।

विगति (सं० स्त्री०) दुर्दशा, खराबी।

विगतोद्भव (सं० पु०) एक बुद्धका नाम।

विगद (सं० पु०) विविध शब्दकारी।

विगदित (सं० त्रि०) चारों ओर प्रचारित।

विगन्तव्य (सं० पु०) १ विगमनीय। २ त्यागयोग्य।

विगन्ध (सं० त्रि०) १ गन्धहीन, जिसमें किसी प्रकारकी बू न हो। २ दुर्गन्धित, बदबूदार।

विगन्धक (सं० पु०) इङ्गुदीवृक्ष।

विगन्धि (सं० त्रि०) १ गन्धहीन। (क्ली०) २ गन्धहीन वृक्ष।

विगन्धिका (सं० स्त्री०) १ हपुषा, हाऊबेर। २ अजगंधा, तिलवन।

विगम (सं० पु०) वि-गम (ग्रहवृदनिश्चिगमश्च। पा ३।३।५८) इति अप्। १ नाश। २ मोक्ष। ३ प्रस्थिति, चला जाना। ४ निष्पत्ति, अन्त, खातमा। ५ क्षान्ति, सहनशीलता।

विगमचन्द्र (सं० पु०) बौद्धराजपुत्रभेद। (तारानाथ)

विगर्भा (सं० स्त्री०) विगतगर्भा, जिसका गर्भपात हो गया हो।

वगर्ह (सं० पु०) वि-गर्ह-अच्। निन्दा, शिकायत।

विगर्हण (सं० क्ली०) वि-गर्ह-ल्युट्। १ निन्दन, शिकायत। २ भर्त्सन, डाँट, फटकार।

"कृष्णो च भवतो द्वेष्ये वसुदेवविगर्हणात्।"

(हरिवंश ३९।२३)

विगर्हणा (सं० स्त्री०) वि गर्ह-णिच्-टाप्।

विगर्हया देखो।

विगर्हित (सं० त्रि०) वि-गर्ह-क्त, विशेषेण गर्हितः। १ विशेषरूपसे गर्हित, जिसे डांट या फटकार बतलाई गई हो। २ निन्दनीय, खराब। ३ निषिद्ध।

विगर्हिन् (सं० त्रि०) वि-गर्ह-णिनि। विगर्हकारक, निन्दाकारक।

विगर्ह्य (सं० त्रि०) वि-गर्ह-यत्। १ निन्दायोग्य, निन्दनीय। २ भर्त्सनायोग्य, डांटने-डपटनेके योग्य।

लौकिक वा शास्त्रीय निबन्धके साथ पणबन्धनादि द्वारा जो बात कही जाती है, उसे विगर्हकथा कहते हैं। पण करके वाक्यप्रयोगकी शास्त्रने निन्दा की है, इस कारण पण रख कर जो बात कही जाती है, वही विगर्हकथा है।

विगर्ह्यता (सं० स्त्री०) विगर्ह्यस्य भावः, तल्-टाप्। विगर्हका भाव या धर्म।

विगलित (सं० त्रि०) विशेषेण गलितः। १ स्खलित, जा गिर गया हो। २ जो बह गया हो, जो चू कर या टपक कर निकल गया हो। ३ शिथिल, ढीला पड़ा हुआ। ४ बिगड़ा हुआ।

विगाढ़ (सं० त्रि०) विगाह्यते स्मेति वि-गाह-क्त। १ स्नात, नहाया हुआ। २ प्रगाढ़, बहुत अधिक। ३ प्रौढ़, अच्छी तरह बढ़ा हुआ। ४ कठिन, सख्त।

विगाथा (सं० स्त्री०) आर्य्या छन्दका एक भेद। इसके विषम पदोंमें १२, दूसरेमें १५ और चौथेमें १८ मात्राएं होती हैं और अन्तका वर्ण गुरु होता है। विषमगणोंमें जगण नहीं होता, पहले दलका छठा गण एक लघुका मान लिया जाता है। इसे विग्गाहा और उद्गीति भी कहते हैं।

विगान (सं० क्ली०) विरुद्धं गानं परस्य। निन्दा।

विगामन् (सं० क्ली०) विविध प्रकारका गमन।

(ऋक् १।१५५।४)

विगाह (सं० त्रि०) वि-गाह-अच्। १ विगाहमान, सर्वत्र व्यापित। २ अवगाहनकर्त्ता, स्नान करनेवाला। (क्ली०) ३ अवगाहन, स्नान। ४ विलोड़न, मथना।

विगाहन (सं० क्ली०) वि-गाह-ल्युट्। अवगाहन, स्नान।

विगाहमान (सं० त्रि०) वि-गाह-शानच्। १ अवगाहनकारी, स्नान करनेवाला। २ विलोड़नकर्त्ता, मथनेवाला।

विगाह्य (सं० त्रि०) वि गाह-यत्। १ विगाहनयोग्य, स्नान करने लायक। २ विलोड़न योग्य, मथने लायक।

विगिर (सं० पु०) विष्किर पक्षिभेद।

विगीत (सं० त्रि०) वि-गै-क्त। निन्दित, गर्हित।

विगीति (सं० स्त्री०) १ निन्दा। २ एक प्रकारका छन्द।

विगुण (सं० त्रि०) विपरीतो गुणो यस्य। १ गुण-वैपरीत्यविशिष्ट। २ गुणरहित, जिसमें कोई गुण न हो। ३ विकृत, खराब। ४ सूक्ष्म, बारीक।

विगुणता (सं० स्त्री०) विगुणस्य भावः तल्-टाप्। विगुणका भाव या धर्म।

विगुल्फ (सं० त्रि०) प्रचुर, ज्यादा।

(आश्वलायन गृह्यसूत्र ४।१।१७)

विगूढ़ (सं० त्रि०) विशेषेण गूढ़ः, वि-गुह-क्त। १ गर्हित। २ गुप्त।

विगृह्य (सं० त्रि०) १ विग्रहविषयीभूत। २ कृतविच्छेद, अलग किया हुआ।

विग्गाहा (हिं० स्त्री०) विगाथा नामक छन्द।

विगाथा देखो।

विग्न (सं० त्रि०) विज क्त। १ भीत। २ उद्विग्न।

विग्र (सं० त्रि०) १ गतनासिक, नकटा। २ मेधावी।

विग्रह (सं० पु०) विविधं सुख दुःखादिकं गृह्णाति विग्रह-अच्, यद्वा विविधैर्दुःखादिभिर्गृह्यते इति वि ग्रह (ग्रह-वृहनिश्चिगमश्च। पा ३।३।५८) इति अप्। १ शरीर। २ युद्ध, लड़ाई। ३ विरोधमात्र, कलह। ४ विभाग। ५ वाक्यभेद, समासवाक्य। समासमें जो वाक्य होता है, उसे विग्रह वा व्यासवाक्य कहते हैं। इसका दूसरा नाम विस्तार भी है। वीणां पक्षिणां ग्रहः ग्रहणं। ६ विहङ्ग, पक्षी। ७ देवमूर्त्ति। धातु वा पाषाणादिसे देवताओंको जो मूर्त्ति बनाई जाती है, उसे विग्रह कहते हैं। ८ विशेष ज्ञान। ९ प्रहार, आघात, चोट। १० नीतिके छः गुणोंमेंसे एक, विपक्षियोंमें फूट या कलह उत्पन्न करना। ११ विप्रिय, अप्रिय, कटु। १२ विस्तार, चौड़ाई। १३ दूर या अलग किया हुआ। १४ आकृति, शक्ल। १५ शृङ्गार, सजावट। १६ सांख्यके अनुसार कोई तत्त्व। १७ शिवका एक नाम। १८ स्कन्दके एक अनुचरका नाम। १९ अवान्तरकल्प। (भागवत २।१०।४७) २० विशिष्टानुभव।

विग्रहण (सं० क्ली०) १ विशेषरूपसे ग्रहण, चुन लेना। २ रूप धारण करना, शक्लमें आना।

विग्रहपालदेव (सं० पु०) पालवंशीय एक राजा। पालराजवंश देखो।

विग्रहराज (सं० पु०) काश्मीरके एक राजपुत्र। (राजतर० ६।३३५)

विग्रहवत् (सं० त्रि०) विग्रह-अस्त्यर्थे मतुप् मस्य व। विग्रहविशिष्ट, विग्रहयुक्त।

विग्रहावर (सं० क्ली०) विग्रहमावृणोति आ-वृ-अच्। पृष्ठ, पीठ।

विग्रही (सं० त्रि०) वि-ग्रह-इनि। १ लड़ाई झगड़ा करनेवाला। २ युद्ध करनेवाला। ३ युद्ध-विभागका मन्त्री या सचिव।

विग्रहीतव्य (सं० त्रि०) वि-ग्रह तव्य। विग्रहके योग्य, लड़ाई झगड़ा करने लायक।

विग्राह (सं० क्ली०) विग्रहविषयीभूत, जिसके साथ युद्ध हो सके।

विग्राह्य (सं० त्रि०) विग्रहविषयीभूत, जो इस योग्य हो कि उसके साथ लड़ाई की जा सके।

विग्रीव (सं० त्रि०) वि-विच्छिन्ना ग्रीवा यस्य। विच्छिन्नग्रीव, जिसका गला अलग हो गया हो। (ऋक् ७।१०४।२०)

विग्लापन (सं० क्ली०) विमर्षकरण, कष्ट देना।

विघटन (सं० क्ली०) वि-घट ल्युट्। १ विश्लेष, संयोजक अंगोको अलग अलग करना। २ व्याघात, तोड़ना फोड़ना। ३ विरोध, नष्ट करना। ४ विकाश, खिलना।

विघटिका (सं० स्त्री०) विभक्ता घटिका यया। समयका एक छोटा मान, घड़ीका २३वाँ भाग।

विघटित (सं० त्रि०) १ जिसके संयोजक अंग अलग अलग किये गये हों। २ जो तोड़ फोड़ डाला गया हो। ३ नष्ट, बरबादी।

विघट्ट (सं० क्ली०) १ वंग, रांगा। २ विघट्टन, खोलना।

विघट्टन (सं० क्ली०) वि घट्ट ल्युट्। १ विश्लेष, संयोजक अंगको अलग करना। २ अभिघात, पटकना, । ३ सञ्चालन, रगड़ना, हिलाना डुलाना। ४ खोलना।

विघट्टित (सं० त्रि०) वि घट्ट क्त। १ सञ्चालित, चलाया हुआ। २ विद्ध, छेद हुआ। ३ मथित, मथा हुआ। ४ अभिहित, कहा हुआ। ५ विश्लेषित, अलग किया हुआ। ६ विकशित, खुला हुआ। ७ नष्टप्राप्त।

विघट्टिन् (सं० त्रि०) वि घट्ट इनि। विघट्टकारक, अलग करनेवाला।

विघन (सं० क्ली०) वि-हन (करणेऽयोविद्रुषु। पा ३।३।८२) इति अप् घनादेशश्च। १ आघात करना, चोट पहुंचाना। २ एक प्रकारका बहुत बड़ा हथौड़ा, घन। ३ इन्द्र।

विघर्षण (सं० क्ली०) वि-घृष-ल्युट्। अच्छी तरह रगड़ने या घिसनेकी क्रिया।

विघनिन् (सं० त्रि०) विशेष रूपसे हत्याकारक, नाशकारी। (ऋक् ६।६०।५)

विघस (सं० क्ली०) विशेषेण अद्यते इति वि अद् (उपसर्गेऽदः। पा ३।३।५९) इति अप् (घसपोश्च। पा २।४।३८) इति घसादेशः। १ सिक्थ, मोम। (पु०) २ वह अन्न जो देवता, पितर, गुरु वा अतिथि आदिके खाने पर बच जाये। ३ आहार, भोजन।

विघसाशिन् (सं० त्रि०) विघसं अश्नाति अश णिनि। जो प्रातः और सायंकाल पितृलोक, देवता और अतिथियों

को अन्नदान कर स्वयं अवशिष्ट अन्न भोजन करते हैं।

विघात (सां० पु०) विशेषेण हननमिति वि-हन घञ्। १ व्याघात, विघ्न, बाधा। २ आघात, चोट। ३ विनाश। ४ विफलता, सफल न होना। ५ विध्वस्त, तोड़ना फोड़ना।

विघातक (सां० त्रि०) १ व्याघातक, विघ्न डालनेवाला। २ आघातकारी, चोट पहुंचानेवाला। ३ विनाशक, हत्या करनेवाला।

विघातन (सां० क्ली०) वि-हन-ल्युट्। १ विनाश, हत्या-करना। २ आघात, चोट पहुंचाना।

विघाती (सां० त्रि०) १ निवारक, रोकनेवाला। २ घातक, हत्या करनेवाला। ३ बाधादायक, बाधा डालनेवाला। ४ नष्ट। ५ व्याहत, मना किया हुआ। ६ ध्वस्त, तहस नहस किया हुआ।

विघूणिका (सां० स्त्री०) नासिका, नाक।

विघूर्णन (सां० पु०) चारों ओर घुमाना, चक्कर देना।

विघृत (सां० त्रि०) रसोपेत। (ऋक् ३।५४।६)

विघ्न (सां० पु० क्ली०) विहन्यतेऽनेनेति वि-हन क; घञर्थे क-विधानम्। पा ३।३।५८) १ व्याघात, अड़चन, खलल। संस्कृत पर्याय—अन्तराय, प्रत्यूह। (अमर) २ कृष्ण-पाकफला। (शब्दचन्द्रिका)

विघ्नक (सं० त्रि०) विघ्नकर, बाधा डालनेवाला।

विघ्नकर (सां० त्रि०) विघ्नं करोतीति विघ्न-कृ-ट। विघ्न-कर्त्ता, विघ्न करनेवाला।

विघ्नकर्त्तृ (सां० त्रि०) विघ्नकर, बाधा डालनेवाला।

विघ्नकारी सां० त्रि०) विघ्नं कर्त्तुं शीलमस्येति, कृ-णिनि। १ घोरदर्शन। २ विघाती, बाधा उपस्थित करनेवाला।

विघ्नकृत (सां० त्रि०) विघ्नं करोतीति विघ्न कृ-क्विप्। विघ्नकारी। बृहत्संहितामें लिखा है, कि काक यदि बांई ओरसे प्रतिलोम गतिमें शब्द करता हुआ चला जाये, तो यात्रामें विघ्न उपस्थित होता है।

फिर दूसरी जगह लिखा है, कि कुत्ता यदि दाँत खोल कर ओठ चाटे, तो देखनेवालेको मिष्टभोजन प्राप्त होता है। किन्तु ओठ छोड़ कर यदि वह मुंह चाटे, तो परोसे हुए भोजनमें भी बाधा पहुंचती है।

(बृहतसं० ८९।१७)

विघ्नजित् (सां० पु०) विघ्ननायक, गणेश।

विघ्ननायक (सां० पु०) विघ्नानां नायकः विघ्नाधीश्वरत्वात्। गणेश।

विघ्ननाशक (सां० पु०) विघ्नानां नाशकः। गणेश।

विघ्ननाशन (सां० पु०) नाशयतीति नाशनः विघ्नानां नाशनः; षष्ठीतत्। गणेश।

विघ्नपति (सां० पु०) गणेश।

विघ्नप्रिय (सां० क्ली०) यवकृत यवागु, जौकी काँजी।

विघ्नराज (सां० पु०) विघ्नानां राजा, ६ तत्। गणेश।

विघ्नवत् (सां० त्रि०) विघ्नविशिष्ट, विघ्नयुक्त।

विघ्नविनायक (सां० पु०) विघ्नानां विनायकः। गणेश।

विघ्नहस्त (सां० पु०) १ गणेश। (त्रि०) २ विघ्नहर्त्ता, विघ्न हरनेवाला।

विघ्नहारी (सां० पु०) १ गणेश। (त्रि०) २ विघ्नहारक।

विघ्नाधिप (सां० पु०) गणेश।

विघ्नान्तक (सां० पु०) विघ्नानामन्तकः। विघ्नहर, गणेश।

विघ्नित (सां० त्रि०) विघ्नो जातोऽस्य तारकादित्वादितच्। जातविघ्न, जिसके विघ्न उपस्थित हुआ हो।

विघ्नेश (सां० पु०) विघ्नानामीशः। गणेश।

विघ्नेशवाहन (सां० पु०) विघ्नेशस्य वाहनः ६ तत्। महा-मूषिक, गणेशका वाहन, चूहा।

विघ्नेशान (सां० पु०) गणेश।

विघ्नेश्वर (सां० पु०) विघ्नानामीश्वरः। गणेश।

विघ्नेशानकान्ता (सां० स्त्री०) विघ्नेशानस्य गणेशस्य कान्ता प्रिया; तत्पूजायामेतस्याः प्राशस्त्यात्। श्वेत-दूर्वा, सफेद दूब।

विङ्ख (सां० पु०) अश्वखुर, घोड़ेका खुर।

विचकित (सां० त्रि०) घबराया हुआ।

विचकिल (सां० पु०) १ मल्लिकाभेद, एक प्रकारकी चमेली। २ दमनक वृक्ष, दौनेका पेड़।

विचक्र (सं० त्रि०) १ चक्रहीन। (पु०) २ पुराणानुसार एक दानवका नाम।

विचक्षण (सं० पु०) विशेषेण चष्टे धर्मादिमुपदिशतीति वि-चक्ष (अनुदात्तेतश्च हलादेः। पा ३।२।१४९) इति

कर्त्तरि युच्। १ पण्डित, विद्वान्। (त्रि०) २ निपुण, पारदर्शी। ३ नानार्थदर्शी। "विचक्षणः प्रथयन्नापृणन्" (ऋक् ४।५३।२) 'विचक्षणः विविधं द्रष्टा' (सायण) ४ ज्ञानी, विद्वान्। ५ दक्ष, कुशल।

विचक्षणा (सं० स्त्री०) विचक्षण-टाप्। नागदन्ती। (राजनि०)

विचक्षस् (सं० पु०) वि-चक्ष (चक्षेर्बहुलं शिच्च। उण् ४।२३२) इति असि। उपाध्याय, शिक्षक।

विचक्षुस् (सं० त्रि०) विगतं प्रत्यक्षितेऽपि वस्तुनि अपगतं चक्षुर्यस्य। १ विमनाः, उद्विग्नचित्त, उदास। विगते नष्टे चक्षुषी यस्य। २ विगतचक्षु, जिसकी आंख नष्ट हो गई हो। (पु०) ३ वृष्णिवंशीय एक योद्धा। (हरिवंश १४१।६)

विचखनु (सं० पु०) महाभारतोक्त राजभेद।

विचतुर (सं० त्रि०) विगतानि चत्वार्यस्य (अचतुरविचतुरसुचतुरेत्यादि। पा ५।४।७७) इति अप् समासान्त। विना चारके।

विचन्द्र (सं० त्रि०) विगतश्चन्द्रो यत्र। चन्द्रहीन, चन्द्ररहित।

विचन्द्रा (सं० स्त्री०) रात्रि, रात।

विचन्द्री (सं० स्त्री०) रात्रि।

विचय (सं० पु०) वि-चि-अप्। १ अन्वेषण, जांच पड़ताल करना। २ एकत्रीकरण, इकट्ठा करना।

विचयन (सं० क्ली०) विशेषेण चयनं वा वि-चि-ल्युट्। अन्वेषण, जांच-पड़ताल करना। २ एकत्रीकरण, इकट्ठा करना।

विचयिष्ठ (सं० त्रि०) अतिशय नाशक।

विचर (सं० त्रि०) वि चर-अप्। विचरण, घूमना फिरना।

विचरण (सं० क्ली०) वि-चर-ल्युट्। भ्रमण, पर्यटन करना। २ चलना।

विचरणीय (सं० त्रि०) वि-चर-अनीयर्। विचरणयोग्य, भ्रमण करने लायक।

विचरना (हिं० क्रि०) चलना फिरना।

विचर्च्चिका (सं० स्त्री०) विशेषेण चर्च्यते पाणिपादस्य त्वक् विदार्यतेऽनया इति चर्च तर्ज्जने (रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्। पा ३।३।१०८) इति ण्वुल् टाप्, टापि अत इत्वं। रोगविशेष, व्याधि। पर्याय—कच्छु, पाम, पामा। लक्षण—श्यामवर्ण कण्डुयुक्त बहुस्रावशील जो पीड़ा हाथ-पैरमें उत्पन्न होती है उसे विचर्च्चिका कहते है। किसी किसीका मत है, कि विचर्च्चिका और विपादिका दोनों एक ही रोग हैं, केवल नामका प्रभेद है। फिर कोई कोई कहते हैं, विचर्च्चिका रोग हाथमें और विपादिका रोग पैरमें होता है। फिर किसीके मतानुसार विपादिका विचर्च्चिकासे भिन्न है। हथेली और तलवा जब बहुत दर्दके साथ फट जाता है, तब उसे विपादिका कहते हैं।

इस रोगमें भावप्रकाशोक्त पञ्चनिम्बकावलेह विशेष उपकारी है। कुष्ठरोग देखो।

विचर्च्चिका रोग स्वल्पकुष्ठमें गिना जाता है, अतएव यह रोग महापातकज है।

शुद्धितत्त्वमें लिखा है, कि महापातकी महापातकके कारण नरकभोगके बाद जन्म ले कर महापातकके चिह्नस्वरूप रोग भोगता है। महापातकज रोग होनेसे महापातकका प्रायश्चित्त करने पर धर्मकर्मका अधिकारी होता है। अतएव विचर्च्चिका रोगी महापातकी है, इसे धर्मकर्ममें अधिकार नहीं है।

वृहत्संहितामें लिखा है, कि अग्निके कारण भूमिकम्प होनेसे विचर्च्चिका रोग उत्पन्न होता है। २ छोटी फुंसी।

विचर्च्ची (सं० स्त्री०) विचर्च्चिका रोग। (सुश्रुत)

विचर्म्मण (सं० त्रि०) चर्म्महीन।

विचर्षणि (सं० त्रि०) विविध द्रष्टा, विविध दर्शनकारी। "यं देवसोऽथवा स विचर्षणिः" (ऋक् ४।२६।५) 'विचर्षणिः विविधं द्रष्टा' (सायण)

विचल (सं० त्रि०) वि-चल-अप्। १ अस्थिर, चञ्चल। २ जो बराबर हिलता रहता हो। ३ स्थानसे हटा हुआ। ४ प्रतिज्ञा या सङ्कल्पसे हटा हुआ।

विचलता (सं० स्त्री०) १ विचल होनेकी क्रिया या भाव, चञ्चलता। २ घबराहट।

विचलन (सं० क्ली०) वि-चल-ल्युट्। १ कम्पन। २ स्खलन।

विचलित (सं० त्रि०) वि-चल-क्त। १ पतित, गिरा हुआ। २ अस्थिर, चञ्चल। ३ प्रतिज्ञा या संकल्पसे हटा हुआ, डिगा हुआ।

विचार (सं० पु०) विशेषेण चरणं पदार्थादिनिर्णये ज्ञानं वि-चर-घञ् । १ वह जो कुछ मनसे सोचा जाय अथवा सोच कर निश्चित किया जाय, किसी विषय पर कुछ सोचने या सोच कर निश्चय करनेकी क्रिया । २ वह बात जो मनमें उत्पन्न हो, मनमें उठनेवाली कोई बात, भावना, ख्याल । ३ तत्त्वनिर्णय, मुकदमेकी सुनवाई और फैसला, यथार्थनिर्णय, निष्पत्ति, मीमांसा, सन्दिग्ध विषयमें प्रमाणादि द्वारा अर्थ-परीक्षा । किसी सन्दिग्ध विषयका तत्त्व-निर्णय करनेमें प्रमाणादि द्वारा संदेह दूर करके जो यथार्थ तत्त्व-निर्णय किया जाता है, उसे विचार कहते हैं । पर्याय—तर्क, निर्णय, गुञ्ज, चर्चा, संख्या, विचारणा, चर्च्चन, संख्यान, विचारण, वितर्क, व्यूह, व्युह, ऊह, वितर्कण, प्रणिधान, समाधान । (जटाधर)

४ नाट्योक्त लक्षणविशेष । युक्तियुक्त वाक्य द्वारा जहां अप्रकाशार्थका साधन होता है, उसे विचार कहते हैं । (साहित्य ६।४४७)

मन्वादि धर्मशास्त्रमें लिखा है, कि राजाको चाहिये कि वे पक्षपातशून्य हो कर वादी और प्रतिवादीका विवाद सुन कर उचित विचार करें । यदि स्वयं न कर सकें तो प्रतिनिधिको नियुक्त करें । उसीसे यह कार्य होगा । विवादादिको मन्वादि शास्त्रमें व्यवहार नामसे उल्लेख किया है । राजा व्यवहारका निर्णय करनेके लिये मन्त्रणाकुशल मन्त्रियोंके साथ धर्माधिकार सभा (विचारालय)में प्रवेश करें । वे वहां पर बड़े नम्रसे उठ वा बैठ कर विचारकार्य करें । राजा जिन सब विषयोंका विचार करेंगे, वे अठारह प्रकारके माने गये हैं, इस कारण उनका अष्टादश व्यवहारपद नाम पड़ा है । ऋणादान, निःक्षेप, अस्वामिविक्रय, सम्भूयसमुत्थान, दत्ताप्रदानिक, वेतनादान, सम्विद्व्यतिक्रम, क्रयविक्रयानुशय, स्वामिपालविवाद, सीमाविवाद, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, स्तेय, साहस, स्त्रीसंग्रहण, स्त्रीपुरुषधर्मविभाग और द्यूत ये अष्टादश पद-व्यवहार अर्थात् विचार्य विषय हैं । यही सब ले कर विवाद उपस्थित होता है । राजा धर्मका आश्रय ले कर इन सब विषयोंका विचार करें । राजा यदि स्वयं ये सब कार्य न चला सकें, तो विद्वान् ब्राह्मणको इसमें नियुक्त करें । उन विद्वान् ब्राह्मणको तीन सभ्योंके साथ धर्माधिकरणसभामें प्रवेश कर बैठ वा उठ कर विचार करना चाहिये ।

जिस सभामें ऋक्, यजुः और सामवेदवेत्ता ऐसे तीन सभ्य ब्राह्मण रहते हैं, उस सभाको ब्रह्मसभा कहते हैं । विद्वानोंसे परिवृत्त इस सभामें यदि अन्याय विचार हो, तो सभी सभासद् पतित होते हैं । विचारकोंके सामने यदि अधर्म कर्त्तृक धर्म और मिथ्या कर्त्तृक सत्य नष्ट हो; तो विचारकगण विनष्ट होते हैं । जो मनुष्य धर्मको नष्ट करता है, धर्म भी उसको नष्ट कर डालता है । अतएव धर्म अतिरमणीय नहीं है । धर्मका आश्रय ले कर निरपेक्ष भावमें विचार करना उचित है ।

अन्याय विचार करनेसे जो पाप होता है, उसके ४ भागोंमेंसे एक भाग मिथ्याभियोगीको, एक भाग मिथ्यासाक्षीको, एक भाग कुछ सभासदको और एक भाग राजाको प्राप्त होता है । किन्तु जिस सभामें न्याय विचार होता है वहां राजा निष्पाप रहते हैं, तथा सभ्यगण भी पापशून्य होते है ।

राजा शूद्रको कभी भी विचारकार्यमें नियुक्त न करें । वेदविद् धार्मिक ब्राह्मणका यदि अभाव हो, तो गुणहीन ब्राह्मणको विचारकार्यमें नियुक्त कर सकते हैं । यदि शूद्र सर्वशास्त्रवेत्ता और व्यवहारविद् भी क्यों न हो, तो भी उसे विचारकार्यमें नियुक्त न करें । जिस राजाके सामने शूद्र धर्माधर्मका विचार करता है, उसका राज्य अति शीघ्र विनष्ट होता है ।

राजाको धर्मासन पर बैठ लोकपालोंको प्रणाम कर स्थिर चित्तसे विचार करना चाहिये । वे अर्थ और धर्म दोनोंको समझ कर धर्म और अधर्मके प्रति दृष्टि रख ब्राह्मणादि वर्णाश्रमसे वादी प्रतिवादीके सभी कार्य देखें । राजा विचारके समय वादी और प्रतिवादीका मनोभाव जाननेकी कोशिश करें । आकार, इङ्गित, गति, चेष्टा, कथावार्त्ता तथा नेत्र और मुख विकार द्वारा आदमीका मनोगत भाव जाना जाता है । अतएव उसके प्रति लक्ष्य रखना आवश्यक है ।

विचारार्थी हो कर यदि कोई राजाके निकट उपस्थित हो, तो राजा साक्षी द्वारा उसका सच्चा सच्चा निर्णय करके विचार करें । जहां साक्षी नहीं रहता है, वहां शपथ

द्वारा उसका निर्णय करना होता है। (मनु ८ अ०)

याज्ञवल्क्यसंहितामें लिखा है, कि राजा लोभशून्य हो कर धर्मशास्त्रानुसार विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ स्वयं विचार करें। मीमांसा व्याकरणादि तथा वेदशास्त्रमें अभिज्ञ, धर्म-शास्त्रविद्, धार्मिक, सत्यवादी तथा जो शत्रु और मित्रमें पक्षपातशून्य हैं, राजा उन्हीं सब ब्राह्मणोंको तथा वणिकोंको सभासद बनावें। अनिवार्य कार्यवशतः राजा यदि स्वयं सभामें न आ सकें, तो वे एक सर्वधर्मज्ञ ब्राह्मणको वहां भेज दें। पूर्वोक्त सभासद्गण लोभ अथवा भयवशतः धर्मशास्त्रविरुद्ध वा आचारविरुद्ध विचार करें, तो पराजित व्यक्तिको जो दण्ड हुआ है, राजा उन विचारकोंमेंसे प्रत्येकको उसका दूना दण्ड दें।

विचारक विचारकालमें साक्षी प्रमाणादि ले कर विचार करें। वादी और प्रतिवादी इन दोनों पक्षसे यदि गवाही ली जाये, तो जिसका वोट ज्यादा हो उसी पक्षकी जीत होगी, दोनों पक्षमें यदि समान मनुष्य हों, तो जो अधिक गुणवान् हैं उन्हींकी बात ग्राह्य है। साक्षिगण जिसकी लिखित प्रतिज्ञाको सत्य बतलाते हैं, वह जयी होता है और जिसकी लिखित प्रतिज्ञाके विपरीत कहते हैं उसकी पराजय होती है। कुछ साक्षी यदि एक तरह कहें और अन्य पक्षीय वा स्वपक्षीय दूसरे दूसरे अत्यन्त गुणवान् व्यक्ति अथवा बहुत-से लोग दूसरी तरह साक्ष्य प्रदान करें, तो पूर्वसाक्षी कूटसाक्षी होंगे। विवादमें पराजित व्यक्तिको जो दण्ड होगा, राजा कूटसाक्षीको उसका दूना दण्ड दें। ब्राह्मण यदि कूटसाक्षी हो, तो राजा उसे राज्यसे निकाल बांहर करें।

राजा साक्षी प्रमाणादि ले कर धर्मशास्त्रानुसार विचार करेंगे। अधर्म विचार करनेसे वे पापभागी, इस लोकमें अपयशी और परलोकमें निरयगामी होते हैं। (याज्ञवल्क्यसं० २ अ०) विशेष विवरण व्यवहार शब्दमें देखो।

विचारक (सं० पु०) वि चर-णिच् ण्वुल्। १ मीमांसाकारक, विचार करनेवाला। २ न्यायकर्त्ता, फैसला करनेवाला। ३ नेता, पथ-प्रदर्शक। ४ गुप्तचर, जासूस।

विचारकर्त्ता (सं० पु०) विचार कृ-तृच्। १ वह जो किसी प्रकारका विचार करता हो। २ वह जो अभियोग आदि सुन कर उसका निर्णय करता हो, न्यायाधीश।

विचारज्ञ (सं० पु०) १ वह जो विचार करना जानता हो। २ वह जो अभियोग आदिका निर्णय या निपटारा करता हो।

विचारण (सं० क्ली०) वि-चर-णिच्-ल्युट्। १ विचार, मीमांसा। २ वितर्क, संशय। इस सम्बन्धमें श्रीपतिदत्तकृत-कातन्त्रपरिशिष्ट ग्रन्थमें गोपीनाथ तर्काचार्यने ऐसा लिखा है—

किसी न किसी अंशमें एक धर्मविशिष्ट पदार्थमें जो अनेक प्रकारका विपरीत तर्क वितर्क उपस्थित होता है उसे संशय वा विचारण कहते हैं। यह तीन प्रकारका माना गया है। पहला; विशेष धर्मके ऊपर लक्ष्य न करके किसी एक धर्मका सामञ्जस्य देख एक पदार्थमें दूसरे पदार्थका संशय; जैसे परिस्पन्दन वा वक्रगति आदि न देख कर केवल लम्बाई आदि आकृतिगत सदृशता देख कर ही रज्जुमें सर्पका संशय होता है, यह रज्जु है वा सर्प? दूसरा, वस्तुगत्या किसी प्रकारके धर्मकी उपलब्धि दृष्टिगोचर न हो कर ही दूसरे पदार्थमें संशय उपस्थित होता है, जैसे शब्द नित्य है वा अनित्य? तीसरा, कोई एक असाधारण धर्म देख कर भी कहीं कहीं वितर्कका कारण हो जाता है, जैसे गन्ध पृथिवीका असाधारण धर्म है, यह जो क्षितिके सिवा और कोई पदार्थ नहीं है, इसका विशेषरूपसे अनुसन्धान न करके संशय होता है, कि क्षिति नित्य है वा अनित्य? अथवा गन्धाधिकरण नित्य है वा अनित्य?

३ पर्यटन करना, घूमना फिरना। ४ पर्यटन कराना, घुमाना फिराना।

विचारणा (सं० स्त्री०) वि-चर-णिच्-युच्-टाप्। १ विचार, विवेचना। २ मीमांसाशास्त्र। ३ घूमने फिरने या घुमाने फिरानेकी क्रिया या भाव।

विचारणीय (सं० त्रि०) वि-चर-णिच् अनीयर्। १ विचार्य, विचार करनेके योग्य। २ संदिग्ध, जिसे प्रमाणित करनेकी आवश्यकता हो। (क्ली०) ३ शास्त्र।

विचारना (हिं० क्रि०) १ विचार करना, सोचना। २ पूछना। ३ पता लगाना, ढूंढ़ना।

विचारपति (हिं० पु०) वह जो किसी बड़े न्यायालयमें

बैठ कर मुकदमों आदिके फैसला करता हो, न्यायाधीश।

विचारभू (सं० स्त्री०) विचारालय, अदालत।

विचारयितव्य (सं० त्रि०) वि-चर-णिच्-तव्य। विचारणीय, विचारके योग्य।

विचारवान् (सं० पु०) वह जिसमें सोचने समझने या विचारनेकी अच्छी शक्ति हो, विचारशील।

विचारशक्ति (सं० स्त्री०) वह शक्ति जिसकी सहायतासे विचार किया जाय, सोचने या भला बुरा पहचाननेकी शक्ति।

विचारशास्त्र (सं० क्ली०) मीमांसाशास्त्र। मीमांसा देखो।

विचारशील (सं० पु०) वह व्यक्ति जिसमें किसी विषयको सोचने या विचारनेकी अच्छी शक्ति हो, विचारवान्।

विचारशीलता (सं० स्त्री०) विचारशील होनेका भाव या धर्म, बुद्धिमत्ता।

विचारस्थल (सं० पु०) १ वह स्थान जहां किसी विषय पर विचार होता हो। २ न्यायालय, अदालत।

विचाराध्यक्ष (सं० पु०) वह जो न्याय-विभागका प्रधान हो, प्रधान विचारक।

विचारार्थसमागम (सं० त्रि०) विचारके लिये विचारपतियोंका एकत्र समावेश।

विचारालय (सं० पु०) वह स्थान जहां अभियोग आदिका विचार होता हो, न्यायालय, कचहरी।

विचारिका (सं० स्त्री०) १ प्राचीनकालकी वह दासी जो घरमें लगे हुए फूल पौधोंकी देख-भाल तथा इसी प्रकारके और काम करती थी। २ वह स्त्री जो अभियोग आदिका विचार करती हो।

विचारित (सं० त्रि०) विचारः संजातोऽस्य इति विचार (तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्। पा ५।२।३६) इतच्, वि-चर णिच् क्त। १ विवेचित, जिस पर विचार किया जा चुका हो। पर्याय—विन्न, वित्त। (अमर) २ जो अभी विचाराधीन है, जिस पर विचार होनेको हो।

विचारी (सं० त्रि०) विचारं कर्त्तुं शिलोऽस्य विचार-णिनि। १ विचारकर्त्ता, जो विचार करता है। २ विचरणकर्त्ता, जो इधर उधर चलता हो। ३ जिस पर चलनेके लिये बहुत बड़े बड़े मार्ग बने हों, जैसे पृथ्वी। (पु०) ४ कबन्धके एक पुत्रका नाम।

विचारु (सं० पु०) श्रीकृष्णके एक पुत्रका नाम। (भागवत १०।६१।१६)

विचार्य्य (सं० त्रि०) वि-चर-णिच्-यत्। विचारणीय, जिस पर विचार करनेकी आवश्यकता हो।

विचार्य्यमाण (सं० त्रि०) वि चर-णिच् शानच्। विचारणीय, विचार करनेके योग्य हो।

विचाल (सं० त्रि०) वि-चल-अण्। अभ्यन्तर, अन्तराल।

विचालन (सं० क्ली०) विशेषेण चालनं, वा वि-चल-णिच्-ल्युट्। विशेषरूपसे चालन, अच्छी तरह हटाना या चलाना। २ नष्ट करना।

विचालिन् (सं० त्रि०) वि चल-णिनि। विचलनशील, चञ्चल।

विचाल्य (सं० त्रि०) वि-चल-ण्यत्। विचालनीय; विचलनके योग्य।

विचि (सं० पु० स्त्री०) वेवेक्ति जलानि पृथगिव करोति विच (इगुपधात् कित्। उण् ४।११९) इति इन् सच कित्। वीचि, तरङ्ग, लहर।

विचिकित्सन (सं० क्ली०) विचिकित्सा, संन्देह।

विचिकित्सा (सं० स्त्री०) विचि-कित्सनमिति वि-कित् सन् अ, टाप्। १ सन्देह, अनिश्चय। २ वह सन्देह जो किसी विषयमें कुछ निश्चय करनेके पहले उत्पन्न हो और जिसे दूर करके कुछ निश्चय किया जाय।

विचिकीर्षित (सं० त्रि०) परहितेच्छायुक्त।

विचित् (सं० त्रि०) विचिन्वन्ति वि-चित क्विप्। विवेक द्वारा चयनकारी। (शुक्लयजुः ४।२४)

विचित (सं० त्रि०) वि-च-क्त। अन्विष्ट, जिसका अन्वेषण हो चुका हो।

विचिति (सं० स्त्री०) १ विचार, सोचना। २ अनुसन्धान, जांचपड़ताल।

विचित्त (सं० त्रि०) १ अचेत, वेहोश। २ जिसका चित्त ठिकाने न हो, जो अपना कर्त्तव्य न समझ सकता हो।

विचित्ति (सं० स्त्री०) १ वेहोशी। २ वह अवस्था जिसमें मनुष्यका चित्त ठिकाने न रहे।

विचित्य (सं० त्रि०) अनुसन्धेय, विचार्य।

विचित्र (सं० त्रि०) विशेषेण चित्रम्। १ कर्बुरवर्णविशिष्ट, जिसमें कई प्रकारके रंग हों। २ जिसमें किसी प्रकारकी विलक्षणता हो, विलक्षण। ३ रम्य, सुन्दर। ४ जिसके द्वारा मनमें किसी प्रकारका आश्चर्य उत्पन्न हो, विस्मित या चकित करनेवाला।

(पु०) रौच्यमनुके एक पुत्रका नाम। (मार्कण्डेय-पु० ६४।३१) ६ अशोकवृक्ष। ७ तिलकवृक्ष। ८ भूर्जवृक्ष, भोजपत्र। ९ अर्थालङ्कारविशेष। यह अलङ्कार उस समय होता है, जब किसी फलकी सिद्धिके लिये किसी प्रकारका उलटा प्रयत्न करनेका उल्लेख किया जाता है। उदाहरण—

उन्नतिके लिये प्रणाम करता है, जीवनके लिये जीवन त्याग करता है, सुखके लिये दुःखभोग करता है, इसलिये सेवकके सिवा और कौन मूर्ख है? यहां उन्नतिके लिये प्रणाम या नम्र होना तथा सुखके लिये दुःखभोग और जीवनके लिये प्राणत्याग अभिलषित फलसिद्धिके लिये विरुद्ध विषयोंका वर्णन हुआ है, इस कारण यहां विचित्रालङ्कार हुआ। जहां ऐसे विरुद्ध विषयका वर्णन होगा, वहां यह अलङ्कार होता है।

विचित्रक (सं० पु०) विचित्राणि चित्राणि यस्मिन्, बहुव्रीहौ कन्। १ भूर्जवृक्ष, भोजपत्रका वृक्ष। (राजनि०) २ तिलकवृक्ष। ३ अशोकवृक्ष। विचित्र स्वार्थे कन्। ४ विचित्र।

विचित्रकथ (सं० त्रि०) विचित्रा कथा यत्र। आश्चर्यकथायुक्त, विचित्र बातोंसे भरा हुआ।

विचित्रता (सं० स्त्री०) विचित्रस्य भावः तल् टाप्। १ विचित्रका भाव या धर्म। २ रंगविरंगे होनेका भाव।

विचित्रदेह (सं० पु०) विचित्रा देहा यस्य। मेघ, बादल। २ नाना वर्णदेह, रंगविरंगा शरीर। ३ आश्चर्य शरीर।

विचित्ररूप (सं० त्रि०) विचित्रं रूपं यस्य। आश्चर्यरूपविशिष्ट, आश्चर्यरूप।

विचित्रवर्षीन् (सं० त्रि०) विचित्रं वर्षति वृष-णिनि। आश्चर्य वर्षणशील, अतिवर्षी।

विचित्रवीर्य (सं० पु०) विचित्राणि वीर्याणि यस्य। चन्द्रवंशीय राजविशेष, शान्तनुराजके पुत्र। महाभारतमें लिखा है, कि कुरुवंशीय राजा शान्तनुने गङ्गासे विवाह किया। गङ्गाके गर्भसे भीष्म उत्पन्न हुए। एक दिन राजा शान्तनु सत्यवतीके रूपलावण्य पर मुग्ध हो गये। भीष्मको जब पिताका अभिप्राय मालूम हो गया, तब उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्यकी प्रतिज्ञा कर सत्यवतीसे पिताका विवाह करा दिया। सत्यवती गन्धकाली नामसे प्रसिद्ध थीं। सत्यवतीको विवाहसे पहले ही पराशरसे गर्भ रह चुका था और उससे द्वैपायनका जन्म हुआ था। पीछे शान्तनुसे उन्हें चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। चित्राङ्गद तो छोटी अवस्थामें ही एक गन्धर्व द्वारा मारा गया था, पर विचित्रवीर्यने बड़े होने पर राज्याधिकार पाया था। इसने काशिराजकी अम्बिका और अम्बालिका नामकी दो कन्याओंके साथ विवाह किया। किन्तु थोड़े ही दिनों बाद निःसन्तान अवस्थामें ही इसकी मृत्यु हो गई। विचित्रवीर्यके निस्सन्तान मर जाने पर जिससे शान्तनुका वंश लोप न हो, इस उद्देशसे सत्यवतीने अपने पहले पुत्र द्वैपायनको बुलाया और उसे विचित्रवीर्यकी विधवा स्त्रियोंके साथ नियोग करनेको कहा। तदनुसार द्वैपायनने धृतराष्ट्र और पाण्डु नामके दो पुत्र उत्पन्न किये थे।

(भारत आदिप० ९५)

विचित्रवीर्यसू (सं० स्त्री०) विचित्रवीर्यस्य सू प्रसूर्जननी। सत्यवती।

विचित्रशाला (सं० स्त्री०) वह स्थान जहां अनेक प्रकारके विचित्र पदार्थोंका संग्रह हो, अजायबघर।

विचित्रा (सं० स्त्री०) विचित्रं नानाविध वर्णमस्त्यस्या इति अर्श आदित्वादच् स्त्रियां टाप्। १ मृगैर्वारु, सफेद इन्द्रायण। २ एक रागिणी। इसे कुछ लोग भैरव रागकी पांच स्त्रियोंमेंसे एक और कुछ लोग त्रिवण, बरारी, गौरी, और जयन्तीके मेलसे बनी हुई संकर जातिकी मानते हैं। (त्रि०) ३ विचित्रवर्णविशिष्टा, रंग-विरंगा।

विचित्राङ्ग (सं० त्रि०) विचित्राणि अङ्गानि यस्य। १ मयूर, मोर। २ व्याघ्र, बाघ। ३ आश्चर्य शरीर।

विचित्रान्न (सं० क्ली०) खेचरिका, खिचड़ी।

विचित्रापीड़ (सं० पु०) विद्याधरविशेष।

(कथासरित्सा० ४।८।११५)

विचित्रित (सं० त्रि०) विचित्र यस्य जातमिति तारका-

दित्वादितच् । १ नानावर्णयुक्त, रंग-विरंगा । २ आश्चर्य-जनक ।

विचिन्तन (सं० क्ली०) चिन्ता करना, सोचना ।

विचिन्तनीय (सं० त्रि०) वि-चिन्ति-अनीयर् । विचिन्तितव्य, जो चिन्ता करने या सोचने योग्य हो ।

विचिन्ता (सं० स्त्री०) विशेष-प्रकारसे चिन्ता, सोच-विचार ।

विचिन्तित (सं० त्रि०) १ विशेष रूपसे चिन्तित । २ विशेष चिन्ताके विषयीभूत ।

विचिन्तितृ (सं० त्रि०) विवेचक ।

विचिन्त्य (सं० त्रि०) वि-चिन्ति-यत् । १ विचिन्तनीय, जो विशेषरूपसे चिन्तन करने या सोचनेके योग्य हो । २ जिसमें किसी प्रकारका सन्देह हो, सन्दिग्ध ।

विचिन्त्यमान (सं० त्रि०) वि-चिन्ति-शानच् । जो चिन्तित होता है, जिसका विचार किया जा रहा है ।

विचिन्वत्क (सं० त्रि०) वि-चि-शतृच् स्वार्थे कन् । विचयनकारी, संग्रह करनेवाला ।

विचिलक (सं० पु०) प्राणहर कीटभेद, सुश्रुतके अनुसार एक प्रकारका जहरीला कीड़ा ।

विची (सं० स्त्री०) विचि (कृदिकारादिति) ङीष् । तरङ्ग, लहर ।

विचीरिन् (सं० त्रि०) चीरहीन, वस्त्ररहित ।

विचूर्णन (सं० क्ली०) अवधूलन, अच्छी तरह चूर करना ।

विचूर्णित (सं० त्रि०) खण्डविखण्डित, जो चूर चूर किया गया हो ।

विचूर्णीभू (सं० स्त्री०) चूर्णीभू ।

विचूलिन (सं० त्रि०) चूड़ाधारी ।

विचृत् (सं० स्त्री०) विमुक्त, जिसे मुक्तिदान किया गया हो । (ऋक् ६।८४।२)

विचेतन (सं० त्रि०) १ अचेतन, बेहोश । २ विवेकहीन, जिसे भले बुरेका ज्ञान न हो ।

विचेतयितृ (सं० त्रि०) अज्ञान, अबोध ।

विचेता (सं० पु०) विचेतस् देखो ।

विचेतृ (सं० त्रि०) अबोध, अज्ञान ।

विचेतव्य (सं० त्रि०) वि-चि-तव्यत् । विचयनीय, जो पृथक् पृथक् भावमें एक एक कर संग्रह किया जाय ।

विचेतस् (सं० त्रि०) विगतं विरुद्धं वा चेतो यस्य । १ विगतचित्त, जिसका चित्त ठिकाने न हो । २ विरुद्ध चित्त, दुष्टचित्त । पर्याय—दुर्मनस्, अन्तर्मनस्, विमनस् । (हेम)

३ विशिष्ट ज्ञान हेतुभूत, जिससे विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हो । ४ विशिष्ट ज्ञान, जिसे किसी विषयका विशेष ज्ञान हो । ५ अज्ञान, बेहोश । ६ दुष्ट, पाजी । ७ मूर्ख, बेवकूफ ।

विचेय (सं० त्रि०) वि-चि-यत् । विचयनीय, अन्वेषण करनेके योग्य ।

विचेष्ट (सं० त्रि०) १ चेष्टारहित, जिसमें किसी प्रकारकी चेष्टा न हो, जो हिलता डोलता न हो । २ विरुद्ध चेष्टाशील, जो विरुद्ध चेष्टा करता हो ।

विचेष्टन (सं० क्ली०) विरुद्ध चेष्टा । पीड़ा आदिसे बुरी चेष्टा करना, इधर उधर लोटना, तड़पना ।

विचेष्टा (सं० स्त्री०) बुरी या खराब चेष्टा करना, मुंह बनाना या हाथ-पैर पटकना ।

विचेष्टित (सं० त्रि०) विशेषेण चेष्टितं गतिर्यस्य । १ विगत । विशेषेण चेष्टितः ईहितः इति । २ विशेष चेष्टायुक्त । विगतं चेष्टितमस्येति । ३ चेष्टाशून्य । ४ अन्वेषित । (क्ली०) वि-चेष्ट-भावे क्तः । ५ विशेष चेष्टा । ६ विवर्त्तन, अङ्गपरिवर्त्तन । ७ व्यापार, क्रिया ।

विच्छतक (सं० पु०) सुनिषण्णक शाक, सुसनीका साग ।

विच्छन्द (सं० पु०) १ प्रासाद, महल । २ मन्दिर, देवालय ।

विच्छन्दक (सं० पु०) विशिष्टश्छन्दोऽभिप्रायोऽत्र, विशिष्टेच्छानिर्मितो वा इति वि-छन्द-स्वार्थ कन् । देवालय, देवमन्दिर । अमरटीकामें भरतने लिखा है, कि दो या तीन तलेका जो मकान बनाया जाता है, उसे विच्छन्दक कहते हैं ।

विच्छन्दस् (सं० त्रि०) १ छन्दोहीन । (स्त्री०) २ छन्दोवृत्तभेद ।

विच्छर्द (सं० पु०) समूह, राशि ।

विच्छर्दक (सं० पु०) विच्छन्दक देखो ।

विच्छर्दिका (सं० पु०) वमन, कै, उल्टी ।

विच्छल (सं० पु०) वेतसलता, बेंतकी लता ।

विच्छाय (सं० क्ली०) पक्षिणां छाया। समासे षष्ठ्यन्तात् परात् छाया क्लीवे स्यात् सा चेत् बहूनां सम्बन्धिनी स्यात्; यथा वीणां पक्षिणां छाया विच्छायमिति। (भरत) १ पक्षियोंकी छाया। (पु०) विशिष्टा छाया कान्तिर्यस्य इति। २ मणि। (भरत) ३ छायाका अभाव।

(त्रि०) विगता छाया यस्य। ४ छायारहित, जिसकी छाया न पड़ती हो। प्रायः ऐसा माना जाता है, कि देवताओं, दानवों, भूतों और प्रेतों आदिकी छाया नहीं पड़ती। ५ कान्तिरहित, श्रीहीन।

विच्छायता (सं० स्त्री०) कान्तिहीनता। (कथासरित् १९।११३)

विच्छित्ति (सं० स्त्री०) वि-छिद्-क्तिन्। १ अङ्गराग, रंगों आदिसे शरीरको चित्रित करना। २ विच्छेद, अलगाव। ३ हारभेद, एक प्रकारका हार। ४ छेद, विनाश। ५ गेहावधि, घरकी दीवार। ६ वैचित्र्य, विचित्रता। ७ स्त्रियोंका स्वाभाविक अलङ्कारविशेष, साहित्यमें एक हाव जिसमें स्त्री थोड़े शृङ्गारसे पुरुषको मोहित करनेकी चेष्टा करती है। ८ चमत्कार। ९ वैशिष्ट्य, विशिष्टता। (पु०) १० कषाय, कैथेका पेड़। ११ काट कर अलग या टुकड़े करना। १२ त्रुटि, कमी। १३ वेष-भूषा आदिमें होनेवाली लापरवाही या बेढंगापन। १४ कवितामें यति।

विच्छिन्न (सं० त्रि०) वि-छिद्-क्त। १ विभक्त, जिसका अपने मूल अङ्गके साथ कोई संबंध न रह गया हो। २ पृथक्, जुदा। ३ जिसका विच्छेद हुआ हो। ४ जिसका अन्त हो गया हो। ५ कुटिल।

(पु०) ६ बालरोगभेद। ७ गभीर सद्योव्रण, बहुत गड़हा घाव जो कटनेसे हो गया हो।

विच्छुरित (सं० त्रि०) वि-छुर-क्त। अनुलिप्त, अनुरञ्जित।

विच्छेत्तृ (सं० त्रि०) वि-छेद्-तृच्। विच्छेदकर्त्ता, अलग अलग करनेवाला।

विच्छेद (सं० पु०) वि-छिद्-घञ्। १ वियोग, विरह। २ काट या छेद कर अलग करनेकी क्रिया। ३ क्रम या बीचसे टूट जाना, सिलसिला न रह जाना। ४ किसी प्रकार अलग या टुकड़े टुकड़े करना। ५ नाश, बरबादी। ६ पुस्तकका प्रकरण या अध्याय, परिच्छेद। ७ बीचमें पड़नेवाला कविताका स्थान; अवकाश। ८ कवितामें यति। ९ लोप।

विच्छेदक (सं० त्रि०) वि-छिद्-ण्वुल्। १ विच्छेदकारक, विच्छेद करनेवाला। २ जो काट या छेद कर अलग करता हो। ३ विभाजक, विभाग करनेवाला।

विच्छेदन (सं० क्ली०) वि-छिद् ल्युट्। विच्छेद, काट या छेद कर अलग करनेकी क्रिया, अलग करना। २ नष्ट करना, बरबाद करना।

विच्छेदनीय (सं० त्रि०) १ जो काट कर अलग करनेके योग्य हो। २ जो विच्छेद करने योग्य हो।

विच्छेदी (सं० त्रि०) विच्छेत्तुं शीलं यस्य वि-छिद्-णिनि। विच्छेदकारक, विच्छेदन करनेवाला।

विच्छेद्य (सं० त्रि०) वि-छेद्-यत्। विच्छेदके योग्य, जो काटने या विभाग करनेके योग्य हो।

विच्युत (सं० त्रि०) वि-च्यु-क्त। १ विगत। २ जो कट कर अथवा और किसी प्रकार इधर उधर गिर पड़ा हो। वि-च्युत्-क। ३ जो जीवित अङ्गमेंसे काट कर निकाला गया हो। ४ जो अपने स्थानसे गिर या हट गया हो।

विच्युति (सं० स्त्री०) वि-च्यु क्तिन्। १ वियोग, किसी पदार्थका अपने स्थानसे हट या गिर पड़ना। २ गर्भपात, गर्भका गिर जाना।

विजग्ध (सं० त्रि०) खाया हुआ, निगला हुआ।

विजङ्घ (सं० त्रि०) १ जिसकी जांघें कट गई या न हों। २ जिस गाड़ीमें धुरे और पहिये आदि न हों।

विजट (सं० त्रि०) जटा-रहित, जटाशून्य।

विजन (सं० त्रि०) विगतो जनो यस्मात्। निर्जन। पर्याय—विविक्त, छन्न, निःशलाक, रहः, उपांशु।

विजन (हिं० पु०) हवा करनेका पंखा, बीजन।

विजनता (सं० स्त्री०) जनशून्यता, एकान्तका भाव।

विजनन (सं० क्ली०) वि-जन-ल्युट्। प्रसव, जनन करनेकी क्रिया।

विजन्मन् (सं० त्रि०) विरुद्धं जन्म यस्य। १ जारज, दोगला। २ विरुद्धजन्म। (पु०) ३ वर्ण-सङ्करजातिभेद। ४ वह व्यक्ति जो जाति-च्युत कर दिया गया हो।

विजन्या (सं० स्त्री०) गर्भधारिणी, वह स्त्री, जो प्रसव करनेको हो।

विजपिल (सं० क्ली०) पङ्क, कीचड़ ।

विजय (सं० पु०) वि-जि-भावे अच् । १ जय, जीत, पराजयका उलटा । हिन्दीमें इस शब्दका व्यवहार स्त्री लिङ्गमें होता है। २ अर्जुन । अर्जुनके अनेक नाम हैं जिनमेंसे एक नाम विजय है। महाभारतके विराट्-पर्वमें लिखा है, कि विराट्राजकुमार उत्तर जब गो-रक्षाके लिये कौरवोंके साथ युद्ध करने गये, तब अर्जुन बृहन्नलारूपमें उनके सारथी हुए थे। कार्यगति देख कर वृहन्नलाने उत्तरको अपना परिचय दे दिया । उत्तरने अर्जुनके सभी नामोंकी सार्थकता पूछी। अर्जुनने अपने अन्यान्य नामोंकी उत्पत्तिका परिचय दे कर इस विजय नामका ऐसा अर्थ लगाया है,—"मैं रणदुर्मद शत्रु सेनाओंके संग्राममें जाता हूं, किन्तु बिना उन्हें परास्त किये लौटता नहीं हूं, इसीलिये सबोंने मेरा नाम विजय रखा है।"

विख्यात-विजय-नाटकमें बड़ी ही सार्थकताके साथ अर्जुनके विजय नामका उल्लेख देखनेमें आता है।

३ इक्कीसवें तीर्थङ्करके पिता। ४ जिनबलभेद, जैनोंके शुक्लबलोंमेंसे एक। ५ विमान। ६ यम। ७ कल्किके पुत्र। (कल्किपुराण १३ अ०)

८ भैरववंशीय कल्पराजपुत्र। ये काशीराज नामसे विख्यात थे। प्रसिद्ध खाण्डववन इन्होंने ही लगवाया था। कालिकापुराणमें लिखा है, कि सुमतिके पुत्र कल्प और कल्पके पुत्र विजय थे। विजयने राजा हो कर प्रबल प्रतापसे पार्थिवोंको परास्त किया। भारतीय सभी राज्य उनके हाथ आये। पीछे इन्द्रके आदेशसे इन्होंने सौ योजनविस्तृत खाण्डववन प्रस्तुत किया। इसी वनको अग्निकी तृप्तिके लिये अर्जुनने जलाया था। ९ विष्णुके एक अनुचरका नाम। (कालिकापुराण ९० अ०)

१० चुञ्चुके एक पुत्रका नाम। ११ जयके एक पुत्रका नाम। १२ सञ्जयके एक पुत्रका नाम। १३ जयद्रथके एक पुत्रका नाम। १४ आन्ध्रवंशीय एक राजा। १५ सिंहलमें आर्यसभ्यताप्रवर्त्तक एक राजकुमार। विजयसिंहल देखो। १६ शुभ मुहूर्त्तभेद। १७ साठ संवत्सरमें पहला संवत्सर। १८ भोजन करना, खाना। १९ एक प्रकारका छन्द। यह केशवके अनुसार सवैयेका मत्तगयंद नामक भेद है।

विजयक (सं० त्रि०) विजये कुशलः विजय-कन्। विजेता, सदा जीतनेवाला।

विजयकण्टक (सं० पु०) विजये कण्टक इव। विजयविघ्नकारी, विजयमें बाधा देनेवाला।

विजयकुञ्जर (सं० पु०) विजयाय यः कुञ्जरः। १ राजवाह्य हस्ती, राजाकी सवारीका हाथी। २ युद्धहस्ती, लड़ाईके मैदानमें जानेवाला हाथी।

विजयकेतु (सं० पु०) १ विजयध्वजा, जयपताका। २ राजपुत्रभेद।

विजयक्षेत्र (सं० क्ली०) १ विजयस्थल। २ उड़ीसाके अन्तर्गत एक प्राचीन स्थान।

विजयगढ़—युक्तप्रदेशके अलीगढ़ जिलान्तर्गत एक कृषिप्रधान नगर। भूपरिमाण ४१ एकड़ है। यह अलीगढ़ शहरसे १२ मीलकी दूरी पर अवस्थित है। यहां स्कूल, डाकघर और एक प्राचीन दुर्ग है। इनके सिवा कर्नल गार्डनका स्मृतिस्तम्भ भी दिखाई देता है।

विजयगुप्त—पूर्ववङ्गके एक प्रसिद्ध कवि। पद्मपुराण वा मनसाकी पांचाली रच कर ये पूर्ववङ्गमें बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं।

विजयचन्द्र—कन्नौजके राजभेद। कनौज देखो।

विजयचक्र (सं० क्ली०) विजयाय चक्रम्। ज्योतिषोक्त चक्रविशेष। इस चक्रके अनुसार नामोच्चारण करनेसे जय पराजयकी उपलब्धि होती है। नामोच्चारणका क्रम इस प्रकार है—श्वास प्रवेशकालमें लग्नसंज्ञक वर्ण (प, फ, ब, भ, म, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ; ए, ऐ, ओ, औ) वा स्वरके साथ घोषसंज्ञक वर्ण (ग, घ, ङ; ज, झ, ञ; ड, ढ, ण; ब, भ, म) का नाम उच्चारण करनेसे जय और श्वासनिर्गमकालमें अलग्नसंज्ञकवर्ण (य, व, र, ल, ह,) तथा अघोषसंज्ञकवर्ण (क, ख, च, छ; ट, ठ; त, थ, प, फ; श, ष, स) का नाम उच्चारण करनेसे पराजय होती है। (नरपतिजयचर्यास्वरोदय)

विजयचूर्ण (सं० क्ली०) अर्श रोगकी एक औषध। प्रस्तुत प्रणाली—सोंठ, पीपल, काली मिर्च, आमलकी, यवक्षार, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, चई, चिरायता, इन्द्रयव, चिताका मूल, विजबन्द, सोयाँ, पञ्चलवण, पीपलमूल, बेलसोंठ और यमानी इन सब द्रव्योंको अच्छी तरह चूर्ण कर समान

भागमें मिलावे और यथायोग्य मात्रामें सेवन करे, तो अर्श रोगका उपकार होता है। (चक्रदत्त)

विजयच्छन्द (सं० पु०) विजयस्य छन्दो यस्मात्। १ एक प्रकारका कल्पित हार जो दो हाथ लंबा और ५०४ लड़ियोंका माना जाता है। कहते हैं, कि ऐसा हार केवल देवता लोग पहनते हैं। चार हाथ लंबा और १००८ लड़ियोंकी मुक्ताकी मालाको इन्द्रच्छन्द कहते हैं। २ पाँच सौ मोतियोंका हार।

विजयडिण्डिम (सं० पु०) जयढक्का, प्राचीनकालीन एक प्रकारका बड़ा ढोल जो युद्धके समय बजाया जाता था।

विजयतीर्थ (सं० क्ली०) तीर्थभेद।

विजयदण्ड (सं पु०) १ सैनिकोंका वह समूह अथवा सेनाका वह विभाग जो सदा विजयी रहता हो। २ सेनाका एक विशिष्ट विभाग जिस पर विजय विशेषरूपसे निर्भर करती है।

विजयदत्त (सं० पु०) कथासरित्सागरवर्णित नायकभेद।

विजयदशमी—विजयादशमी देखो।

विजयदुन्दुभि (सं० पु०) जयढाक, वह बड़ा ढोल जो युद्धके समय बजाया जाता है।

विजयदुर्ग—बम्बई प्रदेशके रत्नगिरि जिलान्तर्गत एक वाणिज्यप्रधान बन्दर। यह अक्षा० १६° ३३′ तथा देशा० ७३° २३′ पू०के मध्य रत्नगिरि नगरसे ३० मील दक्षिणमें अवस्थित है। भारतके पश्चिम उपकूलमें ऐसा सुन्दर और चरविहीन बन्दर कहीं भी नहीं देखा जाता। सभी ऋतुओंमें विशेषतः जब दक्षिण-पश्चिम मौसुमी वायु बहती है, तब इस बन्दरमें बड़े बड़े जहाज लंगर डाल कर रहते हैं। तूफान आदिका लक्षण न दिखाई देने पर वे सब जहाज स्वच्छन्दपूर्वक उपकूलके मध्यमें हो लङ्गर डालते हैं।

यहां भैंसके सींगके अनेक प्रकारके खिलौने और अलङ्कारादि बनानेका एक बड़ा कारखाना है। वर्त्तमान कालमें उन सब द्रव्योंका विशेष आदर न रहनेके कारण स्थानीय शिल्पकी अवनति हो गई है। श्रमजीवी सूतधरगण अन्नके अभावमें ऋणी होते जा रहे हैं। नगरके वाणिज्यको छोड़ शुल्क (Customs) विभागका सामुद्रिक वाणिज्य ले कर यहां प्रति वर्ष १२ लाख रुपये मालकी आमदनी और १५ लाख रुपये मालकी रफतनी होती है।

बन्दरका दक्षिण भाग पूर्व शिखराग्र हो कर समुद्रपथमें झुक रहा है। इस पर्वतके शिखर पर मुसलमान राजाओंने एक दृढ़ दुर्ग बनाया है। कोङ्कणप्रदेशमें ऐसा सुरक्षित दुर्ग एक भी नजर नहीं आता। दुर्गके पार्श्वदेशमें प्रायः १०० फुट नीचे एक पहाड़ी झरना बहता है। उस झरनेसे पण्यद्रव्यादि लानेकी बड़ी सुविधा है।

दुर्ग बहुत पुराना है। बिजापुरराजवंशके अभ्युदयमें इस दुर्गके जीर्णसंस्कार और कलेवरकी वृद्धि हुई। इसके बाद १७वीं सदीके मध्य भागमें महाराष्ट्रपति शिवाजीने इस दुर्गको सुदृढ़ करनेके अभिप्रायसे इसके चारों ओर तीन पंक्तियोंमें चहारदीवार खड़ी कर दी तथा बहुतसे गोपुर वा तोरण और दुर्गसंक्रान्त अन्यान्य अट्टालिकादि भी बनवा दी थीं। १६९८ ई०में दस्युदलपति अंग्रियाने यहां अपने उपकूल भागकी राजधानी बसाई थी। उस समय अंग्रियाका आधिपत्य उपकूल भागमें ३०से ६० मील तक फैल गया था।

१७५६ ई०में दुर्गवासियोंने अङ्गरेज नौसेनाके हाथ आत्मसमर्पण किया तथा कर्नल क्लाइवने बड़े गौरवसे नगर और दुर्ग पर अधिकार जमाया। उसी वर्षके अन्तिम समयमें अङ्गरेजोंने दुर्गका भार पेशवाके हाथ सौंप दिया था। इसके बाद १८१८ ई०में समस्त रत्नगिरि जिला जब वृटिशगवर्मेण्टके हाथ आया, तब दुर्गाध्यक्ष अङ्गरेजोंके हाथ आत्मसमर्पण करनेको बाध्य हुए।

विजयदेवी (सं० स्त्री०) राजपत्नीभेद।

विजयद्वादशी (सं० स्त्री०) द्वादशीभेद। विजया देखो।

विजयनगर—मन्द्राज प्रदेशके वेल्लरी जिलान्तर्गत एक प्राचीन नगर। अभी यह ध्वंसस्तूपमें परिणत एक बड़ा ग्राम समझा जाता है और अक्षा० १५° २०′ ३० तथा देशा० ७६° ३२′ पू०के मध्य फैला हुआ है। यह वेल्लरी सदरसे ३६ मील उत्तर-पश्चिम तुङ्गभद्रा नदीके किनारे अवस्थित है। यहां पहले विजयनगर राजवंशकी राजधानी थी। आज भी नगरके दक्षिण कमलापुर और आनगुण्डी तक प्रायः ९ मील विस्तृत स्थानमें उसका ध्वंसावशेष

विद्यमान है। परवर्त्तीकालमें विजयनगरके राजे आनगुण्डीमें ही अपनी राजधानी उठा ले गये।

१३३६ ई०में बल्लालराजवंशके अधःपतनके बाद हरिहर और बुक्क नामके दो भाइयोंने हाम्फी नगर बसाया। १५६४ ई०में तालिकोटके युद्धके बाद उनके वंशधरोंने क्रमशः प्रभावान्वित हो कर इस स्थानकी बड़ी उन्नति की। पीछे प्रायः एक सदी तक वे लोग यथाक्रम आनगुण्डी, वल्लूर और चन्द्रगिरिमें अपनी शासनशक्तिको अक्षुण्ण रख राजकार्य्य करते रहे थे। इसके बाद विजापुर और गोलकुण्डा राजवंशके अभ्युदय पर विजातीय दोनों शक्तियोंमें घोर संघर्ष उपस्थित हुआ और उसीके फलसे आखिर विजयनगर राजवंशका अधःपतन हुआ।

प्रायः ढाई सदी तक इस हाम्फीनगरमें राजपाट स्थिर रख कर विजयनगरके राजोंने इसका क्षेत्रफल बढ़ाया तथा वे कितने ही प्रासाद, मन्दिर और मनोहर सौधमालाओंसे इसकी श्रीवृद्धि कर गये हैं। वह समृद्धि देख कर पाश्चात्य भ्रमणकारी Edwards Barbessa और Caesar Fredericने लिखा है, कि इस प्रकारका धनजन और वाणिज्य-समृद्धिसे परिपूर्ण नगर उस समय बहुत कम देखनेमें आते थे। पेगूसे हीरा, चीन अलेकजन्द्रिया और कुनाबरसे रेशम तथा मलबारसे कर्पूर, मृगनाभि, पीपल और चन्दन अधिक परिमाणमें यहां लाये जाते थे। सीजर फ्रेडरिकने लिखा है, "मैंने अनेक देश और अनेक राजप्रासाद देखे हैं, किन्तु विजयनगरराज-प्रासादके साथ उनकी तुलना नहीं हो सकती, इस प्रासादके नौ प्रवेशद्वार हैं। पहले जब तुम राजप्रासादकी ओर जाओगे, तब तुम्हें सेनापति और सेनादल कर्त्तृक रक्षित पांच द्वार देखनेमें आयेंगे। इन पञ्चद्वारको पार करनेसे उनके भीतर पुनः अपेक्षाकृत चार छोटे द्वार मिलेंगे। उन द्वारों पर अति बलिष्ठ दरवान पहरा देते हैं। एक एक द्वार पार कर भीतर प्रवेश करनेसे सुसज्जित और सुविस्तृत प्रासाद देखनेमें आयेंगे।" उनके वर्णनानुसार जाना जाता है, कि यह नगर चारों ओर प्रायः २४ मील विस्तृत है। नगरकी रक्षाके लिये सीमान्तभागमें बहुतसे प्राचीर खड़े हैं।

१८७२ ई०में मि० जे. केलसलने इस नगरकी पूर्वतन ध्वस्त कीर्त्तियोंका महत्त्व देख कर लिखा है, कि आज भी यहां जो सब भग्नावशेष पड़े हैं। उन्हें देख कर यह अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता, कि वे सब अट्टालिकायें किस कार्यमें व्यवहृत होती थीं। पर हां, उनके स्थापत्यशिल्पकी पराकाष्ठाका अनुभव कर मन ही मन उन शिल्पियोंकी कार्य-कुशलताकी प्रशंसा करनी होती है। उन अट्टालिकाओंमें जैसे बड़े बड़े प्रस्तरखण्ड गड़े हैं, वैसे और कहीं भी दिखाई नहीं देते। कमलापुरके निकट प्रस्तर-निर्मित एक जलप्रणाली और उसके निकट एक सुन्दर अट्टालिका है। वह अट्टालिका स्नानागारकी तरह प्रतीत होती है। इसके दक्षिण एक मन्दिरमें रामायण वर्णित अनेक दृश्य उत्कीर्ण देखे जाते हैं। राजप्रासादके अन्तर्भुक्त हस्तिशाला, दरबारगृह और विश्रामभवन आज भी उनके कार्य्यकलापका परिचय देते हैं। भग्न राजप्रासादादि तथा मन्दिरके अनेक स्थानोंको वहांके लोगोंने रुपयेके लोभसे खोद डाला है।

इसके सिवा राजअन्तःपुर और प्राङ्गणभूमि आज भी सुस्पष्टरूपमें दिखाई देती हैं। जगह जगह ऊंचे ऊंचे प्रस्तरस्तम्भ विद्यमान हैं। उनमेंसे ४१॥ फुटका एक जलस्तम्भ और ३५ फुटकी एक शिवमूर्त्ति विशेष उल्लेखनीय है। दानेदार पत्थरके ३० फुट लम्बे तथा ४ फुट चौड़े और भी कितने प्रस्तर-खण्ड प्राचीर और घरकी दीवारमें संलग्न दिखाई देते हैं। किन्तु वे सब किस उद्देशसे संलग्न किये गये थे, उसका आज तक पता नहीं चला है।

राजप्रासादसे प्रायः १ पाव दूर नदीके किनारे एक विष्णुमन्दिर है। वह आज भी कालके कवलसे नष्ट नहीं हुआ है। वह मन्दिर भी दानेदार पत्थरोंका बना है। उसमें शिल्पचित्रसम्वलित और भी कितने स्तम्भ खड़े देखे जाते हैं।

हाम्फीनगरमें आज भी बहुत-सी शिलालिपियां उत्कीर्ण दिखाई देती हैं। उनमें विजयनगर-राजवंशका कीर्त्तिकलाप जड़ा हुआ है। विद्यानगर देखो।

यहां प्रति वर्ष एक मेला लगता है।

विजयनगर—१. दिनाजपुर जिलेके अन्तर्गत एक परगना।

२ राजशाही जिलेके गोदागाड़ी थानेके अधीन एक

प्राचीन बड़ा ग्राम। इसका दूसरा नाम विजयपुर भी था। यहां गौड़ाधिप विजयसेनने राजधानी बसाई थी। विजयसेन देखो।

विजयनगरम् (विजियानाग्राम)—मन्द्राज-प्रेसिडेन्सीके विजगापटम जिलेकी एक बहुत बड़ी जमीन्दारी। दक्षिण भारतमें ऐसी प्राचीन और प्रतिपत्तिशाली जमीन्दारी और दूसरी नहीं है। इसका भू-परिमाण प्रायः २६४ वर्गमील है। अबसे तीस वर्ष पूर्व इसकी जनसंख्या १८५६५८ और अक्षा० १७´ ५६ और १८´ १६´ उ० तथा देशा० ८३´ १७´ और ८३´ ३६´ पू०के मध्यमें है।

यहांके सत्वाधिकारी महाराज पशुपति आनन्द गजपतिराज (१८८८ ई०) राजपूतवंशसम्भूत थे। वंश आख्यायिकासे जाना जाता है, कि इस वंशके आदि पुरुष माधववर्माने १५६१ ई०में सबान्धव आ कर कृष्णानदीके उपत्यकादेशमें एक राजपूत उपनिवेश स्थापन किया। धीरे धीरे इस वंशने बड़ी ख्याति प्राप्त की और बहुत दिनोंसे इस वंशके लोग गोलकुण्डाराज सरकारके सहकारी सामन्तरूपसे गण्य होने लगे। सन् १६५२ ई०में इस वंशके पशुपति माधववर्म्मा नामक एक व्यक्ति विशाखपत्तनके राजाके अधीन आ कर काम करने लगे। इसके बाद इस वंशके लोगोंका पीढ़ी दर पीढ़ी इस राजवंशसे सम्बन्ध चला आया और युद्ध आदिमें विशेष सहायता दे कर इन्होंने बहुत प्रतिपत्ति लाभ की। इन्होंके वंशधर सुप्रसिद्ध राजा गजपति विजयरामराज फ्रान्सीसी सेनापति बुशीके मित्र थे। इन्होंने अपने भुजबलसे धीरे धीरे कई सम्पत्तियों पर अधिकार कर अपनी सम्पत्तिका कलेवर पुष्ट किया। उस समयसे यह पशुपतिवंश उत्तम सरकारोंके एक महाशक्तिशाली राजवंशोंमें परिगणित है।

पेद्द विजयराम राजने प्रायः सन् १७१० ई०में अपने पिताके सिंहासन पर आरोहण किया। सन् १७१२ ई०में इन्होंने पोतनूरसे राजपाट स्थानान्तरित कर अपने नाम पर इस स्थानका नाम विजयनगरम् रखा था। इसके बाद अपनी राजधानी सुदृढ़ करनेकी इच्छासे ये कुछ दिनोंके लिये एक दुर्ग निर्म्माण करनेमें व्यस्त हुए। इसी समयमें धीरे धीरे नाना स्थानों पर अधिकार कर इन्होंने अपने राज्यकी वृद्धि की। सन् १७५४ ई०में इन्होंने पहले चिकाकोलके फौजदार जाफरअली खांके साहाय्य करनेके लिये उनसे मित्रता कर ली। किन्तु पीछे उनको यह ख्याल हुआ, कि इस मित्रताकी अपेक्षा यदि फ्रान्सीसी सेनापति बुशीके साथ मित्रता की जावे तो विशेष लाभ होनेकी आशा है। यह सोच कर उन्होंने फौजदारसे मित्रता भङ्ग कर फ्रान्सीसियोंके साथ मित्रता कर ली। इन्होंने अपने पुराने शत्रु बब्बिलीके सामन्तराजको अपने नये मित्र फ्रान्सीसियोंकी सहायतासे मार कर अपना पुराना बदला चुकाया था, किन्तु इस विजयका बहुत दिनों तक ये आनन्द उपभोग कर न सके। विजयके तीन रातके अन्त होते न होते ये बब्बिलीके गुप्तघातकोंके हाथ मारे गये थे।

राजा पेद्द-विजयरामके उत्तराधिकारी आनन्दरामने छिद्रान्वेषणमें तत्पर रह कर अपनी बुद्धिके दोषसे पितृपदर्शित राजनीतिक मार्गको तिलाञ्जलि दे ससैन्य आगे बढ़ विशाखपत्तन पर आक्रमण और अधिकार कर उसको अङ्गरेजोंके हाथ समर्पण किया। उस समय विशाखपत्तन फ्रान्सीसियोंके हाथमें था। यह सन् १७५८ ई०की घटना है।

बङ्गालसे सेनापति फोर्डके ससैन्य वहां पहुंच जाने पर उनके साथ राजा आनन्दरामने राजमहेन्द्री और मछलीपट्टनकी ओर अपनी विजययात्रा पूरी की। पीछे वहांसे लौटने पर वह कालके मुंहमें पतित हुए। उनके दत्तकपुत्र नाबालिग विजयरामराज राजपद पर प्रतिष्ठित हुए, किन्तु वे कुछ दिनों तक अपने वैमात्रेय भ्राता सीतारामराजके तत्त्वावधानमें रहे। सीताराम चतुर, उच्छृङ्खल तथा सर्वग्रासी थे।

सन् १७६१ ई०में उन्होंने पार्लाकिमडी राज्य पर आक्रमण किया। चिकाकोलके समीप साहाय्यकारी महाराष्ट्रसेनाके साथ पार्लाकिमडीराज पराजित हुए। इसके बाद उन्होंने सदलबल राजमहेन्द्रीकी ओर अग्रसर हो कर उस पर भी अधिकार कर लिया। इस तरह विजयनगरम् राज्य थोड़े ही दिनोंमें बहुत बढ़ गया। वस्तुतः इसी समय विजयनगरम् सामन्त राज्यके व्यतीत पशुपतिराजवंशके शासनाधीनमें जयपुर, पालकोण्डा और

अन्यान्य १५ बड़ी बड़ी जमींदारियोंका कार्य सञ्चालन न होता था। उन उन स्थानोंके अधिवासी विजयनगरम्राजको ही अपने राजा मानते थे।

सीताराम विशेष दृढ़ता, मनोयोगिता तथा कुशलताके साथ राजकार्य किया करते थे। वे नियमितरूपसे ३ लाख रुपये वार्षिक पेशकस् देते थे और अङ्गरेजकम्पनीका सदा राजभक्ति दिखाते थे। उनकी यह राजभक्ति इसलिये थी, जिससे वे कम्पनीसे अन्यान्य सुविधाओंकी प्राप्तिके साथ साथ दुर्द्धर्ष पार्वात्य सामन्तोंको वशमें लानेके लिये अङ्गरेजोंसेनाकी सहायता पा सकें। यथार्थमें इसी उपायसे पशुपतिगण अपनी शक्ति और अपनी वंशमर्य्यादाको अक्षुण्ण रखनेमें समर्थ हुए थे।

राजा सीतारामने इस समय निर्विरोध प्रभुत्व परिचालित किया था। यह उनके भ्राता राजा विजयरामको असह्य हो उठा। केवल उन्हींको नहीं, वरं कितने ही सामन्त या सरदारोंको भी यह असह्य हो गया। इन लोगोंने कम्पनीसे प्रार्थना की, कि राजा सीतारामसे पदत्याग करा दिया जाये और राज्यकार्य्य चलानेके लिये जगन्नाथराजको उस पद पर आरूढ़ कराया जाये, किन्तु राजा सीताराम बड़ी शृङ्खलासे राज्यकार्य्य सम्पादन कर रहे थे और कम्पनीके छोटे बड़े कर्मचारी उनसे सन्तुष्ट थे। इससे उन लोगोंकी प्रार्थना अग्राह्य हुई।

महामान्य कोर्ट आव डिरेकृर्स इङ्गलैण्डमें बैठ कर यहांकी कम्पनीके कर्मचारियों पर जो दोषारोपण करती थी, उसका कोई फल नहीं होता था। फलतः कम्पनीके कर्मचारियों पर रिश्वत लेनेके अभियोगमें कई नालिशें दायर हुईं। इस पर कोर्ट आव डिरेक्टर्स मद्रासके गवर्नर सर टि रम्बोलको और कौन्सिलके दो सदस्योंको स्थानान्तर भेजने पर बाध्य हुए। यह सन् १७८१ ई०की घटना है।

सन् १७८४ ई०में विशाखपत्तन जिलेका यथार्थ विवरण संग्रह करनेके लिये एक 'सार्किट कमिटी' नियुक्त हुई। उसने पूरी तौरसे विवरण तय्यार कर डाइरेकृरोंके पास भेजा। उसने उसमें लिखा था, कि विजयनगरम्राज और उनके सामन्तोंके पास एकत्र १२ सहस्रसे भी अधिक फौजें हैं। सम्भव है, कि किसी समय कम्पनीके लिये यह विपद्का कारण बनें। यह विवरण पढ़नेसे वहांके अधिकारियोंकी बन्द आँखें खुलीं। डिरेकृरोंने सीतारामराजको कुछ दिनोंके लिये राज्यसे अलग किया। किन्तु सन् १७६० ई०में फिर सीतारामने विजयनगरमें आ कर अपना पद ग्रहण किया। इस बार भी पहलेकी तरह इन्होंने उच्चतम राजकर्मचारी, साधारण प्रजामण्डली तथा सामन्तोंको भी निर्यातन करना आरम्भ किया। फलतः उनका राजभोग कठिन हो गया। सन् १७६३ ई०में कम्पनीके अधिकारियोंने उनको मन्द्राजमें जा कर रहनेकी आज्ञा दी। उस समयसे विजयनगरके इतिहाससे उनका नाम विलुप्त हुआ।

पूर्व वर्णित नबालिग राजा विजयरामराजकी नबालगी बीत गई, अब वे बालिग हो गये थे। इतने दिनों तक वे सीतारामके भयसे एक तरहसे जड़भरतकी तरह दिन बिता रहे थे। उनके हृदयमें राज चलानेकी कोई शक्ति ही न थी वे सर्वदर्शी थे और उनमें सीतारामकी तरह राजकार्य्य चलानेकी शक्ति न रहनेके कारण वे जमीन्दारीका काम उत्तमतासे चला न सके। फलतः कम्पनीको नियमित समय पर पेशकस् दिया न गया। इसलिये उनकी सम्पत्ति बाकी मालगुजारीमें फंस गई। ऋणभार तथा राज्यकी गड़बड़ीसे राजकार्यादिका भाग बिगड़ गया। कम्पनीने रुपयेकी वसूलीके लिये 'सम्मन' जारी किया। राजाने उसे अस्वीकृत कर दिया और अङ्गरेजोंके विरुद्ध युद्धकी तैयारी करनी आरम्भ कर दी। इस समय उन्होंने स्पष्ट ही कहा था, कि मैं जीवित रह कर यदि पशुपतिराजवंशकी तरह राज्य शासन न कर सका, तो उनमें एक आदमीकी तरह रणक्षेत्रमें वीरकी तरह अवश्य मर सकूंगा।

सन् १७६४ ई०की १०वीं जूनको कर्नल प्रेण्डरगाष्टने पद्मनाभम् नामक स्थानमें राजा विजयराम पर आक्रमण किया। राजाने एक घण्टे तक अंग्रेजोंका सामना किया, किन्तु उनकी फौज अधिक देर तक वहां टिक न सकी। वे तितर-बितर हो कर भाग खड़ी हुई। इस युद्धमें स्वयं राजा विजयराम तथा कई सामन्तराजे मारे गये थे।

राजा विजयरामराजके मरनेके बाद पशुपतिराजवंशका

भाग्याकाश बदल गया। किन्तु १८वीं शताब्दीमें वारंबार परिवर्त्तन होनेके कारण पशुपतिराजवंशके ऐतिहासिक प्रधान्य परिवर्द्धित हुआ। इस राजवंशके अधिकृत राज्य और उसके अधीन सामन्तोंका शासित भूभाग एकत्र वर्त्तमान विजयानगरम् जिलेके बराबर है। इस विस्तीर्ण भूभागके शासक राजा भी अधीन करदराज्यकी शर्त्तसे सत्ववान् थे।

इस राजवंशके सर्वप्रधान व्यक्ति मीर्जा और मान्य सुलतान नामसे सम्मानित होते थे। वे यथार्थमें विजगापट्टन राज्यके अधीन थे। किन्तु बलदर्पसे पुष्ट हो कर वे उस विषयमें विशेष लक्ष्य नहीं रखते थे। जब विजयनगरराज अपने प्रभु बिशाखवत्तनपतिके साथ साक्षात् करने जाते तब महामान्य ईष्टइण्डिया कम्पनी उनके सम्मानके लिये १६ सम्मानसूचक तोपोंकी सलामी दागती थी। १८४८ ई०में यह तोप संख्या घट कर १३ हो गई। वंशके सम्मानस्वरूप वे आज भी राजदत्त उपाधि भोग करते आते हैं।

वर्त्तमान समय यह जमीन्दारी चिरस्थायी वन्दोवस्तके अधिकारभुक्त होनेसे उसके राजत्वका कुछ परिवर्त्तन हुआ है सही, किन्तु यथार्थमें इस राज्यवंशकी वंशगत मर्य्यादाका विशेष लाघव नहीं हुआ है। सन् १८६२ ई०में अंग्रेज गवर्नमेण्टने उनका सत्त्व स्वीकार कर फिर राजोपाधि दान की और साधारण जमींदारकी अपेक्षा उच्च-सम्मानका अधिकार दिया है।

मृत राजा विजयरामराजके नावालिग पुत्र नारायणबाबूने पद्मनाभके युद्धके बाद स्वराज्यसे भाग पार्वत्य जमीन्दारोंका आश्रय ग्रहण किया। उनको ले सामन्तोंने अंग्रेजोंके विरुद्ध विद्रोहवह्नि प्रज्वलित करनेकी चेष्टा की। अंग्रेजोंने पहले ही यह समाचार पा कर यथासमय उसका प्रतिकार किया था। इसके बाद अंग्रेजोंके साथ राजाकी ओरसे सन्धिकी बात चलने लगी। राजाने स्वयं अंग्रेजोंके हाथ आत्मसमर्पण किया। उस समय अंग्रेजोंने उसके सत्त्व और स्वाधिकारको अक्षुण्ण रख कर उनको एक सनद दी थी। इस समयसे पार्वत्य सरदार फिर राजाके अधीन न रहे। अंग्रेजसरकारने उनका शासनभार अपने हाथमें रखा। इस समय विजयनगरका कुछ अंश अंग्रेज कम्पनीने जब्त कर उसे "हाविली जमीन" नामसे निर्द्दिष्ट किया।

इस तरह विजयनगरम्की जमीन्दारीका आयतन बहुत कम हो गया। अंग्रेजोंने उस पर पेशकस् दुगुना कर दिया। राजाको ६ लाख रुपया सालाना पेशकस् देना कष्टसे स्वीकार करना पड़ा था और इसी सूत्रमें उनको कुछ ऋणजालमें फंसना पड़ा। सन् १८०२ ई०में यहां चिरस्थायी बन्दोबस्त हुआ। उससे यह देखा गया, कि उस समय यह जमीन्दारी २४ परगने और ११५७ ग्रामोंमें विभक्त थी। उस समय इस तालुकेका राजस्व ५ लाख नियत थी।

राजा विजयरामके पुत्र नारायण बाबूने सन् १७९४ ई०में राज्याधिकार किया और सन् १८४५ ई०में काशीधाममें परलोक-यात्रा की। उस समय उनकी सम्पत्ति विशेषरूपसे ऋणग्रस्त थी। उसके राज्यकालके प्रायः अर्द्ध समयसे अंग्रेज गवर्नमेण्टने उनके ऋण परिशोध करनेके लिये स्वहस्तमें शासनभार ग्रहण किया। उनके परवर्त्ती उत्तराधिकारी राजा विजयराम गजपतिराजने पूर्वकृत ऋणके परिशोधनके लिये ७ वर्ष तक ऐसी व्यवस्था जारी रखी। अन्तमें सन् १८५२ ई०में मिष्टर क्रोजियरसे उन्होंने राज्यभार ग्रहण किया और वे स्वयं कार्य परिचालन करने लगे। इस समयसे इस विजयनगरम् राज्यकी श्रीवृद्धि हुई है और राजस्व भी प्रायः २० लाख रुपया वसूल होने लगा है।

राजा विजयराम गजपतिराज एक उच्च शिक्षित, सदाशय और अन्तःकरणके अच्छे व्यक्ति थे। वे जिस रूपसे राजकार्य परिचालन और प्रजाओंका शासन करते थे, उस तरहसे भारतके अन्यान्य स्थानोंके देशी राजाओंमें कोई भी उनके समकक्षी न हो सके। वह यथार्थ ही उस उच्च पदके उपयुक्त पात्र थे। सन् ८६३ ई०में बड़े लाट की व्यवस्थापकसभा (Legislative Council of India) के सदस्य मनोनित हुए। सन् १८६४ ई०में अंग्रेजोंने उनके आचरणों पर प्रसन्न हो कर उनको 'महाराज'की उपाधि और 'हिज हाइनेस (His Highness)का सम्मान प्रदान किया। इसके बाद वे K. C. S. I की उपाधि से विभूषित किये गये। सन् १८७७ ई०में महारानी

विक्टोरियाकी घोषणामें (Imperial Proclamation) उनको भारतके सर्वप्रधान सरदारोंकी श्रेणीमें शामिल किया गया और उनके सम्मानके लिये १३ तोपोंकी सलामी स्वीकृत हुई। इस श्रेणीके सरदार यदि किसी कारणसे वाइसरायके समीप आये, तो वाइसराय भी उनके यहां जाने पर वाध्य होंगे, यह उनके सम्मानके ही लिये था।

राजा विजयराम गजपतिराजके समय राज्यकी श्रीवृद्धिमें बड़ी उन्नति हुई। यह उनकी उच्चशिक्षाका फल है। पक्का रास्ता, पुल, अस्पताल और नगरके अन्यान्य विषयोंकी उन्नतिके अनेक कार्यों में उन्होंने मन लगाया था। उन्होंने अपने राजत्वमें वाराणसीधाममें, मन्द्राज नगरमें, कलकत्तेमें और सात समुद्रपारके इंग्लैण्डके लण्डन नगरमें जनसाधारणके कई हितकर कार्यों में अपने दानधर्मका यथेष्ट परिचय दिया था। इस समय भी उन स्थानोंमें उनकी उदारता तथा दानशीलताकी बहुतेरी कीर्त्तियां विद्यमान हैं। इन सब कार्य्योंके लिये उन्होंने प्रायः १० लाख रुपये खर्च किये। सिवा इस रकमके उन्होंने मरते समय दातव्य भाण्डार और शिक्षा-विभागको १ लाख रुपया दान किया था।

सन् १८७८ ई०में महाराज विजयराम गजपति राजकी मृत्यु हुई। इसके बाद उनके पुत्र आनन्दराज पितृपद पर अधिष्ठित हुए। सन् १८८१ ई०में उनके सम्मानार्थ उनको महाराजकी उपाधि दी गई। सन् १८८४ और १८९२ ई०में वे मन्द्राज व्यवस्थापकसभाके और सन् १८८८ ई०में बड़े लाटकी व्यवस्थापकसभाके सभ्य निर्वाचित हुए। सन् १८८७ ई०में वे K. C. I. E और सन् १८९२ ई०की २४वीं मईको G. C. I. E. उपाधिसे विभूषित हुए। दिल्लीके मुगल बादशाहने विजयनगरम्‌राजको एक बहुत लम्बी उपाधि दी थी—'महाराजा साहब मेहरबान मुश्पकु कद्रदान करम् फरमायी मोख्लेसान महाराजा मीर्जा मान्य सुलतान गुरु बहादुर'। सन् १८९० ई०में मन्द्राज-सरकारने राजाको वंशानुक्रमिक राजोपाधि प्रदान की। सन् १८५० ई०में आनन्दराजका जन्म हुआ। राजा आनन्दराजकी मृत्युके बाद राजा पशुपति विजयराम राजगद्दी पर बैठे, किन्तु यह बालक थे। इससे राज्यका कार्यभार कोर्ट आव वार्डस्‌के हाथ आया। स्वयं मीर्जा मान्या सुलताना साहबा श्रीमहा राजलक्ष्मी देवदेवी श्रीअलखराजेश्वरी महारानी नाबालिग पुत्रकी ओरसे विजयनगरम्‌का राज्यकार्य देखती थी। सन् १९०४ ई०में आप बालिग हुए। फलतः आपने सभी राज्यकार्यका भार अपने हाथमें लिया है। आप बड़े योग्य तथा धार्मिक हैं। आपका नाम है—मीर्जा राजा श्रीपशुपति अलख नारायण गजपतिराज मान्या सुलतान बहादुर गुरु।

राजस्वकी वसूलीकी सुविधाओंके लिये यह जमीन्दारी ११ तालुकोंमें बाँट दी गई है। निकटके स्थानोंमें अंग्रेज-सरकारकी जैसी शासनपद्धति है, उसी तरहकी शासनपद्धति इनकी जमीन्दारीमें भी है।

इस जमीन्दारीमें प्रायः ३० हजार पट्टीदार-प्रजा और १० हजार कोर्फा प्रजा हैं। यहां प्रायः २७५'००० एकड़ जमीनमें हल चला कर खेती की जाती है। जलसे सींची भूमिकी मालगुजारी ५)से १०) रुपये तक प्रति एकड़ है और साधारण भूमि २॥) प्रति एकड़ है। चालीस वर्ष पहले इस तालुकका वार्षिक राजस्व १० लाख रुपया नकद अदाय होता था। इस समय प्रायः १८ लाख रुपया वसूल होता है। यहांके अधिवासी साधारणतः तेलगु हिन्दू हैं। विजयनगरम् और विमलीपत्तन नामसे दो नगर तथा कई कृषिप्रधान ग्रामोंमें यहांका वाणिज्य चलता है।

२ मन्द्राज-प्रेसिडेन्सीके विजगापट्टम् जिलेका विजयनगरम् जमीन्दारीका तालुक या उपविभाग। भू-परिमाण २६७ वर्गमील है। १८६ गांव और जिलेका सदर ले कर यह उपविभाग गठित हुआ है।

३ उक्त जिलेकी विजयनगरम् जमीन्दारीका प्रधान नगर। यह विमलीपत्तनसे ६॥ कोस उत्तर-पश्चिममें अवस्थित है तथा अक्षा० १८°७' उ० और देशा० ८३°२५' पू०के बीच विस्तृत है। यहां राजप्रासाद, म्युनिसिपल आफिस, छावनी और सिनियर असिष्टेण्ट कलक्टरका सदर आफिस है। यहांकी जनसंख्या प्रायः ४० हजारके लगभग है।

नगर खूब सुगठित है। वहांके मकानोंकी छतें या तो ढालुई हैं या समतल हैं। वर्तमान भारत-सम्राट् युव-

राज रूपसे इस नगरमें परिदर्शनके लिये गये थे। उनकी उस घटनाकी स्मृतिके लिये वहां एक टावरकी प्रतिष्ठा हुई है। राजा विजयराम गजपतिके दिये हुए टाउनहाल और अन्यान्य राजकोय अट्टालिकाओंसे नगरकी शोभा बढ़ रही है। मन्द्राजके देशोय पैदल सैन्यका एक एक दल यहां आया करता है। यहांके गरजेमें जो धर्मयाजक (Chaplain) रहते हैं, उनको मासमें दो बार रविवारोंको विमलीपत्तन और चिकाकोल भ्रमण करना पड़ता है। यह स्थान बहुत स्वास्थ्यप्रद है।

इस नगरमें एक शिल्प-कालेज है, जिसका कुल खर्चा राजदरबारसे मिलता है।

विजयनन्दन (सं० पु०) इक्ष्वाकुवंशीय राजविशेष। पर्याय—जय।

विजयनाथ—ग्रहभावाध्याय नामक ज्योतिर्ग्रन्थके रचयिता।

विजयनारायणम्—मन्द्राजप्रदेशके तिन्नेवल्ली जिलान्तर्गत नानगुणेरो तालुकका एक नगर। यह नानगुणेरो सदरसे ५ कोस दक्षिण-पूर्वमें अवस्थित है।

विजयन्त (सं० पु०) इन्द्र।

विजयन्ती (सं० स्त्री०) ब्राह्मीशाक। (वैदिक निघ०)

विजयपण्डित—वङ्गभाषाके एक सर्वप्रथम महाभारत-अनुवादक तथा राढ़देशके एक प्राचीन कवि। विजय पण्डितका भारत-तात्पर्यानुवाद 'विजयपाण्डवकथा' नामसे प्रसिद्ध है।

विजयपताका (सं० स्त्री०) १ सेनाकी वह पताका जो जीतके समय फहराई जाती है। २ विजयसूचक कोई चिह्न।

विजयपर्पटी (सं० स्त्री०) ग्रहणी रोगकी एक औषध। प्रस्तुत-प्रणाली—२ तोले पारेको जयन्तीके पत्ते, रेंडीके मूल, अदरक और काकमाचीके रस द्वारा आनुपूर्विक भावना दे कर परिशुद्ध करे। पीछे २ तोला आमलसा गन्धक ले कर कुछ चूर्ण कर और पीछे भृङ्गराजके रसमें डुबो कर कड़ी धूपमें सुखा ले। तीन बार इस प्रकार सुखानेके बाद उसे अग्निमें द्रवीभूत कर बड़ी तेजीसे बारीक कपड़ेमें छान ले। इसके बाद उस पारेमें जरित स्वर्ण, रौप्य और ताम्र प्रत्येक दो तोला मिला कर उक्त गन्धकके साथ अच्छी तरह घोंटे और कज्जली बनावे। पीछे उस कज्जलीको एक लोहेके हत्थेमें रख कर बेरकी लकड़ीकी आग पर रख दे। जब वह अच्छी तरह गल जाय, तब गोबरसे लिपे हुए एक केलेके पत्ते पर ढाल दे। ऐसा करनेसे वह पर्पटाकार अर्थात् पाटलीकी तरह होगा। उसीको विजयपर्पटी कहते हैं। ग्रहणी, क्षय, कुष्ठ, अर्श, शोथ और अजीर्ण रोगमें इसका व्यवहार किया जाता है। व्यवहारका नियम इस प्रकार है—प्रथम दिन दो रत्ती इस पर्पटीका सुपारीके जलके साथ सेवन करना होता है। पीछे दिन प्रति दिन एक एक रत्ती बढ़ा कर जिस दिन बारह रत्ती पूरी हो जायेगी, उसके दूसरे दिनसे फिर प्रति दिन एक एक रत्ती घटानी होगी। इस औषधका दिनके चौथे दण्डमें सेवन करना होता है। पीछे अवस्थानुसार दिनमें ३।४ बार करके सुपारीके पानीके साथ सेवन कर सकते हैं। पथ्यापथ्यकी व्यवस्था—औषध सेवनके तीसरे दिनसे मांसका जूस और घृत-दुग्धादि व्यवस्थेय है। काले रंगकी मछली, जलजपक्षी, विदग्धपक्वद्रव्य (तेल वा जिस किसी तरह हो भुना हुआ पदार्थ), केला, मूली, तेल और तेलकी बघारी हुई तरकारी आदि खाना मना है। स्त्रीसम्भोग और दिवानिद्रा भी वर्जनीय है। (रसेन्द्रसारस० ग्रहणीरोग)

विजयपाल (सं० पु०) १ एक प्राचीन संस्कृत कवि। ये राजानक विजयपाल नामसे प्रसिद्ध थे। २ कम्बोजके एक राजा। आप १०१६ सम्वत्में विद्यमान थे॥ ३ एक पराक्रान्त चन्देलराज जो १०३७ ई०में मौजूद थे। चन्द्रात्रेय राजवंश देखो।

विजयपुर (सं० क्ली०) भविष्यब्रह्मखण्डवर्णित वङ्गदेशके अन्तर्गत एक प्राचीन नगर। विजयनगर देखो।

विजयपूर्णिमा (सं० स्त्री०) विजयादशमीके उपरान्त पड़नेवाली पूर्णिमा, आश्विनकी पूर्णिमा। इस पूर्णिमामें हिन्दूमात्र ही बड़े उत्साहसे लक्ष्मीकी पूजा करते हैं। यद्यपि प्रति मासमें वृहस्पतिवारको या और किसी शुभ दिनको लक्ष्मीपूजा करनेका विधान है और उसीके अनुसार बहुतेरे व्यक्ति पूजा भी करते हैं; परन्तु धनरत्नाधिपति कुवेरने उक्त पूर्णिमाके दिन पूजा की थी, इसी कारण लोग धनरत्नकी आशासे उसी दिन तनमनसे लक्ष्मीदेवीकी पूजा

किया करते हैं। सभी मनुष्य अपनी अपनी अवस्थाके अनुसार पूजाका आयोजन करते हैं। जो धनी हैं, वे प्रतिमूर्त्ति बना कर अथवा पटमें चित्रित कर देवीकी पूजा करते हैं। प्रायः सभी जनसाधारण खपड़े की पीठ पर चित्रित माताकी पूजा किया करते हैं। जो हो, इस दिन ब्राह्मणसे ले कर चण्डाल पर्यन्त लोकमाताकी आराधनाके लिये व्यग्र रहते हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। पूजाके दिन गृहकर्त्ता वा कर्त्रीको सारा दिन निरम्बु उपवासके बाद पूजाके अन्तमें नारियलका जल पी कर जागरण और द्यूतक्रीड़ादिमें सारी रात बितानी पड़ती है। क्योंकि, ऐसी प्रसिद्धि है, कि उस दिन रातको लक्ष्मीने कहा था,—('नारिकेलजलं पीत्वा को जागर्त्ति महीतले') 'नारियलका जल पी कर आज कौन जगा हुआ है? मैं उसे धनरत्न दूंगी' धनाध्यक्ष कुवेरने भी उसी दिन उक्त अवस्थामें रह कर पूजा की थी। लक्ष्मीने उस दिन ऐसा कहा था। इस कारण उस दिनको 'कोजागर' और उस दिनकी लक्ष्मीपूजाको 'कोजागरी लक्ष्मीपूजा' कहते हैं। पूजा तथा अन्यान्य व्रत नियमादिका विवरण कोजागर शब्दमें देखो।

विजयप्रशस्ति (सं० स्त्री०) कवि श्रीहर्षरचित खण्डकाव्यभेद। इसमें राजा विजयसेनका कीर्त्तिकलाप वर्णित है।

विजयभाग (सं० पु०) १ जयांश। २ जयलाभ।

विजयभैरवतैल (सं० क्ली०) आमवातरोगमें व्यवहार्य्य पक्वतैल। प्रस्तुत प्रणाली—पारा, गन्धक, मैनसिल और हरिताल प्रत्येक द्रव्य २ तोला ले कर कांजीमें पीसे। पीछे उससे एक खण्ड सूक्ष्म वस्त्र लिप्त कर दे। जब वह सूख जाय, तब बत्तीकी तरह जड़ दे। इसके बाद उस बत्तीको तैलाक्त करके उसके निम्न भागमें एक पात्र रख कर ऊद्दुर्ध्वभागको प्रज्वलित करे तथा वहां क्रमशः बत्तीके निःशेष न हो जाने तक फिरसे धीरे धीरे तेल देता रहे। वह तेल पकने पर नीचेके बरतनमें टपक कर जमा हो जायेगा। इस तेलकी मालिश करनेसे प्रबल वेदना, एकाङ्गघात तथा बाहुकम्प आदि विविध वातरोग प्रशमित होते हैं। यह तेल दूधके साथ ३।४ विन्दुमात्रामें भी पान किया जाता है।

विजयभैरवरस (सं० पु०) १ कासरोगकी एक औषध। प्रस्तुत प्रणाली—पारा, गन्धक, लोहा, विष, अबरक, हरिताल, विड़ङ्ग, मोथा, इलायची, पीपलमूल, नागेश्वर, सोंठ, पीपल, कालीमिर्च, आमलकी, हरीतकी, बहेड़ा, चितामूल, शोधित जयपालबीज, प्रत्येक द्रव्यका चूर्ण एक एक तोला तथा गुड़ दो तोला, इन्हें एकत्र मिला कर अच्छी तरह मर्द्दन करे। पीछे इमलीकी गुठलीके समान इसकी एक एक गोली प्रति दिन प्रातःकालमें सेवन करनेसे कास, श्वास, अजीर्ण और अन्यान्य रोग जाते रहते हैं।

२ कुष्ठरोगकी एक औषध। प्रस्तुत प्रणाली—उदुर्ध्व पातित यन्त्रमें सप्त दोषनिर्मुक्त पारेको मन्त्रपूत कर मिट्टीके कड़ाहेमें तथा कुष्माण्डके रस वा तैलादिके साथ दोलायन्त्रमें सात बार परिशोधित पारेसे दूनी हरताल तथा कैवर्त्तमुस्तकके रस और झिण्टीके रसको युक्तिपूर्वक दे कर पारे और हरतालसे दूनी पलासकी भस्म देवे। अनन्तर झिण्टीके रसमें सबको डुबा कर पोस्तके रसमें पुनः उसे आप्लुत करे। पीछे बड़ी सावधानीसे शालकी लकड़ीकी आँचमें चौबीस पहर तक पाक करे। ठण्ढा होने पर काँचके बरतनमें उसे रख छोड़ें। मधु और जल, नारियल, जिङ्गिनीक्वाथ वा मधु और मोथेके रस करीब चार रत्तीसे ले कर प्रति दिन एक एक रत्ती करके बढ़ावे। इसमें वातरक्त, आम, सब प्रकारके कुष्ठ, अम्लपित्त, विस्फोट, मसूरिका और प्रदर रोग नष्ट होते हैं। इसमें मछली, मांस, दही, साग, खट्टा और लालमिर्च खाना मना है।

विजयमन्दिरगढ़—राजपूतानाके भरतपुर राज्यान्तर्गत एक प्राचीन गढ़। यहां भरतपुरके पुराने राजे वास करते थे। आज कल यह विस्तीर्ण ध्वंसावशेषमें परिणत हो गया है।

विजयमर्द्दल (सं० पु०) विजयाय मर्द्दलः। ढका, प्राचीन कालका एक प्रकारका ढोल।

विजयमल्ल (सं० पु०) एक राजाका नाम।
(राजतर० ७।७३२)

विजयमाली (सं० पु०) एक वणिक्का नाम।
(कथास० ७२।२८४)

विजयमित्र (सं० पु०) कम्पनाधिपति एक सामन्तराजका नाम। (राजतर० ७।३६६)

विजययात्रा (सं. स्त्री०) वह यात्रा जो किसी पर किसी प्रकारकी विजय प्राप्त करनेके उद्देश्यसे की जाय।

विजयरक्षित—माधवनिदानके प्रसिद्ध टीकाकार।

विजयरस (सं० पु०) अजीर्णरोगकी एक औषध। प्रस्तुतप्रणाली—पारा और सीसा प्रत्येक ८ तोला ले कर एक साथ मिलावे, पीछे ८ तोला गन्धक डाल कर तब तक मर्दन करे, जब तक उसका रङ्ग कजली-सा न निकल आवे। इसके बाद यवक्षार, साचीक्षार और सोहागेका लावा प्रत्येक ८ तोला तथा दशमूलों (बिल्वमूल, पिठवन, छोटी कटाइ, बड़ी कटाई, गोखरू, बेल, सोनापाठा, गंभारि, गनियारी और पाठा) और सिद्धिचूर्ण, प्रत्येक ४० तोला मिला कर पहले उक्त दशमूलोंके क्वाथमें भावना दे पीछे यथाक्रम चितामूल, भृङ्गराज और सहिञ्जनके मूलकी छालके रससे पृथक् पृथक् भावना दे कर एक मिट्टीके बरतनमें रखे और ऊपरसे मुंह बन्द करके एक पहर तक पुटपाकके विधानानुसार पाक करना होगा। पीछे शीतल हो जाने पर उससे औषध निकाल कर अदरकके रसमें उसे घोटना होगा। तीन या चार रत्ती भर औषध पानके रसके साथ सेवन करनेसे अजीर्ण रोग जाता रहता है।

विजयराघव—एक प्रसिद्ध नैयायिक। असम्भवपत्र, शतकोटिमण्डन, यद्रूपविचार आदि संस्कृत-पुस्तिकायें इनकी बनाई हुई हैं।

विजयराघवगढ़—मध्यप्रदेशके जब्बलपुरका एक भूभाग। इसके उत्तर मैहर, पूर्वमें रेवा तथा पश्चिममें मुरवारा तहसील और पन्नाराज्य पड़ता है। भू परिमाण प्रायः ७५० वर्गमील है। पहले यह स्थान एक सामन्तराजके अधीन था। सिपाही विद्रोहके समय राजवंशधरोंके बागी होने पर उनका राज्य जब्त हुआ। यह भूभाग कृषिके लिये प्रधान है। यहां लोहा पाया जाता है।

विजयराज—गुजरातके चालुक्यवंशीय एक राजा, बुद्धवर्मराजके पुत्र। ये ३९४ कलचूरी सम्वत्में राज्य करते थे।

विजयराम आचार्य—१ पाखण्डचपेटिका और मानसपूजन नामक संस्कृत ग्रन्थके प्रणेता। ये चतुर्भुजाचार्यके शिष्य थे। २ मन्त्ररत्नाकर नामक तान्त्रिक ग्रन्थके रचयिता।

विजयलक्ष्मी (सं० स्त्री०) विजय एव लक्ष्मीः। विजयश्री अधिष्ठात्री देवी, जिसकी कृपा पर विजय निर्भर मानी जाती है।

विजयवत् (सं० त्रि०) विजय अस्त्यर्थे मतुप् मस्य व। विजययुक्त, विजयी।

विजयवर्म्मा (सं० पु०) एक प्राचीन संस्कृत कवि।

विजयवेग (सं० पु०) विद्याधरभेद।

(कथास० २५।२६२)

विजयशक्ति—एक पूर्वतन चन्देलराज। चन्द्रात्रेय देखो।

वियजशील (सं० पु०) वह व्यक्ति जो बराबर विजय करता हो, सदा जीतनेवाला।

विजयश्री (सं० स्त्री०) विजय एव श्रीः। विजयलक्ष्मी, विजयकी अधिष्ठात्री देवी जिसकी कृपा पर विजय निर्भर मानी जाती है।

विजयसप्तमी (सं० स्त्री०) विजयाख्या सप्तमी। विजयासप्तमी, रविवारयुक्त शुक्ला सप्तमी। (हरिभक्तिवि०)

विजयसागर (सं० पु०) एक प्रकारका बड़ा वृक्ष। इसकी लकड़ी औजार बनाने और इमारतके काममें आती है। विजैसारदेखो।

विजयसिंह—१ मारवाड़-जोधपुरके एक राजा। ये महाराज बख्तसिंहके पुत्र थे। जब महाराज बख्तसिंहने विषमय वस्त्र पहन कर प्राण त्याग किया, तब उनके पुत्र विजयसिंहकी उम्र बीस वर्ष की थी। इस समय यद्यपि दिल्लीके बादशाहकी प्रभुता दुर्बल हो गई थी, तथापि विजयसिंहने प्रचलित रीतिके अनुसार दिल्लीके बादशाहके समीप अपने अभिषेकका संवाद भेजवाया। दिल्लीके बादशाह इस पर बड़े प्रसन्न हुए। इसी प्रकार भारतके सभी प्रधान प्रधान राजाओंने उन्हें मारवाड़का अधिपति सहर्ष स्वीकार किया। मारवाड़के मारोठ नामक स्थानमें विजयसिंहका अभिषेक हुआ था। महाराज विजयसिंह वहांसे जा कर मेरतामें अशौचनिवृत्त होने तक रहे।

इनको राज्यच्युत रामसिंहसे बहुत दिनों तक युद्धमें लिप्त रहना पड़ा था। अन्तमें बहुत परिश्रमके बाद रामसिंहकी आशा पर पानी फिर गया और विजयसिंह मारवाड़के सर्वसम्मत अधीश्वर हुए।

२ कलचूरिवंशीय एक राजा तथा गयकर्णके पुत्र । ३ हर्षपुरीयगच्छके एक प्रसिद्ध जैनाचार्य । इन्हों ने बहुत-से जैन-ग्रन्थों को टीका लिखी । इनके शिष्य प्रसिद्ध चन्द्रसूरि थे ।

विजयसिंहल—सिंहलद्वीपके प्रथम आर्य राजा । महावंश नामक पालि इतिहासमें लिखा है, कि वङ्गाधिपके औरससे कलिङ्गराजकन्याके गर्भसे सुप्पदेवी (सूर्पदेवी) नामकी एक रूपवती कन्या उत्पन्न हुई । ज्यों ज्यों उसकी उम्र चढ़ती गई, त्यों त्यों उसकी सुखेच्छा भी बढ़ती गई । यहां तक, कि उसने एक दिन गृहका परित्याग कर छद्मवेशमें सार्थवाहके साथ मगधकी ओर प्रस्थान कर दिया । लाल (राढ़देश)-के जङ्गलमें एक सिंह उन पथिकों पर टूट पड़ा । राजकुमारीको वहीं छोड़ सभी जान ले कर भागे । सिंहने राजकन्याको ले कर अपनी गुहामें प्रवेश किया । सिंहके सहवाससे राजकन्याके गर्भ रह गया । यथासमय एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई । पुत्रका नाम सीहवाहु (सिंहवाहु) और कन्याका नाम सीहसीवलि (सिंहश्रीवली) रखा गया ।

सिंहवाहु विजनमें सिंहसे प्रतिपालित हो आगे चल कर राढ़देशका अधिपति हुआ । उसके बड़े लड़केका नाम विजय और मंझोलेका सुमित्ता (सुमित्र) था । विजय अवाध्य और प्रजापीड़क तथा उसके साथी भी नीच प्रकृतिके थे । राढ़वासी जनसाधारण विजयके व्यवहार पर बड़े बिगड़े और सबोंने मिल कर सिंहवाहुके प स अपना दुखड़ा रोया , इस प्रकार तीसरी बार पुत्रके विरुद्ध अभियोग उपस्थित होने पर राढ़पतिने विजयके और उसके साथियोंके आधे शिरको मुड़वा नाव पर बिठा समुद्रमें फेंक देनेका हुकुम दे दिया । विजय और उनके सात सौ अनुचरोंसे लदा हुआ जहाज महासमुद्रमें जा लगा । एक दूसरे जहाजसे उन लोगोंकी स्त्री और तीसरे जहाजसे उनके बालबच्चे भी मिले । जहां पुत्रोंका जहाज लगा, वह नागद्वीप; जहां स्त्रियोंका लगा, वह महेन्द्र और जहां विजयका जहाज लगा, वह स्थान सुप्पारकपट्टन (सूर्पारकपत्तन) कहलाता था । सूर्पारकमें अधिवासियोंकी शत्रुताके भयसे विजय अपना जहाज ले पुनः वहांसे रवाना हुए । इस बार वे ताम्रपर्णीमें उतरे । जिस दिन विजय उक्त द्वीपमें पहुंचे थे, उसी दिन बुद्धका निर्वाण (५४३ ई०के) पहल हुआ । इस समय ताम्रपर्णीद्वीपमें यक्षिणीका राज्य था । विजय बड़े साहस और कौशलसे यक्षिणीरानी कुवेणिको वशीभूत कर ताम्रपर्णीके अधीश्वर हुए । विजयके पिता सिंहवाहुने सिंहका वध किया था, इस कारण उनके वंशधरगण 'सीहल' (सिंहल) कहलाते हैं । विजयसिंहल ताम्रपर्णी द्वीपमें राज्य करने लगे, इस कारण वह द्वीप 'सीहल' (सिंहल*) नामसे प्रसिद्ध हुआ ।

विजयने सिंहलपति हो कर पांड्यराजकन्यासे विवाह करना चाहा और इसी उद्देशसे वहां एक दूत भेजा । सिंहलाधिपकी प्रार्थना पर पाण्ड्यराजने अपनी कन्याको उन्हें अर्पण कर दिया । उस पाण्ड्यराजकन्याके साथ अनेक नरनारी सिंहल जा कर बस गये थे ।

विजयको वृद्धावस्थामें कोई पुत्रसन्तान न होनेके कारण उन्होंने अपने छोटे भाई सुमित्रके पास राज्यग्रहण करनेके लिये समाचार भेजा । इस समय सुमित्र राढ़देशके अधिपति थे । उनके कई पुत्र भी थे । उन्होंने बड़े भाईका अभिप्राय सुन कर अपने छोटे लड़के पाण्डुवासको सिंहल भेज दिया । देवके वहां पहुंचनेसे पहले ही विजय ३८ वर्ष राज्य करनेके बाद इस लोकसे चल बसे थे । पीछे वासदेव ही राजसिंहासन पर अभिषिक्त हुए ।

विजयसेन—गौड़के सेनवंशीय एक प्रबल पराक्रान्त और प्रधान राजा । हेमन्तसेनके औरससे यशोदादेवीके गर्भसे इनका जन्म हुआ । इन्होंने अपने बाहुबलसे नान्यदेव, राघव, वर्द्धन और वीर आदि महावीरोंका दर्प चूर्ण तथा गौड़, कामरूप और कलिङ्गपतिको परास्त किया था । श्रोत्रिय वा वेदविद् ब्राह्मणोंने इनसे इतना प्रचुर धन पाया था, कि उससे उन लोगोंकी स्त्रियोंने

---

* महावंशमें सिंहलका इस प्रकार नामकरण वर्णित होने पर भी उसके बहुत पहले जो यह स्थान सिंहल नामसे प्रसिद्ध था, महाभारतसे इसका प्रमाण मिलता है । सिंहल देखो ।

नागरिकोंसे मुक्ता, मरकत, काञ्चनादि अलङ्कार पहनने सीखे थे। विजय बहुत-से यज्ञ भी कर गये हैं। उन्होंने गगनचुम्बी प्रद्युम्नेश्वर (हरिहर) मन्दिर और उसके सामने एक जलाशयकी प्रतिष्ठा की तथा देवसेवाके लिये एक सौ सुन्दरी बालाएं नियुक्त कीं। सेनराजवंशमें विस्तृत विवरण देखो।

विजया (सं० स्त्री०) १ तिथिविशेष। यह तिथि विजयातिथि नामसे प्रसिद्ध है। दशमीकृत्य दुर्गापूजा और विजया दशमी शब्द देखो। २ पुराणानुसार पार्वतीकी एक सखीका नाम जो गौतमकी कन्या थी। ३ विश्वामित्र द्वारा आराधित विद्याविशेष। विश्वामित्रने इस विद्याकी उपासना की थी। अन्तमें ताड़का आदि राक्षसोंके संहारके लिये उन्होंने यह विद्या रामचन्द्रको सिखला दी थी।

४ दुर्गा। (हेमचन्द्र) देवीपुराणमें लिखा है, कि दुर्गाने एक समय पद्मनामक एक दुर्वृत्त असुरराजका संहार किया था, इसलिये तभीसे वे इस जगत्‌में विजया नामसे प्रसिद्ध हुईं। ५ यमकी स्त्रीका नाम। ६ हरीतकी, हर्रे। ७ वच। ८ जयन्ती। ९ शेफालिका, निर्गुंडी। १० मञ्जिष्ठा, मजीठ। ११ शमीभेद, एक प्रकारकी शमी। १२ गनियारी। १३ स्थावर विषके अन्तर्गत मौल विषभेद। १४ साविन्ध्य गिरिजा। १५ भैरवी वटी। १६ दन्तीवृक्ष। १७ श्वेतबच, १८ नीली वृक्ष। १९ विजबन्द। २० नीलदूर्वा, नीली दूब। २१ मादकद्रव्यविशेष, सिद्धि, भांग। संस्कृत पर्याय—त्रैलोक्यविजया, भङ्गा, इन्द्रासन, जया। (शब्दच०) वीरपत्ता, गञ्जा, चपला, अजया, आनन्दा, हर्षिणी। गुण—कटु, कषाय, उष्ण, तिक्त, वातकफघ्न, संग्राही, वाक्प्रद, बल्य, मेधाकारी और श्रेष्ठ दीपन। (राजनि०) भावप्रकाशके मतसे यह कुष्ठनाशक भी मानी गई है। राजवल्लभने इस विजयाके गुणके सम्बन्धमें एक सुन्दर कवित्वपूर्ण व्याख्या की है—

"जाता मन्दरमन्थनाज्जलनिधौ पीयूषरूपा पुरा
त्रैलोक्ये विजयप्रदेति विजया श्रीदेवराजप्रिया।
लोकानां हितकाम्यया क्षितितले प्राप्ता नरैः कामदा
सर्वातङ्कविनाशहर्षजननी यैः सेविता सर्वदा॥"

(राजवल्लभ)

२२ अष्ट महाद्वादशीके अन्तर्गत द्वादशीविशेष। ब्रह्मपुराणमें लिखा है, कि शुक्लपक्षीय द्वादशीके दिन श्रवणा नक्षत्र पड़नेसे यह दिन अति पुण्यजनक होता है तथा वही द्वादशी विजया कहलाती है। इस पुण्य तिथिके दिन स्नान करनेसे सर्वतीर्थ स्नानका फल तथा पूजा अर्चनासे एक वर्षव्यापिनी पूजाका फल प्राप्त होता है। इस दिन एक बार जप करनेसे सहस्र बार जप करनेका फल होता है तथा दान, ब्राह्मणभोजन, होम, स्तोत्रपाठ अथवा उपवास सहस्र गुणमें परिणत होते हैं। इस विजया-द्वादशीका माहात्म्य सचमुच बड़ा ही चमत्कार है। इस तिथिमें व्रत करनेकी विधि है। हरिभक्तिविलासमें इस द्वादशी व्रतकी विधि इस प्रकार देखनेमें आती है—पहले गुरुको प्रणाम कर पीछे सङ्कल्प करे। इस सङ्कल्पका एक विशेष मन्त्र है। जैसे—

"द्वादश्यहं निराहारः स्थित्वाहमपरेऽहनि।
भोक्ष्ये त्रिविक्रमानन्त शरणं मे भवाच्युत॥"

इसके बाद व्रती सोपवीत कलस स्थापन करे। उस कलसके ऊपर ताम्र वा वैणव पात्र रखना होगा और उसके ऊपर उपास्यदेवको स्नान करा कर स्थापन करना होगा। यह देवमूर्त्ति सोनेकी होगी तथा इसके हाथमें शर और शार्ङ्ग रहेगा। पीछे देवप्रतिमाको शुभ्रचन्दन, शुभ्रवसन तथा पादुका और छत्र आदि चढ़ाने होंगे।

अर्घ्यदानके बाद यथाशक्ति धूप और नैवेद्य चढ़ावे। नैवेद्यके सम्बन्धमें कहा है, कि प्रधानतः घृतपक्व नैवेद्य ही चढ़ावे। इसके बाद उस रात्रिको जाग कर बितावे। दूसरे दिन सबेरे स्नान कर देवार्चनाके बाद पुष्पाञ्जलि दान करे।

इसके बाद देवोद्देशसे पुनः अर्घ्यदान और उनका सन्तोषविधान तथा पीछे ब्राह्मणभोजन और पारण आचरण, यही विजयाव्रतकी विधि है।

हरिभक्तिविलासके मतसे भाद्रमासके बुधवारको यदि यह विजयाव्रत किया जाये, तो माहात्म्यतुलनामें यह सभी व्रतोंसे श्रेष्ठ होगा, इसमें संदेह नहीं।

२३ सहदेवकी स्त्री। सहदेवने मद्रराज द्युतिमान्‌की कन्या विजयाको स्वयम्बरमें ब्याहा था। उनके गर्भसे

एक पुत्रने जन्म लिया जिसका नाम सुहोत्र था।

(महाभारत १।९५।८०)

२४ पुरुवंशीय भूमन्युकी स्त्री। भूमन्युने विजया नाम्नी दाशार्हनन्दिनीका पाणिग्रहण किया। इस विजयाके गर्भसे सुहोत्र नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

(महाभारत० १।९५।३३)

२५ एक योगिनीका नाम। २६ वर्त्तमान अपसर्पिणीके दूसरे अर्हत्‌की माताका नाम। २७ दक्षकी एक कन्याका नाम। २८ श्रीकृष्णकी माताका नाम। २९ इन्द्रकी पताका परकी एक कुमारीका नाम। ३० प्राचीनकालका एक बड़ा खेमा। ३१ दश मात्राओंका एक मात्रिक छन्द। इसमें अक्षरोंका कोई नियम नहीं होता और इनके अन्तमें रगण रखना अति मधुर होता है। ३२ एक वर्णिक वृत्त। इसके प्रत्येक चरणमें आठ वर्ण होते हैं तथा अन्तमें लघु और गुरु अथवा नगण भी होता है। ३३ काश्मीरके एक पवित्र क्षेत्रका नाम। ३४ मन्द्राजप्रदेशके एक गिरिसङ्कटका नाम। ३५ सह्याद्रिपर्वतसे निकली हुई एक नदीका नाम। (सह्याद्रिख०)

विजया एकादशी (सं० स्त्री०) १ आश्विन मासके शुक्लपक्षकी एकादशी। २ फाल्गुन मासके कृष्णपक्षकी एकादशी।

विजयादशमी (सं० स्त्री०) चान्द्राश्विनकी शुक्लादशमी। इस दशमी तिथिमें भगवती दुर्गादेवीका विजयोत्सव होता है, इसीसे इसको विजयादशमी कहते हैं। इस दिन राजाओंको विजयके लिये यात्रा करनेकी विधि है। यह यात्रा दशमी तिथिमें करनी होगी। यदि कोई राजा दशमीका उल्लङ्घन कर एकादशी तिथिको यात्रा करे, तो साल भरके भीतर उसकी कहीं भी जीत न होगी। यदि कोई स्वयं यात्रा करनेमें अशक्त हों, तो खड्‌गादि अस्त्र शस्त्रकी यात्रा कर रखें। कहनेका तात्पर्य यह, कि विजयादशमी तिथिमें ही अपनी वा खड्‌गादिकी अस्त्रशस्त्र यात्रा करनी चाहिये।

दशमी तिथिमें देवीकी यथाविधि पूजा करके बलिदान नहीं करना चाहिये, करनेसे वह राष्ट्र नष्ट हो जाता है।

इस तिथिमें नीराजनके बाद जल, गो तथा गोशालेके समीप भूमि पर खञ्जन देखना शुभ है। इस सम्बन्धमें कुछ विशेषता है। वह यह, कि शुभ स्थानमें खञ्जन देखनेसे मङ्गल और अशुभ स्थानमें देखनेसे अमङ्गल होता है। पद्म, गो, गज, वाजी और महोरग आदि शुभ स्थानोंमें देखनेसे मङ्गल तथा भस्म, अस्थि, काष्ठ, तुष, लोम और तृणादि अशुभ स्थानोंमें देखनेसे अशुभ होता है। यदि अशुभ खञ्जनका दर्शन हो, तो देवब्राह्मणकी पूजा, सर्वौषधि जलस्नान और शान्ति करना आवश्यक हैं।

प्रवाद है, कि इस दिनकी यात्रा करनेसे साल भर और कोई यात्रा नहीं करनी होती। यही यात्रा सभी स्थलोंमें शुभ होती है। यही कारण है, कि बहुतेरे लोग देवीनिरञ्जनके बाद उस वेदी पर बैठ दुर्गा नाम जप कर यात्रा करते हैं।

दुर्गोत्सवपद्धतिमें विजयादशमीकृत्यका विषय इस प्रकार लिखा है :—

"आर्द्रायां बोधयेद्देवीं मूलेनैव प्रवेशयेत्;
पूर्वोत्तराभ्यां संपूज्य श्रवणेन विसर्ज्जयेत्॥" (तिथितत्त्व)

आर्द्रा नक्षत्रमें देवीका बोधन, मूला नक्षत्रमें नवपत्रिकाप्रवेश, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्रमें पूजा तथा श्रवणा नक्षत्रमें देवीका विसर्ज्जन करना होता है। विजयादशमीके दिन श्रवणा नक्षत्र पड़नेसे विसर्ज्जनके लिये बहुत अच्छा है। उस दिन यदि श्रवणा नक्षत्र न पड़े, तो केवल दशमी तिथिमें विसर्ज्जन करना उचित है। इस तिथिमें पूर्वाह्णकालके चरलग्नमें देवीका विसर्ज्जनकाल है। विसर्ज्जनमें चरलग्नका परित्याग करना कदापि उचित नहीं।

विजयादशमी प्रयोग—इस दिन प्रातःकालमें प्रातः कृत्यादि करके आसन पर बैठे। पीछे आचमन, सामान्यार्घ्य, गणेशादि देवता पूजा तथा भूतशुद्धि और न्यासादि करें। इसके बाद भगवती दुर्गादेवीका 'ओं जटाजूटसमायुक्तां' इत्यादि मन्त्रोंसे ध्यान कर विशेषार्घ्यस्थापन तथा फिरसे ध्यान करें। बादमें शक्तिके अनुसार देवीकी पूजा करनी होती है। पूजाके बाद देवीका स्तवपाठ करके प्रदक्षिण करना होगा। अनन्तर पर्य्युषितान्न और चिपिटकादि तथा भोज्योत्सर्ग करके आरती और प्रणाम करनेका विधान है।

किसी किसी देशमें बासी भात, कच्चूके सागका घंट तथा चालिताका खट्टा देवीको भोग लगाया जाता है। इसके बाद हाथ जोड़ कर निम्नलिखित मन्त्र पढ़ना होता है —

"ओं विधिहीनं भक्तिहीनं क्रियाहीनं यदर्चितम्।
साङ्गं भवतु तत् सर्वं त्वत्प्रसादान्महेश्वरि॥"

इसके बाद देवीके अङ्गमें जितने आवरण देवता हैं। उनको स्मरण कर घड़ेमें थोडा जल डाल 'ओं दुर्गे दुर्गे क्षमस्व' ऐसा पढ़ें।

अनन्तर देवीके दक्षिण-पश्चिम कोणमें एक त्रिकोण मण्डल बनावे। नवघटके मध्य एक घट उस मण्डलमें रख संहारमुद्रा द्वारा एक पुष्प लेवे और "ओं निर्माल्यवासिन्यै नमः ओं चण्डेश्वर्य्यै नमः" इस मन्त्रसे समस्त निर्माल्य घटके ऊपर रख कर पूजा करे। इसके बाद 'ओं स्फें चण्डिकायै नम' इस मन्त्रसे पूजा करके देवीका दक्षिण चरण पकड़ मन्त्रपाठ करना होगा।

इसके बाद एक मिट्टी वा तांबेके बरतन पर दर्पण रखे और घड़ेका जल उस बरतनमें डाल दर्पण विसर्जन करे। वह दर्पणयुक्त पात्र देवीके सामने रखना होता है। उस पात्रके जलमें देवीका पादपद्म देखनेका नियम है। उस जलमें देवीके पादपद्मका दर्शन कर देवीको प्रणाम करना होता है।

मन्त्रपाठ कर देवीका घट उठा लावे और उसके जलसे पल्लव द्वारा मन्त्रपाठ करे तथा सभीको शान्तिजल और निर्माल्य पुष्प द्वारा देवताका आशीर्वाद देवे। इस शान्ति और आशीर्वाद द्वारा सबोंके कार्यमें जय और मङ्गल होता है।

इस प्रकार देवीका विसर्जन करके नाना प्रकारके गीतवाद्यादिके साथ देवीप्रतिमा को नदीमें विसर्जन करे।
(दुर्गोत्सवपद्धति)

देवी-विसर्जनके बाद बड़ोंको प्रणाम और छोटोंको आशीर्वाद तथा आलिङ्गन करना होता है।

विजयादित्य—१ प्राच्य चालुक्यवंशीय कुछ राजे। चालुक्य देखो। २ दक्षिणापथके वाणराजवंशीय कई एक राजे।

विजयाधिराज—कच्छपघातवंशीय एक राजा। ११०० संवत्में ये विद्यमान थे।

विजयानन्द—एक विख्यात पण्डित। इन्होंने क्रियाकलाप, धातुवृत्ति और काव्यादर्शकी टीका लिखी है।

विजयानन्द (सं० पु०) १ वैद्यकमें एक प्रकारकी औषध। इसके बनानेकी तरकीब—एक भाग पारे और दो भाग हरतालको मन्त्रपूत कर मिट्टीके बरतनमें रखे। पीछे उसके ऊपर दोनोंके बराबर पलाशभस्म दे कर बरतनके मुंहमें लेप लगावे और चौबीस पहर पाक करे। ठंढा होने पर उस पारेको ले कर काँचके बरतनमें सावधानीसे रखे। इससे श्वित्ररोग और सब प्रकारका कुष्ठरोग दूर होता है। २ संगीतमें तालके साठ मुख्य भेदोंमेंसे एक।

विजयार्क—कोल्हापुरके एक अधिपति। प्रायः ११५० ई०में ये विद्यमान थे।

विजयार्ध (सं० पु०) पुराणानुसार एक पर्वतका नाम।

विजयालय—नवीं सदीके एक प्रसिद्ध चोलराज।

विजयावटिका (सं० स्त्री०) ग्रहणीरोगकी एक औषध। प्रस्तुत प्रणाली—२ तोला पारा और २ तोला गन्धक ले कर कज्जली बनावे। पीछे उसमें सोना, रूपा, ताँबा, प्रत्येक २ तोला मिला कर उसे अदरकके रसमें छोड़ दे। अनन्तर उसमें दूनी कूटजके छिलकेकी भस्म मिला कर अच्छी तरह घोंटे और चार रत्तीकी गोली बनावे। एक एक गोली प्रति दिन बकरीके दूध या कूटजकी छालके काढ़ेके साथ सेवन करे। पीछे फिर मध्याह्न भोजनके समय इसको दो रत्ती ले कर दधिमिश्रित अन्नके प्रथम ग्रासके साथ खावे। इस भोजनकालकी मात्रा प्रति दिन एक एक रत्ती बढ़ा कर जिस दिन दश रत्ती पूरी हो जाय, उसके दूसरे दिनसे फिर एक एक रत्ती करके घटावे इसका पथ्य है समूची मसूर दालका जूस और वारिभक्त (गरम भात जलमें भिगो कर ठंढा किया हुआ)।

विजयावटी (सं० स्त्री०) श्वासरोगकी एक औषध। प्रस्तुत प्रणाली—पारा, गन्धक, लोहा, विष, अबरक, विडङ्ग, रेणुक, मोथा, इलायची, पीपलमूल, नागकेशर, त्रिकटु, त्रिफला, तांबा, चिता और जयपाल प्रत्येक समान भाग संग्रह करे। पीछे उससे दूना गुड़ मिला कर गोली बनावे। इससे श्वास, कास, क्षय, गुल्म, प्रमेह, विषमज्वर, सूतिका, ग्रहणीदोष, शूल, पाण्डु, आमय और हस्तपदादिके दाह आदि उपद्रव शान्त होते हैं।

विजयासप्तमी (सं० स्त्री०) विजयाख्य सप्तमी। फलित ज्योतिषके अनुसार किसी मासके शुक्ल पक्षकी वह सप्तमी जो रविवारको पड़े। इस सप्तमी तिथिमें दान करनेसे विशेष फल हुआ करता है।

विजयिन् (सं० त्रि०) विशेषेण जेतुं शीलमस्य वि-जि-(जि-दृक्षिविश्रीति। पा ३।२।१५७) इति इनि। १ जिसने विजय प्राप्त की हो, विजय करनेवाला, जीतनेवाला। (पु०) २ अर्जुन।

विजयिन (सं० त्रि०) विजिल, ऐसा भोजन जिसमें अधिक रस न हो।

विजयी (सं० त्रि०) विजयिन् देखो।

विजयीन्द्र यतीन्द्र—एक प्रसिद्ध भिक्षु दार्शनिक। आनन्दतारतम्यवाद, न्यायामृतकी आमोदटीका, व्यासतीर्थरचित तात्पर्यचन्द्रिकाके 'चन्द्रिकोदाहृतन्यायविवरण' और 'अप्पय्यकपोलचपेटिका' आदि ग्रन्थ इनके रचे हैं।

विजयीन्द्र स्वामी—चक्रमीमांसाके रचयिता।

विजयेश (सं० पु०) १ शिवका एक नाम जो विजयके एक देवता माने जाते हैं। २ काश्मीरके एक प्रसिद्ध शैवतीर्थ। इसका वर्त्तमान नाम विजब्रोर है।

विजयेश्वर (सं० पु०) विजयेश देखो।

विजयैकादशी (सं० स्त्री०) एकादशीभेद, आश्विन मासकी शुक्ला एकादशी और फाल्गुनकी कृष्णा एकादशी।

विजयोत्सव (सं० पु०) विजयायामुत्सवः। १ वह उत्सव जो किसी प्रकारकी विजय प्राप्त करने पर होता है। २ वह उत्सव जो आश्विन मासके शुक्लपक्षकी दशमीको होता है, विजयादशमीको होनेवाला उत्सव। हरिभक्तिविलासके मतसे विजयादशमीके दिन विजयोत्सव करना होता है। इस उत्सवका विधान इस प्रकार लिखा है, कि रक्षःकुलान्तक श्रीरामचन्द्रको राजवेशमें विभूषित करके रथ पर बैठा कर शमीवृक्षके नीचे ले जाना होगा। वहां विधिपूर्वक पूजादि कर श्रीरामचन्द्रको और शमीवृक्षकी पूजा करके मन्त्र पढ़ना होता है।

(हरिभक्तिवि० १५ वि०)

विजर (सं० त्रि०) विगता जरा यस्य। १ जरारहित, जिसे जरा या बुढ़ापा न आया हो। २ नवीन, नया। (क्लो०) ३ गुच्छ।

विजरा (सं० स्त्री०) ब्रह्मलोककी एक नदीका नाम।

विजर्जर (सं० त्रि०) विशेष प्रकारसे जीर्णशीर्ण, अत्यन्त जीर्णशीर्ण। "पुरा जरा कलेवरं विजर्जरीकरोति ते।"

(महाभारत)

विजल (सं० त्रि०) विगतं जलं यस्मात्। १ अनावृष्टि, जल या वर्षाका अभाव, सूखा। २ जलका न होना, पानीका अभाव। ३ विजिल।

विजला (सं० स्त्री०) चञ्चुशाक, चंचु या चेंच नामका साग।

विजल्प (सं० पु०) विशेषेण जल्पनम्। १ सच, झूठ और तरह तरहकी ऊटपटाँग बातें करना, व्यर्थकी बहुतसी बकवाद। २ किसी सज्जन या भले आदमीके सम्बन्धमें दोषपूर्ण झूठी बातें कहना।

विजयल—विजपिल, पिच्छिल।

विजाका—विज्जाका नाम्नी स्त्रीकवि।

विजागापट्टम् (विशाखपत्तन) मन्द्राज प्रेसिडेन्सीके अन्तर्गत अंग्रेज अधिकृत एक जिला। यह अक्षा० १७°१५' से २०°७' उ० और देशा० ८१°८७' से ८४°३' पू०के लगभग है। जयपुर और विजयनगरम्की भूसम्पत्ति मिला कर इसका भूपरिमाण १७२२२ वर्गमील है। स्थानका आयतन और जनसंख्याके हिसाबसे यह जिला मन्द्राजप्रेसिडेन्सीके अन्यान्य जिलेसे बड़ा है। इसकी जनसंख्या तीन लाखसे ऊपर है।

इसकी उत्तरी सीमा पर गञ्जाम जिला और विहार-उड़ीसेके देशीराज्य, पूर्वी सीमा पर गञ्जाम और बङ्गोपसागर, दक्षिणी सीमा पर बङ्गोपसागर और गोदावरी जिला और पश्चिमी सीमा पर मध्यप्रदेश अवस्थित है। १४ जमीन्दारियां, ३७ सत्त्वाधिकारियोंकी भूसम्पत्तियां और गोलकुण्डा, सर्वसिद्धि और पालकुण्डा नामक तीन सरकारी तालुकोंको ले कर यह जिला गठित है। इसका प्राचीन नाम विशाखपत्तन है और विशाखपत्तन नगरमें ही जिलेकी अदालत प्रतिष्ठित है।

यह जिला मन्द्राज प्रेसिडेन्सीके उत्तर अंशमें समुद्रोपकूल पर अवस्थित है। इतिहासमें यह देशभाग उत्तर-सरकार (Northern Circars) नामसे लिपिबद्ध है। पूर्वविभाग बङ्गोपसागरको नीलजलराशि और उसके

उपकण्ठमें श्यामल वृक्षराजिविमण्डित पर्वतमाला वहांके सौन्दर्यको दिव्य छटा विकिरण कर रही है।

मन्द्राजसे ष्टीमर या रेलपथसे इस समय विजागापटम् में आया जाता है। पहले ष्टीमरमें आनेके समय मछलीपत्तनको पार कर कुछ दूर आ जाने पर ष्टीमरसे निकट ही डलफिननोज नामक पहाड़का शिखर दिखाई देने लगता था। पहाड़से आध मीलकी दूरी पर पोर्ट आफिसके घाट पर ष्टीमरसे उतरना पड़ता है।

इस घाट पर पोर्ट आफिसकी इमारत और उसके उत्तरकी ओर एक पर्वतशृङ्ग पर विभिन्न धर्मोंके तीन मन्दिर प्रतिष्ठित हैं। इनमेंसे एक मुसलमान फकीरका समाधि-मन्दिर है। साधारणका विश्वास है, कि वङ्गोपसागर पर इस दरगाह साहबका सम्पूर्ण आधिपत्य है। वहांका प्रत्येक व्यक्ति ही समुद्रयात्रासे लौटने पर यहां रौप्यनिर्मित चिराग जलाता है। भक्त लोग दरगाहके सामने प्रति शुक्रवारको चिराग जला दिया करते हैं। सिवा इनके जहाजोंके मल्लाह समुद्रपथसे आने जानेके समय तीन बार निशान उठा कर और गिरा कर उनका सम्मान करते हैं।

पर्वतकी ये सब कीर्त्तियां और इनके साथकी अट्टालिकायें समुद्रपथसे देखने पर बड़ी ही प्रीति उत्पादन करती हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि इसके सिवा डलफिननोज पार कर चुकने पर विजागापटम्के प्रवेश-पथकी समूची उपकूलभूमिका प्राकृतिक सौन्दर्य्य अतीव रमणीय और चित्ताकर्षी है।

इस दरगाहके पश्चिम हिन्दुओंके वेङ्कटस्वामीका मन्दिर है। वहांके हिन्दू वणिक्दलने बहुत अर्थ व्यय कर तिरुपति स्वामीका अनुकरण कर उक्त मन्दिरको तय्यार करके उसमें देवमूर्त्तिकी प्रतिष्ठा कराई थी। तीसरे पहाड़के सर्वपश्चिममें रोमन-केथलिक खृष्टानोंका प्रतिष्ठित गिरजा है। प्रकृति द्वारा यह स्थान नानामनोहर साजोंसे सज्जित रहने पर भी इसका स्वास्थ्य उतना अच्छा नहीं। पूर्वघाट पर्वतमालाकी एक शाखाने इस जिलेके उत्तर-पूर्वसे दक्षिण-पश्चिममें प्रसृत हो कर जिलेको दो असमान भागोंमें विभक्त कर दिया है। उनमें अपेक्षाकृत बड़ा अंश पर्वतमय और छोटा अंश समतल है।

पार्वत्य-प्रदेशमें अवस्थित ऊंचे गिरिशिखर समुद्रपृष्ठसे साधारणतः ५००० फीट ऊंचे हैं। इन सब पर्वतमालाओंके दोनों ओरके ढालूदेशमें नाना जातीय फल मूल और शाकसब्जीका लतापत्ता और स्थान स्थानमें लम्बे लम्बे वृक्षोंका समूह दिखाई देता है। पर्वतके उपत्यकादेशमें बांसकी अच्छी और सुन्दर झाड़ियां हैं।

पूर्व-वर्णित पर्वतश्रेणी इस जिलेकी प्रावृट् धाराकी अववाहिका बन गई है। पूर्व ओरकी जलराशि धीरे धीरे पर्वतगात्रसे बह कर एक एक स्रोतस्विनीके रूपमें वङ्गोपसागरमें मिल गई है। पश्चिमकी पर्वतगात्रविधौत जलराशि इन्द्रवती, शवरी और सिलर नदी द्वारा गोदावरी नदीका कलेवर पुष्ट करती है। फिर जयपुरके उत्तर भागमें और एक अववाहिका दिखाई देती है। इसका कुछ जल महानदीमें और कुछ गोदावरीमें गिरता है। महानदीकी अनेक शाखा-प्रशाखाओंमें तेल नामक शाखा ही सबसे बड़ी है। इसका उत्पत्तिस्थान यही जिला कहा जा सकता है।

पूर्वघाट-पर्वतमालाके पश्चिम और जयपुरके विस्तृत सामन्त राज्यका अधिकांश अवस्थित है। इसके बहुत अंशोंमें पहाड़ और जङ्गल ही है। पर्वत पर जिस उपत्यका भागमें इन्द्रवती प्रवाहित हुई है, वह उपत्यका बड़ी ही उपजाऊ है। जिलेके उत्तर और उत्तर-पश्चिममें कन्द और शवर जातिका वास है। यह दोनों जातियाँ पहाड़ी ही हैं। जिलेके उत्तरी किनारे पर नीमगिरि नामक शैल विराजित है। इसका सबसे ऊंचा शिखर समुद्रपृष्ठसे ४६७२ फीट ऊंचा है। इन सब पर्वतशिखरोंके बीचमें कितनी ही उपत्यकायें हैं। ये सभी उपत्यकायें निकटवर्त्ती घाट पर्वतमालासे १२३० फीट ऊंची हैं। नीमगिरिविधौत जलराशि दक्षिणपूर्वाभिमुख समुद्रमें गिरती है। इसी जल-प्रणालीसे चिकाकोल और कलिङ्गपत्तनके पादसे प्रवाहित दो नदियोंकी उत्पत्ति हुई है।

घाटमालाके दक्षिण पूर्व भागमें वङ्गोपसागरके किनारे तकका समूचा स्थान प्रायः समतल है। समुद्रजलसिक्त और नदीमालाविच्छिन्न यह भूमि प्रचुर शस्यशालिनी और समधिक उर्वरा है।

पार्श्ववर्त्ती गञ्जाम जिलेके विमलीपत्तन और कलिङ्ग

पत्तन नामके दो नगरोंकी उत्पन्न चीजोंकी रफतनी करनेके लिये बन्दर प्रतिष्ठित रहनेके कारण इस स्थानके अधिवासियोंने लाभकी प्रत्याशामें गत २० या ३० वर्षके बीच दुगुने उत्साहसे इस स्थानको शस्यशाली बना रखा है।

यहांकी सब जगह कृषिकर्षित श्यामल धान्यक्षेत्रोंसे परिपूरित है। कहीं कहीं तम्बाकू और ईखकी श्याम शिरमण्डित विस्तीर्ण उद्यानमाला परिशोभित है। केवल समुद्रोपकूलवर्त्ती क्षेत्र इधर उधर गण्डशैलमालासे परिच्छिन्न हैं। इस शैलराजिके किसी एक शिखर पर स्वास्थ्यवास बनानेकी चेष्टा हुई थी, किन्तु विजागापटम्से वहां आने जानेका पथ न रहनेके कारण यह चेष्टा कार्यमें परिणत न हुई।

ऊपर पर्वतोपरिस्थ वनमालाकी जो बात कही गई, उसका कुछ अंश अंग्रेजोंकी देख-रेखमें और कुछ अंश वहांके जमीन्दारोंके यत्नसे सुरक्षित है। उत्तरमें पालकुण्डा शैलमाला पर, दक्षिण पश्चिममें गोलकुण्डा शैलशिखर पर और सर्वसिद्धि तालुकके उपकूलभागमें सरकार द्वारा रक्षित वनमाला दिखाई देती है। जयपुरी, विजयनगरम्, वोनीलक्ष्मीपुरम्, गोलकुण्डा, सर्वसिद्धि और पार्वतीपुर तालुकके वनमें नानाजातीय वृक्ष उत्पन्न होते हैं। सर्वसिद्धि तालुकके तृणाच्छादित मरुमय प्रान्तरमें जो सब गुल्म उत्पन्न होते हैं, वह केवल जलानेकी लकड़ी तथा पशुओंके लिये चारेके काममें आते हैं। यहां गुग्गुल, बांस, शाल, आशन, अर्जुन, हरीतकी (छोटी हर्रे). आँवला आदि आवश्यकीय वृक्षोंकी कमी नहीं है।

वर्त्तमान विजागापटम जिला हिन्दू इतिहासके प्रथम कालमें प्राचीन कलिङ्गराज्यके अन्तर्भुक्त था। कुछ दिनोंके बाद प्राच्य चालुक्यवंशके एक राजाने यह स्थान अधिकार कर पहले इल्लोराके निकटवर्त्ती वेंगी नगरमें राजपाट प्रतिष्ठित किया। इसके बाद उन्होंने यहांसे उठा कर राजमहेन्द्रीमें अपनी राजधानी कायम की। गञ्जामसे गोदावरीके किनारे तक समुद्रतीरवर्त्ती भूभागमें एक समय जो राजशासन प्रतिष्ठित था, इस जगह भी उस राज्यशासनका कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ। यह जनपद किसी समय उड़ीसेके गजपति-राजवंशके और किसी समय तैलिङ्गनाके अधीश्वरोंके शासनमें परिचालित हुआ था। अतएव उक्त दो राजवंशोंके इतिहासमें इस प्रदेशका इतिहास विशेषरूपसे संश्लिष्ट है।

अपेक्षाकृत पिछले समय दाक्षिणात्यके बाह्मणी राजवंशके मुसलमान राजा २रे महम्मदने उड़ीसेके सिंहासन पर किसी राजकुमारको बैठानेकी चेष्टा करनेके उपलक्षमें पुरस्कारस्वरूप उनसे खण्डपल्ली और राजमहेन्द्रीको पाया था। इसके बाद बाह्मणी राजवंशके अधःपतनके कारण राज्य भरमें घोर विशृङ्खला उत्पन्न हो गई। इस समयमें उड़ीसेके राजाने इन सब स्थानों पर फिर कब्जा कर लिया। किन्तु अधिक दिन तक इसका वह उपभोग न कर सके। कुतुबशाहीराज इब्राहिमने इन सब प्रदेशोंको तो जीता ही था, वरं इसके साथ साथ उन्होंने उत्तरमें चिकाकोल तक समग्र देश अधिकार कर अपने राज्यमें उन्हें मिला लिया था।

सन् १६८७ ई०में दाक्षिणात्यका प्रसिद्ध गोलकुण्डा राज्य मुगल बादशाह औरङ्गजेबने हड़प लिया। यह मुगल-साम्राज्यका नाममात्र अधिकारभुक्त होने पर भी यथार्थमें मुगल यहां सुशासनका विस्तार नहीं कर सके। वे यहां केवल सामयिक प्रभुत्व स्थापित कर सके थे। उन्होंने इन प्रदेशोंको जमींदार और सामरिक सरदारोंको बाँट दिया था। केवल विजागापटम् बादशाहके शासनमें था। सम्राट्का प्रतिनिधि यहांका शासन करता था। यह प्रतिनिधि चिकाकोलमें रहता था।

ईस्वी सन्की १७वीं शताब्दीके मध्यभागमें अङ्गरेजोंने प्रथम विशाखपत्तनमें बन्दर स्थापित किया। सन् १६८९ ई०में बङ्गालके झगड़े पर बादशाहके साथ अङ्गरेजी कम्पनीका मनोमालिन्य उपस्थित हुआ। इस कारण यहांके मुसलमान-प्रतिनिधिने कम्पनीके कर्मचारियोंको कैद कर उनकी कोठीको लूट लिया और वहांके अधिवासी अङ्गरेजोंको मार डाला। किंतु दूसरे वर्ष गोलकुण्डा सूबाके अन्तर्गत मन्द्राज, मछलीपटम्, मदपन्नम्, विशाखपत्तन आदि समुद्रके किनारेके प्रसिद्ध बन्दरोंमें बे-रोक वाणिज्य करनेके लिये बादशाहको ओरसे सेनापति जुल्फिकार खाँने अंग्रेज कम्पनीको आदेशपत्र प्रदान किया। इसके लिये सन् १६९२ ई०में जुल्फिकार खांने अङ्गरेज-कम्पनी

को अपनी सम्पत्तिकी रक्षा करनेके लिये विशाखपत्तन बन्दरमें किले बनानेकी आज्ञा दे दी। अंग्रेजोंने बाहरी शत्रुओंके आक्रमणसे रक्षा पानेके लिये एक सुदृढ़ किला बनाया था।

मुगल-शक्तिके अवसान होनेके बाद 'उत्तर सरकार' प्रदेश हैदराबादके निजामके हाथ आया। निजामने राज्यशासन और राजस्वकी वसूलीके सम्बन्धमें पहलेकी अपेक्षा अनेक सुव्यवस्थायें की थीं। उनके अधिकारके समय राजमहेन्द्री और श्रीकाकोलमें एक मुसलमान राजकर्मचारी रहता था।

प्रथम निजामकी मृत्युके बाद हैदराबादका सिहासनाधिकार ले कर उत्तराधिकारियोंमें विरोध उपस्थित हुआ। फ्रांसीसियोंने सलावत्जङ्गको हैदराबादके सिंहासन पर बैठानेका विशेष उद्योग किया था। इस उपकारके कारण सलावत्जंगने उन लोगोंके हाथ मुस्तफानगर, इल्लोरा, राजमहेंद्री और श्रीकाकोल नामक चार सरकारोंको दे डाला। सन् १७५३ ई०में फ्रांसीसी-सेनापति महावीर बुशीने सलावत्जङ्गसे इस विषयका एक फर्म्मान पाया था। इसके कुछ दिनोंके बाद सन् १७५७ ई०में बुशी कर्णाटक विभागके गवर्नर हुए। इस समय उनके द्वारा होनेवाले युद्धोंमें बब्बिलीका विख्यात अवरोध संघटित हुआ। इस युद्धमें फ्रांसीसी सैन्यने जिस रणचातुर्य और वीरत्वका प्रदर्शन किया था, वह उस स्थानके हिन्दुओंके हृदय पर गहरी रेख जम गई। वे इस भयावह काण्डको आज भी नहीं भूले हैं और गानके रूपमें गाते हैं।

इस समय सरकार श्रीकाकोलके सम्भ्रान्त हिंदूसामन्तोंमें विजयनगरम्के सिंहासन पर गजपति विजयरामराज विराजमान थे। फ्रांसीसी सेनापति मुंसो बुशीके साथ उनका सद्भाव था। हिंदू नरपतिके प्रति कृतज्ञता या पुरस्कारस्वरूप उन्होंने अति अल्प राजस्व निर्द्धारित कर राजा गजपति विजयरामको श्रीकाकोल और राजमहेन्द्री सरकार अर्पित कर दी।

इस समय विजयनगरम्राजके साथ बब्बिलीराज रङ्गरावकी बपौती शत्रुता जाग उठी। विजयनगरम्राजने शत्रुका क्षय करनेके लिये फ्रांसीसी-सेनापतिसे अनुरोध किया। इधर अकस्मात् एक दुर्घटना हो गई। रङ्गरावकी भेजी एक फौजने फ्रांसीसियों पर आक्रमण कर दिया; किन्तु यह भ्रमपूर्ण था। रंगरावका उद्देश्य नहीं था, कि फ्रांसीसियों पर आक्रमण किया जाये। इस घटनाके कारण फ्रांसीसी स्वतः उनके विरोधी हो उठे। अब विजयनगरम्राजको मौका मिल गया। उन्होंने फ्रांसीसियोंकी सहायतामें एक फौज भेज कर बब्बिलीके पार्वत्य दुर्ग पर आक्रमण किया। क्रमशः यह काण्ड बढ़ता गया। नररक्तसे रणक्षेत्र प्लावित और भीषण दृश्यमें परिणत हुआ। फिर भी रङ्गराव और उनके अनुचरवर्ग फ्रांसीसियोंके पदानत होने पर राजी नहीं हुए। किन्तु अंतमें देखा गया, कि प्रबल शत्रुसैन्यके साथ थोड़ी सेना ले कर लड़ना और विजयलाभकी आशा करना वृथा है। यह सोच बिचार कर वे सब अपनी अपनी स्त्रियों और बालबच्चोंकी अपने हाथसे हत्या कर तलवार ले रणक्षेत्रमें उतरे। कई सामन्तोंने रङ्गरावको आश्रय देनेकी बात कही थी, किन्तु उन्होंने शत्रुके सामनेसे भागनेकी अपेक्षा युद्धमें मर जाना ही उचित समझा और भीषण मार काट करते करते युद्धक्षेत्रमें वे काम आये। रङ्गरावके छोटे नाबालिग पुत्रने इस भीषण हत्याकाण्डसे रक्षा पाई थी। राजाका कोई विश्वासी नौकर बालकको ले कर भाग गया। राजा रङ्गरावको रणक्षेत्रमें पतित देख उनके चार विश्वस्त नौकरोंने राज-जीवनका प्रतिशोध लेनेकी प्रतिज्ञा की। ये चारों गहरी रातको निकटवर्त्ती जङ्गलसे निकल कर विजयनगरम्के राजाके शिविरमें घुसे और उनको मार कर गुप्त भावसे लौट आये।

उपरोक्त रूपसे श्रीकाकोलकी शासनव्यवस्था स्थिर कर सेनापति बुशीने विशाखपत्तनमें आ कर अङ्गरेजोंकी कोठी पर अधिकार कर लिया। किन्तु फ्रान्सीसी अधिक समय तक फलभोग नहीं कर सके। बङ्गालमें यह संवाद पहुंचने पर लार्ड क्लाइवने १७५६ ई०में एक सैन्यदलके साथ वहां कर्नल फोर्डको भेजा। फोर्ड उत्तरसरकारमें उपस्थित हो विजयनगरम् राजके साथ मिल गया। उक्त राजाने अपने पिताके प्रति फ्रान्सीसियोंकी मित्रतासे विरक्त हो कर फ्रान्सीसियोंके हाथसे उक्त राज्य विच्छिन्न कर लेनेके लिये पहले हीसे अंग्रेजोंको बुला

लिया था। इस वर्षकी २०वीं अक्टूबरको फोर्डने विजागापटम् आ कर विजयनगरम्‌को फौजोंके साथ मिल कर फ्रान्सीसियोंके विरुद्ध युद्धयात्रा की। गोदावरी जिलेमें घोरतर संघर्ष हो जानेके बाद फ्रान्सीसी सेना पराजित हुई, अंग्रेज सेनापतिने मछलीपत्तन दुर्ग पर अधिकार कर लिया। इस समय हैदराबादके निजामने मछलीपत्तनके चारों ओर कई प्रदेश इष्ट इण्डिया कम्पनीको दान किये। उत्तर सरकारमें फिर फ्रान्सीसी अधिकार प्रतिष्ठित न हो सका, इसके लिये उनको उन्होंने ताकीद कर दी।

सन् १७६५ ई०में लार्ड क्लाइवने दिल्लीके सम्राट्‌के फरमानेके अनुसार उत्तर-सरकार प्रदेशका अधिकार प्राप्त किया। सन् १७७८ ई०में निजामके साथ अंग्रेजोंकी एक सन्धि हुई। उसकी शर्तके अनुसार समग्र उत्तर सरकारविभाग निर्विरोध अंग्रेजोंके हाथ आ गया। अतः अन्यान्य प्रदेशोंके साथ इसी समय विजागापटम् जिला इष्ट इण्डिया कम्पनीकी राज्य-सीमामें मिला लिया गया।

इस जिलेके आलोच्य शताब्दका अवशेषांश इतिहास विजयनगरम्‌के सौभाग्यके साथ अधिकतर संश्लिष्ट है। उस समय इस स्थानके राजन्यवर्गने ही इन प्रदेशोंके सर्वमय कर्त्ता रह कर दाक्षिणात्यमें हिन्दूराजशक्तिका प्राधान्यस्थापन किया था। राजभ्राता सीतारामराजा और दीवान जगन्नाथराजाके राष्ट्रविप्लवकर कुचक्रमें पड़ कर कोर्ट आव डिरेक्टरने सन् १७८१ ई०में मन्द्राजके गवर्नर सर टामस् रमबोल्डको बाध्य हो कर पदच्युत किया था।

सन् १७८४ ई०में मन्द्राज गवर्नमेण्टके आज्ञानुसार एक सर्किट-कमिटी संगठित हुई। इसने उत्तर सरकारोंके देशकी अवस्था और आयके सम्बन्धमें विशेष अनुसन्धान कर पहले श्रीकाकोल सरकारके कासीमकोटा विभागके सम्बन्धमें एक रिपोर्ट भेजी। इसमें उक्त विभागका जो अंश विजागापटम्‌में लिखा गया है, वह प्रायः ३ भागोंमें विभक्त देखा जाता है—१ गवरमेण्टके तत्त्वावधानमें रक्षित हाविली जमीन। २ विजागापटम्‌का कृषि विभाग या इस नगरके चारों ओरके ३३ छोटे-छोटे गांव। ३ अन्ध्र, गोलकुण्डा, जयपुर और पालकुण्डा नामक करद सामन्तराज्योंके साथ विजयनगरम्‌की जमीन्दारी।

सर्किट-कमिटीकी उक्त रिपोर्टमें विजयनगरका इस तरहका परिचय देने पर भी मन्द्राजसरकारने उस समय उस पर हस्तक्षेप नहीं किया। उस समय विजागापटम्‌की मन्त्रिसभा और सरदारों द्वारा स्थानीय शासनकार्य परिचालित होता था। किन्तु १७९४ ई०में प्रादेशिक मन्त्रिसभाका (Provincial Council) विलोप हो जाने पर समग्र उत्तर-सरकार विभिन्न कलक्टरेटमें विभक्त हो गया और वर्त्तमान विजागापटम् जिला इस तरह तीन कलक्टरीके भीतर आया।

विजयनगरम्‌के भाग्यहीन राजा विजयराम अपने भाई सीतारामके हाथमें पड़ कर कठपुतलीकी तरह नाचते थे। यथार्थमें सीताराम ही राज्य करते थे। क्रमशः विजयरामका नाबालिगीका समय बीत गया। अब उनके चित्तमें यह भाव प्रबल हो उठा, कि वे राजकार्य्यका भार स्वयं ले कर राज्य करेंगे। उन्होंने अपना प्रबन्ध करना शुरू किया, किन्तु सीताराम उनके पथके कांटे बने। इसके फलसे राजा और सीतारामसें विरोधकी सृष्टि हुई। मन्द्राज-सरकारने दोनोंका विरोध मिटानेके लिये दोनोंको मन्द्राजमें बुलाया। इसके बाद न जाने विवाद मिटा या नहीं, वे गये या नहीं! किन्तु सरकारी पेशकस न देनेके कारण अंग्रेजोंका उन पर बड़ा तकाजा हुआ। इधर सुचारुरूपसे राज्यकार्य्य न चलनेके कारण रुपयेकी कमी हो गई। राजा 'पेशकस' दे न सके। रुपयेकी कमी तथा राज्य-सञ्चालनमें गड़बड़ी रहनेके कारण उनका चित्त सदा खिन्न रहता था। वे कई बार तो अंग्रेजोंसे टालमटोल कर रहे थे, किन्तु अन्तमें उन्होंने अंग्रेजोंका तिरस्कार किया। फलतः दोनों दलमें युद्ध अनिवार्य्य हो उठा। अंग्रेजोंने किलेको दखल कर लेनेके इरादेसे एक फौज भेजी। इधर राजाको भी खबर मिली। राजा भी अपने साथी सामन्तोंके साथ रणक्षेत्रमें आ डटे। उन्होंने विजयनगरम् और मछलीपत्तनके बीच पद्मनाभम् नामक स्थानमें आ कर अपना खेमा खड़ा किया। लेफ्टनेण्ट-कर्नल प्रेण्डरगाष्टने आक्रमण कर उनको मार डाला।

सारा किस्सा तमाम हुआ। यह सन् १८७४ ई०की १०वीं जुलाईकी घटना है। इस घटनामें उनके कितने प्रिय कर्म्मचारियोंकी जानें गईं थीं।

मृत राजाके पुत्र नारायण बाबू पैतृक सम्पत्तिके अधिकारी हुए। बहुत कठिनतासे उनको पैतृक सम्पत्ति उनके हाथ आई। वह भी कुल नहीं; जयपुर आदि पार्वत्य सर्दारोंके अधिकृत प्रदेशोंका शासनभार अङ्गरेज़ोंने अपने हाथमें रखा।

बङ्गालमें चिरस्थायी बन्दोवस्तसे कर वसूलीकी सुविधा देख सन् १८०२ ई०में उत्तर सरकार प्रदेशमें भी मन्द्राज सरकारने वैसी ही व्यवस्था कराई अर्थात् वहां भी चिरस्थायी वन्दोवस्त हुआ। उस समय यह ज़िला १६ जमीन्दारियोंमें विभक्त था और इसका राजस्व ८०२५८०) रुपया निर्द्धारित हुआ। मन्द्राज सरकारने उस समयकी सरकारी जमीनको छोटी-छोटी जमीन्दारियोंमें बांट दिया। इस तरह २६ जमीन्दारियोंको मिला कर विजागापटम् तथा कलेकृरीकी सृष्टि हुई।

इस तरहके बन्दोवस्तसे राजा-प्रजामें बहुत असुविधा हुई। अंग्रेजोंके प्रति प्रजाका क्रोध दिनों दिन बढ़ने लगा। इसी मनोमालिन्यके कारण अंग्रेजोंके साथ पार्वत्य सामन्त राजोंका अहरहः युद्ध हुआ था। अनेक युद्धोंमें अंग्रेजी सेना पराजित हुई। इस तरह विप्लवमें ३० वर्ष गुजर गये। अन्तमें सन् १८३२ ई०को गञ्जाममें एक भयानक विद्रोह खड़ा हुआ। अब मन्द्राज सरकार स्थिर न रह सकी। इस विद्रोहके दमन करनेके लिये एक फौज भेजी गई। जार्ज रसेल नामक एक अंग्रेज वहांका स्पेशल कमिश्नर नियुक्त किये गये। उनके ऊपर ही विद्रोहके कारण अनुसन्धान करनेका भार दिया गया। उनको यह आज्ञा दी गई, कि वे जा कर विद्रोहका दमन करें और जरूरत हो तो 'मार्शल ला' भी जारी कर दें और ऐसी चेष्टा करें कि भविष्यमें वहां फिर ऐसा विद्रोह न होने पावे।

मिष्टर रसेलने कार्यक्षेत्रमें उतरते ही देखा, कि विजागापटम्के दो जमीन्दार ही इस विद्रोहके कारण हैं। यह देख कर उन्होंने देर न कर उन दोनोंको दण्ड देनेके लिये उन पर आक्रमण कर दिया। उनमें एक सरदार पकड़े गये और दूसरे भाग गये। ऐसे समय पालकुण्डाके जमींदार भी विद्रोही हुए। रसेल साहबने उनको भी दबाया।

इसके बाद मिष्टर रसेलके परामर्शानुसार इस जिलेकी शासन-व्यवस्थामें बहुत परिवर्त्तन किया गया। पार्वत्य करद जमीन्दारोंको सम्पूर्ण रूपसे जिलेके कलेकृरके अधीन रखा गया। सन् १८३६ ई०में यह कानून जारी हुआ। इस कानूनके अनुसार इस ज़िलेका आठवां अंश शासित होने लगा। केवल प्राचीन हाविली जमीन तथा कुछ और स्थान इस एजेन्सीमें न रहनेके कारण चिकाकोलके सिविल और सेसन जज वहांके विचारक हुए। सन् १८६३ ई० तक ऐसी ही व्यवस्था रही। इसके बाद विजयनगरम्, बब्बिली और गोलकुण्डा उक्त एजेन्सीके शासनसे बाहर कर दिये गये। येसब ही इस समय पार्वत्य प्रदेश कहे जाते हैं।

इस परिवर्त्तनके बादसे ही यहांका विद्रोह बहुत कम हो गया। सन् १८४५ से १८४८ ई० तक गोलकुण्डेके पार्वत्य सरदारोंने अंग्रेजी फौजोंको विशेषरूपसे निर्यातन किया। सरकारने वहांकी रानीको मार कर उनकी सम्पत्तिको जब्त कर लिया। सन् १८५७-५८ ई०में यहां भी एक बार विद्रोह हुआ था, किन्तु यह बहुत दूर तक न फैल सका अर्थात् शीघ्र ही दबा दिया गया। सन् १८४९-५० और १८५५-५६ ई०में राजा और उनके पुत्रके बीच विरोध होनेकी वजह जयपुर राज्यमें विद्रोह खड़ा हुआ। इस गृहविवादको मिटानेके लिये सरकारने हस्तक्षेप किया। अन्तमें अंग्रेज सरकारने घाटपर्वतमालाकी ओरके चार तालुकोंको अपने हाथमें कर लिया। इस तरह जयपुर राज्यके बाप-बेटेका झगड़ा तय हुआ। पीछे जब राजाकी मृत्यु हुई, तब उनका लड़का तख्तनशीन हुआ। इस समय सरकारने उन चार तालुकोंको उन्हें लौटा दिया। यह सन् १८६० ई० की घटना है। उस समयसे जयपुरकी शासनशृङ्खलाका विस्तार करनेके लिये एक असिष्टण्ट एजेण्ट और एक असिष्टण्ट पुलिस सुपरिन्टेण्ट रखे गये। इस समय यह जयपुर इन दो अफसरोंके तत्त्वावधानमें शासित हो रहा है। दीवानी और फौजदारी अदालतें इन्हींके हाथमें हैं। सन् १८८६ ६० ई०में गोदावरी जिलेके रम्पा प्रदेशमें एक विद्रोह उठा। यह धीरे धीरे

गुड़ेमसे फैल कर जयपुर तक चला आया। सरकारको इसके दमन करनेमें बड़ी चेष्टा करनी पड़ी थी।

विजयनगरम् राज्यमें भी उस समय कई राजद्रोह उठ खड़े हुए थे; किन्तु वे शीघ्र ही दबा दिये गये।

विजयनगरम् देखो।

इस ज़िलेमें विजागापटम् नगर, विजयनगरम्, बब्बिली पत्तन, अलकापल्ली, आलूर, पार्वतीपुर, पालकुण्डा, विमलीपटम्, कासीमकोटा और शृङ्गवेर पुकोटा नामके दश नगर और प्रायः ८७५२ ग्राम हैं। यहां कई वर्णोंके मनुष्योंका वास है। ईसाई और मुसलमानोंका भी अभाव नहीं। किन्तु हिन्दुओंकी आबादी ही अधिक है, पहाड़ी प्रदेशोंमें कन्द, गोंड़, गड़बा, कोई प्रभृति जातियोंका निवास है। दक्षिण भागमें बतिया, कन्दभोरा, कन्दकापू, मतिया, और कोई नामक जातियोंके साथ उनके भाषागत विशेष पार्थक्य नहीं। कन्द जाति पहले नरबलि देती थी। जिस उत्सवमें यह नरबलि दी जाती थी, उस उत्सवका नाम था—"मेरिया"। पालकोण्डाके ढालुवें देशसे गुणापुरके पूर्वभाग तक स्थानोंमें शवर (सौर) नामक और एक आदिम असभ्य ज्ञातिका वास है।

विशेष बात उन जातियोंके स्वतन्त्र विवरणमें देखो।

यहां नाना जातिके अनाज पैदा होते हैं। बराह नदी, सारदा नदी और नागावली नदी तथा कोमरबोलू और कोण्डकोली नामकी झीलोंसे यहांके खेतोंकी सिंचाई होती है। सिवा इसके उत्कृष्ट कार्पास वस्त्र और नक्कासीदार बरतनोंका बहुत बड़ा कारबार होता है। अनेकापल्ली, पैकारोपेटा, नक्कझिल्ली, तुन्नी और अन्यान्य ग्रामोंमें १२० नम्बरके सूतसे एक प्रकारका कपड़ा तय्यार किया जाता है। वह 'पाञ्जाम' नामसे प्रसिद्ध है। विशाखपत्तन और चिकाकोलमें भी इस तरहका और दूसरी तरहका कपड़ा तैयार होता है। तौलिया और टेबिल-क्लाथ (मेजको ढकनेका वस्त्र) जिलेके नाना स्थानोंमें बुना जाता है। विशाखपत्तनमें हाथी दाँत, भैंसके सींग, शाहिलके कांटे और चांदीके तरह-तरहके खिलौने, अलङ्कार (गहने आभूषण) गृहशोभाकी सामग्री तय्यार होती है। इसी शिल्पके लिये यह स्थान प्रसिद्ध है। लकड़ीकी सुन्दर-सुन्दर खुदाई आदि शिल्पका यहां अभाव नहीं। फिर पास रखनेका पात्र, घर सजानेकी सामग्री आदि कई चीजें यहां तय्यार होती हैं।

पहले स्थल और जलपथसे यहांके व्यवसायका वाणिज्य होता था। इस समय रेल हो जानेसे कलकत्तेसे मन्द्राज तक व्यवसाय वाणिज्यकी बहुत सुबिधा हो गई है। विजागापटम्के उच्च कण्ठमें सुप्रसिद्ध वल्तेयर नामक स्थानमें स्वास्थ्यवास है। यहां कितने ही गोरोंके रहनेके लिये वासभवन दिखाई देते हैं। वलतेरु देखो।

२ उक्त जिलेका एक उपविभाग। भूपरिमाण १४२ वर्गमील है।

३ उक्त जिलेका प्रधान नगर और विचार सदर। यह अक्षा० १७° ४२´ ३० तथा देशा० ८३° १८´ पू०के मध्य अवस्थित है। यह नगर मन्द्राजसे (रेलसे) ४८४ मील पर और कलकत्तेसे ५४९ मील पर पड़ता है। इस नगरकी जनसंख्या ४० हजारसे ऊपर है और ७७४१ मकान हैं। जनसंख्यामें ३६३४६ हिन्दू और बाकीमें सब इतर जातिके लोग हैं।

यहां शिक्षालयोंकी भी कमी नहीं है। नीचे दरजोंके स्कूलोंके सिवा दूसरे दरजेका कालेज (The Mrs. A. V, Narosingh Rao कालेज) है। इसमें लगभग ५०३ लड़के शिक्षा प्राप्त करते हैं। तीन हाई-स्कूल भी हैं। दो बालिकाओंके लिये भी हाई स्कूल हैं। एक रोमन केथलिकों और दूसरा लण्डन-मिशनरी सोसाइटी द्वारा चलाया जाता है। सिवा इनके एक मिडिल स्कूल और एक अस्पताल भी है। सन् १८६४ ई०में विजयनगरम्के एक महाराजने इसकी प्रतिष्ठा की थी।

समुद्रके किनारे विशाखपत्तन बन्दर अवस्थित है। इसकी दक्षिणी सीमा पर डल्फिन-नोज नामक पर्वतशृङ्ग और उत्तरी सीमा पर सुप्रसिद्ध वल्टेयरका स्वास्थ्यनिवास है। बन्दरघाटसे कुछ उत्तर विशाखपत्तन नगर अवस्थित है। यहांके अधिष्ठाती देवता विशाख या कार्त्तिकेयके नामानुसार इस स्थानका नाम विशाखपत्तन हुआ है। विशाख स्वामीका मन्दिर समुद्रगर्भमें निमज्जित है। हिन्दू अधिवासी आज भी योगके उपलक्षमें इस मन्दिरके निकट सागर-स्नान किया करते हैं। विशाखपत्तनकी प्राचीन दुर्गसीमाके बीच डिष्ट्रिक् जजकी अदालत, ट्रेजरी,

मजिष्ट्रेट कोर्ट, सब-मजिष्ट्रेट अदालत, मुंशिफी अदालत, पोष्ट एण्ड टेलिग्राफ आफिस और फ्लागष्टाफ, गिरजा, बारूद और अस्त्रागार तथा छावनी मौजूद हैं। यहांसे पांच मील उत्तर समुद्रके किनारे वाल्टेयार नामक स्थानमें अङ्गरेजोंकी छावनी थी। इस समय वहां जिलेके हाकिम ही रहते हैं। यहां डिविजनल पब्लिक वार्कस, इञ्जीनियर्स् आफिस और इष्टकोष्ट रेलवेका हेड आफिस है।

यहां चार प्रसिद्ध देवमन्दिर हैं। पागोडा ष्ट्रीटमें कोदण्डरामस्वामीका मन्दिर है। इसमें भगवान् राम लक्ष्मण और माता सीताकी मूर्त्ति विद्यमान है। प्रधान सड़ककी बगलमें श्रीजगन्नाथस्वामीका मन्दिर है। गरुड़ पद्मनाभ नामक यहांके किसी वणिक्ने पुरुषोत्तमक्षेत्रके जगन्नाथदेवके मन्दिरकी तरह इस मन्दिरको तैयार कराया था। ईश्वरस्वामीके मन्दिरमें शिवमूर्त्ति प्रतिष्ठित है।

डलफिननोज पहाड़के ऊपर कुछ पक्के मकानोंका चिह्न है। पहले यहां एक छोटा किला था। इस समय उसके बदले वहां ए० वि० नरसिंहरावका फ्लागष्टाफ खड़ा है। पहाड़की उपत्यकामें राजा जी, एन, गजपतिरायका पुष्पोद्यान है।

यहांसे ४ मील दूर पर सिंहाचलके पूर्व-दक्षिण गात्रमें एक झरना है। यह पुण्यधारा एक तीर्थरूपमें परिगणित है। यहां भी श्रीमाधवस्वामीका एक मन्दिर है। देवताके नामसे यह धारा माधवधाराके नामसे प्रसिद्ध है। यहां नित्य ही वसन्तका आवास है। धाराके निकट ही एक गुहा दिखाई देती है। जनसाधारणका विश्वास है, कि इस गुहामें माधवस्वामी आज भी विद्यमान हैं।

किम्वदन्ती है, कि १४वीं सदीमें कुलोत्तुङ्गचोलने इस नगरकी स्थापना की। कलिङ्ग विजयके साथ यह नगर मुसलमानोंके हाथ आया। जिलेका इतिहास देखो।

विजात (सं० त्रि०) विरुद्धं जातिं जन्म-यस्य। १ बेजन्मा, जारज, वर्णसंकर, दोगला। ज्योतिषमें लिखा है, कि जिस बालकके जन्मकालमें लग्न और चंद्रके प्रति बृहस्पतिकी दृष्टि न रहे अथवा रविके साथ चंद्र युक्त न हो तथा पापयुक्त चंद्रके साथ रविका योग रहे, वही बालक विजात होता है। द्वादशी, द्वितीया और सप्तमी तिथिमें रवि, शनि और मंगलवारमें तथा भग्नपाद नक्षत्रमें अर्थात् कृत्तिका, मृगशिरा, पुनर्व्वसु, उत्तरफल्गुनी, चित्रा, विशाखा, उत्तराषाढ़ा, धनिष्ठा और पूर्वभाद्रपद नक्षत्रमें जन्म होनेसे जातबालक जारज होता है। तिथि, वार और नक्षत्रके एक साथ मिलनेसे उक्त योग हुआ करता है।

(पु०) २ सखी छन्दका एक भेद। इसके प्रत्येक चरणमें ५-५-४ के विश्रामसे १४ मात्राएं और अन्तमें मगण या यगण होता है। इसकी पहली और आठवीं मात्राएं लघु रहती हैं। इसके अन्तमें जगण, तगण या रगण नहीं होना चाहिए।

विजाता (सं० स्त्री०) १ जारज लड़की, दोगली। २ वह स्त्री जिसे हालमें संतान हुई हो, ज़च्चा।

विजाति (सं० त्रि०) भिन्न या दूसरी जातिका।

विजातीय (सं० त्रि०) विभिन्नां जातिमर्हति विजाति-छ। जो दूसरी जातिका हो, एक अथवा अपनी जातिसे भिन्न जातिका।

विजानक (सं० त्रि०) ज्ञात। (भारत १३ पर्व)

विजानि (सं० त्रि०) अपरिचित। (अथर्व्व ५।१७।१८)

विजानु (सं० पु०) तलवार चलानेके ३२ हाथोंमेंसे एक हाथ या प्रकार।

विजानुष् (सं० त्रि०) जनयिता। (ऋक् १०।७७।१ सायण)

विजापक (सं० क्ली०) नामभेद। (पा ४।२।१३३) वैजापक देखो।

विजापयितृ (सं० त्रि०) विजयकी घोषणा करनेवाला। (कथासरित्सा० १३।५)

विजामन् (सं० त्रि०) विविधजन्मा, जिसका नाना प्रकारसे जन्म हुआ हो।

विजामातृ (सं० पु०) गुणहीन जामाता, वह जमाई जो श्रुत-शीलवान् न हो। (ऋक् १।१०९।२)

विजामि (सं० त्रि०) विविधज्ञाति, ज्ञातिविशेष। (ऋक् १०।६९।१२)

विजार (हिं० पु०) एक प्रकारकी मटिया भूमि। इसमें धान और कभी कभी चना भी बोया जाता है।

विजारत (अ० स्त्री०) वजीरका पद, धर्म या भाव; मन्त्रित्व ।

विजावत् (सं० त्रि०) जातपुत्र । (अथर्व ९।३।१३)

विजावन् (सं० त्रि०) विजानता, विजननकर्त्ता, पैदा करनेवाला । (ऋक् ३।१।२३)

विजिगीष (सं० त्रि०) विजिगीषा अस्त्यस्येति अर्श आदित्वादच् । जयेच्छु, विजयकी इच्छा करनेवाला ।
(सिद्धान्तकौमुदी)

विजिगीषा (सं० स्त्री०) विजेतुमिच्छा वि-जि-सन् अः स्त्रियां टाप् । १ स्वोदरपूरणासक्तिनिमित्तक निन्दात्यागेच्छा, वह इच्छा जिसके अनुसार मनुष्य यह चाहता है कि मुझे कोई यह न कह सके कि मैं अपना पेट पालनेमें असमर्थ हूं । २ व्यवहार । ३ उत्कर्ष, उन्नति । ४ विजय प्राप्त करनेकी इच्छा ।

विजिगीषावत् (सं० त्रि०) विजिगीषा विद्यतेऽस्य विजिगीषा मतुप् मस्य वत्वम् । विजिगीषाविशिष्ट, जिसे विजिगीषा हो ।

विजिगीषाविवर्जित (सं० त्रि०) विजिगीषया विवर्जितः । विजिगीषाउदर रहित, जिसे विजिगीषा नहीं है सिर्फ पेटकी चिन्ता है । पर्याय—आद्यून, औदरिक ।

विजिगीषिन् (सं० त्रि०) विजिगीषा अस्त्यस्य विजिगीषा-इन् । विजिगीषावान्, विजिगीषाविशिष्ट ।

विजिगीषीय (सं० त्रि०) विजिगीषा अस्त्यस्मिन् विजिगीषा (उत्करादिभ्यश्छः इति चतुर्थ्वर्थेषु । पा ४।२।९०) छः । जिसमें या जहां विजिगीषा हो ।

विजिगीषु (सं० त्रि०) विजेतुमिच्छुः वि-जि-सन् उः (सनाशंसभिक्ष उः । पा ३।२।१६८) । जयेच्छाशील, विजयकी इच्छा करनेवाला ।

विजिगीषुता (सं० स्त्री०) विजिगीषु होनेका भाव या धर्म ।

विजिगीषुत्व (सं० क्ली०) विजिगीषु होनेका भाव या धर्म ।

विजिग्राहयिषु (सं० त्रि०) विग्राहयितुं विग्रहं कारयितुं इच्छुः वि-ग्रह-णिच्-सन् उः (सनाशंसभिक्ष उः । पा ३।२।१६८) । युद्ध करानेमें इच्छुक, जिसको युद्ध करानेकी इच्छा हो ।

विजिघत्स (सं० त्रि०) विजिघत्सा अस्त्यस्येति अर्श आदित्वादच् । भोजनेच्छु, खानेकी इच्छा करनेवाला ।

विजिघांसु (सं० त्रि०) विहन्तुमिच्छुः वि-हन्-सन् उः (सनाशंसभिक्ष उः । पा ३।२।१६८) । १ जिघांसापरायण, जो विशेष प्रकारसे हनन (हिंसा) करनेकी इच्छा करता हो । २ विहताचरणेच्छु ।

विजिघृक्षु (सं० त्रि०) विग्रहीतुमिच्छुः वि-ग्रह-सन् (सनाशंसभिक्ष उः । पा ३।२।१६८) उः । विग्रहेच्छु, युद्धाभिलाषी, युद्धकी इच्छा करनेवाला ।

विजिज्ञासा (सं० स्त्री०) विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा ।
(भाग० १।९।१६)

विजिज्ञासितव्य (सं० त्रि०) विजिज्ञासनीय, विजिज्ञासाके योग्य ।

विजिज्ञासु (सं० त्रि०) विजिज्ञासाकारी, विशेष प्रकारसे जाननेकी इच्छा करनेवाला ।

विजिज्ञास्य (सं० त्रि०) विजिज्ञासितव्य, जिज्ञासाके योग्य ।

विज़िट (अं० स्त्री०) १ भेंट, मुलाकात । २ डाक्टर आदिका रोगीको देखनेके लिये आना । ३ वह धन जो डाक्टर आदिको आनेके उपलक्षमें दिया जाय ।

विज़िटर्स बुक (अं० स्त्री०) किसी सार्वजनिक संस्थाकी वह पुस्तक जिसमें वहांके आने जानेवाले अपना नाम और कभी कभी उस संस्थाके सम्बन्धमें अपनी सम्मति भी लिखते हैं ।

विज़िटिंग कार्ड (अं० पु०) एक प्रकारका बढ़िया छोटा कार्ड । इस पर लोग अपना नाम, पद और पता छपवा लेते हैं और जब किसीसे मिलने जाते हैं, तब उसे अपने आगमनकी सूचना देनेके लिये पहले यह कार्ड उसके पास भेज देते हैं ।

विजित (सं० त्रि०) विशेषेण जितः वा वि-जि-क्त । १ पराजित, जिस पर विजय प्राप्त की गई हो, जो जीत लिया गया हो । (पु०) २ वह प्रदेश जिस पर विजय प्राप्त की गई हो, जीता हुआ देश । ३ कोई प्रान्त या प्रदेश । ४ फलित ज्योतिषमें वह ग्रह जो युद्धमें किसी दूसरे ग्रहसे बलमें कम होता है ।

विजितात्मा (सं० पु०) शिवका एक नाम।

विजितारि (सं० त्रि०) विजितः पराभूतः अरिर्येन। १ जिसने अपने शत्रुको जीत लिया हो। (पु०) २ एक राक्षसका नाम। (रामायण ६।३५।१५)

विजिताश्व (सं० पु०) राजा पृथुके एक पुत्रका नाम। (भागवत ४।६।१८)

विजितासु (सं० पु०) विजिता असवो येन। १ वह जिसने प्राण जय किया हो। २ मुनिभेद। (कथासरित्सा० ६६।१०४)

विजिति (सं० स्त्री०) वि-जि-क्तिन्। १ विजय, जीत। २ प्राप्ति। (त्रि०) ३ विजिल। (अमरटी० रायमु०)

विजितिन् (सं० त्रि०) विजित, पराजित। (ऐत०ब्रा० २।२१)

विजितृ (सं० त्रि०) विज तृच्। १ पृथक्, भिन्न। २ भीत, डरा हुआ। ३ कम्पित, कंपा हुआ।

विजित्वर (सं० त्रि०) वि-जि-क्वरप् तुगागमः। विजयशील, विजेता, जीतनेवाला।

विजित्वरत्व (सं० क्ली०) विजित्वरस्य भाव त्व। विजित्वरका भाव, धर्म या कार्य, विजय।

विजित्वरा (सं० स्त्री०) एक देवीका नाम।

विजिन (सं० त्रि०) विजिल। (अमरटीका रायमु०)

विजिल (सं० त्रि०) १ ऐसा भोजन जिसमें अधिक रस न हो। पर्याय—पिच्छिल, विजयिन्, विजित, विज्जल, उज्जल, लालसीक, विजविल, विजल। (शब्दरत्ना०) (क्ली०) २ एक प्रकारका दहा।

विजिविल (सं० त्रि०) विजिल।

विजिहीर्षा (सं० स्त्री०) विहर्त्तुमिच्छा वि-हृ-सन् विजिहीर्ष-अङ्-टाप्। विहार करनेकी इच्छा।

विजिहीर्षु (सं० त्रि०) विहर्त्तुमिच्छुः, वि-हृ-सन्, विजिहीर्ष-सन्नन्तादु। विहार करनेका इच्छुक।

विजिह्म (सं० त्रि०) विशेषेण जिह्मः। १ वक्र, कुटिल, टेढ़ा। २ शून्य, खाली। ३ अप्रसन्न।

विजीवित (सं० त्रि०) विगतं जीवितं यस्य। मृत, मरा हुआ।

विजीष (सं० त्रि०) जिसे जय प्राप्त करनेकी इच्छा हो।

विज्जु (सं० पु०) पक्षिपालक, वह जो चिड़िया पालता हो। (ऐतरेय आरण्यक १।१७)

विजुल (सं० पु०) शाल्मली कन्द। (राजनि०)

विजुली (सं० स्त्री०) १ सह्याद्रिवर्णित एक देवीका नाम। (सह्या० ३०।४६) २ विजली देखो।

विजृम्भ (सं० पु०) वि-जृम्भ-अच्। विजृम्भण, विकाश।

विजृम्भण (सं० क्ली०) वि जृम्भ ल्युट्। १ किसी पदार्थका मुंह खोलना। २ उबासी लेना, जंभाई लेना। ३ धनुषकी डोरी खींचना। ४ भौं सिकोड़ना।

विजृम्भमान (सं० त्रि०) वि-जृम्भ-शानच्। विकाशमान, प्रकाशशील।

विजृम्भा (सं० स्त्री०) उबासी, जंभाई।

विजृम्भित (सं० क्ली०) वि-जृम्भ-क्त। १ चेष्टा। (त्रि०) २ विकस्वर, विकसित। ३ व्याप्त। ४ जृम्भायुक्त।

विजेतव्य (सं० त्रि०) वि-जि-तव्य। विजयार्ह, जो विजित करनेके योग्य हो, जो जीतनेके योग्य हो।

विजेता (सं० त्रि०) विजेतृ देखो।

विजेतृ (सं० त्रि०) वि-जि-तृच्। विजेता, जिसने विजय पाई हो, जीतनेवाला, विजय करनेवाला।

विजेन्य (सं० त्रि०) दूरदेशभव, जो दूर देशमें हो। (ऋक् १।११६।४)

विजेय (सं० त्रि०) वि-जि-यत्। विजयार्ह, जिस पर विजय प्राप्त की जानेकी इच्छा हो, जीता जानेके योग्य।

विजेष (सं० पु०) विजय।

विजैसार (हिं० पु०) एक प्रकारका बड़ा वृक्ष जो सालका एक भेद माना जाता है। यह पूर्वी भारत तथा बरमामें बहुत अधिकतासे पाया जाता है। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत होती है और खेतीके औजार बनाने तथा इमारत आदिके काममें आती है।

विजैसाल (हिं० पु०) विजैसार देखो।

विजोर (हिं० पु०) १ बिजौरा देखो। (वि०) २ निर्बल, कमजोर।

विजोषस् (सं० त्रि०) विशिष्टरूप सोम द्वारा प्रीणनकारी।

विजोहा (हिं० पु०) एक वृत्तका नाम। इसके प्रत्येक चरणमें दो रगण होते हैं। इसे जोहा, विमोहा और विज्जोहा भी कहते हैं।

विज्ज (सं० पु०) राजभेद। (राजत० ६।२०२७)

विज्जन (सं० त्रि०) विज्जिल।

विज्जनामन् (सं० पु०) रानी विज्जा-प्रतिष्ठित विहारभेद। (राजत० ८।३४४)

विज्जल (सं० क्ली०) १ बाण, तीर। (त्रि०) २ पिच्छिल। (पु०) ३ वास्त्यालक, बीजबंद। (वैद्यकनि०)

विज्जलपुर (सं० क्ली०) नगरभेद।

विज्जलविड़ (सं० क्ली०) विज्जलपुर देखो।

विज्जा (सं० स्त्री०) राजकन्याभेद। (राजत० ६।३४४)

विज्जाका (सं० स्त्री०) एक स्त्री कविका नाम।

विज्जिका (सं० स्त्री०) विज्जाका देखो।

विज्जिल (सं० त्रि०) पिच्छिल।

विज्जुल (सं० क्ली०) १ गुड़त्वक्, दारचीनी। २ त्वचा, छिलका। (त्रि०) ३ पिच्छिल।

विज्जुला (सं० स्त्री०) विज्जुल देखो।

विज्जुलिका (सं० स्त्री०) जतुका या पहाड़ी नामकी लता।

विज्जोहा (हिं० पु०) बिजोहा देखो।

विज्ञ (सं० त्रि०) विशेषेण जानातीति वि-ज्ञा (आतश्चोपसर्गे। पा ३।१।१३६) कः। १ प्रवीण, विचक्षण, ज्ञानी, विशेषज्ञ। इसका पर्याय निपुण शब्दमें देखो। २ पण्डित, विद्वान्।

विज्ञता (सं० स्त्री०) १ विज्ञ होनेका भाव, जानकारी। २ बुद्धिमत्ता। ३ पाण्डित्य, विद्वत्ता।

विज्ञत्व (सं० क्ली०) विज्ञता देखो।

विज्ञप्त (सं० त्रि०) जो बतलाया या सूचित किया गया हो, जतलाया हुआ।

विज्ञप्ति (सं० स्त्री०) १ जतलाने या सूचित करनेकी क्रिया। २ विज्ञापन, इश्तहार।

विज्ञप्तिका (सं० स्त्री०) प्रार्थना, निवेदन।

विज्ञप्य (सं० त्रि०) जतलाने या सूचित करनेके योग्य।

विज्ञबुद्धि (सं० स्त्री०) जटामासी।

विज्ञब्रुव (सं० पु०) वह व्यक्ति जो विज्ञ न होने पर भी अपनको विज्ञ बतलाता हो।

विज्ञात (सं० त्रि०) वि-ज्ञा-क्त। १ ख्यात, प्रसिद्ध। २ विदित, ज्ञात, जाना या समझा हुआ।

विज्ञातवीर्य (सं० त्रि०) विज्ञातं वीर्यं येन यस्य वा। १ जिसकी शक्ति जान ली गई हो। २ जिसके द्वारा दूसरेकी शक्तिका परिचय मिल गया हो।

विज्ञातव्य (सं० त्रि०) जो जानने या समझनेके योग्य हो।

विज्ञाता (सं० त्रि०) विज्ञातृ देखो।

विज्ञाति (सं० स्त्री०) १ ज्ञान, समझ। २ गय नामक देवयोनिभेद। ३ एक कल्पका नाम।

विज्ञातृ (सं० त्रि०) विज्ञाता, जो जानता या समझता हो।

विज्ञान (सं० क्ली०) विविधं विरूपं वा ज्ञानं वि ज्ञा-ल्युट्। १ ज्ञान। २ कर्म। ३ कार्मण, कर्मकुशलता। ४ मोक्षको छोड़ अन्य (अर्थकामादि) उद्देश्यसे शिल्प तथा शास्त्रादि विषयक ज्ञान, मोक्षभिन्न अन्य अवान्तर घटपटादिविषयक तथा शिल्प और शास्त्रविषयक ज्ञान। विशेषतः और सामान्यतः यही दो प्रकारका ज्ञान है।

विशेष और सामान्य इन दोनों पदार्थोंका ही जो अवबोध (उपलब्धि) है, वही विज्ञान और ज्ञान कहलाता है। मोक्ष (मुक्ति), शिल्प, चित्र, शास्त्र (व्याकरणादि), इन सब विशेष (सूक्ष्म) पदार्थोंकी उपलब्धि तथा साधारण घटपटादि सभी पदार्थोंकी उपलब्धिको ही ज्ञान और विज्ञान कहा गया है। "ज्ञानान्मुक्तिः" "सा याचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धं प्रयच्छति" "ब्रह्मणो नित्यविज्ञानानन्दरूपत्वात्" इत्यादि स्थानोंमें विज्ञान और ज्ञान शब्द द्वारा मोक्ष आदि विशेष पदार्थोंका अवबोध और "ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे" "ये केचित् प्राणिनो लोके सर्वे विज्ञानिनो मता" "घटत्वप्रकारकज्ञानम्" इत्यादि स्थलोंमें उनके द्वारा साधारण पदार्थकी उपलब्धि होती है तथा चित्रज्ञान, व्याकरणज्ञान, घटपट-विज्ञान इत्यादि शब्दोंका भी शास्त्रमें व्यवहार है। फिर यह भी कहा जा सकता है, कि "गरुत्मत्" शब्द जिस प्रकार गरुड़ और पक्षी मात्रका बोधक है, ज्ञान और विज्ञान शब्द भी उसी प्रकार है अर्थात् मोक्षज्ञान और तदितरज्ञानबोधक है।

कूर्मपुराणमें लिखा है, कि विधानानुसार चौदह प्रकारकी विद्याओंका यथार्थ अर्थ जान कर अर्थोपार्जनपूर्वक यदि धर्मविवर्द्धक कार्य किया जाय, तो उन सब विद्याओंके फलको विज्ञान कहते हैं। फिर धर्मकार्यसे निवृत्त होने पर उस फलको विज्ञान नहीं कह सकते।

५ माया वा अविद्या नामकी वृत्ति। ६ बौद्धमतसे आत्मरूपज्ञान। ७ विशेषरूपसे आत्माका अनुभव।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा परमात्माके अनुभवका नाम विज्ञान है।

प्राचीन संस्कृत साहित्यमें विज्ञान शब्दका बहुल व्यवहार देखा जाता है। ऐतिहासिक आलोकसे इस शब्दके प्रयोगकी पर्यालोचना करनेसे मालूम होता है, कि प्रत्येक युगमें ही लेखकोंने अनेक अर्थोंमें इस शब्दका व्यवहार किया है। श्रुतिमें भी नाना अर्थोंमें विज्ञान शब्दका प्रयोग है,—

(१) कहीं ब्रह्म पदार्थ ही विज्ञान नामसे अभिहित हुए हैं—जैसे "यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते" (छान्दोग्य) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (तैत्तिरीय) "विज्ञानं ब्रह्म यद्वेद" "विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजनाद्विज्ञानाद्धि, भूतानि जायन्ते, विज्ञानेन जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्ति" (तैत्तिरीय ३।५।१)

(२) कहीं आत्मशब्दके प्रतिनिधिरूपमें विज्ञान शब्दका व्यवहार हुआ है, जैसे—"विज्ञानमात्मा" (श्रुति)

फिर कहीं आकाशको विज्ञान कहा गया है, जैसे—"तद्विज्ञानमाकाशम्"

(४ कहीं मोक्षज्ञानके अर्थमें भी विज्ञान शब्दका व्यवहार देखनेमें आता है, जैसे—"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति" (मुण्डक) "विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति" (छान्दोग्य ७.८।१) "आत्मतो विज्ञानम्" (छान्दोग्य ७।२६।१) "यो विज्ञानेन तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरम्’। (वृहदारण्यक ३।६।२२)

(५) मुण्डक उपनिषदमें विशिष्ट ज्ञानके अर्थमें विज्ञान शब्दका प्रयोग देखा जाता है, जैसे—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" (मुण्डक १।२।१२)

(६) श्रुतिके कर्मकाण्डमें "यज्ञादि कर्मकौशल"को भी विज्ञान कहा है।

(७) क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धोंका कहना है, कि विज्ञान ही आत्मा है। यही आत्मा हम लोगोंके ज्ञानकी कारणस्वरूप है। मनके भीतर यह विज्ञानरूप आत्मा वर्त्तमान है। किन्तु वेदान्तवादियों और सांख्यशास्त्रवादियोंने इस मतका खण्डन किया है। पञ्चदशीमें लिखा है, कि क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धगण विज्ञानको आत्मा कहते हैं। इन लोगोंका विचार है, कि आत्मा सबोंके भीतर पदार्थ बोधकी कारण है। अतएव मनके अभ्यन्तर रह कर बोधकी कारण होनेके निमित्त विज्ञानको आत्मा कहा जाता है। किन्तु वह विज्ञान क्षणिक है।

अन्तःकरण दो प्रकारमें विभक्त है,—अहंवृत्ति और इदंवृत्ति। उनमेंसे अहंवृत्तिको विज्ञान कहते हैं तथा इदंवृत्ति मन कहलाती है। अहंवृत्त्यात्मक विज्ञानके आन्तरिक ज्ञानके बिना इदंवृत्त्यात्मक मनके बाह्यज्ञान नहीं होता। इसलिये विज्ञानको मनका अभ्यन्तर और कारण बतलाया है। अतएव उसीको आत्मा कहा जा सकता। विषयानुस्थलमें क्षण क्षण अहंवृत्त्यात्मक विज्ञानका जन्म और विनाश प्रत्यक्ष होता है। इसीलिये उसको क्षणिक कहते हैं तथा वे स्वयं प्रकाशस्वरूप होते हैं। आगममें विज्ञानको आत्मा कहा गया है। यही जीवात्मा जन्मविनाश और सुखदुःखादिरूप संसारका भोक्ता है। किन्तु क्षणिक विज्ञानको आत्मा नहीं कह सकते। क्योंकि, विद्युत आदिकी तरह वह विज्ञान अति अल्पकालस्थायी है। इसके सिवा और कुछ भी मालूम न होनेके कारण आधुनिक बौद्धोंने शून्यवादका प्रचार किया है।

सांख्यसूत्रकारने कहा है,—

"न विज्ञानमात्रं वाह्यप्रतीतेः।" (१।४२)

इससे विज्ञानवादी बौद्धोंका मत खण्डन किया गया है। शाङ्करभाष्यमें विज्ञानवादी बौद्धोंका मत खण्डन करनेके लिये बहुत सी युक्तियां निकाली गई हैं।

८ बौद्धोंका व्यवहृत यह विज्ञान शब्द क्षणविध्वंसि प्रपञ्चज्ञानमात्र है।

९ वेदान्तदर्शनमें "निश्चयात्मिका बुद्धि" अर्थमें विज्ञान शब्दका व्यवहार दिखाई देता है। भगवद्गीतामें इस अर्थमें भी विज्ञान शब्दका प्रयोग यथेष्ट है।

श्रीमद्भारतीतीर्थ विद्यारण्य मुनीश्वरने पञ्चदशीकी टीकामें निश्चयात्मिका बुद्धिको ही विज्ञान कहा है।

श्रुतिमें विज्ञानघन, विज्ञानपति, विज्ञानमय, विज्ञानवन्त और विज्ञानात्मन् आदि शब्दोंका अनेक प्रयोग देखनेमें आता है। जैसे वृहदारण्यकमें—"अनन्तमपारं विज्ञानघन एव" (२।४।१२) नारायणोपनिषद्में—"तदिमां पुरं पुण्डरीकं विज्ञानघनम्", परमहंसोपनिषद्में—"विज्ञानघन एवाक्षि", आत्मप्रबोधमें—"कारणरूपं बोधस्वरूपं विज्ञानघनम्’, तैत्तिरीय उपनिषद्में—"श्रोत्रपति विज्ञानपति",

वृहदारण्यकमें—"य एष विज्ञानमयः" (२।१।१५) "योऽयं विज्ञानमयः पुरुषः।"

तैत्तिरीयमें "अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः" (२।४।१)

"कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा" (मुण्डुकमें ३।२७)

"यस्तु विज्ञानवान् भवति" (कठ ३।६)

"एष हि विज्ञानात्मा पुरुषाप" (प्रश्नोप० ४।६)

इन सब स्थलोंमें कहीं विशिष्ट ज्ञान, कहीं ब्रह्मज्ञान, कहीं श्रवणमननिदिध्यासनादिपूर्वक उपनिषद् ज्ञान-अर्थमें विज्ञान शब्दका प्रयोग हुआ है।

श्रीमद्भगवद्गीताके टीकाकारोंने इस शब्दके अनेक अर्थ लगाये हैं। श्रीमद्भगवद्गीता १८वें अध्यायके ४२वें श्लोककी 'ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्य' इत्यादि श्लोककी टीकामें श्रीधरस्वामीने "विज्ञानमनुभवः" ऐसा अर्थ लगाया है। रामानुजने लिखा है, "परतत्त्वगतासाधारणविशेष-विषयं—विज्ञानम्"; शङ्कराचार्यने लिखा है, "विज्ञानं, कर्मकाण्डे 'कर्मकौशलं', ब्रह्मकाण्डे ब्रह्मात्मैकानुभवः।" मधुसूदन सरस्वतीने शङ्कराचार्यकी व्याख्याको ही ठीक बतलाया है। फिर दूसरी जगह अपरोक्षानुभव ही विज्ञान शब्दके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

अंगरेजीमें जिसे Science कहते हैं, संस्कृतमें उसीका नाम विज्ञान है और उसी अर्थमें इसका प्रयोग होता है, जैसे पदार्थ-विज्ञान, रसायनविज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, जीवविज्ञान, उद्भिद्विज्ञान इत्यादि। श्रीमद्भगवद्गीताका ७वाँ अध्याय पढ़नेसे मालूम होता है, कि पाश्चात्य भाषामें जिस श्रेणीके ज्ञानको Science कहते हैं, श्रीभगवद्गीतामें उसी श्रेणीके ज्ञानको विज्ञान कहा है।

सुविख्यात फ्रांसीसी दार्शनिक पण्डित कोमतेने (Comte) Inorganic तथा Organic Science वाक्य द्वारा जो सभी विज्ञान अन्तर्भुक्त किये हैं, श्रीभगवद्गीतामें भी उन सबका समावेश है। उसमें व्योम विज्ञान, भू विज्ञान है, वायवीय विज्ञान, उद्भिद्-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, जीवविज्ञान तथा उनके अन्तर्भुक्त निखिलविज्ञान विषय व्यञ्जित हुए हैं। अतएव श्रीमद्भगवद्गीतामें व्यवहृत विज्ञान शब्द पाश्चात्यविज्ञानके Science शब्दके प्रतिनिधिरूपमें व्यवहृत हो सकता है। भगवद्गीतामें "राजस ज्ञान" पद भी 'विज्ञान' शब्दके बदलेमें व्यवहृत हुआ है, जैसे—

> "पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
> वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥" (२१।१८)

भगवद्गीतामें विज्ञान शब्द प्रायः सभी जगह ज्ञान शब्दके साथ व्यवहृत हुआ है। जैसे—"ज्ञानविज्ञान-तृप्तात्मा" "ज्ञानं विज्ञानसहितम्" "ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यम्" इत्यादि। श्रीमद्भागवतमें भी इन दोनोंका एकत्र सन्निवेश देखा जाता है, जैसे—

> "ज्ञानं परमगुह्यञ्च यद्विज्ञानसमन्वितम्।"
>
> (२य स्कन्ध ६ अ०)

इन सब स्थानोंमें रामानुजाचार्यकी व्याख्या ही बहुत कुछ सङ्गत है अर्थात् ज्ञान शब्दका अर्थ भगवद्विषयक ज्ञान तथा विज्ञान शब्दका अर्थ निखिल इन्द्रियार्थविषयक विशिष्ट ज्ञान है—जैवज्ञान भी इसके अन्तर्गत है निखिल इन्द्रियार्थ विषयक विशिष्ट ज्ञान ही आधुनिक विज्ञानका विषय है। कोमते (Comte) कहते हैं—

'We have now to proceed to the exposition of the system; that is to the determination of the universal or encyclopaedic order which must regulate the different classes of natural phenomena and consequently the corresponding positive sciences"

श्रीमद्भगवद्गीताके इस ज्ञानविज्ञान नामक अध्यायमें समग्र विश्वतत्त्व-विज्ञानके साथ विश्वेश्वरके ज्ञानका आभास दिया गया है। विश्वविज्ञानकी मूलस्वरूपिणी महाशक्तिकी कथा इस अध्यायमें उल्लिखित हुई है। इस अध्यायमें प्रमाणित किया गया है, कि समग्र विश्वप्रपञ्च एक अज्ञेय महाशक्तिका भिन्न भिन्न प्रकाशमात्र है।

इससे साबित होता है, कि सब प्रकारके प्रापञ्चिक पदार्थमें ही भगवत्शक्ति ओतप्रोतभावमें विद्यमान है। प्रापञ्चिक पदार्थसमूह जो उस अदृश्य शक्तिकी सत्ता पर ही विद्यमान है, हार्बर्ट स्पेनसर भी वही भावात्मक बात कहते हैं, जैसे—

Every Phenomenon is a manifestation of force,

अर्थात् इस प्रपञ्चका प्रत्येक पदार्थ ही शक्तिका अभिव्यक्ति मात्र है। फलतः यह विश्वप्रपञ्च सर्वकारण श्रीभगवान्की अभिव्यक्तिमयी लीला तरङ्ग मात्र है। गीताका जो अंश उद्धृत हुआ, वह यथार्थमें ही विज्ञानका सार सत्य है। हार्वर्ट स्पेनसर कहते हैं—

"The final out-come of that speculation commenced by the primitive man is that the power manifested through out the universe, distinguished as material, is the same Power which in ourselves swells up under the form of consciousness.

श्रीकृष्णने और भी कहा है—

"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्व मिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणाइव ॥"

स्पेन्सरने कहा है—

"Ever in presence of an Infinite and Eternal Energy from which all things proceed.

चण्डामें लिखा है—

"सैव विश्वं प्रसूयते ।"

वही शक्ति विज्ञानका सार और मूल सत्य है। स्पेनसर आदि पण्डितोंके वचनके साथ हम लोगोंको शास्त्रीयशक्तिका बहुत प्रभेद है। यूरोपीय इस श्रेणीके वैज्ञानिक पण्डित जो जगत्शक्तिकी बात कहते हैं, वह केवल अचित् प्रकृति-(Cosmophysical) तथा चित् प्राकृति-(Cosmopsychical) शक्ति (Energy) मात्र है। हम लोगोंका विज्ञान ज्ञानमय पुरुषकी ज्ञानमयी महाशक्तिकी वाह्य अभिव्यक्तिकी तरङ्गलीला दिखा कर भक्तिभावके पुष्ट करनेमें सहायक होता है। श्रीभगवद्गीताकी उक्तियोंकी पर्यालोचना करनेसे स्पष्ट जाना जाता है, कि इसमें एक ओर जिस प्रकार Redistribution of Matter and Motion आदि वैज्ञानिकतत्त्वके मूल बीजका सूत्र मौजूद है, उसी प्रकार दूसरी ओर भगवद्भक्तिके उद्दीपक सारतत्त्वोंकी इसमें पूर्ण स्फुर्त्ति भी विद्यमान है। हम लोगोंके सांख्य और वैशेषिक आदि दर्शनोंमें जो सूक्ष्म वैज्ञानिकतत्त्व है, उसका मर्म वैज्ञानिकतत्त्व शब्दमें लिखा जा चुका है।

कोमते (Comte)-ने विज्ञानशास्त्रको पहले Inorganic and organic phenomena इन दो भागोंमें विभक्त किया है। गीतामें भी अपरा और पराके भेदसे दो प्रकारकी प्रकृतिका उल्लेख किया गया हैं। अपरा प्रकृति भूमि आप अनल अनिल आदि तथा परा प्रकृति जीवभूता प्रकृति है।

कोमतेने विज्ञानको प्रधानतः ५ भागोंमें विभक्त किया है। जैसे—

१। ज्योतिर्विज्ञान (Astronomy)
२। पदार्थविज्ञान (Physics)
३। रसायनविज्ञान (Chemistry)
४। शरीरविज्ञान (Physiology)
५। समाजविज्ञान (Sociology)

कोमतेके मतसे आधुनिक अन्यान्य बहुविध विज्ञान इन्हींके अन्तर्भुक्त है। किन्तु कोमतेने गणितविज्ञानको ही विज्ञानजगत्के सर्वप्रथम सम्मानार्ह बताया है।

बेकन, कोमते, हरबर्ट, स्पेन्सर और बेइन आदि पण्डितोंने विज्ञानशास्त्रके श्रेणी विभागके सम्बन्धमें गहरी आलोचना की है। १८१५ ई०को प्रकाशित Encyclopedia Metroplitana नामक किसी ग्रन्थमें विज्ञानके चार मौलिक विभाग दिखलाये गये थे—

प्रथम विभागमें व्याकरण-विज्ञान, तर्कविज्ञान, अलङ्कारविज्ञान, गणितविज्ञान, मनोविज्ञान (Metaphysics), व्यवस्था विज्ञान (Law), नीतिविज्ञान और धर्मविज्ञान है। यहां पर हम लोगोंको अमरकोषकी लिखित "विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" कथा याद आ जाती है। टीकाकारने लिखा है, "शास्त्रं व्याकरणादि" अर्थात् व्याकरणादि शास्त्र भी विज्ञानराज्यके अन्तर्गत है।

द्वितीय विभागमें—मेकानिकस्, हाइड्रोस्टेटिक्स, न्युमाटिक्स, अप्टिक्स और ज्योतिर्विज्ञान (Astronomy) है।

तृतीय विभागमें—मागनेटिजम्, इलेक्ट्रीसीटी, ताप, आलोक, रसायन, शब्दविज्ञान वा आकुष्टिक्स् (Acoustics), मिटियरलजी और ज्युडेसी (Geodesy), विविध प्रकारका शिल्प और चिकित्सा-विज्ञान भी इस विभागके अन्तर्गत है।

चतुर्थ विभागमें—इतिहास, जीवनी, भूगोल, अभिधान तथा अन्यान्य ज्ञातव्य विषय हैं।

१८२८ ई०को डाक्टर निल आर्नट (Dr. Neil Arnot)-ने अपने पदार्थ विज्ञान ग्रन्थमें विज्ञानके चार विभाग किये हैं। यथा—पदार्थ-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, जीवन विज्ञान और मनोविज्ञान। उन्होंने गणित विज्ञानको भी कोमतेकी तरह सम्मानास्पद आसन दिया है। डाक्टर आर्नटने वस्तुतत्त्वके मध्य ज्योतिर्विज्ञान, भूगोल, खनि-विज्ञान (Minerology), भूविज्ञान (Geology), उद्भिद्विज्ञान (Botany); प्राणिविज्ञान (Zoology) और मानवजातिके इतिहास (Anthropology) आदि-का विशेष उल्लेख किया है। अभी पाश्चात्य विज्ञान-शास्त्र शतमुखी गङ्गाप्रवाहकी तरह सैकड़ों नामोंसे शिक्षा-र्थियोंके मानसनेत्रके सामने विज्ञानराज्यके अनन्तत्वकी महिमा और गौरव प्रकट कर रहा है। यहां तक, कि एक चिकित्सा-विज्ञान ही अनेक शाखाओंमें विभक्त हुआ है। प्रत्येक विभागमें ही इस प्रकार विविध शाखा, उपशाखा और प्रशाखाके प्रसारसे यह विज्ञानमहीरुह अभी अनवेच्चनीय गौरवमयी विशालतामें अपनी महिमा उद्घो-षित कर रहा है। वैज्ञानिकतत्त्व शब्दमें विस्तृत विवरण देखो।

८ ब्रह्म। ९ आत्मा। १० आकाश। ११ निश्चया-त्मिका बुद्धि।

विज्ञानक (सं० त्रि०) विज्ञानं स्वार्थे कन्। विज्ञान। 'वाह्यार्थविज्ञानकशून्यवादै'। (हेम)

विज्ञानकन्द—ग्रन्थकर्त्ताभेद।

विज्ञानकेवल (सं० पु०) विज्ञानाकल।
(सर्व्वदर्शन स० ८६।५)

विज्ञानकोश (सं० पु०) वेदान्तके अनुसार ज्ञानेन्द्रियां और बुद्धि, विज्ञानमय कोश। कोष देखो।

विज्ञानकौमुदी (सं० स्त्री०) बौद्धरमणीभेद।

विज्ञानता (सं० स्त्री०) विज्ञानका भाव या धर्म

विज्ञानतैलगर्भ (सं० पु०) अङ्कोलवृक्ष। (राजनि०)

विज्ञानदेशन (सं० पु०) बुद्धभेद।

विज्ञानपति (सं० पु०) परम ज्ञानी।

विज्ञानपाद (सं० पु०) विज्ञानमेव पादं लक्ष्यं यस्य। वेदव्यासका एक नाम।

विज्ञानभट्टारक (सं० पु०) परम पण्डित।

विज्ञानभिक्षु—एक प्रधान दार्शनिक। ये बहुत सी उपनिषद् और दर्शनादिका भाष्य लिख कर विख्यात हो उठे हैं। इनके लिखे ग्रन्थोंमें से कठवल्ली, कैवल्य, तैत्तिरीय, प्रश्न, मुण्डुक, माण्डुक्य, मैत्रेय और श्वेताश्वतर आदि उपनिषद्-का 'आलोक' नामक भाष्य, वेदान्तालोक नामक बहुत-सी प्रकृत उपनिषद्की समालोचना, इनके अतिरिक्त ईश्वर-गीताभाष्य, पातञ्जलभाष्यवार्त्तिक या योगवार्त्तिक (वैया-सिकभाष्यकी टीका), भगवद्गीताटीका, विज्ञानामृत या ब्रह्मसूत्रऋजुव्याख्या, सांख्यसूत्र या सांख्यप्रवचनभाष्य, सांख्यकारिकाभाष्य तथा उपदेशरत्नमाला, ब्रह्मादर्श, योगसारसंग्रह और सांख्यसारविवेक नामक बहुतसे दार्शनिक ग्रन्थ मिलते हैं। इन सब ग्रन्थोंमें सांख्य-प्रवचनभाष्य ही विशेष प्रचलित है। इन्होंने सांख्य-सूत्रवृत्तिकार अनिरुद्धभट्टका मत उद्धृत किया है। फिर महादेव सांख्यसूत्रवृत्तिमें विज्ञानभिक्षुका मत उद्धृत हुआ है। ये योगसूत्रवृत्तिकार भावागणेशदीक्षितके गुरु थे।

विज्ञानमय (सं० त्रि०) ज्ञानस्वरूप। (भागवत ११.२९।३८)

विज्ञानमयकोष (सं० पु०) विज्ञानमयस्तदात्मकः कोष-इव आच्छादकत्वात्। ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धिका समूह।

विज्ञानमातृक (सं० पु०) विज्ञानं मातेव यस्य बहुव्रीहौ कन्। बुद्धका एक नाम।

विज्ञानयति (सं० पु०) विज्ञानभिक्षु।

विज्ञानयोगिन् (सं० पु०) विज्ञानेश्वर देखो।

विज्ञानवत् (सं० त्रि०) ज्ञानयुक्त, ज्ञानी।
(छान्दो० उ० ७,८।१)

विज्ञानवाद (सं० पु०) १ वह वाद या सिद्धान्त जिसमें ब्रह्म और आत्माकी एकता प्रतिपादित हो। २ वह वाद या सिद्धान्त जिसमें केवल आधुनिक विज्ञानकी बातें ही प्रतिपादित या मान्यकी गई हों। ३ योगाचार।

विज्ञानवादिन् (सं० पु०) विज्ञानवादी देखो।

विज्ञानवादी (सं० पु०) १ वह जो योगके मार्गका अनु-सरण करता हो, योगी। २ वह जो आधुनिक विज्ञान शास्त्रका पक्षपाती हो, विज्ञानके मतका समर्थन करने-वाला।

विज्ञानाकल (सं० त्रि०) विज्ञानकेवल।

विज्ञानाचार्य (सं० पु०) आचार्यभेद।

विज्ञानात्मा—ज्ञानात्माके शिष्य। इनके रचे नारायणोपनिषद्विवरण और श्वेताश्वतरोपनिषद्विवरण मिलते हैं।

विज्ञानानन्त्यायतन (सं० क्ली०) बौद्धमठभेद।

विज्ञानामृत (सं० क्ली०) ज्ञानामृत।

विज्ञानिक (सं० त्रि०) विज्ञानमस्त्यस्येति विज्ञान ठन्। १ जिसे ज्ञान हो, ज्ञानविशिष्ट। २ विज्ञ, पण्डित। ३ वैज्ञानिक देखो।

विज्ञानिता (सं० स्त्री०) विज्ञानमस्त्यस्येति विज्ञान-इन्-तल्-टाप्। विज्ञानका भाव या धर्म, विज्ञानवेत्ता।

विज्ञानिन् (सं० पु०) विज्ञानी देखो।

विज्ञानी (सं० पु०) १ वह जिसे किसी विषयका अच्छा ज्ञान हो। २ वह जो किसी विज्ञानका अच्छा वेत्ता हो, वैज्ञानिक। ३ वह जिसे आत्मा तथा ईश्वर आदिके स्वरूपके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान हो।

विज्ञानीय (सं० त्रि०) विज्ञानसम्बन्धी, वैज्ञानिक।

विज्ञानेश्वर—एक अद्वितीय स्मार्त्त पण्डित। मिताक्षरा नामकी याज्ञवल्क्यटीका लिख कर ये भारतविख्यात हो गये हैं। मिताक्षराके अन्तमें पण्डितवर इस प्रकार आत्मपरिचय दे गये हैं—

पृथ्वी पर कल्याणके समान नगर न है, न था और न होगा। इस पृथ्वी पर विक्रमार्क सदृश राजा न तो देखा ही जाता और न सुना ही जाता है। अधिक क्या? विज्ञानेश्वर पण्डितकी भी दूसरेके साथ उपमा नहीं दी जा सकती। ये तीन (स्वर्गके) कल्पतरुकी भांति कल्प पर्य्यन्त स्थिर रहें। दक्षिणमें रघुकुलतिलक रामचन्द्रका चिरन्तन कीर्त्तिरक्षक सेतुबन्ध, उत्तरमें शैलाधिराज हिमालय, पूर्व और पश्चिममें उत्तालतरङ्गसमाकुल तिमिमकरसंकुल महासमुद्र, ये चतुःसीमाविच्छिन्न विस्तृत भूभागके प्रभावशाली राजाओंको विर्निमितमस्तकस्थित रत्नराजिप्रभासे जिनके चरणयुगल नियत प्रभान्वित हैं, वे विक्रमादित्यदेव चन्द्रतारास्थिति काल पर्य्यन्त इस निखिल जगन्मण्डलका पालन करें।

उक्त विक्रमादित्य ही प्रसिद्ध कल्याणपति प्रतीच्य चालुक्यवंशीय त्रिभुवनमल्ल विक्रमादित्य हैं। ये ईसासन् ११वीं सदीमें विद्यमान थे।

विज्ञानेश्वरके पिताका नाम था पद्मनाभ। उनका मिताक्षरा समस्त भारतका प्रधान धर्मशास्त्रनिबन्ध कह कर प्रथित है। विशेषतः आज कल भी महाराष्ट्र प्रदेशमें मिताक्षराके मतानुसार ही सभी आचार और व्यवहारकार्य्य सम्पन्न होते हैं। मिताक्षराके अलावा विज्ञानेश्वर अष्टावक्रटीका और त्रिंशच्छ्लोकीभाष्यकी रचना कर गये हैं।

विज्ञापक (सं० पु०) वह जो विज्ञापन करता हो; समझाने, बतलाने या जतलानेवाला।

विज्ञापन (सं० क्ली०) वि-ज्ञा-णिच्-ल्युट्। १ किसी बातको बतलाने या जतलानेकी क्रिया, जानकारी कराना, सूचना देना। २ वह पत्र या सूचना आदि जिसके द्वारा कोई बात लोगोंको बतलाई जाय, इश्तहार।

विज्ञापना (सं० स्त्री०) वि-ज्ञा-णिच्-युच्-टाप्। विज्ञप्त करना, जतलाना, बतलाना।

विज्ञपना (सं० स्त्री०) कह कर या लिख कर किसी विषयका आवेदन करना, दरख्वास्त, रिपोर्ट।

विज्ञापनीय (सं० त्रि०) विज्ञाप्य, जो बतलाने या जतलानेके योग्य हो, सूचित करनेके योग्य।

विज्ञापित (सं० त्रि०) १ जो बतलाया जा चुका हो, जिसकी सूचना दी जा चुकी हो। २ जिसका इश्तहार दिया जा चुका हो।

विज्ञापिन् (सं० त्रि०) जतलाने या बतलानेवाला, सूचना देनेवाला।

विज्ञाप्ति (सं० स्त्री०) वि-ज्ञा-णिच्-क्तिन्। विज्ञप्ति देखो।

विज्ञाप्य (सं० त्रि०) बतलाने योग्य, सूचित करनेके योग्य।

विज्ञेय (सं० त्रि०) वि-ज्ञा-यत् (अचो यत्। पा ३।१।९७)। विज्ञातव्य, विज्ञानीय, जो जानने या समझनेके योग्य हो।

विज्य (सं० त्रि०) विगता ज्या यस्मात्। ज्यारहित, जिसमें गुण न हो। "विज्यं कृत्वा महाधनुः।"

(रामायण ३।६।१०)

विज्वर (सं० त्रि०) विगतः ज्वरो यस्य। १ विगत ज्वर, ज्वरमुक्त, जिसका ज्वर उतर गया हो, जिसका बुखार छूट गया हो। २ निश्चिन्त, बेफिक्र, जिसे सब प्रकारकी चिन्ताओंसे छुटकारा मिल गया हो। ३ विगतशोक,

जो सब प्रकारके क्लेशों आदिसे मुक्त हो, जिसे किसी प्रकारका शोक या संताप न हो।

विज्वरा (सं॰ स्त्री॰) ज्वररहिता, वह स्त्री जिसका ज्वर उतर गया हो। 'विज्वरा ज्वरया त्यक्ता'। (हरिवंश)

विझर्भार (सं॰ त्रि॰) कर्कश।

विञ्जामर (सं॰ क्ली॰) चक्षु का शुक्लक्षेत्र, आँखका सादा भाग।

विञ्जोली (सं॰ स्त्री॰) श्रेणी, पंक्ति।

विट (सं॰ पु॰) वेटतीति विट-क। १ कामुक, लंपट, वह जिसमें कामवासना बहुत अधिक हो। २ कामुकानुचर, वह जो किसी वेश्याका यार हो या जिसने किसी वेश्याको रख लिया हो। ३ धूर्त्त, चालाक। ४ साहित्यमें एक प्रकारका नायक। साहित्यदर्पणके अनुसार जो व्यक्ति विषय-भोगमें अपनी सारी सम्पत्ति नष्ट कर चुका हो, भारी धूर्त्त हो, फल या परिणामका एक ही अङ्ग देखता हो, वेशभूषा और बातें बनानेमें बहुत चतुर हो, वह विट कहलाता है। ५ एक पर्वतका नाम। ६ लवणभेद, साँचर नमक। ७ खदिरविशेष, एक प्रकारका खैर जिसे दुर्गन्ध खैर भी कहते हैं। ८ मूषिक, चूहा। ९ नारङ्ग वृक्ष, नारङ्गीका पेड़। १० वातपुत्र।

विटक (सं॰ पु॰) १ प्राचीन कालकी एक जातिका नाम। २ पुराणानुसार एक प्राचीन देश जो नर्मदा नदीके तट पर था। ३ घोटक, घोड़ा।

विटकारिका (सं॰ स्त्री॰) एक प्रकारका पक्षी।

विटक्रमि (सं॰ पु॰) चुन्ना या चुनचुना नामका कीड़ा जो बच्चोंकी गुदामें उत्पन्न होता है।

विटङ्क (सं॰ पु॰ क्ली॰) विशेषेण टङ्कते सौधादिषु इति वि-टङ्क बन्धने घञ्। १ कपोतपालिका, कबूतरका दरबा, कावुक। सौधादिके प्रान्तभागमें काठका बना हुआ जो कबूतरके रहनेकी जगह होती है, उसे विटङ्क कहते हैं। अमरटीकामें भरतने लिखा है, कि पक्षीका वासामात्र ही विटङ्क कहलाता है। २ सबसे ऊंचा सिरा या स्थान। ३ बड़ी ककड़ी। (त्रि॰) ४ सुन्दर, मनोहर। ५ अलङ्कृत, शोभित।

विटङ्कक (सं॰ पु॰ क्ली॰) विटङ्क एव स्वार्थे कन्। विटङ्क।

विटङ्कपुर (सं॰ क्ली॰) नगरभेद। (कथासरित्सा॰ २५।३५)

विटङ्कित (सं॰ त्रि॰) विटङ्क-अस्त्यर्थे तारकादित्वादि तच्। अलंकृत, शोभित।

विटप (सं॰ पु॰ क्ली॰) वेटति शब्दायते इति विट (विटपिष्टपविशिपोलपाः। उण् ३।१४५) इति क-प्रत्ययेन निपातनात् साधुः। १ वृक्ष या लताकी नई शाखा, कोंपल। पर्याय—विस्तार, स्तम्ब।

(क्ली॰) २ मुष्कवङ्क्षणान्तर, स्नायु-मर्मभेद। वङ्क्षण तथा दोनों मुष्कोंके मध्य एक उंगलीका विटप नामक स्नायुमर्म है, इस मर्मके विकृत होनेसे षण्डता या शुक्रकी अल्पता हुआ करती है।

(पु॰) विटान् पातीति पा-क। ३ आदित्य पत्र। ४ छतनार पेड़, झाड़ी। ५ वृक्ष, पेड़।

विटपक (सं॰ पु॰) दुष्ट, पाजी।

विटपश् (सं॰ अव्य॰) विटप-शच्। शाखाभेद।

विटपिन् (सं॰ पु॰) विटपः शाखादिरस्त्यस्येति विटप-इनि। १ वृक्ष, पेड़। २ वटवृक्ष, बड़का पेड़। ३ अंजीरका पेड़। (त्रि॰) ४ विटपयुक्त, जिसमें नई शाखाएं या कोंपलें निकली हों।

विटपी (सं॰ पु॰) विटपिन् देखो।

विटपोमृग (सं॰ पु॰) शाखामृग, बंदर।

विटपुत्र—एक कामशास्त्रकार। कुट्टनीमत-ग्रन्थमें इनका नाम उद्धृत हुआ है।

विटप्रिय (सं॰ पु॰) विटानां प्रियः। १ मुद्गरवृक्ष, मोगरा नामक फूल या उसका पौधा। २ विटोंका प्रिय।

विटभूत (सं॰ पु॰) महाभारतके अनुसार एक असुरका नाम।

विटमाक्षिक (सं॰ पु॰) विटप्रियो माक्षिकः। धातुविशेष, सोनामक्खी नामका खनिज द्रव्य। पर्याय—ताप्य, नदीज, कामारि, तारारि। स्वर्णमाक्षिक देखो।

विटलवण (सं॰ क्ली॰) विटसंज्ञकं लवणम्। विड् लवण, सांचर नमक।

विटवल्लभा (सं॰ स्त्री॰) पाटली वृक्ष।

विटवृत्त—एक प्राचीन संस्कृत कवि। सुभाषितावली ग्रन्थमें इनकी कविता उद्धृत देखी जाती है।

विटि (सं॰ स्त्री॰) वटतीति विट-इन्, सच कित्। रक्तचन्दन।

Vol XX 85

विटिकण्ठीधर (सं० पु०) वह जो लालचन्दनकी कण्ठी बांधता हो।

विट् (सं० क्ली०) विड्‌लवण, साँवर नमक।

विट्‌क (सं० क्ली०) विष, जहर।

विट्कारिका (सं० स्त्री०) पक्षिविशेष। पर्याय---कुणपी; रोरोटी, गोकिराटिका, विट्सारिका। (हारावली)

विट्कुल (सं० क्ली०) विशां कुलं। वैश्यकुल, वैश्य। (आश्व०गृह्य० २।२।१)

वट्खदिर (सं० पु०) विड्‌वत् दुर्गन्धः खदिरः। एक प्रकारका खैर जिसे दुर्गन्ध खैर भी कहते हैं। पर्याय—अरिमेद; हरिमेद, असिमेद; कालस्कन्ध, अरिमेदक। इसका गुण—कषाय, उष्ण, मुख और दन्तपीड़ा, रक्तदोष, कण्डू. विष, श्लेष्मा, कृमि, कुष्ठ, व्रण और ग्रहनाशक। (भावप्र०)

विट्‌घात (सं० पु०) मूत्राघात नामक रोग।

विट्‌चर (सं० पु०) विषि विष्ठायां चरतीति चर-ट। ग्राम्यशूकर, गाँवोंमें रहनेवाला सूअर।

विट्ठल (विठ्ठल)—१ दाक्षिणात्यके पण्ढरपुरस्थित विष्णुकी एक मूर्त्तिका नाम। पण्ढरपुर देखो।

२ छायानाटकके प्रणेता। ३ रतिवृत्तिलक्षण नामक अलङ्कारग्रन्थके प्रणेता। ४ सङ्गीतनृत्यरत्नाकरके रचयिता। ५ केशवके पुत्र, स्मृतिरत्नाकरके प्रणेता। ६ वहशर्माके पुत्र। इन्होंने १६१९ ई०में कुण्डमण्डपसिद्धि और पीछे तुलापुरुषदानविधि तथा १६२८ ई०में मुहूर्त्तकल्पद्रुम और उसकी टीका लिखी। ७ वाङ्‌माला नामक न्यायग्रन्थके रचयिता।

विट्ठल आचार्य—१ एक ज्योतिर्विद्। इन्होंने विट्ठलीपद्धति नामक एक ज्योतिष प्रणयन किया। २ एक विख्यात पण्डित। इनके पिताका नाम नृसिंहाचार्य, पितामहका रामकृष्णाचार्य तथा पुत्रका नाम लक्ष्मीधराचार्य था। ये प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद, अव्ययार्थनिरूपण, वैष्णवसिद्धान्तदीपिकाटीका आदि ग्रन्थ बना गये हैं। भट्टोजिदीक्षितने अनेक जगह इनकी निन्दा की है। ३ क्रियायोग नामक योगग्रन्थके रचयिता।

विट्ठलदास—मथुरानिवासी एक परमभक्त वैष्णव, बाला राजाके पुरोहित। यह कृष्णप्रेममें मत्त हो गृहकार्यका परित्याग कर सर्वदा एक निर्जन स्थानमें रहा करते थे। जब राजाको इसकी खबर लगी, तब वे अपने पुरोहितका प्रकृत चरित्र जाननेके लिये एक दिन एकादशीकी रातको अन्यान्य भक्त वैष्णवोंके साथ इनको बड़े आदरके साथ अपने घर लाये। दो मंजिलके ऊपर सबोंकी बैठक हुई, बहुत देर तक वैष्णवोंके भीतर विविध कृष्णकथा तथा नामकीर्त्तनादि चलने लगा। इसी समय विट्ठलदास प्रेमके आनन्दमें उन्मत्त हो नाचने लगे; प्रेमोन्माद हो कर नाचते नाचते कुछ समय बाद पैर फिसल गया और वे छत परसे जमीन पर गिर पड़े। यह देख स्वयं राजा तथा वहां पर जितने थे, सभी हाहाकार करने लगे, किन्तु परमकारुणिक भगवान्‌की कृपासे उनके शरीरमें जरा भी चोट न पहुंची। अब राजाके आनन्दकी सीमा न रही और उन्होंने बड़े श्रद्धान्वित हो उन्हें घर भेज दिया तथा उनकी जीवनयात्रा जिससे बिना उद्वेग व्यतीत हो, उसके लिये उन्होंने वृत्ति नियत कर दी। इसके बाद विट्ठलदास घरको परित्याग कर पहले षाटघरामें रहने लगे; पीछे अपनी माताके अनुग्रहसे तथा श्रीगोविन्ददेवकी आज्ञासे वे पुनः घर लौटे और यहीं नियत वैष्णवसेवा करने लगे। इनके पुत्र रङ्गराय १८ वर्षकी अवस्थामें ही पिताके समान कृष्णभक्त हुए। उन्होंने भाग्यवशतः जमीनके नीचे एक परम रमणीय विग्रह मूर्त्ति और कुछ धन पाया था। इससे विट्ठलदास बड़े उल्लासित हुए और पितापुत्र मिल कर कायमनोवाक्य द्वारा अत्यन्त भक्तिपूर्वक विग्रहदेवकी सेवा करने लगे।

विट्ठलदासकी कृष्णप्रेमोन्मत्तताका विषय भक्तमालमें इस प्रकार लिखा है—एक दिन वे कोकिल-कण्ठी किसी नर्त्तकीके मधुर स्वरमें रासलीला संगीत सुन कर इतने प्रेमोन्मत्त हुए, कि उन्होंने गृहस्थित सभी वस्त्रालङ्कारादिको उसे ला दिया। इतने पर भी वे संतुष्ट न हुए, आखिर उन्होंने रङ्गरायको उस नर्त्तकीके हाथ सौंप दिया। सङ्गीतके बाद जब नर्त्तकी रङ्गरायको अपने साथ ले चली, तब विट्ठलके बाह्यज्ञान उपस्थित हुआ। उन्होंने नर्त्तकीको प्रचुर अर्थ दे कर पुत्रको वापस मांगा। किन्तु पुत्रने अपनी असम्मति प्रकट करते हुए पितासे कहा, 'आपने जब मुझे कृष्णके उद्देशसे प्रदान कर दिया है, तब फिर प्रतिदानकी कामना करना आपके लिये नितान्त अनु-

चित है'। इस पर विट्ठल लज्जित हो बैठे, नर्त्तकी फिरसे रङ्गरायको साथ ले चली। रङ्गरायसे मन्त्रदीक्षिता राजकन्याको जब यह हाल मालूम हुआ, तब वे दौड़ी आईं और गुरुदेवकी मुक्तिके लिये उन्होंने नर्त्तकीको पकड़ लिया तथा यथासर्वस्व पण करके नर्त्तकीसे गुरुमुक्तिकी कामना की। किन्तु नर्त्तकीने राजकन्याका असीम सौजन्य देख कर कुछ भी ग्रहण न किया और रङ्गरायको छोड़ दिया। राजकन्याने भी अपने सौजन्यकी रक्षाके लिये गोत्रस्थ अलङ्कारादि उतार नर्त्तकीको दे दिये और गुरुदेवके साथ घर लौटीं।

विट्ठल दीक्षित—१ सुप्रसिद्ध वल्लभाचार्यके पुत्र, एक वैष्णव-भक्त और दार्शनिक। वाराणसीधाममें १५१६ ई०में इन्होंने जन्मग्रहण किया। परम पण्डित पिताके निकट ये नाना शास्त्रोंमें शिक्षित हुए थे। वल्लभाचार्यकी मृत्यु होने पर इन्होंने भी आचार्यपद लाभ किया तथा बड़े उत्साहसे पिताका मत प्रचार करने लगे। इनके उपदेश पर दक्षिण और पश्चिम भारतके बहुतेरे मनुष्य इनके शिष्य हो गये, थे जिनमेंसे २५२ शिष्य प्रधान थे। इन २५२ शिष्योंका परिचय 'दो सौ बावन वार्त्ता' नामक हिन्दी ग्रन्थमें विवृत है। १५६५ ई०में विट्ठल गोकुल आ कर बस गये। यहीं ७० वर्षकी उम्रमें इन्होंने जीवन-लीला संवरण की। इनकी दो पत्नीके गर्भसे गिरिधर, गोविन्द, बालकृष्ण, गोकुलनाथ, रघुनाथ, यदुनाथ और घनश्याम ये सात पुत्र उत्पन्न हुए।

विट्ठल दीक्षित बहुतसे संस्कृत ग्रन्थोंकी रचना कर गये हैं। उनमेंसे अवतारतारतम्यस्तोत्र, आर्या, कायेनेतिविवरण, कृष्णप्रेमामृत, गीता, गीतगोविन्द, प्रथमाष्टपदीविवृति' गोकुलाष्टक, जन्माष्टमीनिर्णय, जलभेदटीका, ध्रुवपद; नामचन्द्रिका, न्यासादेशविवरण, प्रबोध; प्रेमामृतभाष्य, भक्तिहेतुनिर्णय, भगवत्स्वतन्त्रता, भगवद्गीतातात्पर्य, भगवद्गीताहेतुनिर्णय, भागवततत्त्वदीपिका, भागवतदशमस्कंधविवृति, भुजङ्गप्रयाताष्टक, यमुनाष्टपदी, रससर्वस्व, रामनवमीनिर्णय, वल्लभाष्टक, विद्वन्मण्डन, विवेकधैर्याश्रयटीका, शिक्षापत्र, शृङ्गाररसमण्डल, षट्पदी, संन्यासनिर्णयविवरण, समयप्रदीप, सर्वोत्तमस्तोत्र; सिद्धान्तमुक्तावली, स्वतन्त्रलेखन, स्वामिनीस्तोत्र आदि ग्रन्थ मिलते हैं।

२ आग्रयणपद्धतिके रचयिता।

विट्ठलभट्ट—जयतीर्थकृत प्रमाणपद्धतिके टीकाकार।

विट्ठलमिश्र—१ ब्रह्मानन्दीयटीका और करणालङ्कृति नामकी समरसारटीकाके रचयिता।

विट्ठलेश्वर—पण्ढरपुरके प्रसिद्ध विठोबा-देवता।

विट्पण्य (सं० क्ली०) विशां पण्यं। वैश्योंके बेचनेकी वस्तु।

विट्पति (सं० पु०) विषः कन्यायाः पतिः। १ जामाता, दामाद। २ वैश्यपति।

विट्पालम—सुमिष्ट पालमशाक-भेद। इसकी जड़ लाल कन्दयुक्त होती है। यह कन्द बहुत मीठा होता है। इसकी तरकारी रींध कर खानेमें बड़ी अच्छी होती है। इसके पत्ते या साग उतने अच्छे नहीं होते। इस विट्मूलसे शर्करांश निकाल कर यूरोपीय विभिन्न देशवासी एक तरह दानेदार चीनी तैयार करते हैं। इस तरह जो चीनी बनाई जाती है, उसे (Beet Sugar) या विट्चीनी कहते हैं। आज कल भारतमें ईख या खजूरकी चीनीके बदले विट्चीनीका ही वाणिज्य अधिक है। शर्करा देखो।

विट्प्रिय (सं० पु०) १ शिशुमार या सूंस नामक जलजन्तु। विशां प्रियः। २ वैश्योंका प्रिय।

विट्शूद्र (सं० क्ली०) वैश्य और शूद्र।

विट्शूल (सं० पु०) सुश्रुतके अनुसार एक प्रकारका शूलरोग। शूलरोग देखो।

विट्सङ्ग (सं० पु०) मलरोध, कब्जियत।

विट्सारिका (सं० स्त्री०) विट्प्रिया सारिका। एक प्रकारका पक्षी।

विट्सारी (सं० स्त्री०) विट्सारिका, सारिकाभेद।

विठर (सं० पु०) वाग्मी, वक्ता।

विठुर (विठौर)—युक्तप्रदेशके कानपुर जिलेका एक नगर। यह अक्षा० २६° ३७′ उ० तथा देशा० ८०° १६′ पू०के मध्य कानपुर शहरसे १२ मील उत्तर-पश्चिम गङ्गाके दाहिने किनारे अवस्थित है। जनसंख्या ७ हजारसे ऊपर है। इस शहरके गङ्गा तट पर अति सुन्दर घाट, देवमन्दिर और बड़ी बड़ी अट्टालिकायें खड़ी हैं जिनसे यह स्थान बड़ा ही मनोरम दिखाई देता है। नदीके किनारे जो सब स्नान-घाट हैं, उनमें ब्रह्मघाट ही प्रधान और एक प्राचीन तीर्थमें गिना जाता है।

प्रवाद है, कि ब्रह्माने सृष्टिकार्य समाप्त करके यहां एक अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान किया। यज्ञ-समाप्तिके बाद उनकी पादुकासे एक काँटा इस जगह गिरा और सोपान पर गड़ गया। तीर्थयात्री इस जगह आ कर उस काँटेकी पूजा करते हैं। प्रति वर्ष कार्त्तिकी पूर्णिमाको यहां बड़ी धूमधामसे एक मेला लगता है; किसी किसी वर्ष तिथिके विपर्य्ययके कारण यह मेला अगहन मासमें लगता है।

अयोध्याके नवाब गाजी उद्दीन हैदरके मन्त्री राजा टीकायेत् रायने बहुत रुपये खर्च कर यह घाट तथा उसके ऊपर घर बनवा दिया है। अन्तिम पेशवा बाजीराव यहां निर्वासित हो कर आये थे। नगरमें उनका प्रासाद आज भी विद्यमान है। उनके दत्तकपुत्र नाना साहबकी उत्तेजनासे कानपुर विद्रोहमें खड़ा हुआ।

नाना साहब देखो।

१८५७ ई०की १९वीं जुलाईको अङ्गरेज-सेनापति हावलकने इस स्थानको दखल किया। उसके आक्रमणसे बाजीरावका महल चूरचूर हो गया तथा नाना साहब भाग चले। पहले यहां बहुत लोगोंका बास था। स्थानीय अदालत यहांसे उठ जाने पर उनकी संख्या बहुत घट गई है। किन्तु ब्राह्मणोंकी संख्या पूर्ववत् है। अधिकांश ब्राह्मण ब्रह्मतीर्थके पण्डा हैं। तीर्थस्थानके उपलक्षमें यहां बहुतसे यात्री आते हैं। इस नगरके पास ही गङ्गाकी एक नहर बह गई है। शहरमें एक प्राइमरी स्कूल है।

विड़ (सं० क्ली०) विड़्‌क। १ लवणविशेष, साँचर नमक। पर्याय—विड्‌गन्ध, काललवण, विड्‌लवण, द्राविड़क, खण्ड, कृतक, क्षार, आसुर, सुपाक्य, खण्ड लवण, धूर्त्त, कृत्रिमक। गुण—उष्ण, दीपन, रुचिकर, वात, अजीर्ण, शूल, गुल्म और मेहनाशक। (राजनि०)

भावप्रकाशके मतसे—ऊर्ध्व-कफ तथा अधोवायुका अनुलोमकारक, दीपन, लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, रुचिकर, व्यवायी, विवन्ध, आनाह, विष्टम्भकारक और शूलनाशक। (भावप्र०)

२ विड़ङ्ग, वायविडंग। (राजनि०)

विड़ (सं० पु०) रसजारणके निमित्त व्यवहार्य्य क्षार बहुल द्रव्यविशेष। इसकी प्रस्तुत-प्रणाली इस प्रकार है—बेतो शाक, रेंडीमूलकी छाल, पीतघोषा, कदलीकन्द, पुनर्नवा, अडूसकी छाल, पलाशकी छाल, हीजलबीज, तिल, स्वर्णमाक्षिक, मूलक, शाकका फल, फूल, मूल, पत्र और काण्ड तथा तिलनाल; इन सब द्रव्योंको अलग अलग खण्ड करे। पीछे कुछ पीस कर शिलातल वा खपरमें इस प्रकार दग्ध करे, जिससे क्षार अपरिष्कृत न हो जावे। बादमें बेतो शाकसे मूल शाकके काण्ड तक पन्द्रह प्रकारके क्षार तथा तिलनालके क्षार इन सब क्षारोंको समान भागोंमें ले कर मूत्रवर्गमें अर्थात् हाथी, ऊंट, घोड़े, गदहे, भैंस, गाय, बकरी और मेढ़े इन आठ प्रकारके जन्तुओंके मूत्रमें अच्छी तरह आलोड़ित करे। कुछ समय बाद जब वह स्थिर हो जाय, तब ऊपरके मूत्ररूप निर्मल जलको साफ बारीक कपड़ेमें छान ले। अनन्तर किसी लोहेके बरतनमें उसे रख धीरे धीरे आँच दे। जब उसमेंसे बुद्‌बुद और वाष्प निकलता दिखाई दे अर्थात् वह अच्छी तरह खौल रहा है ऐसा मालूम दे, तब हीराकसीस, सौराष्ट्रमृत्तिका, यवक्षार, साचीक्षार, सुहागा, सोंठ, पीपल, मिर्च, गन्धक, चीनी, हींग और छः प्रकारके लवण, इन सब द्रव्योंका चूर्ण समान भागमें ले कर उक्त क्षारसमष्टिका चतुर्थांश उस खौलते हुए जलमें डाल दे। पाक शेष होने पर अर्थात् जलका तिहाई भाग शेष हो जाने पर उसे उतार किसी कठिन बरतनमें भर मुंह बंद कर दे और सात दिन तक जमीनके अन्दर छोड़ दे। आठवें दिनमें वह एक क्षारजल जारणादि कार्यमें व्यवहार करनेके लायक होगा। उल्लिखित प्रक्षेपणीय द्रव्योंके अन्तर्गत सुहागेको पलाशवृक्षकी छालके रसमें सौ बार भावना दे, पीछे उसे सुखा कर चूर्ण कर ले।

विड़गन्ध (सं० क्ली०) विट्‌लवण, साँचर नमक। (राजनि०)

विड़ङ्ग (सं० पु० क्ली०) विड आक्रोशे (विड़ादिभ्यः कित्। उण् १।१२०) इति अङ्गच् स च कित्। १ (Embelia ribes, Seeds of Embelia ribes) स्वनामख्यात औषध, वायबिड़ंग। तैलङ्ग—वायुविड़पुचेट्ट; बम्बई—वर्वाड़ि, अम्बट, कार्कर्णानो; तामिल—वायबिल। पर्याय—वेल्ल, अमोघा, चित्रतण्डुला, तण्डुल, क्रिमिघ्न, रसायन, पावक,

भस्मक, वैलु, मोघा, तण्डुलु, जन्तुघ्न, चित्रतण्डुल, क्रिमिशत्रु, गर्द्दभ, कैवल, विड़िङ्गा, क्रिमिहा, चित्रा, तण्डुला, तण्डूलीयका, वातारितण्डुला, जन्तुघ्नी, मृगगामिनी, कैराली, गह्वरा, कापाली, वरासु, चित्रवीजा, जन्तुहन्त्री। गुण—कटु, उष्ण, लघु, वातकफपोड़ा, अग्निमान्द्य, अरुचि, भ्रान्ति और क्रमिदोषनाशक। (राजनि०) थोड़ा तिक्त, क्रमि और विषनाशक। (राजव०) भावप्रकाशके मतसे—कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, रुक्ष, अग्निवर्द्धक, लघु, शूल, आध्मान, उदर, श्लेष्म, क्रमि और विवन्धनाशक। (भावप्र०) (त्रि०) २ अभिज्ञ, जानकार।

विड़ङ्गतैल (सं० क्ली०) तैलौषधविशेष। प्रस्तुत-प्रणाली—सरसों तेल ४ सेर, गोमूत्र १६ सेर, कल्कार्थ विड़ंग, गन्धक, मनःशिला मिला कर एक सेर। तैलपाकके विधानानुसार यह तेल पाक करना होगा। यह तेल सिरमें मालिश करनेसे सभी जूँ मर जाती है। (भैषज्यरत्ना० क्रमिरोगाधि०)

विड़ङ्गादि तैल (सं० क्ली०) तैलौषधविशेष। इसके बनानेकी तरकीब—तेल ४ सेर, कल्कार्थ विड़ङ्ग, मिर्च, अकवनकी जड़, सोंठ, चितामूल, देवदारु, इलायची और पञ्चलवण मिला हुआ १ सेर। तैलपाकके विधानानुसार यह तेल पाक करना होगा। यह तेल मालिश करने और पीनेसे श्लीपद (फ़ीलपाव)-रोग विनष्ट होता है।

(भैषज्यरत्ना० श्लीपदरोगाधि०)

विड़ङ्गादिलौह (सं० क्ली०) औषधविशेष। प्रस्तुत-प्रणाली—लोहा ४ पल, अबरक २॥ पल, त्रिफला प्रत्येक ७॥ पल, जल ३६० पल, शेष ४५ पल। इस क्वाथमें लोहे और अबरकको पाक करे। इन सब द्रव्योंको लोहे वा ताँबेके बरतनमें धोमी आँच पर रख लोहेके हत्थेसे आलोड़न कर पाक करना होगा। जब पाक शेष होने पर हो, तब निम्नोक्त द्रव्य उसमें डाल दे। वे सब द्रव्य ये हैं—विड़ङ्ग, सोंठ, धनिया, गुलञ्चरस, जीरा, पलाशबीज, मिर्च, पीपल, गजपिप्पली, निसोथ, त्रिफला, दन्तीमूल, इलायची, रेंड़ीका मूल, पीपलका मूल, चितामूल, मोथा और वृद्धदारकबीज; इनमेंसे प्रत्येक २ तोला ४ माशा और ८ रत्ती। मात्रा रोगीके बलाबलके अनुसार स्थिर करनी होगी। इस औषधके सेवनसे आमवात, शोथ, अग्निमान्द्य और हलीमक रोग शान्त होते हैं।

(भैषज्यरत्ना० आमवातरोगाधि०)

दूसरा तरीका—विड़ङ्ग, त्रिफला, मोथा, पिप्पली, सोंठ, जीरा और मंगरैला, कुल मिला कर जितना हो उतना लोहा इन्हें एकत्र मिश्रित कर यह औषध बनानी होगी। इस औषधके सेवनसे प्रमेह रोग नष्ट होता है। इसकी मात्रा रोगीके बलाबलके अनुसार और अनुपान दोषके बलाबलके अनुसार स्थिर करना होगा।

(रसेन्द्रसारस० प्रमेहरोगाधि)

तीसरा तरीका—विड़ङ्ग, हरीतकी, आमलकी, बहेड़ा, देवदारु, दारुहरिद्रा, सोंठ, पीपल, मिर्च, पीपलका मूल, चई, चितामूल, ये सब द्रव्य समान भाग तथा उतने ही लोहेको एक साथ मिला कर अठगुने गायके मूतमें पाक करे। पाक शेष होने पर २ तोलेकी गोली बनावे। इसका सेवन करनेसे पाण्डु और कामला आदि रोग प्रशमित होते हैं। (रसेन्द्रसारस० पाण्डुरोगाधिका०)

विड़ङ्गारिष्ट (सं० पु०) व्रणशोथाधिकारोक्त औषधविशेष। प्रस्तुत प्रणाली—विड़ङ्ग, पीपलमूल, रास्ना, कूटजकी छाल, इन्द्रयव, आकनादि, एलवालुक, आमलकी, प्रत्येक द्रव्य ४० तोला ले कर ५१२ सेर वा १२ मन ३२ सेर जलमें पाक करे। जब पाक हो कर शेष ६४ सेर (१॥४ सेर) रह जाय, तब नीचे उतार ले। ठण्ढा होने पर उसे छान कर धवफूलका चूर्ण २॥ सेर, दारुचीनी, इलायची, तेजपत्र प्रत्येक १६ तोला, प्रियंगु, रक्तकाञ्चनछाल, लोध प्रत्येक ८ तोला, सोंठ, पीपल, मिर्च, प्रत्येक १ सेर, ये सब चूर्ण तथा मधु ३७॥ सेर उसमें मिला कर एक मास तक आवृत घृतभाण्डमें छोड़ दे। इसका सेवन करनेसे विद्रधि, अश्मरी, मेह, उरुस्तम्भ, अष्ठीला, भगन्दर आदि रोग जाते रहते हैं।

विड़म्ब (सं० पु०) वि-ड़म्ब-अप्। विड़म्बन, अनुकरण।

विड़म्बक (सं० त्रि०) विड़म्बयति वि-ड़म्ब-णिच्-ल्यु। १ विड़म्बनकारी, ठीक ठीक अनुकरण करनेवाला, पूरी पूरी नकल करनेवाला। २ अनुकरण करके चिढ़ाने या अपमान करनेवाला। ३ निन्दा या परिहास करनेवाला। ४ प्रतारक, धूर्त्त।

विड़म्बन (सं० क्ली०) वि-ड़म्ब-ल्युट्। १ किसीके रंग ढंग या चाल ढाल आदिका ठीक ठीक अनुकरण करना; पूरी पूरी नकल करना। २ चिढ़ाने या अपमानित करनेके लिये नकल करना, भांड़पन करना। ३ निन्दा या उपहास करना। ४ प्रतारण, ठगी।

विड़म्बना (सं० स्त्री०) वि-ड़म्ब, णिच्, युच्, टाप्। १ अनुकरण करना, नकल उतारना। २ किसीको चढ़ाने या बनानेके लिये उसकी नकल करना। ३ हंसी उड़ाना, मजाक करना। ४ डांटना डपटना, फटकारना। ५ प्रतारण, ठगी।

विड़म्बनीय (सं० त्रि०) १ जो अनुकरण करनेके योग्य हो, नकल उतारने लायक। २ चिढ़ाने या उपहास करनेके योग्य।

विड़म्बित (सं० त्रि०) वि-ड़म्ब-क्त। १ कृतविड़म्बन, निन्दा या उपहास किया हुआ। पर्याय—व्यस्त, आकुल, दुर्गत। (शब्दमाला) २ अनुकृत, नकल किया हुआ। ३ वञ्चित, ठगा हुआ। ४ दुःखित।

विड़म्बिन् (सं० त्रि०) वि-ड़म्ब-इनि। विड़म्बकारी, विड़म्बना करनेवाला।

विड़म्ब्य (सं० त्रि०) वि-ड़म्ब-यत्। १ उपहासास्पद। २ विड़म्बनीय, विड़म्बनके योग्य।

विड़रना (हिं० क्रि०) १ इधर उधर होना, तितर बितर होना। २ भागना, दौड़ना।

विड़ारक (सं० पु०) विड़ाल एव स्वार्थे कन्, लस्य रः। विड़ाल, बिल्ली।

विड़ारना (हिं० क्रि०) १ तितर बितर करना, इधर उधर करना, छितराना। २ नष्ट करना। ३ भगाना, दौड़ाना।

विड़ाल (सं० पु०) विड़-आक्रोशे (तमिविशिविड़ीति। उणा् १।११७) इति कालन्। १ नेत्रपिण्ड। (मेदिनी) २ नेत्रौषधविशेष। (भावप्र०) ३ स्वनामख्यात पशु, बिल्ली। पर्याय—त्तु, मार्ज्जार, वृषदंशक, आखुभुक्, विराल (बिलाल), दीप्ताक्ष, नक्तञ्चरी, जाहक, विड़ालक, त्रिशंकु, जिह्वाप, मेनाद, सूचक, मूषिकाराति, शालावृक, मायावी, दीप्तलोचन। (राजनि०)

बिल्लीकी वाह्य आकृति, मुखकी गठन, पैरके पंजे और हड्डी आदिके साथ बाघका विशेष सौसादृश्य है। बिल्लियां बाघकी तरह ताक लगा कर और उछल कर चूहेका शिकार भी करती हैं। यह देख कर पाश्चात्य प्राणिविदोंने सिद्धान्त किया है, कि यह स्वनाम-प्रसिद्ध चतुष्पद जन्तु व्याघ्रजाति (Feline Tribe)के अन्तर्भुक्त है। इसीलिये वे बिल्लीको Felis Catus नामसे पुकारते हैं। इसी तरह हमारे देशमें भी यह "बाघकी मौसी" कहलाती हैं। बाघ शिकार पकड़ कर वृक्ष पर नहीं चढ़ सकता; किन्तु बिल्ली मुंहमें शिकार लिये वृक्ष पर चढ़ जाती है। इसका यह गुण बाघके गुणसे विशेष है। इसीसे इसका नाम "बाघकी मौसी" हुआ है। किन्तु चीता, लकड़बग्घा आदि छोटे कदके बाघोंको वृक्ष पर चढ़ते देखा गया है। बिल्लीको बाघकी मौसीका पद कैसे मिला? इसके सम्बन्धमें अपने यहां एक किम्बदन्ती प्रचलित है।

यह बिल्ली जाति दो प्रकारकी है—ग्राम्य या पालित और जङ्गली। इस जंगली बिल्लीको बनबिलाड़ कहते हैं। फिर इस वनबिलाड़में दो जातियां हैं। एक पालित विड़ालकी वन्यश्रेणी, दूसरी प्रकृत वनविड़ाल जाति। देश और आकृति-भेदसे पालित बिल्लियोंमें कई भेद दिखाई देते हैं। इसलिये इनका स्वतन्त्र नाम रखा गया है। प्राच्य और प्रतीच्य जगत्में जो सब विभिन्न जातीय पशु बिल्ली नामसे परिचित हैं, नीचे उनके नाम दिये गये।

जैसेः—Civet Cat, Genet Cat, Marten Cat, Pole Cat इत्यादि। माडागास्कर द्वीपकी लेमूर जाति Madagascar Cat और अष्ट्रेलिया द्वीपके शावकवाही चर्मकोषयुक्त पशु Wild Cat नामसे प्रसिद्ध हैं। भारतीय 'सरमिन्दी-बिल्ली' डरपोक स्वभाववाली और कुछ लाजुक और वनविड़ाल अपेक्षाकृत उग्र स्वभाववाले होते हैं। ये Lynx (Felis ruta) जातिके हैं। मिस्रदेशमें जो सब मामीबिल्लियां (Mummy cat) देखी जाती हैं, उनके साथ वर्त्तमान F. Chaus—Marsh cat, F. Caligulata और F. bubastes जातिका बहुत सौसादृश्य है। मिस्रदेशमें आज भी इन सब जातियोंकी

पालतू और जङ्गली विलियां दिखाई देती हैं। पालास, टेम्मिनिक और ब्लाइद्ध आदि प्राणिविदोंका अनुमान है, कि उक्त पालतू विलियां अपने वन्य-जातीय जीवोंके सामयिक संगतिविशेषसे उत्पन्न हैं। फिर उनके परस्पर संसर्गसे ऐसी एक नई विड़ालजातिकी उत्पत्ति हुई है

स्काटलैण्डमें F. Sylvestris, अलजियर्समें F. lybic और दक्षिण अफ्रिकामें F. Caffra नामसे तीन तरहके वनविड़ाल देखे जाते हैं। भारतमें साधारणतः ४ तरहके वनविड़ाल हैं, उनमें F. Chaus जातिकी पूंछ lynx जाति की तरह है। हान्सि जिलेमें F. Ornata or torquata और मध्यएशियामें F. manal श्रेणीके बहुतेरे वन-विड़ालोंका वास है। मानवद्वीपमें (Isle of man) एक तरहकी बिना पूंछकी बिल्ली है। इसका पिछला पैर बड़ा होता है। एण्टीगोयाकी पालतू क्रियल विल्लियां (Creole cats) अपेक्षाकृत छोटी हैं। किन्तु इनका मुंह सूईकी तरह और लम्बा है। पैरागुई राज्यकी विलियां छोटी और दुबली पतली होती हैं। मलयद्वीपपुञ्ज, श्याम, पेगु और ब्रह्म आदि प्राच्य जनपदोंमें जो सब पालतू विलियां देखी जाती हैं, उनकी पूंछें सूंडाकार होती हैं और उनका अगला भाग गठीला होता है। चीनदेशमें एक जातिकी बिल्ली है, उनके कान चिपटे हैं। फारसकी विख्यात लम्बी अङ्गोरा बिलियाँ मध्यएशियाकी F. manal से उत्पन्न हैं। भारतकी साधारण बिल्लियोंसे इनका जोड़ लगता है।

पृथ्वीके अन्यान्य स्थानोंकी अपेक्षा एशियाके दक्षिण और पश्चिम अंशोंमें ही विभिन्न जातीय बिलियोंका वास है। विभिन्न जातीय भाषामें वन्य या पालित बिल्ली पुस या पुसी नामसे विख्यात हैं। पालित अर्थात् जिन्हें गृहस्थ यत्नपूर्वक पालन करते हैं, उनमें भी किसी किसी बिल्लीका नाम पुसी, मेनी, पुली सुना जाता है। कभी कभी लोग पाली हुई बिल्लीको पालतू कुत्तोंकी तरह पुकारते हैं, किन्तु इस जातिका साधारण नाम बिल्ली ही है। विभिन्न भाषाओंमें इस शब्दकी संज्ञा—संस्कृतमें मार्जार ; बंगलामें विड़ाल, विरेल, पुसी ; भोट और सोकूपा—सि-मि ; तामिल—पोनी ; तेलगु—पिल्ली ; फारसी—माइदा, पुल्चाक ; अफगान—पिस्चिक, तुर्क—पुस्चिक्, कुर्द—पसिक; लिथुयानीय—पिइजोग ; अरब—किट्ट ; अङ्गरेजी—Cat, Pussy cat इत्यादि।

पहलेसे विभिन्न देशवासियोंमें बिल्ली पालनेकी रीति दीख पड़ती है। केवल भारत ही नहीं, सुदूर पाश्चात्य भूखण्डोंमें भी आदरके साथ विलियां पाली जाती थीं। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थोंको पढ़नेसे हम बिल्ली तथा उसके स्वभावका परिचय पाते हैं। ईसासे बहु-शताब्दी पहलेके रचित रामायण ग्रन्थ (६।७३।११)में विल्लियों पर चढ़ कर राक्षसोंके युद्धक्षेत्रमें जानेकी बात लिखी है। बिल्लीके उछल कर चूहेका शिकार करनेकी बात भी हम उसी रामायणके लङ्काकाण्डसे जानते हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनिने भी मार्ज्जारमूषिककी नित्यविरोधिता जान कर ही समाससूत्रमें (पा २।४।६) "मार्जारमूषिकम्" पदविन्यास किया है। विलियां चूहोंके शिकार करनेके समय ध्याननिष्ठकी तरह विनीत भावसे अवस्थान करती हैं। यह देख भगवान् मनुने (मनु ४।१६७) तत्प्रकृतिक मनुष्यको 'मार्ज्जारलिङ्गिन्' शब्दसे अभिहित किया है। केवल भारतवासी ही नहीं, प्राचीन यूनानी, रोमन और इद्रास्कान भी बिल्लीके द्वारा चूहेके मारे जानेकी बात जानते थे। प्राचीनकालमें बिल्ली चूहोंके शिकारके चातुर्यका चित्र खिलौने और दीवार पर बनाया जाता था। आरिष्टटलने चूहे मारनेवाले जिस पालित पशुका उल्लेख किया है, अध्यापक रोलेष्टनने उसीको वर्त्तमान श्वेतवक्ष मार्टिन (Marten foina) नामक पशु कहा है। किन्तु यथार्थमें चूहा मारनेवाले यह जीव लम्बे Pole cat या Foumart ही मालूम होते हैं।

कुर्दिस्तान, तुर्क और लिथुनियाके अधिवासी बिल्लीको बड़े प्यार करते हैं, मिस्रके अधिवासी भी बिल्लियोंको बहुत दिनोंसे प्यार करते आते हैं। बाइबिल ग्रंथमें या प्राचीन असीरीय प्रस्तर-चित्रोंमें बिल्लियोंका चिह्न तक नहीं है। कहना न होगा, कि वर्त्तमान यूरोपमें विलियोंका एकान्त अभाव है। हमारे देशमें जैसे फारसकी अंगोरा विलियोंको लोग शौकसे पालते हैं, यूरोपमें कोई कोई आदमी शौकसे ही विलियाँ पालते

हैं। भारतमें ये फारसी बिल्लियाँ उष्ट्रयात्री बणिकों द्वारा भारतमें लाई गई थीं। वास्तवमें वे अफगानिस्तानसे ही इस देशमें आती हैं और “काबुली बिल्ली”के नामसे पुकारी जाती हैं। लेफ्टेनाण्ट इरविनका कहना है, कि फारसमें ऐसी बिल्लियाँ होती ही नहीं। अतएव इसे “फारसी बिल्ली” न कह काबुली बिल्ली कहना ही उचित है। काबुली इस जातिकी बिल्लियोंको रोएंकी वृद्धि करनेके लिये उन्हें नित्य साबुनसे धोते सुखाते हैं।

हमारे देशकी बिल्लियां विशेष उपकारी हैं। ये चूहोंको मार कर प्लेगादि नाना रोगोंसे देशवासियोंको मुक्त करती हैं। मछलीके काँटे भी बिल्लियोंसे बेकार रहने नहीं पाते। फिर भी बिल्लियों द्वारा उपद्रव भी कम नहीं होता। रसोई घरकी हंडियां फोड़ कर उसमें रखे हुए मछलीके टुकड़े वे खा जाती हैं। बच्चोंके लिये रखा हुआ दूध आदि गोरस भी इनके मारे बचने नहीं पाता। इसीलिये मनुष्यमात्र बिल्लियों पर नाराज रहता है। बहुतेरे बिल्ली देखते ही उन पर बिना प्रहार किये नहीं मानते। फिर जो कबूतर पालते हैं, वे बिल्लीके एक भी कबूतरके प्राण संहार पर उसे मार डालनेकी ही फिक्रमें रहते हैं। हमने किसी किसीको इस दोषके कारण बिल्लीको दो टुकड़े कर डालते देखे हैं। हिन्दूशास्त्रमें बिल्लियोंकी हत्या करनेकी मनाही है। बिल्लीकी हत्या करने पर महापातक होता है। यदि कोई बिल्ली मार डाले, तो उसको शूद्रहत्यावत् आचरण करना पड़ेगा।

(मनु ११।१३१)

मनुमें लिखा है, कि बिल्लीका जूठा अन्न खाना नहीं चाहिये खानेसे ब्राह्म-सुवर्चला नामक क्वाथ जल पान करना होता है।

बिल्लियोंकी हत्या नहीं करनी चाहिये। यदि कोई करे, तो उसे प्रायश्चित करना पड़ता है। इसके प्रायश्चित्तके विषयमें प्रायश्चित्त-विवेकमें लिखा है, कि तीन दिन दुग्ध पान या पादकृच्छ्र करना चाहिये। यह अज्ञानसे हत्या करनेका है अर्थात् दैवात् बिल्ली मारनेका प्रायश्चित्त है। जान सुन कर बिल्लियोंको मारनेसे बारह रात्रि कृच्छ्र व्रतका अनुष्ठान करना होगा। यदि इस प्रायश्चित्तमें कोई असमर्थ हो, तो उनको यथाशक्ति दक्षिणाके साथ दो धेनु दान करनी होगी। यदि वह भी असमर्थ हो, तो ४ कार्षापण दान करनेसे पापसे मुक्त हो जायेगा। स्त्री, शूद्र, बालक और वृद्धके लिये अर्द्ध प्रायश्चित्त ही विधेय है। बिल्लियोंके बधसे जो पातक होता है, वह उपपातकोंमें गिना गया है।

बहुतेरे बिल्लीको षष्ठीदेवीकी अनुचरी मानते हैं। बुड्ढियोंके मुंहसे सुना जाता है, कि बिल्ली षष्ठीदेवीकी वाहन है; उसको मारनेसे पुत्र आदि नहीं होते और लोम यदि पेटमें चला जाय, तो यक्ष्मारोग या खांसीका रोग होनेकी सम्भावना रहती है। अध्ययनके समय गुरु और शिष्योंके बीचसे बिल्ली यदि पार हो जाये, तो उस समय दिन रात तक अध्ययन नहीं करना चाहिये। (मनु ४।१२६) अनावृष्टिके समय यदि बिल्ली मिट्टी कोड़ते दिखाई दे, तो शीघ्र ही वृष्टि होगी, ऐसा समझना चाहिये।

ग्राम्य कृशकाय विड़ालोंके चर्म संघर्षणसे अधिकतर वैद्युतिक-शक्ति विकीर्ण होती है। प्रसिद्ध काबुल देशीय पशमबहुल बिल्लियोंके चर्म्ममें ऐसा वैद्युतिक तेज विशेष कम नहीं। अन्यान्य बिल्लियोंके चर्म्ममें अपेक्षाकृत कम तेज है। प्रवाद है, कि काली बिल्लियोंकी हड्डी यदि मनुष्यके घरमें नीचे दबी हो, तो वह शल्यरूपमें गिनी जाती है। इससे उस मनुष्यके घरमें कभी मङ्गल नहीं होता, वरं उत्तरोत्तर विपद् आनेकी सम्भावना रहती है। मारणक्रियाके निमित्त बहुतेरे इस तरहकी काली बिल्लीकी हड्डी शत्रुके घरमें गाड़ देते हैं। किन्तु इस आभिचारिक क्रियासे हिंसाकारकका ही अमङ्गल हुआ करता है। आयुर्वेदशास्त्रमें लिखा है, कि बिल्लीकी विष्ठा जलानेसे कम्पज्वरमें विशेष उपकार होता है।

पहले कहा जा चुका है, कि बिल्लीका चेहरा बाघकी तरह है। किन्तु आकारमें ये छोटी होती हैं। साधारणतः मस्तक और देहभाग ले कर इसकी लम्बाई १६″ से १८″ है और पूंछ १०से १२ इञ्च तक होती है। पैरके नखपञ्जेमें पांच नख रहते हैं। किसी किसी बिल्लीकी नख-संख्या कम भी देखी जाती है। बिल्लियोंके नखोंमें विष रहता है। नखकी संख्या कम होनेसे विषका बल भी कम

होता है। यदि यह किसीके किसी अङ्गमें अपने नखसे विदीर्ण करे, तो उस स्थानमें विष चढ़ आयेगा। ऐसी दशामें वहां एक तपे लोहेसे दाग देना चाहिये। ऐसा करने पर विषका असर मिट जाता है, नहीं तो यह विष प्रबल हो उठता और घाव बढ़ जाता है। इससे यन्त्रणा भी बढ़ जाती है।

ये साधारणतः ३, ४, या ५ शावक पैदा करती हैं। इन शावकोंके हस्तपदादि अवयव रहने पर भी यह एक पिण्डवत् ही दिखाई देते हैं। केवल प्राण ही जीवशक्तिका परिचायक रहता है। उस समय इनके शरीरमें लोम नहीं रहता। यदि इस जातिका पुरुष इन शावकोंको देख ले, तो वह उन्हें चट कर जाता है। इसीलिये बिल्लियां अपने शावकोंको इधर उधर चुराती फिरती हैं। २ सुगन्धमार्ज्जार, मुश्क बिलाव। (क्ली०) ३ हरिताल।

विड़ालक (सं० क्ली०) १ हरिताल। (पु०) विड़ाल एव स्वार्थे कन्। २ विड़ाल, बिल्ली। ३ नेत्र रोगकी एक औषध।

"विड़ालके वहिर्लेपो नेत्रे पक्ष्मविवर्ज्जिते।
तस्य मात्रा परिज्ञेया मुखालेपविधानवत्॥"

(भावप्र० नेत्ररोगाधि०)

नेत्रके वहिर्भागमें पक्ष्मका परित्याग कर प्रलेप देनेको विड़ालक कहते हैं। इसकी मात्रा मुखालेपके समान होगी। मुखालेपकी मात्राके सम्बन्धमें ऐसा लिखा है, कि मुखालेपकी हीन मात्रा एक उंगलीका चौथाई भाग, मध्यम मात्रा तिहाई भाग और उत्तम मात्रा एक उंगलीका अर्द्धांश है। यह लेप जब तक सूख न जावे, तब तक लगाये रखना होगा। सूख जाते ही उसे फेंक देना उचित है। क्योंकि सूखने पर उसमें कोई गुण नहीं रह जाता, बल्कि वह चमड़ेको दूषित कर डालता है।

विड़ालकप्रलेप—मुलेठी, गेरूमिट्टी, सैन्धव, दारुहरिद्रा और रसाञ्जन ये सब द्रव्य समान भाग ले कर जलमें पीसे और नेत्रके वहिर्भागमें प्रलेप दे। इस प्रलेपसे सभी प्रकारका नेत्र रोग आरोग्य होता है। रसाञ्जन या हरीतकी अथवा बिल्वपत्र या वच, हरिद्रा और सोंठ तथा गेरूमिट्टी द्वारा प्रलेप देनेसे भी सभी प्रकारके नेत्ररोग विनष्ट होते हैं। (भावप्र० नेत्ररोगाधि० विड़ालकविधि)

विड़ालपद (सं० पु०) १ दो तोलेका परिमाण। (क्ली०) २ मार्ज्जारचरण, विड़ालका पैर।

विड़ालपदक (सं० क्ली०) कर्षपरिमाण, सोलह माशका एक मान।

विड़ालाक्ष (सं० पु०) महाभारतके अनुसार एक राजाका नाम जो महाराज युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें गया था।

विड़ाली (सं० स्त्री०) १ विदारीकन्द। २ मार्ज्जारी, बिल्ली।

विड़ीन (सं० क्ली०) वि डी-क्त। खगगतिविशेष, पक्षियोंकी उड़ानका एक प्रकार।

विड़ल (सं० पु०) बेंतकी लता।

विड़ोजस् (सं० पु०) विष् व्याप्तौ, विष-क्विप्, विट् व्यापकं ओजो यस्य। इन्द्र। (अमर)

विड़ौजस् (सं० पु०) विड़ं आक्रोशि शत्रुद्वेषमसहिष्णु ओजो यस्य। इन्द्र। (द्विरूपकोष)

विड़्गन्ध (सं० क्ली०) विट् विष्ठा इव गन्धो यस्य। विट्लवण, साँचर नमक।

विड़्ग्रह (सं० पु०) कोष्ठबद्धता, मलरोध, कब्जियत। (माधवनि०)

विड़्घात (सं० पु०) मलमूत्रका अवरोध, पेशाब और पाखाना रुकना।

विड़्ज (सं० त्रि०) विषि विष्ठायां जातः विष्-जन-ड। विष्ठाजात, विष्ठा आदिसे उत्पन्न होनेवाले कीड़े मकोड़े।

विड़्डसिंह (सं० पु०) राजाके एक मन्त्रीका नाम। (राजतर० ८।२४७)

विड़्बन्ध (सं० पु०) मलका अवरोध, कब्जियत।

विड़्भङ्ग (सं० पु०) विड़्भेद, बहुत दस्त होना, पेट चलना।

विड़्भुज् (सं० त्रि०) विषं विष्ठां भुनक्ति, विष-भुज्-क्विप्। विड़्भोजी, विष्ठा खानेवाले कीड़े मकोड़े।

विड़्भेद (सं० पु०) विड़्भङ्ग।

विड़्भेदिन् (सं० त्रि०) विषं विष्ठां भेत्तुं शीलं यस्य। वह औषध या द्रव्य जो विरेचक हो, दस्तावर चीज या दवा।

विड्भोजिन् (सं० त्रि०) विषं विष्ठां भोक्तुं शीलं यस्य। विड्भुक्, विष्ठा खानेवाला।

विड्भोजी (सं० त्रि०) विड्भोजिन् देखो।

विड्लवण (सं० क्ली०) विट्लवण, सांचर नमक।

विड्वराह (सं० पु०) विट्प्रियो वराहः। ग्राम्यशूकर, गांवोंमें रहनेवाला सूअर।

विड्वल (सं० पु०) १ गोपक। २ निशादल। (पर्यायमु०)

विड्विघात (सं० पु०) एक प्रकारका मूत्रघातरोग। उदावर्त्त रोगमें दुर्बल और रूक्ष व्यक्तिकी विष्ठा, कुपित वायुके द्वारा मूत्रस्रोत प्राप्त होनेसे वह रोगी उस समय बड़े कष्टसे विट् संसृष्ट और विड्गन्धयुक्त मूत्रत्याग करता है। रोगीकी इस अवस्थाको शास्त्रकारोंने विड्विघात कहा है। (माधवनि०)

विड्विभेद (सं० पु०) विड्विघातरोग।

विण्मार्ग (सं० पु०) मलद्वार, गुदा।

विण्मूत्र (सं० क्ली०) विष्ठा और मूत्र।

वितंस (सं० पु०) वि-तंस-घञ्। वतिंस, मृग अथवा पक्षी आदिको फंसानेका जाल।

वितण्ड (सं० पु०) १ अर्गलभेद, अगरी। २ हस्ती, हाथी।

वितण्डक (सं० पु०) एक ग्रन्थकर्त्ताका नाम।

वितण्डा (सं० स्त्री०) वितण्ड्यते विहन्यते परपक्षोऽनयेति वि-तण्ड गुरोश्चेत्यः टाप्। १ दूसरेके पक्षको दबाते हुए अपने मतकी स्थापना करना। (अमर)

कथा, वाद, जल्प और वितण्डा इन तीनोंको कथा कहते हैं। गौतमसूत्रमें इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

"सप्रतिपक्षस्थापनहीनो वितण्डा।" (गौतमसूत्र१।२।४४)

प्रतिपक्ष स्थापनाहीन होनेसे उसको वितण्डा कहते हैं। तत्त्वनिर्णय वा विजय अर्थात् वादिपराजयके उद्देशसे न्यायसङ्गत वचनपरम्पराका नाम कथा है। कथा तीन प्रकारकी है, वाद, जल्प और वितण्डा। तर्कमें जय या पराजय हो कोई हर्ज नहीं, केवल तत्त्वनिर्णयका उद्देश कर जो सब प्रमाणादि उपन्यस्त होते हैं, उसका नाम वाद है। तत्त्वनिर्णयके प्रति लक्ष्य न करके प्रतिपक्षकी पराजय तथा अपनी जय मात्रके उद्देशसे जो कथा प्रवर्त्तित होती है, उसका नाम जल्प है। जल्पमें वादी प्रतिवादी दोनों ही अपने पक्षको स्थापन और पर पक्षको प्रतिषेध करते हैं। अपना कोई भी पक्ष निर्देश न करके केवल परपक्ष खण्डनके उद्देशसे विजिगीषु व्यक्ति जिस कथाकी प्रवर्त्तना करते हैं, उसका नाम वितण्डा है।

जल्प और वितण्डामें प्रतिपक्षकी पराजयके लिये न्यायोक्त छल, जाति और निग्रहस्थानका उद्भावन किया जा सकता है। वह कथा केवल तत्त्वनिर्णयके लिये उपन्यस्त होती है, इस कारण उसमें सभाकी जरूरत नहीं, किन्तु जल्प और वितण्डामें सभाकी जरूरत होती है। जिस जनतामें राजा या कोई क्षमताशाली व्यक्ति नेता तथा कोई व्यक्ति मध्यस्थ रहते हैं, उसी जनताका नाम सभा है। वाद और न्याय देखो।

२ व्यर्थका झगड़ा या कहा-सुनी। ३ कच्चूका साग और कन्द। ४ शिलाह्वय, शिलाजीत। ५ करवी। ६ दर्वी।

वितत (सं० त्रि०) वि-तन-क्त। १ विस्तृत, फैला हुआ। (क्ली०) २ वीणा अथवा उससे मिलता जुलता हुआ और कोई बाजा।

वितताध्वर (सं० त्रि०) यज्ञवेदीसम्बन्धी। (अथर्व्व ९।६।२७)

वितति (सं० स्त्री०) वि-तन-क्ति। विस्तार, फैलाव।

विततकरण (सं० क्ली०) लोगोंका अनिन्दित कर्म, वितद्घाषण।

वितत्य (सं० पु०) विहव्यके एक पुत्रका नाम। (भारत १३ पर्व)

वितथ (सं० त्रि०) १ मिथ्या, झूठ। २ निष्फल, व्यर्थ, बेफायदा।

वितथता (सं० स्त्री०) वितथस्य भावः तल्-टाप्। वितथका भाव या धर्म, मिथ्यात्व।

वितथ्य (सं० त्रि०) वितथ-यत्। मिथ्या, असत्य, झूठ।

वितद्रु (सं० स्त्री०) वितनोतीति वि तन (जस्वादयश्च। उण् ४।१०२) इति रु प्रत्ययः। पञ्जाबकी वितस्ता या झेलम नदीका एक नाम।

वितनितृ (सं० त्रि०) वितनोति वि तन्-तृच्। विस्तारक, फैलानेवाला।

वितनु (सं० त्रि०) १ तनुरहित। २ अति सूक्ष्म।

वितन्वत् (सं० त्रि०) वितनोति वि-तन् शतृ। विस्तारकारक।

वितन्तसाय्य (सं० त्रि०) १ विशेषरूपसे विस्तार्य, स्तोत्र द्वारा वन्दनीय। २ शत्रुओंका हिंसक।

वितपन्न (हिं० पु०) १ वह जो किसी काममें कुशल हो, व्युत्पन्न, दक्ष। (वि०) २ घबराया हुआ, व्याकुल।

वितमस् (सं० त्रि०) विगतस्तमो यस्य। १ तमोगुणरहित। २ अन्धकारहीन।

वितमस्क (सं० त्रि०) विगतस्तमो यस्मात्, कप समासान्तः। १ अन्धकारहीन, जिसमें अन्धकार न हो। २ तमोगुणरहित।

वितर (सं० पु०) वि-तृ-अप्। १ वितरण, देना। (त्रि०) २ विप्रकृष्ट, दूर किया हुआ। ३ विशिष्टतर। ४ अत्यन्त, अतिशय।

वितरक (सं० त्रि०) वितरण करनेवाला, बाँटनेवाला।

वितरण (सं० क्ली०) वि-तृ-भावे ल्युट्। १ दान करना, अर्पण करना, देना। २ बाँटना।

वितरणाचार्य (सं० पु०) एक आचार्यका नाम।

वितरम् (सं० अव्य०) वितर देखो।

वितराम् (सं० अव्य०) और भी, इसके अलावा। (शतपथब्रा० १।४।१।२३)

वितरित (सं० त्रि०) जो वितरण किया गया हो, बाँटा हुआ।

वितर्क (सं० पु०) वि-तर्क-अच्। १ एक तर्कके उपरान्त होनेवाला दूसरा तर्क। २ सन्देह, संशय, शक। ३ अनुमान। ४ ज्ञानसूचक। ५ अर्थालङ्कारविशेष। सन्देह या वितर्क होने पर यह अलंकार होता है। यह निश्चयान्त और अनिश्चयान्तभेदसे दो प्रकारका है। जहां सन्देह निश्चय होता है, वहां निश्चयान्त वितर्क तथा जहां निर्णीत नहीं होता, वहां अनिश्चयान्त वितर्क होता है।

वितर्कण (सं० क्ली०) वि तर्क-ल्युट्। वितर्क।

वितर्कवत् (सं० त्रि०) वितर्कः विद्यतेऽस्य वितर्क-मतुप् मस्य व। वितर्कयुक्त, वितर्कविशिष्ट।

वितर्क्य (सं० त्रि०) वि-तर्क-यत्। १ वितर्कणीय, जिसमें किसी प्रकारके वितर्क या संदेहका स्थान हो। २ अत्याश्चर्यरूपसे दर्शनीय, जो देखनेमें बहुत विलक्षण हो।

वितर्तुर (सं० क्ली०) परस्परव्यतिहार द्वारा तरण, बार बार जाना। (ऋक् १।१०२।२)

वितर्दि (सं० स्त्री०) वि-तर्द-हिंसायां (सर्व्वधातुभ्य इन्। उण् ४।११७) इति इन्। वेदिका, वेदी, मंच।

वितर्दिका (सं० स्त्री०) वितर्दिरेव स्वार्थे कन्-टाप्। वेदिका, वेदी।

वितर्दी (सं० स्त्री०) वितर्दि-कृदिकारादिति ङीष्। वेदी।

वितर्द्धी (सं० स्त्री०) वेदी।

वितल (सं० क्ली०) विशेषेण तलं। सात पातालोंमेंसे तीसरा पाताल। देवीभागवतके अनुसार यही दूसरा पाताल है। कहते हैं, कि यह पाताल भूतलके अधोदेशमें अधिष्ठित है। सर्वदेवपूजित भगवान् भवानीपति हाटकेश्वर नामसे अपने पार्षदोंके साथ इस पातालमें रहते हैं। प्रजापति ब्रह्माकी सृष्टि विशेषरूपसे सम्वर्द्धनार्थ भूतनाथ भवानीके साथ मिथुनीभूत हो कर यहां विराज करते हैं। इनके वीर्यसे हाटकी नामकी नदी बहती है जिसे हुताशन वायुके साहाय्यसे ज्वलित हो कर पीते हैं। यह पान करनेके समय इनके मुंहसे जब फुत्कार निकलता है, तब उससे हाटक नामक सोना निकलता है। यह दैत्योंका बड़ा प्रिय है। दैत्य रमणियां उस सोनेसे अलङ्कार आदि बना कर बड़े यत्नसे उसे पहनती हैं। पाताल शब्द देखो।

वितलिन (सं० पु०) वितललोकको धारण करनेवाले, बलदेव।

वितस्त (सं० त्रि०) वि-तस्-क्त। १ उपक्षीण। "वैतस वितस्तं भवति।" (निरुक्त ३।२१) २ वितस्ति देखो।

वितस्तदत्त (सं० पु०) वितस्ता-दत्तः, संज्ञायां-ह्रस्व (पा ६।३।६३)। बौद्ध वणिक्भेद। (कथासरित्सा० २७।१५)

वितस्ता (सं० स्त्री०) पञ्जाबके अन्तर्गत नदीविशेष। इसे आज कल झेलम् कहते हैं। यह नदी वेदवर्णित पञ्चनदीमें एक है। ऋग्वेदके १०म मण्डलमें इसका परिचय है।

"इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकिये शृणुह्या सुषोमया ॥
(ऋक् १०।३५।५)

प्राचीनके निकट यह नदी विहत् वा वेहोत नामसे प्रचलित है। ग्रीक भौगोलिकोंने Hydaspes तथा टलेमीने Bidaspes शब्दमें इस नदीका उल्लेख किया है। वामनपुराणके १३वें अध्यायमें, मत्स्यपुराण ११३।२१, मार्कण्डेयपुराण ५७।१७, नृसिंहपुराण ६५।१६ तथा दिग्विजयप्रकाशमें इस पुण्यतोया सरिद्वतीकी उत्पत्ति और अववाहिका-भूमिका वर्णन है।

वर्त्तमान भौगोलिकगण काश्मीर उपत्यकाके उत्तर-पूर्व क्रमशः सीमान्तवर्त्ती पर्वतसे इस नदीकी उत्पत्ति बतलाते हैं। यह नदी पीछे दक्षिण-पश्चिमकी ओर आ पीरपञ्जालसे निकली हुई एक दूसरी शाखा नदीके साथ मिल गई है। इसके बाद धीरमन्थर गतिसे पार्वत्यभूमिको भेद कर तथा उपत्यकावक्ष विक्षिप्त ह्रदावली होती हुई यह नदी श्रीनगर राजधानीके समीप बहती है। ह्रदोंकी तीरभूमिमें नदीका सौन्दर्य अपूर्व है, उसे देखनेसे मनमें आनन्द उमड़ आता है।

इसके बाद काश्मीर राजधानीको छोड़ कर यह नदी निम्न उपत्यकाकी अपेक्षाकृत उच्चभूमिसे बह गई हैं। वलर ह्रद के निकट सिन्धुनद इसके कलेवरको बढ़ाता । पीछे वे दोनों सोते पीरपञ्जालके वारमूला गिरिसङ्कटके निकट द्रुतगतिमें बह गये हैं। यहां नदीका व्यास प्रायः ४२० फुट है। उत्पत्तिस्थानसे ले कर यहां तक नदीका विस्तार प्रायः १३० मील होगा। उनमें प्रायः ७० मील तक नावें आती जाती हैं।

मुजफराबाद नामक स्थानमें आ कर यह नदी कृष्णगङ्गाके साथ मिल गई है। इसके बाद काश्मीरराज्य तथा अङ्गरेजाधिकृत हजारा और रावलपिण्डी जिलेके बीचसे होती हुई पहाड़ी रास्तेसे बह गई है, इस कारण यहां नदीका दोनों किनारा अधिक विस्तृत न हो सका है। पर्वतके ऊपर कहीं कहीं नदीके जलप्रपातके भयानक स्रोतके कारण यहां नदीमें नावें ले जाना बिलकुल असम्भव हो गया है। हजारा जिलेके कोहला नगरमें इस नदीके ऊपर एक पुल बना है।

रावलपिण्डीके ४० मील पूरब दङ्गली नगरको पार कर यह नदी अपेक्षाकृत समतल भूमि पर आई है तथा झेलम् नगरके नजदीक यह समतल मैदानमें बह गई है। नदीके मूलसे यहां तक इसका विस्तार प्रायः २५० मील होगा। दङ्गलीसे यहां तक नावें ले जाने आनेमें उतनी असुविधा नहीं है। इस नदीमें कभी कभी भयानक बाढ़ आ कर निम्न भूमिको प्लावित कर देती है। इसी कारण कभी कभी नदीगर्भमें बालूका चर पड़ जानेसे छोटे छोटे द्वीप बन जाते हैं। नदीकी बाढ़से दोनों किनारोंकी जमीन बहुत उर्वरा हो गई है।

इस प्रकार जमीनको उर्वरा बना कर यह क्रमशः दक्षिणकी ओर गुजरात और शाहपुरके सीमान्त होती हुई पहले शाहपुर और पीछे झङ्ग जिलेमें घुस गई है। यहां नदीका व्यास पहलेसे कुछ बड़ा है तथा दो किनारे पर हो 'वडर' नामकी ऊँची जमीन है। तिम्मुनगरके निकट (अक्षा० ३१° ११´ ३० तथा देशा० ७८° १२´ पू०) चन्द्रभागा इसके कलेवरको बढ़ाती है। यहां तक नदीकी पूर्णगति प्रायः ४५० मील है। इस चन्द्रभागा और वितस्ताका मध्यवर्त्ती पूर्वीय भूभाग जेच् दोआव तथा वितस्ता और सिन्धुका पश्चिम भूभाग सिन्धुसागर दोआब कहलाता है।

इस नदीके किनारे श्रीनगर, झेलम, पिण्डदादन खाँ, मियाँनी, भेरा और शाहपुर नगर अवस्थित है। कनिंहमके मतसे जलालपुरके समीप माकिदनवीर अलेकसन्दरने इस नदीको पार किया था। उसीके ठीक दूसरे किनारे चिलियनवालाका प्रसिद्ध रणक्षेत्र है। पिण्डदादन खाँके निकट झेलम् और चन्द्रभागाके सङ्गम पर इस नदीके ऊपर एक पुल है। विस्तृत विवरण हजारा, रावलपिण्डी, झेलम, गुजरात, शाहपुर, झङ्ग और काश्मीर शब्दमें देखो।

राजनिघण्टुके मतसे काश्मीरदेश-प्रसिद्धा वितस्ता नाम्नीनदीके जलका गुण—स्वादिष्ट, त्रिदोषघ्न, लघु, तत्त्वज्ञानप्रद, त्रितापहारक, जाड्यनाशक और शान्तिकारक। वितस्ता-माहात्म्यमें इस पुण्यतोयानदीका विवरण दिया गया है। हिन्दूशास्त्रमें वितस्ता तीर्थरूपमें गिनी जाती है।

वितस्ताख्य (सं० क्ली०) महाभारतके अनुसार तक्षक

नागका निवासस्थान। "काश्मीरेष्वेव नागस्य भवनं तक्षकस्य च। वितस्ताख्यमिति ख्यातम्" (भारत वनपर्व)

वितस्ताद्रि (सं० पु०) राजतरंगिणीके अनुसार एक पर्वतका नाम। (राजतर० १।१०२)

वितस्तापुरी (सं० स्त्री०) १ नगरभेद। २ एक भिक्षु पण्डित, टीका और परमार्थसारसंक्षेप-विवृतिके प्रणेता।

वितस्ति (सं० पु० स्त्री०) तसु उपक्षेपे वि-तस्-ति (वौ तसेः। उण् ४।१८१)। १ उतना प्रमाण जितना हाथके अंगूठे और उंगलीको पूरा पूरा फैलानेसे होता है, बालिश्त, बित्ता। २ बारह अंगुलका परिमाण।

वितान (सं० पु० क्ली०) वि-तन् घञ्। १ क्रतु, यज्ञ। २ विस्तार, फैलाव। ३ उल्लोच, बड़ा चंदोआ या खेमा। ४ समूह, संघ, जमाव। ५ सुश्रुतके अनुसार एक प्रकारका बंधन जो सिर परके आघात या घाव आदि पर बांधा जाता है। ६ अवसर, अवकाश। ७ घृणा, नफरत। ८ अग्निहोत्र आदि कर्म। ९ एक प्रकारका छन्द। १० एक वृत्तका नाम। इसके प्रत्येक चरणमें एक सगण, एक भगण और दो गुरु होते हैं। (त्रि०) ११ मन्द, धीमा। १२ शून्य, खाली।

वितानक (सं० पु० क्ली०) वितान एव स्वार्थे कन्। १ चन्द्रातप, बड़ा चंदोआ या खेमा। २ समूह, जमावड़ा। ३ धन, सम्पत्ति। ४ धनिया।

वितानमूल (सं० क्ली०) उशीर, खस।

वितानमूलक (सं० क्ली०) वितानतुल्यं मूलं यस्य, बहुव्रीहौ कन्। उशीर, खस।

वितानवत् (सं० त्रि०) वितान अस्त्यर्थे-मतुप् मस्य व। वितानयुक्त, वितानविशिष्ट। (कुमारस० ७।१२)

वितामस (सं० त्रि०) १ जिसमें तमोगुण न हो। (पु०) २ प्रकाश, उजाला।

वितायितृ (सं० त्रि०) वि-ताय-तृच्। विस्तृति-कारक, फैलानेवाला।

वितार (सं० पु०) १ वृहत्संहिताके अनुसार एक प्रकारका केतु या पुच्छल तारा। २ ताराशून्य, तारारहित।

वितारक (सं० क्ली०) विधारा नामक जड़ी।

वितारिन् (सं० त्रि०) १ विस्तारकारी। २ उत्तीर्ण।

वितिमिर (सं० त्रि०) विगत तिमिर, तिमिरशून्य, अन्धकारशून्य।

वितिमिरा (सं० स्त्री०) ज्योत्स्नामयी।

वितिलक (सं० त्रि०) विगतं तिलकं यस्मात्। तिलक-शून्य, तिलकहीन।

वितिहोतर (हिं० पु०) अग्नि।

वितीपात (हिं० पु०) व्यतीपात देखो।

वितीपाती (हिं० पु०) वह जो बहुत अधिक उपद्रव करता हो, पाजी, शरारती।

वितीर्ण (सं० त्रि०) १ उत्तीर्ण देखो। (क्ली०) २ वितरण देखो। ३ व्यवधान।

वितीर्णतर (सं० त्रि०) अधिकतर दूरगत, बहुत दूर गया हुआ।

वितुङ्गभाग (सं० त्रि०) विगतस्तुङ्गभागो यस्य। तुङ्ग-भागहीन, तुङ्गभागरहित। ग्रहोंके एक तुङ्गभाग हैं, ग्रह-गण उसी तुङ्गभागसे च्युत होनेसे वितुङ्ग होते हैं। जैसे—मेषराशि रविका तुङ्गस्थान है, मेषराशि ३० अंशों में विभक्त है, समस्त मेषराशि रविके तुङ्ग होनेसे भी उसका अंशविशेष ही रविका तुङ्गस्थान है, इस अंशसे च्युत होने पर वितुङ्ग भाग अर्थात् तुङ्गहीन होते हैं।

वितुड (सं० क्ली०) नीला थोथा, तूतिया।

वितुद (सं० पु०) भूतयोनिविशेष। (तैत्ति०आर० १०।६६)

वितुन्न (सं० क्ली०) वि-तुद-क्त। १ शिरियारी या सुसन्ना नामक साग। २ शैवाल, सेवार।

वितुन्नक (सं० क्ली०) वितुन्नमिव इवार्थे कन्। १ धान्यक, धनिया। २ तुत्थक, तूतिया। ३ कैवर्त्त-मुस्तक, केवट मोथा। (पु०) ४ आमलकी वृक्ष।

वितुन्नका (सं० स्त्री०) भूम्यामलकी, भुइं आँवला।

वितुन्नभूता (सं० स्त्री०) भूम्यामलकी, भुइँ आँवला।

वितुन्ना (सं० स्त्री०) भूम्यामलकी, भुइं आँवला।

वितुन्निका (सं० स्त्री०) वितुन्ना स्वार्थे कन् टाप् अत-इत्वं। भूम्यामलकी, भुइं आंवला।

वितुल (सं० पु०) सौवीर राजपुत्रभेद। (भारत आदिपर्व)

वितुष (सं० त्रि०) विगतस्तुषो यस्मात्। तुषरहित, तुषहीन।

वितुष्ट (सं० त्रि०) असन्तुष्ट, जो सन्तुष्ट न हो।

वितृण (सं० त्रि०) विगतं तृणं यस्मात्। तृणहीन, जहां तृण या घास आदि न होती हो।

वितृप्तक (सं० त्रि०) तृप्तिहीन, जो तृप्त या सन्तुष्ट न हुआ हो।

वितृप्तता (सं० स्त्री) वितृप्तस्य भावः तल् टाप्। वितृप्त या असन्तुष्ट होनेका भाव या धर्म, तृप्तिहीनता।

वितृष् (सं० त्रि०) विगता तृट् यस्य। विगततृष्ण, तृष्णासे रहित, जिसे किसी प्रकारकी तृष्णा न रह गई हो।

वितृष (सं० त्रि०) विगता तृषा यस्य। वितृष् देखो।

वितृष्ण (सं० त्रि०) विगता तृष्णा यस्य। तृष्णासे रहित, जिसे किसी प्रकारकी तृष्णा न हो, निस्पृह।

वितृष्णता (सं० स्त्री०) वितृष्णस्य भावः तल्-टाप्। वितृष्णका भाव या धर्म, निस्पृहता।

वितृष्णा (सं० स्त्री०) विगता तृष्णा। विगततृष्णा, तृष्णाभाव, तृष्णाका न होना।

वितेश्वर (सं० पु०) एक ज्योतिर्विद्का नाम।

वितोय (सं० त्रि०) विगत तोयं जलं यस्मात्। तोयहीन, जलविहीन।

वितोला (सं० स्त्री०) काश्मीरकी एक नदीका नाम। (राजत० ८।१२२)

वित्त (सं० क्ली०) विद्-क्त, वित्तो भोगप्रत्यययोः। (पा ८।२।५८) इति साधुः। १ धन, सम्पत्ति।

(त्रि०) विद्-क्त (नुदविदेति। पा ८।२।५६) इति नत्वाभावः। २ विचारित, सोचा या विचारा हुआ। ३ विज्ञात, जाना या समझा हुआ। ४ लब्ध, मिला या पाया हुआ। ५ विख्यात, प्रसिद्ध, मशहूर।

वित्तक (सं० त्रि०) विद्-क्त, स्वार्थे कन्। १ ज्ञात, जाना या समझा हुआ। २ वित्त देखो।

वित्तकाम्या (सं० स्त्री०) धनाकांक्षिणी रमणी, वह स्त्री जिसे धन पानेकी इच्छा हो।

वित्तकोष (सं० क्ली०) रुपये पैसे आदि रखनेकी थैली (Money-bag)।

वित्तगोप्त (सं० त्रि०) १ धनरक्षक, धनकी रखवाली करनेवाला। २ कुवेरके भंडारीका नाम।

वित्तजानि (सं० त्रि०) लब्धभार्य, जिसने भार्यालाभ किया हो।

वित्तद (सं० त्रि०) वित्तं ददाति दा-क। धनदाता, धन देनेवाला।

वित्तदा (सं० स्त्री०) कार्त्तिकेयकी एक मातृकाका नाम।

वित्तध (सं० त्रि०) धनकर्त्ता, धनकारी। (शुक्लयजु० ३०।१५)

वित्तनाथ (सं० पु०) वित्तस्य धनस्य नाथः पतिः। कुवेरका एक नाम।

वित्तनिश्चय (सं० पु०) वित्तस्य निश्चयः। धन निश्चय, धनका निर्णय।

वित्तप (सं० त्रि०) वित्तं पाति रक्षति पा-क। १ वित्तपति, धनरक्षक। (पु०) २ कुवेरका एक नाम।

वित्तपति (सं० पु०) वित्तस्य धनस्य पतिः। कुवेरका एक नाम। (मनु ५।९६)

वित्तपपुरी (सं० स्त्री०) १ नगरभेद। (कथासरित्सा० ६८।४६) २ कुवेरपुरी।

वित्तपा (सं० स्त्री०) वित्ताधिष्ठात्री।

वित्तपाल (सं० पु०) वित्तं पालयति पाल-अच्। १ कुवेरका एक नाम। (रामायण ७।११।२५) (त्रि०) २ वित्तपालक, धनरक्षक।

वित्तपेटा (सं० स्त्री०) १ रुपये पैसे रखनेकी पेटी। २ रुपये पैसे रखनेकी थैली।

वित्तपेटी (सं० स्त्री०) वित्तपेटा देखो।

वित्तमय (सं० त्रि०) वित्त स्वरूपे मयट्। वित्तस्वरूप, धनस्वरूप।

वित्तमयी (सं० स्त्री०) वित्तमय देखो।

वित्तमात्रा (सं० स्त्री०) वित्ता मात्रा परिमाणं। धनका परिमाण।

वित्तर्द्धि (सं० स्त्री०) वित्तमेव ऋद्धिः। धनरूप ऋद्धि, धनसम्पद्। (मार्कण्डेयपु० ८४।३२)

वित्तवत् (सं० त्रि०) वित्तं विद्यतेऽस्य वित्त-मतुप् मस्य व। धनविशिष्ट, दौलतमन्द।

वित्तहीन (सं० त्रि०) धनहीन, दरिद्र, गरीब।

वित्ताढ्य (सं० त्रि०) वित्तेन आढ्यः। वित्त द्वारा आढ्य। धनाढ्य, धनवान्।

वित्तायन (सं० त्रि०) वित्तार्थी।

वित्तायनी (सं० स्त्री०) धन चाहनेवाली स्त्री।

वित्तार—मन्द्राज प्रेसिडेन्सीके तंजोर जिलेमें प्रवाहित एक नदी। यह कावेरीकी वेन्नरे शाखासे निकली है।

यह अक्षा० १०° ४६′ २०″ उ० तथा देशा० ७९° ७′ पू०के मध्य पड़ती है। तंजोर नगरसे तीन कोस उत्तर-पश्चिम हो कर यह समुद्रमें गिरी है। इसके मुहाने पर नागर नामक विख्यात बन्दर अवस्थित है। वह अक्षा० १०° ४६′ ४५′ उ० तथा देशा० ७९° ५४′ ४५″ पू० तक विस्तृत है।

वित्ति (सं० स्त्री०) विद-क्तिन्। १ विचार। २ लाभ, प्राप्ति। ३ सम्भावना। ४ ज्ञान।

वित्तेश (सं० पु०) वित्तानामीशः। कुवेर।

वित्तेश्वर (सं० पु०) वित्तस्य ईश्वरः। कुवेर, धनपति।

वित्त्व (सं० क्ली०) तत्त्वज्ञका भाव या धर्म।

वित्यज (सं० त्रि०) विशेष रूपसे त्यक्त।

वित्रप (सं० पु०) विगता त्रपा लज्जा यस्य (गोस्त्रियोरुपसर्ज्जस्येति गौणात्वाद्ध्रस्वत्वम्। १।२।४८)। १ निर्लज्ज, बेहया। २ व्यक्तिभेद। (राजतर० ५।२६)

वित्रगन्ता (वित्रघण्टा)—मन्द्राज प्रेसिडेन्सीके नेल्लूर जिलेके कवाली तालुकके अन्तर्गत एक गण्डग्राम। यहां वेङ्कटेश्वर स्वामीका एक प्राचीन मन्दिर है। यहां प्रति वर्ष महासमारोहसे देवोद्देशसे एक मेला लगता है। जुलाहोंके यत्नसे यहां कपड़े बिननेकी बहुत कुछ उन्नति हुई है।

वित्रस्त (सं० त्रि०) वि-त्रस्-क्त। अत्यन्त भीत।

वित्रास (सं० पु०) वि-त्रस-घञ्। भीति, डर, भय।

वित्व (सं० क्ली०) वेत्ता होनेका भाव।

वित्वक्षण (सं० त्रि०) तनूकर्त्ता, क्षयकारी।

वित्सन (सं० पु०) विद्लाभे क्विप् तां सनोति सन्दाने अच्। वृषभ, बैल।

विथभूयपत्तन—युक्तप्रदेशके इलाहाबाद जिलान्तर्गत एक प्राचीन नगर। आज कल यह विठा या विथा नामसे विख्यात है। यहां और इसके पासके दोरिया गाँवमें हिन्दू और बौद्ध-कीर्त्तिके निदर्शनस्वरूप बहुतसे भग्न मन्दिर आदि देखे जाते हैं। उनमेंसे गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्तकी प्रतिष्ठित एक प्रतिमूर्त्ति उल्लेखनीय है।

विथर—युक्तप्रदेशके उन्नाव जिलान्तर्गत एक नगर। यह अक्षा० २६° २५′ २०″ उ० तथ: देशा० ८०° ३६′ २५″ पू० उन्नावसे रायबरेली जानेके रास्तेमें अवस्थित है। पहले राते लोग समग्र हारहा परगनेके अधीश्वर थे। उन लोगोंने इस विथर नगरमें ही अपना राजपाट स्थापन किया था। यहां दश प्राचीन शिवमन्दिर हैं।

विथान्दा—पश्चिम-भारतका एक प्रसिद्ध नगर। डा० कैनि इसे इटा जिलान्तर्गत विलसय या विलसन्द ही अनुमान करते हैं। दूसरे प्रत्नतत्त्वविद्के मतसे यही सिन्धुतीरवर्त्ती ओहिन्द नगरी है। फिरिस्तामें इस नगरीकी समृद्धिकी बात लिखी है। दूसरे दूसरे मुसलमान ऐतिहासिकोंने इसे तिलसन्द तथा चीनपरिव्राजक यूएनचुवंग पि-लो षण-प कह कर उल्लेख किया है। यहां बौद्धमठकी ध्वस्तकीर्त्तिके बहुतसे निदर्शन हैं। सम्राट् कुमारगुप्तकी लिपिके साथ कितने स्तम्भ भी यहां मौजूद हैं।

विथुर (सं० पु०) व्यथ-उरच् (व्यथेः सम्प्रसारणं किच्च। उण् १।४०) व्यथभयचलनयोः अस्मादुरच् किद्भवति सम्प्रसारणञ्च धातोः। १ चौर, चोर। २ राक्षस। ३ क्षय, नाश। (त्रि०) ४ अल्प, थोड़ा, कम। ५ व्यथित, दुःखित।

विथुरा (सं० स्त्री०) भर्त्तृ-वियुक्ता नारी विरहिणी, वह स्त्री जिसका स्वामीसे वियोग हुआ हो।

विथुन्नि—पश्चिमी बङ्गालमें रहनेवाली एक पहाड़ी जाति।

विथ्या (सं० स्त्री०) विथ-यत् स्त्रियां टाप। गोजिह्वा; गोभी।

विद् (सं० पु०) वेत्ति-विद्-क्विप्। १ पण्डित, विद्वान्। २ बुधग्रह।

विद (सं० पु०) विद् क। १ पण्डित, विद्वान्। ३ तिलकवृक्ष, तिलका पेड़।

विदंश (सं० पु०) विदश्यतेऽनेन वि-दन्श करणे घञ्। अपदंश।

विदक्षिण (सं० त्रि०) दक्षिणाहीन, दक्षिणारहित।

विदग्ध (सं० त्रि०) वि-दह-क्त। १ नागर, रसिक, रसज्ञ। २ निपुण, चतुर, चालाक। ३ जला हुआ। (पु०) ४ पण्डित, पटु। ५ रोहिष तृण, रूसा नामक घास।

विदग्धता (सं० स्त्री०) विदग्धस्य भावः तल् टाप्। विदग्धका भाव या धर्म, पाण्डित्य, विद्वत्ता।

विदग्धमाधव—श्रीरूपगोस्वामिकृत सप्ताङ्क नाटक। यह

नाटक १५४६ ई०में लिखा गया। इसमें राधाकृष्णकी लीला और प्रेमभाव वर्णित है।

विदग्धवैद्य—योगशतक नामक वैद्यकग्रन्थके रचयिता।

विदग्धा (सं० स्त्री०) विदग्ध-टाप्। वह परकीया नायिका जो होशियारीके साथ परपुरुषको अपनी ओर अनुरक्त करे। यह दो प्रकारकी मानी गई है—वाक्-विदग्धा और क्रिया-विदग्धा। जो स्त्री अपनी बातचीतके कौशलसे पर पुरुष पर अपनी कामवासना प्रकट करती है, वह वाक् विदग्धा और जो किसी प्रकारके क्रिया कलापसे अपना भाव प्रकट करती है, वह क्रिया-विदग्धा कहलाती है।

विदग्धाजीर्ण (सं० क्ली०) अजीर्णरोगभेद। पित्तसे यह रोग उत्पन्न होता है। इसमें भ्रम, तृष्णा, मूर्च्छा, पित्तके कारण पेटके भीतर नाना प्रकारकी वेदना, घर्म, दाह आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

पथ्य—लघुपाक द्रव्य, बहुत पुराना बारीक चावल, लावेका मांड़, मूंगका जूस, हरिण, खरहा और लावा पक्षीके मांसका जूस, छोटी मछली, शालिञ्च शाक, वेताग्र, वेतोशाक, छोटी मूली, लहसुन, सूर्य कोहड़ा, कच्चा केला, सहिजनका फल, पटोल, बतिया बैगन, जटामांसी, बला, ककरोल, करेला, कटाई, अमादा, गंधलिया, मेषशृङ्गी, नोनो साग, सुसनी साग, आँवला, नारंगी नीबू, अनार, जौ, पित्तपापड़ा, अम्लवेतस, बिजौरा नीबू, मधु, मक्खन, घी, मट्ठा, काँजी, कटुतैल, हींग, लवण, अदरक, यमानी, मिर्च, मेथी, धनियाँ, जीरा, सद्योजात दधि, पान, गरम जल, कड़वा और तीता।

अपथ्य—मलमूत्रादिका वेगधारण, भोजनका समय बीत जाने पर भोजन करना, बहुत भूख लगने पर थोड़ा खाना, खाये हुए पदार्थका पाक नहीं होने पर भी फिरसे भोजन कर लेना, रातको जागना, शोणितस्राव, शमीधान्य, बड़ी मछली, मांस, पोईका साग, अधिक जल पीना, पिष्टक भोजन, सभी प्रकारका आलू, हालकी ब्याई गायका दूध, छेना, नष्ट दूध, बहुत गाढ़ा दूध, गुड़, शक्कर, ताड़की आंठीका गूदा, स्नेह द्रव्यका अत्यन्त निषेवन, अनेक प्रकारका दूषित जलपान करना, संयोगविरुद्ध (जैसे क्षीर मछली आदि), देश और कालविरुद्ध (उष्णमें उष्ण, शीतमें शीत) अन्नपानादि, आध्मानकारक और गुरुपाक द्रव्य तथा विरेचक पदार्थ खाना मना है। किन्तु मृदु विरेचक अर्थात् हरीतकी आदि इसमें उपकारी है।

इसकी चिकित्सा अग्निमान्द्य शब्दमें देखो।

विदग्धाम्लदृष्टि (सं० स्त्री०) चक्षुरोगविशेष, आँखोंका एक प्रकारका रोग। यह बहुत अधिक खटाई खानेसे होता है और इसमें आँखें पीली पड़ जाती हैं।

विदण्ड (सं० पु०) राजपुत्रभेद। (भारत आदिपर्व)

विदथ (सं० पु०) वेत्तीति विद (रुविदिभ्यां ङित्। उण् ३।११६) इति अथ, अच्-ङित्। १ योगी। २ यज्ञ। (निघण्टु ३।१७) ३ वैदिक कालके एक राजाका नाम। (ऋक् ५।३३।९) ४ कृती। (त्रि०) ५ वेदितव्य, जो जाननेके योग्य हो। (ऋक् ३।३७।७)

विदथिन् (सं० पु०) ऋषिभेद। (ऋक् ५।२९।११)

विदथ्य (सं० त्रि०) यज्ञार्ह, यज्ञके योग्य।

(ऋक् १।९१।२०)

विददश्व (सं० पु०) विप्रभेद। वैददश्वि देखो।

विदद्वसु (सं० त्रि०) ज्ञापित धनयुक्त। (ऋक् १।६।६)

विदभृत् (सं० पु०) ऋषिभेद। वेदभृत देखो।

विदर (सं० क्ली०) विदीर्यतीति वि-दॄ-अच्। १ विश्वसारक, कंकारी। (त्रि०) २ विदीर्ण। (पु०) वि-दॄ (ऋदोरप्। पा ३।३।५७) इति अप्। ३ विदारण करना, फाड़ना। ४ अतिभय, बड़ा डर।

विदर (विदार)—दाक्षिणात्यके निजामाधिकृत हैदराबाद राज्यका एक नगर। यह अक्षा० १७°५३´ उ० तथा देशा० ७७° ३४´ पू०के मध्य हैदराबाद राजधानीसे ७५ मील उत्तरपश्चिम मञ्जेरा नदीके किनारे अवस्थित है। बहुतोंका विश्वास है, कि प्राचीन विदर्भ देशकी शब्दश्रुति आज भी विदर शब्दमें प्रतिध्वनित होती है। प्रत्नतत्त्वविदोंकी धारणा है, कि सारा बेरारराज्य एक समय विदर्भराज्य नामसे उल्लिखित होता था। किन्तु उस समयकी विदर्भ राजधानी पीछे लौकिक विदर (विदर्भ) प्रयोगमें 'विदर' ग्राम प्राप्त हो कर थी वा नहीं, कह नहीं सकते।

एक समय बाह्मणी राजाओंने इस नगरमें राजपाट स्थापन किया था। १९वीं सदीके मध्य भाग तक इस

राजधानीमें रह कर उन्होंने शासनदण्ड परिचालित किया। इस नगरके चारों ओर विस्तृत प्राचीर है। अभी वह सम्पूर्ण भग्नावस्थामें पड़ा है। प्राचीरके ऊपर एक स्थानके वप्रदेश पर २१ फुट लम्बी एक कमान रखी हुई है। इसके सिवा नगरमें १०० फुट ऊंचा एक स्तम्भ (minaret) तथा दक्षिण-पश्चिम भागमें कुछ समाधि-मन्दिर आज भी दृष्टिगोचर होते हैं।

धातव पात्रादि बनानेके लिये यह स्थान बहुत प्रसिद्ध है। यहांके कारीगर ताँबे, सीसे, टीन और रांगेको एक साथ मिला कर एक अच्छी धातु बनाते हैं तथा उसीसे नाना प्रकारके चित्रित पात्र तैयार करते हैं। कभी कभी उन सब पात्रोंके भीतर वे सुनहली वा रुपहली कलई कर देते हैं। अभी इस व्यवसायकी बहुत अवनति हो गई है। बेदार देखो।

विदरण (सं० क्ली०) वि-दृ-ल्युट्। १ विदार, फाड़ना। २ मध्य और अन्त शब्द पहले रहनेसे सूर्य वा चन्द्रग्रहणके मोक्षके दोनों नाम समझे जाते हैं अर्थात् मध्यविदरण और अन्तविदरण कहनेसे सूर्य और चन्द्रग्रहणमोक्षके दश नामोंमेंसे ये दो नाम भी पड़ते हैं। ग्रहणके मोक्षकालमें पहले मध्यस्थल प्रकाशित होने पर उसे 'मध्यविदरण' मोक्ष कहते हैं। यह सुचारु वृष्टिप्रद नहीं होने पर भी सुभिक्षप्रद है, किन्तु प्राणियोंका मानसिक कोपकारक है। फिर मुक्तिके समय गृहीतमण्डलकी अन्तिम सीमामें निर्मलता और मध्यस्थलमें अन्धकारकी अधिकता रहने पर उसे 'अन्तविदरण' मोक्ष कहेंगे। इस प्रकार मुक्ति होने पर मध्यदेशका विनाश और शारदीय शस्यका क्षय होता है। (वृहत्संहिता ५।८१, ८६,६०) ३ विद्रधि-रोग।

विदर्भ (सं० पु० स्त्री०) विशिष्टा दर्भाः कुशा यत्र, विगता दर्भाः कुशा यत इति वा। १ कुण्डिन नगर, आधुनिक बड़ा नागपुरका प्राचीन नाम।

"विगता दर्भाः यतः" इसकी व्युत्पत्तिमूलक किम्बदन्ती यह है, कि कुशके आघातसे अपने पुत्रकी मृत्यु हो जानेसे एक मुनिने अभिशाप दिया जिससे इस देशमें अब कुश नहीं उत्पन्न होता है।

कोई कोई कहते हैं, कि विदर्भ देशका नाम बेरार है। विदर नगर बेरारके अन्तर्गत है, इस कारण समस्त देशका 'विदर्भ' नाम पड़ा है।

२ स्वनामख्यात नृपविशेष। ये ज्यामघराजाके पुत्र थे। इनकी माताका नाम था शैब्या। कहते हैं, कि इसी राजाके नाम पर विदर्भ देशका नाम पड़ा था। कुश, क्रथ, लोमपाद आदि इनके पुत्र थे।

(भागवत ६।२४।१)

३ मुनिविशेष। (हरिवंश १६६।८४) ४ दन्तमूलगत रोगविशेष, दांतोंमें चोट लगनेके कारण मसूड़ा फूटना या दांतोंका हिलना।

विदर्भजा (सं० स्त्री०) विदर्भे जायते इति विदर्भ-जन-ड टाप्। १ अगस्त्य ऋषिकी पत्नीका एक नाम। पर्याय—कौशीतकी, लोपामुद्रा। (त्रिकाण्डशेष) २ दमयन्तीका एक नाम जो विदर्भके राजा भीमकी कन्या थी। ३ रुक्मिणीका एक नाम।

विदर्भराज (सं० पु०) विदर्भाणां राजा (राजाहःसखिभ्यष्टच्। पा ५।४।६१) इति समासान्तष्टच्। १ दमयन्तीके पिता राजा भीम जो विदर्भके राजा थे। २ रुक्मिणीके पिता भीष्मक। ३ चम्पूरामायणके प्रणेता।

विदर्भसुभ्रू (सं० स्त्री०) विदर्भस्य सुभ्रू रमणी। दमयन्ती।

विदर्भाधिपति (सं० पु०) विदर्भाणामधिपतिः। कुण्डिनपति, रुक्मिणीके पिता भीष्मक।

विदर्भि (सं० पु०) एक प्राचीन ऋषिका नाम।

विदर्भीकौण्डिन्य (सं० पु०) एक वैदिक आचार्यका नाम। (शतपथब्रा० १४।५।५।२२)

विदर्व्य (सं० पु०) फणाहीन सर्प, बिना फनवाला साँप।

(शाङ्खायनगृ० ४।१८)

विदर्शिन् (सं० त्रि०) सर्ववादीसम्मत।

विदल (सं० पु०) विघट्टितानि दलानि यस्य। १ रक्तकाञ्चन, लाल रंगका सोना। २ स्वर्णादिका अवयवविशेष। ३ पिष्टक, पीठी। ४ दाड़िम्बबीज, अनारका दाना। ५ चना। ६ वंशादिकृत पात्रविशेष, बाँसका बना हुआ दौरा या और कोई पात्र। (त्रि०) ७ विकसित, खिला हुआ। ८ दलहीन, बिना दलका।

विदलन (सं० क्ली०) १ मलने दलने या दबाने आदिकी क्रिया। २ टुकड़े टुकड़े या इधर उधर करना, फाड़ना।

विदला (सं० स्त्री०) १ त्रिवृत्, निसोथ। २ पात्रशून्या।

विदलान्न (सं० क्ली०) १ पक्वदालि, पकाई हुई दाल। २ वह अन्न जिसमें दो दल हों। जैसे—चना, उड़द, मूंग, अरहर, मसूर आदि।

विदलित (सं० त्रि०) १ मर्द्दित, जिसका अच्छी तरह दलन किया गया हो। २ रौंदा हुआ, मला हुआ। ३ विकसित। ४ विदारित, फाड़ा हुआ।

विदलीकृत (सं० त्रि०) चूर्णित, टुकड़े टुकड़े किया हुआ।

विदश (सं० त्रि०) विगता दशा यस्य (गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य इति गौणत्वाद्ध्रस्वत्वम्। पा १।२।४८) दशाविहीन।

विदा (सं० स्त्री०) विद ज्ञाने (षिद्भिदादिभ्योऽङ्। पा ३।३।१०४) इत्यङ् टाप्। ज्ञान, बुद्धि।

विदा (हिं० स्त्री०) प्रस्थान, रवाना होना। २ कहींसे चलनेकी आज्ञा या अनुमति।

विदाई (हिं० स्त्री०) १ विदा होनेकी क्रिया या भाव, रुखसती। २ विदा होनेकी आज्ञा या अनुमति। ३ वह धन आदि जो विदा होनेके समय किसीको दिया जाय।

विदादु—भविष्यपुराण-वर्णित शाकद्वीपिब्राह्मणोंका वेदग्रन्थ। आजकल यह वेन्दिदादु नामसे प्रसिद्ध है। किसी किसी ग्रन्थमें "विदुदु" प्रामादिक पाठ भी देखा जाता है। (भविष्यपु० १४ अ०)

विदान (सं० क्ली०) विभाग कर देना। (शतपथब्रा० १४।८।७।१)

विदाय (सं० पु०) विगतो दायः साक्षात् करणादिरूपमृणं येन। १ विसर्ज्जन। २ दान। ३ गमनानुमति, जानेकी अनुमति, विदा। ४ प्रस्थान।

विदायिन् (सं० त्रि०) विदातुं शीलं यस्य वि-दा-णिनि। १ दानकर्त्ता, दान करनेवाला। २ नियामक, जो ठीक तरहसे चलाता या रखता हो। (स्त्री०) ३ विदाई देखो।

विदाय्य (सं० त्रि०) वेत्ता, जाननेवाला।

विदार (सं० पु०) वि-दृ-घञ्। १ जलोच्छ्वास। २ विदारण। ३ युद्ध, समर।

विदारक (सं० पु०) विदृणाति जलयानादीति वि-दृ-ण्वुल्। १ वह वृक्ष या पर्वत आदि जो जलके बीचमें हो। २ नदियोंके तलमें बनाया हुआ गड्ढा जिसमें नदीके सूखने पर भी पानी बचा रहता है। (क्ली०) ३ वज्रक्षार, नौसादर। (त्रि०) ४ विदारक, फाड़ डालनेवाला।

विदारण (सं० क्ली०) वि-दृ-णिच् भावे ल्युट्। १ बीचमें अलग करके दो या अधिक टुकड़े करना। २ मार डालना, हत्या करना। ३ कनेर। ४ खपरिया। ५ नौसादर। (पु०) विदार्यते शत्रवोऽस्मिन्निति वि-दृ-णिच् ल्युट्। ६ युद्ध, समर। ७ जैनोंके अनुसार दूसरोंके पापों या दोषोंकी घोषणा करना। (त्रि०) विदारयतीति वि-दृ-णिच्-ल्यु। ८ विदारक, फाड़ डालनेवाला।

विदारि (सं० स्त्री०) विदारिका देखो।

विदारिका (सं० स्त्री०) वि-दृ-णिच्-ण्वुल्-टापि अत इत्वं। १ शालपर्णी। २ गंभारी वृक्ष। ३ विदारी रोग। ४ कड़वी तूंबी। (स्त्री०) ५ बृहत्संहिताके अनुसार एक प्रकारकी डाकिनी जो घरके बाहर अग्निकोणमें रहती है। (बृहत्सं० ५३।८३)

विदारिगन्धा (सं० स्त्री०) क्षुपविशेष, शालपर्णी। अंग्रेजीमें इसे Hedysarum gangeticum कहते हैं।

विदारिन् (सं० त्रि०) वि-दृ-णिनि। विदारणकर्त्ता, फाड़नेवाला।

विदारिणी (सं० स्त्री०) विदारिन् ङीष्। १ काश्मरी, गंभारी। २ विदारणकर्त्री।

विदारी (सं० स्त्री०) विदारयतीति वि-दृ-णिच्-अच्, गौरादित्वात् ङीष्। १ शालपर्णी। २ भूमिकुष्माण्ड, भुईं कुम्हड़ा। पर्याय—क्षीरशुक्ला, इक्षुगन्धा, क्रोष्ट्री, विदारिका, स्वादुगन्धा, सिता, शुक्ला, शृगालिका, वृष्यकन्दा, विड़ाली, वृष्यवल्लिका, भूकुष्माण्डी, स्वादुलता, गजेष्टा, वारिवल्लभा और गन्धफला। गुण—मधुर, शीतल, गुरु, स्निग्ध, अम्लपित्तनाशक, कफकारक, पुष्टि, बल और वीर्यवर्द्धक। (राजनि०)

३ भावप्रकाशके अनुसार अठारह प्रकारके कंठरोगोंमेंसे एक प्रकारका कंठरोग। इसमें पित्तके बिगड़नेसे गले और मुंह पर लाली आ जाती है, जलन होती है और बदबूदार मांसके टुकड़े कट कट कर गिरने लगते हैं। कहते हैं, कि जिस करवट रोगी अधिक सोता है, उसी ओर यह रोग उत्पन्न होता है। गलरोग शब्द देखो।

४ एक प्रकारका क्षुद्ररोग। इस रोगमें कक्षमें और वंक्षणसन्धिमें भूमिकुष्माण्डकी आकृति जैसी काली फुंसियां निकलती हैं। उसे विदारी वा विदारिका

कहते हैं। यह रोग त्रिदोषसे उत्पन्न होता है तथा इसमें त्रिदोषके सभी लक्षण दिखाई देते हैं।

इसकी चिकित्सा—इस रोगमें पहले जोंक द्वारा रक्त मोक्षण करना उचित है। इसके पक जाने पर शस्त्र प्रयोग करके व्रणरोगकी तरह चिकित्सा करनी चाहिये। (भावप्र० क्षुद्ररोगाधि०)

प्रवाद है, कि इसके एकके निकलनेसे लगातार ७ फुंसियां निकल आती हैं।

५ कर्णरोगभेद। (वाभट उ० १७ अ०) ६ प्रमेह रोगकी एक पीड़का या फुंसी। (सुश्रुत नि० ६ अ०) ७ सुवर्च्चला। ८ वाराहीकन्द। ९ क्षीरककोली। १० वाभटोक्त गणविशेष। एरण्डमूल, मेषशृङ्गी, श्वेतपुनर्नवा, देवदारु, मुगानी, माषाणी, केवाच, जीवक, शालपान, पिठवन, वृहती, कण्टकारी, गोक्षुर, अनन्तमूल और हंसपदी इन्हें विदार्य्यादिगण कहते हैं। गुण—हृदयका हितजनक, पुष्टिकारक, वातपित्तनाशक तथा शोष, गुल्म, गात्रवेदना, ऊद्र्ध्वश्वास और कासप्रशमक। (वाग्भट सू० स्था० १५)

विदारीकन्द (सं० पु०) विदारी, भुईं कुम्हड़ा।

विदारीगन्धा (सं० स्त्री०) विदार्या भूमिकुष्माण्डस्येव गन्धो यस्याः। १ शालपर्णी। २ सुश्रुतके अनुसार शालपर्णी, भुईं कुम्हड़ा, गोखरू, बिजबन्द, गोपवल्ली, पिठवन, शतमूली, अनन्तमूल, जीवन्ती, मुगवन, वृहती, कंटकारी, पुनर्नवा, एरण्डमूल आदि ओषधियोंका एक गण। इस गणकी सब ओषधियां वायु तथा पित्तकी नाशक और शोथ, गुल्म, ऊद्र्ध्वश्वास तथा खांसी आदि रोगोंमें हितकर मानी जाती है।

विदारीगन्धिका (सं० स्त्री०) विदारीगन्धा।

विदारीद्वय (सं० पु०) कुष्माण्ड और भूमिकुष्माण्ड, कुम्हड़ा और भुईं कुम्हड़ा। (वैद्यकनि०)

विदारु (सं० पु०) ककचपाद, कृकलास, गिरगिट।

विदासिन् (सं० त्रि०) दस्यु। उपक्षये वि-दस-णिनि। उपक्षययुक्त।

विदाह (सं० पु०) वि-दह-घञ्। १ पित्तके प्रकोपसे होनेवाली जलन। २ हाथ पैरमें किसी कारणसे होनेवाली जलन।

विदाहक (सं० त्रि०) विदाह-स्वार्थे कन्। १ जो विदाह उत्पन्न करता हो। २ विदाह देखो।

विदाहवत् (सं० त्रि०) विदाहो विद्यतेऽस्य मतुप् मस्य व। विदाहयुक्त, जिसमें ज्वाला वा जलन हो।

विदाहिन् (सं० क्ली०) विदहतीति वि-दह-णिनि। १ दाहजनक द्रव्य, वह पदार्थ जिससे जलन पैदा हो। (त्रि०) २ दाहजनक।

विदिक्चङ्ग (सं० पु०) हरिद्राङ्ग पक्षी।

विदित (सं० त्रि०) विद्-क्त। १ अवगत, ज्ञात, जाना हुआ। २ अर्थित। ३ उपगम। विदितं ज्ञानमस्यास्तीति अर्श आदित्वाच्। (पु०) ४ कवि। ५ ज्ञानाश्रय।

विदिथ (सं० पु०) १ पण्डित, विद्वान्। २ योगी।

विदिश् (सं० स्त्री०) दिग्भ्यां विगता। दो दिशाओंके बीचका कोना। जैसे—अग्नि या ईशान आदि। पर्याय—अपदिश्, प्रदिश्, कोण।

विदिशा (सं० स्त्री०) १ पुराणानुसार पारिपात्र पर्वतपादसे निकली हुई एक नदीका नाम। (मार्क०पु० ५७।२०) २ वर्त्तमान भिलसा नगरका प्राचीन नाम। भिलसा देखो।

विदीगय (सं० पु०) पक्षीविशेष, सफेद बगला। (तैत्ति० स० ५।६।२२।१)

विदीधयु (सं० त्रि०) १ विलम्ब, देर। २ दीप्तिशून्य, आभाहीन।

विदीधिति (सं० त्रि०) विगता दीधितयः किरणानि यस्य। निर्मयूख, किरणहीन।

विदीपक (सं० पु०) प्रदीपक, दीआ।

विदीर्ण (सं० त्रि०) वि दॄ-क्त। १ बीचसे फाड़ा या विदारण किया हुआ। २ भग्न, टूटा हुआ। ३ हत, मार डाला हुआ।

विदु (सं० पु०) वेत्ति संज्ञामनेनेति विद-बाहुलकात् कु। १ हाथीके मस्तकके बीचका भाग। २ घोड़े के कानके नीचेका भाग।

विदुत्तम (सं० पु०) विदां ज्ञानिनां उत्तमः। १ सर्वज्ञ, वह जो सब बातें जानता हो। २ विष्णुका एक नाम।

विदुर (सं० त्रि०) वेदितुं शीलमस्य विद्-कुरच् (विदि-

भिदिच्छिदेः कुरच्। पा ३।२।१६२) १ वेत्ता, जाननेवाला। २ नागर, चालाक। ३ षड़यन्त्रकारी। ४ धीर, पण्डित, ज्ञानी। (पु०) ५ स्वनामख्यात कौरवमन्त्री, धर्मके अवतारविशेष। धर्मने माण्डव्य ऋषिके बाल्यकृत सामान्य अपराध पर उन्हें कठोर दण्ड दिया। इस पर माण्डव्यने धर्मको शाप दिया कि, 'तुम शूद्रयोनिमें जन्म लोगे।' इधर जब कुरुवंशीय विचित्रवीर्याकी पत्नी काशीराजकन्या अम्बिकाको जब उनकी सास सत्यवतीने दूसरी बार कृष्ण-द्वैपायन द्वारा पुत्रोत्पादन करने कहा; तब उन्हें यह बात पसन्द न आई, क्योंकि वे महर्षिकी उस कृष्णवर्ण देह, पिङ्गलवर्ण जटा, विशाल श्मश्रु और तेजपुञ्ज सदृश प्रदीप्त लोचनोंसे भय खाती थी। इसलिये उन्होंने एक सुन्दरी दासीको अपने वेशभूषादि द्वारा भूषित कर ऋषिके समीप भेज दिया। इस दासीके गर्भसे महर्षि कृष्ण-द्वैपायनके औरससे धर्म ही महात्मा विदुर रूपमें उत्पन्न हुए। वे राजनीति, धर्म-नीति और अर्थनीति विषयोंमें परमकुशल, क्रोधलोभविवर्जित, शमपरायण तथा अद्वितीय परिणामदर्शी थे। इस परिणामदर्शिताके गुणसे इन्होंने पाण्डवोंको भारीसे भारी विपदसे बचाया था। महामति भीष्मने महीपति देवककी शूद्राणी गर्भसम्भूता रूपयौवनसम्पन्ना एक कन्याके साथ उसका विवाह करा दिया। विदुरने उस पारशवी कन्यासे अपने जैसे गुणवान् और विनयसम्पन्न कितने पुत्र उत्पादन किये।

जब दुष्ट दुर्योधनकी कुमन्त्रणासे धृतराष्ट्रने यथासर्वस्व हड़पनेकी इच्छासे युधिष्ठिरादिका जतुगृह दाह द्वारा विनाश करनेका सङ्कल्प किया और इसी उद्देशसे उन्हें छलनापूर्वक वारणावत नगरमें भेजा, तब पाण्डवोंने केवल महाप्राज्ञ विदुरके परामर्श तथा कार्यकुशलतासे ही उस विपदसे मुक्तिलाभ किया था। इस समय विदुरने युधिष्ठिरको सलाह दी थी कि, 'जहां रहोगे उसके निकटवर्त्ती चारों ओरका पथघाट इस प्रकार ठीक कर लेना जिससे अंधेरी रातको भी संयोगवशतः आने जानेमें किसी प्रकारका विघ्न न हो और यह भी याद रखना कि यदि रातको दिग्भ्रम हो जाय, तो नक्षत्रादि द्वारा भी दिशाका निरूपण हो सकता है।' इस तरह अनेक प्रकारके सत्परामर्श देनेके बाद उन्होंने अपने एक विश्वस्त खनकको वारणावत नगरमें भेज दिया। खनकने थोड़े ही समयमें पाण्डवोंके रहनेके लिये कल्पित जतुगृहके नीचेसे शङ्खकी गृहकी तरह दोनों ओर निर्गमन पथ युक्त एक विवर खोद डाला। जिस दिन जतुगृहमें आग लगाई गई थी; उस दिन माताके साथ पाण्डवगण विदुरके पूर्व परामर्शानुसार उसी सुरङ्गसे बाहर निकल गये थे।

इस घटनाके कुछ समय बाद पाण्डवगण द्रौपदीको जीत कर अपने घर लौटे और इन्द्रप्रस्थनगरोमें उन्होंने राजधानी बसाई। यहां कुछ समय बाद उन लोगोंने राजसूययज्ञ किया। इस यज्ञमें उन्हें बड़ी प्रतिष्ठा मिली। दुष्ट महाभिमानी दुर्योधन पाण्डवोंको प्रतिष्ठा देख जलने लगा और फिर उनके पीछे पड़ा। इस बार उसने पाण्डवोंको राज्यभ्रष्ट और विनष्ट करनेकी इच्छासे शकुनिको बुलाया और उसके बहकानेसे द्युतक्रोड़ामें उन्हें पराहत कर निर्यातन करना ही श्रेय समझा। तदनुसार धृतराष्ट्रको इसकी खबर दी गई। धृतराष्ट्रने पुत्रके अनुरोधसे पहले प्राज्ञप्रवर मन्त्री विदुरसे इस विषयमें सम्मति मांगी थी। राजनोति-कुशल दूरदर्शी विदुरने इस कार्यमें भावी महान् अनिष्टकी सम्भावना दिखलाते हुए जुआ खेलनेसे मना किया था। किन्तु स्वार्थसिद्धिके सामने उनकी सलाह क्या काम देती? यह मन्त्री विदुर जो कुछ कहते, उसे धृतराष्ट्र अपने विरुद्ध समझता था। न्यायपरायणताके वशवर्त्ती हो विदुर कभी भी पाण्डवोंके विरुद्ध खड़े नहीं होते थे, यही इसका एकमात्र कारण था। अतएव धृतराष्ट्रने विदुरकी सलाह न सुन कर उनकी इच्छा नहीं रहते हुए भी द्युतक्रीड़ाके लिये युधिष्ठिरको लाने इन्हें इन्द्रप्रस्थ भेजा। इसी अक्ष-क्रीड़ाके फलसे पाण्डवोंको तेरह वर्ष वनमें और एक वर्ष अज्ञातवासमें विराटराजके यहां रहना पड़ा। इस व्यापारमें भी महात्मा विदुरने पाण्डवोंकी रक्षाके लिये कोई कसर उठा न रखी थी, पर इसमें वे कृतकार्य न हो सके।

इसके बाद कुरुक्षेत्रयुद्धके प्रारम्भमें एक दिन रातको धृतराष्ट्रने अवश्यम्भावी महासमरका विषय सोचते हुए किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ हो विदुरको बुला कर कहा, 'विदुर! मैं

चिन्तारूपी अनलमें दग्ध हो रहा हूं, आज मुझे जरा भी नींद नहीं आती, अतएव जिससे अभी मुझे कुछ आनन्द मिले, ऐसे ही विषयका कथोपकथन करो ।' इसके उत्तरमें सर्वार्थतत्त्वदर्शी महाप्राज्ञ विदुरने जो धर्ममूलक नीतिगर्भ उपदेशवाक्य कहना आरम्भ किया, उसके शेष होते न होते रात बीत गई । महाभारतमें यह प्रस्तावमूलक अध्याय 'प्रजागरपर्वाध्याय" नामसे वर्णित है । विदुरने इस अध्यायोक्त भूरि भूरि सारगर्भ उपदेश द्वारा स्वार्थलोलुप धृतराष्ट्रके मनको बहुत कुछ नरम कर दिया था, किन्तु वे सम्पूर्ण कृतकार्य न हो सके थे । धृतराष्ट्रने उनसे कहा, 'विदुर ! मैं तुम्हारे अशेष सद्युक्तिपूर्ण उपदेशोंको हृदयङ्गम कर उसके मर्म्मार्थोंसे अच्छी तरह अवगत हो गया हूं, परन्तु इससे होगा क्या ? दुर्योधनका जब ख्याल आता है, तब बुद्धि पलटा खा जाती है । इससे मैं अच्छी तरह समझता हूं, कि दैवको अतिक्रम करना किसीका भी साध्य नहीं, दैव ही प्रधान है; पुरुषकार निरर्थक है ।'

इसके बाद स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके दूतरूपमें हस्तिनापुर आने पर दुर्योधनने उचित स्वागत कर उन्हें अपने यहां निमन्त्रण किया । किन्तु भगवान् सहमत न हुए और बोले, "दूतगण कार्य्य समाप्त करके ही भोजन और पूजा करते हैं अथवा लोगोंके विपन्न होने या किसीके प्रीतिपूर्वक देनेसे वे दूसरेका अन्न भोजन करते हैं, मेरा कार्य्य सिद्ध नहीं हुआ, मैं विपन्न भी नहीं और न आप मुझे प्रीतिपूर्वक देते ही हैं, अतएव इस क्षेत्रमें सर्वत्र समदर्शी परमधार्मिक न्यायपरायण विशुद्धात्मा महामति विदुरके सिवा और किसीके यहां आतिथ्य स्वीकार करना मैं अच्छा नहीं समझता ।" इतना कह कर वे विदुरके घर चले गये । महात्मा विदुर योगिजनदुर्लभ भगवान्‌को अपने घरमें पा कर बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने कायमनवाक्यसे सर्वोपकरण द्वारा उनकी पूजा की और अति पवित्र विविध मिष्टान्न तथा पानीय द्रव्य उन्हें प्रदान किया* ।

कुरुक्षेत्र युद्धके बाद पाण्डवोंने राज्य लाभ कर छत्तीस वर्ष तक उसका उपभोग किया । उनमेंसे पन्द्रह वर्ष धृतराष्ट्रके मतानुसार उनका राज्य चलता रहा । इस समय भी महाप्राज्ञ विदुर धृतराष्ट्रके मन्त्री रह कर उन्हींके आदेशानुसार धर्म और व्यवहारविषयक कार्य देखते थे । महामति विदुरकी सुनीति और सद्व्यवहारसे बहुत कम खर्चमें सामन्तराजाओं द्वारा कितने प्रियकार्य सुसम्पन्न होते थे । उनके व्यवहारतत्त्व (मामला मुकदमा)की आलोचनाके समय उनसे अनेक आबद्ध व्यक्ति बन्धनमुक्त होते थे तथा कितने वधार्ह व्यक्ति भी प्राणदान पाते थे । शेषावस्थामें भी वे इसी प्रकार विपुल कीर्त्तिके साथ पन्द्रह वर्ष तक धृतराष्ट्रके मन्त्री रह कर आखिर उन्हींके साथ वनको चल दिये ।

एक दिन धर्मराज युधिष्ठिर धृतराष्ट्रसे मिलनेकी कामनासे उनके आश्रममें गये । उनके साथ विविध कथोपकथनके बाद धर्मराजने उनसे पूछा, "आपका, मेरी माता कुन्तीका और ज्येष्ठमाता गान्धारीका, महात्मा प्राज्ञतम पितृव्य विदुर आदि सभी श्रद्धेय व्यक्तियोंका धर्म कर्म किस प्रकार चलता है तथा तपोऽनुष्ठानकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है वा नहीं ?" उत्तरमें अन्धराज धृतराष्ट्रने कहा, "वत्स ! सभी अपने अपने धर्मकर्ममें

---

* भक्तमाल ग्रन्थमें लिखा है, कि विदुरकी अनुपस्थितिमें ही भगवान उनके घर पधारे थे । उनकी स्त्रीने विशेषरूपसे उनका पूजन किया । घरमें और कोई खाद्यद्रव्य न रहनेके कारण उनका दिया हुआ केला ही वे बड़े आनन्दसे खाने लगे । इस समय विदुर राजसभामें थे । उनको भगवान्‌के आनेकी खबर लगते ही वे घरकी ओर दौड़े ।

दूसरी किंवदन्ती है, कि भगवान् जब विदुरके घर गये, तब विदुर दरिद्रतावशतः अन्य किसी खाद्यसामग्रीका संग्रह न कर सके और घरमें पहलेसे रखा हुआ जो चावलका कण था उसीसे उन्होंने भगवान्‌का आतिथ्य सत्कार किया । भगवान भी परमभक्त विदुरके दिये हुए उस कणको खा कर परम सन्तुष्ट हुए । आज भी क्या धनी, क्या दरिद्र सभी आमन्त्रित व्यक्तिके लिये लाये गये खाद्य द्रव्यकी अल्पता या अपकृष्टता दिखलाते हुए कहते हैं "महाशय ! यह मेरे विदुरके कण हैं अर्थात् यह आप जैसे महद्व्यक्तिके योग्य नहीं ।"

निरत रह कर सुखसे समय बिताते हैं, किन्तु अगाध-बुद्धि विदुर अनाहार रह कर अस्थिचर्मावशिष्ट हो घोर तपस्या कर रहे हैं। ब्राह्मणगण कभी कभी इस कानन-के अति निर्जन प्रदेशमें उनके दर्शन पाते हैं।" दोनोंमें इस प्रकार बातें चल रही थीं, कि इसी समय मलदिग्धाङ्ग जटाधारी दिगम्बर महात्मा विदुर उस आश्रमके समीप ही दिखाई दिये। किन्तु वे एक बार आश्रमका दर्शन करके ही हठात् लौट गये। धर्मपरायण युधिष्ठिर उनके पीछे पीछे दौड़े। महात्मा विदुर क्रमशः निविड़ अरण्यमें प्रवेश करने लगे। यह देख कर धर्मराज ने करुण स्वरसे चिल्ला कर कहा, 'हे महात्मन्! मैं आपका प्रिय युधिष्ठिर हूं। आपके दर्शन करने आया हूं।'' करुण स्वर सुन कर विदुर उसी विजन विपिनमें एक वृक्ष पकड़ कर खड़े रह गये। धर्मराजने अस्थि-चर्मावशिष्ट महात्माके समीप जा कर फिर कहा, "प्रभो! मैं आपका प्रियतम युधिष्ठिर हूं, आपसे साक्षात् करने आया हूं।" इस पर विदुरने कुछ भी उत्तर न दिया, केवल एक दृष्टिसे धर्मराजकी ओर देखने लगे तथा योग-बलसे युधिष्ठिरकी दृष्टिमें दृष्टि, गात्रमें गात्र, प्राणमें प्राण, इन्द्रियमें इन्द्रिय संयोजित कर उनके शरीरमें प्रविष्ट हुए। उस समय उनका शरीर कठपुतलीकी तरह स्तब्ध और विचेतन हो उसी वृक्ष पर लटक रहा। अभी धर्मराज युधिष्ठिर अपनेको पहलेसे अधिक बलशाली समझने लगे तथा वेदव्यासकथित अपना पुराना वृत्तान्त उन्हें स्मरण होने लगा। अनन्तर वे जब विदुर-के शरीरको दग्ध करने तय्यार हुए, तब आकाशवाणी हुई कि, "महाराज! महात्मा विदुरने यतिधर्म प्राप्त किया है, अतएव आप उनका शरीर दग्ध न करें, वे सन्तानिक नामक लोक प्राप्त कर सकेंगे, इसलिये आप उनके लिये कुछ शोक भी न करें।" धर्मपरायण युधिष्ठिर इस प्रकार दैववाणी सुन कर विदुरका शरीर न जला कर अन्धराजके आश्रममें लौट आये।

विदुर—एक वैष्णवभक्त। यह निष्कामभावमें सर्वदा वैष्णव-सेवामें निरत रह कर जैतारण ग्राममें रहते थे। वैष्णव-के प्रति एकान्त रति रहनेके कारण भगवान् विष्णु इन पर बड़े प्रसन्न हुए थे। किसी समय बहुत दिनों तक अनावृष्टि रही, खेती बिलकुल होने न पाई, घरमें बीज तक न रह गया। यह देख विदुरको बड़ी चिन्ता हुई, कि बिना अन्नके वैष्णवकी सेवा किस प्रकार होगी? भगवान् उनकी वैष्णव-सेवाके प्रति ऐकान्तिकता देख उन पर बड़े प्रसन्न हुए तथा रात्रिको उन्हें स्वप्न दिया कि, 'विदुर! तुम प्रसन्न हो कर खेतीबारी करो, आवश्यकतानुसार अवश्य फसल उत्पन्न होगी, तुम्हारी वैष्णव-सेवामें जरा भी विघ्न न होगा।'' प्रातःकाल होने पर विदुरने वैसा ही किया जैसा रातको स्वप्नमें कहा गया था। थोड़े ही समयमें आशातीत शस्य उत्पन्न हुआ। उनके घरमें प्रचुर शस्यकी आमदनी होने लगी। यह देख उन्होंने ईश्वरको आन्तरिक धन्यवाद दे अपनेको धन्यधन्य समझा।

विदुरता (सं० स्त्री०) विदुरका भाव।

विदुल (सं० पु०) विशेषेण दोलयतीति वि-दुल-क। १ वेंतस, बेंत। २ अम्लवेतस, अमलबेत। ३ बोल या गंधरस नामक गन्धद्रव्य।

विदुला (सं० स्त्री०) १ एक प्रकारका थूहर। इसे सातला भी कहते हैं। २ विट्खदिर।

विदुला—महाराज सौवीरकी महाराणीका नाम। यह वीरबाला तथा गुणवती थी। इसके स्वामीकी मृत्यु होने पर सिन्धुराजने इसके राज्य पर आक्रमण किया था। प्रबल शत्रुके आक्रमणसे इसका पुत्र सञ्जय बड़ा भीत हुआ था। परन्तु माता विदुलाके उत्साहसे उत्साहित हो कर सञ्जयने युद्ध किया और अपने पिताके राज्यका उद्धार किया। विदुलाके उपदेश प्रत्येक सत्पुत्र कह-लानेके अभिलाषियोंको सर्वदा स्मरण रखना चाहिये।
(महाभारत)

विदुष (सं० पु०) विद्वान्, पण्डित।

विदुषी (सं० स्त्री०) वेत्तीति विदेः शतुर्वसुः उगितश्चेति-ङीष्। विद्वान् स्त्री, पढ़ी हुई स्त्री।

विदुषीतरा (सं० स्त्री०) अयमनयोरतिशयेन विदुषी, विदुषी-तरप्। दो स्त्रियोंमेंसे जो अधिक पण्डिता हो।

विदुष्कृत (सं० त्रि०) निष्पाप। (कौशि० उप० १।४)

विदुष्टर (सं० त्रि०) विद्वस् तरप्। विद्वत्तर, दो विद्वानोंमेंसे जो श्रेष्ठ हो।

विदुष्मत् (सं० त्रि०) विद्वानस्ति अस्यामिति विद्वस्-मतुप्। विद्वद्युक्त, पण्डितसमन्वित।

विदुष्मती (सं० स्त्री०) पण्डिता स्त्री।

विदुस् (सं० त्रि०) विद्वान्, पण्डित।

विदू (सं० पु०) विदु, हाथीके मस्तकके बीचका भाग।

विदूर (सं० त्रि०) विशिष्टं दूरं यस्य। १ अतिदूरस्थित, जो बहुत दूर हो। (पु०) २ बहुत दूरका प्रदेश। ३ एक देशका नाम। ४ एक पर्वतका नाम। कहते हैं, कि वैदूर्यमणि इसी पर्वतमें मिलती है। ५ मणिविशेष। वैदूर्य देखो।

विदूरग (सं० त्रि०) विदूरे गच्छतीति गम ड। अतिदूरगन्ता, बहुत दूर जानेवाला।

विदूरज (सं० क्ली०) विदूरे पर्वते जायते जन ड। १ विदूरपर्वतजात रत्न, विदूर पर्वतसे उत्पन्न वैदूर्य मणि। २ (त्रि०) अतिदूरजात, बहुत दूरमें उत्पन्न होनेवाला।

विदूरत्व (सं० क्ली०) विदूरस्य भावः त्व। विदूर होनेका भाव, बहुत अधिक दूर होना।

विदूरथ (सं० पु०) १ पुराणानुसार एक राजाका नाम। (गरुड़पु० ८७ अ०) २ कुरुक्षेत्र। (भारत १।९५।३९) ३ वृष्णिवंशीय एक राजाका नाम। इनके पुत्र शूर थे।

विदूरभूमि (सं० स्त्री०) विदूरस्य भूमिः। विदूर नामक देश। कहते हैं, कि वैदूर्यमणि इसी देशमें होती है।

विदूरविगत (सं० पु०) अन्त्यज।

विदूराद्रि (सं० पु०) विदूरनामकोऽद्रिः। विदूर पर्वत। (जटाधर)

विदूषक (सं० त्रि०) विदूषयति आत्मानमिति विदूष-णिच्-ण्वुल्। १ कामुक, वह जो बहुत अधिक विषयी हो। पर्याय—षिड़्ग, व्यलीक, षटप्रज्ञ, कामकेलि, पीठकेलि, पीठमर्द, भविल, छिदुर, विट, चाटुवटु, वासन्तिक, केलिकिल, वैहासिक, प्रहासी, प्रीतिद। (हेम) २ परनिन्दक, वह जो दूसरोंकी निन्दा करता हो। पर्याय—खल, रञ्जक, अभीक, क्रूर, सूचक, शठक, नाग, मलिनास्य, परद्वेषी। (शब्दमाला)

३ चार प्रकारके नायकोंमेंसे एक प्रकारका नायक। पीठमर्द, विट, चेट और विदूषक यही चार प्रकारके नायक हैं। यह अपने कौतुक और परिहास आदिके कारण कामकेलिमें सहायक होता है। इसे भाँड़ भी कह सकते हैं।

साहित्यदर्पणमें लिखा है, कि नाटकादिमें जो कुसुमवसन्तादिके नामसे तथा वसन्त वा उस ऋतुसम्बन्धीय किसी भी नामसे पुकारा जाता है और जिसकी क्रिया, हाव भाव, वेशभूषा और बातचीतसे लोगोंके मनमें हंसी उत्पन्न होती हैं, जो अपने कौशलसे दो आदमियोंमें झगड़ा कराता है, जो अपना पेट भरना या स्वार्थसिद्ध करना खूब जानता है, उसीको विदूषक कहते हैं। यह विदूषक तथा विट, चेट आदि नायक शृङ्गार रसमें सहायक तथा मानिनी नायिकाको मनानेमें बहुत कुशल होते हैं।

प्राचीन कालमें राजाओं और बड़े आदमियोंके मनोविनोदके लिये उनके दरबारमें इस प्रकारके मसखरे रहा करते थे जो अनेक प्रकारके कौतुक करके बेवकूफ बन कर अथवा बात बना कर लोगोंको हंसाया करते थे। प्राचीन नाटक आदिमें भी इन्हें यथेष्ट स्थान मिला है, क्योंकि इनसे सामाजिकोंका मनोरञ्जन होता है।

(त्रि०) ४ दूषणकारक। (भागवत० ५।६।१०)

विदूषण (सं० क्ली०) वि-दूष-ल्युट्। किसी पर विशेष रूपसे दोष लगानेकी क्रिया, ऐब लगाना।

विदूषना (हिं० क्रि०) १ सताना, दुःख देना। २ दोष लगाना, दोषी ठहराना। ३ दुःखी होना, पीड़ाका अनुभव करना।

विद्वृति (सं० स्त्री०) मस्तकहीन, वह स्त्री जिसे सिर न हो। (ऐतरेय उप० ३,१२)

विदृश् (सं० त्रि०) विगतौ दृशौ चक्षुषी यस्य। अन्ध, जिसे दिखाई न पड़े।

विदेघ (सं० पु०) १ एक प्राचीन ऋषिका नाम। २ विदेह। विदेह देखो।

विदेव (सं० पु०) १ राक्षस। (अथर्व० १२।३।४३) २ यज्ञ। (काठक २६।९)

विदेश (सं० पु०) विप्रकृष्टो देशः। अपने देशको छोड़ कर दूसरा देश, परदेश।

विदेह (सं० पु०) विगतो-देहो देहसम्बन्धो यस्य। १ राजा जनक। जनक देखो। २ प्राचीन मिथिला (वर्तमान तिरहुत)का एक नाम। ३ इस देशके निवासी। ४ राजा निमिका एक नाम। निमि देखो।

(त्रि०) ५ कायशून्य, जो शरीरसे रहित हो। (भागवत ३।१०७।२६) ६ षाटकौशिक देहशून्य, जिनके मातापितृज षाट्कौषिक शरीर न हो। देवताओंको विदेह कहा जाता है। पातञ्जलदर्शनमें लिखा है—"भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानां।" (पातञ्जलसू० १।१९)

जो आत्मासे भिन्न अर्थात् जो आत्मा नहीं हैं उनको अर्थात् भूत, इन्द्रिय और प्रकृतिको आत्मरूपमें उपासना करते है उन्हें विदेह या देवता कहते हैं। इन सबोंको समाधि भवप्रत्यय अर्थात् अविद्यामूलक है।

वे लोग जो सिद्धिलाभ करते हैं, उसके मूलमें अविद्या रहती है। उसका समूल छेद या नाश नहीं होता। इसका तात्पर्य यह कि निरोध समाधि दो प्रकारकी है, श्रद्धादि उपायजन्य और अज्ञानमूलक। इनमेंसे उपाय जन्य समाधि योगियोंके लिये होती है। विदेह अर्थात् मातापितृज देहरहित देवताओंकी भवप्रत्यय (अज्ञानमूलक) समाधि होती है। यह विदेह देवगण केवल संस्कारविशिष्ट चित्तयुक्त (इस चित्तमें किसी प्रकारकी वृत्ति नहीं रहती, चित्तका संस्कार होनेके कारण उसकी वृत्तियाँ तिरोहित हुई हैं, अतएव वह चित्त दग्ध बीजभाव होनेसे संस्कृत हुआ है) हो कर मानो कैवल्य पदका अनुभव करते करते इसी प्रकार अपने संस्कार अर्थात् धर्मके परिणामको गौणमुक्ति अवस्थामें बिताते हैं।

चौबीस जड़तत्त्वके उपासकोंको ही विदेह और प्रकृति-लय कहा है। केवल विकार अर्थात् पञ्चमहाभूत और एकादश इन्द्रिय इन सोलह पदार्थोंमेंसे किसी एकको आत्मा समझ उसकी उपासना कर जो सिद्धिलाभ करते हैं उन्हींको विदेह कहते हैं।

प्रकृति शब्दसे केवल मूल प्रकृति और प्रकृति-विकृति (महत् अहङ्कार और पञ्च-तन्मात्र) समझी जायेगी। उक्त भूत, इन्द्रिय और प्रकृतिके उपासक सिद्धिलाभ करके मुक्तकी तरह अवस्थान करते हैं। भाष्यमें "प्रकृतिलीने वैकल्यपदमिवाभवन्ति" प्रकृतिलीन विदेहोंका जो कैवल्य कहा है, उस कैवल्य शब्दसे निर्वाणमुक्ति न समझी जायेगी, गौणमुक्ति अर्थात् सायुज्य, सालोक्य और सामीप्य समझा जायेगा। इन मुक्त विदेहोंके स्थूल शरीर नहीं हैं, चित्तकी वृत्ति भी नहीं है, यह मुक्तिका सादृश्य है। संस्कार है, चित्तका अधिकार है, यह मुक्तिका बन्धन है, इसोलिये भाष्यकारने 'वैकल्यपदमिव', इस शब्दका व्यवहार किया है। इव शब्दसे किसी किसी रूपमें भेद और किसी रूपमें अभेद समझा जायेगा।

भोग और अपवर्ग ये दोनों चित्तके अधिकार हैं। आत्मतत्त्व साक्षात्कार होने हीसे अपवर्ग होता है। अतएव जब तक चित्त आत्मतत्त्व-साक्षात्कार न कर सके, तब तक चाहे जिस किसी अवस्थामें क्यों न रहे, अवश्य लौट आना पड़ेगा। विदेह या प्रकृतिलयोंकी मुक्तिको स्वर्गविशेष कहा जा सकता है। क्योंकि, इसीसे प्रच्युति है। परन्तु कालका न्यूनातिरेक मात्र है। स्वर्गकालसे अधिककाल सायुज्यादि मुक्ति रहती है तथा आत्मज्ञान लाभ कर निर्वाणमुक्तिलाभकी भी सम्भावना है। चाहे जितना भी क्यों न हो, उक्त सभी अज्ञानमूलक है अर्थात् अनात्माको आत्मा जानना उसके सब स्थलोंमें है। इस कारण भगवान् शङ्कराचार्यने इस गौणमुक्तिके प्रति जरा भी विश्वास न किया।

विदेहादिका मुक्तिकाल-विषय ब्रह्माण्डपुराणमें इस प्रकार लिखा है—

इन्द्रियोपासकोंका मुक्तिकाल दश मन्वन्तर, सूक्ष्म भूतोपासकोंका सौ मन्वन्तर, अहङ्कारोपासकोंका हजार मन्वन्तर, बुद्धि उपासकोंका दश हजार तथा प्रकृति उपासकोंका मुक्तिकाल लाख मन्वन्तर है। ७१ दिव्ययुगका एक एक मन्वन्तर होता है। निर्गुण पुरुषको पानेसे अर्थात् आत्मज्ञान लाभ करनेसे कालपरिमाण नहीं रहता, तब फिर उन्हें लौटना नहीं पड़ता।

आश्चर्यका विषय है, कि विदेहोंका चित्त इस दीर्घकाल प्रकृतिमें सम्पूर्ण लीन रह कर भी पुनः उक्त मुक्तिके बाद ठीक पूर्वरूपको धारण करता है। लयके पहले चित्त जैसा था, लयके बाद भी ठीक वैसा ही होता है। (पातञ्जलद०)

विदेहक (सं० पु०) १ पुराणानुसार एक पर्वतका नाम। २ एक वर्षका नाम। (शत्रुञ्जयमा० १।२६२)

विदेहकूट—जैन पुराणानुसार एक पर्वतका नाम।

विदेहकैवल्य (सं० क्ली०) विदेहं कैवल्यं कर्मधा०। निर्वाण

मोक्ष। जीवन्मुक्तके देहावसानके बाद जो निर्वाणमोक्ष लाभ होता है, उसे विदेहकैवल्य कहते हैं। उसके प्राण उत्क्रान्त नहीं होते हैं, इस जगह लीन हो जाते हैं। अर्थात् उसके मोक्ष लाभ होता है। भोग द्वारा प्रारब्ध कर्मोंका क्षय होनेसे जीवन्मुक्त व्यक्तिके वर्त्तमान शरीर पतन होनेके बाद जो निर्वाणमोक्ष लाभ होता है, उसे असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं।

विदेहत्व (सं० क्लो०) १ विदेह होनेका भाव या धर्म। २ मृत्यु, मौत, शरीरका नाश।

विदेहपति—१ एक प्राचीन आयुर्वेदविद्। वाग्भटने इनका उल्लेख किया है। २ विदेह नामक स्थानके अधिपति, जनक।

विदेहपुर (सं० क्लो०) राजा जनककी राजधानी, जनकपुर।

विदेहा (सं० स्त्री०) मिथिला नगरी और उस प्रदेशका नाम।

विदेहिन् (सं० पु०) ब्रह्म।

विदोष (सं० त्रि०) दोषरहित, जिसमें किसी प्रकारका दोष न हो, बेऐब।

विदोह (सं० पु०) विशेषरूपसे दोहन।

विद्ध (सं० त्रि०) विध्यते स्मेति व्यध क्त। १ छिद्रित, बीचमेंसे छेद किया हुआ। २ क्षिप्त, फेंका हुआ। ३ सदृश, समान, तुल्य। ४ वाधित, जिसमें बाधा पड़ी हो। ५ ताड़ित, आहत, जिसको चोट लगी हो। ६ प्रेरित, भेजा हुआ। ७ वक्र, टेढ़ा। (पु०) ८ सन्निपात। (क्लो०) ९ सद्योव्रणविशेष।

विद्धक (सं० पु०) मृत्तिकाभेदकारी यन्त्रविशेष, प्राचीन कालका एक प्रकारका यन्त्र जिससे मिट्टी खोदी जाती थी।

विद्धकर्ण (सं० पु०) अकवनादि।

विद्धत्व (सं० क्लो०) विद्धका भाव या धर्म।

विद्धपर्कटी (सं० स्त्री०) गुल्मभेद (Pongamia globra)।

विद्धव्रण (सं० क्लो०) वह सूजन जो शरीरके किसी अंगमें काँटेकी नोकके चुभने या टूट कर रह जाने-सी होती है।

विद्धा (सं० स्त्री०) एक प्रकारका क्षुद्ररोग जिससे शरीरमें बहुत छोटी छोटी फुंसियाँ निकलती हैं।

विद्धि (सं० स्त्री०) व्यध-क्ति (ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चति पृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च इति सम्प्रसारणम्। पा ६।१।१६) आघात करना, मारना।

विद्मन् (सं० क्लो०) विद्यत इति विद्-मनि (भावे)। १ ज्ञान। २ मोक्षार्थ ज्ञान, परमार्थ-ज्ञान।

विद्मनापस् (सं० त्रि०) ज्ञान द्वारा व्याप्त या ज्ञातकर्मा, जो सब कर्मोंसे अवगत हो।

विद्यमान (सं० त्रि०) विद्-शानच्। वर्त्तमान, उपस्थित, मौजूद।

विद्यमानता (सं० स्त्री०) विद्यमान होनेका भाव, उपस्थिति, मौजूदगी।

विद्यमानत्व (सं० क्लो०) विद्यमानस्य भावः त्व। विद्यमान होनेका भाव, उपस्थिति, मौजूदगी।

विद्या (सं० स्त्री०) विद्यतेऽसौ इति विद्-संज्ञायाम् क्यप्, स्त्रियां टाप्। १ दुर्गा। (शब्दरत्ना०) २ गणिकारिका गनियारी। ३ ज्ञान अर्थात् मोक्ष विषयमें बुद्धि। "मोक्षे धोर्ज्ञानम्।" (अमर)

जिसके द्वारा परमपुरुषार्थका साधन होता है उसका नाम विद्या है। यह विद्या ब्रह्मज्ञानस्वरूपा है। एकमात्र ब्रह्मज्ञान ही पुरुषार्थसाधन है। विद्या द्वारा इस पुरुषार्थका साधन होता है, इसीसे इसको ब्रह्मज्ञानरूपा कहा है।

४ विद्याहेतु शास्त्र। यह अठारह प्रकारका है। छः अङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरुक्त) चार वेद (साम, ऋक्, यजुः और अथर्व), मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण ये चौदह तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्वशास्त्र और अर्थशास्त्र, यही अठारह विद्या है।

मनु कहते हैं, कि नीचसे भी उत्तमा विद्या ग्रहण की जा सकती है।

"श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥"
(मनु २ अ०)

पुराणमें लिखा है, कि जो बाल्यकालमें विद्याध्ययन नहीं करते, वे इस जगत्में पशुकी तरह विचरण करते हैं। जो माता पिता अपने बालकोंको विद्याध्ययन नहीं कराते, वे शत्रुस्वरूप हैं। हंसमें बगला जिस प्रकार शोभा नहीं पाता, उसी प्रकार विद्याहीन मनुष्य इस जगत्में नहीं शोभता।

"माता शत्रुः पिता वैरी बालो येन न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥"

(गरुड़पु० ११० अ०)

विद्या रूप और धन बढ़ाती है, विद्या द्वारा मनुष्यका प्रिय होता है, विद्या गुरुको गुरु है, विद्या परम बन्धु है, विद्या श्रेष्ठ देवता तथा यश और कुलकी उन्नति करनेवाली है। चोर सभी द्रव्योंको चुरा सकता है, पर विद्याको कोई भी नहीं चुरा सकता। (गरुड़पु० ११० अ०)

हितोपदेशमें लिखा है, कि विद्या विनय देती है अर्थात् मनुष्य विद्यालाभ करनेसे विनीत होते हैं। विनयसे पात्रत्व, पात्रत्वसे धन और धनसे धर्म तथा धर्मसे सुख होता है।

"विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रतां ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥"

(हितोपदेश)

जीव जिस किसी कार्यका अनुष्ठान करता है, उसका उद्देश्य सुख है, जिसमें सुख नहीं है, वैसे कार्यका कोई भी अनुष्ठान नहीं करता। यह सुख एकमात्र विद्या द्वारा ही प्राप्त होता है। अतएव सबोंको उचित है, कि वे बड़े यत्नपूर्वक विद्याभ्यास करें। विशुद्ध चित्तसे अनन्यकर्मा हो गुरुके समीप विद्याभ्यास करना होता है।

धर्मशास्त्रमें लिखा है, कि बालककी उमर जब पांच वर्षकी होवे उसी समयसे उसको विद्यारम्भ करा दे। ज्योतिषोक्त शुभ दिन देख कर विद्यारम्भ करना होता है। हरिशयन भिन्न कालमें, षष्ठी, प्रतिपद, अष्टमी, रिक्ता, पूर्णिमा और अमावास्या तिथि, शनि और मङ्गलवारको छोड़ कर उत्तम दिनमें विद्यारम्भ करे। ज्योतिषमें लिखा है, कि पुष्या, अश्विनी, हस्ता, स्वाती, पुनर्वसु, श्रवणा, धनिष्ठा, शतभिषा, आर्द्रा, मूला, अश्लेषा, कृत्तिका, भरणी, मघा, विशाखा, पूर्वफल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वभाद्रपद, चित्रा, रेवती और मृगशिरा नक्षत्रमें, उत्तरायणमें, शुक्र, वृहस्पति और रविवारकी कालशुद्धिमें लग्नका केन्द्र, पञ्चम और नवम शुभग्रहयुक्त होने पर अनाध्याय भिन्न दिनमें पांच वर्षके बालकको विद्यारम्भ करना चाहिये। विद्यारम्भ वृहस्पतिवारमें श्रेष्ठ तथा शुक्र और रविवारमें मध्यम; शनि और मङ्गलवारमें अल्पायु तथा बुध और सोमवारमें विद्याहीन होता है।

इस प्रकार शुभ दिन देख कर ज्ञानवान् गुरुसे विद्यारम्भ करना होगा। विद्यार्थी यदि विद्वान् गुरुके पास जा कर विद्याके लिये प्रार्थना करे तो गुरुको चाहिये, कि वे उसी समय उसको विद्या दान करें, नहीं करनेसे उनका कार्यनाश होता है तथा अन्तमें उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती।

भगवान् मनुने कहा है, कि उत्कृष्ट बीज जिस प्रकार खारी जमीनमें नहीं बोया जाता, उसी प्रकार जहां धर्म वा अर्थलाभ नहीं है अथवा तदनुरूप सेवाशुश्रूषादि नहीं है, वहां विद्यादान करना उचित नहीं। जीवनोपायमें चाहे कितना ही कष्ट क्यों न होता हो, पर ब्रह्मवादी अध्यापकको चाहिये, कि वे अधीत विद्या किसीको भी दान न करे; विशेषतः अपात्रमें तो उन्हें कभी विद्याबीज बोना ही नहीं चाहिये। विद्या ब्राह्मणके समीप जा कर कहती है, कि "मैं तुम्हारी निधि हूं, मेरी यत्नपूर्वक रक्षा करना, अश्रद्धादि दोष दूषित अपात्रके हाथ कदापि मुझे अर्पण न करना। ऐसा करनेसे ही मैं अत्यन्त वीर्यवान् रहूंगी। जिसको सर्वदा शुचि, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी जानोगे, विद्यारूप निधि उसीको अर्पण करना।"

विद्यादाता गुरु अतिशय माननीय होते हैं, जो शिष्यको एक अक्षरकी भी शिक्षा देते हैं पृथिवी पर ऐसा द्रव्य नहीं जिससे वह ऋण परिशोध किया जावे।

पहले शास्त्रानुसार विद्यारम्भ करके विद्याशिक्षा करनी चाहिये।

हिन्दूशास्त्रमें विद्यारम्भकी व्यवस्था इस प्रकार है—

बालकके विद्यारम्भके पूर्व दिन गुरुको चाहिये, कि वे यथाविधान संयत हो कर रहें। दूसरे दिन सबेरे गुरु और शिष्य दोनों स्नान करके नव वस्त्र पहने। गुरु प्रातः कृत्यादि करनेके बाद पवित्र स्थान पर पूर्वकी ओर मुंह करके बैठें, पीछे आचमन करके स्वस्तिवाचन करें। इसके बाद तिल, तुलसी, हरीतकी ले कर सङ्कल्प करें। सङ्कल्प हो जाने पर शालग्राम शिला वा घटस्थापनादि करके आसनशुद्धि, जलशुद्धि और सामान्यार्घ करना होगा। पीछे गणेश, शिवादिपञ्चदेवता,

आदित्यादि नवग्रह और इन्द्रादि दशदिक्पालोंकी पूजा करके विष्णुका ध्यान, पीछे विशेषार्घ और मनसादेवीकी पूजा कर ध्यानके अन्तमें तीन बार विष्णुकी पूजा करनी होगी। अनन्तर विष्णुको प्रणाम करके लक्ष्मीका ध्यान और पूजन करे। पीछे सरस्वतीका ध्यान करके पूजा करनी होती है। 'एतत्पाद्यं ओं सरस्वत्यै नमः' इस प्रकार पूजा करनेके बाद—

"ओं भद्रकाल्यै नमो नित्यं सरस्वत्यै नमो नमः।
वेदवेदान्तवेदाङ्गविद्यास्थानेभ्य एव च॥"

इस मन्त्रसे तीन बार पूजा करे। इसके बाद शक्त्यानुसार रुद्र, स्वविद्या और नवग्रहकी पूजा करनी होती है। अनन्तर बालक आसन पर बैठ और चन्दनादि लेप कर पुष्पाञ्जलि द्वारा उक्त देवताओंकी पूजा करे।

पूजाके बाद बालक पश्चिमकी ओर मुँह करके बैठे। गुरु पूर्वमुख बैठें और 'ओं तत्सत्' उच्चारण कर शिलाखण्ड वा तालपत्र आदि पर बालकका हाथ पकड़ खड़ीसे अकारसे ले कर क्षकार पर्यन्त सभी अक्षरोंको लिखावें तथा तीन बार उन अक्षरोंको पढ़ावें। इस प्रकार लिखना पढ़ना हो जाने पर बालक गुरुको प्रणाम करे।

इसके बाद गुरु दक्षिणान्त करके दक्षिणा ग्रहण और बादमें अच्छिद्रावधारण तथा वैगुण्यसमाधान करें। विद्यारम्भके दिन बालकको निरामिष भोजन करना चाहिये। (कृत्यतत्त्व)

मन्वादिशास्त्रमें लिखा है, कि ब्राह्मणादि तीनों वर्ण उपनयन संस्कारके बाद गुरुगृहमें जा कर जीवनका चतुर्थभाग विद्याशिक्षामें बितावें। गुरु शिष्यको उपनयन दे कर पहले उसको आद्योपान्त शौच शिक्षा देवें तथा आचार-अग्निपरिचर्य्या और सन्ध्योपासना भी सिखावें। अध्ययनकालमें शिष्य शास्त्रानुसार आचमन करके इन्द्रियसंयमपूर्वक उत्तराभिमुखमें ब्रह्माञ्जलि करके पवित्रवेशमें बैठें। (अध्ययन कालमें कृताञ्जलिपुटसे गुरुके समीप बैठनेका नाम ब्रह्माञ्जलि है।) वेदाध्ययनके आरम्भ और अवसान कालमें शिष्यको प्रतिदिन गुरुके दोनों चरणोंकी वन्दना करनी चाहिये। उत्तान दक्षिणहस्त ऊपर और उत्तान वामहस्त नीचे करके दक्षिण हस्त द्वारा गुरुका दक्षिणपाद तथा वामहस्त द्वारा वामपद स्पर्श करना होगा। गुरु अवहित चित्तसे शिष्यको पाठ दें। शिष्यके अध्ययन आरम्भ करने पर गुरु उसे 'अध्ययन करो' ऐसा कह कर पढ़ाना शुरू कर दें तथा दूसरे दिनके लिये पाठ यहाँ तक रहा, कह कर पढ़ाना समाप्त कर दें। ब्राह्मण वेदाध्ययनके आरम्भ तथा समाप्तिमें प्रणवका उच्चारण करें, क्योंकि आरम्भकालमें प्रणवका उच्चारण नहीं करनेसे अध्ययन धीरे धीरे नष्ट हो जाता है। अध्ययनकी समाप्तिमें प्रणवोच्चारण नहीं करनेसे पाठ याद नहीं रहता। पवित्र कुशके आसन पर बैठ कर तथा दोनों हाथोंसे कुश पकड़ कर तीन बार प्राणायाम करनेके बाद प्रणवोच्चारणके योग्य होता है।

जो ब्राह्मण उपनयन दे कर शिष्यको यज्ञविद्या और उपनिषद्के साथ समग्र वेदशास्त्रका अध्ययन कराते हैं, उन्हें आचार्य और जो जीविकाके लिये वेदका एकदेशमात्र अथवा वेदाङ्गका अध्ययन कराते हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं। जन्मदाता और वेददाता दोनों ही पिता हैं, किन्तु जन्मदाताकी अपेक्षा वेददाता पिता ही श्रेष्ठ हैं। क्योंकि, द्विजोंका द्वितीय वा ब्रह्मजन्म ही सर्वत्र शाश्वत है। वेदपारग आचार्य सावित्री द्वारा यथाविधि जो जन्म प्रदान करते हैं, वही जन्म सत्य है। उस जन्मके बाद और जरामरण नहीं है। चाहे थोड़ा हो या बहुत, जो वेदज्ञान दे कर उपकार करते हैं उस उपकारके कारण शास्त्रानुसार उन्हें गुरु जानना होगा। वह गुरु सर्वापेक्षा माननीय हैं। शिष्यको अन्तःकरणसे सुश्रुषादि द्वारा उन्हें परितृप्त करना चाहिये। उपनीत द्विज गुरुकुलमें रहते समय वेदप्राप्तिकी योग्य तपस्या करेंगे। अन्नोन्धनादि नाना प्रकारकी तपस्या द्वारा तथा विधिबोधित विविध प्रकारके सावित्र्यादि व्रतानुष्ठान द्वारा उपनिषद्के साथ समस्त वेदाध्ययन करना द्विजातियोंका कर्त्तव्य है।

शिष्य जब गुरुगृहमें रह कर वेदविद्या सीखे, तब उसे कुल नियमोंका पालन करना होगा। विद्यार्थी ब्रह्मचारी गुरुगृहमें इन्द्रिय संयम करके आत्मगत अदृष्ट वृद्धिके लिये निम्नोक्त नियमोंका प्रतिपालन करें। वे प्रति दिन स्नान करके शुद्धभावसे देव, ऋषि और पितृतर्पण, देवपूजा तथा सायं और प्रातःसमाधि द्वारा योम करें।

उन्हें मधुमांसभोजन, गन्धद्रव्यानुलेपन, माल्यादि धारण, गुड़ आदि रस ग्रहण तथा स्त्रीसम्भोग न करना चाहिये। जो सब वस्तु स्वाभाविक मधुर हैं, किन्तु किसी कारणसे अम्ल हो गई हैं तथा दधि आदिका भोजन उनके लिये निषिद्ध है। प्राणीहिंसा, तैल द्वारा समस्त सर्वाङ्ग अभ्यञ्जन, कज्जलादि द्वारा चक्षुरञ्जन, पादुका वा छत्रधारण, काम, क्रोध, लोभ तथा नृत्य, गीत और वादन, अक्षादिक्रीड़ा, वृथा कलह, देशवार्त्तादिका अन्वेषण, मिथ्या कथन, कुत्सित अभिप्रायसे स्त्रियोंके प्रति दृष्टि और दूसरेका अनिष्टाचरण, विद्यार्थी ब्रह्मचारीको इन सबसे अलग रहना चाहिये।

सभी ब्रह्मचारीको सर्वत्र एक साथ सोना चाहिये। हस्त संञ्चालन द्वारा रेतःपात करना उचित नहीं और कामवशतः रेतःपात करनेसे आत्मव्रत बिलकुल नष्ट हो जाता है। यहां तक, कि यदि अकामतः ब्रह्मचारीके स्वप्नादि अवस्थामें रेतःस्खलन हो जाय, तो उन्हें उसी समय स्नान कर सूर्यदेवकी अर्चना कर लेनी चाहिये तथा 'पुनर्मामैतु इन्द्रियं' अर्थात् मेरा वीर्य पुनः लौट आवे, इत्यादि वेदमन्त्र तीन बार जपने चाहिये। जल, पुष्प, समिध, कुश आदि जो कुछ गुरुको प्रयोजन हो उन्हें ला देना शिष्यका कर्त्तव्य है। गुरुके लिये प्रति दिन भीख मांग कर लाना भी शिष्यका एक कर्त्तव्य कहा है।

शिष्य इस प्रकार कठोर ब्रह्मचर्य्यका अवलम्बन कर गुरुसे विद्याध्ययन करे। यदि वेदविद् ब्राह्मण गुरु न मिलते हों, तो श्रद्धायुक्त हो कर दूसरे व्यक्तिसे भी श्रेयस्करी विद्या लाभ कर सकते हैं। स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शौच, हितवचन तथा शिल्पकार्य सबोंसे सभी लाभ कर सकते या सीख सकते हैं। ब्राह्मण ब्रह्मचारी आपद्कालमें अब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मण भिन्न दूसरे वर्णसे यदि विद्याभ्यास करे, तो कोई दोष नहीं। उतने दिनों तक पादप्रक्षालन और उच्छिष्ट भोजनादि भिन्न उन्हें अनुगमनादि द्वारा गुरुकी सुश्रुषा करनी होगी।

जो शिष्य गुरुको कायमनोवाक्यसे प्रसन्न रखता है, उसके प्रति विद्या प्रसन्न रहती है। विद्याके प्रसन्न होनेसे सर्व सम्पद् लाभ होती है।

अनध्यायके दिन विद्याशिक्षा नहीं करनी चाहिये। प्रातःकालमें मेघका गर्जन होनेसे उस दिन भी शास्त्रकी चिन्ता न करे, करनेसे आयु, विद्या, यश और बलकी हानि होती है।

माघ, फाल्गुन, चैत्र और वैशाख इन चार महीनोंमें यदि मेघ-गर्जन हो, तो पाठ बन्द कर देना होता है। प्रतिपद् और अष्टमी तिथि, त्रयोदशी और चतुर्दशीकी रात्रि तथा अमावस्या और पूर्णिमा तिथिमें पाठ निषिद्ध है। ये सब तिथियाँ अनध्याय कहलाती हैं।

जितने प्रकारके दान हैं उनमें विद्यादान सर्वापेक्षा श्रेष्ठ है। कन्या और जलाशय दानमें तथा राजसूयादि यज्ञमें जो फल होता है विद्यादान उससे भी अधिक फलप्रद है। एकमात्र विद्यादानके प्रभावसे शिवलोककी गति होती है।

देवीपुराणके विद्यादान नामक महाभाग्य-फलाध्यायमें विशेष विवरण आया है। विस्तार हो जानेके भयसे यहां कुछ नहीं लिखा गया। सभी धर्मशास्त्रोंने एक स्वरसे स्वीकार किया है, कि विद्यादान सभी दानोंमें श्रेष्ठ है।

हेमाद्रिके व्रतखण्डमें लिखा है—जिन सब विद्याओंका विवरण ऊपर दिया गया उनमेंसे प्रत्येक विद्याके एक एक अधिष्ठात्री देवता है। ऋग्वेदके अधिष्ठात्री देवता ब्रह्मा, यजुर्वेदके वासव, सामवेदके विष्णु, अथर्ववेदके महादेव, शिक्षाके प्रजापति, कल्पके ब्रह्मा, व्याकरणके सरस्वती, निरुक्तके वरुण, छन्दके विष्णु, ज्योतिषके रवि, मीमांसाके चन्द्र, न्यायके वायु, धर्मशास्त्रके मनु, इतिहासके प्रजाध्यक्ष, धनुर्वेदके इन्द्र, आयुर्वेदके धन्वन्तरि, कलाविद्याके महादेवी, नृत्यशास्त्रके महादेव, पञ्चरात्रके सङ्कर्षण, पाशुपतके रुद्र, पातञ्जलके अनन्त, सांख्यके कपिल, अर्थशास्त्रके धनाध्यक्ष और कलाशास्त्रके कामदेव हैं। इस प्रकार सभी शास्त्रोंके अधिष्ठात्री देवता हैं।

श्रुतिमें विद्याके दो भेद बतलाये हैं, पराविद्या और अपराविद्या। "यया ब्रह्मावगमः स परा, ययाक्षरमधिगम्यते सा परा।" (श्रुति) जिस विद्यासे ब्रह्मज्ञान होता है, उसका नाम पराविद्या है। ब्रह्मविद्या ही पराविद्या है। क्योंकि, ब्रह्मविद्या वा ब्रह्मज्ञान होनेसे संसारनिवृत्ति होती है वा

अपवर्ग अर्थात् मोक्षलाभ होता है और सभी क्लेश दूर जाते हैं। अतएव ब्रह्मविद्या पराविद्या है। उपनिषद् नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ वा शब्दराशि-प्रतिपादित ब्रह्मविषयक विज्ञान ही पराविद्या है। यह पराविद्या ऋग्वेदादि नामसे प्रसिद्ध शब्दराशि वा तत्प्रतिपाद्य विषयके ज्ञानसे श्रेष्ठ है।

ऋग्वेदादि शब्दराशि वा तत्प्रतिपाद्य विषय अर्थात् कर्मका ज्ञान भी विद्या तो है, किन्तु वह अपरा विद्या है। ब्रह्मविद्या कर्मविद्यासे उत्कृष्ट है। कर्मविद्या स्वयं स्वतन्त्र-रूपमें अर्थात् उस समय फल नहीं देती। कर्मका अनुष्ठान करनेसे उसका फल किसी दूसरे समय होता है। कर्मफल विनश्वर है; किन्तु ब्रह्मविद्या स्वतन्त्रभावमें उसी समय संसारनिवृत्तिका भी फल देती है, फिर भी वह फल विनाशी नहीं है। इस कारण वेदविद्या और कर्मविद्यासे ब्रह्मविद्या श्रेष्ठ है।

"तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्व्वेदो सामवेदोऽथर्व्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्त छन्दो ज्योतिषमिति।"

(प्रश्नोपनि०)

इसका तात्पर्य्य यह है, कि ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्व्वेद, अथर्व्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष इन सबोंका विज्ञान तथा तत्प्रतिपाद्य कर्मविज्ञान अपराविद्या है।

५ देवीमन्त्र।

विद्याकर बाजपेयी—आचारपद्धतिके रचयिता। रघुनन्दनने अष्टाविंशतितत्त्वमें इनका वचन उद्धृत किया है।

विद्याकर मिश्र मैथिल—राक्षसकाव्यके टीकाकार।

विद्यागण (सं० पु०) बौद्धग्रन्थावलीविशेष।

विद्यागम (सं० पु०) विद्यायाः आगमः। विद्यालाभ।

विद्यागुरु (सं० पु०) वह गुरु जिससे विद्या मिली हो, पढ़ानेवाला गुरु, शिक्षक।

विद्यागृह (सं० पु०) वह स्थान जहां विद्याशिक्षा दी जाती है, विद्यालय, पाठशाला।

विद्याचक्रवर्त्ती—सम्प्रदायप्रकाशिनी नामकी काव्यप्रकाश-टीकाके रचयिता।

विद्याचण (सं० पु०) विद्याचुञ्चु देखो।

विद्याचुञ्चु (सं० पु०) विद्यया वित्तः विद्या (तेन वित्तश्चुञ्चुप्चनपौ। पा ५।२।२६) इति चनप् चुञ्चुप् च। विद्या द्वारा ख्यात, वह जो विद्या द्वारा मशहूर हो, विद्वान्।

विद्यातीर्थ (सं० क्ली०) १ महाभारतके अनुसार एक प्राचीन तीर्थका नाम। (पु०) २ तैत्तिरीयकसारके रचयिता। ३ शङ्कराचार्य-सम्प्रदायके ६०वें गुरु।

विद्यातीर्थ शिष्य—जीवन्मुक्तिविवेकके रचयिता। ये ही सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य थे।

विद्यात्व (सं० क्ली०) विद्यायाः भावः त्व। विद्याका भाव या धर्म।

विद्यादत्त—एक कवि। ये कायस्थजातीय तथा विजयपुर-राज जयादित्यकी सभामें मौजूद थे।

विद्यादल (सं० पु०) भूर्ज्जवृक्ष, भोजपत्रका पेड़।

विद्यादाता (सं० त्रि०) विद्यादातृ देखो।

विद्यादातृ (सं० त्रि०) विद्यां ददातीति दा-तृच्। १ विद्या शिक्षा देनेवाला। २ पांच पिताके अन्तर्गत एक पिता। अन्नदाता, भयत्राता, पत्नीके पिता, विद्यादाता और जन्मदाता ये पाँच पितृतुल्य हैं।

विद्यादान (सं० क्ली०) विद्यायां दानं। १ विद्या देना, शिक्षा देना। ३ पुस्तक देना। विद्या शब्द देखो।

विद्यादायाद (सं० पु०) विद्याका उत्तराधिकारी, शिष्य परम्परा।

विद्यादास—व्रजवासी एक वैष्णवकवि। १५६३ ई०में इनका जन्म हुआ था।

विद्यादेवी (सं० स्त्री०) विद्या अधिष्ठात्री देवी। १ सरस्वती। २ जैनियोंकी सोलह जिनदेवियोंमेंसे एक देवीका नाम।

विद्याधन (सं० क्ली०) विद्यया अर्ज्जितं धनं। विद्या द्वारा उपार्जित धन। यह धन अविभाज्य है, कोई भी इसे बांट नहीं सकता। इसको स्वोपार्जित धन कहते हैं।

विद्यालब्ध (छात्रवृत्ति)धन, मित्रलब्ध (विवाहके समय श्वशुर आदिसे प्राप्त) धन तथा आर्त्विज्यलब्ध (पौरोहित्य क्रियालब्ध) धन दायादादि अर्थात् हिस्सेदार द्वारा विभक्त नहीं होगा।

पण रख कर जो धन प्राप्त किया जाता है अर्थात् किसी एक विषयकी मीमांसा करनेके लिये विद्वान् व्यक्तिके पास उपस्थित हो उनसे कहा जाय, "आप इस विषयको स्थिर कर दीजिये, मैं यह पण रखता हूं,

मीमांसा होने पर वह आपका ही होगा" इस प्रकार जो धन लाभ होता है वह धन विभागयोग्य नहीं है। शिष्यसे अध्यापनालब्ध धन, पौरोहित्य कार्य करके दक्षिणादि द्वारा प्राप्त धन; सन्दिग्ध प्रश्नका उत्तर दे कर पाया हुआ धन, स्वज्ञानशंसन अर्थात् शास्त्रादिका यथार्थ तत्त्व बतला कर प्रतिग्रहलब्ध धन, शिल्पकार्यादि द्वारा प्राप्त धन, इन सब धनोंको विद्याधन कहते हैं। यह विद्याधन विभाज्य नहीं होता। दायादोंको इस धनमें हिस्सा नहीं मिल सकता। अपनी विद्या बुद्धिके प्रभावसे जो धन उपार्जन किया जाता है, वही विद्याधन है। वह धन विद्वान् व्यक्तिका निजस्व होगा।

विद्याधर (सं० पु०) १ एक प्रकारकी देवयोनि। इसके अन्तर्गत खेचर, गन्धर्व, किन्नर आदि माने जाते हैं। २ सोलह प्रकारके रतिबन्धोंमेंसे एक प्रकारका रतिबन्ध। इसका लक्षण—

"नार्या ऊरुयुगं धृत्वा कराभ्यां ताड़येत् पुनः।
कामयेन्निर्भरं कामी वन्धो विद्याधरो मतः॥"
(रतिमञ्जरी)

३ एक प्रकारका अस्त्र। ४ विद्वान्, पण्डित।

विद्याधर—कई प्राचीन कवि। १ दायनिर्णय और हेमाद्रिप्रयोगके प्रणेता। २ श्रौताधानपद्धतिके रचयिता। ३ एक प्रसिद्ध धर्मशास्त्रवेत्ता। दानमयूखमें इनका उल्लेख है। ४ दूसरा नाम चरित्रवर्द्धन। ये साधारणतः साहित्यविद्याधर नामसे ही परिचित थे। इनके पिताका नाम रामचन्द्र भिषज् और माताका नाम सीता था। चालुक्यराज त्रिसलदेवके समय इन्होंने शिशुहितैषिणी नामकी कुमारसम्भवटीका, साहित्यविद्याधरी नामकी नैषधीयटीका, राघवपाण्डवीयटीका, शिशुपालवधटीका तथा साधु अरड़कमल्लके अनुरोधसे रघुवंशटीका आदि ग्रन्थ लिखे। ५ एक कवि, लुल्लके पुत्र। ६ एक कवि, शुष्कटसुखवर्माके पुत्र।

विद्याधर—चन्देलवंशीय एक राजा। इनके पिताका नाम गोण्ड और माताका नाम भुवनदेवी था।

विद्याधर—एक बौद्धधर्म्मानुरागी। श्रावस्तिकी शिलालिपिसे जाना जाता है, कि ये अजावृष नगरमें बौद्धयतियोंके रहनेके लिये एक मठ बना गये हैं। इनके पिता जनक गाधिपुर (कन्नौज) राजगोपालके मन्त्री थे। विद्याधरने भी पीछे गोपालके वंशधर मदनका मन्त्रित्व किया था।

विद्याधरआचार्य—प्रसिद्ध तान्त्रिक आचार्य। तन्त्रसारमें इनका उल्लेख है।

विद्याधरकवि—एक ग्रन्थकार। इन्होंने केलिरहस्यकाव्य, रतिरहस्य और एकावली नामक अलङ्कारग्रन्थ लिखे हैं। मल्लिनाथने किरातार्ज्जुनीयमें शेषोक्त ग्रन्थका उल्लेख किया है।

विद्याधरत्व (सं० क्ली०) विद्याधरस्य भावः त्व। विद्याधरका भाव या धर्म।

विद्याधरपिटक (सं० क्ली०) बौद्धपिटकभेद।

विद्याधरभञ्ज—उड़ीसाके भञ्जवंशीय एक राजा, शिलाभञ्जदेवके पुत्र।

विद्याधरयन्त्र (सं० क्ली०) विद्याधराभिधं यन्त्रं। औषध पाकार्थ वैद्योक्त यन्त्रभेद। इस यन्त्रकी प्रस्तुत-प्रणाली भावप्रकाशमें इस प्रकार लिखी है—एक थालीमें पारा रख कर उस पर दूसरी थालीको ऊद्ध्वंमुखी रख मिट्टीसे बीचका जोड़ बंद कर दे। ऊपरकी थालीमें पानी भर कर दोनों मिली हुई थालियोंको पाँच पहर तक आग पर रख उतार ले। इसके बाद ठंढे होने पर उस यन्त्रसे रस निकाल ले। इस तरह जो यन्त्र तय्यार होता है, उसे विद्याधर यन्त्र कहते हैं।

विद्याधररस (सं० पु०) ज्वराधिकारोक्त औषधविशेष। पारा, गन्धक, तांबा, सोंठ, पीपल, मिर्च, निसोथ, दन्तीबीज, धतूरेका बीज, अकवनका मूल और काठविष, समान समान भाग ले कर चूर्ण करे। कुल मिला कर जितना हो उतना जयपालका चूर्ण उसमें मिलावे। पीछे उसे थूहरके दूध और दन्तीके काढ़ेमें यथाक्रम अच्छी तरह भावना दे कर २ रत्तीकी गोली बनावे। इसका सेवन करनेसे दस्त खुलासा उतरता है तथा सामज्वर, मध्यज्वर और गुल्मरोग आदि जाते रहते हैं।

दूसरा तरीका—गन्धक, हरिताल, स्वर्णमाक्षिक, ताम्र, मैनसिल और पारद समान भाग ले कर एक साथ मिलावे। पीछे पीपलके काढ़े और थूहरके दूधमें यथाक्रम एक एक दिन भावना दे कर २ रत्तीकी गोली

बनावे। अनुपान मधु और गायका दूध है। इसके सेवनसे यकृत् प्लीहादि रोग नष्ट होते हैं।

विद्याधराभ्र (सं० क्ली०) शूलरोगकी एक औषध। प्रस्तुत-प्रणाली—विड़ङ्ग, मोथा, आँवला, हर्रे, बहेड़ा, गुलञ्च, दन्तीमूल, निसोथ, चितामूल, सोंठ, पीपल और मिर्च, प्रत्येक २ तोला, जारित लोहा ३२ तोला, अवरकको भस्म ८ तोला, हंसपदीके रसमें शोधित हिंगुलोत्थ पारा १॥ तोला, शोधित गन्धक २ तोला। पहले पारा और गन्धकको कज्जली बना कर उसमें लोहा और अवरक मिलावे। पीछे और दूसरे दूसरे द्रव्य मिला कर घी और मधुके साथ उसे अच्छी तरह घोंट एक स्निग्ध भाण्डमें रखे। पहले २ या ३ माशा गायके दूध या ठंढे पानीके साथ सेवन किया जाता है। पीछे अवस्थानुसार उसकी माता घटाई वा बढ़ाई जा सकती है। यह नाना प्रकारके शूल और अम्लपित्तादि रोगनाशक तथा परिणामशूलकी यह एक उत्कृष्ट औषध है।

विद्याधरी (सं० स्त्री०) विद्याधर नामक देवताकी स्त्री।

विद्याधरीभूत (सं० त्रि०) अविद्याधरो विद्याधरोभूतः। जो विद्याधर हुआ हो। (कथास० २५।२६२)

विद्याधरेन्द्र (सं० पु०) १ राजभेद, विद्याधरके राजा। (राजतर० १।११५) २ कपीन्द्र, जाम्बुवान्।

(महाभारत)

विद्याधरेश्वर (सं० पु०) पुराणानुसार एक शिवलिङ्गका नाम। (कूर्मपुराण)

विद्याधाम मुनिशिष्य—एक कवि। इन्होंने वर्णनउपदेश-साहस्रीवृत्ति नामक एक ग्रन्थ लिखा है।

विद्याधार (सं० पु०) पण्डित, विद्वान्।

(मालतीमाधव ४१।२)

विद्याधारिन् (सं० पु०) एक वृत्तका नाम। इसके प्रत्येक चरणमें चार मगण होते हैं।

विद्याधिदेवता (सं० स्त्री०) विद्यायाः अधिदेवता। विद्याकी अधिष्ठात्री देवी, सरस्वती।

विद्याधिप (सं० पु०) १ विद्या सिखानेवाला, गुरु। २ विद्वान्, पण्डित।

विद्याधिपति—१ कवि रत्नाकरकी उपाधि। क्षेमेन्द्रकृत सुवृत्ततिलकमें इनका परिचय है। २ एक दूसरे कवि।

विद्याधिराज (सं० पु०) वह जो बहुत बड़ा पंडित हो।

विद्याधिराज—एक अद्वितीय पण्डित ये शिवगुरुके पिता तथा शङ्कराचार्यके पितामह थे

विद्याधिराजतीर्थ—माध्वमतावलम्बी एक संन्यासी। ये आनन्दतीर्थके परवर्त्ती ७वें गुरु थे। इनका पूर्व नाम था कृष्णभट्ट। इनकी लिखी एक भगवद्गीताकी टीका मिलती है। १३३२ ई०में इनकी मृत्यु हुई। स्मृत्यर्थसागरमें इसका उल्लेख है।

विद्याधीशतीर्थ—वेदव्यासतीर्थके शिष्य। इनका पूर्वनाम नृसिंहाचार्य था। १५७२ ई०में इनकी मृत्यु हुई।

विद्याधीशवड़ेरु (सं० पु०) पण्डित, विद्वान्।

विद्याधीशस्वामी—एक पण्डित। स्मृत्यर्थसागरमें इनका उल्लेख है।

विद्याध्र (सं० पु०) विद्याधर नामकी देवयोनि।

विद्यानगर—दाक्षिणात्यमें तुङ्गभद्रानदीके दहिने किनारे पर स्थित एक प्राचीन प्रधान नगर। दाक्षिणात्यके प्राचीन इतिहासमें विद्यानगर बड़ा विख्यात और समृद्धिशाली स्थान था। ऐतिहासिकों और पर्यटकोंने इसका भिन्न भिन्न नाम रखा है। किसी समय विद्यानगर कहनेसे उक्त नामानुसार दाक्षिणात्यका एक सुविशाल साम्राज्य समझा जाता था। इस विद्यानगरका प्राचीन नाम विजयनगर था। ११५० ई०में तुङ्गभद्राके दहिने किनारे राजा विजयध्वजने अपने नाम पर यह नगरी बसाई। विजयनगरके भिन्न भिन्न नामोंको ले कर बहुत-सी कहानियां प्रचलित हैं। इसका दूसरा नाम "विद्याजन या विद्याजनु" भी है। नुनिज (Nuniz)का कहना है, कि राजा देवराय एक दिन तुङ्गभद्रा नदीके अरण्यमय प्रदेशमें शिकार खेलने गये। इस समय जहां प्राचीन विजयनगरका खंडहर पड़ा हुआ है, उस समय वहां घोर जंगल था। उन्होंने यहां आ कर एक विचित्र घटना देखी। देवराय शिकारमें जो सब कुत्ते ले गये थे, उनके छोटे छोटे खरगोश द्वारा मारे जाने पर वे बड़े विस्मित हुए। यह दृश्य देख कर जब वे लौट रहे थे, तब उन्होंने तुङ्गभद्राके किनारे एक तपस्वीको देखा। उनको देख राजाने उनसे यह अद्भुत और अलौकिक विवरण कह सुनाया। इनका

नाम माधवाचार्य था। माधवाचार्यने कहा—'इस अरण्य में ऐसा स्थान कहां है, क्या हमें दिखा सकते हो?' राजा देवराय माधवाचार्यको अपने साथ ले उस स्थान पर पहुंचे। आचार्यने कहा 'राजा यह स्थान बड़ा रमणीय है। तुम यहीं अपना राजप्रासाद और दुर्ग बनाओ। अगर तुम ऐसा करोगे, तो तुम्हारे बलवीर्यके प्रभाव और वभवसे तुम्हारी जय जरूर होगी।' देवरायने इनकी स्मृतिके लिये इस स्थानका नाम 'विद्याजन' या "विद्याजनु" रखा।

फेरिस्ताके अभिमतसे इस नगरका नाम 'विद्यानगर' है। फेरिस्ताका कहना है, कि १३४४ ई०में वरङ्गुलके निकटवर्त्ती स्थानवासी गादरदेवके पुत्र कृष्णनायक कार्णाटिकराज वेलनदेवके पास चुपकेसे गये और उनसे कहा 'हमने सुना है, कि दाक्षिणात्यमें मुसलमानोंने धीरे धीरे अपना प्रभाव फैला लिया है, बहुतेरे मुसलमान यहां आ कर बस रहे हैं। हिन्दू साम्राज्यको तहस नहस करना ही उनका उद्देश्य है, इसलिये जल्द उन्हें बिताड़ित कर देना नितान्त आवश्यक है।' वेलनदेवने यह सुनते ही देशके प्रधान प्रधान मनुष्योंको बुलाया तथा पहाड़ी प्रदेशमें निरापत्स्थान पर राजधानी स्थापित करनेका प्रस्ताव किया। कृष्णनायकने कहा 'यदि यह परामर्श स्थिर हो, कि हिन्दूमात्र ही मुसलमानोंके विरुद्ध खड़े होंगे तब मैं सेनानायकका भार ग्रहण करने को प्रस्तुत हूं।' प्रस्ताव कायम रह गया। वेलनदेवने अपने राज्यके सीमान्त प्रदेशमें अपने पुत्र 'विजा' के नाम पर 'विजानगर' स्थापित किया। किसी किसी का कहना है, कि फेरिस्ताकी यह उक्ति अयौक्तिक और अलीक है। विजयनगरके स्थापनके विषयमें फेरिस्तामें जो लिखा है, वह तारीख और विवरण रायवंशावली तथा विद्यारण्यके शासनमें वर्णित विवरणके साथ मेल नहीं खाता। पुर्त्तगीज पर्यटक विजयनगरको विज्नगा (Bisnaga) कहते थे। इटलीके पर्यटकोंने भी यह नगर देखा था। उन्होंने इसका नाम विजेनगेलिया (Bezengalia) रखा था। कनाड़ी भाषाके प्राचीन ताम्रशासनमें यह स्थान पहले आनगुंडो कहलाता था। संस्कृतमें यह हस्तिनावती नामसे प्रसिद्ध था। विचेननगर और विद्यानगर यह विजयनगरका ही दूसरा नाम है। १३३६ ई०में सुविख्यात महाप्रभावशाली संन्यासी माधवाचार्य विद्यारण्यने प्राचीन विजयनगरके ध्वंसावशेष पर पुनः नगर प्रतिष्ठित किया। माधवाचार्य विद्यारण्य संक्षेपतः 'विद्यारण्य' नामसे परिचित थे। उन्हींके नामानुसार प्राचीन विजयनगर 'विद्यानगर' नामसे अभिहित हुआ।

विद्यानगरका आधुनिक परिचय।

आज कल वह विजयनगर नहीं है, न वह जगद्विख्यात विद्यानगर ही है। किन्तु उस प्राचीन महासमृद्धिशाली नगरका चिह्न आज भी विलुप्त नहीं हुआ है। हम विजयनगर वा विद्यानगरका इतिहास लिखनेके पहले इसके वर्त्तमान नाम और अवस्थाका थोड़ा परिचय देते हैं। मन्द्राजके वेलरी जिलेमें अभी हाम्पी नामक जो खण्डहरयुक्त एक नगर देखनेमें आता है, वह विद्यानगरका स्मृतिचिह्नस्वरूप आज भी विद्यमान है। हाम्पी तुङ्गभद्रा नदीके तट पर वेलरीसे ३६ मील दूर उत्तर-पश्चिममें पड़ता है। इस ध्वंसावशेष-भूखण्डका परिमाण ९ वर्गमील है। आज भी यहां एक सालाना मेला लगता है। अभी हसपेट नगरमें एक रेलवे स्टेशन हो गया है। इस स्टेशनसे हाम्पी ६ मील दूर है। कमलपुर नामक एक सुप्रसिद्ध स्थान इस हाम्पी नगरके अन्तर्गत है। तुंगभद्राके दहिने किनारेसे कमलपुर तीन मील दूर पर अवस्थित है। कमलपुरमें लोहे और चीनीका कारखाना है। यहां प्राचीन बहुतसे देवमन्दिरोंका भग्नावशेष आज भी देख पड़ता है। नरपति राजाओंके समय हाम्पी नगरी बड़ी समृद्धिशाली थी। नरपति राजाओंने हाम्पीमें बहुतसे सुन्दर सुन्दर देवमन्दिर बनवाये थे। भ्रमणकारिगण उन मन्दिरोंका ध्वंसावशेष अभी भी देखने आते हैं। उनमेंसे विरूपाक्ष, रामस्वामी, विठोवा और नरसिंहस्वामीके मन्दिर सबसे श्रेष्ठ हैं। इनके अलावा अनेक मन्दिर और मण्डप टूट फूट गये हैं। विरूपाक्ष मन्दिरमें पद्मावतीश्वर महादेव विराजमान हैं। कोई कोई कहते हैं, कि यह मन्दिर माधवाचार्य विद्यारण्य स्वामीके समयका बना हुआ है। उनका उपासनास्थान और समाधि आज भी मौजूद है। यहां उनके

शिष्य लोग शङ्कराचारी नामसे पुकारे जाते हैं। ये इस विरूपाक्ष-मन्दिरके एक हिस्सेमें रहते हैं। गोपुर, शिवालय और सामनेका मण्डप बहुत बड़ा और ग्रेनाइट् पत्थरका बना हुआ है। इसके सामनेकी तिप्पकुल पुष्करिणी चारों ओर ग्रनाइट पत्थरसे बंधी हुई है। यहां वार्षिक रथोत्सव होता है।

रामस्वामीका मन्दिर तुङ्गभद्राके तट पर अवस्थित है। इसके दूसरे किनारे ऋष्यमुख पर्वत है। रामस्वामीके मन्दिरसे आध मील दूर तुङ्गभद्राके दाहिने किनारे सुप्रसिद्ध विठोवा-मन्दिर विराजमान है। इसकी गठन और कारुकार्य बहुत सुन्दर है। तालिकोटा-युद्धके बाद यवन सेनाओंने विजयनगर ध्वंस कर यह देवालय लूट लिया था। उन्होंने धनके लोभसे मूलस्थानसे श्रीमूर्त्ति दूरमें फेंक कर मन्दिरकी मेज तक तहस नहस कर डाली थी। आज कल विट्ठलदेवकी श्रीमूर्त्ति दीख नहीं पड़ती। मुसलमानोंके जुल्मसे श्रीमूर्त्ति अन्तर्हित हो गई हैं। प्राचीनकालकी गौरवकीर्त्तिके शेष चिह्नस्वरूप दुर्गका भग्नावशेष आज भी मौजूद है। दुर्गके अन्दर राजभवनका भग्नावशेष, भग्न देवालय, विचारालय, हस्तिशाला और उष्ट्रशालाके सिवाय और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। वह विशाल समृद्धिशालिनी नगरी अभी महाश्मशानमें परिगणित हो गई है।

विद्यानगरका पूर्व इतिहास।

पूर्व ही कह आये हैं, कि १५५० ई०में नृपति विजयध्वजने विजयनगर बसाया। किन्तु ११५० ई०के पहले ही इस प्रदेशकी समृद्धिशालिताका परिचय मिलता है। ९वीं सदीके प्रारम्भमें सलिमान नामक एक मुसलमान बनियेने सबसे पहले यहांका वृत्तान्त प्रकाशित किया। ये बसोरा नामक स्थानमें रहते थे। सलिमानने वलहरा राजाका नाम उल्लेख किया है।

सलिमानने और भी कहा है, कि थाफेक राजाका राज्य उतना बड़ा नहीं था। वहांकी स्त्रियोंका शरीर जैसा सुन्दर था वैसा भारतमें और कहीं भी नहीं। इस थाफेक राज्यके अलावा रहमी नामका और भी एक राज्य है। वहांके राजाकी काफी सेना थी। वे पचास हजार हाथी ले कर लड़ाईमें जाते थे। इस देशमें सूती कपड़ा बड़ा सुन्दर और महीन तैयार होता था। अरबी ग्रन्थके अनुवादक मुसो रैनो इस रहमी साम्राज्यको दाक्षिणात्यका सुप्रसिद्ध विजयनगर या विजयपुर बता गये हैं।

अब विजयनगरके संस्थापक विजयध्वजकी वंशावलीके सम्बन्धमें थोड़ी आलोचना की जाती है। दाक्षिणात्यमें तुङ्गभद्रा नदीके उत्तरी तट पर आज कल जो आनगुंडी राज्य विद्यमान है, यही प्राचीन किष्किन्ध्या कहलाता है। शिलालिपि पढ़नेसे मालूम होता है, कि चन्द्रवंशीय नन्दमहाराज १०१४ ई०से ले कर १०७६ ई० तक आनगुंडीके राजसिहासन पर प्रतिष्ठित थे। वे अपनी जन्मभूमि वाह्लिकदेशसे दाक्षिणात्यमें भ्रमण करनेके लिये आये और विधाताके नियतिक्रमसे किष्किन्ध्यामें अपने पराक्रमसे आनगुण्डी राजवंशकी एक अभिनव भित्ति कायम की। उनके तिरोभावके बाद १०७६ ई०में चालुक्य महाराज राजगद्दी पर बैठे और १११७ ई० तक उन्होंने शासनकार्य चलाया। चालुक्य-महाराजके तीन पुत्र हुए—विज्जलराज, विजयध्वज और विष्णुवर्द्धन। विज्जलरायने कल्याणपुर जा कर एक स्वतन्त्र राज्य कायम किया। सबसे छोटे विष्णुवर्द्धनकी कोई बात इतिहासमें नहीं मिलती। मंझले विजयध्वज सचमुच विश्वविश्रुतकीर्त्ति स्वनामधन्य महापुरुष थे। इन्होंने ही पुण्यतोया तुङ्गभद्राके दहिने किनारे अपने नाम पर सम्भवतः ११५० ई०में विजयनगर नामक जगद्विख्यात नगर संस्थापन किया। ये १११७ ई०में आनगुण्डीके पैतृक राजसिंहासन पर बैठे थे। विजयनगर बसानेके बाद ५ वर्ष तक ये जीवित रहे। इनके परलोक सिधारने पर ११५५ ई०में इनके पुत्र अनुवेम विजयनगरके सिंहासन पर बैठे। ११७९ ई०में इनकी मृत्यु हुई। इसके बाद इनके पुत्र नरसिंह देवरायने उसी वर्ष सिंहासन पर बैठ कर ६७ वर्ष तक राज्यभोग किया। ये बहुत दिनों तक विजयनगरके सिंहासन पर अधिष्ठित रहे, इसलिये मुसलमान लोग इनके नामके साथ उक्त राज्यका सम्बन्ध दृढ़ करनेके लिये विजयनगरको 'नरसिंह' कहा करते थे। १२४६ ई०में ये करालकालके मुखमें पतित हुए। उसी साल रामदेवराय

राजगद्दी पर बैठे। रामदेवरायने १२४६से ले कर १२७१ ई० तक राजत्व किया। इसके बाद उनके पुत्र प्रताप १२७१ ई०से १२९७ ई० तक विजयनगरके सिंहासन पर प्रतिष्ठित रहे। १२९७ ई०में प्रताप रायकी मृत्यु हुई। तदनन्तर उसी वर्ष उनके पुत्र जम्बूकेश्वर रायने राजपद पर प्रतिष्ठित हो १३३४ ई० तक राज्य किया। जम्बूकेश्वरके कोई पुत्र न था। इनकी मृत्युके बाद सारे देशमें अराजकता फैल गई। इस समय माधवाचार्य विद्यारण्यने श्रृङ्गेरी मठसे विजयनगर लौट कर वहां अपने नामानुसार विद्यानगरकी प्रतिष्ठा की। रायवंशावलीसे यह विवरण लिया गया है। आनगुण्डीके वर्त्तमान राजाके पास आज कल भी यह वंशावली मिलती है।

विद्यानगर।

जो हो, हमलोग ११५० ई०से विजयनगरका इतिहास स्पष्टरूपसे देख पाते हैं। किन्तु बहुत थोड़े दिनोंमें ही अनेक प्रकारकी शासनविश्रृङ्खलासे विजयनगरकी अवस्था शोचनीय हो गई थी। १३३६ ई में विजयनगरके भग्नावशेषके ऊपर माधवाचार्य विद्यारण्यने विद्यानगर बसाया। किस प्रकार उनके द्वारा विद्यानगर स्थापित हुआ, यह कहानी बड़ी विचित्र है।

विजयनगरके शेष शासनकर्त्ता जम्बूकेश्वर राय १३३५ ई०में परलोक सिधारे। इनके कोई वंशधर न थे, जम्बूकेश्वरकी मृत्युके बाद विजयनगरका राजसिंहासन नृपतिशून्य हो गया जिससे बहुत जल्द ही चारों ओर घोर अराजकता फैल गई। समूचे देशमें अशान्तिकी आग धधक उठी।

इस समय दयामय श्रीभगवान्‌ने दाक्षिणात्यमें हिन्दू राजत्वका मूल सुदृढ़ करनेके लिये हिन्दूराज्य विस्तारका एक अभिनव अद्भुत उपाय रचा। जम्बूकेश्वरकी मृत्युके बाद एक वर्ष बीतते न बीतते १३३६ ई०में माधवाचार्यने विजयनगरके सिंहासन पर यादवसन्तति नामक एक नया राजवंश प्रतिष्ठित किया। इस वंशके आदिपुरुष बुक्कराय थे। यहां माधवाचार्यका थोड़ा विवरण उल्लेख करना आवश्यक है।

माधवाचार्य परम पण्डित ब्राह्मण थे, किन्तु दारिद्र दशासे निष्पिष्ट हो कर वे धन पानेके लिये हाम्पी नगरमें भुवनेश्वरीदेवीके मन्दिरमें घोर तपस्यामें लग गये। लेकिन देवीने उनकी मनस्कामना पूरी न कर स्वप्नमें उन्हें आदेश किया—"तुम्हारी कामना इस जन्ममें पूरी न होगी, दूसरे जन्ममें तुम धनलाभ करोगे।" स्वप्नमें देवीका यह आदेश पा माधव उसी समय हाम्पीनगर परित्याग कर श्रृङ्गेरी मठ पहुंचे और वहां उन्होंनेसंन्यास लिया। अन्तमें वे इस मठमें जगद्गुरु विद्यारण्य नामसे प्रसिद्ध हुए। माधवाचार्य विद्यारण्य वेदभाष्यकार सायणके भाई तथा स्वयं सर्वशास्त्रमें सुपण्डित थे। सविस्तर विवरण विद्यारण्य स्वामी शब्दमें देखो।

जो हो, माधवाचार्यने जब सुना, कि विजयनगरके राजा जम्बूकेश्वरके मरने पर समूचे देशमें भीषण अराजकता उपस्थित हुई है, मुसलमान लोग दाक्षिणात्यमें अपना प्रभाव फैलानेके लिये प्रस्तुत हो रहे हैं तथा सनातन हिन्दूधर्मकी यथेष्ट ग्लानि हो रही है, तब माधव श्रृङ्गेरी मठके निभृत साधनपीठका परित्याग करके कक्षभ्रष्ट ग्रहकी तरह तीव्र गतिसे विश्रृङ्खलापूर्ण विषय व्यापारमय विजयनगरकी ओर दौड़े। जिस सर्वमङ्गला भुवनेश्वरी देवीके पादमूलसे सब दिनोंके लिये विदाय ले कर माधवाचार्य सुदूर श्रृङ्गेरीमठ पहुंचे थे, वे सबसे पहले आमित नगरमें उसी भुवनेश्वरीके मन्दिरमें आ कर प्रणत हो पड़े। देशकी रक्षाके लिये सर्वत्यागी संन्यासीने अपनी मोक्षसाधना त्याग करके माताके चरणोंमें आत्मसमर्पण किया। कितने दण्ड तथा प्रहर बीत गये, श्रीविद्यारण्यने देवीके चरणसे अपना सिर न हटाया। अन्तमें दयामयीने साक्षात् हो कर कहा, "अब तुम्हारी वासना पूरी होगी। तुम जब माधवाचार्य थे, तब तुम्हें धन-प्राप्तिका बर नहीं दिया लेकिन अब तुम्हारा पुनर्जन्म हुआ है—तुम अब श्रीविद्यारण्य स्वामी सर्वत्यागी संन्यासी हुए, अब तुम्हारे इस अभिनव जीवनमें वह प्रार्थना पूरी हुई। तुम्हारे द्वारा अब विजयनगर क्रमशः श्रीसम्पन्न होगा।" विद्यारण्य स्वामीने शिर उठाया, इसी दिनसे उन्होंने विशाल विजयनगरका भार अपने कंधे पर लिया और साम्राज्यकी भलाईके लिये निष्कामभावसे जीवन समर्पण किया। १३३६ ई०में इस सर्वत्यागी संन्यासीके पवित्रतम नामसे ही ध्वंसावशेष विजयनगरमें अतीव समृद्धिशाली विद्यानगर प्रतिष्ठित हुआ।

विद्यारण्य स्वामीने विद्यानगर स्थापित कर दश वर्ष तक राज्यशासन किया। इसके बाद वे सङ्गमराज-वंशको सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर आप मन्त्री बन राज-कार्य्य चलाने लगे। यद्यपि विद्यारण्य स्वामीने दश वर्ष तक स्वयं विद्यानगरका शासन किया, तो भी वे राजा वा महाराज नामसे पुकारे न गये। सङ्गमराज प्रथम हरिहर नवस्थापित विद्यानगरके प्रथम राजा हुए। हरिहरके चार भाई थे—कम्प, बुक्क, मारप्प और मुद्दप्प। ये सभी भाई समरपटु और अति विश्वासी थे। हरिहरने इन सबों पर राज्यका दायित्वपूर्ण कार्य्यभार सौंपा था। इससे एक ओर राजकार्यकी जैसी सुशृङ्खला और सुबन्दोबस्त हुआ, दूसरी ओर उनके भाई लोग भी वैसी ही राज्यकी सभी अवस्थाएं जाननेकी सुविधा समझ गये। विद्यानगरके इतिहासमें प्रथम बुक्कका नाम चिरप्रसिद्ध है। समरविद्यामें बुक्कका असाधारण पाण्डित्य था। ये समर-विभागके प्रधान कर्मचारी पद पर नियुक्त हुए। कड़ापा और नेल्लुर अञ्चलमें करप-बन्दोबस्त और जमीन जमावृद्धिका कार्यभार इनके हाथ पड़ा। मारप्प कदम्ब राजाओंका प्रदेश अपने दखलमें कर महिसुरके पश्चिमके चन्द्रगिरि अञ्चलमें अवस्थान करके वहांका शासन करने लगे। हरिहरके एक पुत्र हुआ जिसका नाम पड़ा सोगन; किन्तु हरिहरके जीते ही सोमनकी मृत्यु हो गई और बुक्क ही युवराजके पद पर अभिषिक्त हुए।

किन्तु राजगुरु माधवाचार्य विद्यारण्यको बिना सलाह लिये इस विशाल साम्राज्यका एक तृण भी स्थानान्तरित नहीं होता था। उनके परामर्शसे ही पांचों भाई पांचों पाण्डवके समान राज-कार्य्य चलाते थे। शृङ्गेरीमठके साथ विद्यानगरका सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ हो गया था। शृङ्गेरीमठका एक अनुशासन पढ़नेसे मालूम होता है, कि पांचों भाई और लड़केके साथ हरिहरने शृङ्गेरीमठके गुरु श्रीपाद सशिष्य भारतीतीर्थको नौ गाँव प्रदान किये। हरिहरने शृङ्गेरीमठके निकट हरिहरपुर नामक एक बृहत् पल्ली स्थापन कर केशवभट्ट नामक एक ब्राह्मणको उक्त गाँव दान कर दिया। हरिहरके समय महिसुरका अनेक अंश विद्यानगरके अन्तर्भुक्त हुआ। हरिहरको ही दूसरे दूसरे राजा सम्राट् समझ कर मान्य करते थे। फेरिश्ता पढ़नेसे जाना जाता है, कि हरिहरने हिन्दू राजाओंके साथ मिल कर दिल्लीके सुलतानको परास्त किया था। इस युद्धमें जय लाभ कर वरङ्गल, देवगिरि, होयशल, बनाला आदि दक्षिण अञ्चलके राजाओंके शासित बहुतसे प्रदेश उनके कब्जेमें आ गये।

एक अनुशासन पढ़नेसे पता चलता है, कि हरिहरने नागरखण्ड तक अपना शासनप्रभाव विस्तार किया था। वर्तमान महिसुरका उत्तर-पश्चिम अंश ही नागरखण्ड नामसे प्रसिद्ध है।

"राजवंश" नामक विजयनगरकी राजवंशावलीके विवरणसे जाना जाता है, कि हरिहरने १३३६से ले कर १३५४ ई० तक राज्य किया। किसी औरका कहना है, कि १३५० ई० पर्य्यन्त ही उनका राजत्वकाल था। इसके भीतर उन्होंने राज्य बढ़ानेके लिये यथेष्ट चेष्टा की थी। १३४४ ई०में समूचे दाक्षिणात्यसे उन्होंने मुसलमानोंको भगा दिया था। कोई कोई कहते हैं, कि हरिहरका दूसरा नाम बुक्क था।

बुक्कराय।

हरिहरकी मृत्युके बाद राजसिंहासन पर कौन बैठे, इसको ले कर विस्तर मतभेद देखा जाता है। हरिहरके एकलौते पुत्र उनके जीते ही मृत्युमुखमें पतित हुए थे। हरिहरके मरने पर उनके चार सहोदर भाई मौजूद थे, उनमेंसे कम्प ही बड़े थे। मि० स्यूयेलका कहना है, कि हरिहरके परलोकवासी होने पर कम्प ही राजपद पर प्रतिष्ठित हुए थे, किन्तु असाधारण वीर बुक्कने उन्हें विताड़ित कर अपने प्रभावसे ही सिंहासन अधिकार कर लिया। इस विषयमें बहुत तर्क वितर्क है। फलतः हरिहरके बाद बुक्क ही विद्यानगरके शासनकर्त्ता हुए थे।

बुक्कराय ठीक कब सिंहासन पर बैठे, यह ले कर भी मतभेद है। किसीका कहना है, कि १३५० ई०में, फिर कोई कहते हैं, कि १३५५ ई०में वे राजगद्दी पर बैठे थे। बुक्कके असाधारण प्रताप था—उनके प्रभावसे समूचा दाक्षिणात्य काँपता रहता था। एक ताम्रशासनमें लिखा है, कि बुक्कके शासनकालमें वसुमती प्रचुर शस्यशालिनी थी, प्रजाको किसी प्रकारका कष्ट न था, जनसमाजमें

सुखका प्रवाह प्रवाहित था और सारा देश धनधान्यसे समृद्धिशाली हो उठा था।

बुक्कके राजत्वकालमें विद्यानगरका जो अतुल ऐश्वर्य्य हुआ था, अनेक ताम्रशासनमें उसका परिचय मिलता है। इस समय सुविशाल दुर्ग, हजारों सेना, सैकड़ों हाथी और विपुल युद्धसम्भार विद्यानगरकी विश्वविजयिनी कीर्त्ति उद्घोषित करता था।

बुक्कके अपर तीन भाई अपने अपने निर्दिष्ट प्रदेशोंके अधिकारी हो कर उन्हों सब प्रदेशोंका शासन करते थे। आवश्यकता पड़ने पर आपसमें सलाहके लिये समय समय पर ये लोग विद्यानगर आते थे। बुक्कके शासनकालमें १३६१ ई०को दिल्लीके सुलतानके साथ विद्यानगरके राजाकी लड़ाई छिड़ी थी। उस समय बुक्क राजाके एक असाधारण वीर सेनापति थे। उनका नाम था मल्लिनाथ। मल्लिनाथका नाम सुन कर मुसलमानोंका हृदय कांप उठता था। वे बहुत दिनों तक सेनापति रहे थे। उन्होंने अलाउद्दीनको तथा महम्मद शाहको परास्त किया था। किन्तु फेरिस्ता पढ़नेसे मालूम होता है, कि बाह्मनी राज्यके अधिपति महम्मद शाहने बुक्क राजाकी सेनाओंको पानी पानी कर डाला था। उन्होंने स्वयं विद्यानगरमें प्रवेश कर विद्यानगरकी बड़ी दुर्दशा की थी। अन्तमें बहुत अनुरोध करने पर उनका क्रोध शान्त हुआ। फेरिस्ताका कहना है, कि इस घोर युद्धमें पांच लाख हिन्दू मारे गये थे। मि० स्यूयेलने फेरिस्ताके इन सब विवरणोंको नितान्त अतिरञ्जित समझा है। फलतः फेरिस्ताने इस विषयमें जो विस्तृत विवरण लिखा है, वह बहुत कुछ झूठा भी है। फेरिस्ताके ग्रन्थकारने स्वजातियोंके मुखसे बहुत-सी अतिरञ्जित घटनाओंको सुन कर ही महम्मद शाहका कीर्त्तिगौरव अयथा बढ़ाया है।

जो हो, इसमें जरा भी सन्देह नहीं, कि इस युद्धमें दोनों पक्षोंकी महती क्षति हुई थी। इस युद्धके बाद कुछ समय तक दोनों शासनकर्त्ताओंमें फिर युद्ध-विग्रह न हुआ था।

फेरिस्तामें बुक्करायको कृष्णराय कहा है। मल्लिनाथ हाजिमल नामसे पुकारे गये हैं। इस प्रकार अपरापर नामोंकी भी यथेष्ट पृथक्ता देखी जाती है। फेरिस्ता पाठ करनेसे पता चलता है, कि किशन राय उर्फ बुक्करायके साथ महम्मद शाहके पुत्रकी और एक बार लड़ाई छिड़ी थी। इस युद्धमें बुक्कराय भाग कर सेतुबन्ध रामेश्वर चले गये और वहां जङ्गलमें छिप रहे थे। किन्तु दूसरे दूसरे ऐतिहासिक फेरिस्ताकी इस उक्ति पर अविश्वास करते हैं।

नूनीज़ (Nuniz)·ने लिखा है, कि देवराय (हरिहर राय) की मृत्युके बाद बुक्कराय पर राज्य भार सौंपा गया। बुक्करायने विद्रोहियोंको विताड़ित कर बहुत-से स्थान अपने राज्यमें मिला लिये थे, यहां तक कि उन्होंने उड़ीसा तक अपने राज्यमें शामिल कर लिया था। इनके मरने पर इनके पुत्र सिंहासन पर आरूढ़ हुए। मि० स्यूयेलका कहना है, कि १३७६ ई०में बुक्करायकी मृत्यु हुई। महाराजाधिराज परमेश्वर वीर बुक्करायके पुत्रके प्रदत्त एक अनुशासनपत्रमें देखा जाता है, कि उन्होंने अपने पिताके शिवसायुज्य पानेके लिये १२६८ शकमें एक गाँव ब्राह्मणोंको दान किया। इस गाँवका नाम रखा गया बुक्करायपुर। आधुनिक ऐतिहासिकोंने सिद्धान्त किया है, कि १३५४ ई०से ले कर १३७७ ई० तक बुक्करायने राज्य किया था।

२य हरिहर राय।

बुक्करायकी दो पत्नीके गर्भसे पाँच सन्तान पैदा हुईं। उनकी पहली स्त्रीका नाम था गौराम्बिका। इस गौराम्बिकाके गर्भसे हरिहरने जन्मग्रहण किया। १३७७ ई०से ले कर १४०४ ई० तक हरिहरने राजत्व किया था। हरिहर पिताके जेठे लड़के थे। इसलिये जब ये सिंहासन पर बैठे तब कोई छेड़छाड़ न हुई। हरिहरके साथ भी गुलवर्गके बाह्मनी राज्यके मुसलमान शासनकर्त्ताओंका युद्ध हुआ था। इसमें हरिहरने ही विजय पाई थी।

मि० स्यूयेलका कहना है, कि हरिहर २यने लगभग २० वर्ष तक राज्यशासन किया था। हरिहर महाराजाधिराज उपाधिसे भूषित हुए थे। हरिहर देवमन्दिरमें यथेष्ट वृत्तिका बन्दोबस्त कर गये हैं तथा दाक्षिणात्यमें उन्होंने अपने राज्यकी भित्ति मजबूत कर रखी थी। माधवाचार्य-

का भाई सायण उनके प्रधान मन्त्री थे। इनके मुदा और एरुग नामके दो सेनापति थे। २य हरिहर धर्ममतमें बड़े उदार थे। वे दूसरे दूसरे सम्प्रदायके मन्दिर और मठादिके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। गुंडा नामक उनके और एक सेनापतिका परिचय मिलता है। हरिहरको राज्य पाते ही लड़ाईकी तैयारी करनी पड़ी थी। उन्होंने गोयानगरीसे मुसलमानोंको निकाल बाहर कर दिया था। इनकी पाटरानीका नाम अलाम्बिका था। शासनादि पढ़नेसे मालूम होता है, कि महिसुर, धारवाड़, काञ्चीपुर, चेङ्गलपट और त्रिचिनापल्लीमें भी इनका अधिकार फैल गया था। ये विरूपाक्ष शिवके उपासक थे।

बुक्कराय २य।

हरिहर २य तीन पुत्रको छोड़ परलोक सिधारे। उनके प्रथम पुत्रका नाम सदाशिव महाराय, द्वितीयका बुक्कराय २य (ये बुक्कराय देवराय नामसे भी विख्यात थे) और तृतीयका विरूपाक्ष महाशय था। इनमेंसे बुक्कराय २य व देवरायने १४०४ ई०से १४२४ ई० तक राज्यशासन किया। बुक्कराय वा देवराय बड़े पराक्रमी थे। पिताकी मौजूदगीमें ये अनेक बार मुसलमानी सेनाका मुकाबला करनेके लिये समरक्षेत्र भेजे जाते थे। देवरायको निहत करनेके लिये दाक्षिणात्यके मुसलमानोंने बड़ी चेष्टा की थी। दिल्लीके सुलतानने पहली लड़ाई कर देवरायको निहत करनेके लिये प्रस्ताव किया। किन्तु वह परामर्श सुविधाजनक न होनेसे अन्तमें देवरायको या उनके पुत्रको छिपके मारनेका प्रस्ताव हुआ। सरानजी नामक एक काजी इस उद्देश्यसे कतिपय बंधुओंके साथ फकीरके वेशमें देवरायके शिविरमें समुपस्थित हुआ। देवरायके शिविरमें उस समय नर्त्तकी नाच करती थी। फकीरवेशी काजी और राजाके बन्धुगण उसी स्थान पर पहुंचे। दुष्ट काजीने एक नर्त्तकीको देख कर प्रणयी होनेका बहाना किया। यहां तक, कि उसका पाँव पकड़ कर उससे अनुरोध किया, कि तुम मुझे छोड़ राजसभामें जा नहीं सकती। नर्त्तकीने कहा—राजसभामें बादकके अलावा किसीको भी जानेका हुक्म नहीं है। काजी साहब कब छोड़नेवाले थे। नर्त्तकी उसके गुण पर मुग्ध हो कर उसे सभामें ले गई। काजी और उसके बान्धव स्त्रीका रूप धर कर रंगभूमिमें पहुंचे। इस सभामें देवरायके पुत्र उपस्थित थे। ये लोग नाना प्रकारके क्रीड़ाकौतुक दिखाने लगे। अंतमें तलवारका खेल शुरू हुआ। तलवार चलाते चलाते शेषमें इन दुष्टोंने देवरायके पुत्रको और बत्ती बुझा कर सामने जिसको पाया मार डाला। देवराय कहीं दूरमें थे, संवाद पाते ही वे शोकसे मलिन हो गये। दूसरे दिन सेनाओंके साथ वे अपनी राजधानी लौटे। मुसलमान-सेना प्रचुर धन और द्रव्यादि लूट कर ले गई। यह सेना विद्यानगरके चारों ओर हमला करके घूमने लगी। उस समय सैकड़ों ब्राह्मण भी मुसलमानोंके हाथ बन्दी हुए थे। अन्तमें प्रचुर धन दे सुलतानको परितुष्ट कर विदा किया गया।

फिरोज शाहके इस अत्याचारसे विद्यानगरके दक्षिण-पश्चिमाञ्चल प्रदेशमें भीषण शोचनीय दशा उपस्थित हुई थी। देवराय (१म) हरिहर (२य) रायके प्रतिबिम्बस्वरूप थे। किसी किसी ऐतिहासिकका कहना है, कि देवरायके राजत्वकालमें उनके सेनानायकने धारवाड़का दुर्ग बनाया। उस समय फिरोज शाहने इतना जुलम किया था, कि उनके भयसे हिन्दुओंको हमेशा शंका बनी रहती थी। एक घटनाकी बात लिखी जाती है। बाह्मनी राज्यके अन्तर्गत मुद्गलके एक सुनारकी कन्या फिरोज शाह द्वारा हर ली गई थी। इससे देवराय बड़े भीत हुए और उस समय उन्होंने इसकी कन्याको धारवारके राजाके साथ ब्याह कर दिया। १४६७ ई०में इन्होंने फिरोज शाहको समुचित शिक्षा दी थी। उन्होंने दलबलके साथ बाह्मनीराज्यमें प्रवेश कर गाँव और नगर आदि लूटे। १४२२ ई०में महम्मद शाहके अतर्कितभावसे देवरायके खेमे पर आक्रमण करने पर उन्होंने ईखके जंगलमें भाग कर अपनी जान बचाई। अहम्मद शाहने उस समय बेरोक-टोक देवालय, ग्राम और नगरको लूटा तथा राज्यका भी कुछ अंश अपने राज्यमें शामिल कर लिया था। १४४४ ई०में देवरायने यह अंश फिर बढ़ाया। १४५१ ई०में उन्होंने मानवलीला संवरण की। देवरायके राजत्वकाल सम्बन्धमें इस ऐतिहासिककी उक्तिके साथ रायवंशावलीका पार्थक्य दिखाई देता है।

विजयराय १म ।

देवरायकी अनेक पुण्यकीर्त्तिके चिह्न ऐतिहासिकोंने संग्रह किये हैं। देवरायके पाँच पुत्र हुए, किन्तु वे चार पुत्रको छोड़ परलोक सिधारे। छोटे लड़केको कैसे दुष्ट काजीने मारा, वह विवरण पहले ही लिख आया हूं। उनको स्त्रीका नाम था पम्पादेवी। पम्पाके गर्भसे विजयराय, भास्कर, मलन, हरिहर आदि पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। विजयरायने १४४२ ई०से १४४३ ई० तक सिर्फ एक वर्ष राज्यभोग किया। इससे इनके समय कोई विशेष घटना न घटो ।

देवराय २य ।

विजयरायकी पत्नीका नाम नारायणाम्बिका था। नारायणाम्बिकाके गर्भसे विजयरायके दो पुत्र तथा एक कन्या जनो। इनके ज्येष्ठ पुत्रका नाम देवराय था। इन्होंने १४४३से १४४६ ई० तक राज्य किया। देवरायके छोटे भाई पार्वतोराय १४२५ ई०में मृत्युमुखमें पतित हुए। उनकी बहन हरिमादेवीके साथ सलुवतिप्प राजाका विवाह हुआ।

जिस समय द्वितीय देवरायने राज्यभार अपने हाथमें लिया, उस समय सारा दाक्षिणात्य विद्यानगरके राजाके मातहतमें हो गया था। विजयनगरके राजवंश जातिवर्णनिर्व्विशेषसे प्रजापालन करते थे । उन लोगोंके शासनसे शिल्पसाहित्य आदिकी खूब ही उन्नति हुई थी। देवरायके चाचा बड़े प्रभावशाली थे। उन्होंने महामण्डलेश्वर हरिहर राय नामकी ख्याति पाई थी। देवराय जब नाबालिग थे, तब ये ही शासनकार्यकी देखरेख किया करते थे। बहुतसे ताम्रशासन और शिलालिपिमें इनके दानादिका उल्लेख मिलता है।

फेरिस्तामें देवरायके साथ मुसलमान-पति अलाउद्दीन्के भाई महम्मद खाँका एक युद्ध-वृत्तान्त वर्णित है। फेरिस्ताका कहना है, कि देवराय अलाउद्दीनको सालाना कर देते थे। पाँच वर्ष तक उन्होंने कर नहीं दिया। पीछे वे देनेमें इन्कार चले गये। इस पर अलाउद्दीन बड़े बिगड़े और देवरायका राज्य तहस-नहस कर डाला। देवरायने अन्तमें बीस हाथी, काफी रकम तथा दो सौ नर्त्तकी उपढ़ौकनमें दीं। १४४२ ई०में देवराय अपनी अवस्था पर बड़े चिन्तित हुए। गुलबर्गके मुसलमानोंका प्रभाव धीरे धीरे बढ़ता देख उनके मनमें आतङ्कका सञ्चार हुआ। उन्होंने अपने मन्त्री, सभासद और सभापण्डितोंको बुला कर कहा, "मेरे राज्यका परिमाण बाह्मनी राज्यके परिमाणसे कहीं अधिक है। मेरी सेना, धनबल और युद्धका सामान मुसलमानोंसे ज्यादा ही होगा, कम नहीं, किन्तु आश्चर्यका विषय है, कि फिर भी लड़ाईमें मुसलमानोंकी ही जीत हो रही है। इसका कारण क्या ?" उत्तरमें किसीने कहा, कि मुसलमानोंके घुड़सवार और घोड़े बहुत अच्छे हैं, हम लोगोंके वैसे नहीं हैं। किसीने कहा, कि सुलतानके तीरन्दाज बड़े सिद्धहस्त हैं, हम लोगोंके वैसे तीरन्दाज नहीं।

सुचतुर देवराय अपने सेनाबलकी कमजोरी देख सैन्यविभागमें मुसलमानी सेना भर्त्ती करने लगे। उन लोगोंको जागीर मिली, उपासनाके लिये मसजिद बनवा दी गई तथा राज्य भरमें ढिढोरा पिटवा दिया गया, कि मुसलमानोंके प्रति कोई भी अत्याचार न कर सकेगा।

वे अपने सिंहासनके अग्रभाग पर अति सुसज्जित एक काठके बक्समें कुरानसरीफ रखते थे। उनका उद्देश था, कि मुसलमान अपने धर्मानुसार उनके सामने ईश्वरोपासना कर सकें। उन्होंने मुसलमानोंके लिये जो सब मसजिदें बनवा दी थीं, आज भी उन सब मसजिदोंका भग्नावशेष हाम्पा वा हस्तिनावती नगरोंमें दिखाई देता है। केवल देवराय ही नहीं, विद्यानगरके रायवंश धर्ममतके सम्बन्धमें उदार थे। उन लोगोंके विपुल राज्यमें हिन्दू मुसलमान और जैन आदि बहुतसे लोग रहते थे। वे लोग प्रत्येक धर्मसम्प्रदायका आदर करते थे तथा सभी धर्मोंकी मर्यादा रखते थे। देवराय (२य) राजनीतिमें बड़े सुपण्डित थे।

पारस्यदूत अब्दुल रजाकके लिखित विवरणसे जाना जाता है, कि देवरायका भाई देवराय और उनके दलबलको मार कर स्वयं सिंहासन पानेके लिये षड़यन्त्र कर रहा था। एक दिन उसके भाईने सभासदोंके साथ देवरायको अपने यहां निमन्त्रण किया। मौका देख कर उस दुष्टने देवरायके बहुतसे सभासदोंको मार डाला और

आखिर देवरायको भी निमन्त्रणालयमें ले जा कर मारनेकी चेष्टा की। किन्तु देवराय ताड़ गये और निमन्त्रणालयमें न गये। दुर्वृत्तने उसी जगह तलवारके प्रहारसे उन्हें जर्जरित कर दिया, वे मृतप्राय हो गये। उनका दुष्ट भाई उन्हें मरा जान कर चला गया। किन्तु भगवान्‌की कृपासे देवरायकी जान न गई। पीछे उन्होंने दुष्ट भाईको उचित शिक्षा दी थी। अबदुलरजाक स्वयं विद्यानगर गये। इन्होंने यह भी कहा है, १४४३ ई०के शेषमें देवरायके वजीर दाननायकने गुलवर्गा पर आक्रमण किया। इस घटनाके साथ फेरिस्ता-लिखित घटनाका मेल देखा जाता है। अबदुल रजाकका कहना है, कि देवरायके भाईकी दुष्ट चेष्टासे विद्यानगरमें जो दुर्घटना घटी थी, अलाउद्दीनको भी यह संवाद मिला था। इस समय देवरायको तंग करना सुविधाजनक समझ कर उसने बाकी कर मांग भेजा। इस पर देवराय उत्तेजित हो गये। दोनोंकी सीमा पर तुमुल संग्राम छिड़ गया। अबदुल रजाकने कहा—दाननायक गुलवर्गमें प्रवेश कर बहुत-से बन्दियोंके साथ लौटे। फेरिस्ताका कहना है, कि देवरायने बाह्मनीराज्यके मुसलमानों पर अनर्थक आक्रमण किया था। उन्होंने तुङ्गभद्रा पार कर मुद्गलका दुर्ग जीता, रायचूड़ आदि स्थानोंको दखल करनेके लिये पुत्रोंको भेजा। उनकी सेनाने विजापुर पर आक्रमण किया और इन सब स्थानोंकी अवस्था शोचनीय कर डाली थी। उधर अलाउद्दीनने यह संवाद पा कर तेलिङ्गना, दौलताबाद और बेरारसे सेनासंग्रह कर अहमदाबाद भेजा। इस समय उसकी घुड़सवार सेनाकी संख्या ५०००० और पदातिककी ६०००० थी। दो मासके भीतर तीन तुमुल युद्ध हुए—इन युद्धोंमें दोनों पक्षकी महती क्षति हुई थी—हिन्दुओंने पहले जयलाभ किया था, किन्तु आखिर खान जमानके आघातसे देवरायका बड़ा लड़का यमपुरको सिधारा। इस शोचनीय घटनासे हिन्दूसेना तितर बितर हो गई और मुद्गल दुर्गमें भाग चली। अन्तमें देवरायने मेल कर लिया।

अभी जो शासन और शासनलिपि आविष्कृत हुई हैं उनसे जाना जाता है, कि वीरप्रताप देवराय महारायने भारतवर्षके दक्षिण प्रान्त तक अपना शासनप्रभाव फैलाया था। मदुरा जिलेके तिरुमलय आदि स्थानोंमें भी देवरायकी देवकीर्त्तिके चिह्न दिखाई देते हैं। देवरायने समग्र दाक्षिणात्य, भारतके दक्षिण प्रान्त और पूर्वोपकूल पर्य्यन्त अपना राज्य फैलाया था। इनके समय विद्यानगरकी बहुत कुछ श्रीवृद्धि हुई थी—मुसलमानोंको सामयिक कार्यमें नियुक्त कर इन्होंने सैन्यबल बढ़ाया था। देवरायके समय राजस्व भी बहुत बढ़ गया था। इन्होंने "गजबेण्टकर" नामकी एक विशिष्ट उपाधि पाई थी। आप असामान्य वीर थे, फिर भी आपके हृदयमें यथेष्ट दया थी। उत्तरमें तेलिङ्गना और दक्षिणमें तञ्जोर पर्य्यन्त विस्तृत भूभागमें आप स्वयं परिभ्रमण कर देशकी अवस्था जानते थे।

फेरिस्तामें लिखा है, कि अलाउद्दीनने देवरायसे बाकी कर मांगा था। देवरायसे कर मांगना अलाउद्दीनका क्या अधिकार था, यह जानना कठिन है। वर्त्तमान ऐतिहासिक फेरिस्ताकी इस उक्ति पर विश्वास नहीं कर सकते। फलतः कृष्णानदीकी सीमासे कुमारिका अन्तरीप पर्य्यन्त जिनका शासनदण्ड परिचालित होता था, वे अपनेको अलाउद्दीनका करद राजा स्वीकार करें, ऐसा हो ही नहीं सकता। पर हाँ, युद्धविग्रहमें परास्त होने पर कुछ अर्थदान करना असम्भव नहीं। देवराय मल्लिकार्ज्जुन और विरूपाक्ष ये दो पुत्र छोड़ परलोकको सिधारे।

मल्लिकार्जुन।

द्वितीय देवरायकी मृत्युके बाद विद्यानगरके सिंहासन पर कौन अधिरूढ़ हुआ, यह ले कर प्राचीन ऐतिहासकोंमें बहुत मतभेद है। किन्तु अभी जो सब ताम्रशासन और शिलालिपि आविष्कृत हुई हैं, उनकी आलोचना कर देखा गया है, कि २० शिलालिपिमें अविसंवादित भावमें लिखा है, 'देवरायकी मृत्युके बाद १४४६ ई०में उनके लड़के मल्लिकार्जुन राजसिंहासन पर बैठ १४६५ ई० तक राज्यशासन किया। मल्लिकार्जुन विविध नामोंसे पुकारे जाते थे—इमाड़ि बौद्ध देवराय, इमाड़ि देवराय, वीर प्रताप देवराय। श्रीशैल पर जो मल्लिकार्जुनदेव हैं, उन्हींके नामानुसार इनका नामकरण हुआ। मिस्माना

दण्डनायक इनके प्रधान मंत्री थे। ये लोकानुरक्त राजा थे। १४६४ ई०में इनके एक पुत्ररत्नने जन्मग्रहण किया। इस पुत्रके सम्बंधमें कुछ विशेष बातें नहीं जानी जातीं। मल्लिकार्जुन स्वधर्मनिरत थे, इनका दान भी अतुलनीय था। रायवंशावलीमें मल्लिकार्जुनकी जगह रामचन्द्र रायका नाम देखा जाता है। सम्भवतः रामचंद्रराय इन्हीं मल्लिकार्जुनका नामान्तर है। द्वितीय देवरायने दो स्त्रीका पाणिग्रहण किया था। पहली स्त्री पल्लवादेवीके गर्भसे मल्लिकार्जुन और दूसरी सिंहलदेवीसे विरूपाक्ष उत्पन्न हुए थे।

विरूपाक्ष।

मल्लिकार्जुनके स्वर्गवासी होने पर १४६६से १४७८ ई० तक विरूपाक्षने विद्यानगरका शासनभार ग्रहण किया। अभी इस सम्बन्धमें बारह शिलालिपियाँ पाई गई हैं। मल्लिकार्जुन और विरूपाक्षके राज्यशासनके सम्बन्धमें कोई विशेष ऐतिहासिक घटना नहीं जानी जाती। इन दोनोंने कौन काम किया था, इनके समय प्रजाकी अवस्था ही कैसी थी, ये लोग किस प्रकार राज्य करते थे, इनके अधीन कौन कौन राजा किस किस प्रदेशका शासन करते थे, किस प्रकार इन दोनोंकी मृत्यु तथा किस प्रकार इनके वंशके बदले नये व्यक्तिने एकाएक राज्यमें प्रवेश कर राजसिंहासन पर अधिकार जमाया, इन सब घटनाओंका आज तक पता नहीं चला है। आज भी उन सब घटनाओंके ऊपर किसी प्रकारका ऐतिहासिक प्रकाश नहीं पड़ा है। १४६२ ई०में महम्मदशाह वाह्मनीके बेलगाँव छीन लेने पर भी विरूपाक्षने दक्षिणकी ओर मसलीपत्तन तक अपना राज्य फैलाया तथा युसुफ आदिलशाहको वाह्मनी राज्यके विरुद्ध साहाय्य पहुंचाया था।

एक शिलालिपिमें स्पष्ट लिखा है, कि महाराजाधिराज राजा परमेश्वर श्रीवीर प्रताप विरूपाक्ष महाराजके शासन कालमें राज्य भरमें शान्ति और समृद्धि विराजती थी। इस समय राजतन्त्री नायकने अमर नामक सम्राट्के आदेशसे अग्रहार अमृतान्तपुरमें प्रसन्नकेशव देवमन्दिरके निकट एक गोपुर बनवाया था। १४७८ ई०में यह शिलालिपि लिखी गई। इस प्रकार और भी कितनी शिलालिपियों द्वारा जाना जाता है, कि विरूपाक्ष रायने १४७८ ई० तक राज्यशासन किया। विरूपाक्ष ही सङ्गमवंशीय राजाओंमें अन्तिम राजा थे। इसके बाद एक दूसरे प्रभावशाली पुरुषने विद्यानगरके राजसिंहासन पर अधिकार जमाया।

सङ्गमराजवंशकी उत्पत्ति।

अभी हमने विद्यानगरके जिन सङ्गम-राजवंशके राजाओंके नाम और शासनकी बात लिखी है, वे लोग किस वंशके थे, यह ले कर अनेक मतभेद दिखाई देता है। कोई कोई कहते हैं, कि ये लोग देवगिरिके यादववंशसम्भूत थे, फिर कोई वनवासीके कदम्बवंशसे ही इनकी उत्पत्ति बतलाते हैं। एक दूसरे सम्प्रदायने एक अद्भुत आख्यान द्वारा इनका वंशनिर्णय कर रखा है। वे लोग कहते हैं, कि वरङ्गल राजाओंके मेषपालक दो अध्यक्ष जब आनगुण्डी ग्रामसे दक्षिण-पश्चिमकी ओर जा रहे थे, तब माधवाचार्यने उन पर असीम कृपा दरसाई थी। उन्होंने अपने नाम पर विद्यानगर बसा कर हुक्क वा हरिहरको विद्यानगरके सिंहासन पर अभिषिक्त किया। किन्तु अभी जो एक शिलालिपि पाई गई है, उससे मालूम होता है, कि यादववंशसे ही सङ्गमराजवंशका आविर्भाव हुआ है।

नरसिंहराजवंश।

विरूपाक्षकी मृत्युके बाद सलुव नरसिंह विद्यानगरके सिंहासन पर बैठे। इन नरसिंहके साथ सङ्गमराजवंशका कोई भी सम्बन्ध न था। नरसिंहने अपने वाहुवलसे अनधिकार स्थानमें अपना प्रभाव फैला कर विद्यानगरके राजसिंहासन पर अधिकार जमाया। ऐतिहासिकोंने नरसिंहके पूर्व पुरुषोंका नामोल्लेख किया है। नरसिंहके पितामहका नाम तिम्म, पितामहीका नाम देवकी और पिताका नाम ईश्वर और माताका नाम बुक्कामा था। नरसिंहके और भी दो नाम हैं, नरेश और नरेश अवनीलाल। इनकी दो स्त्रियां थीं तिपाजीदेवी और नागलदेवी वा नागाम्बिका। कोई कोई कहते हैं, कि नागाम्बिका नर्त्तकी थी। १४७८से १४८७ ई० तक नरसिंहने राज्यभोग किया। इसके बाद उनके प्रथम पुत्र वीर नरसिंहेन्द्र १४८७से १५०८ ई० तक

विद्यानगरके सिंहासन पर बैठे थे। इनके सेनानायक रामराजने कर्नूल जा कर वहांके दुर्गाध्यक्ष यूसुफ आदिल सेवोयकको समरमें पराहत किया, पोछे वे दुर्गको अधिकार कर लस्कर (जागोरदार) रूपमें कार्य्य करने लगे। इस समय वीर नरसिंहेन्द्रके वैमात्रेय भ्राता कृष्णदेवराय उनके मन्त्रीके कार्यमें नियुक्त हुए थे। कृष्णदेवरायकी असाधारण क्षमता थी। तेलगूभाषामें कृष्णदेवका प्रशंसासूचक बहुत-सी कविताएं देखो जाती हैं।

कृष्णदेव राय।

कृष्णदेवको एक कवितासे जाना जाता है, कि १४६५ ई०में कृष्णदेव रायालुका जन्म हुआ। विद्यानगरके राजाओंके इतिहासमें कृष्णदेवरायका नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने १५०६ से १५३० ई० तक प्रबल पराक्रम और अदम्य उत्साहसे राज्यशासन किया। इनके शासनके समय विद्यानगरकी समृद्धि बहुत चढी बढ़ी थी। कृष्णदेवने उत्तरमें कटक पर्यन्त अपनी विजयपताका फहराई थी। इन्होंने उड़ोसाके सुविख्यात वैष्णव राजा प्रतापरुद्र देवको कन्यासे विवाह किया। १५१६ ई०में उड़ोसाराजके साथ इनकी जो सन्धि हुई उससे उड़ीसा राज्यकी दक्षिण सीमा कोन्दापल्ली विजयनगरकी उत्तर सोमा रूपमें निर्दिष्ट हुई। इन्होंने पहले द्राविड़देशको अपने राज्यमें मिला लिया। महिसुरके उमातुरके गङ्गराजने इनको अधीनता स्वीकार की। इस युद्धमें शिवसमुद्रका दुर्ग और श्रीरङ्गपट्टन इनके हाथ लगा। इनके बाद सारा महिसुर इनके अधिकारमें आ गया। १५१३ ई०में इन्होंने नेलोरके उदयगिरि प्रदेशमें अपनी गोटी जमाई। इसो स्थानसे कृष्णस्वामीका विग्रह ला कर इन्होंने विद्यानगरमें स्थापन किया। १५१५ ई०में इनके सेनानायक तिम्म अरसुने गजपति शासनकर्त्ताके अधिकृत कोण्डवीड़ू दुर्गको अधिकार किया। इसके बाद दक्षिण प्रान्तके कितने दुर्ग इनके हाथ लगे थे। इस समय सारा पूर्वी उपकूल इनके शासनाधीन हुआ। १५१६ ई०में इन्होंने कृष्णानदीके उत्तर अपना शासनप्रभाव फैलाया। १५१८ ई०में इन्होंने जो अनुशासन लिख कर देवोत्तर सम्पत्तिका प्रबन्ध कर दिया वह पण्डुरोतालुकाके पेद्दकाकनी ग्राममें, वीरभद्रदेवके मन्दिरमें, वापटला नगरमें तथा विजयवाड़ाके कनकदुर्गा-मन्दिरमें पाया गया है। १५२६ ई०में इन्होंने नरसिंहमूर्त्तिकी स्थापना की।

कृष्णदेवरायने पश्चिममें कृष्णा; उत्तरमें श्रीशैल, पूर्वमें कोण्डवीड़ू, दक्षिणमें तञ्जापुर और मदुरा तक अपना राज्य फैलाया था। उन्हींके शासनकालमें मदुरामें नायक राज्य प्रतिष्ठित हुआ था। कृष्णदेवने संस्कृत और तैलङ्ग भाषाकी उन्नतिके लिये बड़ी चेष्टा की थी। उनकी सभा में अष्ट दिग्गज पण्डित रहते थे। कृष्णदेव इधर जैसे वीर थे, उधर उनकी भगवद्भक्ति भी यथेष्ट थी। महाराज प्रतापरुद्रने वैष्णव जान कर उनके हाथ अपनी कन्याको समर्पण कर दिया था। इसके सिवा उनकी और भी एक स्त्री थी। चिन्नादेवीसे एक कन्याने जन्मग्रहण किया। कृष्णदेव १५३० ई०में परलोकको सिधारे। मृत्यु के समय इन्हें एक भी पुत्र न था।

अच्युत।

कृष्णदेव रायालुकी मृत्युके बाद अच्युतेन्द्र रायालु विजयनगरके सिंहासन पर बैठे। १५३० से १५४२ ई० तक इन्होंने राज्य किया। अच्युत राय और कृष्णदेव रायको ले कर अद्भुत मतभेद देखा जाता है। एक ताम्रशासनसे मालूम हुआ है, कि अच्युत राय कृष्णदेव रायके वैमात्रेय भाई थे। कृष्णदेवके पिता नरसिंहने ओविम्बिका नामकी एक और स्त्रीका पाणिग्रहण किया था। इस स्त्रीके गर्भसे नरसिंहके जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसीका नाम अच्युत वा अच्युतेंद्र था। कृष्णदेवके एक भी सन्तान न थी, फिर एक दूसरी शिलालिपिमें लिखा है, कि अच्युतेंद्र कृष्णदेवके पुत्र थे। १५३८ ई०में अच्युतेंद्रने कोण्डवीडू तालुकमें गोपालस्वामीका मन्दिर बनवा दिया था; शिलालिपिसे यह बात मालूम होती है। अच्युतेंद्र बड़े धार्मिक थे। वे अपने पूर्वपुरुष कृष्णदेव रायालुकी तरह देवमन्दिर निर्माण, देवप्रतिष्ठा, ब्राह्मणोंको ब्रह्मोत्तर दान आदि अनेक सत्कार्योंमें रुपये खर्च कर गये हैं। उन्होंने तिनवेल्ली नगरमें अपना आधिपत्य फैलाया और कर्नूलमें दुर्ग बनवाया था।

सदाशिव राय।

१५४२ ई०में अच्युतकी मृत्यु हुई। पीछे सदाशिव

रायालु विजयनगरके सिंहासन पर बैठे। सदाशिवके शैशव कालमें अच्युतका देहान्त हुआ था। अच्युतके साथ सदाशिवका क्या सम्बंध था, इस विषयमें भी बहुत मतभेद दिखाई देता है, काञ्चीनगरकी एक प्राचीन लिपिसे जाना जाता, कि वरदादेवी नामकी अच्युतकी एक स्त्री थी, उस स्त्रीके गर्भसे वेङ्कटाद्रि नामक उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वेङ्कटाद्रिने अल्प काल तक राज्य किया था। उनकी मृत्युके बाद सदाशिव नामक उनके एक आत्मीयने राजसिंहासन पर दखल जमाया। सदाशिव रङ्गरायके पुत्र थे। उनकी माताका नाम था तिम्माम्बा देवी। हसन नामक स्थानमें जो प्राचीन लिपि पाई गई है, उसे देख कर मि० राइसने स्थिर किया है, कि सदाशिव अच्युतके पुत्र थे।

जो हो, सदासिव जब तक बालीग न हुए थे, तब तक उनके मन्त्रियोंने राजकार्य चलाया था। इन सब मन्त्रियोंके मध्य रामराय सर्वप्रधान थे। रामरायको कुछ लोग रामराजा भी कहते थे। रामराय सदाशिवको सर्वदा नजरबंदी रख कर अपना मतलब गांठ लिया करते थे। सदाशिवके मामा तथा अन्यान्य सचिवोंको यह अच्छा न लगा और वे सबके सब रामरायके विरुद्ध षड्यन्त्र करने लगे। रामरायने अपनेको विपदसे घिरा देख कुछ दिनका अवकाश ले लिया। इस समय सदाशिवके मामा तिम्मराजने शासनभार अपने हाथ लिया। किन्तु उनके लौहशासनसे थोड़े ही दिनोंके मध्य प्रजा तंग तंग आ गई। यह देख सामन्त राजाओंने उनका काम तमाम करनेकी साजिश की। तिम्मराजने इस समय विजयपुरके इब्राहिम आदिल शाहकी सहायता देना स्वीकार किया था। मुसलमानोंका प्रादुर्भाव देख कर सामन्तराजगण कुछ दिन अवनत मस्तकसे प्रतीक्षा कर रहे थे। किन्तु मुसलमानोंके चले जाने पर ही सामन्तोंने तिम्मराजको राजप्रासादमें कैद रखा। तिम्मराजसे वह कष्ट सहा न गया और उसने आत्महत्या कर ली। इस घटनाके बाद रामराज पुनः सदाशिवके नाम पर विजयनगरका शासन-परिचालन कार्य करने लगे।

रामराज।

सदाशिव नाममात्रके राजा थे। फलतः रामराज ही विजयनगरके प्रकृत राजा समझे जाते थे। सदाशिवके बाद ही नरसिंह राजवंशका नाम विलुप्त हुआ। इसके बाद रामराजका वंश विजयनगरके राजवंशके इतिहासमें देखा जाता है। यही रामराज मंत्री थे, यह पहले ही लिखा जा चुका है। रामराजके पितामह रामराज नामसे भी परिचित थे। इनके पुत्रका नाम श्रीरङ्ग था। श्रीरङ्गका एक दूसरा नाम था श्रीरङ्ग रामराजा। श्रीरङ्ग भी मंत्री थे। तिरुमल वा तिरुमलाम्बिका देवीके साथ इनका विवाह हुआ था। इनके तीन लड़के थे, बड़ेका नाम रामराज था। रामराज ही पितृसिंहासनके अधिकारी हुए। इनके एक भाईका नाम तिम्म वा तिरुमल और दूसरेका वेङ्कट वा वेङ्कटाद्रि था। तिम्म वा तिरुमलका हाल पीछे लिखा जायेगा।

रामराजने आदिलशाहके साथ एक बार संधि की थी। किन्तु समय और सुविधा देख उन्होंने सन्धि तोड़ आदिलशाहीके अधिकृत राज्यके कुछ अंशोंको अपने राज्यमें मिला लिया। परन्तु इसका परिणाम बहुत खराब निकला। अली आदिलशाह गोलकुण्डा, अहमदनगर और विदर्भ राजाओंके साथ मिल कर रामरायके विरुद्ध तालिकोटमें आ धमके। उन लोगोंने कृष्णा नदी पार कर दश मील दूर रामराजकी सेनाओं पर आक्रमण कर दिया। सारी शक्तिके प्रबल आक्रमणसे भी चतुर रामराय बहुत देर तक युद्ध करते रहे थे, किन्तु आखिर निरुपाय देख वे भाग चले। मुसलमान-सेनाने उनका पीछा किया। पालकी ढोनेवाले पालकीको छोड़ चम्पत हुए। वे बन्दी हो कर आदिलशाहके सामने लाये गये। आदिलशाहने उनका शिर काट डाला। १५६० ई०को तालिकोटामें यह घटना घटी थी। इधर मुसलमानी सेनाके विद्यानगरमें प्रवेश करनेसे पहले ही सदाशिव रायालु पेन्नकूण्डाको भाग गये।

रामरायके पतनके सम्बन्धमें और भी एक वृत्तान्त सुननेमें आता है। कैशर फ्रेडरिक नामक एक पर्यटक तालिकोटा युद्धके दो वर्ष बाद घटना-स्थलमें आये थे। उन्होंने लिखा है, कि रामराजकी सेनामें दो मुसलमान सेनानायककी विश्वासघातकतासे ही रामरायकी पराजय हुई थी।

विद्यानगर ध्वंस।

चाहे रामरायका पतन किसी भी कारणसे हो, पर उनके पतनके साथ ही सुविशाल विद्यानगर ध्वंसप्राय हो गया। रामरायका हत्यासंवाद प्रचारित होनेके बाद हिन्दूसेना चारों ओर भागने लगी, हिंदू राजे बहुत डर गये, किसी किसीने पराक्रमशाली मुसलमान शासनकर्त्ताओंका साथ दिया। १५६५ ई०में मुसलमानोंने अपने प्रतापसे, विद्रोही हिंदुओंकी तथा हिंदूराजकी विश्वासघातक मुसलमान-सेनाओंकी सहायतासे विजयनगर पर आक्रमण कर दिया। इस समय यद्यपि विद्यानगरकी परिधि ६० मीलसे कम होते होते २७ मील हो गई थी, तो भी इसके राजपथ, उद्यान, राजप्रासाद, देवमंदिर, नगर, हर्म्यादि पार्श्ववर्त्ती अन्यान्य राजाओंको राजधानीसे कई गुणोंमें श्रेष्ठ थे। मुसलमानोंने क्रमागत अवाध और निर्विवादसे दश मास आक्रमण और लूट कर विद्यानगरकी समस्त शोभासम्पद् और विपुल वैभवको विध्वस्त तथा समृद्धिशाली सौन्दर्य्यमय विद्यानगरको श्मशानमें परिणत कर डाला। देवालय ढाह दिये गये, मूर्त्तियाँ तोड़ दी गईं, राज-प्रासादको ध्वंस कर धनरत्नादि लूट लिये गये, हाट-बाजार उजाड़ बना दिया गया; अधिवासी स्त्रीपुत्र ले कर अपने मानप्राणकी रक्षाके लिये भाग गये।

अन्यान्य राजगण।

स्यूयेलका कहना है, कि इसके बाद श्रीरङ्गके द्वितीय पुत्र तिरुमलने १५६४ ई०से १५७३ ई० तक राज्य किया। किन्तु मि० स्यूयेलकी प्रदत्त वंशावलीमें देखा जाता है, कि रामराजके दो पुत्र थे, बड़ेका नाम कृष्णराज और छोटेका तिरुमलराय था। कृष्णराजने आनगुण्डीमें अपनी राजधानी बनाई थी। उनके एक भी पुत्र न था। रामरायके ज्येष्ठ पुत्र रहते हुए भी कनिष्ठ किस प्रकार राजगद्दी पर बैठा था, उसका कारण मालूम नहीं। तिरुमलकी चार स्त्रियां थीं, वेङ्गलम्बा, राघवाम्बा, पदबेम्बा और कृष्णवाम्बा। तिरुमलने १५६७ ई०को पेन्नकुण्डामें राजधानी प्रतिष्ठित की। इनके तीन पुत्र थे, श्रीरङ्ग उर्फ त्रिशाखी, तिरुमलदेव उर्फ श्रीदेव और वेङ्कटपति। श्रीरङ्गका शासनकाल १५७३से १५८५ ई० तक माना जाता है। तिरुमलने सिर्फ कई मास राज्यशासन किया। इसके बाद १५८५ ई०के शेषार्द्धसे लगायत १६१४ ई० तक वेङ्कटपतिने राज्य किया। विद्यानगरके राजाओंकी भाग्यलक्ष्मी जब जाती रही, तब उसके साथ साथ राजधानीके स्थानमें भी बहुत हेर फेर हुआ था। वेङ्कटपति पेन्नकुण्डासे चन्द्रगिरिमें राजधानी उठा लाये। वेङ्कटपतिके बाद निम्नलिखित राजगण विजयनगरके राजा कह कर प्रसिद्ध थे।

नाम	ई०
श्रीरङ्ग (२य)	१६१९
राम	१६२०—१६२२
श्रीरङ्ग (३य) और वेङ्कटाप्पा	१६२३
राम और वेङ्कटपति	१६२९—१६३६
श्रीरङ्ग (४र्थ)	१६३६—१६६५

इन सब राजाओंके नाम और शासनकालका समय बिलकुल ठीक है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु श्रीरङ्गका शासनकाल १६२९ ई०के पूर्वसे आरम्भ हुआ था, इसमें संदेह नहीं। क्योंकि इन्हीं श्रीरङ्गने १६३९ ई०में अंगरेजोंको मंद्राजका बन्दर दिया था। इसके बाद हम और एक तरहका राजवंश पाते हैं जो इस प्रकार है—

नाम	ई०
श्रीरङ्ग	१६६५—१६७८
वेङ्कटपति	१६७८—१६८०
श्रीरङ्ग	१६९२
वेङ्कट	१७०६
श्रीरङ्ग	१७१६
महादेव	१७२४
श्रीरङ्ग	१७२९
वेङ्कट	१७३२
राम	१७३९ ?
वेङ्कटपति	१७४४
* *	* *
वेङ्कटपति	१७६१—१७६३

दूसरे ग्रंथमें भिन्न विवरण देखा जाता है, जैसे—

श्रीरङ्ग रायालु	१५५७—१५८५

नाम	ई०
वेङ्कटपति देव रायालु	१५८५—१६१४
चिक्कदेव रायालु (वल्लूर राजधानीमें)	१६१५—१६२३
रामदेव रायालु	१६२४—१६३१
वेङ्कट रायालु	१६३२—१६४३
श्रीरङ्ग रायालु	१६४४—१६५४

इस ग्रंथमें इसके बादके और किसी भी शासनकर्त्ताका नाम नहीं लिखा है। मधुराके राजा तिरुमलके षड़यंत्रसे किस प्रकार विजयनगर राज्य विलुप्त हुआ उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—तिरुमल नायक विजयनगरके राजा नरसिंहके विद्रोही हो उठे। उस समय विद्यानगरके राजाओंकी राजधानी वल्लूरमें थी। जिञ्जी, तञ्जावूर, मधुरा और महिसुरके राजगण उस समय भी विजयनगरके राजाको कर देते थे। बीच बीचमें अनेक प्रकारके उपढौकन द्वारा राजाका सम्मान भी किया जाता था। किंतु विद्रोही तिरुमल विजयनगरकी वश्यता स्वीकार करनेको प्रस्तुत न थे। नरसिंह रायने तिरुमल पर शासन करनेके लिये सेना इकट्ठी की। तिरुमलको जब यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने जिञ्जिराजके साथ मेल कर लिया।

तिरुमल बड़े ही कुटिल थे। उन्होंने नरसिंहरायको परास्त करनेके लिये गोलकुण्डाके सुलतानके साथ मंत्रणा की। नरसिंह जब मधुरामें तिरुमल पर आक्रमण करने गये, तब गोलकुण्डाके सुलतानने अच्छा मौका पा कर उसी समय नरसिंहके राज्य पर हमला कर दिया। नरसिंह वीरपुरुष थे। वे तिरुमलको कब्जेमें करके सेनाके साथ स्वदेश लौटे। पीछे उन्होंने आततायी सुलतानको अच्छी शिक्षा दे कर देशसे निकाल बहार किया, किंतु दूसरे वर्ष सुलतानने बहुत-सी सेनाके साथ आ कर नरसिंहको हराया। नरसिंह हतोत्साह हो कर दक्षिण देशके नायकोंके साथ मिलनेकी कोशिश करने लगे, किन्तु कोई फल न हुआ। पीछे १ वर्ष ४ मास तक वे तञ्जावुरके उत्तरी जङ्गलमें छिप रहे। इस समय उनके अमात्य और सेनाने उन्हें छोड़ दिया था। नरसिंहने इसके बाद महिसुरराजका आश्रय लिया। इधर तिरुमल अनेक प्रकारकी घटनाओंमें पड़ कर मुसलमानोंकी अधीनता स्वीकार करनेको बाध्य हुए। तिरुमलकी निर्बुद्धितासे बिना खून खराबीके मधुरा गोलकुण्डाके सुलतानके हाथ आया।

इसके बाद नरसिंह महिसुर राज्यसे भाग्यपरीक्षाके लिये स्वदेश लौट आये। उन्होंने फिर सैन्यसंग्रह कर कुछ प्रदेशों पर अधिकार जमाया तथा गोलकुण्डाके सेनानायकको युद्धमें परास्त कर और भी कई प्रदेशोंका उद्धार किया। नरसिंहके पराक्रमसे दाक्षिणात्यमें पुनः हिन्दूराज्यके अभ्युदयकी सम्भावना हो उठी। किन्तु ईर्षापरायण तिरुमलकी कुटिलबुद्धिसे हिंदूराजका आशारूपी सूर्य देखते देखते मेघाच्छन्न हो गया। तिरुमलके आमन्त्रणसे गोलकुण्डाके सुलतानने महिसुरके सेनापतिकी अनुपस्थितिमें महिसुरराज्य पर आक्रमण कर दिया। उसके फलसे विजयनगरका हिंदूराज्य सदाके लिये विध्वस्त हो गया। सच पूछिये, तो तिरुमल ही विजयनगर-ध्वंसके मुख्य कारण थे। इससे स्वदेश और स्वजातिद्रोही तिरुमलको क्षतिके सिवा कुछ भी लाभ नहीं हुआ। तिरुमल इसके बाद सुलतान द्वारा विशेषरूपसे उत्पीड़ित हुए थे।

दौहित्रवंश।

मि० ह्यूयेलके मतसे पीछे वेङ्कटपतिसे अर्थात् १७६३ ई०के बाद तिरुमल राजाका नाम देखनेमें आता है। १८०१ ई०की १२वीं जुलाईको मि० मनरोने गवर्मेण्टके पास आनगुण्डीके राजाओंका कुछ विवरण देते हुए एक पत्र लिखा। उन्होंने लिखा—आनगुण्डीके वर्त्तमान राजा (१८०१ ई०में) विजयनगर राजवंशके दौहित्र हैं। इनके पूर्वपुरुषोंने मुसलमानोंसे हरपणवल्ली और चित्तलदुर्ग जागीरमें पाया था। १८०० ई०के प्रारम्भमें ये लोग मुगलबादशाहको २००००) रु० कर देते थे। १६४६ ई०में जब ये दोनों प्रधान मराठोंके अधीन हुए तब आनगुण्डीके राजाको दश हजार रु० तथा एक हजार पदातिक और एक सौ घुड़सवार सैन्य महाराष्ट्र शासनकर्त्ताको देना पड़ता था। १७८६ ई०में टीपू सुलतानने यह जागीर जब्त कर ली। राजा तिरुमल निजामराज्यमें भाग गये तथा १७६१ ई० तक वे पलातक अवस्थामें वहां रहे। १७६६ ई०में उन्होंने फिरसे आनगुण्डी पर चढ़ाई कर दी।

इन्होंने अङ्गरेजोंकी अधीनता स्वीकार न की। किन्तु पीछे इन्हें वाध्य हो कर आनगुण्डीका शासनभार निज़ामके हाथ सौंपना पड़ा। इससे राजा तिरुमल निज़ामके वृत्तिभोगी हुए। तिरुमलने १८०१ ई०से निज़ामसे वृत्ति पा कर १८२४ ई०को मानवलीला संवरण की। तिरुमलके दो पुत्र थे। पिताके मरनेसे पहले ही बड़े लड़के एक कन्याको छोड़ इस लोकसे चल बसे। छोटेका नाम वीर वेङ्कटपति था। विवाहके पहले ही इनकी मृत्यु हुई थी। वे १८३१ ई० तक जीवित थे। तिरुमलकी पौत्रीके गर्भसे तिरुमलदेव नामक एक पुत्र और लक्ष्मीदेवाम्मा नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई। तिरुमल १८६६ ई०को पञ्चत्वको प्राप्त हुए। तिरुमलदेवके तीन पुत्र और एक कन्या थीं। प्रथम पुत्र वेङ्कटरामराय, २य पुत्र कृष्णदेव राय, पीछे वेङ्कम्मा नाम्नी एक कन्या और उसके बाद नरसिंह राजाका जन्म हुआ। नरसिंहने १८७० ई०में जन्मग्रहण किया। इसके एक वर्ष बाद बड़े भाईका और उसके भी एक वर्ष बाद दूसरे भाई कृष्णदेवराजका देहान्त हुआ। वेङ्कटरामराय दो कन्याको छोड़ स्वर्गवासी हुए।

विद्यानगरकी समृद्धि।

प्रसन्नसलिला तुङ्गभद्रा नदीके दाहिनी किनारे उस महासमृद्धिशाली हिन्दू राजकीर्त्तिके चिह्नस्वरूप विद्यानगरका ध्वंसावशेष आज भी विद्यमान रह कर विद्यानगरकी प्राचीन गौरवमहिमाको घोषित करता है। श्रीमद्विद्यारण्य मुनिके समयसे ही विद्यानगरके विपुल वैभवका सूत्रपात हुआ। उस शुभ समयसे ही इस विशाल राज्यका परिमाण, अर्थगौरव और राजवैभव दिनों दिन बढ़ता गया। विद्यानगरके विशाल वैभवकी बात सुन कर पारस्य और यूरोप आदि स्थानोंके विदेशीय पर्याटकगण यह विशाल नगर देखनेको आते हैं।

गगनभेदी गिरिमालाकी तरह सुरक्षित सुदृढ़ दुर्गमाला, कविकल्पित इन्द्रपुरीको मात करनेवाले वैभवशोभामयी विपुल सुरम्य राजप्रासाद, नगरमें बहनेवाली बहुत-सी जलप्रवाहिका, शङ्खघंटा आदि मुखरित श्रीविग्रहगण अध्यूषित देवमन्दिर, अगण्य शिक्षार्थिसंकुल विद्यालय, विविध कारुकार्यखचित प्रतिहारीमण्डलाधिष्ठित सुशोभित वस्त्रमण्डल, विविध द्रव्यसे परिपूर्ण अगण्य लोकमुखरित पण्यशाला, विलासिजनसुखसेव्य सुरम्य प्रमोदभवन, चिरहरित्‌शोभामय लतामण्डप, विविध कुसुमराजिराजित, मधुकरकरम्बित मनोहर पुष्पोद्यान, कमलकुमुदकह्लारपूर्ण सरोवर, सौधश्रेणीके मध्यवर्त्ती सरल और सुदीर्घ राजपथ, हस्तिशाला, अश्वशाला, ग्रीष्मावास, फलके बोझसे अवनत फलोद्यान, मन्त्रभवन, सभामण्डप, धर्माधिकरण आदि विविध नागरीय वैभवमें विद्यानगर किसी समय जगत्‌के प्रधान शहरोंमें गिना जाता था। कृष्णदेव रायालुके शासनकालमें विद्यानगरकी समृद्धि बहुत बढ़ गई थी। इस समय वसवपत्तनम्‌से ले कर नागनपुर पर्यन्त विद्यानगर शहर विस्तृत था। इसकी लम्बाई १४ मील और चौड़ाई १० मील थी, इसका रकबा एक सौ चालीस वर्ग मील था, तमाम घनी वस्ती नजर आती थी। दूर दूर देशोंसे आये हुए वणिक्, राजप्रतिनिधि और राजदूतगण विद्यानगरमें आ कर अपना अपना कर्म किया करते थे। विद्यानगरके शासनकर्त्ताओंका समरविभाग बहुत ही बढ़ा चढ़ा था। हजार हजार मनुष्य इस विभागमें सभी समय नियुक्त होते थे। युद्धके सामान सर्वदा सजा कर रखे जाते थे। कुश्ती, कसरत और विविध प्रकारके व्यायामकी चर्चाका अच्छा प्रबन्ध था। विद्यानगरमें इस समय जो सब पहलवान दिखाई देते थे, भारतवर्षमें वैसे और कहीं भी न थे। फिर दूसरी ओर विविध विलासजनक कलाविद्याकी भी यथेष्ट चर्चा हुई थी। सुगायक, नर्त्तक और नर्त्तकियोंका भी अभाव न था। इस समय विद्यानगरमें विविध शिल्पकार्यकी उन्नति हुई थी। हजारों मनुष्य शिल्पकार्यकी उन्नति कर सुखसे जीविका निर्वाह करते थे। स्थापत्य कार्यसे भी हजारों मनुष्यकी जीविका चलती थी। अगण्य सौधसभाकीर्ण विद्यानगर हजारों स्थपतिको जीविका प्रदान करता था, यह सहजमें अनुमान किया जा सकता है। नित्य व्यवहार्य अस्त्र और समरास्त्र निर्माणके कारण कर्मकारोंका खूब आदर होता था तथा उनकी खूब उन्नति हुई थी। फिर विद्यानगर हिन्दू राजाकी राजधानी होनेके कारण यहां पौरोहित्योपजीवी ब्राह्मणोंकी संख्या भी बहुत ज्यादा थी। उस समय घर-

घर प्रतिदिन व्रत यज्ञादि होते थे। मन्दिर मन्दिरमें देव-पूजा, भोग और आरतिके मङ्गल वाद्यसे विद्यानगर गूंज उठता था। फिर दूसरी ओर इञ्जिनियरगण पथ-घाट और भवन आदि पर्यवेक्षण किया करते थे। टूटी-फूटी इमारत और राजपथकी मरम्मत होती थी। हाथी और घोड़ोंको विविध शिक्षा देनेके लिये सैकड़ों आदमी नियुक्त रहते थे। ये लोग साधारण व्यवहार तथा सामरिक व्यवहारके लिये हाथी और घोड़ोंको उचित शिक्षा देते थे। राजकवि, राजपण्डित, राजसभाकी नर्त्तकी तथा विविध शिक्षामें शिक्षित हजारों मनुष्य विद्यानगरमें वास करते थे। नाना श्रेणीके सम्भ्रांत, सुशिक्षित, सद्वंशजात लोगोंके वाससे तथा नाना देशीय धनी वणिकोंके समागमसे विद्यानगरकी समृद्धि दिनोंदिन बढ़ती गई थी।

मि० ह्यूयेलने लिखा है, कि १५वीं और १६वीं सदीको विद्यानगरमें जो सब यूरोपीय पर्यटक आये थे उन्होंने साफ साफ लिखा है,—"आयतन और समृद्धिमें विद्यानगर यथार्थमें एक प्रधान नगर है। धन-गौरव और वैभवमहिमामें यूरोपका एक भी नगर विद्यानगरके जोड़का नहीं है।"

२। निकलो (Nicolo) नामक एक इटलीके पर्यटक १४२० ई०में विद्यानगर आये थे। इन्होंने अपने वृत्तान्तमें लिखा है, "अशेष समृद्धिशाली विद्यानगर पर्वतमालाके अभेद्य प्राचीरके पार्श्वमें अवस्थित है। इस नगरकी परिधिका विस्तार ६० मील है। अभ्रभेदी प्राचीरने पार्श्ववर्त्ती पर्वतश्रेणीके साथ सम्मिलित हो कर इस विशाल नगरको सुदृढ़ दुर्गमें परिणत कर दिया है। नब्बे हजार रणदुर्म्मद योद्धा समरसाजमें सर्वदा सज्जित रहते हैं। भारतवर्षके अन्यान्य राजोंकी अपेक्षा विद्यानगर (Bizengelia)के राजाका वैभव प्रभाव और प्रतिपत्ति बहुत अधिक है।"

३। १४४३ ई०में अबदुल रजाक नामक एक पारसी पर्यटक विद्यानगरमें आये थे। वे बहुत-सी राजधानियोंका विवरण लिख गये हैं। उन्होंने एक जगह लिखा है, "विद्यानगर राज्यमें तीन सौ बन्दर हैं। प्रत्येक बन्दर किसी अंशमें कलिकाट बन्दरसे कम नहीं है। विद्यानगरराज्यके उत्तरी प्रान्तसे दक्षिणी प्रान्त जानेमें तीन महीना लगता है। प्रतिदिन २० मीलके हिसाबसे जाने पर तीन महीनेमें अर्थात् ९० दिनमें १८०० मीलका रास्ता तै किया जाता है।" कुमारिका अन्तरीपसे उड़ीसाकी उत्तरी सीमा तक अवश्य ही १८०० मील होगा। किसी समय उड़ीसेके उत्तर प्रान्तसे कुमारिका अन्तरीप पर्यन्त विपुल भूभाग विद्यानगरके राजाके शासनाधीन था। कृष्णदेव रायालुके शासनकालमें भी हम विद्यानगर साम्राज्यकी ऐसी विशाल विस्तृतिकी बात देखते हैं। अतएव रजाककी उक्ति अत्युक्ति नहीं समझी जाती।

अबदुल रजाक पारसके राजदूत थे। विद्यानगराधिपतिने बड़े आदरसे उन्हें अपने राज्यमें बुलाया था। अबदुल रजाकने दूसरी जगह लिखा है, "विद्यानगरके राजाका ऐश्वर्यप्रभाव सचमुच अतुलनीय है। इनके पर्वतके समान ऊँचे हजारसे अधिक हाथी देख कर मैं विस्मित हो गया हूं। इनकी सैन्यसंख्या ग्यारह लाख है। सारे भारतवर्षमें ऐसे प्रभावशाली राजा और कहीं भी देखे नहीं जाते। जगत्में इसके समान और कोई भी शहर है, ऐसा मैंने आज तक नहीं सुना है। राजधानीकी बनावट देखनेसे मालूम होता है, कि मानो सात प्राचीरसे वेष्टित सात दुर्ग हैं, जो क्रमविन्यस्तभावमें बनाये गये हैं। राजप्रासादके निकट चार विपुल पण्यशाला है। उनके ऊपर तोरणमञ्च पर दो श्रेणियोंमें मनोहर पण्यवीथिका है। पण्यशाला लम्बाई और चौड़ाईमें अति विशाल है। मणिकारोंके पास विक्रयार्थ जो सब हीरा, मरकत, पन्ना और मोती मुझे देखनेमें आया वैसी मणिमुक्ताको मैंने और कहीं भी नहीं देखा। राजधानीमें चिकने पत्थरोंकी बनी बहुत-सी नहर देख कर मेरे आनन्दका पारावार न रहा। विद्यानगरकी जनसंख्या सचमुच असंख्य है। शासनकर्त्ताके प्रासादके सामने टकशाल-घर है। १२०० पहरू रात-दिन यहां पहर देते हैं।" अबदुल रजाकने विद्यानगरका एक उत्सव अपनी आँखोंसे देख उसके सम्बन्धमें अति परिस्फुट और सरस विवरण लिपिबद्ध किया है। उसके पढ़नेसे विद्यानगरके ऐश्वर्यके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें जानी जाती हैं।

४। नुनिज (Nuniz) नामक एक पुर्त्तगीज-परिव्राजकने लिखा है, कि जब विद्यानगराधिपतिने रायचूड़ युद्धमें यात्रा की, उस समय उनके साथ ७०३००० पदाति, ३२६०० अश्वारोही सेना तथा ५६१ गजारोही सेना थी। विद्यानगरके राजाधिराजके वैभवका कुछ आभास पाठकोंको इस वृत्तान्तसे ही प्राप्त हो सकता है। उन्होंने यह भी कहा है, कि पदाति और अश्वारोही सेनाके अलावा ६८०० घुड़सवार और ५०००० पैदल सिपाही राजाकी देहरक्षाका कार्य करते हैं। इन लोगोंको राजासे वेतन मिलता है। इनके अलावा २०००० बल्लमधारी और ३००० ढालधारी सेना हाथियोंकी प्रहरीरूपमें उपस्थित रहती हैं। इनके अश्वरक्षकोंकी संख्या १६००, अश्वशिक्षक ३०० और राजकीय शिल्पीकी संख्या २००० है। २०००० पालकी राजकार्यके लिये हमेशा तय्यार रहती है।

५। पिज (Paes) नामक एक दूसरे पुर्त्तगीज पर्याटकने कहा है, "कृष्णदेव रायालुके दश लाख सुशिक्षित पदाति और ३५ हज़ार घुड़सवार सेना युद्धके लिये हमेशा सुसज्जित रहती हैं। इन्हें राजासे वेतन मिलता है। राजा इन्हें जब चाहें, तब युद्धके लिये भेज सकते हैं। बहुत दिनोंसे मैं इस प्रान्तमें हूं। एक दिन राजा कृष्णदेव रायालुने समुद्रके किनारे एक युद्धमें १५०००० सेना और ५० सैनिक कर्मचारी भेजे थे। इनमें घुड़सवार सेनाकी संख्या अधिक थी। राजा कृष्णदेव थोड़े ही दिनोंमें २० लाख सुसज्जित सेनाका संग्रह कर सकते हैं। इससे कोई ऐसा न समझे, कि वे राज्यको प्रजाशून्य करके ही सैन्यसंख्या बढ़ाते थे। विद्यानगरके साम्राज्यकी जनसंख्या इतनी अधिक है, कि बीस लाख मनुष्यके चले जाने पर भी कोई हर्ज नहीं। यह भी कह देना अच्छा है, कि ये सब सैन्य राहके भिखारी या मवेशीके चरवाहे नहीं थे - ये सभी प्रकृत वीर और दुःसाहसी योद्धा थे।"

६। दुआर्त्ते बारबोसा (Duarte Barbosa) नामक एक पर्याटक १५०६ से १५१३ ई०के मध्य तमामसे भ्रमण करते हुए यहां आये। इन्होंने लिखा है, "विद्यानगरकी आबादी बहुत ज्यादा है। राजप्रासाद सुंदर और बड़े बड़े हैं। इस नगरमें बहुतसे धनिकोंका वास है। राजपथ, उद्यान और वायुसेवन-स्थल बहुत लम्बे चौड़े हैं। सभी जगह जनता ठसाठस भरी हुई है। व्यवसाय और वाणिज्य मानो अनन्त गौरवसे विद्यानगरमें विराज कर रहा है। फीलखानेमें ९०० हाथी और अस्तबलमें २०००० घोड़े हमेशा मौजूद रहते हैं। राजाके वेतनभोगी १००००० (एक लाख) सेना सर्वदा उपस्थित रहती हैं।"

७। सीजर फ्रेडरिक नामक एक परिव्राजकका कहना है, "मैंने बहुत-सी राजधानियाँ देखी हैं, पर विद्यानगर जैसी राजधानी कहीं भी देखनेमें न आई।"

८। कास्तेन हेडा (Casten Heda) नामक एक पर्याटक १५२६ ई०को विद्यानगरमें आये। वे कहते हैं, "विद्यानगरका पैदल सिपाही सचमुच असंख्य है। ऐसा जनतापूर्ण स्थान और कहीं भी देखनेमें नहीं आता। राजाके पास एक लाख वेतनभोगी अश्वारोही सैन्य और चार हजार गजसैन्य है।" इन सब विवरणोंसे विद्यानगरकी अतुल समृद्धिका परिचय पाया जाता है। १००००० पदाति, ३०००० अश्वारोही और ४००० गजारोही सैन्य सिर्फ विद्यानगरकी रक्षाके लिये ही नियुक्त रहते थे। राजाकी देहरक्षाके लिये ६००० सुशिक्षित सुसज्जित अश्वारोही सेना हमेशा राजाके साथ घूमा करती थीं। राजाके अपने व्यवहारके लिये एक हजार घोड़े थे, राजमहिषियोंकी सेवाटहलके लिये मणिमुक्ता रत्नाभरणसे खचित १२००० चेरी रहती थीं। विदेशीय पर्याटक अलङ्कार देख कर इन्हें ही राजमहिषी समझते थे। राजसरकारके नित्य प्रयोजनीय कार्यव्यवहारके लिये जो सब लिपिकार, कर्मकार, रजक और अन्यान्य कार्यकारी रहते थे, उनकी संख्या २००० थी। भृत्य-संख्याका पारावार न था। राजमहलमें सिर्फ राजाके दो सौ पाचक हमेशा नियुक्त रहते थे। कृष्णदेवराय जब रायचूड़-युद्धमें गये थे, तब २०००० नर्त्तकियां युद्धक्षेत्रमें लाई गई थीं। राजप्रतिनिधि, शासनकर्त्ता, सैन्याध्यक्ष आदि ऊंचे ओहदेके राजपुरुषोंकी संख्या २०० थी। इनके सहचर अनुचर देहरक्षक सैन्य सामन्त और भृत्यादिकी संख्या भी १००००० से कम न थी। जहां सैन्यसंख्या इतनी थी, वहां घोड़ेकी साईस-आदिकी संख्या कितनी हो सकती है, पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

शिक्षाविधानके लिये नाना प्रकारकी चतुष्पाठी और विद्यालय थे। वाणिज्य-व्यवसायकी उन्नतिके लिये विद्यानगराधिपोंने अच्छा प्रबन्ध कर दिया था। विलासी उपकरण द्रव्यके साथ शिल्पकी उन्नति अवश्यम्भावी है। विद्यानगरमें शिल्पवाणिज्य और कृषिकी यथेष्ट उन्नति हुई थी। राज्यकी समृद्धि और जनसंख्याकी अधिकता ही इसका अकाट्य प्रमाण है।

इस विशाल नगरमें चार हजार सुन्दर और विपुल देवमन्दिर अर्चनावाद्यसे हमेशा गूंजा करते थे। इनके सिवा धर्मचर्चाके लिये और भी कितने छोटे छोटे मन्दिर बनाये गये थे, उसकी शुमार नहीं। विद्यानगरके राजाकी पालकीकी संख्या थी २०००० । जब इतनी पालकी हुई, तब पालकी ढोनेवालोंकी संख्या कितनी हो सकती हैं स्वयं अनुमान कर सकते हैं। विद्यानगरकी विशाल समृद्धि कविकी कल्पना वा उपान्यासकारकी असार जल्पना नहीं है। इसकी प्रत्येक बात प्रत्यक्षदर्शी इतिहासकारके सुदृढ़ प्रमाणके ऊपर प्रतिष्ठित है।

विजयनगर शब्द देखो।

विद्यानन्द—१ सुकवि। क्षेमेन्द्रकृत कविकण्ठाभरणमें इनका उल्लेख है। २ एक वैयाकरण। भावशर्माने इनका नामोल्लेख किया है। ३ जैनाचार्यभेद। ४ अष्टसाहस्रीके प्रणेता। इनका अपर नाम पात्रकेशरी था।

विद्यानन्दनाथ—लघुपद्धति और सौभाग्यरत्नाकर नामक तन्त्रमन्त्रके रचयिता।

विद्यानन्द निबन्ध—एक प्राचीन तन्त्रसंग्रह। तन्त्रसारमें इस ग्रन्थका उल्लेख मिलता है।

विद्यानाथ—१ प्रतापरुद्रयशोभूषण नामक अलङ्कार और प्रतापरुद्रकल्याण नामक संस्कृत ग्रन्थके रचयिता। इन्हें कोई कोई विद्यानिधि भी कहा करते हैं। कवि ओरङ्गलके काकतीयवंशीय राजा २य प्रतापरुद्रके आश्रयमें प्रतिपालित हुए थे। (१३१० ई०)। २ रामायणटीकाके प्रणेता। इन्हें कोई कोई तामिल कवि वैद्यनाथ कह कर सन्देह करते हैं। ३ ज्योत्पत्तिसारके प्रणेता। ये श्रीनाथसूरिके पुत्र थे। इन्होंने राजा अनूपसिंहके अनुरोधसे एक ग्रंथ लिखा था। ४ वेदान्तकल्पतरुमञ्जरीके प्रणेता।

विद्यानाथ कवि—दोआबवासी एक कवि। इनका जन्म १६७३ ई०में हुआ था।

विद्यानिधि—१ अतंत्रचन्द्रिका नामक नाटकके प्रणेता। २ एक विख्यात न्यायवागीश। ये काव्यचन्द्रिकाके रचयिता सुप्रसिद्ध पण्डित थे।

विद्यानिधितीर्थ—माध्वसम्प्रदायके ग्यारहवें गुरु। ये रामचन्द्रतीर्थके शिष्य थे। १३७७ ई०में रामचन्द्रके मरने पर ये गद्दी पर बैठे। १३८४ ई०में इनकी मृत्यु हुई। स्मृत्यर्थसागरमें इनका और इनके शिष्योंका परिचय है।

विद्यानिवास—१ दोलारोहण-पद्धतिके प्रणेता। २ मुग्धबोधटीकाके रचयिता। ३ नवद्वीपवासी एक विख्यात पण्डित। ये भाषापरिच्छेदके प्रणेता विश्वनाथ तथा तत्त्वचिन्तामणिदीधितिव्याख्याके रचयिता रुद्रके पिता थे। इनके पिताका नाम था भवानन्द सिद्धान्तवागीश।

विद्यानिवास भट्टाचार्य—सच्चरितमीमांसाके प्रणेता।

विद्यानुलोमालिपि (सं० स्त्री०) लिपिविशेष।

(ललितविस्तर)

विद्यापति—विख्यात ब्राह्मण कवि और अनेक ग्रन्थोंके रचयिता। इन्होंने उपयुक्त पण्डितवंशमें जन्मग्रहण किया था। इनके पूर्वपुरुष सबके सब विद्वान् और यशस्वी थे। पूर्वपुरुषोंके बीजपुरुषसे पुत्रपौत्रादिक्रममें इनकी वंशधारा नीचे लिखी जाती है।

१ विष्णुशर्मा, २ हरादित्य, ३ धर्मादित्य, ४ देवादित्य, ५ वीरेश्वर, ६ जयदत्त, ७ गणपति, ८ विद्यापति ठाकुर, ९ हरपति, १० रतिधर, ११ रघु, १२ विश्वनाथ, १३ पीताम्बर, १४ नारायण, १५ दिनमणि, १६ तुलापति, १७ एकनाथ, १८ भाइया, १९ नानु और फनिलाल। नानुलालके पुत्र वनमाली और फनिलालके पुत्र बदरीनाथ हैं।

विद्यापति ठाकुरके पिता गणपति ठाकुर मिथिलापति महागणेश्वरके एक परम मित्र और संस्कृतवित् पण्डित थे। गणपतिने स्वर्गीय राजाके पारत्रिक मङ्गलके लिये अपना रचित "गङ्गाभक्तितरङ्गिणी" नामक ग्रन्थ उत्सर्ग कर दिया था। विद्यापतिके पितामह जयदत्त भी एक असाधारण पण्डित थे। 'योगीश्वर' नामसे उनकी प्रसिद्धि थी। जयदत्तके पिता वीरेश्वरको उनके पाण्डित्य गुण पर मिथिलापति कामेश्वरने यथेष्ट वृत्ति दी थी। वीरेश्वरकी बनाई हुई प्रसिद्ध 'वीरेश्वरपद्धति' के अनुसार आज भी मिथिलाके ब्राह्मण 'दशकर्म' किया करते हैं।

THE
Modern Buddhism
and its FOLLOWERS IN ORISSA

BY **Nagendra Nath Vasu** M.R.A.S.

with an introduction by

Mahamahopadhyaya Haraprasad Shastri M. A., C. I. E.

It has been conclusively proved in this book that Buddhism is neither dead nor driven out of India, but its pulse still beats with all the energy of life in Orissa. "Sankaracharyya drove away Buddhism from the soil of India" is proved to be absolutely false. The discoverics of 50000 crypto-Buddhists living in the jungle tracts of Orissa first announced in the book has taken the world of European scholars by surprise.

The book contains more than 250 pages. It is nicely printed and beautifully bound. Price—Rs. 3|-

Dr. L. Burnett of the British Museum writes :—

"A more faxcinating and erudite work I have not read for many years and I shall find it most valuable both in the study and in the lecture-room."

Dr. H. Kern, the great Buddhist-scholar writes :—

"I need hardly to tell you that the subject matter is one that interests me highly, so that it will be a pleasure for me to read the book, which contains so much that is little known or not at all in Europe."

ARCHÆOLOGICAL REPORT OF
MAYURABHANJA.

Dr. Kern, Dr. Fleet, Dr. Oldenburg, Sir Grierson, Dr. Sylvain Levi, M. Emile Senart, Mr. Vincent Smith, Dr. Thomas of India Office, Dr. L. D. Burnett of the Royal Asiatic Society, Dr. E. Hultzch and other European scholars have enthusiastically received the book and lavished high-flown praises upon it.

Beautifully printed and gorgeously bound with more than 100 large plates of inscriptions, grants, ancient temples, ruins and figures of Hindu, Buddhist and Jaina Gods and goddesses with their identification from the authoritative scriptures of various sects. Price Rs. 15|-.

Dr. J. F. Fleet, C. I. E. (the great antiquarian) writes from 8, Leopold Road, Ealing W. London.—

"I have read the book with much interest and consider it a useful addition to our researches into the ancient and mediæval history of India."

9
46

THE SOCIAL HISTORY OF
KAMARUPA.

Vol. 1 & 2. The price Rs. 5|- for each Vol.

By **Nagendra Nath Vasu** Prachyavidyamaharnava etc. etc.

Vol. 1. Contents—1. Kámarupas claims to historical recognition, 2. The Phoenicians in Eastern India, 3. The Vedic Aryan Influence, 4. Lohitic and the Mongolian Influence, 5. Dravidian Influence, 6. Kimmerian Influence, 7. Assyrian influence, 8. History of Mlechcha dynasty (from 3000, B. C. to 1075 A. D.) 9. Rise of Káyasthas in Kamarup, 10. Kayastha Nàga, Dása, Ghosh and Deva dynasties in Assam, 11. Bhâskaradynasty and 12. The Adi-Bhuiyas in upper Assam.

Vol. 2. Contents—1. The Baro-Bhuiyas in Assam, 2. Downfall of the Baro Bhuiyas and Rise of the Mech power, 3. Mech Rule and Social Reform in Kamrup, 4. Rise of Vaishnavism in Assam, 5. Life and teachings of Sankaradeva, the great religious reformer, 6. Spread of Vaishnavism or Sankar-cult in Assam, 7. the Damodaria Sect, 8. the Bamunia Sect. 9. Moamariá or Mataka Sect. 10. Brief History of Gauripur Raj, 11. up-to-date genealogial tables of Baro Bhuiyas, 12. complete genealogical tables of the Gauripur Raj-family and prominent members of the Mahapurushiya Sect.

14

1. From **Dr. F. Ph. Vogel** Leiden, Holland (19-6-24)

"it is no doubt a valuable contribution to our knowledge of the history of Assam, especially as regards the later part of your work."

2. From **A. H. Sayce**, the great British Orientalist, Queen's College. Oxford (12-6-24)

"As you may suppose, the parts of it relating to the early connections of India with Babylonia have a special interest for me, We now know that the Sumerians, like the early Egyptians, traded with the south of Arabia and consequently must have had sea-going ships; hence there is no reason why they or the ancestores of the Phœnicians should not have made their way to the Indian coast"

ग्राहकोंसे निवेदन।

१। बहुतसे महाशय हमारे साथ पत्र व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नम्बर नहीं लिखते। ऐसे महाशयोंसे प्रार्थना है कि पत्र लिखते समय अपना ग्राहक श्रेणीका नम्बर अवश्य २ लिख दिया करें अन्यथा पत्रोत्तरकी आशा न करें।

२। हम आपके साहाय्यसे ही 'हिंदी विश्वकोष'के प्रकाशनका भार उठाने समर्थ हुये हैं। अतः आपसे प्रार्थना है कि कमसे कम दो ग्राहक बनानेकी कृपा करें।

निवेदक—

हिन्दी
विश्वकोष

बंगला विश्वकोषके सम्पादक
श्रीनगेन्द्रनाथ वसु प्राच्यविद्यामहार्णव,
सिद्धान्त-वारिधि, शब्दरत्नाकर, तत्त्वचिन्तामणि, एम, आर, ए, एस,
तथा हिन्दीके विद्वानों द्वारा सङ्कलित।

एकविंश भाग

THE
ENCYCLOPÆDIA INDICA

VOL. XXI.

९
४१

COMPILED WITH THE HELP OF HINDI EXPERTS
BY
NAGENDRANATH VASU, Prāchyavidyāmahārnava,
Siddhnāta-vāridhi, Sabda-ratnâkara, Tattva-chintāmani, M. R. A.
Compiler of the Bengali Encyclopædia ; the late Editor of Bangiya Sâhitya Parishad
and Kâyastha Patrikâ ; author of Castes & Sects of Bengal, Mayurabhanja Archæological Survey Reports and Modern Buddhism ;
Hony. Archæological Secretary, Indian Research Society,
Associate Member of the Asiatic
Society of Bengal &c. &c. &c.

Printed by A. Sen. at the Visvakosha Press.
Published by
Nagendranath Vasu and Visvanath Vasu
9, Visvakosha Lane, Bagbazar Calcutta
1930.

बारह खण्डका मूल्य ६), रुपया, एक खण्ड मूल्य ॥), आना और डाक महसूल अलग।

Expert-Opinion

Mahatma Gandhi & **Pt. Madanmohan Malaviya,** the two famous men of the political world of India, on their respective visit to Visvakosh Bhaban (2. 1. 29 & 3. 1. 29) said :—

"**Hindi visvakosha**," the greatest Encyclopaedia of our Hindi language, is the chief element of the state language of India & we would heartily help the publication of the same."

Sir Gooroo Dass Banerjee,

Kt, M. A., D. L., Ph. D.,

The-late Justice of the Calcurta High Court and Vice-Chancellor of the Calcutta University writes—

"I am glad to learn that you are publishing a Hindi edition of your great work, the Bengali Encyclopædia "Visvakosha." I had to consult it on several occasions, and I found in it much valuable and rare information. A Hindi edition of this monumental work will make all that useful information available for all India, and will, I am sure, meet with the same enthusiastic encouragement and support that the Bengali Visvakosha has received. (30. 11. 15.)

The Hon'ble Sir Ashutosh Mukerjee,

Sarasvati C. S. I. &c. &c.,

The Justice of the Calcutta High Court, the late Vice-Chancellor of the Calcutta University, writes :—

"I have had occasion many a time to consult the Bengali Encyclopædia Visvakosha prepared by Babu Nagendranath Vasu. I have always entertained the highest opinion about its unique value, due chiefly to its accuracy and completeness. It is a truly monumental work, and I am delighted to learn that a Hindi version of it has been undertaken."

(9. 11. 15)

The Hon'ble Justice A. Chaudhuri,

M. A. LL. B.

of the Calcutta High Court, writes :—

"Your Encyclopædia Indica I constantly refer to in my work. I have always found it thoroughly accurate and very helpful. It is a wonder to me that the compilation, although made by you alone is so complete. I am writing these few lines in admiration of the great work you have done. I wish the **Hindi** edition every success." (10. 9. 15.)

Sir, George A. Grierson, K. C. I. E, writes from England on the August 6, 1914 :—

"In the first place allow me to congratulate you on the successful completion of the original Bengali edition, May I express the hope that your Hindi edition will reach an equally successful conclusion, * * *

I am specially pleased to see that you make the proper distinction between 'Anunásika and 'Anusvára' This distinction is most important, but it is hardly ever observed by Hindi writers and when they do try to distinguish they are often wrong, So far as I have seen, in the Hindi Visvakosha, the distinction is always correctly made."

The Leader. *Allahabad, August, 18, 1915.*

"It augurs well for the future of Hindi literature that works of real value and genuine merit have begun to be undertaken in that language. The *latest* and we believe the *greatest work* of that kind is the 'Hindi' *Visvakosh* or the 'Encyclopaedia Indica' edited with the help of Hindi experts by Mr, Nagendra Nath Vasu, Prachyavidyamaharnava Siddhanta Varidhi, Compiler of the Bengali Encyclopaedia and author of several renowned Bengali works, * * * The quality and quantity of information contained in these pages do the greatest credit to their authors. * * * An Anglo-Indian contemporary reviewing his work rightly remarked that 'it is an undertaking of which any advanced nation might be proud, and the ability shown in its execution would do honour to the literature any of Country,' ** * It is also to be hoped that lover of Hindi will do all they can to help the learned editor in his stupendous task.

"......इनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिकाकी टक्करका हिन्दीमें

यह ज्ञानकोष है। * * * *

"हिन्दीका यह महत् ज्ञानाभिधान अपूर्व ग्रन्थ होगा।"

पाटलिपुत्र, बांकीपुर—पौष कृष्णा १० शनिवार १९१४

"...इस विश्वकोषसे सैकड़ों नई नई बातें मालूम हो

सकती है अतएव यह सर्वथा संग्रहणीय है।"

सरस्वती—अक्टोबर, १९१०

विद्यापतिके चचेरे पितामह चण्डेश्वर महाराज हरिसिंह देवके महामहत्तक सांधिविग्रहिक थे। उन्होंने 'स्मृतिरत्नाकर' नामके ७ स्मृतिनिबन्ध रचे हैं। इसके सिवा वारेश्वरके पिता देवादित्य, पितामह धर्मादित्य और उनके पिता हरादित्य आदि मिथिलाका राजमन्त्रित्व कर गये हैं।

विद्यापतिके प्रथम उत्साहदाता प्रतिपालक थे मिथिलाधीश शिवसिंह देव। अपने एक मैथिली पदमें उन्होंने शिवसिंहके काल और गुणका इस प्रकार परिचय दिया है।

"अनल रन्ध्रकर लक्खण णरवई सक्क समुद्द कर अगिनि ससी।
चैतकारि छठि जेठा मिलिओ बार वेहप्पई जाउलसी॥
देवसिंह जं पुहमी छड्डई अद्धासन सुरराअ सरू।
दुहु सुरतान निंदे अब सोअउ तपनहीन जग भरू॥
देखहुओ पृथिमीको राजा पौरुस मांझ पुण्ण बोलिओ।
सतवले गङ्गामिलितकलेवर देवसिंह सुरपुर चलिओ॥
एक दिस जवन सकल दल चलिओ एक दिस सों जमराअ चरू।
दुहुए दलटि मनोरथ पूरओ गरूए दाप शिवसिंह करू॥
सुरतरुकुसुम घालि दिस पुरेओ दुन्दुहि सुन्दर साद धरू।
वीरछत्र देखनको कारण सुरगण सोभे गगन भरु॥
आरम्भी अथन्तेहि महामख राजसूअ अश्वमेध जहां।
पण्डित घर आचार बखानिअ याचकको घरदान कहां॥
विज्जावई कइहार एहु गावए मानत मन आनन्द भयो।
सिंहासन शिवसिंह वइट्ठो उछवै विसरि गयो॥"

उक्त पदका तात्पर्य यह है, कि २९३ लक्ष्मणाब्दमें अथवा १३२७ शकाब्दके चैत्रमासकी षष्ठा तिथि ज्येष्ठानक्षत्रमें वृहस्पतिको देवसिंह सुरधामको सिधारे। उनके स्वर्गवासी होने पर भी उनका राज्य शून्य नहीं हुआ। उनके पुत्र शिवसिंह राजा हुए। शिवसिंहने अपने वाहुवलसे मुसलमानोंको तृणके समान तुच्छ जान कर परास्त किया। यवनराज जान ले कर भाग चला। स्वर्गमें दुन्दुभि वजने लगी। शिवसिंहके मस्तक पर पुष्पवृष्टि होने लगी। विद्यापति कवि कहते हैं, कि वही शिवसिंह अभी तुम लोगोंके राजा हुए हैं। तुम लोग निर्भय हो कर वास करो।

राजा शिवसिंहने प्रसन्न हो कर इन्हें विसपी वा विसफी नामक ग्राम दिया था। यह ग्राम वर्त्तमान दरभङ्गा जिलेके सीतामढ़ी महकमेके अधीन जारैल परगनेमें कमला नदीके किनारे अवस्थित है। यहां कविके वंशधरोंका आज कल वास नहीं है। अभी वे लोग चार पीढ़ीसे सौराठ नामक एक दूसरे ग्राममें रहते हैं। विसपी ग्राम देनेके उपलक्षमें राजा शिवसिंहने विद्यापतिको जो ताम्रशासन प्रदान किया था, उसके नष्ट हो जानेसे परवर्त्तीकालमें और भी कितने जाली ताम्रशासन वनाये गये हैं। इन ताम्रशासनोंमें भी २९३ लक्ष्मणाब्द देखा जाता है। वहुतेरे इन्हीं ताम्रशासनोंको मूल वतलाते हैं, पर यह उनकी भूल है।

शिवसिंहकी पत्नी रानी लछिमा देवी भी विद्यापतिको वहुत उत्साह देती थीं। इसी कारण विद्यापतिके अनेक पदोंमें लछिमा देवीका नाम पाया जाता है। उनकी पदावलीसे यह भी जाना जाता है, कि वे गयासुद्दीन और नसिरा शाह नामके दो मुसलमान राजाओंके भी कृपा-पात्र थे। इसके सिवा उन्होंने रानी विश्वासदेवीके आदेशसे 'शैवसर्वस्वहार' और 'गङ्गावाक्यावली' पीछे महाराज कीर्त्तिसिंहके आदेशसे 'कीर्त्तिलता' तथा महाराज भैरवसिंहके शासनकालमें युवराज रामभद्र (रूपनारायण)के उत्साहसे 'दुर्गाभक्तितरङ्गिणी'-को रचना की है। विद्यापतिके किसी किसी पदमें उनकी 'कविकण्ठहार' उपाधि देखी जाती है।

पूर्वोक्त ग्रन्थोंके अलावा विद्यापति-रचित पुरुषपरीक्षा, दानवाक्यावली, वर्षकृत्य, विभागसार, गयापतन आदि अनेक संस्कृत ग्रन्थ मिलते हैं।

ये सब ग्रंथ आज भी मिथिलामें प्रचलित हैं। इनकी मनोहर पदावलियोंमेंसे एक नीचे उद्धृत की जाती है—

'कत चतुरानन मरि मरि जावत, नतु या आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुनि तोहे समावत, सागर लहरी समाना।
अरुण पुरव दिस, वहल सगर निस, गगन मगन भेल चन्दा।
मुनि गेल कुमुदिनी तइओ तोहर धनि, मूनल मुख अरविन्दा।
कमर वदन कुवलय दुइ लोचन, अधर मधुर निरमाणे।
सकल शरीर कुसुम तुअ सिरजिल, किअ दई हृदय परवाने।
जनम अवधि हम रूप निहारव, नयन न तिरपित भेल।
सेई मधुर बोल श्रवणहि सुनव, श्रुतिपथ परसि न गेल।

ये चैतन्यदेवके पूर्ववर्त्ती चण्डिदासके समसामयिक थे। चैतन्यदेवके सम्प्रदायमें इनकी पदावलियोंका बड़ा आदर है। चैतन्यदेव भी इन पदावलियोंका बड़ा आदर करते थे। जो हो, विद्यापति विहार प्रदेशके कवि और गौरव हैं।

२ एक वैद्यक ग्रन्थकार, वंशीधरके पुत्र। इन्होंने १६८२ ई०में वैद्यक-रहस्यपद्धतिकी रचना की। इनका बनाया हुआ चिकित्साञ्जन नामक और एक ग्रंथ मिलता है।

विद्यापति विह्लण—कल्याणके चालुक्यराज विक्रमादित्यकी सभाके एक महाकवि। विक्रमाङ्कदेवचरित काव्य और चौरपञ्चाशिकाकी रचना कर ये प्रसिद्ध हो गये हैं।

विक्रमाङ्कचरितके १८वें सर्गमें कविने अपना जैसा परिचय दिया है, उससे जाना जाता है, कि काश्मीरकी प्राचीन राजधानी प्रवरपुरसे डेढ़ कोस दूर खोनमुख नामक स्थान है। वहां कुशिक गोत्रज मध्यदेशी ब्राह्मण वंशमें कविने जन्मग्रहण किया। गोपादित्य नामक एक राजा यज्ञकार्य करानेके लिये मध्यदेशसे इनके पूर्वपुरुषको काश्मीर लाये। इनके प्रपितामह मुक्तिकलश और पितामह राजकलश दोनों ही अग्निहोत्री और वेदपाठमें विशेष पारदर्शी थे। इनके पिता ज्येष्ठकलश भी एक वैयाकरण थे। उन्होंने महाभाष्यकी टीका प्रणयन की। इनकी माताका नाम नागदेवी था। छोटे भाई इष्टराम और आप दोनों ही कवि और पण्डित थे। विह्लणने काश्मीरमें ही लिखना पढ़ना सीखा था। प्रधानतः चारों वेद, महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण और अलङ्कारशास्त्रमें इनकी अच्छी व्युत्पत्ति थी।

लिखना पढ़ना समाप्त करके ये देशभ्रमण और हिन्दू राजाओंकी सभामें अपनी कविता और विद्याका परिचय देनेके अभिप्रायसे घरसे निकले। पहले ये जन्मभूमिका परित्याग कर यमुनातटसे होते हुए पवित्र तीर्थ मथुरामें पहुंचे। इसके बाद इन्होंने गङ्गाको पार कर कनोजमें पदार्पण किया। कनोजमें कई दिनोंका पथपर्यटन-क्लेश दूर कर ये पहले प्रयाग और पीछे बनारस आये थे। बनारससे फिर पूर्वदिशाको न जा कर इन्होंने पश्चिमकी ओर यात्रा कर दी। इसी समय डाहलपति* कर्णके साथ इनका परिचय हुआ। महावीर कर्णने इनका बहुत सत्कार किया। कर्णकी सभामें कविने बहुत दिन बिताया था। यहां इन्होंने कविगङ्गाधरको परास्त किया और रामचरिताख्यायक नामक एक काव्यकी रचना की। बीचमें ये सीतापतिकी राजधानी अयोध्या जा कर कुछ दिन ठहरे थे।

कल्याणपति सोमेश्वरने कर्णको परास्त या विनाश किया था। पीछे कर्णकी सभाका परित्याग कर कवि पश्चिम भारतकी ओर चल दिये। धारा और अणहिलबाड़की राजसभाकी समृद्धि तथा सोमनाथके माहात्म्यने ही कविको पश्चिमकी ओर आकृष्ट किया था। जो हो, दुर्भाग्यवशतः धारा नगरीका दर्शन तथा धारापति पण्डितानुरागी भोजराजके साथ इनका साक्षात् लाभ न हुआ। ये मालवके उत्तरसे होते हुए गुजरात चले गये। अणहिलबाड़की राजसभामें शायद इनको आदर नहीं मिला, मालूम होता है, इसी कारण कविने गुजरातियोंकी अभद्रताकी समालोचना की। सोमनाथका दर्शन कर आप दक्षिण-भारतकी ओर अग्रसर हुए तथा रामेश्वर तकके स्थानोंका आपने परिदर्शन किया।

रामेश्वर दर्शनके वाद ये उत्तरकी ओर आ कर चालुक्य राजधानी कल्याण नगरमें पहुंचे। यहां राजा विक्रमादित्यने इन्हें "विद्यापति" या पण्डित राजपद दे कर सम्मानित किया। मालूम होता है, कविने इस कल्याण राजधानीमें ही जीवनकी शेषावस्था बिताई थी।

विद्यापति विह्लणकी जीवनी पढ़नेसे ज्ञात होता है, कि ११वीं सदीके तृतीय चतुर्थांशमें इनका साहित्य-जीवन और देशभ्रमण समाप्त हुआ। विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्ल १०७६ ई०से प्रायः ११२७ ई० तक कल्याणमें अधिष्ठित थे। इसी समयके बीच विद्यापतिका कल्याणपुरमें आ कर रहना माना जायेगा।

विद्यापतिस्वामी—एक प्राचीन स्मार्त्त। स्मृत्यर्थसागरमें इनका मत उद्धृत हुआ है।

विद्यापुर (सं० क्ली०) नगरभेद। (भारतीय ज्योतिःशास्त्र)

विद्याभट्ट—एक पण्डित। इन्होंने विद्याभट्टपद्धति नामक

---

* चेदि वा बुन्देलखण्डका नाम डाहल है।

एक वैद्यकग्रन्थ प्रणयन किया । निर्णयामृतमें अल्लाड़नाथने इनका मत उल्लेख किया है ।

विद्याभरण (सं० क्ली०) विद्या एव आभरणं । १ विद्यारूप आभरण, विद्याभूषण । (त्रि०) विद्या एव आभरणं यस्य । २ विद्यारूप आभरणविशिष्ट, विद्याविभूषित ।

विद्याभरण—खण्डनखण्डखाद्यटीकाके प्रणेता ।

विद्याभूषण—एक प्रसिद्ध पण्डित । इनका प्रकृत नाम था बलदेव विद्याभूषण । इन्होंने १७६५ ई०में उत्कलिकावल्लरी टीका, ऐश्वर्यकादम्बिनीकाव्य, सिद्धान्तरत्न नामक गोविन्दभाष्यटीका, गोविन्दविरुदावलीटीका, छन्दःकौस्तुभ और उसकी टीका, पद्यावली, भागवत-सन्दर्भटीका, साहित्यकौमुदी और रूपगोस्वामिरचित स्तवमालाकी टीका लिखी ।

विद्यभृत् (सं० पु०) १ विद्याधर । विद्यां विभर्त्तीति भृ-क्विप् । २ विद्वान् ।

विद्यामणि (सं० पु०) विद्या एव मणिः । १ विद्यारूप रत्न, विद्या । २ विद्याधन ।

विद्यामय (सं० त्रि०) विद्या-स्वरूपे मयट् । विद्यास्वरूप, विद्याप्रधान, जो पूर्ण पण्डित हो ।

विद्यामहेश्वर (सं० पु०) शिवलिङ्गभेद ।

विद्यामाधव—मुहूर्त्तदर्पणके रचयिता ।

विद्यामार्ग (सं० पु०) वह मार्ग जो मनुष्यको मोक्षकी ओर ले जाय, श्रेयः मार्ग ।

विद्यारण्य (सं० पु०) माधवाचार्य । संन्यासाश्रम ग्रहण करनेके पीछे ये इस नामसे परिचित हुए ।

विद्यानगर और विद्यारण्य स्वामी देखो ।

विद्यारण्य गुरु—शङ्करसम्प्रदायके ग्यारहवें गुरु ।

विद्यारण्यतीर्थ—एक संन्यासी । ये विश्वेश्वरदत्तके गुरु थे । इन्होंने सांख्यतरङ्ग ग्रन्थ बनाया ।

विद्यारण्यस्वामी (जगद्गुरु)—शङ्करमतावलम्बी संन्यासिसम्प्रदायके ग्यारहवें गुरु । ये पूज्यपाद विद्याशङ्करतीर्थके (१३२८-१३३३ ई०) शिष्य थे । संन्यासाश्रम ग्रहण करनेके बाद ये विद्यारण्यस्वामी या विद्यारण्य मुनिके नामसे परिचित हुए थे । सन् १३८० ई०में इनके पूर्ववर्त्ती सतीर्थ और १०वें गुरु भारती कृष्णातीर्थके (१३३३-१३८० ई०) तिरोधान होने पर ये शृङ्गेरी मठके जगद्गुरु श्रीविद्यारण्यस्वामी नामसे विख्यात हुए। संन्यासाश्रम ग्रहण करनेके बाद विजयनगर या विद्यानगरराजवंशसे आपका जैसा सम्बन्ध था, संन्यासीके जीवनकी वैसी घटना विशेष आलोचनाकी सामग्री है ।

संन्यासाश्रमावलम्बनके पहले इनका नाम माधवाचार्य था । दाक्षिणात्यके सुप्रसिद्ध शास्त्रविद् भरद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण सायण इनके पिता थे । इनकी माताका नाम श्रीमतीदेवी था । वेदभाष्यकार सायणाचार्य इनके कनिष्ठ भ्राता थे ।

तुङ्गभद्रानदी तटवर्त्तीके सुप्रसिद्ध हाम्पीनगरके निकट सन् ११८६ शकमें (१२६७ ई०में) माधवका जन्म हुआ । पिताके अध्यापनागुणसे दोनों दरिद्र ब्राह्मणकुमार विद्याशिक्षामें विशेष पारदर्शी हो उठे । साथ ही दोनों भाई धीरे धीरे पृथक् भावसे या एकयोगसे वेदोपनिषदादिका भाष्य और नाना ग्रन्थ रचना करने लगे । संन्यासाश्रम ग्रहण करनेके पहले माधवाचार्यने आचारमाधव वा पराशरमाधव नामसे पराशरस्मृतिकी व्याख्या, जैमिनीय न्यायमालाविस्तर या अधिकरणमाला नामसे मीमांसासूत्रभाष्य, मनुस्मृतिव्याख्यान, कालमाधवीय या कालनिर्णय, व्यवहार-माधवीय, माधवीयधातुवृत्ति, माधवीय भाष्य (वेदान्त), मुहूर्त्तमाधवीय, शङ्करविजय, सर्वदर्शनसंग्रह और वेदभाष्यादि कई ग्रन्थोंकी रचना की । इन सब ग्रन्थोंके अन्तिम भागमें माधवाचार्यने अपने पिताके नाम और गोत्र आदिका उल्लेख किया है* ।

दीक्षा लेनेके बादसे ही माधव ब्राह्मणोचित संस्कारवश तुङ्गभद्रा नदीके किनारे नित्य जा और स्नानादिसे निवृत्त हो हाम्पीके सुप्रसिद्ध भुवनेश्वरी मन्दिरमें जाते और वहां देवीकी अर्चना करते थे । यौवनकी उद्दाम आकांक्षाने माधवाचार्यके हृदयको अच्छी तरह मथना आरम्भ किया । दारिद्र्य दुःखको सहते हुए शुष्क शास्त्राध्ययन उनको अच्छा न लगा । वे क्रमशः अर्थलाभाशासे अभिभूत हो उठे । विजयध्वजवंशीय आनगुण्डी-राजवंशका ऐश्वर्य

---

* डाक्टर बुर्णेलने वंशब्राह्मणकी उपक्रमणिकामें विद्यारण्यके रचनाविषयमें विशेष गवेषणा पूर्ण युक्ति प्रदर्शन की है ।

उनको प्रपीड़ित करने लगा । वे परश्रीकातर हुए सही, किन्तु कर्मवश किसी दूसरी वृत्तिमें लग गये और उससे ही उनको अच्छा फल प्राप्त हुआ ।

स्वयं ऐश्वर्य्यवान् होनेकी आशासे माधव इष्टदेवीके शरणापन्न हुए और देवीकी तुष्टिके लिये बड़ी कठोरतासे तपःसाधना करने लगे । देवी भुवनेश्वरीने प्रसन्न हो कर कहा, "वत्स ! इस जन्ममें तुम्हारे धनप्राप्तिकी कोई आशा नहीं । दूसरे जन्ममें मेरे प्रसादसे तुम अतुल सम्पत्तिके अधिकारी हो सकोगे ।"

देवीके वाक्य सुन कर माधवके चित्तमें वैराग्य उत्पन्न हुआ । उन्होंने संसारधर्मको तिलाञ्जलि दे कर संन्यासाश्रम ग्रहण किया । सन् १३३१ ई०में वे अपनी जन्मभूमि हाम्पी नगरको छोड़ कर शृंगेरीकी ओर चले और वहां पहुंच कर वहांके सुप्रसिद्ध शङ्कर-मठाधिकारी आचार्यप्रवर विद्याशङ्करतीर्थके चरणों पर गिरे । उस व्याकुलचित्त युवक माधवको शान्तिके प्रयासी देख विद्यातीर्थने उनको स्थान दिया और उनकी विद्याबुद्धिका प्राखर्य देख दयार्द्रचित्तसे उनको शिष्य पद पर नियुक्त किया । माधवाचार्यने उसी वर्षमें संन्यासाश्रम ग्रहण किया था । इसके कुछ दिनोंके बाद विद्यातीर्थ सन् १३३३ ई०में परलोकप्रवासी हुए । इसके बाद माधवाचार्यके अग्रवर्त्ती शिष्य भारतीकृष्ण जगद्गुरुकी गद्दी पर बैठे ।

इसी वर्षमें अर्थात् सन् १३३३ ३४ ई०में ही दिल्लीके बादशाह महम्मद तुगलककी फौजने दाक्षिणात्यके हिन्दू राजवंशके ऐश्वर्य्यसे ईर्षान्वित हो पहले आनगुण्डा पर आक्रमण किया । नगर पर घेरा डालनेके समय हिन्दू और मुसलमानोंमें घोर संघर्ष उपस्थित हुआ । इस भीषण युद्धमें विजयध्वजवंशीय अंतिम राजा जम्बुकेश्वर मारे गये । ये राजा निःसन्तान थे । बादशाह यह सोचने लगे, कि गद्दी पर किसको बैठाया जाये, राज परिवारमें ऐसा कोई बचा न था, कि उसे गद्दी पर बैठाते । मन्त्रीने आ कर कहा, कि गद्दी पर बैठने लायक युद्धमें कोई नहीं बचा है । अन्तमें बादशाहने उसी मन्त्रीको राज्यसिंहासन पर बैठाया । इनका नाम था देवराय ।

किम्वदन्ती है, कि राजा देवराय एक दिन शिकार खेलनेके लिये तुङ्गभद्राके दक्षिणी किनारे (जहां इस समय विजयनगरका ध्वंसावशेष पड़ा हुआ है) घूम रहे थे । ऐसे समय उन्होंने देखा, कि एक खरगोश तेजीसे आ कर बाघ और सिंहशिकारी कुत्तोंको क्षत विक्षत और आहत कर रहा है । राजा अपने कुत्तोंको इस तरह आक्रान्त होते देख बहुत चकित हुए और इस अद्भुत और नैसर्गिक घटना पर विचार करने लगे । इसी चिन्तामें मग्न हो कर घरकी ओर चले । रास्तेमें उस नदीके किनारे उपासनामें रत एक (माधवाचार्य्य) संन्यासीसे भेंट हुई । उन्होंने इस घटनाका विवरण उस संन्यासीसे कह सुनाया और इसका यथार्थ तत्त्व पूछा । उस समय संन्यासीने राजाको जहां वह घटना हुई थी, उस स्थानको बतलानेके लिये कहा । राजाने भी संन्यासीको वह स्थान दिखा दिया । संन्यासीने उस समय राजासे कहा, कि तुम इस स्थानमें किला और राजप्रासाद निर्माण करो । तुम्हारे द्वारा प्रतिष्ठित यह नगर धनधान्य और राजशक्तिमें अन्यान्य राजधानियोंका शीर्ष-स्थान अधिकार करेगा । राजाने उस संन्यासीका आदेश पालन किया । शीघ्र ही वहां एक प्रासाद और राजकार्य्योपयोगी अट्टालिकायें तैयार कर दी गईं । राजाने संन्यासीके मतानुसार इस नगरका नाम 'विद्याजन' रखा ।*

---

* पुर्त्तगीज भ्रमणकारी Fernao Nuniz अन्दाज सन् १५३६ ई०में विजयनगरके राजा अच्युतरायकी सभामें उपस्थित थे। उन्होंने अपने भ्रमणवृत्तान्तमें उपर्युक्त घटनाका विवरण दिया है । उक्त किम्वदन्तीसे मालूम होता है, कि किसी संन्यासीके नामानुसार ध्वस्त विजयनगर पुनः संस्कृत हो कर 'विद्याजन' नामसे प्रसिद्ध हुआ है। विद्याजन शब्द विद्यारण्यका अपभ्रंश मालूम होता है, सम्भवतः विद्यारण्यनगर संक्षेपमें विद्यानगर हुआ है। नुनीजके मतसे देवरायका पुत्र बुक्कराय था। बुक्करायने वङ्गालके सीमान्त तक सारे उड़ीसे पर अधिकार कर लिया था। विद्यानगरकी ऐतिहासिक पर्य्यालोचना करनेसे मालूम होता है, कि २रे बुक्क या १ले देवराय प्रबल पराक्रान्त राजा थे । पुर्त्तगीज पर्यटकने ऐतिहासिक घटनाओंमें बड़ी गड़बड़ी मचा दी है। क्योंकि अपने ग्रन्थमें उन्होंने लिखा है, कि बादशाह महम्मद तुगलकने सन् १२३० ई०में आनगुण्डी पर आक्रमण किया और

दूसरी एक किम्बदन्तीसे जाना जाता है, कि मुसलमानोंके युद्धमें अपुत्रक राजा जम्बुकेश्वर मारे गये। इसके बाद राज्याधिकारके लिये राज्यमें घोरतर विप्लव उपस्थित हुआ। उत्तराधिकारियोंने आपसमें सिंहासन पानेके लिये निरन्तर युद्धमें लिप्त रह कर देशमें घोरतर विशृङ्खला पैदा कर दी। इसी अराजकताके दुर्दिनमें विजयनगर मरुभूमिके रूपमें परिणत हुआ।

शृङ्गेरी मठमें रह कर जन्मभूमिकी इस भयानक विपद्की बात स्मरण कर माधवाचार्य्य (विद्यारण्य यति)-का हृदय रो उठा। उनसे अब रहा न गया, शीघ्र ही वे शृङ्गेरीसे लौटे। मातृभूमिमें पहुंचते ही विद्यारण्यस्वामी अपनी इष्टदेवीके मन्दिरमें गये और स्नानादि कर विधिवत् देवीकी अर्चना करने लगे। उसके बाद देवीने उनको ध्यानमें दर्शन दे कर कहा,—“वत्स! समय पूर्ण हुआ है। तुमने संसारधर्म त्याग कर संन्यास ग्रहण कर नवीन जीवन प्राप्त किया है। अतएव गार्हस्थ्य जन्मके लिये यह तुम्हारा दूसरा जन्म हुआ है। इस समय मेरे वरप्रसादसे तुम अतुलसम्पत्तिके अधिकारी बन कर इस नष्ट राज्यका पुनरुद्धार कर सनातन हिन्दू-धर्मका विस्तार करो।”

देवीका आशीर्वाद शिर पर धारण कर विद्यारण्य स्वामीने देवीके चरणोंमें निवेदन किया, “मां! मैं अर्थके बिना कैसे नष्ट राज्यका उद्धार करूं? और कैसे धनहीन प्रजामण्डली नगरकी समृद्धि बढ़ा सकती है?” उस समय देवीके आदेशसे स्वर्णकी वृष्टि हुई। (जनसाधारणका विश्वास है, कि विद्यारण्य स्वामीने योगबलसे स्वर्णवृष्टि की थी। संन्यासीको अर्थकी आवश्यकता नहीं। केवल दुःखी प्रजाका दुःख दूर करनेके लिये ही वे अर्थागम विद्याकी शिक्षा करते हैं। आज भी कितने ही साधु पुरुष ऐसे ही अलौकिक शक्तिसम्पन्न देखे जाते हैं।) हृतसर्वस्व प्रजामण्डली स्वर्ण प्राप्त कर फिर एक बार धनशाली बन गई। वे लोग अपने अपने घर बना कर जातीय व्यवसाय वाणिज्य करने लगे और नगरकी शोभा और समृद्धि बढ़ाने लगे। राजाधिकृत या सरकारी भूमिमें जो सुवर्ण वृष्टि हुई, वह उठा कर राजकोषमें एकत्र कर दिया गया। इस समय विजयनगरके प्रणष्ट गौरवके पुनरुद्धारकी चिन्ता दूर हुई। शीघ्र ही विजयनगर धन और शस्यसमृद्धिसे परिपूर्ण हो गया। इस समय विद्यारण्य स्वामीने इस नगरका नाम अपने नाम पर विद्यानगर रखा। हाम्पीके एक देवालयमें विद्यारण्य स्वामीको उत्कीर्ण इसके सम्बन्धकी शिलालिपि दिखाई देती है। इस पर १२५८ शक (१३३६ ई०) खुदा हुआ है। सुतरां इसके पूर्व तथा जम्बुकेश्वरकी मृत्युके बाद करीब १३३५ ई० में उन्होंने यह नगर स्थापित किया था। उन्होंने अपने या अपने प्रतिनिधि द्वारा प्रायः १६ वर्ष तक विद्यानगरका राज्य किया।

विद्यारण्यकी दैवशक्तिके प्रभावसे शीघ्र ही विद्यानगर सुशासित और समृद्धिसम्पन्न हो उठा। योगमार्गानुसारी विज्ञ विप्र माधवाचार्यने तब धनमदसे मत्त रहना नहीं चाहा। विषयवैभवनिस्पृह संन्यासीकी तरह सदा परम तत्त्वान्वेषणमें रत रह कर जीवनयात्रा निर्वाह करना ही उनकी वाँछा हुई। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य बुक्कके हाथ राज्यभार अर्पण कर दिया। इससे ही विद्यानगरमें संगमराज्यकी प्रतिष्ठा हुई। हाम्पीकी शिलालिपिमें राजा बुक्करायको यादवसन्तान होना लिखा है। कहीं कहीं उसको कुरुवंशीय भी माना गया है।

राजा बुक्क और विद्यारण्यके सम्बन्धमें दाक्षिणात्यमें कई किम्बदन्तियां प्रचलित हैं। इससे विद्यारण्यका बहुत कुछ परिचय मिलता है। यहां वे प्रसङ्गक्रमसे उद्धृत कर दी जाती हैं—

(१) तुंगभद्रा नदीके किनारे एक गुहामें विद्यारण्य तपस्या करते थे। बुक्क नामक अहीरका एक लड़का उनके लिये दूध दे जाता था। इस तरह कई वर्ष तक उन पुण्यात्माकी उसने सेवा की। विद्यारण्य शृंगेरी

प्रायः १२ वर्ष तक उक्त राजाके साथ युद्ध किया। नुनिजके ग्रंथमें संख्याविन्यासका भ्रम होगा। उसको १२३० की जगह १३२० मान लिया जाये और उसमें १२ वर्ष युद्धकाल जोड़ दिया जाये, तो १३३२ ई० प्रायः जम्बुकेश्वरका मृत्युकाल आ जाता है। नुनिजकी शताब्द पूर्व संख्याको स्यूयेल साहबने भ्रमात्मक साबित किया है।

मठके जगद्गुरु हुए। उन्होंने अराजक विजयनगरमें आ कर किसी राजवंशका सन्धान न पा कर उस अहीरके पुत्र बुक्कको ही राजसिंहासन पर बैठाया।

(२) योगी माधवाचार्यको विजयनगरमें बहुत गुप्तधन प्राप्त हुआ। उन्होंने कुरुवंशीय एक मनुष्यको यह धन दे दिया। इसी व्यक्तिने पीछे एक नये वंशकी प्रतिष्ठा की।

(३) हुक्क और बुक्क नामक दो भ्राता वरङ्गलके प्रतापरुद्रदेवके राजकोषाध्यक्ष थे। वे अपने गुरु विद्यारण्यके समीप शृङ्गेरी मठमें भाग आये और उनके प्रभावसे उन्होंने सन् १३३६ ई०में विजयनगर साम्राज्य स्थापित किया। हुक्क पहले और उनके बाद बुक्क राजा हुए।

(४) सन् १३३३ ई०में इवन बतूना भारतमें आये। उन्होंने विजयनगर राज्यस्थापनके सम्बन्धमें लिखा है, कि सुलतान महम्मदके भतीजे बहाउद्दीन् घासताश्प काम्पिल्यराजके यहां आश्रय लेने पर सुलतान उसको दण्ड देनेके लिये सदलबल अग्रसर हुए। यह काम्पिल दुर्ग तुङ्गभद्राके किनारे आनगुण्डीसे ४ कोस पूर्वमें अवस्थित है। काम्पिलराजने भीत हो कर बहाउद्दीनको निकटवर्त्ती एक सरदारके पास भेज दिया। इसी सूत्रसे आनगुण्डीराजके साथ मुसलमानी सेनाओंका युद्ध हुआ। राजा युद्धमें मारे गये और उनके ११ पुत्र कैद कर लिये गये। सुलतानने उन्हें मुसलमान बना लिये। सुलतानकी आज्ञासे आनगुण्डी राजमन्त्री देवराय वहांके अधीश्वर हुए। इसके बादके विषय पर इबन बतूना और नुनिजकी अनेक बातें मिलती ८।

(५) बुक्क और हरिहर (हुक्क) वरङ्गलराजके मन्त्री थे। सन् १३२३ ई०में वरङ्गलराज्य मुसलमानों द्वारा तहस नहस होने पर वे घोड़ेकी सवारीसे आनगुण्डीमें चले आये। यहां माधवाचार्य्यसे जान पहचान हो जाने पर उनके साहाय्यसे ही उन्होंने विजयनगरराज्यकी स्थापना की।

(६) सन् १३०६ ई०में मुसलमानोंने वरङ्गल पर घेरा डाला। इसके बाद यहां मुसलमान शासनकर्त्ता नियुक्त हुआ। इस मुसलमान शासककी अधीनतामें बुक्क और हरिहर काम करते थे। सन् १३१० ई०में द्वारसमुद्रके होयशल बल्लाल राजाओंके विरुद्ध प्रेरित मालिक काफूरके साहाय्यार्थ औरङ्गलके शासनकर्त्ताने उनको भेज दिया। वहां बल्लाल राजाओंसे पराजित हो कर ये दोनों भाई सदलबल आनगुण्डी राज्यमें भाग आये। यहाँ एक गुहामें विद्यारण्य स्वामीसे उनका परिचय हुआ। साधूत्तमने विद्यानगर स्थापनमें उनको सहायता दी थी।

(७) उक्त दोनों भाई दाक्षिणात्यके शासनकर्त्ता मुसलमानोंके अधीन काम करते थे। मालिककी मनस्तुष्टिके लिये बाध्य हो कर उनको धर्मनीतिविरुद्ध कितने ही कार्य्य करने पड़े। इससे मनमें निर्वेद उपस्थित होने पर वे भाग कर पार्वत्य भूमिमें आये। उनके दलमें यहां बहुत आदमी मिल गये। विद्यारण्यस्वामीके परामर्शसे वे यहां विजयनगर स्थापन करनेमें समर्थ हुए थे।

(८) हुक्क और बुक्क दोनों ही होयसल बल्लाल नृपतियोंके अधीनमें सामन्तराजे थे। राजादेशसे उनको आनगुण्डी और उसके समीपवर्त्ती प्रदेशोंमें घूमनेकी सुविधा मिली। यहाँ विद्यारण्यके साथ भेंट हो जाने पर उनके परामर्शसे विजयनगर राज्य तथा राजवंशकी प्रतिष्ठा हुई। रूसोपर्य्यटक निकिटिन १४७४ ई०में भारतभ्रमण करने आये थे। उनका कहना है, कि बुक्क और हरिहर वनवासीके कादम्बवंशसम्भूत हैं। विजयनगरमें ही उनका राजपाट था। उन्होंने उनको "हिन्दूसुलतान कदम" कहा है।

उपर्युक्त किम्बदन्तियोंकी स्थूलतः आलोचना करने पर मालूम होता है, कि विद्यारण्य स्वामी शृङ्गेरी मठमें आचार्य होनेके बाद आनगुण्डी राज्यमें अराजकता देख कर ये तुङ्गभद्राके किनारे आ पहुंचे। यहां एक पर्वत-गुहामें ये योगसाधन कर रहे थे। उन्हींकी कृपासे बुक्कराय और हरिहर विद्यानगर राज्यकी प्रतिष्ठा करनेमें समर्थ हुए। यद्यपि शृङ्गेरी मठकी विद्यारणीमें और रायवंशावलीमें विद्यारण्यके द्वारा विद्यानगर प्रस्थापनकी बात लिखी है, तथापि यह स्वीकार करना होगा, कि उनके अनुगृहीत राजा बुक्करायने उन्हींके परामर्शसे इस विस्तीर्ण राज्यका विशेष

दक्षताके साथ शासन किया था। इतिहासमें आज भी बुक्कराय और हरिहरका प्रभाव स्थापित हो रहा है।

विद्यानगरराजवंश देखो।

विद्यानगरके सङ्गमराजवंशकी सूचीमें पहले बुक्कराय पीछे सङ्गमराज और इसके बाद उनके पुत्र हरिहर (१म) और बुक्क (१म) का नाम लिखा है। उद्धृत किम्बदन्तियोंसे मालूम होता है, कि बुक्क या हरिहर पहले और बुक्क पीछे राजा हुए। राजवंशकी सूचीमें भी हरिहर (१म)को सन् १३३६ ई०से १३५४ ई० और बुक्क (१म)को १३५४ ई०से १३७७ तक विजयनगरका राजशासन करते देखा जाता है। सुतरां विद्यारण्यके शिष्य बुक्क हरिहरके भाई थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि वंशप्रतिष्ठाता बुक्क विद्यारण्यके शिष्य हों, तो उनको और उनके पुत्र संगमराजको एक वर्षमें ही कालकवलमें फेंकने बिना ऐतिहासिककी सत्यरक्षा हो ही नहीं सकती।

पहले ही कहा जा चुका है, कि विद्यारण्य स्वामी सन् १३३१ ई०में ब्रह्मचर्यावलम्बन पूर्वक यतिधर्ममें दीक्षित हुए। सन् १३३४ ई०में विजयनगर आ कर उस ध्वंसनगरका फिरसे संस्कार कर उन्होंने उसका नाम विद्यानगर रखा। उस समय उनकी उम्र प्रायः ६६ वर्षकी हुई थी। साधु विद्यारण्यने नाममात्रकी आशासे अपने नाम पर नगरकी स्थापना की थी, ऐसा अनुमान युक्ति-युक्त नहीं मालूम होता। बहुत सम्भव है, कि हरिहर और बुक्कने उनके प्रसाद और परामर्शसे राज्य प्राप्त किया था। इससे उन्होंने गुरुके नाम पर ही इस नगरका नामकरण किया हो। बुक्क प्रथमके बाद राजा हरिहर द्वितीयने १३७७ ई० तक राज्यशासन किया था।

मठकी सूचीके अनुसार विद्यारण्यस्वामी १३३१से १३८६ ई० तक संन्यास आश्रममें थे। सन् १३८० ई०में उनके सतीर्थ भारतीकृष्णकी मृत्यु होने पर १३८६ ई० तक वे जगद्गुरु रूपसे प्रसिद्ध हुए। अपने शेष जीवनमें उन्होंने अपनी प्रिय राजधानीकी रक्षाके लिये हरिहर प्रथम, बुक्क प्रथम और हरिहर द्वितीयको परामर्श देते थे, इसमें सन्देह करनेकी जरूरत नहीं। अवश्य ही यह स्वीकार करना होगा, कि वे सदा मन्त्रीरूपसे मन्त्रिसभामें प्रस्तुत नहीं रहते थे। वे श्रीङ्गेरी मठमें ही रहते थे और कभी कभी विद्यानगरमें आते थे। काशीविलासशिष्य माधवमन्त्री आदि दूसरे कई व्यक्ति उनके आदेशसे राज्यकार्य्योंकी पर्यालोचना किया करते थे।

विद्यारत्न (सं० पु०) विद्याधन, विद्या।

विद्यारम्भ (सं० पु०) विद्यायाः आरम्भः। वह संस्कार जिसमें विद्याकी पढ़ाई आरम्भ होती है। विद्या देखो।

विद्याराज (सं० पु०) १ बौद्ध यतिभेद। २ विष्णुमूर्त्तिभेद।

विद्याराम—रसदीर्घिकाके प्रणेता।

विद्याराशि (सं० पु०) शिव।

विद्यार्थिन् (सं० पु०) विद्यामर्थयितुं शीलमस्य अर्थ-णिनि। छात्र, वह जो विद्या शिक्षाकी प्रार्थना करता हो।

विद्यार्थी (सं० पु०) विद्यार्थिन् देखो।

विद्यालङ्कार भट्टाचार्य (सं० पु०) १ संक्षिप्तसारके प्रसिद्ध टीकाकार। २ सारसंग्रह नामक ज्योतिर्ग्रन्थके रचयिता। ३ बिल्वमङ्गलरचित कर्णामृतके टीकाकार।

विद्यालय (सं० पु०) विद्यायाः विद्याशिक्षायाः आलयः स्थानं। विद्याशिक्षाका स्थान, पाठशाला।

प्राचीन भारतकी विद्याशिक्षाके स्थान पाठशाला वा गुरुगृहसे वर्त्तमान यूरोपीय प्रथाके शिक्षास्थान स्कूल (School)में बहुत अन्तर है। इस विद्यालयमें जब उच्च श्रेणीकी शिक्षा दी जाती है, तब उसे विश्वविद्यालय वा कालेज (University या College) कहते हैं। विद्यालय वा कालेजका मकान कैसा होनेसे शिक्षा देनेमें सुविधा होती है तथा बालक और युवकोंकी शिक्षायोग्य किन किन वस्तुओंका रहना आवश्यक है, उच्चशिक्षाप्रमत्त वर्त्तमान पाश्चात्य पण्डितोंने गहरी खोज करके उस विषयकी एक तालिका बनाई है। विद्यालयके गृहादिका संस्थान निर्देश करके आज-कल बहुतसे "School building" विषयक ग्रन्थ भी प्रचारित हुए हैं। इन सब ग्रन्थोंमें वर्त्तमान प्रथासे परिचालित Boarding School, Kindergerten School आदिकी भी अच्छी व्यवस्था देखी जाती है। विशेष विवरण स्कूल और विश्वविद्यालय शब्दमें देखो।

विद्यावंश (सं० क्ली०) विद्याकी तालिका। जैसे—धनुर्विद्या, आयुर्विद्या, शिल्पविद्या, ज्योतिर्विद्या इत्यादि।

विद्यावत् (सं० त्रि०) विद्यास्त्यस्येति विद्या-मतुप् मस्य व। विद्याविशिष्ट, विद्वान्।

विद्यावल्लभरस (सं० पु०) रसौषधविशेष। प्रस्तुत-प्रणाली—रस १ भाग, ताँबा २ भाग, मैनसिल ३ भाग, हरताल १२ भाग, इन्हें एक साथ मिला कर करेलेके पत्तोंके रसमें घोंटे। पीछे ताम्रपात्रके मध्यभागमें रख कर बालुका-यन्त्रमें पाक करे। यन्त्रके ऊपर रखे हुए धान जब फूट जायँ, तब पाकका हुआ जानना चाहिये। इसकी मात्रा २ वा ३ रत्ती है। यह विषमज्वरनाशक माना गया है। इसके सेवन कालमें तैलाभ्यङ्ग और अन्न-भोजन निषिद्ध है।

विद्यावागीश भट्टाचार्य—न्यायलीलावती-प्रकाशदीधिति-विवेकके रचयिता।

विद्यावान् (सं० पु०) विद्वान्, पण्डित।

विद्याविद् (सं० पु०) विद्यां वेत्ति विद्-क्विप्। विद्वान्, पण्डित।

विद्याविनोद (सं० पु०) विद्यया विनोदः। १ विद्या द्वारा चित्तविनोदन। २ संस्कृत शास्त्रविद् पंडितोंकी एक उपाधि। ३ निर्णयसिन्धुधृत एक स्मृतिनिबन्धकार। ४ भोजप्रबन्धधृत एक कवि। ५ देवीमाहात्म्य टीकाकार। ६ प्राकृतपद्यटीकाके प्रणेता। ये नारायणके पुत्र थे।

विद्याविरुद्ध (सं० त्रि०) ज्ञानके विपरीत, बुद्धिसे बाहर।

विद्याविशारद (सं० पु०) विद्यानिपुण, पण्डित।

विद्यावेश्मन् (सं० क्ली०) विद्याया वेश्म गृहं। विद्या-गृह, विद्यालय, स्कूल।

विद्याव्रत (सं० पु०) वह व्रत जो गुरुके घर रह कर विद्या-शिक्षाके उद्देश्यसे धारण किया जाता है।

विद्याव्रतस्नातक (सं० पु०) मनुके अनुसार गृहस्थभेद, विद्या और व्रतस्नातक गृहस्थ। जो गुरुके घर रह कर वेद समाप्त और व्रत असमाप्त करके अपना घर लौटता है, उसे विद्यास्नातक और जो व्रत समाप्त और वेद असमाप्त करके अर्थात् समूचा वेद बिना अध्ययन किये ही घर लौटता है, उसे व्रतस्नातक कहते हैं। वेद और व्रत दोनों समाप्त कर जो अपना घर लौटता है, वह विद्याव्रतस्नातक कहलाता है।

विद्यासागर (सं० त्रि०) १ सर्वशास्त्रवित्। सागर जैसे सब रत्नोंका आधार है, वैसे ही सब विद्यारत्नोंका जो आधार है, वही विद्यासागर कहलाता है। (पु०) २ एक खण्डनखण्डखाद्यटीकाकार। ३ कलादीपिका नामकी भट्टिकाव्यटीकाके रचयिता। भरतमल्लिक और अमरकोष-टीकामें रमानाथने यह टीका उद्धृत की है। ४ महा-भारतके एक टीकाकार। ५ एक प्रसिद्ध बंगाला पंडित। ईश्वरचन्द्र देखो।

विद्यास्नातक (सं० पु०) मनुके अनुसार वह स्नातक जो गुरुके घर रह कर वेदाध्ययन समाप्त करके घर लौटा हो।

विद्युच्छत् (सं० पु०) राक्षस।

विद्युच्छिखा (सं० स्त्री०) १ स्थावर विषके अन्दर मूल विष। २ एक राक्षसीका नाम। (कथासरित्सा० २५।१६६)

विद्युज्जिह्व (सं० पु०) विद्युदिव चञ्चला जिह्वा यस्य। १ रामायणके अनुसार रावणके पक्षके एक राक्षसका नाम। २ एक यक्षका नाम।

विद्युज्जिह्वा (सं० स्त्री०) कार्त्तिकेयकी एक मातृकाका नाम।

विद्युज्ज्वाल (सं० पु०) एक राक्षसका नाम।

विद्युज्ज्वाला (सं० स्त्री०) विद्युत् इव ज्वाला यस्याः। कलिकारी या कलियारी नामक वृक्ष।

विद्युत् (सं० स्त्री०) विशेषेण द्योतते इति वि-द्युत (भ्राजभासेति। पा ३।२।१७७) इति क्विप्। १ सन्ध्या। (मेदिनी) विद्योतते या द्युत-क्विप्। २ तड़ित्, बिजली। पर्याय—शम्पा, शतह्रदा, ह्रादिनी, ऐरावती, क्षणप्रभा, सौदामिनी, चञ्चला, चपला, (अमर) वीरा; सौदाम्नी, चिलमीलिका, सज्जू, अचिरप्रभा, अस्थिरा, मेघप्रभा, अशनि, चटुला, अचिररोचि, राधा, नीलाञ्जना। (जटाधर)

यह विद्युत् चार प्रकारकी है। अरिष्टनेमिकी पत्नी-के गर्भसे इसकी उत्पत्ति हुई है। (विष्णुपु० ११५ अ०)

इन चार प्रकारकी विद्युतोंमें कपिलवर्णकी विद्युत होनेसे वायु, लोहितवर्णकी होनेसे आतप, पीतवर्णकी होनेसे वर्षण तथा असितवर्णकी विद्युत् होनेसे दुर्भिक्ष होता है। ३ एक प्रकारकी वीणा।

४ उल्काभेद। वृहत्संहितामें लिखा है, कि धिष्ण्य, अशनि, विद्युत् आदि उल्का अनेक प्रकारकी हैं। उनमें

से तटतटस्वना विद्युत् प्राणियोंको एकाएक भय देते हुए जीव और इन्धनके ढेर पर गिरती है।

यह उल्का अन्तरीक्षका ज्योतिः-पदार्थ मानी जाती है। ज्योतिःशास्त्रमें धिष्ण्य, उल्का, अशनि, विद्युत् और तारा ये पांच प्रकारके भेद लिखे हैं; इनमेंसे उल्काके अनेक भेद देखे जाते हैं। अशनि नामक वज्र मनुष्य, गज, अश्व, मृग, पाषाण, गृह, तरु और पश्वादि पर जोरसे शब्द करता हुआ गिरता है। पृथिवी पर गिरनेसे वह चक्रकेकी तरह घूम कर उस जगहको फाड़ देता है। विद्युत् हठात् तट-तट शब्द करके प्राणियोंको भयभीत तो कर देती है, पर वह साधारणतः जीव और इन्धनके ऊपर गिरती है तथा उसी समय उसको जला देती है। विद्युत्का आकार कुटिल और विशाल है।

विद्युत् और अशनि प्रायः एक ही है; किन्तु प्रकृति-विशेषकी पृथक्ता निरूपण करके उनके दो विभाग निर्देश किये गये हैं। ज्योतिर्वित्श्रेष्ठ उत्पलने अशनि शब्दका अर्थ "अश्मवर्षणमुल्का भेदो वा" लगा कर सन्देहको दूर कर दिया है। अतएव इन्हें वर्त्तमान Meteorites वा aerolites समझनेमें कोई आपत्ति नहीं देखी जाती।

विद्युत् और अशनिका दूसरा अर्थ भी है, उसी अर्थमें साधारणतः उसका प्रयोग हुआ करता है। विद्युत्के उत्पत्ति-कारणके सम्बन्धमें श्रीपतिने कहा है, कि सुजल समुद्रमें बाड़वाग्नि नामकी अग्नि रहती है। उसीसे धूममाला निकल कर पवन द्वारा आकाश-पथमें लाई जाती और इधर उधर विक्षिप्त होती है। पीछे सूर्यकी किरण पड़नेसे जब वह उत्तप्त हो जाती है तब उसमेंसे जो सब अग्निस्फुलिङ्ग निकलते हैं, वही विद्युत् हैं। कभी कभी यह विद्युत् अन्तरीक्षसे स्खलित हो कर भू-पृष्ठ पर गिरती है तथा जगत्का बहुत अनिष्ट करती है। विद्युत्पातके सम्बन्धमें उक्त ग्रंथकारका कहना है, कि वैद्युत तेजमें जब अकस्मात् मिट्टी आदि मिल जाती है, तब वह प्रतिकूल वा अनुकूल पवनके आघातसे आकाशमें वात्याकी तरह भ्रमण करने लगती है। अकालमें वृष्टिपातके समय वह पृथिवी पर गिरती है तथा वर्षाकालमें धूलके नहीं उठनेसे विद्युत्पात भी होने नहीं पाता।

पार्थिव, जलीय और तैजसके भेदसे विद्युत् तीन प्रकारकी है। वृहत्संहितामें विद्युल्लता, विद्युद्दामन् आदि शब्दोंका प्रयोग देखनेसे मालूम होता है, कि वह सब शब्द विभिन्न प्रकारकी विद्युत्में ही आरोपित हुए हैं। उन्हें आधुनिक वैज्ञानिकको Sinuous, ramified, meandering आदि अनेक प्रकारकी विद्युत् (lightening) समझनेमें कोई भूल न होगा। विष्णुपुराणमें (१।१५) कपिला, अतिलोहिता, पीता और सिता नामकी चार प्रकारकी विद्युत्का उल्लेख है। श्रीधरस्वामीने लिखा है, कि तूफानके समय कपिला, प्रखर ग्रीष्मकालमें अतिलोहिता, वृष्टिके समय पीता और दुर्भिक्षके दिन सिता नामकी विद्युत् दिखाई देती है।

आधुनिक वैज्ञानिकोंके मतसे मेघ ही विद्युत्का एकमात्र कारण है, किन्तु सभी अध्यापक इसे माननेको तैयार नहीं। परन्तु उन्होंने परीक्षा करके देखा है, कि समुद्र और स्थल भागकी ऊपरवाली वायुकी तड़ित् (Electricity) एक भावापन्न नहीं है, किन्तु जलके वाष्पीभूत होते ही उसमें तड़ित् दिखाई देती है तथा मेघकी जलकणामें वह विद्यमान रहती है। वाष्पकणाके एकत्र और घनीभूत होनेसे वह जलकणामें परिणत होती है तथा उसीके साथ आवद्ध तड़ित् विद्युत्के आकारमें दिखाई देती है। फिर वाष्पकणाके घनीभूत होनेमें धूलिकणाकी भी आवश्यकता होती है।

इन सब विषयोंकी एक एककी पर्यालोचना करनेसे मालूम होता है, कि विद्युत्की सम्भावनाके सम्बन्धमें आधुनिक ज्ञानके साथ प्राचीन ज्योतिर्विदोंकी उक्तिकी उतनी विभिन्नता नहीं है।

विद्युत् और अशनि एक नहीं है। उनके धातुगत अर्थसे ही पृथक्ता निरूपण की जा सकती। द्युत धातु दीप्ति अर्थमें विद्युत् तथा संहति अर्थमें अशधातुसे अशनि शब्द हुआ है। वेदमें अशना शब्दसे क्षेपणीय प्रस्तर समझा जाता है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है, कि इन्द्रका वज्र पत्थर वा लोहेका था। अशनि शब्दसे हम लोग सिर्फ Globular lightning और lightning tubes or fulgurites समझा जाता है। शेषोक्त अर्थमें ही प्रचलित अंगरेजी Thunderbolt श[illegible] व्यवहार हुआ है।

निर्घात नामक एक और प्रकारका नैसर्गिक व्यापार है। वृहत्-संहिताकारका कहना है, कि एक पवन दूसरे पवनसे ताड़ित हो कर जब पृथिवी पर गिरता है, तब निर्घात होता है। उसका शब्द भैरव और जर्जर है। उस अनिलसे उत्पन्न निर्घातके पृथिवी पर गिरनेसे भूमिकम्प होता है। जिस निर्घातके गिरनेसे सारी पृथिवी काँप उठती है विचार कर देखनेसे मालूम होता है, कि वह 'a sudden clap of thunder' है ! यह यथार्थमें वायुके सहसा आकुञ्चन और प्रसारणसे उत्पन्न होता है।

ज्योतिःशास्त्रमें प्रहरणार्थक वज्रके दो प्रकारके आकार बतलाये हैं। एक आकार विष्णुचक्रकी तरह गोल और दूसरेका आकार गुणक चिह्न (×) जैसा है। वज्र देखो।

हम लोगोंका विश्वास है, कि मेघ जलीय वाष्पसे उत्पन्न होता है। वही मेघ क्रमशः घनीभूत हो कर आकाश-मार्गमें परिभ्रमण करता है। जब वह मेघ किसी शीतल वायुस्तरमें पहुंचता है, तब धीरे धीरे शीतल हो कर घना होता है और पीछे उसीसे वृष्टि होती है।

वृष्टि देखो।

जब ये सब मेघ एक जगह जम कर क्रमशः घनीभूत होते हैं और हठात् वृष्टि नहीं होती, तब उन मेघोंके आपसमें टकरानेसे अग्निस्फुलिङ्ग उत्पन्न होता है। यही विद्युत् है। इस विद्युत्के अङ्गस्पर्श करते ही उसी समय मृत्यु हो जाती है।

अनपढ़ लोगोंका विश्वास है, कि विद्युद्देवी स्वर्ग-वालाओंके मध्य अनुपमा सुन्दरी है। मेघसे जब यह संसार अंधकाराच्छन्न हो जाता है, तब वह देवबाला मेघकी आड़में रह कर अपनी कनिष्ठाङ्गुलीको सञ्चालन करती है। उसी उंगलीकी दीप्ति हम लोगोंकी विद्युत् है।

अमेरिकावासी वैज्ञानिक पण्डित बेञ्जामिन फ्राङ्कलिनने विशेष गवेषणा द्वारा यह स्थिर किया है, कि विद्युत् (Lightning) और तड़ितालोक (electric spark) एक ही वस्तु है। ताड़ित देखो।

(पु०) ५ एक प्राचीन ऋषिका नाम। (त्रि०) विगता द्युतकान्तिर्यस्य। ६ निष्प्रभ, जिसमें किसी प्रकारकी दीप्ति या प्रभा न हो। विशिष्टा द्युत् दीप्तिर्यस्य। ७ विशेष दीप्तिशाली, जिसमें बहुत अधिक दीप्ति हो।

(ऋक् १।२३।१२)

विद्युता (सं० स्त्री०) १ विद्युत्, बिजली। २ महाभारतके अनुसार एक अप्सराका नाम। (भारत १३ पर्व)

विद्युताक्ष (सं० पु०) १ वह जिसकी आखें बिजलीके समान उज्ज्वल हों। २ कार्त्तिकेयके एक अनुचरका नाम।

विद्युत्केश (सं० पु०) विद्युत इव दीप्तिशालिनः केशा यस्य। रामायणके अनुसार हेति नामक राक्षसका पुत्र। महामति हेतिने कालकी कन्या भयासे विवाह किया जिसके गर्भसे विद्युत्केशका जन्म हुआ। विद्युत्केशने सन्ध्याकी कन्या पौलोमीको ब्याहा। इसी पौलोमी और विद्युत्केशसे राक्षसोंके वंशकी वृद्धि हुई थी।

(रामायण उत्तरकाण्ड ७ अ०)

विद्युत्केशिन् (सं० पु०) राक्षसराजभेद।

विद्युत्त (सं० त्रि०) १ उज्ज्वल आलोकविशिष्ट, चमकीली रोशनीवाला। (पु०) २ विद्युत्का भाव या धर्म, बिजली-पन।

विद्युत्पताक (सं० पु०) प्रलयके समयके सात मेघोंमेंसे एक मेघका नाम।

विद्युत्पर्णा (सं० स्त्री०) एक अप्सराका नाम। इसका उल्लेख महाभारतमें आया है।

विद्युत्पात (सं० पु०) बिजलीका गिरना, वज्रपात।

विद्युत्पुञ्ज (सं० पु०) १ विद्युन्माला। २ विद्याधरभेद।

(कथासरित्सा० १०८।१७७)

विद्युत्पुञ्जा (सं० स्त्री०) विद्युत्पुञ्जकी कन्या।

विद्युत्प्रभ (सं० त्रि०) १ विद्युत्के समान प्रभाविशिष्ट। (पु०) २ एक ऋषिका नाम। (भारत १३ पर्व) ३ एक दैत्यका नाम।

विद्युत्प्रभा (सं० स्त्री०) १ दैत्योंके राजा बलिकी पोतीका नाम। २ अप्सराओंका एक गण। ३ रत्नवर्ष नामक रक्षराजकन्या।

विद्युत्प्रिय (सं० त्रि०) विद्युत् प्रिया यस्य। १ जिसे विद्युत् या बिजली अच्छी लगती हो। (क्ली०) विद्युतां प्रियं, तदाकर्षकत्वात्। २ कांस्य धातु, कांसा नामक धातु या उसका कोई बरतन जिसकी ओर बिजली जल्दी खिंचती हैं।

विद्युत्य (सं० त्रि०) विद्युति भव विद्युत्-यत् (पा ४।४।११०)। विद्युदुत्पन्न, विद्युत् या बिजलीसे उत्पन्न।

विद्युत्वत् (सं० त्रि०) विद्युतः सन्त्यस्मिन्निति विद्युत् मतुप् मस्य वत्वम्। १ विद्युद्विशिष्ट, जिसमें विद्युत् या बिजली हो, मेघ। (पु०) २ पर्वतविशेष। (हरिवंश २२८।७१)

विद्युद्दक्ष (सं० पु०) १ विद्युन्नेत्र। २ दैत्यभेद। (हरिवंश)

विद्युद्गौरी (सं० स्त्री०) शक्तिमूर्त्तिभेद।

विद्युद्द्योता (सं० स्त्री०) वसन्तसेन राजाकी कन्याका नाम। (कथासरित्सा० ३३।५५)

विद्युद्धस्त (सं० पु०) मरुद्भेद। (ऋक् ८।७।२५)

विद्युद्ध्वज (सं० पु०) १ असुरभेद। २ विद्युत्पताक देखो।

विद्युद्रथ (सं० त्रि०) १ विद्युद्योतमानयानोपेत, दीप्तिमान् यानयुक्त। (ऋक् ३।१४।१) २ दीप्तिविशिष्ट रथयुक्त। (ऋक् २.५४।१३)

विद्युद्वर्चस् (सं० त्रि०) १ विद्युत्के समान दीप्तिशाली। (पु०) २ देवगणभेद। (भारत १३ पर्व)

विद्युन्मत् (सं० त्रि०) विशिष्ट दीप्तियुक्त।

विद्युन्महस् (सं० त्रि०) विद्युत् विद्युद्योतनं महः तेजो यस्य। विद्युद्योतमानतेजा, जिसकी प्रभा जाज्ज्वल्यमान हो।

विद्युन्मापक (सं० पु०) एक विशेष प्रकारका यन्त्र। इससे यह जाना जाता है, कि विद्युत्का बल कितना और प्रवाह किस ओर है।

विद्युन्माल (सं० पु०) १ विद्युन्माला देखो। २ वानरभेद। (रामायण ४।३३।१३)

विद्युन्माला (सं० स्त्री०) विद्युतां मेघज्योतीनां माला। १ बिजलीका समूह या सिलसिला। २ एक छन्द। इसके प्रत्येक चरणमें आठ आठ गुरुवर्ण अथवा दो मगण और दो गुरुवर्ण होते हैं और चार वर्णों पर यति होती है। ३ एक यक्षिणीका नाम। ४ चोनराज सुरोहकी कन्याका नाम। (कथासरित्सा० ४४।४६)

विद्युन्माली (सं० पु०) १ पुराणानुसार एक राक्षसका नाम। यह शिवका परम भक्त था। देवादिदेव महादेवने इसे एक अत्युज्ज्वल सुवर्ण विमान प्रदान किया था। विद्युन्माली उसी विमान पर चढ़ कर सूर्यके पीछे घूमा करता था। इससे रातके समय भी उस विमानकी दीप्तिसे अन्धकार नहीं होने पाता था। इससे घबरा कर सूर्यने अपने तेजसे वह विमान गला कर जमीन पर गिरा दिया था। रामायणमें कहा है, कि धर्मके पुत्र सुषेणके साथ इसका युद्ध हुआ था। २ महाभारतके अनुसार एक असुरका नाम। ३ एक छन्दका नाम। इसके प्रत्येक चरणमें एक भगण, एक मगण और अन्तमें दो गुरु होते हैं। ४ पर्जन्य, मेघ।

विद्युन्मुख (सं० त्रि०) १ विद्युत्के समान मुखविशिष्ट, जिसका मुंह बिजलीके समान हो। (पु०) २ एक प्रकारके उपग्रह।

विद्युल्लता (सं० स्त्री०) विद्युत, बिजली।

विद्युल्लेखा (सं० स्त्री०) १ विद्युत्, बिजली। २ एक वणिक्पत्नीका नाम। (कथासरित्सा० ६६.१२५) ३ एक वृत्तका नाम। इसके प्रत्येक चरणमें दो मगण होते हैं। इसे शेषराज भी कहते हैं।

विद्येन्द्र सरस्वती—वेदान्ततत्त्वसारके रचयिता। ये कैवल्येन्द्रज्ञानेन्द्रके शिष्य थे।

विद्येश (सं० पु०) १ शिवमूर्त्तिभेद। २ मुक्तात्मसम्प्रदायविशेष।

विद्येश्वर (सं० पु०) १ ऐन्द्रजालिकभेद, एक जादूगरका नाम। (दशकुमार ४५।११) २ विद्येश देखो।

विद्योत् (सं० स्त्री०) वि-द्युत्-विच्। १ विद्युत्, बिजली।

विद्योत (सं० त्रि०) १ दीप्ति, प्रभा, चमक। २ एक राजाका नाम। ३ एक अप्सराका नाम।

विद्योतक (सं० त्रि०) प्रभाविशिष्ट।

विद्योतन (सं० त्रि०) दीप्तिशील।

विद्योतिन् (सं० त्रि०) विद्योत-इनि। प्रभाशील।

विद्र (सं० क्ली०) व्यध-रक् दान्तादेशः सम्प्रसारणञ्च। छिद्र, छेद।

विद्रथ (सं० क्ली०) सामभेद।

विद्रध (सं० त्रि०) १ स्थूल, मोटा ताजा। २ दृढ़, मजबूत, पक्का। ३ जो किसी कामके लिये अच्छी तरह तैयार हो। (पु०) ४ विद्रधि देखो।

विद्रधि (सं० पु० स्त्री०) १ शूकदोषभेद। (सुश्रुत नि० १४ अ०) २ रोगभेद, एक प्रकारका फोड़ा जो पेटमें होता है। पर्याय—विद्रण, हृद्ग्रन्थि, हृद्व्रण। (राजनि०)

यह रोग वातज, पित्तज, कफज, शोणितज, क्षतज, और त्रिदोषजके भेदसे छः प्रकारका है। अस्थिसमाश्रित वातपित्तकफादि जब बिगड़ते हैं, तब ये धीरे धीरे त्वक्, मांस और मेदोंको दूषित कर वेदनायुक्त, गभीरभावसे अन्तप्रविष्ट, गोल वा दीर्घाकार भयानक शोथ उत्पन्न करते हैं, इसीका नाम विद्रधि है।

इनमेंसे जो शोथ कृष्ण अथवा अरुण, अत्यन्त कर्कश और वेदनायुक्त होता है, जिसका उद्गम और पाक देरीसे होता है तथा पाकके बाद जिससे तरल स्राव निकलता है, वह वातज है। जो पके यज्ञडूमरकी तरह, सब्ज, ज्वर और दाहकारी है तथा जिसका अभ्युत्थान और पाक शीघ्र ही होता है तथा पकने पर जिससे पीला स्राव निकलता है, वह पित्तज है।

जो विद्रधि पाण्डुवर्णकी और शराव (कुल्हड़) की तरह हो कर बहुत देरीसे निकलती है तथा पकने पर जिससे सफेद रंगकी पीव निकलती है, जिसमें खुजलाहट आती और थोड़ी वेदना रहती है तथा छूनेसे सख्त और शीतल मालूम होती है, वह कफज है। त्रिदोषज वा सान्निपातिक विद्रधिमें तरह तरहके रंग, वेदना और स्राव दिखाई देते हैं। इसके अभ्युत्थान और पकनेका कोई नियम नहीं है, जल्दीसे भी पक सकती है और देरीसे भी। यह विद्रधि असमतल भूमिकी तरह ऊंची नीची होती तथा बहुत दूर तक फैल कर निकलती है।

लकड़ी, ढेले या पत्थर आदिसे चोट खा कर अथवा खड्ग आदि शस्त्रादिसे घायल हो कर अपथ्य सेवन करनेसे वायु बहुत कुपित हो जाती है तथा पित्त और रक्तको दूषित कर डालती है। इस दुष्ट रक्त और पित्तसे ज्वर, दाह और तृष्णा उत्पन्न होती है। इसे क्षतज वा आगन्तुक विद्रधि कहते हैं। पित्तविद्रधिकी तरह यह कृष्णवर्ण, स्फोटकावृत, सब्जवर्ण, अत्यन्त दाह, वेदना और ज्वरयुक्त होती है। पित्तविद्रधिके सभी लक्षण दिखाई देनेसे उसको रक्तविद्रधि कहते हैं।

मलद्वार, मूत्रनालका अधोभाग, नाभि, उदर, दोनों गिल्टी, दोनों वृक्क (मूत्रयन्त्र), प्लीहा, यकृत्, हृदय और क्लोमनाड़ी आदि स्थानोंमें उल्लिखित लक्षण दिखाई देनेसे उन्हें वातज, पित्तजादि नामक अन्तर्विद्रधि वा अन्तर्व्रण कहते हैं। परंतु अंतर्विद्रधिमें कहीं कहीं विशेष लक्षण दिखाई देते हैं। उसके मलद्वारमें उत्पन्न होनेसे अधोवायु रुद्ध, मूत्रनालमें होनेसे मूत्रकी अल्पता और कृच्छ्रता, नाभिमें होनेसे हिक्का और गुड़गुड़ शब्द, उदरमें होनेसे उदरस्फीति वा वायुका प्रकोप, कुचमें होनेसे पीठ और मज्जामें अत्यन्त वेदना, दोनों वृक्कमें होनेसे पार्श्वसङ्कोच, प्लीहामें होनेसे ऊर्द्ध्वश्वासका अवरोध और सर्वाङ्गमें तीव्र वेदना, हृदयस्थ विद्रधिमें होनेसे दारुण शूल, यकृतमें होनेसे श्वास और तृष्णा तथा क्लोमनाड़ीमें विद्रधि होनेसे क्षण क्षणमें प्यास लगती है। यह विद्रधि किसी मर्मस्थानमें क्षुद्र वा वृहदाकारमें उत्पन्न हो कर वहां पक कर वा न पक कर चाहे जिस किसी अवस्थामें क्यों न रहे, भयानक कष्टदायक होती है। गुरुपाक द्रव्य, अनभ्यस्त अर्थात् जिसका कभी व्यवहार न हुआ हो वैसा पदार्थ तथा देश, काल और संयोगविरुद्ध अन्नपानादिका व्यवहार, अति शुष्क वा अति क्लिन्नान्न भोजन, अति व्यवाय (स्त्रीसंग), अति व्यायाम, मलमूत्रादिका वेगधारण तथा विदाहजनक भृष्टतैल या और किसी तरह भुना हुआ द्रव्य भक्षण आदि कारणोंसे वातपित्तकफादि दोष पृथक् वा मिलित भावमें कुपित हो कर गुल्माकार वा वल्मीकाकारमें उन्नत वा प्रसारित हो इस अन्तर्विद्रधिरोगको उत्पादन करते हैं।

अपप्रसूता वा सुप्रसूता स्त्रीके अहिताचार द्वारा दाहज्वरकारक घोर रक्तविद्रधि रोगकी उत्पत्ति होती है। फिर सुप्रसूता स्त्रियोंके प्रसवके बाद यदि अच्छी तरह रक्तस्राव न हो, तो उससे मक्कल्ल नामक रक्तविद्रधिरोग उत्पन्न होता है। सात दिनके अन्दर यदि रोग न दबे, तो वह पक जाता है। (सुश्रुत नि० १६ अ०)

अन्तर्विद्रधियोंके पक जाने पर पीव निकलनेके प्रकारभेदसे उनका साध्यासाध्य निर्णय किया जाता है। नाभिके ऊपर अर्थात् वृक्कादिस्थानमें उत्पन्न विद्रधिकी

पीप यदि मुंहसे निकले, तो रोगी नहीं बचता। लेकिन हृदय, नाभि और वस्ति (मूत्राशय)को छोड़ प्लीह-क्लोमादि स्थानोंमें यदि यह उत्पन्न हो तथा उसके पकने पर बाहरमें चीरफाड़ किया जाय, तो रोगी बच भी सकता है। फिर नाभिके नीचे वस्तिको छोड़ अन्य स्थानमें होनेवाली विद्रधि यदि पक जाये और उसकी पीप मलद्वार हो कर निकले, तो रोगी प्रायः ही बचता है। कहनेका तात्पर्य यह, कि मर्मस्थान (हृदय नाभि आदि) भिन्न अन्यत्र होनेवाली विद्रधिमें यदि बाहरकी ओरसे शस्त्रपात किया जाय तथा उसकी पीप आदि अधोमार्गसे निकले, तो रोगीके बचनेकी सम्भावना है। वाह्य और आभ्यन्तरिक इन दोनों प्रकारकी विद्रधिके त्रिदोषज वा सान्निपातिक होनेसे वह असाध्य है। जिस विद्रधिमें देह नीरस हो जाती; पेट फूल जाता, वमि, हिक्का, तृष्णा, अत्यन्त वेदना और श्वास आदिका प्रादुर्भाव देखा जाता है, वह भी असाध्य है।

चिकित्सा—सभी प्रकारकी विद्रधियोंमें पहले जलौकापातन, मृदुविरेचन, लघुपथ्य और स्वेद हितकर है; केवल पित्तज विद्रधिमें स्वेद नहीं दे सकते। विद्रधिको अपक्वावस्थामें व्रणशोथकी तरह औषधादिका प्रयोग करे। वातविद्रधिमें वातघ्न (भद्रदारु प्रभृतिगण) द्रव्यको शिला पर पीस कर उसमें चर्वी, तेल और पुराना घी मिलावे। पीछे कुछ गरम रहते शोथ स्थानमें मोटा लेप लगा दे। अथवा जौ, गेहूं या मूंगको उसी प्रकार पीस कर और घी मिला कर प्रलेप दे। पैत्तिक विद्रधि-रोगमें अश्वगंध, वीरणमूल, मुलेठी और रक्तचन्दनको गायके दूधमें पीस घी मिला कर लेप लगावे। अथवा जलपिष्ट घृतमिश्रित पञ्चवल्कल (पीपल, वट, गूलर, पाकड़ और वेंत) का प्रलेप भी हितकर है। श्लैष्मिक विद्रधिमें ईंटका चूर, बालू, मण्डूर और गोबर इन्हें गायके मूतमें पीस कर कुछ गरम करे। पीछे उसका प्रलेप देनेसे बहुत उपकार होता है। दशमूलीके क्वाथमें या मांसके जूसमें घी मिला कर कुछ गरम रहते शोथ वा व्रणके स्थानमें परिषेक करनेसे कुल दर्द जाता रहता है और तुरंत लाभ दिखाई देता है। रक्तज और आगन्तुज विद्रधिकी चिकित्सा पित्तज विद्रधिकी तरह ही जाननी होगी। फिर रक्तचन्दन, मजीठ, हल्दी, मुलेठी और गेरूमिट्टी इन्हें दूधमें पीस कर प्रलेप देनेसे भी फायदा पहुंचता है।

पीपल, मंगरैला, ग्वालककड़ी और कोशातकी फल इनका क्वाथ अथवा श्वेतपुनर्नवा और वरुणमूलका क्वाथ पान करनेसे अन्तर्विद्रधि नष्ट होती है। खैरकी लकड़ी, आँवला, हर्रे, बहेड़ा, नीमकी छाल, कूटज और मुलेठी प्रत्येक समान भाग, निसोथ और परवलका मूल, उनमेंसे किसी एक भागका चौथाई भाग तथा भूसी निकाली हुई मसूर, समान भाग ले कर काढ़ा बनावे। पीछे मात्रानुयायी पान करनेसे व्रण, विद्रधि आदि रोग जाते रहते हैं। सहिञ्जनके मूलके रसमें मधु तथा उसके काढ़ेमें हींग और सैन्धव डाल कर प्रातःकाल पान करनेसे अन्तर्विद्रधिका नाश होता है।

विद्राधिका (सं० स्त्री०) सुश्रुतके अनुसार एक प्रकारका छोटा फोड़ा जो प्रमेह रोगके बहुत दिनों तक रहनेके कारण होता है। (सुश्रुत नि० ६ अ०)

विद्राधिघ्न (सं० पु०) शोभाञ्जन वृक्ष, सहिञ्जनका पेड़।

विद्राव (सं० पु०) विद्रवणमिति वि द्रु-अप् (ऋदोरप्। पा ३।३।५७) १ पलायन, भागना। २ बुद्धि, अक्ल। ३ निन्दा, शिकायत। ४ क्षरण, बहना। ५ विनाश। ६ भय, डर। ७ द्रवीभाव, पिघलना। ८ युद्ध, लड़ाई।

विद्राव (सं० पु०) वि-द्रु-घञ्। १ क्षरण, बहना। २ द्रवीभाव, पिघलना। ३ जलना।

विद्रावण (सं० पु०) १ पलायन, भागना। २ पिघलना। ३ गलना। ४ फाड़ना। ५ विनाशकारी, वह जो नष्ट करता हो। ६ उड़ना। ७ एक दानवका नाम।

विद्राविणी (सं० स्त्री०) कौवा ठोठी।

विद्रावित (सं० त्रि०) वि द्रु णिच् क्त। १ पलायित, भागा हुआ। २ द्रवीकृत, पिघला हुआ।

विद्रावी (सं० त्रि०) १ भागनेवाला। २ गलनेवाला। ३ फाड़नेवाला।

विद्राव्य (सं० त्रि०) विताड़ित, भगाया हुआ।

विद्रावाद—बंगालके नोआखाली जिलान्तर्गत एक परगना और गाँव।

विद्रिय (सं० त्रि०) १ छिद्रयुक्त, छेदवाला। २ भेद्य, भेदन करने योग्य। ३ कोमल, मुलायम।

विद्रुत (सं० त्रि०) वि-द्रु-क्त। १ द्रवीभावप्राप्त, पिघला हुआ। २ गला हुआ। ३ पलायित, भागा हुआ। ४ पीड़ित। ५ भीत, डरा हुआ।

विद्रुति (सं० स्त्री०) वि द्रु-क्तिन्। १ भागना। २ गलना। ३ पिघलना। ४ नष्ट होना।

विद्रधि (सं० पु०) विद्रधि देखो।

विद्रुम (सं० पु०) विशिष्टो द्रुमः विशिष्टो द्रुर्वृक्षोऽस्त्यस्येति वा द्रुमः। (द्युद्रुभ्यां मः। पा ५।२।१०८) १ प्रवाल, मूंगा। २ मुक्ताफल नामक वृक्ष। ३ किशलय, नवपल्लव, कोंपल।

विद्रुमच्छाय (सं० त्रि०) १ छायाहीन। (स्त्रि०) २ वृक्षकी छाया। ३ मरुमार्ग।

विद्रुमदण्ड (सं० पु०) प्रवालदण्ड।

विद्रुमफल (सं० पु०) कुंदुरु नामक सुगन्धित गोंद।

विद्रमलता (सं० स्त्री०) विद्रुम इव लता। १ नलिका या नली नामक गन्धद्रव्य। २ प्रवाल, मूंगा।

विद्रमलतिका (सं० स्त्री०) विद्रमलता स्वार्थे कन् टापि अत इत्वम्। नलिका या नली नामक गन्धद्रव्य।

विद्रमदाक् (सं० स्त्री०) विद्रुमफला।

विद्रुल (सं० पु०) वेतसवृक्ष, बेंतकी लता।

विद्रोह (सं० पु०) वि-द्रुह-घञ्। १ अनिष्टाचरण, किसीके प्रति होनेवाला वह द्वेष या आचरण जिससे उसको हानि पहुंचे। २ राज्यमें होनेवाला भारी उपद्रव जो राज्यको हानि पहुंचाने या नष्ट करनेके उद्देश्यसे हो, बलवा, बगावत।

विद्रोहिन् (सं० त्रि०) विद्रोहोऽस्त्यस्येति विद्रोह इनि। १ विद्वेषकारी, जो किसीके प्रति विद्रोह या द्वेष करता हो। २ अनिष्टकारी, बागी।

विद्वच्चकोरभट्ट—सरस्वतीविलास नामक कोषकार।

विद्वज्जन (सं० पु०) विद्वान्, पण्डित।

विद्वत् (सं० पु०) शिव। (भ ग० १३।१७;८०)

विद्वत्कल्प (सं० त्रि०) ईषदूनो विद्वान्, विद्वस्-कल्पप्। १ ईषद् समाप्त विद्वान्, जिसे अध्ययन करनेके लिये थोड़ा बाकी हो। २ विद्वान् सदृश, विद्वान्के समान।

विद्वत्तम (सं० त्रि०) अयमेषामतिशयेन विद्वान् विद्वस्-तमप्। १ बहुत विद्वानोंमेंसे जो सर्वश्रेष्ठ हो। २ अद्वितीय पण्डित। ३ ज्ञानिश्रेष्ठ।

विद्वत्तर (सं० त्रि०) अयमनयोरतिशयेन विद्वान्। दो विद्वानोंमेंसे जो अधिक विद्वान् हो।

विद्वत्ता (सं० स्त्री०) विद्यावत्ता, बहुत अधिक विद्वान होनेका भाव, पाण्डित्य।

विद्वत्त्व (सं० क्ली०) विद्वत्ता, बहुत अधिक विद्वान् होनेका भाव।

विद्वद्देशीय (सं० त्रि०) ईषदूनो विद्वान् विद्वस् देशीयर्। विद्वत्कल्प।

विद्वद्देश्य (सं० त्रि०) ईषदूनो विद्वान् विद्वस्-देश्यः। विद्वत्कल्प।

विद्वस् (सं० त्रि०) वेत्तीति विद्-शतृ (विदेः शतुर्वसुः इति शतुर्वसुरादेशः। पा ७।१।३६) १ आत्मवित्, जो आत्माका स्वरूप जानता हो। २ प्राज्ञ, जिसने बहुत अधिक विद्या पढ़ी हो। ३ सर्वज्ञ, जो सब कुछ जानता हो। (पु०) ४ वैद्य, चिकित्सक।

विद्वल (सं० त्रि०) जो ज्ञात या प्राप्त हो, जिसने जान या पाया हो।

विद्वान् (सं० पु०) विद्वस् देखो।

विद्विष् (सं० पु०) विशेषेण द्वेष्टि वि-द्विष्-क्विप्। शत्रु, बैरी, दुश्मन।

विद्विष (सं० पु०) वि द्विष्-क। शत्रु, बैरी, दुश्मन।

विद्विषत् (सं० पु०) वि-द्विष् शतृ। शत्रु, बैरी, दुश्मन।

विद्विष्ट (सं० त्रि०) वि-द्विष्-क्त। विद्वेषभाजन, जिसके साथ विद्वेष या शत्रुता की जाय।

विद्विष्टता (सं० स्त्री०) विद्विष्ट-तल्-टाप्। विद्वेषभाजनता, विद्विष्ट होनेका भाव।

विद्विष्टपूर्व (सं० त्रि०) पहले जिसके साथ शत्रुता की गई हो।

विद्विष्टि (सं० स्त्री०) वि-द्विष्-क्तिन्। विद्वेष, शत्रुता, दुश्मनी।

विद्वेष (सं० पु०) वि-द्विष्-घञ्। शत्रुता, दुश्मनी। पर्याय—बैर, विरोध, अनुशय, द्वेष, समुच्छ्रय, बैरता, द्वेषण।

विद्वेषक (सं० त्रि०) वि-द्विष-ण्वुल्। विद्वेष्टा, जो द्वेष करता हो, शत्रु, दुश्मन।

विद्वेषण (सं० क्ली०) वि-द्विष-ल्युट्। १ विद्वेष, ईर्षा। वि-द्विष-णिच्-ल्युट्। २ तन्त्रके अनुसार एक प्रकारकी क्रिया जिसके द्वारा दो व्यक्तियोंमें द्वेष या शत्रुता उत्पन्न की जाती है। युद्धकालमें शत्रुके नाखूनसे खोदी हुई मिट्टी ला कर यदि मन्त्रपूत करके ताड़न करे, तो शत्रु और उसके मित्र दोनोंमें कलह पैदा होता है। फिर गायके मूत्रमें घोड़े और भैंसकी विष्ठा घोल कर उससे तथा दोनोंके रक्त द्वारा कौवेके परसे श्मशानवस्त्र पर शत्रु और उसके मित्र दोनोंके नाम लिखने होंगे। पीछे ब्राह्मण अथवा चण्डालके बालोंसे उस वस्त्रखण्डको अच्छी तरह बांध कर एक कच्चे ढक्कनमें रख दे। पीछे शत्रुके पितृकाननके अन्तर्गत किसी स्थानमें गड़हा बना कर उस पर षट्कोणचक्र अङ्कित करे तथा उसमें "ओं नमो महाभैरवाय रुद्ररूपाय श्मशानवासिने अमुकामुकयोर्विद्वेषं कुरु कुरु सुरुसुरु हुं हुं फट्" यह महाभैरवसंज्ञक मन्त्र लिख कर उसके ऊपर वह ढक्कन रख दे। ऐसा करनेसे निश्चय ही दोनोंमें विद्वेष उत्पन्न होता है। मन्त्र लिखनेके समय "अमुकामुकयोः"के स्थानमें शत्रु और उसके मित्र दोनोंके नाम आगे पीछे लिख कर उसके अन्तमें "एतयोः" इस प्रकार लिखना होगा। यह आभिचारिक कर्म पूर्णिमा तिथियुक्त शनि अथवा रविवारमें, मध्याह्न कालमें, ग्रीष्मकालमें अर्थात् प्रातःकालावधि वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर इत्यादि क्रमसे प्रत्येक दश दश दण्ड करके रातदिनमें जो छः ऋतु परिभ्रमण करती हैं, उन्हींके ग्रीष्मकालमें, कर्कट वा तुला लग्नमें, कृत्तिका नक्षत्रमें और दक्षिण दिशामें करना होता है।

तन्त्रसारमें भी उक्त विद्वेषणकर्म तथा उसके सिवा और एक प्रक्रियाका उल्लेख है। वह इस प्रकार है—भक्तियुक्त हो कर संयतचित्तसे "इन्द्रनीलसमप्रभाम्। श्यामलीनां महाचण्डां सुरासुरविमर्द्दिनीम्। त्रिलोचनां महारावां सर्वाभरणभूषिताम्। कपालकर्त्तृकाहस्तां चन्द्रसूर्योपरिस्थिताम्। शवयानगतां चैव प्रेतभैरववेष्टिताम्। वसन्तीं पितृकान्तारे सर्वसिद्धिप्रदायिनीम्" इस ध्यानसे विविध फलपुष्प और छागादि उपहार द्वारा षोड़शोपचारसे श्मशानकालीकी पूजा करे। बादमें श्मशानकी आगसे खैर की लकड़ी जलावे तथा उसमें "ओं नमो भगवति श्मशानकालिके अमुकं विद्वेषय विद्वेषय हन हन पच पच मथ मथ हुं फट् स्वाहा" इस मन्त्रसे पहले कटु तैलमिश्रित निम्बपत्र द्वारा होम करे। पीछे दश हजार परिमित तिल, जौ और आतपतण्डुल द्वारा होम करना होगा। होमके बाद उस भस्मको पुनः उक्त मन्त्रसे अभिमन्त्रित कर लेना होगा। इसके बाद 'अमुकं' के स्थानमें जिस शत्रुका नाम उल्लिखित हुआ है, उसके अङ्गमें यदि पुनः वह भस्म मन्त्र पढ़ कर फेंकी जाय, तो निश्चय ही विद्वेष उत्पन्न होगा।

विस्तृत विवरण इन्द्रजाल और भौतिकविद्या शब्दमें देखो।

(त्रि०) ३ असौजन्य, सौजन्य या सरलताके विपरीत। ४ विद्वेषक, हिंसाकारी।

विद्वेषणी (सं० स्त्री०) यक्षकन्याविशेष। इसके पिताका नाम दुःसह और माताका नाम निर्माष्टि था। कलिकी स्त्रीने ऋतुकालमें एक चण्डालका दर्शन कर इसी निर्माष्टिको गर्भमें धारण किया। दुःसहसे इसके १६ भीषण सन्तान उत्पन्न हुई जिनमें ८ पुत्र और ८ कन्या थीं। आठवीं कन्याका नाम विद्वेषणी, द्वेषणी वा विद्वेपणी है। यही बड़ी निष्ठुरतासे प्राणीको हिंसा करती है। पुरुष या स्त्री पर यदि इसकी कुदृष्टि पड़े, तो शान्तिके लिये दूध, मधु और घृतसिक्त तिल द्वारा होम तथा शुभजनक अन्यान्य इष्टिकर्म (यागादि) करना उचित है। इस भृकुटीकुटिलानना विद्वेषिणोके दो पुत्र हैं। ये दोनों भी मनुष्यके अपकारी हैं।

विद्वषवीर (सं० पु०) एक ग्रन्थकारका नाम।

विद्वेषस् (सं० त्रि०) विद्वेषकारी, जो विद्वेष करता हो।

विद्वेषिता (सं० स्त्री०) विद्वेषित्व, विद्रोहीका भाव या धर्म, दुश्मनी।

विद्वेषिन् (सं० त्रि०) विशेषेण द्वेष्टीति वि-द्विष्-णिनि, यद्वा विद्वेषोऽस्त्यस्येति विद्वेष इनि। विद्वेषयुक्त, बैरी, दुश्मन।

विद्वेष्टा (सं० त्रि०) विद्वेष्टृ देखो।

विद्वेष्टृ (सं० त्रि०) वि-द्विष् तृच्। विद्वेष्टा, विद्वेष करनेवाला।

विद्वेष्य (सं० क्ली०) १ कक्कोल, कंकोल। (त्रि०) २ विद्वेष-

का पात्र या भाजन, जिसके साथ विद्वेष किया जाय।

विध (सं० पु०) विध-क, अच् वा। १ विमान। २ गजभक्ष्य अन्न, हाथीके खानेका दाना। ३ प्रकार, भेद। ४ वेधन, छेद करना। ५ ऋद्धि, समृद्धि। ६ वेतन। ७ कर्म्म, कार्य। ८ विधान, विधि, नियम।

विधत्री (सं० स्त्री०) ब्रह्माकी शक्ति, महासरस्वती।

विधन (सं० पु०) जिसके पास धन न हो, निर्धन, गरीब।

विधनता (सं० स्त्री०) विधन होनेका भाव, निर्धनता, गरीबी।

विधना (हि० क्रि०) १ प्राप्त करना, अपने साथ लगाना, ऊपर लेना। (स्त्री०) २ वह जो कुछ होनेको हो, भवितव्यता, होनी। (पु०) ३ विधि, ब्रह्मा।

विधनीकृत (सं० त्रि०) जो निर्धन किया गया हो। "द्युतेन विधनीकृतः" (कथासरित्सा० २४।५८)

विधनुष्क (सं० त्रि०) धनुर्हीन।

विधनुस् (सं० त्रि०) च्युतधनु।

विधन्वन् (सं० त्रि०) जिसका धनुष नष्ट हो गया हो, खण्डित धनु।

विधमचूड़ा (सं० स्त्री०) जिसका अग्रभाग या चूड़ा धूम या अग्निसंयुक्त हो।

विधमन (सं० पु०) धौंकनी या नल आदिके द्वारा हवा पहुंचा कर आग सुलगाना, धौंकना।

विधमा (सं० स्त्री०) वि-ध्मा-श तस्मिन् परे धमादेशश्च। १ विकृत या विविध शब्दकारिणी। २ विकृतगमनशीला।

विधरण (सं० पु०) १ पकड़ना, रोकना। २ विधृति देखो।

विधर्तृ (सं० त्रि०) वि-धृ तृच्। १ विविध कारक। २ विधारयिता, विधारणकर्त्ता। ३ विधानकर्त्ता, विधान या विहित करनेवाला।

विधर्म्म (सं० पु०) १ अपने धर्मको छोड़ कर और किसीका धर्म, पराया धर्म। २ अपने धर्मको छोड़ कर दूसरेका धर्म ग्रहण करना जो पाँच प्रकारके अधर्मोंमेंसे एक कहा गया है। (त्रि०) ३ धर्मशास्त्रनिन्दित, जिसके धर्मशास्त्रमें निन्दा की गई हो। ४ गुणहीण, जिसमें गुण न हो।

विधर्म्मक (सं० त्रि०) विशिष्ट धर्मशील।

विधर्म्मन् (सं० पु०) १ सुधर्म्मा, उत्तमधर्मयुक्त। २ विधारक। ३ विधारण।

विधर्म्मिक (सं० त्रि०) १ अधार्म्मिक, जो धर्म्मविरुद्ध आचरण करता हो। २ भिन्नधर्मा, जो दूसरे धर्म्मका अनुयायी हो।

विधर्मी (सं० त्रि०) १ धर्मभ्रष्ट, जो अपने धर्मके विपरीत आचरण करता हो। २ परधर्मावलम्बी, जो किसी दूसरे धर्मका अनुयायी हो।

विधवता (सं० स्त्री०) वैधव्य, पतिराहित्य।

विधवन (सं० क्ली०) वि-धू ल्युट्। कम्पन, काँपना।

विधवयोषित् (सं० स्त्री०) विधवा एव योषित् भाषितपुंस्कत्वात् पुंस्त्वम्। विधवा स्त्री, राँड़, बेवा।

विधवा देखो।

विधवा (सं० स्त्री०) विगतो धवो भर्त्ता यस्याः। मृतभर्त्तृका स्त्री, जिस स्त्रीका पति मर गया हो। पर्याय—विश्वस्ता, जालिका, रण्डा, यतिनी, यति। (शब्दरत्ना०) धर्मशास्त्रमें हिन्दू विधवाके कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विषय विशेषरूपसे वर्णित हुआ है।

स्वामीकी मृत्युके बाद स्त्री उसका अनुगमन करे या ब्रह्मचर्य्याका अवलम्बन कर जीवन अतिवाहित करे। स्वामीका अनुगमन या ब्रह्मचर्य्य ये दोनों ही इच्छा विकल्प हैं अर्थात् इच्छानुसार इन दोनोंमें एक करना होगा। ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ—मैथुन और ताम्बूल आदि विवर्जन समझना होगा। "ब्रह्मचर्य्यां उपस्थसंयमः" उपस्थ संयमका नाम ही ब्रह्मचर्य्या है। ब्रह्मचारिणी विधवाको स्मरण, कीर्त्तन, केलिप्रेक्षण, गुह्यभाषण आदि शास्त्रोक्त अष्टाङ्ग मैथुन नहीं करना चाहिये। ताम्बूलसेवन, अभ्यञ्जन और फूलकी थालीमें भोजन, विधवाके लिये अवैध है। विधवाको दिनमें एक बार भोजन करना चाहिये। उसको पलङ्ग पर सोना उचित नहीं, यदि वह सोये, तो उसके स्वामीकी अधोगति होती है। विधवाको किसी तरहके इत्र आदिका व्यवहार न करना चाहिये। नित्य कुशतिलोदक द्वारा वह स्वामीका तर्पण करे। पुत्र और पौत्र न रहनेसे तर्पण अवश्य विधेय है।

यदि पुत्र और पौत्र हों, तो तर्पण नहीं भी करनेसे चल सकता है। वैशाख, कार्त्तिक और माघ मासमें विधवाको विशेष नियमवती हो कर गंगादिका स्नान, दान, तीर्थयात्रा और सर्वदा विष्णुका नाम स्मरण करते रहना चाहिये।

'काशीखण्ड'में विधवाके धर्म और कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विषय इस तरह लिखा है—स्वामीकी मृत्यु होने पर यदि वह सती न हो सके, तो उसको उचित है, कि अपने चरित्रकी रक्षा अपनी जान दे कर करे। क्योंकि, चरित्र नष्ट होनेसे उसका नरक सुनिश्चित है। चरित्रहीन विधवाके पति और पिता, माता आदि सभी स्वर्गमें होने पर भी वहाँसे अधोगामी होते हैं। जो स्त्री पतिकी मृत्युके बाद यथानियम पातिव्रत्य धर्मका प्रतिपालन करती है, वह मृत्युके बाद फिर पतिसे मिल कर स्वर्गसुख भोग करती है। विधवाका चूड़ाबन्धन पतिके बन्धनका कारण होता है। इसलिये विधवा सदा मस्तक मुण्डन कराती रहे। विधवाको रात दिनमें एक बार ही भोजन करना चाहिये, दो बार नहीं। त्रिरात्र, पञ्चरात्र या पञ्चव्रतका अवलम्बन या मासोपवासव्रत, चान्द्रायण, कृच्छ्र चान्द्रायण, पराकव्रत या तप्तकृच्छ्रव्रत आचरण करना चाहिये। जितने दिन विधवा जीवित रहे, उतने दिन यवान्न, फल, शाक और केवल जल पान कर जीवनयात्रा निर्वाह करेगी।

विधवा यदि पलंग पर सोती है, तो वह अपने पतिको अधोगति कराती है। अतएव उसे अपने पतिके सुखकी इच्छासे जमीन पर ही सोना उचित है। विधवाको कभी उबटन और गन्ध द्रव्य नहीं लगाना चाहिये। प्रतिदिन उसको अपने पिता और पितामहके उद्देश्यसे उनके नाम और गोत्रका उच्चारण कर कुश और तिलोदक द्वारा तर्पण करना चाहिये तथा उसे पतिस्वरूप विष्णुकी पूजा करना आवश्यक है। उसे सर्वव्यापक विष्णुका पतिरूपमें ध्यान करना चाहिये। पतिकी जीवितावस्थामें विधवा जिन चीजोंका प्यार करती थी, वे सब चीजें सदा ब्राह्मणको दान देती रहे। वैशाख, कार्त्तिक और माघ महीनेमें विधवाको विशेष संयमसे रहना चाहिये।

स्नान, दान, तीर्थयात्रा, बारंबार विष्णुका स्मरण, वैशाख महीनेमें जलकुम्भदान, कार्त्तिक महीनेमें देवस्थानमें घृतदीप दान, माघ मासमें धान्य और तिलका उत्सर्ग करना विधवाका एकान्त कर्त्तव्य है। सिवा इसके वैशाख महीनेमें वह जलसत्रकी प्रतिष्ठा और देवताओं पर जलधारा, पादुका, व्यजन, छत्र, सूक्ष्मवस्त्र, कर्पूर-मिश्रित चन्दन, ताम्बूल (पान), सुगन्ध पुष्प, कई तरहके जलपात्र, पुष्पपात्र, तरह तरहके पानीय द्रव्य, अंगूर आदि फल पतिकी प्रीतिके उद्देश्यसे सद् ब्राह्मणोंको दान दे।

वह कार्त्तिक मासमें यवान्न या एक प्रकारका अन्न भोजन करे। वृन्ताक और वरवटी खाना नहीं चाहिये। इस मासमें तेल, मधु और फूलकी थालीमें भोजन बिलकुल निषेध है। इस समय मौनावलम्बन करना ही उत्तम है। मौनी हो कर रहनेसे मासके अन्तमें घण्टादान, पात्रमें भोजन नियम करनेसे घृतपूर्ण कांस्य-पात्रदान, भूमिशय्या करनेसे अन्तमें शय्यादान, फल त्याग करनेसे फलदान, धान्य त्याग करनेसे धान्य या धेनु दान करना उचित है। देवादि गृहोंमें घृत प्रदीप दान अवश्य कर्त्तव्य और सब दानोंसे ही यह दान श्रेष्ठ है।

माघ मासमें सूर्य्य दिखाई देने पर स्नान करना विधवाओंके लिये उत्तम है। इसी तरह विधवा नित्य स्नान कर यथासामर्थ्य नियमसंयमका पालन करे। इस मासमें ब्राह्मणों, संन्यासियों और तपस्वियोंको पक्वान्न, मिष्टान्न और अन्यान्य सुमिष्ट द्रव्य भोजन करायें। शीत निवारणके लिये सूखी लकड़ीका दान, रूईदार मिर्जाई या कुरता और दुपट्टा, मजीठ रंगसे रंगा कपड़ा, जातीफल, लवंग लगा कर पानका बीड़ा, विचित्र कम्बल, निर्वातगृह, कोमल पादुका और सुगंध उद्वर्त्तन दान करने चाहिये। देवागारमें कृष्णागुरु आदि उपहार द्वारा पतिरूपी भगवान् प्राप्ति हों, ऐसा भावना कर देवपूजा करनी चाहिये। इस तरह विविध नियम और व्रतोंका अनुष्ठान कर वैशाख, कार्त्तिक और माघ ये तीन महिने बिताने चाहिये।

विधवा स्त्री प्राण कण्ठागत होने पर भी बैल पर न चढ़े और रंगीन वस्त्र न पहने। भर्त्तृतत्परा विधवा पुत्रोंसे बिना पूछे कोई काम न करे। इस तरह दिन

बिता कर विधवा भी मङ्गलरूपिणी होती है और उसको कहीं भी दुःख नहीं होता। फिर वह मरने पर पतिलोक पाती है। (काशीख० ४ अ०)

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें लिखा है, कि विधवा प्रतिदिन दिनके अन्तमें हविष्यान्न भोजन करे और सदा निष्कामा हो कर दिन बितावे। उत्तम कपड़े पहनना, गन्धद्रव्य, सुगन्ध तेल, माल्य, चन्दन, शङ्ख, सिन्दुर और भूषण विधवाके लिये त्याज्य हैं। नित्य मलिन वस्त्र पहन कर नारायणका नाम स्मरण करना चाहिये। विधवा स्त्रीको चाहिये, कि वह एकान्त चित्तसे भक्तिमती हो कर नित्य नारायणकी सेवा, नारायणका नामोच्चारण और पुरुषमात्रको धर्मपुत्र जान कर देखे। विधवाको मीठा भोजन या अर्थ सञ्चय नहीं करना चाहिये। वह एकादशी, श्रीकृष्णजन्माष्टमी, श्रीरामनवमी और शिवचतुर्दशीको निर्जल उपवास करे। अघोरा और प्रेता चतुर्दशीतिथिमें और चन्द्र सूर्य्यके ग्रहणके समय भ्रष्ट द्रव्य विधवाके लिये निषिद्ध है। सिवा इनके और अन्य भोजन करनेमें कोई दोष नहीं। विधवाके लिये पान और मद्य गोमांसके बराबर है। सुतरां विधवा इन वस्तुओंको न खाये। लाल शाक, मसूर, जम्बीर, पर्ण और गोल कद्दू भी खाना मना है।

पलंग पर सोनेवाली विधवा अपने मृतपतिको अधोगति देती है और यदि वह यानवाहनोंका व्यवहार करती है, तो स्वयं नरकगामिनी होती है। सुतरां इनका परित्याग करे। केशसंस्कार, गात्रसंस्कार, तैलाभ्यङ्ग, दर्पणमें मुखदर्शन, परपुरुषका मुखदर्शन, यात्रा, नृत्य, महोत्सव, नृत्यकारी गायक और सुवेशसम्पन्न पुरुषको कदापि देखना विधवाके लिये उचित नहीं। सर्वदा धर्मकथा श्रवण कर दिन बिताना चाहिये। (ब्रह्मवैवर्त्त पुराण)

स्वामीकी मृत्युके बाद साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य्य व्रतावलम्बन कर दिन बिताये। यदि पुत्र न हो, तो भी एक ब्रह्मचर्य्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाती है। मनुमें लिखा है, कि पिताने जिसे दान या पिताकी आज्ञासे भ्राताने जिसे दान किया है, उस स्वामीकी जीवितकाल तक शुश्रूषा करना और स्वामीकी मृत्युके बाद व्यभिचार आदि द्वारा उनका उल्लंघन न करना स्त्रीमात्रका कर्त्तव्य है। स्त्रियोंके विवाहके समय पुण्याहवाचनादि, स्वस्त्ययन और प्रजापति देवताके उद्देश्यसे जो होम करना होता है, वह केवल दोनोंके मङ्गलके लिये किया जाता है; किन्तु विवाहके समय जो सम्प्रदान किया जाता है, उसीसे ही स्त्रियों पर स्वामीका सम्पूर्ण स्वामित्व उत्पन्न होता है। तबसे स्त्रियोंकी स्वामिपरतन्त्रता ही उपयुक्त है। पति गुणहीन होने पर भी उसकी उपेक्षा न कर देवताकी तरह सेवा करना कर्त्तव्य है। स्त्रियोंके सम्बन्धमें स्वामीके बिना पृथक् यज्ञका विधान नहीं है और न स्वामीकी आज्ञाके बिना व्रत और उपवास ही करना होता है। केवल पति सेवा द्वारा ही स्त्रियां स्वर्ग जाती हैं।

स्वामी जीवित रहे या मर गया हो, साध्वी स्त्री पतिलोक पानेकी कामना कर कभी उसका अप्रियाचरण न करे। पतिके मर जाने पर स्वेच्छापूर्वक मूल और फल द्वारा अपना जीवन क्षय करे। किन्तु कभी भी पतिके सिवा परपुरुषका नाम तक नहीं ले। जब तक अपनी मृत्यु न हो, तब तक मैथुन, मधु, मांसवर्जित हो कर क्लेशसहिष्णु और नियमाचारी हो कर रहे। एकमात्र ब्रह्मचर्य्यका पालन करना ही विधवाका धर्म है। विधवा अपुत्रा होने पर भी ब्रह्मचर्य्यका पालन कर स्वर्ग जाती है। (मनु० ५ अध्याय)

सब धर्मशास्त्रोंमें इस बातकी पुष्टि हुई है, कि स्वामीकी मृत्युके बाद विधवा ब्रह्मचर्य्यका पालन कर जीवन बिताये। इस बातमें तनिक भी कोई विरोध दिखाई नहीं देता।

कुछ लोग कहते हैं, कि जो विधवा ब्रह्मचर्य्य पालनमें असमर्थ है, उसके दूसरा विवाह कर लेनेमें शास्त्रविरुद्ध नहीं होता। वे कहते हैं, कि "कलौ पाराशराः स्मृतः" कलियुगमें पराशरस्मृति ही प्रमाणरूपमें ग्राह्य है। अतएव पराशरने जो कहा है, उसका आदर करना इस युगमें लोगोंका कर्त्तव्य है। पराशरका मत है—

"नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥
मृते भर्त्तरि या नारी ब्रह्मचर्य्ये व्यवस्थिता।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः॥

तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च यानि लोमानि मानवे ।
तावत् कालं वसेत् स्वर्गं भर्त्तारं यानुगच्छति ॥"

(पराशरसंहिता)

पतिके कहीं चले जाने, मर जाने, क्लीव होने, संसार त्याग करने, अथवा पतित होने पर स्त्रियोंको दूसरा विवाह कर लेना चाहिये। ऐसी विधि है।

जो स्त्री पतिके मर जाने पर ब्रह्मचर्य्यका पालन कर जीवन बिता देती है, वह मृत्युके बाद ब्रह्मचारियोंकी तरह स्वर्गलाभ करती है। जो स्त्री पतिदेवके साथ सती हो जाती है, वह मनुष्यके शरीरमें जो साढ़े तीन करोड़ रोएं हैं, उतने दिन तक स्वर्गमें वास करती है।

पराशरस्मृतिके इस बचनके अनुसार विधवाओंकी तीन विधियां हैं। स्वामीके साथ सती होना, ब्रह्मचर्य्यका पालन करना तथा अन्य विवाह अर्थात् पुनर्विवाह जो विधवा सती होने और ब्रह्मचर्य्य पालन करनेमें असमर्थ है, वही दूसरा विवाह कर सकती, सभी नहीं। ब्रह्मचर्य्यव्रत पालन अतीव कष्टसाध्य हैं, सबके लिये सुगम नहीं है, अतः जो इसका पालन न कर सके, उसके लिये ही पराशरने विवाहकी आज्ञा दी है। सब शास्त्रोंमें इस विधवाविवाहका निषेध रहने पर भी इस कलियुगविहित पराशरस्मृतिका ऐसा ही मत है।

पूर्वोक्त पांच आपत्तिकालमें 'पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।" इस श्लोकांशके अर्थसे दूसरा पति कर लेनेकी विधि है। यदि अन्य पतिका अर्थ पालक लगाया जाये, तो कहना होगा कि पराशरकी इस आज्ञाका आशय पालक नियुक्त करनेका है। क्योंकि स्त्रियां किसी समय भी स्वतन्त्र नहीं रहतीं। पालकका अर्थ ग्रहण करने पर सब धर्मशास्त्रोंसे पराशरका मत भी एक हो जाता है। इधर विधवा-विवाह निषेधक कई वाक्य भी शास्त्रोंमें देखे जाते हैं। उनमेंसे कुछ नीचे उद्धृत करते हैं:—

"समुद्रयात्रास्वीकारः कमण्डलुविधारणम् ।
द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा ॥
देवरेण सुतोपत्तिर्मधुपर्के पशोर्वधः ।
मांसादनं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा ॥
दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्दानं वरस्य च ।
दीर्घकालं ब्रह्मचर्य्यं नरमेधाश्वमेधकौ ॥
महाप्रस्थानगमनं गोमेधञ्च तथा मखं ।
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यनाहुर्मनीषिणः ॥"

(रघुनन्दनधृत बृहन्नारदीय)

समुद्रयात्रा, कमण्डलुधारण, असवर्णविवाह, देवर द्वारा पुत्रोत्पादन, मधुपर्कमें पशुवध, श्राद्धमें मांस भोजन वानप्रस्थावलम्बन, एक आदमीको कन्यादान कर उसी कन्याको फिर दूसरेके हाथ दान करना और बहुत दिनों तक ब्रह्मचर्य्य कलियुगमें वर्ज्जित है।

"सकृत् प्रदीयते कन्या हरंस्तां चौरदण्डभाक् ।
दत्तामपि हरेत् पूर्वात् श्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत् ॥"

(याज्ञवल्क्य संहिता १।६५)

वाक्य द्वारा ही हो या मन द्वारा ही हो, जब कन्या एक बार प्रदत्त हुई है, तब उसको हरण करने अर्थात् दूसरेके साथ विवाह कर देनेसे यह कन्यादाता चोरको जो दण्ड होता है, उसी दण्डसे दण्डित होगा। किन्तु जब पहले वरकी अपेक्षा उत्तम वर मिल जाये, तब वाग्दत्ताको चाहिये, कि उस कन्याको उसी उत्तम वरको ही प्रदान करे। इस बचनसे मालूम होता है, कि पहले किसी वरसे विवाहकी पक्की बात हो चुकी हो और इसके बाद ही यदि अपेक्षाकृत उत्तम वर मिल जाये, तो उस वाक्यको तोड़ कर इसी उत्तम वरसे विवाह किया जा सकता है। किन्तु जिस कन्याका विवाह हो चुका है, उसका पुनः दान किसी शास्त्रमें दिखाई नहीं देता।

और भी लिखा है:—

"अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत ।
अनन्यपूर्विकां कान्तां समपिण्डां यवीयसीम् ॥"

(याज्ञवल्क्य सं० १।५।२)

अस्खलित ब्रह्मचर्य द्विजाति नपुसंकतादि दोषशून्या, अनन्यपूर्वा (पहले पात्रान्तरके साथ जिसका विवाह होनेकी स्थिरता तक न हो और दूसरेकी उपभुक्ता भी न हो, उसीको अनन्यपूर्वा कहते हैं) कान्तिमती असपिण्डा और वयःकनिष्ठा कन्याको ग्रहण करे। इस बचनसे मालूम होता है, कि अनन्य पूर्विका विवाह न होगा।

इसके द्वारा वाग्दत्ता कन्याका विवाह भी निषिद्ध हुआ है। व्याससंहिता, वशिष्ठसंहिता प्रभृति संहिताओंमें भी अनन्यपूर्विकाका ग्रहण निषिद्ध है। विधवा स्त्री अन्यपूर्विका, अनन्यपूर्विका नहीं है, विधवाका विवाह अब अशास्त्रीय है।

पारस्करगृह्यसूत्रमें लिखा है, कि गुरुगृहसे समावर्त्तनके बाद कुमारीका पाणिग्रहण करो। कन्याको ही कुमारी कहते हैं। अदत्ता कन्या ही कुमारी कहलाती है। जो एक बार दान कर दी गई, वह पुनः प्रदान नहीं की जा सकती। कुमारीदानको ही विवाह कहा जा सकता है। विवाहिताका फिरसे दान विवाह कहला नहीं सकता। "अग्निमुपधाय कुमार्य्याः पाणिं गृह्णीयात् त्रिषु-त्रिषूत्तरादिषु।" (पारस्करगृह्यसूत्र)

"कन्याशब्दार्थः कथ्यते; 'कन्या कुमारी' इत्यमरः; 'कन्यापदस्यादत्तस्त्रीमात्रवचनेन' इत्यादि दायभाग-टीकायां आचार्य्यचूड़ामणिः। 'कन्यापदस्यापरिणीता-मात्रवचनात्' इति रघुनन्दनः। इत्यादि वचनैः कुमारी-नामेव परिणये विवाहशब्दवाच्यत्वं नत्तूढायां।" मनुने लिखा है, कि कन्या एक बार प्रदत्त और ददानि अर्थात् दान भी एक बार होता है, यह दो बार नहीं होता। सम्पत्ति सज्जन द्वारा एक बार ही विभक्त होती है, इस तरह कन्याका दान भी एकबार ही होता है, द्वितीयबार नहीं।

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्याय प्रदीयते।
सकृदाहुददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥ (मनु ९।४७)

सुतरां इस वचनके अनुसार भी कन्याको एक बार दान कर चुकनेपर फिर उसको दान नहीं करना चाहिये। अतएव दत्ताकन्याके स्वामीके मृत्योपरान्त उसका विवाह नहीं होता। और भी लिखा है—

"यस्मै दद्यात् पिता त्वेनात् भ्राता वानुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितञ्च न लंघयेत्॥
मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञस्तासां प्रजापतेः।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम्॥"

(मनु० ५।१५१-१५५)

"मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं यगच्छत्पुत्रादि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥
अपत्यलोभात् यातु स्त्री भर्त्तारमतिवर्त्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकञ्च हीयते॥
नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यस्य परिग्रहे।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचित् भर्त्तोपदिश्यते॥
पतिं हित्वा पकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते॥"

(मनु ५।१६०-१६३)

पिता या भ्राताने जिसको दान किया है, साध्वी स्त्री उसीकी कायमनोवाक्यसे शुश्रूषा करें। उसकी मृत्यु हो जाने पर ब्रह्मचर्य्यका अवलम्बन कर दिन बितायें। इस ब्रह्मचर्य्यके गुणसे वह पुत्रहीना होनेसे भी स्वर्ग जायेगी। जो स्त्री सन्तानकी कामनासे स्वामीका अतिवर्त्तन कर व्यभिचारिणी होती है, वह इहलोकमें निन्दित और पति-लोकसे वञ्चित होती है। स्वामीके सिवा अन्यपुरुषसे उत्पन्न पुत्रसे कोई भी धर्म्मकार्य्य नहीं होता। इस तरह के व्यभिचारसे उत्पन्न पुत्र शास्त्रके अनुसार पुत्र-पदके योग्य नहीं।

मनुने विशेषरूपसे कहा है—'न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचित् भर्त्तोपदिश्यते' अतएव विधवा स्त्रीका दूसरी बार पतिग्रहण विवाहपदवाच्य नहीं। परपुरुषके उपभोग द्वारा स्त्री संसारमें निन्दनीय होती है और दूसरे जन्ममें शृगालयोनिमें जन्म लेती है और तरह तरहके पापरोगोंसे आक्रान्त हो कर अत्यन्त पीड़ा भोग करती है। जो स्त्री कायमनोवाक्यसे संयत रह कर स्वामीको अतिक्रम नहीं करती, वह पतिलोक पाती है। इससे विधवाओंको पुनः विवाह करना कदापि विधिसङ्गत नहीं।

दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य्य, कमण्डलु धारण, देवरसे पुत्रोत्पादन, दत्ताकन्याका दान और द्विजातियोंका असवर्ण कन्याका पाणिग्रहण कलियुगमें निषिद्ध है। अर्थात् पहले ये सब प्रचलित थे। 'दत्ताकन्याका दान' इस अर्थसे विधवाका विवाह निषिद्ध बतलाया गया है। धर्मशास्त्रमें और भी लिखा है, कि इस कलियुगमें दत्तक और औरस इन दो प्रकारके पुत्रोंकी व्यवस्था है। इसके सिवा और जो पुत्र होते हैं, वह धर्मकार्य्यके अधिकारी न होंगे। विवाह पुत्रके लिये किया जाता है। 'विवाहिता विधवाके गर्भसे उत्पन्न पौनर्भवका पुत्रत्व जब निषिद्ध हुआ, तब

विधवाका विवाह भी निषिद्ध है। विधवासे उत्पन्न पुत्र जब पिता माताके धार्मिक कार्यों का अधिकारी नहीं, तब विवाहके प्रयोजनकी असिद्धिसे वह विवाह ही निषिद्ध समझना होगा। कश्यपने दत्ता और वाग्दत्ता दोनों तरहकी स्त्रियोंके विवाहको निषिद्ध किया है।

वाग्दत्ता अर्थात् जिसके विवाहके लिये बात दे दी गई, मनोदत्ता, जिसके विवाहकी बात मनमें मान ली गई है; कृतकौतुकमङ्गला, जिसके हाथमें विवाह-सूत्र बांधा जा चुका है; उदकस्पर्शिता अर्थात् जिसको दान दिया जा चुका है; पाणिगृहीतिका—जिसका पाणिग्रहण-संस्कार हो चुका हो अथच कुशण्डिका नहीं हुई है; अग्निपरिगता—जिसकी कुशण्डिका हो चुकी हो। पुनर्भू प्रभवा, पुनर्भूके गर्भमें जिसका जन्म हुआ हो, ये सब वर्जित हैं अर्थात् इनका दूसरा विवाह न होगा। यदि किया जाये तो पतिकुल दग्ध होता है।

कश्यपने वाग्दत्ता और दत्ता दोनोंका पुनर्विवाह निषेध किया है। सुतरां इनके वचनानुसार भी विधवाका पुनर्विवाह निषिद्ध है। विशेष विवरण 'विवाह' शब्दमें देखो।

विधवापन (हिं० पु०) विधवा होनेकी अवस्था, वह अवस्था जिसमें पतिके मरनेके कारण स्त्री पतिहीन हो जाती है, रँड़ापा, वैधव्य।

विधवावेदन (सं० क्ली० विधवाविवाह।

विधवाश्रम (सं० पु०) विधवाओंके रहनेका स्थान, वह स्थान जहां विधवाओंके पालन पोषण तथा शिक्षा आदिका प्रबंध किया जाता है।

विधस् (सं० पु०) ब्रह्मा।

विधस (सं० क्ली०) मधूच्छिष्ट, मोम।

विधा (सं० स्त्री०) वि-धा-क्विप्। १ जल, आप। २ विध देखो।

विधातव्य (सं० त्रि०) १ विधेय, विधानके योग्य। २ कर्त्तव्य, करने योग्य।

विधाता—भृगु मुनिके पुत्रका नाम। मेरुकी कन्या नियतिसे इनका विवाह हुआ था। विधाताके एक प्राण नामक पुत्र था। फिर प्राणके वेदशिरा और कवि नामके दो पुत्र थे।

विधाता (सं० पु०) विधातृ देखो।

विधातृ (सं० पु०) वि-धा-तृच्। १ ब्रह्मा। (अमर) २ विष्णु। (भारत १३।१४९।६४) ३ महेश्वर। ४ कामदेव। (मेदिनी) ५ मदिरा। (राजनि०) ६ विधानकर्त्ता, बनानेवाला। ७ दाता, देनेवाला। ८ सर्वसमर्थ। ९ विहितकर्मानुष्ठाता, वह जो शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करते हों। १० निर्माता, बनानेवाला। ११ व्यवस्था करनेवाला, ठीक तरहसे लगानेवाला। १२ सृष्टिकर्त्ता, जगत्‌की रचना करनेवाला। इन अद्वितीय शक्तिसम्पन्न सृष्टिकर्त्ता जगदीश्वरकी मायामें सभी जीव फँसे हुए हैं। वे सृष्टिकर्त्ताके अतिविचित्र कार्यकलाप देख उनका यथार्थ तत्त्वनिरूपण नहीं कर सकते और अप्रतिभकी तरह सर्वदा पड़े रहते हैं, क्योंकि वे (जीव) देखते हैं, कि इस जगत्प्रपञ्चमें कहीं तो तृणसे पर्वत (दावाग्निके द्वारा); कीटसे सिंहशार्दूल, मशकसे गज, शिशुसे महावीर पुरुष तक विनष्ट होता है, कहीं मूषिक मण्डुक आदि खाद्य, मार्जार भुजङ्गादि खादकोंका विनाश करता है। कहीं विरुद्ध धर्मावलम्बी अग्नि और जलको वाष्पके आकारमें परिणत कर उसकी निर्मूलता सम्पादन करता है तथा अपने नाश्य शुष्क तृणादि द्वारा स्वयं विनष्ट होता है। यदि विचार कर देखा जाय, तो इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है, कि एक जह्नुमुनिने ही इस भूमण्डलव्यापी सात समुद्रोंका जल पी लिया था।

१३ अधर्म। (त्रि०) १४ मेधावी, विद्वान्।

विधातृका (सं० स्त्री०) विधायिका, विधान करनेवाला।

विधातृभू (सं० पु०) विधातुर्ब्रह्मणो भूरुत्पत्तिर्यस्य। १ नारदमुनि। २ मरीच आदि।

विधात्रायुस् (सं० पु०) विधातुरायुर्जीवितकालपरिमाणं यस्मात्, सूर्यक्रियां विना वत्सरादिज्ञानासम्भवादेवास्य तथात्वम्। १ सूर्य, वह जिनसे विधाताके स्पष्ट पदार्थोंका जीवित काल परिमित होता है। इनकी उदयास्त क्रिया द्वारा लोगोंके वत्सरादिका ज्ञान होता है तथा उससे जीवका आयुष्काल निकाला जाता है, इसी कारण सूर्यका विधात्रायुः नाम पड़ा है।

२ ब्रह्माकी उमर। चौदह मन्वन्तर अथवा मनुष्यमानके एक कल्पका ब्रह्माका एक दिन, मानवीय तीन

सौ कल्पका ४२० मन्वन्तरका ब्रह्माका एक मास (३० दिन)। इसी प्रकार ३६० कल्प, ५०४० मन्वन्तरका ब्रह्माका एक वर्ष (१२ मास) होता है। ब्रह्माकी परमायु सौ संवत्सर तक है, जिसमेंसे ५० वर्ष या आधा समय बीत चुका। वर्त्तमान ५१वां वर्ष और श्वेतवाराहकल्प आरम्भ हो कर उसके ६ मन्वन्तर बीत गये हैं। अभी वैवस्वत मन्वन्तर चलता है।

विधात्री (सं० स्त्री०) वि-धा-तृच्-ङीष्। १ विधान करनेवाली, बनानेवाली, रचनेवाली। २ व्यवस्था करनेवाली, प्रबन्ध करनेवाली। ३ पिप्पली, पीपल।

विधान (सं० क्ली०) वि-धा-ल्युट्। १ विधि, नियम। २ करण, निर्माण, रचना। ३ करिकवल, उतना चारा जितना हाथी एक बार मुंहमें डालता है, हाथीका ग्रास। ४ वेदादिशास्त्र। (मनु १।३) ५ नाटकाङ्गविशेष, नाटकमें वह स्थल जहां किसी वाक्य द्वारा एक साथ सुख और दुःख प्रकट किया जाता है। ६ जनन, उत्पत्ति करना। ७ प्रेरण, भेजना। ८ आज्ञाकरण, अनुमति देना। ९ धन, सम्पत्ति। १० पूजा, अर्चन। ११ शत्रुताचरण, हानि पहुंचानेका दांवपेच। १२ ग्रहण, लेना। १३ उपार्ज्जन, हासिल। १४ विषम। १५ अनुभव। १६ उपाय, ढंग, तरकीब। १७ विन्यास, किसी कार्यका आयोजन, कामका होना या चलना।

विधानक (सं० क्ली०) १ व्यथा, क्लेश, यातना। २ विधि, विधान। (त्रि०) ३ विधानवेत्ता, विधि या रीति जाननेवाला।

विधानग (सं० पु०) विधानं गायतीति गै-ठक्। पण्डित, विद्वान्।

विधानज्ञ (सं० पु०) विधानं जानातीति विधान् ज्ञा-क। १ पण्डित, विद्वान्। (त्रि०) २ विधानवेत्ता, विधि या रीति जाननेवाला।

विधानशास्त्र (सं० क्ली०) व्यवस्थाशास्त्र, व्यवहारशास्त्र, आईन।

विधानसंहिता (सं० स्त्री०) विधानशास्त्र।

विधानसप्तमी (सं० स्त्री०) माघशुक्लासप्तमी।

विधानसप्तमीव्रत (सं० क्ली०) सप्तमी तिथिमें कर्त्तव्य व्रतविशेष। यह व्रत माघ मासकी शुक्लासप्तमी तिथिसे आरम्भ कर पौषमासकी शुक्लासप्तमी पर्यन्त प्रति मासकी सप्तमी तिथिमें करना होता है। इस व्रतमें सूर्यपूजा और सूर्यस्तवका पाठ करना कर्त्तव्य है। यह व्रत करनेसे रोग नष्ट होता है तथा संपत्ति लाभ होती है। यह व्रत मुख्य चान्द्र मासकी शुक्लासप्तमी तिथिमें करनेका विधान है।

इस व्रतका विधान इस प्रकार लिखा है। व्रतके पूर्व दिन संयत हो कर रहना होता है। व्रतके दिन सबेरे प्रातःकृत्यादि करके स्वस्तिवाचन और सङ्कल्प करे। "ओं कर्त्तव्येऽस्मिन् विधानसप्तमीव्रतकर्मणि ओं पुण्याहं भवन्तोऽधिब्रवन्तु ओं पुण्याहं" इत्यादि ३ बार पाठ करे। इसके बाद स्वस्ति और ऋद्धि तथा 'सूर्य सोमः' इत्यादि मन्त्रका पाठ कर सङ्कल्प करना होता है। जैसे—

"विष्णुरोम् तत्सदोमद्य माघे मासि शुक्ले पक्षे सप्तम्यान्तिथावारभ्य पौषस्य शुक्लां सप्तमीं यावत् प्रतिमासीय शुक्लसप्तम्यां अमुकगोत्रः श्रीअमुकदेवशर्मा आरोग्यसम्पत्कामः अभीष्टतत्तत्फलप्राप्तिकामो वा विधानसप्तमीव्रतमहं करिष्ये।"

इस प्रकार सङ्कल्प करके वेदानुसार सूक्त पाठ करे। पीछे शालग्रामशिला वा घटस्थापनादि करके सामान्यार्घ और आसनशुद्धि आदि करके गणेश, शिवादि पञ्चदेवता, आदित्यादि नवग्रह और इन्द्रादि दशदिक्पालकी पूजा करनी होती है। इसके बाद षोड़शोपचारसे भगवान् सूर्यदेवकी पूजा करके उनका स्तव पाठ करे। प्रति मासकी शुक्लासप्तमी तिथिमें इसी नियमसे पूजा करनी होती है। किन्तु प्रत्येक मासमें सङ्कल्प नहीं करना होता। प्रथम मासके सङ्कल्पसे ही सभी मासोंका काम चला जाता है।

यह व्रत करके बारहो महीनेमें बारह नियम पालन करने होते हैं। यथा—(१) माघमासमें अकवनके पत्तोंका सिर्फ अंकुर खाना होता है। (२) फाल्गुनमासमें जमीन पर गिरनेसे पहले ही जौ भर पोली गायका गोबर खानेका नियम है। (३) चैत्रमासमें एक मरिचभक्षण, (४) वैशाखमासमें थोड़ा जल, (५) ज्यैष्ठमासमें पके केलेके बीचकी कणामात्र, (६) आषाढ़मासमें यवपरिमित कुशमूल, (७) श्रावणमासमें अपराह्नकालकी

अल्प हविष्यान्न, (८) भाद्रमासमें शुद्ध उपवास, (९) आश्विनमासमें २॥ प्रहरके समय सिर्फ एक बार मयूरका अण्ड परिमित हविष्यान्न, (१०) कार्त्तिकमासमें अर्द्ध प्रसृति मात्र कपिला दुग्ध, (११) अग्रहायणमासमें पूर्वास्य हो कर वायुभक्षण, (११) पौषमासमें अति अल्प गव्यघृत भोजन। बारहों महोनेकी सप्तमीतिथिमें इसी प्रकार भोजन करनेका नियम है।

व्रत शेष हो जाने पर ब्राह्मण-भोजन और यथाविधान व्रतप्रतिष्ठा करना आवश्यक हैं। पीछे दक्षिणान्त और अछिद्रावधारण करे। यह व्रत करनेसे सभी रोगोंसे मुक्तिलाभ किया जाता है, तथा परलोकमें सुखसम्पद् प्राप्त होती है। (कृत्यतत्त्व)

विधानिका (सं० स्त्री०) वृहती।

विधायक (सं० लि०) वि-धा-ण्वुल्। १ विधानकर्त्ता, कार्य करनेवाला। २ निर्माता, बनानेवाला। ३ व्यवस्था करनेवाला, प्रबन्ध करनेवाला। ४ जनक, उत्पादक। ५ कारक, करनेवाला।

विधायिन् (सं० लि०) वि-धा-णिनि। विधानकर्त्ता।

विधार (सं० पु०) विधायक, वह जो धारण करता हो।

विधारण (सं० क्ली०) वि-धृ-णिच्-ल्युट्। १ विशेष रूपसे धारण करना। (लि०) २ धारक, धारण करनेवाला।

विधारय (सं० लि०) विविधधारणकारी।

(शुक्लयजुः १७।८२ भाष्य)

विधारयितव्य (सं० लि०) विशेषरूपसे धारण करनेके योग्य। (प्रश्नोपनि० ४।५)

विधारयितृ (सं० लि०) विधार्त्ता। (निरुक्त १२।१४)

विधारा (हिं० पु०) दक्षिण-भारतमें बहुतायतसे होनेवाली एक प्रकारकी लता। इसका झाड़ बहुत बड़ा और इसकी शाखाएं बहुत घनी होती हैं। इसकी डालियों पर गुलाबके-से कांटे होते हैं। वृक्षके पत्ते तीन अंगुल लम्बे अण्डाकार और नोकदार होते हैं। डालियोंके सिरे पर चमकदार पीले फूलोंका गुच्छा होता है। वैद्यकमें इसे गरम, मधुर, मेधाजनक, अग्निप्रदीपक, धातुवर्द्धक और पुष्टिदायक माना है। उपदंश, प्रमेह, क्षय, वातरक्त आदिमें इसे औषधकी भांति व्यवहारमें लाते हैं।

विधारिन् (सं० लि०) विधारणशील, धारण करनेवाला।

विधावन (सं० क्ली०) वि-धाव-ल्युट्। १ पश्चाद्धावन, पीछे पीछे दौड़ना। २ निम्नाभिमुख गमन, नीचेकी ओर जाना।

विधि (सं० पु०) विधति विदधाति विश्वमिति विध विधाने विध-इन् (इगुपधात् कित्। उण् ४।११९) १ ब्रह्मा। विधीयेते सुखदुःखे अनेनेति वि धा-कि (उपसर्गे घोः किः। पा ३।३।९२) २ वह जिसके द्वारा सुखदुःखका विधान होता है; भाग्य, अदृष्ट, तकदीर। ३ क्रम, प्रणाली, ढंग। ४ किसी शास्त्र या ग्रन्थमें लिखी हुई व्यवस्था, शास्त्रोक्त विधान। ५ काल, समय। ६ विधान, व्यवस्था। ७ प्रकार, किस्म। ८ नियोग। ९ विष्णु। १० कर्म। ११ गजग्रास, हाथीका चारा। १२ वैद्य। १३ अप्राप्तविषयका प्रापक, छः प्रकारके सूत्रलक्षणोंमेंसे एक। व्याकरण तथा स्मृति, श्रुति आदि धर्मशास्त्रोंमें कुछ विधियोंका उल्लेख है। उन सब विधियोंके अनुवर्त्ती हो कर उन शास्त्रोंका व्यवहार करना होता है। नीचे व्याकरणकी कुछ स्थूल विधियां दिखलाई जाती हैं,—जो सब सूत्र अप्राप्त विषयके प्रापक होते हैं अर्थात् जिस जिस सूत्रमें किसी वर्णकी उत्पत्ति वा नाश होता है तथा जिसमें सन्धि, समास वा किसी वर्णोत्पत्तिका निषेध रहता है, वे छः प्रकारके सूत्रलक्षणोंके अन्तर्गत विधिलक्षणयुक्त सूत्र हैं। जैसे—"दधि अत्र" इस प्रकार सन्निवेश होने हीसे इकारकी जगह 'य' नहीं हो सकता, लेकिन यदि कहा जाय, कि "स्वरवर्णके पीछे रहनेसे इकारको जगह 'य' होगा" तभी हो सकता है। इसलिये यही अनुशासन अप्राप्त विषयका प्रापक हुआ। एक जगह दो सूत्रोंकी प्राप्ति रहनेसे जिसका कार्य बलवान् होगा, वही नियम विधियुक्त सूत्र है अर्थात् प्राप्तिसत्तामें जो विधि है, उसीका नाम नियम है। सु (सुप्) विभक्ति पीछे रहनेसे एक साधारण सूत्रके बल पर ही तत्पूर्ववर्त्ती सभी रेफ स्थानमें विसर्ग हो सकता है। इस हिसाबसे यदि ऐसा विधान रहे कि, "सुप्‌के पीछे रहनेसे 'स', 'ष' और 'न' की जगह जात रेफके स्थानमें विसर्ग होगा" तो जानना

चाहिये, कि विभक्तिका 'सु' पीछे रहनेसे उसके पूर्ववर्त्ती 'स', 'ष' और 'न' की जगह जात रेफ भिन्न किसी दूसरे रेफ स्थानमें (साधारण सूत्रके बल पर) विसर्ग नहीं होगा। जैसे,—हविस्-सु = हविःसु, धनुस्-सु = धनुःसु, सजुष्-सु = सजुःसु, अहन् सु = अहःसु, किन्तु 'स' 'ष' और 'न' की जगह जात रेफ नहीं होनेके कारण चतुर्-सु = चतुर्षु इत्यादि स्थलोंमें प्राप्ति रह कर भी (इस नियम सूत्रके प्राधान्यवशतः) विसर्ग नहीं होगा। एकका धर्म दूसरेमें आरोप करनेका नाम अतिदेशविधि है; जैसे,—तिङ् (तिप्, तस, झि आदि) प्रत्ययके पीछे 'इण' धातुके सम्बन्धमें सूत्र होनेके कारण अन्तमें कहा गया कि, 'इण' धातुके समान "इक्" धातु जाननी होगी अर्थात् बरात 'इण' धातुका तिङन्तपद जिस जिस सूत्रमें सिद्ध तथा जिस जिस आकारका होगा 'इक' धातुका तिङन्तपद भी उसी उसी सूत्रमें सिद्ध तथा उसी उसी आकारका होगा। उदाहरण,—इण् = इ-दिप् (लुङ्) = अगात्; इक् = इ-दिप् (लुङ्) = अगात्। शब्दाध्यायमें कहा गया "स्वरादिविभक्तिके पीछे रहनेसे स्त्री और भ्रू शब्दके धातुकी तरह कार्य्य होगा" अर्थात् बरात दी गई कि स्वरादि विभक्तिके पीछे रहनेसे 'श्री' 'भू' आदि धातुप्रकृतिक दीर्घ ईकार और दीर्घ ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दकी तरह यथाक्रम स्त्री और भू शब्दका पद सिद्ध करेगा। उदाहरण श्री औ = श्रियौ। स्त्री-औ = स्त्रियौ, यहां दोनों ईकारके स्थानमें 'इय्' हुआ। भू-औ = भुवौ, भ्रू-औ = भ्रुवौ; दोनों स्थलमें दीर्घ ऊकारकी जगह 'ऊव्' अर्थात् एक ही तरहका कार्य हुआ। विशेष विवरण अतिदेश शब्दमें देखो।

वैयाकरणके मतसे परवर्त्ती सूत्रमें पूर्वसूत्रस्थ पदों वा किसी किसी पदका उल्लेख न रहने पर भी अर्थविवृतिकालमें उसका उल्लेख किया जाता है, इसे अधिकारविधि कहते हैं। यह सिंहावलोकित, मण्डुकप्लुत और गङ्गास्रोतके भेदसे तीन प्रकारका है। सिंहावलोकित (सिंहकी दृष्टिकी तरह) अर्थात् १म सूत्रमें,—"अकारके बाद आकार रहनेसे उसका दीर्घ होगा" यही कह कर २य सूत्रमें सिर्फ "इकारका गुण", ३यमें "एकारकी वृद्धि', ४र्थमें 'टा-की जगह इन" इत्यादि प्रकारसे सूत्र विन्यस्त रहने पर समझना होगा, कि प्रथमसे चतुर्थ सूत्र पर्यन्त दीर्घ, गुण, वृद्धि, इनादेश जितने कार्य होंगे, वे सभी अकारके उत्तर आयेंगे। इस सङ्केतका साधारण नाम अधिकारविधि है; इसके बाद ५म सूत्रमें यदि कहा जाय कि, "इकारके बाद अकार रहनेसे उस इकारकी जगह 'य' होगा" तो वह अधिकार सिंहदृष्टिकी तरह एक लक्ष्यमें बहुत दूर जा कर रुक जाता है, इसी कारण वैयाकरणोंमें उसका नाम "सिंहावलोकित" रखा है। जहां १म सूत्रमें,—"अकारके उत्तर टा रहनेसे उसकी जगह इन होगा", २यमें "ऋ' र और ष कारके बाद 'न' ण' होगा, ३यमें "भ"के पीछे रहने पर आकार होगा" (अर्थात् जिसके उत्तर 'भ' रहेगा उसके स्थानमें आकार होगा) इस प्रकार दिखाई देनेसे वह अधिकारविधि "मण्डूकप्लुति" कहलाती है; क्योंकि वह मेढ़ककी छलांगकी तरह बहुत दूर नहीं जा सका। फिर शब्दाध्यायके १म सूत्रमें "शब्दके उत्तर प्रत्यय होगा" ऐसा उल्लेख कर २य सूत्रसे ले कर वह शब्दाध्याय समाप्त होनेके बाद तत्परवर्त्ती तद्धिताध्यायके शेष पर्य्यन्त यथासम्भव सौ वा सौसे अधिक सूत्रोंमें जितने प्रत्यय होंगे, वह प्रत्येक सूत्रमें 'शब्दके उत्तर' इस बातका उल्लेख नहीं रहने पर भी, शब्दके उत्तर ही होगा, धातु आदिका उत्तर नहीं होगा। यह अधिकारविधि गङ्गास्रोतकी तरह उत्पत्ति स्थानसे बेरोकटोक सागरसङ्गम पर्य्यन्त अर्थात् यहां प्रकरणके शेष तक अप्रतिहतभावमें प्रबल रहनेके कारण वैयाकरणोंके निकट यह गङ्गास्रोत समझा जाता है। वैयाकरणोंने इसके सिवा संज्ञा और परिभाषा नामक दो और सङ्केतोंको बतला कर सूत्रसंस्थापन किया है। संज्ञा अर्थात् नाम, जैसे—व्याकरणके सिवा इसका अन्य शास्त्रमें व्यवहार नहीं होता, व्याकरणमें व्यवहार करनेका तात्पर्य्य है, सिर्फ ग्रन्थ संक्षेपके लिये; क्योंकि (अच् शब्दका प्रतिपाद्य) "अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ" पीछे रहनेसे 'ए' की जगह 'अप्' न होनेके कारण अच्के पीछे रहनेसे 'ए' की जगह 'अय' होता है। ऐसा कहनेसे ही संक्षेप हुआ। व्याकरणसूत्रके परस्पर विरोधभञ्जन और ग्रन्थके संक्षेपके लिये शाब्दिकोंने कुछ परिभाषाविधिका निर्देश किया है।

जैसे १म सूत्रमें "अच्के पीछे रहनेसे 'ए' की जगह 'अय' होगा" ऐसा कह कर ४र्थ सूत्रमें "एकारके बाद अकार रहनेसे उस अकारका लोप होगा" कहनेसे, वस्तुतः कार्यस्थलमें दोनों सूत्रोंका परस्पर विरोध उपस्थित होता है। क्योंकि "हरे + अव" यहां पर अच् वा स्वरवर्ण पीछे और उसके पहले एकार रहनेसे १म सूत्रकी प्राप्ति तथा अकारके पीछे अकार रहनेसे ४र्थ सूत्रकी प्राप्ति हुई है; वाह्यतः यहां दृढ़तासे ही दोनों सूत्रोंकी प्राप्ति देखी जाती है; किन्तु आचार्यने इन दोनों सूत्रोंमें ऐसा कुछ भी न कहा, कि उससे दोनोंमें कोई एक बलवान् हो सकता है! ऐसे विरोधस्थलमें ही परिभाषाविधिकी जरूरत पड़ती है। इसकी मीमांसाके लिये "तुल्यबलविरोधे परं कार्य्यं" अर्थात् व्याकरणके सम्बन्धमें "दो सूत्रोंका बल समान दिखाई देनेसे परवर्त्ती सूत्र ही कार्याकारी होगा" तथा "सामान्यविशेषयोर्विशेषविधिर्बलवान्' अर्थात् "बहुतसे विषयोंकी अपेक्षा थोड़े विषयकी विधि ही बलवान् होगी" इन दोनों परिभाषाविधिके व्यवहार होनेसे परवर्त्ती सूत्र अर्थात् विशेषविधिका कार्य्य ही बलवान् होगा। परवर्त्ती सूत्रमें विशेषता यह है, कि उसमें विषयोंका उल्लेख है; क्योंकि पूर्व्ववर्त्ती सूत्रमें समस्त स्वरवर्ण पीछे रहनेका विषय और परवर्त्तीसूत्रमें सिर्फ एक स्वरवर्ण पीछे रहनेका विषय है। फिर इस सम्बन्धमें न्याय है, कि, "अल्पतरविषयत्वं विशेषत्वं बहुतरविषयत्वं सामान्यत्वं" अर्थात् जहां कम विषयोंका निर्देश है, वहां विशेष और जहां अनेक विषयोंका निर्देश है, वहां सामान्यविधि जाननी होगी। व्याकरणमें ऐसी कितनी परिभाषाविधियोंका व्यवहार है जिनमेंसे अन्तरङ्ग, वहिरङ्ग, सावकाश, निरवकाश, आगम, आदेश, लोप और स्वरादेशविधि सर्व्वदा प्रयोजनीय हैं।

प्रकृति अर्थात् शब्द वा धातुका आश्रय करके गुण, वृद्धि, लोप, आगम आदि जो सब कार्य होते हैं, उन्हें अन्तरङ्ग तथा प्रत्ययका आश्रय ले कर जो सब कार्य्य होते हैं, उन्हें वहिरङ्गविधि कहते हैं। इन दोनोंका विरोध होनेसे अन्तरङ्गविधि बलवान् होगी। एक प्रकृतिको ही आश्रय करके यदि इस प्रकार पूर्वापर दो कार्योंका सम्भव हो, तो जो पूर्ववर्त्ती है उसे अन्तरङ्गतर विधि कहते हैं तथा वही विधि बलवान् होती है। जैसे ऋ-अ (लिट् १म पु० १व०) = ऋ ऋ अ = अ ऊ-अ अभी 'अ' और 'ऋ' इन दो प्रकृतियोंमें पहलीकी जगह 'आर' और दूसरीकी जगह रकार होनेका सम्भव है, इस कारण इस अन्तरङ्गतर विधिबलसे पूर्ववर्त्ती अकारकी जगह 'आर' ही होगा। जिस विधिका विषय पहले और पीछे दोनों ही जगह है, उसे सावकाश और जिसका विषय केवल पहले है, पीछे नहीं, उसे निरवकाश विधि कहते हैं। जिस विधिके अनुसार कोई वर्ण प्रकृति वा प्रत्ययको नष्ट न करके उत्पन्न होता है, उसे आगम तथा जो वर्ण दोनोंका उपघाती हो कर उत्पन्न होता है, उसे आदेश कहते हैं। इन दोनोंमें आगमविधि बलवान् है। सभी प्रकारकी विधियोंमें लोपविधि ही बलवान् है। किन्तु लोप और स्वरादेश (स्वर वर्णका आदेश) इन दोनों विधियोंकी प्राप्तिके सम्बन्धमें यदि फिर विरोध हो, तो वहां स्वरादेशविधि ही बलवान् होगी।

इसके सिवा सर्वदा प्रचलित उत्सर्ग और अपवाद नामकी दो विधियां हैं। वे एक तरहसे सामान्य और विशेष विधिकी नामान्तर मात्र हैं। अर्थात् "सामान्यविधिरुत्सर्गः" "विशेषविधिरपवादः" सामान्य विधि उत्सर्ग और विशेष विधि अपवाद कहलाती है।

पूर्व्वमीमांसा नामक जैमिनिसूत्रके व्याख्याकर्त्ता गुरु और प्रभाकरने विधिके सम्बन्धमें व्याकरणघटित प्रत्ययादिका विषय इस प्रकार कहा है। भट्टका कहना है, कि विधिलिङ्, लोट् और तव्यादि प्रत्ययका अर्थ है तथा उसका दूसरा नाम भावना है। अतएव शाब्दी भावना और विधि दोनों एक है। प्रभाकर और गुरु कहते हैं, कि विधिघटित प्रत्ययमात्र ही नियोगवाची है, इसलिये नियोगका ही दूसरा नाम विधि है*।

---

* महामहोपाध्याय कैयटने भी पाणिनिके "विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधिष्टं संप्रश्न प्रार्थनेषु लिङ्"। (पा ३।३।१६१) इस सूत्रके महाभाष्यकी व्याख्यामें विधि शब्दका नियोजन अर्थात् नियोग ऐसा अर्थ लगाया है। भाष्यकारने लिखा है, "विध्यधीष्टयोः को विशेषः ?" "विधिर्नाम प्रेषणम्" "अधीष्टं नाम

"स्वर्गकामो यजेत" यह एक विधि है। यह विधि अर्थी विद्वान् और समर्थ श्रोतृपुरुषोंको यागकरणक और स्वर्गफलक भावनामें (उत्पादन विशेष) प्रवृत्ति उत्पन्न करती है अर्थात् उसको स्वर्गजनक यागानुष्ठानमें नियुक्त करती है। जो जो स्वर्गार्थी अथच अधिकारी हैं वे सब याग करें तथा अपनेमें स्वर्गजनक अपूर्व (पुण्यविशेष) उत्पादन करें। लक्षणका निष्कर्ष यह है, कि जो वाक्य कामोपुरुषको काम्यफल लाभका उपाय बतला कर उसमें उसकी आनुष्ठानिक प्रवृत्ति पैदा करता है, वही वाक्य विधि है।

वाक्य वा पदमात्र ही धातु और प्रत्यय इन दोनोंके योगसे निष्पन्न होता है। वाक्य वा पदके एक देशमें जो लिङादि प्रत्यय योजित रहता है, वह प्रत्ययकी मुख्य अर्थभावना अथवा नियोग है। भावना शब्दका अर्थ उत्पादना है अर्थात् यह कुछ उत्पादन करनेमें प्रवृत्ति कराती है। भावना शाब्दी और आर्थीके भेदसे दो प्रकारकी है। "यजेत" इस वाक्यके एकदेशमें जो लिङ् प्रत्यय है, [यज्-मते (लिङ्)] उसका अर्थ है भावना। अतएव "यजेत = भावयेत्" अर्थात् उत्पन्न करेगा। यह भावना आर्थी है अर्थात् प्रत्ययार्थ लभ्य है। इसके बाद 'किं' 'केन' 'कथं' अर्थात् क्या, किससे? किस प्रकार इस प्रकारकी आकाङ्क्षा वा प्रश्न उठने पर तत्पूरणार्थ "स्वर्गः, यागेन, अन्वाधानादिभिः" स्वर्गको यागके द्वारा इन सब पदोंके साथ अन्वित हो कर समस्त वाक्य एक विधि समझा जाता है।

लिङ्‌युक्त लौकिक वाक्य सुन कर भी ऐसी प्रतीति होती है, कि यह व्यक्ति मुझे इस वाक्यसे अमुक विषयमें प्रवृत्त होनेके लिये कहता है और मैं अमुक कार्यमें प्रवृत्त होता हूं, यही इसका अभिप्रेत है। वक्ताका अभिप्राय तदुक्त विधिवाक्यस्थ लिङादि प्रत्ययका बोध्य है। अतएव वह वक्तृगामी है। फिर अपौरुषेय वेदवाक्यमें वह शब्दगामी है, अर्थात् लिङादि शब्द ही उस श्रोताको बतला देता है। यह शब्द गमिता होनेके कारण शाब्दी भावना नामसे प्रसिद्ध है। "स्वास्थ्यकारी प्रातर्भ्रमण करें" यह एक लौकिक विधिवाक्य है। यह वाक्य सुननेसे दो प्रकारका बोध होता है, एक प्रातर्भ्रमण स्वास्थ्यलाभका उपाय जो हम लोगोंका कर्त्तव्य है और दूसरा वक्ताका अभिप्राय—मैं प्रातर्भ्रमण कर सुस्थ हूं। ऐसी दशामें प्रथम बोध अर्थवाक्य वैदिक होनेसे कहा जाता है, कि प्रथम बोध अर्थ और द्वितीय बोध शाब्दी है।

मूल बात यह है, कि विधिका लक्षण जो जिस प्रकारसे क्यों न करें, सभी जगह अप्राप्तार्थ विषयमें प्रवर्त्तनका भाव दिखाई देगा, क्योंकि सभी स्थानोंमें विधिका आकार है,—'कुर्यात्' 'क्रियेत' 'कर्त्तव्य' इत्यादि रूप।

मीमांसादर्शनकार जैमिनिके मतसे वेद—विधि, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेय इन चार भागोंमें विभक्त है। उक्त दर्शनकारकी पूर्वमीमांसा नामक सूत्रके व्याख्या-

---

सत्कारपूर्विका व्यापारणा"। कैयटने भाष्यकारधृत उक्त पाठकी ऐसी व्याख्या की है,—"विध्यधीष्टयोरिति। उभयोरपि नियोगरूपत्वादिति प्रश्नः। पेषणमिति भृत्यादेः कस्याञ्चित् क्रियाय[†] नियोजनमित्यर्थः। अधीष्टं नामेति गुर्वादेस्तु पूज्यस्य व्यापारणमधीष्टमित्यर्थः। प्रपञ्चार्थी न्यायव्युत्पादनार्थी वा अर्थभेदमाश्रित्य भेदेनोपादानं विधिनिमन्त्रणादीनां कृतम्। विधिरूपता हि सर्वत्रान्वयिनी विद्यते।" दोनों जगह एक ही नियोगरूप व्यापार होने पर भी विधि और अधीष्टमें भेद यह है, कि विधि प्रेषणा अर्थात् भृत्यादिको किसी कार्यमें नियोग करना। जैसे—"भवान् ग्रामं गच्छेत्" तू या तुम ग्राममें जायेगा या जाओगे। पूजनीय व्यक्तियोंके सत्कार करनेका नाम अधीष्ट है। जैसे "भवान् पुत्रमध्यापयेत्" आप मेरे पुत्रको पढ़ावें। इन दोनों ही जगह नियोग समझा जाता है, किन्तु पहले असत्कार और पीछे सत्कार पूर्वक, बस सिर्फ इतना ही प्रभेद है। अर्थप्रपञ्च (विस्तृति) अथवा नाना प्रकारकी न्यायव्युत्पत्तिके लिये ही आचार्यने मूल सूत्रमें विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण आदिका भेद बतलाया है। फलतः एक नियोगरूप विधि ही सर्वत्र अन्वित रहेगी अर्थात् विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट आदि सभी जगह साधारणतः एक नियोगार्थी ही समझा जायेगा। क्योंकि "इह भवान् भुञ्जीत" आप यहां भोजन करें, "भवानिहासीत" आप यहां बैठें, इत्यादि यथाक्रम निमन्त्रण और आमन्त्रणके स्थानमें भी प्रायः एक नियोगको छोड़ और कुछ भी नहीं देखा जाता।

कर्त्ता गुरु, भट्ट और प्रभाकर इन तीन आचार्य्यों ने अपने "चोदनालक्षणोऽर्थोधर्म्मः" इस सूत्रोक्त शब्दके बदलेमें विधि शब्दका व्यवहार और निम्नलिखित प्रकारसे उसका अर्थ तथा स्थलनिर्देश किया है। चोदनाप्रवर्त्तक वाक्य ; इसका दूसरा नाम है विधि और नियोग। विधियोंके लक्षण और प्रकारभेद इस प्रकार हैं,—

प्रधान विधि—"स्वतः फलहेतुक्रियाबोधकः प्रधानविधिः" जो विधि आपसे ही क्रिया और उसके फलका बोध कराती है अर्थात् जो स्वयं फलजनक है, वही प्रधान विधि है। जैसे, "यजेत स्वर्गकामः" स्वर्गकामी हो कर याग करे। अपूर्व, नियम और परिसंख्याभेदसे प्रधान विधि तीन प्रकारकी है। 'अत्यन्ताप्राप्तौ अपूर्वविधिः' जहाँ विधि विहित कर्म किसी तरह निषिद्ध नहीं होता वहां अपूर्वविधि जाननी होगी। जैसे "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" दैनन्दिन सन्ध्याकी उपासना करे; यह उक्ति शास्त्र, इच्छा और न्यायसङ्गत है तथा किसी भी स्थानमें इस विधिका व्यतिक्रम नहीं देखा जाता अर्थात् यह नियत कर्त्तव्य है। "पक्षतोऽप्राप्तौ नियमविधिः" कारणवशतः शास्त्र वा इच्छा आदिकी अप्राप्ति होनेसे उसको नियम विधि कहते हैं। जैसे, "ऋतौ भार्य्यामुपेयात्" ऋतुकालमें भार्याभिगमन करे ; यहां शास्त्रतः नियत विधान रहने पर भी कदाचित् इच्छाभाववशतः विहित कार्यकी अप्राप्ति हो सकती है। किन्तु वह दोषावह नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकारसे एक पक्षमें विधिका विपर्य्यय होता है, इसीलिये वह नियमविधिमें गिना गया है। "विधेय तत्प्रतिपक्षयोः प्राप्तौ परिसंख्याविधिः" जो शास्त्रतः तथा अनुरागवशतः मिलता है, वह परिसंख्या विधि है जैसे 'प्रोक्षितं मांसं भुञ्जीत' प्रोक्षित (यज्ञीय मन्त्र द्वारा संस्कृत) मांस भोजन करे, यहां पर प्रोक्षित मांस भक्षणकी प्रवृत्ति शास्त्रतः तथा स्वभावतः मांसमें अनुरक्त रहने हीसे हुआ करती है।

अङ्गविधि,—"अङ्गविधिस्तु स्वतः फलहेतुक्रियायां कथमित्याकाङ्क्षायां विधायकः"। जिस विधिमें किस कारण क्रिया की जाती है यह जाननेके लिये आपे आप आकाङ्क्षा होती है उसको अङ्गविधि कहते हैं। यह अङ्गविधि काल, देश और कर्त्ताकी बोधकमात्र है। इस कारण यह अनियत है; "अङ्गविधिस्तु कालदेशकर्त्रादिबोधकतया अनियत एव"। कहनेका तात्पर्य यह कि अङ्गविधिमात्र ही प्रधान विधिकी उपकारक अर्थात् मूलकर्मकी सहायक है। जैसे अग्निहोत्र यज्ञमें "व्रीहिभिर्यजेत" व्रीहि द्वारा याग करे, "दध्ना जुहोति" दधि द्वारा होम करे, इत्यादि। अवान्तर क्रियायें अङ्गयाग या अङ्गविधि है। अङ्गविधि भी प्रधान विधिकी तरह अपूर्व, नियम और परिसंख्या भेदसे तीन प्रकारकी है। क्रमशः उदाहरण, "शारदीय पूजायामष्टम्यामुपवसेत्" महाष्टमीमें उपवास करे, यह दुर्गापूजाका अङ्ग होनेके कारण अङ्गविधि है तथा यह एतदन्यशास्त्र है, अपनी इच्छा अथवा न्यायानुसार किसी मतसे निषिद्ध नहीं हो सकता, अतएव अवश्य कर्त्तव्यके कारण अपूर्वविधि है। "श्राद्धे भुञ्जीत पितृसेवितम्" श्राद्धशेष भोजन करे, यहां पर श्राद्धशेष भोजनके सम्बन्धमें इच्छानुसार कभी व्याघात हो सकता है, अतएव कारणवशतः एक पक्षमें अप्राप्ति होनेसे नियमविधि हुई। "वृद्धिश्राद्धे प्रातरामन्त्रितान् विप्रान्" वृद्धिश्राद्धमें प्रातःकालमें विप्रोंको आमन्त्रण करे, यह परिसंख्या विधि है, क्योंकि यहां विहित प्रातःकालके निमन्त्रण अथवा पार्वणश्राद्धकी तरह उसके पहले दिनके सायंकालका निमन्त्रण इन दोनोंको ही न्यायसङ्गत प्राप्ति हो सकती है। इस कारण प्रधान और अङ्गविधिके अन्तर्गत अपूर्व, नियम और परिसंख्याविधिका लक्षण इस प्रकार लिखा है,—

> "विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
> तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्या विधीयते॥"
>
> (विधिरसायन)

किसी किसी मतसे सिद्धरूप और क्रियारूप भेदसे अङ्गविधि दो भागोंमें विभक्त हुई है। द्रव्य और संख्या आदि सिद्धरूप हैं; अवशिष्ट क्रियारूप है। क्रियारूप अङ्ग दो प्रकारका है, सन्निपत्योपकारक और आरादुपकारक। सिद्धरूप अङ्ग (द्रव्यादि)के उद्देशसे जो क्रिया की जाती है, वह सन्निपत्योपकारक है। "व्रीहीन् अवहन्ति" "सोममभिषुणोति" इत्यादि वाक्योंमें व्रीहि और सोमद्रव्यमें अवघात और अभिषव क्रियाका विधान है। जहां अङ्गविधिके द्रव्यादिका उद्देश नहीं देखा जाता, फिर

भी उसमें क्रियाका विधान है, वहां वह अङ्ग आरादुपकारक पूर्वोक्त सन्निपत्योपकारक कर्म प्रधान कर्मका उपकारक तथा प्रधान कर्म उसका उपकार्य्य है। यह उपकारक उपकार्य भाव वाक्यगम्य है, प्रमाणान्तरगम्य नहीं। शेषोक्त आरादुपकारक कर्मके साथ प्रधान कर्मका उपकार्य उपकारक भाव जो है, वह प्रकरणानुसार उन्नेय है। मीमांसा देखो।

उल्लिखित प्रधान और अङ्गविधिका अन्य प्रकारमें प्रविभाग दिखाई देता है, जैसे—उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग और अधिकार। इनमेंसे उत्पत्ति और अधिकार प्रधान विधिके तथा विनियोग अङ्गविधिके अन्तर्भुक्त है। "कर्मस्वरूपमात्रबोधकविधिरुत्पत्तिविधिः" जो केवल कर्त्तव्य कर्मको बोधक है, वही उत्पत्ति-विधि है। जैसे "अग्निहोत्रं जुहोति" 'अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदित्यत्र विधौ कर्मणः करणत्वेनान्वयः' अग्निहोत्रहोम द्वारा अभीप्सित फलोत्पादन करे, इस उक्ति द्वारा अग्निहोत्र होम करना होगा, सिर्फ यही समझा गया; किन्तु उसमें किस फलकी उत्पत्ति होगी, इसका पता न चला, इस कारण वह उत्पत्तिविधि है। "कर्मजन्मफलसाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः' कर्मजन्य फलभोगिताकी अवबोधक विधिका नाम अधिकारविधि है। जैसे "स्वर्गकामो यजेत" स्वर्गकामी हो कर याग करे, यहां पर स्वर्गके उद्देशसे यागकारीका क्रियाजन्य फलभोक्तृत्व प्रतिपन्न होता है, अतएव यह अधिकारविधि है। "अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः" जो अङ्ग कर्मका विधायक है, वह विनियोगविधि है। जैसे—"व्रोहिभिर्यजेत" व्रीहि द्वारा याग करे, "दध्ना जुहोति" दधि द्वारा होम करे, ये सब क्रियाप्रधान अग्निहोत्रके अङ्ग बतलाये गये हैं, इस कारण वे विनियोगविधिमें निर्दिष्ट हैं। "अङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिः" जिस क्रमसे वा जिस पद्धतिसे साङ्गप्रधान यागादि कर्म किया जाता है, वह प्रयोगविधि है अर्थात् अङ्गोंमें किस प्रकार किस कार्यके वा कौन कार्य करना होगा, वह प्रयोगविधि द्वारा जाना जाता है।

न्यायके मतसे विधिका लक्षण इस प्रकार है,—

"प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र सा चेच्छातो यतश्च सा
तज्ज्ञानं विषयस्तस्य विधिस्तज्ज्ञापकोऽथवा ॥"

(कुसुमाञ्जलि)

विधिवाक्य सुन कर पहले ऐसा मालूम होता है, कि यह कृतिसाध्य है अर्थात् यत्न करने पर किया जा सकता है तथा उससे अभीष्ट फल प्राप्तिकी भी विशेष सम्भावना है, यह ज्ञान हो जानेसे वे सब विधिविहितकार्य करनेकी प्रवृत्ति होती है। इस ज्ञानका विषय जो है अर्थात् कार्यत्व और इष्टसाधनत्व वही विधि है। यह प्राचीन मत है। अपने मतसे उस साधनताके ज्ञापक आप्त वाक्यको विधि कहा जाता है।

गदाधर भट्टाचार्यने अपने तथा मीमांसक मतसे विधिका स्वरूप जो निर्णय किया है, वह इस प्रकार है—

"आश्रयत्वसम्बन्धेन प्रत्ययोपस्थापितेष्टसाधनत्वान्वितस्वार्थपरपदघटितवाक्यत्वं विधित्वम्।" मीमांसकके मतसे,—"इष्टसाधनत्वं कृतिसाध्यत्वञ्च पृथक् विध्यर्थः।" (गदाधर)

जिस वाक्यमें लिङ्गादि प्रत्यय द्वारा आश्रयत्वके सम्बन्धमें उपस्थापित तथा इष्टसाधनयुक्त और स्वार्थपर (स्वीय अर्थाव्यञ्जक) पद विद्यमान रहता है वही विधि है। जैसे "स्वर्गकामो यजेत।" यहां यज्=याग करना, लिङ्ग वा 'ईत' प्रत्यय=करणाश्रय, कृत्याश्रय, चेष्टा वा यत्नशील, दोनोंके योगसे अर्थात् 'यजेत'=यागकरणाश्रय, याग करनेके लिये कार्यके प्रति यत्नशील। यहां पर स्वर्गकाम व्यक्ति ही यागकरणाश्रय हुआ, अतएव प्रत्यय द्वारा इस पदाश्रयत्व सम्बन्धमें उपस्थापित हुआ तथा वह "स्वर्गं कामयते" स्वर्गकी कामना करता है, इस व्युत्पत्ति द्वारा अपनी अपनी अर्थप्रकाशक और स्वर्गप्राप्ति रूप इष्टसाधनतायुक्त होती है। अतएव "स्वर्गकामो यजेत" यह एक विधिवाक्य है। मीमांसकादिके मतसे इष्टसाधनता और कृति (यत्न) साध्यत्वको पृथक् पृथक् विधि कहा गया है। जैसे "स्वर्गकामो यजेत" अर्थात् स्वर्गकामी बनो और याग करो, यह दोनों प्रकारकी विधि है।

१४ यागोपदेशक ग्रन्थ, वह ग्रन्थ जिसमें यागयज्ञादिका विषय विशेषरूपसे लिखा है। १५ अनुष्ठान। १६ नियम। १७ व्यापार। १८ आचार। १९ यज्ञ।

२० कल्पना। २१ वाक्य। २२ अर्थालङ्कारभेद। "सिद्धस्यैव विधानं यत् तामाहुर्विध्य लंकृतिम्।" (च०) किसी जगह सिद्ध विषयका फिरसे विधान होने पर वहां विधि अलङ्कार होता है।

विधिकर (सं० त्रि०) करोतीति कृ-अच् विधेः करः। विधिकारक, विधानकर्त्ता।

विधिकृत् (सं० त्रि०) विधिं करोतीति कृ-क्विप् तुगागमः। विधिकारक, विधानकर्त्ता।

विधिज्ञ (सं० त्रि०) विधिं जानातीति ज्ञा-क। १ विधिदर्शी, विधिको जाननेवाला, शास्त्रोक्त विधानको जाननेवाला। २ रीति जाननेवाला।

विधित्व (सं० क्ली०) विधेर्भावः त्व। विधिका भाव या धर्म, विधान।

विधित्सा (सं० स्त्री०) विधातुमिच्छा वि-धा-सन्-विधित्स अच् टाप्। विधान करनेकी इच्छा, विधान-प्रणयन करनेकी अभिलाषा।

विधित्सु (सं० त्रि०) विधातुमिच्छुः वि-धा-सन् विधित्स सनन्तात् उ। विधान करनेमें इच्छुक।

विधिदर्शिन् (सं० त्रि०) विधिं द्रष्टुं शीलमस्य दृश-णिनि। सदस्य, विधानवेत्ता। यज्ञादि कार्यमें एक सदस्य यह देखनेके लिये नियुक्त किये जाते हैं, कि होता आचार्य आदि ठीक ठीक विधिके अनुकूल कर्म कर रहे हैं या नहीं।

विधिदृष्ट (सं० त्रि०) विधिना दृष्टः। शास्त्रविहित।

विधिदेशक (सं० पु०) विधिं दिशतीति दिश-ण्वुल्। विधिदर्शी, सदस्य।

विधिपाट (सं० पु०) मृदंगके चार वर्णोंमेंसे एक वर्ण। चारों वर्ण ये हैं—पाट, विधिपाट, कूटपाट और खंडपाट।

विधिपुत्र (सं० पु०) विधेः पुत्रः। ब्रह्माके पुत्र, नारद।

विधिपुर (सं० पु०) ब्रह्माका लोक, ब्रह्मलोक।

विधिपूर्वक (सं० त्रि०) विधिः पूर्वं यस्य कप्। जो विधिके अनुसार किया जाय, नियमपूर्वक।

विधिबोधित (सं० त्रि०) विधिना बोधितः। शास्त्रविधि द्वारा बताया हुआ, शास्त्रसम्मत।

विधियज्ञ (सं० पु०) विधिबोधित यज्ञ, वह यज्ञ जिसके करनेकी विधि हो। जैसे—दर्शपौर्णमास।

विधियोग (सं० पु०) विधेर्योगः। विधानानुरूप विधिके अनुसार।

विधिलोक (सं० पु०) ब्रह्मलोक, सत्यलोक।

विधिवत् (सं० अव्य०) विधि इवार्थे-वति। १ यथाविधि, विधिके अनुसार। कायदेके मुताबिक। २ जैसा चाहिये, उचित रूपसे।

विधिवद्ध (सं० त्रि०) विधिना वद्धः। नियमवद्ध।

विधिवधू (सं० स्त्री०) विधेर्वधूः। ब्रह्माकी पत्नी, सरस्वती।

विधिवाहन (सं० पु०) ब्रह्माकी सवारी, हंस।

विधिवित् (सं० त्रि०) विधिं वेत्ति विधि-विद-क्विप्। विधिज्ञ, शास्त्रज्ञ, विधि जाननेवाला।

विधिशास्त्र (सं० क्ली०) विधिरूपं शास्त्रं। १ व्यवहारशास्त्र, आईन। २ स्मृतिशास्त्र।

विधिसार (सं० पु०) राजभेद, विम्बिसार।
(भागवत १२।१।५)

विधिसेध (सं० पु०) सिध-घञ्, सेध, विधिश्च सेधश्च। विधि और निषेध।

विधु (सं० पु०) विध्यति असुरानिति व्यध-कु। १ विष्णु। २ ब्रह्मा। ३ कर्पूर, कपूर। ४ एक राक्षसका नाम। ५ आयुध। ६ वायु। (संक्षिप्तसार उणा०) विध्यति विरहिणं विध्यते वाहुनेति वा व्यध-ताड़े (पृभिदि व्यधीति। उणा् १।२४) इति कु। ७ चन्द्रमा। ८ पापक्षालन, पाप छुड़ाना। ९ जल स्नान। (त्रि०) १० कर्त्ता। (ऋक् १०।५५।५)

विधुक्रान्त (सं० पु०) संगीतका एक ताल।
रथक्रान्त देखो।

विधुग्राम—चट्टलके अन्तर्गत एक प्राचीन ग्राम।
(भविष्यब्रह्मख० १५।४९)

विधुत (सं० त्रि०) वि-धु-क्त। १ त्यक्त। २ कम्पित।

विधुति (सं० स्त्री०) वि-धु-क्ति। १ कम्पन, कांपना। २ निराकृति, निराकरण।

विधुदार (सं० पु०) चन्द्रमाकी स्त्री, रोहिणी।

विधुदिन (सं० क्ली०) विधोर्दिनं। चन्द्रमाका दिन, सोमवार।

विधुनन (सं० क्ली०) वि-धू-णिच् ल्युट् नुक् च पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः। कम्पन, कांपना।

विधुना—युक्तप्रदेशके इटावा जिलान्तर्गत एक गण्डग्राम, विधुना तहसीलका सदर। यह रिन्द नदीके किनारे अवस्थित है। गाँवसे एक मील दूर नदी पर एक पुल है। इष्ट इण्डिया रेलपथके आचालदा स्टेशनसे गाँव तक गई एक पक्की सड़कसे यहांका वाणिज्य चलता है। यहां एक प्राचीन दुर्गका खंडहर देखा जाता है।

विधुन्तुद (सं० पु०) विधुं तुदति पीड़यतीति विधु-तुद (विध्यरुसोस्तुदः। पा ३।२।३५) इति खस्-मुम्। चन्द्रमाको दुःख देनेवाला, राहु।

विधुपञ्जर (सं० पु०) विधोः पञ्जर इव तत्सादृश्यात्। खड्ग, खाँड़ा।

विधुप्रिया (सं० स्त्री०) विधोश्चन्द्रस्य प्रिया। १ चन्द्रमाकी स्त्री, रोहिणी। २ कुमुदिनी।

विधुबन्धु (सं० पु०) कुमुदका फूल।

विधुर (सं० क्ली०) विगताधूर्भारो यस्मात्, समासे अ। १ कैवल्य, मोक्ष। २ कष्ट, दुःख। ३ वियोग, जुदाई। ४ अलग होनेकी क्रिया या भाव। (पु०) ५ शत्रु, दुश्मन।

(त्रि०) विगता धूः कार्यभारो यस्मात्। ६ विकल, व्याकुल। ७ दुःखो। ८ असमथ, असक्त। ९ परित्यक्त, छोड़ा हुआ। १० विमूढ़। ११ घबराया हुआ, डरा हुआ।

विधुरता (सं० स्त्री०) विधुर-तल्-टाप्। विधुरका भाव, क्लेश।

विधुरत्व (सं० क्ली०) विधुरता, क्लेश।

विधुरा (सं० स्त्री०) विधुर-टाप्। १ रसाला। २ कानोंके पीछेकी एक स्नायु-ग्रन्थि। 'जक्रद्ध मर्म्माणि चतस्रो धमन्योऽष्टौ मातृका द्वे कृकाटिके द्वे विधुरे'

(सुश्रुत ३।६)

भावप्रकाशमें लिखा है, कि दोनों कानोंके पीछे नीचे आध आध अंगुलके विधुर नामक दो स्नायुमर्म्म हैं। ये मर्म वैकल्यकर हैं। इनके पीड़ित या खराब होनेसे श्रवणशक्तिका ह्रास हो जाता है। ३ कातर, व्याकुल, पीड़ित।

विधुरिता (सं० त्रि०) विधुर तारकादित्यादितच्। विरहविह्वला, विरहकातर।

विधुरीकृत (सं० त्रि०) निष्पिष्ट।

विधुलि—विन्ध्यपादमूलस्थ एक ग्राम।

(भविष्यब्रह्मख० ८।६४)

विधुवदनी (सं० स्त्री०) चन्द्रमाके समान मुखवाली स्त्री, सुन्दरी स्त्री।

विधुवन (सं० क्ली०) वि-धु-ल्युट् कुटादित्वात् साधु। कम्पन, काँपना।

विधूत (सं० त्रि०) वि-धू-क्त। १ कम्पित, काँपता हुआ। २ हिलता हुआ, डोलता हुआ। ३ त्यक्त, छोड़ा हुआ। ४ दूरीकृत, हटाया हुआ। ५ निःसारित, निकाला हुआ, बहार किया हुआ।

विधूति (सं० स्त्री०) वि-धू-क्तिन्। कम्पन, काँपना।

विधूनन (सं० क्ली०) वि-धू-णिच्-ल्युट्। कम्पन, काँपना। पर्याय— विधुवन, विधुनन।

विधूप (सं० त्रि०) धूपरहित। (मार्क०पु० ५१।१०५)

विधूम (सं० त्रि०) विगतो धूमो यस्मात्। धूमरहित, बिना धूएँका।

विधूम्र (सं० त्रि०) धूसरवर्ण, धूमिल या मटमैले रंगका।

विधूरता (सं० स्त्री०) विधूरस्य भावः तल्-टाप्। विधुरत्व, विधुरका भाव या धर्म।

विधृत (सं० क्ली०) वि-धृ-क्त। विशेषरूपसे धृत, आक्रान्त।

विधृति (सं० स्त्री०) वि-धृ क्तिन्। १ विधारण। २ देवता।

भागवतमें लिखा है, कि सभी देवता विधृतिके पुत्र हैं; इसलिये उनके नाम वैधृतय हुए हैं। एक समय जब वेद नष्ट हो गया था, तब उन्होंने अपना तेजोबल धारण किया था।

(पु०) ३ सूर्यवंशीय एक राजाका नाम। विधृतिके पुत्र हिरण्यनाभ थे। (भागवत ९।१२।३)

विधृष्टि (सं० स्त्री०) प्रणाली, व्यवस्थित नियमादि।

(शाङ्खा० श्रौ० ८।२४।१३)

विधेय (सं० त्रि०) वि-धा (अचो यत्। पा ३।१।९७) इति यत् (ईत् यति। पा ६।४।६५) इति अति ईत्। १ विधानके योग्य, जिसका विधान या अनुष्ठान उचित हो। २ जिसका विधान हो या होनेवाला हो, जो किया जाय

या किया जानेवाला हो। ३ वचन या आज्ञाके वशीभूत, अधीन। ४ जो नियम या विधि द्वारा जाना जाय, जिसके करनेका नियम या विधि हो। ५ वह (शब्द या वाक्य) जिसके द्वारा किसीके सम्बन्धमें कुछ कहा जाय। जैसे,—"गोपाल सज्जन है" इस वाक्यमें "सज्जन है" विधेय है, क्योंकि वह गोपालके सम्बन्धमें कुछ विधान करता है अर्थात् उसकी कोई विशेषता बताता है। न्याय और व्याकरणमें वाक्यके दो मुख्य भाग माने जाते हैं—उद्देश्य और विधेय। जिसके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है, वह "उद्देश्य" कहलाता है और जो कुछ कहा जाता है, वह "विधेय" कहलाता है।

विधेयता (सं० स्त्री०) विधेयस्य भावः विधेय तल् टाप्। १ विधानकी योग्यता या औचित्य। २ विधेयका भाव या धर्म, अधीनता।

विधेयत्व (सं० क्ली०) विधेय-भावे त्व। विधेयता, विधेय का भाव या धर्म।

विधेयात्मा (सं० पु०) विष्णु। (भारत १३।१४६।७६)

विधेयाविमर्ष (सं० पु०) विधेयस्य अविमर्षो यत्र। साहित्यमें एक वाक्यदोष। यह विधेय अंशको अप्रधान स्थान प्राप्त होने पर होता है। जो बात प्रधानतः कहनी है, उसका वाक्य-रचनाके बीच दबा रहना। प्रत्येक वाक्यमें विधेयकी प्रधानताके साथ निर्देश होना चाहिये। ऐसा न होना दोष है। 'विधेय' शब्दके समासके बीच पड़ जानेसे या विशेषणरूपसे आ जाने पर प्रायः यह दोष होता है। जैसे,—किसी वीरने खिन्न हो कर कहा—"मेरी इन व्यर्थ फूली हुई बाँहोंसे क्या!" इस वाक्यमें कहनेवालेका अभिप्राय तो यह है, कि मेरी बाहें व्यर्थ फूली हैं, पर 'फूली हैं' के विशेषण रूपमें आ जानेसे विधेयकी प्रधानता नहीं स्पष्ट होती। दूसरा उदाहरण—"मुझ रामानुजके सामने राक्षस क्या ठहरेंगे?" यहां कहना चाहिये था कि—"मैं रामका अनुज हूं" तब रामके सम्बन्धसे लक्ष्मणकी विशेषता प्रकट होती।

विधेयिता (सं० स्त्री०) विधेयता, विधेयत्व।

(काम० नीति १६।७)

विध्मापन (सं० त्रि०) १ अग्निसंयोजक। २ विकीरण।

(वाग्भट १०।१२)

विध्य (सं० त्रि०) १ वेधने योग्य, छिदने योग्य। २ छिद्य, जिसे वेधना हो, जो छेदा जानेवाला हो।

विध्यपराध (सं० पु०) विधिभ्रष्ट।

(आश्वलायन श्रौत० ३।१०।१)

विध्यपाश्रय (सं० पु०) १ वह जो अच्छी तरह लिखी हुई विधिका अनुसरण करता हो। २ विधिका आश्रय करनेवाला।

विध्याभास (सं० पु०) एक अर्थालङ्कार। जहां घोर अनिष्टकी सम्भावना दिखाते हुए अनिच्छापूर्वक विधिकी कल्पना की जाती है, उसी जगह यह अलङ्कार होता है।

(साहित्यद० १० परि०)

विध्वंस (सं० पु०) वि-ध्वंस-घञ्। १ विनाश, नाश, बरबादी। २ उपकार। ३ वैर। ४ अक्षर। ५ घृणा। ६ वैमनस्य।

विध्वंसक (सं० त्रि०) १ अपकारक, बुराई करनेवाला। २ अपमानकारी, अपमान करनेवाला। ३ ध्वंसकारी, नाश करनेवाला।

विध्वंसन (सं० त्रि०) १ ध्वंसकारी, नाश करनेवाला। (क्ली०) २ ध्वंस, नाश, बरबादी। (दिव्या० १८०।२४)

विध्वंसित (सं० त्रि०) वि-ध्वन्स-णिच्-क्त। १ नष्ट किया हुआ, बरबाद किया हुआ। २ अपकारित, अपकार किया हुआ।

विध्वंसिन् (सं० त्रि०) विध्वंसयितुं शीलमस्य वि-ध्वन्स्-णिनि। १ नाशकारी, बरबाद करनेवाला। २ अपकारक विध्वंसितुं शीलं यस्य। ३ ध्वंसशील।

विध्वस्त (सं० त्रि०) वि-ध्वन्स-क्त। १ विनष्ट किया हुआ, बरबाद किया हुआ। २ अपकृत, अपकार किया हुआ।

विनंशिन् (सं० त्रि०) विनष्टुं शीलं यस्य। विनाशशील, जिसका नाश हो।

विनङ्गृस (सं० पु०) स्तोता, स्तवकारी, वह जो स्तुति करता हो।

विनज्योतिस् (सं० त्रि०) १ उज्ज्वलकान्ति। २ विनय ज्योतिषका प्रामादिक पाठ।

विनत (सं० त्रि०) वि-नम्-क्त। १ प्रणत, अवनत। २ भुग्न टेढ़ा पड़ा हुआ, वक्र। ३ शिक्षित, शिष्ट। ४ सङ्कुचित,

सिकुड़ा हुआ। ५ विनीत, नम्र। (पु०) ६ सुग्रीवकी सेनाका एक बन्दर। ७ शिव, महादेव।

विनतक (सं० पु०) एक पर्वतका नाम।

विनता (सं० स्त्री०) १ दक्ष प्रजापतिकी कन्या जो कश्यपकी स्त्री और गरुड़की माता थी। २ प्रमेहपीड़काभेद, एक प्रकारका फोड़ा जो प्रमेह या बहुमूत्रके रोगियोंको होता है। जिस स्थान पर यह फोड़ा होता है, वह स्थान मुरदा हो जानेके कारण नील पड़ जाता है। सुश्रुत आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें प्रमेहके अन्तर्गत इसकी चिकित्सा लिखी है। यह प्रायः घातक होता है। इसमें अंग बहुत तेजीके साथ सड़ता चला जाता है। यदि बढ़नेके पहले ही वह स्थान काट कर अलग कर दिया जाय, तो रोगी बच सकता है। ३ एक राक्षसी जो व्याधि लाती है। (महाभारत) ४ एक राक्षसी जिसे रावणने सीताको समझानेके लिये नियुक्त किया था।

(त्रि०) ५ कुबड़ी या खञ्ज।

विनतात्मज (सं० पु०) १ अरुण। २ गरुड़।

विनतानन्दन (सं० पु०) विनतात्मज देखो।

विनताश्व (सं० पु०) सुद्युम्नके पुत्रका नाम। (हरिवंश)

विनतासूनु (सं० पु०) विनतायाः सूनुः पुत्रः। १ अरुण। २ गरुड़।

विनति (सं० स्त्री०) १ विनय, नम्रता। २ शिष्टता, भद्रता। ३ सुशीलता। ४ झुकाव। ५ निवारण, रोक। ६ दमन, शासन, दण्ड। ७ शिक्षा। ८ परिशोध। ९ अनुनय। १० विनियोग।

विनती (सं० स्त्री०) विनति देखो।

विनतेह—सिंहलद्वीपकी राजधानी कान्दी नगरका उपकण्ठस्थित एक गण्डग्राम। यहांके प्रसिद्ध दाघोवमें शाक्यबुद्धकी वक्षोस्थि प्रोथित है। इसके अलावा यहां बौद्धकीर्त्तिके और भी बहुतेरे निदर्शन मिलते हैं।

विनद (सं० पु०) विशेषेण नदति शब्दायते पत्रफलादिनेति नद्-अच्। विन्याक वृक्ष, एक प्रकारका पेड़।

विनदिन् (सं० त्रि०) १ शब्दकारी। २ वज्रके शब्दके समान शब्द। (भारत वनपर्व)

विनमन (सं० क्ली०) १ नम्रीकरण, नम्र करना, झुकाना। २ लचाना। (सुश्रुत सू० ७ अ०)

विनम्र (सं० क्ली०) १ तगरका फूल। (त्रि०) २ झुका हुआ। ३ विनीत, सुशील।

विनम्रक—विनम्र देखो।

विनय (सं० पु०) वि-नी-अच्। १ शिक्षा। २ प्रणति, नम्रता, आजिजी। विनयगुण विद्यासे उत्पन्न हो कर सत्पात्रमें गमन करता है अर्थात् विद्वान् पुरुषके विनयी होनेसे ही उसे सत्पात्र कहते हैं। सत्स्वभावापन्न होनेसे धनप्राप्तिकी सम्भावना तथा उस धनसे धर्म और सुख होता है। विद्या रहनेसे ही जो केवल विनय स्वयं आ कर वहां उपस्थित होती है सो नहीं, यह पूज्यतम वृद्धों तथा शुद्धाचारी वेदविद् ब्राह्मणोंके सत्कारमें सर्वदा नियुक्त रह कर सीखना होता है। इस प्रकार क्रमशः विनीत होनेसे सारी पृथिवीको भी वशतापन्न किया जाता है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। यहां तक, कि राज्यभ्रष्ट निर्वासित व्यक्ति भी विनय द्वारा जगत्को वशीभूत कर अपना राज्य पुनः प्राप्त कर सकता है। फिर जो इसके प्रतिकूल है अर्थात् जिसमें विनय नहीं है वह चाहे कितना ही धनी क्यों न हो उसे राज्यभ्रष्ट होना ही पड़ता है।

३ प्रार्थना, विनती। ४ नीति। ५ बला, बरियारा। (पु०) ६ वणिक्, बनिया। विशिष्टो नयः नीतिः विनयं। ७ दण्ड, शास्ति, सजा। विशिष्ट नीतिके अवलम्बन पर इसका विधान हुआ करता है। परस्पर विवाद करनेवालेंमें पूर्ववर्त्ती यदि अधिक वाक्पारुष्योत्पादक हो तो भी अर्थात् उसके अत्यन्त अश्लील वाक्यादि कहने पर भी पूर्ववर्त्ती विवाद खड़ा करनेवालेके लिये कठोर दण्ड कहा गया है अर्थात् न्यूनाधिकरूपमें दोनोंको ही दण्ड होगा, क्योंकि यहां पर दोनों ही असत्कारी हैं। फिर यदि दोनों ही एक समय विवाद आरम्भ करें, तो दोनोंको समान दण्ड मिलेगा।

(त्रि०) ८ क्षिप्त। ९ निभृत। १० विजितेन्द्रिय। ११ विशेष प्रकार-विशेषेण नयति प्रापयतीति विनयः। विनयसे प्रापक। १२ पृथक्कर्त्ता। १३ विनयी। विनय (शास्त्रज्ञान जन्य संस्कारभेद) युक्त। १४ इन्द्रिय संयमी, जितेन्द्रिय। १५ विनति देखो।

विनयक (सं० पु०) विनायक।

विनयकर्म्मन् (सं० क्ली०) १ विनयविद्या। २ शिक्षा, ज्ञान।

विनयग्राहिन् (सं॰ त्रि॰) विनयं गृह्णातीति विनय-ग्रह-णिनि। विधेय; वश्य। 'विधेये विनयग्राहो वचनेस्थित आश्रवः।' (अमर)

विनयज्योतिस् (सं॰ पु॰) एक मुनिका नाम।
(कथास॰ ७२।२०१)

विनयता (सं॰ स्त्री॰) विनयस्य भावः तल् टाप्। विनय का भाव या धर्म, विनय।

विनयदेव (सं॰ पु॰) एक प्राचीन कविका नाम।

विनयधार (सं॰ पु॰) पुरोहित। (दिव्या॰ २१'१७)

विनयन (सं॰ क्लि॰) १ विशेषरूपसे नयन। २ विनिमय।

विनयपत्र (सं॰ क्ली॰) विनयसूत्र, दरखास्त।

विनयपाल—लोकप्रकाश नामक ग्रन्थके रचयिता।

विनयपिटक—आदि बौद्धशास्त्रभेद। आदि बौद्धशास्त्र-समूह तीन भागोंमें विभक्त है—विनय, सूत्र और अभिधर्म। ये तीनों शास्त्र त्रिपिटक या तीन पिटारा नामसे प्रसिद्ध हैं। इन तीन पिटारोंमें बुद्ध और बुद्धके उपदेश-मूलक तत्त्व आदिके सम्बन्धमें जो कुछ जानने लायक विषय हैं, वे सभी संरक्षित हैं।

बुद्धदेव अपनी शिष्यमण्डली और उनके कर्त्तव्य अर्थात् श्रमण वा भिक्षुधर्मके सम्बन्धमें जो उपदेश दे गये हैं, उन्हीं उपदेशोंका विनयपिटकमें समावेश किया गया है। किस तरह विनयपिटक सङ्कलित हुआ; इसके सम्बन्धमें नाना बौद्ध ग्रन्थोंमें ऐसी ही बात मिलती है—बुद्धदेवके महापरिनिर्वाणके कुछ समय बाद उनके प्रधान शिष्य महाकश्यपने सुना, कि शारिपुत्रकी मृत्युके साथ ८०००० भिक्षुओं, मौद्गलायनकी मृत्युके बाद ७०००० हजार भिक्षुओं और तथागतके परिनिर्वाणके समय १८००० भिक्षुओंने देहत्याग किया है। इस तरह प्रधान प्रधान सब भिक्षुओंके देहत्याग करनेके बाद तथागतके उपदिष्ट विनय, सूत्र और मातृका या अभिधर्म फिर कोई शिक्षा नहीं करता था। इस कारणसे बहुतेरे लोग नाना रूपसे दोषारोप करते हैं। इन गड़बड़ोंको मिटानेके लिये महाकश्यपने निर्वाण स्थान कुशिनगरमें सभोको एकत्र करनेकी इच्छा प्रकट की। किन्तु इसी समय स्थविर गवांपतिके निर्वाणलाभ करनेके कारण महाकश्यपने सोचा, कि मगधपति अजातशत्रु वहांके एक अनुरक्त भक्त हैं। उनकी राजधानी राजगृहमें एकत्र होनेसे भोजन आदिकी तय्यारी उनके यहां हो सकेगी। इस विचारके अनुसार पांच सौ स्थविर राजगृहके निकटवर्त्ती वैभारशैलके सत्तपन्नो (सप्तपर्णी) गुहामें एकत्र हुए। इस महासभाके महाकाश्यपके सभापति हुए। उनके अनुमतिक्रमसे उपालिने बुद्धोपदिष्ट विनय प्रकाश किया। उपालीने कहा, कि भिक्षुओंके लिये भगवान्ने विनय प्रकाश किया है। यह विनय ही भगवान्का उपदेश, यही धर्म, यही नियम है। पराजिक, संघातिदेश, दुय्यनियत, त्रिंशन्निसर्गीय प्रायश्चित्त, बहुशाखीय धर्म, सप्ताधिकरण ये विशेष लक्ष्य हैं। उपसम्पदालाभ या संघमें प्रवेश करनेकी योग्यता और अयोग्यता, पापस्वीकार, निर्ज्जनवास, भिक्षुके पालनीय धर्म और पूजाकी विधि या विनयमें लिपिबद्ध हैं।

उपालि और आनन्द, विनय और सूत्रके प्रवक्ता कहे जाते थे सही, किन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि अन्यान्य स्थविरोंने भी विनय और सूत्रसंग्रहमें साहाय्य किया था

इसके बाद कालाशोकके राजत्वके समय वैशालीके वलिकाराम नामक स्थानमें ७०० भिक्षुओंने एकत्र मिल कर फिर एक सभाका आयोजन किया। इस सभामें पश्चिम-भारत और पूर्व भारतके भिक्षुओंमें यथेष्ट मतभेद उपस्थित हुआ था। वृज्जिपुत्र सब भिक्षुओंने क्रुद्ध हो कर दलबन्दी कर ली। जो हो इस सभामें भी विनय संगृहीत हुआ था।

विरुद्ध पक्षोंने और एक महासंघकी योजना की। इस सभामें जो सब विषय गृहीत हुए थे, उनमें कितनों ही का इस सभामें खण्डन किया गया। इसी कारणसे महीशासक और महासर्वास्तिवादियोंके संकलित विनयके साथ महासांघिकोंके विनयमें कुछ कुछ पार्थक्य दिखाई देता है।

जो हो, सम्राट् अशोकके समय विनयपिटक यथारीति लिपिबद्ध हुआ था यह हम प्रियदर्शीकी भाब्रा-अनुशासन लिपिसे जान सके हैं। भोटके दुल्वग्रन्थमें चार प्रकारके विनियोंका उल्लेख है। जैसे—विनयवस्तु, विनयविभङ्ग, विनयक्षुद्रक और विनयोत्तरग्रन्थ। ये सभी

पाली भाषामें लिखे गये हैं । भोट और नेपालसे महावस्तु नामक एक संस्कृत बौद्ध-ग्रन्थका आविष्कार हुआ है। इस ग्रन्थके मुखबन्धके बाद "आर्य्यमहासांघिकानां लोकोत्तरवादिनां मध्यदेशिकानां पाठेन विनयपिटकस्य महावस्तु आदि' वाक्य लिखा है—अर्थात् मध्यदेशवासी लोकोत्तरवादी आर्य्य महासांघिकोंके पढ़नेके लिये विनयपिटककी महावस्तु आदि। इस तरह लिखा रहनेसे महावस्तुको भी लोग विनयपिटकके अन्तर्गत ही समझते हैं। किन्तु इस ग्रन्थमें विनयपिटकका प्रतिपाद्य विषय विवृत न होनेसे बहुतेरे इसको विनयपिटकके अन्तर्गत मानने पर तय्यार नहीं हैं।

विनयमहादेवी—त्रिकलिङ्गके गङ्गवंशीय नरपति कामार्णवकी महिषी। ये वैदुम्बवंशीय राजकन्या थीं।

विनयवत् (सं० त्रि०) विनय अस्त्यर्थे मतुप् मस्य व। विनयविशिष्ट, विनीत।

विनयवती (सं० स्त्री०) वह स्त्री जो नम्र हो।

विनयवान् (सं० त्रि०) विनयवत् देखो।

विनयविजय—हैमलघुप्रक्रियावृत्तिके प्रणेता तथा तेजपालके पुत्र। ये जैनमतावलम्बी थे।

विनयशील (सं० त्रि०) विनययुक्त, नम्र, सुशील, शिष्ट।

विनयसागर—एक पण्डित। इनके पिताका नाम भीम और गुरुका कल्याणसागर था। इन्होंने कच्छके भोजराजके लिये भोजव्याकरण लिखा।

विनयसिंह—चम्पाके अन्तर्गत नयनी नगरके राजा।
(भविष्य ब्र०ख० ५२।८५)

विनयसुन्दर—किरातार्ज्जुनीयप्रदीपिकाके रचयिता। ये विनयराम नामसे भी प्रसिद्ध थे।

विनयसूत्र (सं० क्ली०) बौद्धोंकी विनय और सूत्रविधि।

विनयहंसमति—दशवैकालिकसूत्रवृत्तिके रचयिता।

विनयस्थ (सं० त्रि०) विनये तिष्ठतीति स्था-क। आज्ञाकारी। पर्याय—विधेय, आश्रव, वचनस्थित, वश्य, प्रणेय। (हेम)

विनयस्वामिनी (सं० स्त्री०) एक राजकुमारीका नाम।
(कथासरि० २४।१५४)

विनया (सं० स्त्री०) वाट्यालक, बरियारा।

विनयादित्य (सं० पु०) काश्मीरराज जयापीड़का एक नाम। (राजतरङ्गिणी ४।५१६)

विनयादित्य—पश्चिम चालुक्यवंशीय एक राजा। पूर्णनाम—विनयादित्य सत्याश्रय श्रीपृथ्वीवल्लभ है। इन्होंने ६९६ ई०में अपने पिता १म विक्रमादित्यके सिंहासन पर आरोहण किया था। अपने राजत्वकालके ग्यारहसे १४ वर्षके बीच इन्होंने द्वितीय नरसिंह वर्मपरिचालित पल्लवोंको और कलभ्र, केरल, हैहय, विल, मालव, चोल, पाण्ड्य आदि जातियोंको पदानत किया। ये उत्तर देश जीत कर सार्वभौम या चक्रवर्त्ती राजा बन बैठे। सन् ७३३ ई०में इनकी मृत्युके बाद इनके पुत्र विजयादित्य राजा हुए।

विनयादित्य—होयशलवंशीय एक राजा। इन्होंने पश्चिम चालुक्यराज छठे विक्रमादित्यके अधीनस्थ सामन्तरूपसे कोंकण प्रदेश और मङ्कदवयल, तलकाड़ और सावियल जिलेके मध्यवर्त्ती प्रदेशों पर शासन किया। ये गङ्गवंशीय कोङ्गनिवर्म्माके समसामयिक थे। इस समय मैसूरका गङ्गवाड़ी जिला इनके अधिकारमें था। ये सन् ११०० ई० तक जीवित थे। इनकी पत्नीका नाम केलेयलदेवी था।

विनयितृ (सं० पु०) विष्णु। (भारत १३।१४९।६८)

विनयिन् (सं० त्रि०) वि-नी-इन्। विनययुक्त, विनीत, शिष्ट, नम्र।

विनर्द्दिन् (सं० त्रि०) १ सामगानसम्बन्धी। २ उच्च शब्दकारी, बहुत गरजने या चिल्लानेवाला।

विनवन (हिं० क्रि०) बिनवना देखो।

विनशन (सं० क्ली०) विनश्यति अन्तर्द्धाति सरस्वत्यत्रेति, वि-नश-अधिकरणे ल्युट्। १ कुरुक्षेत्र। विनश भावे ल्युट्। २ विनाश, नष्ट होना।

विनश्वर (सं० त्रि०) वि-नश-वरच्। अनित्य, सब दिन या बहुत दिन न रहनेवाला, नष्ट होनेवाला, ध्वंसशील, अचिरस्थायी।

विनश्वरता (सं० स्त्री०) विनश्वरस्य भावः तल्-टाप्। विनश्वरत्व, अनित्यता, अचिरस्थायित्व।

विनष्ट (सं० त्रि०) वि नश-क्त, ततो षत्वं तस्य ट। १ नाशाश्रय, नाशको प्राप्त, जो बरबाद हो गया हो, जिसका अस्तित्व मिट गया हो। २ पतित, जिसका आचरण बिगड़ गया हो, भ्रष्ट। ३ मृत, मरा

हुआ। ४ क्षयित, जो विकृत या खराब हो गया हो, जो व्यवहारके योग्य न रह गया हो, जो निकम्मा हो गया हो। ५ अतीत, जो बीत गया हो।

विनष्टतेजस् (सं० त्रि०) विनष्टं तेजोयस्य। तेजोहीन, जिसका तेज नष्ट हो गया हो।

विनष्टि (सं० स्त्री०) वि-नश-क्तिच्। १ विनाश। २ लोप। ३ पतन।

विनस (सं० त्रि०) विगता नासिका यस्य, नासिका शब्दस्य नसादेशः। गतनासिक, नासिकाहीन, जिसे नासिका न हो, बिना नाकका, नकटा। पर्याय—विग्र, विख, विनाशक।

विना (सं० अव्य०) वि (विनञ्भ्यां नानाञौन सह। पा ५।२।२७) इति ना। १ वर्ज्जन। पर्याय—पृथक्, अन्तरेण, ऋते, हिरुक, नाना। (अमर) २ व्यतिरेक, छोड़ कर, अतिरिक्त, सिवा। ३ अभावमें, न रहनेकी अवस्थामें, बगैर।

(पृथग् विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्यां। पा २।३।३२) पृथक्, विना और नाना शब्दके योगमें द्वितीया, तृतीया और पञ्चमी विभक्ति होती है।

विनाकृत (सं० त्रि०) विना अन्तरेण कृतम्। त्यक्त, छोड़ा हुआ।

विनाकृति (सं० स्त्री०) त्याग, व्यतिरेक।

विनागढ़—एक प्राचीन नगरका नाम।

विनाट (सं० पु०) चर्मनाली, थैली। (शतपथब्रा० ५।३।२।६) २ मद्यप।

विनाड़िका (सं० स्त्री०) विगता नाड़िका यया। एक घड़ोका साठवाँ भाग, पल। दश गुरु अक्षर उच्चारण करनेमें जो समय लगता है, उसे प्राण कहते हैं। दश प्राणमें एक विनाड़िका काल होता है।

विनाड़ी (सं० स्त्री०) विनाड़िका नामक कालभेद।
(बृहत्स० २ अ०)

विनाथ (सं० त्रि०) विगतः नाथो यस्य। विगतनाथ, प्रभुरहित, जिसका कोई रक्षक न हो, अनाथ।
(रामायण ५।३५।४५)

विनादिन् (सं० त्रि०) शब्दकारी। (भारत ९ पर्व)

विनादित (सं० त्रि०) १ शब्दित। २ पुनरुद्रिक्त।
(दिव्या ५४०।१६)

विनाभव (सं० पु०) विना भू-अप्। १ विनाश। २ विरह।

विनाभाव (सं० पु०) पृथक्त्वहीन, वियोगविहीन।

विनाभाविन् (सं० त्रि०) व्यतिरेक भावनाकारी, अविमुक्त।

विनाभाव्य (सं० त्रि०) विनाभावयुक्त, जिसमें भाव न हो।

विनाम (सं० पु०) वि-नम-घञ्। १ नति, झुकाव, टेढ़ापन। २ किसी पीड़ा द्वारा शरीरका झुक जाना।

विनायक (सं० पु०) विशिष्टा नायकः। १ बुद्ध। २ गरुड़। ३ विघ्न, बाधा। ४ गुरु। ५ गणेश। स्कन्दपुराणमें विनायकके अवतारकी वर्णना लिखी है। गाङ्गेय और वैष्णव ये दो विनायक गण हैं।

देवताकी पूजा किये जाने पर पहले विनायककी पूजा करनी होती है, विना विनायककी पूजा किये कोई पूजा हो नहीं करनी चाहिए, करनेसे वह सिद्ध नहीं होती तथा पूजाके बाद कुल देवताकी पूजा करनी पड़ती है।

६ पीठस्थान विशेष। यहांकी शक्तिका नाम उमादेवी है। (देवीभागवत ७।३०।७१)

विनायक—बहुतेरे प्राचीन ग्रन्थकारोंके नाम। १ तिथिप्रकरणके प्रणेता। २ मन्त्रकोषके रचयिता। ३ विरहिणी-मनोविनोदके प्रणयनकर्त्ता। ४ वैदिकच्छन्दःप्रकाशके प्रणेता। ५ नन्दपण्डितका एक नाम। ६ एक कवि। भोजप्रबन्धमें इनका उल्लेख है। ७ षड़गुरुके एकतम। ८ शाङ्ख्यायनमहाब्राह्मणभाष्यकार गोविन्दके गुरु।

विनायककेतु (सं० पु०) गरुड़ध्वज, श्रीकृष्ण।

विनायकचतुर्थी (सं० स्त्री०) माघ महीनेकी शुक्लाचतुर्थी, गणेशचतुर्थी, इस दिन गणेशका पूजन और व्रत होता है। सरस्वती पञ्चमीके पहलेका दिन विनायकचतुर्थी है। भाद्रमासकी शुक्लाचतुर्थी भी गणेशचतुर्थी कहलाती है। यह व्रत करनेसे बड़ा पुण्य होता है। भविष्योत्तरपुराण और स्कन्दपुराणमें विनायक व्रतका उल्लेख है। (गणेशचतुर्थी देखो।

विनायकपुर (सं० क्ली०) एक प्राचीन नगरका नाम।
(दिग्वि० ५३०।१३)

विनायकपाल—श्रावस्ती और वाराणसीके एक नरपति तथा महाराज महेन्द्रपालके द्वितीय पुत्र। ये अपने ज्येष्ठ और वैमात्रेय १म भोजदेवके वाद सिंहासन पर बैठे। इनकी माताका नाम था महादेवी। इन्होंने ईस्वीसन् ७६१—७६४ तक राज्य किया। महोदय या कनौज राजधानीसे उनकी दी प्रशस्तिको देखनेसे बोध होता है, कि कनौज राज्य भी उनके कब्जेमें था।

विनायकभट्ट—कितने पण्डितोंके नाम। १ न्यायकौमुदी-तार्किकरक्षाकी टीकाके रचयिता। २ भावसिंहप्रक्रिया नामक व्याकरणके प्रणेता। ये भट्टगोविन्द सूरिके पुत्र थे। भावसिंहके लिये इन्होंने उक्त ग्रन्थ रचा था। ३ अङ्गरेजचन्द्रिकाके प्रणेता। ये दुण्डिराजके पुत्र थे। १८०१ ई०में इनका ग्रन्थ समाप्त हुआ। ४ वृद्धनगरके निवासी माधवभट्टके पुत्र। ये कौषितकीब्राह्मणभाष्यके रचयिता हैं। इन्होंने कालनिर्णय और कालादर्शका मत उद्धृत किया है।

विनायकस्नानचतुर्थी (सं० स्त्री०) चतुर्थीव्रतभेद।

विनायिका (सं० स्त्री०) विनायकस्य स्त्री, भार्यार्थे ङीप्। गरुड़की पत्नी।

विनायिन् (सं० त्रि०) वि-नी-(सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये। पा ३।२।७८) इति णिनि। विनयशील, विनयी।

विनार—विशालके अन्तर्गत एक गाँवका नाम। (भविष्यब्रह्मख० ३६।१६१)

विनारुहा (सं० स्त्री०) विना आश्रयं रोहतीति रुह-क, स्त्रियां टाप्। त्रिपर्णिकाकन्द। (राजनि०)

विनाल (सं० पु०) नालवियुक्त। (भारत द्रोणपर्व)

विनाश (सं० पु०) विनशनमिति वि नश घञ्। १ नाश, ध्वंस, अस्तित्वका न रह जाना, मिटना, बरबादी। २ लोप, अदर्शन। ३ बिगड़ जानेका भाव, खराब हो जाना, निकम्मा हो जाना। ४ हानि, नुकसान। ५ बुरी दशा, तबाही।

विनाशक (सं० त्रि०) वि-नश-ण्वुल्। १ विनाशकर्त्ता, क्षय करनेवाला, संहारक। २ घातक, अपकारक, बिगाड़नेवाला, खराब करनेवाला।

विनाशन (सं० पु०) १ नष्ट करना, ध्वस्त करना, बरबाद करना। २ संहार करना, वध करना। ३ बिगाड़ना, खराब करना। ४ एक असुर जो कालका पुत्र था।

विनाशान्त (सं० पु०) १ मृत्यु, मरण। २ शेष, खतम।

विनाशित (सं० त्रि०) नष्ट, वरबाद।

विनाशिन् (सं० त्रि०) वि-नश-णिनि। १ विनाशक, नष्ट करनेवाला, बरबाद करनेवाला। २ वध करनेवाला, मारनेवाला। ३ बिगाड़नेवाला, खराब करनेवाला।

विनाशी (सं० त्रि०) विनाशिन् देखो।

विनाशोन्मुख (सं० त्रि०) विनाशाय पतनाय उन्मुखं। १ पक्व। २ नाशोद्यत।

विनासक (सं० त्रि०) विगता नासा यस्य, बहुव्रीहौ कन् ह्रस्वश्च। गतनासिका, नासिकाहीन, बिना नाकका, नकटा।

विनासिका (सं० स्त्री०) नासिकाका अभाव।

विनासित (सं० त्रि०) नासारहित, नकटा। (दिव्या० ४६६।१२)

विनाह (सं० पु०) विशेषेण नह्यते अनेन वि-नह (हलश्च। पा ३।३।१२१) इति घञ्। वह आच्छादन या ढकनी जिससे कूपँका मुँह ढका जाता है।

विनिःसृत (सं० त्रि०) वि निर् सृ क्त। विनिर्गत, वहिर्गत, निकला हुआ, जो बाहर हुआ हो।

विनिकर्त्तव्य (सं० त्रि०) काट कर नष्ट करनेके योग्य।

विनिकार (सं० पु०) १ दोष, क्षति, अपराध। २ विरक्ति, वेदना।

विनिकृन्तन (सं० त्रि०) विशेषरूपसे छेदा हुआ, काट कर नष्ट किया हुआ।

विनिक्षण (सं० क्ली०) विशेषरूपसे चुम्बन, वेधन या भेदन। (निरुक्ति ४।१८)

विनिक्षिप्त (सं० त्रि०) वि-नि-क्षिप्-क्त। १ विनिक्षेपाश्रय, निक्षेप या फेंका हुआ। २ परित्यक्त, छोड़ा हुआ।

विनिक्षेप्य (सं० त्रि०) वि-नि-क्षिप्-यत्। विशेष प्रकारसे निक्षेप करनेके योग्य।

विनिगड़ (सं० त्रि०) शृङ्खल विरहित।

विनिगड़ीकृत (सं० त्रि०) निगड़वियोजित।

विनिगमक (सं० त्रि०) दो पक्षोंमेंसे किसी एक पक्षको सिद्ध करनेवाला। विनिगमना देखो।

विनिगमना (सं० स्त्री०) १ एकतर पक्षपातिनी युक्ति, एक-

तरावधारणा; सन्दिग्ध स्थलमें विविध युक्ति या प्रमाण-प्रदर्शनपूर्वक विचार करके जिस एक पक्षकी निश्चयता की जाती है, उसीका नाम विनिगमना है अर्थात् दो पक्षोंके सन्देहस्थलमें जिन सब युक्तियों या प्रमाणों द्वारा पक्षका निर्णय किया जाता है, वैशेषिक दर्शनकार लोग उसीको विनिगमना कहते हैं।

"पक्षद्वयसन्देहे एकतरपक्षपातिनी युक्तिर्विनिगमना।"
(वैशेषिकदर्शन)

उक्त विनिगमना या एकतरपक्षपातिप्रमाणका अभाव होने पर विरोधकी जगह किसी दूसरे उपायसे कार्य करना होता है। जैसे किसी अनिर्द्दिष्ट सीमावच्छिन्न प्रदेशमें सुवर्णादिकी खान उत्पन्न होने पर वह खान किसकी सीमामें पड़ती है तथा उस पर किस व्यक्तिका अधिकार होगा, यह विनिगमनाभावमें अर्थात् किसी एकपक्षके विशेष प्रमाणभावमें वैशेषिक व्यवहारमें (वैशेषिकके मतसे सम्पत्तिके विचारानुसार) विभागका अयोग्य होनेके कारण गुटिकापातादि अन्य उपाय अवलम्बन करके उसका विभाग करना होता है।

२ निश्चयोपाय। ३ सिद्धान्त, नतीजा।

विनिगूहितृ (सं० त्रि०) गोपक, छिपानेवाला।

विनिग्रह (सं० पु०) १ नियमन, बंधेज, प्रतिबन्ध। २ संयमन, अपनी किसी वृत्तिको दबा कर अधीन करना। ३ अवरोध, रुकावट। जैसे—'मूत्रविनिग्रह' (सुश्रुत०) ४ व्याघात, बाधा।

विनिग्राह्य (सं० त्रि०) अवलीलाक्रमसे निग्रह करनेके उपयुक्त, निपीड़नके योग्य।

विनिघ्न (सं० त्रि०) १ नष्ट, बरबाद। २ गणित, गुण किया हुआ।

विनिद्र (सं० त्रि०) विगता निद्रा मुद्रणा यस्य। १ उन्मीलित। २ निद्रारहित। (क्ली०) ३ अस्त्रका एक संहार जिससे अस्त्र द्वारा निद्रित या मूर्च्छित व्यक्तिकी नींद या बेहोशी दूर होती है।

विनिद्रक (सं० त्रि०) निद्रारहित, जिसकी नींद खुल गई हो, जागरित।

विनिद्रत्व (सं० क्ली०) विनिद्रस्य भावः त्व। १ विनिद्रका भाव या धर्म, प्रबोध, जागरण। २ निद्रारहितत्व।

विनिध्वस्त (सं० त्रि०) ध्वंसप्राप्त, जो नष्ट हो गया हो।

विनिनीषु (सं० त्रि०) विनेतुमिच्छुः वि-नी-सन् 'सनामांसेति' उ। विनय करनेमें इच्छुक, विनती करनेवाला।

विनिन्द (सं० त्रि०) वि-निन्द-अच्। निन्दाकारक, शिकायत करनेवाला।

विनिन्दक (सं० त्रि०) विनिन्दयति निन्दि ण्वुल्। विशेषरूपसे निन्दाकारक, अत्यन्त निन्दा करनेवाला।

विनिन्दा (सं० त्रि०) अतिशय निन्दा,।

विनिन्दित ((सं० त्रि०) लाञ्छित, जिसकी बहुत निन्दा हुई हो।

विनिन्दिन् (सं० स्त्री०) वि-निन्दु णिनि। निन्दाकारक।

विनिपतित (सं० त्रि०) अधःक्षिप्त।

विनिपात (सं० पु०) विशेषेण निपतनं विन-पत-घञ्। १ निपात, विनाश, बरबादी। २ बध, हत्या। ३ अवमान, अनादर, नज़रसे गिरना। ४ देवादि व्यसन।

विनिपातक (सं० त्रि०) वि नि पत णिच्-ण्वुल्। १ विनिपातकारी, विनाश करनेवाला। २ संहारकर्त्ता। ३ अपमानकारी।

विनिपातित (सं० त्रि०) १ निक्षिप्त, फेंका हुआ। २ विशेषरूपसे विनष्ट। (दिव्या० ५५:१९)

विनिपातिन् (सं० त्रि०) वि-णि पत-णिनि। विनिपातशील, विनाशकारी।

विनिवर्त्ति (सं० क्ली०) विराम। (दिव्या० ४१६।१९)

विनिवारण (सं० त्रि०) विशेषरूपसे निवारण।

विनिवर्हण (सं० त्रि०) ध्वंसकर, नाश करनेवाला।

विनिवर्हिन् (सं० त्रि०) ध्वंसकारी।

विनिमय (सं० पु०) वि नि-मी-अप्। १ परिदान, परिवर्त्तन, एक वस्तु ले कर बदलेमें दूसरी वस्तु देनेका व्यवहार, अदल बदल। २ बन्धक, गिरवी।

विनिमेष (सं० पु०) निमेषराहित्य।

विनियत (सं० त्रि०) वि-नि यम-क्त। १ निवारित, निरुद्ध। २ संयत। ३ बद्ध। ४ शासित।

विनियम (सं० पु०) वि-नि-यम-घञ्। निवारण, निरोध, निषेध।

विनियुक्त (सं० त्रि०) वि-नि-युज-क्त। १ नियोजित,

किसी काममें लगाया हुआ । २ अर्पित । ३ प्रेरित ।

विनियोक्तृ (सं० त्रि०) वि-नि-युज-तृच् । नियोगकारी, किसी काममें लगानेवाला ।

विनियोग (सं० पु०) वि-नि-युज-घञ् । १ किसी फलके उद्देश्यसे किसी वस्तुका उपयोग, किसी विषयमें लगाना, प्रयोग । २ किसी वैदिक कृत्यमें मन्त्रका प्रयोग । ३ प्रेषण, भेजना । ४ प्रवेश, घुसना ।

विनियोजित (सं० त्रि०) वि-नि-युज-णिच्-क्त । १ विनियुक्त । २ अर्पित । ३ स्थापित । ४ नियुक्त । ५ प्रेरित । ६ प्रवर्त्तित ।

विनियोज्य (सं० त्रि०) वि-नि-युज्-णिच्-यत् । विनियोगार्ह, नियोगके उपयुक्त ।

विनिर्गत (सं० त्रि०) वि-निर्-गम-क्त । १ निःसृत, वहिर्गत, जो बाहर हुआ हो । २ निष्क्रान्त, गया हुआ, जो चला गया हो । ३ अतीत, बीता हुआ ।

विनिर्गम (सं० पु०) वि-निर्-गम-अप् । १ विनिर्गम, वहिर्गमन, बाहर होना, निकलना । २ प्रस्थान, चला जाना ।

विनिर्घोष (सं० पु०) वि-निर्-घुष-घञ् । विशेषरूपसे निर्घोष, घोर शब्द ।

विनिर्जय (सं० पु०) वि-निर्-जि-घञ । विशेषरूपसे जय, पूरा फतह ।

विनिर्जित (सं० त्रि०) वि-निर्-जि-क्त । विशेषरूपसे निर्जित, पराजित, पराभूत ।

विनिर्दहनी (सं० स्त्री०) वि-निर्-दह्-ल्युट्, स्त्रियां ङीप् । १ आरोग्यका उपाय, औषध । २ दहनकारिणी । ३ दहनकर्म द्वारा चिकित्सा । (सुश्रुत)

विनिर्देश्य (सं० त्रि०) वि-निर्-दिश्-यत् । विनिर्दिष्ट, विशेषरूपसे निर्दिष्ट ।

विनिर्धूत (सं० त्रि०) वि-निर् धू-क्त । दुर्दशाग्रस्त, जिसकी हालत बड़ी बुरी हो गई हो ।

विनिर्बन्ध (सं० पु०) वि-निर्-बन्ध-घञ् । विशेषरूपसे निर्बन्ध, अतिशय निर्बन्ध ।

विनिर्बाहु (सं० पु०) वह जिसकी भुजा लड़ाईमें कट गई हो ।

[illegible] (सं० त्रि०) विशेषेण निर्नास्ति भयं यस्य । १ भयरहित, भयशून्य, निर्भय । (पु०) २ साध्यगण विशेष, देवयोनिभेद ।

विनिर्भोग (सं० पु०) कल्पभेद ।

विनिर्मल (सं० त्रि०) विशेषेण निर्मलः । बहुत निर्मल या स्वच्छ ।

विनिर्माण (सं० क्ली०) वि-निर्-मा-ल्युट् । विशेषरूपसे निर्माण, अच्छी तरह बनाना ।

विनिर्मित (सं० त्रि०) विशेषरूपसे निर्मित, खूब अच्छी तरह बना हुआ ।

विनिर्मिति (सं० स्त्री०) निर्-मा-क्ति निर्मिति, विशेषेण निर्मितिः । विशेषरूपसे निर्माण, अच्छी तरह बनना ।

विनिर्मुक्त (सं० त्रि०) वि-निर्-मुच्-क्त । १ वहिर्गत, बाहर निकला हुआ । २ अनाच्छन्न, जो खुला हो या ढका न हो । ३ उद्धृत, बन्धनसे रहित, छूटा हुआ ।

विनिर्मुक्ति (सं० स्त्री०) १ उद्धार । २ मोक्ष ।

विनिर्मोक (सं० पु०) १ व्यतिरेक, अभाव । (त्रि०) विगता निर्मोको यस्य । २ निर्मोक रहित, बिना पहनावेका, वस्त्ररहित, परिधानशून्य ।

विनिर्मोक्ष (सं० पु०) १ निर्वाणमुक्ति । २ उद्धार ।

विनिर्यान (सं० क्ली०) वि-निर्-या-ल्युट् । गमन, जाना । (रामा० १।४।११६)

विनिर्वहण (सं० क्ली०) ध्वंसकर ।

विनिर्वृत्त (सं० त्रि०) वि-निर्-वृत-क्त । सम्पन्न, समाप्त ।

विनिवर्त्तन (सं० क्ली०) वि निर्-वृत ल्युट् । प्रत्यावर्त्तन, लौटना ।

विनिवर्त्तित (सं० त्रि०) वि-नि वृत-क्त । प्रत्यावर्त्तित, लौटा हुआ ।

विनिवर्त्तिन् (सं० त्रि०) विनिवर्त्तयति वि-नि-वृत-णिनि । विनिवर्त्तनकारक, लौटानेवाला ।

विनिवारण (सं० क्ली०) वि-नि-वृ-णिच् ल्युट् । विशेषरूपसे निवारण, विशेष निषेध । (रामायण ३।६६।२२)

विनिवार्य (सं० स्त्री०) वि-नि-वृ-ण्यत् वा । निवारणार्ह, निषेधके योग्य ।

विनिवृत्त (सं॰ त्रि॰) वि-नि-वृत-क्त। १ निवृत्तिविशिष्ट, क्षान्त। २ निरस्त। ३ प्रत्यागत।

विनिवृत्ति (सं॰ स्त्री॰) वि-नि-वृ-क्तिन्। विशेषरूपसे निवृत्ति, निवारण।

विनिवेदन (सं॰ क्ली॰) वि-नि विद-णिच्-ल्युट्। विशेषरूपसे निवेदन, कथन।

विनिवेश (सं॰ पु॰) वि नि-विश् घञ्। प्रवेश, घुसना।

विनिवेशन (सं॰ क्ली॰) १ प्रवेश, घुसना। २ अधिष्ठान, स्थिति, वास।

विनिवेशित (सं॰ त्रि॰) वि-नि-विश्-णिच्-क्त। १ प्रविष्ट, घुसा हुआ। २ अधिष्ठित, स्थापित, ठहरा या टिका हुआ। ३ बसा हुआ।

विनिवेशिन् (सं॰ त्रि॰) १ प्रवेशकारी, घुसनेवाला। २ वासकारी, रहनेवाला।

विनिश्चय (सं॰ पु॰) विनिर्णय, कृतनिश्चय, विशेष प्रकारसे निर्णय करना।

विनिश्चल (सं॰ त्रि॰) विशेष प्रकारसे निश्चल, स्थिर।

विनिश्चायिन् (सं॰ त्रि॰) १ निश्चायक। २ जिसकी मीमांसा हो चुकी हो। (सर्व्वदर्शनस॰ ४२।२०)

विनिश्वसत् (सं॰ त्रि॰) दीर्घनिश्वासपरित्यागकारी, लम्बी सांसें छोड़नेवाला।

विनिष्कम्प (सं॰ त्रि॰) कम्परहित।

विनिष्पात (सं॰ पु॰) वि-नि-निर्-पत्-घञ्। १ विशेष प्रकारसे पतन, मजबूतीसे गिरना। २ आघात, चोट।

विनिष्पाद्य (सं॰ त्रि) वि निर् पद्-णिच् यत्। निष्पादनके योग्य।

विनिष्पेष (सं॰ पु॰) वि-निर्-पिष् घञ्। १ पेषण, पीसना। २ विनाश। ३ निपीड़न, निष्पेषण। ४ अतिशय घर्षण।

विनिवेसिन् (सं॰ त्रि॰) वसवासकारी।

विनिहित (सं॰ त्रि॰) वि-नि-हन्-क्त। १ विनष्ट, विध्वस्त, बरबाद। २ आहत, चोट खाया हुआ। ३ मृत. मरा हुआ। ४ लुप्त, तिरोहित।

विनीत (सं॰ त्रि॰) वि-नी-क्त। १ विनययुक्त, जिसमें उत्तम शिक्षाका संस्कार और शिष्टता हो। २ शिष्ट, नम्र, व्यवहारमें अधीनता प्रकट करनेवाला। ३ जितेन्द्रिय। ४ संयमी। ५ विच्युत, दूर किया हुआ, छोड़ा हुआ। ६ हृत, ले गया हुआ। ७ शिक्षित, सिखाया हुआ। ८ कृतदण्ड, शासित। ९ क्षिप्त। १० धार्म्मिक, नीतिपूर्वक व्यवहार करनेवाला। ११ साफ सुथरा। १२ सुन्दर उत्तम। (पु॰) १३ वणिक्, बनिया, साहु। १४ सुवहा अश्व, शिक्षित अश्व, सिखाया हुआ घोड़ा। पर्याय--साधुवाही, सुष्ठुवाहनशीलक। १५ पुलस्त्यके एक पुत्रका नाम। १६ दमनक, दौनेका पौधा। पर्याय—दान्त; मुनिपुत्र, तपोधन, गन्धोत्कट, ब्रह्मजट, फलपत्रक।

विनीतक (सं॰ पु॰ क्ली॰) विनीतसम्बन्धीय, वैनीतक।

विनीतता (सं॰ स्त्री॰) विनीतस्य भावः तल्-टाप्। विनीत होनेका भाव; नम्रता।

विनीतत्व (सं॰ क्ली॰) विनीत होनेका भाव, नम्रता।

विनीतदेव (सं॰ पु॰) एक बौद्धाचार्य्यका नाम। ये एक प्रसिद्ध नैयायिक थे।

विनीतदेव भागवत—एक प्राचीन कवि।

विनीतपुर—त्रिकलिङ्गराज्यमें कटकविभागके अन्तर्गत एक नगर।

विनीतमति (सं॰ पु॰) कथासरित्सागरवर्णित एक व्यक्तिका नाम।

विनीतरुचि—उत्तरभारतके उद्यान जनपदवासी एक बौद्ध श्रमण। इन्होंने ५८२ ई॰में दो बौद्धग्रन्थोंका चीनभाषामें अनुवाद किया।

विनीतसेन (सं॰ पु॰) बौद्धभेद।

विनीतप्रभ (सं॰ पु॰) बौद्धयतिभेद।

विनीति (सं॰ स्त्री॰) १ विनय, सुशीलता। २ सम्मान। ३ सद्व्यवहार।

विनीतेश्वर (सं॰ पु॰) देवभेद। (ललितविस्तर)

विनीय (सं॰ पु॰) कल्क। विनेय देखो।

विनील (सं॰ त्रि॰) अतिशय नील। (हेम)

विनीवि (सं॰ त्रि॰) नीविरहित।

विनुकुण्डा—मन्द्राज प्रेसिडेन्सीके गण्टूर जिलेका एक तालुक। इसका भूपरिमाण ६४६ वर्गमील है। इस तालुकेके भीतर अग्निगुण्डुल वोग्गरम्, वोल्लापल्ली, चिन्तलचेरुबु, दोण्डपाड़ु, गण्डिगनमल, गरिकेपाड़ु, गोकनकोण्ड, गुम्मणमपाड़ु, इनिमेल्ल, ईपारू, कणुमर्लापुड़ी

कारुमञ्ची, कोचर्ला, मद्मञ्चिपाड़ु, मुक्केलपाड़ु, मुलकलुरुनुजण्डला, पेद्दकाञ्चर्ला, पछिकेलपालेम्, पोटलुरु, रुव्ववरम्, रेमिड्चिर्ला, शानम्पुड़ी, शारीकोण्डपालेम्, शिवपुरम्, तलालपिल्ली, तिम्मापुरम्, तिम्मबपालेम, तिरुपुरापुरम्, उम्मड़िवरम्, वद्देमकुण्ट, वनीकुण्ट, वेलतुरु, वेलपुरुये और चनुगपालेम आदि ग्रामोंमें प्रत्नतत्त्वके अनेक उपकरण मिले हैं। प्रत्येक ग्राममें ही प्रायः शिलामें उत्कीर्ण लिपिमाला और प्रस्तरप्राचीरमण्डित स्थान और स्मृतिस्तम्भ दृष्टिगोचर होते हैं। किसी ग्राममें प्राचीन दुर्गोंका भग्नावशेष या प्राचीन मन्दिर विद्यमान हैं। यहां तांबा और लोहा मिलते हैं। इस तालुकेकी जनसंख्या प्रायः ८२४६३ है। अक्षा० १५°५०´ और १६°२४´ उ० तथा द्राघि० ७९°३२´ और ७९°५५´ पू०के बीच अवस्थित है।

इसमें सब मिला कर ७१ ग्राम हैं। इस तालुकेके अधिकांश स्थलमें काली मिट्टी दिखाई देती हैं और कहीं कहीं छोटी छोटी पहाड़ी चट्टानें हैं। इसके उत्तर-पश्चिम भागमें जंगल है। इस तालुकेका राजस्व प्रायः १८७००० रु० वार्षिक है।

२ विनुकुण्डा तालुकेका सदर। इसकी जनसंख्या ७२६६ है। यह नगर शैलगात्रमें अवस्थित है। अक्षा० १६°३´ उ० और प्रायः ७९°४४´ पू०के मध्य अवस्थित है। पहाड़के ऊपर किला है। इसके सम्बन्धमें अत्याश्चर्यजनक कितनी ही किम्बदन्तियां सुनी जाती है। कहते हैं; कि यह पर्वत समुद्रसे ६०० फीट ऊंचा है। ऊपर दुर्गकी रक्षाके लिये इसके शिखर पर तीन श्रेणीमें प्राकार निर्मित हुआ है। इसके भीतर ही पूर्वमें शस्यभाण्डार, जलका चहबच्चा आदि मौजूद हैं।

राजा वीर प्रताप पुरुषोत्तम गजपतिके (१४६२-१४६६ ई०) अधीनमें इस प्रदेशके शासनकर्त्ता सागी गन्नम नायडुने यह गिरिदुर्ग और उसके निकट एक मन्दिर निर्म्माण किया था। इस मन्दिरके नक्कासीका काम बहुत ही सुन्दर हुआ है। स्थानीय रघुनाथस्वामीके मन्दिरमें एक शिलालिपि खुदी हुई है। इसका ऐतिहासिक गुरुत्व बहुत ही अधिक है। विजयनगरराज कृष्णदेव रायने पूर्वी किनारे पर विजय करनेके समय इस दुर्गको जीता था। गोलकुण्डाके अधीश्वर अबदुल्ला कुतुवसाहबके राजत्वकालमें आउलिया रजान खां नामक एक मुसलमान शासनकर्त्ताने १६४० ई०में यहांकी बड़ी मसजिद बनाई थी। नगरके इधर उधर बहुतेरे प्राचीन स्मृतिस्तम्भ देखे जाते हैं।

पर्वतके पश्चिमके ढालुए देशमें विनुकुण्डाका सर्वप्राचीन दुर्ग अवस्थित है। कहते हैं, कि यह दुर्ग पहले पहल गजपतिवंशीय विश्वम्भरदेव द्वारा सन् ११४५ ई०में बना था। इसके बाद कुण्डवीडुर पोलीय वेमरेड्डीने उसका जीर्णसंस्कार कराया था। इस स्थानमें ही पर्वतगात्रमें खोदित दो प्राचीन शिलालिपियां दिखाई देती हैं। इसके कुछ नीचे एकोनिड्डू गन्नमनीडूका प्रसिद्ध किला मौजूद है। कहते हैं, कि इस दुर्गके प्रतिष्ठाताका नाम रेड्डी सरदार था। इस समय भी यहां जो राजप्रासादका ध्वंसावशेष है, उसको देखनेसे उस समयके बनानेवालोंकी कारीगरीका पता लगता है। अबसे कोई चार सौ वर्ष पहले इस दुर्गके पादमूलमें और एक किला बना था। यही पूर्वकथित गन्नम-नायडूका दुर्ग है। प्रायः ढाई सौ वर्ष पहले और एक दुर्ग निर्मित हुआ था। इसका प्राचीर और खाई आदि नगरके चारों ओर फैली हुई हैं। नरसिंह-मन्दिरका शिलाफलकोंसे मालूम होता है, कि सन् १४७७ ई०में सागीगन्नमने इसका मण्डप-निर्माण कराया था। इस मण्डपके दक्षिण-पूर्व डाकबंगलेके निकट एक शिलालिपि दिखाई देती हैं। यह विजयनगरराज सदाशिवके (१५६१ ई०) राजत्वकालमें कुमार कुण्डराजदेवका दिया दानपत्र है।

पर्वतके ऊपरके कोदण्डरामस्वामी और रामलिङ्गस्वामीका मन्दिर बहुत प्राचीन और शिल्पनैपुण्यपूर्ण है। इसमें प्राचीनत्वके निदर्शनस्वरूप अनेक कीर्त्तियां संयोजित हैं। मन्दिरगात्रमें शिलालिपि है। नगरके उत्तर-पश्चिममें एक हनुमानकी मूर्त्ति है। प्रवाद है, कि गोलकुण्डाके किसी मुसलमान राजाने इस मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा की थी। नगरमें और भी कितने ही मन्दिर हैं। पर्वतके स्थान स्थानमें और भी कितनी शिलालिपियां खुदी हुई दिखाई देती हैं। इनके प्राचीनत्वमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं।

विनुक्ति (सं० स्त्री०) १ प्रशंसा । २ अभिभूति और विनुत्ति नामक दो एकाहका नाम ।

विनुद (सं० स्त्री०) विक्षेपरूप कर्मवैगुण्य।

(ऋक् २।१३।३)

विनेतृ (सं० पु०) वि-नी-तृच् । १ परिचालक, उपदेष्टा, शिक्षक । २ राजा, शासनकर्त्ता ।

विनेत्र (सं० पु०) उपदेशक, शिक्षक ।

विनेमिदशन (सं० त्रि०) अर-रहित ।

विनेय (सं० त्रि०) वि-नी-यत् । १ नेतव्य । २ दण्डनीय । (पु०) ३ शिष्य, अन्तेवासी ।

विनेयकार्य्य (सं० क्ली०) दण्डकार्य्य ।

(दिव्या० २६६।१६)

विनोक्ति (सं० स्त्री०) अलङ्कारविशेष । जहां किसी एक पदार्थको छोड़ दूसरे एक और वस्तुका सौष्ठव वा असौष्ठव नहीं होता अर्थात् जहां किसी एक वस्तुके अभावमें प्रस्तुत दूसरी वस्तु वा वर्णनीय विषयमें हीनता वा श्रेष्ठता जानी जाती है, वहां विनोक्ति अलङ्कार होता है। इस अलङ्कारमें प्रायः विना शब्दके तथा कदाचित् विना शब्दार्थके योगसे अभाव सूचित होता है। जैसे, "विद्या सबोंको अभीष्ट होने पर भी यदि उसमें विनयका संश्रव न रहे, तो वह हीन अर्थात् निन्दनीय समझा जाता है ।" फिर "हे राजेन्द्र ! आपकी यह सभा खलरहित होनेके कारण अति शोभासम्पन्न हो गई है।" इन दोनों स्थलमें यथाक्रम विना विनयके विद्याकी नीचता तथा विना खलके सभाकी उच्चता वा श्रेष्ठता सूचित होती है। "पद्मिनीने कभी भी चन्द्रकिरण नहीं देखी, चन्द्रमाने भी जन्मसे कभी प्रफुल्ल कमलका मुंह नहीं देखा, अतएव दोनोंका ही जन्म निरर्थक है ।" यहां विना शब्दके अर्थयोगसे विनोक्ति-अलङ्कार हुआ है। क्योंकि यहां पर स्पष्ट जाना जाता है, कि चन्द्रकिरण दर्शन विना पद्मिनीकी तथा प्रफुल्लकमलके मुखदर्शन विना चन्द्र (जन्म द्वारा दोनोंकी) की उत्पत्तिकी नीचता दिखाई गई है ।

विनोद (सं० पु०) वि नुद-घञ् । १ कौतूहल, तमाशा । २ क्रीड़ा, खेल कूद, लीला । ३ अपनयन । ४ प्रमोद, हंसी दिल्लगी । ५ कामशास्त्रके अनुसार एक प्रकारका आलिङ्गन । ६ राजगृहविशेष, प्रासाद । तीन हाथ लम्बा और दो हाथ चौड़ा ३० द्वार और दो कोष्ठयुक्त गृहको विनोद कहते हैं। (युक्तिकल्पतरु)

विनोदगञ्ज—गया जिलान्तर्गत एक प्राचीन ग्राम ।

(भविष्यब्रह्मख० ३६।१०२)

विनोदन (सं० क्ली०) वि नुद ल्युट् । १ विनोद, आमोद प्रमोद करना, खेल कूद करना । २ हास विलास या हंसी दिल्लगी करना । ३ आनन्द करना ।

विनोदित (सं० त्रि०) १ हर्षित, प्रसन्न । २ कुतूहलयुक्त ।

विनोदिन् (सं० त्रि०) १ आमोद प्रमोद करनेवाला, कुतूहल करनेवाला । २ खेल कूद करनेवाला, चुहलबाज़ । ३ जिसका स्वभाव आमोद प्रमोद करनेका हो, आनन्दी । ४ क्रीड़ाशील, खेलकूद या हंसी ठट्ठे में रहनेवाला ।

विनोदिनी (सं० स्त्री०) विनोदिन् देखो ।

विनोदी (सं० स्त्री०) विनोदिन् देखो ।

विन्द (सं० पु०) १ जयसेनके एक पुत्रका नाम । २ धृतराष्ट्रके एक पुत्रका नाम । ३ प्राप्ति, लाभ । ४ वृन्द देखो । ५ विन्दु देखो । ६ पश्चिम वङ्गवासी एक जाति । (त्रि०) ७ प्रापक । ८ दर्शक ।

विन्दकि—युक्तप्रदेशके फतेपुर जिलान्तर्गत एक नगर ।

विन्दमान (सं० त्रि०) १ प्रापनीय, पानेके योग्य । २ ग्राह्य, ग्रहण करनेके योग्य ।

विन्दादत्त—एक कवि ।

विन्दु (सं० पु०) विदि अवयवे बाहुलकादुः । १ जलकण, बूंद । २ बिन्दी, बुंदकी । ३ रंगकी बिन्दी जो हाथीके मस्तक पर शोभाके लिये बनाई जाती है। ४ दन्तक्षतविशेष, दांतका लगाया हुआ क्षत । ५ दो भौंहोंके बीचकी बिन्दी । ६ रेखागणितके अनुसार वह जिसका स्थान नियत हो पर विभाग न हो सके । ७ अनुस्वार । सारदातिलकके मतसे,—सच्चिदानन्दविभव परमेश्वरभी शक्ति, शक्तिसे नाद तथा नादसे विन्दुसमुद्भूत है।

'सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ॥"

कुब्जिकातन्त्रके मतसे,—

"आसीद्विन्दुस्ततो नादो नादाच्छक्तिः समुद्भवा ।
नादरूपा महेशानी चिद्रूपा परमा कला ॥
नादाच्चैव समुत्पन्नः अर्द्धविन्दु महेश्वरि ।
सार्द्धत्रितयविन्दुभ्यो भुजङ्गी कुण्डली ॥"

विन्दु ही पहले एकमात्र था, उसके बाद नाद तथा नादसे शक्तिकी उत्पत्ति हुई है। चिद्रूपा परमा कला जो महेश्वरी है, वे ही नादरूपा हैं। नादसे अर्द्धविन्दु निकला है। साढ़े तीन विन्दुसे ही कुलकुण्डलिनी भुजङ्गी हुई हैं।

फिर क्रियासारमें लिखा है—

"विन्दुः शिवात्मकस्तत्र वीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम् ।
तयोर्योगे भवेन्नादस्ताभ्यो जातास्त्रिशक्तयः ॥"

विन्दु ही शिवात्मक और वीज ही शक्त्यात्मक है। दोनोंके योगसे नाद तथा उनसे त्रिशक्ति उत्पन्न हुई हैं।

८ एक बूंद परिमाण। ९ शून्य। १० रत्नोंका एक दोष या धब्बा। यह चार प्रकारका कहा गया है—आवर्त्त (गोल), वर्त्त (लम्बा), आरक्त (लाल) और यव (जौके आकारका)। ११ छोटा टुकड़ा, कण, कनी। १२ मूंज या सरकंडेका धूंआं।

(त्रि०) विद ज्ञाने उः नुमागमश्च (विन्दुरिच्छुः। पा ३।२।१६९)। १३ ज्ञाता, वेत्ता, जानकार। १४ दाता। १५ वेदितव्य, जानने योग्य।

विन्दुघृत (सं० क्ली०) उदर रोगकी एक औषध। प्रस्तुतप्रणाली—घी चार सेर, अकवनका दूध १६ तोला, थूहरका दूध ४८ तोला, हरीतकी, कमलाचूर्ण, श्यामालता, अमलतासके फलकी मज्जा, श्वेत अपराजिताका मूल, नीलवृक्ष, निसोथ, दन्तीमूल और चितामूल, प्रत्येक ८ तोला ले कर कुछ चूर्ण करे। पीछे उक्त घृत तथा उसमें १६ सेर जल डाल कर एकत्र पाक करे। जल निःशेष हो जाने पर नीचे उतार कर छान ले और एक मिट्टीके बरतनमें रख छोड़े। इस घृतके जितने विन्दु सेवन कराये जांयगे उतनी बार विरेचन होगा। इससे सभी प्रकारके उदरी तथा अन्यान्य रोग नष्ट होते हैं।

महाविन्दुघृत—बनानेका तरीका इस प्रकार है, घी २ सेर, थूहरका दूध १६ तोला, कमला नीबूका चूर्ण ८ तोला, सैन्धव ४ तोला, निसोथ ८ तोला, आंवलेका रस ३२ तोला, जल ४ सेर। धीमी आंचमें पका कर पूर्वोक्त अवस्थामें उतार रखे। प्लीहा और गुल्मरोगमें २ तोला सेवन किया जाता है। इससे अन्यान्य रोगोंका भी उपकार होता है।

विन्दुचित्रक (सं० पु०) विन्दुभिश्चित्रइविशेषैश्चित्रक इव। मृगभेद, वह मृग जिसके शरीर पर गोल गोल सफेद बुंदिकयां होती हैं, सफेद चित्तियोंका हिरन।

विन्दुजाल (सं० क्ली०) विन्दूनां जालम्। सफेद विंदियोंका समूह जो हाथीके मस्तक और सूंड़ पर बनाया जाता है।

विन्दुजालक (सं० क्ली०) विन्दूनां जालकम्। हाथियोंका पद्मक नामक रोग।

विन्दुतन्त्र (सं० पु०) विन्दुश्चिह्नं तन्त्रं यस्य। १ तुरङ्गक। २ अक्ष, चौपड़ आदिकी बिसात, सारिफलक।

'विन्दुतन्त्रः पुमान् शारिफलके च तुरङ्गके"

विन्दुतीर्थ—काशीके प्रसिद्ध पञ्चनद तीर्थका नामान्तर जहां विन्दुमाधवका मन्दिर है, पञ्चगङ्गा

विन्दुमाधव और विन्दुसर देखो।

विन्दुत्रिवेणी (सं० स्त्री०) गानेमें स्वरसाधनकी एक प्रणाली। इसमें तीन बार एक स्वरका उच्चारण करके एक बार उसके बादके स्वरका उच्चारण करते हैं। फिर तीन बार उस दूसरे स्वरका उच्चारण करके तीसरे स्वरका उच्चारण करते हैं और अन्तमें तीन बार सातवें स्वरका उच्चारण करके एक बार उसके अगले सप्तकके पहले स्वरका उच्चारण करते हैं।

विन्धुधारी—उत्कलवासी वैष्णवसम्प्रदाय विशेष। यह विग्रहसेवा, मच्छवदान और बङ्गालवासी अन्यान्य गौड़ीय वैष्णवोंके अनुष्ठेय सब धर्मानुष्ठान ही करते हैं। तिलकसेवाकी विभिन्नताके कारण ही इस सम्प्रदायका नाम विन्दुधारी पड़ा। इस सम्प्रदायके लोग ललाटकी दोनों भौंहोंके बीचके कुछ ऊपर गोपीचन्दनका एक छोटा विन्दु धारण करते हैं।

विन्दुधारियोंमें ब्राह्मण, खण्डैत, कर्णकार आदि जातियां हैं। इस सम्प्रदायके शूद्र जातीय लोग भेक ले कर डोरकौपीन धारण कर सकते हैं। इसके बाद तीर्थ

यात्रामें बाहर हो कर नवद्वीप, वृन्दावन आदि नाना स्थानोंका भ्रमण कर लौट आते हैं। साम्प्रदायिक मत ग्रहण करनेके बाद जो इस तरह यात्रामें प्रवृत्त होते हैं, वे ही यथार्थमें वैष्णवपद प्राप्त कर देवपूजा और मन्त्रोपदेशदानके अधिकारी होते हैं।

ब्राह्मण-विन्दुधारियोंकी व्यवस्था कुछ और ही है। वे इस तरहकी तीर्थयात्राकी आवश्यकता नहीं समझते। किन्तु खण्डैत प्रभृति विन्दुधारी साधारणतः इस तरहकी तीर्थयात्रा करते हैं और वे ही ब्राह्मणशूद्रादि जातियोंको मन्त्रदीक्षा देते हैं।

साम्प्रदायिक किसी व्यक्तिकी मृत्यु होनेसे वे शवदेहको जलाते और वहांकी मिट्टी कोड़ कर दूसरी जगह एक वेदी बना कर उस पर तुलसीका वृक्ष रोपते हैं। मृत्युके दिन शवके समीप ये लोग अन्न रन्धन कर रखते और वेदी प्रस्तुत होने पर उसके समीप एक पंखा और एक छाता रख दिया जाता है। नौ दिन तक अशौच मनाया जाता है। दशवें दिन ये आद्य श्राद्ध करते हैं और इसके उपलक्षमें स्वसम्प्रदायी वैष्णवको आमन्त्रित कर भोजन कराते हैं। किसी प्राचीन और प्रवीण व्यक्तिकी मृत्यु होने पर ये दाहके बाद मृतककी हड्डी ले कर अपनी वास्तु या उद्वास्तु भूमिमें गाड़ देते हैं और प्रति दिन दिनमें पुष्पचन्दन द्वारा उसकी अर्चना करते हैं तथा सन्ध्या उपस्थित होने पर दीप भी जलाते हैं।

विन्दुनाग—राजपुतानेके कोटा राज्यान्तर्गत शेरगढ़ राज्यके एक सामन्तका नाम।

विन्दुपत्र (सं० पु०) विन्दुः पत्रे यस्य। भूर्ज्ज वृक्ष, भोज़पत्रका पेड़।

विन्दुमति (सं० स्त्री०) विन्दुमती देखो।

विन्दुमती (सं० स्त्री०) राजा शशिविन्दुकी कन्याका नाम।

विन्दुमाधव—काशीकी एक विष्णुमूर्त्ति। एक समय भगवान् उपेन्द्र चन्द्रशेखरकी अनुमति पा कर काशी नगरीमें आये। यहां वे राजा दिवोदासको काशीसे निकाल पादोदक तीर्थमें केशवरूपमें अवस्थान कर पञ्चनद तीर्थकी महिमा प्रचार कर रहे थे। इसी समय अग्निविन्दु नामक एक ऋषिने उन्हें स्तव द्वारा संतुष्ट किया। भगवान्‌ने उनसे वर मांगनेके लिये कहा। इस पर ऋषि बोले, 'हे भगवन्! आप सर्वव्यापी हैं सही, फिर भी सब जीवोंकी विशेषतः मोक्षाभिलाषी व्यक्तियोंकी भलाईके लिये आप इस पञ्चनद तीर्थमें अवस्थान करें तथा मेरे नामसे प्रसिद्ध हो कर भक्त और अभक्तको मुक्ति प्रदान करें।' ऋषिके वाक्य पर प्रसन्न हो कर श्रीविष्णुने कहा, 'तुम्हारा आधा नाम अपने नामके आगे जोड़ कर मैं विन्दुमाधव नामसे प्रसिद्ध हो काशीमें वास करूंगा। सर्वपापनाशक यह पञ्चनदतीर्थ आजसे तुम्हारे नाम पर 'विन्दुतीर्थ' नामसे प्रसिद्ध हुआ। इस पञ्चनद तीर्थमें जो स्नान और पितरोंका तर्पण कर विन्दुमाधवके दर्शन करते हैं, उन्हें फिर कभी भी गर्भवास यन्त्रणाका भोग नहीं करना होता।' कार्त्तिक मासमें सूर्योदयकालमें ब्रह्मचर्य्यपरायण हो यदि कोई विन्दुतीर्थमें स्नान करे, तो उसे यमका भय नहीं रहता। यहां चातुर्मास्यव्रत, अभावमें कार्त्तिकीव्रत अथवा केवल ब्रह्मचर्याका अवलम्बन कर विशुद्ध चित्तसे कार्त्तिक मास वितावे, दीपदान वा विष्णुयात्रा करनेसे मुक्ति दूर नहीं रहती। उत्थान एकादशीको विन्दुतीर्थमें स्नान, विन्दुमाधवकी अर्चना और रात्रि जागरणपूर्वक पुराणश्रवणादि करनेसे जन्मभय नहीं रहता। (काशीख० ६० अ०)

विन्दुर (सं० पु०) किसी पदार्थ पर दूसरे रंगके लगे हुए छोटे छोटे चिह्न, बुंदकी।

विन्दुराजि (सं० पु०) राजिमान्‌सर्पविशेष, एक प्रकारका साँप।

विन्दुरेखक (सं० पु०) विन्दुविशिष्टा रेखा यत्र कन्। पक्षिभेद, एक प्रकारकी चिड़िया।

विन्दुल (सं० पु०) अग्निप्रकृति कीटविशेष, अगिया नामका कीड़ा जिसके छूनेसे शरीरमें फफोले निकल आते हैं।

विन्दुवासर (सं० पु०) विन्दुपातस्य वासवः। सन्तानोत्पत्तिकारक शुक्रपात दिन।

विन्दुसरस् (सं० क्ली०) विन्दुनामक सरः। पुराणोक्त सरोवरविशेष। मत्स्यपुराणके मतसे इस विन्दुसरके उत्तर कैलास, शिव और सर्वौषधिगिरि, हरितालमय गौरगिरि तथा हिरण्यश्रृङ्गविशिष्ट सुमहान् दिव्यौषधिमय गिरि है। उसीके नीचे काञ्चनसन्निभ एक बड़ा दिव्य सर है, इसीका नाम विन्दुसर है। भगीरथने गङ्गाके

लानेके लिये इसी सरके किनारे तप किया था। गङ्गाजी इसी स्थानसे पूर्वकी ओर निकली हैं। सोमपादसे निकल कर यह नदी सात धाराओंमें विभक्त हो गई हैं। इसीके किनारे इन्द्रादि देवताओंने अनेक यज्ञ किये थे। देवी गङ्गा अन्तरीक्ष, दिव और भूलोकमें आ कर शिवके अङ्गमें लिपट योगमायासे संरुद्ध हो गई हैं। उतरते समय गङ्गाजीके जितने विन्दु पृथिवी पर गिरे, वे इसी स्थान पर गिरे थे। उन्हीं बिन्दुओंसे सरोवर बन गया और बिन्दुसर कहलाने लगा।

"तस्या ये विन्दवः केचिद् क्षुब्धायाः पतिता भुविः।
कृतं तु तैर्विन्दुसरस्ततो विन्दुसरः स्मृतम्॥"

(मत्स्यपु० १२० अ०)

यही विन्दुसर ऋग्वेदमें सरपस् तथा अभी सरोकूलहद नामसे प्रसिद्ध है। हिमप्रलयके बाद यहीं पर प्रथम आर्य्य उपनिवेश बसाया गया था।

आर्य्य शब्द देखो।

विन्दुसर (विन्दुहद)—उड़ीसामें भुवनेश्वरक्षेत्रके एक प्राचीन सरोवरका नाम। उत्कलखण्ड, कपिलसंहिता, स्वर्णाद्रिमहोदय, एकाम्रपुराण और एकाम्रचन्द्रिकामें इस विन्दुतीर्थका माहात्म्य सविस्तार वर्णित है।

एकाम्रपुराणमें लिखा है, कि पूर्वकालमें सागरके किनारे अग्निमालीने प्रार्थना की थी, कि देवदेव मेरे तट पर बास करें। तदनुसार स्वर्णकूट नामक गिरि पर कोस भर विस्तृत एकाम्र नामक वृक्षके नीचे शिवजी आ कर रहने लगे। उस लिङ्गसे उत्तर ४० धेनुकी दूरी पर शङ्करने अपने वीर्यप्रभावसे कुछ पत्थरोंको खोद निकाला। उनकी आज्ञासे वहां एक गहरा जलसे परिपूर्ण हृद बन गया। महादेवने पातालसे वह जल निकलता देख सप्तसागर, गङ्गादि नदी, मानस और अच्छोदप्रमुख सरोवर अर्थात् पृथिवी पर जितने नदनदी तीर्थ हैं उनका जल ले कर उस जलमें डाल दिया। इस प्रकार सभी तीर्थों के विन्दु यहां गिरने लगे। त्रिपथगा गङ्गा भी महादेवके कमण्डलसे सौ मुखसे गिरने लगी। स्वयं भगवान्ने इस हृदको बनाया था, इसलिये यह शङ्करवापी तथा विश्वके सभी तीर्थोंका विन्दु इसमें मिलनेके कारण यह विन्दुसर नामसे प्रसिद्ध हुआ है।

एकाम्र क्षेत्रमें या भुवनेश्वरमें जा कर तीर्थयात्रियोंको पहले इस विन्दुहृदमें स्नान करना होता है। स्नानमन्त्र—

"आदौ विंदुहृदे स्नात्वा दृष्ट्वा श्रीपुरुषोत्तमम्।
चंद्रचूड़ं समालोक्य चंद्रचूड़ो भवेन्नरः॥"

(एकाम्रपु० २३ अ०)

एकाम्रकानन और भुवनेश्वर शब्दमें अन्यान्य विवरण देखो।

विन्दुसार—बौद्ध नरपतिभेद। बिम्बिसार देखो।

विन्ध (सं० पु०) विन्ध्य शब्दका प्रामादिक पाठ।

(मार्क० पु० ५७।५२)

विन्धचूलक (सं० पु०) जातिविशेष।

विन्धपत्र (सं० पु०) विश्वशलाटु, बेलसोंठ।

विन्धपत्री (सं० स्त्री०) विन्धपत्र देखो।

विन्धस (सं० पु०) चन्द्रमा। (त्रिका०)

विन्ध्य (सं० पु०) विध-यत्, पृषोदरादित्वात् मुम्। १ पर्वतविशेष, विन्ध्यपर्व्वत।

यह पर्वत दक्षिण ओर अवस्थित है। भारतके उत्तर हिमालय और मध्यमें विन्ध्यपर्व्वत है। इन दोनोंके बीच विनशन अर्थात् सरस्वती नदीको छोड़ कुरुक्षेत्रके पूर्वमें तथा प्रयागके पश्चिममें जो देश है, उसका नाम मध्यदेश है।

प्राचीन श्रुति इस तरह है, कि विन्ध्य पर्वतके पश्चिम दिग्वासी अगर मछली खायें, तो वे पतित समझे जाते हैं। विन्ध्यगिरि देखो।

२ व्याध, किरात।

विन्ध्यकन्दर (सं० क्ली०) विन्ध्यस्य कन्दरं। विन्ध्यपर्वतका कन्दर, गुहा।

विन्ध्यकवास (सं० पु०) बौद्धभेद।

विन्ध्यकूट (सं० पु०) विन्ध्ये कूटं माया कैतवं वा यस्य व्याजेन तस्यावनतीकरणादस्य तथात्वं। १ अगस्त्य मुनिका एक नाम।

अगस्त्यने छल करके विन्ध्यका दर्प चूर्ण किया था इसीसे उनका नाम विन्ध्यकूट पड़ा है। २ विन्ध्यपर्वत।

विन्ध्यकेतु (सं० पु०) पुलिन्दराजभेद।

(कथासरित्सा० १२१।२८४)

विन्ध्यगिरि (सं० पु०) मध्यभारतमें उत्तर-पश्चिम-विस्तृत एक पर्वत श्रेणी। इसने गङ्गाकी अववाहिका भूमि या

संक्षेपमें आर्यावर्त्तसे दाक्षिणात्यको प्रायः सम्पूर्ण रूपसे विच्छिन्न किया है।

पुराणमें विन्ध्यपर्वतके सम्बंधमें कई तरहकी बातें लिखी हैं। देवगण पुराकालमें इसी शैलशिखर पर विहार करते थे। ध्यान पूर्वक पढ़नेसे मालूम होता है, कि उनकी वह विचरणभूमि उस समयमें ताप्ती और नर्मदाके मध्यवर्त्ती सतपुराकी सुरम्य और सुदृश्य पहाड़ी या शैलभूमि ही विंध्यपर्वतके नामसे प्रसिद्ध थी। किंतु इस समय केवल नर्मदाके उत्तरमें अवस्थित शाखा प्रशाखाओंमें विस्तृत पर्वतमाला ही विंध्यशैल नामसे परिचित है।

देवीभागवतमें लिखा है, कि यह पर्वत सभी पर्वतों में श्रेष्ठ और माननीय है। इसकी पीठ पर तरह तरहके वृक्षोंके विराजित रहनेसे यह निविड़ वनके रूपमें परिणत हुआ है। बीच बीचमें इसके कुछ स्थान लता-गुल्मनिचय पुष्पभारसे पूर्ण पुलकाङ्ग दिखाई देनेकी वजह उपवन सदृश मनोरम दिखाई देते हैं। इस वनमें हरिन, सूअर, जङ्गली भैंस, बानर, खरगोश, गीदड़, बाघ, भालु आदि वनचर जंतु निर्भीकभावसे विचरण करते हैं और देव, दानव, गंधर्व और किन्नर इसके नद और नदियोंमें स्नान करते हुए जलक्रीड़ा करते हैं।

एक दिन महर्षि नारदने विन्ध्यके पास आ कर कहा—हे अतुलप्रभावशाली विन्ध्य! सुमेरु गिरिकी समृद्धि देख कर मैं दङ्ग रह गया हूं। इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण आदि देवगण वहां नाना सुख भोग कर रहे हैं। अधिक क्या कहूं, स्वयं भगवान् विश्वात्मा गगनविहारी मरीचिमाली, सारे ग्रहों और नक्षत्रोंके साथ इस पर्वतका परिभ्रमण किया करते हैं, इसीलिये वह अपनेको बड़ा और श्रेष्ठ तथा बलिष्ठ कह कर गर्व करता है।

देवर्षिके मुंहसे स्वजाति सुमेरुकी ऐसी प्रशंसा सुन कर विन्ध्य ईर्षापरायण हो उठा। इसने अपनी कुटिल बुद्धिसे परिचालित हो कर सूर्यकी गतिको रोक सुमेरुके गर्वको खर्व करनेकी चेष्टा की। इसने अपनी भुजारूपी श्रृङ्गोंको ऊंचा कर आकाशमार्गको रोक रखा। सूर्यदेव इसको पार कर जा न सके।

सूर्य्यका मार्ग अवरुद्ध होने से दिव्यलोकमें गड़बड़ी मच गई। चित्रगुप्त कालनिर्णय नहीं कर सके। देव और पितृकार्य्य सम्पूर्णरूपसे विलुप्त हुए। मूल बात यह है, कि पृथ्वी होमादि और श्राद्धतर्पणादि-वर्ज्जित हुई। पश्चिम और दक्षिणके अधिवासी सदा रात्रिका ही अनुभव करने लगे। दूसरी ओर पूर्व और उत्तरके अधिवासी अधिक सूर्योत्तापसे क्लेश पाने लगे। कोई दग्ध, कोई मरा, कोई अधमरा हो कर तड़पने लगा। चारों तरफ हाहाकार मच गया। त्रिभुवनके हाहाकारको देख इन्द्र आदि देवगण इस उपद्रवकी शान्तिकी चिन्ता करने लगे।

अन्तमें देवगण ब्रह्माको अग्रसर कर कैलासमें देवदेव महादेवके शरणापन्न हुए। उन्होंने महादेवजीसे विन्ध्यकी उत्तरोत्तर उन्नतिको खर्व करनेकी प्रार्थना की। महादेवने कहा,—विन्ध्यका बल खर्व करनेकी क्षमता हम लोगोंमेंसे किसीमें नहीं है। चलो, हम सभी वैकुण्ठनाथकी शरण लें।

देवगण सीधे वैकुण्ठमें आये और उन लोगोंने परमपिता भगवान विष्णुका स्तव किया। इस पर सन्तुष्ट हो कर विष्णुने कहा, 'विश्वसंसारकी निर्माता देवी भगवतीके सेवक अतुल प्रभावशाली अगस्त्य मुनि इस समय श्रीकाशीधाममें अवस्थान कर रहे हैं। उनके सिवा और कोई विन्ध्यकी उन्नतिमें बाधा नहीं डाल सकेगा।' तदनुसार देवगण काशीधाममें आ अगस्त्य आश्रममें पधारे और उन्होंने उनकी कृपाभिक्षा मांगी। उस समय लोपमुद्रापति अयोनिसम्भव वह महामुनि कालभैरवको प्रणिपात कर वाराणसीसे दक्षिणकी ओर चले। निमेष भरमें विन्ध्यके समीप आ उपस्थित हुए। मुनिवर अगस्त्यको सामने खड़े देख कर विन्ध्यने खूब झुक कर मानो पृथ्वीके कानोंमें कुछ कहना चाहता हो, अगस्त्यको दण्डवत किया। अगस्त्यने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—वत्स! तुम्हारे इस दुरारोह प्रस्तर पर आरोहण करनेमें मैं नितान्त अक्षम हो रहा हूं। मै जब तक लौट कर न आऊं तब तक तुम इसी भावसे अवस्थित रहो। मुनिवरने विन्ध्यसे ऐसा कह दक्षिणकी ओर प्रस्थान किया। वे श्रीशैलको होते हुए मलयाचल जा वहां आश्रम बना कर रहने लगे।

उस दिनसे विन्ध्यने और फिर कभी शिर ऊंचा न किया।

इधर मनुपूजित देवी भगवती भी विन्ध्यपर्वत पर आ विराजीं। उस समयसे वे विन्ध्यवासिनी नामसे पूजित हो रही हैं। (देवीभागवत १०।३-७ अ०)

वामनपुराणमें लिखा है, कि समय आने पर इस पर्वतने बढ़ कर सूर्य्यकी गतिको रोक दिया। इससे सूर्य्यदेवने व्याकुल हो कर अगस्त्य ऋषिके होमावसानके समय जा कर उनसे कहा—हे कुम्भभव! विन्ध्यगिरिके प्रभावसे मेरे स्वर्ग जानेका पथ पूर्णरूपसे बन्द है। आप ऐसी व्यवस्था करें, जिससे मैं निर्विघ्न अपनी यात्रा तय कर सकूं। दिवाकरके इस विनीत वाक्यको सुन कर अगस्त्यने कहा—मैं आज ही विन्ध्यगिरिको नतमस्तक करूंगा।

यह कह कर महर्षि दण्डकारण्यसे विन्ध्याचल चले गये और विन्ध्यसे बोले—देखो विन्ध्य! मैं तीर्थ यात्राको निकला हूं। तुम्हारी इतनी ऊंचाईके कारण मैं दक्षिणकी ओर नहीं जा सकता हूं। अतएव तुम आज नीचेकी ओर झुको। ऋषिकी इस आज्ञासे विन्ध्यगिरिके निम्न शृङ्ग होने पर अगस्त्यने पर्वत पार कर दक्षिण ओर जा फिर धराधरसे कहा,—विन्ध्य! जब तक मैं तीर्थयात्रा करके न आऊं तबतक तुम इसी तरह खड़े रहो। यदि तुम अन्यथा करोगे, तो तुमको मैं शाप दूंगा। यह बात कह कर ऋषि वहांसे प्रस्थान कर देशके अन्तरीक्ष प्रदेशमें आये और वहां अपनी सहधर्मिणी लोपामुद्राके साथ वास करने लगे। उस समय विन्ध्य मुनिकी लौटनेकी आशा परित्याग कर शापभयसे वैसे ही खड़ा रहा। देवी भी दानवदलनार्थ इस विन्ध्यगिरिके सर्वोच्च शृङ्ग पर अवस्थित हुई। अप्सराओंके साथ देव सिद्ध भूत नाग और विद्याधर आदि सभीने एकत्र स्वस्तिवाद कर उनको अहर्निशि सन्तुष्ट किया और वे अपने भी दुःख शोकविवर्ज्जित हो कर वहां अवस्थान करने लगीं। (वामनपुराण १८ अ०)

काशीखण्डमें लिखा है, महर्षि नारद नर्मदा नदीमें स्नान कर ओंकारेश्वर महादेवकी पूजा कर विन्ध्य समीप पहुंचे। विन्ध्यके अष्टोपकरणनिर्मित अर्घ्या द्वारा यथाविधि पूजा करने और कुशलप्रश्न पूछने पर मुनिवरने दीर्घ निश्वास परित्याग कर कहा, कि विन्ध्य! इन पर्वतोंमें एक शैल सुमेरु ही एकमात्र तुम्हारी अवमानना करता है। यह बड़े दुःखकी बात है। और कई तरहकी बातें कर नारद वहांसे चले गये। अब विन्ध्यको सुमेरुसे बड़ी ईर्षा उत्पन्न हुई। विन्ध्यने असूयापरायण हो कर अपनी देहको ऊंचा किया और यहां तक ऊंचा किया, कि सुमेरुकी प्रदक्षिणा सूर्य्य और नक्षत्रगण न करने पावें। इस तरह सूर्य्यका गमनागमन बन्द हो जाने पर स्वर्ग मर्त्य चारों ओर हाहाकार मच गया। देवोंके इकट्ठे हो कर जगत्‌में शान्ति फैलानेका उपाय पूछने पर ब्रह्माने कहा, कि अगस्त्य ऋषिके सिवा इसके प्रतिकार करनेकी प्रत्याशा किसीसे नहीं है। अतएव तुम लोग शीघ्र उन विश्वेश्वरके अविमुक्तक्षेत्रमें जा कर उन मित्रावरुणके पुत्र महातपस्वी अगस्त्यके निकट इसके लिये प्रार्थना करो।

ब्रह्माके इस परामर्शके अनुसार इन्द्र आदि देवताओंने काशीमें आ कर अगस्त्यको विन्ध्यके उत्पातकी बात कही और प्रतिकारकी भी प्रार्थना की। इस पर अगस्त्यजीने भी तुरन्त इसके प्रतिकारके लिये विन्ध्यगिरिकी ओर प्रस्थान किया। विन्ध्यगिरिने अनल सदृश मुनिका आना देख भयभीत हो कर अपने शरीरको अवनत कर विनम्र वचनोंमें कहा, प्रभो! आप प्रसन्न हो कर जो आज्ञा देंगे, उसे पालन करनेमें मैं तन मन धनसे तत्पर हूं। इस पर अगस्त्य मुनिने कहा—विन्ध्यगिरि! तुम साधु हो, मैं जब तक लौट न आऊं; तुम इसी भावसे खड़े रहो। यह कह कर अपनी स्त्री लोपामुद्राके साथ गोदावरी तट पर अगस्त्य मुनि रहने लगे।

इन सब पौराणिक विवरणोंसे मालूम है, कि यह विन्ध्यगिरि एक समय बहुत ऊंचा था। इसके ऊंचे शिखर पर कोई चढ़ नहीं सकता था। इसीसे यह दानव यक्ष किन्नरोंकी वासभूमिमें परिणत हुआ था। अकस्मात् विन्ध्यके हृदयमें ईर्षाकी तरङ्ग लहराई, इसने अपने शरीरको इतना बढ़ा दिया, कि सूर्य्यका मार्ग भी बन्द हो गया। सहसा अन्धकारसे जगत् व्याप्त हुआ। विन्ध्यशैलकी इस तरस आकस्मिक देहवृद्धि और सूर्य्या-

गतिको रोक जगत्में अन्धकारका राज्य करनेकी पुराणवर्णित कथाओं पर विचार करनेसे मालूम होता है, कि एक समय विन्ध्यपर्वतके हृदयको भेद कर अग्निगलित द्रवपदार्थोंने और धूमराशिने निकल कर जगत्को आच्छादित कर लिया था। यह सहज ही अनुमान होता है, कि पुराणका यह वर्णन आग्नेय गिरिके अग्न्युत्पातका परिचायक है और रूपक भावमें वही पुराणोंमें वर्णित है। विभिन्न पुराणोंमें अगस्त्यका विभिन्न दिशाका जाना प्रमाणित होता है। अगस्त्यका दाक्षिणात्य गमन या अन्तरीक्षमें गोदावरी तट पर या मलयाचलमें आश्रम निर्माणसे उस समयके विन्ध्यपादवासी आर्य्योंका दाक्षिणात्यमें उपनिवेशस्थापन प्रसङ्गक्रमसे वर्णित होना सूचित करता है। आधुनिक भूतत्त्वविद्गने भी एक स्वरसे स्वीकार किया है, कि विन्ध्यशैलके प्रस्तरस्तर और प्रशाखाओं पर विशेषरूपसे पर्य्यवेक्षण करनेसे मालूम होता है, कि ये आग्नेयगिरिके स्रावजात हैं।

प्राचीनकालमें यह शैलदेश नाना नद-नदियोंसे परिशोभित था और अनेक आर्य्य और अनार्य्य जाति वहां वास करती थीं।

पुराणमें विन्ध्यपादसे शिप्रा, पयोष्णी, निर्विन्ध्या, ताप्ती प्रभृति कई नदियोंकी उत्पत्तिका उल्लेख दिखाई देता है।

हिन्दुओंकी दृष्टिमें ये नदियां पुण्यसलिला और पुण्यतीर्थ रूपमें गण्य हैं वहां आर्य्योंका निवास न रहनेसे ये नदियां कभी भी पुण्यसलिला नहीं कही जाती।

इस पर्वतकी पीठ पर और नर्मदा तट तक दक्षिणपादमूलमें कितनी ही असभ्य जातियोंका वास है। आज भी वहां भील आदि अनेक आदिम जातियोंका वास है। मार्कण्डेय पुराणमें लिखा है:—

"नासिक्यावाश्च ये चान्ये ये चैवोत्तरनर्मदाः।
भीलकच्छाः समाहेयाः सहसारस्वतैरपि ॥
काश्मीराश्च सुराष्ट्राश्च आवन्त्याश्चार्बुदैः सह।
इत्येते ह्यपरान्तांश्च शृणु विन्ध्यनिवासिनः॥
शिरजाश्च करूषाश्च, केरलाश्चोत्कलैः सह।
उत्तमर्णा दशार्णाश्च भोज्याः किष्किन्ध्यकैः सह।
तोशलाः कोशलाश्चैव त्रैपुरा वैदिशस्तथा॥
तुम्बुरास्तुम्बुलाश्चैव पटवो नैषधैः सह।
अन्नजातुष्टिकाराश्च वीतिहोत्रा ह्यवन्तयः॥
एते जनपदाः सर्वे विन्ध्यपृष्ठनिवासिनः॥"

(मार्कण्डेयपुराण ५७।५१-५५)

वामनपुराणमें भी इन स्थानोंको विन्ध्यके निम्न भागमें अवस्थित रहना लिखा है। किन्तु उक्त ग्रन्थमें दो एक स्थानोंकी विपरीतता दिखाई देती है।

(वामनपु० १३ अ०)

पुराण और स्मृत्यादि ग्रन्थोंमें यह पर्वत मध्यदेश और दाक्षिणात्यकी सीमा निर्दिष्ट है। सुतरां इसके द्वारा उत्तर भारतके आर्य्य औपनिवेशिकोंके साथ दाक्षिणात्यके अनार्य्योंकी पार्थक्य रेखा विनिवेशित हुई है।

"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः॥
आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयो रेवान्तरं गिर्य्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥"

(मनुसंहिता २।२१।२२)

मिष्टर ओल्डहम और मिष्टर मेडलिकेटने विन्ध्यपर्वतके भूतत्त्वकी पर्य्यालोचना कर लिखा है, कि यह पर्वतमाला दाक्षिणात्यकी उत्तरी सीमा पर व्याप्त है। यह मानो एक त्रिकोणका मूलदेश है। पूर्व और पश्चिम घाट पर्वतमाला इसके दोनों पार्श्व हैं जो भारतके पूर्व और पश्चिम उपकूल होते हुए कुमारिका अन्तरीपके निकट परस्पर मिले हैं। नीलगिरिका शिखर मानो इस त्रिकोणका चूड़ान्त है। गुजरात और मालवके बीचसे यह पर्वत घोर पदसे मध्यभारतको पार कर राजमहलके गाङ्गेय उपत्यका देश तक फैला हुआ है। यह अक्षा० २२° २५' से २४° ३०' उ० और देशा० ७३° ३४' ८०° ४५' पू०के मध्य अवस्थित है। इसकी साधारण ऊंचाई १५०० फीटसे ४५०० फीटके करीब है। किन्तु कहीं कहीं इसके चूड़ान्तकी ऊंचाई ५००० फीट तक देखी गई है।

पश्चिममें गुजरातसे पूर्व गङ्गाकी अववाहिका देश तक २२ से २५ सम-अक्षांशके बीच विन्ध्यपर्वत विरा-

जित है। यह इस समय नर्मदाकी उत्तरी उपत्यकाकी सीमारूपसे विद्यमान है। इस पर्व्वतका अधित्यकादेश साधारणतः १५०० से २००० फोट ऊंचा है। किन्तु स्थान-स्थानमें कई शृङ्गोंने उन्नत मस्तकसे अवस्थित हो कर प्राकृतिक सौन्दर्य्यको एकताको भङ्ग कर दिया है। अक्षा० २२´ २४´´ उ० और देशा० ७३´४१´´ पू०में चम्पानेर नामक शृङ्ग समुद्रवक्षसे २५०० फोट ऊंचा है। जामघाट २३०० फोट; भूपालका शैलशिखर २५०० फोट, छिन्दवाड़ा २१००, पचमारी ५००० (?), दोकगुड़ ४८००, पट्ट शङ्का और चूड़ादेव या चौड़ा-दू ५०००, अमरकण्टक अधित्यका ३४६३, लाञ्जोशैलका लोला नामक शिखर २६०० फोट है (अक्षा० २१´५५´´ उ० और देशा० ८०´२५ पू०) उक्त पर्व्वतके अक्षा० २१´ ४०´´ उ० और देशा० ८०´ ३५ अंशमें २४०० फोट ऊंचा और भी एक शृङ्ग है।

पश्चिम भारतकी अधित्यका प्रदेशस्थित मालव, भूपाल आदि राज्योंकी दक्षिणी सीमा पर प्राचीर स्वरूप यह पर्व्वतमाला खड़ी है और यही इसके पीछे भी है। सागर और नर्मदा प्रदेश इसके ऊंचे चूडान्तोंमें गिने गये हैं। इसके उत्तर भागकी अपेक्षा पश्चिम भाग कई सौ फीट ऊंचा है। विन्ध्य पर्व्वतकी पश्चिम सीमासे उत्तरकी ओर एक पर्व्वत श्रेणी वक्रभावसे राजपूतानेको पार करती हुई दिल्ली तक गई है। इसका नाम है अरावलीकी पहाड़ी। इसने पश्चिम भारतके मरुदेशसे मध्यभारतको अलग किया है।

इस समय हम विन्ध्यपर्वतको नाना शाखा प्रशाखाओंमें विभक्त देखते हैं। ये शाखायें एक एक अलग अलग नामसे परिचित हैं। पौराणिक युगमें विन्ध्यपर्वतके दक्षिणकी सतपुरेकी पहाड़ी भी विन्ध्य नामसे परिचित है। किन्तु इस समय केवल नर्मदाके उत्तरवर्त्ती विस्तृत शैलश्रेणी ही विन्ध्यगिरिके नामसे पुकारी जाती है।

विन्ध्यपर्वतका पूर्वांश एक विस्तृत अधित्यका प्रदेश है। इसके उत्तर और दक्षिणमें असंख्य शाखा-प्रशाखायें फैली हैं। दक्षिणकी इन शाखाओंमें उड़ीसाके विभिन्न उपत्यकायें विराजित हैं। उत्तरमें छोटा नागपुरकी अधित्यका भूमि है। यह ३००० फोट ऊंची है। पश्चिममें सरगुजाके निकट यह और भी ऊंची हुई है। हजारीबागकी ऊंचाई १८०० फीट है; किन्तु पूर्वाञ्चलमें पारशनाथ पर्वतकी ऊंचाई ४५०० फोट है। इस पर्व्वत श्रेणीकी सर्व्व पूर्व्वसीमा मुंगेर, भागलपुर और राजमहलके निकट गङ्गातीर तक विस्तृत है। विन्ध्यपर्व्वतका जो अंश मिर्जापुरमें पड़ा है, वह विन्ध्याचल नामसे प्रसिद्ध है। यह हिन्दुओंके लिये एक बहुत पवित्र तीर्थ गिना जाता है। विन्ध्यवासिनी और विन्ध्याचल देखो।

इस पर्व्वतकी शाखा-प्रशाखाओंमें विभक्त विभिन्न उपत्यका विभिन्न देशवासियोंकी आश्रयभूमि हो जानेके कारण ये राजकीय और जातिगत विभागकी सीमारूपसे निर्दिष्ट हुई है। इसी कारणसे समग्र विन्ध्यपर्व्वतका विवरण एकत्र संग्रह करनेकी सुविधा नहीं होती। इसका जो अंश जिस जिलेके अन्तर्गत है अथवा जो अंश जिस जातिकी वासभूमिमें परिणत है, पर्व्वतका प्राकृतिक विवरण भी उन उन जातियों या जिलोंके साथ पृथक् रूपसे लिखा गया है। प्राचीन संस्कृत काव्यादि ग्रन्थोंमें इस विन्ध्यपर्व्वतके अंश विशेषका ही माहात्म्य वर्णित दिखाई देता है। मुगलोंके शासनकालमें राजकीय कार्य्य और दाक्षिणात्य देशों पर आक्रमण करनेकी सुविधा होनेसे इस पर्व्वतके स्थानविशेषका परिचय इतिहासमें या राजकीय विवरणोंमें आया है।

भूतत्त्वके विषयमें, नर्म्मदातीरवर्त्ती विन्ध्यपर्व्वतकी पादभूमि प्रत्नतत्त्वविदोंके लिये जैसी आदरकी सामग्री और चित्ताकर्षणकारी है, भारतके अन्य कहीं भी ऐसा स्थान दिखाई नहीं देता। यहां विन्ध्यपर्व्वत पर बालुका प्रस्तरका जो स्तर और मिला हुआ भूस्तर है (associated beds) वह अति आश्चर्य्य और विख्यात है, प्राकृतिक विपर्य्यय, रासायनिक प्रक्रियासे और जलवायुके प्रभावसे इसके दक्षिण भागके प्रस्तर-स्तर अपूर्व्व वैगुण्यको प्राप्त हुए हैं। नर्मदा उपत्यकाके मूलदेशसे होती हुई क्रमसे पूर्व्वकी ओर दौड़ती शोननदीको उपत्यका तथा विहार और गोरखपुर-पर्व्वत मालामें भी ऐसे ही प्रस्तर दिखाई देते हैं।

भूतत्त्वविदोंने विन्ध्यपर्वतके प्रस्तरस्तर आदिकी पर्य्यायिक गठन पर्य्यालोचना की है। पूर्व-पश्चिममें और उत्तर-सहसरामसे निमाच तक प्रायः ६०० मीलोंमें

दक्षिणमें आगरासे होशङ्गाबाद तक ३०० मीलोंमें फैले हुए प्रस्तरस्तरका जो एक पार्वत्य गर्भ (Rock-basin) परिलक्षित होता है, भूपञ्जरके उस स्तरसमष्टिको साधारणतः Vindhyan Formation कहते हैं। इस विस्तीर्ण पार्वत्य-भूपञ्जरके चारों ओर बलुई पत्थर (Sand-stone)के स्तर पाये जाते हैं; उनके साथ निसिक या द्राञ्जिसन प्रस्तरका (Transition or gneissic rocks) कोई सौसादृश्य नहीं है। किन्तु इसके पूर्व भागमें अवस्थित बुन्देलखण्ड और शोण नदीके उपत्यकादेशमें उसके समान स्तरमें जो प्रस्तरस्तर हैं, वे विपरीत भावसे गठित हुए हैं। इन प्रस्तरस्तरोंके नीचे जो सब स्तर भूगर्भमें प्रोथित हैं, उनकी गठनप्रणाली भी स्वतन्त्र है। यह सब देख कर वैज्ञानिकतत्त्वकी आलोचनाकी सुविधाके लिये भूतत्त्वविदोंने विन्ध्यपर्वतके समग्र स्तरोंको ऊंचा और नीचा' (Lower and Upper Vindhyan) नामसे अभिहित किया है । कानूंल, पालनाड, भीमाका अववाहिकाप्रदेश, महानदी और गोदावरी विभाग, शोण प्रवाहित पार्वत्यभूमि और बुन्देलखण्ड विभागके नीचेकी विन्ध्यश्रेणीके पर्वतस्तर ही अधिक देखे जाते हैं। फिर शोण नर्मदाकी सीमा पर, बुन्देलखण्डके सीमान्त पर, गङ्गातीरवर्त्ती पार्वत्यभूमिमें और आरावली सीमा पर ऊद्र्ध्वतन-विन्ध्य प्रस्तरस्तर बहुतायतसे देखे जाते हैं।

इसी ऊद्र्ध्व विन्ध्यपर्वतस्तरमें हीरा पाया जाता है। हीरा पानेकी चेष्टामें अनेक स्थानोंमें खान खोदी गई है और उनके भीतर पलिमय स्तरको छोड़ कर बड़ा हीरेका स्तर दिखाई नहीं दिया है। किन्तु रेवाराज्यके अन्तर्गत ऐसे स्तरों (Rewashales) के नीचे बहुत कुछ हीरा मिला है । हीरे निकालनेके लिये खानके अधिकारियोंने विशेष परिश्रम और अर्थ नष्ट किया है। पन्नाराज्यके दक्षिण ऊपर-रेवा बलुई पत्थर (Upper Rewa Sandstone) पहाडके ढालुए देशमें अथवा पर्वतकन्दरोंमें और उक्त बलुई चट्टानोंके निम्नस्तर विन्ध्यपर्वतस्तरसे कुछ उच्च पार्वत्य प्रदेशमें ऐसे कई हीरेकी खानें खोदी गई हैं । ग्रीष्म ऋतुको छोड़ अन्य ऋतुओंमें खानके काम करनेमें सुविधा नहीं है।

नर्मदा नदीके किनारे विन्ध्यपर्वतांशका सुप्रसिद्ध मर्मरपर्वत (Marble rocks) है। ऐसा उजला मर्मरपर्वत भारतके और किसी स्थानमें दिखाई नहीं देता।

मर्मरप्रस्तर देखो।

विन्ध्यचूलक (सं० पु०) विन्ध्यचूलिक देखो।

विन्ध्यचूलिक (सं० पु०) विन्ध्यपर्वतके दक्षिणका प्रदेश। महाभारतके अनुसार यहां एक प्राचीन जंगली जाति रहती थी।

विन्ध्यनिलया (सं० स्त्री०) विन्ध्ये विन्ध्यपर्वते निलया अवस्थानं यस्याः। विन्ध्यवासिनी दुर्गा।

विन्ध्यपर (सं० पु०) विद्याधरविशेष।

(कथासरित्सा० ३७।२२)

विन्ध्यपर्व्वत (सं० पु०) विन्ध्य नामक शैल । आधुनिक भूगोलमें (Vindhya Hills) नामसे वर्णित है। यह आर्य्यावर्त्त या हिन्दुस्थानको दाक्षिणात्यसे अलग करता है । विन्ध्यगिरि देखो।

विन्ध्यपालिक (सं० पु०) जातिविशेष। (विष्णुपुराण)

विन्ध्यपार्श्व—विन्ध्यगात्रस्थ देशभाग । यहां विन्ध्यवासिनी मूर्त्ति प्रतिष्ठित है।

(भविष्यब्रह्मख० ८।१-२४,७५)

विन्ध्यपूषिक (सं० पु०) जातिविशेष।

(मत्स्यपु० ११३।४८)

विन्ध्यमूलिक (सं० पु०) जातिविशेष। (विष्णुपुराण)

विन्ध्यमौलेय (सं० पु०) जातिविशेष।

(मार्क०पु० ५७।४७)

विन्ध्यवत् (सं० पु०) एक दैत्यका नाम। इसकी कन्या कुन्तलाके पतिका नाम था पुष्करमाली। शुम्भने इसका वध किया था। (मार्कण्डेयपु० २१।३४)

विन्ध्यवर्मन् (सं० पु०) मालवके परमारवंशीय एक राजा। ये पिता अजयवर्माकी मृत्युके बाद सिंहासन पर बैठे।

विन्ध्यवासिन् (सं० पु०) विन्ध्ये वसतीति वस णिनि। १ व्याड़ि मुनिका एक नाम। २ एक वैयाकरण। रायमुकुट और चरित्रसिंहने इनका उल्लेख किया है। ३ एक वैद्यक ग्रंथके रचयिता। लौहप्रदीपमें इनका नामोल्लेख मिलता है। (स्त्रि०) ४ विन्ध्यपर्व्वतवासी।

विन्ध्यवासिनी—विन्ध्याचलकी एक देवीमूर्त्तिका नाम। भगवती दाक्षायणीके दक्षालयमें देहत्याग करने पर महादेव सती विरहसे व्यथित और उन्मत्त हो कर उन सतीका शवदेहको कन्धे पर रख सारी पृथ्वीमें घूमते फिरते थे। उस समय भगवान विष्णुने उनको शान्त और संसार-रक्षा करनेके लिये अपने चक्र द्वारा सती देहको टुकड़े टुकड़े काट डाला। देवीकी देहके ये टुकड़े जहां-जहां गिरे, वहां वहां शक्तिका एक एक पीठ स्थापित हुआ। इस तरह जो टुकड़ा यहां गिरा था, उससे ही विन्ध्यवासिनी देवीकी उत्पत्ति है।

वामनपुराणमें लिखा है, कि सहस्राक्षने भगवती दुर्गा देवीको विन्ध्यपर्वत पर ले जा कर स्थापित किया है और वहां देवताओं द्वारा पूजिता होने पर विन्ध्यवासिनी नामसे प्रसिद्ध हुई हैं।

फिर देवीपुराणमें लिखा है, कि भगवती दुर्गाने विन्ध्यपर्वत पर देवताओंके लिये अवतीर्ण हो कर महायोद्धा असुरोंको मारा था। उसी समयसे वहां वे अवस्थान करती हैं।

बहुत पुराने समयसे ही शक्ति मूर्त्तिकी पूजा होती आ रही है। कुछ लोग इस मूर्त्तिको वहांकी शवर, कोल आदि असभ्यजातियोंकी उपास्य देवी कहा करते हैं।

ईस्वी सन् ८वीं शताब्दीके मध्यभागमें सुप्रसिद्ध कवि वाक्पतिने अपने गौड़वधकाव्यमें उस भीषणा विन्ध्यवासिनी मूर्त्तिका वर्णन किया है। वाक्पतिके प्रतिपालक महाराज यशोवर्मदेवने देवीका दर्शन कर ५२ श्लोकमें उनका स्तव किया था। उन श्लोकोंसे मालूम होता है, कि देवीके सिंहदरवाजे पर सैकड़ों घण्टे झूलते थे। (मानो कैदी महिषासुरवंशके गलेसे घण्टे खोल कर यहाँ रखे गये हों) देवीके पदतलकी किरणसे महिषासुरका मस्तक सुधाधवलित हो रहा है। (मानो हिमालयसुताके सन्तोषके लिये अपना एक तुषारखण्ड भेज दिया हो) मन्दिरके सुगन्धित चबूतरोंमें दलके दल भ्रमर गूंज रहे है। (मानो जन्म-मरण रहित मानवदेवीका स्तव कर रहे हों। विन्ध्याद्रि धन्य हैं, क्योंकि उसकी एक कन्दरामें देवी अवस्थित है।) मन्दिरके भीतर जाने पर देवीके चरण-किङ्किनी रोल पर मन आकृष्ट होता है। वह चरण मानो नरकपालभूषित श्मशानमें भ्रमण करनेमें प्रिय है। उनके द्वारकी प्राङ्गण-भूमि उत्कृष्ट शोणितसे सुसज्जित है। उनके मन्दिरके चारो ओर जो उद्यान है, उसमें जहां देखो कुमारके प्रिय सैकड़ों मयूर घूम फिर रहे हैं। मन्दिरके भीतर कालिमाके अन्धकारसे आवृत है। फिर भी, उसमें वीरोंके लिये खुली छुरिका, बहुतेरे धनुष और तलवारें शोभा पा रही हैं। मन्दिरके अति स्वच्छ प्रस्तरफलकों पर रक्तवर्ण पताकाओंका प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होनेसे सैकड़ों गीदड़ उसे रक्त प्रवाह समझ कर चाटते रहते हैं। मन्दिरके भीतरी भागमें मन्द मन्द दीप जलता रहता है—मानो उत्कृष्ट शत शत नरमुण्डोंके घन कृष्णकेशराशिसे ही दीपकका प्रकाश निस्तेज हो रहा है। कोली जातिकी स्त्रियां नरबलिके भीषण दृश्य देखनेमें मानो अक्षम हो कर वहाँ नहीं जातीं। इसीसे वे देवीके चरणोंमें न दे कर दूरसे ही गंध पुष्पादि अर्पण कर चली आती हैं। यहांके वृक्ष भी मनुष्य मांसके रक्तसे अतिरञ्जित है। इस निशीथ मन्दिरमें भी मांसविक्रयरूप महाकार्यकी सूचना मिल रही हैं। देवीकी सहचरी रैवती भी देवीके पाददेशमें निपतित भीषण मनुष्यकी हड्डियोंका दर्शन कर मानो स्वभावतः ही भीत हो रही है। हरिद्रापत्र-परिधान एक शवरने महाराज यशोवर्माके साथमें ले कर यथानियमसे देवीका दर्शन कराया था।

वाक्पतिके गौड़वधकाव्यमें देवीका जो चित्र और मंदिरका जैसा वर्णन किया गया है, उससे मालूम होता है, कि वे देवी किस तरह नरमांसातिलोलुपा थीं। वे असभ्य कोली और शवरजाति द्वारा पूजित है—शवर ही उनकी पूजा करानेवाले पण्डोंका भी काम करते थे। किंतु बहुत दिनोंसे ये देवी अनार्य्य जातिकी उपास्य रहने पर भी ईस्वी सनकी ८वीं शताब्दीके पूर्वसे ही आर्य्यों द्वारा भी पूजित हो रही है। यह भी गौड़वध काव्यमें महाराज यशोवर्मदेवके स्तोत्र पाठ करनेसे सहज ही मालूम होता है।

राजतरङ्गिणीमें विन्ध्य शैलस्थ इन देवीको भ्रमरवासिनी ही लिखा है। (राजत० ३।३९४)

आज भी हजारों यात्री देवीदर्शनके लिये विन्ध्याचल जाते हैं। बिन्ध्याचल देखो।

विन्ध्यवासियोग (सं० पु०) यक्ष्मारोगकी एक औषध। इसके बनानेकी तरकीब—सोंठ, पीपल, मिर्चा, शतमूली, आमलकी, हरीतकी, बीजबंद, सफेद बीजबंद प्रत्येकका चूर्ण एक तोला ले कर उसके साथ ६ तोला जारित लोहा मिला कर जल द्वारा अच्छी तरह घोंटे। पीछे २ रत्ती भरकी गोली बनावे। इसका सेवन करनेसे उरःक्षत, कण्ठरोग, राजयक्ष्मा, बाहुस्तम्भ आदि रोग प्रशमित होते हैं।

विन्ध्यशक्ति (सं० स्त्री०) १ एक यवन राजाका नाम। २ वाकाटक वंशीय एक राजाका नाम। (विष्णुपुराण)

विन्ध्यसेन (सं० पु०) राजभेद, विम्बिसारका एक नाम।

विन्ध्यस्थ (सं० पु०) विन्ध्ये विन्ध्यपर्व्वते तिष्ठतीति स्था-क। १ व्याड़ी मुनिका एक नाम। (त्रि०) २ विन्ध्यपर्वतस्थितमात्र।

विन्ध्या (सं० स्त्री०) पुराणानुसार एक नदीका नाम। (वामनपुराण)

विन्ध्याचल—युक्तप्रदेशके बनारस विभागके मिर्जापुर जिलेका एक ग्राम और प्राचीन तीर्थ। यह मिर्जापुर सदरसे ७ मील दक्षिण-पश्चिम गङ्गानदीके किनारे अवस्थित है। यह स्थान मिर्जापुर तहसीलके कण्टित परगनेके अन्दर है। सुप्रसिद्ध विन्ध्यगिरिका जो अंश मिर्जापुर जिलेमें आ पहुंचा है, उसी अंशका नाम विंध्याचल है। यह ग्राम पर्वतगात्र पर अवस्थित है, इसीलिये विन्ध्याचलके नामसे यह ग्राम भी परिचित है।

भारतवर्षके सर्वजनपूजित विन्ध्येश्वरी या विन्ध्यवासिनीदेवीके गुहामन्दिर इसी पर्वत पर अवस्थित रहनेसे यह जनसाधारणके निकट बहुत परिचित है और बहुत प्रसिद्ध है। पुराणोंमें विन्ध्याचल नगरीकी वर्णना है। इससे इस तीर्थके और देवीकी प्रतिमाके प्राचीनत्वका परिचय मिलता है। एक समय यह नगर प्राचीन पम्पापुरकी राजधानीके अन्तर्गत था। विन्ध्यवासिनी देखो।

पहले तीर्थयात्रियोंको मिर्जापुरमें उतर कर देवी दर्शनके लिये पैदल जाना होता था। यात्रियोंकी सुविधाके लिये ईष्टइण्डिया रेल कम्पनीने अब विन्ध्याचल नामका एक छोटासा स्टेशन बना दिया है। इस स्टेशनसे यह बहुत ही निकट है अर्थात् स्टेशन पर खड़ा होनेसे विन्ध्यवासिनी देवीकी चक्रपताका दिखाई देती है। मन्दिरमें किसी विशेष शिल्पचातुर्यका परिचय नहीं मिलता। यह एक चतुष्कोण गृह भी कहा जा सकता है। दो जगह देवीकी दो प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं। पर्वतके निम्नस्तरमें एक मन्दिरमें देवीकी भोगमाया-प्रतिमा प्रतिष्ठित है और पर्वतके अत्युच्चशिखर पर स्थापित देवीमन्दिरकी मूर्त्ति योगमायाके नामसे प्रसिद्ध हैं।

स्टेशनसे उतर कर रेलपथसे जाते समय दक्षिण ओर खेतोंमें एक सुन्दर शिव-मन्दिर दिखाई देता है। यह चुनारके पत्थरसे बना है। काशीश्वर महाराज इसके प्रतिष्ठाता हैं। इस मन्दिरको छोड़ कर कुछ और अग्रसर होने पर मिर्जापुरका सदर रास्ता मिलता है। इस रास्तेको पार कर लेने पर एक पहाड़ी तङ्ग रास्ता मिलता है। इस तङ्ग रास्तेमें देवी भोगमायाका मन्दिर और मन्दिरसे सटा बाजार और घाट है। देवीका मंदिर पर्वतगात्र पर ही एक समतल स्थानमें बना है। यह देखनेमें काशी मिर्जापुर आदि स्थानोंके सामान्य मंदिरकी तरह ही है। इसमें शिल्पचातुर्य्य विशेष नहीं। मंदिरके गर्भ-गृहमें देवीकी मूर्त्ति नहीं रहती। मंदिरमें ढुकनेके पथमें अभ्यंतरस्थ एक पर्वतचूड़ाके गात्रके एक ताकमें देवीका दर्शन मिलता है। ब्राह्मणके सिवा अन्य यात्री देवीके सामने नहीं जा सकता। अन्यान्य लोगोंको मंदिर-प्राचीरके एक दो फुटके झरोखेसे देवीका दर्शन करना पड़ता है। अतः दर्शकोंको तङ्ग झरोखेके कारण बड़ी भीड़ हो जाती है। देवीकी प्रतिमा एक डेढ़ फूटके पत्थर पर खोदी गई है और काशीकी अन्नपूर्णा और दुर्गादेवीकी तरह मुख आदि अवयव सब सोनेके बनाये गये हैं। दुर्गामन्त्रसे देवीको पूजा और अञ्जलि दी जाती है। इस भोगमायाके मन्दिरमें ही पूजा पाठ और तीर्थ कृत्यका बड़ा आडम्बर दिखाई देता है। मन्दिरके सम्मुख लौहशलाकावेष्टित एक चबूतरे पर युपकाष्ठ और होम-स्थान है। ब्राह्मण यहां चारों ओरसे बैठ कर होम और चण्डीका पाठ किया करते हैं। सभी अपने अपने सामने एक एक होमकुण्ड बना कर होम करते हैं। यहां अब होमकी ही अधिकता दिखाई देती है। धान्य होम भी प्रचलित है। चबूतरेके बीच

में एक साधारण होमकुण्ड भी स्थापित होता है। पण्डा ही इसे प्रज्वलित करते हैं और नित्य स्नायी और देवी-दर्शनार्थी यात्री ब्राह्मण जो चबूतरे पर बैठ कर होम नहीं करते। वे देवीदर्शनके बाद तीन या पांच बार आहुति दे कर चले आते हैं। इस मन्दिरमें बलिदानकी व्यवस्था बड़ी लोमहर्षण है। परिणतवयस्क पशुको ही बलि देनेकी शास्त्रमें व्यवस्था है, किन्तु यहां ६-८ दिनके बकरेका भी बलिदान दिया जाता है। बलिदानके पशुओंमें ऐसे ही शिशु बकरोंकी संख्या सैकड़े पीछे ७५ है। दुर्गोत्सवके समय यहां नवरात्रि उत्सव होता है। उस समय नौ दिन तक भोगमाया देवीकी प्रतिमा एक हलदीसे रंगे हुए गमछेसे ढकी रहती है। इस भोगमायाके निकट ही नानकशाही एक आस्ताना है। सन्ध्या समय इस आस्तानामें ग्रन्थ साहबकी आरति और स्तोत्रपाठ होता है। यह स्तोत्रपाठ सुननेमें बड़ा मनोरम लगता है। भोगमायाके घाट पर खड़े हो कर बगलमें अत्युच्च विन्ध्यशैलधौत गंगाकी तरंगलीला और दूसरी ओरमें समतल फसलवाले खेतोंके ऊपरसे गंगाकी प्रमादलीला बहुत सुन्दर दिखाई देती है।

मिर्जापुरका रास्ता पकड़ कर एक्कासे जाने पर तीन घण्टामें विंध्याचलके मूलशिखरमालाके पाददेश तक पहुंचा जाता है। इस स्थानमें एक सुन्दर धर्मशाला है। यात्री यहां एक दिन एक रात रह सकते हैं। इस धर्मशालाके बगलसे योगमायाके मन्दिरके चूड़ा पर चढ़ना पड़ता है। यह चूड़ा यहां सबसे बड़ी ऊंची है। पथ दुरारोह नहीं, किंतु कहीं तो पर्वतगात्र पकड़ कर ही चढ़ना पड़त है या कहीं कहीं सीढ़ियां भी बनी हैं। भोगमायाका मन्दिर जैसे जोड़ाईसे बना है वैसे योगमायाका मंदिर नहीं बना है। योगमायाका मंदिर एक पर्वतचूड़ाको चारों ओरसे छिल कर मंदिराकृतिका तय्यार किया गया है। इसके भीतर एक गुहामें योगमाया अवस्थित हैं। इस गुहाका द्वार बहुत तंग है। कोई आदमी खड़े हो कर इसमें प्रवेश नहीं कर सकता—शिर झुका कर जाना होता है। मोटी देहवालोंको प्रवेश करनेका कोई उपाय नहीं। वे मंदिरके एक छिद्रसे देवीका दर्शन करते हैं। मंदिर-गुहामें ७।८ आदमी बैठ सकते हैं। यहां भी एक दो फुट ऊंची ४।५ फुट लम्बी कुलंगीमें देवी-प्रतिमा रखी हुई है यह भी एक पत्थरमें खुदी हुई है।

भोगमायाके मन्दिरमें फूल और जलाञ्जलि दे कर पूजा की व्यवस्था है। यहां केवल पुष्पाञ्जलि देनी पड़ती है। यहां सब जातिके लोगोंका प्रवेशाधिकार है। यहां बलिदानके यूपकाष्ठ हैं, किन्तु बलिकी बहुलता नहीं। गुहाकी बगल इस मन्दिरमें एक शम्बूकावर्त्त पथ है। उससे हो कर गर्भस्थानमें पहुंचने पर एक काली-प्रतिमा दिखाई देती है। यह मूर्त्ति भी पत्थर पर खुदी हुई है। पण्डोंका कहना है, कि यह काली कंस राजाकी इष्टदेवी थीं। श्रीकृष्ण जब मथुरासे द्वारका चले गये, तब डाकुओंने मथुराको लूट लिया और उन्होंके द्वारा यह मूर्त्ति यहां लाई गई है।

योगमायाके मन्दिरके चबूतरे पर खड़े हो कर नीचे सूत्राकारमें गङ्गाका प्रवाह देखनेमें बड़ा सुन्दर लगता है। योगमायाके मन्दिरसे नीचे जमीन पर रेल चलती हुई देखनेसे मालूम होता है, कि दियासलाईके डिब्बेकी ट्रेन जा रही हैं।

योगमायाके मन्दिरकी बगलमें सीताकुण्ड, अगस्त्य-कुण्ड और ब्रह्मकुण्ड नामक तीन तीर्थ हैं। ब्रह्मकुण्डकी चारों ओर देखने पर मालूम होता है, कि किसी समय यहां एक जलप्रपात था। यहां समतल भूमिमें खड़े हो कर ऊपरको देखनेसे भय-विस्मयसे एक अननुभूत तृप्ति उत्पन्न होती है। जलप्रपातजात पार्वतीय स्तरनिचय द्वारा पर्वतशिखर अधिक ऊंचाई पर दिखाई देता है। नीचे समतल भूमि पर इस समय वर्षाका जलवाहित नाला गङ्गामें जा कर मिल गया है। दोनों बगलमें वृक्ष-राजिकी गभीर छायाकी वजहसे अन्धकार है। प्रपातके शीर्षस्थानमें एक लम्बे सेमरका वृक्ष मानो चूड़ा रूपमें अवस्थित है। आधे पथमें एक प्रस्रवण और कुण्ड है। कुण्ड भी अति सामान्य है। पर्वतकी दरारसे अनवरत बुन्द बुन्दसे जलकुण्डमें पड़ता है। यहां स्नानके सिवा अन्य कोई तीर्थकृत्य नहीं है। इससे कुछ दूर पर सीता-कुण्ड है। सीताकुण्डके निकट सीताजीकी रंधन-शाला है। यह केवल एक मकानका भग्नावशेष है। सीताकुण्डका जङ्गल बड़ा उपकारी है। ग्रामोंके अधिवास

इस कुण्डका जल ले जा कर पीते है। यह कुण्ड एक हाथ लम्बा चौड़ा और ६ इञ्च गहरा है। पर्वतगात्रस्थित एक पत्थरके कोनेसे इसमें सभी समय बुन्दबुन्दसे जल गिरता है। आश्चर्य्यकी बात है, कि कितना ही जल इसमें गिरे. किंतु जल उतना ही रहता है, बाहर नहीं गिरता; कितना हो जल इससे निकाला जाये; किंतु इसका जल जैसेके तैसा ही रहता है। न कम होता और न बढ़ताही है, चाहे घड़ेमें जल ले कर स्नान कीजिये फिर भी जल इससे कम नहीं होता।

सीताकुण्डकी बगलमें सैकड़ों सीढ़ियोंको पार कर पर्वतके ऊंचे स्थान पर पहुचते हैं यहां पर्वतकी पीठका अन्दाजा मिलता है। यह स्थान ऊंटकी पीठकी तरह है। यहां एक वृक्षके पत्तेमें नाना रेखायें होती हैं। वहांके लोगोंका कहना है, कि इन पत्तों पर राम नाम लिखा है। पर्वतके इस अंशमें चीता बाघका उत्पात होता रहता है। कहते हैं, कि उक्त वृक्षके रामनामलिखित पत्तेको कानमें रखनेसे बाघका डर छूट जाता है।

विन्ध्याचल तीर्थमें महामायाको प्रसादी सागूदानेकी तरह चीनीका दाना मिलता है। डोरा और वस्त्र यात्री यत्नके साथ संग्रह कर अपने घर लाते हैं।

योगमायाके मन्दिरमें चबूतरेसे कई सीढ़ियोंको पार करने पर महाकाल शिवका मन्दिर मिलता है। मंदिरमें कुछ भी नहीं हैं। कितनी ही इंटोंकी तरह पत्थर की जुड़ाईपर तीन ओरसे प्राचीर खड़ी हैं। महाकालका लिङ्ग श्वेतपत्थरका बना है। गौरीपट्ट भी है। यह मालूम नहीं होता, कि उसका निम्नभाग भूप्रोथित हैं या नहीं। बगलमें छोटे बड़े कितने ही शिवलिङ्ग पड़े हैं।

यहां बहुत दिनोंसे डाकुओंका उपद्रव चला आता है। सुनते हैं; कि डाकू यहां देवीको नरबलि चढ़ाया करते थे। अङ्गरेजोंके शासनसे यह प्रथा मिट गई सही; किंतु डाकेजनीकी कमी नहीं हुई है। बहुतेरे यात्रियोंका यहां यथासर्वस्व लूट लिया जाता है। इससे प्रति दिन संध्याको यहांसे यात्री और लोगोंको ग्रामोंमें पहुंचा दिये जाते हैं। बहुतेरे मनुष्य स्वास्थ्य-रक्षाके लिये यहां आ कर बसे हुए हैं।

विन्ध्याचलके पूर्व एक प्राचीन दुर्गका ध्वंसावशेष है। इस भग्न दुर्ग पर खड़े हो कर पश्चिम दिशाको देखने पर उस अधित्यका देशमें बहुत दूर तक असंख्य ध्वस्तकीर्तिका निदर्शन पाया जाता है। इन सब टूटे फूटे पत्थर, ईंट और खण्डहरोंको देख कर अनुमान होता है, कि किसी समयमें यहां बहुजनपूर्ण एक नगरी विद्यमान थी। वहांके लोगोंका कहना है, कि इस ध्वस्त नगरमें किसी समय १५० मन्दिर थे। मुगल बादशाह औरङ्गजेबने ईर्ष्याके वशीभूत हो कर इन मन्दिरोंको ढहवा दिया था। प्रत्नतत्त्वविद् फुहरारका कहना है, कि वहांकी किम्वदन्ती अतिरञ्जित तो हो सकती है; किंतु यह बात निश्चय है, कि किसी समय यहां बहुतेरे मंदिर विद्यमान थे।

विन्ध्याचल डेढ पाव जमीनके बाद दक्षिणपूर्वके कोने पर कण्टित ग्राम है। यहां एक प्राचीन मसजिद है। वर्तमान समयमें इसकी मरम्मत हो जानेसे यह नई मालूम हो रही है। सिवा इसके यहां एक पुराने किलेका खण्डहर पाया जाता है। उसको प्राचीन पम्पापुर राजधानीका दुर्ग होनेका अनुमान किया जाता है। इस समय इस दुर्गका कुछ भी शेष नहीं रह गया है। केवल मृत्तिका निर्मित वप्रभूमि, खाई और कहीं कहीं पक्की दीवारका भग्नावशेष विद्यमान है।

उक्त कण्टित ग्रामके डेढ मील पश्चिम शिवपुर नामक एक प्राचीन ग्राम है। यहां पहले एक बहुत बड़ा शिवमन्दिर था। इसका ध्वंसावशेष आज भी वर्त्तमान रामेश्वरनाम मन्दिरके चारो ओर इधर उधर फैला दिखाई देता है, प्राचीन मन्दिरके कई बडे बडे स्तम्भ और उसका शीर्षस्थान वर्त्तमान रामेश्वरसे सटा हुआ है। यहांके पत्थरकी प्रतिमूर्त्तियोंमें सिंहासनाधिष्ठता, और गोदमें पुत्र लिये हुई एक रमणीकी मूर्त्ति विशेष आग्रहकी सामग्री है। यह मूर्त्ति ५ फीट २ इञ्च लम्बी और ३ फीट ८ इञ्च चौड़ी है। इसकी मोटाई १ फुट ८ इञ्च है। स्त्री-मूर्त्तिकी मुखाकृति नष्ट होने पर भी इसके शिरके बुद्ध या तीर्थांकरकी मूर्ति नष्ट नहीं हुई है। इस मूर्त्तिका दाहना हाथ केहुनी तक टूट गई है और बायें हाथमें एक बालक है। इसका बायां पैर सिंहासनके नीचे तक झुकता है। इसके नीचे सिंहकी मूर्त्ति है, इस मूर्त्तिके

पीछे पत्रपुष्पसमन्वित एक बड़ा वृक्ष है। मूर्त्तिके दोनों ओर अनुचर हैं। इन अनुचरोंमें पांच खड़े और दो मानो दौड़ रहे हैं। यह स्त्रीमूर्त्ति इस समय सङ्कटादेवीके नामसे पूजित हो रही है। डाक्टर कनिङ्गहमका कहना है, कि यह षष्ठी देवीकी प्रतिमूर्त्ति है, किन्तु प्रत्नतत्त्वविद् फुहरारका कहना है, कि यह मूर्त्ति महावीर स्वामीकी माता त्रिशला देवीकी प्रतिमूर्त्ति है।

विन्ध्याद्रि (सं० पु०) विंध्यपर्वत। (देवीभागवत)

विन्ध्याधिवासिनी (सं० स्त्री०) विंध्यपर्वतकी अधिष्ठात्री देवी, दुर्गा, विंधवासिनी।

विन्ध्यवासिनी और विन्ध्याचल देखो।

विन्ध्यावली (सं० स्त्री०) दैत्यराज बलिकी स्त्री और वाण राजाकी माता। बलि वामनरूपी भगवान्को त्रिपादभूमि दे कर जब दक्षिणान्त न कर सके, तब भगवान्ने उन्हें बांध लिया। इस समय विंध्यावलीने हाथ जोड़ कर भगवान्की स्तुति की और कहा, "भगवन्! आप गर्वियोंके गर्वको चूर्ण किया करते हैं। इससे आपने जो कुछ किया वह ठीक ही है। जो जगत्पति हैं, ब्रह्माण्ड जिनका क्रीड़ास्थान है, उनको 'यह मेरी चीज है' कह कर किसी चीजका दान करना गर्वका चूड़ान्त परिचायक है। अतः आपने कर्त्तव्यकार्य ही किया है। किंतु प्रभो! (महाराजके लिये नहीं) भविष्यमें आपको किसी तरह कलङ्क न लगे, इसके लिये स्त्रीबुद्धिसे डर कर प्रार्थना करती हूं, कि महाराजको बंधनमुक्त कीजिये। महाराज भी आपके भक्त हैं। उन्होंने केवल आपके पादयुगलोंको निरीक्षण कर दुस्त्यज्य त्रैलोक्यराज्य और स्वपक्षदल अनायास ही त्याग किया है। और तो क्या, आपके लिये गुरु-आज्ञाकी भी अवमानना की है। इस पर गुरुने अभिशाप भी दे डाला है। अतएव भगवन्! इस क्षेत्रमें उनको मुक्त कर देनेसे हम लोग कृतार्थ हो सकते हैं।" विंध्यावलीके युक्तिपूर्ण वाक्य पर प्रसन्न हो कर भगवान्ने उसके पतिको बंधनमुक्त किया। बलि देखो।

विन्ध्यावलीपुत्र (सं० पु०) विन्ध्यावल्याः पुत्रः। वाणराज (त्रिका०)

विन्ध्यावलीसुत (सं० पु०) विन्ध्यावल्याः सुतः। वाणराज। (जटाधर)

विंध्येश्वरी प्रसाद—एक ग्रंथकार। इन्होंने कथम्भूतिका नामक कुमारसम्भवकी टीका, घटकर्परकी टीका, तरङ्गिणी नामकी तर्कसंग्रहटीका, न्यायसिद्धांत-मुक्तावली-टीका और श्रीशतक नामक ज्योतिर्ग्रंथ लिखा।

विन्न (सं० त्रि०) विद-क्त (नुदविति०। पा ८।२।५६) इति नत्वं। १ विचारित। २ प्राप्त। ३ ज्ञात। ४ स्थित।

विन्नप (सं० पु०) काशीके एक राजाका नाम। (राजत० ५।१२।६)

विन्निभट्ट—तर्कपरिभाषाटीकाके प्रणेता।

विन्यय (सं० पु०) वि-नि-इ-अप्। विनिगम, विनिर्गम।

विन्यस्त (सं० त्रि०) वि-नि-अस-क्त। १ स्थापित, रखा हुआ। २ यथा स्थान बैठाया हुआ, जड़ा हुआ। ३ क्षिप्त, डाला हुआ। ४ करीनेसे लगा हुआ।

विन्यस्य (सं० त्रि०) वि-न्यस-यत्। विन्यासके योग्य, विन्यासके उपयुक्त।

विन्याक (सं० पु०) वि-नि-अक-घञ्। विद्धड़क वृक्ष, बरियारा नामका पौधा।

विन्यास (सं० पु०) वि-नि-अस-घञ्। १ स्थापन, रखना, धरना। २ यथा स्थान स्थापन, ठीक जगह पर करीनेसे रखना या बठाना, सजाना। ३ किसी स्थान पर डालना। ४ जड़ना।

विपक्त्रिम (सं० त्रि०) विपाकेन निर्वृत्तः वि-पच-त्रिमक्। विपाक द्वारा निर्वृत्त, अतिशय परिपक्व।

विपक्व (सं० त्रि०) वि-पच-क्त। १ विशेषरूपसे परिपाकप्राप्त, खूब पका हुआ। २ पाकहीन, जो पका न हो, कच्चा। ३ पूर्ण अवस्थाको प्राप्त।

विपक्ष (सं० पु०) विरुद्धः पक्षो यस्य। १ शत्रुपक्ष, विरोध करनेवाला दल। २ भिन्नपक्षाश्रित, विरुद्ध पक्ष। ३ शत्रु या विरोधीका पार्श्व। ४ प्रतिवादी या शत्रु, विरुद्ध दलका मनुष्य। ५ व्याकरणमें किसी नियमके कुछ विरुद्ध व्यवस्था, बाधक नियम, अपवाद। ६ किसी बातके विरुद्धकी स्थापना, विरोध खंडन। ७ न्यायमतसे साध्यविषयका अभावविशिष्ट पक्ष। न्यायमतसे किसी किसी विषयकी मीमांसा करने पर हेतु, साध्य और पक्ष स्थिर करना होता है, साध्य अभावविशिष्ट ही विपक्ष कहलाता है।

(त्रि०) विगतः पक्षो यस्य । ८ विरुद्ध, खिलाफ, प्रतिकूल । ६ पक्षहीन, बिना पर या डैनेका । १० विपरीत, उलटा । ११ जिसके पक्षमें कोई न हो, जिसका कोई तरफदार न हो ।

विपक्षता (सं० स्त्री०) विपक्षस्य भावः तल-टाप् । १ विपक्ष होनेका भाव, खिलाफ होना । २ विरुद्धपक्षका अवलम्बन ।

विपक्षभाव (सं० पु०) १ विपक्षता, शत्रुता । २ घृणा ।

विपक्षशूल (सं० पु०) साम्प्रदायिक नेता, दलका कर्त्ता ।

विपक्षस् (सं० त्रि०) रथके दोनों बगलमें जीता हुआ ।

विपक्षिन् (सं० त्रि०) १ विरुद्ध पक्षका, दूसरी तरफका । २ प्रतिद्वंद्वी, प्रतिवादी, फरीकसानी । ३ पक्षहीन, विना पंख या डैनेका ।

विपक्षीय (सं० त्रि०) विपक्ष-छ । विपक्षसम्बंधीय, शत्रुके पक्षका ।

विपश्चिक (सं० पु०) दैवज्ञ, जो मानवजीवनकी घटनावली कह देते हों ।

विपञ्चिका (सं० स्त्री०) वि-पचि विस्तारे ण्वुल्-स्त्रियां टाप् अत इत्वं । वीणा ।

विपञ्ची (सं० स्त्री०) वि-पञ्च-अच् स्त्रियाँ-गौरादित्वात् ङीष् । १ एक प्रकारका बाजा जिसमें तार लगे रहते हैं, एक प्रकारकी वीणा । २ केलि, क्रीड़ा, खेल ।

विपण (सं० पु०) वि-पण व्यवहारे घञ्, संज्ञापूर्वकत्वात् न वृद्धिः । १ विक्रय । जो सब ब्राह्मण विपण अर्थात् विक्रय द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं, हव्यकव्यमें उनका अधिकार नहीं है । २ विपणि ।

विपणि (सं० पु० स्त्री०) विपण्यतेऽस्मिन्निति वि पण- (सर्वधातुभ्य इन् । उण् ४।११७) इति इन् । १ पण्य, विक्रयशाला, विक्रयगृह, दूकान । २ हट्ट, हाट । पर्याय—पण्यवीथिका, आपण, पण्यवीथी, पण्य, रभस, निषद्या, वणिक्पथ, विपण, वीथी । ३ वाणिज्य ।

विपणिन् (सं० पु०) विपणः विक्रयोऽस्यास्तीति विपण-इनि । वणिक् ।

विपणी (सं० स्त्री०) विपणि वा ङीष् । हट्ट, हाट ।

विपताक (सं० त्रि०) विगताका पताका यस्मात् । पताकाशून्य, बिना पताकाका ।

विपत्ति (सं० स्त्री०) वि-पद-क्तिन् । १ विपद्, कष्ट, दुःख या शोककी प्रीति, भारी रंज या तकलीफकी आ पड़ना । २ क्लेश या शोकको स्थिति, रंज या तकलीफकी हालत । ३ कठिनाई, झंझट, बखेड़ा ।

विपत्मन् (सं० त्रि०) विविधगमनयुक्त या विचित्रगमनयुक्त ।

विपथ (सं० पु०) विरुद्धः पन्था (ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे । पा ५।४।७४) इति समासान्त अप्रत्ययः । १ कुमार्ग, बुरा रास्ता । २ बगलका रास्ता । ३ मन्द आचरण, बुरी चाल । ४ एक प्रकारका रथ ।

विपद् (सं० स्त्री०) वि-पद-सम्पदादित्वात्-क्विप् । विपत्ति, आफत, संकट ।

विपदा (सं० स्त्री०) विपद्-भागुरिमते-हलन्तानां टाप् । विपद्, विपत्ति, आफत ।

विपन्न (सं० त्रि०) वि-पद-क्त । १ विपद-क्रान्त, जिस पर विपत्ति पड़ी हो, मुसीबतका मारा । २ दुःखी, आर्त्त । ३ कठिनाई या झंझटमें पड़ा हुआ । ४ मृत । ५ भूला हुआ, भ्रममें पड़ा हुआ ।

विपन्नता (सं० स्त्री०) विपन्नस्य भावः तल्-टाप् । विपन्नका भाव या धर्म, विपद्, विपत्ति ।

विपन्या (सं० स्त्री०) विस्पष्टा, अतिशय स्पष्टा । (ऋक् १०।७२।२)

विपन्यु (सं० त्रि०) १ स्तुतिकारक । (ऋक् १०।२२।२१) २ स्तुतिकाम (ऋक् ५।६१।१५)

विपराक्रम (सं० त्रि०) विगतः पराक्रमो यस्य । विगत पराक्रम, पराक्रमरहित ।

विपरिणाम (सं० पु०) वि-परि-णम-घञ् । विशेषरूप परिणाम, विशिष्ट परिणाम । २ विपर्या, संपरिवर्त्तन ।

विपरिणामिन् (सं० त्रि०) वि-परि-णम-णिनि । १परिणामविशिष्ट, परिणामयुक्त । यह जागतिक भाव विपरिणामी है, जगत्में जो कुछ परिदृश्यमान होता है, सभी थोड़े समयके लिये भी अपरिणत जरूर होता है । २ वैपरीत्यविशिष्ट ।

विपरिधान (सं० क्ली०) १ विशेषरूपसे परिधान, अच्छी तरह पहनना । २ परिधानका अभाव ।

विपरिभ्रंश (सं० पु०) विपरिणाम, विनाश ।

विपरिलोप (सं॰ पु॰) विलोप, ध्वंस।

विपरिवत्सर (सं॰ पु॰) परिवत्सर।

विपरिवर्त्तन (सं॰ क्ली॰) वि-परि-वृत-ल्युट्। विशेष रूपसे परिवर्त्तन, खूब घुमाना फिराना।

विपरीत (सं॰ त्रि॰) वि-परि-इ-क्त। १ विपर्यय, जो मेलमें या अनुरूप न हो, उलटा, विरुद्ध, खिलाफ। पर्याय—प्रतिसव्य, प्रतिकूल, अवसव्य, अपष्टु, विलोमक, प्रसव्य, पराचीन, प्रतीप। (शब्दरत्ना॰) २ किसीकी इच्छा या हितके विरुद्ध। जैसे—विपरीत आचरण। ३ अनिष्ट साधनमें तत्पर, रुष्ट। ४ हितसाधनके अनुपयुक्त, दुःखद। (पु॰) ५ केशवके अनुसार एक अर्थालङ्कार जिसमें कार्यकी सिद्धिमें स्वयं साधकका बाधक होना दिखाया जाता है। ६ सोलह प्रकारके रतिबन्धोंमेंसे दशवां रतिबन्ध। इनका लक्षण—

> "पादमेकमूरौ कृत्वा द्वितीयं कटिसंस्थितम्।
> नारीषु रमते कामी विपरीतस्तु बन्धकः॥"
> (रतिमञ्जरी)

विपरीतता (सं॰ स्त्री॰) विपरीतस्य भावः तल्-टाप्। विपरीत होनेका भाव, प्रतिकूल, उलटा।

विपरीतपथ्या (सं॰ स्त्री॰) छन्दोभेद।

विपरीतवत् (सं॰ अव्य॰) विपरीत-इवार्थे-वति। १ विपरीतकी तरह। (त्रि॰) विपरीत अस्त्यर्थे-मतुप् मस्य व। २ विपरीतविशिष्ट।

विपरीतमल्लतैल (सं॰ क्ली॰) व्रणरोगाधिकारोक्त तैलौषधविशेष। प्रस्तुतप्रणाली—सरसोंका तेल ४ सेर, कल्कार्थं सिन्दूर, कुट, विष, हिङ्गु, लहसुन, चितामूल, ईशलाङ्गला प्रत्येक एक तोला, पाकका जल १६ सेर। तैलपाकके विधानानुसार यह तेल पकावे। इस तेलका व्यवहार करनेसे नाना प्रकारका क्षत सूख जाता है।

(भैषज्यरत्ना॰ व्रणशोथरोगाधि॰)

विपरीतरति (सं॰ स्त्री॰) साहित्यके अनुसार सम्भोगका एक प्रकार। इसमें पुरुष नीचेकी ओर चित लेटा रहता है और स्त्री उसके ऊपर पट लेट कर संभोग करती है। कामशास्त्रमें इसे पुरुषायितबंध कहा है। इसके कई भेद कहे गये हैं।

विपरीता (सं॰ स्त्री॰) विपरीत-टाप्। दुश्चरित्रा स्त्री।

विपरीताख्यानकी (सं॰ स्त्री॰) छन्दोभेद।

विपरीतादि (सं॰ त्रि॰) वक्त्र छन्दः सम्बन्धीय।

विपरीतान्त (सं॰ त्रि॰) प्रगाथ सम्बन्धीय छन्दः।

(ऋक्प्राति॰ १८।६)

विपरीतार्थ (सं॰ त्रि॰) जिसका अर्थ उलटा हो।

विपरीति (सं॰ स्त्री॰) विपरीत देखो।

विपरीतोत्तर (सं॰ त्रि॰) विपरीतः उत्तरो यत्र। विपरीत उत्तरविशिष्ट, प्रतिकूल उत्तर, जिसका उत्तर उलटा हो। २ प्रगाथ सम्बन्धीय छन्दः।

विपरीतोपमा (सं॰ स्त्री॰) केशवके अनुसार एक अलंकार जिसमें किसी भाग्यवान् व्यक्तिकी हीनता वर्णन की जाय और वह अति हीन दशामें दिखाया जाय।

विपर्णक (सं॰ पु॰) विशिष्टानि पर्णानि यस्य। १ पलाशका पेड़, टेसू। (त्रि॰) २ पर्णरहित, विना पत्तोंका।

विपर्यञ्च् (सं॰ त्रि॰) वि-परि-अञ्चति अञ्च-क्विप्। विपरीत, प्रतिफल, उलटा।

विपर्य्यय (सं॰ पु॰) वि-परि इ 'एरच' इत्यच्। १ व्यतिक्रम, जैसी चाहिये उससे विरुद्ध स्थिति, औरका और। पर्याय—व्यत्यास, विपर्य्यास, व्यत्यय, विपर्य्याय। (भारत) २ पातञ्जल-दर्शनोक्त चित्तवृत्तिभेद, "प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः" (पातञ्जलद॰ १।६) प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच चित्तकी वृत्तियां हैं। इसका लक्षण –

> "विपर्य्ययो मिथ्या ज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठं।"
> (पातञ्जलद॰ १।८)

विपर्य्यय मिथ्याज्ञान है। जो ज्ञान विज्ञात विषयमें स्थिर नहीं रहता, परिणाममें बाधित होता है उसी मिथ्याज्ञानको विपर्य्यय अर्थात् भ्रम कहते हैं। एक वस्तुको अन्यरूपमें जाननेका नाम विपर्य्याय या भ्रमज्ञान है। जैसे रज्जुमें सर्पज्ञान, शुक्तिमें रजतज्ञान। पहले शुक्ति रजत आदि भ्रमज्ञान होता है, पीछे यह रजत नहीं, शुक्ति (सीप) है, इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होनेसे पूर्वज्ञान बाधित होता है। पहले हुआ है, इस कारण पूर्वभ्रमज्ञान प्रबल तथा पीछे हुआ है, इस कारण उत्तर यथार्थ ज्ञान दुर्बल है। अतएव उत्तर ज्ञान द्वारा पूर्वज्ञान बाधित नहीं होगा,

ऐसी आशङ्का करना उचित नहीं। पूर्वापर होनेसे ज्ञानी के सबल-दुर्बल भाव नहीं होता। जिस ज्ञानका विषय बाधित है उसीको दुर्बल और जिसका विषय बाधित नहीं है उसे प्रबल कहते हैं। इसीलिये अबाधित-विषय उत्तरज्ञान बाधित विषय पूर्वज्ञानसे प्रबल है। जहां पूर्वज्ञानकी अपेक्षा करके उत्तरज्ञान उत्पन्न होता है, वहां पूर्वज्ञानमें बाधा डालनेमें उत्तरज्ञानका सङ्कोच हो सकता है। यहां पर कोई भी किसीकी अपेक्षा नहीं करता। स्वतन्त्रभावमें अपने अपने कारणसे दोनों ज्ञान उत्पन्न होते हैं, इसलिये सत्यज्ञान भ्रमज्ञानमें बाधा दे सकता है।

यह वही है या नहीं ? इत्यादि संशयज्ञान भी विपर्यय-के अन्तर्गत हैं। विपर्य्यय और संशयमें प्रभेद इतना ही है, कि विपर्य्ययकी जगह विचार करके पदार्थका अन्यथाभाव प्रतीत होता है, ज्ञानकालमें ही पदार्थको अस्थिरता प्रतीत होती है अर्थात् संशयस्थलमें सभी पदार्थ, यह ऐसा ही है। इसका निश्चय नहीं होता भ्रम-स्थलमें विपरीत रूपसे एक तरह निश्चय हो जाता है। उत्तरकालमें 'वह वैसा नहीं है' इस प्रकार बाधित होता है।

वह विपर्य्ययज्ञान प्रमाणित क्यों नहीं होता ? यह विपर्य्ययज्ञान प्रमाण द्वारा बाधित होता है, इसी कारण इसका प्रमाण नहीं होता। प्रमाणज्ञान भूतार्थ विषय है अर्थात् उसका विषय कभी भी बाधित नहीं होता। प्रमाण और अप्रमाण ज्ञानमेंसे अप्रमाणज्ञान प्रमाण ज्ञान द्वारा बाधित होता है। जैसे, चन्द्रमा एक है, इस यथार्थज्ञान द्वारा चन्द्रमा दो है यह भ्रमज्ञानबाधित होता है, मिथ्या समझा जाता है। भ्रमरूप यह अविद्या पञ्चपर्व अर्थात् पञ्च अवयवोंमें विभक्त है, जैसे—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। फिर वे यथाक्रम तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नामसे प्रसिद्ध हैं।

(पातञ्जलद०)

विपर्य्यय पांच प्रकारका है, यथा—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इनके भी फिर पांच नाम हैं, तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र।

(सांख्यकारिका० ४८)

तम ८ प्रकार, मोह ८ प्रकार, महामोह १० प्रकार, तामिस्र और अन्धतामिस्र १० प्रकार, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रको आत्मा समझना, ऐसा जो ज्ञान है वही अविद्या है। इस अविद्याका प्रकृति आदि ८ प्रकारका हैं। विषय होनेके कारण अविद्याको ८ प्रकारका कहा गया है। अस्मिता, अणिमा आदि आठ प्रकारके ऐश्वर्य्यविशिष्ट हैं। 'मैं अमर हूं' इस प्रकार जो भ्रम है वही अस्मिता है ; इसको भ्रम क्यों कहा जाता है ? उसका कारण है, मैं अमर हूं। अणिमा आदि ऐश्वर्य्य मेरे (पुरुष) धर्म्म नहीं, बुद्धिके धर्म्म हैं, फिर भी मैं (पुरुष) ऐश्वर्य्यविशिष्ट हूं, यह जो ज्ञान है वह भ्रमके सिवा और कुछ भी नहीं है। राग, इच्छा, अनुराग, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यही अनुरागका विषय है। स्पर्शादि स्वर्गीय और अस्वर्गीय भेदसे दो प्रकारका है। अतएव शब्दादि विषयके दश भेद हैं। ये दशों विषय साक्षात् सम्बंधमें सुखसाधन हैं ; इस कारण यह राग, अर्थात् अनुरागके विषय हैं। रागके दश प्रकारके विषय साक्षात् सुखसाधन होनेके कारण रागको भी दश प्रकार-का कहा गया है। शब्दका अर्थ शब्दका साक्षात् जन्य-सुख और स्पर्शका अर्थ स्पर्शका साक्षात् जन्य सुख है, इत्यादि। जब जो वस्तु विरक्तिकर है, आठ प्रकारके ऐश्वर्य्यके फलसे क्षणकालके लिये भी उसके उपस्थित होनेसे उस समय ऐश्वर्य्यके प्रति भी द्वेष होता है और विरक्तिकर शब्दादि भी द्वेष्य होते हैं। आठ ऐश्वर्य्य और शब्दादि दश ये अठारह प्रकारके द्वेष्य हैं, इस कारण द्वेष-के अठारह भेद कहे गये हैं। मरण भी हम लोगोंको आठ प्रकारके ऐश्वर्य्य और दश प्रकारके शब्दादि भोग्य विषयसे वञ्चित कर सकता है, इस कारण यह भी अठारह प्रकारका कहा गया है। यह मरणभय इष्टवियोग सम्भावना मात्र है। इसका तात्पर्य ऐसा मालूम होता है, कि भयमात्र ही विपर्य्ययके अंतर्गत है। सभी भय अनिष्ट सम्भावनामात्र है। परन्तु पातञ्जल दर्शनमें केवल मरण-भयको ही विपर्य्यय कहा है। क्योंकि मरणभय ही सभी भयका शेष है, इस कारण मरणको भय कहनेसे सभीका बोध हो जायेगा। मनुष्य और देवगणके भी विपर्य्यय

हैं। (सांख्यकारिका) विशेष विवरण अविद्यादि शब्दमें देखो ।

३ इधरका उधर, उलट पुलट। ४ भ्रम, भूल। ५ अव्यवस्था, गड़बड़ी। ६ नाश।

विपर्यस्त (सं० त्रि०) वि-परि-अस्-क्त। १ जिसका विपर्यय हुआ हो, जो उलट पुलट गया हो। २ अस्तव्यस्त, गड़बड़, चौपट। ३ परावृत्त।

विपर्याण (सं० त्रि०) विपर्याय, व्यतिक्रम।

विपर्याय (सं० पु०) विगतः पर्यायो यस्य, वि-परि-इ-घञ्। पर्यायका व्यतिक्रम, क्रमपरिवर्त्तन, नियमभंग।

विपर्य्यास (सं० पु०) वि-परि-अस-घञ्। १ विपर्य्याय, उलट पुलट, इधरका उधर। (अमर) २ अप्रमात्मक बुद्धिभेद, मिथ्याज्ञान, औरका और समझना। जो यथार्थमें वह नहीं है, उसे वही जान कर जो अयथार्थ-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसीका नाम विपर्य्यास है। जैसे—रज्जु सर्प नहीं है फिर भी अप्रमात्मक ज्ञानके कारण उसे सर्प समझते हैं। भाषापरिच्छेदमें लिखा है, कि जिस वस्तुमें जो नहीं है (जैसे शङ्खमें कभी पीतवर्ण नहीं है) उस वस्तुमें तत्प्रकारक जो बुद्धि है, उसे अप्रमा बुद्धि कहते हैं। यह अप्रमा बुद्धि अर्थात् भ्रमबहुल पदार्थमें विस्तृत होनेसे उसका नाम विपर्य्यास पड़ा है। जैसे देहमें आत्मबुद्धि आदि। सच पूछिये तो शरीरमें आत्माके गुणक्रियादि कुछ भी नहीं हैं, फिर भी अप्रमात्मक ज्ञानके कारण बहुतेरे शरीरको ही आत्मा मानते हैं।

३ पूर्वसे विरुद्ध स्थिति, एक वस्तुका दूसरे स्थान पर होना। ४ जैसा चाहिये उससे विरुद्ध स्थिति, औरका और।

विपर्व्व (सं० त्रि०) विगतं पर्व्व सन्धिस्थानं यस्य। विच्छिन्नासन्धिक, जिसके शरीरका जोड़ विश्लिष्ट हो गया हो।

विपल (सं० क्ली०) विभक्तं पलं येन। समयका एक अत्यन्त छोटा विभाग, एक पलका साठवां भाग अर्थात् ६० विपलका एक पल, ६० पलका एक दण्ड, ६० दण्डका एक अहोरात्र।

विपलायिन् (सं० त्रि०) पलायनकारी, भागनेवाला।

विपलाश (सं० त्रि०) पत्रहीन, बिना पत्तोंका।

विपवन (सं० त्रि०) वि-पू-ल्युट्। १ विशेषरूपसे पवित्र करनेवाला। (पु०) २ विशुद्ध पवन, साफ हवा।

विपवना (सं० स्त्री०) विशुद्धः पवनो यस्यां, स्त्रियां टाप्। जिसमें विशुद्ध वायु हो।

विपव्य (सं० त्रि०) वि-पू-यत् (अचो यत्। पा ३।१।९७)। शोधनीय, शोधन करनेके योग्य।

विपशिन् (सं० पु०) एक बुद्धका नाम। (हेम०)

विपशु (सं० त्रि०) पशुरहित, पशुशून्य।

विपश्चि (सं० त्रि०) विपश्चित्, पण्डित।

विपश्चिक (सं० पु०) पण्डित। (दिव्या० ५४८।२२)

विपश्चित् (सं० त्रि०) वि-प्र-चित् क्विप् विशेषं पश्यति विप्रकृष्टं चेतति चिनोति चिन्तयति वा पृषोदरादित्वात् साधुः। सूक्ष्मदर्शी, दूरदर्शी।

अर्थात् शास्त्रका यथार्थ अर्थ जिसकी नजरमें पड़े, जो उत्तम ज्ञानी अर्थात् सम्यक्‌रूपसे तत्त्वज्ञ हों, जो उत्तमरूपसे चयन (शास्त्रका मर्मार्थ संग्रह) कर सकते हों, जो उत्तम चिन्ताशील हों, अर्थात् चिन्ता द्वारा प्रकृत-पदार्थका निर्णय करनेमें समर्थ हों, जो पण्डित हों, जो विद्वान् हों, जो सर्व्वार्थतत्त्वदर्शी हों, वे ही विपश्चित कहलाते हैं।

विपश्चित (सं० त्रि०) पण्डित। विपश्चित् देखो।

विपश्यन (सं० क्ली०) बौद्ध मतसे, प्रकृत ज्ञान, यथार्थ बोध

विपश्यना (सं० स्त्री०) सूक्ष्मदर्शिनी, दिव्यबुद्धि, अन्तर्यामित्व शक्ति।

विपश्यिन् (सं० पु०) बुद्धभेद।

विपस् (सं० क्ली०) १ मेधा, बुद्धि। २ ज्ञान, समझ।

विपांशुल (सं० त्रि०) पांशुलरहित। (भारत वनपर्व्व)

विपाक (सं० पु०) वि पच-भावे कर्मणि वा घञ्। १ पचन, पाक। (भागवत ५।१८।२०) २ स्वेद, पसीना। ३ कर्मका फल। (मेदिनी) ४ फलमात्र। ५ चरमोत्कर्ष।

६ कर्मफलपरिणाम, कर्मफलके परिणामका नाम विपाक है। एक कर्म करनेसे उसका जो फलभोग होता है, उसको ही विपाक कहते हैं। यह तीन तरहका होता है—जाति, आयु और भोग। पातञ्जलदर्शनमें

यह विषय विशेषरूपसे वर्णित हुआ है। यहां बहुत संक्षेपमें उसकी आलोचना की जाती है।

अविद्या आदि पञ्चक्लेश अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच तरहके क्लेश रहने पर धर्मविधर्मरूप कर्माशयका विपाक जाति, आयु और भोग होता है। क्लेशरूप मूलका उच्छेद होने पर और नहीं होता। जैसे धानमें जब तक छिलका मौजूद हो और उसकी वीजशक्ति दग्ध नहीं हो, तब तक वह अङ्कुरोत्पादनमें समर्थ होता है; किन्तु छिलका काटने या वीजशक्तिके दाह करनेसे वह समर्थ नहीं होता; वैसे ही क्लेश मिश्रित रह कर कर्माशय अदृष्ट फल जननमें समर्थ होता है, क्लेश अपनीत होने पर अथवा प्रसंख्यान द्वारा क्लेशरूप वीजभावका दाह करनेसे और नहीं होता। उक्त कर्मविपाक तीन प्रकारका है, जाति मनुष्य आदि, जन्म, आयु जीवनकाल, भोग और सुखदुःखका साक्षात्कार। कर्मका विपाक जाति, आयु और भोग किस तरह होता है और किस तरहके कर्मके फलोंसे ये सब भोग करने होते हैं, उनका विषय इस तरह लिखा है —

एक कर्मका क्या एक जन्मका कारण है? अथवा एक कर्म अनेक जन्म सम्पादन करता है या अनेक कर्म एक जन्मका कारण है? इसके विचारमें इस तरह लिखा है, कि एक कर्म एक जन्मका कारण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अनादि कालसे सञ्चित जन्मान्तरीय असंख्य अवशिष्ट कर्मके और वर्त्तमान शरीरमें जो कुछ कर्म किये गये हैं, उन सबोंके फलक्रमके अर्थात् फलोत्पत्तिका पौर्वापौर्यका नियमन रहनेसे लोगोंके धर्मानुष्ठानमें अविश्वास हो जाता है, वैसा होना संगत नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता, कि असंख्य कर्मोंमें यदि एक ही अनेक जन्मका कारण हो जाय, तब अवशिष्ट कर्मराशिके विपाककालका अवसर ही नहीं आता। यह भी नहीं कहा जा सकता, कि अनेक कर्म अनेक जन्मका कारण है; क्योंकि वे अनेक जन्म एक समय नहीं हो सकते। अतएव क्रमशः होते हैं, ऐसा कहना होगा। उसमें पूर्वोक्त दोष अर्थात् कर्मान्तर विपाकका समयाभाव समझा जाता है। अतएव जन्म और मरणके मध्यवर्त्ती समयमें अनुष्ठित विचित्र कर्म प्रधान और अप्रधान भावसे अवस्थित हो कर मरण द्वारा अभिव्यक्त होते हैं अर्थात् फलजननमें अभिमुखीकृत हो जन्म प्रभृति कार्य्य एकत्र मिल कर एक ही जन्म सम्पादन करते हैं। सञ्चित कर्मराशि प्रारब्ध द्वारा अभिभूत रह कर मरण समयमें सजातीय अनेक कर्मोंके साथ मिल कर एक जन्म उत्पादन करती है। ऐसा होनेसे फिर पूर्वोक्त दोष रह नहीं जाता। क्योंकि जैसे एक एक जन्ममें अनेक कर्म उत्पन्न होते हैं, इधर एक जन्म द्वारा भी अनेक कर्मका क्षय हो कर आय-व्यय समान हो जाता है। उक्त जन्म उक्त कर्म अर्थात् उक्त जन्मका प्रयोजन कर्म द्वारा ही आयु लाभ करता है, अर्थात् जिस कर्मसमष्टिसे मनुष्य आदिका जन्म होता है, उसीके द्वारा जीवनकाल और सुखदुःखका भोग होता है।

पूर्वोक्त प्रकारसे कर्माशय जन्म, आयु और भोगका कारण वह त्रिविपाक अर्थात् उक्त जन्म आदि तीन प्रकारके विपाकोंका पिता कहा जाता है, इसको ही एकभविक अर्थात् एक जन्मका कारण कर्माशय कहा जाता है।

दुष्टजन्म वेदनीय कर्माशय केवल भोगका हेतु होनेसे उसको एक विपाकारम्भक कहते हैं, जैसे नहुष राजाका आयु और भोग इन दोनोंका जनम होनेसे द्विविपाकारम्भ होता है, जैसे नन्दीश्वरका। (नन्दीश्वरको केवल आठ वर्षकी आयु थी। शिवके वर-प्रदानसे अमरत्व और उसके उपयुक्त भोग मिलता है।)

गांठ द्वारा सर्वावयवोंमें व्याप्त मत्स्यजालकी तरह चित्त अनादि कालसे क्लेश, कर्म और विपाकके संस्कारसे परिव्याप्त हो कर विचित्र हो गया है। उक्त वासनायें असंख्य जन्मसे चित्तभूमिमें सञ्चित हुई हैं। जन्महेतु एकभविक वह कर्माशय नियतविपाक और अनियतविपाक होता रहता है। अर्थात् कितने ही परिणामोंका समय अवधारित रहता है। कितनेका परिणाम किस तरहसे होगा, वह ठीक नहीं कहा जा सकता।

दुष्ट जन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशयका ही ऐसा नियम हो सकता है, कि वह एकभविक होगा। अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशयका वैसा नियम हो

नहीं सकता, क्योंकि अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशयकी तीन गतियां हो जाती हैं। पहले तो विपाक उत्पन्न न हो कर ही कृतकर्माशयका नाश हो सकता है। दूसरे प्रधान कर्मविपाक समयमें आवापगमन अर्थात् यागादि प्रधान कर्मके स्वर्गादिरूप विपाक होनेके समय हिंसादिकृत अधर्म भी कुछ दुःख पैदा करा सकता है। तीसरे नियत विपाकप्रधान कर्म द्वारा अभिभूत हो कर चिरकाल अवस्थित भी कर सकता है। विपाक उत्पादन न कर सञ्चित कर्माशयका नाश जैसे शुक्लकर्म अर्थात् तपस्याजनित धर्मका उदय होने पर इसी जन्ममें ही कृष्ण अर्थात् केवल पाप अथवा पापपुण्यमिश्रित कर्मराशिका नाश होता है। इस विषयमें कहा गया है,—पापाचारी अनात्मज्ञ पुरुषकी असंख्य कर्मराशि दो प्रकारकी है, एक कृष्ण अर्थात् केवल अधर्म दूसरी, शुक्लकृष्ण अर्थात् पुण्य-पापमिश्रित। इन दो तरहके कर्मों को पुण्य द्वारा गठित एक कर्मराशि नष्ट कर सकती है। अतएव सबको सुकृत शुक्लकर्मके अनुष्ठानमें तत्पर रहना उचित है।

प्रधान कर्म आवापगमन विषयमें कहा गया है, कि स्वल्पसङ्कर अर्थात् यज्ञादि साध्यकर्मों के स्वल्पका (योगानुकूल हिंसाजनित पापका) सङ्कर होता है, सांमिश्रण भी होता है। सपरिहार अर्थात् हिंसाजनित यह अल्पमात्र अधर्म प्रायश्चित्तादि द्वारा उच्छेद कर दिया जाता है। सप्रत्यवमर्ष अर्थात् यदि प्रमादवशतः प्रायश्चित्त नहीं किया जाय, तो प्रधान कर्मफलके उदयके समय यह अल्पमात्र अधर्म भी स्वकीय विपाक अर्थात् अनर्थ उत्पन्न करता है। फिर भी, इस सुखभोगके समय सामान्य दुःखवह्निकणिका सह्य की जाती है। कुशल अर्थात् पुण्यराशिके अपकर्ष करनेमें यह अल्पमात्र अधर्म समर्थ नहीं होता, क्योंकि उक्त सामान्य अधर्मकी अपेक्षा यागादिकृत धर्मका परिमाण अधिक है जिससे यह क्षुद्र अधर्म अप्रधानभावसे रह कर स्वर्गभोगके समय अल्प परिमाणसे दुःख उत्पन्न करता है। तृतीय गति यथानियत विपाकमें ऐसे प्रधान कर्मसे अभिभूत हो कर चिरकाल अवस्थान करता है; क्योंकि अदृष्टजन्मवेदनीय नियत विपाक कर्मराशि ही मरण द्वारा अभिव्यक्त होती है; अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्मराशि वैसी मरणके समय अभिव्यक्त नहीं होती।

अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्मराशि नष्ट हो भी सकती है। प्रधान कर्मविपाक समयमें आवापगमन (सहायक भावसे अवस्थान) कर भी सकता है अथवा प्रधान कर्म द्वारा अभिभूत हो कर चिरकाल अवस्थिति कर सकता है, जब तक सजातीय कर्मान्तर अभिव्यक्त हो उसको फलाभिमुख न करे।

अदृष्टजन्मवेदनीय अनियत विपाक कर्मराशिकी ही देश, काल और निमित्तकी स्थिरता नहीं होती, इसीसे कर्मगतिशास्त्रमें विचित्र कही गई है और भी कहा गया है, कि जन्म, आयु और भोग इनके पुण्य द्वारा सम्पादित होने पर सुखका कारण और पाप द्वारा सम्पादित होने पर दुःखका कारण होता है।

"ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।"

(पातञ्जलद० २।१४)

'जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफलाः अपुण्यहेतुकाः दुःखफला इति।' (भाष्य)

पूर्वोक्त जाति, आयु आर भोग पुण्य द्वारा साधित होने पर सुखका जनक तथा पाप द्वारा साधित होने पर दुःखका जनक होता है। सर्वजनप्रसिद्ध दुःखका जैसा प्रतिकूल स्वभाव है, वैसा ही वैषयिक सुखके समयमें भी योगियोंको दुःख ही अनुभव होता है, अतः वे विषयसुखको दुःख ही समझते हैं।

जन्म और आयु सुख तथा दुःखके कारण हो सकते हैं, किंतु भोग कैसे कारण हो सकता है? वरं ऐसी आशंका की जा सकती है, कि सुखदुःख ही विषयभावमें भोगका (अनुभवका) कारण है। इसका समाधान इस तरह—जैसे ओदनादिको भी कारक कहते हैं, फलतः यह क्रियाका परवर्त्ती है। सुतरां क्रियाजनक नहीं है। क्रियाके जनकको ही कारक कहते हैं। फिर भी, जिस उद्देश्यसे जो क्रिया होती है, उस उद्देश्यको भी कारण कहा जाता है। भोग ही पुरुषार्थ है, सुख दुःख नहीं। भोगके निमित्त ही सुखदुःखका आविर्भाव होता है, अतएव भोगको भी सुख दुःखका कारण कहा जा सकता है।

विवेकशाली योगीके लिये विषयमात्र ही दुःखकर है, क्योंकि भोगका परिणाम अच्छा नहीं, क्रमशः इससे तृष्णाकी वृद्धि होती है। भोगके समय विरोधीके प्रति

विद्वेष होता है और क्रमशः ही भोगसंस्कारकी वृद्धि होती रहती है । चित्तकी सुख दुःख और मोहरूपी सब वृत्तियां भी परस्पर विरोधी हैं, किसी तरहसे शांति नहीं होती हैं ।

योगीके लिये सभी दुःख ही दुःख है, यह किस तरह प्रतिपन्न किया जाये ? इसी आशंकाको निराकरण करनेके लिये कहा गया है, कि सभीको राग-(आसक्ति-कामना)के साथ चेतन और अचेतन दोनों तरहके उपायसे सुखका अनुभव होता है। अतएव यह कहना होगा, कि कर्माशय रागजन्य ही वर्त्तमान है । सुतरां दुःखका कारण द्वेष और मोह है और इन द्वेष और मोहके कारण ही कर्माशय होता है । यद्यपि एक साथ ही राग, द्वेष और मोहके इन तीनोंका आविर्भाव नहीं होता, तथापि एकके आविर्भावके समय दूसरे विच्छिन्न हो जाते हैं। प्राणिपीड़न न कर उपभोग सम्भोग सम्भव नहीं । अतएव हिंसाकृत और शारीर (शरीरसम्पाद्य) कर्माशय होता है । विषयसुख अविद्याजन्य होता है तृप्तिवशतः भोगविषयमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिके अभावको सुख कहते हैं ।

चञ्चलतावशतः इन्द्रियोंकी अशान्तिको दुःख कहते हैं। भोगके अभ्यास द्वारा इन्द्रियके वैतृष्ण्य अर्थात् विषयवैराग्य नहीं होता, क्योंकि भोगाभ्यासके साथ ही साथ अनुराग और इन्द्रियोंका कौशल बढ़ता रहता है। अतएव भोगाभ्यास सुखका कारण नहीं, विच्छूके विषसे भय खा कर सांपसे डंसे जाने पर जैसे मनुष्योंको अधिकतर दुःख अनुभव होता है, वैसे ही सुखकी कामना कर विषयसेवा कर अन्तमें महादुःखपङ्कमें डूबना पड़ता है । प्रतिकूलस्वभाव इस परिणाम दुःख सुखभोगके समयमें भी योगियोंको क्लेश प्रदान करता है ।

सभीको द्वेषके साथ चेतन और अचेतन इन दोनों उपायों द्वारा दुःख अनुभूत होता है, यहां द्वेषजन्य कर्माशय होता है। सुखको उपाय प्रार्थना कर शरीर, वाक् और चित्त द्वारा क्रिया करता रहता है। इससे दूसरेके प्रति अनुग्रह और निग्रह दोनों ही सम्भव है। इस परानुग्रह और परपीड़ा द्वारा धर्म और अधर्मका सञ्चार होता है । यह कर्माशय लोभ या मोहवशतः होता रहता है। इसका नाम तापदुःख है।

संस्कारदुःख क्या है ? सुखानुभवसे एक सुख या सुखका कारण ऐसा संस्कार होता है । इस तरहके दुःखानुभवसे ही संस्कार उत्पन्न होता है, इस तरह कर्मफल सुख या दुःखका अनुभव होनेसे सुखसंस्कार पैदा होता है। संस्कारसे स्मृति, स्मृतिसे राग और रागसे कायिक, वाचिक और मानसिक घटनायें होती हैं। उससे धर्म और अधर्मरूप कर्माशय, इस कर्माशयसे जाति, आयु और भोगरूप विपाक होता है। पुनर्वार संस्कार उत्पन्न होता है । इस तरह अनादि प्रवहमाण दुःख द्वारा प्रतिकूल भावसे परिलक्षित हो कर योगियोंको उद्वेग उत्पन्न होता है ।

इसी लिये पहले कह आये हैं, कि मूल अर्थात् कर्माशय रहनेसे ही जाति, आयु और भोग—ये तीन प्रकारका विपाक होता है । सम्यक्ज्ञान द्वारा कर्माशय विनष्ट होने पर फिर विपाक होगा ही नहीं । जब तक कर्माशय विनष्ट न होगा तब तक जन्म, मृत्यु, भोगरूप विपाकके हाथसे रक्षा नहीं ।

जीव अविद्याभिभूत हो कर बारंबार जन्मग्रहण करता है और मृत्युमुखमें पतित होता है तथा जन्मसे मृत्यु तक सुखदुःख भोग करता रहता है । कर्माशयके विनष्ट हो जाने पर इस तरहका विपाक नहीं होता। इसी लिये योगी अपनेको और अन्य साधारणको अनादि दुःखस्रोतमें बहता देख कर सारे दुःखोंका क्षयकारण सम्यक्दर्शन अर्थात् आत्मज्ञानको ही रक्षक समझ कर उनका आश्रय ग्रहण करते हैं । (पातञ्जल०)

७ भुक्त द्रव्यके परिपाक हो जाने पर माधुर्य्य आदि रसकी परिणति होती है। विपाकके सम्बन्धमें आयुर्वेद शास्त्रमें कह गया है, कि रस अर्थात् द्रव्यके आस्वाद, कटु, (कड़वा)तिक्त या तीता, कषाय, मधुर, अम्ल और लवण—इन ६ भागोंमें विभक्त होने पर भी उनके विपाक प्रायः ही स्वादु, अम्ल, और कटु इन तीन प्रकारके अर्थात् भुक्त द्रव्यस्थ उन छः रसोंके जठराग्निके संयोगसे पक्व होने पर वे प्रकृतिके नियमानुसार जो स्वादु, अम्ल और कटु केवल इन तीन रसोंमें परिणत हो जाते हैं, उसीको आयुर्वेदमें विपाक या रसविपाक कहा है । विपाकका नियम यह है, कि लवण या मीठा द्रव्य भोजन करनेसे

जठराग्नि द्वारा पक्क हो कर उससे मधुररसको; भुक्त अम्लद्रव्य इस तरह पच्यमान होने पर उससे अम्लरसकी और कटु, तिक्त और कषायरससे उक्त रूपसे ही कटु रसकी उत्पत्ति होती है।

"जाठरेणाग्निना योगात् यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥" (सुश्रुत)

"त्रिधा रसानां पाकः स्यात् स्वाद्वम्लकटुकात्मकः।
मिष्टः कटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः।
कटुतिक्तकषायाणां पाकः स्यात् प्रायशः कटुः॥"
(वागभट)

'प्रायःपदेन व्रीहिः स्वादरम्लविपाकः शिवा कषाया
मधुपाका शुण्ठी कटुका मधुपाकेऽत्यादि।' (टीका)

किसी किसी स्थलमें पूर्वोक्त नियमका व्यतिक्रम भी देखा जाता है। जैसे साठीधान्य स्वादुरसविशिष्ट होने पर भी इसका विपाक मधुर न हो कर अम्ल होता है; हरीतकी कषाय और सोंठ कटु (कड़वा)-रसयुक्त होने पर भी इनका विपाक यथायथ नियमानुसार कटु न हो कर मधुर होता है! इसी कारणसे संग्रहकर्त्ताने मूलमें 'प्रायशः कटुः' इस प्राय शब्दका व्यवहार किया है।

मधुरविपाक द्रव्य वायु और पित्तका दोष नष्ट करता है; किन्तु वह श्लेष्म (कफ)-वर्द्धक है। अम्लविपाकद्रव्य पित्तवर्द्धक और वातश्लेष्मरोगापहारक है; जो सब द्रव्य विपाकमें कटु हैं, वे पित्तवर्द्धक, पाचनशील अर्थात् व्रणादिके या जिस तरहसे हो पचन (पाक) कार्योपयोगी और श्लेष्मनाशक हैं।

कुछ लोग अम्लविपाकको स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है, कि जठराग्निके मन्दत्वके कारण पित्त विदग्धपक्क हो कर अम्लता प्राप्त होता है। किन्तु यह समीचीन नहीं है। ऐसा होने पर लवणरस भी एक भिन्न विपाक कहा जा सकता है, क्योंकि पित्तकी तरह श्लेष्मा भी विदग्धपक्क होने पर लवणता प्राप्त होती है और इसी तरह प्रत्येक रसका ही एक एक पृथक विपाक स्वीकार करना पड़ता है। उसका दृष्टांत यह है,—जैसे धान, यव, मूंग और क्षीर आदि मधुररसयुक्त द्रव्य स्थालीपक्व होने पर पीछे रसका किसी तरह से व्यतिक्रम नहीं होता।

चिकित्सकको द्रव्यका रस, विपाक और वीर्य्य इन तीनों पर नियत लक्ष्य रख कर चिकित्सा करनी चाहिये। फिर इसमें कोई द्रव्यके रसका, कोई विपाकका और कोई वीर्य्यका प्राधान्य स्वीकार करते हैं। जिसके मतसे विपाक प्रधान है, वह देखाता है, कि सोंठ कटुरसात्मक है, किंतु विपाकके मधुर होनेसे कटुरसके प्रभावसे वातवर्द्धक न हो विपाकके प्राधान्यवशतः वातघ्न ही होगा। कोई वीर्य्यको प्रधान होनेका दृष्टांत देता है, कि मधुमें मिष्टरस होने पर भी वह श्लेष्मवर्द्धक न हो कर उष्णवीर्य्यत्वप्रयुक्त श्लेष्मघ्न ही होगा। जो हो, अर्थात् जो जोही कहें न क्यों यथार्थमें रस-विपाक और वीर्य इन तीन गुणों पर लक्ष्य रख अवस्थानुसार द्रव्य व्यवहार करना चाहिये।

८ विशेषरूप आवर्त्तयुक्त। ९ दुर्गति। १० स्वाद, स्वादु।

विपाकसूत्र (सं॰ क्लो॰) महावीरप्रोक्त जैनशास्त्रभेद। यह ११वां अङ्गनामसे कथित है। (वृ॰हरि २।९४)

विपाकिन् (सं॰ त्रि॰) १ कर्मफलवाही। २ आवर्त्तनशील। (फल)

विपाट (सं॰ पु॰) वि-पट-घञ्। शर, वाण।

विपाटक (सं॰ त्रि॰) प्रकाशक, अभिव्यक्तिकारक।

विपाटन (सं॰ क्लो॰) विदारण, उखाड़ना, खोदना।

विपाटल (सं॰ त्रि॰) जिसका वर्ण थोड़ा लाल हो।

विपाटित (सं॰ त्रि॰) विदारित, उखाड़ा हुआ।

विपाठ (सं॰ पु॰) इषु, वाण, तीर।

विपाठा (सं॰ स्त्री॰) पुराणानुसार दुर्गमराजकी भार्या। (मार्कण्डेयपु॰ ७५।४६)

विपाण्डव (सं॰ त्रि॰) पाण्डवविरहित।

विपाण्डु (सं॰ त्रि॰) १ पाण्डुवर्ण। (पु॰) २ वनज ककंटी, जङ्गली ककड़ी।

विपाण्डुता (सं॰ स्त्री॰) पाण्डुवर्णत्व, पाण्डुवर्णप्राप्ति।

विपाण्डुक (सं॰ त्रि॰) अतिशय पाण्डुवर्ण।

विपाण्डु (सं॰ त्रि॰) अतिशय पाण्डुवर्ण।

विपाण्डुर (सं॰ स्त्री॰) महामेदा।

विपात (सं॰ त्रि॰) पातन, नाश।

विपातक (सं॰ त्रि॰) नाशक, नाश करनेवाला।

विपातन (सं० क्लो०) १ द्रवभाव, गलना। २ नाश करना।

विपादन (सं० क्लो०) व्यापादन, हत्या, बध।

विपादिका (सं० स्त्री०) १ कुष्ठरोगका एक भेद, अपरस। यह पैरमें होता है। इससे उंगलियोंके पाससे ऊपर तक चमड़ेमें दरारें पड़ जाती हैं और बड़ी खुजली होती है। पीड़ाके कारण पैर नहीं रखा जाता। २ प्रहेलिका, पहेली।

विपादित (सं० त्रि०) विनाशित, नाश किया हुआ।

विपान (सं० क्लो०) विवेचनापूर्वक पान।

(शुक्लयजुः १७।७२)

विपाप (सं० त्रि०) पापरहित, बिना पापका।

विपापा (सं० स्त्री०) एक नदीका नाम।

(भारत भीष्मपर्व)

विपाप्मन् (सं० त्रि०) विपाप, पापशून्य।

विपार्श्व (सं० त्रि०) पार्श्वदेश।

विपाल (सं० त्रि०) पालरहित, जिसका कोई पालनेवाला या मालिक न हो।

विपाश् (सं० स्त्री०) विपाशा नदी। (ऋक् ३।३३।१) विपाशा देखो।

विपाश (सं० त्रि०) १ पाशरहित। २ पाशाविशिष्ट। (पु०) ३ वरुण। (हरिवंश)

विपाशन (सं० क्लो०) पाशरहित। (निरुक्त ४।३)

विपाशा (सं० स्त्री०) पाशं विमोचयतीति (सत्यापपाशेति। पा ३।१।२५) इति विमोचने णिच् ततः पचाद्यच्। १ नदीविशेष। पञ्जावप्रदेशमें प्रवाहित पांच नदियोंमें एक। ग्रीक भौगोलिकोंने इसको Hyphasis नामसे अभिहित किया है। यह तुषारमण्डित कुल्लुर पर्वतश्रृङ्ग (समुद्रसे १३३२६ फोट ऊंचा)से उद्भूत हो कर मन्दिराज्य परिभ्रमणान्तर काङ्गड़े जिलेके पूर्व सीमास्थित सङ्घोल नगरकी बगलसे उक्त जिलेमें प्रवेश करती है। यह नदी अपने उत्पत्तिस्थानसे पर्वतवक्ष पर प्रति मील प्रायः १२६ फीट नीचे उतरती हुई प्रवाहित होती है। काङ्गड़ा जिलेमें इसका स्वाभाविक प्रपतन प्रति मील केवल ७ फीट है। सङ्घाल नदीवक्षको ऊंचाई १८२० फीट है। इसके बाद मीरथलघाटके समीप जहां यह समतलक्षेत्रमें पतित हुई है, वहांकी ऊंचाई प्रायः एक हजार फोट है। कांगड़े जिलेके रेह ग्रामके समीप यह नदी तीन धाराओंमें विभक्त हो कर कुछ दूरके बाद पुनः एकमें मिल गई है।

विपाशाके नीचे पार्वत्यगतिके अनेक स्थलमें हो पारापारका विशेष वन्दोवस्त है। किसी किसी जगह तो वायुपूर्ण चर्मनिर्मित मशक 'दराई' प्रचलित है। होशियारपुर जिलेमें शिवालिक शैलके समीप आ कर यह नदी उत्तरवाहिनी हो गई है। इस नदीने यहां होशियारपुर और कांगड़ा जिलेको पृथक् कर रखा है। इसके बाद यह फिर वक्रगतिसे उक्त शिवालिक शैलके पादमूलका पर्यटन करती दक्षिणवाहिनी हो होशियारपुर और गुरुदासपुरसे होती हुई आगे बढ़ गई है। इस स्थान तक इस नदीका किनारा रेतीले दलदलसे वालूसे पूर्ण है और यह भूमि नदीकी बाढ़से डूब जाती है। मूल नदीकी गतिकी स्थिरता न रहनेके कारण इसके बीचमें कहीं कहीं सुगभीर गड्ढे हो गये और रेत पड़ गये हैं। ग्रीष्मकालमें इस नदीकी गभीरता केवल पांच फुट रहती है और बरसातमें जल प्रायः १५ फुट तक ऊंचा बढ़ जाता है। जलकी कमीके कारण यहांकी नावोंकी पेंदी चौड़ी बनाई जाती है।

जालन्धर जिलेमें प्रवेश कर विपाशा नदी अमृतसर और कपूरथला राज्यकी सीमा रूपसे प्रवाहित हुई है। वजीर भोलाघाटके निकट इस नदीवक्ष पर सिन्धु पञ्जाब और दिल्ली-रेलपथका एक पुल है। इसके बाद हो ग्रेण्डट्रङ्क रोडके सामने नौका निर्मित एक पुल है। बाढ़के समय बालूका चर पड जानेसे वर्षामें इस नदीकी गतिमें बहुत परिवर्त्तन होते रहते हैं। प्रायः २६० मील भूमिमें परिभ्रमण करनेके बाद कपूरथला राज्यकी दक्षिणी सीमा पर यह नदी शतद्रुमें मिल गई है।

मार्कण्डेयपुराण (५७।१८)में लिखा है, कि यह नदी हिमवत् पादविनिःसृत है।

ऋग्वेदमें विपाशा आर्जीकीया नामसे प्रसिद्ध है। उस समय उसका अववाहिका प्रदेश भी इसी नामसे प्रसिद्ध था। (ऋक् ८।११३।२)

महाभारतमें इस नदीकी नामनिरुक्तिके सम्बन्धमें

इस तरह लिखा है। जब विश्वामित्र और वशिष्ठमें विवाद चला रहा था, तब विश्वामित्रने राक्षसमूर्त्तिसे वशिष्ठके एकसौ पुत्रोंको मार डाला। इस पर वशिष्ठने शोकाकुल हो कर प्राणपरित्याग करनेका दृढ़ संकल्प कर लिया। पर्वतसे कूद पड़े; किन्तु उससे भी उनकी मृत्यु न हुई। तब उन्होंने सामने वर्षाकालीन जल-परिपूर्ण एक नदीको देख विचार किया कि मैं इसी जलमें डूब कर मर जाऊं। यह सोच कर वह अपने शरीरको रस्सीसे बाँध कर उस जलमें निमग्न हुए, किन्तु नदीने उनको बन्धन-मुक्त कर स्थलमें ला कर रख दिया। उस समय उन्होंने पाशमुक्त हो कर इस नदीका नाम 'विपाशा' रखा।

इस नदीके जलका गुण—सुशीतल, लघु, स्वादु, सर्व-व्याधिविनाशक, निर्मल, दीपन और पाचक, बुद्धि, मेधा और आयुवर्द्धक है (राजनिर्घण्ट)।

देवी भागवतमें लिखा है; कि विपाशा नदीके किनारे पर एक पीठस्थान है। यहां अमोघाक्षी देवी विराज रही हैं। (देवीभा० ७।३०।६५)

नरसिंहपुराणके मतसे विपाशाके तट पर यशस्कर नामकी विष्णुमूर्त्ति प्रतिष्ठित है।

(त्रि०) विगतः पाशो यस्य। ३ वर्ज्जित, पाशास्त्र-हीन।

विपाशा—मध्यप्रदेशके सागर जिलेकी दक्षिण-पश्चिम सीमा हो कर प्रवाहित एक नदी। यह भोपाल राज्यके शिरमौ विभागकी पर्वतमालासे निकली है। यह भी आज कल बियास नदी नामसे प्रसिद्ध है। मार्कण्डेय-पुराणमें यह नदी विन्ध्यपादप्रसूता कह कर उक्त हैं।
(माकण्डेयपु० ५७।२६)

फिर वामनपुराणके अनुसार यह नदी विन्ध्यपाद या दक्ष पर्वतसे निकली है। (वामनपु० १३।२७)

सागर नगरसे उत्तर-पूर्वकी ओर प्रायः दश मील पथ पर १८३२ ई०में कर्नेल प्रेसग्रेभने एक सुन्दर लोहे-का पुल बनवाया था। दानो जिलेके नरसिंहगढ़के पास यह नदी सोनार नदीसे आ मिली है।

विपाशिन् (सं० त्रि०) पाशवियुक्त, पाशविमुक्त।

विपिन (सं० क्ली०) वेपन्ते जना यत्रेति इति हनन् ह्रस्वश्च। १ बन, कानन, जंगल। २ उपवन, वाटिका। (त्रि०) ३ भीतिप्रद, भयानक, डरावना।

विपिनचर (सं० पु०) १ बनमें रहनेवाला, बनचर। २ जंगली आदमी। ३ पशु पक्षी आदि।

विपिनतिलक (सं० क्ली०) एक छन्द। इसके प्रत्येक चरणमें नगण, सगण और दो रगण होते हैं।

विपिनपति (सं० पु०) बनका राजा, सिंह।

विपिनविहारी (सं० पु०) १ बनमें विहार करनेवाला, बनचारी। २ कृष्णका एक नाम।

विपीड़म् (सं० अव्य०) विशेषरूपसे पीड़ा देना।

विपुंसक (सं० त्रि०) पुंस्त्वरहित, पुरुषत्वसे हीन।

विपुंसी (सं० स्त्री०) वह स्त्री जिसकी चेष्टा, स्वभाव या प्रकृति पुरुषोंकी सी हो। (पारकरगृह्य २।७०)

विपुत्र (सं० त्रि०) विगतः पुत्रो यस्य। पुत्ररहित, जिसके कोई पुत्र न हो, पुत्रहीन।

विपुत्रा (सं० स्त्री) पुत्रहीना, वह स्त्री जिसके कोई पुत्र न हो।

विपुरीष (सं० त्रि०) मलमूत्रविवर्ज्जित।

विपुरुष (सं० त्रि०) विगतः पुरुषो यस्य। पुरुष-रहित, पुरुषहीन।

विपुल (सं० त्रि०) विशेषेण पोलतीति वि-पुल-महत्त्वे क। १ वृहत्, बड़ा। २ अगाध, बहुत गहरा। (पु०) वि-पुल-क ३ मेरुके पश्चिम एक भूधर। यह पर्वत सुमेरुके विष्कम्भ पर्वतका अन्यतम हैं। यहें एक पीठस्थान है। यहां विपुला देवी विराजित हैं। (देवीभा० ७।३०।६६) ४ हिमालय। ५ मगध देशकी प्राचीन राजधानी राजगृहके पासकी एक पहाड़ी। राजगृह देखो। ६ रोहिणीसे उत्पन्न वसुदेवके एक पुत्रका नाम। (भागवत ६।२४।४६) ७ सुमेरु।

विपुलक (सं० त्रि०) १ पुलकहीन, जिसे रोमाञ्च न हो। बहुत चौड़ा।

विपुलता (सं० स्त्री०) विपुलस्य भावः तल टाप्। विपुलका भाव या धर्म, बहुतायत, आधिक्य।

विपुलपार्श्व (सं० पु०) एक पर्वतका नाम।

विपुलमति (सं० पु०) १ एक बोधिसत्वका नाम। २ विपुलबुद्धि, (त्रि०) विपुला मतिः बुद्धिर्यस्य। बहुत बुद्धिमान्।

विपुलरस (सं० पु०) विपुलो रसो यत्र । १ इक्षु, ईख। (त्रि०) २ विपुल रसविशिष्ट, जिसमें खूब रस हो।

विपुलस्कन्ध (सं० त्रि०) १ विस्तृतायतन स्कन्धविशिष्ट जिसका कन्धा बहुत चौड़ा हो। (पु०) २ अर्जुनका एक नाम।

विपुला (सं० स्त्री०) वि-पुल क, ततस्त्रियां टाप्। १ पृथ्वी, वसुन्धरा। २ एक प्रकारका छन्द। इसके प्रत्येक चरणमें भगण, रगण और दो लघु होते हैं। ३ आर्याछन्दके तीन भेदोंमेंसे एक भेद। इसके प्रथम चरणमें १८, दूसरेमें १२, तीसरेमें १४ और चौथेमें १३ मात्राएं होती हैं। विपुल नामक पर्वतकी अधिष्ठात्री देवी। (देवीभागवत ७।३०।६६) ५ नदीभेद। ६ एक प्रसिद्ध सती जो बेहुलाके नामसे प्रसिद्ध है। बेहुला देखो।

विपुलास्रवा (सं० स्त्री०) विपुलं रसं आस्रवतीति आ स्रु-अच्-टाप्। घृतकुमारी, घीकुवार। (राजनि०)

विपुलिनाम्बुरुह (सं० त्रि०) वालुकामय तट और पद्म-शोभित सरित्। (किराता० ५।१०)

विपुष्ट (सं० त्रि०) विशेषरूपसे पुष्ट या वर्द्धित।

विपुष्प (सं० त्रि०) विगतं पुष्पं यस्मात्। पुष्पहीन, बिना फूलका।

विपुष्पित (सं० त्रि०) प्रफुल्लित, हर्षित।
(दिव्या० ५८५।१०)

विपूय (सं० पु०) विपु (विपूय विनीयेति पा ३।१।११७) इति कर्म्मणि क्यप्। १ मुञ्जतृण, मूंज। २ बहु पूयता।

विपूयक (सं० त्रि०) पूयहीन।

विपृकल् (सं० त्रि०) सर्वत्र व्याप्त, सब ओर चालित।
(ऋक् ५।२।३)

विपृच (सं० त्रि०) वियुक्त। (यजुः ६।४)

विपृथ (सं० पु०) विपृथु देखो।

विपृथु (सं० पु०) १ पृष्णिराजके एक पुत्रका नाम। (हरिवंश) २ पृथुराजके भाई। ३ चित्रकके एक पुत्रका नाम।

विपोधा (सं० त्रि०) मेधावीका धारक, मेधावी धारण करनेवाला। (ऋक् १०।४६।५)

विप्र (सं० पु०) वप्-र (ऋजेन्द्राग्रवज्रविप्रेति निपातनात् साधुः। उण् २।२८) ब्राह्मण। (अमर) विशेषेण प्राति पूरयति षट्कर्माणि वि-प्रा-डः। किम्वा उप्यते धर्मबीजमत्र इति वपेर्नाम्नीति रे निपातनादत इत्वम्। (भरत)

जो विशेषरूपसे यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन छः कर्मोंका आचरण करते हैं अर्थात् जो सर्वदा अपने और यजमानके यागादि कार्य्य सम्पन्न करते हैं और स्वयं वेदादि अध्ययन करते हैं और दूसरेको (छात्रोंको) पढ़ाते हैं तथा सत्पात्रको दान देते और सत्पात्रसे दान लेते हैं अथवा जिनमें धर्मबीज वपन किया जाता है अर्थात् जो धर्मके क्षेत्रस्वरूप या धर्म जिनमें अंकुरित होता हैं, उन्होंको विप्र कहते हैं।

भगवान् मनुने कहा है, कि ब्राह्मणकी उत्पत्ति होते ही उसे धर्मका अविनाशी शरीर समझना; क्योंकि यह ब्राह्मण-देह धर्मार्थोत्पन्न (अर्थात् वह उपनयन द्वारा संस्कृत हो कर द्विजत्व प्राप्त) होने पर धर्मानुगृहीत आत्मज्ञानके बलसे ब्रह्मत्वलाभको उपयुक्त है।

“उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्त्तिधर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥” (मनु १।९८)

प्रायश्चित्तविवेकमें लिखा है, कि ब्राह्मण अध्यात्मविद्यामें पारदर्शिता लाभ करने पर विप्रत्व और उपनयन आदि संस्कार द्वारा द्विजत्वक प्राप्त होते हैं। फिर ब्राह्मणकुलमें जन्म ले कर द्विजत्व और विप्रत्व लाभ करने पर वह श्रोत्रिय नामसे प्रसिद्ध होते हैं।

“जन्मना ब्राह्मणा ज्ञेयाः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियलक्षणम्॥”
(प्रायश्चित्तविवेक)

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें विप्र-पादोदक आदिका फल इस तरह लिखा है:—पृथ्वीमें जितने तीर्थ हैं वे सागरसङ्गममें विद्यमान हैं सागरसंगमके सभी तीर्थ ही एक विप्रपादपद्ममें विराजित हैं। अतएव एकमात्र विप्रपादोदक पान करनेसे पृथ्वीके यावतीय तीर्थवारि और यज्ञीय शान्त्योदक पानके और उस जलमें स्नानका फल लाभ होता है। पृथ्वी जब तक विप्रपादोदकसे परिप्लुता रहती है, तब तक पितृलोक पुष्करतीर्थका जलपान करते हैं। एकमास पर्य्यन्त भक्तियुक्त हो कर विप्रपादोदक पान करनेसे लोग महारोगसे भी विमुक्त होते हैं।

द्विज विद्वान हों या नहीं, यदि सदा सन्ध्या पूजा-द्वारा पवित्र हों और एकान्त चित्तसे हरिके चरणोंमें प्रीति रखते हों, तो उनको विष्णु सदृश जानना। क्योंकि, नियत सन्ध्या पूजादिका अनुष्ठान और हरिमें एकान्त भक्ति रहनेसे उनकी देह और मन इतना ऊंचा होता है, कि वे किसीके द्वारा हिंसित या अभिशप्त होने पर कभी भी प्रतिहिंसा या अभिशाप देनेमें उद्यत नहीं होते। हरिभक्त ब्राह्मण एक सौ गौकी अपेक्षा पूज्यतम हैं। इनका पादोदक नैवेद्यस्वरुप है। नित्य इस नैवेद्यका भोजन करनेसे लोग राजसूय यग्यका फल पाते हैं। जो विप्र एकादशीके दिन निर्ज्जल उपवास और सर्वदा विष्णुकी आराधना करते हैं, उनका पादोदक जहां पतित होता है, वहां एक तीर्थरूप समझना चाहिये। (ब्रह्मवै० पु० १।११।२६-३३)

ब्राह्मण देखो।

(त्रि०) २ मेधावी। ३ स्तोता, शुभकर्त्ता। "विप्रस्य वा यजमानस्य वा गृहम्" (ऋक् १०।४।१४) "विप्रस्य मेधाविनः स्तोतुर्वा' (सायण) (क्ली०) ४ अश्वत्थ, पीपल। ५ शिरीष वृक्ष, सिरिसका पेड़। ६ रेणुक, पापरका पौधा। (त्रिका) ७ जो विशेषरूपसे पूरण करते हैं।

विप्रकर्ष (सं० पु०) १ विशेषरूपसे आकर्षण। २ विकर्षण, दूर खींच ले जाना।

विप्रकर्षण (सं० क्ली०) १ विकर्षण, दूर खींच ले जाना। कर्मकरणान्त, किसी कर्म या कृत्यका अंत।

विप्रकर्षणशक्ति (सं० स्त्री०) वह शक्ति जिससे सभी परमाणु परस्पर दूरवर्त्ती होते हैं।

विप्रकार (सं० पु०) वि-प्र-कृ-घञ्। १ अपकार। २ तिरस्कार, अनादर। ३ खलीकार। (अव्य०) ४ विविध प्रकारसे।

विप्रकाश (सं० पु०) वि-प्र-काश-अच्। प्रकाश, अभिव्यक्ति।

विप्रकाष्ठ (सं० क्ली०) विप्रं पूरकं काष्ठं यस्य। तूलवृक्ष, नरमा या कपासका पौधा। (राजनि०)

विप्रकीर्ण (सं० त्रि०) वि-प्र-कृ-क्त। १ इतस्ततः विक्षिप्त, इधर उधर पड़ा हुआ, बिखरा हुआ। २ अव्यवस्थित, अस्त व्यस्त, गड़बड़।

विप्रकीर्णत्व (सं० क्ली०) विप्रकीर्णका भाव।

विप्रकृत् (सं० त्रि०) अनिष्टकारी, विरुद्ध कार्यकरनेवाला।

विप्रकृत (सं० त्रि०) वि-प्र-कृ-क्त। अपकृत, तिरस्कृत।

विप्रकृति (सं० स्त्री०) वि-प्र-कृ-क्तिन्। विप्रकार देखो।

विप्रकृष्ट (सं० त्रि०) वि-प्र-कृष-क्त। १ दूरवर्त्ती, दूरस्थ, जो दूरी पर हो। २ विप्रकर्षित, खींच कर दूर किया हुआ।

विप्रकृष्टक (सं० त्रि०) विप्रकृष्ट एव स्वार्थे कन्। दूरवर्त्ती, जो दूरी पर हो।

विप्रकृष्टत्व (सं० क्ली०) दूरत्व, दूरी।

विप्रकृति (सं० स्त्री०) १ विशेष संकल्प। २ अद्भुत प्रकृति।

विप्रचरण (सं० पु०) भृगुमुनिकी लातका चिह्न जो विष्णुके हृदय पर माना जाता है।

विप्रचित् (सं० पु०) दानवविशेष। इसकी पत्नीका नाम सिंहिका था। इसके द्वारा इस सिंहिकाके गर्भसे राहुकी उत्पत्ति हुई।

विप्रचित (सं० त्रि०) १ विप्रवत्। (पु०) २ दानवविशेष। वैप्रचित्त देखो।

विप्रचित्त (सं० पु०) विप्रचित्ति देखो।

विप्रचित्ति (सं० पु०) दनुके एक पुत्रका नाम। इसकी पत्नी सिंहिकाके गर्भसे राहुकेतु आदि एक सौ पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई थी।

विप्रजन (सं० पु०) १ उत्पत्ति। २ ब्राह्मण। ३ पुरोहित। ४ सौरचिवंशसे उत्पन्न ऋषिविशेष। (कातक २७।५)

विप्रजित्ति (सं० पु०) आचार्यभेद।

(शतपथब्राह्मण १४।५।५।२२)

विप्रजूत (सं० पु०) विप्रौ जूतः प्राप्तः। विप्र कर्त्तृक प्राप्त या प्रेरित। (ऋक् १।३।५)

विप्रजूति (सं० पु०) वातरशनगोत्रसम्भूत ऋषिभेद। आप एक वेदमन्त्रद्रष्टा ऋषि कह कर विख्यात थे।

विप्रणाश (सं० पु०) १ ब्राह्मणनाश। २ विशेषरूपसे ध्वंस।

विप्रता (सं० त्रि०) ब्राह्मणत्व।

विप्रतारक (सं० पु०) अतिशय प्रतारक, बहुत धोखा देनेवाला।

विप्रतारित (सं० त्रि०) वञ्चित।

विप्रतिकूल (सं० त्रि०) विरुद्धाचारी।

विप्रतिपत्ति (सं० स्त्री०) वि प्रति पद् क्तिन्। १ विरोध। २ संशयजनक वाक्य। "व्याहतमेकार्थं दर्शनं विप्रतिपत्तिः" 'व्याघातो विरोधोऽसहभाव इति। अस्त्यात्मेत्येकं दर्शनं नास्त्यात्मेत्यपरम् न च सद्भावासद्भावौ सह एकत्र सम्भवतः, न च अन्यतरसाधको हेतुरुपलभ्यते तत्रतत्त्वान धारणं संशय इति।'

(गौतम सू० १।१।२३ वात्सायनभाष्य)

जिस वाक्यमें दो पदार्थोंका विरोध, असहभाव (अर्थात् एकत्र अवस्थानका अभाव) दिखाई दे, वही संशयजनक वाक्य या विप्रतिपत्ति है। जैसे कोई कहता है, कि आत्मा (परमात्मा या ईश्वर) है, कोई कहता है, कि नहीं है। ऐसे स्थलमें देखा जाता है, कि रहना या न रहना इन दो पदार्थोंका एक एक अवस्थान किसी तरह सम्भव नहीं। क्योंकि युक्तिके अनुसार निर्दिष्ट है, कि सम आयतनक्षेत्रमें एक समय उभय पदार्थकी अवस्थिति हो नहीं सकती अर्थात् वर्त्तमानमें जहां एक घड़ा रखा है; वहां ही उसी समय दूसरा घड़ा नहीं रह सकता। या घड़ेका अभाव (घड़ेका न रहना) हो नहीं सकता। अतएव "आत्मा है और नहीं" ऐसा सुननेसे आत्माका रहना या न रहना इन दोनोंका एकत्र अवस्थानका अभाव प्रयुक्त और उनका एकत्र अवस्थान एकत्र हो सकता या नहीं, इन सब विषयोंमें अन्यतर युक्ति निर्णय न कर सकने पर वह श्रोताके मनमें विप्रतिपत्ति या संशयजनक वाक्य कहना प्रतीत होगा।

३ विपरीत प्रतिपत्ति; अख्याति। ४ निन्दित प्रतिपत्ति, मन्दख्याति, कुयशः।

"विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।"

(गो० सू० १।२।६०)

'विपरीता कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः।' (तभाष्य)

५ अन्यथाभाव। जैसे छाय विप्रतिपत्ति, स्वभावविप्रतिपत्ति है। "अर्थात पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति मध्यायं व्याख्यास्यामः।" (सुश्रुत सू० ३० अ०)

६ विकृति। 'शब्देऽविप्रतिपत्तिः'। (कात्याश्रौ०) 'प्रतिनिहित द्रव्येश्रुतशब्दः योज्यः। श्रुतद्रव्यबुध्या प्रतिनिध्युपादानात्शब्दान्तर प्रयोगे द्रव्यान्तरप्रसङ्गात्।'

(एकादशीतत्त्व)

प्रतिनिधि प्रभृति स्थलमें शब्दकी अविप्रतिपत्ति (अविकृति) होगी। अर्थात् जो द्रव्य प्रतिनिधि होगा, प्रयोगके समय उसका नाम उच्चारित न होगा। जिसके अभावमें वह द्रव्य प्रयुक्त होगा, उसीके नामकरणमें इस प्रतिनिधि द्रव्यका प्रयोग करना होगा। जैसे पूजाव्रत आदिमें देखा जाता है, कि किसी द्रव्यका अभाव होने पर उस स्थानमें अरवा चावल दिया जाता है। किन्तु कहनेके समय कहा जाता है—"एष धूपः" यह धूप, "एष दीपः" यह दीप, "एषोऽर्घ्यः" यह अर्घ्य, "देवतायै नमः" देवताके उद्देशसे मैं प्रणाम करता हूं। फलतः सब जगह ही धूप, दीप, अर्घ्य आदिके प्रतिनिधिस्वरूप केवल अरवा चावल दिया गया; किन्तु यह प्रतिनिधि द्रव्य (अरवाचावल) प्रयोग करनेसे श्रुतद्रव्य ही (धूप, दीप, अर्घ्य आदि) देते हैं, इस बुद्धिसे देना होगा। ऐसा व्यवहार न कर यदि प्रयोगके समय इस अरवा चावलका ही नाम लिया जाये, तब शब्दान्तरके प्रयोगहेतु द्रव्यान्तरका ही प्रसङ्ग आ जाता है। यदि किसी स्थलमें घृतके बदले तेल देना हो तो ऐसा ही समझना होगा अर्थात् मन्त्रमें तेल न कह घृत ही कहना होगा।

विप्रतिवध्यमान (सं० त्रि०) पापकारी; पाप करनेवाला।

विप्रतिपन्न (सं० त्रि०) विप्रति-पद्-क्त। विप्रतिपत्तियुक्त, सन्देहयुक्त। २ अस्वीकृत। ३ असिद्ध, जो साबित न हुआ हो।

विप्रतिषिद्ध (सं० त्रि०) वि-प्रति-षिध क्त। निषिद्ध, जिसका निषेध किया गया हो। (स्मृति) २ विरुद्ध, खिलाप। ३ निवारित, वर्जित।

विप्रतिषेध (सं० पु०) वि-प्रति-षिध-घञ्। विरोध, मेल न बैठना। अन्यार्थ दो प्रसङ्गोंकी अर्थात् दो विधियोंकी एक प्राप्ति होनेसे उसको विप्रतिषेध कहते हैं। एक समय इस प्रकार समान बलकी दो विधियोंकी प्राप्ति होनेसे परवर्त्ती विधिके अनुसार कार्य करना होता है।

विधि देखो।

विप्रतिसार (सं० पु०) वि-प्रति-सृ-घञ् वा दीर्घः। अनुताप, पछतावा। २ क्रोध, रोष।

विप्रतीप (सं० त्रि०) प्रतिकूल, विपरीत।

विप्रत्यय (सं० पु०) कार्य्याकार्य शुभाशुभ और हिताहित-विषयमें विपरीत अभिनिवेश। (चरक शा० ५ अ०)

विप्रत्व (सं० क्ली० विप्रका भाव या धर्म।

विप्रथित (सं० त्रि०) विख्यात, मशहूर।

विप्रदह (सं० पु०) विशेषेण प्रकृष्टश्च दह्यते इति दह-घ। फलमूलादि शुष्क द्रव्य। (शब्दच०)

विप्रदुष्ट (सं० त्रि०) १ पापरत। २ कामुक, कामी। ३ मन्द, नष्ट।

विप्रदेव (सं० पु०) भूदेव, ब्राह्मण।

विप्रधावन (सं० त्रि०) इधर उधर पगलेकी तरह तेजीसे चलना।

विप्रधुक् (सं० त्रि०) लाभकारी, हितकर।

विप्रनष्ट (सं० त्रि०) विशेषरूपसे नष्ट।

विप्रपद (सं० पु०) भृगुमुनिको लातका चिह्न जो विष्णुके वक्षःस्थल पर माना जाता है, विप्रचरण।

विप्रपात (सं० पु०) १ विशेषरूपसे पतन, बिलकुल गिर जाना। २ ब्रह्मपात। ३ ऊंचा ढालवाँ टाला। ४ खाई।

विप्रप्रिय (सं० पु०) विप्राणां प्रियः (यज्ञीयद्रुमत्वात्)। १ पलाश वृक्ष, ढाकका पेड़। २ ब्राह्मणका प्रेम-भाजन।

विप्रबन्धु (सं० पु०) १ गोपायन गोत्रीय मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भेद। २ वह ब्राह्मण जो अपने कर्मसे च्युत हो, नीच ब्राह्मण।

विप्रबुद्ध (सं० त्रि०) १ जागरित, जागा हुआ। २ ज्ञान-प्राप्त।

विप्रबोधित (सं० त्रि०) १ जागरित, जागा हुआ। २ विशेष रूपसे विख्यात, जो साफसाफ समझाया गया हो।

विप्रमठ (सं० पु०) ब्राह्मणोंका मठ। (कथासरित्सा० १८।१०५)

विप्रमत्त (सं० त्रि०) अतिशय प्रमत्त।
(कथासरित्सा० ३४।२५५)

विप्रमनस् (सं० त्रि०) अन्यमनस्क, अनमना।

विप्रमन्मन (सं० त्रि०) मेधाविस्तोता, मेधावीगण जिनका स्तव करते हैं।

विप्रमाथी (सं० त्रि०) मथनकारी, खूब मथनेवाला। २ ध्वंस या नष्ट करनेवाला। ३ आकुल या क्षुब्ध करनेवाला।

विप्रमादी (सं० त्रि०) १ विप्रमत्त। २ बहुत नशाखोर। ३ अमनोयोगी।

विप्रमोक्ष (सं० पु०) विमुक्ति, विमोचन।

विप्रमोक्षण (सं० क्ली०) विमोचन, विमुक्ति।

विप्रमोचन (सं० त्रि०) विमोचनके योग्य।

विप्रमोह (सं० पु०) १ विशेषरूपसे मुग्ध होना। २ चमत्कार।

विप्रमोहित (सं० त्रि०) १ विशेषरूपसे मुग्ध। २ चमत्कृत।

विप्रयाण (सं० क्ली०) पलायन, भागना।

विप्रयुक्त (सं० त्रि०) वि-प्र-युज-क्त। १ विश्लिष्ट, जो मिला न हो। २ बिछुड़ा हुआ। ३ जिसका विभाग हुआ हो।

विप्रयोग (सं० पु०) विगतः प्रकृष्टो योगो यत्र। १ विप्रलम्भ, वियोग, विरह। २ विसंवाद, बुरा समाचार। ३ विच्छेद, अलग होना। (मनु ६।१) ४ संयोगका अभाव।

विप्रयोगिन् (सं० त्रि०) १ विरही। २ विसंवाद।

विप्रराज्य (सं० क्ली०) १ ब्राह्मणराज्य। २ विशेषरूपसे राजत्व।

विप्रराम (सं० पु०) परशुराम।

विप्रर्षि (सं० पु०) ब्रह्मर्षि। (भारत ५ प०)

विप्रलपित (सं० त्रि०) १ विप्रलापयुक्त। २ आलोचित।

विप्रलप्त (सं० क्ली०) १ कथोपकथन, बातचीत। २ परस्पर वितण्डा, आपसमें तर्क वितर्क।

विप्रलब्ध (सं० त्रि०) विप्र-लभ-क्त। १ वञ्चित, रहित। २ विरहित, शून्य। ३ विच्छिन्न, वियोग दशाप्राप्त। ४ प्रतारित, जो छल द्वारा किसी लाभसे वञ्चित किया गया हो।

विप्रलब्धा (सं० स्त्री०) १ नायिकाभेद, वह नायिका जो सङ्केतस्थानमें प्रियको न पा कर निराश या दुःखी हो। इसकी चेष्टा—निर्वेद, निश्वास, सखीजनत्याग, भय, मूर्च्छा, चिन्ता और अश्रुपातादि। विप्रलब्धा फिर चार प्रकारकी है,—मध्या, प्रगल्भा, परकीया और सामान्य-विप्रलब्धा।

विप्रलब्धृ (सं० त्रि०) प्रवञ्चक, शठ, धूर्त्त।

विप्रलम्बक—विप्रलम्भक देखो।

विप्रलम्बी (सं० पु०) देवबर्बूरक, किङ्किरात वृक्ष।

विप्रलम्भ (सं० पु०) वि-प्र लभ-घञ् नुम्। १ विसंवाद, विरोध। २ वञ्चना, धोखा, छल। ३ विप्रयोग,

विरह, जुदाई। ४ विच्छेद, अलग होना। ५ विरुद्ध कर्म, बुरा काम। ६ कलह, झगड़ा। ७ अमिलन, वियोग। ८ अभिलषित वस्तुकी अप्राप्ति, चाही हुई वस्तुका न मिलना। ९ शृङ्गाररसभेद। १० शृङ्गारविशेष, युवकयुवतीका विच्छेद वा मिलन, जिस किसी अवस्था में अभीष्ट आलिङ्गनादिका अभाव रहने पर भी यदि दोनों आनन्द प्रकट करे, तो उसे विप्रलम्भ कहते हैं। यह सम्भोगका उन्नतिकारक है।

विप्रलम्भक (सं० त्रि०) १ प्रतारक, धूर्त्त। २ विसंवादी।

विप्रलम्भन (सं० क्लो०) १ अकृत्य आचरण, विरुद्ध कर्म। २ प्रतारण, ठगना।

विप्रलम्भिन् (सं० त्रि०) १ शठताकारी, धूर्त्त। २ वञ्चनाकारी, धोखा देनेवाला।

विप्रलय (सं० पु०) सर्वध्वंस, विशेषरूप प्रलय।

विप्रलाप (सं० पु०) वि प्र-लप् घञ्। १ प्रलापवाक्य, व्यर्थ बकवाद। २ कलह, झगड़ा। ३ वञ्चना, धोखा। ४ परस्परमें विरोध, आपसमें बुरा वचन। जैसे एकने मिठी बोलीमें कहा, क्या कल्याणी आई? दूसरेने रूखी बोलीमें जवाब दिया नहीं। ऐसे विरोधजनक आलापको विप्रलाप कहते हैं। ५ विरुद्ध प्रलाप।

विप्रलीन (सं० त्रि०) इतस्ततः विक्षिप्त, चारों ओर बिखरा हुआ।

विप्रलुप्त (सं० त्रि०) १ लुण्ठित, लूटा हुआ। २ अपहृत, जो चुराया हुआ। ३ जो गायब किया गया हो, उड़ा दिया गया हो। ४ जिसके कार्यमें विघ्न पहुंचाया गया हो।

विप्रलुम्पक (सं० त्रि०) १ अतिलोभी, बड़ा लालची। २ उत्पीड़क, अपने लाभके लिये लोगोंको सतानेवाला। ३ अधिक कर लेनेवाला।

विप्रलोप (सं० पु०) १ बिलकुल लोप। २ नाश।

विप्रलोभी (सं० त्रि०) १ अति लोभी, बड़ा लालची। २ वञ्चक, ठग, धूर्त्त। (पु०) ३ किङ्किरात वृक्ष।

विप्रवसित (सं० त्रि०) विदेशगत, परदेश गया हुआ।

विप्रवाद (सं० पु०) १ विवाद, कलह, झगड़ा। २ विरोधोक्ति, बुरे वचन।

विप्रवास (सं० पु०) १ विदेशमें वास, परदेशमें रहना। २ संन्यास आश्रममें एक अपराध जो अपने कपड़े दूसरेको देनेसे होता है।

विप्रवासन (सं० क्ली०) विदेशमें जा कर वास करना।

विप्रवाहन (सं० क्ली०) १ विशेष वाहन। २ खरस्रोत, तेज धार।

विप्रवाहस् (सं० त्रि०) मेधावीकर्तृक वहनीय, जो विद्वानोंसे ढोने लायक हो।

विप्रविद्ध (सं० त्रि०) अभिहत।

विप्रवीर (सं० त्रि०) विशेषरूप वीर्यशाली, खूब पराक्रमी।

विप्रव्रजनी (सं० स्त्री०) वह स्त्री जो दो पुरुषोंसे संबंध रखे।

विप्रव्राजिन् (सं० त्रि०) विशेषरूपसे गमनशील, खूब चलनेवाला।

विप्रशस्तक (सं० पु०) १ एक देशका नाम। २ उस देशका अधिवासी। (मार्क०पु० ५८।३४)

विप्रश्न (सं० पु०) ज्योतिषोक्त प्रश्नाधिकार, वह प्रश्न जिसका उत्तर फलित ज्योतिष द्वारा किया जाय।

विप्रश्निक (सं० पु०) वि-प्रश्न-ठन् (अत इनि ठनौ। पा ५।२।११५) दैवज्ञ, ज्योतिषी।

विप्रश्निका (सं० स्त्री०) दैवज्ञा, ज्योतिषिनी।

(अमर २।६।१)

विप्रष्ट (सं० पु०) एक यादवका नाम जो बलरामजीका छोटा भाई लगता था।

विप्रसात् (सं० अव्य०) ब्राह्मणका आयत्त। (रघु ११।८५)

विप्रसारण (सं० क्ली०) विस्तारकरण, विस्तार करना, फैलाना।

विप्रहाण (सं० क्ली०) १ त्याग। २ मुक्ति।

विप्रानुमदित (सं० त्रि०) सङ्गीत द्वारा उल्लासयुक्त, गीतसे प्रसन्न।

विप्रापण (सं० क्ली०) १ प्राप्ति, पाना। २ आत्मसात करण, हड़पना।

विप्राषिक (सं० पु०) भक्षक, खानेवाला।

विप्रिय (सं० क्ली०) विरुद्धं प्रीणातीति वि प्री-क। १ अपराध, कसूर। पर्याय—मन्तु, व्यलीक, आग। (हेम) (त्रि०) २ अप्रिय। ३ कटु। ४ अतिशय प्रिय। ५ वियोग।

विप्रुट् (सं० स्त्री०) विशेषेण प्रोषति दहति पापानि, वि-प्रुष्-क्विप्। १ पानीको छोटी छोटी बूंद या छींटा। "विप्रुषश्चैव यावन्त्यो निपतन्ति नभस्तलात्।" (भारत) २ मुखनिर्गत जलविन्दु, थूकका वह छींटा जो वेदपाठ करनेमें उड़ता है। मनुस्मृतिके अनुसार ऐसा छींटा अपवित्र नहीं है। कूर्मपुराणमें लिखा है, कि आयतनके समय मुखसे जो जलबिन्दु निकलती है, वह भी अपवित्र नहीं है।

विप्रुष (सं० क्ली०) पानीकी छोटी बूंद या छींटा। विप्रुट देखो।

विप्रुष्मत् (सं० त्रि०) विन्दु वेशिष्ट।

विप्रेक्षण (सं० क्ली०) वि-प्र-ईक्ष ल्युट्। विशेषरूपसे दर्शन, अच्छी तरह देखना।

विप्रेक्षित (सं० त्रि०) दृष्ट, जो देखा गया हो।

विप्रेत (सं० त्रि०) विगत, जो बीत गया हो।

विप्रेमन् (सं० त्रि०) अति प्रेमासक्त।

विप्रेषित (सं० त्रि०) विप्र-वस-क्त। १ प्रवासित, प्रवासमें गया हुआ। २ अनुपस्थित, गैरहाजिर।

विप्रोषित (सं० त्रि०) विपृषित देखो।

विप्रोषितभर्तृका (सं० स्त्री०) वह स्त्री जिसका पति या प्रेमी परदेश गया हो।

विप्लव (सं० पु०) वि-प्लु अप्। १ परचक्रादिका भय, दूसरे राष्ट्र द्वारा उपस्थित अशान्ति। २ उपद्रव, हंगामा। ३ राज्यके भीतर जनताकी अशान्ति और उद्धत आचरण, बलवा। ४ अव्यवस्था, उथल पुथल। ५ विपत्ति, आफ़त। ६ विनाश। ७ शत्रुको डरानेके लिये मचाया हुआ शोरगुल। ८ नावका डूबना। ९ जलकी बाढ़। १० घोड़ेकी बहुत तेज चाल। ११ वेदोंके अपूर्ण ज्ञान द्वारा उनका अनादर।

विप्लविन् (सं० त्रि०) वि-प्लु-णिनि। १ विप्लवयुक्त। २ जलप्लावी।

विप्लाव (सं० पु०) वि-प्लु घञ्। १ जलप्लावन, पानीकी बाढ़। २ अश्वकी प्लुतगति, घोड़ेकी बहुत तेज चाल।

विप्लावक (सं० त्रि०) १ जलप्लावनकारी, जलकी बाढ़ लानेवाला। २ राष्ट्रोपद्रवकारी, राज्यमें उपद्रव खड़ा करनेवाला, बलवाई विप्लवकारी, उपद्रव मचानेवाला।

विप्लावी (सं० त्रि०) १ विपर्य्ययकारी, उपद्रव करनेवाला। २ जलप्लावनजनक, जलकी बाढ़ लानेवाला।

विप्लुत (सं० त्रि०) १ व्यसनार्त्त, व्यसनके कारण किसी वस्तुके अभावमें व्याकुल, पर्याय—पञ्चभद्र, व्यसनी। (हेम) २ विक्षिप्त, छितराया हुआ। ३ आकुल, घबराया हुआ। ४ क्षुब्ध, दुःखी। ५ भ्रष्ट, पतित। ६ नियम प्रतिज्ञा आदिसे च्युत।

विप्लुता (सं० स्त्री०) योनिरोगविशेष। इसका लक्षण-प्रक्षालन नहीं करनेसे योनिमें खुजली होती है और उस खुजलाहटसे रतिमें उसे अधिक आसक्ति उत्पन्न होती है। इसीका नाम विप्लुतायोनि है। योनिरोग देखो।

विप्लुति (सं० स्त्री०) विप्लव, उपद्रव, हलचल।

विप्लुष् (सं० पु०) विप्रुष देखो।

विप्सा (सं० स्त्री०) वीप्सा देखो।

विफ (सं० त्रि०) फ-वर्णरहित। (पञ्चविंशब्रा० ८।५।७)

विफल (सं० त्रि०) विगतं फलं यस्य। १ निरर्थक, व्यर्थ। २ निष्फल, बेफायदा। ३ निराश, हताश। ४ फलरहित, जिसमें फल न रहता या लगा है। ५ अकृत कार्य, जिसके प्रयत्नका कुछ परिणाम न हुआ हो। ६ अण्डकोषरहित। (पु०) ७ वन्ध्याकर्कोटकीवृक्ष, बाँझ ककड़ी।

विफलता (सं० स्त्री०) १ निष्फलता। २ नैराश्य और व्यर्थता।

विफला (सं० स्त्री०) १ केतकी। (त्रि०) २ बिना फलकी, जिसमें फल न लगें। ३ जिसका कुछ परिणाम न निकले। ४ जो प्रयत्नमें कृतकार्य्य न हुई हो।

विफलीभू (सं० त्रि०) निष्फलीभूत।

विफाण्ट (सं० त्रि०) फाण्ट, कढ़ा बनाया हुआ। फायट देखो।

विबद्ध (सं० त्रि०) आबद्ध, बंधा हुआ।

विबन्ध (सं० पु०) १ आकलन, आलिङ्गन करना, गले लिपटना। "पादोदरविबन्धैः (महाभारत ७ द्रोण) २ विशेषरूपसे बन्धन, जोरसे बांधना। ३ वैद्यकोक्त आनाहरोगभेद। इसका लक्षण—आहारजनित अपकरस वा पुरीष

क्रमशः सञ्चित और विगुण वायु कर्त्तृक विबद्ध हो जब ठीक तरहसे नहीं निकलता तब अनाह रोग उत्पन्न होता है। अपक्वरसजनित आनाहमें तृष्णा, प्रतिश्याय, मस्तकमें ज्वाला, आमाशयमें शूल और गुरुता, हृदयमें स्तब्धता तथा उद्गाररोध आदि लक्षण दिखाई देते हैं। मलसञ्चयजनित आनाहरोगमें कटि और पृष्ठदेशकी स्तब्धता, मल मूत्रका विरोध, शूल, मूर्च्छा, विष्ठावमन, शोथ (आध्मान) पेट फूलना, अधोवायुका निरोध तथा अलसक रोगोक्त अन्यान्य लक्षण दिखाई देते हैं।

चिकित्सा—आनाहरोगमें भी उदावर्त्त रोगकी तरह वायुका अनुलोमतासाधन तथा वस्तिकर्म और वस्तिप्रयोग आदि कार्य हितकर हैं। उदावर्त्त रोगकी तरह ही इसकी चिकित्सा करनी होगी, क्योंकि दोनों हीके कारण और कार्य अर्थात् निदान लक्षणादि प्रायः एकसे हैं।

उदावर्त्तरोग देखो।

आनाहरोगकी विशेष औषध यह है—निसोथका चूर्ण २ भाग, पीपल ३ भाग, हरीतकी ५ भाग और गुड़ सबका समान भाग ले कर एक साथ घोंटे, पीछे चार आना वा आध तोला मात्रामें सेवन करनेसे आनाहरोगकी शान्ति होती है। वच, हर्रे, चितामूल, यवक्षार, पीपल, अतीस, और कूटज इन सब द्रव्योंका चूर्ण समान भागमें मिलावे। ४ या २ आना मात्रामें सेवन करानेसे आनाहरोगमें बहुत लाभ पहुंचता है। वैद्यनाथवटी, नाराचचूर्ण, इच्छाभेदीरस, गुड़ाष्टक, शुष्कमूलाद्य घृत और स्थिराद्य घृत आदि औषध आनाह और उदावर्त्त रोगमें व्यवहृत होती है।

पथ्यापथ्य—आनाह और उदावर्त्त रोगमें वायुशान्तिकर अन्नपानादि भोजन करे। पुराने बारीक चावलका भात कुछ गरम रहते घीके साथ रोगीको खिलावे। रुई, मंगुरी, शृङ्गी और मौरला मछलीका शोरबा, बकरे आदि मुलायम मांसका जूस और शूलरोगोक्त तरकारी इस रोगमें लाभजनक है। इसमें दूध भी दिया जा सकता है, किन्तु मांस और दूध एक साथ खाने न देना चाहिये। मिस्रीका शरबत, नारियलका पानी, पका पपीता, आंत, ईख, और अनार आदि भी उपकारक है। रातको ठीक तरहसे भूख न लगने पर जौका मांड और दूधके साथ लावा देना चाहिये और यदि भूख खूब लगी हो, तो ऊपर कहे गये अन्न आदि भी दिये जा सकते हैं। तेलकी अच्छी तरह मालिश करके कुछ उष्ण जलसे स्नान करे, किन्तु शिर पर उस जलको ठंढा करके देना होता है। क्योंकि शिर पर गरम जल देनेसे उपकारके बदले अपकार होता है।

उष्णजल शिरके नीचे जिस जिस अंगमें पड़ता है, उस उस अंगकी बलवृद्धि होती है और उत्तमाङ्गमें अर्थात् मस्तक पर उसका परिषेक करनेसे चक्षुरादिका बलह्रास होता है।

गुरुपाक, उष्ण वीर्य और रूक्षद्रव्य भोजन, रात्रि जागरण, परिश्रम, व्यायाम, पथपर्यटन तथा क्रोध, शोक आदि कार्य इस रोगके अनिष्टकारक हैं अतएव उनका सम्पूर्णरूपसे परित्याग करना उचित है।

४ मूत्रादिका अवरोध, कोष्ठबद्धता।

विबन्धक (सं० पु०) १ आनाह रोगभेद। २ विबन्ध।

विबन्धन (सं० क्ली०) विशेषरूपसे बन्धन; पीठ, छाती, पेट आदिके घाव या फोड़ेको कपड़ेसे विशेषरूपसे बांधनेकी युक्ति या क्रिया। (सुश्रुत)

विबन्धवन (सं० पु०) विबन्धन देखो।

विबन्धवर्त्ति (सं० स्त्री०) घोड़ेका शूलरोगभेद। इसमें उनका पेशाब बंद हो जाता है तथा पेट और नाड़ियोंमें जकड़ने-सी पीड़ा होती है।

विबन्धु (सं० त्रि०) १ बन्धुरहित, जिसके भाई बन्धु न हो। २ पितृहीन, अनाथ।

विबर्ह (सं० पु०) १ बर्ह, मोरका पंख। (त्रि०) बर्हविरहित, बिना पंख या पत्तोंके।

विबल (सं० त्रि०) १ दुर्बल, अशक्त। २ विशेष बलवान्। ३ बलरहित।

विबलाक (सं० त्रि०) अशनिपात रहित, जिससे विद्युत् नहीं निकलती हो।

विबाण (सं० त्रि०) बाणरहित, बाणशून्य।

विबाणज्य (सं० त्रि०) बाण तथा ज्या, तीर और डोरी।

विबाणधि (सं० त्रि०) बालधि।

विबाध (सं० त्रि०) बाधारहित।

विबाधा (सं० स्त्री०) विहेठन।

विबाधवत् (सं० त्रि०) बाधायुक्त ।

विबाली (सं० त्रि०) १ बालिरहित, बिना वालूके । २ विशेषरूप वालियुक्त, बलुई ।

विबाहु (सं० त्रि०) १ बाहुयुक्त । २ बाहुहीन ।

विबिल (सं० त्रि०) १ बिलविशिष्ट, बिलवाला । २ आबिल, बिना बिलका ।

विबुद्ध (सं० त्रि०) १ जागृत, जगा हुआ । २ बिकसित, खिला हुआ । ३ ज्ञान-प्राप्त, सचेत ।

विबुध (सं० पु०) विशेषण बुध्यते इति वि बुध्-क्त । १ देव, देवता । २ पण्डित, बुद्धिमान् । ३ चन्द्रमा । ४ विगतपण्डित, मूर्ख । ५ शिव । ६ एक राजाका नाम । ७ जन्मप्रदीप नामक ग्रन्थके रचयिता ।

विबुधगुरु (सं० पु०) सुरगुरु, वृहस्पति ।

विबुधतटिनी (सं० स्त्री०) स्वर्गङ्गा, सुरधुनी, आकाश गंगा ।

विबुधतरु (सं० पु०) कल्पवृक्ष ।

विबुधत्व (सं० क्ली०) देवत्व ।

विबुधधेनु (सं० स्त्री०) कामधेनु ।

विबुधपति (सं० पु०) देवताओंका राजा, इन्द्र ।

विबुधप्रिया (सं० स्त्री०) देवी, भगवती ।

विबुधवनिता (सं० स्त्री०) अप्सरा ।

विबुधराज (सं० पु०) देवराज ।

विबुधविलासिनी (सं० स्त्री०) १ देवाङ्गना, देवताकी स्त्री । २ अप्सरा, स्वर्गकी वेश्या ।

विबुधबेलि (सं० स्त्री०) कल्पलता ।

विबुधवन (सं० पु०) इन्द्रका उद्यान, नन्दनकानन ।

विबुधवैद्य (सं० पु०) देवताओंके वैद्य, अश्विनीकुमार ।

विबुधाधिप (सं० पु०) देवाधिपति, इन्द्र ।

विबुधाधिपति (सं० पु०) देवाधिपति, स्वर्गराज, इन्द्र ।

विबुधान (सं० पु०) वि-बुध-शानच् । १ आचार्य । २ पण्डित । ३ देव, देवता ।

विबुधानगा (सं० स्त्री०) देवताओंकी नदी, आकाशगङ्गा ।

विबुधावास (सं० पु०) १ देवमन्दिर । २ देवताओंका निवासस्थान, स्वर्ग ।

विबुधेतर (सं० पु०) असुर, दैत्य ।

विबुधेन्द्र आचार्य—पुरश्चरणचन्द्रिका नामक तन्त्र ग्रन्थके प्रणेता देवेन्द्राश्रमके गुरु । आप विबुधेन्द्र आश्रम नामसे भी परिचित थे ।

विबुभुषा (सं० स्त्री०) नाना प्रकारसे विस्तृतिकी इच्छा, अनेक प्रकारसे उत्पत्तिकी इच्छा अर्थात् स्थावरजङ्गमादि पदार्थोंमें विस्तृति या इसी प्रकार अनेक पदार्थरूपमें उत्पत्तिलाभकी इच्छा ।

विबुभूषु (सं० पु०) नाना प्रकारसे उत्पत्तिलाभेच्छु, वह जिसने नाना प्रकारसे उत्पत्तिलाभ करनेकी इच्छा की है ।

विबोध (सं० पु०) विगतो बाधः । १ अनवधानता । विशिष्टो बोधः । २ प्रबोध, अच्छा ज्ञान । ३ व्यभिचारी भावभेद । ४ द्रोणपक्षिके पुत्रका नाम । ५ ज्ञान, सचेत होना । ६ विकास, प्रफुल्लता । ७ जागरण, जागना ।

विबोधन (सं० स्त्री०) वि-बुध-ल्युट् । १ प्रबोधन, जगाना । २ जागरण । ३ ज्ञान कराना, आंख खोलना । ४ समझाना, बुझाना, ढारस देना । (त्रि०) वि बुध-ल्यु । ५ प्राप्तबोधक । (ऋक् ८।३।२)

विबोधित (सं० त्रि०) १ जागरित, जगाया हुआ । २ ज्ञापित, बतलाया हुआ । ३ विकासित, खिलाया या प्रफुल्लित किया हुआ ।

विब्रुवत् (सं० त्रि०) १ विरुद्धवक्ता । २ मौनी ।

विभक्त (सं० त्रि०) वि-भज-क्त । १ बिभिन्न, पृथक् किया हुआ । २ विभाजित, बंटा हुआ । ३ जो अपने पिताकी सम्पत्तिसे अपना भाग पा चुका हो और अलग हो (क्ली०) ४ विभाग । (पु०) ५ कार्त्तिकेय ।

विभक्तकोष्ठी (सं० स्त्री०) जीवभेद, जिनके शरीरके मध्य भागमें व्यवधान हो । (Nautilidae)

विभक्तज (सं० पु०) पैतृक धनविभागके बाद उत्पन्न सन्तान ।

विभक्तता (सं० स्त्री) पार्थक्य, पृथकता ।

विभक्ति (सं० स्त्री०) विभजनमिति संख्याकर्मादयोह्यर्था-विभज्यन्ते आभिरिति वा वि-भज-क्तिन् । १ विभाग, बांट । २ पार्थक्य, अलग होनेकी क्रिया या भाव । ३ रचना । ४ भङ्गी । ५ शब्दके आगे लगा हुआ वह प्रत्यय या चिह्न जिससे यह पता लगता है, कि उस शब्दका क्रिया-पदसे क्या सम्बन्ध है ।

संख्या और कर्मादिके परिचायक शक्तिविशिष्ट प्रत्ययको विभक्ति कहते हैं अर्थात् जिन सब प्रत्यय द्वारा संख्या (वचन)-के कारक तथा अवान्तर (अन्यान्य नाना प्रकारमें) अर्थका बोध होता है, वही विभक्ति हैं। सुप् और तिङ्के भेदसे यह दो प्रकारका है।

सुप्=सु, औ, जस् इत्यादि २१ हैं।

ये २१ प्रत्यय प्रत्येक भागमें तीन तीन करके ७ भागोंमें विभक्त हुए हैं। इन सातोंके नाम यथाक्रम प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्ति है। ये सातों विभक्तियां यथाक्रम अधिकांश स्थानोंमें कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, और अधिकरणकी परिचायक हैं। कारक शब्द देखो।

संस्कृत व्याकरणमें जिसे विभक्ति कहते हैं, वह यथार्थमें शब्दका रूपान्तरित अङ्ग होता है। जैसे—रामेण, रामाय इत्यादि। आजकलकी प्रचलित खड़ी बोलीमें इस तरहकी विभक्तियां नहीं हैं सिर्फ कर्म और सम्प्रदान कारकके सर्वनामोंमें विकल्पसे आती हैं। जैसे,—मुझे, तुझे, इन्हें इत्यादि। संस्कृतमें विभक्तियोंके रूप शब्दके अन्त्य अक्षरके अनुसार भिन्न भिन्न होते हैं; लेकिन यह भेद खड़ी बोलीके कारकोंमें नहीं पाया जाता जिनमें शुद्ध विभक्तियोंका व्यवहार नहीं होता, कारक-चिह्नोंका व्यवहार होता है।

हिन्दीमें विभक्तियोंके सम्बन्धमें बड़ी गड़बड़ी चल रही है। इन सब गड़बड़ियोंको देख कर स्वर्गीय पण्डित गोविन्दनारायण मिश्रने "हितवार्त्ता" नामक साप्ताहिक हिन्दी समाचारपत्रमें धारावाहिक रूपसे लेखमाला प्रकाशित कराई थी। आगे चल कर उन्हीं लेखोंको स्वर्गीय मिश्र जीने पुस्तकाकारमें छपाया था। पाठकोंके जानकारीके लिये इसका विस्तृत विवरण हिन्दी भाषा शब्दमें लिखा गया है। हिन्दीभाषा देखो।

विभक्तृ (सं० त्रि०) वि-भज-तृच्। विभागकारी, बांटनेवाला।

विभग्न (सं० त्रि०) १ विभिन्न, अलग किया हुआ २ टूटा फूटा हुआ।

विभङ्ग (सं० पु०) १ विन्यास, गठन या रचना। २ टूटना। ३ विभाग। ४ क्रम या परम्पराका टूटना। ५ थामना, रोकना, बाधा देना। ६ भ्रूभङ्गी, भौंकी चेष्टा। ७ मुखका भाव या चेष्टा।

विभङ्गिन् (सं० त्रि०) तरङ्गायित, ढेव खाया हुआ।

विभज (सं० क्ली०) कालपरिमाणभेद।

विभजनीय (सं० त्रि०) १ विभागयोग्य, बांटने लायक। २ भजनार्ह, भजन करनेके लायक।

विभज्य (सं० त्रि०) १ विभागयोग्य। २ भजनार्ह।

विभज्यवादी (सं० त्रि०) बौद्धसम्प्रदायभेद।

विभञ्ज (सं० क्ली०) १ टूटना फूटना। २ नाश, ध्वंस।

विभञ्जनु (सं० त्रि०) १ भङ्गत्राण। २ भञ्जनशील।

विभण्डक—ऋषिभेद। विभाण्डक देखो।

विभय (सं० क्ली०) १ निर्भय। २ विशेष भय।

विभरट्ट—राजभेद। (तारनाथ)

विभरत—विभरट्ट देखो।

विभव (सं० पु०) १ धन, संपत्ति। (मनु ४।३४) २ मोक्ष, जन्म मरणसे छुटकारा। ३ ऐश्वर्य, शक्ति। ४ साठ संवत्सरोंमेंसे छत्तीसवां संवत्सर। इस वर्षमें सुभिक्ष, क्षेम, आरोग्य, सभी व्याधिमुक्त, मानवगण प्रशान्त, वसुन्धरा बहुशस्यशाली तथा सब कोई हृष्ट और तुष्ट होते हैं। ५ द्रव्य, विषय। ६ औदार्य्य। ७ संसारसे विमुक्ति। ७ आधिक्य, बहुतायत। ८ सह्याद्रिवर्णित वाक्पतिराजके पुत्र। पीछे ये भी राजा हुए।

विभवमद (सं० पु०) धनमद, धनका अहङ्कार।

विभववत् (सं० त्रि०) १ ऐश्वर्य्यशाली, विभववाला। २ शक्तिशाली, बलवान्।

विभववान् (सं० त्रि०) विभववत् देखो।

विभवशाली (सं० त्रि०) १ विभववाला। २ ऐश्वर्यवाला, प्रतापवाला।

विभस्मन् (सं० त्रि०) भस्महीन।

विभाँति (हिं० स्त्री०) १ भेद, किस्म। (वि०) २ अनेक प्रकारका। (अव्यय) ३ अनेक प्रकारसे।

विभा (सं० स्त्री०) वि-भा-क्विप्। १ आलोक, रोशनी। २ प्रकाश, कान्ति, चमक। ३ किरण। ४ शोभा, सुन्दरता। (त्रि०) ५ प्रकाशक।

विभाकर (सं० पु०) वि-भा-कृ-ट (दिववानिभानिशेति। पा। ३।२।२१) १ सूर्य। २ अर्कवृक्ष, मदार। ३ चित्रकवृक्ष,

चीतेका पेड़। ४ अग्नि। ५ राजा। (त्रि०) ६ प्रकाशशील, प्रकाशवाला।

विभाकर आचार्य—प्रश्नकौमुदी नामक ज्योतिर्ग्रन्थके रचयिता।

विभाकर वर्मन्—एक प्राचीन कवि।

विभाकर शर्मन्—एक प्राचीन कवि।

विभाग (सं० पु०) वि-भज घञ्। १ भाग, अंश, हिस्सा। २ दाय या पैतृक सम्पत्तिका अंश। विशेषरूपसे भाग या स्वत्वज्ञापनको विभाग कहते हैं।

भूहिरण्यादि अर्थात् भूमि और सोना आदि स्थावरा स्थावर सम्पत्तिमें उत्पन्न स्वत्वके किसी एक पक्षके हक पानेके विषयमें विनिगमता प्रमाणाभावसे अर्थात् एकतर पक्षपाति-प्रमाणके अभावमें वैशेषिक नियमसे उस सम्पत्ति विभागके अनुपयुक्त होने और इसके सम्बन्धमें सिवा इसके (वैशेषिक मतके सिवा) दूसरे किसी तरहकी सुव्यवस्था आदि न रहनेसे गुटिकापातादि द्वारा जो स्वत्व निरूपण होता है, उसीका नाम विभाग है।

अभिज्ञताके साथ विशेष विवेचनापूर्वक स्वत्वादिके अंश निरूपणको अथवा जिससे विशेषरूपसे स्वत्वादि परिज्ञात हो सके, उसीको विभाग कहते हैं।

देवर्षि नारदका कहना है—किसी सम्पत्तिसे पूर्व स्वामीका स्वत्व उपरत होने पर अर्थात् किसीकी त्याज्य सम्पत्तिमें उसके बहुत दूरके उत्तराधिकारियोंमें शास्त्र अथवा प्रमाणानुसार नैकट्य सम्बन्धनिर्णयमें असमर्थ होने पर देशप्रथानुयायी नियमसे गुडगोटी (गुटिकापात) डाल कर इन सब संपत्तियोंका स्वत्व-निर्णय किया जाता है, उसको ही विभाग कहते हैं।

धर्मशास्त्रनिबन्धमें सम्पत्ति-विभागके संबन्धमें ऐसी व्यवस्था दिखाई देती है—

पिताकी अपनी कमाई धन सम्पत्तिमें जब उनकी इच्छा हो, तभी विभाग हो सकता है, किन्तु पितामहके धनमें माताकी रजोनिवृत्ति होने पर पिताकी जब इच्छा होगी, तभी उसका विभागकाल है।

माताकी जगह यहां विमाताको भी समझना होगा। क्योंकि, विमाताके गर्भसे भी पिताका दूसरा पुत्र उत्पन्न हो सकता है। वस्तुतः माता और विमाताके रजोनिवृत्ति होने पर या उनकी रजोनिवृत्तिके पूर्व पिताकी रतिशक्ति निवृत्त होने पर यदि पिताकी इच्छा हो, तो वह सम्पत्तिका विभाग कर सकता है। पितृ द्वारा विभक्त मनुष्य विभागके बाद उत्पन्न भ्राताको भी भाग देंगे।

पिताके स्वोपार्जित धनमें वे अपनी इच्छाके अनुसार धनका विभाग कर सकते हैं। स्वोपार्जित धनमें पिता सब तरहसे स्वतन्त्र हैं, किन्तु पितामहके उपार्जित धनमें ऐसा नहीं हो सकता। स्वोपार्जित धनसे पिता किस पुत्रको गुणी जान कर सम्मानार्थ अथवा अयोग्य जान कर कृपासे किंवा भक्त जान कर भक्तवत्सलताके कारण अधिक दानेच्छु हो कर न्यूनाधिक विभाग करें तो धर्मसङ्गत ही होगा। किन्तु इस तरहके भक्तित्व आदिका कोई कारण न रहने पर यदि पिता धनके बँटवारेमें न्यूनाधिक करते हैं, तो वह धर्मसंगत नहीं कहा जा सकता। किन्तु पूर्वोक्त कारणोंसे उनका ऐसा करना धर्मसंगत ही है। अत्यन्त व्याधि और क्रोधादिके लिये आकुलचित्तताके कारण या काम आदिके विषयमें अत्यन्त आसक्तिके कारण पिता यदि पुत्रको अधिक या कम भाग दें अथवा कुछ भी न दें तो उनका वह विभाग नहीं होता।

पिता यदि पुत्रको भक्तिके कारण न्यूनाधिक भाग दें, तो वह विभाग शास्त्रसिद्ध और धर्मसङ्गत है। पिता यदि रोगादिसे व्याकुल हो कर न्यूनाधिक विभाग करें या किसी पुत्रको कुछ न दें, तो वह विभाग असिद्ध है। किन्तु भक्तत्वादिके कारण बिना और व्याध्यादिके कारण अस्थिरचित्तता बिना केवल स्वेच्छापूर्वक न्यूनाधिक विभाग करें, तो वह धर्मसंगत नहीं, किन्तु सिद्ध है। यदि पुत्र एक समयमें विभागकी प्रार्थना करे, तो पिता भक्तत्वादिके कारण असमान भाग न करें।

पुत्रोंको समान भाग देने पर पुत्रहीना पत्नियोंको भी समान भाग देना होगा। भर्त्ता आदि स्त्रीधन न देने पर (स्त्रियोंको) समान अंश देना उचित है। जिनको स्त्रीधन दिया जा चुका है, उनके समान धन अपुत्रा पत्नियोंको पिता देंगे। ऐसा स्त्रीधन न रहने पर उनको पुत्र समभाग देना कर्त्तव्य है। परन्तु पुत्रोंको कम दे कर स्वयं अधिक लेने पर (पुत्रहीना) पत्नीको अपने अंशसे समभाग देना कर्तव्य है। यदि स्त्रीधन दिया गया

हो, तो उस हिस्सेका आधा ही देनेसे काम चल जायेगा।

भार्य्या माताके पाये भागको यदि भोग द्वारा व्यय कर डाले, तो स्त्री पतिसे फिर जीविका-निर्वाहके लिये धन पानेकी हकदार है। क्योंकि वह अवश्य पोष्य है।

हां, यदि उसके भागसे कुछ धन बाकी बच गया हो फिर पतिके धनका अन्त हो गया हो, तो जैसे पुत्रोंसे वह ले सकते हैं तैसे स्त्रोसे भी फिर धन ले सकते हैं। क्योंकि दोनोंमें एक ही कारण है।

पत्नी विभागप्राप्त धन न्याय्य कारणके बिना दान या विक्रय नहीं कर सकते हैं अथवा बन्धक भी नहीं रख सकते। यह धन यावज्जीवन भोग करते रहेंगे, उसके बाद पूर्वस्वामीके उत्तराधिकारी भोगावशिष्ट धन पायेंगे

जो धन पिता द्वारा उपार्जित होता है, वही अपना प्रकृत स्वोपार्जित है। पितामहका हृतधन पुनरुद्धार करने पर भी वह उसे स्वोपार्जितवत् उपभोगमें ला सकते हैं। पूर्वाहृत भूमि एक आदमी परिश्रम कर यदि उद्धार करें, तो उसको चार अंशका एक अंश दे कर दूसरे अपने अपने भाग ले लें। पैतामह स्थावरसम्पत्ति रहने पर अस्थावर पैतामह धनमें स्वोपार्जितकी तरह पिता ही मालिक हैं। वे ही न्यूनाधिक विभाग कर सकते हैं।

पिता अपने पितासे सम्बन्धजन्य जो भूमि, निबन्ध और द्रव्य पाये हों, वह व्यवहारमें पैतामह धनमें गिना जायेगा। क्योंकि उसमें स्वोपार्जित धनकी तरह पिताका प्रभुत्व नहीं है। वह धन क्रमागत पैतामह धनकी तरह व्यवहार करना चाहिये।

मातामह आदिके मरने पर जो धन मिले, उसका व्यवहार स्वोपार्जितकी तरह किया जा सकता है।

पितामहके धनका जब पिता विभाग करें, तो उसका स्वयं दो अंश ले कर पुत्रोंको एक एक अंश देंगे। क्रमागत धनसे पिता दो भाग ग्रहण करें। इससे अधिककी लालसा करने पर भी वे न ले सकेंगे। पूर्वोक्त गुणवत्त्वादि कारणोंसे और भूमिनिबन्ध या द्विपद रूप पैतामह धनका न्यूनाधिक विभाग देनेकी क्षमता पिताको नहीं।

पिता पुत्रको जैसे उसके योग्य अंश दें, वैसे ही पितृहीन पौत्रको और पितृपितामहहीन प्रपौत्रको पितृपितामह उनके योग्य अंश दें।

पुत्रार्ज्जित धनमें भी पिताका दो भाग है। पितृद्रव्यके उपघातमें पुत्रके उपार्ज्जित धनमें पिताको आधा तदर्ज्जक पुत्रको दो अंश और अन्य पुत्रोंको एक एक अंश देना चाहिये। पितृद्रव्यके उपघात बिना अर्ज्जित धनमें पिताको दो अंश, अर्जकपुत्रको भी दो अंश और अन्यान्य पुत्रोंको कुछ भी अंश नहीं देना चाहिये। अथवा विद्यादिगुणयुक्त पिता आधा लें। विद्याविहीन पिता केवल जनककी हैसियतसे ही दो अंश लें।

यदि कोई पुत्र अपने परिश्रमसे भ्रातृधनके उपघातसे उपार्ज्जन करे, तो उसमें पिताको दो अंश और इन दोनों पुत्रोंको एक एक अंश दे दे। यदि कोई भाईके धनसे तथा अपने परिश्रम और धनसे धन उपार्जन करे, तो तदर्जकका दो अंश, पिताका दो अंश और धनदाताका एक अंश होगा। दोनों अवस्थामें ही अन्यान्य भ्राताओंका कुछ भी अंश नहीं है।

जिस पौत्रके पिता जीवित हैं, तदर्जित धन पितामह न लें; किन्तु पिता लें।

मरणपातित्व या उपरतस्पृहा द्वारा या गृहाश्रम त्याग करनेसे पिताका स्वत्व ध्वंस होने पर या स्वत्व रहते हुए भी उनकी इच्छा होने पर (पितृधन) विभागमें पुत्रोंका अधिकार हो जाता है। अतएव उस समयसे भ्रातृविभागकाल समझना चाहिये। फिर भी, माताके जीवित रहते भी विभाग करना धर्म्म नहीं अर्थात् धर्मतः सिद्ध नहीं है; किन्तु व्यवहारमें सिद्ध है। पिता-माताके जीवित रहने पर पुत्रोंका एकत्र रहना ही उचित है। पिता माताके मर जाने पर या न रहने पर पृथक् होनेसे धर्मकी वृद्धि होती है। (व्यास) पितामाताके ऊर्द्धगमन करने पर पुत्रोंको चाहिये आपसमें मिल कर धनका भाग कर ले। किन्तु पिताके जीवित रहने पर पुत्र उस धनका मालिक नहीं है। (मनु) फिर भी, माताका अनुमति ग्रहण कर विभाग करने पर धर्मविरुद्ध नहीं होता। बहनोंका विवाह कर लेना आवश्यक होगा।

पिताके कर्माक्षम होने पर पुत्र विभाग करनेमें स्वाधीन है। क्योंकि हारीतका कहना है—'पिताके जीवित रहने पर धनग्रहण और व्यय तथा बन्धक विषयमें पुत्र स्वाधीन नहीं है। किन्तु पिता जराग्रस्त हो जायें या प्रवासी हो जाये या रुग्न हों तो ज्येष्ठ पुत्र विषयकर्म

देखे।' शंखलिखित सुव्यक्तरूपसे कहा है—'पिताके अशक्त हो जाने पर ज्येष्ठ पुत्र विषयकार्य्य निर्वाह करे अथवा कार्य्यशील दूसरा भ्राता उनकी आज्ञा ले कर उसका कार्य्य करे। किन्तु पिता वृद्ध, विपरीतचित्त अथवा दीर्घ रोगी होने पर भी उसकी इच्छा न होने पर विभाग नहीं हो सकता। ज्येष्ठ ही पिताकी तरह अन्यान्य भ्राताओंकी विषयरक्षा करे, (क्योंकि) परिवारका पालन धनमूलक है। पिताके रहते वे स्वाधीन नहीं हैं, माताके रहते भी नहीं।' इस वचनसे पिताका कर्माक्षम अथवा दीर्घरोगी होने पर भी विभाग निषिद्ध है। ज्येष्ठ पुत्र ही विषयकी चिन्ता करे या उसका छोटा भाई यदि कार्य्यदक्ष हो तो वही उसकी अनुमतिसे कार्य्य चलाये। अतएव पिताकी इच्छा न होने पर विभाग नहीं हो सकता', यह कहे जानेसे पिताके कर्माक्षम होने पर जो धन विभाग होगा, वह भ्रान्ति वशतः लिखागया है।

सवर्ण भ्राताओंका विभाग उद्धारपूर्वक या समान इन दोनों तरहसे कहा गया है।

मनुके मतसे "विंशोद्धार और सब द्रव्योंमें जो श्रेष्ठ है, वह ज्येष्ठका है, उसका आधा मध्यमका, और तृतीयांश अर्थात् अस्सी भागमें १ भाग कनिष्ठका है। ज्येष्ठ और कनिष्ठ कथितरूपसे ही विभाग लें। ज्येष्ठ और कनिष्ठके सिवा अन्यान्य भ्राता मध्यमरूप उद्धार पायेंगे। सब तरहके धनमें जो श्रेष्ठ और जो सब उत्कृष्ट है, वे और गाय आदि दश पशुओंमें जो श्रेष्ठ है, वह ज्येष्ठ पुत्रको लेना चाहिये। जो भाई अपने कर्त्तव्यमें निपुण हैं, उनमें दश वस्तुओंसे श्रेष्ठोद्धार नहीं; केवल मानवर्द्धनके लिये ज्येष्ठको किञ्चित् अधिक देना होगा। यदि उद्धार उद्धृत न हो, तो इसी तरहसे उनके अंशकी कल्पना करनी होगी। ज्येष्ठ पुत्रको दो भाग और उससे छोटेको डेढ़ भाग देना चाहिये और उससे सभी छोटे भाई समान एक-एक अंश लें। यही धर्मशास्त्रकी व्यवस्था है। ज्येष्ठा स्त्रीके गर्भसे कनिष्ठ पुत्र उत्पन्न होनेसे और कनिष्ठ स्त्रीके गर्भसे ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न होनेसे किस प्रकार विभाग करना होगा? इस तरहके संशय होने पर ज्येष्ठ एक वृषभका उद्धार कर ले, अपने अपने मातृक्रमसे उससे छोटा भाई उससे छोटा वृषभ या बैल ले। ज्येष्ठा स्त्रीका गर्भज ज्येष्ठ पुत्र वृषभ और दश गाय ले। इसके बाद अन्यान्य पुत्र अपने अपने मातृक्रमसे लें।

मनु और वृहस्पतिका कहना है, कि द्विजातियोंके जो पुत्र सवर्णा स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुए हों, उनमें अन्यान्य भाई ज्येष्ठको उद्धार दे कर अपने सम भाग ले।

वृहस्पतिका मत—दायादोंमें दो तरहका विभाग है। एक वयोज्येष्ठ क्रमसे और दूसरा समअंशकी कल्पना। जन्म, विद्या और गुणसे जो ज्येष्ठ हैं, वे दायरूप धनके दो अंश पायेंगे और अन्यान्य भाई सम भागके भागीदार होंगे। ज्येष्ठ उनके पितृतुल्य है।

वशिष्ठका कहना है—'भाइयोंमें दायका दो अंश और प्रत्येक दश दश गाय और घोड़ोंमें एक एक ज्येष्ठ लें और बकरा भेड़ा और एक घर कनिष्ठ तथा कृष्णलौह और गृहके उपकरण या द्रव्यादि मध्यम लें।' विष्णुके मतसे—'सवर्णा स्त्रीका गर्भज पुत्र समान भाग लें, किन्तु ज्येष्ठको श्रेष्ठ द्रव्य उद्धार कर दें।'

हारीतके मतसे—'गो आदि पशुओंका भाग करनेके समय ज्येष्ठको एक वृषभ दे अथवा श्रेष्ठ धन दे और उन्हें विग्रह तथा पितृगृह दे कर अन्य भ्राता बाहर निकल कर गृहनिर्माण करें। एक गृह रहने पर उसका उत्तमांश ज्येष्ठको दें और अन्य भ्राता क्रमसे (उत्तम अंश) लें।'

आपस्तम्बने कहा है—'देशविशेषमें सुवर्ण, काली गाय, भूमिका कृष्ण शस्य और पिताके सभी पात्र ज्येष्ठके हैं।'

शङ्खलिखितके मतसे—'ज्येष्ठको एक वृषभ और कनिष्ठको पिताके अवस्थानके सिवा अन्य घर भी दिया जा सकता है।'

गोतमकी व्यवस्था है, कि '(दायका) बीस भाग, एक जोड़ा (गाय), दोनों जबड़ोंमें दाँत हो ऐसे पशुओंसे जुता रथ और गुर्विणी करनेके लिये वृष ज्येष्ठको और अन्धा, बूढ़ा, सिंग टूटा, वण्डा पशु मध्यम भाईको। यदि ऐसे पशु बहुत हों तो बांध, धान्य, लौह, गृह, गाड़ी और प्रत्येक चौपाओंमें एक एक कनिष्ठोंको

और अवशिष्ट धनमें सबका समभाग होगा । (सवर्णा कनिष्ठा स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न) ज्येष्ठ पुत्र एक बैल अधिक पायेगा, (सवर्णा) ज्येष्ठा स्त्रीका पुत्र १ बैल और १५ गायें ले। कनिष्ठाके गर्भज पुत्रको जो उद्धार मिलेगा, उतना ही ज्येष्ठाके कनिष्ठ पुत्रको मिलना चाहिये। ज्येष्ठ इच्छानुसार पहले एक चीज ले और पशुओंमें दश ले।'

"सबको अविशेषरूपसे समान भाग दिया जाये अथवा ज्येष्ठ श्रेष्ठ द्रव्य या दश भागका एक भाग उद्धार कर ले, दूसरे समान भाग ले।" यह श्रुति बौधायनके वचनमें ज्येष्ठको श्रेष्ठ द्रव्य और गाय आदि एक जातीय पशुओंमें दशमें एक देनेको कहा गया है।

बौधायनके मतसे—"पिताके अवर्त्तमान रहने पर चार वर्णोंके क्रमानुसार गो, अश्व, बकरा, भेड़ा बड़े भाईको मिलेगा।"

नारदका कहना है, कि 'ज्येष्ठको अधिक भाग दातव्य है और कनिष्ठको कम। अन्यान्य भाई समान अंशके भागीदार हैं और अविवाहिता बहन भी ऐसी ही अंशोदार है।'

देवलका कहना है, कि 'समान गुणयुक्त भ्राताओंको मध्यम भाग प्राप्य है और ज्येष्ठ भाईके न्यायकारी होने पर उसको दशम भाग देना होगा।'

इस तरह धर्मग्रन्थकारोंने विविध रूपसे जो उद्धार विधान किया है, उसका समन्वय भी दुष्कर है;। जो हो, अवस्थाविशेषमें इन सबोंका एक तरहसे उद्धार देनेका तात्पर्य्य मालूम हो सकता है; किन्तु यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है, कि गुणान्वित भाई ही उसके उद्धारार्ह है। बृहस्पतिने यह स्पष्ट रूपसे कहा है, कि कथित विधानके अनुसार सभी पुत्र ही पितृधनहारी है। किन्तु उनमें जो विद्यावान् और धर्मकर्मशील हैं, वह अधिक पानेके अधिकारी हैं। विद्या, विज्ञान, शौर्य्य, ज्ञान, दान और सत्क्रिया इन सब विषयोंमें जिसकी कीर्त्ति इस लोकमें प्रतिष्ठित हो, उसी पुत्रसे पितृलोक पुत्रवन्त होता है। और ऐसा भी नहीं, कि निर्गुण दुष्कर्मशाली भाई केवल विंशोद्धार पानेके अयोग्य है। किन्तु दायाधिकारी भी नहीं, यथा—निम्न लिखित पंक्तियां विवादभङ्गार्णवसे दी जाती हैं—

जो ज्येष्ठ भाई ज्येष्ठका आचरण करते हैं, पिता भी वही और माता भी वही हैं। ज्येष्ठका आचरण जो ज्येष्ठ नहीं करते है, वह बन्धुकी तरह मान्य है। फिर निर्गुण ज्येष्ठके ज्येष्ठत्वके सम्बन्धमें विंशोद्धारादि रूप अधिक भागकी प्राप्ति निषिद्ध है। इसके बाद कुकर्म्मकारी भ्रातामात्र ही विषय धनमें भाग पानेका अधिकारी नहीं है। इस वाक्यसे गर्हित कर्म करनेवाले ज्येष्ठ आदि सभी भाई विषय पानेके अनधिकारी हैं और उद्धार प्राप्तिके लिये ज्येष्ठत्व और गुणवत्त्व दोनों ही आवश्यक कहे गये हैं।

इस समय यथार्थमें उद्धार दानरहित ही हो गया है। फिर उद्धारार्ह भ्राताके रहने पर भी भ्राताओंके उद्धार न देने पर वे अभियोग लगा कर नहीं ले सकते।

विवादभङ्गार्णवके रचयिताने कहा है, कि इस समय हमारे देशमें विंशोद्धारादिका व्यवहार प्रायः ही नहीं है। केवल कुछ द्रव्य ज्येष्ठकी मान-रक्षाके लिये दिया जाता है। यद्यपि ज्येष्ठ पुन्नरकनिस्तारादि पिताके महोपकार करनेके कारण अन्यान्य भ्राताओंसे कुछ अधिक पानेके अधिकारी हैं, तथापि वह दान कनिष्ठोंकी इच्छा पर ही निर्भर करता है। क्योंकि किसी ऋषिने ऐसा नहीं कहा है, कि कनिष्ठके न देनेसे ज्येष्ठ दावा करके ले सके।

'बहिर्वर्णके चरित्रानुसार और यमकके अग्रजन्मानुसार ज्येष्ठता निश्चय नहीं'—(गौतम) बहिर्वर्ण अर्थात् शूद्र। बहुवचनके कारण शूद्रधर्मग्राही शंकरचरितमें अर्थात् सुशीलतामें ज्येष्ठता होती है। अतएव वे जन्म द्वारा ज्येष्ठ कह कर उद्धारार्ह नहीं होते। वाचस्पतिका कहना है, कि 'शूद्रजन्मके लिये ज्येष्ठांशभागी नहीं होते।' मनु कहते हैं—'शूद्रकी सजातीया भार्य्या वैध है। उसके गर्भमें सौ पुत्र जन्म लेने पर भी वे सभी समान भाग पावेंगे। यहां समान अंश कहनेसे ज्येष्ठत्व प्रयुक्त उद्धार प्राप्य नहीं है यही दिखाया गया है। यदि कहा जाय, उनमें विद्वान् और कर्मशाली जो हैं वे अधिक पा सकेंगे, तो यह बृहस्पत्युक्त उद्धार साधारण विषयक होने पर शूद्र भी गुणशाली होनेसे क्यों उद्धारार्ह होता है? वैसा गुण शूद्रमें होना सम्भव नहीं। अतएव—"शूद्रका कभी भी उद्धार प्राप्य नहीं।"

कलिके सिवा अन्य युगमें मातृगत वर्णके ज्येष्ठानु-

सार (विभिन्न वर्ण मातृज) भाइयोंमें असमान विभाग होता है ; किन्तु कलिमें असवर्णा स्त्रीका विवाह निषेध होनेके कारण उसके द्वारा उत्पन्न पुत्रके दायाधिकार लोप होनेकी वजह आज कल वह विषम विभाग नहीं होता।

"यदि एक व्यक्तिके स्वजातीय (प्रत्येक पत्नीके गर्भसे) समान संख्यक बहुतसे पुत्र हों, तो इन वैमात्र भाइयोंका विभाग धर्मतः मातृसंख्याके अनुसार किया जाना चाहिये" यही बृहस्पतिका मत है। व्यासका अभिप्राय है— "एक व्यक्तिकी भिन्न भिन्न पत्नियोंके गर्भसे जाति और संख्यामें जो समान पुत्र उत्पन्न होते हैं, उनको मातृसंख्याके अनुसार भाग देना उचित है।" इन दोनों वचनोंके अनुसार विभाग करनेसे भी विषम विभाग नहीं होता। क्योंकि प्रत्येक सवर्णा माताके गर्भज पुत्रकी संख्या समान होने पर उसका विभाग कर देनेको कहा है। पीछे एक मातृज पुत्रोंमें परस्पर विभाग करनेसे अन्तमें समविभाग ही होता है। पुत्रकी विषम संख्या होने पर भी यदि वैसे विभाग करनेकी आज्ञा होती, तो विषम विभागकी आशङ्का रहती थी सही, किन्तु वह आशङ्का स्वयं बृहस्पतिने ही दूर की है, जैसे— सवर्णास्त्रियोंके गर्भज पुत्रोंमें असमान संख्या रहने पर पुरुषगत अर्थात् पुत्रकी संख्याके अनुसार विभाग होगा।

"जब माताओंके समसंख्यक पुत्र हों, तब बहुतर भाग करनेमें प्रयास बाहुल्य होता है। अतएव प्रयास लाघव करनेके लिये मातृ द्वारा पुत्रोंको भाग करनेका आदेश है। ऐसी जगहमें पुनर्विभाग करने पर सबके ही समान अंश मिलता है। विभाग करनेकी इच्छा लाघव करनेके लिये ही बृहस्पतिने ऐसा आदेश किया है। फलतः विशेष नहीं।" विवादभङ्गार्णवके कर्त्ताकी यह उक्ति युक्तियुक्त मालूम होती है। अतएव इस समय भाइयोंका भाग समान है।

पिताका उल्लेख कर हारीत कहते हैं—"पिताके मरने पर पृथक् विभाग समान रूपसे होगा।" उशनाका कहना है—"सवर्णास्त्रियोंके पुत्रोंमें समान विभाग होता है।"

औरस और दत्तक पुत्रोंके विभागस्थलमें औरसको दो अंश (सवर्ण) और दत्तकको एक अंश हैं। पितृहीन पौत्र और पितृपितामहहीन प्रपौत्र क्रमसे स्व स्व पिताके और पितामहके योग्य अंशके भागीदार होंगे। स्व स्व संख्याके अनुसार नहीं।

विभागके पहले पुत्रके मरने पर उसका पुत्र यदि अपने पितामहसे जीवनोपयुक्त विषय न पाये, तो वह धनभागी होगा। पितृव्य अथवा उसके पुत्रसे अपने पिताका अंश लेगा। इस तरहका (परिमित) अंश न्यायतः सब भाइयोंका ही होगा। उसका पुत्र भी अंश पायेगा। इसके बाद (अर्थात् धनीके प्रपौत्रके बाद) अधिकार निवृत्ति होगी। (कात्यायन) यदि मृतव्यक्तिके अनेक पुत्र हों, तो एक पितृयोग्यांश उनमें विभाग कर देना होगा। इस तरह धनीके पौत्रके स्वत्वका ध्वंस होनेसे उसके अंश मात्र पर प्रपौत्रका ही अधिकार है। फिर भी--यदि पितामहसे प्राप्त विभाग पौत्रके पास हो और उसके चाचा (पितृव्य) पिताके साथ संसृत्र रहता हो, तो यह लोग पुनर्विभाग करनेसे अंश नहीं पायेगा। परन्तु पितामहसम्पर्कीय जो धन है; उसका विभाग पौत्र ही पायेगा। भिन्न भिन्न पुत्रके पुत्रोंकी भागकल्पना पित्रानुसार होगी। (याज्ञवल्क्य)

जो व्यक्ति अपनी योग्यता पर भरोसा करता है, वह पितृपितामहादि धनके अंशमें स्पृहा नहीं रखता। उसको एक मुट्ठी चावल भी दे कर पृथक् कर देना होगा।

अधिकारी भाइयोंमें कोई प्रपौत्र तक न रख मरने पर उसके लिये जो उत्तराधिकारी हो, वह भी विभागमें तद्योग्यांशका भागीदार होगा।

साधारणके उपघात द्वारा अर्ज्जित धनमें अर्ज्जकको दो भाग और दूसरेका एक भाग है।

साधारण धनका उपघात होने पर जिसका जो अंश या जितने (कम या अधिक) धनका उपघात होता है, उसके अनुसार उसकी भागकल्पना की जा सकती है।

अविभक्त दायादोंमें किसीके श्रमसे साधारण धनवृद्धि हो, तो उसमें उसका दो अंश प्राप्य नहीं है। दायादोंके मिश्रित धनमें श्रमसे कोई विषय उपार्जित होने पर यदि तत्तद्दत्त धनके और श्रमका परिमाण मालूम हो सके, तो वे उसके अनुसार भाग पायेंगे नतुवा समभागी होंगे।

एक भाईके धनोपघातमें अन्य भाईके परिश्रमसे धन

उपार्ज्जित होने पर वे दोनों ही समभागी हैं। किन्तु एकके धनसे दूसरेके धन और परिश्रमसे उपार्ज्जित धनमें दाताका एक अंश और दूसरेका दो अंश हैं—दोनों अवस्थामें हो दूसरे भाइयोंका अंश नहों।

समुदय दायादोंकी इच्छा होने पर हो विभाग होगा, ऐसा नहों समझना चाहिये ; वरं एक आदमोकी इच्छासे विभाग हो सकता है। किन्तु जननी या पितामहोकी इच्छासे विभाग न होगा।

यदि माताके जीते ही पुत्र विभाग करे, तो माताको भी अपने पुत्रका समान अंश देना पड़ेगा। यदि उसको स्वामीने स्त्रीधन न दिया हो, तो वह यह समांश पानेकी अधिकारिणा होगी, किन्तु यदि स्वामीने स्त्रीधन दिया हो, तो उसका अर्द्धांश ही पायेगी।

यदि पुत्र माताको अंश न देना चाहे, तो माता बलपूर्वक ले सकती है। जिस स्थलमें एकपुत्रक व्यक्तिकी भार्य्या हो, उस स्थलमें माता अंशका भागीदार नहीं हो सकती। ग्रासाच्छादन-मात्र पा सकती है।

सहोदर और वैमात्रेय भ्राताओंमें विभाग होने पर मातायें अंशोंकी भागीदार नहीं हैं। किन्तु उस समय या उसके वाद यदि सहोदर भाई आपसमें विभाग करें, तो उनकी माता भी भागीदार हो सकती हैं। नतुवा ग्रासाच्छादन-मात्र ही पा सकती हैं।

यदि पुत्रोंमें एक पुत्र अथवा कोई (मृत) पुत्रकी उत्तराधिकारी और और सबसे पृथक् हो, तो भी माता पुत्रके तुल्य अंश पायेगी।

पैतृक धनके उपघातमें अर्ज्जित विषयका अंश पानेमें जैसे भ्राता अधिकारी है, वैसे ही माता भी अधिकारिणी है। माता यदि किसी मृत पुत्रकी उत्तराधिकारिणी हो, तो उसके योग्य अंशकी वह अधिकारिणी होगी। फिर भी, विभागके समय माताकी हैसियतसे (एक पुत्रके अंशके मुताबिक) वह दूसरा अंश भी पायेगी।

एक जननी जो पुत्रके अंश परिमित अंशभागिनी है, वह केवल स्वयं पुत्रोंके विभागमें हो नहीं, किन्तु पुत्रके और पुत्रोंके उत्तराधिकारियोंके विभागमें भी।

यदि एक भ्राता या किसी भ्राताका उत्तराधिकारी स्थावर या अस्थावर विषयमें अपना अंश ले, तो उसमें माता भी ऐसे धनमें अंश पानेकी अधिकारिणी है।

विभागमें माता जो अंश पायेगी, वह केवल जीवन भर उपभोग कर सकेगी—इस धन पर माताकी जो क्षमता है, वह पतिसंक्रान्त धनाधिकारिणी पत्नीकी तरह है।

पितामहके धनका जब पौत्र विभाग करे, तब पितामही भी पौत्रके तुल्य अंशकी भागिनी है। पितामही यदि किसी मृत पौत्रकी उत्तराधिकारिणी हो, तो उसके लिये वह उसके योग्य अंश पायेगी, फिर भी, विभागमें अपना अंश भी पायेगी।

ऐसा नहीं, कि पौत्रोंके स्वयं विभागमें ही पितामही भागहारिणी हैं, किन्तु पौत्र और मृत् पौत्रके उत्तराधिकारियोंके विभागमें भी वह पौत्रके तुल्य अंशकी भागीदार होगी।

यदि पौत्रमें कोई अथवा किसी मृत् पौत्रका दायाद (अपना) अंश ले तो पितामही भी उस अंशकी अधिकारिणी होगी।

स्थावर और अस्थावरमें एक तरहसे धन विभक्त होने पर भी पितामही ऐसे धनमें अपना अंश पायेगी। माताकी तरह पितामही भी शास्त्रीय कारण बिना विभागके प्राप्तधनसे दानादि नहीं कर सकती। पितामहके अर्जित धनके विभागमें पितामहीको और पिताके अर्जित धनके विभागमें माताको अंश देना होगा।

यदि कोई भाई किसी भाई पर अपने परिवारका रक्षणावेक्षणका भार दे कर ज्ञान अर्जन करने चला जाय, तो रक्षकस्वरूप वह भी उपार्ज्जनका अंश पा सकता है। जहां भागका परिमाण निर्दिष्ट नहीं होता, वहां समान भाग ही कर्त्तव्य है।

पैतामह और पिताके अर्जित तथा साधारण धनके उपघातसे अर्जित धन सभी दायादोंको विभाज्य हैं।

अन्य व्यापारसे अर्जित धन उस व्यापारकारीके साथ हो केवल विभाज्य है। पूर्वाहृत भूमि एक अपने श्रमसे उद्धार करे, तो उसको चार अंशका एक अंश दे कर अन्य दायाद योग्यांशके अनुसार भाग कर ले।

३ खण्ड। ४ अङ्कशास्त्रमें भग्नांशका भाज्य।

५ याग । ६ न्यायमतसे २४ गुणान्तर्गत गुणविशेष। यह एककर्मज, द्व्यकर्मज और विभागजके भेदसे तीन प्रकारका है। विभागज विभाग फिर हेतुमात्र विभाग और और हेत्वहेतुविभाग भेदसे दो प्रकारका है।

क्रमशः लक्षण और उदाहरण—

एककर्मज—केवल एक पदार्थको क्रियाके लिये जो विभाग या संयोगच्युति होती है, उसका एककर्मज विभाग कहते हैं। जैसे, श्येनशैलसंयोगका विभाग। इस विभागमें पर्वतको कोई क्रिया नहीं देखी जाती। केवलमात्र श्येन पक्षीको क्रिया ही दिखाई देती है। अतएव यह एककर्मज विभाग है।

द्व्यकर्मज,—दो पदार्थोंकी क्रिया द्वारा उत्पन्न विभागका नाम द्व्यकर्मज विभाग है। जैसे, दो भेड़ोंके युद्ध (अर्थात् डेबा लगने)के समय उनके दोनोंकी क्रियासे परस्परके सींगोंका संयोग होता है, वैसे ही युद्ध (डेबाके लगने) अन्त होने पर फिर उन्हीं दोनोंकी क्रियाके द्वारा उस संयोगका वियोग अर्थात् विभाग होता है। अतएव यह विभाग द्व्यकर्मज है।

हेतुमात्रविभागज—हेतु = कारण है। यह तीन तरहका है—समवायी, असमवायी और निमित्त। घटके कपाल और कपालिका-अर्थात् तला और गला समवायी कारणोंका और उनके (इस तले और गलेका) परस्पर संयोग असमवायी कारणोंके और मृत्तिका, सलिल (जल), सूत, दण्ड, चक्र और कुलाल (कुम्भकार) आदिके निमित्त कारणका उदाहरण है। इन कारणत्रयका वियोग या विभाग ही हेतुमात्र विभागज विभाग हैं।

हेत्वहेतुविभागज—हेतु = कारण = किसी कार्य्यके प्रति जो वस्तु अव्यवहित-नियत पूर्ववर्ती अर्थात् किसी कार्यके आरम्भके प्राक्कालमें उस कार्यके प्रति जिस वस्तुकी नितान्त आवश्यकता है या जो वस्तु न होनेसे वह काम नहीं चल सकता, उसीका नाम कारण है। जैसे घट प्रस्तुत करनेके आरम्भमें मिट्टी, जल, सूत, दण्ड, चक्र, कुलाल और कपाल कपालिका और उसका (कपाल और कपालिकाके संयोग) इनमें कोई एक न रहनेसे घट तय्यार नहीं हो सकता। अतः इसका सामान्याकारमें ये सभी हेतु या कारण हैं। फिर इनमें तीन प्रकारका भेद है जो पहले कहा जा चुका है। इन तीन प्रकारोंमें कपाल और कपालिकाको जो समवायी कारण रह गया है, उसमें साधारणतः द्रव्यके अवयवोंको ही अवयवोका कारण कहना समझना होगा। इस समय जहां इस हेतु और अहेतु—इन दोनोंका वियोग या विभाग दिखाई देगा, वहां हेत्वहेतु विभागज विभाग कहना चाहिये। जैसे देहके (अवयवोंके) कारण हस्त (अवयव) है; इस हाथके साथ पूर्वकृत संयोजित तरुका वियोग या विभागके समय तरुसे हाथके साथ साथ अवश्य देहका भी विभाग होता है। इससे स्पष्ट देखा जाता है, कि तरुसे जो देहके विभागकी कल्पना की गई, वह देहका कारण (हस्त) और अकारण (तरु) इन दोनोंके वियोग द्वारा ही सम्पन्न हो रही है। अतएव यहां हेतु और अहेतु इन दोनोंके विभागजन्य विभाग कल्पना करनेको हेत्वहेतुविभागज विभाग कहा जाता है।

“द्रव्याणि नव” क्षिति, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन—ये नौ प्रकारके द्रव्य हैं। इन सब द्रव्यांमें जो द्रव्यत्वरूप धर्म है, वह सामान्य या व्यापक धर्म है और इनके प्रत्येकमें जो क्षितित्व जलत्व आदि धर्म है, वे विशेष या व्याप्य धर्म है। ये परस्पर विरुद्धधर्म हैं, क्योंकि क्षितित्व जलमें नहीं है तथा जलत्व क्षितिमें या तेज आदिमें नहीं है। किन्तु सामान्य धर्म (द्रव्यत्व) इन नवोंमें ही है। परस्पर विरुद्ध व्याप्यधर्मके प्रकारसे ही द्रव्यको नौ भागोंमें विभाग करना होता है। इनके द्वारा यहां फलतः यह उपलब्धि होगी कि द्रव्यत्व या सामान्य धर्मावच्छिन्न क्षित्यादिका परस्पर विरुद्ध क्षितित्व जलत्वादि व्याप्य धर्म द्वारा ही प्रतिपादन किया जा रहा है, कि द्रव्यके विभाग नौ प्रकार हैं। अतएव सामान्यधर्मविशिष्ट वस्तुओंके परस्पर विरुद्ध तत्तद् व्याप्य धर्म द्वारा उनका (उन वस्तुओंका) जो प्रतिपादन होता है, उसका नाम ही विभाग है।

विभागक (सं॰ त्रि॰) विभागकारी, बाँटनेवाला।

विभागभिन्न (सं॰ क्ली॰) तक्र, मट्ठा।

विभागवत् (सं॰ त्रि॰) १ भागविशिष्ट। २ विभाग तुल्य, विभागके समान।

विभागशस् (सं॰ अव्य) विभागके अनुसार।

विभागात्मक नक्षत्र (सं० पु०) रोहिणी, आर्द्रा, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, स्वाती, ज्येष्ठा और श्रवणा आदि आठ प्रकाशमय नक्षण ।

विभागिक (सं० त्रि०) आंशिक ।

विभागिन् (सं० त्रि०) १ विभागकारी, विभाग करनेवाला । २ विभाग या हिस्सा पानेवाला ।

विभागी (सं० त्रि०) विभागिन् देखो ।

विभाग्य (सं० त्रि०) विभाज्य, बांटने लायक ।

विभाज (सं० त्रि०) १ विभक्त, बंटा हुआ । (क्ली०) २ पात्र, बरतन ।

विभाजक (सं० त्रि०) १ विभागकर्त्ता, बांटनेवाला । २ गणितमें वह संख्या जिससे किसी दूसरी संख्याको भाग दें, भाजक ।

विभाजन (सं० क्ली०) १ विभागकरण, बांटनेका काम । २ पात्र, बरतन ।

विभाजित (सं० त्रि०) जिसका विभाग किया गया हो, जो बांटा गया हो ।

विभाज्य (सं० त्रि०) १ विभजनीय, विभाग करने योग्य । २ विभागार्ह, जो धन पुत्रोंके बीच बांटा जा सके ।

विभाण्ड (सं० पु०) ऋषिभेद । (महाभारत) विभाण्डक देखो ।

विभाण्डक—१ एक ऋषि जो ऋष्यशृङ्गके पिता थे।

ऋष्यशृङ्ग देखो ।

२ सह्याद्रिवर्णित राजभेद । ये भरद्वाज कुलोद्भव और ललिताके भक्त थे । (सह्या० ३३।३)

३ सह्याद्रि-वर्णित कुलप्रवर्त्तक ऋषिभेद ।

(सह्याद्रि० ३४।२७)

विभाण्डिका (सं० स्त्री०) आहुल्य वृक्ष ।

विभाण्डी (सं० स्त्री०) १ आवर्त्तकी लता । २ नीलापराजिता, विष्णुक्रान्ता लता ।

विभात् (सं० त्रि०) १ प्रभामय । (पु०) २ प्रजापतिभेद ।

विभात (सं० क्ली०) वि-भा-क्त । प्रत्यूष, सबेरा ।

विभाति (हिं० पु०) शोभा, सुन्दरता ।

विभाना (हिं० क्रि०) १ चमकना, झलकना । २ शोभा पाना, शोभित होना ।

विभानु (सं० त्रि०) विकाशक, प्रकाशक ।

(ऋक् ८।९१।२)

विभाव (सं० त्रि०) वि-भावि-अच् । १ विविध प्रकारसे प्रकाशवान् । (पु०) २ परिचय । ३ रसके उद्दीपनादि ।

काव्य-नाटकादिमें जो सामाजिक रति आदि भावोंके उद्बोधकरूपमें सन्निवेशित होते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। जैसे,—रामादि गत रतिहासादिकी उद्बोधक सीतादि। यह विभाव आलम्बन भी उद्दीपनके भेदसे दो प्रकारका है।

आलम्बन,—नायक, नायिका, प्रतिनायक, प्रतिनायिका आदिको ही आलम्बन विभाव कहते हैं। क्योंकि उनका आलम्बन करके ही शृङ्गार, वीर, करुणादि रसोंका उद्गम होता हैं। जैसे वर्णनामें भीम कंसादिको साक्षात् वीररसका आश्रय कह कर उद्बोध होता है।

उद्दीपनविभाव,—नायकनायिकोंकी चेष्टा अर्थात् हाव भाव तथा रूपभूषणादि द्वारा अथवा देश, काल, स्रक्, चन्दन, चन्द्र, कोकिलालाप, भ्रमर झङ्कार आदिसे जिस शृङ्गारादि रसका उद्दीपन होता है, उसका नाम उद्दीपन विभाव है।

> "उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ।
> आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ॥"
>
> (साहित्यद० ३।१६०-१६१)

यहां जिस जिस रसका जो जो विभाव है, नीचे क्रमानुसार यथायथ भावमें उसका उल्लेख किया जाता है।

शृङ्गाररसमें,—दक्षिण, अनुकूल, धृष्ट और शठ नायक तथा परकीया, अननुरागिणी और वेश्यासे भिन्न नायिका 'आलम्बन' है। फिर चन्द्र, चन्दन, भ्रमरझङ्कार, कोकिलकूजन आदि 'उद्दीपन' विभाव हैं।

रौद्ररसमें,—शत्रु 'आलम्बन' तथा उसका मुष्टिप्रहार, लम्फप्रदानपूर्वक पतन, विकृतछेदन, विदारण, युद्धमें व्यग्रता आदि उद्दीपन विभाव हैं।

वीररसमें,—विजेतव्यादि आलम्बन तथा उनकी चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव हैं* ।

---

* दानवीर, धर्मवीर, दयावीर और युद्धवीरके भेदसे वीर चार प्रकारका है । इनमेंसे दानवीरका विजेतव्य वा आलम्बनविभाव सम्प्रदानीय ब्राह्मण है अर्थात् जिनको दानकिया जायेगा तथा उनकी साधुता और अध्यवसायादि उद्दीपनविभाव है। धर्मवीरका,—

भयानकरसका,—जिससे भय उत्पन्न होता है, उसे 'आलम्बन' तथा उस भीतिप्रद पदार्थकी विभीषिकादि अर्थात् उसकी अतिभीषणा चेष्टाको ही 'उद्दीपन' विभाव कहते हैं।

वीभत्सरसका,—दुर्गन्धित, मांस, रुधिर, विष्ठा, आदि 'आलम्बन' तथा उन सब द्रव्योंमें क्रिमि आदि होनेसे वह 'उद्दीपन' विभाव है।

अद्भुतरसका,—अलौकिक 'वस्तु' आलम्बन तथा उस वस्तुको गुणमहिमादि 'उद्दीपन' विभाव है अर्थात् जहां साधारण मनुष्योंके अकृतसाध्य विस्मयकर कार्य्य दिखाई देगा वहां वह व्यापार आलम्बन तथा उसकी गुणावली उद्दीपन विभाव होगी।

हास्यरसका,—जिन सब वस्तुओं वा व्यक्तियोंका अति कदर्य्यरूप, वाक्य और अङ्गभङ्ग आदि देख कर लोगोंको हंसी आती है, वे सब वस्तु वा व्यक्ति 'आलम्बन' तथा वे सब रूप और अङ्गविकृत्यादि 'उद्दीपन' विभाव है।

करुणरसका,—शोककी विषयीभूत वस्तु अर्थात् जिसके लिये शोक मनाया जाता है, वह 'आलम्बन' है तथा उस शोच्य विषयकी दाहादिका (जैसे मृत आत्मीयको मुमूर्षु कालीन यन्त्रादि) अवस्था 'उद्दीपन' विभाव है।

शान्तरसका,—नश्वरत्वप्रयुक्त इन्द्रियभोग्य वस्तुओंको निःसारता (साररहित्य वा परमात्मस्वरूपत्व) 'आलम्बन' तथा पुण्याश्रम, हरिक्षेत्र, नैमिषारण्य आदि रमणीय वन और महापुरुषकी सङ्गति ये सब 'उद्दीपन' विभाव हैं।

विभावक (सं० त्रि०) वि-भू ण्वुल् (तुमुनण्वुलौ क्रियायां। पा ३।४।१०) क्रियार्थमिति ण्वुल्। चिन्तक, चिन्ता करनेवाला।

विभावत्व (सं० क्ली०) विभावका भाव।

विभावन् (सं० त्रि०) प्रकाशक, विकाशशील।

विभावन (सं० क्ली०) वि-भावि-ल्युट्। १ विचिन्तन, विशेषरूपसे चिन्तन। विभावयति कारणं बिना कार्योत्पत्तिं चिन्तयति पण्डितमिति, वि-भावि-ल्यु-युच् वा। २ अलङ्कारविशेष। बिना कारणके जहां कार्योत्पत्ति होती है, वहां उसे विभावना अलङ्कार कहते हैं। यह उक्त और अनुक्तके भेदसे दो प्रकारका है। ३ पालन।

विभावना (सं० स्त्री०) वि-भावि, युच्-टाप्। अलङ्कारविशेष। इसमें कारणके विना कार्य्यकी उत्पत्ति या अपूर्ण कारणसे कार्य्यकी उत्पत्ति या प्रतिबन्ध होते हुए भी कार्यकी सिद्धि या जिस कार्य्यका कारण नहीं हुआ करता, उससे उस कार्य्यकी उत्पत्ति अथवा विरुद्ध कारणसे किसी कार्यकी उत्पत्ति या कार्यसे कारणकी उत्पत्ति दिखाई जाती है।

विभावनीय (सं० त्रि०) भावना या चिन्ता करने योग्य।

विभावरी (सं० स्त्री०) १ रात्रि, रात। २ हरिद्रा, हल्दी। ३ कुट्टनी, कुटट्, इती। ४ वक्र स्त्री, टेढी चालकी औरत। ५ मुखरा स्त्री, बहुत बड़बड़ करनेवाली स्त्री। ६ विवादवस्त्रीमुण्डी। ७ मेदावृक्ष। ८ वह रात जिसमें तारे चमकते हों। ९ मन्दार नामक विद्याधरकी एक कन्या। (मार्कण्डेयपु० ६३।१४) १० प्रचेतसकी नगरीका नाम।

विभावरीयुग (सं० क्ली०) हरिद्रा और दारुहरिद्रा।

विभावरीश (सं० पु०) चन्द्रमा, निशापति।

विभावसु (सं० त्रि०) १ विभा या ज्योतिःविशिष्ट, अधिक प्रभावाला। (ऋक् ३।२।२) (पु०) विभा प्रभा एव वसुर्धमृद्धिर्यस्य। २ सूर्य। (भारत १।७।८६) ३ अर्कवृक्ष, आकका पौधा। ४ अग्नि, आग। ५ चित्रकवृक्ष, चीता। ६ चन्द्रमा। ७ एक प्रकारका हार। ८ वसुपुत्रभेद। (भागवत ६।६।१०) ९ सुरासुरपुत्र। (भागवत १०।५९।१२) १० दनुके पुत्र असुरभेद। (भागवत ६।६।३०) ११ नरकपुत्रभेद। १२ ऋषिभेद। (महाभारत) १३ एक गन्धर्व जिसने गायत्रीसे वह सोम छीना था जिसे वह देवताओंके लिये ले जा रही थी। १४ गजपुरके एक राजा। (कथासरित्)

विभावित (सं० त्रि०) १ दृष्ट, देखा हुआ। २ अनुभूत, अनुभव किया हुआ। ३ विचिन्तित, विचारा हुआ।

धर्म ही 'आलम्बन' है तथा धर्मशास्त्रादि उसका 'उद्दीपन' विभाव है। दयावीरका—अनुकम्पनीय अर्थात् दयाका पात्र, 'आलम्बन' तथा दीन अर्थात् दरिद्रादि की कातरोक्ति आदि उद्दीपन विभाव है। युद्धवीरका—विजेतव्य अर्थात् प्रतिद्वन्द्वी व्यक्ति 'आलम्बन' तथा उसकी स्पर्द्धादि 'उद्दीपन' विभाव है।

४ विवेचित, सोचा हुआ। ५ प्रसिद्ध, मशहूर, प्रतिष्ठित।

विभाविन् (सं० त्रि०) १ चिन्तायुक्त। २ अनुभवकारी।

विभाव्य (सं० त्रि०) १ विचिन्त्य। २ विवेच्य। ३ गम्भीर। ४ विचारणीय।

विभाषा (सं० स्त्री०) विकल्पत्वेन भाष्यते इति, वि-भाष-अ (गुरोश्च हलः। पा ३।३।१०३) ततष्टाप्। १ विकल्प।

पाणिनिके मतसे विभाषाका लक्षण इस प्रकार है,—

"न वेति विभाषा" 'नेतिप्रतिषेधो वेति विकल्पः एतदुभयं विभाषासंज्ञं स्यात्।' (पा १।१।४४)

"न वा शब्दस्य योऽर्थस्तस्य संज्ञा भवतीति वक्तव्यम्।" (महाभाष्य)

'तत्र लोके क्रियापदसन्निधाने नवाशब्दयोर्योऽर्थौ-द्योत्यो विकल्पप्रतिषेधलक्षणः स संज्ञीत्यर्थः।'

(कैय्यट)

जहां न (निषेध अर्थात् नहीं होगा) और वा (विकल्पमें अर्थात् एक बार होगा) इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक समय बोध होगा, वहीं पर विभाषा संज्ञा होगी। इस पर प्रश्न हो कर सकता कि,—जहां निषेध किया गया कि, 'नहीं होगा, वहां फिर किस प्रकारसे कहा जा सकता है, एक बार होगा। महर्षि पतञ्जलिने भी महाभाष्यमें इसकी व्याख्याकी जगह इस सम्बन्धमें स्वयं प्रश्न कर उसकी मीमांसा की है—

"किं कारणं प्रतिषेधसंज्ञाकरणात्। प्रतिषेधस्य इयं संज्ञा क्रियते। तेन विभाषाप्रदेशेषु प्रतिषेधस्यैव संप्रत्ययः स्यात्। सिद्धं तु प्रसज्यप्रतिषेधात्। सिद्धमेतत्। कथं, प्रसज्यप्रतिषेधात्।"

यहां निषेधकी संज्ञा करनेका प्रयोजन क्या है? यदि निषेधकी संज्ञा की जाय, तो विभाषाप्रदेशमें अर्थात् न और वा इन दोनोंके अर्थसमावेशस्थलमें एकमात्र प्रतिषेधकी ही सम्प्राप्ति होती है।

भगवान् पतञ्जलिने इस प्रकार प्रश्नको मजबूत करके "सिद्धं तु" 'सिद्ध होता है' ऐसा कह कर स्वयं मीमांसा की है, कि "प्रसज्यप्रतिषेधात्" अर्थात् इस 'न' को निषेधशक्तिका प्राधान्य नहीं है; अतएव इस 'न' के द्वारा एकदम नहीं होगा ऐसा अर्थ हो नहीं सकता अर्थात् किसी किसी स्थानमें होनेसे भी क्षति नहीं होगी। इसलिये इस 'न'के अर्थ द्वारा भी कहीं कहीं होनेकी विधि स्थिर हुई। अस्तु यह साबित हुआ, कि जहां एक बार विधि और एक बार निषेध समझा जायेगा वही विभाषा संज्ञा होगी।

व्याकरणके जिन सब सूत्रोंमें 'वा' निर्देश है वे विभाषा संज्ञक सूत्र हैं अर्थात् उनका कार्य एक बार होगा और एक बार नहीं। इस विभाषाके सम्बन्धमें व्याकरणमें कुछ नियम लिखे हैं, संक्षेपमें उनका उल्लेख नीचे किया जाता है,—"द्वयोर्विभाषयोर्मध्ये विधिर्नित्यः" दो विभाषाके-मध्य जो सब विधियां हैं वे नित्य होंगी अर्थात् १म और ५म इन दो सूत्रोंमें यदि 'व' शब्द व्यवहृत होता हो, तो २य, ३य और ४र्थ सूत्रका कार्य्य विकल्पमें न हो कर नित्य ही होगा। (व्याकरणके शासनानुसार इन थोड़े सूत्रोंका कार्य्य भी विकल्पमें होनेका कारण था, बढ़ जानेके भयसे उसका विवरण नहीं दिया गया)। 'वा द्वये पदत्रयं' सन्धि आदि स्थानोंमें दो विकल्पसूत्रकी प्राप्ति होनेसे तीन तीन करके पद होंगे। जैसे एक सूत्रमें लिखा है,—स्वरवर्णके पीछे रहनेसे जो शब्दके 'ओ' कारका जगह विकल्पमें 'अव' होगा। फिर एक सूत्रमें है,—'अ' कारके पीछे रहनेसे गोशब्दकी सन्धि विकल्पमें होती है। अतएव गो + अग्रं की जगह पूर्व सूत्रानुसार गो + अग्रं = + ग् अव + अग्रं = गवाग्रं ; शेष सूत्रानुसार 'सन्धि विकल्पमें होगी' इस कारण विभाषाके लक्षणानुसार स्पष्ट जाना जाता है, कि एक जगह सन्धिका निषेध रहेगा, अतएव वहां 'गो अग्रं' ऐसा ही रहा। अभी यह विचारनेकी बात है, कि अन्तिम सूत्रके विकल्प पक्षकी सन्धि पूर्वसूत्रानुसार 'अव' का आदेश की जा सकती है, किन्तु उस सूत्रमें भी फिर 'वा' का निर्देश करनेके कारण उसके प्रति पक्षमें एक और किसीकी व्यवस्था नहीं करनेसे उस सूत्रका 'वा' निर्देश एकदम व्यर्थ होता है। अतएव 'ए'कार अथवा 'ओ' कारके बाद 'ओ'कार रहनेसे उसका लोप होगा, इस साधारण सूत्रके द्वारा 'ओ'कारके परस्थित 'अ'कारका लोप करके 'गोऽग्र' ऐसा एक पद बनेगा। अतएव सूत्रमें दो 'वा' रहनेसे ३ पद हुए। दूसरी जगह भी इसी प्रकार जानना होगा। विभाषा शब्द द्वारा सन्धिसम्बन्धमें एक और नियम प्रचलित है।

वह यह है, कि धातुके साथ उपसर्गका योग तथा समास एकपदस्थलमें नित्य इसके सिवा अन्यत्र विकल्पमें सन्धि होगी।

क्रमशः उदाहरण—

'प्र-अन्-अच् = प्राणः, नि-इ (वा अय)-घञ् = नि-आय-घञ् = न्यायः। 'ब्रह्मा च अच्युतश्च = ब्रह्माच्युतौ' 'ब्रह्मा तथा अच्युत = ब्रह्मा + अच्युतः = ब्रह्माच्युतः। अन्क्—क्त = अन्-क् (इट्) क्त = अङ्कित, दन्भ-अच् = दंभ-अ = दम्भः। प्र-अन्, नि + आय (धातु और उपसर्गका योग); ब्रह्मा + अच्युत (समास); दन् + भ् अन् + क् (एकपद अर्थात् एक दन्भ् और 'अन्क्'धातु) इन सब स्थानोंमें नित्य ही सन्धि होगी। अर्थात् सन्धि न हो कर अविकल ऐसे भावमें कुछ नहीं रह सकता, परन्तु समास स्थलमें वक्ता इच्छा करके यदि समास न करे, तो 'ब्रह्मा अच्युतके साथ जाते हैं' ऐसे भावमें सन्निकर्ष होनेसे ही सन्धि होगी सो नहीं। धातूपसर्ग और प्रकृति प्रत्ययके सम्बन्धमें भी प्रायः एक ही तरह जानना होगा अर्थात् कर्त्ता यदि पद प्रस्तुत करनेके अभिप्रायसे उनका योग करे, तो नित्य सन्धि होगी। अन् + क = अङ्क, व्रस + च = व्रश्च इत्यादि स्थानोंमें प्रत्ययके साथ योग होनेके पहले ही एक पदमें नित्य सन्धि होती है।

२ संस्कृत नाटकमें व्यवहृत प्राकृत भाषा। शाकरी, चाण्डाली, शावरी, आभीरी, शाक्की आदि विभाषा हैं। ३ बौद्धशास्त्रग्रन्थभेद।

विभास (सं० पु०) तैत्तिरीय आरण्यकके अनुसार सप्तर्षियोंमेंसे एक। २ देवयोनिभेद। (मार्क०पु० ८०।७) ३ रागका भेद। यह सबेरेके समय गाया जाता है। इसे कुछ लोग भैरव रागका हो भेद मानते हैं। ४ तेज, चमक।

विभासक (सं० त्रि०) १ प्रकाशयुक्त, चमकनेवाला। २ प्रकाशित करनेवाला, जाहिर करनेवाला।

विभासिका (सं० त्रि०) चमकनेवाली।

विभासित (सं० त्रि०) १ प्रकाशित, चमकता हुआ। २ प्रकट, जाहिर।

विभास्कर (सं० त्रि०) दीप्तिहीन, सूर्यालोकरहित।

विभास्वन् (सं० त्रि०) अति उज्ज्वल।

विभित्ति (सं० स्त्री०) वि-भिद्-क्तिन्। विभेद, विवाद। (काठक ११।५)

विभिन्दु (सं० त्रि०) १ विशेषरूपसे भेदक, सर्वभेदकारी। २ विख्यात। (ऋक् १।११६।२० सायण) ३ ऋग्वेदोक्त राजभेद। ये राजा थे। (ऋक् ८।२।४१)

विभिन्दुक (सं० पु०) असुरभेद। (पञ्चविंशब्रा० १५।१०।११)

विभिन्न (सं० त्रि०) १ कटा हुआ, काट कर अलग किया हुआ। २ पृथक्, जुदा। ३ अनेक प्रकारका, कई तरहका। ४ निराश, हताश। ५ औरका और किया हुआ, उलटा।

विभिन्नता (सं० स्त्री०) पार्थक्य, भेद।

विभिन्नदर्शी (सं० त्रि०) भिन्नदर्शी, पृथक् पृथक् देखनेवाला। (मार्क०पु० २३।३८)

विभी (सं० त्रि०) विगतभय, निर्भीक।

विभीत (सं० पु०) १ विभीतक, बहेड़ा। (त्रि०) २ डरा हुआ।

विभीतक (सं० पु०) विशेषेण भीत इव-स्वार्थे-कन्। बहेड़ेका वृक्ष। संस्कृत पर्याय—अक्ष, तूष, कर्षफल, भूतवास, कलिद्रुम, कल्पवृक्ष, संवर्त्त, तैलफल, भूतावास, संवर्त्तक, वासन्त, कलिवृक्ष, बहेड़क, हार्य्य, विषघ्न, अनिलघ्न, कासघ्न।

वैज्ञानिक नाम—Ferminalia belerica और अङ्गरेजी नाम—Belleric Myrobalan है। यह वृक्ष भारतवर्षके प्रायः सर्वत्र समतल प्रान्तरोंमें और पहाड़ादिके पाददेशमें उत्पन्न होता है। पश्चिमकी ऊसर भूमिमें यह वृक्ष अधिक नहीं होता। लङ्का और मलका द्वीपोंमें भी इस जातिके वृक्ष पर्य्याप्त हैं। सिवा इसके मारगुई, सिंहल, यवद्वीप और मलय द्वीपमें इसका दूसरी तरहका एक वृक्ष दिखाई देता है। इसके फलके तथा भारतके बहेड़ेमें केवल सामान्य प्रभेद है।

भारतके नाना स्थलोंमें विभोतक (बहेड़ा) विभिन्न नामोंसे परिचित है। हिन्दीमें—भैरा, बहेड़ा, बहेरा, भेरा, भैराह, सगोना, भर्ला, बुल्ला, बहुरा; वङ्गभाषामें—वहेड़ा, बहेरा, वहेरि, बहिरा, भैरा, बहुरु, बेहेरा, बहुरा, बहोड़ा, बयड़ा; कोल-बोलोमें—लिहुङ्ग, लुपुङ्ग; सन्ताल-बोलीमें—लोपङ्ग; उड़िया-भाषामें—भारा, बहोड़ा, वहधा;

असामी—हुलूच, बौरी; गारो—चिरोरी; लेप्चा—कानोम्' मघभाषामें—सचेङ्ग; भोल—येहेड़ा; मध्यप्रदेश—बेहरा, बिहरा, भैरा, बहेड़ा, बेहरा, टोयाएडी; गोएड—तहक, तकवञ्जोर; युक्तप्रदेश—बहेड़ा, बुहेड़ा, बेहाडिया; पञ्जाब—बहिड़ा, बहेड़ा, बोरहा, बलेला, बयड़ा, बेहेड़ा; मारवाड़—बहेड़ा; हैदराबाद—अहेड़ा, भेरा; सिन्धु—बथड़ा; दाक्षिणात्य—ववड़ा, बलूदा, बलरा, बतरा, बैर्दा, बुल्ला, भेरदा, बेहला; बम्बई प्रान्त—बहेड़ा, बहड़ा, बेहेड़ा, बेह्ड़ा, भेर्धा, बेहेदो, बल्रा, भैरा, भेर्दा; बहुङ्ग, बेलल, हेल, गोतिङ्ग, येल; महाराष्ट्र—भेर्दा, बेहेड़ा, बहेरा, बेला, गोतिङ्ग, बेहार्दा, बेहशा, सग्वान्, बेड़ा, हेला, बेर्दा, येहेल' बेहड़ा; गुर्जर प्रान्त (गुजरात)—सान, बेहसा, बेहेड़ा बेहेड़ान्; तामिल—तनी, थनी, कटुप्पलुपन्, तानक्काय, ताएड, तोएडा, चेट्टुपड़ ्प, तमकै, तानिकै, तानिकाइया, कट्टु-पड़ ्प, बहुई-मर्दू, तनिकोई; कट्ट पडुपी; तेलगू—तनो, तएडी, तोयाएडी, आनद्रा, आना, आनी, तड़ो, तोएड कट्टू, उलूपी, तान्द्राकाय, आनड्डी, आएडी, वहद्रहा, वहवा, वहढ़ा; कनाड़ी—शाग्ति, तारे, तनिकारो, तारिकारी, भेर्दा, बेहेला तरो; मलयालम्—अनी, तानी; ब्रह्मदेश—थित्सिन्, टिस्सिन्, बनखा, फानखासो, फागांसो, फागाह, पनगन्, रुहोर; सिंहली—बलू, बुलुगाह; अरबी—बतिल्ज, बेलेयलुज, बलिलाज्; फारसी—बलेना, बेलायलेह्, बलिलाह्।

इसका वृक्ष वन्यभूमिमें आप ही आप उत्पन्न होता है। वाणिज्यके लिये कितने ही लोग इसकी खेती भी करते हैं। इसके वृक्षोंकी साधारण आकृति बड़ी सुन्दर है। यह मूलमें थोड़ी दूर तक सीधा आ कर पीछे शाखा प्रशाखाओंमें विभक्त होता है। देखनेसे मालूम होता है, मानो एक बड़ा छाता यहां छाया विस्तार करनेके लिये ही रखा गया है। शिवालिक शैल पर, पेशावरमें, सिन्धुनदके किनारेकी भूमिमें, कोयम्बतुर और बलियाके जङ्गलमें, लङ्काके दो हजार फीट ऊंचे शैलस्तवकमें और ग्वालपाड़ा, सुखनगर, गोरखपुर, धामतोला और मोरङ्ग शैलमालामें बहेड़ेके वृक्ष बहुतायतसे देखे जाते हैं। इसके पत्ते, फल, काष्ठ (लकड़ी) और निर्यास मनुष्यके लिये विशेष उपकारी हैं।

वृक्षका बल्कल तरास देनेसे जो निर्यास निकलता है, वह गोंद (Gum Arabic)-की तरह गुणविशिष्ट होता है। वह सहजमें ही पानीमें घुल जाता है और इसमें अग्निका संयोग कर देने पर यह प्रज्वलित हो उठता है। किन्तु इससे विशेष कोई गन्ध नहीं निकलती है। फार्माकोग्राफिका इण्डिकाके रचयिताका कहना है, कि बसोरेके गोंदकी तरह ही यह है। अनेक समयमें यह देशी गोंदकी तरह बिकता है। कोलजातिके कुछ आदमी इसे खाते भी हैं। यह सम्पूर्णरूपसे नहीं गलता और इसमें डाम्बेलाकृति Calcium Oxalateके दाने, Sphaerocrystals और विभिन्न दानेदार चूर्ण पाये जाते हैं।

हरीतकी (हर्रे) की तरह इसका स्वाद भी कषाय है। इसलिये अधिक परिमाणसे इसकी रफ्तनी यूरोपमें होती है। भारतमें भी चमड़ा साफ करने और रंग गाढ़ा करनेके लिये इसका बहुत प्रचार दिखाई देता है। यह बहेड़ा साधारणतः दो प्रकारका होता है—१ गोलाकार, व्यास ॥ या ॥। इञ्च; २ अपेक्षाकृत बड़ा, डिम्बाकार और मुंह पर कुछ चिपटा है। फल बिलकुल गोल होता है, किन्तु सूखने पर इसकी पीठ पर सिकुड़न पड़ जाती है। इसका बीज या गुठली पञ्चकोना होती है। इस गुठलीको फोड़नेसे जो गूदो निकलती है, वह मीठी और तैलाक्त होती है। चमड़ेके सिवा कपड़े रंगनेमें भी इसका खूब व्यवहार किया जाता है। हजारीबागमें लोग जिस प्रणालीसे बहेड़ेसे कपड़े रंगते हैं, नीचे उसका उल्लेख किया जाता है—

एक गज कपड़ेके लिये १ पाव बहेड़ा ला कर उसे फोड़ डाले, उससे गुठली आदि निकाल कर उस चूर्णको एक सेर पानीमें भिगावे और उसमें १ तोला अन्दाज अनारकी छाल मिला कर एक रात तक इन्हें इसी तरह जलमें छोड़ देने पर दूसरे दिन उसको उपर्युपरि तीन बार आंच पर चढ़ा कर औंट दे। ठण्ढे होने पर मोटे कपड़ेसे छान ले। इसके बाद जो कपड़ा रंगना हो, उसको पहले जलमें फीच कर सुखा लेना चाहिये। कपड़ा जब अधसुखा हो जाये, तब उसे अलग एक पात्रमें एक तोला फिटकिरी मिले हुए जलमें डुबा

दे। पीछे कपड़ेका जल निचोड़ कर फिर रंगवाले पात्रमें डाल देना चाहिये। यहां उसे अच्छी तरह भींजने देना चाहिये। जब खूब रंग लग जाये, तब उसको अच्छी तरह फीचना चाहिये जिससे रंग सर्वत्र समानरूपसे लग जाये। यदि रंग गाढ़ा हो, तो कपड़ेको धूपमें सुखा लेना उचित है। कपड़े सूख जाने पर फिर उसे साफ जलमें दो या तीन बार फीच लेना चाहिये; जिससे उससे रंगकी दुर्गन्ध निकल जाये। उस कपड़ेका रंग फीका हल्दीका (Snuffy yellow) होगा।

प्राचीन वैद्यक ग्रन्थमें बहेड़ेका भेषजगुण वर्णित है। हरीतकी (T. Chebula), आमलकी (Phyclanthus Emlliea) और बहेड़ा (T, belerica) इन तीनोंसे त्रिफला तय्यार होता है। यह त्रिफला वायु, पित्त और कफदोषनाशक है। बहेड़ेका छिलका सङ्कोचक और भेदक है। यह सर्दी, खांसी या स्वरभङ्ग और आँखके रोगमें विशेष उपकारी है।

बीजका गूदा मादक और रोधक है। जले हुए स्थानमें गूदा पीस कर लेप करनेसे बहुत उपकार होता है। हकीमी मतसे यह बलवर्द्धक, सङ्कोचक, पाचक, कोमल और मृदुविरेचक है। आँखमें दाह या जलन पैदा होने पर विशेषतः चक्षुरोगमें मधुके साथ लगाने पर यह बहुत उपकार करता है। अरबी लोग भारतवासियोंसे इसका गुण सीख कर पश्चिम यूरोपमें इसका प्रयोग करते हैं। इसीलिये प्राचीन यूनानी और लेटिन ग्रन्थोंमें इसका उल्लेख दिखाई देता। पिछले चिकित्सक भी इसके गुणको भुला न सके हैं और इसका खूब व्यवहार किया।

वर्त्तमान समयमें देशी लोग इसके हकीमी या वैद्यक प्रयोगोंसे प्रायः ही अवगत हैं और आवश्यकताके अनुसार रोगविशेषमें त्रिफलाका प्रयोग कर बड़ा लाभ उठा रहे हैं। जलोदरी, अर्श, कुष्ठ और अजीर्ण रोगमें तथा ज्वरमें यह फलदायक है। इसका कच्चा फल भेदक और पका फल रोधक है। इसका बीजतैल बालमें लगाने पर बहुत उपकार होता है। इसका गोंद भेदक और स्निग्धकारक है। कोंकणवासी पान और सुपारीके साथ इसके बीजकी गूदी और भल्लातकका कुछ अंश भी खाते हैं। इससे अग्निमान्द्य दूर होता है।

कच्चा फल बकरी, भेड़ा, गाय, हरिन और बन्दर आदि जानवर खाते हैं। बीजके अन्दर जो बादाम या गुठली रहती है, उसे लोग खाते हैं। बड़े बहेड़ेकी गूदी अधिक परिमाणसे खाने पर नशा होता है। क्योंकि इसमें मादकता भी है। मालव-भील-सेना दलके सब एसिष्टण्ट सर्जन मिष्टर राइकने लिखा है, कि एक दिन तीन बालकोंने बहेड़ेके बीजका गूदा खाया, उसमें दो तो उसी दिन नशामें चूर हो कर झूमने और शिरके दर्दसे छटपटाने लगे। पीछे कै होनेके बाद चित्तशान्त हुआ और पीड़ा दूर हुई। तीसरे बालकको पहले दिन कुछ पीड़ा न हुई, किन्तु दूसरे दिन वह हतचेतन हो गया और उसका शरीर ठण्डा हो गया। उसी समय उसको कै आनेकी दवा और गर्म चाय पीनेको दी गयी। तब क्रमशः आरोग्यके लक्षण दिखाई देने लगे और क्रमशः उसे चैतन्यता आने लगी। किन्तु उस दिन नशेमें मत्त हो कर दिन भर सोता रहा और शिर दर्दकी शिकायत करता रहा। इसके दूसरे दिन भी उसको नाड़ीकी गति ठीक नहीं हुई। पीछे उसने आरोग्यलाभ किया। डाक्टर राइकका कहना है, कि Stomach-pump व्यवहार न करनेसे विषके प्रयोगसे उस बालककी मृत्यु हो जाती। डाक्टर वार्टन ब्राउनका कहना है, कि बाजारू मद्य तय्यार करनेवाले हरितकी, आमलकी या बहेड़ा मद्यमें मिला कर बेचते हैं और कभी कभी इससे विशेष कुफल भी होता दिखाई देता है। डाइमक, हुपार और वाइंनने विशेष परीक्षा कर देखा है, कि बीजकी गूदीमें कोई मादक पदार्थ नहीं है। कांगड़ा जिलेके अधिवासी इसके पत्ते गाय आदिको खिलाते हैं।

इसकी लकड़ीका रङ्ग हरिद्राभ धूसर और मजबूत होती है लेकिन अन्तःसारशून्य है आकृतिमें कुछ-अंशमें Ougeinia dalbergioides वृक्षकी तरह ही है, और प्रति घनफीटका वजन ३६से ४३ पाउण्ड है। यह काष्ठ बहुत दिन तक नहीं टिक सकता, इसमें बहुत जल्द ही कीड़े लग जाते हैं। इससे जनसमाजमें कोई इसका आदर नहीं करता। इसकी लकड़ी पाटातन करने, पेकिङ्ग बाकस करने या नौका बनानेके काममें आती है। उत्तर-पश्चिम प्रदेशमें

इसका तखता जलमें डुबा कर रखते हैं, पच जानेके बाद पीछे इससे दरवाजा आदि तय्यार करते हैं। मध्यप्रदेशमें जब बीजशाल लकड़ीका अभाव रहता है, तब वहांके आदमी इसी लकड़ीसे हल और जुआठा तय्यार करते हैं। दक्षिण-भारतमें इससे पेकिङ्ग बक्स, चाय या काफीके बक्स, बेड़ा (Catamaran) और मापपात्र तैयार होते हैं।

बहुत दिनोंसे आर्य्यसमाजमें बहेड़ेका प्रचलन है। वैदिक ऋषिगण इस लकड़ीका बना पाशा व्यवहार करते थे। मालूम होता है, कि इस लकड़ीका बना पाशा हाड़के बने पाशेसे खेलमें सुचाल पड़ता था। ऋग्वेद-संहिताके १० मण्डलके ३४ सूक्तमें द्यूतकार और अक्षका वर्णन है—

> "प्रावे पा मां वृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
> सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान ॥"
>
> (ऋक् १०।३४।१)

'वृहतो महतो विभीतकस्य फलत्वेन सम्बन्धिनः प्रवातेजा प्रवणे देशे जाता इरिण आस्फारे वर्वृतानाः प्रवर्त्तमानाः प्रावेपाः प्रवेपिणः कम्पनशीला अक्षा मा मां मादयन्ति हर्षयन्ति किञ्च जागृविर्जयपराजययोर्हर्ष-शोकाभ्यां कितवानां जागरणस्य कर्त्ता विभीदको विभीतकविकारोऽक्षो मह्यं मोमच्छान आच्छदत्।' (सायण)

इसके फलके रसमें कसीस या हीराकस मिला देनेसे लिखनेको अच्छी स्याही तय्यार होती है। बीजका तेल केशमूलको दृढ़ करता तथा केशको बढ़ाता है। चीनी साफ करनेमें इसकी लकड़ीको राख सावन्तवाड़ी जिलेके लोग व्यवहार करते हैं। इसके पत्तेके क्वाथमें मलाई (Boswellia serrata) वृक्षकः तखता ५।६ महीने भिजा कर रखनेसे वह इतना दृढ़ हो जाता है, कि वह शीघ्र जल या कीचड़में खराब नहीं होता। इस सबबसे रेल बिछानेवाला 'श्लीपर' या पटरेका काम भी इससे लिया जाता है। इसके वृक्ष छत्तेकी तरह छायादार होनेसे रास्तेकी दोनों बगलोंमें लगाये जाते हैं। उत्तर-भारतके साधारण हिन्दुओंका विश्वास है, कि यह वृक्ष भूतयोनिका आवास-स्थल है। इसीलिये वे दिनके समय भी इसके नीचे बैठनेका साहस नहीं करते। मध्य और दक्षिण भारतके लोगोंका विश्वास है, कि यह वृक्ष दुर्भाग्य खड़ा कर देनेवाला है और जो आदमी घरमें इसकी लकड़ीकी किवाड़ी या खिड़कियां बनवा कर लगवाते हैं; उनके कुल खान्दानमें कोई चिराग बत्ती करनेवाला भी नहीं रह जाता।

कार्त्तिकसे पौष महीने तक इसका फल अच्छी तरह पक जाता है और बाजारमें बिकने लगता है। मानभूम, हजारीबाग आदि पार्वत्य प्रदेशोंमें इसका मूल्य १) रुपये तथा चट्टग्राम अञ्चलमें ५) रुपये मन है। हरीतकीका मूल्य इसकी अपेक्षा बहुत अधिक है। रासायनिक परीक्षा द्वारा इस फल और इसके बीजके पारमाणविक पदार्थ समष्टिकी जो सूची निकली है, वह साधारणकी जानकारीके लिये नीचे दी जाती है—

पदार्थ	फलत्वक्	बीजकोष
जलीयांश	८·००	११·३८
भस्म	४·२८	४·३८
पेट्रोलियम इथर एकष्ट्राक्	१·२	२६·८२
इथर „	·४१	·६१
इलकोहलीय „	६·४२	·६१
जलीय „	३८·५६	२५·२६

उक्त फलत्वक्में वर्ण (Colouring matter), गोंद (Resin), गालिक एसिड और तेल मिलता है। इनके एकष्ट्राक्टसे जो पेट्रोलियम इथर उत्पन्न होता है वह सहज रंग मिले हुए पीले तेलमें सहज ही अनुभूत होता है। एलकोहलीय एकष्ट्राक् हरिद्रावर्ण, भंगूर, धारक और उष्ण जलमें द्रव होता है। जलीय या Aqueous Extract और चर्म परिष्कार करनेकी शक्ति (tannin) परि-लक्षित होती है। बीजकी गूदीमें जो तेल मिलता है, उसमें प्रायः ३०·४४ अंश रसवत् पदार्थ विद्यमान है। वह थिरने पर ऊपरमें जरा सब्ज रंगका तेल और तलेमें घीकी तरह गाढ़ा सफेद पदार्थ पाया जाता है। यह साधारणतः औषधके रूपमें व्यवहृत होता है। बीजका तेल बादाम तेलकी तरह पतला है। उसमें फीका पीले रंगका जो पेट्रोलियम् इथर एकष्ट्राक्ट पाया जाता है, वह सहज ही नहीं सूखता या एलकोहलमें द्रव नहीं होता। किन्तु एलकोहलिक एकष्ट्राक् उष्ण जलमें द्रव हो जाता है। उसमें अम्लकी प्रतिक्रिया विद्यमान रहती है। साबुन-चीनी या क्षारका विन्दुमात्र निदर्शन या आस्वाद नहीं है।

गुण—कटु, तिक्त, कषाय, उष्ण, कफनाशक, आंखकी रोशनी बढ़ानेवाला, पलितघ्न, विपाकमें मधुर। इसका मज्जन गुण—तृष्णा, सर्दी, कफ और वातनाशक, मधुर, मदकारक। इसके तेलका गुण—स्वादु, शीतल, केशवर्द्धक, गुरु, पित्त और वायुनाशक। (राजनि०)

विभीतिक (सं० पु०) विभीतक, बहेड़ा।

विभीषक (सं० त्रि०) भयानक, डरानेवाला।

विभीषण (सं० पु०) विभीषयतीति वि भीषि (नन्दि ग्रहिपचीति : पा ३।१।१३४) इति ल्यु। १ नलतृण, नरसलका पौधा। (त्रि०) २ भयानक, डरानेवाला। "इन्द्रो विश्वस्य दमिता विभीषणः" (ऋक् ५।३४।६) 'विभीषणः भयजनकः'। (सायण)

(पु०) ३ लङ्कापति रावणका कनिष्ठ भ्राता और भगवान् रामचन्द्रका परम मित्र, सुमाली राक्षसका दौहित्र। विश्रवा मुनिके औरस और कैकसी राक्षसीके गर्भसे इनका जन्म हुआ था।

एक दिन सुमालीने पुष्पकरथ पर विराजमान कुवेरको देख कर वैसा ही दौहित्रप्राप्तिकी आशासे गुणवती कन्या कैकसीको विश्रवाके पास भेज दिया। ध्यानस्थ विश्रवाने कैकसीको समीप आते देख उसका मनोगत भाव समझ कर कहा, "इस दारुण समयमें तुम आई हो, अतएव इस समय तुम्हारे गर्भसे दारुण राक्षस ही जन्म लेंगे।" उस समय कैकसीने सानुमय प्रार्थना की, 'प्रभो! मैं ऐसे पुत्र नहीं चाहती। मेरे प्रति आप प्रसन्न हों।' इस पर ऋषिने सन्तुष्ट हो कर कहा, 'मेरी वात अन्यथा होनेवाली नहीं। जो हो, तुम्हारे गर्भसे जो अन्तिम पुत्र होगा वह मेरे आशीर्वादसे मेरे वंशानुरूप और परम धार्मिक होगा।' ऋषिके आशीर्वादके फलस्वरूप विभीषण ही अन्तिम पुत्र हुए।

विभीषणने भी रावण और कुम्भकर्णके साथ एक सहस्र वर्ष तपस्या की थी। ब्रह्मा जब वर देनेके लिये गये तब विभीषणने उनसे प्रार्थना की, "विपद्में भी मेरी धर्ममें मति हो। नित्य ब्रह्मचिन्ता हृदयमें स्फुरित हो।" ब्रह्माने वर दिया, "राक्षसयोनिमें जन्म लेने पर भी जब अधर्ममें तुम्हारी मति नहीं है तब मेरे वरसे तुम अमरत्व लाभ करोगे।" इस तरह ब्रह्माके वरसे विभीषण अमर हुए।

वरलाभके वाद रावणके साथ विभीषण भी लङ्कापुरीमें आये। गन्धर्वाधिपति शैलूषकी कन्या सरमाके साथ उनका विवाह हुआ।

सीता हरण कर जब रावण लङ्कामें लौटा तब रावणके इस आचरणसे धार्मिक विभीषणका प्राण व्यथित हुआ। सती साध्वी सीताकी परिचर्य्याका भार प्रिय पत्नी सरमा पर उन्होंने दिया था। इसके बाद सीताकी खोजमें हनुमान् लङ्कामें उपस्थित हुए। हनुमान्के रावणके प्रति निन्दावाद और रामचंद्रकी बड़ाई सुन कर रावणको बड़ा क्रोध आया। और तो क्या, उसने हनुमान्को मार डालनेकी आज्ञा दे दी। इस समय विभीषणने ही नीतिविरुद्ध दूतबधको गर्हित कार्य बता कर रावणको शांत किया। इसके बाद जब विभीषणने सुना कि भगवान् रामचन्द्र सैन्य ले कर आ रहे हैं, तब उन्होंने रावणसे सीताको पुनः रामचन्द्रजीके पास लौटा देनेके लिये कई सौ बार अनुरोध किया, किन्तु रावणने उनकी एक भी न सुनी। उलटे विभीषणकी पुनः पुनः हितकथासे विकल हो कर रावणने उनसे कहा था—"विभीषण! मेरा ऐश्वर्य तथा यश तुमसे देखा नहीं जाता। रे कुलकलङ्क! तुमको बार बार धिक्कार है।' इस तरह उसने तिरस्कार कर उनको अपने यहांसे निकाल दिया।

विभीषण बहुत धीर, फिर भी परम धार्मिक थे। उन्होंने समझ लिया था कि रावण जिस तरह पाप कार्यमें लिप्त हो रहा है उससे उसकी बचनेकी आशा नहीं। उन्होंने इस तरह तिरस्कृत हो कर चार राक्षसोंके साथ राजधानी परित्याग की। धर्मरक्षाके लिये उन्होंने आत्मीय स्वजनोंके प्रति जरा दृष्टिपात भी नहीं किया। इस समय भगवान् रामचन्द्र समुद्रके उस पार बानर सैन्यों के साथ उपस्थित थे। विभीषण अपने चारों अनुचर राक्षसोंके साथ वहां आये जहां रामचन्द्रजी मौजूद थे। पहले सुग्रीव उनको शत्रुका दूत समझ कर मार डालने पर उद्यत हुए थे, किन्तु शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्रने रोक दिया। फिर भी सुग्रीवने कहा था, 'विपद्के समय भाईको छोड़ जो विपक्षी पक्षका आश्रय लेता है उसका विश्वास नहीं करना चाहिये।' रामचन्द्रजीने विभीषणको मित्ररूपसे ग्रहण किया था। उनसे

रामचन्द्र रावणके बलाबलका हाल जाननेमें समर्थ हुए थे। इसके फलसे उनको भविष्यमें बड़ी सुविधा हुई थी।

इसके बाद रामचन्द्रने लङ्कामें आ कर पड़ाव डाला। विभीषण सदा उनके पार्श्वचर हो कर रहे। लङ्कामें महासमर उपस्थित होने पर विभीषण एक मन्त्री, सेनापति और सन्धिविग्रहोंका काम देखने लगे। जब लक्ष्मणको शक्ति लगी थी, उस समय विभीषणने ही सुषेण वैद्यका पता बतला औषधि कराई थी। इसके बाद मायासीताको दिखा इन्द्रजित्‌ने जब कपिसैन्यको मोहित किया था और रामचन्द्र सीताका मृत्यु-संवाद सुन कर बहुत कातर हो गये, उस समय भी विभीषणने इन्द्रजित्‌का मायाजाल बतला उनका भ्रम निवारण किया था। फिर विभीषणके ही साहाय्यसे निकुम्भिला यज्ञागारमें इन्द्रजित्‌को मार डालनेमें लक्ष्मण समर्थ हुए थे। किन्तु महावीर दशानन रामचन्द्रके शराघातसे जब भूपतित हुआ तब विभीषण भ्रातृशोकमें विभोर हो उठा। धार्मिकप्राण ज्येष्ठ भाईका अधःपात सह्य न सके। कविगुरु वाल्मीकिने विभीषणके इस समयका विलाप ऐसा सुन्दर चित्रित किया है कि उसको पढ़ कर पाषाणहृदय भी द्रवीभूत हो जाता है। अन्तमें ज्येष्ठ भ्राताके उपयुक्त प्रेतकृत्य समाप्त कर रामचन्द्रकी आज्ञासे विभीषण ही लङ्काके अधिपति हुए।

पद्मपुराणके मतसे—विभीषणकी माताका नाम निकषा[¶] है। हालके वङ्गीय कृत्तिवासी रामायणमें विभीषणके तरणीसेन नामक एक पुत्रका नाम दिखाई देता है।

जैनोंके पद्मपुराणमें विभीषणका चरित्र भिन्नभावसे चित्रित है। उसके अनुसार विभीषण एक प्रसिद्ध जिन भक्त, परमधार्मिक और संसारविरक्त पुरुष माने गये हैं।

पहले ही कह आये हैं, कि विभीषण अमर हैं। महाभारतसे जाना जाता है कि वे युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें उपस्थित थे। उत्कलके पुरुषोत्तमके जनसाधारणका विश्वास है, कि आज भी विभीषण गंभीर निशामें जगन्नाथ महाप्रभुकी पूजा करनेके लिये आते हैं।

४ आञ्जनेय-स्तोत्रके रचयिता।

विभीषणा (सं० त्रि०) १ भयानक, डरावनी। (स्त्री०) २ एक मुहूर्त्तका नाम।

विभीषा (सं० स्त्री०) विभेतुमिच्छा, भी सन्, विभीष-अ-टाप्। भय पानेकी इच्छा।

विभीषिका (सं० स्त्री०) विभीषा स्वार्थे-कन्-स्त्रियां-टाप् अत इत्वञ्च। १ भयप्रदर्शन, डर दिखाना। २ भयङ्कर बात, भयानक दृश्य।

विभु (सं० पु०) वि-भू (विसंप्रसंभ्योडु संज्ञायां। पा ३।२।१८०) इति डु। १ प्रभु, स्वामी। २ शङ्कर, महादेव। (भारत १३।१७।१६) ३ ब्रह्म। (मेदिनी) ४ भृत्य, नौकर। (त्रिका) ५ विष्णु। (भारत १३।१४९।१०७) ६ जीवात्मा, आत्मा। ७ ईश्वर। (ऋक् ४।९।१) (त्रि०) ८ सर्वव्यापक, जो सर्वत्र वर्त्तमान हो। जीवकी जाग्रत आदि चारों अवस्थाओंके चार विभु माने गये हैं। जाग्रतका विभु विश्व, स्वप्नका तैजस्, सुषुप्तिका प्राज्ञ और तुरीयका ब्रह्म कहा गया है। ९ सर्वत्र गमनशील, जो सब जगह जा सकता हो। १० नित्य, सब कालमें रहनेवाला। ११ अहः, रात दिन। १२ अत्यन्त विस्तृत, बहुत बड़ा। १३ दृढ़, चिरस्थायी। १४ महान्, ऐश्वर्ययुक्त।

विभुक्रतु (सं० त्रि०) बलशाली, शत्रुको परास्त करनेवाला।

विभुग्न (सं० त्रि०) वि-भुज-क्त। ईषत् भग्न, कुछ टूटा-हुआ।

विभुज (सं० त्रि०) १ विबाहु। २ वक्र। मूलविभुज देखो।

विभुता (सं० स्त्री०) १ विभु होनेका भाव, सर्वव्यापकता। २ ऐश्वर्य, शक्ति। ३ प्रभुता, ईश्वरता। ४ अधिकार।

विभुत्व (सं० क्ली०) विभोर्भाव त्व। विभुका भाव या धर्म, विभुका कार्य।

विभुदत्त—गुप्तवंशीय महाराज हस्तिन्‌का सान्धिविग्र। इनके पिताका नाम सूर्यदत्त था।

विभुप्रमित (सं० त्रि०) विभुके समान।

विभुमत् (सं० त्रि०) विभु-अस्त्यर्थे-मतुप्। विभुत्व-युक्त, महत्त्वयुक्त। (ऋक् ६८५।१६)

विभुवरी (सं० स्त्री०) विभ्वन्। (काठक ३५।३)
विभ्वन् देखो।

[¶] वाल्मीकीय रामायणके युद्धकाण्डमें भी विभीषण 'निकषानन्दन' रूपमें अभिहित किये गये हैं। (यु०का० ९२ स०)

विभुवर्म्मन्—राना अंशुवर्माके पुत्र। ये ६४६ ई०में विद्यमान थे।

विभूतङ्गमा (सं० स्त्री०) बहुसंख्यक।

विभूतद्युम्न (सं० त्रि०) प्रभूतयशस्वी वा प्रभूत अन्नविशिष्ट। (ऋक् १।१५६।१)

विभूतमनस् (सं० त्रि०) विमनस्, उदार।

(निरुक्त१०।२६)

विभूतराति (सं० त्रि०) रा-दाने-रा-क्तिन् रातिः दानं, विभूतां रातिं दानं यस्य। विभूतदान। (ऋक् ८।१६।२)

विभूति (सं० स्त्री०) वि-भू-क्तिन्। १ दिव्य या अलौकिक शक्ति। इसके अन्तर्गत अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ सिद्धियां हैं। पातञ्जलदर्शनके विभूतिपादमें योग द्वारा किस प्रकार कौन कौन ऐश्वर्य्य प्राप्त होता है उसका विशेष विवरण लिखा है।

२ शिवघृतभस्म, शिवके अङ्गमें चढ़ानेकी राख। देवीभागवतके ग्यारहवें स्कन्ध १४वें अध्यायमें विभूतिधारणमाहात्म्य तथा १५वें अध्यायमें त्रिपुण्ड् और ऊद्र्ध्वपुण्ड्धारणविधि विस्तारसे वर्णित है।

३ भगवान् विष्णुका वह ऐश्वर्य्य जो नित्य और स्थायी माना जाता है। ४ लक्ष्मी। (ऋक् १।३०।५) ५ विभवहेतु। (ऋक् ४६।६१।१) 'विभूतिर्ज्जगतो विभवहेतुः' (सायण) ६ विविध सृष्टि। (भागवत ४।२४।४३) ७ सम्पत्, धन।

"अभिभूय विभूतिमार्त्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम।

(रघु० ८।३६)

८ बहुतायत, बढ़ती। ६ विभव, ऐश्वर्य्य। १० एक दिव्यास्त्र जो विश्वामित्रने रामको दिया था।

विभूतिचन्द्र (सं० पु०) बौद्धग्रन्थकारभेद। (तारनाथ)

विभूतिद्वादशी (सं० स्त्री०) विभूतिवर्द्धिका द्वादशी, एक व्रतका नाम। यह व्रत करनेसे विभूति बढ़ती है, इसीलिये इसका नाम विभूतिद्वादशी पड़ा है। मत्स्यपुराणमें इसकी विधि लिखी हुई है। यह विष्णुका व्रत है। यह सब व्रतोंमें अधिक पापनाशक है। व्रतका विधान इस तरह है—"कार्त्तिक, अग्रहायण, फाल्गुन, वैशाख या आषाढ़ मास शुक्ला दशमीको रातको संयमसे रहना पड़ेगा, दूसरे दिन एकादशीका व्रत कर विष्णुकी पूजा करनी पड़ती है। इस तरहकी पूजा करके दूसरे दिन अर्थात् द्वादशीके दिन प्रातःकाल स्नानादि प्रातःक्रियाको समाप्त कर शुक्लमाल्य और अनुलेपनों द्वारा विष्णुपूजा कर निम्नोक्त रूपसे पूजा करनी चाहिये—

"विभूतिदाय नमः पादावशोकाय च जानुनी।
नमः शिवायेत्यूरू च विश्वमूर्त्तये नमः कटिम्॥
कन्दर्पाय नमो मेढ्रमादित्याय नमः करौ;
दामोदरायेत्युदरं वासुदेवाय च स्तनौ॥
माधवायेति हृदयं कण्ठमुत्कण्ठिते नमः।
श्रीधराय मुखं केशान् केशवायेति नारद॥
पृष्ठं शार्ङ्गधरायेति श्रवणौ च स्वयम्वे।
स्वनाम्ना शङ्खचक्रासि गदापरशुपाणयः।
सर्वात्मने शिरोब्रह्मन् नम इत्यभिपूजयेत्॥"

(मत्स्यपु० ८३ अ०)

"पादौ विभूतिदाय नमः" जानुनी अशोकाय नमः इत्यादि रूपसे पूजा करनी होती है। एकादशीको रातको एक घड़ेमें उत्पलके साथ यथासाध्य भगवान् विष्णुकी मत्स्यमूर्त्ति तय्यार करा कर स्थापन करना चाहिये और एक सितवस्त्र द्वारा वेष्टित तिलयुक्त गुड़का पात्र रखना होगा। इसी रातको भगवान् विष्णुके नाम और इतिहास सुन कर जागरण करनेकी विधि है। प्रातःकालमें एक उदकुम्भके साथ देवमूर्त्तिब्रह्मणको निम्नोक्त प्रार्थनापाठ कर दान करना होता है।

"यथा न मुच्यते विष्णोः सदा सर्वविभूतिभिः।
तथा मामुद्धराशेषदुःखसंसारसागरात्॥"

इस तरह दान कर ब्राह्मण, आत्मीय कुटुम्बको भोजन करा कर स्वयं पारण करना। यह व्रत प्रतिमास करना होता है। पहले जो मास उल्लिखित हैं, उनमें किसी माससे आरम्भ कर एक वर्ष तक अर्थात् बारह मास तक की बारह द्वादशीके दिन इसी तरह नियमके साथ व्रतानुष्ठान करना होगा। एक वर्षके बाद एक छोटे नमकके पर्वतके साथ एक शय्यादान देनी चाहिये। यथाशक्ति वह अन्नवस्त्र भी दान करें। यदि अतिदरिद्र व्यक्ति ऐसे दान करनेमें असमर्थ हों, तो वे दो वर्ष तक एकादशीके दिन उपवास, पूजा और द्वादशीके दिन पूजा पारण करें। ऐसा होने पर वे सब पातकोंसे मुक्त

कर विभूति लाभ करेंगे। जो इस व्रतका अनुष्ठान करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होता और उसके पितृगणका उद्धार होता है। शतसहस्र वर्ष उनके शरीरमें कोई व्याधि न होगी और न शोक दारिद्र्य ही होगा। बहुत दिनों तक वह स्वर्गसुख भोग करेगा।

(भविष्यपुराण)

विभूतिमत् (सं० त्रि०) १ ऐश्वर्यवान्, शक्तिसम्पन्न। २ संपत्तिशाली, धनवान्।

विभूतिमाधव—एक प्राचीन कवि।

विभूतिमान् (सं० त्रि०) विभूतिमत् देखो।

विभूदावन् (सं० त्रि०) ऐश्वर्यदाता।

विभूमन् (सं० त्रि०) १ शक्तिशाली, ऐश्वर्यवान्। (पु०) विशिष्टो भूमा कर्मधा०। २ श्रीकृष्ण।

विभूमा—विभूमन् देखो।

विभूरसि (सं० पु०) अग्निमूर्त्तिभेद। (महाभारत वनप०)

विभूवसु (सं० त्रि०) बहु ऐश्वर्य वा धनविशिष्ट।

(ऋक् ६।८६।१०)

विभूषण (सं० क्ली०) विशेषेण भूषयत्यनेनेति वि-भूष-णिच्-ल्युट्। १ आभरण, अलङ्कार, जेवर। २ अलंकृत करनेकी क्रिया, गहने आदिसे सजानेका काम। किसी किसी शब्दके आगे लग कर यह शब्द श्रेष्ठतावाचक हो जाता है। जैसे—रघुवंश-विभूषण। (पु०) मञ्जुश्रीका एक नाम। (त्रिका० १।१।२२)

विभूषणवत् (सं० त्रि०) भूषणके सदृश।

(मृच्छकटिक ६।१।२)

विभूषणा (सं० स्त्री०) १ भूषा, अलङ्कार। २ शोभा।

विभूषा (सं० स्त्री०) वि-भूष-इ-अ (गुरोश्च हलः। पा ३।३।१०३) ततष्टाप्। १ शोभा। २ आभरण, गहना। ३ गहनों आदिकी खूब सजावट।

विभूषित (सं० त्रि०) वि-भूष-क्त ; यद्वा विभूषा संजातास्य इति विभूषा इतच्। १ अलङ्कृत, गहनों आदिसे सजाया हुआ। २ शोभित। ३ अच्छी वस्तु, गुण आदिसे युक्त।

विभूषिन् (सं० त्रि०) वि-भूष्-णिनि। १ विभूषणकारी। २ अलंकृत, शोभित।

विभूष्णु (सं० त्रि०) १ विभूतियुक्त। (पु०) २ शिव।

विभूष्य (सं० त्रि०) १ विभूषित करने योग्य, सजाने लायक। २ जिसे गहनों आदिसे सजाना हो।

विभृत (सं० त्रि०) वि-भृ क्त। धृत, पकड़ा हुआ। २ पुष्ट, मोटा ताजा।

विभृत्र (सं० त्रि०) १ नाना स्थानोंमें विहृत (ऋक् १।६५।२) २ अग्निहोत्रकर्ममें विहरणकारी।

(ऋक् १।७१।३ भाष्यमें सायण)

विभृत्वन् (सं० पु०) वह जो धारण या भरणपोषण करे

(ऋक् ६।६६।१६)

विभेतव्य (सं० त्रि०) भीतिके योग्य, डरने लायक।

विभेत्तृ (सं० पु०) १ विभेदकर्त्ता, विभेद करनेवाला। २ ध्वंसकर्त्ता, नाश करनेवाला।

विभेद (सं० पु०) १ विभिन्नता, अन्तर, फरक। २ अपगम, वियोग। ३ विभाग, दो या कई खण्डोंमें करना। ४ मिश्रण, मिलाना। ५ विकाश,। एक रूपतासे अनेक रूपताकी प्राप्ति। ६ विदलन, काटना, तोड़ना या छेदना। ७ विदारण, फाड़ना। ८ छेद कर घुसना, धँसना। १० छेद, दरार।

विभेदक (सं० त्रि०) १ भेदकारी, दो वस्तुओंमें भेद प्रकट करनेवाला। २ घुसनेवाला, धंसनेवाला। ३ भेदन करनेवाला, काटने या छेदनेवाला। (पु०) ४ विभीतक, बहेड़ा।

विभेदकारी (सं० त्रि०) १ छेदने या काटनेवाला। २ भेद या फर्क करनेवाला ३ दो व्यक्तियोंमें विरोध करनेवाला, फूट डालनेवाला।

विभेदन (सं० पु०) १ भिन्न करण, भेद या फर्क डालना या तोड़ना। ३ छेद कर घुसना, धंसना।। ४ काट कर या कई खण्डोंमें करना। ५ पृथक् करण; अलग अलग करना। ६ मिश्रण; मिलाना।

विभेदिन् (सं० त्रि०) १ विभेदकारी, भेद या फर्क डालनेवाला। २ विच्छेदकारी, जुदा करनेवाला। १ पृथक्कारी, अलग अलग करनेवाला।

विभेदिनी (सं० त्रि०) १ छेदन या भेदन करनेवाली। २ छेद कर घुसनेवाली। ३ भेद या फर्क करनेवाली।

विभेदी (सं० त्रि०) विभेदिन् देखो।

विभेद्य(सं० त्रि०) भेदन या छेदनयोग्य।

विभो (सं० पु०) विभुका सम्बोधनरूप, हे विभु !

विभ्रंश (सं० पु०) १ विनाश, ध्वंस। २ पतन, अवनति। ३ पर्वतका भृगु, पहाड़की चोटी परका चौरस मैदान। ४ ऊंचा कगार।

विभ्रंशित (सं० त्रि०) १ विभ्रष्ट, पतित। २ विच्छिन्न। ३ विपथसे लाया हुआ। ४ विलुप्त।

विभ्रंशितज्ञान (सं० त्रि०) २ ज्ञानशून्य, बेहोश। २ बुद्धिभ्रष्ट, जिसकी बुद्धि मारी गई हो।

विभ्रंशिन् (सं० त्रि०) १ पतनशील। २ जिसका अधः पतन हुआ हो। ३ निःक्षेप। ४ निश्चिन्त।

विभ्रट—पर्वतभेद। (कालिकापु० ७८।३६)

विभ्रत् (सं० त्रि०) वि-भृ-शतृ-विभर्त्ति यः। धारणपोषणकर्त्ता।

विभ्रम (सं० पु०) वि-भ्रम-घञ्। १ हावभेद। प्रियके मिलने पर स्त्रियां जो तरह तरहके प्रेमालाप करतीं, तरह तरहके शृङ्गारादि द्वारा अपने शरीरको सजाती उसीका नाम हावभाव या विभ्रम है। २ स्त्रियोंका एक भाव इसमें वे भ्रमसे उलटे पुलटे भूषण पहन लेती हैं, तथा रह रह कर मतवालेकी तरह कभी क्रोध कभी हर्ष आदि भाव प्रकट करती हैं। ३ प्रियका आगमन संवाद पा कर अत्यन्त हर्ष और अनुरागवशतः बड़ी उतावलीसे स्त्रियोंका जहां तहां भूषणादिका विन्यास। जैसे तिलक पहननेकी जगह अर्थात् ललाटमें अञ्जन, अञ्जन पहनेको जगह अलक्तक (महावर) और अलक्तक पहननेकी जगह तिलक इत्यादि।

४ शृङ्गाररसोद्गममें चित्तवृत्तिका अनवस्थान। ५ स्त्रियोंका यौवनज विकारविशेष। ६ भ्रान्ति, भूल। ७ शोभा। ८ संशय, संदेह। ९ भ्रमण, फेरा। १० अस्थिरता, घबराहट।

विभ्रमा (सं० स्त्री०) वार्द्धक्य, बुढ़ापा।

विभ्रमिन् (सं० त्रि०) विभ्रमयुक्त।

विभ्राज (सं० त्रि०) विभ्राट् देखो।

विभ्राज (सं० पु०) राजभेद। (हरिवंश) वैभ्राज देखो।

विभ्राट् (सं० त्रि०) विशेषेण भ्राजते इति वि भ्राज-क्विप् (अन्येभ्यो पि दृश्यते। पा ३।३।१७७) १ अलङ्कारादि द्वारा दीप्तिशील। पर्याय—भ्राजिष्णु। २ शोभायमान। ३ दीप्तिमान्। ४ उपद्रव, बखेड़ा। ५ आपत्ति, संकट।

विभ्रातव्य (सं० क्ली०) वैमात्रेय।

विभ्रान्त (सं० स्त्री०) वि भ्रम-क्त। १ विभ्रमयुक्त, भ्रममें पड़ा हुआ। २ घूमता हुआ, चक्कर खाता हुआ।

विभ्रान्ति (सं० स्त्री०) वि-भ्रम क्तिन्। १ विभ्रम, भ्रम, संदेह। २ फेरा, चक्कर। ३ हड़बड़ी, घबराहट।

विभ्राष्टि (सं० स्त्री०) १ दीप्ति, प्रभा। २ शोभा।

विभ्रु (सं० पु०) वभ्रु शब्दका प्रामादिक पाठ।

(भारत वनपर्व)

विभ्रेष (सं० पु०) विभ्रमोह।

(आश्व० श्रौ० १।२।१२ भाष्य)

विभ्वतष्ट (सं० त्रि०) विभु ब्रह्मा कर्त्तृक जगत्के आधिपत्य पर स्थापित। (ऋक् ३।४९।१)

विभ्वन् (सं० त्रि०) १ व्याप्त, फैला हुआ। "प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा" (ऋक् १।११३।१) 'विभ्वा विभुर्व्याप्तः, विप्रसम्भ्यो डुसंज्ञायामिति भवतेर्डु प्रत्ययः। सुपां सुलुगित्यादिना सोराकारादेशः, ओं सुपीति यणादेशस्य न भू सुध्वियोरिति प्रतिषेधे प्राप्ते छन्दस्युभयथेति यणादेशः (सायण) (पु०) २ सुधन्वाके पुत्र। (ऋक् १०।७६।५)

विम—सुमात्राके निकटवर्त्ती सुमबावा द्वीपके अन्तर्गत एक छोटा राज्य। यह उक्त द्वीपके पूर्वमें अवस्थित है। सपि प्रणालीके मध्यस्थ कुछ द्वीप भी इस राज्यके अन्तर्भुक्त हैं। राज्यके अन्तर्गत गुनुङ्ग-अपि द्वीपमें एक ज्वालामुखी पहाड़ है। आज भी उस पहाड़से कभी कभी आग निकल करती है। विम उपसागरमें प्रवेशपथसे कुछ ऊपर विम नामक छोटा नगर प्रतिष्ठित है। यहां ओलन्दाजोंका एक किला है। अक्षा० ८° २६´ दक्षिण तथा देशा० ११८° ३८´ पू०के मध्य उपसागरका प्रवेशद्वार है। यहांके अधिवासियोंकी भाषा एकदम नयी हैं। किन्तु वे लोग सिलेविस द्वीपवासीकी लिखित वर्णमालामें लिखते पढ़ते हैं। उनकी स्वजातिमें जो वर्णमाला प्रचलित थी, वह अभी बिलकुल लोप हो गई है। स्वभाव और चाल ढालमें ये लोग सुसभ्य सिलेविस द्वीपवासी-सरीखे हैं। किन्तु उन लोगोंकी तरह विमवासी उद्यमी और कर्मठ नहीं है।

इस राज्यके अधिवासीकी संख्या प्रायः ६० हजार है। यहां चन्दनकाष्ठ, मोम और घोड़े मिलते हैं। घोड़े

कदमें छोटे होते हैं सही, पर डील डौलमें बड़े अच्छे हैं। गुनुङ्ग अपि द्वीपके घोड़े सबसे सुन्दर होते हैं। यहांके अधिवासी उन सब घोड़ोंको बेचनेके लिये यवद्वीपमें भेज देते हैं।

विमज्ज्ञान्त्र (सं० त्रि०) शरीर। (भारत वनपर्व)

विमण्डन (सं० पु०) १ गहने आदिसे सजाना। २ अलङ्कार, भूषण। ३ शृङ्गार करना, संवारना।

विमण्डल (सं० त्रि०) विगतं मण्डलं यस्मात्। मण्डलरहित, परिवेशशून्य।

विमण्डित (सं० त्रि०) १ अलंकृत, सजा हुआ। २ सुशोभित। ३ युक्त, सहित।

विमत (सं० त्रि०) वि-मन-क्त। १ विरुद्धमतिविशिष्ट, विरुद्ध मतवाला। (पु०) २ गोमती-तीर पर अवस्थित एक नगर। (रामायण २।७३।१३) ३ विपरीत सिद्धान्त, विरुद्ध मत।

विमति (सं० स्त्री०) वि-मन-क्ति। १ विरुद्धमति, खिलाफ राय। २ अनिच्छा, असम्मति। ३ संशय, संदेह। (दिव्या० ३२८।१) ४ कुमति, दुर्बुद्धि।

विमतिता (सं० स्त्री०) विमतेर्भावः विमति-तल टाप्। विमतिका भाव या कार्य।

विमतिमन् (सं० पु०) विमतेर्भावः (वर्णदृढ़ादिभ्यः ष्यञ्च। पा ५।१।१२३) इति इमनिच्। विमतिका भाव, विपरीत बुद्धिका कार्य।

विमतिविकोरण (सं० पु०) १ असम्मतिप्रकाश, अनिच्छा दिखलाना। २ गर्त्त, समाधिके लिये जमीन कोड़ना। ३ बौद्धके मतसे समाधिभेद।

विमतिसमुद्घातिन् (सं० पु०) बौद्धराजकुमारभेद।

विमत्सर (सं० त्रि०) विगतो मत्सरो यस्य। १ मत्सररहित, अहङ्काररशून्य। (पु०) २ अधिक अहङ्कार।

विमथितृ (सं० त्रि०) वि-मथ-तृच्। विशेषरूपसे मथनेवाला।

विमथित (सं० त्रि०) वि मन्थ-क्त। विशेषरूपसे मथित, विनाशित।

विमद (सं० त्रि०) विगतः मदो यस्य। १ मदरहित, मात्सर्य्यहीन, जो मतवाला न हो। २ जिस हाथीको मद न बहता हो।

विमध्य (सं० क्लो०) विकलमध्य, जिसका मध्य भाग पूर्णावयव न हो।

विमनस् (सं० त्रि०) विरुद्धं मनो यस्य। चिन्तादि व्याकुलचित्त, अनमाना, उदास। पर्याय—दुर्मनाः, अन्तर्मन्यः, दुःखितमानस। (शब्दरत्ना०)

विमनस्क (सं० त्रि०) विनिगृहीतं मनो यस्य, बहुव्रीहौ कप् समासान्तः। १ विमना, अनमना। २ उदास, रंगीदा।

विमनायमान (सं० त्रि०) विमनस्-क्यच्, विमनायशानच्। दुःखित, विषण्ण।

विमनिमन् (सं० पु०) विमनसो भावः विमनस् (वर्णादृढ़ादिभ्यः ष्यञ्च। पा ५।१।१२३) इति इमनिच्, मनस् शब्दस्य टेर्लोपः। विमनाका भाव।

विमन्यु (सं० त्रि०) विगतः मन्युः क्रोधो यस्य। क्रोधरहित, रागशून्य।

विमन्युक (सं० त्रि०) विमन्यु-स्वार्थे कन्। विमन्यु, क्रोधरहित।

विमय (सं० पु०) वि मी 'एरच्' इत्यच्। विनिमय, वदला।

विमर्द (सं० पु०) विमृद्यतेऽसौ इति वि-मृद घञ्। १ कालङ्कृत वृक्ष। २ विमर्द्दन, घर्षण। ३ पेषण, पीसना। ४ मन्थन, मथना। ५ सम्पर्क। ६ युद्ध। ७ कलह, झगड़ा। ८ परिमल, खुशबू। ९ विनाश। १० सम्बन्ध।

विमर्द्दक (सं० पु०) विमर्द्द एव स्वार्थे कन्। १ चक्रमर्द्द, चकवंड। (त्रि०) २ विमर्द्दनकारी, मसल डालनेवाला। ३ चूर चूर करनेवाला। ४ नष्टभ्रष्ट करनेवाला।

विमर्द्दन (सं० क्ली०) वि-मृद-ल्युट्। १ कुङ्कमादि मर्द्दन, कुमकुम आदिका मलना। पर्याय—परिमल, विमर्द्द। (शब्दरत्ना०) २ विशेषरूपसे मर्द्दन, अच्छी तरह मलना दलना। ३ कुचलना, पीस डालना। ४ ध्वस्त करना, बरवाद करना। ५ मार डालना। ६ पीड़ित करना। ७ प्रस्फुटन, स्फुरण। (त्रि०) विशेषेण मृद्नातीति। वि-मृद-ल्यु। ८ मर्द्दनकारी, पीड़ा देनेवाला।

विमर्द्दनीय (सं० त्रि०) मर्द्दन करने योग्य।

विमर्द्दित (सं० त्रि०) वि-मृद्-क्त। १ सृष्ट, उत्पन्न। २ पिष्ट, पीसा हुआ। ३ दलित, कुचला हुआ। ४ मथित,

मथा हुआ। ५ चूर्णित, चूर किया हुआ। ६ संघटित। ७ अपमानित।

विमर्द्दिन् (सं० त्रि०) वि-मृद इनि। विमर्द नकारक, खूब मर्दन करनेवाला। २ कुचलनेवाला, पीसनेवाला। ३ नष्ट करनेवाला। ४ बध करनेवाला, मारनेवाला।

विमर्द्दी (सं० त्रि०) विमर्दिन देखो।

विमर्द्दोत्थ (सं० पु०) विमर्द्दादुत्तिष्ठतीति उद्-स्था-क वह सुगन्धि जो कुमकुम आदि मलनेसे उत्पन्न हो।

विमर्श (सं० पु०) वि-मृश-घञ्। १ वितर्क, विचारना। २ तथ्यानुसन्धान, किसी तथ्यका अनुसन्धान। ३ विवेचना, आलोचना। ४ युक्ति द्वारा परीक्षा करना। ५ असन्तोष। ६ अधैर्य्य, अधीरता।

विमर्शन् (सं० क्ली०) वि-मृश-ल्युट्। १ परामर्श, वितर्क। २ आलोचना, समीक्षा। ३ ज्ञान, सम्भव।

विमर्शिन् (सं० त्रि०) वि-मृश-इन्। विमर्शकारक।

विमर्ष (सं० पु०) वि-मृष घञ्। विचारणा, विचार। २ असहन। ३ असन्तोष। ४ आलोचना। ५ नाट्याङ्गभेद, नाटकका एक अङ्ग। अपवाद, सम्फेट, व्यवसाय, द्रव, द्युति, शक्ति, प्रसङ्ग, खेद, प्रतिषेध, विरोधन, प्ररोचना, आदान, और छादन ये सब विमर्षके अङ्ग हैं।

इनका लक्षण यथा—

दोषकथनको अपवाद, क्रोधसे भरी बातचीतको संफेट, कार्य्य निर्द्देशके हेतुके उद्भवको व्यवसाय, शोक आदिके वेगमें गुरुजनोंके आदर आदिका ध्यान न रखनेको द्रव, भय प्रदर्शन द्वारा उद्वेग उत्पन्न करनेको द्युति, विरोधकी शान्तिको शक्ति, अत्यन्त गुणकीर्त्तन या दोष-दर्शनको प्रसङ्ग, शरीर या मनकी थकावटको खेद, अभिलषित विषयमें रुकावटको प्रतिषेध, कार्य्यध्वंसको विरोधन, प्रस्तावनाके समय नट, नटी, नाटक या नाटककार आदिकी प्रशंसाको प्ररोचना, संहार विषयके प्रदर्शित होनेको आदान तथा कार्य्योद्धारके लिये अपमान आदि सह लेनेको छादन कहते हैं। (साहित्यद० ६।३७८-३९०)

साहित्यदर्पणमें इन सबके उदाहरण दिये गये हैं। बढ़ जानेके भयसे यहां पर नहीं लिखा गया।

नाटकमें विमर्षका वर्णन करनेमें इन सब अङ्गोंका वर्णन अवश्य करना होता है।

विमल (सं० त्रि०) विगतो मलो यस्मात्। १ निर्मल, मलरहित, स्वच्छ, साफ। पर्याय—वीध्र, प्रयत। (शब्दरत्ना०) २ चारु, सुन्दर। ३ शुभ्र, सफेद। ४ निष्कलङ्क, बिना ऐबका। (पु०) ५ तीर्थङ्करभेद, गत उत्सर्पिणीके ५वें और वर्त्तमान अवसर्पिणीके १३वें अर्हत् या तीर्थङ्कर। जैन देखो। (हेम) ६ सुद्युम्नके एक पुत्रका नाम। (भागवत ९।१।४१) (क्ली०) ७ पद्मकाष्ठ। ८ रौप्य, चांदी। ९ सैन्धव लवण, सेंधा नमक। (वैद्यकनि०) १० उपधातुविशेष। पर्याय—निर्मल, स्वच्छ, अमल, स्वच्छधातुक। गुण—कटु, तिक्त, त्वग्दोष और व्रणनाशक। (राजनि०)

रसेन्द्रसारसंग्रहमें इस धातुशोधनका विषय इस प्रकार लिखा है,—ओलमें माक्षिक तथा विमलको रख कर मूत, कांजी, तेल, गोदुग्ध, कदलीरस कुलथी, कलाय का काढ़ा, कोदो—धानका काढ़ा इनके स्वेदसे क्षार, अम्लवर्ग और लवणपञ्चक, तैल और घृतके साथ तीन बार पुट देनेसे विमल शुद्ध होता है।

जम्बीरी नीबूके रसमें स्वेद दे कर मेषशृङ्गी और कदली रसमें एक दिन पाक करनेसे विमल विशुद्ध होता है। (रसेन्द्रसारस० विमलशुद्धि)

इस उपरस विमलको बिना शोधन किये काममें नहीं लाना चाहिये। लानेसे नाना प्रकारकी पीड़ा उत्पन्न होती है।

विमल—१ एक तांत्रिक आचार्य्य। शक्तिरत्नाकरमें इनका उल्लेख है। २ शङ्करके शिष्य पद्मपादके पिता। ३ रागचन्द्रोदय नामक सङ्गीत ग्रंथके रचयिता। ४ तीर्थङ्करभेद। ५ सह्याद्रिवर्णित दो राजाओंके नाम। (सह्या० ३४।२९,३१) ६ एक दण्डनायक। इन्होंने अर्बुद पहाड़के ऊपर एक मंदिर बनाया और ग्राम बसाया था। खरतरगच्छके अन्तर्गत प्रसिद्ध जैनसूरि वर्द्धमानने उस मंदिरमें देवमूर्त्तिकी प्रतिष्ठा की थी।

विमलक (सं० पु०) १ मूल्यवान् प्रस्तरभेद, एक प्रकारका नग या बहुमूल्य पत्थर। २ भोजके अन्तर्गत तीर्थभेद।

विमलकीर्त्ति (सं० पु०) एक प्रसिद्ध बौद्धाचार्य्य। इन्होंने कई सूत्रोंकी रचना की है और उन्हींके नामसे प्रसिद्ध है।

विमलगर्भ (सं० पु०) १ राजपुत्रभेद। (सद्धर्म्मपुण्ड०) २ बोधिसत्त्वभेद।

विमलचन्द्र (सं० पु०) राजभेद। (तारनाथ)

विमलता (सं० स्त्री०) विमलस्य भावः तल्-टाप्। १ पवित्रता। २ निर्मलता, स्वच्छता, सफाई। ३ रमणीयता। ४ मनोहरता।

विमलत्व (सं० क्ली०) पवित्रता, निर्मलता।

विमलदत्ता (सं० स्त्री०) राजमहिषीभेद। (स्वद्धर्मपुण्ड०)

विमलदान (सं० क्ली०) विमलं विशुद्धं दानं। वह दान जो नित्य नैमित्तिक और काम्यके अतिरिक्त हो और केवल ईश्वरको प्रीतिके लिये किया जाय।

गरुड़पुराणमें लिखा है, कि नित्य, नैमित्तिक, काम्य और विमल ये चार प्रकारके दान हैं। अनुपकारी ब्राह्मणको प्रति दिन किसी फलकी कामना न करके जो दान दिया जाता है तथा पापशान्तिके लिये विद्वान्‌को जो कुछ दान किया जाता है, उस महदनुष्ठानको नैमित्तिक दान कहते हैं। पुत्र, जय, ऐश्वर्य और स्वर्गकी कामनासे जो दान किया जाता है, उसीका नाम विमलदान है।

विमलध्वनि (सं० पु०) छः चरणोंका एक छन्द। यह एक दोहे और समान सवैयेसे मिल कर बनता है।

विमलनाथपुराण—जैनपुराणभेद। इसमें जैन तीर्थङ्कर विमलनाथका माहात्म्य वर्णित है।

पुराण शब्दमें विशेष विवरण देखो।

विमलनिर्भास (सं० क्ली०) बौद्धशास्त्र कथित समाधिभेद।

विमलनेत्र (सं० पु०) बुद्धभेद।

विमलपिण्डक (सं० पु०) नागभेद। (भारत आदिपर्व)

विमलपुर ((सं० क्ली०) नगरभेद।

(कथासरित्सा० ५।६।८६)

विमलप्रदीप (सं० पु०) बौद्धशास्त्रोक्त समाधिभेद।

विमलप्रभ (सं० पु०) १ बुद्धभेद। २ देवपुत्र शुद्धावासकायिक। ३ समाधिभेद।

विमलप्रभा (सं० स्त्री०) राजमहिषीभेद।

(राजतर० ३।३८४)

विमलप्रभासश्रीतेजोराजगर्भ (सं० पु०) बोधिसत्त्वभेद।

विमलबुद्धि (सं० पु०) बौद्धभेद।

विमलबोध (सं० पु०) दुर्बोधपदभञ्जिनी नाम्नी महाभारतके एक टीकाकार। इन्होंने रामायणकी एक टीका रची थी। अर्जुन मिश्रने इनका उल्लेख किया है। उक्त महाभारतकी टीकामें टीकाकारने वैशम्पायनटीका और देवस्वामीका मत उद्धृत किया है।

विमलब्रह्मचर्य्या—स्वात्मानन्दस्तोत्रके प्रणेता।

विमलभद्र (सं० पु०) बौद्धभेद। (तारनाथ)

विमलभास (सं० पु०) समाधिभेद।

विमलभूधर—साधनपञ्चकटीकाके रचयिता।

विमलमणि (सं० पु०) विमलः स्वच्छो मणिः। स्फटिक।

विमलमणिकर (सं० पु०) बौद्ध देवताभेद।

(कालचक्र ३।१४०)

विमलमित्र (सं० पु०) बौद्धयतिभेद। (तारनाथ)

विमलवाहन (सं० पु०) राजभेद। (शत्रुञ्जयमा० ३।५)

विमलवेगश्री (सं० पु०) राजपुत्रभेद।

विमलव्यूह (सं० क्ली०) उद्यानभेद। (ललितवि०)

विमलश्रीगर्भ (सं० पु०) बोधिसत्त्वभेद।

विमलशैल (सं० पु०) पर्वतभेद, विमलाद्रि।

विमलसरस्वती (सं० पु०) एक प्रसिद्ध वैयाकरण। इन्होंने रूपमाला नामक एक व्याकरण लिखा है।

विमल सा—एक धनवान् वणिक्। इन्होंने १०३२ ई०में आबु पर्वतके ऊपर अपने नाम पर एक मन्दिर बनवाया। वह मन्दिर आज भी विमलसाका मन्दिर कहलाता है। मन्दिर शिल्पनैपुण्यसे परिपूर्ण है। इसकी बनावट प्रशंसाके योग्य है। मन्दिर देखनेसे ही जैनस्थापत्यशिल्पका निदर्शन-सा मालूम होता है। मन्दिरमें जो सब स्तम्भ लगे हुए हैं, वे तथा छतकी चित्रावली देखने लायक है। यहां पार्श्वनाथकी मूर्त्ति विराजमान हैं। इस मन्दिरका प्रतिष्ठाकार्य वर्द्धमान सूरिने सम्पन्न किया था।

विमल देखो।

विमल सूरि— जैनसूरिभेद। इन्होंने प्रश्नोत्तररत्नमाला नामक एक ग्रन्थ बनाया है। वह ग्रन्थ आर्या छन्दमें लिखा है। कहते हैं, कि इन्होंने पद्मचरित्र नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी बनाया था।

विमलस्वभाव (सं० पु०) विमलः स्वभावः। १ निर्मल-

स्वभाव। २ पर्वतभेद। (त्रि०) ३ निर्मलस्वभाव-विशिष्ट, शुद्ध हृदयवाला।

विमलसेन—कान्यकुब्जपति धर्मका वंशधर। ये नायक और दलपाङ्गुला उपाधिसे भूषित थे।

विमला (सं० स्त्री०) विमल-टाप्। १ सप्तला, सातला, कोचो। २ भूमिभेद, एक प्रकारकी जमीन। ३ देवी-भेद। कालिकापुराणमें लिखा है, कि विमलादेवी वासुदेवकी नायिका है।

तन्त्रचूड़ामणिमें लिखा है, कि उत्कल देशमें भगवती का नाभिदेश गिरा था, इसीसे वह स्थान विरजाक्षेत्र कहलाता है। यहां देवीका नाम जगन्नाथ है।

देवी-भागवतके मतसे भी देवीका नाम विमला है।

"गयायां मङ्गला प्रोक्ता विमला पुरुषोत्तमे।"
(देवीभा० ७।३०।६४)

देवीपुराणमें विमला देवीका विषय इस प्रकार लिखा है—

"यूथाख्य विमला काव्यर्या शुद्धहारेन्दुवर्चसा।
मुण्डाक्षसूत्रधारी च कमण्डलुकरा वरा॥
नावासनसमारूढ़ा श्वेतमाल्याम्बरप्रिया।
दधिक्षीरोदनाहारा कर्पूरमदचर्च्चिता।
सितपङ्कजहोमेन राष्ट्रायुर्नृपवर्द्धिनी॥" (देवीपु०)

विमलाकर (सं० पु०) राजभेद। (कथासरित् ७१।६७)

विमलाग्रनेत्र (सं० पु०) बुद्धभेद।

विमलात्मक (सं० त्रि०) विमलः निर्मल आत्मा यस्य। निर्मल, शुद्ध स्वभाववाला।

विमलात्मन् (सं० त्रि०) विमलः आत्मा स्वभावो यस्य। १ निर्मल, शुद्ध हृदयवाला। (पु०) २ चन्द्रमा।
(रामायण० ३।३५।५२)

विमलात्मा (सं० त्रि०) विमलात्मन् देखो।

विमलादित्य (सं० पु०) सूर्य।

विमलादित्य—चालुक्यवंशीय एक राजा, दानार्णवके पुत्र। इन्होंने सूर्यवंशीय राजराजकी कन्या और राजेन्द्रचोड़की छोटी बहन कुण्डवा देवीको ब्याहा था। इनका शासनकाल ६३७ से ६४४ शक तक माना जाता है।

विमलाद्रि (सं० पु०) विमलः अद्रिः। शत्रुञ्जयपर्वत। मालूम होता है, कि तारनाथने इसे विमलसम्भव और विमलस्वभाव कह कर उल्लेख किया है।

विमलार्थक (सं० त्रि०) विमल, स्वच्छ।

विमलानन्दनाथ—सप्तशतिकाविधिके रचयिता।

विमलानन्दयोगीन्द्र—स्वच्छन्दपद्धतिके प्रणेता, सच्चिदानन्दयोगीन्द्रके गुरु।

विमलाशोक (सं० क्ली०) तीर्थयात्री या संन्यासी सम्प्रदायका एक भेद।

विमलीकरण (सं० पु०) १ विमल करनेकी क्रिया, शुद्ध करनेका काम। २ मनमें विचार कर ज्योति मन्त्रसे तीनों मलोंका नाश करना। (सर्वदर्शनसंग्रह)

विमलेशगिरि—महोदयके दक्षिणसे ले कर सह्याद्रि प्रान्त पर्यन्त अवस्थित एक पर्वत। यहांका आमलकी ग्राम एक तीर्थ समझा जाता है। (देशावली)

विमलेश्वरतीर्थ (सं० पु०) तीर्थभेद।

विमलेश्वरपुष्करिणी संगमनतीर्थ—तीर्थभेद।

विमलोग्य (सं० क्ली०) तन्त्रग्रन्थभेद।

विमलोदका (सं० स्त्री०) नदीभेद। यह विमलोदा नामसे भी प्रसिद्ध है।

विमस्तकित (सं० त्रि०) छिन्नखण्डित मस्तक, मस्तकहीन।

विमहत् (सं० त्रि०) सुमहत्, बहुत बड़ा।

विमहस् (सं० त्रि०) अतितेजस्वी, बहुत प्रतापी।

विमही (सं० त्रि०) विशेष रूपसे महत्, बहुत बड़ा।
(ऋक् ८।६।४४)

विमांस (सं० क्ली०) विरुद्धं मांसं। अशुद्ध मांस, अपवित्र या न खाने योग्य मांस, जैसे कुत्ते आदिका।

विमाता (सं० स्त्री०) अपनी माताके अतिरिक्त पिताकी दूसरी विवाहिता स्त्री, सौतेली मां।

विमातृ (सं० स्त्री०) विमाता देखो।

विमातृज (सं० पु०) विमातुर्जायते इति विमातृ-जन-ड। मातृसपत्नीपुत्र, सौतेला भाई।

विमाथ (सं० पु०) १ विशेष प्रकारसे मथन, अच्छी तरह मथना। २ दलन या दमन करना।

विमाथिन् (सं० त्रि०) भूमि पर निक्षिप्त वा मर्दित।

विमान (सं० पु० क्ली०) विगतं मानमुपमा यस्य। १ देव-रथ, आकाशमार्गसे गमनकरनेवाला रथ जो देवताओं

आदिके पास होता है। वायुयान, उड़नखटोला। विमानपोत देखो। संस्कृत पर्याय—व्योमयान। (अमर)

"भुवनालोकन प्रीतिः स्वर्गिभिर्नानुभूयते।
खिलीभूते विमानानां तदापातभयात् पथि॥"

(कुमारस० २।४५)

२ इन्द्रके एक रथका नाम। ३ सार्वभौमगृह, सात मञ्जिलका घर।

"सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम्॥"

(रामायण १।५।१६)

'विमानोऽस्त्री देवयाने सप्तभूमे च सद्मनि।'

(रामायण १।२५।१६ टीकाधृत निघण्टु)

४ घोटक, घोड़ा। ५ यानमात्र, रथ, गाड़ी। ६ परिच्छेदक। 'सोमापूषा रजसा विमानं" (ऋक् २।४०।३) 'विमानं परिच्छेदकं सर्वमानमित्यर्थः' (सायण) ७ साधन, यज्ञादि कर्मसाधन।

"विमानमग्निर्वयुनश्च वधिताम्।" (ऋक् ३।३।४) 'विमानं विमीयतेऽनेन फलमिति विमानं यज्ञादि कर्मसाधनं' (सायण) विगतः मानो यस्य। ८ अवज्ञात। (भागवत ५।१३।८०) ९ असम्मान। १० परिमाण। ११ मरे हुए वृद्ध मनुष्यकी अरथी जो सजधजके साथ निकाली जाती है।

१२ वास्तुशास्त्रवर्णित देवायतनभेद। जिन सब मन्दिरोंके शिखर पर पीरामीडकी तरह चूड़ा रहती है, प्राचीन वास्तुशास्त्रमें उसीको विमान कहा है। मानसार नामक प्राचीन वास्तुशास्त्रके १८वेंसे २८वें अध्यायमें तथा काश्यपीय वास्तुशास्त्रमें विमान बनानेकी प्रणाली सविस्तार लिखी है। मानसारके मतसे विमान एकसे बारह मंजिलका तथा काश्यपके मतसे एकसे १६ मंजिलका तथा गोल, चौपहला और अठपहलाको द्राविड़ कहते हैं। ये सब विमान फिर शुद्ध, मिश्र और सङ्कीर्ण, इन तीन भागोंमें विभक्त हैं। जो केवल एक प्रकारके मसाले अर्थात् पत्थर वा ईंट किसी एकसे बनाया जाता है उसे शुद्ध कहते हैं। यही विमान श्रेष्ठ माना गया है। जो विमान दो प्रकारके मसालों अर्थात् ईंट और पत्थर अथवा पत्थर और धातुसे बनाया जाता है उसे मिश्र तथा जो तीन वा तीनसे अधिक उपादानोंसे अर्थात् लकड़ी, ईंट आदि धातुओंसे बनाया जाता है उसे सङ्कीर्ण कहते हैं। इसके सिवा स्थानक, आसन और शयन तीन प्रकारकी विशेषता है। विमानकी ऊंचाईके अनुसार स्थानक, विस्तारके अनुसार आसन और लम्बके अनुसार शयन कहा जाता है। इन तीन प्रकारके विमानोंमेंसे स्थानक-विमान पर दण्डायमान देवमूर्त्ति, आसन-विमान पर उपविष्ट देवमूर्त्ति और शयन-विमान पर शायित देवमूर्त्ति प्रतिष्ठित करनी होगी।

विमानके आयतनके अनुसार फिर शान्तिक, पौष्टिक, जयद, अद्भुत और सर्वकाम ये पांच प्रकारके भेद दिखाई देते हैं।

साधारणतः विमानमें गर्भगृह, अन्तराल और अर्द्धमण्डप इन तीन अंशोंसे समस्त आयतन प्राचीर समेत साढ़े चार या छः अंशोंमें विभाग करना होता है। इनमेंसे गर्भगृह दो, ढाई वा तीन भाग, अन्तराल डेढ़ या दो भाग तथा अर्द्धमण्डप एक वा डेढ़ भाग होगा। बड़े विमानके सामने ३ वा ४ मण्डप होते हैं। उनके नाम हैं, अर्द्धमण्डप, महामण्डप, स्थापनमण्डप, उत्तरीमण्डप।

विमानके स्तम्भोंकी ऊंचाई ८ वा १० समान भागोंमें विभक्त करनी होगी। इनमेंसे ६, ८ वा ७ स्तम्भ द्वारदेश पर देने होते हैं। उनकी चौड़ाई ऊंचाईसे आधी होगी।

विमानक (सं० पु०) विमान-स्वार्थे-कन्। विमान देखो।

विमानता (सं० स्त्री०) विमानस्य भावः तल्-टाप्। विमानका भाव या धर्म, अपमान।

विमानत्व (सं० क्ली०) विमानता देखो।

विमानन (सं० क्ली०) वि-मान-ल्युट्। अपमान, तिरस्कार।

विमानना (सं० क्ली०) विमानन-टाप्। अपमान, तिरस्कार।

विमानपाल (सं० पु०) अन्तरीक्षके पालनकर्त्ता देववृन्द।

विमानपुर—प्राचीन नगरभेद।

विमानपोत (सं० क्ली०) आकाशमार्गसे गमन करनेवाला यान, हवाई जहाज।

जगदीश्वरने मानव जातिको ही सर्वश्रेष्ठ जीव बना कर इस जगत्में भेजा है। जिस वजहसे आज मानव

पृथिवीके अन्यान्य सभी जीवोंमें श्रेष्ठ हैं। उसका मूल कारण है उनकी बुद्धिमत्ता। इसी बुद्धिमत्ताके बल आज वे अप्रतिहतभावमें पृथिवीके ऊपर आधिपत्यलाभ करनेमें समर्थ हुए हैं। इसी बुद्धिमत्ताके बल पर विज्ञानशास्त्रकी सृष्टि करके उन्होंने प्रकृतिके विरुद्ध युद्धघोषणा कर दी है। और इसी विज्ञानके चरम उत्कर्षसे विमानपोत वा आकाशयानकी सृष्टि हुई है। जब मानवजातिने देखा, कि पक्षीगण स्वच्छन्दतापूर्वक आकाशमें विचरण करते हैं, तब हम लोग—इस जगत्के श्रेष्ठ जीव, क्यों नहीं कर सकेंगे? तभीसे वे इस रहस्यके उद्घाटनमें प्रयत्न करने लगे। आखिर उन लोगोंने सफलता प्राप्त कर जगत्को दिखला दिया, कि मानवजातिके लिये कुछ भी असाध्य नहीं है।

वर्त्तमान सभ्यताके युगमें विमानपोतकी सृष्टि और उसका क्रमविकाश किस प्रकार हुआ, नीचे उसी पर आलोचना की गई है।

सबसे पहले डैने तैयार करके उसीके द्वारा आकाशमें उड़ना अच्छा समझा गया। सुना जाता है, कि इसी उपायसे एक अंगरेज साधुने ११वीं सदीके मध्यभागमें स्पेनदेशके एक नगरसे प्रायः एक मीलका रास्ता तय किया था। इसके बाद १६वीं सदीके शुरूमें एक इटालियन् ज्योतिषी स्कटलैण्डके राजा चतुर्थ जेम्सके विशेष अनुरोध पर ष्टालि प्रासादसे फ्रान्सकी ओर शून्यमार्गसे उड़े। किन्तु दुर्भाग्यवशतः कुछ समय उड़नेके बाद ही वे हठात् जमीन पर गिर पड़े जिससे उनकी टांगें टूट गईं। ठीक इसी समय ल्युनार्डोदा भिञ्चिने इस विषय पर यथेष्ट गवेषणा की। पीछे आलर्ड (Allard) और वेसनिये (Besnier) नामक दो फरासियोंने यथाक्रम १६६० और १६७८ ई०में कुछ दूर उड़ कर सफलता प्राप्त की। इसके बाद भी बहुतोंने चेष्टा की, पर इस प्रकार पक्षसंयुक्त हो कर उड़ना विपज्जनक समझ इस ओरसे ध्यान बिलकुल खींच लिया। अब उन लोगोंकी विज्ञान, दृष्टि दूसरी ओर दौड़ पड़ी। उन लोगोंने सोचा, कि अब एक ऐसा यन्त्र बनाया जाये, जो वायुसे हलका हो और जिस पर चढ़ कर स्वच्छन्दतापूर्वक गगन विहार किया जाये। बहुत चेष्टा और गवेषणाके बाद आखिर एक वैसे ही यन्त्रका आविष्कार किया गया। इस नये यन्त्रका नाम हुआ 'बैलून'। यह रबर या कैम्बिसका बनाया हुआ एक बद्ध गोलाकार बाल जैसा यन्त्र है। इसके मध्य उदजन (Hydrogen) भरनेसे यह वायुकी अपेक्षा कहीं हलका हो जाता है तथा उसमें बैठ कर मनुष्य आसानीसे आकाश-भ्रमण कर सकते हैं। फ्रान्स देशके Joseph Michel Montgolfier और Jaques Etienne Montgolfier नामक दो भाई इसके आविष्कर्त्ता माने जाते हैं। बैलून देखो।

इस प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक गगन-पर्य्यटनमें सक्षम हो सभी देशोंके वैज्ञानिकोंका मन इधर आकृष्ट हुआ। उन्होंके अटूट परिश्रम और असाधारण अध्यवसायसे इसकी उत्तरोत्तर उन्नति हो अन्तमें जेपेलिन नामक एक वृहत् विमानपोतकी सृष्टि हुई।

१८८७से१९०० ई०के मध्य जर्मन सैन्यदलके काउण्ट फार्दिनाण्डभान जेपेलिनने एक बड़े विमानपोतका निर्माण किया। इसमें पांच आदमीके बैठने लायक स्थान था और उसका समूचा भाग एलुमिनियम धातुका बना हुआ था। १९०६ से १९२१ ई०के [illegible] विमानपोतके फलसम्बन्धमें तरह तरहकी कल्पना चलती रही। उसके फलसे इस समय विभिन्न आकृति और शक्तिविशिष्ट विमानपोतोंकी सृष्टि हुई। उनमेंसे एरोप्लेन (Arroplane) और समुद्रपोत (Seaplane) का नाम उल्लेखनीय है। विस्तृत विवरण हवाई जहाज शब्दमें देखो।

आजकल संसारके सभी सभ्य देशोंमें विशेषतः इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी और अमेरिका आदि स्थानोंमें दिनों दिन विमानपोतका बहुल प्रचार देखा जाता है। इसके बनाने और चलानेके लिये उक्त राज्योंमें करोड़ों रुपये खर्चा हो रहे हैं। इस पोतके सम्बन्धमें बहुतेरोंका विश्वास है, कि यह अभी पाश्चात्यसभ्यताकी वैज्ञानिक उन्नतिका निदर्शन है। बहुतेरे बीस वर्ष पहले एरोप्लेन, जेपेलिन आदि हवाई जहाजोंका कल्पना तक भी नहीं कर सकते थे।

प्राचीन भारतमें विमानपोतका परिचय।

हम लोगोंके रामायण और महाभारतमें विमानपोतका कई जगह उल्लेख आया है। कुछ दिन पहले बहुतेरे लोग

इन हवाई जहाजोंकी कथा कविकल्पना-सी समझते थे। किन्तु वर्त्तमान पाश्चात्य-विज्ञानकी चरम उन्नति आकाशयानको देख कर हम लोग उन पौराणिक कथाओंको कविकल्पना कह कर उड़ा नहीं सकते।

गत महायुद्धमें जेपेलिन और एरोप्लेनने जैसा कमाल किया, वह पाठकोंसे छिपा नहीं है। अभी जनसाधारणको विश्वास हो गया है, कि विमानपोतकी सहायतासे एक महादेशसे दूसरे महादेशमें जाना कोई बड़ी बात नहीं है। हमारे इस भारतवर्षमें कई हजार वर्ष पहले आर्य-समाजमें विमानपोत प्रचलित था। उसकी सहायतासे एक देशसे दूसरे देशमें आसानीसे और इच्छानुसार जहां तहां जा सकते थे। अभी जिस प्रकार विमानपोत जनसाधारणका निजस्व नहीं है, गवर्नमेण्टके खास विभागके अधीन है, पहले भारतवर्षमें भी उसी प्रकार यह जनसाधारणकी सम्पत्ति नहीं, व्यक्तिविशेषका निजस्व वा देवस्व समझा जाता था।

पुष्पकरथ।

रामायण, महाभारत और पुराणोंसे हमें मालूम होता है, कि देवगण विमान पर चढ़ कर भ्रमण किया करते थे रामायणमें लिखा है, कि चतुर्मुख ब्रह्माने यक्षराज कुवेर पर प्रसन्न हो उन्हें पुष्पकरथ दे दिया था। अमरोंकी तरह यक्षराज उस पुष्पकरथ पर चढ़ कर जहां इच्छा होती थी जाते थे। (रामायण उत्तरकाण्ड ३ सर्ग) कुवेरको परास्त कर लङ्काधिपति रावणने वह पुष्पकरथ ले लिया था। उस पुष्पक रथके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है --

"निर्ज्जित्य राक्षसेन्द्रस्तं धनदं हृष्टमानसः।
पुष्पकं तस्य जग्राह विमानं जयलक्षणम्॥
काञ्चनस्तम्भसंवीतं वैदुर्य्यमणितोरणम्।
मुक्ताजालप्रतिच्छन्नं सर्वकामफलप्रदम्॥
मनोजवं कामगमं कामरूपं विहङ्गमम्।
मणिकाञ्चनसोपानं तप्तकाञ्चनवेदिकम्॥
देवापवाह्यमक्षय्यं सदा दृष्टिमनःसुखम्॥
बह्वाश्चर्य्यं भक्तिचित्रं ब्रह्मणा परिनिर्म्मितम्॥
निर्मितं सर्वकामैस्तु मनोहरमनुत्तमम्।
न तु शीतं न चोष्णञ्च सर्व्वर्त्तुसुखमुत्तमम्॥

) रामायण ७।१५।२५-३२)

वर्त्तमान हवाई जहाज या एरोप्लेन घंटेमें १०० या १५० मील तक जा सकता है। किन्तु उस पुष्पकरथकी गति इससे कहीं बढ़ कर थी। उत्तरकाण्डके ८२वें सर्गसे उसका प्रमाण मिलता है। श्रीरामचन्द्र लङ्कासे लौटते समय अगस्त्याश्रम अर्थात् दाक्षिणात्यसे आध दिनमें पुष्पकरथसे अयोध्या आये थे।

बहुत दूरसे जिस प्रकार एरोप्लेनके आने जानेका शब्द लोगोंको सुनाई देता है, पुष्पकरथ भी उसी प्रकार घोर शब्द करता हुआ बड़ी तेजीसे शून्यमार्गमें उड़ता था

विमान।

पुष्पकरथके अतिरिक्त विमानकी बात पहले ही लिखी जा चुकी है। संस्कृतकोषोंमें विमानका अर्थ 'देवयान' लिखा है। किन्तु पुराणसे हमें मालूम होता है, कि यक्ष और गन्धर्व भी विमान पर चढ़ पुरभ्रमण किया करते थे। श्रीमद्भागवतमें लिखा है, कि गन्धर्वरमणियां विभिन्न अलङ्कारों और वस्त्रभूषणोंसे विभूषित हो विमान पर चढ़ दक्षयज्ञ देखने गई थीं। (श्रीमद्भागवत ४।३।६)

भारतीय आर्य्यसमाजमें चेदिराज्यके प्रतिष्ठाता महाराज वसुने ही सबसे पहले आकाशगामी स्फटिकविमानका व्यवहार किया था। महाभारतके आदिपर्वमें लिखा है, कि पुरुवंशीय वसुराजने इन्द्रके उपदेशसे चेदिराज्य ग्रहण किया था। पहले उनकी कठोर तपस्या देख कर देवगण भी भयभीत हो गये थे। इन्द्रने उन्हें सन्तुष्ट करनेके लिये स्फटिकविमान और वैजयन्ती माला दी थी। चेदिपति वसु स्फटिकविमान पर चढ़ कर आकाशमें घूमा करते थे, इस कारण वे 'उपरिचर वसु' नामसे प्रसिद्ध हुए हैं।

वसुराजके बाद भी महाभारतमें शाल्वराजाके वैहायसयानका उल्लेख है। विश्वकर्मीय शिल्पसंहितामें लिखा है, कि शाल्वराज त्र्यंबधाममें दुर्लभ कामगामी यान प्राप्त कर वृष्णिवंशके साथ वैर साधनेके लिये द्वारका गये थे। वह यान इच्छानुसार भूमि, आकाश, गिरिशृङ्ग वा जलके बीच हो कर गया था।

विश्वकर्म्म-रचित उक्त शिल्पशास्त्रमें पुष्पक बनानेका भी प्रसङ्ग है। विश्वकर्माने दीप्तिशाली यह पुष्पक यान

वाष्पके योगसे बनाया था। वह अविच्छेदगतियुक्त, वायुवत् कामगामी और नाना उपकरणयुक्त था।

केवल पौराणिक कथामें ही नहीं, भारतके ऐतिहासिक युगमें भी हम लोग आकाशगामी विमानका प्रसङ्ग पाते हैं। बोधिसत्वावदानकल्पलतामें लिखा है, कि पुराकालमें श्रावस्ती नगरीके जेतवनविहारमें भगवान् बुद्ध रहते थे। उनकी अनुमतिसे अनाथपिण्डदकी कन्या सुमागधाका विवाह पौण्ड्रवर्द्धनवासी सार्थनाथके पुत्र वृषभदत्तसे हुआ था। एक दिन सास और पतोहूमें किसी कारण झगड़ा हुआ। सुमागधाने अति कातर और भक्तिभावसे बुद्धदेवका आह्वान किया। अन्तर्यामी भगवान् उसके आह्वानसे विचलित हो गये और आनन्दको बुला कर कहा; 'कल सबेरे मुझे पौण्ड्रवर्द्धन नगर जाना है। सुमगधाने मेरी और सङ्घकी पूजा करनेके लिये प्रार्थना की है। पौण्ड्रवर्द्धन यहांसे छः सौ योजनसे भी दूर है, एक ही दिनमें वहां जाना होगा। जो सब प्रभावशाली भिक्षु आकाशमार्गसे जानेमें सक्षम हैं उन्हींको निमन्त्रणपत्र देना।' प्रातःकाल होने पर भिक्षुगण देवताओंका रूप धारण कर विमान पर चढ़ आकाशमार्गसे पौण्ड्रवर्द्धनमें आये। विमानविहारी उज्ज्वलमूर्त्ति भिक्षुओंको देख पौण्ड्रवासी विस्मित हो गये थे।

जैनोंकी शेष श्रुतकेवली भद्रबाहुका चरित्र पढ़नेसे मालूम होता है, कि महादुर्भिक्षसे जिस समय समस्त आर्यावर्त्त प्रपीड़ित हो गया था उस समय मौर्यराज चन्द्रगुप्तको ले कर भद्रबाहुने विमान द्वारा दक्षिणकी ओर यात्रा की थी।

हिन्दू, जैन और बौद्ध इन तीनों प्रधान सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें विमानपोत या आकाशयानका विवरण आया है। विमान पर चढ़ कर आरोही बहुदूरवर्त्ती स्थानोंको देख सकते थे, रामायण और महाभारतमें उसका भी उल्लेख है। जब राम-लक्ष्मण नागपाशसे आबद्ध हुए, तब सीताको पुष्पक पर चढ़ा कर आकाशमार्गसे भूपतित रामलक्ष्मणको दिखाया गया था। जब रामचन्द्र लङ्कासे पुष्पक द्वारा अयोध्या लौटे, तब वे पुष्पक परसे सीता देवीको अनेक स्थान दिखलाते हुए आये थे। अब प्रश्न होता है, कि इतनी ऊंचाईसे विमान पर चढ़ भूतलस्थ नाना स्थानोंका दर्शन किस प्रकार सम्भव था? चर्मचक्षु द्वारा उतनी दूरसे देखना बिलकुल असम्भव है। आज कल जिस प्रकार टेलीस्कोपकी सहायतासे सुन्दर आकाशमण्डलके नाना स्थान दिखाई देते हैं, पूर्वकालमें विमानयात्रियोंके साथ उसी प्रकारका कोई दूरदर्शनयन्त्र रहता था।

भारतीय आर्यसमाजमें चेदिराज वसु ही सबसे पहले आकाशयानका व्यवहार करते थे। हम लोगोंका विश्वास है, कि वर्त्तमानकालमें जिस प्रकार आचार्य जगदीशचन्द्र वसु महाशयने बहुतों आविष्कार द्वारा वैज्ञानिक जगत्को विमुग्ध कर दिया है, उनके पूर्ववर्त्ती चेदिराज वसु भी उसी प्रकार कठोर तपस्या वा असाधारण अध्यवसायके बलसे तात्कालिक मानव जगत्के असाध्य और अनधिगम्य स्फटिकविमानके आविष्कारमें समर्थ हुए थे।

विमानयितव्य (सं० त्रि०) वि-मानि-तव्य। विमाननाके योग्य, तिरस्कार करने लायक।

विमानुष (सं० त्रि०) विकृत मनुष्य, कुरूप आदमी।

विमान्य (सं० त्रि०) वि-मानि-यत्। विमाननाके योग्य, अपमान करने लायक।

विमाय (सं० त्रि०) विगता माया यस्य। मायाहीन, मायाशून्य। (ऋक् १०।७३।७)

विमार्ग (सं० पु०) मृज-घञ्-मार्गः विरुद्धो मार्गः। १ कदाचार, बुरी चाल। २ सम्मार्जनी, झाड़ू। ३ कुपथ, बुरा रास्ता।

विमित (सं० त्रि०) १ परिमित, जिसकी सीमा या हद हो। (पु०) २ वह चौकोर शाला या इमारत जो चार खंभों पर टिकी हो। ३ बड़ा कमरा या इमारत

विमिथुन (सं० त्रि०) विशिष्ट मिथुन, युगल। (लघुजातक १।२०)

विमिश्र (सं० त्रि०) १ मिश्रित, मिला हुआ। २ जिसमें कई प्रकारकी वस्तुओंका मेल हो, मिलाजुला।

विमिश्रक (सं० त्रि०) मिश्रणकारी, मिलानेवाला।

विमिश्रगणित (सं० स्त्री०) वह गणित जिससे पदार्थ सम्बन्धमें राशिका निरूपण किया जाय।

विमिश्रा (सं० स्त्री०) मृगशिरा, आर्द्रा, मघा और अश्लेषा नक्षत्रमें बुधकी गतिका नाम जो ३० दिनों तक रहती है।

विमिश्रित (सं० त्रि०) मिलाया हुआ।

विमिश्रित लिपि (सं० स्त्री०) लिपिविशेष। (ललितविस्तार)

विमुक्त (सं० त्रि०) वि-मुच-क्त। १ विशेषरूपसे मुक्त, जो बन्धनसे अलग हुआ हो। २ मोक्षप्राप्त, जिसे मोक्ष मिल गया हो। ३ स्वतन्त्र, स्वच्छन्द। ४ जिसे किसी प्रकारका प्रतिबन्ध या रुकावट न रह गई हो। ५ हानि, दण्ड आदिसे बचा हुआ। ६ अलग किया हुआ, बरी। ७ पकड़से छूट कर चला हुआ, छोड़ा हुआ। (पु०) ८ माधवी। स्त्रियां टाप्। विमुक्ता=मुक्ता। (षड़्विंशब्रा० ५।६)

विमुक्त आचार्य—इष्टसिद्धिके प्रणेता।

विमुक्तता (सं० स्त्री०) विमुक्तस्य भावः तल-टाप्। विमुक्तका भाव या धर्म, विमोचन।

विमुक्तसेन (सं० पु०) बौद्धाचार्यभेद। (तारनाथ)

विमुक्ति (सं० स्त्री०) वि-मुच्-क्तिन्। १ विमोचन, छुटकारा, रिहाई। २ मोक्ष, मुक्ति।

विमुक्तिचन्द्र (सं० पु०) बोधिसत्त्वभेद।

विमुख (सं० त्रि०) विरुद्धं अननुकूलं मुखमस्य। १ पराङ्मुख, जिसने किसी बातसे मुख फेर लिया हो। २ विरत, निवृत्त, अतत्पर। ३ अप्रसन्न, जो किसीके हितके प्रतिकूल हो। ४ निस्पृह, जिसे किसी प्रकारका लोभ न हो। ५ निराश, जिसकी चाह या मांग पूरी न हुई हो। ६ उदासीनता, जिसने मन न लगाया हो। ७ मुखरहित, जिसके मुह न हो।

विमुखता (सं० स्त्री०) विमुखस्य भावः तल्-टाप्। १ विरति, अतत्परता। २ परांगमुखता, अप्रसन्नता।

विमुखीकृत (सं० त्रि०) अविमुखं विमुखं कृतं अद्भुत तद्भावे च्वि। १ जो विमुख किया गया हो।

विमुखीभाव (सं० पु०) १ विरति। २ अननुरक्ति।

विमुखीभू (सं० पु०) विमुखीभाव देखो।

विमुग्ध (सं० त्रि०) १ चमत्कृत। २ मोहित, आसक्त। ३ भ्रममें पड़ा हुआ। ४ घबराया हुआ, डरा हुआ। ५ उन्मत्त, मतवाला। ६ पागल, बावला। ७ बेसुध।

विमुग्धक (सं० पु०) १ मोहनेवाला। २ एक प्रकारका छोटा अभिनय या नकल।

विमुग्धकारी (सं० पु०) १ मोहित करनेवाला, मोहनेवाला। २ भ्रममें डालनेवाला।

विमुच् (सं० स्त्री०) वि-मुच्-क्विप्। १ विमोचनकारी विमोक्ता।

विमुच (सं० पु०) ऋषिभेद। (भारत अश्व०)

विमुञ्ज (सं० त्रि०) विगतो मुञ्ज यस्मात्। मुञ्जरहित।

विमुद (सं० क्ली०) १ संख्याभेद, एक बड़ी संख्याका नाम। (त्रि०) २ आनन्दरहित, उदास।

विमुद्र (सं० त्रि०) विगता मुद्रा मुद्रण भावो यस्य। १ प्रफुल्ल, प्रसन्न (हेम)। २ मुद्रारहित।

विमूर्च्छन (सं० क्ली०) वि-मूर्च्छ-ल्युट्। १ मूर्च्छा। २ सप्तस्वरकी मूर्च्छना।

विमूढ़ (सं० त्रि०) वि-मूह-क्त। १ विमुग्ध, अत्यन्त मोहित। २ बहुत मूर्ख, जड़ बुद्धि। ३ मोह प्राप्त, भ्रममें पड़ा हुआ। ४ बेसुध, अचेत। ५ ज्ञान-रहित, जिसे समझ न पड़ता हो। (क्ली०) ६ एक प्रकारका सङ्गीत-कला।

विमूढगर्भ (सं० पु०) वह गर्भ जिसमें बच्चा मरा या बेहोश हो और प्रसवमें बड़ी कठिनता हो।

विमूर्च्छित (सं० त्रि०) मूर्च्छाप्राप्त। (दिव्या० ४५४।३०)

विमूर्त्त (सं० त्रि०) वि-मूर्च्छ-क्त। १ विकृत मूर्त्तिविशिष्ट। २ मूर्त्तिविरहित।

विमूर्द्धज (सं० त्रि०) मूर्द्ध्नि जायते जन-ड, विगता मूर्द्धजा यस्य। केशहीन। (महात)

विमूल (सं० त्रि०) १ मूलरहित, बिना जड़का। (हरिवंश) २ उच्छिन्न, मूलसे रहित। ३ नष्ट, बरबाद।

विमूलन (सं० क्ली०) १ उन्मूलन, जड़से उखाड़ना। २ विनाश, ध्वंस।

विमृग (सं० त्रि०) अरण्यविशिष्ट, जंगली हरिणसे भरपूर। (रामायण १।७७।१)

विमृग्य (सं० त्रि०) १ अनुसरणीय, पीछा करने योग्य। २ अन्वेषणार्ह, तलाश करने योग्य।

विमृग्वन् (सं० त्रि०) वि-मृज् क्वनिप्। परिष्कार, परिच्छन्न। स्त्रीलिङ्गमें विमृग्वरी पद बनता है। (अथर्व १२।१।२६)

विमृत्यु (सं० त्रि०) विगतो मृत्युः यस्य। १ मृत्युरहित। २ अमर।

विमृध् (सं० त्रि०) १ संग्रामकारी, योद्धा। (ऋक् १०।१५२।२) २ शत्रु, दुश्मन।

विमृग्र (सं० त्रि०) विशेषरूपसे नाशकारी।

विमृग्रतनु (सं० त्रि०) इन्द्र।

विमृश (सं० पु०) वि-मृश-अच्। विमर्श, आलोचना।

विमृश्य (सं० त्रि०) १ विमर्शनयोग्य, आलोचना या समीक्षाके योग्य। (भागवत १०।८५।२३) २ जिस पर विवेचना या विचार करना हो, जिसकी समीक्षा करनी हो।

विमृष्ट (सं० त्रि०) वि-मृज्-क्त। १ परिच्छन्न। (शतपथब्रा० १२।५।१।६) २ जिसकी पूरी आलोचना या समीक्षा हुई हो। ३ जिस पर तर्क वितर्क या सम्यक् विचार हुआ हो।

विमृष्टराग (सं० त्रि०) जिसका रंग साफ किया गया हो।

विमोक (सं० पु०) १ मुक्ति, छुटकारा, रिहाई। (ऋक् ५।४५।१) २ मलरहित। ३ राग-रहित, ऊपरी आवरण-रहित। ४ स्पष्ट, साफ।

विमोकम् (सं० अव्य०) विमुक्ति, मुक्ति।

विमोक्तव्य (सं० त्रि०) वि-मुच-तव्य। मोचनार्ह, छोड़ देने योग्य।

विमोक्ता (सं० पु०) मुक्त करनेवाला, छुड़ानेवाला।

विमोक्तृ (सं० पु०) वि-मुच-तृच्। विमोक्ता देखो।

विमोक्ष (सं० पु०) वि-मोक्ष-अच्। १ विमोचन, बंधन या गांठ आदिका खुलना। २ विमुक्ति, छुटकारा, रिहाई। ३ निर्वाण, जन्म-मरणके बन्धनसे छूटना। ४ परित्याग, छोड़ना। ५ सूर्य या चन्द्रमाका ग्रहणसे छूटना। ६ प्रक्षेपण, किसी वस्तुका पकड़से इस प्रकार छूटना कि वह दूर जा पड़े। ७ मेरुपर्वतका एक नाम।

विमोक्षक (सं० त्रि०) वि-मोक्ष-ण्वुल्। विमोचक, विमुक्तिदाता।

विमोक्षण (सं० क्ली०) वि-मोक्ष-ल्युट्। १ विमोचन, मुक्त करना। २ परित्याग, छोड़ना। ३ बन्धन आदि खोलना।

विमोक्षिन् (सं० त्रि०) वि-मोक्ष् णिनि। मुक्तिदाता, मोचनकारी।

विमोघ (सं० त्रि०) वि-मुह-क। अमोघ, व्यर्थ न होनेवाला, न चूकनेवाला।

विमोचक (सं० त्रि०) वि-मुच् ण्वुल्। १ मोचनकारी, मुक्त करनेवाला। २ बन्धन खोलनेवाला। ३ गिरानेवाला, छोड़नेवाला।

विमोचन (सं० क्ली०) वि-मुच्-ल्युट्। विमुक्ति, रिहा करना। २ बंधन गांठ आदिको खोलना। ३ गाड़ी आदिसे बैल आदिको खोलना। ४ दूरीकरण, निकालना, बाहर करना। ५ त्याग, इस प्रकार अलग करना, कि कोई वस्तु दूर जा पड़े। ६ गिराना, डालना। ७ तीर्थविशेष। (भारत ३।८३।१५०) (पु०) ८ महादेव। (भारत १३।१७।५६)

विमोचनीय (सं० त्रि०) वि-मुच् अनीयर्। विमोचनार्ह, छोड़ने योग्य, मुक्त करने लायक।

विमोच्य (सं० त्रि०) विमोचनीय देखो।

विमोह (सं० पु०) वि-मुह-घञ्। १ मोह, अज्ञान, भ्रम, भ्रान्ति। २ अचेत होना, बेसुध होना। ३ बहुत लुभाना या मोहित होना। ४ एक नरकका नाम।

विमोहक (सं० पु०) १ मोहनेवाला, लुभावना। २ मनमें लोभ उत्पन्न करनेवाला, ललचानेवाला। ३ ज्ञान या सुध हरनेवाला। ४ एक राग जो हिंडोल रागका पुत्र माना जाता है।

विमोहन (सं० क्ली०) वि-मुह-ल्युट्। १ वैचित्तीकरण, मन लुभाना। २ दूसरेका मन वशमें करना। ३ ऐसा प्रभाव डालना कि चित्त ठिकाने न रहे। ४ कामदेवके पांच बाणोंमेंसे एक। ५ एक नरकका नाम। (त्रि०) विमोहयतीति वि-मुह-णिच् ल्यु। ६ विमोहक, मन लुभानेवाला।

विमोहनशील (सं० त्रि०) १ भ्रमकारी, धोखा देनेवाला। २ मोहित करनेवाला, लुभानेवाला।

विमोहना (हिं० क्रि०) १ मोहित करना, लुभाना। २ ऐसा प्रभाव डालना कि तन मनकी सुध न रहे। ३ भ्रान्तिमें करना, धोखेमें डालना।

विमोहा (हिं० स्त्री०) एक प्रकारका छन्द। इसके प्रत्येक चरणमें दो रगण होते हैं। इसे 'जोहा' 'विजोहा' और 'विज्जोहा' भी कहते हैं। विजोहा देखो।

विमोहित (सं० त्रि०) वि-मुह-णिच्-क्त। मोहयुक्त, मोहित।

विमोहिन् (सं० त्रि०) वि-मुह-णिनि। विमोही देखो।

विमोही (सं० स्त्री०) १ मोहित करनेवाला, जो लुभानेवाला। २ सुध बुध भुलानेवाला। ३ भ्रममें डालनेवाला, भ्रान्त करनेवाला। ४ मूर्च्छित या बेहोश करनेवाला। ५ जिसे मोह या दया न हो, निष्ठुर।

विमौट (हिं० पु०) दीमकोंका उठाया हुआ मिट्टीका ढूह, बाँबी।

विमौन (सं० त्रि०) मुनेर्भाव मौनः, विगतः मौनः। मौनरहित।

विमौली (सं० त्रि०) शिरोभूषा-विरहित, जिसे शिरकी भूषा न हो।

विम्लापन (सं० स्त्री०) शिथिल करना।

विम्ब (सं० पु० स्त्री०) वी (उल्वादयश्च। उण् ४।९५) इति-वन् प्रत्ययेन साधुः। १ सूर्य्यचन्द्रमण्डल। (अमर) २ मण्डलमात्र, मण्डलकी तरह गोलाकार। ३ मूर्त्ति, प्रतिविम्ब, छाया। (पु०) ४ कृकलास, गिरगिट। ५ विम्बिकाफल, कुंदरू नामक फल।

विम्बक (सं० क्ली०) विम्ब स्वार्थे-कन्। १ चन्द्रसूर्य्यमण्डल। २ विम्बिकाफल, कुंदरू। ३ सञ्चक, साँचा। ४ मुखाकृतिविशेष। (दिव्य' १७२।१०)

विम्बजा (सं० स्त्री०) विम्बफलं जायतेऽस्यामिति जन-ड। विम्बिका देखो।

विम्बट (सं० पु०) सर्षप, सरसों।

विम्बराज—सह्याद्रि वर्णित दो राजाओंके नाम। (सह्या० ३१।१८, ३३.५८)

विम्बा (सं० स्त्री०) विम्बं विम्बफलमस्त्यस्यामिति विम्ब-अच् टाप्। विम्बिका देखो।

विम्बागत (सं० त्रि०) विम्बेन आगतः। विम्बप्राप्त, विम्बित।

विम्बादितैल (सं० पु०) अर्बुद रोगका उपकारक तैलऔषध विशेष। प्रस्तुत प्रणाली—कैरसका मूल, कवरीमूल और निसोथ द्वारा पाचित तेलकी सुंघनी लेनेसे गण्डमाला दूर होती है।

विम्बिका (सं० स्त्री०) १ विम्ब। (अमर) २ चन्द्रसूर्य्यमण्डल।

विम्बित (सं० त्रि०) विम्ब इतच्। प्रतिविम्बित, प्रतिफलित।

विम्बिसार—एक शाक्य राजा। ये महाराज अशोकके प्रपितामह और अजातशत्रुके पिता थे।

विम्बिसार शब्द देखो।

विम्बी (सं० स्त्री०) विम्ब-गौरादित्वात् ङीष्। विम्बिका।

विम्बु (सं० पु०) गुवाक, सुपारी।

विम्बोष्ठ (सं० पु०) विम्बे इव ओष्ठौ यस्य, 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति पाक्षिकोऽकारलोपः। वह जिसके दोनों होठ विम्बफलकी तरह लाल हों। विम्बओष्ठ सन्धिके अनुसार अकार और ओकारमें सन्धि हो कर वृद्धि होती है तथा विम्बौष्ठ पद बनता है। किन्तु 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इस विशेष सूत्रके अनुसार एक जगह अकारका लोप और एक जगह वृद्धि हो कर विम्बोष्ठ और विम्बौष्ठ ऐसा पद बनेगा।

विम्बौष्ठ (सं० पु०) विम्बोष्ठ देखो।

विय—जातिविशेष।

वियच्चारिन् (सं० पु०) वियति आकाशे चरतीति चर-णिनि। आकाशचारी।

वियत् (सं० क्ली०) वियच्छति न विरमतीति वि-यम (अन्येभ्योऽपि दृश्यते। पा ३।२।१७८) इति क्विप् वचौ च मादीनामिति वि-या-शतृ वियत् मलोपे तुक्। १ आकाश। (त्रि०) २ गमनशील।

वियत्पताक (हिं० स्त्री०) विद्युत्, बिजली।

वियत्पुर—चम्पारणके अन्तर्गत तिलपर्णा नदीतीरस्थ एक नगरका नाम। (भविष्य-ब्रह्मख० ४२ १४६)

वियति (सं० पु०) नहुषके एक पुत्रका नाम।

(भागवत ९।१८।१)

वियद्ग (सं० त्रि०) वियति आकाशे गच्छतीति गम-ड। आकाशगामी।

वियद्गङ्गा (सं० स्त्री०) वियतो गङ्गा। स्वर्गगंगा, मन्दाकिनी।

वियद्भूति (सं० स्त्री०) वियतोभूतिर्भस्मेव। अन्धकार।

वियन्मणि (सं० पु०) वियतो मणिः। सूर्य। (हारावली)

वियम (सं० पु०) वि-यम-(यमः समुपनिविषु च। पा ३।३।६२) इत्यप्। १ संयम, इन्द्रियदमन। २ दुःख, क्लेश।

वियव (सं० पु०) कृमिविशेष। (सुश्रुत)

वियवन (सं० क्ली०) पृथक्कीकरण । (निरुक्त ४।२५)

वियात (सं० त्रि०) विरुद्धं निन्दां यातः प्राप्तः। १ निर्लज्ज, बेहया। २ पथभ्रष्ट, रास्तेसे भटका हुआ। ३ गया, बीता।

वियातस् (सं० क्ली०) रथचक्रका ध्वंस, बधकर्म।

वियातिमन् (सं० पु०) वियातस्य भावः वियात-(वर्णदृढ़ादिभ्यः ष्यञ् च। पा ५।१।१२३) इति इमनिच्। वियातका भाव, निर्लज्जता, निन्दा।

वियाम (सं० पु०) वि-यम-घञ्। संयम, इन्द्रिय-निग्रह।

वियास (सं० पु०) देवताभेद। (शुक्लयजुः ३६।११)

वियुक्त (सं० त्रि०) वि-युज-क्त। १ जो संयुक्त न हो, जिसकी जुदाई हो गई हो। २ जुदा, अलग। ३ रहित, हीन।

वियुत (सं० त्रि०) १ वियुक्त, अलग। २ रहित, हीन।

वियुतार्थक (सं० त्रि०) संज्ञाहीन, ज्ञानशून्य।

वियूथ (सं० त्रि०) यूथभ्रष्ट, दलभ्रष्ट।

वियोग (सं० पु०) वि-युज-घञ्। १ विच्छेद, संयोगका अभाव, मिलापका न होना। पर्याय—विप्रलम्भ, विप्रयोग, विरह, अभाव। (हेम) २ गणितमें राशिका व्यवकलन। ३ पृथक् होनेका भाव, अलगाव। ४ दो प्रेमियोंका एक दूसरेसे अलग होना, विरह, जुदाई। साहित्यमें शृङ्गाररस दो प्रकारका माना गया है, संयोगशृङ्गार (या सम्भोगशृङ्गार) और वियोगशृङ्गार (या विप्रलम्भशृङ्गार)। वियोगकी दशा तीन प्रकारकी होती है, पूर्वराग, मान और प्रवास।

वियोगता (सं० स्त्री०) वियोगस्य भावः तल-टाप्। वियोगका भाव या धर्म।

वियोगपुर (सं० क्ली०) पुरभेद। (कथासरित्सा० ४२।२७८)

वियोगवत् (सं० त्रि०) वियोगः अस्यास्तीति मतुप् मस्य व। वियोगविशिष्ट, वियुक्त।

वियोगभाज् (सं० त्रि०) वियोगं भजते इति वियोग-भज-विण्। विच्छेदयुक्त, विरही।

वियोगान्त (सं० त्रि०) जिसकी कथाका अन्त दुःखपूर्ण हो। आधुनिक नाटक दो प्रकारके माने जाते हैं, सुखान्त और दुःखान्त। इन्हींको कुछ लोग संयोगान्त और वियोगान्त भी कहते हैं। भारतवर्षमें संयोगान्त या सुखान्त नाटक लिखनेकी ही चाल पाई जाती है; दुखान्तका निषेध ही मिलता है। परन्तु पूर्वकालमें दुःखान्त नाटक भी लिखे जाते थे, इसका आभास कालिदासके पूर्ववर्त्ती महाकवि भासके नाटकोंसे मिलता है।

वियोगिता (सं० स्त्री०) वियोगिनः भावः तल टाप्। वियोगीका भाव या धर्म, विच्छेद।

वियोगिन् (सं० त्रि०) वियोगः अस्यास्तीति वियोग इनि। १ वियोगयुक्त; विरही जो प्रियतमासे बिछुड़ा हुआ हो। (पु०) चक्रवाक, चकवा।

वियोगिनी (सं० त्रि०) जो अपने पति या प्रियसे वियुक्त हो, जो अपने प्यारेसे बिछड़ी हुई हो।

वियोगी (सं० त्रि०) वियोगिन् देखो।

वियोजक (सं० पु०) १ गणितकी वह संख्या जिसे किसी दूसरी बड़ी संख्यामेंसे घटाना हो। २ दो मिली हुई वस्तुओंको पृथक् करनेवाला, अलग करनेवाला।

वियोजन (सं० क्ली०) वि-युज-णिच्-ल्युट्। १ वियोग, जुदा करना। २ गणितकी एक संख्यामेंसे उससे कुछ छोटी दूसरी संख्या निकालने या घटानेकी क्रिया, बाकी।

वियोजनीय (सं० त्रि०) वि-युज-णिच्-क्त। १ विरहित, शून्य। २ पृथक् कृत, अलग किया हुआ। ३ विच्छेदप्रापित, जो जुदा हो गया हो। ४ विश्लिष्ट, जिसका विश्लेषण हो चुका हो।

वियोज्य (सं० त्रि०) १ वियोगयोग्य। २ पृथक् करने योग्य।

वियोतृ (सं० त्रि०) दुःखकी अमिश्रयिता।
(ऋक् ४।५५।२०)

वियोध (सं० त्रि०) विगतः योधो यत्र। योधरहित, योधहीन।

वियोनि (सं० स्त्री०) १ अपयोनि, निन्दितयोनि। १ अज्ञात कुला, हीनकुलकी।

विरंगकाबुली (फा० पु०) वायबिडंग, भाभीरंग।

विरंजफूल (हिं० पु०) एक प्रकारका धान या जड़हन।

विरकत—उत्पल देशीय वैष्णव-सम्प्रदायविशेष। शायद संसारसे विरक्ति होनेके कारण इन लोगोंने अपना नाम विरक्त शब्दके अपभ्रंशसे विरकत रखा हो। उदासीन

वैष्णवोंमें जो मठमें रह कर विग्रहसेवादि कार्योंमें नियुक्त रहते हैं, वे ही विरक्त कहलाते हैं। ये लोग उदासीन हैं, परन्तु मठ बना कर उसमें रहते हैं और पुजारी द्वारा विग्रहकी सेवा कराते हैं। दिनको ये लोग मन्दिरके खर्च-वर्चके लिये भीख मांगने जाते हैं, किन्तु चावल आदि कभी भी भीखमें नहीं लेते। रातको अपने मठमें फिर कर नित्य नैमित्तिक कार्य करते हैं। अभ्याहत और निहङ्ग नामक वैष्णव सम्प्रदायी विरक्त अर्थात् उदासीन श्रेणी-भुक्त है। निहङ्ग देखो।

विरक्त (सं० त्रि०) वि रन्ज क्त। १ विरागयुक्त, उदासीन, जो कुछ प्रयोजन न रखता हो। पर्याय—निस्पृह, अनुरक्त, विरत। २ विमुख, जिसका जी हटा हो, जिसे चाह न हो।

विरक्तता (सं० स्त्री०) १ अनुरागका अभाव, विरक्त होनेका भाव। २ उदासीनता।

विरक्ता (सं० स्त्री०) विरक्त-टाप्। १ दुर्भगा। २ अननुकूला।

विरक्ति (सं० स्त्री०) वि रम क्तिन्। १ विराग, अनुरागका अभाव। २ उदासीनता। ३ अप्रसन्नता, खिन्नता।

विरक्तिमत् (सं० त्रि०) विरक्ति अस्त्यर्थे मतुप्। विरक्तिविशिष्ट, विरागयुक्त। (भावगत ४।२६।११)

विरक्षस् (सं० त्रि०) राक्षसहीन। (शतपथब्रा० ३।४३।८)

विरङ्ग (सं० पु०) वि रञ्ज घञ्। १ विराग। २ विवर्ण, फीका। ३ कई वर्णोंका, अनेक रंगोंका।

विरचन (सं० क्ली०) वि रच ल्युट्। १ प्रणयन। २ निर्माण। ३ ग्रन्थन।

विरचना (सं० स्त्री०) वि-रच-युच् स्त्रियां टाप्। विन्यास।

विरचना (हिं० क्रि०) विरक्त होना, उचटना।

विरचयिता (सं० पु०) रचनेवाला, बनानेवाला।

विरचित (सं० त्रि०) वि रच्-क्त। १ निर्मित, बनाया हुआ। २ रचित, रचा हुआ। ३ ग्रथित, गूथा हुआ। ३ भूषित, सजाया हुआ।

विरज (सं० त्रि०) १ रजरहित, जिस पर धूल या गर्द न हो। २ सुखवासना आदिसे मुक्त, रजोगुणरहित। ३ निर्दोष, बेऐब। ४ जिसका रजोधर्म बन्द हो गया हो। (पु०) ५ त्वष्टाके पुत्रभेद। (भागवत ५।१५।१३) ६ कर्दमकन्या पूर्णिमाके पुत्रभेद। (भागवत ४।१।१४) ७ जातुकर्णका शिष्यभेद। (भागवत १२।६।५८) ८ सावर्णीमन्वन्तरमें देवगणभेद। (भागवत ८।१३।१२) ९ पद्मप्रभ बुद्धका ऐश्वर्यभेद। (सद्धर्मपुण्डरीक) १०. महाभद्र सरोवरके उत्तरस्थ पर्वतभेद। (लिङ्गपु० ४।६५) ११ विष्णु। १२ शिव। १३ धृतराष्ट्रके पुत्रभेद।

विरजप्रभ (सं० पु०) बुद्धभेद।

विरजमण्डल (सं० क्ली०) विरजा क्षेत्र। यह उड़ीसाके याजपुरके पास माना गया है। यहां देवीकी महाजपा नामक मूर्त्ति है। (प्रभासख० ७६ अ०) याजपुर देखो।

विरजस् (सं० त्रि०) १ विरज देखो। २ चाक्षुष मन्वन्तरमें ऋषिभेद। (मार्कण्डेयपु० ७५।५४) ३ सावर्णि मनुके पुत्रभेद। (मार्कण्डेयपु० ८०।११) ४ कविके पुत्रभेद। ५ वशिष्ठ पुत्रभेद। (भागवत ४।१।४१) ६ पौर्णमासके पुत्रभेद। ७ नागभेद। (भारत १।३५।१४)

विरजस्क (सं० त्रि०) १ रजोरहित, जिसका रजोधर्म बन्द हो गया हो। (पु०) २ सावर्णि मनुके पुत्रभेद। (भागवत ८।१३।१)

विरजस्तमस् (सं० पु०) रजः और तमोगुणरहित, सत्त्वगुणविशिष्ट, जिसका रज और तमोगुण चला गया हो, एकमात्र सत्त्वनिष्ठ जीवन्मुक्त पुरुष, जैसे व्यासादि। इन्हें द्व्यातिक कहते हैं।

विरजा (सं० स्त्री०) १ कपित्थानीवृक्ष, कैथका पेड़। २ ययातिकी माता। ३ श्रीकृष्णकी एक प्रेमिका सखी जिसने राधाके डरसे नदीका रूप धारण कर लिया था। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें लिखा है,—

"एक दिन गोलोकमें रासमण्डलमें श्रीहरि राधिकाके साथ विहार कर रहे थे। ऐसे समय श्रीहरि अकस्मात् राधाको न देख विरजा नाम्नी एक गोपीके समीप गये। विरजाको पा कर भगवान् उससे आसक्त हुए। यह देख किसी दूसरी सखीने इस बातकी सूचना श्रीराधाको दी। उस समय राधिका उस रत्नमण्डपमें उपस्थित हुई। यहां उन्होंने द्वारपालको खड़ा देख कहा, 'दूर हो, लम्पटका किङ्कर दूर हो। तुम्हारे स्वामी किस तरह मेरे अधीनकी रमणीसे आसक्त

हुए। इधर गोपियोंकी बात-चीत सुन श्रीहरि वहांसे अन्तर्हित हुए। विरजाने श्रीकृष्णका अन्तर्धान और सामने राधिकाको देख भयसे प्राणत्याग किया। उस समय विरजाकी उस पवित्र देहने सरित्रूप धारण किया। राधा विरजाका सरित्रूप देख घर लौट गई। इधर श्रीकृष्ण आ कर विरजाकी यह गति देख रोने लगे—तुम्हारे विरहसे मैं कैसे जी सकूंगा, तुम एक बार सजीव हो कर मेरे पास आओ। श्रीहरिके इस तरह विलाप करने पर विरजा राधाकी तरह सुन्दर मूर्त्ति धारण कर श्रीकृष्णके पास जलसे निकल आई। श्रीकृष्ण उसको पा कर परम सन्तुष्ट हुए और नाना प्रकारसे उन्होंने उसका सम्भोग किया। अन्तमें विरजाको श्रीकृष्णसे गर्भ रह गया। उस गर्भसे विरजाने सात पुत्र प्रसव किये। कुछ दिन बीतनेके बाद एक दिन विरजा सम्भोगकी आशामें श्रीकृष्णके साथ बैठी थी। ऐसे समय विरजाका कनिष्ठ पुत्र अन्य भाइयोंसे ताड़ित हो कर माताकी गोदमें बैठ गया। विरजाने पुत्रको परित्याग किया, किन्तु दयामय श्रीकृष्ण उसे गोदमें ले राधाके घर चले गये। इधर सम्भोगकातरा विरजा श्रीकृष्णकी विरह-वेदनासे प्रपीड़ित हो विलाप करने लगी और उन्होंने पुत्रको शाप दिया, कि तुम लवण समुद्र होवो। अन्यान्य पुत्र भी माताके कोपकी बात सुन पृथ्वीमें आ कर सात द्वीपके सात समुद्र हुए। इन्हीं समुद्रोंसे पृथ्वी शस्यशालिनी होती है।

(श्रीकृष्णजन्मखण्ड)

४ उड़ीसेका एक प्रधान तीर्थ। इस समय यह याजपुर और नाभिगया नामसे परिचित है। याजपुर देखो।

एकावन पीठोंमें विरजा भी एक प्रधान पीठ है।

प्रायश्चित्ततत्त्वधृत स्कन्दपुराणके मतसे सभी तीर्थोंमें ही मुण्डन और उपवास करना होता है। किन्तु यहाँ आ कर वैसा नहीं करना होगा।

५ ब्रह्माका एक मानसपुत्र। ६ लोकाक्षिके शिष्य।

(लिङ्गपु० २४।२३)

विरजाक्ष (सं० पु०) मार्कण्डेय पुराणके अनुसार एक पर्वत जो मेरुके उत्तर है।

विरजाक्षेत्र—एक प्राचीन तीर्थ। इसका वर्त्तमान नाम याजपुर है।

विरजानदी—दाक्षिणात्यके महिसुर राज्यके अन्तर्गत महिसुर जिलेकी एक कृत्रिम नदी। कावेरी नदीके दाहिने किनारे वालमुरि बाँध द्वारा यह प्रायः ४० मील परिचालित हुई है। पलोहल्ली नगरमें जो सब चीनी और लोहेके कारखाने हैं वे इसी नहरकी स्रोतशक्तिसे चलाये जाते हैं।

विरञ्च (सं० पु०) ब्रह्मा।

विरञ्चन (सं० पु०) ब्रह्मन्।

विरञ्चि (सं० पु०) ब्रह्मा, सृष्टि रचनेवाला, विधाता।

विरञ्चिसुत (सं० पु०) ब्रह्माके पुत्र, नारद।

विरञ्च्य (सं० पु०) विरिञ्चिका भोग, ब्रह्माका भोग।

"आयुश्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्च्यात्।"

(भाग० ७।९।२४)

विरट (सं० पु०) १ स्कन्ध, कंधा। २ अगुरु, अगरवृक्ष।

विरण (सं० क्ली०) वीरण तृण, वीरन नामकी घास।

विरत (सं० त्रि०) वि रम-क्त। १ निवृत्त, क्षान्त, उपरत। २ विश्रान्त, विमुख। ३ वैरागी, जिसने सांसारिक विषयोंसे अपना मन हटा लिया हो। ४ विशेषरूपसे रत, बहुत लीन।

विरति (सं० स्त्री०) वि-रम क्तिन्। १ निवृत्ति। पर्याय—आरति, अवरति, उपराम, विराम। (भारत) २ उदासीनता, जीका उचटना। ३ वैराग्य, सांसारिक विषयोंसे जीका हटना।

विरथ (सं० त्रि०) विगतो रथो यस्य। १ रथशून्य, बिना रथका। २ रथसे गिरा हुआ। ३ पैदल।

विरथीकरण (सं० क्ली०) युद्धमें रथ नष्ट करके शत्रुको रथहीन करना।

विरथीभूत (सं० त्रि०) विरथीकृत, जो रथशून्य किये गये हों।

विरथ्य (सं० त्रि०) रथ्या य. पथहीन।

विरथ्या (सं० स्त्री०) १ विशिष्ट रथ्या। २ कुपथ।

विरद (सं० पु०) १ बड़ा नाम, लंबा चौड़ा या सुन्दर नाम। २ ख्याति, प्रसिद्धि। ३ यश, कीर्त्ति। (त्रि०) ४ दन्तहीन, बिना दाँतका।

विरदावली (हिं० स्त्री०) यशकी कथा, प्रशंसाके गीत।

विरप्स (सं० त्रि०) १ बहुविध उपचारवादी "एवाह्यस्य

सुनृता विरप्सी गोमती मही” (ऋक् १।८८) ‘विरप्सी बहुविधोपचारवादिनो’ (सायण) २ स्तुतिकारक।
(ऋक १।६४।१०)

विरप्शिन् (सं० त्रि०) विविधशब्दकारी, ‘त्रिपोभिविरपशिनः” (ऋक् १।६४।१०) ‘विरप् शिनः विविधं शब्दं रपन्तीति विरप्शाः स्तोतारः त एव सन्तीति विरप्शिनः यद्वा विविधं रपणं विरप्शं तदेषामस्तीति मरुतो हि विविधं शब्दं। कुर्वते’ (सायण)

विरम (सं० पु०) वि-रम-अप्। नाश, अपगम।

विरमण (सं० क्ली०) १ विराम, ठहरना। २ सम्भोग, विलास। ३ रम जाना, मन लगाना। ४ अवसर ग्रहण, छुट्टी लेना। ५ निवृत्त होना, विरत होना।

विरल (सं० त्रि०) १ अवकाश, जो घना न हो, जिसके बीच बीचमें खाली जगह हो। पर्याय—पेलव, तनु। २ दुर्लभ, जो केवल कहीं कहीं पाया जाय। ३ निर्जन, शून्य। ४ अल्प, थोड़ा। ५ जो गाढ़ा न हो, पतला। (क्ली०) ६ दधि, पतला दही।

विरलजानुक (सं० त्रि०) विरलो जानुर्यस्य, समासे कप्। वक्रजानुविशिष्ट, जिसका घुटना झुका हुआ हो।

विरलदेश—स्थानभेद। (दिग्विजयप्रकाश ५४६।६)

विरलद्रवा (सं० स्त्री०) विरलो निर्मलो द्रवो यस्याः। श्लक्ष्ण यवागू, विरल द्रव यवागू।

विरलिका (सं० स्त्री०) वस्त्रविशेष, प्राचीनकालका एक प्रकारका झीना या महीन वस्त्र।

विरलित (सं० त्रि०) विरलोऽस्य जातः विरल-तारकादित्वादितच्। विरलयुक्त, अवकाशविशिष्ट।

विरलीकरण (सं० पु०) सघनको विरल करना।

विरलीकृत (सं० त्रि०) अविरलः विरलः कृतः अभूततद्भावे च्वि। जो स्थान विरल न था उस स्थानको विरल करना, जहां अवकाश नहीं था उस स्थानको अवकाश करना।

विरलेतर (सं० त्रि०) विरलादितरः। अविरल, विरलसे भिन्न।

विरव (सं० पु०) १ विविध शब्द, अनेक प्रकारके शब्द। (त्रि०) २ शब्दरहित, नीरव।

विरवा—बम्बई प्रदेशके अन्तर्गत हल्लार प्रान्त या काठियावाड़ विभागके अधीन एक छोटा सामन्त राज्य। भूपरिमाण ७६ वर्गमील है। विरवा ग्राममें यहांके सत्त्वाधिकारीका वास है। एक सरदारके ऊपर राजस्व वसूल करनेका भार है। राजस्वकी आय प्रायः १०००) रु० है। जिसमेंसे अंगरेजराजको वार्षिक १५०) रु० और जूनागढ़के नवाबको ४४) रु० कर देना पड़ता है।

विरश्मि (सं० त्रि०) विगतो रश्मिर्यस्य। रश्मिरहित, विना किरणका।

विरस (सं० त्रि०) विगतः रसो यस्य। १ रसहीन, फीका। २ विरक्तिजनक, जो अच्छा न लगे। ३ अतृप्तिकर, अप्रिय। ४ जो रसहीन हो गया हो, जिसमें रसका निर्वाह न हो सका हो। (पु०) ५ काव्यमें रसभंग। केशवने इसे ‘अनरस’ के पांच भेदोंमें एक माना है।

विरसता (सं० क्ली०) विरसस्य भावः तल-टाप् वा त्व। १ विरसका भाव या धर्म, फीकापन। २ रसभंग, मज़ा किरकिरा होना।

विरसत्व (सं० क्ली०) विरसता देखो।

विरसाननत्व (सं० क्ली०) मुखका वैरस्य, ज्वरादि रोगके समय मुखमें विकृत रसका अनुभाव।

विरसास्यत्व (सं० क्ली०) मुखका वैरस्य, मुंहका फीकापन। (शार्ङ्गधरस० १।७।७०)

विरह (सं० पु०) वि-रह त्यागे अच्। १ विच्छेद, जुदाई। पर्य्याय—विप्रलम्भ, विप्रयोग, वियोग। (हेम) २ अभाव। ३ शृङ्गाररसकी विप्रलम्भाख्य अवस्था।

मनुशास्त्रमें लिखा है, कि स्त्रियोंको पति रहित या बिना पतिका रहना एक दोष है।

प्रिय और प्रियाके बीच परस्पर अदर्शनसे एक दूसरेके मनमें जो चिन्ता और ताप आदि उपस्थित होता है साधारणतः उसीको विरह कहते हैं। प्राचीन काव्य और नाटक आदि ग्रन्थोंमें विरहके बहुतेरे निदर्शन पाये जाते हैं। उत्तरचरितमें सीताके विरहमें रामचन्द्र कातर हुए थे। फिर अभिज्ञान-शकुन्तलामें दुष्यन्तके विरहसे शकुन्तलाने भी क्लिन्नमना हो महर्षि दुर्वासाकी अवज्ञा की थी। नायक-नायिकाके ऐसे विरहका विशेष माधुर्य्य नहीं। यह विरह जब पवित्र प्रेमके अवस्थाभेद

से परिणतिको प्राप्त होता है, तभी इसका प्रकृत माधुर्य्य उपलब्ध किया जाता है। महाकवि कालिदासने मेघदूत काव्यमें यक्षके पत्नी-विरह-वर्णनस्थलमें लिखा है—

"कश्चित् कान्ताविरहविधुरः स्वाधिकारप्रमत्तः।"

इससे मालूम होता है, कि विरहि-जन प्रियाके न देखनेसे बिलकुल उन्मत्त हो जाते हैं। यह उन्मत्तता यदि देवभावसे प्रणोदित हो अर्थात् भगवान्‌में आसक्ति हेतु उनकी ही प्रेम-प्राप्तिकी आशासे उन्हींके चरणोंकी ओर धावमान हो, तो वह विरह निःसन्देह सर्वोत्कृष्ट कहा जायेगा।

वृन्दावनमें श्रीराधाकृष्णकी प्रेमवैचित्र्यपूर्ण लीलाकहानीमें श्रीकृष्णके अदर्शनसे श्रीराधाको जो विरह अवस्था और उत्कण्ठा भाव उपस्थित होता है, वही विरहकी प्रकृति है और इसीलिये वह प्रेमका एक भाव या अङ्ग कहा जाता है। विद्यापति, चण्डिदास, गोविन्ददास आदि वैष्णव कवियोंने उसी विरहको प्रेमतत्त्वका शीर्षस्थान कहा है। क्योंकि विरह न होनेसे भगवान्‌का नाम निरन्तर हृदयमें जागरित नहीं होता या होता ही नहीं। अतः विरहभावको प्रेम (श्रृङ्गार) रसका उत्कृष्ट अवलम्बन कहा जा सकता है।

प्रवास या अन्तरालका अवस्थान ही अदर्शनका प्रधान आश्रय है। इसीलिये यह विरहोद्रेकका प्रधानतम कारण है। वैष्णवोंने विरहको भावी, भवन और भूत नामसे तीन भागोंमें बांट दिया है। कुछ लोग तो प्रवासको ही विरहका मूल उपादान कहे गये हैं। श्रीकृष्णके अक्रूरके साथ मथुरामें जाने पर वृन्दारण्यमें श्रीराधा और सखियोंको जो विरह उत्पन्न हुआ, वह वैष्णव ग्रन्थोंमें माथुर कह कर परिकीर्त्तित हुआ। इस समयसे प्रभास यज्ञ तक राधाके हृदयमें दारुण विरहानल प्रज्वलित हुआ था। राधाका यह विरह पारिभाषिक है, इससे यह प्रेमात्मक है। श्रीकृष्णके मथुरागमन-विच्छेदमें नन्द यशोदाके मनमें श्रीकृष्णके अदर्शनसे जो दुःख हुआ, उसे वैष्णव कवियोंने विरह नहीं कहा है। क्योंकि नन्द यशोदाकी कृष्णानुरक्ति वात्सल्यभावपूर्ण और राधाकी कृष्णप्रीति प्रेमप्रस्रवणप्रसूत है।

माथुर या प्रवास भूतविरहके अन्तर्गत है। इसमें भी और कई भेद हैं।

कविकल्पलतामें लिखा हुआ है, कि विरहका वर्णन करते समय कवियोंको ताप, निश्वास, चिन्तामौन, कृशाङ्गता, रातका वर्ष बोध होना, जागरण और शीतलतामें उष्णताका बोध आदिका वर्णन करना चाहिये।

विरहा (सं० पु०) एक प्रकारका गीत जिसे अहीर और गड़ेरिए गाते हैं। बिरहा देखो।

विरहा—नदीभेद। तापीखण्डमें विरहाका सङ्गम एक पुण्यतीर्थ माना जाता है। (तापीख० ३५।१)

विरहिणी (सं० त्रि०) जिसे प्रिय या पतिका वियोग हो, जो पति या नायकसे अलग होनेके कारण दुःखी हो।

विरहिन् (सं० त्रि०) विरहोऽस्यास्तीति विरह-इनि। विरहयुक्त, वियोगी।

विरहित (सं० त्रि०) वि-रह-क्त। त्यक्त, विहीन, बिना।

विरही (सं० त्रि०) जिससे प्रियाका वियोग हो, जो प्रियतमासे अलग होनेके कारण दुःखी हो।

विरहोत्कण्ठिता (सं० स्त्री०) नायिका भेदके अनुसार प्रियके न आनेसे दुःखी वह नायिका जिसके मनमें पूरा विश्वास हो, कि पति या नायक आवेगा, पर फिर भी किसी कारणवश वह न आवे।

विराग (सं० पु०) वि-रन्ज घञ्। १ अननुराग, रागशून्य, चाहका न होना। विषयके प्रति जो अतिशय राग होता है, उसे मानसिक मल कहते हैं तथा विषयके प्रति जो विराग वा अनुरागशून्यता है उसीको नैर्मल्य कहा है। विषयके प्रति विराग उपस्थित होने हीसे मानव प्रव्रज्याका अवलम्बन कर भगवान्‌में लीन हो जाते हैं। इसी कारण श्रुतिने कहा है,—"यदहरेव विरज्येत तदहरेव प्रव्रज्येत" (श्रुति) विरागके उपस्थित होनेसे ही प्रव्रज्याका अवलम्बन कर्त्तव्य है। २ उदासीन भाव, किसी वस्तुसे न विशेष प्रेम होना न द्वेष। ३ वीतराग, सांसारिक सुखोंकी चाह न रहना, विषयभोग आदिसे निवृत्ति। ४ एकमें मिले हुए दो राग। एक रागमें जब दूसरा राग मिल जाता है तब उसे विराग कहते हैं। (त्रि०)५ विविध रंगविशिष्ट, रंग बिरंगका।

विरागता (सं० स्त्री०) विरागस्य भावः तल्-टाप्। विरागका भाव या धर्म।

विरागवत् (सं० त्रि०) विरागः विद्यतेऽस्य विराग-मतुप् मस्य व। विरागविशिष्ट, वैराग्ययुक्त।

विरागार्ह (सं० पु०) विराग-मर्हतीति अर्ह-अच्। विरागयोग्य। पर्याय—वैरङ्गिक।

विरागित (सं० त्रि०) विरागोऽस्य जातः विराग तारकादित्वादितच्। विरागयुक्त, विरागविशिष्ट।

विरागिता (सं० स्त्री०) विरागिणो भावः विरागिन् तल् टाप्। विरागीका भाव या धर्म, विराग।

विरागिन् (सं० त्रि०) विराग-अस्त्यर्थे इनि। विरागविशिष्ट, वैराग्ययुक्त।

विराज् (सं० पु०) विराट् देखो।

विराजन् (सं० त्रि०) दीप्तिशाली, चमकदमकवाला।

विराजन (सं० क्ली०) विराज ल्युट्। १ शोभन, शोभित होना। २ वर्त्तमान होना, मौजूद रहना। ३ बैठना।

विराजना (हिं० क्रि०) १ शोभित होना, प्रकाशित होना, सोहना। २ वर्त्तमान होना, मौजूद रहना। ३ बैठना।

विराजमान (सं० त्रि०) १ प्रकाशमान, चमकता हुआ। २ विद्यमान, उपस्थित।

विराजित (सं० त्रि०) वि-राज-क्त। १ शोभित। २ प्रकाशित। ३ उपस्थित, विद्यमान।

विराजिन् (सं० त्रि०) विराजितं शीलमस्य वि राज-णिनि। दीप्तिविशिष्ट, प्रकाशशील, विराजमान।

विराज्य (सं० क्ली०) १ दीप्ति, समृद्धि। २ साम्राज्य।

विराट् (सं० पु०) वि-राज दीप्तौ क्विप्। १ क्षत्रिय। २ ब्रह्माका वह स्थूल स्वरूप जिसके अन्दर अखिल विश्व है अर्थात् सम्पूर्ण विश्व जिसका शरीर है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणके प्रकृतिखण्डमें इस प्रकार लिखा है—

एकार्णवसलिल (क्षीरसमुद्र) में ब्रह्माकी आयु पर्यन्त एक डिम्ब बहता था। पीछे उस डिम्बके फूट जाने पर उसमेंसे शतकोटि सूर्यकी तरह उज्ज्वल एक शिशु निकला। शिशु दूधके लिये कुछ समय रो उठा। उनके पितामाता नहीं हैं, जलमें उनका वास है। जो ब्रह्माण्डके नाथ हैं वे अनाथवत् मालूम होने लगे। वे स्थूलसे स्थूलतम हैं, महाविराट् नामसे प्रसिद्ध हैं। वे ही असंख्य विश्वके आधार प्रकृत महाविष्णु हैं। उनके प्रति लोमकूपमें निखिल विश्व अधिष्ठित हैं। स्वयं कृष्ण भी उनकी संख्या नहीं कर सकते। प्रतिलोमकूपरूप विश्वमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवादि विराजमान हैं। पातालसे ब्रह्मलोक पर्यन्त ब्रह्माण्ड उसी लोमकूपमें विराजित है। ब्रह्माण्डके वहिर्भागमें ऊपरकी ओर वैकुण्ठ है। यहां सत्यस्वरूप नारायण विद्यमान हैं। उसके ऊपर पांच सौ कोटि योजनकी दूरी पर गोलोक है। यहां नित्य सत्यस्वरूप कृष्ण विराजमान हैं। इस प्रकार उस विराट्पुरुषके प्रति लोमकूपमें सप्तसागरसंवृता सप्तद्वीपा वसुमती है। उसके ऊपर स्वर्गादि तथा नारायणके साथ वैकुण्ठ और गोलोक विद्यमान है। एक समय इन विराट्ने ऊपरकी ओर देखा, कि उस डिम्बमें केवल शून्य है और कुछ भी नहीं है। भूखके मारे वे रोने लगे। पीछे ज्ञानलाभ करके उन्होंने परमपुरुष ब्रह्मज्योतिःस्वरूप कृष्णको देख पाया। नवीन जलधरकी तरह उनका वर्ण श्याम है। दो भुजा हैं, पीताम्बर पहने हैं, हंस रहे हैं, हाथमें मुरली है और वे भक्तानुग्रहकारक हैं। इस रूपमें भगवान् कृष्णने उस वालकको अपना दर्शन दे कर हंसते हुए कहा, 'मैं प्रसन्न हो कर तुम्हें वर देता हूं, कि तुम भी प्रलय पर्यन्त मेरे जैसे ज्ञानयुक्त, क्षुत्पिपाशावर्जित और असंख्य ब्रह्माण्डके आश्रय हो। इस प्रकार वर दे कर भगवान्ने बालकके कानोंमें षड़क्षर महामंत्र पढ़ दिया। वह विराट्रूपी बालक भगवान्का स्तव करने लगे। श्रीकृष्णने उत्तरमें कहा, 'मैं जैसा हूं, तुम भी वैसा हो हो, असंख्य ब्रह्माका पात होने पर भी तुम्हरा पात नहीं होगा। मेरे ही अंशसे तुम प्रति ब्रह्माण्डमें क्षुद्र विराट् हो जा। तुम्हारे ही नाभिपद्मसे विश्वस्रष्टा ब्रह्मा उत्पन्न होंगे, ब्रह्माके ललाटसे शिवके अंशमें सृष्टिसञ्चारणार्थ एकादश रुद्र होंगे, उनमें कालाग्निरुद्र एक विश्वसंहारकारी होगा। विश्वके पाता विष्णु भी इस क्षुद्र विराट्के अंशमें आविर्भूत होंगे। तुम ध्यानमें मेरी कमनीय मूर्त्ति सर्वदा देख पाओगे।" इतना कह श्रीकृष्ण अपने लोकमें आ कर ब्रह्मासे बोले, 'महाविराट्के लोमकूपमें क्षुद्र विराट् विद्यमान हैं, सृष्टि करनेके लिये तुम उनके नाभिपद्ममें जा कर उत्पन्न हो। हे महादेव! तुम भी अंशक्रममें ब्रह्मललाटसे जन्म लो।' जगन्नाथका इस प्रकार आदेश सुन कर ब्रह्मा और शिवने प्रस्थान

किया। महाविराट्के लोमकूपमें, ब्रह्माण्डमें, गोलोकमें और एकार्णवजलमें विराट्के अंशसे क्षुद्र विराट् आविर्भूत हुए थे। वे युवा, श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, जलशायी, ईषत्‌हास्ययुक्त, प्रसन्नवदन, विश्वव्यापी जनार्दन हैं। उनके नाभिपद्मसे ब्रह्मा आविर्भूत हुए। (प्रकृतिखण्ड ३ अ०)

पौराणिक और दार्शनिकगण ब्रह्मवैवर्त्तका विराट उत्पत्तिका अनुसरण नहीं करते। इस सम्बन्धमें वे वेदके प्रमाण हीको मानते हैं। विराट्के उत्पत्ति सम्बन्धमें ऋक्संहितामें इस प्रकार लिखा है—

> "सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्षः सहस्रपात्।
> स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥
> पुरुषस्वेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं।
> उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥
> एतावनस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
> पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
> तस्माद्विराडजायत विराजो अधिपूरुषः।
> स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥"
>
> (ऋक् १०।६०।१-५)

पुरुषके सहस्र मस्तक, सहस्र चक्षु और सहस्र चरण हैं। वह पृथिवीमें सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी दश अंगुल ऊपर अवस्थित है। पुरुष ही सब कुछ हैं, जो हुआ है और जो होगा। उनकी इतनी बड़ी महिमा है, पर वह इससे कहीं बड़े हैं। सम्पूर्ण विश्व और भूत एकपाद हैं, आकाशका अमर अंश त्रिपाद है। उससे विराट् उत्पन्न हुआ और विराट्से अधिपुरुष। उन्होंने आविर्भूत हो कर सम्पूर्ण पृथिवीको आगे पीछे घेर लिया। भगवद्गीताके अनुसार भगवान्‌ने जो अपना विराट् स्वरूप दिखाया था। उसमें समस्त लोक, पर्वत, समुद्र, नद, नदी, देवता इत्यादि दिखाई पड़े थे। बलिको छलनेके लिये भगवान्‌ने जो त्रिविक्रम रूप धारण किया था उसे भी विराट् कहते हैं।

३ स्वायम्भुव मनु। (मत्स्यपु० ३ अ०)

विराट—मत्स्य देश। यहां जो भारतीय व्यापार संघटित हुआ था, महाभारतके विराटपर्वमें उसीका वर्णन है। इस प्राचीन जनपदके विषयमें कई लोग कितने प्रकारकी बातें कहा करते हैं। किसी किसीका मत है, कि यह स्थान राजपुतानेमें है, कितनेके मतानुसार यह बम्बई प्रदेशके अन्तर्गत है। किसीके मतसे उत्तरी बंगाल किसीके मतसे मेदनीपुर जिलेमें एवं किसीके मतके यह मयूरभंजके पार्वत्य प्रदेशमें है।

सरस्वती और दृषद्वती, इन दोनों देवनदियोंके मध्य देव-निर्मित एक देश है जो ब्रह्मावर्त्तके नामसे विख्यात है। कुरुक्षेत्र एवं मत्स्य, पञ्चाल तथा शूरसेनका देश ही ब्रह्मर्षि देश है, यह ब्रह्मावर्त्तसे अलग है। मनुके कथनानुसार मालूम पड़ता है, कि उत्तर-पश्चिम भारतमें, कुरुक्षेत्र वा थानेश्वरका निकटवर्त्ती प्रदेश, पञ्चाल या कान्यकुब्जका अञ्चल, शूरसेन वा मथुरा प्रदेश, इन सब जनपदोंके समीप ही मत्स्यदेश था एवं वह महर्षिदेशके बीचमें पड़ता था।

महाभारतके भीष्मपर्वमें तीन मत्स्य देशोंका उल्लेख पाया जाता है—

> १म—"मत्स्याः कुशल्याः सौसल्याः कुम्भयः कान्तिकोशलाः।
> २य—चेदिमत्स्यकरूषाश्च भोजजाः सिन्धुपुलिन्दकाः॥
> ३य—दुर्गालाः प्रतिमत्स्याश्च कुन्तलाः कोशलास्तथा।"
>
> (भीष्मपर्व १० अ०)

उक्त कथनानुसार एक मत्स्यदेश पश्चिममें कुशल्य, सुशल्य और कुन्तादेशके निकट, एक पूर्वमें चेदि (बुन्देलखंड) तथा करूष (शाहाबाद जिले के बाद एवं तृतीय वा प्रतिमत्स्य दक्षिणमें दक्षिणकोशलके निकट था।

उपरोक्त तीन मत्स्य देशोंमें पहला ही मनुका कहा हुआ आदिमत्स्य था। दूसरा सम्भवतः उत्तर वंगके दिनाजपुरका अंचल एवं तीसरा मेदनीपुर और मयूरभञ्जके बीचका देश ही था।

उक्त तीन देशोंके मध्य पाण्डवोंका अज्ञातवासस्थल विराट राजधानीसे भूषित मत्स्यदेश कहां है?

आदि मत्स्य वा विराट।

पांचों पाण्डव अज्ञातवासके समय जिस रास्तेसे विराटकी राज सभामें गये थे एवं मत्स्यदेशवासी योद्धाओंकी वीरता तथा साहसिकताका परिचय जिस प्रकार सर्व्वत्र वर्णन किया गया है, उससे जान

पड़ता है, कि शूरसेन मथुरा प्रदेशके निकटवर्त्ती कोई स्थान ही मनुका कहा हुआ मत्स्यदेश है।

वास्तविक मथुरा जिलेके पश्चिमांशमें एवं जो विस्तृत भाग एक समय कुरुक्षेत्रके नामसे विख्यात था उसके दक्षिण राजपुतानेके अन्तर्गत वर्त्तमान जयपुर राज्यके बीच वैराट और माचाड़ी नामक दो प्राचीन स्थान अभी भी विद्यमान हैं। ये दोनों स्थान प्राचीन विराट राज्य और मत्स्य देशके नामोंकी रक्षा कर रहे हैं। विराट शहर दिल्लीसे १०५ मील दक्षिण पश्चिममें एवं जयपुर राजधानीसे ४१ मील उत्तर, रक्तवर्ण शैल-परिवेष्टित गोलाकार उपत्यकाके बीचमें अवस्थित है। यह वैराट उपत्यका पूर्व-पश्चिममें ४से ५ मील लम्बी एवं उत्तर-दक्षिणमें ३से ४ मील चौड़ी है। इसके पूर्वांशके अन्तकी अधित्यकामें विस्तीर्ण ध्वंसावशेषके मध्य वैराट शहर है। शहरके पिछले भागमें बीजक पहाड़ है। एक छोटी स्रोतस्वतीके किनारेसे उत्तर पश्चिममें जा कर उपत्यकाका प्रधान प्रवेश पथ मिलता है। यह स्रोतस्वती बाणगंगाकी एक शाखा है।

उक्त शहरकी लम्बाई चौड़ाई आध मील एवं घेरा प्रायः ढाई मील है। वर्त्तमान वैराट शहर उक्त भूभागके सिर्फ एकचतुर्थांश स्थानमें फैला हुआ है। उसके चारों ओर कृषिक्षेत्र है, उसके मध्य कई स्थानोंमें प्राचीन मृन्मयपात्र एवं तांबेकी खानें हैं। पहले यहां जो तांबा पाया जाता था, उसका यथेष्ट परिचय मिलता है। प्राचीन वैराट नगर सैकड़ों वर्ष तक परित्यक्त रहा। तीन सौ वर्ष हुए, यहां फिरसे लोगोंका वास हो गया है। एक समय यहांके तांबेकी खान भारतमें प्रसिद्ध थी। इसीसे आईन-इ-अकबरीमें बिराटका नाम पाया जाता है।

प्राचीन वैराटका पूर्वांश 'भीमजीका ग्राम' कहलाता है। इसके पास ही भीमजीका डोंगर वा भीमजीकी गुफा नामक एक पहाड़ है। इसकी चोटीके अधिवासी भीमपदको दिखलाते हैं।

वैराटसे ३२ मील पूर्व एवं मथुरासे प्रायः ६४ मील पश्चिम माचाड़ी नामक एक प्राचीन ग्राम है। कुछ लोग अनुमान करते हैं, कि मत्स्यदेश ही अपभ्रंशमें माचारीके नामसे विख्यात हुआ है। यहां भी बहुतसी प्राचीन कीर्त्तियोंका निदर्शन विद्यमान है। माचारीसे वैराट जानेके रास्तेमें कुशलगढ़ पड़ता है। महाभारतमें मत्स्यके समीप ही कुशल्य नामक जनपदका उल्लेख है। कुशल्य और कुशलगढ़के नाममें परस्पर कैसा सम्बन्ध है?

चीन-परिव्राजक यूएनचुयंग ईसाई ७वीं शताब्दीमें यहां आये थे। उन्होंने जो पो-लि-ये-तो लेवा पारियात्र नामक जनपदका उल्लेख किया है, उसे ही वर्त्तमान प्रत्नतत्त्वविदोंने प्राचीन विराट वा मत्स्यदेश स्थिर किया है। चीन परिव्राजकके समय विराट वैश्य जातीय राजाके अधिकारमें था। यहांके लोगोंकी वीरता तथा रण-निपुणताका परिचय चीन परिव्राजक भी दे गये हैं। मनुस्मृतिमें भी लिखा है, कि कुरुक्षेत्र मत्स्यादि देशके लोग भी रणक्षेत्रमें अग्रगामी हो कर युद्ध करते थे।

चीन परिव्राजकके आगमनकालमें यहां एक हजार घर ब्राह्मणोंका वास था और १२ देवमन्दिर थे। इनके अतिरिक्त ८ बौद्ध संघाराम और प्रायः ५ हजार बौद्ध गृहस्थोंका वास था। कनिंहम अनुमान करते हैं, कि चीन-परिव्राजकके समय यहां लगभग तीस हजार लोगोंका वास था।

मुसलमानोंके इतिहाससे भी जाना जाता है, कि ४०० हिजरी अर्थात् १००९ ई०में गज़नीके सुलतान महमूदने वैराट पर आक्रमण किया था। यहांके राजा उनकी अधीनता स्वीकार करनेको बाध्य हुए। फिर ४०४ हिजरी अर्थात् १०१४ ई०में दूसरी बार यहां महमूदका आगमन हुआ। हिन्दुओंके साथ उनकी घमसान लड़ाई हुई। आबुरिहन लिखते हैं, कि महमूदने उस नगरको विध्वंस कर डाला तथा वहांके अधिवासी दूर दूरके देशोंमें भाग गये। फिरिस्ताके मतानुसार ४१३ हिजरी वा १०२२ ई०में कैराट (वैराट) और नारदिन (नारायण) नामक पार्वत्य प्रदेशोंके अधिवासियोंको मूर्त्तिपूजक जान कर उन पर शासन करने तथा उन्हें इसलाम धर्ममें दीक्षित करनेके लिये मुसलमान-सेनापति अमीर अली यहां आये। उन्होंने शहर पर अपना अधिकार जमाया

लिया और वहांके अधिवासियोंको धनसम्पत्ति लूट ली। उन्हें नारायणमें एक खोदी हुई लिपि मिली। उसमें लिखा था, कि नारायण-मन्दिर चालीस हजार वर्ष पहले बनाया गया था। इस समयके इतिहास लेखकोंने उक्त लिपि-का उल्लेख किया है। वह प्राचीन खोदित लिपि सम्राट् प्रियदर्शीको अनुशासन कह कर प्रमाणित हुई है। इस समय वह प्राचीन अनुशासनफलक कलकत्तेकी एशियाटिक सोसाइटीमें सुरक्षित है। उक्त लिपिसे जाना जाता है, कि सम्राट् प्रियदर्शीके समयमें भी वैराटनगर समृद्धि-शाली था। जो हो, राजपूतानेके वैराटको ही हम लोग आदिमत्स्य या विराट देश स्वीकार कर सकते हैं।

पूर्व विराट।

महाभारतमें कारुषके बाद एक मत्स्यदेशका उल्लेख है। विहार और उड़ीसाके अन्तर्गत शाहाबाद जिला ही पहले कारुषदेशके नामसे प्रसिद्ध था। अतएव दूसरा मत्स्यदेश भी उक्त प्रेसिडेन्सीके अन्तर्गत है।

१२५८ सालमें प्रकाशित कालीशर्म्मा-विरचित "बगुड़ाका इतिहास वृत्तान्त" नामक छोटी पुस्तकके चतुर्थ अध्यायमें २य मत्स्यदेशका वृत्तान्त इस तरह लिखा है—

"मत्स्यदेशका नाम परिवर्तन हो कर इस समय यहां जिला संस्थापित हुआ है। इसकी उत्तरी सीमा पर रंगपुर जिला, दक्षिण पूर्व सीमा पर बगुड़ा जिला, दक्षिण-पश्चिम सीमा पर दिनाजपुर जिला है। बगुड़ासे १८ कोसकी दूरी पर घोड़ाघाट थानासे ३ कोस दक्षिण ४।५ कोस विस्तीर्ण अत्यन्त प्राचीन अरण्यानीके बीच विराट राजाकी राजधानी थी। यहां विराटराजाके बेटे तथा पोतेके राज्य करनेके बाद कलिके ११५३ अब्द व्यतीत होने पर जो महा जलप्लावन हुआ था, उससे विराटके वंश और कीर्त्ति एकदम ही ध्वंस हो गई। पीछे धीरे धीरे यह स्थान सघन जंगलमें परिणत हो गया। केवल अति उच्च मृन्मय दुर्गका जीर्ण कलेवर इस समय भी छिन्न भिन्न हो कर वर्त्तमान है। कुछ लोगोंने मिट्टी खोदनेके समय गृह-सामग्रियां एवं सोना, चांदी प्रभृति मूल्यवान् द्रव्य पाया है। जब इस देशके सभी लोग इस स्थानको विराटकी राजधानी कहते आ रहे हैं, जब कीचक और भीमकी कीर्त्ति इस स्थानके आस पास वर्त्तमान हैं और जब भारतवर्षमें इस स्थानके अतिरिक्त दूसरा कोई स्थान मत्स्यदेश नहीं कहलाता है, तब यहां अवश्य ही विराटकी राजधानी थी, इसमें प्रमाणकी आवश्यकता नहीं।"

उक्त इतिहास लेखक पाण्डवोंके छद्मवेशमें विराट नगरमें आगमन, कीचक-बध, भीमकृत भीमकी दीघी प्रभृति कीर्त्ति कलाप स्थापनका वर्णन करते हुए कहते हैं, "यहां प्रति वर्ष वैशाखके महीनेमें मेला लगता था। जिस स्थान पर मेला लगता था, वह स्थान जंगलोंसे ढका था। प्रति वर्ष मेलेमें ३।४ सहस्र यात्री इकट्ठे होते थे। प्रातःकालसे ले कर तृतीय प्रहर पर्य्यन्त मेला लगा रहता था। इस मेलेमें खाद्य सामग्रियां बराबर मिलती थीं, केवल मत्स्य, घृत, हरिद्रा और काष्ठका क्रय विक्रय नहीं होता था। यहां लोगोंकी भीड़ लगी रहती थी इसलिये वन्य जंतुओंका भय बिलकुल ही नहीं रहता था। इस मेलेमें एक आश्चर्य्यजनक घटना घटती थी। यहांके यात्री भोजन करनेके बाद जो उच्छिष्ट पत्र या पात्र फेंक देते थे, दूसरे दिन उनका कोई चिह्न भी नहीं रहता; न जाने कौन समूचे मेलेको साफ सुथरा कर देता था।

लोग कहा करते हैं, कि देवता आ कर यह स्थान परिष्कार करते हैं। इस महारण्यके बीच रंगपुर, दिनाजपुर और बगुड़ा जिलेके साहब लोग शिकार करने आते हैं। यहां जिस प्रकारका बाघ है, वैसा बंगालमें और कहीं देखा नहीं जाता। जलानेकी लकड़ी (ईंधन) प्रति वर्ष रङ्गपुर, दिनाजपुर और बगुड़ा जिलेमें बिकने आती है। इस समय यहां कई स्थानोंमें बहुतायतसे धान पैदा होता है।"

उक्त इतिहास-लेखकने जनश्रुतिके प्रति विश्वास करते हुए जो सब अभिमत परिव्यक्त किया है, उसके साथ ऐतिहासिक लोग एकता नहीं कर सकते। वरेन्द्रखंडके अन्तर्वर्त्ती सभी जनपदोंको हमने देखा है। इस विराट नामक स्थानमें महाभारतके विराट राजकी राजधानी न होने पर भी यह अति प्राचीन जनपदका भग्नावशेष चिह्नयुक्त स्थान है, इसमें सन्देह नहीं।

वरेन्द्रखंडके मध्यस्थ उक्त विराट नामक प्राचीन जनपद वर्त्तमान रंगपुर जिलेके अन्तर्गत गोविन्द गंज नामक

पुलिश स्टेशनसे ५ मील दूर करतोया नदीके पश्चिम तट पर अवस्थित है।

विराटके पश्चिम-दक्षिणसे होती हुई बगुड़ा जिलेके क्षेतलाल वा क्षेत्रनालाकी सीमा आरम्भ होती है। उक्त विराट सरकार घोड़ाघाट और अलीग्राम परगनेके अन्तर्गत है। विराटसे कुछ दूर सरकार घोड़ाघाटके प्राचीन जनपदका भग्नावशेषचिह्न शुरू हो कर क्रमशः पश्चिम दक्षिणमें एक बहुत विस्तृत स्थानमें वर्त्तमान है।

मुगल बादशाहकी अमलदारीमें घोड़ाघाटमें फौजदारी कचहरी थी। उस समय करतोया नदी विस्तीर्ण प्रवाहशालिनी थी, इसलिये उसके तीर पर अनेक नगर बस गये थे। मुगलोंके समय वर्द्धनकोठाके जमींदार इस अञ्चलके प्रधान जमींदार थे। मुर्शिदकुलीके शासनकालमें भी वर्द्धनकोठीके जमींदारोंका प्रभाव फैल रहा था। मुगल राजत्वकालमें भी करतोया नदीके निकटवर्त्ती सभी जनपद समृद्धिशाली थे, ऐसा ही विश्वास होता है। खृष्टीय १०वीं शताब्दीमें ढाका नगरीमें सूबाकी राजधानी स्थापित होनेके बाद घोड़ाघाटकी अवनतिका सूत्रपात हुआ। इसके बाद करतोया नदीकी धारा संकीर्ण हो जानेके कारण ये सब समृद्धशाली जनपद धीरे धीरे जंगलमें परिणत हो गये। इस समय विराट नामक स्थानमें एक क्षमताशाली राजा या जमींदारका प्रासाद था। यहांके सभी इष्टकस्तूपोंको देखनेसे अनायास ही इसका अनुमान होता है। नगरमें कई छोटे बड़े जलाशय हैं। बगुड़ाके इतिहास-लेखकने इस स्थानको निविड़ अरण्यानी कह कर वर्णन किया है। किन्तु आश्चर्यका विषय है, कि १६०७ ई०में इस विस्तीर्ण भूभागके अन्दर जंगलका चिह्न भी नहीं रहा। इस समय वहां जलावनका भी अभाव हो गया है, ऐसा कहनेमें भी कोई अत्युक्ति न होगी। १२८१ सालके प्रसिद्ध दुर्भिक्षके बाद क्रमशः इस प्रदेशमें बुना, संथाल तथा गारो प्रभृति असभ्य जातियोंने निवास करके जंगलको निर्मूल कर दिया है। ३० वर्ष पहले जिस स्थानमें बाघका शिकार किया जाता था, इस समय उस स्थानमें मनुष्योंकी घनी आबादी दृष्टिगोचर होती है।

यहां जंगलादि निर्मूल हो जानेके कारण कई वर्षोंसे एक मेला लगता है। पहले जिस समय यह स्थान निविड़ जंगलोंसे ढका था, उस समय यहां प्रति रविवारको बहुतसे यात्री भी इकट्ठे होते थे। इस समय भी रविवारको ही अधिक यात्रियोंका समागम होता है। वैशाख मासके रविवारको विराटकी पुण्य भूमिमें हविष्यान्न ग्रहण करनेसे बड़ा पुण्य होता है, ऐसा ही लोगोंका विश्वास है।

बगुड़ा जिलेके शिवगंज पुलिश स्टेशनके अन्तर्गत तथा विराटके दक्षिण कीचक नामसे जो स्थान वर्त्तमान है, उसमें प्राचीन कोई वस्तु उल्लेखनीय नहीं है। एक खाई कीचकके नामसे प्रसिद्ध है। दिनाजपुर जिलेके अन्तर्गत रानीशंकल पुलिस स्टेशन उत्तरगोगृह एवं पावना जिलेके पुलिस स्टेशन रायगंजके अन्तर्गत नीमगाछी नामक जनपद दक्षिण गोगृहके नामसे जनसाधारणमें प्रसिद्ध है। दिनाजपुर जिलेमें अनेक बौद्ध-कीर्त्तियां हैं। जो उत्तर-गोगृहके नामसे कथित है, वह सम्भवतः परवर्त्ती बौद्धराजाओंकी दूसरी कीर्त्ति है। उक्त नीमगाछी नामक स्थानमें एक बहुत बड़ा जलाशय है। उसका नाम है जयसागर। इस स्थानकी मिट्टीके नीचे कभी कभी अट्टालिकादिका ध्वंसावशेष दृष्टिगोचर होता है। एक भग्न मन्दिरके द्वार पर कई एक बड़े बड़े पत्थर पड़े हैं। यह स्थान प्राचीन करतोया नदीके किनारे था। इष्ट इण्डिया कम्पनीके प्रथम समयमें नीमगाछीका जंगल अत्यन्त प्रसिद्ध था। इस स्थानके पास हो कर ही राजसाही जिलेका विख्यात चलन-बिल आरम्भ होता है। यहां गो चरानेकी सुविधा रहने पर भी महाभारत-वर्णित विराटका समसामयिक स्थान मालूम नहीं पड़ता। परन्तु आदि मत्स्य वा विराटके किसी राजवंशधरने बहुत समय पहले यहां आ कर आधिपत्य स्थापन तथा उसके साथ साथ महाभारतीय आख्यायिका सन्निबद्ध करके इस स्थानके माहात्म्यको बढ़ानेकी चेष्टा की होगी। यहां मिट्टी खोदनेसे एक व्यक्तिको एक पाषाणमयी कालीमूर्त्ति और एक व्यक्तिको पीतलकी दशभुजामूर्त्ति प्राप्त हुई थी। इस स्थानके निकटवर्त्ती मघाई नगर नामक स्थानमें लक्ष्मणसेनका ताम्रशासन पाया गया है।

वारेन्द्रखंडमें बौद्धके प्रभावकालकी कीर्त्तियां वर्त्तमान हैं। उसके बाद हिन्दूराजत्व-कालमें भी अनेक कीर्त्तियां स्थापित हुईं। उन सब कीर्त्तियोंका क्षीण स्मृतिके निकट महाभारतीय आख्यानमें जड़ित होना कोई विचित्रता नहीं। क्योंकि आधुनिक बौद्ध तथा हिन्दूराजाओंके इतिहास संकलनकी जैसी स्पृहा देखी जाती है, पहले वैसी नहीं थी; मुसलमानी शासनमें सभी अपनी अपनी चिन्तामें व्यस्त थे। बौद्ध तथा हिन्दू राजाओंके किसी कीर्त्तिकलापका उल्लेख इस देशके शास्त्रोंमें नहीं किया गया था। सुतरां महाभारतादिका पाठ सुन कर परवर्त्ती समयमें जो कुछ ऐश्वर्यमूलक थे, वे ही पौराणिक आख्यायिकामें जोड़ दिये जायेंगे, यह विचित्र नहीं। जो प्रशस्त ऊंचा राजपथ भीमका बांध कह कर उल्लिखित है वह कैवर्त्तराज भीम द्वारा ही बनाया गया है, ऐसा अनुमान होता। इस प्रदेशमें रानी सत्यवती और रानी भवानीके दो बांध हैं। कोई कोई निम्नभूमि भरी जा कर तीन ऊंचे टीलोंमें परिणत हो गई है।

वाणदीग्घी नामक स्थान बगुड़ा शहरसे तीन कोस उत्तर है। यहां वाण राजाका राजमहल था एवं श्रीकृष्णने यहां ही उषाका हरण किया था; ऐसी किम्बदन्ती चली आती है। किन्तु यह स्थान वास्तवमें वाण राजाकी राजधानी नहीं है। ग्राममें बावन दीघी थी एवं स्थानीय भाषामें बावनको वाण उच्चारण करनेके कारण वाण-दिग्घी नामकी उत्पत्ति हुई है।

वरेन्द्रखंडमें विराटकी राजधानी थी तथा पांचों पाण्डवोंने इस देशमें आ कर इसे पवित्र किया था, ऐसा कह कर वारेन्द्रवासी अपनेको धन्य मानते हैं। लघुभारतकारने संस्कृत भाषामें स्थानीय किम्बदन्तीका अवलम्बन करके इस स्थानको विराटकी राजधानी रूपमें वर्णन किया है। किन्तु यह स्थान आदि विराट या पञ्च पांडवका अज्ञातवासस्थान नहीं है, यह पहले ही लिखा जा चुका है।

बगुड़ासे १२ कोस उत्तर-पश्चिम तथा विराट नगरसे ४ कोस पूर्व-दक्षिण पानीतल्ला बाजारसे एक मील उत्तर एक प्राचीन कूपाकार खन्दक है, लोग उसे भोगवती गंगा कहते हैं। कहा जाता है, कि जिस समय पञ्चपांडव अज्ञातवासके समय विराटके राजभवनमें वास करते थे, उसी समय महाबली अर्जुनने इस कूपकी प्रतिष्ठा की थी। राजपूतानेके विराटके निकट भी वाणगंगा प्रवाहित है, सम्भवतः उसीकी स्मृति स्थिर रखनेके लिये भोगवती गंगाकी सृष्टि हुई होगी। फलतः जीव और अमृत नामक कूप वरेन्द्रखंडके अनेक प्राचीन स्थानोंमें वर्त्तमान थे। दक्षिण गोग्रह प्रभृति स्थानोंमें अर्जुनके अस्त्र शस्त्र रखनेका स्थान शमीवृक्ष भी प्रदर्शित होता है। राजशाही विभागके जो सब स्थान वारेन्द्रके नामसे विख्यात हैं एवं जिन सब स्थानोंमें हैमन्तिक धानके सिवाय और किसी प्रकारका अनाज पैदा नहीं होता; उन सब स्थानोंके अधिवासी मकरसंक्रान्तिके बाद गोजातिके गलेका बन्धन खोल देते हैं। विराट राज्यमें गो बांधी नहीं जाती, ऐसी कहावत है।

मेदिनीपुर जिलेके गड़बेता नामक स्थानमें भी वहांके अधिवासी विराटकी कीर्त्तियां दिखाते हैं। यहां एक किम्बदन्ती है, कि गड़बेताके पास ही दक्षिण गोग्रह था। जिस स्थान पर कीचक मारा गया था, लोग वह स्थान भी दिखाते हैं।

दक्षिण विराट।

इनके अतिरिक्त उड़ीसाके अन्तर्गत मयूरभंज राज्यके कई स्थानोंमें विराट राजाओंकी विराट कीर्त्तियोंके निदर्शन वर्त्तमान हैं। पूर्वमें कोईसारी गढ़, पश्चिममें पुड़ाडिहा, उत्तरमें तालडिहा एवं दक्षिणमें कपोतीपादा, इनके बीच प्रायः १२० वर्गमील विस्तृत भूमिखंडमें वैराट राजाओंकी कीर्त्तियां दृष्टिगोचर होती हैं तथा नाना प्रकारकी किम्बदन्ती सुनी जाती है। यहां संक्षेपमें उसका वर्णन किया जाता है—

मयूरभंजकी राजधानी बारिपदासे प्रायः २८ मील दक्षिण पश्चिम कोईसारी ग्राम है। यह ग्राम एक समय विराटपुर कहलाता था। यहां एक समय वैराट राजाओंकी राजधानी थी। उक्त राजधानीका ध्वंसावशेष इस समय 'कोईसारीगढ़' नामसे प्रसिद्ध है। इस गढ़के उत्तर तथा पूर्वमें देव नदी, दक्षिण-पूर्वमें शोण नदी, सामनेमें इन दोनों नदियोंका सङ्गम एवं पश्चिममें गढ़-

खाई है। इस स्थानको देखनेसे ही राजधानीका उपयुक्त स्थान मालूम पड़ेगा। उस वृहत् गढ़के ध्वंसावशेषके मध्य कचहरी, राजभवन तथा शिव और कनकदुर्गाके मन्दिरका ध्वंसावशेष इस समय भी लोगोंको दिखाया जाता है। राजा यदुनाथभंजके समय कोंईसारी गढ़के अधिपति सर्वेश्वर मान्धाता भंजाधिपसे पराजित हुए थे एवं भञ्जाधिपतिके आक्रमणसे कोंईसारी गढ़ विध्वस्त हुआ; उसी समयसे यहांके प्राचीन राजवंशका कीर्त्ति गौरव विलुप्त हो गया है। राजवंशियोंमें किसीने कोप्तोपादामें तथा किसीने नीलगिरिमें आश्रय ग्रहण किया। इस समय वैराटराजवंशीय दो बाबू घराने कोंईसारी गढ़में वास करते हैं। इन लोगोंकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो रही है। ये लोग अपनेको भुजंग क्षत्रिय बताते हैं।

कोंईसारी ग्राममें उक्त राजवंशीय एक अत्यन्त वृद्ध कुछ दिन हुए जीवित थे। उनके कहनेसे मालूम हुआ है, कि जेठे ननु शाहका वंश कोंईसारीमें, मझलेका वंश नीलगिरिमें एवं छोटे कुनशाहाका वंश कोप्तोपादामें राज्य करते थे। वसन्त वैराटके समय इस तरह राज्यका विभाग हुआ। उसके पहले कोंईसारी वा वैराटपुरसे लेकर नीलगढ़ वर्त्तमान नीलगिरि पर्य्यन्त देश एक वैराट नृपतिके शासनाधीन था। वसन्त वैराट प्रतिष्ठित बुगाई चण्डीकी पाषाणमयी मूर्त्ति नीलगिरि राज्यकी प्राचीन राजधानी सुजनागढ़में आज भी वर्त्तमान है। कोंईसारीकी कनकदुर्गा राजा यदुनाथभंजके समय बारिपदामें लाई गई। इस समय कोंईसारीगढ़के ध्वंसावशेषके मध्य भग्न मायूरी मूर्त्ति विद्यमान है। उस भग्नमूर्त्तिमें केवल मायूरीदेवीके दो पाँव एवं उनके बाहन मयूरका मुखाग्र दृष्टिगोचर होता है। गढ़के बाहर प्रेमालिंगनरत चतुर्भुज महादेव तथा चतुर्भुजा गौरीकी सुवृहत् प्रस्तर मूर्त्ति रखी हैं एवं उनके पासमें ही वृक्षके नीचे एक चतुर्भुजा अपूर्व देवीमूर्त्ति है*। देवीका निम्नांश सर्पाकृति एवं उपरांश नागकन्याके समान बहुरत्नालंकृता है। पहले देखनेसे ही यह नागकन्याकी मूर्त्ति मालूम पड़ती है, किन्तु नागकन्या द्विभुजा होती है और ये चतुर्भुजा हैं। स्थानीय लोग इन्हें एक पाँववाला भैरव कहते हैं। किसी धूर्त्तने इस देवीमूर्त्तिको महादेवका भैरव प्रमाणित करनेके लिये उसके दोनों स्तनोंको बहुत कुछ तराश कर समतल बना दिया है, किन्तु तो भी उसका उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सका। सुप्रसिद्ध ग्रीक ऐतिहासिक दियोदोरस ईस्वी सन्‌से पाँच सौ वर्ष पहले लिख गये हैं, कि मध्य एशियाके स्कीदिय लोग 'एला' (इला) नामक एक देवी मूर्त्तिकी पूजा करते हैं। उसी देवीका निम्नांश सर्पाकृति एवं उपरांश साधारण नारीके समान है। शक लोगोंकी उपास्य वही प्राचीन देवी क्या यहां 'एकपाद भैरव'के नामसे विख्यात होती हैं? उक्त भुजङ्गवंशीय बूढ़ेके मुखसे और भी सुना गया, कि उक्त दोनों देवोकी मूर्त्तियां कोंईसारी गढ़ तैयार होनेके बहुत पहले की हैं। ननुशाहके वंशधरने जिस समय यहां आ कर दुर्ग तैयार करनेके लिये मिट्टी खोदी थी, उसी समय मिट्टीके नीचेसे उक्त दोनों मूर्त्तियाँ बाहर हुई थीं। सुतरां ये दोनों मूर्त्तियां सहस्रों वर्ष पहलेकी बनी मालूम पड़ती हैं। ईस्वीसन्‌के दो सौ वर्ष पहलेके शक लोगोंके समयकी आदिरसघटित जिस प्रकारकी मूर्त्ति मथुरासे आविष्कृत हुई है, यहांकी हरगौरी मूर्त्ति भी उसी आकारकी एवं उसी समयकी मालूम पड़ती है। उक्त दोनों मूर्त्तियां शकवंशियोंके शासनकालमें किसी शकराजाके द्वारा बनाई गई होंगी। कोंईसारीग्रामके बाहर एक बड़े पीपलवृक्षके नीचे एक प्राचीन कमानके पास शिर पर सर्पछत्रशोभिता एक द्विभुजी देवीकी मूर्त्ति है। ये जनसाधारण उन्हें 'कोटासनी' कहते हैं। ये भुजङ्ग राजवंशकी अधिष्ठात्री देवी थीं। जहां देवीकी मूर्त्ति है, वहां पहले ईंटोंका बना एक मन्दिर था। इस समय उसके ध्वंसावशेषकी ईंट देवीके चारों ओर पड़ी देखी जाती है। जो स्थान एक समय वैराटवंशकी राजधानी था, इस समय वही स्थान निर्जन हो रहा है।

पूर्वोक्त कोंईसारीसे प्रायः १२ मील पश्चिम-दक्षिण और बारिपदासे प्रायः ४० मील दक्षिण-पश्चिममें पाट-

---

* इस चतुर्भुजाके दक्षिणार्द्ध हाथमें डमरू, उसके बाद पात्र; वामोर्द्ध हाथमें माला, दोनों पार्श्वमे दो सखियां; पांवके नीचे एक ओर शकुनि और एक ओर श्रृगाल एवं श्रृगालके पीछे करबद्ध एक बानर मूर्त्ति है।

मुण्डी नामक पहाड़के नीचे पुराडिहा ग्राम अवस्थित है। इस स्थानके चारों ओर वैराट राजाओंकी प्राचीन कीर्त्तियोंके चिह्न वर्त्तमान है। यहांके सर्दारप्रमुख भद्र लोग कहते हैं, कि कोंईसारोगढ़के समीप बैराटपुर, कुटिङ्गके पश्चिम तालडिहाके मध्य पृथ्वी मानिकीनी (शमी वृक्षका अग्रभाग कह कर परिगणित) देवकुण्ड, गाय बांधनेकी जगह, देवकुंडके निकट आटुपादहके उत्तर पहाड़ पर वैराटपाटठाकुरानीका स्थान और भीमखंडा (भीमका रन्धनशाला), जूनापाढ़के पास वैराटकी चबूतरा और उसके उत्तर वैराटका लाल घोड़ा, देवकुंडके दक्षिण भीमजगात (भीमके रहनेका स्थान) है। देवकुंडके उत्तर लोहेका कमान (३×५ हाथ) है। देवनदी आटुपादहके पूर्व पटादर (पत्थरके ऊपर जलस्रोत), ऊपर तालडिहा अर्थात् तालडिहा शहरके अन्दर प्रायः एक वर्गमील विस्तृत गाय बांधनेकी जगह, चार ओर मिट्टीके ऊंचे टीले तथा जंगल परिपूर्ण है। पाटमुंडी पहाड़ पर वैराटराजकी पाटदेवी थी। इसी गढ़में वैराटराजाओंका दुर्ग था। पाटदेवीकी मूलमूर्त्ति अब कपोतोपादाके सरवराहकारके घरमें है। इस मूर्त्तिका बाहरी दृश्य डमरू-सा है यह स्फटिककी बनी है, बीचमें नागमूर्त्ति है।

पोड़ाडिहासे १॥ मील उत्तर-पश्चिममें पाटमुंडी पहाड़ है। यहां ऐसी कहावत चली आती है, कि वैराटराजने अपने मस्तक पर उठा कर पाटदेवीको यहां लाये थे, इसीलिये यह स्थान पाटमुंडीके नामसे विख्यात है। इस समय यही सुप्राचीन देवमूर्त्ति कपोतोपादामें स्थानान्तरित होने पर भी इस पहाड़के ऊपर एक सर्पफणाकार प्रस्तर मूर्त्ति है, वह विंचक वा तक्षक नागके नामसे विख्यात है। भूमिसे इस पहाड़की चोटी प्रायः ५०० फीट ऊंची होगी। इस चोटीका दक्षिण पश्चिमांश देखनेसे मालूम पड़ता है, मानो पत्थर काट कर दीवार बनाई गई हो। इसकी दूसरी ओर भी पत्थरके घरका चिह्न दृष्टिगोचर होता है। यहां एक समय साधुसन्यासियोंकी वासोपयोगी गुफा थी। इस समय वह बिल्कुल ही टूट फूट गई है।

पोड़ाडिहासे एक कोस दक्षिण 'ज' हरफकी आकृति जैसी एक पहाड़की चोटी दिखाई देती है। दूरसे देखनेसे मालूम पड़ता है, मानो यह सुन्दर चोटी दूसरी जगहसे ला कर इस पहाड़से जोड़ दी गई हो। शिक्षित हिन्दू लोग इस प्रस्तरपिंडको शमीवृक्ष कह कर परिचय देते हैं। बूढ़े संथालके द्वारा मालूम हुआ है, कि इस स्थानका नाम 'शामूरख' है। बृटिश गवर्नमेण्टकी पैमाइशी श्यामरक नामसे चिह्नित हुआ है। यह पहाड़ पांच सौ फीट ऊंचा है। इस पहाड़के पश्चिममें गुफाएं हैं जो दूरसे छोटी छोटी कोठरी-सी जान पड़ती है। इस तरह किम्वदन्ती है, कि इस स्थानकी पांचों गुफाओंमें पांचों पाण्डवोंने अपना अपना तीर धनुष रख कर छद्मवेशमें विराटके राजभवनमें गमन किया था। इस पहाड़के पूर्वांशसे चैत्रमासकी त्रयोदशी तिथिमें अर्थात् वारुणीके दिन जल बाहर निकलता है। जनसाधारणका विश्वास है, कि सात दिनों तक यह जल बहता रहता है एवं शिवजटा-निःसृत गंगाजल कह कर इसे स्पर्श करनेके लिये दूर दूरके लोग यहां आते हैं। फिर भी पर्वतके ऊपर और कोई दूसरी नदी नाला नहीं है। मकरसंक्रान्तिमें भी यहां दो तीन हजार यात्री इकट्ठे होते हैं। इस समय पर्वके उत्तरांशमें शैलखण्डके ऊपर लोग नाच गान करते हैं। जिस स्थान पर नाच गान होता है, उसे लोग नाट्यमन्दिर कहते हैं। पहले यहां किसी नाट्यमन्दिरका होना भी सम्भव है। भुवनेश्वरमें भास्करेश्वरकी जैसी वृहत् लिङ्ग मूर्त्ति है, शमीवृक्ष दूरसे देखनेसे वैसे ही एक विराट लिङ्ग-मूर्त्ति मालूम पड़ती है। हम लोगोंका विश्वास है, कि इस शमीवृक्षका प्राचीन नाम श्यामार्क था। जिस प्रकार कोणार्क, लोलार्क, वरुणार्क प्रभृति प्राचीन स्थान सौर शाकोंके पुण्यक्षेत्र कहलाते थे, उसी प्रकार यह स्थान सौरोंके निकट श्यामार्क नामसे विख्यात था। भास्करेश्वरकी मूर्त्ति जैसी सौरोंकी कीर्त्ति है, इस श्यामार्कमें भी प्राचीनकालमें सम्भवतः सौरोंकी कोई कीर्त्ति थी। वारुणी और मकरसंक्रांतिमें यहां पहले जो उत्सव होता था, वह इस समय सामान्य यात्रामें परिणत हो गया है। पूर्वकालमें उक्त गुफाके अन्दर बहुतसे साधुसंन्यासियोंका रहना असम्भव नहीं है। परवर्त्तीकालमें यहां वैराट

राजाओंका प्रभाव फैलने पर श्यामार्क शमीवृक्षके नामसे हिन्दुओंके निकट विख्यात हुआ और उसीके साथ उक्त गुफामें पांचों पांडवोंके तीर धनुष रखनेकी कथा कल्पना की गई होगी। वास्तवमें हम लोग महाभारतसे जान सकते हैं, कि पांचों पांडवोंने वृक्ष कोटरमें तीर धनुष रखा था, पर्वतकी गुफामें नहीं। ऐसी अवस्थामें हम लोग इस शैलखण्डको महाभारतोक्त शमीवृक्ष कह कर कल्पना नहीं कर सकते। (महाभारतीय शमीवृक्ष विराट राज्यमें था और वह विराटदेश वर्त्तमान राजपुतानेमें है ; इस सम्बन्धमें पहले ही विस्तारपूर्वक आलोचना की गई है। उक्त शमीवृक्षके पास कुलीलुम ग्राम है, उसके निकट कुशभद्रा नदी प्रवाहित है। इस नदीमें सर्वदा जल रहता है, यह सोन नदीसे मिलती है।*

पोड़ाडीहासे १॥ कोस उत्तर-पूर्व पर्वतके पाददेशसे एक कोस उद्धर्व डूबीगढ़ शैल है। इस शैलके ऊपर इस समय कोई दुर्ग न रहने पर भी प्राचीनकालमें यहां जो एक दुरारोह तथा दुर्गम गिरि-दुर्ग था, इसका यथेष्ट प्रमाण मिलता है। इस दुरारोह दुर्गमें प्रवेश करनेका एक ही रास्ता था और उस पथसे एकसे अधिक लोग एक बार नहीं जा सकते थे, जरा-सा इधर उधर होनेसे ही पदस्खलित हो कर सहस्र फीट नीचे पतित हो जाते। डूबीगढ़ शैलके ऊपर एक स्वच्छसलिला सरोवर इस समय भी दृष्टिगोचर होता है। इस तरहकी एक कहावत है, कि यहांके वैराट नृपतिने विश्वासघातकके षड़यन्त्रसे राज्य खो कर और मानसम्भ्रमकी रक्षाका कोई उपाय न देख इस गढ़के मध्यस्थ सरोवरमें सपरिवार डूब कर प्राणपरित्याग किया था ; इसी कारण इस स्थानका नाम डूबीगढ़ पड़ा है। जङ्गली हाथी तथा बाघके उत्पाततसे डूबीगढ बहुत भयावह स्थान हो गया है। प्रति दिन सन्ध्याके समय जीव आ कर जल पीते हैं। उक्त सरोवरके पास कई एक पत्थरके बने गृहका ध्वंसावशेष दृष्टिगोचर होता है। यह स्थान पर्वतके ऊपर होने पर भी यहां आनेसे एक विस्तृत समतलक्षेत्र सा जान पड़ता है।

पोड़ाडिहासे २ कोस दूर भीषण बड़कमान जङ्गल आरम्भ हुआ है। इस जङ्गलके बीच बड़कमान ग्राम है। बड़कमानसे १॥ मील पश्चिम और इस जंगलमें सुवृहत् ईंटागढ़ दुर्गका ध्वंसावशेष है। इस गढ़का पूर्व आकार इस समय भी बहुत कुछ विद्यमान है। यह प्राचीन दुर्ग बड़ी बड़ी ईंटोंसे तैयार होनेके कारण ही शायद ईंटागढ़के नामसे विख्यात हुआ होगा। उक्त ईंटके प्राकारकी भित्ति प्रायः ५ हाथ चौड़ी होगी। ईंटका परिमाण पथुरियागढ़की ईंटके बराबर है। इसकी एक ओर बेगुनियापाटा और दूसरी ओर गडियाघसा नाला है तथा अन्य दूसरी दो बगलमें ऊंची शैलमाला है। यह विध्वस्त गढ़ दुर्भेद्य जंगलसे घिरा हुआ है। किसी कविका कहना है—

"रविकी रश्मि प्रवेश नहीं करती उस घोर विपिनमें।"

वास्तवमें इस गढ़के मध्य स्थान स्थान पर ऐसा निविड़ जंगल है, कि मध्याह्नकालमें भी सूर्यकी किरण उसमें प्रवेश नहीं कर सकती। इस ईंटागढ़से एक कोस उत्तर ऊंचे शैलके ऊपर वैराट-राजाओंकी प्राचीन राजधानी डूबीगढ़ है। सम्भवतः इस ईंटागढ़में ही प्राचीन राजाओंकी राजधानी थी, किसी विपद्के समय उन्होंने डूबीगढ़में जा कर आश्रय लिया था। सुना जाता है, कि इस ईंटागढ़में गोली गोले तैयार किये जाते थे। इस समय भी उसका चिह्नस्वरूप लौहमल गढ़के उत्तरांशमें डूबीगढ़की ओर अधिक परिमाणमें पड़ा देखा जाता है। इस ईंटागढ़को छोड़ कर कुछ दूरमें पर्वतके पाददेशमें एक अत्यन्त सुचिक्कन भग्न शिवलिङ्ग है और उससे थोड़ी दूर पर एक अत्यन्त सुन्दर कारुकार्यविशिष्ट पत्थरकी भग्न वृषभमूर्त्ति दृष्टिगोचर होती है। इस निविड़ पार्वत्यजंगलके मध्य उक्त शिवका जो मन्दिर था, उसकी ईंटें भी स्थान स्थान पर ढेरकी ढेरमें पड़ी दिखाई देती हैं। इस वृषभमूर्त्तिको छोड़ कर उत्तरकी ओर जंगलके बीच बहुतसा लौहमल नजर आता है। उनके मध्य एक बड़े गड़हेमें लोहेका एक सांचा पाया गया है। सम्भवतः उसी सांचेसे लौह गला कर अस्त्र शस्त्र तैयार किये जाते थे। जिस स्थान पर यह लोहेका सांचा पाया गया है, सम्भवतः उस स्थान पर पहले अस्त्रका कारखाना था।

---

* इस शैलके पाददेशके उत्तरी भागमें एक बाबाजीका मठ है, यहां भागवतादि शास्त्रग्रन्थोंकी आलोचना तथा पूजा होती है।

वह स्थान इस समय राईकलिया नामसे प्रसिद्ध है। इस निभृत जंगलके मध्य प्राचीनकालमें व्यवहृत मिट्टीकी हंडीका टूटा फूटा कनख आदि पाये गये हैं, उसका काम बुरा नहीं है।

पथुरियागढ़ और ईंटागढ़में इस समय भी दलके दल जंगली हाथी आते हैं, उनके पदचिह्न कई स्थानोंमें परिलक्षित होते हैं। बाघ भालूका अभाव नहीं है।

पहले ही लिखा जा चुका है, कि मयूरभञ्ज राज्यके अन्तर्गत कोईसारी तथा कोप्तोपादा वा कपोतोपादामें और नीलगिरि राज्यमें इस समय भी वैराटराजके वंशधर विद्यमान हैं। वे भुजंग क्षत्रिय कहलाते हैं। नीलगिरिके राजे और कपोदोपादाके प्राचीन राजवंशीय आज भी वंशपरम्परासे इन चार उपाधियोंका व्यवहार करते हैं, जैसे—१म विराट भुजंग मान्धाता, २य अभिनव भुजंग मान्धाता, ३य परीक्षित् भुजंग मान्धाता और ४र्थ जय भुजंग मान्धाता।

उक्त राजवंशकी प्राचीन वंश-तालिकामें जयभुजंगके स्थानमें 'जनमेजय भुजंग' नाम परिदृष्ट होता है। मालूम पड़ता है, उक्त उपाधियोंके साथ कोई प्राचीन वंश-महिमा और अज्ञातपूर्व इतिहास निबद्ध है। कनिंहम तथा उनके सहकारी करलाइलने राजपूतानेकी वैराट-कीर्त्तिको देख कर विराटके पूर्वपुरुष वेणराजको शाकद्वीपीय वा आदि शकवंशसम्भूत कह कर प्रकाश किया है*। किन्तु हम लोग वेणनृपतिको शकवंशसम्भूत कह कर स्वीकार न करने पर भी मयूरभंजकी वैराटकीर्त्ति और वैराट भुजंगवंशका आचार-व्यवहार देख कर उन्हें शाकद्वीपीय वा शकवंशसम्भूत ही अनुमान करते हैं। मालूम होता है, कि वैराट राजवंशके मध्य जो चार प्रकारकी वंशोपाधियां प्रचलित हैं, उनसे चार शाखाओंके भुजंग वा नागवंशीय क्षत्रियोंका आभास मिलता है। इन चार शाखाओंके मध्य वैराट भुजंग ही आदि शाखा है, उसके बाद अभिनव वा नवागत भुजंगवंश आ कर उनके साथ मिल गये। उसके पश्चात् राजा परीक्षित्के समय भारतमें और भी एक दलका आगमन हुआ। टॉड प्रभृति कई एक ऐतिहासिकोंने स्थिर किया है, कि जिस तक्षकके हाथसे परीक्षित्का नाश हुआ, वह शाक्य था। यह तक्षक नामक राजवंश एक समय भारतमें अत्यन्त प्रबल हो उठा था। परीक्षित्के पुत्र राजा जनमेजयके सर्पयज्ञसे मालूम होता है, कि उन्होंने तक्षकवंशको पराजित किया तथा उस समय जिन जिन भुजंग वा नागवंशीय राजाओंने जनमेजयका आश्रय ग्रहण कर रक्षा पाई, वे ही सम्भवतः 'जनमेजय' वा 'जय' भुजंगके नामसे विख्यात हुए। जनमेजय वा उनके परवर्त्ती किसी राजाके पराक्रमसे भुजंगवंश उनका आदि स्थान विराटराज्य परित्याग करके मध्यप्रदेशके अन्तर्गत मान्धाता नामक स्थानमें आ कर बस गये।

ओंकार मान्धाता देखो।

मान्धातामें नागवंशीय शाक राजाओंकी बहुत-सी प्राचीन कीर्त्तियोंके निदर्शन विद्यमान हैं। पहले विराटमें उत्पन्न तथा मान्धातामें अन्तिम वास होनेके कारण वे लोग वैराट भुजङ्ग मान्धाता इस उपाधि प्राचीनवंश स्मृतिस्वरूप व्यवहार करते आ रहे हैं। मान्धातासे भगाये जा कर वे लोग पूर्व और पश्चिम भारतमें फैल गये। उनकी एक शाखा उत्तर बङ्ग, एक शाखा मेदिनीपुर और एक शाखा कर्णाटक अञ्चलमें आ गई। यह शाकवंश भुजङ्ग वा नागपूजक होनेके कारण ही भुजङ्ग क्षत्रिय कह कर अपना परिचय देते हैं। मयूरभञ्जके पुड़ाडिहाके ऊपर मुण्डा शैल पर जिस प्रकार नागमूर्त्ति और नागपूजाका निदर्शन देखा गया है, राजपूतानेके वैराटकी भीमगुफाके समीप ठीक उसी तरह शैलके ऊपर नागपूजाका निदर्शन विद्यमान है।

---

* "With regard to Raja Vena I may perhaps be permitted here to mention that, for certain reasons which have recently developed themselves, there is some cause to suspect that the 'Raja Vena' whose name is preserved in so many of the traditions of North Western India, was an Indo-Scythian ; and in that case either he could not have been descended from Anu, or else the race of Anu himself must also have been Indo-scythic"

Cunningham's Archaeological Survey Reports, Vol. vi, p, 85. See, also p, 92,

मयूरभञ्जको उत्तर-पूर्व सीमा पर राइबनियां या प्राचीन विराटगढ़ वर्तमान है।

उक्त वैराटभुजङ्गवंशके यत्नसे ही समस्त पूर्व-भारतमें नागपूजाके समय मनसादेवीकी पूजा प्रचलित हुई। आज भी यह वंश नागपूजक कहलाता है और कोई-सारीगढ़के ध्वंसावशेषसे इनकी उपास्य-सर्पालङ्कृतशिरा देवीमूर्त्ति निकाली गई है। ईस्वीसन्‌के पहले ५वीं सदीमें दियोदोरसने लिखा है—"शाकगण (Sacae or Scythians) का आदि वासस्थान अरक्षसके उपर है। एला (Eilla = इला) नामकी पृथिवीजाता एक कुमारीसे यह जाति उत्पन्न हुई है। इस कुमारीका आकार कटिसे मूर्द्धा पर्य्यन्त नारी जैसा और कटिसे अधोभाग तक सर्प जैसा है। द्योपिता (Jupiter) के औरससे और इलाके गर्भसे शाक (Scythes) नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

दियोदोरसने जिस प्रकार इलादेवीका उल्लेख किया है, वैसे ही सारीगढ़में उसी प्रकार एक देवीमूर्त्ति देखी गई है। शायद वे ही शाकवंशीय भुजङ्गशाखाकी उपास्य आदि-माता हैं।

पश्चिम विराट।

दाक्षिणात्यके सातारा जिलेमें वाई नगर स्थानीय किंवदन्तिके अनुसार विराटनगरी नामसे प्रसिद्ध है। यहां पाण्डवोंने अज्ञातवास किया था, ऐसा लोगोंका विश्वास है। आज भी यहांकी गुहादिमें अनेक बौद्ध कीर्त्तियां विद्यमान हैं। यहां एक प्राचीन दुर्ग है जिसे विराटगढ़ कहते हैं।

धारवाड़ नगरसे ५० मील दूर हाङ्गल नामक एक नगर है। १२ वीं सदीकी शिलालिपिमें यह स्थान विराटकोट और विराटनगरी नामसे प्रसिद्ध है।

विराट्कामा (सं० स्त्री०) छन्दोभेद। (ऋक् प्राति० १७।१२)

विराट्क्षेत्र (सं० क्ली०) पवित्र तीर्थभेद।

विराट्पर्व—महाभारतका ४र्थ पर्व। पाण्डवगण अज्ञातवासके समय विराट् राजके यहां ठहरे थे। यही उपाख्यान इस पर्वमें वर्णित है।

विराट् पूर्वा (सं० स्त्री०) छन्दोभेद। (ऋक् प्राति० १६।६४)

विराट्रूप (सं० क्ली०) भगवान्‌की विराट्मूर्त्ति, भयानक रूप।

विराट्सुत्रामदेव्य (सं० क्ली०) सामभेद।

विराट्स्थाना (सं० स्त्री०) त्रिष्टुभ् आकारका छन्दोभेद। (ऋक् प्राति० १६।४३)

विराट् स्वराज (सं० पु०) एकाहभेद, एक दिनमें होनेवाला एक प्रकारका यज्ञ।

विराट्रूपा (सं० स्त्री०) त्रिष्टुभ् आकारका छन्दोभेद। (ऋक् प्राति० १६।४५)

विराड्भवन (सं० क्ली०) विराट्-राजका आलय या प्रासाद।

विराड्वर्ण (सं० त्रि०) विराट्। स्त्रियां टाप्।

विराटक (सं० पु०) १ राजपट्ट, एक प्रकारका निम्न कोटिका हीरा या नग जो विराट देशमें निकलता था। (क्ली०) २ चुम्बक।

विराटज (सं० पु०) विराटे जायते जन ड। विराटदेशीय हीरक। विराटक देखो। विराटदेशमें यह हीरा उत्पन्न होता है, इसीसे इसका विराटक नाम पड़ा है। पर्याय—राजपट्ट, राजावर्त्त।

विराणिन् (सं० पु०) हस्ती, हाथी। (शब्दमाला)

विराणी—विराणिन् देखो।

विरातक (सं० पु०) अर्जुन वृक्ष। इसका दूसरा रूप विरान्तक भी देखनेमें आता है।

विरात्र (सं० पु०) रात्रिशेष, रातका आखिरी समय।

विराध (सं० पु०) विराधयति लोकान् पीड़यतीति वि-राध-अच्। १ राक्षसभेद। अग्निपुराणमें लिखा है, कि इस राक्षसके पिताका नाम सुपर्यान्य और माताका नाम शतह्रदा था। लक्ष्मणने इसको मारा था। यह राक्षस पहले तुम्बुरु नामक गन्धर्व था, वैश्रवणके शापसे राक्षस हो गया था। वैश्रवण द्वारा अभिशप्त होनेके उपरान्त तुम्बुरुने वैश्रवणकी बड़ी स्तुति की। इस पर प्रसन्न हो वैश्रवणने कहा था, कि मेरा अभिशाप अन्यथा होनेवाला नहीं। भगवान् विष्णु दशरथके घर राम रूपमें अवतार लेंगे, उन्हींके द्वारा तुम्हारा यह शाप मोचन होगा। विराध जब लक्ष्मण द्वारा मारा गया, तब शापमुक्त हुआ। (अग्निपुराण)

रामायणमें लिखा है, कि जब रामलक्ष्मण सीता देवीके साथ दण्डकारण्यमें रहते थे, तब विराध नामक एक

राक्षस उनको आंखोंके सामने आया। यह राक्षस इन लोगोंको देख भीषण शब्द करने लगा और सीता देवीको उठा कर ले चला। कुछ दूर जा कर उसने कहा, कि तुम लोग कौन हो? देखता हूं, तुम्हारे कन्धेमें धनुष लटक रहा है। कमरमें तलवार चमक रही है, फिर भी तुम्हारे शिर पर जटा और शरीर पर वल्कल है। जब तुम लोग दण्डकारण्यमें आ गये हो, तब तुम्हारी अब रक्षा कहां? जीवनकी आशा कहां? दो तापसके एक स्त्रीके साथ वास करना किस तरह हो सकता है? तुम लोग नितांत पापी और अधर्मचारी हो तुम लोगोंका यह मुनिरूप और आचरण वाह्याडम्बर है। मैं विराध नामका राक्षस हूं। इस अरण्यमें मुनियोंका मांस भक्षण कर आनन्दसे विचरण करता रहता हूं। यह परमा सुन्दरी नारी मेरी भार्या बनेगी और तुम लोगोंका रक्त मैं पान करूंगा। विराधने और भी कहा, 'मैं जवनामक राक्षसका पुत्र हूं। मेरी माताका नाम शतह्रदा है। मैं तप द्वारा ब्रह्मासे अच्छेद्य अभेद्य अव्यय रहनेका वर पा चुका हूं। अतः वृथा युद्धकी चेष्टासे रहित हो। इस कामिनीको परित्याग कर शीघ्र शीघ्र यहांसे तुम लोग भाग जाओ।

रामचन्द्र विराधकी यह बात सुन कर क्रोधसे उन्मत्त हो कर उसके प्रति भीषण शरवृष्टि करने लगे। किन्तु वह भीषणाकार विराध कभी हंसता कभी जंभाई करता वहां खड़ा रहा। रामचन्द्रके वाण उसके शरीरसे बाहर निकल कर जमीन पर गिरने लगे। इस तरह घोरतर युद्ध होने लगा, किन्तु ब्रह्माके वरसे विराधको कुछ भी कष्ट न पहुंचा। वह बलपूर्वक लड़कोंकी तरह रामलक्ष्मण दोनोंको उठा कर अपने कन्धे पर रख कर वन जाने लगा और सीतादेवीको छोड़ दिया।

जब विराध इन दोनोंको हरण कर वनको ले चला तब सीतादेवी विलाप कर कहने लगी—हे विराध! तुम इन लोगोंको छोड़ दो। इनके बदलेमें मुझको ही हरण करो। मैं तुमको नमस्कार करती हूं।' सीताका यह विलाप सुन रामलक्ष्मणको बड़ा क्रोध हुआ और वे विराधको मारनेमें सचेष्ट हुए। उस समय रामने जोरोंसे उस राक्षसकी दक्षिणः भुजा और लक्ष्मणने वाम भुजा तोड़ डाली। उस समय राक्षस अवसन्न हो मूर्च्छित हो कर गिर पड़ा। रामलक्ष्मण उसको मार डालनेकी चेष्टा करने लगे, किन्तु वह किसी तरह न मरा।

तब रामने राक्षसको अवध्य समझ लक्ष्मणसे कहा—इस राक्षसने ऐसी तपस्या की है जिससे यह युद्धमें न मारा जायगा। अतएव हम लोग इसे जमीनमें गाड़ दें। मैं इसकी गरदन दबाता हूं, तुम गड्ढा तैयार करो। यह कह कर राम उसकी गरदन पैरसे दाबे खड़े हुए और लक्ष्मण गड्ढा खोदने लगे।

विराध उस समय रामचन्द्रसे कहने लगा—पहले मैं आपको अज्ञानवश पहचान न सका। अब मैं समझ गया, कि आप दशरथके पुत्र रामचन्द्र हैं। यह सौभाग्यवती कामिनी सीता और यह लक्ष्मण हैं। अभिशापवश मैंने यह भयङ्कर राक्षसदेह पाई है। पहले मैं गन्धर्व था। मेरा नाम तुम्बुरु है। कुबेरने मुझे शाप दिया था; किन्तु मैंने उनसे शापमोचनकी प्रार्थना की। इस पर उन्होंने कहा, कि दशरथपुत्र रामचन्द्रके युद्धमें मारने पर तुम पुनः गन्धर्वका शरीर पाओगे और इस धाममें आओगे। रम्भाके प्रति आसक्त रह कर बहुत दिनों तक उनकी सेवामें न पहुंचना मेरा अपराध था। अब आपकी कृपासे इस अभिशापसे मुक्त हो कर मैं स्वदेश गमन करूंगा। आप मुझको गड्ढेमें फेंक कर मार डालिये। शस्त्र द्वारा मेरी मृत्यु न होगी। आपका मङ्गल हो।

इसके बाद रामलक्ष्मणने बड़े आनन्दके साथ उसको उठा कर गड्ढेमें पटक दिया। गिरते ही भीषण ध्वनि कर विराधके प्राण निकल गये। मृत्युके बाद जमीनमें गाड़ा जाना राक्षसोंका धर्म है। मृत्युके बाद जो राक्षस जमीनमें गाड़े जाते हैं, वे सनातनलोक पाते हैं। (रामायण, अरण्यकाण्ड, १·५ स०)

२ अपकार, पीड़ा, व्यथा, पीड़न।

विराधन (सं० क्ली०) वि राध-ल्युट्। १ अपकार करना, हानि करना। २ पीड़ित करना, सताना।

विराधान (सं० क्ली०) पीड़ा।

विराम (सं० पु०) वि रम घञ्। १ शेष, निवृत्ति। पर्याय—अवसान, साति, मध्य। २ किसी क्रियाका व्यापारका कुछ देरके लिये बंद होना, रुकना या थमना। ३ चलनेकी थकावट दूर करनेके लिये रास्तेमें ठहरना।

सुस्ताना । ४ वाक्यके अन्तर्गत वह स्थान जहां बोलते समय ठहरना पड़ता हो । ४ छन्दके चरणमें वह स्थान जहां पढ़ते समय कुछ ठहरना पड़े, यति । ५ व्याकरणके मतसे परवर्णनका अभाव । पाणिनिके मतमें विराम कहने पर परवर्णका अभाव (अर्थात् पीछे कोई वर्ण नहीं है ऐसा) समझा जायेगा ।

विरामता (सं० स्त्री०) विरामस्य भाव, तल्-टाप् । विरामका भाव या धर्म, विरति ।

विरामब्रह्म (सं० पु०) सङ्गीतमें ब्रह्मतालके चार भेदोंमेंसे एक भेद ।

विराल (सं० पु०) बिड़ाल, बिल्ली ।

विराव (सं० पु०) वि-रु-घञ् । १ शब्द, कलरव, बोली । २ हल्ला गुल्ला, शोरगुल । (त्रि०) विगतः रावो यस्य । ३ रवहीन, शब्दरहित ।

विराविणी (सं० त्रि०) १ शब्द करनेवाली । २ रोनेवाली, चिल्लानेवाली । (स्त्री०) ३ झाड़ू ।

विराविन् (सं० त्रि०) विरावो विद्यतेऽस्येति इन् । १ शब्दकारी, बोलनेवाला । २ शब्दविशिष्ट, रोनेवाला, चिल्लानेवाला । (पु०) ३ धृतराष्ट्रके एक पुत्रका नाम । (भारत आदिप०)

विरावी (सं० त्रि०) विराविन् देखो ।

विराषह् (सं० पु०) यमलोक । (ऋक् १।३५।६)

विराषाह (सं० पु०) यमलोक ।

विरिक्त (सं० त्रि०) वि-रिच्-क्त । १ विरेचनविशिष्ट, जिसे विरेचन दिया गया हो । २ जिसका पेट छूटा हो, जिसे दस्त आता हो ।

विरिञ्च (सं० पु०) १ ब्रह्मा । (भागवत ८।५।३९) २ विष्णु । ३ शिव ।

विरिञ्चता (सं० स्त्री०) ब्रह्माका कार्य, ब्रह्मत्व ।

विरिञ्चन (सं० पु०) ब्रह्मा । (हेम)

विरिञ्चि (सं० पु०) १ ब्रह्मा । (अमर) २ विष्णु । (हरिवंश) ३ शिव । (शब्दर०) ४ एक प्राचीन कवि ।

विरिञ्चिचक्र (सं० क्ली०) ज्योतिषोक्त चक्रभेद । फलित ज्योतिषमें इसका निर्देश यों है—

विरिञ्चिचक्र

जन्म	सम्पत्	विपत्	क्षेम	प्रत्यरि	साधक	वध	मित्र	अतिमित्र
कृत्तिका	रोहिणी	मृगशिरा	आर्द्रा	पुनर्वसु	पुष्या	अश्लेषा	मघा	पूर्वफल्गुनी
उत्तरफः	हस्ता	चित्रा	स्वाति	विशाखा	अनुराधा	ज्येष्ठा	मूला	पूर्वाषाढ़ा
उत्तराषाढ़ा	श्रवणा	धनिष्ठा	शतभिषा	पूर्वभाद्र	उत्तरभाद्र	रेवती	अश्विनी	भरणी

उक्त चक्रमें निर्देश किया जाता है, कि कृत्तिका, उत्तरफल्गुनी और उत्तराषाढ़ाकी जन्मसंज्ञा रोहिणी, हस्ता और श्रवणाकी सम्पद् ; मृगशिरा, चित्रा और धनिष्ठाकी विपद् ; आर्द्रा, स्वाति, और शतभिषाकी क्षेम; पुनर्वसु, विशाखा और पूर्वभाद्रकी प्रत्यरि; पुष्या, अनुराधा और उत्तरभाद्रपदकी साधक; अश्लेषा, ज्येष्ठा, और रेवतीकी वध ; मघा, मूला और अश्विनीकी मित्र ; पूर्णफल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा और भरणीकी अतिमित्र संज्ञा होती है । इस जन्म संज्ञक नक्षत्रत्रयमें शनि, क्षेम संज्ञक नक्षत्रत्रयमें मङ्गल और राहु तथा मित्रातिमित्रषट्कमें रवि अवस्थित रहने पर जीवका वध और बन्धन हो सकता है । यदि जन्म संज्ञक तीन नक्षत्रोंमें वृहस्पति तथा क्षेम संज्ञक तीन नक्षत्रोंमें शुक्र और बुध तथा मित्र और अतिमित्र ये तीन और तीन छःमें चन्द्रमाके रहने पर जीवको सर्वत्र लाभ तथा जय और सुखभोग होता है । यदि विपद्, प्रत्यरि और वध इन तीन संज्ञाविशिष्ट नौ नक्षत्रोंमें

ग उत्पन्न होता है तथा ये नक्षत्र शनि, रवि, मङ्गल आदि क्रूर-ग्रह द्वारा विद्ध होते हैं। ऐसा होने पर प्राणी चिररोगी या मृत्युमुखमें पतित होगा। फिर अगर साधारणतः जन्म संज्ञक तीन नक्षत्रोंमें ये सब क्रूर ग्रह अवस्थित हों तो मृत्यु, शुभ-ग्रहोंके पड़नेसे जयलाभ होता तथा शुभ और क्रूर इन दोनों ग्रहोंके अवस्थानसे मिश्र अर्थात् शुभ और अशुभ दोनों फल होते हैं।

(नरपतिजयचर्य्या)

विरिञ्चिनाथ—कुछ काव्य रचयिताके नाम।

विरिञ्चिपादशुद्ध (सं० पु०) शङ्कराचार्यका एक शिष्य।

विरिञ्चिपुरम्—दक्षिण-भारतके अन्तर्गत एक नगर।

विरिञ्चेश्वर—शिवलिङ्गभेद।

विरिञ्च्य (सं० त्रि०) विरञ्चि-यत्। १ ब्रह्मसम्बन्धीय। (पु०) ब्रह्माका भोग। ३ ब्रह्मलोक।

विरिब्ध (सं० पु०) स्वर।

विरुक्मत् (सं० त्रि०) १ उज्ज्वल, दीप्तिविशिष्ट। २ विरोचनवत्। (ऋक् १०।२२।४ सायण)

विरुज् (सं० स्त्री०) विशिष्ट रोग। (भागवत ६।१९।२६)

विरुज (सं० त्रि०) १ रोगशून्य। २ रोगी।

विरुत (सं० त्रि०) १ कूजित, रव-युक्त, अव्यक्त शब्दयुक्त। (क्ली०) २ रव।

विरुद (सं० क्ली०) १ प्रशस्ति, यशकीर्त्तन। विरुद दो प्रकारका है—वाशिक और कल्पित। पूर्वाचार्य कह गये हैं, कि यहां भी संयुक्त नियम रहेगा। विरुदमें आठ या सोलह कलिका रहती हैं। किन्तु विरुदवर्णनाकालमें साधारणतः दशसे अधिक कलिका देनी नहीं होती। इसी प्रकार कलिकामें भी भेद है। कवियोंने गुणोत्कर्षादि वर्णनको विरुद कहा है, विरुदके अन्तमें धीर और वीरादि शब्द रहेंगे। २ यश या प्रशंसासूचक उपाधि जो राजा लोग प्राचीन कालमें धारण करते थे। जैसे—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य। इसमें चन्द्रगुप्त तो नाम है और विक्रमादित्य विरुद है। ३ यश, कीर्त्ति। ४ रघुदेवकृत ग्रन्थभेद।

विरुदपति—मन्द्राज प्रदेशके तिन्नेवल्ली जिलेके अन्तर्गत सातुर तालुकका एक नगर। यह अक्षा० ९° ३५´ उ० तथा देशा० ७८° १´ पू०के मध्य विस्तृत है। यहां दक्षिण भारतीय रेलवेका एक स्टेशन है। इस नगरमें तरह तरहके द्रव्योंका वाणिज्य चलता है।

विरुदावली (सं० स्त्री०) १ विरुदानामावली। २ किसीके गुण प्रताप पराक्रम आदिका सविस्तर कथन, यशकीर्त्तन, प्रशंसा।

विरुद्ध (सं० त्रि०) वि-रुध-क्त। १ विरोधविशिष्ट।

"विरुद्ध धर्मसमवाये भूयसां स्यात् सधर्मकत्वं॥"

(जैमिनिसूत्र)

विरुद्ध धर्मका समवाय होने पर बाहुल्यका सधर्मकत्व होता रहता है अर्थात् तिलराशिमें कुछ सरसों है, यहां तिल और सरसों विरुद्ध है और इनका समवाय भी हुआ है। किन्तु ऐसा होने पर भी बहु तिलोंके सधर्मकत्वसे यह तिलके नामसे ही अभिहित होता है। सरसों रहने पर भी उसका कुछ उल्लेख नहीं हुआ। इस तरह विरुद्ध धर्मके समवायसे बाहुल्यका ही प्राधान्य होता है, अल्पका नहीं।

२ दशम मनु ब्रह्मसावर्णिके समयका देवताभेद। (क्ली०) ३ चरकके मतसे विचाराङ्गदोषविशेष। जो दृष्टान्त और सिद्धान्त द्वारा विरुद्ध-सा मालूम हो, उसका नाम विरुद्ध है।

४ विरोधयुक्त हेत्वाभासभेद। अनैकान्त, विरुद्ध, असिद्ध, प्रतिपक्षित और कालात्ययोपदिष्ट ये पांच प्रकारके हेत्वाभास हैं। जो हेत्वाभास साध्यविशिष्टमें अवस्थित नहीं, उसको विरुद्ध कहते हैं।

५ देश, काल, प्रकृति और संयोग विपरीत है। जो द्रव्य, जिस देशके जिस समयके और जिस प्रकृतिकी विपरीत क्रिया करता है, अथवा जो दो वस्तुएं आपसमें मिल कर कोई एक विपरीत क्रिया करती हैं, आयुर्वेदविद् द्वारा वह विरुद्ध नामसे अभिहित है। क्रमसे उदाहरण द्वारा विवृत किया जाता है—

देश विरुद्ध—जाङ्गल, अनूप और साधारण भेदसे देश तीन प्रकारका है। जाङ्गल (अल्प जलविशिष्ट वनपर्वतादि पूर्ण) प्रदेश वातप्रधान, अनूप (प्रचुर वृक्षादिसे परिपूर्ण, बहूदक और वातातप दुर्लभ) प्रदेश कफप्रधान और साधारण अर्थात् ये दोनों मिश्रित प्रदेश वातादिके समताकारक हैं।

यदि इस जाङ्गलदेशमें वायुनाशक स्निग्ध (घृत तैलादि स्नेहाक्त वा रसाल) द्रव्यके और दिनकी निद्रादि क्रियाका व्यवहार किया जाये, तो तद्देशविरुद्ध होगा। इस तरह अनूपप्रदेशोंमें यदि कटु, (कड़वा, रुक्ष, स्नेहहीन) और लघुद्रव्य तथा व्यायाम, लंघन आदि क्रियाएं देश विरुद्ध हैं और साधारण देशमें उनका संमिश्रण-क्रिया व्यवहृत होनेसे उसको भी यथायथ भावसे तद्देशविरुद्ध कहा जाता है। उसके द्वारा साधारणतः अच्छी तरह समझा जा सकता है, कि उष्णप्रधान देशमें शैत्य क्रिया और शीतल द्रव्यादि तथा शीतप्रधान देशमें उष्ण द्रव्य और तत्क्रियादि तद्देशविरुद्ध हैं। अतएव इससे साधारणतः स्पष्ट मालूम हो रहा है, कि सब द्रव्य या क्रियाओंके विपरीत है अर्थात् हन्ता या दोषनाशक है (जैसे अग्नि जलका, शीत उष्णका, निद्रा जागरणका विपरीत है) वे ही उनके विरुद्ध हैं। यह विरुद्ध द्रव्य और क्रिया द्वारा ही चिकित्सा-कार्य्यको बहुत सहायता मिलती है। क्योंकि जहां वातपित्तादिदोष और द्रव्यकी अधिकता प्रयुक्त रोगकी उत्पत्ति होती है, तत्तत् स्थलमें उनके विरुद्ध द्रव्य और क्रियाओं द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

काल विरुद्ध,—काल शब्दसे यहां संवत्सररूप और व्याधिकी क्रिया (चिकित्सा) कालादि समझने होंगे। आयुर्वेद विशारदने संवत्सरको आदान (उत्तरायण) और विसर्ग (दक्षिणायन) इन दो कालोंमें विभक्त किया है। उन्होंने माघ माससे आरम्भ कर प्रत्येक दो मास ऋतु मान कर यथाक्रम शिशिर (शीत), वसन्त और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओंमें अर्थात् माघसे आषाढ़ तक उत्तरायण या आदानकाल और इसी तरह श्रावणसे पौष तक वर्षा, शरत् और हेमन्त इन तीन ऋतुओंमें दक्षिणायन या विसर्गकाल निर्दिष्ट किया है। नैसर्गिक नियमानुसार आदानके समय शरीरके रसक्षय होनेसे जीव कुछ निस्तेज और विसर्गके समय इस रसके परिपूर्ण होनेसे उसकी अपेक्षा ज़रा-सा तेज और अवस्थाविशेषमें इसकी अत्यधिक वृद्धि होनेसे वे ज्वर और आमवात आदि रोगोंसे आक्रान्त होते हैं। इसलिये इन दो कालोंमें यथाक्रम उनके विरुद्ध अर्थात् आदानकालके विरुद्ध मधुराम्लरसात्मक तर्पण पानकादि द्रव्य और दिवानिद्रादि क्रिया तथा विसर्गकालके विरुद्ध कटु, तिक्त और कषाय रसात्मक द्रव्य तथा व्यायाम, लंघनादि क्रियायें व्यवहृत होती हैं। मूल बात यह है, कि शीतकालमें तात्कालिक उष्ण और उष्णवीर्य्य द्रव्य तथा उष्णक्रिया (अग्नितापादि) तथा गर्मीके समयमें जो शीतलद्रव्य व्यवहार और शैत्य-क्रियायें की जाती हैं, वे कालविरुद्ध हैं।

प्रकृति विरुद्ध,—वात, पित्त और कफभेदसे लोगोंकी प्रकृति तीन तरहकी होती है अर्थात् वातप्रधान = वात-प्रकृति, पित्तप्रधान = पित्तप्रकृति, श्लेष्मप्रधान = श्लेष्म-प्रकृति। वात, पित्त और कफ ये परस्परविरुद्ध पदार्थ हैं, क्योंकि इनमें दिखाई देता है, कि जो सब द्रव्य या क्रियायें (तुल्य-गुण-हेतुक) एकका (वायु वा पित्तका) वर्द्धक हैं, वे (विपरीत गुणहेतुक) दूसरेका (श्लेष्माका) ह्रासक होती हैं*। जैसे वातवर्द्धक, कटु, तिक्त और कषायरसात्मक द्रव्य और लंघनादि क्रियायें कफकी विरुद्ध हैं। कफवर्द्धक मधुराम्ललवणरसात्मक द्रव्य और दिवानिद्रादि क्रियायें वायुकी विरुद्ध हैं तथा पित्तवर्द्धक अम्ल, लवणरसात्मक द्रव्य वायुके और कटुरसात्मक द्रव्य तथा लंघनादि क्रियायें कफकी विरुद्ध हैं। श्लेष्मवर्द्धक मधुर और वातवर्द्धक तिक्तरसात्मक द्रव्य पित्तके विरुद्ध हैं। अतएव तत्तत्प्रकृतिक लोगोंके सम्बन्धमें भी जो वे द्रव्य और क्रियायें परस्परविरुद्ध हैं, यह फिरसे प्रमाणित करना अनावश्यक है। क्योंकि वातप्रकृतिक या वातप्रधान लोगोंकी वायुके विरुद्ध मधुराम्लरसात्मक द्रव्य और दिवानिद्रादि क्रियाकी व्यवस्था करनेसे ही उनकी प्रकृतिको ह्रासता या समता होती है। सुतरां पित्त और श्लेष्मप्रकृतिके लिये भी इसी तरह समझना चाहिये।

संयोगविरुद्ध—उड़द, मधु, दुग्ध वा धान्यादिके अंकुरके साथ अनूपमांस भोजन करनेसे संयोगविरुद्ध

---

* "वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीते विपर्ययः।"

'सर्वेषां दोषधातुमलानां समानैस्तुल्यगुणद्रव्यादिभिर्वृद्धिः विपरीतैर्द्रव्यादिभिर्विपर्य्ययो वृद्धिवैपरीत्यं भवति।'

(वाग्भट सूत्रस्थां० ११ अ०)

भोजन करना होता है। मृणाल, मूलक और गुड़के साथ यह मांस संयोगविरुद्ध हो जाता है। दुग्धके साथ मछलीका भोजन और भी विरुद्ध है। सब तरहके अम्ल और अम्लफलोंका दुग्धके साथ संयोग करनेसे यह संयोग-विरुद्ध कहा जाता है उड़द, वल्ल (एक तरहकाधान), मकुष्टक (वन मूंग), वरफ (चीना), काउन, ये सब चीजें भी दुग्धके साथ व्यवहार-विरुद्ध हैं। मूली आदि शाक भक्षणके बाद दूधका व्यवहार संयोग विरुद्ध है। सजारु और सूअरके मांसका एक साथ व्यवहार संयोग-विरुद्ध है। पृषत नामक हरिण और मुर्गाका मांस दहीके साथ व्यवहार संयोग विरुद्ध है। पित्तके साथ कच्चा मांस अर्थात् पित्त गल कर कच्चे मांसके भीतर प्रवेश करने पर ये मांस संयोग-विरुद्ध हो जाते हैं, इससे ये अव्यवहार्य्य हैं। उड़द और मूली दोनों मिला कर भोजन करना निषिद्ध है। भेंड़का मांस कुसुम-शाकके साथ, नया धान मृणालके साथ, बड़हर, उड़दका जूस, गुड़, दुग्ध, दधि और घृत ये सब चीजें एकत्र संयोग कर भक्षण न करना चाहिये। मट्ठा, दही या तालक्षीरके साथ केला भक्षण करनेसे संयोग-विरुद्ध होता है। पीपल, गोलमिर्च, मधु और गुड़के साथ मकोय शाक संयोग-विरुद्ध है। मछलीके पात्रमें पाक या सोंठके-पात्रमें सिद्ध या अन्य किसी पाकपात्रमें सिद्ध मकोय शाक संयोग-विरुद्ध है। जिस कड़ाहीमें मछली तली गई है, उसमें पीपल और सोंठ सिद्ध करनेसे संयोग-विरुद्ध होता है। इसमें और भी व्यक्त हुआ, कि मछलीकी तरकारीमें सोंठ या पीपल नहीं मिलाना चाहिये। कांसेके पात्रमें दश रात तक यदि घी रखा जाये, तो वह भी व्यवहार-विरुद्ध हो जाता है। भास पक्षीका मांस एक लोहेके डण्डेमें छेद कर यदि पकाया जाय, तो वह विरुद्ध होता है। कमलागुड़ी तक्रमें साधित होने पर विरुद्ध होता है। पायस, मद और कृशर इकट्ठा होनेसे विरुद्ध होता है। घृत, मधु, वसा, तेल और जल—इनमें कोई भी दो हो या तीन समान रूपसे एकमें मिलानेसे विरुद्ध होता है। मधु और घृत असमान अंशमें एकत्र करने पर भी वहां आकाशजल अनुपानविरुद्ध है। मधु और पुष्करवीज परस्पर विरुद्ध है। मधु, खजूरका रस और चीनीसे प्रस्तुत मद्य परस्पर विरुद्ध हैं। पायस भोजन कर मद्य आदि भक्षण करना संयोग-विरुद्ध होता है। हरा शाक सरसोंके तेलमें सिद्ध करनेसे संयोग-विरुद्ध होता है। पोइके शाकमें यदि तिल पीस कर पड़ा हुआ हो, और वह खाया जाय, तो विरुद्ध संयोग होता है। इससे अतिसार रोग हो जाता है। वारुणी मद्य या कुल्माष (अर्द्धसिद्ध मूंग आदि)-के साथ बगलेका मांस संयोग-विरुद्ध होता है। शूकरकी चर्बीमें बगलेका मांस भुन कर खानेसे तुरन्त ही मृत्यु होती है। इस तरह तित्तिर, मयूर, गोसाप, लावा और चातकका मांस रेड़ीके तेलमें तल कर खानेसे तुरन्त ही मृत्यु होती है। कदमकी लकड़ीमें गांथ कर कदमकी अग्निमें हरियाल का मांस पका कर खानेसे तुरन्त ही मृत्यु होती है। भस्मपांशु मिश्रित मधुयुक्त हरियालका मांस सद्यःप्राणनाशक है। संक्षेपमें कहने पर यह कहना होगा, जो सब खाद्य शरीरके वातादि दोषको क्लेदयुक्त कर इधर उधर सञ्चालित करते हैं और उनको निकले नहीं देते, वे संयोग-विरुद्ध हैं।

विरुद्ध भोजनजनित दोषमें वस्त्यादि (पिचकारी) अथवा इसके विरुद्ध औषध या प्रक्रियादि द्वारा प्रतिकारक चेष्टा करना उचित है। किसी स्थलमें संयोग-विरुद्ध द्रव्यके भोजनका सम्भव रहनेसे यहाँ पहलेसे ही विरुद्ध खाद्यके विपरीत गुणविशिष्ट द्रव्योंके द्वारा शरीरका इस तरह संस्कार कर खाना होगा, जिससे विरुद्ध खाद्य-वस्तु खानेसे भी सहसा अनिष्ट न हो सके। (जैसे हरीतकी पित्तश्लेष्मनाशक) पित्तश्लेष्मक मछली आदि भक्षणका सम्भव होने पर उससे पहले इस हरीतकी (हर्रे)का अभ्यास करनेसे उक्त मछली खानेसे होनेवाले अनिष्टका भय नहीं रहता। व्यायामशील, स्निग्ध (तैलघृतादिका यथायथ मर्दन और भक्षणकारी), दीप्ताग्नि, तरुणवयस्क, बलवान् व्यक्तियोंके लिये पूर्वोक्त विरुद्धान्नादिसे सहसा अपकार नहीं होता। फिर नित्य विरोधिभोजन अथवा अल्प भोजन करनेवालोंको विशेष अपकार नहीं होता। (वाग्भट सू० स्था० ८ अ०)

विरुद्धकर्मा (सं० पु०) १ विरुद्धकर्म करनेवाला, विपरीत आचरणका मनुष्य। २ केशवके अनुसार श्लेष अलङ्कार-

का एक भेद। इसमें एक ही क्रियाके कई परस्पर-विरुद्ध फल दिखाए जाते हैं।

विरुद्धता (सं० स्त्री०) विरुद्धस्य भाव, तल-टाप्। १ विरुद्धका भाव या धर्म। २ प्रतिकूलता, विपरीतता, उलटापन।

विरुद्धमतिकारिता (सं० स्त्री०) काव्यगत दोषभेद। यह ऐसे पद या वाक्यके प्रयोगसे होता है जिससे वाच्यके सम्बन्धमें विरुद्ध या अनुचित बुद्धि हो सकती है। जैसे 'भवानीश' शब्दके प्रयोगसे। 'भवानी' शब्दका अर्थ ही है 'शिवा'की पत्नी। उसमें ईश लगानेसे सहसा यह ध्यान हो सकता है कि "शिवकी पत्नी" का कोई और भी पति है।

विरुद्धमतिकृत् (सं० त्रि०) काव्यगत दोषभेद, विरुद्ध मतिकारितादोष। (काव्यप्र०)

विरुद्धरूपक (सं० पु०) केशवके अनुसार रूपक अलङ्कारका एक भेद। इसमें कही हुई बात बिलकुल 'अनमिल' अर्थात् असंगत या असंबद्ध-सी जान पड़ती है, पर विचार करने पर अर्थात् रूपकके दोनों पक्षोंका ध्यान करने पर अर्थ सङ्गत ठहरता है। इसमें उपमेयका कथन नहीं होता, इससे यह "रूपकातिशयोक्ति" ही है।

विरुद्ध हेत्वाभास (सं० पु०) न्यायमें वह हेत्वाभास जहां साध्यके साधक होनेके स्थान पर साध्यके अभावका साधक हेतु हो। जैसे—यह द्रव्य वह्निमान् है, क्योंकि वह महाह्रद है। यहां महाह्रद होना वह्निके होनेका हेतु नहीं है, वरन् वह्निके अभावका हेतु है।
(श्रीकृष्णजन्मखण्ड)

विरुद्धार्थदीपक (सं० क्ली०) अलङ्कारभेद। इसमें एक ही बातसे दो परस्पर विरुद्ध क्रियाओंका एक साथ होना दिखाया जाता है। जैसे,—जलकण मिली वायु ग्रीष्मतापको घटाती और विरह-तापको बढ़ाती है। यहां पर स्पष्ट मालूम होता है कि 'वृद्धि और ह्रास करना' इन दोनों विरुद्ध क्रियाओंका समावेश एक ही आधारसे अथवा प्रभावसे होता है। अतएव यहां पर ह्रास और वृद्धि इन परस्परविरुद्ध दोनों क्रियाओंके एक ही कर्त्ता वा कर्ममें निहित रहने तथा उससे विशेष विचित्रताकी उपलब्धि होनेके कारण 'विरुद्धार्थदीपकालङ्कार' हुआ।

विरुद्धाशन (सं० क्ली०) विरुद्धं अशनं। विरुद्ध भोजन मछली दूध आदिका खाना। मछलीके साथ दूध खाने से विरुद्ध भोजन होता है। ऐसा भोजन बहुत हानिकारक माना गया है। विशेष विवरण विरुद्ध शब्दमें देखो।

विरुधिर (सं० त्रि०) १ रक्त विशिष्ट, जिसमें खून हो। २ रक्तहीन, जिसमें खून न हो।

विरूक्ष (सं० त्रि०) १ अति रूक्ष, बहुत रूखा। २ रुक्षताहीन, जो रूखा न हो।

विरूक्षण (सं० त्रि०) १ स्नेहवर्ज्जितकरण, रूक्षताप्रापण। २ रस क्षरण।

विरूढ़ (सं० त्रि०) विशेषेण रोहति वि-रुह-क्त। १ जात, उत्पन्न, पैदा। २ अंकुरित, बीजसे फूटा हुआ। "विरूढ़जान्नं अंकुरितधान्यकृतमन्नं" (माधवनि०) ३ बद्धमूल। ४ खून जमा हुआ, खून बैठा हुआ। ४ आरोहणविशिष्ट।

विरूढ़क (सं० क्ली०) १ अंकुरित धान्य। (पु०) २ कुम्भाण्डराजके पुत्रभेद। (ललितविस्तर) ३ लोकपालभेद। ४ शाक्यकुलोत्पन्न एक राजा। ५ राजा प्रसेनजित्के पुत्रभेद। ६ इक्ष्वाकुके पुत्रभेद।

विरूथिनी (सं० स्त्री०) वैशाख कृष्ण एकादशी।

विरूप (सं० त्रि०) विकृतं रूपं यस्य। १ कुत्सित; कुरूप, बदसूरत। २ परिवर्त्तित, बदला हुआ। ३ कई रंगरूपका, तरह तरहका। ४ शोभाहीन, शोभारहित। ५ सम्पूर्णभिन्न, दूसरी तरहका। ६ जो अनुरूप न हो, विरूद्ध। विरूप अर्थात् विरूद्ध इन दोनों पक्षोंमें जहां संघटना होती है, वहाँ विषमालङ्कार होगा। (क्ली०) ७ पिप्पलीमूल, पिपरामूल। (पु०) ७ सुमनोराजपुत्र।
(कालिकापु० ९० अ०)

विरूपक (सं० त्रि०) विरूप-स्वार्थे कन्। विरूप देखो।

विरूपकरण (सं० क्ली०) विरूपस्य करणं। विरूपका करण, बदसूरत बनाना।

विरूपण (सं० क्ली०) विकृति करण, कुरूप बनाना।

विरूपता (सं० स्त्री०) विरूपस्य भावः तल-टाप। १ विरूपका भाव या धर्म। २ कुरूपता, बदसूरती। ३ भद्दापन, बेढंगापन।

विरूपपरिणाम (सं० पु०) एकरूपतासे अनेकरूपता अर्थात् निर्व्विशेषतासे विशेषताकी ओर परिवर्त्तन। सांख्यमें परि-

णामके दो भेद कहे गये हैं,—स्वरूपपरिणाम और विरूप-परिणाम। विरूप-परिणाम द्वारा प्रकृतिसे तरह तरहके पदार्थोंका विकाश होता है और स्वरूप-परिणाम द्वारा फिर नाना पदार्थ क्रमशः अपने रूप नष्ट करते हुए प्रकृतिमें लीन होते हैं। एक परिणाम सृष्टिकी ओर अग्रसर होता है और दूसरा लयकी ओर।

विरूपशक्ति (सं० पु०) १ विद्याधरभेद। (कथासरित्सा० ४६।६८) २ प्रतिद्वन्द्वी शक्ति (Counteracting forces)। जैसे,—ताड़ितकी Negative शक्ति और Positive शक्ति। वे एक दूसरेके विरोधी हैं।

विरूपशर्मन् (सं० पु०) ब्राह्मणभेद।

(कथासरित्सा० ४०।२६)

विरूपा (सं० स्त्री०) विरूप-टाप्। १ दुरालभा, जवासा, धमासा। २ अतिविषा। ३ यमकी एक पत्नीका नाम। (त्रि०) ४ कुरूप, बदसूरत।

विरूपाक्ष (सं० पु०) विरूपे अक्षिणी यस्य सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् इति षच् समासान्तः। १ शिव। २ रुद्रभेद। (जटाधर) इनकी पुरी सुमेरुपर्वतके नैऋ‌र्त कोणमें अवस्थित है।

"तथा चतुर्थे दिग्भागे नैऋ‌र्ताधिपतेः श्रुता।
नाम्ना कृष्णावती नाम विरूपाक्षस्य धीमतः॥"

(वराहपु० रुद्रगीता)

३ रावणका एक सेनानायक जिसे हनुमानने प्रमोदवन उजड़ानेके समय मारा था। ४ एक राक्षसका नाम जिसे सुग्रीवने रामरावणयुद्धमें मारा था। ५ रावणका एक मन्त्री। ६ एक दिग्गजका नाम। ७ एक नागका नाम। (त्रि०) ८ विरूप, बदसूरत।

विरूपाक्ष—१ एक योगाचार्य। इन्होंने ऊद्र्ध्वाम्नायसे महाषोढ़ान्यास नामक एक ग्रन्थ लिखा है। हठदीपिकामें इनका नामोल्लेख है। २ विजयनगरके एक राजाका नाम।

विरूपाक्षदेव—दाक्षिणात्यके एक हिन्दू-राजा।

विरूपाक्ष शर्मन्—तत्त्वदीपिका नाम्नी चण्डीश्लोकार्थप्रकाश नामक ग्रन्थके रचयिता। १५३१ ई०में ग्रन्थकारने ग्रन्थ-रचना समाप्त की। आप कविकण्ठाभरण आचार्य नामसे भी परिचित थे।

विरूपाश्व (सं० पु०) राजभेद। (भारत १३ पर्व)

विरूपिका (सं० स्त्री०) विकृतं रूपं यस्याः कन् टाप् अत इत्वं। कुरूपा स्त्री, बदसूरत औरत।

विरूपिन् (सं० त्रि०) विरुद्धं रूपमस्यास्तीति विरूप-इनि। १ कुरूपविशिष्ट, बदसूरत। (पु०) २ जाहक जन्तु, गिरगिट।

विरेक (सं० पु०) वि रिच्-घञ्। विरेचन, दस्तावर, दवा, जुलाब।

विरेचक (सं० त्रि०) मलभेदक, दस्त लानेवाला।

विरेचन (सं० क्ली०) वि-रिच ल्युट्। विरेक, जुलाब। वैद्यकमें विरेचनके विषय पर अच्छी तरह विचार किया गया है; यहां पर बहुत संक्षेपमें लिखा जाता है। कुपित मल सभी रोगोंका निदान है। मल कुपित हो कर नाना प्रकारका रोग उत्पन्न करता है। अतएव जिससे मल न रुके, इस ओर ध्यान रखना एकान्त कर्त्तव्य है। मलके रुकनेसे विरेचन औषध द्वारा उसका निःसारण करना चाहिए।

भावप्रकाशमें विरेचनविधिके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है—

स्नेहन और स्वेदक्रियाके बाद वमनविधि द्वारा वमन करा कर पीछे विरेचनका प्रयोग करना कर्त्तव्य है। यदि पहले वमन न करा कर विरेचनका प्रयोग किया जाये, तो कफ अधःपतित हो कर ग्रहणी नाड़ीको आच्छादन कर शरीरकी गुरुता वा प्रवाहिका रोग उत्पादन करता है, इसलिये सबसे पहले वमन कराना उचित है। अथवा पाचक औषधका प्रयोग कर आमकफका परिपाक करके भी विरेचन दिया जा सकता है।

शरत् और वसन्तकालमें देहशोधनके लिये विरेचनका प्रयोग हितकर है। प्राणनाशकी आशङ्का पर अन्य समय भी विरेचनका प्रयोग किया जा सकता है। पित्तके कुपित होनेसे तथा आमजनित रोगमें उदर और आध्मान रोगमें कोष्ठशुद्धिके लिये विरेचन प्रयोग विशेष हितकर है। लङ्घन तथा पाचन द्वारा दोषके प्रशमित होनेसे वह पुनः प्रकुपित हो सकता है, किन्तु शोधन द्वारा दोष सदाके लिये दूर हो जाता है।

बालक, वृद्ध, अतिशय स्निग्ध, क्षत वा क्षीणरोगग्रस्त,

भयार्त्त, श्रान्त, पिपासार्त्त, स्थूलकाय, गर्भवती नारी, नवप्रसूतानारी, मन्दाग्नियुक्त, मदात्ययाक्रान्त, शल्यपीड़ित और रुक्ष इन सब व्यक्तियोंको विरेचन देना उचित नहीं है। इन सब व्यक्तियोंको विरेचन देनेसे दूसरे दूसरे उपद्रव होते हैं।

जीर्णज्वर; गरदोष, वातरोग, भगन्दर, अर्श, पाण्डु, उदर, ग्रन्थि, हृद्रोग, अरुचि, योनिव्यापद्, प्रमेह, गुल्म, प्लीहा, विद्रधि, वमि, विस्फोट, विसूचिका, कुष्ठ, कर्णरोग, नासारोग, शिरोरोग, मुखरोग, गुह्यरोग, मेढ्ररोग, प्लीहा जन्यशोथ, नेत्ररोग, कृमिरोग, अग्नि और क्षारजन्यपीड़ा, शूल और मूत्राघात इन सब रोगियोंके लिये विरेचन बहुत फायदामंद है।

पित्ताधिक्य व्यक्ति मृदुकोष्ठ, बहुकफयुक्त व्यक्ति मध्यकोष्ठ और वाताधिक्य, व्यक्ति क्रूरकोष्ठ कहलाता है। क्रूरकोष्ठसम्पन्न व्यक्ति दुर्विरेच्य है अर्थात् थोड़े यत्नसे उनका विरेचन नहीं होता। मृदुकोष्ठ व्यक्तिको मृदुविरेचक द्रव्य अल्प मात्रामें, मध्यकोष्ठ व्यक्तिको मध्यविरेचक औषध मध्यमात्रामें तथा क्रूरकोष्ठ व्यक्तिको तीक्ष्ण विरेचक द्रव्य अधिक मात्रामें प्रयोग करना होता है।

विरेचक औषध ये सब हैं—दाखके काढ़े और रेंड़ीके तेलसे मृदुकोष्ठ व्यक्तिका विरेचन होता है। निसोथ, कुटज और अमलतास द्वारा मध्यकोष्ठ व्यक्तिका तथा थूहरके दूध, स्वर्णक्षीरी और जयपालसे क्रूरकोष्ठ व्यक्तिका विरेचन होता है।

जिस मात्रामें विरेचनका सेवन करनेसे ३० बार दस्त उतरे, उसे पूर्णमात्रा कहते हैं। इसमें आखिर वेगके साथ कफ निकलता है। मध्यमात्रामें २० बार तथा हीनमात्रामें १० बार मलभेद हुआ करता है।

विरेचक औषधका क्वाथ पूर्णमात्रामें दो पल, मध्यमात्रामें एक पल और हीनमात्रामें आध पल प्रयोज्य है। विरेचक कल्क, मोदक और चूर्ण मधु तथा घीके साथ चाँट कर सेवन करना उचित है। इन तीनों प्रकारकी औषधको पूर्णमात्रा एक पल, मध्यमात्रा आध पल तथा हीनमात्रा २ तोला है। यह मात्रा जो कही गई है, वह रोगीके बलाबल, स्वास्थ्य, अवस्था आदिका अच्छी तरह विचार कर देनी होती है। उक्त मात्रामें प्रयोग करनेसे यदि अनिष्टकी सम्भावना देखें, तो मात्राको स्थिर करके उसका प्रयोग करना होगा। पित्तप्रकोपमें दाखके काढ़ेके साथ निसोथका चूर्ण, कफप्रकोपमें त्रिफलाके क्वाथ और गोमूत्रके साथ त्रिकटुचूर्ण तथा वायुप्रकोपमें अम्लरस अथवा जंगली जानवरके मांसके जूसके साथ निसोथ, सैन्धव और सोंठके चूर्णका प्रयोग करे। रेंड़ीके तेलसे दूने त्रिफलाके काढ़े वा दूधके साथ पान करनेसे शीघ्र ही विरेचन होता है।

वर्षाकालमें विरेचनके लिये निसोथ, इन्द्र जौ, पीपल और सोंठ, इन सब द्रव्योंको दाखके काढ़ेमें मिला कर पान करे। शरत्कालमें निसोथ, जवासा, मोथा, चीनी, अतिवला, रक्तचन्दन और मुलेठी इन्हें दाखके काढ़ेमें मिला कर सेवन करनेसे उत्तम विरेचन होता है। हेमन्तकालमें निसोथ, चितामूल, अकवन आदि, जीरा, सरल काष्ठ, वच और स्वर्णक्षीरी, इन सब द्रव्योंको चूर्ण कर उष्ण जलके साथ सेवन करनेसे विरेचन होता है। शिशिर और वसन्तकालमें पीपल, सोंठ, सेन्धव और श्यामालता इन्हें चूर्ण कर निसोथके चूर्णमें मिलावे और मधु द्वारा लेहन करे, तो विरेचन होता है। ग्रीष्म ऋतुमें निसोथ और चीनी समान परिमाणमें मिला कर सेवन करनेसे उत्तम विरेचन होता है।

हरीतकी, मिर्च, सोंठ, विड़ङ्ग, आंवला, पीपल, पीपलमूल, दारचीनी, तेजपत्र और मोथा इन सब द्रव्योंका समान भाग ले कर उसमें तीन भाग दन्तीमूल, आठ भाग निसोथका चूर्ण तथा छः भाग चीनी मिलावे, पीछे मधु द्वारा मोदक बनावे। यह मोदक २ तोला प्रति दिन सबेरे सेवन कर शीतल जलका अनुपान करे। इस मोदकके सेवनसे यदि अधिक मलभेद हो, तो उष्ण क्रिया करनेसे वह उसी समय बंद हो जायेगा। इस मोदकके सेवनमें पान, आहार और विहारके लिये कोई यन्त्रणा भुगतनी नहीं पड़ती तथा विषम ज्वर आदिमें विशेष उपकार होता है। इसका नाम अभयादि मोदक है। इसका सेवन कर उसी दिन स्नेहमर्द्दन और क्रोध परित्याग करना उचित है।

विरेचक औषध पान करके दोनों नेत्रमें शीतल जल

देना होता है। पीछे कोई सुगन्धित द्रव्य सूंघना तथा वायुरहित स्थानमें रह कर पान खाना उचित है। इसमें वेगधारण, शयन और शीतल जल स्पर्श न करे तथा लगातार उष्ण जल पीवे।

वायु जिस प्रकार वमनके बाद पित्त, कफ और औषधके साथ मिलती है उसी प्रकार विरेचनके बाद भी मल, पित्त और औषधके साथ कफ मिल जाता है। जिनके अच्छी तरह विरेचन न हो, उनकी नाभिकी स्तब्धता, कोष्ठदेशमें वेदना, मल और वायुका अप्रवर्त्तन, शरीरमें कण्डु और मण्डलाकृति चिह्नोत्पत्ति, देहकी गुरुता, विदाह, अरुचि, आध्मान, भ्रम और वमि होती है। ऐसे अवस्थापन्न व्यक्तिको पुनः स्निग्ध अथच पाचक औषध सेवन द्वारा दोषका परिपाक करके फिरसे विरेचन करावे। ऐसा करनेसे उक्त सभी उपद्रव दूर होते, अग्निकी तेजी बढ़ती और शरीर लघु होता है।

अतिरिक्त विरेचन होनेसे मूर्च्छा, गुदभ्रंश और अत्यन्त कफस्राव होता है तथा मांसधौत जल अथवा रक्तकी तरह वमि होती है। ऐसी अवस्थामें रोगीके शरीरमें शीतल जल सेक करके शीतल तण्डुलके जलमें मधु मिला कर अल्प परिमाणमें वमन करावे। अथवा दधि वा सौवीरके साथ आमका छिलका पीस कर नाभिदेशमें प्रलेप दे। इससे प्रदीप्त अतीसार भी प्रशमित होता है। भोजनके लिये छागदुग्ध और विष्किर पक्षी अथवा हरिण मांसके जूसको, शालिधान, साठी और मसूरके साथ नियमपूर्वक पाक करके प्रयोग करे। इस प्रकार शीतल और संग्राही द्रव्य द्वारा भेदको दूर करना होता है।

शरीरकी लघुता, मनस्तुष्टि और वायुका अनुलोम होनेसे जब अच्छी तरह विरेचन हुआ मालूम हो जाये, तब रातको पाचक औषधका सेवन करावे। विरेचक औषधके सेवनसे बल और बुद्धिकी प्रसन्नता, अग्निदीप्ति, धातुमें भी वयःक्रमकी स्थिरता होती है। विरेचनका सेवन करके अत्यन्त वायुसेवन, शीतल जल, स्नेहाभ्यङ्ग, अजीर्णकारक द्रव्य, व्यायाम और स्त्रीप्रसङ्गका परित्याग करना अवश्य कर्त्तव्य है। विरेचनके बाद शालिधान, और मूंगसे यवागू तैयार कर अथवा हरिणादि पशु वा विष्किर पक्षीके मांसरसके साथ शालिधानका भात खिलावे। (भावप्र० विरेचनविधि)

सुश्रुतमें विरेचनका विषय इस प्रकार लिखा है,—मूल, छाल, फल, तैल, स्वरस और क्षीर इन छः प्रकारके विरेचनका व्यवहार करना होता है। इनमें से मूल-विरेचनमें लाल निसोथका मूल, त्वक्-विरेचनमें लोधकी छाल, फल-विरेचनमें हरीतकी फल, तैल-विरेचनमें रेड़ीका तेल, स्वरस-विरेचनमें करवल्लिका (करेले)का रस और क्षीर-विरेचनमें मनसासीजका क्षीर श्रेष्ठतम है।

विशुद्ध निसोथमूलचूर्ण विरेचन द्रव्यके रसमें भावना दे कर चूर्ण करे तथा सैन्धव लवण और सोंठका चूर्ण मिला कर प्रचुर अम्लरसके साथ मथ डाले। पीछे यह वातरोगीको विरेचनके लिये पान करानेसे उत्तम विरेचन होता है।

गुलञ्च, नीमकी छाल और त्रिफलाके काढ़ेमें अथवा त्रिकटुके चूर्ण डाले हुए गोमूत्रमें निसोथका चूर्ण मिला कर कफज रोगमें पिलानेसे विरेचन होता है। निसोथके मूलकी बुकनी, इलायचीकी बुकनी, तेजपत्रकी बुकनी, दारचीनीकी बुकनी, सोंठका चूर्ण, पीपलकी बुकनी और मरिचकी बुकनी इन्हें पुराने गुड़के साथ श्लेष्मरोगमें चाटनेसे उत्तम विरेचन बनता है। दो सेर निसोथ-मूलका रस, आध सेर निसोथ तथा सैन्धवलवण और २ तोला सोंठकी बुकनी इन्हें एक साथ पाक करे। जब वह पाक खूब घना हो जाये, तब उपयुक्त मात्रामें वातश्लेष्मरोगीको विरेचनार्थ पिलाना होगा। अथवा निसोथका मूल तथा समान भाग सोंठ और सैन्धवलवण पीस कर यदि गोमूत्रके साथ वातश्लेष्मरोगीको पिलाया जाये, तो उत्तम विरेचन होता है।

निसोथका मूल, सोंठ और हरीतकी, प्रत्येककी बुकनी २ भाग, एक सुपारीका फल, विड़ङ्गसार, मरिच, देवदारु और सैन्धव प्रत्येककी बुकनी आध भाग ले कर मिलावे और गोमूत्रके साथ सेवन करे, तो विरेचन होता है।

गुड़िका—निसोथ आदि विरेचन द्रव्यको चूर्ण कर विरेचक द्रव्यके रसमें घोंटे। पीछे विरेचन द्रव्योंके मूलके साथ उसका पाक करे तथा घृतके साथ मर्द्दन

कर गुटिका पका कर सेवन करावे। अथवा गुड़के साथ निसोथचूर्णका पाक कर सुगंधके लिये उसमें इलायची, तेजपत्र और दारचीनीका चूर्ण मिलावे। उपयुक्त मात्रामें गोली तैयार कर सेवन करनेसे विरेचन होता है।

मोदक—एक भाग निसोथ आदि विरेचन द्रव्योंकी बुकनी ले कर उससे चौगुने विरेचन द्रव्यके काढ़ेमें सिद्ध करे। पीछे घना होने पर घीसे मला हुआ गेहूंका चूर्ण उसमें डाल दे। इसके बाद ठंढा होने पर मोदक तैयार कर विरेचनार्थ प्रयोग करे।

जूस—निसोथ आदि विरेचक द्रव्योंके रसमें मूंग, मसूर आदि दालकी भावना दे सैन्धवलवण और घृतके साथ एकत्र जूस पाक करके यदि पान करावे तो विरेचन बनता है।

पुटपाक—ईखके एक डंठलको दो खण्ड कर उसके साथ निसोथ पीस कर ईखके खण्डमें उसका प्रलेप दे तथा गांभारीके पत्तोंसे जड़ कर कुशादिकी डोरीसे उसको मजबूतीसे बांध दे। अनन्तर पुटपाकके विधानानुसार उसका पाक करके पित्तरोगीको सेवन करावे, तो विरेचन होता है।

लेह—ईखकी चीनी, बनयमानी, वंशलोचन, भुईंकुम्हड़ा और निसोथ इन पांच द्रव्योंका चूर्ण समान भागमें ले कर घी और मधुके साथ उसको मिला कर चाटे, तो विरेचन होता है तथा तृष्णा, दाह और ज्वर जाता रहता है।

ईखकी चीनी, मधु और निसोथकी बुकनी प्रत्येक द्रव्यका समभाग तथा निसोथ बुकनीका चतुर्थांश दारुचीनी, तेजपत्र और मरिचचूर्ण मिला कर कोमलप्रकृतिवाले व्यक्तियोंको विरेचानार्थ सेवन करने दे।

ईखकी चीनी ८ तोला, मधु ४ तोला और निसोथका चूर्ण १६ तोला, इन्हें आंच पर चढ़ा कर एकत्र पाक करे। जब वह लेहवत् हो जाये, तब उसे उतार कर सेवन करावे। इससे विरेचन हो कर पित्त दूर होता है।

निसोथ, विस्ताड़क, यवक्षार, सोंठ और पीपल इन्हें चूर्ण कर उपयुक्त मात्रामें मधुके साथ लेह प्रस्तुत करे। यह लेह पान करनेसे विरेचक होता है।

हरीतकी, गांभारी, आमलकी, अनार और बेर इन सब द्रव्योंके काढ़ेको रेंड़ीके तेलमें पका कर खट्टे नीबू आदिका रस उसमें डाल दे। पीछे पाक करते करते जब वह घन हो जाये, तो सुगन्धके लिये उसमें तेजपत्र, दारचीनी और निसोथका चूर्ण डाल कर सेवन करावे। श्लेष्मप्रधान धातुविशिष्ट सुकुमार प्रकृतिवाले व्यक्तियोंके लिये यह एक उत्कृष्ट विरेचन है।

निसोथका चूर्ण तीन भाग तथा हरीतकी, आमलकी, बहेड़ा, यवक्षार, पीपल और विड़ङ्ग प्रत्येकका समान भाग ले कर चूर्ण करे। पीछे उपयुक्त मात्रामें ले कर मधु और घृतके साथ लेहकी तरह बनावे अथवा गुड़के साथ मल कर गोली तय्यार करे। यह गोली लेह अथवा सेवन करनेसे कफवातज गुल्म, प्लीहा आदि नाना प्रकारके रोग प्रशमित होते हैं। इस विरेचनसे किसी प्रकारका अनिष्ट नहीं होता।

विस्ताड़क, निसोथ, नीलीफल, कुटज, मोथा, दुरालभा, चई, इन्द्रयव, हरीतकी, आमलकी और बहेड़ा, इन्हें चूर्ण कर घृत मांसके जूस या जलके साथ सेवन करनेसे रुक्ष व्यक्तियोंका विरेचन होता है।

त्वक्‌विरेचन—लोधको छालका बिचला हिस्सा छोड़ कर बाकीको चूर्ण करे तथा उसे तीन भागोंमें विभक्त कर दो भागको लोधकी छालके काढ़ेमें गला ले। बाकी एक भागको उक्त काढ़ेसे भावना दे कर बिलकुल सुखा डाले। सूखने पर दशमूलके काढ़ेसे भावना दे कर निसोथको तरह प्रयोग करे। यह त्वक विरेचन सेवन करनेसे उत्तम विरेचन होता है।

फल-विरेचन—बिना आठींके हरीतकी फल और निसोथका विधानानुसार प्रयोग करनेसे सभी प्रकारके रोग दूर होते हैं। हरीतकी, विड़ङ्ग, सैन्धव लवण, सोंठ, निसोथ और मिर्चा इन्हें गोमूत्रके साथ सेवन करनेसे विरेचन होता है। हरीतकी, देवदारु, कुट, सुपारी, सैन्धव लवण और सोंठ इन्हें गोमूत्रके साथ सेवन करनेसे बढ़िया विरेचन होता है।

नीलीफल, सोंठ और हरीतकी इन तीन द्रव्योंका चूर्ण कर गुड़के साथ मिला सेवन करे। पीछे उष्ण जलपान पिप्पली आदिके काढ़ेमें हरीतकी पीस कर सैन्धव लवण मिलावे। इसका सेवन करनेसे उसी समय विरेचन होता है। ईखके गुड़, सोंठ वा सैन्धव

लवणके साथ हरीतकी सेवन करनेसे विरेचन हो अग्निकी वृद्धि होती है। यह विशेष उपकारी है।

पके अमलतासके फलको बालूके ढेरमें सात दिन रख कर धूपमें सुखा लेवे। पीछे उसकी मज्जाको जलमें सिद्ध कर अथवा तिलकी तरह पीस कर तेल निकाल ले। यह तेल बारह वर्षके बालकोंको विरेचनार्थ दिया जा सकता है।

एरण्डतैल—कुट, सोंठ, पीपल और मीर्चा इन्हें चूर्ण कर रेंड़ीके तेलके साथ सेवन करे तथा पीछे गरम जल पिलावे। इससे उत्तम विरेचन हो कर वायु और कफ प्रशमित होता है। दूने त्रिफलाके काढ़ेके साथ अथवा दूध या मांसके रसके साथ रेंड़ीका तेल पान करनेसे सुचारु विरेचन होता है। यह विरेचन बालक, वृद्ध, क्षत, क्षीण और सुकुमार आदि व्यक्तियोंके लिये विशेष हितकर है।

क्षीरविरेचन—तीक्ष्ण विरेचन द्रव्योंमें थूहरका दूध हो सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु अज्ञ चिकित्सक द्वारा यह दूध प्रयुक्त होनेसे वह विषकी तरह प्राणनाशक होता है। यदि यह अच्छे चिकित्सक द्वारा उपयुक्त समयमें प्रयुक्त हो, तो नाना प्रकारके दुःसाध्य रोग आरोग्य होते हैं।

महत् पञ्चमूल, वृहती और कण्टकारी, इन सब द्रव्योंका पृथक् पृथक् काढ़ा बना कर प्रतप्त अङ्गारके ऊपर एक एक काढ़ेमें थूहरका दूध शोधन करे। पीछे कांजी, दहीके पानी और सुरादिके साथ सेवन करने दे। थूहरके दूधके साथ तण्डुल द्वारा यवागू प्रस्तुत कर अथवा थूहरके दूधमें गेहूंको भावना दे लेहवत् बना कर सेवन करावे अथवा थूहर, क्षीर, घृत और ईखकी चीनीको एकत्र मिला कर लेहवत् सेवन करावे; अथवा पीपलचूर्ण, सैन्धव लवण, थूहरके दूधमें भावना दे। पीछे गोली बना कर सेवन करनेसे सम्यक् विरेचन बनता है। अमलतास, शङ्खिनी, दन्ती और निसोथको सात दिन तक थूहरके दूधमें भिगो रखे। इसके बाद यदि उसे चूर्ण कर माल्य वा वस्त्र पर बिछा कर उसका घ्राण ले या वह चूर्ण भावित वस्त्र पहने तो मृदुप्रकृतिवाले व्यक्तियोंका यह सम्यक् विरेचन होता है। निसोथ, हरीतकी, आमलकी, बहेड़ा, विड़ङ्ग, पीपल और यवक्षार प्रत्येक द्रव्यका चूर्ण आध तोला मात्रामें ले उपयुक्त परिमाणमें घृत और मधुके साथ लेहन करने अथवा गुड़के साथ मोदक प्रस्तुत कर उसे सेवन करनेसे कोष्ठ परिष्कृत होता है। यह श्रेष्ठ विरेचक है। इसका सेवन करनेसे नाना प्रकारके रोग प्रशमित होते हैं।

सुदक्ष चिकित्सकोंको चाहिये, कि वे इन सब विरेचक औषधोंको घृत, तैल, दुग्ध, मद्य, गोमूत्र और रसादि या अन्नादि भक्ष्यद्रव्यके साथ मिला कर अथवा उनका अवलेह तैयार कर रोगीको विरेचनार्थ प्रयोग करे। क्षीर, रस, कल्क, क्वाथ और चूर्ण ये सब उत्तरोत्तर लघु हैं।

(सुश्रुत सूत्रस्था०)

चरक, वाभट आदि सभी वैद्यक ग्रन्थोंमें विरचन-प्रणाली विशेषरूपसे वर्णित हुई है। विस्तार हो जानेके भयसे वह लिखा नहीं गया।

विरेच्य (सं० त्रि०) वि-रिच्-यत्। विरेचनके योग्य, जिसे विरेचन या जुलाव दिया जा सके। निम्नलिखित रोगी विरेचनके योग्य हैं,—जिनके गुल्म, अर्श, विस्फोटक, व्यङ्ग, कामला, जीर्णज्वर, उदर, गर (शरीरप्रविष्ट दूषित विष आदि पड़ा विष), छर्दि (वमि), प्लीहा, हलीमक, विद्रधि, तिमिर और काच (चक्षुरोगद्वय), अभिष्यन्द (आँखका आना), पाकाशयमें वेदना, योनि और शुक्रगत रोग, कोष्ठगत क्रिमि, क्षतरोग, वात रक्त, ऊद्ध्ववेग रक्तपित्त, मूत्राघात, कोष्ठवद्ध, कुष्ठ, मेह, अपची, ग्रन्थि (गेठिया), श्लीपद (फीलपांव), उन्माद, काश, श्वास, हल्लास (उपस्थित वमनवोध वा विवमिषा), विसर्प, स्तन्यदोष और ऊद्ध्वर्जत्रुरोग अर्थात् जिनके कण्ठसे ले कर मस्तक तक रोग है, वे विरेच्य हैं। साधारणतः पित्त अथवा पित्तोल्वण दोषसे दूषित व्यक्ति विरेचनीय हैं। इनके विरेचन-प्रयोगकी प्रणाली,—क्रुरकोष्ठ रोगियोंको पहले यथायोग्यरूपमें स्नेह (वाह्य और आभ्यन्तरिक) और स्वेद तथा कुष्ठ आदि (पूर्वोक्त कुष्ठसे ले कर ऊर्ध्वजत्रु पर्यन्त) रोगीको वमनका औषध प्रयोग करावे। पीछे उनका कोष्ठ मृदु अवस्थामें ला कर और अमाशयको शोधन कर उन्हें विरेचनका प्रयोग करना होगा। कोष्ठके बहुपित्त और मृदु होनेसे वह दुग्ध द्वारा विरेचित किया जाता है। वायुप्रधान क्रूरकोष्ठमें श्यामा त्रिवृत्

या काली निसोथका व्यवहार करना होता है। कोष्ठमें पित्ताधिक्य दिखाई देनेसे दुग्ध, नारियलके जल, मिस्रीके जल आदिके साथ ; कफाधिक्यमें अदरक आदि कटु द्रव्यके साथ तथा वाताधिक्यमें रेंड़ीके तेल, उष्ण जल और सैन्धव वा विट्लवणके साथ अथवा विरेचक द्रव्यके उष्ण क्वाथके साथ रेंड़ीके तेल आदि स्नेह और उक्त लवणके साथ विरेचन देना होता है। विरेचकके अप्रवृत्त होनेसे अर्थात् दस्त नहीं उतरनेसे गरम जल पिलावे तथा रोगीके पेट पर पुराना घी या रेड़ीके तेलकी मालिश कर किसी सहिष्णु व्यक्तिके हाथको मृदु सन्तप्त कर उससे स्वेद दिलावे। विरेचक अल्प प्रवृत्त होनेसे उस दिन अन्नाहार कर दूसरे दिन पुनः विरेचन पान करे। जिस व्यक्तिका कोष्ठ असम्यक् स्निग्ध है, वह दश दिनके बाद पुनः स्नेहस्वेदसे संस्कृत शरीर हो अच्छी तरह सोच विचार कर यथोपयुक्त विरेचन सेवन करे। विरेचनका असम्यक् योग होनेसे हृदय और कुक्षिकी अशुद्धि; श्लेष्म पित्तका उत्क्लेश, कण्डू, विदाह, पीड़ा, पीनस और वायुरोध तथा विष्ठारोध होता है। इसका विपरीत होनेसे अर्थात् हृदय, कुक्षि आदिको शुद्धिता रहनेसे उसे सम्यक् योग कहते हैं। अतिरिक्त होनेसे विष्ठा, पित्त, कफ और वायुके यथाक्रम निकलनेसे आखिर जलस्राव होता है। उस जलमें श्लेष्मा अथवा पित्त नहीं रहता। वह श्वेत, कृष्ण वा पीतरक्त वर्ण अथवा मांसधौत जल अथवा मेद (चर्बी)-की तरह वर्णयुक्त होता है, मलद्वार बाहर निकल आता है तथा तृष्णा, भ्रम, नेत्रप्रवेशन, देहकी क्षीणता वा दुर्बल बोध, दाह, कण्ठशोष और अन्धकारमें प्रविष्टकी तरह मालूम होता है। फिर इससे कठिन वायुरोग उत्पन्न होते हैं। विरेचक औषधोंका ऐसी मात्रामें सेवन करना होगा जिससे रोगीके अवस्थानुसार दश, बीस या तीस दस्तसे अधिक न उतरे और अन्तिम बारमें कफ निकले। जिन्हें वमन क्रियाके बाद विरेचक प्रयोग करना होगा, उन्हें फिरसे स्नेह और स्वेदयुक्त कर श्लेष्माका समय (पूर्वाह्न वा पूर्वरात्रि) बीत जाने पर कोष्ठकी अवस्था समझ कर उपयुक्त प्रकारसे सम्यक् विरेचित करे। जिस दुर्बल और अनेक दोषोंसे युक्त व्यक्तिके दोषपाक होनेसे स्वयं विरेचित होता है, उसको परवलके साग या करेलेके पत्तोंके जूस आदि मलनिःसारक भोज्यके साथ विरेचन दे। दुर्बल, वमनादि द्वारा शोधित, अल्पदोष, कृश और अज्ञातकोष्ठ व्यक्ति मृदु और अल्प औषध पान करे। वह औषध बार बार पीना अच्छा है, क्योंकि अधिकमात्रामें तीक्ष्ण औषध पीनेसे वह हानि कर सकती है। यदि अल्प औषध पुनः पुनः प्रयोग की जाय, तो वह अन्यान्य दोषोंको धीरे धीरे निकाल देती है। दुर्बल व्यक्तिके उन सब दोषोंको मृदुद्रव्य द्वारा धीरे धीरे हटाना चाहिये। उन सब दोषोंके नहीं निकलनेसे उसको हमेशा क्लेश रहता है। यहां तक कि, उसकी मृत्यु भी हो जाया करती है। मन्दाग्निक्रूरकोष्ठव्यक्तिको यथाक्रम क्षार और लवणयुक्त घृतके साथ दीप्ताग्नि और कफवातहीन कर शोधन करना चाहिये। रूक्ष, अतिशय वायुयुक्त, क्रूरकोष्ठ, व्यायामशील और दीप्ताग्नियोंको विरेचक औषधका प्रयोग कराने पर वे उसे परिपाक कर डालते हैं, इस कारण उन्हें पहले वस्तिप्रयोग* करके पीछे स्निग्ध विरेचन (एरण्डतैलादि) देना उचित है। अथवा तीक्ष्ण फलवर्त्ति¶ द्वारा पहले कुछ मल निकाल कर पीछे स्निग्ध विरेचन देवे। क्योंकि वह (एरण्डतैलादि) प्रवृत्त मलको आसानीसे बाहर निकाल देता है। विषाक्त अभिघात (आघात प्राप्त) तथा पीड़का कुष्ठ, शोथ, विसर्प, पाण्डु, कामला और प्रमेहपीड़ित व्यक्तियोंको कुछ स्निग्ध करके विरेचन देवे अर्थात् उन सब विषादि पीड़ितकोंको रूक्ष अवस्थामें स्नेहविरेचकके साथ शोधन करे। फिर अति स्निग्धोंको अर्थात् जिन्हें अत्यन्त स्नेह प्रयोग किया गया है, उन्हें रूक्षविरेचक (तैलाक्त पदार्थहीन विरेचक द्रव्य) द्वारा शोधन करे। क्षारादि द्वारा वस्त्रका मल

---

* पिचकारी द्वारा मलद्वार हो कर तरल विरेचकादि औषध प्रयोग करनेको वस्तिप्रयोग कहते हैं। यहां पहले वस्तिप्रयोगका तात्पय यह है, कि वह पाकस्थलीकी पाचकाग्निके साथ जब तक संयुक्त नहीं होता, तब तक परिपाक नहीं हो सकेगा।

¶ वकुल या जयपालके बीज आदि विरेचक फलोंको अच्छी तरह पीस कर बत्तीकी तरह बनाना होता है वह बत्ती मलद्वारमें घुसानेसे बड़ी आंतका मल बहुत कुछ निकल पड़ता है।

निकल जाने पर वह जिस प्रकार परिशुद्ध होता है उसी प्रकार स्नेहस्वेदके साथ विरेचनवमनादि पञ्चकर्म द्वारा देहका मल (वातपित्तादि दोष) उत्क्लिष्ट हो देहको शोधित करता है, इसी कारण उन्हें (विरेचनादिके) शोधन वा संशोधन कहते हैं। स्नेह और स्वेद विरेचनादि कार्यका सहाय है, उसका अभ्यास किये बिना यदि संशोधित द्रव्य सेवन किया जाय, तो संशोधन-सेवी उसी प्रकार फट जाता है जिस प्रकार स्नेहके संयोगसे सूखी लकड़ी झुकानेके समय फट जाती है।

उक्त नियमानुसार सम्यक् विरिक्त होनेसे रोगी रक्तशाल्यादिकृत पेयादि निम्नोक्त क्रमके अनुसार भोजन करे। क्रम इस प्रकार है,—प्रधान मात्राके शोधनमें अर्थात् जिस विरेचकमें ३० बार दस्त आयेगा उसमें प्रथम दिन भोजन करते समय अर्थात् मध्याह्न और रात्रि इन दोनों समय दो बार और दूसरे दिन मध्याह्नमें एक बार, ये तीन बार पेया, द्वितीय दिन रातको और तृतीय दिन दो समय ये तीन बार विलेपी, इस क्रमसे अकृतयूष (स्नेह और लवणकटुवर्जित मूंग आदिका जूस) तीन समय और कृतयूष तीन समय तथा मांसयूष तीन समय कुल मिला कर १५ बार सेवन करके षोड़शान्नकालमें अर्थात् अष्टम दिन रातको स्वाभाविक भोजन करे। इस प्रकार पेयादिक्रमका तात्पर्य यह है, कि लघु द्रव्यसे ले कर यथानियम गुरुद्रव्यका व्यवहार करनेसे अणुमात्र (एक चिनगारी भी) अग्निमें जिस प्रकार सूखी घास डालनेसे वह धधकने लगती है और वन पर्वत आदिको दग्ध करनेमें समर्थ होती है, संशोधित व्यक्तिकी अन्तराग्नि भी पहले पेयादि लघुपथ्यके साथ धीरे धीरे सन्धुक्षित हो कर आखिर उसी प्रकार पिष्टकादि गुरुपाक द्रव्य तकको परिपाक कर सकती है। मध्यम (२० बार) और हीन (१० बार) मात्रामें जिन्हें दस्त हुआ है, वे पेया, विलेपी, अकृतयूष, कृतयूष और मांसरस यथाक्रम दो समय और एक समय इसी प्रकार क्रमानुसार सेवन कर मध्यम मात्रासेवी छठे दिन मध्याह्नमें और हीनमात्रासेवी तीसरे दिन रात्रमें स्वाभाविक भोजन करे। मात्राभेदमें पृथक् व्यवस्थाका तात्पर्य यह है, कि विरेचक द्रव्यके यथाक्रम मात्राधिक्यवशतः जिसकी अग्नि जिस परिमाणमें क्षीण हुई है, उसे उसी परिमित काल तक पेयादि लघुपथ्य देना होता है। क्योंकि संशोधन, रक्तमोक्षण, स्नेहयोग और लङ्घनवशतः अग्निकी मन्दता होनेसे पेयादि क्रम आचरणीय है।

विरेचक औषध व्यवहारके बाद यदि दस्त न उतरे वा औषध परिपाक होनेमें विलम्ब हो तो अक्षीण व्यक्तिको निरवच्छिन्न लङ्घन देना होगा, क्योंकि ऐसा करनेसे पीतौषध व्यक्तिको उत्क्लेश (उपस्थित वमनरोध) के कारण तथा घर्म और विरेचन औषधकी रुक्षताके कारण किसी तरहका कष्ट भुगतना नहीं पड़ता। मद्यपायी तथा वातपित्ताधिक्य व्यक्तिके लिये पेयादिपान हितकर नहीं है। उन्हें तर्पणादि क्रमका * व्यवहार करना चाहिए। (वाग्भटसू० स्था० १८ अ०)

विस्तृत विवरण विरेचन शब्दमें देखो।

विरेपस् (सं० त्रि०) समूहक्षतिजनक। (उज्ज्वल ४।१८६)

विरेफ (सं० त्रि०) १ रेफशून्य। (पु०) २ नदमात्र।

विरेभित (सं० त्रि०) वि-रेभ-क्त। शब्दित, शब्द किया हुआ।

विरोक (सं० क्ली०) वि-रुच-घञ्, कुत्वम्। १ छिद्र, छेद। (पु०) २ सूर्यकिरण। ३ दीप्ति, चमक। ४ चन्द्रमा। ५ विष्णु। (भारत)

विरोकिन् (सं० त्रि०) किरणविशिष्ट।

विरोचन (सं० पु०) विशेषेण रोचते इति वि-रुच् युच्। (अनुदात्तेतश्च हलादेः। पा ३।२।१४९) १ सूर्य। २ सूर्यकिरण। ३ अर्कवृक्ष, मदारका पौधा। ४ अग्नि, आग। ५ चन्द्रमा। ६ विष्णु। ७ रोहितक वृक्ष। ८ श्योनाकभेद। ९ धृतकरञ्ज। १० प्रह्लादका पुत्र, बलिका पिता। (महा-

---

* तर्पण, मन्थ प्रभृति। इनकी प्रस्तुत प्रणाली,—तर्पण, बारीक कपड़ेमें छना हुआ लावेका चूर्ण ४ तोला, दाखका रस ४ तोला, जल ऽ२ सेर, (१२८ तोला) इसके शर्करा और मधुमें मिलानेसे तर्पण बनता है। उक्त लावेके चूर्णको घृताक्त करके शीतल जल द्वारा इस प्रकार द्रव करे, कि वह न तो बहुत पतला हो और न बहुत गाढ़ा ही। ऐसा होनेसे ही मन्थ प्रस्तुत किया जायगा। इसमें खजूर और दाखका रस डाल कर मधुर करना होता है। तर्पणसे मन्थ गुरु है।

भारत १।६५।१६) ११ चमकना, प्रकाशित होना। (त्रि०) १२ दीप्तियुक्त, प्रकाशमान।

विरोचनसुत (सं० पु०) बलिराज।

विरोचना (सं० स्त्री०) विरोचन-टाप्। १ स्कन्दमातृभेद। (भारत शल्य०) २ विरजकी माता।

विरोचिष्णु (सं० त्रि०) परप्रकाशक।

विरोद्धव्य (सं० त्रि०) विरोधयोग्य।

विरोद्धृ, (सं० त्रि०) १ विरुद्धकार्यकारी। (पु०) २ कर्पूर, कपूर।

विरोध (सं० पु०) वि-रुध-घञ्। १ शत्रुता, दुश्मनी। पर्याय—वैर, विद्वेष, द्वेष, द्वेषण, अनुशय, समुच्छाय, पर्यवस्था, विरोधन। विरोध नाशबीज सभी प्रकारके उपद्रवोंका कारण है।

२ विप्रतिपत्ति। (न्यायसूत्र भाष्यमें वात्स्यायन) ३ दो बातोंका एक साथ न हो सकना। ४ युद्धविग्रह। ५ व्यसनप्राप्ति। ६ अनैक्य, मतभेद। ७ उलटी स्थिति, सर्वथा दूसरे प्रकारकी स्थिति। ८ नाश, विपरीतभाव। ९ नाटकका एक अङ्ग। इसमें किसी वस्तुका वर्णन करते समय विपत्तिका आभास दिखाया जाता है। जैसे—"मैंने अविमृश्यकारिताप्रयुक्त अन्धकी तरह निश्चय ही ज्वलन्त अनलमें पदक्षेप किया है।" (चण्डकौशिक)

१ अलङ्कारविशेष। जाति=गोत्व, ब्राह्मणत्वादि, गुण=कृष्ण, शुक्लादि ; क्रिया=पाकादि ; द्रव्य=वस्तु, जाति ; जात्यादि (जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य) चारोंके साथ, गुण, गुणादि (गुण, क्रिया और द्रव्य) इन तीनोंके साथ, क्रिया, क्रियादि (क्रिया और द्रव्य) दोनोंके साथ तथा द्रव्यद्रव्यके साथ, इन दश प्रकारमें आपाततः विरुद्धभाव दिखाई देनेसे उसको विरोधालङ्कार कहते हैं। यथाक्रम उदाहरण,—"तुम्हारे विरहमें इसके (सखीके) समीप मलयानिलं" दावानल, चन्द्रकिरण अति उष्ण भ्रमरझङ्कार दारुण हृदयविदारक तथा नलिनीदल निदाघ सूर्यकी तरह मालूम होता है।" यहां 'नित्यानेकसमवेतत्वं जातित्वं' बहुतोंका समवाय (मिलन) ही जाति है, क्योंकि मलय पवन आदि बहुतोंका समवाय हुआ है। उनके फिर दावानल (जाति), उष्ण (गुण), हृदयभेदन (क्रिया) तथा सूर्य (द्रव्य) इन चार प्रकारके साथ आपाततः विरोधभाव दिखाई देता है अर्थात् सुननेसे लोग समझेंगे, कि ऐसा कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि ये विरुद्ध पदार्थ हैं। यह सत्य है सही, पर विरहिणीके समीप उन सब जातियोंकी गुणक्रियादि उसी आकारमें दिखाई देती हैं, इसी कारण इसका समाधान है। गुणके साथ गुणादिका,—"हे महाराज ! आप जैसे राजाके रहते सर्वदा मुषलके व्यवहारसे द्विजपत्नियोंके कठिन हाथ कोमल हो गये हैं।" यहां राजाकी दानशक्तिके प्रति श्लेष करके कहा गया है, कि आपकी दानशक्तिके प्रभावसे ही ब्राह्मणोंको यह कष्टकरवृत्ति अवलम्बन करनी पड़ी है। फिर यहां काठिन्यगुणके साथ कोमलताका आपाततः विरोध दिखाई देता है। किन्तु पालनीयके प्रति ऐसी दानशक्ति दिखानेसे वह समाहित हो सकता है।—गुणके साथ क्रियाका—"हे भगवान्! आप अज (जन्मरहित) हो कर जन्म लेते हैं तथा निद्रित (निर्लेप) हो कर जागरूक हैं, आपका यह याथार्थ्य कौन जान सकेगा?" इस वर्णनमें जन्मरहितका जन्मग्रहण और निद्रितका जाग्रतत्व ही आपाततः परस्पर अजत्वादिगुणके साथ जन्मग्रहणादिक्रियाका विरोध है। परन्तु भगवान्के प्रभावातिशयित्व द्वारा ही इसका समाधान है। गुणके साथ द्रव्यका—कान्ताके अङ्क न लिपटी रहनेके कारण उस हरिणाक्षीको पूर्ण निशाकर दारुण विषज्वालाका उत्पादक मालूम पड़ने लगा। यहां सोम (शीतल) गुणविशिष्ट द्रव्यवाची चन्द्रकी विषज्वालाका उत्पादकत्व आपातविरुद्ध है सही, पर विरहिणीको उसी प्रकार मालूम पड़नेके कारण उसका समाधान है। क्रियाके साथ क्रियाका,—"उस मदविह्वलनयना कामिनीका अतितृप्तिकर, मनःसङ्कल्पातीत रूपमाधुरी देख कर मेरा हृदय बहुत उल्लासित और सन्तापित होता है।" यहां उल्लास और सन्ताप इन दोनों क्रियाओंका एकत्र समावेश आपाततः विरुद्ध मालूम होता है; किन्तु यथार्थमें कामिनीको नयनानन्दकर मदनोद्दीपक रूप देख कर अत्यन्त प्रीति तथा उसके (उस नारीका) न मिलनेका मदनताप, ये दोनों क्रिया ही एक समय दिखाई देती हैं।

विरोधक (सं० त्रि०) १ विरोधकारी, शत्रु। (पु०) २ नाटकमें वे विषय जिनका वर्णन निषिद्ध हो।

विरोधकृत् (सं० त्रि०) विरोधकारी। (पु०) २ साठ संवत्सरके अन्तर्गत ४४वां वर्ष।

विरोधक्रिया (सं० स्त्री०) शत्रुता।

विरोधन (सं० क्ली०) वि-रुध-ल्युट्। १ विरोध करना, बैर करना। २ नाश, बरबादी। ३ नाटकमें विमर्षका एक अङ्ग। यह उस समय होता है जब किसी कारणवश कार्य्यध्वंसका उपक्रम (सामान) होता है। जैसे—कुरुक्षेत्रयुद्धके अन्त होनेके निकट, जब दुर्योधन बच रहा था, तब भीमका यह प्रतिज्ञा करना कि "यदि दुर्योधनको न मारूंगा, तो अग्निमें प्रवेश कर जाऊंगा।" सब बात बन जाने पर भी भीमका यह कहना युधिष्ठिर आदिके मनमें यह विचार लाया कि यदि दुर्योधन मारा गया, तो हम लोग भी भीमके बिना कैसे रहेंगे। यहां पर यही कार्यध्वंसका उपक्रम वा विरोधन है।

विरोधभाक् (सं० त्रि०) विरोधी।

विरोधवत् (सं० त्रि०) विरोधशील, विरुद्ध।

विरोधाचरण (सं० क्ली०) १ शत्रुताचरण, प्रतिकूलाचरण, खिलाफ कार्रवाई। २ शत्रुताका व्यवहार।

विरोधाभास (सं० पु०) अलङ्कारभेद। इसमें जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यका निषेध दिखाई पड़ता है। विरोध देखो।

विरोधित (सं० त्रि०) जिसका विरोध किया गया हो।

विरोधिता (सं० स्त्री०) १ शत्रुता, बैर। २ नक्षत्रोंकी प्रतिकूल दृष्टि।

विरोधित्व (सं० क्ली०) विरोधिता, शत्रुता।

विरोधिन् (सं० त्रि०) वि-रुध-णिनि। १ विरोधकारी, शत्रु, विपक्षी। २ हितके प्रतिकूल चलनेवाला, कार्यसिद्धिमें बाधा डालनेवाला। (पु०) ३ वार्हस्पत्यके संवत्सरोंमेंसे पचीसवां संवत्सर।

विरोधिनी (सं० स्त्री०) वि-रुध-णिनि-ङीप्। १ विरोधकारिका, वैरिन। २ विरोध करानेवाली, दो आदमियोंमें झगड़ा लगानेवाली। ३ दुःसहकी कन्या। (मार्क० पु० ५१।५)

विरोधीश्लेष (सं० पु०) केशवके अनुसार श्लेष अलङ्कारका एक भेद। इसमें श्लिष्ट शब्दों द्वारा दो पदार्थोंमें भेद, विरोध या न्यूनाधिकता दिखाई जाती है।

विरोधोक्ति (सं० स्त्री०) परस्पर वचनविरोधी वचन। पर्याय—विप्रलाप, विरोधवाक्, क्रोधोक्ति, प्रलाप।

विरोधोपमा (सं० स्त्री०) उपमालङ्कारभेद। इसमें किसी वस्तुकी उपमा एक साथ दो विरोधी पदार्थोंसे दी जाती है। जैसे,—"तुम्हारा मुख शारदीय चन्द्रमा और कमलके समान है", यहां कमल और चन्द्रमा इन दोनों उपमानोंमें विरोध है।

विरोध्य (सं० त्रि०) विरोध-यत्। १ विरोधके योग्य। २ जिसका विरोध करना हो।

विरोपण (सं० पु०) १ लेपन, लीप करना। २ लीपना, पोतना। ३ जमीनमें पौधा लगाना, रोपना।

विरोम (सं० त्रि०) रोमरहित, बिना रोएंका।

विरोष (सं० त्रि०) १ रोषविशिष्ट, क्रोधी। विगतो रोषो यस्य बहुव्री०। २ रोषशून्य, जिसे क्रोध न हो। ३ कण्टकरहित, बिना कांटेका।

विरोह (सं० पु०) १ लतादिका प्ररोह। २ एक स्थानसे दूसरे स्थानमें ले जा कर रोपना।

विरोहण (सं० क्ली०) विरोपण, एक स्थानसे उखाड़ कर दूसरे स्थान पर लगाना।

विरोहित (सं० त्रि०) १ रोहितविशिष्ट। (पु०) २ ऋषिभेद।

विरोहिन् (सं० त्रि०) १ रोपणकारी, रोपनेवाला, पौधा लगानेवाला। २ रोपणशील, रोपने या लगाने लायक।

विरोही—विरोहिन् देखो।

विरौती (हिं० स्त्री०) बाजरा, मड़ुवा, कोदों वगैरहकी एक प्रकारकी जोताई जो उनके पौधे ऊंचे होने पर भी जोती जाती है।

विल (सं० क्ली०) विल-क। १ छिद्र, छेद। २ गुहा, कन्दर। (पु०) ३ उच्चैःश्रवा घोड़ा। ४ बेंतसलता।

विलकारिन् (सं० पु०) विलं करोतीति कृ-णिनि। १ मूषिक, चूहा। (त्रि०) २ गर्त्तकारी, कोड़नेवाला।

विलक्ष (सं० त्रि०) विशेषेण लक्षयतीति वि-लक्ष-पचाद्यच्। १ विस्मयान्वित, आश्चर्यान्वित, अचंभेमें पड़ा हुआ। २ लज्जित। ३ त्रस्त, घबराया हुआ।

विलक्षण (सं० क्ली०) विगतं लक्षणं आलोचनं यस्य। १ हेतुशून्य अवस्था। २ निष्प्रयोजन स्थिति। (त्रि०)

विभिन्नं लक्षणं यस्य । ३ साधारणसे भिन्न, असाधारण, अपूर्व । विशिष्टं लक्षणं यस्याः । ४ विशेष लक्षणयुक्त, अनोखा, अनूठा ।

विलक्षणता (सं० स्त्री०) १ विशेषत्व, अनोखापन । २ विलक्षण होनेका भाव, अपूर्वता ।

विलक्षणत्व (सं० क्ली०) विशेषत्व ।

विलक्षणा (सं० स्त्री०) श्राद्धकर्म में दानभेद ।

विलक्ष्य (सं० त्रि०) विलक्ष । विलक्ष देखो ।

विलखना (हिं० क्रि०) दुःखी होना ।

विलखाना (हिं० क्रि०) विलखानाका सकर्मकरूप, विकल करना ।

विलग (हिं० वि०) पृथक्, अलग ।

विलगाना (हिं० क्रि०) १ अलग होना, पृथक् होना । २ पृथक् पृथक् दिखाई पड़ना, विभक्त या अलग दिखाई देना ।

विलग्न (सं० त्रि०) वि लस्ज्-अच् । १ संलग्न । (क्ली०) २ मध्य, बीच । ३ जन्मलग्न । ४ मेषादि लग्नमात्र ।

विलग्राम—प्राचीन नगरभेद ।

विलङ्घन (सं० क्ली०) वि-लङ्घ ल्युट् । १ लङ्घन, कूद या लांघ कर पार करनेकी क्रिया । २ लङ्घन करना, बात न सुनना । ३ उपवास करना । ४ किसी वस्तुके भोगसे अपने आपको रोक रखना, वञ्चित रहना ।

विलङ्घना (सं० स्त्री०) १ खण्डन, बाधा दूर करना । २ लङ्घन, लांघना ।

विलङ्घनीय (सं० त्रि०) १ पार करने योग्य, लांघने लायक । २ परास्त करने योग्य, नीचा दिखाने लायक ।

विलङ्घित (सं० त्रि०) १ जो परास्त हुआ हो, जिसने नीचा देखा हो । २ जो विफल हुआ हो ।

विलङ्घिन् (सं० त्रि०) उल्लङ्घनकारी, नियमलङ्घन करनेवाला ।

विलङ्घ्य (सं० त्रि०) वि लङ्घ-यत् । १ अलङ्घ्य, जिसका लङ्घन न किया जाय । २ लङ्घनयोग्य, पार करने लायक । ३ परास्त होने योग्य, वशमें आने लायक । ४ करने योग्य, सहज ।

विलङ्घ्यता (सं० त्रि०) विलङ्घ्यस्य भावः तल्-टाप् । लङ्घनकी अयोग्यता ।

विलज्ज (सं० त्रि०) वि-लज्ज-अच् । निर्लज्ज, लज्जारहित, बेहया ।

विलपन (सं० क्ली०) वि-लप ल्युट् । १ विलाप । २ आलापन, बातचीत करना ।

विलब्ध (सं० त्रि०) १ पाया हुआ, किया हुआ । २ अलग किया हुआ ।

विलब्धि (सं० स्त्री०) वि-लभ-क्ति । ज्ञानिभेद ।

विलम्ब (सं० पु०) वि-लम्ब-घञ् । १ गौण, देरी देर । २ लम्बन । ३ प्रभवादि साठ संवत्सरोंमेंसे ३२वां वर्ष । (त्रि०) बहुत काल, देर ।

विलम्बक (सं० पु०) १ राजभेद । २ अजीर्णरोगभेद । (त्रि०) विलम्ब-स्वार्थे-कन् । विलम्ब, देर ।

विलम्बन (सं० क्ली०) वि-लम्ब-ल्युट् । १ देर करना, विलम्ब करना । २ लटकना, टंगना । ३ सहारा पकड़ना ।

विलम्बना (हिं० क्रि०) १ देर करना, विलम्ब करना । २ लटकना । ३ सहारा लेना । ४ रम जाना, मन लगानेके कारण बस जाना ।

विलम्बसौपर्ण (सं० क्ली०) सामभेद ।

विलम्बिका (सं० स्त्री०) विसूचिकारोगभेद । इस रोगमें कफ और वायु द्वारा खाया हुआ पदार्थ अत्यन्त दूषित हो कर भी परिपाक नहीं होता और न ऊपर या नीचेकी ओर हो चला जाता है अर्थात् वमि या दस्त हो कर नहीं निकलता है । इस कारण पेट धीरे धीरे फूलने लगता है और आखीर रोगीके प्राण चले जाते हैं । इसीलिये आयुर्वेदाचार्यने इस रोगको चिकित्साका असाध्य वा चिकित्सातीत कहा है ।

विलम्बित (सं० त्रि०) वि-लम्ब-क्त । १ अशीघ्र, जिसमें विलम्ब या देर हुई हो । २ लटकता हुआ, झुलता हुआ । (क्ली०) ३ मन्दत्व, सुस्ती । ४ सुस्त चलनेवाला जानवर । जैसे—हाथी, गैंड़ा, भैंस इत्यादि । सङ्गीतमें बिलम्बित लयका प्रयोग है ।

बिलम्बितगति (सं० स्त्री०) छन्दोभेद । इसके प्रत्येक चरणमें १७ अक्षर रहते हैं । उनमेंसे १, ३, ४, ५, ७, ६, १०, ११, १२ और १६वां गुरु और बाकी लघु होते हैं ।

विलम्बिता (सं० स्त्री०) वि-लम्ब-क्त स्त्रियां-टाप् । १ सुदीर्घ (त्रि०) । विलम्बविशिष्ट, देरसे करनेवाला ।

विलम्बिन् (सं० त्रि०) १ विलम्बकारी, देर करनेवाला। विशेषेण लम्बते इति वि-लम्ब-णिनि। २ लम्बमान, लटकता हुआ। (क्लो०) ३ प्रभवादि साठ संवत्सरोंमेंसे ३२वां संवत्सर।

विलम्भ (सं० पु०) वि-लभ-घञ् नुम्। १ अतिसर्ज्जन, अत्यन्त दान। २ उदारता। ३ उपहार, भेंट।

विलय (सं० पु०) विशेषेण लीयन्ते पदार्था अस्मिन्निति। वि-ली-अच् (एरच्। पा ३।३।५।६) १ प्रलय। २ विनाश। ३ मृत्यु। ४ विलीन होनेकी क्रिया या भाव, लोप, अस्त। ५ विप्लावन।

विलयन (सं० त्रि०) १ लयविशिष्ट, लयको प्राप्त होना। (क्लो०) २ दूरीकरण, अलग करना। ३ विनाशन, नाश।

विलला (सं० क्लो०) श्वेतवला, सफेद सुगंधवाला।

विलवर—आदिम जातिविशेष।

विलवास (सं० पु०) विले वासो यस्य। जाहक जन्तु, बिलमें रहनेवाला जानवर।

विलवासिन (सं० पु०) विले वसतीति वस-णिनि। १ सर्प, सांप। (त्रि०) २ गर्त्तवासी, बिलमें रहनेवाला।

विलशय (सं० पु०) विले शेते विल-शी-अच्। १ सर्प। (त्रि०) २ विलवासी, मांदमें रहनेवाला।

विलसत् (सं० त्रि०) वि-लस्-शतृ। विलासयुक्त, विलासी।

विलसन (सं० क्लो०) वि-लस्-ल्युट्। १ विलास, प्रमोद। २ चमकनेकी क्रिया।

विलसर—युक्तप्रदेशके एटा जिलान्तर्गत एक नगर। मुसलमानी इतिहासमें यह विलसन्द वा तिलसन्द नामसे परिचित है। यहां अनेक बौद्धमठ और कुमारगुप्तके स्तम्भ तथा मन्दिरादिके स्मृतिचिह्न विद्यमान हैं।

विलहबंदी (हिं० स्त्री०) जिलेका बन्दोबस्तका संक्षिप्त ब्योरा। इसमें प्रत्येक महालका नाम, काश्तकारोंके नाम और उनके लगान आदिका ब्योरा लिखा होता है।

विलहर—मध्यप्रदेशके जब्बलपुर जिलान्तर्गत एक नगर। इसका प्राचीन नाम पुष्पावती थी। यहां अनेक प्राचीन मन्दिरादिका ध्वंसावशेष दिखाई देता है।

विलहरिया—युक्तप्रदेशके बान्दा जिलान्तर्गत एक ग्राम। यहां बहुतसे प्राचीन मन्दिर हैं।

विलाता (सं० स्त्री०) एक प्रकारकी चिड़िया।

विलाना (हिं० क्रि०) बिलाना देखो।

विलाप (सं० पु०) वि-लप घञ्। १ अनुशोचन, परिदेवन। २ दुःखजनक बात।

विलापन (सं० क्लो०) वि-लप् ल्युट्। १ विलाप, बिलख बिलख कर या विकल हो कर रोनेकी क्रिया, आर्त्तनाद। वि-ली-णिच् ल्युट्। २ द्रवीभाव, गलना।

विलापना (हिं० क्रि०) १ शोक करना, विलाप करना। २ वृक्ष रोपना या लगाना।

विलापिन् (सं० त्रि०) वि-लप् णिनि। विलापकारी, आर्त्तनाद करनेवाला।

विलायक (सं० त्रि०) वि-ली-णिच्-ण्वुल्। १ द्रवकारक, आर्द्रकारक। २ लयकारक, लीनताकारक।

"मनसोऽसि विलायकः।" (शुक्लयजुः २०।३४)

'मनसो विलायकश्चासि विलाययति विषयेभ्यो निवर्त्यात्मनि स्थापयति विलायकः आत्मज्ञानप्रदोऽसीत्यर्थः यद्वा ली श्लेषणे विलाययति चक्षुरादिभिः सह श्लेषयति विलायकः सर्वेन्द्रियैः सह श्लेषयति विलायकः सर्वेन्द्रियैः सह मनः संयोजयतीत्यर्थः।' (महीधर)

विलायत (अ० पु०) १ पराया देश, दूसरोंका देश। २ दूरस्थ देश, दूरका देश, विशेषतः आजकलकी बोलचालमें यूरोप या अमेरिकाका कोई देश।

विलायती (अ० वि०) १ विलायतका, विदेशी। २ अन्य देशका रहनेवाला, परदेशी। ३ दूसरे देशमें बना हुआ।

विलायती अनन्नास (हिं० पु०) रामबांस, रामबान। रामबांस देखो।

विलायती कद्दू (हिं० पु०) एक विशेष प्रकारका कद्दू जो तरकारीके काममें आता है।

विलायती कासनी (हिं० स्त्री०) एक प्रकारकी कासनी जिसकी पत्तियां दवाके काममें लाती हैं।

विलायती कीकर (हिं० पु०) पहाड़ी कीकर जो हिमालय में पांच हजार फुटकी ऊंचाई तक होता है। यह बाढ लोगानेके काममें आता है। जाड़ेके दिनोंमें यह खूब फूलता है और इसके फूलोंसे बहुत अच्छी महक निकलती है। यूरोपमें इन फूलोंसे कई प्रकारके इत्र आदि बनाये जाते हैं। इसे परसी बबूल भी कहते हैं।

विलायती छछूंदर (हिं० पु०) एक प्रकारका छछूंदर। यह इंगलैण्डके पश्चिमी ओरके प्रदेशोंमें बहुत पाया जाता है। यह पृथ्वीके नीचे सुरंगमें रहता है और प्रायः दूध पीता है। इसे अंधार अधिक प्रिय होता है। इसके अगले पैर चौड़े और पट्टेदार तरिछे होते हैं। इसकी आंखें छोटी, थुथना लंबा और नोकदार, बाल सघन और कोमल होते हैं। इसकी श्रवणशक्ति बहुत तेज होती है।

विलायती नील (हिं० पु०) एक विशेष प्रकारका नीला रंग जो चीनसे आता है।

विलायती पटुआ (हिं० पु०) लाल पटुआ, लाल सन।

विलायती पात (हिं० पु०) रामबाँस, कृष्ण केतकी।

विलायती प्याज (हिं० पु०) एक प्रकारका प्याज। इसमें गाँठ नहीं होती सिर्फ गूदेदार जड़ होती है।

विलायती बैंगन (हिं० पु०) एक प्रकारका बैंगन या भंटा जो इस देशमें यूरोपसे आया है। यह क्षुप जातिकी वनस्पति है जो प्रति वर्ष बोई जाती है। इसका क्षुप दो ढ़ाई हाथ ऊंचा होता है। इसकी डालियाँ भूमिकी ओर झुकी अथवा भूमि पर पसरी रहती हैं। पत्ते आलूके पत्तोंके-से होते हैं। डंडियोंके बीच बीचसे सींके निकलते हैं जिन पर गुच्छेमें फूल आते हैं। ये फूल साधारण बैंगनके फूलोंके समान पर उनसे छोटे होते हैं। इसका रंग पीला होता है। फल प्रायः दोसे चार इंच तकके गोलाकार और कुछ चिपटे नारंगीके समान होते हैं। कच्चे रहने पर उनका रंग हरा और और पकने पर लाल चमकीला हो जाता है। इसकी तरकारी, चटनी आदि बनती है। स्वादमें यह कुछ खट्टापन लिये होता है। रासायनिक विश्लेषणसे पता लगता है, कि इसमें २३ सैकड़े लोहेका अंश होता है। अतः यह रक्तवर्द्धक है। अंगरेज लोग इसका अधिक व्यवहार करते हैं। इसे टुमेटो कहते हैं।

विलायती लहसुन (हिं० पु०) एक प्रकारका लहसुन। यह मसालेके काममें आता है।

विलायती सिरिस (हिं० पु०) एक प्रकारका सिरिस जो विदेशसे यहां आया है पर अब यहां भी होने लगा है। यह नीलगिरि पर्वत पर बहुतायतसे होता है। पंजाबमें यह मिलता है। इसकी छाल प्रायः चमड़ा सिझानेके काममें आती है।

विलायती सेम (हिं० स्त्री०) एक प्रकारकी सेम। इसकी फलियां साधारण सेमसे कुछ बड़ी होती हैं।

विलायन (सं० क्ली०) १ गर्त्त, गड्ढा। २ प्राचीनकालका एक अस्त्र। कहते हैं, कि जब इस अस्त्रका उपयोग किया जाता था, तब शत्रुकी सेना विश्राम करने लगती थी।

विलारी—१ युक्तप्रदेशके मुरादाबाद जिलान्तर्गत एक तहसील। भू-परिमाण ३३३ वर्गमील है।

२ उक्त जिलेका एक नगर और विलारी तहसीलका विचार सदर। मुरादाबाद नगरसे यह ६ कोस दक्षिण-पूर्व पड़ता है। यहां अयोध्या रोहिलखण्ड-रेलवेका एक स्टेशन है। इसलिये यह स्थान वाणिज्यके लिए बहुत सुविख्यात है। यहां एक दीवानी और दो फौजदारी अदालतें हैं।

विलाल (सं० पु०) वि-लल-घञ्। १ यन्त्र। (शब्दच०) २ विड़ाल, बिल्ली।

विलावली (हिं० स्त्री०) एक रागिनी जो हिंडोल रागकी स्त्री मानी जाती है।

विलाषिन् ((सं० त्रि०) वि-लष-घिनुण्। (पा ३।२।१४४) विलासी, सुखभोगी।

विलास (सं० पु०) वि-लस्-घञ्। १ प्रसन्न या प्रफुल्लित करनेवाली क्रिया। २ सुख-भोग, आनन्दमय क्रीड़ा, मनोरञ्जन। ३ आनन्द, हर्ष। ४ किसी चीजका हिलना डोलना। ५ आरामतलबी, अतिशय सुखभोग। ६ सत्त्वगुणजात पौरुष (पुरुषत्व) भेद। विलासयुक्त पुरुषमें दृष्टिका गाम्भीर्य, गतिका वैचित्र (मनोहारित्व) तथा वचनका हास्यभाव दिखाई देता है। जैसे "अति उद्धत वेशमें समरमें आये हुये इसकी (कुशकी] दृष्टिसे ही मालूम होता है, कि उसमें मानो त्रिजगत्के प्राणियोंका बल सम्मिलित है और वह त्रिजगत्को तुच्छ समझ रहा है। इसकी गतिकी धीरता और उद्धतभाव देखनेसे मालूम होता है, कि वह मानो धरित्रीको विनमित कर रहा है। फिर यह (कुश) देखनेमें तो चञ्चल सुकुमार है, पर गिरिवर सदृश अचल और अटल मालूम होता है। अतएव यह स्वयं दर्प है या वीररस?" यहां गतिके औद्धत्य और वीरत्वकी युगपत् प्रतीयमानता ही उसका

वैचित्र तथा दृष्टिका तुच्छभाव प्रदर्शन ही उसका गाम्भीर्य है ।

७ स्त्रियोंके यौवनसुलभ हावभावादि अट्ठाईस प्रकारके स्वाभाविक धर्ममेंसे एक धर्म । प्रियको देख कर स्त्रियोंके गमनावस्थानोपवेशनादि तथा मुखनेत्रादिका जो अनिवर्चनीय भाव होता है, उसका नाम विलास है । जैसे माधवने सखीसे कहा,—"उस समय मालतीके क्या एक अनिवर्चनीय भावका उदय हुआ ; उनका वह वाग्वैचित्र, गात्रस्तम्भ और स्वेदनिर्गमादि विकार तथा एकान्त धैर्य्यच्युति आदि भाव देख कर मालूम होने लगा मानो वे मन्मथसे प्रणोदित हो अपने कार्य्य-सम्पादनमें बड़े व्यग्र हो रहे हैं ।"

८ स्फुरण । ९ प्रादुर्भाव ! १० तदेकात्मरूपका अन्यतर । विलास और स्वांशके भेदसे तदेकात्मरूप दो प्रकारका है । आकृतिगत विभिन्नता रहते हुए भी शक्तिसामर्थ्यमें अभेदको कल्पना करनेसे वहां तदेकात्मरूप कहा जाता है । किन्तु दोनोंकी शक्तिके न्यूनाधिक्यवशतः ही वह पूर्वोक्त दो भागोंमें विभक्त हुआ है । जहां दोनोंकी शक्तिकी समता मालूम होगी, वहां विलास होगा । जैसे,—हरि और हर । ये दोनों ही शक्ति-सामर्थ्यमें समान हैं । फिर कोई दो इन दो (हरि और हर)-के अंशरूपमें कल्पित तथा इनकी अपेक्षा न्यून और परस्पर शक्तिमें समान मालूम होनेसे वहां स्वांश करना होगा । जैसे,—सङ्कर्षणादि और मीनकूर्मादि ।

११ नाटकोक्त प्रतिमुखका अङ्गभेद । सुरतसम्भोगविषयिणी अत्यधिका चेष्टा वा स्पृहाका नाम विलास है । जैसे,—

"देखा जाता है, कि प्रिय शकुन्तला सहजलभ्या नहीं है ; परन्तु मनका भाव देखनेसे अर्थात् मेरे प्रति उसकी अनुरागव्यञ्जक विशेष चेष्टा देखनेसे बहुत कुछ आशा की जाती है, क्योंकि मनोभाव अकृतार्थ होने पर भी स्त्री और पुरुषकी परस्परकी जो कामना है, उससे धीरे धीरे दोनोंमें अनुराग उत्पन्न होता है ।" (शकुन्तला ३ अ०) यहां पर नायिकासम्भोगविषयिणी स्पृहा दिखलाई गई है, ऐसा मालूम होता है । जहां नायक और नायिकामेंसे किसी एक सम्भोगमें चेष्टा वा स्पृहा देखी जायेगा वहां ही विलास होगा ।

विलास आचार्य—निम्बार्क सम्प्रदायके एक गुरु । ये पुरुषोत्तमाचार्यके शिष्य और स्वरूपाचार्यके गुरु थे ।

विलासक (सं० त्रि०) १ भ्रमणशील, इधर उधर फिरनेवाला । २ विलास देखो ।

विलासकानन (सं० क्ली०) विलासोद्यान, केलिकानन, क्रीड़ा-उपवन ।

विलासदोला (सं० स्त्री०) क्रीड़ार्थ दोलाविशेष ।

विलासन (सं० क्ली०) विलास ।

विलासपरायण (सं० क्ली०) शौकीन, हमेशा आमोद-प्रमोदमें रत ।

विलासपुर – मध्यप्रदेशका एक जिला । यह अक्षा० २१′ ३७′ से ले कर २३′ ७′ ३० तथा देशा० ८१′१२ से ले कर ८३′४०′ पू०के मध्य अवस्थित है । इसका क्षेत्रफल ७६०२ वर्गमील है । इसके उत्तर छत्तीसगढका समतल भूभाग तथा महानदी, दक्षिण रायपुरका उन्मुक्त प्रान्तर पूर्व और दक्षिण-पूर्व रायगढ़ तथा सारनगढ़ राज्य और पश्चिम मैकाला नाम्नी पहाड़ीकी निम्नभूमि है । विलासपुर नगर इस जिलेका विचारसदर है ।

जिलेके चारों ओर प्राकृतिक सौन्दर्य्यसे परिपूर्ण है ; चारों ओर ऊंचे ऊंचे पहाड़ खड़े हैं । दक्षिणमें भी पहाड़ियोंका अभाव नहीं । किन्तु रायपुरकी ओर कुछ खुला हुआ है । इसी कारण इस स्थानसे रायपुरका समतल प्रान्तर सहजमें ही दृष्टिगोचर होता है । वास्तवमें विलासपुर जिला एक सुन्दर रङ्गमञ्च है । रायपुरकी ओरका खुला मैदान इसका प्रवेश-पथ है । यहांके पर्वतोंके प्रस्तरस्तर भूतत्त्वकी आलोचनाकी सामग्री हैं । जिलेके समग्र समतलक्षेत्रमें इसकी शाखा प्रशाखायें फैली हैं । बीच बीचमें एक एक शिखर इस गाम्भीर्यका भाव भङ्ग कर रहे हैं । किन्तु कहीं श्यामलशस्य पूर्ण मैदान, कहीं सुगभीर पहाड़ी खाद है, कहीं निविड़ वनमालाओंने उस पार्वत्य वक्षके स्थानोंको विशेष मनोरम बना रखा है । यहांका डाला नामक पहाड़का शिखर २६०० फीट ऊंचा है । विलासपुरके १५ मील पूर्व एक समतलक्षेत्रमें यह पहाड़ विराजित है । इससे इस पर खड़ा हो कर देखनेसे जिलेका बहुत अंश दिखाई देता है । इस पर्वत शिखरका उत्तरी अंश जङ्गलसे परिपूर्ण है और दक्षिणमें

समतल भूमि है। सूर्य्योत्तापमें प्रकाशित छोटे छोटे तालाब, ग्राम और आम, पीपल, इमली आदि ऊंचे वृक्षोंने डालाके शिखर पर खड़े हो कर समतल क्षेत्रकी एकताको भङ्ग कर दिया है। यदि किसीको विलासपुरके प्रकृत सौन्दर्यको देख कर अपने नेत्र परितृप्त करने हों, तो उसे चाहिये, कि समतल क्षेत्रको छोड़ कर पहाड़ों पर चढ़ जाये। वहां तरह तरहके वृक्ष प्रकृतिका माहात्म्य गा रहे हैं। फिर शक्ति, कवार्दा, माटिन और उपरोड़ा आदि १५ पहाड़ो सामन्तराज्य तथा सरकारी पतित जमीन वहांके कृषक द्वारा आबाद होनेसे वहांकी शोभा और भी बढ़ रही है। इन सब पहाड़ी जङ्गलोंमें हाथी पाये जाते हैं। कभी कभी झुण्डके झुण्ड हाथी उतर कर यहांकी खेतीबारीको नष्ट कर देते हैं। हास्दु नदीके किनारेवाले जङ्गलमें तथा पार्वतीय झरनोंके निकट प्रायः हाथी एकत्र होते हैं।

जिले भरमें महानदी ही एक बड़ी नदी है। वर्षामें यह दो मील तक फैल जाती है। किन्तु गर्मीके दिनोंमें गङ्गाकी तरह सूख जाती है और इसका सूखा कलेवर केवल बालुकामय चरके रूपमें दिखाई देता है। पूर्व वर्णित पर्वतमालाकी अधित्यकाभूमिकी अववाहिकासे हो कर नर्मदा और सोन नदी उद्भूत हुई हैं। महाराष्ट्रके अभ्युत्थानके पहले रत्नपुरके हैहयवंशीय राजाओं द्वारा यह स्थान शासित होता था। इस प्राचीन राजवंशका परिचय बतानेकी जरूरत नहीं, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्मणवेशमें इस राजवंशके राजा मयूरध्वजको छलने आये थे। हैहयराजवंश देखो।

साधारणतः रत्नपुरके राजाओंने छत्तीसगढ़ों पर अधिकार जमाया था। इसीसे इस राज्यका छत्तीसगढ़ नाम पड़ा था। शायद ७५० ई०में इस राजवंशके बारहवें राजा सुरदेवके सिहासनाधिकारके बाद छत्तीसगढ़राज्य दो भागोंमें विभक्त हो गया। सुरदेव सुपुरमें रह कर समग्र उत्तर भागका शासन करते थे और भाई ब्रह्मदेव रायपुरमें राज्य स्थापन कर समग्र दक्षिण भाग पर शासन करते थे। नौ पुश्तके बाद ब्रह्मदेवका वंश लोप हुआ। ऐसे समय रत्नपुरके एक राजकुमारने आ कर रायपुरका राज्यभार ग्रहण किया। इनके पुत्रके अधिकारकालमें महाराष्ट्र सेनाने छत्तीसगढ़ राज्य पर आक्रमण किया। उक्त छत्तीसों गढ़ वास्तवमें एक एक जमीन्दारी या तालुकका सदर है। राजकार्य्य सुशृङ्खलापूर्वक चलानेके लिये वहां एक एक दुर्ग बनवाया गया था। एक एक सरदारके अधीन ये सब स्थान 'खाम' या सामन्तराजकी शर्त्त पर शासित होते थे। साधारणतः राजाके आत्मीय ही सरदार पद पर नियुक्त होते थे। राजा सुरदेवके अंशमें जो १८ गढ़ थे, उनमें वर्त्तमान विलासपुर जिलेके ११ खालसा अधिकारमें और ७ जमींदारियोंकी शर्त्तमें राजाधिकारमें थे। सन् १४८० ई०में सुरदेवके वंशधर राजा दादुरावने रेवा नरेशके हाथ अपनी कन्याको समर्पण करनेके समय अपनी सम्पत्तिकी १८वीं कर्कती (करकारी) यौतुक या उपढौकन रूपमें दी थी। विलासपुरके पश्चिम पाण्डारिया और कवार्दा नामक जो सामन्तराज्य हैं, वे मण्डला गौंड़-राजवंशके अधिकारसे विच्छिन्न कर दिये गये। सन् १५२० ई०में सरगुजाराजके अधिकृत कोरवा प्रदेश और सन् १५०० ई०में महानदीके दक्षिणके फिलाइगढ़के सामन्तराज्य और पूर्वमें सम्बलपुरके अधिकृत किकार्दा नामक खालसा भूभाग विलासपुरके अन्तर्गत लिया गया।

सुरदेवके बाद उनके पुत्र पृथ्वीदेवने राजसिंहासन पर अधिरोहण किया। मलहर और अमरकण्टकके शिलाफलक आज भी उनकी कीर्त्तियोंकी घोषणा कर रहे हैं। वे शत्रुके भयोत्पादक और प्रजाके बन्धु थे। पृथ्वीदेवके बाद इस वंशके अनेक राजाओंने रत्नपुर सिंहासनको अलंकृत किया था। स्थानीय मन्दिर आदिमें उत्कीर्ण शिलाफलकों पर इन राजाओंके कीर्त्तिकलाप विघोषित हैं। सन् १५३६से १५७३ ई० तक राजा कल्याणशाहीका राज्यकाल था। उक्त राजा दिल्लीके मुगल बादशाहकी वश्यता स्वीकार करने पर सम्राट्ने उनको विशेष सम्मानसूचक उपाधि दी। इसके बाद रत्नपुरमें जिन सब राजाओंने स्वाधीनतापूर्वक राज्यशासन किया था, उनमें राजा कल्याणशाहीकी नवीं पीढ़ी नीचेके राजा राजसिंह अपुत्रक हुए। अपने समीपी आत्मीय और पितामहभ्राता सरदार सिंहको राजसिंहासनका यथार्थ उत्तराधिकारी जान कर भी

राजा उनको राजसिंहासन देने पर राजी न हुए। ब्राह्मणमन्त्रीके परामर्शानुसार और शास्त्र-प्रमाणसे राजमहिषीके गर्भसे ब्राह्मण द्वारा पुत्रोत्पादनकी व्यवस्था हुई। यथासमय रानी पुत्रवती हुई। इस पुत्रका नाम विश्वनाथ सिंह हुआ।

राजा विश्वनाथसिंहने रेवा-राजकन्याका पाणिग्रहण किया। विवाह हो जानेके बाद राजकुमार और राजकुमारी अदृष्टक्रीड़ामें रत थी। राजकुमार अपनी पत्नीकी प्रकृति जाननेके लिये कौशलसे जयलाभ कर रहे थे, यह देख राजकुमारीने उपहासच्छलसे कहा—"मैं तो हारूंगी ही, क्योंकि आप ब्राह्मण या राजपूत नहीं हैं।" रानीके इस वाक्यने राजाके हृदयमें भारी चोट पहुंचाई। वे पहलेसे अपने जन्मके सम्बन्धमें कुछ गड़बड़ बातें सुन चुके थे। राजकुमारीके इस वाक्यने उनका रहा सहा परदा फाड़ डाला। फलतः राजाने उसी समय घरसे निकल कर अपने कलेजेमें छूरे भोंक कर आत्महत्या कर ली।

राजा राजसिंह पुत्रका आकस्मिक मृत्यु-संबाद सुन कर बड़े ही शोकातुर हुए; किन्तु उस ब्राह्मण-मन्त्रीका परामर्श ही इस पुत्रशोकका कारण हुआ। यह भी वे अच्छी तरह समझ गये, कि इस ब्राह्मण-मन्त्रीके कुपरामर्शके कारण राजवंशमें कलङ्कका टीका लगा है। यह समझ कर, उन्होंने मन्त्रिवंशका ध्वंस करनेके लिये उस ब्राह्मण-मन्त्रीको ही नहीं उसके टोलेको तोपसे उड़ा दिया। इस ब्राह्मण-मन्त्रीके साथ उस टोलेके कोई चार सौ नरनारियोंकी जान गई। साथ ही राजवंशका यथार्थ ऐतिहासिक ग्रन्थ आदि भी विनष्ट हो गया।

इसके बाद रायपुर-राजवंशके मोहनसिंह नामक एक बलवीर्यशाली राजकुमारको राजा राजसिंहने अपना उत्तराधिकारी बनाया; किन्तु ब्रह्माका लिखा कौन मिटा सकता है। मोहनसिंह शिकार खेलनेके लिये निकल चुके थे। इसी दिन राजा राजसिंह घोड़ेसे गिर कर मृत्युमुखमें पतित हुए। फलतः मृत्युकालमें मोहनको न पा कर उन्होंने पूर्वोक्त सरदार सिंहके शिर अपना सिरताज पहना कर इहलोक परित्याग किया। यह सन् १७१० ई०की घटना है। राजाकी मृत्युके कई दिन बाद मोहनसिंह लौट आये। उन्होंने सिंहासन पर सरदार सिंहको बैठा देख अत्यन्त क्रोध प्रकाश किया; किन्तु उपाय न देख वे राज्य छोड़ कर चले गये।

सरदार सिंहकी मृत्युके बाद सन् १७३० ई०में उनके ६० वर्षके बुड्ढे भाई रघुनाथ सिंहने राजपद प्राप्त किया; किन्तु उन्होंने निर्विरोध राज्य नहीं कर पाया। आठ वर्षके बाद महाराष्ट्र-सेनापति भास्करपण्डितने ४० हजार सेनाओंके साथ विलासपुर पर आक्रमण किया। इस समय रघुनाथसिंह पुत्र-शोकसे विह्वल हो रहे थे। इसलिये वे वीरदर्पसे भास्करकी गतिको रोक न सके। महाराष्ट्रसेनाने राजप्रासादके अंशविशेषका भी ध्वंस कर दिया। छतसे एक रानीने सन्धिसूचक पताका फहराई। सन्धि तो हुई; किन्तु साथ ही इस राज्यका राजवंशख्याति भी विलुप्त हो गई। मरहठे राजासे बहुत धन लूटपाट कर ले गये ओर राजाको भोंसले राजाके अधीन राजकार्य परिचालनका भार दिया।

इस समय प्रतिहिंसा-परायण पूर्वोक्त मोहनसिंह महाराष्ट्रदलमें शामिल थे। महाराष्ट्र रघुजी भोंसले उनके कार्यसे बड़े सन्तुष्ट हुए थे। इसलिये रघुनाथ सिंहकी मृत्युके बाद उन्होंने मोहनसिंहको राजोपाधि दे कर विलासपुरकी राजगद्दी पर बैठाया। सन् १७५८ ई०में विम्बाजी भोंसले महाराष्ट्र नेतृपद पर प्रतिष्ठित हो रत्नपुरके राजसिंहासन पर बैठे।

प्रायः ३० वर्ष तक राज्य कर वे इहलोकसे चल बसे। उनकी विधवा पत्नी आनन्दी बाईने सन् १८०० ई० तक राज्यशासन किया।

इस समयसे सन् १८१८ ई०में आपा साहबकी राज्यच्युति तक कई सूबेदारोंने अति विशृङ्खलाके साथ विलासपुरका शासन किया। इस जिलेमें उस समय एक दल महाराष्ट्र-सेना रहते, पिण्डारी डाकुओंके उपद्रव और सूबेदारोंके अयथा करभारसे विलासपुर नष्ट होता देख अङ्गरेज कम्पनीने कर्नल एग्न्यूकको वहांका तत्त्वावधायक नियुक्त कर भेजा। सन् १८३० ई०में बालक रघुजी बालिग हुए। इन्होंने अपने जीवन भर राज्य किया। सन् १८५४ ई०में नागपुर अङ्गरेजोंके हाथ आया।

छत्तीसगढ़ राज्य पृथक् भावसे एक डिपटी कमिश्नर द्वारा शासन करनेका वन्दोवस्त हुआ। उस समय रायपुर ही उसका सदर माना गया था। किन्तु एक राजकर्मचारीके उक्त कार्यपरिचालनसे असमर्थ होने पर सन् १८६१ ई०में विलासपुर एक स्वतन्त्र जिलेके रूपमें परिगणित हुआ। इसके साथ ही उक्त छत्तीसगढ़का कुछ अंश अन्तर्निविष्ट हुआ था।

सुविख्यात सन् १८५७के बलवेके समय सोनाखानके सरदारके सिवा और कोई विद्रोही न हुआ। सोनाखान दक्षिण-पूर्व दिशामें एक सामन्तराज्य है। इसका राजा डाका डाल कई हत्याओंके अपराधमें पकड़े और जेल भेजे गये थे। इस बलवेके समय जेलसे छूट कर सोनाखानके राजाने अपने दुर्भेद्य क़िलेमें प्रवेश किया। कर्नल लूसी स्मिथने दलके साथ उनके दुर्ग पर आक्रमण किया और उनको गिरफ्तार कर उनके राज्यको अङ्गरेजी राज्यमें मिला लिया।

बङ्गाल-नागपुर रेल-पथ इस राज्यके भीतरसे गया है। इससे यहां व्यवसाय वाणिज्यकी बड़ी सुविधा है। यहांके पैदावारोंमें धान, रूई, चोनी, गेहूं, सरसों आदि प्रधान हैं। लोमी शैल और लमनी शैल पर तथा सोनाखानके वन्यप्रदेशमें प्रभूत परिमाणसे शालवृक्ष पैदा होता हैं। बनभागमें तसर और लाह अधिक होती है। यहां रेशमी और सूती कपड़ेका कारोबार बहुत दिखाई देता है। सन १८७० ई०में यहां प्रायः ६ हजार करघे चलते थे। जुलाहोंके सिवा यहांकी पन्था जाति भी कपड़ा बुननेका काम करती है। खेती-बारी पर भी इस जातिका वैसा ही हाथ है। जिलेके अधिकांश कपड़े इसी जातिके लोगों द्वारा तैयार होते हैं। प्रायः १८६१—६२ ई०में इस पन्था जातिका मङ्गल नामके एक व्यक्तिने प्रकाशित किया था, कि उसके शरीरमें देवताका आविर्भाव हुआ है। यह संवाद चारों ओर प्रचारित होने पर लोग उसको देखनेके लिये वहां आने लगे। वह चुपचाप एक दीप जला कर बैठा रहता और पूजा ग्रहण किया करता था। खेतीका काम करनेका समय उपस्थित हुआ। ऐसे समय मङ्गलने कहा, कि कोई खेती न बोवे, क्योंकि हमारे देवताका वर है, कि इस साल खेती आप ही आप होगी। इस विश्वास पर सभी किसान रह गये। खेती बोई न गई। फलतः फसल नहीं हुई। अन्तमें मालगुजारी बाकी पड गई। राजाको यह बात मालूम हुई। उन्होंने मङ्गलको गिरफ्तार कर जेलमें बन्द कर दिया। यहांकी भाषा हिन्दी है और कुछ इसमें पहाड़ी असभ्योंकी भाषा भी शामिल है। यहांकी जनसंख्या प्रायः १०१२६७२ है। यहां ६ फी सैकड़े बघेली हिन्दी बोली जाती है। यहां सनातनधर्मी और फकीरपन्थी इन दोनोंका जोर है। इस संख्यामें प्रायः १२००० मुसलमान हैं।

२ उक्त जिलेका एक उपविभाग। यह अक्षा० २१° ४३′ से ले कर २३° ७′ उ० तथा देशा० ८१° १४′ से ले कर ४२° ४०′ पू०के बीच अवस्थित है। इसका भूपरिमाण ५०८० वर्गमील है। जनसंख्या ४७२६८२ है। यहां तीन थाने और ७ चौकियां हैं।

३ विलासपुर जिलेका प्रधान नगर। यह नगर अर्पा (अरपा या अपरा) नदीके दक्षिण किनारे अवस्थित हैं। यह अक्षा० २२° ५′ उ० और देशा० ४२° १०′ पूर्वके मध्य अवस्थित है। यह शहर बङ्गालनागपुर रेलवेसे निकट है। यह वम्बईसे ७७६ मील तथा कलकत्तेसे ४४५ मील पड़ता है। यहांकी जनसंख्या १८६३७ है। इस नगरकी स्थापनाके सम्बन्धमें प्रवाद है, कि एक मछवाहेकी विलास नाम्नी एक पत्नीने इस नगरको अपने नाम पर बसाया था। यह अबसे प्रायः सवा तीन सौ वर्षकी घटना है। पहले यह मछवाहोंका एक गांव था। एक सौ वर्ष पहले एक महाराष्ट्र राजकर्मचारीने अपने राजकार्य्यपरिचालनकी सुविधाके लिये रहना निश्चय कर यहां एक प्रासाद बनवाया। यह प्रासाद अर्पा नदीके किनारे बना था। इस प्रासादके साथ ही यहां एक जिला भी बनाया गया था। उस समयसे यह नगर क्रमसे समृद्धिपूर्ण होता आ रहा है। किन्तु पिछले समयमें महाराष्ट्र जब राजपाट यहांसे उठा रत्नपुर ले गये, तब इसकी कुछ श्री उतर गई थी। सन् १८६२ ई०में यह नगर अङ्गरेजों द्वारा सदररूपसे मनोनीत होने पर फिर एक बार समृद्धिपूर्ण हो उठा। यहां बङ्गालनागपुररेलवेका एक स्टेशन है।

विलासपुर—युक्तप्रदेशके रामपुर रियासतकी एक तहसील। यह उक्त रियासतके उत्तर-पश्चिम ओर अक्षा० २८° ४४´ से ले कर २९° १´ उ० तथा देशा० ७९° १०´ से ले कर ७९° २६´ पू०के मध्य अवस्थित है। इसकी जनसंख्या ७३४५० है। इसका क्षेत्रफल २०४ वर्गमील है। यहां प्रतिवर्ष ३०८००० रुपया राजस्व वसूल होता है। यहां कई झरने और एक नहर है। ६६ वर्गमीलमें खेती होती है। इस तहसीलमें २२३ गांव और एक विलासपुर नगर है।

विलासपुर—पञ्जाबके पहाड़ी सामन्त राज्योंमें एक। इस समय इसका कहलूर नाम है। कहलुर शब्द देखो। विलासपुर उक्त राज्यकी राजधानी है। राजधानीके नाम पर कुछ लोग इस सामन्तराज्यको विलासपुरके नामसे पुकारते हैं। यह नगर शतद्रु के किनारे समुद्रकी ऊपरी सतहसे १४५५ फोट ऊंचा है। नगरसे एक कोस पर शतद्रु को पार करनेका घाट है। इसी स्थानके द्वारा यहांका पञ्जाबसे व्यवसाय चलता है। राजप्रासाद में वैसी कोई खूबी नहीं है। नगर और बाजारके रास्ते और इमारतें पत्थरकी बनी हैं। गोरखे डाकुओंके उपद्रवसे नगर कुछ श्रीहीन हो गया है।

विलासभवन (सं० क्लो०) क्रीड़ागृह, रङ्गालय, नाचघर।

विलासमणिदर्पण (सं० त्रि०) शौकीनताका शीर्षस्थानीय मणिनिर्मित दर्पणके समान।

विलासमन्दिर (सं० क्लो०) विलासस्य मन्दिर। क्रीड़ागृह।

विलासमेखला (सं० स्त्री०) अलङ्कारभेद।

विलासवत् (सं० त्रि०) विलासविशिष्ट, विलासी।

विलासवती (सं० स्त्री०) राजकुलललनाभेद। (वासवदत्ता)

विलासवसति (सं० स्त्री०) क्रीड़ागृह, प्रमोदभवन।

विलासविपिन (सं० क्ली०) विलासस्य विपिनं। क्रीड़ावन।

विलासविभवानस (सं० त्रि०) लुब्ध, पाया हुआ। (जटाधर)

विलासवेश्मन् (सं० क्ली०) विलासभवन, क्रीड़ागृह।

विलासशय्या (सं० स्त्री०) सुखशय्या।

विलासशील (सं० त्रि०) १ विलासी। (पु०) राजपुत्रभेद।

विलासस्वामी (सं० पु०) शिलालिपि-वर्णित एक ब्रह्मचारी और पण्डित।

विलासिका (सं० स्त्री०) उपरूपक नाटिकाभेद। इस नाटिकाके एक अङ्कमें शृङ्गार रसकी बहुत अधिकता होगी और यह दश नृत्याङ्क द्वारा परिपूरित होगा। शृङ्गारसहाय विदूषक और विट तथा प्रायः नायकके समान पीठमर्द आदि भी रखना होगा, इससे गर्भ और निमर्ष ये दो सन्धियाँ तथा प्रधान कोई नायक नहीं रहेगा। इस नाटिकामें वृत्तके छन्दोबन्धकी अल्पता तथा अलङ्कार या वेशभूषा आदि बहुत रहता है। (साहित्यद० ६।५५२)

विलासिता (सं० स्त्री०) बिलासीका भाव या धर्म।

विलासित्व (सं० क्ली०) विलासिता।

विलासिन् (सं० पु०) विलासोऽस्यास्तीति विलास-इनि। १ भोगी, सुख भोगमें अनुरक्त पुरुष, कामी। २ जिसे आमोद-प्रमोद पसंद हो, क्रीड़ाशील, हँसोड़। ३ ऐश आराम पसंद, आराम तलब। ४ सर्प, साँप। ५ कृष्ण। ६ अग्नि। ७ चन्द्रमा। ८ स्मर, कामदेव। ९ हर, महादेव। १० वरुण वृक्ष, बरुन।

विलासिनिका (सं० स्त्री०) विलासिनी।

विलासिनी (सं० स्त्री०) १ सुन्दरी युवा स्त्री, कामिनी। २ वेश्या, गणिका। ३ हरिद्रा, हल्दी। (राजनि०) ४ शङ्खपुष्पी। (वैद्यकनि०) ५ एक वृत्तका नाम। इसके प्रत्येक चरणमें ज, र, ज, ग, ग होते हैं।

विलासी (सं० पु०) विलासिन देखो।

विलास्य (सं० क्ली०) प्राचीनकालका एक प्रकारका बाजा। इसमें बजानेके लिये तार लगे होते थे।

विलिखन (सं० क्ली०) वि-लिख-ल्युट्। १ लिखना। २ खनन करना, खोदना। ३ खरोचना।

विलिखा (सं० स्त्री०) मत्स्यभेद, एक प्रकारकी मछली। (वैद्यक० नि०)

विलिखित (सं० त्रि०) १ लिखा हुआ। २ खुदा हुआ। ३ खरोचा हुआ। (अथर्व० ५।१३।७)

विलिगी (सं० स्त्री०) नागभेद। (भारत सभापर्व)

विलिङ्ग (सं० क्ली०) अन्य लिङ्ग।

विलिनाथ कवि --मदनमञ्जरी नामक नाटकके प्रणेता ।

विलिप्त (सं० त्रि०) लिपा हुआ, पुता हुआ ।

विलिप्ता (सं० स्त्री०) एक सेकेण्डका $\frac{१}{३६००}$ परिमाण काल। (गणित)

विलिप्तिका (सं० स्त्री०) कालभेद। विलिप्ता देखो ।

विलिप्ती (सं० स्त्री०) ज्ञानलोपकी अवस्था ।

(अथर्व्व० १२।४।४१)

विलिष्ट (सं० त्रि०) १ टूटा हुआ, उखड़ा हुआ । ३ अस्तव्यस्त, जो ठीक अवस्थामें न हो ।

विलिस्तेङ्गा (सं० स्त्री०) दानवीभेद । (काठक १३।५)

विलीक (हिं० पु०) अनुचित, नामुनासिब ।

विलीढ़ (सं० स्त्री०) वि-लिह् -क्त। दृढ़न्यस्त ।

(अथर्व्व १।१८।४)

विलीन (सं० त्रि०) वि-ली-क्त । १ लुप्त, जो अदृश्य हो गया हो । २ क्षयप्राप्त, नष्ट। ३ छिपा हुआ । ४ जो मिल गया हो। जैसे—पानीमें नमक विलीन हो गया ।

विलीयन (सं० क्ली०) गलना ।

(आश्व० श्रौत० २।६।१० भाष्य)

विलुण्ठन (सं० क्ली०) वि-लुण्ठ-ल्युट् । विशेष रूपसे लुण्ठन ।

विलुण्ठित (सं० स्त्री०) अवलुण्ठित ।

विलुप्त (सं० त्रि०) वि-लुप् -क्त। १ तिरोहित, जिसका लोप हो गया हो, नष्ट। २ लुण्ठित, लूटा हुआ । ३ छिन्न। ४ आक्रान्त। ५ गृहीत ।

विलुप्तयोनि (सं० स्त्री०) एक प्रकारका योनिरोग। इस रोगमें योनिमें हमेशा पीड़ा होती रहती है।

विलुप्य (सं० त्रि०) विलोपके योग्य ।

विलुभित (सं० त्रि०) चञ्चल ।

विलुम्पक (सं० पु०) चौर, चोर ।

विलुलक (सं० त्रि०) नाश करनेवाला ।

विलुलित (सं० त्रि०) वि-लुल् क्त । १ चञ्चल, ̣
वोदुल्यमान। २ विदूरित । २ विशेष भावमें

विलून (सं० त्रि०) कटा हुआ

विलेख (सं० पु०) ामलकी, आँवला ।

२ उत्खाता‌‌ ० त्रि०) विशेषेण लोलः। १ चञ्चल,
विलेखन । २ अति लोभी, बड़ा लालची । ३ सुन्दर।

खोदना। २ खिरोचना । ३ फाड़ना। ४ जड़ उखाड़ना। ५ जोतना। ६ विभाग करना, बांटना ।

विलेखिन् (सं० त्रि०) विलेखनकारी, भेद करनेवाला ।

विलेतृ (सं० त्रि०) वि-ली-तृच् । (पा ६।१।५१) १ विलयकारी, विनाश करनेवाला। २ द्रवकारी ।

विलेप (सं० पु०) वि-लिप-घञ् । १ लेप, शरीर आदि पर चुपड़ कर लगानेकी चीज। २ पलस्तर, गारा ।

विलेपन (सं० क्ली०) विलिप्यन्तेऽङ्गान्यनेनेति वि-लिप-ल्युट्। १ लेप करने या लगानेकी क्रिया, अच्छी तरह लीपना, लगाना। २ लगाने या लेप करनेका पदार्थ। जैसे—चन्दन केसर आदि ।

विलेपनिन् (सं० त्रि०) विलेपनमस्त्यस्य। विलेपनविशिष्ट ।

विलेपनी (सं० स्त्री०) वि-लिप-ल्युट् कर्मणि, करणे वा। १ यवागू, जौकी कांजी। २ सुवेशा स्त्री ।

विलेपिका (सं० स्त्री०) विलेपी ।

विलेपिन् (सं० त्रि०) विलेपयति यः वि-लिप-णिनि। लेपनकर्त्ता, पोतनेवाला ।

विलेपी (सं० स्त्री०) विलिप्यतेऽसौ इति वि लिप-घञ् (कर्मणि) स्त्रियां ङीष् । यवागू ।

रोगीके पूर्वाभ्यस्त आहार्य्य अन्नके अर्थात् रोग होनेके पहले दैनिक हिसावसे जितना चावल खाया जाता है, उसका चतुर्थांश चावल ले कर शिलादि पर अच्छी तरह पोसे और चौगुने जलमें उसका पाक करे। पाक शेष होने पर जब द्रव भाग घट जाये, तब उसे उतार ले। इस प्रकार जो अन्न प्रस्तुत किया जाता है, उसे विलेपी कहते हैं।

विलेपी लघु होती है । इसके खानेसे अग्नि प्रदीप्त होती है। यह हृद्रोग, व्रण (क्षत) और अक्षिरोगमें .ज्वलपत्र (सं ०नल, ज्वर और तृष्णानाशक है। इससे चढ़ानेके काममें आतः ष्टिता और शुक्रकी वृद्धि होती है।

विल्वपर्णी (सं० स्त्री०) वा तुत प्रणाली और गुण इस
(चरक

विल्वपेशिका (सं० स्त्री०) शुष्कविल्वखण्ड, बेलसोंठ । यह .लमा
कफ, वायु, आमशूल और ग्रहणीको शान्त त विभिन्न
मानी गई है। (राजनि०)
एक हाथके

कुछ भुने चावलको छः गुने जलमें पाक करनेसे विलेपी बनती है। यह विलेपी लघु, अग्निवृद्धिकर तथा ज्वरनाशक है।

विलेप्य (सं० त्रि०) वि-लिप-यत्। १ लेपनयोग्य, लेप देने लायक। (पु०) २ यवागू, जौको कांजी।

विलेवासिन् (सं० पु०) विले गर्त्ते वसतीति विले-वस-णिनि शयवासेति सप्तम्या अलुक्। (पा ६।३।१८) सर्प, सांप।

विलेशय (सं० पु०) विले शेते विले शा-अच् अधिकरणे शेतेः (पा ३।२।१५) शयवासेत्यलुक्। १ सर्प, सांप। २ मूषिक, चूहा। ३ जो विल या दरारमें रहता हो। गोह, बिच्छू, शशक आदि जन्तु बिलमें रहते हैं, इसलिये उन्हें विलेशय कहते हैं। इनके मांस वायुनाशक, रस और पाकमें मधुर, मलमूत्ररोधक, उष्णवीर्य और वृंहण होते हैं।

राजनिघण्टुमे इनका मांस श्वास, वात और कास-नाशक तथा पित्त और दाहकारक माना गया है।

कोकड़ नामक एक प्रकारका मृग होता है, वह भी विलेशय कहलाता है। उसका मांस अतीव गर्हित होता है, क्योंकि वह अत्यन्त दुर्ज्जर, गुरुपाक और अग्निमान्द्यकर होता है।

(त्रि०) ४ गर्त्तमें शायित, बिलमें सोया हुआ।

विलोक (सं० पु०) १ दृष्टि। २ विशिष्ट लोक, बड़ा आदमी।

विलोकन (सं० क्ली०) वि-लोक-ल्युट्। १ अवलोकन, आलोकन, देखना। २ नेत्र, जिससे देखा जाता है।

विलोकना (हि० क्रि०) १ देखना। २ अवलोकन करना। बिलोकना देखो।

विलोकनि (सं० स्त्री०) बिलोकनि देखो।

विलोकनीय (सं० त्रि०) दर्शनीय, द्रष्ट, प्रमोदभवन।

विलोकित (सं० त्रि०) वि-लोविलासस्य विपिनं। क्रोड़ा-हुआ।

विलासोविभवानस (सं० त्रि०) लुब्ध, पाया हुआ। (जटाधर)

विलासवेश्मन् (सं० क्ली०) विलासभवन, क्रोड़ागृह।

विलासशय्या (सं० स्त्री०) सुखशय्या।

विलोचन (सं० क्ली०) विलोच्यते दृश्यतेऽनेनेति वि-लोचि-ल्युट्। १ चक्षु, आँख। २ पुराणानुसार एक नरकका नाम। इसमें मनुष्य अन्धा हो जाता है और न देखनेके कारण अनेक यातनाएं भोगता है। ३ लोचन-रहित करनेकी क्रिया, आंखे फोड़नेकी क्रिया। (त्रि०) ४ विकृत-नयनविशिष्ट।

विलोचनपथ (सं० पु०) नेत्रपथ, चक्षुगोचर।

विलोटक (सं० पु०) वि-लुट्-ण्वुल्। एक प्रकारकी मछली, बेला मछली।

विलोटन (सं० क्ली०) वि लुट्-ल्युट्। विलुण्ठन।

विलोड़ (सं० पु०) आलोड़न।

विलोड़न (सं० क्ली०) वि लुड़ ल्युट्। १ मन्थन। २ आलोड़न।

विलोड़ना (हि० क्रि०) बिलोड़ना देखो।

विलोड़यितृ (सं० त्रि०) आलोड़न करनेवाला।

विलोड़ित (सं० त्रि०) वि-लुड़-क्त। १ आलोड़ित, मथित। (क्ली०) २ तक्र, मट्ठा।

विलोना (हिं० क्रि०) बिलोना देखो।

विलोप (सं० पु०) वि-लुप-घञ्। १ लोप, विनाश। २ हानि, नुकसान। ३ विघ्न, बाधा। ४ आघात। ५ रुकावट। ६ किसी वस्तुको ले कर भाग जानेकी क्रिया।

विलोपक (सं० त्रि०) १ लोपकारी, नाश करनेवाला। २ दूर करनेवाला। ३ ले कर भागनेवाला।

विलोपन (सं० क्ली०) वि-लुप-ल्युट्। विलोप करनेकी क्रिया। विलोप देखो।

विलोपना (हिं० क्रि०) १ लोप करना, नाश करना। २ ले कर भागना। ३ विघ्न डालना, बाधा उपस्थित करना।

विलोपिन् (सं० त्रि०) वि-लुप्-णिनि। विलोपकारी, नाश करनेवाला।

विलि[illegible] (सं० त्रि०) वि-लुप्-तृच्। १ विलोपकर्त्ता।

लोप करने या हानि करने योग्य।

विलिखित (सं० त्रि०) १

र। १ प्रलोभन। २ मोह।

३ खरोचा हुआ।

सी प्रकारका

विलिगी (सं० स्त्री०) नागभेद। (अथ

विलिङ्ग (सं० क्ली०) अन्य लिङ्ग। (भारत स

विलोभन (सं० क्ली०) वि-लुभ-ल्युट्। १ लोभ दिलानेकी क्रिया। २ मोहित या आकर्षित करनेका व्यापार। ३ कोई बुरा कार्य्य करनेके लिये किसीको लोभ दिलानेका काम, ललचाना।

विलोम (सं० त्रि०) १ विपरीत, उलटा। पर्य्याय—प्रतिकूल, अपसव्य, अपष्ठुर, वाम, प्रसव्य, विलोमक। २ लोभरहित। (पु०) ३ सर्प, सांप। ४ वरुण। ५ कुक्कुर, कुत्ता। ६ सङ्गीतमें ऊंचे स्वरसे नीचे स्वरकी ओर आना, स्वरका अवरोह, उतार। ७ ऊंचेकी ओरसे नीचेकी ओर आना। (क्ली०) ८ अरघट्टक, रहट।

विलोमक (सं० त्रि०) वि-लोम स्वार्थे-कन्। विपरीत, प्रतिकूल।

विलोमक्रिया (सं० स्त्री०) वह क्रिया जो अन्तसे आदिकी ओर जाय, उलटी ओरसे होनेवाली क्रिया।

विलोमज (सं० त्रि०) विलोम-जन-ड। विलोमजात, प्रतिलोमज, अनन्तर वर्णमें न उत्पन्न हो कर विपरीतभावमें उत्पन्न। जैसे,—शूद्रके औरससे ब्राह्मणीकी गर्भजात सन्तान।

विलोमजात (सं० त्रि०) विपरीत भावमें जात, विलोमज।

विलोमजिह्व (सं० पु०) हस्ती, हाथी।

विलोमत्रैराशिक—विपरीत भावमें किया हुआ त्रैराशिक।

विलोमन् (सं० त्रि०) १ विलोभ, विपरीत। २ लोभरहित, केशहीन। (पु०) ३ यदुवंशीय एक राजाका नाम। ये कुकुरके पुत्र थे। (भागवत ९।२४।१९)

विलोमपाठ (सं० पु०) उलटा वेद पाठ करना।

विलोमवर्ण (सं० त्रि०) १ विलोमजात। (पु०) २ वर्णसंकर जाति, दोगली जाति।

विलोमाक्षरकाव्य—रामकृष्णकाव्य। इसका अक्षर योजन विपरीतभावसे है इसलिये इसका विलोमाक्षर काव्य नाम पड़ा है।

विलोमित (सं० त्रि०) १ विपरीत। २ विशेष भावमें लोमयुक्त।

विलोमी (सं० स्त्री०) आमलकी, आँवला।

विलोल (सं० त्रि०) विशेषेण लोलः। १ चञ्चल, चपल। २ अति लोभी, बड़ा लालची। ३ सुन्दर।

विलोलन (सं० क्ली०) कम्पन, काँपना।

विलोहित (सं० त्रि०) १ अतिशय लोहित, घोर लाल। (पु०) २ सर्पभेद, एक प्रकारका साँप।

विल्ल (सं० क्ली०) १ हिंगु, हींग। विल्ल देखो। २ आलवाल।

विल्लमूला (सं० स्त्री०) वाराहीकन्द।

विल्लसू (सं० स्त्री०) दश पुत्रकी माता, वह स्त्री जिसके दश पुत्र हुए हों।

विल्व (सं० पु०) विल भेदने उः उल्वादयश्चेति साधुः। १ बेल वृक्ष, बेलका पेड़। (क्ली०) २ विल्वफल, बेल। बिल्व देखो।

विल्वजा (सं० स्त्री०) शालिधान्यविशेष। इसके रूप गुणादि यथा—यह धान्य मागधी नामक शालिधान्यके समान पीला और तद्गुणयुक्त अर्थात् कफवातज तथा रुचि और बलकारक, मूत्रदोषघ्न और श्रमापहारक होता है।

विल्वतैल (सं० क्ली०) कर्णरोगाधिकारोक्त तैलविशेष। प्रस्तुत प्रणाली—तिलतैल ४ सेर, बकरीका दूध १६ सेर, गोमूत्रपिष्ट बेलसोंठ १ सेर, इन सब द्रव्योंको एकत्र पाक करके नीचे उतार ले, पीछे बाधिर्य और कर्णनादरोगमें व्यवहार करे। व्यवहार करनेके पहले पुराने गुड़ और सोंठ जलकी सुंघनी ले कर उसके बाद यह तेल कानमें डालना होता है।

दूसरा तरीका—तिलतैल १ सेर, बकरीका दूध ४ सेर, गोमूत्र ४ सेर, कच्चा बेल या बेलसोंठ १६ तोला, इन्हें एकत्र करके जब सिर्फ तेल बच जाय अर्थात् दूध और गोमूत्र दूर हो जाय, तब उसे उतार कर तेल छान ले। यह तेल कानमें देनेसे वातश्लैष्मिक बधिरतामें बड़ा फायदा पहुंचता है।

विल्वपत्र (सं० क्ली०) बेलका पत्ता जो शिव पर चढ़ानेके काममें आता है। बेलपत्र।

विल्वपर्णी (सं० स्त्री०) वातघ्न पत्रशाकविशेष। (चरक सूत्र स्था० २७ अ०)

विल्वपेशिका (सं० स्त्री०) शुष्कविल्वखण्ड, बेलसोंठ। यह कफ, वायु, आमशूल और ग्रहणीको शान्त मानी गई है। (राजनि०)

विल्वमङ्गल (सं० पु०) भक्त और महाकवि सूरदासका अन्धे होनेसे पूर्वका नाम। बिल्वमङ्गल ठाकुर देखो।

विल्वमध्य (सं० क्ली०) १ विल्वशल्य। २ बेल सोंठ।

विल्वा (सं० स्त्री०) हिंगुपत्री।

विल्वादिकषाय (सं० पु०) वातज्वरनाशक कषाय (पाचन)-विशेष। विल्वमूल, सोनापाठा, गम्भारी, पारुली, गनियारी, गुड़ूची, आमलकी और धनिया, इनमेंसे प्रत्येक चौअन्नी भर लेकर आध सेर जलमें पाक करे। जब आध पाव अंदाज रह जाये, तब नीचे उतार कर महीन कपड़ेसे छान ले। उसके पीनेसे वातज्वर नष्ट होता है।

विल्वान्तर (सं० पु०) १ कण्टकिवृक्षविशेष। २ उशीर नामक वीरतरु, खस। तेलगू भाषामें इसे वेणुतुरुचेट्टु कहते हैं। इसका फूल जातिफलके बराबर तथा सफेद, काला, लाल, बैंगनी और हल्दी आदि रंगका होता है और इसके पत्ते शमिवृक्षके पत्तेके समान होते हैं। इसका गुण—कटु, उष्ण, आग्नेय, वातरोग और सन्धिशूल नाशक। (राजनि०)

भावप्रकाशमें इसका गुण इस प्रकार लिखा है—

विल्वान्तररसमें और पाकमें तिक्त, उष्णवीर्य, कफ, मूत्राघात और अश्मरीरोगनाशक, संग्राही (धारक) तथा योनि, मूत्र और वायुरोगनाशक है। ३ जाङ्गलदेश। ४ नर्मदातट। ५ चर्मण्वती नदीके समीप।

विवंश (सं० पु०) १ विशिष्ट वंश। २ वंशरहित।

विव (हिं० वि०) १ दो। २ द्वितीय, दूसरा।

विवि देखो।

विवक्त (सं० पु०) १ बहुत बोलनेवाला, वाचाल। २ स्पष्ट बोलनेवाला। ३ वक्ता, वाग्मी।

विवक्तृ (सं० त्रि०) १ विशिष्ट वक्ता, बहुत बोलनेवाला। २ किसी बातको प्रकट करनेवाला। ३ दुरुस्त करने या सुधारनेवाला, संशोधन करनेवाला।

विवक्तृत्व (सं० क्ली०) विशिष्ट वक्ताका भाव वा धर्म।

विवक्वस् (सं० त्रि०) विशिष्ट वक्ता, जो स्तुतिवाक्य कहनेमें निपुण हो।

सं० त्रि०) वि वच् (वा वह) सन् ल्युट्। १ ज्ञाप विलासवेश्मीय, स्तुत्य। जिसको कोई अभिप्रेत विषय विलासश जताया या कहा जा सके अथवा जिसकी विशेषरूपसे स्तुति की जाय, उसे विचक्षण कहते हैं।

२ प्राप्तव्य, पाने लायक। (ऋक् ८।१।२५) ३ हवनशील, आहुतिप्रदाता। (ऋक् ८।३५।२३)

विवक्षा (सं० स्त्री०) वक्तुमिच्छा वि-वच्-सन्-अच् स्त्रियां टाप्। १ कोई बात कहनेकी इच्छा, बोलनेकी इच्छा। व्याकरणमें लिखा है कि, "विवक्षावशात् कारकाणि भवन्ति" विवक्षानुसार ही कारक होते हैं अर्थात् वक्ता जिस भावमें बोलना चाहे, उसी भावमें बोल सकते हैं। पीछे उनके उसी प्रयोगानुसार कारकादिका निर्णय करना होता है। जैसे—"धनं याचते राजभ्यः" राजाओंसे धनकी जांचना करता है। "परशुश्छिनत्ति" परशु (कुठार) (वृक्षको) काट रहा है। प्रथम स्थलमें राजाओंको अर्थात् 'राजाओंसे' इस अर्थमें 'राजभ्यः' (चतुर्थी) वा 'राज्ञः' (द्वितीया) इन दोनोंके प्रयोगमें वक्ता "विवक्षावशात्" "कारकाणि भवन्ति" इस प्राचीन अनुशासनानुसार उसकी (उन दोनों पदोंकी) जो इच्छा होती है, वे उसीका प्रयोग कर सकते हैं। द्वितीय स्थलमें भी प्रदर्शितरूपसे अर्थात् परशु (स्वयं) काट रहा है। इन दोनोंका जिस प्रकार चाहे वक्ता प्रयोग कर सकते हैं। अभी इनमेंसे कहां पर कैसी विवक्षा की गई, वही लिखा जाता है,—प्रथम स्थलमें राज शब्द 'याचते' यह याच् धात्वर्थ द्विकर्मक 'याच' धातुका गौणकर्म है, इस कारण इसके उत्तरमें द्वितीया विभक्तिका ही होना उचित है; किन्तु वहां पर यदि वक्ता इच्छा करके चतुर्थी विभक्ति करे, तो फलितार्थमें जानना होगा, कि वक्ताने कर्म या द्वितीयाकी जगह चतुर्थी की है। द्वितीय स्थलमें भी इसी प्रकार जानना होगा, कि करण कारकका वक्तृत्व विवक्षा हुई है, क्योंकि कोई एक कर्त्ता नहीं रहनेसे अचेतन पदार्थ परशुको स्वयं छेदन करनेकी शक्ति नहीं है। दूसरे दूसरे स्थानोंमें भी घटनानुसार विचार कर इसी प्रकार जान लेना होगा।

२ शक्ति। (एकादशीतत्त्व)

विवक्षित (सं० त्रि०) वि वच सन्-क्त। जिसकी आवश्यकता या इच्छा हो, इच्छित, अपेक्षित। २ शक्यार्थ।

विवक्षु (सं० त्रि०) 'ब्रुवः सनि वच्यादेशे' (सनाशंसभिक्ष उः) इति उ प्रत्ययः। बोलनेका इच्छुक।

विवचन (सं० क्ली०) वि-वच-ल्युट्। प्रवचन, कथन।

विवत्स (सं० पु०) १ गोवत्स, गायका बछड़ा। २ शिशु, बच्चा। (त्रि०) ३ वत्सहीन, बिना बच्चेका।

(भागवत १।१६।१९)

विवदन (सं० क्ली०) वि-वद-ल्युट्। १ विवाद, कलह। २ बुद्धका उपदेश।

विवदमान (सं० त्रि०) वि वद-शानच्। विवादकर्त्ता, कलह करनेवाला।

विवदितव्य (सं० त्रि०) विवादके योग्य।

विवदिष्णु (सं० त्रि०) विवाद करनेमें इच्छुक।

विवध (सं० पु०) विविधो वधो हननं गमनं वा यत्र। १ वीवध, धान चावल आदि लेना। २ राजमार्ग, चौड़ी सड़क। ३ व्रीहितृणादिका हरण, धान घास आदिका चुराना। ४ भार ढोनेकी लकड़ी बंहगी। ५ भार, बोझ। ६ वह लकड़ी जो बैलोंके कंधों पर उस समय रक्खी जाती है जब उन्हें कोई वस्तु खींच कर ले जानी होती है। जुआठा। ७ भूसे या अनाजकी राशि।

विवधिक (सं० पु०) विवधेन हरतीति विवध-ठन्। (विभाषा विवधवीवधात्। पा ४।४।१७) वैवधिक।

विवन्दिषु (सं० त्रि०) वन्दना करनेमें इच्छुक।

विवन्धक (सं० पु०) १ रोकनेवाला। २ कोष्ठवद्धता, कब्जियत।

विवन्धन (सं० पु०) रोक, बंधन।

विवन्धिक (सं० त्रि०) १ विवन्धयुक्त। २ विवधिक।

विवयन (सं० क्ली०) वयन, बोना।

विवर (सं० क्ली०) वि-वृ-पचाद्यच्। १ छिद्र, बिल। २ दोष, ऐब। ३ अवकाश, छुट्टी। ४ विच्छेद, जुदाई। ५ पृथक्, अलग। ६ कालसंख्याभेद। ७ गर्त्त, दरार। ८ गुफा, कन्दरा।

विवरण (सं० क्ली०) वि-वृ-ल्युट्। १ व्याख्या, किसी वस्तुको स्पष्टरूपसे समझानेकी क्रिया। २ वर्णन, वृत्तान्त। ३ भाष्य, टीका। ४ अर्थप्रकाश। ५ प्रकाश।

विवरनालिका (सं० त्रि०) विवरयुक्तं नालं यस्याः। १ वेणु, बांस। २ बंशी, बांसुरी।

विवरिषु (सं० त्रि०) प्रकाश करनेमें इच्छुक।

विवरुण (सं० त्रि०) वरुणकार्यविशेष।

विवर्चस् (सं० त्रि०) दीप्तिहीन, जिसमें चमक दमक न हो।

विवर्जक (सं० त्रि०) परित्यागकारी, छोड़नेवाला।

विवर्जन (सं० क्ली०) १ त्याग करनेकी क्रिया, परित्याग। २ अनादर, उपेक्षा।

विवर्जनीय (सं० त्रि०) वि-वर्ज-अनीयर्। त्याज्य, छोड़ने लायक।

विवर्जित (सं० त्रि०) १ वर्जित, मना किया हुआ। २ उपेक्षित, अनादरित। ३ वञ्चित, रहित।

विवर्ण (सं० पु०) विरुद्धो वर्णः। १ नीचजाति, हीनवर्ण। २ साहित्यमें एक भावका नाम। इसमें भय, मोह, क्रोध, लज्जा आदिके कारण नायक वा नायिकाके मुखका रंग बदल जाता है।

(त्रि०) ३ नीच, कमीना। ४ नीच जातिका। ५ नीच पेशा या व्यवसाय करनेवाला। ६ कुजाति। ७ जिसका रंग खराब हो गया हो। ८ रंग बदलनेवाला। ९ बदरंग, बुरे रंगका। १० जिसके चेहरेका रंग उतरा हुआ हो, कान्तिहीन।

विवर्णता (सं० स्त्री०) विवर्णका भाव या धर्म, मालिन्य, दीप्तिहीनता, कान्तिशून्यता, निष्प्रभता।

विवर्णत्व (सं० क्ली०) म्लानगात्रता।

विवर्णमनीकृत (सं० त्रि०) अविवर्णमनः विवर्णमनः कृतं अभूततद्भावे च्वि। मलिनीकृत, कुरूप किया हुआ।

विवर्त्त (सं० पु०) वि-वृत्-घञ्। १ समुदय, समूह। २ अपवर्त्तन, परिवर्त्तन। ३ नृत्य। ४ प्रतिपक्ष। ५ परिणाम, समवायिकारणसे तदीय विसदृश (विभिन्नरूप) कार्यकी उत्पत्ति। समवायिकारण = अवयव, कार्य = अवयवी। इन सब कारणोंसे जिन सब कार्योंकी उत्पत्ति होती है, वे प्रायः उन्हीं कारणोंके विसदृश हैं अर्थात् आकृतिप्रकृतिगत विभिन्नताप्राप्त है। जैसे, हस्तपदादि अङ्गप्रत्यङ्ग आदिके मेलसे उत्पन्न देहसमष्टि, पृथक्भावसे उनमेंसे प्रत्येकके साथ आकृतिगत विभिन्न है अर्थात् सम्पूर्ण देह जो एक उंगली वा एक हाथके

समान नहीं है वह स्पष्ट दिखाई देता है। तरलशुक्र और शोणितके मेलसे जो कठिन देह बनी है, वह भी समवायिकारणसे तदीय विसदृश (भिन्नाकार) कार्य्यकी उत्पत्ति है। सांख्यतत्त्वकौमुदीमें इस विषयमें कुछ आभास मिलता है। वहां लिखा है,—'एकस्य सतो विवर्त्तः कार्य्यजात नतु वस्तुमत्' कार्य्यजात (कार्य्यसमूह) अर्थात् जगत् एक नित्यपदार्थका विवर्त्तमात्र है, वस्तु (जनपदार्थ) अर्थात् वह जगत् सत् (नित्य) नहीं है।

६ भ्रान्ति, भ्रम। ७ आवर्त्त, भौंरी। ८ विशेषरूपसे स्थिति। ९ आकाश।

विवर्त्तकल्प (सं० पु०) वह कल्प जिसमें लोक क्रमशः उन्नतिसे अवनतिको प्राप्त होता है।

विवर्त्तन (सं० क्ली०) वि-वृत् ल्युट्। १ परिभ्रमण, घूमना फिरना। २ पार्श्वपरिवर्त्तन, करवट लेना। ३ परिवर्त्तन, रूपान्तर। ४ नृत्य, नाच। ५ प्रत्यावर्त्तन, लौटना। ६ घूर्णन, घूमना। ७ कानोंसे मल या वायुको निकालनेके लिए कानके भीतरमें यन्त्रविशेषका घुमाना। (सुश्रुत सू० ७ अ०)

विवर्त्तवाद (सं० पु०) वेदान्तशास्त्र वा दर्शन। इसके अनुसार ब्रह्माको सृष्टिका मुख्य उत्पत्तिस्थान और संसारको माया मानते हैं।

विवर्त्तस्थायी कल्प (सं० पु०) वह समय जब लोक अवनतिकी पराकाष्ठाको पहुंच कर शून्य दशामें रहता है, कल्पान्त, प्रलय।

विवर्त्तित (सं० त्रि०) १ परिवर्त्तन, बदला हुआ। २ भ्रमित, घूमा हुआ। ३ प्रत्यावर्त्तित, लौटा हुआ। ४ घूर्णित, चक्कर मारा हुआ। ५ अपनीत, उखड़ा हुआ, सरका हुआ। ६ अंग जिसमें मोच आ गई हो।

विवर्त्तितक्ष (सं० पु०) अरुणशिखा, मुर्गा।

विवर्त्तितसन्धि (सं० पु०) सन्धियुक्त भग्नरोगभेद। आघात वा पतन आदिके कारण दृढ़रूपसे आहत होने पर यदि शरीरका कोई सन्धिस्थल वा पार्श्वादिका अपगम हो कर विषमाङ्गता और उस स्थानमें अत्यन्त वेदना हो, तो उसे विवर्त्तितसन्धि कहते हैं। अर्थात् किसी कारणसे आघात लगने पर शरीरका कोई सन्धिस्थान वा पार्श्वादि यदि विवर्त्तित (उलट पलट) हो जाय, तो उसे विवर्त्तितसन्धि कहते हैं।

चिकित्सा।—पहले घृतम्रक्षित पट्टवस्त्रसे भग्नसन्धिस्थानको लपेट दे। पीछे उस वस्त्र पर कुश अर्थात् वटवृक्षादिकी छाल रख कर यथानियम बांध देना उचित है। बांधनेका नियम इस प्रकार है,—भग्नस्थानको शिथिलभावमें बांधनेसे सन्धिस्थल स्थिर नहीं रहता तथा दृढ़रूपमें बांधनेसे चमड़ा सूज जाता और वेदना होती है तथा वह स्थान पक जाता है। अतएव साधारणभावमें अर्थात् शिथिल भी नहीं और दृढ़ भी नहीं, ऐसे भावमें बांधना उचित है। सौम्य ऋतुमें अर्थात् हेमन्त और शिशिरकालमें सात दिनके बाद साधारण अर्थात् वर्षा, शरत् और वसन्तकालमें पांच दिनके बाद तथा आग्नेय ऋतुमें अर्थात् ग्रीष्मकालमें तीन दिनके बाद भग्नस्थानको बांधना होता है। परन्तु बन्धन स्थानमें यदि कोई दोष रहे, तो आवश्यकतानुसार खोल कर फिरसे बांध सकते हैं।

प्रलेप।—मञ्जिष्ठा, यष्टिमधु, रक्तचन्दन और शालितण्डुल इन्हें पीस कर घीके साथ शतधौत प्रलेप देना होता है।

परिषेक।—वट, गूलर, पीपल, पाकड़, मुलेठी, आमड़ा, अर्जुनवृक्ष, आम्र, कोषाम्र (केवड़ा), चोरक (गन्धद्रव्यविशेष), तेजपत्र, जम्बूफल, बनजम्बु, पयार, महुआ, कटहल, बेंत, कदम्ब, गाव, शालवृक्ष, लोध, सावर लोध, भिलावा, पलाश और नन्दीवृक्ष, इन सब द्रव्योंके शीतल क्वाथ द्वारा भग्नस्थान परिषेचन करना होता है। उस स्थानमें यदि वेदना रहे, तो शालपर्णी, चकवंड़, वृहती, कण्टकारी और गोखरू इन्हें दुग्ध द्वारा पाक कर कुछ गरम रहते वहां परिषेचन करे। काल और दोषका विचार कर दोषनाशक औषधके साथ शीतल परिषेक और प्रलेपका भग्नस्थलमें प्रयोग करे। प्रथम प्रसूता गायका दूध ३२ तोला, कंकोली, क्षीरकंकोली, जीवक, ऋषभक, मूंग, उड़द, मेद (अभावमें असगंध), महामेद (अनन्तमूल), गुलञ्च, कर्कटशृङ्गी, वंशलोचन, पद्मकाष्ठ, पुण्डरी काष्ठ, ऋद्धि (बिजवंद), वृद्धि (गोरखमुंडी), दाख, जीवन्ती और मुलेठी, कुल मिला कर २ तोला तथा जल आध पाव ले कर पाक करे। पाक शेष

होने पर अर्थात् ३२ तोला रह जाने पर प्रक्षेप डाल भग्न रोगीको प्रातःकालमें सेवन कराना होगा।

शरीरके किसी स्थानमें भग्न हो कर अस्थि यदि झुक गई हो, तो उसे खड़ा करके अपने स्थान पर बांध देना चाहिये। भग्नस्थानकी अस्थि यदि अपने स्थानसे हट गई हो, तो लम्बित भावमें खींच कर सन्धिस्थानकी दो अस्थियोंके साथ मजबूतीसे बांध दे। किसी अस्थिके नीचे झुक जाने पर उसे ऊपरकी ओर खींच यथास्थानमें बांध देना उचित है। आञ्छन (दीर्घ भावमें खींचना), पीड़न और सम्यक् प्रकारसे उपयुक्त स्थान सन्निवेश और बन्धन इन सब उपायोंसे बुद्धिमान् चिकित्सक शरीरकी सचाल और अचल सन्धियोंको यथास्थानमें संस्थापित करते हैं।

शरीरके भग्नअङ्गकी चिकित्सा, प्रक्रम और बन्धनादि इस प्रकार है—

नखसन्धि,—नखसन्धिसमूत्पिष्ट अर्थात् चूर्णित रक्तसञ्चित होनेसे आरी नामक अस्त्र द्वारा उस स्थानको मथित कर वहांका रक्त निकाल दे।

पदतल भग्न,—पदतलके भग्न होने पर वहां घी लगा कर पूर्वोक्त बन्धन क्रियानुसार बांध दे। इस हालतमें कदापि व्यायाम नहीं करना चाहिये।

अंगुलिभग्न,—उंगलीके टूटने अथवा उसके सन्धिविश्लिष्ट होनेसे उस स्थानको समानभावमें स्थापित कर सूक्ष्म पट्टवस्त्र द्वारा बांध दे और उसके ऊपर घी लगा दे।

जङ्घोरुभग्न,—जङ्घा वा उसके भग्न होने पर बड़ी सावधानीसे उसे दीर्घभावमें खींच कर दोनों सन्धिस्थलको संयोजित करे। पीछे वट आदि वृक्षोंकी छाल पट्टवस्त्र द्वारा वहां बांध दे। ऊरुदेशकी अस्थि निर्गत, स्फुटित वा पिच्चित होने पर बुद्धिमान् चिकित्सकको चाहिये, कि वे उस अस्थिको चक्रतैल द्वारा म्रक्षित कर दीर्घभावमें खींच पूर्वोक्त प्रकारसे बांध दें। उक्त दो स्थानमेंसे किसी एकके टूटने पर चिकित्सकको चाहिये, कि वे पहले रोगीको शयन करावें, पीछे पांच स्थानोंको कोलकाकारमें इस प्रकार बांध दें, कि वह स्थान हिलने डोलने न पावे। अर्थात् इस बन्धनका नियम यह है, कि सन्धिस्थलके दो ओर दो दो करके तथा तलदेशमें एक श्रोणिदेश वा पृष्ठदण्डमें अथवा वक्षःस्थलमें एक तथा दोनों अक्षमें दो बन्धनका प्रयोग करे। सब प्रकारके भग्न और सन्धिविश्लेषरोगमें पूर्ववत् कपाटशयनादि विशेष हितकर है।

कटिभग्न,—कमरकी हड्डी टूटने पर कमरको ऊपर और नीचेकी ओर खींच सन्धिके स्वस्थानको अच्छी तरह संयोजित कर वस्तिक्रिया द्वारा चिकित्सा करे।

पार्श्वास्थि भग्न,—पर्शुका अर्थात् पंजरेकी हड्डीके टूटने पर रोगीको खड़ा करके घी लगावे तथा जिस ओरकी हड्डी टूटी है, उसके बन्धनस्थानको मार्जित कर उसके ऊपर कवलिका (पूर्वोक्त अश्वत्थ बल्कलादि)-का प्रयोग करे, पीछे बेल्लितक नामक बन्धन द्वारा बड़ी होशियारीसे बांध दे।

स्कन्धभग्न,—स्कन्धसन्धिके विश्लिष्ट होनेसे रोगीको तैलपूर्ण कटाहमें या द्रोणीमें (चहबच्चेमें) सुला कर मूसल द्वारा उसका कक्षदेश उठा ले तथा उसमें स्कन्धसन्धि संयोजित होनेसे उस स्थानको स्वस्तिक द्वारा बांध दे।

कूर्परसन्धि भग्न,—कूर्परसन्धि अर्थात् केहुनिके विश्लिष्ट होनेसे उस स्थानको अङ्गुष्ठ द्वारा मार्जित कर पीछे वहां पीड़न करे तथा उसे प्रसारित और आकुञ्चित कर यथास्थान पर बैठावे और उसके ऊपर घृतसिञ्चन करे। जानु, गुल्फ और मणिबन्धनके टूटने पर इसी प्रकार चिकित्सा करनी होती है।

ग्रीवाभग्न,—ग्रीवादेश यदि वक्र हो जाये या नीचेकी ओर बैठ जाये, तो अवटु अर्थात् ग्रीवाके पश्चात् भागका मध्यस्थल और दोनों हनु (मुखसन्धि) पकड़ कर उठावे तथा उसके चारों ओर कुश अर्थात् पूर्वोक्त वटादिकी छाल रख कर कपड़ेसे बांध दे और रोगीको सात रात्रि तक अच्छी तरह सुलाये रक्खे।

हनुसन्धि भग्न,—हनूसन्धिके विश्लिष्ट होनेसे उसको हड्डियोंको समानभावमें रख यथास्थान पर संयोजित करे और वहां स्वेद दे। पीछे पञ्चाङ्गी बन्धन द्वारा उसे बांध देना होगा। फिर वातघ्न भद्रदार्वादि या पूर्वोक्त

काकोल्यादि मधुरगणीय द्रव्योंके क्काथ और कल्कके साथ घृतपाक कर रोगीके नस्यरूपमें ग्रहण करने दे।

कपालभग्न,—कपालके भग्न होने पर यदि मज्जका घी बाहर न निकले, तो घृत और मधु प्रदानपूर्वक उसे बांध दे तथा सात दिन तक रोगीको घृत पान करावे।

हस्ततल भग्न,—दक्षिण हस्ततलके भग्न होने पर उसके साथ वामहस्ततल अथवा वाम हस्ततलके भग्न होने पर उसके साथ दक्षिण हस्ततल अथवा दोनोंके भग्न होने पर लकड़ीका हस्ततल बना कर उसके साथ खूब मजबूतीसे बांध दे, पीछे उस पर आमतैल (कच्चा तेल) लगा दे। आरोग्य होने पर पहले गोबरका गुला, पीछे मिट्टीका गुला और हाथमें बल आने पर पत्थरका टुकड़ा उस हाथसे पकड़े।

अक्षक भग्न,—ग्रीवादेशस्थ अक्षक नामक सन्धिके अधःप्रविष्ट होनेसे मूषल द्वारा उन्नत करके अथवा उन्नत होनेसे मूषल द्वारा अवनत करके खूब कस कर बांध दे। बहुसन्धि भग्न होनेसे पूर्ववत् ऊरु भग्नकी तरह चिकित्सा करनी होती है।

यद्यपि पतन या अभिघात द्वारा शरीरका कोई अङ्ग क्षत न हो कर केवल फूल उठे, तो शीतल प्रलेप और परिषेक द्वारा चिकित्सा करनी होती है। बहुत दिन पहले सन्धियोंके विश्लेष होनेसे स्नेह प्रदानपूर्वक स्वेद प्रदान और मृदुक्रिया तथा युक्तिपूर्वक पूर्वोक्त सभी क्रियाओंका अच्छी तरह प्रयोग करे। काण्ड अर्थात् वृहत् अस्थि यदि टूट जाये और कुछ दिन बाद फिरसे समान भावसे संलग्न हो भर जाये, तो उसको फिरसे समान भावमें संलग्न कर भग्नकी तरह चिकित्सा करनी होगी। शरीरके ऊद्ध्वदेश अर्थात् मस्तकादिके भग्न होने पर साफ रूईकी बत्तीसे शिरोवस्ति या कर्णपूरणादिका प्रयोग करना होता है तथा बाहु, जङ्घा, जानु आदि अङ्गों की शाखा प्रशाखाके टूटनेसे नस्य, घृतपान और वहिःप्रयोग करना होता है।

सन्धिस्थान यदि अनाविद्ध मालूम हो, अर्थात् हिलने डोलने लगे, कण्टकादि अथवा किसी दूसरी वस्तुके चुभने-सा मालूम न हो तथा वह स्थान अनुन्नत हो अर्थात् पार्श्वस्थ स्थानके साथ समता प्राप्त और अङ्गोनाङ्ग हो अर्थात् वहां जितने पदार्थ थे उनमेंसे कुलका सद्भाव हो तथा वे सब स्थान यदि अच्छी तरह आकुञ्चित और प्रसारित हो सके, तो जानना चाहिये, कि सन्धि सम्पूर्णरूपसे संश्लिष्ट हो गई है। (सुश्रुत चि० स्था०) विस्तृत विवरण भग्न शब्दमें देखो।

विवर्त्तिन् (सं० त्रि०) १ विवर्त्तनशील, भ्रमणशील। २ परिवर्त्तनशील।

विवर्त्मन् (सं० क्ली०) १ विपथ। २ विशेषपथ।

विवर्द्धन (सं० क्ली०) वि-वृध-णिच्-ल्युट्। १ बढ़ाने या वृद्धि करनेकी क्रिया। २ वृद्धि, बढ़ती। ३ छेदन। ४ खण्डन। ५ घृत। (त्रि०) ६ वृद्धिकारक।

विवर्द्धनीय (सं० त्रि०) वि-वृध्-अनीयर्। वर्द्धनयोग्य, बढ़ने लायक।

विवर्द्धयिषु (सं० त्रि०) विवर्द्धयितुमिच्छुः वि-वृध्-णिच्-सन्-उ। विवर्द्धनेच्छु, जिसने बहुत बढ़ानेकी इच्छा की हो।

विवर्द्धित (सं० त्रि०) १ वृद्धि प्राप्त, बढ़ा हुआ। २ उन्नत, उन्नतिप्राप्त।

विवर्द्धिन् (सं० त्रि०) विवर्द्धितुं शीलं यस्य। १ वर्द्धनशील, बढ़नेवाला। विवर्द्धयितुं शीलं यस्य। २ वर्द्धक, बढ़ानेवाला।

विवर्षण (सं० क्ली०) १ विशेषरूपसे वर्षण, खूब जोरसे बरसना। २ वृष्टि न होना, वर्षाका अभाव।

विवर्षिषु (सं० त्रि०) विवर्षितुमिच्छुः वि-वर्ष-सन्-उ। वर्षण करनेमें इच्छुक।

विवल (सं० त्रि०) १ दुर्बल, कमजोर। २ विशेष बलयुक्त, बलवान्।

विवव्रि (सं० त्रि०) विगतज्वर, विगतताप, सन्तापरहित।

"वभ्रस्यमन्ये मिथुना विवव्री" (ऋक् १०।९९।५)

विवश (सं० त्रि०) विरुद्धं वष्टीति वि-वश-अच्। १ अवशीभूतात्मा, जिसकी आत्मा वशमें न हो। २ मृत्युलक्षणमें भ्रष्टबुद्धि, वह जिसकी बुद्धि मृत्यु आने पर भ्रष्ट हो गई हो। ३ अवाध्य, लाचार, बेवस। ४ अचेतन, निश्चेष्ट। ५ विह्वल, व्याकुल। ६ स्वाधीन, जो काबूमें न आवे। ७ मृत्युभीत। ८ मृत्युप्रार्थी। ९ असक्त,

जिसमें कोई शक्ति या बल न हो। १० मृत्युकालमें निर्भीक, प्रशस्तचेताः।

विवशता (सं० स्त्री०) विवशका भाव या धर्म।

विवशीकृत (सं० त्रि०) अविवशः विवशकृतः अभूततद्भावे च्विः। जिसे विवश किया गया हो, अवशीभूत।

विवस् (सं० क्ली०) वि-वस् क्विप्। १ तेज। २ धन। (ऋक् १।१८७।७)

विवसन (सं० त्रि०) वसनरहित, विवस्त्र, नंगा।

विवस्त्र (सं० पु०) वस्त्रहीन, जिसके शरीर पर वस्त्र न हो, नग्न, नंगा।

विवस्त्रता (सं० स्त्री०) वस्त्रशून्यका भाव या धर्म।

विवस्वत् (सं० पु०) विशेषेण वस्ते आच्छादयतीति वि-वस-क्विप्। १ विवस्। विवस्तेजोऽस्यास्तीति वि-वस-मतुप् मस्य वत्वम्। २ सूर्य। ३ अर्कवृक्ष, अकवनका पौधा। ४ देवता। ५ अरुण। ६ वैवस्वत मनु। (अजय)। ७ मनुष्य। (निघण्टु) (त्रि०) ८ परिचरणशील।

विवस्वती (सं० स्त्री०) सूर्यनगरी। (मेदिनी)

विवस्वन् (सं० त्रि०) विवो विविधवसनं धनमुदकलक्षणं वा तद्वान् सुपो लुक् अन्त्यलोपश्छान्दसः। १ विवासनवान्। २ विद्युद्रूपप्रकाशवान्। ३ धनवान्।

विवह (सं० पु०) १ सात वायुमेंसे एक। २ अग्निकी सात अर्चि अर्थात् शिखामेंसे एक।

विवाक (सं० त्रि०) विवेचनाकर्त्ता, विचारक, जो शास्त्रार्थमें दोनों पक्षोंके तर्कको देख कर न्याय करे।

विवाक्य (सं० त्रि०) १ विचार्य्या, विचारने लायक। २ वाक्यहीन। (क्ली०) ३ वाक्य।

विवाच् (सं० क्ली०) १ कलह, झगड़ा। २ वितर्क। ३ विविध वाक्य। (त्रि०) ४ विविध परस्पर आह्वान ध्वनियुक्त। (ऋक् १।१७८।४)

विवाचन (सं० क्ली०) १ विविध आलाप, तरह तरहकी बातचीत। २ विवाद, झगड़ा।

विवाचस (सं० त्रि०) विविध कथा या्य ि ृक्त।

विवाच्य (सं० त्रि०) १ विवादयोग्य ा िड़ा ारयोग्य। ३ कथ्य।

ा ३ यह त

विवात (सं० त्रि०) वातरहित। ाति रङ्ग

विवाद (सं० पु०) वि-वद-घञ्, विरुद्धो वादः। १ कलह, झगड़ा। २ वितर्क, वाकयुद्ध। ३ धर्मशास्त्रोक्त धनविभागादि विषयक न्यायादि, ऋणादि न्याय। मनुसंहितामें १८ प्रकारका विवादस्थान कहा है, जैसे—

१ ऋणग्रहण, २ निक्षेप, ३ अस्वामिकृत विक्रय, ४ सम्भूय समुत्थान, ५ दत्तका अनपकर्म या क्रोधादि फिरसे ग्रहण, ६ संविद्, ७ व्यतिक्रम, ८ क्रयविक्रयानुशयी, ९ स्वामिपाल और सीमाविवाद, १० वाक्पारुष्य, ११ दण्डपारुष्य, १२ स्तेय, १३ साहस, १४ स्त्रीसंग्रह, १५ पुरुषका धर्म, १६ पैतृक धनविभाग, १७ द्यूत और १८ पण रख कर मेषादि पशुओंका लड़ाना।

व्यवहार देखो।

४ मतभेद। ५ मुकदमेबाजी, अदालतकी लड़ाई।

विवादक (सं० पु०) विवाद करनेवाला, झगड़ालू।

विवादानुगत (सं० त्रि०) विवादकर्त्ता, झगड़ा करनेवाला।

विवादास्पद (सं० त्रि०) जिस पर विवाद या झगड़ा हो, विवादयोग्य।

विवादिन् (सं० त्रि०) विवाद-णिनि। विवादी देखो।

विवादी (सं० पु०) १ विवाद करनेवाला। २ मुकदमा लड़नेवालोंमेंसे कोई एक पक्ष, मुद्दई और मुद्दालेह। ३ सङ्गीतमें वह स्वर जिसका किसी रागमें बहुत कम व्यवहार हो।

विवाधिक (सं० पु०) १ जो कंधे पर चीजें ढो कर ले जाय। २ घूम कर चीजें बेचनेवाला, फेरीवाला।

विवान (सं० पु०) १ चिह्न। २ छेदनकार्य्य, काटनेका काम। ३ सूचीकार्य्य, सूईका काम।

विवार (सं० पु०) १ स्वरभेद। २ निवारण।

विवारयिषु (सं० त्रि०) विवारणेच्छु, जो बाधा देना चाहता हो।

विवास (सं० पु०) १ निर्वासन। २ प्रवास। ३ वास। ४ उलङ्ग, नंगा।

विवासन (सं० क्ली०) १ निर्वासन। २ बास करना।

विवासनवत् (सं० त्रि०) निर्वासनविशिष्ट, जिसे निर्वासन किया गया हो।

विवासयितृ (सं० त्रि०) निर्वासनकारयिता, जो निर्वासन कराते हैं।

विवासस् (सं० त्रि०) विवसन, विवस्त्र, उलङ्ग, नंगा।

विवासित (सं० त्रि०) १ निर्वासित। २ जिसे उलङ्ग किया गया हो।

विवास्य (सं० त्रि०) विवासनयोग्य, जिसे निर्वासित किया जा सके।

विवाह (सं० पु०) विशिष्टं वहनम् वि-वह-घञ्। उद्वाह, दारपरिग्रह, शादी, ब्याह। पर्याय—उपयम, परिणय, उपयाम, पाणिपीड़न, दारकर्म, करग्रह, पाणिग्रहण, निवेश, पाणिकरण। उद्वाह तथा पाणिग्रहणमें पार्थक्य है। इस विषय पर पूर्णरूपसे विचार आगे किया गया है।

सृष्टिप्रवाहका संरक्षण करना प्रकृतिका प्रधानतम नियम है। जड़ और चेतन इन दोनों पदार्थोंसे ही वंशविस्तारका विशाल प्रयास बहुत दिनोंसे परिलक्षित होता आ रहा है। रुद्रशक्तिसे सृष्ट पदार्थोंका संहार होता है, फिर ब्राह्मी शक्ति सहस्र सहस्र सृष्टिका विस्तार करती है। विष्णुशक्तिके पालन-पोषण करनेवाली क्रियासे सृष्ट पदार्थ पुष्ट होता और विशाल विश्वब्रह्माण्डमें फैलता है। उत्पत्ति और विस्तृति ब्राह्मी और वैष्णवी शक्तिकी सनातनी क्रिया है। यहां हम सृष्ट पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहतिके सम्बन्धमें कोई बात नहीं कहेंगे। केवल इसकी विस्तृतिके सम्बन्धमें एक प्रधान विधान तथा उपायके विषय पर आलोचना करेंगे।

वीज और शाखा आदि जमीनमें रोपनेसे ही उद्भिद्-वंशकी वृद्धि होती है। इस बातको प्रायः सभी जानते और अनुभव करते हैं। "पुरुभुजादि" एक प्रकारका उद्भिद् है। यह अपने शरीरको विभक्त करके ही अपने वंशका विस्तार करता है। जीवाणुओंमें भी ऐसी ही वंशवृद्धिकी प्रक्रिया दिखाई देती है। प्रोटोजोया (Protozoa) नामक बहुत छोटे जीवाणु हमारी आंखोंसे दिखाई नहीं देते; किन्तु अणुवीक्षणयन्त्रसे यह स्पष्ट दिखाई देते हैं। अपने शरीरको विभक्त कर इस जातिके जीवाणु अपने वंशकी वृद्धि किया करते हैं। इन सब जीवाणुओंको इसके लिये अपना शरीर छोड़ देना पड़ता है। इसके सिवा इनकी वंशवृद्धिका कोई दूसरा उपाय नहीं। इनकी अपेक्षा ऊंचे दरजेके जीवाणुओंमें या जीवोंमें इस तरहके बहुतेरे नियम दिखाई देते हैं। इनके वंश-विस्तारके लिये प्रकृतिने स्त्रीसंयोगका विधान नहीं किया है। जीव जब सृष्टिके ऊंचेसे ऊंचे सोपान पर चढ़ जाता है, तब इनमें स्त्री-पुरुषका प्रभेद दिखाई देता है। इसी अवस्थामें स्त्री-पुरुष संयोगसे वंशविस्तार प्रक्रिया साधित होती है।

जीवके हृदयमें ब्राह्मी शक्ति और वैष्णवी शक्तिने इसी कारण अत्यन्त बलवती प्रवृत्ति दे रखी है। ऊंचे दरजेके प्राणिमात्रमें ही स्त्री-पुरुष संयोगवासना दिखाई देती है। और तो क्या—पशुपक्षियोंमें भी स्त्री-पुरुष संयोगकी बलवती स्पृहा और दोनोंकी आसक्ति तथा प्रीति यथेष्ट-रूपसे दिखाई पड़ती है। जीव जितने ही सृष्टिके ऊंचे सोपान पर चढ़ जाते हैं, उतने ही पुरुषोंमें स्त्रीग्रहणकी वासना बलवती हो जाती है। पशुपक्षियोंमें भी स्त्री-ग्रहण करनेके निमित्त विविध चेष्टायें दिखाई देती हैं। पशु भी स्त्रीप्राप्तिके लिये आपसमें भयङ्कर द्वन्द्व मचा देते हैं। एक सिंहनीके लिये दो सिंह प्राणान्तक युद्ध करते हैं। इस युद्धके अन्तमें जो सिंह विजय प्राप्त करता है, उसी सिंहका सिंहनी अनुसरण करती है और बड़े उत्साहके साथ।

असभ्य समाजकी प्राथमिक विवाह-पद्धति।

मानव-समाजकी आदिम अवस्थामें भी इस तरह वीरविक्रमसे ही स्त्रीग्रहण करनेकी प्रथा दिखाई देती है। चिपेवायान (Chippewayan) जातिके लोग स्त्रीप्राप्तिके लिये भीषण युद्धमें प्रवृत्त होते हैं। युद्धमें जो जीतता है, उसी वीरवरको स्त्री मिलती है। टास्की (Taski) जातिके लोगोंमें भी युद्ध करके ही स्त्रीग्रहण करनेकी प्रथा है। बुसमेन (Bushmen) जातिके लोग बलपूर्वक दूसरी स्त्रीको ला कर उसके साथ विवाह कर लेते हैं। अष्ट्रेलियाके अन्तर्गत कुइन्स्लण्डप्रवासी भाले बरछेके साथ युद्ध कर स्त्रीप्राप्ति करते हैं।

कुइन्सलेण्डके अष्ट्रेलियामें इस तरहका भी काण्ड देखा जाता है,बुक्ति एक स्त्रीके लिये चार पांच आदमियोंमें झगड़ा खड़ा होता है और वह स्त्री अलग खड़ी रहती है और वि[illegible]कौतुक देखा करती है। ऐसे झगड़ेमें मनुष्य अङ्ग[illegible] मृत[illegible] जाते तथा कभी कभी रक्तस्रोत भी

प्रवाहित हो जाता है। अन्तमें जो जीतता है, उसीको वह स्त्री वरमाल्य पहनाती और उसीका अनुगमन करती है।

असभ्य समाजके आदिम अवस्थामें सर्वत्र ही इसी तरह स्त्री-पुरुषोंमें संयोग होता था, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। इस समय भी इस समाजमें वह प्रथा विद्यमान है। किन्तु इस अवस्थामें नरनारियोंका समाज-बन्धन असम्भव है। वे झुण्डके झुण्ड पक्षियोंकी तरह समाजमें दल बांध कर रहते हैं, फिर भी इन सब दलोंमें आज भी सामाजिक नियम और शृङ्खला आदि दिखाई नहीं देती। मनुष्य मनुष्यमें कोई भी सम्बन्ध-बन्धन नहीं होता, नरनारियोंमें भी किसी तरहका सम्बन्ध नहीं होता। सामयिक उत्तेजना या सामयिक भीति द्वारा ही इस श्रेणीके असभ्य मानवदलके स्त्री-पुरुषोंके संसर्गसे सन्तानोत्पत्ति हुआ करती है। फलतः इस तरहकी प्रथा हमारे शास्त्रों द्वारा प्रवर्त्तित किसी तरहके विवाहके अन्तर्भुक्त नहीं है।

बुसमेन लोग जब कोई स्त्री ग्रहण करने लगते हैं, तब वे केवल रमणीकी अनुमति ही लेते हैं। सिवा इसके इनमें विवाहकी दूसरी कोई प्रथा नहीं है। चिपिवायनोंमें अब तक विवाह प्रचलित ही नहीं हुआ। एस्कुइमो जातिके लोगोंमें समाजबन्धन भी नहीं और न विवाह-प्रथा ही है।

अलेउट जातिके लोग पशुपक्षियोंकी तरह स्त्री-जातिमें उपगत हो कर वंशका विस्तार करते हैं, इनमें भी विवाह-बन्धन नहीं। क्रेटके भ्रमणवृत्तान्तमें लिखा है, कि आरावाक (Arawak) जातिमें स्त्री-पुरुषका मिलन सामयिक मात्र है। इनमें विवाहबन्धन दिखाई नहीं देता। वेद्दा और निम्न कालिफोर्नियावासियोंमें विवाहबन्धन तो दूरकी बात है, इनकी भाषामें विवाहका अर्थवाचक कोई शब्द ही नहीं मिलता। बनवासी पशुपक्षियोंकी तरह ये स्त्रियोंके संसर्गसे सन्तानोत्पादन किया करते हैं।

किसी-किसी असभ्य जातिमें स्त्री-ग्रहण करनेकी जो प्रथा दिखाई देती है, वह भी विवाह-उद्देश्यकी पूरी करनेवाली नहीं, केवल सामयिक क्षणस्थायी नियम मात्र है। किसी स्थानके असभ्योंमें आग जला उसकी बगलमें बैठ आगके सामने स्त्री विवाहकी सम्मति प्रकाश करती है। यह प्रथा हमारे वैवाहिक यज्ञकी अस्पष्ट क्षीण स्मृति मालूम होती है। टोडा जब स्त्री-ग्रहण करते हैं, तब कन्या घर आते ही किञ्चिन्मात्र गार्हस्थ्य कर्मका सम्पादन करती है, बस यही उनके विवाहकी एकमात्र क्रिया है।

न्यूगिनीदेशके अधिवासियोंमें स्त्री-ग्रहणकी पद्धति अतीव सहज है। कन्या स्वयं वरको अपने हाथसे पान तम्बाकू देती है और वर इसके हाथसे उपहारकी इन चीजोंको ले लेता है। यही उनके विवाहका नियम है, दूसरा कुछ नहीं। नावागो (Navago) जातिके लोगोंकी विवाहपद्धति बहुत सीधी है। इनकी रीति यह है, कि फलसे भरा हुआ एक 'दौरा' या पात्र रख वर और कन्याको आमने सामने बैठाते हैं और उस पात्रमें रखे फलको एक साथ खाते हैं। इसी घटनासे वे विवाह-सूत्रमें आबद्ध हो जाते है। प्राचीन रोममें भी वर-कन्या एक साथ पीठा खा कर विवाह-बन्धनमें बंध जाती थी।

ये सब पद्धतियां ही विवाह-पद्धतिकी आदिम प्रथा हैं। स्त्री-पुरुषको एकत्र रह कर घरका काम आदि करना हो तो दोनोंको एकत्र ही भोजनादि कर घरका काम करना होता है। इन सब पद्धतियोंके मूलमें अतर्कित और प्रच्छन्न रूपसे यह मङ्गलमय समाजहितकर उद्देश्य छिपा था तथा अविचलित भावसे असभ्य समाजमें आज भी ये सब प्रथायें चली आती हैं।

इस श्रेणीके असभ्योंमें जैसा विवाह-बन्धन ढीला है, पत्नित्याग भी वैसा ही सहज है। चिपिवायन बातकी बातमें स्त्रीको मार कर घरसे निकाल देते हैं। निम्न कालिफोर्नियाके परकुइ (Percue) कई स्त्रियां रखते हैं, वे इनसे लौंडी बांदियोंकी तरह काम लेते हैं और जब कभी इनमें किसीसे खटपट हुई तो झोंटा पकड़ कर निकाल बाहर कर देते है।

टुपिस (Tupis) जातिके लोगोंमें स्त्रीत्यागकी पद्धति भी ऐसी ही दिखाई देती है। ये भी बहुतेरी स्त्रियां रखते हैं और सामान्य कारणों पर ही एकको निकाल दूसरी स्त्रीको रख लेते हैं। तासमेनियावासियोंमें भी ऐसी रीति प्रचलित है। कोसियोंमें आज भी विवाह-पद्धति दिखाई नहीं देती। मलय-पलिनेसिया (Malayo Polynesian) द्वीपके रहनेवाले असभ्यका

539-540 Not in. the

होने पर भी कुछ समुन्नत हैं। फिर भी, इनमें विवाह-बन्धनकी अच्छी प्रथा दिखाई नहीं देती।

ताहेती (Taheti) आदि जातियोंमें भी इस अतीत प्रयोजनीय सामाजिक कार्य्यकी कोई अच्छी प्रथा नहीं है।

किसी किसी असभ्य जातिके लोगोंमें स्त्री-ग्रहणका विषय पशुओंकी अपेक्षा भी घृणित है। इनमें पात्र-पात्रियोंका कुछ भी विचार नहीं है। ये समाजकी प्रथाके अनुसार अपनी बहन तथा बेटियोंके साथ भी सम्भोग-क्रिया सम्पादन कर सकते हैं। इस विषयमें चिपिवायन लोग उदाहरणीय है। कादियाक (Kadiak) जातिके लोगों में भी इस तरहकी प्रथा देखी जाती है। करेन जातिके लोगोंमें पिता पुत्रीमें, भ्राता-भगिनीमें भी स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध होते देखा जाता है। बाष्टियान (Bastian) ने लिखा है, कि अफरिकाके गनजलभस और गाबून अन्तरीपके राजे अपने वंशकी शुद्धताकी रक्षा करनेके लिये अपनी कन्याको रानी बना लेते हैं। उधर रानियां पतिके मरने पर अपने ज्येष्ठ पुत्रको पतिका आसन दे देती हैं।

भाई बहनमें विवाह।

असभ्य जातियोंमें पात्रापात्रका विचार करनेको पद्धति है ही नहीं। पहले ही कहा जा चुका है, कि चिपिवायनोंमें अपनी कन्यासे विवाह कर लेनेकी प्रथा प्रचलित थी। क्लाविजेरो (Clavigero) कहते हैं, कि पानुचिज (Panuchese) जातिके लोगोंमें भाई-बहनमें भी विवाह-बन्धनकी प्रथा प्रचलित है। काली (Cali) जातिमें भतीजी, भांजीके साथ भी विवाह प्रचलित है। इस जातिमें जो सबसे प्रधान और बड़े सम्भ्रान्त कहे जाते हैं, वे बेरोकटोक अपनी बहनके साथ विवाह सम्बन्ध कर लेते हैं। टरकुईमिडाने न्यू स्पेनमें भाई-बहनमें इस तरहके ३।४ विवाहोंकी बात लिखी है। पेरु प्रदेशमें इङ्क जातिके लोगोंने प्रधान सामाजिक नियमानुसार सहोदरा जेठी बहनका पाणिग्रहण कर लेते हैं। पलिनेसियामें भी ऐसा ही नियम है। साण्डुइच द्वीपके अधिवासियोंमें राजवंशके लोग भी सहोदरा बहनके साथ विवाह किया करते हैं। ड्रूरीने लिखा सिवा कि मालागासी (Malagasy) जातियोंमें सहोदरा बहनके साथ विवाह कर नहीं सकते; किन्तु सौतेली बहनके साथ विवाह करनेमें इनको कुछ भी बाधा नहीं।

प्रतीच्य जगत्में भी भाई-बहनके विवाहकी प्रथाका बिलकुल असद्भाव नहीं। इजिप्तको टलेमी (Ptolemy) वंशमें भाई-बहनके विवाहके बहुतेरे प्रमाण हैं। स्कन्दनाभमें भी ऐसा विवाह होता है। हिमस्क्रिंगला सागा (Heim skringla saga)में लिखा है, कि राजा निरोद (Nirod)ने अपनी बहनके साथ विवाह किया था। यह विवाह कानून द्वारा जायज था।

चचेरी बहनके विवाह-बन्धनका उदाहरण तो बहुत अधिक दिखाई देता है। इब्राहमने साराके साथ विवाह किया था। कानानाइट (Cananites), अरबी, इजिप्तीय, आसीरीय और फारसवालोंमें इस तरहका विवाह प्रचलित था। स्थान विशेषमें अब भी प्रचलित है। वेद्दाओंकी सामाजिक रीत्यनुसार अपनी जेठी बहन और फुआ, मौसी आदिके साथ विवाह नहीं कर सकते, किन्तु छोटी बहनके साथ वे कर लेते हैं। इसके सिवा इनमें विवाह-खण्डनका विधान नहीं है। वे लोग कहते हैं, कि केवल मृत्यु ही एकमात्र विवाह-बन्धन तोड़नेमें समर्थ हो सकती है। किन्तु इसके पड़ोसी काण्डीय लोग विविध प्रकारसे उनकी अपेक्षा उन्नत हैं, फिर भी, विवाह-बन्धनके सम्बन्धमें उनकी ऐसी दृढ़ धारणा नहीं है।

स्त्रीपुरुषोंका बहुविवाह।

फ्यूजियन आदि कई असभ्य जातियोंके लोगोंमें कई पुरुष मिल कर एक रमणीके साथ विवाह करनेकी प्रथा है। किन्तु यह प्रथा उन्हीं लोगोंमें ही नहीं, वरं सिंहल, मलवार और तिब्बतकी उच्च श्रेणीके लोगोंमें भी यह प्रथा देखी जाती है। दूसरी ओर बहुपत्नीका ग्रहण सभी देशोंमें सब समय दिखाई देता है। बहुत ऊंचे दरजेके लोगोंमें भी यह प्रथा जारी है। सुविख्यात ग्रन्थ-रचयिता मनिटिथका विश्वास है, कि यौन दुर्नीतिसे समाजमें नित्य ही अशान्ति मचती रहती है। किन्तु यह बात इतिहासके सिद्धान्तसे सम्मत नहीं। एलिउटिन (Aleutin) द्वीपके अधिवासी स्त्री-पुरुषोंमें नैतिक भाव

बहुत कम है ; किन्तु इनमें कलह बहुत कम ही दिखाई देता है। मिष्टर कूकका कहना है, कि "मैंने अब तक जिन देशोंका भ्रमण किया है, उनके समान शान्ति प्रिय और निर्विवाद आदमी मैंने बहुत कम देखे हैं। यदि चरित्रकी शुद्धताका उल्लेख करना हो, तो मैं स्पर्द्धाके साथ कह सकता हूं, कि वे इस सम्बन्धमें सभ्यजगत्के आदर्शस्वरूप हैं।"

पत्नित्व और सामाजिक शान्ति।

हर्वटस्पेन्सरका कहना है,—"यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती, कि पति-पत्नीमें प्रेम रहनेसे ही दूसरी किसी तरहकी अशान्ति न मचेगी। थेलिन्कैट (Thelinket) जातिके लोग पत्नी और पुत्रोंको बड़ी स्नेह ममताकी दृष्टिसे देखते हैं। इनकी स्त्रियोंमें भी यथेष्ट लज्जा, नम्रता और सतीत्व दिखाई देता है, किन्तु इनका समाज अत्यन्त जघन्य है। ये बड़े झूठे, चोर और निर्दयी होते हैं। ये दास-दासियोंको तथा कैदियोंको का बातकी बातमें मार डालते हैं। बेचुआना (Bechuana) जातिके लोगोंका स्वभाव भी ऐसा ही है। ये डाकू, झूठे और नर-घातक होते हैं, किन्तु इनकी स्त्रियां लज्जावती और सती-साध्वी हैं। दूसरी ओर ताहिति (Tahitians) जातिके लोग शिल्पादिकार्य्योंमें तथा सामाजिक शृंखलामें बहुत उन्नत हैं, किन्तु इनमें परदारा-सहवास अबाधरूपसे प्रचलित है। स्त्रियोंमें पराये पुरुषके साथ सहवास करनेमें कोई रुकावट नहीं। फिजियन लोग भयङ्कर विश्वासघातक और निर्दयी होते हैं, इनको यदि नर-राक्षस ही कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं हो सकती। किन्तु इनकी स्त्रियां सतीत्व संरक्षणमें जरा भी कसर नहीं उठा रखतीं। कहें तो कह सकते हैं, कि अधिकांश असभ्य समाजमें स्त्रियोंका धर्म उत्तमताके साथ संरक्षित रहता है।

कौमार व्यभिचार।

कनियागा जातिमें जब तक लड़कियोंका विवाह नहीं हो जाता, तब तक वे बेरोकटोक अपने इच्छानुसार पर पुरुषोंके साथ मौज उड़ा सकती हैं। किन्तु विवाह हो जाने पर उनको सती बनना ही होगा। पर्य्यटक हेरेराने

लिखा है, कि कुमाना जातिका स्त्रीहरण वीरत्वगौरव-
दिन तक बहुतेरे पुरुषोंकी उपभोग्यस्त्री-अपहरण करनेवाले
में दोषी नहीं गिनी जातीं। किन्तु दिरह असगोत्र विवाह
पुरुषका सहवास दोषावह गिना जाता ारण विवाहमें भी
सम्बन्धमें पी० पिजारोने लिखा है, कि धाम गौरवजनक
तरहसे पत्नीकी अनुवर्त्तिनी हैं। भी हम इस देशके
चरित्र और किसी दूसरे पुरुषके क तरहसे समराडम्बर
किन्तु विवाहके पहले इनकी कयापहरणपूर्वक विवाहका
साथ संसर्ग कर सकती हैं। संहितामें जिन आठ तरह-
जाती और इनका ऐसा कर्म उनमें राक्षस और पिशाच-
जाता। चिवचा जातिके ले विवाहकी ही ऐतिहासिक
प्रचलित है। विवाहके पह सम्बन्धमें मनुने लिखा है—
पुरुषोंका उपभोग्या होने ा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
करनेमें तनिक भी नहीं हिच ो विधिरुच्यते॥" (मनु ३।३३)
यदि स्त्री परपुरुषके प्रति कुद्ध कि कन्यापक्षसे बलपूर्वक
नहीं होती। राक्षस-विवाह कहा जाता
असगोत्र और सगोत्र नमें कोई अड़चन उप-
इन सब प्रमाणोंसे मालूम होत कि वे लाठी आदिसे
शृङ्खलाकी क्रमोन्नतिके साथ पतिपत्नी क्षित दुर्ग (किले)
न्नतिका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु अनाथा कन्या
पर किसी तरहका सिद्धान्त किया जा नहीं सरक्षा करो,
लोग समाजतत्त्वकी आलोचना कर स्पष्ट देखते हैं।
पुरुषका सम्बन्ध यदि सुदृढ़ न हो, तो साम ाह है। मनु
किसी तरहसे दृढ़ नहीं हो सकता। स्त्री-
जितना ही दृढ़ होता है, उतना ही सम छति।
दो चार असभ्य समाजके उदा ऽधमः॥" (मनु ३।३४)
नहीं माने जा सकते। जगत्के स ा छिप कर ली प्रथा
क्रमोन्नतिके इतिहासके साथ ता अर्थ होता है, कि
अत्यन्त घनिष्ठ है। प्रत्येक सभ्य समाज त: इस प्रथाका
दृढ़ बन्धनके साथ साथ सामाजिक शृ साथ द्रौपदीके
अच्छी तरह दिखाई देती है। पाश्चात वेद-शास्त्रके प्रमाणों
पण्डितोंने असगोत्र और सगोत्र विड़ी आपत्ति की थी।
आलोचना की है। हम यहां इस ोता था। तब द्रौपदीके
बातें कहेंगे। हम इन दोनों वैद ने कहा—"बनवासके
संहितामें लिखे "असगोत्र" और जो वस्तु तुम लोगों-
प्रतिनिधि नहीं मानते। फिर यथो कर खाना या उसका

539-540 Not!

होने पर भी कुछ समुन्न
बन्धनकी अच्छी प्रथ
ताहेती (Tal
प्रयोजनीय साम
किसी किसी
विषय पशुओंकी अ
पात्रियोंका कुछ भी वि
अनुसार अपनी बहन तथ
सम्पादन कर सकते हैं।
उदाहरणीय है। कादियाक
भी इस तरहकी प्रथा देखी
लोगोंमें पिता पुत्रीमें, भ्रात
का सम्बन्ध होते देखा जाता
ने लिखा है, कि अफरिक
अन्तरीपके राजे अपने
लिये अपनी कन्याको
पतिके मरने पर अप
देती हैं।
असभ्य
पद्धति
चिपिवाय
प्रचलित थ
कि पानुचिज
बहनमें भी विवाह
(Cali) जातिमें
प्रचलित है। इस
सम्भ्रान्त कहे जा
विवाह सम्बन्ध
भाई-बहनमें इस
पेरु प्रदेशमें इङ्क
नियमानुसार सह
लेते हैं। पलिनेसिय
इच द्वीपके अधिवा
दरा बहनके साथ
सिवा कि मालागासी

को असगोत्र विवाह और
सगोत्र विवाह मान लेते हैं।
डतोंमें मिष्टर योहन एफ मेकलेननने
। विवाह-प्रथा नामकी एक उपादेय पुस्तक
स्तकमें उन्होंने उक्त दोनों तरहके विवाहों
है। उनका कहना है, कि आदिम
स्त्रीग्रहण-प्रथा दिखाई देती है।
अपनी जातिसे विवाहके लिये
इसीका नाम है—Exogamy
दूसरी एक श्रेणीके लोग अपनी
ण किया करते हैं; इसको
gamy। अपहरण करके भी
इस ग्रन्थमें की गई है।
ने मेकलेननके आदिम समाज-
सिद्धान्तोंका खण्डन किया है।
सिद्धान्त है, कि आदिम समाज-
लड़ाई झगड़ा और कलह हुआ
स्थामें वीरोंको या योद्धाओंको ही
थे। इसलिये वे उत्पन्न पुत्रियोंको
तथा पुत्रोंको बड़े यत्नसे पालनपोषण
इस अवस्थामें समाजमें कन्याओंका
त्र हुआ। इससे पकड़ पकड़ कर विवाह
प्रथा प्रचलित हुई। और इसीलिये Exo-
सगोत्र विवाहकी प्रथा पहले प्रचलित
यह विवाह बहुत दिनों तक स्थायि-
टिक गया। अन्तमें अपने
वाह सामाजिक नियमोंमें
द हो उठा। अपनी जातिके लोगोंमें
त्र होनेसे जिस प्रथाकी प्रथम उत्पत्ति
ा कर वहीं सामाजिक विधिमें परिणत
-विवाह धर्मविरुद्ध गिना जाने लगा।
का एक सिद्धान्त है। उनका और भी
के अभावके कारण कई भर्त्तार करने-
त्ति हुई है।
कर विवाह करनेकी प्रथा इस समय
दिखाई देती है। जिन समाजोंसे यह प्रथा दूर हो गई है, उन समाजोंमें इस प्रथाका आभास और पद्धति वैवाहिक घटनाओंके बहुत आनुसङ्गिक कार्योंमें दिखाई देती है। मिष्टर मेकलेननके बहुत सिद्धान्तोंमें पण्डित-प्रवर हर्बार्ट स्पेन्सरने यथेष्ट असङ्गति प्रदर्शन की है। लेनेनका कहना है, कि सभ्य समाजमें असगोत्र विवाह प्रथाका लोप हुआ है। स्पेन्सरने लेनेनकी युक्ति और उदाहरणोंको उद्धृत कर इस सिद्धान्तका खण्डन किया है। अति सुसभ्य भारतवर्षीय ब्राह्मण-सम्प्रदाय असगोत्र विवाहके ही पक्षपाती हैं।

लेनेनका कहना है, कि असभ्य समाजमें कन्याको मार डालनेकी प्रथा प्रचलित थी। इसीलिये कन्याओंका अभाव हो जाने पर कन्यापहरण किया जाता था। हर्बार्ट स्पेन्सरने इन दोनों सिद्धान्तोंका खण्डन किया है। उनका कहना है, कि असभ्य समाजमें जैसे कन्यायें मार डाली जाती थीं, वैसे ही लड़ाई झगड़ेमें कितने ही पुरुष भी मारे जाते थे। अतएव यह कहा जा नहीं सकता, कि केवल कन्याओंकी ही संख्या कम होती थी। जिस समाजमें कन्याओंकी संख्या कम होती है, उस समाजमें बहुविवाह-प्रथा असम्भव हो जाती है। लेनेनने स्वयं ही लिखा है, कि फ्युमियानगण कन्यापहरण कर विवाह किया करते हैं और उनमें बहुविवाह-प्रथा प्रचलित है। बहुविवाह कन्याओंकी कमीका द्योतक नहीं। तासमेनियामें बहुविवाहका यथेष्ट प्रचलन है। लायड (Loyd)ने लिखा है, उनमें अपहृता कन्याओंका विवाह ही अधिक दिखाई देता है। आदिम अधिवासियोंमें अष्ट्रेलियाके अधिकांश लोगोंके पास दो स्त्रियां हैं। कुइन्सलेण्डकी मेकाडामा जातिके लोगोंमें स्त्रियोंकी संख्या अत्यधिक है। किन्तु वहांका प्रत्येक व्यक्ति दोसे पांच तक स्त्रियां रखता है। दक्षिण-अमेरिकाकी भाकोटा जातिके लोगोंमें बहुविवाह और स्त्रीहरणकी प्रथा मौजूद है। दक्षिण अमेरिकाके ब्रेजिलियनोंमें भी ये दोनों प्रथायें अक्षुण्ण दिखाई पड़ती हैं। फिर कारिबीमें भी ये दोनों प्रथायें जीती जागती दिखाई देती हैं। हमबोल्ट (Humboldt)ने इसके सम्बन्धमें बहुतेरे उदाहरण दिखाये हैं। अतएव यह कहा जा नहीं सकता, कि कन्याओंके अभावके कारण ही स्त्री-अपहरण करके विवाह करनेकी प्रथा प्रवर्त्तित हुई थी।

मेकलेनेनका दूसरा एक यह सिद्धान्त है, कि कन्याहत्याप्रथा प्रचलित रहनेसे ही कन्याओंकी कमी हुई। इसी कारण आदिम समाजमें स्त्रीहरण और बहुभर्त्तार (Polyandry) करनेकी प्रथा प्रवर्त्तित हुआ करती है। यह सिद्धान्त भी युक्तिसंगत नहीं। क्योंकि तासमेनियन, अष्ट्रेलियन, डकोटी और ब्रेजिलियनोंमें आज भी बहुभर्त्तृकता दिखाई नहीं देती। एसकुइमो जातिके लोगोंमें यह प्रथा प्रचलित है। किन्तु वे अब तक नहीं जानते, कि स्त्रीहरण किस चिड़ियाका नाम है। टोडाओंमें बहुभर्त्तारकी प्रथा प्रचलित है सही, किन्तु इनमें अपहरणपूर्वक पाणिग्रहणप्रथा बिलकुल ही दिखाई नहीं देती।

कोमाका, न्यूजीलेण्डर, लेपचा और कालिफोर्नियाके अधिवासियोंमें सगोत्र और असगोत्र दोनों तरहकी प्रथाके अनुसार विवाह प्रचलित है। फ्युजियन, कारिब, एस्कुइमो, वारण, हटेनटट और प्राचीन ब्रिटेनोंमें बहुविवाह और बहुभर्त्तार करनेवाली प्रथा दिखाई देती है। इरोकोइस और किपोया जातिके लोगोंमें अब तक 'अपहरण' वाली विवाहप्रथा नहीं है।

स्पेन्सरका कहना है, कि कन्याओंका अपहरण कर स्त्रीग्रहण करनेकी प्रथा कन्याके मार डालनेके कारण कन्याओंके अभाव होनेके फलसे प्रवर्त्ति[illegible]गी। आदिम समाजमें स्त्रीरत्न भी अस्थावर [illegible]तमें सम्मिलित था। इस तरह समाजमें युद्धविग्रहके फलसे जीतनेवाले हारनेवालोंका सभी धनरत्नोंके साथ साथ स्त्रीरत्न भी अपहरण कर लेते थे। स्त्रियां दासी रूपसे, उपपत्नी रूपसे और स्त्री-रूपसे व्यवहृत होती थीं। असभ्य समाजमें इस तरहकी नारीहरणप्रथाका अभाव नहीं था। टारनरने लिखा है—सामोयातमें विजयी पक्ष आपसमें जब लूटी हुई सम्पत्तिका बंटवारा करता था, तब स्त्रियोंका भी बंटवारा होता था। इलियाड पढ़नेसे मालूम होता है, कि प्राचीन यूनानियोंने पवित्र इजियन नगरको लूट कर जो स्त्रियां प्राप्त की थीं, उन्होंने आपसमें उनका भी विभाग किया था। आधुनिक इतिहासमें भी इस तरहकी घटनाका अभाव नहीं। इससे प्रमाणित होता है, कि युद्धविजयके साथ साथ स्त्रीहरणका कार्य्य नित्यकी घटना थी।

आगे चल कर इस तरहका स्त्रीहरण वीरत्वगौरवपरिचायक हो उठा। समाजमें स्त्री-अपहरण करनेवाले विशेषरूपसे सम्मानित थे। इस तरह असगोत्र विवाह समाजमें आदृत हो गया। अन्तमें साधारण विवाहमें भी इस समय यह समरसज्जा और धूमधाम गौरवजनक समझी जाने लगी। इसीसे आज भी हम इस देशके अनेक स्थानोंमें ही विवाहमें एक तरहसे समराडम्बर देखते हैं। महाभारतमें कन्यापहरणपूर्वक विवाहका उदाहरण पाया जाता है। मनुसंहितामें जिन आठ तरहके विवाहोंका उल्लेख है, उनमें राक्षस और पिशाचविवाह आदिम अवस्थाके विवाहकी ही ऐतिहासिक स्मृति है। राक्षस-विवाहके सम्बन्धमें मनुने लिखा है—

"हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥" (मनु ३।३३)

मेधातिथिका कहना है, कि कन्यापक्षसे बलपूर्वक कन्याहरण करके विवाह करना राक्षस-विवाह कहा जाता है। इस अवस्थामें कन्याप्रदानमें कोई अड़चन उपस्थित हो तो, वरपक्षको चाहिये, कि वे लाठी आदिसे मारपीट कर चहारदीवारी आदिसे सुरक्षित दुर्ग (किले) को नष्ट भ्रष्ट करके कन्यापहरण कर लें। अनाथा कन्या यह कह कर रोती है, कि तुम लोग मेरी रक्षा करो, मुझे हरण कर ले जाता है, यही राक्षस-विवाह है।

दूसरे एक विवाहका नाम पैशाच-विवाह है। मनु कहते हैं:—

"सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥" (मनु ३।३४)

सुप्ता, मत्ता या प्रमत्ता कन्याका छिप कर [illegible]ली प्रथा करना हा पैशाच-विवाह है। निद्रिता अ[illegible]होता है, कि या मद्यके नशेमें मत्त या और किसी त[illegible] इस प्रथाका वस्तुओं द्वारा चेतनारहित कन्याका साथ द्रौपदीके उसको स्त्रीके रूपमें परिणत करना अवेद-शास्त्रके प्रमाणों कहा गया है। मनुके मतसे क्षत्[illegible]ड़ी आपत्ति की थी। सकते हैं। किन्तु ब्राह्मणोंके लि[illegible] जीता था। तब द्रौपदीके ये दोनों तरहके विवाह हो [illegible]धिष्ठिरेने कहा—"वनवासके पैशाच-विवाहमें कन्या [illegible]कि वनमें जो वस्तु तुम लोगों· अनिच्छा ही रहती है। [illegible] भाई बांट कर खाना या उसका

पैशाच-विवाह वञ्चनामय है। ये सब विवाह पाणिग्रहण-संस्कारसे पृथक् हैं। क्योंकि, इन सब विवाहोंके पूर्व ही कन्याका कन्यात्व नष्ट हो जाता है। मेधातिथिने इसके सम्बन्धमें बहुत सूक्ष्म विचार किया है।

जो हो, असभ्य समाजोंमें पैशाचविवाहकी प्रथा देखी नहीं जाती। इनमें राक्षस विवाहकी प्रथा ही प्रचलित दिखाई देती है और पिछले समयमें भी इस तरहका विवाह गौरवजनक समझा गया है।

विवाह और वीरत्व।

समाजकी आदिम अवस्थामें अनेक जगह ही रमणी वीरभोग्या कही जाती थी। किसी समय वीरत्व ही वीरत्वके रूपमें परिणत होता था। हमारे देशमें सीताकी वरपरीक्षामें इसी तरह वीरत्वकी परीक्षा हुई थी, द्रौपदीके पाणिग्रहणके समय लक्ष्यभेदकी परीक्षामें वरनिर्वाचित हुआ था। इस तरहके उदाहरण रामायण महाभारत आदि ग्रन्थोंमें खोजनेसे और भी मिल सकते हैं। असभ्यसमाजमें भी वीरत्व ही वरत्वका गुणपरिचायक था। हेरनडन (Harndon) का कहना है, कि माहुई (Mahue) जातिके लोगोंमें जो व्यक्ति अत्यन्त कष्टसहिष्णु न हो, तो उसको दामाद कोई भी नहीं बना सकता था। अमेरिकाके उत्तर-आमाजन नगरमें प्राचीन कालमें जो युद्धमें पराक्रम नहीं दिखा सकता था, उसको कोई अपनी कन्या देना नहीं चाहता था। डाइक जातिके लोग जो समाजके सामने शत्रुका कटा शिर न दिखा सकते थे, उनका विवाह ही नहीं होता था।

आपाचा (Apacha) नामक असभ्य जातिकी स्त्रियोंकी ([illegible] प्रियता आदि अद्भुत है। इनमें यदि स्वामी रणक्षेत्र-प्रचलित [illegible]र घर लौट आवें, तो उनको घृणाके साथ सम्भ्रान्त [illegible]ली जाती है। वे भीरु या डरपोक कह कर विवाह सम्ब[illegible]े। स्त्रियां स्पष्ट रूपसे ही कहती हैं—भाई-बहनमें इ[illegible] जाते और पीठ दिखा कर युद्धसे भाग पेरु प्रदेशमें इङ्क [illegible] या डरपोकको स्त्रीकी क्या जरू-नियमानुसार सह[illegible] लेते हैं। पलिनेसिय[illegible]री समय वीरविक्रम-प्रदर्शनकी इच द्वीपके अधिवा त्ति हुई मिलती। इसीलिये कन्या-दरा बहनके साथ कर विव [illegible] समाजमें विशेष गौरव [illegible] कि मालागासी दंखाई देती [illegible]का कहना है—

"पृथग् पृथग् वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ॥"

(मनु ३।२६)

इसके द्वारा मालूम होता है, कि क्षत्रिय गान्धर्व और राक्षस-विवाह कर सकते हैं। भारतवर्षमें प्राचीन समयमें गान्धर्व और राक्षस मिश्रित एक प्रकारकी विवाह-पद्धति प्रचलित थी। उक्त श्लोकांशके भाष्यमें मेधातिथिने लिखा है—

"यदा पितृगृहे कन्या तत्रस्थेन कुमारेण कथञ्चित् दृष्टिगोचरापन्नेन दूतीसंस्तुतेन इतरापि तथैव परवती न च संयोगं लभते तदा वरेण सां बद्धं कृत्वा नय मामितो येन केनचिदुपायेनेत्यात्मनं ज्ञापयति स च शक्त्यातिशयात् हत्वा छित्त्वा चेत्येवं हरति। तदा इच्छयान्योन्यसंयोग इत्येतद् [illegible]त गान्धर्व रूपं; हत्वाछित्त्वेति च राक्षसरूपम्।"

अर्थात् युवती कन्या किसी कुमारको देख कर उससे विवाह करनेकी इच्छा प्रकट करे और किसी तरहसे दूत या दूती द्वारा अपने अभिप्रायको वरसे जना दे, तो वरका यह काम होगा, कि उस कार्य्यमें अड़ंगा खड़ा करनेवालोंको [illegible]र उस कन्यासे वह विवाह कर ले। विवाह इ[illegible]ा प्रचलि[illegible] विवाह राक्षस-गान्धर्व-मिश्रित-विवाह कहला[illegible]। श्रीकृष्ण-रुक्मिणीका विवाह ऐसा ही है। अर्जुन-सुभद्राका विवाह भी इसी तरहका था। और तो और भारतके अन्तिम हिन्दू-सम्राट् पृथ्वीराजसे संयोगिताका विवाह भी इसी तरह हुआ।

कन्या या कन्या-पक्षका प्रातिकूल्य।

असभ्य समाजके विवाह-व्यापारमें कन्या और कन्या-पक्षसे एक तरहका कपट प्रातिकूल्य प्रदर्शित हुआ करता है। क्राण्टज् (Crantz) कहते हैं, कि एस्कुइमो जातिकी कन्यायें लज्जाशीलताकी अतीव पक्षपातिनी हैं। विवाहकी बात कहते ही वे शिर नीचा कर लज्जा प्रकाश करती हैं। विवाहके समय यह कपट लज्जा प्रकाश कपटक्रोधाभिनयमें परिणत हो जाता है। विवाहके समय कन्या वरको देखते ही शेरसे डरी हरिणीकी भांति चौंक कर दौड़ती है, क्रोधसे अपने शिरके बाल खोल लेती है। बुसमेन जातिकी कन्याओंका भी ऐसा ही स्वभाव है।

बुसमेनकी कन्याओंका अधिक उम्रमें विवाह होता है। फिर भी वह यह कपट लज्जा और क्रोध प्रकाश करती है। और तो क्या यदि उसका कौमारहर युवक ही वर क्यों न हो; किन्तु आत्मीय स्वजनके सामने कपट लज्जा तथा अनिच्छा बिना प्रकट किये नहीं मानती।

सिनाईवासी अरबोंकी स्त्रियां और भी बढ़ी हुई हैं। इनकी कन्यायें अधिक उम्रमें ब्याही जाती हैं। और तो क्या—विवाहके पहले ही किसी किसीका 'कौमारहर' हो जाया करता है। अन्तमें वही कौमारहर वर बन जाता है। किन्तु उसके साथ भी विवाहका प्रस्ताव उठते ही कन्या कपट क्रोध प्रकट करने लगती है। हृदयसे प्राणसे वह अपने प्रस्तावित पतिको प्यार करती है, किन्तु कुटुम्बके लोगोंके सामने उसको मारती है, उसको ताक कर ढेलेसे मारती है, इससे उसकी देहमें चोट भी लग जाती है। और तो क्या—उसको वह दांतोंसे काटती, लात भी चला देती है और क्रोधित हो कर डरावनी आवाजमें चिल्लाती भी रहती है। जो युवती इस तरहका कपटभाव अधिक मात्रामें दिखाती है, वही समाजमें लज्जावती लड़की गिनी जाती है। पतिके घर जाते समय यह गला फाड़ फाड़ कर कुररीकी तरह रोती हैं।

'मूजो (Muzo) जाति' नामके भी कुछ लोग इस धरती पर हैं। इनमें विवाहका प्रस्ताव हो जाने पर वर कन्याको देखनेके लिये आता है। तीन दिन तक उसे कन्याको सन्तुष्ट करना पड़ता है। इस समय कन्या वरको मुक्के; घूंसे और तमाचोंसे खूब खबर लेती है। तीन दिनके बाद रुष्टा चण्डी संतुष्ट हो कर वरको भोजन बना कर खिलाती और नाना प्रकारकी सेवायें किया करती है। यह प्रतिकूलाचार कहीं कहीं तो कपटताका अभिनयमात्र है और कहीं कहीं यथार्थ ही स्त्रीजन-स्वभाव-सुलभ लज्जाशीलता-मूलक है।

कहीं कहीं तो कन्यापक्षकी स्त्रियाँ भी वरके प्रति नाना तरहसे विरुद्धाचरण किया करती हैं। बहुत जगहोंमें ही ऐसा प्रतिकूलता कपट प्रातिकूल्यमात्र है। सुमात्रा द्वीपकी लड़कियां विवाहके समय वरको नाना प्रकारसे कपटता-पूर्वक बाधा उपस्थित करती हैं। कन्यायें भी इनके साथ सहयोग प्रदान करती हैं।

आर्केनियनोंको विवाह-सभामें रमणियोंकी खासी रणस्थली बन जाती है। दलकी दल रमणियां तलवार ले कर युद्धसज्जासे सुसज्जित हो कन्याकी रक्षामें प्रवृत्त होती हैं। विवाहके समय ये हाथमें गदा और मिट्टीका ढेला ले कर विवाह-मण्डपमें खड़ी रहती हैं। वरको कपटता-पूर्वक बाधा देना ही इस जातिके लोगोंकी विवाह-प्रथाका एक प्रधान अङ्ग है।

कामस्काट्काकी विवाह-प्रणालीको देख कर विदेशी किसी भी देखनेवालेको पहले बड़ा भय होता है। कन्याके ग्रामकी बहुतेरी स्त्रियां एकत्र हो कर कन्याके संरक्षणके लिये आती हैं। ये नाना प्रकारके अस्त्रशस्त्रोंको हाथमें ले वीराङ्गना-वेशमें विवाहमण्डपको भीषण चण्डीकी रणस्थलीमें परिणत कर देता हैं। वस्तुतः वहां कोई खूनखराबी नहीं होता; किन्तु कन्याको वे इस तरह घेरे रहती हैं, कि उस दिन वरके लिये कन्याका एकान्त मिलना या कक्ष सखियोंके साथ मिलना कठिन हो जाता है।

मनुसंहितामें राक्षस-विवाहका जैसा उल्लेख है, असभ्य जातिके अनेक लोगोंमें वैसी ही प्रथा देखी जाती है। इससे पहले इसके लिये अनेक उदाहरण दिये गये। आर्केनियन, गोण्ड, गण्डोर (Gandor) और मापुछा (Mapucha) आदि जातियोंमें यह प्रथा बहुत अधिक प्रचलित है। बङ्गदेशके बागदी तथा लेपचा आदि जातियोंमें भी इस लुप्त प्रथाकी झिलमलाती हुई ज्योति दिखाई देती है।

बहु भर्त्तार करनेकी प्रथा (Polyandry)।

समाजके आदिम समयमें बहु भर्त्तार करनेवाली प्रथा प्रचलित थी। महाभारतके पढ़नेसे मालूम होता है, कि यह प्रथा वेदके विरुद्ध है। वेद कभी भी इस प्रथाका समर्थन नहीं करता। पांचों पाण्डवोंके साथ द्रौपदीके विवाहके समय द्रुपद राजाने अनेक वेद-शास्त्रके प्रमाणों और लोकाचारकी दुहाई दे कर बड़ी आपत्ति की थी। अर्जुनने लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको जीता था। तब द्रौपदीके विवाहका प्रस्ताव उठा। युधिष्ठिरने कहा—"बनवासके समय माताजीने कहा था, कि वनमें जो वस्तु तुम लोगोंको मिले, उसको पांचो भाई बांट कर खाना या उसका

उपभोग करना। हमलोग भी माताके निकट ऐसी ही प्रतिज्ञामें आबद्ध हुए हैं। इस प्रतिज्ञाके अनुसार द्रौपदी हम लोगोंकी रानी बनेगी।" इनको आनुपूर्विक नियमानुसार पांचो भाइयोंका पाणिग्रहण करना होगा। युधिष्ठिरकी यह बात सुन कर द्रुपदने विस्मित् हो कर कहा था—

"हे कुरुनन्दन! शास्त्रमें एक पुरुषको अनेक स्त्रियोंके विवाह करनेका विधान दिखाई देता है, किन्तु एक स्त्रीके कई भर्त्तारकी बात कहीं सुनाई नहीं देती। युधिष्ठिर, तुम पवित्र और धार्म्मिक हो, तुमको यह लोक-विरुद्ध वेद-विरुद्ध कार्य्य शोभा नहीं देगा। तुम्हारी ऐसी बुद्धि क्यों हुई?" इसके उत्तरमें युधिष्ठिरने कहा, "क्या करूं? माताकी आज्ञाकी अवहेलना हमसे न की जायगी। विशेष तो मैं पहले ही कह चुका हूं, कि एक समय एक स्त्रीका एक साथ पांच स्वामियोंकी सेवा करना शास्त्रविरुद्ध बात हो सकती है, किन्तु आनुपूर्विक नियम तथा समयके भेदसे द्रौपदी हमारे सभी भाइयोंकी महिषी बन सकती है। ऐसा करनेमें शास्त्रकी कोई निषेधाज्ञा नहीं दिखाई देती। धर्मकी गति बहुत सूक्ष्म है। हम इसका मर्म अच्छी तरह नहीं समझते। किन्तु माताकी आज्ञाका उलंघन भी नहीं कर सकते। द्रौपदी हमारे पांचो भाइयोंकी सम्भोग्या होगी।"

(भारत १।१९५।२७२८)

द्रुपद राजा युधिष्ठिरकी तर्कयुक्तिसे विस्मित हुए सही, किन्तु उनके चित्तको सन्तोष न हुआ। उन्होंने व्यासदेवसे इस प्रश्नको पूछा—एक पत्नीका बहुत पति रहना वेद-विरुद्ध तथा लोकाचार-विरुद्ध है। ऐसा कार्य्य पहले कभी नहीं हुआ है और न किसी महात्माने ऐसे कार्य्यका अनुष्ठान कराया है। मुझे इस विषयमें नितान्त सन्देह हुआ है, कि ऐसा कार्य्य धर्मसंगत है या नहीं?

धृष्टद्युम्नने द्रुपदके अभिप्रायका समर्थन किया। युधिष्ठिरने उसका प्रतिवाद कर कहा, "मैंने जो कुछ कहा है, वह झूठ नहीं, अधर्मजनक भी नहीं। विशेषतः अधार्मिक कार्य्योंमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। पुराणोंसे जाना जाता है, कि गौतमवंशीया जटिलानाम्नी कन्याका सात ऋषियोंने पाणिग्रहण किया था। वे भ्रष्टा न थीं। धार्मिक व्यक्ति उनको श्रद्धा करते थे। व्राह्मी नाम्नी मुनिकन्याने प्रचेता आदि दश भाइयोंका पाणिग्रहण किया था। अतः ऐसा विवाह वेद या लोकविरुद्ध नहीं कहा जा सकता। सदासे बहुपतित्वका निषेध शास्त्रमें विहित है। समय भेदसे निषिद्ध नहीं है। विशेषतः माताकी आज्ञा अत्यन्त बलवती है और यह हमारे लिये एकान्त पालनीय है।" इसके बाद व्यासदेव युधिष्ठिरकी बातोंका समर्थन कर द्रौपदीके पूर्वजन्मकी बात कहने लगे। द्रौपदीने देव देव महादेवसे पांच बार गुणवान् पति पानेकी प्रार्थना की थी। दयामय आशुतोष शङ्करने द्रौपदीके प्रत्येक बारकी प्रार्थनाको पूर्ण कर उनको पांच पति पानेका वर प्रदान किया। पांच पतिकी प्राप्ति वरकी बात सुन कर द्रौपदीने कहा, "प्रभो! मैंने पांच पतिकी कामना कभी नहीं की। मैंने गुणवान् एक ही पतिकी प्रार्थना की थी।" महादेवने कहा, कि तुमने पांच बार वरकी प्रार्थना की है, अतः मैं एक बार भी तुम्हारी प्रार्थनाको निष्फल न करूंगा। तुम गुणवान् पांच पति प्राप्त करोगी।

सर्वज्ञ व्यासदेवने इस तरह द्रुपदके सन्देहात्मक प्रश्नकी मीमांसा कर दी। इससे साफ प्रकट होता है, कि किसी समय भारतके आर्य्योंमें भी बहुभर्तृकताकी प्रथा प्रचलित थी। किन्तु महाभारतके बहुत पहले ही इस प्रथाका अन्त हो गया था। इसका भी स्पष्ट प्रमाण द्रुपदके इस प्रश्नसे ही मिल जाता है। किन्तु दक्षिणमें कहीं कहीं अब भी यह प्रथा प्रचलित है।

त्रिवाङ्कोड़के दक्षिण अञ्चलके वैद्य और हजाम अम्बष्ठम् या अमूपट्टन नामसे प्रसिद्ध है। इन्हीं अम्बष्ठ जातिके लोगोंमें आज भी बहुभर्तृकता प्रचलित है। इनमें एक भाईकी स्त्री अन्यान्य भाइयोंकी भी स्त्री कहलाती है। इस प्रदेशके बढ़ई आदि कारीगरोंमें भी एक भाईकी स्त्री अन्यान्य भाइयोंकी स्त्री कही जाती है। जेठाई छोटाईके हिसाबसे सन्तानका बंटवारा हो जाता है अर्थात् जेठा सन्तान जेठे भाईका, इसके बादका यानी इससे छोटा सन्तान उस जेठे भाईसे छोटे भाईका कहलायेगा। इसी

तरह वे सन्तानका बंटवारा कर लेते हैं। दरिद्रोंमें ही ऐसा विवाह अधिक दिखाई देता है। एक घरमें सात सहोदर वर्त्तमान है। सात आदमियोंकी सात स्त्रियोंका पालन पोषण दरिद्रता देवीके सामने अतीव कठिन कार्य है, ऐसे ही स्थलमें एक ही स्त्री सातों भाइयोंकी पत्नीरूपसे व्यवहृत होती है। इस श्रेणीके लोग तिवाङ्कोड़ "कमानार" अर्थात् कारुकर नामसे पुकारे जाते हैं। मलवारके निकट किसी समय बहुभर्त्तृकता प्रथाका बहुत जोर था; किन्तु इस समय इसका वह जोर जाता रहा अथवा यों कहिये, कि इस प्रथाकी अब प्रायः स्मृतिमात्र ही रह गई है। अब जो यत्र तत्र यह प्रथा दिखाई देती है, वह आदिम असभ्य समाजकी बहुभर्त्तृकता प्रथाकी तरह इन्द्रियतृप्तिके लिये नहीं चलाई गई। इनमें तो इसके लिये कभी वाद विवाद भी नहीं होते सुना गया है।

मलवारकी "नायर" जातिके लोगोंमें किसी समय इस प्रथाका यथेष्ट प्रचलन था, किन्तु इस समय इसका प्रायः लोप हो रहा है। रण-दुर्मद नायर जातिके लोगोंके लिये प्रत्येकका विवाह करना कठिन था और प्रत्येकके विवाह कर लेने पर गृहसंसारमें बड़े बखेड़े उठ खड़े होते थे। समरप्रिय व्यक्तियोंके सम्बन्धमें इस तरहका विवाह सुविधाजनक नहीं समझा जाता। नायर सैनिक हैं। यूरोपमें भी सिपाहियोंके विवाहका महत्त्व नहीं दिया जाता। मलवारके नायर सदा युद्धमें फंसे रहते थे। अतः इनमें प्रत्येकके विवाहका प्रयोजन नहीं समझा जाता। केवल एक भ्राताके विवाह हो जाने पर वही स्त्री सभी भाइयोंके पत्नीका काम देती थी। इससे किसीको भी संसार बन्धनमें बंधे रहनेकी आशङ्का नहीं होती थी। इसी कारणसे मलवारके नायरोंमें बहुभर्त्तृकता प्रथा प्रचलित हुई था। तिवाङ्कोड़की निम्न श्रेणीकी अनेक जातियोंमें यह प्रथा अब भी वर्त्तमान है। किन्तु पूर्वकी तरह कभी अब इस प्रथाका उतना जोर नहीं दिखाई देता। भारतवर्षके अन्यान्य स्थानोंमें भी बहुभर्त्तृताका उदाहरण आज भी दिखाई देता है। तिब्बतमें इस प्रथाका पहले बड़ा जोर था वहां अब भी यह मौजूद है।

टोडा जातिके लोगोंमें यह प्रथा दिखाई देती है। इनमें चार पांच या इससे भी अधिक सहोदर होने पर ज्येष्ठ भाई ही अपना विवाह करता है। अन्यान्य भाई जब जवान होते हैं, तब वे भी क्रमशः उसी स्त्रीको पत्नीरूपमें मानते हैं। जेठे भाईकी पत्नीकी बहनें भी उसके देवरोंके साथ ब्याही जा सकती हैं। अवस्थाविशेषमें दो दो भाइयोंमें एक या बहु स्त्री ग्रहण करनेकी प्रथा अवलम्बित है। इनमें स्त्रीपुरुष दोनोंका बहुविवाह दिखाई देता है। पयूजियन रमणियां भी सामाजिक प्रथाके अनुसार बहुत पुरुषोंकी उपभोग्या होती हैं। ताहितीय लोगोंमें स्त्रियां भी बहुत भर्त्तार और पुरुष भी बहुविवाह कर सकते हैं।

बहुभर्त्तृका रमणियां अधिकांश स्थानमें सहोदर भाइयोंकी पत्नियां होती हैं। किंतु निःसम्पर्क स्थलमें भी इस तरहका पत्नित्व दिखाई देता है। केरिब, एस्कुइमो और वान्सोंकी रमणियां बहुभर्त्तार ग्रहण करती हैं। एलिटियान द्वीपके अधिवासियोंमें तथा कनारीद्वीपके अधिवासियोंमें भी यह प्रथा प्रचलित है। लानसिरोटरकी रहनेवाली स्त्रियां भी बहुत भर्त्तार करती हैं। किन्तु इनको निर्द्दिष्ट समय तक एक एक स्वामीके साथ सहवास करना पड़ता है। एक एक पक्ष तक यानी १५ दिन तक] इनको एक एक पतिके साथ सहवास करनेका नियमित समय होता है। काशिया तथा स्पोरिजियन कसाकोंमें भी बहुभर्त्तृकता प्रथा मौजूद है। सिंहलके धनी और उच्च श्रेणीके सम्भ्रांत व्यक्तियोंमें एकाधिक भाइयोंमें एक साधारण पत्नी दिखाई देती है। भाइयोंमें ही साधारणतः यही नियम है।

अमेरिकामें आभारु और सेपेडर जातिकी रमणियां बहुत भर्त्तारकी पत्नी बनती हैं। काश्मीर, लादक, कुनावार, कृष्णवार, मलवार और शिरमूरमें यह प्रथा प्रचलित है। अरब और प्राचीन ब्रिटेनमें भी यह प्रथा प्रचलित थी।

तिब्बतमें आज भी यह प्रथा अधिकतासे प्रचलित है। फलतः तिब्बतकी तरह ऊसर भूमिमें यदि विवाह द्वारा जनसंख्या बढ़ाई जाये, तो अन्नाभावसे देशमें भीषण अशांति मच जा सकती है। इस प्रथाके जारी रहनेसे तिब्बतका मङ्गल ही हुआ है। वाणिज्य और युद्ध-कार्यों में जहां

जिन लोगोंको स्त्री-पुत्रोंको छोड़ कर विदेशमें भ्रमण करना पड़ता है, वहां इस तरहकी प्रथा समाजके लिये हितकारी ही समझी जायेगी ।

हिन्दू विवाह ।

इसका निर्णय करना बहुत कठिन है, कि हिन्दू-समाजमें कब विवाह-संस्कार प्रवर्त्तित हुआ। वंशप्रवाह-संरक्षणके लिये स्त्रीपुरुषका संयोग स्वाभाविक घटना है। किंतु वेदादि ग्रंथोंमें प्रजासृष्टिकी अन्यान्य अलौकिक प्रक्रियायें भी दिखाई देती हैं। मानस-सृष्टि आदि अयोनिसम्भव सृष्टि इसके उदाहरण हैं। मन्त्रब्राह्मणमें नारीके उपस्थदेशको प्रजापतिका दूसरा मुख कहा गया है।

ऋग्वेद जगत्का आदि ग्रन्थ कहा जाता है। इस ऋग्वेदके समय हिंदू-समाजमें विवाहकी प्रथायें दिखाई देती हैं। वे सुसंस्कृत सभ्य समाजकी विवाह-प्रथाके रूपमें समादृत होने योग्य हैं। यह कहा जा नहीं सकता, कि वैदिक कालके पहले हिंदुओंमें विवाह-बन्धन कैसा सुदृढ़ था।

महाभारत पढ़नेसे ज्ञात होता है, अत्यन्त प्राचीन समयमें व्यभिचार दोषरूपमें नहीं गिना जाता था। हमने आदिम जातिके लोगोंके विवाह-वर्णनमें इन सब बातोंका उल्लेख किया है। महाभारतके १।१२२।२५ २६-श्लोकमें लिखा है—पाण्डु कुन्तीसे कह रहे हैं, कि हे पतिव्रते राजपुत्रि! धर्मज्ञ यही धर्म जानते हैं, कि ऋतु समय स्त्री स्वामीको अतिक्रम न करे, अवशिष्ट अन्यान्य समयमें स्त्री स्वच्छन्दचारिणी हो सकती है। साधु लोग इसे प्राचीन धर्मका कीर्त्तन कहा करते हैं।

इससे मालूम होता है, कि स्त्रियां ऋतुकालमें स्वामीके सिवा अन्य पुरुषसे सहवास नहीं करतीं थीं, ऋतु कालके सिवा अन्य समयमें अन्य पुरुषसे सहवास कर सकती थी। महाभारतके प्रागुक्त अध्यायके प्रारम्भमें पाण्डुने कुन्तीसे जो कहा था, वह महाभारतके आदि पर्वके १२३ अध्याय ३-७ श्लोकमें देखिये। यहां हम उसका भावार्थ देते हैं—

स्त्रियां पहले घरमें बन्द नहीं रखी जाती थीं। ये सबके साथ मिल-जुल सकती थीं। सभी उनको देख सकता था। स्त्रियां स्वतन्त्र थीं, आजाद थीं। ये रति-सुखके लिये स्वच्छन्दतापूर्वक जिस किसी पुरुषसे सहवास कर सकती थीं, जिस किसी परपुरुषके यहां आ जा सकती थीं। ये कौमार अवस्थासे ही व्यभिचारिणी होती थीं। उस समयके पति इनके इस कार्य्यमें बाधा नहीं देते थे। उस समय यह अधर्म भी गिना नहीं जाता था, वरं यह उस समय धर्म ही कहा जाता था। महाभारतके समय उत्तर-कुरुप्रदेशमें यह प्रथा प्रचलित थी। पाण्डुने स्वयं भी उसे स्पष्टरूपसे कहा है। पाण्डुने यह भी बताया है, कि किस तरह यह प्रथा रोकी गई। आदिपर्व १२२ अध्याय ९-२० श्लोक द्रष्टव्य।

उन्होंने कहा है—मैंने सुना है, कि उद्दालक नामक एक महर्षि थे। उनके पुत्रका नाम था श्वेतकेतु। इसी श्वेतकेतुने ही पहले पहल स्त्रियोंकी स्वच्छन्दविहारप्रथाको रोका था। क्रोधित हो श्वेतकेतुने ऐसा क्यों किया, उसका विवरण सुनो। एक समय उद्दालक, श्वेतकेतु और उनकी माता एकत्र बैठी हुई थी; ऐसे समय एक ब्राह्मणने आ कर श्वेतकेतुकी माताका हाथ पकड़ कर कहा, आओ चलें। यह कह कर वह ब्राह्मण उसे एकान्तमें ले गया। ऋषिपुत्र श्वेतकेतु इस घटनासे बड़े असन्तुष्ट और क्रोधित हुए। उद्दालकने उन्हें बहुत तरहसे समझाया। उद्दालकने यह स्पष्ट कहा—पुत्र, तुम क्रोधित न हो, यह सनातन धर्म है। इस जगतकी सभी स्त्रियां अरक्षिता हैं। गायोंकी तरह मनुष्य भी अपनी अपनी जातिमें स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करते हैं। इस तरह ऋषिके समझाने पर भी श्वेतकेतुके चित्तको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने स्त्री-पुरुषके इस व्यभिचारको दूर करनेके लिये नियम बनाया। उस समयसे मानव-समाजमें यह प्रथा प्रचलित है; किन्तु अन्यान्य जन्तुओंमें वही प्राचीन धर्म अब तक बलवान है। श्वेतकेतुने यह नियम बनाया, कि आजसे जो स्त्री किसी समयमें पतिवञ्चता करेगी, वह भ्रूणहत्याकी तरह महा अमङ्गलजनक पापकी भागिनी बनेगी। फिर जो पुरुष बालकालमें साधुशीला पतिव्रता पत्नी पर अत्याचार करेगा, उसको भी इसी पापका भागी बनना

पड़ेगा और जो स्त्री पति द्वारा पुत्रार्थमें नियुक्ता हो कर पतिकी आज्ञाका पालन नहीं करेगी, उसको भी यही पाप लगेगा। हे भयशीले! श्वेतकेतुने बलपूर्वक प्राचीन समयमें इस धर्मयुक्त नियमको बनाया था।

महाभारतके पढ़नेसे और भी मालूम होता है, कि उतथ्य ऋषिके पुत्र दीर्घतमाने भी स्त्रियोंकी स्वच्छन्द-विहारप्रथाको बन्द किया था।

महाभारतमें यह विवरण इस तरह लिखा है :— दीर्घतमाकी पत्नी पुत्र उत्पन्न हो जाने पर पतिको सन्तुष्ट नहीं कर सकती थी। दीर्घतमाने कहा,—तुम मुझसे द्वेष क्यों करती हो? इसके उत्तरमें उनकी पत्नी प्रद्वेषीने कहा,—स्वामी स्त्रीका भरण-पोषण करता है, इसीसे उनका 'पति' नाम हुआ; किन्तु तुम जन्मान्ध हो। मैं तुम्हारे और तुम्हारे पुत्रोंका भरण पोषण करनेमें कठिन क्लेश अनुभव कर रही हूं। अब मुझसे तुम लोगोंका पालन पोषण हो न सकेगा। गृहिणीकी यह बात सुन कर ऋषिने क्रोधान्वित हो अपनी पत्नीसे कहा,—'मुझको राजाके यहां ले चलो, वहांसे धनलाभ होगा।' इस पर पत्नी प्रद्वेषीने कहा, "मैं तुम्हारे द्वारा उपार्जित धनको नहीं चाहती। तुमको जो इच्छा हो करो। मैं पहलेकी तरह तुम्हारा भरण पोषण नहीं कर सकूंगी।" इस पर क्रुद्ध हो कर दीर्घतमाने कहा,—आजसे मैं यह नियम बनाता हूं; कि केवल पति ही स्त्रियोंके एकमात्र चिरजीवनके आश्रय होंगे। स्वामीके मरने पर या स्वामीके जीवित रहने पर स्त्री अन्य पुरुषसे संग नहीं कर सकेगी। यदि वह ऐसा करेगी तो वह पतिता समझी जायेगी। आजसे जो स्त्रियां पतिको त्याग कर दूसरे पुरुषसे सहवास करेंगी, उनको पाप लगेगा। सब तरहका धन मौजूद रहते हुए भी वे इन सब धनका भोग न कर सकेंगी और नित्य ही अपयश अपवादकी पात्री बनेंगी।

महाभारतोक्त प्रमाणोंसे मालूम होता है, कि भारतवर्षमें पहले हिन्दूसमाजमें भी विवाह-बन्धन वर्त्तमान समयकी तरह सुदृढ़ नहीं था। स्त्रियां कौमारकालसे ही इच्छा पूर्वक पर पुरुषसे सहवास कर सकती थीं। उसके इस कार्य्यमें कोई रुकावट नहीं थी। साधुसमाजमें भी यह व्यभिचारधर्ममें गिना नहीं जाता था।

ऋग्वेदसंहिताके पढ़नेसे मालूम होता है, कि राजकन्या ऋषिपुत्रोंसे व्याही जाती थीं। ऋग्वेदमें ५वें मण्डलके ६१ वें सूक्तमें जिन श्यावाश्व ऋषिका उल्लेख है, रथवीति राजाकी कन्यासे उनका विवाह हुआ था। इसके सम्बन्धमें सायणने एक अद्भुत प्रस्तावकी वर्णना की है। दर्भके पुत्र राजा रथवीतिने अत्रिवंशीय अर्चनानाको होतृकार्य्यमें वरण किया था। अर्चनानाने पिताके समीप राजपुत्रीको देख अपने पुत्र श्यावाश्वके साथ उसका विवाह कर देनेके लिये राजासे प्रार्थना की। राजाने रानीसे यह प्रस्ताव किया। इस पर रानीने आपत्ति कर कहा, 'हमारे वंशकी सभी कन्याओंका विवाह ऋषिपुत्रोंके साथ हुआ है। श्यावाश्व ऋषि नहीं। उनके साथ राजकन्याका विवाह नहीं हो सकता।' रानीके इस तरह आपत्ति करने पर विवाहप्रस्तावका खण्डन हो गया। श्यावाश्व यह सुन कर ऋषिपद प्राप्त करनेके लिये कठोर तपश्चर्य्यामें प्रवृत्त हुए। पर्य्यटनके समय श्यावाश्वकी मरुद्गणसे भेंट हो गई। मरुद्गणने उनको ऋषित्वपद प्रदान किया। इसके बाद श्यावाश्व ऋषिके साथ उस राजकन्याका विवाह हुआ। शर्य्याति राजाकी कन्यासे च्यवन ऋषिका विवाह हुआ था। (१म मण्डल १८ सूक्त ऋग्वेदसंहिता देखो।) इस तरह असवर्णा विवाहके कितने ही उदाहरण हैं। फिर, श्रीमद्भागवतमें भी देखा जाता है, ब्रह्मर्षि शुक्रकी कन्या देवयानीका विवाह क्षत्रबन्धु नहुषपुत्र ययातिका हुआ था। फलतः इसका उत्तम नमूना नहीं मिलता, कि अति प्राचीन समयमें सवर्णा सगोत्रा असगोत्रा आदि विचारपूर्वक विवाह-पद्धति भारतवर्षमें प्रचलित थी या नहीं। पिछले समयमें सवर्णा गोत्रा और असपिण्डा कन्याके पाणिग्रहणकी प्रथा प्रवर्त्तित हुई।

अनुलोम भावसे असवर्णा विवाहका विधान मन्वादि धर्मशास्त्रोंमें कूट कूट कर भरा है। किन्तु कलियुगमें इसकी मनाही कर दी गई है। सवर्णा भार्य्याके सिवा अन्यान्य स्त्रियां कामपत्नी हैं। व्यास, वशिष्ठ, गौतम, यम, विष्णु, हारीत, आपस्तम्ब, पैठीनसि, शङ्ख और शातातप आदि संहिताके बनानेवालोंने इस व्यवस्थाका समर्थन किया है। सगोत्रा कन्याका विवाह इस देशके

ब्राह्मणादि उच्च वर्णोंमें नहीं चलता। संहिताकार असगोत्र विवाहके अविसंवादित पक्षपाती हैं। मातृसपिण्डत्वके सम्बन्धमें कुछ भी मतभेद नहीं। किंतु संख्याके गिननेमें अवश्य मतभेद है। इसके बाद उसकी आलोचना की जायेगी। सगोत्र कन्याका विवाह दैहिक और मानसिक उन्नतिके लिये शुभजनक नहीं। आधुनिक विज्ञान द्वारा भी यह सिद्धान्त संस्थापित हुआ है।

युवती कन्याका विवाह।

वैदिक मंत्रादिके पढ़नेसे मालूम होता है, कि वैदिक कालमें कभी भी बाल्यविवाह प्रचलित नहीं था। सूक्त मंत्रादिमें वधूके लिये जितने शब्द व्यवहृत हुए हैं, उनमें युवतीके सिवा और कोई युक्ति बालिकाके लिये नहीं कही गई है। फिर विवाहलक्षणयुक्ता न होनेसे कन्याओंका विवाह नहीं होता था। ऋग्वेदसंहितामें ऐसी भी ऋक् दिखाई देती है, कि कन्या "नितम्बवती" होनेसे विवाहलक्षणयुक्ता समझी जाती थी। जैसे—

> "उदीष्वातः पतिवती हेय्षा विश्वावसुं नमसा गोर्भिरीच्छे।
> कन्यामिच्छ पितृषदं व्यक्तां सते भाग जनुषा तस्य सिद्धि॥"
>
> (ऋक् १०।८५।२१।)

अर्थात् हे विश्वावसु! यहाँसे उठो। क्योंकि इस कन्याका विवाह हो गया है। (विश्वावसु विवाहके अधिष्ठाती देवता हैं विवाह हो जाने पर उनका अधिष्ठातृत्व नहीं रह जाता) नमस्कार और स्तवसे विश्वावसुकी स्तुति की जाती है, और कहा जाता है—पितृगृहमें जो कन्या विवाहलक्षणयुक्ता हुई है, उसके यहां जाओ, इत्यादि।

इसके बादकी ऋक्में भी इस विषयका प्रमाण मिलता है। जैसेः—

> "उदीष्वातो विश्वावसो नमस्येच्छा महे त्वा।
> अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं सं जायां पत्या सृज॥"
>
> (ऋक् १०।८५।२२)

अर्थात् हे विश्वावसु! यहांसे उठो। नमस्कार द्वारा तुम्हारी पूजा करूं। नितम्बवती किसी दूसरी स्त्रीके घर जाओ और उसको पत्नी बना उसके स्वामीको संगिनी बना दो।

और भी एक उदाहरणका उल्लेख किया जाता है। एक कन्या बहुत दिनोंसे कुष्ठ रोगसे पीड़िता थी। अश्विनी कुमारद्वयने जब इसकी चिकित्सा की, तब वे यौवनकालको पार कर चुकी थी। इसके बाद उसका विवाह हुआ था। यह भी ऋग्वेदकी ही कहानी है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है, कि युवती कन्याका विवाह वैदिक युगसे ही प्रचलित था! मनुने यद्यपि कन्याओंके विवाहका समय १२ वर्ष निर्द्धारित किया है, किन्तु उपयुक्त पति न मिलने तक कन्या ऋतुमती और वृद्धा हो कर मर भी जाये, पर उम्र बढ़ जानेसे कैसा हू वरके साथ उसका विवाह कर दिया जाये, इस प्रथाके मूलमें उन्होंने कुठाराघात भी किया है। समूचा महाभारत युवती कन्याविवाहका ही प्रमाण ग्रन्थ है। अङ्गिराका वचन आज कल ही प्रचलित है। किन्तु इस समय "दशर्षे कन्याका प्रोक्ता अतः उर्द्ध्वं रजस्वला" अङ्गिराके इस वचन पर अब हिन्दू समाजके अधिकांश लोग श्रद्धा नहीं रखते। किन्तु भारतवर्षके कई स्थानोंमें तो कुछ लोग "अष्ट वर्षा भवेत् गौरी" आदि मनुवाक्यका प्रमाण दे कर महा अनर्थ कर देते हैं। दो चार वर्षकी बालिकाओंका विवाह भी हो जाता है। कहीं कहीं तो छः छः महीनेके शिशु सन्तानकी शादी हो जाती है। कुछ निम्नश्रेणीके हिन्दुओंमें तो गर्भस्थ बालकोंके विवाहका ही पैगाम हो जाता है। इधर कई वर्षोंसे देशके शुभचिन्तक इसके रोकनेकी चेष्टा कर रहे थे; किंतु उन्हें इस काममें सफलता नहीं मिली। अन्तमें श्रीयुक्त रायसाहब हरविलास सारदा महोदयने बालविवाहके रोकनेके लिये कौंसिलमें एक बिल पेश किया। इस बिलका मर्म इस तरह है—१४ वर्षसे कम उम्रकी बालिकाओंका और १८ वर्षसे कम उम्रके बालकोंका विवाह करनेवाला पिता माता या अभिभावक दोषी समझा जायेगा। यदि यह साबित हो जाये, कि अमुकने १३ ही वर्षमें किसी कन्याका और १७ ही वर्षमें किसी बालकका विवाह कर दिया है, तो उसको १ महीनेकी सादी जेलकी सजा और १०००) रुपये तक जुर्माना किया जा सकता है। यदि साबित न होगा, तो उन्हें (जिसने दरखास्त दे मामला चलाया था) १००) एक सौ रुपये तक जुर्माना होगा। सारदा महोदयके इस बिल

पर दो वर्ष तक बड़ा वादानुवाद हुआ। अन्तमें इस बिलकी उपयोगिता देख कर लोगोंने इसका सार्वभौमिक रूप किया। अब यह कानून केवल हिन्दुओंके ही लिये नहीं, वरं भारतमें बसनेवाली सभी जातिओंके लिये लागू होगा। बहुत वादानुवाद होनेके बाद यह कानून सन. १९२९ ई०की अप्रैलसे काममें लाया जायेगा। इस तरह भारतमें बालविवाहका अन्त हो गया। अधिकांश हिन्दुओंमें पहले हीसे १२।१३ वर्ष की कन्याओंका विवाह होता था। यहांकी आदिम जातियोंमें तो पूर्ण यौवन प्राप्त न होने पर कन्याका विवाह होता ही न था।

चिर कुमारी।

ऋग्वेदमें ऐसा भी प्रमाण मिलता है, कि प्राचीन कालमें इस देशमें कुछ कन्यायें चिरकुमारी भावसे पितालयमें रह जाती थीं और पिताके धनकी अधिकारिणी होती थीं। ऋग्वेदमें इसके प्रमाण भी मिलते हैं, जैसे—

"अमाजुरिव पित्रोः सचा सती समानादासदसत्वामिये भगं।
कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वोऽयेन मामहः॥"
(२ मण्डल १७ सूक्त ७ ऋक्)

सायणभाष्यके अनुयायी इसका अनुवाद इस तरह है:—

हे चन्द्र! पतिअभिमानी हो जावज्जीवन पिता-माताके साथ उनकी शुश्रूषामें रत रहती हुई दुहिता जैसे पितागृहके धनकी प्रार्थना करती है, वैसे ही मैं भी तुमसे धनकी प्रार्थना करता हूं। उस धनको तुम सबके सामने प्रकट करो, उसका परिमाण बताओ और उसका सम्पादन करो। इस धनसे तुम स्तोताओंको सम्मानित करो।

व्यभिचारिणी।

ऋग्वेदके समयमें स्त्रियोंका स्वच्छन्द विहार बन्द हुआ था। कुमारी और विधवा अवस्थामें गुप्तरूपसे गर्भ सञ्चार होने पर व्यभिचारिणी स्त्रियां गुप्तरूपसे गर्भ गिरा देती थीं। ऋग्वेदमें इसका भी प्रमाण मिलता है। जैसे—

"धृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत्कर्त्त रहसूरिवागः।
शृण्वतो वो वरुण मित्र देवा भद्रस्य विद्वान अवसे हुवे वः॥"
(२ म० २९ सू० १ ऋक्)

अर्थात् हे व्रतकारी शीघ्र गमनशील सबके प्रार्थनीय आदित्यगण 'रहसू' अर्थात् गुप्तगर्भकी तरह मुझे दूसरे दूर देशमें फेंक दो। हे मित्र और वरुण तुम लोगोंका मङ्गल कार्य्य समझ कर मैं रक्षा करनेके लिये तुम लोगोंको बुलाता हूं। तुम लोग हमारी स्तुति सुनो।

"रहसूरिव" पद मूलमें है। सायणने इसकी व्यवस्थामें लिखा है—"रहसि जनैरज्ञातप्रदेशे सूयते इति रहसूः व्यभिचारिणी, सा यथा गर्भं पातयित्वा दूरदेशे परित्यजति तद्वत्।"

इससे मालूम होता है, कि जब यह ऋक् बनी थी, तब इस देशमें कुमारी अवस्थामें ही सम्भवतः किसी किसी कन्याओंका गर्भ रह जाता था अथवा उस समय समाजमें विधवा-विवाह चारों तरफ फैला न था। व्यभिचारिणी स्त्रियोंका गुप्त गर्भ उस पुराने युगमें निन्दित समझा जाता था। एक श्रेणीकी आदिम असभ्य जातिके लोगोंमें यह कार्य्य अपराधमें नहीं गिना जाता। किन्तु सुसभ्य हिन्दूसमाजमें ऋग्वेदके उस पुराने समयसे ही ऐसा व्यभिचार घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता है। आज भी यह जघन्य कार्य्य ठीक उस पुराने युगकी तरह होता है सही, किन्तु आज भी यह जनसमाजमें निन्दित समझा जाता है।

विवाहभेद।

ऋग्वेदसंहितामें कई तरहके विवाहकी प्रथा दिखाई देती है। पिछले मन्वादि स्मार्त्त लोगोंने ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच — इन आठ तरहके विवाहोंका उल्लेख किया है। मुद्रित ऋग्वेदसंहितामें राक्षस और पैशाच विवाहका उदाहरण नहीं मिलता। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य और गान्धर्व विवाहोंका आभास बहुत दिखाई देता है।

ब्राह्मविवाहमें वरको घरमें बुला वरकन्याको सजा कर पूजाके साथ विवाह कर दिया जाता है। ऋग्वेदके समय भी वरको कन्याके घर बुलानेकी रीति थी। विवाहके समय वर और कन्याको अलंकृत करनेका प्रमाण ऋग्वेदमें बहुत मिलता है। यहां एक प्रमाण उल्लेख कर दिया जाता है। जैसे—

"एतं वां स्तोममश्विनावकर्म्मातक्षाम भृगवो न रथं ।
न्यमृक्षाम योषणां न मर्य्ये नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः ।"

(ऋक् १०।३९।१४)

जैसे दामादको कन्यादान करते समय वस्त्रभूषणसे सुसज्जित कर कन्यादान किया जाता है, वैसे ही मैंने स्तवको अलंकृत किया जिससे नित्य हमारे पुत्र-पौत्र कायम रहें।

कन्या और वरको वस्त्रभूषणसे सुसज्जित कर कन्याके पिताके घर ब्याह करनेकी प्रथा बहुत पुराने समयसे ही उत्तम मानी जा रही है।

दैव-विवाहमें भी अलंकृत कन्यादानकी प्रथा प्रचलित थी। (मनु ३ अ० २८ श्लो०)

स्वयम्बर और गान्धर्व-विवाह।

इस समय आसुर-विवाहमें भी वर-कन्यादान करनेको प्रथा है।

ऋग्वेदमें स्वयंवर तथा गान्धर्व-विवाहका भी उल्लेख पाया जाता है। (१० म० २७ सू० १२ ऋक्)

ऐसी कितनी ही स्त्रियां हैं जो अर्थकी प्रीतिके कारण कामुक पुरुषके प्रति अनुरक्ता होती हैं। जो स्त्रियां उत्तम हैं, जिनके शरीर सुगठित हैं, वे बहुत लोगोंमेंसे अपने मनके अनुरूप प्रियपात्र चुन लेती हैं।

सुविख्यात सायणाचार्यने इस ऋक्के भाष्यमें लिखा है—

"अपि च यद्वया वधूर्भद्रा (कल्याणी) सुपेशाः (शोभनरूपा) च भवति, सा द्रौपदीदमयन्त्यादिका वधूः स्वयमात्मनैव जने चिज्जनमध्येऽवस्थितमिति मित्रं प्रियमर्ज्जुननलादिकं पतिं वनुते (याचते स्वयंवरधर्मेण प्रार्थयते)।"

कन्या और वरकी परस्पर इच्छा द्वारा जो संयोग होता है, वही गांधर्व-विवाह नामसे प्रसिद्ध है।

ऋग्वेदमें और भी लिखा है, कि स्त्री अपनी आकांक्षाके अनुसार भी पति चुन लेती है।

(१ म० ६२ सूत्र ११ ऋक्

अर्थात् हे दर्शनीय इन्द्र, तुम मन्त्र और नमस्कार द्वारा स्तुत हो। जो मेधावी पुरुष सनातन कर्म या धनकी कामना करता है, वह बहुत प्रयास करनेके बाद तुमको पाता है। हे बलवान् इन्द्र! जिस तरह कामयमाना पत्नी कामयमान पतिको पाती है, वैसे ही मेधावियोंकी स्तुतियां तुमको स्पर्श करें।

यह प्रमाण भी प्रागुक्त मनुवचननिर्दिष्ट गान्धर्व विवाहका वैदिक प्रमाण है।

देवरके साथ विधवा-विवाह।

स्वामीके मर जाने पर देवरके साथ विधवा विवाह प्रथा भी ऋग्वेदके समयमें प्रचलित थी।

"कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः। को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्य्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥" (१० मण्डल ४० सूक्त २ ऋक्)

इसका अर्थ यह है, कि हे अश्विद्वय! तुम लोग दिन या रातमें कहां जाते हो या कहां तुम समय बिताते हो? विधवा जिस तरह सोनेके समय देवरका समादर करती है अथवा कामिनी अपने कांतका समादर करती है, यज्ञ-आह्वानस्थलमें कौन तुमको वैसे ही आदरके साथ बुलाता है?

मनुसंहिताके नवें अध्यायके ६६वें श्लोककी टीकामें मेधातिथिने इस ऋक्को उद्धृत किया है।

विधवाओंके सम्बन्धमें और भी एक ऋक् दिखाई देती है।

"उदीर्ष्व नार्य्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥"

(१० म० १८ सू० ८ ऋक्)

अर्थात् हे मृतको पत्नि! जीवलोकमें लौट चलो। यहांसे उठो। तुम जिसके साथ सोने जा रही हो, वह मर चुका है। अतः लौट आओ। जिसने तुमसे विवाह कर गर्भाधान किया था, उस पतिका जाय-त्व गत हो गया है। अतः सहमरणकी आवश्यकता नहीं।

इस ऋक्के पढ़नेसे मालूम होता है, कि ऋग्वेदके समय भी कहीं कहीं सतीदाहकी प्रथा प्रचलित थी। किन्तु सूक्तकारने पुत्रपौत्रयुक्ता विधवाको सहमरणसे रोकनेके लिये ही इस सूक्तकी रचना की है। सायणने 'जीवलोक' पदकी व्याख्यामें लिखा है, "जीवानां पुत्र-पौत्रादिनां लोकं स्थानं गृहम्"। 'जायात्व गत हो गया।' इस पदके मूलमें भी वैसे ही भावकी बात है। यह ऋक्

विधवा-विवाह या विधवाके किसी दूसरेके साथ पाणिग्रहण करनेके पक्षमें नहीं है। यह सहमरणोन्मुख रमणियोंको सान्त्वनामात्र है। आश्वलायनगृह्यसूत्रमें भी देवर आदि द्वारा श्मशानगामिनी विधवाके प्रति इसी तरहका उपदेश दिखाई देता है। जैसे—

"ता मुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वोदीष्व नार्य्यभि जीवलोकम् ॥"

(आश्वलायनगृह्यसूत्र ४।२।१८)

दो ऋकोंके साथ मनुस्मृतिका मिलान करनेसे यह मालूम होता है, कि पुत्रके लिये वैदिक कालसे मनुके समय या उसके बादके समय तक भी नियोगकी प्रथा प्रचलित थी। यह नियोग कार्य्य देवर द्वारा ही सम्पन्न होता था। देवर ही भौजाईके गर्भसे सन्तान उत्पन्न करता था। समय आने पर भौजाई देवरके साथ व्याही जाने लगी।

देवर द्वारा पुत्रोत्पत्ति रोकी गई है सही, किन्तु इस समय भी कई जगहोंमें विधवा भौजाई देवरको पति बना लेती है। यह नियम कई देशोंमें देखा जाता है। आदिम समाजकी विवाह-प्रथाकी आलोचनामें भी इसके सम्बन्धमें कई दृष्टांत दिये गये हैं।

बहुपत्नी प्रथा (Polygemy)।

भारतवर्षमें बहुत दिनोंसे वहुपत्नीकी प्रथा चली आती है। ऋग्वेदके सूत्रकार दीर्घतमा ऋषिके पुत्र कक्षीवान् अपना अध्ययन समाप्त कर जाते समय पथके किनारे सो गये। इसी पथसे नौकरोंके साथ राजा जा रहे थे। राजा कक्षीवान्‌को देख कर बहुत संतुष्ट हुए और उन्हें अपने भवनमें उठवा ले गये। वहां उन्होंने अपनी दश कन्याओंके साथ कक्षीवान्‌का विवाह कर दिया। दहेजमें उन्होंने १०० निष्क सुवर्ण, १०० घोड़े; १०० बैल और १०६० गाड़ी और ११ रथ दिये। यही कक्षीवान् जब वृद्ध हो गये तब इनको इन्द्रने वृचा नामकी युवती पत्नी-को दिया। इस तरह बहुपत्नीप्रथाके और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

वेदमें लिखा है—"यदेकस्मिन् यूपे द्वे रशने परिव्ययति तस्मादेको जाये विन्देत।"

अर्थात् जैसे यज्ञकालमें एक यूपमें दो रस्सियां बांधी जाती हैं उसी तरह एक पुरुष दो स्त्रियोंके साथ विवाह कर सकता है।

इसके सम्बन्धमें एक और श्रुतिका प्रमाण है—
"तस्मादेकस्य वह्वो जाया भवन्ति।"

महाभारतमें राजा द्रुपद युधिष्ठिरसे कहते हैं—
"एकस्य वह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन।"

(आदिपर्व १६५ अध्याय २७ श्लोक)

ऋग्वेदसंहिताके दशवें मण्डलके १४५ सूत्रके पढ़नेसे मालूम होता है, प्राचीन समयमें सौत अपनी अपनी प्रतियोगिनी सौतों पर रोब जमानेके लिये मन्त्रौषधिका प्रयोग करती थीं।

'यह जो तीव्रशक्तियुक्ता लता है, वह औषधि है, इसको खोद कर मैं उखाड़ रहा हूं। इससे सौतको कष्ट पहुंचाया जाता है। स्वामीको प्रेमफांसमें बांधा भी जा सकता है।'

मन्वादि संहिताकारोंके साथ शास्त्रमें भी बहुपत्नी प्रथाकी आलोचना बहुत दिखाई देती है।

द्विजातियोंके लिये पहले सवर्णा विवाह ही विहि है। किन्तु जो रतिकामनासे विवाह करना चाहते हैं, अनुलोम क्रमसे विवाह कर सकते हैं।

शङ्ख और देवल आदि स्मृतिकारोंके ग्रन्थोंमें बहुविवाहके प्रयोजनानुसार बहुविधान दिखाई देता है। पुराणोंमें इसके दृष्टान्तका अभाव नहीं। श्रीकृष्णकी बहुतेरी रानियां थीं। वसुदेवकी भी बहुपत्नियां थीं। श्रीमद्भागवत्में इसके प्रमाण हैं।

सत्य-युगमें धनमित्र नामक एक ऐश्वर्य्यशाली वणिक्‌ने बहुविवाह किया था। अभिज्ञान शकुन्तलमें इसका वर्णन है।

पौराणिक और आज कलके राजाओंके बहुविवाहकी बात तो किसीसे छिपी नहीं है। पचास वर्ष पहले बङ्गालके राढ़ीय कुलीनोंमें सौसे अधिक विवाह होते थे। कहें कह सकते हैं, कि भारतमें जितना इस प्रथाका प्रभाव जोरों पर था, उतना और किसी भी देशमें नहीं। फिर भी वैदेशिक मुसलमानोंके यहां बहुविवाह की कमी नहीं।

बहुपतित्व (Polyandry)।

बहुपत्नीके अनेक उदाहरण हैं, किंतु बहुभर्त्तारकी प्रथा बहुत कम है। वेदमें इस प्रथाका उदाहरण या उल्लेख नहीं मिलता। ऋग्वेदमें भी एक स्त्रीके बहुपतिका उल्लेख दिखाई नहीं देता। श्रुतिमें स्पष्ट ही लिखा है—

१। "नैकस्याः बहवः सह पतयः"

अर्थात् एक स्त्रीके बहुतेरे पति नहीं होने चाहिये।

२। "यन्नेकां रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति।
तस्मान्नैका द्वौ पती विन्देत।"

अर्थात् जैसे एक रस्सी दो यूपोंमें नहीं बांधी जाती है, वैसे एक स्त्री दो पति नहीं कर सकती।

प्रथम श्रुति इस विषयमें उतनी दृढ़तर निषेधवाचक नहीं। क्योंकि "सह पतयः" शब्दका अर्थ यह है, कि एक स्त्रीके युगपत् अर्थात् एक साथ कई पति नहीं रह सकते। किन्तु भिन्न भिन्न समयमें पति रह सकते हैं। द्रौपदीके पंचपाण्डवोंके विवाहके समय आपत्ति कर द्रुपद राजाने कहा था—स्त्रियोंके लिये बहुपतित्व वेदविरुद्ध है। इस पर राजा युधिष्ठिरने उक्त श्रुतिकी व्याख्या अच्छी तरहसे समझा दी थी। फिर युधिष्ठिरने इसके सम्बन्धमें गौतम-वंशीया जटिलाके बहुभर्त्तारकी बातका प्रमाण दे कर इसका समर्थन किया था। उन्होंने यह भी कहा था, कि वाक्षी नामकी कन्याका सात ऋषियोंके साथ विवाह हुआ था। मारिषा नाम्नी कन्याका विवाह 'प्रचेता' दश भाइयोंके साथ हुआ था।

फलतः ऋग्वेदमें हमने ऐसा एक भी उदाहरण नहीं पाया। हिन्दू-समाजकी सभ्यताके विकाशके साथ साथ बहुपतिकताका विधान लुप्त हो गया। महाभारतमें दीर्घतमाप्रवर्त्तित जिस मर्य्यादाके स्थापनका उल्लेख है, वही स्त्रियोंके लिये एकमात्र पतिग्रहणका सनातन नियम है। यह नियम सब समाजमें एक समान आदृत हो रहा है। महाभारतके दीर्घतमाप्रवर्त्तित मर्य्यादास्थापन प्रसङ्गमें टीकाकार नीलकण्ठने इस विषयमें अन्तिम मीमांसा लिपिबद्ध की है। यथा —

"ननु यदेकस्मिन् यूपे द्वे रशने परिव्ययति तस्मादेको द्वे जाये विन्दते। यन्नैकां रशनां द्वयो यूपयोः परिव्ययति, तस्मान्नैका द्वौ पती विन्देत" इत्यर्थवादिकनिषेधविधेरेकस्याः पतिद्वयस्याप्राप्तत्वात् कथमियं दीर्घतमसा मर्य्यादा क्रियत इति चेत्तत्राह मृते इति। तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवंति नैकस्यै बहवः सह पतयः इति श्रुत्यंतरे सह शब्दात् पर्य्यायेण अनेकपतित्वप्रसञ्जनात् रागतः प्राप्तत्वात्तन्निवारणोपपत्तिः 'सह' शब्दोऽपि रागतः प्राप्तानुवाद एव न विधायक, अन्यथा विहितपतिसिद्धत्वात् अनेकपतित्वे वि. हः स्यात्। कथं तर्हि द्रौपद्याः पञ्च पाण्डवा मारिषाश्च दश प्रचेतसः? इदानीन्तनानां नीचानाञ्च द्वित्र्यादयः पतयो दृश्यन्ते इति चेन्न। "न देवचरितं चरेत्" इतिन्यायेन देवताचरितेषु पर्य्यनुयोगायोगात्; नीचानां पशुप्रायाणाञ्च चारस्याप्रमाणाच्च; अधिकारिविषयत्वाच्च नियोगस्येति दिक्॥" (आदिपर्व १०४.३५.३६)

नीलकण्ठके सिद्धान्तका मर्म यह है, कि द्रौपदी और मारिषाके बहुपति थे और इस समय नीच जातियोंमें स्त्रियोंके बहुत पति देखे जाते हैं। इन सब उदाहरणोंसे बहुभर्त्तृकता सभ्य समाजकी विहित नियम नहीं हो सकती। शास्त्रकारोंका कहना है, कि "न देवचरितं चरेत्" अर्थात् देवताओंके आचरणके अनुसार आचरण नहीं करना चाहिये; द्रौपदी आदि देवोंमें गिनी जाती हैं। जनसमाजके लिये उनका आचार व्यवस्थापित नहीं हो सकता। दूसरी ओर पशुप्रायः नीच जातिके लोगोंका व्यवहार भी शिष्ट समाजके लोगोंके लिये प्रामाणिक माना नहीं जा सकता। और अधिक भी भेदसे नियोग व्यवस्थेय है। यह प्रथा समाजमें अबाधरूप चलाई नहीं जा सकती। अतः इस समय बहुभर्त्तृकता प्रथा शास्त्रसम्मत नहीं हो सकती। भारतवर्षके दक्षिण प्रान्तोंके सिवा यह प्रथा कहीं भी प्रचलित नहीं।

विधवा पत्नी।

हिन्दू समाजमें विधवा पत्नीरूपसे ग्रहण की जाती थी। इस बातका प्रमाण और उदाहरण शास्त्रोंमें बहुत कम नहीं। फिर जिस उत्सव तथा धूमधामसे कुमारी बालिकाका विवाह होता है, उस तरह विधवाओंका विवाह सर्वसम्मत नहीं तथा धूमधामके साथ कभी हुआ है या नहीं, यह विषय विचारणीय है। हिन्दू समाजमें—

और तो क्या—हिन्दुओंके प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेदके पढ़नेसे मालूम होता है, कि कुछ स्त्रियां पतिके मर जाने पर सोते समय देवरका समादर करती थीं अथवा देवरके साथ सोती थीं। जैसा कि ऋग्वेदके १० मण्डल ४० सूत्र २ में लिखा है। इसका प्रमाण हम पहले दे चुके हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है, कि प्राचीन कालमें कुछ विधवायें कामसे पीड़ित हो कर या प्रेममें फस कर देवरके साथ रतिसम्भोग करती थीं। इसका कुछ पता नहीं चलता कि यह प्रथा उच्च हिन्दूओंमें थी या निम्नमें अथवा यह समाजमें अबाधरूपसे प्रचलित थी या नहीं। यह भी हो सकता है, कि सन्तानरहित विधवायें ऋतुकालमें पतिके रूपमें देवरसे सम्भोग किया करती थीं। इसके बाद कामपीड़ित तथा प्रेममें पड़ कर देवरको पतिका स्थान दे देती थीं। फिर यह भी हो सकता है, कि सूत्रकारके वासस्थानके चारों ओर यह प्रथा इतर श्रेणीमें प्रचलित थी या उस समय उच्च दरजेके हिन्दुओंमें भी यह प्रचलित ना असम्भव नहीं है। जगत्के अनेक स्थलोंमें यह प्रथा आज भी देखी जाती है। भारतमें भी नीचश्रेणीके लोगोंमें भौजाईको पत्नी रूपसे रखनेकी प्रथा चली आती है। किन्तु हमारे मनुमहाराज इस प्रथाके कट्टर विरोधी थे। मनुका कहना है:—

"ज्येष्ठो यवीयसो भार्य्यां यवीयान वाग्रजस्त्रियम्।
पतितौ भवतो गत्वप्यनियुक्तावप्यनापदि ॥" "५८"

(मनु ९ अध्याय)

विधवा-रमणीका देवरके साथ संसर्ग शायद दोषावह समझा नहीं जाता था।

किन्तु इससे कुछ भी पता नहीं चलता, कि देवरके साथ विधवाका विवाह होता था या नहीं, विवाहके जितने मन्त्र हैं, वे सब उच्चारित होते थे या नहीं।

१० वें मण्डलके १८वें सूक्तका एक ऋक् उद्धृत करते हैं—

"इमा नारीरविधवाः सुपत्नी रञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवा सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे।"

(१०।१८।७)

सायणने इसका जो भाष्य किया है, वह इस तरह है—

'अविधवाः। धवः पतिः। अविगतपतिकाः जीवत्भर्त्तृका इत्यर्थः। सुपत्नी शोभनपतिका इमा नारी नार्य्यः अञ्जनेन सर्वतोऽञ्जनसाधनेन सर्पिषा घृताक्तनेत्राः सत्यः संविशन्तु। तथानश्रवोऽश्रुवर्जिता अरुदत्योऽनमीवाः। इत्यर्थः अमीव रोगः। तद्वर्जिताः मानसदुःखवर्जिता सुरत्नाः शोभनधनसहिता जनयः जनयत्यपत्यमिति जनयो भार्य्याः। ता अग्रे सर्वेषां प्रथमतः एव योनिं गृहमारोहन्तु। आगच्छन्तु।'

हम इसका अर्थ ऐसा समझते हैं, कि पहले समयमें मृत व्यक्तिकी स्त्रीके साथ साथ अविधवा (सधवा) शोभनपतिका, शोभनधनरत्नयुक्ता स्त्रियां भी श्मशानमें जाती थीं। वे विधवाओंके दुःखमें सहानुभूति दिखा कर रोती और मानसिक दुःख प्रकाश करती थीं। उनके प्रति यह अभिप्राय प्रकट किया जाता है, कि वे नेत्रोंमें सम्यक् रूपसे अञ्जन लगा घृताक्त नेत्रसे शोकाश्रु और चित्तक्लेश परित्याग कर सबसे पहले घरमें प्रवेश करें।

इसके बादके ऋक्में ही मृत् व्यक्तिकी पत्नीको पतिकी श्मशानशय्यासे घर लौटानेके लिये देवर आदि उपदेश कर रहे हैं। यथा सायणः—

'देवरादिकः प्रेतपत्नीमुदीर्ष्व नारीत्यनया भर्त्तृसकाशादुत्थापयेत्। सूत्रितं च—तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वोदीर्ष्व नार्य्यभि जीवलोकम्" (आश्व० गृह० ४।२।१८)

देवर आदि स्वजन क्या कह कर प्रेत पत्नीको उठा कर स्वामीके समीप घर लौटाते थे, सूत्रकार वही कह रहे हैं, यथा—

"उदीर्ष्व नार्य्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्त ग्राभस्य दिधिषाशु वेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥"

(१० म० १८ सू० ८ ऋक्)

हे मृतकी पत्नि! तुम इस स्थानसे उठ कर पुत्रपौत्रादिके वासस्थान गृहसंसारकी ओर चलो। तुम जिसके साथ सोने जा रही हो, वह तुम्हारा पति मर चुका है। जिसने तुम्हारा पाणिग्रहण किया था, जिसने तुम्हारे गर्भसे पुत्र उत्पादन किया था, उसके साथ तुम्हारा जो कर्त्तव्य था, उसका अन्त हो गया। उसका अनुसरण करनेकी अब जरूरत नहीं। अब चलो।

इन दोनों ऋकोंमें विधवा विवाह तथा विधवा-ग्रहण-

के संबंधमें कुछ भी आभास नहीं मिलता। फिर ७वें ऋक्से यह मालूम होता है, कि मृत व्यक्तिकी विधवा पत्नीके साथ बहुतेरी सधवायें भी श्मशान-भूमिमें जाती थीं। उसके साथ वे रोती थीं। उपस्थित व्यक्ति उन सबोंको शोकाश्रु बहाने तथा अञ्जन और घृताक्त नेत्र हो कर सबसे पहले घरमें प्रवेश करनेको कहते थे। नेत्रमें अञ्जन तथा घृताक्त नेत्र होनेका तात्पर्य्य अच्छी तरहसे समझमें नहीं आता। मालूम होता है, कि सधवाओंके प्रति उपदेश दिया जाता था।

आठवीं ऋक्को पढ़नेसे मालूम होता है, कि पुत्रवती विधवाओंके सहमरणकी प्रथा न थी। जीवलोकमें या संसारमें रह कर सन्तान आदिका पालन पोषण करना ही उनका कर्त्तव्य और धर्म माना जाता था।

फलतः ऋग्वेदसंहितामें विधवाविवाहका कोई उदाहरण नहीं मिलता। दूसरी ओर श्रुतिमें नारियोंके लिये बहु भर्त्ताका प्रतिषेध दिखाई देता है। विवाहके वैदिक मन्त्रोंमें विधवाविवाहका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

इसीसे मनुने लिखा है—

"नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥" (६.६५)

इसकी टीकामें कुल्लूकने कहा है, कि "न विवाह विधायकशास्त्रे अन्येन पुरुषेण सह पुनर्विवाह उक्तः।" अर्थात् विवाहविधायक शास्त्रमें विधवाविवाहका दूसरे पुरुषके साथ फिरसे विवाह करनेका नियम नहीं। इससे स्पष्टरूपसे मालूम होता है, कि आगे चल कर भ्रातृनियोगको कोई विधवाविवाह न समझ ले, इस शंकाको निवारण करनेके लिये मनुने साफ कह दिया है, कि विवाहविषयक शास्त्रमें विधवाविवाहका कुछ भी उल्लेख नहीं।

मनुसंहितामें विधवाविवाहका विधान न रहने पर अवस्थाविशेषमें विधवाके उपपतिका विधान दिखाई देता है। (मनु ६।१७५-१७६)

स्त्रियां पुरुषों द्वारा परित्यक्त हो अथवा विधवा हो कर पर पुरुषोंके साथ पुत्रोत्पादन करें, तो उस पुत्रका नाम पौनर्भव होगा। यह विधवा यदि अक्षतयोनि हो या अपने कौमार पतिका त्याग कर दूसरे पुरुषके साथ रह चुकी हो और फिर अपने पतिके साथ पुनः मिलना चाहे, तो पुनः संस्कार कर उसे ले लेना चाहिये।

अब बात यह रह गई, कि 'पुनःसंस्कार' क्या है? कुल्लूकका कहना है—"पुनर्विवाहाख्यं संस्कारमर्हति।" इसका अर्थ यह है, कि "विवाह आख्या जिसका ऐसा संस्कार है" वही विवाहाख्य संस्कार है।

मनु कहते हैं, कि पुनः संस्कार करना कर्त्तव्य है। मनु पुनर्विवाहकी बात नहीं कहते। विवाह विधिमें कन्याके विवाहमें जो सब अनुष्ठान विहित हैं, यदि वे ही सब अनुष्ठान अक्षत-योनि विधवा अथवा आई गई हुई स्त्रियोंके पतिग्रहण करनेमें अनुष्ठित होते तो मनु अवश्य ही विधवाविवाह शास्त्रसिद्ध कहते। किन्तु मनु महाराजने ऐसा शास्त्र प्रमाण या आचरण न देख कर ही कहा कि विवाहविधायक शास्त्रमें विधवाका पुनर्विवाह नहीं लिखा है। कुल्लूकने मनुके उक्त श्लोककी टीकामें भी स्पष्टरूपसे वही कहा है। यहां कुल्लूकने जो "विवाहाख्य संस्कार" कहा है, वह यदि विवाहका ही अर्थ मान लिया जाय, तो कुल्लूककी एक उक्तिसे दूसरी उक्ति टकरा जाती है और दोनों उक्तियां अनवस्थादोषदुष्ट हो जाती हैं। अतः विवाहाख्य संस्कार कहनेसे विवाह समझमें नहीं आता, यही कुल्लूकका यथार्थ अभिप्राय है। अतएव कुल्लूककी व्याख्यामें भी विधवाविवाहका समर्थक प्रमाण नहीं मिलता।

यह संस्कार किस तरहका है और किस तरह विधवा या दूसरेके घर गई हुई स्त्री पत्नीवत् हो पौनर्भव भर्त्ताकी गृहिणी बनती थी, इसका उल्लेख कहीं कुछ नहीं मिलता। यह संस्कार चाहे जैसा हो क्यों न हो, किन्तु मनुका यह वचन अवश्य ही अकाट्य प्रमाणस्वरूप है, कि विधवायें पुनः सधवाओंकी तरह शृङ्गार और सधवाकी तरह आहार-विहार करने लगती थीं। किन्तु यह बात अवश्य ही मानने लायक है, कि सधवाओंकी तरह उनका आदर मान नहीं होता था। इनके पति समाजमें बैठ कर भोजन नहीं कर सकते थे। (मनु ३ १६६-१६७)

भेड़ा और भैंसके व्यापारी, परपूर्वापति, शववाहक

ब्राह्मण, विगर्हित आचारवाला, अपाङ्क्तेय और द्विजाधम—इन सबके साथ शुद्ध ब्राह्मण एक पंक्तिमें भोजन न करे। देवकार्य्यमें, यज्ञ या पितृकार्य्यमें यदि ब्राह्मणोंको आमन्त्रित करना हो तो इन सबोंको आमन्त्रित नहीं करना चाहिये।

परपूर्वापति शब्दका अर्थ—पौनर्भवभर्त्ता है। इसकी पूरी व्याख्या मनुवाक्योंमें ऊपर दी गई है। मेधातिथिने भी लिखा है—'परः पूर्वो यस्याः तस्याः पतिर्भर्त्ता या अन्यस्मै दत्ता, अन्येन वा ऊढ़ा, तां पुनर्यः संस्करोति पुनर्भवति भर्त्ता पौनर्भवो नरो भर्त्तासाविति शास्त्रेण।'

कुल्लूकने भी कहा है—"परपूर्वा पुनर्भूस्तस्याः पतिः।"

विधवाको संस्कार कर गृहिणी बना लेने पर भी भर्त्तारको अपाङ्क्तेय या निन्दनीय हो कर समाजमें रहना पड़ता है। यही मनुका अभिप्राय है। अपांक्तेयके अर्थमें मेधातिथिने कहा है—

"अपांक्तेयाः पंक्तिं नार्हन्ति। भवार्थे ढक् कर्त्तव्यः। अनर्हत्वमेव पंक्तीभवनं प्रतीयते। अन्यैः ब्राह्मणैः सह भोजनं नार्हन्ति। अतएव पंक्तिदूषका उच्यन्ते। तैः सहोपविष्टा अन्येऽपि दूषिता भवन्ति।"

अर्थात् अपांक्तेय ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणोंके साथ एक पंक्तिमें बैठ कर भोजन कर नहीं सकेंगे। ये पंक्तिदूषक हैं। इनके साथ बैठ कर भोजन करनेसे दूसरे भी निन्दनीय हो जाते हैं।

इससे साफ मालूम होता है, कि विधवाको ले जो मनुष्य गृह-संसारका काम चलाते थे, समाजमें वे अनादृत और निन्दनीय होते थे। उनके साथ कोई बैठ कर भोजन नहीं करता था। असल बात यह है, कि वे जातिच्युत हो जाते थे। फलतः मनुमहाराजने स्पष्ट ही कहा है—

"न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्त्तोपदिश्यते।"

(मनु ५।१६२)

किन्तु विधवाको कामपत्नी या रखेलिनकी तरह रखना तथा उसके गर्भसे सन्तान उत्पन्न करना इस समय जैसा दिखाई देता है, वैसा ही पहले भी दिखाई देता था। नागराज ऐरावतका पुत्रके सुपर्ण द्वारा मारे जाने पर उसकी पुत्रवधू या पतोहू अत्यन्त शोकाकुल हो उठी। नागराज ऐरावतने उस विधवा कामार्त्ता स्नुषाको अर्जुनके हाथ समर्पण किया। अर्जुनने इसको भार्य्या बनाया और इसके गर्भसे अर्ज्जुन द्वारा इरावान् नामक एक लड़का पैदा हुआ।

ऐसा व्यवहार सब देशोंमें सब समय ही प्रचलित दिखाई देता है। यह केवल व्यभिचार है। इससे विधवाविवाहका समर्थन नहीं होता और इससे यह भी प्रमाणित नहीं होता था, कि महाभारतके समय विधवा-विवाह प्रचलित था।

मनु भगवान्ने विधवाको संस्कृत कर उसे रख गृह-संसारका कार्य्य चलानेका एक विधान बना दिया है। फिर भी ऐसे विवाह करनेवाले निन्दित गिने जाते थे और ब्राह्मण उनके साथ बैठ कर खा पी नहीं सकते थे। किन्तु उनके द्वारा उस स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न सन्तान आजकलके रजिष्ट्री किये हुए विवाह या निकाहकी तरह अपने पिताके पिण्डदान तथा पैतृकसम्पत्तिके अधिकारी हो सकते थे। इसके कुछ दिनोंके बाद व्यवस्थापक धार्मिकोंने इसका एकदम ही गला घोंट दिया है।

(बृहन्नारदीय)

इसी तरहके और भी वचनप्रमाणोंसे कलिमें पुनर्भू-संस्कारकी मनाही कर दी गई है। पुनर्भूके गर्भसे उत्पन्न सन्तानोंको इस समय पिण्डदानका भी अधिकार नहीं। इससे ये सम्पत्तिके भी मालिक नहीं हो सकते।

और एक बात है, कि कुमारी कन्याका विवाह ही यथार्थ विवाह कहा जाता है। पारस्कर, याज्ञवल्क्य, व्यास, गौतम, वशिष्ठ आदि शास्त्रकारोंने एक स्वरसे उसी विधानकी घोषणा की है।

इन सब प्रमाणों द्वारा दिखाई देता है, कि विधवा-विवाहके लिये शास्त्रकारोंने कोई भी विधान नहीं बना रखा है। मनु भगवान्ने पुनर्भूको संस्कार कर उसके गर्भसे उत्पन्न सन्तानको जो कुछ अधिकार दिया था, उसको भी पिछले शास्त्रकारोंने छीन लिया है।

कुछ लोग पराशरके एक श्लोकका उल्लेख कर उसे विधवा-विवाहका समर्थक बतलाते हैं। (पराशर)

पराशरका विधान ही कलिकालके लिये विहित माना जाता है। इस विधानमें विधवा-विवाहके समर्थक

कोई प्रमाण हैं या नहीं, यही बात विचारणीय है। हम पराशरके तीनों श्लोकोंमें मनुकी पुनरुक्ति हो देखते हैं। उक्त तीनों श्लोकोंके अर्थ इस तरह हैं:—

स्वामीके कहीं चले जाने, मर जाने, क्लीव होने, संसार त्याग करने, अथवा पतित हो जाने पर—स्त्रियोंको दूसरा पति करना धर्मसंगत है। स्वामीकी मृत्युके बाद जो स्त्री ब्रह्मचर्य्यका अवलम्बन करती है, वह देहान्तमें ब्रह्मचारियोंकी तरह स्वर्ग पाती है। जो स्त्री पतिके साथ सती हो जाती है, वह मनुष्य शरीरके साढ़े तीन करोड़ रोमोंके संख्यानुसार उतने वर्ष तक स्वर्ग-सुख पाती है।

पराशरके तीनों वचनोंके पढ़नेसे मालूम होता है, कि उन्होंने नारीके आपत्कालका ही धर्म लिखा है। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है—"पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरण्यो विधीयते।"

शास्त्रविहित पतिका अभाव ही हिन्दू-नारीके लिये आपत्स्वरूप है। अतएव पाणिग्रहण करनेवाले पतिके अभावमें किसी भरणपोषण करनेवाले पालककी जरूरत होती है। इस पति शब्दका अर्थ पाणिग्रहणकारी पति नहीं; वरं इसका अर्थ अन्य पति अर्थात् पालक है। महाभारतमें लिखा है—

"पालनाच्चः पतिः स्मृतः।"

अतएव पालक या रक्षक ही अन्य पतिके इस पदका वाच्य हो सकता है।

महामहोपाध्याय मेधातिथिने मनुसंहिताके नवम अध्यायके ७६वें श्लोकको व्याख्यामें पराशरके उक्त श्लोकका उद्धृत किया है। इन्होंने लिखा है:—

"पतिशब्दो हि पालनक्रियानिमित्तको ग्रामपतिः सेनायाः पतिरिति। अतश्चास्मादवोचनैषा भर्त्तृपरतन्त्रा स्यात्। अपि तु आत्मनो जीवनार्थं सैरन्ध्रीकरणादिकर्म यदन्यमाश्रयेत्।"

कुछ लोगोंकी राय है, कि वाग्दत्ता कन्याके सम्बन्धमें ही पराशरकथित व्यवस्था ठीक है।

कन्याका व्यभिचार।

व्यभिचारको बन्द करनेके लिये शास्त्रकारोंने उपदेश वाक्योंकी भरमार कर दी है। फिर भी, समाजमें कई तरहसे व्यभिचार होता ही आता है। भारतवर्षके हिन्दू समाजने जब अतीव विशालरूप धारण किया था, तब उस हिन्दूसमाजके जो विविध आचरण अनुष्ठित होते थे, संहिताओंके पढ़नेसे उनका कुछ आभास मिलता है। हम इससे पहले असभ्य समाजके वैवाहिक इतिहासकी आलोचनामें दिखला चुके हैं, कि विवाहके पहले भी बहुतेरे देशोंमें कन्या इच्छानुसार व्यभिचार करती है। किन्तु उनका यह व्यभिचार उनके समाजमें निन्दनीय नहीं समझा जाता। हिन्दू-समाजमें भी किसी समय अवस्थाविशेषमें व्यभिचार दिखाई दिया था और वह घटना क्षमाकी दृष्टिसे परिगृहीत हुई थी। कानीन-पुत्रत्व स्वीकार ही उसका अकाट्य-प्रमाण है। मनु कहते हैं:—

"पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम्॥"

(मनु ९।१७२)

अर्थात् पिताके घरमें विवाहके पहले कन्या गुप्तभावसे जो सन्तान पैदा करती है, उस कन्याके विवाह हो जाने पर वह पुत्र उस पतिका 'कानीन' पुत्र कहलाता है।

केवल घटनाको देख कर ही किसी कानूनकी सृष्टि नहीं होती। कभी कभी समाजमें कानीन पुत्र देखे जाते थे। महाभारतमें सब विषयोंका उदाहरण मिल जाता है। कर्ण महाशय इसी तरह पाण्डु राजाके कानीन पुत्र थे। इस समय ऐसे कानीन पुत्रोंका हिन्दू-समाजमें लोप सा हो गया है। इस तरहका व्यभिचार भी इस समय देशमें दिखाई नहीं देता।

फिर ऐसी भी घटना देखी गई है, कि दूसरेसे पिताके घरमें कन्या गर्भिणी होती थी। गर्भावस्थामें ही कन्याका विवाह होता था। विवाह होनेके बाद सन्तान पैदा होती थी। अब इस सन्तान पर किसका अधिकार होना चाहिये, इसके पालन-पोषणका भार किस पर अर्पित होगा, शास्त्रकारोंने इसी प्रश्नकी मीमांसा की है। मनु महाराजने इसकी मीमांसा कर लिखा है—

कन्याका गर्भ जाना हुआ हो या अनजाना हो, गर्भिणी कन्याका विवाह करनेवाला ही गर्भज लड़केका पालन-पोषण करेगा और उसीका इस पर अधिकार

रहेगा। ऐसा लड़का "सहोढ़" नामसे प्रसिद्ध होगा।

बालिका विवाह।

कानीन और सहोढ़ पुत्र विवाहके पूर्वके व्यभिचारके साक्षीस्वरूप समाजमें विद्यमान रहते थे। इस अवस्थामें भी व्यभिचारिणियोंका विवाह होता था। इससे यह भी मालूम होता है, कि कन्यायें बहुत दिनों तक अविवाहित अवस्थामें पिताके घर रहती थीं अर्थात् अधिक उम्रमें विवाह होता था तथा कुछ अंशमें स्वाधीनताका भी वे भोग किया करती थीं। मालूम होता है, कि कानीन और सहोढ़ पुत्रोत्पादनकी वृद्धि देख पिछले शास्त्रकारोंने बाल्यविवाहका आदेश प्रचार किया था। (अङ्गिरा)

जो कन्या अविवाहित रूपसे पिताके घरमें रहती है, उसके पिताको ब्रह्महत्याका पाप लगता है। ऐसे स्थलमें कन्याको स्वयं वर ढूंढ़ कर विवाह कर लेनी चाहिये

अङ्गिराने और भी कहा है—

"प्राप्तेतु द्वादशे वर्षे यदा कन्या न दीयते।
तदा तस्यास्तु कन्यायाः पिता पिबति शोणितम्॥"

राजमार्त्तण्डमें भी इसी तरहका विधान निर्दिष्ट हुआ है। अत्रि और कश्यपने तो रजस्वला कन्याको विवाह करने पर भी पिताको अपांक्तेय बन कर समाजमें अनादृत रहनेका विधान बनाया है।

कन्याके विवाहकालके सम्बन्धमें जो निर्णय अङ्गिराने किया था, महाभारतमें उसका व्यतिक्रम देखा जाता है। महाभारतमें लिखा है—

"त्रिंशद्वर्षः षोड़शाब्दां भार्य्यां विन्देतनग्निकाम्।
अतः प्रवृत्ते रजसि कन्यां दद्यात् पिता सकृत्॥"

अर्थात् तीस वर्षका युवक षोड़शवर्षीया अरजस्वला कन्याका पाणिग्रहण करे। इससे मालूम होता है, कि महाभारतके समय कन्यायें सोलह वर्षसे पहले साधारणतः रजस्वला नहीं होती थीं। किन्तु अङ्गिरा और यमके वचनोंको देख कर मालूम होता है, कि किसी प्रान्तविशेष या बङ्गालकी बालिकाओंकी अवस्थाकी पर्य्यालोचना कर उन्होंने ऐसी व्यवस्था दी थी। बङ्गप्रदेशमें तो ११ वर्ष तककी कन्याको ऋतुमती होते देखा जा रहा है।

विधवा-विवाह मन्वादि किसी कालसे भी अनुमोदित नहीं था। पराशरने भी तो "नष्टे मृते प्रव्रजिते" वचनोंकी सृष्टि नहीं की है, यह उक्त श्लोकको पढ़ शास्त्रान्तरके साथ एक वाक्यरूपसे अर्थ समझनेकी चेष्टा करने पर सहज ही समझमें आ जाता है।

उद्धृत १५७ श्लोककी टीकामें भी मेधातिथिने लिखा है,—

"यत् तु नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते। इति—तत्र पालनात् पतिमन्यमाश्रयेत सैरन्ध्रकर्म्मादिनात्मवृत्त्यर्थं नवमे च निपुणं निर्णेष्यते प्रोषितभर्त्तृकायाश्च स विधिः॥"

इसका भावार्थ यही है, कि 'नष्टे मृते' श्लोकमें जो पति शब्दका प्रयोग है, उससे भर्त्तारके मृत्योपरान्त पालनार्थ अन्य पति ही समझा जायेगा।

जहां पाणिग्राही पतिकी मृत्युके बाद नारियोंके जीवननिर्वाहका कुछ उपाय नहीं रह जाता, वहां ही उनका आपत्काल उपस्थित हो जाता है। आपत्काल उपस्थित होने पर उस समय आपद्वृत्ति अवलम्बन कर जीविका चलानी पड़ती है। ऐसी ही अवस्थामें दुःखिनी स्त्रियोंको अन्य पालन-पोषण करनेवालेकी शरण लेनी पड़ती है। जीविकामात्रके लिये ही जो विधवायें दूसरे अभिभावकके शरणापन्न होगी, ऐसी बात नहीं है। विधवाओंके अरक्षिता होने पर उनके लिये धर्मरक्षा करना भी कठिन है। इसीलिये मनुने कहा है—

"पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥"

क्षेत्रज।

महाभारतके समय "पुत्रार्थं क्रियते भार्य्या" इसी नीतिका यथेष्ट प्रादुर्भाव था ऐसा मालूम होता है। विवाह करनेके कई उद्देश्य हैं, उनमें पुत्रोत्पत्तिका उद्देश्य प्रधानतम कहा जाता था। पतिके किसी प्रकारकी असमर्थताके कारण स्त्रीके सन्तानोत्पादनमें कोई बाधा उपस्थित होने या सन्तानहीन पतिके मर जाने पर नियोग द्वारा देवर या सपिण्ड व्यक्तिसे सन्तानोत्पादनका विधान था। ऐसे पुत्रको "क्षेत्रज" पुत्र नाम रखा जाता था।

महाभारतमें क्षेत्रज पुत्रोंके बहुतेरे उदाहरण दिखाई देते हैं। महाभारतके प्रधान-प्रधान कई नायक क्षेत्रज पुत्र हो कर भी जगत्‌में बड़े ही आदृत हुए हैं। समय पा कर यह प्रथा हिन्दू समाजसे बिदा हो गई। बादके स्मृतिकारोंने क्षेत्रज पुत्रोंके अङ्गप्रभावको खर्व करनेकी बड़ी चेष्टा की है। फलतः इस समय अब क्षेत्रज पुत्रोत्पादनकी प्रथा दिखाई नहीं देती।

पुनर्भू।

पौनर्भव पुत्रका विषय विधवाके प्रसङ्गमें आलोचित हुआ है सही; किन्तु यहां उसके सम्बन्धमें कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है। हम पुनर्भूको व्यभिचारिणी ही समझेंगे और उन्हें व्यभिचारिणियोंकी श्रेणीमें गिनेंगे। क्योंकि मनुने कहा है—

"या पत्या वा परित्यक्ता विधवायास्वयेच्छया।
उत्पादयेत् पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥"

इस समय सामाजिक रीतिके अनुसार पुनर्भू स्त्रीके ग्रहण करनेकी प्रथा नहीं रह गई। यदि कोई पुरुष स्वामीत्यक्ता या विधवाके साथ सहवास करे, तो वह समाजमें निन्दनीय गिना जाता है या व्यभिचारी कहा जाता है।

प्राचीन हिन्दू समाजमें इस तरह कई कार्य व्यभिचार जान कर भी समाजमें इन सब प्रथाओंको दूर करनेका विशिष्ट उपाय प्रकल्पित नहीं हुआ था। जो सब दोष मानवचरित्रके स्वभावसिद्ध हैं, समाजसे बिलकुल जड़ उखाड़ फेंकनेमें कठिनता अनुभव कर शास्त्रकारोंने इन सब व्यभिचारोंको उच्छृङ्खलता या विशृङ्खलतामें परिणत न होने दे कर कुछ अंशमें नियमित करनेकी चेष्टा की थी। इसीलिये मनुने अक्षतयोनि विधवा परित्यक्ता या पतित्यागिनी व्यभिचारिणियोंको दूसरे पुरुषके ग्रहण करनेके समय संस्कारका विधान किया। उद्देश्य यह था, कि इस तरहके संस्कारके फलसे भ्रूणहत्यादि निवारित होंगी तथा व्यभिचारके वेरोक प्रसारमें बाधा पड़ेगी। मनु भगवान्‌ने केवल अक्षतयोनि कन्याओंके सम्बन्धमें इस तरहकी विधि कही थी। जैसे—

"सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनःसंस्कारमर्हति॥" (९।१७६)

किन्तु याज्ञवल्क्य ऋषिने और आगे बढ़ कर यह व्यवस्था दी—

"अक्षता वा क्षता वापि पुनर्भूः संस्कृता पुनः।"

इससे पुनर्भू नारियोंका प्रसार और भी बढ़ गया। अक्षता हो क्षता ही हो—फिरसे संस्कार होने पर वह पुनर्भू कही जायेगी। इस संस्कारके फलसे कामिनियोंके व्यभिचारमें बहुत रुकावट हुई थी; भ्रूणहत्या भी कम हो गई थी। किन्तु पौनर्भव भर्त्तार और पुनर्भू नारियोंके समाजमें निन्दनीय होनेसे लोग इस पथको अकण्टक या प्रसरतर पथ किसी समयमें नहीं समझते थे। इसके बाद शास्त्रकारोंने समाजमें पुनर्भू या पौनर्भव पतियोंकी संख्या क्रमशः क्षीण देख कर इस विधिको समूल नष्ट कर दिया। सम्भवतः उनके चित्तमें ऐसी धारणा उत्पन्न होनी असम्भव नहीं, कि इस विधानसे विधवा रमणियोंके ब्रह्मचर्य्यके पुण्यतम पथकी बगलमें व्यभिचारका प्रलोभन रखा गया है। अतएव उन्होंने इसको जड़ उखाड़ना ही कर्त्तव्य समझ लिया था। चाहे जिस तरह हो इस समय समाजमें पुनर्भू प्रथाका अस्तित्व नहीं दिखाई देता।

असवर्ण विवाहनिषेध।

इसका भी प्रमाण मिलता है, कि ब्राह्मण शूद्रा स्त्रियोंसे भी कामतः सन्तान उत्पन्न करते थे और वह सन्तान पारस कहे जाते थे। ब्राह्मणोंका यह दुष्कर्म गुप्तरूपसे चलता था, फिर भी उनके द्वारा उत्पन्न पारशव सन्तान इस समय उस पापका साक्षी बन समाजके सामने नहीं दिखाई देते। मन्वादि ऋषियोंके समयमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी कन्याओंसे भी विवाह कर लेते थे। किन्तु इस समय वह भी विधिविधान रद्द कर दिया गया है। आदित्यपुराण और बृहन्नारदीय पुराणकी दुहाई दे कर आज कलके स्मार्त्त लोगोंने अन्यान्य युगोंमें जो सब प्रथायें प्रचलित थीं, उन सबमें कई प्रथायें तोड़ दी हैं, उनमें असवर्णा कन्या विवाह भी एक है। फलतः बादके शास्त्रकार क्रमशः एक पत्नीव्रत (Monogamy)-के पक्षपाती बन गये थे तथा कौल व्यभिचारको बन्द करनेमें बद्धपरिकर हुए थे। यह इनके व्यवस्थित विवाह-विधानकी आलोचना करनेसे स्पष्ट

प्रमाणित होता है। मनुष्योंके हृदयसे कामभाव हटा कर धर्म्मार्थ नर नारियोंको विवाह-बन्धनको मजबूर करनेके लिये परम कारुणिक समाज-हितैषी ऋषि जो सब नियम प्रचार और प्रतिष्ठित कर गये हैं, उन सबकी एकान्त चित्तसे आलोचना करने पर यथार्थमें विस्मित होना पड़ता है। विवाहके मन्त्रोंको पढ़नेसे यह सहज ही मालूम होता है, कि विवाह बहुत पवित्र सामाजिक बन्धन है और यह प्रथा गार्हस्थ्यधर्म और पारमार्थिक धर्मका परम सहायक है। इसके बाद इस विषयकी यथास्थान आलोचना की जायगी।

दिधिषूपति।

व्यभिचारका और एक कर्त्ता—दिधिषूपति है। नियोग विधिसे बाध्य हो कर पुत्र उत्पन्न करनेके लिये देवरका नियोग करना शास्त्रसम्मत विधि है। इस नियोगका एकमात्र उद्देश्य पुत्रोत्पादन है। किन्तु नियोग काम या प्रेम विवर्जित है। अतएव यह व्यभिचार नहीं कहा जाता। दिधिषूपति व्यभिचारी है। मनु कहते हैं—

"भ्रातुर्मृतस्य भार्य्यायां योऽनुरज्येत कामतः।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः॥"

अर्थात् मृत ज्येष्ठ भ्राताकी नियोगधर्म्मिणी भार्य्याके साथ जो व्यक्ति कामके वशीभूत हो कर रमण करता है, वह उसीका नाम दिधिषूपति होता है। मनुकी रायमें इस श्रेणीके ब्राह्मण हव्य कव्य आदि कार्य्योंमें आमन्त्रणके अयोग्य हैं। परपूर्वापतिको भी कुछ स्मृतिकारोंने दिधिषूपति ही कहा है।

कुण्ड और गोलक पुत्र।

कुण्ड और गोलकपुत्र व्यभिचारके फल हैं। मनु कहते हैं—

'परदारेषु जायते द्वौ पुत्रौ कुण्डगोलकौ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्त्तरि गोलकः॥"

अर्थात् पराई स्त्रीसे दो तरहके पुत्र उत्पन्न होते हैं। सधवा स्त्रीसे जार द्वारा जो सन्तान उत्पन्न होता है, वह कुण्ड कहलाता और विधवाके गर्भसे उत्पन्न सन्तान गोलक कहा जाता है। इस तरहके दोनों सन्तान अपाङ्क्तेय हैं। इन सबोंका श्राद्धादिमें कुछ अधिकार नहीं, फलतः पैतृकसम्पत्तिके भी ये अधिकारी नहीं। विधवा यदि पुनः संस्कृता हो कर सन्तान उत्पन्न करे तो, वह सन्तान पौनर्भव कहा जाता है। पौनर्भव सन्तान यदि अपाङ्क्तेय हैं, तो भी वह संतानके अधिकारसे वञ्चित नहीं हैं।

वृषलीपति।

मनुसंहिताके समय ब्राह्मण अन्यान्य तीन वर्णोंकी कन्याओंसे विवाह कर सकते थे। किन्तु शास्त्रकी यह आज्ञा थी, कि ब्राह्मण पहले सवर्णा कन्यासे विवाह करें। गार्हस्थ्य धर्मके लिये सवर्णाका पाणिग्रहण प्रथमतः कर्त्तव्य कहा जाता था; किन्तु कामुक व्यक्ति हर समय सब समाजोंमें कानूनकी आज्ञा मान कर नहीं चलते, वे स्वेच्छाचारके वशवर्ती हो कर काम करते हैं। मनुसंहिताके समय जो व्यक्ति विवाहके इस सनातन नियमकी उपेक्षा कर पहले ही एक शूद्रासे विवाह कर बैठते थे, वे वृषलीपति कहलाते थे। ब्राह्मण-समाज उनके साथ एक पंक्तिमें बैठ कर भोजन नहीं करता था। मनुसंहिताके तीसरे अध्यायके १४वें श्लोकसे १९ श्लोक तक इस सम्बन्धमें निषेध वाक्योंको पूर्णरूपसे देखना चाहिये।

परिवेत्ता।

हिन्दू समाजमें अविवाहित और विवाहके उपयुक्त ज्येष्ठ भाईके मौजूद रहते छोटे भाईका विवाह निषिद्ध है। जो इस निषेध वाक्यकी उपेक्षा कर विवाह कर लेते थे, वह परिवेत्ता कहलाते थे। परिवेत्ता अपाङ्क्तेय होते थे और समाजमें निन्दित समझे जाते थे।

कन्यापण।

हिन्दू-समाजमें और एक बहुत बड़े दोषको दूर करनेके लिये शास्त्रकारोंने बड़ी चेष्टा की थी। इस दोषका नाम कन्यापण है। हम बहुत तरहसे इस प्रथाके अस्तित्व और इसका मूलोच्छेद करनेकी चेष्टा देखते हैं। मनुसंहितामें जिन अठारह तरहके विवाहोंका उल्लेख है, उनमें आसुरिक विवाहमें कन्या शुल्कको बात सबसे पहले ही दिखाई देता है, जैसे:—

"ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म्म उच्यते॥"

(मनु० ३।३१)

अर्थात् कन्याके पिता आदिको या कन्याको शास्त्र नियमसे अधिक धन दे कर विवाह करना ही आसुर-विवाह है।

इस तरह धनदान करनेकी प्रवृत्ति वरपक्षसे होती है। वर या वरपक्ष कन्याको या कन्याके पिता आदिको धन दे कर सुन्दरी कन्या या अपने इच्छानुसार कन्या विवाह करना आसुरविवाहका प्रमाण है। ऐसा विवाह-शास्त्रकारोंके विधानमें उचित नहीं बतलाया गया था। इसीसे इस विवाहका नाम आसुर रखा था। और भी एक तरहके कन्यापणकी प्रथा दिखाई देती है। इस तरहके कन्यापणमें पिता ही इच्छापूर्वक कन्या बेच कर धन कमाता है। शास्त्रकारगण इसके घोर विरोधी थे। उन्होंने इसको रोकनेके लिये इसकी बड़ी निन्दा की है।

विक्रयदोषज्ञ कन्याके पिता कभी विक्रय कर दाम लेनेसे वह अपत्यविक्रयके पातकी होते हैं। मनुसंहिताके नवें अध्यायमें लिखा है:—

"नानुशुश्रुम जात्वेतत् पूर्वेष्वपि हि जन्मसु।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छिन्नं दुहितृविक्रयम्॥"

(मनु ९।१००)

इस श्लोकसे प्रमाणित होता है, कि प्राचीन हिन्दू-समाजमें भी कन्याका शुल्क लेना अत्यन्त निन्दनीय था। असभ्य समाजमें कन्या विक्रयकी प्रथा प्रचलित थी। सभ्यताके विकाशके साथ साथ कन्या-विक्रयकी प्रथा निन्दनीय समझी जाने लगी। किन्तु लोभी पिता उस समय भी अपने लोभको रोक नहीं सकते थे। वे प्रकाश्यरूपसे कन्या-विक्रय न कर अन्तमें कन्याके निमित्त कुछ रुपये ले कर कन्या बेचने लगे। सूक्ष्मदर्शी शास्त्रकारोंकी दृष्टि इस नई प्रथा पर भी पड़ी। उन्होंने नियम किया, कि कन्याको देनेके लिये शास्त्रानुसार किञ्चिन्मात्र शुल्क प्रदानकी व्यवस्था है। स्थलविशेषमें यह शुल्क-कन्याकर्त्ता कन्याके नामसे ले कर स्वयं ही हड़प जाते थे। शास्त्रकार इसको ही "छन्न कन्याविक्रय" कह गये हैं अन्यान्य शास्त्रकारोंने भी कन्याविक्रयको अत्यन्त दोष-युक्त कहा है। (अत्रिसंहिता)

क्रयक्रीता कन्या विवाह करनेसे पत्नी नामसे नहीं कही जाती। और तो क्या, उसके गर्भसे उत्पन्न पुत्र भी पिण्डदानका अधिकारी नहीं होता। दत्तक-मीमांसामें लिखा है—

'खरीदी हुई विवाहिता नारी पत्नी नहीं कही जाती। वह पितृ-कार्य्य तथा देव-कार्य्योंमें पतिकी सहधर्मिणी नहीं बन सकती। पण्डित लोग इसे दासी कहा करते हैं।'

उद्वाहतत्त्वोद्धृत कश्यप-वचनोंमें भी क्रयक्रीताका अपवाद दिखाई देता है।

जो लोभवशतः पण (धन) ले कर कन्यादान करते हैं, वह आत्मविक्रयी पापात्मा महापापकारी घोर नरकमें जाते हैं और अपने ऊपरके सात पुश्तको भी नरकमें फेंकते हैं। (उद्वाहतत्त्व) क्रियायोगसारमें लिखा है, कि वैकुण्ठवासी हरिशर्माके प्रति ब्रह्माने कहा है—

'हे द्विज! जो मूढ़ लोभवश कन्या विक्रय करता है, वह पुरीषह्रद नामक घोर नरकमें जाता है। बेची हुई कन्यासे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह चाण्डाल होता है, उसको धर्ममें कोई अधिकार नहीं।'

(क्रियायोगसार १९वां अध्याय)

इन सब प्रमाणोंसे स्पष्ट विदित होता है, कि शास्त्रकार कन्या-विक्रयको अतीव दूषित कार्य्य समझते थे। ऐसी स्त्रीको पत्नी तथा इसके गर्भसे उत्पन्न लड़केको पुत्र नहीं कहा जाता था। ऐसी स्त्रियां दासी तथा उनके गर्भसे जन्मे हुए पुत्र चाण्डाल कहे जाते थे। ऐसी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न सन्तान पिताके पिण्डदानका भी अधिकारी नहीं। जो व्यक्ति अर्थलोभसे कन्या बेचता है, वह सदा नरकमें वास करता है और अपने इस कार्य्यके फलसे अपने माता-पिताको और ऊपरकी सात पीढ़ियोंको भी नरकमें फेंकता है।

किन्तु परितापका विषय यह है, कि हिन्दुओंके प्राथमिक सुसंस्कृत समाजमें जिस कुप्रथाके विरुद्ध शास्त्रकारोंने अस्त्र उठाया था, जिस कुप्रथाको समाजसे दूर भगानेके लिये भीषण नारकीय चित्रको लोगोंके सामने चित्रित किया था, जिसके बीजको उखाड़ फेंकनेके लिये एक स्वरसे अकाट्य निषेधाज्ञाका प्रचार किया था, आज भी वह पापरूपिणी प्रथा समाजमें मुंह फैलाये खड़ी है। यह दोष यदि समाजके निम्नस्तरमें प्रभावित रह कर आदिम असभ्य समाजकी प्राचीन स्मृतिका साक्ष्य

प्रदान करता, तो हम इतने विस्मित नहीं होते। किन्तु दुर्भाग्यकी बात है, कि समाजके मुख्य विशेषतः श्रोत्रिय ब्राह्मण इस सर्पिणी प्रथाके शिकार हो रहे हैं अर्थात् अपनी दुहिताको बेचा करते हैं। भ्रमसे भी ये लोग यह खयाल नहीं करते, कि कन्याओंका क्रयविक्रय शास्त्रमें बिलकुल वर्जित है। समाजके नेता ब्राह्मण ऐसे नीच कर्मियोंको शास्त्रानुसार शासनकी भी व्यवस्था नहीं करते। किन्तु हर्ष है, कि इस समय (कन्याविक्रय) क्रमशः कम हो गया है।

पुत्र-विक्रय।

किन्तु दूसरी ओर वङ्गीय ब्राह्मण और कायस्थ-समाजमें विवाहके लिये पुत्रविक्रयप्रथा दिनों-दिन बढ़ रही है। श्रोत्रिय ब्राह्मणोंमें जिस दाम पर कन्यायें बिकती थीं, उससे कहीं अधिक दाम पर इस समय ब्राह्मणोंमें तथा कायस्थोंमें पुत्र बिक रहे हैं। इन्हीं दो जातियोंमें क्यों—प्रायः सभी जातियोंमें पुत्र-विक्रयकी प्रथा प्रचलित है। इतर जातियोंकी अपेक्षा यह प्रथा कायस्थकुलको अधिक अपना शिकार बना रही है। इसकी यह हालत देख कर यह मालूम होता है, कि थोड़े ही दिनोंमें कायस्थ-कन्याओंका विवाह असम्भव हो जायेगा।

विवाह्या और अविवाह्या कन्या।

किस लक्षणकी कन्याका विवाह करना होता है और किस लक्षणकी कन्याका विवाह नहीं, मन्वादि शास्त्रोंमें इसका विशेषरूपसे वर्णन मिलता है। उसकी संक्षिप्तरूपसे आलोचना कर देखा जाय। गुरुकी आज्ञासे व्रतस्नान करनेके बाद द्विज लक्षणान्विता सवर्णा स्त्रीका विवाह करें। निम्नलिखित लक्षणयुक्त स्त्रियां विवाह करने योग्य हैं—जो कुमारी माताकी असपिण्डा है अर्थात् जो स्त्री सातवें पुश्त तक मातामहादि वंशजात नहीं और जो मातामहाके चौदह पुश्त तक सगोत्रा नहीं और जो पिताका सगोत्रा या सपिण्डा नहीं है अर्थात् पितृस्वस्रादि सन्तति स्वम्भूता नहीं है ऐसी ही स्त्री विवाहयोग्य है और सम्भोग करने लायक है। (सात पुश्त तक सापिण्ड्य रहता है)

गौ, बकरा, भेड़ और धन धान्यादि द्वारा अति समृद्ध महावंश होने पर भी स्त्री-ग्रहणके सम्बन्धमें निम्नलिखित दश कुल विशेषरूपसे निन्दित हैं, जैसे—'हीनक्रिया अर्थात् जातकर्म आदि संस्कार जिस वंशमें रहित, जिस वंशमें गर्भाधान आदि दश प्रकारके संस्कार न हों, उस वंशकी कन्या कभी ग्रहण न करनी चाहिये। जिस कुलमें पुत्र उत्पन्न नहीं होता केवल कन्या जन्मती हैं, निश्छन्द अर्थात् जिस वंशमें वेदाध्ययन तथा पण्डित नहीं होते, या जो अध्ययन नहीं करते, जो रोमश हैं अर्थात् जिस वंशके लोग अधिक रोमयुक्त होते हैं और जिस कुलमें अर्श, राजयक्ष्मा, अपस्मार, श्वित्र और कुष्ठरोग हो इन दश कुलोंकी कन्यायें कभी ग्रहण करनी न चाहिये। ये विशेष रूपसे निषेध हैं।

जिस कन्याके शिरके बाल पिङ्गल या रक्त वर्ण हो, जिसके अङ्ग बढ़े हों अर्थात् पैर या हाथकी उंगलियां अधिक हों, जो सदा रोगिणी रहती हो, जिसके शरीरमें रोम नहीं हो, अत्यन्त लोम हो, जो अपरिमित वाचाल हो जिसके नेत्र पिङ्गल वर्णके हों ऐसी कन्यायें विवाह करने योग्य नहीं। नक्षत्र, वृक्ष, नदी, म्लेच्छ, पर्वत, पक्षी, सर्प, और सेवक या दासादिके नाममें जिस कन्याका नाम हो, और जो कन्या भयानक नामवाली हो, ऐसी कन्यायें विवाहयोग्य नहीं। अर्थात् इन सब कन्याओंका विवाह न करना चाहिये। नाम यथा—आमलकी, नर्मदा, बर्बरी, विन्ध्या, सारिका, भुजङ्गी, चेटी, डाकिनी इत्यादि नामविशिष्टा कन्या विवाहयोग्य नहीं। जिस कन्याके भाई नहीं है, अथवा जिसके पिताका वृत्तान्त विशेषरूपसे मालूम न हो, प्राज्ञ पुरुष ऐसी कन्याको जारजत्वके डरसे विवाह न करे। जिस कन्याका अङ्ग विकृत नहीं हो, जिसका नाम सुखसे उच्चारण किया जा सके, हंस या गजकी तरह जिसकी गति मनोहर हो, जिसके लोम, केश और दांत बहुत मोटे न हों, ऐसी ही कोमलाङ्गी कन्या विवाहके लिये योग्य है। द्विजोंको चाहिये, कि ऐसी कन्याओंसे ही विवाह करें।

याज्ञवल्क्यसंहितामें लिखा है, कि द्विज नपुंसकत्वादि दोषशून्या, अनन्यपूर्वा (पहले किसी दूसरेके साथ विवाहकी बातचीत भी न चली हो, और दूसरेकी उपयुक्ता नहीं हो, उसीका नाम अनन्यपूर्वा है।), कान्तिमती, असपिण्डा (पितृबन्धुसे नीचेक सात पुश्त

तक और मातृबन्धुसे नीचेके पांच पुश्त तक सपिण्ड कहलाता है। इसके सिवा); छोटी उम्रकी, नीरोगी, भ्रातृयुक्ता असमान प्रवरा, असगोत्रा तथा मातृपक्षसे पांच पुश्त तथा पितृ पक्षसे सात पीढ़ी परवर्त्तिनी सुलक्षणा कन्यायें ही विवाह विषयमें उपयुक्त हैं। जिस वंशमें कोढ़ आदि भयङ्कर रोग हैं, और जो वंश संस्कार विहीन है, उस वंशकी कन्याको ग्रहण न करना चाहिये।

गुणवान्, दोषविवर्ज्जित, सवर्ण अर्थात् ब्राह्मणोंमें ब्राह्मण, क्षत्रियोंमें क्षत्रिय आदि, विद्वान्, अस्थविर, पुंस्त्वविषयमें परीक्षित और जनप्रिय व्यक्ति ही वर होनेके उपयुक्त है। इस तरह वर स्थिर कर उसके साथ कन्याका विवाह कर देना उचित है।

(याज्ञवल्क्य १४ अ०)

विवाहके पहले ही कन्याके लक्षण आदिके विषयमें अच्छी तरह जांच पड़ताल कर लेनी चाहिये। ज्योतिस्तत्त्व और बृहत्संहितामें इसके सम्बन्धमें लिखा है—

श्यामा, सुन्दर केशवाली स्त्री, जिसके वदनमें रोएं कम हों, सुन्दर और सुशीला हो, चालमें अच्छी हो अर्थात् हस्तिगामिनी हो, जिसका कटिदेश वेदीकी तरह हो, जिसकी आंखें कमलकी तरह लाल हों—ऐसी लक्षणयुक्ता कन्या यदि हीनकुलमें भी हो, तो उसे ग्रहण करनेमें उज्र नहीं करना चाहिये। शास्त्रमें अच्छे कुलकी कन्याके ग्रहण करनेकी आज्ञा है, किंतु ऐसी लक्षणवाली कन्या यदि हीनकुलमें भी हो, तो उपरोक्त प्रमाणसे ग्रहण की जा सकती है।

जो नारी धृष्टा, बुरे दाँतवाली, पिङ्गलाक्षी (भूरी आंखवाली) हो, जिसके सारे शरीरमें रोएं हों और जिसका मध्यदेश मोटा हो यानी जिसकी कमर मोटी हो, ऐसी कन्या यदि राजकुल अथवा उच्चकुलकी भी हो, तो विवाह न करना चाहिये।

जिनके नेत्र पिङ्गल वर्णके हों अथवा रक्तशून्य और चञ्चल हों, जो दुःशीला, सम्मितयोनि, सन्दिग्ध चित्ता हो और जिसके कपोल कूपकी तरह गहरे हों, उसको वन्ध्यकी नारी कहते हैं। ऐसी स्त्रीसे विवाह न करना चाहिये। (ज्योतिस्तत्त्वधृत कृत्यचिन्तामणि)

पहले मनुके वाक्योंमें कहा जा चुका है, कि नक्षत्र, वृक्ष, नदी, पर्वत, पक्षी, सर्प आदि नामवाली कन्याएं विवाह करने योग्य नहीं। किन्तु मत्स्यसूक्तमें लिखा है—ऐसा समझना भूल है, कि केवल नक्षत्रोंके नामकी कन्या होनेसे विवाह करने योग्य नहीं हो सकती। वरं उसमें एक विशेषता है—

पुत्रीका नदीवाचक नाम रखना नहीं चाहिये। किन्तु नदियोंमें गङ्गा, यमुना, गोमती और सरस्वती; वृक्षोंमें मालती और तुलसी तथा नक्षत्रोंमें रेवती, अश्विनी और रोहिणी नाम शुभ हैं। इन सब नामावली कन्याओंके साथ विवाह करनेसे हानि नहीं वरं शुभ ही होता है।

बृहत्संहितामें लिखा है कि मानव यदि पृथ्वीके अधिपतित्वकी इच्छा करे, तो वह ऐसी स्त्रीसे विवाह करे जो सुन्दर हो, जिसके पैरके नख मुलायम, उन्नताग्र, सूक्ष्म और रक्तवर्ण हों, जिसके चरणतल या पैरके तलवे कमलके रंगकी तरह मुलायम हो और दोनों पैर उसके समानरूपसे उपचित, सुन्दर अथच निगूढ़गुल्फविशिष्ट तथा मत्स्य (मछली), अङ्कुश, शङ्ख, यव, वज्र, हल और तलवार चिह्नयुक्त और नम्र हों, जिसके दोनों जंघे हाथीकी सूंड़की तरह, शिराहीन और रोमरहित हों, जिसके घुटने समान अथच सन्धिस्थल सुन्दर हों, जिसके ऊरुद्वय रोमशून्य हो, जिसका नितम्ब विपुल, फिर भी पीपलके पत्तके आकारका हो, जिसकी श्रोणी और ललाट चौड़ा अथच कूर्मपृष्ठकी तरह उन्नत हो, जिसकी मणि अत्यन्त निगूढ़ हो और जो अत्यन्त रूपवती हो, ऐसी स्त्री विवाहके लिये ठीक है। ऐसी स्त्रीसे विवाह करनेसे सुखसौभाग्यकी वृद्धि होती है।

(बृहत्सं० ७०।१)

जिस स्त्रीका नितम्ब चौड़ा, मांसोपचित और गुरु हो, जिसकी नाभि गहरी और दक्षिणावर्त्त हो, जिसकी कमर पतली और रोमरहित हो, जिसके पयोधर (स्तन) गोल, घन, नतोन्नत, फिर भी कठिन (कड़े), जिसकी छाती रोमशून्य, फिर भी कोमल और जिसकी गरदनमें शङ्खकी तरह तीन रेखाएं हों,—इस तरहकी लक्षण समन्विता नारी विवाहके लिये उत्तम है। जिसके अधर (होंठ) बन्धुजीव फूलकी तरह तथा बिम्बफलकी तरह हों, कुन्दकुसुमकी कलियोंकी तरह जिसकी दन्ता-

वली शुभ्रवर्ण और समान हो, जिसके वाक्य सरलतासे परिपूर्ण हो, जो स्त्री समभाव, हंस या कोकिलकी तरह भाषण करनेवाली और कातरताहीन हो, जिसकी नासिका समान, समछिद्रयुक्त और मनोहर तथा नील-पद्मकी तरह शोभमान हो, जिसके भ्रू युगल आपसमें सटे हों, मोटे न हों, न लम्बे हों, वरं धन्वाकार हों—ऐसी रमणी विवाहके लिये उपयुक्त हैं। जिस कामिनीका ललाट अर्द्धचन्द्राकार, नीच ऊंच न हो और जिस पर रोम न हों, जिसके कान दोनों समान और कोमल हों, जिसके केश चिकने और घोर काले रंगके हों तथा जिसका मस्तक समभावसे अवस्थित हो,—ऐसी लक्षणयुक्ता रमणी विवाहके लिये अच्छी है और विवाह करनेसे सुख-समृद्धि बढ़ती है।

जिस स्त्रीके हाथ अथवा पांवमें भृङ्गार, आसन, हस्ती, रथ, श्रीवृक्ष (बेल), यूप, वाण, माला, कुन्तल, चामर, अंकुश, यव, शैल, ध्वज, तोरण, मत्स्य, स्वस्तिक, वेदिका, तालवृन्त, शङ्ख, छत्र, पद्म आदि चिह्नोंमें एक भी चिह्न अङ्कित हो, तो वह सौभाग्यवती है, अतः ऐसी ही कुमारियां विवाहके लिये उत्तम हैं।

जिस कुमारीके हाथका मणिबन्ध कुछ निगूढ़, जिसके हाथमें तरुण कमलके बीचका भाग अङ्कित हो, जिसके हाथकी उंगलियोंके पर्व सूक्ष्म और जिसका हाथ न बहुत गहरा और न बहुत ऊंचा हो, फिर भी उत्कृष्ट रेखायुक्त हो, ऐसी रमणी ही उत्तम और विवाह्य है।

जिस स्त्रीके हाथमें मणिबन्धसे निकली एक लम्बी (ऊर्द्ध्व) रेखा मध्यमा उंगलीके मूल तक गई हो या जिसके चरणमें ही ऊर्द्ध्व रेखा हो, तो वह कन्या भाग्यवान होगी। अंगुष्ठके मूलमें जितनी रेखायें रहती हैं, उतने ही सन्तान होते हैं। इनमें जो मोटी रेखा है, वह पुत्रकी, जो पतली रेखा है, वह पुत्रीकी है। फिर जो रेखा क्षीण नहीं हुई है, वह सन्तान दीर्घजीवी तथा खण्डरेखाका सन्तान अल्पायु होता है। इन सब लक्षणोंको देख कर कन्या विवाहके लिये निश्चित करना चाहिये।

अविवाह्या नारी।

अब दुर्लक्षणा स्त्रियोंकी आलोचना की जाये। जिस स्त्रीके चलनेके समय उसके पैरकी कानी और उसकी पासकी उंगली जमीनसे छू न जाये, वह स्त्री दुर्लक्षणा कही जाती है। जिस स्त्रीके पैरके अंगूठेकी बगलकी उंगली अंगूठेसे बड़ी हो, वह भी दुर्लक्षणसम्पन्ना है और उसके साथ विवाह करनेसे मनुष्यको फिर दुःखका ठिकाना नहीं रहता।

जिस स्त्रीके घुटनेका निचला भाग उद्बद्ध, दोनों जङ्घोंमें शिरायें तथा रोमसे भरे हों और बहुत मांस-विशिष्ट हों, जिसका नितम्ब वामावर्त्त, नीचा और छोटा हो, तथा जिसका उदर कुम्भ (घट) के समान हो—ऐसी कुनारियां दुर्लक्षणसम्पन्न हैं। यह विवाहके लिये अयोग्य है। जिस स्त्रीकी गर्दन छोटी हो वह दरिद्रा, लम्बी हो तो कुलक्षणा और मोटी हो तो प्रचण्डा होती है। जिस स्त्रीके नेत्र पिङ्गलवर्ण, फिर भी चञ्चल हैं और मुसकाने पर भी जिसका गाल गहरा हो जाता है, वह दुर्लक्षणसम्पन्न है।

ललाट लम्बा होनेसे देवरका नाश, उदर लम्बा होनेसे श्वशुरका नाश और चूतड़ लम्बा होनेसे स्वामीका विनाश होता है। अतः ये भी दुर्लक्षणा हैं। जो रमणी बहुत लम्बी और जिसका अधोदेश रोमोंसे भरा हो, जिसके स्तन रोमयुक्त, मलिन और तीक्ष्ण हों, और जिसके दोनों कान विषम हों, जिसके दांत मोटे हों, भयङ्कर और काले मांसयुक्त हों, तो वह स्त्री ठीक नहीं अर्थात् उससे विवाह करना न चाहिये। हाथ राक्षसोंकी तरह अथवा सूखे हों या जिसके हाथमें वृक, काक, कङ्क, सर्प और उल्लूका चित्र अङ्कित हो, जिसका होंठ मोटा हो और केशाग्र रूखे हों, वह नारी दुर्लक्षणसम्पन्ना हैं।

स्त्रियोंके शुभाशुभका विचार करनेमें निम्नलिखित स्थानोंका ध्यान रखना चाहिये। १ दोनों चरण और गुल्फ, २ जङ्घा और घुटने, ३ गुह्य स्थान, ४ नाभि और कमर, ५ उदर, ६ हृदय और स्तन, ७ कन्धा और जत्रु, ८ होंठ और गरदन, ९ दोनों नेत्र और भ्रू तथा १० शिरोदेश। इन स्थानोंका शुभाशुभ विशेष रूपसे स्थिर कर लेना चाहिये। (वृहत्संहिता ७ अ०) .सी

जिस कन्याका पैर खड़ाऊंकी तरह हो, दांत तोया तरह और नेत्र बिल्लीकी तरह हो, तो मत कर सर्व-विवाह न करना चाहिये। यह चलि

सामुद्रिकमें इसके शुभाशुभ लक्षण लिखे हैं। जिस स्त्रीके तलवेमें रेखा रहती है, वह राजमहिषी और जिसकी मध्यमाङ्गुलि दूसरी अङ्गुलीसे सटी रहती है, वह सदा सुखी होगी। जिस स्त्रीका अंगूठा वर्तुलाकार और मांसल तथा उसका अग्रभाग उन्नत हो, तो उसे नाना तरहके सुखसौभाग्यकी वृद्धि होगी। जिस स्त्रीका अंगूठा टेढ़ा, छोटा और चिपटा हो वह बहुत दुःखिनी होगी। जिसकी उंगली लम्बी हो वह कुलटा होगी। उंगली पतली होनेसे स्त्री दरिद्रा और छोटी होनेसे परमायु कमवाली होती है। जिस स्त्रीकी उंगलियां आपसमें सटी हों, वह बहुत पतियोंका विनास कर दूसरेकी लौंडी बन कर रहेगी।

जिस नारीके चरणोंके नख सभी चिकने, उठे हुए, ताम्रवर्णके, गोलाकार और सुदृश्य हों तथा जिसके पैरका ऊपरी भाग उन्नत हो, वह नाना प्रकारके सुख पायेगी। जिस नारीका पार्ष्णिदेश समान हो, वह सुलक्षणा होगी और जिसका पार्ष्णिदेश पृथु है, वह दुर्भागा, और जिसका उन्नत है, वह भी कुलटा, लम्बा होने पर नारी दुःखभागिनी होगी। जिसके जङ्घोंमें रोम नहीं रहते, जिसके जंघे बराबर, चिकने, वर्त्तुल, क्रमसे सूक्ष्म, सुमनोहर और शिरारहित है, वह नारी राजमहिषी हो सकती है। जिसके घुटने गोल हों, वह रमणी सौभाग्यवती और जिसके घुटनेमें मांस नहीं, जिनका घुटना फूला हो वह स्त्री दरिद्री और दुराचारिणी होगी। जिस नारीके ऊरुयुगल शिरारहित हों और हाथीकी सूंडके समान उनकी गठन हो, चिकने गोल और रोमशून्य हों, वह नारी सौभाग्यवती होती है। जिसके कटिदेशकी परिधि एक हाथ और नितम्ब समुन्नत और चिकना हो, मांसल और मोटा हो, तो वह नाना प्रकारकी सुखसमृद्धिवाली होगी। इसके विपरीत होनेसे फल भी विपरीत अर्थात् दरिद्रा होगी ; कुछ गहरा और दक्षिणावर्त्त हो, तो शुभ और वामावर्त्त तथा उत्तान अर्थात् गभीररहित और व्यक्तग्रन्थी (नाभिका उसके रहना) हो, तो अशुभ समझना। जिस स्त्रीके उदरका चमड़ा मृदु, पतला और शिरारहित हो, तो शुभ, पहले मनुष्य और मृदङ्गकी तरह हो, तो अशुभ समझना। जिसकी छातीमें बाल न हो और वह गहरी न हो तथा समतल हो, तो वह रमणी ऐश्वर्य्यशालिनी और पतिकी प्रेमपात्री होगी। जिस नारीके अंगुष्ठका अग्रभाग खिले हुए पद्मकी तरह क्षीणाग्र, हथेली मृदु, रक्तवर्ण, छिद्ररहित, अल्परेखायुक्त, प्रशस्त रेखान्वित और बीचमें उठा हुआ हो, तो वह रमणी सौभाग्यवती होगी।

जिस नारीके हाथमें अधिक रेखायें हों, तो वह विधवा होगी ; यदि निर्दिष्ट रेखा न हो, तो दरिद्रा और शिरायुक्त होनेसे भिखारिन होगी। जिस नारीके हाथमें दक्षिणावर्त्त मण्डल और जिसके हाथमें मत्स्य, पद्म, शङ्ख, छत्र, चामर, अंकुश, धनुष, रथका चिह्न अङ्कित रहता है, वह सुखसौभाग्यवती होती है। जो स्त्री चलते समय धरतीको कंपा देती है और जो बहुत रोमवाली है, उसका पाणिग्रहण करना उचित नहीं। जिस स्त्रीके हाथ या पैरमें घोड़े, हाथी, बेलवृक्ष, यूप, वाण, यव, ध्वज, चामर, माला, छोटा पर्वत, कर्णभूषण, वेदिका, शङ्ख, छत्र, कमल, मछली, स्वस्तिक, चतुष्पद, सर्पफणा, रथ और अंकुश एक भी चिह्न हो, तो वह स्त्री सुलक्षणा होती है।

सिवा इनके सामुद्रिकमें और भी कितने ही चिह्न निर्दिष्ट हैं, साधारणतः पहले जो सुलक्षण और दुर्लक्षणकी बात कही गई है, उसके अनुसार विचार कर कन्यासे विवाह निश्चय करना चाहिये। इस तरह कन्या निरूपण कर अनेक प्रकारके सुख और समृद्धि लाभ की जा सकती है। दुर्लक्षणा कन्यासे विवाह करने पर पद-पद पर कष्ट झेलना पड़ता है। इसीलिये बहुतेरे लोग कन्याके विवाहसे पहले शुभाशुभ लक्षणोंका विचार कर लेते हैं।

'असमान गोत्र-प्रवराका पाणिग्रहण करना' और 'समानगोत्रप्रवराका नहीं' विवाह विषयमें ये ही दो विधियां हैं। इन दो विधिवाक्योंकी सामञ्जस्य-रक्षा किस तरह होती है? स्मार्त्त भट्टाचार्य्यने इस प्रश्नकी इस तरह मीमांसा की है। विवाहादि कई कार्य्यों में साधारणतः दो तरहके कार्य्य होते हैं—जैसे वैध और रागप्राप्त। वैध—शास्त्रीय विधिके अनुसार सभीका कर्त्तव्य हैं। रागप्राप्त—अपनी इच्छाके अधीन अर्थात्

अपनी इच्छा होनेसे जो कार्य्य किया जाता है और इच्छा न होनेसे जो नहीं किया जाता, वही रागप्राप्त है।

वर्णाश्रमियोंके कितने ही कार्य्य वैध हैं अर्थात् शास्त्रमें विहित हैं। इसीसे उन सबोंका अनुष्ठान करना होता है, जैसे सन्ध्यावन्दनादि। और कितने ही कार्य्य हैं रागप्राप्त अर्थात् जो इच्छाधीन हैं, इच्छा होनेसे किये जाते हैं, नहीं होनेसे नहीं होते, जैसे भोजनादि। और कितने ही कार्य्य हैं—वैध और रागप्राप्त—दोनों ही; यथा-विवाह. क्योंकि संभोगेच्छाकी प्रबलताके कारण पुरुषमात्र को ही किसी एक स्त्रीको सदाके लिये अपनी बना लेनेकी इच्छा रहती है। इसीसे यह रागप्राप्त कहा जाता है। किन्तु रागप्राप्त होनेसे हम देखते हैं, कि हमारी इच्छाके अनुसार जभी तभी ऐसी वैसी स्त्रीको ला कर सदाके लिये उसे अपनी बना कर रखना शास्त्रसिद्ध विवाह नहीं होता। इसलिये विवाह वैध और रागप्राप्त दोनों ही हैं।

अब असपिण्डा और असगोत्रा कन्याओंके विषयकी आलोचना की जाये।

"असगोत्रा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥"

(उद्वाहतत्त्व)

जो कन्या माताकी असपिण्डा है अर्थात् सपिण्ड नहीं है और पिताकी असगोत्रा है—ऐसी कन्या ही द्विजातियोंके विवाहके लिये योग्य है। माताकी असपिण्डा और पिताकी असगोत्रा इन दोनोंको समझनेके लिये पहले सपिण्ड और सगोत्रका अर्थ समझना चाहिये।

सपिण्ड शब्दका अर्थ—जिनमें साक्षात् या परम्परा सम्बन्धमें पिण्डघटित सम्बन्ध वर्तमान है। पिता, पितामह और प्रपितामह ये तीनों साक्षात् सम्बन्धमें पिण्ड पाते हैं। उसके ऊपर वृद्धप्रपितामहसे ऊर्द्ध्वतन तीन पुरुष पिण्ड नहीं पाते। पिण्ड बनानेके समय हाथमें जो लेप रहता है वे केवल वही पाते हैं, अतएव इसके साक्षात् सम्बन्धमें पिण्डप्राप्ति नहीं होती, परम्परासे होती है। श्राद्धकर्त्ताके पिण्डके साथ दातृत्व सम्बन्ध है, अतएव शास्त्रकर्त्ता और उसके ऊर्द्ध्वतन ६ पुरुष परस्पर सपिण्ड हैं। ये ही सात और इनकी सन्तान-सन्ततिमें आपसमें जो सम्बन्ध है, वही सपिण्ड सम्बन्ध है। वरकी माताके साथ जिस कन्याका वैसा सम्बन्ध नहीं, वही कन्या माताकी असपिण्डा है और पिताके साथ वैसा सम्बन्ध न हो तो, वह कन्या पिताकी असपिण्डा कहलाती है। "असपिण्डा च" इस 'च' अक्षर पर कुछ लोग कहते हैं, कि इससे असगोत्रा समझना होगा, माताके एक गोत्रोत्पन्ना कन्या विवाहविषयमें निषिद्धा है। यह मत सर्ववादिसम्मत नहीं है।

सगोत्रा—सगोत्रा कहनेसे एक गोत्रकी उत्पन्न कन्याका बोध होता है। पिताकी असगोत्रा पिताके साथ एक गोत्रमें उत्पन्न नहीं है, ऐसी कन्या ही विवाह्य है। 'असगोत्रा च' इस चकार शब्दसे पिताकी असपिण्ड कन्या भी वर्जनीय है, ऐसा समझना होगा। क्योंकि पितृपक्षसे सप्तमी कन्या और मातृपक्षसे पञ्चमी कन्या छोड़ कर धर्मशास्त्रानुसार विवाह करना होगा। पितृपक्ष और मातृपक्षसे पिता या पितृबन्धु और माता या मातृबन्धु इन दोनों कुलसे सप्तमी और पञ्चमी कन्या परित्याग कर विवाह करना होगा।

पितृबन्धु और मातृबन्धुसे तथा पिता और मातासे क्रमशः सप्तम और पञ्चम पुरुष पर्यन्त विवाह करना न चाहिये। सगोत्रा और समानप्रवरा भी द्विजातिके लिये अविवाह्य हैं। इस तरहका विवाह होनेसे वह सन्तान सन्ततिके साथ पतित और शूद्रत्वको प्राप्त होता है।

बन्धु—पिताका फुफेरा, मौसेरा और ममेरा भाई ये सभी पितृबन्धु हैं। माताका ममेरा भाई, फुफेरा भाई और मौसेरा भाई मातृबन्धु कहा जाता है। पितामहकी बहिनका लड़का, पितामहीकी बहिनका पुत्र और पितामहीका भतीजा ये भी पितृबन्धु हैं तथा मातामहीकी बहनका पुत्र, मातामहकी बहिनका पुत्र और मातामहीका भतीजा ये मातृबन्धु हैं। इस तरह पितृमातृबन्धुका विचार कर कन्यानिरूपण करना चाहिये।

पितृपक्षसे सप्तमी कन्या और मातृपक्षसे पञ्चमी कन्याको छोड़ कर विवाह करना चाहिये। किन्तु किसी किसीके मतसे पितृपक्षसे पञ्चमी और मातृपक्षसे तृतीया कन्या छोड़ कर विवाह कर सकते हैं। ये मत भी सर्ववादिसम्मत नहीं हैं।

सगोत्रादि कन्या-विवाहका प्रायश्चित्त ।

सगोत्रादि अविवाह्य कन्याओंकी बात कही गई है। इस तरहकी अविवाह्य कन्याके साथ विवाह कर लेनेसे वरको प्रायश्चित्त करना होता है। शास्त्रमें बौधायन वचनमें लिखा है, कि यदि अज्ञान या मोहवश सगोत्रा कन्याका पाणिग्रहण कर लिया जाये, तो उसको माताका तरह पोषण करना चाहिये। फुफेरी, मौसेरी और ममेरी बहन, मातामह-सगोत्रा तथा समानप्रवरा कन्याका विवाह कर लेने पर ब्राह्मणको चान्द्रायणव्रत करना चाहिये और परिणीता कन्याको स्वतंत्रभावमें रख कर उसका भरण-पोषण करना उचित है। यदि कोई समानगोत्रा और समानप्रवरा कन्यासे विवाह कर उसके गर्भसे संतान उत्पन्न करे, तो वह संतान चाण्डाल सदृश और विवाहकर्त्ता ब्राह्मणत्वहीन होता है।

प्रायश्चित्तके विवेचन करनेवालोंने श्रुतिमें दोषकी मीमांसा की है। जैसे—

पहले जो अविवाह्य कन्याओंकी बात शास्त्रमें कही गई है, उनसे विवाह करनेवालेको चान्द्रायणव्रत करना होता है। इसी व्रत द्वारा इस पापका नाश होगा। चान्द्रायण व्रत करके विवाहिता कन्याको स्वतंत्र भावमें रख कर उसका भरण पोषण करना होगा।

मातृनाम्नी कन्यासे विवाह नहीं किया जाता। यदि किसी कन्याका नाम माताकी राशि या पुकारके नामसे मिलता जुलता हो, तो उस कन्याको मातृकन्या कहते हैं। प्रमादवश ऐसी कन्यासे विवाह करने पर भी प्रायश्चित्त करना पड़ता है। ऐसा करके ही उसके कर्त्तव्यकी इतिश्री नहीं हो जाती, वरं इस कन्याको परित्याग करना होता है। उसके साथ कोई भी दम्पति योग्य व्यवहार नहीं करना चाहिये।

विवाहमें परिवेदनदोष ।—जेठे भाईको अविवाहित छोड़ कर यदि छोटे भाईका विवाह हो, तो परिवेदनदोष हो जाता है। यह छोटा भाई परिवेत्ता, जेठ भाई परिविन्न और परिणीता कन्या परिवेदनीया कही जाती है। सिवा इसके कन्यादान करनेवाला परिदायी और पुरोहित परिकर्त्ता कहा जाता है। ये सभी शास्त्रके अनुसार पतित होते हैं।

शास्त्रमें परिवेदनदोषके प्रतिप्रसव भी दिखाई देता है। जेठ भाई यदि किसी दूसरे देशमें हों, क्लीव, एकवृषण, सौतेला हो, वेश्यासक्त, पतित, शूद्रतुल्य, बहुत रोगी, जड़, मूक, अंधा, बहरा, कुबरा, वामन, आलसी, बहुत वृद्ध, बालब्रह्मचारी, खेतीके काममें संलग्न, राजसेवक, कुसीदादि द्वारा धन वर्द्धनमें तत्पर, यथेच्छाचारी, किसीको दत्तक दिया गया हो तथा उन्मत्त और चोर हो, तो छोटेके विवाह कर लेने पर भी परिवेदनदोष नहीं लगता। इनमें धन बढ़ानेमें तत्पर, राजसेवक, कृषक और प्रवासी ये चार तरहके जेठ भाइयोंके लिये छोटेको तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। यदि परदेशमें रहनेवाला जेठ भाईका एक वर्ष तक कोई समाचार न मिले, तो छोटे भाईको चाहिये, कि वह इस समयके बाद विवाह कर ले। किंतु विवाहके बाद यदि बड़ा भाई लौट आवे, तो छोटा भाई अपने किये दोषकी शुद्धिके लिये परिवेदनदोषके निर्द्धारित प्रायश्चित्तके पादमात्रका आचरण करे।

धर्म या अर्थ उपार्जन करनेके लिये दूसरे देशमें गये हुए जेठ भाईका नियमित रूपसे समाचार मिला करे, तो उसके लिये बारह वर्ष तक समयकी प्रतीक्षा करना उचित है; किंतु उसके उन्मत्त, पतित और राजयक्ष्मा रोगयुक्त होने पर प्रतीक्षा करनेकी जरूरत नहीं। कुछ लोगोंकी रायमें ६ वर्ष तक प्रतीक्षा करनेके बाद छोटे भाईका विवाह कर लेना विधेय है। प्रायश्चित्त बतानेवालोंने मीमांसा की है, कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण विद्या और अर्थोपार्ज्जनके लिये विदेशगत जेठ भाईके उद्देशसे १२।१०।८ और ६ वर्ष यथाक्रम प्रतीक्षा कर विवाह करे। प्रतीक्षाकाल,—ब्राह्मणका १२ और क्षत्रियका १० वर्ष इत्यादि क्रमसे समझ लेना होगा।

किन्तु जेठ भाई जीवित रह कर यदि स्वेच्छाक्रमसे अग्न्याधानादि न करे तो उसकी अनुमति ले कर छोटा भाई सब काम कर सकेगा। फलतः जेठ भाई यदि शादी न करे और छोटे भाईको खुशीसे शादी करनेकी आज्ञा दे दे, तो यह विवाह दोषावह नहीं होगा। किन्तु ये जेठ

भाई यदि छोटे भाईके विवाह हो जानेके बाद अपना विवाह कर ले, तो दोषावह होगा।

प्रायश्चित्त निर्दिष्ट करनेवालोंके मतसे—जेठ भाईकी आज्ञा ले कर छोटा यदि विवाह कर ले तो भी वह दोषी होगा। वह कहते हैं—जब अग्रज अर्थात् बड़े भाईकी आज्ञासे कनिष्ठके लिये केवल अग्निहोत्र ग्रहणका ही विधान है, तब छोटा अग्निहोत्र मात्र ही करे, किन्तु विवाह न करे। यदि करेगा, तो वह दोषी है।

जैसे जेठ भाईके विवाह न होने पर छोटे भाईका विवाह निषिद्ध है, वैसे ही जेठी बहनकी शादी जब तक न हो, छोटी बहनकी शादी नहीं हो सकती। कुछ लोग कहते हैं कि बदसूरत जेठी बहनके क्वांरी रहने पर भी छोटीका विवाह कर देनेसे दोष नहीं होता। किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं मालूम होता। विवाहके इस निषेध वाक्यको प्रसज्यप्रतिषेध कहा नहीं जा सकता, क्योंकि अप्रासङ्गिकका ही निषेध होनेसे यह सम्पूर्ण रूपसे अयौक्तिक हुआ है। अतएव यह निषेध पर्युदास होगा। इससे ऐसा तात्पर्य्य दिखाई देता है, कि जेठी बहन यदि बदसूरत न हो, तो उसके विवाहके पहले छोटी बहनका विवाह होने पर दोष होगा।

किन्तु शास्त्रकारके अभिप्रायके अनुसार विचार करने पर समझमें आता है, कि यह कार्य्य सम्पूर्णरूपसे दोषजनक होगा। क्योंकि, बड़ी बहनके अविवाहिता अवस्थामें रख कर छोटी बहनका यदि विवाह किया जाये, तो इस कन्याको अग्रेदिधिषु और उसी तरहकी जेठी बहनको दिधिषु कहते हैं। अग्रेदिधिषुका जो पाणिग्रहण करेगा, उसे १२ रात कृच्छ्र पराकव्रत आचरण करके दूसरी एक कन्यासे विवाह करना होगा और उस अग्रेदिधिषुको जेठी बहनके वरके हाथ सौंप देना होगा। फिर दिधिषु पाणिग्रहणकारीको भी कृच्छ्र और अति कृच्छ्र ये दो प्रायश्चित्त कर जेठीको छोटीके वरके हाथ सौंप देना होगा और फिर वह दूसरा एक विवाह करेगा।

छोटी कन्याको बड़ी कन्याके और बड़ी कन्याको छोटी कन्याके वरके हाथ सौंप देनेकी बात जो कही गई, वह केवल शास्त्रकी मर्य्यादा रक्षाके लिये ही है, उपभोगार्थ नहीं। इन कन्याओंका कोई उपभोग नहीं कर सकता। इनको स्वतन्त्ररूपसे रख कर अन्नवस्त्रादि द्वारा भरण-पोषण करना चाहिये, यही शास्त्रका अभिप्राय है। अतएव बड़ी बहन बदसूरत हो या खूबसूरत उसका विवाह न होनेसे छोटी बहनका कभी विवाह न होगा।

बड़ेका विवाह न होने तक छोटेका विवाह नहीं हो सकता। यमज सन्तानमें छोटे बड़ेका विचार इस तरह किया जाता है, कि जो पहले पैदा हुआ हो, वह बड़ा है। यमज सन्तानोंके पैदा होनेका यदि यह ठीक न मालूम हो सके, कि कौन पहले पैदा हुआ है कौन पीछे, तो माता जिसको पहले देखे, उसीको बड़ा माने।

एक दिन दो सहोदर या दो सहोदराका विवाह कर्त्तव्य नहीं। शास्त्रानुसार यह निन्दनीय और पापजनक है।

एक दिन सहोदरोंमें दोका विवाह और दो सहोदराकन्याका दान भी वर्ज्जनीय है। उद्देशीय पण्डितोंने 'वासर' पदके स्थानमें 'वत्सर' पदका निर्देश किया है। इसके अनुसार एक वर्षमें दो सहोदरोंका विवाह होना निषिद्ध है और इसी तरहका वहां काम भी होता है। अन्यान्य विषय विवाहविधि शब्दमें देखो।

पात्रीकी खोज।

प्राचीनकालमें हिन्दू केवल पात्रकी ही खोज नहीं करते थे, वरं उनको विवाहकी उपयुक्त सुलक्षणा पात्रीकी खोज भी करनी पड़ती थी। पथमें कोई विघ्न न हो और शीघ्र विवाहके लिये सुपात्री मिल जाये, इसके लिये देवताओंसे वे प्रार्थना करते थे। जैसे—

"अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयं। समर्य्यमा संभगो नो निनीयात्सं जाम्पत्यं सुयममस्तु देवाः॥"

(ऋग्वेद० १० म० ८५ सूक्त २३ ऋक्)

अर्थात् जिन सब पथोंसे हमारे सखे विवाह करनेके लिये कन्या ढूंढ़ने जायें, वे पथ सरल तथा कण्टकशून्य हो। अर्यमा और भगदेव! हमें गतिविधि दो। हे देवगण! पतिपत्नीका सम्बन्ध उत्तमरूपसे स्थापित हो।

यह भी मालूम नहीं होता, कि ऋग्वेदके समयमें जैसी तैसी कन्याके पाणिग्रहणकी प्रथा प्रचलित थी। क्योंकि कन्याके खोजनेके समय वरके मित्र उपयुक्ता पात्रीकी खोजमें बाहर निकलते थे और तो क्या—देवताओंसे वे यह प्रार्थना करते थे:—"जाम्पत्यं सुखमस्तु देवाः।"

हे देवगण! जायापति सुमिथुन हो। ऋग्वेदके समयमें कन्या निर्वाचनका कार्य सरल नहीं था। इसका प्रमाण इसी ऋक्से ही मिलता है। वरके अनुरूप कन्याका निर्वाचन करनेके लिये किस-किस विषय पर दृष्टि रखनी पड़ती थी, इसका आभास हमें ऋग्वेदमें दिखाई नहीं देता। सामवेदके मन्त्रब्राह्मणमें भी यह दिखाई नहीं दिया। किन्तु पिछले समयमें सुपात्रीलक्षण-व्यञ्जक अनेक तरहके उपदेशवाक्य और चिह्न धर्मशास्त्रमें, ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्रमें अङ्कित हुए हैं। इसके बाद उन्हीं विषयोंका उल्लेख किया जायेगा।

वरके घर कन्याका विवाह।

कहीं कहीं वरके घर कन्याका विवाह होता दिखाई देता है। किन्तु ऋग्वेदसंहितामें हमने कोई भी निदर्शन नहीं देखा। मनुके कहे हुए राक्षस और पैशाच-विवाह वरके घरमें ही होता था। किन्तु ब्राह्म, दैव आदि विवाह कन्याके घर हुआ करता था। ऋग्वेदसंहितामें भी इसी तरहके कन्याके घरमें विवाह कार्य्य सम्पन्न होनेकी प्रथा दिखाई देती है।

कन्याका छोड़ा हुआ पुराना कपड़ा।

इस समय देशमें वर कन्याके छोड़े हुए वस्त्र नाई ही पाते हैं। विवाहके समय नाईकी उपस्थिति प्रयोजनीय है। ऋग्वेदके समय नाई थे; किन्तु उस समय इनकी उपस्थितिकी कोई जरूरत नहीं होती थी। कन्याका छोड़ा हुआ वस्त्र नाई पाता था, वरं ब्रह्मा नामक विद्वान् ऋत्विक् हो यह वस्त्र पाते थे।

पाठकोंको यह ख्याल न करना चाहिये, कि यह वस्त्र-प्राप्ति ब्रह्माके प्रति लाभजनक होती थी। वधू जो वस्त्र छोड़ती थी, वह वस्त्र दूषित, मलिन, विषयुक्त और अग्राह्य होता था। सम्भवतः विवाहके पहले इस तरहका वस्त्र पहनना स्त्री-आचारके अन्तर्भुक्त था। अध्यवहार्य्य वस्त्र पहननेकी प्रथा अब भी दिखाई देती है, किंतु इस समय जो वस्त्र पहनाया जाता है, वह नाई ले जाते हैं, इससे वस्त्र कम कीमतका ही पहनाया जाता है। वैदिक युगमें मैला, फटा और विषयुक्त वस्त्र देना पड़ता था, ब्रह्मा नामक ऋत्विक् यह ले जाते थे।

यह वस्त्र दूषित, अग्राह्य मालिन्ययुक्त और विषयुक्त है। इसका व्यवहार ठीक नहीं, जो ब्रह्मा नामक ऋत्विक् विद्वान हैं, वही वधूके वस्त्रके पानेके अधिकारी हैं। इसके बादकी ऋक्से मालूम होता है, कि यह छोड़ा हुआ वस्त्र तीन टुकड़ा कर विवाहार्थ प्रस्तुता कन्याको पहननेके लिये दिया जाता था। एक टुकड़ा रंग दिया जाता था, एक टुकड़ा शिर पर डालनेके लिये तथा एक पहननेके लिये दिया जाता था। इससे मालूम होता है, कि समाजकी बहुत प्राचीन दरिद्र अवस्थामें जब कन्याहरण कर विवाह करनेकी प्रथा थी, उस समय विवाहके समय कन्याके पहने हुए मलिन वस्त्रको खोलवा कर दूसरा नया वस्त्र पहननेको दिया जाता था। आगे चल कर यह प्रथा लुप्त हो गई; किंतु मैला वस्त्र उतरवाने और नया वस्त्र पहनानेकी एक रिवाज चल निकली। इस तरह जिस कन्याका विवाह होगा, उसका पहलेका मैला वस्त्र उतरवा और नया वस्त्र पहना दिया जाने लगा। प्राचीन वैदिक सामाज सुसंस्कृत था सही; किंतु विवाहकी इस कुप्राचीन पद्धतिको वह छोड़ नहीं सका था। और तो क्या, हजारों वर्ष बीतने पर विविध प्रकारसे यह प्रथा आज भी कहीं कहीं विद्यमान है। (जातिकर्म)

वैदिककालमें विवाहके पहले और भी एक अद्भुत प्रथा थी। सामवेदीय मन्त्रब्राह्मणमें इस प्रथाके मन्त्र देखे जाते हैं। बादके समयमें यह 'ज्ञातिकर्म' के नामसे अभिहित हुआ। सामवेदकी वर्त्तमान विवाहपद्धतिमें इसका विधान इस तरह लिखा है—विवाह-दिन कन्याके पिताकी ज्ञाति या सुहृद् रमणियां मूंग, यव, उड़द और मसूरका चूर्ण एकत्र कर निम्नलिखित मन्त्रका पाठ करते हुए कन्याके शरीरमें लगा देती थीं। मन्त्र इस तरह हैं—

"प्रजापतिर्ऋषिः प्रस्तारपंक्तिच्छन्दः कामो देवता ज्ञातिकर्म्मणि कन्यायाः शरीरप्लावने विनियोगः। ओम् कामवेद ते नाममदनामासि समानयामुं सुरा तेऽभवत् परमत्रजन्माग्ने तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा।"

मन्त्रका अर्थ इस तरह है :—"कामदेव, तुम्हारा नाम सभी जानते हैं, तुम्हारा नाम मद है, तुमसे ही मानसिक मत्तता उत्पन्न होती है, इसीलिये उसका नाम मद है। तुम अब इसके वरको सम्यकूरूपसे आश्रय कर लो-उसको तुम अपने कब्जेमें करो। हे अग्निदेव! इस कन्यामें तुम्हारा श्रेष्ठ जन्म हुआ है। तुम तपके लिये ही विधाता द्वारा स्पष्ट हुए हो। इत्यादि।

इसके बाद कन्याके उपस्थप्लावनका विधान था; उसका मन्त्र इस तरह है—

"इमन्त उपस्थं मधुना संसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद्द्वितीयम्।
तेन पुंसोऽभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्यसि राज्ञी स्वाहा॥"

अर्थात् हे कन्ये! तुम्हारी इन आनन्देन्द्रियोंको मधुसे लेपित किया जाता है, यह प्रजापतिका दूसरा मुख है अर्थात् प्रजा उत्पत्ति द्वारा इस इन्द्रिय प्रभावसे अवश पुरुषोंको भी वशीभूत कर सकती हो। अतएव पतिवशकारिणी तुम पतिगृहकी स्वामिनी हो रही हो। इस तरह मन्त्र द्वारा कन्याका उपस्थदेश प्लावित करना होता है। उपस्थप्लावनका और एक मन्त्र यह है:—

"ॐ अग्निं क्रव्यादमकृण्वन् गुहायाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः।
पुराणास्तेनाज्यमकृण्वन् स्त्रैशृङ्गं त्वष्ट्रं त्वयितद्दधातु स्वाहा॥"

अर्थात् "गिरिगुहावासी प्राचीन ऋषियोंने [illegible]तिका आनन्देन्द्रियको आममांसभक्षक [illegible]र्य्य नहीं [illegible] और [illegible]थ देते हैं। यह विश्वकर्मा देवताकी इच्छासे उ[illegible] पुरुषेन्द्रियसे प्रादुर्भूत शुक्र (वीर्य्य) को होमीय घृत कहा था। हे कन्ये! वह घृत तुम्हारी उपस्थाग्निमें पति द्वारा संस्थापित हो।"

यह सहज ही समझमें आता है, कि इस घटनाका उद्देश्य पवित्र और महान् था। यद्यपि विवाह-पद्धतिमें इसका विधान है, फिर भी देशमें इसके अनुसार कार्य्य होता दिखाई नहीं देता। हो सकता है, कि इस विशाल भारतमें कहीं पर यह प्रथा प्रचलित हो। विवाहके दिन दूसरे पहरमें कन्याको तेल हल्दी आदिसे स्नान करानेकी प्रथा इस समय भी देखी जाती है। जातिकर्ममें भी स्नानकी पूरी व्यवस्था है, किंतु जातिकर्मकी यह मंत्रमयी प्रक्रिया इस समय इस देशमें कहीं भी दिखाई नहीं देती।

नववस्त्र-धारण।

उपस्थप्लावनके अन्तमें स्नान करानेके बाद कन्याको नये वस्त्र धारण करनेकी व्यवस्था आज भी देखी जाती है। सामवेदके मंत्रब्राह्मणमें विवाहके लिये तय्यार कन्याको नया वस्त्र धारण करानेका नियम और मंत्र लिखा है; यथा,—"या अकृणवन् नवयन, या अतन्वत याश्च देव्यो अन्तानभितो ततन्थ, तास्त्वा देव्यो जरसा संव्ययन्त्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः।"

अर्थात् जिन देवियोंने इस वस्त्रके सूत तय्यार किये हैं, जिन देवियोंने इसको बुना है, जिन देवियोंने इसको इस आकारमें फैलाया है और जिन देवियोंने इसके दोनों किनारोंका झालर तय्यार किया है; वही देवियाँ तुमको वृद्धावस्था तक उत्साहके साथ वस्त्र पहनाती रहें। हे आयुष्मति! यह वस्त्र पहनो।*

'हे वस्त्र बुननेवाली स्त्रियां! सौ वर्ष जीनेवाली इस कन्याके लिये सदा वस्त्र जुटाना और आशीर्वाद देना जिससे इसकी आयु बढ़े, हे आर्य्य-नेत्र! तुम तेजस्विनी हो कर जीओ और सब ऐश्वर्य्योंका भोग करो।"

विवाहपद्धतिमें इस समय इस मंत्रका उल्लेख नहीं है।

गवोपस्थापन।

प्राचीन समयमें हिंदुओंके विवाहमें गवोपस्थापन नामकी और एक प्रथा थी अर्थात् विवाहके समय एक गो बांधी जाती थी। यह प्रथा इस समय कार्य्यरूपमें दिखाई नहीं देती; किंतु विवाहपद्धतिमें इसका मंत्र है, वह मंत्र इस समय भी पढ़ा जाता है, इसका निर्णय करना कठिन है, कि किस समय यह प्रथा आरम्भ हुई और कब यह प्रथा विदा हो गई। यह भी मालूम नहीं होता, कि प्रथा न रहने पर भी मंत्र इस समय क्यों उसमें अनर्थक भरा पड़ा है।

सामवेदीय विवाह-पद्धतिके प्रारम्भमें ही लिखा है—"कृतस्नानः कृतवृद्धिश्राद्धः सम्प्रदाता शुभलग्न

---

* इस देशके बड़े घरानेकी स्त्रियां पहले सूत कात कर वस्त्र बुनती थीं, इस मन्त्रसे इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। वस्त्र बुनना उस समय केवल जोलाहेका ही काम न था।

समये सम्प्रदानशालायां उत्तरतः स्त्रीगवीं बद्ध्वा विष्टरादिकं सज्जीकृत्य पश्चिमाभिमुखे उपविष्टस्तिष्ठेत्।"

अर्थात् कन्यादाता दिनमें नान्दीमुखश्राद्ध कर शुभ लग्नके समय कन्या-सम्प्रदान-शालामें एक गाय बाँध रखे और विष्टर आदि सजा कर पश्चिमकी ओर मुंह कर बैठे। इसके बाद वरका वरण तथा पूजा हो जाने पर उसे भीतर घरमें भेजें जिससे स्त्रियां मङ्गलाचरण कर सकें। आपसमें मुखचन्द्रिकाकी देखा देखी होनेके बाद वर सम्प्रदानशालामें आये। इसके बाद कन्यादाता कृताञ्जलि भावसे वरको लक्ष्य कर गवोपस्थापनका निम्नलिखित मन्त्र पाठ करें—

"प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दोऽर्हणीया गौर्देवता गवोपस्थने विनियोगः। ॐ अर्हणा पुत्रवाससा धेनुरभवद् यमे सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥"

अर्थात् हे पुत्रकी तरह आदरणीय अचिरप्रसूता सवत्सा उत्तरोत्तर वर्षमें भी दूध देनेमें समर्थ (वत्स रहित वृद्धा या रोहिणी नहीं) यह गाय तुम्हारी पूजाके लिये वस्त्रके साथ खड़ी हुई है। यमदेवताके कार्यक्षेत्रमें उपस्थित होनेके लिये अर्थात् जन्मान्तर परिग्रहणके लिये प्रस्तुत है।

गुणविष्णुके भाष्यमें यद्यपि किसी किसी शब्दका अन्यरूप अर्थ दिखाई देता है, किन्तु मूल विषयमें जरा भी फर्क नहीं अर्थात् इसमें जरा भी सन्देह नहीं, कि गाय वरके प्रीतिभाजनके उद्देश्यसे वध करनेके लिये खड़ी की जाती थी। गोभिलगृह्यसूत्रमें (४।१०।३) दिखाई देता है, कि आचार्य, ऋत्विक्, स्नातक, राजा, विवाह्य वर और प्रिय अतिथियोंके आने पर उनके भोजनके लिये उनके सामने घरकी सुलक्षणा दुग्धवती सवत्सा गाय मारी जाती थी। कन्यादानके पहले ही कन्याकर्त्ता विवाह्य वरके नेत्रोंके सामने इस तरहकी सुलक्षणा गाय खड़ी कर उसकी जीभमें लोभ पैदा कर अपना शिष्टाचार दिखलाता था। यजुर्वेदीय विवाहपद्धतिमें दिखाई देता है, कि कन्यादान करनेवाला केवल मौखिक भद्रतासे ही सन्तुष्ट नहीं होता था, वरं गाय मारनेके लिये हाथमें तलवार ले कर खड़ा हो जाता था। सामवेदीय विवाहमण्डपमें वैसे भीषण दृश्यका विधान दिखाई नहीं देता। कन्यादान हो जाने पर नाई "गौगौ" ध्वनि कर दामादको गौकी बात स्मरण करा देता था; किन्तु सुशील और सुबोध बालक दामाद गम्भीर भावसे कहता था—

"मुञ्च गां वरुणपाशात् द्विषन्तं मेऽभिधेहि। तं जयेऽमुष्य, चोभयोरुत्सृज, गामत्तु तृणानि, पिबतूदकम्।"

अर्थात् हे नाई! वरुण देवताके पाससे गायको विमुक्त करो और ऐसी कल्पना करो, कि उसी पाशसे मेरे प्रति विद्वेषी व्यक्तिको बांधा जा रहा है। ऐसी कल्पना करो, कि पाशमें बंधे मेरे उस शत्रुको और यजमानके शत्रुको मार रहे हो, गायको छोड़ दो, वह तृणभक्षण करे और जल पीये। इस आदेश पर नाई गायको छोड़ देता था। उस समय सुपण्डितकी तरह दामाद कहता था—

'जो गोजाति रुद्रोंकी जननी, वसुओंकी दुहिता, आदित्योंकी बहन और अमृतरूपी सर्वोत्तम दूधकी खान है, तुम लोग ऐसी निरपराधा अवध्या गायको मत मारना।'

दामादके पण्डितजनोचित्त साधु वाक्यसे विवाहसभामें जो पशुजनित भीषण दृश्य उपस्थित नहीं होता था। हजारों वर्ष बीत प्राण ले कर वहांसे चली जाती थी। [illegible] नहीं विध

जब आचार्य ऋत्विक्, प्रिय अतिथि और विवाह्य वरकी अभ्यर्थनाके लिये अपनी गोशालाकी प्रधान गो मारनेकी असभ्य रीति प्रचलित थी, तब विवाहपद्धतिमें इस तरहका पाठ रहना स्वाभाविक ही है। किंतु जब अभ्यर्थनाकी वह दूषित रीति बिलकुल भीषण पाप होनेसे उठा दी गई है, तब इस मंत्रको विवाहपद्धतिमें रखनेकी क्या आवश्यकता है? जब विवाहमण्डपमें गाय लेआनेकी प्रथा नहीं, गाय बांधनेका नियम नहीं, तब "नापितेन गौर्गौः" क्यों भरा पड़ा है? इस तरहका प्रयोजन और निरर्थक प्राचीन प्रथाका प्रवाद-संरक्षण प्रयास ऋग्वेदमें भी दिखाई देता है। हम अबसे पहले विवाहार्थ प्रस्तुता कन्याके पहननेके निमित्त मैले विष आदि युक्त त्रिखण्ड फटे वस्त्रोंकी बातका उल्लेख कर

चुके हैं। यह प्रथा इस समय तोड़ दी गई है। किंतु सुवैदिक समाज उस बहुत प्राचीन प्रथाको छोड़ नहीं सका है। कोई भी प्रथा जब किसी भी समाजमें जड़ पकड़ लेती है, तब उसका उखाड़ फेंकना कठिन हो जाता है। विवाहकी कई प्राचीन प्रथाओंकी आलोचना करने पर यह स्पष्ट ही विदित होता है।

कन्या-दान।

हिंदू विवाहपद्धतिका प्रधान काम कन्यादान है। शास्त्रमें कन्यादानकी भूरि भूरि प्रशंसा की गई है।

शास्त्रीय वचनोंसे कन्यादानका प्रभूत महत्त्व दिखाई देता है। इन सब वचनोंमें ब्राह्म-विवाहकी प्रधानता दिखाई गई है। वरको बुला कर यथारीति उसकी पूजा कर कन्यादान करना ब्राह्मविवाहका लक्षण हैं। विवाहपद्धतिमें इस लक्षणके अनुसार ही कन्यादानका विधान लिखा है। कन्यादानका पहला अङ्ग वरार्च्चन है। कन्यादान करनेवाले पाद्यवस्त्रादि द्वारा वरकी पूजा किया करते हैं। इस समय पतिपुत्रवती नारी वरके दाहने हाथके ऊपर कन्याका दाहना हाथ रख कर मङ्गलाचारके साथ दोनोंके हाथ कुशसे बांध देती थी। इस समय भी हाथ बांधनेकी प्रथा है सही, किंतु इस देशमें पतिपुत्रवती नारी द्वारा यह कार्य्य नहीं होता। पुरोहित ही दोनों हाथोंको बांध देते हैं। यह कार्य एक सुन्दर मंत्र पढ़ कर किया जाता है—

“ओं ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च चन्द्रार्कावश्विनावुभौ।
ते भवाग्रन्थिनिलयं दधतां शाश्वतीः समाः॥”

सामवेदान्तर्गत कुथूमी शाखाके अंतर्भुक्त ब्राह्मणोंके विवाहमें ही यह वचन पठनीय हैं।

इसके बाद दोनों ओरसे गोत्राचार होता है। इसके बाद वरके प्रपितामह, पितामह, पिता और उसका नाम और दूसरी ओर कन्याके प्रपितामह, पितामह, पिता और कन्याका नाम ले कर यह कार्य किया जाता है। तीन बार नामोंका उल्लेख किया जाता है। वर स्वस्ति कह कर कन्याको ग्रहण करता है। यही कन्यादानकी विधि है।

कन्यादानकी विधि तीनों वेदमें एक तरहकी होने पर भी कार्यपद्धतिमें बहुत अलगाव है। ऋग्वेदमें भी कन्यादानके पूर्व वरकी पूजा करनेका विधान है। मधुपर्कके बाद ही ऋग्वेद विवाहपद्धतिमें कन्यादान करनेका नियम दिखाई देता है। किंतु ऋग्वेद विवाहपद्धतिका एक विशेष नियम यह है, कि कन्यादानके पूर्वक्षणमें हवनका अनुष्ठान किया जाता है। इसका सङ्कल्प यह है—

“धर्मप्रजा सम्पत्त्यर्थं पाणिग्रहणं करिष्ये॥”

यह कह कर वर सङ्कल्प कर हवनके लिये अग्निस्थापन करता है। पीछे वर कन्याका हाथ बांध कर पूर्वोक्त विधिसे कन्यादान किया जाता है।

यजुर्वेदकी विवाह-पद्धतिमें कुश द्वारा हाथ बांधनेका नियम नहीं। किन्तु दानके पूर्वक्षणमें होमाग्निसंस्थापनका विधान है। वैदिक मन्त्रमें कन्याको वस्त्र पहनानेका नियम है। इसके बाद वर-कन्यामें जब परस्पर मुख देखा देखी होती है, उस समय एक श्लोक पढ़ना पड़ता है। वह यह है—

‘ॐ समजन्तु विश्वे देवा समापो हृदयानि नौ।
सम्पातरिश्वा सन्धाता समुद्रेष्टि दधातु नौ॥”
(१० म० ८५ सू० ४७)

इसका अर्थ यह है, कि सब देवता हम दोनोंके हृदयको मिला दें, वायु धाता वाग्देवी हम दोनोंको मिला दें। इसके बाद ही वर-कन्याका गांठबन्धन होता हैं। तदनन्तर वर और कन्याकी ओरसे गोत्रोच्चार होने लगता है। कामस्तुति पढ़नेके बाद कोई ब्राह्मण वरके हाथ पर कन्याका हाथ धर कर गायत्रीका पाठ करता है। इसके बाद कुशसे दोनोंका हाथ बांध दिया जाता है। पीछे दक्षिणाका वाक्योच्चारण होता है। यह कार्य्य हो जाने पर वर-कन्याका बंधा हाथ खोल दिया जाता है। हाथ पर हाथ रख कन्यादानकी जो पद्धति है, वह बहुत ही उत्तम है। इसीको बांह धरना या ‘पाणिग्रहण’ कहते है। यही विवाहकी पहली विधि है।

सामवेदी और ऋग्वेदी विवाहपद्धतिमें हस्तबंधनके पहले ही रामस्तुति पढ़ी जाती है। इसका मंत्र यह है:—

“ॐ क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात् कामो

दाता कामः प्रतिग्राहीता कामः समुद्रमाविशत्। कामेन त्वं प्रतिगृह्णामि कामैतत्ते।"

यह कामस्तुति त्रिवेदीय विवाह-पद्धतिमें ही दिखाई देती है।

गांठ बन्धन।

कन्यादानका दूसरा कार्य गांठबंधन है। सामवेदीय विवाहमें भी वर और कन्याका गांठबंधन होता है। इसको ग्रंथिबंधन या गांठबंधन कहते हैं। यजुर्वेदीय गांठबंधनका मंत्र पहले ही लिखा जा चुका है।

पतिके प्रति नवोढ़ाका अनुराग दृढ़ करनेके लिये इन मंत्रोंका पाठ किया जाता था। इन मंत्रोंमें कन्याके प्रति उपदेश दिये गये हैं। इस उपदेशमें जिन सब ऐतिहासिक पतिव्रता सुपत्नियोंका नामोल्लेख किया गया है, उन्हीं सब पतिव्रता देवियोंका नामोच्चारण मङ्गलजनक समझा जाता था। इस तरह कन्यादानकी विधि कर पाणिग्रहण संस्कार किया जाता था।

विवाह और पाणिग्रहण।

पाणिग्रहणसंस्कार होममूलक है। वैदिक मन्त्रमें होम करके पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न होता है। पाणिग्रहण मंत्र जब तक पढ़ा नहीं जाता, तब तक विवाह सिद्ध नहीं होता। हम इस समय विवाह, उद्वाह और पाणिग्रहण शब्दको एक पर्यायके अंतर्गत मान कर व्यवहार करते हैं। वस्तुतः विवाह या उद्वाह और पाणिग्रहण एकार्थबोधक नहीं। रघुनंदनके उद्वाहतत्त्वमे लिखा है—

"भार्यात्वसम्पादकग्रहणम्-विवाहः।"

अर्थात् विष्णु आदिके वचनानुसार भार्यात्व सम्पादक ग्रहणको विवाह कहते हैं। विवाहकर्त्ताके जो ज्ञान होनेसे कन्याका पत्नीत्व निष्पन्न होता है, वह ज्ञान ही विवाह है। इसके सम्बंधमें स्मार्त्त रघुनंदनने और भी सूक्ष्म विचार कर अंतमें कहा है, कि ज्ञान विशेष ही विवाह है। किंतु भार्यात्व सम्पादक पद केवल इस ज्ञानके विशिष्ट परिचालकमात्र है। कुछ लोग कहते हैं, कि कन्यादान ही विवाह है।

मनु याज्ञवल्क्यने ब्राह्म-विवाहका जो लक्षण कहे हैं, उनमें दान ही विवाह मालूम होता है। किन्तु इस दानपदसे ही ग्रहण भी समझना चाहिये। अतएव भार्यात्व-सम्पादक ग्रहण ही विवाह है। कन्यादाता जब कन्यादान करते हैं और वर जब कन्याको भार्यारूपमें ग्रहण करता है, तभी विवाह सम्पन्न हो जाता है। किंतु तब भी जायात्व सिद्ध नहीं होता और न पाणिग्रहण ही सिद्ध होता है। हरिवंशमें त्रिशङ्कु उपाख्यानमें लिखा है—

'उस मूर्खने दूसरेकी विवाहिता भार्याको अपहरण कर पाणिग्रहणके मंत्रोंको पढ़नेमें विघ्न उपस्थित किया है।' इस वाक्यमें पाणिग्रहणके मंत्र पढ़नेके पहले अपहृता कन्याको "कृतोद्वाहा" अर्थात् विवाहिता कहा गया है। मनुका कहना है—

"पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते।
असवर्णा स्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि॥"

अर्थात् यह पाणिग्रहणसंस्कार केवल सवर्णा कन्याके लिये कहा गया है। असवर्णाके साथ विवाह हो सकता है, किन्तु उसके साथ पाणिग्रहणकी कार्यावली नहीं हो सकती।

पाणिग्रहण मन्त्र।

रत्नाकरका कहना है, कि पाणिग्रहण विवाहका अङ्गीभूत संस्कारविशेष है और पाणिग्रहणके मंत्र विवाह कर्माङ्गभूत हैं। पाणिग्रहणकी प्रथा बहुत पुरानी है। ऋग्वेदके समय भी पाणिग्रहणकी प्रथा प्रचलित थी। पाणिग्रहणके जो मंत्र सामवेदीय मंत्रब्राह्मणमें और सामवेदीय विवाह पद्धतिमें लिखे हैं, वे ऋग्वेदसे ही लिये गये हैं। वर अपने बांये हाथसे वधूका हाथ और उसकी उंगलियां दाहने हाथसे पकड़ कर निम्नलिखित मंत्र पढ़ते हैं—

(१) "ओम् गृभ्नामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धीर्मह्यं
त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥"

(१० म० ८५ सू० ३६)

अर्थात् हे कन्ये! अर्यमा भग सविता और पुरन्धीने तुम्हे गार्हस्थ्यजीवनके कार्योंका सम्पादन करनेके लिये मुझको समर्पण किया है। तुम मेरे साथ

आजीवन रह कर गार्हस्थ्य धर्मका पालन करो। मैं इसी सौभाग्यके लिये तुम्हारा पाणिग्रहण कर रहा हूं।

(२) "ओं अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि
शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसू*र्देवकामा स्योना शं
नो भव द्विपदे शं चतुस्पदे ॥"

(१० म० ८५ सू० ४४)

अर्थात् हे वधू ! अक्रोधनेत्रा और अपतिघ्नी बनो; पशुओंकी हितकारिणी, सहृदया बुद्धिमती बनो, तुम वीरप्रसविनी (और जीवित पुत्रप्रसविनी) बनो; देवकामा हो, मेरे और मेरे बन्धुओं तथा पशुओंकी कल्याणकारिणी बनो* ।

(३) "ॐ आ नः प्रजां जनयतु प्रजापति-
राजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमाविश
शंनो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥"

(ऋक् १० ८५।४३)

हे कन्ये ! प्रजापति अर्थात ब्रह्मा हम लोगोंको पुत्र पौत्रादि प्रदान करें, जीवन भर हम लोगोंको मेलसे रखें। हे वधू ! तुम उत्तम कल्याणकारिणी बन कर मेरे घरमें प्रवेश करो। मेरे आत्मीयों तथा पशुओंके प्रति मङ्गलकारिणी बनो।

(४) "ॐ इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राणां धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥"

(१०।८५।४५)

हे इन्द्र ! तुम इस वधूको पुत्रवती और सौभाग्यवती बनाओ। इसके गर्भसे दश पुत्र दो। इस तरह दश पुत्र और एक मैं कुल ग्यारह इसका रक्षक होऊं।

(५) "ॐ सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥"

(१०।८५-४६)

हे वधू ! तुम श्वशुरकी, सासकी, ननदकी और देवरादिकी निकटवर्त्तिनी बनो।

(६) "ॐ मम व्रते ते हृदयं दधातु मम चित्तमनुचित्तन्तेऽस्तु।
मम वाचा मेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियनक्तु मह्यम् ॥"

(मन्त्रब्राह्मण)

हे कन्ये ! अपना हृदय मेरे कर्ममें अर्पण करो। तुम्हारा चित्त मेरे चित्तके समान हो जाये अर्थात् हम लोगोंका हृदय एक हो। तुम अनन्यमना हो कर मेरी आज्ञाओंका पालन करो। देवताओंके गुरु बृहस्पति तुम्हारे चित्तको मेरे प्रति विशेषरूपसे नियुक्त करें।

ऋग्वेदके दशममण्डलके ८५ सूक्तकी अन्तिम ऋक् का भी ठीक ऐसा ही अर्थ होता है। यह ऋक् यजुर्वेदीय विवाहकी गांठ-बन्धन प्रक्रियामें उल्लेख हुई है।

समञ्जतु विश्वदेवा इत्यादि ४७ संख्यक ऋक् देखो।

सप्तपदी गमन।

ऋग्वेदीय और यजुर्वेदीय विवाहपद्धतिमें भी पाणिग्रहणकार्य्य और उसके लिये मन्त्र भी हैं। किन्तु सामवेदीय विवाहपद्धतिमें जितने मंत्र हैं, उतने मंत्रोंका उल्लेख नहीं है। पाणिग्रहणमंत्रका पहला मंत्र अर्थात् "गृभ्नामि ते सौभगत्वाय हस्तम्" यह मंत्र प्रत्येक वेदीय विवाह-पद्धतिमें दिखाई देता है। ऋग्वेद और यजुर्वेदके पाणिग्रहणमंत्रोंमें केवल इस मंत्रको छोड़ कर सामवेदीय पाणिग्रहणका और एक भी मन्त्र दिखाई नहीं देता। किंतु पाणिग्रहणके मंत्र पढ़नेसे भी विवाह खतम नहीं होता। सप्तपदगमनान्तर ही विवाह सिद्ध होता है।

मनुने लिखा है—पाणिग्रहणके सभी मंत्र दारत्वके अव्यभिचारी चिह्नस्वरूप हैं। विद्वानोंको समझना चाहिये, कि सात पैर चलनेमें सातवें पैरके बाद ही इन मंत्रकी निष्ठा संस्थापित हो गई। अर्थात् सात पैर चलनेके बाद ही विवाह सिद्ध हो जाता है।

लघुहारीतमें लिखा है—पाणिग्रहणकार्य्य समाप्त हो जानेसे ही जायात्व सिद्ध नहीं हो जाता; सात पैर चलनेके बाद ही जायात्व सिद्ध होता है। जाया ही वास्तवमें धर्मपत्नी है।

मनुने लिखा है—पति ही वीर्य्यरूपमें पत्नीके गर्भमें प्रवेश कर गर्भरूपमें अवस्थान करता है और फिर

---

* सामवेदीय 'मन्त्रब्राह्मण' में और विवाहपद्धतिमें यहां "जीवसूः" नामका और भी एक अतिरिक्त पद दिखाई देता है। यजुर्वेदीय विवाह-मन्त्रमें 'जीवसू' शब्द नहीं है।

जन्मग्रहण करता है। इसीलिये पत्नी जाया कही जाती है।

श्रुतिका भी यह वचन है—"आत्मा वै पुत्रनामासि" अतएव जायात्वसिद्धि ही विवाहका मुख्य अङ्ग है। सात पैर न चलने तक जायात्व सिद्ध नहीं होता।

विवाह-पद्धतिमें होमके समय सप्तपदीगमनका जो कार्य्यानुष्ठान होता है, मन्त्रोंके साथ उसका वर्णन किया गया है। वह इस तरह है—

वरके बायें सामने पश्चिमसे पूर्वकी ओर छोटे छोटे सात मण्डल अङ्कित किये जाते हैं। उन्हीं मण्डलों पर वर सात बार मन्त्र पढ़ कर वधूका पैर रखवाता है।

मन्त्र यह है—

(१) "ओं एकमिषेविष्णुत्वा नयतु।"

अर्थात् हे कन्ये! अर्थलाभके लिये विष्णु तुम्हारा एक पैर उठावें।

(२) "ओं द्वे उर्ज्जे विष्णुस्त्वा नयतु।"

धनलाभके लिये विष्णु तुम्हारा दूसरा पैर उठावें।

(३) "ओं त्रीणि व्रताय विष्णुस्त्वा नयतु।"

कर्म-यज्ञके निमित्त तुम्हारा तीसरा पैर उठावें।

(४) "ओं चत्वारिमायो भवाय विष्णुस्त्वा नयतु।"

सौख्य प्राप्तिके लिये विष्णु तुम्हारा चौथा पैर उठावें।

(५) "ओं पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु।"

पशु-प्राप्तिके लिये विष्णु तुम्हारा पांचवां पैर उठावें।

(६) "ओं षड्राय रुपेषाय विष्णुस्त्वा नयतु।"

धन-प्राप्तिके लिये विष्णु तुम्हारा छठा पैर उठावें।

(७) "ओं सप्त सप्तभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु।"

ऋत्विक् प्राप्तिके लिये विष्णु तुम्हारा सातवां पैर उठावें।

इसके बाद वर कन्याको सम्बोधन कर कहता है—"ॐ सखा सप्तपदी भव सख्यन्ते गमेयं सख्यन्ते मा योषाः सख्यन्ते मायोष्ठ्याः।"

अर्थात् हे कन्ये! तुम मेरी सहचारिणी बनो, मैं तुम्हारा सखा हुआ। इसका ध्यान रखना, कि मेरे साथ तुम्हारा जो सौख्य स्थापित हुआ, वह कोई स्त्री तोड़ न सके। सुखकारिणी स्त्रियोंके साथ तुम्हारा सख्य स्थापित हो।

यजुर्विवाहमें सप्तपदीगमनमें केवल यह अन्तिम प्रार्थना दिखाई नहीं देती। सिवा इसके सप्तपद गमनमन्त्रोंमें कोई भी पार्थक्य नहीं दिखाई पड़ता। ऋग्वेदीय विवाहमें भी उक्त प्रार्थनामन्त्र दिखाई नहीं देता। किन्तु सप्तपद गमनमन्त्रमें पार्थक्य है। यथा—

(१) "ॐ इष एकपदी भव, सा मामनुव्रता भव, पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते:सन्तु जरदष्टयः।"

(२) "ॐ ऊर्ज्जे द्विपदी भव सा मामनुव्रत भव" इत्यादि।

मंत्रमें पार्थक्य रहने पर भी जिस उद्देश्यसे सप्तपदी गमन किया जाता है, उसके मूल उद्देश्यमें कोई भी पार्थक्य नहीं है। ऋग्वेदीय सप्तपदीगमनमें भी उसी अर्थलाभ, धनलाभ आदि उद्देश्यसे ही सप्तपद गमन करनेका विधान है। किंतु इसके साथके प्रत्येक पदमें ही वधूका पतिकी अनुव्रता होनेका और पुत्रादि लाभका उपदेश है। और एक पार्थक्य है, कि ऋग्वेदीय विवाहमें सप्तपदी गमनके लिये सामवेदीय और यजुर्वेदीय प्रथाकी तरह छोटी मण्डलिका अङ्कित नहीं की जाती। सात मूठ चावल रख कर उस पर वधूका पैर क्रमशः परिचालित कर उक्त मंत्रसे सप्तपदीगमन व्यापार सम्पन्न होता है। यह कहना बाहुल्य है, कि हिंदूविवाहमें यह सप्तपदीगमन विवाहका अति मुख्य अङ्ग है। यह कार्य्य जब तक सम्पन्न नहीं होता, तब तक विवाह सिद्ध नहीं होता।

पितृगोत्रनिवृत्ति।

सप्तपदी गमनके बाद ही कन्याकी पितृगोत्रनिवृत्ति होती है और स्वामिगोत्रकी प्राप्ति होती है।

लघुहारीतमें लिखा है—सप्तपदीगमनके बाद ही पितृगोत्रसे भ्रष्ट होती है। इसके बाद उसकी सपिण्डकादि क्रिया पतिगोत्रमें की जायेगी।

वृहस्पतिका कहना है—पाणिग्रहणके समय जो मंत्र पढ़े जाते हैं, वे मंत्र पितृगोत्रको अपहरण करनेवाले हैं। इसके बादसे पतिके गोत्रका उल्लेख करके पिण्डदान आदि क्रिया करनी होगी।

गोभिलका कहना है, कि वैवाहिक मंत्र-संस्कृता स्त्री

अपने गोत्रका उल्लेख कर पतिको अभिवादन करेगी। गोभिलके इस वाक्यकी व्याख्या कर भट्टनारायणने लिखा है---सप्तपदीगमनके बाद नवोढ़ा पत्नी पतिको जब अभिवादन करेगी, तब पतिके गोत्रका उल्लेख कर अभिवादन करेगी। पतिके अभिवादनसे सामवेदीय विवाहकी परिसमाप्ति होती है।

वधूका पतिगृहमें प्रवेश ।

सामवेदीय विवाह-पद्धतिमें लिखा है---

"ततो दिनान्तरे रथारूढां वधूं कृत्वा वरः स्वगृहं नयेत् ॥"

विवाहके दिनके दूसरे दिन पति वधूको रथ पर चढ़ा कर अपने घर ले जाये।

इसका मंत्र यह है—

"ॐ प्रजापतिर्ऋषिस्त्रिष्टुपछन्दः कन्या देवता फलारोहणे विनियोगः। ॐ सुकिंशुकं शाल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रं। आ रोह सूर्य्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये कृणुष्व।" (ऋक् १०।८५.२०)

सायणके भाष्यानुसार इसका अर्थ यह है, कि 'हे सूर्ये (यहां कहो, कि हे वधू), तुम्हारे पतिके घर जानेका रथ सुन्दर पलास तथा शाल्मली (साखू) वृक्षकी लकड़ियोंका बना है। इसकी मूर्त्ति बहुत उत्तम और सुवर्णकी तरह प्रभाविशिष्ट और उत्तम रूपसे घिरी है। उसकी स्त्री बहुत सुन्दरी है, यह दोनोंका वासस्थान है। इस समय तुम पतिके घर उपयुक्त उपढ़ौकन ले जाओ।

इस ऋक्‌पाठसे मालूम होता है, कि बहुत पुराने समयसे ही इस देशमें रथका व्यवहार होता आ रहा है। वधू जिस रथ पर जाती थीं, वह रथ अच्छी तरह ढका हुआ होता था। उद्देश्य यह था, कि वधूको कोई देख नहीं ले या पथकी धूलि वधू पर न पड़ सके। पिताके घरसे पतिके घर जाते समय वधूको उपढ़ौकन ले जानेकी प्रथा बहुत दिनकी है अर्थात् ऋग्वेदकालसे चली आती है। इस समय भी यह प्रथा दिखाई देती है। ऋग्वेदके दशवें मंडलके ८५वें सूक्तमें और भी कितनी ऋक्‌में वधूके पतिगृहमें जाते समय रथ और उपढौकनका उल्लेख है।

राहमें किसी तरहका विघ्न उपस्थित न होनेके लिये भी कितने ही मन्त्र दिखाई देते हैं। जैसे—

"ॐ मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः।" (ऋक् १०।८५।३२)

गुणविष्णुके भाष्यानुसार इसका अनुवाद इस तरह है—

अर्थात् जो चोर डाकू आदि रास्तेमें पथिकोंको लूटा पाटा या बटपारी किया करते हैं, वे इस दम्पतीको देख न सकें। यह दम्पती मङ्गलजनक पथमें रथ हांक कर दुर्गम पथको पार करे, शत्रु दूर हों। इसके पहलेकी ऋक्‌का भी ऐसा ही अर्थ है। इन दो ऋक् मन्त्रों द्वारा प्राचीन कालमें पथमें चोर डाकुओं द्वारा होनेवाले उपद्रवों तथा पथकी कठिनाइयोंका परिचय मिलता है।

ऋग्वेदीय विवाह-पद्धतिमें रथारोहणका जो मन्त्र है, वह इस तरह है—

"ओं पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्रवहतां रथेन। गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्व विदथमा वदासि।"

(१० मण्डल ८५ सूक्त २६ ऋक्)

अर्थात् पूषा तुम्हारा हाथ पकड़ कर यहांसे ले जायें, अश्विद्वय रथ चला कर तुमको ले जायें, घरमें जा कर तुम गृहिणी बनो। समाजकी उच्च श्रेणीके सम्भ्रान्त लोगोंमें विवाहमें जो रीति प्रचलित थी, वैदिक मन्त्रमें उसीका आभास मिलता है।

इसके बाद जो मन्त्र पढ़ कर वधूको घरमें प्रवेश कराना होता है, वह बहुत सारगर्भ है—

"ओं इह प्रियं प्रजायेत समृध्य तामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः"। (१० मण्डल ८५ सूक्त २७ ऋक्)

इसका अर्थ यह है, कि इस स्थानमें तुम्हारे सन्तान सन्तति पैदा हों और उनमें तुम्हारी प्रीति हो। इस गृहमें रह कर तुम सावधानीसे गृह-कार्योंका सम्पादन करो। पतिके साथ अपनी देह और मनको मिला कर मरणपर्यन्त गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करो।

नई वधूको सुगृहिणीमें परिणत करनेके लिये विवाहके वैदिक मन्त्रोंमें इस तरहके बहुतेरे उपदेश दिये गये हैं। हिन्दू पत्नी दासी नहीं है, वह केवल विलासकी सामग्री नहीं, वह है सहधर्म्मिणी और सच्ची गृहिणी

बादके स्मृतिकारों तथा पौराणिकोंने स्त्रीधर्मवर्णनमें पतिव्रता पत्नियोंके लिये बहुतेरे उपदेश दिये हैं।

बधू-प्रदर्शन।

जब नई वधू घरमें जाती, तब उसके मुख दिखानेके लिये टोल पड़ोसकी स्त्रियां बुलाई जाती हैं। वे आकर वधूको देखतीं और दम्पतीको आशीर्वाद देतीं। ये सब सदाचार और शिष्टाचार अब भी विवाहपद्धति तथा सामाजिक व्यवहारमें दिखाई देते हैं। इस सम्बन्धमें वैदिक मंत्र यह है—

"ॐ सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्त्वं विपरेत न॥"

हे पड़ोसियों! आप लोग एकत्र हो कर आयें और इस नई सुमङ्गली बधूको देखें, आशीर्वाद दें और सौभाग्य प्रदान कर अपने अपने घर पधारें।

बधूका मुंह देखनेकी और आशीर्वाद देनेकी पुरानी प्रथा अब भी समाजमें प्रायः उसी तरहसे प्रचलित है, किन्तु इसके लिये बुलानेकी जरूरत नहीं होती। पड़ोसीकी वृद्धा और युवती स्त्रियां या बालिकायें स्वतः शौकसे देखनेके लिये आती हैं।

देह संस्कार।

बधूको घर लाने पर भी सात्त्विक अनुष्ठानकी निवृत्ति नहीं होती थी। इसके बाद देह-संस्कारके लिये हवन करना पड़ता था। इस प्रायश्चित्त होम द्वारा बधूके दैहिक पाप या पापजनित अमङ्गलसूचक रेखा और चिह्नादिकी अशुभजनकता दूर करनेके लिये यज्ञ किया जाता था। यह यज्ञ आज भी किया जाता है। इसका मन्त्र यह है—

(१) "ओं रेखासन्धिषु पक्ष्मस्वावर्त्तेषु च यानि ते।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम्॥"

हे वधू! तुम्हारा रेखाङ्कित ललाट हाथ आदि और चक्षुः इन्द्रिय परिरक्षक सभी पक्ष्म और नाभिकूप आदि स्थानोंमें लिपटे हुए पापों या अमङ्गल चिह्नोंको मैं इस पूर्णाहुति द्वारा प्रक्षालन कर रहा हूं।

(२) "केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत्।
तानि च पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम्॥"

मैं तुम्हारे बालोंके समीप अशुभ चिह्नों, तुम्हारे आंखोंको पाप और रोनेके पापोंको पूर्णाहुति द्वारा प्रक्षालन कर रहा हूं।

(३) "शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्।
तानि च पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम्॥"

तुम्हारे आचार व्यवहार और भाषा (बोली) या हंसीमें यदि कोई पाप लिपटा हो, तो हमारी इस पूर्णाहुतिसे नष्ट हो जाये।

(४) "आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्।
तानि च पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम्।"

तुम्हारे मसूड़ेमें, दांतों, हाथों तथा पावोंमें जो पाप लिपटे हुए हैं, उनका इस पूर्णाहुतिसे नाश हो जाये।

(५) "ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम्॥"

हे कन्ये! तुम्हारे उरुद्वय, योनि (जननेन्द्रिय), जंघे और घुटने आदि संधिस्थानोंमें सटे हुए पापोंका सर्वनाश मैंने इस पूर्णाहुतिसे कर दिया है।

इस तरह सब तरहके पापोंको दूर कर पत्नीकी देह और चित्तको विशुद्ध कर हिंदूपति उसे गृहिणी और सहधर्मिणी बना कर इन सब मंत्रोंको पढ़नेसे हिंदूविवाहका गभीरतम सूक्ष्म अभिप्राय लोगोंकी धारणामें आ सकता है।

हिन्दू विवाहका उद्देश्य।

हिंदूविवाह एक महायज्ञ है। स्वार्थ इसकी आहुति तथा निष्काम धर्मलाभ इस यज्ञका महाफल है। पवित्रतम मंत्रमय यज्ञ ही हिंदू विवाहका एकमात्र पद्धति है। यज्ञके अनलसे इस विवाहका प्रारम्भ होता है। किंतु श्मशानकी चिताग्नि भी इस विवाह बंधनको तोड़ नहीं सकती। क्योंकि शास्त्रकी आज्ञा है, कि स्वामीकी मृत्यु होनेसे साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य्य धारण कर पतिलोक पानेकी चेष्टामें दिन बितायेगी। विवाहके दिनसे ही नारियोंका ब्रह्मचर्यव्रत आरम्भ होता है। पतिके सुखमय मिलनके तीन दिन पहले भी कुसुमकोमला हिंदूबालाको ब्रह्मचर्य्य धारण करना पड़ता है। फिर यदि भाग्यदोषसे सती साध्वी स्त्री जब श्मशानके यज्ञानलमें पतिकी प्रेममयी देह डाल कर शून्य हाथ और शून्य चित्तसे श्मशान-

से गृह-श्मशानमें लौटती है, उस समय भी उसी ब्रह्मचर्यका व्यवस्था रह जाता है। अतएव हिंदूविवाहमें स्त्री-पुरुष संयोगका एक सामाजिक रीति नहीं, इन्द्रियविलासका सामाजिक विधिनिर्दिष्ट निर्दोष उपाय नहीं अथवा गार्हस्थ्यधर्मके निमित्त स्त्री-पुरुष एक सामाजिक बन्धन या Contract नहीं, यह एक कठोर यज्ञ और हिन्दू जीवनका एक महाव्रत है।

सामाजिक जीवनके यह एक महाव्रत समझ कर संसाराश्रममें विवाह अवश्य कर्त्तव्य है। इसीसे शास्त्रकारोंने एक वाक्यसे इसका विधान किया है। मिताक्षरके आचाराध्यायमें विवाहका नित्यत्व स्वीकृत हुआ है ; जैसे—"रतिपुत्रधर्मत्वेन विवाहस्त्रिविधः तत्र पुत्रार्थो द्विविधः नित्यः काम्यश्च ।"

अर्थात् रति, पुत्र और धर्म इन तीनोंके लिये ही विवाह होता है। इनमें पुत्रार्थ विवाह दो प्रकार है,—नित्य और काम्य। इसके द्वारा विवाहका नित्यत्व स्वीकृत हुआ है। गृहस्थाश्रमीके लिये पुत्रार्थ विवाह नित्य है, उसे न करनेसे प्रत्यवाय होता है। अतएव ऋषिगण सामाजिक हितसाधन और गार्हस्थ्य धर्म प्रतिपालनके लिये विवाहका अवश्यकर्त्तव्यताका विधान कर गये हैं। सब हिन्दू-शास्त्रोंमें ही विवाहके नित्यत्व प्रतिपादनके लिये बहुतेरे शास्त्रीय प्रमाण दिखाई देते हैं।

"न गृहेण गृहस्थः स्याद्भार्य्यया कथ्यते गृही ।
यत्र भार्य्या गृहं तत्र भार्य्याहीनं गृहं वनम् ॥"
(बृहत्पराशरसंहिता ४।७०)

केवल गृहवाससे तो गृहस्थ नहीं होता, भार्य्याके साथ गृहमें वास करनेसे ही गृहस्थ होता है। जहां भार्य्या है, वहां ही गृह, भार्य्याहीन गृह वन तुल्य है।

(बृहत्पराशरसंहिता ४।७०)

मत्स्यसूक्त तंत्रमें लिखा है,—

भार्याहीन व्यक्तिकी गति नहीं है, उसकी सब क्रियायें निष्फल हैं, उसे देवपूजा और महायज्ञका अधिकार नहीं। एक पहियेके रथ और एक पंखवाले पक्षीकी तरह भार्याहीन व्यक्ति सभी कार्योंमें अयोग्य है। भार्याहीन व्यक्तिको सुख नहीं मिलता और न उसका घर-द्वार ही रहता है। अतएव हे देवेशि ! सर्वशान्त होने पर भी तुम विवाह करना।

गृहिणी और सहधर्मिणी।

शास्त्रीय वचनोंके प्रमाणोंसे प्रमाणित होता है, कि हिंदुओंका विवाह-संस्कार गार्हस्थ्याश्रमका धर्मसाधनमूलक है।

स्त्रीधर्म-निरूपणमें भी स्त्रियोंके गार्हस्थ्य धर्मके प्रति दृष्टि आकृष्ट करनेके बहुतेरे प्रमाण दिये गये हैं। पति-पत्निमें प्रगाढ़ प्रेम, पतिके प्रति और पतिकी गार्हस्थ्य-कार्यावलीके प्रति पत्नी वा तन्मनता संयोग आदिके निमित्त बहुतेरे उपदेश शास्त्रमें दिखाई देते हैं।

आज कलके पाश्चमीय लोगोंमें बहुतेरोंका विश्वास है, कि भारतीय लोग अपनी पत्नियोंको दासी या लौंडी समझते हैं। आज कल स्त्रियोंके प्रति उच्चतर सम्मान हिन्दुओंमें दिखाया नहीं जाता। जो हिन्दूधर्मशास्त्रोंके मर्मज्ञ हैं, वे जानते हैं, कि हिंदू शास्त्रकारोंने नारियोंके प्रति कैसा उच्चतर सम्मान दिखाया है, सिवा इसके मनुसंहितामें स्पष्ट रूपसे स्त्रियोंके प्रति सम्मान दिखानेका उपदेश दिखाई देता है। मनु कहते हैं—

पुत्र प्रदान करती हैं, इससे ये महाभागा, पूजनीया और गृहकी शोभास्वरूपा हैं। गृहस्थोंके घरमें गृहिणी और गृहलक्ष्मीमें कुछ भी प्रभेद नहीं। ये अपत्योत्पादन करती हैं, उत्पन्न संतानका पालन करती हैं और नित्य लोकयात्राकी निदानस्वरूप हैं। ये ही गृहकार्योंकी मूलाधार हैं। अपत्योत्पादन, धर्मकार्य, शुश्रूषा, पवित्र रति, आत्मा और पितृगणके स्वर्ग आदि स्त्रीके अधीन हैं। (मनु ९वां अध्याय)

मनुने कहा है—कल्याणकामी गृहस्थ नारियोंको हर तरहसे बहुत सम्मान करे। (मनु ३।५९)

पाश्चात्य समाजतत्त्वविद् कोमटी (Comte) आदि पंडित इसकी अपेक्षा स्त्रियोंके प्रति सम्मान दिखानेका कोई उत्तम उपदेश नहीं दे सके हैं। फलतः हिंदू-गृहिणीको साक्षात् गृहलक्ष्मी और धर्मका परम साधन समझ कर आदर करनेकी शिक्षा दे गये हैं। पत्नी जिससे सुगृहिणी हो कर पतिव्रता बने, इसके लिये विवाहके दिन ही वैसे मंत्रोपदेश दिये जाते हैं।

"ध्रुवा द्यौ ध्रुवा पृथ्वी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवा सपर्व्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम् ॥"
(विवाह मन्त्र)

'हे प्रार्थ्यमान देव ! जिस तरह यह ध्रुवलोक चिरस्थायी है, यह पृथ्वी चिरस्थायिनी है, यह परिदृश्यमान सारा चराचर चिरस्थायी है, ये अचलराजि भी चिरस्थायी हैं—यह स्त्री भी पतिके घरमें उसी तरह चिरस्थायिनी बनें ।'

"इह धृतिरिह स्वधृतिरिह रतिरिह रमस्व ।
मयि धृतिर्मयि स्वधृतिर्मयि रमो मयि रमस्व ॥"

'हे बधू ! इस घरमें तुम्हारी मति स्थिर हो। इस घरमें तुम सानन्द दिन बिताओ। मुझमें तुम्हारी मतिस्थिर हो, आत्मीयोंके साथ तुम्हारा मिलन हो, मुझमें तुम्हारी आसक्ति हो, मेरे साथ तुम सानन्द दिन बिताओ ।'

प्रायः सभी स्मृति और पुराणादिमें स्त्रियोंके इसी गार्हस्थ्य और पातिव्रत्यधर्मपालनके लिये बहुतेरे उपदेश दिये गये हैं। ये सभी उपदेश वेदमें विवाह समयमें वधुओंके प्रति जो सब उपदेश दिये गये हैं, उन्हें उपदेशोंके आधार पर बादके स्मृतिकारोंने स्त्रीधर्मका वर्णन किया है। पाणिग्रहणके मंत्र ऋग्वेदके समयसे चले आते हैं। उसी पुराने समयमें भी इस देशका पाणिग्रहण कार्य्य कैसा उत्तम था, उसका प्रमाण इन मंत्रोंसे मिलता है। पाणिग्रहणके पहले मंत्रमें जो स्त्रियोंको यह उपदेश दिया जाता था जिससे उनकी गार्हस्थ्यधर्म अच्छी तरहसे प्रतिपालित और पाणिग्रहण करनेवाले व्यक्तिके संसारको सुखसौभाग्य बढावे। दूसरे मंत्रमें यह उपदेश दिया गया है, जिससे पतिके घर जा कर स्त्री अपने क्रोधकी जलाञ्जलि दे दे, जिस क्रोधदृष्टिसे पतिके प्रति या पतिके आत्मीय स्वजनोंके प्रति न देखें, वे पतिकी प्रतिकूलचारिणी न बने, जिससे वे पतिके पशु आदिकी मङ्गलकारिणी बनें, जिससे गौ भैंस आदिकी सेवापरिचर्य्यामें उनका लक्ष हो, क्योंकि ये सब पशु गृहस्थके घरके सौभाग्यवर्द्धकके कारणस्वरूप माने जाते थे अर्थात् भर्त्तार, आत्मीय स्वजन और पशुओंके प्रति नवोढ़ाका वास्तविक 'प्रेम बना रहे। तीसरे मन्त्रमें दूसरे मन्त्रकी आंशिक पुनरुक्ति ही दिखाई देती है। चौथा मंत्र गर्भाधानके विषयमें है। यह सन्तान कामनामूलक है। पांचवें मन्त्रका उद्देश्य महान् है। पहले ज़मानेमें भारतवर्षमें जो एकान्नवर्त्तिता-प्रथा प्रचलित थी और उसका उस समय बड़ा आदर होता था, यह पांचवां मन्त्र उसीका प्रमाण है। सिवा इसके पांचवें मन्त्रमें जो गूढ़ गभीर उद्देश्य है, जगत्के और किसी देशमें वैसा भाव दिखाई नहीं देता। हिन्दुओंका पाणिग्रहण आत्मसुखसम्भोगके लिये ही नहीं, वरं पारिवारिक सुखसमृद्धिका उद्देश्यमूलक है। इस मन्त्रमें उसका ज्वलन्त प्रमाण मिलता है। इससे स्वामी नवोढ़ा पत्नीको विवाहसंस्कारके समय अग्निदेव आदि देवताओंके सामने प्रसन्न गम्भीरनिनादसे कह देते थे—'प्रियतमे ! तुमको केवल अपने सुख और सेवाके लिये मैं ग्रहण नहीं कर रहा हूं। तुम मेरे पिताकी सेवा करना, मेरी माता, बहन और भाइयोंकी सेवा करना।' हिन्दूविवाहके जैसा उच्चतर लक्ष्य और किसी समाजमें दिखाई नही देता ! यों तो हिन्दुओंके प्रत्येक कार्य्यमें स्वार्थविसर्जनका पवित्रचित्र देदीप्यमान रहता है, किन्तु विवाहका वह पुण्यतम चित्र बहुत अधिक उज्ज्वल दिखाई देता है।

छठा मन्त्र पतिपत्नीके एकाग्रचित्त होनेका महामन्त्र है। जब विधाताके विधानमें दो भिन्न भिन्न हृदय एक सूत्रमें बंधता है, तब इसके तुल्य और क्या हो सकता—'मेरा जीवनव्रत तुम्हारा जीवनव्रत बने, तुम्हारा चित्त मेरे चित्तका अनुयायी हो, तुम अनन्यमना हो कर मेरे वाक्योंका प्रतिपालन करो। विश्वदेवगण हम दोनोंके हृदयको मिला दें। वायु, धाता और वाग्देवी हम लोगोंको जोड़ दें।' इत्यादि। केवल यही नहीं, इसके लिये एक और सुमन्त्र है।

"अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना ।
वध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयञ्च ते ॥"

अर्थात् 'हे वधू ! तुम्हारा मन और हृदय अन्नदान रूप मणितुल्य पाशमें तथा प्राणरूप रत्नसूत्रमें और सत्यस्वरूप गांठसे मैं बांधता हूं; हिन्दूपति विवाहके पवित्र होमानलकी साक्षी रख, देवता ब्राह्मणकी साक्षी रख अपनी सहधर्मिणी पत्नीसे कहता है—

"यदेतद्धृदय तव तदस्तु हृदयं मम ।
यदिद हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव ॥"

हे देवि ! आजसे तुम्हारा हृदय मेरा हो और मेरा हृदय तुम्हारा हो।' हिन्दू दम्पतीका बंधन उस पाश्चात्य समाजका Marriage contract नहीं है यह चिर जीवनका अविच्छेद्य दृढ़तम बन्धन है। इसका मंत्र ही प्रमाण है।

विवाहना (हिं० क्री०) ब्याहना देखो।

विवाहपटह (सं० पु०) विवाहका वाद्य, ब्याहके समयका बाजा।

विवाह-विधि (सं० स्त्री०) विवाहस्य विधिः। विवाहकी विधि, विवाहका विधान। शास्त्रोंमें विवाहकी विधि निर्दिष्ट है। तदनुसार विवाह्या या अविवाह्या कन्या स्थिर कर ज्योतिषोक्त शुभाशुभ दिन देख कर विवाहका दिन स्थिर करना चाहिये।

मनुके मतानुसार—

> "अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी।
> दशमे कन्यका प्रोक्ता अत ऊर्द्ध्वं रजस्वला ॥
> तस्मात् संवत्सरे पूर्वे दशमे कन्यका बुधैः।
> प्रदातव्या प्रयत्नेन न दोषः कालदोषजः ॥"

आठ वर्षकी कन्याका नाम गौरी और नौ वर्षकी कन्या रोहिणी कहलाती है। दश वर्षकी लड़की होनेसे उसे कन्यका कहते हैं। इसके बादसे बालिकायें रजःस्वला गिनी जाती हैं। अतएव इससे पहले ही बालिकाका विवाह कर देना चाहिये। दश वर्षसे अधिक उम्रको कन्याका विवाह करने पर कालदोषादिका विचार नहीं किया जाता। दश वर्षके बाद कन्याओंकी ऋतुकी आशङ्का कर शास्त्रकारोंने कालदोषादिमें भी विवाहकी व्यवस्था दी है।

विवाहकालातीत होनेसे दोष।

दश वर्षके भीतर ही कन्याको यत्नपूर्वक दान दे देना चाहिये। मलमास आदि कालदोष उसमें प्रतिबन्धक नहीं होते। यम-स्मृतिमें लिखा है, कि यदि कन्या बारह वर्ष तक अविवाहित अवस्थामें पिताके घरमें रह जाये, तो उसके पिता ब्रह्महत्याके पापके भागी होते हैं। ऐसे स्थानमें यह कन्या स्वयंवर ढूढ़ कर अपना विवाह कर सकती है। अङ्गिराने कहा है, कि बारह वर्षकी हो जाने पर भी कन्याका विवाह जो पिता नहीं करता, वह रजोजनित शोणित पान करता है। राजमार्त्तण्डने कहा है, कि विवाहके पूर्व कन्याके रजोदर्शन हो जाने पर पिता, बड़े भ्राता और माता तीनों नरकमें जाते हैं और उस कन्याका रजोरक्त पीते हैं। जो ब्राह्मण मदमत्त हो कर ऐसी कन्याका विवाह करता है, उसके साथ बैठ कर भोजन करना तथा उससे बोलना भी उचित नहीं। उसको वृषलीपति समझना चाहिये। इन बचनों द्वारा मालूम होता है, कि कन्याका रजस्वला हो जाने पर विवाह करनेसे पिता आदि पापके भागी होते हैं। अतः रजःप्रवृतिसे पहले ही कन्याका विवाह कर देना चाहिये।

यम—"कन्या द्वादशवर्षाणि याप्रदत्ता गृहे वसेत्।
ब्रह्महत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वरयेत् स्वयम् ॥

अङ्गिरा—प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यदा कन्या न दीयते।
तदा तस्यास्तु कन्यायाः पिता पिबति शोणितम् ॥

राजमार्तण्ड—सम्प्राप्ते द्वादशे वर्षे कन्यां जो न प्रयच्छति।
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम् ॥
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठभ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥
यस्तु तां विवहेत् कन्यां ब्राह्मणो मदमोहितः।
असम्भाष्यो ह्यपांङ्क्तेयः स ज्ञेयो वृषलीपतिः ॥

अत्रि और कश्यप कहते हैं—

> पितुर्गेहे च या कन्या रजःपश्यत्यसंस्कृता।
> भ्रूणहत्या पितु तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता ॥
> यस्तु तां वरयेत् कन्यां ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
> अश्रद्धेयमपाङ्क्तेयं तं विद्यात् वृषलीपतिम् ॥"

इन सब बचनोंसे मालूम होता है, कि ऋतुमती कन्याका विवाह पापजनक है, अतः ऋतु होनेसे पहले ही विवाह कर देना चाहिये। हां मनुसंहितामें यह बात दिखाई देती है, कि यद्यपि ऋतुमती होनेसे मरण तक क्वारी ही पिताके घर पड़ी रहे; किंतु अपात्रको कन्या न देनी चाहिये।

> "काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि।
> नचैवेनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥"

विवाहका प्रशस्त काल—स्मृतिसार नामक ग्रन्थमें

लिखा है, कि सब वर्णोंके लिये सात वर्षके उपरान्त कन्याओंका विवाहकाल प्रशस्त है और भी लिखा है, कि अयुग्म वर्षमें विवाह करनेसे कन्या दुर्भगा और युग्म वर्षमें विवाह करनेसे विधवा होती है, अतएव कन्याके गर्भान्वित युग्म वर्षमें विवाह कर देनेसे कन्यायें पतिव्रता होती हैं । जन्ममाससे तीन मासके ऊपर होनेसे अयुग्म वर्ष और भीतर होनेसे गर्भसे युग्म वर्ष होता है। वात्स्य आदि मुनियोंने ज्योतिः-शास्त्रमें जन्ममास ले कर तीन मास तक जो गर्भान्वित युग्म वर्ष होता है, उसीको कन्याओंके विवाहके लिये शुभ दिन स्थिर किया है । यह युग्म और अयुग्मकी गणना भूमिष्ठ और गर्भाधानसे करना चाहिये अर्थात् भूमिष्ठ होनेके बादसे गणनासे अयुग्म वर्ष शुद्धकाल और गर्भाधानके बादसे गणनासे युग्म वर्ष शुद्धकाल है ।

विवाहमें अकाल आदिका दोषाभाव—कन्याके दश वर्ष बीत जाने पर उसके विवाहमें अकाल आदि दोष नहीं लगता। शास्त्रमें लिखा है—गुरु शुक्रके बाल्य, वृद्ध और अस्तजनित जो अकाल आदि होते हैं, उस समय कन्याका विवाह नहीं होना चाहिये । किंतु कन्याकाल अर्थात् दश वर्ष काल बीत गया हो, तो उस कन्याके विवाहमें अकाल आदि दोष नहीं देखे जाते। पिता, पितामह, भ्राता, सकुल्य, मातामह और मातायें सभीको कन्यादान करनेका अधिकार है ।

पिताको स्वयं कन्यादान देना कर्त्तव्य है। स्वयं असमर्थ होने पर वह अपने ज्येष्ठ लड़केको आज्ञा दे, कि वह अपनी बहनका दान करे । इन दोनोंके बाद मातामह, मामा, सकुल्य और बांधव यथाक्रम कन्यादानके अधिकारी हैं। इन सबोंके अभावमें माता ही अधिकारिणी होती हैं । किंतु ये सभी प्रकृतिस्थ होने चाहिये ।

विवाहके बाद कन्या पर उसके स्वामीका पूर्ण स्वामित्व हो जाता है और पिताका स्वामित्व खतम हो जाता है, सुतरां कन्याके विवाहके बाद पतिके गोत्रानुसार उसके सब कार्य होंगे। उसकी मृत्यु हो जानेके बाद ही उसके पतिके गोत्रानुसार ही पिण्डोदकादि क्रियायें होंगी ।

"स्वगोत्राद्भ्रश्यते नारी विवाहात् सप्तमे पदे ।
पतिगोत्रेण कर्तव्या तस्याः पिण्डोदकक्रियाः ॥"

(उद्वाहतत्त्व)

विवाहादि संस्कार कार्य्य नान्दीमुखश्राद्ध करके करना होगा। विवाहके दिन प्रातःकाल आभ्युदयिक श्राद्ध कर रातको कन्यादान करना होता है । विवाहके आरम्भके बाद यदि अशौच हो जाये, तो उसमें कोई प्रतिबन्धक नहीं होता । विवाहके आरम्भ शब्दसे वृद्धिश्राद्ध समझना होगा। वृद्धिश्राद्ध करनेमें प्रवृत्त होने पर यदि सुनाई दे, कि जन्म या मरण आदि किसी तरहका अशौच हुआ है, तो यह विवाह कर डालना चाहिये। इसमें कोई दोष नहीं होता । क्योंकि शास्त्रमें लिखा है, कि व्रत, यज्ञ, विवाह, श्राद्ध, होम, अर्चना और जप इन सब कर्मोंका आरम्भ हो जानेके बाद यदि अशौच हो, तो यह अशौच आरम्भ कर्मका बाधक न होगा। किन्तु आरम्भके पहले अशौच होने पर यह व्याघातक होगा। वृद्धिश्राद्ध ही विवाहका आरम्भ समझना चाहिये ।

नान्दीमुख श्राद्धका कर्तृत्व निरूपण—विवाहादि कार्य्योंमें नान्दीमुख श्राद्ध करना चाहिये। इस विषयमें शास्त्र-विधि इस तरह है—पुत्रके प्रथम विवाहमें ही पिताको नान्दीमुख श्राद्ध करना कर्त्तव्य है। पुत्रका यदि दूसरा विवाह हो, तो पुत्र स्वयं ही श्राद्धका अधिकारी होगा, पिता नहीं । अतएव इस नान्दीमुख श्राद्धमें पिताके मातामह आदिका उल्लेख न कर उनके अपने मातामहका उल्लेख करना होगा। अर्थात् जो श्राद्ध कार्य्य करेगा, उसीके नाना अर्थात् मातामहका उल्लेख होगा। पुत्रके विवाहमें पिताके न रहने पर वह स्वयं श्राद्धका अधिकारी है। अतः उसके मातामहादिका श्राद्ध होगा। कन्याके विवाहमें पिता ही श्राद्धका अधिकारी होता है।

विवाहमें शान्तिकर्म—विवाहके भावी अनर्थ प्रतिकारके लिये सुवर्णदान और ग्रहोंकी शान्तिके लिये होम करनेकी विधि है। कारण, शास्त्रमें है, कि कोई इच्छा करे या न करे, अवश्यम्भावी घटना आप ही आप घट जाती है। इसीलिये अवश्यम्भावी शुभाशुभके विषयमें ग्रहादि दोषकी शान्तिके निमित्त विवाहके पूर्व ग्रहहोम और सुवर्ण आदि दान करने चाहिये।

विवाहमें शुभाशुभ दिन—विवाहमें ज्योतिषोक्त शुभ दिन देख उसी दिनको विवाह निर्दिष्ट करना चाहिये। अशुभ दिनको विवाह नहीं करना चाहिये।

विवाहोक्त मास—मार्गशीर्ष, माघ, फाल्गुन, वैशाख, ज्येष्ठ, इन्हीं कई महीनेमें विवाह करना चाहिये। सिवा इनके अन्य महीनेमें विवाह होने पर वह कन्या धनधान्य और भाग्यरहिता होती है। श्रावण महीनेमें विवाह होनेसे कन्यायें सन्तानहीना, भाद्रमासमें वेश्या, कार्त्तिकमें रोगिणी, पौषमासमें विधवा और बन्धुवियुक्ता तथा चैत्रमासमें विवाह करनेसे मदनोन्मादिनी होती है। इनके सिवा अन्य महीनेमें विवाह करनेसे कन्यायें पुत्रवती और समृद्धशालिनी होती हैं।

जिन निषिद्ध मासके सम्बन्धमें अभी कहा गया, उनके प्रति प्रसव ऐसा दिखाई देता है। जैसे—किसी दूसरे देशके राजा द्वारा अपना देश आक्रान्त होने पर अथवा देशमें युद्ध उपस्थित होने पर या पिता माताके प्राण संशयमें पड़नेसे कन्याके विवाहके समयसे अधिक समय बीत जानेसे विवाह विहित मास आदिकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। कन्याकी उम्र यदि इस तरहसे बढ़ गई हो जिससे कुल और धर्मके अनिष्ट होनेकी सम्भावना हो, ऐसी अवस्थामें केवल चन्द्र और लग्नका बल देख कर निषिद्ध काल आदिमें भी कन्याका विवाह कर दिया जा सकता है।

कन्याके जन्मसे दश वर्षसे पहले ही ग्रहोंकी शुद्धि, ताराशुद्धि, वर्षशुद्धि अर्थात् युग्मायुग्मका विचार, मासशुद्धि, आषाढ़ आदि निषिद्ध मासोंका परित्याग, अयनशुद्धि, दक्षिणायन परित्याग, ऋतुशुद्धि, शरत् आदि स्त्री ऋतुओंका परिहार, दिनशुद्धि, शनि और मंगलवार वर्जन, इत्यादि विषयोंका अवलोकन नहीं किया जाता। पौष और चैत्र इन दो मासोंके सिवा अन्य दश मासोंमें (यदि कोई मास मलमास हो, तो उस मासमें विवाह नहीं किया जा सकता) विवाह किया जा सकता है। यही शास्त्रका अभिप्राय है। ज्येष्ठ पुत्र और कन्याके सम्बन्धमें एक विशेषता है, कि अग्रहायणमासमें ज्येष्ठका विवाह किसी तरह नहीं हो सकता, किन्तु ज्येष्ठ मासके सम्बन्धमें कहा गया है, कि मासका प्रथम दश दिन छोड़ कर विवाह हो सकता है।

कन्याके जन्म मासमें विवाह प्रशस्त है। कन्याके जन्म मासमें विवाह होनेसे वह पुत्रवती, जन्ममाससे दूसरे मासमें विवाह करनेसे धनसमृद्धिशालिनी तथा जन्म नक्षत्रमें और जन्मराशिमें विवाह करनेसे सन्ततियुक्त होती है।

पुरुषके लिये जन्म मासमें विवाह निषिद्ध है। किन्तु इसमें प्रतिप्रसव इस तरह है—गर्गके मतसे जन्म मासके पहले आठ दिन छोड़ कर विवाह किया जा सकता है। यवनके मतसे दश दिन और वशिष्ठके मतसे केवल जन्मका दिन वाद दे कर बालकका विवाह किया जा सकता है।

विवाहके उपयुक्त वार—वृहस्पति, शुक्र, बुध और सोमवार विवाहके लिये उपयुक्त दिन हैं। इन सब शुभ दिनमें विवाह करनेसे कन्या सौभाग्यवती होती है और रवि, शनि और मङ्गलवारको विवाह करनेसे कन्या कुलटा होती है। अरक्षणी कन्याके लिये रवि, शनि और मङ्गलवारको भी विवाह करना दोषावह नहीं। क्योंकि विवाह रातको होता है। अतएव विवाहमें वारदोष नहीं होता। किन्तु जब कन्या अरक्षणीया नहीं हो, तब तो वारदोषका विचार करना ही होगा।

विवाहतिथिनिषिद्ध—अमावस्या और चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी तिथिमें और विष्टिकरणमें विवाह विशेषरूपसे निषिद्ध है। किंतु शनिवारको यदि चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी हो, तो यह विवाह विशेषरूपसे प्रशस्त है। इसके सिवा अन्य तिथियां प्रशस्त हैं। किन्तु चंद्रदग्धा, मासदग्धा आदि सब तिथियोंमें सभी काम वर्जित हैं; अतएव विवाह भी निषिद्ध समझना।

विवाहमें निषिद्ध योग—व्यतीपातयोगमें विवाह होने पर कुलोच्छेद, परिघयोगमें स्वामि-नाश, वैधृतियोगमें विधवा, अतिगण्डमें विषदाह, व्याघातयोगमें व्याधि, हर्षणयोगमें शोक, शूलयोगमे व्रणशूल, गण्डमें रोगभय, विकुम्भमें सर्पदंशन और वज्रयोगमें मरण होता है। सुतरां विवाहमें ये दश योग विशेष वर्जित हैं।

विवाहमें विहित शुभ नक्षत्र—रेवती, उत्तरफल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तर-भाद्रपद, रोहिणी, मृगशिरा, मूला,

अनुराधा, मघा, हस्ता और स्वाति ये सभी नक्षत्र विवाहके लिये शुभ हैं। किन्तु चित्रा, श्रवणा, धनिष्ठा और अश्विनी नक्षत्र आपद्‌कालमें या यजुर्वेदीय विवाहमें समझना होगा। मघा, मूला और रेवती नक्षत्रमें एक विशेषता है, कि मघा और मूला नक्षत्रका आद्य पाद और रेवती नक्षत्रका चतुर्थपाद अवश्य छोड़ देना चाहिये। कारण इस मुहूर्त्तमें विवाह करनेसे प्राणनाश होता है।

सिवा इसके यामित्रयुतवेध, यामित्रवेध, दशयोगभङ्ग और सप्तशलाकामें विवाह न करना चाहिये।

यामित्रयुतवेध—चन्द्र पापग्रहके सप्तमस्थित होनेसे यामित्रवेध और पापयुक्त होनेसे युतवेध होता है अर्थात् कर्मकालीन राशिके सातवें यदि रवि, शनि और मङ्गल हों, तो यह यामित्रवेध होता है।

युतयामित्रमें प्रतिप्रसव भी देखा जाता है—चंद्र यदि बुध राशिमें हों, अपने घरमें या पूर्ण हों अथवा मित्रगृह और शुभग्रहके गृहमें हों या शुभग्रह द्वारा देखे जाते हों, तो यामित्रवेधका दोष नहीं होता।

दशयोगभङ्ग—कर्मकालमें सूर्ययुक्त नक्षत्र और कर्मयोग्य नक्षत्र एकत्र कर यदि २७से अधिक हो, तो उनमें २७ छोड़ कर जो बाकी बचे, उनमें यदि १५, ६, ४, १, १०, १६, १८ या २० संख्या हो, तो दशयोगभङ्ग होता है। यह दशयोगभङ्ग विवाहके लिये विशेष निषिद्ध है।

सप्तशलाका—उत्तर-दक्षिण सात रेखायें और पूर्व-पश्चिम सात रेखायें खींचनी होंगी। पीछे उत्तर ओरकी प्रथम रेखासे कृत्तिकादि करके अभिजित ले कर २८ रेखायें होंगी। जिस नक्षत्रमें विवाह होगा, उसमें अथवा उस रेखाके सामनेवाले नक्षत्रमें चन्द्रके सिवा अन्य कोई भी नक्षत्र रहे, तो सप्तशलाकावेध होता है। उत्तराषाढ़ाका अन्त १५ दण्ड और श्रवणाका पहला ४ दण्ड अभिजित, अभिजितके साथ रोहिणीका, कृत्तिकाके साथ श्रवणाका और मृगशिराके साथ उत्तराषाढ़ाका वेध होता है; इत्यादि क्रमसे वेध स्थिर कर लेना चाहिये। इस सप्तशलाकामें विवाह सम्पूर्णरूपसे वर्जित है। इसमें विवाह होने पर विवाहिता स्त्री विवाहके रंगीन वस्त्रसे ही पतिके मुखमें अनल स्पर्श कराती है। अर्थात् तुरत स्वामीकी मृत्यु हो जाती है।

विवाहके लिये विहित लग्न—कन्या, तुला, मिथुन और धनुका पूर्वार्द्ध काल विवाहमें प्रशस्त है। धनुलग्नका अपरार्द्ध निन्दित है। निन्द्य लग्नका द्विपदांश अर्थात् कन्या, तुला और मिथुनका नवांश विवाहके लिये प्रशस्त है। विवाहमें जो लग्न हो, उस लग्नके सातवें, आठवें और दशवें स्थानमें यदि शुभग्रह न हो, दूसरे, तीसरे और ग्यारहवें स्थानमें चन्द्र हों और तीसरे, ग्यारहवें, छठवें और आठवें स्थानमें पापग्रह हो, शुक्र छठवें और मङ्गल आठवेंमें न हों, तो वह लग्न शुभ और प्रशस्त है। चंद्र पापमध्यगत और रवि, मङ्गल, शनि शुक्रयुत होने पर उस लग्नका परित्याग कर देना चाहिये।

लग्नके इस दोषके परिहार करनेके लिये सुतहिबुक योगका विधान है। सुतहिबुक योग होने पर लग्नके ये दोष सभी विनष्ट हो जाते हैं। जिस लग्नमें विवाह होता है, उस समय यदि लग्नमें चौथे स्थानमें, पांचवें और नवेंमें बृहस्पति या शुक्र हों, तो सुतहिबुक योग होता है। इस योगमें विवाह होने पर सभी दोष नष्ट होते और सुखवृद्धि होती है।

यदि उत्तम लग्न आदि नहीं मिले, तो शास्त्रमें गोधूलिका विधान है। किंतु विहित लग्न रहनेसे कभी भी गोधूलिमें विवाह करना न चाहिये। जिस समय पश्चिमीय दिशा जरा लाल होती है, आकाशमें दो एक तारे दिखलाई देने लगते हैं, उसी समयको 'गोधूलि-बेला' कहते हैं। विवाहमें गोधूलि तीन तरहसे निर्दिष्ट हुई हैं। जैसे—हेमन्त और शिशिरकालमें सूर्य मन्द किरण हो गोलाकृति और चक्ष गोचर होनेसे, वसन्त और ग्रीष्मकालमें अर्द्ध अस्तमित होने पर और वर्षा तथा शरत् ऋतुमें सूर्यके अस्त होने पर गोधूलि होती है। जिस समय विशुद्ध लग्न न मिले, उस समय गोधूलि शुभ और अन्यथा अशुभ समझना।

गोधूलिमें और भी एक विशेषता यह है, कि अग्रहायण और माघ महीनेमें गोधूलिमें विवाह होने पर वैधव्य, किन्तु फाल्गुन, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ महीनेमें जो विवाह होता है, वे सब शुभ हैं। शनि और बृहस्पतिवारके दिवादण्डमें गोधूलि निषिद्ध है।

इसी प्रकार प्रणालीसे दिन और लग्न स्थिर कर विवाह-कार्य करना उचित है। दुर्दिन तथा कुलग्नमें विवाह कदापि नहीं देना चाहिये।

विवाहके समय सौरमासका उल्लेख कर कन्यादान करना उचित है। क्योंकि शास्त्रमें लिखा है, कि विवाहादि संस्कार कार्योंके सङ्कल्प वाक्योंमें सौरमासका ही उल्लेख करना होगा।

उद्वाहतत्त्वमें लिखा है, कि दिनको विवाह नहीं करना चाहिये। क्योंकि दिनको विवाह करनेसे कन्यायें पुत्रवर्जिता होती हैं। दिनका दान साधारण विधि है, किन्तु विवाहमें जो दान किया जाये, वह रातको ही करनेकी विधि है।

विवाहके इस दानके सम्बन्धमें एक विशेषता है। सब जगह दानमात्रमें ही दाता पूर्वकी ओर मुंह कर दान और गृहीता उत्तरमुखी हो कर ग्रहण करते हैं, किंतु विवाहमें इसका व्यतिक्रम दिखाई देता है। व्यतिक्रम शब्दका अर्थ—दाता पश्चिममुखी हो कर कन्यादान करे और गृहीता पूर्वकी ओर मुंह कर कन्या ग्रहण करे।

दान करते समय दाता पहले वरके प्रपितामहसे वर तक नाम, गोत्र और प्रवरका उल्लेख किया जाना चाहिये। इसके बाद कन्या दान की जाये।

विवाहमें वर और कन्याके परस्पर राशि, लग्न, ग्रह और नक्षत्र आदिका एक दूसरेसे मेल है या नहीं, उसका भी अच्छी तरह विचार करके ही कन्या निरूपण करना चाहिये। इस तरहके निरूपणसे विवाह शुभप्रद होता है। अरिषड्ष्टक, मित्रषड्ष्टक, अरिद्विद्वादश, मित्रद्विद्वादश आदि देख कर राजयोटक मेलक होनेसे विवाह प्रशस्त है। इस मेलकका विषय योटक शब्दमें देखो।

विवाहके समय कन्याके भाल पर तिलक काढ़ना होता है। यह तिलक गोरोचना, गोमूत्र, सूखे गोबर, दधि और चन्दन मिला कर काढ़ना उचित है। इससे कन्या सौभाग्यवती और आरोग्य होती है। तिलक आदि द्वारा कन्याको अच्छी तरह सज्जित कर वर और वधूको सम्मुख करावे।

विवाहके दिन प्रातःकाल सम्प्रदाता षष्ठी मार्कण्डेय, आदिकी पूजा, अधिवास, वसुधारा और नान्दीमुख-श्राद्ध कर रातको विहित लग्नमें वाद्यादि नाना उत्सवोंके साथ अग्नि, ब्राह्मण और आत्मीय स्वजनके सम्मुख कन्या-सम्प्रदान करना चाहिये। सम्प्रदानके बाद कुशण्डिका और लाजहोम आदि करने होते हैं। यदि विवाहकी रात्रिको ये कार्य न हो सकें, तो विवाहके बाद जो दिन उत्तम दिखाई दे, उसी दिनको करने चाहिये।

साम, ऋक् और यजुर्वेदीय विवाह-पद्धतियां अलग अलग हैं। इनके होम आदि कार्य भी भिन्न प्रकारके हैं।

विवाहित (सं० त्रि०) कृतविवाह, जिसका विवाह हो गया हो।

विवाहिता (सं० त्रि०) जिसका पाणिग्रहण हो चुका हो, व्याही हुई।

विवाही (सं० त्रि०) १ विवाहकारी, व्याह करनेवाला। २ जिसका विवाह हो चुका हो, व्याही हुई। ३ विशेषरूपसे वहनकारी, खूब बोझ ढोनेवाला।

विवाह्य (सं० त्रि०) १ विशेषरूपसे वहन करनेके योग्य, जिसको अच्छी तरह वहन किया जा सके। २ पाणिग्रहण करने योग्य, व्याहने लायक। (पु०) ३ जामाता।

विविंश (सं० पु०) क्षुपराजाके पौत्र। विदर्भराजकन्या नन्दिनी इनकी माता थी। (मार्कण्डेयपु० १२०।१४)

विविंशति (सं० पु०) दिष्टवंशसम्भूत नृपतिविशेष। (भागवत ९।२।२४)

विवि (हिं० वि०) १ दो। २ दूसरा।

विविक्त (सं० त्रि०) वि विच-क्त। १ पवित्र। २ निर्जन, विजन। ३ पृथक् किया हुआ। ४ बिखरा हुआ। ५ त्यक्त। ६ विवेकी, ज्ञानी। ७ विवेचक, विचारनेवाला। ८ शुभ। ९ एकाग्र। (पु०) १० विष्णु। (भारत १३।१४९।४१) ११ संन्यासी, त्यागी।

विविक्तचरित (सं० त्रि०) जिसका आचरण बहुत अच्छा और पवित्र हो, शुद्धचरित्रवाला।

विविक्तता (सं० स्त्री०) विविक्तिका भाव या धर्म, विवेकिता, वैराग्य।

विविक्तत्व (सं० क्ली०) विविक्तता।

विविक्तनाम (सं० पु०) १ पुराणानुसार हिरण्यरेताके सात पुत्रोंमेंसे एक। २ इसके द्वारा शासित वर्षका नाम।

विविक्ता (सं० स्त्री०) वि-विच् क्त स्त्रियां टाप्। दुर्भगा।

विविक्ति (सं० स्त्री०) वि-विच्-क्तिन्। १ विभाग। २ विच्छेद। ३ उपयुक्त सम्मान, पार्थक्यनिर्णय।

विविक्वस् (सं० त्रि०) वि-विच् क्वसु। विवेकवान्, ज्ञानी।

विविक्षु (सं० त्रि०) शरणेच्छु, आश्रयेच्छु। (भाग०पु० ६।४।५०)

विविचार (सं० त्रि०) १ विचाररहित, विवेकशून्य। २ आचाररहित।

विविचारी (सं० पु०) १ अविवेकी, मूर्ख, बेवकूफ। २ दुश्चरित्र, दुराचारी।

विविचि (सं० त्रि०) पृथक्कृत, अलग किया हुआ।

विवित्ति (सं० स्त्री०) विशेष लाभ।

विवित्सा (सं० स्त्री०) १ आत्मतत्त्व जाननेकी इच्छा, आत्मविचार। (भाग ११।७।१७) २ जाननेकी इच्छा।

विवित्सु (सं० त्रि०) १ जाननेमें इच्छुक। (भाग० ३।८।३) (पु०) २ धृतराष्ट्रके एक पुत्रका नाम। (भारत १।११।७४)

विविदिषा (सं० स्त्री०) विवित्सा, जाननेकी इच्छा।

विविदिषु (सं० त्रि०) विवित्सु, जाननेका इच्छुक।

विविद्युत् (सं० त्रि०) १ विद्युत्हीन। २ विद्युद्विशिष्ट।

विविध (सं० त्रि०) १ बहुत प्रकारका, अनेक तरहका। (पु०) २ एकाहभेद। (शाङ्खायनश्रौतसू० १४।२८।१३)

विविन्ध्य (सं० पु०) दानवभेद। (भारत)

विवीत (सं० पु०) १ वह स्थान जो चारों ओरसे घिरा हो। २ प्रचुर तृणकाष्ठसे पूर्ण राजरक्षित भू-प्रदेश। यह स्थान ऊंट भैंस आदि द्वारा विध्वस्त होने पर राजा उनके पालकोंको दण्ड देंगे।

विवीतभर्त्तृ (सं० पु०) विवीतभूमिका स्वामी।

विवित्ता (सं० स्त्री०) वि-वृज-क्त, स्त्रियां टाप्। दुर्भगा।

विवुध (सं० पु०) १ देवता। २ पण्डित, ज्ञानी।

विवुधपुर (सं० पु०) देवताओंका देश, स्वर्ग।

विवुधप्रिया (सं० स्त्री०) एक प्रकारका वृत्त। इसके प्रत्येक चरणमें र, स, ज, भ और र गण होते हैं। 'चंचरी' 'चंचली' और 'चर्चरी' भी कहते हैं।

विवुधवन (सं० पु०) देवताओंका प्रमोद वन, नन्दनकानन।

विवुधवैद्य (सं० पु०) देवताओंके चिकित्सक, अश्विनीकुमार।

विवुधेश (सं० पु०) देवताओंका राजा, इन्द्र।

विवृत् (सं० स्त्री०) अन्न।

विवृत (सं० त्रि०) वि-वृ-क्त। १ विस्तृत, फैला हुआ। (शाकुन्तल १माङ्क) २ खुला हुआ। (पु०) ३ ऊष्म स्वरोंके उच्चारण करनेका प्रयत्न। स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत ये चार प्रयत्न हैं। इनमेंसे ऊष्मवर्ण और स्वरके प्रयोगकालमें, प्रक्रियादशामें विवृत होता है।

विवृता (सं० स्त्री०) पैत्तिक क्षुद्ररोगभेद। इसमें मुंहमें गूलरके फलके सदृश मंडलाकार फुंसियां होती हैं तथा मुंह सूज आता है। पैत्तिक विसर्पकी तरह इसकी चिकित्सा करनी होती है। (भावप्र०)

विवृताक्ष (सं० पु०) विवृते अक्षिणी यस्य। १ कुक्कुट, मुर्गा। (त्रि०) २ विस्तृत अक्षिविशिष्ट, बड़ी बड़ी आँखोंवाला।

विवृति (सं० स्त्री०) वि-वृ-क्ति। व्याख्या, टीका।

विवृतोक्ति (सं० स्त्री०) एक अलङ्कार। इसमें श्लेषसे छिपाया हुआ अर्थ कवि स्वयं अपने शब्दों द्वारा प्रकट कर देता है।

विवृत्त (सं० त्रि०) वि-वृत्-क्त। चक्रवद् चलित, चक्केकी तरह घुमा हुआ।

विवृत्ति (सं० स्त्री०) वि-वृत् क्ति। १ चक्रवद्भ्रमण, चक्रके समान घूमनेकी क्रिया। २ घूर्णन, घूमना। ३ विविध वृत्तिलाभ।

विवृद्धि (सं० स्त्री०) विशेषरूपसे वृद्धि।

विवृह (सं० पु०) आपे आप खुल जाना।

विवृहत् (सं० पु०) काश्यपके पुत्रभेद। ये ऋग्वेदके १०म मण्डलके १६३ संख्यक सूक्तद्रष्टा ऋषि हैं।

विवेक (सं० पु०) वि-विच् घञ्। १ परस्पर व्यावृत्ति अर्थात् वाद विचार द्वारा वस्तुका स्वरूपनिश्चय। वस्तुतः किसी प्रकारका कुतर्क न करके केवल परस्पर यथार्थ तर्क द्वारा प्रकृत निर्णय करनेका नाम ही विवेक है। २ प्रकृति और पुरुषकी विभिन्नताका ज्ञान। पर्याय—पृथगात्मता, विवेचन, पृथग्भाव। (मनु १।२६) ३ जल-

द्रोणी, पानी रखनेका एक प्रकारका बरतन। ४ विचार, बुद्धि, समझ। ५ मनकी वह शक्ति जिससे भले बुरेका ज्ञान होता है, भले और बुरेको पहचाननेकी शक्ति। ६ ज्ञान। ७ वैराग्य, संसारके प्रति विराग या विरक्तभाव। ८ स्नानागार, चहबच्चा। ९ भेद। १० विचारक, भले बुरेका विचार करनेवाला।

विवेकज्ञ (सं० त्रि०) विवेकं जानाति विवेक-ज्ञा-क। जिसे भले बुरे पहचाननेका ज्ञान हो।

विवेकज्ञान (सं० क्ली०) विवेकजनितं ज्ञानं विवेक एव ज्ञानं वा। तत्त्वज्ञान, सत्यज्ञान।

विवेकता (सं० स्त्री०) १ विवेकका भाव, ज्ञान। २ सत् और असत्का विचार।

विवेकदृश्वन् (सं० त्रि०) विविकं दृष्टवान् विवेक-दृश-क्वनिप्। विवेकदर्शी, तत्त्वज्ञानी, विवेकी।

विवेकवत् (सं० त्रि०) विवेकमस्यास्तीति विवेक-मतुप् मस्य वत्वम्। विवेकविशिष्ट, वैराग्ययुक्त।

विवेकवान् (सं० पु०) १ वह जिसे सत् और असत्का ज्ञान हो, अच्छे बुरेको पहचाननेवाला। २ बुद्धिमान्, अक्लमन्द।

विवेकविलास (सं० पु०) एक प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ।

विवेकानन्द—१९वीं सदीके शेष भागमें जो सब महापुरुष वङ्गदेश और बङ्गालीके शिरोमणिरूपमें प्रतिष्ठा लाभ करके पृथ्वी-पूज्य हो गये हैं, स्वामी विवेकानन्द उनमेंसे प्रधान हैं। कलकत्तेके सिमुलिया नामक स्थानमें स्वामी विवेकानन्दने १२६९ सालकी २९वीं कृष्णासप्तमी तिथि उत्तरायण-संक्रांतिके दिन (सन् १८६३ ई०की १२वीं जनवरीको) जन्मग्रहण किया था। उनके पिताका नाम था विश्वनाथदत्त। वे कलकत्ता हाईकोर्टके एटार्नी थे। विश्वनाथके तीन पुत्र थे। सबसे बड़ेका नाम नरेन्द्र, मंझलेका महेन्द्र और छोटेका नाम भूपेन्द्र था। ज्येष्ठ पुत्र नरेन्द्र ही स्वामी विवेकानन्द नामसे विख्यात हुए।

नरेन्द्र बचपनमें बड़े खिलाड़ी थे, परन्तु दुष्ट नहीं थे। बचपनमें ही स्मरण शक्तिकी अधिकता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, सरल हृदयता आदिको देख लोग विस्मित हो जाया करते थे। नरेन्द्रको यह बात मालूम नहीं थी, कि कुटिलता और स्वार्थपरता आदि किसका नाम हैं। अपने बन्धु बान्धव अथवा किसी पड़ोसीके किसी कष्टको देख कर शीघ्र ही उसको कष्टसे उबारनेका प्रयत्न करने लग जाते थे।

यद्यपि नरेन्द्र खेल तमाशा परोपकार आदि कार्यों में लगे रहते थे, तथापि इससे वे अपना काम कभी भूलते नहीं थे। बीस वर्षकी उमरमें वे एफ. ए. की परीक्षामें उत्तीर्ण हो बी० ए० में पढने लगे। इसी समय उनकी चित्तवृत्ति धर्मकी ओर आकृष्ट हुई। धर्म किसे कहते हैं और कौन धर्म सत्य है, इस बातका अन्वेषण करनेके लिये उनका हृदय व्याकुल हो उठा। हेस्टि साहब नामक एक पादड़ी थे। वे जनरल एसम्बली कालेजके अध्यापक थे। नरेन्द्र उन्हींके निकट प्रति दिन घंटों बैठ कर धर्म सम्बन्धी कथोपकथन किया करते थे। परन्तु इससे इनका संदेह दूर न हुआ। चारों ओर धार्मिकोंकी वञ्चकता देख कर वे नितान्त संशयात्मा हो गये। अन्तमें हृदयका संशय दूर कर वे साधारण ब्राह्मसमाजमें प्रविष्ट हुए। जिस समय नरेन्द्र धर्मानुसन्धानके चक्करमें पड़ कर इधर उधर भटकते फिरते थे, उसी समय रामकृष्णदेव परमहंसके उन्हें दर्शन हुआ। नरेन्द्रके एक मित्र परमहंस देवके शिष्य थे। वे ही नरेन्द्रको एक दिन दक्षिणेश्वरको कालीबाड़ीमें परमहंस देवके समीप ले गये और परिचय करा कर बोले, 'प्रभो! यह लड़का नास्तिक होता जा रहा है।'

परमहंस देव श्यामाविषयक और देहतत्त्व सम्बन्धी गीत बड़े प्रेमसे सुनते थे। कुछ देर तक कथोपकथन होनेके बाद गुरुकी आज्ञासे नरेन्द्रके मित्रने उन्हें गीत गानेके लिये कहा। नरेन्द्रका कण्ठ स्वर बड़ा ही मधुर और हृदयग्राही था। वे अपने मित्रके कहनेसे परमहंस देवके सामने गाने लगे। नरेन्द्रका गाना सुन कर परमहंस देव बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने नरेन्द्रसे कहा, 'नरेन्द्र! तुम यहां रोज आया करो।' परमहंस देवके आज्ञानुसार प्रायः ही नरेन्द्र उनके यहां आते जाते और परमहंस देवसे शङ्का समाधान करते थे। परमहंस देव जो कहते थे, नरेन्द्र उसका युक्तियोंसे खण्डन कर दिया करते थे। एक दिन परमहंस देवने नरेन्द्रसे कहा था, '[illegible]ष्यके अ[illegible] एक

तुम हमारी बातें मानते ही नहीं हो, तो फिर हमारे यहां आते क्यों हो ?' नरेन्द्रने उत्तर दिया, 'मैं आपके दर्शन करने आता हूं, न कि आपकी बातें सुनने ।'

परमहंस देवके पास आने जानेसे नरेन्द्रका संदेह कुछ कुछ दूर होने लगा। इसी समय बी० ए० परीक्षा पास करके वे कानून पढ़ने लगे। कुछ दिनोंके बाद नरेन्द्रके पिताका देहान्त हो गया। पिताकी मृत्युके बाद नरेन्द्रका स्वभाव एकदम पलट गया। वे परमहंस देवके पास जा कर बोले, 'महाराज! मुझे योग सिखाइये। मैं समाधिस्थ हो कर रहना चाहता हूं। आप मुझे उसकी शिक्षा दें।' परमहंस देवने कहा, "नरेन्द्र! इसके लिये चिन्ता क्या है? सांख्य, वेदान्त, उपनिषद् आदि धर्मग्रन्थोंको पढ़ो, आप ही सब सीख जाओगे। तुम तो बुद्धिमान् हो। तुम्हारे जैसे बुद्धिमानोंसे धर्मसमाजका बड़ा उपकार हो सकता है।" उसी दिनसे परमहंस देवके कथनानुसार नरेन्द्र धर्मग्रन्थ पढ़ने और योग सीखने लगे।

नरेन्द्रकी माता अपने पुत्रको उदास देख उनका विवाह कर देना चाहती थी, परन्तु नरेन्द्रने विवाह करनेसे बिलकुल इन्कार कर दिया। कहते हैं, कि परमहंसदेवने नरेन्द्रके विवाहकी बात सुन कर कालीजीसे कहा था, 'मा! इन उपद्रवोंको दूर करो, नरेन्द्रको बचाओ।'')

(परमहंस देवकी कृपासे नरेन्द्र महाज्ञानी संन्यासी हो गये। परमहंस देवके परलोकवासी होने पर गुरुकी आज्ञासे नरेन्द्रने अपना नाम विवेकानन्द स्वामी रखा।

परमहंस देवके शरीरत्याग करनेके बाद विवेकानन्द स्वामी हिमालयके मायावती प्रदेशमें जा कर योगसाधन करने लगे। दो वर्षके बाद तिब्बत और हिमालयके अनेक प्रदेशोंमें वे घूमे। वहांसे पुनः स्वामीजी राजपूतानेके आबू पर्वत पर आये।) वहां खेतड़ी महाराजके मन्त्री मुन्शी जगमोहनलाल स्वामीजीके किसी भक्तके साथ उनके दर्शनके लिये आये। मुन्शीजीने जा कर खेतड़ी महाराजसे स्वामीजीकी विद्या बुद्धि आदिकी प्रशंसा की। स्वामीजीकी प्रशंसा सुन कर खेतड़ीके चंचली' औरस्वामीजीका दर्शन करना चाहा। महाराजके सम्मानकी रक्षा करनेके लिये स्वयं स्वामीजी खेतड़ी पधारे। स्वामीजीसे साक्षात् होने पर महाराजने स्वामीजीसे पूछा, 'स्वामीजी! जीवन क्या है?' स्वामीजीने उत्तर दिया, 'मानव अपना स्वरूप प्रकाशित करना चाहता है और कुछ शक्तियां उसको दबानेकी चेष्टा कर रही हैं। इन प्रतिद्वन्द्वी शक्तियोंको परास्त करनेके लिये प्रयत्न करना ही जीवन है।' महाराजने स्वामीजीसे इसी प्रकार अनेक प्रश्न किये और स्वामीजीसे यथार्थ उत्तर पा कर फूले न समाये। स्वामीजीके वे कट्टर भक्त हो गये। महाराजके कोई पुत्र नहीं था। उसी समय महाराजके हृदयमें यह भाव उत्पन्न हुआ, कि यदि स्वामीजी महाराज आशीर्वाद दें, तो अवश्य ही वे पुत्रवान् होंगे। यही विचार कर स्वामीजीके जानेके समय महाराजने बड़े विनयसे कहा, 'स्वामीजी! यदि आप आशीर्वाद दें, तो मुझे एक पुत्र हो।' स्वामीजी अन्तःकरणसे आशीर्वाद दिया। इसके दो वर्ष बा स्वामीजीके आशीर्वादसे महाराजके एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ।

महाराज चाहते थे, कि स्वामीजीके आशीर्वादसे पुत्रने जन्मग्रहण किया है, इसलिये स्वामीजी ही आ कर उसका जन्मोत्सव करें। उस समय स्वामीजी मन्द्राजमें थे। मुन्शी जगमोहनलाल उनकी खोज करते करते वहीं पहुंचे और उन्होंने खेतड़ी महाराजका अभिलाष स्वामीजीसे कह सुनाया। उस समय (१८६३ ई०को अमेरिकामें एक महाधर्म सम्मेलन होनेवाला था। उस सभामें संसार-भरके धर्मके प्रतिनिधि निमन्त्रित किये गये थे, परन्तु हिन्दू धर्मका कोई प्रतिनिधि उस समयमें नहीं बुलाया गया था। उस सभाका यह उद्देश था, कि संसारके धर्मोंसे तुलना करके ईसाई धर्मकी श्रेष्ठता स्थिर की जाय। उस सभाके सभापति थे रेवरण्ड ब्यारो। ब्यारो साहबने शायद समझा था, कि हिन्दू मूर्ख होते हैं, उनको निमन्त्रण देना व्यर्थ है। इस अपमानको न सह कर कतिपय भारत सन्तानोंने स्वामी विवेकानन्दको वहां भेजना स्थिर किया।)

मुंशी जगमोहनलालके विशेष अनुरोध करने पर स्वामीजी खेतड़ी आये। खेतड़ीके महाराजने स्वामीजीका

कार किया। कुछ दिनों तक खेतड़ीमें रह कर का जानेके लिये प्रस्तुत हुए। महाराजने जानेका आवश्यक प्रबन्ध कर दिये। महाज्ञासे मुंशी जगमोहनलालजी बम्बई तक पहुंचानेके लिये गये और स्वामीजीका सब अधीन हुआ।

जा कर मुंशी जगमोहनलालने सभी साम- ध करके स्वामीजीको जहाज पर बैठा दिया। विदा करनेके लिये जो लोग जहाज पर गये थे।

वेकानन्द चिकागोकी धर्मसभामें हिन्दूधर्म न कर गये सही, परन्तु इन्हें उस सभासे ं मिला था। अमेरिकामें इनका कोई हीं था जहां जा कर स्वामी जी ठहरते, तथापि ीने अमेरिकाके लिये प्रस्थान कर दिया।)

यथ जापान होता हुआ जाहाज अमेरिकाके बन्दरमें प न्यान्य यात्रियोंके समान स्वामीजी भी जहाजसे उतर कर चिकागो शहरकी ओर चले। स्वामीजीका वेशभूषा देख कर वहांके वासियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। बड़े कौतुहलसे लोग स्वामीजीकी ओर देखने लगे और उनका परिचय पूछने लगे। स्वामीजीने भी अपने आनेका पूरा पूरा वृत्तान्त उनसे कह सुनाया। उन पूछनेवालोंमें सभी बटोही ही नहीं थे, कतिपय गण्य-मान्य व्यक्तियोंने स्वामीजीकी विद्वत्ता और गुणोंसे आकृष्ट हो कर उन्हें अपने यहां ठहराया और धर्मसभामें स्वामीजीको भी निमन्त्रण देनेके लिये उक्त सभाके सभापति ब्यारो साहबसे अनुरोध किया। पहले तो ब्यारो साहब हीला हवाला करने, लगे परन्तु पीछेसे उन लोगोंके विशेष दबाव डालने पर ब्यारो साहबने स्वामीजीको निमन्त्रण दिया।

धर्मसभामें अधिवेशनका समय उपस्थित हुआ। इङ्गलैण्ड और अमेरिकाके प्रसिद्ध पण्डित धार्मिक और धर्मयाजकोंने उस सभामें अपने धर्मकी महिमा गायी। (बङ्गालके ब्राह्मसमाजके प्रसिद्ध प्रचारक प्रताप चन्द्र मजुमदार इस सभामें निमन्त्रित हो कर गये थे। उन्होंने भी इस सभामें व्याख्यान दिया।

ब्राह्मधर्मकी वक्तृता समाप्त होते ही स्वामी विवेकानन्द व्याख्यान-मञ्च पर खड़े हुए। एक अपरिचित अज्ञात-नामा संन्यासी इस समारोहमें हिन्दूधर्मकी विशेषता बतलानेके लिये खड़ा हुआ है—यह देख कर अन्यान्य विद्वान् चकित हो गये (? दूसरोंकी बात क्या कही जाय, स्वयं प्रतापचन्द्र मजुमदार भी इससे आश्चर्यान्वित हो गये।

स्वामीजीने धीरे धीरे व्याख्यान देना प्रारम्भ किया और हिन्दूधर्मकी विशेषता लोगोंको समझा दी। उन कट्टर युवकोंकी धारणा शीघ्र ही बदल गई जो हिन्दूधर्मको वर्वर धर्म और पौत्तलिक धर्म समझे हुए थे।

स्वामीजीकी वक्तृताशक्ति, शास्त्रज्ञान, अकाट्ययुक्ति और तर्कप्रणालीको देख कर विद्वन्मण्डली और साधु-समाजको चकित होना पड़ा था। चारों ओरसे धन्य धन्यकी बौछार आने लगी। समस्त अमेरिकामें स्वामीजीकी वक्तृताको प्रशंसा होने लगी। सब लोगोंने जान लिया कि स्वामीजी सत्य सत्य ज्ञानी पुरुष हैं। अमेरिकाके सभी पत्रोंने स्वामीजीकी प्रशंसा की।)

स्वामीजीकी कीर्त्ति चारों ओर फैल गई। अमेरिकाके अन्यान्य स्थानोंसे वक्तृता देनेके लिये स्वामीजीके पास निमन्त्रण आने लगे। प्रायः दो वर्ष अमेरिकाके अनेक स्थानोंमें व्याख्यान दे कर और धर्मकी सार्वजनीनता समझा कर "हिन्दूधर्म ही आदि और सत्य है" यह बात अमेरिकावालोंके हृदयमें दृढ़रूपसे अङ्कित कर अमेरिकावासी स्त्रीपुरुषोंको ब्रह्मचर्य्य अवलम्बन द्वारा वेदान्त शिक्षा दे कर और उनको धर्म-प्रचार कार्य्यमें नियुक्त कर स्वामीजी अमेरिकासे इङ्गलैण्ड गये।

(स्वामीजीने अमेरिका जा कर पहले दो वर्ष अमेरिकावासी मैडम लुइस और मिस्टर सैण्डेस वर्गको ब्रह्मचर्य ग्रहण करा कर वेदान्तकी शिक्षा दी। इस समय वे स्वामी अभयानन्द और स्वामी कृपानन्द नाम धारण कर अमेरिका और यूरोपमें वेदान्तका प्रचार करते थे।

स्वामी विवेकानन्द अपने कतिपय यूरोपी १२ वृहत के साथ १८९६ ई०में इङ्गलैण्डसे भारतव रवाना हुए। भारत आते समय गमन। ओरसे उन्हें कोलम्बोमें आनेके लि राज्यके अन्तर्गत एक

अतएव स्वामीजीने सिंहलकी ओर प्रस्थान कर दिया।

सिंहलकी राजधानीका नाम कोलम्बो है। स्वामी विवेकानन्दजी कोलम्बो जा कर उपस्थित हुए। उस देशके बड़े बड़े विद्वान् और धनियोंने स्वामीजीका अभिवादन किया। सभी लोग स्वामीजीकी वक्तृता सुननेके लिये लालायित हो रहे थे। कोलम्बोमें वक्तृता दे कर स्वामीजी कान्दी नामक स्थानमें गये। कान्दी निवासियोंने स्वामीजीको एक अभिनन्दनपत्र दिया, स्वामीजीने भी उसका उचित उत्तर दिया। तदनन्तर वहांके दर्शनीय स्थानोंका दर्शन कर स्वामीजी दाम्बूल नामक स्थानमें पधारे। इसी प्रकार सिंहलके अनेक स्थानोंमें जा कर स्वामीजीने व्याख्यान दिया। वहांसे स्वामीजी मन्द्राज सेतुबन्ध रामेश्वर होते हुए कलकत्ते आये। कलकत्तेमें उनकी अभ्यर्थनाके लिये बड़ा सभा हुई। कलकत्तेमें कुछ दिन रह कर वे ढाका, चट्टग्राम और कामरूप गये।

सन् १९०० ई०में स्वामीजी पेरिस धर्म सभासे निमन्त्रित हो कर वहां गये। तीन महीने रह कर वहांसे जापान होते हुए स्वामीजी कलकत्ते लौट आये। इसी समयसे इनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। इस समय इनकी उमर सिर्फ ३९ वर्षका थी। इसी अल्पावस्थामें १३०९ सालकी २०वीं आषाढ़ कृष्ण चतुर्दशी तिथि साढ़े नौ बजे रातको (सन् १९०२ ई०की ४र्थी जुलाई) गङ्गाके किनारे स्वीय प्रतिष्ठित बेलूड़ मठमें स्वामीजीने नश्वर शरीरका त्याग किया।

विवेकिता (सं० स्त्री०) १ विवेकीका भाव या धर्म। २ विवेचकका कर्म।

विवेकित्व (सं० क्लो०) विवेकिता, ज्ञान।

विवेकिन् (सं० पु०) विवेकोऽस्त्यस्येति विवेक-इनि। १ विवेकयुक्त, भले बुरेका ज्ञान रखनेवाला। न्यायमतमें विवेकीका लक्षण इस प्रकार है,—

"दवदहनदह्यमानदारूदरघनघूर्णायमाणघूणसंघातव-
साथ गति जो भ्रमते जावी स विवेकीति।"

खेतड़ी महगतमें दवदहनकालीन दह्यमान काष्ठोदरस्थ प्रशं[illegible] की। पच्यमाण जीव ही (मनुष्यका जीवात्मा चंचली' औरवामोजाता है। अर्थात् दावानल प्रज्वलित हो कर जब वनके वृक्षादिको दग्ध करामीजी खेतड़ी उन वृक्ष-कोटरके कीट जिस प्रकार किराजने स्वामी- अत्यन्त यन्त्रणाके साथ कभी वृक्षके ?" स्वामीजीने नीचे जाते हैं, दूसरा कोई उपाय उन्हें सूभशित करना उसी प्रकार जीवात्मा बार बार संसारमे व चेष्टा कर दुःख भोगता है; आखिर संसारकी असिरनेके लिये सह कर जब वह कीटकी तरह अवस्थाप स्वामीजीसे तब उसे विवेकी कहते हैं।* तीसे यथार्थ

२ विचारकर्त्ता, न्यायाधीश, वह जो अ वे कट्टर भक्त का न्याय करता हो। ३ विचारवान्, बुद्धि उसी समय ५ न्यायशील। ६ भैरववंशोत्पन्न देआ, कि यदि इनकी माताका नाम केशिनी था। (कालिअवश्य ही वे ७ वैराग्यविशिष्ट, वैरागी। ोजोके जानेसे

ामीजो! यदि

विवेकी (सं० पु०) विवेकिन् देखो।

विवेक्तव्य (सं० त्रि०) वि-विच्-तव्य' स्वा वचनाके

दो

योग्य।

विवेक्तृ (सं० त्रि०) वि-विच्-[illegible] विपुतरत्न। २ विचारक।

विवेच्य (सं० त्रि०) वि-विच्-यत्। विवेच्य, विवेचनाके योग्य।

विवेचक (सं० त्रि०) वि-विच्-ण्वुल्। १ विवेचनकारी, विवेकी। २ विचारक, न्यायाधीश।

विवेचन (सं० क्ली०) वि-विच्-ल्युट्। १ विवेक, ज्ञान। २ किसी वस्तुकी भली भांति परीक्षा करना, जांचना। ३ यह देखना कि कौन-सी बात ठीक है और कौन नहीं, निर्णय। ४ व्याख्या, तर्कवितर्क। ५ अनुसन्धान। ६ परीक्षा। ७ सत् असत्का विचार। ८ मीमांसा।

विवेचना (सं० स्त्री०) विवेचन देखो।

---

* इससे मालूम होता है, कि वैसी अवस्थाको मानो विवेक तथा उस अवस्थापन्नको विवेकी कहा गया। यथार्थमें उस अवस्थाके आने पर ही विवेक या तत्त्वज्ञान होता है सो नहीं, परन्तु जीवके उस अवस्थापन्न होनेसे उसी अवस्थाके मध्य उसकी मुक्ति या आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिकी लिपसा होती है। पीछे इसके साथ साथ ही तत्त्वज्ञान उपस्थित होता है। इस कारण वही अवस्था विवेक कहलाती है।

विवेचनीय (सं० त्रि०) विवेचन करने योग्य, विचार करने लायक।

विवेचित (सं० त्रि०) १ विचारित, जिसकी विवेचना की गई हो। २ सिद्ध, निश्चित. तै किया हुआ।

विवेच्य (सं० त्रि०) विवेचनाके योग्य।

विवेदयिषु (सं० त्रि०) वि-विद-णिच-सन्-उ। विशेष रूपसे जनानेमें इच्छुक, जिसने अभीष्ट विषय बतानेकी इच्छा की हो।

विवोढ़ (सं० त्रि०) वि-वह-तृच्। १ वर, पति। २ वहनकर्त्ता, ढोनेवाला।

विव्याधिन् (सं० त्रि०) विशेषेण व्याधितुं शीलं यस्य वि-व्याध-णिनि। १ उत्तेजनकारी। २ बन्धनशील, विद्ध करनेवाला।

विव्रत (सं० त्रि०) विविध कर्मशील, नाना कार्योंमें व्यस्त।

विव्रुवत् (सं० त्रि०) वि ब्रू-शतृ। विरुद्ध वक्ता, खिलाफ बोलनेवाला।

विव्वोक (सं० पु०) स्त्रियोंकी शृङ्गारभावज क्रियाविशेष। वे अहङ्कारवशतः प्रिय वस्तुमें जो अनादर दिखलाती हैं, उसीका नाम विव्वोक है। जैसे कोई मित्र उपहासकी तौर पर अपने मित्रको आशीर्वाद देता है, "मित्र! तुम सद्‌गुणानुसरणशील हो, तुम्हें जो सर्वदा दोषी बनाती है, तुम उसीको जगत्‌के श्रेष्ठतम पदार्थ प्राण तक भी न्योछावर कर देते हो, फिर भी वह तुम्हें प्रेमकी दृष्टिसे नहीं देखती तथा जो कार्य निन्दित नहीं है अथच तुम्हारा अत्यन्त प्रिय है; ऐसा कार्य करनेमें जो तुम्हें सर्वदा बाधा डालती हैं, वह त्रैलोक्यविस्मयकर प्रकृतिशालिनी वामा तुम पर प्रसन्न हों।" यहां पर प्रस्तावित स्त्रीके गर्वातिशय सम्बन्धमें फिरसे आलोचना करना अनावश्यक है। अतएव यहां गर्वातिशयके कारण प्रिय वस्तुमें अन्यथा यथेष्ट अनादर दिखलानेके कारण स्त्रीका विव्वोकभाव प्रकट होता है।

"विव्वोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः।"

(साहित्य० ३।१२०)

विश् (सं० स्त्री०) विश्-क्विप्। १ प्रजा, जातक। (पु०) २ वैश्य, कृषि और वाणिज्यव्यवसायी जातिविशेष। ३ कन्या। ४ मनुष्य। (त्रि०) ५ व्यापक।

विश (सं० क्ली०) विश्-क। १ मृणाल, कमलकी डंठी। (रायमुकुट)

"पद्मनालं मृणालं स्यात् तथा विशमिति स्मृतम्।"

(भावप्रकाश)

२ रौप्य, चाँदी। (पु०) ३ मनुष्य, आदमी। (स्त्री०) ४ कन्या। (त्रि०) ५ प्रवेशकर्त्ता, घुसनेवाला। ६ व्यापक, फैला हुआ।

विशंवरा (सं० स्त्री०) विशं मनुयं वृणोतीति विश-वृ-अच्, स्त्रियां टाप् अभिधानात् द्वितीयाया अलुक्। पल्ली, बड़ा ग्राम।

विशकण्ठा (सं० स्त्री०) विशं मृणालमिव कण्ठो यस्याः। बलाका, बगला।

विशङ्क (सं० त्रि०) विगता शङ्का यस्य। शङ्कारहित, जिसे किसी प्रकारकी शंका या भय न हो।

विशङ्कट (सं० त्रि०) वि-शङ्क-टच् (पा ५।२।२८) १ विशाल, बहुत बड़ा या विस्तृत। २ भयानक, डरावना।

विशङ्कनीय (सं० त्रि०) जिसे किसी प्रकारकी शङ्का हो, डरने लायक।

विशङ्कमान (सं० त्रि०) वि-शङ्क-शानच्। आशङ्काकारी, शंका या भय करनेवाला।

विशङ्का (सं० स्त्री०) १ आशङ्का, भय। २ शङ्काका अभाव। ३ अविश्वास।

विशङ्की (सं० त्रि०) जिसे किसी प्रकारकी आशङ्का या भय हो।

विशङ्क्य (सं० त्रि०) १ आशङ्काके योग्य। २ अविश्वास्य। ३ निर्भयके योग्य।

विशद (सं० त्रि०) वि-शद-अच्। १ विमल, स्वच्छ। २ स्पष्ट, साफ। ३ व्यक्त, जो दिखाई पड़ता हो। ४ शुभ्र, सफेद। ५ विविक्तावयव। ६ प्रसन्न, खुश। ७ अनुकूल। ८ सुंदर, मनोहर। ९ उज्ज्वल। (पु०) १० श्वेतवर्ण, सफेद रंग। ११ भागवतके अनुसार जयद्रथके एक पुत्रका नाम। १२ कसीस। १३ बृहती, बड़ी कटाई।

विशन (सं० क्ली०) प्रवेशन, आगमन।

विशनगर—बम्बई प्रदेशके बड़ौदा राज्यके अन्तर्गत एक

महकमा तथा उस महकमेका प्रधान नगर। विशनगर विशलनगरका अपभ्रंश है। स्थानीय इतिहासके अनुसार विशलदेव नामक एक चौहान राजपूत यहां १०४६ ई०में राज्य करते थे। किसीका कहना है, कि इस नामसे बघेल वंशीय एक राजाने १२४३से १२६१ ई० तक राज्य किया। पहले यहां विशनगर नामक नागर ब्राह्मणकी एक श्रेणी रहती थी। उन्होंके नामानुसार इस महकमेका नामकरण हुआ होगा। इस श्रेणीके ब्राह्मण अधिकांश श्रीनारायण स्वामीके मतावलम्बी हैं। विशनगर शहरमें प्रायः २३ हजार लोगोंका बास है।

विशफ (सं० त्रि०) शफरहित, विना खुरका।

"कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथ्वीमाता।"

(अथर्व ३।८०।१)

विशब्द (सं० त्रि०) १ निःशब्द, शब्दरहित। २ शब्दविशिष्ट।

विशब्दन (सं० क्ली०) शब्दका उच्चारण।

विशम्प (सं० त्रि०) १ लोगोंसे रक्षित। (पु०) २ लोकभेद। यह पाणिनिके अश्वादिगणमें लिया गया है। वैशम्पायन देखो।

विशय (सं० पु०) वि-शी-अच्। १ संशय, संदेह। २ आश्रय, सहारा।

विशयवत् (सं० त्रि०) १ संशययुक्त। २ आश्रयविशिष्ट।

विशयी (सं० त्रि०) विशयोऽस्त्यस्येति इनि। संशयी, संशययुक्त।

विशर (सं० पु०) वि-शॄ-हिंसायां अप्। १ बध, मार डालना। २ शरीर-विशरण। (त्रि०) ३ शररहित। ४ शरयुक्त। ५ विशीर्ण।

विशरण (सं० क्ली०) १ मारण, मार डालना। २ पातन, गिराना।

विशरद (सं० त्रि०) विशारद।

विशरारु (सं० त्रि०) विस्मर।

विशरीक (सं० त्रि०) पातनशील, गिरानेवाला।

विशर्द्धन (सं० क्ली०) गुह्यदेशमें कुत्सित शब्द, वायुत्याग, पादना।

विशलगढ़—१ बम्बई प्रदेशकी कोल्हापुर पोलिटिकल एजेन्सीके अधीन एक छोटा सामन्तराज्य। इस राज्यका केंद्र अक्षा० १६° ५२´ उ० और देशा० ७३° ५०´ पू०के मध्य अवस्थित है। इसका भूपरिमाण २३५ वर्गमील है। जनसंख्या प्रायः ३५ हजार है। यह सह्याद्रि शैलमालाके पूर्व ढालू अंशमें अवस्थित है। इस राज्यके उत्पन्न द्रव्योंमें थोड़ी जलानेकी लकड़ी और गृहकार्य्यमें आनेवाली कड़ी लकड़ी प्रस्तुत होती है। यहांके सामन्तकी उपाधि प्रतिनिधि है। वे कोल्हापुरके राजाको ५६८०) रुपया सालाना कर दिया करते हैं। वर्त्तमान सामन्तके पूर्वपुरुष—परशुराम त्रिम्बक विशलगढ़के दुर्गाध्यक्ष थे। छत्रपति शिवाजीके कनिष्ठ पुत्र १म राजारामने १६९७ ई०में परशुरामको महाराष्ट्र राज्यके सर्वोच्च प्रतिनिधि (Viceroy) पद प्रदान किया। सतारा और कोल्हापुरवासी शिवाजीके वंशधरोंमें राजपदके लिये (१७००-१७३१ ई०) जब झगड़ा हुआ, तब परशुरामने सताराके पक्षमें और उनके पुत्रने कोल्हापुरके पक्षमें योगदान किया। पिता और पुत्र विभिन्न दलके प्रतिनिधित्व कर रहे थे। प्रतिनिधिके वंशधर भगवन्तराव आवाजीके साथ वृटिश-सरकारका साक्षात् सम्बन्ध हुआ। सन् १८१६ ई०में उनकी मृत्यु हुई। इसके बाद क्रमान्वयसे तीन दत्तक राज्याधिकारी बने। अन्तिम सामन्तने सन् १८७१ ई०में एक शिशु रख कर इहलोक परित्याग किया। इस शिशुका नाम आवाजी कृष्णपंथ प्रतिनिधि था। पोलिटिकल एजेण्टके तत्त्वावधानमें इन्होंने अच्छी तरह सुशिक्षित हो कर यथासमय राज्यभार ग्रहण किया। इस प्रतिनिधिवंशमें ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकार पाता है। राज्यभरमें इस समय छः विद्यालय हैं। इस राज्यकी मालकापुरमें राजधानी है।

२ उक्त राज्यके अंतर्गत एक प्राचीन नगर और गिरिदुर्ग। यह अक्षा० १६° ५४´ उ० और देशा० ७३° ४७´ पू०के मध्य अवस्थित है।

विशल्य (सं० त्रि०) विगतं शल्यं यस्मात्। १ शल्यरहित। २ शेलहीन। ३ शेलव्यथाशून्य। ४ यातनाशून्य। ५ चिन्ताशून्य।

विशल्यकरण (सं० त्रि०) १ जिससे शेल या शल्य निकलता हो। (क्ली०) २ शल्यरहित।

विशल्यकरणी (सं० त्रि०) विशल्यः क्रियते अनयेति, विशल्य-कृ-ल्युट्-ङीप् । औषधिविशेष, निर्विषी । रामायणमें लिखा है, कि गन्धमादन पर्वतके दक्षिण शिखर पर यह उत्पन्न हुई । यह महौषधि जीवकी जीवनीशक्ति बढ़ाती है, टूटे अंगको जोड़ती है तथा सवर्णीकरण अर्थात् घाव आदिके सूखने पर वह स्थान जो बदरंग हो जाता है उसे नाश करती है । इसके विशल्यकरणी नामका तात्पर्य यह है, कि शल्य वा अङ्गप्रत्यङ्गमें विद्ध अस्त्र, शस्त्र, लौह और लोष्ट्र या पाषाणादिका उद्धार करनेकी इसमें अद्भुत शक्ति है । इन्हीं सब कारणोंसे शक्तिशेलविद्ध मुमूर्षु लक्ष्मणके शरीरसे शल्य निकालने, जीवनीशक्ति बढ़ाने तथा क्षत-सन्धानके लिये श्रीरामचन्द्रने महावीर हनुमान्को उक्त पर्वतमें औषध लाने भेजा था । हनुमानको लाई हुई उस औषधसे ही लक्ष्मणके मूर्च्छापनोदन, शल्योद्धरण, जीवनीशक्ति वृद्धि तथा क्षतस्थान-सन्धान हुआ था ।

"दक्षिणे शिखरे जातां महौषधिमिहानय ।
विशल्यकरणीं नाम्ना सावर्ण्यकरणीं तथा ।
सञ्जीवकरणीं वीर सन्धानीञ्च महौषधीम् ।"

(रामायण ६।१०२) निर्विषी देखो ।

विशल्यकृत् (सं० त्रि०) १ विशल्यकारी । (पु०) २ पलासी लता । ३ निशालीवृक्ष, आस्फोता या हरपरवाली नामकी लता । पर्याय—अक्षोड़क, सुकलक, भूपलाश, आस्केति, आचरत्प्रिय ।

विशल्या (सं० स्त्री०) १ गुड़ूची, गुरुच । २ अग्निशिखावृक्ष । ३ दन्तीवृक्ष । ४ नागदन्ती । ५ रामदन्तीवृक्ष, एक प्रकारकी तुलसी । ६ ईषलाङ्गला । ७ वनयमानी । ८ त्रिकङ्कन । ९ जुयाताशाक । १० निसोथ । ११ पाटला । १२ त्रिपुरा, खेसारी । १३ नदीविशेष । १४ लक्ष्मणकी स्त्री ।

विशस (सं० पु०) १ बध, हत्या, मार डालना । २ खड्ग ।

विशसन (सं० क्ली०) शस-हिंसायां वि-शस ल्युट् । १ मारण, मार डालना । २ नरकविशेष । ३ खड्ग । (त्रि०) ४ विनाशकारी, हत्या करनेवाला ।

विशसित (सं० त्रि०) वि-शस-क्त । मारित, जो मार डाला गया हो ।

विशसितृ (सं० त्रि०) वि-शस-तृच् । मारक, विनाशक, हत्यारा ।

विशस्त (सं० त्रि०) १ मारित, जो मार डाला गया हो । २ कर्त्तित, काटा हुआ । ३ सुसभ्य । ४ अभीत, जिसे किसी प्रकारका भय न हो । ५ अविनीत, धृष्ट ।

विशस्ति (सं० स्त्री०) विशस-क्तिन् । बध, हत्या ।

विशस्ता (सं० त्रि०) विशस्तृ देखो ।

विशस्तृ (सं० त्रि०) वि शस-तृच् (अनिट्) । १ हिंसाकारक, मार डालनेवाला । (पु०) २ चण्डाल ।

(संक्षिप्तसार)

विशस्त्र (सं० त्रि०) शस्त्ररहित, अस्त्रशून्य ।

विशस्पति (सं० पु०) राजा ।

विशांपति (सं० पु०) विशां मनुष्याणां पतिः, षष्ठ्या अलुक् । नरपति, राजा । "संवेशाय विशाम्पतिं ।" (रघु)

विशाकर (सं० पु०) विशाकराज देखो ।

विशाकराज (सं० पु०) विशाकः विगतशाकः सन् राजते विशाक राज-ड, शाकशून्यत्वात् तथात्वम् । १ भद्रचूड़, लंकासीज । इसमें शाक अर्थात् पत्रादि न रहनेके कारण ऐसा नाम पड़ा है । २ हस्वदन्ती । ३ हाथीशुंडी । ४ पाढर या पाटलाका वृक्ष ।

विशाख (सं० पु०) १ कार्त्तिकेय । २ धनुष चलानेके समय एक पैर आगे और एक उससे कुछ पीछे रखना । ३ याचक, मांगनेवाला । ४ पुनर्नवा, गदहपूरना । ५ सुश्रुतके अनुसार वह अपस्मार रोग जो स्कन्द नामक ग्रहके प्रकोपसे हो । ६ पुराणानुसार एक देवता । इनका जन्म कार्त्तिकेयके वज्र चलानेसे हुआ था । उस समय ये कुण्डलधारी सुवर्णवर्णसन्निभ शक्तिधर युवा पुरुष थे । वज्रप्रहारसे उत्पन्न होनेके कारण इनका विशाख नाम पड़ा ।

७ स्कन्द या कार्त्तिकका छोटा भाई । (भारत आदि० ६६ अ०) ८ शिव । (भारत आदि० १७ अ०) (त्रि०) ९ शाखाविहीन, जिसमें शाखायें न हों ।

(हरिवंश ४८।५२)

विशाखग्रह (सं० पु०) बिल्व-वृक्ष, बेलका पेड़ ।

विशाखज (सं० पु०) नागरङ्ग वृक्ष, नारङ्गीका पेड़ ।

विशाखायां जातः। (त्रि०) २ विशाखजात, जो विशाखा नक्षत्रमें उत्पन्न हुआ हो।

विशाखदत्त (सं० पु०) प्रसिद्ध मुद्राराक्षसके रचयिता। इनके पिताका नाम पृथु और पितामहका नाम वटेश्वर दत्त था। सदुक्तिकर्णामृतमें इनकी कविता उद्धृत हुई है। १०वीं शताब्दीमें ये विद्यमान थे।

विशाखदेव (सं० पु०) ११वीं सदीके पूर्ववर्त्ती एक प्राचीन संस्कृत कवि।

विशाखपत्तन—मन्द्राज प्रेसिडेन्सीके अन्तर्गत एक जिला। यह अक्षा० १७°१५′ से २०° ७′ उ० तथा देशा० ८१° २४′ से ६४°३′ पू०के मध्य अवस्थित है। जनसंख्या प्रायः ३० लाख और भू-परिमाण १७२२२ वर्गमील है। भू विस्तृति और जनसंख्याके आधिक्यमें यह जिला मन्द्राज प्रेसिडेन्सीमें प्रधान गिना जाता है। विशाखपत्तन, उत्तर गञ्जाम जिला, पूर्व बङ्गोपसागर, दक्षिण बङ्गोपसागर और पश्चिम मध्यप्रदेश द्वारा घिरा हुआ है। यह जिला चौदह जमीन्दारियां, ३७ भूसम्पत्ति और तीन सरकारी तालुकके समष्टिसमवायसे गठित हुआ है। इस जिलेमें १२ शहर और १२०३२ ग्राम लगते हैं। विशाखपत्तन मन्द्राजके उत्तर सामुद्रिक प्रदेशका एकांश है। इतिहासमें यह उत्तर सरकारके नामसे प्रसिद्ध है। यह स्थान अत्यन्त पर्वत-संकुल और स्मरणीय है; किन्तु बहुत ही अस्वास्थ्यकर है। पूर्वघाट नामकी शैलश्रेणीका एक अंश इस नगरको विभाग कर वक्रभावसे इसके उत्तर पूर्वांश से दक्षिण-पश्चिमांश तक फैला हुआ है। विभक्त भूमिका एकांश पर्वतमय और दूसरा अंश सु-समतल है। शैलश्रेणीका सर्वोच्च श्रृङ्ग प्रायः ५००० फीट ऊंचा है। पर्वतके ढालुए अंशमें तरह तरहके पौधे और बड़े बड़े वृक्ष उत्पन्न होते रहते हैं। उपत्यका भूमिमें बहुतेरे सुन्दर बांस दिखाई देते हैं। कितने ही जलप्रवाह नालाकी तरह परिभ्रमण कर वङ्गोपसागरमें मिल गये हैं और कई जलप्रवाह शाखा नदीके रूपसे गोदावरी और महानदीका कलेवर पुष्ट कर रहे हैं।

पूर्वघाट शैलश्रेणीके पश्चिमांशमें जयपुर-जमीन्दारीका अधिकांश विस्तृत है। यह साधारणतः पर्वत संकुल और जङ्गलमय है। इस जिलेके उत्तर और उत्तर पश्चिमांशमें कन्ध और शवर जातिकी वस्ती है। उत्तर प्रांतमें नीलगिरि पर्वतश्रेणी अवस्थित है। नीलगिरिसे दक्षिण-पूर्वांशमें जो स्रोतस्वती प्रवाहित होती है, उसीने श्रीकाकोल और कलिङ्गपत्तन नामक स्थानोंमें नदीका आकार धारण किया है।

विमलीपत्तन और कलिङ्गपत्तन नगर व्यवसाय-वाणिज्यमें क्रमशः उन्नत हो रहे हैं। समुद्रके तीरस्थित समतलभूमि अधिकांश ही पर्वतमय है। समुद्रकी प्रान्त भूमि और विशाखपत्तन बन्दरका प्रवेशपथ बड़ा ही रमणीय है। यहां सरकारके कई वनविभाग हैं। सिवा इसके अन्यान्य स्थान जमींदारी सम्पत्ति है। जयपुर राज्यके अधिकांश स्थलमें जङ्गल है। पालकुण्डा वनमें और गोलकुण्डा तालुकके वनविभागमें बहुतेरे बाँस और वृक्ष देखे जाते हैं। सर्वसिद्धि तालुकमें बहुत जमीन परती पड़ी हुई है। पार्वतीपुर इलाकेमें बहुतेरे शालवृक्ष मिलते हैं। विजगापट्टम् और विजयनगरम् शब्दोंमें विस्तृत विवरण द्रष्टव्य।

विशाखपत्तन शहरके बाहर स्वास्थ्यकर स्थानविशेषमें जेलखाना स्थापित है। इस जेलमें १७२ आदमी रह सकते हैं। जो कैदी अधिक दिनके लिये सजा पाते हैं, वे राजमहेन्द्रीके सदर जेलमें रखे जाते हैं। पहाड़ी जातियोंके लिये पार्वतीपुरमें एक नया जेलखाना बना है। इसमें १००से अधिक कैदी नहीं रखे जा सकते। कैदीकी अवस्थामें इस जातिकी मृत्यु-संख्या अत्यधिक बढ़ जाती है।

कई वर्ष पहले विशाखपत्तनमें शिक्षाका नामोनिशां भी न था। विजयनगरम् नगरमें महाराजके द्वारा प्रतिष्ठित एक पहली श्रेणीका कालेज है। यहां बी, ए, तककी पढ़ाई होती है। विशाखपत्तनमें एक अर्द्ध-सरकारी दूसरे दर्जेका कालेज है। सिवा इसके यहां और भी तीन ऊंचे अङ्गरेजी, ११ मध्य अङ्गरेजी और ८१२ प्राइमरी स्कूल हैं। विशाखपत्तन, पालकुण्डा और इलामञ्चिली नामके तीन स्थानोंमें एक एक नार्मल स्कूल हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थानोंमें ६ बालिका-विद्यालय और विशाखपत्तनमें कई युवकों द्वारा स्थापित और परिपोषित कृषक सन्तानोंके लिये एक अवैतनिक

रात्रि-पाठशाला भी है। धीरे धीरे यहांके बालक और बालिकायें शिक्षामें उन्नत हो रही हैं। यह बात मनुष्य-गणनासे स्पष्ट है।

विशाखपत्तन नगर, विमलीपत्तन, विजयनगरम् और अनाकपल्ली जिलेमें चार अर्थात् एक म्युनिसपल-कार्य्यालय है। विशाखपत्तन शहरके उपकण्ठमें प्रसिद्ध वाल्टियर (वेलतरु) नामक स्थान है। यह स्थान प्रधानतः श्वेताङ्गोंके अधिकारमें है। इस स्थानकी चौड़ाई तीन मील है। इस स्थानका जलवायु बहुत ही अच्छा है। विशाखपत्तन नगरमें म्युनिसपलिटीका एक बहुत बड़ा आफिस है। इसके अधीन एक पुस्तकागार, पाठागार और स्थानीय समितिका कार्य्यालय भी प्रतिष्ठित है। यहां एक बड़ा अस्पताल और डाक्तरखाना है। इसकी उन्नतिके लिये विजयनगरम्के महाराजकी ओरसे बहुत अर्थ-व्यय किया जाता है। अस्पतालके निकट ही एक अनाथाश्रम और इसके समीप ही सरकारी पागलोंकी गारद है। व्यवसाय वाणिज्यमें विमलीपत्तन विशेष विख्यात है। यहां अङ्गरेज और फ्रान्सीसियोंके कई कारखाने हैं और कलकत्तेसे ब्रह्मदेश तक जो ष्टीमर दौड़ता रहता है, उसका एक स्टेशन है। विमलीपत्तनमें एक अस्पताल, एक गिरजा, एक विद्यालय और एक पाठागार है और इनके सिवा विजयनगरम् जिलाकी देशीय पैदल सेनाओंके रहनेके लिये एक गढ़ है।

जलवायु—स्थानकी विभिन्नताके अनुसार सर्वत्र एक तरहका स्वास्थ्य नहीं। समुद्रके किनारेके स्थानोंका स्वास्थ्य साधारणतः मृदुमधुर और ग्लानिहारक है। कुछ दूर ग्रामके भीतर जाने पर बहुत गर्म मालूम होने लगता है। पूर्वघाट पर्वतमालाके निकटके स्थान बहुत ही ठंढे हैं और मलेरिया-प्रधान हैं। शहरमें लेरिया ज्वरका प्रादुर्भाव अधिक है। पहाड़ी देशोंमें जङ्गली ज्वर या आवरामपित्त ज्वरका प्रकोप त्यधिक है। इसके सिवा हैजा और चेचकका भी ी कभी प्रादुर्भाव होता रहता है। समतल, विशेषतः खेत स्थानोंमें वेरिवरि नामक एक प्रकारका रोग ता है। उसके निकटके प्रदेशमें श्वेतरोग, फीलर गलगण्डका प्रभाव भी कम नहीं। जो हो, विशाखपत्तनका स्वास्थ्य उत्कृष्ट है।

२ मन्द्राज प्रेसिडेन्सीके अन्तर्गत विशाखपत्तन महकमेका एक ताल्लुक। भूपरिमाण १४२ वर्गमील है।

३ मन्द्राज प्रेसिडेन्सीके अधीन विशाखपत्तन जिलेका प्रधान शहर। यह अक्षा० १७° ४१′ ५०″ उ० तथा देश० ८३° २०′ १०″ पू०में अवस्थित है। यह म्युनिसपलिटीके अधीन एक प्रसिद्ध बन्दर है। यहां एक प्रधान सेनानिवासका कार्यालय, जज साहब, मजिष्ट्रेट और सब-मजिष्ट्रेटकी कचहरियां, जेलखाना, पुलिश दफ्तर, पोष्ट, और टेलिग्राफ आफिस, गिरजा, स्कूल, अस्पताल, अनाथाश्रम, पागल-गारद इत्यादि बहुतेरी इमारतें मौजूद हैं।

विशाखपत्तन शहर बङ्गोपसागरके किनारे स्थापित है। एक नदी शहरसे होती हुई सागरकी ओर गई है।

यह शहर दुर्गकी तरह है। साधारणतः इसको विशाखपत्तन-दुर्ग भी कहते हैं। यहां बहुसंख्यक यूरोपीय पैदल सैन्य हैं।

म्युनिसपलिटीकी चेष्टा और अर्थके साहाय्यसे यहांका स्वास्थ्य और रास्ता, घाट आदिकी यथेष्ट उन्नति हुई है। सिवा इसके म्युनिसपलिटीके साहाय्यसे एक पाठागार, पुस्तकालय और कई स्कूल तथा पाठशालायें स्थापित हैं। शहरकी उन्नतिके लिये विजयनगरके महाराज अकातरभावसे अर्थ-व्यय करते हैं।

प्रवाद है, कि चौदहवीं शताब्दीके मध्यभागमें अन्ध्रराजने इस नगरको भित्ति डाली थी। मुसलमानोंकी विजयके समय कलिङ्ग प्रदेशका अवशिष्ट भाग ले कर यह नगर भी मुसलमानोंके अधिकारमें आया। १७वीं शताब्दीके मध्यभागमें इष्ट-इण्डिया कम्पनीने यहां एक कोठी निर्माण की। सन् १६८९ ई०में इस कारखाने पर आक्रमण कर मुसलमानोंने यहांके कर्मचारियोंको मार डाला। इसके दूसरे वर्ष अङ्गरेजोंने इस पर पुनः अधिकार कर लिया और यहां शीघ्र ही एक किला बनवाया। १८वीं शताब्दीमें जाफर अली या उसका मराठा दल विमलीपत्तन और उसके चारों ओरके स्थानोंको लूटपाट करके भी विशाखपत्तनका विशेष अनिष्ट नहीं कर सका था।

इसके बाद सेनापति बुशीने कुछ दिनोंके लिये इस

नगर पर अधिकार कर लिया। इसके बाद विजयनगरमूके राजाने फ्रान्सीसियोंको मार भगाया और इस नगरको अङ्गरेजोंके हाथ सौंप दिया। यह सन् १७५८ ई०की घटना है। सन् १७८० ई०में सिपाही-विद्रोहके सिवा इतिहास प्रसिद्ध और कोई घटना यहां नहीं हुई।

पहले ही कहा जा चुका है, कि विशाखपत्तन एक प्रसिद्ध बन्दर है। सुतरां बाणिज्य व्यवसायमें यह स्थान उत्तरोत्तर उन्नत हो रहा है। आमदनी द्रव्योंमें विदेशजात छोटी छोटी चीजें और इङ्गलैण्डकी धातु है और रपतनीमें अन्न और गुड़का व्यवसाय ही उल्लेखनीय है। यहां बहुत तरहके देशी कपड़े, कारुकार्यमय द्रव्यसम्भार, चन्दनकाष्ठ और रूपेकी सामग्री तय्यार होती है। इसके सिवा बक्स, डेक्स, पाशाका कोट आदि चीजें तैयार होती हैं।

विशाखपत्र (सं० पु०) बालरोगभेद, बालकोंका एक प्रकारका रोग।

विशाखयूप (सं० पु०) १ एक प्राचीन राजा। २ नृसिंहपुराणोक्त प्राचीन जनपदभेद। कोई कोई इसीको विशाखपत्तन मानते हैं। विशाखपत्तन देखो।

विशाखल (सं० क्ली०) युद्धकालमें अधिक व्यवधानमें रखा हुआ दोनों पैरका विन्यास।

विशाखा (सं० स्त्री०) १ कठिल्लक, करैला। (मेदिनी) २ अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्रोंमें १६वां नक्षत्र। इसका पर्याय—राधा। इस नक्षत्रका रूप तोरणाकार और उसमें चार तारे हैं। (मुहूर्त्तचिन्तामणि) यह नक्षत्र दो भागोंमें बंटा है, इसलिये इसके दो देवता इन्द्र और अग्नि हैं। यह नक्षत्र मित्रोंके अन्तर्गत हैं। (ज्योतिस्तत्त्व) इस नक्षत्रमें जन्म लेनेसे जातबालक सर्वदा नाना कार्योंमें अनुरक्त रहता है तथा केवल स्वर्णकारके साथ उसकी मित्रता होती है और किसीके भी साथ नहीं। (कोष्ठीप्रदीप)

३ श्वेतरक्त पुनर्नवा, सफेद गदहपूरना। (वद्यकनि०) ४ कृष्णा अपराजिता, काली अपराजिता। ५ कठिल्लक वृक्ष, करेलेकी लता।

विशाखा—प्राचीन जनपदभेद। चीनपरिव्राजक यूएनचुवंगने "पि सो-किआ" नाममें इस जनपदका उल्लेख किया है। चीन-परिव्राजकके वर्णनसे यह मालूम होता है, कि वे कौशाम्बी दर्शन कर वहांसे १७० या १८० ली (प्रायः २५।३० मील) उत्तर आ कर विशाखा राज्यमें पहुंचे। इस राज्यका परिमाण प्रायः ४००० ली और राजधानी प्रायः १६ ली थी। यहां तरह तरहके अन्न और यथेष्ट फलमूल उत्पन्न होते हैं। यहांके अधिवासी शिष्टशान्त, सभी अध्ययनमें निरत और मोक्षकामी हैं। चीन-परिव्राजकके समय यहां २० संघाराम था और उसमें हीनयान सम्प्रदायके प्रायः ३००० श्रमण रहते थे। सिवा इसके यहां उन्होंने ५० देवमन्दिर और उसमें बहुतेरे देव-भक्त देखे थे।

राजधानीके उत्तर राजपथके वामपार्श्वमें एक बड़ा संघाराम था। यहाँ रह कर पहले अर्हत् देवशर्माने 'विज्ञानशास्त्र' लिख कर आत्मवादका खण्डन किया। यहां ही धर्मपाल बोधिसत्वने ७ दिनसे शताधिक हीनयानी आचार्य्योंको परास्त किया था। इसी संघारामके निकट बुद्धदेवके निर्म्माल्य-परित्यक्त पुष्पबीजोत्पन्न एक वृक्ष विद्यमान था। बहुत दूर देशसे बौद्धयात्री इस बोधितरुको देखने आते थे। कितनी ही बार ब्राह्मणोंने इस पेड़को काट डाला। फिर भी, चीनपरिव्राजकके आनेके समय तक वह वृक्ष मौजूद था। निकट ही चीन-परिव्राजक गत ४ बुद्धोंकी स्मृति गये हैं। प्रत्नतत्त्वविद् कानिहमने साकेत या वर्त्तमान अयोध्याको ही चीन-परिव्राजकका विशाखाराज्य स्थिर किया।

विशाखिका (सं० स्त्री०) विशाखा देखो।

विशाखिल (सं० पु०) एक कलाशास्त्रके रचयिता।

विशातन (सं० त्रि०) वि-शत-णिच्-ल्यु। मोचनकर्त्ता, छुड़ानेवाला।

विशाप (सं० त्रि०) १ शापान्त, शापरहित। (पु० एक प्राचीन ऋषिका नाम।

विशाम्पति (सं० पु०) विशां प्रजानां पतिः। रा

विशाय (सं० पु०) वि-शी-घञ्। (व्युपयोः शेते

३।३३।३६) प्रहरीगणको पर्यायक्रमसे शयन, पहरेदारोंका बारी बारोसे सोना।

विशायक (सं० पु०) लताभेद। विशाकर देखो।

विशायिन् (सं० त्रि०) वि-शी-णिनि। १ शयनकारी, सोनेवाला। २ जो नहीं सोता है या जाग कर पहरा देता है।

विशारण (सं० क्ली०) वि-शृ-णिच्-ल्युट्। मारण, मारना।

विशारद (सं० त्रि०) विशाल-दा क ; रलयोरभेदः इति लस्य रः। १ विद्वान्। (मनु ७।६३) २ प्रसिद्ध, मशहूर। ३ प्रगल्भ। ४ श्रेष्ठ, उत्तम। ५ दक्ष, निपुण। ६ अपनी क्षमता पर विश्वासवान्, जिसे अपनी शक्ति पर भरोसा हो। ७ विस्तृत। ८ गर्वित, घमंडी। (पु०) ९ वकुल, मौलसिरी।

विशारदा (सं० स्त्री०) १ क्षुद्र दुरालभा, धमासा। २ कौञ्च, केवाँच।

विशारदिमन् (सं० पु०) वैशारद्य, नैपुण्य, निपुणता।

विशाल (सं० त्रि० ; वि शालच्। (वेः शालच्छङ्कटचौ। पा ५।२।२८) यद्वा विश-प्रवेशने कालन् (तमिविशिविड़ीति। उण् १।११७) १ वृहत्, बड़ा। विगतः शालः स्तम्भो यस्य। २ स्तम्भरहित। ३ विस्तृत, चौड़ा। ४ विख्यात, मशहूर। ५ विस्तीर्ण, फैला हुआ। ६ जो देखनेमें सुन्दर और भव्य हो। (पु०) ७ मृगभेद। ८ पक्षिभेद। ९ वृक्षभेद। १० एक पुराण-प्रसिद्ध राजा, इक्ष्वाकुके पुत्र। इन्होंने ही विशाला नगरी स्थापित की थी। (रामायण)

११ षड़हभेद। (कात्यायनश्रौतसू० २४।२।१६) १२ तृणविन्दुका पुत्रभेद। (विष्णुपुराण) विशालदेश देखो। १३ वैदिश वा विदिशा नगरीके एक राजाका नाम। मार्कण्डेयपु० ७०।४) १४ पर्वतभेद। (मार्कण्डेयपु० ५६।१२)

विशालक (सं० पु०) १ कपित्थ, कैथ। २ गरुड़। ३ यक्षभेद।

विशालग्राम (सं० पु०) पुराणोक्त ग्रामभेद। (मार्क०पु०)

विशालता (सं० स्त्री०) विशाल तल् टाप्। १ विस्तार। २ वृहत्त्व, प्रकाण्डता। ३ पार्श्वविस्तार।

विशालतैलगर्भ (सं० पु०) अङ्कोठवृक्ष।

विशालत्वक् (सं० पु०) सप्तपर्णवृक्ष, छतिवन।

विशालदा (सं० स्त्री०) लताभेद (Alhagi Manrarum)।

विशालदेश—विशालराज-प्रतिष्ठित एक प्राचीन जनपद। भविष्य-ब्रह्मखण्डमें इसका विवरण इस तरह देख पड़ता है—

"गङ्गा और गण्डकी नदीके बीचके भूमाग पर विशालराजका शासनाधिकार था। इस देशके वायु कोणमें बेतिया (वैत्रिय), पूर्व ओर मधुपुर, दक्षिणमें भागीरथी और उत्तरमें शेलम या सलामपुर था। इस प्रदेशका सीमाविस्तार २० योजन था। विशालदेशके अधिवासी अधिकांश ही धार्मिक थे। इस देशमें और भी तीन छोटे छोटे देश शामिल थे। उनमें एकका नाम चम्पारण, दूसरेका शालीमय, तीसरेका दीर्घद्वार था। यह शेषोक्त देश अपेक्षाकृत छोटा होने पर भी विशालदेशकी समूची घटनायें इसीके नाम पर विवृत हैं। यहां एक प्रसिद्ध स्थान है, जिसका नाम कसमर है।

दीर्घद्वारदेशका संक्षिप्त विवरण—दीर्घद्वारके सभी अधिवासी धर्मिष्ठ, परदारासे सदा विमुख रहनेवाले और कृषिकार्य्यमें तत्पर रहते थे। यहांके ब्राह्मण शास्त्रनिष्ठ और धार्मिक होते थे। अधिवासियोंके हृदयमें धर्मकर्मका प्रबल अनुराग भरा रहता था। इनमें परस्पर झगड़ा विवाद नहीं होता था। यहांके लोग काले और गण्डमाला तथा गलगण्ड रोगके रोगी थे। ये गण्डकी नदीमें स्नान करते थे सही, फिर भी कलिके प्रभावसे इनका रोग शोक अनिवार्य्य था। शस्यके भीतर यहां प्रचुर परिमाणसे धान पैदा होता। यहां तीन जातियोंका वास था—कायस्थ, ब्राह्मण और कुरमी। कलिके प्रारम्भमें दीर्घद्वारमें लगातार चार राजाओंके राजत्वकालका उल्लेख है।

दीर्घद्वारके अर्द्ध योजन पर महादेवी अम्बिकाका अधिष्ठान था। राजा विशाल इन देवीके प्रतिष्ठाता थे। दीर्घद्वारके अधिवासी इनकी पूजामें तत्पर रहते थे।

विशालदेशके द्विजातीय वेद-चर्च्चामें लगे रहते थे। ज्ञानमें, ध्यानमें, धनमें, शौर्य्यमें, सम्मानमें ये विशाल नामके योग्य थे। दीर्घद्वारके अधिवासी कलिके प्रारम्भमें वञ्चक, धनहीन, स्त्रैण और माता, पिता, ज्ञाति, भाई और सुहृत्, सज्जन, आदिका धन हरण कर आत्म

सुखसाधनमें रत होते थे। सिवा इनके खण्डमत्तूं स्थानमें जिनका वास था, वे राजकीय कर देनेमें बिलकुल विमुख थे। कलिका एकांश बीतने पर ही इस देशमें केतुका उदय हुआ। किन्तु एक केतु नहीं; श्वेत, नील और रक्तवर्ण भेदसे लगातार चार भीषण केतु उदय हुए। ये लोकनाशके हेतुभूत कहलाते हैं। फल भी ऐसा ही हुआ—इसी समय नेपालियोंके साथ गण्डकी नदीके किनारे विशालदेशवासियोंका घोर युद्ध हुआ। यह युद्ध तीन वर्ष तक रहा। हरिहर शिवदेव उस समय विशालदेशके राजा थे। इस युद्धमें विशालदेश विध्वस्त हुआ। यही नहीं, नेपालियों द्वारा यह देश लूटा गया, लोगोंकी हत्या की गई, अन्तमें इस देश पर नेपालका अधिकार हो गया। यह सब घटनायें कलिके आरम्भिक समयमें हुईं। नेपालियोंके लूट तरज मचानेसे यह विशाल देश दरिद्र हो गया। इस दरिद्रताके कारण यहांके अधिवासी यहांसे चले गये और दूसरी जगह बस गये।

कार्त्तिक महीनेमें यहां मेला लगता है। यहां गङ्गा और गण्डकी नदीका संगम बड़ा ही पुण्यप्रद है। इसीसे यहां यात्री आ कर स्नानादि कर अपने पाप क्षालन करते हैं।

अब विशालदेशके प्रसिद्ध प्रसिद्ध ग्रामोंका विवरण संक्षेपमें दिया जायगा। विशालदेशके एक ही प्रदेशमें हो कुल सात हजार ग्राम हैं। इन सात हजार ग्रामोंमें तीस ग्राम विशेष उल्लेखनीय हैं। पहला ग्राम हरिहरक्षेत्र है। यह ग्राम गण्डकी नदीके किनारे पर बसा हुआ है। यहांके अधिवासियोंमें ब्राह्मणोंकी संख्या ही अधिक है। शूद्र आदि निम्न श्रेणीके अधिवासी बहुत कम हैं। यहां हरिहर देवका एक ऊंचा मन्दिर है। इसका दृश्य बड़ा ही मनोरम है। हर साल मेला यहां ही लगता है। इस मेलेमें अरण्य और ग्राम्य हर तरहके पशुओंकी बिक्री बहुत अधिक होती है। सन् १५०५ विक्रमीय संवत्‌में अमेर या अमेरनगरीके अधिपति मानसिंह यवनराजके आदेशसे यशोराधिपतिको विनाश करनेके लिये चले थे। यहां पहुंच आपने अपना खेमा गण्डकीके किनारे खड़ा किया था। उन्होंने अपने व्ययसे इस हरिहर देवके मन्दिरका जीर्ण संस्कार कराया था और देव सेवाके लिये बहुत-सी भूमि दान की थी।

आमे-ग्रामके दक्षिण दीर्घाद्वार प्रदेशके अन्तर्गत शङ्करपुर एक प्रसिद्ध ग्राम है। यहां कल्याणकारी नामक एक शिवलिङ्ग था। मुसलमानी अमलमें उसका अन्तर्धान हुआ। साथ ही साथ पापस्रोतसे इस ग्रामका धनवैभव भी विलुप्त हुआ। तीसरा ग्राम दुग्धल है। यहां सोमदत्त नामक एक ब्राह्मणके घर एक कपिला गाय थी। इसीलिये इसका दूसरा नाम कपिला ग्राम था। प्रवाद है, कि इस कपिला गौके प्रसादसे इस ग्रामके आदमियोंको भक्ष्य, भोज्य, पेय आदि सामग्रियोंका कभी अभाव होता न था। गौकी आज्ञा थी, कि इस ग्राममें यदि गोहत्या होगी, तो इस ग्रामका नाश अवश्यम्भावी है। परवर्त्ती ग्रामका नाम गङ्गाजल है। यह ग्राम बड़ा ही समृद्ध है। पुराणोंमें लिखा है, कि इस ग्रामके सभी ब्राह्मण त्रिसंध्या गङ्गा स्नान करते थे। कर्मवश एक ब्राह्मण पङ्गु हो गये। गङ्गा स्नान कर न सकेंगे, वह इस चिन्तासे व्याकुल हो उठे। स्नानाहार न कर उपवास रहे। रातमें ब्राह्मणने स्वप्न देखा, मानो गङ्गाजी कहती हैं—"जब तक तुम्हारी व्याधि अच्छी न होगी, तब तक मैं तुम्हारे घड़ेमें बास करूंगी" तभीसे इस ग्रामका नाम "गङ्गाजल" हुआ था। इस ग्रामके सम्बन्धमें भविष्यद्वाणी है—गङ्गाजल ग्रामके ब्राह्मणोंके पापाचारसे इस ग्रामका ध्वंस होगा। इस ग्राममें सात बार अग्निकाण्ड, बाद कल्किदेवके आविर्भाव तक गहन वनमें इसकी परिणति होगी।

गन्धाहार एक प्रधान ग्राम है। कलिमें यह यवनाधिकारमें पतित हुआ। यहां बहुतेरे गन्धबणिकोंका आवास था। शतदल, मल्लिका, यूथिका और केतकी पुष्पोंको यंत्र द्वारा निष्पीडित कर एक तरहका सौगन्धिक रसद्रव्य तय्यार करना इन बणिकोंका व्यवसाय था। इसीसे यह ग्राम गंधाहार नामसे सर्वत्र परिचित था। ग्राम सदा सुगंधसे परिपूर्ण रहता था। ग्राममें प्रकाण्ड-प्रकाण्ड अश्वत्थ वृक्ष (पीपलके पेड़) थे। इस सुगंधसे आकृष्ट हो कितने ही ब्रह्मदैत्योंने इन वृक्षों पर आ कर वास किया। क्रमशः बणिक्-वधुओं पर ब्रह्म-

दैत्योंका समावेश हुआ। भूतावेशके कारण जब ग्रामवासी ग्राम छोड़ कर भाग गये, तब वहांके पुष्पोद्यान जनसमागमहीन हो कर श्रीभ्रष्ट हो गये।

और एक ग्राम पानकपुर है। इस ग्रामके अधिवासी अधिकांश ही वाद्यकर अर्थात् बजनियां थे। मलिनवस्त्रमें, मलिनरूपसे ही रहना उनका चिर अभ्यास था। शालिवाहन शाकके प्रारम्भमें इस ग्रामका ध्वंस हुआ। विशालदेशका अन्यतम प्रधान ग्राम देव या देवग्राम है। पहले यहां हर तरहके वृक्ष थे। यह स्थान गभीर अरण्यमय था। इससे कोई सहज ही इसमें प्रवेश नहीं कर सकता था। विशालराजके वंशधरोंने यहांके बनवृक्षोंको काट कर साफ करा दिया। इसके बाद यहां उनके द्वारा अम्बिकाजीका मन्दिर प्रतिष्ठित हुआ। उन्होंने अम्बिकाजीके पूजोपचारकी अच्छी व्यवस्था करा दी। राजाकी आज्ञा पा कर यहां अनेक माली आ कर बस गये। अम्बिकाके प्रकोपसे यह ग्राम आगसे नष्ट हुआ।

इसके बाद सुवर्णग्राम, गोविन्दचक्र, वामनग्राम, कशमरके उत्तर गोवर्द्धन और मकेर ग्राम थे। मकर ग्राम चंद्रसेन राजा द्वारा नष्ट हुआ। इसके बाद शक्तिसिंह द्वारा प्रतिष्ठित विलवहार, विशाल राजाका केलिस्थान बनकेलि नामक बड़ा ग्राम, भोज राजाके समयमें प्रतिष्ठित पारशाग्राम (यहां अकस्मात् एक कोसके अन्दाज जलमय गभीर गड्ढा उत्पन्न हुआ) है। और एक प्रसिद्ध स्थान तारानगर है। यहां तारा देवीका मन्दिर और बलिदानरत शाक्त ब्राह्मणोंका वास है। अबगाही नामक एक ग्राम है। उग्रसेन राजाने वहां सोमयज्ञ किया और इसके उपलक्ष्यमें वहां कान्यकुब्जसे आये चतुर्वेदी ब्राह्मणोंका आवास हुआ। और एक ग्राम वसन्तपुर है। यहां विशाल-राजपुरोहितोंका आवास था। होलिका नामक एक राक्षसके उत्पातसे इस ग्रामका ध्वंस हुआ। इस वसन्तपुरसे पूर्व ओर चार कोस पर विशाल नगरीका ध्वंसावशेष विद्यमान है। (भविष्य ब्रह्मख० ३८-४६ अ०)

विशालका इतिहास।

भविष्य ब्रह्मखण्डमें लिखा है—

सूर्य्यवंशमें तृणविन्दु नामके एक राजा थे। उनके विशाल, हीनवधू और धूम्रकेतु नामके तीन पुत्र थे। इन तीनोंमें विशाल ही ज्येष्ठ थे। विशाल ही चीनके आचार आदि सीखनेके लिये उत्तरदेशको गये। गण्डकी नदीके किनारे उन्होंने एक मास तक घोर तप कर अपने नाम पर एक ग्राम बसाया था। उनके रहनेके कारण यह स्थान वैशाल नामसे प्रसिद्ध हुआ था। राजा विशालके पुत्र हेमशशी, हेमशशीके धूम्राक्ष और धूम्राक्षके पुत्र संयम थे। यमादि अष्टाङ्ग योगकी सिद्धि प्राप्त होनेके कारण इनका नाम संयम पड़ा था। संयमके पुत्रका नाम महावीर कृशाश्व था। इन्हीं कृशाश्वके औरससे और चारुशीलाके गर्भसे राजा सोमदत्तका जन्म हुआ। सोमदत्तने अश्वमेध यज्ञ किया। इनके पुत्रका नाम सुमति और सुमतिके पुत्रका नाम जनमेजय था। वैशाल नगरके वायुकोणकी तरफ प्रायः पांच कोस पर यज्ञयष्टि ग्राम है। यहां महाराज जनमेजयने सर्पयज्ञ किया था। १०८ हाथके पाषाण-निर्मित नाना चित्रमय यज्ञकुण्ड विद्यमान है। वेदविधिके अनुसार मन्त्रविद् ब्राह्मणोंने यहां यज्ञयष्टिकी स्थापना की। इसीसे इसका यह यज्ञयष्टि नाम हुआ। इस ग्राममें यज्ञवेदिकाके निकट राजा जनमेजयने याज्ञिक ब्राह्मणोंको शतप्रासादयुक्त स्थान दान किया। कभी कभी इन मकानोंसे धनरत्नपूर्ण घड़ा मिलता था।

विशालपत्तनसे एक योजन पर दुर्गम वशारदुर्ग है। इसमें तथा इसके निकट ५२ मनोरम जलाशय हैं। इस दुर्गमें विशालका राजवंश रहता था। उनके द्वारा प्रतिष्ठित विष्णुमूर्त्ति वर्त्तमान है। (भ०ब्रह्मख० ४० अ०)

वैशाली देखो।

पूर्वोक्त विवरणसे यह स्पष्ट जाना जाता है, कि यह विशाल देश आज कलके विहार प्रदेशका कुछ अंश था। इस विवरणमें विशाल देशकी जो सीमा निर्द्धारित की गई है, उससे यह भी पता चलता है, कि आज कलके सारन, चम्पारन और मुजःफरपुर जिलोंकी सीमाके अन्तर्गत ही यह विशाल देश था। विशालदेशमें दीर्घद्वार एक प्रदेश गिना जाता था। किन्तु कालक्रमसे आज यहां एक विशाल ग्रामके रूपमें परिणत हो गया है। 'दीर्घद्वार' का अपभ्रंश दीघवारा है। पूर्वोक्त विवरणमें

दीर्घद्वार प्रदेशमें जिन बड़े बड़े ग्रामोंका उल्लेख किया गया है, वे ग्राम आज भी इस दीघवारा ग्रामके इर्द गिर्द ही अपने प्राचीन नामसे वर्त्तमान है। जैसे—आमी, गङ्गाजल, परशा, हरिहरक्षेत्र, दुग्धल (दुधैला) गोविन्दचक, मकेर, कश्मर, (अब यह कोई खास ग्राम नहीं, वरं इसी नामका यहां एक प्रगना है)। विलवहर, वसन्तपुर आदि। दीर्घद्वार या दीघवारेमें बी० एन० डबल्यु रेलका स्टेशन भी है। इसके निकट ही कुछ मीलकी दूरी पर दक्षिण ओर स्टीमर स्टेशन भी मौजूद हैं। यहां दो स्टेशनोंके रहनेसे यहांकी उत्पन्न चीजोंकी रफ्तनी तथा बाहरकी वस्तुओंकी आमदनी होती रहती है। अतः यह ग्राम आज भी व्यवसाय वाणिज्यमें बढ़ा चढ़ा है। इसके निकट ही और भी कई ऐतिहासिक ग्राम भी हैं। शिलहौरी, यकरी, शीतलपुर आदि। शिलहौरीके सम्बन्धमें प्रवाद है, कि यहां शीलनीधि राजा एक समय राज्य करते थे या उन्हींके द्वारा यह ग्राम बसाया हुआ था। इसीसे इन्हीं शीलनीधि राजाके नाम पर इस ग्रामका नाम शिलहौरी हुआ। यहां उक्त राजा द्वारा प्रतिष्ठित एक शिवलिङ्ग आज भी मौजूद है। यहां हर शिवरात्रिको दूर दूरसे यात्री शिवजीको जल चढ़ानेके लिये आया करते हैं। खासकर फाल्गुन और वैशाखकी शिवरात्रिको तो यहां मेला लग जाता है। गाय बैल और अन्यान्य चीजें भी बिकती हैं। इसके निकट एक पकरी ग्राम है। इस पकरी ग्रामके निकट ही उक्त शीलनीधि राजाका महल था। जिसका ध्वंसावशेष आज भी मौजूद है। यह बीघेमें फैला हुआ था, किन्तु किसानोंने चारों तरफसे बांट कर खेत बना लिया है। आज भी यह एक बीघेमें फैला हुआ है। इस पर बरसातके दिनोंमें कभी कभी प्राचीन सिक्के (मुद्रा) पाये जाते हैं। पकरीके सम्बन्धमें कहा जाता है, कि पहले यहां कोई घर न था। एक पाकरका बहुत बड़ा वृक्ष था। शीलनीधि राजाका आवास होनेसे यहां भी एक शिवलिङ्गकी प्रतिष्ठा हुई थी। राजा स्वयं यहां उपस्थित हो कर उक्त शिवलिङ्गकी पूजा किया करते थे, किन्तु कालक्रमसे अम्बवारसे कुछ भरद्वाज गोत्रीय द्विवेदी (दूबे) उपाधिधारी ब्राह्मणोंने आ कर इसे आवाद किया। ये बड़े ही कर्मनिष्ठ और स्वधर्मनिरत है। निकट ही पूर्वोक्त शीतलपुर ग्राम है। यहां एकसारसे आ कर पराशर गोत्रीय ब्राह्मणोंका आवास है। मढ़ौरा ग्राम भी इस समय बहुत ही उन्नत ग्राम है। यहां अंग्रेजोंका एक चीनीका कारखाना है। चीनीके व्यवसायमें यह ग्राम बहुत ही उन्नति कर रहा है।

विशालनगर (सं० क्ली०) विशालराजनिर्मित नगर। विशालदेश देखो।

विशालनेत्र (सं० त्रि०) १ वृहत् चक्षुःविशिष्ट, बड़ी बड़ी आँखोंवाला। (पु०) २ बोधिसत्त्वभेद।

विशालपत्र (सं० पु०) विशालानि पत्राणि यस्य। १ श्रीतालवृक्ष। २ हिंताल। ३ मानकच्चू, मानकंद।

विशालपुरी (सं० स्त्री०) नगरभेद।

विशालफलिका (सं० स्त्री०) विशालं फलं यस्याः ततः स्वार्थे कन् टापि अत इत्वं। निष्पाठी, बरसेमा।

विशाला (सं० स्त्री०) विशाल-टाप्। १ इन्द्रवारुणी नामक लता, इन्द्रायन। २ उज्जयनी। (मेदिनी) ३ उपोदकी, पोइका साग। ३ महेन्द्रवारुणी। (राजनि०) ४ तीर्थविशेष। शास्त्रानुसार सभी तीर्थोंमें मुण्डन और उपवासका विधान है, परन्तु गया, गङ्गा, विशाला और विरजातीर्थमें मुण्डन तथा उपवास निषिद्ध बताया गया हैं। ५ दक्षकी कन्या। ६ मुरामांसी, एकाङ्गी। ७ कलगा नामक घास। ८ गोरक्षकर्कटी, ग्वालककड़ी।

विशालाक्ष (सं० पु०) विशाले अक्षिणी यस्य समासे षच्। १ हर, महादेव। (भारत १२।५६।८०) २ गरुड़। ३ गरुड़वंशधर। ४ विष्णु। ५ धृतराष्ट्रके एक पुत्रका नाम। (भारत १।१०१।६) (त्रि०) ६ सुनेत्र, विशालचक्षुः, जिसकी आँखें बड़ी और सुन्दर हों।

विशालाक्षी (सं० स्त्री०) विशालाक्ष-ङीष्। १ उत्तमा नारी। (विश्व) २ नागदन्ती। (राजनि०) ३ पार्वती, दुर्गादेवी।

तन्त्रसारमें विशालाक्षी देवीकी पूजा तथा मन्त्रादिके विषयमें ऐसा लिखा है—

"ॐ ह्रीं विशालाक्ष्यै नमः" यही विशालाक्षी देवीका अष्टाक्षर मन्त्र है। यह मन्त्र आठ तरहकी सिद्धि प्रदान करता है। इस मन्त्रके ऋषि सदाशिव, पंक्ति

छन्दः, देवता विशालाक्षी, बीज ओं शक्ति ह्रीं ; यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों वर्गके लाभके लिये प्रयुक्त होता है।

ध्यान इस तरह है—

"ध्यायेद्देवीं विशालाक्षीं तप्तजाम्बूनदप्रभाम्।
द्विभुजाम्बिकां चण्डीं खड़्गखेटकधारिणीम्॥
नानालंकारसुभगां रक्ताम्बरधरां शुभाम्।
सदा षोडशवर्षीयां प्रसन्नास्यां त्रिलोचनाम्॥
मुण्डमालावलीरम्यां पीनोन्नतपयोधराम्।
शवोपरि महादेवीं जटामुकुटमण्डिताम्॥
शत्रुक्षयकरां देवीं साधकाभीष्टदायिकाम्।
सर्वसौभाग्यजननीं महासम्पत्प्रदां स्मरेत्॥"

ऐसा ही देवीका ध्यान, अर्घ्यस्थापन और पीठदेवता आदिकी पूजा कर फिर ध्यानपूर्वक यथाशक्ति उपचार द्वारा पूजा करे। सामान्य पूजापद्धतिके नियमानुसार पूजा की जाती है। इस देवीकी मन्त्रसिद्धि करनेके लिये पुरश्चरण करना होता है। उक्त मन्त्रका आठ लाख जप करनेसे पुरश्चरण होता है।

विशालाक्षी देवीका यन्त्र—पहले त्रिकोण और उसके बाहरमें अष्टदलपद्म, वृत्त, चौकोन और चतुर्द्वार अङ्कन कर यन्त्र निर्माण करे। इसी यन्त्रमें सर्वसौभाग्यदात्री विशालमुखी विशालाक्षीदेवीको यथाविधान आवाहन कर पूजा करे। त्रिकोणमें महादेवीकी अर्चना कर ब्राह्मी प्रभृति अष्टमातृकाकी पूजा करनी होगी। पीछे 'ओं पद्मजाक्ष्यै नमः, ओं विरूपाक्ष्यै नमः, ओं वक्राक्ष्यै नमः, ओं सुलोचनायै नमः, ओं एकनेत्रायै नमः, ओं द्विनेत्रायै नमः, ओं कोटराक्ष्यै नमः, ओं त्रिलोचनायै नमः', इन सब देवताओंकी पूजा पत्राग्रमें पश्चिमादिक्रमसे अष्टसिद्धिरूपिणी अष्टयोगिनीकी पूजा करे। चौकोनमें इन्द्रादि लोकपालकी अर्चना कर उसके बाहर अस्त्र आदिकी पूजा करनी चाहिये। इसके बाद यथाशक्ति मूल मन्त्रका जप कर विसर्जनान्तका कर्म करे।

४ चतुःषष्टि योगिनीके अन्तर्गत योगिनीविशेष। दुर्गापूजाके समय इनकी पूजा करनी होती है।

(दुर्गोत्सवपद्धति)

विशालिक (सं० पु०) अनुकम्पितो विशालदत्तः विशालदत्त-ठच् (पा ५।३।८४)। विशालदत्त नामक अनुकम्पायुक्त कोई व्यक्ति। इस अर्थमें विशालिय और विशालिन पद होते हैं।

विशाली (सं० स्त्री०) १ अजमोदा। (राजनि०) २ पलाश लता।

विशालीय (सं० त्रि०) विशालसम्बन्धीय।

विशिका (सं० स्त्री०) बालू, रेत।

विशिक्षु (सं० त्रि०) वि-शिक्ष-कु। विशेष प्रकारसे शिक्षादाता वा साधनकर्त्ता। (ऋक् २।१।१० सायण)

विशिख (सं० पु०) विशिष्टा शिखा यस्य। १ शरतृण, रामसर या भद्रमुंज नामको घास। (राजनि०) २ वाण। ३ तोमर, भालेकी तरहका एक हथियार। (मेदिनी) ४ आतुरागार वह स्थान जिसमें रोगी रहते हों। ५ चरखाका टकुआ। (त्रि०) विगता शिखा यस्य। ६ शिखारहित, विच्छिन्नकेश, मुण्डितकेश। धर्मशास्त्रके मतसे शिखाशून्य हो कर कोई धर्मकर्म करना निषिद्ध है।

विशिखपुङ्खा (सं० स्त्री०) शरपुङ्खा।

विशिखा (सं० स्त्री०) १ खनित्री, खंता। २ रथ्या, रथोंका समूह। (माघ ११।१७) ३ नालिका। ४ अपत्यमार्ग। ५ कर्ममार्ग। ६ नापितकी स्त्री, नाइन।

विशिप (सं० क्ली०) विशान्त्यत्रेति विश (विटपपिष्टप विशिपोलपा। उण् ३।१४५) इति कप्रत्ययेन निपातनात् साधुः। मन्दिर।

विशिप्रिय (सं० त्रि०) शिप्रयोः, हन्वोर्नासिकायोर्वा कर्म। वि-शिप्र-ष्णिय। जिसमें हनू या नासिकाकी क्रिया नहीं है, हनू वा नासिकाचालन क्रियाविहीन कर्म।

(शुक्लयजु० ६।४ महीधर)

विशिरस् (सं० त्रि०) १ मस्तकहीन, बिना सिरका। २ चूड़ाविहीन, बिना चोटीका। ३ मूर्ख, विद्याबुद्धिशून्य।

विशिरस्क (सं० त्रि०) विगतं शिरो यस्य समासे कप्। शिरोहीन, बिना सिरका। (पु०) २ मेरुके पास एक पर्वतका नाम। (लिङ्गपु० ४९।४६)

विशिशासिषु (सं० त्रि०) हननोद्यत, मारनेको तैयार।

(ऐतरेयब्रा० ७।१७ भाष्य)

विशिशिप्र (सं० त्रि०) १ विगत हनू, बिना दाढ़ीका। (पु०) २ दैत्यविशेष। (ऋक् ५।४५।६ सायण)

विशिश्न्य (सं० त्रि०) शिश्नरहित, जिसके अंडकोष न हो।

विशिश्रमिषु (सं० त्रि०) १ विश्राम करनेमें इच्छुक, आराम तलबी। (क्ली०) २ किसी पदार्थके ऊपर विशेष लक्ष्य रखना।

विशिष्ट (सं० त्रि०) वि-शिष-क्त, वा शास्-क्त। १ युक्त, मिला हुआ। २ विलक्षण, अद्भुत। ३ भिन्न। ४ विशेषतायुक्त, जिसमें किसी प्रकारकी विशेषता हो। ५ अतिशिष्ट, जो बहुत अधिक शिष्ट हो। ६ विख्यात, मशहूर। ७ यशस्वी, कीर्त्तिशाली। ८ सिद्ध। (पु०) ९ सीसा नामक धातु। १० विष्णु।

विशिष्टचारित्र (सं० पु०) बोधिसत्त्वभेद।

विशिष्टचारी (सं० पु०) बोधिसत्त्वभेद।

विशिष्टता (सं० स्त्री०) १ विशिष्टका भाव या धर्म। २ विशेषता।

विशिष्टपत्र (सं० पु०) ग्रन्थिपर्णी, गठिवन।

विशिष्टवयस् (सं० त्रि०) पूर्णवयस्क, भरी जवानी। (दिव्यां २३६।४)

विशिष्टाद्वैतवाद (सं० पु०) विशिष्टरूप अद्वैतवाद। द्वैतवाद, अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद ये तीनों ही मत देखनेमें आते हैं। प्रकृति और पुरुष भिन्न होने पर भी दोनों मिलनरूप ब्रह्मवाद हैं। "पुरुषस्तदतिरिक्ता प्रकृतिः किम्भूभयमिलितं ब्रह्मचणकद्विदलवत्, इत्थं ब्रह्मणः एकत्वं व्यवस्थितम्।" (माधवभाष्य) अर्थात् पुरुष और प्रकृति भिन्न भिन्न है। किंतु दोनो मिल कर ब्रह्म हैं। जिस प्रकार चनेमें दो दल अलग हैं और दोनोंके मिलनेसे चना कहलोता है उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष परस्पर भिन्न हैं, पर दोनों मिल कर ब्रह्म हैं।

वैदान्तिक आचार्योंके साधारणतः अद्वैतवादी होने पर भी उनके मध्य प्रकारान्तरमें द्वैतवादका नितान्त असद्भाव नहीं देखा जाता। वैष्णव आचार्य प्रायः सभी विशिष्टाद्वैतवादी हैं। उनका मत यह है, कि ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तियुक्त तथा निखिल कल्याणगुणके आश्रय हैं। सभी जीवात्मा ब्रह्मके अंश परस्पर भिन्न हैं तथा ब्रह्मके दास हैं। जगत् ब्रह्मकी शक्तिका विकाश वा परिणाम है, अतएव वह सत्य है। सर्वज्ञत्वादि गुणविशिष्ट ब्रह्म; सत्यत्वादि गुणविशिष्ट जगत् तथा किञ्चिज ज्ञत्व और धर्माधर्मादिगुणविशिष्ट जीवात्मा अभिन्न है अर्थात् जीवात्मा और जगत् ब्रह्मसे भिन्न हो कर भी भिन्न नहीं है। जीव भी ब्रह्मकी तरह अभिन्न नहीं है, परन्तु आदित्यके प्रभावकी तरह जीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, किन्तु ब्रह्म जीवसे अधिक है। जिस प्रकार प्रभासे आदित्य अधिक है; उसी प्रकार जीवसे ईश्वर अधिक है। ईश्वर सर्वशक्तिमान, समस्त कल्याणगुणके आकर, धर्माधर्मादिशून्य हैं; जीव उसका विपरीत है।

भेदाभेदवाद, द्वैताद्वैतवाद तथा अनेकान्तवाद विशिष्टाद्वैतवादका नामांतर मात्र है। इस मतका स्थूल तात्पर्य यह कि, ब्रह्म एक भी और अनेक भी हैं। वृक्ष जिस प्रकार अनेक शाखायुक्त होता है, ब्रह्म भी उसी प्रकार अनेक शक्तिके कारण विविध कार्य सृष्टियुक्त हैं। अतएव ब्रह्मका एकत्व और नानात्व दोनों ही सत्य हैं। वृक्ष जिस प्रकार वृक्षरूपमें एक है, शाखारूपमें अनेक है, समुद्र जिस प्रकार समुद्ररूपमें एक और फेनतरङ्गादिरूपमें अनेक है, मिट्टी जिस प्रकार मिट्टीके रूपमें एक और घट शरावादि रूपमें अनेक है, ब्रह्म भी उसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप एक और जगद्रूपमें अनेक हैं। जीवब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न होने पर भी ब्रह्मभाव नहीं हो सकता। किन्तु उपनिषदोंमें जीवको ब्रह्मभाव कहा है। फिर जीवके भी ब्रह्मका अत्यन्त अभेद होनेसे लौकिक और शास्त्रीय सभी व्यवहार विलुप्त होते हैं। क्योंकि, सभी व्यवहार भेदसापेक्ष हैं। लौकिक प्रत्यक्षादि व्यवहार, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानसाधनसे भिन्न नहीं हो सकते। धर्मानुष्ठानरूप शास्त्रीय व्यवहार और स्वर्गादि फल, कर्म, कर्त्ता, कर्मसाधन तथा कर्ममें अर्चनीय देवता ये सब भेदकी अपेक्षा करते हैं। भेदबुद्धि भिन्न ये सब व्यवहार नहीं हो सकते। फिर इन सब व्यवहारोंका अपलाप भी नहीं किया जा सकता। अतएव जीव, जगत् और ब्रह्म न अत्यन्त

भिन्न हैं और न अभिन्न, कुछ भिन्न और कुछ अभिन्न हैं। इस कारण ब्रह्म एक और अनेक दोनों हैं। उनमेंसे जब एकत्वांशका ज्ञान होता है, तब मोक्ष व्यवहार और जब भेदांशका ज्ञान होता है, तब लौकिक और वैदिक व्यवहार सिद्ध होता है।

शैवाचार्यों तथा अद्वैतवादियोंका कहना है, कि विशिष्टाद्वैतमत जो कहा गया वह नितांत असङ्गत है। क्योंकि, दो वस्तु एक ही समय परस्पर भिन्न और अभिन्न नहीं हो सकतीं। इसका वजह यह है, कि भेद और अभेद परस्पर विरोधी हैं। अभेद भेदका अभाव है। भेद और अभेदके अभावका एक समय एक वस्तुमें रहना असम्भव है। फिर कार्य्य कारण यदि अभिन्न हो, तो जगत् ब्रह्मसे अभिन्न हो सकता है। किंतु कार्य्य और कारणके अभिन्नसे जिस प्रकार मृत्तिकारूपमें घट शरावादिका तथा सुवर्णरूपमें कुण्डल मुकुटादिका एकत्व कहा जाता है उसी प्रकार घट शरावादि और कुण्डलमुकुटादिरूपमें भी एकत्व क्यों नहीं कहा जाता? अर्थात् घट शरावादि और कुण्डल मुकुटादिरूपमें जिस प्रकार नानात्व कहा जाता है, उस प्रकार उसी रूपमें एकत्व भी क्यों नहीं कहा जाता? क्योंकि मृत्तिका और घटशरावादि तथा सुवर्ण और कुण्डल मुकुटादिके अभिन्न होनेसे मृत्तिका सुवर्णादिका धर्म एकत्व घटशरावादि और कुण्डलमुकुटादिमें तथा घटशरावादि और कुण्डल मुकुटादिका धर्म नानात्व मृत्सुवर्णादिमें अवश्य है, इसे अस्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि कार्य्य और कारण जब एक हैं, तब एकत्व और नानात्वधर्म भी अवश्य कार्य्य और कारणगत होगा। इस स्वतःसिद्ध विषयमें और अधिक कहना अनावश्यक है।

किसी किसी आचार्यने इस दोषको हटानेके लिये अन्य प्रकारका सिद्धान्त किया है। उनका कहना है, कि भेद और अभेद अवस्थाभेदमें अवस्थित हैं। अर्थात् अवस्थाभेदमें एकत्व और नानात्व दोनों ही सत्य हैं। संसारावस्थामें नानात्व तथा मोक्षावस्थामें एकत्व है। अर्थात् संसारावस्थामें जीव और ब्रह्म भिन्न हैं तथा लौकिक और शास्त्रीय व्यवहार सत्य है। मोक्षावस्थामें जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं तथा उस समय लौकिक और शास्त्रीय सभी व्यवहार निवृत्त होते हैं। उन लोगोंका यह सिद्धान्त भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि ब्रह्मात्मभावबोधक श्रुतिमें अवस्थाविशेषका उल्लेख नहीं है। जीवका असंसारि ब्रह्मभेद सनातन है अर्थात् सर्वदा विद्यमान है, यही श्रुतिसे मालूम होता है। श्रुतिमें यह सिद्धकी तरह निर्दिष्ट हुआ है। श्रुतिवाक्यके अवस्थाविशेष अभिप्रायकी कल्पना करना निष्प्रयोजन है। 'तत्त्वमसि' इस श्रुतिबोधित जीवका ब्रह्मभाव किसी प्रकार प्रयत्न या चेष्टासाध्यरूपमें निर्दिष्ट नहीं होता। 'असि' इस पद द्वारा केवल स्वतःसिद्ध अर्थका प्रज्ञापन किया गया है।

अतएव जो कहते हैं, कि जीवका ब्रह्मभाव ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्य है, उनका सिद्धान्त भी सङ्गत नहीं। क्योंकि, छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है, कि कोई आदमी जब चोरके सन्देह पर राजपुरुष द्वारा पकड़ा जाता है और जब वह चोरीका दोष स्वीकार नहीं करता, तब शास्त्रानुसार तप्त परशु द्वारा उसकी परीक्षा की जाती है। यथार्थ चोर होने पर उसका शरीर जलने लगता है और राजपुरुष उसे पकड़ लेता है। क्योंकि उसने असत्य कहा है। चोरी करके भी उसने कहा है, कि मैं चोर नहीं। यह अनृताभिसन्धि ही उसके बन्धनका हेतु है।

फिर चोरी नहीं करनेसे तप्त परशु द्वारा वह नहीं जलता और राजपुरुष उसे छोड़ देता है। क्योंकि वह सत्याभिरुद्ध है अर्थात् उसने सत्य वचन कहा है। सत्याभिसंधि ही उसको मुक्तिका कारण है। उसी प्रकार नानात्मदर्शी अनृताभिसन्ध होनेके कारण बद्ध तथा एकत्वदर्शी सत्याभिसन्ध होनेके कारण मुक्त होता है। इससे स्पष्ट मालूम होता है, कि एकत्व सत्य है, नानात्व मिथ्या है। क्योंकि एकत्व तथा नानात्व यदि दोनों ही सत्य हों, तो नानात्वदर्शी अनृताभिरुन्ध नहीं हो सकता।

फिर एकत्व और नानात्व दोनोंके सत्य होने पर एकत्व ज्ञान द्वारा नानात्व निवर्त्तित नहीं हो सकता। क्योंकि यथार्थ ज्ञान अयथार्थ ज्ञानका तथा उस कार्यका निवर्त्तक हो सकता है; यथार्थ वा सत्य वस्तुका

निवर्त्तक नहीं हो सकता। रज्जु ज्ञान परिकल्पित सर्पका निवर्त्तक होता है, सुवर्णज्ञान कुण्डलादिका निवर्त्तक नहीं होता। एकत्व ज्ञान द्वारा नानात्व निवर्त्तित नहीं होनेसे मोक्षावस्थामें भी बन्धनावस्थाकी तरह नानात्व रहेगा। अतएव मुक्ति भी नहीं हो सकती।

वैष्णवाचार्यगण जिस प्रकार विशिष्टाद्वैतवादी हैं उसी प्रकार शैवाचार्यगण विशिष्ट शिवाद्वैतवादी हैं। उनका मत यह है, कि चित् और अचित् अर्थात् जीव और जड़रूप प्रपञ्चविशिष्ट आत्मा शिव अद्वितीय हैं। वे ही कारण है और फिर वही कार्य हैं, इसीका नाम विशिष्टशिवाद्वैत है। चिदचिद् सभी प्रपञ्च शिवनामक ब्रह्माका शरीर है। वे जीवकी तरह शरीर होते हुए भी जीवकी तरह दुःखभोक्ता नहीं है। अनिष्टभोगके प्रति शरीरसम्बन्ध कारण नहीं है। अर्थात् शरीरी होनेसे ही जो अनिष्ट भोग करता होगा, इसका कोई कारण नहीं है। पराधीनता अनिष्टभोगका कारण है। राजपुरुष राजपराधीन है। वे राजाकी आज्ञाका पालन नहीं करनेसे अनिष्ट भोग करते हैं। राजा पराधीन नहीं है, स्वाधीन हैं। वे शरीर होते हुए अपनी अपनी आज्ञाके अनुवर्त्तनके लिये अनिष्ट भोग नहीं करते। जीव ईश्वरपरवश है। ईश्वरकी आज्ञाका पालन नहीं करनेसे उन्हें अनिष्ट भोगना पडता है। ईश्वर स्वाधीन हैं, इस कारण उनका अनिष्ट भोग नहीं है। शरीर और शरीरीकी तरह गुण और गुणीकी तरह विशिष्टाद्वैतवाद शैवाचार्योंका अनुमत है।

मृत्तका और घटकी तरह, कार्यकारणरूपमें तथा गुण और गुणीकी तरह विशेषण विशेष्यरूपमें बिनाभावराहित्य ही प्रपञ्च और ब्रह्मका अनन्तत्व है। जिस प्रकार उपादान कारणके बिना कार्यका भाव अर्थात् सत्ता नहीं रहती, मृत्तिकाके बिना घट नहीं रहता, सुवर्णके बिना कुण्डल नहीं रहता, गुणीके बिना गुण नहीं रहता, उसी प्रकार ब्रह्मके बिना प्रपञ्च शक्ति नहीं रहती। उष्णताके बिना जिस प्रकार वह्नि जाननेका कोई उपाय नहीं उसी प्रकार शक्तिके बिना ब्रह्मको जानना असम्भव है। जिसके बिना जो नहीं जाना जाता वह तद्विशिष्ट है। गुणके बिना गुणी नहीं जाना जाता इसलिये गुणी गुणविशिष्ट है। प्रपञ्चशक्तिके बिना ब्रह्मको नहीं जाना जा सकता। इस कारण ब्रह्म प्रपञ्चशक्तिविशिष्ट है। यह उनका स्वभाव है। प्रपञ्च और ब्रह्मका भेद स्वाभाविक है। देवता तथा योगिगण जिस प्रकार कारणान्तरनिरपेक्ष हो कर भी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे अनेक प्रकारकी सृष्टि कर सकते हैं। ब्रह्म भी उसी प्रकार अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे नाना रूपोंमें परिणत हो सकते हैं। नाना रूपोंमें परिणत होने पर भी उनका एकत्व विलुप्त वा विकारित्व नहीं होता। अचिन्त्य अनन्त विचित्र शक्ति ब्रह्ममें अवस्थित है। सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके लिये कुछ भी असाध्य और असम्भव नहीं। अतएव यह सम्भव है और यह असम्भव, ऐसा विचार परमेश्वरके विषयमें हो नहीं सकता। लौकिक प्रमाण द्वारा जो सब वस्तु जानी जाती हैं, परमेश्वर उन सब वस्तुओंसे विजातीय हैं। वे केवलमात्र शास्त्रगम्य हैं। शास्त्रमें वे जिस प्रकार उपदिष्ट हुए हैं, वे उसी प्रकार हैं, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। लौकिक दृष्टान्तानुसार उस विषयमें विरोधशङ्का करना कर्त्तव्य नहीं। क्योंकि, वे लोकातीत वा अलौकिक हैं।

अलौकिक परमेश्वरके विषयमें लौकिक दृष्टान्त कुछ भी कार्य नहीं कर सकता। यह सहजमें जाना जाता है। परमेश्वरकी मायाशक्ति अचिन्त्य अनन्त विचित्रशक्तियुक्त है। उस प्रकारके शक्तियुक्त मायाशक्तिविशिष्ट परमेश्वर अपनी शक्तिके अंश द्वारा प्रपञ्चाकारमें परिणत तथा स्वतः वा स्वयं प्रपञ्चातीत हैं।

ब्रह्म प्रपञ्चाकारमें परिणत होते हैं, इस विषयमें प्रश्न हो सकता है, कि कृत्स्न अर्थात् समस्त ब्रह्म प्रपञ्चाकारमें परिणत होते हैं या ब्रह्मका एकदेश वा एकांश? इसके उत्तरमें यदि कहा जाये, कि कृत्स्न ब्रह्म जगदाकारमें अर्थात् कार्याकारमें परिणत होते हैं, तो मूलोच्छेद हो जाता है तथा ब्रह्मका द्रष्टव्यत्व उपदेश और उसके उपायरूपमें श्रवणमननादि तथा शमदमादिका उपदेश अनर्थक होता है। क्योंकि, कृत्स्न परिणामके पक्षमें कार्यातिरिक्त ब्रह्म नहीं है। कार्य अयत्नदृष्ट है, उनके दर्शनका उपदेश अनावश्यक है। इस कारण श्रवणमननादि वा शमदमादि भी अनावश्यक है। वरन् समस्त कार्य देखनेके लिये पदार्थतत्त्वकी आलोचना

तथा देशभ्रमणादि कर्त्तव्य हो सकता है। बल्कि साधन-सम्पत्ति इसकी विरोधिनी होती है। ब्रह्म यदि मृदादिकी तरह सावयव होते, तो उनका एकदेश कार्याकारमें और एकदेश यथावदवस्थित होता, ऐसी कल्पना की जा सकती थी। ऐसा होनेसे द्रष्टव्यत्वादिका उपदेश सार्थक होता। क्योंकि, कार्याकारमें परिणत ब्रह्मदेशके अयत्नदृष्ट होने पर भी अपरिणत ब्रह्मांश अयत्नदृष्ट नहीं। किन्तु ब्रह्मका अवयव स्वीकार नहीं किया जाता, क्योंकि ब्रह्म निरवयव हैं, यह श्रुतिसिद्ध है। ब्रह्मका अवयव स्वीकार करनेसे उस श्रुतिका विरोध उपस्थित होता है।

इसके उत्तरमें शैवाचार्यों ने कहा है, कि ब्रह्म शास्त्रैक-समधिगम्य हैं, प्रमाणान्तरगम्य नहीं। शास्त्रमें कहा है, कि ब्रह्मका कार्याकारमें परिणाम और निरवयवत्व है तथा बिना कार्यके ब्रह्मका अवस्थान है, अतएव उक्त आपत्ति हो ही नहीं सकती।

यह विशिष्टाद्वैतवादियोंका मत संक्षेपमें कहा गया, किन्तु भगवान् शङ्कराचार्य इस विशिष्टाद्वैतवादको स्वीकार नहीं करते। वे निर्विशेषाद्वैतवादी हैं। उन्होंने कई तरहसे नाना प्रकारकी श्रुति आदि प्रमाणों द्वारा इस मतका खण्डन कर अपना मत संस्थापन किया है।

बहुत संक्षेपमें उनका मत नीचे लिखा जाता है। वे कहते हैं, कि परिणामवाद किसी भी मतसे सङ्गत नहीं हो सकता। क्योंकि, कार्याकारमें परिणाम तथा अपरिणत ब्रह्मका अवस्थान ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। एक समय एक वस्तुका परिणाम और अपरिणाम हो नहीं सकता। उसी प्रकार सावयवत्व और निरवयवत्व परस्पर विरुद्ध है। एक पक्ष एक समय सावयव और निरवयव होगा, यह बिलकुल असम्भव है। असम्भव और विरुद्धका अर्थ श्रुति भी प्रतिपादन न कर सके हैं। योग्यता शब्दबोधकी अन्यतम कारण है। अतएव शब्द अयोग्य अर्थ प्रतिपादन करनेमें अक्षम है। "ग्रावाणः प्लवन्ते वनस्पतयः सत्रमासत" पत्थर जलमें तैरता है, वृक्षोंने यज्ञ किया था, इत्यादि असम्भावित अर्थोके बोधक अर्थवाद वाक्यका जिस प्रकार यथाश्रुत अर्थसे तात्पर्य्य नहीं है, दूसरे अर्थसे है; उसी प्रकार परिणामबोधक वाक्यका भी अर्थविशेषमें तात्पर्य्य कहना होगा।

ब्रह्म एक अंशमें परिणत तथा दूसरे अंशमें परिणत है; यह कल्पना भी समीचीन नहीं है। अभी प्रश्न हो सकता है, कि कार्याकारमें परिणत ब्रह्मांश ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है, तो ब्रह्मकी कार्याकारमें परिणत नहीं हुई। क्योंकि, कार्याकारमें परिणत ब्रह्मांश ब्रह्म नहीं, ब्रह्मसे भिन्न है। दूसरेके परिणाममें दूसरे-का परिणाम नहीं कहा जा सकता। मृत्तिकाके परिणाममें सुवर्णका परिणाम नहीं होता। फिर कार्याकारमें परिणति ब्रह्मांश यदि ब्रह्मसे भिन्न न हो अर्थात् अभिन्न हो, तो मूलोच्छेदकी आपत्ति उपस्थित होती है। परिणत अंश ब्रह्मसे अभिन्न होने पर परिणत अंश तथा ब्रह्म एक वस्तु होता है। अतएव सम्पूर्ण ब्रह्मका परिणाम अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि कहा जाय, कि परिणत ब्रह्मांश ब्रह्मसे भिन्नाभिन्न हैं अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न भी है और अभिन्न भी। परिणत ब्रह्मांश कारणरूपमें ब्रह्मसे अभिन्न है तथा कार्यरूपमें ब्रह्मसे भिन्न है। दूसरे दृष्टान्तमें कहा जा सकता है, कि कटकमुकुटादि सुवर्णरूपमें अभिन्न और कटकमुकुटादिरूपमें भिन्न है। इस सम्बन्धमें भी पहले ही लिखा जा चुका है।

भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध पदार्थ है। वह एक समय एक वस्तुमें नहीं रह सकता। कार्याकारमें परिणत अंश होता है, ब्रह्मसे भिन्न होगा या नहीं तो अभिन्न होगा। भिन्न भी होगा और अभिन्न भी होगा, ऐसा हो नहीं सकता। फिर यह भी विचारनेकी बात है, कि ब्रह्म स्वभावतः अमृत हैं, वे परिणामक्रमसे मर्त्यता को प्राप्त होंगे, यह हो नहीं सकता। फिर मर्त्यजीव अमृत ब्रह्म होगा, यह भी नहीं हो सकता। अमृत मर्त्य नहीं होता और न मर्त्य ही अमृत होता है। किसी भी मतसे स्वभावकी अन्यथा नहीं हो सकती। जो कहते हैं, कि शास्त्रानुसार कर्म और ज्ञान इन दोनोंके अनुष्ठान द्वारा मर्त्यजीवका अमृतत्व होगा; उनका भी मत असङ्गत है। क्योंकि, स्वभावतः अमृत ब्रह्मकी भी यदि मर्त्यता हो, तो मर्त्यजीवका कर्मज्ञान समुच्चयसाध्य अमृतभाव होगा

अर्थात् मोक्षावस्था स्थायी होगी, यह दुराशामात्र है।

भगवान् शङ्कराचार्यने इत्यादिरूपसे द्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद आदिको निराकरण करके ब्रह्मविवर्त्तवाद-स्थापन किया है। उनके मतसे ब्रह्म शुद्ध या निर्विशेष है, प्रपञ्च सत्य नहीं है, रज्जुसर्पादिकी तरह मिथ्या है। अतएव ब्रह्ममें कोई विशेष वा धर्म नहीं है। निर्विशेष ब्रह्म अद्वितीय है। प्रपञ्च जब मिथ्या ब्रह्मकी अतिरिक्त वस्तु है, इसलिये सत्य नहीं है, तब ब्रह्म अद्वितीय है, इसमें जरा भी संदेह नहीं। जीव ब्रह्म-भिन्न नहीं है। कहा गया है कि—

"श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव केवलम्॥"

कोटिग्रन्थमें जो लिखा है, कि मैं श्लोकार्द्ध द्वारा उसे कहूंगा। वह इस प्रकार है,—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है। यह शुद्धाद्वैतवाद वा निर्विशेषाद्वैतवाद भगवान् शङ्कराचार्यका अभिमत है।

श्रुतिमें लिखा है, कि "सदैव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" (श्रुति) यह जगत् सृष्टिके पहले सन्मात्र था, नाम रूप कुछ भी न था, समस्त एकमात्र तथा अद्वितीय था। एकं, एव, अद्वितीयं इन तीन पदों द्वारा सद्वस्तुमें तीनों भेद निवारित हुए हैं। अनात्मा वा जगत्में तीन प्रकारके भेद देखनेमें आते हैं, स्वगतभेद, सजातीयभेद और विजातीयभेद। अवयवके साथ अवयवीका भेद स्वगतभेद है; पत्र, पुष्प और फलादिके साथ वृक्षका जो भेद है उसे भी स्वगतभेद कहते हैं। यहां यह माना गया, कि पुष्प और फलादि भी वृक्षका अवयवविशेष हैं। एक वृक्षका दूसरे वृक्षसे भेद अवश्य है। इस भेदका नाम है सजातीयभेद। क्योंकि, उस भेदके प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों ही वृक्ष जातिके हैं। शिलादिसे वृक्षका भेद विजातीयभेद है।

अनात्म वस्तुकी तरह आत्मवस्तुमें भी इन तीनों भेदोंकी आशङ्का हो सकती है। इस आशङ्काको दूर करनेके लिये 'एकमेवाद्वितीयं' कहा गया है। 'एक' इस पद द्वारा स्वागतभेद, 'एव' पद द्वारा सजातीयभेद तथा 'अद्वितीयं' इस पद द्वारा विजातीयभेद निराकृत हुआ है।

जो एक है अर्थात् निरंश या निरवयव है, उसका स्वगत भेद नहीं हो सकता। क्योंकि, अंश वा अवयव द्वारा ही स्वगतभेद हुआ करता है। सद्वस्तुके अवयव नहीं है, क्योंकि जो सावयव है, उसकी उत्पत्ति अवश्य होगी। सभी अवयवोंके परस्पर संयोग वा सन्निवेशके पहले सावयव वस्तुकी उत्पत्ति होती है, यह कहना पड़ेगा। अतएव सावयव वस्तुकी उत्पत्ति है। जिसकी उत्पत्ति है वह जगत्का आदिकारण नहीं हो सकता। क्योंकि उसकी उत्पत्ति कारणान्तरसापेक्ष है। अब यह सिद्ध हुआ कि आदिकारण वा सद्वस्तुके अवयव नहीं है। जिसके अवयव नहीं, उसका स्वगतभेद असम्भव है।

नाम और रूप भी सद्वस्तुके अवयवरूपमें कल्पित नहीं हो सकता। नाम या घटशरावादि संज्ञा, रूप या घटशरावादिका आकार, नाम और रूपके उद्भवका नाम सृष्टि है। सृष्टिके पहले नाम और रूपका उद्भव नहीं होता। अतएव नाम और रूपकी अंशरूपमें कल्पना करके उससे सद्वस्तुका स्वगतभेद समर्थन नहीं किया जा सकता।

सद्वस्तुका सजातीयभेद भी असम्भव है। क्योंकि सद्वस्तुकी सजातीय वस्तु सत्स्वरूप होगी। सत्पदार्थ एकमात्र है, कारण सत्, सत, इस प्रकार एक आकारमें प्रतीयमान वस्तु एक ही होगा, नाना नहीं हो सकती। दो सत्पदार्थ माननेसे उनका परस्पर वैलक्षण्य मानना होता है। सत्पदार्थके स्वाभाविक वैलक्षण्य नहीं है। अतएव अन्य सत्पदार्थकी कल्पनाका कोई प्रमाण नहीं है। सत्पदार्थके एकमात्र होनेसे, अतएव दूसरे सत्पदार्थके नहीं रहनेसे सत्पदार्थका सजातीयभेद रहना बिलकुल असम्भव है।

स्वगतभेद तथा सजातीयभेदकी तरह सत्पदार्थका विजातीयभेद भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जो सत्का विजातीय है, वह सत् नहीं असत् है, जो असत् है, उसका अस्तित्व नहीं है, वह भेदका प्रतियोगी नहीं हो सकता। जो विद्यमान है, वह दूसरी वस्तुसे भिन्न है तथा दूसरी वस्तु उससे भिन्न नहीं हो सकती। जिसका अस्तित्व है, वह कुछ भी नहीं है। उस भेदका प्रतियोगी वा अनुयोगी कुछ भी नहीं हो सकता। अतएव सत्पदार्थका विजातीयभेद अज्ञात पुत्रके नामकरणकी तरह अलीक है।

फलतः सृष्टिके पूर्वका अद्वैतत्व कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। जो वस्तुगत्या अद्वैत है, वह किसी भी कालमें द्वैत नहीं हो सकता। वस्तुका अन्यथाभाव असम्भव है। आलोक कभी अन्धकार नहीं होता, अन्धकार कभी आलोक नहीं होता। वास्तविकभेद और अभेद दोनोंके परस्पर विरोधी होनेसे वे सत्य नहीं हो सकते। इसका एक सत्य और एक मिथ्या कल्पित होगी। सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर मालूम होगा, कि अभेद सत्य, भेद मिथ्या, अभेद या एकत्व और भेद नानात्व है। एकाधिक वस्तु ले कर नानात्वका व्यवहार होता है। उनमेंसे प्रत्येक वस्तु एक है, अतएव एकत्व व्यवहार अन्य निरपेक्ष और नानात्व व्यवहार एकत्व सापेक्ष है। भेद अभेदसे दुर्बल है। अतएव अभेद सत्य, भेद मिथ्या आदि अनेक प्रकारकी युक्तियों द्वारा द्वैत और विशिष्टाद्वैतवाद निराकृत हुआ है। (वेदान्तद०)

वेदान्त शब्दमें विशेष विवरण देखो।

विशिष्टाद्वैतवादिन् (सं० त्रि०) विशिष्टं युक्तं मिलितं अद्वैतं वदतीति वद-णिनि। जो विशिष्टाद्वैतवाद स्वीकार करते हों, रामानुज आदि विशिष्टाद्वैतवादी।

विशिष्टी (सं० स्त्री०) शङ्कराचार्यकी माता।

विशीर्ण (सं० त्रि०) वि-शॄ-क्त। १ शुष्क, सूखा। २ कृश, दुबला,-पतला। ३ बहुत पुरातन, जीर्ण। ४ विश्लिष्ट, विघटित, पतित।

विशीर्णपर्ण (सं० पु०) विशीर्णानि पर्णानि यस्य। निम्बवृक्ष, नीमका पेड़।

विशीर्षन् (सं० त्रि०) मस्तकविहीन, बिना सिरका।

(शतपथब्रा० ४।१।५ १५)

विशील (सं० त्रि०) १ दुःशील, जिसका शील या चरित अच्छा न हो। २ दुष्ट, पाजी।

विशुक्र (सं० पु०) श्वेतार्क, सफेद अकवन।

विशुण्ड (सं० पु०) कश्यपके एक पुत्रका नाम।

विशुद्ध (सं० त्रि०) विशेषेण शुद्धः, वि शुध-क्त। १ शुचि, पवित्र, निर्मल, निर्दोष, जिसमें किसी प्रकारकी मिलावट न हो। पर्याय—उज्ज्वल, विमल, विशद, वीध्र, अवदात, अनाविल, शुचि। (हेम) २ निभृत। ३ सत्य, सच्चा। (अजयपाल) (पु०) ४ तन्त्रके अनुसार शरीरके अन्दरके छः चक्रोंमेंसे पांचवा चक्र। यह गलेमें अवस्थित है। यह अकारादि षोड़श स्वरयुक्त और धूम्रवर्णका होता है। इसमें सोलह पद्मदल होते हैं। उन १६ दलोंमें अकारादि १६ स्वरवर्ण हैं। इस चक्रमें शिव तथा आकाश निवास करते हैं। (तन्त्रसार)

विशुद्धगणित—(Pure Mathamatics) वह गणित जिससे पदार्थके साथ कोई सम्बन्ध न रख कर केवल राशिका निरूपण किया जाता है।

विशुद्धचारित्र (सं० पु०) १ बोधिसत्त्वभेद। (त्रि०) २ जिसका चरित्र बहुत शुद्ध हो।

विशुद्धचारिन् (सं० त्रि०) विशुद्धं चरति चर-णिनि। विशुद्ध भावमें विचरणकारी, शुद्धाचारी, जिसका चरित्र बहुत शुद्ध हो।

विशुद्धता (सं० स्त्री०) विशुद्धस्य भावः तल् टाप्। विशुद्ध होनेका भाव या धर्म, पवित्रता, शुचिता, उज्ज्वलता, विशुद्धि।

विशुद्धत्व (सं० त्रि०) विशुद्धता देखो।

विशुद्धसिंह—बौद्धभेद।

विशुद्धि (सं० स्त्री०) वि-शुध-क्तिन्। पवित्रता, शोधन।

मनु आदि शास्त्रोंमें इसका पूरा विवरण है, कि कोई पदार्थ किसी तरह अपवित्र हो जाने पर उसकी शुद्धि किस तरह होगी। यहां उसकी संक्षिप्त आलोचना की जाती है।

नानाविध वस्तुओंकी शोधनप्रणाली—चांदी, सोना आदि धातु द्रव्य, मरकत आदि मणिमय पदार्थ और सभी पाषाणके पदार्थ भस्म और जल अर्थात् मिट्टी या जल द्वारा शुद्ध होते हैं। शङ्ख, मुक्ता आदि पदार्थ जलज, पाषाणमय पात्र और रौप्यपात्र यदि रेखायुक्त न हों, तो जल द्वारा धो देनेसे शुद्ध हो जाते है। जल और अग्निके संयोगसे सोना चांदीकी उत्पत्ति हुई है। इसी कारणसे सोना और चांदी अपने उत्पत्तिस्थान जलसे शुद्ध हो जाते हैं।

तांबा, लोहा, कांसा, पीतल, रांगा और सीसाके पात्र, भस्म, खटाई और जलसे शुद्ध होते रहते हैं। अर्थात् लोहा जल द्वारा, कांसा भस्म द्वारा, तांबा और पीतल खटाईसे शुद्ध होता है। घृत तैल द्रव द्रव्य यदि काक

कीट आदि द्वारा अशुद्ध हो गये हों, तो प्रादेशप्रमाण कुशपत्र द्वारा हिला देने पर विशुद्ध हो जाते हैं। शय्यादिकी तरह सूत संयुक्त संहतद्रव्य जलके छींटेसे और काष्ठमय द्रव्य अत्यन्त उपहत हो जाने पर ऊपरसे उसको तरास देनेसे शुद्ध हो जाते हैं। यज्ञीय चमस अर्थात् जलपात्रग्रह (सोमलताका पात्र) और अन्यान्य पात्रोंको पहले हाथसे मांज कर पीछे धो देने पर विशुद्ध हो जाते हैं। चरुस्थाली, स्रुक्, स्रुव, स्फय, (खड्गाकार काष्ठ) शूर्प, शकट, मूषल, ओखल आदि यज्ञीय द्रव्य घृततैल आदिसे स्नेहाक्त कर गर्म जलसे धो डालने पर शुद्ध हो जाते हैं।

धान्य-भाण्डार या वस्त्र-भाण्डार किसी तरह अशुद्ध हो जाने पर जलका छींटा मारनेसे उनकी शुद्धि हो जाती है। किन्तु यदि वे अल्प मात्रामें हों, तो उनको जलसे धो देनेसे ही शुद्ध होगा। पादुका (जूते) आदि स्पृश्य पशुचर्म और बेंत बांसके बने आसन आदिकी शुद्धि वस्त्रकी तरह ही होगी। फिर शाक मूल और फल ये धान्यकी तरह शुद्ध करने होंगे। कौषेय अर्थात् रेशमी कपड़े, आविक अर्थात् पशुलोमनिर्मित कम्बल आदि क्षार और मिट्टी द्वारा शुद्ध होते हैं। कुतप अर्थात् नेपाल देशका कम्बल आदि नीमफलके चूर्णसे, अंशुपट्ट (वल्कलविशेषका वस्त्र बेलके गूदेसे और क्षौम अर्थात् अतसी (तीसी)-के पौधेके छिलकेसे बने वस्त्र सफेद सरसोंके चूर्णसे विशुद्ध होता है। तृण, इंधनकी लकड़ी, पलाल ये सब जलसे छींटा मारनेसे साफ और विशुद्ध हो जाते हैं। मार्जन और गोमयादि लेपन द्वारा गृहशुद्धि और मृण्मयपात्र पुनर्वार पाक द्वारा विशुद्ध होते हैं। सम्मार्जन, गोमय आदि द्वारा विलेपन, गोमूत्रादि सिञ्चन, उल्लेखन (छिछोर कर फेंकना) और एक दिन रात गाभीरवास इन पांच प्रकारसे भूमिकी शुद्धि होती हैं।

पक्षी द्वारा उच्छिष्ट, गो द्वारा आघ्रात, वस्त्राञ्चल या पैर द्वारा स्पृष्ट, अवक्षुत अर्थात् जिसके ऊपर थूक आदि पड़ा हो और जो बाल कीड़े जू आदि द्वारा दूषित हुआ हो, ऐसा खाद्य द्रव्य मिट्टीके प्रक्षेपसे शुद्ध हो जाता है।

विष्ठा और मूत्र द्वारा लिप्त द्रव्यमें मिट्टीसे अच्छी तरह मांज लेनेसे शुद्ध हो जाता है। पहले तो अदृष्ट अर्थात् जिस द्रव्यका उपघात या संस्पर्शदोष मालूम नहीं होता, दूसरे जो जल द्वारा प्रक्षालित हुआ है और तीसरा शिष्ट व्यक्ति जिसे पवित्र कहते हैं, वह विशुद्ध जानना होगा।

ज्ञान, तपस्या, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल, उपाञ्जन अर्थात् गोमय आदि अनुलेपन, वायु, कर्म, सूर्य और काल ये ही सब देहधारियोंकी विशुद्धिके कारण हैं। देह मलादि शुद्धिकर समुदाय पदार्थोंके भीतर अर्थशुद्धि अर्थात् अर्थार्जन विषयमें अन्याय या स्वधर्म परित्याग न करनेको शास्त्रकारोंने परम विशुद्धि कह कर निर्देश किया है। जो अर्थार्जन विषयमें विशुद्ध हैं, वे ही यथार्थमें विशुद्ध नामसे अभिहित होने योग्य हैं। मिट्टी या जल द्वारा देह शुद्ध करनेको यथार्थ शुद्धि नहीं कही जाती।

विद्वान् व्यक्ति क्षमा द्वारा, अकार्य्यकारी दान द्वारा, प्रच्छन्न पापी जप द्वारा और वेदविद् ब्राह्मणगण तपस्या द्वारा विशुद्धि लाभ करते हैं। शोधनीय वाह्य द्रव्य अर्थात् यह देह मिट्टी और जल आदि द्वारा शुद्ध होती है। मलवहा नदी स्रोतवेगसे शुद्ध होती है। मनोदुष्टा अर्थात् परपुरुषमें मैथुनसङ्कल्पके दोषमें दूषितमना रमणी रजस्वला होने पर शुद्ध होती है और त्याग द्वारा या प्रव्रज्या द्वारा द्विजोत्तम विशुद्ध होते हैं। जलके द्वारा देहशुद्धि, सत्यसे मनकी वृद्धि, विद्या और तपस्याके बलसे जीवात्मा शुद्ध होती है तथा ज्ञान द्वारा बुद्धिकी वृद्धि होती है।

जातिका या गैर जातिके किसी भी रथीके साथ श्मशानमें जाने पर वस्त्र समेत स्नान करने तथा अग्नि स्पर्श कर घृत भोजन करनेसे शुद्ध होता है। जो चीज बाजारमें बेचनेके लिये फैलाई गई है, वह तरह-तरहके आदमियोंके छू जाने पर भी विशुद्ध है। ब्रह्मचारी जो भिक्षा लाभ करते हैं, वह परम पवित्र है। (मनु ५ अ०)

विष्णुसंहितामें द्रव्यादिकी शुद्धिका इस तरह विधान है—

अत्यन्तोपहत सब धातुमात्र हो अग्निमें प्रक्षिप्त होने पर विशुद्ध होता है। मणिमय, प्रस्तरमय और शङ्खमय पात्र ७ दिन भूमिमें निखात होनेसे विशुद्ध होता

है। शृङ्गमय, दन्तमय और अस्थिमय पात्र तक्षण द्वारा शुद्ध होता है और दारुमय तथा मृन्मय पात्र परित्यज्य हैं अर्थात् इनकी विशुद्धि नहीं होती। किसी तरहसे दूषित होनेसे पात्र फेंक देने चाहिये। सुवर्णमय, रजतमय, शङ्खमय, मणिमय और प्रस्तरमय पात्र तथा चमस इन सब पात्रोंमें निर्लेप होने पर अर्थात् उनमें मल न लगे रहने पर जल द्वारा शुद्ध होते है। धान्य, चर्म, रस्सी, तन्तुनिर्मित वस्त्र, व्यञ्जनादि, वैदल, सूत्र, कपास और वस्त्र—ये सब द्रव्य अधिक होनेसे प्रोक्षण द्वारा शुद्ध होते हैं। शाक, मूल, फल और पुष्प, तृण और काष्ठ प्रभृति भी इसी नियमसे विशुद्ध होते हैं। ये द्रव्य यदि कम हों, तो इनको धो डालनेसे यह शुद्ध हो जाते हैं। काष्ठ-निर्मित पात्र तक्षण द्वारा, पीतल, तांबे, रांगे सीसेके पात्र खटाई द्वारा साफ होते हैं। कांसे और लोहेके पात्र भस्म द्वारा साफ होते हैं। देवप्रतिमा किसी कारणवश यदि दूषित हो, तो जिस चीजके द्वारा वह निर्मित हुई हो, उस द्रव्यकी शुद्धिके नियमके अनुसार उसे विशुद्धि कर पुनः प्रतिष्ठा करनेसे उसकी शुद्धि होती है।

कौषेय वस्त्र, कम्बल या पशमीने कपड़े राख मिट्टीके संयोगसे, पहाड़ी बकरेके रोएंसे बने कम्बल अरिष्ट द्वारा, वल्कलतन्तु निर्मित अंशुपट्ट बिल्वफल द्वारा, क्षौमवस्त्र गौरसर्षप (सफेद सरसों) द्वारा, मृगलोमजात राङ्कवादि वस्त्र पद्मबीज द्वारा विशुद्ध होते हैं।

मृतव्यक्ति मात्रके बान्धवोंके साथ मिल कर अश्रुपातकारी व्यक्ति स्नान करनेसे विशुद्ध होते हैं। हड्डी एकत्र करनेसे पहले जो वस्त्र पहन कर हड्डी एकत्र की जाय, उस वस्त्रके साथ स्नान करनेसे वह व्यक्ति विशुद्ध होता है। द्विज शूद्रशवके साथ अनुगमन करने पर नदीमें जा कर गोता लगा कर तीन बार अघमर्षण जप करनेके बाद ऊपर उठ कर अष्टोत्तर सहस्र गायत्री जप करनेसे और द्विजके शवके साथ अनुगमन करने पर स्नान कर अष्टोत्तर शत गायत्री जप करनेसे विशुद्ध होते हैं। शूद्र शवानुगमन करे, तो केवल स्नानसे विशुद्ध हो सकता है। चिताधूम सेवन करनेसे सब वर्णोंको स्नान करना चाहिये, तभी वे विशुद्ध होंगे। मैथुन करने, दुःस्वप्न देखने, कण्ठसे रक्त निकलने, वमन, रेचन, हजामत (क्षौरकर्म) बनाने, शवस्पर्श, रजस्वलास्पर्श, चण्डालस्पर्श, वृषोत्सर्गीय यूपस्पर्श, भक्ष्यभिन्न पञ्चनख शवस्पर्श, वसा और मेधादियुक्त अस्थिस्पर्श करनेके बाद स्नान करनेसे विशुद्धि प्राप्त होती है। पहने हुए वस्त्रके साथ स्नान करने पर विशुद्धि होती है। वस्त्र त्याग कर स्नान करनेसे विशुद्धि नहीं होती। रजस्वला नारी चौथे दिन स्नान करनेसे विशुद्ध होती है।

क्षवण (छींक), निद्रा, अध्ययनारम्भ; भोजनारम्भ, पान स्नान, निष्ठीवन, वस्त्रपरिधान, अध्वसञ्चरण, मूत्रत्याग, पञ्चनखके अस्नेह अस्थिस्पर्श, चण्डाल या म्लेच्छोंके साथ सम्भाषण इन सब कामोंके करनेके बाद आचमन करना चाहिये। इससे ही लोग विशुद्ध होते हैं।

(विष्णु सं० १२ अ०) शौच शब्द देखो।

विशुद्धिचक्र (सं० क्लो०) धारणीभेद।

विशुद्धेश्वर (सं० क्लो०) तन्त्रभेद।

विशुष्क (सं० त्रि०) विशेषेण शुष्कः। १ विशेषरूपसे शुष्क, बहुत सूखा। २ नीरस। ३ म्लान।

विशूचिका (सं० स्त्री०) विसूचिका रोग। विसूचिका देखो।

विशून्य (सं० त्रि) विशेषरूपसे शून्य।

विशूल (सं० त्रि०) १ शूलनाशक। २ अस्त्रविवर्जित।

विशृङ्खल (सं० त्रि०) विगता शृङ्खला यस्य। १ शृङ्खला-रहित, जिसमें शृङ्खला न हो या न रह गई हो। २ अवाध्य, जो किसी प्रगट दबाया या रोका न जा सके। ३ दुर्दान्त। ४ अबद्ध, शृङ्खलशून्य।

विशृङ्खला (सं० स्त्री०) विशृङ्खल देखो।

विशृङ्ग (सं० त्रि०) जिसे शृङ्ग न हो, शृङ्गरहित।

विशेष (सं० पु०) वि-शिष घञ्। १ प्रभेद, वैलक्षण्य। २ प्रकार, किस्म। (जटाधर) ३ नियम, कायदा। ४ वैचित्र्य। ५ व्यक्ति। ६ सार। ७ प्रकार। ८ तारतम्य, न्यूनाधिक्य। ९ आधिक्य। १० अवयव। ११ द्रष्टव्यद्रव्य। १२ तिलक। (हेम) १३ कणादोक्त सप्त पदार्थोंके अन्तर्गत पदार्थ विशेष।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव यही सात पदार्थ हैं। विशेष पदार्थोंकी आलोचना रहनेसे ही कणादकृत दर्शनका नाम वैशेषिक है।

गुण कर्मभिन्न एकमात्र समवेत पदार्थका नाम विशेष है। जलीय परमाणुके रूप आदि गुण और कर्म एकमात्र समवेत होने पर भी गुण कर्मभिन्न नहीं, सामान्य पदार्थ गुणकर्मभिन्न हैं, अथच समवेत होने पर भी एकमात्र समवेत नहीं। कोई अभाव, गुणकर्म भिन्न और एकमात्र वृत्ति होने पर भी समवेत नहीं। इसीलिये इनको विशेष पदार्थ कहा नहीं जाता। विशेष पदार्थ स्वीकार करनेकी युक्ति यह है, कि द्व्यणुकसे आरम्भ करके अन्त्य अवयवी अर्थात् घटादि तक, समस्त सावयव द्रव्यके तत्तत् परमाणुद्वयके परस्पर भेद भी अवश्य ही किसी धर्म द्वारा सम्पन्न होगा। मूंग और उड़द यथाक्रम आरम्भक मूंगके परमाणु और उड़दके परमाणु अवश्य ही भिन्न भिन्न हैं। यहां परस्परभेदका धर्म क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहना पड़ता है, कि मूंगका आरम्भक परमाणु और उड़दका आरम्भक परमाणु समानरूपके होने पर भी दोनों परमाणुओंमें भिन्न भिन्न असाधारण धर्म है। इसके द्वारा दोनों परमाणु परस्पर भिन्न होते हैं। ये भिन्न भिन्न असाधारण धर्म ही विशेष पदार्थ कहे गये हैं। विशेष पदार्थ सावयव द्रव्यवृत्ति नहीं है, निरवयव द्रव्यमात्र वृत्ति है। कई परमाणु मूंग मात्रके आरम्भक होनेसे उड़दमें नहीं रहते। कई परमाणु उड़द मात्रके आरम्भक होनेसे मूंगमें नहीं रहते और कई परमाणु मूंग और उड़द दोनोंके ही आरम्भक हैं अतः ये मूंग और उड़द दोनोंमें ही रहते हैं। इसीलिये मूंग और उड़द परस्पर भिन्न होने पर भी अधिकतर सामान्य आकारके हैं।

१४ अर्थालंकारविशेष।

यदि आधेय आधारशून्य हो या एक वस्तु अनेक आदमियोंको दिखाई दे, अथवा समर्थ हो किसी एक काम करनेमें दैवात् यदि उसका वह काम हो जाये, तभी विशेष अलंकार होता है। तीन कारणोंसे विशेष अलंकार भी तीन तरहके हैं। (साहित्यद० १०।३२६)

१५ पृथ्वी। (भागवत २।५।२६) (त्रि०) १६ अतिशय, बहुत।

विशेषक (सं० पु० क्ली०) विशेष एव स्वार्थे कन्। १ कृत तिलक, माथे पर लगाया जानेवाला तिलक, टीका। (माघ ३।६३) (पु०) २ तिलकवृक्ष, तिलपुष्पी। ३ चित्रक। ४ तमालपत्र। (क्ली०) ५ पद्यविशेष। जहां तीन श्लोकोंका एकत्र अन्वय होता है वहां उसे विशेषक कहते हैं। तीन श्लोकोंके मध्य एक क्रिया रहेगी, उसी क्रिया द्वारा श्लोकका अन्वय होगा। (त्रि०) ६ विशेषयिता, विशेषरूप देनेवाला।

विशेषज्ञ (सं० त्रि०) विशेषं जानाति ज्ञ-क। जिसे किसी विषयका विशेष ज्ञान हो, किसी विषयका पारदर्शी।

विशेषकच्छेद्य (सं० क्ली०) विशेषकैः छेद्यं। चौंसठ कलाओंमेंसे छठों कला।

विशेषगुण (सं० पु०) विशेषो गुणः। बुद्धि आदि छः विशेष गुण। वैशेषिक दर्शनके मतसे गुण २४ प्रकारका है। जैसे,—रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व; बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द। इनके मध्य बुद्धिसे छः अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और यत्न विशेष गुण कहलाते हैं। (भाषापरि०)

विशेषण (सं० क्ली०) विशिष्यतेऽनेनेति वि-शिष-ल्युट्। १ विशेष्यधर्म, प्रभेदकारक गुण, वह जो किसी प्रकारकी विशेषता उत्पन्न करता या बतलाता हो। २ व्याकरणमें वह विकारी शब्द जिससे किसी संज्ञाकी कोई विशेषता सूचित होती है अथवा उसकी व्याप्ति मर्यादित होती है अर्थात् जिसके विशेष्यका गुण वा धर्म प्रकट हो, उसे विशेषण कहते हैं। यह विशेषण तीन प्रकारका है,—विशेष्यका विशेषण, विशेषणका विशेषण और क्रियाविशेषण। जहां विशेष्यका गुण वा धर्म प्रकट हो, वहां विशेष्य विशेषण और जहां विशेषणका गुण वा धर्म प्रकट हो वहां विशेषणका विशेषण और जहां क्रियाका गुण या धर्म प्रकट हो, वहां क्रियाविशेषण होता है।

इस विशेषणके भी फिर तीन भेद हैं,—व्यावर्त्तक, विधेय और हेतुगर्भ। यथा—नील घट, यहां पर घट नीला है, यह व्यावर्त्तक विशेषण हुआ। वह्निमान् पर्वत, यहां वह्निमान् यह विधेयका विशेषण है। सुरापायी पतित होता है, यहां सुरापायी हेतुगर्भ विशेषण है

३ चिह्न। ४ अतिशय कारण।

विशेषता (सं० स्त्री०) विशेषस्य भावः तल्-टाप्। विशेषका भाव या धर्म, खासपन।

विशेषत्व (सं० क्ली०) विशेषता देखो।

विशेषमति (सं० पु०) बोधिसत्वभेद।

विशेषमित्र (सं० पु०) बौद्ध यतिभेद।

विशेषवत् (सं० त्रि०) विशेष-अस्त्यर्थे मतुप् मस्य व। १ विशेषयुक्त, विशेषविशिष्ट। २ विशेषकी तरह।

विशेषविधि (सं० पु०) विशेषो विधिः। अल्पविषयकविधि जिसके विषय अनेक हैं, उसका नाम सामान्यविधि और जिसके विषय कम हैं उसका नाम विशेषविधि है। सामान्यविधिसे विशेषविधि बलवान्।

विशेषव्याप्ति (सं० स्त्री०) विशेषः असामान्या व्याप्तिः। व्याप्तिभेद। (चिन्तामणि) व्याप्ति शब्द देखो।

विशेषाधिगम (सं० पु०) विशिष्ट ज्ञान।

विशेषित (सं० त्रि०) वि-शिष्-णिच्-क्त। १ भिन्न, व्यवच्छिन्न, जो खास तौर पर अलग किया गया हो। २ विशेषण द्वारा निर्णीत। ३ जिसमें विशेषण लगा हो।

विशेषिन् (सं० त्रि०) विशेष अस्त्यर्थे इनि। १ विशेषतायुक्त, जिसमें कोई विशेष बात हो। २ अव्यवस्थित परिमाणादि अनेक भेदयुक्त।

विशेषी (सं० त्रि०) विशेषिन् देखो।

विशेषोक्ति (सं० स्त्री०) विशेषेणोक्तिः। १ काव्यका अर्थालङ्कारभेद। जिसमें पूर्ण कारणके रहते हुए भी कार्यके न होनेका वर्णन रहता है। (साहित्यद० १०।७१७)

जो धनी हो कर भी निरुन्माद अर्थात् अहङ्कारशून्य हैं, जो युवा हो कर भी अचञ्चल है, प्रभु हो कर भी विमृश्यकारी हैं, वे ही महामहिमशाली हैं। यहां कारण है, पर कार्यका अभाव है। क्योंकि धन रहनेसे ही लोग प्रायः अहङ्कारी होते हैं, यहां अहङ्कारका कारण धन रहते हुए भी कार्य जो अहङ्कार है सो नहीं, अतएव यहां कारणके रहते हुए भी कार्यका अभाव हुआ है, इस कारण विशेषोक्ति हुई।

२ विशेषरूपसे कथन, असाधारण अवस्थादिवर्णन।

विशेष्य (सं० त्रि०) विशिष्यते गुणादिभिरिति-वि शिष-ण्यत्। १ गुणादि द्वारा भेद्य, व्यवच्छेद्य। २ प्रधान, श्रेष्ठ। ३ आदिम, आदिकारण। (पु०) ४ व्याकरणमें वह संज्ञा जिसके साथ कोई विशेषण लगा होता है। जैसे—मोटा आदमी या काला कुत्तामें 'आदमी' और 'कुत्ता' विशेष्य हैं।

विशेष्यासिद्ध (पु०) विशेष्येण असिद्धः। वह हेत्वाभास जिसके द्वारा स्वरूपकी असिद्धि हो। हेत्वाभास देखो।

विशोक (सं० पु०) विगतः शोको यस्मात्। १ अशोक वृक्ष। २ शोकाभाव, शोकका अभाव। (भागवत १।१०।७) ३ युधिष्ठिरका अनुचरविशेष। (भारत ३।३३।३०) ४ ब्रह्माका मानसपुत्रभेद (लिङ्गपु० १२ अ०) (त्रि०) ५ शोकरहित, जिसे शोक न हो।

विशोकता (सं० स्त्री०) विशोकस्य भावः तल-टाप्। विशोकका भाव या धर्म।

विशोकदेव (सं० पु०) राजभेद।

विशोकद्वादशी (सं० स्त्री०) विशोका द्वादशी। द्वादशी तिथिभेद, शोकरहिता द्वादशी।

विशोकपर्वन् (सं० क्ली०) महाभारतके अनुशासन पर्वके अन्तर्गत पर्वविशेष।

विशोकषष्ठी (सं० स्त्री०) विशोका षष्ठी। षष्ठीतिथिभेद, अशोकषष्ठी। चैत्रमासकी शुक्लाषष्ठीका नाम अशोकषष्ठी है। इस तिथिमें षष्ठीव्रत करना होता है। इस व्रतके प्रभावसे शोक नहीं होता, इस कारण तिथिका नाम अशोकषष्ठी पड़ा है। इस तिथिमें अशोक पुष्पकलिका पान करनेका व्यवहार है। यह व्रत स्त्रियां ही किया करती हैं।

विशोकसप्तमी (सं० स्त्री०) विशोका सप्तमी। सप्तमी तिथिभेद।

विशोका (सं० स्त्री०) पातञ्जलदर्शनके अनुसार वह चित्तवृत्ति जो संप्रज्ञात समाधिसे पहले होती है। इसे ज्योतिष्मती भी कहते हैं। (पातञ्जलद० १।३६)

विशोध (सं० त्रि०) विशुद्ध करने योग्य, साफ करने लायक।

विशोधन (सं० क्ली०) वि-शुध-ल्युट्। १ संशोधन, अच्छी तरह साफ करना। २ पवित्रीकरण, पवित्र करना। (पु०) ३ विष्णु। (भारत १३।१४९।८१)

विशोधनी (सं० स्त्री०) विशुध्यतेऽनयेति वि शुध ल्युट्-

ङीष्। १ नागदन्ती, हाथीसूड़। २ ब्रह्मपुरीका नाम। ३ नीली नामक पौधा। ४ ताम्बूल, पान।

विशोधिन् (सं० त्रि०) वि-शुध-णिच्-णिनि। शोधनकारक, बिलकुल शुद्ध करनेवाला।

विशोधिनी (सं० स्त्री०) १ नागदन्ती लता। २ नीली वृक्ष। (वैद्यकनि०) ३ दन्ती वृक्ष।

विशोधिनीबीज (सं० क्ली०) जयपाल, जमालगोटा।

विशोध्य (सं० त्रि०) वि-शुध-यत्। विशोधनीय, शोधन करने लायक।

विशोविशीय (सं० क्ली०) सामभेद।

विशोष (सं० पु०) वि-शुष-घञ्। शुष्कता, नीरसता, रूखापन।

विशोषण (सं० त्रि०) वि-शुष-ल्युट्। १ विशेषरूपसे शोषणकारक, अच्छी तरह सोखनेवाला। (क्ली०) २ शुष्कभाव, नीरसता, रूखापन।

विशोषिण् (सं० त्रि०) वि-शुष-णिनि। विशोषणकारक, सोखनेवाला। (रघुवंश १।६२)

विशौजस् (सं० त्रि०) प्रजाके ऊपर शासन फैलानेवाला। (शुक्लयजुः १०।२८ महीधर)

विश्चकद्राकर्ण (सं० पु०) कुक्कुरशास्ता, वह जो कुत्तेको शिक्षा देता और उसकी रक्षा करता है।

विश्न् (सं० पु०) विछ-दीप्तौ (यजयाचयतविच्छेति। पा ३।३।९०) इति नङ्। १ दीप्ति। २ गति।

विश्पति (सं० पु०) विशां पतिः। १ प्रजापालक, पृथिवीपति। (ऋक् १।३७।८) २ वैश्योंका पति, वैश्यजातिका अधिपति, मुखिया या पञ्च। (भागवत १०।२०।२४)

विश्पत्नी (सं० स्त्री०) वणिकोंका पालन करनेवाली। (ऋक् २।३२।७)

विश्पला (सं० स्त्री०) अगस्त्यपुरोहित खेल राजाकी स्त्री। (ऋक् १।११६।१५)

विश्पलावसु (सं० त्रि०) प्रजाओंके पालयिता तथा धन। (ऋक् १।१८२।१)

विश्य (सं० त्रि०) प्रजाभव, जो प्रजासे हो। (ऋक् १।१३६।५)

विश्यापर्ण (सं० पु०) विश्वन्तर नामक किसी एक राजासे अनुष्ठित यज्ञविशेष। श्यापर्ण नामक ब्राह्मणोंको आर्त्विज कर्ममें व्रती न करके अर्थात् उन्हें निराकरण पूर्वक इस यज्ञका अनुष्ठान किया जाता है, इस कारण इसका नाम विश्यापर्ण (श्यापर्ण विरहित) यज्ञ पड़ा है।

विश्राणन (सं० क्ली०) दान, वितरण।

विश्रब्ध (सं० त्रि०) वि-श्रम्भ-क्त। १ अनुद्भट, शान्त। २ विश्वस्त, जिसका विश्वास किया जाये। ३ आसन्न। (हेम) ४ गाढ़ा, घना। (मेदिनी) ५ निर्विशङ्क, निःशङ्क, निर्भय, निडर।

विश्रब्धनवोढ़ा (सं० स्त्री०) साहित्यमें नवोढ़ा नायिकाका एक भेद, वह नवोढ़ा नायिका जिसका अपने पति पर कुछ कुछ अनुराग और कुछ कुछ विश्वास होने लगा हो। मुग्धा नायिकाका रति लज्जा और भय प्रधान है, किन्तु पीछे यह मुग्धा प्रश्रय पा कर विश्रब्धनवोढ़ा होती है। इसकी चेष्टा और क्रिया मनोहारिणी है। इसका कोप मृदु है तथा इसकी नवभूषण पर प्रबल इच्छा रहती है।

विश्रम (सं० पु०) वि-श्रम-घञ्। वृद्धभाव, विश्राम। (कातन्त्र कृत्सू० ३१)

विश्रम्भ (सं० पु०) वि-श्रन्भ-घञ्। १ विश्वास, एतबार। (अमर) २ केलिकलह, प्रेमी और प्रेमिकामें रतिके समय होनेवाला झगड़ा। ३ प्रेम, मुहब्बत। ४ हत्या, मार डालना। ५ स्वच्छन्दविहार, स्वच्छन्दतापूर्वक घूमना फिरना।

विश्रम्भण (सं० क्ली०) विश्वासजनक, एतबार करने लायक।

विश्रम्भणीय (सं० त्रि०) विश्वासनीय, एतबार करने लायक।

विश्रम्भता (सं० स्त्री०) विश्वासत्व, प्रणयत्वादि।

विश्रम्भिन् (सं० त्रि०) विश्वासशील।

विश्रयिन् (सं० त्रि०) विश्रंतुं शीलं यस्य वि-श्रि-इनि (पा ३।२।१५७) १ सेवाशील, विशेष प्रकारसे सेवापरायण। २ आश्रयवान्।

विश्रवण (सं० पु०) ऋषिभेद।

विश्रवा (सं० पु०) पुलस्त्यमुनिका पुत्र, दूसरे जन्ममें

जाठराग्निरूपमें प्रसिद्ध अगस्त्य । ये पुलस्त्य-पत्नी हविर्भूके गर्भसे उत्पन्न हुए थे ।

भरद्वाजकी कन्या इड़विड़ाके गर्भ और विश्रवाके औरससे धनपति कुवेरका जन्म हुआ था। महाभारतमें लिखा है, कि विश्रवा प्रजापति पुलस्त्यके साक्षात् अर्द्धाङ्ग स्वरूप थे। कुवेरके प्रति ब्रह्माकी चाटु उक्ति पर क्रुद्ध हो पुलस्त्यने अपने अर्द्धाङ्गसे विश्रवाकी सृष्टि की । कुवेरने उन्हें प्रसन्न करनेके लिये तीन राक्षसी दासी प्रदान की थीं। इन तीनोंमें पुष्पोत्कटाके गर्भसे रावण और कुम्भकर्ण, मालिनीके गर्भसे विभीषण तथा राकाके गर्भसे खर और सूर्पणखाकी उत्पत्ति हुई। किन्तु रामायणके मतसे विश्रवाके औरस और सुमालिकन्या निकषा वा कैकेसीके गर्भसे रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण और सूर्पनखाकी उत्पत्ति हुई। विष्णुपुराणके मतसे रावणकी माताका नाम केशिनी था।

विश्राणन (सं० क्ली०) वि-श्रण-णिच् ल्युट्। दान, वितरण।

विश्राणित (सं० त्रि०) दत्त, वितरण किया हुआ।

विश्राणित (सं० त्रि०) दत्त, जो दान किया हुआ हो।

विश्रान्त (सं० त्रि०) १ श्रान्तियुक्त, थकामांदा। २ विगत श्रम, जो थकावट उतार चुका हो। ३ अनियत। ४ विरत, क्षान्त।

विश्रान्ति (सं० स्त्री०) १ विश्राम, आराम। २ श्रमापनयन, आराम करना। २ तीर्थविशेष। यहां निखिल जगत्पति स्वयं वासुदेव आ कर विश्राम करते हैं, इस कारण यह तीर्थ विश्रान्ति नामसे प्रसिद्ध है।

विश्रान्ति वर्मन्—एक प्राचीन कवि।

विश्राम (सं० पु०) वि-श्रम-घञ्। १ अधिक समय तक कोई काम या परिश्रम करनेके कारण थक जाने पर रुकना या ठहरना, थकावट दूर करना। गुण—परिश्रमके बाद बिश्राम करनेसे थकावट दूर होती और पसीना जाता रहता है। नियमित परिश्रमके बाद यथासमय जो विश्राम किया जाता है, वह सभी लोगोंके लिये बलवृद्धिकर, स्वास्थ्यप्रद और शुभजनक है। (राजवल्लभ)

२ ठहरनेका स्थान। ३ आराम, चैन, सुख।

विश्रामगढ़—दाक्षिणात्यके अहमदनगर जिलान्तर्गत एक बड़ा ग्राम। यह पहले पट्टन नामसे परिचित था। १६७६ ई०में मुगलसेनासे खदेड़े जा कर शिवाजीने यहां निरापदसे विश्राम किया था, इसी कारण उन्होंने इस स्थानका नाम विश्रामगढ़ रखा।

विश्रामज—अनुपानमञ्जरी नामक वैद्यकग्रन्थके रचयिता।

विश्रामशुक्ल—जनिपद्धतिदर्पणके प्रणेता। इनके पिता शिवरामने कृत्यचिन्तामणि नामक एक स्मृतिग्रन्थकी रचना की थी।

विश्रामात्मज—प्रश्नविनोद नामक ज्योतिर्ग्रन्थके रचयिता।

विश्राम्यतोपनिषद्—उपनिषद्भेद। यह वेदान्तसार-विश्रामोपनिषद् नामसे भी परिचित है।

विश्राव (सं० पु०) वि-श्रु-घञ् (पा ३।३।२५) १ अतिप्रसिद्धि, शोहरत। २ ध्वनि। ३ क्षरण, वहना या रसना। ४ स्रोत, झरना।

विश्रि (सं० स्त्री०) मृत्यु, मौत। (संक्षिप्तसार उणा)

विश्री (सं० त्रि०) विगता श्रीर्यस्य। १ श्रीहीन, शोभाहीन। २ कुत्सित, भद्दा।

विश्रुत (सं० त्रि०) वि-श्रु-क्त। १ विख्यात, मशहूर। (अमर) २ ज्ञात, जो जाना या सुना हुआ हो। ३ हृष्ट, जो अति प्रसन्न हुआ हो। ४ ध्वनित, शब्द किया हुआ।

विश्रुतदेव (सं० पु०) राजपुत्रभेद। (तारनाथ)

विश्रुतवत् (सं० त्रि०) वि-श्रु-क्तवतु। १ विश्रुत, ज्ञातवान्। (अव्य०) विश्रुत इव विश्रुत वतु इवार्थ। २ विश्रुतकी तरह, प्रसिद्धकी नाईं। (पु०) ३ राजपुत्रभेद, वृहद्बलका भाई। (हरिवंश)

विश्रुतात्मा (सं० पु०) विष्णु। (महाभारत १३।१४६।३५)

विश्रुति (सं० स्त्री०) वि-श्रु-क्तिन्। १ विख्याति, शोहरत। २ क्षरण, बहना या रसना। ३ स्रोत, झरना। ४ नाना प्रकारका स्तव।

विश्लथ (सं० त्रि०) शिथिल, थका हुआ। (रघुवंश ६।७३)

विश्लिष्ट (सं० त्रि०) वि-श्लिष क्त। १ विच्छिन्न, जो अलग हो गया हो। २ विकसित, खिला हुआ। ३ प्रकाशित,

जो प्रकट हो। ४ शिथिल, थका हुआ। ५ विमुक्त, जो खुला हुआ हो।

विश्लिष्टसन्धि (सं० स्त्री०) १ अस्थिभङ्गविशेष, शरीरके अङ्गोंकी किसी संधिका चोट आदिके कारण टूटना। २ सन्धिमुक्त भग्नरोगविशेष। लक्षण – चोट आदिके कारण किसी सन्धिके टूटनेसे यदि वहां सूजन पड़ जाय, हमेशा दर्द होता हो तथा सन्धिकी क्रिया विकृति हो जाये, तो उसे विश्लिष्टसन्धि कहते हैं। इसकी चिकित्सा आदिका विषय भग्न शब्दमें लिखा जा चुका है। भग्न देखो।

विश्लेष (सं० पु०) वि-श्लिष-घञ्। १ विधुर, अलग होना। २ अयोग। ३ वियोग, विच्छेद। ४ शैथिल्य, थकावट। ५ विराग, किसीके ओरसे मन हट जाना। ६ विकाश, प्रकाश।

विश्लेषण (सं० क्ली०) १ वायु जन्य व्रणवेदनाविशेष, वायुके प्रकोपसे फोड़े या घावमें होनेवाली एक प्रकारकी वेदना। २ पृथक्करण, किसी पदार्थके संयोजक द्रव्योंका अलग अलग करना।

विश्लेषिन् (सं० त्रि०) विश्लेषोऽस्यास्तीति विश्लेष-इनि। विच्छेदवान्, वियोगी।

विश्लोक (सं० त्रि०) १ स्तुतिके योग्य, स्तवनीय। (पु०) २ छन्दोभेद।

विश्व (सं० क्ली०) विशति स्वकारणं इति विश प्रवेशने विश क्वन् (अशूप्रुषिलटिकणीति क्वन्। उण् १।१५१) १ जगत्, संसार, चराचर। (मेदिनी)

आद्यन्तशून्य स्ततःप्रवृत्त कालने जगत्के उपादान (निमित्त) विश्वरूपी आत्माकी सृष्टि की। अर्थात् कालके साथ साथ आत्माका प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि आत्माके सिवा सृष्टि असम्भव है। इसके उपरान्त अव्यक्तमूर्त्ति ईश्वरने विष्णुमायापरिच्छन्न ब्रह्मतन्मात्रा-विशिष्ट विश्वको (इस विश्वरूपी आत्माको) कालमें स्थूलरूप और पृथग्भावसे प्रकाशित किया। प्रकृत और वैकृतभावसे साधारणतः विश्व नौ तरहसे सृष्ट है। उनमें प्राकृत छः प्रकार और वैकृत तीन प्रकार हैं। प्राकृत छः प्रकार यह है—

(१) महत् (महतत्त्व); यह आत्माके गुणसे वैषम्य-मात्र है।

(२) अहम् (अहङ्कार); इससे द्रव्य, ज्ञान और क्रियाकी उत्पत्ति होती है।

(३) तन्मात्र (पञ्चतन्मात्र); ये सूक्ष्म पञ्चभूत हैं, इससे ही फिर स्थूलपञ्चभूतोंकी (क्षिति, जल, तेजः, वायु और आकाशकी) सृष्टि होती है।

(४) इन्द्रिय; यह ज्ञान और कर्मभेदसे दो प्रकारका है। उनमें नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक् ये कई ज्ञानेन्द्रिय हैं और मुख, हाथ, पैर, पायु, उपस्थ ये कर्मेन्द्रिय हैं। ये इन्द्रियां ही जीवके जीवनोपाय और गतिमुक्ति हैं; क्योंकि इनके परिचालन द्वारा विश्वसंसारमें जीवका धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य, सुख, दुःख, बन्ध, मुक्ति प्रभृतिका प्रवर्त्तन होता है। अर्थात् शास्त्रोदित सत्प्रक्रियासे इन्द्रिय परिचालन, धर्म, पुण्य, सुख, मुक्ति आदिके और शास्त्रविगर्हित कार्योंमें इन्द्रियपरिचालन अधर्म, पाप, दुःख और बन्ध प्रभृतिके कारण हैं।

(५) वैकारिक (इन्द्रियाधिष्ठाता देवगण और मन आदि) पदार्थकी दृष्टि है।

(६) तमोगुण (पञ्चपर्व्व अविद्या); यह बुद्धिके आवरण (प्रतिभानिवर्त्तक) और विक्षेपजनक (व्याकुलताकारक) हैं।

तीन तरहके वैकृत ये हैं, यथा—

(१) वनस्पति, ओषधि, लता, त्वक्सार, वीरुध और द्रुम ये छः प्रकारके स्थावर हैं। इनमें जो पुष्पके बिना फल लगता है, वे वनस्पति; फल पकने पर जो मर जाते हैं, वह ओषधि, जो मज्जाविहीन हैं अर्थात् जिसके त्वकमें ही सारजन्मता है (जैसे बाँस आदि) वे त्वक्सार हैं। वीरुध प्रायः लताकी तरह ही है, किन्तु लताकी अपेक्षा इसमें काठिन्य है। जिसके पुष्पसे फल उत्पन्न होता है, उसका नाम द्रुम है। ये सब स्थावर तमःप्राय (अव्यक्त चैतन्य) हैं अर्थात् ये चैतन्य रह कर भी अव्यक्त हैं और ये अन्तःस्पर्शी (अन्तरमें इनको स्पर्शका ज्ञान है; किन्तु बाहर नहीं) हैं। अपने आहार-द्रव्यको (रस) मूलसे ऊर्द्ध्वदेशमें आकर्षित करनेकी इनमें शक्ति है। इससे ये ऊर्द्ध्वस्रोताः कहलाते हैं।

(२) तिर्यक्प्राणी (पशु, पक्षी, व्यालादि) हैं। ये अविद (स्मृतिहीन अतीत घटनादि विषयोंमें ज्ञानशून्य)

हैं, भूरितमाः (केवल आहारादिमें निष्ठावान्) है ; घ्राणज्ञ- (गंध ग्रहणके ही प्रयोजनीय विषयोंमें ज्ञानशाली) हैं और अवेदी (मनोभाव ज्ञापन करनेमें असमर्थ या दीर्घानुसन्धानशून्य) है। इसके सम्बन्धमें श्रुतिमें भी उल्लेख हैं ; यथा—"अथेतरेषां पशूनामशनापिपासे एवाभिज्ञानं न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति न विदुः श्वस्तनं न लोकालोकाविति।"

उक्त तिर्यक् जाति एकशफ (जोड़ा खुर) विशिष्ट गर्दभ, अश्व, अश्वतर (क्षुद्राश्व) ये तीन तथा गौर, शरभ और चमरी (मृग जातीय) ये तीन कुल छः तरहकी, गो, बकरी, भैंस, शूकर, गवय (नीलगाय या वन्यगाय), कृष्ण, रुरु (ये दो मृगजातीय), भेड़ें और ऊंट, ये द्विशफ (द्विखण्डित खुर)-विशिष्ट नौ प्रकार और कुत्ते, स्यार, हुंड़ार, व्याघ्र, बिल्ली, खरगोश, शजारु, सिंह, वानर, हस्ती, कूर्म और गोधा—ये द्वादश प्रकार पञ्चनखी (पञ्च नखविशिष्ट) जन्तु और मकर कुम्भीर आदि जलजन्तु तथा कङ्क गृध्रादि खेचर—ये दोनों तरहके जन्तुको मान लेनेसे सब २८ प्रकारके जन्तु निर्दिष्ट हुए हैं।

(३) नरदेह रजोगुणाधिक्य है, कर्मतत्पर, दुःख में भी सुखाभिमानी और अर्वाक्स्रोताः अर्थात् इनके आहार्य्य द्रव्य (अन्नादि), ऊर्द्ध्व (मुख) से अधः (निम्न-कोष्ठादिमें) सञ्चारणपूर्वक शरीर पोषण करते हैं।

सिवा इनके देव, दानव, गन्धर्व, अप्सरः, यक्ष, रक्षः, भूत, प्रेत, पिशाच, सिद्ध, विद्याधर, किन्नर आदि देवयोनिप्राप्त और सनत्कुमारादि उभयात्मक (देवत्व और मनुष्यत्व व्यपदेशमें उभय लोकान्तर्गत) कितने ही लोक भी इस विश्वब्रह्माण्डमें सृज्यमान हैं। संक्षेपतः इनकी भी सृष्टिका क्रम नीचे दिया जाता है।

प्रजापति ब्रह्माने सहस्रार्कद्युति, ब्रह्माण्डभाण्डोदर नारायणके नाभिकमलसे समुद्भूत हो कर उन्होंके आदेशसे अपनी प्रभाप्रतियोगिनी छाया द्वारा तामिस्र, अन्धतामिस्र, तमः, मोह और महातमः ये पञ्चपर्वरूपी अविद्याकी सृष्टि की। इस पञ्चपर्वकी सृष्टि होनेसे जगत् निविड़ अन्धकारमय क्षुत्तृष्णा समुत्पादक रात्रिरूपमें परिणत हुआ और वे (ब्रह्मा) भी उसके साथ मिल गये अर्थात् "याऽस्य तनुरासीत् तामुपाहरत् सा तमिस्राभवत्" (श्रुति), उनका शरीर भी घोर तमसे आच्छन्न हुआ। इसके बाद उनसे उत्पन्न यक्ष, रक्षः आदि उक्त क्षुत्तृष्णा-समुत्पादक रात्रिको प्राप्त होनेसे वे अति क्षुधातृष्णासे कातर हुए और अन्य कोई आहार्य्य द्रव्य न पा कर किंकर्त्तव्यविमूढ़ावस्थामें आहारान्वेषणमें ब्रह्माको पा कर उनको भक्षण करनेके मानससे उनके प्रति दौड़े और कहने लगे, कि "मा रक्षतैनं जक्षध्वं" तुम लोग इसको छोड़ना नहीं, खा जाना। प्रजापति स्वयं यह बात सुन कर चिल्लाने लगे, कि "मा मा जक्षत रक्षत अहो मे यक्ष-रक्षांसि! प्रजा यूयं बभूविथ" हे यक्षरक्षगण! तुम लोग मेरे सन्तान हो, मुझसे ही उत्पन्न हुए हो, अतएव मुझको भक्षण मत करो, रक्षा करो। इस समयसे जिन्होंने "मा रक्षत" छोड़ना नहीं, यह बात कही थी, वे राक्षस और जिन्होंने "जक्षध्वं" खा डालो कहा था, वे यक्ष कहलाने लगे। ये देवयोनि प्राप्त होने पर भी तमोबहुलावस्थामें उत्पन्न होनेसे तिर्य्यगादि तामस सृष्टिके अन्तर्भूत माने जाते हैं।

इसके बाद सत्त्वगुणबहुलावस्थामें द्योतमान (सात्विक भावापन्न) हो जो उत्पन्न हुए, उन्होंने अपनी अपनी प्रभासे द्युतिमान् होनेके कारण जगत्में देवता नामसे प्रसिद्ध हो सर्वोच्च पदवी प्राप्त की। इस समय ब्रह्माकी जो आभा फैली थी, उससे दिनकी उत्पत्ति होनेसे देवतागण उसमें बैठ क्रीड़ाकौतुक करने लगे।

इसके बाद "स जघनादसुरानसृजत" (श्रुति) प्रजापतिने अपने जंघेसे अतिलोलुप स्त्रीलम्पट असुरोंकी सृष्टि की। वे अत्यन्त मैथुनलुब्ध हो आत्मतृप्तिचरितार्थ करनेके दूसरे उपाय न पानेके कारण उन पर ही उसके लिये दौड़े। यह देख ब्रह्मा मन ही मन हंसने लगे। किन्तु निर्लज्ज असुरोंके भावको अच्छा न देख क्रुद्ध और भयभीत हो कर वहांसे वे भागे और विष्णुके पास जा कर उन्होंने सारा वृत्तान्त यथायथ भावसे कहा। विष्णुने सब बातें जान कर आदेश दिया, कि तुम भावान्तरमें अवस्थान करो। इसके अनुसार ("साहोरात्रयोः सन्धिरभवत्" (श्रुतिः) "सा तेन विसृष्टा तनुः सायन्तनी सन्ध्या बभूव") ब्रह्माके शरीर परि-

वर्त्तन द्वारा दिव्यरूपिणी सायन्तनी सन्ध्यामूर्त्ति धारण करने पर कामविह्वल असुर अशेष लावण्यमयी विलासैकनिलया स्त्रीमूर्त्तिके भ्रममें विभ्रमोन्मत्त हो उसके प्रति आलिङ्गन करनेके लिये दौड़ने पर उद्यत हुए और वस्तुगत्या किसी पदार्थकी उपलब्धि न कर सकनेसे हत बुद्धिकी तरह इधर उधर घूमने लगे।

इसके बाद स्वयम्भुने अपनी लावण्यमयी कान्तिसे गन्धर्व, अप्सर और सर्वलोकप्रिय कान्तिमती ज्योत्स्नाकी सृष्टि की। इस तरह सर्वलोकपितामह ब्रह्माने अपने आलस्यके द्वारा तन्द्रा, जृम्भा, निद्रा और उन्माद हेतुभूत प्रेत-पिशाच आदिकी सृष्टि की है। इसके बाद साध्य और पितृगणकी सृष्टि हुई, इन साध्य और पितृगणको लोग आज भी श्राद्धादि द्वारा अपने अपने पिताकी तरह हव्य कव्य प्रदान करते हैं। अन्तर्धान शक्ति द्वारा सिद्ध और विद्याधरोंकी सृष्टि हुई। इसी कारणसे ही इनकी आत्मामें एक अत्यद्भुत अन्तर्धान-शक्ति उत्पन्न होती है अर्थात् ये इच्छा करनेसे किसी समयमें भी अन्तर्हित और प्रादुर्भूत हो सकती है। इसके बाद उन्होंने अपने प्रतिविम्ब (अपनी देहकान्ति)के अवलम्बनसे किन्नर-किन्नरोंकी सृष्टि की। पीछे सृष्टिकी और विवृद्धि न देख भगवान्ने क्रोधरोगादियुक्त भागदेह परित्याग कर दी। इस देहसे जितने बाल जमीन पर पतित हुए, उनसे सर्पोंकी उत्पत्ति हुई।

इन सबकी सृष्टि हो जानेके बाद स्वयम्भु स्वयं आत्माको मन्यमान समझने लगे। उस समय अपनी देह और पुरुषकार अर्पणमें मनके द्वारा मनुओंकी सृष्टि की। इससे देवगण ब्रह्माकी भूयसी प्रशंसा करने लगे; क्योंकि उन्होंने सोचा, मनुओं द्वारा अग्निहोत्रादि अनुष्ठित होने पर वे हविर्भागादि भक्षण कर सकेंगे। इसके बाद तपः, उपासना, योग और वैराग्यैश्वर्य्ययुक्त समाधि-सम्पन्न ऋषियोंकी सृष्टि हुई। इनमें प्रत्येकको भी भगवान्ने अपनी देहका अंश दिया। विस्तृत विवरण जगत् और पृथ्वी शब्दमें देखो।

२ सोंठ। पर्याय—महौषध, सोंठ, नागर, विश्वभेषज। (रत्नमाला) शृङ्गवेर, कटुभद्र, उषण। (भावप्र०) ३ बोल, गन्धबोल, निशादल। (पु०) ४ गणदेवताविशेष। वसु, सत्य, क्रतु, दक्ष, काल, काम, धृति, कुरु, पुरूरवा, माद्रवा, ये दश हैं। इनमें इष्टिश्राद्धमें क्रतु और दक्ष; नान्दीमुखमें (आभ्युदयिक) श्राद्धमें सत्य और वसु; नैमित्तिक क्रियामें काल और काम; काम्यकर्ममें धृति और कुरु और पार्वण श्राद्धमें पुरूरवा और माद्रवाका उल्लेख करना होता है। ये धर्म द्वारा दक्षकन्या विश्वाके गर्भसे उत्पन्न हुए। (मत्स्यपुराण ५ अ०) ५ नागर, सोंठ। (विश्व) ६ विष्णु। ७ देह। ८ शिव। (भारत १३।१७।१४५) (स्त्री०) ९ परिमाणविशेष, ९६ रत्ती=एक तोला। १० तोला=एक पल, २० पल=विश्वा। (ज्योतिष्मती) ११ स्थूल शरीरव्यापी चैतन्य, प्रत्येक शरीरावच्छिन्न जीवात्मा। (वेदान्तसार) १२ दक्षकन्याभेद, विश्वदेवोंकी माता। (मत्स्यपु०) १३ अतिविषा। १४ शतावरी, शतमूल। (त्रि०) १५ सकल, सब, समस्त। १६ बहु, बहुत, अनेक। (निघण्टु)

विश्वक (सं० त्रि०) विश्व कन्। निखिल, समस्त।

विश्वकथा (सं० स्त्री०) १ जगत्सम्बन्धीय कथा। २ सभी बातें।

विश्वकद्रु (सं० पु०) १ मृगयाकुशल कुक्कुर, शिकारी कुत्ता। २ शब्द, ध्वनि। (त्रि०) ३ खल, दुष्ट।

विश्वकर्तृ (सं० त्रि०) १ जगत्स्रष्टा, जगत्पति, जगदीश्वर। (भागवत ६।१०।४८) (पु०) २ बोधायनसूत्रानुयायि-पद्धतिके प्रणेता। संस्कार-कौमुदीमें इसका उल्लेख है।

विश्वकर्म (सं० त्रि०) सर्वकर्मक्षम, जो सब प्रकारके कार्य करनेमें चतुर हो। (ऋक् १०।१६६।४)

विश्वकर्मजा (सं० स्त्री०) विश्वकर्मणः जायते विश्वकर्मन्-जन-ड। सूर्यकी पत्नी, संज्ञा।

विश्वकर्मसुता (सं० स्त्री०) विश्वकर्मणः सुता। सूर्यपत्नी, संज्ञा। (शब्दरत्ना०)

विश्वकर्मन् (सं० पु०) विश्वेषु कर्म यस्य। १ सूर्य। २ देवशिल्पी, एक प्रसिद्ध आचार्य्य अथवा देवता जो सब प्रकारके शिल्प-शास्त्रके आविष्कर्त्ता और सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता माने जाते हैं। पर्याय—त्वष्टा विश्वकृत, देववर्द्धकि। (हेम)

मत्स्यपुराणमें लिखा है, कि विश्वकर्मा प्रभासके

पुत्र थे। ये प्रासाद, भवन, उद्यान आदि विषयोंमें शिल्प प्रजापति थे। (मत्स्यपु० ५ अ०)

विष्णुपुराणमें लिखा है, कि ये आठ वसुओंमेंसे प्रभास नामक वसुके औरस वृहस्पतिकी ब्रह्मचारिणी बहनके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। ये शिल्पोंके कर्त्ता तथा देवताओंके वर्द्धकि थे। इन्होंने ही देवताओंके विमानादिको बनाया था। मनुष्य इन्हींका शिल्प ले कर जीविका निर्वाह करते हैं।

वेदादिमें विश्वकर्मा इन्द्र (ऋक् ८।८७।२), सूर्य (मार्क०पु० १०७।११), प्रजापति (शुक्ल यजुः १२।६१), विष्णु (भारत भीष्म), शिव (लिङ्गपु०) आदि शक्तिमान् देवताओंके नामरूपमें व्यवहृत हुए हैं। पीछे उनका विश्वस्रष्टा त्वष्टाके नाममें आया है। इस पर्यायमें विश्वकर्मा विश्वब्रह्माण्डके अद्वितीय शिल्पी माने गये हैं। ऋग्वेदके १०।८१-८२ सूक्तमें लिखा है; कि "ये सर्वदर्शी भगवान् हैं, इनके नेत्र, वदन, बाहु और पद चारों ओर फैले हुए हैं। बाहु और दोनों पैरकी सहायतासे ये स्वर्ग और मर्त्यका निर्माण करते हैं; ये पिता, सर्वप्रसू, सर्वनियन्ता हैं; ये विश्वज्ञ हैं. प्रत्येक देवता यथायोग्य नाम रखते हैं तथा नश्वर प्राणीके ध्यानातीत पुरुष हैं। उन श्लोकोंमें यह भी लिखा है, कि ये आत्मदान करते हैं अथवा आप ही सब भूतोंका बलिदान लेते हैं। इस बलिके सम्बन्धमें निरुक्तमें इस प्रकार लिखा है,—"भुवनके पुत्र विश्वकर्माने सर्वमेध द्वारा जगत्की सृष्टि आरंभ की तथा आत्म-बलिदान कर निर्माणकार्य्य शेष किया। ऋग्वेद १० ८१-८२ सूक्तमें विस्तृत विवरण देखो।

पुराणकारोंका कहना है, कि ये वैदिक त्वष्टाका कार्य्य करते हैं तथा उस कार्य्यमें इन्हें विशेष क्षमता है। इस कारण ये त्वष्टा नामसे भी प्रसिद्ध हैं। केवल श्रेष्ठ शिल्पी कहनेसे ही इनका परिचय शेष नहीं होता, पर ये देवताओंके शिल्पकार हैं तथा उनके अस्त्रादि तैयार कर देते हैं। आग्नेयास्त्र नामक भीषण युद्धास्त्र इन्हींका बनाया हुआ शिल्पविशेष है। इन्होंने ही जगत्में स्थापत्य-वेद वा शिल्पविज्ञान ग्रन्थ अभिव्यक्त किया था।

महाभारतमें लिखा है, कि "ये शिल्पसमूहके श्रेष्ठतम कर्त्ता हैं, सहस्र शिल्पके आविष्कारक देवकुलके मिस्त्री हैं, सभी प्रकारके कारुकार्य्यके निर्माता हैं, शिल्पकुलके श्रेष्ठतम पुरुष हैं। इन्होंने ही देवताओंका स्वर्गीय रथ प्रस्तुत कर दिया है। इन्होंकी निपुणता पर सभी लोग जीविका निर्वाह करते हैं, ये महत् और अमर देवताविशेष हैं। इनकी सभी जीव-पूजा करते हैं।

रामायणमें लिखा है, कि राक्षसोंके लिये इन्होंने लङ्कापुरी बनाई थी। सेतुबन्ध तैयार करनेके लिये रामके साहाय्यार्थ इन्होंने नल बानरकी सृष्टि की थी।

महाभारतके आदिपर्व तथा किसी किसी पुराणमें देखा जाता है, कि अष्टवसुओंमेंसे एक वसु प्रभासके औरससे और उनकी पत्नी लावण्यमयी सती योगसिद्धाके गर्भसे विश्वकर्माका जन्म हुआ। विश्वकर्माने अपनी कन्या संज्ञाका विवाह सूर्यके साथ कर दिया, संज्ञा सूर्यका प्रखर ताप सह न सकती थी, इस कारण विश्वकर्माने सूर्यको शानचक्र पर चढ़ा कर उनकी उज्ज्वलताका अष्टमांश काट डाला। कटा हुआ अंश जो पृथिवी पर गिरा था, उससे इन्होंने विष्णुका सुदर्शनचक्र, शिवका त्रिशुल, कुबेरका अस्त्र, कार्त्तिकेयका बल्लम तथा अन्यान्य देवताओंके अस्त्रादि निर्माण किये थे। कहते हैं, कि प्रसिद्ध जगन्नाथ मूर्त्ति विश्वकर्माकी ही बनाई हुई है।

सृष्टिकारक रूपमें विश्वकर्मा कभी कभी प्रजापति नामसे पुकारे जाते हैं। ये कारु, तक्षक, देव वर्द्धकि, सुधन्वन् आदि नामोंसे भी प्रसिद्ध हैं।

विश्वकर्मा शिल्पसमूहके कर्त्ता होनेके कारण देवशिल्पी कहलाते हैं। हिन्दू शिल्पी शिल्पकर्मकी उन्नतिके लिये प्रति वर्ष भाद्र मासकी संक्रान्ति तिथिको विश्वकर्माकी पूजा करते हैं। उस दिन वे लोग किसी भी शिल्प यन्त्रादिको काममें नहीं लाते। वे सब यन्त्रादि अच्छी तरह परिष्कार कर पूजाके स्थानमें रखे जाते हैं। निम्नश्रेणीके हिन्दू कृषक भी हल, कुदाल आदिकी पूजा करते हैं।

विश्वकर्माकी पूजा इस प्रकार है,—प्रातःकालमें नित्य क्रियादि समाप्त करके शुद्धासन पर बैठ

पहले स्वस्तिवाचनादि और पीछे सङ्कल्प करना होता है।

इसके बाद सङ्कल्प सूक्तादिका पाठ कर सामान्यार्घ्य, आसनशुद्धि, भूतशुद्धि और घटस्थापनादि करके सामान्य पूजापद्धतिक्रमसे गणेशादि देवताकी पूजा करनी होगी। अनन्तर 'वां हृदयाय नमः, वीं शिरसे स्वाहा' कह कर अङ्ग और करन्यास तथा निम्नोक्त रूपसे ध्यान करना होगा।

ध्यानमन्त्र इस प्रकार है—

"ओं दंशपाल महावीर सुमित्र कर्मकारक।
विश्वकृत् विश्वधृक् च त्वं वासनामानदण्डधृक्॥"

इस प्रकार ध्यान कर मानसोपचारसे पूजा और विशेषार्घ्य स्थापन कर फिरसे ध्यान पाट करनेके बाद आवाहन करे।

वङ्गके अनेक स्थानोंमें भाद्रसंक्रान्तिको विश्वकर्माके पूजोपलक्षमें एक उत्सव होते देखा जाता है। यह उत्सव निम्नश्रेणीके लोगोंमें ही सीमावद्ध है। अधिकांश स्थलोंमें नमःशूद्रगण ही इस उत्सवके नेता हैं। पूजाके दिन सभी लोग बहुत सबेरे स्नान करते हैं। नरनारीमें भारी चहल-पहल दिखाई देती है। जो धनी हैं वे आत्मीय बन्धुबान्धवोंको अपने यहां निमन्त्रण करते हैं। पूजाके बाद सभी एक साथ बैठ कर खाते हैं। इस दिन ये लोग कम खर्चमें एक प्रकारका पिण्डाकार पिष्टक तैयार कर लेते हैं। इस पिष्टकका नाम भदुआ है। चावलका चूर और मीठा दे कर महुआ तैयार किया जाता है जिसे बड़े चावसे खाते हैं। इसके बाद बाईच खेल शुरू होता है। ग्रामके धनी व्यक्ति इस खेलका खर्चा देते हैं। उन्हींके उत्साह और नेतृत्वमें दूसरे दूसरे लोग आनन्दमें विभोर रहते हैं। छोटी लम्बी नावें सजाई जाती हैं। नावका अगला और पिछला भाग गाढ़े सिन्दूरसे लिपा तथा पुष्पमालासे सजाया रहता है। जो धनी व्यक्ति हैं वे नया कपड़ा पहन कर नावके बीचमें खड़े रहते और चालकोंको जल्दीसे चलानेके लिये उत्साह देते हैं।

इस उत्सवमें केवल निम्नश्रेणीके हिन्दू ही नहीं, मुसलमान भी भदुआ खा कर बड़े हर्षसे इसमें साथ देते हैं। वाइच खेलनेके लिये ये लोग भी सुसज्जित नावको ले कर धनी नेताके अधीन खेलमें जमा होनेकी चेष्टा करते हैं। यह खेल प्रधानतः नदीमें या विस्तीर्ण खालमें होता है। उत्सव-दिनके पहले ही खेल कहां होगा, इसकी सूचना दे दी जाती है। जो नाव सबसे पहले निकलती है, उसकी जयजयकार होती है। जिस समय नावें बड़ी तेजीसे चलती हैं, उस समयका दृश्य बड़ा ही मनोरम लगता है। इस खेलमें लोगोंकी बड़ी भीड़ लग जाती है। कभी कभी तो प्रतिद्वन्द्विताके फलसे हिन्दू हिन्दूमें, मुसलमान मुसलमानमें तथा हिन्दू-मुसलमानमें दङ्गा हो जाया करता है। जिसकी जीत होती है, धनी व्यक्ति उसे इनाम देते हैं। इसके बाद घर जा कर सभी भदुआ खाते हैं। ये सब नावें खेनेके लिये एक सौसे तीन सौ आदमियोंकी जरूरत होती है।

विजयाके दिन प्रतिमा-विसर्जनके समय भी पूर्ववङ्गमें इसी प्रकारका खेल होता है।

३ शिवके हजार नामोंमेंसे एक नाम। (लिङ्गपु० ६५।११८) ४ चेतना, धातु। चरकके विमान स्थानमें लिखा है, कि जीवकी चेतना धातुका नाम विश्वकर्मा है। चरक मुनिने चेतनाधातुके कर्त्ता, मन्ता, वेदिता, ब्रह्मा, विश्वकर्मादि नाम रखे हैं। (चरक विमानस्था० ४ अ०) ५ सर्वव्यापारहेतु। (ऋक् १०।१७०।४) ६ बढ़ई। ७ राज, मेमार। ८ लोहार। ९ इलोराके अन्तर्गत स्वनाम प्रसिद्ध गुहामन्दिर। इलोरा देखो।

विश्वकर्म्मन्—१ वास्तुप्रकाश, वास्तुविधि, वास्तुशास्त्र, विश्ववास्तुसमुच्चय, अपराजितावास्तुशास्त्र, आयतत्त्व, विश्वकर्मीय आदि ग्रंथोंके प्रणेता।

२ मीमांसाकारके रचयिता। ३ सह्याद्रि वर्णित सौनलराजभेद। यह राजवंश पद्मावतीके भक्त और मुनिकुलोद्भव थे। (सह्या० ३१।३०)

विश्वकर्म्मपुराण—उपपुराणभेद।

विश्वकर्म्मम् शास्त्री—सत्प्रक्रियाव्याकृति नाम्नी प्रक्रियाकौमुदीटीकाके प्रणेता।

विश्वकर्मा—विश्वकर्म्मन् देखो।

विश्वकर्मेश (सं० क्ली०) शिवलिङ्गभेद।

विश्वकर्मेश्वरलिङ्ग (सं० क्ली०) लिङ्गभेद। कहते हैं,

कि विश्वकर्माने यहां लिङ्ग स्थापित किया था ।

(स्कन्दपुराण)

विश्वका (सं० स्त्री०) गङ्गाचिल्ली, गांगचील ।

विश्वकाय (सं० पु०) विश्व ही जिसका काय अर्थात् शरीर है, विष्णु ।

"स विश्वकायः पुरुहूत ईशः सत्यः स्वयं ज्योतिरजः पुराणः ।"

(भागवत ८।१।१३)

विश्वकाया (सं० स्त्री०) दाक्षायणी, दुर्गा ।

विश्वकारक (सं० पु०) विश्वस्य कारकः । विश्वका कर्त्ता, शिव । (शिवपु०)

विश्वकारु (सं० पु०) विश्वकर्मा ।

विश्वकार्य्य (सं० पु०) सूर्यकी सात प्रधान ज्योतियों-का भेद ।

विश्वकूट—हिमालयकी एक चोटीका नाम ।

(हिम०ख० ८।१०२)

विश्वकृत् (सं० पु०) विश्वं करोतीति कृ-क्विप् तुक् च । १ विश्वकर्मा । २ ब्रह्मा । (भागवत ६।१४।८)

विश्वकृष्टि (सं० त्रि०) जो सब लोगोंको अपने सगे सम्बन्धीके समान समझता हो ।

विश्वकेतु (सं० पु०) विश्वमेव केतुः विश्वव्यापी वा केतुर्यस्य । १ अनिरुद्ध । (अमर) २ पर्वतभेद ।

(हिम०ख० ८।१०६)

विश्वकोश (सं० पु०) विश्वं ब्रह्माण्डं यावत्पदार्थाः कोषे आधारे यस्य । १ विश्वभण्डार, वह कोश या भण्डार जिसमें संसार भरके सब पदार्थ आदि संगृहीत हों । २ विश्वप्रकाश नामक अभिधान, वह ग्रंथ जिसमें संसार भरके सब प्रकारके विषयों आदिका विस्तृत विवेचन या वर्णन हो ।

विश्वकोष—विश्वकोश देखो ।

विश्वक्षय (सं० पु०) विश्वविनाश, प्रलयकालमें ब्रह्माण्डका ध्वंस । (राजतर० २।१६)

विश्वक्षिति (सं० त्रि०) विश्वकृष्टि, जो सब लोगोंको अपने सगे सम्बन्धीके समान समझता हो ।

विश्वक्सेन (सं० पु०) १ विष्णु । २ तेरहवें मनु । (मत्स्यपु० ९ अ०) ३ कालिकापुराणके अनुसार एक चतुर्भुज देवता जो शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये रहते हैं और जो विष्णुका निर्माल्य धारण करनेवाले माने जाते हैं । ये दीर्घश्मश्रु, जटाधारी और रक्तपिङ्गल वर्ण हैं तथा श्वेतप..के ऊपर बैठे हैं ।

(कालिकापु० ८२ अ०)

कहीं कहीं विश्वक्शेन इस तालव्यशकारकी जगह दन्त्यसकार देखनेमें आता है ।

विश्वक्सेना (सं० स्त्री०) प्रियंगुवृक्ष, कंगनी । यह शब्द भी तालव्यशकारकी जगह दन्त्यसकार लिखा है ।

विश्वग (सं० पु०) विश्वं गच्छतीति गम-ड । १ ब्रह्मा । २ पूर्णिमाका पुत्र, मरीचिका लड़का ।

(भागवत ४।१।१३ १४)

विश्वगङ्गा—मध्यभारतके बेरार राज्यमें प्रवाहित एक छोटी नदी । यह अक्षा० २०°२४´ उ० तथा देशा० ७६°१६´ पू०के मध्य विस्तृत है । बुलदाना जिलेके बुलदाना नगरके समीप निकल कर नलगङ्गाके समान्तरालमें बहती हुई पूर्णानदीमें मिलती है । इस पहाड़ी नदीमें सभी समय जल नहीं रहता, किन्तु वर्षाके समय इस नदीसे जयपुर, बदनेरा और चांदपुर नगर तक गमनागमन होता है ।

विश्वगत (सं० त्रि०) विश्वं गतः । विश्वगामी, विश्वव्याप्त ।

विश्वगन्ध (सं० क्ली०) विश्वे सर्वस्थाने गन्धो यस्य । १ बोल नामक गंधद्रव्य । (पु०) २ पलाण्डु, प्याज ।

विश्वगन्धा (सं० स्त्री०) विश्वेषु समस्तपदार्थेषु मध्ये गन्धो गन्धविशिष्ट, क्षितावेव गन्ध इति न्यायादस्यास्तथात्वं । पृथिवी ।

विश्वगन्धि (सं० पु०) पुरञ्जयपुत्र, पृथुका लड़का ।

विश्वगर्भ (सं० पु०) विश्वं गर्भे यस्य । १ विष्णु । २ शिव । ३ रैवतका पुत्रभेद । (हरिवंश)

विश्वगुरु (सं० पु०) विश्वस्य गुरुः । हरि, विष्णु ।

(भागवत ३।१५।२६)

विश्वगूर्त्त (सं० त्रि०) १ सभी कार्योंमें समर्थ । २ उद्यतसर्वायुध, जिसके सभी आयुध उद्यत हों ।

(ऋक् २।६।१६)

विश्वगूर्त्ता (सं० त्रि०) सबोंका स्तुत्य; सभी लोगोंके स्तवयोग्य । (ऋक् १।१८०।२)

विश्वगोत्र (सं० त्रि०) विश्वगोत्रसम्बन्धीय। (शतपथब्रा० ३।५।३।५)

विश्वगोत्र्य (सं० त्रि०) १ विश्वगोत्रसंश्लिष्ट। २ वाद्ययुक्त। (अथर्व ५।२१।३)

विश्वगोप्ता—विश्वगोप्तृ देखो।

विश्वगोप्तृ (सं० पु०) विश्वस्य गोप्ता रक्षयिता। १ विष्णु। २ इन्द्र। (त्रि०) ३ विश्वपालक, समस्त विश्वका पालन करनेवाला।

विश्वग्रन्थि (सं० स्त्री०) १ हंसपदी लता। २ रक्तलज्जालुका, लाल लज्जालू।

विश्वग्वात (सं० पु०) विश्वग्वायु देखो।

विश्वग्वायु (सं० पु०) विश्वग्गतो वायुः। सर्वतोगामी वायु, वह वायु जो सब जगह समानरूपसे चलती हो। यह वायु अनायुष्य (आयुष्कर नहीं) दोषवर्द्धक और नाना प्रकारका उत्पात उत्पन्न करनेवाली मानी जाती है। सभी ऋतुओंमें यह वायु बह सकती है।

विश्वच् (सं० त्रि०) विश्वमञ्चति अञ्च-क्विप्। सर्वत्रगामी, सब जगह जानेवाला।

विश्वङ्कर (सं० पु०) विश्वं सर्वं करोतीति प्रकाशयतीति कृ बाहुलकात् ट, द्वितीयाया अलुक्। चक्षु, नेत्र।

विश्वचक्र (सं० क्ली०) विश्वतः सर्वत्र चक्र यस्य। महादानविशेष, बारह प्रकारके महादानोंमेंसे एक प्रकारका महादान। इसमें एक हजार पलका सोनेका एक चक्र या पहिया बनवाया जाता है जिसमें सोलह आरे होते हैं और तब यह चक्र कुछ विशिष्ट विधानोंके अनुसार दान किया जाता है।

विश्वचक्रात्मा (सं० पु०) विश्वचक्रं ब्रह्माण्डमेव आत्मा स्वरूपं यस्य। विष्णु, नारायण। (मत्स्यपु० २३६ अ०)

विश्वचक्षण (सं० त्रि०) विश्वचक्षस् देखो।

विश्वचक्षस् (सं० त्रि०) सर्वविश्वके प्रकाशक, जो समस्त जगत्को प्रकाश करते हैं।

विश्वचक्षुस् (सं० त्रि०) सर्वदर्शी, ईश्वर।

विश्वचर्षणि (सं० त्रि०) सर्वमनुष्ययुक्त, सभी यजमानोंसे पूज्य। (ऋक् १।६।३)

विश्वजन (सं० पु०) सर्वजन, सभी मनुष्य।

विश्वजनीन (सं० त्रि०) विश्वजनाय हितं (आत्मन् विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः। पा ५।१।६) इति-ख। विश्वजनका हितकर, सभी लोगोंका हितजनक।

विश्वजनीय (सं० त्रि०) विश्वजनका हितकर, सभी लोगोंकी भलाई करनेवाला।

विश्वजन्मन् (सं० त्रि०) विश्वस्मिन् जन्म यस्य। १ विश्वजात। २ विभिन्न प्रकार।

विश्वजन्य (सं० त्रि०) विश्वजनाय हितं हितार्थे यत्। विश्वजनका हितजनक, सबोंकी भलाई करनेवाला।

विश्वजयिन् (सं० त्रि०) विश्वं जयति जि-णिनि। विश्वजेता, विश्वको जीतनेवाला

विश्वजा (सं० स्त्री०) शुण्ठि, सोंठ।

विश्वजिच्छिल्प (सं० पु०) एकाहभेद। (पञ्चविंशब्रा० १६।१५।१)

विश्वजित् (सं० पु०) विश्वं जयति जि क्विप्, तुक् च। १ यज्ञभेद, सर्वस्वदक्षिण यज्ञ। इस यज्ञमें कुल धन दक्षिणामें दे देना होता है। २ न्यायविशेष। यह न्याय इस प्रकार है—विश्वजित्के द्वारा यज्ञ करें अर्थात् विश्वजित् यज्ञ करें' जहां फलकी किसी प्रकार श्रुति अभिहित न होनेसे नित्यत्व कल्पित हुआ है तथा फलाभिधान न रहनेसे भी पीछे यज्ञफल स्वर्गादि कल्पित होता है, वहां यह न्याय होगा, 'विश्वजित् यज्ञ करे, इस उक्तिमें स्वर्गादिके सम्बन्धमें कोई बात न रहने पर भी यज्ञानुष्ठानके बाद यज्ञफल स्वर्ग आपे आप होता है, इस कारण यह न्याय हुआ।

३ वरुणका पाश। ४ अग्निविशेष। (भारत ३।११८।१६) ५ दानवविशेष। (भारत १२।२२७।५१) ६ सत्यजित्के पुत्र। (३।२०।१६) ७ विश्वजयी, विश्वजेता। ८ सह्याद्रिवर्णित राजभेद। (सह्य० ३३।१४६) ९ वह जिसने सारे विश्व पर विजय प्राप्त की हो।

विश्वजिन्व (सं० त्रि०) १ सर्वगामी, सर्वजेता।

विश्वजीव (सं० त्रि०) १ सर्वान्तर्यामी। २ विश्वस्थित जीवमात्र।

विश्वजू (सं० त्रि०) विश्वके प्रेरयिता। (ऋक् ४।३३।८)

विश्वज्योतिष (सं० पु०) गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषिभेद।

विश्वज्योतिस् (सं० त्रि०) १ जगज्ज्योतिः। २ एकाह-

भेद। (कात्यायनश्रौ २२।२।८) ३ ऋषिभेद। ४ इष्टाभेद। (शतपथब्रा०६।३।३।१६) ५ सामभेद।

विश्वतनु (सं० पु०) विश्वं तनुर्यस्य। भगवान् विष्णु, यह विश्व ही जिनका शरीर है।

विश्वतश्चक्षुस् (सं० त्रि०) सर्वतोव्याप्तचक्षुः। जिसके नेत्र चारों ओर परिव्याप्त हो अर्थात् जो सर्वद्रष्टा हो। (ऋक् १०।८१।३)

विश्वतस् (सं० अव्य०) विश्व सप्तम्यर्थे तसिल्। १ सर्वतः, चारों ओर। २ सभी प्रकारका, तरह तरहका।

"सर्वतो भयाच्च कालीयदमनादिना रक्षिता।" (स्वामी)

विश्वतस्पाणि (सं० त्रि०) परमेश्वर, सर्वत्र पाणियुक्त, चारों ओर जिसके हाथ हों।

विश्वतस्पाद् (सं० त्रि०) परमेश्वर, चारों ओर पादयुक्त।

विश्वतस्पृथ (सं० त्रि०) विश्वतस्पाद्, परमेश्वर। (अथर्व १३।६।२२)

विश्वतुर् (सं० त्रि०) सर्वशत्रुहिंसाकारी। (ऋक् १।४८।१६)

विश्वतुराषह् (सं० त्रि०) विश्वतुर् देखो।

विश्वतुलसी (सं० स्त्री०) तुलसीवृक्षभेद, बनतुलसी, बबुई तुलसी। गुण—वीज शीतल; क्वाथ मेह, रक्तातिसार और उदरामयनाशक; पत्तेका रस कृमिघ्न और सर्पदंशमें हितकर। (Ocimum sanctum)।

विश्वतृप्त (सं० त्रि०) विश्वेन तृप्तः। विष्णु, परमेश्वर।

विश्वतूर्त्ति (सं० क्ली०) समस्त विषयगतवाक्य। (ऋक् २।३।८)

विश्वतोधार (सं० त्रि०) विश्वतश्चतुर्दिक्षु धारा यस्य। चारों ओर धारायुक्त, जगत्का धारयिता।

विश्वतोधी (सं० त्रि०) समस्त जगत्का धारक।

विश्वतोबाहु (सं० पु०) विश्वतोबाहुर्यस्य। परमेश्वर, विष्णु।

विश्वतोमुख (सं० पु०) विश्वतो मुखं यस्य। परमेश्वर।

विश्वतोय (सं० त्रि०) विश्वव्याप्त जलराशि।

विश्वतोया (सं० स्त्री०) विश्वप्रियः तोयो जलं यस्याः। गङ्गा, विश्वप्रियतोया। इसका जल विश्वके सभी लोगोंका प्रिय है, इसीसे इसको विश्वतोया कहते हैं।

विश्वतोवीर्य्य (सं० त्रि०) १ सर्वकर्मक्षम, सभी विषयोंमें पारदर्शी। २ सभी कार्योंमे शक्तिसम्पन्न।

विश्वत्र (सं० त्रि०) विश्व सप्तम्यर्थे त्र। सर्वत्र, समस्त विश्वमें। (ऋक् १०।६१।२५)

विश्वत्रर्च्चास (सं० पु०) सूर्यकी सप्तरश्मिभेद।

विश्वथा (सं० अव्य०) विश्व प्रकारार्थ थाल् (प्रकारवचने थाल्। पा ५।३।२३) सर्वथा सब प्रकारसे, सभी तरहसे।

विश्वदंष्ट्र (सं० पु०) असुरभेद। (भारत शान्तिपर्व)

विश्वदर्शत (सं० त्रि०) सबोंके दर्शनीय। (ऋक् १।२५।१८)

विश्वदानि (सं० पु०) जनसाधारणका व्यवहारोपयोगी गृह वा स्थान। (तैत्ति० ब्रा० ३।३।६।१०)

विश्वदानीम् (सं० अव्य०) विश्वकाल, सर्वदा, सब समय।

विश्वदाव (सं० त्रि०) सर्व दहनकारी, विश्वाग्नि। (तैत्ति०सं० ३।३।८।२)

विश्वदावन् (सं० त्रि०) सर्वफलदाता। (अथर्व ४।३२।६ भाष्य)

विश्वदाव्य (सं० त्रि०) विश्वदावसम्बन्धी, दावाग्नि। (अथर्व ३।२१।३ भाष्य)

विश्वदासा (सं० स्त्री०) अग्निकी सातों जिह्वाओंका एक नाम।

विश्वदृश् (सं० त्रि०) विश्व इव दृश्यतेऽसौ। विश्वद्रष्टा, जो सारा संसार देखते हैं। (भागवत ४।२०।३२)

विश्वदृष्ट (सं० त्रि०) जिन्होंने समस्त विश्वका दर्शन किया है। (१।१६१।५)

विश्वदेव (सं० पु०) विश्वेदीव्यतीति दिव-अच्। १ गण देवताविशेष। नान्दीमुखश्राद्ध और पार्वणश्राद्धमें इनकी पूजा करनी होती है। (त्रि०) २ विश्वका देवतास्वरूप महापुरुष।

विश्वदेव—१ मधुसूदन सरस्वतीके परम गुरु। इनका बनाया हुआ विश्वदेवदीक्षितीय नामक एक ग्रन्थ मिलता है। २ विजयनगरके एक राजा। विद्यानगर देखो।

विश्वदेवा (सं० स्त्री०) १ ह्रस्वगवेधुका, गोपवल्ली। २ नागवला, गंगरन। ३ लाल दंडोत्पल। (रत्नमाला)

विश्वदेवता (सं० स्त्री०) विश्वदेवा। विश्वदेवा देखो।

विश्वदेवनेत्र (सं० त्रि०) विश्वदेवा जिनके नेता हैं। (शुक्लयजुः ६।३५ वेददीय)

विश्वदेववत् (सं० त्रि०) विश्वदेवयज्ञ। (अथर्व १६।१८।२०)

विश्वदेवस्तुत् (सं० पु०) एकाहभेद। (आश्व० श्रौ० ६।८।७)

विश्वदेव्य (सं० त्रि०) १ सभी देवताओंको उपयुक्त क्रियाके साधु। (ऋक् १।१४८।१) यह अग्निका विशेषण है। २ सभी देवताओंका समूह। (शुक्लयजुः ११।१६)

विश्वदेव्यावत् (सं० त्रि०) समस्त देवतायुक्त, समस्त देवविशिष्ट, सभी देवताओंके साथ।

विश्वदैव (सं० अव्य०) विश्वदेवाके सदृश।

विश्वदैव (सं० क्ली०) नक्षत्रभेद, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र। विश्वदेव इसके अधिष्ठात्री देवता हैं इसीसे इस नक्षत्रका नाम विश्वदेव पड़ा है। (बृहत्स० ७।२)

विश्वदैवत (सं० क्ली०) विश्वदेवता अधिष्ठात्री देवताऽस्य। उत्तराषाढ़ानक्षत्र। (बृहत्संहिता ७१।११)

विश्वदोहस् (सं० त्रि०) समस्त विश्वका दोहनकारी। (ऋक् ६।४८।१३)

विश्वद्रच् (सं० त्रि०) विश्वक् समन्तात् अञ्चति गच्छति इति क्विप्। सर्वत्र गमनकर्त्ता, जो तमाम जानेमें समर्थ हो।

विश्वध (सं० अव्य०) सर्वतः, सर्वत्र, चारों ओर। (ऋक् १।६३।८)

विश्वधर (सं० पु०) विश्वधारणकारी, विष्णु।

विश्वधरण (सं० क्ली०) समस्त जगत्को धारण। (राजतर० १।१३६)

विश्वधा (सं० त्रि०) विश्वधारणकारी, विष्णु। (शुक्लयजु० १।२)

विश्वधातृ (सं० त्रि०) विश्वस्य धाता। विश्वधारणकारी, विष्णु।

विश्वधाम (सं० क्ली०) १ विश्वका आश्रमस्थान, ईश्वर। २ सभी लोगोंके रहनेका स्थान। ३ स्वदेश। (श्वेताश्वतर उप० ६।६)

विश्वधायस् (सं० त्रि०) समस्त जगत्का धारणकर्त्ता, सारा संसार जो धारण करते हैं। (ऋक् १।७३।३)

विश्वधार (सं० पु०) प्रैयव्रत मेधातिथिके पुत्रभेद, शाकद्वीपके राजा मेधातिथिके पुत्रभेद। (भागवत ५।२०।२५)

विश्वधारा—हिमवत्पादसे निकली हुई एक नदी। (हिम० ख० ४६.७६)

विश्वधारिणी (सं० स्त्री०) विश्वं सर्वं धरतीति धृ-णिनि-ङीप्। पृथिवी।

विश्वधावीर्य (सं० त्रि०) १ सर्वशक्तिशाली। २ जगद्धारणोपयोगी वीर्यशाली। (अथर्व ५।२२।३)

विश्वधृक् (सं० त्रि०) जगद्धारणकारी, विष्णु।

विश्वधृत् (सं० त्रि०) विश्व धरति धृ-क्विप् तुक् च। विश्वधर्त्ता, विश्वधारणकारी।

विश्वधेन (सं० त्रि०) विश्वप्रीणनकारी, विश्वको संतोष करनेवाला। (ऋक् ४।१६।२)

विश्वधेनु (सं० पु०) एक प्राचीन ऋषिका नाम।

विश्वनन्दतैल—तैलौषधविशेष। (चिकित्सासार)

विश्वनर (सं० त्रि०) विश्वे सर्वे नरा यस्य। समस्त मनुष्य ही जिनका है। संज्ञाका बोध होनेसे 'विश्वानर' ऐसा पद होगा। 'नरे संज्ञायां' (पा ६।३।१२६) इस सूत्रानुसार दीर्घ होता है।

विश्वनाथ (सं० पु०) विश्वस्य नाथः। १ शिव, महादेव। २ काशीस्थित शिवलिङ्ग। ३ साहित्यदर्पणके प्रणेता एक पण्डित। इनके पिताका नाम श्रीचन्द्रशेखर महाकविचन्द्र था। ४ भाषापरिच्छेद और उसकी टीका सिद्धान्तमुक्तावलीके प्रणेता एक पण्डित। ये विद्यानिवास भट्टाचार्यके पुत्र थे। पञ्चानन इनकी उपाधि थी। विश्वनाथ कविराज और विश्वनाथ पञ्चानन शब्द देखो।

विश्वनाथ—१ शास्त्रदीपिकाके प्रणेता प्रभाकरके गुरु। २ उपदेशसारके रचयिता। ३ कोमलाटीकाके प्रणेता। ४ जातिविवेकके प्रणेता। ५ दुण्ढिप्रतापके रचयिता। इन्होंने अपने प्रतिपालक दुण्ढमहाराजके आदेशसे उक्त ग्रन्थकी रचना की थी। ६ तत्त्वचिन्तामणि-शब्दखण्डटीकाके रचयिता। ७ तर्कसंग्रहटीकाके प्रणेता। ८ दुर्बोधभञ्जिका नाम्नी मेघदूतटीका और राघवपाण्डवीयटीकाके कर्त्ता। ९ प्रेमरसायनके प्रणेता। १० मुक्ति-

वादटीका और व्युत्पत्तिवादटीकाके रचयिता। ११ काव्यादर्शकी रसिकरञ्जिनी नाम्नी टीकाके प्रणयनकर्त्ता। १२ रुद्रपद्धतिके रचयिता। १३ वाल्मीकितात्पर्यतरणि-नाम्नी रामायण-टीकाकार। १४ त्रिदोपदनिर्णयके प्रणेता। १५ श्रौतप्रयोगके प्रणेता। १६ सङ्गीतरघुनन्दनके रचयिता। १७ सारसंग्रह नामक वैद्यक ग्रन्थके प्रणेता। १८ व्रतप्रकाश या व्रतराज नामक ग्रन्थके प्रणेता। इन्होंने १७३६ ई०को काशीमें बैठ कर उक्त ग्रन्थ समाप्त किया। इनके पिताका नाम था गोपाल। ये सङ्गमेश्वर नामसे भी परिचित थे। १९ अन्त्येष्टिपद्धति, अन्त्येष्टिप्रयोग, अशौचविंशच्छ्लोकीटीका, और्द्ध्वदेहिक कल्पवल्ली, और्द्ध्वदेहिकपद्धति और क्रियापद्धति-ग्रंथके रचयिता। २० वृत्तकौतुकके प्रणेता, चतुर्भुजके पुत्र। २१ कोषकल्पतरु नामक अभिधान और जगत् प्रकाशकाव्य तथा शत्रुशल्यचरितकाव्यके प्रणेता। श्रीमन्महाराजाधिराज शत्रुशल्यकी जीवनी पर २२ सर्गमें शेषोक्त ग्रंथ तथा मेदिनीकोषके आधार पर इन्होंने कोषकल्पतरुकी रचना की। ये नारायणके पुत्र थे। २२ एक प्रसिद्ध पण्डित, पुरुषोत्तमके पुत्र। इन्होंने १५४४ ई०में विश्वप्रकाशपद्धति प्रणयन की थी। २३ षट्चक्रविवृतिटीका नामक एक तांत्रिक ग्रंथके प्रणेता। २४ अमृतलहरीकाव्यके रचयिता, कुण्डरत्नाकर और उसकी टीकाके प्रणेता।

विश्वनाथ आचार्य—काशीमोक्षनिर्णयके प्रणेता।

विश्वनाथ उपाध्याय—दत्तकनिर्णयके रचयिता।

विश्वनाथ कवि—प्रभानाम्नी वृत्तरत्नाकरटीकाके प्रणेता।

विश्वनाथ कविराज—एक अद्वितीय आलङ्कारिक। बंगालके पण्डितोंका विश्वास है, कि विश्वनाथ बङ्गाली तथा वैद्यवंशोद्भव थे, किन्तु यथार्थमें ये इस देशके नहीं थे। वे उत्कलवासी और उत्कलश्रेणीके ब्राह्मण थे। १२वीं सदीमें उत्कलके सुप्रसिद्ध गङ्गवंशीय राजा भानुदेवका सभामें ये तथा इनके पिता चन्द्रशेखर विद्यमान थे। उत्कल राजसभामें असाधारण कवित्वशक्तिके प्रभावसे इन्होंने 'कविराज' की उपाधि पाई थी। आप कुवलयाश्वचरित, चन्द्रकला, प्रभावती-परिणय, प्रशस्तिरत्नावली, राघवविलास और साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थ लिख गये हैं। पद्यावलीमें इनका उल्लेख है।

विश्वनाथ चक्रवर्त्ती—उज्ज्वलनीलमणिकिरण, गौराङ्गस्मरणैकादशक, भक्तिरसामृतबिन्दु, भागवतपुराण टीका राधामाधवरूपचिन्तामणि, साध्यसाधनकौमुदी, स्मरणक्रममाला, हंसदूतटीका आदिके रचयिता। कोङ्गलके श्रीवर्द्धन नामक स्थानमें इनका एक मठ विद्यमान है।

विश्वनाथ चित्तपावन—व्रतराज नामक ग्रन्थके प्रणेता। ये १७३६ ई०में विद्यमान थे। इनके पिताका नाम गोपाल था।

विश्वनाथ चौबे—भागवतपुराणसारार्थदर्शिनीके प्रणेता।

विश्वनाथ तीर्थ—सिद्धान्तलेशसंग्रहव्याख्याके कर्त्ता।

विश्वनाथ दीक्षित जड़े—प्रतिष्ठादर्श नामक दीधितिके प्रणेता।

विश्वनाथ देव—१ मृगाङ्कलेखनाटकके प्रणेता। २ कुण्डमण्डपकौमुदी, कुण्डविधान गोत्रप्रवरनिर्णय आदि ग्रन्थोंके रचयिता।

विश्वनाथ दैवज्ञ—एक विख्यात ज्योतिर्विद्, दिवाकर दैवज्ञके पञ्चम पुत्र। आप १६१२-१६३२ ई० के मध्य इष्टशोधन, केशवजातकपद्धत्युदाहरण, केशवी-लघ्वीटीका, ग्रहकौतूहलोदाहरण, ग्रहलाघवविवरण, ग्रहलाघवोदाहरण, चन्द्रमानतन्त्रटीका, ताजिकपद्धतिटीका, तिथिचिन्तामणि-उदाहरण, नीलकण्ठीटीका, पातसारणी टीका, बृहज्जातकटीका, वृहत्संहिताटीका, ब्रह्मतुल्यसिद्धांतटीका, ब्रह्मतुल्योदाहरण, करणकुतूहल, मिताङ्क, मुहूर्त्तमणि, रामविनोदोदाहरण, वर्षतन्त्रप्रकाशिका, वर्षपद्धतिटीका, वसिष्ठसंहिताटीका, विष्णु करणोदाहरण, श्रीपत्युदाहरण, षोड़शयोगाध्याय, संज्ञातन्त्रप्रकाशिका, सिद्धान्तशिरोमणि उदाहरण गहनार्थप्रकाशिकानाम्नी सूर्यसिद्धान्तटीका, सूर्यसिद्धान्तोदाहरण, सोमसिद्धांतटीका, होरामकरन्दोदाहरण आदि लिख गये हैं।

विश्वनाथ नगरी (सं० स्त्री०) विश्वनाथस्य नगरी, विश्वनाथकी पुरी, काशी। विश्वनाथ महादेवने इस पुरीका निर्माण किया, इसीसे इसको विश्वनाथनगरी कहते हैं।

काशी वा वाराणसी देखो।

विश्वनाथ नारायण—शिवस्तुतिटीकाके प्रणेता।

विश्वनाथ न्यायालङ्कार—धातुचिन्तामणिके प्रणेता। द्वितीय

विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य—बङ्गालके एक अ

नैयायिक। ये १७वीं शताब्दीके मध्यभागमें विद्यमान थे। इन्होंने छन्दोसूत्रको पिङ्गलप्रकाशिका नाम्नी टीकामें

"विद्यानिवाससूनोः कृतिरेषा विश्वनाथस्य"

अर्थात् विद्यानिवासका पुत्र कह कर अपना परिचय दिया है। राढ़ीयब्राह्मणकुलग्रन्थसे जाना जाता है, कि सुप्रसिद्ध आखण्डलबंद्यवंशमें विश्वनाथका जन्म हुआ। इनके पिताका नाम काशीनाथ विद्यानिवास तथा पितामहका नाम रत्नाकर विद्यावाचस्पति था। ये विद्यावाचस्पति सुविख्यात वासुदेव सार्वभौमके छोटे भाई थे। रुद्रवाचस्पति और नारायण नामक विश्वनाथके दो बड़े सहोदरका नाम मिलता है। भाषापरिच्छेदका कारिकावली तथा न्यायसिद्धांतमुक्तावली नामकी टीका, न्यायतत्त्वबोधिनी वा न्यायबोधिनी, न्यायसूत्रवृत्ति, पदार्थतत्त्वावलोक, पिङ्गलमतप्रकाश, सुवर्थतत्त्वावलोक, तर्कभाषा आदि ग्रन्थ इनके बनाये मिलते हैं। 'न्यायशब्द' में इनके अन्यान्य ग्रन्थोंका परिचय दिया गया है। न्याय शब्द देखो।

विश्वनाथ पण्डित—वीरसिंहोदयजातकके रचयिता।

विश्वनाथ वाजपेयी—तुरगसिद्धिके प्रणेता।

विश्वनाथभट्ट—१ गणेशकृत तत्त्वप्रबोधिनीकी न्यायविलासनाम्नी टीकाके प्रणेता। २ शृङ्गारवापिका नाम्नी नाटिकाके रचयिता। ३ और्द्ध्वदेहिकक्रिया वा श्राद्धपद्धतिके प्रणेता। ४ श्रौतप्रायश्चित्तचन्द्रिकाके रचयिता। ५ तर्कतरङ्गिणीनाम्नी तर्कामृतटीकाके प्रणेता।

विश्वनाथ मिश्र—मेघदूतार्थमुक्तावलीके प्रणेता।

विश्वनाथ रामानुजदास—रहस्यत्रयविधिके रचयिता।

विश्वनाथ सिंहदेव—रामगीताटीका, रामचन्द्राह्निक और उसकी टीका, राममन्त्रार्थनिर्णय, वेदान्तसूत्रभाष्य, सर्वसिद्धान्त आदि ग्रन्थोंके प्रणेता। आप प्रियदासके शिष्य और राजा श्रीसीतारामचन्द्र बहादुरके मन्त्री थे। कोई कोई ग्रन्थकारको राजकुमार कहते हैं।

विश्वनाथ सूरि—आर्य्यविज्ञप्तिका रामार्यविज्ञप्ति काव्यके प्रणेता।

वि नाथसेन—पथ्यापथ्यविनिश्चय नामक वैद्यक ग्रन्थके प्रणेता। इन्होंने महाराज प्रतापरुद्र गजपतिके राजवैद्यरूपमें नियुक्त रह कर उक्त ग्रन्थकी रचना की। इनके पिताका नाम नरसिंह सेन और पितामहका नाम तपन था।

विश्वनाथाश्रम—तर्कदीपिकाके प्रणेता, महादेवाश्रमके शिष्य।

विश्वनाथीन (सं० त्रि०) विश्वनाथसम्बन्धीय, विश्वनाथ प्रोक्त या तल्लिखित।

विश्वनाभ (सं० पु०) विश्वं नाभौ यस्य। विष्णु, परमेश्वर।

विश्वनाभि (सं० स्त्री०) विश्वस्य नाभिः। विश्वका नाभिस्वरूप, सूर्यादिका आश्रयभूत, विष्णुका चक्र। इसी चक्रका आश्रय कर सूर्यादि ग्रह अवस्थित हैं। (भागवत २।२।२५)

विश्वनामन् (सं० पु०) १ ईश्वर। २ जगत्, संसार।

विश्वन्तर (सं० पु०) १ बुद्ध। २ सौषद्मनका गोत्रज राजपुत्रभेद। (ऐतरेयब्रा० ७।२७)

विश्वपक्ष (सं० पु०) तान्त्रिक आचार्यभेद। (शक्तिरत्नाकर०)

विश्वपति (सं० पु०) विश्वस्य पतिः। विश्वका पति, विश्वपालक, महापुरुष, कृष्ण।

विश्वपति—१ वेदाङ्गतीर्थकृत माधवविजयटीकाकी पदार्थदीपिका नाम्नी टीकाकार। २ प्रयोगशिखामणिके प्रणेता। इनके पिताका नाम केशव था।

विश्वपद्रु (सं० त्रि०) विश्वपाता, जगदीश्वर। (हरिवंश २५६ अ०)

विश्वपर्णी (सं० स्त्री०) भूम्यामलकी, भूंईआँवला। (राजनि०)

विश्वपा (सं० पु०) विश्वं पातीति पा-विच्। विश्वपालक, परमेश्वर।

विश्वपाचक (सं० पु०) विश्वं पाचयति पच-णिच-ण्वुल्।—भगवान् विष्णु, परमेश्वर। (मार्क पु० ६६।४६)

विश्वपाणि (सं० पु०) ध्यानिबोधिसत्त्वभेद।

विश्वपातृ (सं० त्रि०) विश्वस्य पाता। १ विश्वके पालनकर्त्ता, परमेश्वर। (पु०) २ पितृगणभेद। वर,

वरेण्य, वरद, पुष्टिद, तुष्टिद, विश्वपाता और धाता पितृपुरुषके यही ७ गण हैं।

विश्वपाद् (सं० त्रि०) विश्वपद् देखो।

विश्वपादशिरोग्रीव (सं० त्रि०) विश्वमेव पादशिरोग्रीवा यस्य। भगवान् विष्णु, परमेश्वर। (मार्क० पु० ४२।२)

विश्वपाल (सं० पु०) विश्वपालयति विश्व-पा-णिच्-अच्। विश्वपालक, विश्वका पालन करनेवाला।

विश्वपालक—सह्याद्रिवर्णित एक राजा। (सह्या० ३३।६)

विश्वपावन—सह्याद्रिवर्णित राजभेद। (सह्या० ३४।१५)

विश्वपावन (सं० त्रि०) विश्वं पावयतीति विश्व-पू-णिच्-ल्यु। १ विश्वको पवित्र करनेवाला। (भागवत ८।२०।१८) (स्त्री) २ तुलसी।

विश्वपिश् (सं० त्रि०) व्याप्तदीप्ति, व्याप्त भावमें प्रकाशमान, जिसकी दीप्ति फैल गई हो। (ऋक् ७५।७।३)

विश्वपुष् (सं० त्रि०) विश्वं पुष्णातीति विश्व-पुष क्विप्। विश्वपोषक, संसारका पालन करनेवाला।

विश्वपूजित (सं० त्रि०) विश्वैः सर्वैः पूजितः। सर्वपूजित, जगत् पूजित।

विश्वपूजिता (सं० स्त्री०) तुलसी।

विश्वपेशस् (सं० त्रि०) बहुविध रूपयुक्त, बहुरूपा।
(ऋक् १।४८।१६)

विश्वप्रकाशक (सं० पु०) १ सूर्य। २ आलोक।

विश्वप्रकाशिन् (सं० त्रि०) विश्वं प्रकाशयतीति-प्र-काश-णिनि। विश्वप्रकाशक, विश्वप्रकाशकारी।

विश्वप्रबोध (सं० पु०) भगवान् विष्णु।
(भागवत ४।२४।३५)

विश्वप्री (सं० त्रि०) छेदनोद्यत, काटनेके लिये तय्यार।
(तैत्तिरीयब्रा० ३।११।६।६)

विश्वप्सन् (सं० पु०) विश्वं प्सातीति-प्सा भक्षणे (स्पन उक्षन् पूषन् प्लीहन्निति। उण् १४।१५८) इति कानन् प्रत्ययेन साधु। १ अग्नि। २ चन्द्रमा। ३ देवता। ४ विश्वकर्मा। ५ सूर्य। (शब्दरत्ना०)

विश्वप्सा (सं० स्त्री०) अग्नि।

विश्वप्सु (सं० त्रि०) बहुविध रूप, अनेक प्रकारकी शक्ल।

विश्वप्स्य (सं० त्रि०) प्रचुररूप धन। (ऋक् ७।४२।६)

विश्वबन्धु (सं० पु०) विश्वस्य बन्धुः। विश्वका बन्धु, महादेव, शिव।

विश्वबाहु (सं० पु०) १ विष्णु। २ महादेव।

विश्वबीज (सं० क्ली०) विश्वस्य बीजम्। विश्वका बीजस्वरूप, विश्वका आदिकारण, मूलप्रकृति, माया।

विश्वबोध (सं० पु०) विश्वस्य बोधो यस्य। बुद्ध।
(त्रिका०)

विश्वभद्र (सं० पु०) सर्वतोभद्र।

विश्वभरस् (सं० त्रि०) विश्वपोषक, विश्वका पालन करनेवाला। (ऋक् ४।१।१६)

विश्वभर्तृ (सं० पु०) विश्वस्य भर्त्ता। विश्वका भरणकारी, विश्वपालक।

विश्वभव (सं० त्रि०) विश्वस्य भव उत्पत्तिर्यस्मात्। जिससे विश्वकी उत्पत्ति हुई हो, ब्रह्मा।

विश्वभानु (सं० त्रि०) सर्वतोव्याप्ततेजस्क, चारों ओर जिसका तेज फैला हुआ हो। (ऋक् ४।१।३)

विश्वभाव (सं० त्रि०) विश्वभावन, परमेश्वर।
(भागवत १०।११।१३)

विश्वभावन (सं० पु०) परमेश्वर।

विश्वभुज् (सं० त्रि०) विश्वं भुनक्ति भुज-क्विप्। १ विश्वभोगकारी : (पु०) २ महापुरुष। ३ इन्द्र।

विश्वभुजा (सं० पु०) देवीभेद। (स्कन्दपु०)

विश्वभू (सं० पु०) बुद्धभेद। (हेम)

विश्वभूत (सं० त्रि०) परमेश्वर। (हरिवंश २५६ अ०)

विश्वभृत् (सं० त्रि०) विश्वं विभर्त्ति विश्व-भृ-क्विप्। अन्नप्रदान द्वारा पालनकर्त्ता।

विश्वभेषज (सं० क्ली०) विश्वेषां भेषजम्। शुण्ठी, सोंठ।

विश्वभेषजी (सं० स्त्री०) समस्त औषधयुक्त।
(ऋक् १।२३।२०)

विश्वभोजस् (सं० पु०) विश्व भुज असि। १ सर्वभुक्, अग्नि। (त्रि०) २ विश्वरक्षक। (ऋक् ५।४१।४)

विश्वमदा (सं० स्त्री०) अग्निजिह्वा, अग्निकी सात जिह्वाओंमेंसे एक जिह्वाका नाम।

विश्वमनस् (सं० त्रि०) विश्वं व्याप्तं मनो यस्य।

१ व्याप्तमनाः, अत्यन्त मनस्वी । २ सभी चराचर पदार्थमें एकाग्रमनाः ।

विश्वमनुस् (सं० पु०) सभी मनुष्य (ऋक् ६।४६।१७)

विश्वमय (सं० त्रि०) विश्वं स्वरूपार्थे मयट्। विश्व-स्वरूप, सर्वमय, सर्वस्वरूप ।

विश्वमल्ल—वघेला वंशीय एक राजपूत सरदार, वीर धवलके पुत्र ।

विश्वमहस् (सं० त्रि०) विश्वं व्याप्तं महस्तेजो यस्य । व्याप्ततेजस्क, जिसका तेज चारों ओर फैला हो ।

(ऋक् १०।६३।२)

विश्वमहेश्वर (सं० पु०) शिव, महादेव ।

विश्वमातृ (सं० स्त्री०) विश्वस्य माता । विश्वकी माता, विश्वजननी, दुर्गा ।

विश्वमानुष (सं० पु०) विश्वं सर्वः मानुषः । सभी मनुष्य ।

(ऋक् ८।४६।४२)

विश्वमित्र (सं० पु०) माणवक । (पा ६।३।१३०)

विश्वमिन्व (सं० त्रि०) विश्वव्यापक । (ऋक् १।६१।४)

विश्वमुखी (सं० स्त्री०) दाक्षायणी ।

विश्वमूर्त्ति (सं० पु०) विश्वमेव मूर्त्तिर्यस्य । विश्वरूप, भगवान् विष्ण ।

विश्वमेजय (सं० पु०) विश्वके सभी शत्रुओंसे कम्पयिता । (ऋक् १।३५।२)

विश्वमोहन (सं० त्रि०) विश्वं मोहयतीति विश्व-मुह-णिच्-ल्यु । विश्वमोहनकारी, विष्णु ।

विश्वम्भर (सं० पु०) विश्वं बिभर्त्तीति भृ (संज्ञायां भृतृवृजीति । पा ३।२।४६) इति मुम्, (अरुर्द्विषदिति । पा ६।४।६७) इति मुम् । विष्णु, परमेश्वर । विष्णु समस्त विश्वका भरण करते हैं, इससे वे विश्वम्भर कहलाते हैं।

विश्वम्भर—१ राजभेद । (ऐतरेयब्रा० ७।२६) २ आनन्दलहरीटीकाके प्रणेता ।

३ गरुड़पुराणवर्णित वैश्यभेद । देवद्विजके प्रति इनकी बड़ी भक्ति रहती थी । एक दिन यमदण्डके भयसे ये अपनी स्त्री सत्यमेधाको ले कर तीर्थयात्राको निकले । राहमें लोमश ऋषिसे इनकी भेंट हो गई । लोमशने इनसे कहा, 'तुम जितने पुण्यकर्म कर चुके हो, वे सभी एक वृषोत्सर्गके बिना निष्फल हैं ; अतएव तुम पुष्करतीर्थमें जा कर वृषोत्सर्ग करके अपने घर लौटो । इससे तुम्हारे सभी दुष्कृत नष्ट होंगे और महापुण्यका उदय होगा ।' तदनुसार विश्वम्भरने कार्त्तिक मासमें पुष्कर जा कर लोमशवर्णित विधिवत् यज्ञ समाप्त किया । इसके बाद इन्होंने लोमशके साथ नाना तीर्थोंमें परिभ्रमण किया और अशेष पुण्य सञ्चय कर सुखसे जीवन बिताया था । इस पुण्यके फलसे दूसरे जन्ममें इनका वीरसेन राजकुलमें जन्म हुआ और ये वीरपञ्चानन नामसे प्रसिद्ध हुए । (गरुड़ उत्तर० ७।४८-२२५)

विश्वम्भरक (सं० पु०) विश्वम्भर स्वार्थे कन् । विश्वम्भर ।

विश्वम्भरपुर —भोजराजका एक नगर ।

(भविष्यब्र०ख० ३०।८६)

विश्वम्भर मैथिलोपाध्याय—एक कवि । कवीन्द्र चन्द्रोदयमें इनके रचित श्लोकादिका परिचय है ।

विश्वम्भरा (सं० स्त्री०) विश्वम्भर-टाप् । पृथिवी, विश्वभरणके कारण पृथिवीका नाम विश्वम्भरा हुआ है ।

विश्वम्भराभुज् (सं० पु०) विश्वम्भरां पृथिवीं भुनक्ति भुज-क्विप् । पृथिवीभोगकारी, पृथिवीपति, राजा ।

(राजतरङ्गिणी ८।२१।६२)

विश्वम्भरेश्वर—हिमालयस्थ शिवलिङ्गभेद ।

(हिमवत् ८।१०६)

विश्वम्भरोपनिषद्—उपनिषद्भेद ।

विश्वयशस् (सं० पु०) ऋषिभेद । (पा ६।२।१०६)

विश्वयु (सं० पु०) वायु । (शब्दार्थ०)

विश्वयोनि (सं० पु० स्त्री०) विश्वस्य योनि । १ विश्वकी योनि अर्थात् कारण, वह जिससे समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है । २ ब्रह्मा ।

विश्वरथ (सं० पु०) १ गाधिराजके पुत्रभेद । (हरिवंश) २ सह्याद्रिवर्णित एक राजा ।

विश्वरद (सं० पु०) मग वा भोजक ब्राह्मणोंका एक वेद-शास्त्र । इसे वे लोग अपना वेद मानते थे । यह भारतीय आर्योंके वेदोंका विरोधी था (Visperad) ।

विश्वराज (सं० पु०) सर्वाधिपति ! विश्वराज देखो ।

विश्वराघस् (सं० त्रि०) १ सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न, प्रभूतधनशील । (अथर्व ७।१।७।२ सायण)

विश्वरुचि (सं० पु०) १ देवयोनिभेद । (भारत द्रोणपर्व ;) २ दानवभेद । (कथासरित् ०)

विश्वरुची (सं० स्त्री०) १ अग्निकी सात जिह्वाओंमेंसे एक जिह्वाका नाम । (मुण्डकोपनि० १।२।४) (पु०) २ महाभारतके अनुसार एक प्रकारकी देवयोनि । ३ एक दानवका नाम ।

विश्वरूप (सं० क्ली०) १ बहुविधरूप, नाना रूप । (शुक्लयजुः १६।२५) राजा कार्यसिद्धिके लिये नाना प्रकारके रूप स्वीकार करते हैं । विश्वमेवरूपं यस्य । २ विष्णु । (हेम) ३ महादेव । (भारत ७।२०७।१२४) ४ त्वष्टृपुत्र । (विष्णु १।१५।१२२) ५ भगवान् श्रीकृष्णका वह स्वरूप जो उन्होंने गीताका उपदेश करते समय अर्जुनको दिखलाया था । श्रीमद्भगवद्गीताके ग्यारहवें अध्यायमें वह इस प्रकार वर्णित है—

> "अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपं ।
> नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपं ॥
> किरीटिनं गदिनं चक्रिनञ्च तेजोराशिं सर्वतोदीप्तिमन्तं ।
> पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥"
> (गीता ११ अ०)

अर्जुनने भगवान्का यह अदृष्टपूर्व देख कर भयव्याकुल चित्तसे कहा था, 'भगवन् ! मैं आपका विश्वरूप देख कर डर गया हूं । अभी आप अपना पूर्व देवरूप दिखाइये और प्रसन्न होइये ।

> "अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
> तदेव मे दर्शय देवरूपम् प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥"
> (गीता ११।४५)

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको दिखलाया था, कि इस विश्वके चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि ज्योतिष्कगण तथा ब्रह्मादि देवगण जो कुछ देखनेमें आते हैं, वे सभी मेरे स्वरूप हैं ।

६ असुरभेद । (भारत सभापर्व) ७ सर्वात्मक ।
(ऋक् १०।१०।०४)

विश्वरूप—१ एक सिद्धपुरुष । ये जगन्नाथ मिश्रके पुत्र और महाप्रभु श्रीचैतन्यके अग्रज थे । चैतन्यचन्द्र शब्द देखो । २ एक आभिधानिक । महेश्वर और मेदिनीकरने इनका उल्लेख किया है । ३ एक व्यवस्थातत्त्वज्ञ । हेमाद्रिकृत परिशेषखण्डमें इनका परिचय है । बहुतेरे अनुमान करते हैं, कि इन्होंने ही याज्ञवल्क्यस्मृतिकी टीका लिखी थी । विज्ञानेश्वरने उस टीकाका वचन उद्धृत किया है ।

विश्वरूप आचार्य—शङ्कराचार्यके एक शिष्य । इनका पूर्व नाम था सर्वेश्वर ।

विश्वरूपक (सं० क्ली०) १ कृष्णागुरु, काला अगर । २ राजादनवृक्ष, खिरनीका पेड़ ।

विश्वरूप केशव—आगमतत्त्वसारसंग्रह नामक तन्त्रग्रन्थके रचयिता । तुङ्गभद्रा नदीके किनारे इनका वास था । कोई कोई इन्हें केशवविश्वरूप नामसे पुकारते हैं ।

विश्वरूप गणक—गणेशकृतचापुकयन्त्रकी टीका; निसृष्टार्थदूती नाम्नी लीलावतीटीका, सिद्धान्तशिरोमणि मरीचि, सिद्धान्तसार्वभौम आदि ग्रन्थोंके प्रणेता । ये रङ्गनाथके पुत्र और बल्लाल दैवज्ञके पौत्र थे । मुनीश्वर उपाधिसे ये सर्वत्र परिचित थे ।

विश्वरूपतीर्थ—हठतत्त्वकौमुदीके प्रणेता, सुन्दरदेवके गुरु ।

विश्वरूपतीर्थ (सं० क्ली०) तीर्थभेद ।

विश्वरूपदेव—विवेकमार्त्तण्ड नामक ज्योतिःग्रन्थके प्रणेता, शतगुणाचार्यके पुत्र ।

विश्वरूपभारतीस्वामी—एक प्रसिद्ध योगी ।

विश्वरूपवत् (सं० त्रि०) विश्वरूप अस्त्यर्थे मतुप् मस्य व । विश्वरूपयुक्त, विश्वरूपविशिष्ट, विष्णु ।
(रामायण ७।२३।१)

विश्वरूपि (सं० त्रि०) विश्वरूप अस्त्यर्थे इनि । विश्वरूपविशिष्ट, भगवान् विष्णु ।

विश्वरेतस् (सं० पु०) विगे रेतः शक्तिर्यस्य । १ ब्रह्मा । (हेम) २ विष्णु ।

विश्वरोचक (सं० पु०) विश्ववान् रोचयतीति रुच ल्यु । १ नाड़ीच शाक, नारीच नामका साग । २ कचूर या पेचुक नामक साग ।

विश्वलोचन (सं० क्ली०) विश्वस्य लोचनं । १ विश्वचक्षु, विश्वप्रकाश । (पु०) २ सूर्य और चन्द्रमा ।

विश्वलोप (सं० पु०) ऋषिभेद । (तैत्तिरीयस० ३।३।८।२)

विश्ववनि (सं० त्रि०) सर्वाभीष्टपूरक (साम) । तैत्तिरीयस० २।४।५।२)

विश्ववत् (सं० त्रि०) १ विष्णुतुल्य । २ विष्णु है जिसम ।

विश्वयस् (सं० पु०) ऋषिभेद। (तैत्तिरीयसं० ६।६।८।४)

विश्ववर्मन्-- कुमारगुप्तके अधीन मालवके एक सामन्त। ४८० ई०की गान्धारराज्यमें उत्कीर्ण इनकी शिलालिपि मिलती है।

विश्ववर्णा (सं० स्त्री०) भूम्यामलकी। भुइँ आँवला।

विश्ववलिन् (सं० त्रि०) सब प्रकारके विषय जाननेमें समर्थ।

विश्ववहु (सं० त्रि०) १ विश्ववहनकारी। परमेश्वर।

विश्ववाच् (सं० स्त्री०) ईश्वर। (हरिवंश २६६ अ०)

विश्ववाजिन् (सं० पु०) यज्ञाश्व, यज्ञका घोड़ा। (हरिवंश १६४ अ०)

विश्ववार (सं० त्रि०) १ विश्ववारक, संसारनिवर्त्तक। २ सभी व्यक्तियोंका पूजनीय। (ऋक् १।४८।१३) स्त्रियां टाप्। (पु०) ३ यज्ञीयसोमका संस्कारविशेष। (शुक्लयजुः ७।१४ वेददीप)

विश्ववारा (सं० स्त्री०) अत्रिगोत्रकी स्त्री। ये ऋग्वेदके ५म मण्डल-२८ वें सूक्तकी १मसे ६ष्ठ ऋक्की ऋषि थीं। इन ऋकोंमें इनका विषय यों लिखा है,—

"अग्नि प्रज्वलित हो कर आकाशमें दीप्ति फैलाती हैं और ऊषाके सामने विस्तृतभावमें प्रदीप्त होती हैं, विश्ववारा पूर्वाभिमुखी हो कर देवताओंका स्तव करतीं और हव्यपात्र ले कर (अग्निकी ओर) जाती हैं। हे अग्नि! तुम सम्यक्रूपसे प्रज्वलित हो कर अमृतके ऊपर आधिपत्य करो, तुम हव्यदाताका कल्याण करनेके लिये उनके समीप उपस्थित रहो ; तुम यजमानके पास वर्त्तमान हो, उन्हें प्रचुर धनलाभ हो और तुम्हारे सामने वे अतिथियोग्य हव्य प्रदान करें। हे अग्नि! हम लोगोंके विपुल ऐश्वर्य्यके लिये शत्रुओंका दमन करो। तुम्हारी दीप्ति उत्कर्ष लाभ करे, तुम दाम्पत्य सम्बन्ध सुश्रृङ्खलाबद्ध करो और शत्रुओंके पराक्रमको खर्च कर डालो।'

विश्ववार्य्य (सं० त्रि०) विश्वकार। (ऋक् ८।१६।११)

विश्ववास (सं० पु०) १ सर्व्वलोककी आवासभूमि। २ जगत्, संसार।

विश्ववाहु (सं० पु०) १ महादेव। (भा० १३।१७।५८) २ विष्णु। (भा० १३।१४६।४७)

विश्वविख्यात (सं० त्रि०) जगद्विख्यात, सर्व्वत्र प्रसिद्ध।

विश्वविजयी (सं० त्रि०) सर्वत्र जयशील।

विश्वविद् (सं० त्रि०) १ सर्वज्ञता लाभ करनेमें समर्थ। (ऋक् १।१६४।१० सायण) २ सर्वज्ञ। ३ सर्व विषयके ज्ञापक, जो विश्वकी सब बातें जानता हो, बहुत बड़ा पण्डित। (ऋक् ६।७०।६ सायण) ४ ईश्वर।

विश्वविद्यालय—जिस विद्यालयमें बहुत दूरसे छात्र आ कर ऊंची श्रेणीकी विद्याशिक्षा प्राप्त करते हैं, उसीको विश्वविद्यालय कहते हैं। यह "विश्वविद्यालय" शब्द इस समयकी रचना है। सच पूछिये, तो यह अंगरेजी University-का ठीक अनुवाद है। क्योंकि ५०।६० वर्ष पहले भारतवर्षमें यह शब्द प्रचलित नहीं था। बहुत दिनोंसे भारतवर्षमें "परिषद्" (Council of education) नामक एक स्वतन्त्र पदार्थ था, उससे ही वर्त्तमान विश्वविद्यालयका कार्य्य परिचालित होता था। उपनिषद्में हम ऐसे परिषदोंका उल्लेख देखते हैं। भारतवर्षके अन्तर्गत काश्मीर देशमें सर्व्वप्रथम परिषद् या वेदाध्यापनाकी ऊंची सभा प्रतिष्ठित हुई थी। शाङ्खायनब्राह्मणमें इसका आभास इस तरह पाया जाता है,—

"पथ्यास्वस्तिरुदीचीं दिशं प्राजानात्। वाग् वै पथ्यास्वस्तिः। तस्मादुदीच्यां दिशि प्रज्ञाततरा वागुद्यते। उदञ्च उ एव यान्तिवाचं शिक्षितुं। यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्ते इति स्माह। एषा हि वाचो दिक्प्रज्ञाता।" (शाङ्ख० ब्रा० ७,६)

भाष्यकार विनायक भट्टने लिखा है—"प्रज्ञाततरा वागुद्यते काश्मीरे सरस्वती कीर्त्यते। बदरिकाश्रमे वेदघोषः श्रूयते। वाचं शिक्षितुं सरस्वती प्रासादार्थमुदञ्चे।"

सुतरां भाष्यानुसार उक्त ब्राह्मणांशका इस तरह अनुवाद किया जा सकता है—"पथ्यास्वस्ति उत्तर दिशा अर्थात् काश्मीर देश जाना जाता है। पथ्यास्वस्ति ही वाक् अर्थात् सरस्वती है। काश्मीर ही सारस्वत स्थान कहा जाता है। लोग भी इसीलिये काश्मीरमें विद्याशिक्षा करने जाते हैं। प्रवाद है, कि जो लोग उस दिशासे आते हैं, सभी "वे कहते हैं" यह कह कर उनके (उपदेश) सुननेकी इच्छा करते हैं। क्योंकि वहां ही विद्याका स्थान है, ऐसा प्रसिद्ध है।

इस समय जिस तरह आक्सफोर्ड, लिप्सिक आदि यूरोपीय विश्वविद्यालयोंसे उत्तीर्ण छात्र या अध्यापकोंकी बात यूरोपीय मात्र ही आदर और यत्नके साथ सुनते हैं, आज भी काशी या नवद्वीप (नदिया)-से शिक्षित और उच्च उपाधिप्राप्त पण्डितमण्डली भारतमें सर्वत्र जिस तरह आदर पाती है, बौद्धप्राधान्यकालमें जिस तरह नालन्दाकी परिषद्से उत्तीर्ण और सम्मान प्राप्त आचार्यगण बौद्धजगत्के सब स्थानोंमें सम्मानलाभ करते और उनके उपदेश वेदवाक्यवत् बौद्धसमाज आग्रहके साथ सुनता था, वैदिक समयमें अर्थात् ४।५ हजार वर्ष पहले भारतवासी उसी तरह काश्मीरके आचार्योंकी बात मानते थे। इसीलिये मालूम होता है, कि काश्मीर विद्याका आदिस्थान या उसका नाम इसीलिये शारदापीठ है।

इस समय जिस तरह उच्च शिक्षाके लिये विभिन्न शहरों या राजधानियोंमें विश्वविद्यालयोंकी प्रतिष्ठा देखी जाती है, प्राचीन कालमें ऐसे जनवहुल स्थानों या राजधानियोंमें उस तरहकी उच्च शिक्षाकी व्यवस्था न थी। उपनयनके बाद ही द्विजातिको निर्ज्जन अरण्य-वेष्टित गुरुके आश्रममें जा ब्रह्मचर्य अवलम्बनपूर्वक अवस्थान करना पड़ता था। जो सब उच्च-विद्यामें पाण्डित्यलाभ करनेके अभिलाषी होते, वे ३६ वर्ष तक गुरुगृहमें रहते थे।* उच्च-शिक्षाके शिक्षार्थीका आश्रम-स्थान प्रथम काश्मीरमें शारदापीठ, इसके बाद बदरिकाश्रम और पौराणिक युगमें नैमिषारण्य निर्दिष्ट था। उक्त तीनों स्थानोंसे ही भारतवर्षीय सहस्र सहस्र आचार्योंका अभ्युदय हुआ था।

इस समय जैसे एक एक विश्वविद्यालयके एक एक अध्यक्ष या प्रिन्सिपल (Principal) देखे जाते हैं, पहले समयमें भी वैदिक और पौराणिक युगमें वैसे ही अध्यक्षका होना प्रमाणित होता है। ऐसे अध्यक्षोंका कुलपति नाम था। यूरोपीय या यहांके प्रिन्सिपल वेतन ले कर उच्च-शिक्षा देते हैं; किन्तु भारतके पूर्वतन कुलपति वेतन लेना तो दूर रहा, एक एक कुलपति १० हजार शिष्यको केवल विद्यादान नहीं, छात्रकी शिक्षाकी समाप्ति या समावर्त्तन तक अन्नदानादि द्वारा भरण-पोषण करते थे। ¶

> "मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
> अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपति स्मृतः॥"

यहां भारत पुराणादिसे अत्रि, शौनक, उग्रश्रवा आदि मुनिको हम कुलपति आख्यासे अभिहित देखते हैं।

वैदिक और पौराणिक युगमें जिस तरह उच्चशिक्षाके लिये निर्ज्जन आश्रम निर्दिष्ट था, आदिबौद्धयुगमें भी पहले वैसा ही व्यवहार दिखाई देता। पीछे बौद्धयुगमें भारतके पश्चिम प्रान्तमें गान्धार और उद्यानमें तथा पूर्व-भारतमें विहारके अन्तर्गत नालन्दामें बौद्ध विश्वविद्यालय प्रतिष्ठित हुए थे। उक्त दो स्थानोंमें जितने विहार और विद्याविहार स्थान थे, सबों पर कर्तृत्व करनेको भार एक कुलपति पर निर्दिष्ट था †।

चीनपरिव्राजक यूएनचुवङ्ग ७वीं शताब्दीमें नालन्दामें आ कर यहां कुछ दिनों तक ठहरे थे। यहां उन्होंने बहुत बौद्धशास्त्रोंका अध्ययन किया था। उस समय भी नालन्दामें ५० हजार शिक्षार्थी उपस्थित थे। चीन-परिव्राजकोंके विवरणसे मालूम होता है, कि केवल भारत या चीन ही नहीं, सुदूर कोरिया और भारतमहासागरके द्वीपपुञ्जसे बहुतेरे छात्र यहां उच्च शिक्षालाभ करनेके लिये आते थे। इस नालन्दाका विश्वविद्यालय देखनेके लिये आ कर कोरियाके सुप्रसिद्ध श्रमण आर्यवर्म्म (A-di-y.-po-mono) और होइ ये (Hoei-ye)ने प्रायः ६४० ई०में यहां ही प्राण विसर्जन किया था।†

---

* "षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।"

(मनु ३।१)

¶ नीलकण्ठने महाभारतकी टीकामें लिखा है—"एको दश-सहस्राणि योऽन्नदानादिना भवेत्। स वै कुलपतिरिति"

(१।१।१)

† "तत् पृथिव्यां सर्वविहारेषु कुलपतिरयं क्रियतां।" मृच्छकटिक नाटकको इस उक्तिसे अच्छी तरह मालूम होता है, कि ई० सन्की १ली शताब्दीमें भी कुलपतिकी प्रथा विलुप्त नहीं हुई थी

† Chavannes Memoire 32ff

चीनपरिव्राजक यूएन्चुवङ्ग नालन्दामें जब आये थे, तब शीलभद्र यहांके कुलपति थे।

वैदिक या पौराणिक युगके विश्वविद्यालय निर्जन-वन प्रदेशमें पर्णकुटिरमें स्थापित थे। बौद्धोंके प्राधान्य-कालके विश्वविद्यालय वैसे नहीं थे। बौद्धराजाओंके यत्नसे प्रस्तरमय सुवृहत् अट्टालिका या विहारमें विश्वविद्यालयका कार्य्य सम्पन्न होता था। चीन-परिव्राजक ७वीं शताब्दीमें गान्धार और उद्यानमें ऐसे विश्वविद्यालयोंका ध्वंसावशेष देख गये हैं। किन्तु उस समय नालन्दाका सुवृहत् विश्वविद्यालय ध्वंसमुखमें पतित नहीं हुआ था। उस समय भी इसमें १० हजार छात्र एक साथ बैठ कर अध्यापककी उपदेश भरी बातें सुनते थे। प्रस्तरमयी अट्टालिकामें ऐसी सुवृहत् प्रस्तर-वेदिका विद्यमान थी। ८वीं शताब्दीसे ही नालन्दाका विश्वविद्यालय परित्यक्त हुआ और ९वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें नालन्दाके (वर्त्तमान वरागांवके) निकटवर्त्ती विक्रमशिलामें (वर्त्तमान शिलाउ ग्राममें, गौड़ाधिप धर्म-पालके यत्नसे अभिनव तान्त्रिक बौद्धोंके लिये नये विश्वविद्यालयकी प्रतिष्ठा हुई। १म महीपालके समयमें और उनके यत्नसे विक्रमशिलाकी ख्याति दिगन्त-विश्रुत हुई थी। इस गौड़ाधिपने दीपङ्कर श्रीज्ञानको विक्रमशिलाके प्रधान आचार्य्यपद पर अभिषिक्त किया था। इस समय इस स्थानमें ५० प्रधान आचार्य थे। मुसलमानोंके आक्रमणसे वहांकी वह प्राचीन बौद्धकीर्त्ति विध्वस्त हुई।

बौद्धयुगमें बौद्धोंके आदर्श पर हिन्दू और जैनोंके बीचमें भी विभिन्न सम्प्रदायोंके प्रधान प्रधान मठ उन सम्प्रदायोंके आलोच्य शास्त्रग्रन्थ पढ़नेके छोटे विश्वविद्यालयके रूपमें गिने जाने लगे। अति प्राचीनकालमें आर्य्य हिन्दूसमाजमें जैसे आश्रमवासी शिक्षार्थियोंमें ब्रह्मचर्य्यादि पालन और पाठनियम प्रवर्त्तित थे, बौद्ध-विहार या विद्यालयोंमें भी अधिकांश वे ही नियम प्रचलित हुए। परवर्त्ती हिन्दू और जैन मठोंमें भी उन्हीं नियमोंको सामान्य रूपसे परिवर्त्तन और समयोपयोगी बना कर चलाया गया। शङ्कर और रामानुज सम्प्रदायके मठों और गिरनार, अहमदाबाद आदि स्थानोंके मठ भारतीय छोटा विश्वविद्यालय माना जा सकता है। बहुत दूरसे विद्यार्थी आ कर यहां ग्रासाच्छादन और उपयुक्त विद्याशिक्षा पाते रहे।

बौद्ध-प्रभावके अवसान और वैदिक धर्मके अभ्युदय-कालमें कान्यकुब्ज और काशीमें ही वैदिक विश्वविद्यालय प्रतिष्ठित हुए थे। मुसलमान आक्रमणमें कन्नौज विद्यालयके लुप्त होने पर काशी आज भी हिन्दू-समाजमें प्रधान शास्त्रचर्चा और शास्त्रशिक्षाका स्थान कहा जाता है। १६वीं शताब्दीसे नवद्वीप न्यायचर्चामें सर्वप्रधान शिक्षापरिषद् कहा जाता है। आज भी नवद्वीपका वह प्राधान्य अक्षुण्ण है। यहां आज तक काशी, काञ्ची, द्राविड़ और तो क्या उत्तरके काश्मीर और दक्षिणके सुदूर सेतुबन्ध रामेश्वरसे छात्र न्यायशिक्षाके लिये आते हैं।

यूरोपीय विश्वविद्यालय।

प्राचीन भारतमें आर्यऋषिगण शास्त्रीय या धर्मतत्त्वादि उच्चशिक्षा प्रदानके लिये परिषद् स्थापन कर साधारणको शिक्षा प्रदान करते थे। उसके बादके समयमें अर्थात् बौद्धयुगमें सभ्यताके प्राखर्य्यके साथ साथ मठादिमें भी उसी भावसे उच्चशिक्षा प्रदानकी व्यवस्था हुई थी।

विद्याशिक्षाकी उन्नतिके लिये ही विश्वविद्यालयोंकी प्रतिष्ठा होती है, यह बात यूरोपीय पण्डितों मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं। इतिहासकी आलोचना करने पर मालूम होता है, कि ६ठी शताब्दीसे १२वीं शताब्दी तक रोमक साम्राज्यके अधीनस्थ विद्यालयोंमें देवपूजकोंकी शिक्षाप्रणाली बलवती थी। बर्वरों द्वारा रोमसाम्राज्य आलोड़ित होने पर यह शिक्षा केवल किम्बदन्तियोंमें परिणत हो गई। शेषोक्त शताब्दीमें धर्ममन्दिरसंश्लिष्ट विद्यालय और मठ प्रतिष्ठित हुए और जनसमाजमें इन्होंने बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की।

उपरोक्त कैथिड्रल स्कूलमें केवलमात्र धर्मयाजकोंको उपयोगी शिक्षा दी जाती थी और मठमें संन्यासी और श्रमण सम्प्रदायके उद्देश्यानुरूप शिक्षाकी व्यवस्था हुई थी। उक्त दो तरहके विद्यालयोंके साथ राजविद्यालयोंमें शिक्षाप्रणालीका यथेष्ट

वैलक्षण्य दिखाई देता था। क्योंकि इन शेषोक्त विद्यामन्दिरोंमें देवपूजकोंकी मतानुसारी शिक्षा दी जाती थी। इसके सिवा राजविद्यालयोंमें खृष्टान धर्मतत्त्वकी शिक्षा भी प्रचलित थी। क्योंकि उस समय प्राचीन धर्मपुस्तकके सिवा अन्य पुस्तकोंका अधिक प्रचलन न था और शिक्षा-विस्तारके लिये उस समयके शिक्षक इन सब पुस्तकोंका परित्याग कर नहीं सके थे। कभी कभी अरिष्टल, परफायरी, मार्टियानस, कपेला और धिटियासके लेखनीप्रसूत तत्त्वोंकी कुछ अंशमें शिक्षा दी जाती थी।

यरोभिन्जियन् राजवंशके राजत्वकालमें फ्रान्सीसी राज्यमें विद्याशिक्षाका आंशिक विलय साधित हुआ। इसके बाद थिओडोरस, विडे और आलकुइनोके यत्नसे विद्याशिक्षाकी उन्नतिके विषयमें पुनरायोजन हुआ। ८वीं शताब्दी और ९वीं शताब्दीमें सम्राट् "चार्लस दी ग्रेट" के आज्ञानुसार और आलकुइनके यत्नसे फ्राङ्कलैण्डके शिक्षाविभागमें महान् संस्कार हुआ और एकत्र ही Monastic और Cathedral school में शिक्षा देनेकी व्यवस्था विधिबद्ध हुई। उस समय राजदरबारकी अधीनतामें जो Palace school परिचालित होता था, वह उच्च शिक्षा प्रदानका एक प्रधान केन्द्र हो गया। थिओडोरस् आदिकी चलाई पद्धतिका अनुसरण कर धर्म्माचार्य्य ग्रिगरी दी ग्रेटने इङ्गलैण्डमें भी शिक्षा-प्रणालीकी सुव्यवस्था की थी।

१०वीं शताब्दीमें रोमाधीनस्थ खृष्टान जगत्‌में (Latin Phristendom) घोरतर राज्यविप्लव उपस्थित होनेके साथ साथ विद्याशिक्षा-विस्तारमें भी भयानक अन्तराय उपस्थित हुआ। इसके बाद फ्रान्सकी राजधानी पारी नगरमें विश्वविद्यालयकी प्रतिष्ठा होनेके समयसे पाश्चात्य-जगत्‌में शिक्षा-विस्तारका प्रचार फिर बढ़ गया। किंतु इतने समयमें अर्थात् १०वींसे १२वीं शताब्दीके प्रारम्भ काल तक स्थान स्थानमें लब्धप्रतिष्ठ अध्यापक साधारणको शिक्षा देनेमें यत्नशील थे।

पूर्वोक्त आलकुइन साहेब स्वयं टुर्स (Tours) नगरके सेण्ट मार्टिन मठके (The Great Abbey of St. Martin) विद्यालयके प्रधान आचार्य्य पद पर अधिष्ठित रह कर शिक्षा विस्तारमें कटिबद्ध हुए। सच पूछिये, तो उनके ही यत्नसे उक्त मठ विद्यालयके आदर्श पर ही विश्वविद्यालयकी प्रतिष्ठा हुई। उन्होंने नये नये विषयोंकी शिक्षाका प्रयासी बन उस समयके साहित्यको नये भावमें संस्कृत कर लिया था और नई प्रणालीसे शिक्षा देनेकी विधिका प्रवर्त्तन किया।

पहले ही कहा गया है, कि १२वीं सदीमें पारी युनिवरसिटीके संस्कारके साथ यथार्थमें विश्वविद्यालयकी भित्तिका स्थापन, गठन और उन्नतिसाधन हुआ। ११वीं शताब्दीके पहले भी यहां न्यायशास्त्र (Logic)का आलोचना होती थी। १२वीं शताब्दीके प्रारम्भमें यहां चम्पोवासी विलियम नामक एक अध्यापकने न्यायशास्त्रका एक विद्यालय स्थापित किया। उसमें मौखिक न्यायशास्त्रीय तर्कोंकी मीमांसा होती थी। अन्यान्य अध्यापकोंकी अपेक्षा विलियमके शिक्षाकौशलसे पारी विद्यालयकी सुख्याति चारो ओर विस्तृत हो गई। विलियमके शिष्य सुविख्यात आबिलार्ड और उनके शिष्य Sentences नामक ग्रन्थके संग्रहकर्त्ता सुप्रसिद्ध बिशप पिटर लोम्बार्ड (११५९ ई०)ने न्यायशास्त्रकी अध्यापनामें पारी विश्वविद्यालयको शीर्षस्थानमें पहुंचा दिया था।

इससे पहले इटली राज्यके सालोर्णो नगरमें एक आयुर्वेद-विद्यालय प्रतिष्ठित था। कुछ लोगोंका अनुमान है, कि ९वीं शताब्दीमें सरासेनोंके यत्नसे यह स्थापित हुआ था। किंतु De Renzi, Puccinotti आदि ऐतिहासिकोंने विशेष अनुसन्धानके बाद स्थिर किया है, कि इस विद्यालयके साथ सरासेनोंका कोई सम्बन्ध न था। क्योंकि Civitas Hippocratica-की प्रसिद्धिमें विलम्ब न होने तक आरणीय भेषजतत्त्वादि पाश्चात्य जगत्‌में लिये न गये।

रोमकोंने यूनानियोंकी प्राचीन शिक्षापद्धतिका अनुसरण कर ही आयुर्वेदविद्याकी शिक्षा प्रचार की। १०वी शताब्दीमें दक्षिण इटलीमें यूनानी भाषाका आदर था, ऐसा अनुमान होता है। आश्चर्य्यका विषय है, कि सालार्णो और इस आयुर्वेद विद्यालयसे उत्तीर्ण बहुतेरी डाक्टर ही स्त्रियां थीं। इसके बाद पार्मिया नगरके लोम्बार्ड ला स्कूल (Schools of Lowdard Law) और राभेन्नाके रोमन ला स्कूल उल्लेखनीय है। १००० ई०में बोलोगनाका साधारण विद्यालय प्रसिद्धि लाभ कर रहा था। सन् १३१३ ई०-के लगभग किसी समयमें सुप्रसिद्ध व्यवस्थातत्त्वज्ञ इरनेरियस (११००-११३० ई०) यहां दीवानी कार्य्यविधिकी अध्यापना कराते थे। उनसे भी पहले प्रायः १०७६ ई०में किसी समय पिपो नामके एक अध्यापक "Digest" शिक्षा देते थे। Schulte के मतसे सन् ११४७ ई०के समकालीन ग्रेसियानके डिक्रिटम और इसके बाद Corpus Juris Civilis नामक व्यवस्थाग्रन्थ संगृहीत हुए।

इस तरह रोमन विधिका प्रबल प्रचार होने पर भी सच पूछिये, तो ११५८ ई० तक विश्वविद्यालयकी प्रतिष्ठा नहीं हुई थी। १३वीं शताब्दीके मध्यभागमें व्यवस्थातत्त्वालोचनाके विभिन्न केन्द्र एकत्र हो कर Ultramontani और Citramontani नामक दोनों Universitates के अन्तर्भुक्त कर दिये गये। इस समय Johannes de Varanis प्रथमोक्त और Pantaleon de Venetiis शेषोक्त शाखाके रेक्टर थे। सन् १२५३ ई०में ४र्थ इनोसेण्टने इस विश्वविद्यालयकी नई प्रशस्ति प्रदानके समय इनके संगठनके सम्बन्धमें कहा था, "rectores et universitas scholarium Bononiensium" १६वीं शताब्दीमें ये दो शाखाएं एक रेक्टरकी अधीनतामें परिरक्षित हुईं।

वालकोंकी आइन शिक्षाके लिये उपर्युक्त विभिन्न शिक्षा-समितियोंके सिवा बोलोगनामें चिकित्सा और साधारण शिक्षा दानके लिये ज्युरिष्ट रेक्टरोंकी अधीनतामें एक रेक्टर नियुक्त था। सन् १३०९ ई०में वे सम्पूर्ण स्वाधीनभावसे विश्वविद्यालय चलानेके अधिकारी हुए। यूनिवर्सिटेरिसके सिवा उस समय वहां College of Doctors of Civil Law, College of Doctors of Canon Law, College of Doctors in Medicine and Arts और १३५२ ई०में College of Doctors in theology प्रतिष्ठित हुए।

ऊपर कहा गया है, कि पारीनगरीमें विश्वविद्यालयकी यथार्थ उन्नति हुई थी। यहां उच्चशिक्षाके सम्बन्धमें धर्मतत्त्व, व्यवस्थातत्त्व और चिकित्सा तथा निम्नशिक्षाके सम्बन्धमें फ्रांस, इंगलैण्ड पीछे जर्मनी, पिकार्डी और नर्मण्डीकी साधारण शिक्षा दी जाती थी। सन् १२५७ ई०में राबर्ट डो० सोरबोन द्वारा पारीनगरीके सुविख्यात सोरबोन् कालेज प्रतिष्ठित हुआ। उस समय विश्वविद्यालय और नाभारके कालेजमें धर्मतत्त्व शिक्षाने विशेष ख्याति लाभ की। सन् १२९२ ई०में पारी और बोलोगनाके प्राचीनतम विश्वविद्यालय ४र्थ निकोलसके आदेशपत्र लेनेमें बहुत समुत्सुक हुए थे।

सन् ११६७ ६८ ई०में इंग्लैण्डके अक्सफोर्डनगरका साधारण विद्यालय studiem generaleमें परिणत हुआ। इससमय पारीसे अंग्रेज छात्र बाध्य होकर इंग्लैण्डमें लौटे और अपने अध्यवसायसे शिक्षासौकर्य्यके लिये उन्होंने अक्सफोर्ड नगरके विद्यालयकी उन्नति की। क्योंकि टामास वेकेटके इतिहास पढ़नेसे मालूम होता है, कि राजा २रे हेनरीने एक आज्ञा प्रचारित कर इङ्गलैण्डके सब लोगोंको फ्रान्सीसी राज्यसे इंग्लैण्डमें लौट आनेको कहा और इसकी भी मनाही कर दी, कि कोई भी इंग्लिश चैनेल पार कर फ्रान्स न जाने पाये। सुसभ्य फ्रान्सिसियोंने भी वेकेटके साथ राजाके कलहका खयाल कर वैदेशिक छात्रोंको निकाल दिया।

सन् १६३१ ई०में आर्क विशाप लाडने शिक्षाविभागके नेता हो कर एक अनुशासनके बल पर Hebdomadal Board अभिधेय समितिके हाथमें युनिवरसीटीका कार्य्यभार सौंप दिया। १९वीं शताब्दीके मध्यभाग तक वेही परिचालक रहे। केम्ब्रिजनगरमें उस समय Caput Senatus नामकी एक छोटी समिति थी।

सन् १८९३ ई०की राजसनदके बलसे वेल्स प्रदेशके एवारिष्टोबाइथ, कार्डिफ और बाङ्गोर, कालेजको एकत्र कर वेलसकी युनिवरसीटी स्थापित हुई। सन् १९०० ई०में पार्लियामेण्टकी कार्य्यविधिके अनुसार और राजसनदके बल पर पूर्वतन मेसन कालेज बर्मिंहाम युनिवरसीटी रूपमें परिवर्त्तित हुआ। सन् १८९८ ई०के युनिवरसिटी आव लण्डन एक्टके अनुसार और १९०० ई०में कमिश्नरोंके अनुशासनके बल पर लण्डनकी युनिवरसिटी कायम हुई।

साधारण और उच्चतम शिक्षाके सिवा यूरोप महादेशमें बाणिज्य और शिल्पविषयक शिक्षादानका बहुत समादर देखा जाता है। सन् १८६२ ई०में एण्टवर्प नगरमें Institut Superieur de Commerce सन् १८८१ ई०में पारी राजधानीमें Ecole des Hautes Etudes Commerciales और बोर्दो, हाभार, लिले, लिउनस, मार्सायल, डिजों, माण्टपोलियर, न्याण्टिस, नान्सि और राउएन नगरमें बाणिज्य और शिल्पविद्याकी उच्च श्रेणीके विद्यालय प्रतिष्ठित हुए। ऊपर कथित बाणिज्य विद्यामन्दिरके सिवा पारीनगरोमें Institut Commercial और Ecoles Superieures de commerc, नामक और भी दो इसो श्रेणीके उच्च विद्यालय देखे जाते हैं। जर्मन साम्राज्यके लोपजिक, कोलन, आकेन, हनोभर और फ्राङ्कफोर्ट (माइन नदीके किनारे) नगरमें Handelhochschulen नामक विद्यागार स्थापित हैं। राजानुग्रहसे ये सब विश्वविद्यालय अपने छात्रोंको पारदर्शिताके अनुरूप उपाधि देनेमें समर्थ हैं, किन्तु फ्रान्सीसी या बेलजियन् विद्यालयोंको इस तरहका अधिकार नहीं।

नीचे विश्वविद्यालयों और नगरके नाम और प्रतिष्ठाकाल लिपिबद्ध हुए।

स्थानोंके नाम	ई०सन्	स्थानोंके नाम	ई०सन्	स्थानोंके नाम	ई०सन्
आवार्डिन	१४९४	बोलोगना	११५८	काराकास	
आवो	१६४०	बम्बई	१८५७	कटानिया	१४४४
आडोलेड (१)	१८७२	बोन्न	१८१८	कार्डोवा (आर्जेन्टिना)	
आडोलेड (२)	१८७४	बोर्दो	१४४१	काहोर	१३३२
आग्राम	१८६९	बुर्जेस्	१४६५	कलकत्ता	१८५७
अलक्याला	१४९९	ब्रेसल्यो	१७०२	केम्ब्रोज	१२वीं सदी
आएटडर्फ	१५७८	ब्रुसेल्स	१८३४	खृश्चियाना	१८११
आमस्टर्डम	१८७७	बुदापेष्ट	१६३५	कोइम्ब्रा	१३०९
आमस्टर्डम फ्रो०	१८८०	वेसानसोन (डोल नगरसे		कलम्बिया कालेज (U.S.)	१७४५
आञ्जियार	१३०५	स्थानान्तरित)	१४२२	कोलोन	१३८८
इलाहाबाद	१८८७	ब्यूनस एरिस	****	कोर्णेल	१८६५
एथेन्स	१८३७	बुरेष्टाक	१८६४	कोपेन हेगेन	१४७९
आरेञ्जा	१२१५	कापन	१४३७	क्राको	१३६४
आभिगनोन	१३०३	केडिज (*M*edical Faculty		डिजोन	१७२२
वामवर्ग	१६४८	of Seville)	१७४८	डेव्रेक्जिन् कालेज	१५३१
वासेल	१४५९	कैगलियरी १५९६ पुनः प्रतिष्ठित		डोरपाट	१६३२
वार्लिन	१८०९	१७२० और १७६४		डारहम	१८३२
वार्न	१८३४	कामेरिनो १७२७ प्रतिष्ठा, १८६०से		एक्स-एन्-प्राविन्स	१४०९
वार्सिलोना	१४५०	यह फ्री युनिवर्सिटी हो गया।		एडिनवर्ग	१५८२
एरफार्ट	१३७५	कोनिगसवर्ग	१५४४	आक्सफोर्ड	१२वीं सदी
एर्लाञ्जेन	१७४३	लिप्जिक	१४०९	पाइसा	१३४३
फेरारा	१३९१	नेमवार्क	१७८४	पाडुया	१२२२
फ्लोरेन्स	१३२०	लेरिडा	१३००	प्यालेन्सिया	१२१४
फ्रान्स	१७६४	लिडेन	१५७५	पालार्म्मो	१७७९
फ्रानेकार	१५८५	लिमा १५५१ और १५६१,		पारी	१२वीं सदी

स्थानोंके नाम	ई०सन्
फ्राङ्कफोर्ट (ओडरके किनारे)	१५०६
फ्रि वार्ग	१४५५
फ्रि वार्ग (स्वीटजरलैण्ड)	१८८९
फुनूफकार्केन	१३६७
जेनिभा	१८७६
जार्णोविट्ज	१८७५
घेन्ट	१८१६
गिसेन	१६०७
ग्लासगो	१४५३
गोथेन वर्ग १८४१ (यहां केवल दार्शनिक शास्त्रोंकी आलोचना और उपाधि दी जाती है ।)	
गोटिङ्गेन	१७३६
ग्राज	१५८६
ग्रिपसवाल्ड	१४५६
ग्रानाडा	१५३१
ग्रेनोवल	१३३९
ग्रोणिनजेन	१६१४
हाले (Halle)	१६६३
हार्डारविजक	१६००
हार्भार्ड कालेज	१६३८
हावाना	१७२१
हिडेलबर्ग	१३८५
हेलमष्टाड्	१५७५
हेलसिफोर्स	१६४०
हुयेस्का	१३५४
इङ्गोलष्टाड	१४५९
इन्सब्राक	१६६२
जेना	१५५८
जन्सहपकिन्स	१८६७
काजान	१८०४
खारकोफ	१८०४
कायेफ	१८०३
किओटा (जापान)	१८६९
का-एल	१६६५

स्थानोंके नाम	ई०सन्
लिज्	१८१६
लण्डन	१८२६
लौभेन	१४२६
लौसानी १५३७ प्रतिष्ठा, १०९० विश्वविद्या	
लाण्ड	१६६८
मा'गील (कनाडा)	१८२१
मेसिना	१८३८
मान्द्राज	१८५७
माड्रिड	१८३७
मासरेटो	१५४०
मेनज	१४७६
मारवर्ग	१५२७
मेलवोर्ण	१८५३
मोदेना १२वींसदी, बाद	१६८३
मल्टपेलियार	१२८९
मल्ट्रिल	१८२१
मल्टिभिडो	१८७६
मस्काउ	१७२५
मान्सटार १६२९ पोपेकी आज्ञासे प्राप्त; १७७१-७३में प्रतिष्ठा; १८१८ ई०से इस विश्वविद्यालयमें देवदत्त्व और दर्शन शास्त्रीय उपाधि दानकी व्यवस्था हुई है।	
म्युनिक	१८२६
न्यान्टिस	१४६३
नेपोलस	१२२५
न्युजिलेण्ड*	१८७०
ओडेसा	१८६५
ओभियेडो	१५७४
ओफेन	१३८९
ओलमुटज	१५८१
अरेञ्ज	१३३५

स्थानोंके नाम	ई०सन्
पार्म्मा १४२२, संस्कार	१८५५
पाभिया	१३६१
पेन्सिल भ्यानिया	१७५१
पारपिगनान	१३७९
पेरुजिया	१३०८
पियासेनजा	१२४८
पोंइटियर्श	१४३१
प्रेसवर्ग १४६५, पीछे व न्धओ १८७५ से व्यवस्थाशास्त्र अध्ययन के लिये रक्षित ।	
प्रेग	१३४७
प्रिन्सटोन	१७४६
पंजाब (लाहोर)	१८८२
क्विन्स युनिवर्सिटी आयरलैण्ड	१८५०
क्विन्स युनिवर्सिटी क्विन्सटोन	१८४०
कुइवेक	१८५२
रेजिओ	१२वां शताब्द
रिन्टेन	१६२१
रेकजाविक	१६०१
रोम	१३०३
रष्टक	१४१९
रायल युनिवर्सिटी आयरलैंड	१८८०
सेन्ट टामस (मानिला)	१६०५
सेण्ट एन्ड्रुज	१४११
सेण्ट डेभिडस कालेज, लाम्पिटार	१८२२
सेण्टपिटार्सवर्ग	१८१९
सालामान्का	१२४३
सासारि	१५५६
सालेर्णो	९वां शताब्द
सारागोसा	१४७४
साल्ज़्बर्ग	१६२३
साण्टियागो (स्पेन)	१५०४
,, (दक्षिण अमेरिका)	१७४३
सेभील	१२५४ व १५०२

---

* १८७७ ई०में यहांका आकलेण्ड, केपटार वरीडानेडिन और वेलिंगटन काटरमें कालेज स्थापित किया।

स्थानोंके नाम	ई०सन्	स्थानोंके नाम	ई०सन्	स्थानोंके नाम	ई०सन्
क्रौसनवर्ग	१८७२	ओर्लीन्स	१३वीं शताब्द	सिएना	१३५७
कोलोजभार	१८७२	ओटागो	१८६६	ष्ट्रासबर्ग	१६२१
सिवनी	१८५१	आसमाला	१४७७	विक्टोरिया (कनाडा)	१८३६
टुरिन्	१४१२	उट्रेक्ट	१६३४	भियेना	१३६४
टरन्टो	१८२७	उर्व्विणो १६७१; पीछे फ्री युनिवर्सिटो		भिलना	१८०३
टौलुज	१२३३	उत्तमाशा अंतरीप	१८७३	ओयार्स १८१६, १८३२ बन्ध, पीछे १८६६ पुनःप्रतिष्ठा	
ट्रिमीज	१४५०	भालेन्स	१४५२		
ट्रेभिजो	१३१८	भालेन्सिया	१५०१	बुजवर्ग १४०२, पीछे १५८२	
ट्रिनिटी कालेज (डबलिन)	१५६१	भालाडोलिड	१३४६	विटेनवर्ग	१५०२
ट्रिनिटी कालेज (टरंटो)	१८५१	भासेलि	१२२८	येल कालेज	१७०१
टोमस्क	१८८८	भिसेंजा	१२०४	जाग्राव	१८६१
टुविङ्गेन्	१४७६	विक्टोरिया (मंचेष्टर)	१८८०	जुरिक	१८३२
टोकिओ (जापान)	१८६८				

यह बात ठीक तौरसे कही नहीं जा सकती, कि ऊपर जिन सब विश्वविद्यालयोंकी सूची प्रकाशित की गई, वे सब आज भी युनिवर्सिटी रूपमें हैं। कितने या तो बन्द हो गये हैं या कितने ही युनिदर्सिटीको मर्यादा खो कर कालेज या स्कूलके रूपमें परिणत हो शिक्षादानमें सहयोगिता कर रहे हैं। १६वीं और १७वीं शताब्दीमें स्पेन और अन्यान्य स्थानोंके जेसुइट कालेज युनिवरसिटी रूपमें परिगणित हुए थे सही, किन्तु ये अधिक दिनों तक अपनी मर्य्यादा रख न सके। १८वीं और १६वीं शताब्दीमें उनमें कितनों ही ने अपनी मर्यादा खो दी और कितने ही सामान्य स्कूलोंमें परिणत हुए।

स्पेन राज्यके इस समय Institutos नामक स्कूलमें B. A. उपाधि पानेकी व्यवस्था है। किन्तु M A. उपाधि केवल युनिवर्सिटीसे ही मिलती है। स्पेन राजधानी मेड्रिड नगरकी युनिवर्सिटी Universidad Central नामकी युनिवर्सिटीके सिवा स्पेनके किसी दूसरे कालेजमें Doctor उपाधि देनेकी विधि नहीं।

सभ्यता और ज्ञानालोककी बलवती आकाङ्क्षाके कारण उत्तर-अमेरिकाके युक्तराज्यमें विश्वविद्यालयका प्रसार क्रमशः बढता रहा और उसी अभावको दूर करनेके लिये वहांके हाकिम वहांके विभिन्न प्रदेशोंमें कालेज या युनिवर्सिटीकी प्रतिष्ठा कर उच्च शिक्षा देनेमें यत्नवान् हुए। सन् १८८३-८४ ई०में शिक्षा-विभागीय विवरणीमें प्रकाशित रिपोर्टसे मालूम होता है, कि युक्तराज्यमें कुल ३७० विश्वविद्यालय प्रतिष्ठित थे। इनमें कितने ही सम्प्रदायविशषके धर्ममतालोचनाके और कितने हो एक विषयके और कितने ही नाना विषयोंकी शिक्षाके चामोत्कर्ष साधनार्थ प्रतिष्ठित थे। इन सब विश्वविद्यालयोंसे आलोचित विषयोंमें उत्तीर्ण छात्रोंको उपाधियां दी जाती हैं। साधारणकी जानकारीके लिये नीचे युक्तराज्यके राज्यभाग और जनपदके नाम तथा वहांके विश्वविद्यालयोंकी सूची दी जाती है:—

विभागोंके नाम	कालेजोंकी संख्या	विभागोंके नाम	कालेजोंकी संख्या
अलाबामा	४	आर्कान्सस्	५
कालिफोर्निया	११	कोलोरेडो	३
कनेक्टिकट	३	डेलाओयार	१
फ्लोरिडा	१	जर्जिया	६
इलिनोइस्	२६	इण्डियाना	१५
आइवोया	१६	कन्सस्	८
कण्टुकी	१५	लुइसियाना	१०
मेइन्	३	मेरीलैण्ड	१०
मासाचुसेटस	७	मिचिगन्	६
मिनेसोटा	५	मिसिसिपी	३

मिसौरी	२०	नेब्रास्का	५
न्यूहम्पसायर	१	न्यूजार्सी	४
न्यूयार्क	२६	नार्थ कारोलिना	६
ओहियो	३३	ओरेगन	६
पेन्सिलभानिया	२६	रोड आइलैण्ड	१
साउथ कारोलिना	६	टेनेसी	२०
टेक्सास	११	भार्मोण्ट	२
भर्जिनिया	७	वेष्ट भर्जिनिया	२
वोइस् कोन्सिन्	४	डाकोटा	२
कोलम्बिया डिष्ट्रिक्	५	उटा	१
वासिङ्गटन	१		

युक्तराज्यके विभिन्न केन्द्रोंमें इससे अधिक संख्यक विश्वविद्यालय प्रतिष्ठित रहनेसे विद्यादान विषयमें अनेक सुविधा हुई है। और तो क्या, सालाना केवल ३० डालर खर्च करनेसे ओहियों जिलेके विश्वविद्यालयमें एक वर्ष तक शिक्षा दी जा सकती है।

सन् १८८६ ई०में जान्स हपकिन्स युनिवर्सिटीके प्रेसिडेण्ट हार्भाडेने वक्तृता देते समय विश्वविद्यालयको चार विभागोंमें बांट देनेका प्रस्ताव किया। इसके अनुसार विश्वविद्यालय (१) आदि ऐतिहासिक कालेज, (२) राजकीय विद्यालय, (३) धर्माध्यक्षों द्वारा परिचालित कालेज और (४) साधारणके चन्देसे या व्यक्ति विशेषके दानसे प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय, ये इसी तरह बांट दिये गये। उससे एक सूची तय्यार होने पर विश्वविद्यालयकी प्रतिष्ठाके इतिहास संग्रहकी विशेष सुविधाकी सम्भावना है।

सन् १७५१ ई०में वेञ्जामिन फ्राङ्कलिनकी प्रणोदित प्रथासे टमास और रिचार्ड पेन्नपेनपेनने सिल्भानियामें जो विश्वविद्यालय स्थापित किया, उससे परीक्षोत्तीर्ण छात्र Ph D उपाधि पाते हैं। उच्च शिक्षाकी आशासे विभिन्न देशसे बहुतेरे शिक्षार्थी इस देशमें आते हैं। हाभरफोर्ड और लफायेट कालेजोंमें और लेहाई युनिवर्सिटीमें कालेजशिक्षाके निर्द्धारित ग्रंथोंके अतिरिक्त उच्चतम विद्यानुशीलनके लिये उन्नत उपाधियां दी जाती हैं। सन १८६७ ई०में वाल्टिमोर नगरमें जान्स हपकिन्स युनिवर्सिटी प्रतिष्ठित हुई। उस समयसे ही इस विश्वविद्यालयने शिक्षा विषयमें सुख्याति लाभ की। अन्यान्य विषयोंमें शिक्षा देनेके सिवा यहां अध्यापकके कर्त्तव्योपयोगी विषय और विशिष्ट विषयमें शिक्षा दी जाती हैं। न्यूयार्क शहरके कोलम्बिया कालेज, कर्नेल युनिवर्सिटी प्रभिडेन्सकी ब्राउन्स युनिवर्सिटी और प्रिन्सटन, मिचिगन, भर्जिनिया और कालिफोर्नियाकी युनिवर्सिटी इस विषयमें बहुत कुछ अग्रसर हैं। अमेरिकाके अधिकांश विश्वविद्यालयोंमें ही Graduate और Under graduate को पृथक् रखनेके लिये A. B. S, B Ph. B. आदि Baccalaurate उपाधि सृष्टि हुई है

भारतवर्षमें भी पाश्चात्य विश्वविद्यालयके अनुकरण पर सन् १८५७ ई०में कलकत्तेमें, १८वीं जुलाईको बम्बई और ५वीं सितम्बरको मन्द्राज नगरमें युनिवर्सिटियां प्रतिष्ठित हुईं। किंतु अंगरेजी भाषाके विस्तारके व्यतीत इनके द्वारा और अन्य भाषाकी शिक्षोन्नति साधित नहीं हुई। भारतके छोटे लाट सर रिचार्ड टेम्पलने लिखा है, कि "भारतीय युनिवर्सिटियोंमें परीक्षार्थियोंकी परीक्षा ले कर उनको उपाधि वितरण, पाठ्यपुस्तक अवधारण और शिक्षा-विषयक विधि निर्देशादि कार्य्योंके सिवा यहां कोई शिक्षा देनेकी व्यवस्था नहीं। कितने ही देशीय और यूरोपीय सुशिक्षित व्यक्तियोंके तत्त्वावधानमें यह परिचालित होती हैं। इन सब युनिवर्सिटियोंमें केवल साधारण शिक्षा, दर्शन, व्यवस्था, डाक्टरी, स्थापत्यविद्या और पदार्थविद्या विषयोंमें उपाधियां दी जाती हैं।"

सन् १८८२-८३ ई०में लाहोर नगरमें पञ्जाब युनिवर्सिटी कालेज प्रतिष्ठित हुआ। उक्त वर्षसे पहले यहां उत्तीर्ण छात्रोंको केवल टाइटेल दिया जाता था, डिग्री देनेकी व्यवस्था न थी। इस युनिवर्सिटीमें प्राच्य भाषाका अधिक समादर है और छात्र यूरोपियोंके गवेषणामूलक वैज्ञानिक विषयोंको स्वदेशी भाषा द्वारा जान सकते हैं। इसीलिये बहुत दिनोंसे यहां B O. L (Bachelar of Oriental Literature) उपाधिकी सृष्टि हुई थी। इसके बाद सन् १८८७ ई०में भारतके उत्तर-पश्चिम (युक्तप्रदेश) प्रदेशके इलाहाबाद नगरमें और एक युनिवर्सिटी स्थापित हुई। इन सब विश्व-

विद्यालयोंके पुस्तक निर्वाचन और शिक्षाप्रणाली कुछ अंशमें इङ्गलैण्डकी आक्सफोर्ड, केम्ब्रिज और स्काटलैण्डके एडिनबराकी युनिवर्सिटियोंके अनुरूप हैं।

सन् १९०६-७ ई०में भारतके राजप्रतिनिधि लार्ड कर्जनने भारतीय शिक्षाविभागके संस्कारके लिये नई विधि प्रवर्त्तन कर विश्वविद्यालयके इतिहासमें नये युगकी अवतारणा की है। शिक्षाविभागकी उन्नतिका साधन ही इस विधिका मूल उद्देश है; किंतु इसकी भित्ति बड़ी ही आडम्बरपूर्ण है। पहले जिस तरह कम खर्चामें विश्वविद्यालयका कार्य्य सम्पादित होता था, अब उस तरह कम खर्चामें कालेजोंके परिचालनका उपाय नहीं रहा; प्रति कालेजमें एक बहुत बड़ी Laboratory रखना और वर्त्तमान प्रणालीके अनुसार बहुतेरे अध्यापकोंकी नियुक्ति बहुत ही व्ययसाध्य है।

भारतकी उक्त युनिवर्सिटियोंके सिवा कुछ दिनोंके भीतर और कितनी ही युनिवर्सिटियां स्थापित हुई हैं। जैसे,—बङ्गालके ढाका नगरमें एक विश्वविद्यालय, पटनेमें पटना विश्वविद्यालय, युक्तप्रदेशमें हिंदू युनिवर्सिटी, अलीगढ़में मुसलिम युनिवर्सिटी, आग्रा युनिवर्सिटी, लखनऊ युनिवर्सिटी, मैसूर युनिवर्सिटी, हैदराबादमें इस्लामिया युनिवर्सिटी, नागपुर युनिवर्सिटी, इनमें हिन्दू विश्वविद्यालयका नाम विशेष उल्लेखनीय है।

इसका विशेष विवरण हिन्दू विश्वविद्यालयमें देखो।

विश्वविद्वस् (सं० पु०) सर्वज्ञ, ईश्वर।

विश्वविधातृ (सं० त्रि०) विश्वस्रष्टा, सृष्टिकर्त्ता।

विश्वविधायिन् (सं० पु०) विश्वविधाता।

विश्वविभावन (सं० पु०) १ विश्वपालन, संसारका प्रतिपालन। (भागवत ४।८।२०) २ विश्वपालक, जगतके पिता। ३ रक्तकल्पजात ब्रह्माके एक मानस पुत्रका नाम। (लिङ्गपु० १२।६)

विश्वविश्रुत (सं० त्रि०) जगद्विख्यात।

विश्वविज (सं० त्रि०) विष्णुका नामान्तर।

विश्वविसारिन् (सं० त्रि०) विश्वव्याप्त, जगत्प्रसारी।

विश्ववीज (सं० क्ली०) विश्वका अंकुर स्वरूप, ईश्वर।

विश्ववृक्ष (सं० पु०) विष्णुका नामान्तर।

विश्ववृत्ति (सं० स्त्री०) साधारण ज्ञान, वैषयिक ज्ञान।

विश्ववेद (सं० पु०) आचार्यभेद।

विश्ववेद—ब्रह्मसूत्रभाष्यकी व्याख्या और सिद्धांतदीप नामक संक्षेपशारीरकव्याख्याके प्रणेता। ये आनन्दवेदके शिष्य थे।

विश्ववेदस् (सं० त्रि०) विश्वं वेत्ति विश्व-विद्-असुन्। १ सर्वज्ञ। २ इन्द्रादि देवता। ३ सर्वधन, सर्व ऐश्वर्यसम्पन्न। (ऋक् १।१३६।३)

विश्ववेदिन् (सं० त्रि०) १ सर्वज्ञ। (पु०) २ खनित्र राजके मन्त्री।

विश्वव्यचस् (सं० त्रि०) १ विश्वव्याप्त, सर्वव्यापी। २ सर्वत्रग, सर्वगामी। (शुक्लयजुः १८।४१ महीधर) (पु०) ३ सूर्य। (शुक्लयजुः १३।५६ मही०)

विश्वव्यापी (सं० पु०) १ ईश्वर। (त्रि०) २ जो सारे विश्वमें व्याप्त हो।

विश्वशम्भु (सं० त्रि०) विश्वका मङ्गलविधायक, संसारकी भलाई करनेवाला।

विश्वशम्भूमुनि—एकाक्षरनाममालिका नाम्नी एक क्षुद्र अभिधानके प्रणेता। अभिधानचिन्तामणिमें इनका उल्लेख है।

विश्वशर्धस् (सं० त्रि०) १ व्याप्तबल, विक्षिप्ततेजा। २ उत्साहयुक्त, उत्साही।

विश्वशर्मन्—प्रबोधचन्द्रिका नामक व्याकरणके प्रणेता।

विश्वशारद (सं० त्रि०) प्रति शरत्काल विहित।

विश्वशुच् (सं० त्रि०) विश्वदीपक, संसारोद्दीपक। (ऋक् ७।१३।१)

विश्वश्चन्द्र (सं० त्रि०) विश्वका आह्लादजनक, जिससे सभीको हर्ष हो। (ऋक् ३।३१।१६)

विश्वश्रद्धाज्ञानबल (सं० क्ली०) बुद्धकी दश शक्तियोंमेंसे एक शक्ति।

विश्वश्रवा (सं० पु०) एक मुनि जो कुबेर और रावण आदिके पिता थे।

विश्वसंवनन (सं० क्ली०) ऐन्द्रजालिक शक्तिके बलसे मोहाभिभूत करना।

विश्वसख (सं० पु०) विश्वेषां सखा। जगद्बन्धु, जगतका सखा, विश्वका हितकारी।

विश्वसत्तम (सं० त्रि०) विश्वेषामयमतिशयेन साधुः, इति विश्व-सत्-तम । १ संसार या सबोंके मध्य अत्यन्त साधु । (पु०) २ श्रीकृष्ण । (महाभारत)

विश्वसन (सं० क्ली०) १ विश्वास, एतबार । २ मुनियोंकी विश्रामभूमि, वह स्थान जहां ऋषि मुनि विश्राम करते हों ।

विश्वसनीय (सं० त्रि०) विश्वसितव्य, विश्वास्य, विश्वास करनेके योग्य, जिसका एतवार किया जा सके ।

विश्वसम्भव (सं० त्रि०) विश्वस्य सम्भव उत्पत्तिर्यस्मात् । ईश्वर, महापुरुष । (हरिवंश)

विश्वसह (सं० पु०) १ सूर्यवंशीय राजा ऐड़विड़के पुत्र । २ व्युषिताश्वका एक पुत्र । (रघु १८।२४)

विश्वसहा (सं० स्त्री०) अग्निकी सात जिह्वाओंमेंसे एक जिह्वाका नाम । (जटाधर)

विश्वसहाय (सं० त्रि०) विश्वदेवा ।

विश्वसाक्षी (सं० त्रि०) सर्वदर्शी, ईश्वर ।

विश्वसामन् (सं० पु०) १ एक वैदिक ऋषिका नाम जो आत्रेय गोत्रके थे और जो ५।२२।१ वैदिक मंत्रोंके द्रष्टा थे । २ समस्त सामरूप । (शुक्लयजुः १८।३६ वेददीप)

विश्वसार (सं० पु०) विश्वेषां सारम् । १ तंत्रभेद । २ क्षत्रौजसके पुत्रभेद ।

विश्वसारक (सं० क्ली०) विद्र वृक्ष, कंकारी वृक्ष ।

विश्वसारतन्त्र—एक प्राचीन तन्त्र । तंत्रसार और शक्तिरत्नाकरमें इनका उल्लेख है ।

विश्वसाह्व (सं० पु०) महस्वतके एक पुत्र का नाम । (भागवत ९।१२।७)

विश्वसिंह (सं० पु०) राजपुत्रभेद ।

विश्वसिंह—कुचविहारराजके एक प्रसिद्ध राजा । इन्होंने आसाम देशमें कुछ निष्ठावान् ब्राह्मणोंको ले जा कर बसाया था तथा उन्हें यथोपयुक्त भूमि दी थी । कामरूप देखो ।

विश्वसित (सं० त्रि०) वि-श्वस-क्त । विश्वस्त, विश्वास करनेके योग्य । (नैषध १।१३१)

विश्वसितव्य (सं० त्रि०) विश्वसनीय, विश्वास करनेके योग्य ।

विश्वसुविद् (सं० त्रि०) सर्व ऐश्वर्यविशिष्ट, खूब धनवान ।

विश्वसू (सं० त्रि०) विश्वप्रसू, ईश्वर ।

विश्वसूत्रधृक् (सं० पु०) विष्णु ।

विश्वसृ (सं० पु०) ईश्वर ।

विश्वसृज् (सं० पु०) विश्वं सृजतीति विश्व-सृज-क्विप् । १ ब्रह्मा । (त्रि०) २ विश्वस्रष्टा, जगदीश्वर ।

विश्वसृष्टि (सं० स्त्री०) जगदुत्पत्ति, संसारकी सृष्टि ।

विश्वसेन (सं० पु०) अष्टादश मुहूर्तभेद ।

विश्वसेनराज (सं० पु०) अवसर्पिणी शाखाके १६वें अर्हत्के पिता । (हेम)

विश्वसौभग (सं० त्रि०) सर्व ऐश्वर्यशाली, सौभाग्य-सम्पन्न । (ऋक् १।४२।६)

विश्वस्त (सं० त्रि०) वि-श्वस-क्त । जातविश्वास, जिसका विश्वास किया जाय ।

विश्वस्ता (सं० स्त्री०) विधवा । (अमर)

विश्वस्था (सं० स्त्री०) विश्वतः सर्वतस्तिष्ठतीति विश्व-स्था क स्त्रियां टाप् । शतावरी, शतावर ।

विश्वस्पश् (सं० पु०) ईश्वर, महापुरुष । (हरिवंश)

विश्वस्फटिक (सं० पु०) मगधराजके पुत्रभेद । (विष्णुपु०)

विश्वस्फाटि—विश्वस्फटिकका नामान्तर । (विष्णुपुराण)

विश्वफाणि—विश्वस्फाटि देखो ।

विश्वस्फाणि—विश्वस्फटिक देखो ।

विश्वस्फुर्जि (सं० पु०) स्वनामख्यात मगधराज । इन्होंने पीछे पुरञ्जय नामसे प्रसिद्ध हो ब्राह्मणादि जातियोंको म्लेच्छ बतलाया था, जिससे वे पुलिन्द, मद्रक आदि हीन जातियोंमें गिने गये थे । (भागवत १२।१।३४) शायद ये ही विष्णुपुराण-वर्णित विश्वस्फटिक वा विश्वस्फूर्त्ति आदि नामधेय राजा हैं ।

विश्वस्वामी—आपस्तम्बादि कथितसूत्रके एक भाष्यकार । पुरुषोत्तमने स्वकृत गोत्रप्रवरमञ्जरी ग्रन्थमें इनका मत उद्धृत किया है ।

विश्वह (सं० अव्य०) प्रत्यह, रोज रोज । (ऋक् १।११।३)

विश्वहा (सं० अव्य०) विश्वह देखो ।

विश्वहर्त्तृ (सं० त्रि०) १ सर्वस्वापहारी । (पु०) २ शिव ।

विश्वहेतु (सं० पु०) १ जगत् कारण, जगत्का निदान या आदिकारण । २ सभी विषयोंके निमित्त या हेतु । ३ विष्णु ।

विश्वा (सं० स्त्री०) विश्-क्वन् स्त्रियां टाप् । १ अतिविषा, अतीस । २ शतावरी, शतावर । ३ पिपुल, पीपर । ४ शुण्ठी, सोंठ । ५ शङ्खिनी, चोरपुष्पी । ६ दक्षकी एक कन्या जो धर्मको ब्याही थी और जिससे वसु, सत्य, क्रतु आदि दश पुत्र उत्पन्न हुए थे । (महाभारत १।६५।१२) ७ एकमान जो २० पलका होता है ।

विश्वाक्ष (सं० त्रि०) महापुरुष, ईश्वर ।

विश्वाङ्ग (सं० त्रि०) सर्वाङ्ग, सम्पूर्णाङ्ग । (अथर्व० १२।३।१०)

विश्वाङ्ग्य (सं० त्रि०) सर्वाङ्गसम्बन्धी । (अथर्व० ६।८।४)

विश्वाचार्य—निम्बार्क सम्प्रदायके द्वितीय गुरु, श्रीनिवासाचार्यके शिष्य और पुरुषोत्तमाचार्यके गुरु ।

विश्वाची (सं० स्त्री०) विश्वमञ्चति अन्च् क्विप् स्त्रियां ङीष् । १ अप्सरोविशेष । (शुक्लयजुः १५।१८) वह्निपुराण गणभेद नामाध्याय) २ बाहुरोग विशेष । इसमें वायुके बिगड़नेसे बाहुके ऊपर उंगलियों तक सारा हाथ न तो फैलाया जा सकता और न सिकोड़ा जा सकता है ।

चिकित्सा—पहले यथोक्त विधानसे शिराव्याध कर पीछे वातव्याधि विहित औषधादिका प्रयोग करना होता है । बिल्वमूल, सोनाछाल, गाम्भारी, पढार, गनियारी, शालपान, पिठवन, बृहती, कण्टकारी, गोक्षुर, बीजबंद और उड़द, इन सब द्रव्योंके क्वाथका (सायंकालमें भोजनके बाद) नस्य लेनेसे विश्वाची और अवबाहुक रोग जाता रहता है । (त्रि०) ३ सर्वव्यापिनी । (ऋक् १०।१३६।२) ४ सर्वत्रगामी । (ऋक् ७।४३।३)

विश्वाजिन (सं० पु०) ऋषिभेद । (पा ६।२।१०६ वार्त्तिक)

विश्वातीत (सं० त्रि०) विश्वके अतीत, ईश्वर ।

विश्वात्मक (सं० त्रि०) विश्वस्वरूप, विश्वमय ।

विश्वात्मा (सं० पु०) विश्वमेव आत्मा यस्य विश्वस्य आत्मा वा । १ विष्णु । २ महादेव । ३ ब्रह्मा ।

विश्वाद् (सं० त्रि०) विश्वं सर्वं अत्तीति विश्व-अद्-क्विप् । सर्वभुक्, अग्नि । (ऋक् १०।१६।६)

विश्वादि (सं० पु०) कषायविशेष । सोंठ, सुगंधवाला, क्षेतपर्पटी, वीरणमूल, मोथा और रक्तचन्दन कुल मिला कर २ तोला, इसे शिला पर पीसे और ८२ सेर जलमें सिद्ध करे । जब ८१ सेर जल रह जाय, तब उतार ले । ठंढा होने पर बारीक कपड़ेमें छान डाले । तृष्णा, दाह और वमि संयुक्त ज्वरमें जलकी तौर पर थोड़ा थोड़ा कर पीनेसे तृष्णादिकी निवृत्ति हो ज्वर उतर आता है । इस क्वाथका नाम है विश्वादि पाचन या कषाय ।

विश्वाधायस् (सं० पु०) विश्वं दधाति पालयति धा-णिच्-असुन् पूर्वोदीर्घः । देवता । (सिद्धान्तकौ०)

विश्वाधार (सं० पु०) जगदाधार, ब्रह्माण्ड, स्रष्टा, विधाता ।

विश्वाधिप (सं० पु०) जगत्पति, विश्वपति, परमेश्वर । (श्वेताश्वतरोप० ३।४)

विश्वाधिष्ठान—अन्नपूर्णोपनिषद्भाष्यके प्रणेता ।

विश्वानन्दनाथ—कौलदर्शन और कौलाचारके रचयिता ।

विश्वानर—वल्लभाचार्यका नामान्तर ।

विश्वानर (सं० पु०) १ अग्निजनक विप्रभेद । वैश्वानर शब्द देखो । २ सर्वोंके नेता । (ऋक् ७।७६।१)

विश्वान्तर (सं० पु०) राजभेद । (कथासरित्सा० ११३।६)

विश्वायुष् (सं० त्रि०) विश्वपोषक धन । (ऋक् १।१६२।२२)

विश्वाप्सु (सं० त्रि०) देवताओंका आह्वानकारी, नानारूपी अग्नि । पार्थिव, वैद्युत, जाठरादिके भेदसे अग्निके अनेकरूप हैं । (ऋक् १।१४८।१)

विश्वाभू (सं० पु०) सबोंके भावयिता इन्द्र ।

विश्वामित्र (सं० पु०) विश्वमेव मित्रमस्य । (मित्रे चर्षौ । पा ६।३।१३०) इति विश्वस्याकारस्य दीर्घः । एक ब्रह्मर्षि । पर्य्याय—गाधिज, त्रिशंकुयाजी, गाधेय, कौशिक, गाधिभू । (शब्दरत्नावली)

विश्वामित्रने क्षत्रियवंशमें जन्मग्रहण कर अपने योगबलसे ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था । पीछे वे सप्त ब्रह्मर्षियोंमें अन्यतम गिने जाने लगे । ऋग्वेदके तीसरे मण्डलके समूचे सूक्तोंके मन्त्रोंके अभिव्यक्त महर्षि

विश्वामित्र या तद्वंशीय ऋषिगण। उक्त मण्डलोंको विशेष रूपसे पर्य्यवेक्षण करनेसे मालूम होता है, कि वे इषीरथके अपत्य कुशिकवंशीय (ऋक् ३।१) थे। राजा कुशिक कुशके अपत्य और उन्हीं राजा कुशिकके तनय गाथि (गाधि) ऋषि थे। (ऋक् ३।१९-२२ सूक्त) महाराज गाधि पुरुवंशीय और कान्यकुब्जके नरपति कहे गये हैं। इसी कारणसे हरिवंश आदि विभिन्न पुराणाख्यानोंमें विश्वामित्र पौरव, कौशिक, गाधिज और गाधिनन्दन आदि नामसे अभिहित किये जाते हैं।

ऋक्संहिताके ३।५३ सूक्तमें सुदास राजाके यज्ञकी बात है। वहां विश्वामित्र महान् और ऋषि हैं, वे देवजार और देवजूत तथा नेतृगणके उपदेशक हैं। वे जलविशिष्ट सिन्धुके वेग अर्थात् विपाट् और शतद्रु नदीके संयोगस्थलको रोकनेमें समर्थ हुए थे। (ऋक् ३।३३।६ भाष्य) उन्होंने जब सुदास राजाके यज्ञमें पौरोहित्य किया था, तब इन्द्रने कुशिकवंशियोंके साथ प्रिय व्यवहार किया था। (३।५३।६) भोजनों* तथा विरूप अङ्गिराकी अपेक्षा असुर आकाशके वीर पुत्रोंने विश्वामित्रको सहस्र सुयज्ञमें (अश्वमेधमें) धन दे कर उनका जीवन वर्द्धित किया। (३।५३।७) कहा गया है, कि सुदास यज्ञमें वसिष्ठके पुत्र शक्तिने विश्वामित्रके बल और वाक्य हरण कर लिये। जमदग्निगणने सूर्य्यादुहिता वाग्देवताको बुला कर विश्वामित्रको प्रदान किया†। सुदास राजाका यज्ञ समाप्त कर जब विश्वामित्र घरको लौटे तब उन्होंने सब रथाङ्गोंको स्तव किया था¶।

सिवा इसके उक्त संहितामें १०।१६७।४ मन्त्रमें विश्वामित्र और जमदग्नि द्वारा इन्द्रकी स्तुति करनेका भी उल्लेख है। वहां इन्द्र दोनों ऋषियोंका सम्बोधन कर कहते हैं,—"हे विश्वामित्र और जमदग्नि! तुम लोगोंके सोम प्रस्तुत करने पर जब मैं तुम लोगोंके घर जाऊंगा तब तुम लोग मेरी खूब स्तुति करना।" उक्त दो ऋकोंसे स्पष्ट समझा जाता है, कि विश्वामित्र और जमदग्नि आपसमें नैकट्य सम्बन्धसूत्रमें आबद्ध थे।

अथर्व्ववेद ४।२६।५ और १८।३।१५ मन्त्रोंमें ऋषियोंने विश्वामित्रकी रक्षाके लिये स्तुति की है। इससे उनको ऋषियोंके भी स्तवनीय कहा गया है। ऐतरेयब्राह्मण ६।१८ और ६।२० मन्त्रोंमें विश्वके मित्र विश्वामित्र-द्रष्ट सूक्तोंके वामदेव ऋषि द्वारा पढ़नेकी बात है। शतपथब्राह्मण १४।५।६, तैत्तिरायसंहिता ३।१।७।३ और ५।२।३।४, पंचविंशब्रा० १४।३।१२, शांख्यायनश्रौतसूत्र १५।२१।१, आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।४।२ आदि वैदिकग्रन्थोंमें विश्वामित्रका विवरण प्रकटित है।

विश्वामित्रके जन्मके सम्बन्धमें वर्णित है, कि महाराज गाधिके सत्यवती नामकी एक कन्या थी। गाधिने भृगुवंशीय ऋचीक नामक एक वृद्ध ऋषिके साथ उस कन्याका विवाह कर दिया। इस क्षत्रिया पत्नीके गर्भसे ब्राह्मण्यगुणशाली पुत्रप्राप्तिकी वासनासे ऋचीकने उसके लिये एक चरु तय्यार कर सत्यवतीको खानेको दिया। इस चरुके साथ क्षत्रिय गुणशाली पुत्र गर्भमें धारण करनेके लिये उन्होंने अपनी पत्नीकी माताको भी ऐसा ही और एक पात्र चरु प्रदान किया। माताकी प्ररोचनासे वाध्य हो कर सत्यवतीने माताके चरुसे अपना चरु बदल कर भक्षण किया और उसके अनुसार माता ब्रह्मण्यगुणप्रधान विश्वामित्रको और कन्या जमदग्निको गर्भमें धारण किया। इस जमदग्निके औरससे समय आने पर क्षत्रगुणप्रधान परशुरामका जन्म हुआ। परशुराम देखो।

महाभारतमें अनुशासनपर्व्वके चौथे अध्यायमें जो विश्वामित्रकी उत्पत्ति होनेका विवरण लिखा है, उसके साथ हरिवंशका वर्णन बहुत मिलता जुलता है।

हरिवंशमें लिखा है, कि महाराज कुशके कुशिक और कुशनाभ आदि चार पुत्र हुए। कुशिकने इन्द्रसदृश पुत्रकी कामनासे हजार वर्ष कठोर तपस्या की। इन्द्रने इस तपस्यासे सन्तुष्ट हो कर अंशरूपसे कुशिकपत्नी

---

* मूलमें "इमे भोजाः आङ्गिरसः विरूपाः दिव पुत्रासः असुरस्य वीराः।" यह सब पाठ है। सायणने भोजाः अर्थमें 'सौदासाः क्षत्रियाः' किया है।

† ऋक् ३।५३।१५ मन्त्रमें विश्वामित्रके वाग्देवता प्राप्तिको बात लिखी है। इसके साथ हरिश्चन्द्रोपाख्यानोक्त विश्वामित्रकी विद्यासाधनाका सम्बन्ध है क्या?

¶ ऋक् ३।५३।७

पौरकुत्सीके गर्भसे जन्मग्रहण किया । इस पुत्रका नाम गाधि हुआ। गाधिके सत्यवती नामकी एक परम रूपवती कन्या हुई। गाधिने इस सुशीला कन्याको भृगुपुत्र ऋचीकको सम्प्रदान किया।

ऋचीकने भार्य्याके प्रति प्रसन्न हो कर अपने और महाराज गाधिके पुत्रकी कामनासे चरु प्रस्तुत किया और अपनी पत्नी सत्यवतीको सम्बोधन कर कहा—कल्याणि! ये दो भाग चरु मैंने तय्यार किये हैं। इसमें यह चरु तुम भोजन करो, दूसरा चरु अपनी माताको दे देना। इस चरुको भोजन करनेसे तुम्हारी माताको क्षत्रियप्रधान एक तेजस्वी पुत्र होगा। वह पुत्र सारे अरिमण्डलको पराभूत करनेमें समर्थ होगा। तुम्हारे गर्भमें भी द्विजश्रेष्ठ धैर्य्यशाली एक महातपाः पुत्र जन्मग्रहण करेगा।

भृगुनन्दन ऋचीक भार्य्यासे यह बात कह कर नित्य-तपस्यार्थ अरण्यमें चले गये। इसी समयमें गाधि भी तीर्थदर्शन प्रसङ्गमें कन्याको देखनेके लिये ऋचीकाश्रममें उपस्थित हुए। इधर सत्यवतीने ऋषिप्रदत्त चरुको ले यत्नपूर्वक माताके हाथमें दे दिया। दैवयोगसे माताने चरु भोजन करनेमें गड़बड़ी कर दी। पुत्रीका चरु स्वयं भोजन कर लिया और अपना चरु पुत्रीको दे दिया।

इसके बाद सत्यवतीने क्षत्रियान्तकर गर्भधारण किया। ऋचीकने योगबलसे यह बात जान ली और पत्नीसे कहा, 'भद्रे! चरुका विपर्य्यय हुआ है। तुम अपनी माता द्वारा वञ्चिता हुई हो। तुम्हारे गर्भमें अति दुर्द्दान्त हिंस्रप्रकृति एक पुत्र पैदा होगा। और जो तुम्हारा भाई तुम्हारी माताके गर्भमें जन्म लेगा, वह ब्रह्मपरायण तपस्यानुरक्त होगा। क्योंकि उसमें मैंने समस्त वेद निहित किया है।' सत्यवतीने यह बात सुन कर नितान्त व्यथित हो कर अनेक अनुनय विनय कर स्वामीसे कहा, 'भगवन्! आप यदि इच्छा करें, तो त्रिलोककी सृष्टि कर सकते हैं, आप ऐसा उपाय करें जिससे मेरे गर्भसे वैसा दुर्द्दान्त सन्तान पैदा न हो।' इस पर ऋचीकने कहा, कि ऐसा असम्भव है। यह सुन कर सत्यवतीने कहा, 'यदि आप अन्यथा न करना चाहें, तो इतना अवश्य कीजिये, कि मेरा पुत्र न हो कर मेरा पौत्र ही वैसा गुणशाली हो।' देवीके वाक्य पर प्रसन्न हो कर ऋषिने कहा—मेरे लिये पुत्र और पौत्रमें कोई विशेषता नहीं। अतः जो तुमने कहा है, वही होगा। पीछे समय आने पर उस गर्भसे जमदग्निका जन्म हुआ। इन जमदग्निके पुत्र ही क्षत्रियकुलान्तकारी परशुराम हैं। इसके बाद सत्यवती महानदी रूपमें परिणत हो कर जगत्में कौशिकी नामसे प्रसिद्ध हुईं।

इधर कुशिकनन्दन गाधिके विश्वामित्र नामके एक पुत्र हुआ। विश्वामित्र तपस्या, विद्या और शमगुण द्वारा ब्रह्मर्षिकी समता लाभ कर अन्तमें सप्तर्षियोंमें गिने गये। विश्वामित्रका और एक नाम विश्वरथ है। महर्षि विश्वामित्रके देवरात, देवश्रवा, कति, हिरण्याक्ष, सांकृति, गालव, मुद्गल, मधुच्छन्दा, जय, देवल, अष्टक, कच्छप, हारीत आदि कई पुत्र उत्पन्न हुए। इन पुत्रों द्वारा ही महात्मा कुशिकका वंश विशेषरूपसे विख्यात हुआ। सिवा इनके विश्वामित्रके नारायण और नर नामके दो और पुत्र थे। इस वंशमें बहुतेरे ऋषियोंने जन्मग्रहण किये थे। पुरुवंशीय महात्माओंके साथ कुशिक वंशीय ब्रह्मर्षियोंका वैवाहिक सम्बन्ध हुआ था। इसलिये दोनों वंशसे ब्राह्मणोंके साथ क्षत्रियोंका सम्बन्ध चिरप्रसिद्ध हो रहा है।

विश्वामित्रके पुत्रोंमें शुनःशेफ सबमें बड़े हैं। ये शुनःशेफ भार्गव होने पर भी कौशिकत्व प्राप्त हुए थे। ये राजा हरिश्चन्द्रके यज्ञमें पशुरूपसे नियोजित हुए थे। किन्तु देवताओंने फिर विश्वामित्रके हाथ अर्पण किया। इसीलिये इनका नाम देवरात हुआ। (हरि० २७ अ०)

कालिकापुराणमें महर्षि विश्वामित्रका उत्पत्ति-विवरण प्रायः ऐसा ही वर्णित हुआ है। कुछ विशेषता है तो यह है, कि महर्षि भृगुने पुत्र-बधूको वर ग्रहण करनेके लिये कहा। इस पर स्नुषा सत्यवतीने वेदवेदान्तपारग पुत्रकी प्रार्थना की। इस पर महर्षिने निश्वास परित्याग किया। इस निश्वाससे वायुके साथ दो तरहके चरु उत्पन्न हुए। इन चरुओंमें सत्यवतीको एक और दूसरा उसकी माताको ले लेनेकी बात कही। पीछे दैवक्रमसे चरुके विपर्य्यय होनेसे पुत्रोंमें भी विपर्य्यय हुआ।

(कालिकापु० ८४ अ०)

महर्षि विश्वामित्रने क्षत्रिय हो कर जिस तरह ऋषित्व और ब्राह्मणत्व लाभ किया था, उसका विषय रामायणमें ऐसा लिखा है,—कुश नामक एक सार्वभौम राजा थे, उनके पुत्र कुशनाभ हुए। कुशनाभके गाधि नामक एक पुत्र उत्पन्न हुए। वे बहुत विख्यात हुए। विश्वामित्र उन्हींके पुत्र हैं। वे शौर्य और वीर्य्यमें सब राजओंमें अग्र थे और कई सहस्र वर्ष तक पृथ्वीका पालन करते रहे।

एक बार विश्वामित्र बहुत सैन्य सामन्त ले कर पृथ्वी पर्य्यटन करनेमें प्रवृत्त हुए और घूमते-घामते बहुतेरे नगर, ग्राम, राष्ट्र, सरित्, महागिरि आदि भ्रमण कर कालक्रमसे वसिष्ठाश्रम पहुंचे। यह आश्रम दूसरे ब्रह्मलोकके समान और इस आश्रमके सभी लोग समगुणान्वित थे। मानो तपस्या मूर्त्तिमती हो कर इस आश्रमके चारों ओर विराज रही थी। विश्वामित्र इस आश्रमको देख कर बड़े प्रसन्न हुए और वसिष्ठके समीप जा कर प्रणाम किया। वसिष्ठने भी उनकी यथायोग्य सम्बर्द्धना कर कहा, 'राजन्! मैं चाहता हूं, कि आपका इन सैन्यसामन्तोंके साथ यथाविधि अतिथि-सत्कार करूं। आप स्वीकार करें, क्योंकि आप अतिथिश्रेष्ठ हैं, इसलिये आप पूजनीय हैं।'

वसिष्ठकी बात सुन कर विश्वामित्रने कहा,—भगवन्! आपके सत्कारानुकूल वाक्यसे हो मैं विशेष सन्तुष्ट हो गया। आप प्रसन्न हों, अब मैं जाऊं। विश्वामित्रके इस प्रकार कहने पर वसिष्ठजीने फिर बारंबार निमन्त्रण स्वीकार कर लेनेका अनुरोध किया। अन्तमें विश्वामित्रने उनके विशेष आग्रह करने पर 'तथास्तु' कह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

वसिष्ठने तब राजाके प्रति प्रसन्न हो चित्रवर्णा होमधेनु शबलाको सम्बोधन कर कहा,—शबले! राजा विश्वामित्र ससैन्य मेरे अतिथि हुए हैं। तुम आज मेरे लिये उनके सैन्योंमें छः तरहके रसोंमें जो जिस रसके इच्छुक हों, उनके लिये उसी रसकी सृष्टि करो।

शबलाने वशिष्ठके आज्ञानुसार सबके इच्छानुरूप कमनीय भोजन-सामग्री तय्यार कर दी। उसने बहुतेरे ईख, मधु, लाज, मैरेय मद्य तथा अन्यान्य उत्तम मद्य और नाना प्रकारके उत्तम खाद्यकी सृष्टि की। ये सब खाद्य-वस्तुएं चांदीके पात्रमें सबके सामने रखी गईं। इससे विश्वामित्र तथा उनके सैनिक परम सन्तुष्ट हुए।

वसिष्ठके इस राजदुर्लभ सत्कारसे प्रसन्न हो कर विश्वामित्रने उनसे कहा,—ब्रह्मन्! मैं आपसे अनुरोध करता हूं, आप मेरे इस अनुरोधकी रक्षा करें। मैं आपको एक लाख गाय देता हूं, आप उन गायोंके परिवर्त्तनमें मुझे शबलाको प्रदान करें। शबला रत्नस्वरूपा है, राजा भी रत्नके अधिकारी हैं। अतएव न्यायानुसार यह गाय मुझे ही प्राप्त होनी चाहिये। अतः आप मुझे इसे प्रदान करें।

विश्वामित्रकी बात सुन कर वसिष्ठने कहा, 'राजन्! एक अरब गाय अथवा चांदीका पहाड़ देने पर भी शबलाको मैं दे न सकूंगा। क्योंकि यह शबला आत्मवान् व्यक्तिकी कीर्त्तिकी तरह मेरी सहचरी है। अतः इसका परित्याग करना मेरे लिये उचित नहीं। विशेषतः हव्य, कव्य, जीवन, अग्निहोत्र, बलि, होम और विविध विद्या मेरे जो कुछ हैं, इस शबलाके अधीन ही हैं और तो क्या, मैं शपथ खा कर कहता हूं, कि यह शबला ही मेरी सर्वस्व है और सर्वैश्वर्य्यकी निदान है। अतएव राजन्! मैं किसी तरह तुम्हें शबला प्रदान न करूंगा।'

विश्वामित्रने जब देखा, कि वसिष्ठने किसी तरह शबलाको नहीं दिया, तब बलपूर्वक नौकरोंसे पकड़वाना चाहा। इस समय शबलाने अत्यन्त शोक सन्तप्त हृदयसे वसिष्ठके पास जा कर कहा—भगवन्! मैंने कौन-सा अपराध किया है, कि आप मुझे त्याग रहे हैं। आप अत्यन्त भक्तिपरायण समझ कर भी परित्याग करने पर उद्यत हुए? वसिष्ठने शबलाकी यह बात सुन कर दुःखिता कन्याकी तरह शोक-सन्तप्तहृदया शबलासे कहा,—शबले! तुमने मेरा कुछ भी अपराध नहीं किया और न मैं तुमको त्याग ही रहा हूं। राजा बलवान् है, वह बलपूर्वक तुमको ले जाना चाहता है।

शबलाने वसिष्ठकी बात सुन कर कहा,—ब्रह्मन्! मनीषियोंका कहना है, कि ब्राह्मणोंसे क्षत्रियोंकी शक्ति कम है। ब्राह्मण ही बलवान् हैं। ब्राह्मणोंका दिव्य-

बल क्षत्रिय-बलकी अपेक्षा अत्यन्त अधिक है। सुतरां आप अप्रमेय बलसम्पन्न हैं। आपके बलको कोई भी सहनेमें समर्थ नहीं हो सकता। आप मुझको नियुक्त कीजिये, मैं अभी इस दुरात्मा विश्वामित्रका दर्प चूर्ण करती हूं। वसिष्ठने शवलाकी इस ज्ञानगर्भ भरी बातोंको सुन कर आश्वस्त हृदयसे उससे कहा, 'तुमपर सैन्यविनाशक सैन्यकी सृष्टि करो।' शवला उनकी यह बात सुन कर हम्बा हम्बा रव करने लगी। उसके इस रवसे सैकड़ों पह्लव सैन्योंकी सृष्टि हुई। उन सैन्योंके विश्वामित्रके साथ युद्धमें पराजित होने पर शवलाने हुङ्काररवसे कम्बोज, स्तनदेशसे बर्बर, योनिदेशसे यवन और रोम कूपोंसे हारीत और किरात आदि म्लेच्छोंकी सृष्टि की। इन्होंने थोड़े ही समयमें विश्वामित्रके हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैन्यका विनाश कर डाला। वसिष्ठ द्वारा बहुतेरे सैन्योंका विनाश होता देख विश्वामित्र एक सौ पुत्रोंके साथ तरह तरहके अस्त्र शस्त्र ले वसिष्ठके प्रति दौड़े। यह देख शवलाने एक ही हुङ्कारमें उनको दग्ध कर डाला।

इस तरह विश्वामित्रके सैन्य आदि विनष्ट हो जाने पर उन्होंने हतबल और हतोत्साह हो कर समग्र धनुर्वेद लाभ करनेके लिये हिमालयके पार्श्वदेशमें जा महादेवकी कठोर तपस्या करने लगे। महादेवने उनकी तपस्यासे संतुष्ट हो उनको समग्र मंत्र और रहस्यके साथ सङ्गोपाङ्ग धनुर्वेद प्रदान किया।

विश्वामित्र महादेवसे समग्र धनुर्वेद लाभ कर अतिशय दर्पित हो कर वसिष्ठके आश्रममें जा उन पर कई तरहके अस्त्र छोड़ने लगे। इन अस्त्रोंसे तपोवन मानो दग्ध होने लगा और आश्रमके सभी चारों ओर भागने पर उद्यत हुए। उस समय वसिष्ठने कालदण्डकी तरह ब्रह्मदण्ड ले कर कहा, 'रे क्षत्रियाधम विश्वामित्र! तू क्षत्रिय-बलसे ब्रह्मबलको पराजित करनेका अभिलाषी हुआ है; किंतु तू देख, इस एक ब्रह्मबलसे तेरा सारा क्षत्रियबल नाश होगा।' इसके बाद वसिष्ठके ब्रह्मदण्डके प्रभावसे विश्वामित्रके महाघोर अस्त्र, जलद्वारा अग्निकी प्रशान्तिकी तरह क्षणभरमें ही सम्पूर्णतः निराकृत हुए।

इस तरह निगृहीत हो विश्वामित्रने वसिष्ठसे कहा था—"धिक्‌बलम् क्षत्रियबलम्, ब्रह्मतेजो बलो बलम्, एकेन ब्रह्मदण्डेन……" क्षत्रिय बलको धिक्कार है! ब्रह्मबल ही यथार्थ बल है। जिस तपसे यह ब्रह्मबल लाभ किया जाता है, मैं वही तपस्या करूंगा। यह स्थिर कर विश्वामित्र पत्नीके साथ दक्षिणकी ओर जा कर कठोर तपस्या करनेमें प्रवृत्त हुए। इसी समय उनके तीन पुत्र लाभ हुए—हविष्यन्द, मधुष्यंद और दृढ़नेत्र।

इस तरह घोर तपस्यामें निरत रह कर जब उन्होंने एक हजार वर्ष बिता दिया, तब सर्वलोकपितामह ब्रह्माने उनके समीप आ कर कहा,—विश्वामित्र! तुमने जैसी कठोर तपस्या की है, उससे तुम मेरे वरसे राजर्षि पद लाभ करोगे। यह कह कर ब्रह्मा अपने लोकको चले गये। विश्वामित्र ब्रह्माका यह वर सुन कर विशेष मर्माहत हुए और सोचने लगे, कि मेरे इस तपोऽनुष्ठानसे कुछ भी फल नहीं हुआ। अब मैं जिससे ब्राह्मणत्व लाभ कर सकूं, ऐसी दुश्चर तपस्या करूंगा। मन ही मन यह स्थिर कर फिर यत्नके साथ तपस्या करनेमें लग गये।

इसी समय इक्ष्वाकुवंशीय राजा त्रिशङ्कु सशरीर स्वर्ग जानेकी कामनासे यज्ञ करनेके लिये वसिष्ठकी शरणमें आये। वसिष्ठने उनकी प्रत्याख्यान किया। पीछे त्रिशङ्कु उनके पुत्रोंके शरणार्थी हुए; किन्तु उन्होंने भी उनका प्रत्याख्यान किया। वरं उन्होंने त्रिशङ्कुको चाण्डालप्राप्तिका शाप दे दिया। उनके शापसे त्रिशंकु चाण्डालत्व प्राप्त कर विश्वामित्रके पास गये।

विश्वामित्रने उनको ऐसी दशामें देख कहा,—'राजन्! मैं दिव्यचक्षुसे देख रहा हूं, कि आप अयोध्याके राजा त्रिशङ्कु हैं। आप शापवश चाण्डाल हुए हैं। आप अपनी अभिलाषा प्रकट कीजिये। मैं आपका श्रेयसाधन करूंगा।' उस समय चाण्डालरूपी त्रिशङ्कुने हाथ जोड़ कर कहा—'मेरी अभिलाषा है, कि मैं ऐसा यज्ञ करूं जिससे सशरीर स्वर्ग गमन कर सकूं। गुरुदेव वसिष्ठ और उनके पुत्रोंके पास गया था; किन्तु उन्होंने मेरा प्रत्याख्यान किया और अभिशाप दिया है, उसीके फलसे आज मैं इस अवस्थामें परिणत हुआ हूं। अब मैं आपकी शरणमें आया हूं। आप मेरी अभिलाषा पूर्ण कीजिये।'

विश्वामित्रने जब त्रिशङ्कुके लिये यज्ञानुष्ठान किया, तब वसिष्ठके पुत्रोंने उन पर दोषारोप किया। पीछे जब यह बात विश्वामित्रको मालूम हुई, तब उन्होंने वसिष्ठके पुत्रोंको यह शाप दिया, कि जब विना दोषके मुझ पर उन्होंने दोषारोप किया है, तब थोड़े ही दिनमें वे सब मृत्युमुखमें पतित हों और परजन्ममें कुत्तेका मांस खानेवाले तथा मुर्देके वस्त्र आहरण करनेवाले चाण्डाल (डोम) हों। विश्वामित्रके इस शापसे वसिष्ठके पुत्रोंने उक्त प्रकारकी दुर्गति पाई।

इधर राजा त्रिशङ्कुने विश्वामित्रके यज्ञफलसे स्वर्गारोहण किया। किन्तु इन्द्रने स्वर्गसे उनको गिरा दिया। इस पर क्रोधसे वे अधीर हो उठे और विश्वामित्रने दूसरे स्वर्गकी सृष्टिकी अभिलाषा कर दूसरे सप्तर्षि मण्डल, सत्ताईस नक्षत्र आदिकी सृष्टि की। त्रिशङ्कु उसी स्थानमें आज तक वास करते हैं*।

त्रिशङ्कु शब्दमें विशेष विवरण देखो।

पीछे विश्वामित्रने देखा कि, इच्छानुसार तपोऽनुष्ठान हो नहीं रहा है और तपमें विघ्न हो रहा है, तो दक्षिणसे चले आये। इसके बाद पश्चिमकी ओर पुष्कर तीरवर्त्ती विशाल तपोवनमें जा शीघ्र ही ब्राह्मणत्व प्राप्ति के लिये विश्वामित्र दुश्चर तपस्या करने लगे।

इस समय राजा अम्बरीषने एक यज्ञ अनुष्ठान किया। इन्द्रने यज्ञके पशुका अपहरण कर लिया। यज्ञपशु अपहृत होने पर अम्बरीषने पशुके बदले नर-बलि देना निश्चय कर जब ऋचीकके पुत्र शुनःशेफको खरीद कर ले आये, तब इस पर वह विश्वामित्रकी शरणमें गया। विश्वामित्रने इसकी प्राण-रक्षाके लिये मधुच्छन्दा प्रभृति अपने पुत्रोंसे कहा, कि तुम लोग सभी धर्मपरायण हो। यह मुनि-पुत्र मेरी शरणमें आया है, अतः तुम लोग इसके प्राण बचा कर मेरा प्रिय कार्य्य करो। तुममें कोई स्वयं इस नर-बलिके लिये तैय्यार हो जाओ जिससे उसका यज्ञ पूरा हो और इस मुनिबालककी प्राणरक्षा हो।

पुत्रोंने पिताकी ऐसी बात सुन कर कहा, कि अपने पुत्रोंको परित्याग कर परायेकी रक्षा करनेमें प्रवृत्त हुए हैं, यह अत्यन्त अन्याय और विगर्हित कार्य्य है। विश्वामित्रने पुत्रोंकी ऐसी बात सुन क्रोधित हो शाप दिया, कि तुम लोग भी वसिष्ठपुत्रोंकी तरह डोम हो।

ऐतरेयब्राह्मणसे मालूम होता है, कि विश्वमित्रके एक सौ पुत्र थे। उन्होंने अपने भांजा शुनःशेफको ज्येष्ठ पुत्रका स्थान देनेकी गर्ज़से अपने सब पुत्रोंकी अभिमति मांगी। इस पर छोटे पचास पुत्रोंने उनके अनुकूल सम्मति दी। इस पर प्रसन्न हो कर उन्होंने उन पुत्रोंको वर दिया कि "तुम गाय और संतान सन्ततिसे भरे पूरे रहो।" किन्तु अन्तिम ५० पुत्रोंकी अनुकूल सम्मति न पानेसे क्रुद्ध हो शाप दिया, कि "तुम लोगोंका वंशज पृथ्वीके दक्षिणांशमें जा कर बसें। इसके अनुसार उनके सन्तान अन्त्यज और डाकूके रूपमें गिने गये। वे ही अन्ध्र, पुण्ड्र, शवर, पुलिन्द और मूतिव कहलाते हैं। (ऐत्तरेयब्रा० ७।१८)

इसके बाद शरणागत शुनःशेफसे विश्वामित्रने कहा, कि अम्बरीषके यज्ञमें बलि देनेके लिये जब तुम्हारे गलेमें रक्तमाल पहनाया जाये और तुम्हारी देह रक्तानुलेपित कर वैष्णव-यूपमें पाशबन्धन कर दी जाय, तब तुम आग्नेय मन्त्रसे अग्निका स्तव तथा यह दिव्यगाथा गान करना। इससे तुम्हें सिद्धि मिलेगी। शुनःशेफने यथासमय वैसा ही अनुष्ठान किया। अग्निके प्रसादसे उनकी दीर्घायुप्राप्ति और राजाकी भी यज्ञसमाप्ति हुई।

---

* मनु १०।१०८ विश्वामित्र द्वारा चाण्डालके हाथसे कुत्तेकी जंघा भक्षणका प्रस्ताव दिखाई देता है। महाभारतके शान्तिपर्वमें भी इस घटनाका उल्लेख दिखाई देता है। किन्तु विष्णुपुराण ४।३।१३-१४से मालूम किया जा सकता है, कि द्वादशवर्षीय अनावृष्टिमें विश्वामित्र कुक्कुर भक्षण करेंगे। इस आशङ्कासे चाण्डालरूपी त्रिशंकुने उनके और उनके परिवारोंके लिये गङ्गातीरके न्यग्रोध वृक्षकी शाखामें मृग मांस लटका रखा। उसी मांससे परितृप्त हो कर विश्वामित्रने राजाको स्वर्गमें स्थापित किया था। देवीभागवत ७।१३ अध्यायके अनुसार विश्वामित्र दुर्भिक्षके समय जब चाण्डालके घर श्वमांस-भक्षणके लिये गये, तब उनकी पत्नी और पुत्रोंने राजर्षि सत्यव्रत रक्षित मृग वराह आदिका मांस भक्षण कर जीवनरक्षा की थी। उसी कृतज्ञतासे विश्वामित्रने राजाके उद्धारका उपाय किया था।

इधर विश्वामित्रने फिर तपस्यामें एक सहस्र वर्ष बिताया। ब्रह्माने देवोंके साथ उनके यहां आ कर उनसे कहा,—"तुमने स्वयं अर्जित तपोबलसे आज ऋषित्व लाभ किया।" विश्वामित्रको यह वर प्रदान कर ब्रह्मा अपने लोकको चले गये। विश्वामित्रने सोचा, कि मैं अब तक भी ब्राह्मणत्व लाभ नहीं कर सका। खिन्न मनसे फिर कठोर तपस्या करनेमें प्रवृत्त हुए।

रामायण और महाभारतमें मेनकाके साथ विश्वामित्रके रति करनेकी बात लिखी है। विश्वामित्रके उग्र योगसाधना देख देवता अत्यन्त भयभीत हुए और इन्द्रने उनका योग भङ्ग करनेके लिये मेनका अप्सराको उनके निकट भेजा। अप्सरा विश्वामित्रके योग भङ्ग कर अपने हाव-भावमें उनको रिझानेमें समर्थ हुई। मेनकाके साथ विश्वामित्रने दश वर्ष तक सुखसे बिता दिया और उसीके परिणामसे मेनकाके गर्भसे शकुन्तलाका जन्म हुआ। अपने इस चित्तचाञ्चल्यके लिये विश्वामित्र पीछे अत्यन्त क्रुद्ध हुए, और घोरता पूर्वक मेनकाको विदा कर उत्तर-दिशाकी हिमगिरिके मूलप्रदेशमें चले गये। यहां रह कर उन्होंने एक हजार वर्ष तक कठोर तपस्या की।

पीछे विश्वामित्र यह स्थान तपोविघ्नकर समझ हिमालय पर्वत पर कौशिकी नदीके किनारे जा कामजयके लिये अति कठोर तपस्यामें प्रवृत्त हुए। इस तरह उनके सहस्र सहस्र वर्ष बीत गये। उस समय ऋषियों और देवताओंको भय हुआ। अतः वे ब्रह्माके पास गये। उन्होंने जा कर ब्रह्मासे कहा, कि विश्वामित्रकी तपस्यासे हम लोगोंको बड़ा भय हुआ है। आप उसको शीघ्र वर दे कर हमें अभय कीजिये। देवताओंकी बात सुन कर ब्रह्माने तुरन्त विश्वामित्रके पास जा कर कहा, कि "वत्स! तुम्हारे तपसे मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ हूं। अतएव तुमको मैं ऋषिमुख्यत्व प्रदान करता हूं।"

इस तरह वर पानेके बाद विश्वामित्र सोचने लगे, कि मैं इस बार भी ब्राह्मणत्व लाभ न कर सका। अतः उन्होंने पितामहसे कहा—"आपने जब मुझको शुभकर्मलाभ ब्रह्मर्षि कह कर सम्बोधन नहीं किया, तब मैंने समझ लिया, कि आज भी मैं जितेन्द्रिय हो न सका हूं। अतएव ब्राह्मण्यलाभका भी अधिकारी नहीं।" ब्रह्माने कहा तुम अब भी जितेन्द्रिय नहीं हो सके हो, जितेन्द्रिय बननेकी चेष्टा करो। यह कह ब्रह्मा अपने धामको चले गये। पीछे विश्वामित्र ऊर्द्ध्वबाहु, निरावलम्बन और वायुभुक् हो कर तपस्या करने लगे।

विश्वामित्रकी इस तरह कठोर तपस्या देख इन्द्रको बड़ा भय हुआ। उन्होंने देवताओंसे परामर्श कर इस बार तपस्या भङ्ग करनेके लिये रम्भा नाम्नी अप्सराको भेजा। रम्भाने आ कर उनके तपस्याभङ्गके लिये बहुतेरे यत्न किये; किन्तु किसी तरह उसने विश्वामित्रके मनमें विकार उत्पन्न न कर पाया।

विश्वामित्रने रम्भाका अभिप्राय समझ कर क्रोधित हो अभिशाप दिया, "तुम सहस्र वर्ष तक पाषाणमयी हो कर रहेगी।" इसी कोपसे विश्वामित्रकी तपस्या विनष्ट हुई। अब उन्होंने मन ही मन स्थिर किया, कि 'मैं कभी क्रुद्ध न होऊंगा और किसी तरह किसीको भी शाप न दूंगा। मैं सैकड़ों वर्ष तक श्वासरुद्ध कर तपश्चरण करूंगा। जितने दिनों तक मैं ब्राह्मण्य लाभ न कर सकूं उतने दिन तपस्या द्वारा शरीर पात करूंगा।'

विश्वामित्रने इस स्थानको तपोविघ्नकर समझ परित्याग कर पूर्व-दिशाको गमन किया और वहाँ सहस्र वर्षव्यापी अत्युत्तम मौनव्रत ग्रहण कर दुश्चर तपस्यामें निरत हुए। इस सहस्र वर्ष बिताने पर जब विश्वामित्र अन्न भोजन करनेको उद्यत हुए, तब इन्द्रने ब्राह्मणरूप धारण कर उस अन्नको पानेकी प्रार्थना की। विश्वामित्र मौनी थे; इससे उन्होंने वाक्यका प्रयोग न कर अन्नको उस ब्राह्मणरूपधारी इन्द्रको दे दिया।

विश्वामित्र फिर मौनावस्थामें ही निश्वासका रोधकर तपस्यामें निरत हुए। इससे उनके मस्तकसे धूएंके साथ अग्नि निकलने लगी और इसके द्वारा त्रिभुवन अग्निसन्तप्तकी तरह क्लिष्ट हो उठा। सारा जगत् उनकी तपस्यासे अस्थिर हो उठा। देव या ऋषि सभीने अस्थिर हो ब्रह्माके पास जा कर कहा, "भगवन्! विश्वामित्रके तपस्यासे निवृत्त न होने पर शीघ्र ही संसार

विनष्ट होगा। आप उनको उनके अभिलषित ब्राह्मणत्व वर प्रदान कर जगत्का मङ्गल कीजिये।"

ब्रह्माने फिर विश्वामित्रके यहां जा कर उनसे कहा,—"विश्वामित्र! तुमने आज तपोबलसे ब्राह्मणत्व लाभ किया, अब तुम्हारा मङ्गल हो।" इसके बाद चिराभिलषित वर पा कर विश्वामित्र परम प्रसन्न हो कर ब्रह्मासे कहने लगे, "भगवन्! यदि आज मैं ब्राह्मण्य और दीर्घायु लाभ करनेमें समर्थ हुआ, तो चतुर्वेद, ओङ्कार और वषट्कारमें ब्राह्मणकी तरह मेरा अधिकार हो तथा ब्रह्मपुत्र वशिष्ठ मुझको ब्रह्मर्षि स्वीकार करें।"

विश्वामित्रके अन्तिम प्रस्तावकी मीमांसाके लिये देवताओंने वसिष्ठके पास जा कर उन्हें सन्तुष्ट किया। देवताओंके अनुरोधसे प्रसन्न हो वसिष्ठने विश्वामित्रके साथ मित्रता स्थापित की और उनको ब्रह्मर्षि कह कर ब्राह्मणत्व स्वीकार किया। दूसरी ओर विश्वामित्रने भी ब्राह्मण्यविभव प्राप्त कर वसिष्ठका यथोचित सम्मान किया*। (रामायण १।५०-७० सर्ग)

इसके सिवा महाभारतमें दूसरी जगह लिखा है, कि विश्वामित्रने सरस्वती नदीको आज्ञा दी, कि तुम वसिष्ठको मेरे यहां ला दो, मैं उसको मार डालूंगा। सरस्वती विश्वामित्रकी अवहेलना कर अन्य पथसे प्रवाहित होने लगी। यह देख विश्वामित्रने सरस्वतीके जलको रक्तवर्ण बना दिया। सरस्वती वसिष्ठको विश्वामित्रके निकटसे दूर ले गई।

महर्षि विश्वामित्र और ब्रह्मर्षि वसिष्ठमें बहुत दिनों तक जो प्रतियोगिता चल रही थी, वह क्षत्रिय-जीवनमें ब्रह्मण्यविरोधका श्रेष्ठतम परिचय है। इस घटनाको बहुतेरे अपने अपने समाजके श्रेष्ठ प्रति-पादनार्थ ब्राह्मण और क्षत्रियका विरोध अनुमान करते हैं। ऋग्वेदमें भी इसका बारम्बार उल्लेख है। ऋग्वेदमें दोनों ऋषियोंका ही श्रेष्ठत्व निरूपित हुआ है। विश्वामित्र तृतीय मण्डलके गायत्रीयुक्त मन्त्रोंके द्रष्टा और वसिष्ठ सप्तममण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहे जाते हैं। ये दोनों ही विभिन्न समयमें महाराज सुदासके कुल-पुरोहित थे। यह पौरोहित्य पद उस समयके राजा और ऋषि-समाजमें विशेष गौरव-जनक और शक्ति-साधक था। इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

समय आने पर यह परस्परमें आन्तरिक विद्वेषके कारण परस्परको अभिशाप दे कर दोनों आपसमें शत्रुता करने लगे। वसिष्ठने निश्वास त्याग कर विश्वामित्रके सौ पुत्रोंको मार डाला। बदलेमें वसिष्ठके सौ पुत्रोंको विश्वामित्रने भी शाप दे कर भस्मीभूत कर दिया। पुराणोंमें यह घटना दूसरी तरहसे वर्णित की गई है। विश्वामित्रने योगबलसे एक नरघातक राक्षस को राजा कल्माषपादकी देहमें प्रवेश करा कर उसके द्वारा वसिष्ठके सौ पुत्रोंको भक्षण करा दिया। विश्वामित्रके शापसे ये सौ पुत्र क्रमान्वसे सात सौ जन्म पतित चाण्डाल योनिमें जन्मते रहे।

ऐतरेयब्राह्मणमें लिखा है, कि इक्ष्वाकुवंशीय राजा हरिश्चन्द्रने अपुत्रककी अवस्थामें एक बार प्रतिज्ञा की थी, कि जब मेरे पुत्र होगा, तो मैं वरुणदेवताको बलि-प्रदान करूंगा। समय आने पर राजा साहबको एक पुत्ररत्न लाभ हुआ। राजाने उसका रोहित नाम रखा। कुमार दिनों दिन चन्द्रकलाकी तरह बढ़ने लगा। कई तरहके छलसे राजा बहुत दिनों तक प्रतिज्ञा रक्षामें निश्चेष्ट रहे। इधर रोहित पितृप्रतिज्ञा रक्षासे आत्म-बलिदान करना अस्वीकार कर छः वर्ष तक जंगल जंगल घूमता रहा। कालक्रमसे अजीगर्त्त नामक एक ऋषिसे उनकी भेंट हो गई। उन्होंने १०० गो दे कर उनके बदलेमें ऋषिके मध्यम पुत्र शुनःशेफको खरीद लिया। रोहितने शुनःशेफको पिताके सम्मुख खड़ा कर दिया। वरुणदेवने रोहितके बदलेमें शुनःशेफको ग्रहण करनेको स्वीकार कर लिया। ऋषितनय वेदमन्त्रोंसे स्तुति कर देवोंको सन्तुष्ट कर आत्मरक्षा करनेमें कृतकार्य हुए और विश्वामित्रने उसको ग्रहण किया। हरिश्चन्द्र-के इस यज्ञमें विश्वामित्र ऋषि पुरोहित थे।

ऐत्तरेयब्राह्मणके ७।१६ मन्त्रको पढ़नेसे मालूम होता है, कि राजा हरिश्चन्द्रके राजसूय यज्ञकालमें विश्वामित्रने स्वयं होताका कार्य्य किया था,—"तस्य ह

---

* महाभारत आदिपर्व १७५ अ० और १८६ अ०में विश्वामित्र और वशिष्ठके परस्पर विरोधकी बात है।

विश्वामित्रो होतासीज्जमदग्निर ध्वर्य्युर्वसिष्ठो ब्रह्माऽयास्य उद्गाता तस्मा उपाकृताय नियोक्तारं न विविदुः।"

मार्कण्डेयपुराणमें लिखा है, कि विद्यासिद्धिके लिये विश्वामित्रने तपस्या आरम्भ की; विद्यायें ऋषिके योगबलसे आबद्ध हो भयङ्कर चीत्कार करने लगीं। इसी समय हरिश्चन्द्र शिकार करनेके लिये बनमें घूम रहे थे। अचानक स्त्रीकण्ठ-से रोदनध्वनि सुन कर वे वहां पहुंचे। इससे विश्वामित्रकी तपस्या भङ्ग हो गई। उधर विद्यायें भी भाग गईं। इस पर विश्वामित्रको राजा पर बड़ा क्रोध हुआ।

विश्वामित्रने राजा हरिश्चन्द्रसे कहा, "तुमने राजसूय यज्ञ किया है। मैं ब्राह्मण हूं, मुझे दक्षिणा दो।" उत्तरमें राजाने कहा, "मेरी स्त्री, देह, पुत्र, जीवन, राज्य, धन, इनमें आप जो चाहें, ले सकते हैं और मैं देने पर तय्यार हूं।" उस समय विश्वामित्रने राजाका राजत्व, धनविभव सभी ले लिया। ये सब लेने पर इस दानकी दक्षिणा विश्वामित्रने राजासे मांगी। उनके पास अब क्या था, वे इस दक्षिणामें अपनेको बेचने पर बाध्य हुए। विश्वामित्रके चक्रमें पड़ कर नाना कष्टोंको सहते हुए अन्तमें श्मशानमें अपनी पत्नी और पुत्रके साथ मिले। राजा हरिश्चन्द्रने इस तरह भीषण जीवन-परीक्षामें उत्तीर्ण हो देवों और विश्वामित्रके आशीर्वादसे स्वर्ग लाभ किया। (मार्कण्डेयपु० १।७-६ और देवीभागवत ७।१२-२७ अ०)

हरिश्चन्द्र शब्दमें विस्तृत विवरण देखो।

इस यज्ञमें विश्वामित्रने राजा हरिश्चन्द्रको नस्तानाबुद कर दिया था, पुराणोंमें उसका पूरा पूरा उल्लेख है। इस प्रसङ्गमें वसिष्ठ और विश्वामित्रने परस्परको अभिशाप प्रदान किया और वे उसके अनुसार दोनों ही पक्षीका आकार धारण कर घोरतर युद्ध करनेमें प्रवृत्त हुए। ब्रह्माने मध्यस्थ हो कर उनका झगड़ा मिटाया था और उनका पूर्वाकार प्रदानपूर्वक दोनोंमें मेल करा दिया था।

भगवान् रामचन्द्रके साथ विश्वामित्रके सम्बन्धके बारेमें रामायणमें बहुतेरी बातें लिखी हैं। रावण और उनके अधीनस्थ राक्षसोंके उत्पातोंसे ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये विश्वामित्र दशरथसे मांग कर राम लक्ष्मणको ले गये। उन्होंने रामके गुरुका कार्य किया था और रामको ले कर अयोध्या लौटे। जनकालयमें आ कर रामने सीताका पाणिग्रहण किया।

महाभारत उद्योगपर्व १०५-११८ अध्यायमें विश्वामित्रकी ब्राह्मणत्वप्राप्तिकी बात दूसरी तरहसे लिखी है। उक्त ग्रन्थको पढ़नेसे मालूम होता है, कि धर्मराजने विश्वामित्रके योगबलसे सन्तुष्ट हो कर उनका ब्राह्मणत्व स्वीकार किया था।

फिर युधिष्ठिरके प्रश्न करने पर पितामह भीष्मदेवने अनुशासनपर्वमें कहा था,—महर्षि ऋचीकने ही विश्वामित्रके अन्तरमें ब्रह्मबीज निषिक्त किया था।

युधिष्ठिरने भीष्मपितामहसे पूछा, "देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत्" अर्थात् क्या विश्वामित्रने उसी देहसे या दूसरे ब्रह्मत्वलाभ किया था? इस पर उन्होंने उत्तरमें कहा था—

"ऋषेः प्रसादात् राजेन्द्र ब्रह्मर्षिं ब्रह्मवादिनम्।
ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वमित्रो महातपाः।
क्षत्रियः सोऽप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारकः॥"

इसी बातकी प्रतिध्वनि निम्नोक्त मनुटीकामें कुल्लूकने अभिव्यक्त किया है।

मनुसंहिताके ७।४२ श्लोकमें विश्वामित्रकी ब्राह्मण्यप्राप्तिका उल्लेख है। उक्त श्लोकके भाष्यमें कुल्लूकने लिखा है—

'गाधिपुत्रो विश्वामित्रस्य क्षत्रियः सन् ते नैवदेहेन ब्राह्मण्यं प्राप्तवान्। राज्यलाभावसरे ब्राह्मण्यप्राप्तिरप्रस्तुताऽपि विनयोत्कर्षार्थमुक्ता। ईदृशोऽयं शास्त्रानुष्ठाननिषिद्धवर्जनरूपविनयोदयेन क्षत्रियोऽपि दुर्लभं ब्राह्मण्यं लेभे॥' (मनु ७।४२ टीका)

ऋक्संहिताके ७वें मण्डलके मन्त्र ब्रह्मर्षि वसिष्ठ द्वारा दृष्ट हैं। वे राजा सुदास और उनके वंशधर सौदास या कल्माषपादके पुरोहित थे। ७।१८।२२ २५ मन्त्रोंमें उन्होंने सुदास राजाके यज्ञकी दान-स्तुति की है। इन्हीं सुदासके यज्ञमें वसिष्ठ और विश्वामित्र ऋषिका जो विरोध हुआ था, उसका विवरण ३ मण्डलके मन्त्रसे भी कुछ झलकता है।

महाभारत आदिपर्व १७६ अध्यायसे हम जान सकते हैं, कि विश्वामित्रने इक्ष्वाकुवंशीय राजा कल्माषपादके पौरोहित्यमें व्रती होनेकी इच्छा की; किन्तु राजाने वसिष्ठको मनोनीत किया था। इस पर विश्वामित्र क्रोधित हो कर वसिष्ठके घोर शत्रु हो उठे। एक बार राजाज्ञा अवहेलनाके लिये वसिष्ठपुत्र शक्तिऋषिको मारा। इस पर ऋषिपुत्रने अभिशाप दिया, "राजा राक्षस होगा।" विश्वामित्र इस अवसर पर राजाके शरीरमें एक राक्षस प्रवेश करा कर सिद्धउद्देश्य सिद्ध कर उस स्थानसे चले गये। पहले ही शक्ति राजा द्वारा भुक्त हुए। इस तरहसे वसिष्ठके सभी पुत्र विश्वामित्रकी आज्ञासे भक्षित हुए थे।*

पुराणमें विश्वामित्रके योगबलका यथेष्ट परिचय मिलता है। और तो क्या उन्होंने ब्रह्माकी तरह द्वितीय स्वर्गकी सृष्टि कर स्वयं महत्त्व प्रचार किया है। किंवदंती है, कि नारियल, सहिंजन आदि कई वृक्षकी सृष्टि विश्वामित्र द्वारा हुई थी। महर्षि विश्वामित्रका अध्यवसाय चर्मनिदर्शन हैं। वसिष्ट शब्द देखो।

२ आयुर्वेद पारदर्शी सुश्रुतके पिता।

"अथ ज्ञानदृशा विश्वामित्र प्रभृतयोऽविदन्।
अयं धन्वन्तरिः काश्यां काशिराजोऽय मुच्यते॥
विश्वामित्रो मुनिस्तेषु पुत्रं सुश्रुतमुक्तवान्।
वत्स! वाराणसीं गच्छ त्वं विश्वेश्वरवल्लभाम्॥"
(भावप्र०)

विश्वस्मिन् नास्ति मित्रं यस्मात्। ३ परममित्र, सारे विश्वमें सर्वोपरि मित्र।

"जनके नाभिरामाय ददौ राज्यमकण्टकम्।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य वनवासं ततो ययौ॥" (उद्भट)

विश्वामित्र—राहुचार नामक ज्योतिर्ग्रन्थके प्रणेता।

विश्वामित्रनदी (सं० स्त्री०) विश्वामित्रा नामकी नदी। (भारत भीष्म०)

विश्वामित्रकपाल (सं० क्ली०) नारिकेलका खर्पर, नारियलका खोपड़ा। (रसेन्द्रसा० स०)

विश्वामित्रप्रिय (सं० पु०) विश्वामित्रस्य प्रियः। १ नारिकेलवृक्ष, नारियलका पेड़। (शब्दरत्ना०) २ कार्त्तिक।

विश्वामृत (सं० त्रि०) विश्वममृतयसि जीवयसि। विश्वका जीवनकारी।

विश्वायन (सं० त्रि०) १ सर्वज्ञ, जो विश्वकी सब बातें जानता हो। २ सर्वत्रगामी, सर्वत्र विचरण करनेवाला। ३ विश्वात्मन्, ब्रह्म।

विश्वायु (सं० त्रि०) सर्वाधिपति, सबोंके मालिक, सभी मनुष्योंके ऊपर जिसका आधिपत्य है। (ऋक् ४।४२।१)

विश्वायुपोषस् (सं० त्रि०) जीवनकाल पर्यन्त देहादिका पोषक, यावज्जीवन उपभोग्य। (ऋक् १।७९।९)

विश्वायुवेपस् (सं० त्रि०) सर्वगतबल, सर्वत्र बलीयान्।
'अग्निं विश्वायुवेपसं मर्य्यं न वाजिनं हितं।'
(ऋक् ८।४३।२५)
'विश्वायुवेपसं सर्वगतबलमग्निं' (सायण)

विश्वायुस् (सं० त्रि०) इण् गतौ विश्व-इ-उस् भावे णिच्च (उण् २।११९) इति उस्। १ व्याप्तगमनशील, सर्वत्रगामी।
"पाहिसदमिद्विश्वायुः" (ऋक् १।२७।३)
'हे अग्ने विश्वायुर्व्याप्तगमनः स त्वं'। (सायण)
२ सर्वभक्षक।
"विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः।" (ऋक् १।६७।६)
'हे अग्ने विश्वायुः विश्वं सर्वमायुरन्नं यस्य स त्वम्।'
(सायण)

विश्वाराज् (सं० त्रि०) विश्वेषु राजते यः विश्वेषां राट् राजा इति वा। (वोपदेव) विश्व-राज-क्विप् विश्वस्य वसुराटोः इति दीर्घ (पा ६।३।१२८) हलादावेवात्त्वमन्यत्र विश्वराजावित्यादि। १ सर्वशासयिता, सबके ऊपर शासन करनेवाला। (तैत्ति०स० १।३।२।१) विश्वराज देखो। ३ परमेश्वर।

विश्वावट्व (सं० पु०) एक विश्वस्त राजानुचर। (राजतर० ७।६१८)

विश्वावर्त्त—मनोरथका पुत्र। शृङ्गार, भृङ्ग, अलङ्कार और मङ्गु नामक इनके चार विद्वान् पुत्र थे।

---

* कौषीतकीब्राह्मणके ४थे अध्यायमें वसिष्ठने "हतपुत्रोंकी पुनः प्राप्तिकी कामना" कर वसिष्ठ यज्ञ किया। पञ्चविंशब्राह्मणमें भी वसिष्ठ 'पुत्रहतः' कहे गये हैं।

विश्वावसु (सं० पु०) विश्वं वसु यस्य, विश्वेषां वसु यस्माद्वा। दीर्घः (पा ६।३।१२८) १ अमरावतीवासी गन्धर्वभेद । २ विष्णु । (महाभारत ६।६२।४५) ३ वत्सर-विशेष, एक संवत्सरका नाम । इस समय कपास मँहगो विकती है। (स्त्री०) ४ रात्रि, रात । (मेदिनी)

विश्वावसु कापालिक—भोजप्रवन्धोद्धृत एक कवि ।

विश्वावास (सं० पु०) १ सबोंकी आवासभूमि, सभी लोगोंका वासस्थान । २ विश्वाश्रय, सबोंका आश्रय स्थान ।

विश्वास (सं० पु०) वि-श्वस-घञ्। १ श्रद्धा । २ प्रत्यय, किसीके गुणों आदिका निश्चय होने पर उनके प्रति उत्पन्न होनेवाला मनका भाव, एतवार, यक़ीन । संस्कृत पर्याय—विश्रम्भ, आश्वास, आश्रम । ३ मनकी वह धारणा जो विषय या सिद्धान्त आदिकी सत्यताका पूरा पूरा प्रमाण न मिलने पर भी उसकी सत्यताके सम्बन्धमें होती है ४ केवल अनुमानके आधार पर होनेवाला मनका दृढ़ निश्चय ।

विश्वासकारक (सं० त्रि०) १ विश्वास करनेवाला । २ मनमें विश्वास उत्पन्न करनेवाला, जिससे विश्वास उत्पन्न हो ।

विश्वासघात (सं० पु०) किसीके विश्वासके विरुद्ध की हुई क्रिया, अपने पर विश्वास करनेवालेके साथ ऐसा कार्य्य जो उसके विश्वासके बिलकुल विपरीत हो ।

विश्वासघातक (सं० त्रि०) विश्वासं हन्ति यः विश्वास-हन्-ण्वुल् । विश्वासनाशक, धोखेबाज । पर्याय—अप्रत्ययकारी, विश्वासहन्ता, अविश्वासी, प्रतारक, वञ्चक ।

विश्वासदेवी (सं० स्त्री०) मिथिलाराजपत्नीभेद । आप विद्यापतिकी प्रतिपालिका थीं । विद्यापति देखो ।

विश्वास राय—महाभारत-टीकाकार अर्जुन मिश्रके प्रतिपालक । ये किसी गौड़ेश्वरके मन्त्री थे ।

विश्वासन (सं० क्ली०) वि-श्वस्-णिच्-ल्युट् । विश्वास, एतवार, यकीन ।

विश्वासपात्र (सं० पु०) जिस पर भरोसा किया जाय, विश्वास करनेके योग्य ।

विश्वासस्थान (सं० क्ली०) विश्वासभाजन, वह जिसका विश्वास किया जाय ।

विश्वासह (सं० त्रि०) सर्वाभिभवकारी, शत्रुओंका दमन करनेवाला । "विश्वासाहमवसे" (ऋक् ३।४७।५)

विश्वासाह (सं० पु०) विश्वासह देखो ।

विश्वासिक (सं० त्रि०) विश्वासके पात्र, जिसका विश्वास किया जाय ।

विश्वासिन् (सं० त्रि०) विश्वासोऽस्यास्तीति विश्वास इनि । १ प्रत्ययशील, जिसे विश्वास करता हो । २ जिसका विश्वास किया जाय ।

विश्वास्य (सं० त्रि०) विश्वासके योग्य, जिस पर विश्वास किया जा सके ।

विश्वाहा (सं० अव्य०) प्रतिदिन, रोज रोज । (ऋक् १।२५।१२)

विश्वाह्वा (सं० स्त्री०) १ शुण्ठी, सोंठ । २ बाहुशाल गुड़ ।

विश्वेदेव (सं० पु०) १ अग्नि । २ श्राद्धदेव । (संक्षिप्त-सार० उणा०) ३ गणदेवताविशेष ।

वेदसंहितामें नौ देवताओंको एक साथ 'विश्वेदेवाः' कहा है । ये देवगण इन्द्र, अग्नि आदिसे निम्न श्रेणीके हैं और सभी मानवके रक्षक तथा सत्कर्मके पुरस्कार-दाता हैं । ऋक्संहिताके ६।५१।७ मन्त्रमें विश्वेदेवोंको विश्वके अधिपति तथा जिससे शत्रुगण अपने अपने शरीरके ऊपर अनिष्ट उत्पादन करते हैं, उसके प्रवर्त्तक कहा है । उक्त ग्रन्थके १०।१२५।१ मन्त्रमें तावत् देवताको ही 'विश्वेदेवाः' बताया है । ऋक् १०।१२६ और १०।१२८ सूक्तमें विश्वेदेवाकी स्तुति की गई है । शुक्लयजुः २।२२ मन्त्रमें ये गणदेवतारूपमें माने गये हैं । परवर्त्ती पौराणिकयुगमें इन देवताओंको और्द्ध्वदेहिक क्रियाका उत्सर्गादि पान किया जाता है । अग्निपुराणमें इनकी संख्या दश बताई गई है, यथा—क्रतु, दक्ष, वसु, सत्य, काम, काल, ध्वनि, रोचक, आद्रव और पुरूरवा ।

४ एक असुरका नाम ।

विश्वेदेवृ (सं० पु०) भगांकुर । (शब्दार्थचि०)

विश्वेभोजस् (सं० पु०) विश्वे-भुज-असि सप्तम्या अलुक् । (उणा २।२३७) इन्द्र ।

विश्वेवेदस् (सं० पु०) विश्वे विद्-असि (विदिभुजिभ्यां विश्वे । उण् ४।२३७) अग्नि ।

विश्वेश (सं॰ पु॰) विश्वस्य ईशः। १ शिव, महादेव। २ विष्णु। विश्वं ईश्वरोऽधिपतिर्यस्य। ३ उत्तराषाढ़ा नक्षत्र। इस नक्षत्रके अधिपतिका नाम विश्व है।

विश्वेशितृ (सं॰ पु॰) विश्वका ईश्वर, सर्वैश्वर्यका कर्त्ता।

विश्वेश्वर (सं॰ पु॰) विश्वस्य ईश्वरः। १ काशीस्थ महादेव। ये काशीधाममें अविमुक्तेश्वर नामसे प्रसिद्ध हैं। क्योंकि अपनी दुष्कृतिके कारण जिन्हें कभी भी मुक्तिलाभकी आशा नहीं, वे भी यदि कायक्लेशसे उक्त धाममें देहत्याग करें, तो ये आसानीसे उन्हें मुक्तिदान देते हैं। इसी कारण वह धाम भी अविमुक्तक्षेत्र नामसे जगत्में प्रसिद्ध है। विशेष विवरण काशी और वाराणसी शब्दमें देखो।

विश्वेश्वर—१ तत्त्वार्णव ग्रन्थके प्रणेता राघवानन्द सरस्वतीके परम गुरु और अद्वयानन्दके गुरु। २ प्रसिद्ध ज्योतिर्वेत्ता कमलाकरके गुरु। ३ मीमांसा कौतूहलवृत्तिके रचयिता, वासुदेव अध्वरीके गुरु। ४ एक कवि। ५ अलङ्कारकुलप्रदीप और अलङ्कारमुक्तावलीके प्रणेता। ६ अध्यात्मप्रदीप नामक अष्टावक्रगीता-टीका और गोपालतापनीकी टीकाके रचयिता। ७ गर्गमनोरमा टीका नाम्नी ज्योतिर्ग्रन्थ और पञ्चस्वरटीकाके प्रणेता। ८ गृहपति-धर्म नामक एक ग्रन्थके रचयिता। ९ तर्ककुतूहल नामक एक पुस्तक-रचयिता। १० दृग्दृश्यविवेक नामक वेदान्त ग्रन्थप्रणेता। ११ निर्णयकौस्तुभ नामक ग्रन्थ-रचयिता। १२ न्यायप्रकरण नामक ग्रन्थके प्रणेता। १३ भगवद्गीता-भाष्यकार। १४ मनोरमाखण्ड नामक व्याकरण-रचयिता। ५ रसचन्द्रिका नाम्नी अलङ्कार-ग्रन्थके प्रणेता। १६ रोमावलीशतकके प्रणेता। १७ लीलावत्युदाहरणके रचयिता। १८ विश्वेश्वरपद्धति नामक ग्रन्थ-प्रणेता। १९ वेद-पादस्तव-प्रणेता। २० शब्दार्णवसुधा-निधि नाम्नी एक व्याकरणके रचयिता। २१ श्रुतिरञ्जिनी नाम्नी गीतगोविन्दके टीकाकार। २२ सप्तशती-काव्यके कवि। २३ साहित्य-सारकाव्यके प्रणेता। २४ सिद्धान्तशिखामणि नाम्नी तन्त्रग्रन्थके रचयिता। २५ संन्यासपद्धति और विश्वेश्वर-पद्धति नामक ग्रंथके रचयिता। इस ग्रन्थकी आनन्दतीर्थ और आनन्दाश्रम रचित टीका भी मिलती है।

विश्वेश्वर आचार्य—१ काशीमोक्षके प्रणेता। २ पदवाक्यार्थ-पञ्जिका नाम्नी नैषधीय टीकाकर्त्ता। ये मल्लिनाथके पहले विद्यमान थे।

विश्वेश्वर काली—चमत्कारचन्द्रिका काव्यके रचयिता।

विश्वेश्वर तन्त्र—तन्त्रभेद।

विश्वेश्वर तीर्थ—१ सिद्धान्तकौमुदी-टीकाकर्त्ता। २ ऐतरेयोपनिषद्भाष्यविवरण नामक आनन्दतीर्थकृत भाष्यकी टीका-प्रणेता।

विश्वेश्वर दत्त—रामनाममाहात्म्यके प्रणेता।

विश्वेश्वरदत्त मिश्र—भास्करस्तोत्र, योगतरङ्ग और सांख्यतरङ्ग आदि ग्रन्थोंके प्रणेता। ये विद्यारण्यतीर्थके शिष्य थे। संन्यासग्रहण कर इन्होंने वेदतीर्थ स्वामीका नाम धारण किया। १८५२ ई॰को काशीधाममें इनका देहांत हुआ।

विश्वेश्वर दैवज्ञ—ज्योति-सारसमुच्चयके रचयिता।

विश्वेश्वर नाथ—दुर्जनमुखचपेटिका और भागवतपुराणप्रामाण्य नामक दो ग्रंथोंके प्रणेता।

विश्वेश्वर पण्डित—१ वाक्यवृत्तिप्रकाशिका, वाक्यसुधाटीका और वाक्यश्रुति-अपरोक्षानुभूति नामक तीन ग्रंथोंके प्रणेता। ये माधवप्राज्ञके शिष्य थे। २ अलङ्कारकौस्तुभ और उसकी टीका तथा व्यङ्ग्यार्थकौमुदी नाम्नी रसमञ्जरी टीकाके प्रणेता।

विश्वेश्वरपूज्यपद—वेदान्तचिन्तामणिके रचयिता शुद्धभिक्षुके गुरु।

विश्वेश्वरभट्ट—१ कुण्डसिद्धिके प्रणेता। २ सुखबोधिनी नामक एक व्याकरणके रचयिता। ३ मदनपारिजात, महादानपद्धति, महार्णव-कर्मविपाक, विज्ञानेश्वरकृत मिताक्षराके व्यवहाराध्यायके सुबोधिनी नामक सारसङ्कलन और स्मृतिकौमुदी आदिग्रन्थोंके रचयिता। मदनपारिजातादि शेषोक्त ग्रन्थ विश्वेश्वरस्मृति नामसे प्रसिद्ध है। ये पेद्दि (पेडि) भट्टके पुत्र और राजा मदनपालके आश्रित थे। ४ अशौचदीपिका, पिण्डपितृयज्ञप्रयोग, प्रयोगसार, भट्टचिन्तामणि नामक जैमिनिसूत्रटीका मीमांसाकुसुमाञ्जलि, राकागम नामक चन्द्रालोकटीका, शिवार्कोदय नामक श्लोकवार्त्तिकटीका, निरूढ़पशुबन्ध प्रयोग तथा सुज्ञानदुर्गोदय आदि ग्रन्थोंके प्रणेता।

इनके सिवा वल्लाल वर्माके आदेशसे इन्होंने कायस्थ-धर्म-दीप या कायस्थ-धर्मप्रकाश या कायस्थपद्धति नामक एक ग्रन्थ लिखा था। इनका बनाया हुआ जातिविवेक नामक एक दूसरा ग्रन्थ कायस्थपद्धतिका प्रथम भाग है। इनके पिताका नाम दिनकर और पितामहका नाम रामकृष्ण था। पिता दिनकरने अपने नाम पर दिनकरोद्योत ग्रन्थ लिखना आरंभ किया, परन्तु वे अपने जीवन-कालमें उसे समाप्त न कर सके, शेषाङ्क विश्वेश्वरने समाप्त किया था। निरूढ़-पशुबन्धप्रयोगमें इन्होंने स्वकृत आपस्तम्बपद्धतिका उल्लेख किया है। ये गागा भट्ट नामसे भी प्रसिद्ध थे। इनके भतीजेका नाम कमलाकर था।

विश्वेश्वर भट्ट मौनिन्—एक कवि। कवीन्द्रचन्द्रोदयमें इनकी रचनाका उल्लेख है।

विश्वेश्वर मिश्र—एक सुपण्डित। विरुदावलीके प्रणेता रघुदेवके पिता।

विश्वेश्वर सरस्वती—१ प्रपञ्चसार-संग्रहके प्रणेता गीर्वाणेन्द्र सरस्वतीके गुरु और अमरेन्द्र सरस्वतीके शिष्य। २ कलिधर्मसारसंग्रह, परमहंसपरिव्राजक-धर्म-संग्रह, यतिधर्मप्रकाश, यतिधर्मसमुच्चय, यत्याचारसंग्रहीय-यतिसंस्कार-प्रयोग आदि ग्रन्थोंके प्रणेता। ये सर्वज्ञ विश्वेशरके शिष्य और गोविन्दसरस्वतीके प्रशिष्य तथा मधुसूदन सरस्वती और माधव सरस्वतीके गुरु थे। इनका दूसरा नाम विश्वेशरानन्द सरस्वती भी था। ३ महिम्नस्तवटीकाके प्रणेता।

विश्वेश्वर सूनु—रुद्रकल्पतरुनिबन्धके रचयिता।

विश्वेश्वरस्थान (सं० क्ली०) विश्वेश्वरस्य स्थानम्। विश्वेश्वरका स्थान, काशीधाम। स्वयं विश्वेश्वर इस स्थानमें विराजमान हैं, इस कारण काशीधामका नाम विश्वेश्वरस्थान पड़ा।

विश्वेश्वरानंद सरस्वती—विश्वेश्वर सरस्वती देखो।

विश्वेश्वराम्बु मुनि—सुदीपिका नामकी सारस्वतटीका-(व्याकरण) के प्रणेता। ये ब्रह्मसागरके शिष्य थे।

विश्वेश्वराश्रम—तर्कचन्द्रिकाके रचयिता। कोई कोई तर्कदीपिकाके प्रणेता विश्वनाथाश्रमको तथा इन्हें एक ही व्यक्ति समझते हैं।

विश्वौकसार (सं० क्ली०) काश्मीरके एक पवित्र तीर्थ-क्षेत्रका नाम। (राजतर० ५।४४)।

विश्वौजस् (सं० त्रि०) व्याप्तवल।

(ऋक् १०।५५।८ सायण)

विश्वौषध (सं० क्ली०) विश्वेषामौषधम्। शुण्ठी, सोंठ। (राजनि०)

विश्व्या (सं० क्ली०) सर्वत्र, सब जगह।

(ऋक् २।४।१)

विष (सं० क्ली०) विष क। १ जल (अमर) २ पद्मकेशर (अमरटीकामें रायमुकुट)। ३ मृणाल। ४ आमकी कोढ़ी। ५ वत्सनाभविष। (पु० क्ली०) ६ सामान्य विष। (राजनि०) पर्य्याय,—क्ष्वेड़, गरल, आहेय, अमृत, गरद, गरल, कालकूट, कलाकूल, हारिद्र, रक्तशृङ्गिक, नील, गर, घोर, हालाहल, हलाहल, शृङ्गिन्, भूगर, जाङ्गल, तीक्ष्ण, रस, रसायन, गरजङ्गुल, जांगुल, काकोल, वत्सनाभ, प्रदीपन, शौल्किकेय, ब्रह्मपुत्र। (रत्नमाला)

अमरकोषके पातालवर्गमें विष-विषयमें नौ प्रकारके भेद निर्दिष्ट हुए हैं—

"पुंसि क्लीवे च काकोलकालकूटहलाहलाः।
सौराष्टीकः शौल्किकेयो ब्रह्मपुत्रः प्रदीपनः॥
दारदो वत्सनाभश्च विषभेदा अमी नव॥" (अमर)

इसके सिवा हेमचन्द्रमें भी विष विषयमें बहुतेरे भेद दिखाई देते हैं। नीचे विषके नाम, लक्षण और गुणागुणके विषयमें संक्षिप्त आलोचना की जाती है।

विषके नाम और लक्षण।

भावप्रकाशके पूर्वखण्डमें लिखा है, कि विषके पर्याय दो हैं—गरल और क्ष्वेड़। इसके नौ भेद हैं, जैसे—वत्सनाभ, हारिद्र, शक्तुक, प्रदीपन, सौराष्ट्रिक, शृङ्गिक, कालकूट, हालाहल और ब्रह्मपुत्र। जिस विषवृक्षका पत्ता निशिन्दाके पत्तेकी तरह है, आकृति—वत्सकी नाभिको सदृश है और जिसके निकटवर्त्ती अन्यान्य वृक्षलतादि निस्तेज हो यथोचित वृद्धि प्राप्त हो नहीं सकते, उसको वत्सनाभ कहा जाता है। हारिद्र—इस विषवृक्षका मूल हरिद्रा (हल्दी) के मूलकी तरह होता है। शक्तुक—यह विषवृक्षकी गांठोंका बिचला भाग शक्तुक या सत्तूकी तरह चूर्णपदार्थोंसे भरा रहता है। प्रदीपन—यह विष लाल

रङ्गका होता है। यह दीप्तिशील और अग्निकी तरह प्रभाशाली है। इसके सेवनसे अत्यन्त दाह उत्पन्न होता है। सौराष्ट्रिक—सुराष्ट्रदेशके उत्पन्न सभी तरहके विष। शृङ्गिकविष—इस विषको गायके सींगमें बाँध देने पर गोका दूध लाल रंगका हो जाता है। कालकूट—प्राचीन समयमें देवासुर युद्धमें पृथुमाली नामक एक दैत्य देवके हाथसे मारा गया। उसका रक्त पृथ्वीमें जब पड़ा, तब उससे पीपल वृक्षको तरह एक विषवृक्ष उत्पन्न हुआ। उसी वृक्षके निर्यासको मुनिगण कालकूट कहते हैं। यह वृक्ष शृङ्गवेर और कोंकणप्रदेशोंके खेतोंमें उत्पन्न होता है। हालाहल—इस विषवृक्षके फल अंगूरकी तरह एक ही गुच्छेमें कितने ही फलते हैं। इसका पत्ता ताड़के पत्तेकी तरह होता है और इसके तेजसे निकटके वृक्ष जल जाते हैं। किष्किन्ध्या, हिमालय, दक्षिणसमुद्रके किनारेकी भूमि और कोंकण देशमें इस हलाहल विषका वृक्ष उत्पन्न होता है। ब्रह्मपुत्र—यह विष कपिलवर्ण और सारात्मक है। यह मलयपर्व्वत पर उत्पन्न होता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रके भेदसे यह विष भी चार तरहका होता है। उनमें पाण्डुवर्णका विष ब्राह्मण, रक्तवर्ण विष क्षत्रिय, पीतवर्ण विष वैश्य और कृष्णवर्ण विष शूद्रजातीय है। ब्राह्मण जातीय विष रसायन कार्य्यमें, क्षत्रियजातीय विष पुष्टि विषयमें और वैश्यजातीय कुष्ठ निवारणके लिये प्रशस्त है। शूद्रजातीय विष विनाशक है।

विषका गुणागुण ।

साधारणतः विषका गुण——प्राणनाशक और व्यवायी अर्थात् पहले विषका गुण सारे शरीरमें व्यक्त हो कर पीछे परिपाक होता है। विकाशी अर्थात् इसके द्वारा सहसा ओजोधातुका शोषण और सन्धिबन्धन सब ढीले हो जाते हैं। यह अग्निवर्द्धक, वातघ्न और कफनाशक है। योगवाही अर्थात् जिस द्रव्यमें यह मिलाया जाता है, उसके गुणका ग्राहक और मत्तताजनक अर्थात् तमोगुणाधिक्यके कारण बुद्धिविनाशक है। यह विष विवेचनाके साथ उपयुक्त मात्रामें सेवन किया जाये, तो यह प्राणरक्षक, रसायन, योगवाही, त्रिदोषनाशक शरीरके उपचायक और वीर्य्यवर्द्धक होता है। अविशुद्ध विष अहितकर है -इस विषके जो सब अनिष्ट-जनक तीव्रतर गुण वर्णित किये गये हैं, शुद्ध करनेसे वे हीनवीर्य्य हो जाते हैं। सुतरां विषप्रयोग करनेसे पहले उसको शुद्ध कर लेना चाहिये।

विषका शोधन—विष (टुकड़ा टुकड़ा काट कर) तीन दिनों तक गोमूत्रमें रख छोड़ना होगा, पीछे उसका छिलका निकाल कर फेंक देना चाहिये, पीछे शुष्क करनेके बाद लाल सरसोंके तेलमें भिंगे कपडेमें बाँध कर तीन दिन तक रखनेसे विष शुद्ध हो जाता है।

विषके सिवा कई उपविषोंका भी उल्लेख है। थूहरका दूध, मनसाका दूध, इषलांगला; करवीर, कूंच, अफीम, धतूरा और जयपालवीज—ये सात उपविष हैं।

इनके गुणागुण इनके नामकी विवरणीमें देखो।

वैद्यक ग्रन्थादिके विषाधिकारमें स्थावर और जङ्गम-भेदसे विष दो तरहका है। उनमें स्थावर विषके आश्रय-स्थान दश हैं और जङ्गमके सोलह हैं।

स्थावर विषके दश आश्रय स्थान इस तरह हैं—मूल, पत्र, फल, पुष्प, त्वक्, क्षीर, सार, निर्यास, धातु और कन्द। वृक्षके इन दश अंशोंका आश्रय कर स्थावर विष विद्यमान रहता है ; उनमें मूल-विष करवीरादि; पत्र-विष विषपत्रिकादि, फलविष कर्कोटकादि, पुष्प-विष वेत्रादि; त्वक्, सार और निर्य्यास विष करण्डादि, क्षीर-विष मनसासिज आदि, धातुविष हरताल आदि और कन्दविष वत्सनाभादि हैं।

जङ्गम विषके १६ आश्रयस्थान इस तरह हैं—दृष्टि, निश्वास, दंष्ट्रा, नख, मूत्र, पुरीष, शुक्र, लाला, आर्त्तव, स्पर्श, सन्दंश, अवशर्द्धित (वातकर्म), गुह्य, अस्थि, पित्त और शूक। दिव्य सर्पको दृष्टि और निश्वासमें, व्याघ्र आदिके कांटने और नखोंमें, छिपकली आदिके मूत्र और पुरीषमें, चूहे आदिके शुक्रमें, उच्चिटिकादिके लालामें, चित्रशीर्षादिके लाला, स्पर्श, मूत्र, पुरीष, आर्त्तव, शुक्र, मुखसंदंष्ट्रा वातकर्म और गुह्यमें, सर्पादिकी हड्डीमें, शकुल मत्स्य आदिके पित्तमें और भ्रमर आदिके शूकमें विष रहता है।

स्थावर विषका कार्य्य।

अब स्थावरविषके साधारण कार्य्यों के सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है। मूलविषका कार्य्य—यह विष शरीरमें प्रविष्ट होने पर डण्डेसे मर्दन करनेकी तरहकी वेदना, मोह और प्रलाप होता है। पत्र-विषका कार्य्य—जृम्भा (जंभाई), कम्प और श्वास (दमफूलना)। फलविषका कार्य्य—अण्डकोषमें शोथ अर्थात् बैजेका फूल जाना, दाह और अन्नभक्षणमें अनिच्छा होना। पुष्पविषका कार्य्य—उलटी होना, उदराध्मान और मूर्च्छा। त्वक् सार और निर्य्यास विषका कार्य्य—मुखमें दुर्गन्ध, देहमें कर्कशता, शिरमें पीड़ा और कफस्राव होना। क्षीरविषका कार्य—मुखमें फेन आना, मलभेद और जिह्वाका गुरुत्व। धातुविषका कार्य—हृदयमें वेदना और तालूमें दाह। उल्लिखित नौ स्थावर विषोंसे प्रायः ही कालान्तरमें प्राण विनष्ट होता हैं। स्थावर विषोंमें दशवां कन्द विष है—यह उग्रवीर्यसम्पन्न है। यह विष तेरह तरहका होता है। इन सब विषोंको पीछे कहे गये दश गुणान्वित समझना होगा। विष स्थावर, जङ्गम या कृत्रिम चाहे किसी तरहका क्यों न हो, वह दशगुणान्वित होनेसे शीघ्र ही प्राण नाश करता है। उन दशोंके गुण इस तरह हैं—रुक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, आशुकारी, व्यवायी, विकाशी, विशद, लघु और अपाकी।

उक्त दशगुण युक्त विष रुक्ष गुणमें वायु और उष्ण गुणमें पित्त और रक्तको प्रकुपित करता है। तीक्ष्ण गुणमें बुद्धिभ्रंश और मर्म्मबन्धन छेदन करता है। सूक्ष्म गुणमें शरीरके अवयवमें प्रविष्ट हो कर उसे विकृत कर देता है। आशुकारी गुण होनेसे यह सब कार्य्य शीघ्र सुसम्पन्न होता है। व्यवायी गुणमें प्रकृति और विकाशी गुणमें दोष, धातु और मल विनष्ट करता है। विशद गुणमें अतिशय विरेचन उत्पन्न करता है। अपाकी गुणमें अजीर्ण होता है और लघुत्व गुणमें यह दुश्चिकित्स्य हो जाता है।

जङ्गम विषके लक्षण।

पहले स्थावर विषके साधारण कार्यों का उल्लेख किया गया है। अब जङ्गम विषके साधारण कार्यों का उल्लेख किया जाता है। निद्रा, तंद्रा, क्लान्ति, दाह, पाक, रोमाञ्च, शोथ और अतिसार ये कई जङ्गम विषके साधारण कार्य्य हैं। इन सब जङ्गम विषोंमें सर्प-विष ही तीक्ष्णतर है। इससे पहले सर्पविषका उल्लेख किया जाता है। सर्प जाति चार भागोंमें विभक्त हैं। यथा—भोगी, मण्डली, राजिका और द्वन्द्वरूपी। भोगी अर्थासे फणयुक्त, मण्डली सर्प मण्डलाकार चक्रशाली, राजिका श्रेणीके सर्पका गात्र लम्बी रेखाओंसे घिरा रहता है और द्वन्द्वरूपी सर्प मिश्रित रूपधारी होते हैं। ये सब क्रमसे वातात्मक, पित्तात्मक, कफात्मक और त्रिदोषात्मक हैं। फणयुक्त सर्प बीस तरहका होता है। मण्डली सर्प नाना रङ्गोंसे चित्रित, मोटे और धीरगामी होते हैं। ये छः प्रकारके होते हैं। अग्नि और धूपके उत्तापसे इसका विष वेगवान् होता है। राजिका सर्प स्निग्ध तिर्य्यग्गामी और नाना रङ्गकी रेखाओंसे रेखान्वित हैं। ये भी छः प्रकारके हैं; इसके सम्बन्धमें 'सर्पविष' शब्द देखो।

सर्पके काटे हुए स्थानका लक्षण।

भोगी जातीय सर्पोंके काटनेसे काटा हुआ स्थान काला हो जाता है और रोगी सब तरहसे वात विकार-विशिष्ट हो जाता हैं। मण्डली सर्पके काटनेका या डंसनेका स्थान पीला, शोथयुक्त और मृदु होता है और रोगी पित्तविकारग्रस्त देखा जाता है। राजिका जातीय सर्पके दंशनसे दष्टस्थान स्थिर, शोथयुक्त, पिच्छिल, पाण्डुवर्ण, स्निग्ध और अतिशय गाढ़ रक्तयुक्त होता है तथा रोगी सब तरहसे कफविकारग्रस्त होता है।

विषलिप्त शस्त्राघातके लक्षण।

शत्रु द्वारा विषलिप्त शस्त्रसे आघात पाने पर मनुष्यका वह क्षतस्थान शीघ्र ही पक जाता है। क्षत स्थानसे रक्तस्राव होता है और सड़ा मांस गिर पड़ता है। क्षत स्थान वारंवार पकता है और काला तथा क्लेदयुक्त होता है। फिर रोगीको पिपासा, अन्तर्दाह, वहिर्दाह और मूर्च्छा होती है। अन्य प्रकारसे उत्पन्न क्षत स्थानमें विषप्रद होने पर भी ये सब लक्षण दिखाई देते हैं।

राजा महाराजाओंके पद पद पर शत्रु होते हैं। शत्रु प्रायः ही उनके भोजनमें गुप्त रूपमें विष मिला देनेकी चेष्टा करते हैं। बुद्धिमान्, इङ्गितज्ञ, चिकित्सक

वाक्य, चेष्टा और मुखकी विवर्णता आदि लक्षण देख कर विषदाता शत्रु को पहचान लें।

देश, काल और पात्रभेदसे सर्पविषका असाध्यत्व।

पीपल-वृक्षके नीचे, श्मशान, वल्मीकके ऊपर और चतुष्पथ—इन सब स्थानोंमें, प्रभातमें और संध्या समय, भरणी और मघा नक्षत्रमें तथा शरीरके चर्मस्थानमें दंशन करनेसे वह विष असाध्य होता है। दर्वीकर नामक एक जातिके सर्प होते हैं, ये सर्प चक्रलांगुल, फणधारी और शीघ्रगामी हैं। इनके विषसे शीघ्र ही प्राण विनष्ट होता है। ये मेघ, वायु और उष्णताके संयोगसे द्विगुण तेजोयुक्त होते हैं।

ऊपर जो कहे गये, उनको छोड़ और भी कई प्रकारके असाध्य विष हैं। उन सब तरहके विषोंसे प्राण संहार अनिवार्य है। अजीर्ण-ग्रस्त, पित्तात्मक, रौद्र-पीड़ित, बालक, वृद्ध, क्षुधित, क्षीण, क्षताभियुक्त, मेह और कुष्ठरोगाक्रांत, रुक्ष और दुबल व्यक्ति या गर्भिणी इनके शरीरमें विष प्रवेश करने पर किसी तरह प्रशमित नहीं होता।

अचिकित्स्य विष-पीडितके लक्षण।

शस्त्र द्वारा क्षत होने पर भी जिसकी देहसे रक्तक्षरण नहीं होता, लता द्वारा मारने पर भी जिसकी देहमें लताका चिह्न निकल नहीं आता या शीतल जलसे स्नान कराने पर जिसके शरीरके रोंगटे खड़े नहीं हो जाते, ऐसे विष-पीड़ित व्यक्तिको चिकित्सक त्याग कर दें। जिस विषपीड़ित व्यक्तिका मुख स्तब्ध, केश शातन, नासिका वक्र, ग्रीवा (गरदन) धारणशक्तिहीन, दष्ट स्थानकी सूजन रक्तमिश्रित और काली तथा दोनों घुटने सटे हों वह रोगी भी परित्याज्य है। जिस विषपीड़ित रोगीके मुखसे गाढ़ी राल, मुख, नासिका, लिङ्ग और गुह्यद्वार आदिसे खून गिरता हो और सर्पने जिसे चार दांतोंसे काटा हो, ऐसे व्यक्तिकी चिकित्सा निष्फल है। जो विष पीड़ित व्यक्ति उन्मादकी तरह बोलता हो, ज्वर और अतिसार आदिके उपद्रवसे जिसका देह आक्रांत हो, जो बात नहीं कर सकता हो, जिसका शरीर काला हो गया हो और जिसके नासाभङ्ग आदि अरिष्ट लक्षण सम्यक्‌रूपसे परिस्फुट हो चुके हों, ऐसा रोगी भी चिकित्साके योग्य नहीं।

दूषीविष।

स्थावर और जङ्गम ये दोनों तरहके विष जीर्णत्व आदिके कारण दूषीविष कहलाते हैं। जो विष अत्यन्त पुराना है, विषघ्न औषध द्वारा भी वीर्यहीन या दावाग्नि वायु और धूप आदिके शोषणसे निर्वीर्य, अथवा जो स्वभावतः ही दश गुणोंमें एक, दो, तीन गुणहीन है, उसको दूषीविष कहते हैं। दूषीविष अल्पवीर्य है, इससे यह प्राण नष्ट नहीं करता; किन्तु कफानुबन्ध हो कर बहुत दिनों तक शरीरमें अवस्थान करता है। दूषीविष-ग्रस्त मानवके मलभेद, भ्रम, गद्‌गद् वाक्य, कै और विरुद्ध चेष्टाके कारण नाना तरहके क्लेश होते हैं। शरीरके किसी स्थानमें इस दूषीविषके रहनेसे शरीरमें विभिन्न प्रकारके रोग और उपद्रव होते हैं। शीतमें और वातवर्षासंकुल दिनको दूषीविष प्रकुपित होता है। दूषीविष प्रकोपसे पहले निद्राधिक्य, देहकी गुरुता और शिथिलता, जंभाई, रोमहर्ष तथा शरीरमें वेदना उत्पन्न होती है। दूषीविष प्रकुपित होने पर अन्न भोजन करनेमें मत्तता, अपाक, अरुचि, गात्रमें मण्डलाकृति कोढ़की उत्पत्ति, मांसक्षय, हाथ और पैरमें सूजन कै, अतिसार, श्वास, पिपासा, ज्वर तथा उदरी या उदररोग बढ़ता है।

कृत्रिमबिष।

गर और दूषीविषभेदसे कृत्रिम विष दो तरहका है। उनमें दूषीविषमें विष संयुक्त रहता है। किन्तु गरविषमें वह संयुक्त नहीं रहता। स्त्रियाँ अपने मतलब गांठनेके लिये पुरुषोंको स्वेद, रजः या अन्यान्य असङ्कत मल, अन्न आदिके साथ गरविष खिला देती हैं और शत्रु द्वारा भी ऐसा विष खिलाया जाता है। गरविष देहमें प्रवेश करने पर देह पाण्डुवर्ण और कृश हो जाती है। परन्तु मन्दाग्नि, उदर, ग्रहणी, यक्ष्मा, गुल्म, धातुक्षय, ज्वर और इस तरह कई प्रकारके रोग क्रमसे उपस्थित होते हैं।

विषचिकित्सा।

इस समय संक्षेपमें बिषकी चिकित्साका विषय वर्णित किया गया। सबसे पहले स्थावर विषकी चिकित्साके विषय पर कुछ लिखा जाता है।

स्थावर विषसे आक्रान्त रोगीके लिये कै ही प्रधान चिकित्सा है। अतः इस विषसे पीड़ित रोगीको यत्नके साथ कै करा देना चाहिये। विष अत्यन्त तीक्ष्ण और उष्ण है, इससे सब तरहके विषरोगमें शीतल परिषेक हितकर है। उष्णगुण और तीक्ष्ण गुणमें विष अत्यधिक परिमाणमें पित्तकी वृद्धि करता है। इसलिये कै करानेके बाद शीतल जलसे स्नान कराना उचित है। विषपीड़ित व्यक्तिको शीघ्र घृत और मधु द्वारा विषघ्न औषध खिलानी चाहिये। भोजनार्थ खट्टा पदार्थ तथा घर्षणार्थ काली मिर्च देनी चाहिये। जिस दोषके लक्षण अधिक दिखाई दे, उसी दोषकी औषध द्वारा विपरीत क्रिया करनी चाहिये। विषाक्त रोगीके भोजनके लिये शालि, षष्टिक, कोदों और कंगनीके चावलका भात देना चाहिये तथा कै और दस्त द्वारा ऊर्द्ध्वाधः शोधन करना चाहिये। सिरीषका मूल, छाल, पत्र, पुष्प और वीजको एकत्र गोमूत्र द्वारा पीस कर प्रलेप करनेसे विष शान्त होता है। दूषीविषसे पीड़ित व्यक्ति यदि स्निग्ध, कै और दस्तावर वीज खाये, तो विष जल्द दूर होता है। पिप्पली, रोहिषतृण, जटामांसी, लोध, इलायची खर्जिकाक्षार, मिर्च, वाला, इलायची और सुवर्ण गैरिक इनके साथ मधु मिला कर पान करनेसे दूषीविष विनष्ट होता है।

जंगम विषकी चिकित्सा।

घी ४ सेर, कल्कार्थ हरीतकी (छोटी हर्रे) गोरोचना, कुट, आकन्दका पत्ता, नीलोत्पल, नलमूल, वेंतमूल, गरल, तुलसी, इन्द्रयव, मंजीठ, अनन्तमूल, शतमूली, सिंघाड़ा, लज्जालु और पद्मकेशर ये सब समभागसे मिला कर १ सेर, दूध सोलह सेर; यह घृत पाक कर ठंढा होने पर उसमें ४ सेर मधु मिला दे। मात्राके अनुसार पान, अञ्जन, अभ्यङ्ग या वस्तिप्रयोग (पिचकारी) से दुर्जय विष, गरदोष, योजकविष, तमकश्वास, कण्डु, मांससाद और अचेतनता नष्ट होती है। इसके स्पर्शमात्रसे सारा विष विनष्ट और गरकृत विकृतचर्म प्रकृतस्थ हो जाता है। इसका नाम मृत्युपाशच्छेदिघृत।

धतूरेकी जड़ या अङ्कोठ वृक्षकी जड़ या बांसकी जड़को दूध द्वारा पीस कर पी जानेसे कुत्तेका विष दूर हो जाता है। हरिद्रा (हलदी), दारुहरिद्रा, रक्तचन्दन, मंजीठ और नागकेशर, ये सब शीतल जलमें पीस कर उसका प्रलेप करनेसे शीघ्र लताविष दूर होता है। बारीक पीसा हुआ जीरा, घी और सैन्धव नमकमें मिला कर जरा गर्म करे। इसमें मधु दे कर अच्छी तरह घोंट डाले और काटे हुए स्थान पर लगावे तो बिच्छूका विष उतर जायेगा। सूर्यावर्त्त (शूलटा) वृक्षका पत्ता मल कर उसको सूंघनेसे बिच्छूका विष दूर हो जाता है। नरमूत्रसे डंकस्थानको धो देनेसे या उसी पर पेशाब कर देनेसे वह शीघ्र आराम होता है। उसकी जलन या दर्द दूर हो जाता है। यह दवा बहुत फायदामन्द है।

विषविरहितके लक्षण।

विषपीड़ित व्यक्तिके आरोग्यलाभ करने पर वातादि दोष नष्ट होता, धातुकी स्वाभाविक अवस्था आ जाती, खानेमें रुचिकर और मलमूत्रका भी यथायथभावसे निकलना जारी हो जाता है। इसके सिवा रोगीकी वर्णप्रसन्नता, इन्द्रियपटुता और मनकी प्रफुल्लता होती तथा वह क्रम क्रमसे चेष्टाक्षम होता है।

(भावप्रकाश विषाधिकार)

सिवा इसके चरक, सुश्रुत आदि चिकित्सा-ग्रंथोंमें भी विषचिकित्साकी कई प्रणालियां लिपिबद्ध हैं। विषय बढ़ जानेके भयसे यहां वे नहीं दी गई।

पारिभाषिक विष।

कूर्मपुराणमें लिखा है, कि निराविष ही केवल विष नहीं। परन्तु ब्रह्मस्व और देवस्वको भी विष कहते हैं। सुतरां वे दो भी सर्वतोभावसे यत्नके साथ परित्याग करने चाहिये।

"न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।
देवस्वञ्चापि यत्नेन सदा परिहरेत्ततः॥"

(कूर्मपु० उपवि० १५ अ०)

नीतिशास्त्रकार चाणक्यने भी कई विषयोंको विष कहा है। उनके मतसे दुरधीत विद्या, अजीर्ण अवस्थामें भोजन, दरिद्रके बहुत परिजन, वृद्धकी युवती स्त्री, रात्रिकालका भ्रमण, राजाकी अनुकूलता, अन्यासक्ता

स्त्री और अदृष्ट व्याधि ये सब ही विष अर्थात् विषतुल्य हैं ।

> “दुरधीता विषं विद्या अजीर्णे भोजनं विषं ।
> विषं गोष्ठी दरिद्रस्य वृद्धस्य तरुणी विषम् ॥
> विषं चङ्क्रमणं रात्रौ विषं राज्ञोऽनुकूलता ।
> विषं स्त्रियोऽप्यन्यहृद्रो विषं व्याधिरवीक्षितः ॥”
> (चाणक्य)

पाश्चात्य मतसे विषके लक्षण ।

विष किसको कहते हैं, इस प्रश्नकी मीमांसाके सम्बन्धमें वैज्ञानिक पण्डितोंकी बहुतेरी आलोचनायें दिखाई देती हैं । किसीका कहना है, कि जो देहसंस्पृष्ट होने पर अथवा किसी तरह देहमें प्रवृष्ट होने पर स्वास्थ्यकी हानि या जीवन नष्ट हो सके, उसीकी विष-संज्ञा होती है । साधारण लोगोंका कहना है, कि अति अल्प मात्रामें जो पदार्थ शरीरमें प्रवेश कर जीवनका नाश करता है, वही विष है । फलतः विषकी ऐसी संज्ञा रखना उचित नहीं, क्योंकि ऐसा होनेसे वह अतिव्याप्ति या अव्याप्तिदोषदुष्ट होता है । अतिअल्प मात्रामें कांचका चूर्ण पेटमें पहुंचने पर प्राणनाश कर सकता है । किन्तु इससे उसे विषकी संज्ञा नहीं दी जा सकती । जो अन्न हमारे देहके लिये अत्यन्त प्रयोजनीय है, दैहिक अवस्थाविशेषमें या परिमाणाधिक्यमें वह भी विषकी तरह कार्य कर सकता है । और तो क्या—जिस वायुके बिना हम लोग एक क्षण भी नहीं जी सकते, समय विशेषमें और देहकी किसी अवस्थामें वही वायु देहको हानि पहुंचाती है । सुतरां विषकी यथायथ संज्ञा निर्द्धारण करना सहज काम नहीं है ।

किन्तु हमारी भाषामें व्यवहारिक प्रयोजनके लिये अनेक पदार्थ विषसंज्ञासे अभिहित होते आ रहे हैं । उन सब पदार्थोंके सम्बन्धमें हम यहां पर आलोचना करेंगे । पाश्चात्य प्रदेशोंमें भी विषके सम्बन्धमें वैज्ञानिक आलोचना दिखाईदेती है । पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञानमें विषविज्ञान “टक्सोलजी” (Toxology) नामसे अभिहित होता है । मेडिकल जुरिसप्रुडेन्स नामक चिकित्सा-विज्ञानमें विषविज्ञान एक प्रधान अङ्ग है । चिकित्सा व्यवसायीमात्रको यह जाननेकी बड़ी जरूरत है, कि विषक्रियाके क्या लक्षण हैं ? और उन दुर्लक्षणोंकी शान्तिकी क्या व्यवस्था है ?

विषकी क्रिया ।

पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञानको पढ़नेसे मालूम होता है, कि विषकी कई क्रियायें हैं । ये क्रियायें स्थानीय और दूरव्यापिनी हैं । विषकी स्थानीय क्रियामें किसी स्थानका चर्म विदीर्ण होता है, कहीं प्रदाह हो होता है अथवा ज्ञानजनक या गतिजनक (Sensory or motor) स्नायुके ऊपर क्रिया प्रकाश पाती है । दूरव्यापिनी क्रिया दूसरी तरहकी है । स्पृष्ट स्थानमें उसकी क्रिया प्रकाशित हो सकती या नहीं भी हो सकती है ; किन्तु दूरवर्त्ती यन्त्रके ऊपर उसकी सविशेष क्रिया प्रकाश पाती है । इस अवस्थामें रोगके लक्षणकी तरह विषक्रियाके लक्षण दिखाई देते हैं । जब दूरव्यापिनी क्रिया प्रकाशित होती है, तब समझना चाहिये, कि विषपदार्थ शरीरमें शोषित हुआ है । सुतरां दूरवर्त्तिनी क्रिया प्रकाशकी प्रधानतम साधन—देहमें विषशोषण है ।

विषक्रियाका न्यूनाधिक ।

सब अवस्थाओंमें विषकी क्रिया एक तरहकी नहीं दिखाई देती । विषका मात्राधिक्य, देहमें उसका क्रमोपचय और दैहिक पदार्थके साथ संमिश्रण और विषार्त्त व्यक्तिकी शारीरिक अवस्थाके अनुसार विषकी क्रियाका तारतम्य होता रहता है ।

विषका श्रेणीविभाग ।

आयुर्वेदमें विषका जिस तरह श्रेणीविभाग किया गया है, उस तरह पाश्चात्य विज्ञानमें नहीं हुआ है । पाश्चात्य विज्ञानविद् पण्डितोंका कहना है, कि विषका श्रेणीविभाग करना सहज घटना नहीं । पाश्चात्य विज्ञानमें निखिल विषोंको चार श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है । जैसे—

(१) करोसिवस या देहतन्तुका अपचायक ।
(२) इरिटेण्टस् या उग्रताकारक ।
(३) न्यूरेकस वा स्नायवीय विकृतिवर्द्धक ।
(४) गैसियस वा वायवीय विष ।

देहतन्तुके अपचय कर विष समूह ।

इस श्रेणीके सब विषोंमें पारद (पारा) घटित द्रव्य ही सबसे पहले उल्लेखनीय है। इसके सिवा सलफ्यूरिक एसिड, नाइट्रिक एसिड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड, आक्ज़ालिक एसिड; कार्बनिक एसिड, पोटाश, सोडा, एमोनिया, बाइसलफेट आव पोटास, फटकारी, एण्टमनी, नाइट्रेट आव सिलवर और क्षार पदार्थके विविध कार्बनेट समूह भी इस श्रेणीके अन्तर्गत हैं।

इन विषों द्वारा देह विषाक्त होने पर निम्नलिखित लक्षण दिखाई देते हैं। किसी पदार्थके गलेके नीचे जाते ही मुखमें; मुखगह्वरके नीचे तालुमें, और आमाशय में अत्यन्त जलन पैदा होती है। क्रमसे यह जलन सारी अंतड़ियोंमें फैल जाती है। इसके बाद दुर्निवार्य्य वमनका उपद्रव दिखाई देता है। खनिज एसिड अथवा आक्ज़ालिक एसिड सेवन करनेसे जो कै होती है, उसी कै-से निकले पदार्थ पक्का घरकी सतह पर पड़नेसे उससे एसिडकी क्रिया तुरन्त दिखाई देती है। अर्थात् इस स्थान परमें बुद्बुदा उठता रहता है। इस वमनमें भी किसी तरह शान्तिबोध नहीं होता। कै-के साथ रक्तकणा भी दिखाई देती है और तो क्या, अन्नवहानलीका गात्र इस विषमें अपचित हो कर उसकी झिल्लियों तक विश्लिष्ट और विच्युत होता है और वान्त पदार्थके साथ मिल जाता है। वायुमें उदराध्मान होता है। उदरके ऊपर हाथ फेरना भी रोगीको असह्य हो उठता है। भयङ्कर ज्वर होता है। मुखके मांस आदिमें अनेक स्थलमें स्पष्टतः क्षत दिखाई देते हैं। विषका परिमाण अधिक रहनेसे थोड़ी ही देरमें रोगीकी मृत्यु हो जाती है। जल्द मृत्यु न होने पर भी मुखमें और अंतड़ियोंमें क्षत हो निदारुण यातनाका क्लेश भोग करते करते अनशनसे ही रोगीके दुःखमय जीवनका अन्त होता है।

चिकित्सा।

इन सब विषपीड़ित रोगीकी चिकित्सामें सबसे पहले अन्ननाली और आमाशयको धो डालनेकी बड़ी जरूरत है। इसीलिये पाश्चात्य चिकित्सकगण सुकोमल साइफेन नलिका यंत्रके द्वारा आमाशय धो डालनेकी व्यवस्था करते हैं। विषकी क्रियासे आमाशयकी चहारदीवारी बहुत कमजोर हो जाती है। अतः वहां "ष्टामकपम्प" व्यवहार करना युक्तिसंगत नहीं। स्निग्धकारक पानीय, वार्लीका जल और अफीम घटित औषधोंका प्रयोग करना कर्त्तव्य है। भिन्न भिन्न विषमें भिन्न भिन्न प्रकारका द्रव्य विषचिकित्सामें व्यवहृत होता है। यद्यपि इस श्रेणीके सभी विषोंमें ही प्रायः एक समान लक्षण दिखाई देते हैं तथापि विष द्रव्यविशेषमें चिकित्साके द्रव्यादि और प्रयोग प्रकार स्वतन्त्र वर्णित हुए हैं। नीचे कई प्रधान और प्रचारित विषद्रव्योंकी चिकित्सा प्रणालीका उल्लेख किया जाता है—

(१) करोसिव सबलिमेट—इसको संस्कृत और हिन्दीमें रसकर्पूर कह सकते हैं। किन्तु रसकर्पूर विशुद्ध करोसिव सबलीमेट नहीं है। इसमें बहुत परिणाममें कालोमेल मिला रहता है। आयुर्वेदीय किसी किसी औषधमें रसकर्पूरका प्रयोग देखा जाता है। बाजारके रसकर्पूरमें कालोमेल और करोसिव सबलीमेटके परिणामकी स्थिरता नहीं है। किन्तु इसमें जब करोसिव सबलीमेटका परिणाम अधिक रहता है, तब इस पदार्थका अल्पमात्रामें व्यवहार करने पर भी भयानक विषलक्षण दिखाई देता है। पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्रमें भी करोसिव सबलीमेट विविध रोगोंमें हाइड्रार्ज पारक्लोराइड नामसे व्यवहृत होता है। इसकी मात्रा एक ग्रेनके ३२ भागसे १६ भाग तक है। किन्तु रसकर्पूर ८ ग्रेन मात्रा तक व्यवहृत होता है। रसकर्पूरमें हाइड्रार्ज पारक्लोराइडका भाग अपेक्षाकृत अनेक कम रहनेसे इतनी मात्रामें व्यवहृत हो सकता है। एक ग्रेन करोसिव सबलीमेट सेवन करनेसे मनुष्यकी मृत्यु होती देखा जाता है। इसकी प्रतिषेधक औषध डिम्ब या अण्डेका लाल-पदार्थ है। डिम्बकी लाल-जलमें घोल कर तुरन्त सेवन करानेसे विष शोधित नहीं हो सकता। प्रचुर परिमाणसे पुनः पुनः डिम्बकी लाल सेवन करा कर वमनकारक औषधों द्वारा वमन कराना उचित है।

(२) खनिज एसिड—सालफ्युरिक, नाइट्रिक, हाइड्रोक्लोरिक, आदि खनिज एसिडों द्वारा विषाक्त होने पर क्षार, कार्बनेट और चक् आदि द्रव्य सेवन करना

उचित है। इन सब प्रक्रियाओं द्वारा एसिडकी क्रिया विनष्ट होती है।

(३) अक्ज़ालिक ऐसिड—यह भयङ्कर विष है। इससे १५ या ३० मिनटमें ही आदमी मर जा सकता है। अक्ज़ालिक एसिड खनिज नहीं, उद्भिज है। साधारणतः हृत्पिण्ड पर इसकी विषक्रिया प्रकाशित होती हैं। इस विषके सेवन करते ही रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है और सहसा मूर्च्छित हो कर प्राणत्याग करता हैं। इसके द्वारा विषार्त्त होने पर सब तरहकी वमनकारक औषध सेवन करना कर्त्तव्य हैं। इसके बाद फूलखड़ीका व्यवहार करनेसे अक्ज़ालिक एसिडकी विषक्रिया नष्ट होती है।

(४) क्षारद्रव्य—पोटास, सोडा और इनके कार्बनेट और सलफाइड सेवनसे भी खनिज एसिडकी तरह विषक्रिया प्रकाशित होती है। अधिकन्तु, इन सब द्वारा देहमें विषलक्षण दिखाई देने पर उसके साथ अतिसार भी उसका एक आनुसाङ्गिक लक्षण रूपसे दिखाई देने लगता है। अम्लद्रव्य सेवनसे इस अवस्थाका प्रतिकार करना चाहिये।

(५) कार्बोनिक एसिड—यह भी एक भयङ्कर विष है। यह विष देहमें जो स्थान-स्पर्श करता है, वह स्थान देखते देखते श्वेत वर्ण धारण करता है, देहतन्तु संकुचित हो जाते है। स्नायुकेन्द्रमें विषकी क्रिया शीघ्र ही प्रकाशित होती है। इसलिये रोगी सहसा अचेतन हो जाता है। इसका विशेष लक्षण यह है, कि इस विषके सेवनके बाद पेशाब हरे रंगका हो जाता है। इसका प्रतिकार—चूनेके जलमें चीनी मिला शरबत बना कर रोगीको खूब पिलाना चाहिये। सालफेट आव सोडा जलमें घोल कर सेवन करनेसे भी विशेष फल होता है।

उग्रताजनक विष।

उग्रताजनक विष उत्पत्ति स्थानभेदसे तीन तरहके होते हैं। धातव, जङ्गम और उद्भिज। इस श्रेणीके विष सेवन या गात्रमें स्पर्श करानेसे स्पृष्टस्थानमें जलन पैदा होती है अर्थात् स्पृष्टस्थल रक्तरसादि द्वारा स्फोत (मोटा) और वेदनायुक्त हो जाता है। धातव उग्रताजनक विषमें सबसे पहले आर्सेनिकका नाम लेना चाहिये। संस्कृत भाषामें यह विष शङ्खविषके नामसे परिचित है। हिन्दीमें इसे "संखिया" कहते हैं।

संखिया विष, रसाञ्जन, सीसा, ताँबा, दस्ता और क्रोमयम आदि भी धातव विषके अन्तर्भुक्त हैं। उग्रताजनक उद्भिज विषोंमें इलेटेरियम, गाम्बोज, मुसब्बर, कलोसिन्थ और जयपालके नाम विशेष भावसे उल्लेखनीय हैं। जङ्गम या जैव उग्रविष पदार्थोंमें कान्थारिज ही प्रधानतम है।

उद्भिद् और जान्तव उग्रताजनक विष खाद्य द्रव्यसे भी उत्पन्न हो सकता है। फिर बेकटेरिया (जीवाणुविशेष) द्वारा भी देहमें विष सञ्चारित होता है। करोसिव या दैहिक उपादान-विध्वंसि विषकी अपेक्षा उग्रताजनक विष बहुत धीरे धीरे क्रिया प्रकाशित करता है। इस जातिका विष गलेके नीचे उतरने पर मुखमें और उदरमें जलन पैदा करता है। पेट हाथ छुने पर भी रोगीको विशेष क्लेशबोध होता है। वमन, विवमिषा और पिपासा उपस्थित होती है। कै-के बाद ही दस्त आने लगते हैं। इससे भी विष न निकल सकने पर प्रादाहिक ज्वर दिखाई देता है। इस ज्वरमें अचैतन्यावस्थामें रोगीको मृत्यु हो जाती है। इस श्रेणीके विषकी क्रियाके साथ कई रोगोंका यथेष्ट सादृश्य है। जैसे अमाशयका प्रदाह (Gastritis), आमाशयिक क्षत, शूल (Colic), उदर और अंतड़ियोंमें प्रदाह और हैजा होता है,

१—हम सबसे पहले संखिया विषकी बात कहते हैं। जिन सब विषोंसे मनुष्योंके आमाशय और अंतड़ियोंमें उग्रता उत्पन्न होती है, उनमें संखिया ही प्रधान है। संखिया विष नाना तरहसे तय्यार किया जाता है। जिस नामसे चाहे जिस प्रणालीसे वह तय्यार क्यों न हो, उसकी अल्प मात्रा भी मनुष्योंके लिये निदारुण हो उठती है। इसकी एक ग्रेनकी मात्रामें मनुष्योंकी मृत्यु हो सकती है। देह बहुत दुर्बल हो जाती है। मूर्च्छाकी तरह मालूम होने लगती है। इसके बाद जलन पैदा होती है। वमन आरम्भ होता है, जो कुछ मुखसे खिलाया जाता है, वह भी वमनके साथ बाहर निकल आता है, पेटमें ठहरने नहीं पाता। इस वमनसे भी

आमाशयको पीड़ा या भारित्व बोध तिरोहित नहीं होता। दस्त होता है और उसके साथ खून निकलता है। पसीना निकलता है तथा प्यास लगती है। नाड़ीकी गतिमें कमजोरी तथा अनियमित भाव दिखाई देता है। अट्ठारहसे बहत्तर घण्टे तकमें रोगीकी मृत्यु हो सकती है। संखिया विषकी क्रिया तथा हैजेकी क्रिया प्रायः एक समान है। संखियाकी विषक्रियाके लक्षणोंमें उल्लिखित लक्षण ही विशेष हो प्रयोजनीय हैं।

संखिया विषके धूएं और सूंघनेसे भी विषक्रिया उत्पन्न हो सकती है। फलतः नेत्र और अंतड़ियोंकी जलन और उससे होनेवाली उदरामय आदि पीड़ायें दिखाई देती हैं। संखिया विषका सेवन करनेसे अभ्यासित लोग भी देखे जाते है। वे अधिक मात्रामें भी संखिया विष पान कर अवलीला क्रमसे उसे पचा डालते हैं। उग्रताजनक विषोंमें संखिया विषकी क्रिया भयानक है।

२। सीसा—जीवदेहमें सीसाका विष बहुत धीरे धीरे काम करता है। इसके फलसे लकवा या पक्षाघात और शूल रोग उत्पन्न होते हैं। चित्रकर और प्लाम्बर आदिको सीसेके विषसे पीड़ित देखा जाता है। सीस-शूल एक बहुत कष्टदायक व्याधि है। इससे नाभिकी बगलमें प्रबल वेदना होती है। दुर्निवार्य कोष्ठबद्धरोगमें रोगी यातना पाता है। माड़ीके किनारे काले काले दाग दिखाई देते हैं। रेचक औषध, अफीम और आइडाइड आव पोटासियम आदि द्वारा सीसा विषका प्रतिकार किया जाता है।

सीसा विषका और एक लक्षण यह है, कि इससे हाथ कांपता है और हाथ अवश हो जाता है तथा बाहु सूख जाती है। तड़ित्यंत्रके संयोगसे इसका प्रतिकार किया जाता है। पोटासियम आइडाइड् सेवन कराना आवश्यक है। इन सब प्रक्रियाओंके प्रतिकार न होनेसे दैहिक यन्त्रादि धीरे धीरे विकृत हो कर रोगीका जीवन नष्ट होता है।

३ तांबा—तांबा भी एक भयानक विष है। तांबेसे ही तूतियाकी उत्पत्ति होती है। तूतियाके पेटमें पहुंचने पर वमनका दौरात्म्य आरम्भ होता है। एक तोला तूतियासे भी विषकी क्रिया होती है। बच्चोंके लिये तो इसकी थोड़ी मात्रा भी अहितकर है। वमन ही तूतियाका प्रधान लक्षण है। वमनसे निकला हुआ पदार्थ तूतिया रङ्गका होता है। शिरका दर्द, पेटमें व्यथा, उदरामय आदि तूतिया विषके लक्षण हैं। तूतियासे शूलकी तरह व्यथा भी होती है। तूतिया विषसे धनुष्टंकारका लक्षण दिखाई देता है। चिकित्सक वमन करानेके उद्देश्यसे ३।४ ग्रेन तूतियाका व्यवहार करते हैं। वमनके साथ तूतिया विष भी शरीरसे बहार निकल आता है। यदि कुछ रह जाये, तो ष्टमाकपम्प द्वारा आमाशय साफ कर स्निग्ध द्रव्य खानेको देना चाहिये।

४।—जिङ्क और बेरियम आदि भी उग्रविषकी तरह क्रिया प्रकाश करते हैं। इसके द्वारा वमन और उदरामय आदि विष लक्षण प्रकाशित होते हैं।

५।—बाइक्रोमेट आव पटास—भयानक विष है। यह साधारणतः व्यवहृत नहीं होता और सब जगह यह मिलता भी नहीं। इस विषसे भी अन्त्रप्रदाहजनित उदरामय और आमाशय प्रदाहजनित वमनका उपद्रव होता रहता है।

६।—फसफरस भी विषश्रेणीके अन्तर्भुक्त हैं। इसकी यथेष्ट दाहकता शक्ति है। हड्डीके बाहर या ऊपर ही इसकी विषक्रिया प्रकाशित होती है। इसके उदरस्थ होनेसे आमाशयमें और अंतड़ीमें जलन पैदा होती है। साथ ही वेदना भी अनुभूत होने लगती है। वमन और दस्तके लक्षण दिखाई देने लगते हैं। फसफरस द्वारा ये सब दुर्लक्षणोंके घटनेकी परीक्षा अन्धकार गृहमें वमन किये हुए पदार्थोंके देखनेसे होती है। वमनके साथ जो फसफरस बाहर निकलता है, अन्धकारमें वह उज्ज्वल दिखाई देता है।

फसफरसके विषमें यकृत् खराब हो जाता है। इससे कामलारोग उत्पन्न होता है। तारपीनका तेल इसके प्रतिकारके लिये उत्तम कहा गया है। ३० बूंद भी तेल व्यवहार किया जा सकता है। शिशु या छोटे छोटे बच्चे ही दियासलाईकी काठीकी नोक पर लगे फसफरसको उदरस्थ कर लेते हैं।

७।—जयपालका तेल और इलेटेरियम आदि द्वारा भी हैजेकी तरह लक्षण दिखाई देता है।

८।—जान्तव विषोंमें केन्थेरिज विशेष कष्टदायक है। इससे वमन होता है, पेशाब करनेमें जलन होती और क्लेश अनुभव होता है। कभी कभी तो पेशाब होता ही नहीं। केन्थरिज उदरस्थ होनेसे स्वतः ही वमन होता है। स्निग्ध पानीयपान इस अवस्थामें उपादेय है। अफीम इसके प्रतिकारके लिये एक महौषध है। अधोदेशमें अफीमका सार (मर्फिया) पिचकारीकी सहायतासे प्रविष्ट करा कर मूत्रनालीका उपद्रव शान्त हो जाता है।

स्नायुविकारी विष।

इस श्रेणीके विष स्नायु विकार हैं। जिन सब विषको इसी श्रेणीमें भुक्त किया गया है, उन सब विषोंकी क्रियायें आपसमें इतनी पार्थक्य हैं, कि उनके बहुल उपविभागमें विभक्त कर भिन्न भिन्न नामसे अभिहित किये जा सकते हैं। यहां इन सब विषोंका श्रेणीविभाग न कर उनमें कई प्रधान द्रव्योंका नामोल्लेख और विष-लक्षण आदि विवृत किये जाते हैं।

१।—प्रासिक या हाइड्रोसियानिक एसिड—हाइड्रोसियानिक एसिड बहुत भयङ्कर विष है। बिजली जैसे शीघ्र ही प्राण ले लेती है, यह विष भी ठीक वैसा ही है। औषधकी दूकानों पर जो हाइड्रोसियानिक खरीदनेसे मिलता है, वह विमिश्रित अवस्थामें रहता है और उसमें साधारणतः सैकड़े २ भाग शुद्ध हाइड्रोसियानिक एसिड है। इसी परिमाणसे हाइड्रोसियानिक एसिड ही औषध के लिये व्यवहृत होता है। इसकी मात्रा पांच मिनिमसे अधिक नहीं। एक ड्रामसे कम मात्रा सेवनसे भी मृत्यु हो सकती है। एक सेकेण्ड समयमें समग्र देहमें इसकी विषक्रिया प्रकाशित होती है। मुहूर्त्तमात्र श्वासकष्ट अनुभूत होनेके बाद ही हृतपिण्डकी क्रियाका ह्रास हो जाता है। नेत्रोंकी मणि प्रसारित देहके अंग प्रत्यंग भयानक रूपसे आक्षिप्त और श्वासकी गति अनियमितरूपसे प्रवाहित होती है, वदनमण्डल नीलाभ रङ्ग धारण करता है। मांसपेशियोंके असाड़ होनेसे विष पीड़ित व्यक्ति और मुहूर्त्त भर भी अपने वशमें नहीं रह सकता। इसके बाद प्रवल श्वासकष्ट, नाड़ी लोप और देहकी सब तरहकी क्रियायें रुक जाती हैं। इस अवस्थामें शीघ्र ही मृत्यु होती है। हाइड्रोसियानिक एसिडकी बू मृत व्यक्तिके मुंह तथा देहसे निकलती है।

प्रतिकारकी व्यवस्था—उग्र एमोनिया सूंघना और पर्य्यायक्रमसे शीतल तथा कुछ गर्म जल पीनेको देना, अङ्ग प्रत्यङ्गों पर हाथ फेर रक्तका सञ्चालन करना तथा कृत्रिम श्वास-प्रश्वासके परिचालन करना ही इसका प्रतिकार है। चर्मके नीचे एट्रोपीनकी पिचकारीसे भी हृत्पिण्डकी क्रियाको उत्तेजित किया जा सकता है तथा उससे उपकार भी होता है।

२—अफीम—अफीम इस देशमें आत्महत्याका एक साधन है। औषधोंमें भी अफीम मिलाई जाती है। उसमें मर्फिया ही प्रधान है। मर्फिया अफीमका सार है। अफीमसे ही एपोमरफाइन, कोडिन, एपोकाडिन, नारसिन, नारकोटिन आदि विविध प्रकार विषजनक सार प्राप्त होता है। इससे ही एमप्लाष्ट्राम अपियाई, एकष्ट्रक्ट अपियाई, एकष्ट्रक्ट अपियाई लिकुइड्रम, अपियाई आदि प्रस्तुत होते हैं। सिवा इनके डोवर्स पाउडर आदि और भी बहुविध औषधके साथ संमिश्रित अफीमजात औषध चिकित्सामें व्यवहृत होती हैं।

मर्फियासे भी कई तरहकी औषध तय्यार होती हैं। उनमें विलियम मर्फिया, मर्फिनो एसिटास, लाइकर मर्फिया एसिटेटिस, मर्फिनो हाइड्रोक्रोमाइडम्, मर्फिया हाइड्रोक्लोराइड, लाइकार मर्फिया हाइड्रोक्लोराइड, लिंटास मरफिनी, ट्रेचिसाई मर्फिनो, मर्फिनो मिकोनस, लाइकर मर्फिनो, वाइमेकोनेटिस मर्फिनी सालफास, लाइकर मर्फिनो सालफेटिस, मर्फिया टारट्रास, लाइकर मर्फिया टारट्रास आदिके नाम उल्लेखयोग्य हैं। सिवा इनके इस समय मर्फियासे डाइओनिन, हिरोइन और पेराइन आदि और भी कई औषध तय्यार हो कर व्यवहृत हो रही हैं।

अफीम पूर्ण वयस्कके लिये भी दो ग्रेनसे अधिक मात्रामें व्यवहार करनेकी विधि नहीं। मर्फियाकी मात्रा भी साधारणतः एकतृतीयांश ग्रेन है। हिरोइन आदि और भी कम मात्रामें व्यवहृत होते हैं।

अभ्यासके फलसे अफीम और मर्फिया कुछ लोग

खूब अधिक मात्रामें व्यवहृत किया करते हैं। बालकोंके लिये अफीम भयानक विष है। बहुत कम मात्रासे भी वे अचेत हो जाते हैं। छोटे छोटे बच्चोंके लिये यह बिलकुल अव्यवहार्य्य है। अफीमके विषसे पहले मस्तिष्कमें रक्तसंञ्चय होता है, मुखमण्डल नीलाभ हो जाता है, रक्त सञ्चालनमें बाधा उपस्थित होनेके कारण ही मुख नीलाभ होता है। आंखकी पुतली संकुचित हो जाती है। देहका चमड़ा सूख जाता और नरम हो जाता है। श्वास मन्द पड़ जाता तथा भाराक्रान्त हो जाता है। चैतन्यता विलुप्त होने लगती है। इस अवस्थामें शिर पकड़ कर हिलाने तथा कानमें उच्च शब्द करनेसे चेतना आती है। इस अवस्थामें भी यदि विषकी क्रिया विनष्ट न हो, तो घोरतर तन्द्रा उपस्थित होती है। उस समय किसी तरह चेतनता लाई नहीं जा सकती। पसीना निकलता रहता है। श्वास-गतिमें वैषम्य उपस्थित होता, नाड़ीकी द्रुतगति हो जाती है, अन्तमें बिलकुल ही विलुप्त हो जाती है। इसी तरह क्रमसे मृत्यु हो जाता है।

प्रतिकारकी व्यवस्था—इसकी पहली चिकित्सा वमन कराना है। "ष्टमाकपम्प" द्वारा यह कार्य्य सुचारुरूपसे सम्पादित होता है। विषपीड़ित रोगीको टहलाते रहना चाहिये, जिससे वह सोने न पाये। छाती पर पर्य्यायक्रमसे गरम और शीतल जलका 'डूस' प्रयोग करना चाहिये। कानके निकट सदा उच्च शब्द करते रहना चाहिये। इससे स्नायुमण्डली उत्तेजित होती है। भिंगे गमछेसे हाथ और पैरमें आघात करना चाहिये। ताड़ित प्रवाह प्रयोगसे भी उपकार होता है। देहमें हाथका सञ्चालन कर रक्त सञ्चालनका संरक्षण करना उचित है। एमोनिया और अलकोहल पानीयरूपसे व्यवहार करना चाहिये। काफीका जल भी उपकारक है। श्वास गतिमें वैषम्य उपस्थित होने पर कृत्रिम श्वास प्रश्वास चलानेका उपाय करना चाहिये। एट्रोपिया पूर्ण मात्रासे त्वक्के नीचे प्रक्षेप करनेसे बहुत उपकार होता है। ष्ट्रीकनिया भी अफीम विषका प्रतिषेधक है।

३। ष्ट्रीकनाइन—यह उद्भिज विष है। विविध उद्भिदोंसे ष्ट्रीक नियन विषकी उत्पत्ति होती है। कुचिलामें यथेष्ट परिमाणसे ष्ट्रीकनिया है। धनुष्टङ्कारमें जो लक्षण दिखाई देते हैं, ष्ट्रीकनिया विषके भी वही सब लक्षण हैं। इससे उङ्गली, गुल्फ, उदर, हृदय, वक्ष और गला आकृष्ट होनेसे रोगीकी दृष्टि स्तम्भित हो जाती है, हनुरोध भी होता है, गलेका पिछला भाग कठिन हो जाता है, रोगी धनुषकी तरह टेढ़ा हो कर आक्षिप्त हो जाता है। कुछ देर तक विराम के बाद फिर यह लक्षण दिखाई देता है। जरा सञ्चालनसे या दूसरेके स्पर्शसे तुरन्त उक्त लक्षण दिखाई देता है। अन्तमें स्नायुमण्डली अवसन्न हो कर यन्त्रादि क्रिया विलुप्त होती है। इसके बाद रोगीकी शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।

प्रतिकार—हाइड्रेट आव क्लोराल और क्लोरोफार्मके प्रयोग द्वारा इस विषकी चिकित्सा करनी चाहिये।

४। एकोनाइट—यह भी उद्भिद् विष है। एकोनाइट बहुत भयङ्कर विष है। इसके एक ग्रेनके १६ भागके एक भागसे मृत्यु हो सकती है। इससे शरीरमें जलन, झिम झिमानी (झिञ्झनी), भयानक वमन, स्नायुमण्डलीकी गति और ज्ञानक्रियाका निरुद्ध होता है। हृदपिण्ड अवसन्न हो जाता, मूर्च्छावस्थामें रोगीकी मृत्यु हो जाती है। किन्तु कभी भी ज्ञानका वैषम्य नहीं होता है।

प्रतिकार—डिजिटेलिस एकोनाइटकी विषक्रियाका विनाशक है। सुतरां डिजिटेलिन नामक वीर्य्य चर्मके नीचे प्रक्षेप कर (Injection) इसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

५। बेलेडोना—धतूरा जातिका एक उद्भिज विष है। इससे आंखोंकी पुतलियां फैल जातीं, नाड़ीकी गति तेज हो जाती, चमड़ा उत्तेजित और गर्म हो जाता, किसी चीजके गलेसे घोटने पर महाक्लेश होता, अत्यधिक पिपासा और प्रलाप उपस्थित होता है। इसके वीर्य्यका नाम—एट्रोपिन है।

प्रतिकार—ष्टमाक पम्प द्वारा विष बाहर करना चाहिये। मर्फिया इसका प्रतिषेधक है। अधस्त्वकमें

मर्फियाका प्रक्षेप (Hypodermic injection) द्वारा इसमें विशेष उपकार होता है।

वायवीय विष।

१। क्लोरिन और ब्रोमिन—यह दोनों वायवीय विष भयानक उग्रताजनक है। निःश्वासके साथ ये दोनों कण्ठके नीचे पहुंचने पर कण्ठनालीमें भयानक आक्षेप उपस्थित होता है। श्वासयन्त्रकी श्लैष्मिक झिल्लीमें प्रदाह उत्पन्न होता है। इससे शीघ्र ही मृत्यु होती है।

प्रतिकार—एमोनियाका वाष्प सूंघना बड़ा उपकारक है।

२। हाइड्रोक्लोरिक एसिड-गैस—हाइड्रोक्लोरिक और हाइड्रोक्लोरिक एसिड इन दोनों पदार्थोंके गैस हो उग्रताजनक और सांघातिक हैं। शिल्पादिके कारखानोंमें कभी कभी इस विषसे विषाक्त हो कर कितने ही लोग मर जाते हैं। इसकी प्रतिक्रिया भी पूर्ववत् है।

३। सलफरस एसिड गैस—गन्धक जलानेसे यह गैस उत्पन्न होता है। यह उग्रताजनक और श्वासरोधक है। इससे भी कण्ठनाली आक्षिप्त होती है। एमोनियाका वाष्प सूंघनेसे इसका प्रतिकार होता है।

४। नाइट्रोस भेपार (Vapour)—गेलभेनिक बेटरीसे यह गैस उत्पन्न होता है। यह वाष्प फुस्फुसमें प्रविष्ट होने पर उसमें प्रदाह उत्पन्न होता है और शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है!

५। कार्बनिक एसिड गैस—यह वायुकी अपेक्षा बहुत भारी है और वायुके साथ फुस्फुसमें प्रविष्ट होने पर प्राणसंघातक होता है। लकड़ी आदिके जलाते समय भी यह विष पदार्थ उत्पन्न होता है। यह भीषण विषवायु शरीरमें स्पर्श होते ही मनुष्य मृत्युमुखमें पतित होता है। पुराने कूप या बन्द मोरियोंमें यह विष सञ्चित रहता है। ऐसे स्थलमें घुसा हुआ व्यक्ति तुरन्त मर जाता है। घरमें किरासन तेल जला घरका दरवाजा बन्द कर देनेसे जो आदमी उस घरमें रहते हैं, उनकी देहमें उसका धूंआ घुस जाता है, इससे उनकी शीघ्र ही मृत्यु होती है। बहुधा देखनेमें आता है, कि बहुतेरे व्यक्ति किरासन तेल जला कर उस कमरेका दरवाजा बन्द कर लेते हैं और इस विषके शिकार होते हैं। कुछ लोगोंका कहना है, कि लालटेनमें किरासन तेल जलानेसे ऐसा नहीं होता; किन्तु यह उनकी भूल है। चाहे किसी तरह ही किरासन तेल जलाया जाय, उसका धूआं निकलेगा ही। इस पर यदि उसके बाहर निकलनेका पथ रुद्ध कर दिया जाये, तो यह अवश्य है, कि उससे शरीरकी भीषण क्षति होती तथा कभी कभी तो उससे मृत्यु तक हो जाती है। इसका धूआं श्वासके साथ साथ शरीरके भीतर पहुंच कई तरहका रोग उत्पन्न करता है। यदि दरवाजा बन्द भी न किया जाये, तो भी इसका धूआं नासिका या मुंहमें श्वासके साथ प्रवेश कर जाता है।

प्रतिकार—वक्षमें पर्य्यायक्रमसे शीतल और गरम जलका प्रयोग है। दैहिक रक्त सञ्चालनके लिये हाथसे देह मलना और कृत्रिम श्वासका उपयोग साधन करना प्रधान कर्त्तव्य है।

६। कार्बोनिक अक्साइड गैस—इसमें विशुद्ध कार्बोनिक एसिड रहनेसे ही इससे विषलक्षण उपस्थित होता रहता है। कार्बोनिक अक्साइड रक्तके हिमग्लोबिनके साथ दृढ़ रूपसे विमिश्रित होता रहता है। इससे मरे आदमीके रक्तका रङ्ग अधिकतर समुज्ज्वल दिखाई देता है। इसकी प्रतिक्रिया पूर्ववत् है। कार्बोनमनक्साइड मिश्रित वायुके आघ्राणसे तुरन्त ही मृत्यु हो जाती है।

७। कोयलेका गैस—इसके द्वारा श्वासरोध और ज्ञान विलुप्त होता है। इसकी चिकित्सा कार्बोनिक एसिडके विषकी चिकित्साकी तरह है।

८। सलफरेटेड हाइड्रोजन गैस—यह भयङ्कर वायवीय विष है। यह विषवायु घनीभूतमात्रामें देहमें प्रविष्ट होने पर तुरन्त मृत्यु होती है, श्वासरोध इसका प्रधान लक्षण है। वायुके साथ विमिश्रित हो देहमें प्रविष्ट होने पर भी इसके द्वारा शूल, विवमिषा, वमन और तन्द्रा उपस्थित होती है। श्वासमन्दता और पसीना निकलना आदि दुर्लक्षण क्रमशः दिखाई देते हैं। रक्तकी लाल कणिका विश्लिष्ट हो जाती है। ऐसी अवस्थामें हाथसे देह मलने, उष्णताका प्रयोग और उत्तेजक औषधादि व्यवहार्य है। कुछ लोग समझते हैं, कि क्लोरिन गैस जब रासा-

यनिक हिसावसे सलफारेटेड हाइड्रोजन गैसका प्रतिद्वन्द्वी है, तब इस क्लोरिन गैसके आघ्राणसे उसकी विषक्रिया नष्ट की जा सकती है। किन्तु क्लोरिन गैस प्रयोगके समय यह भी मनमें रखना चाहिये, कि क्लोरिन गैस अपने भी भयानक विष है। सुतरां किसी तरह उसकी अधिक मात्रामें तथा असावधानीके साथ इसका व्यवहार न होने पावे।

९। नाइट्स अक्साइड और क्लोरोफार्म बहुल द्रव्य स्पर्श और चैतन्यापहारक हैं तथा उसी उद्देशसे इनका व्यवहार भी होता है। श्वासरोध संगठन करना ही इन सब विषोंका कार्य है।

प्रतिकार—कृत्रिम श्वास-प्रश्वास और ताड़ितप्रवाह द्वारा इस अवस्थाका प्रतिकार होता है।

१०। हाइड्रोकार्ब्रोनोंका वाष्प—वेनजोलिन, पिट्रालियम आदिसे जो वायवीय पदार्थ निकलता है, उसके द्वारा भी विषक्रिया संगठित होती है। इन सब वायवीय विषोंसे श्वास रुद्ध हो कर मृत्यु हो जाती है।

प्रतिकार—कृत्रिम श्वास-प्रणाली अवलम्बन और ताड़ितप्रवाहसे इस अवस्थाका प्रतिकार होता है।

देहिक विष।

जीवदेहके अभ्यन्तर ही बहुल विषपदार्थ विद्यमान है। सुनिपुणा देह-प्रकृति अपने सुन्दर विधानके लिये प्रतिनियतके सब विष देहसे अपसारित कर जीवोंका मृत्युमुखसे रक्षा करती है।

कार्बोनिक एसिड।

इन सब विषोंमें हम कार्बोनिक एसिडकी बात इससे पहले ही कह चुके हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि देहस्थ कार्बोनिक एसिड बहुत संघातक पदार्थ हैं। फुस्फुस और कर्मपथसे कार्बोनिक एसिड अधिक परिमाणसे बाहर निकलता है, इससे हमारा स्वास्थ्य और जीवन अव्याहत रहता है। किसी कारणसे कार्बोनिक एसिडका निकलना बन्द हो जाये, तो तुरन्त देह-राज्यमें भीषण विशृङ्खला उपस्थित हो जाती है और सहसा मृत्युका लक्षण दिखाई देता है।

युरिया।

दूसरा विष-पदार्थ युरिया है। वृक्क नामक मूत्रकारक यन्त्रद्वय अविरत देहसे मूत्रपथसे यह विष शरीरसे अपसारित किये देते हैं। यदि किसी कारणवश दैहिक रक्तके साथ यह पदार्था अधिक परिमाणसे विमिश्रित हो जाता हैं, तो रोगी अचेतन और घोरतर तन्द्रामें अभिभूत हो जाता है और उसमें प्रायः ही मृत्यु हो जाती है।

पित्त।

दूसरा विष पित्त है। देहके रक्तके साथ पित्त विमिश्रित होनेसे कामला आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। स्नायवीय यन्त्र विकृत हो जाते हैं। मानसिक शक्ति विनष्ट हो जाती है। रोगी अज्ञानावस्थामें मृदु मृदु प्रलाप करते करते बिलकुल अचेत हो जाता है।

इस तरह विविध रोगोत्पादक दैहिक उत्पादन द्वारा भी कई तरहसे देह विषाक्त हो जाती है। प्राच्य और प्रतीच्य चिकित्सकोंका सिद्धान्त है, कि दैहिक पदार्थोंमें ही बहुविध रोगोंका कारण निहित है और तो क्या—दैहिक शर्करा आदि अतिरिक्त मात्रामें रक्तमें विमिश्रित होने पर भी देहका स्वास्थ्य विनष्ट कर सांघातिक रोगकी सृष्टि करते हैं।

विषाणु।

इस समय वैकटेरिओलजी नामके जीवाणु और उद्भिदाणुतत्त्वका जो अभिनव वैज्ञानिक आन्दोलन चल रहा है, उसमें कई जीवाणु और उद्भिदाणु मानवदेहके लिये भयानक विष प्रमाणित हुए हैं। उक्त वैज्ञानिकोंकी गवेषणासे स्थिर हुआ है, कि हैजा, प्लेग, टाइफायेड फीवर (तपेदिक ज्वर), धनुष्टङ्कार, चेचक आदि संघातक रोग इन सब जीवाणु और उद्भिदाणु विषके ही क्रियामात्र हैं।

ये सब रोगवीजाणु आहार्य्या, पानीय या वायुके साथ देहके भीतर प्रवेश करने अथवा देहसंस्पृष्ट होने पर इन सब रोगोंके लक्षण प्रकाशित होते हैं और ये क्रमसे ही भीषणतर हो रोगीका जीवन नाश करते हैं। इस समय अधिकांश व्याधियां ही रोगवीजाणुके देहप्रवेश विषमय फल अवधारित हुई हैं।

इन सब संघातक विषोंके कार्य्यध्वंसके लिये आधुनिक वैज्ञानिक प्रक्रियासे एएटो टक्सिन सिराम

नामके कई तरहके विषघ्न द्रव्य तय्यार हो रहे हैं। ये सब "सिरम" पदार्थ ही इस समय उक्त संघातक रोगोंकी वैज्ञानिक विषघ्न औषध स्थिर हुई है।

भारतमें उत्पन्न होनेवाले उद्भिज विषकी फिहरिश्त।

१।—काष्ठविष—यह पाश्चात्य उद्भिद् विज्ञानमें एकोनाइट नामसे प्रसिद्ध है। इस देशमें कई तरहके काष्ठविष दिखाई देते हैं। पाश्चात्य उद्भिद् विज्ञानविद् पण्डितोंने इस देशमें एकोनाइटम् फेरक्स, एकोनाइटम नेपीलस, एकोनाइटम पामेटम, एकोनाइटम हिटारोफाइलाम आदि बहुतेरे वृक्षोंमें काष्ठविष या एकोनाइटका प्रभाव देख पाया है। इस विषका विवरण इससे पहले लिखा गया है।

२। दादमारी या बनमिर्चा—इस वृक्षके पत्ते दाहक-विष हैं। इसके पत्तेसे फोड़ा पड़ जाता है।

३। काकमारी—काकमारी अल्पमात्रामें विषलक्षण प्रकाश न करने पर भी इसकी अधिक मात्राके सेवनसे इससे विषके लक्षण प्रकट होते हैं। इसके बीजमें विष रहता है। इसके बीजमें जो विष रहता है, उसका नाम पाइक्रो-टेक्सिन है।

४। कुकंनी—यह उद्भिद् विष पञ्जाब प्रान्तमें उत्पन्न होता है। यह पशुके मारनेमें काम आता है। ग्रामीण चमार इसी विषको खिला कर गाय आदि पशुओंको मार डालते हैं।

५। किरानु—पञ्जाब-प्रदेशमें यह उद्भिद् विष दिखाई देता है। इसका मूल ही विषमय है।

६। जेबरुज, हिन्दीमें इसे लक्षणा कहते हैं—इसमें धतूरेका बीज है, इसीलिये इसमें विषक्रिया प्रकाशित होती है।

७। कुलबुद या बन-खै—यह उद्भिद् शिमला शैल पर, बङ्गालमें और दाक्षिणात्यमें पैदा होता है।

८। दन्ती—दन्तीका बीज उग्रताजनक है। यह सेवन करनेसे जयपालके बीजकी तरह वमन होता है। इसका दूसरा नाम तामालगोटो या जमालगोटा है। इसका तेल वातरोगमें व्यवहृत होता है।

९। चिकरा—यह एक तरहका विष क्रियाजनक उद्भिद् है। हिमालय प्रदेशमें यह उद्भिद् पैदा होता है।

१०। अलर्क—यह भयानक विष है। इससे दुग्धकी तरह जो पदार्थ निकलता है, उससे भ्रूणहत्या की जाती है। इसका एक ड्राम खिलानेसे १५ मिनटमें एक कुत्ता मर सकता।

११। गाँजा—इससे उन्मत्तता उत्पन्न होती है। गाँजेके बीजका नाम केनाबिन है। इससे मूर्च्छा और मृत्यु होती है।

१२। ढाकुर—इससे वमन और भेद होता है और इसकी अधिकता होनेसे मृत्यु तक हो जाती है।

१३। माकेला—यह उद्भिद मणिपुर, ब्रह्म और भूटानमें उत्पन्न होता है। यह देहमें प्रविष्ट होने पर धनुष्टंकारके विष लक्षण दिखाई देते हैं।

१४। जयपाल—जयपाल भयङ्कर भेदवमनकारक है। इसका वर्णन पहले व्यक्त किया जा चुका है।

१५। धतूरा—धतूरेके विषसे मोह और उन्मत्तता उत्पन्न होती है। पश्चिम और उत्तर-भारतमें इस विषकी प्रयोग विधि दिखाई देती है। यह दो तरहका है—Datura Fastuosa और Datura Siramonium आयुर्वेदमें भी इसके दो भेद देखे जाते हैं,—जैसे सादा सादा धतूरा और काला धतूरा।

१६। वनगाव—बङ्गालके जङ्गलोंमें भी यह उद्भिद प्रचुर परिमाणसे उत्पन्न होता है। इसका फल विषमय है।

१७। वासिङ्ग—यह कुमायू जिलेमें अधिक पैदा होता है। इसका संस्कृत नाम मालूम नहीं। पाश्चात्य उद्भिद्विज्ञानमें इसका नाम Exatcaria Agallocha है। यह भयानक विष है। कुमायूमें कुष्ठ रोगियोंकी चिकित्साके लिये व्यवहृत होता है।

१८। जवाशो—यह उद्भिद् भूटानमें होता है। इसका वल्कल अतीव विषमय है। इसका संस्कृत नाम मालूम नहीं।

१९। कालीकारी—इसका दूसरा संस्कृत नाम गर्भघातिनी है। भारतवर्षके जङ्गलोंमें यह उद्भिद दिखाई देता है। इसका भारतीय कोई नाम मालूम नहीं। इसके द्वारा जयपालकी तरह दस्त और कै होती है।

२०। हुरा—भारतवर्षके जङ्गलोंमें यह उद्भिद देखा जाता है। इसका भारतीय नाम सुना नहीं जाता। इससे जयपालकी तरह दस्त और कै होती है।

२१। पारासिक्य—इसकी विषक्रिया स्नायवीय यन्त्र पर प्रतिफलित हो मोह आदि उत्पन्न करती है।

२२। पारावत जायन्धया रतन जोत—इसके बीजसे हैजेकी तरह दस्त और कै होती है।

हिन्दू शास्त्रमें (ऐतरेयब्राह्मणमें) विषकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें लिखा है, कि भगवन्नारायणने कूर्म्मावतारमें पीठ पर मन्दरपर्वत धारण कर धरतीका मङ्गल साधन किया था। देवों और असुरोंने दो दलोंमें विभक्त हो उक्त पर्वतको मन्थनदण्ड और वासुकी (नाग)-को रस्सी बना कर समुद्रका मन्थन किया था। इसके फलसे सर्वशेषमें विष उत्पन्न हुआ। त्रिताप हर महादेव उस गरलको पान कर ही नीलकण्ठ हुए हैं।

समुद्रमन्थन और हलाहल शब्द देखो।

ऋग्वेदीय युगमें आर्य्य ऋषिगण सर्पविष और अन्यान्य विषोंको जानते थे और उन्हें इनका व्यवहार भी मालूम था। उक्त संहिताके ७।५० सूक्तके पढ़नेसे मालूम होता है, कि वसिष्ठ ऋषि मित्रावरुण, अग्नि, और वैश्वानरकी स्तुति करते समय कहते हैं—"कुलायकारी और सर्वदा वर्द्धमान, विष हमारे सामने न आये। अजका नामक रोगविशिष्ट दुर्द्दर्शन विष विनष्ट हो। छद्मगामी सर्प शब्द द्वारा हमको न जान सके। जो वन्दन नामक विष नाना जन्ममें वृक्षादिके ऊपर उद्भूत होता है, वह विष घुटना और गुल्फ स्फीत करता है। दीप्तिमान अग्निदेव वह विष दूरीभूत करें।

(ऋक् ७।५०।१-३)

१।११७।१६,१०।८७।१८ और २३ मन्त्रको पढ़नेसे मालूम होता है, कि ये सब विष दाहकारक और प्राणनाशक होता है।

अथर्ववेदके ४।६।२ मन्त्रोंमें कन्दमूलादि विषकी प्रखरताका उल्लेख है। ५।१६।१० और ६।६०।२ मन्त्रोंके पढ़नेसे मालूम होता है, कि यह मनुष्योंके लिये विशेष अपकारक है। शतपथब्रा० २।४।३।२, ६।१।१।१०; पञ्चविंशब्राह्मण ६।६।६ और तैत्तिरीय ब्राह्मण २।१।१ आदि स्थानोंमें विषकी नामकत्व शक्तिका उल्लेख है। भगवान् मनुने लिखा है, कि स्थावर जङ्गम नामक कृत्रिम या अकृत्रिम गरादि विष कभी भी जलमें न फेंकना चाहिये। (मनु ४।५६) विष बेचनेका मनाही है। जो विष बेचता है, वह पतित और निरयगामी होता है। (मनु १०।८८)

विषकङ्कालिका (सं० स्त्री०) वृक्षविशेष, विषकंकोल।

विषकङ्कोलिका (सं० स्त्री०) विषकंकोल।

विषकण्ट (सं० पु०) इङ्गुदी वृक्ष। (राजनी०)

विषकण्टक (सं० पु०) दुरालभा, जावा, धमासा।

विषकण्टका (सं० स्त्री०) बन्ध्याकर्कोटकी, बांझ ककड़ी। पर्याय—बन्ध्याकर्कोटकी, देवी, कन्या, योगेश्वरी, नागारि, नागदमनी। गुण—लघु, व्रणशोधक, तीक्ष्ण तथा कफ, सर्पदर्प, विसर्प और विषनाशक। (भावप्रकाश)

विषकण्टालिका (सं० स्त्री०) एक प्रसिद्ध वृक्ष।

विषकण्ठ (सं० पु०) नीलकण्ठ, शिव।

विषकण्ठिका (सं० स्त्री०) बकपक्षी, बगला।

विषकन्द (सं० पु०) १ महिषकंद, भैंसा कन्द। २ नीलकण्ठ। ३ इंगुदीवृक्ष, हिंगोट।

विषकन्या (सं० स्त्री०) वह कन्या या स्त्री जिसके शरीरमें इस आशयसे कुछ विष प्रविष्ट कर दिये गये हों, कि जो उसके साथ संभोग करे, वह मर जाय।

प्राचीन कालमें राजाओंके यहां बचपनसे ही कुछ कन्यायोंके शरीरमें अनेक प्रकारसे विष प्रविष्ट करा दिया जाते थे। इस विषके कारण उनके शरीरमें ऐसा प्रभाव आ जाता था कि जो उसके साथ विषय करता था, वह मर जाता था। जब राजाको अपने किसी शत्रुको गुप्त रूपसे मारना अभीष्ट होता था, तब वह इस प्रकारकी विषकन्या उसके पास भेज देता था। जिसके साथ संभोग करके वह शत्रु मर जाता था।

मुद्राराक्षस (४२।१६) और कथासरित्सागर (१६।८१)-में विषपान द्वारा तैयारकी गई सुन्दरी ललनाका उल्लेख मिलता है। वह कन्या प्रति दिन थोड़ा विष खिला कर पाली गई थी। जो व्यक्ति उस कन्याके साथ संभोग करता उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी थी। मन्त्री

राक्षसने जो विषकन्या प्रस्तुत की, चाणक्यने उससे पर्वतका संहार किया था।

विषकृत (सं० त्रि०) १ विष संयोगसे प्रस्तुत। २ विषमिश्रित। ३ विषसंसृष्ट।

विषकृमि (सं० पु०) विषजात कृमि, वह कीड़ा जो काठके बीचमें उत्पन्न होता है।

विषक्त (सं० स्त्री०) वि-सनज्-क्त। आसक्त, संलग्न।

विषगन्धक (सं० पु०) ह्रस्व सुगन्ध तृणविशेष, एक प्रकारकी घास जिसमें भीनी भीनी गंध होती है।

विषगन्धा (सं० स्त्री०) कृष्णगोकर्णी, काली अपराजिता।

विषगिरि (सं० पु०) विष-पर्वत। इस पर उत्पन्न होनेवाले वृक्ष और पौधे आदि जहरीले होते हैं।
(अथर्व ४।६।७ सायण)

विषग्रन्थि (सं० पु०) मृणालपर्व, कमलकी नालकी गांठ।

विषघ्न (सं० त्रि०) विषनाशक, विषका नाश करनेवाला।

विषघ्ना (सं० स्त्री०) गुलञ्च, गुड़ूच।

विषघात (सं० पु०) विष-हन-घञ्। विषनाशक।

विषघातक (सं० त्रि०) विषनाशक, जिससे विषका प्रभाव दूर होता हो।

विषघाती (सं० त्रि०) विष-हन्-णिनि। विषनाशक, विषका प्रभाव दूर करनेवाला। (पु०) २ शिरीषवृक्ष, सिरिसका पेड़।

विषघ्न (सं० पु०) विषं हन्तीति विष-हन-टक्। १ शिरीषवृक्ष, सिरिसका पेड़। २ दुरालभाविशेष, जवासा। ३ विभीतक, वहेड़ा। ४ चम्पकवृक्ष। ५ भूकदम्ब। ६ गन्धतुलसी। ७ तण्डुलीय शाक (त्रि०) ८ विषनाशक।

मनुसंहितामें लिखा है, कि विषघ्न रत्नौषधादि हमेशा धारण करना उचित है; क्योंकि दैववश अथवा शत्रु द्वारा यदि विष शरीरमें प्रविष्ट हो जाये, तो इसके रहनेसे कोई अनिष्ट नहीं हो सकता। (मनु ७२१८)

मत्स्यपुराणमें विषघ्नरत्नादि धारण तथा औषधादि व्यवहारका विषय इस प्रकार लिखा है—जतुका, मरकत आदि मणि अथवा जीवसे उत्पन्न कोई भी मणि तथा सभी प्रकारके रत्नादिको हाथमें धारण करनेसे विष नष्ट होता है। रेणुका, जटामांसी, मञ्जिष्ठा, हरिद्रा, मुलेठी, मधु, बहेड़ेकी छाल, तुलसी, लाक्षारस तथा कुत्ते और कपिला गायका पित्त इन्हें एक साथ पीस कर वाद्ययन्त्र और पताकादिमें लेप देना होता है। इसके दर्शन, श्रवण, आघ्राणादि द्वारा विष नष्ट हो सकता है अर्थात् विषघ्न औषधादिको ऐसे स्थानमें रखना होगा जिससे उस पर दृष्टि हमेशा पड़ती रहे वा उसका आघ्राण मिलता रहे अथवा तत्संसृष्ट शब्द सुनाई दे, इससे विषका प्रभाव बहुत दूर हो सकता है (मत्स्यपु० १९२ अ०)

विषघ्ना (सं० स्त्री०) अतिविषा, अतीस।

विषघ्निका (सं० स्त्री०) श्वेतकिणिहीवृक्ष, सफेद अपमार्ग या चिचड़ा।

विषघ्नी (सं० स्त्री०) १ हिलमोचिका या हिलंच नामक साग। २ इन्द्रवारुणी, गोपालककंटी। ३ वनवर्वरिका, वनतुलसी। ४ हवुषाभेद। ५ भूम्यामलकी, भुईं आंवला। ६ रक्तपुनर्नवा, लाल गदहपूरना। ७ हरिद्रा, हल्दी। ८ वृश्चिककालीलता। ९ महाकरञ्ज। १० पीतवर्ण देवदाली, पीतघोषा नामकी लता। ११ काष्ठकदली, कठकेला। १२ श्वेतअपामार्ग, सफेद चिचड़ा। १३ कटकी। १४ रास्ना। १५ देवदाली।

विषङ्ग (सं० पु०) वि-सन्ज-घञ्। संलिप्त, लगा हुआ।

विषङ्गिन् (सं० त्रि०) प्रलिप्त, लीपा-पोता हुआ।

विषचक्र (सं० पु०) चकोर पक्षी।

विषचक्रक (सं० पु०) विषचक्र।

विषजल (सं० क्ली०) विषमय जल, विषैला पानी।

विषजिह्व (सं० पु०) देवताड़वृक्ष।

विषजुष्ट (सं० त्रि०) विषमिश्रित, जहर मिला हुआ।

विषज्वर (सं० पु०) १ ज्वरविशेष। विषके संसर्गसे उत्पन्न होनेके कारण इसको आगुन्तक ज्वर कहते हैं। इस ज्वरमें दाह होता है, भोजनकी ओर रुचि नहीं होती; प्यास बहुत लगती और रोगी मूर्च्छित हो जाता है। विषवत् प्राणनाशको ज्वरो यस्य। २ भैंसा।

विषणि (सं० पु०) सर्पभेद, एक प्रकारका सांप।

विषण्ड (सं० क्ली०) मृणाल, कमलकी नाल।

विषण्ण (सं० त्रि०) वि-सद्-क्त। विषादप्राप्त, दुःखित, खिन्न, जिसे शोक या रंज हो।

विषण्णता (सं० स्त्री०) १ विषण्णका भाव या धर्म । २ जड़ता, बेवकूफी । पर्याय —जाड्य, मौर्ख्य, विषाद, अवसाद, साद । (हेम)

विषण्णाङ्ग (सं० पु०) शिव । (भारत १३।१७।१२८)

विषतन्त्र (सं० क्लो०) वैद्यकके अनुसार वह प्रक्रिया जिसके द्वारा साँप आदिका विष दूर किया जाता है।

विषतरु (सं० पु०) कूचेलक वृक्ष, कुचला ।

विषता (सं० स्त्री०) विषका भाव या धर्म, जहरीलापन ।

विषतिन्दु (सं० पु०) १ विषद्रुम, कुचाल, विषतेंदु । २ कारस्कर वृक्ष । (राजनि०) ३ कुपीलु । (भावप्रकाश)

विषतिन्दुक (सं० पु०) विषतिन्दु देखो ।

विषतिन्दुकज (सं० क्लो०) १ मधुर तिन्दुक फल । २ कारस्कर फल, कुचिला फल ।

विषतिन्दुकतैल—वातरक्ताधिकारोक्त तैलोषधविशेष । प्रस्तुतप्रणाली—तिलतैल ४ सेर । काढ़े के लिये कुटा हुआ कुचिलाबीज ४ सेर, पानी ३२ सेर, शेष ८ सेर, सहिञ्जनके मूलकी छाल २ सेर, जल १६ सेर, शेष ४ सेर ; मादेका मूल २ सेर, जल १६ सेर, शेष ४ सेर ; काला धतूरा २ सेर, जल १६ सेर शेष ४ सेर ; वरुणछाल २ सेर, जल १६ सेर, शेष ४ सेर ; चितामूल २ सेर, जल १६ सेर, शेष ४ सेर । सम्हालूपत्रका रस ४ सेर (रसके अभावमें काढ़ा), थूहरका पत्तियाका रस ४ सेर (अभावमें क्वाथ), असगंधका काढ़ा ४ सेर, जयन्तीपत्रका रस ४ सेर (रसके अभावमें काढ़ा); कल्कार्थ लहसुन, सरलकाष्ठ, मुलेठा, कुट, सैन्धव, विट, चितामूल, हरिद्रा, पीपर, प्रत्येक १ पल । इस तेलकी मालिश करनेसे प्रबल वातव्याधि, कुष्ठ, वातरक्त, विवर्णता और त्वग्दोष दूर होते हैं ।

विषतैल—कुष्ठरोगाधिकारोक्त तैलौषधविशेष । प्रस्तुतप्रणाली—कटुतैल ४ सेर, गोमूत्र ४६ सेर । कल्कद्रव्य -- डहरकरञ्जबीज, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, अकवनका मूल, तगरपादुका, करवीमूल, वच, कुट, हाफरमाली, रक्तचन्दन, मालतीपत्र, सम्हालूपत्र, मजीठ, छतिवनमूलकी छालका प्रत्येक ४ तोला, विष १६ तोला । इस तेलको मालिश करनेसे अनेक प्रकारके कुष्ठ और व्रण नष्ट होते हैं ।

विषदंश (सं० पु०) मार्जार, बिल्ली ।

विषदंशक (सं० पु०) विषदंश देखो ।

विषदंष्ट्रा (सं० स्त्री०) विषयुक्ता दंष्ट्रा । १ सर्पदंष्ट्रा, साँपके दाँत । २ सर्पकङ्कालिका लता । ३ नागदमनी ।

विषद (सं० क्लो०) वि-सद्-अच् । १ पुष्पकाशीश, होराकसीस । स्त्रियां टाप् । २ अतिविषा, अतीस । विषं ददातीतिविष-दा-क । (पु०) ३ मेघ, बादल । ४ शुक्लवर्ण, सफेद रंग । (त्रि०) ५ शुक्लवर्ण विशिष्ट, सफेद रंगका । ६ निर्मल, स्वच्छ । विषदाता, विष देनेवाला ।

विषदन्त (सं० पु०) विड़ाल, बिल्ली । (वैद्यकनिघ०)

विषदन्तक (सं० पु०) विषं दन्ते यस्य कन् । सर्प, सांप ।

विषदमूला (सं० स्त्री०) माकन्दी नामक पौधा जिसके पत्तोंका साग होता है ।

विषदर्शनमृत्युक (सं० पु०) विषस्य दर्शनेन मृत्युरस्य कन् । चकोर पक्षी ।

विषदा (सं० स्त्री०) अतिविषा, अतीस ।

विषदाता (सं० त्रि०) विषादातृ देखो ।

विषदातृ (सं० त्रि०) विषप्रयोक्ता, वह जो किसीको मार डालने या बेहोश करनेके अभिप्रायसे जहर दे । निम्नोक्त लक्षणानुसार विषदाताको जाना जा सकता है । जो विष देता है उसे यदि इस विषयमें कुछ पूछा जाय तो वह कुछ बोलता नहीं है, बोलनेमें मोह आ जाता है । मूढ़की तरह यदि दो बातें बोलता भी है, तो उसका कोई अर्थ नहीं निकलता । वह केवल खड़ा रहता और हाथकी उंगली मटकाता है तथा पैरकी उंगलीसे धीरे धीरे जमीन कोड़ता है अथवा अकस्मात् बैठ जाता है । वह हमेशा कांपता रहता है और भयभीत हो उपस्थित व्यक्तियोंको एक टकसे देखता है । वह शीर्ण और उसका मुख विवर्ण हो जाता है । वह किसी एक वस्तुको नाखूनसे काटता है तथा दीन भावसे बार बार मस्तकके बालोंको स्पर्श करता है । वह कुपथसे भागनेकी चेष्टा करता है तथा बार बार चारों ओर ताकता है । वह कभी कभी विचेतन और विपरीत स्वभावका हो जाता है । विशेष अभिज्ञता नहीं

रहनेसे पर केवल यही सब लक्षण देख विषदाताको पहचाना नहीं जा सकता। क्योंकि अनेक समय ऐसा भी देखा गया है, कि नितान्त सम्भ्रान्त व्यक्ति भी राजाके भयसे या राजाज्ञासे विभ्रान्त हो इस प्रकार असत्‌की तरह चेष्टाएं दिखलाता है।

विषदायक (सं० पु०) विषदाता।

विषदूषण (सं० त्रि०) १ विषनिवारक। "विषदूषणं विश्वस्य स्थावरजङ्गमोद्भवस्य दूषकं निवर्त्तकम् (अथर्व० ६।१००।१ सायण) २ विषदुष्ट।

विषदुष्ट (सं० त्रि०) १ विषके द्वारा दूषित। २ विषमिश्रित।

विषद्रुम (सं० पु०) कारस्कर वृक्ष, कुचला। (राजनि०)

विषधर (सं० पु०) विषं धरति धृ-अच्। १ सर्प, सांप। स्त्रियां ङीष्। २ विषधरी।

विषधर्मा (सं० स्त्री०) शूकशिम्बी, केवाँच।

विषधात्री (सं० स्त्री०) विषाणां विषधरसर्पाणां धात्री मातेव। जरत्कारुमुनिकी स्त्री, मनसादेवी।
(शब्दमाला)

विषधान (सं० पु०) विषस्थान। (अथर्व २।३२।६ सायण)

विषध्वंसिन् (सं० पु०) नागरमोथा। (वैद्य०निघ०)

विषनाड़ी (सं० स्त्री०) विषतुल्य क्षतिकर समय।

विषनाशन (सं० पु०) विषं नाशयति नश ल्यु। १ शिरीष वृक्ष, सिरिसका पेड़। २ माणक, मानकच्चू। (त्रि०) ३ विषनाशक, जो विषको दूर करता हो।

विषनाशिनी (सं० स्त्री०) विषं नाशयितुं शीलं यस्याः विष नश-णिनि स्त्रियां ङीष्। १ सर्पकङ्काली। २ वन्ध्या कर्कटिका, बांझ ककड़ी। ३ गन्धनाकुली।

विषनुद (सं० त्रि०) विषं नुदति दूरीकरोति नुद-क्विप्। श्योनाक वृक्ष, सोनापाठा।

विषपत्रिका (सं० त्रि०) १ पत्रविषभेद, कोई जहरीला पत्ता। २ जमालगोटा आदि किसी जहरीले बीजका छिलका।

विषपन्नग (सं० पु०) विषयुक्तः पन्नगः। सविष सर्प, जहरीला सांप।

विषपर्वन् (सं० पु०) दैत्यभेद।
(कथासरित्सा० ४५।३७६)

विषपादप (सं० पु०) विषवृक्ष, विषद्रुम, कुचल।

विषपुच्छ (सं० त्रि०) जिसकी पुच्छमें विष हो, जिसकी पूंछ जहरीली हो।

विषपुच्छी (सं० पु०) वृश्चिक, बिच्छू।

विषपुट (सं० पु०) ऋषिभेद। बहुवचनमें उक्त ऋषिवंशधरोंका बोध होता है। (पा २।४।६३)

विषपुष्प (सं० क्ली०) १ नीलपद्म, नीला कमल। २ विषयुक्त पुष्प, जहरीला फूल। ३ अतसीपुष्प, अतसीका फूल। (पु०) ४ मदनवृक्ष, मैनाफलका पेड़।

विषपुष्पक (सं० पु०) विषयुक्तं पुष्पं यस्य कन्। १ मदनवृक्ष, मैनफल। २ विषपुष्पक भक्षणसे होनेवाला रोग। "विषपुष्पैर्जनितः विषपुष्पको ज्वरः" (पा ५।२।८१)

विषप्रशमनी (सं० स्त्री०) वन्ध्याकर्कोटकी बांझ ककड़ी।
(वैद्यकनि०)

विषप्रस्थ (सं० पु०) पर्वतभेद। (महाभारत वनपर्व)

विषबल्लिका (सं० स्त्री०) बिच्छी नामकी लता। यह लता लंबी होती और घास-पातके ऊपर चढ़ती है। शरीरके जिस अंगमें यह छू जाती है, वहां खुजली होती है। इसके पत्ते डेढ़ उंगली लंबे तथा पुष्प और फल छोटे होते हैं। फल देखनेमें आँवला जैसा मालूम होता है।

विषभद्रा (सं० स्त्री०) वृहद्दन्ती, बड़ी दंती।

विषभद्रिका (सं० स्त्री०) लघुदन्ती, छोटी दंती।

विषभिषज् (सं० पु०) विषस्य विषचिकित्सको वा भिषक्। विषवैद्य, संपरिया।

विषभुजङ्ग (सं० पु०) विषधरसर्प, जहरीला सांप।

विषम (सं० त्रि०) १ असमान, जो बराबर न हो। २ भीषण विकट। ३ बहुत तीव्र, बहुत तेज। ४ जिसकी मीमांसा सहजमें न हो सके।

(क्ली०) ५ सङ्कट, विपत्ति। ६ पद्यके तीन प्रकारके वृत्तोंमेंसे एक वृत्त। यह पद्य चतुष्पदी अर्थात् चार चरणयुक्त होता है। यह वृत्त और जातिके भेदसे दो प्रकारका है। जो पद्य अक्षर संख्यामें निर्णय है, उसका नाम वृत्त है, इस वृत्तके भी फिर तीन भेद हैं, सम,, अर्द्ध और विषम। जिसके चारों चरणोंमें समान अक्षर रहते हैं, उसका नाम समवृत्त है। प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणमें समान

समान अक्षर रहनेसे अर्द्ध तथा चारों चरणोंमें समान अक्षर नहीं रहनेसे वह विषमवृत्त कहलाता है।

(छन्दोम० १म स्तवक)

६ वर्गमूलोक्त ऊद्दुर्ध्वरेखा । ७ अर्थालङ्कारविशेष ; प्रत्येक कार्य्य किसो न किसी एक कारणसे उत्पन्न होता है तथा प्रायः स्थलमें उस कारणका धर्म (गुणक्रियादि०) कार्य्यमें परिणत होता है। जहां कारणका गुण या क्रिया विरुद्धभावसे कार्य्यमें दिखाई देती है तथा जहां आरब्ध-कार्य्य निष्फल होता है, फिरसे उससे यदि किसी अनिष्ट संघटनकी सम्भावना रहती हैं और जहां विरुद्ध पदार्थका सम्मेलन देखा जाता है, वहां विषमालङ्कार हुआ करता है।

(पु०) ८ राशिका नामभेद, अयुग्मराशि। मेष, मिथुन, सिंह, तुला, धनु और कुम्भ इन सब राशियोंको अयुग्म वा विषम राशि कहते हैं। (ज्योतिस्तवत्त्व) ६ कङ्कण नामक तालके अन्तर्गत एक प्रकारका ताल। कङ्कण नामक ताल पूर्ण, खण्ड, सम और विषमके भेदसे चार प्रकारका है। इनमेंसे विषम ताल तगण द्वारा निर्दिष्ट होता है। ६ जठराग्निविशेष। मन्द, तीक्ष्ण, विषम और समके भेदसे जठराग्नि चार प्रकारकी है। उनमेंसे मन्द, तीक्ष्ण और विषमाग्नि यथाक्रम कफ, पित्त और वायुकी अधिकतासे उत्पन्न होती है तथा इन तीनों अर्थात् कफ, पित्त और वायुकी समता अवस्थामें समाग्निकी उत्पत्ति होती है। जिसकी जठराग्नि विषमत्वको प्राप्त होती है, उसका खाया हुआ अन्न कभी तो अच्छी तरह पच जाता और कभी बिलकुल नहीं पचता। वैसे व्यक्तिको वातज रोग उत्पन्न होता है।

विषमक (सं० त्रि०) असमान, जो बराबर न हो।

(वृहत् स० ८१।१६)

विषमकर्ण (सं० पु०) चारों समकोणोंवाले चतुर्भुजमें किसी दो बराबरके कोणोंके सामनेकी रेखा (Diagonal)।

विषमकर्मन् (सं० क्ली०) १ वीजगणितोक्त अङ्कप्रणालीभेद। असमान प्रक्रिया द्वारा राशि-निरूपणका नाम। राशियोंको वर्गका वियोगफल तथा मूलराशियोंका योग वा वियोगफल रहने पर प्रक्रियासे राशियां निकाली जाती हैं, उसका नाम विषम कर्म है। २ असदृश कार्य।

विषमकोण (सं० क्ली०) वह कोण जो सम न हो, समकोणसे भिन्न और कोई कोण। (Angles other than right angles)

विषमखात (सं० क्ली०) १ गर्त्त, जिसका चारों किनारा असमान हो। २ वीजगणितोक्त अङ्कविशेष। (Irregular solid)

विषमग्राहि (सं० त्रि०) एकदेश ग्राहि।

विषमचक्रवाल (सं० क्ली०) वृत्त-भास (Ellipse)।

विषमचतुरस्र (सं० पु०) असमान वाहु वा कोणविशिष्ट चतुष्कोण क्षेत्र (Trapez)।

विषमचतुष्कोण (सं० पु०) वह चौकोन क्षेत्र जिसके चारों कोण समान न हो, विषमकोणवाला चतुष्कोण क्षेत्र।

विषमच्छद (सं० पु०) विषमः अयुग्मः छन्दो यस्य। सप्तच्छदवृक्ष, छतिवनका पेड़।

विषमज्वर (सं० पु०) विषम उग्रो ज्वरः। ज्वररोगभेद। जिस ज्वरके समयमें (प्रत्याहिक ज्वरागम समयमें), शीतमें (ज्वरागमन कालीन शैत्य प्रयुक्त कंपन आदिमें), उष्णमें गात्रताप आदिमें) और वेगमें (धमनी या नाड़ीकी गतिमें) विषमत्व न्यूनाधिक्य दिखाई देता अर्थात् जिस ज्वरमें पूर्वदिन ज्वर आनेके समयकी अपेक्षा दूसरे दिन कुछ पहले या पीछे आवे और जिसमें पूर्व्वदिनकी अपेक्षा दूसरे दिन शीतका अंश शरीरके तापादिका भाग कुछ कम या ज्यादे हो और नाड़ीकी गतिमें भी ऐसे ही न्यूनाधिक्य अनुभव हो, उसी ज्वरको विषमज्वर कहते हैं।

वातिकादि ज्वरके निर्दिष्ट विच्छेद समयमें अर्थात् ७।१०।१२ या १४।२०।२४ दिनको यथाक्रम वातिक, पैत्तिक और श्लेष्मिक ज्वर विच्छेद होने पर भी वातादि दोषके सम्पूर्ण लाघव होते न होते ही यदि अहित-आहार आचारादिके किये जायें, तो ये वातादि दोष ही प्रवृद्ध हो कर रसरक्तादि धातुमें किसी एक धातुका अवलम्बन कर विषमज्वर उत्पादन करते। रसधातुका अवलम्बन कर जो विषमज्वर होता है, उसका नाम सन्तत है। रक्तके आश्रयसे जो विषमज्वर होता है, उसका

नाम सतत और मांसाश्रित विषमज्वरको अन्येद्युष्क कहते हैं। तृतीयक नामक विषमज्वरमें दो धातुको और चातुर्थक ज्वर अस्थि तथा मज्ज धातुका आश्रय ले कर उत्पन्न होता है। यह चातुर्थक ज्वर मारात्मक है और प्लीहा, यकृत् आदि बहुतेरे रोग उत्पन्न करता है।

जो ज्वर सप्ताह, दशाह, या द्वादशाह काल तक एकादिक्रमसे एक रूपसे अविच्छेदी अवस्थामें रह कर अन्तमें विच्छेद हो जाता है, उसका नाम सन्तत विषमज्वर है। जो दिनरातमें दो बार अर्थात् दिनमें एक बार और रातमें एक बार आता है, उसको सततक या सतत ज्वर कहते हैं। बोलचालमें इसका नाम द्वौकालीन ज्वर है। अन्येद्युष्क ज्वर दिनरातमें एक बार मात्र होता है। तृतीयक ज्वर तीन दिनोंके बाद और चातुर्थक ज्वर चार दिनके बाद एक बार होता है।

उक्त तृतीयक ज्वर वातश्लैष्मिक, वातपैत्तिक तथा कफपैत्तिक भेदसे तीन प्रकारका होता है। ज्वर आनेके समय पीठमें वेदना अनुभव होनेसे समझना होगा, कि वह वातश्लेष्मजन्य तृतीयक ज्वर है। त्रिकस्थानमें (कमर; जत्रु मूल आदि तीन सन्धिस्थलमें) वेदनाके साथ जो तृतीयक ज्वर होता है, वह कफपित्तजनित है। फिर जिस तृतीयकमें पहले शिरमें दर्द उत्पन्न होता है, वह वातपित्तज है। इसी तरह चातुर्थकज्वर भी वातिक और श्लैष्मिक भेदसे दो प्रकारका है। शिरमें वेदनायुक्त वातिक और जंघाद्वयमें वेदना उत्पन्न कर श्लैष्मिक चातुर्थकज्वरका उद्भव होता है।

सिवा सततक, इसके अन्येद्युष्क; तृतीयक और चातुर्थकविपर्य्यय और वातवलासक, प्रलेपक, दाहशीतादि कई विषमज्वरका उल्लेख है। नीचे क्रमशः उनके लक्षण आदि वर्णित हैं। सततकविपर्य्यय—दिनरातमें केवल दो वार विच्छेद हो कर सारा दिनरात ज्वरभोग करता है। अन्येद्युष्कविपर्य्यय—दिनरात भरमें एक बारमात्र विच्छेद हो कर सारा दिनरात ज्वर भोग करता है। तृतीयक विपर्य्यय—यह ज्वर आद्यन्त दो दिन विच्छेद अवस्थामें रहता है, बीचमें केवल एक दिन दिखाई देता है। चातुर्थक-विपर्य्यय—यह आद्यन्त दो दिन विच्छेद अवस्थामें रहता और बीचके दो दिन सम्पूर्णरूपसे ज्वर रहता है। वातवलासक—यह ज्वर शोथरोगाक्रान्त व्यक्तिके उपद्रवस्वरूप नित्य मन्द मन्द होता है। इससे रोगी रूक्ष और स्तब्धाङ्ग होता है अर्थात् उसको अङ्गशैथिल्य रोग उत्पन्न होता है। प्रलेपक—यह ज्वर नित्य मान्द्य अवस्थामें होता है। यह पसीना और शरीरके भारीपनके कारण अहरहः शरीरके बीचमें मानो प्रलिप्त अर्थात् निबद्ध होता है। इससे रोगी शीत अनुभव करता है। यक्ष्माके रोगियोंको ही यह ज्वर होता है।

विदग्धपक्क अन्न-रसमें अर्थात् प्रदुष्ट आहाररसमें प्रदूषित पित्त और कफ शरीरमें व्यवस्थित भावसे रह कर एक तरहके विषमज्वरकी उत्पत्ति करता है। इस ज्वरमें व्यवस्थित भावसे पित्त और कफका अवस्थानहेतु अर्द्धनारीश्वराकार या नरसिंहाकार रोगीकी देहका अर्द्धांश गरम तथा दूसरा अर्द्धांश शीतल रहता है। इसका कारण यह है, कि जिस अर्द्धांशमें पित्तका प्रादुर्भाव है, वहां गरम तथा जिस अर्द्धांशमें श्लेष्माका प्रादुर्भाव है; वहां शैत्यका अनुभव होता है। दूसरे एक विषमज्वरमें पित्त और कफ पूर्वोक्त रूपसे शरीरके विभिन्न स्थानमें अवस्थानपूर्वक दाह-शीत आदि उत्पन्न करता है अर्थात् जब पित्त कोष्ठाश्रित रहता है, तब श्लेष्मा हाथ पैरमें रहती है। इस तरह जब पित्त हाथ पैरमें रहता है, तब श्लेष्मा कोष्ठमें अवस्थान करती है। सुतरां पूर्वोक्त नियमानुसार जब जहां श्लेष्मा रहती है, तब वहां (कायमें या हाथ पैर आदिमें) शैत्य और जब पित्त इन स्थानोंमें रहता है, तब उन स्थानोंमें उष्णता विद्यमान रहती है।

इस ज्वरमें जब त्वक्स्थित वायु और श्लेष्मा ये दोनों पहले शीत उत्पन्न कर ज्वर प्रकाशित करता है और इनके वेगका किञ्चित् उपशम होनेके बाद पित्त द्वारा दाह उपस्थित होती है, तब 'शीतादि' और जब इस तरह त्वक्स्थ पित्त पहले अत्यन्त दाह उत्पन्न कर ज्वरको अभिव्यक्त करता है और पीछे इस पित्तके किञ्चित् प्रशमित होनेसे वायु और श्लेष्मा दोनोंसे शीतका उद्भव होता है, तब इसको 'दाहादि विषमज्वर' कहते हैं। इन दाहादि और शीतादि ज्वरमें दाहपूर्व ज्वर ही विषम क्लेशदायक और कृच्छसाध्यतम है।

पहले कहा जा चुका है, कि रसरक्तादि धातुके अन्यतम धातुका आश्रय कर विषमज्वरकी उत्पत्ति होती है। अब जिस धातुका आश्रय करनेसे रोगीके जो जो लक्षण दिखाई देते हैं, उसका वर्णन करते हैं। रसधातुको आश्रय कर जो ज्वर होता है, उससे रोगीके बदनमें भारीपन, हृदयोत्क्लेश (उपस्थित-वमन बोध), अवसन्नता, वमन, अरुचि और दैन्य उपस्थित होता है। ज्वर रक्तधातुका आश्रय करनेसे रोगी रक्त निष्ठीवन करता है अर्थात् थूक फेंकते फेंकते रक्त भी आने लगता है। साथ ही साथ उसको दाह, मोह (मूर्च्छाभेद), वमन, भ्रमि (शरीर घूमना), प्रलाप, पीड़का (स्फोटकादि) और तृष्णा आदि उपसर्ग आ कर उपस्थित होते हैं। ज्वर मांसधातुगत होनेसे रोगीके जङ्घेके मांसपिण्डमें दण्डेसे मारनेकी-सी वेदना मालूम होती है और उसकी तृष्णा, मलमूत्रनिःसरण, वहिस्ताप, अन्तर्दाह, विक्षेप (हाथ पैरका पटकना) और शरीरकी ग्लानि प्रभृति लक्षण देखे जाते हैं। मेदस्थ ज्वरमें रोगीके अत्यन्त स्वेद (पसीना), तृष्णा, मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, दौर्गन्ध्य, अरोचक, शारीरिक ग्लानि और असहिष्णुता आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। अस्थिगत ज्वरमें अस्थिमें भेदवत् पीड़ा, कूजन (गलेमें खों खों शब्द), श्वास (दमा), विरेचन, वमन और गात्रविक्षेप करना अथवा हाथ पैरका पटकना आदि लक्षण दिखाई देते हैं। अकस्मात् अन्धकारमें प्रवेश करनेकी तरह बोध होना, हिचकी, खासी, जाड़ा लगना, अन्तर्दाह, महाश्वास और मर्मभेद (हृदय, वस्ति आदि मर्मस्थानोंमें भेदवत् पीड़ा), ये ही मज्जागत ज्वरको लक्षण है। जब ज्वर शुक्रधातुगत होता है, तब लिङ्गकी स्तब्धता, शुक्रका अधिक प्रसेक होता है। इससे सहसा रोगीकी मृत्यु हो जाती है।

पूर्वोक्त तृतीयक चातुर्थकादि ज्वरको कोई कोई भूताभिसङ्गोत्थ विषमज्वर कहा करते हैं। और रोग प्रशमनार्थ उसका दैवरूप (बलि होम आदि) तथा दोषोचित युक्तिरूप (कषाय पाचनादि) क्रियाद्वयकी व्यवस्था किया करते हैं।

जिसकी देहमें वायु और कफकी समता और पित्तकी क्षीणता हो, उसको विषमज्वर रातको और इस तरह जिसको कफकी क्षीणता और वातपित्तकी समता दिखाई दे, उसको प्रायः दिनमें ज्वर आता है।

ज्वर यदि उत्पत्तिके साथ ही विषमत्व प्राप्त हो, तो वह शीघ्र ही रोगीका नाश करता है।

चिकित्सा —प्रायः सभी विषमज्वरोंमें ही त्रिदोषका (वात, पित्त, कफ) अनुबन्ध है। परन्तु प्रत्येक विषमज्वरमें ही वायुका रहना आवश्यक जानना होगा। बात यह है; कि इसमें भी वायुके प्रति ही प्रधान लक्ष्य रखना होगा। किन्तु उनमें जब जिस दोषका प्रादुर्भाव समझा जाये, तब उसके प्रति बराबर चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि सब दोषोंमें उल्वण (अति प्रबल) दोषकी ही पहले चिकित्सा करनी चाहिये। विषमज्वरमें ऊर्द्ध्वाधः शोधन (वमन विरेचन) कर्त्तव्य है। सन्तत ज्वरमें—इन्द्रयव, परवलकी पत्ती और कटकी, इन्हीं तीन चीजों; सतत ज्वरमें—परवलकी पत्ती, अनन्तमूल, मोथा, आकनादि और कटकी इन पांचों ; अन्येद्युष्कमें—नीमकी छाल, परवलकी पत्ती, आँवला, हरीतकी, बहेड़ा, किसमिस, मोथा और इन्द्रयव या कुटजकी छाल इन आठों ; तृतीयकज्वरमें चिरायता, गुड़ची, रक्तचन्दन और सोंठ इन चारोंका क्राथ बना कर सेवन करनेसे आरोग्यलाभ होता है। गोपवल्लीका मूल और सोंठका क्वाथ पान करनेसे दो या तीन दिनोंमें शीत, कम्प और दाहयुक्त विषमज्वर दूर होता है। वातश्लेष्मप्रधान तथा श्वास, कास (खांसी), अरुचि और पार्श्ववेदनायुक्त विषमज्वरमें कण्टकारी, गुड़ची, सोंठ और कुट इन कई द्रव्योंका क्वाथ उपयोगी है। इससे त्रिदोष ज्वरमें भी उपकार होता है। मोथा, आंवला, गुड़ची, सोंठ और कण्टकारिका, इनके क्वाथके साथ पीपलचूर्ण और मधु मिश्रित कर सेवन करनेसे विषमज्वर नष्ट होता है। प्रातःकाल या आहार करनेसे पहले जिस समय हो, तिल तैलके साथ लहसुन अच्छी तरह पीस कर भक्षण करनेसे विषम ज्वर दूर होता है। व्याघ्रीकी चर्बी (वसा), उतनी ही हींग और सेंधा नमकके साथ अथवा सिंहकी चर्बी पुराना घृत और सेंधा नमकके साथ मिला कर नस्य लेनेसे बड़ा उपकार होता है।

सेंधा नमक, पीपलचूर्ण और मनःशिला विषमज्वर-

में तिलतैलके साथ उत्तमरूपसे पीस कर अञ्जनरूपसे व्यवहार करनेसे भी विषमज्वर दूर होता है । गुग्गुल, नीमका पत्ता, वच, कुट, हरीतकी, सर्षप, यव और घृत ये कई द्रव्य एकत्र कर उसके वाष्प ग्रहण करनेसे विषमज्वर विनष्ट होता है।

ज्वर रसधातुस्थ होनेसे वमन और उपवास करना चाहिये। सेक (ज्वरघ्न पदार्थों का क्वाथ द्वारा अवसेचन), प्रदेह (ज्वरनाशक द्रव्योंको उत्तम रूपसे पीस कर उसका प्रलेप) और संशमन (दोषप्रशमक द्रव्यका क्वाथ चूर्ण आदि) रक्तस्थ ज्वरके लिये हितकर है। रक्तमोक्षणसे भी रक्तगत ज्वरमें उपकार होता है। मांस और मेदस्थित ज्वरमें विरेचन और उपवास प्रशस्त है। अस्थि और मज्जागत ज्वरमें निरूहण (कषाय द्रव्यकी वस्ति या पिचकारी) और अनुवासन (स्नेह-वस्ति) प्रयोग करना कर्त्तव्य है। मेदस्थ ज्वरमें मेदोघ्न क्रिया भी कर्त्तव्य है। अस्थिगत ज्वरमें वातविनाशक क्रिया भी विधेय है। शुक्रस्थानगत ज्वरमें "मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे" ज्वर शुक्रस्थानगत होनेसे बलरक्षक श्रेष्ठतम धातुके अतिशय निर्गम होनेसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है।

शीतदाहादि ज्वरमें शीतार्त्तकी शीतनाशक और दाहार्त्तकी दाहनाशकक्रिया द्वारा चिकित्सा करना कर्त्तव्य है। शीतादिज्वराक्रांत व्यक्तिको अत्यन्त शीत उपस्थित होनेसे तोशक या दोलाई या रेजाई या कम्बल ओढ़ा कर उसका शीत निवारण करना चाहिये। इन सब क्रियाओंसे भी यदि शीत दूर न हो, तो एक प्रशस्त नितम्बिनी सुन्दर युवती स्त्रीको बगलमें सुला देना चाहिये। रमणीके स्पर्शसे स्वभावतः ही रोगीका रक्त गरम हो जायेगा और शीतका उपशम होगा। किंतु इस प्रक्रियासे शीत निवारण होनेके बाद रोगीको जब कामोद्रेक हो, तो स्त्रीको वहांसे हटा देना चाहिये। इस शीतापगमसे जब दाह उपस्थित होगा, तब एरण्डपत्र या शीतल द्रव्यादि (शीतल कांसेका बरतन) शरीरमें धारण कर दाह निवारण करना होगा। लिप्त (गोबर और जल द्वारा लिपो) जमीनमें एरण्डपत्र फैला कर उस पर दाहार्त्त रोगीको सुलानेसे ज्वरके साथ दाह प्रशमित होगा। पहले दाह हो कर यदि पीछे देहमें शीतलता उपस्थित हो, तो रोगीको उत्तापरक्षाके लिये फिर उसको सुगन्धि चन्दन कर्पूर आदि द्वारा विलेपिततन्वा यौवनवती बनिता द्वारा वेष्टन कराना होगा। दाहके उपशम होनेके बाद यदि रोगीको कामोद्रेक हो, तो पूर्ववत् युवतीको हटा देना चाहिये।

गुलञ्च (गुड़ची), मोथा, चिरेता, आँवला, कण्टकारी, सोंठ, बिल्वमूलकी छाल, सोनाछाल, गाम्भारीकी छाल, गनियारीकी छाल, कटकी, इन्द्रयव, दुरालभा, इन सबको मिला कर इससे दो तोले ले ३२ तोले जलमें मिला कर काढ़ा तय्यार करे और जब आठ तोले जल शेष रहे, तो उतार लेना चाहिये। इसे छान कर २ मासा पीपल चूर्ण और दो मासा मधु या शहद मिला कर नित्य सेवन करना चाहिये। इससे वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, द्वन्द्वज और चिरोत्पन्न रातका ज्वर निवारित होता है। हिंगु, गन्धक, पारद—प्रत्येक एक तोला ले पीपलके पेड़की छाल, धतूरेकी जड़, कण्टकारीका मूल और काकमाची—इनके प्रत्येकके रसमें तीन तीन दिन अलग अलग भावना दे कर दो या तीन रत्तीके प्रमाणकी गोली तैयार करे। इस गोलीको दूधके साथ सेवन करनेसे शीघ्र ही रात्रिज्वर विनष्ट होगा।

पवित्र हो नन्दी आदि अनुचर और मातृकाओंके साथ शिवदुर्गाकी अर्चना करनेसे शीघ्र ही सब तरहका विषमज्वर दूर होता है और सहस्रमूर्द्धा जगत्पति विष्णुके सहस्रनाम उच्चारण कर स्तव करनेसे भी सब तरहके ज्वर विनष्ट होते हैं। (महाभारत आदि ग्रन्थोंमें विष्णुके सहस्रनाम लिखे हैं)

ब्रह्मा, अश्विनीकुमारद्वय, इन्द्र, हुताशन, हिमाचल, गङ्गा और मरुद्गणकी यथाविधि पूजा करनेसे विषमज्वरकी शान्ति होती है। भक्तिके साथ पिता माता और गुरुजनोंकी पूजा और ब्रह्मचर्य्य, तपः, सत्य, व्रतनियमादि, जप, होम, वेदपाठ या श्रवण, साधु-सन्दर्शन आदि कार्य्य कायमनोवाक्यसे प्रतिपालन करनेसे शीघ्र ही ज्वरादिसे मनुष्य छुटकारा पा जाता है।

विषमज्वरसे आक्रान्त रोगी अपने हाथसे नौ

मुट्ठी चावल द्वारा एक पुतली तय्यार करे और उसको हल्दीके रङ्गमें रंग दे, पीछे चार हल्दी रङ्गकी पताकायें और पीपलकी पत्तीके बने दोने हरिद्रा रससे भर कर उसके चारों ओर स्थापन करे। उक्त पुतलीको वीरण चाचिका (वेनाकी पत्तोसे बने पांच या आसन विशेष) पर "विष्णुर्भमोऽस्य" इत्यादि मन्त्रोंसे सङ्कल्प कर निरुक्त मन्त्रका ध्यान और मन्त्रपाठ करना चाहिये,—

"ज्वरस्त्रिपाद स्त्रिशिराः षड़्भुजो नवलोचनः ।
भस्मप्रहरणो रुद्रः कालान्तकयमोपमः ।"

पीछे नौ कौड़ी दे गन्ध पुष्प, धूप आदि खरीदे। तदनन्तर उनसे पूजा कर सन्ध्या समय निम्नोक्त मन्त्र पाठ कर ज्वर लगे हुए व्यक्तिको निर्मञ्छन करना होगा। (तीन दिन तक ऐसा ही करनेका विधान है) मन्त्रः—

"ॐ नमो भगवते गरुड़ासनाय त्र्यम्बकाय स्वस्त्यस्तु वस्तुतः स्वाहा ॐ कँ टं प शं वैनतेयाय नमः ओं ह्रीं क्षः क्षेत्रपालाय नमः ओं ह्रीं ठ ठ भो भो ज्वर शृणु शृणु हन हन गर्ज गर्ज ऐकाहिकं द्व्याहिकं त्र्याहिकं चातुर्थकं साप्ताहिकं अर्द्धमासिकं मासिकं नैमेषिकं मौहूर्त्तिकं फट् फट् हुं फट् हन हन हन मुञ्च मुञ्च भूम्यां गच्छ स्वाहा" यह मन्त्र पाठ समाप्त कर किसी वृक्षमें, श्मशानमें या चतुष्पथमें उक्त पुतलीको विसर्जन देना चाहिये और इन पूजाकी वास्तुको दक्षिण तरफ पवित्र स्थान पर रख देनेकी विधि है।

सिवा इसके सूर्यार्घ्यदान, सूर्यका स्तव, वटुकभैरव स्तव, माहेश्वरकवच आदि पाठ और प्रक्रियादि द्वारा भी विषमज्वरका अपनोदन किया जाता है। विषय बढ़ जानेके कारण उसका विवरण यहां दिया न गया।

पाश्चात्यमतसे विषमज्वर—पाश्चात्य चिकित्सकगण विषमज्वरको मलेरिया ज्वर कहते हैं।

विषमज्वराङ्कुशलौह (सं० क्लो०) विषमज्वरकी एक एक औषध। प्रस्तुतप्रणाली—रक्तचन्दन, सुगन्धवाला, आकनादि, वीरणमूल, पीपल, हरीतकी, सोंठ, शुन्दि, आंवला, चितक, मोथा और विड़ङ्ग, प्रत्येकका चूर्ण १ तोला, जारित लौहचूर्ण १२ तोला, इन्हें एक साथ मिला कर जल द्वारा मर्द्दन करे। २ रत्तीकी गोली बना कर सेवन करनेसे विषमज्वर नष्ट होता है।

विषमज्वरान्तकरस (सं० पु०) विषमज्वरकी एक औषध। प्रस्तुत प्रणाली—हिंगुलोत्थ पारा और गन्धक, बराबर भाग ले कर अच्छी तरह पीसे। बादमें कज्जली बना कर पर्पटीवत् पाक करे। यह पर्पटी तथा पारेका चौथाई भाग स्वर्ण, मुक्ता तथा शङ्ख और सीपकी भस्म तथा लौह, ताम्र, अभ्र प्रत्येक पारेका दूना; रांगा मूंगा, प्रत्येक पारेका आधा, इन्हें एक साथ ले कर घृतकुमारीके रसमें मर्द्दन करे। बादमें दो सीपमें उसे भर कर करिषाग्नि (वनगोईंठेकी आग)में पुटपाक विधिके अनुसार पाक करे और पीछे २ रत्तीकी गोली बनावे। इसका सेवन करनेसे विषमज्वर, प्लीहा, यकृत्, आदि नाना प्रकारके रोगोंका प्रतिकार होता है। इसका अनुपान पीपलचूर्ण, हींग और सैन्धव लवण है।

विषमता (सं० स्त्री) १ विषम होनेका भाव, असमानता। २ वैर, विरोध, द्रोह।

विषमत्रिभुज (सं० पु०) वह त्रिभुज जिसके तीनों भुज छोटे बड़े हों, असमान हो। (Scalena triangle)

विषमत्व (सं० क्लो०) विषमका भाव या धर्म, विषमता।

विषमदलक (सं० पु०) वह सीप जिसके दोनों दल। असमान हो, जैसे अइष्टर सीप (Oyster)।

विषमनयन (सं० पु०) विषमाणि अयुग्मानि (त्रीणि) नयनानि यस्य। १ शिव, महादेव। (त्रि०) २ त्रिनेत्रविशिष्ट, तीन आंखोंवला।

विषमनेत्र (सं० पु०) शिव, महादेव।

विषमन्त्र (सं० पु०) विषनिवर्त्तको मन्त्रो यत्र। सर्पधारक, संपेरा। पर्याय—जाङ्गली। (जटाधर)

विषमपद (सं० त्रि०) १ असमान पदचिह्नविशिष्ट। स्त्रियां टाप्। २ असमान चरणयुक्त।
(ऋक्प्राति० १६।३६)

विषमपलाश (सं० पु०) सप्तपलाश, छतिवनका वृक्ष।

विषमपाद (सं० त्रि०) असमान चरणयुक्त। स्त्रियां टाप्।

विषमबाण (सं० पु०) पञ्चबाण, कामदेव।

विषमय (सं० त्रि०) विषयुक्त, जहरीला।

विषमराशि (सं० स्त्री०) अयुग्मराशि ; मेष, मिथुन, सिंह, तुला, धनुः और कुम्भ।

विषमरूप्य (सं० त्रि०) विषमादागतं। विषम-रूप्य (सिद्धान्तकौ०)। जो विषमसे आया हो।

विषमर्द्दनिका (सं० स्त्री०) विषं मृद्यतेऽनया मृद-ल्युट् स्वार्थे कन्। गन्धनाकुली।

विषमर्द्दिनी (सं० स्त्री०) गन्धनाकुली, गन्धरास्ना।

विषमवल्कल (सं० पु०) करुण निम्बुक, नारंगी।

विषमभाग (सं० पु०) असमान अंश।

विषमविशिख (सं० पु०) विषमा विशिखा वाणानि (पञ्च) यस्य। पञ्चवाण, कामदेव।

विषमवृत्त (सं० क्ली०) वह वृत्त या छन्द जिसके चरण या पद समान न हों, असमान पदोंवाला वृत्त।

विषमवेग (सं० पु०) न्यूनाधिक वेग, वेगकी कमी-बेशी। (माधवनि०)

विशमशिष्ट (सं० पु०) अनुचितानुशासन, प्रायश्चित्त आदिके लिये व्यवस्थाका एक दोष। जान बूझ कर अर्थात् इच्छानुसार भारी पाप करने पर तप्तकृच्छ्र तथा अनिच्छासे अर्थात् अनजानमें भारी पाप करने पर चान्द्रायणव्रतकी व्यवस्था शास्त्रमें बताई है। यहां पर यदि विपरीत भावमें अर्थात् कामाचारीके प्रति चान्द्रायण तथा अज्ञानकृत पापोंके सम्बन्धमें तप्त-कृच्छ्र व्रतकी व्यवस्था दी जाय, तो वह व्यवस्था विषम शिष्ट दोषसे दूषित होता है।

विषमशील (सं० त्रि०) असरलप्रकृति, उद्धत।

विषमसाहस (सं० त्रि०) अत्यधिक साहसयुक्त, बहुत साहसी।

विषमसिद्धि—पूर्व चालुक्यवंशीय राजा कुब्जविष्णु-वर्द्धनका एक नाम, कीर्त्तिवर्माके पुत्र। चालुक्यवंश देखो।

विषमस्थ (सं० त्रि०) विषमे उन्नतानते सङ्कटे वा तिष्ठतीति विषम-स्था क। १ उन्नतानत प्रदेशका। २ सङ्कटस्थ, आपद्कालका। ३ उपप्लव (उपद्रव प्राप्त) देशस्थ।

विषमा (सं० स्त्री०) १ सौवीरवदर, झरवेरी। २ एक प्रकारका बछनाग।

विषमाक्ष (सं० पु०) १ विषम नयन। २ शिव, महादेव। (त्रिकाण्डशेष)

विषमाग्नि (सं० पु०) जठराग्निविशेष। कहते हैं, कि यह अग्नि कभी तो खाए हुए पदार्थोंको अच्छी तरह पचा देती है और कभी बिलकुल नहीं पचाती।

विषमादित्य एक प्राचीन कवि।

विषमाशन (सं० क्ली०) वैद्यकके अनुसार ठीक समय पर भोजन न करके समयके पहले या पीछे अथवा थोड़ा या अधिक भोजन करना। अधिक भोजन करनेसे आलस्य, गात्रगुरुता, पेटके भीतर गुड़गुड़ाहट शब्द तथा अल्प भोजन करनेसे शरीरकी कृशता और बलका क्षय होता है। (भावप्र०)

विषमाशुकर (सं० पु०) ग्रन्थिपर्णमूल, गंठिवन।

विषमित (सं० त्रि०) १ प्रतिकूलताप्राप्त। २ कुटिलीकृत।

विषमीय (सं० त्रि०) विषमादागतम् विषम-छः (गहादिभ्यश्छः। पा ४।२।१३८) विषमसे प्राप्त, सङ्कटापन्न।

विषमुच् (सं० त्रि०) विषं मुञ्चतीति विषमुच्-क्विप्। विषोद्गारणशील, जहर उगलनेवाला।

विषमुष्कक (सं० पु०) मदनवृक्ष, मैनफल। (वैद्यकनिघं)

विषमुष्टि (सं० पु०) १ क्षुपविशेष, बकायन। पर्याय—केशमुष्टि, सुमुष्टि, रणमुष्टिक, क्षुपडोड़मुष्टि। गुण—कटु, तिक्त, दीपन, रोचक तथा कफ, वात, कण्ठरोग और रक्तपित्तादिका दाहनाशक। (राजनि०) २ महानिम्ब, घोड़ा नीम। ३ कुचला। ५ जीवन्ती। ६ कलिहारी। ७ मदनवृक्ष।

विषमुष्टिक (सं० पु०) १ विषमुष्टि, बकायन। २ वृहत् अलम्बुषा, गोरखमुंडा। ३ कर्कोटा, वनतरोई।

विश्वमुष्टिका (सं० स्त्री०) विषमुष्टिक देखो।

विषमूला (सं० स्त्री०) शिरामलक, शिरआँवला।

विषमृत्यु (सं० पु०) विषेण विषदर्शनमात्रेण मृत्युरस्य। जीवञ्जीवपक्षी, चकोर पक्षी।

विषमेक्षण (सं० पु०) १ विषमनयन। २ शिव।

विषमेषु (सं० पु०) विषमा अयुग्मानि इषवो वाणा, (पञ्च) यस्य। पञ्चवाण। कामदेव।

विषमोन्नत (सं० त्रि०) १ क्रमोच्च निम्न, ढालवाँ। २ स्थपुट।

विषमोभयकण्टक (सं० पु०) घण्टावदर।

विषय (सं० पु०) विषिण्वन्ति स्वात्मकतया विषयिनं निरूपयन्ति संवध्नन्ति वा वि-षि अच्। १ चक्षुरादि इन्द्रियग्राह्य वस्तुजात ; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि। पर्याय—गोचर, इन्द्रियार्थ। द्व्यणुक (मिलित दो परमाणु)-से आरम्भ करके नद, नदी, समुद्र, पर्वत तथा प्राणसे लगायत महावायु तक समस्त ब्रह्माण्ड अर्थात् जीवका भोगसाधन जागतिक पदार्थमात्र ही विषय-शब्द-वाच्य है। यह भोग कहीं तो साक्षात् सम्बन्धमें और कहीं परम्परा सम्बन्धमें हुआ करता है। फलतः विना किसी न किसी प्रयोजनके सिवा किसी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती। अतएव द्व्यणुकसे ब्रह्माण्ड पर्यन्त सभी विषय अर्थात् इन्द्रियगोचर (इन्द्रियग्राह्य) कहलाते हैं।

द्रव्याश्रित शुक्लकृष्ण आदि रूप चक्षुके विषय हैं अर्थात् चक्षुग्राह्य हैं। इसी प्रकार मधुरादि छः प्रकारके रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय) रसनाग्राह्य अर्थात् जिह्वाके विषय हैं ; द्रव्यनिष्ठ सुगन्ध और दुर्गन्ध घ्राणेन्द्रियका विषय है ; त्वगिन्द्रिय द्वारा द्रव्यके शीत, उष्ण और शीतोष्ण वा नातिशीतोष्ण इन तीन प्रकारके गुणोंका अनुभव होता, इस कारण ये तीनों प्रकारके स्पर्शगुण त्वगिन्द्रियके विषय हैं ; फिर आकाशनिष्ठ शब्दगुण श्रोत्रेन्द्रियका तथा आत्मनिष्ठ सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न आदि, मन अर्थात् अन्तरिन्द्रियका विषय है।

सांख्यकारने विषय शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार की है,—"विषिण्वन्ति विषयिणं बध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति विषयाः पृथिव्यादयः सुखादयश्च। अस्मदादीनां अविषयाश्च तन्मात्रलक्षणाः योगीनां ऊर्द्ध्वं स्रोतसाञ्च विषयाः।" (सांख्यतत्त्वकौ०)

जो सब पदार्थ जीवको संसारमें आवद्ध करते हैं, जो इन्द्रिय (चक्षुः श्रोत्रादि) द्वारा गृहीत हो कर अपनी प्रकृतिकी अभिव्यक्तिसे विषयी (भोगी व्यक्तियों) का निर्णय करते हैं, उनका नाम विषय है। जैसे, क्षिति आदि और सुख आदि; क्योंकि इन क्षिति आदि द्रव्योंके रूपरसादि गुणों पर विमुग्ध हो जीव संसारमें आवद्ध होते हैं तथा उन द्रव्याश्रित रूपरसादिके प्रति उनकी भोगलालसा दिनों दिन बढ़ती जाती है। अतएव ये सब द्रव्य (क्षिति आदि) तदाश्रित रूपरसादिसे तथा उनके माधुर्य्य अनुभवके कारण उससे उत्पन्न सुखादि द्वारा ही विषयी (विषयावद्ध या संसारवद्ध जीव) का आसानीसे निर्णय किया जा सकता है। अतएव वे सब (क्षिति आदि) विषय हैं।

यह प्रायः सभी अनुमान कर सकते हैं, कि ऊर्द्ध्वस्रोताः योगिगण विषयी नहीं हैं ; क्योंकि साधारण रूपरसादिके प्रति उनकी जरा भी भोगलिप्सा नहीं हैं ; परंतु हम लोगोंके इन्द्रियातीत (इन्द्रिय द्वारा ग्रहणासमर्थ) तन्मात्रादि (रूपतन्मात्र रसतन्मात्र आदि विषयों) की उपलब्धि द्वारा वे लोग सुखका अनुभव करते हैं, इस कारण यदि सूक्ष्मविचारसे देखा जाय, तो वे लोग भी विषयी कहे जा सकते हैं।

२ नित्यसेवित, जिसका प्रतिदिन सेवा किया गया हो। ३ अव्यक्त, न प्रकट हो। (पु०) ४ शुक्र, वीर्य, रेतः। ५ जनपद। ६ कान्तादि। ७ नियामक। ८ सारोपा, आरोपाश्रय। सारोपा लक्षणा इस प्रकार है—जहां आरोप्यमाण गवादि और आरोपके विषय वाहीकादिके गोत्ववाहीकत्वादि प्रकाशमान वैधर्म्य रहते हुए भी दोनोंमें समानाधिकरण्य (समान-विभक्तिकत्व) देखा जाता है, वहां सारोपालक्षणा होती है। उक्त स्थलमें आरोप्यमाण (शकटमें नियोज्यमान) गो तथा आरोपका विषय (आश्रय) वाहीक (शकट), इन दोनोंके यथाक्रम गोत्व और वाहीकत्वरूप विभिन्नधर्माक्रान्त होने पर भी दोनोंके उत्तर एक ही प्रथमा विभक्ति निर्देश की गई जिससे 'सारोपालक्षणा' हुई तथा उसी (सारोपा लक्षणा)के द्वारा ही उसका (गौर्वाहीकः इस प्रयोगका) पूर्वोक्त प्रकार (गोवाह्य शकट)का अर्थ प्रकाशित होता हैं।

९ विचारयोग्य वाक्य अधिकरणावयवभेद। विषय (विचार्यविषय), विशय (संशय, सन्देह), पूर्वपक्ष (प्रश्न), उत्तर और निर्णय (सिद्धान्त) शास्त्रके इन पांच अङ्गोंको अधिकरण कहते हैं। १० देश। ११ आशय। १२ व्याकरणके मतानुसार सामीप्य, एकदेश, विषय और

व्याप्ति इन चार प्रकारके आधारके अन्तर्गत एक। १३ ज्ञेय पदार्थ, जानने योग्य वस्तु। १४ भोग्यवस्तु, भोगसाधन द्रव्य। १५ सम्पत्ति, धन। १६ वर्णनीय पदार्थ। १७ भूत। १८ गृह, आवास। १९ विशेष प्रदेशजात वस्तु। २० धर्मनीति। २१ स्वामी, प्रिय। २३ मुञ्जतृण, मूंज तृण, मूंज नामकी घास।

विषयक (सं० त्रि०) विषय-कन् स्वार्थे। विषय देखो।

विषयकर्म (सं० क्ली०) सांसारिक कार्य।

विषयग्राम (सं० पु०) विषयसमूह। (रूपरसगन्धादि)

विषयता (सं० स्त्री०) विषयका भाव या धर्म।

विषयपति (सं० पु०) किसी जनपद या छोटे प्रान्तका राजा या शासक।

विषयपुर (सं० क्ली०) नगरभेद। (दिग्वि० प्र० ५५६।४)

विषयत्व (सं० क्ली०) विषयका भाव या धर्म।

विषयवत् (सं० त्रि०) विषयो विद्यतेऽस्य विषय-मतुप् मस्य वत्वम्। विषयविशिष्ट, विषयी।

विषयवर्त्तिन् (सं० त्रि०) विषयान्तर्भूत, विषयके मध्य।

विषयवासी (सं० त्रि०) जनपदवासी।

विषयसप्तमी (सं० स्त्री०) वह सप्तमी विभक्ति जो विषयाधिकरणमें होती है। जैसे, धर्ममें मति हो।

विषयाज्ञान (सं० त्रि०) विषयाणां न ज्ञानं यत्र। तन्द्रा।

विषयात्मक (सं० त्रि०) विषयः आत्मा यस्य कप्। १ विषयस्वरूप। २ विषयाधिगत प्राण, अत्यन्त विषयासक्त।

विषयाधिकृत (सं० पु०) जनपदका शासनकर्त्ता।

विषयाधिप (सं० पु०) भूम्याधिकारी, राजा, शासनकर्त्ता।

विषयानन्तर (सं० त्रि०) विषयके बाद, एक प्रस्तावके ठीक बाद।

विषयान्त (सं० पु०) राज्यका प्रान्त वा सीमा।

विषयाभिमुखीकृति (सं० स्त्री०) १ चक्षुःश्रोत्रादि इन्द्रियोंका अपने अपने विषयके प्रति जाना। २ विषयप्रसक्ति।

विषयायिन् (सं० पु०) विषयान् अयते प्राप्नोतीति अय-णिनि। १ राजा। २ वैषयिक जन, कामी पुरुष। ३ इन्द्रिय। ४ कामदेव। ५ विषयासक्त पुरुष, विलासी आदमी। (मेदिनी)

विषयिक (सं० स्त्री०) विषयीभूत।

विषयित्व (सं० क्ली०) विषयीका भाव या धर्म।

विषयिन् (सं० क्ली०) विषयोऽस्त्यस्येति विषय-इनि। १ ज्ञानविशेष। २ इन्द्रिय। ३ नृपति, राजा। ४ कामदेव। ५ ध्वनि, शब्द। ६ धनी, अमीर। ७ आरोप्यमाण। (त्रि०) ८ विषयासक्त, विलासी, कामी।

विषयीकरण (सं० क्ली०) गोचरीकरण, लोगोंको दिखला देना।

विषयीभाव (सं० पु०) गोचरीभाव, स्पष्ट करनेका धर्म।

विषयीय (सं० पु०) विषय। (कुसुमाञ्जलि १४।२)

विषयेन्द्रिय (सं० क्ली०) शब्दादिग्राहक इन्द्रिय।

विषरस (सं० पु०) विषस्य रसं आस्वादः। विषास्वादन।

विषरूपा (सं० स्त्री०) विषं मूषिकाविषं रूपयति अतिक्रामति रूप-क। स्त्रियां टाप्। १ अतिविषा, अतीस। २ महानिम्बूक, घोड़ा नीम। ३ अलम्बुषा। ४ कर्कोटी, खेकसा।

विषरोग (सं० पु०) विषजन्य रोग।

विषल (सं० क्ली०) विष, जहर।

विषलता (सं० स्त्री०) १ इन्द्रवारुणीलता, ग्वालककड़ी। २ विषप्रधान लतासमूह, जहरीली लताएं। ३ मृणाल, कमलनाल।

विषलाङ्गल (सं० क्ली०) क्षुपभेद, कलिहारी।

विषलाटा (सं० स्त्री०) नगरभेद। (राजतर० ८।१७८)

विषलिप्तक (सं० क्ली०) विषसञ्चरण, विष लगा हुआ।

विषवत् (सं० त्रि०) विषमस्त्यस्येति विष-मतुप् मस्य वत्वम्। १ विषविशिष्ट, विषैला। विषमिव विष-इवार्थे-वत्। २ विषतुल्य, विषके समान।

विषवज्रपात (सं० पु०) रस।

विषवल्लरी (सं० स्त्री०) विषलता।

विषवल्ली (सं० स्त्री०) विषलता, इन्द्रवारुणी नामकी लता।

विषविटपिन् (सं० पु०) विषवृक्ष।

विषविद्या (सं० स्त्री०) विषाय तन्निवृत्तये विद्या। १ विषघ्न मन्त्र आदिकी सहायतासे झाड़ फूंक कर विष उतारनेकी विद्या। २ विषचिकित्साशास्त्र।

विषविधि (सं० स्त्री०) प्राचीन व्यवहारशास्त्रके अनुसार एक प्रकारकी परीक्षा या दिव्य जिससे यह जाना जाता था; कि अमुक व्यक्ति अपराधी है या नहीं।

दिव्य शब्द देखो।

विषवृक्ष (सं० पु०) उदुम्बरवृक्ष, गूलरका पेड़।

"विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।"

(कुमार २ अ०)

विषवैद्य (सं० पु०) विषमन्त्राभिज्ञ चिकित्सक, वह जो मन्त्र तन्त्र आदिकी सहायतासे विष उतारता है, ओझा। पर्याय—जांगुलिक, जाङ्गलिक, नरेन्द्र, कौशिक, कथाप्रसङ्ग, चक्रात, व्यालग्राही, जांगुलि, जाङ्गलि, अहितुण्डिक, व्यालग्राह, गारुड़िक। (शब्दरत्ना०)

विषवैरिणी (सं० स्त्री०) निर्विषी घास, निर्विषा।

विषशालुक (सं० पु०) पद्मकन्द, भसींड। गुण—गुरु, विष्टम्भी और शीतल। (राजवल्लभ)

विषशूक (सं० पु०) विषं शूके यस्य। भृङ्गरोल, भीमरोल नामका कीड़ा।

विषशृङ्गिन् (सं० पु०) विषं शृङ्गमिवास्त्यस्येति विषशृङ्ग इनि। भृङ्गरोल, भीमरोल नामका कीड़ा।

विषशोकापह (सं० पु०) तण्डुलीय क्षुप।

विषसंयोग (सं० पु०) सिन्दूर, सेंदुर।

विषसूचक (सं० पु०) विषं सूचयति विषयुक्तान्नादिदर्शने मृतः सन् ज्ञापयतीति सूच-णिच्-ण्वुल्। चकोर पक्षी।

विषसृक्कन् (सं० पु०) विषं सृक्कनि यस्य। भृङ्गरोल, भीमरोल नामका कीड़ा।

विषस्फोट (सं० पु०) स्फोटकभेद।

विषह (सं० त्रि०) विष-हन-ड। १ विषघ्न, विषनाशक। स्त्रियां टाप्। २ देवदाली। ३ निर्विषा।

विषहन्तृ (सं० पु०) १ शिरीषवृक्ष, सिरिसका पेड़। २ विषनाशक।

विषहन्त्री (सं० स्त्री०) १ अपराजिता। २ निर्विषा। ३ श्वेत अपराजिता।

विषहर (सं० त्रि०) हरतीति हृ-अच् विषस्य हरः १ विषघ्न औषध मन्त्रादि, वह औषध या मन्त्र आदि जिससे विषका प्रभाव दूर होता हो। गरुड़पुराणमें लिखा है, "ओं ह्रं जः" यह मन्त्र पढ़नेसे सभी प्रकारके बिच्छूका विष विनष्ट होता है। पीपल, मक्खन, सोंठ या अदरक, सैन्धव, मिर्चा, दधि, कुट इन सब द्रव्योंका चूर्ण एक साथ मिला कर नस्य वा पान करनेसे विष जाता रहता है। आंवला, हरीतकी, बहेड़ा, सोहागेका लावा, कुट और रक्तचन्दन इनके चूर्णको घीमें मिला कर पान करने तथा विषाक्त स्थानमें लेपनेसे विष उसी समय उतर आता है। कबूतरकी आंख, हरिताल और मैनसिल इनका व्यवहार करनेसे गरुड़के सर्पविनाशकी तरह विष नष्ट होता है। सोंठ, पीपर, मिर्चा, सैन्धव, दधि, मधु और घृत इन्हें एक साथ मिला कर बिच्छूके काटे हुए स्थान पर लगानेसे विष उसी समय जाता रहता है। (गरुड़पुराण १८९ अ०)

(पु०) २ ग्रन्थिपर्णभेद, भटेउर, चोरक। ३ धृष्टके एक पुत्रका नाम। (हरिवंश) ४ हिमालय पर्वतश्रेणीके पश्चिम भागका एक अंश। पर्वतभाग प्रधानतः दानेदार पत्थरोंसे भरा पड़ा है। यमुनोत्तरीके उच्च शिखरदेशसे लगायत सातुलके दक्षिण शतद्रु नदी तक प्रायः ६० मील विस्तृत है। विषहर पर्वतके शिखर १६६८२से २०९१६ फीट ऊंचे हैं। उसकी सर्व्वोच्च शिखर ही यमुनोत्तरी है। इस पर्वत पृष्ठमें १४८९१ से १६०३५ फीटके मध्य बहुतसे गिरिपथ हैं। यहांके बाशिन्दे हिन्दी बोलते हैं। लादक देखो।

विषहरा (सं० स्त्री०) १ देवदाली लता, बंदाल। २ निर्विषा। ३ मनसादेवी।

"जरत्कारुप्रियास्तीकमाता विषहरेति च।"

(देवीभाग० ९।४७।५२)

विषहरिवर्त्ति (सं० स्त्री०) सान्निपातादि विकारमें व्यवहार्य अञ्जनवर्त्ति विशेष। प्रस्तुतप्रणाली—जयपाल (जमालगोटा) बीजकी मज्जाको नीबूके रसमें इक्कीसबार अच्छी तरह पीस कर वर्त्तीकी तरह बनावे। पीछे मनुष्यकी लालसे उसको घिस कर अञ्जनकी तरह नेत्रमें व्यवहार करनेसे सान्निपातविकारादिमें उपकार होता है।

(रसेन्द्रचिन्ता०)

विषहरी (सं० स्त्री०) १ मनसादेवी। विषसंहारमें श्रेष्ठ होनेके कारण इनका नाम विषहरी हुआ है।

"विषं संहर्त्तु मीशा या तस्माद्विषहरी स्मृता।"

(देवीभागवत ६।४७।४७) मनसा देखो।

विषहा (सं० स्त्री०) विषं हन्ति हन-ड-स्त्रियां टाप्। १ देवदाली लता, बंदाल। २ निर्विषीघास।

विषहारक (सं० पु०) भूकदम्ब।

विषहारिणी (सं० स्त्री०) निर्विषा, निर्विषी नामक घास।

विषहृदय (सं० त्रि०) विषं हृदये यस्य। जिसका अन्तःकरण विषमय हो।

विषह्य (सं० त्रि०) वि-सह-यत्। विशेष प्रकारसे सहनीय, खूब सहने योग्य।

विषा (सं० स्त्री०) १ अतिविषा, अतीस। पर्याय—काश्मीरा, अतिविषा, श्वेता, श्यामा, गुञ्जा, अरुणाल। (रत्नमाला) विश्वा, शृङ्गी, प्रतिविषा, शुक्लकन्दा, उपविषा, भङ्गुरा घुणवल्लभा। गुण—उष्णवीर्य, कटु, तिक्त, पाचनी, दीपनी तथा कफ, पित्त, अतिसार, आम, विष, कास, वमि और क्रिमिनाशक। (भावप्र०)

२ लाङ्गलिका, कलिहारी। (वैद्यक निघ०) ३ कटुतुण्डी, कड़वी कन्दूरी। ४ कटुतुम्बी, कड़वी तरोई। ५ काकोली। ६ बुद्धि, अक्ल।

विषाक्त (सं० त्रि०) विषमिश्रित, विषयुक्त, जिसमें विष मिला हो, जहरीला।

विषाख्या (सं० स्त्री०) शुक्लकन्दातिविषा, सफेद अतीस।

विषाग्रज (सं० पु०) तलवार।

विषाङ्कुर (सं० पु०) शल्यास्त्र, तीर। (त्रिकाण्डकोष)

विषाङ्गना (सं० स्त्री०) विषनारी; विषकन्या देखो।

विषाण (सं० त्रि०) १ विशेष प्रकारसे मददाता। (ऋक् ५।४।११) (पु०) २ कुट या कुड नामक औषध। ३ पशुशृङ्ग, पशुका सींग। ४ हस्तिदन्त, हाथीदांत। (शिशुपालवध १।६०) २ बराहदन्त, सूअरका दांत। ६ मेषशृङ्गी, मेढासिंगी। इसका फल सींगके जैसा होता है। ७ औषधकी लता। ८ वृश्चिकाली, विच्छू नामकी लता। ९ क्षीरकँकोली। १० वाराहीकन्द, गेंठी। ११ तिन्तिड़ी, इमली।

विषाणक (सं० पु०) विषाण स्वार्थे कन्। विषाण देखो।

विषाणका (सं० स्त्री०) वह जिससे रोग अच्छी तरह पहचाना जाय। (अथर्व ६।४४।३)

विषाणवत् (सं० त्रि०) शृङ्गी, सींगवाला।

विषाणान्त (सं० पु०) गणेशके दांत।

विषाणिका (सं० स्त्री०) १ मेषशृङ्गी, मेड़ासिंगी। (रत्नमाला) २ कर्कटशृङ्गी, काकड़ासींगी। पर्याय—शृङ्गी, कर्कटशृङ्गी, कुलीर, अजशृङ्गी, रक्ता, कर्कटाख्या। (भावप्र०) ३ सातला नामका थूहर। ४ आवर्त्तकी भगवतवल्ली नामकी लता। ५ ऋषभक नामक ओषधि। ६ शृङ्गाटक, सिंघाड़ा। ७ काकोली।

विषाणिन् (सं० त्रि०) विषाणमस्त्यस्येति विषाण इनि। १ शृङ्गी, सींगवाला। (पु०) २ हस्ती, हाथी। ३ शृङ्गाटक, सिंघाड़ा। ४ ऋषभक नामकी ओषधि। (राजनि०) ५ शूकर, सूअर। ६ वृष, सांढ़।

विषाणी (सं० स्त्री०) १ क्षीरकाकोली। (मेदिनी) २ वृश्चिकाली, बिछाती। ३ तिन्तिड़ी, इमली। (शब्दच०)। ५ आवर्त्तकी लता, भगवतवल्ली नामकी लता। ६ चर्मकषा, चमरखा। ७ कदलीवृक्ष, केलेका पेड। ८ शृङ्गारक, सिंघाड़ा। ९ विष, जहर।

विषातकी (सं० स्त्री०) विषकी संयोजनाकारिणी।

(अथर्व ७।११९।२)

विषाद् (सं० त्रि०) विषं अत्तीति विष-अद् क्विप्। १ विषभक्षक, जहर खानेवाला, (पु०) २ शिव, महादेव।

विषाद (सं० पु०) वि-सद् घञ्। १ खेद, दुख, रंज। २ जड़ता, जड़ या निश्चेष्ट होनेका भाव। ३ कार्यमें अनुत्साह या अनिच्छा, काम करनेके बिलकुल जी न चाहना। ४ मूर्खता, बेवकूफी।

विषादन (सं० क्ली०) विषाद, दुःख, रंज।

विषादनी (सं० स्त्री०) विषाय तन्निवृत्तये अद्यतेऽसौ अद्-ल्युट् स्त्रियां ङीष्। १ पलाशी नामकी लता। २ इन्द्रवारुणी।

विषादवत् (सं० त्रि०) विषादयुक्त, विषादित।

विषादिता (सं० स्त्री०) १ विषादयुक्ता। २ विषादका धर्म या भाव।

विषादित्व (सं० क्ली०) विषण्णता, विषादयुक्तका भाव या धर्म।

विषादिन् (सं० त्रि०) विषादो विद्यतेऽस्य इति विषाद-इनि। विषादयुक्त, विषण्ण।

विषादिनी (सं० स्त्री०) १ पलाश नामकी लता। २ इन्द्रवारुणी।

विषानन (सं० पु०) विषमानने यस्य। सर्प, सांप। (शब्दमाला)

विषान्तक (सं० पु०) विषस्यान्तक इव। १ शिव। (हेम) (त्रि०) २ विषनाशक, जिससे विषका नाश हो।

विषान्न (सं० क्ली०) विषयुक्तमन्नम्। १ विषयुक्त खाद्य, जहरीला भोजन। २ सर्षपादि।

विषापवादिन् (सं० त्रि०) विषतुल्य निन्दावाक्य प्रयोगकारी, लगती हुई बातोंका प्रयोग करनेवाला।

विषापह (सं० पु०) विषं अपहन्तीति अप-हन ड। १ कृष्णमुष्कक वृक्ष, काला मोखा नामक वृक्ष। (त्रि०) २ विषनाशक, जिससे विषका नाश हो।

विषापहरण (सं० क्ली०) १ विषनाशन। २ विषापनोदन, विष दूर करना।

विषापहा (सं० स्त्री०) १ इन्द्रवारुणी। २ निर्विषी घास। ३ नागदमनी। ४ अर्कपत्री, इसरौल। पर्याय—अर्कपत्रा, सुनन्दा, अर्कमूला। ५ सर्पकङ्कालिका लता। (रत्नमाला) ६ त्रिपर्णी नामक महाकन्द। (राजनि०)

विषाभावा (सं० स्त्री०) विषस्याभावो यया। निर्विषा, निर्विषी घास।

विषामृत (सं० क्ली०) गरल और अमृत।

विषामृतमय (सं० त्रि०) गरल और अमृतयुक्त। कथासरित्सागरमें विषामृतमयी कन्याका उल्लेख है। (कथासरित्सा० ३६।८०)

विषायका (सं० स्त्री०) निर्विषी।

विषायिन् (सं० त्रि०) वि-सो-णिन् (पा ३।१।१३४)। तीक्ष्ण, तेज।

विषायुध (सं० पु०) विषमेवायुधं यस्य। १ सर्प, सांप। २ विषयुक्त अस्त्र, वह हथियार जो जहरमें बुझाया गया हो (त्रि०) ३ गरद, विषदाता।

विषायुधीय (सं० त्रि०) १ सर्प-सम्बन्धीय। २ विषाक्तास्त्र सम्बन्धीय। ३ विषदाता सम्बन्धीय। (वृहत् स० ५।४०)

विषार (सं० पु०) विषं गच्छति विष-ऋ-अण्। सर्प, सांप।

विषाराति (सं० पु०) विषस्याराति: नाशक:। १ कृष्ण धुस्तूर, काला धतूरा। २ विषनाशक।

विषारि (सं० पु०) विषस्यारि:। १ महाचञ्चुशाक, चेंच नामक साग। २ घृतकरंज, घीकरंज। (त्रि०) ३ विषनाशक, जिससे विषका नाश होता हो।

विषाला (सं० स्त्री०) मत्स्यविशेष, एक प्रकारकी मछली जिसका मांस वायु और कफको बढ़ानेवाला माना जाता है।

विषालु (सं० त्रि०) विषयुक्त, विषैला, जहरीला।

विषासहि (सं० त्रि०) विशेषरूपसे अभिभवकारी।

विषास्य (सं० पु०) विषमास्ये यस्य। १ सर्प, सांप। (त्रि०) २ विषयुक्त मुख।

विषास्या (सं० स्त्री०) भल्लातक, भिलावां। भल्लातक देखो।

विषास्त्र (सं० पु०) विषमेवास्त्रं यस्य। १ सर्प, सांप। (क्ली०) २ विषयुक्त अस्त्र, जहरमें बुझाया हुआ हथियार। ३ गरद, विषदाता।

विषित (सं० पु०) १ प्रकृष्ट, विशिष्ट। २ विबद्ध, सम्बन्ध। ३ प्रक्षिप्त, विक्षिप्त।

विषितस्तुक (सं० त्रि०) १ विशिष्ट केशसमूह। २ प्रकीर्णकेशसमूह, विक्षिप्त केशकलाप।

विषितस्तुप (सं० त्रि०) सम्बन्धभावमें उच्छ्राययुक्त।

विषिन् (सं० त्रि०) विषमस्त्यस्येति इनि। विषविशिष्ट, जहरीला।

विषी (सं० पु०) १ विषपूर्ण वस्तु, जहरीली चीज। १ विषधर सर्प, जहरीला सांप। (त्रि०) ३ विषिन् देखो।

विषीभूत (सं० त्रि०) अविषं विषं भूतं। विषीकृत, जहर डाला हुआ।

विषु (सं० अव्य०) १ साम्य। (भरत) २ नानारूप, तरह तरहका। (रामाश्रम)

विषुण (सं० पु०) विषु साम्यमस्मिन्नस्तीति (लोमादीति। पा ५।२।१००) विषु न-णत्वञ्च। १ विषुव। २ नानारूप। (ऋक् ३।५४।८) ३ सर्वग, सर्वत्रगामी। ४ विप्रकीर्ण, सर्वव्याप्त। (ऋक् ५।१२।५) ५ पराङ्मुख, विमुख। (ऋक् ५।३४।६)

विषुणक् (सं० अव्य०) १ विविध, नाना प्रकार।

२ सकल, सभी। "धनोरधि विषुण-क्ते व्यायन्।" (ऋक् १।३३।४)

विषुद्रुह (सं० त्रि०) विषु विश्वान् सकलान् शत्रून् द्रुह्यति हिनस्ति इति विषु द्रुह-क। शर, बाण, तीर। "विषुद्र हेव यज्ञमूहथुर्गिरा" (ऋक् ८।२६।१५)

विषुप (सं० क्ली०) विषुव।

विषुरूप (सं० त्रि०) १ नाना रूप, अनेक प्रकारका। (ऋक् १।१२३।७) २ विषमरूपका। (ऋक् ६।५८।१) ३ नानावर्ण, अनेक रंगका। (ऋक् ६।७०।३)

विषुव (सं० क्ली०) १ समरात्रिन्दिव काल, वह समय जब कि सूर्य विषुवरेखा पर पहुंचता है और दिन तथा रात दोनों बराबर होते हैं। चैत्रमासके अन्तिम दिनमें जब सूर्य मीनराशिको पार कर मेषराशिमें तथा उसी प्रकार आश्विनमासके अन्तिम दिनमें जब वे कन्यराशिको अतिक्रम कर तुलाराशिमें जाते हैं, उसी समयका नाम 'विषुव' है; क्योंकि इस दिन दिन और रातका मान समान रहता है। इस उक्तिसे यह विश्वास हो सकता है, कि आजकल पञ्जिकामें दिवारात्रिका समान मान ९वीं चैत और ९वीं आश्विनको लिखा रहता है, तब क्या उसी तारीखमें विषुवसंक्रान्ति होगी? अर्थात् सूर्य उक्त मितीको हो मीनसे मेषमें तथा कन्यासे तुलामें जायंगे। किन्तु यथार्थमें वह नहीं है। क्योंकि; मीनराशिमें संक्रमणसे सूर्यको राशिभोगकालके नियमानुसार वहां (उस मीनराशिमें) एक मास तक रहना पड़ता है। अतएव सहजगतिमें ९ दिनके बाद उनका दूसरी राशिमें जाना असम्भव है। अतएव इसकी ठीक ठीक मीमांसा विस्तृतरूपसे नीचे की गई है।

विषुवारम्भका नियम,—सूर्यकी मेषराशि संक्रमणके पूर्व और पश्चात्, प्रतिलोम और अनुलोम गति द्वारा २७ दिनके मध्य विषुव आरम्भ होता है। जिस जिस दिन विषुव आरम्भ होता है अर्थात् सूर्य विषुवरेखाके पूर्व पश्चिम स्पर्शविन्दुके मध्यगत होते हैं, उसी उसी दिन पृथिवीके जिन सब स्थानोंमें सूर्यका नित्य दर्शन होता है, वहां दिन और रात्रिका परिमाण समान रहता है। विषुव दो है; अश्विनी नक्षत्रके प्रारम्भमें मेषराशिमें जो विषुव आरम्भ होता है, उसका नाम 'महाविषुव' है और चित्रा नक्षत्रके शेषार्द्धमें तुलाराशिके प्रारम्भमें जो विषुवरेखा स्पर्श होती है उसे 'जलविषुव' कहते हैं।

प्रतिलोम और अनुलोमका नियम—जिस शकाब्दमें सूर्यको मेषराशि सञ्चारके दिन जब विषुव आरम्भ होता है, तब उस शकको ३०वीं चैत्र और ३०वीं आश्विनको दिन और रात्रिका मान समान रहता है। ६६ वर्ष ८ मास तक यही नियम चलता है। प्रतिलोम गतिको जगह सूर्यके मेष और तुला संक्रमणके एक एक दिन पहले विषुव आरम्भ होता है; अतएव इस (प्रतिलोम) गतिमें प्रत्येक ६६ वर्ष ८ मासके बाद मेष और तुला संक्रमणके एक एक दिन पहले विषुव आरम्भ होनेके कारण उन दो मासोंके (चैत्र और आश्विन) एक एक दिन पहले अर्थात् १म ६६ वर्ष ८ मास तक ३०वीं को २य ६६ वर्ष ८ मास २९वींको ३य ६६ वर्ष ८ मास २८वींको ४र्थ ६६ वर्ष ८ मास २७ वींको इत्यादि प्रकारसे दिन और रात्रिका मान समान होता है, बीस ६६ वर्ष ८ मासके बाद या इक्कीस ६६ वर्ष ८ मासके भीतर विषुव आरम्भ हो कर वर्त्तमान (१८५१ शकाब्द) ८वीं चैत्र और ९वीं आश्विनको दिन और रात्रिका मान समान भावमें चला आता है। फिर अनुलोम गतिस्थलमें भी मेष और तुला संक्रमणके दिन विषुव आरम्भके बाद ऊपर कहे गयेके अनुसार ६६ वर्ष ८ मासके अन्तर पर एक एक दिन पीछे विषुव आरम्भ होता है। अर्थात् १म ६६ वर्ष ८ मास ३०वीं चैत्र और ३०वीं आश्विनको २य ६६ वर्ष ८ मास, १ली वैसाख और १ली कार्त्तिकको, ३य ६६ वर्ष ८ मास २री वैशाख और २री कार्त्तिकको, इत्यादि नियमसे दिन और रात्रिका मान समान होता है।

सूर्यकी मेषराशि संक्रमणके पूर्व और पश्चात्, प्रतिलोम और अनुलोम गति द्वारा २७ दिनके मध्य विषुव आरम्भण होता है। इसका स्फुटार्थ यह है, कि सूर्यको मेषराशि संक्रमण (३० वीं चैत्र) दिनसे ले कर पूर्ववर्त्ती २७ दिन (४थी चैत्र) तक प्रतिलोम गतिसे तथा उस दिन (३० वीं चैत्र)

से परवर्त्ती (सम्मुखवर्त्ती) २७ दिन (१लीसे २७वीं वैसाख) तक अनुलोम गतिसे विषुव आरम्भ होता है। अर्थात् इन (२७·२७) ५४ दिनोंमेंसे जिस किसी दिन एकादिक्रमसे ६६ वर्ष ८ मास तक सूर्य एक बार करके विषुवरेखा पर पहुंचते हैं और उस दिन दिवारात्रिका मान समान रहता है। इससे यह भी समझा जायेगा, कि ४थी आश्विनसे २७वीं कार्त्तिक तक ५४ दिनोंमेंसे जिस किसी दिन सूर्य एकादिक्रमसे ६६ वर्ष ८ मास तक एक बार करके विषुवरेखा पर उपस्थित होते हैं तथा उस दिन दिवारात्रिका मान समान रहेगा। इसीलिये वर्षमें दो दिन करके दिवा और रात्रिका मान समान देखा जाता है। फिर यह भी जानना होगा, कि ३०वीं चैत्रके पहले वा पीछे जिस तारीखको सूर्य विषुवरेखा पर आते हैं, ३०वीं आश्विनके पहले और पीछे भी ठीक उसी तारीखको एक बार और विषुवरेखा पर आयंगे।

उक्त प्रतिलोम और अनुलोम गतिका कारण यह है,—सृष्टिके आरम्भकालमें जहां अश्विनी नक्षत्रके प्रारम्भसे राशिचक्र सन्निवेशित हुआ था, वहांसे वह राशिचक्र सम्मुख और पश्चाद्भागमें अर्थात् उत्तरमें एक एक २७ अयनांश (Degree) तथा दक्षिणामें भी उसी प्रकार २७ अंश हट जाता है। यह अयनगति ७२०० वर्षमें सम्पूर्ण होती है ; क्योंकि प्रथमतः ३०वीं चैत्रसे ४थी चैत्र तक प्रतिलोम गतिसे २७ अंश जानेमें (६६।८×२७) १८०० वर्ष लगता है ; पीछे ३०वीं चैत्र तक लौट आनेमें भी १८०० वर्ष। इस प्रकार अनुलोम गतिसे भी १ली वैशाखसे २७ वैशाख तक २७ अंश जा कर लौट आनेमें उतना ही समय अर्थात् (१८००×२) ३६०० वर्ष लगता है, अतएव प्रतिलोम और अनुलोम गतिसे जानेमें (२७ – २) ५४अंश; अथवा जाने और आनेमें अर्थात् (५४×२) १०८ अंश तक जाने और आनेमें (६६×१०८) ७२०० वर्ष लगता है।

राशिचक्रकी इस अयनगतिवशतः सूर्यकी गतिके अनुसार दिन रात्रिकी कमीवेशी हुआ करती है तथा ६६ वर्ष ८ मासके बाद अयनांश परिवर्त्तित होनेसे मेषादि बारह लग्नोंके मानका भी ह्रास वृद्धि हो कर परिवर्त्तन होता है। एक वर्षका अयनांश मात्र ५४ विकला है। एक मासमें ४।३० साढ़े चार विकला तथा एक दिनमें सिर्फ ९ अनुकला होती है। नीचे अयनांश निरूपणका नियम लिखा जाता है।

४२२ शकाब्दसे ले कर जिस किसी शकाब्दका अयनांश निकालना हो, उस अङ्कमें ४२१ वियोग करे। वियोगफल जो होगा, उसे दो स्थानोंमें रख एकको १०से भाग दे। भागफल जो होगा उसको दूसरेसे घटावे। इसके बाद अवशिष्ट अङ्कको ६०से भाग देने पर भागफल और भागशेषाङ्क, अयनांश और कला विकलादि रूपमें निरूपित होगा। उसे उस शकाब्दके आरम्भकालका अर्थात् १ली वैसाखके पूर्वक्षणका अयनांश जानना होगा।

उहाहरण— १८२९ शकाब्दके प्रारम्भमें अयनांश जो था, वह इस प्रकार है,—१८२९ – ४२१ = १४०८। १४०८ ÷ १० = १४०।४८। १४०८—१४०।४८ = १२६७।१२ ; (१२६७।१२) ÷ ६० = २१।७।१२ अर्थात् १८२९ शकसे ४२१ निकाल लेने पर १४०८ हुआ। १४०८ में १० भाग देनेसे भागफल १४०।४८ होता है। इस लब्धफलसे फिर १४०८ निकाल लेने पर अवशिष्ट १२६७ कला और १२ विकला रहा। उसमें ६० भाग दे कर अंश लानेसे २१ अंश भागफल हुआ तथा ७ कला और १२ विकला अवशिष्ट रहा। अतएव जाना गया, कि १८२९ शक (सन् १३१४ साल)के प्रारम्भमें अयनांशादि २१।७।१२ विकला निरूपित हुआ।

४२१ शकके प्रारम्भमें मेष संक्रांतिके दिन ही विषुवारम्भण हुआ था। उस शकमें अयनांश शून्य होता है। इसके बाद ४२१ शक पूर्ण हो कर ४२२ शकके प्रारम्भमें अर्थात् महाविषुवसंक्रांतिके दिन अयनांश ५४ विकला हुआ था। उक्त ४२२ शकसे प्रति वर्ष अयनांश ५४ विकला बढ़ा कर १८२९ शक (सन् १३१४ साल)-के प्रारम्भमें २१।७।१२ (इक्कीस अंश ७ कला और १२ विकला) अयनांशादि पूर्ण हुआ है, अर्थात् २१वां अयनांश उत्तीर्ण हो कर २२वें अयनांशका ७ कला और १२ विकला हुआ है। आगामी १८८८ शक (सन् १३७३ साल) के अग्रहयण मासमें* बाईसवां अयनांश

---

* प्रति वर्ष ५४ विकला बढ़नेसे ७।२२ विकला जानेमें ८ वर्ष लगता है, अतएव (१८२९-८) १८२१ शकमें बङ्गला

पूर्ण हो कर तेईसवां अयनांश आरम्भ होगा तथा उस शकके चैत्र मासको ८वीं तारीखको विषुव आरम्भ हो कर उस दिन दिवा और रात्रिका मान समान देखा जायेगा। अर्थात् उस समय वही काल 'विषुव' निर्दिष्ट होगा।

विषुवरेखा (सं० स्त्री०) विषुवं समरात्रिन्दिव कालो यस्यां रेखायां सा। ज्योतिषके कार्य्यके लिये कल्पित एक रेखा जो पृथ्वी तल पर उसके ठीक मध्य भागमें बड़े बलमें या पूर्व-पश्चिम पृथ्वीके चारों ओर मानी जाती है। यह रेखा दोनों मेरुओंके ठीक मध्यमें और दोनोंसे समान अन्तर पर है। इस रेखाके उत्तर मेष, वृष, मिथुन, कर्कट, सिंह और कन्या ये छः राशि तथा दक्षिण ओर तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन ये छः राशि तिर्य्यकभावसे वृत्ताकारमें राशिचक्रके ऊपर अवस्थित हैं। राशिचक्र देखो।

"प्राक् पश्चिमाश्रिता रेखा प्रोच्यते सममण्डलम्।
उन्मण्डलञ्च विषुवन्मण्डलं परिकीर्त्तितम्॥"
(सिद्धांतशिरो०)

पाश्चात्यमतसे पृथिवीके मध्यस्थलमें पूर्व-पश्चिमकी ओर विस्तृत जो कल्पित रेखा है, वही विषुव रेखा है। इसका दूसरा नाम निरक्षवृत्त है अर्थात् इसकी डिग्रीका चिह्न है ०। नभोदेशमें इस प्रकार कल्पित वृत्तके ऊपरसे तिर्य्यक्भावमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर सूर्य्यकी प्रत्यक्षगतिपथ वा रविमार्ग (line of the aliptic) अवधारित है। सूर्य्य देखो।

इस ज्योतिष्कपथसे पृथिवीके एक घूमनेमें ३६५ दिन लगता है[¶]। यही वार्षिक गति है, इस कारण इसको एक वर्ष कहते हैं। वर्षके भीतर उत्तरायण और दक्षिणायण समयक्रमसे इस विषुवरेखाके उत्तरसे दक्षिण तथा दक्षिणसे उत्तरकी ओर पृथिवीकी गति बदलती रहती है, जिससे संसारमें छः ऋतुओंका आविर्भाव होता है। इसी कारण इस कल्पित रेखाके २३° ४६५ डिग्री उत्तर तथा २३° ४६५ डिग्री दक्षिण और भी दो छोटे वृत्त कल्पित हुए हैं। उनमेंसे उत्तरी वृतका नाम कर्कटक्रान्ति (Tropic of cancer) है। सूर्य्यदेव कभी भी उत्तरमें कर्कटक्रान्ति और दक्षिणमें मकरक्रान्तिको सीमा पार नहीं करते। जब सूर्य्य विषुवरेखाके उत्तर कर्कटक्रान्तिकी ओर रहते हैं, तब विषुवरेखाके उत्तर दिन बड़ा और रात छोटी होती है। फिर जब सूर्य्य विषुवरेखाके दक्षिण जाते हैं, तब उत्तरी देशोंमें दिन छोटा और रात बड़ी होती है। इस दक्षिण भागमें उसका ठीक विपरीत भाव हीं दिखाई देता है। जब सूर्य्यकिरण विषुवरेखाके उत्तर लम्ब भावमें पड़ती है तब दिन और रात्रिका मान समान होता है तथा सूर्य्यकिरण बहुत प्रखर रहती है। इसी कारण उस समय उत्तर और दक्षिणक्रान्तिके मध्यवर्त्ती देशवासी शीत और ग्रीष्मको समता अनुभव करते हैं। सूर्य्यदेव विषुवरेखाको अतिक्रम कर कर्कटक्रान्तिकी ओर ज्यों ही जाते हैं, त्यों ही उत्तरी दिशामें ग्रीष्मका प्रादुर्भाव होता है तथा उसके विपरीत विषुवके दक्षिणस्थ मकरक्रान्ति सन्निहित देशोंमें शीतका प्रकोप बढ़ता है।

सूर्य्यदेव जब विषुवरेखासे उत्तर या दक्षिण ९०° में आते हैं, तब यथाक्रम हम लोगोंके देशमें ग्रीष्म और शीतकी तथा दिवा और रात्रिकी वृद्धि वा ह्रास होती है। उन दोनों स्थानोंको Summer Solstice और Winter Solstice कहते हैं। जब सूर्य्य उत्तर ९०° से धीरे धीरे १८०° में फिरसे विषुवरेखाके समसूत्रपातमें अर्थात् विषुवरेखाके ऊपर रहते हैं, तब शारदीय समदिवारात्रि (autumnal equinox) तथा वहांसे दक्षिण २७०°

१३०६ सालके आरम्भमें अर्थात् १३०५ सालकी ३० वीं चैत्र महाविषुवसंक्रांतिके दिन बाईसवां अयनांश आरम्भ हुआ है। इसीलिये अभी देखा जाता है, कि उक्त १८२१ शककी १ली वैशाखसे जब तक ६६ वर्ष ८ मास पूरा न होगा, तब तक बाईसवां अयनांश रहेगा। इस कारण (१८२१ + ६६।८मास) १८८७ शक उत्तीर्ण हो कर १८८८ शकके ८ मास अर्थात् अग्रहायण पर्य्यन्त बाईसवें अयनकी अवस्थिति होगी। (यह ३६० दिनका वर्ष मान कर यह गणना की गई, ३६५ दिनका वर्ष माननेसे और भी २।१ मास तक वह अयनांश ठहर सकता है।)

[¶] ३६५ दिन ६ घंटा।

अतिक्रम कर जब फिरसे विषुवरेखा पर पहुंचते हैं, तब वासन्तिक समदिनरात्रि (Vernal equinox) होती है।

सूर्य्य प्रायः २२वीं दिसम्बरको दक्षिणमें मकरक्रान्तिसे २३° ४६५ अयनांश धीरे धीरे उत्तरकी ओर हटने लगते हैं तथा प्रायः २१वीं मार्चको विषुवरेखा पर पहुंचते हैं। इस दिन पृथिवीके उष्णमण्डलमें तमाम दिनरातका मान बराबर रहता है। इस दिनको वासन्तिक वा महाविषुवसंक्रान्ति कहते हैं। इसके दूसरे दिनसे सूर्य्य क्रमशः विषुवरेखासे उत्तरकी ओर जाने लगते हैं तथा २२वीं जूनको २३°४६५ अंश वक्रभावसे कर्कटक्रान्तिमें आ कर फिरसे दक्षिण विषुवरेखाकी ओर अग्रसर होते हैं। इसके बाद वे २३वीं सितम्बरको विषुवरेखा पर पहुंचते हैं। इस दिनको शारद या जलविषुवसंक्रान्ति कहते हैं। अनन्तर सूर्य्य दक्षिणकी ओर २२वीं दिसम्बरको मकरक्रान्ति सीमा पर आते हैं। इस प्रकार सूर्य्य विषुवरेखा के ऊपर उत्तरसे दक्षिण तथा दक्षिणसे उत्तर अयनमें परिभ्रमण करते हैं। बङ्गालमें साधारणतः ९वीं चैत, ९वीं आषाढ़, आश्विन और ९वीं पौषको ऐसा हुआ करता है। पृथिवीके कल्पित मेरुदण्ड (Axis)का मध्यविन्दु और विषुवरेखाका मध्यविन्दु यदि एक सरल रेखासे मिला दिया जावे, तो वे दोनों रेखाएं एक दूसरे पर लम्बरूपमें पड़ेंगी।

विषुवरेखा और मेरुदण्ड रेखाके संयोजक विन्दुसे उत्तर और दक्षिणमें कर्कटक्रान्ति तथा मकरक्रान्ति तक जो बड़ा तिर्य्यक्-वृत्त कल्पित होता है, उसको रविमार्ग कहते हैं। इस रेखाके किसी न किसी स्थान पर सूर्य्यग्रहण वा चन्द्रग्रहणके समय सूर्य्य, चन्द्र और पृथिवी ये सभी समसूत्रभावमें रहते हैं। पृथिवी अपने मेरुदण्ड (Axis)-के चारों ओर पश्चिमसे पूर्वकी ओर घूमती है। इससे नभोमण्डलका पूर्वसे पश्चिमकी ओर आवर्त्तित होना दिखाई देता है।

सूर्य्य जब विषुवरेखाके ऊपर आते हैं, तब पृथ्वी भरमें दिन रात्रिका परिमाण समान (Equal) रहता है। इस कारण इस रेखाको विषुवरेखा वा निरक्षरेखा (Equator) कहते हैं। भौगोलिक हिसाबसे स्थानकी दूरी निर्णय करनेमें विषुवरेखाके बाद उत्तर और दक्षिण समान्तरालभावमें अक्षरेखा और द्राघिमाकी आवश्यकता होती है। प्रत्येक द्राघिमा रेखा उत्तर-दक्षिण लम्बभावमें विषुवरेखाके ऊपर गिरी है; इसको माध्यन्दिन रेखा भी कहते हैं। प्रत्येक अक्षरेखा भी माध्यन्दिन रेखासे जहां लम्ब भावमें एक दूसरेसे मिलती है, वहां ३६० डिग्री अथवा चार समकोनोंकी उत्पत्ति हुई है।

विस्तृत विवरण विषुव और पृथिवी शब्दमें देखो।

विषुवत् (सं० क्ली०) १ विषुव। २ व्यापक।
(ऋक् १।८४।१०)

विषूकुह् (सं० त्रि०) द्विखण्डविशिष्ट, जो दो खंडोंमें विभक्त हो। (आश्व० श्रौ० ५।३।२२)

विषूचक (सं० पु०) विषूचिका, विसूचिका नामक रोग। विसूचिका देखो।

विषूचि (सं० क्ली०) विषूचीन मनः।
(भागवत ४।२९।१६)

विषूचिका (सं० स्त्री०) विसूचिका रोग।
विसूचिका देखो।

विषूचीन (सं० स्त्री०) १ इहलोकमें सर्वत्र गमनशील, इस संसारमें तमाम जानेवाला। (ऋक् १।१६४।३८) २ सर्वतःप्रसृत, तमाम फैला हुआ।

विषूवृत् (सं० त्रि०) सर्वस्थलमें परिवर्त्तमान, सभी जगह मौजूद।

विषोढ़ (सं० त्रि०) वि-सह क्त। असहिष्णु, असहनकारी।

विषौषधी (सं० स्त्री०) विषस्य औषधी। नागदन्ती।
(रत्नमाला)

विष्क (सं० पु०) विक्क, वह हाथी जिसकी अवस्था बीस वर्षकी हो गई हो। (शिशुपालवध १८।२७)

विष्कन्ध (सं० क्ली०) गतिनिवर्त्तक, वह जो गतिको रोकता हो। (अथर्व १।१६।३ सायण)

विष्कन्धदूषण (सं० त्रि०) विघ्ननिवारक, विघ्न-बाधा रोकनेवाला। (अथर्व २।४।१)

विष्कम्भ (सं० पु०) १ फलितज्योतिषके अनुसार सत्ताईस योगोंमेंसे पहला योग। यह आरम्भके पांच दंडोंको छोड़ कर शुभकार्य्यके लिये बहुत अच्छा समझा जाता है। इस योगमें जन्म लेनेवाला मनुष्य सब

बातोंमें स्वाधीन, घर आदि बनानेमें पटु और भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र आदिसे सदा सुखी रहता है।

२ विस्तार। ३ प्रतिबंध, बाधा। ४ रूपकाङ्ग-भेद, नाटकका अङ्कविशेष।

नाटकाङ्कके प्रथम अर्थात् प्रस्तावना कालमें जो जो विषय कहा जाता है, उसे संक्षिप्तभावमें पृथक् रूपसे दिखलानेका नाम विष्कम्भ है। यह शुष्क और सङ्कीर्ण-के भेदसे दो प्रकार है। जहां एक या दो मध्यम पात्र द्वारा कार्य सम्पन्न होता है वहां शुद्ध; जैसे मालती माधवमें—श्मशानमें कपालकुण्डला। फिर जहां नीच और मध्यम पात्र द्वारा क्रिया कल्पित होती है, वहां सङ्कीर्ण अर्थात् विमिश्र होता है; जैसे रामाभिनन्दमें—क्षपणक और कापालिक। कहनेका तात्पर्य यह कि प्रस्तावित बाहुल्य विषयके मध्यसे असार गर्भ और नीरस अर्थात् रसात्मक नहीं है, ऐसी अतिरिक्त वस्तुका परित्याग कर सिर्फ मूल प्रस्तावके अपेक्षित पदार्थ दिखाना ही नाटकमें विष्कम्भका कार्य है।

(साहित्यद० ६ अ०)

५ योगियोंका एक प्रकारका बंध। ६ वृक्ष, पेड़। ७ अर्गला, ब्योंड़ा। (भरत) ८ पर्वतभेद। वराह-पुराण ८० अध्याय तथा लिङ्गपुराण ६१।२८ श्लोकमें इसके परिमाणादिका विवरण है।

विष्कम्भक (सं० पु०) विष्कम्भ-स्वार्थे कन्। विष्कम्भ देखो।

विष्कम्भिन् (सं० पु०) विष्कभ्नाति रुणद्धीति वि-स्कम्भ-णिनि। १ अर्गल, ब्योंड़ा। २ शिव, महादेव।

(भारत)

विष्कर (सं० पु०) वि-कृ अप् ल्युट् च। १ अर्गल, ब्योंड़ा। २ पक्षी, चिड़िया। ३ दानवभेद।

(भारत भीष्म)

विष्कल (सं० पु०) विषं विष्ठां कलयति भक्षयतीति कल-अच्। ग्राम्यशूकर, पालतू सूअर।

विष्किर (सं० पु०) विकिरन्तीति वि-कृ-विक्षेपे इगुपधेति-क, (विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा। पा ६।१।१५०) इति सुट, परिनिविभ्यइति षत्वं। १ पक्षिभेद, वे पक्षी जो अन्नको इधर उधर छितरा कर नखोंसे कुरेद कर खाते हैं। जैसे, कबूतर, मुरगा, तीतर, बटेर, लावा आदि। इनका मांस मधुरः कषाय रसात्मक, बलकारक, शुक्र-वर्द्धक, त्रिदोषनाशक, सुपथ्य और लघु होता है।

(भावप्र० पूर्वख०)

सुश्रुतमें विष्किर पक्षीका विषय इस प्रकार लिखा है—लाब, तीतर, कपिञ्जल, वर्त्तिर, वर्त्तिका, वर्त्तक, नप्तृका, बातीक, चकोर, कलविङ्क, मयूर, क्रुकर, उपचक्र, कुक्कुट, सारङ्ग, शतपत्रक, कुतित्तिरि, कुरवाहुक और यवलक आदि पक्षी विष्किर जातिके हैं। इनके मांसका गुण—लघु, शीतल, मधुर, कषाय और दोषशान्तिकर हैं। (सुश्रुत सूत्रस्था०)

२ दर्वीकर नामक जातिके अन्तर्गत एक प्रकारका साँप। (सुश्रुत सूत्रस्था० ४ अ०)

विष्कुम्भ (सं० पु०) विषकम्भ देखो।

विष्ट (सं० त्रि०) विश क्त। १ प्रविष्ट। २ आविष्ट। ३ आश्रित।

विष्टकर्ण (सं० त्रि०) विष्टः कर्ण यस्य। प्रविष्टकर्ण, जिसके कानोंमें घुस गया हो।

विष्टप् (सं० स्त्री०) स्वर्गलोक। (ऋक् १।४६।३)

विष्टप (सं० क्ली०) जगत्, भुवन।

विष्टपुर (सं० पु०) ऋषिभेद। (पा ४।१।१२३)

विष्टब्ध (सं० त्रि०) वि-स्तम्भ-क्त। १ प्रतिबन्ध, बाधा-युक्त। २ रुद्ध, रुका हुआ।

विष्टब्धि (सं० स्त्री०) वि-स्तम्भ-क्तिन्। विष्टम्भ।

विष्टम्भ (सं० पु०) वि-स्तम्भ-घञ्। १ प्रतिबन्ध, रुका-वट। २ आक्रमण, चढ़ाई। ३ एक प्रकारका रोग। इसमें मल रुकनेके कारण रोगीका पेट फूल जाता है।

विशेष विवरण अनाह और विबन्ध शब्दमें देखो।

(त्रि०) ४ विशेषरूपसे स्तम्भयिता, विशेषरूपमें स्तब्धकारक।

(ऋक् ६।८६।३५)

विष्टम्भकर (सं० त्रि०) विष्टम्भं करोति कृ-अप्, यद्वा-करोतीति कर, विष्टम्भस्य करः। विष्टम्भजनक, आध्मान-कारक।

विष्टम्भन (सं० पु०) १ रोकने या संकुचित करनेकी क्रिया। २ वह जो रोकता वा संकुचित करता हो।

(शुक्लयजुः ६४।५)

विष्टम्भयिषु (सं० त्रि०) संस्तम्भयिषु, स्तम्भन करनेमें उत्सुक।

विष्टम्भी (सं० त्रि०) विष्टभ्नातीति वि-स्तन्भ-णिनि। १ विष्टम्भरोगजनक, जिससे पेटका मल रुके। विष्टम्भोऽस्यास्तीति विष्टम्भ-इनि। २ विष्टम्भरोगविशिष्ट, जिसे विष्टम्भरोग हुआ हो।

विष्टर (सं० पु०) विस्तीर्य्यते इति वि-स्तृ-अप्। (वृक्षासनयोर्विष्टरः। पा ८।३।९३) इति निपातनात् षत्वं। १ विटपी, वृक्ष। २ पीठादि स्थान। (अमर) ३ कुशासन, कुशका बना हुआ आसन।

विवाहकालमें सम्प्रदाता जामाताको विष्टरासन देते हैं। इसका लक्षण—सार्द्ध द्वितय वामावर्त्तावस्थित अधोमुख असंख्यात दर्भमुष्टि अर्थात् एक मुट्ठी साग्रकुशाको उसके अग्रभागमें वामावर्त्तसे ढाई पेंच दे कर उसके अगले भागको नीचेकी ओर रख देनेसे विष्टर बनता है। होमकालमें कुश द्वारा जो ब्रह्माको प्रस्तुत कर वहिस्थापन करना होता है; वह ब्रह्मा भी इसी प्रकार बनाया जाता है। किन्तु उसका अग्रभाग ऊपरकी ओर रहता और उसमें दक्षिणावर्त्तसे ढाई पेंच देना होता है। विष्टर और ब्रह्मामें सिर्फ इतना ही प्रभेद है। भवदेवभट्टने कहा है, कि पचास अग्रकुशसे ब्रह्मा और पचीस साग्रकुशसे विष्टर बनाना चाहिये। किन्तु रघुनन्दन संस्कारतत्त्वमें इस संख्याका विषय तथा विष्टरदान-कालमें दो हाथसे पकड़वा देनेका विषय स्वीकार नहीं करते।

अभी ५ या ७ साग्रकुशासे विष्टर बनाते हुए देखा जाता है। जब इसकी कोई निर्द्दिष्ट संख्याका नियम नहीं है, तब इसीको शास्त्रसङ्गत समझना होगा।

विष्टरभाज् (सं० त्रि०) प्राप्तासन, जिसे आसन मिला हो।

विष्टरश्रवा (सं० पु०) विष्टराविव श्रवसी यस्य, वा विष्टरे अश्वत्थवृक्षे श्रूयते नित्यं तत्र वसतीति। (उण्। ४।२२६) भगवान् विष्णु, कृष्ण।

विष्टरस्थ (सं० त्रि०) आसन पर बैठा या सोया हुआ।

विष्टरा (सं० स्त्री०) गुण्डासिनी नामकी घास।

विष्टराज् (सं० पु०) रौप्य, चांदी।

विष्टराश्व (सं० पु०) पृथुके एक पुत्रका नाम। (हरिवंश०)

विष्टरुहा (सं० स्त्री०) स्वर्णकेतकी, पोली केतकी। कहीं कहीं विष्टारुहा, ऐसा भी पाठ देखनेमें आता है।

विष्टरोत्तर (सं० त्रि०) कुशाच्छादित, कुशसे मढ़ा हुआ।

विष्टान्त (सं० त्रि०) व्याप्तावसान, जिसका अवसान हुआ हो। (ऋक् १०।९३।१३)

विष्टार (सं० पु०) १ छन्दोविशेष, पंक्ति छन्द। (छन्दो नाम्नि च पा ३।३।३४) "विस्तीर्य्यन्तेऽस्मिन्नक्षराणीति, विष्टारः पंक्तिछन्द।" छन्दका बोध होनेसे वि स्तृ धातुका षत्व हो कर विष्टार पद बनता है। २ विस्तृत। विष्टार शब्दका विस्तृत अर्थ वेदमें प्रयुक्त हुआ है। लौकिक प्रयोगमें छन्दः यही अर्थ होगा।

विष्टारपंक्ति (सं० स्त्री०) पंक्तिछन्दोभेद। इसके प्रथम और शेष चरणमें ८ तथा द्वितीय और तृतीय चरणमें १२ पद रहते है। (शुक्लयजुः १५।४)

विष्टारवृहती (सं० स्त्री०) वैदिक छन्द। इसके प्रथम और शेष चरणमें ८ तथा द्वितीय और तृतीय चरणमें १० पद रहते हैं। (ऋक् प्राति० १६।६)

विष्टारिन् (सं० त्रि०) वि स्तृ-णिनि। विस्तीर्यमाण अवयव, जिसका आकार बड़ा हो। (अथर्व० ४।१४।१)

विष्टारूहा (सं० स्त्री०) विष्टरुहा, स्वर्णकेतकी, पीली केतकी। (राजनि०)

विष्टाव (सं० पु०) १ स्तोमपाठके समयका विभागभेद। २ विष्टुतिका एकांश। (लाट्या० २।६।६)

विष्टि (सं० स्त्री०) विष क्तिन्। १ वह काम जो बिना कुछ पुरस्कार दिये कराया जाय, बेगार। २ बेतन, तनख्वाह। ३ कर्म, काम। ४ वर्षण, वर्षा। ५ प्रेषण, भेजना। ६ विष्टिभद्रा। ७ फलितज्योतिषके ग्यारह करणोंमेंसे सातवाँ करण। पञ्जिकामें यह करण शून्याङ्क द्वारा अभिहित होता है।

विष्टिभद्राका निरूपण—विष्टिकरणको ही विष्टिभद्रा कहते हैं। इसके अलावा तिथिविशेषमें विष्टिभद्रा होती है। किस किस तिथिके किस किस अंशमें विष्टिभद्रा होती है, उसका विषय नीचे लिखा जाता है। शुक्लपक्षकी एकादशी और चतुर्थीके शेषार्द्धमें, अष्टमी और पूर्णिमाके पूर्वार्द्धमें, कृष्णपक्षकी तृतीया और दशमीके शेषार्द्धमें तथा सप्तमी और चतुर्दशीके पूर्वार्द्धमें विष्टि-

भद्रा होता है। यह विष्टिभद्रा सभी प्रकारके शुभ कार्यमें वर्जनीय है अर्थात् इसमें यात्रा, संस्कारादि कार्य्य या देवकर्म नहीं करना चाहिये, किन्तु इसके पुच्छमें सभी कार्योंका मङ्गल होता है। (विष्टिभद्राके शेष तीन दण्डका नाम 'पुच्छ' है।)

विष्टिभद्रास्थिति—मेष, वृष, मिथुन और वृश्चिक लग्नमें यदि विष्टिभद्रा हो, तो वह विष्टिभद्रा स्वर्गलोकमें बास करती है। कुम्भ, सिंह, मीन और कर्कटराशिमें पृथिवी पर तथा धनुः, मकर, तुला और कन्याराशिमें पातालमें बास करती है। विष्टिभद्रा जब जहां रहती है, तब वहीं पर स्वभावसिद्ध अशुभ फल देती है। शास्त्रमें यह भी लिखा है, कि जिन राशियोंमें विष्टिभद्रा पृथिवी पर बास करती है, उस विष्टिभद्रामें शुभकार्यादि करना मना है। इसके सिवा जिन सब राशियोंमें स्वर्ग और पातालमें बास करती है, उस विष्टिभद्रामें सभी कार्य्य किये जा सकते हैं।

विष्टिकर (सं० पु०) १ पीड़नकारी, अत्याचारी। २ प्राचीन कालके राज्यका वह बड़ा सैनिक कर्मचारी जिसे अपनी सेना रखनेके लिये राज्यकी ओरसे जागीर मिला करती थी।

विष्टिकृत् (सं० पु०) अनिष्टकारक, विष्टिकर।

विष्टिर् (सं० स्त्री०) विस्तीर्ण। (ऋक् २।१३।१०)

विष्टिव्रत (सं० क्ली०) व्रतविशेष। (भविष्यपु०)

विष्टीमिन् (सं० त्रि०) क्लेशयुक्त, क्लेदविशिष्ट।

(शुक्लयजु० २३।२६)

विष्टुति (सं० स्त्री०) विविध प्रकारसे स्तुति, नाना प्रकारका स्तव। (शुक्लयजु० १६।२८)

विष्ठल (सं० क्ली०) विदूरं स्थलं (विकुशमिपरिभ्यः स्थालस्य। पा ८।३।९६) इति षत्वं। विदूरस्थल, दूरवर्त्ती स्थान।

विष्ठा (सं० स्त्री०) विविधप्रकारेण विष्ठति उदरे इति वि-स्था क, उपसर्गादिति षत्वं। पुरीष, मैला, गुह, पाखाना विविध प्रकारसे यह उदरमें रहती है, इसीसे इसका नाम विष्ठा हुआ है। पर्याय—उच्चार, अवस्कर, शमल, शकृत्, गूथ, पुरीष, वर्च्चस्क, विट्, वर्च्चः, अमेध्य, दूष्य, कल्क, मल, किट्ट, पूतिक। (राजनि०)

"ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय मूत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यात्, दक्षिणा मुखो रात्रौ दिवा चोदङ्मुखः सन्धयोश्च।"

(विष्णुसंहिता ६०)

विष्णुसंहितामें लिखा है, कि ब्राह्ममुहूर्त्त (रात्रिके पिछले पहरके अन्तिम दो दण्ड) में उठ कर रातको दक्षिणमुख, दिन तथा प्रातः और सायं दिनरात्रिके दोनों सन्धिकालमें उत्तरमुख हो कर विष्ठाका त्याग करना होता है। घाससे ढकी जमीनमें, जोते हुए खेतमें, यज्ञीय वृक्षछायामें, खारी जमीनमें, शाद्वलस्थानमें, प्राणियुक्त स्थानमें, गर्त्तमें, वल्मीकमें, पथमें, रथ पर, दूसरेकी विष्ठाके ऊपर, उद्यानमें, उद्यान वा जलाशयके किनारे विष्ठात्याग निषिद्ध है।

अङ्गार, भस्म, गोमय, गोष्ठ, (गाय चरनेका स्थान) आकाश और जल आदि स्थानोंमें तथा वायु, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, स्त्री, गुरु तथा ब्राह्मणके सामने अनवगुण्ठित मस्तकसे विष्ठात्याग न करे। विष्ठात्यागके बाद ढेले वा ईंटसे मलको मार्जन कर लिङ्ग पकड़ते हुए उठे। पीछे उद्धृत जल और मिट्टीसे गन्धलेपक्षयकर शौच करे। इसके बाद मिट्टीको पेशाबके द्वारमें एक बार, मलद्वारमें तीन बार तथा बाएं हाथमें दश बार, दोनों हाथमें सात बार और दोनों तलवेमें तीन तीन बार लगावे। यह नियम गृहस्थके लिये है। यति वा ब्रह्मचारीके लिये इसका दूना बताया गया है। गन्ध नहीं रहे, यही शौचका उद्देश्य है, किन्तु जलादि द्वारा गन्ध जाने पर भी उक्त प्रकारसे मृत्तिकाशौच अवश्य करना होगा।

(विष्णुसंहिता ६० अ०)

आह्निकतत्त्वमें लिखा है, कि उत्थान स्थानसे तीर फेंकने पर वह तीर जहां जा कर गिरे, उतना स्थान बाद दे कर विष्ठात्याग करना चाहिये। आबादी जगहके समीप विष्ठामूत्रत्याग करना उचित नहीं। विष्ठा और मूत्रका वेग रोकना न चाहिये। रोकनेसे नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। विष्ठा और मूत्रत्यागके समय यज्ञोपवीतको दाहिने कान पर रखना चाहिये। मालाकी तरह गलेमें लटकानेका भी विधान है। जूता और खड़ाऊं पहन कर विष्ठा और मूत्रत्याग करना मना है।

विष्ठा और मूत्रत्यागके समय जिस जलसे शौच

किया जाता है, उस जलको छूना नहीं चाहिये। छूनेसे वह जल मूत्रके समान हो जाता है। वह जल पीनेसे चान्द्रायण करनेकी व्यवस्था है। (आह्निकतत्त्व)

मलमूत्रत्यागके बाद जल और मिट्टीसे शौच कर पीछे जलपात्रको गोमय या मृत्तिका द्वारा मार्जन और प्रक्षालन करे। इसके बाद जल स्पर्श कर चन्द्र, सूर्य वा अग्निदर्शन करना होता है। जहां जलादि शौच होता है, वहां पवित्र जलादि द्वारा परिष्कार कर देना होता है। नहीं तो उसका शौच सिद्ध नहीं होता।

भावप्रकाशमें लिखा है, कि मानवगण स्वास्थ्यरक्षाके लिये ब्राह्म मुहूर्तमें उठें और भगवन्नाम स्मरण कर ऊषाकालमें ही विष्ठा और मूत्रत्याग करें। इस नियमका प्रतिपालन करनेसे अन्त्रकूजन अर्थात् पेटका बोलना, आध्मान और उदरकी गुरुता उपस्थित नहीं हो सकती। मलमूत्रका वेग होनेसे कभी भी उसको रोकना नहीं चाहिये, रोकनेसे पेट गुड़ गुड़ करता, तरह तरह की वेदना होती, गुह्यदेशमें जलन देती, मल रुक जाता, ऊर्द्ध्ववात होता तथा मुख द्वारा मल निकलता है। मलादिका वेग जिस प्रकार रोकना उचित नहीं, उसी प्रकार वेग नहीं आने पर बलपूर्वक अकालकुन्थन द्वारा निःसारण करनेकी चेष्टा करना भी अनुचित है।

मलमूत्रादि विसर्जनके बाद गुह्य आदि मलपथोंको जलसे धो डालना चाहिये। इससे शरीरकी कान्ति बढ़ती, श्रमनाश होता, शरीरकी पुष्टि होती और चक्षुकी ज्योति बढ़ती है। (भावप्र० पूर्वख०)

भूमिकी उर्व्वरता बढ़ती है, इस कारण बहुतेरे लोग खेत या उद्यानमें विष्ठा और गोबरको सड़ा कर खादके रूपमें देते हैं। कृषिविद्या देखो।

विष्ठाभुक् (सं० पु०) शूकर, सूअर।

विष्ठाभुशी (सं० पु०) शूकर, सूअर।

विष्ठाभू (सं० पु०) विष्ठायां भवतीति भू-क्विप्। विष्ठाजात कृमि, वह कीड़ा जो पैखानेसे पैदा होता है।

विष्ठाव्राजिन् (सं० त्रि०) विष्ठायां व्रजति विष्ठा व्रज-णिनि। विष्ठामें भ्रमणकारी, मलमें रहनेवाला।

(शतपथब्रा० ५।५।१।१२)

विष्णापु (सं० पु०) विश्वक ऋषिके पुत्र।

(ऋक् १।११६।२३)

विष्णु (सं० पु०) १ अग्नि। २ शुद्ध। ३ वसुदेवता। ४ बारह आदित्योंमेंसे एक। (महाभारत १।६५।१६) ५ धर्मशास्त्रके प्रणेता मुनिविशेष।

६ हिन्दुओंके एक प्रधान और बहुत बड़े देवता जो सृष्टिका भरण-पोषण और पालन करनेवाले तथा ब्रह्माका एक विशेषरूप माने जाते हैं। "बृहत्वाद्विष्णुः"

(महाभारत ५।७०।३)

विष्णुपुराणमें विष्णु शब्दकी व्युत्पत्ति और भी विस्तृत देखी जाती है।

"यस्माद्विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्या देवोच्यते विष्णुर्विशधातोः प्रवेशतात्॥"

(विष्णुपु०)

संस्कृत साहित्यमें "विष्णु" शब्दका बहुल प्रचार देखा जाता है। वेद और उपनिषद्में, इतिहास और पुराणमें, संहिता और काव्यमें सभी जगह विष्णु शब्दका विपुल व्यवहार देखनेमें आता है। परन्तु हम यहां सिर्फ वेदमें व्यवहृत "विष्णु" शब्दको आलोचना करते हैं—

१। अतो देव अवन्तु नो यतो विष्णु र्विचक्रमे पृथिव्याः सप्तधामभिः। १म २२ सू १६ ऋक्।

सामवेदसंहितामें २।१०।२४ मन्त्रमें यह ऋक् देखी जाती है। किन्तु सामवेदमें जो पाठ है, उसमें कुछ पृथक्ता है। वहां "पृथिव्याः सप्तधामभिः" की जगह "पृथिव्या अधिसानभिः" पाठ देखा जाता है।

२। इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूढ़मस्य पांशुरे। (सामवेद १८ अ०)

अथर्व्ववेदमें ७।२६।५ मन्त्रमें भी यह साम देखनेमें आता है।

३। त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्। (वाजसनेय ३४।४३)

अथर्व्ववेदके ७।२६।५ मन्त्रमें भी यह सामवेदोक्त मन्त्र उद्धृत हुआ है।

४। विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पर्शे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा। (अथर्व्ववेद ७।२६।६)

५। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।

यह मन्त्र सामवेदकी २।१०२३ संख्यामें, वाजसनेय-संहिताकी ६।५ संख्यामें तथा अथर्ववेदसंहिताकी ७।२६।७ संख्यामें देखा जाता है।

६। तद्विप्रासो विपण्यवो जागृवा ँसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम्।

यह मन्त्र सामवेदकी २।१०२३ तथा वाजसनेय-संहिताकी ३४।४४ संख्यामें लिखा है।

नीचे उक्त ऋकोंका अनुवाद किया गया है।

१। जिस स्थानसे भगवान्‌ने पृथ्वीके सप्तधाममें विचरण किया था, उस स्थानसे देवगण हमारी रक्षा करें।*

किन्तु सामवेदका "पृथिव्या अधिसानभिः" पाठ ले कर अर्थ करनेसे "पृथिवीके सप्तदेशमें" इस प्रकार अनुवादके पहले "पृथ्वीके ऊपर" ऐसा अनुवाद होगा।

२। भगवान्‌ने इस विश्वका विचक्रमण किया था, उन्होंने तीन जगह पैर रखा था। विश्व उनके परिभ्रमण-से उठी हुई धूलराशिसे समाच्छन्न हुआ था।

३। अजेय भगवान्‌ने त्रिपाद गमन किया था तथा उससे सभी धर्मोंको धारण किया था।

४। इन्द्रके उपयुक्त सखा भगवान्‌के कार्यकलापको देखो। इन सब कार्योंमें उन्होंने व्रतोंको आवद्ध किया है।

५। आकाशस्थित सूर्यको तरह सुरगण उस भग-वान्‌के परमपदका सर्वदा दर्शन करें।

६। अप्रमत्त निष्काम विप्रगण उस भगवान्‌के परम-पदकी उपासना करते हैं।

पूर्वोधृत "इदं विष्णुर्विचक्रमे" इत्यादि मन्त्र निरुक्तग्रन्थमें उद्धृत हुए हैं। ग्रन्थकारने उसकी निम्न-लिखित प्रकारसे व्याख्या की है—

"यदिदम् किञ्च तद्विक्रमते विष्णुः। त्रिधा निदधे पदम्। त्रेधा भावय "पृथिव्याम् अन्तरीक्षे दिवि" इति शाकपुनिः "समारोहणे विष्णुपदे गयाशिरसि" इति और्णवाभः। समूढ़मस्य पांशुरे। प्यायऽनेन्तरीक्षे पदं न दृश्यते। अपाव उपमार्थः स्यात्। समूढ़मस्य पांशुल इव पदं न दृश्यते इत्यादि।

अर्थात् इस विश्वमें जो कुछ है, उस पर विष्णु विच-क्रमण करते हैं। पृथिवी, अन्तरीक्ष और स्वर्ग इन तीनों स्थानोंमें वे पदधारण करते हैं। यही व्याख्याकार शाक-पुनिका अभिप्राय है। दूसरे व्याख्याकारने इस त्रिपद-सम्बन्धमें लिखा है, कि समारोहण, विष्णुपद और गया-शिर यही त्रिपदका अर्थ है। अन्तरीक्षमें उनका पद नहीं देखा जाता।

दुर्गाचार्यने इस निरुक्तकी निम्नलिखित व्याख्या की है, यथा—

'विष्णुरादित्यः। कथमिति यत आह "त्रेधा निदधे पदम्" निदधे पदम् निधानम् पदैः क्व तत्तावत् पृथि-व्यामन्तरीक्षे दिवीति शाकपुनिः। पार्थिवोग्निरभूत्वा यत् पृथिव्यां यत् किञ्चिदस्ति तद्विक्रमते तदधितिष्ठति। अन्तरीक्षे वैद्युत्मना दिवि सूर्यात्मना यदुक्तम्। तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्। (ऋक्। १०।८८।१०) इति। "समारोहणे" उदयगिरवे उदयन् पदमेकं निधत्ते। "विष्णुपदे" मध्यन्दिनेऽन्तरीक्षे, "गयाशिरसि" अन्तगिराविति और्णवाभ आचार्यो मन्यते।"

अर्थात् विष्णु आदित्य हैं। विष्णुको क्यों आदित्य कहा जाता? इसका कारण यह है, कि ये तीन स्थानोंमें पादचारणा करते हैं, यह मन्त्र द्वारा जाना जाता है। कहां कहां? पृथिवी पर, अन्तरीक्षमें और द्युलोकमें, यही व्याख्याकार शाकपुनिका अभिप्राय है। ये पृथिवी पर सभी पदार्थोंमें अग्निरूपमें, अन्तरीक्षमें विद्युत्‌रूपमें तथा द्युलोकमें सूर्यरूपमें अवस्थान करते हैं। ऋग्वेदमें भी इनके त्रिविध भावकी कथा लिखी है। और्णवाभ आचार्यका कहना है, कि इनका एक पद समारोहण पर (उदयगिरि पर), दूसरा पद विष्णुपद पर (मध्य गगन

---

* विष्णुके इस विचक्रमणव्यापारका महाभारतमें भी उल्लेख है, यथा—

"क्रमणाच्चाप्यहम् पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः"

(शान्तिपर्व १३।१७१)

यह चंक्रमणव्यापार लेकर ही वेदमें विष्णुदेवका उल्लेख देखनेमें आता है।

में) तथा तीसरा पद गयाशिर पर (अस्ताचल पर) पड़ा था ।

यास्कके कथनानुसार मालूम होता है, कि उन्होंने जिन दो प्राचीन प्रामाणिक व्याख्याकारोंका अभिप्राय उद्धृत किया है, वे दोनों प्रामाणिक ग्रन्थकार "विष्णुपद" के सम्बन्धमें दो स्वतन्त्र सिद्धान्तों पर पहुंचे हैं ।

प्रथम शाकपुनिकी व्याख्याका मर्म यह है, कि विष्णुदेव त्रिविधभावमें प्रकाश पाते हैं—वे पार्थिव पदार्थोंके मध्य अग्निरूपमें, आकाशमें विद्युत्रूपमें तथा द्युलोकमें सूर्य्यरूपमें प्रकाश पाते हैं । निरुक्तमें इसका प्रमाण इस प्रकार है—

"तिस्र एव देवता इति निरुक्तः अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्व्वाइन्द्रो वान्तरीक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः । तासां महाभाग्यात् एकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्त्यपि वा कर्म्मपृथक्त्वाद् यथा होताध्वर्यु र्ब्रह्मा उद्गाता इत्यप्येकस्य सतः अपि वा पृथगेव स्युः । पृथग्हि स्तुतयो भवन्ति तथाविधानामित्यादि ।"

अर्थात् निरुक्तके मतसे देवता तीन प्रकारके हैं, अग्नि, वायु और सूर्य्य । अग्नि पार्थिव पदार्थमें, वायु वा इन्द्र अन्तरीक्षमें तथा सूर्य्य द्युलोकमें अवस्थान करते हैं । गुणकर्मादिके अनुसार वा महाभाग्यानुसार ये तीनों विविध नामोंसे पुकारे जाते हैं । जिस प्रकार एक ही व्यक्तिके नाना प्रकारके कार्य्यानुसार वे कभी होता, कभी अध्वर्यु, कभी ब्राह्मण और कभी उद्गाता कहलाते हैं, उसी प्रकार विष्णु एक होने पर भी कार्य्यके भेदसे अनेक नामोंसे प्रसिद्ध हैं ।

अतएव शाकपुनिका सिद्धांत यह है, कि एक ही विष्णु पृथिवी पर, अन्तरीक्षमें तथा द्युलोकमें भिन्न भिन्न नामोंसे पुकारे जाते हैं ।

दूसरा सिद्धान्त और्णवाभका । और्णवाभ कहते हैं, कि विष्णुके जिस त्रिपादसंक्रमणकी बात कही गई है, उस त्रिपाद संक्रमणका एक स्थान उदयगिरि, दूसरा स्थान मध्यन्दिन, अन्तरीक्ष, तीसरा स्थान अस्तगिरि है ।

सायणने ऋग्वेदभाष्यमें विष्णुके त्रिपादचक्रमणके सम्बन्धमें वामन अवतारके त्रिपादचक्रमण सम्बन्धीय पौराणिकी आख्यायिका अवलम्बन कर ऋक्की व्याख्या की है ।

हमारा उद्धृत दूसरा वेदमन्त्र वाजसनेय संहिताके ५।१५ स्थानमें भी देखा जाता है । यहीं पर भाष्यकार महीधरने लिखा है—

'विष्णुस्त्रिविक्रमावतारं कृत्वा इदं विश्वं विचक्रमे विभज्य क्रमते स्म । तदेवाह त्रेधा पदं निदधे भूमावेकं पदमन्तरीक्षे द्वितीयं दिवि तृतीयमिति क्रमादग्नि-वायु-सूर्य्यरूपेणेत्यर्थः ।'

अर्थात् विष्णुने त्रिविक्रमावतार ग्रहण कर त्रिपादमें सारे विश्वका परिभ्रमण किया था । उनके एक पदने पृथिवी पर, द्वितीय पदने अन्तरीक्षमें और तृतीय पदने द्युलोकमें यथाक्रम अग्नि, वायु और सूर्यरूपमें प्रकाश पाया था ।*

ऋग्वेदमें कई जगह "विष्णु"का उल्लेख है । विस्तार हो जानेके भयसे यहां पर उसका उल्लेख नहीं किया गया ।

बहुतोंका विश्वास है, कि ऋग्वेदमें इन्द्रको ही विष्णु कहा है । और्णवाभ आदि भाष्यकारोंमेंसे किसी किसी विष्णुको सूर्य बताया है । किन्तु ऋग्वेद पढ़नेसे मालूम होता है, कि विष्णु, इन्द्र और आदित्य ये सब पृथक् पृथक् देवता हैं । यहां पर हम ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके १५५ सूक्तसे कुछ ऋकोंको उद्धृत कर प्रमाणित कर देते हैं, कि विष्णु इन्द्र आदि देवताओंसे पृथक् हैं । वह इस प्रकार है—

१ । "त्वेषामित्था समरणं शिमीवतोरिन्द्रविष्णू सुतपा वामुरुष्यति ।

या मर्त्याय प्रतिधीयमानमित्कृशानोरस्तुरसनामुरुष्यथः ॥"

---

* सूर्य्यमण्डलके मध्य ऋषिगण भगवानका प्रकाश देख कर जो ध्यान लिख गये हैं, वह इस प्रकार है—

"ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः केयूरवान् कनककुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ।"

आज भी इसी ध्यानसे घर घर नारायणकी पूजा होती है । ऋषियोंने फिर भी कहा है, "ज्योतिरभ्यन्तरे रूपं द्विभुजं श्यामसुन्दरम् ।"

हे इन्द्र और विष्णु ! तुम दोनों इष्टप्रद हो, अतएव हुतावशिष्ट सोमपायी यजमान तुम्हारे दीप्तिपूर्ण आगमनकी प्रशंसा करता है। तुम लोग मर्त्योंके लिये शत्रुविमर्दक अग्निसे प्रदेय अन्न निरन्तर भेजो।

२। "तत्तदिदनस्य पौंस्यं गृणीमसीश्य त्रातुरवृकस्य मिड़्हुषः।

यः पार्थिवानि त्रिभिरिद्विगामभिरुरु क्रमिष्टोरुगागाय जीवसे।"

हम लोग सबोंके स्वामी, पालनकर्त्ता, शत्रुरहित और सेचनसमर्थ (अर्थात् तरुण) भगवान्‌के पौरुषकी स्तुति करते हैं। वे प्रशंसनीय हैं, लोकरक्षाके लिये उन्होंने त्रिपदविक्षेप द्वारा त्रिभुवनका परिक्रम किया था।

३। "ता ईं वर्द्धन्ति मह्यस्य पौंस्यं नि मातरा नयति रेतसेंभुजे।

दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम तृतीयमधिरोचने दिवः।"

समस्त आहुतियां प्रसिद्ध इन्द्रका पौरुष बढ़ाती हैं। इन्द्र सबोंके मातृस्थानीय रेतः हैं तथा उपभोगके लिये वही सामर्थ्य प्रदान करते है। उनके पुत्रका नाम निकृष्ट और पिताका नाम उत्कृष्ट है। तीसरा (नाम) द्युलोकके दीप्तिमान् प्रदेशमें है।

प्रथम मण्डलके १५६ सूक्तमें भी वेदोक्त भगवान्‌के गुणक्रियादि सम्बन्धमें बहुत-सी बातें लिखी हैं। जैसे,—

१। तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः। दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजञ्च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते।

राजा वरुण और दोनों अश्वि मरुत्मान् विधाताके उस यज्ञमें शामिल होवें। दोनों अश्वि तथा भगवान् एक साथ मिल कर उत्तम अहर्विद् रसधारण और मेघका आवरण उन्मोचन करें।

२। आ यो विवार सचथाय दैव्य इन्द्राय विष्णुः सुकृते सुकृत्तरः। वेधा अजिन्वत्रिषधस्थ आर्यमृतस्य भागे यजमानमाभजत्।

जो स्वर्गीय अतिशय शोभनकर्मा भगवान् इन्द्रके साथ मिले हुए हैं, उन्हीं मेधावीने त्रिजगत् विक्रमी आर्यको प्रसन्न किया है तथा यजमानको यज्ञका भाग प्रदान किया है।

विष्णुपुराण और भागवतादि पुराणोंमें इन ऋक् मंत्रोंकी प्रतिध्वनि खूब सुनाई देती है। भगवान् जो देवताओंके मध्य शुद्धसत्त्वगुणोंकी विलासभूमि हैं, वेदमें उसका भी सूत्र देखनेमें आता है। यथा, ऋग्वेद प्रथम मण्डलके १८६ सूक्तकी १०वीं ऋक् में लिखा है,—

"प्रो अश्विनाववसे कृणुध्वम् प्र पूषणं स्वतवासो हि सान्ति। अद्वेषो विष्णुर्वात ऋभुक्षा अच्छा सुम्नाय ववृतीय देवान्।"

हे ऋत्विक्‌गण ! हम लोगोंकी रक्षाके लिये अश्विद्वय और पूषाकी स्तुति करो। द्वेषरहित भगवान् वायु और ऋभुक्षा नामक स्वाधीन बलविशिष्ट देवताओंका स्तव करो। मैं सुखके निमित्त समस्त देवताओंको लाऊंगा।

ऋग्वेदके द्वितीय मण्डलके प्रारम्भमें ही अग्निका स्तव किया गया है। उसमें अग्निको भी इन्द्र और भगवान् कहा गया है। यथा—

"त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।

त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्त्तः सचसे पुरन्ध्या।" (२य म० १ सू० ३ ऋक्)

अर्थात् हे अग्ने ! तुम सत्‌लोकोंके अभीष्टवर्षी हो, इसलिये तुम इन्द्र हो। तुम भगवान् हो, क्योंकि तुम उरुगाय हो अर्थात् समस्त लोकोंके स्तुत्य हो। (उरुगाय शब्दका अर्थ सायणने इस प्रकार लिखा है, "बहुभिर्गीयमानो नमस्यः नमस्कार्य्यश्च भवसि।")। तुम ब्राह्मणस्पति हो, तुम ब्रह्मा हो, तुम अनेक प्रकारके पदार्थोंकी सृष्टि करते हो तथा अनेक प्रकारके पदार्थोंमें विराज करते हो।

पुराणमें विष्णुको उपेन्द्र कहा है। ऋग्वेदमें लिखा है, कि विष्णु इन्द्रके निकट आत्मीय हैं, दोनों एकत्र सोमपान करते हैं।

वेदके प्रत्येक मण्डलमें विष्णुका माहात्म्य और गुणकार्यादि कीर्त्तित हुआ है। भाष्यकारगण और टीकाकारगण कई तरहका अर्थ लगा कर उन सब स्थलोंके अर्थबोधके सम्बन्धमें भिन्न भिन्न सिद्धान्त पर पहुंचे

हैं। हम यहां पर तृतीय मण्डलसे ही दो एक ऋक् उद्धृत करते हैं। यथा—

"विष्णुं स्तोमासः पुरुदस्ममर्का भगस्येव कारिणो यामिनि ग्मन्।

उरुक्रमः ककुहो यस्य पूर्वीर्न मर्द्धन्ति युवतयो जनित्रीः (३ म० ५४ सू० १४ ऋक्)

धनके कारणस्वरूप यह स्तोत्र और अर्चनीय मन्त्र इस यज्ञमें भगवान्के पास जाये। भगवान् उरुक्रमी हैं। पूर्वकालीना, युवती मातास्वरूप दिशाएं उनको लङ्घन नहीं करतीं।

सायणने यहां उरुक्रम शब्दका अर्थ ऐसा किया है—"उरुर्महान् क्रमः पादविक्षेपो यस्य सः। त्रिविक्रमावतार एकेनैव पादेन सर्वं जगदाक्रम्य तिष्ठति।"

वेदव्यास आदिने भी उरुक्रम शब्दका ऐसा ही अर्थ महाभारत और पुराणमें किया है।

भगवान् अति पराक्रमशील हैं, वह वेदमें कई जगह देखा जाता है। महाभारत और पुराणादिमें अनेक प्रकारसे भगवान्की इस पराक्रमशीलताका उदाहरण दिया गया है। महर्षि वेदव्यास वेदके विभागकर्त्ता हैं, उन्होंने महाभारत और पुराणादिमें वेदका सविस्तार अर्थ किया है। सायणने अपने भाष्यमें व्यासादिका ही सम्मत अभिप्राय लिया है।

ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता, भगवान् पालनकर्त्ता और रुद्र संहारकर्त्ता हैं, यह पौराणिक सिद्धांत इस देशके आबाल वृद्धवनिता सभीको मालूम है। भगवान् जो रक्षाकर्त्ता हैं, ऋग्वेदमें कई जगह उसका उल्लेख देखनेमें आता है। जैसे—

"विष्णुर्गोपा परमं पाति पाथः
प्रिया धामान्यमृताद् धानः।
अग्निष्टा विश्वा भुवनानि वेद
महद्देवानामसुरत्वमेकम्।"
(३ म० ५५ सू० ११ ऋक्)

अर्थात् भगवान् समस्त जगत्के रक्षक हैं। ये प्रियतम अक्षयधाम धारण करते हैं तथा परमस्थानकी रक्षा करते हैं। इत्यादि। ऋग्वेदमें भगवान्का "गोपा" यह विशेषण अनेक स्थलोंमें देखा जाता है। उनके धाममें जो शृङ्गविशिष्ट गाभीगण रहती हैं, यह भी पहले लिखा जा चुका है। उनका धाम जो माधुर्यका उत्सव है, वह भी पहले एक ऋक् से प्रमाणित किया जा चुका है. इन सब ऋकोंसे हम लोग श्रीवृन्दावन-वनविहारी श्रीकृष्णका भी आभास पा सकते हैं। नित्य, सत्य और पूर्ण पदार्थ वैदिक ऋषियोंके तथा परवर्त्ती महर्षियोंके योगनेत्रसे क्रमोत्कर्षके नियमानुसार विस्फूरित हुए थे या नहीं वह भी विवेच्य और चिन्तयितव्य है।

भगवान्को मर्त्यलोकमें लानेके लिये ऋषिगण अग्निसे प्रार्थना करते थे—

"अर्य्यमणं वरुणं मित्रमेषामिन्द्राविष्णुमरुतो अश्विनोत।
स्वश्वो अग्ने सुरथः सुराधा एदु वह सुहविषे जनाय।"
(४ म० २ सू० ४ ऋक्)

अर्थात् हे अग्ने! तुम्हारा अश्व उत्तम है, रथ उत्तम है तथा धन उत्तम है। तुम इन यजमानोंमेंसे जिसके लिये उत्तम हो, उसके उद्देश्यसे अर्य्यमा वरुण मित्र इन्द्र भगवान् और मरुत्गणको लाओ।

भगवान् जो वैदिक देवताके मध्य बहुस्तुत, बहुकीर्त्तित हैं, वैदिक ऋषियोंके उद्घोषित ऋक् मन्त्रमें हमें वे सब स्तोत्रशाखाएं सुननेमें आती हैं। ऋग्वेदके चतुर्थमण्डलके तृतीय सूक्तकी ७वीं ऋक्में भी "विष्णव उरगायाय" कहा गया है। सायणने उसका अर्थ किया है "प्रभूतकीर्त्तये विष्णवे।"

भगवान्का पराक्रम जो देवोंका बहु-स्तुत है उसे सभी स्वीकार करते हैं। इन्द्रने वृत्रासुरका वध करनेके लिये भगवान्से सहायता ली थी। यथा—

"उत माता महिषमन्ववेनदमी त्वा जहति पुत्रदेवाः।
अथा ब्रवीद्वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं
वि क्रमस्व।" (४ म० १८ सू० ११ ऋक्)

इन्द्रकी माता महासूने इन्द्रसे पूछा, 'हे पुत्र! देवताओंने क्या तुम्हें छोड़ दिया है? इस पर इन्द्रने भगवान्की ओर देख कर कहा, 'सखे विष्णो! यदि वृत्रको मारना चाहते हो तो विक्रमलाभ करो।'

भगवान्के पराक्रमसे ही इन्द्रका शत्रु वृत्र मारा गया था। पुराणमें इसका विस्तृत विवरण आया है।

पूर्वोद्धृत ऋक्का भाव निम्नलिखित ऋकोंमें भी पुनरुक्त हुआ है। यथा—

"सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व द्यौर्देहिलोकं वज्राय विष्कभें हनावबूत्रं रिणचाव सिंधून इन्द्रस्य यंतु प्रसवे विगृष्ठः।"

यहां भी इन्द्रने विष्णुको सखा कह कर सम्बोधन किया है तथा वृत्रासुरको बध करनेके लिये विष्णुकी सहायता ली है। भगवान् जो इन्द्रादिके भी संपूज्य बन्धु हैं, इन सब ऋकोंमें हम उसका प्रमाण पाते हैं। इससे हमें यह भी मालूम होता है, कि भगवान् इन्द्रके सखा हैं। ऋग्वेदमें इन्द्र और विष्णुका स्तव अनेक स्थलोंमें ही एकत्र निवद्ध हुआ है।

भगवान् जो सभी जीवोंके सुखसमृद्धि देनेमें सब देवताओंसे अधिक शक्तिशाली हैं, षष्ठ मण्डलके ४८ सूक्तकी १४वीं ऋक्में हम उसका प्रमाण पाते हैं यथा—

हे पूषन्! मैं तुम्हारा स्तव करता हूं, तुम इन्द्रकी तरह दयालु हो, वरुणकी तरह अद्भुत शक्तिशाली हो, अर्यमाकी तरह ज्ञानी हो तथा भगवान्की तरह सब प्रकारकी भोगसम्पत्तिके दाता हो। इत्यादि।

ऋग्वेदके षष्ठमण्डलके ५० सूक्तकी १२वीं ऋक्में रुद्र सरस्वती आदि देवताओंके साथ भगवान्के समीप प्रार्थनासूचक स्तव है। यथा—

"ते नो रुद्रः सरस्वती सजोषा मिड्हुष्मत्तो विष्णुर्मृड़न्तु वायुः। रिभुक्षा वाजो दैव्यो विधाता पर्जन्या वाता पिप्यतामिषां नः।"

अर्थात् रुद्र सरस्वती भगवान् और वायु ये सभी सुखदाता हैं। ये हम लोगोंपर कृपा दरसावें। रिभुक्षा वाज, पर्जन्य और वात हम लोगोंकी शक्ति बढ़ावें।

सप्तम मण्डलके ३५ सूक्तकी ६वीं ऋक्में, ३६ सूक्तकी ६ ऋक्में, ३९ सूक्तकी ५ ऋक्में, ४० सूक्तकी ५ ऋक्में, ४४ सूक्तकी १ ऋक्में तथा ९३ सूक्तकी ८वीं ऋक्में अन्यान्य देवताओंके साथ विष्णुका उल्लेख है।

सप्तममण्डलके ९९ सूक्तकी प्रथमसे सात ऋकोंमें विष्णुका यथेष्ट माहात्म्य कीर्त्तित हुआ है।

इस सूक्तकी प्रथम ऋक्की व्याख्यामें सायणने अपने भाष्यमें विष्णुके त्रिविक्रम अवतारकी माहात्म्यविषयक कथाका उल्लेख किया है। विष्णुका परम माहात्म्य भी इस ऋक्में गया है।

द्वितीय ऋक्में लिखा है, कि विष्णुकी महिमाका अन्त नहीं है। इनकी महिमा अनन्त है। विष्णुका माहात्म्य सबोंको विदित होना असम्भव है। भगवान्ने द्युलोकको ऊपर उठाये रखा है। विष्णुकी शक्तिसे ही द्युलोक ऊपरसे नहीं गिर सकता। पृथिव्यादि भी भगवान् कर्त्तृक विधृत है। इसके द्वारा भगवान् शक्तिके बहुल कार्यकारित्व सम्बन्धमें एक आभास पाया जा सकता है।

कोई कोई समझते हैं, कि भगवान् सूर्यके ही दूसरे नामसे ऋग्वेदमें परिचित हैं। यह बात अयौक्तिक और अप्रामाणिक है। भगवान्के अनेक कार्य सूर्यके सदृश हैं। किन्तु वे स्वयं सूर्य नहीं हैं, पर हां सूर्यमें अनुप्रविष्ट अवश्य रहे हैं। भगवान्के ध्यानमें भी उन्हें "सावित्रीमण्डलमध्यवर्त्ती" कहा गया है। सूर्य उन्हींकी शक्तिसे शक्तिमान् हैं, इसका भी यथेष्ट प्रमाण मिलता है। उद्धृत ७ मण्डलके ९९ सूक्तकी चौथी ऋक् पढ़नेसे मालूम होता है, कि "इन्द्र और भगवान् इन्होंने सूर्या, अग्नि और ऊषाको उत्पादन कर यजमानके लिये विस्तीर्ण लोक निर्माण कर रखा है।"

उद्धृत पञ्चम ऋक्में इन्द्र और भगवान्ने मिल कर असुरका संहार किया है, इसका उदाहरण दिया गया है। भगवान् द्वारा शम्बर आदिकी पुरी-विनाशका विवरण ऋग्वेदमें सूत्राकारमें वर्णित है। पुराणमें इसका विशेष विवरण देखनेमें आता है। वर्चि नामक असुरको दलबलके साथ संहार करनेका विवरण भी इस सूक्तमें दिखाई देता है।

अधिकांश स्थलोंमे "उरुगाय" शब्द भगवान्के विशेषणरूपमें व्यवहृत हुआ है। श्रीमद्भागवतपुराणमें भी इस शब्दका बहुल प्रचार दिखाई देता है। उरुगाय शब्दका अर्थ है बहुजन द्वारा गीयमान। विष्णु जो वैदिक देवताओंमें प्रधानतम देवता तथा सूर्य आदिके उत्पादक हैं, यह भी ऋग्वेदमें लिखा है। श्रीभागवतमें जो श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन

सौख्य, दास्य और आत्मनिवेदन इन नौ भक्तियोंका उल्लेख है, हम इस १०० सूक्तमें उसका भी सन्धान पाते हैं।

विष्णु कितने प्राचीन देवता है, सूक्तकी ३ य ऋक्से उसका प्रमाण मिलता है। वैदिक समयसे ही उनका जो मान्य होता आ रहा है, इस ऋक्में उसका भी सम्यक् प्रमाण है। विष्णुका रूप किरणविशिष्ट है। जो "सावित्रीमण्डलमध्यवर्त्ती" है वे किरणमय नहीं हैं, तो क्या हैं?

"विचक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन्।
ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास ऊरुक्षितिं सुजनिमा चकार॥

इन भगवान्ने मनुष्यके बसनेके लिये उन्हें पृथिवी देनेकी इच्छा करके वहां पादक्षेप किया था। इन विष्णुके स्तोता निश्चल होवें। सुजन्मा विष्णुने निवासस्थान निर्माण किया है।

विष्णु जो केवल विश्वब्रह्माण्डके धारणकर्त्ता और पालनकर्त्ता हैं सो नहीं। उन्होंने ही इस पृथिवीको मनुष्यके रहने योग्य बना दिया है। अतएव विश्वनिर्माण भी भगवान्का कार्य है।

"किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि। मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ।"

हे विष्णो! मैं 'शिपिविष्ट' नामसे तुम्हारा स्तव करता हूं; इसे प्रख्यापन करना क्या तुम्हें उचित है। तुमने संग्राममें अन्य रूप धारण किया है। हम लोगोंसे तुम अपना शरीर न छिपाओ।

सायण 'शिपिविष्ट' शब्दका अर्थ किरणविशिष्ट लगाते हैं। सायणके भाष्यमें लिखा है, कि पुराकालमें भगवान्ने अपना रूप त्याग कर अन्य रूप धारण किया था और संग्राममें वसिष्ठकी सहायता पहुंचाई थी। वसिष्ठने उन्हें पहचान कर इस ऋक्से उनका स्तव किया। निरुक्तकारका कहना है, कि विष्णुका दूसरा नाम "शिपिविष्ट" है। फिर उपमन्यु कहते हैं, कि 'शिपिविष्ट' नाम भगवान्का कुत्सित नाम है। उपमन्युका यह अर्थ सुसङ्गत नहीं। कुत्सित नाम यदि होता, तो वसिष्ठ इस नामसे उनका स्तव नहीं करते। पर हां, उन्होंने संग्राममें जो दूसरा रूप धारण किया था, उसमें अपना रूप छिपा कर केवल किरण द्वारा चारों ओर समाच्छन्न कर दिया था। इसी कारण उन्हें "शिपिविशिष्ट" कहा गया है।

अष्टम मण्डलके निम्नलिखित स्थलोंमें भगवान्का नामोल्लेख है—९ सू—१२, १० सू—२, १२ सू—१६, १५ सू—८, २५ सू—११ और २७ सू—८, २९ सू—७, ३१ सू—१०, ३५ सू—१ और १४, ६६ सू—१० तथा ७२ सू—७ ऋक्में।

इन सब ऋकोंमें ६६ सूक्तकी १०वीं ऋक्का भाव कुछ अद्भुत है। यहां ऋक् पढ़नेसे मालूम होता है, कि भगवान् इन्द्र कर्त्तृक प्रार्थित हो कर उनके लिये एक सौ महिष और एक भयङ्कर शूकर संग्रह कर ले गये थे। हमें इसका अर्थ समझमें न आया। फलतः वेदमन्त्रसंग्रह और वेदार्थसंग्रह जो बहुत कठोर काम है, यह वेदग्रन्थ पढ़नेसे सहजमें अनुमान किया जा सकता है।

नवम मण्डलके भी अनेक स्थानोंमें विष्णुका उल्लेख देखनेमें आता है। जैसे—३३ सू—३, ३४ सू—२, ५६ सू—४, ६३ सू—३, ६५ सू—२०, ९० सू—५, ९६ सू—५ तथा १०० सू—६।

दशम मण्डलके जिन सब स्थानोंमें भगवान्का उल्लेख है, नीचे उसकी तालिका दी गई है—

१ सू—३, ६५ सू—, ६६ सू—४ तथा ५, ९९ सू—११, ११३ सू—१, १२८ सू—२, १४१ सू—३, १८१ सू—१, २ और ३ तथा १८४ सूक्तकी प्रथम ऋक्में भगवान्का उल्लेख देखनेमें आता है।

आधुनिक प्रतीच्य पण्डित हम लोगोंके वेदादि ग्रन्थोंमें देवताओंका व्यक्तिगत स्तोत्रपाठ सुन कर कहीं कहीं बड़े ही भ्रममें पड़ गये हैं। इन सब पण्डितोंमें मुइर साहब एक हैं। मुइरने जगह जगह इन्द्रका माहात्म्याधिक्य स्तोत्र पाठ कर यह समझ लिया है, कि ऋग्वेदमें भगवान्की अपेक्षा इन्द्रका ही मान्य अधिक है। इस प्रकार माहात्म्यकीर्त्तनसूचक स्तोत्र सभी देवताओंका देखा जाता है। एक सामान्य पदार्थके स्तोत्रमें भी स्तूयमान पदार्थको सर्वापेक्षा प्रधान कहा है। स्तोत्रादिमें इस प्रकार पृथक् पृथक् वर्णन द्वारा आत्मकी

श्रेष्ठताका कुछ भी तारतम्य नहीं होता। वेदव्यास आदि वेदतत्त्वज्ञ महर्षियोंने भगवान्‌की प्रधानताको ही सब जगह कीर्त्तन किया है! वेदार्थविचारमें उन लोगोंकी उक्ति ही बलवती है। मुइर आदि साहबोंकी बातें कदापि प्रामाणिक नहीं समझी जा सकतीं। उनकी विचार-प्रणाली देखनेसे अच्छी तरह मालूम होता है, कि वह विविध दोषदुष्ट है तथा उन्होंने कई जगह अर्थ बिलकुल समझा ही नहीं है।

इसके सिवा शतपथब्राह्मणमें (१।२।५।१।१४।१।१।१), तैत्तिरीय आरण्यकमें (५।१।१-७), पञ्चविंश ब्राह्मणमें (७।५।६) तथा रामायण, महाभारत और विभिन्न पुराणादिमें भगवान्‌का माहात्म्य और दशावतारविषयक विविध आख्यान वर्णित है। दशावतार देखो।

पुराणमें लिखा है, भगवान् विष्णु युग युगमें भिन्न भिन्न रूपमें जन्म लेते हैं। पृथिवीका भार लाघव करनेके लिये, जगत्‌में शान्ति स्थापनके लिये, साधुओंकी रक्षा करनेके लिये ये अपने हाथसे धर्मद्वेषी पापी मानवोंका संहार करते हैं। तीनों युगमें इनकी वध्य संख्या अनेक हैं जिनमेंसे मधु, धेनुक, चाणूर पूतना, यमलार्जुन, कालनेमि, हयग्रीव, शकट, अरिष्ट, कैटभ, कंस, केशी, मुर, शाल्व, मैन्द, द्विविद, राहु, हिरण्यकशिपु, वाण, कालीय, नरक, वलि और शिशुपाल आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। इनके वाहनका नाम वैनतेय है। शङ्ख—पाञ्चजन्य है, चिह्न—श्रीवत्स है और असिका नाम-नन्दक है। ये अपने हाथमें कौमोदकी नामकी गदा, शार्ङ्ग धनु सुदर्शन चक्र और स्यमन्तकमणि धारण करते हैं। भुजामें कौस्तुभ है। (हेमचन्द्र)

पाद्मोत्तरखण्ड १४१ अध्यायमें भगवान्‌के सौ नामोंका तथा महाभारतीय शान्तिपर्वके १४६वें अध्यायमें हजार नामोंका उल्लेख है। बढ़ जानेके भयसे उनके नाम यहां पर नहीं दिये गये।

विष्णु का स्वरूप।

मत्स्यपुराणके मतसे महाप्रलयके बाद सारा संसार घोर अंधकारसे ढका था, सभी निस्तब्ध अर्थात् मानो निद्रित थे तथा चर अथवा अचर समस्त जगत् अविज्ञेय था। उस समय किसीको कुछ भी देखने समझने या सोचनेकी शक्ति न थी। इसके बाद स्वयम्भु फिरसे जगत्‌को व्यक्त करनेके लिये उद्यत हुए। हठात् तमोनुदका आविर्भाव हुआ। जो अतीन्द्रिय हैं, जो परमपुरुष सनातन हैं, वही नारायण उस समय स्वयं सम्भूत हुए। इस बार उन्होंने ध्यानयोगसे अपनी देहसे नाना जगत्‌की सृष्टि करनेकी इच्छासे पहले जलकी और पीछे उसमें बीजकी सृष्टि की। यह बीज तब हेमरूप्यमय एक वृहत् दण्डमें परिणत हुआ। हजारों वर्ष बीत गये। अयुत सूर्यकी तरह उसकी दीप्ति फैल गई। स्वयम्भुने स्वयं उसमें प्रवेश किया। प्रभाव और व्याप्तिके हेतु वे विष्णुत्वको प्राप्त हुए। (मत्स्यपु० २ अ०)

कूर्मपुराणमें लिखा है, कि विष्णुका एक रजोगुणमय रूप है। उनका नाम है भगवान् चतुर्मुख। जगत्‌के सृष्टिकार्यमें ही वे प्रवृत्त रहते हैं। भगवान् स्वयं विश्वात्मरूपमें सत्वगुणका आश्रय ले कर सृष्ट वस्तुकी रक्षा करते हैं। पीछे तमोगुणका आश्रय ले कर रुद्ररूपमें पुनः उन सब सृष्ट वस्तुओंका संहार करते हैं। वे निर्गुण, निरञ्जन और एकमात्र होते हुए भी सृष्टि, स्थिति और लय करनेके लिये तीन प्रकारके रूपोंमें अवस्थित हैं। वे एक हैं सही, पर स्वेच्छासे द्विधा, त्रिधा और बहुधारूपोंमें उनका अवस्थान है। इस त्रिलोकके मध्य वे सृष्टि, रक्षा और नाश इन तीनों कामोंमें त्रिधा रूपमें विराजमान हैं। वे एक, अज, महादेव, प्रजापति, परमेश्वर, सर्वगत, स्वयम्भु, हरि, हर, नारायण हैं, और क्या, यह समस्त जगत् ही विष्णुमय है। (कूर्म ४ अ०)

अग्निपुराणमें भी वह मत देखा जाता है। वराहपुराणमें लिखा है, कि एक समय परात्पर नारायणको सृष्टिविषयमें चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा, कि जिस प्रकार यह महासृष्टि हुई है उसी प्रकार इसका पालन भी मुझको करना होगा। किन्तु अमूर्त्त अवस्थामें कर्म करना असम्भव है, अतएव अभी मैं एक ऐसी मूर्त्ति की सृष्टि करूंगा जो इस महासृष्टिका पालन कर सके। यह संकल्प कार्यके रूपमें परिणत हुआ। चिन्ता करते करते सत्त्वध्यानसे सहसा एक मूर्त्तिका आविर्भाव हुआ। धीरे धीरे उस मूर्त्तिके नजदीक आने पर नारायणदेवने देखा, कि त्रिभुवन ही उनके शरीरमें प्रविष्ट

हो गया है। तब भगवान् नारायणने पूर्वतन वरदानकी बात याद की तथा नाना वाक्योंसे उसे पुनः संतुष्ट कर वर दिया और कहा कि, "तुम सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता और सर्वनमस्कृत हो। त्रैलोक्यके परिपालनके लिये तुम सनातन भगवान्‌के नामसे प्रसिद्ध होगे। देवताओं और ब्रह्माके सभी कार्य करना तुम्हारा ही कर्त्तव्य होगा। देव! तुम्हें सर्वज्ञत्व लाभ हो।" इतना कह कर नारायण प्रकृतिस्थ हुए। भगवानने भी इस समय पूर्व बुद्धिका स्मरण किया। पीछे वे योगनिद्राकी चिन्ता, उसमें प्रजासमष्टिका संस्थापन और पीछे परमरूपका ध्यान कर निद्रित हुए। सुप्त अवस्थामें उनके उदरसे एक प्रकाण्ड पद्म बाहर निकला। उस पद्मके मूलदेशका विस्तार पाताल तक था। उसकी कर्णिकामें सुमेरु शैल तथा बीचमें ब्रह्मा और भव थे। नारायणने विष्णुका ऐसा शरीरसंस्थापन देख कर अपनी देहस्थ वायुका परित्याग किया। वायु शङ्खाकारमें परिणत हुई। पीछे उन्होंने भगवान्‌से वह धारण करने कहा। भगवान्‌को सम्बोधन कर वे और भी कहने लगे, 'हे अच्युत! अज्ञानताच्छेदनके लिये अपने हाथमें खड्ग लो। यह कालचक्रमय चक्र भी तुम्हारे हाथमें विराज करे। केशव! अधर्मसेवी राजाओंका उच्छेद करनेके लिये तुम गदा धारण करो। यह भूतजननी माला अपने गलेमें पहनो। चन्द्रसूर्यकी तरह यह श्रीवत्स और कौस्तुभ तुम्हारा देह-साथी होगा। मारुत तुम्हारी गति, गरुत्मान् तुम्हारा वाहन, त्रैलोक्यगामिनी देवी लक्ष्मी तुम्हारी प्रिया तथा द्वादशी तुम्हारी तिथि होगी। तुम्हारी प्रति भक्ति करके जो व्यक्ति द्वादशी तिथिको सिर्फ घृतपान कर रहता है वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, उसका स्वर्गवास सुनिश्चित है।'

ऊपर जिनकी कथा कही गई, वे ही भगवान् हैं। देव दानव आदि उन्हींकी मूर्त्ति हैं। वे ही युग युगमें आविर्भूत हो कर सृष्टि, स्थिति और नाश करते हैं। वे सर्वगामी हैं तथा वे ही वेदान्तप्रतिपाद्य परमपुरुष हैं। क्षुद्रबुद्धिसे उन्हें मनुष्य समझना एकदम अनुचित है। (वराहपु०)

विष्णुका मंत्र और पूजादि।

पहले मन्त्रकी कथा लिखी जाती है। मन्त्र इस प्रकार है—

"तारं नमः पदं ब्रूयात् नरौ दीर्घसमन्वितौ।
पवनो णाय मन्त्रोऽयं प्रोक्तो वस्वक्षरः परः॥"

मन्त्रोद्धार कर उक्त मन्त्रसे पूजादि करनी होती है। पूजाका विधान इस प्रकार है—पहले प्रातःकृत्य और स्नानादि कर्म करके पूजामण्डपमें जाय और वैष्णव मतसे आचमन करे। गौतमीय तन्त्रमें उक्त आचमनका विषय इस प्रकार लिखा है: पहले हाथमें जल ले कर केशव, नारायण और माधव इन नामोंको लेते हुए उक्त जलपान करे। पीछे गोविन्द और भगवान् ये दोनों नाम लेनेके बाद दोनों हाथोंको धो डाले। अनन्तर मधुसूदन और त्रिविक्रम इन दोनों नामोंसे दोनों ओष्ठ सम्मार्जन; वामन और श्रीधरका नाम ले कर मुखमार्जन; हृषीकेशसे हस्त प्रक्षालन; पद्मनाभ उच्चारणसे पादद्वय प्रक्षालन; दामोदर नामसे मस्तकप्रोक्षण, पीछे सङ्कर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, पुरुषोत्तम अधोक्षज, नृसिंह, अच्युत, जनार्दन, उपेन्द्र, हरि, विष्णु इन नामोंका उच्चारण कर यथाक्रम मुख, नासिका, अक्षि, कर्ण, नाभि, वृक्ष और भुजद्वय स्पर्श करे। यही वैष्णव सम्प्रदायका आचमन है। इस प्रकार आचमन करनेसे साक्षात् नारायण हो जाता है। उक्त सभी विष्णुनामोंकी चतुर्थी विभक्ति तथा नमःशब्दान्त कर लेना होगा। अनन्तर सामान्यार्घ्य और मातृकान्यासादि सभी कार्य करके केशवकीर्त्यादि न्यास करे, बादमें ऋष्यादिन्यास मन्त्र जैसे—गायत्रीच्छन्दसे नमः, हृदि अर्द्धलक्ष्मी हरये देवतायै नमः। इसके बाद कराङ्गन्यास—श्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः इत्यादि। श्रां हृदयाय नमः इत्यादि। अनन्तर निम्नोक्त ध्यान करना होता है। जैसे—

"उद्यत्प्रद्योतनशतरुचिं तप्तहेमावदातं।
पार्श्वद्वन्द्वे जलधिसुतया विश्वधात्र्या च जुष्टम्।
नानारत्नोल्लसितविविधा कल्पमापीतवस्त्रं,
विष्णुं वन्दे दरकमलकौमोदकी चक्रपाणिम्॥"

इस प्रकार ध्यान करनेके बाद फिरसे न्यास करना होगा। जैसे—ललाटमें अं केशवाय कीर्त्यै नमः, मुखमें

ओं नारायणाय कान्त्यै नमः, दक्षनेत्रमें इं माधवाय तुष्ट्यै नमः, वामनेत्रमें ईं गोविन्दाय पुष्ट्यै नमः, इस प्रकार क्रमिक सानुस्वार वर्णका उच्चारण करके निम्नोक्त प्रकारसे यथायथ स्थानमें न्यास करना होगा । सबके अन्तमें नमः शब्द प्रयोज्य है । जैसे—दक्षकर्णमें 'विष्णवे धृत्यै' वामकर्णमें 'मधुसूदनाह शान्त्यै' दक्षिण नासापुटमें 'त्रिविक्रमाय क्रियायै', वामनासापुटमें 'वामनाय दयायै' दक्षिण गण्डमें 'श्रीधराय मेधायै' वामगण्डमें 'हृषीकेशाय हर्षायै' ओष्ठमें 'पद्मनाभाय श्रद्धायै' अधरमें 'दामोदराय लज्जायै', ऊर्द्ध्व दन्तपंक्तिमें 'वासुदेवाय लक्ष्म्यै' निम्नदन्तपंक्तिमें 'सङ्कर्षणाय सरस्वत्यै' मस्तकमें 'प्रद्युम्नाय प्रीत्यै' मुखे 'अः अनिरुद्धाय रतै' दक्षिणकरमूल, सन्धिस्थान और अग्रभागादिमें 'कं चक्रिणे जयायै' 'खं गदिने दुर्गायैः' क्रमशः 'शार्ङ्गिणे प्रभायै' 'खड्गिने सत्यायै' शङ्खिने चण्डायै' इसी प्रकार वामकरमूलसन्धि और अग्रभागादिमें 'हलिने वाण्यै', 'मुषलिने विलासिन्यै' शूलिने विजयायै' 'पाशिने विरजायै' अंकुशिने विश्वायै ।' दक्षिणपादमूलसन्धि और अग्रभागादिमें मुकुन्दाय विनदायै, नन्दजाय सुनन्दायै, नन्दिने स्मृत्यै, नराय ऋद्ध्यै नरकजिते समृद्धै ।' वामपादमूल सन्धि और अग्रभाग आदिमें 'हरये शुद्ध्यै' कृष्णाय बुद्ध्यै, सत्याय भूत्यै, सात्वताय मत्यै, सौराय क्षमायै' । दक्षिणपार्श्वमें 'शूराय रमायै', वामपार्श्वमें 'जनार्द्दनाय' पृष्ठमें 'भूधराय क्लेदिन्यै' नाभिमें 'विश्वमूर्त्तये क्लिन्नायै' उदरे 'वैकुण्ठाय सुदायै' हृदयमें 'त्वगात्मने पुरुषोत्तमाय वसुधरायै' दक्षिणांसमें 'असृगात्मने बलिने परायै', ककुदमें 'मांसात्मने बलानुजाय परायणायै' वाम अंशमें 'मेद आत्मने बलाय सूक्ष्मायै', हृदादि दक्षिणकरमें अस्थ्यात्मने वृषघ्नाय सन्ध्यायै' हृदादि वामकरमें 'मज्जात्मने वृषाय प्रज्ञायै' हृदादि दक्षिणपादमें 'शुक्रात्मने हिंसाय प्रभायै' हृदादि वामपादमें 'प्राणात्मने वराहाय निशायै' हृदादि उदरमें 'जीवात्मने विमलाय अमोघायै' हृदादि मुखमें 'क्रोधात्मने नृसिंहाय विद्युतायै' । इस प्रकार न्यास करे ।

अगस्त्यसंहितामें लिखा है, कि यदि भुक्तिमुक्तिकी कामना कर पूजा की जाय, तो उक्त न्यास करनेके समय आदिमें श्रीं-वीज जोड़ दे । यथा—'श्रीं अं केशवाय कीर्त्यै नमः' इत्यादि ।

अनन्तर तत्त्वन्यास, ऋष्यादिन्यास और विष्णुपञ्जरादिन्यास करना होगा । विस्तार हो जानेके भयसे इन सब न्यासोंका विवरण नहीं दिया गया । उक्त पूजा पद्धतिकी सहायतासे ये सर्व न्यास कर पीछे पुनः ध्यान करे । ध्यानमन्त्र इस प्रकार है—

"उद्यतकोटिदिवाकराभमनिशं शंख गदां पङ्कजं
चक्रं विभ्रतमिन्दिरा वसुमती सँशोभि पार्श्वा द्वयम् ।
कोटिराङ्गदहारकुण्डलधरं पीताम्बरं कौस्तुभो-
द्दीप्तं विश्वधरं स्ववक्षसि लसच्छ्रीवत्सचिह्नं भजे ॥"

इस प्रकार ध्यान करनेके बाद मानसोपचारसे पूजा कर शङ्ख स्थापन करे ।

गौतमीय तन्त्रके मतसे ताम्रपात्र, शङ्ख, मृत्पात्र, स्वर्ण वा रजतपात्र, ये पञ्चपात्र विष्णुके अति प्रिय हैं । उक्त विशुद्ध पञ्चपात्रको छोड़ कर और कोई भी पात्र विष्णु पूजामें काम नहीं आता* ।

शङ्खस्थापनके बाद सामान्य पीठपूजा, पीछे विमलादि शक्तिके साथ पीठमन्त्र पर्य्यन्त पूजा करके पुनर्ध्यान और मूलमन्त्रमें कल्पित विष्णुमूर्त्तिके प्रति आवाहनादि पञ्चपुष्पाञ्जलि प्रदान करे । अनन्तर आवरण पूजा करनी होगी । यथा—"ओं क्रूद्धोल्काय हृदयाय नमः" इत्यादि मन्त्रोंसे अग्न्यादि चतुष्कोणमें तथा चारों दिशाओंमें पूजा करे । अनन्तर केशरसमूहमें पूर्वादि क्रमसे "ओं नमः, नं नमः, मों नमः, नां नमः, रां नमः, यं नमः, णां नमः, यं नमः ।" दलसमूहमें पूर्वादिकी ओर 'ओं वासुदेवाय नमः' इस प्रकार पूजा करनेके बाद चतुर्थी विभक्ति जोड़ कर प्रणवादि नमःके बाद सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध अग्न्यादि कोणमें ; दलसमूहमें शान्ति श्री, सर-

---

* "ताम्रपात्रं तु राजर्षे विष्णोरतिप्रियं मतम् ।
तथैव सर्वपात्राणां मुख्यं शङ्खं प्रकीर्त्तितम् ॥
मृत्पात्रञ्च तथा प्रोक्तं स्वर्णं वा राजतं तथा ।
पञ्चपात्रं हरेः शुद्धं नान्यत्तत्र नियोजयेत् ॥"
(गौतमीयतन्त्र)

स्वती और रति ; पत्राग्रसमूहमें पूर्वादिक्रमसे चक्र, शङ्ख, गदा, पद्म, कौस्तुभ, मूसल, खड्ग, वनमाला, उसके बाहर अग्रभागमें गरुड़, दक्षिणमें शङ्खनिधि, वाममें पद्मनिधि, पश्चिममें ध्वज, अग्निकोणमें विघ्न, नैऋतमें आर्य्या, वायुकोणमें दुर्गा तथा ईशानमें सेनापति इन सबकी पूजा करके उसके बाहर इन्द्रादि और वज्रादिकी पूजा करे। अनन्तर धूप और दीप दानके बाद यथाशक्ति नैवेद्य वस्तु निवेदन करनी होती है।

विष्णुपूजामें नैवेद्य दानमें कुछ विशेषता है। गौतमीय तन्त्रके मतसे स्वर्ण, ताम्र या रौप्य पात्रमें अथवा पद्मपत्र पर विष्णुको नैवेद्य चढ़ावे। आगमकल्पद्रुममें लिखा है, कि राजत, कांस्य, ताम्र वा मिट्टीका बरतन अथवा पलाशपत्र विष्णुको नैवेद्य चढ़ानेके लिये उत्तम है।

जो हो, ऊपर कहे गये किसी एक पात्रमें विष्णुका नैवेद्य प्रस्तुत कर देवोद्देशसे पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय दानके बाद 'फट' इस मूलमन्त्रसे उसे प्रोक्षण चक्रमुद्रामें अभिरक्षण, 'यं' मन्त्रसे दोषोंका संशोधन, 'रं' मन्त्रसे दोषदहन तथा वं' मन्त्रसे अमृतीकरण कर आठ बार मूल मंत्र जप करे। पीछे 'वं' इस धेनुमुद्रासे अमृतीकरण कर गन्धपुष्प द्वारा पूजा करनेके बाद कृताञ्जलि हो हरिसे प्रार्थना करे। अनन्तर "अस्य मुखतो महः प्रसवेत्" इस प्रकार भावना करके स्वाहा और मूलमंत्र उच्चारण करते हुए नैवेद्यमें जलदान करे। इसके बाद मूल मंत्रका उच्चारण कर तथा "एतन्नैवेद्यं अमुकदेवतायै नमः" इस मंत्रसे दोनों हाथोंसे नैवेद्य पकड़ "ॐ निवेदयामि भवते जुषाणेदं हविर्हर।" इस मन्त्रसे नैवेद्य अर्पण करे। अनन्तर 'अमृतो पस्तरणमसि' इस मंत्रसे जल देनेके बाद वामहस्तसे ग्रासमुद्रा दिखा दक्षिण हस्त द्वारा प्रणवादि सभी मुद्राएं दिखावे यथा "ॐ प्राणाय स्वाहा" यह कह कर अङ्गुष्ठ द्वारा कनिष्ठा और अनामिका, 'ॐ व्यानाय स्वाहा' इस मंत्रसे अङ्गुष्ठ द्वारा मध्यमा और अनामा, "ॐ उदानाय स्वाहा' इस मंत्रसे अङ्गुष्ठ द्वारा तर्जनी, मध्यमा और अनामा तथा 'ओं समानाय स्वाहा' कह कर अङ्गुष्ठ द्वारा सर्वाङ्गुलि स्पर्श करे। अनन्तर दोनों अङ्गुष्ठ द्वारा अनामिकाका अग्रभाग स्पर्श कर 'ओं नमः पराय अन्तरात्मने अनिरुद्धाय नैवेद्यं कल्पयामि' कह कर नैवेद्य मुद्रा दिखावे तथा मूलमंत्रका उच्चारण कर 'अमुकदेवतां तर्पयामि' इस मन्त्रसे ४ बार संतर्पण करे। बादमें 'अमुक देवतायै एतज्जलममृतापिधानमसि' इस मंत्रसे जलदान करनेके बाद आचमनीय आदि देने होंगे।

विष्णुको नैवेद्यके बाद साधारण पूजा-पद्धतिके अनुसार विसर्जन कर सभी कार्य समाप्त करे। सोलह लाख जप करनेसे विष्णुमंत्रका पुरश्चरण होता है।

"विकारलक्षं प्रजपेन्मनुमेनं समाहितः।
तद्दशांशं सरसिजैर्जुहुयान्मधुराप्लुतैः॥" (तन्त्रसार)

स्मृतिग्रन्थादिमें जो विष्णुपूजाका विवरण दिया गया है, विस्तार हो जानेके भयसे यहां उसका उल्लेख नहीं किया गया। आह्निकतत्त्व आदि ग्रंथोंमें उसका सविस्तर विवरण आया है।

शिवपूजामें शिवको अष्टमूर्त्तिकी पूजा करके पीछे विष्णुकी अष्टमूर्त्तिकी पूजा करनी होती है। विष्णुकी अष्टमूर्त्तिके नाम ये हैं—उग्र, महाविष्णु, ज्वलंत, सम्प्रतापन, नृसिंह, भीषण, भीम और मृत्युञ्जय। इन सब नामोंमें चतुर्थी विभक्ति जोड़ कर आदिमें प्रणव तथा अंतमें 'विष्णवे नमः' कह कर पूजा करे। विष्णुकी इस अष्टमूर्त्तिका पूजन शिवलिङ्गके सम्मुखादि क्रमसे करना होगा। (लिङ्गार्च्चन तन्त्र ७ प०)

गरुड़पुराणके २३२-२३४ अध्यायमें विष्णुभक्ति, विष्णुका नमस्कार, पूजा, स्तुति और ध्यानके सम्बंधमें विस्तृत आलोचना की गई है। विस्तार हो जानेके भयसे यहां उनका उल्लेख नहीं किया गया।

विष्णु नामकी व्युत्पत्ति।

मत्स्यपुराणमें पृथिवीके मुखमें भगवान्के कुछ नामोंकी व्युत्पत्ति इस प्रकार देखनेमें आती है। देहियोंके मध्य सिर्फ भगवान् ही अवशेष हैं, इसी कारण उनका नाम शेष हुआ है। ब्रह्मादि देवताओंका ध्वंस है, किंतु भगवान्का ध्वंस नहीं है। वे अपने स्थानसे अविच्युत हैं, इसी कारण उनका नाम अच्युत है। ब्रह्मा और इन्द्रादि

देवताओंका वे ही निगृहीत करके हरण करते हैं, इस कारण उनका नाम हरि पड़ा है। देह, यश और श्री-द्वारा वे भूतोंको सनातन कालमें सम्मति करते हैं, इस कारण वे सनातन हैं। ब्रह्मासे आरम्भ करके कोई भी उनका अंत नहीं पाता, इस कारण वे अनंत हैं। कोटि कोटि कल्पमें भी उनका क्षय नहीं है, वे अक्षय और अव्यय हैं, इसी कारण उन्हें भगवान् कहा गया है। नाराका अर्थ जल है, उसमें उन्होंने अयन या वास किया था, इस कारण उनका नाम नारायण है। प्रति युगमें पृथिवीके प्रणष्ट होनेसे वे ही फिर उसको लाभ करते, इस कारण वे गोविन्द कहलाते हैं। हृषीकका अर्थ इन्द्रिय है, वे उनके अधिपति हैं, इसीसे उनका हृषीकेश नाम पड़ा है। युगांतकालमें ब्रह्मासे आरम्भ करके सभी भूतवृन्द उनमे अथवा वे ही भूतवृन्दमें वास करते हैं, इस कारण उनका नाम वासुदेव हुआ है। प्रति कल्पमें वे भूतोंको बार बार सङ्कर्षण वा संहरण करते, हैं, इस कारण वे सङ्कर्षण नामसे प्रसिद्ध हैं। देव, असुर अथवा रक्षः कोई भी प्रतिपक्ष हो कर ठहर नहीं सकता, सभी धर्मोंके वे प्रतिद्युम्न वा पाता हैं, इसी कारण उनका नाम प्रद्युम्न हुआ है। भूतवृन्दके मध्य उनका कोई भी निरोध नहीं है, इस कारण उनका दूसरा नाम अनिरुद्ध है। (मत्स्यपु० २२२ अ०)

विष्णुलोक-लाभ।

सकाम व्यक्ति कर्मभोग करता है, परन्तु निष्काम व्यक्ति देहत्यागके बाद निरुपद्रवसे निरामय विष्णुपद पाते हैं। निष्कामियोंको फिरसे इस संसारमें आना नहीं होता। जो द्विभुज कृष्णकी आराधना करते हैं, उनकी गति वैकुण्ठमें तथा चतुर्भुज नारायणके भक्त सेवकोंके स्थान गोलोकमें होती है। सकाम वैष्णवोंको वैकुण्ठकी प्राप्ति होती है सही, पर उन्हें फिरसे भारतमें आ कर द्विजातिकुलमें जन्म लेना पड़ता है। पीछे कालक्रमसे वे भी निष्काम साधक होते हैं।

(ब्रह्मवै प्रकृतिख० २४ अ०)

विष्णु—कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थकारोंके नाम—१ सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् गोपीराजके शिष्य। ये भी एक ज्योतिर्विद् कह कर मार्त्तण्डवल्लभमें वर्णित हुए हैं। २ आश्वलायन-गृह्यकारिका वर्णित एक ग्रन्थकर्त्ता। ३ आश्वलायन प्रयोग वृत्तिके रचयिता। इन्होंने देवस्वामी, नारायण आदिका पदानुसरण किया है। ४ काल्यष्टकके रचयिता। ५ कुण्ड-मरीचिमालाके प्रणेता। ६ त्रियापराधप्रायश्चित्तके रचयिता। ७ शिवमहिम्नस्तोत्रके प्रणेता। ८ एक प्राचीन धर्मशास्त्रकार।

विष्णुउपाध्याय—विष्णुगढ़ वा विष्णुगूढ़ार्थ नामक वेदान्त ग्रन्थके रचयिता।

विष्णुऋक्ष (सं० क्ली०) विष्णुरधिदेवताकं ऋक्षम्। श्रवणा नक्षत्र।

विष्णुकन्द (सं० पु०) विष्णुप्रियः कन्दः। मूलविशेष। यही कोङ्कणमें प्रसिद्ध स्वनामख्यात महाकन्द है। पर्याय—विष्णुगुप्त, सुपुट, बहुसम्पुट, जलवास, वृहत्कन्द, दीर्घ-पत्र, हरिप्रिय। गुण—मधुर, शीतल, रुच्य, सन्तर्पण कारी तथा पित्त, दाह और शोथनाशक। (राजनि०)

विष्णुकवच (सं० क्ली०) धारणीभेद। अग्निपुराणमें विष्णुका माहात्म्यसूचक यह कवच लिखा है।

विष्णुकवि (सं० पु०) १ भोजप्रबन्धधृत एक कवि। २ क्रतुरत्नमाला नामक एक शाङ्खायनसूत्रपद्धतिके रचयिता, श्रीपतिके पुत्र और जगन्नाथ द्विवेदीके पौत्र।

विष्णुकाक (सं० पु०) नीली अपराजिता; नीली कोयल लता।

विष्णुकाञ्ची (सं० स्त्री०) दाक्षिणात्यका एक प्राचीन नगर और पवित्र तीर्थक्षेत्र। शङ्कराचार्यने इस नगरकी प्रतिष्ठाकी। काञ्ची देखो।

विष्णुकान्ता (सं० स्त्री०) नीली अपराजिता, नीली कोयल-लता।

विष्णुकान्ती (सं० स्त्री०) तीर्थभेद।

विष्णुकुण्ड—प्राचीन प्राग्ज्योतिषके अन्तर्गत लौहित्य नदीके दक्षिणस्थ एक प्राचीन तीर्थ। (योगिनीतन्त्र ४७।२) हिमवत्खण्डमें भी इस तीर्थका माहात्म्य वर्णित है।

विष्णुक्रम (सं० पु०) विष्णोः क्रमः। विष्णुका पादन्यास। (तैत्तिरीयस० ५।२।१।१)

विष्णुक्रान्त (सं० पु०) १ सङ्गीतका तालभेद। रथक्रान्त देखो। २ इश्क पेँचा नामक लता या उसका फूल।

विष्णुक्रान्ता (सं० स्त्री०) विष्णुस्तद्वर्णाः क्रान्ती वा यस्य

विष्णुतुल्यवर्णत्वात् विष्णुपरित्यक्तत्वाच्च अस्याः तथात्वम्। १ नीली अपराजिता या कोयल नामकी लता। पर्याय—हरिक्रान्ता, नीलपुष्पा, अपराजिता, नीलक्रान्ता, सुनीला, विक्रान्ता, छर्द्दिका। गुण—कटु, तिक्त, वातश्लेष्मरोग और विषदोषनाशक, मेधावर्द्धक, पवित्रताकारक और शुभप्रद तथा क्रिमि, व्रण और कफरोगमें हितकर।

२ वाराहीकन्द, गेंठी। (वैद्यकनि०) ३ ज्योतिषोक्त संक्रान्तिविशेष। ४ नीले फूलवाली शङ्खाहुली।

विष्क्रान्ति (सं० स्त्री०) विष्णुक्रान्ता देखो।

विष्णुक्षेत्र (सं० स्त्री०) तीर्थभेद।

विष्णुगङ्गा (सं० स्त्री०) नदीभेद।

विष्णुगञ्ज—गया जिलेके अन्तर्गत एक प्राचीन ग्राम।

(भविष्य ब्रह्मखण्ड ३६।३५)

विष्णुगणक—एक प्रसिद्ध ज्योतिर्विद्। वे ज्योतिर्विद्-प्रधान दिवाकरके पुत्र तथा केशव और विश्वनाथके भाई थे।

विष्णुगन्धि (सं० स्त्री०) लाल फूलकी शङ्खाहुली।

विष्णुगाथा (सं० स्त्री०) विष्णुकथा, विष्णुसम्बन्धीय आलाप या आलोचना।

विष्णुगुप्त (सं० पु०) विष्णुना गुप्तः रक्षितः। १ कौण्डिन्य नामसे परिचित एक ऋषि और विख्यात वैयाकरण। इन्होंने शिवजीके कोपानलमें पड़ कर आत्मरक्षाके लिये विष्णुकी शरण ली थी। विष्णुने इन्हें देवदेवकी कोपवह्निसे बचाया था। इसी कारण ये पीछे विष्णुगुप्त नामसे प्रसिद्ध हुए थे।

२ पृष्ठपोषणकारी सुपण्डित और राजनीतिज्ञ चाणक्यका असली नाम। ये मौर्य्यराज चंद्रगुप्तके अमात्य और पृष्ठपोषक थे। मुद्राराक्षस नाटकमें विष्णुगुप्तचरितमें इनका चरित्र चित्रित होनेके बाद ये भी विष्णुगुप्त नामसे प्रसिद्ध हुए। ३ वात्स्यायन मुनि। पर्याय—कौण्डिन्य, चाणक्य, द्रमिण, अंगुल, वात्स्यायन, मल्लनाग, पक्षिल स्वामी। (त्रिकाण्डशेष)

४ महामूलक, बड़ी मूली। ५ विष्णुकन्द। ६ देवादि। (क्ली०) ७ चाणक्यमूल।

विष्णुगुप्त—१ एक सुप्राचीन ज्योतिर्विद्। विष्णुगुप्त सिद्धान्त क्या इन्होंका बनाया? वराहमिहिर, उत्पल, हेमाद्रि आदिने इनका उल्लेख किया है। २ शङ्कराचार्य्यके एक शिष्य।

विष्णुगुप्तक (सं० क्ली०) चाणक्यमूलक, बड़ा मूला।

विष्णुगुप्तदेव—१ मगधके गुप्तवंशीय एक सम्राट्, देवगुप्तदेवके पुत्र। परमभट्टारिका राजमहिषी इज्जादेवीके गर्भसे इनके जीवित गुप्तदेव (२य) नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ था।

२ राजा विष्णुगुप्तके पुत्र। राजाने एक जलनाली संस्कारके लिये सामन्त चंद्रवर्माको जो आदेशपत्र दिया, युवराज विष्णुगुप्त उसीके दूतक थे। ये लगभग ६५३ ई०में विद्यमान थे।

विष्णुगूढ़स्वामी—आश्वलायनश्रौतसूत्रभाष्य और आश्वलायन परिशिष्टभाष्यके प्रणेता। इसके सिवा उक्थप्रयोग और दशरात्रप्रयोग नामक इनके लिखे दो खण्ड ग्रंथ भी मिलते हैं।

विष्णुगृह (सं० क्ली०) विष्णवे प्रतिष्ठितं गृहम्। १ विष्णुमन्दिर। जो व्यक्ति लकड़ी, मिट्टी या ईंट किसी भी उपादानसे हरिमन्दिर बना देता है, वह इहलोकमें सुख भोग कर परलोकमें स्वर्ग पाता है। वह्निपुराणमें विष्णुगृह प्रतिष्ठाताका फल इस प्रकार लिखा है।

विष्णुमन्दिरका निर्माण कर उसकी प्रतिष्ठा करनेकी बात तो दूर रहे, जो कायमनोवाक्यसे मन्दिरनिर्माणकी आत्यन्तिक इच्छा रखते हैं अथवा हमेशा उनकी चिन्तना करते हैं या जो किसीके मन्दिरनिर्माणविषयक अभिप्राय प्रकट करने पर उसे सम्यक् रूपसे अनुमोदन करते हैं, वे भी सब पापोंसे मुक्त हो विष्णुलोकको जाते हैं। फिर जो इसकी प्रतिष्ठा करते हैं, वे हजार वर्ष तक स्वर्गभोग करेंगे। इसके सिवा जो हरिमन्दिरका फिरसे संस्कार कर देते हैं, वे भी पूर्ववत् फलके अधिकारी होते हैं। (वह्नि पु०) २ ताम्रलिप्त नगर। ३ स्तम्बपुर नामक नगर।

विष्णुगोप—१ दाक्षिणात्यके काञ्चिपुरके एक राजा। सम्राट् समुद्रगुप्तने इन्हें परास्त किया था। ये देवराज नामसे प्रसिद्ध थे।

विष्णुग्रन्थि (सं० स्त्री०) योगप्रकरणोक्त घटावस्थाभेद।

(हठप्रदीपिका)

विष्णुचक्र (सं० क्ली०) विष्णोश्चक्रमिव। १ हस्तस्थ रेखामय चक्रविशेष। यह चक्र जिसके हाथमें रहता है, वह व्यक्ति राजचक्रवर्त्ती अर्थात् सर्वभूमीश्वर होता है तथा उसका प्रभाव अव्याहत और स्वर्ग पर्यन्त विस्तृत हो जाता है। (विष्णु पुराण १।१३)

२ सुदर्शनचक्र।

विष्णुचन्द्र—१ भूपसमुच्चयतन्त्र और सर्वसारतन्त्र नामक दो तन्त्रोंके रचयिता। इन दोनों तन्त्रोंमें पुराण और तन्त्रसमूहसे शाक्त और शैव सम्प्रदायकी उपास्य विभिन्न देव-देवियोंकी पद्धति और मन्त्रादि लिपिबद्ध हैं। ग्रन्थकी श्लोकसंख्या ५३ हजार है।

२ वसिष्ठसिद्धान्तके प्रणेता। ब्रह्मगुप्त और भट्टोत्पलने इनका वचन उद्धृत किया है।

विष्णुचित्त—कल्पसूत्रव्याख्या, प्रमेयसंग्रह, विष्णुपुराणटीका और संन्यासविधि नामक ग्रन्थोंके प्रणेता। विष्णुचित्तकी कल्पसूत्रव्याख्या तथा रामाण्डार वा रामाग्निचित् कृत आपस्तम्बश्रौतसूत्रभाष्यकी पर्यालोचना करनेसे मालूम होता है, कि दोनों ही परस्पर संश्लिष्ट हैं। किन्तु दोनों एक व्यक्ति हैं वा नहीं कह नहीं सकते।

विष्णुज (सं० त्रि०) विष्णुजात, विष्णुसे उत्पन्न।
(वराहस० ४६।११)

विष्णुतत्त्व (सं० क्ली०) विष्णोस्तत्त्वम्। विष्णुका माहात्म्य, वह ग्रन्थ जिसमें विष्णुकी मौलिकता आलोचित हुई है।

विष्णुतर्पण (सं० क्ली०) विष्णुके उद्देशसे तर्पण।

विष्णुतिथि (सं० पु० स्त्री०) हरिवासर, शुक्ला एकादशी और द्वादशी तिथिभेद।

विष्णुतीर्थ (सं० क्ली०) १ संन्यासविधिके प्रणेता। स्मृत्यर्थसागरमें इनके रचित कुछ ग्रन्थोंका वचन उद्धृत है। २ स्कन्दपुराणोक्त तीर्थभेद।

विष्णुतैल (सं० क्ली०) वातव्याधिरोगोक्त तैलौषधविशेष। प्रस्तुत-प्रणाली—तिलतैल ४ सेर तथा गाय और भैंसका दूध १६ सेर ले कर उसमें शिला पर पिसा हुआ शालपान, पिठवन, बिजवंद, गोपवल्ली, रेंडीका मूल, वृहती, कण्टकारी, नाटाकरञ्जका मूल, शतमूली, नीलझिंटीका मूल, प्रत्येक आठ तोला ले कर मिलावे। पीछे लोहे या मिट्टीके बरतनमें ६४ सेर पानीके साथ पाक करे। पाक शेष होने पर अर्थात् सिर्फ तेलके रह जाने पर उसे उतार कर छान ले। वातव्याधि अथवा जिस किसी वायुकी विकृति अवस्थामें इसका व्यवहार करनेसे बहुत उपकार होता है।

विष्णुत्व (सं० क्ली०) विष्णुका भाव या धर्म।

विष्णुवात—आचार्यभेद। आप योगशास्त्रमें सुपण्डित थे।

विष्णुदत्त (सं० त्रि०) विष्णुना दत्तं। विष्णुप्रदत्त, विष्णुका दिया हुआ। (भागवत ५।१७।४)

विष्णुदत्त अग्निहोत्री—श्राद्धाधिकारके रचयिता।

विष्णुदास १ एक सामन्त महाराज। ये परमभट्टारक महाराजाधिराज २य चन्द्रगुप्तके अधीन थे। २ एक वैष्णव साधु। (भविष्यभक्ति०)

विष्णुदास (श्रीपति)—एक राजा (१६२० ई०)। ये ताजिकसारके प्रणेता सामन्तके प्रतिपालक थे।

विष्णुदेव—१ मन्त्रदेवताप्रकाशिकाके प्रणेता। ये लक्ष्मीशके पुत्र और परमाराध्यके पौत्र थे। २ एक वेदपारग ब्राह्मण। गुप्तराज हस्तिन्ने इन्हें भूमि दी थी।

विष्णुदैवज्ञ—एक ज्योतिर्विद्। इन्होंने वृहच्चिन्तामणिटीका, विष्णुकरणोदाहरण और सूर्यपक्षशरण नामक तीन ग्रन्थ लिखे।

विष्णुदैवत (सं० त्रि०) विष्णुः दैवतं वा यस्य। १ विष्णुदेवताका द्रव्यादि, जिस द्रव्यके अधिष्ठात्री देवता विष्णु हैं। (क्ली०) २ श्रवणानक्षत्रके अधिष्ठात्री देवता विष्णु।
(ज्योतिस्तत्त्व)

विष्णुदैवत्य—विष्णु दैवत देखो।

विष्णुदैवत्या (सं० स्त्री०) विष्णुदैवत्यमस्याः। एकादशी और द्वादशी तिथि। इन दोनों तिथियोंके अधिष्ठात्री देवता विष्णु हैं।

विष्णुद्विष् (सं० पु०) विष्णुं द्वेष्टि इति विष्णु द्विष् क्विप्। १ असुर, दैत्य, दानव इत्यादि। २ एक जैन।

विष्णुद्वीप (सं० पु०) पुराणानुसार एक द्वीपका नाम।

विष्णुधर्म (सं० पु०) विष्णुप्रधानो धर्मोऽस्मिन्। १ भक्ति

ग्रंथविशेष। इस ग्रन्थमें विष्णुविषयक धर्मोंका उपदेश दिया गया है। २ विष्णुकी उपासनाके योग्य धर्म, वह धर्म जिसके अवलम्बन पर विष्णुकी उपासना करनी होती है। ३ वैष्णवधर्म। ४ विद्याविशेष। यथाविधान इस विद्याकी उपासना करनेसे इन्द्रत्व लाभ होता है। (गरुड़पुराण २०१ अ०)

विष्णुधर्मोत्तर (सं० क्ली०) पुराणसंहिताविशेष। इस संहिताके प्रश्नकर्त्ता जनमेजयके पुत्र तथा वक्ता शौनकादि ऋषि थे। इसमें प्रायः एक सौ वृत्तान्त वर्णित हैं। यह विष्णुपुराणका एकांश है। कोई कोई इसे एक उपपुराण मानते हैं। बल्लालसेनने स्वकृत दानसागरमें तथा हलायुधके ब्राह्मणसर्वस्वमें इस ग्रन्थका उल्लेख किया है।

विष्णुधारा (सं० स्त्री०) १ तीर्थभेद। २ हिमवत्पादसे निकली हुई एक नदी। (हिम० ख० ३२।२६)

विष्णुनदी (सं० स्त्री०) १ नदीभेद। २ विष्णुपादोद्भव नदी।

विष्णुनन्दी—एक ब्राह्मण। गुप्तसम्राट् महाराज सर्वनाथने इन्हें भूमि दी थी।

विष्णुपञ्जर (सं० पु०) पुराणानुसार विष्णुका एक कवच। कहते हैं, कि यह कवच धारण करनेसे सब प्रकारके भय दूर हो जाते हैं।

विष्णुपण्डित—१ गणितसारके रचयिता, दिवाकरके पौत्र और गोवर्द्धनके पुत्र। इनके बड़े भाई गङ्गाधरने १४२० ई०में लीलावतीटीका लिखी। २ तात्पर्यदीपिका नामक अनर्घराघवटीकाके प्रणेता। ये शिशुपालबधटीकाके प्रणेता चन्द्रशेखरके पिता और रङ्गभट्टके पुत्र थे। ३ गोत्रप्रवरदीपके प्रणेता।

विष्णुपति—तत्त्वचिन्तामणि शब्दखण्डदीपनके रचयिता। इनके पिताका नाम रामपति था।

विष्णुपत्नी (सं० स्त्री०) १ विष्णुकी पत्नी, लक्ष्मी। २ अदिति। (शुक्लयजुः २३।६०)

विष्णुपद (सं० क्ली०) विष्णोः पदं। १ आकाश। (अमर) २ क्षीरसमुद्र। (मेदिनी) ३ पद्म, कमल। (हेम) ४ तीर्थविशेष। इस तीर्थमें स्नान कर वामनदेवकी पूजा करनेसे सभी पाप दूर होते हैं तथा विष्णुलोकमें गति होती है। ५ कैलासपर्वतका स्थानविशेष। (भारत ५।१११।१२) ६ पर्वतविशेष। (हरिवंश ३१।४३) ७ विष्णुका स्थान। (विष्णुपुराण २।८ अ०) ८ भ्रूमध्य। आसन्नमृत्यु व्यक्ति यह स्थान देख नहीं सकता। (काशीख० ४२।१३-१४)

९ विष्णुका पद। भारतके जिन सब स्थानोंमें पदचिह्न विद्यमान है, वे सब स्थान एक एक तीर्थक्षेत्रमें गिने जाते हैं। गयाक्षेत्रमें विष्णुपद विराजित देखा जाता है। बृहन्नीलतन्त्रमें भी एक विष्णुपदका उल्लेख है। इसके समीप गुप्तार्च्चितीर्थ है।

(बृहनील २१-२२ अ०)

विष्णुपदी (सं० स्त्री०) विष्णोः पदं स्थानं यस्याः गौरादित्वात् ङीष्। १ गङ्गा। गङ्गा विष्णुपदसे निकली हैं, इस कारण इसे विष्णुपदी कहते हैं। २ संक्रान्तिविशेष। वृष, वृश्चिक, कुम्भ और सिंहराशिमें सूर्यसंक्रमण होनेसे उसे विष्णुपदी संक्रान्ति कहते हैं। अर्थात् जिस जिस संक्रान्तिमें सूर्य मेषराशिसे वृषमें, कर्कटसे सिंहमें, तुलासे वृश्चिकमें तथा मकरसे कुम्भराशिमें जाते हैं, उन्हें विष्णुपदी संक्रान्ति कहते हैं। अतएव वैशाखके बाद ज्यैष्ठमासके आरम्भमें तथा श्रावणके बाद भाद्र, कार्त्तिकके बाद अग्रहायण और माघके अन्तमें तथा फाल्गुन मासके प्रारम्भमें जो संक्रांति होती है, वह विष्णुपदीसंक्रान्ति कहलाती है। यह विष्णुपदी संक्रान्ति अतिशय पुण्यतमा है। इसमें पुण्यतिथिको स्नानदानादि करनेसे लाख गुण फल होता है। (तिथितत्त्व)

विष्णुपदीचक्र (सं० क्ली०) विष्णुपद्याः संक्रान्त्याः चक्रं। ज्यैष्ठ, अग्रहायण, भाद्र और फाल्गुन मासकी संक्रान्तिमें शुभाशुभज्ञापक चक्र। कालपुरुषके अङ्गमें सभी नक्षत्रोंको विन्यास कर यह चक्र निरूपण करना होता है। इस विष्णुपदीसंक्रान्तिमें जिस नक्षत्रको सूर्य संक्रमण होता है, वह नक्षत्र मुखमें तथा उससे दक्षिणबाहुमें चार, दोनों पैरमें तीन तीन, वामबाहुमें चार, हृदयमें पांच दोनों चक्षुमें दो दो, मस्तक पर दो तथा गुह्यमें एक, इस प्रकार सभी नक्षत्रोंको विन्यास कर फल निरूपण

करना होता है। फल यथाक्रम रोग, भोग, यान, बन्धन, लाभ, ऐश्वर्य्य, राजपूजा और अपमृत्यु आदि होंगे।

विष्णुपरायण (सं० स्त्री०) विष्णुभक्त, वैष्णव।

विष्णुपर्णिका (सं० स्त्री०) पृश्निपर्णी, पिठवन।

विष्णुपर्णी (सं० स्त्री०) भूम्यामलकी, भुईंआंवला।

(वैद्यकनिघ०)

विष्णुपाद (सं० क्ली०) १ विष्णुका पदचिह्न। २ एक गण्डशैल। वैष्णवचूड़ामणि राजा चन्द्रने विष्णुके उद्देशसे इसके ऊपर एक ध्वज (स्तम्भ) निर्माण करा दिया है। शिलालिपि-सम्वलित वह ध्वज अभी दिल्ली के निकटवर्त्ती एक देशमें संरक्षित है। प्रकृत विष्णुपाद शैलका अवस्थान पुष्कर शैलके निकट है।

विष्णुपादुका—भागलपुर जिलेके अन्तर्गत चम्पानगरके समीप वीरपुरमें अवस्थित एक सुप्रसिद्ध जैनमन्दिर। कहते हैं, कि उस मन्दिरमें विष्णुपद विराजित हैं, इससे निकटवर्त्ती ग्रामवासी उसके प्रति विशेष भक्तिश्रद्धा दिखलाते हैं। जैन लोग जैनसम्प्रदायके उपास्य चौबीसवें देवताके पदचिह्न समझ कर उसकी पूजा करते हैं।

विष्णुपीठ (सं० पु०) योगिनी-तन्त्रोक्त पीठभेद।

(योगिनीतन्त्र १७)

विष्णुपुत्र (सं० पु०) विष्णोः पुत्रः। विष्णुके तनय।

विष्णुपुर—१ वङ्गदेशके अन्तर्गत बांकुड़ा जिलेका एक उपविभाग। यह १८७६ ई०में विष्णुपुर, कोटालपुर, इन्दास और सोनामोखी ले कर संगठित हुआ है।

२ उक्त उपविभागके अन्तर्गत बांकुड़ा जिलेका प्राचीन नगर। यह अक्षा० २७° २४′ उ० तथा देशा० ७७° ५७′ पू०के मध्य द्वारिकेश्वर नदीसे कुछ मील दक्षिणमें अवस्थित है। यहां प्रायः २०००० लोगोंका बास है। यह नगर प्राचीन और समृद्धिशाली है तथा बांकुड़ा जिलेका वाणिज्य प्रधान स्थान है। यहांसे चावल, तैल, शस्य, लाख, रूई, रेशम आदिकी रफतनी तथा नाना प्रकारके विलायती द्रव्य, लवण, तमाकू, मसाले, मटर, उड़द आदि द्रव्योंकी आमदनी होती है। इस नगरमें बहुतसे जुलाहोंका बास है। यहां जगह जगह हाट बाजार लगता है। यह स्थान उत्तम रेशमी वस्त्रके लिये प्रसिद्ध है। यहां साधारण विचारालयादिको छोड़ विद्यालय, हिन्दूमन्दिर और मुसलमानोंकी मसजिद आदि भी हैं। एक प्रसिद्ध प्राचीन उच्च राजपथ कलकत्तेसे इस नगर होता हुआ उत्तर-पश्चिमको चला गया है। यहांसे एक दूसरी सड़क दक्षिण मेदिनीपुरकी ओर दौड़ गई है। प्रवाद है, कि प्राचीन विष्णुपुर स्वर्गके "इन्द्रभवन"-के समान मनोरम था। इस प्राचीन नगरमें जगह जगह ऊंची अट्टालिका, खाई और भित्तिनिर्माण प्रभृतिके सम्बन्धमें बहुत-सी अलौकिक किम्बदंतियां सुनी जाती हैं। यह नगर प्राचीन कालमें बहुसंख्यक सौधावली और परिखा द्वारा सुदृढ़ था। उसकी लम्बाई ७ मील तक थी, बीच बीचमें पुल बने हुए थे। दुर्गप्राकारके मध्य ही राजप्रासाद वर्त्तमान था। अभी जो भग्नावशेष दिखाई देता है, वह बड़ा ही कौतूहलोद्दीपक और मनोहर है। नगरके मध्य जो मन्दिर हैं, उनके भग्नावशेषसे प्राचीन हिंदू स्थापत्यका काफी प्रमाण मिलता है। नगरके दक्षिणी दरवाजेके समीप विशाल शस्यागारका भग्नावशेष है। दुर्गके भीतर जो अभी जंगलसे ढक गया है, सवा दश फुटकी एक बड़ी लोहेकी कमान है। कहते हैं, कि यहांके राजाओंमेंसे एकने देवप्रासाद रूपमें इस कमानको पाया था। इष्ट इण्डिया कम्पनीकी फिहरिश्त देखनेसे मालूम होता है, कि यह विष्णुपुरराजवंश क समय बङ्गाल भरमें प्रसिद्ध था। आवि रैनेलके History of the East and West Indiesनामक ग्रंथके मानचित्रमें (London edition 1776)विशेनपुर (विष्णुपुर) और कलकत्ता इन दोनों नगरोंके नाम वङ्गदेशीय लेफ्टिनाण्ट गवर्नरके अधिकृत स्थानोंके मध्य बड़े अक्षरोंमें अङ्कित है। विष्णुपुर राज्य स्थापनके दिनसे ही यहां उस राजवंशका मल्लाब्द प्रचलित देखा जाता है। प्रवाद है, कि जयपुरके एक राजा देशपरिभ्रमणकी इच्छासे स्त्रीके साथ घरसे निकले। पुरुषोत्तमकी ओर जानेमें उन्हें विष्णुपुर मिला। यहां वे एक निविड़ अरण्यके किसी पान्थनिवासमें ठहर गये। इसी समय उनकी पत्नीने एक पुत्ररत्न प्रसव किया। राजाने सद्यःप्रसवा रानीको साथ ले जाना अच्छा नहीं समझा और पुत्रके साथ उसको वहीं पर छोड़ आपने प्रस्थान कर दिया। कहते हैं, कि तीर्थयात्रा कालमें माता भी

नवजात शिशुको वहीं छोड़ स्वामीकी अनुगामिनी हुईं। इस घटनाके बाद श्रीकाशमितिया नामक वाग्दी जातिका एक लकड़हारा उस बच्चेको अपने यहां उठा ले गया और सात वर्ष तक उसका लालन-पालन किया। एक दिन किसी ब्राह्मणको उस शिशु पर नजर पड़ गई। उसके सौन्दर्य पर विमुग्ध हो तथा उसे राजोचित लक्षणाक्रान्त देख वे उसको अपने यहां उठा ले गये। वह ब्राह्मण दारिद्र्यवशतः उस बालकको गाय चराने तथा भरण-पोषणके लिये गृहकार्यमें नियुक्त करनेको बाध्य हुए थे। वाग्दियोंने उनका नाम रघुनाथ रखा था। एक दिन रघुनाथको एक गाय अपने दलसे कहीं निकल गई। रघुनाथने जङ्गलमें उसे तमाम ढूंढ़ा, पर वह गाय नहीं मिली। आखिर भूख-प्याससे कातर हो वह उसी निर्जन वनमें एक वृक्षके नीचे सो रहा। जब वह खूब गाढ़ी नींदमें सो रहा था, तब एक भयङ्कर गोखुरा सांप पासवाली गुल्मलतासे निकल कर बालकके पास आया और उसके ऊपर अपना रंजित फण फैला कर सूर्यकिरणको रोकने लगा था।

एक दिन नदीमें स्नान करते समय रघुनाथने सोनेका एक गोला पाया और उसे अपने मालिकको दे दिया। मालिकने उसे बालकके भविष्य उन्नतिचिह्नस्वरूप समझ बड़े हर्षसे रख लिया। इसके कुछ समय बाद वहांके जङ्गली राजाकी मृत्यु हुई। अन्त्येष्टिक्रियाकी तैयारी बड़ी धूमधामसे हुई। सभी देशोंके लोग निमन्त्रित हुए। दरिद्र ब्राह्मणने भी पुत्र रघुको ले दूसरे दूसरे ब्राह्मणोंके साथ राजपुरीमें प्रवेश किया। जब ब्राह्मण-भोजन हो रहा था, उसी समय स्वर्गीय राजाका सवारी हाथी सूंड़ बढ़ाता हुआ आया और रघुनाथको अपनी पीठ पर बैठा कर शून्यराजसिंहासनकी ओर अग्रसर हुआ। यह अद्भुत घटना देख पहले तो सभी लोग वज्राहतकी तरह पड़े रहे, बादमें इसे दैविक घटना समझ उन लोगोंने आनन्दकोलाहलसे दिङ्मण्डलको गुंजा दिया। राजमंत्रीने बालकको राजमुकुट पहनाया और उसे राजपद पर अभिषिक्त किया। इस समय गायक, वादक, बन्दी और धर्मयाजकगण फूले न समाये और सभी अपना अपना कर्त्तव्य पालन करने लगे।

प्रवाद है, कि रघुनाथ ही विष्णुपुरके प्रथम मल्ल राजा थे। इस राजवंशने प्रायः ११०० वर्ष राज्य किया राजा रघुनाथ वा आदिमल्लने बड़े यत्नसे समृद्धिशाली विष्णुपुर नगरको बसाया था। बहुत समय तक विष्णुपुर राज्य मल्लभूमि और जङ्गल महाल कह कर प्रसिद्ध रहा अभी वे सब स्थान वर्द्धमान, बांकुड़ा और वीरभूम जिलेके अन्तर्गत हो गया है।

विष्णुपुरके राजा अधीनस्थ वाग्दीवीरोंकी सहायतासे महाराष्ट्रीय विप्लवकालमें मुर्शिदावादके नवावको खासी मदद पहुंचाई थी। विष्णुपुर राजाकी सहायतासे मराठोंका दमन हुआ था। विष्णुपुरके राजा मुर्शिदाबाद नवावके करद राजाओंमें बहुत प्रसिद्ध थे।

विष्णुपुर-राजगण महाऋषि वंशीय क्षत्रिय हैं, अकलङ्कदेव और पुरादेवीके सेवक और राजगण सामवेदीय कुथुमीशाखाके है। इनके ऋषि विश्वामित्र हैं। आज भी इन्हें यज्ञोपवीत धारणके समय पवित्र 'गाथा' मंत्र दिया जाता है। विष्णुपुरके ५९ राजाओंमें कुछका विवरण नीचे दिया जाता है।

वाग्दियोंने राज्याभिषेककालमें १म रघुनाथसिंहको आदिमल्लकी उपाधि दी। आदिमल्लने ७१५ ई०में जन्म ग्रहण किया। वे १ मल्लाब्दमें वहांके राजा हुए तथा ३४ वर्ष तक उन्होंने राज्य किया। उनकी रानी चन्द्रकुमारी पश्चिम प्रदेशस्थ सूर्यवंशीय राजा इन्द्रसिंहकी कन्या थीं। उन्होंने पान्थेश्वरीके नामसे एक मन्दिर बनवाया था। लेवग्राममें उनकी राजधानी थी।

२य राजा जयमल्ल बादमें विष्णुपुरके राजा हुए। ७४९ ई०में उनका जन्म हुआ तथा ३३ मल्लाब्दमें वे राजा हुए। ३० वर्ष राज्य करके ६४ मल्लाब्दमें उनका देहान्त हुआ। उनकी रानी दीनुसिंह नामक पश्चिम प्रदेशीय सूर्यवंशीय राजाकी कन्या थी। राजा जयमल्लने सात चरविहारीदेवके नाम पर एक मन्दिर बनवाया। वे क्षमताशाली राजा थे। उनके समय विष्णुपुरका सैन्यबल बहुत बढ़ गया था।

३य राजा (वेनुमल्ल)-का जन्म ७७९ ई०में हुआ। उन्होंने ६४ मल्लाब्दमे राजा हो कर बारह वर्ष तक राज्य किया। मतियर सिंह नामक पाश्चात्य सूर्यवंशीय

राजकुमारी काञ्चनमणि उनकी पत्नी थीं। इनके पाँच पुत्र थे। ज्येष्ठपुत्र ही राज्याधिकारी हुए। किन्तु अभी उनका वंश लोप हो गया है।

१९ वें राजा जगत्मल्लने २७५ मल्लाब्द (९९० ई०)में जन्मग्रहण किया। ३१८ मल्ल शकमें (१०३३ ई०में) वे राजा हुए और ३३६ मल्लशक (१७५१ ई०में) उनका देहान्त हुआ। उन्होंने गोलकसिंहकी कन्या चन्द्रावतीका पाणिग्रहण किया था। इस समय विष्णुपुर एक जगद्विख्यात नगर था, यहां तक कि स्वर्गके इन्द्रभवनसे भी वह मनोरम समझा जाता था। उस समय विष्णुपुरकी सौधराजि श्वेतमर्मर पत्थरकी बनी हुई थी। पुरीमें नाट्यमञ्च, तोपखाना, वासगृह, और परिच्छदागार विराजमान था। हस्तिशाला, सैन्यशाला, अश्वशाला, शस्यागार, अस्त्रागार, कोषागार और देवमन्दिर विष्णुपुरकी शोभा बढ़ा रहे थे। राजा जगत्मल्लके समय बहुत दूर दूर देशके वणिकोंने विष्णुपुरमें आ कर आढ़त खोला था।

१३३वें राजा रायमल्ल ५६४ मल्लाब्द (१२७७ ई०)में सिंहासन पर बैठे और ५८७ म० अ० (१३०० ई०में) स्वर्गको सिधारे। उन्होंने २३ वर्ष तक राज्य किया था। उनकी पत्नी नन्दलालसिंहकी कन्या सुकुमारी बाई थीं। उनके समय दुर्गकी भी बड़ी उन्नति हुई थी। इस समय अनेक प्रकारके आग्नेय अस्त्र दुर्गमें लाये और रखे गये थे। सेनाओंको सुन्दर परिच्छेदसे सजानेकी व्यवस्था थी। उनकी सेनाओंके आक्रमणसे कोई भी उस समय विष्णुपुर पर आक्रमण करनेका साहस नहीं करता था।

४८वें राजा वीर हम्बीरने ८६८ मल्लाब्दमें जन्म लिया। वे ८८१ म० अ० (१५९६ ई०)-में राजा हुए। उन्होंने २६ वर्ष राज्य किया। उनके चार स्त्री और २५ पुत्र थे। वृन्दावनसे श्रीनिवासाचार्य जो लाखसे अधिक वैष्णव ग्रन्थ साथमें लाये थे, वे इन्हींके कौशलसे लूटे गये। आखिर वे श्रीनिवासाचार्यके निकट वैष्णव-धर्ममें दीक्षित हुए। तभीसे मल्लराजवंश श्रीनिवासाचार्यके वंशधरोंके मन्त्रशिष्य हैं। वीर हम्बीरके समय तीन देवमन्दिर बनाये गये, दुर्ग परिखाशोभित तथा उसके प्राचीरगात्रमें कमान खड़ी की गई। उन्होंने मुर्शिदाबादके नवाबके विरुद्ध सेना भेजी थी। अन्तमें उन्हें राजरूपमें स्वीकार कर १६७००० मुद्रा राजकर देनेके बाद वे अपने राज्य लौट आये। वीर हम्बीर देखो।

५५वें राजा गोपालसिंहका जन्म ९७२ म० अ० में और देहान्त १०५५ मल्लाब्द (१७०८ ई०)-में हुआ। वे ३८ वर्ष तक राज्य कर गये। उन्होंने तुङ्गभूमिके राजा रघुनाथ तुङ्गकी कन्यासे विवाह किया। उनके राजत्वकालमें पांच देवमन्दिर बनाये गये। उनके राज्यकालमें भास्कर पण्डितकी अधिनायकतामें परिचालित महाराष्ट्रीय सेनादलने विष्णुपुर दुर्गके दक्षिण तोरण पर आक्रमण किया। राजा सेनाओंके साथ स्वयं युद्धक्षेत्रमें उपस्थित थे, किन्तु उनकी अदृष्टदेवी शत्रुके पक्षमें थी, इस कारण उनकी हार हुई। अन्तमें मदनमोहन देवकी कृपासे उन्होंने पुनः शत्रुओंको परास्त किया। कहते हैं, कि मदनमोहनकी कृपासे गोपालसिंहके आग्नेयास्त्रने स्वयं ही विपक्षीदल पर अग्नि उद्गीरण की थी।

किसी दूसरेका कहना है, कि राजाने इस युद्धमें अच्छा पराक्रम दिखाया तथा असाधारण शिक्षा और शक्तिबलसे अनेक विपक्षी सेनाओंको यमपुर भेज दिया था, किन्तु जब उन्होंने देखा, कि वे रणक्षेत्रमें प्रधान सेनापतिको मार नहीं सकते तथा मराठोंके विरुद्ध अस्त्रधारण करनेकी उनमें शक्ति न रह गई, तब उन्होंने दुर्गमें आश्रय लिया। इसी समय मराठादलने असीम साहससे राजदुर्ग पर चढ़ाई कर दी, किन्तु राजाकी सुशिक्षित कमानवाही सेनादलकी लगातार अग्निवृष्टिसे तंग आ कर वे लौट जानेको बाध्य हुए। युद्धमें महाराष्ट्र-सेनापति पञ्चत्वको प्राप्त हुए, विष्णुपुरकी सेना विपक्षके द्रव्यादि लूट कर दुर्गमें वापिस आई। उन्हींके शासनकालमें वर्द्धमानके राजा कीर्त्तिचन्द्र बहादुरने विष्णुपुर पर आक्रमण कर राजाको परास्त किया। इसके कुछ समय बाद ही फिरसे दोनोंने मिल कर मराठोंके विरुद्ध अस्त्रधारण किया था।

राजाके बड़े लड़के विष्णुपुरके सिंहासन पर बैठे तथा छोटेको जागीरस्वरूप जामकुण्डी देश मिला।

आज भी छोटेके वंशधर उस सम्पत्तिका भोग करते हैं।

विष्णुपुर-राजवंशके इतिहासमें राजाओं द्वारा देवमूर्त्ति स्थापन वा पुष्करिण्यादि खनन कीर्त्तिका परिचय ही विशेषरूपसे दिया गया है। कोई कोई राजा वाणिज्यकी वृद्धि द्वारा, कोई युद्धविग्रहादि और दुर्गनिर्माण द्वारा तथा कोई राजधानीमें भिन्न स्थानगत लोगोंको स्नान-दान द्वारा राज्यकी यथेष्ट उन्नति कर गये हैं। राजसिंहासन पर केवल बड़े लड़के ही बैठते थे। राजाके अन्यान्य पुत्र राजसम्पत्तिसे भरणपोषणोपयोगी वार्षिक वृत्ति या जमीन पाते थे। बङ्गालके मुसलमान राजा या शासनकर्त्ताओंके जमानेका इतिहास पढ़नेसे मालूम होता है, कि यह राजवंश कभी मित्ररूपमें, कभी शत्रुरूपमें, कभी करद राजारूपमें मुसलमान नवाबके साथ समकक्षतासे राज्यशासन कर गये हैं। यथार्थमें मुर्शिदाबादके नवाब दरबारमें उन्हें कभी आना पड़ता था। वे अङ्गरेज कम्पनीकी तरह नवाब-दरबारमें प्रतिनिधि द्वारा सभी कार्य्य कराया करते थे।

इस राजवंशके पचासवें राजाने १६३७ ई०में (६२२ मल्लाब्दमें) वंशगत 'मल्ल'-की उपाधि परित्याग कर क्षत्रिय राजाओंको चिरपरिचित सिंह उपाधि ग्रहण की तथा परवर्त्ती राजगण उसी सिंह उपाधिसे मर्य्यादान्वित होते थे। १८वीं सदीमें इन राजवंशधरोंकी उत्तरोत्तर अवनति होने लगी। मराठोंने लगातार विष्णुपुरराज्यको लूट कर राजाओंको निःसहाय कर दिया। इसके बाद १७७० ई०में यहां दुर्भिक्ष उपस्थित हुआ जिससे अधिवासिगण विष्णुपुरराज्यको छोड़ अन्यत्र चले गये। इस प्रकार बार बार सङ्कट आ पड़नेसे प्राचीन और समृद्ध विष्णुपुरराज्य श्रीहीन हो गया। आखिर अङ्गरेजशासनकी कठोरतासे ऋणभारक्लिष्ट और नाना विपज्जालमें विजड़ित अधस्तन राजवंशधर जमींदारोंका एकदम अधःपतन हो गया। यथार्थमें अभी अङ्गरेजाश्रयमें वही करद राजवंशधर सामान्य जमींदाररूपमें ही विद्यमान हैं।

राजा आदिमल्लके वंशधर राजा वीरसिंहने (१६५० ई०में) अनेक सत्कार्य्य और दानके कारणसे ख्यातिलाभ की थी। बहुसंख्यक जलाशय और विष्णुपुरके अनेक बांध तथा कितने मन्दिर उन्हींकी कीर्त्तिघोषणा करते हैं।

इस राजवंशके चैतन्यसिंह नामक एक राजा १८वीं सदीमें जीवित थे। राजकार्य्यमें उनकी अच्छी प्रसिद्धि थी। उन्होंने इष्ट इण्डिया कम्पनीसे बाँकुड़ा जिलेके जरीप महल्लेका दशशाला बन्दोबस्त किया था। अभी उनके लड़कोंकी अमितव्ययिताके कारण वह सम्पत्ति नष्ट हो गई है, यहां तक कि बाकी राजस्वमें सरकारने उसका अधिकांश जब्त कर लिया।

प्रवाद है, कि राजा दामोदर सिंहने अर्थाभावप्रयुक्त मदनमोहन विग्रहको कलकत्तानिवासी गोकुलचन्द्र मित्रके यहां एक लाख रुपयेमें बन्धक रखा था। सुप्रसिद्ध मदनमोहन मूर्त्तिके इस प्रकार दूसरी जगह आने पर नगर क्रमशः श्रीहीन होता गया तथा राजाकी भी आर्थिक अवस्था शोचनीय हो गई। इसके कुछ दिन बाद हतभाग्य राजाने बड़े कष्टसे अर्थसंग्रह करके विग्रहमुक्तिकी आशासे अपने मन्त्रीको कलकत्ता भेजा। मित्र महाशयने रुपये तो ले लिये पर राजाको विग्रह लौटा नहीं दिया। सुप्रिमकोर्टमें इसका विचार हुआ। राजाको उक्त विग्रहकी पुनःप्राप्तिका अधिकार मिला। गोकुलचन्द्रने ठीक वैसी ही एक दूसरी मूर्त्ति बना कर राजाको दी और मूलमूर्त्ति अपने घर रखी। लोगोंका विश्वास है, कि कलकत्ता बागबाजारमें जो मदनमोहनकी मूर्त्ति है वही विष्णुपुरकी प्रसिद्ध मदनमोहन है।

प्राचीन कीर्त्ति।

विष्णुपुर प्राचीन नगर है। बहुतसे मन्दिर और प्राचीन भग्नावशेष उसका प्रमाण हैं। वे सब मन्दिर साधारणतः निम्नबङ्गमें प्रचलित गम्बूजाकृति वक्रछतसे ग्रथित हैं। ऊपरी भागमें उतना कारुकार्य्यादि नहीं है, केवल गात्रमें ईंट और टालीके ऊपर ही खोदितशिल्पका निदर्शन मिलता है। अनेक कारुकार्य्य सुन्दर हैं और आज तक खराब नहीं हुए हैं। दीवारके कारुकार्य्य रामायण और भारतीय युद्धविवरणकी आख्यायिकाके आधार पर चित्रित हैं। अधिकांश मन्दिर कृष्ण या कृष्णप्रियाके नाम पर उत्सर्ग किये गये हैं। भास्करकार्य्य देखनेसे उतना सुरुचिसङ्गत मालूम नहीं होता। इस

नगरमें मुसलमानी अमलके पहले रचित एक अति प्राचीन वृहत् तोरणद्वार है। इसके सिवा एक दूसरे वहिर्द्वारका भी भग्नावशेष दिखाई देता है। उसमें मुसलमानी समयकी निर्माणप्रणाली और स्थापत्य शिल्पका निदर्शन मिलता है।

प्रत्नतत्त्वविदोंने इस स्थानके भग्नावशेष और मन्दिरादिका उत्कीर्ण लिपियां देख कर अनुमान किया है, कि वे सब कीर्त्तियां १६वीं सदीकी बनी हैं। जीर्ण और अस्पष्ट शिलालेख खूब हृदयग्राही है। प्रधान प्रधान मन्दिर और खोदित लिपिका नीचे उल्लेख किया गया है—

प्राचीन शैवकीर्त्तियोंमें मल्लेश्वर शिवमन्दिर उल्लेखनीय है। इस मन्दिरमें उत्कीर्ण शिलालिपिसे मालूम होता है, कि ९२८ मल्लशकमें (१६४३ ई०में) श्रीवीरसिंहने यह मन्दिर बनाया। वीर हम्बीरके वैष्णव-दीक्षा लेनेके बादसे बहुतेरे विष्णुमन्दिर बनाये गये। उनमेंसे कुछ प्रसिद्ध मन्दिर और उत्कीर्ण शिलालिपिके निर्माण कालका उल्लेख नीचे किया गया है—

(१) राजा रघुनाथ सिंहकर्त्तृक ९४९ मल्लशकमें प्रतिष्ठित राधाश्यामका नवरत्नमंदिर। (२) ९६१ मल्लशकमें प्रतिष्ठित कृष्णरायका मंदिर। (३) ९६२ मल्लशकमें प्रतिष्ठित कालाचांदका मंदिर। (४) ९६९ मल्लाब्दमें प्रतिष्ठित गिरिधर लालका नवरत्न। (५) ९७१ मल्लशकमें राजा दुर्जन सिंहकी प्रधान महिषी द्वारा प्रतिष्ठित मुरलीमोहनका मंदिर। (६) ९७६ मल्लशकमें राजा वीरसिंह प्रतिष्ठित लालजीका मंदिर। (७) ९७६ मल्लशकमें राजा वीरसिंह प्रतिष्ठित मदनगोपाल मंदिर। (८) ९८६ मल्लाब्दमें वीरसिंह प्रतिष्ठित राधाकृष्णका शैलमन्दिर। (९) १००० मल्लाब्दमें राजा दुर्जनसिंह प्रतिष्ठित मदनमोहनका मन्दिर। (१०) १०३२ मल्लाब्दमें राजा गोपालसिंहके समय स्थापित राधागोविन्दका सौधरत्न। (११) १०४० मल्लशकमें राजा गोपालसिंहका स्थापित महाप्रभु चैतन्यदेवका मन्दिर। (१२) १०४३ मल्लशकमें राजा श्रीकृष्णसिंहकी महिषी द्वारा प्रतिष्ठित राधामाधवका मन्दिर। (१३) १०६४ मल्लशकमें राजा चैतन्यसिंहका प्रतिष्ठित राधाश्यामका मन्दिर।

इसके सिवा विष्णुपुरके प्राचीन भग्नावशेषके मध्य सूच्यग्राशमञ्च अति प्रसिद्ध है और इसकी गठनप्रणाली अति आश्चर्य्यजनक है।

विष्णुपुराण (सं० क्ली०) व्यासप्रणीत महापुराणभेद। यह पुराण अठारह पुराणोंमें एक है। पुराण देखो।

विष्णुपुरी (सं० स्त्री०) १ वैकुण्ठधाम। (पु०) २ ग्रन्थकर्त्ताभेद। ये वैकुण्ठपुरी नामसे भी प्रसिद्ध हैं। तीरभुक्तिमें इनका घर था तथा मदनगोपालके ये शिष्य थे। भगवद्भक्ति रत्नावली, भागवतामृत, वाक्यविवरण और हरिभक्ति-कल्पलता नामक चार ग्रन्थ इन्हींके बनाये हैं।

विष्णुपुरी गोस्वामी—विष्णुभक्तिरत्नावली नामक वैष्णव ग्रन्थके प्रणेता। ये प्रायः काशीमें रहा करते थे, इस कारण पुरुषोत्तमसे स्वयं जगन्नाथदेवने उन्हें श्लेष कर एक दूतके हाथ कहला भेजा था, 'पुरी! मैंने समझ लिया, कि भुक्तिमुक्तिकी आशासे काशीमें ही आपने डेरा डाला। मैं अर्थवित्तहीन वनचारी हूं, मेरी इच्छा है, कि एक बार आपके दर्शन करूं।" भक्तवत्सल भगवान्का यह वात्सल्यपूर्ण आदेश सुन कर पुरीने बड़े हर्षसे उत्तर दिया, "मैं भुक्ति, मुक्ति, गया, काशी, मथुरा, वृन्दावन कुछ भी नहीं समझता। आप भी कौन हैं और आपका तत्त्व क्या है, यह भी मुझे मालूम नहीं, परन्तु जिस दिनसे 'जगन्नाथ कृष्ण' यह नाम मेरे कानोंमें घुसा है, तभीसे उस नामकी मालाको हृदयमें धारण कर लिया है। अभी स्वयं प्रभुने जब मुझे अपनी शरणमें बुलाया है, तब एक बार श्रीचरणके दर्शन अवश्य कर आऊंगा।" इस घटनाके बाद विष्णुपुरी स्वप्रणीत 'विष्णुभक्तिरत्नावली' ग्रन्थको साथ ले पुरुषोत्तम गये तथा जगन्नाथदेवके दर्शन कर उन्होंने उनके पादपद्ममें वह ग्रन्थ समर्पण कर दिया। (भक्तमाल)

विष्णुप्रिया (सं० स्त्री०) विष्णोः प्रिया। १ विष्णुकी पत्नी, लक्ष्मी। २ तुलसीवृक्ष। ३ चैतन्यदेवकी स्त्री।

विष्णुप्रतिष्ठा (सं० स्त्री०) विष्णुमूर्त्तिस्थापन। गोभिलाचार्य्यकृत विष्णुपूजन और बौधायन-रचित विष्णु प्रतिष्ठा नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ इनके बनाये मिलते हैं।

विष्णुभक्त (सं० त्रि०) विष्णोर्भक्तः। विष्णुका भक्त, वैष्णव।

विष्णुभक्ति (सं० स्त्री०) विष्णौ भक्तिः। भगवद्भक्ति, भगवत्सेवा।

विष्णुभट—राजा विष्णुवद्ध नके पालित एक ब्राह्मण।

विष्णुभट्ट—कुछ प्राचीनग्रन्थकारोंके नाम। १ निवन्धचन्द्रोदयके प्रणेता; रामकृष्णसूरि अटकेड़के पुत्र। २ स्मृतिरत्नाकरके रचयिता। विदुरनगर इनका जन्मस्थान था। शिवभट्ट इनके पिता थे। ३ पुरुषार्थचिन्तामणिके रचयिता।

विष्णुमत् (सं० त्रि०) विष्णुयुक्त (गायत्री)।
(पंचविंशब्रा० १३।३।१)

विष्णुमती (सं० स्त्री०) राजकन्याभेद। (कथासरित् सा०)

विष्णुमती—तैरभुक्तके अन्तर्गत नदीभेद।
(भविष्यब्रं० खं० ४८।२६)

विष्णुमन्त्र (सं० पु०) विष्णुपूजाविषयक मन्त्र।

विष्णुमन्दिर (सं० क्ली०) विष्णुगृह, वह मन्दिर जिसमें विष्णुमूर्त्ति स्थापित हो।

विष्णुमय (सं० त्रि०) विष्णुस्वरूप, विष्णुसे अभेद।

विष्णुमाया (सं० स्त्री०) विष्णोर्माया। परमेश्वरकी अघटनघटनपटीयसी अविद्याशक्ति विशेष अथवा तदधिष्ठात्री देवी दुर्गा। (ब्रह्मवैवर्त्तपु०प्र० खं० ५४ अ०)

विष्णुमित्र कुमार—ऋक्प्रातिशाख्यभाषाके प्रणेता। उवटने इन्हें उक्त ग्रंथका आदि रचयिता बनाया है। इनके पिताका नाम देवमित्र था।

विष्णुमिश्र—सुपद्ममकरंद नामक पद्मनाभ दत्तकृत सुपद्मव्याकरणकी टीका और रूपनारायणरचित सुपद्मसमाससंग्रहटीकाके प्रणेता।

विष्णुयतीन्द्र—गुरुपरम्परा और पुरुषोत्तमचरित्रके प्रणेता।

विष्णुयशस् (सं० पु०) विष्णु र्व्यापकं यशो यस्य नारायणस्य पितृत्वादेवास्य तथात्वम् यद्वा विष्णुना ग्रहीतव्यजन्मना यशो यस्य। १ ब्रह्मयशाके पुत्र, भावी अवतार कल्किदेवके पिता। (कल्किपु० ३० अ०) २ एक पण्डित। ये पुष्प सूत्रभाष्यके प्रणेता अजातशत्रुके शिष्य थे।

विष्णुयामल—रुद्रयामलोक्त एक तन्त्रग्रन्थ।

विष्णुरथ (सं० पु०) विष्णो रथः। १ विष्णुका स्यन्दन। २ विष्णुका वाहन, गरुड़।

विष्णुरहस्य (सं० क्ली०) १ एक प्राचीन पौराणिक ग्रन्थ। हेमाद्रिरचित व्रतखण्डमें इसका उल्लेख है। २ तन्त्रभेद।

विष्णुराज (सं० पु०) राजपुत्रभेद। (तारनाथ)

विष्णुरात (सं० पु०) विष्णुना रातः रक्षितः। राजा परीक्षितका एक नाम। कहते हैं, कि द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने इन्हें गर्भमें ही मार डाला था, पर भूमिष्ठ होने पर भगवान् विष्णुने इन्हें फिरसे जिला दिया, इसीसे इनका नाम विष्णुरात हुआ है। (भारत आश्व० ७० अ०)

विष्णुराम—परिभाषाप्रकाशके प्रणेता।

विष्णुराम सिद्धान्तवागीश—प्रायश्चित्ततत्त्वादर्श और श्राद्धतत्त्वादर्शके रचयिता। ये जयदेव विद्यावागीशके पुत्र और कविचन्द्र भट्टाचार्यके पौत्र थे।

विष्णुलिङ्गी (सं० स्त्री०) वर्त्तिका पक्षी, बटेर।

विष्णुलोक (सं० पु०) विष्णुपुर, वैकुण्ठपुरी।

विष्णुवत् (सं० त्रि०) विष्णुना सह विद्यमानः। विष्णुके साथ विद्यमान। (ऋक् ८।३५।१४)

विष्णुवल्लभा (सं० स्त्री०) विष्णोर्वल्लभा। १ तुलसी। २ अग्निशिखावृक्ष, कलिहारी।

विष्णुवाहन (सं० क्ली०) विष्णुं वाहयति स्थानांतरं नयति विष्णु-णिच् ल्यु। गरुड़।

विष्णुवाह्य (सं० पु०) विष्णुर्वाह्योऽस्य। गरुड़।

विष्णुवृद्ध (सं० पु०) गोत्रप्रवर्त्तक प्राचीन ऋषिभेद। बहुवचनमें उनके वंशधरका बोध होता है।
(आश्व० श्रौ० १२।१२।२)

विष्णुशक्ति (सं० स्त्री०) विष्णोः शक्तिः। १ लक्ष्मी। (राजतर० ३।३६३) २ राजपुत्रभेद। (कथासरित)

विष्णुशर्मन् (सं० पु०) १ तान्त्रिक आचार्यभेद। शक्तिरत्नाकरमें इनका उल्लेख है। २ पञ्चतन्त्र नामक प्रसिद्ध संस्कृत उपाख्यान ग्रन्थके रचयिता। ये ५ वीं सदीमें विद्यमान थे तथा अपने प्रतिपालक किसी हिन्दू राजाके पुत्रको नीतिकथाका उपदेश देनेकी कामनासे पण्डितवरने यह ग्रन्थ सङ्कलन किया था। ६ठी सदीमें इसका पह्लवी भाषामें अनुवाद हुआ। पीछे उसी ग्रन्थके आधार पर ८वीं सदीको अबदल्ला विम्-मोकावगने अरबी भाषामें तथा ६वीं सदीको रुदिकीने पारसी भाषामें लिखा। रुदिकीने ग्रन्थानुवादके पारिश्रमिकस्वरूप ८०

हजार दिरहम सिक्का पाया था। इसके बाद ग्रीक, हिब्रु आदि पाश्चात्य भाषामें इसका अनुवाद हुआ था।

पञ्चतन्त्र देखो।

३ वनोत्सर्गके प्रणेता। ४ एक हिन्दू दार्शनिक। पद्मपुराणमें इनका प्रसङ्ग है। उड़ीसाके एकाम्रकाननमें इन्होंने जन्म लिया था। पीछे कामगिरिमें जा कर ये वस गये। इनका धर्ममत व्यासदेवके मत जैसा है। इनके रचित एक स्मृति और पुष्कराविषयक ग्रन्थ मिलते हैं। यह स्मृतिग्रन्थ तथा प्रसिद्ध विष्णुस्मृतिग्रन्थ एक है वा नहीं, कह नहीं सकते।

विष्णुशर्मन् दीक्षित—संस्कारप्रदीपिकाके रचयिता।

विष्णुशर्मन् मिश्र—कर्मकौमुदी और महारुद्रपद्धतिके रचयिता।

विष्णुशास्त्रिन्—१ कण्वसंहिता होम नामक ग्रन्थके प्रणेता। २ एक प्रसिद्ध संन्यासी। संन्यासाश्रम अवलम्बनके बाद ये 'माधवतीर्थ' नामसे परिचित हुए। ये आनन्दतीर्थके अनुशिष्य थे अर्थात् शिष्यानुक्रमसे इनका स्थान तीसरा था। ये १२३१ ई०में जीवित थे।

विष्णुशिला (सं० स्त्री०) विष्णुनां अधिष्ठाता शिला। शालग्राम शिला। ये कलि अब्दके दश हजार वर्ष तक पृथिवी पर रह कर पीछे अन्तर्हित होंगे। (मेरुतन्त्र ५म प्रकाश)

विष्णुशृङ्खल (सं० पु०) योगविशेष, श्रवणाद्वादशी। श्रवणा नक्षत्रसंयुक्त द्वादशी यदि एकादशीके साथ संपृष्ट हो, तो वैष्णवमतसे उसे विष्णुशृङ्खलयोग कहते हैं। इस योगमें यथाविधान उपवासादि करनेसे विष्णुसायुज्यकी प्राप्ति होती है अर्थात् उस जीवको फिर जन्म नहीं पड़ता। (मत्स्यपु०)

विष्णुश्रुत (सं० त्रि०) विष्णुरेनं श्रूयात्। १ एक प्रकारका आशीर्वाद-वचन, जिसका अभिप्राय है, कि यह सुन कर विष्णु तुम्हारा मंगल करें। २ ऋषिभेद।

(पा ६।२।१४८)

विष्णुसंहिता—एक प्रसिद्ध स्मृतिसंहिताका नाम।

विणुसरस (सं० क्ली०) तीर्थभेद। (वराहपु०)

विष्णुसर्वज्ञ (सं० पु०) आचार्यभेद। (सर्वदर्शनस०) ये सर्वज्ञविष्णु नामसे भी परिचित हैं। ये सायणके गुरु हैं।

विष्णुसहस्रनामन् (सं० क्ली०) १ विष्णुका सहस्र नाम। (पद्मपुराण) २ उस नामका एक ग्रंथ।

विष्णुसूक्त (सं० क्ली०) ऋग्वेदीय सूक्तग्रन्थभेद।

विष्णुसूत्र (सं० क्ली०) विष्णु कथित एक सूत्रग्रंथ।

विष्णुस्मृति—एक प्राचीन स्मृतिग्रंथ। याज्ञवल्क्य, पैठीनसि आदिने इस ग्रंथका उल्लेख किया है। १३२२ ई०में नन्दपण्डितोंने केशववैजयन्ती नामसे इसकी एक टीका लिखी है। वर्त्तमान कालमें गद्यविष्णुस्मृति, वृद्धविष्णुस्मृति, लघुविष्णुस्मृति और वृद्धविष्णुस्मृति नामक चार ग्रन्थ देखे जाते हैं।

विष्णुस्वामिन् (सं० पु०) १ वैष्णवधर्मप्रवर्त्तक आचार्यभेद। २ सर्वदर्शनसंग्रहके रसेश्वरदर्शनोक्त एक आचार्य। ३ भागवतपुराणटीकाके रचयिता। ४ काश्मीरस्थ विष्णुमूर्त्तिभेद। (राजतर० ५।६६)

विष्णुहिता (सं० स्त्री०) १ तुलसीवृक्ष। २ मरुवक, मरुआ।

विष्णुहरि—एक प्राचीन कवि।

विष्णूत्सव (सं० पु०) विष्णुका उत्सव।

विष्वङ्गिरस—समरकामदीपिकाके प्रणेता।

विष्वची (सं० पु०) पक्षी, चिड़िया।

विष्पर्धस् (सं० त्रि०) स्पर्धा सङ्घर्षे वि-स्पर्धा असुन्। १ स्वर्ग। (शुक्लयजु० १५।५ महीधर) २ निर्मत्सर, मात्सर्याहीन, जिसे किसी प्रकारका मत्सर न हो। (ऋक् ८।२३।२) ३ विविध स्पर्द्धा। (ऋक् ५।८७।४ सायण) ४ स्पर्द्धाविहीन, प्रगल्भरहित। (ऋक् १।१७३।६)

विष्पश् (सं० पु०) वि स्पश् क्विप्। विशेष प्रकारसे बाधाजनक, अच्छी तरह रोकनेवाला। (ऋक् १।१८९।६)

विष्पित (सं० क्ली०) व्यापित, व्याप्तविशिष्ट, बहुत दूर तक फैला हुआ। (ऋक् ७।६०।७)

विष्पुलिङ्गक (सं० त्रि०) १ विष्फुलिङ्ग, अग्निकणा। २ सूक्ष्म चटकिका। यह विषप्रतिषेधक होता है।

विष्फार (सं० पु०) वि-स्फुर णिच् अच्, अच् आत् षत्वम्। धनुर्गुणाकर्षण शब्द, धनुषकी टंकार।

विष्फुलिङ्ग (सं० पु०) स्फुलिङ्ग, अग्निकणा।

(भागवत ३।२८।४०)

विष्य (सं० त्रि०) विषेण वध्यः विष यत् (नौवयोधर्मेति।

पा ४।४।९१) १ विष द्वारा वधोपयुक्त, जो विष दे कर मार डालने योग्य हो । (अमर) विषेण क्रीतः विषाय हित इति वा (उगवादिभ्यो यत् । पा ५।१।२) २ विष द्वारा क्रीत, जो विष दे कर खरीदा गया हो । ३ विषके लिये हित, विषके पक्षमें मङ्गलदायक ।

विष्यन्द (सं० पु०) क्षरण, बहना ।

विष्यन्दक (सं० पु०) १ विष्यन्दनकारी, क्षरणकारक । २ जनपदभेद ।

विष्यन्दन (सं० क्लो०) क्षरण, च्युति ।

विष्यन्दिन् (सं० त्रि०) क्षरणशील ।

विष्व (सं० त्रि०) हिंस्र, खौफनाक ।

विष्वक् (सं० त्रि०) विषुं अञ्चतीति विषु-अन्च्-क्विप् । १ इतस्ततः विचरणशील, इधर उधर घूमनेवाला । (क्ली०) २ विषुव । विषुव देखो ।

विष्वक्पर्णी (सं० स्त्री०) भूम्यामलकी, भुईं आँवला ।

विष्वक्सेन (सं० पु०) १ विष्णु । (अमर) २ विष्णुका निर्माल्यधारी । ये चतुर्भुज हैं, हाथमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म शोभता है । इनका वर्ण रक्तपिङ्गल है, बड़ी दाढ़ी मूंछ है और मस्तक पर जटा विराजित है । ये श्वेत पद्म पर बैठे हैं । चन्द्रविन्दुयुक्त स्वरान्त पवर्ग तृतीय अर्थात् 'बं' इस बीजमन्त्रसे पूजा करनी होती है । (कालिकापु० ८२ अ०) ३ त्रयोदश मनु । (मत्स्यपु० ९ अ०) विष्णुपुराणके मतसे ये १४वें मनु हैं । ४ महादेव । (भा १३।१७।५४) ५ ऋषिभेद । ६ राजभेद । ७ ब्रह्मदत्तके पुत्रभेद । (भागवत ८।२१।२५) ८ शम्बरके पुत्रभेद । (हरिवंश)

विष्वक्सेनकान्ता (सं० स्त्री०) विष्वक्सेनस्य कान्ता प्रिया । १ लक्ष्मी । (मेदिनी) २ वाराहीकन्द । ३ त्राय-माणा लता ।

विष्वक्सेना (सं० स्त्री०) प्रियंगु, फणिनी ।

विष्वगञ्चन (सं० क्ली०) विषूचा अञ्चनं । इतस्ततः भ्रमणशीलकी गति, इधर उधर घूमनेकी क्रिया ।

विष्वगश्व (सं० पु०) पृथुके पुत्रभेद । (भारत आदिपर्व)

विष्वगौड़ (सं० क्ली०) सामभेद । (पञ्चविंशब्रा० १०।११।१)

विष्वग्ज्योतिस् (सं० पु०) शतजित्के पुत्रभेद ।

विष्वग्युज् (सं० त्रि०) विष्वक्-युज्-क्विप् । इतस्ततः गमनशीलके साथ युक्त ।

विष्वग्लोप (सं० पु०) १ सर्वस्वान्त । (भारत १२।९८।१५ नीलकण्ठ) (त्रि०) २ सर्वथा बाधाप्राप्त ।

विष्वग्वात (सं० पु०) सर्वगामी वायु । (तैत्तिरीय स० ४।३।३।२)

विष्वग्वायु (सं० पु०) विश्वग्वायु देखो ।

विष्वञ्च् (सं० त्रि०) १ सर्वव्यापी, तमाम घूमनेवाला । (ऋक् २।३३।२) २ सर्वप्रकाशक, सबोंका विकाश करनेवाला । (ऋक् १।१६४।३१)

विष्वण (सं० क्ली०) १ भोजन । (जटाधर) २ शब्द करना । (वोपदेव)

विष्वणन (सं० क्ली०) विष्वण देखो ।

विष्वद्रीचीन (सं० त्रि०) सर्वदा गमनशील, हमेशा चलनेवाला ।

विष्वद्र्यञ्च (सं० त्रि०) विष्वगञ्चतीति विष्वच्-अन्च्-क्विन् । सर्वत्रगामी । (ऋक् ७।२५।१)

विष्वाच् (सं० त्रि०) १ विविधगतियुक्त, विविध चालवाला । (पु०) २ असुरभेद । (ऋक् १।११७।१६)

विष्वाण (सं० पु०) भक्षण, खाना । (हेम)

विस (सं० क्ली०) मृणाल, कमलकी नाल । (अमर)

विसंज्ञ (सं० त्रि०) संज्ञारहित, बेहोश ।

विसंज्ञागति (सं० स्त्री०) अत्युच्चगति, अपरिमेयगति । (ललितविस्तर)

विसंज्ञित (सं० त्रि०) संज्ञारहित, बेहोश ।

विसंवाद (सं० पु०) वि-सं-वद-घञ् । १ विप्रलम्भ । (अमर) २ विरोध । ३ वैलक्षण्य, बेमेल । ४ प्रतारणा, डांट डपट । (त्रि०) ५ विलक्षण, अद्भुत ।

विसंवादक (सं० त्रि०) १ प्रतिबन्धक, विरोधक । २ प्रतारक ।

विसंवादन (सं० क्ली०) विसंवाद ।

विसंवादिता (सं० स्त्री०) विसंवादकारीका भाव या धर्म ।

विसंवादिन् (सं० त्रि०) विसंवादोऽस्त्यस्येति विसंवाद-इनि । विसंवादिक देखो ।

विसंशय (सं० त्रि०) संशयरहित, निःसंशय ।

विसंष्ठुल (सं० त्रि०) विशृङ्खल, अव्यवस्थित ।

विसंसर्पिन् (सं० त्रि०) सम्यक् विस्तृत, चारों ओर जानेवाला।

विसंस्थित (सं० त्रि०) असमाप्त, असम्पूर्ण।
(कात्यायनश्रौ० ११।१।२७)

विसंस्थूल (सं० त्रि०) विसंष्ठुल देखो।

विसकण्ठिका (सं० स्त्री०) विससदृशः शुभ्रः कण्ठो यस्या इति बहुब्रीहौ कन् टापि अत इत्वम्। क्षुद्रजातीय वकपक्षी, एक प्रकारका छोटा बगला। (अमर)

विसकुसुम (सं० क्ली०) विसस्य कुसुमम्। कमल, पद्म।

विसग्रन्थि (सं० पु०) पद्मका मूल, भसींड़।

विसङ्कट (सं० पु०) विशिष्टः सङ्कटो यस्मात्। १ सिंह। २ इंगुदीवृक्ष या हिंगोट नामक वृक्ष। (त्रि०) ३ विशाल, वृहत्।

विसङ्कुल (सं० त्रि०) जटिल, बहुत कठिन।

विसज (सं० क्ली०) विसं मृणालं तस्माज्जायते इति जन-ड। पद्म, कमल।

विसञ्चारिन् (सं० त्रि०) विषय सञ्चरणशील, विषयभोगी।

विसदृश् (सं० त्रि०) विपाक, कर्मका विपरीत फल।

विसदृश (सं० त्रि०) १ विपरीत, विरुद्ध। २ विलक्षण, विभिन्न रूप। (मृक् १।११३।६)

विसनाभि (सं० स्त्री०) विसं नाभिरुत्पत्तिस्थानं यस्याः। १ पद्मिनी, कमलिनी। २ पद्मको नाल। ३ पद्मसमूह। (त्रिका०)

विसन्धि (सं० पु०) १ सन्धिरहित, दो या अनेक पदोंका मिलनाभाव। २ विश्लिष्ट सन्धि, शरीरके सन्धिस्थानका विश्लेष।

विसन्धिक (सं० त्रि०) जिसकी सन्धि नहीं होती, जिन दोनोंका मिलन नहीं होता।
(काव्यादर्श ३।१२५-१२६)

विसन्नाह (सं० त्रि०) सन्नहनशून्य, कवच आदि युद्धसज्जासे रहित। (मनु ७।६१)

विसपीग्राम—मिथिलाका एक छोटा गांव। यहां कवि विद्यापतिका जन्म हुआ था। विद्यापति देखो।

विसप्रसून (सं० क्ली०) पद्म, कमल।
(शिशुपालवध ५।२८)

विसम (सं० त्रि०) असमान। वि षम देखो।

विसमता (सं० स्त्री०) असमानता। विषमता देखो।

विसमाप्ति (सं० स्त्री०) वि-सम्-आप-क्ति। असमाप्त, असम्पूर्ण।

विसर (सं० पु०) विसरतीति वि-सृ-अच् पचादित्वात्। १ समूह। (अमर) २ प्रसर, विस्तार।

विसरण (सं० क्ली०) विसार, फैलाव।

विसर्ग (सं० पु०) वि-सृज-घञ्। १ दान। (रघु ४।८६) २ त्याग। (महाभा० १।३२।३) ३ मलनिर्गम, मलका त्याग करना। ४ सूर्यका एक अयन। ५ मोक्ष। (हलायुध) ६ विशेष। सृष्टि। ७ प्रयोग। ८ प्रलय। ९ वियोग, विछोह। १० दीप्ति, चमक। ११ परित्यक्त वस्तु। १२ व्याकरणके अनुसार एक वर्ण जिसमें ऊपर नीचे दो बिन्दु (:) होते हैं और जिनका उच्चारण प्रायः अर्द्ध ह के समान होता है। १३ वर्षा, शरद और हेमन्त ये तीनों ऋतुएं। (त्रि०) १४ विसर्ज्जनीय। १५ विसृष्ट।

विसर्गचुम्बन (सं० क्ली०) नायकका वह चुम्बन जब वह रात्रिके शेषमें प्रियासे वियोग होता है।

विसर्गिक (सं० त्रि०) आकर्षणकारी, खींचनेवाला।

विसर्गिन् (सं० त्रि०) १ उत्सर्गकारी, दान करनेवाला। २ आकर्षणकारी, खींचनेवाला। (भारत शान्तिपर्व)

विसर्जन (सं० क्ली०) वि-सृज-ल्युट्। १ दान। २ परित्याग, छोड़ना। ३ संप्रेषण, किसीको यह कह कर भेजना कि 'तुम जा कर अमुक कार्य करो।' ४ बिदा होना, चला जाना। ५ षोड़शोपचार पूजनमें अन्तिम उपचार; अर्थात् आवाहन किए गये देवतासे पुनः स्वस्थान गमनकी प्रार्थना करना, देव-प्रतिमा भसाना। ६ समाप्ति, अन्त। (पु०) ७ यदुवंशियोंमेंसे एक। (त्रि०) विशेषेण सृज्यते इति कर्मणि ल्युट्। ८ उत्पादित।

विसर्जनीय (सं० त्रि०) वि-सृज-अनीयर्। १ दानीय, दान करने योग्य। २ परित्यज्य, छोड़ने लायक। ३ विसर्ग अर्थात् (:) ऐसा चिह्न।

विसर्जयितव्य (सं० त्रि०) विसर्जन करने योग्य, छोड़ने लायक।

विसर्ज्य (सं० त्रि०) वि सृज-यत्। विसर्जनीय, विसर्जन करने योग्य।

विसर्प (सं० पु०) वि-सृप-घञ्। रोगविशेष। पर्याय—विसर्पि, सच्चिवामय। (राजनि०) चरकमें इस रोगका विषय यों लिखा है—अग्निवेशके पूछने पर आत्रेयने कहा था, कि यह रोग मानवशरीरमें विविध प्रकारसे सर्पण करता है, इस कारण इसका नाम विसर्प हुआ है। अथवा परि अर्थात् सर्वत्र सर्पण करनेके कारण इसे परिसर्प भी कहते हैं।

कुपित वातादिदोषसे यह रोग सात प्रकारसे उत्पन्न होता है। रक्त, लसीका, त्वक् और मांस ये चार दूष्य हैं तथा वायु, पित्त और कफ ये तीन कुल मिला कर सात धातु विसर्प रोगकी उपादान सामग्री है। रक्तलसीकादि चार धातु और वातादि तीन दोषोंसे यह रोग उत्पन्न होता है, इस कारण इसको सप्तधातुक भी कहते हैं।

निदान—लवण, अम्ल, कटु और उष्णवीर्य रस अतिमात्रामें सेवन, अम्ल, दधि और दधिके जलसे प्रस्तुत शुक्त, सुरा, सौवीर, विकृत और बहुपरिमित मद्य, शाक, आर्द्रकादि द्रव्य, विदाहिद्रव्य, दधिकूर्चिका, तक्रकूर्चिका और दधिका जल सेवन, दधिकृत शिखरिणी सेवनके बाद पिण्डालुकादि सेवन, तिल, उड़द, कुलथी, तैल, पिष्टक तथा ग्राम्य और आनूपमांस सेवन, अधिक भोजन, दिवानिद्रा, अपक्वद्रव्यभोजन, अध्यशन, क्षतबन्ध प्रपतन, रौद्राग्नि आदिका अतिसेवन, इन सब कारणोंसे वातादिदोषत्रय दूषित हो कर यह रोग उत्पन्न करते हैं।

अहिताशी व्यक्तिके उक्त प्रकारसे दूषित वातपित्तादि रसरक्तादि पदार्थोंको दूषित कर शरीरमें विसर्पित होता है। विसर्प शरीरका वहिःप्रदेश, अन्तःप्रदेश और वहिरन्तः, इन दोनों प्रदेशोंको आश्रय कर उत्पन्न होता है। ये यथाक्रम बलवान् हैं अर्थात् वहिःश्रित विसर्पकी अपेक्षा अन्तःश्रित तथा उससे वहिरन्तः दोनों प्रदेशाश्रित विसर्प भयङ्कर होता है। वहिर्मार्गाश्रित विसर्प साध्य, अन्तर्मार्गाश्रित कृच्छसाध्य तथा उभयाश्रित विसर्परोग असाध्य होता है।

वातादिदोषत्रय भीतरमें प्रकुपित हो कर अन्तर्विसर्प, वहिर्भागमें प्रकुपित हो कर वहिर्विसर्प तथा वहिरन्तः दोनों स्थानमें प्रकुपित हो कर वहिरन्तर्विसर्प रोग उत्पादन करता है।

वक्षोमर्मका उपघात, मल, मूत्र और श्वास, प्रश्वासादिका मार्गसंरोध अथवा उनका विघट्टन, तृष्णाका अतियोग, मलमूत्रादिका वेग-वैषम्य तथा अग्निबलका आशुक्षय, इन सब लक्षणों द्वारा अन्तर्विसर्प स्थिर करना होता है।

इसके विपरीत लक्षण द्वारा अर्थात् वक्षोमर्मका अनुपघात, मलमूत्रादिमार्गका असंरोध और अविघट्टन, तृष्णाका अनतियोग, मलमूत्रादिवेगकी अयथावत्प्रवृत्ति तथा अग्निबलका असंक्षय ये सब वहिर्विसर्पके लक्षण हैं। उक्त सभी प्रकारके लक्षण तथा निम्नोक्त असाध्य लक्षण दिखाई देनेसे उसको अन्तर्वहिर्विसर्प कहते हैं। जिसका निदान बलवान् है तथा उपद्रव अति कष्टप्रद हैं और जो विसर्प मर्मागत है वह रोगीके प्राण लेते हैं।

वातविसर्पका लक्षण—रूक्ष और उष्णसे अथवा रुक्ष और उष्ण वस्तु अधिक परिमाणमें खानेसे वायु सञ्चित और प्रदुष्ट हो रसरक्तादि द्रव्य पदार्थोंको दूषित कर यह रोग उत्पादन करती है। उस समय भ्रम, उपताप, पिपासा, सूचीवेधवत् और शूलनिखातवत् वेदना, अङ्गकुट्टन, उद्वेष्टन, कम्प, ज्वर, तमक, कास, अस्थिभङ्गवत् और संधिभङ्गवत्-यंत्रणा, विवर्णता, वमन, अरुचि, अपरिपाक, दोनों नेत्रका आकुलत और सजलत्व तथा गात्रमें पिपीलिका-सञ्चरणवत् प्रतीत होती है। शरीरके जिस स्थानमें विसर्प विसर्पण करता है, वह स्थान काला वा लाल हो जाता है, वहां सूजन पड़ती है तथा अत्यंत वेदना होती है। इससे सिवा उस स्थानकी श्रांति, सङ्कोच, हर्ष, स्फुरण ये सब लक्षण दिखाई देते हैं। इससे रोगी अत्यंत पीड़ित हो जाता है। यदि चिकित्सा न की जाय, तो वहांका चमड़ा पतला हो जाता है और लाल या काली फुंसियां निकल आती हैं। ये सब फुंसियाँ जल्दी फट जाती हैं तथा उससे पतला विषम दारुण और अल्पस्राव निकलता है। रोगीका मलमूत्र और अधोवायु रुक जाती है।

पित्तज विसर्पका लक्षण—उष्ण द्रव्यके सेवन तथा

विदाही और अम्लद्रव्यादि भोजन द्वारा पित्तसञ्चित और प्रकुपित हो कर रक्तादि दोषोंको दूषित और धमनियोंके पूर्ण कर देता है तथा पीछे पित्तजनित विसर्प रोग उत्पादन करता है। उस समय ज्वर, तृष्णा, मूर्च्छा, वमि, अरुचि, अङ्गभेद, स्वेद, अंतर्दाह, प्रलाप, शिरोवेदना, दोनों नेत्रकी आकुलता, अनिद्रा, अरति, भ्रम, शीतल वायु और शीतल जलमें अत्यभिलाष, मलमूत्र हारिद्रावर्ण और शीतदर्शन ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं। शरीरके जिस स्थानमें विसर्प विसर्पण करता है, वह स्थान पीला, नीला, काला वा लाल हो जाता है। वहां सूजन पड़ती है और काली वा लाल फुंसियां निकलती हैं। ये सब फुंसियां जल्द पक जाती हैं। उनसे पित्तानुरूप वर्णका स्राव होता है तथा वहां जलन देती है।

कफज विसर्प लक्षण—स्वादु, अम्ल, लवण, स्निग्ध और गुरुपाक अन्नभोजन तथा दिवानिद्रा द्वारा कफ सञ्चित और प्रकुपित हो कर रक्तादि दूष्यचतुष्टयको दूषित तथा समस्त अङ्गोंमें विसर्पण कर यह रोग उत्पादन करता है। उस समय शीतज्वर, गात्रगुरुता, निद्रा, तंद्रा, अरुचि, अपरिपाक, मुखमें मधुर रसका अनुभव, मुखस्राव, वमि, आलस्य, स्तैमित्य, अग्निमांद्य और दौर्बल्य उपस्थित होता है। शरीरके जिस स्थानमें विसर्प विसर्पण करता है, वह स्थान स्फीत, पाण्डु या अनतिरिक्त वर्णका, चिकना, स्पर्शशक्तिहीन, स्तब्ध, गुरु और अल्पवेदनायुक्त होता है। वे फोड़े कृच्छ्रपाक, चिरकारी, घनत्वक् और उपलेपविशिष्ट होते हैं और फूट जाने पर उनसे सफेद पिच्छिल तंतुविशिष्ट दुर्गन्ध गाढ़ा स्राव हमेशा निकलता रहता है। उन फोड़ोंके ऊपर सख्त फुंसियाँ निकलती हैं। इस विसर्प रोगमें रोगीका त्वक्, नख, नयन, वदन, मूत्र और मल श्वेतवर्णका हो जाता है।

वातपैत्तिक आग्नेयविसर्प—अपने अपने कारणसे वायु और पित्त अत्यंत कुपित तथा बलवान् हो कर शरीरमें शीघ्र ही आग्नेय विसर्प रोग उत्पादन करता है। इस रोगमें रोगी अपने सारे शरीरको मानो देदीप्यमान अङ्गारागिन द्वारा आकीर्ण समझता है तथा वमि, अतिसार, मूर्च्छा, दाह, मोह, ज्वर, तमक, अरुचि, अस्थिभेद, संधिभेद, तृष्णा, अपरिपाक और अङ्गभेदादि उपद्रवसे अभिभूत होता है। यह विसर्प जिस जिस स्थानमें विसर्पण करता है, वह स्थान बुझी हुई आगके अंगारकी तरह काला अथवा अत्यन्त लाल हो जाता है। वहां जलन होती है और फोड़े निकल आते हैं। जल्द फैल जानेके कारण वह विसर्प मर्मस्थान (हृदय) में अनुसरण करता है। इससे मर्म जब उपतप्त होता, तब वायु अति बलवान् हो सभी अंगोंको भङ्गवत् पीड़ासे अत्यंत पीड़ित कर डालती है; उस समय ज्ञान नहीं रहता, हिक्का, श्वास और निद्रानाश होता है, रोगी यंत्रणाके मारे छटपटाता है। पीछे अति क्लिष्ट हो कर सो जाता है। कोई कोई बड़ी मुश्किलसे होशमें आता है और प्राण खो बैठता है। यह विसर्प असाध्य है।

कर्दमाख्य विसर्प—अपने अपने प्रकोपनके कारण कफ और पित्त प्रकुपित और बलवान् हो कर शरीरके किसी एक स्थानमें कर्दमाख्य विसर्प रोग उत्पादित करता है। इस विसर्पमें शीतज्वर, शिरःपीड़ा, स्तैमित्य, अङ्गावसाद, निद्रा, तन्द्रा, अन्नद्वेष, प्रलाप, अग्निमांद्य, दौर्बल्य, अस्थिभेद, मूर्च्छा, पिपासा, स्रोतःसमूहकी लिप्तता, इन्द्रियोंकी जड़ता, अपक्व मलभेद, अङ्गविक्षेप, अङ्गमर्द, अरति, और औत्सुक्य ये सब लक्षण दिखाई देते हैं। यह विसर्प प्रायः आमाशयसे उत्पन्न होता है, किन्तु आलसी हो कर आमाशयके किसी एक स्थलमें ठहरता है। वह स्थान लाल, पीला वा पाण्डुवर्णका, पीड़काकीर्ण, मेचकाभ (कृष्णवर्ण), मलिन, स्निग्ध, बहुउष्णान्वित, गुरु, स्तिमितवेदन, शोथविशिष्ट, गम्भीर पाक, स्रावरहित और शीघ्र क्लेदयुक्त होता है। उस स्थानका मांस धीरे धीरे स्विन्न, क्लिन्न और पूतियुक्त होता है। इस विसर्पमें वेदना कम होती है, किन्तु इससे संज्ञा और स्मृति जाती रहती है। विसर्पाक्रांत स्थान रगड़नेसे अवकीर्ण होता है, दबानेसे कीचड़की तरह बैठ जाता है, उस स्थानसे मांस सड़ कर गिरता है। शिरा और स्नायु बाहर निकल आती हैं तथा क्षत स्थानसे मुर्देकी-सी गंध निकलती है। यह विसर्प रोग भी असाध्य है।

ग्रन्थिविसर्प—स्थिर, गुरु, कठिन, मधुर, शीतल, स्निग्ध आदि अभिष्यन्दी अन्नपानका सेवन और श्रमराहित्य आदि कारणोंसे श्लेष्मा और वायु कुपित होती है। वह प्रकुपित और प्रवृद्ध बलवान् श्लेष्मा और वायुरक्तादि दूष्य चतुष्टयको दूषित कर ग्रन्थिविसर्प उत्पादन करती है। प्रदुष्ट कफसे जब वायुका रास्ता बन्द हो जाता है, तब वह वायु उस अवरोधक कफको ही अनेक भागोंमें विभक्त कर कफाशयमें धीरे धीरे ग्रन्थिमाला उत्पादन करती है। वह ग्रंथिमाला कृच्छ पाक है अर्थात् प्रायः नहीं पकती और कृच्छसाध्य हो जाती है।

इस प्रकार दूषित वायु रक्तबहुल व्यक्तिके रक्तको दूषित कर यदि शिरा, स्नायु, मांस और त्वक्में ग्रन्थिमाला उत्पादन करे तथा वह ग्रन्थिमाला तीव्र वेदनान्वित, स्थूल, सूक्ष्म वा वृत्ताकार और रक्तवर्ण हो, तो उनके उपतापसे ज्वर, अतिसार, हिक्का, श्वास, कास, शोष, मोह, वैवर्ण, अरुचि, अपरिपाक, प्रसेक, वमि, मूर्च्छा, अङ्गभङ्ग, निद्रा, अरति और अवसाद आदि उपद्रव उपस्थित होते हैं। यह विसर्परोग भी असाध्य है।

सान्निपातिकविसर्प—जो सब निदानसम्भूत, सर्वलक्षणयुक्त तथा सम्पूर्ण शरीर व्याप्त, सर्वधातुगत, आशुकारी और महाविपज्जनक होता है वही सान्निपातिक विसर्प है। यह भी असाध्य है।

वातज, पित्तज और कफज विसर्प साध्य है। यथाविधान इनकी चिकित्सा करनेसे उपकार होता है। अग्निविसर्प और कर्दमाख्य विसर्प पहले असाध्य कह कर उल्लिखित हुआ है, किन्तु इन दोनों विसर्पोंमें यदि ज्वरादि उपद्रवरहित वक्षोमर्म अनुपहत, शिरा, स्नायु और मांस क्लिन्नमात्र हो अर्थात् मांस सड़ कर न गिरे तथा उस सबबसे शिरा और स्नायु न दिखाई देती हो, तो इसमें यथाविधान स्वस्त्ययनादि दैव चिकित्सा और उपयुक्त औषधादि द्वारा साधारण चिकित्सा करनेसे आराम भी हो सकता है। ग्रन्थिविसर्प भी यदि ज्वरातिसारादि उपद्रवरहित हो, तो उसकी भी चिकित्सा की जा सकती है।

चिकित्सा—आमदोषान्वित विसर्पके कफस्थानगत होनेसे लङ्घन, वमन, तिक्तद्रव्य सेवन तथा रूक्ष और शीतल प्रलेपन प्रशस्त है। आमदोषान्वित विसर्प पित्तस्थानगत होनेसे भी इसी प्रकार चिकित्सा करनी होगी, उसमें विरेचन और रक्तमोक्षण विशेष हितकर है। आमदोषान्वित विसर्प पक्वाशयसम्भूत है। उसमें रक्त और दोष रहनेसे पहले विरूक्षण क्रिया कर्त्तव्य है। क्योंकि, आमदोष रहनेसे उसमें स्नेहनक्रिया हितजनक नहीं है। वातोल्वण और पित्तोल्वण विसर्प यदि लघुदोष हो, तो तिक्तकघृत हितकर है, किन्तु यदि पैत्तिक विसर्प महादोषान्वित हो, तो उसमें विरेचन प्रशस्त है। विसर्प रोगका दोषसञ्चय अधिक परिमाणमें रहनेसे घृतप्रयोग कर्त्तव्य नहीं है, वहां विरेचन कराना आवश्यक है। क्योंकि घृतपानसे वे सञ्चितदोष उपस्तब्ध हो त्वक्, मांस और रक्तको सड़ा देते हैं। अतएव बहुदोषाक्रान्त विसर्परोगमें विरेचन और रक्तमोक्षण विशेष प्रशस्त है। कारण, रक्त ही विसर्पका आश्रयस्थान है। कफज, पित्तज और कफपित्तज विसर्परोगमें मुलेठी, नीम और इन्द्रजौके कषायमें मैनाफलका कल्क मिला कर और पीछे उसे पिला कर वमन करावे। परवलके पत्ते और नीमके काढ़े या पीपलके काढ़े अथवा इन्द्रजौके काढ़ेमें मैनाफलका चूर मिला कर उसके पान द्वारा वमन कराने से भी उपकार होता है। मदनफलकादियोग भी इस रोगमें विशेष उपकारी है।

हाथ और पांवका रक्त खराब होनेसे पहले रक्तको निकाल डाले। रक्त यदि वातान्वित हो, तो शृङ्ग द्वारा, पित्तान्वित हो, तो जोंक द्वारा और यदि कफान्वित हो, तो अलावू द्वारा रक्तमोक्षण करे। शरीरके जिस स्थानमें विसर्प होता है, उस स्थानकी नजदीकवाली शिराओंको जरूर वेध कर डालना चाहिये। क्योंकि यदि रक्त नहीं निकाला जायेगा, तो रक्तक्लेदसे त्वक्, मांस और स्नायुका भी क्लेद उत्पन्न होगा। कोष्ठादिदोष उक्त प्रकारसे हटा दिये जाने पर भी यदि त्वक् और मांसको आश्रय कर कुछ दोष रह जाये, तो वह अल्पदोषाक्रान्त विसर्प निम्नोक्त वाह्यक्रिया द्वारा प्रशमित होगा।

गूलरकी छाल, मुलेठी, पद्मकेशर, नीलोत्पल, नागेश्वर और प्रियंगु इन्हें एक साथ पीस घृतयुक्त कर

प्रलेप दे। वटवृक्षकी नई जड़, केले-थम्भका गूदा और कमल-नाल इन्हें एकत्र पीस शतधौत घृताप्लुत कर प्रलेप दे। पीतचन्दन, मुलेठी, नागकेश्वर पुष्प, कैवर्त्त-मुस्तक, चन्दन, पद्मकाष्ठ, तेजपत्र, खसकी जड़ और प्रियङ्गु इनका प्रलेप भी घृतयुक्त कर देनेसे लाभ पहुंचता है। अनन्तमूल, पद्मकेशर, खसकी जड़, नीलोत्पल, मजीठ, चन्दन, लोध और हरीतकी इनका भी प्रलेप हितकर है। खसकी जड़, रेणुक, लोध, मुलेठी, नीलोत्पल, दूर्वा और धूना इन्हें घृताक्त कर उसका भी प्रलेप देनेसे विशेष उपकार होता है।

दूर्वाके रसमें घृतपाक कर उसे विसर्पके ऊपर लगानेसे विसर्पक्षत सूख जाता है। दारुहरिद्राका त्वक्, मुलेठी, लोध और नागेश्वर इनके चूर्णका प्रयोग करनेसे विसर्प-क्षत सूख जाता है।

परवलका पत्ता, नीम, त्रिफला, मुलेठी और नीलोत्पल इनके काढ़ेकी सेंक देने अथवा इनके काढ़े वा चूरेके साथ घृतपाक कर उसे क्षतस्थानमें लगानेसे वह शीघ्र ही सूख जाता है। विसर्पके क्षतकी जगह जब कोई क्राथादि सिञ्चन करना होता है, तब प्रलेपको हटा देना आवश्यक है। यदि धो डालने पर भी प्रलेप अच्छी तरह न उठे, तो बार बार बहुत पतला प्रलेप देना उचित हैं। किन्तु कफज विसर्पमें घना प्रलेप देना होगा। प्रलेप अंगुष्ठके तिहाई भागके समान मोटा रहेगा। वह अति स्निग्ध वा अतिरुक्ष, अत्यन्त गाढ़ा या अत्यन्त पतला न हो, समभावमें उसका रहना उचित हैं। बासी प्रलेप भूल कर भी नहीं देना चाहिये। जो प्रलेप एक बार दिया जा चुका है, उसका फिरसे प्रयोग करनेसे विसर्पका क्लेद और शुलुनि उपस्थित होती है। बस्त्रखण्डमें प्रलेप द्रव्यका चूर्ण रख कर पुलटिशकी तरह प्रलेप देनेसे विसर्पक्षत खिन्न होता है तथा उससे स्वेद जन्य पीड़का और कण्डु उत्पन्न होता है। वस्त्रखण्डके ऊपर प्रलेप देनेसे जो दोष होता है, प्रलेपके ऊपर प्रलेप देनेसे भी वही दोष होता है। यदि अति स्निग्ध वा अतिद्रव प्रलेप प्रयुक्त हो, तो उस प्रलेपके चमड़ेमें अच्छी तरह संश्लिष्ट न होनेके कारण उससे दोषकी सम्यक् शान्ति नहीं होती। यदि अत्यन्त पतला प्रलेप दिया जाय, तो वह सूखने पर फट जाता है और औषधके रसका असर करते न करते वह सूख जाता है। अत्यन्त पतला प्रलेप देनेसे जो सब दोष होते हैं निःस्नेह प्रलेपसे भी वही दोष प्रबल भावमें दिखाई देते हैं। क्योंकि, निःस्नेह प्रलेप सूख कर व्याधिको पीड़ित करता है।

लङ्घित विसर्परोगीको चीनी और मधुसंयुक्त रुक्ष, मन्थ अथवा मधुर द्रव्यसे प्रस्तुत मन्थ, अनार और आंवले आदिके रसमें थोड़ा खट्टा डाल उस मन्थको पीने दे। सिद्धजलमें सत्तूको घोल कर वह मन्थ फालसे, किशमिश और खजूरके साथ पिलानेसे भी लाभ पहुंचता है। लङ्घित विसर्परोगीको जौ और भातका तर्पण तय्यार कर उसे घृतादि स्नेहके साथ पीने तथा उसके परिपाक होने पर मूंग आदि जूसके साथ पुराने चावलका भात खानेको देना चाहिये।

इस रोगमें परिपक्क पुरातन रक्तशालि, श्वेतशालि; महाशालि और षष्टिक तण्डुल (साठीधानका भात) विशेष लाभदायक है। जौ, गेहूं, चावल इनमेंसे जो जिसके लिये अभ्यस्त है उसके लिये वही उपकारी है। विदाहजनक अन्नपान, क्षीरमत्स्यादि विरुद्ध भोजन, दिवानिद्रा, क्रोध, व्यायाम, सूर्य, अग्निसन्ताप तथा प्रबल वायुसेवन ये सब इस रोगमें विशेष उपकारी हैं।

उक्त प्रकारकी चिकित्सामें शीतबहुल चिकित्सा पैत्तिक विसर्पमें, रुक्षबहुल चिकित्सा श्लैष्मिक विसर्पमें, स्नैहिक चिकित्सा वातिक विसर्पमें, वातपित्तप्रशमन चिकित्सा अग्निविसर्पमें तथा कफपित्तप्रशमन चिकित्सा कर्दमक विसर्पमें प्रशस्त है।

रक्तपित्तोल्वण ग्रन्थिविसर्पमें प्रथमतः रुक्षण, लङ्घन, पञ्चवल्कलका परिषेक और प्रलेप, जलौका द्वारा रक्त-मोक्षण, कषाय और तिक्त द्रव्यके क्राथ प्रयोगमें वमन और विरेचनका व्यवहार करे। वमन और विरेचन द्वारा ऊर्द्ध्व और अर्द्ध संशुद्ध होता है तथा जलौका द्वारा रक्त अवसेचित होनेसे जब रक्त और पित्तकी प्रशान्ति होती है, तब वातश्लेष्महर योगोंका प्रयोग करना उचित है।

ग्रन्थ विसर्पमें शूलवत् वेदना रहनेसे उष्ण उत्कारिक

(जौ गेहूं आदिको जलमें पाक कर लेह जैसा जो पदार्थ-को बनता है उसका नाम उत्कारिका है) घृतादि स्नेह-योगसे स्निग्ध कर उसके द्वारा वा वेशकरादि द्वारा प्रलेप दे। दशमूलके काढ़े और कल्कको तेलमें पाक कर उष्णा-वस्थामें वह तेल देना होगा। असगंधका कल्क, सूखी मूलीका कल्क, डहरकरञ्जकी छालका कल्क या बहेड़ेका कल्क, इन्हें कुछ गरम करके ग्रन्थिविसर्पमें प्रलेप दे। दन्तीमूलकी छाल, चितामूलकी छाल, थूहरका दूध, अकवनका दूध, गुड़, भिलावेका रस और हीराकसीस, इनके क्वाथका कुछ उष्ण करके प्रलेप देनेसे उपकार होता है।

पूर्वोक्त औषध द्वारा यदि ग्रन्थिविसर्प प्रशमित न हो, तो क्षार द्वारा तप्तशर या तप्तलौह द्वारा दाह करे। अथवा व्रणशोथोक्त व्रणको पकानेवाली औषधसे उसे उत्पाटित करना होगा। इसके बाद वहिर्गमनोन्मुख रक्तको पका कर पुनः पुनः मोक्षण करे। रक्तके अपहृत होने पर वातश्लेष्मनाशक शिरोविरेचन धूमप्रयोग और परिमर्दन करना होगा। इस पर भी यदि दोषका प्रशम न हो, तो व्रणशोथोक्त पाचन औषधकी व्यवस्था करे। दाह और पाक द्वारा ग्रन्थिके प्रक्लिन्न होनेसे वाह्य और अभ्यन्तर शोधन तथा रोपण औषधके प्रयोग द्वारा व्रणशोथवत् चिकित्सा करनी होगी। कमलानीबू, विड़ङ्ग और दारुहरिद्राका छिलका, इनके कल्क द्वारा चौगुने जलमें तैल पाक कर ग्रन्थिक्षत पर प्रयोग करे। अभिहित योगों तथा रक्तमोक्षणके प्रति विशेष दृष्टि रख कर काम करना होगा। विशेष विशेष दोष और उपद्रव दिखाई देने पर जिससे उनकी शान्ति हो, सर्वदा उसकी चेष्टा करनी चाहिये। (चरकसंहिता चिकित्सितस्था०)

भावप्रकाशमें लिखा है, कि कुष्ठ और अन्यान्य व्रण रोगोंमें जो सब घृत और औषधादि कहे गये हैं, विसर्प रोगमें उनका प्रयोग भी विशेष उपकारी है। विसर्पके पकने पर शस्त्र द्वारा पीपको निकाल कर व्रणकी तरह चिकित्सा करनी होती है।

विसर्पज्वर (सं० पु०) विसर्परोगजन्य ज्वर, वह ज्वर जो विसर्परोगकी शंकासे होता है। विसर्प शब्द देखो।

विसर्पण (सं० क्ली०) वि-सृप ल्युट्। १ प्रसरण, फैलना। २ स्फोटकादिका उत्सेक, फोड़े आदिका फूटना। ३ निक्षेप, फेंकना, डालना।

विसर्पि (सं० पु०) विसर्प, विसर्परोग। (राजनि०)

विसर्पिका (सं० स्त्री०) रोगभेद, विसर्प।

(बृहत्संहिता ३२।१४)

विसर्पिणी (सं० स्त्री०) श्वेतबुह्नालता, शखनी, यवनिका।

विसर्पिन् (सं० त्रि०) वि-सृप-णिनि। १ विसरण शील, फैलनेवाला। २ विसर्परोगयुक्त।

विसर्मन् (सं० त्रि०) विसरणशील, फैलनेवाला।

(ऋक् ५।४२।६)

विसल (सं० क्ली०) विसं लातीतिला क। पल्लव, वृक्षका नया पत्ता।

विसल्प (सं० पु०) विसर्पक रोग।

(अथर्व १६।१२७।१ सायण)

विसल्पक (सं० पु०) विसल्प देखो।

विसवर्त्मन् (सं० क्ली०) वर्त्मगत नेत्ररोगभेद। लक्षण— जिस नेत्ररोगमें त्रिदोषके प्रकोपके कारण वर्त्मके बाहर (पलकों पर) शोथ उत्पन्न होता है, भीतरमें बहुत-सा छोटो छोटो फुंसियां होती हैं और उन फुंसियोंसे जलकी तरह स्राव निकलता है उसे विसवर्त्म कहते हैं।

(सुश्रुत उत्तरतन्त्र० ३ अ०)

विसवासह (सं० पु०) जाविती।

विसवासा (सं० स्त्री०) जाविता।

विसशालूक (सं० पु०) कमलकन्द, भसींड।

विसामग्री (सं० स्त्री०) कारणाभाव।

विसार (सं० पु०) विशेषेण सरतीति सृ-गतौ (व्याधि-मत्स्यबलेष्विति वक्तव्यं। पा ३।३।१७) इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या घञ्। १ मत्स्य, मछली। २ निर्गम, निकलना। (ऋक् १।७६।१) ३ विस्तार, फैलाव। ४ प्रवाह, बहाव। ५ उत्पत्ति, पैदाइश।

विसारथि (सं० त्रि०) विगतः सारथिर्यस्मात्। सारथिशून्य, बिना सारथिका।

विसारिणी (सं० स्त्री०) विसारिन्-ङीप्। १ माषपर्णी, मखवन। २ प्रसरणशीला, फैलानेवाली।

विसारित (सं० त्रि०) वि सृ-णिच् क्त। प्रसारित, फैला हुआ।

विसारिन् (सं० त्रि०) वि-सृ-णिनि। प्रसारणशील,

फैलनेवाला। पर्याय—विसृत्वर, विसृमंय, प्रसारी। (अमर)

विसिनी (सं० स्त्री०) विसमस्त्यस्याः इति विस् पुष्करादिभ्यश्च इति इनि, ङीष्। १ पद्मिनी, कमलिनी। २ मृणाल, कमलकी नाल।

विसिर (सं० त्रि०) विशिर, शिरारहित।

विसिस्मापयिषु (सं० त्रि०) विस्मापयितुमिच्छुः वि-स्मि-णिच्-सन्-उ। विस्मय करनेमें इच्छुक।

विसुकल्प (सं० पु०) राजपुत्रभेद। (तारनाथ)

विसुकृत् (सं० त्रि०) मन्दकारी, अनिष्ट करनेवाला।

विसुकृत (सं० त्रि०) अधर्म, पाप।

विसुख (सं० त्रि०) विगतं सुखं यस्य। सुखरहित।

विसुत (सं० त्रि०) विगतपुत्र, सुतरहित।

विसुहृद् (सं० त्रि०) सुहृद्विहीन, बन्धुरहित।

विसूचिका (सं० स्त्री०) विशेषेण सूचयति मृत्युमिति वि-सूच-अच् स्त्रियां ङीष् विसूचि-स्वार्थे कन् टाप्। रोगभेद, अजीर्ण रोग, हैजेके बीमारी।

भावप्रकाशमें लिखा है, कि अजीर्णके कारण किसीके पेटमें यदि सूईके छुभनेकी तरह वेदना होने लगे, तो ऐसी अवस्थाको लोग विसूचिका कहते हैं। जो व्यक्ति आयुर्वेदशास्त्रमें व्युत्पन्न और परिमित आहार करते हैं, वे कभी विसूचिका रोगसे पीड़ित नहीं होते। भक्ष्याभक्ष्यके सम्बन्धमें अनभिज्ञ व्यक्ति, इन्द्रियपरवश और पशुकी तरह अपरिमितभोजी, ये सब व्यक्ति ही उक्त रोगसे आक्रान्त देखे जाते हैं।

आमाजीर्ण आदि रोग अतिशय बढ़ जाने पर उसीसे विसूचिका आदि रोग उत्पन्न होते हैं। अर्थात् आमाजीर्णसे विसूचिका, विदग्धाजीर्णसे अलसक और विष्टब्धाजीर्णसे विलम्बिका रोग होता है।

अत्यन्त जलपान, विषमाशन; क्षुधा और मलमूत्रादिका वेगधारण, दिनमें सोना और रातका जागना इन सब कारणोंसे मानवोंका नियमित, लघु, अथच यथाकालभुक्त आहार भी परिपक्व नहीं होता; पिपासा, भय और क्रोधपीड़ित, लुब्धरोगी, दैन्यग्रस्त और असूयाकारी इन लोगोंका भी भुक्त अन्न सम्यक्रूपसे परिपाक नहीं होता; किन्तु उपर्युक्त कारणोंमेंसे अतिमात्रामें भोजन करना ही अजीर्ण रोगका मूल कारण है। पशुकी तरह अपरिमित भोजन कर अनभिज्ञ व्यक्ति विसूचिका आदि रोगोंके मूलीभूत अजीर्ण रोग द्वारा आक्रान्त होते हैं। अजीर्णसे विसूचिका रोग होता है। आमाजीर्ण रोगीके शरीर और उदर गुरु, विवमिषा, कपोल और चक्षुगोलकमें शोथ और उद्गारबाहुल्य होता है; किन्तु मधुर आदि जो कुछ द्रव्य आहार किया जाये, उससे कुछ भी अम्ल नहीं उत्पन्न होता।

लक्षण—विसूचिका रोगमें मूर्च्छा, अतिशय मलभेद, वमन, पिपासा, शूल, भ्रम, हाथ और पैरमें झिनझिनी और जंभाई, दाह, शरीरका विवर्णता, कम्प, हृदयमें वेदना और शिरमें दर्द होता है।

उपद्रव अनिद्रा, ग्लानि, कम्प, मूत्ररोध और अज्ञानता ये पांच विसूचिकाके प्रधान उपद्रव हैं। इन सब उपद्रवोंके होनेसे समझना चाहिये, कि रोगीके जीवनकी आशा बहुत कम है।

अरिष्ट लक्षण—इस रोगमें यदि दांत, ओष्ठ और नख काले हो जायें, आंखें नीचे धस जायें और मोह, वमन, क्षीणज्वर हो और सन्धियां शिथिल हो जायें, तो समझना चाहिये, कि रोगीके बचनेकी आशा कम है। (भावप्रकाश अजीर्णरोगाधिकार)

आयुर्वेदशास्त्रमें यह रोग अजीर्ण रोगके अन्तर्भुक्त माना गया है। यह अति भयङ्कर और आशुप्राणनाशक और संक्रामक है। अतिवृष्टि, वायुकी आर्द्रता या स्थिरता, अतिशय उष्णवायु, अपरिष्कृत जलवायु, अतिरिक्त परिश्रम, आहारका अनियम, भय, शोक या दुःख आदि मानसिक यंत्रणा, अधिक जनपूर्ण स्थानोंमें रहना, रातका जागना, शारीरिक दुर्बलता आदि इस रोगके निदान कहे जा सकते हैं। उदरामय नहीं हो कर भी जिन सब व्यक्तियोंको विसूचिका रोग हो जाता है, उनमें पहले शारीरिक दुर्बलता, अङ्गमें कम्पन, मुखश्रीकी विवर्णता, उदरके ऊर्द्ध्वभागमें वेदना, कानमें तरह तरहका शब्द श्रवण, शिरःपीड़ा और शिरका घुमना आदि पूर्वरूप प्रकाशित होते देखे जाते हैं।

इसका साधारण लक्षण युगपद् भेद और वमन है। इसीसे इसको भेदवमन भी कहते हैं। पहले दो एक

बार उदरामयकी तरह मलभेद और भुक्त द्रव्यका वमन हो कर पीछे यव या चावलके क्वाथकी तरह अथवा सड़े कुम्हड़ेके जलकी तरह जलवत् भेद और जल वमन होता रहता है। कभी कभी रक्तवर्णका भेद होता देखा जाता है। उदरमें वेदना होती है। मलकी बू सड़ी मछलीकी बू की तरह होती है और मूत्ररोध हो जाता है। क्रमशः आंखें नीचेको धंस जाती हैं, होंठ नीले, नाक ऊंची, हाथ पैरमें झिनझिनी और वे शीतल और संकुचित, उंगलीका अग्रभाग गहरा होना, शरीरका रक्तशून्य हो जाना और घर्मयुक्त, नाड़ीक्षीण, शीतल, फिर भी वेगयुक्त तथा क्रम क्रमसे लुप्त, हिचकी, दारुण पिपासा, मोह, भ्रम, प्रलाप, ज्वर, अन्तर्दाह, स्वरभङ्ग, अस्थिरता, अनिद्रा, शिरोघूर्णन, शिरमें दर्द, कानोंमें विविध शब्दोंका सुनाई देना, आंखोंसे विविध प्रकारके मिथ्यारूपदर्शन, जिह्वा और निश्वासकी शीतलता और दांतोंका बाहर निकलना आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

चिकित्सा—इस रोगके होते ही इसकी चिकित्सा होनी चाहिये। किन्तु इस रोगमें पहले बलवान् धारक औषध सेवन करना उचित नहीं। उससे आपाततः भेद निवारित होने पर भी वमनवृद्धि और उदराध्मान आदि उपसर्ग उत्पन्न हो सकते हैं। और भी कुछ क्षणके लिये भी भेद निवारित हो कर पीछे और अधिक परिमाणसे भेद होनेकी आशङ्का है। इसीलिये पहली अवस्थामें धारक औषध अति अल्प मात्रामें बारंबार प्रयोग करना उचित है। अजीर्णताके कारण यह रोग उत्पन्न होनेसे पहले पाचक और अल्पधारक औषधका प्रयोग करना आवश्यक है। नृपवल्लभ आदि औषध अजीर्णजनितविसूचिकामें बहुत उपकारक हैं।

दूसरी चिकित्सामें पहले दारचीनी, पौन तोला, कंकुम पौन तोला, लवङ्ग ।≠ आने भर, छोटी इलायचीके दाने ।) आने भर अलग अलग उत्तम रूपसे चूर्ण कर २५ तोले ईखकी चीनीमें अच्छी तरह मिला दे। सब मिला कर जितना वजन होगा, उसके तीन भागोंका एक भाग फूलखड़ी चूर्ण मिला कर रोग और रोगीके बलके अनुसार, १०से ३० रत्ती तक मात्रामें बारंबार सेवन कराना चाहिये। २० वर्षके युवकसे ५० वर्ष तकके वृद्ध रोगीको २० रत्ती इस चूर्णके साथ आध रत्ती अफीम मिला कर सेवन कराया जा सकता है। इसके कम उम्रके रोगीको अफीम न दे कर केवल चूर्ण ही दिया जाना चाहिये। रोगीके उम्र और रोगके प्राबल्यके अनुसार औषधकी आधी चौथाई मात्रा दी जा सकती है। अफीम आधी रत्ती, मरिचचूर्ण चौथाई रत्ती, हींग चौथाई रत्ती, और कपूर १ रत्ती एकत्र मिला कर एक-एक मात्रा एक बार भेद या दस्तके बाद खिलाना चाहिये। दस्त बन्द हो जाने पर दो तीन दिन तक सबेरे शाम तक तीन मात्रा सेवन कराना चाहिये। अफीमका आसव भी इस रोगकी प्रशस्त औषध है। ५से १० बून्द तक मात्रामें विवेचना कर शीतल जलके साथ प्रयोग करना चाहिये। मुस्ताद्य वटी, कर्पूररस, ग्रहणीकवाटरस आदि और अतीसार और ग्रहणी रोगोक्त प्रबल अतीसारनाशक औषध भी इस रोगमें प्रयुक्त होती है। इन सब औषधोंके व्यवहारके समय थोड़ा मात्रामें मृतसञ्जीवनी सुरा जलमें मिला कर सेवन करानेसे विशेष उपकार होता है। किन्तु वमन वेग या हिचकी रहनेसे सुरा न दें सीधु पान करायें। इससे हिचकी, वमन, पिपासा और उदराध्मान निवारित होते हैं। एक छटाक इन्द्रयव एक सेर जलमें सिद्ध कर जब एक पाव रह जाय, तो उतार ले। इसका एक तोला आध घण्टे पर सेवन कराना चाहिये, इससे भी विशेष उपकार होता है।

अपाङ्गका मूल जलके साथ पीस कर सेवन करनेसे विसूचिका रोगकी शान्ति होती है। करेलेके पत्तेके क्वाथमें पीपलचूर्ण डाल कर सेवन करनेसे विसूचिका रोग आरोग्य होता है और जठराग्नि उद्दीपित होती है। वेलसोंठ, सोंठ इन दो चीजोंका क्वाथ या इनके साथ कटफलका क्वाथ मिला कर सेवन करनेसे भी विशेष उपकार होता है।

कै रोकने तथा पेशाब करानेका उपाय—अत्यन्त कै होते रहने पर एक पसर धानका लावा एक तोला चीनीमें मिला कर डेढ़ पाव जलमें भिंगा दे। कुछ देरके बाद छान ले और उसके जलमें खसकी जड़ मूल १ तोला छोटी इलायची आध तोला और सौंफ आध तोला पीस कर और सादा चन्दन घिसा हुआ १ तोला मिला देना

चाहिये। इस जलकी आध तोला मात्रा आध घण्टे पर पान करनेसे वमन बन्द हो जाता है। सरसों पीस कर पेट पर लेप देनेसे कै बन्द हो जाती है। और वमन रोगमें जो औषध बताई गई है, उनका भी प्रयोग किया जा सकता है। पेशाब करानेके लिये पथरकुच्चा, हिमसागर या लोहाचूर नामक पत्तेका रस एक तोला मात्रासे सेवन कराना चाहिये। पथरकुच्चाका पत्ता और सोरा एकत्र पीस कर वस्तिप्रदेशमें भी प्रलेप करनेसे पेशाब उतरता है। हाथ पैरमें झिनझिनीके निवारणके लिये तारपीनका तेल और सुरा एकत्र मिला कर अथवा सरसोंके तेलके साथ कपूर मिला कर मलना चाहिये। केवल सोंठका चूर्ण मलनेसे भी उपकार होता है। कुट, नमक, कांजी और तिल तैल एकत्र पीस कर जरा गरम कर लगानेसे झिनझिनी छूट जाती है।

हिक्का या हिचकी निवारणके लिये सन्निपात ज्वरोक्त हिक्कानाशक योगोंका व्यवहार करना चाहिये। अथवा कदलीके मूलके रसका नस्य लेना या सरसों पीस कर मेरुदण्डमें प्रलेप देना अथवा तारपीन तेल उदरमें लगाना चाहिये।

रोगी जब पिपासासे कातर हो, तब कपूर मिश्रित जल अथवा बरफका जल पान कराना चाहिये। अन्तिम कालकी हिमाङ्ग अवस्थामें सूचिकाभरण देनेके पहले मृगनाभि (कस्तूरी) और मकरध्वज प्रयोग करनेसे भी विशेष उपकार होगा।

इस रोगकी चिकित्साके विषयमें सर्वदा सतर्क रहना आवश्यक है, क्योंकि इसमें कब किस समय कौन अनिष्ट होगा उसका अनुमान किया जा नहीं सकता। रोगीका घर, शय्या और पहने हुए वस्त्र आदि साफ रहने चाहिये। घरमें कपूर, धूप और गन्धकका धूंआ करते रहने चाहिये। रोगीका मलमूत्र बहुत दूर पर फेंकना चाहिये। (सुश्रुत)

पथ्यापथ्य—रोगकी प्रबल अवस्थामें उपवासके सिवा और कुछ भी पथ्य नहीं। पीड़ाका ह्रास होने पर रोगीको भूख लगने पर सिंघाड़ाका आटा, अरारूट या सागूदाना जलमें पका कर देना उचित है। अतीसार रोगोक्त यवागू भी इस अवस्थामें विशेष उपकारी है। इन सब पथ्योंमें कागजी निबूका रस दिया जा सकता है। पीड़ा सम्पूर्णरूपसे निवारित हो अधिक क्षुधा होनेसे पुराने चावलका भात, मछलीका शोरवा और लघुपाक द्रव्य सेवन करना चाहिये।

निषिद्धकर्म—सम्पूर्णरूपसे स्वास्थ्य लाभ न होने तक किसी तरहका गुरुपाक द्रव्य, घृत या घृतपक्व भोजन, मैथुन, अग्नि और धूप, व्यायाम या अन्यान्य श्रमजनक कार्य्य न करने चाहिये। पहले ही कहा गया है, कि अजीर्ण ही इस रोगका मूल कारण है। अतएव जिन सब चीजोंके भोजन करनेसे अजीर्ण रोग हो सकता है, उनका परित्याग करना चाहिये।

एलोपैथिक मतसे इसे कालेरा मर्बास कालेरा स्प्याज मोडिका, एसियाटिक कालेरा, मेलिगनेण्ट कालेरा या एपिडेमिक कालेरा कहते हैं।

यह अत्यन्त संक्रामक और सांघातिक पीड़ा है। कभी कभी एक स्थानमें आरम्भ हो बहुतेरे स्थानोंमें फैल जाता है और कभी कभी सम्यक् रूपसे प्रादुर्भूत होते देखा जाता है। वमन और जलवत् मलत्यागके साथ शरीरका ठण्ढ हो जाना ही इसका प्रधान लक्षण है। पहले यह रोग मध्य एशियामें प्रादुर्भूत हुआ। इसीलिये इसका एक नाम एशियाटिक कालरा है। यह सुश्रुतकी विसूचिकासे पृथक् है। भारतमहासागरके द्वीपपुञ्जमें भी यह महामारीके रूपमें कई शताब्दियोंसे दिखाई देता आ रहा है। ईस्वीसन् १७वीं शताब्दीके शेष भागमें यह पहले भारतमें प्रकट हुआ। इसके बाद क्रमशः नाना देशोंमें फैल गया, किन्तु अन्यान्य स्थानोंकी अपेक्षा एकमात्र निम्न वङ्ग ही इस रोगका लीलास्थान कहनेसे कोई अत्युक्ति न होगी। प्रतिवर्ष मार्गशीर्ष महीनेसे चैत तक यहांके लक्ष लक्ष अधिवासी इस विसूचिका रोगसे प्राण खो बैठते हैं।

सन् १७७० ई०से पहले चिकित्सक इस रोगके नामसे अनभिज्ञ थे। यह पहले भारतवर्षमें प्रकाशित हुआ। इसके बाद सारे भूमण्डलमें फैला है। सन् १७८१ ई०में भारतवर्षीय सेनाध्यक्ष सर आयरकूटकी सेनामें यह रोग फैला था। इसके बाद सन् १८१७ ई०में चट्टग्राम, मैमनसिंह और यशोहर जिलेमें यह रोग

प्रादुर्भूत हुआ। उसी समयसे इस पीड़ाके सम्बन्धमें विशेष आलोचना हो रही है।

सन् १८२३ ई०में यह एशिया माइनर और एशियाके रूसराज्यमें फैला। इसके बाद सन् १८३० ई० तक एशियाके अन्य किसी स्थानमें इसकी प्रबलता दिखाई न पड़ी। शेषोक्त वर्षमें फारसमें और कास्पीय सागरमें उपकूल देशमें और वहांसे यूरोपके रूसी साम्राज्यमें विसूचिकाने विस्तृत हो कर मध्य और उत्तर यूरोपको जनशून्य कर दिया। पीछे १८३१ ई०में यह इङ्गलैण्डके सन्दरलैण्ड विभागमें और १८३२ ई०में लण्डन नगरमे कालेराका प्रादुर्भाव हुआ। इसके बाद यह फ्रान्स स्पेन, इटली, उत्तर और दक्षिण अमेरिकाके प्रधान प्रधान जनपदोंमें फैल गया। सन् १८३५ ई०में उत्तर अफ्रिकाके नीलनदके किनारेके जिलोंमें पहुंच गया; किन्तु इससे पहले अरब, तुर्क और मिस्र राज्यके अन्यान्य स्थानोंमें इस रोगने अपना प्रभाव फैलाया था। सन् १८३७ ई०में इसने फिर यूरोप महादेशमें प्रकट हो महामारी उपस्थित कर दी थी।

१८४१ ई०को भारत और चीनराज्यमें विसूचिका प्रबल प्रकोपसे प्रादुर्भूत हुई। धीरे धीरे वह नाना स्थानोंमें फैल गई। १८४७ ई०को इसका पुनः रूस और जर्मनीसे इङ्गलैण्डमें प्रचार हुआ। पीछे वहांसे फरासीराज्य होती हुई यह अमेरिका और वेष्ट-इण्डिज द्वीपमें देखी गई। १८५० ई०को एशियामें कालेरा रोगका प्रादुर्भाव हुआ। धीरे धीरे १८५३ ई०को यूरोपमें रह कर इसने क्रिमिया युद्धमें व्यापृत सेनादल पर अक्रमण कर दिया। इसके बाद १८६५-६६ ई०को यूरोपमें विसूचिका फिरसे प्रबलभावमें देखी गई थी।

इस पीड़ाका विष मल और वमनमें रहता है और मच्छरों द्वारा किसी खाद्य पदार्थके स्पर्श करनेसे अथवा मलकी दुर्गन्धसे श्वास द्वारा देहमें प्रविष्ट हो जाता है। अणुमात्र यह विष पानी दूध या खानेकी वस्तुमें मिल जानेसे और उसे उदरस्थ करनेसे यह रोग उत्पन्न हो जाता है। डाक्टर पटनकाफरका कहना है, कि विसूचिकाका मल जमीनमें फेंकने पर जमीनकी गर्मीसे यह विषाक्त पदार्थ वाष्पाकारमें वायुसे मिल जाता और भूतलसे ऊपर जाता है और स्थानान्तरित होता है। दूसरे मतसे यह विष एक तरहका सूक्ष्म उद्भिजमात्र है। किन्तु डाक्टर लुइस और कनिंहम अणुवीक्षण द्वारा परीक्षा कर उत्तमरूपसे किसी पदार्थका अस्तित्व उपलब्ध नहीं कर सके। हालमें अर्थात् सन् १८८४ ई०में डाक्टर कोचने कमावसिलस नामक एक तरहका सूक्ष्म उद्भिज आविष्कार किया है। उनका कहना है, कि पीड़ाकी कठिन अवस्थामें मलमें बहुसंख्यक वेसिलस दिखाई देते हैं। अंतड़ीसे ये लिवारकुन् ग्लेण्ड और एपिथिलियम (श्लेष्मिक झिल्ली) तक प्रवेश करता है। किंतु अंतड़ीके नीचेके विधानमें दिखाई नहीं देता। डाक्टर हालियरके मतसे उल्लिखित व्याधिमें गुरोसिष्ट एक प्रकारका सूक्ष्म उद्भिज अंतड़ियोंमें प्रवेश कर वहां बहुसंख्यामें विभक्त हो अंतड़ीके इपिथिलियल् कोषोंको ध्वंस कर देता है अथवा अंतड़ियोंको बढ़ा देता है। बारंबार मलत्याग होने पर रक्तका जलीयांश निकल जाता है और उससे रक्त गाढ़ा होता है। इस मतके अनुसार विषाक्त पदार्थ पहले अंतड़ियोंमें प्रवेश करता है। उनका और भी कहना है, कि निम्नलिखित औषधोंसे उक्त उद्भिज नष्ट हो सकता है। यथा—फेरी सल्फ, कार्बोलिक एसिड, पारमेङ्गनेट आव पोटाश और अलकोहल। डाक्टर जनसन (Dr Johnson) का कहना है, कि इस पीड़ाका विष पहले रक्तमें प्रवेश करता है और दूषित रक्तके सञ्चालनके कारण स्नायुमण्डल और स्नैहिक स्नायु (सिम्पेथेटिक नार्भ)की क्रियामें परिवर्त्तन करता है और उससे ही अंतड़ियोंके भासो मोटर नार्भको अवशता उत्पन्न होती है। इस तरह अवशताके कारण सूक्ष्म सूक्ष्म धमनियां और कैशिकाओंसे रक्तका जलीय अंश अंतड़ियों द्वारा अधिक परिमाणसे निकलता है। इसके बाद और हिमाङ्ग आदि कठिन कठिन लक्षण उपस्थित हो रोगको विभीषिकामय कर देते हैं। इससे फुस्फुसकी सभी कैशिकायें संकुचित हो जाती हैं और रक्तसञ्चालनक्रिया सुचारुरूपसे सम्पादित नहीं होती। कभी कभी यह पीड़ा महामारीके आकारमें (एपिडेमिक रूपसे) उपस्थित होती है और २०।२५ दिनों या एक मास तक प्रबल भावसे रह कर पीछे वायुके किसी

परिवर्त्तनके कारण अकस्मात अदृश्य होते दिखाई देती है।

विशेषभावसे पार्यवेक्षण करनेसे मालूम होता है, कि इस रोगके निम्नलिखित कारण हैं—(१) अति वृष्टि, (२) वायुकी आर्द्रता या स्थिरता, (३) अत्युष्ण वायु, (४) अपरिष्कृत जल और वायु, (५) अतिरिक्त परिश्रम विशेषतः अधिक दूर जाने पर क्लान्ति, आहारका अनियम, मनकष्ट शोक, दरिद्रता, जनता और रात्रि जागरण आदि, (६) अधिक उम्र या शारीरिक दुर्बलता, (७) पीड़ित व्यक्तिके समीप रहना, या उधरसे मनुष्योंका आना जाना, (८) नवागन्तुक व्यक्तिका शीघ्र आक्रांत होना। फुस्फुस और अंतड़ियों द्वारा यह विषाक्त पदार्थ देहमें प्रवेश और पूर्ण विकाश पाते हैं।

रोगकी अवस्थाके अनुसार रोगीके बहुतेरे शारीरिक परिवर्त्तन होते हैं। शरीर ठण्ढा हो जानेसे मृत्यु होने पर चमड़ा नीलाभ और निम्नांश कुछ लाल रङ्गका तथा हाथ पैरका चर्म संकुचित हो जाता है। मृत देह शीघ्र ही कड़ी और विकृत हो जाती है। मृत्युके बाद शीघ्र ही उत्ताप कुछ बढ़ जाता है और मृतदेह कुछ देर तक गरम रहती है।

रोगाक्रमणके बाद रक्तसञ्चालनकी क्रियामें विकृति हो जाती है। हृत्पिण्डका बायां कोटर, धमनी और चर्मकी कैशिका और दक्षिण कोटर, पालमोनरी शिरायें और पालमोनरी कैशिकायें रक्तशून्य हो जाती हैं।

२ से ५ दिनों तक और कभी कभी १८ दिनों तक रोग गुप्तावस्थामें रहता है। इस अवस्थामें कोई विशेष लक्षण दिखाई नहीं देता। उक्त अवस्थाके सिवा इस रोगमें निम्नोक्त और भी चार अवस्थायें प्रकट होती हैं।

(१) आक्रमणावस्था या इनभेसन् ष्टेज—किसी जगह कालेरा या हैजा होने पर वहां बहुत आदमियोंको उदरामय उपस्थित होता है। उनमें कई आदमियोंका उदरामय हैजेका रूप ग्रहण करता है। उदरामय न होनेसे रोगके पूर्वका पित्त अन्यान्य लक्षणोंमें दुर्बलता, अङ्गकम्पन, मुखश्री विवर्ण उदरोर्द्ध्व देशमें वेदना, कानके भीतर नाना शब्दोंका होना, शिरःपीड़ा, शिरका घुमना आदि कुछ दिनोंके लिये वर्त्तमान रह सकते हैं।

(२) प्रकाश या दस्त और कै-की अवस्था—अङ्गरेजीमें इनके यथाक्रम डेवलपमेण्ट अथवा इवाक्यूयेशन ष्टेज कहते हैं। यह पीड़ा प्रायः प्रातःकाल प्रकट होती है। पहले अधिक परिमाणसे दस्त आते हैं और उसमें मल और पित्त देखे जाते हैं। इसके आध या एक घण्टेके बाद उससे अधिक जलवत् मलत्याग होता रहता है। २।३ बार दस्त होनेके बाद इसका रङ्ग बदल जाता है। देखनेमें जलवत् और जरा सादा होता। अङ्गरेजीमें जिसको राइस वाटर ष्टुल कहते हैं। कभी मल रक्त वर्णका हो जाता है। मलका आपेक्षिक गुरुत्व १००५ से १०१० तक और इसके अधःक्षेपमें निम्नलिखित चीजें दिखाई देती हैं। जैसे—पोटाश और लवण और थोड़ा एलबुमेन। एक पाइण्ड मलमें ४ ग्रेन गाढ़ अंश रहता है। अणुवीक्षण द्वारा शस्यवत् पदार्थ एपिथिलियेल कोष और कभी कभी एक तरहका सूक्ष्म उद्भिज देखा जाता है। इस तरह वाह्य शीघ्र शीघ्र और बारम्बार होता है; किन्तु मलत्यागमें सामान्य वेदना रहती है। कभी कभी रोगीके उदरोर्द्ध्वदेशमें कुछ जलन मालूम होती है। ७।८ बार दस्त होनेके बाद वमन आरम्भ होते देखा जाता है। पहले पाकाशयसे भक्षित द्रव्य बाहर निकलता है और उसमें पित्त मिला रहता है। क्रमशः जलवत् अथवा पीताभ तरल पदार्थ और म्यूकास पदार्थ निकलता है। किसी चीजके भक्षण तथा औषधके सेवन करनेके बाद वमनका वेग बढ़ता है। रोगीको अधिक निर्बलता बोध होने लगती है और वह शीर्ण हो जाता है। जलवत् मलत्यागके समय रोगीके क्रमशः हाथ पैरकी उंगलियोंमें, उरु देशमें, और पैरके पश्चात्भागमें ऐंठन (Cramps) होने लगती है। कभी कभी उदरकी पेशी तक यह फैल जाती है। रोगीका मुखमण्डल बैंगनी रङ्गका या सीसेके रङ्गका हो जाता है। उत्ताप स्वाभाविकसे कम हो जाता, नाड़ी अत्यन्त क्षीण, अन्यान्य लक्षणोंमें पिपासाधिक्य और अस्थिरता रहती है। भेद और प्रखरताके अनुसार शीघ्र या कुछ देरसे तृतीय अवस्था उत्पन्न होती है।

(३) हिमाङ्गावस्था या कोलाप्स ष्टेज इस—समय

भी दस्त और कै कुछ अंशमें होते रहते हैं। मुखमण्डल अत्यन्त संकुचित और श्रीहीन दिखाई देता है। दोनों होंठ नीले वर्ण, आंखें भीतरमें धंसी और अधखुली, नाक ऊंची और सर्वाङ्गमें पसीना निकलता रहता है। हाथ पैर संकुचित और रक्तशून्य अर्थात् धोबीके हाथकी तरह दिखाई देता है। उत्ताप बहुत कम हो जाता अर्थात् ९७से ९० डिग्री तक हो जाता है। नाड़ी अत्यन्त क्षीण और किसी किसी स्थानमें मालूम भी नहीं होती। रक्तसञ्चालन प्रायः बन्द हो कर श्वासकृच्छ्र उपस्थित होता है। किसी शिराके काटने पर जो सामान्य रक्त दिखाई देता है, वह भी पहले काले अलकतरेकी तरह गाढ़ा दिखाई देता है, पीछे वायुस्पर्शसे उज्ज्वलवर्ण धारण करता है। प्रश्वासवायु शीतल और उसमें कार्बोनिक गैसका भाग बहुत कम रहता है। कभी कभी श्वासकृच्छ्र बढ़ता है और रोगी शीतल वायु ग्रहण करनेको आग्रह प्रकाशित करता है। स्वरभङ्ग, अस्थिरता, अनिद्रा, शिरका घूमना, शिरमें दर्द, कानोंमें तरह तरहके शब्दोंका होना, दृष्टिपथमें नाना वस्तुओंका दर्शन और कभी कभी कम्प उपस्थित होता है। इस अवस्थामें लाला और पाकरस आदिका ह्रास दिखाई देता है। जिह्वा शीतल, रोगी आग्रहपूर्वक शीतल जलका पान करने तथा बदनके वस्त्रोंको उतार फेंकनेकी इच्छा प्रकाश करता है। अंग स्पर्श करने पर मृतदेहकी तरह शीतल मालूम होती है। मलका परिमाण अल्प और इसकी बू सड़ी मछलीकी तरह होती है। मूत्र रुक जाता है। ज्ञान प्रायः वर्त्तमान रहता है। किन्तु मृत्युके अव्यवहित पहले अचेतनादि दिखाई देती है। स्वाभाविक शरीरमें स्पर्श द्वारा जो प्रत्यावर्त्तनिक क्रिया उत्पन्न होती है, उसकी कमी होती है। ये सब लक्षण प्रखर होनेसे रोग प्रायः आरोग्य नहीं होता। श्वासरोध, रक्तसञ्चालनक्रियालोप अथवा अचेतन अवस्थामें मृत्यु हो सकती है।

(४) प्रतिक्रियाकी अवस्था या रियाक्शन ष्टेज—इसमें रोगीकी मुखश्री और वर्ण क्रमशः स्वाभाविक अवस्थामें परिवर्त्तित होते देखा जाता है। नाड़ी और हृत्पिण्डकी क्रिया सबल और शरीर उत्तप्त होने लगता है। प्रतिक्रियाकी प्रथमावस्थामें स्पर्श करनेसे चमड़ा गरम मालूम होता है। किन्तु उस समय भीतरके सब अंशोंके शीतल रहनेसे थर्मामिटरमें उत्तापकी मात्रा अधिक दिखाई नहीं देती। निश्वास प्रश्वास नियमित और सरल तथा पेशाब निःसारित और पुनरुत्पादित होता है। अस्थिरता, वमन और तृष्णाका ह्रास होता है। सामान्य परिमाणसे दस्त होते रहते हैं तथा मलमें पित्त दिखाई देता है। रोगीको कभी कभी निद्रा घर दबाती है। पेशाबमें सरलता होती है। किन्तु सदा ऐसी सुविधा नहीं रहती। अत्यन्त हिचकी, युरिमिया, मृदुस्वर, कभी कभी पुनरायभेद, वमन, उदरामय, आमाशय, कर्णमूल और कर्णियातमें क्षत इत्यादि नाना प्रकारके उपसर्ग दिखाई देते हैं। इनमें प्रधान उपसर्ग युरिमिया है। अतएव इसका सामान्य वर्णन करना उचित है। युरिमिया होने पर वमन फिर बढ़ने लगता है तथा मल सब्ज रंगका हो जाता है। आंखें लाल लाल हो जाती हैं प्रलाप, कमरमें दर्द, अचैतन्य और आक्षेप आदि वर्त्तमान रहता है। २।३ दिनों तक पेशाब न होने पर रोगी कालकवलमें या टाइफायेड अवस्थामें आ जाता है। युरिमियाका उत्ताप स्वाभाविकसे कम हो जाता है। किन्तु न्युमोनिया, प्लुरिसि, ज्वर आदि उपसर्ग उपस्थित होने पर उत्तापकी वृद्धि होती है।

प्रकारभेद—(१) गुप्तप्रकार—कभी कभी सामान्यभेद और वमन होनेके बाद सहसा हिमाङ्गावस्था प्राप्त हो रोगीकी मृत्यु हो जाती है। (२) कालेराजनित डायेरिया या कलेरिन—इससे रोगी २।४ दिनों तक बारंबार अधिक परिमाणसे तरल और पाण्डुवर्णका मलत्याग करता है। सामान्य वमन और क्राम्प वर्त्तमान रहता है। रोगी इस अवस्थासे आरोग्यलाभ कर सकता है। या एक तरहके ज्वरसे आक्रान्त हो मृत्युमुखमें पतित हो सकता है। कभी कभी यह यथार्थ हैजेका रूप धारण कर लेता है। (३) समर डायेरिया या इंलिस कालेरा—इसमें कालेराके सब लक्षण दिखाई देते हैं। किन्तु इसकी तरह गुरुतर नहीं होता। मल और वमनमें पित्त दिखाई देता और उदरमें अत्यन्त वेदना रहता है। सामान्य परिमाणसे मूत्रत्याग होता है। आहारके

अनियमसे यह पीड़ा होती है। मृत्युसंख्या अल्प है।

निर्णयतत्त्व—यह प्रायः अन्य पीड़ाके साथ भ्रम नहीं होता। कभी कभी विषपानजनित रोगके साथ भ्रम हो सकता है। किन्तु ऐसी अवस्थामें मलमें पित्त रहता है और सामान्य परिमाणसे पेशाब होता है। कभी कभी वमनमें आर्सेनिक चूर्ण पाया जाता है।

भोगकाल—२।३ घण्टेसे २।३ दिन कभी कभी एक सप्ताह तक।

भविष्यफल—सर्वदा गुरुतर, भेदवमनेच्छासे नाड़ी विलुप्त होने पर और मुखमण्डलके कि ो विशेष परिवर्त्तन न होनेसे आरोग्य होनेकी सम्भावना है। कोलाप्स ष्टेजमें रेडियल या ब्रेकियल धमनी सामान्य भावसे स्पन्दित होनेसे और निःश्वास प्रश्वासमें अधिक कष्ट न रहने पर आरोग्य होनेकी आशा की जाती है। किन्तु नाड़ीका सम्पूर्ण लोप, अत्यन्त पसीना, साइयेनोसिस, अचैतन्य और निःश्वास-प्रश्वास बहुत आदि लक्षण गुरुतर माने जाते हैं। वृद्धवयस, अमिताचार, दुर्बलता या मूत्रकी कोई पीड़ा रहनेसे व्याधि गुरुतर हो जाती है। रियाकशनष्टेजमें २४ या २६ घण्टेमें मूत्रत्याग, कभी कभी निद्रा और आहार्य या पानीय द्रव्यका पाकाशयमें अवस्थान शुभ लक्षण है। मूत्रावरोध, नेत्रोंका लाल होना और अचैतन्य आदि टाइफाइड लक्षणोंको अशुभ मानते हैं। गुलाबी या लोहित वर्ण तरल मल और पाकाशयसे रक्तस्राव आदि लक्षण सांघातिक माने जाते हैं। अंतड़ियोंकी अवशताके लिये कभी कभी सहसा कोष्ठवद्ध होता है यह अशुभ है।

मृत्युसंख्या—इस रोगमें सैकड़े २०, ३०, ४० या ६० मनुष्य भी मरते हैं। कालेरा एपिडेमिकके प्रथम कई दिन मृत्युकी संख्या अधिक होती है, किन्तु इसका क्रमशः ह्रास होने लगता है।

चिकित्सा—(१) इव्याक्यूरेसन ष्टेज—डाक्टर जनसनका कहना है, कि इस पीड़ाके विषाक्त पदार्थके लिये पहले काष्टर आयल (रेंडीका तेल) देना होगा, किन्तु यह उचित नहीं। इसी समय टिं ओपियाई, लाइकर ओपियाई सिडेटिवस्, ओपियसपिल और अन्यान्य सङ्कोचक सब औषध जैसे—प्लम्बाई एसिटैस, चकमिकश्चर और क्लोरोडाइन इत्यादि व्यवहार्य है। वमन रोकनेके लिये इपिगेष्ट्रीयमें मष्टर्ड प्लाष्टर किंवा कोल्ड कम्प्रेस संलग्न तथा आभ्यन्तरिक क्लोरोफार्म, विषमथ और बरफ आदि व्यवस्थेय है। क्राम्पके लिये हाथ पाँवमें सोंठका चूर्ण, क्लोरोफरम् लिनिमेण्ट अथवा गरम तारपीन तेलकी मालिश करनी चाहिये। उष्ण जल परिपूर्ण बोतल हाथ पैर पर धरनेसे उपकार होता है। नाड़ी दुर्बल रहनेसे स्वल्प परिमाणसे ब्राण्डी और बलकर औषध देना उचित है।

(२) हिमाङ्गावस्था—इस अवस्थामें अफीमघटित औषध निषिद्ध है। डाक्टर निमेयार उष्ण काफी देनेको कहते हैं। बहुतेरे डिफिउजिवेल ष्टिमिउलेण्ट यथा—स्पिरिट एमन एरोमेट या कार्बनेट आव एमोनिया और क्लोरिक वा सलफ्यूरिक इथर व्यवहार करनेका उपदेश देते हैं। सिनेमन, काजुपटी और पिपरमेण्ट आदि औषधोंका जलके साथ व्यवहार करनेसे अधिक उपकार होता है। बरफके साथ सामान्य मात्रामें ब्राण्डी देना कर्त्तव्य है। यदि इसके द्वारा नाड़ी उत्तेजित न हो सके, तो इसे बारंबार देना चाहिये। अधिक परिमाणसे ब्राण्डी उदरस्थ होने पर कभी कभी रियाकसम लक्षण गुरुतर हो उठते हैं। अन्यान्य शराबोंमें साम्पेन विशेष उपकारी है। अत्यन्त पसीना होने पर उसे कपड़ेसे पोंछ देना चाहिये। पिपासा शान्त करनेके लिये बरफ, सोडावाटर, लेमनेड, या क्लोरेट आव पोटास जलमें मिला कर देना चाहिये। सलफ्यूरिक इथरका इञ्जेक्ट करनेसे फल होता है।

(३) रियाक्सन ष्टेज—रियाक्सन आरम्भ होने पर भोजनके लिये तरल और लघुपाक वस्तु देनी चाहिये। इस अवस्थामें प्रचुर परिमाणसे जलका क्लोरेट आव पोटास या कार्बनेट आव सोडा सोलिउसन पानार्थ देना चाहिये। इससे रक्तमें फिर लवणका सञ्चार होता है। रियाक्सन सुचारु रूपसे न होने पर युरिमिया उपस्थित होते देखा जाता है। इस समय रक्तमें यथेष्ट युरिया दिखाई देता है। यद्यपि युरिया मूत्रकारक कहा जाता है, तथापि इससे मूत्रकी क्रिया सुचारु

रूपसे सम्पन्न नहीं होती। मूत्र उत्पादन करनेके लिये पोटासी नाइट्रेस, इथर, स्कुइल, टिं केन्थाराइडिस और जिन सुरा आदि मूत्रकारक औषध व्यवहार्य्य हैं। मूत्रकारक औषध व्यवहार करनेके समय बीच बीचमें डिकि उजिवेल ष्टीम उलेख्ट देना आवश्यक है। सम्पूर्णरूपसे कोष्ठबद्ध करना उचित नहीं। क्योंकि मल द्वारा कुछ परिमाणसे युरिया परित्यक्त होता है।

स्थानिक—कटिदेशमें फोमेण्टेषण, माष्टार्ड प्लाष्टर संलग्न और शुष्क या आर्द्र कर्पिं करना उचित है।

कभी कभी मूत्रत्याग करते समय भी अत्यन्त वमन, और हिचकी होती है। इसके निवारणके लिये नेफथा, बिसमथ और पाइरकशिलक स्प्रिट आदि दिया जाता है। स्थानिक औषधमें इपिगेष्ट्रियम, ब्लिष्टर और इस पर आधा ग्रेन मर्फिया लेपन और सार्वाकेल चारिबाके ऊपर ब्लिष्टर देनेसे कभी कभी उपकार होता है। युरिमियाके लिये निद्रावेश रहने पर गरदनमें ब्लिष्टर देना उचित है। टाइफाइडका लक्षण रहनेसे सेण्डिसलफो कार्बनासकी व्यवस्था है।

विशेष चिकित्सा और औषध—कोलाप्स अवस्थामें शिरामें लवणजलका इञ्जेकसन करनेसे रोगीका मुखमण्डल उज्ज्वल दिखाई देता है और अन्यान्य लक्षणोंका लाघव होता है। किन्तु यह उपकार क्षणस्थायी है। अत्यन्त क्राम्प रहनेसे $\frac{१}{१००}$ मिनिम मात्रामें नाइट्रोग्लिसरिन दिया जाता है। अथवा ५ ग्रेन मात्रामें क्लोराल हाइड्रास चमड़ेमें इञ्जेक्ट करना चाहिये।

प्रतिषेधक चिकित्सा—जहां कालरा या हैजा हुआ हो, वहांके अधिवासियोंको नित्य दो बार १०।१५ मिनिम मात्रामें सलफ्यूरिक एसिड डिल् जलमें मिला कर सेवनार्थ देना चाहिये। सुस्वादु खाद्य द्रव्य नियमितरूपसे आहार कराना चाहिये। वहांका जल या दूध कदापि पीना न चाहिये। मल और मृतदेहमें कार्बोलिक एसिड छिड़कना चाहिए। घरमें चूना पोत कर उसमें डिसइन्फेक्टेण्टोंको छींटना चाहिए।

पथ्य—पहले सागूदाना अरारूट, बार्लो, विफटी, चिकेन् ब्रथ् आदि तरल खाद्य देना उचित है। वमननिवारण होने पर दूध दिया जा सकता है। दस्त रुकने पर विफटी और ब्राण्डीका एनिमा दे। टाइफाइडके लक्षण उपस्थित होने पर विफटी जगसूप और पोर्टो इत्यादि बलकारक आहार देना उचित है।

विसूची (सं० स्त्री०) विशेषेण सूचयति मृत्युमिति वि-सूच-अच् स्त्रियां ङीष्। अजीर्णरोगविशेष।

विसूचिका देखो।

विसूत (सं० त्रि०) ससारथि, सारथियुक्त।

विसूत्र (सं० त्रि०) विश्रृंखल, श्रृंखलारहित।

(राजतर० ८।७७४)

विसूत्रण (सं० क्ली०) छत्रभङ्ग

विसूत्रता (सं० स्त्री०) विश्रृंखलता।

(राजतरङ्गिनी १।३६१)

विसूत्रित (सं० त्रि०) विश्रृङ्खलयुक्त, श्रृङ्खलारहित।

विसूरण (सं० क्ली०) १ शोक, दुःख। २ चिन्ता, फिक्र। ३ विरक्ति, वैराग्य।

विसूरित (सं० क्ली०) अनुताप, दुःख।

विसूरिता (सं० स्त्री०) विसूरिताज्वर।

विसूर्य (सं० त्रि०) सूर्यरहित। (हरिवंश)

विसृज्य (सं० त्रि०) सृष्टि करने योग्य।

(भागवत ७।६।२२)

विसृत् (सं० त्रि०) वि-सृ-क्विप्। प्रसरणशील, फैलानेवाला।

विसृत (सं० क्ली०) १ विस्तृत, चौड़ा। २ निर्गत, निकाला हुआ। ३ कथित, कहा हुआ।

विसृत्वर (सं० त्रि०) वि-सृ-क्वरप् (इणनशजि सर्त्तिभ्यः क्वरप्। पा ३।२।१६३) ह्रस्वस्येति तुक् प्रसरणशील, फैलानेवाला।

विसृप् (सं० त्रि०) वि-सृप-क्विप्। विसर्पणशील।

विसृप्ति (सं० स्त्री०) वि सृप्-क्ति। विसरण, प्रसरण-फैलाव।

विसृमर (सं० त्रि०) विशेषेण सरति तच्छीलः वि-सृ-क्मरच् (सृघस्यदः क्मरच्। पा ३।२।१६०) प्रसरणशील, फैलानेवाला। (अमर)

विसृष्ट (सं० त्रि०) वि सृज-क्त। १ विक्षिप्त, फेंका हुआ। २ विशेष प्रकारसे सृष्ट; जिसकी सृष्टि या रचना विशेष प्रकारसे हुई हो। ३ परित्यक्त, छोड़ा

हुआ। ४ प्रेषित, भेजा हुआ। (पु०) ५ विसर्ग, (:) इस प्रकार दो विन्दु। "र-सकारयोर्विसृष्टः" (कातन्त्र)

विसृष्टधेन (सं० त्रि०) विसृष्टजिह्व अर्थात् मध्यमस्वरमें उच्चार्यमाण, वाक्यादि (ऋक् ७।२४।२)

विसृष्टराति (सं० स्त्री०) रा-क्ति (कर्मणि) विसृष्टा प्रदत्ता राति धनं येन। वह जो प्रार्थियोंको अर्थात् यज्ञ करनेवालोंको धन देता हो।

विसृष्टवाच् (सं० त्रि०) वि-सृष्टा वाक् येन। मौनावलम्बी।

विसृष्टि (सं० स्त्री०) विविध प्रकारकी सृष्टि। (ऋक् १।१२६।६)

विसौंटा (हिं० पु०) अड़ूसा।

विसोम (सं० त्रि०) १ सोमरहित। (शतपथब्रा० ११।७।२८) २ चन्द्रशून्य।

विसौख्य (सं० क्ली०) सुखरहितका भाव, दुःख, कष्ट।

विसौरभ (सं० त्रि०) १ निर्गन्ध, गन्धरहित। २ दुर्गन्ध।

विस्कम्भ (सं० पु०) विष्कम्भ देखो।

विस्त (सं० पु० क्ली०) विस उत्सर्गे विस-क्त। १ कर्ष अर्थात् दो तोला सोना। २ अशीतिरक्तिका परिमित स्वर्ण, ८० रत्ती सोना।

विस्तर (सं० पु०) वि-स्तृ-अप् (प्रथने वावशब्दे। पा ३।३।३३ इति घञः प्रतिषेध 'ऋदोरप्' इति अप्) १ शब्दका विस्तार या विस्तृति, विशेष वर्णन। (भागवत ३।३।१) वेदाङ्ग। भाग० (३।३।१) ३ विस्तार, फैलाव। (गीता ७।१६) ४ प्रणय, प्रेम। (मेदिनी) ५ पीठ। ६ समूह। ७ आसन, शय्या। २ संख्या। १० आधार। ११ शिव। (भा० १३।१७।१३६)
(त्रि०) १२ प्रचुर, बहुत, अधिक।

विस्तारक (सं० पु०) विस्तार देखो।

विस्तारणी (सं० स्त्री०) ब्राह्मण पत्नीभेद। (मार्क०पु० ६१।६५)

विस्तारता (सं० स्त्री०) विस्तारत्व, बहुत या अधिक होनेका भाव।

विस्तारशस (सं० अव्य०) विस्तर-शस् वीप्सार्थे। अनेकानेक, बहुतों।

विस्तार (सं० पु०) वि-स्तृ-घञ् (प्रथने वावशब्दे। पा ३।३।३३) १ विटप, पेड़की शाखा। २ विस्तीर्णता, लंबे या चौड़े होनेका भाव। पर्याय—विग्रह, व्यास। (अमर) ३ स्तम्ब, गुच्छा। (मेदिनी) ४ समास वाक्य। ५ विशालता। ६ पदसमूह। ७ शिव। (भा० १३।१७।१२५) ८ विष्णु। (भा० १३।१४९।५६)

विस्तारता (सं० स्त्री०) विस्तारका भाव, फैलाव।

विस्तारित (सं० त्रि०) प्रसारित, फैला हुआ।

विस्तारी (सं० त्रि०) विस्तारोऽस्त्यस्येति विस्तार-इनि। १ विस्तृत, जिसका विस्तार अधिक हो। (पु०) २ वटवृक्ष, बरगदका पेड़। (वैद्यकनिघ०)

विस्तीर्ण (सं० त्रि०) वि स्तृ-क्त। (रदाभ्यामिति नः। पा ८।२।४२) १ विपुल, बहुत अधिक। २ विस्तृत, बहुत दूर तक फैला हुआ। ३ विशाल, बहुत बड़ा।

विस्तीर्णकर्ण (सं० पु०) हस्ती, हाथी।

विस्तीर्णता (सं० स्त्री०) विस्तीर्ण होनेका भाव, विस्तार, फैलाव।

विस्तीर्णपर्णा (सं० क्ली०) विस्तीर्णं पर्णं पत्रमस्य। माणक, मानकंद।

विस्तीर्णभेद (सं० पु०) बुद्धभेद। (ललितविस्तर)

विस्तीर्णवती (सं० स्त्री०) १ जगद्भेद। (त्रि०) २ विस्तीर्ण विशिष्ट, जो खूब लंबा चौड़ा हो।

विस्तृत (सं० त्रि०) वि-स्तृ-क्त। १ विस्तारयुक्त, जो अधिक दूर तक फैला हुआ हो। २ विशाल, बहुत बड़ा। ३ लम्बा। ४ चौड़ा। ५ व्याप्त, फैला हुआ। ६ यथेष्ट-विवरणवाला, जिसके सब अंग या सब बातें बतलाई गई हों।

विस्तृति (सं० स्त्री०) वि स्तृ-क्तिन्। १ विस्तार, फैलाव। २ व्याप्ति। ३ लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई या गहराई। ४ वृत्तका व्यास।

विस्थान (सं० त्रि०) स्थानच्युत।

विस्पन्द (सं० पु०) विष्पन्द देखो।

विस्पन्दन (सं० क्ली०) प्रस्पन्दन, विकम्पन।

विस्पर्धा (सं० स्त्री०) विशेष प्रकारसे स्पर्द्धा या प्रगल्भता।

विस्पर्धिन् (सं० त्रि०) १ स्पर्द्धायुक्त, दूसरेको परास्त करनेकी इच्छा करनेवाला । २ सादृश्ययुक्त, सदृश, समान ।

विस्पष्ट (सं० त्रि०) व्यक्त, स्फुट, प्रकाशित, सुस्पष्ट ।

विस्पृक्क (सं० त्रि०) आस्वाद ।

विस्फार (सं० पु०) वि-स्फुर घञ् । (स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि इत्यादित्वम् । पा ८।३।७६)

१ टङ्कारध्वनि, कमानका शब्द । २ स्फूर्त्ति, तेजी । ४ ज्या, धनुषकी डोरी । ४ कम्प, कांपना, बार बार हिलना । ५ विस्तार, फैलाव । ६ विकाश ।

विस्फारक (सं० पु०) वातप्रधान सन्निपात ज्वरका एक भेद । यह ज्वर बहुत भयङ्कर होता है । इसमें रोगीको खाँसी, मूर्च्छा, मोह, प्रलाप, कम्प, पार्श्ववेदना और जंभाई होती है तथा रोगी मुखमें कषाय रसका अनुभव करता है । (भावप्र०)

विस्फारित (सं० त्रि०) १ कम्पित, कंपा हुआ, चला हुआ । २ स्फूर्त्तियुक्त, तेज । ३ विस्तारित, फैला हुआ । ४ प्रकाशित । २ ध्वनित, शब्द किया हुआ ।

विस्फाल (सं० पु०) वि-स्फुल-घञ् (पा ६।१।४७ और ८।३।७६) विस्फार देखो ।

विस्फुट (सं० त्रि०) विशेष प्रकारसे व्यक्त वा प्रकाशित, प्रस्फुट ।

विस्फुर (सं० त्रि०) विस्फार देखो ।

विस्फुरक (सं० पु०) विस्फारक देखो ।

विस्फुरणी (सं० स्त्री०) तिन्दुकवृक्ष, तेंदूका पेड़ ।

विस्फुरित (सं० त्रि०) वि-स्फुर-क्त । १ स्फूर्त्तिविशिष्ट, तेज । २ चञ्चल, अस्थिर । (क्ली०) ३ भग्नरोगविशेष ।

विस्फुलिङ्ग (सं० पु०) विस्फुरति वि-स्फुर डु-विस्फु, तादृशं लिङ्गमस्य । १ अग्निकण, आगकी चिनगारी । २ एक प्रकारका विष ।

विस्फूर्ज (सं० पु०) विस्फूर्जथु देखो ।

विस्फूर्जथु (सं० पु०) १ वज्रनिर्घोष, वज्रका शब्द । २ उद्रेक, वृद्धि, बढ़ती ।

विस्फूर्जन (सं० क्ली०) किसी पदार्थका फैलना या बढ़ना, विकास ।

विस्फूर्जनी (सं० स्त्री०) तिन्दुकवृक्ष, तेंदूका पेड़ ।

विस्फूर्जित (सं० त्रि०) १ वज्रनिनादित । (पु०) २ नागभेद ।

विस्फोट (सं० पु०) विस्फोटतीति वि-स्फुट-अच् । विरुद्ध स्फोटक, विषफोड़ा, दुष्ट स्फोटक । पर्याय—पिटक, पिटका, विटक, विटका, स्फोटक, स्फोट । (राजनि०)

कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही, रुक्ष, क्षार और अजीर्णकारक द्रव्योंके भक्षण, अध्यशन, रौद्रसेवन और ऋतुपरिवर्त्तनके कारण वातादि दोषत्रय कुपित हो चर्मका आश्रय ले कर त्वक्, रक्त, मांस और अस्थिको दूषित और चमड़े पर घोरतर विस्फोटक रोग उत्पादन करता है । इस रोगके पहले ज्वर होता है । जिस रोगमें रक्तपित्तके प्रकोपजनित पीड़का ज्वरके साथ शरीरके किसी एक स्थानमें या सारी देहमें अग्निदग्ध स्फोटककी तरह उत्पन्न होती है, उसको विस्फोटक कहते हैं । सब तरहके विस्फोटमें ही रक्तपित्तका प्राधान्य रहता है । इसके सम्बन्धमें भोजका कहना है, कि वायुके साथ कुपित रक्तपित्त जब त्वक्‌गत होता है, तभी यह सारी देहमें अग्निदग्धकी तरह स्फोटक उत्पादन करता है ।

वातिक विस्फोट—वातजन्य विस्फोटमें शिरःशूल, अत्यन्त सूचीविधनवत् वेदना, ज्वर, पिपासा, पर्वभेद और स्फोटक काले हो जाते हैं ।

पैत्तिक विस्फोट—पित्तजनित विस्फोटमें रोगीको ज्वर, दाह और पिपासा होती हैं तथा स्फोटक पीतरक्त वर्णके और उनमें वेदना होती है । ये शीघ्र ही पक जाते तथा उनसे मवाद आदि आने लगता है ।

श्लैष्मिक विस्फोट—कफज विस्फोटमें रोगीको वमन, अरुचि और देहकी जड़ता होती है । स्फोटक पाण्डुवर्ण, कठिन, खुजलाहट और अल्पवेदनायुक्त हो कर देरसे पकता है ।

वातश्लैष्मिक—वातश्लैष्मिक विस्फोटमें खुजलाहट, शरीर भारी और आर्द्रवस्त्रावगुण्ठितकी तरह मालूम होता है ।

पित्तश्लैष्मिक—कफपित्तजनित विस्फोटमें खुजलाहट, दाह, ज्वर और वमन होता है ।

वातपैत्तिक—वात पित्तजनित विस्फोटमें बड़ी वेदना होती है।

सान्निपातिक—त्रैदोषिक विस्फोटमें स्फोटकोंके मध्यभागमें नीचा, अन्तमें उन्नत, रक्तवर्ण, कठिन और अल्पपाकयुक्त होता है और रोगीको दाह, पिपासा, मोह, वमन, इन्द्रियमोह, ज्वर, प्रलाप, कम्प और तन्द्रा उपस्थित होता है। यह असाध्य है।

रक्तज विस्फोट—रक्तजनित विस्फोट पित्तजके विस्फोट निदानसे उत्पन्न गुञ्जा फलकी तरह रक्तवर्णका होता है। यह रोग सैकड़ों सिद्धयोगोंसे भी आराम नहीं होता।

इन आठ प्रकारके बाहरी विस्फोटोंकी बात कही गई। इनके सिवा भीतर भी विस्फोट उत्पन्न होते हैं। आभ्यन्तरिक विस्फोट शरीरके बहिर्भागमें निकल कर प्रकाशित होने पर रोगी सुस्थलाभ करता है। किन्तु यह वायुके प्रकोपसे उत्पन्न होने पर बाहर नहीं निकलता। ऐसी अवस्थामें वातिक विस्फोटकी तरह चिकित्सा करनी चाहिये।

उपद्रव—पिपासा, श्वास, मांससंकोच, दाह, हिचकी, मत्तता, ज्वर, विसर्प और मर्मव्यथा ये सब विस्फोट रोगके उपद्रव हैं।

साध्यासाध्य—विस्फोट एक दोषोद्भव होने पर साध्य, द्विदोषज होने पर कष्टसाध्य और त्रैदोषिक और सारे उपद्रव्ययुक्त होनेसे असाध्य हो जाता है।

चिकित्सा—विस्फोटरोगमें दोषके बलाबलकी विवेचना कर यथोपयुक्त लंघन, वमन, पथ्यभोजन या विरेचनका प्रयोग करना चाहिये। विस्फोटमें पुराना चावल, जौ, मूंग, मसूर और अरहर ये कई अन्न विशेष हितकर हैं।

दशमूली, रास्ना, दारुहरिद्रा, खसखसकी जड़, दुरालभा, गुड़ची, धनिया, मोथा—इन सबोंका क्वाथ पान करनेसे वातजनित विस्फोट दूर होता है। द्राक्षा, गाम्भीरी, खजूर, परवलकी पत्ती, नीम, वासक, कट्की, खई और दुरालभा इनके क्वाथमें चीनी डाल कर पान करनेसे पित्तजनित विस्फोट नष्ट होता है। चिरैता, वच, अड़ूस, त्रिफला, इन्द्रयव, कूटज, नीम और परवलकी पत्ती, इनके क्वाथमें मधु डाल कर पीनेसे सब तरहके विस्फोट नष्ट होते हैं। चिरैता, नीम, मुलेठी, मोथा, अड़ूस, परवलकी पत्ती, पित्तपापड़, खसखसकी जड़, त्रिफला और इन्द्रयव इन सब द्रव्योंका क्वाथ पान करनेसे सब तरहके विस्फोटक जल्द आराम होते हैं।

चावल धोये हुए जलके साथ इन्द्रयव पीस कर प्रलेप करनेसे विस्फोटक नष्ट होता है। गुलञ्च, परवलकी पत्ती, अड़ूस, नीम, पित्तपापड़, खैरकी लकड़ी और मोथा इन सबका क्वाथ पीनेसे विस्फोटक आराम होता तथा उससे होनेवाला ज्वर भी नष्ट हो जाता है। चन्दन, नागकेशर, अनन्तमूल, मारसा साग, सिरिसकी छाल, जातीफूल इन सबका समभाग ले पीस कर प्रलेप देनेसे विस्फोटकी जलन दूर होती है। नीलकमल, चन्दन, लोध, खसखसकी जड़, अनन्तमूल, श्यामालता इन सबको समभाग ले जलसे पीस कर प्रलेप देनेसे विस्फोट और उससे होनेवाली जलनकी निवृत्ति होती है।

(भावप्रकाश विस्फोटरोगाधिका०)

विस्फोटक (सं० पु०) १ विस्फोट, फोड़ा, विशेषतः जहरीला फोड़ा। २ वह पदार्थ जो गरमी या आघातके कारण भभक उठे, भभकनेवाला पदार्थ। ३ शीतलाका रोग, चेचक।

विस्फोटज्वर (सं० पु०) वह ज्वर जो जहरीले फोड़ेके कारण होता हो।

विस्फोटन (सं० क्ली०) १ नाद, जोरका शब्द। २ किसी पदार्थका उबाल आदिके कारण फूट बहना।

विस्मय (सं० पु०) वि-स्मि-अच्। १ आश्चर्य, अद्भुत, ताज्जुब। पर्याय—अहो, ही। (अमर) २ साहित्यमें अद्भुत रसका एक स्थायी भाव। यह अनेक प्रकारके अलौकिक या विलक्षण पदार्थोंके वर्णनके कारण मनमें उत्पन्न होता है।

३ दर्प, अभिमान, शेखी। ४ सन्देह, संशय, शक। विगतः स्मयो गर्वो यस्येति। (त्रि०) ५ नष्टगर्व, जिसका गर्व नष्ट-भ्रष्ट चूर्ण हो गया हो।

विस्मयङ्कर (सं० त्रि०) विस्मयं करोति विस्मय-कृ-खश्। विस्मयकारी, आश्चर्य पैदा करनेवाला।

विस्मयङ्गम (सं॰ त्रि॰) विस्मयं गच्छति विस्मय-गम-खश्। विस्मयगामी, आश्चर्यान्वित।

विस्मयन (सं॰ क्ली॰) वि-स्मि-ल्युट्। विस्मय देखो।

विस्मयनीय (सं॰ त्रि॰) वि-स्मि-अनीयर्। विस्मयके योग्य, आश्चर्याका विषय।

विस्मयविषादवत् (सं॰ त्रि॰) विस्मय और विषादयुक्त।

विस्मयान्वित (सं॰ त्रि॰) विस्मयेन अन्वितः युक्तः। विस्मययुक्त, आश्चर्यान्वित। पर्याय —विलक्ष। (अमर)

विस्मरण (सं॰ क्ली॰) वि-स्मृ-ल्युट्। विस्मृति, भूल जाना।

विस्मर्त्तव्य (सं॰ त्रि॰) वि-स्मृ-तव्यत्। विस्मरणके योग्य, भूलने लायक।

विस्मापक (सं॰ त्रि॰) विस्मयकारक, आश्चर्या पैदा करनेवाला।

विस्मापन (सं॰ त्रि॰) वि-स्मि-णिच्-ल्युट् इकारस्यात्वम्। १ विस्मयजनक, जिसे देख कर विस्मय हो। "येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत्।" (भागव॰ १।१५।५) (पु॰) २ गन्धर्व्वनगर। ३ कामदेव। ४ कुहक, माया। ५ विस्मयप्रदर्शन।

विस्मापनीय (सं॰ त्रि॰) विस्मय उत्पन्न करनेके योग्य, जिसे देख कर आश्चर्या हो सके।

विस्मापयनीय (सं॰ त्रि॰) विस्मापनीय, विस्मापनके योग्य।

विस्मायन (सं॰ क्ली॰) विस्मापनार्थक।

विस्मारक (सं॰ त्रि॰) विस्मृतिजनक, भुला देनेवाला।

विस्मारण (सं॰ पु॰) विलायन, लीन हो जाना, नष्ट हो जाना

विस्मित (सं॰ त्रि॰) वि-स्मि-क्त। १ विस्मयापन्न, चकित। (पु॰) २ प्राकृत छन्दोभेद। इसका दूसरा नाम मेघविस्फूर्जित भी है।

विस्मिति (सं॰ स्त्री॰) वि स्मि-क्तिन्। विस्मरण, स्मरण, याद न रहना, भूल जाना।

विस्मृत (सं॰ त्रि॰) वि-स्मृ क्त। विस्मरणयुक्त।

विस्मृति (सं॰ स्त्री॰) वि-स्मृ-क्तिन्। विस्मरण, भूल जाना।

विस्मेर (सं॰ त्रि॰) विस्मयकर, आश्चर्याजनक।

विस्यन्द (सं॰ पु॰) विष्यन्द देखो।

विस्र (सं॰ क्ली॰) विस-रक्। १ आमगंध, श्मशान आदिमें मुर्दा जलनेकी गंध। कोई कोई अपक्व मांसकी गंधको भी विस्र कहते हैं। (भरत) २ चाणक्यमूलक, बड़ी मूली। (त्रि॰) २ आमगंधविशिष्ट, मुर्देकी-सी गंध।

विस्रंस (सं॰ पु॰) वि-स्रन्स्-घञ्। १ पतन, गिरना। २ क्षरण, बहना।

विस्रंसन (सं॰ क्ली॰) वि-स्रन्स-ल्युट्। विस्रंस, पतन।

विस्रंसिका (सं॰ स्त्री॰) प्राचीनकालका एक प्रकारका उपकरण जिसमें यज्ञमें आहुति दी जाती थी।

विस्रंसिन् (सं॰ त्रि॰) वि-स्रन्स-शीलार्थे णिनि। १ पतनशील, गिरने लायक। २ क्षरणशील, बहने लायक।

विस्रक (सं॰ त्रि॰) विस्र-स्वार्थे-कन्। विस्र, मुर्देकी-सी गन्ध।

विस्रगन्ध (सं॰ त्रि॰) विस्रस्य गन्ध इव गन्धो यस्य। १ विस्रकी तरह गन्धविशिष्ट, मुर्देके जलनेकी-सी गन्धवाला (पु॰) २ पलाण्डु, प्याज। ३ गोदन्ती, हरताल।

विस्रगन्धा (सं स्त्री॰) विस्रं गंधो यस्याः। हबुषा, हाऊ बेर।

विस्रगन्धि (सं॰ पु॰) विस्रामिव गंधो यस्य। गोदन्त, हरताल।

विस्रता (सं॰ स्त्री॰) विस्रस्य भाव तल् टाप्। विस्रत्व, विस्रका भाव या धर्म।

विस्रब्ध (सं॰ त्रि॰) वि-स्रन्भ क्त। विश्रब्ध, विश्वस्त, निःशङ्क।

विस्रम्भ (सं॰ पु॰) वि-स्रन्भ-घञ्। १ विश्वास, यकीन। २ प्रणय, प्रेम। (रत्नमाला) ३ केलिकलह, केलिके समय स्त्री और पुरुषमें होनेवाला झगड़ा। ४ बध, हत्या।

विस्रम्भिन् (सं॰ त्रि॰) विस्रम्भते विश्वसितीति वि-स्रन्भ-घिणुन् (वौ कषलसकत्थस्रम्भः पा ३।२।१४३) १ विश्वासी। २ प्रणयी।

विस्रव (सं॰ पु॰) वि-स्रु-अप्। क्षरण, गिरना।

विस्रवण (सं॰ क्ली॰) वि स्रु-ल्युट्। १ विस्रव, बहना। २ क्षरण, रसना।

विस्रस् (सं० स्त्री०) वि-स्रन्स्-क्विप्। नष्टकारी, ध्वंसकारी।

विस्रसा (सं० स्त्री०) जरा, बुढ़ापा।

विस्रस्त (सं० त्रि०) वि-स्रन्स क्त। पतित, गिरा हुआ।

विस्रस्य (सं० त्रि०) ग्रन्थिसम्बन्धीय।
(तैत्तिरीयस० ६।२।६।४)

विस्रा (सं० स्त्री०) विस्रं गंधोऽस्त्यस्या इति अच्, तत ष्टाप्। १ हवुषा, हाऊबेर। २ चर्बी।

विस्राव (सं० पु०) अन्नमण्ड, भातका माँड़।

विस्रावण (सं० क्ली०) वि-स्रु-णिच् ल्युट्। १ क्षरण, गिरना। २ निकले हुए फोड़ेका दर्द दूर करने तथा उसे पकने न देनेके लिये प्रक्रमविशेष। (सुश्रुत)

विस्राव्य (सं० त्रि०) वि-स्रु णिच्-यत्। विस्रावणयोग्य। गिराने लायक।

विस्रि (सं० पु०) ऋषिभेद।

विस्रुत (सं० त्रि०) वि-स्रु-क्त। १ विस्मृत, भूला हुआ। २ प्रधावित, दौड़ा हुआ। ३ क्षरित, गिरा हुआ।

विस्रुति (सं० स्त्री०) वि-स्रु-क्तिन्। क्षरण, रसना, गिरना।

विस्रुह् (सं० स्त्री०) १ नदी। (ऋक् ६।७।६) २ औषध, दवा। (ऋक् ५।४४।३)

विस्रोतस् (सं० क्ली०) उच्च संख्याभेद।

विस्वन (सं० पु०) वि-स्वन-अप्। शब्द, ध्वनि।

विस्वर (सं० पु०) १ विकृतस्वर। (त्रि०) २ विकृतस्वरयुक्त।

विहग (सं० पु०) विहायसा गच्छतीति विहायस्-गम-ड। (प्रियवशेति। पा ३।२।३८) इत्यत्र 'डे च विहायसो विहादेशो वक्तव्यः' इति काशिकोक्तेः डप्रत्यये विहायस् शब्दस्य विहादेशः। १ पक्षी, चिड़िया। २ वाण, तीर। ३ सूर्य। ४ चन्द्र। ५ ग्रह।

विहगालय (सं० पु०) विहगस्य आलयः। विहगोंका आलय, घोसला।

विहङ्ग (सं० पु०) विहायसा गच्छतीति विहायस्-गम-खच् (पा ३।२।३८) इत्यत्र 'गमेः सुपोति' खच्, विहायसो विहादेशः, 'खच्च डिद्वा वक्तव्यः' इति डिच्च। १ पक्षी, चिड़िया। २ वाण, तीर। ३ मेघ, बादल। ४ चन्द्रमा। ५ सूर्य। ६ नागविशेष।
(भारत १।५७।११)

विहङ्गक (सं० पु०) विहङ्गः स्वार्थे कन्। पक्षी, चिड़िया।

विहङ्गम (सं० पु०) विहायसो गच्छतीति विहायस्-गम-खच् (पा ३।२।३८) इत्यत्र 'खच् प्रकरणे सुप्युपसंख्यानम्' इति काशिकोक्त्या खच्, विहायसो विहादेशः। १ विहग, पक्षी। २ सूर्य।

विहङ्गमा (सं० स्त्री०) १ पक्षिणी, मादा पक्षी। २ सूर्यकी एक प्रकारकी किरण। ३ ग्यारहवें मनन्वन्तरके देवताओंका एक गण। ४ भारयष्टि, बहंगीमेंकी लकड़ी जिसके दोनों सिरों पर बोझ लटकाया जाता है।

विहङ्गमिका (सं० स्त्री०) भारयष्टि, बहंगी।

विहङ्गराज (सं० पु०) विहङ्गानां राजा राजाह इति टच् समासान्तः। गरुड़।

विहङ्गहन् (सं० पु०) विहङ्ग-हन्-क्विप्। व्याध, बहेलिया।

विहङ्गाराति (सं० पु०) १ व्याध, बहेलिया। विहङ्ग एव अरातिः। २ पक्षीरूप शत्रु, गरुड़ादि।

विहङ्गिका (सं० स्त्री०) भारयष्टि, बहंगी। (अमर)

विहत् (सं० स्त्री०) गर्भोपघातिनी गाभी।
(संक्षिप्तसार उणादिवृत्ति)

विहत (सं० त्रि०) वि-हन-क्त। विनष्ट, व्याहत, विफल, भग्न।

विहति (सं० स्त्री०) वि-हन-क्तिन्। विहनन, विनाश, बरबादी।

विहनन (सं० क्ली०) वि-हन ल्युट्। १ विघ्न, व्याघात। २ भङ्ग। ३ हत्या। ४ हिंसा। ५ तूलपिञ्जल, रूईकी बत्ती।

विहन्तृ (सं० त्रि०) वि-हन-तृच्। विहननकारी, नाश करनेवाला।

विहन्तव्य (सं० त्रि०) विहननयोग्य, नाशके उपयुक्त।

विहर (सं० पु०) वि-हृ-अप्। १ वियोग, विच्छेद। २ विहार।

विहरण (सं० क्ली०) वि-हृ-ल्युट्। १ विहार, क्रीड़ा। २ भ्रमण, घूमना। ३ वियोग, बिछोह। ४ प्रसारण, फैलना। (पा १।३।२०) ५ आहरण, लेना।
(मार्कण्डेयपुराण १६।३७)

विहर्त्तृ (स ० त्रि०) वि-हृ-तृच् । विहरणकारी, विनाशक । (याज्ञ० २।२६)

विहर्ष (स ० त्रि०) विगतो हर्षो यस्य । हर्षविहीन, उदास । (भारत ४।२६।२५)

विहल्ह (स ० पु०) सर्पशाकके पिता, विहंल ।

विहव (स ० पु०) १ यज्ञ । २ युद्ध, लड़ाई ।

विहवीय (सं० त्रि०) यज्ञीय । (कात्यायनश्रौ० २५।१४।१८)

विहव्य (स ० त्रि०) १ विविध कार्यमें आहूत । (शुक्लयजुः ८।४६ महीधर) २ यज्ञीय, यज्ञ सम्बन्धीय । (अथर्व २।६।४) (पु०) ३ आङ्गिरस गोत्रीय ऋङ्मन्त्र द्रष्टा ऋषिभेद । (ऋक् १०।१२८ सूक्त) ४ वर्च्चसके पुत्रभेद । (भारत १३ पर्व)

विहव्या (स ० स्त्री०) १ इष्टका भेद, एक प्रकारकी ईंट । (तैत्तिरीयस० ५।४।११।३) २ यज्ञीय मन्त्रभेद । (तैत्तिरीयस० ३।१।७।३)

विहसित (स ० क्ली०) वि-हस-क्त । मध्यम हास्य, वह हास्य जो न बहुत उष्ण हो, न बहुत मधुर । (अमर)

विहस्त (स ० त्रि०) १ व्याकुल, घबराया हुआ । २ हस्त हीन, बिना हाथका हुआ हो । ३ अति व्यापृत, बहुत दूर तक फैला हुआ । (पु०) ४ पण्डित, विद्वान् । ५ पण्ड, नपुंसक, हिजड़ा ।

विहस्तता (स ० स्त्री०) विहस्तस्य भावो धर्मो वा तल्-टाप् । विहस्तका भाव या धर्म ।

विहस्तित (स ० त्रि०) व्याकुलित, घबराया हुआ ।

विहा (स ० अव्य०) ओ हाक् त्यागे (विषाविहा । उण् ४।३।६) इति निपातनात् आ । स्वर्ग ।

विहापित (स ० क्ली०) वि-हा-णिच्-क्त, पु-आगमश्च । दान ।

विहायस् (स ० पु० क्ली०)) १ आकाश । (अमर) (पु०) २ पक्षी, चिड़िया । (त्रि०) ३ महान्, बड़ा ।

विहायस (स ० क्ली०) १ आकाश । (भारत १।९३।१४) (पु०) २ पक्षी । (अमरटीका भरत) ३ दान ।

विहायसा (स ० स्त्री०) आकाश । (अमरटीका मथुरेश)

विहार (स ० पु०) वि-हृ-घञ् । १ भ्रमण, मन बहलानेके लिये धीरे धीरे चलना, टहलना । २ परिक्रम, घूमना । ३ स्कन्ध, कंधा । ४ लीला । ५ सुगतालय, बौद्धमठभेद । सङ्घाराम देखो । ६ विक्षेप । ७ क्रीड़ास्थान, रतिक्रीड़ा करनेकी जगह । ८ रतिक्रीड़ा, संभोग । ९ विन्दुरेखक पक्षी । १० वैजयन्त । (शब्दमाला)

विहार—लेफटनाण्ट गवर्नरके शासनाधीन एक प्रदेश । यह पहले बङ्गालमें शामिल था । सन् १९१२ ई०में बङ्गविच्छेद के समय इसने बङ्गालसे पृथक हो कर स्वतन्त्र होनेका सौभाग्य प्राप्त किया । उस समयसे इस प्रदेशमें उड़ीसा भी जोड़ दिया गया । इससे इस संयुक्तप्रदेशका नाम विहार और उड़ीसा प्रदेश हुआ है । यह किसी अन्य प्रदेशसे आयतनमें कम नहीं । इसकी जनसंख्या ३४७५०००० और भू-परिमाण ८३००० वर्गमील है । विहार बौद्धधर्मका प्रसिद्ध केन्द्र कहा जाता है । यह बौद्धधर्मके लोगोंको पवित्र विहारभूमि है । इस प्रदेशमें बौद्धोंके असंख्य विहारोंको देख मालूम होता है, कि इन विहारोंके कारण ही इसका नाम विहार पड़ा है । उड़ीसाके सिवा केवल विहारमें पहले दो विभाग थे - पटना और भागलपुर ; किन्तु इस समय इसमें एक विभाग और भी मिला दिया गया है, उसका नाम छोटानागपुर है । पटना विभागमें गया, शाहावाद (आरा), मुजफ्फरपुर, दरभङ्गा, सारन, चम्पारन, पटना आदि जिले हैं । भागलपुर विभागमें भागलपुर, मुङ्गेर, पूर्णिया, सन्थाल परगना और दुमका जिले हैं । नये छोटानागपुर विभागमें रांची, हज़ारीवाग, पलामू, सिंहभूम, मानभूम आदि जिले हैं । पटना इस प्रदेशकी राजधानी है । यहांकी जनसंख्या १३६००० हैं । व्यवसाय वाणिज्यकी सुविधाके कारण यह स्थान विशेष समृद्धिशाली हो गया है । रांची शहरमें गवर्नरका ग्रीष्मावास और दानापुरमें सेनानिवास हैं । गया हिन्दुओं तथा बौद्धोंका एक प्रधान तीर्थक्षेत्र है ।

प्राकृतिक अवस्था—विहारकी भूमि साधारणतः समतल है । किन्तु मुंगेर, राजमहल अञ्चलमें और सन्थाल परगना तथा भागलपुरमें पहाड़ हैं । गयाका मोहर पहाड़ १६२० फीट ऊंचा है । सन्थाल-परगनामें जितने पहाड़ हैं, उनमें जो सबसे बड़ा है, वह १६०० फीट ऊंचा है । हज़ारीवाग जिलेका पारशनाथ पहाड़

जैनोंका एक प्रधान तीर्थ है। इसकी उच्चता ४५०० फीट है। बुद्ध गयामें दो पहाड़ है—रामशिला और प्रेतशिला। यह गयासे तीन कोस पर अवस्थित है। यहाँ हिन्दूगण पितरोंको पिण्डदान देनेके लिये आते हैं। इन दोनो पहाड़ों पर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ काटी गई हैं। इन दोनोंके शिखरों पर एक एक मन्दिर है। रामशिला पर भगवान् विष्णुका मन्दिर है। इस पर चढ़ कर देखनेसे रेलके डब्बे मनुष्यों द्वारा ढोनेवाली सवारीसे भी छोटे दिखाई देते हैं। इस पहाड़से एक झरना एक तालाबमें गिरता है। यात्री इसी तालाबमें स्नान करते हैं। भागलपुरमें मन्दार नामक एक बहुत बड़ा पहाड़ है। मन्दार देखो। इसके शिखर पर एक मन्दिर बिखरा पड़ा है। मूर्त्तिकी जगह चरणपादुका रखी हुई है। इस पहाड़ पर छोटे बड़े और घने वृक्ष हैं। इसमें बन्दर और अन्यान्य भेड़िया आदि हिंस्र जन्तु भी देखे जाते है। इसकी गुफामें कितने हो साधु तपस्यानिरत दृष्टिगोचर हैं। जो नदनदियां विहार प्रदेशको चीरती हुई प्रवाहित हो रही हैं, उनमें प्रधान गङ्गा ही है। गङ्गानदीने इस प्रदेशको दो भागोंमें विभक्त किया है। इसके उत्तरभागमें सारन, चम्पारन, मुजफ्फरपुर, दरभंगा, पूर्णिया आदि जिले तथा दक्षिणभागमें शाहाबाद, पटना, गया और सन्थाल परगना आदि जिले वर्त्तमान हैं। इसके सिवा घाघरा, गण्डकी, कोशी, महानदी, शोन आदि नद नदियां इस प्रदेशसे होती हुई प्रवाहित हो रही हैं। इस प्रदेशके विशिष्ट उत्पन्न द्रव्यादिमें अफीम और नील अधिक होती थी ; किन्तु अब इधर कुछ वर्षों से इनकी खेती कम हो गई है। यहां चावल, गेहूं आदि सभी तरहके अन्न और गन्ना पैदा होता है। खनिज पदार्थोंके भीतर कोयला, अबरक और तांबा हो प्रधान है।

अधिवासी—यहां हिन्दुओंमें ब्राह्मण, राजपूत, बाभन (निम्न श्रेणीके ब्राह्मण), कायस्थ, बनिया, मोदक, कुम्हार, तांती (ततवा), तेली, सुनार, लोहार, नाई, कांदू, अहीर, धानुक, कमकर, कुर्मी, कुयाड़ी, सुनड़ी, मल्लाह, किरात, पासी, चमार, दुसाध आदि जातियोंका आवास है। इसके सिवा भूमिहार या भूंइहार, कोच, खरवार, गोंड़, सन्थाल, कोल आदि आदिम असभ्य जातिके लोगोंका वास भी यहां दिखाई देता है। मुसलमानोंमें सिया, सुन्नी और ओहाटी आदि रहते हैं। ईसाई, सिक्ख, बौद्ध, जैन, ब्राह्म, यहूदी और पारसी आदि जातियां भी वास करती हैं। विहारमें हिन्दुओंकी हो संख्या अधिक है। यहांके अधिवासियोंमें हिन्दू सैकड़े पीछे ८४ और मुसलमान १६ हैं।

इतिहास—प्राचीन कालमें मगधके राजाओंके अधिकृत विशाल भूखण्ड विहार कहलाता था और वे राजे समग्र भारतवर्षके अधिपति थे। किसी समयमें विहार भारतको समृद्धिशाली राजधानीके रूपमें विद्यमान था। ईसासे सात सौ वर्ष पहलेसे भी विहारकी समृद्धिका विषय इतिहासमें दिखाई देता है। सम्भवतः इससे भी बहुत पहलेसे विहार समृद्धशाली जनपद कहा जाता था। ईसाके पांच सौ वर्ष बाद भी विहारकी सौभाग्यश्री वैसी ही वर्त्तमान थी। मगधके सम्राटोंने शिल्प और शिल्पियोंकी श्रीवृद्धि की थी। उनके समयमें विहारमें भी नाना प्रकारके शिल्पोंकी उन्नति हुई थी। यहां शिक्षाके लिये विश्वविद्यालय भी प्रतिष्ठित हुआ था। उक्त राजाओंने भारतवर्षमें सर्वत्र बड़े बड़े राजपथ तैयार कराये थे। उन्हींके समय भारतीय बाणिज्य जहाज सागरकी तरङ्गमालाओंको भेद कर जाबा और बाली द्वीप आदि स्थानोंमें आते जाते तथा भारतवर्षके शिल्पबाणिज्यका विस्तार करते थे। उनके समयमें ही हिन्दुओंने उन उन स्थानोंमें अपने उपनिवेश कायम किये थे। सेलुकस निकेतरके समय विहारकी समृद्धिकी सर्वापेक्षा अधिक वृद्धि हुई थी। अशोक सिकन्दरके आक्रमणके बाद ही विहारके सम्राट् पद पर अधिष्ठित हुए थे। सेलुकसने मेगास्थनिज नामक एक युनानी दूतको पाटलिपुत्र (पटना) नगरमें अपने पद पर प्रतिष्ठित कर भेजा था। ईसाके छः सौ वर्ष पहले भी विहार बौद्धधर्मावलम्बियोंका निकेतन कह कर भारतवर्षमें प्रसिद्ध था। इसी विहारसे लङ्का, चीन, तातार, तिब्बतमें बौद्धधर्म-प्रचारक भेजे जाते थे। आज भी विहार बौद्धोंकी विहारभूमिके नामसे विख्यात है। विहारमें प्राचीन बौद्धमूर्त्ति, बौद्धमन्दिर आदि बहुतेरी बौद्धकीर्त्तियां आज भी विराजमान देखी जाती हैं। गया और बुद्धगयामें विशेष विवरण

दिया गया है। १३वीं शताब्दीके प्रारम्भमें विहार मुसलमानोंके हाथमें आया। उसी समयसे यह बङ्गालके नवाबके अधीन एक सूबेके रूपमें परिणत हुआ। सन १७६५ ई०में इष्ट इण्डिया कम्पनीने दीवानीके सम्बन्धमें विहारका शासनाधिकार प्राप्त किया। इसी समयसे विहार बङ्गदेशमें जोड़ दिया गया। पीछे १९१२ ई०में यह उड़ीसाके साथ मिल कर एक स्वतंत्र प्रदेशरूपमें गिना जाने लगा।

विहारके अन्तर्गत राजगृह, गिरिव्रज, पटना, गया आदि स्थानोंमें हिन्दू और बौद्धोंकी प्राचीन कीर्त्तियोंके निदर्शन पाये जाते हैं। ये सब स्थान ऐतिहासिक तत्त्वोंद्घाटनका एक अमूल्य भाण्डार हैं। प्रत्नतत्त्वविदों ने विशेष उत्साह, अध्यवसायके साथ उन सब ध्वस्त कीर्त्तियोंको खुदवा कर प्राचीन मगध, नालन्द (बड़गांव) और राजगृहके प्राचीनत्वका साक्ष्य प्रदान किया है।

राजगृह, गिरिव्रज, गया आदि शब्द देखो।

२ उक्त प्रदेशका एक उपविभाग। यह पटना जिलेके अन्तर्गत अक्षा० १४° ५८′ से १५° १६′ उ० तथा देशा० ८५° १२′ से ८५° ४७′ पू०के मध्य अवस्थित है। विहार, हिसुआ, आतासराय और शिलाओ थाना ले कर इस उपविभागका गठन हुआ है। इसका भूपरिमाण ७६३ वर्गमील है।

३ विहार महकमा या विहार प्रदेशके विहार उपविभागका विचार सदर। यह महकमा पटने जिलेमें अवस्थित है। यह नगर पञ्चाना नदीके किनारे बसा हुआ है और विहारप्रदेशमें वाणिज्यसमृद्धिके लिये विख्यात है। किसी समय पटना, गया, हजारीबाग और मुङ्गेरके वाणिज्य द्रव्यादि इसी स्थानसे हो कर आता जाता था। आज भी यहां वाणिज्यकी समृद्धि देखी जाती है। वस्त्र, चावल, अन्न, रूई और तम्बाकू आदि ही यहांकी उपज और वाणिज्य द्रव्य है। रेशमी और सूती कपड़े यहां तैयार होते हैं। हिन्दू और मुसलमान यात्रियोंके लिये यहां एक सराय है। इसकी इमारत ऐसी बड़ी है, कि इसका जोड़ा कहीं दिखाई नहीं देता। नदीके दाहिने किनारे प्रतिष्ठित शाह मकदुमका समाधिमन्दिर भी एक दर्शनीय वस्तु हैं। यहां एक मेला लगता हैं जिसमें २५।३० हजार लोगोंकी भीड़ होती है। यहां मुसलमानोंके मकबरे मसजिद आदि बहुत देखे जाते हैं। ये प्रायः एक हजार बीघेमें फैले हुए हैं। सम्भवतः यही स्थान ईसाके प्रारम्भमें विहार सम्राटोंकी राजधानी था।

विहारक (सं० त्रि०) विहारकारी, विहार करनेवाला।

विहारक्रीड़ामृग (सं० पु०) विहारके लिये क्रीड़ामृग।

(भागवत ७।६।१७

विहारण (सं० क्ली०) विहार, क्रीड़ा।

विहारदासी (सं० स्त्री०) क्रीड़ादासी।

(मालतीमा० ८।४)

विहारदेश—विहार देखो।

विहारभद्र (सं० पु०) व्यक्तिभेद। (दशकुमारच० १८६।७)

विहारभूमि (सं० स्त्री०) विहारस्य भूमिः। विहार स्थान, क्रीड़ास्थान।

विहारयात्रा (सं० स्त्री०) भ्रमणके उद्देशसे दल बांध कर निकलना।

विहारवत् (सं० त्रि०) विहार-अस्त्यर्थे मतुप्-मस्य व। १ विहारविशिष्ट, क्रीड़ायुक्त। विहार इव। २ विहार की तरह।

विहारवारि (सं० क्ली०) क्रीड़ाका जलाशय।

(रघु १३।३८)

विहारशयन (सं० क्ली०) विहारार्थं शयन, विहारशय्या।

विहारशैल (सं० पु०) क्रीड़ा पर्वत। (रघु १६।२६)

विहारस्थान (सं० क्ली०) विहारस्य स्थानं। क्रीड़ाभूमि। (भागवत ३।२३।२१)

विहार स्वामी (सं० पु०) वह जिसके ऊपर मठ वा विहारके धर्म-कार्यकी परिचालनाका भार सौंपा गया हो। इनके ऊपर जो मठपरिदर्शक रहते हैं वे 'महाविहारस्वामी' कहलाते हैं।

विहाराजिर (सं० क्ली०) विहारस्य अजिरः। विहार स्थान। (भागवत ५।२४।५)

विहारावसथ (सं० पु०) क्रीड़ागृह। (भारत आदिपर्व)

विहारिकृष्णदासमिश्र—पारसीप्रकाश नामक ग्रन्थके रचयिता।

विहारिन् (सं० त्रि०) विहर्त्तुं शीलमस्येति वि-हृ-

णिनि। १ परिक्रमी, परिभ्रमण करनेवाला। २ विहारक, विहार करनेवाला।

विहारी (सं० पु०) १ विहार देशके अधिवासी। २ श्रीकृष्णका एक नाम। ३ विहारिन् देखो।

विहारीभाषा—विहार देशमें प्रचलित भाषा। यह नागरी, मैथिली और कायथी भाषासे स्वतन्त्र है। किन्तु यदि अच्छी तरह आलोचना की जाये, तो उनमें वहुत कम प्रभेद मालूम पड़ेगा। नेपालके तराई प्रदेशस्थ कोशी, गण्डक, नदीतटसे समस्त तिरहुत, भागलपुर, मुङ्गेर, मुजफ्फरपुर, दरभङ्गा, पटना, गया, शाहाबाद, छपरा, चम्पारन आदि जिलोंमें इस भाषाका प्रचार है। पाश्चात्य पण्डित ग्रियारसन साहबने विहारी भाषाकी एक विस्तृत शब्दतालिका संग्रह कर गवेषणका यथेष्ट परिचय दिया है। विहारदेशवासी प्राचीन कवियोंके ग्रन्थोंमें भी अनेक विहारी शब्दोंका प्रयोग देखा जाता है। यहां तक कि, विहारी भाषामें पदरचनाका भी अभाव नहीं है। विशेष बिवरण नागरी, मैथिली, कायथी और शब्दतत्त्वमें देखो।

विहारी मल्ल (राजा)—अम्बर या जयपुरके कच्छवाहवंशीय एक राजा। मुसलमानी इतिहासमें ये 'भारमल' और 'पूरणमल' नामसे भी प्रसिद्ध हैं। १५२७ ई०में इन्होंने मुगल-सम्राट् बाबरशाहकी अधीनता स्वीकार की। सम्राट् अकबरशाहके साथ भी इनकी गहरी मित्रता थी। इस मित्रताको दृढ़ रखनेके लिये राजाने सम्राटके हाथ अपनी कन्या समर्पण की। उसी राजपूत रमणीके गर्भसे युवराज सलीम (जहांगीर)का जन्म हुआ। राजा विहारीमल्ल और उनके पुत्र भगवान् दास वादशाहके सेनाविभागमें ऊंच सेनापतिके पद पर नियुक्त थे। भगवान् दास देखो।

विहारीलाल—सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि। आप सुललित विविध पदोंकी रचना कर भारतवर्षमें यशस्वी हो गये हैं। इनकी रचनाको देख कर पाश्चात्य पण्डित गिल्क्राइटने इन्हें 'The Thomson of the Hindus' आख्यासे सम्मानित किया है। ये सोलहवीं सदीमें जयपुरराज जयशाके अधीन प्रतिपालित हुए। इनकी कविता पर प्रसन्न हो कर प्रतिपालक राजाने इन्हें आजीवन मासिक वृत्ति और "सतसई" नामक ग्रन्थके लिये लाख रुपयेका पारितोषिक दिया था। विशेष विवरण 'विहारीलाल' शब्दमें देखो।

विह्रास (सं० पु०) विगतः ह्रासो यस्य। हास्यरहित।

विहिंसक (सं० त्रि०) वि-हिन्स-ण्वुल्। विशेषरूपसे हिंसाकारी, नाशकारी, नाशक। (भागवत ११।१०.२७)

विहिंसता (सं० स्त्री०) विहिंसकस्य भावो धर्मो वा तल्-टाप्। विहिंसकका भाव या धर्म, अनिष्टचिन्ता। (भारत ३।१२।३६)

विहिंसन (सं० क्ली०) वि-हिन्स-ल्युट्। विहिंसा, हिंसा, अनिष्ट चेष्टा।

विहिंसा (सं० स्त्री०) वि-हिन्स-टाप्। हिंसा।

विहिंसिन् (सं० त्रि०) हिंसाकारी।

विहिंस्र (सं० त्रि०) वि-हिन्स-र। हिंसायुक्त, हिंसा विशिष्ट। (भागवत ३।२२।१६)

विहित (सं० त्रि०) वि धा क्त, 'धाञो हि' इति हि आदेशः। १ विधेय, शास्त्रमें जिसका विधान किया गया हो। २ अनुष्ठित, कृत, किया हुआ। ३ दत्त, दिया हुआ।

विहितसेन (सं० पु०) राजपुत्रभेद। (कथासरित्सा० १७।३४)

विहिति (सं० स्त्री०) वि-धा-क्तिन्। विधान, कोई काम करनेकी आज्ञा।

विहित्रिम (सं० त्रि०) वि-धा त्रिमक् धाञो हि। विधान द्वारा निर्वृत कर्म, जो काम विधानानुसार किया गया हो। (भट्टि १।१३)

विहीन (सं० त्रि०) वि-हा-क्त। १ विशेषरूपसे हीन, रहित, बिना। २ त्यक्त, छोड़ा हुआ।

विहीनता (सं० स्त्री०) विहीनस्य भावो धर्मो वा तल्-टाप्। विहीनका भाव या धर्म।

विहीनर (सं० पु०) ऋषिभेद। पा ७।३।१)

विहीनित (सं० त्रि०) वियुक्त।

विहुण्डन (सं० पु०) शिवानुचरभेद, भगवान् शङ्करके एक अनुचरका नाम।

विहुत्मत् (सं० त्रि०) विशेषरूपसे होमविशिष्ट वा आह्वानयुक्त। (ऋक् १।१३४।६)

विहृत (सं० क्ली०) वि-हृ-क्त। १ साहित्यमें स्त्रियोंके दश प्रकारके स्वाभाविक अलंकारोंमेंसे एक प्रकारका अलंकार। २ स्त्रियोंका विहारविशेष।

विहृति (सं० स्त्री०) वि-हृ-क्तिन्। १ विशेषरूपसे हरण या बलात्कार, जबरदस्ती या बलपूर्वक कुछ ले लेना या कोई काम करना। २ विहार, क्रीड़ा। ३ उद्घाटन, खोलना। ४ विस्तृति, फैलाव।

विहृदय (सं० क्ली०) १ हृदयहीन, साहसशून्य, कायर। (अथर्व ५।२१।१)

विहेठ (सं० पु०) वि-हेठ-अप्। विहेठन, हिंसा।

विहेठक (सं० त्रि०) वि-हेठ ण्वुल्। १ हिंसक, हिंसा करनेवाला। २ भेदक, दलन करनेवाला।

विहेठन (सं० क्ली०) वि-हेठ-ल्युट्। १ हिंसा। २ मर्दन। ३ विडम्बन। ४ यातना, दुःख।

विहेठा (सं० स्त्री०) १ क्षति, नुकसान। २ दोष। ३ मानहानि।

विह्वदिन् (सं० त्रि०) अप्रतिहत स्रोत।

विहृत् (सं० स्त्री०) कृमिभेद, एक प्रकारका कीड़ा। (शुक्लयजुः २८।७)

विह्वल (सं० त्रि०) वि ह्वल-अच्। भयादि द्वारा अभिभूत, भय या इसी प्रकारके और किसी मनोवेगके कारण जिसका चित्त ठिकाने न हो, घबराया हुआ। पर्याय—विक्लव, विवश, अचेतन, द्रवीभूत।

विह्वलता (सं० स्त्री०) व्याकुलता, घबराहट।

विह्वली (सं० त्रि०) जो बहुत घबरा गया हो।

वी—१ कान्ति। २ गति। ३ व्याप्ति। ४ क्षेप। ५ प्रजनना।

वी (सं० पु०) वयनावति वी-गतौ न्यङ्क्वादित्वात् भावे क्विप्, अभिधानात् पुंस्त्वं। गमन; चलना। (एकाक्षरकोष)

वीक (सं० पु०) अजतीति अज-कन् (अजि युधूनीभ्यो दीर्घश्च। उण् ३।४७) अजेर्वीभावः। १ वायु। २ पक्षी। ३ मन। (संक्षिप्तसार उणादि)

वीकाश (सं० पु०) विकाशनमिति वि-कश-घञ्, (इकः काशे। पा ६।३।१२३) इति वेरुपसर्गस्य दीर्घः। १ निभृत, एकान्त स्थान। २ प्रकाश, रोशनी। (अमर)

वीक्ष (सं० पु०स्त्री०) वि-ईक्ष-अच्। दृष्टि।

वीक्षण (सं० क्ली०) वि ईक्ष-ल्युट्। विशेषरूपसे ईक्षण-दर्शन, निरीक्षण, देखनेकी क्रिया।

वीक्षणीय (सं० त्रि०) वि ईक्ष अनीयर्। वीक्षणयोग्य, देखने लायक।

वीक्षा (सं० स्त्री०) वि-ईक्ष-अङ् टाप्। दर्शन, वीक्षण, देखनेकी क्रिया।

वीक्षापन्न (सं० त्रि०) वीक्षामापन्नः। विस्मयापन्न, चकित।

वीक्षित (सं० त्रि०) वि-ईक्ष-क्त। विशेषरूपसे ईक्षित, अच्छी तरह देखा हुआ।

वीक्षितव्य (सं० त्रि०) वि-ईक्ष-तव्य। दर्शनीय, जो देखने योग्य हो।

वीक्षितृ (सं० त्रि०) वि ईक्ष-तृच्। वीक्षणकारी, देखनेवाला।

वीक्ष्य (सं० क्ली) वीक्ष्यते इति वि-ईक्ष-ण्यत्। १ विस्मय, आश्चर्य। २ दृश्य, वह जो कुछ देखा जाय। ३ लासक, वह जो नाचता हो। ४ घोटक, घोड़ा। (त्रि०) ५ दर्शनीय, देखने योग्य।

वीखा (सं० स्त्री०) वीङ्खा देखो।

वीङ्क (सं० क्ली०) सामभेद। (लाट्या० ३।४।११)

वीङ्खा (सं० स्त्री०) वीङ्खनमिति वि-इङ्ख। गुरोश्च हलः इति अ-टाप्। १ शूकशिम्बी, केवांच। २ गतिभेद, एक प्रकारकी चाल। ३ नर्त्तन, नाच। ४ अश्वगति-भेद, घोड़ेकी एक चाल। ५ सन्धि, मेल। (शब्दरत्ना०)

वीचि (सं० पु० स्त्री०) वहति जलं तटे यद्वा यतीति वे-ईचि। (वेञा डिच्च। उण् ४।७२) १ तरङ्ग, लहर। २ अवकाश, बीचकी खाली जगह। ३ सुख। (मेदिनी) ४ दीप्ति, चमक। ५ अल्प, थोड़ा।

वीचिमाली (सं० पु०) समुद्र।

वीची (सं० स्त्री०) वीचि कृदिकारादिति ङीष्। १ वीचि, लहर।

वीचीकाक (सं० पु०) जलकाक, जलकौआ। मार्कण्डेय-पुराणमें लिखा है, कि जो लवण चुराता है वह वीचीकाक अर्थात् जलकाक होता है।

वीचीतरङ्ग (सं० पु०) न्यायभेद, वीचीतरङ्गन्याय। न्याय शब्द देखो।

वीज (सं॰ क्ली॰) विशेषेण कार्यरूपेण जायते अपत्यतया च जायते इति, वि जन 'उपसर्गे च संज्ञायां इति ड अन्येषामपीति, उपसर्गस्य दीर्घः, यद्वा विशेषेण ईजते कुक्षिं गच्छति शरीरं वा ईज-गतिकुत्सनयोः पचाद्यच् वा वीजते गच्छति गर्भाशयमिति वीज-अच्। १ मूल कारण। (गीता ७।१०) २ शुक्र, वीर्य।

मनुष्यशरीरके शक्तिरूप इस शुक्र या तत्प्रवर्त्तित ओजो धातु ही वीर्य नामसे पुकारा जाता है। इसी वीर्यसे जीवोत्पत्तिक्रिया परिचालित हुआ करती है। विना वीजनिषेकके सन्तानोत्पत्ति नहीं होती।

(शुक्र शब्दमें विस्तृत विवरण देखो।

३ तेज। ४ शस्यका वीज, वीआ। ५ अंकुर। ६ शस्यादिका फल। ७ आधार। ८ निधि। ९ तत्त्व। १० मूल। ११ तत्त्वावधान। (मेदिनी) १२ मज्जा। (राजनि॰) १३ मन्त्र। (तन्त्रसार)

देव-पूजाके निमित्त विहित मन्त्रादिके मूलतत्त्वरूप जो संक्षिप्त मन्त्रवचन हैं, वही उस देवताका वीज कहा जाता है। प्रत्येक देवताका हो एक एक वीजमन्त्र है। उसी वीजमन्त्रसे उनकी पूजा होती है। तन्त्रोक्त दीक्षाग्रहणके समय जिस कुलके जो देवता हैं, उसी देवताका वीज दीक्षाग्रहणकारीके नाम राशि अ-क-थ ह आदि चक्रानुसार स्थिर कर देना होता है। दीक्षित व्यक्ति उसी वीजमन्त्रके साथ देवताकी आराधना कर सिद्धि लाभ कर सकते हैं। पुरश्चरण आदिमें भी इस मन्त्रका जप करना होता है। तन्त्रसारमें भिन्न भिन्न देवताका वीज इस तरह लिखा है—

भुवनेश्वरीका वीज—ह्रीं। अन्नपूर्णाका वीज —ह्रीं नमो भगवति माहेश्वरि अन्नपूर्णे स्वाहा। त्रिपुटादेवीका वीज—श्रीं ह्रीं क्लीं। त्वरिता वीज...ॐ ह्रीं हुं खे च छे क्ष स्त्री हूं क्षे ह्रीं फट्। नित्या वीज ऐं क्लीं नित्य क्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा। वज्रप्रस्तारिणी—ऐं ह्रीं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा। दुर्गावीज —ॐ ह्रीं दुं दुर्गायै नमः। महिषमर्द्दिनीवीज—ॐ महिषमर्द्दिनी स्वाहा। जयदुर्गावीज—ॐ दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा। शूलिनीवीज—ज्वल ज्वल शूलिनी दुष्टग्रह हुं फट् स्वाहा। वागीश्वरीवीज—वद वद वाग्वादिनी स्वाहा। पारिजातसरस्वती वीज ॐ ह्रीं ह्सौं ॐ ह्रीं सरस्वत्यै नमः। गणेशवीज— गं। हेरम्बवीज—ओं गूं नमः। हरिद्रा गणेशवीज—ग्लं। लक्ष्मीवीज श्रीं। महालक्ष्मीवीज—ओं ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं हसौं जगत्प्रसूत्यै नमः। सूर्यवीज ओं घृणिसूर्य्य आदित्य। श्रीरामवीज-रां रामायै नमः। जानकीवल्लभाय हुं स्वाहा। विष्णुवीज—ओं नमो नारायणाय। श्रीकृष्णवीज—गोपीजनवल्लभाय स्वाहा। वासुदेववीज—ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। वालगोपालवीज—ओं क्लीं कृष्णाय। लक्ष्मी वासुदेव ॐ ह्रीं ह्रीं श्रीं श्रीं लक्ष्मी वासुदेवाय नमः। दधिवामनवीज—ॐ नमो विष्णवे सुरपतये महाबलाय स्वाहा। हयग्रीववीज—

ॐ उद्गिरत प्रणवोद्गीथ सर्ववागीश्वरेश्वर।
"सर्वदेवभयाचिन्त्य सर्वं बोधय बोधय॥

नृसिंहवीज—उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यऽम॥"

नरहरिवीज—आं ह्रीं क्ष्रौं हुं फट्। हरिहरवीज—ओं ह्रीं ह्रौं शङ्करनारायणाय नमः ह्रौं ह्रीं ऊं। वराहवीज—ऊं नमो भगवते वराहरूपाय भूर्भुवः पतये भूपतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा। शिववीज—ह्रौं। मृत्युञ्जय—ओं जूं सः। दक्षिणा मूर्त्ति—ओं नमो भगवते दक्षिणामूर्त्तये मह्यं मेधां प्रयच्छ स्वाहा। चिन्तामणि—र क्ष म र य ऊं भ्रं। नीलकण्ठ—ओं न्रीं ठः नमः शिवाय। चण्ड—रूद्र फट्। क्षेत्रपाल—ओं क्ष्रौं क्षेत्रपालाय नमः। बटुकभैरव—ओं ह्रीं बटुकाय आपदुद्धरणाय कुरु कुरु बटुकाय ह्रीं। त्रिपुरा—हसरैं। हसकलरीं हसरौः। सम्पत्प्रदभैरवी—हसरैं। हसकलरीं हसरौं। सकलैशभैरवी—सहरैं। सह कलरीं। सहरौं। सकलसिद्धिदाभैरवी सहैं। सहकलरी सहौं। चैतन्यभैरवी—सहैं। सकल ह्रीं। सहरौ। कामेश्वरीभैरवी—सहैं। सकल ह्रां। नित्यक्लिन्ने मदद्रवे सहरौः। षट्कुटा भैरवी—डरल कसहीं। नित्यभैरवी-हस कलरडौं। रुद्रभैरवी—हसखफ्रैं। हसकलरीं। हसौः भुवनेश्वरी भैरवी हसैं। हसकल ह्रीं। हसौः। सकलेश्वरी—सहैं। स ल ह्रीं। सहौः। त्रिपुरावाला—ऐं क्लीं सौः नवकुटा बाला—ऐं क्लीं सौः हसैं। हसकलरीं। हसौः।

हसरैं हसकलरी हसरौः। अन्नपूर्णा भैरवी—ओं ह्रीं श्रीं क्लीं नमो भगवति माहेश्वरी अन्नपूर्णे स्वाहा। श्रीविद्या—कएईलह्रीं। सकल हल ह्रीं। सकल ह्रीं छिन्नमस्ता—श्री क्लीं हूं ऐं व्रज वैरोचनीये हूं हूं फट् स्वाहा।

श्यामा—क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं दक्षिणेकालिके क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं स्वाहा। गुह्यकालिका—क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं गुह्यकालिके क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं स्वाहा। भद्रकाली—क्लीं क्लीं क्लीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं स्वाहा। महाकाली—क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं महाकालि क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं स्वाहा। श्मशानकाली—क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं स्वाहा। तारा ह्रीं स्त्रीं हूं फट्। चण्डोग्रशूलपाणि—ओं ह्रीं हूं शिवाय फट्। मातङ्गिनी—ओं ह्रीं क्लीं हूं मातङ्गिनी फट् स्वाहा। उच्छिष्टचाण्डालिनी—सुमुखी देवी महापिशाचिनी ह्रीं ठः ठः ठः। धूमावती—धूं धूं स्वाहा। भद्रकाली—ह्रौं कालि महाकालि किलि किलि फट् स्वाहा। उच्छिष्टगणेश—ओं हस्ति पिशाच शिखे स्वाहा। धनदा—धं ह्रीं श्रीं देवि रतिप्रिये स्वाहा। श्मशानकालिका—ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं। कालिके—ऐं ह्रीं स्त्रीं क्लीं। वगला—ओं ह्लीं वगलामुखि सर्वदुष्टानां वाचं मुखं स्तम्भय जिह्वां कीलय कीलय बुद्धिं नाशय ह्लीं ओं स्वाहा। कर्णपिशाची—ओं कर्णपिशाचि वदातीतानागत शब्दं ह्रीं स्वाहा। मञ्जुघोष—क्रीं ह्रीं श्रीं। तारिणी—क्रीं क्लीं कृष्णदेवि ह्रीं क्लीं ऐं। सरस्वती—ऐं। कात्यायनी—ऐं ह्रीं श्रीं चौं चण्डिकायै नमः। दुर्गा—दूं। विशालाक्षी—ओं ह्रीं विशालाक्षी नमः। गौरी—ह्रीं गौरी रुद्रदयिते योगेश्वरि हूं फट् स्वाहा। ब्रह्मश्री—ह्री नमो ब्रह्मश्री राजिते राजपूजिते जये विजये गौरि गान्धरि त्रिभुवनशङ्करि सर्वलोकवशङ्करि सर्वस्त्रीपुरुषवशङ्करि सुयुद्धदुर्घोररावे ह्रीं स्वाहा। इन्द्र—इं इन्द्राय नमः। गरुड़ क्षिप ओं स्वाहा। विषहराग्नि—क्षः क्षं। हनुमान—हं हनुमते रुद्रात्मकाय हूं फट्। वीरसाधन—हुं पवननन्दनाय स्वाहा। श्मशानभैरवी—श्मशानभैरवि नररुधिरास्थिवसाभक्षणि सिद्धिं मे देहि मम मनोरथान् पूरय हुं फट् स्वाहा। ज्वालामालिका—ओं नमो भगवति ज्वालामालिनी गृध्रगणपरिवृते हुं फट् स्वाहा। महाकाली—ओं फ्रैं फ्रैं क्रों क्रों पशून्, गृहाण हुं फट् स्वाहा। (तन्त्रसार)

इन सब वीजमन्त्रोंमें उक्त देवताओंकी पूजा करना होता है। पूजा-प्रणाली तन्त्रसारमें विशेषरूपसे वर्णित है। तत्तत् देवनाम शब्दोंमें विशेष विवरण देखो।

वीजाभिधानतन्त्रमें वीजके ये सब नाम निर्दिष्ट हैं, जैसे—माया, लज्जा, परा, संवित्, त्रिगुणा, भुवनेश्वरी, हल्लेखा, शम्भू वनिता, शक्तिदेवी, ईश्वरी, शिवा, महामाया, पार्वती, संस्थानकृतरूपिणी, परमेश्वरी, भुवना, धात्री, जीवनमध्यगा इत्यादि।

तन्त्रसारमें लिखे वीजमन्त्रादिकी भी साङ्केतिक संज्ञायें वर्णित हैं। यथा—श्रीं=कूर्चवीज, पुं=मायावीज, ह्रीं=कामवीज, क्लीं=वधूवीज, स्त्रीं=वाग्वीज, ठिं=विम्ववीज। इस तरह विभिन्न वायुवीज, इन्द्रवीज, शिववीज, शक्तिवीज, रमावीज, रतिवीज आदिका भी उल्लेख देखा जाता है। ये सब वीज मूलतत्त्वके संक्षेपाकार हैं। फिर भी, प्रत्येक वीजसे एक एक स्वतन्त्र अर्थ संग्रह भी होता है। सब वीजोंका अर्थ बहुत गुप्त है। इसलिये तान्त्रिक आचार्योंने साधारणके लिये वे सब विशदरूपसे व्यक्त नहीं किये हैं।

दीक्षापद्धतिके नियमक्रमसे साधक सामान्यार्घ्य स्थापनादि आसनोपवेशन तक यावतीय पूजाकर्म समापन कर मूलमंत्र उच्चारण कर देवताको नमस्कार करें। इसके बाद 'फट्' इस मन्त्रसे गन्धपुष्प द्वारा करशोधन और ऊर्द्ध्व तालत्रय ध्वनित कर छोटिकामुद्रासे दशों दिशाओंको बांध कर 'रं' मन्त्रसे जलधारा द्वारा वेष्टन कर अपनी देहको वह्निप्रकारकी चिन्ता कर भूतशुद्धि करें। भूतशुद्धिके समय षट्चक्रभेद ही प्रधान अङ्ग है। पहले अपने अङ्कमें दोनों हाथ उत्तानभावसे स्थापन कर 'सोऽहं' इस मन्त्रसे हृदयमध्यस्थित प्रदीप कलिकाकृति जीवात्माको मूलाधारस्थित कुलकुण्डलिनीके साथ युक्त कर सुषुम्ना पथमें मूलाधार, अधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाख्य षट्चक्रभेद कर शिरःस्थित अधोमुख सहस्रदल कमलके कर्णिकान्तर्गत परम शिवमें संयोगित कर उसमें पृथिव्यादि चतुर्विंशति तत्त्वविहीन हुआ है, मन ही मन इस प्रकार चिन्ता कर "यं" इस वायुवीजकी वाम नासा-

पुटमें चिन्ता और इस वीज द्वारा सोलह बार जप कर देह पूर्ण करणान्तर दोनों नासापुट धारण करे। इस वीजको ६४ बार जपनेके बाद कुम्भक कर वाम कुक्षिस्थित काले पापपुरुषके साथ देह शोषण कर लें और बत्तीस बार इस वीजको जप कर वायु शुद्ध करें। इसके बाद दक्षिण नासिकामें रक्तवर्ण "रं" इस वह्निवीजको चिन्ता कर यह वीज सोलह बार जप कर वायु द्वारा देह पूरण करें और दोनों नासिकाको पकड़ कर इस वीजको ६४ बार जप द्वारा कुम्भक कर काले पापपुरुषके साथ देहको मूलाधारस्थित अग्नि द्वारा दहनपूर्वक फिर इस वीजको बत्तीस बार जप द्वारा वामनासिका द्वारा वायुरेचन करें। इसके बाद शुक्लवर्ण "ठं" इस चन्द्रवीजको वाम नासिकामें ध्यान कर इस वीजको सोलह बार जप द्वारा ललाट देशमें चन्द्रको ला कर उभय नासिकाको पकड़ कर "रं" इस वरुण वीजको ६४ बार जप कर मातृकावर्णमय ललाटस्थ यंत्रसे गलित अमृत द्वारा सारी देह रचना कर "लं" इस पृथ्वीवीजको ३२ बार जप द्वारा देहको सुदृढ़ चिन्ता कर दक्षिण नासिकासे वायु रेचन करें।

इस तरह मातृकान्यास, कराङ्गन्यास, पीठन्यास, ऋष्यादि न्यास आदिमें भी शरीरके यथास्थानमें वीजका आधार कल्पना कर उन स्थानोंको स्पर्श करनेके समय उस उस वीजसंज्ञाकी चिन्ता करें। देवताविशेषमें कराङ्गादिन्यास और वीजमन्त्रके विभिन्नत्व लिपिवद्ध हुआ है। विस्तारके भयसे उन सबोंका उल्लेख यहां नहीं किया गया। प्रत्येक देवताके नाम-शब्दमें ये सब संक्षेपमें दिये गये हैं। विशेष विवरण न्यास और षट्चक्रमें देखो।

वीजक (सं० पु०) १ मातुलुङ्गवृक्ष, विजयसार या पियासाल नामक वृक्ष। पर्याय—पीतसार, पीतशालक, वन्धूकपुष्प, प्रियक, सर्जक, आसन। गुण—कुष्ठ, विसर्प, मेह, कृमि, श्लेष्मा और पित्तनाशक केशवृद्धिकर तथा रसायन। (भावप्र०) (क्ली०) वीज-स्वार्थे कन्। २ विजौरा नीबू। ३ सफेद सहिंजन। ४ वीज, बीआ। वीज देखो।

वीजकर (सं० पु०) उड़दकी दाल जो बहुत पुष्टिकर मानी जाती है।

वीजकर्कटिका (सं० स्त्री०) दीर्घकर्कटिका, बड़ी ककड़ी।

वीजकसार (सं० पु०) १ विजयसारके वीज। २ मातुलुङ्गसार, विजौरा नीबूका सार या सत्त।

वीजका (सं० स्त्री०) कपिलद्राक्षा, मुनक्का।

बीजकाय (सं० लि०) वीजशरीर, आदिदेह।

वीजकाह्व (सं० पु०) मातुलुङ्गवृक्ष, विजौरा नीबूका पेड़।

वीजकृत् (सं० क्ली०) वीजं वीर्य्यं करोति वर्द्धयतीति कृ-क्विप् तुक् च। १ वह औषध जिसके खानेसे वीर्य बढ़ता हो, वीर्य्य बढ़ानेवाली दवा। १ वीर्यकारक, वीर्य्य बढ़ानेवाला।

वीजकोश (सं० पु०) वीजानां कोशः आधार इव। १ पद्मवीजाधारचक्रिका, कमलगट्टा। पर्याय—वराटक, कर्णिका, वारिकुब्ज। २ शृङ्गाटक, सिंघाड़ा। ३ फल जिसमें वीज रहते हैं।

वीजकोशक (सं० क्ली०) वृषण, अंडकोश।

(वैद्यकनि०)

वीजगणित (सं० क्ली०) अङ्कविद्याविशेष। (Algebra) जिस शास्त्रमें वर्णमालाके अक्षरोंको संख्यास्वरूप मान कर और कई साङ्केतिक चिह्नोंको व्यवहार कर राशिविषयके सिद्धान्तोंको युक्तिके साथ संस्थापित किया जाता है, उसका नाम वीजगणित है।

वीजगणित अङ्कशास्त्रकी एक शाखा है। इसके द्वारा पाटीगणितमें प्रचलित नियमावलीसे विभिन्न और अचिन्त्यपूर्व अङ्कसाधन शिक्षा-प्रणाली सीखी जा सकती है। क्रमोत्कर्षके स्तव-विचारसे इस शास्त्रके साथ पाटीगणितका चाहे जिस तरहका पार्थक्य दिखाई क्यों न दे, किन्तु पाटीगणित शास्त्रसे ही इसकी उत्पत्ति हुई है। इस सिद्धान्त पर पहुंच कर सर आइजक न्यूटनने वीजगणितको 'सार्वजनीन गणितविद्या' (Universal arithmetic) नामसे अभिहित किया है। यद्यपि इस नामसे इसका अर्थ परिस्फुट नहीं होता, तथापि इससे इस शास्त्रकी अभिव्यक्ति बढ़ाई गई है। न्यूटनके पिछले समयके सर्वप्रधान अङ्कविद् पण्डित सर विलियम रोयान हेमिल्टन वीजगणितको "विशुद्ध कालविज्ञान" (Science of *Pure Time*) कहते हैं। डी मार्गनने इस संज्ञाको परिस्फुट करनेके लिये "क्रम गणना" नाम रखा है।

शेषोक्त इन नामोंसे न्यूटनकी दी संज्ञा साधारण पाठकोंके मनमें सरल मालूम होगी, ऐसी आशा है।

पाटीगणितसे किस तरह बीजगणितका सूत्रपात और इसका क्रमविकाश हुआ, उसका संक्षेप रूपसे वर्णन करना सहज बात नहीं। पाटीगणित और बीजगणितकी प्रक्रियाके बीचमें स्थूलतः जो पार्थक्य दिखाई देता है, वह यह है, कि पाटीगणितकी प्रक्रियायें साक्षात् भावसे व्याख्यात होती हैं; किन्तु बीजगणितकी प्रक्रियाएं अनेक बार केवल तुलना द्वारा व्याख्यात होती हैं। उदाहरणस्वरूप भग्नांशके गुणनका विषय ही लिया जाये। इटलीके लुकस् डी बार्गो और इङ्गलैण्डके रावर्ट रेकोर्ड आदि पण्डितोंने भग्नांशके गुणनको साधारण गुणनके अभिनव प्रयोगका सिद्धान्त किया है। साधारण गुणन जैसे योगका सहज उपाय है, दृष्टिमात्र ही इसको वैसा समझ नहीं सकती। गुणनकी धारणा कर उसके साथ भग्नांशकी संज्ञाके संयोग करनेसे ही भग्नांश गुणनकी व्याख्या हो जायेगी। दूसरी ओर चौथी शताब्दीके प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित देओफान्तसने वियोगचिह्न व्यवहारके मूलमें बीजगणितकी भित्ति देखी थी। इन्होंने अपने लिखे एक ग्रन्थके प्रारम्भमें ही वियोगचिह्नकी यह विशेष संज्ञा लिपिबद्ध की है, वियोगचिह्नसम्बलित राशिको वियोगसम्बलित राशि द्वारा गुणा करनेसे गुणनफल योगचिह्नविशिष्ट होगा। मूल चिह्नकी तरह इस चिह्नके अबाध व्यवहारकी कोई मौलिक क्रिया प्रणाली नहीं है। यह पाटीगणितकी नियमप्रणालीके अनुसार गठित होने पर इसका व्यवहार निश्चय ही भ्रमसंकुल हो जायेगा। गणितशास्त्रकी मौलिक नियमावलीके साथ उक्त नियमके अबाध प्रयोग द्वारा बीजगणितकी सीमा संक्षेप की गई है। विख्यात गणितविद् युक्लिड भी स्वयं इस सीमासे दूर बढ़ जाना सम्भव पर नहीं समझे।

व्यवहार-प्रणालीके किसी विधिबद्ध नियमके अभावमें गणितशास्त्रके नियमके पार्श्वमें वियोग चिह्न संस्थापन करनेसे इसका फल नियमविरुद्ध हो जाता था। यह बात हमारी कपोलकल्पित नहीं। पचास वर्ष पहलेके बीजगणितमें जैसा था, इस समय सर विलियम रोयानी हैमिल्टनने उसके साथ कुछ अंश जोड़ कर बीजगणितका उत्कर्ष साधन किया है। इस अंशको हैमिल्टनने "चतुष्क" नामसे अभिहित किया है। इस आविष्क्रियाकी प्रतिष्ठा होनेसे किसी भी नियमसे अङ्कका व्यवहार निष्पन्न किया जा सकता है। गणितशास्त्रके बहुत पुराने इस स्वतः सिद्धान्तका विलोप हुआ है।

इतिहास।

पहले समयकी ज्यामितिको पढ़नेसे विश्वास होता है, कि यह प्राचीन अङ्कविद् पण्डितोंके परिज्ञात अङ्कशास्त्रसे सारांश और विशुद्ध ज्यामितिके ही अनुरूप है। प्रत्युत, वर्त्तमान समयमें प्रचलित बीजगणितके साथ इसका बहुत पार्थक्य दिखाई देता है।

पूर्वकालके ज्यामिति-शास्त्रकारोंने बीजगणितके सारांशसे तत्त्वादि ग्रहणपूर्वक अपने आविष्कारका पुष्टिसाधन किया है, इस विषयमें चिन्ता करनेका कोई कारण नहीं। किन्तु किञ्चित् परवर्त्ती समयके ग्रामवासियोंने इस विद्यामें जो किञ्चित् व्युत्पत्तिलाभ किया था, वह इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे सहज ही हृदयङ्गम होता है।

चौथी सदीके मध्यभागमें अङ्कविद्याकी खूब अवनति हुई थी। इस समयके अङ्कविदोंने किसी तरह मौलिक ग्रंथ लिखनेका प्रयास न पा पूर्ववर्त्ती लेखकोंके लिखे ग्रंथोंके भाष्य-प्रणयनमें ध्यान दिया था। इससे पूर्व समयके अङ्कशास्त्रका खूब उत्कर्ष साधित हुआ।

प्रसिद्ध पण्डित दिओफन्तासने गणितशास्त्रके सम्बन्धमें कई ग्रन्थोंकी रचनाएं कीं। उनका मूल ग्रन्थ तेरह भागोंमें विभक्त हुआ था। इनमें पहले छः भाग और बहु अज्ञविशिष्ट अङ्कके सम्बन्धमें असम्पूर्ण अन्तिम ग्रन्थ इस समय मिलता है। शेषोक्त ग्रन्थ ही १३वां स्थानीय कह कर गृहीत हुआ है।

उल्लिखित ग्रन्थ बीजगणितविषयक सम्पूर्ण ग्रंथ नहीं मालूम होता। किन्तु इससे ही इस शास्त्रके मूलविषय सम्बन्धमें प्रकृष्ट ज्ञानलाभ किया जा सकता है। ग्रंथकारने पहले तो अपनी प्रणालीके अनुसार साधारण और विषयकर्मका या वर्गीय समीकरणका (यथा—ऐसी दो राशियां निकाल लो, जिनका योगफल या वियोगफल

प्रदत्त है) नियम दिखा कर नई प्रथासे विशेष श्रेणीके कई अङ्क निष्पादन किये है। इस समय इसीको ही अनिर्द्धारित विभाग कहते हैं।

सम्भवतः दिओफन्तास ही यूनानदेशके वीजगणितके मूलग्रन्थकार हैं। किन्तु ऐसा मालूम नहीं होता, कि उससे पूर्व उस देशके अधिवासी इस शास्त्रसे अनभिज्ञ थे। यही सम्भव है, कि मूल विषयोंका अध्ययन कर अपने बुद्धिबलसे इन्होंने इसका उत्कर्ष साधन किया है। दिओफन्तासके रचित समीकरणोंकी सहज पद्धति देख मालूम होता है, कि वे इस विषयमें पहलेसे ही पारदर्शी थे और द्वितीय पर्य्यायके निर्दिष्ट समीकरणोंका सम्पादन कर सकते थे। सम्भवतः उस समय यूनानमें इस शास्त्रका उत्कर्ष यहां तक ही हुआ था। इटलीके शिक्षा-संस्कार-युगमें इसने सम्यक् उत्कर्षलाभ किया। किन्तु उससे पहले पाश्चात्य शिक्षित जगत्के सब स्थानोंमें ही यूनानकी अपेक्षा प्रकृष्टरूपसे वीजगणितकी प्रसारवृद्धि नहीं हुई।

थिओनकी कन्या प्रसिद्धा हाइपेसियाने दिओजन्तासके लिखे ग्रन्थका एक भाष्य बनाया था। इसके सिवा इसने एपोलोनियासके सूचीच्छेदविषयक गणितशास्त्रकी भी एक टीका की थी। दुःखका विषय है, कि इन दोनों ग्रन्थोंमें इस समय एक भी नहीं मिलता।

१६ वीं शताब्दीके मध्यभागमें ग्रीकभाषामें लिखी पूर्वोक्त दिओफन्तासकी ग्रंथावली रोमके भाटिकन पुस्तकालयमें मिली थी। संभवतः तुर्कोंने जब कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार किया, तब यह ग्रन्थावली यूनानसे यहां लाई गई। सन् १५७५ ई०में जाइलण्डरने लैटिन भाषामें अनुवादित इसका एक संस्करण प्रकाशित किया था। सन् १६६१ ई०में वेकेट डी मेजेरियाक् नामक फ्रेञ्च एकाडमीके एक सदस्यने इस ग्रन्थके सटीक संपूर्ण अनुवाद प्रकाशित किया। वेकेट अपने "अनिर्दिष्ट विभाग" विषयक अङ्कमें विशेष पण्डित था। सुतरां उपयुक्त पात्र द्वारा ही उपयुक्त कार्य्य निर्वाहित हुआ था। दिओफन्तास कृत मूल ग्रन्थका प्रायः अंश ही इस तरहसे नष्ट हो गया था, कि वेकेटको अनेक स्थानोंमें ग्रन्थकारका भाव ले कर या पाद पूरण कर ग्रन्थको संपूर्ण करना पड़ा था। इसके कई वर्ष बाद फ्रांस देशके प्रसिद्ध गणितविद् फार्माटने वेकेटके संस्करणके साथ यूनानी वीजगणितकारोंके ग्रन्थोंके सम्बन्धमें स्वकृत टीका सन्निवेश कर वेकेटका नया संस्करण प्रकाशित किया। फार्माट स्वयं पण्डित था। सुतरां इस संस्करणको सबोंने प्यार किया था। यह संस्करण प्रचलित संकरणोंमें अत्युत्कृष्ट है। यह सन् १६७० ई०में पहले पहल प्रकाशित हुआ था।

दिवोफन्तासकृत ग्रन्थावलीका उद्धार होनेसे अङ्कशास्त्रमें युगान्तर उपस्थित हुआ था सही; किन्तु यह बात कोई स्वीकार न करेगा, कि इस ग्रन्थावलीसे ही यूरोप-समाजमें वीजगणित विद्याका प्रचार हुआ है। यूरोप वासियोंने अरबोंसे ही यह विद्या तथा संख्या गणना और दार्शनिक अङ्कप्रणालीकी शिक्षा प्राप्त की थी। विचक्षण और बुद्धिमान् अरबवासी इस वीज विज्ञान शास्त्रके मर्मको समझ कर बारंबार आलोचना द्वारा जगत्में इसकी ज्योतिविकीरण करते रहे। उस समय भी समग्र यूरोपखण्ड अज्ञान तिमिरमें डूब रहा था। अरबोंने विशेष अध्यवसायसे यूनानी अङ्कविदोंकी ग्रन्थावलीको संग्रह कर मातृभाषामें उनका अनुवाद कर नानारूप भाष्यादिके साथ प्रकाशित किया था। अरबी भाषामें लिखी ग्रन्थावलीसे यूरोप-वासियोंने ज्यामितिका उपकरण प्राप्त किया। आपोलोनियाशका मूल ग्रन्थ आज कल और नहीं मिलता। ग्रन्थका कुछ अंश भी अरबी भाषासे अनूदित हो कर रखा जा रहा है।

अरबोंका कहना है, कि उनके देशमें मुहम्मद बिन् मूसाने सबसे पहले वीजगणितका आविष्कार किया। ये बुजियानावासी महम्मदके नामसे भी परिचित थे। पाश्चात्य जगत्में इन्होंने Moses नामसे प्रतिष्ठा पाई थी। ये खलीफा अल् मामुनके राजत्वकालमें अर्थात् नवीं शताब्दीमें वर्त्तमान थे।

इन्हीं मूसाने बीजगणितके सम्बन्धमें एक ग्रन्थ लिखा था, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। इटली भाषामें अनुवादित इनका रचित एक खण्ड यूरोपखण्डमें एक समय प्रचलित था। दुर्भाग्यक्रमसे यह ग्रन्थ विलुप्त हुआ

इस समय वह नहीं मिलता। सौभाग्यका विषय है, कि अरबी भाषामें लिखा इसका एक मूल ग्रन्थ आक्सफोर्डके वडलियान पुस्तकालयमें रखा है। इस ग्रन्थका रचनाकाल १३४२ ई०के लगभग हो सकता है। ग्रन्थका आवरण पृष्ठ देखनेसे मालूम होता है, कि ग्रन्थकार प्राचीन समयके आदमी हैं। पुस्तकके पार्श्वदेशमें लिखी टिप्पनीको देखनेसे ग्रन्थ अपेक्षाकृत प्राचीन साबित होता है। इस ग्रन्थको देखनेसे मालूमहोता है, वीजगणित शास्त्रका यही प्रथम प्राचीन ग्रन्थ है। ग्रन्थकी भूमिकामें ग्रन्थकारका परिचय लिखा है। फिर इससे यह भी जाना जाता है, कि अलमामुन द्वारा वीजगणितानुसार अङ्कगणनाके सम्बन्धमें एक संक्षिप्त ग्रन्थ लिखनेके लिये आदिष्ट और उत्साहित किये गये थे। इसीके फलस्वरूप इन्होंने यह ग्रन्थ बनाया था। पाश्चात्य पण्डितोंका विश्वास है, कि मूसा-प्रणीत यह ग्रन्थ वीजगणितके सम्बन्धमें अरबवासियोंका प्रथम सङ्कलन है। सुतरां इसका उपादान भी किसी अन्य भाषामें लिखित पुस्तकादिसे संगृहीत हुआ है। यह बात सहज ही उपलब्ध की जाती है। इस ग्रन्थमें इसका भी यथेष्ट प्रमाण मिलता है, कि ये ग्रन्थकार हिंदू ज्योतिषशास्त्रके भी ज्ञाता थे। सुतरां यह कहना युक्तिसंगत न होगा, कि ये हिन्दुओंसे ही वीजगणितका उपादान संग्रह कर ले गये थे। वीजगणित शास्त्रमें अनिर्दिष्ट सम्पाद्य समाधानमें हिन्दुओंका अशेष पाण्डित्य था। यह विषय भारतीय वीजगणितके सम्बंधमें नीचे विवृत हुआ है। इससे हम निसङ्कोचभावसे कह सकते हैं, कि अरबोंने भारतीयोंसे वीजगणितकी शिक्षा पाई थी।

वीजगणितके मूलतत्वका परिचय पा कर अरबोंने अन्तमें अनेक ग्रंथादि लिख इस शास्त्रकी अंगपुष्टि की थी। महम्मद अवुल ओआफा नामक दूसरे एक अरबी पण्डितने वीजगणितशास्त्रका एक विस्तृत भाष्य प्रणयन किया था। उसमें उसने अपने पूर्ववर्त्ती वीजगणितके लेखकोंके मतामतका विचार कर विशद व्याख्या की है। सिवा इसके दिओफन्तासकृत ग्रंथका भी उसने अनुवाद किया था। वह अवुल ओआफा ६२वीं शताब्दीके अन्तिम चालीस वर्षोंमें विद्यमान था।

अरबवासी अत्यन्त आग्रहके साथ और कठोर परिश्रमसे बहुत दिनों तक इस विद्याका अनुशीलन करते रहे, पर उनके हाथ इस विद्याकी उतनी उन्नति नहीं हो सकी। दिओफन्तासके ग्रंथादि पढ़ कर वे अपने ग्रंथमें वीजगणित सम्बंधीय अनेक अभिनव विषय सन्निवेशित कर रहे होंगे, ऐसी आशा है। किन्तु यह आशा कार्यरूपमें परिणत नहीं हुई। अरबदेशीय पूर्वतन वीजगणितविदोंसे आरम्भ कर अन्तिम ग्रंथकार वेहौदीन तक पूर्व पद्धतिके अनुसार (लकीरके फकीर) एक ही प्रणाली पर ग्रंथ लिख गये हैं। पूर्ववर्त्ती लेखकोंके अनुसरणको छोड़ मौलिक कोई विषय इन्होंने सन्निवेशित नहीं किया है। वेहौदीन सन् ९५३—१०३१के मध्य जीवित था।

इस विषयमें अनेक अङ्कतत्त्वविदोंकी भ्रम-धारणा है, कि किस समय और किस रीतिसे यूरोपमें वीजगणित शास्त्रका प्रचलन हुआ।

लिओनार्डो द्वारा यूरोपमें वीजगणितका प्रचलन।

हालमें बहुत खोज पूछनेके बाद यह स्थिर किया गया है, कि पिसावासी लिओनार्डो नामक एक वणिक्ने सबसे पहले इटलीमें वीजगणित-विज्ञानका प्रचार किया। बुद्धिमान् लिओनार्डो बालकपनमें बारबारी राज्यमें वास करते थे। वहां रह कर उन्होंने भारतीय प्रणालीके अनुसार नौ संख्या द्वारा गणनाप्रणाली शिक्षालाभ किया। वाणिज्यके उद्देशमें उनको प्रायशः ही मिस्र, सिरिया, यूनान, सिसली प्रदेशमें आना जाना पड़ता था। मालूम होता है, कि इन सब स्थानोंमें उन्होंने संख्यासम्बन्धी शिक्षणीय विषयोंको आयत्त किया था। भारतीय गणना-प्रणाली ही उनकी सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण उन्होंने यत्नके साथ उसे सीखा था। इसी समय उन्होंने भारतीय गणना-प्रणालीके साथ युक्लिडकी ज्यामितिके मूलसूत्रके कुछ कुछ अङ्कतत्त्व संयोजन कर और उनके साथ अपनी प्रतिभाके बलसे वीजगणितसम्बन्धीय और भी कई अभिनवतत्त्व आविष्कार कर उक्त तीनों मतोंके आधार पर एक ग्रन्थकी रचना की। इस समय लोग वीजगणितको शाखाविशेष समझते थे। यथार्थमें यह गणितका सारांश है। इसी शेष धारणाके

वशवर्त्ती हो लिओनार्डोने अपने ग्रंथमें उभय शास्त्रके सम्बन्धमें विभिन्न भावसे विशद् आलोचना की है। सन् १२०२ ई०में लिओनार्डोने यह ग्रंथ प्रणयन किया; पीछे फिर १२२८ ई०में उन्होंने यह संशोधनपूर्वक प्रकाश किया था। मुद्रायंत्र (प्रेस) के आविष्कार होनेसे २०० वर्ष पहले यह ग्रंथ लिखा गया था। मानव जाति उस समय इस विद्याके अनुशीलनमें आग्रहान्वित न होनेकी वजह यह जनसमाजमें अविदित रह सकता है, इसमें आश्चर्य्य ही क्या हैं। जो हो, ग्रंथकारकी अन्यान्य पुस्तकोंकी तरह यह ग्रंथ भी हस्तलिखित पोथीके आकारमें रखी रहती थी। पहले किसीने भी इस मूल्यवान् ग्रंथकी खोज नहीं की; सौभाग्यक्रमसे १८वीं शताब्दीके मध्यभागमें फ्लोरेन्सके मेग्लियावेफियान लाइब्रेरीसे यह ग्रंथ आविष्कृत हुआ।

अरबदेशीय ग्रंथकारोंकी तरह लिओनार्डोने भी अङ्कशास्त्रमें विशेष व्युत्पत्ति लाभ की थी। ये प्रथम और द्वितीय पर्यायका समीकरण कर सकते थे। दिओफन्तास द्वारा आविष्कृत विभागप्रणालीमें भी इनका प्रगाढ़ पाण्डित्य था। ज्यामितिमें इनकी विशेष व्युत्पत्ति थी। इन्होंने इसी ज्यामितिके नियमानुसार वीजगणितकी नियमपद्धति सामञ्जस्य कर ली थी। अरब देशीय ग्रंथकारोंकी तरह ये भी विशदभावसे अपने सिद्धांत प्रकाशित कर गये हैं। किन्तु इस पथसे अङ्कशास्त्रकी विशेष उन्नति नहीं हुई है। साङ्केतिक चिह्नादिका व्यवहार और थोड़ी बातमें मर्म समझानेकी पद्धति इसके बहुत दिनोंके बाद आविष्कृत हुई है।

लिओनार्डोके बाद और मुद्रायंत्रके आविष्कृत होनेके पहले वीजगणितके अनुशीलनमें विशेष आग्रह दिखाई देता है। इस वीजगणित विद्याकी अध्यापकों द्वारा प्रकाश्यरूपसे शिक्षा दी जाती थी। इस समय इस शास्त्रके सम्बंधमें अनेक ग्रंथ आदि रचे गये। अधिकतर अरबी भाषामें लिखे दो प्राचीन मूलग्रंथ इटली भाषामें अनुवादित हुए। इनमें एकका नाम 'वीजगणितका नियम' और दूसरा खुरासानके महम्मद बिन् मूसा प्रणीत अति प्राचीन ग्रंथका अनुवाद है। शेषोक्त ग्रंथ अरबी भाषामें लिखा सर्व्वप्रथम गणित ग्रंथ है।

लुकास डीवार्गो।

वीजगणित विषयक सर्वप्रथम मुद्रित ग्रंथका नाम— Summa de Arithmetica, Geometria, Proportioni. et Proportionalita लुकास पेलिओलास उर्फ डी वार्गो नामक एक संन्यासी इसके रचयिता हैं। सन् १४६४ ई०में यह ग्रंथ प्रचलित था। उन सबोंमें यह सर्वाङ्ग सुन्दर और सम्पूर्ण ग्रंथ कहा जाता है।

ग्रंथकारने लिओनार्डोके प्रदर्शित पन्थानुसरण कर उन्हींके आदर्श पर इस ग्रन्थकी रचना की थी। इनके ग्रंथसे ही बादके समयमें लिओनार्डोके लुप्त ग्रन्थको कुछ अंश उद्धृत कर जनसमाजमें प्रचारित हुआ।

सन् १५०० ई०में यूरोपमें वीजगणितकी जितनी उन्नति हुई थी, लुकास डी वार्गोने उन सब विषयोंको अपने ग्रंथमें सन्निवेशित कर इस ग्रन्थकी सौष्ठवता सम्पादन की थी। सम्भवतः इस समय अरब और अफ्रिका प्रदेशमें भी वीजगणितकी अवस्था वैसी ही थी। आवश्यकीय फललाभके उपायस्वरूप वीजगणितमें जो शक्ति निहित है, वह अङ्कपात द्वारा सहज ही उपलब्ध होती है। इस अङ्कपात-प्रणालीके बलसे ही आलोच्य संख्यायें सर्वदा दृष्टिपथमें रखी जा सकती हैं। किन्तु लुकास डी वार्गोके समय वीजगणितमें आलोच्य विषयके संक्षेपसे अङ्कप्रतिपादनकल्पमें सहजसाध्य और सम्पूर्णाङ्ग कोई नियम प्रचलित न था। परिगणनाके लिये उस समय कई वाक्योंके या नामोंके वर्त्तनमें संक्षिप्त वाक्यावली प्रयोग की जाती थी। वही आलोच्य समयमें साङ्केतिक चिह्नरूपसे व्यवहृत था। यह केवल एक तरहकी संक्षेप-लिपि (Short hand)का अनुकरण है। इस समय जिन अङ्कपातों द्वारा बातें समझाई जाती हैं, उस समयके अङ्कपातोंमें इन बातोंका प्रकाश करना सम्भवपर नहीं होता। उस समयके वीजगणितके प्रथानुसार अङ्क सम्पादन विशेषरूपसे सीमावद्ध था। कितने ही अनावश्यक संख्याविषयक प्रश्नोंके समाधान व्यतीत उस समय वीजगणितके साहाय्यसे विशेष कोई

तत्त्व निष्पादित नहीं होता था। प्रत्युत इन प्रश्नोंसे विज्ञानके उत्कर्षज्ञापक उच्च गणिताङ्कका लक्षण भी नहीं देखा जाता था। वर्त्तमान समयमें इस शास्त्रके साहाय्यसे प्रतिपाद्य विषयोंके क्षेत्रमें जितना प्रसार हुआ है, उस समयके लोगोंकी उतनी धारणा करनेकी भी क्षमता न थी।

यह पहले ही कहा जा चुका है, कि यूरोपमें पहले पहल इटली देशमें बीजगणितका प्रचलन हुआ थो। सन् १५०५ ई०में बोनोलियाके अङ्कशास्त्रके एक अध्यापक सिपिओ फेरिरास तृतीय पर्यायके समीकरण सम्पादन करनेमें सक्षम हुए। इस आविष्कारके होनेके बाद ही लोगोंका मन बीजगणितके प्रति विशेषभावसे आकृष्ट हुआ। तब तक बहुतेरोंका यह ख्याल था, कि बीजगणितके तृतीय पर्यायका समोकरण बड़ा कठिन है। किन्तु जब इस कठिन साध्यका समीकरण हो गया, तब इस विभागके पण्डित और भी कुछ नये आविष्कार करनेमें यत्नशील हुए।

टारटालिया।

सन् १५३५ ई०में भेनिस नगरमें वासस्थान स्थापन कर फ्लरिडोने इस स्थानसे ब्रेसियावासी टारटालिया नामक एक पण्डितको बीजगणितके नियमानुसार कई सम्पाद्योंका समीकरण स्थिर करनेके लिये बुलाया। इस विद्यायुद्धमें फ्लरिडोने इस तरहके कितने ही प्रश्नोंको तैयार किया था, कि फेरियासकी आविष्कृत प्रणालीके सिवा किसी दूसरे उपायसे इनकी मोमांसा हो नहीं सकती थो। टारटालिया इस घटनाके पांच वर्ष पहले बीजगणितके आविष्कारपथमें फेरियासके साथ बहुत दूर आगे बढ़ गये। सुतरां उनकी बुद्धिवृत्ति फ्लरिडोकी अपेक्षा अनेकांशमें उत्कर्ष प्राप्त हुई थी, यह सहज ही अनुमेय है। इस प्रतियोगिताके मैदानमें टारटालियाने फ्लरिडोका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और परस्परमें तीस प्रश्न पूछनेके लिये एक दिन निश्चित हुआ। इस निर्दिष्ट समयसे पहले ही टारटालियाने चतुर्थ पर्यायके समीकरणकी चर्चा छेड़ दी और पूर्वविदित दो नियमोंके सिवा अन्य दो प्रतिज्ञा सम्पादनकालमें वे और एक नई प्रणालीका भी आविष्कार करनेमें सक्षम हुए। जो हो, निर्दिष्ट दिनको प्रतियोगिताके मैदानमें उपस्थित हो कर दोनों पण्डित आपसमें प्रश्न पूछनेमें प्रवृत्त हुए। फ्लेरिडोने ऐसे प्रश्न पूछे, कि फिरियासकी एक ही प्रणाली जाननेसे उनका उत्तर दिया जा सकता है। दूसरी ओर टारटालियाके प्रदत्त प्रश्नोंका उत्तर केवल उनके अपने उद्भावित तीन नियमोंमें किसी एक नियम द्वारा दिया जा सकता है। इसके सिवा अन्य नियमोंसे यह सम्पन्न करना सम्भवपर नहीं है। फ्लेरिडोको जो नियम मालूम था, उसके द्वारा इन प्रश्नोंका वे ठीक ठीक जवाब दे न सके। सुतरां इस विद्यायुद्धमें उनकी ही पराजय हुई। टारटालियाने दो घण्टेमें ही उनके सब प्रश्नोंका ठीक ठीक उत्तर दे डाला।

विख्यात पण्डित कार्डन टारटालियाके समसामयिक थे। वे मिलान नगरके गणितशास्त्रके अध्यापक थे और वहां वे चिकित्सा भी करते थे। इन्होंने विशेष ध्यान दे कर बीजगणितकी चर्चा छेड़ दी। टारटालियाके आविष्कृत विषयोंका अभ्यास कर कार्डनने अपनी उद्भावनीशक्तिके बलसे इससे कई नये तथ्योंका आविष्कार किया। चौथे पर्यायका समीकरण करनेके लिये टारटालियाने जिन नियमोंका आविष्कार किया था, सच पूछिये, तो वे नियम सर्वथा ठीक न थे। कार्डनने उनके द्वारा बनाई प्रणालियोंकी आलोचनाओंको पढ़ते पढ़ते उससे एक ऐसा नियम आविष्कार किया, कि उस नियमसे चौथे पर्यायका कोई भी समीकरण सहज ही निष्पादित हो सकता था। इसके बाद उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग कर सन् १५४५ ई०में अपनी आविष्कृत प्रणालियोंको प्रकाशित किया। इसके छः वर्ष पहले पाटीगणित और बीजगणितके सम्बन्धमें उन्होंने जो एक दूसरी पुस्तक प्रकाशित की थी, यह उसीका परिशिष्ट था। बीजगणित विषयके मुद्रित प्राचीन ग्रन्थावलियोंमें यह दूसरी है। इसके एक वर्ष बाद टारटालियोंने इङ्गलैण्डके राजा आठवें हेनरीके नामसे उत्सर्ग कर एक बीजगणित प्रकाशित किया। दुःखका विषय है, कि जो प्रथम आविष्कारक हैं, इस जगत्में उनकी ख्याति प्रायः नहीं सुनी जाती। वरं जिस व्यक्तिने उनसे विद्याशिक्षा कर उसीसे परिमार्जित

आकारमें प्रचारित किया, उन्हींकी प्रशंसाध्वनि दशों दिशाओंमें मुखरित हो रही है। चौथे पर्यायके समीकरण करनेवाले टारटालियाके भाग्यमें किसी तरहकी प्रशंसा बदी न थी। इस समय ये सब नियम कार्डनके नामसे परिचित हो "कार्डनके नियम" कहे जाते हैं।

कालक्रमसे चौथे पर्यायके समीकरण आविष्कृत हो जानेसे बीजगणितकी उन्नति बढ़ने लगी। इसी समय इटलीवासी एक बीजगणितविद्ने विद्वत्समाजमें ऐसा एक प्रश्न उठाया जिससे समाधान कालमें द्विवर्गीय समीकरणके पर्यायमें परिणत होना पड़ता है। इसीलिये यह प्रचलित नियमानुसार निष्पन्न करना सम्भवपर नहीं। इन प्रश्नोंको देख कितने ही लोगोंने सोचा, कि इसका समाधान बिलकुल ही असम्भव है। किन्तु कार्डन इस विषयमें किसी तरह निराश नहीं हुए। उन्होंने लिउस फेरारी नामक एक बीजगणित अल्पवयस्क छात्र पर इस प्रश्नके समीकरणका भार दिया। कम उम्र होने पर भी फेरारी अत्यन्त बुद्धिमान् था। विशेषतः बीजगणित शास्त्रमें उसको प्रगाढ़ व्युत्पत्ति थी। फेररीने अपनी चेष्टासे एक अंक सहज ही निष्पन्न कर लिया और उसके सम्पादन कालमें उसने तृतीय पर्यायके समीकरण समाधानके लिये एक अभिनव नियमका आविष्कार किया।

इस समय इटलीदेशवासी बमवेली नामक दूसरे एक गणित विद्ने बीजगणितकी उन्नतिकी चेष्टा की थी। सन् १५७२ ई०में इसने एक बीजगणित प्रकाशित किया। जिस चतुर्थ पर्यायके समीकरण करनेमें कार्डन अक्षम हुए थे, उसकी व्याख्या इस पुस्तकमें वह लिख गया है। उस समयसे पहले जिन समीकरणोंको लोग असाध्य समझते थे, उसने अपनी प्रणालीके अनुसार उनकी समाधानसाध्यताका प्रमाण उपस्थित कर दिया है।

कार्डन और टारटालियाके समयमें जर्मनीमें दो गणितज्ञ विद्यमान थे। १६वीं शताब्दीके मध्यभागमें इनकी ष्टीफेलियस और स्युवेलियस नामक प्रणीत ग्रन्थावली प्रकाशित हुई। इटली देशमें बीजगणितकी कितनी उन्नति हुई थी, उस समय तक वे बिलकुल अनभिज्ञ थे। बीजगणितके सम्बन्धमें संख्यापात विषयमें ही ये अधिकतर मनोयोगी हुए। योग और वियोगके लिये जिन सब वर्णों और वर्गमूलके लिये जिन सब वर्णों और वर्गमूलके लिये जिन सब सांकेतिक प्रणालियोंकी आवश्यकता थी, ष्टीफेलियस उनके आदि सृष्टिकर्त्ता हैं।

केम्ब्रिज विश्वविद्यालयके गणितके अध्यापक और पदार्थविज्ञानविद् राबर्ट रेकर्डनने अंगरेजी भाषामें सबसे पहले बीजगणित लिपिबद्ध किया। उस समय चिकित्सकोंके लिये गणित, फलित ज्योतिष, रसायनादि विद्या जानना आवश्यक होता था। मूरोंने सबसे पहले इस प्रथाको चलाया। वे चिकित्सा और गणितशास्त्रमें पारदर्शी थे। स्पेनदेशमें बहुत दिनोंसे बीजगणितका प्रचलन था और वे चिकित्सक और बीजगणितविद्को एक ही पर्यायके अन्तर्गत समझते थे।

सिवा इसके रेकर्ड एक पाटीगणित और एक बीजगणित लिख गये हैं; गणित इङ्गलैण्डके राजा छठे एडवर्डके नामसे उत्सर्ग किया गया था। बीजगणित 'ह्वायट ष्टोन आव विट्' नामसे परिचित है। इसी ग्रन्थमें ही उन्होंने सबसे पहले समताबोधक चिह्नोंका व्यवहार किया था।

लिओनार्डो द्वारा भित्ति स्थापित होनेके बाद विभिन्न गणितज्ञोंके हाथ पड़ कर बीजगणित धीरतासे पैर धरते हुए उन्नतिकी सीढ़ियों पर आगे बढ़ रहा था। ऐसे समय भियेटा नामक एक गणितज्ञका अभ्युदय हुआ। ये गणित विद्या और अन्यान्य शास्त्रोंकी बहुत उन्नति कर गये हैं। बीजगणितमें इनका ज्ञान इतना प्रखर था, कि इन्होंने जिन सब विषयोंको उस समय अपरिस्फुट भावसे आविष्कार किया था, उनमें ही वर्त्तमान समयके गणितशास्त्रके उत्कर्षका मूल निहित है। वर्णमाला द्वारा व्यक्त और अव्यक्त राशि लिखनेकी पद्धति इन्होंने ही पहले पहल आविष्कार की थी। इस पद्धतिके गुरुत्वको सभी समझ न सकेंगे सही, किन्तु यह कहना व्यर्थ है, कि इसीसे ही बीजगणितके चरमोत्कर्षका सूत्रपात हुआ। बीजगणितके साहाय्यसे ज्यामितिके उत्कर्षसाधनपथके ये ही आदि पथप्रदर्शक हैं।

ज्यामितिमें बीजगणितके नियम प्रचलित होनेसे

अङ्कशास्त्रकी य[illegible]ति हुई। इसके ही साहाय्यके बलसे भियेटा कोणच्छेदविषयक नियमावली आविष्कार करनेमें सक्षम हुए। इन नियमोंसे ही अधुना शिन विषयक गणिताङ्क या त्रिकणमितिका उद्भव हुआ है। भियेटा ने वीजगणितके समीकरणांशकी भी काफी उन्नति की थी। १५४०—१६०३ ई० तक ये जीवित थे।

भियेटाके बाद गणितज्ञ अलबर्ट जिरार्डका अभ्युदय हुआ। इन्होंने भी भियटाकी प्रवर्त्तित प्रथासे समीकरणांशकी कई पद्धतियोंका आविष्कार किया था। किन्तु दुःखकी बात है, कि इन पद्धतियोंको ये लोगोंके सामने प्रकट नही करते थे। ज्यामितिके सम्पाद्योंके समाधानके लिये अभावसूचक चिह्न और कल्पित संख्याके ये ही सृष्टिकर्त्ता हैं। अनुमान द्वारा ये ही पहले इस सिद्धांत पर पहुंचे, कि जितने अङ्कों द्वारा आलोच्य संख्याका प्रसार समझा जायेगा, प्रत्येक समीकरण ही उतने मूल स्वीकार करने होंगे। सन् १६२९ ई०में इनका बनाया वीजगणित प्रकाशित हुआ।

जिरार्डके बाद टामस हेरियट नामक एक अंग्रेज वीजगणितकी उन्नतिका प्रयासी हुआ। अंग्रेज इसको वीजगणितके अन्यतम प्रधान आविष्कारक कह कर गर्व करते हैं। किन्तु फ्रांस देशके अङ्कविदोंका कहना है, कि भियेटा जो आविष्कार कर गये हैं, लोग उसीको हेरियटके नामसे चलाना चाहते हैं। यह भी हो सकता है, कि दोनों गणितपण्डित ही परस्परकी विद्याका परिचय न पा कर भिन्न भिन्न भावसे एक ही आविष्कार कर गये हों। हेरियटका प्रधान आविष्कार वीजगणितमें श्रेष्ठ आसन पानेके योग्य है। जितने अङ्कों द्वारा आलोच्य संख्याका प्रसार समझा जाता है, उतने साधारण समीकरणोंका गुणनफल एक समीकरणके समान है—हेरियटने इस उत्कृष्ट नियमका आविष्कार किया था।

अट्रीड् नामक और एक अंग्रेजने भी वीजगणितकी चर्चा की थी। वह हेरियटके साथ सामयिक होने पर भी उनकी मृत्युके बहुत दिन बाद तक जीवित था। इसके रचित वीजगणितविषयक ग्रन्थ बहुत दिनों तक विश्वविद्यालयोंमें पाठ्य रूपसे गण्य था।

ज्यामितिके साथ बीजगणितका सम्पर्क निर्णय कर भियेटाने वीजगणितकी प्रयोग-प्रसारताके सम्बन्धमें लेख प्रकाशित किया। गवेषणा और विशेष अनुसन्धान रूपसे विज्ञानकी खानसे उन्होंने कोणव्यवच्छेदरूपी जो अमूल्य मणिका आविष्कृत किया था, उसके प्रति लोगोंका ध्यान विशेषरूपसे आकृष्ट हुआ। किन्तु भियेटा उक्त तत्त्वके आद्यन्त आविष्कार करनेमें समर्थ नहीं हुए। इसी समय प्रसिद्ध गणिततत्त्वविद् डेकार्ट उनके उत्तराधिकारी रूपसे विज्ञानक्षेत्रमें समुदित हुए। उन्होंने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और सूक्ष्म ज्ञान द्वारा वीजगणितको एक मौलिक विज्ञानरूपमें प्रकाशित किया था। वस्तुतः वीजगणितके उन नियमावलीको ज्यामितिमें प्रयोग कर उन्होंने एक महान आविष्कार किया है। उस समयसे गणिताध्यापक इस विषयकी आलोचनामें प्रवृत्त हैं। विगत दो शताब्दीसे गणितविज्ञानके सम्बन्धमें क्रमोन्नतिका इतिहास साधारणमें अभिव्यक्त होता आता है।

वक्र रेखागणितमें वीजगणितके नियम आदिका प्रयोग और समाधान-योग्यता प्रदर्शन कर डेकर्टाने और भी एक प्रधानतम आविष्कार किया है। भूगोलकी आलोचनाके समय निरक्षवृत्त और मध्यरेखाके साथ तुलना कर हम जैसे पृथ्वीके स्थानोंका निर्देश करते हैं, वैसे ही उन्होंने भी निर्दिष्ट सरल रेखाविशेषके साथ तुलना कर किसी वक्ररेखाके प्रत्येक स्थान पर विन्दु निर्देश किया है।

सन् १६३७ ई०में देकर्टकी ज्यामिति प्रकाशित हुई। उक्त ज्यामिति ग्रन्थमें वीजगणित सर्वतोभावसे प्रयुक्त हुआ था। इसके छः वर्ष पहले हेरियट अपना ग्रंथ प्रचार कर गये हैं। देकार्ट देरियटके ग्रन्थसे अनेक बातें अपने नामसे लिपिबद्ध कर गये हैं। इसीलिये डाक्टर वालिस अपने वीजगणित ग्रंथमें फ्रांस देशीय वीजगणितज्ञोंको लाञ्छित कर गये हैं। उधर फरासीसी भी इसके प्रतिवाद करनेसे बाज नहीं आये। गणितके इतिहासका रचयिता मण्टूकला देकार्टका मत समर्थन कर गया है और हेरियेटसे ऊंचा स्थान इसको दे गया है।

ज्यामितिके साथ वीजगणितका सम्बन्ध प्रकाशित होनेके बाद गणितविषयक बहुतेरे नये तत्त्व आविष्कार

होने लगे। इसके बाद ही केप्लाके वक्र क्षेत्रके आवर्त्तित सम्पातमें घनक्षेत्रके उत्पादनतत्त्व, केवेलेरियस अविभाज्य विषयक ज्यामिति, वालिश अनन्तत्वज्ञापकगणित, न्यूटनकी सूक्ष्मराशिकी गणनाप्रणाली और लिवनिट्ज़का अति सूक्ष्मांश और अखण्डांशघटित गणिततत्त्व आविष्कृत हुए। इसी समय वारो, जेम्स, ग्रेगरी, रैन, कोट्स, टेलर, हेली, डो, मयडार, मेक्लौरोन, ष्टारलो, रोवार भाल, फामर्नट, हायघेन्स, वानौलिसद्वय और पासकाल, आदि बहुतेरे गणितज्ञ व्यक्तियोंने इसकी आलोचना आरम्भ कर परस्परको पुनः पुनः तत्त्वतरङ्गमें आलोड़ित किया था।

लाग्रेञ्ज।

१८वीं शताब्दीके मध्यभागमें वीजगणितके सम्बन्धमें उल्लेखनीय कोई आविष्कार हो नहीं हुआ है। नये आविष्कारमें मनोयोगी न हो, सभी इस समय न्यूटन, लिवनीज और देकार्टके आविष्कृत विषयोंकी आलोचनामें प्रवृत्त थे। इस शताब्दीके शेषांशमें लाग्रेञ्ज नामक एक गणितविद्व विशेषभावसे गणितचर्चामें प्रवृत्त हुए। इन्होंने Traite de le Resolution des Equations Numeriques ग्रन्थमें जिस तत्त्वकी आलोचना की थी, उसीका अनुसरण कर कुदान, फुरियार, ष्टर्म और अन्याय अङ्कविद्व न्यूटन कृत युनिभर्शल एरिथमेटिकके आदर्श पर अपने अपने ग्रन्थ रच गये हैं। लाग्रेञ्जने Theorie des fonctions analytiques और Calcul des fonctions नामक ग्रन्थद्वयमें न्यूटनके सूक्ष्मांशघटित गणितविद्याको वीजगणितका अंशीभूत करनेकी चेष्टा की थी और इसमें उनको सफलता भी मिली। इस समय गणितशास्त्रमें लब्धप्रतिष्ठ युलर नामक एक मनुष्य लाग्रेञ्जके सहकारी रूपसे काम करते थे। गणितके सम्बन्धमें इन्होंने कई बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे हैं। इनके लिखे Novi Commentarii ग्रन्थके १६वें भागमें वीजगणितके द्विपद उपपाद्यके सम्बन्धमें कई नये तत्त्वोंका परिचय मिलता है।

१६वीं शताब्दीके प्रारम्भ तक वीजगणितकी उन्नतिकी सीमा यहां तक ही हद हो गई। यहां तक वीजगणितने जितना उत्कर्ष प्राप्त किया, उससे ही सभी वीजगणितकी एक मोटी धारणा कर सकते हैं। वस्तुतः मूल अवस्थाके साथ तुलना कर देखनेसे वीजगणित अल्प समयमें बहुत दूर तक पहुंच चुका है, यह बात मुक्तकण्ठसे स्वीकार करनी पड़ती है।

प्राचीन वीजगणितके रचयिताओंसे ले कर लाग्रेञ्ज तक सभीने एक स्वरसे स्वीकार किया है, कि प्रत्येक संख्याघटित समीकरणका ही एक मूल है अर्थात् प्रकृत ही हो या कल्पित ही हो जिस किसी संख्याघटित राशि द्वारा समीकरणकी अज्ञातराशि निर्देश की जायेगी और यह समीकरण संख्यासूचक हो उठेगा। लाग्रेञ्ज, गौस और आइभरीने गणितके सम्बन्धमें जो उपपत्तियां आविष्कार की हैं, उन्हींको अवलम्बन कर गणितविद्व कौचो Journal de I' Ecole Polytechnique और पीछे Cours d' Analyse Ulgebrique नामक पुस्तिकाद्वयमें विशेष भावसे आलोचना कर गये हैं।

कौचीने जिन उपपत्तियोंकी आलोचना की, उससे पहले आर्गाण्ड नामक एक गणितविद्व अपने रचे Gergonne's Annales des Mathematiques नामक ग्रन्थके पांचवें भागमें उसका आभास दे गये हैं। कौचीका कहना है, कि जिस राशिको शून्यके समतुल्य परिमाणमें परिवर्त्तित किया जा सकता है, वह दो उत्पादककी गुणनफलसे उत्पन्न है, इस तरह दिखाया जा सकता है। उक्त उत्पादकमें एक राशि निम्न संख्यामें परिणत हो नहीं सकती अर्थात् दूसरी बातमें कहा जा सकता है, कि उक्त राशिमें जो निर्दिष्ट संख्या प्रदत्त है, उससे भी कम संख्या हो सकती है। सुतरां अङ्ककी प्रणालीके अनुसार उसको शून्यको तुल्य संख्या दी जा सकती है। कौचीकी उपपत्ति बिलकुल विशुद्ध न होने पर भी अन्यान्य उपपत्तियोंसे यह अनेकांशमें उत्कृष्ट है।

सन् १८११ ई०में होयनी डी रणस्की नामक एक गणितविद्ने विभिन्न पर्यायकी समीकरण उपपत्तिके सिवा संज्ञा द्वारा समाधानके लिये एक साधारण नियम आविष्कार कर उसे प्रकाशित किया। उन्होंने १८१७ ई०में लिसवनकी एकाडमी आव सायन्समें एक घोषणा प्रकाशित की, कि जो रणस्कीकी निरूपित संज्ञाओंकी उपपत्ति स्थिर कर सकेंगे, उनको पुरस्कार दिया जायेगा।

टारियानो नामक एक गणितविद्‌ने इसका दोष खण्डन कर इसके दूसरे वर्षमें पुरस्कार पाया था।

वृटिश एसोसियेशनकी रिपोर्टके पांचवें भागमें सर डब्ल्यू आर हेमिल्टनने विषमासित करण प्रणालीके सम्बन्धमें एक गवेषणापूर्ण मन्तव्य लिखा है। उच्च पर्याय-के समीकरणको चतुर्थ पर्य्यायमें परिणत करनेमें यह सम्पूर्ण अक्षम है। जो हो, एहेन कष्टोंके रहते हुए भी नाना तरहसे यह प्रणाली मूल्यवान् है।

पहले तो विशेष विशेष आकारमें परिणत कर उच्च पर्य्यायके समीकरणोंका समाधान हो सकता है। डीमय-भारने सन् १७३७ ई०में 'फिलोसफिकेल ट्राञ्जाकसन' नामक पत्रिकामें एक तरहके समीकरणकी समाधानप्रणाली लिपिबद्ध की है। गणितज्ञ गस द्विपद-समीकरणकी उन्नति कर गये हैं। भाण्डारमोण्डेने इस विषयमें जितनी उन्नति की थी, उन्होंने उसकी अपेक्षा बहुत अधिक आविष्कार किया है। इनके रचे Disquisiftiones Arithmeticae नामक ग्रन्थमें इस विषयका प्रमाण मिलता है। यह ग्रन्थ सन् १८०१ ई०-में पहले पहल प्रकाशित हुआ। इनके बाद बरवेके रहनेवाले आवेल नामक एक गणितविद्‌ने चर्चा आरम्भ कर दी और गसने जो आविष्कार किया था, उसीका वे उत्कर्ष साधन कर गये हैं। सन् १८३१ ई०में खृष्टि-याना शहरमें आवेलकी सारी पुस्तकें एकत्र प्रकाशित की गईं। इस ग्रन्थमें द्विपद समीकरण और अन्यान्य गणितांशके सम्बन्ध आदि देखनेको मिलते हैं।

केवल समीकरणके समाधानके लिये जो वर्त्तमान शताब्दमें बीजगणितके अङ्गकी पुष्टि हुई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। समीकरणोंका समाधान करनेसे पहले इनका मूल किस तरह विभक्त किया जा सकता है, उस विषयमें उसी समयसे लोग यत्नवान् होने लगे। इस विषयमें जिन्होंने पहले ग्रन्थ लिख तत्त्वोंको प्रकाशित किया, उनका नाम बुदन है। सन् १८०७ ई०में उन्होंने Nouvelle methode pour la resolution des equations numeriques नामक एक पुस्तक प्रकाशित करा उक्त विषयोंको जनसमाजके सामने रखा। उनके पूर्व भी फुरियार नामक एक गणितविद्‌ने इस विषयमें भाषण किया था। उस समय उन्होंने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। इससे बुदन ही प्रणालीके आदि रचयिता कहे जाते हैं। किन्तु सच बात तो यह है, कि इसके लिये फुरियार ही सर्वोच्च आसन पाने योग्य हैं। क्योंकि सन् १८३१ ई०में नेभियारने Analyse des equations determinnees नाम रख कर फुरियारके बड़े ग्रन्थका प्रचार किया। समीकरण-के मूल निर्द्धारण सम्बन्धमें अति संक्षेपमें फुरियारने जो दो उपपाद्य लिपिबद्ध किये हैं, उनमें एकको फुरियारका उपपाद्य कहते हैं। इसके सिवा उन्होंने अखण्डीकरण नामक और एक उपपाद्यका आविष्कार किया। यह उपपाद्य ग्रन्थकारके Theorie de la Chaleur नामक उत्कृष्ट ग्रंथमें यथायथभावसे आलोचित हुआ है। बुदान और फुरियरको ग्रंथावली प्रकाशित होनेके मध्यकालमें सन् १८१९ ई०में 'फिलसफिकेल ट्राञ्जाक्सन आव दी रायल सोसाइटी' नामक पत्रिकामें इस विषयमें एक प्रबंध प्रकाशित हुआ। इस प्रबन्धके लेखक डब्लू. जी हर्नार हैं। उन्होंने इस प्रबन्धमें गणितविषयक समीकरणकी एक अभिनव प्रणालीकी आलोचना की है। क्रमसे लोग हर्नारकी इस प्रणाली पर श्रद्धान्वित हो उठे और किसी किसी विषयमें यह फुरियरकी प्रणालीके प्रायः समतुल्य और उत्कृष्ट समझी गई। सन् १८३८ ई०में Memoires des savans etrangers नामक पत्रिकामें एक नई प्रणाली प्रकाशित हुई। सरलता, सम्पूर्णता और सब विषयोंमें प्रयोगयोग्यताके सम्बन्धमें आलोचना कर देखनेसे यह शेषोक्त प्रणाली ही समीकरणके मूल अवधारणमें सर्वोत्कृष्ट समझी गई। एम ष्टार्म नामक एक फ्रान्सीसी पण्डित उक्त प्रबन्धके लेखक हैं। जेनेवा नगरमें इनका जन्म हुआ था। इनके आविष्कृत उपपाद्यने बीजगणितमें उच्च स्थान अधिकार किया है। सन् १८२९ ई०में ष्टर्मने उक्त प्रबन्ध "एकाडमी"में उपस्थापित किया था।

निर्द्धारण-प्रणाली।

प्रथम पर्य्यायके समसामयिक समीकरणकी समाधानप्रणाली ऐसे कई भग्नांशोंके आकारमें रखी जा

सकती है, जिसके लव और हर समीकरणकी अज्ञात राशियोंकी प्रकृतिके गुणफलसे उत्पन्न होती हो। यह गुणनफल साधारणतः रेजालटेण्टस् नामसे परिचित है। लाप्लेसने पहले पहल इस नामको स्थिर किया और सन् १८४१ ई०में भी कौची अपने लिखे Exercices d' analyse et de physique mathematiquc नामक ग्रंथोंके २य खण्डके १६१ पृष्ठमें भी यही नाम लिख गये हैं। इस समय उसको डेटरमिनेट्स या निर्द्धारण प्रणाली नामसे प्रवर्त्तित किया गया है। अध्यापक गौसने प्रथमतः इस प्रवर्त्तित नामका व्यवहार किया। Cours d'analyse algebrique नामक ग्रन्थमें कौचीने इसको alternate functions या परम्परा क्रिया नामसे व्यवहार किया।

निर्द्धारण-प्रणालीके सम्बन्धमें लिवनिट्ज अपने ग्रन्थमें कुछ कुछ आभास दे गये हैं। उनके बाद प्रायः एक सौ वर्ष तक और किसीने इस विषय पर कोई आलोचना नहीं की। पीछे एतमार नामक एक पण्डितने इसका परिचय पा कर अपने लिखे Analyse de: lignes courbes algebriques नामक ग्रन्थमें इसका उल्लेख किया। यह ग्रन्थ सन् १७५० ई०में जेनोवा शहरमें प्रकाशित हुआ था। गुणके नियमानुसार गुणफल योगचिह्नविशिष्ट या वियोगचिह्नविशिष्ट होगा, इस ग्रन्थमें एतमारने उसका नियम लिपिवद्ध किया है। विगत शताब्दमें विहौट्, लाप्लेस, लाग्रेञ्ज और भाण्डामण्डे आदि बहुतोंने एतमारके पन्थका अनुसरण कर ग्रंथ लिखा है। सन् १८०१ ई०में गौस प्रणीत Desquisitiones Arithmeticae प्रकाशित हुआ। एम्, पुले-डेलिसले नामक एक व्यक्तिने सन् १८०७ ई०में यह ग्रंथ फ्रान्सीसी भाषामें अनुवाद कर प्रकाशित किया।

जाकोवी।

द्वितीय और तृतीय पर्य्यायके दो डिटेरमिनेण्ट् या निर्द्धारणका गुणफल और डेटरमिनेण्ट् वा निर्द्धारण श्रेणीयुक्त—गौसने इस उत्कृष्ट उपपत्तिको आविष्कार किया। इसके बाद विनेट् कौची और अन्यान्य वीजगणितज्ञोंके यत्नसे उक्त तत्त्व विशेषरूपसे आलोचित हुआ और वे इस गुणफलको ज्यामितिके सम्पाद्यमें परिणत करनेमें प्रयासी हुए। सन् १८२६ ई०में जेकोवीने क्रेलस जरनलमें इसके सम्बंधमें कई प्रबंध प्रायः बीस वर्ष तक विशेष आलोचनाके साथ प्रकाशित किया। इस प्रसङ्गमें जेकोवी और भी कई नये तत्त्वों पर पहुंचे हैं। वे आलोच्य विषयकी विशदभावसे व्याख्या कर कृतकार्य्य हो गणितविदोंमें प्रतिष्ठा लाभ कर गये हैं।

सिलभेष्टर और केर्ली।

जाकोवीके दृष्टान्तोंका अवलम्बन कर अन्यान्य बहुतेरे गणितविद् भी कार्य्यक्षेत्रमें आगे बढ़े। इनमें सिलवेष्टर और केर्लीका नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये वृटेनवासी थे। इन दो गणितविदोंने गवेषणापूर्ण प्रबंधावली द्वारा ट्रेञ्जाक्सन आव दी रायल सोसाइटी, क्रेलस जरनल, दी केम्ब्रिज एण्ड डबलिन मेथेमेटिकेल जरनल, कार्टली जरनल आव मेथेमेटिक्स आदि गणितविषयक पत्रिकाओंके अंगोंको पुष्टि की है। साथ ही ये अपने अपने नाम भी गणितविद्समाजमें चिरस्मरणीय रख गये हैं। वेल्टजर-प्रणीत Theorie und Anwendung der Determinenten और अलमनकृत Higher Algebra नामक वीजगणित ग्रंथमें यह विषय सुन्दर और सरल भावसे और संक्षिप्त आकारमें आलोचित हुआ है। सिवा इसके इस सम्बंधमें स्पटिश्उडने सन् १८५१ ई०में, व्रिओस्कीने सन् १८५८ ई०में, टण्टोरने सन् १८६१ ई०में कई मूल ग्रंथोंकी रचना की।

भारतीय वीजगणित।

पाश्चात्य जगत्में इस विद्याका विशेषभावमें पुष्टिसाधन होने पर भी यथार्थमें यह शास्त्र बहुत पहले भारतवर्षमें प्रचलित था तथा भारतवासी आर्य्यऋषि और पण्डितोंने जो इसकी आलोचना की थी, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। वीजगणितकी उत्पत्तिका इतिहास आलोचना करते समय मि० रुवेन बारोने कुछ प्राचीन ग्रंथोंके निदर्शनको यूरोपवासीके निकट उपस्थित किया, इस कारण यूरोपवासीमात्र ही कृतज्ञताके साथ उनका नाम स्मरण करेंगे। उन्होंने प्राच्यदेशसे कुछ हस्तलिखित पोथियोंको संग्रह किया। उनमेंसे बहुतेरी पुस्तक पारसी भाषामें लिखी हुई थी। इन्होंने इसका थोड़ा बहुत अनुवाद कर मूलसहित

हस्तलेखोको अपने मित्र रायेल मिलिटरी कालेजके अध्यापक मि० डालवीके हाथ समर्पण किया। डालवीने करीव १८०० ई०में इन्हें गणितोत्साही व्यक्तियोंके निकट प्रकाशित किया।

१८१३ ई०में संस्कृत वीजगणित ग्रंथके पारसी अनुवादसे मि० एडवार्ड ष्ट्राचीने 'वीजगणित' नामसे यूरोपमें उसका अंगरेजीमें अनुवाद कर प्रकाशित किया। १८१६ ई०में डा० जान टेलरने मूलसंस्कृत भाषासे 'लीलावती'का अनुवाद कर बम्बई नगरमें उसे प्रकाश किया था।

उक्त 'लीलावती' ग्रन्थ गणित और ज्यामितिविषयक है। उसके तथा वीजगणित नामक ग्रन्थके मूल ग्रन्थकार भारतके सुपरिचित गणितविद् भास्कराचार्य हैं। १८१७ ई०में महामति हेनरी टामस कोलब्रुकने "Algebra; Arithmetic and Mensuration, from the Sanskrit of Brahmagupte and Bhascare" नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इस ग्रन्थमें संस्कृत कवितामें लिखित भास्कराचार्यका वीजगणित और लीलावती तथा ब्रह्मगुप्तका गणिताध्याय और कुट्टकाध्याय अनूदित हो कर विशेषभावमें आलोचित हुआ है। उक्त प्रथम दो ग्रन्थ भास्कर रचित सिद्धान्तशिरोमणि नामक ज्योतिशास्त्रके प्रथमांश और अत्रशिष्टार्द्ध ब्रह्मसिद्धान्त नामक ज्योतिषविषयक एक दूसरे ग्रन्थके बारहवें और अठारहवें अध्यायसे संगृहीत हैं।

भास्करके लेखसे जाना जाता है, कि प्रायः १०७२ शक या ११५० ई०में भास्कराचार्यने सिद्धान्तशिरोमणि ग्रंथ समाप्त किया था। भास्करने अपने वीजगणितके अन्तमें लिखा है, कि उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती ब्रह्म, श्रीधर और पद्मनाभ विरचित विस्तृत वीजगणितसे अपना ग्रन्थ बहुत संक्षेपमें सङ्कलन किया है। सूर्यदास और रङ्गनाथ आदि सिद्धांतशिरोमणिके भाष्यकारोंने आर्यभट और चतुर्वेद पृथूदक स्वामी आदि प्राचीन टीकाकारकोंको भी अपने पूर्ववर्त्ती बताया है।

ब्रह्मगुप्तने ५५० शकमें ब्राह्मस्फुटसिद्धांतकी रचना की। नाना प्रकारके प्रमाणादिका उल्लेख कर मि० कोल ब्रुकने दिखलाया है, कि अरबोंके मध्य गणितविद्या प्रचलनके बहुत पहले ब्रह्मगुप्तका जन्म हुआ था। अतएव अरबोंके बहुत पहले हिन्दू लोग वीजगणितके तत्त्वसे अवगत थे, इसमें जरा भी संदेह नहीं।

ब्रह्मगुप्तका रचित ग्रंथ ही वीजगणितके सम्बन्धमें हिन्दुओंका आदि पुस्तक हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते। विख्यात ज्योतिषी और गणितविद् तथा भास्करके प्रधान भाष्यकार गणेशने आर्यभटके पुस्तकसे एकांश उद्धृत कर दिखाया है, कि वीजगणित पहले 'वीज' नामसे पुकारा जाता था। उनके ग्रंथमें प्रथम पर्यायकी अनिर्दिष्ट सम्पाद्य समाधानोपयोगी कुट्टक नामक अति प्राचीन प्रणालीका भी उल्लेख है। यह कुट्टक प्रणाली आर्य हिन्दुओंकी अति प्राचीन प्रणाली है।

सूर्यदास नामक भास्करके दूसरे भाष्यकारने भी आर्यभटको पुराकालीय वीजगणित लेखकोंमें ऊंचा स्थान दिया है। हिंदूगण वर्गपूरणके नियमानुसार वर्गीय समीकरण (Quadratic equations) का समाधान कर सकते थे। मि० कोलब्रुकका कहना है, कि आर्यभट पुस्तकमें निर्दिष्ट पर्यायका वर्गीय समीकरण भी अनिर्दिष्ट विभागका प्रथम है। यहां तक, कि द्वितीय पर्यायके समीकरणका भी नियम रहना सम्भवपर समझा जाता है।

आर्यभट किस समय वर्त्तमान थे, उसका निर्णय करना कठिन है। मि० कोल ब्रुक अनुमान करते हैं, कि करीव ५वीं सदीमें वा उसके पूर्ववर्त्ती समयमें हिन्दुओंके ये आदि वीजगणितविद् वर्त्तमान थे। कोलब्रुकके मतसे आर्यभट ग्रीक गणितविद् देवफंतासके समसामयिक व्यक्ति थे। देवफंतसाने सम्राट् जुलियनके शासनकालमें प्रायः ३६० ई०को जन्मग्रहण किया था।

आर्यभट देखो।

भारतीय वीजगणितविद् आर्यभट और ग्रीसके देवफंतासके साथ तुलना कर मि० कोलब्रुकने सावित किया है, कि समस्त वीजगणितशास्त्रके उत्कर्ष विषयमें आर्यभट ग्रीकपण्डित देवफंतससे कहीं उच्चासन पानेके योग्य हैं। उन्होंने यह भी कहा है, कि हिन्दुओंने algorithum का श्रेष्ठ और सहज उपाय आविष्कार कर ग्रीकों पर भी प्रतिष्ठालाभ किया है। इसके सिवा

निम्नोक्त नियमोंको यदि अच्छी तरह आलोचना की जाय तो मालूम होगा, कि वीजगणित विषयमें हिंदुओंका ही श्रेष्ठत्व है।

(१म) एकाधिक अज्ञातराशिविशिष्ट समीकरणका समाधान।

(२य) उच्च पर्यायके समीकरणका समाधान। इस विषयमें हिंदूवीजगणितज्ञगण यद्यपि सम्पूर्ण नियमोंका प्रतिपालन करनेमें कृतकार्य न हुए, तो भी उन्होंने जो इस विषयमें यथेष्ट चेष्टा और बुद्धिमत्ताका परिचय दिया है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। वर्त्तमानकालमें प्रचलित द्विवर्गीय समीकरण (biquadratics) के समाधान सम्बन्धमें आर्य्यहिन्दूगण पाश्चात्य जगद्वासी प्राचीन वीजगणितविदोंके बहुत पहले जगत्‌में इस तत्त्वका आभास झलका गये हैं।

(३य) प्रथम और द्वितीय पर्यायका अनिर्दिष्ट सम्पाद्य (Indeterminate problems of the first and second degree-) समाधान। इस विषयमें हिन्दुओंने देवफन्तासस कहीं अधिक आविष्कार किया था तथा आजकल वीजगणितमें प्रचलित तत्त्वसम्बन्धमें अपनी धारणाको उन्होंमे स्पष्टभावमें प्रकाशित करनेकी चेष्टा की।

(४र्थ) ज्योतिषशास्त्र और ज्यामितिसम्बन्धीय विषयादिमें वीजगणितका नियम प्रयोग।

अभी इस विषयमें वीजगणितके जो सब तत्त्व आविष्कृत हुए हैं, हिन्दूवीजगणितज्ञ अति प्राचीनकालमें भी उन सब तत्त्वोंका मूल उद्घाटन कर गये हैं।

अरबोंने बड़ी विचक्षणतासे विज्ञानालोचनामें ख्याति लाभ की है सही, परन्तु सच पूछिये तो उन लोगोंके द्वारा बीजगणित-सम्बन्धमें कुछ भी उन्नति न हुई। जिस अवस्थामें और जिस समय यह शास्त्र यूरोपमें लाया गया उस समयसे वीजगणितकी पूर्ण परिपुष्टि होनेमें कई सदी बीत गई थी, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु पाश्चात्य जगत्‌में वीजगणितकी प्रवेश-प्रतिष्ठा और पूर्णपुष्टिकी बातको छोड़ कर हमें वीजगणितके प्राचीन इतिहास-सम्बन्धमें मालूम होता है, कि आर्य्यभटके बहुत पहलेसे ही भारतमें यह विद्या किसी न किसी तरह प्रचलित थी। यदि वास्तविक ज्योतिषतत्त्वके साथ इस शास्त्रके नैकट्य सम्बन्धके विषयमें आलोचना की जाय, तो हम निःसन्देह कह सकते हैं, कि कई सदी पहलेसे ज्योतिषके साथ ही साथ इस विद्याका भी उद्भव हुआ था। Astronomie Indienne के प्रणेता बेलीके मतानुसरण कर अध्यापक प्लेफेयरने स्वकृत Memoir on the Astronomy of the Brahmins ग्रन्थमें लिखा है, कि हिन्दूज्योतिषशास्त्र अति प्राचीनकालसे विद्यमान है। ईसा जन्मसे ३००० हजारसे भी बहुत पहले इस शास्त्रका आविष्कार-काल माना जाता है। उक्त तत्त्वके सम्बन्धमें संशय करके लाप्लेस, डिलाम्ब्रे आदि यूरोपीय पण्डितोंने बहुत-सी बातें कही हैं। अध्यापक लेसलीने अपने Philosophy of Arithmetic ग्रन्थमें लीलावतीके सम्बन्धमें लिखा है, कि उक्त ग्रन्थ कुछ अपरिस्फुट कविता लिखित नियमोंका समावेशमात्र है।

एडिनवरा यूनिवर्सिटीके गणिताध्यक्ष मि० फिलिप केलाण्ड और यूरोपीय किसी किसी पण्डितने लेसलीके मतानुसार लीलावतीको अस्पष्ट और अकिञ्चित समझा है सही, पर हम उसे माननेको तैयार नहीं। लीलावती जनसाधारणके लिये दुर्ज्ञेय और दुर्बोध्य है। मान लिया वह वीजगणितविषयक प्रकृष्ट ग्रन्थ नहीं है, तो भी उसमें जो वर्त्तमान वीजगणितके मौलिक गुरुत्व और वीजगणित-प्रक्रियासे निष्पाद्य विभिन्न प्रकारके कितने विषय लिपिबद्ध हैं; उसे कदापि अस्वीकार नहीं कर सकते। वर्त्तमान आलोचनामें वे सब गुप्ततत्त्व उद्घाटित हुए हैं।

गणितज्ञ केलाण्ड, अध्यापक प्लेफेयरके मतानुवर्त्ती हो हिन्दूवीजगणितके प्राचीनत्वको अस्वीकार नहीं कर सकते। अध्यापक प्लेफेयरने कई सदी तक हिन्दूगणितकी अनुत्कर्षावस्था हो बातोंका उल्लेख कर निम्नोक्त भाषामें उसकी पूर्णाङ्गताका परिचय दिया है—

'In India, everything (as well as algebra) seems equally insurmountable and truth and error are equally assured of permanence in the stations they have once occupied."

भारतीय ज्योतिष और वीजगणितकी प्राचीनता जो अविसम्बादित है, उसे वर्त्तमान प्रत्नतत्त्वविदोंने एक

स्वरसे स्वीकार किया है। सुप्राचीन वैदिक युगके ज्योतिस्तत्त्वकी आलोचनासे भी वह प्रमाणित होता है।

प्राचीन भारतमें एक समय जो राजनीति, व्यवस्थाशास्त्र, धर्मविज्ञान और आचारपद्धतिका यथेष्ट प्रचार था, उसके भी काफी प्रमाण हैं। प्राचीन कालसे इन सब विषयोंकी आलोचना और राजशक्तिके साहाय्याभावमें आज तक वह एक ही तरह चला आता है। जिस शक्तिके बलसे भारतने एक समय इन सब विषयोंमें सफलता प्राप्त की थी, उसकी गतिमें किसी प्रकारकी दुर्निवार्य बाधा उपस्थित होनेसे ही भारतकी अवनति हुई है, इसमें सन्देह नहीं। अथवा यह स्वीकार करना होगा, कि सभी विचक्षण अमानुषिक धीशक्तिसम्पन्न आर्य्यऋषिगण भारतमें अपूर्व विद्याका आविष्कार कर गये हैं, इसके बाद वैसे व्यक्तिका फिर इस देशमें जन्मग्रहण नहीं हुआ, इसी कारण भारतकी आज यह दुर्दशा है।

अंकपात और प्रथम उत्पत्ति।

(१) पाटीगणितमें दश संख्या है, विशेष नियमानुसार इन संख्याओंके नाना प्रकारके संयोगसे किसी एक अङ्ककी राशि समझी जायेगी। किन्तु गणितविषयक दुरूह तत्त्वनिर्णयमें अनेक समय इन अङ्कों द्वारा कार्य्य नहीं होता। इस कारण अङ्कराशिके सम्बन्धनिर्णयके लिये अङ्कपातके एक साधारण नियम आविष्कार करनेकी आवश्यकता होती है। उसीसे वीजगणितकी उत्पत्ति है।

वीजगणितमें कोई भी राशि साङ्केतिक संज्ञा द्वारा सहजमें समझी जा सकती है। साधारणतः वर्णमाला द्वारा ही उक्त राशिका बोध होता है। पाटीगणितविषयक सम्पाद्यका समाधान करनेके लिये कुछ राशि निर्दिष्ट हैं तथा उसीके निर्द्धारणके लिये अन्य बहुत सी अज्ञातसंख्या निर्दिष्ट हुई हैं। वर्णमालाके आदि अक्षर क, ख, ग इत्यादि ज्ञात संख्याके बदलेमें व्यवहार किये जाते हैं तथा अन्तिम अक्षरमाला ल, श, ह, इत्यादि द्वारा अज्ञात अनुसन्धानीय राशि लिखी जाती है।

चिह्नकी संज्ञा।

(२) गणितमें + (योग) का चिह्न व्यवहृत होनेसे समझा जायगा, कि जिस राशिके पहले यह चिह्न रहता है, उसके साथ कोई एक राशि जोड़नी होगी। जैसे, क, ख, इससे क और ख की एकत्र समष्टि समझी जाती है। ३+५, इससे ३ और ५को समष्टि अर्थात् ८ का बोध होता है।

—(वियोग) चिह्न व्यवहृत होनेसे मालूम पड़ता है, कि जिस राशिके पहले यह चिह्न बैठा है, उसे किसी दूसरी राशिसे घटाना होगा। जैसे, क—ख लिखनेसे समझा जायगा, कि क से खको घटाना होगा। ६-२ लिखनेका मतलब यह है कि, कि ६से २ वियोग करना होगा अर्थात् अवशिष्ट ४ राशि रखनी होगी।

जिन सब राशियोंके पहले + चिह्न रहता है, उसे भावात्मक (positive) और जिसके पहले — चिह्न रहता है, उसे अभावात्मक (negative) राशि कहते हैं।

किसी राशिके पहले यदि कोई चिह्न न रहे, तो + (जोड़) चिह्न मानना होगा।

जिन सब राशियोंके पहले + अथवा — चिह्न दिखाई देता है उन्हें समचिह्नविशिष्ट राशि कहते हैं। जैसे + क और + ख यह दो संख्या समचिह्नविशिष्ट है। फिर + क और + ग यह दोनों संख्या असमचिह्नविशिष्ट है।

(३) जिस राशिमें सिर्फ एक संख्या रहती है। उसे अविमिश्र राशि कहते हैं। फिर यदि कोई राशि योग वा वियोग चिह्नविशिष्ट अनेक संख्याओंकी समष्टिभूत हो तो उसे मिश्रराशि (Compound) कहते हैं। + क और − ग ये अविमिश्रराशि हैं, किन्तु ख + ग अथवा क + ख + ग ये मिश्रराशि हैं।

(४) संख्याका गुणनफल निकालनेमें साधारणतः उन संख्याको सटा कर रखना होता है। अथवा × चिह्न बीचमें रख उन्हें संयुक्त करना होता है, अथवा दोनों के बीचमें × या · चिह्न दिया जाता है। जैसे—क ख या क × ख, या क·ख। प्रत्येकसे गुणाका बोध होता है। फिर क ख ग या क × ख × ग, या क · ख · ग इससे भी क, ख और गकी गुणसमष्टिका बोध हुआ। यदि गुणनीय राशि मिश्र पर्यायकी हों, तो उन सब राशियोंके ऊपर एक रेखा (——) और मध्यमें × चिह्न दिया जाता है। उस राशिके ऊपर जो रेखा दी

जाती है, उसे (Vinculum) कहते हैं। जैसे क × ग + घ × ङ—च, इससे मालूम होता है, कि क अकेली एक राशि है। ग + घका योगफल द्वितीय राशि है। तथा ङ—चके वियोगफलसे जो राशि निकलती है, वह तृतीय राशि है। इन तीनों राशिको एक साथ गुणा करना होगा। ऊपरवाली रेखा द्वारा चिह्नित न करके उन सब राशियोंको बन्धनीमें भी रखा जा सकता है; जैसे, क (ग + घ) (ङ) अथवा क × (ग + घ) × (ङ—च)।

वीजगणितमें प्रयुज्य इस प्रकारकी वर्णमालाके पहले यदि कोई संख्या व्यवहृत हो, तो उस संख्याको अङ्कघटित प्रकृति कहते हैं। अङ्क कितनी बार लिया जाये, इससे वही बोध होता है। जैसे, ३ क इस राशि द्वारा बोध होता है, कि 'क' को ३ बार लेना होगा।

(५) एक राशिको दूसरी राशिसे भाग देने पर भागफल जो निकलेगा, वह एक रेखाके ऊपर विभाज्य राशि रख उसके नीचे भाजक रखनेसे समझा जाता है जैसे, $\frac{\text{१२}}{\text{३}}$ इस राशि द्वारा यही समझा जाता है, कि विभाज्य १२में भाजक ३का भाग देनेसे ही भागफल ४ निकलेगा; अथवा $\frac{\text{ख}}{\text{क}}$ इससे समझा जाता है, कि विभाज्य 'ख' को 'क' से विभाग करनेसे ही भागफल निकल आयेगा।

(६) किसी दो संख्याकी समानता मालूम होनेसे उनके बीच = (समान चिह्न) दिया जाता है। जैसे, क + ख = ग - घ इससे यही समझा जाता है, कि क और खका योगफल ग और घके वियोगफलके समान है।

(७) अविमिश्र राशि और मिश्रराशिकी संख्यामें एक ही वर्णमाला या वर्णमालाके समष्टोवद्ध होनेसे उनको समश्रेणादिभुक्तराशि कहा जाता है। जैसे + क ख और —५ कख ये दो राशियां समपर्यायकी हैं। किन्तु + क ख और + क ख ख, ये समपर्यायकी नहीं हैं।

गणितमें अन्यान्य कई विषयोंके बदले दूसरे प्रकारके चिह्नादि भी व्यवहृत होते हैं। जैसे > यह चिह्न अधिक संख्याज्ञापक, < इससे न्यून संख्याका अर्थ समझा जाता है और ∴ इस चिह्नसे "इसलिये" का अर्थ सूचित होता है।

(८) वीजविज्ञानमें राशियोंके गणितको सीमा पार करने पर भी उनमें निवद्ध वर्णमालासंख्यामें मूल राशिकी शक्ति सीमावद्ध नहीं रहती। राशि संज्ञा जिस तरहसे पहले अभिव्यक्त होती है, क्रमसे वह विशिष्ट संज्ञाप्राप्त होती है। जैसे + क यदि कभी — क लाभांश समझा जाये, तो — क उसी योगफलकी क्षतिका अंश समझा जायेगा। इस तरह यदि + क कभी 'क' संज्ञक कीटमाणकी अग्रगति समझा जाये, तो — क उक्त संख्यामानकी पश्चाद्गति समझी जायेगी। इससे स्पष्ट ही समझा जाता है, कि + और — चिह्नद्वय परस्परकी विपरीत क्रियाके समष्टिचिह्न हैं। इस तरह अनुशीलनका पक्षपाती हो हम × और ÷ दोनों चिह्नोंको राशिव्रण संज्ञाके परस्परका विपर्यायबोधक मान सकते हैं। वीजगणितमें राशिकी क्रियाके समाधानके लिये उक्त चार चिह्नोंके जो कार्य्य हैं वे निम्नोक्त दृष्टांतमें स्पष्टभावसे दिखाये जा सकते हैं। जैसे + क - क = + ० या — ० ; जहां + ० रहता है, वहां यह ० द्वारा वृद्धिप्राप्त और — ० की जगह ० द्वारा लब्धीकृत समझा जायगा। इसी तरह × क ÷ क = × १ या ÷ १ ; × १ कहनेसे १ द्वारा गुणित और ÷ १ कहनेसे १ द्वारा विभक्त करना होगा।

(९) संख्यागणितमें जिस प्रणालीसे चिह्न राशिको संयोग करता है, वीजगणितमें उसका व्यतिक्रम दिखाई नहीं देता। किन्तु साधारणकी सुविधाके लिये निम्नलिखित ३ नियम विवृत किये जाते हैं—

१म। + या — चिह्न द्वारा राशियां परस्परका सम्बन्ध और भावान्तर प्राप्त होने पर भी कभी भी संयुक्त राशियों द्वारा परिचालित नहीं होता।

२य। जिस किसी संख्यासे जिस किसी संख्याका योग या वियोग किया जा सके, उसको Distributive law कहते हैं।

३य। गुणन या भाग भी इसी तरह दोनों राशियोंमें किया जाता है। इसको Commutative law कहा जाता है।

सब विषयोंमें वीजगणितका प्रयोग सहजसाध्य होगा, ऐसी चिन्ता कर उपर्युक्त साधारण नियम वीज-

गणितमें सन्निवेशित किया जाता है ; किंतु ३रे नियमका निबद्ध न रहनेसे यह चतुष्कके विज्ञानमें परिणत हुआ है। इस तरह सीमाधीन बीजविज्ञानके नियमानुसार "क ख" या एक वस्तु हो नहीं सकती।

बीजगर्भ (सं० पु०) बीजानि गर्भे अभ्यन्तरे यस्य। पटोल, परवल।

बीजगुप्ति (सं० स्त्री०) बीजानां गुप्तिर्यत्र। शिम्बी, सेम।

बीजद्रुम (सं० पु०) असुरवृक्ष, विजयसार या असन नामक वृक्ष।

बीजधान्य (सं० क्ली०) बीजप्रधानं धान्यं। १ धान्यक, धनियाँ। २ बीजके लिये रखा हुआ धान।

बीजन (सं० क्ली०) बीज्यतेऽनेनेति वि- ईज-करणे ल्युट्। १ व्यजन, पंखा झलना। २ सञ्चालन। ३ व्यजन साधन, पंखा, चामर आदि। ४ सञ्चालनवस्तु। (पु०) ५ चक्रवाक, चकोर पक्षी। ६ जीवञ्जीव पक्षी। (सारस्वत) ७ पीतलोध्र।

बीजपादप (सं० पु०) १ असनवृक्ष, पियासाल, विजयसार। २ भल्लातक वृक्ष, भिलावां।

बीजपुरुष (सं० पु०) आदिपुरुष, वंशका प्रधानपुरुष। जिससे वंशको प्रथम गणना की जाय अर्थात् जिससे वह वंश चला हो उसे बीजपुरुष कहते हैं।

बीजपुष्प (सं० पु० क्ली०) बीजप्रधानं पुष्पं यस्य। १ मरुवक वृक्ष, मरुआ। २ मदनवृक्ष, मैनफल। ३ नालवृक्ष, ज्वार। (राजनि०)

बीजपुष्पक (सं० पु०) बीजपुष्प देखो।

बीजपूर (सं० पु०) बीजानांपूरः समूहो यत्र। १ फलपूर, बिजौरा, नीबू। पर्याय—बीजपूर्ण, पूर्णबीज, सुकेशर, बीजक, केशराम्ल, मातुलुङ्ग, सुपूरक, रुचक, बीजफलक, जन्तुघ्न, दन्तुरच्छद, पूरक, रोचनफल। इसके फलका गुण—अम्ल, कटु, उष्ण, श्वासकास और वायुनाशक, कण्ठशोधनकर, लघु, हृद्य, दीपन, रुचिकारक, पाचन, आध्मान, गुल्म, हृद्रोग, प्लीहा और उदावर्त्तनाशक। विबन्ध, हिक्का, शूल और छर्दि रोगमें यह विशेष उपकारी है। (राजनि०) २ मधुकर्कटी, चकोतरा, गलगल। इसका गुण—स्वादिष्ट, रुचिकर, शीतल, गुरु, रक्तपित्त, क्षय, श्वासकास, हिक्का और भ्रमनाशक।

बीजपूरवन—मेरुके निकटवर्त्ती स्थानभेद।

(लिङ्गपु० ४।६३)

बीजपूराद्यघृत (सं० स्त्री०) शूलरोगोक्त घृतौषधविशेष। प्रस्तुतप्रणाली—घी ४ सेर, काढ़े के लिये बीजपुर अर्थात् चकोतरा नीबूका मूल, रेंडीका मूल, रास्ना, गोखरू, बिजबंद प्रत्येक ५ पल, भूसी रहित जौ २ सेर, जल ६४ सेर, शेष १६ सेर। जल ६४ सेर, शेष १६ सेर, धनियां, हरीतकी, त्रिकटु, हिङ्ग, सचल, विट्, सैन्धव, यवक्षार, श्वेतधूना, अम्लवेतस, कूटज, अनार, वृक्षाम्ल, जीरा, मंगरेला, प्रत्येक २ तोला। दहीका पानी ८ सेर। धीमी आंचमें यथाविधान पाक करना होगा। यह घृत अग्निके बलानुसार उपयुक्त मात्रामें सेवन करनेसे त्रिदोषजशूल वातशूल, यकृच्छूल आदि नष्ट होते हैं।

(भैषज्यरत्ना० शूलाधि०)

बीजपूर्ण (सं० पु०) १ बीजपूर, बिजौरा नीबू। २ मधुबीजपूर, शरवती नीबू। (पु०) ३ बीज द्वारा पूर्ण।

बीजपेशिका (सं० स्त्री०) बीजस्य शुक्रस्य पेशिकेव। अण्डकोष।

बीजफलक (सं० पु०) बीजप्रधानं फलं यस्य कन्। बीजपूर, बिजौरा नीबू।

बीजमातृका (सं० स्त्री०) पद्मबीज, कमलगट्टा।

बीजमार्गी (सं० पु०) वैष्णव सम्प्रदाय विशेष। पश्चिम भारतके स्थान स्थानमें इनका वास है। ये अपनेको निर्गुणका उपासक बतलाते हैं। ये कभी भी किसी देवमूर्त्तिकी उपासना नही करते और न अपने भजनालयमें किसी देवताकी प्रतिष्ठा ही करते हैं। नानक, दादू, कबीर, आदि जो सब पंथी हैं ये भी इसी तरहके एक पंथी समझी जाते हैं। रामात् निमात् आदि वैष्णव सम्प्रदाय इनको पाखण्डी कह कर इनसे घृणा करते हैं। वे इनके साथ बैठना तो दूर रहा इनसे अङ्गस्पर्श कर जाने पर भी अपनेको अपवित्र समझते हैं। उनकी समझमें ये जहां आ कर बैठ जाते हैं, वह स्थान भी अपवित्र हो जाता है।

ये शुक्रको ही परब्रह्म कहते हैं। क्योंकि शुक्रसे ही सारे जीवोंकी उत्पत्ति होती है। शुक्रका नाम बीज है इसीसे इनका नाम बीजमार्गी हुआ है। इनकी

भजन-सभाका नाम समाज और भजनालयका नाम समाज-गृह है। गोरखनाथ आदि विरचित भजनोंको ये गाया करते हैं।

शैव शाक्त आदिकी तरह इनका भी एक तरहका चक्र होता है और उससे अतीव गुह्य व्यापार संघटित होता है। शुक्लपक्षीय १४ को इस चक्रका अनुष्ठान होता है। कोई भी वीजमार्गी अपने घरकी किसी स्त्रीको किसी साधु अर्थात् उदासी विशेषके साथ सहवास करा कर उसका वीज निकाल लेता है।* उसी वीजको शीशीमें बन्द कर रखते और चक्रके दिन यह वीज समाजगृहमें ला कर एक वेदी पर पुष्पशय्याके बीच एक पात्रमें रखते हैं।† इसके बाद उसमें दुग्ध, मधु, घृत और दधि मिला कर पञ्चामृत तय्यार कर पुष्प और मिष्ठान्न मिला कर उसका भोग लगाते हैं। भोग लगानेके बाद समाजके सबको वह परिवेशन किया जाता है। ये चक्रस्थलमें जाति पांतिका बिचार न करके सबका बनाया सभी खाते हैं।

गिर्नारके अञ्चलमें काठियावाड़में भी इनकी बस्ती है। ये अपनी मत-प्रणालीको विसामारग कहते हैं। इनके महन्त गृहस्थ हैं। सुना जाता है, कि परमार्थसाधनाके उद्देश्यसे एक वीजमार्गी अन्य वीजमार्गीकी भार्यासे सहवास करता है। किसीका विवाह होनेसे उसकी भार्य्याको महन्तके साथ तीन दिनों तक रहना पड़ता है। महन्त उस स्त्रीसे सम्भोग करते और उसे मन्त्रोपदेश देते हैं।

ये ऐसे व्यभिचारी हो कर भी सर्वथा स्वेच्छाचारी नहीं हैं। शुद्धाचाराभिमानी अन्यान्य वैष्णवोंकी तरह गलेमें तुलसीकी माला पहनते हैं और मद्य मांसके व्यवहारसे भी दूर रहते हैं। ये अपनेको निर्गुण उपासक कहा करते हैं। फिर भी राम और कृष्णके गुण भी गान करते हैं, किन्तु राम और कृष्णको विष्णुका अवतार नहीं मानते। परब्रह्मका नाम ही राम और कृष्ण हैं। ये देहको कौशल्या, दश इन्द्रियको दशरथ, कुमति या द्वेषको कैकेयी, उदरको भरत और सत्त्वगुणको शत्रुघ्न कहते हैं। देहके अभ्यन्तरस्थित रामरस नामक पदार्थ विशेषको राम और लाहा नामक स्थान विशेषको लक्ष्मण कहते हैं।

इस सम्प्रदायकी अनुष्ठित परक्रिया आदि पल्टुदासी सत्नामी आदिकी तरह है। पल्टुदासी देखो।

वीजरत्न (सं० पु०) वीजं रत्नमिव यस्य। माषकलाय, उड़दकी दाल।

वीजरुह (सं० पु०) वीजात् रोहतीति रुह इगुपधात् क। शालिधान्यादि।

वीजरेचक (सं० पु०) जयपाल, जमालगोटा।

वीजरेचन (सं० क्ली०) वीजं रेचनं रेचकं यस्य। जयपाल, जमालगोटा।

वीजवपन (सं० क्ली०) वीजानां वपनं। क्षेत्रमें वीज डालना, जमीनमें बीज बोना।

शास्त्रमें वीजवपनका नियम इस तरह लिखा है:—पूर्वफल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वभाद्रपद, कृत्तिका, भरणी, चित्रा, आर्द्रा और अश्लेषा भिन्न नक्षत्रोंमें; चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी, अष्टमी और अमावस्या भिन्न तिथियोंमें; मिथुन, कन्या, धनुः, मीन, वृश्चिक और वृषलग्नमें शनि और मङ्गल भिन्न वारको शुभयोग और शुभकरणमें गृही अपनी चन्द्रशुद्धि अवस्थामें पवित्र देह तथा हृष्ट चित्तसे उत्साहके साथ नाचते नाचते पूर्वाभिमुखी हो जलसे भरे घड़े और सुवर्ण जलनिषिक्त वीजकी तीन मुट्ठी ले। पीछे मन ही मन इन्द्रदेवका स्मरण कर यह बीज प्राजापत्यतीर्थ* द्वारा क्रमसे भूमिमें गिरावे और निम्न लिखित मन्त्रका पाठ करे। वीज वपनके बाद उस दिन

---

* इनके घर किसी साधुके आने पर अपनी स्त्री अथवा कन्याको उसकी सेवामें नियुक्त करते हैं, उसके साथ सहवास करा कर साधुका वीज अर्थात् शुक्र ग्रहण कर एक शीशीमें रख लेते हैं।

† और भी सुना गया है, कि महन्तके पास अपनी स्त्रीको भेज कर दोनोंके परस्पर सहवास करा कर बीज बाहर करा लेते हैं और वह वीज तथा पात्रस्थ बीज एकत्र मिला कर उसकी पूजा करते हैं।

* कनिष्ठा अंगुलिके निम्नभागका नाम प्राजापत्यतीर्थ है।

वहां ही अपने बन्धुबान्धवोंके साथ भोजनादि करना उचित है। मन्त्र यह है--

"त्वं वै बसुन्धरे सीते वहुपुष्पफलप्रदे।
नमस्ते मे शुभं नित्यं कृषिं मेधां शुभे कुरु॥
रोहन्तु सर्वशस्यानि काले देवः प्रवर्षतु।
कर्षकास्तु भवन्त्वग्रा धान्येन च धनेन च स्वाहा॥"

(दीपिका)

ज्योतिस्तत्त्वमें लिखा है—वैशाख महीनेमें ही वीज वपन करना सर्वापेक्षा उत्तम है। ज्येष्ठमासमें जिस समय सूर्य्य रोहिणी नक्षत्रमें अवस्थान करते हैं, उस समय वीज वपन मध्यम है। इसके सिवा अन्य महीनेमें वीजवपन करना अधम है। किंतु श्रावण महीनेमें वीजवपन करनेसे अशुभ ही होता है। नक्षत्रोंमें पूर्व भाद्रपद, मूला, रोहिणी, उत्तरफल्गुनी, विशाखा और शतभिषा आदि ये कई नक्षत्र वीजवपनके लिये उत्तम हैं।

स्थानभेदसे वीजवपन आदिका निषेध—हल्दी और नीलका वीज घरमें बोनेसे गृहीको धनपुत्रसे हाथ धोना पड़ता है। किन्तु जब यह स्वयं उत्पन्न हो, तो उसके प्रतिपालनमें किसी तरहका दोष नहीं होता। यदि मोहवश सरसोंका वीज गृह उपवनमें रोपण किया जाये, तो लोगोंको शत्रुसे पराभव, और यावतीय साधन और धनक्षय होता है। नील, पलाश, इमली, श्वेत अपराजिता और काञ्चन, इनका वीज कहीं भी रोपण नहीं करना चाहिये, करनेसे नितान्त अमङ्गल होता है।

धान्यादिके वीजवपनकी तरह वृक्षादि वीज रोपणकालमें भी पूर्व ओरको मुंह कर जल पूर्ण घड़ा और सुवर्ण जलसंयुक्त वीज ग्रहण कर, पीछे स्नान और शुचि हो कर "वसुधेति सुशीतेति पुण्यदेति धरेतिच। नमस्ते शुभगे नित्यं द्रुमोऽयं वर्द्धतामिति।" यह मन्त्र पढ़ कर वीज रोपण करना होता है।

वीजवर (सं० पु०) उड़द, कलाय।

वीजवाहन (सं० पु०) महादेव। (भारत० १३।१७।३०)

वीजवृक्ष (सं० पु०) वीजादेव वृक्षो यस्य वोजप्रधानो वृक्षो वा। १ अशन, पियासाल। २ भल्लातक, भिलावां।

वीजसञ्चय (सं० पु०) वीजानां वपनयोग्यधान्यादीनां सञ्चयः संग्रहः सम्-चि-अच्। वपनयोग्य धान्यादिवीजका संग्रह, धानका बीआ रखना।

वीजवपनकी तरह धान आदिका बीआ भी शुभ दिन और क्षण देख कर करना होता है। हस्ता, चित्रा, पुनर्वसु, स्वाती, रेवती, श्रवणा और धनिष्ठा, इन सब नक्षत्रोंमें; मेष, कर्कट, तुला और मकर लग्नमें; बुध, वृहस्पति और शुक्रवारमें; माघ अथवा फाल्गुन मासमें सभी प्रकारका वीज संग्रह कर रखना कर्त्तव्य है।

वीजसंग्रहका नियम—धान आदिके पकने पर शुभ दिन क्षण देख उन्हें काटे और तुरत पीट कर तय्यार करे। इसके बाद धूपमें सुखा कर उसे किसी ऐसे उच्च स्थान पर रखे जिससे भूमिकी आर्द्रताका संस्रव न हो। क्योंकि वह वीज यदि किसी कारणवशतः आर्द्रताको प्राप्त हो जाय, तो उसमें ऐसी गरमी घुस जाता है, कि भीतरके अंकुर बिलकुल नष्ट हो जाते हैं। शास्त्रमें भी इसका आभास मिलता है—

"दीपाग्निना च संस्पृष्टं वृष्ट्या चोपहतश्च यत्।
वर्जनीयं तथा वीजं यत् स्यात् कीटसमन्वितं॥"

प्रदीप्ताग्नि संस्पृष्ट अर्थात् गृहदाहादिके समय या किसी दूसरे कारणसे दग्ध तुल्य, वृष्टिसे उपहत या नष्ट अर्थात् सड़ा हुआ तथा कीड़ेका खाया हुआ बीज वर्जनीय है।

गर्गका कहना है, कि मृगशिरा, पुनर्वसु, मघा, ज्येष्ठा, उत्तरफल्गुनी, उत्तराषाढ़ा और उत्तरभाद्रपद इन सब नक्षत्रोंमें; मीनलग्नमें तथा निधन और पापग्रह वर्जित चन्द्रमें अर्थात् जिस दिन चन्द्र किसी प्रकार पापग्रह युक्त या निधनसंज्ञक न हों, उस दिन धान आदिके वीजको एक प्रकोष्ठमें रख वहां निम्नोक्त मन्त्र किसी पत्रादिमें लिख विन्यस्त कर देना होगा। मन्त्र इस प्रकार है—

"धनदाय सर्वलोकाहिताय देहि मे धान्यं स्वाहा।
नम ईशाये ईशादेवि सर्वलोकविवर्द्धिनि-
कामरूपिणि धान्यं देहि स्वाहा॥" (ज्योतिस्तत्त्व)

ज्योतिस्तत्त्वमें इस सम्बन्धमें और भी कहा है, कि मूषिकादिकी निवृत्तिके लिये पत्र अर्थात् भोजपत्र आदिमें मन्त्र लिख कर उत्तरफल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तर-

भाद्रपद, रेवती, धनिष्ठा और शतभिषा नक्षत्रमें उसे धान्यराशिके मध्य रखना होगा। विज्ञपुरुषको चाहिये, कि वे किसी प्रकार शस्यफलका व्यय तथा अभिनवा स्त्रीसे संभोग और दक्षिणदिशाकी यात्रा न करें।

वीजसार (सं० पु०) वायविड‍ङ्ग।

वीजसू (सं० स्त्री०) वीजानि सूते इति सू-क्विप्। पृथ्वी।

वीजस्थापन (सं० क्ली०) वीजस्य स्थापनं। वीजसंग्रह। वीजसञ्चय देखो।

वीजस्नेह (सं० पु०) पलाशवृक्ष, ढाक।

वीजा—पञ्जाब गवर्नमेण्टकी राजकीय देखरेखमें परिरक्षित सिमला-शैल पर अवस्थित एक सामन्तराज्य। यह अक्षा० ३०° ५६′ ३″ उ० तथा देशा० ७७° २′ पू०के मध्य अवस्थित है। भूपरिमाण ४ वर्गमील है। यहांके ठाकुर उपाधिधारी सरदार राजपूतवंशीय हैं। उस वंशके ठाकुर उभयचांद १८८५ ई०में विद्यमान थे। उन्होंने कसौलीमें अंग्रेजी सेनाके बसनेके लिये कुछ जमीन दी थी। उसके बदलेमें आज भी उनके वंशधर अंगरेज गवर्नमेण्टसे वार्षिक १००) रु० पाते हैं। उनका राजस्व एक हजार रु० है जिनमेंसे १८०) रु० वृटिश-सरकारको करमें देना पड़ता है।

यहांके ठाकुर जिस सनदके बल भूमि पर अधिकार करते हैं उससे वे अंगरेजराजकी स्वार्थरक्षा और पार्वतीय पथघाट आदि की रक्षा तथा प्रजाके हितकर कार्याकी उन्नति करनेके लिये बाध्य हैं।

वीजाकृत (सं० त्रि०) वीजेन सह कृतं कृष्टमिति वीज-डाच् (कृञो द्वितीयतृतीयशम्ववीजात् कृषौ। पा ५।४।५८) उप्तकृष्टम्। जो वीजके साथ क्षेत्रमें रोपे जा कर पीछे वहां प्रविष्ट हो।

वीजाख्य (सं० पु०) १ जयपाल वृक्ष, जमालगोटेका पौधा। २ जमालगोटा।

वीजाङ्कुरन्याय (सं० पु०) न्यायभेद। पहले वीज या पहले अंकुर अथवा वीजसे अंकुर हुआ है या अंकुरसे वीज हुआ है, इस प्रकार संदेहस्थलमें यह न्याय होता है। न्याय शब्द देखो।

वीजानयन—फलित ज्योतिषोक्त ग्रहभुक्तिकालनिर्णयकी प्रक्रियाविशेष। इसमें पहले कल्यब्दपिण्डको तीन हजारसे भाग देना होता है। भागफल जो निकलता है वह भागादि वीज कहलाता है। इसका दूसरा नाम वीजांश है। उस वीजांशादिको चन्द्रकेन्द्रमें जोड़ना होगा। शनिकी मध्यभुक्तिको तीनसे तथा बुधकी शीघ्रभुक्तिको चार से गुना कर उसमें वीजांश जोड़ दे। उक्त वीजांशको दूना करके वृहस्पतिकी मध्यभूक्तिमें तथा त्रिगुणित वीजांशको शुक्रकी शीघ्र भुक्तिमें घटानेसे उनके मध्य और शीघ्रको वीजशुद्ध जानना होगा।

वीजापुर—दाक्षिणात्यका मुसलमान-शासित एक देश। इसका नाम विजयपुर है।

विशेष विवरण विजयपुर शब्दमें देखो।

वीजाम्ल (सं० क्ली०) वीजे अम्लोऽम्लरसो यस्य। वृक्षाम्ल, महादा।

वीजाश्विक (सं० पु०) उष्ट्र, ऊंट।

वीजिन् (सं० पु०) वीजमस्त्यस्येति वीज-इनि। १ पिता। (हेम) २ वह जिसमें वीज हों। ३ चौलाईका साग।

वीजोदक (सं० क्ली०) वीजमिव कठिनमुदकं, तस्य कठिनत्वात्तथात्वं। करका, आकाशसे गिरनेवाला ओला।

वीजोप्तिचक्र (सं० क्ली०) वीजानामुप्तये शुभाशुभसूचकं चक्रं। वीजवपनमें शुभ अशुभ जाननेके लिये सर्पाकारचक्र। वीज वपन करनेसे शुभ होगा या अशुभ, यह चक्र द्वारा जाना जाता है। इस चक्रका विषय ज्योतिस्तत्त्वमें इस प्रकार लिखा है—एक सर्पको अङ्कित कर उसमें निम्नोक्त रूपसे नक्षत्रविन्यास करना होगा,—सूर्य जिस नक्षत्रमें हों उस नक्षत्रसे आरम्भ कर सर्पके मुखमें ३, गलेमें ३, उदरमें १२, पुच्छमें ४ तथा बाहरमें ५ नक्षत्र रखने होते हैं अर्थात् सूर्य यदि अश्विनी नक्षत्रमें हों, तो सर्पके मुखमें अश्विनी, भरणी, कृत्तिका-गलेमें रोहिणीसे आर्द्रा, उदरमें पुनर्वसुसे ज्येष्ठा, पुच्छमें मूलासे श्रवणा तथा बाहरमें धनिष्ठासे रेवती नक्षत्र लिखना होता है। दिनका शुभाशुभ उस दिनके नक्षत्र द्वारा ही स्थिर करना होता है। सर्पके वदनमें जो नक्षत्र रहता है, उस नक्षत्रमें वीज वपन करनेसे चोलक (शस्यनाश), गलेमें करनेसे अङ्गार, उदरमें धान्यकी वृद्धि, पुच्छमें धान्यक्षय तथा बाहरमें ईति और रोगभय होता है। अतएव उक्त चक्रानुसार निषिद्ध नक्षत्रमें वीजवपन न करना चाहिये।

वीज्य (सं॰ त्रि॰) विशेषेण इज्यः पूज्यः वा वीजाय हितः, (उगवादिभ्यो। पा ५।१।२) इति यत्। १ कुलोत्पन्न, जो अच्छे कुलमें उत्पन्न हुआ हो। पर्याय—कुलसंभव, वांश्य, कौल्य, कुलज, कुलीन, कुल्य, कुलभव। (जटाधर) २ वीजनीय, बेलके योग्य हो।

वीट (सं॰ क्ली॰) खण्डा। (सिद्धान्तकौमुदी)

वीटा (सं॰ स्त्री॰) एक प्रकारका खेल जो हाथ भर लम्बे जौके आकारके काठके टुकड़े से खेला जाता है। 'गुल्ली डण्डा' खेलमेंसे गोलेका व्यवहार होता है, यह भी ठीक वैसा ही। बालक एक बड़े डण्डेसे उसे मारते हुए एक स्थानसे दूसरे स्थानमें ले जा कर खेलते हैं। यह खेल बहुत अङ्गरेजी hockey खेलके जैसा है। महाभारतके टीकाकार नीलकण्ठका मत है, कि वीटा धातुका बना हुआ गोला है। (भारत आदिपर्व)

वीटि (सं॰ स्त्री॰) विशेषेण वटति छायानिखात वटादिं वेष्टयित्वा प्रवर्द्धते इट (इगुपधात् कित्। उण् ४।११९) इति इन्, सच कि। १ ताम्बूलवल्ली, लगाया हुआ पानका बीड़ा।

वीटिका (सं॰ स्त्री॰) वीटिरेव स्वार्थे कन्, स्त्रियां टाप्। ताम्बूलवल्ली, लगाया पानका बीड़ा। (राजतरंगिणी ४।४३०)

वीटी (सं॰ स्त्री॰) वा ङीष्। वीटि, पानका बीड़ा।

वीडु (सं॰ त्रि॰) दृढ़, त। (ऋक् १।३६।३)

वीडुजम्भ (सं॰ त्रि॰) क्षणार्थ, हविः खानेके लिये। (ऋक् ३।२९।१३)

वीडुद्वेषस् (सं॰ त्रि॰) राक्षसादिका द्वेषकारी। (ऋक् २।२४।१३)

वीडुपत्मन् (सं॰ त्रि॰) वत्पतन। (ऋक् १।११६।२)

वीडुपवि (सं॰ त्रि॰) दृढ़ मि, रथका मजबूत धूरा।

वीडुपाणि (सं॰ त्रि॰) दृढ़, मजबूत हाथ। (ऋक् १।३८।११)

वीडुहरस् (सं॰ त्रि॰) प्रजनक, बहुत तेजस्वी। (ऋक् १०।१०६।१)

वीड्वङ्ग (सं॰ त्रि॰) दृढ़ाङ्ग, मजबूत अङ्ग। (ऋक् १।११८)

वीण—चट्टलके अन्तर्गत ग्रामभेद। (भविष्यब्र॰खं॰ १५।४५)

वीणा (सं॰ स्त्री॰) वेति वृद्धिमालमपगच्छतीति वी गतौ। (रास्नासास्नास्थूणावीणाः। उण् ३।१५) इति न निपातनाद्गुणाभावो णत्वञ्च। १ विद्युत्, बिजली। (मेदिनी)

२ स्वनामख्यात वाद्ययन्त्र, प्राचीनकालका एक प्रसिद्ध बाजा, जिसका प्रचार अब तक भारतके पुराने ढंगके गवैयोंमें है। पर्याय—वल्लकी, विपञ्ची, परिवादिनी, ध्वनिमाला, वङ्कमल्ली, विपञ्चिका, घोषवती, कण्ठकूणिका।

इस यन्त्रमें बीचमें एक लम्बा पोला दण्ड होता है। दोनों सिरे पर दो बड़े बड़े तूंबे लगे होते हैं। एक तूंबेसे दूसरे तूंबे तक बीचके दण्ड परसे होते हुए, लोहेके तीन और पीतलके चार तार लगे रहते हैं। लोहेके तार पक्के और पीतलके कच्चे कहलाते है। इन सातों तारोंको कसने या ढीला करनेके लिये सात खूंटियां रहती हैं। इन्हीं तारोंको झनकार कर स्वर उत्पन्न किये जाते हैं।

प्राचीन भारतके तत जातिके बाजोंमें वीणा सबसे पुरानी और अच्छी मानी जाती है। अनेक देवताओंके हाथमें यही वीणा रहती है। भिन्न भिन्न देवताओं आदिके हाथमें रहनेवाली वीणाओंके नाम पृथक् पृथक् हैं। जैसे,—महादेवके हाथकी वीणा लम्बी, सरस्वतीके हाथकी कच्छपी, नारदके हाथकी महती और तुंबरुके हाथकी कलावती कहलाती है। इसके सिवाय वीणाके और भी कई भेद हैं। जैसे—त्रितन्त्री, किन्नरी, विपञ्ची, रञ्जनी, शारदी, रुद्र और नादेश्वर आदि। इन सबकी आकृति आदिमें भी थोड़ा बहुत अन्तर रहता है।

विशेष विवरण वाद्ययन्त्र शब्दमें देखो।

वीणाकर्ण (सं॰ पु॰) हितोपदेशवर्णित व्यक्तिभेद।

वीणागणगिन् (सं॰ पु॰) वीणावादक, वीना बजानेवाला। (शतपथब्रा॰ १३।४।३।३)

वीणागाथिन् (सं॰ पु॰) वीणावादक। (तैत्तिरीयब्रा॰ ३।९।१४।१)

वीणातन्त्र (सं॰ क्ली॰) तन्त्रग्रंथभेद। रनेसे स

वीणादण्ड (सं॰ पु॰ इसका अशोक नाम

कार है—

अलाबूपरि काष्ठदण्डः। वीणामेंका लम्बा दण्ड या तुंबीका बना हुआ वह अंश जो मध्यमें होता है। इसे प्रबाल भी कहते हैं।

वीणादत्त (सं० पु०) गन्धर्वभेद।
(कथासरित्सा० १७६।१)

वीणानुबन्ध (सं० पु०) वीणायाः अनुवन्धः। उपनाह, सितारकी खूंटी जिसमें तार बंधे रहते हैं।

वीणापाणि (सं० स्त्री०) वीणा पाणौ यस्य। सरस्वती। वीणा सरस्वती देवीके अतिशय प्रिय है, इसीसे वे सर्वदा अपने हाथोंमें वीणा धारण करती हैं।
सरस्वती देखो।

वीणाप्रसेव (सं० पु०) वीणाच्छादन पूर्वक रक्षाकारी, वह गिलाफ जो वीणा पर उसकी रक्षाके लिये चढ़ाया जाता है।

वीणाभिद् (सं० पु०) वीणायन्त्रभेद।

वीणारव (सं० पु०) १ वीणाका शब्द। (त्रि०) २ वीणासंहति।

वीणारवा (सं० स्त्री०) मक्षिकाभेद, एक प्रकारकी मक्खी।

वीणाल (सं० त्रि०) क्षुद्र वीणाविशिष्ट।
(पा ५।२।६१)

वीणावत्सराज (सं० पु०) राजपुत्रभेद। (पञ्चतन्त्र)

वीणावत् (सं० त्रि०) वीणा अस्त्यर्थे मतुप् मस्य व। वीणायुक्त, वीणाविशिष्ट।

वीणावती (सं० स्त्री०) १ सरस्वती। २ एक अप्सराका नाम।

वीणावाद (सं० त्रि०) वीणां वादयतीति वद-णिच्-अण्। वीणावादक, बीनकार। पर्याय—वैणिक। (अमर)

वीणावादक (सं० पु०) वीणाया वादकः। वीणावाद्यकर्त्ता, बीनकार।

वीणावादन (सं० क्ली०) वीणाया वादनं। वीणाका वाद्य, वीणाका शब्द।

वीणावाद्य (सं० क्ली०) वीणाया वाद्यं। वीणाकी वाद्य; [illegible]नकी आवाज।

[illegible] क्ली०) वीणावादनविषयक कलाप्रक्रियाविशेष।

वीणास्य (सं० पु०) वीणा आस्यमिव आस्यम[illegible] तथैव स्फुटगानकरणात्। नारद। (जटाधर)

वीणाहस्त (सं० त्रि०) वीणा हस्ते यस्य। [illegible]सके हाथमें वीणा हो। (पु०) २ शिव, महादे[illegible]

वीण (सं० त्रि०) वीणायुक्त।

वीतंस (सं० पु०) विशेषेण वहिरेव तस्य[illegible]ष्यते इति वि-तन्स्-घञ् उपसर्गस्य घञ् मनुष्ये बहुल इति दीर्घः (पा ६।३।१२२)। वह जाल, फंदा या इसी [illegible]कारकी और सामग्री जिससे पशु और पक्षी आदि पक[illegible] जाते हैं।

वीत (सं० क्ली०) वेति स्म वा अजति स्म अज गत्यर्थे इति क्त। १ असारहस्ती और अश्व, वे [illegible]ा, घोड़े और सैनिक आदि जो युद्ध करनेके योग्य न गये हों।

२ अंकुशकर्म, अंकुशके द्वारा मारः (माघ ५।४७)

३ सांख्योक्त अनुमान विशेष। [illegible]ख्यदर्शनके मतसे पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृ[illegible] तीन प्रकारके अनुमान हैं। यह भी दो प्रकार वीत और अवीत, इनमें वीत फिर दो प्रकार है—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट और अवीत शेषवत[illegible] गया है। अनुमान बुद्धिवृत्तिविशेष है, किस[illegible]रहकी बुद्धिवृत्तिको अनुमान कहा जाता है, उसका [illegible]ण इस तरह है—व्याप्यव्यापक भाव और पक्षध[illegible]ज्ञानसे जो बुद्धिवृत्ति होती है, वही अनुमान कही [illegible]ा है। पूर्व शब्दका अर्थ कारण है, जहां कारण द्वा[illegible]कार्य्यका अनुमान हो, वह पूर्ववत् है। जो साध्य [illegible]क वैसी ही वस्तु यदि दूसरी जगह दीख पड़े तो उ[illegible]ध्यानुमानको पूर्ववत् कहते हैं। "पर्वतो वह्निम[illegible]धूमात्" यह जो अनुमान है, उसका नाम पूर्ववत् उक्त स्थलमें वह्नि साध्य है, पर्वत पक्ष है। [illegible]पर वह्नि दृष्टिगोचर न[illegible]था होने पर भी पाकशाला अ[illegible] वह्नि दिखाई देती है[illegible]नका अथच साध्यवह्नि और [illegible]ालाकी वह्नि दोनों प[illegible]होता रूप हैं। वह्नित्व नामक[illegible]ा एक असाधारण [illegible]वीज दोनोंमें ही वर्त्तमान है, [illegible]हीं अनुमानके साथ अङ्गार, कहीं प्रत्यक्षके साथ वि[illegible] है। किन्तु जो अत[illegible]में इति है, प्रत्यक्षके अगोचर है, साध्यका अनुमान [illegible]र निषिद्ध नहीं हो सकता। व[illegible]षवत् होता है, नहीं सामान्यतोदृष्ट अनुम[illegible]ा।

शेषवत ...के कारण साध्यके व्याप्यव्यापक-
भावज्ञान साध्यभाव और हेत्वभावको व्याप्य-
व्यापक-भा आवश्यक है। उसके फलसे साध्य-
भावका नि ता है, सुतरां साध्यज्ञान हो उठता है।
सामान्य अनुमान पूर्ववत्के विपरीत है। जिस
साध्यके अ में प्रवृत्त हो रहा है, उसका या ठीक
उसी आक और वस्तुका प्रत्यक्ष कदापि नहीं
होगा; कि उसकी तुलना प्राप्त विविध प्रकार ज्ञान
पथागत य वस्तुके व्याप्यव्यापकभावज्ञान और
प्रकृत हेतुमें धर्मता ज्ञान होनेसे जो बुद्धिवृत्ति होती है,
वह सामा दृष्ट है। जैसे—इन्द्रियानुमान इन्द्रिय-
प्रत्यक्ष योग हीं। इन्द्रियां कभी भी किसीको भी
दिखाई नह देतीं, उन इन्द्रियोंका जो ज्ञान है, वह
सामान्यतोदृ है।

इस अ नकी प्रणाली इस तरह "रूपादिज्ञानं
सकरणकं क्रि त्वात् छिदादिवत्" रूपादि प्रत्यक्षके भी
कारण हैं; क क रूपादिका प्रत्यक्ष क्रिया है, यथा—
छेदन इत्यादि छेदनका करण कुठार है। रूप-
प्रत्यक्षका करण किसको कहोगे, देह करण नहीं, क्योंकि
अकेला देह है, किन्तु रूप उसके प्रत्यक्षके बाहरकी चीज
है। देहको क रण कहनेसे अन्धेका रूप प्रत्यक्ष होता।
जिसको करण करना चाहते हो, वही इन्द्रिय है। कोई
करण या कर गत्व प्रत्यक्षदृष्ट होनेसे भी इन्द्रियके
आकारका करण बिलकुल अतीन्द्रिय है।

जो जो क्रिय ये उन सबोंकी करण हैं। इस तरहके
ज्ञानके बाद ज्ञा पथागत क्रियाओंमें ही करणके सम्बन्धमें
ज्ञान होनेसे औ रूपादि प्रत्यक्ष क्रिया है, ऐसा उपलब्ध
होनेसे जो चि वृत्ति होती है, वही सामान्यतोदृष्ट अनु-
मान है। इस अ नुमानसे इन्द्रियका अस्तित्व निर्णय होता
है, इसमें केवल इन्द्रियका अस्तित्व नहीं है, अप्रत्यक्ष
अनेक वस्तुको अस्तित्वसिद्धि इस अनुमानसे होती है।
यहां बीत अनुम न है। (सांख्यका०)

(त्रि०) ४ परित्यक्त, जिसका परित्याग कर दिया
गया हो। ५ मुक्त, जो छूट गया हो। ६ विगत, जो
बीत गया हो। ७ निवृत्त, जो किसी बातसे रहित हो।
८ कमनीय, सुन्दर। (ऋक् ४।७।६)

वीतक (सं० पु०) बीत देखो।

वीतदम्भ (सं० त्रि०) वीतसत्यक्तो दम्भो येन सः। निरहङ्कार, जिसने दंभ या अहंकारका परित्याग कर दिया हो। पर्याय—अबल्कन्।

वीतन (सं० पु०) गलेका दोनों पार्श्व। हेमचन्द्रने स्कन्धके मध्य भागको कृक और उस कृकके दोनों पार्श्वको वीतन कहा है। अतएव इसके अनुसार भी दोनों स्कन्धका ठीक मध्यभाग अर्थात् गलदेश कृक तथा उसके दोनों पार्श्व वीतन कहलाते हैं। (हेमचन्द्र)

वीतपृष्ठ (सं० त्रि०) वीतं कान्तं पृष्ठं पश्चाद्भागो यस्य। १ जिसका पृष्ठ वा पश्चाद्भाग देखनेमें अति सुन्दर और कमनीय हो। (ऋक् १।१६२।७) २ विस्तीर्णोपरिभाग, चौड़ाईका ऊपरी हिस्सा।

(अथर्व ६।६२।२ सायण)

वीतभय (सं० पु०) वीतं भयं यस्य यस्माद्वा। १ विष्णु। (भारत १३।१४९।१११) (त्रि०) २ भयरहित, जिसका भय छूट गया है।

वीतभीत (सं० त्रि०) १ भयमुक्त, जिसका भय छूट गया हो। (पु०) २ असुरभेद।

वीतमल (सं० त्रि०) १ निष्पाप, जिसे कोई पाप न हो। २ निष्कलङ्क, जिसमें किसी प्रकारका कलङ्क या मल आदि न हो, विमल।

वीतराग (सं० त्रि०) वीतो रागो विषयवासना यस्य। १ विगतराग, जिसने राग या आसक्ति आदिका परित्याग कर दिया हो। (पु०) २ बुद्धका एक नाम। ३ जैनोंके प्रधान देवताका नाम।

वीतरागस्तुति (सं० स्त्री०) जिनकी एक स्तुति।

वीतवत् (सं० त्रि०) मूलयुक्त। (आश्व० श्रौ० १।८।४)

वीतवारास् (सं० त्रि०) १ क्रान्तबल, जिसने बल पाया हो।

वीतशोक (सं० त्रि०) १ विगतशोक, जिसने शोक आदिका परित्याग कर दिया हो।

वीतः शोको यस्मात्, अशोकाष्टम्यां तत्पानेन शोकनाशत्वात्तस्य तथात्वम्। (पु०) २ अशोकवृक्ष। वासन्ती अर्थात् चैत्रमासकी शुक्लाष्टमीको इसका पुष्प जलमें रख उस जलको निम्नोक्त मन्त्र पढ़ कर पान करनेसे सभी शोक ताप दूर होते हैं, इसी कारण इसका अशोक नाम पड़ा है। मन्त्र इस प्रकार है—

"त्वामशोक हराभीष्ट मधुमाससमुद्भव।
पिवामि शोकसन्तप्तो मामशोकं सदा कुरु॥" (तिथितत्त्व)

वीतसूत्र (सं० क्लो) यज्ञोपवीत, जनेऊ।

वीतहव्य (सं० पु०) १ स्वनामप्रसिद्ध अङ्गिरसवंशोद्भव ऋषिभेद, एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ऋषि जो अंगिराके वंशमें थे। (अथर्व ६।१३७।१) २ शुनकके पुत्रका नाम। ३ एक राजाका नाम। (त्रि०) ४ दत्तहविष्क, यज्ञमें आहुति देनेवाला।

वीतहोत्र (सं० पु०) वीतिहोत्र देखो।

वीताशोक (सं० पु०) अशोकवृक्षभेद।

वीति (सं० स्त्री०) वी-क्तिन्। १ गति, चाल। २ दीप्ति, चमक। ३ प्रजन, गर्भ धारण करनेकी क्रिया। ४ असन, खाना। ५ धावन, दौड़ना। ६ पान, पीना। ७ प्राप्ति। ८ यज्ञ। घोटक, घोड़ा।

वीतिका (सं० स्त्री०) यष्टिमधु, मुलेठी। २ नीलिका, नीली निर्गुंडी। (वैद्यक नि०)

वीतिन् (सं० पु०) ऋषिभेद। बहुवचनमें उनके वंशधरका बोध होता है।

वीतिराधस (सं० त्रि०) दत्तधन, धन देनेवाला।
(ऋक् ६।६२।२६ सायण)

वीतिहोत्र (सं० पु०) वी गतिकान्त्यसनखादनेषु वी क्तिन् वीतिः पुरोडाशादिः हूयतेऽस्मिन्निति। हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् इति-त्रन (उण० ४।१२७) अथवा वीतये पानाय होत्रं हव्यं यस्य। १ अग्नि। २ सूर्य।

३ प्रियव्रत राजाके एक पुत्रका नाम। (भागवत ५।१।२५) ४ एक राजाका नाम। (महाभारत ७।६८।१०) ५ हैहयवंशीय एक राजाका नाम। (हरिवंश ३३।५०) ६ कान्तयज्ञ। (ऋक् २।३८।१) (त्रि०) ७ प्राप्तयज्ञ, जो यज्ञ करता हो।

वीती—वीतिन् देखो।

वीतोच्छ्रयबन्ध (सं० त्रि०) उन्मुक्तग्रन्थि।
(किरात ८।५१)

वीतोत्तर ((सं० त्रि०) उत्तर देनेमें अनिच्छुक।

वीत्त (सं० त्रि०) वि-दा-क्त। वित्त, धन।

वीथि (सं० स्त्री०) विथ्यतेऽनया विथ-इन् इगुपधात् किदितीन बाहुलकात्। १ पंक्ति, श्रेणी। २ गृहाङ्ग। ३ वर्त्म, राजपथ।

वीथिका (सं० स्त्री०) वीथिरेव स्वार्थे

वीथी (सं० स्त्री०) विथि-ङीष् वा ।दे
रास्ता, सड़क। २ नाटकाङ्गभेद, दृ
के २७ भेदोंमेंसे एक भेद। यह एक
और उत्तम, मध्यम वा अधम जिस
एक ही नायक कल्पित होता है। इ
और शृङ्गाररसकी अधिकता रहती
बहुत थोड़े रहते हैं। किंतु मुख
सार्थकताके साथ सम्पूर्णभावमें विद्य

मनीषियोंने वीथीके निम्नलिखित
किये हैं, यथा—उद्घात्यक, अवल्गि
छल, वाक्केलि, अधिगण्ड, गण्ड, अव
असत्प्रलाप, व्यवहार और मृदव।
साहित्य दर्पणमें इस प्रकार लिखे हैं-

उद्घात्यक—दूसरेके वाक्यका प्र
समझमें न आयेगा, इस कारण ह
द्वारा कोई वाक्य प्रयुक्त होनेसे यदि
अर्थ समझ कर दूसरे पद द्वारा उ
यथार्थ भाव व्यक्त कर दे, तो उसे उद्
जैसे, "ये सब सकेतु क्रूरग्रह सम्पूर्णम
पूर्वक अभिभव या परास्त करनेकी इच्
राक्षसके सूत्रधारको इस गूढ़ार्थ-व्यञ्
नेपथ्यमें कहा गया कि, "मेरे जीते ज
अभिभव या परास्त कर सकता है
वाक्यका प्रयोग किया गया था, दूसरे
भाव व्यक्त होनेके कारण यहां उद्घात

अवल्गित—जहां एकत्र समावेश
कार्यके बाद दूसरे कार्यकी सूचना होत
ङ्क वीथि होती है। जैसे, शकुन्त
सूत्रधारकी उक्तिके बाद ही राजाका
है।

प्रपञ्च—परस्पर मिथ्याभूत हास्
व्यवहार करनेसे उसको प्रपञ्च कहते
मोर्वशीमें बड़भीरुथ त्रिदूषक और
कथोपकथन।

यम
कन् ततष्टाप्।
वीथि देखो।
१ राजपथ, बड़ा
य काव्य या रूपक-
हा अङ्कका होता है
किसी प्रकारका हो,
समें आकाशभाषित
है। अन्यान्य रस
ादि पञ्चाङ्ग सन्धि
ान रहती है।
रह अंग निर्देश
; प्रपञ्च, त्रिगत
यन्दित, नालिक
उनके लक्षणा
भाव सह
र्थ घटित श-
ई उसका प्रकृत
समय उसका
त्यक कहते हैं।
ल चंद्रको बल-
करते हैं" मुद्रा-
क्तिके बाद ही
ीन चन्द्रगुप्तको
जिस उद्देश्यसे
यसे ठीक वही
ङ्क वीथी हुई
के कारण एक
अवल्गिता-
नटीके प्रति
वर्णित हुआ
क वाक्यकृति
जैसे, विदूषक
का परस्प

लि", इस कनिकी समता प्रयुक्त अनेक अर्थों-
का कल है वहां त्रिगताङ्क वीथी होती
है। आकाशपृष्ठ ! क्या तुमसे सर्वाङ्गसुन्दरी
उर्वशी ग जो।" उर्वशीविरहित पुरुरवा कर्त्तृक
पर्वतके शमें उच्चार प्रश्न होने पर प्रतिध्वनिमें भी
वे सब व और चर होनेके कारण देखी गई है' यह
अन्तिम स्थानमें उस प्रश्नके उत्तरमें परिणत हुआ,
अतएव दिया ज गई है' इस शब्दके प्रयोगकालमें
तथा ान नक्षत्रोंमे एक ही रूपसे ध्वनित हो एक
बार प्रश्नमें सरी बार उसीका उत्तर कल्पित हुआ
है, इस अनेकार्थ योजनाके कारण त्रिगताङ्क
वीथी हु

छ यसदृश अप्रिय वाक्य द्वारा लोभ दिखा
कर करनेका नाम छल है। जैसे,—वेणी-
संहार और अर्जुन भृत्योंसे कह रहे हैं, "द्यूत-
क्रीड़ा तुगृहदाहका प्रवर्त्तक, अङ्गराज कर्णका
मित्र, कहनादिका बड़ा भाई, द्रौपदीके केशाकर्षणका
प्रयोज त पाण्डवोंका प्रभु, वह अति अभिमानी
राजा विवर अभी कहां है? तुम लोग वह कहते हो,
हम मेता नहीं, केवल उसके साथ मिलने आये हैं।"
यहां जा परुष वाक्य कहनेके कारण छल समझा
गया यत रा

न है, ठी दो वा दो से अधिक प्रत्युक्तिके द्वारा
स स त्ति होनेसे उसको वाक्केलि कहते हैं।
ान् ! क्या तुम मांस खाते हो? बिना मद्यके
का है। तुम क्या मद्य पसन्द करते हो? मद्य-
पर्वत के साथ ही सुसङ्गत है, किन्तु वे लोग
ादिमें य हैं। तुम्हें धन कहां? चोरी या
ाकश्र ल सकता है। तुम क्या चोरी या
पे हो? अभाव होने पर ही सब कुछ
जो व यहां प्रत्येक प्रश्नकी प्रत्युक्तियां
तड़ित के कारण वाक्केलि हुई।
वैसे तर स्पर्द्धाजनक वाक्यप्रयोगकी
श अधिबलाङ्क वीथी होती है। जैसे,
न हो कि वज्रनाभकी "आज तुममें किसीको
द्वारा थोड़े ही समयके मध्य

प्रद्युम्नका वक्ष और तो क्या, स्वर्ग और मर्त्त्य तक
उत्पाटित करूंगा" इस स्पर्द्धाजनक उक्तिके बाद प्रद्यु
भी वैसा ही कहा, "रे असुराधम! अधिक बड़बड़ मत कर।
मेरे इस भुजदण्डनिहित कोदण्डसे निकले हुए शरोंसे
निहत दैत्यकुल शोणितसे आप्लुता पृथ्वी जिससे रक्त-मांसलोलुप राक्षसोंकी हर्षवर्द्धिनी हो आज निश्चय ही
मैं वैसा ही करूंगा।" यहां दोनोंमें ही समान स्पर्द्धाजनक वाक्योंका प्रयोग किया गया है, इस कारण
अधिबल वीथी हुई।

गण्ड—वक्ता जिस उद्देशसे एक विषय कहते हैं उस समय यदि कोई उसको छोड़ किसी दूसरे उद्देशसे सहसा कोई वाक्य प्रयोग करे तथा वह वाक्य पूर्वोक्त वाक्यके साथ अर्थसङ्गत हो, तो वहां गण्डवीथी होगी। जैसे, वेणीसंहारमें दुर्योधनके 'अयि! भानुमति! सदाके लिये ही तुम्हारी जांघके ऊपर ममोरु अर्थात् मेरा उरु" इतना कहते न कहते कञ्चुकी घबराया हुआ आया और सहसा बोल उठा, "भग्न भग्न" यहां पर दुर्योधनका "ममोरु विन्यस्त होगा" यहां तक कहनेका उद्देश्य था तथा कञ्चुकी कहने पर था, "देव! रथकेतन भग्न हुआ है" किन्तु समयके गुणसे 'ममोरु' शब्दके ठीक बाद ही 'भग्न भग्न' शब्दके एक साथ ध्वनित होनेके कारण तथा ईश्वरेच्छाके फलसे भी वही होनेके कारण दोनों शब्द विभिन्न उद्देशसे प्रयुक्त होने पर भी उनका अर्थ सुसङ्गत हुआ है, अतएव यहां गण्डवीथी हुई।

अवस्यन्दित—जहां दूसरे वाक्य द्वारा स्वभावोक्त वाक्यका स्वीय अर्थप्रकाश न करा कर यदि अन्यथा भावमें अर्थात् दूसरे अर्थमें उसकी व्याख्या की जाय, तो वहां अवस्यन्दित वीथी कही जाती है। जैसे, "माता! रघुपति क्या हमलोगोंके पिता है?" लवके इस प्रश्न पर सीताने उत्तर दिया, "इस विषयमें कोई शङ्का न करो, केवल तुम्हारे नहीं, सारी पृथिवीके पिता है।" यहां पर सीताने पितृशब्दसे पालनकर्त्ता अर्थका आभास दिया है, इस कारण वह अन्यथाभावमें व्याख्यात होनेसे अवस्यन्दितवीथी हुई।

नालिका—हास्यरसयुक्त प्रहेलिका नाम नालिका

संवरणकारी उत्तरको प्रहेलिका कहते हैं, अतएव हां कमसे कम किसी प्रकार असङ्गत भाव दिखाई देता है तथा पीछे प्रत्युत्तर द्वारा किसी कौशलसे यदि उसका फिर संवरण किया जाय, तो वहां नालिका वीथी होती है। जैसे रत्नावलीमें सागरिकाके प्रति सुसङ्गताकी उक्ति है—"सखि! तुम जिसके लिये आई हो, वह यहीं पर है" इस पर सागरिकाने कहा, "मैं किसके लिये आई हूं?" इस वाक्यसे सागरिकाके भावका वैपरीत्य समझ कर सुसङ्गताने सरल भावमें फिरसे कहा, "क्यों चित्तफलकके लिये नहीं" इस भावसंवरणसे यहां नालिकावीथी हुई।

असत्प्रलाप—प्रश्न या उत्तरकी जगह यदि असम्बद्ध अर्थात् पूर्वापर सम्बन्धरहित वाक्यका व्यवहार हो अथवा किसी जगह अवाध्य मूर्खको अरूप हितवाक्य कह कर उपदेश दिया गया हो, तो वहां असत् प्रलाप होता है। जैसे, भावती नाटिकामें प्रद्युम्न सहकार लताको लक्ष्य कर कहता है, "अहो! अलिकुलगुञ्जित निविड़केशा गन्धवती रसाला किशलयकोमलपाणि कोकिलभाषिणी मेरी वह तरङ्गी प्रियतमा यहां क्यों!" यहां पूर्वापर विशेषणोंमें गन्धवती और रसाला शब्द दो मनुष्योंके विशेषण है तथा प्रधानतः लताको मनुष्य जान कर उसका वर्णन किया गया है, इससे यह असत्प्रलाप हुआ। वेणीसंहारनाटकके तृतीय अङ्कमें गुरुवाक्यके उल्लङ्घन करनेवाले दुर्योधनादिके प्रतिगान्धारीकी उक्तियां भी असत्प्रलाप हैं।

व्याहार—दूसरेके लिये हास्य वा लोभजनक जिस वाक्यका प्रयोग किया जाता है उसका नाम व्याहार है। जैसे मालविकाग्निमित्रमें मालविकाकी उक्तिमें नायकका हास और लोभका उदय हुआ है, इस कारण वहां व्याहार वीथी हुई।

मृदव—जहां दोषोंको गुण सौर गुणोंको दोष समझा जाता है वहां मृदववीथी होती है। जैसे, "हे प्रिय! निष्ठुरता, निःस्नेहता और कृतघ्नता आदि मेरी देहमें तुम्हारे विरहसे दोषमें तथा तुम्हें देख कर गुणमें परिणत होती हैं।" अर्थात् तुम्हारे विरहसे मैं उनको दोष और तुम्हारे देखनेसे गुण समझता हूं।" यहां रूप और यौवन पहले गुण और पीछे दोष समझा गय हो जगह मृदववीथी हुई।

४ रविमार्ग, सूर्यका गमनपथ। ५ के रहनेके स्थानोंके कुछ विशिष्ट भ सड़कके रूपमें माने गये हैं। आका और दक्षिणमें क्रमशः ऐरावत, जरद्गव नामक तीन स्थान हैं। इनमेंसे प्रत्येक वीथियां हैं। प्रत्येकका विवरण नीचे

अश्विनी, भरणी और कृत्तिका इन ती वीथी, रोहिणी, मृगशिरा और आर्द्रा नक्ष पुनर्वसु, पुष्य और अश्लेषा नक्ष वीथी है, वे तीनों वीथियां उत्तरांशको पूर्वफल्गुनी और उत्तरफल्गुनीमें चित्रा और स्वाति नक्षत्रोंमें गोवीथी; वि और ज्येष्ठामें जारद्गवी हैं; ये तीनों वी है। मूला, पूर्वाषाढ़ा, और उत्तराषाढ़ा वीथी; श्रवणा, धनिष्ठा और शतभिषा नक्ष पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद और रेवती नरी हैं, ये तीन वीथियाँ दक्षिणपथकी अ

वीथ्यङ्ग (सं० स्त्री०) वीथ्या अङ्गमिवाङ्ग भेद। वीथी शब्द देखो।

वीध्र (सं० क्ली०) विशेषेण इन्धते दीप इन्ध (वाविन्धेः। उण् २।१६) इति क आकाश। २ वायु, हवा। ३ अग्नि, आ ४ विमल, निर्मल।

वीध्र्य (सं० त्रि०) वीध्र-यत। शरत् मेघसे उत्पन्न। (शुक्लयजु० १६।३८)

वीनाह (सं० पु०) विशेषेण नह्यते इति उपसर्गस्य दीर्घः। कूपका मुखबन्धन, वह ढकना जो कूपके ऊपर लगाया जाता है।

वीनाहिन् (सं० पु०) कूप।

वीन्दुर्क (सं० त्रि०) सूर्य और चन्द्रयु

वीपा (सं० स्त्री०) विद्युत्, बिजली।

वीप्सा (सं० स्त्री०) वि-अपि-सन् अ

तः
कन् ततष्ठाप्।
ज: वीथ्य देखो।
१ राजपथ, बड़ा
य काव्य या रूपक-
हो अङ्कका होता है
किसी प्रकारका हो,
में आकाशभाषित
अन्यान्य रस
पञ्चाङ्ग सन्धि
रहती है।
ह अंग निर्देश
प्रपञ्च, त्रिगत
न्दित, नालिका
नके लक्षणा
भाव सह
घटित श-
सका प्रकृत
य उसका
कहते हैं।
को बल-
" मुद्रा-
नाद ही
गुप्तको
श्यसे
वहो
हुई न
क है
दिण
पथ
अतः
न
नहीं

STOCK VERIFY
2020
G.K.V. Library

COMPILED